श्रीहरि

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(पञ्चम खण्ड)

[शान्तिपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

Mahabharata

(पञ्चम खण्ड)

[शान्तिपर्व]

Vol. 5

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

॥ श्रीहरिः ॥

शान्तिपर्व

(आपद्धर्मपर्व)

(मोक्षधर्मपर्व)

चित्र-सूची

शोकाकुल युधिष्ठिरकी देवर्षि नारदके द्वारा सान्त्वना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

शान्तिपर्व

(राजधर्मानुशासनपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास नारद आदि महर्षियोंका आगमन और युधिष्ठिरका कर्णके साथ अपना सम्बन्ध बताते हुए कर्णको शाप मिलनेका वृत्तान्त पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र तथा भरतवंशकी सम्पूर्ण स्त्रियाँ—इन सबने गङ्गाजीमें अपने समस्त सुहृदोंके लिये जलाञ्जलियाँ प्रदान कीं ॥ १ ॥

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥ २ ॥

तदनन्तर वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धिका सम्पादन करनेके लिये एक मासतक वहीं (गङ्गातटपर) नगरसे बाहर टिके रहे ॥ २ ॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३ ॥

मृतकोंके लिये जलाञ्जलि देकर बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास बहुत से श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि सिद्ध महात्मा पधारे ॥

द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः ।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ॥ ४ ॥

द्वैपायन व्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व तथा उनके श्रेष्ठ शिष्य भी वहाँ आये थे ॥ ४ ॥

अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः ।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ ५ ॥

इनके अतिरिक्त अनेक वेदवेत्ता एवं पवित्र बुद्धिवाले ब्राह्मण, गृहस्थ एवं स्नातक संत भी वहाँ आकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिले ॥ ५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥ ६ ॥

वे महात्मा महर्षि वहाँ पहुँचकर विधिपूर्वक पूजित हो राजाके दिये हुए बहुमूल्य आसनोंपर विराजमान हुए ॥६॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा ।
पर्युपासन् यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् ।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥

उस समयके अनुरूप पूजा स्वीकार करके वे सैकड़ों, हजारों ब्रह्मर्षि भागीरथीके पावन तटपर शोकसे व्याकुलचित्त हुए राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर आश्वासन देते हुए यथोचितरूपसे उनके पास बैठे रहे ॥७-८ ॥

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥ ९ ॥

उस समय श्रीकृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके साथ बातचीत करके सबसे पहले नारदजीने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥

भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥ १० ॥

'महाराज युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबल, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा धर्मके प्रभावसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ १० ॥

दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥ ११ ॥

'पाण्डुनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि आप सम्पूर्ण जगत्को भयमें डालनेवाले इस संग्रामसे छुटकारा पा गये। अब क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं न ? ॥

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥ १२ ॥

'नरेश्वर ! आपके शत्रु तो मारे जा चुके। अब आप अपने सुहृदोंको तो प्रसन्न रखते हैं न ? इस राज्य-लक्ष्मीको पाकर आपको कोई शोक तो नहीं सता रहा है ?' ॥ १२॥

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात्।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेनेसे, ब्राह्मणोंकी कृपा होनेसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे इस सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त हुई ॥ १३ ॥

इदं मम महद् दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥ १४ ॥

परंतु ! मेरे हृदयमें निरन्तर यह महान् दुःख बना रहता है कि मैंने लोभवश अपने बन्धु-बान्धवोंका महान् संहार करा डाला ॥ १४ ॥

सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥

भगवन् ! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदीके प्यारे पुत्रोंको मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी ही जान पड़ती है ॥ १५ ॥

किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम्।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥

वृष्णिकुलकी कन्या मेरी बहू सुभद्रा, जो इस समय द्वारिकामें रहती है, जब मधुसूदन श्रीकृष्ण यहाँसे लौटकर द्वारिका जायँगे, तब इनसे क्या कहेगी ? ॥ १६ ॥

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥ १७ ॥

यह द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने पुत्रोंके मारे जानेसे अत्यन्त दीन हो गयी है। इस बेचारीके भाई-बन्धु भी मार डाले गये। यह हमलोगोंके प्रिय और हितमें सदा लगी रहती है। मैं जब-जब इसकी ओर देखता हूँ, तब-तब मेरे मनमें अधिक-से-अधिक पीड़ा होने लगती है ॥ १७ ॥

इदमन्यत् तु भगवन् यत् त्वां वक्ष्यामि नारद।
मन्त्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥

भगवन् नारद ! यह दूसरी बात जो मैं आपसे बता रहा हूँ और भी दुःख देनेवाली है। मेरी माता कुन्तीने कर्णके जन्मका रहस्य छिपाकर मुझे बड़े भारी दुःखमें डाल दिया है ॥ १८ ॥

यः स नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥ १९ ॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः।
अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे ॥ २० ॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥ २१ ॥

जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था, संसारमें जिनका सामना करनेवाला दूसरा कोई भी महारथी नहीं था, जो रणभूमिमें सिंहके समान खेलते हुए विचरते थे, जो बुद्धिमान्, दयालु, दाता, संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले और धृतराष्ट्र-पुत्रोंके आश्रय थे; अभिमानी, तीव्रपराक्रमी, अमर्षशील, नित्य रोषमें भरे रहनेवाले तथा प्रत्येक युद्धमें हमलोगोंपर अस्त्रों एवं वाग्बाणोंका प्रहार करनेवाले थे, जिनमें विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेकी कला थी, जो शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, धनुर्वेदके विद्वान् तथा अद्भुत पराक्रम कर दिखानेवाले थे, वे कर्ण गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए कुन्तीके पुत्र और हमलोगोंके बड़े भाई थे; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९–२१ ॥

तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम्।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥ २२ ॥

जलदान करते समय स्वयं माता कुन्तीने यह रहस्य बताया था कि कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुआ मेरा ही सर्वगुणसम्पन्न पुत्र रहा है, जिसे मैंने पहले पानीमें बहा दिया था ॥ २२ ॥

मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत्।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत ॥ २३ ॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः।

नारदजी ! मेरी माता कुन्तीने कर्णको जन्मके पश्चात् एक पेटीमें रखकर गङ्गाजीकी धारामें बहाया था। जिन्हें यह सारा संसार अबतक अधिरथ सूत एवं राधाका पुत्र समझता था, वे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र और हमलोगोंके सहोदर भाई थे ॥ २३½ ॥

अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन घातितः ॥ २४ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।

मैंने अनजानमें राज्यके लोभमें आकर भाईके हाथसे ही भाईका वध करा दिया। इस बातकी चिन्ता मेरे अङ्गोंको उसी प्रकार जला रही है, जैसे आग रूईके ढेरको भस्म कर देती है ॥ २४½ ॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ॥ २५ ॥
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः।

कुन्तीनन्दन श्वेतवाहन अर्जुन भी उन्हें भाईके रूपमें नहीं जानते थे। मुझको, भीमसेनको तथा नकुल-सहदेवको भी इस बातका पता नहीं था; किंतु उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कर्ण हमें अपने भाईके रूपमें जानते थे ॥ २५½ ॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम् ॥ २६ ॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना ॥ २७ ॥

सुननेमें आया है कि मेरी माता कुन्ती हमलोगोंमें संधि करानेकी इच्छासे उनके पास गयी थीं और उन्हें बताया था कि 'तुम मेरे पुत्र हो । 'परंतु महामनस्वी कर्णने माता कुन्तीकी यह इच्छा पूरी नहीं की ॥ २६-२७ ॥

अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम् ।
न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे ॥ २८ ॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत् ।

हमने यह भी सुना है कि उन्होंने पीछे माता कुन्तीको यह जवाब दिया कि 'मैं युद्धके समय राजा दुर्योधनका साथ नहीं छोड़ सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी नीचता, क्रूरता और कृतघ्नता सिद्ध होगी ॥ २८½ ॥

युधिष्ठिरेण संधिं हि यदि कुर्यां मते तव ॥ २९ ॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः ।

'माताजी ! यदि तुम्हारे मतके अनुसार मैं इस समय युधिष्ठिरके साथ संधि कर लूँ तो सब लोग यही समझेंगे कि 'कर्ण युद्धमें अर्जुनसे डर गया' ॥ २९½ ॥

सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम् ॥ ३० ॥
संधास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ।

'अतः मैं पहले समराङ्गणमें श्रीकृष्णसहित अर्जुनको परास्त करके पीछे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि करूँगा' ऐसी बात उन्होंने कही ॥ ३०½ ॥

तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम् ॥ ३१ ॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम् ।

तब कुन्तीने चौड़ी छातीवाले कर्णसे फिर कहा— 'बेटा ! तुम इच्छानुसार अर्जुनसे युद्ध करो; किंतु अन्य चार भाइयोंको अभय दे दो' ॥ ३१½ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान् ।
पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः ॥ ३३ ॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने ।

इतना कहकर माता कुन्ती थर्थर काँपने लगीं । तब बुद्धिमान् कर्णने हाथ जोड़कर मातासे कहा—'देवि ! तुम्हारे चार पुत्र मेरे वशमें आ जायँगे तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा । तुम्हारे पाँच पुत्र निश्चितरूपसे बने रहेंगे । यदि कर्ण मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र होंगे और यदि अर्जुन मारे गये तो वे कर्णसहित पाँच होंगे' ॥३२-३३½॥

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥ ३४ ॥
भ्रातृणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि ।
एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान् ॥ ३५ ॥

तब पुत्रोंका हित चाहनेवाली माताने पुनः अपने ज्येष्ठ पुत्रसे कहा—'बेटा ! तुम जिन चारों भाइयोंका कल्याण करना चाहते हो, उनका अवश्य भला करना' ऐसा कहकर माता कर्णको छोड़कर घर लौट आयीं ॥ ३४-३५ ॥

सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः ।
न चैव विवृतो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा विभो ॥ ३६ ॥

उस वीर सहोदर भाईको भाई अर्जुनने मार डाला । प्रभो ! इस गुप्त रहस्यको न तो माता कुन्तीने प्रकट किया और न कर्णने ही ॥ ३६ ॥

अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः ।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात् स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात् प्रभो ।
तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः ॥ ३८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! तदनन्तर युद्धस्थलमें महाधनुर्धर शूरवीर कर्ण अर्जुनके हाथसे मारे गये । प्रभो ! मुझे तो माता कुन्तीके ही कहनेसे बहुत पीछे यह बात मालूम हुई है कि 'कर्ण हमारे ज्येष्ठ एवं सहोदर भाई थे ।' मैंने भाईकी हत्या करायी है; इसलिये मेरे हृदयको तीव्र वेदना हो रही है ॥ ३७-३८॥

कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम् ।
सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ॥ ३९ ॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति ।

कर्ण और अर्जुनकी सहायता पाकर तो मैं देवराज इन्द्रको भी जीत सकता था । कौरवसभामें जब दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने मुझे बहुत क्लेश पहुँचाया, तब सहसा मेरे हृदयमें क्रोध प्रकट हो गया; परंतु कर्णको देखकर वह शान्त हो गया ॥ ३९½ ॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः ॥ ४० ॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः ।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ॥ ४१ ॥

जब द्यूतसभामें दुर्योधनके हितकी इच्छासे वे बोलने लगते और मैं उनकी कड़वी एवं रूखी बातें सुनता, उस समय उनके पैरोंको देखकर मेरा बढ़ा हुआ रोष शान्त हो जाता था ॥ ४०-४१ ॥

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह ॥ ४२ ॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् ।

मेरा विश्वास है कि कर्णके दोनों पैर माता कुन्तीके चरणोंके सदृश थे । कुन्ती और कर्णके पैरोंमें इतनी समानता क्यों है ? इसका कारण ढूँढ़ता हुआ मैं बहुत सोचता-विचारता; परंतु किसी तरह कोई कारण नहीं समझ पाता था ४२½

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ॥ ४३ ॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि ।

नारदजी ! संग्राममें कर्णके पहियेको पृथ्वी क्यों निगल गयी और मेरे बड़े भाई कर्णको कैसे यह शाप प्राप्त हुआ ? इसे आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ४३½ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम् ।
भवान् हि सर्वविद् विद्वान् लोके वेद कृताकृतम्॥ ४४ ॥

भगवन् ! मैं आपसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ विद्वान् हैं और लोकमें जो भूत और भविष्य कालकी घटनाएँ हैं, उन सबको जानते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णकी पहचानविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारदजीका कर्णको शाप प्राप्त होनेका प्रसङ्ग सुनाना

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः ।
कथयामास तत् सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारद मुनिने सूतपुत्र कर्णको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ था, वह सब प्रसङ्ग कह सुनाया ॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद् रणे ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—महाबाहु भरतनन्दन ! तुम जैसा कह रहे हो, ठीक ऐसी ही बात है । वास्तवमें कर्ण और अर्जुनके लिये युद्धमें कुछ भी असाध्य नहीं हो सकता था ॥ २ ॥

गुह्यमेतत् तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ ।
तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा ॥ ३ ॥

अनघ ! यह देवताओंकी गुप्त बात है, जिसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ । महाबाहो ! पूर्वकालके इस यथावत् वृत्तान्तको तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो ।
संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥ ४ ॥

प्रभो ! एक समय देवताओंने यह विचार किया कि कौन-सा ऐसा उपाय हो, जिससे भूमण्डलका सारा क्षत्रिय-समुदाय शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाय। यह सोचकर उन्होंने सूर्यद्वारा कुमारी कुन्तीके गर्भसे एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कराया, जो संघर्षका जनक हुआ ॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः ।
चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद् धनुर्वेदं गुरोस्तदा ॥ ५ ॥

वही तेजस्वी बालक सूतपुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुआ । उसने अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की ॥ ५ ॥

स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम् ।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा ॥ ६ ॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः ।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! वह भीमसेनका बल, अर्जुनकी फुर्ती, आपकी बुद्धि, नकुल और सहदेवकी विनय, गाण्डीव- धारी अर्जुनकी श्रीकृष्णके साथ बचपनमें ही मित्रता तथा पाण्डवोंपर प्रजाका अनुराग देखकर चिन्तामग्न हो जलता रहता था ॥६-७॥

स सख्यमकरोद् बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च ।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥ ८ ॥

इसीलिये उसने बाल्यावस्थामें ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता स्थापित कर ली और दैवकी प्रेरणासे तथा स्वभाववश भी वह आपलोगोंके साथ सदा द्वेष रखने लगा ॥ ८ ॥

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनंजयम् ।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

एक दिन अर्जुनको धनुर्वेदमें अधिक शक्तिशाली देख कर्णने एकान्तमें द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा—॥९॥

ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम् ।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः ॥ १० ॥
समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम् ।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ॥ ११ ॥

'गुरुदेव ! मैं ब्रह्मास्त्रको उसके छोड़ने और लौटानेके रहस्यसहित जानना चाहता हूँ । मेरी इच्छा है कि मैं अर्जुनके साथ युद्ध करूँ । निश्चय ही आपका सभी शिष्यों और पुत्रपर बराबर स्नेह है । आपकी कृपासे विद्वान् पुरुष यह न कहें कि यह सभी अस्त्रोंका ज्ञाता नहीं है'॥ १०-११ ॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति ।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥ १२ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनके प्रति पक्षपात रखनेवाले द्रोणाचार्य कर्णकी दुष्टताको समझकर उससे बोले—॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथंचन ॥ १३ ॥

'वत्स ! ब्रह्मास्त्रको ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा तपस्वी क्षत्रिय । दूसरा कोई किसी तरह इसे नहीं सीख सकता ' ॥ १३ ॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च ।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥ १४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी आज्ञा ले उनका यथोचित सम्मान करके कर्ण सहसा महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजीके पास चला गया ॥१४॥

स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य च ।

ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥ १५ ॥

परशुरामजीके पास जाकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहकर उसने गुरुभावसे उनकी शरण ली ॥ १५ ॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः ।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद् भृशम् ॥ १६ ॥

परशुरामजीने गोत्र आदि सारी बातें पूछकर उसे शिष्य-भावसे स्वीकार कर लिया और कहा—'वत्स ! तुम यहाँ रहो । तुम्हारा स्वागत है ।' ऐसा कहकर वे मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे स्वर्गसंनिभे ।
गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत् समागमः ॥ १७ ॥

स्वर्गलोकके सदृश मनोहर उस महेन्द्र पर्वतपर रहते हुए कर्णको गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों तथा देवताओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होता रहता था ॥ १७ ॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद् यथाविधि ।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतपर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे विधिपूर्वक धनुर्वेद सीखकर कर्ण उसका अभ्यास करने लगा । वह देवताओं, दानवों एवं राक्षसोंका अत्यन्त प्रिय हो गया ॥ १८ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके ।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः ॥ १९ ॥

एक दिनकी बात है, सूर्यपुत्र कर्ण हाथमें धनुष बाण और तलवार ले समुद्रके तटपर आश्रमके पास ही अकेला टहल रहा था ॥ १९ ॥

सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद् ब्रह्मवादिनः ।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥ २० ॥

पार्थ ! उस समय अग्निहोत्रमें लगे हुए किसी वेदपाठी ब्राह्मणकी होमधेनु उधर आ निकली । उसने अनजानमें उस धेनुको (हिंस्र जीव समझकर) अकस्मात् मार डाला * ॥ २० ॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ २१ ॥

अनजानमें यह अपराध बन गया है, ऐसा समझकर कर्णने ब्राह्मणको सारा हाल बता दिया और उसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव ।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मैंने अनजानमें आपकी गाय मार डाली है, अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करके मुझपर कृपा कीजिये,' कर्णने इस बातको बार-बार दुहराया ॥ २२ ॥

* कर्णपर्वमें भी यह प्रसङ्ग आया है, वहाँ कर्णके द्वारा बछड़ेके मारे जानेका उल्लेख है; अतः यहाँ भी होमधेनुका बछड़ा ही समझना चाहिये ।

तं स विप्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥
येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उसकी बात सुनते ही कुपित हो उठा और कठोर वाणीद्वारा उसे डाँटता हुआ-सा बोला—'दुराचारी ! तू मार डालने योग्य है । दुर्मते ! तू अपने इस पापका फल प्राप्त कर ले । पापी ! तू जिसके साथ सदा ईर्ष्या रखता है और जिसे परास्त करनेके लिये निरन्तर चेष्टा करता है, उसके साथ युद्ध करते हुए तेरे रथके पहियेको धरती निगल जायगी ॥ २३-२४ ॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥

'नराधम ! जब पृथ्वीमें तेरा पहिया फँस जायगा और तू अचेत-सा हो रहा होगा, उस समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरे मस्तकको काट गिरायेगा । अब तू चला जा ॥ २५ ॥

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्य तथारातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥

'ओ मूढ़ ! जैसे असावधान होकर तूने इस गौका वध किया है, उसी प्रकार असावधान-अवस्थामें ही शत्रु तेरा सिर काट डालेगा' ॥ २६ ॥

शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार शाप प्राप्त होनेपर कर्णने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको बहुत-सी गौएँ, धन और रत्न देकर उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा की । तब उसने फिर इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २७ ॥

न हि मेऽव्याहृतं कुर्यात् सर्वलोकोऽपि केवलम्।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद् वा कार्यं ते तत् समाचर ॥ २८ ॥

'सारा संसार आ जाय तो भी कोई मेरी बातको झूठी नहीं कर सकता। तू यहाँसे जा या खड़ा रह अथवा तुझे जो कुछ करना हो, वह कर ले' ॥ २८ ॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः।
राममभ्यगमद् भीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर कर्णको बड़ा भय हुआ। उसने दीनतावश सिर झुका लिया। वह मन-ही-मन उस बातका चिन्तन करता हुआ परशुरामजीके पास लौट आया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको ब्राह्मणका शापनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति और परशुरामजीका शाप

नारद उवाच

कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! कर्णके बाहुबल, प्रेम, इन्द्रिय-संयम तथा गुरुसेवासे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी बहुत संतुष्ट हुए॥

तस्मै स विधिवत् कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम्।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत् तपस्विने ॥ २ ॥

तदनन्तर तपस्वी परशुरामने तपस्यामें लगे हुए कर्णको शान्तभावसे प्रयोग और उपसंहार विधिसहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रकी विधिपूर्वक शिक्षा दी ॥ २ ॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः ॥ ३ ॥

ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके कर्ण परशुरामजीके आश्रममें प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। उस अद्भुत पराक्रमी वीरने धनुर्वेदके अभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया ॥ ३ ॥

ततः कदाचिद् रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात्।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥ ४ ॥
सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रम्भोत्पन्नसौहृदः।
कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् एक समय बुद्धिमान् परशुरामजी कर्णके साथ अपने आश्रमके निकट ही घूम रहे थे। उपवास करनेके कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। कर्णके ऊपर उनका पूरा विश्वास होनेके कारण उसके प्रति सौहार्द हो गया था। वे मन-ही-मन थकावटका अनुभव करते थे, इसलिये गुरुवर जमदग्निनन्दन परशुरामजी कर्णकी गोदमें सिर रखकर सो गये ॥ ४-५ ॥

अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः ॥ ६ ॥

इसी समय लार, मेदा, मांस और रक्तका आहार करनेवाला एक भयानक कीड़ा, जिसका स्पर्श (डंक मारना) बड़ा भयंकर था, कर्णके पास आया ॥ ६ ॥

स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः।
न चैनमशकत् क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥ ७ ॥

उस रक्त पीनेवाले कीड़ेने कर्णकी जाँघके पास पहुँचकर उसे छेद दिया; परंतु गुरुजीके जागनेके भयसे कर्ण न तो उसे फेंक सका और न मार ही सका ॥ ७ ॥

संदश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशङ्की तमुपैक्षत सूर्यजः ॥ ८ ॥

भरतनन्दन! वह कीड़ा उसे बारंबार डँसता रहा तो भी सूर्यपुत्र कर्णने कहीं गुरुजी जाग न उठें, इस आशङ्कासे उसकी उपेक्षा कर दी ॥ ८ ॥

कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम् ॥ ९ ॥

यद्यपि कर्णको असह्य वेदना हो रही थी तो भी वह धैर्यपूर्वक उसे सहन करके कम्पित और व्यथित न होता हुआ परशुरामजीको गोदमें लिये रहा ॥ ९ ॥

यदास्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाबुद्ध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब उसका रक्त परशुरामजीके शरीरमें लग गया, तब वे तेजस्वी भार्गव जाग उठे और भयभीत होकर इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥ ११ ॥

'अरे! मैं तो अशुद्ध हो गया! तू यह क्या कर रहा है? भय छोड़कर मुझे इस विषयमें ठीक-ठीक बता' ॥ ११ ॥

तस्य कर्णस्तदाऽऽचष्ट कृमिणा परिभक्षणम्।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसंनिभम् ॥ १२ ॥

तब कर्णने उनसे कीड़ेके काटनेकी बात बतायी। परशुरामजीने भी उस कीड़ेको देखा, वह सूअरके समान जान पड़ता था ॥ १२ ॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम्।
रोमभिः संनिरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः ॥ १३ ॥

उसके आठ पैर थे और तीखी दाढ़ें। सुई-जैसी चुभनेवाली रोमावलियोंसे उसका सारा शरीर भरा तथा रुँधा हुआ था। वह 'अलर्क' नामसे प्रसिद्ध कीड़ा था ॥ १३ ॥

स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत्।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

परशुरामजीकी दृष्टि पड़ते ही उसी रक्तसे भीगे हुए उस कीड़ेने प्राण त्याग दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान्।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब तरहके रूप धारण करनेमें समर्थ एक विकराल राक्षस दिखायी दिया, उसकी ग्रीवा लाल थी और शरीरका रंग काला था। वह बादलोंपर आरूढ था ॥

स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम् ॥ १६ ॥
मोक्षितो नरकादस्माद् भवता मुनिसत्तम।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम् ॥ १७ ॥

उस राक्षसने पूर्णमनोरथ हो हाथ जोड़कर परशुरामजीसे कहा—'भृगुश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो। मैं जैसे आया था, वैसे लौट जाऊँगा। मुनिप्रवर ! आपने इस नरकसे मुझे छुटकारा दिला दिया। आपका भला हो। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया है' ॥१६-१७॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान्।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८ ॥

तब महाबाहु प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामने उससे पूछा—'तू कौन है ? और किस कारणसे इस नरकमें पड़ा था ? बतलाओ' ॥ १८ ॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राग् दंशो नाम महासुरः।
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥ १९ ॥

उसने उत्तर दिया—'तात ! प्राचीनकालके सत्ययुगकी बात है। मैं दंश नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर था। महर्षि भृगुके बराबर ही मेरी भी अवस्था रही ॥ १९ ॥

सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात्।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि ॥ २० ॥

'एक दिन मैंने भृगुकी प्राणप्यारी पत्नीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इससे महर्षिने शाप दे दिया और मैं कीड़ा होकर इस पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥ २१ ॥

'आपके पूर्व पितामह भृगुजीने शाप देते समय कुपित होकर मुझसे इस प्रकार कहा—'ओ पापी ! तू मूत्र और लार आदि खानेवाला कीडा होकर नरकमें पड़ेगा' ॥ २१ ॥

शापस्यान्तो भवेद् ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रवम्।
भविता भार्गवाद् रामादिति मामब्रवीद् भृगुः ॥ २२ ॥

'तब मैंने उनसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस शापका अन्त भी होना चाहिये।' यह सुनकर भृगुजी बोले—'भृगुवंशी परशुरामसे इस शापका अन्त होगा' ॥ २२ ॥

सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा नकुशलं तथा।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥ २३ ॥

'वही मैं इस गतिको प्राप्त हुआ था, जहाँ कभी कुशल नहीं बीता। साधो ! आपका समागम होनेसे मेरा इस पाप-योनिसे उद्धार हो गया' ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

परशुरामजीसे ऐसा कहकर वह महान् असुर उन्हें प्रणाम करके चला गया। इसके बाद परशुरामजीने कर्णसे क्रोधपूर्वक कहा—

अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत्।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥

'ओ मूर्ख ! ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता। तेरा धैर्य तो क्षत्रियके समान है। तू स्वेच्छासे ही सत्य बता, कौन है ?' ॥ २५ ॥

तमुवाच ततः कर्णः शापाद् भीतः प्रसादयन्।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥

कर्ण परशुरामजीके शापके भयसे डर गया। अतः उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा—'भार्गव ! आप यह जान लें कि मैं ब्राह्मण और क्षत्रियसे भिन्न सूतजातिमें पैदा हुआ हूँ। भूमण्डलके मनुष्य मुझे राधापुत्र कर्ण कहते हैं। ब्रह्मन् ! भृगुनन्दन ! मैंने अस्त्रके लोभसे ऐसा किया है ! आप मुझपर कृपा करें ॥ २६-२७ ॥

पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः।

अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वेद और विद्याका दान करनेवाला शक्तिशाली गुरु पिताके ही तुल्य है; इसलिये मैंने आपके निकट अपना गोत्र भार्गव बताया है' ॥ २८ ॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रदहन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥

यह सुनकर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी इतने रोषमें भर गये, मानो वे उसे दग्ध कर डालेंगे। उधर कर्ण हाथ जोड़ दीन भावसे काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब वे उससे बोले—॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥
अन्यत्र वधकालात् ते सदृशेन समीयुषः ।

'मूढ़ ! तूने ब्रह्मास्त्रके लोभसे झूठ बोलकर यहाँ मेरे साथ मिथ्याचार (कपटपूर्ण व्यवहार) किया है, इसलिये जबतक तू संग्राममें अपने समान योद्धाके साथ नहीं भिड़ेगा और तेरी मृत्युका समय निकट नहीं आ जायगा, तभीतक तुझे इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण बना रहेगा ॥ ३०½ ॥

अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन ॥ ३१ ॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥ ३२ ॥

'जो ब्राह्मण नहीं है, उसके हृदयमें ब्रह्मास्त्र कभी स्थिर नहीं रह सकता। अब तू यहाँसे चला जा। तुझ मिथ्यावादीके लिये यहाँ स्थान नहीं है, परंतु मेरे आशीर्वादसे इस भूतलका कोई भी क्षत्रिय युद्धमें तेरी समानता नहीं करेगा'॥३१-३२॥

एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीके ऐसा कहनेपर कर्ण उन्हें न्यायपूर्वक प्रणाम करके वहाँसे लौट आया और दुर्योधनके पास पहुँच-कर बोला—'मैंने सब अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया' ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको अस्त्रकी प्राप्तिनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

कर्णकी सहायतासे समागत राजाओंको पराजित करके दुर्योधनद्वारा स्वयंवरसे कलिङ्गराजकी कन्याका अपहरण

नारद उवाच

कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।
दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भार्गव-नन्दन परशुरामसे ब्रह्मास्त्र पाकर कर्ण दुर्योधनके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १ ॥

ततः कदाचिद् राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।
कलिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥ २ ॥

राजन् ! तदनन्तर किसी समय कलिङ्गदेशके राजा चित्राङ्गदके यहाँ स्वयंवरमहोत्सवमें देश-देशके राजा एकत्र हुए ॥ २ ॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थं समुपागमन् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! कलिङ्गराजकी राजधानी राजपुर नामक नगरमें थी, वह नगर बड़ा सुन्दर था। राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिये सैकड़ों नरेश वहाँ पधारे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥

दुर्योधनने जब सुना कि वहाँ सभी राजा एकत्र हो रहे हैं तो वह स्वयं भी सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कर्णके साथ गया॥

ततः स्वयंवरे तस्मिन् सम्प्रवृत्ते महोत्सवे ।
समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वह स्वयंवरमहोत्सव आरम्भ होनेपर राजकन्याको पानेके लिये जो बहुत-से नरेश वहाँ पधारे थे, उनके नाम इस प्रकार हैं ॥ ५ ॥

शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥
शृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥

शिशुपाल, जरासंध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, सुदृढ़ पराक्रमी रुक्मी, स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज शृगाल, अशोक, शतधन्वा, भोज और वीर ॥ ६-७॥

एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाश्चार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥८॥

ये तथा और भी बहुत-से नरेश दक्षिण दिशाकी उस राजधानीमें गये। उनमें म्लेच्छ, आर्य, पूर्व और उत्तर सभी देशोंके राजा थे ॥ ८ ॥

काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

उन सबने सोनेके बाजूबंद पहन रक्खे थे। सभीकी अङ्गकान्ति शुद्ध सुवर्णके समान दमक रही थी। सबके शरीर तेजस्वी थे और सभी व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली थे॥९॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता ॥ १० ॥

भारत ! जब सब राजा स्वयंवर-सभामें बैठ गये, तब उस राजकन्याने धाय और खोजोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद् धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् जब उसे राजाओंके नाम सुना-सुनाकर उनका परिचय दिया जाने लगा, उस समय वह सुन्दरी राजकुमारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके सामनेसे होकर आगे बढ़ने लगी ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥

कुरुवंशी दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ कि राजकन्या उसे लाँघकर अन्यत्र जाय । उसने समस्त नरेशोंका अपमान करके उसे वहीं रोक लिया ॥ १२ ॥

स वीर्यमदमत्तत्वाद् भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥ १३ ॥

राजा दुर्योधनको भीष्म और द्रोणाचार्यका सहारा प्राप्त था; इसलिये वह बलके मदसे उन्मत्त हो रहा था । उसने उस राजकन्याको रथपर बिठाकर उसका अपहरण कर लिया ॥

तमन्वगाद् रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

पुरुषोत्तम ! उस समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण रथपर आरूढ़ हो हाथमें दस्ताने बाँधे और तलवार लिये दुर्योधनके पीछे-पीछे चला ॥ १४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद् युयुत्सताम् ।
संनह्यतां तनुत्राणि रथान् योजयतामपि ॥ १५ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले राजाओंमेंसे कुछ लोग कवच बाँधने और कुछ रथ जोतने लगे । उन सब लोगोंमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया ॥ १५ ॥

तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

जैसे मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा बरसा रहे हों, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए वे नरेश कर्ण और दुर्योधन दोनोंपर टूट पड़े तथा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह ।
धनूंषि च शरव्रातान् पातयामास भूतले ॥ १७ ॥

कर्णने एक-एक बाणसे उन सभी आक्रमणकारी नरेशोंके धनुष और बाण-समूहोंको भूतलपर काट गिराया ॥ १७ ॥

ततो विधनुषः कांश्चित् कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् ।
कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा ॥ १८ ॥
लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः ।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ कर्णने जल्दी-जल्दी बाण मारकर उन सब राजाओंको व्याकुल कर दिया, कोई धनुषसे रहित हो गये, कोई अपने धनुषको ऊपर ही उठाये रह गये, कोई बाण, कोई रथशक्ति और कोई गदा लिये रह गये । जो जिस अवस्थामें थे, उसी अवस्थामें उन्हें व्याकुल करके कर्णने उनके सारथियोंको मार डाला और उन बहु-संख्यक नरेशोंको परास्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः ।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥ २० ॥

वे पराजित भूपाल भग्नमनोरथ हो स्वयं ही घोड़े हाँकते और 'बचाओ बचाओ,' की रट लगाते हुए युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ २० ॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात् तदा ।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥

दुर्योधन कर्णसे सुरक्षित हो राजकन्याको साथ लिये राजी-खुशी हस्तिनापुर वापस आ गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्योधनके द्वारा स्वयंवरमें राजकन्याका अपहरण नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णके बल और पराक्रमका वर्णन, उसके द्वारा जरासंधकी पराजय और जरासंधका कर्णको अंगदेशमें मालिनीनगरीका राज्य प्रदान करना

नारद उवाच

आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः ।
आह्वयद् द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कर्णके बलकी ख्याति सुनकर मगधदेशके राजा जरासंधने द्वैरथ युद्धके लिये उसे ललकारा ॥

तयोः समभवद् युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥ २ ॥

वे दोनों ही दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता थे । उन दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया । वे रणभूमिमें एक दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥ ३ ॥

दोनोंके ही बाण क्षीण हो गये, धनुष कट गये और तलवारोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये । तब वे दोनों बलशाली वीर

पृथ्वीपर खड़े हो भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।
बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥ ४ ॥

कर्णने बाहुकण्टक युद्धके द्वारा जरा नामक राक्षसीके जोड़े हुए युद्धपरायण जरासंधके शरीरकी संधिको चीरना आरम्भ किया* ॥ ४ ॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत् कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥ ५ ॥

राजा जरासंधने अपने शरीरके उस विकारको देखकर वैरभावको दूर हटा दिया और कर्णसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५ ॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत् सपत्नजित् ॥ ६ ॥
पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥ ७ ॥

साथ ही उसने प्रसन्नतापूर्वक कर्णको अङ्गदेशकी मालिनी नगरी दे दी। नरश्रेष्ठ! शत्रुविजयी कर्ण तभीसे अङ्गदेशका राजा हो गया था। इसके बाद दुर्योधनकी अनुमतिसे शत्रु-सैन्यसंहारी कर्ण चम्पा नगरी—चम्पारनका भी पालन करने लगा। यह सब तो तुम्हें भी ज्ञात ही है ॥ ६-७ ॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत् क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥

इस प्रकार कर्ण अपने शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूमण्डलमें विख्यात हो गया। एक दिन देवराज इन्द्रने तुमलोगोंके हितके लिये कर्णसे उसके कवच और कुण्डल माँगे ॥ ८ ॥

स दिव्ये सहजे प्रादात् कुण्डले परमार्जिते ।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥

देवमायासे मोहित हुए कर्णने अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दोनों दिव्य कुण्डलों और कवचको भी इन्द्रके हाथमें दे दिया ॥ ९ ॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा ।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १० ॥

इस प्रकार जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलोंसे हीन हो जानेपर कर्णको अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते मारा था ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः ।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥ ११ ॥
भीष्मावमानात् संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात् ।
शल्यात् तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥ १२ ॥

एक तो उसे अग्निहोत्री ब्राह्मण तथा महात्मा परशुरामजीके शाप मिले थे। दूसरे, उसने स्वयं भी कुन्तीको अन्य चार भाइयोंकी रक्षाके लिये वरदान दिया था। तीसरे, इन्द्रने माया करके उसके कवच-कुण्डल ले लिये। चौथे, महारथियोंकी गणना करते समय भीष्मजीने अपमानपूर्वक उसे बार-बार अर्धरथी कहा था। पाँचवें, शल्यकी ओरसे उसके तेजको नष्ट करनेका प्रयास किया गया था और छठे, भगवान् श्रीकृष्णकी नीति भी कर्णके प्रतिकूल काम कर रही थी—इन सब कारणोंसे वह पराजित हुआ ॥ ११-१२ ॥

रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना ।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥ १४ ॥

इधर, गाण्डीवधारी अर्जुनने रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोणाचार्य तथा महात्मा कृपके दिये हुए दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये थे; इसीलिये युद्धमें उन्होंने सूर्यके समान तेजस्वी वैकर्तन कर्णका वध किया ॥ १३-१४ ॥

एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः ।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह युधिष्ठिर! इस प्रकार तुम्हारे भाई कर्णको शाप तो मिला ही था, बहुत लोगोंने उसे ठग भी लिया था, तथापि वह युद्धमें मारा गया है, इसलिये शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णके पराक्रमका कथन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, कुन्तीका उन्हें समझाना और स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शाप

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर देवर्षि नारद तो चुप हो गये, किंतु राजर्षि युधिष्ठिर शोकमग्न हो चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

* जहाँ बलवान् योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीको दुर्बल पा उसकी एक पिण्डलीको पैरसे दबाकर दूसरीको ऊपर उठा सारे शरीरको बीचसे चीर डालता है, वह बाहुकण्टक नामक युद्ध कहा गया है। जैसा कि निम्नाङ्कित वचनसे सूचित होता है—

'एकां जङ्घां पदाऽऽक्रम्य परामुद्यम्य पाट्यते। केतकीपत्रवच्छत्रोर्युद्धं तद् बाहुकण्टकम् ॥' इति

तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥ २ ॥
कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुराभाषा काले वचनमर्थवत् ॥ ३ ॥

उनका मन बहुत दुखी हो गया । वे शोकके मारे व्याकुल हो सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे । उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगा । वीर युधिष्ठिरकी ऐसी अवस्था देख कुन्तीके सारे अङ्गोंमें शोक व्याप्त हो गया । वे दुःखसे अचेत-सी हो गयीं और मधुर वाणीमें समयके अनुसार अर्थ-भरी बात कहने लगीं—॥ २-३ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥ ४ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें कर्णके लिये शोक नहीं करना चाहिये । महामते ! शोक छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥

यातितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वर ॥ ५ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने पहले कर्णको यह बतानेका प्रयत्न किया था कि पाण्डव तुम्हारे भाई हैं । उसके पिता भगवान् भास्करने भी ऐसी ही चेष्टा की ॥ ५ ॥

यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥

'हितकी इच्छा रखनेवाले एक हितैषी सुहृद्को जो कुछ कहना चाहिये, वही भगवान् सूर्यने उससे स्वप्नमें और मेरे सामने भी कहा ॥ ६ ॥

न चैनमशकद् भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्येकतां त्वया ॥ ७ ॥

'परंतु भगवान् सूर्य एवं मैं दोनों ही स्नेहके कारण दिखाकर अपने पक्षमें करने या तुमलोगोंसे एकता (मेल) करानेमें सफल न हो सके ॥ ७ ॥

ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः ।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥ ८ ॥

'तदनन्तर वह कालके वशीभूत हो वैरका बदला लेनेमें लग गया और तुमलोगोंके विपरीत ही सारे कार्य करने लगा; यह देखकर मैंने उसकी उपेक्षा कर दी' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा वाष्पाकुलेक्षणः ।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ९ ॥
भवत्या गूढमन्त्रत्वात् पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ॥ १० ॥

माताके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके नेत्रोंमें आँसू भर आया, शोकसे उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे धर्मात्मा नरेश उनसे इस प्रकार बोले—'माँ ! आपने इस गोपनीय बातको गुप्त रखकर मुझे बड़ा कष्ट दिया' ॥ ९-१० ॥

शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः ॥ ११ ॥

फिर महातेजस्वी युधिष्ठिरने अत्यन्त दुखी होकर सारे संसारकी स्त्रियोंको यह शाप दे दिया कि 'आजसे स्त्रियाँ अपने मनमें कोई गोपनीय बात नहीं छिपा सकेंगी' ॥ ११ ॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा ।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिरका हृदय अपने पुत्रों, पौत्रों, सम्बन्धियों तथा सुहृदोंको याद करके उद्विग्न हो उठा । उनके मनमें व्याकुलता छा गयी ॥ १२ ॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः ।
निर्वेदमगमद् धीमान् राजा संतापपीडितः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् शोकसे व्याकुलचित्त हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर संतापसे पीड़ित हो धूमयुक्त अग्निके समान धीरे-धीरे जलने लगे तथा राज्य और जीवनसे विरक्त हो उठे ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनसे आन्तरिक खेद प्रकट करते हुए अपने लिये राज्य छोड़कर वनमें चले जानेका प्रस्ताव करना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः ।
शुशोच दुःखसंतप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका चित्त शोकसे व्याकुल हो उठा था । वे महारथी कर्णको याद करके दुःखसे संतप्त हो शोकमें डूब गये ॥ १ ॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥ २ ॥

दुःख और शोकसे आविष्ट हो वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे और अर्जुनको देखकर शोकसे पीड़ित हो इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन् निष्पुरुषान् कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन ! यदि हमलोग वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रियोंकी नगरी द्वारिकामें जाकर भीख

माँगते हुए अपना जीवन-निर्वाह कर लेते तो आज अपने कुटुम्बको निर्वंश करके हम इस दुर्दशाको प्राप्त नहीं होते ॥

अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥

हमारे शत्रुओंका मनोरथ पूर्ण हुआ (क्योंकि वे हमारे कुलका विनाश देखकर प्रसन्न होंगे) । कौरवोंका प्रयोजन तो उनके जीवनके साथ ही समाप्त हो गया । आत्मीय जनोंको मारकर स्वयं ही अपनी हत्या करके हम कौन-सा धर्मका फल प्राप्त करेंगे ? ॥ ४ ॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥ ५ ॥

क्षत्रियोंके आचार, बल, पुरुषार्थ और अमर्षको धिक्कार है ! जिनके कारण हम ऐसी विपत्तिमें पड़ गये ॥ ५ ॥

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥

क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैराग्य, ईर्ष्याका अभाव, अहिंसा और सत्यभाषण--ये वनवासियोंके नित्य धर्म ही श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥ ७ ॥

हमलोग तो लोभ और मोहके कारण राज्यलाभके सुखका अनुभव करनेकी इच्छासे दम्भ और अभिमानका आश्रय लेकर इस दुर्दशामें फँस गये हैं ॥ ७ ॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित् प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान् निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः॥ ८ ॥

जब हमने पृथ्वीपर विजयकी इच्छा रखनेवाले अपने बन्धु-बान्धवोंको मारा गया देख लिया, तब हमें इस समय तीनों लोकोंका राज्य देकर भी कोई प्रसन्न नहीं कर सकता ॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान् ।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ९ ॥

हाय ! हमलोगोंने इस तुच्छ पृथ्वीके लिये अवध्य राजाओंकी भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बन्धु-बान्धवोंसे हीन हो अर्थ-भ्रष्टकी भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं ॥ ९ ॥

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव ।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥ १० ॥

जैसे मांसके लोभी कुत्तोंको अशुभकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार राज्यमें आसक्त हुए हमलोगोंको भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है । अतः हमारे लिये मांस-तुल्य राज्यको पाना अभीष्ट नहीं है, उसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिये ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥

ये जो हमारे सगे-सम्बन्धी मारे गये हैं, इनका परित्याग तो हमें समस्त पृथ्वी, राशि-राशि सुवर्ण और समूचे गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिये था ॥ ११ ॥

काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥

वे काम और क्रोधके वशीभूत थे, हर्ष और रोषसे भरे हुए थे, अतः मृत्युरूपी रथपर सवार हो यमलोकमें चले गये ॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥ १३ ॥

सभी पिता तपस्या, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्यभाषण तथा तितिक्षा आदि साधनोंद्वारा अनेक कल्याणमय गुणोंसे युक्त बहुत-से पुत्र पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति ॥ १४ ॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥ १५ ॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः ।

इसी प्रकार सभी माताएँ उपवास, यज्ञ, व्रत, कौतुक और मङ्गलमय कृत्योंद्वारा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखकर दस महीनोंतक अपने गर्भोंका भरण-पोषण करती हैं । उन सबका यही उद्देश्य होता है कि यदि कुशलपूर्वक बच्चे पैदा होंगे, पैदा होनेपर यदि जीवित रहेंगे तथा बलवान् होकर यदि सम्भावित गुणोंसे सम्पन्न होंगे तो हमें इहलोक और परलोकमें सुख देंगे । इस प्रकार वे दीन माताएँ फलकी आकाङ्क्षा रखती हैं ॥ १४-१५½ ॥

तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः ॥ १६ ॥
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च ॥ १७ ॥
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

परंतु उनका यह उद्योग सर्वथा निष्फल हो गया; क्योंकि हमलोगोंने उन सब माताओंके नवयुवक पुत्रोंको, जो विशुद्ध सुवर्णमय कुण्डलोंसे अलंकृत थे, मार डाला है । वे इस भूलोकके भोगोंके उपभोगका अवसर न पाकर देवताओं और पितरोंका ऋण उतारे बिना ही यमलोकमें चले गये ॥१६–१८॥

यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि ।
संजातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १९ ॥

माँ ! इन राजाओंके माता-पिता जब इनके द्वारा उपार्जित धन और रत्न आदिके उपभोगकी आशा करने लगे, तभी ये मारे गये ॥ १९ ॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमञ्जसाः ।
न ते जयफलं किंचिद् भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥ २० ॥

जो लोग कामना और खीझसे युक्त हो क्रोध और हर्षके कारण अपना संतुलन खो बैठते हैं, वे कभी कहीं किंचिन्मात्र भी विजयका फल नहीं भोग सकते ॥ २० ॥

पञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः ।
न चेत् सर्वानयं लोकः पश्येत् स्वेनैव कर्मणा ॥ २१ ॥

पाञ्चालों और कौरवोंके जो वीर मारे गये, वे तो मर ही गये; नहीं तो आज यह संसार देखता कि वे सब अपने ही पुरुषार्थसे कैसी ऊँची स्थितिमें पहुँच गये हैं ॥ २१ ॥

वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत् सर्वं प्रतिपत्स्यति ॥ २२ ॥

हमलोग ही इस जगत्‌के विनाशमें कारण माने गये हैं; परंतु इसका सारा उत्तरदायित्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर ही पड़ेगा ॥

सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः ।
मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु ॥ २३ ॥

हमलोगोंने कभी कोई बुराई नहीं की थी तो भी राजा धृतराष्ट्र सदा हमसे द्वेष रखते थे । उनकी बुद्धि निरन्तर हमें ठगनेकी ही बात सोचा करती थी । वे मायाका आश्रय लेनेवाले थे और झूठे ही विनय अथवा नम्रता दिखाया करते थे ॥ २३ ॥

न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् ।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥ २४ ॥

इस युद्धसे न तो हमारी कामना सफल हुई और न वे कौरव ही सफलमनोरथ हुए । न हमारी जीत हुई, न उनकी । उन्होंने न तो इस पृथ्वीका उपभोग किया, न स्त्रियोंका सुख देखा और न गीतवाद्यका ही आनन्द लिया ॥ २४ ॥

नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् ।
न रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥ २५ ॥

मन्त्रियों, सुहृदों तथा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वानोंकी भी बातें वे नहीं सुन सके । बहुमूल्य रत्न, पृथ्वीके राज्य तथा धनकी आयका भी सुख भोगनेका उन्हें अवसर नहीं मिला ॥

अस्मद्द्वेषेण संतप्तः सुखं न स्मेह विन्दति ।
ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः ॥ २६ ॥

दुर्योधन हमसे द्वेष रखनेके कारण सदा संतप्त रहकर कभी यहाँ सुख नहीं पाता था । हमलोगोंके पास वैसी समृद्धि देखकर उसकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी । वह चिन्तासे सूखकर पीला और दुर्बल हो गया था ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः ।
तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः ॥ २७ ॥
अनपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा ।

सुबलपुत्र शकुनिने राजा धृतराष्ट्रको दुर्योधनकी यह अवस्था सूचित की । पुत्रके प्रति अधिक आसक्त होनेके कारण पिता धृतराष्ट्रने अन्यायमें स्थित हो उसकी इच्छाका अनुमोदन किया । इस विषयमें उन्होंने अपने पिता (ताऊ) गङ्गानन्दन भीष्म तथा भाई विदुरसे राय लेनेकी भी इच्छा नहीं की ॥ २७½ ॥

असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः ॥ २८ ॥

उनकी इसी दुर्नीतिके कारण निःसंदेह राजा धृतराष्ट्रको भी वैसा ही विनाश प्राप्त हुआ है, जैसा कि मुझे ॥ २८ ॥

अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम् ।
यशसः पतितो दीप्ताद् घातयित्वा सहोदरान् ॥ २९ ॥

वे अपने अपवित्र आचार-विचारवाले, लोभी एवं कामासक्त पुत्रको काबूमें न रखनेके कारण उसका तथा उसके सहोदर भाइयोंका वध करवाकर स्वयं भी उज्ज्वल यशसे भ्रष्ट हो गये ॥ २९ ॥

इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः ।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह ॥ ३० ॥

हमलोगोंके प्रति सदा द्वेष रखनेवाला पापबुद्धि दुर्योधन इन दोनों वृद्धोंको शोककी आगमें झोंककर चला गया ॥३०॥

को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात् सुहृज्जने ।
यथासाववदद् वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसंनिधौ ॥ ३१ ॥

संधिके लिये गये हुए श्रीकृष्णके समीप युद्धकी इच्छावाले दुर्योधनने जैसी बात कही थी, वैसी कौन भाई-बन्धु कुलीन होकर भी अपने सुहृदोंके लिये कह सकता है ? ॥३१॥

आत्मनो हि वयं दोषाद् विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्करा इव तेजसा ॥ ३२ ॥

हमलोगोंने तेजसे प्रकाशित होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें मानो आग लगा दी और अपने ही दोषसे सदाके लिये नष्ट हो गये ॥ ३२ ॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः ।
दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम् ॥ ३३ ॥

हमारे प्रति शत्रुताका मूर्तिमान् स्वरूप वह दुर्बुद्धि दुर्योधन पूर्णतः बन्धनमें बँध गया । दुर्योधनके कारण ही हमारे इस कुलका पतन हो गया ॥ ३३ ॥

अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ।
कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम् ॥ ३४ ॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति ।

हमलोग अवध्य नरेशोंका वध करके संसारमें निन्दाके पात्र हो गये । राजा धृतराष्ट्र इस कुलका विनाश करनेवाले दुर्बुद्धि एवं पापात्मा दुर्योधनको इस राष्ट्रका स्वामी बनाकर आज शोककी आगमें जल रहे हैं ॥ ३४½ ॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः ॥ ३५ ॥
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ।

हमने शूरवीरोंको मारा, पाप किया और अपने ही देशका विनाश कर डाला । शत्रुओंको मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया, परंतु यह शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है ॥३५½॥

धनंजय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ॥ ३६ ॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा ।

धनंजय ! किया हुआ पाप कहनेसे, शुभ कर्म करनेसे, पछतानेसे, दान करनेसे और तपस्यासे भी नष्ट होता है ॥

निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥ ३७ ॥
त्यागवांश्च पुनः पापं नालंकर्तुमिति श्रुतिः ।
त्यागवाञ्जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥ ३८ ॥

निवृत्तिपरायण होने, तीर्थयात्रा करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं जप करनेसे भी पाप दूर होता है। श्रुतिका कथन है कि त्यागी पुरुष पाप नहीं कर सकता तथा वह जन्म और मरणके बन्धनमें भी नहीं पड़ता ॥ ३७-३८ ॥

प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स धनंजय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥ ३९ ॥

धनंजय ! उसे मोक्षका मार्ग मिल जाता है और वह ज्ञानी एवं स्थिर-बुद्धि मुनि द्वन्द्वरहित होकर तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३९ ॥

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप ।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥ ४० ॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।

शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन ! मैं तुम सब लोगोंसे विदा लेकर वनमें चला जाऊँगा। शत्रुसूदन ! श्रुति कहती है कि 'संग्रह-परिग्रहमें फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म (परमात्माका दर्शन) नहीं प्राप्त कर सकता।' इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है ॥ ४०½ ॥

मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥ ४१ ॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः ।

मैंने परिग्रह (राज्य और धनके संग्रह) की इच्छा रखकर केवल पाप बटोरा है, जो जन्म और मृत्युका मुख्य कारण है। श्रुतिका कथन है कि 'परिग्रहसे पाप ही प्राप्त हो सकता है' ॥ ४१½ ॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥ ४२ ॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् ।

अतः मैं परिग्रह छोड़कर सारे राज्य और इसके सुखोंको लात मारकर बन्धनमुक्त हो शोक और ममतासे ऊपर उठकर, कहीं वनमें चला जाऊँगा ॥ ४२½ ॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥ ४३ ॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ।

कुरुनन्दन ! तुम इस निष्कण्टक एवं कुशल-क्षेमसे युक्त पृथ्वीका शासन करो । मुझे राज्य और भोगोंसे कोई मतलब नहीं है ॥ ४३½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥ ४४ ॥

इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये। तब कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने भाषण देना आरम्भ किया॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका खेदपूर्ण उद्गार नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरके मतका निराकरण करते हुए उन्हें धनकी महत्ता बताना और राजधर्मके पालनके लिये जोर देते हुए यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर अर्जुन इस प्रकार असहिष्णु हो उठे, मानो उनपर कोई आक्षेप किया गया हो। वे बातचीत करने या पराक्रम दिखानेमें किसीसे दबनेवाले नहीं थे। उनका पराक्रम बड़ा भयंकर था। वे महातेजस्वी इन्द्रकुमार अपने उग्ररूपका परिचय देते और दोनों गलफरोंको चाटते हुए मुसकराकर इस तरह गर्वयुक्त वचन बोलने लगे, जैसे नाटकके रङ्गमञ्चपर अभिनय कर रहे हों ॥ १-२ ॥

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत् कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! यह तो बड़े भारी दुःख और महान् कष्टकी बात है ! आपकी विह्वलता तो पराकाष्ठाको पहुँच गयी। आश्चर्य है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस उत्तम राजलक्ष्मीका परित्याग कर रहे हैं ॥

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥ ४ ॥

आपने शत्रुओंका संहार करके इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया है। यह राज्य-लक्ष्मी आपको अपने धर्मके अनुसार प्राप्त हुई है। इस प्रकार जो यह सब कुछ आपके हाथमें आया है, इसे आप अपनी अल्पबुद्धिके कारण क्यों छोड़ रहे हैं ? ॥ ४ ॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥

किसी कायर या आलसीको कैसे राज्य प्राप्त हो सकता है ? यदि आपको यही करना था तो किस लिये क्रोधसे विकल होकर इतने राजाओंका वध किया और कराया ? ॥ ५ ॥

यो ह्याजिजीविषेद् भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित् ।
समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः ।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥

जिसके कल्याणका साधन नष्ट हो गया है, जो निरा दरिद्र है, जिसकी संसारमें कोई ख्याति नहीं है, जो स्त्री-पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न नहीं है तथा जो असमर्थतावश अपने पराक्रमसे किसीके राज्य या धनको लेनेकी इच्छा नहीं कर सकता, उसी मनुष्यको भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः ।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! जब आप यह समृद्धिशाली राज्य छोड़कर हाथमें खपड़ा लिये घर-घर भीख माँगनेकी नीचातिनीच वृत्तिका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करने लगेंगे, तब लोग आपको क्या कहेंगे ? ॥ ७ ॥

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः ।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत् प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो ! आप सारे उद्योग छोड़कर कल्याणके साधनोंसे हीन और अकिंचन हुए साधारण पुरुषोंके समान भीख माँगनेकी इच्छा क्यों करते हैं ? ॥ ८ ॥

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुंधराम् ।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥

इस राजकुलमें जन्म लेकर सारे भूमण्डलपर विजय प्राप्त करके अब सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनोंको छोड़कर आप मोहके कारण ही वनमें जानेको उद्यत हुए हैं ॥ ९ ॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः ।
भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥

यदि आपके त्याग देनेपर यज्ञकी इन संचित सामग्रियोंको दुष्ट लोग नष्ट कर देंगे तो इसका पाप आपको ही लगेगा (अर्थात् आपने यज्ञ-याग छोड़ दिये हैं, अतः आपको आदर्श मानकर दूसरे लोग भी इस कर्मसे उदासीन हो जायँगे, उस दशामें इस धर्मकृत्यका उच्छेद हो जायगा और इसका दोष आपके सिर ही लगेगा) ॥ १० ॥

आकिंचन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥

राजा नहुषने निर्धनावस्थामें क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट किया था कि 'इस जगत्में निर्धनताको धिक्कार है ! सर्वस्व त्यागकर निर्धन या अकिंचन हो जाना यह मुनियोंका ही धर्म है, राजाओंका नहीं' ॥ ११ ॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥ १२ ॥

आप भी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि दूसरे दिनके लिये संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषि-मुनियोंका ही धर्म है । जिसे राजाओंका धर्म कहा गया है, वह तो धनसे ही सम्पन्न होता है ॥ १२ ॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥

राजन् ! जो मनुष्य जिसका धन हर लेता है, वह उसके धर्मका भी संहार कर देता है । यदि हमारे धनका अपहरण होने लगे तो हम किसको और कैसे क्षमा कर सकते हैं ? ॥

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥ १४ ॥

दरिद्र मनुष्य पासमें खड़ा हो तो लोग इस तरह उसकी ओर देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलङ्कित हो; अतः दरिद्रता इस जगत्में एक पातक है । आप मेरे आगे उसकी प्रशंसा न करें ॥ १४ ॥

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पतित मनुष्य शोचनीय होता है, वैसे ही निर्धन भी होता है; मुझे पतित और निर्धनमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता ॥ १५ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १६ ॥

जैसे पर्वतोंसे बहुत-सी नदियाँ बहती रहती हैं, उसी प्रकार बढ़े हुए संचित धनसे सब प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ १६ ॥

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! धनसे ही धर्म, काम और स्वर्गकी सिद्धि होती है । लोगोंके जीवनका निर्वाह भी बिना धनके नहीं होता॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १८ ॥

जैसे गर्मीमें छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उसी प्रकार धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्यकी सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं ॥ १८ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥१९॥

जिसके पास धन होता है, उसीके बहुत-से मित्र होते हैं; जिसके पास धन है, उसीके भाई-बन्धु हैं; संसारमें जिसके पास धन है, वही पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही पण्डित माना जाता है ॥ १९ ॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥ २० ॥

निर्धन मनुष्य यदि धन चाहता है तो उसके लिये धन-की व्यवस्था असम्भव हो जाती है (परंतु धनीका धन बढ़ता रहता है), जैसे जङ्गलमें एक हाथीके पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं उसी प्रकार धनसे ही धन बँधा चला आता है ॥२०॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! धनसे धर्मका पालन, कामनाकी पूर्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, हर्षकी वृद्धि, क्रोधकी सफलता, शास्त्रोंका श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओंका दमन—ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥

धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

धनसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और धनसे ही धर्मकी वृद्धि होती है । पुरुषप्रवर ! निर्धनके लिये तो न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक ॥ २२ ॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा ॥ २३ ॥

निर्धन मनुष्य धार्मिक कृत्योंका अच्छी तरह अनुष्ठान नहीं कर सकता । जैसे पर्वतसे नदी झरती रहती है, उसी प्रकार धनसे ही धर्मका स्रोत बहता रहता है ॥ २३ ॥

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥

राजन् ! जिसके पास धनकी कमी है, गौएँ और सेवक भी कम हैं तथा जिसके यहाँ अतिथियोंका आना-जाना भी बहुत कम हो गया है, वास्तवमें वही कृश (दुर्बल) कहलाने योग्य है । जो केवल शरीरसे कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता ॥ २४ ॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन् किमन्यज्ज्ञातीनां वधाद् गृद्ध्यन्ति देवताः॥२५॥

आप न्यायके अनुसार विचार कीजिये और देवताओं तथा असुरोंके बर्तावपर दृष्टि डालिये । राजन् ! देवता अपने जाति-भाइयोंका वध करनेके सिवा और क्या चाहते हैं (एक पिताकी संतान होनेके कारण देवता और असुर परस्पर भाई-भाई ही तो हैं) ॥ २५ ॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥ २६ ॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥ २७ ॥

यदि राजाके लिये दूसरेके धनका अपहरण करना उचित नहीं है, तो वह धर्मका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? वेद-शास्त्रोंमें भी विद्वानोंने राजाके लिये यही निर्णय दिया है कि 'राजा प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करे, विद्वान् बने, सब प्रकार-से संग्रह करके धन ले आवे और यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करे'॥

द्रोहाद् देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
द्रोहात् किमन्यज्ज्ञातीनां गृद्ध्यन्ते येन देवताः॥ २८ ॥

जाति-भाइयोंसे द्रोह करके ही देवताओंने स्वर्गलोकके सभी स्थानोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया है । देवता जिससे धन या राज्य पाना चाहते हैं, वह ज्ञातिद्रोहके सिवा और क्या है ? ॥ २८ ॥

इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ।
अधीयतेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥ २९ ॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः ।
न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित् क्वचिद् वयम् ॥३०॥

यही देवताओंका निश्चय है और यही वेदोंका सनातन सिद्धान्त है । धनसे ही द्विज वेद-शास्त्रोंको पढ़ते और पढ़ाते हैं, धनके द्वारा ही यज्ञ करते और कराते हैं तथा राजा लोग दूसरों-को युद्धमें जीतकर जो उनका धन ले आते हैं, उसीसे वे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । किसी भी राजाके पास हम कोई भी ऐसा धन नहीं देखते हैं, जो दूसरोंका अपकार करके न लाया गया हो ॥ २९-३० ॥

एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार सभी राजा इस पृथ्वीको जीतते हैं और जीत-कर कहने लगते हैं कि 'यह मेरी है' । ठीक वैसे ही जैसे पुत्र पिताके धनको अपना बताते हैं ॥ ३१ ॥

राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते ।
यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ॥ ३२ ॥
एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रति तिष्ठति ।

प्राचीनकालमें जो राजर्षि हो गये हैं, जो कि इस समय स्वर्गमें निवास करते हैं, उनके मतमें भी राज-धर्मकी ऐसी ही व्याख्या की गयी है । जैसे भरे हुए महासागरसे मेघके रूपमें उठा हुआ जल सम्पूर्ण दिशाओंमें बरस जाता है, उसी प्रकार धन राजाओंके यहाँसे निकलकर सम्पूर्ण पृथ्वीमें फैल जाता है ॥ ३२½ ॥

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ॥ ३३ ॥
अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता ।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥ ३४ ॥

पहले यह पृथ्वी बारी-बारीसे राजा दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष और मान्धाताके अधिकारमें रही है, वही इस समय आपके अधीन हो गयी है। अतः आपके समक्ष सर्वस्व-की दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञके अनुष्ठान करनेका अवसर प्राप्त हुआ है ॥ ३३-३४ ॥

तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् ।
येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ॥ ३५ ॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते ।

राजन्! यदि आप यज्ञ नहीं करेंगे तो आपको सारे राज्यका पाप लगेगा। जिन देशोंके राजा दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं, उनके यज्ञकी समाप्ति-पर उन देशोंके सभी लोग वहाँ आकर अवभृथस्नान करके पवित्र होते हैं ॥ ३५½ ॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ।
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन महादेवजीने सर्व-मेध नामक महायज्ञमें सम्पूर्ण भूतोंकी तथा स्वयं अपनी भी आहुति दे दी थी ॥ ३६ ॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ॥ ३७ ॥

यह क्षत्रियोंके लिये कल्याणका सनातन मार्ग है। इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है। राजन्! यह वह महान् मार्ग है, जिसपर दस रथ चलते हैं, आप किसी कुत्सित मार्ग-का आश्रय न लें ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका वानप्रस्थ एवं संन्यासीके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनःश्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचेत वचनं मम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! तुम अपने मन और कानोंको अन्तःकरणमें स्थापित करके दो घड़ीतक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम इसे पसंद करोगे ॥ १ ॥

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥ २ ॥

मैं ग्राम्य सुखोंका परित्याग करके साधु पुरुषोंके चले हुए मार्गपर तो चल सकता हूँ; परंतु तुम्हारे आग्रहके कारण कदापि राज्य नहीं स्वीकार करूँगा ॥ २ ॥

क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् ।
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥

एकाकी पुरुषके चलनेयोग्य कल्याणकारी मार्ग कौन-सा है? यह मुझसे पूछो अथवा यदि पूछना नहीं चाहते हो तो बिना पूछे भी मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥ ४ ॥

मैं गँवारोंके सुख और आचारपर लात मारकर वनमें रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा, फल-मूल खाकर मृगोंके साथ विचरूँगा ॥ ४ ॥

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥

दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित आहार करके शरीरको दुर्बल कर दूँगा। मृग-चर्म तथा वल्कल वस्त्र धारण करके सिरपर जटा रक्खूँगा ॥ ५ ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥

सर्दी, गर्मी और हवाको सहूँगा, भूख, प्यास और परिश्रमको सहनेका अभ्यास डालूँगा, शास्त्रोक्त तपस्याद्वारा इस शरीरको सुखाता रहूँगा ॥ ६ ॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

वनमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करनेवाले पशु-पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोली, जो मन और कानोंको सुख देनेवाली होगी, नित्य सुनता रहूँगा ॥ ७ ॥

आजिघ्रन् पेशलान् गन्धान् फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान् वने पश्यन् रमणीयान् वनौकसः ॥ ८ ॥

वनमें खिले हुए वृक्षों और लताओंकी मनोहर सुगन्ध सूँघता हुआ अनेक रूपवाले सुन्दर वनवासियोंको देखा करूँगा ॥ ८ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ९ ॥

वहाँ वानप्रस्थ महात्माओं तथा ऋषिकुलवासी ब्रह्मचारी ऋषि-मुनियोंका भी दर्शन होगा। मैं किसी वनवासीका भी अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है? ॥

एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ १० ॥

एकान्तमें रहकर आध्यात्मिक तत्त्वका विचार किया करूँगा और कच्चा-पक्का जैसा भी फल मिल जायगा, उसीको खाकर जीवन-निर्वाह करूँगा। जंगली फल-मूल, मधुर वाणी और जलके द्वारा देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करता रहूँगा॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम्।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम्॥ ११॥

इस प्रकार वनवासी मुनियोंके लिये शास्त्रमें बताये हुए कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करता हुआ इस शरीरकी आयु समाप्त होनेकी बाट देखता रहूँगा॥ ११॥

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥ १२॥

अथवा मैं मूँड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्षसे भिक्षा माँगकर अपने शरीरको सुखाता रहूँगा॥ १२॥

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥ १३॥

शरीरपर धूल पड़ी होगी और सूने घरोंमें मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रियका सारा विचार छोड़ दूँगा॥ १३॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ १४॥

किसीके लिये न शोक करूँगा न हर्ष। निन्दा और स्तुतिको समान समझूँगा। आशा और ममताको त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करूँगा॥ १४॥

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि॥ १५॥

आत्माके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करूँगा, मनको सदा प्रसन्न रक्खूँगा, कभी किसी दूसरेके साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा, गूँगों, अंधों और बहरोंके समान न किसीसे कुछ कहूँगा, न किसीको देखूँगा और न किसीकी सुनूँगा॥

जङ्गमाजङ्गमान् सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान्।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति॥ १६॥

चार प्रकारके समस्त चराचर प्राणियोंमेंसे किसीकी हिंसा नहीं करूँगा। अपने-अपने धर्ममें स्थित हुई समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खूँगा॥ १६॥

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित्।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥१७॥

न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न किसीके प्रति भौंहोंको ही टेढ़ी करूँगा। सदा मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी और मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको पूर्णतः संयममें रक्खूँगा॥

अपृच्छन् कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित्।
न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः॥ १८॥

किसी भी मार्गसे चलता रहूँगा और कभी किसीसे रास्ता नहीं पूछूँगा। किसी खास स्थान या दिशाकी ओर जानेकी इच्छा नहीं रखूँगा॥ १८॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन्।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः॥ १९॥

कहीं भी मेरे जानेका कोई विशेष उद्देश्य नहीं होगा। न आगे जानेकी उत्सुकता होगी, न पीछे फिरकर देखूँगा। सरल भावसे रहूँगा। मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी होगी। स्थावर-जङ्गम जीवोंको बचाता हुआ आगे चलता रहूँगा॥ १९॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २०॥

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी अपने-आप प्रकट हो जाते हैं, सर्दी-गर्मी आदि जो परस्पर विरोधी द्वन्द्व हैं वे सब आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा॥ २०॥

अल्पं वास्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन्॥ २१॥

भिक्षा थोड़ी मिली या स्वादहीन मिली, इसका विचार न करके उसे पा लूँगा। यदि कभी एक घरसे भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरोंमें भी जाऊँगा। मिल गया तो ठीक है, न मिलनेकी दशामें क्रमशः सात घरोंमें जाऊँगा, आठवेंमें नहीं जाऊँगा॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके॥ २२॥
एककालं चरन् भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम्॥ २३॥

जब घरोंमेंसे धुआँ निकलना बंद हो गया हो, मूसल रख दिया गया हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो, घरके सब लोग खा-पी चुके हों, परोसी हुई थालीको इधर-उधर ले जानेका काम समाप्त हो गया हो और भिखमंगे भिक्षा लेकर लौट गये हों, ऐसे समयमें मैं एक ही वक्त भिक्षाके लिये दो, तीन या पाँच घरोंतक जाया करूँगा। सब ओरसे स्नेहका बन्धन तोड़कर इस पृथ्वीपर विचरता रहूँगा॥ २२-२३॥

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्॥ २४॥

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थामें मेरी दृष्टि समान होगी। मैं महान् तपमें संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जिसे जीने या मरनेकी इच्छावाले लोग करते हैं॥ २४॥

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः॥ २५॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः।

न तो जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँहको बसूलेसे काटता हो और दूसरा दूसरी बाँहको चन्दनमिश्रित जलसे

सींचता हो तो न पहलेका अमङ्गल सोचूँगा और न दूसरेकी मङ्गलकामना करूँगा। उन दोनोंके प्रति समान भाव रक्खूँगा ॥ २५½ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥

जीवित पुरुषके द्वारा जो कोई भी अभ्युदयकारी कर्म किये जा सकते हैं, उन सबका परित्याग करके केवल शरीर-निर्वाहके लिये पलकोंके खोलने-मींचने या खाने-पीने आदिके कार्यमें ही प्रवृत्त हो सकूँगा ॥ २६ ॥

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः।
सुपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ २७ ॥

इन सब कार्योंमें भी आसक्त नहीं होऊँगा। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारोंसे उपरत होकर मनको संकल्पशून्य करके अन्तःकरणका सारा मल धो डालूँगा ॥ २७ ॥

विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २८ ॥

सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त रहकर स्नेहके सारे बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके अधीन न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ॥ २८ ॥

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
तृष्णया हि महत् पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥

इस प्रकार वीतराग होकर विचरनेसे मुझे शाश्वत संतोष प्राप्त होगा। अज्ञानवश तृष्णाने मुझसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं ॥ २९ ॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य शुभाशुभ कर्म करके कार्य-कारणसे अपने साथ जुड़े हुए स्वजनोंका भरण-पोषण करते हैं ॥ ३० ॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम्।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥

फिर आयुके अन्तमें जीवात्मा इस प्राणशून्य शरीरको त्यागकर पहलेके किये हुए उस पापको ग्रहण करता है; क्योंकि कर्ताको ही उसके कर्मका वह फल प्राप्त होता है ॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत्।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार रथके पहियेके समान निरन्तर घूमते हुए इस संसारचक्रमें आकर जीवोंका यह समुदाय कार्यवश अन्य प्राणियोंसे मिलता है ॥ ३२ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंका आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँका जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता। जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसार-को त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ३३ ॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत् कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

जब देवता भी स्वर्गसे नीचे गिरते हैं और महर्षि भी अपने-अपने स्थानसे भ्रष्ट हो जाते हैं, तब कारण-तत्त्वको जाननेवाला कौन मनुष्य इस जन्म-मरणरूप संसारसे कोई प्रयोजन रक्खेगा ॥ ३४ ॥

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद् विविधलक्षणम्।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते ॥ ३५ ॥

भाँति-भाँतिके भिन्न-भिन्न कर्म करके विख्यात हुआ राजा भी किन्हीं छोटे-मोटे कारणोंसे ही दूसरे राजाओंद्वारा मार डाला जाता है ॥ ३५ ॥

तस्मात् प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम्।
तत् प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

आज दीर्घकालके पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है। इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी एवं सनातन पदको प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

एतया संततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३७ ॥

अतः इस पूर्वोक्त धारणाके द्वारा निरन्तर विचरता हुआ मैं निर्भय मार्गका आश्रय ले जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंसे आक्रान्त हुए इस शरीरको अलग रख दूँगा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भीमसेनका राजाके लिये संन्यासका विरोध करते हुए अपने कर्तव्यके ही पालनपर जोर देना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—राजन्! जैसे मन्द और अर्थज्ञानसे शून्य श्रोत्रियकी बुद्धि केवल मन्त्रपाठद्वारा मारी जाती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थको देखने या समझनेवाली नहीं है ॥ १ ॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि राजधर्मकी निन्दा करते हुए आपने

आलस्यपूर्ण जीवन बितानेका ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्रके पुत्रोंका विनाश करानेसे क्या फल मिला ? ॥ २ ॥

क्षमानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे ॥ ३ ॥

क्षत्रियोचित मार्गपर चलनेवाले पुरुषके हृदयमें अपने भाईपर भी क्षमा, दया, करुणा और कोमलताका भाव नहीं रह जाता; फिर आपके हृदयमें यह सब क्यों है ? ॥ ३ ॥

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम्।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन ॥ ४ ॥

यदि हम पहले ही जान लेते कि आपका विचार इस तरहका है तो हम हथियार नहीं उठाते और न किसीका वध ही करते ॥ ४ ॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात्।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥

हम भी आपकी ही तरह शरीर छूटनेतक भीख माँगकर ही जीवन-निर्वाह करते। फिर तो राजाओंमें यह भयंकर युद्ध होता ही नहीं ॥ ५ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि यह सब कुछ प्राणका अन्न है, स्थावर और जङ्गम सारा जगत् प्राणका भोजन है ॥ ६ ॥

आददानस्य चेद् राज्यं ये केचित् परिपन्थिनः।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता विद्वान् पुरुष यह जानते और बताते हैं कि अपना राज्य ग्रहण करते समय जो कोई भी उसमें बाधक या विरोधी खड़े हों, उन्हें मार डालना चाहिये॥

ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः।
तान् हत्वा भुङ्क्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम्॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो लोग हमारे राज्यके बाधक या लुटेरे थे, वे सभी अपराधी ही थे; अतः हमने उन्हें मार डाला। उन्हें मारकर धर्मतः प्राप्त हुई इस पृथ्वीका आप उपभोग कीजिये ॥ ८ ॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम्।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रम करके कुँआ खोदे और वहाँ जल न मिलनेपर देहमें कीचड़ लपेटे हुए वहाँसे निराश लौट आये, उसी प्रकार हमारा किया-कराया यह सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है ॥ ९ ॥

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥

जैसे कोई विशाल वृक्षपर आरूढ़ हो वहाँसे मधु उतार लाये; परंतु उसे खानेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाय; हमारा यह प्रयत्न भी वैसा ही हो रहा है ॥ १० ॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन्।
स निराशो निवर्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥

जैसे कोई मनुष्य मनमें कोई आशा लेकर बहुत बड़ा मार्ग तै करे और वहाँ पहुँचनेपर निराश लौटे, हमारा यह कार्य भी उसी तरह निष्फल हो रहा है ॥ ११ ॥

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन।
आत्मानं घातयेत् पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओंका वध करनेके पश्चात् अपनी भी हत्या कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है ॥ १२ ॥

यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद् यदृच्छया।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १३ ॥

जैसे भूखा मनुष्य भोजन और कामी पुरुष कामिनीको पाकर दैववश उसका उपभोग न करे, हमारा यह कर्म भी वैसा ही निष्फल हो रहा है ॥ १३ ॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि यद् वयं मन्दचेतसम्।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥

भरतवंशी नरेश ! हमलोग ही यहाँ निन्दाके पात्र हैं कि आप-जैसे अल्पबुद्धि पुरुषको बड़ा भाई समझकर आपके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ १४ ॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥ १५ ॥

हम बाहुबलसे सम्पन्न, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और मनस्वी हैं तो भी असमर्थ पुरुषोंके समान एक कायर भाईकी आज्ञामें रहते हैं ॥ १५ ॥

अगतीकगतीनस्मान् नष्टार्थानर्थसिद्धये।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥ १६ ॥

हमलोग पहले अशरण मनुष्योंको शरण देनेवाले थे; किंतु अब हमारा ही अर्थ नष्ट हो गया है। ऐसी दशामें अर्थसिद्धिके लिये हमारा आश्रय लेनेवाले लोग हमारी इस दुर्बलतापर कैसे दृष्टि नहीं डालेंगे ? बन्धुओ ! मेरा कथन कैसा है ? इसपर विचार करो ॥ १६ ॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥ १७ ॥

शास्त्रका उपदेश यह है कि आपत्तिकालमें या बुढ़ापेसे जर्जर हो जानेपर अथवा शत्रुओंद्वारा धन-सम्पत्तिसे वञ्चित कर दिये जानेपर मनुष्यको संन्यास ग्रहण करना चाहिये ॥

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८ ॥

अतः (जब कि हमारे ऊपर पूर्वोक्त संकट नहीं आया है) विद्वान् पुरुष ऐसे अवसरमें त्याग या संन्यासकी प्रशंसा नहीं करते हैं। सूक्ष्मदर्शी पुरुष तो ऐसे समयमें क्षत्रियके लिये संन्यास लेना उलटे धर्मका उल्लङ्घन मानते हैं॥ १८ ॥

कथं तस्मात् समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः ।
तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ॥ १९ ॥

इसलिये जिनकी क्षात्रधर्मके लिये उत्पत्ति हुई है, जो क्षात्रधर्ममें ही तत्पर रहते हैं तथा क्षात्र-धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं ही उस क्षात्र-धर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं ? इसके लिये उस विधाता-की ही निन्दा क्यों न की जाय, जिन्होंने क्षत्रियोंके लिये युद्ध-धर्मका विधान किया है ॥ १९ ॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २० ॥

श्रीहीन, निर्धन एवं नास्तिकोंने वेदके अर्थवादवाक्यों-द्वारा प्रतिपादित विज्ञानका आश्रय ले सत्य-सा प्रतीत होनेवाले मिथ्या मतका प्रचार किया है (वैसे वचनोंद्वारा क्षत्रियका संन्यासमें अधिकार नहीं सिद्ध होता है) ॥ २० ॥

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥ २१ ॥

धर्मका बहाना लेकर अपने द्वारा केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जानेसे कर्तव्यसे भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवनको सार्थक बनाना नहीं ॥ २१ ॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन् ॥ २२ ॥

जो पुत्रों और पौत्रोंके पालनमें असमर्थ हो, देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको तृप्त न कर सकता हो और अतिथियों-को भोजन देनेकी भी शक्ति न रखता हो, ऐसा मनुष्य ही अकेला जंगलोंमें रहकर सुखसे जीवन बिता सकता है (आप-जैसे शक्तिशाली पुरुषोंका यह काम नहीं है) ॥ २२ ॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥ २३ ॥

सदा ही वनमें रहनेपर भी न तो ये मृग स्वर्गलोकपर अधिकार पा सके हैं, न सूअर और पक्षी ही । पुण्यकी प्राप्ति तो अन्य प्रकारसे ही बतलायी गयी है । श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवासको ही पुण्यकारक नहीं मानते ॥ २३ ॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥

यदि कोई राजा संन्याससे सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष बहुत जल्दी सिद्धि पा सकते हैं ॥ २४ ॥

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥ २५ ॥

क्योंकि ये नित्य संन्यासी, उपद्रवशून्य, परिग्रहरहित तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले देखे जाते हैं ॥ २५ ॥

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥

यदि अपने भाग्यमें दूसरोंके कर्मोंसे प्राप्त हुई सिद्धि नहीं आती, तब तो सभीको कर्म ही करना चाहिये । अकर्मण्य पुरुषको कभी कोई सिद्धि नहीं मिलती ॥ २६ ॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः ।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥

(यदि अपने शरीरमात्रका भरण-पोषण करनेसे सिद्धि मिलती हो, तब तो) जलमें रहनेवाले जीवों तथा स्थावर प्राणियोंको भी सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये; क्योंकि उन्हें केवल अपना ही भरण-पोषण करना रहता है । उनके पास दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिसके भरण-पोषणका भार वे उठाते हों ॥ २७ ॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २८ ॥

देखिये और विचार कीजिये कि सारा संसार किस तरह अपने कर्मोंमें लगा हुआ है; अतः आपको भी क्षत्रियो-चित कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये । जो कर्मोंको छोड़ बैठता है, उसे कभी सिद्धि नहीं मिलती ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेनका वचनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका पक्षिरूपधारी इन्द्र और ऋषिबालकोंके संवादका उल्लेखपूर्वक गृहस्थ-धर्मके पालनपर जोर देना

अर्जुन उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इसी विषयमें जानकार लोग तापसोंके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥ २ ॥

एक समय कुछ मन्दबुद्धि कुलीन ब्राह्मणबालक घरको छोड़कर वनमें चले आये । अभी उन्हें मूँछ-दाढ़ीतक नहीं आयी थी, उसी अवस्थामें उन्होंने घर त्याग दिया ॥ २ ॥

धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत॥ ३ ॥

यद्यपि वे सब-के-सब धनी थे, तथापि भाई-बन्धु और माता-पिताको छोड़कर इसीको धर्म मानते हुए वनमें आकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। एक दिन इन्द्रदेवने उनपर कृपा की ॥ ३ ॥

तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः ।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत् कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥
पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम् ।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥ ५ ॥

भगवान् इन्द्र सुवर्णमय पक्षीका रूप धारण करके वहाँ आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—'यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंने जो कर्म किया है, वह दूसरोंसे होना अत्यन्त कठिन है। उनका यह कर्म बड़ा पवित्र और जीवन बहुत उत्तम है। वे धर्मपरायण पुरुष सफलमनोरथ हो श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुए हैं' ॥ ४-५ ॥

ऋषय ऊचुः

अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान् प्रशंसति ।
अस्मान् नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः॥ ६ ॥

ऋषि बोले—अहो ! यह पक्षी तो विघसाशी (यज्ञशेष अन्न भोजन करनेवाले) पुरुषोंकी प्रशंसा करता है। निश्चय ही यह हमलोगोंकी बड़ाई करता है; क्योंकि यहाँ हमलोग ही विघसाशी हैं ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

नाहं युष्मान् प्रशंसामि पङ्कदिग्धान् रजस्वलान्।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥ ७ ॥

उस पक्षीने कहा—अरे ! देहमें कीचड़ लपेटे और धूल पोते हुए जूठन खानेवाले तुम-जैसे मूर्खोंकी मैं प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। विघसाशी तो दूसरे ही होते हैं ॥ ७ ॥

ऋषय ऊचुः

इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे ।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे ॥ ८ ॥

ऋषि बोले—पक्षी ! यही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी साधन है, ऐसा समझकर ही हम इस मार्गपर चल रहे हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ धर्म हो, उसे तुम्हीं बताओ। हम तुम्हारी बातपर अधिक श्रद्धा करते हैं ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच

यदि मां नाभिशङ्कध्वं विभज्यात्मानमात्मना ।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥

पक्षीने कहा—यदि आपलोग मुझपर संदेह न करें तो मैं स्वयं ही अपने आपको वक्ताके रूपमें विभक्त करके आपलोगोंको यथावत्‌रूपसे हितकी बात बताऊँगा ॥ ९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव ।
नियोगे चैव धर्मात्मन् स्थातुमिच्छाम शाधि नः॥ १० ॥

ऋषि बोले—तात ! हम तुम्हारी बात सुनेंगे। तुम्हें सब मार्ग विदित हैं। धर्मात्मन् ! हम तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं। तुम हमें उपदेश दो ॥ १० ॥

शकुनिरुवाच

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम् ।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥

पक्षीने कहा—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, धातुओंमें सोना उत्तम है, शब्दोंमें मन्त्र उत्कृष्ट है और मनुष्योंमें ब्राह्मण प्रधान है ॥ ११ ॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंके लिये मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कारका विधान है। वह जबतक जीवित रहे, समय-समयपर उसके आवश्यक संस्कार होते रहने चाहिये, मरनेपर भी यथासमय श्मशानभूमिमें अन्त्येष्टिसंस्कार तथा घरपर श्राद्ध आदि वैदिक विधिके अनुसार सम्पन्न होने चाहिये ॥ १२ ॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः ।
अथ सर्वाणि कर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्षते ॥ १३ ॥
आम्नायदृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते ।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥ १४ ॥
ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्मसंज्ञितम् ।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥ १५ ॥

वैदिक कर्म ही ब्राह्मणके लिये स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाले उत्तम मार्ग हैं। इसके सिवा, मुनियोंने समस्त कर्मोंको वैदिक मन्त्रोंद्वारा ही सिद्ध होनेवाला बताया है। वेदमें इन कर्मोंका प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है; इसलिये उन कर्मोंके अनुष्ठानसे ही यहाँ अभीष्ट-सिद्धि होती है। मास, पक्ष, ऋतु, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंसे उपलक्षित जो यज्ञ होते हैं, उन्हें यथासम्भव सम्पन्न करनेकी चेष्टा प्रायः सभी प्राणी करते हैं। यज्ञोंका सम्पादन ही कर्म कहलाता है। जहाँ ये कर्म किये जाते हैं, वह गृहस्थ-आश्रम ही सिद्धिका पुण्यमय क्षेत्र है और यही सबसे महान् आश्रम है ॥ १३-१५ ॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः ।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते ॥ १६ ॥

जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करते हुए कुमार्गका आश्रय लेते हैं, उन पुरुषार्थहीन मूढ़ पुरुषोंको पाप लगता है ॥ १६ ॥

देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥ १७ ॥

देवसमूह और पितृसमूहोंका यजन तथा ब्रह्मवंश (वेद-शास्त्र आदिके स्वाध्यायद्वारा ऋषि-मुनियों) की तृप्ति—ये तीन ही सनातन मार्ग हैं। जो मूर्ख इनका परित्याग करके और किसी मार्गसे चलते हैं, वे वेदविरुद्ध पथका आश्रय लेते हैं ॥ १७ ॥

सुवर्णमय पक्षीके रूपमें देवराज इन्द्रका संन्यासी बने हुए ब्राह्मण-बालकोंको उपदेश

एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम्।
तस्मात् तत् तद् व्यवस्थानं तपस्वितप उच्यते॥ १८ ॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषिने एक मन्त्रमें कहा है कि 'यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानोंद्वारा सम्पादित हो, परंतु यह होना चाहिये तपस्यासे युक्त। तुम इसका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवाञ्छित फल प्रदान करूँगा।' अतः उन-उन वैदिक कर्मोंमें पूर्णतः संलग्न हो जाना ही तपस्वीका 'तप' कहलाता है॥

देववंशान् ब्रह्मवंशान् पितृवंशांश्च शाश्वतान्।
संविभज्य गुरोश्चर्या तद् वै दुष्करमुच्यते॥ १९ ॥

हवन-कर्मके द्वारा देवताओंको, स्वाध्यायद्वारा ब्रह्मर्षियोंको तथा श्राद्धद्वारा सनातन पितरोंको उनका भाग समर्पित करके गुरुकी परिचर्या करना दुष्कर व्रत कहलाता है॥ १९॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः।
तस्माद् गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः॥ २० ॥

इस दुष्कर व्रतका अनुष्ठान करके देवताओंने उत्तम वैभव प्राप्त किया है। यह गृहस्थधर्मका पालन ही दुष्कर व्रत है। मैं तुमलोगोंसे इसी दुष्कर व्रतका भार उठानेके लिये कह रहा हूँ॥ २०॥

तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ २१ ॥

तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमें संदेह नहीं कि यही प्रजावर्गका मूल कारण है। परंतु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्रके अनुसार इस गार्हस्थ्य-धर्ममें ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है॥ २१॥

एतद् विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तस्माद् व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते॥ २२ ॥

जिनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे ब्राह्मण इसीको तप मानते हैं। यद्यपि लोकमें व्रतको भी तप कहा जाता है, किंतु वह पञ्चयज्ञके अनुष्ठानकी अपेक्षा मध्यम श्रेणीका है॥ २२॥

दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः।
सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि॥ २३ ॥
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः॥ २४ ॥

क्योंकि विघसाशी पुरुष प्रातः-सायंकाल विधि-विधानपूर्वक अपने कुटुम्बमें अन्नका विभाग करके दुर्जय अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं, पितरों, अतिथियों तथा अपने परिवारके अन्य सब लोगोंको अन्न देकर जो सबसे पीछे अवशिष्ट अन्न खाते हैं, उन्हें विघसाशी कहा गया है २३-२४

तस्मात् स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः।
लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः॥ २५ ॥

इसलिये अपने धर्मपर आरूढ़ हो उत्तम व्रतका पालन और सत्यभाषण करते हुए वे जगद्गुरु होकर सर्वथा संदेहरहित हो जाते हैं॥ २५॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः।
वसन्ति शाश्वतान् वर्षाञ्जना दुष्करकारिणः॥ २६ ॥

वे ईर्ष्यारहित दुष्कर व्रतका पालन करनेवाले पुण्यात्मा पुरुष इन्द्रके स्वर्गलोकमें पहुँचकर अनन्त वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं॥ २६॥

अर्जुन उवाच

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम्।
उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः॥ २७ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! वे ब्राह्मणकुमार पक्षिरूपधारी इन्द्रकी धर्म और अर्थयुक्त हितकर बातें सुनकर इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग जिस मार्गपर चल रहे हैं, वह हमारे लिये हितकर नहीं है; अतः वे उसे छोड़कर घर लौट गये और गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे॥ २७॥

तस्मात् त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम्।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम॥ २८ ॥

सर्वज्ञ नरश्रेष्ठ! अतः आप भी सदाके लिये धैर्य धारण करके शत्रुहीन हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कीजिये॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनके वचनके प्रसंगमें ऋषियों और पक्षिरूपधारी इन्द्रके संवादका वर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका गृहस्थ-धर्मकी प्रशंसा करते हुए राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत्।
राजानमभिसम्प्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम्॥ १ ॥
अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिंदम।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर नकुलने भी सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरकी ओर देखकर कुछ कहनेको उद्यत हुए। शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! महाबाहु नकुल बड़े बुद्धिमान् थे। उनकी छाती चौड़ी, मुख ताम्रवर्णका था। वे बड़े मितभाषी थे। उन्होंने भाईके चित्तका अनुसरण करते हुए कहा॥ १-२॥

नकुल उवाच

विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः।

तस्माद् विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ॥ ३ ॥

नकुल बोले—महाराज ! विशाखयूप नामक क्षेत्रमें सम्पूर्ण देवताओंद्वारा की हुई अग्निस्थापनाके चिह्न (ईंटोंकी बनी हुई वेदियाँ) मौजूद हैं। इससे आपको यह समझना चाहिये कि देवता भी वैदिक कर्मों और उनके फलोंपर विश्वास करते हैं ॥ ३ ॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये ।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं सम्प्रेक्ष्य पार्थिव ॥ ४ ॥

राजन् ! आस्तिकताकी बुद्धिसे रहित समस्त प्राणियोंके प्राणदाता पितर भी शास्त्रके विधिवाक्योंपर दृष्टि रखकर कर्म ही करते हैं ॥ ४ ॥

वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान् ।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत ।

भारत ! जो वेदोंकी आज्ञाके विरुद्ध चलते हैं, उन्हें बड़ा भारी नास्तिक समझिये। वेदकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी कोई ब्राह्मण देवयान मार्गके द्वारा स्वर्गलोककी पृष्ठभूमिमें पैर नहीं रख सकता ॥ ५½ ॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान् निबोध नराधिप ।

यह गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमोंसे ऊँचा है। यह बात वेदोंके सिद्धान्तको जाननेवाले श्रुतिसम्पन्न ब्राह्मण कहते हैं। नरेश्वर ! आप उनकी सेवामें उपस्थित होकर इस बातको समझिये ॥ ६½ ॥

वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ॥ ७ ॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ८ ॥

महाराज ! जो धर्मसे प्राप्त किये हुए धनका श्रेष्ठ यज्ञोंमें उपयोग करता है और अपने मनको वशमें रखता है, वह मनुष्य त्यागी माना गया है ॥ ७-८ ॥

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः ।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥ ९ ॥

महाराज ! जिसने गृहस्थ-आश्रमके सुखभोगोंको कभी नहीं देखा, फिर भी जो ऊपरवाले वानप्रस्थ आदि आश्रमोंमें प्रतिष्ठित होकर देहत्याग करता है, उसे तामस त्यागी माना गया है ॥ ९ ॥

अनिकेतः परिपतन् वृक्षमूलाश्रयो मुनिः ।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥ १० ॥

पार्थ ! जिसका कोई घरबार नहीं, जो इधर-उधर विचरता और चुपचाप किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़पर सो जाता है, जो अपने लिये कभी रसोई नहीं बनाता और सदा योग-परायण रहता है, ऐसे त्यागीको भिक्षुक कहते हैं ॥ १० ॥

क्रोधहर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः ।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते ॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और विशेषतः चुगलीकी अवहेलना करके सदा वेदोंके स्वाध्यायमें लगा रहता है, वह त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥ १२ ॥

राजन् ! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषोंने चारों आश्रमोंको (विवेकके) तराजूपर रखकर तौला था। एक ओर तो अन्य तीनों आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थ आश्रम था ॥ १२ ॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत ।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥ १३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पार्थ ! इस प्रकार विवेककी तुलापर रखकर जब देखा गया तो गृहस्थ-आश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ; क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे। तबसे उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियोंका मार्ग है और यही लोकवेत्ताओंकी गति है' ॥ १३ ॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ ।
न यः परित्यज्य गृहान् वनमेति विमूढवत् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ऐसा भाव रखता है, वही त्यागी है। जो मूर्खकी तरह घर छोड़कर वनमें चला जाता है, वह त्यागी नहीं है ॥ १४ ॥

यदा कामान् समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः ।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥ १५ ॥

वनमें रहकर भी यदि धर्मध्वजी मनुष्य काम-भोगोंपर दृष्टिपात (उनका स्मरण) करता है तो यमराज उसके गलेमें मौतका फंदा डाल देते हैं ॥ १५ ॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १६ ॥

महाराज ! यही कर्म यदि अभिमानपूर्वक किया जाय तो वह सफल नहीं होता और त्यागपूर्वक किया हुआ सारा कर्म ही महान् फलदायक होता है ॥ १६ ॥

शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १७ ॥

शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, धृति तथा धर्म—इन सबका ऋषियोंके लिये निरन्तर पालन करनेका विधान है ॥ १७ ॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते ।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १८ ॥

महाराज ! गृहस्थ-आश्रममें ही देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके लिये किये जानेवाले आयोजनकी प्रशंसा की जाती है। केवल यहीं धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों सिद्ध होते हैं १८

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ १९ ॥

यहाँ रहकर वेदविहित विधिका पालन करनेवाले निष्ठावान् त्यागीका कभी विनाश नहीं होता—वह पारलौकिक उन्नतिसे कभी वञ्चित नहीं रहता ॥ १९ ॥

असृजद्धि प्रजा राजन् प्रजापतिरकल्मषः ।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ २० ॥

राजन् ! पापरहित धर्मात्मा प्रजापतिने इस उद्देश्यसे प्रजाओंकी सृष्टि की कि 'ये नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करेंगी' ॥ २० ॥

वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः ।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २१ ॥

इसी उद्देश्यसे उन्होंने यज्ञसम्पादनके लिये नाना प्रकारकी लता-बेलों, वृक्षों, ओषधियों, मेध्य पशुओं तथा यज्ञार्थक हविष्योंकी भी सृष्टि की है ॥ २१ ॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् ।
तस्माद् गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २२ ॥

वह यज्ञकर्म गृहस्थाश्रमी पुरुषको एक मर्यादाके भीतर बाँध रखनेवाला है; इसलिये गार्हस्थ्यधर्म ही इस संसारमें दुष्कर और दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तत् सम्प्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः ।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥ २३ ॥

महाराज ! जो गृहस्थ उसे पाकर पशु और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हुए भी यज्ञ नहीं करते हैं, उन्हें सदा ही पापका भागी होना पड़ता है ॥ २३ ॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथा परे ।
अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥ २४ ॥

कुछ ऋषि वेद-शास्त्रोंका स्वाध्यायरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं, कुछ ज्ञानयज्ञमें तत्पर रहते हैं और कुछ लोग मनमें ही ध्यानरूपी महान् यज्ञोंका विस्तार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं मनःसमाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप ।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! चित्तको एकाग्र करना रूप जो साधन है, उसका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत हुए द्विजके दर्शनकी अभिलाषा देवता भी रखते हैं ॥ २५ ॥

स रत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः ।
मखेष्वनभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ॥ २६ ॥

इधर-उधरसे जो विचित्र रत्न संग्रह करके लाये गये हैं, उनका यज्ञोंमें वितरण न करके आप नास्तिकताकी बातें कर रहे हैं ॥ २६ ॥

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! जिसपर कुटुम्बका भार हो, उसके लिये त्यागका विधान नहीं देखनेमें आता है। उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञोंमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २७ ॥

ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः ।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २८ ॥

भूपाल ! इनके सिवा जो दूसरे भी ब्राह्मणोंद्वारा प्रशंसित यज्ञ हैं, उनके द्वारा देवराज इन्द्रके समान आप भी यज्ञ-पुरुषकी आराधना कीजिये ॥ २८ ॥

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥ २९ ॥

राजाके प्रमाददोषसे लुटेरे प्रबल होकर प्रजाको लूटने लगते हैं, उस अवस्थामें यदि राजाने प्रजाको शरण नहीं दी तो उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा जाता है ॥ २९ ॥

अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः ।
ग्रामाञ्जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥ ३० ॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः ।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! यदि हमलोग ईर्ष्यायुक्त मनवाले होकर ब्राह्मणोंको घोड़े, गाय, दासी, सजी-सजायी हथिनी, गाँव, जनपद, खेत और घर आदिका दान नहीं करते हैं तो राजाओंमें कलियुग समझे जायँगे ॥ ३०-३१ ॥

अदातारः शरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः ।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥ ३२ ॥

जो दान नहीं देते, शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते, वे राजाओंके पापके भागी होते हैं। उन्हें दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है, सुख तो कभी नहीं मिलता ॥ ३२ ॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् ।
तीर्थेष्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो ॥ ३३ ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम् ।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥ ३४ ॥

प्रभो ! बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान, पितरोंका श्राद्ध तथा तीर्थोंमें स्नान किये बिना ही आप संन्यास ले लेंगे तो हवाद्वारा छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान नष्ट हो जायँगे। लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर (त्रिशङ्कुके समान) बीचमें ही लटके रह जायँगे ॥ ३३-३४ ॥

अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासङ्गकारकम् ।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मनको फँसानेवाली चीजें हैं, उन सबको छोड़नेसे मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देनेसे त्यागकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३५ ॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

महाराज ! इस गृहस्थ-आश्रममें ही रहकर वेदविहित कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणका कभी उच्छेद (पतन) नहीं होता ॥ ३६ ॥

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान्
शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये ।
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे
पूर्वैः स्मृते पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! जैसे इन्द्र युद्धमें दैत्योंकी सेनाओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार जो वेगपूर्वक बढ़े-चढ़े शत्रुओं-का वध करके विजय पा चुका हो और पूर्ववर्ती राजाओंद्वारा सेवित अपने धर्ममें तत्पर रहता हो, ऐसा (आपके सिवा) कौन राजा शोक करेगा ? ॥ ३७ ॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण
जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय ।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता
न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ ॥ ३८ ॥

नरेन्द्र ! कुन्तीकुमार ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार परा-क्रमद्वारा इस पृथ्वीपर विजय पाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंको यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणाएँ देकर स्वर्गसे भी ऊपर चले जायँगे? अतः आज आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नकुलवाक्यविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सहदेवका युधिष्ठिरको ममता और आसक्तिसे रहित होकर राज्य करनेकी सलाह देना

सहदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

सहदेव बोले—भरतनन्दन ! केवल बाहरी द्रव्यका त्याग कर देनेसे सिद्धि नहीं मिलती, शरीरसम्बन्धी द्रव्यका त्याग करनेसे भी सिद्धि मिलती है या नहीं, इसमें संदेह है ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्याद् द्विषतां तत् तथास्तु नः ॥२॥

बाहरी द्रव्योंसे दूर होकर दैहिक सुख-भोगोंमें आसक्त रहनेवालेको जो धर्म अथवा जो सुख प्राप्त होता हो, वह उस रूपमें हमारे शत्रुओंको ही मिले ॥ २ ॥

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्यात् सुहृदां तत् तथास्तु नः॥३॥

परंतु शरीरके उपयोगमें आनेवाले द्रव्योंकी ममता त्याग-कर अनासक्तभावसे पृथिवीका शासन करनेवाले राजाको जिस धर्म अथवा जिस सुखकी प्राप्ति होती हो, वह हमारे हितैषी सुहृदोंको मिले ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥

दो अक्षरोंका 'मम' (यह मेरा है, ऐसा भाव) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका 'न मम' (यह मेरा नहीं है ऐसा भाव) अमृत—सनातन ब्रह्म है ॥ ४ ॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ५ ॥

राजन् ! इससे सूचित होता है कि मृत्यु और अमृत ब्रह्म दोनों अपने ही भीतर स्थित हैं । वे ही अदृश्यभावसे रहकर प्राणियोंको एक दूसरेसे लड़ाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! यदि इस जीवात्माका अविनाशी होना निश्चित है, तब तो प्राणियोंके शरीरका वध करनेमात्रसे उनकी हिंसा नहीं हो सकेगी ॥ ६ ॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा ।
नष्टे शरीरे नष्टः स्याद् वृथा च स्यात् क्रियापथः॥ ७ ॥

इसके विपरीत यदि शरीरके साथ ही जीवकी उत्पत्ति तथा उसके नष्ट होनेके साथ ही जीवका नाश होना माना जाय तब तो शरीर नष्ट होनेपर जीव भी नष्ट ही हो जायगा; उस दशामें सारा वैदिक कर्ममार्ग ही व्यर्थ सिद्ध होगा ॥७॥

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥

इसलिये विज्ञ पुरुषको एकान्तमें रहनेका विचार छोड़-कर पूर्ववर्ती तथा अत्यन्त पूर्ववर्ती श्रेष्ठ पुरुषोंने जिस मार्गका सेवन किया है, उसीका आश्रय लेना चाहिये ॥ ८ ॥

(स्वायम्भुवेन मनुना तथान्यैश्चक्रवर्तिभिः ।
यद्ययं ह्यधमः पन्थाः कस्मात् तैस्तैर्निषेवितः ॥

यदि आपकी दृष्टिमें गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए राज्यशासन करना अधम मार्ग है तो स्वायम्भुव मनु तथा उन-उन अन्य चक्रवर्ती नरेशोंने इसका सेवन क्यों किया था ? ॥

कृतत्रेतादियुक्तानि गुणवन्ति च भारत ।
युगानि बहुशस्तैश्च भुक्तेयमवनी नृप ॥)

भरतवंशी नरेश ! उन नरपतियोंने उत्तम गुणवाले सत्ययुग-त्रेता आदि अनेक युगोंतक इस पृथ्वीका उपभोग किया है ॥

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम्॥ ९ ॥

जो राजा चराचर प्राणियोंसे युक्त इस सारी पृथ्वीको पाकर इसका अच्छे ढंगसे उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है ॥ ९ ॥

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥

अथवा राजन्! वनमें रहकर वनके ही फल-फूलोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस पुरुषकी द्रव्योंमें ममता बनी रहती है, वह मौतके ही मुखमें है ॥ १० ॥

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! प्राणियोंका बाह्य स्वभाव कुछ और होता है और आन्तरिक स्वभाव कुछ और। आप उसपर गौर कीजिये। जो सबके भीतर विराजमान परमात्माको देखते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

प्रभो ! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं। मैंने आर्त होकर दुःखमें जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें ॥ १२ ॥

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम् ।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतवंशभूषण भूपाल ! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह यथार्थ हो या अयथार्थ, आपके प्रति भक्ति होनेके कारण ही वे बातें मेरे मुँहसे निकली हैं, यह आप अच्छी तरह समझ लें ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सहदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरको राजदण्डधारणपूर्वक पृथ्वीका शासन करनेके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान् ॥ १ ॥
महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥ २ ॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥
अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥ ४ ॥
आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाइयोंके मुखसे नाना प्रकारके वेदोंके सिद्धान्तोंको सुनकर भी जब कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले, तब महान् कुलमें उत्पन्न हुई, युवतियोंमें श्रेष्ठ, स्थूल नितम्ब और विशाल नेत्रोंवाली, पतियों एवं विशेषतः राजा युधिष्ठिरके प्रति अभिमान रखनेवाली, राजाकी सदा ही लाड़िली, धर्मपर दृष्टि रखनेवाली तथा धर्मको जाननेवाली श्रीमती महारानी द्रौपदी हाथियोंसे घिरे हुए यूथपति गजराजकी भाँति सिंह-शार्दूल-सदृश पराक्रमी भाइयोंसे घिरकर बैठे हुए पतिदेव नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरकी ओर देखकर उन्हें सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण परम मधुर वाणीमें इस प्रकार बोलीं ॥ १–५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार ! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं; पपीहोंके समान आपसे राज्य करनेकी रट लगा रहे हैं, फिर भी आप इनका अभिनन्दन नहीं करते ? ॥ ६ ॥

नन्दयैतान् महाराज मत्तानिव महाद्विपान् ।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥ ७ ॥

महाराज ! उन्मत्त गजराजोंके समान आपके ये बन्धु सदा आपके लिये दुःख-ही-दुःख उठाते आये हैं । अब तो इन्हें युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आनन्दित कीजिये ॥ ७ ॥

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
भ्रातृनेतान् स सहिताञ्शीतवातातपार्दितान् ॥ ८ ॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ।
सम्पूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥ ९ ॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान् ।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिंदमाः ॥ १० ॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥ ११ ॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥ १२ ॥

राजन् ! द्वैतवनमें ये सभी भाई जब आपके साथ सर्दी-गर्मी और आँधी-पानीका कष्ट भोग रहे थे, उन दिनों आपने इन्हें धैर्य देते हुए कहा था 'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर बन्धुओ ! विजयकी इच्छावाले हमलोग युद्धमें दुर्योधनको मारकर रथियोंको रथहीन करके बड़े-बड़े हाथियोंका वध कर डालेंगे और घुड़सवारसहित रथोंसे इस पृथ्वीको पाट देंगे । तत्पश्चात् सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न वसुधाका उपभोग करेंगे । उस समय पर्याप्त दान-दक्षिणावाले नाना प्रकारके समृद्धिशाली यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधनामें लगे रहनेसे तुमलोगोंका यह वनवासजनित दुःख सुखरूपमें परिणत हो जायगा ।' धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! वीर महाराज ! पहले द्वैतवनमें इन भाइयोंसे स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज क्यों आप फिर हमलोगोंका दिल तोड़ रहे हैं ॥ ८–१२ ॥

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते ।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते ॥ १३ ॥

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता । वह न तो धनका उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है । जैसे केवल कीचड़में मछलियाँ नहीं होतीं, उसी प्रकार नपुंसकके घरमें पुत्र नहीं होते ॥ १३ ॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत ॥ १४ ॥

जो दण्ड देनेकी शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रियकी शोभा नहीं होती, दण्ड न देनेवाला राजा इस पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता । भारत ! दण्डहीन राजाकी प्रजाओंको कभी सुख नहीं मिलता है ॥ १४ ॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव, दान लेना, देना, अध्ययन और तपस्या—यह ब्राह्मणका ही धर्म है, राजाका नहीं ॥ १५ ॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥ १६ ॥

राजाओंका परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टोंको दण्ड दें, सत्पुरुषोंका पालन करें और युद्धमें कभी पीठ न दिखावें ॥

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये ।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ १७ ॥

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओंको भय दिखाने और शरणागतोंको अभय देनेकी शक्ति है, जो दुष्टोंको दण्ड-देता और दीनोंपर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है ॥

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥ १८ ॥

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रोंके श्रवणसे मिली है, न दानमें प्राप्त हुई है, न किसीको समझाने-बुझानेसे उपलब्ध हुई है, न यज्ञ करानेसे और न कहीं भीख माँगनेसे ही प्राप्त हुई है ॥

यत् तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ॥ १९ ॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत त्वया निहतं वीर तस्माद् भुङ्क्ष्व वसुन्धराम् ॥ २० ॥

वह जो शत्रुओंकी पराक्रम सम्पन्न एवं श्रेष्ठ सेना हाथी, घोड़े और रथ तीनों अङ्गोंसे सम्पन्न थी तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिसकी रक्षा करते थे, उसका आपने वध किया है, तब यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आयी है, अतः वीर ! आप इसका उपभोग करें ॥ १९-२० ॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः ।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥ २१ ॥

प्रभो ! महाराज ! पुरुषसिंह ! आपने अनेकों जनपदोंसे युक्त इस जम्बूद्वीपको अपने दण्डसे रौंद डाला है ॥ २१ ॥

जम्बूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप ।
अधरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! जम्बूद्वीपके समान ही क्रौञ्चद्वीपको जो महामेरु-से पश्चिम है, आपने दण्डसे कुचल दिया है ॥ २२ ॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप ।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २३ ॥

नरेन्द्र ! क्रौञ्चद्वीपके समान ही शाकद्वीपको जो महामेरुसे पूर्व है, आपने दण्ड देकर दबा दिया है ॥ २३ ॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन सम्मितः ।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २४ ॥

पुरुषसिंह ! महामेरुसे उत्तर शाकद्वीपके बराबर ही जो भद्राश्व वर्ष है, उसे भी आपके दण्डसे दबना पड़ा है ॥ २४ ॥

द्वीपाश्च सान्तर्द्वीपा नानाजनपदाश्रयाः।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥

वीर ! इनके अतिरिक्त भी जो बहुत-से देशोंके आश्रयभूत द्वीप और अन्तर्द्वीप हैं, समुद्र लाँघकर उन्हें भी आपने दण्डद्वारा दबाकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ २५ ॥

एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! आप ऐसे-ऐसे अनुपम पराक्रम करके द्विजातियोंद्वारा सम्मानित होकर भी प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ! ॥ २६ ॥

स त्वं भ्रातॄनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥

भारत ! मतवाले साँड़ों और बलशाली गजराजोंके समान अपने इन भाइयोंको देखकर आप इनका अभिनन्दन कीजिये ॥ २७ ॥

अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परंतपाः।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः ॥ २८ ॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥

पुरुषसिंह ! शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके ये सभी भाई शत्रु-सैनिकोंका वेग सहन करनेमें समर्थ हैं, देवताओंके समान तेजस्वी हैं, मेरा विश्वास है कि इनमेंसे एक वीर भी मुझे पूर्ण सुखी बना सकता है, फिर ये मेरे पाँचों नरश्रेष्ठ पति क्या नहीं कर सकते हैं ? शरीरको चेष्टाशील बनानेमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो स्थान है, वही मेरे जीवनको सुखी बनानेमें इन सबका है ॥ २८-२९ ॥

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः।
तद् व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात् तव जनाधिप ॥ ३१ ॥

महाराज ! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं। वे सर्वज्ञ हैं और सब कुछ देखनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था—'पाञ्चालराजकुमारि ! युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाले हैं। ये कई सहस्र राजाओंका संहार करके तुम्हें सुखके सिंहासनपर प्रतिष्ठित करेंगे।' किंतु जनेश्वर ! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सासकी कही हुई बात भी व्यर्थ होती दिखायी देती है ॥ ३०-३१ ॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥ ३२ ॥

जिनका जेठा भाई उन्मत्त हो जाता है, वे सभी उसीका अनुकरण करने लगते हैं। महाराज ! आपके उन्मादसे सारे पाण्डव भी उन्मत्त हो गये हैं ॥ ३२ ॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम् ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! यदि ये आपके भाई उन्मत्त नहीं हुए होते तो नास्तिकोंके साथ आपको भी बाँधकर स्वयं इस वसुधाका शासन करते ॥ ३३ ॥

कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥ ३४ ॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद् य उन्मार्गेण गच्छति।

जो मूर्ख इस प्रकारका काम करता है, वह कभी कल्याणका भागी नहीं होता। जो उन्मादग्रस्त होकर उलटे मार्गसे चलने लगता है, उसके लिये धूपकी सुगंध देकर, आँखोंमें सिद्ध अञ्जन लगाकर, नाकमें सुँघनी सुँघाकर अथवा और कोई औषध खिलाकर उसके रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३४½ ॥

साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥ ३५ ॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम्।

भरतश्रेष्ठ ! मैं ही संसारकी सब स्त्रियोंमें अधम हूँ, जो कि पुत्रोंसे हीन हो जानेपर भी जीवित रहना चाहती हूँ ॥ ३५½ ॥

एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा ॥ ३६ ॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम्।

ये सब लोग आपको समझानेका प्रयत्न कर रहे हैं; फिर भी आप ध्यान नहीं देते। मैं इस समय जो कुछ कह रही हूँ मेरी यह बात झूठी नहीं है। आप सारी पृथ्वीका राज्य छोड़कर अपने लिये स्वयं ही विपत्ति खड़ी कर रहे हैं ॥ ३६½ ॥

यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम ॥ ३७ ॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे मान्धाता और अम्बरीष भूमण्डलके समस्त राजाओंमें सम्मानित थे, राजन् ! वैसे ही आप भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३७½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३८ ॥
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव।

नरेश्वर ! धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपोंसहित पृथ्वी देवीका शासन कीजिये। इस प्रकार उदासीन न होइये ॥ ३८½ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥ ३९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान और शत्रुओंके साथ युद्ध कीजिये। ब्राह्मणोंको धन, भोगसामग्री और वस्त्रोंका दान कीजिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा राजदण्डकी महत्ताका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रुपदकुमारीका यह वचन सुनकर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए अर्जुनने फिर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! दण्ड समस्त प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओरसे रक्षा करता है, सबके सो जानेपर भी दण्ड जागता रहता है; इसलिये विद्वान् पुरुषोंने दण्डको राजाका धर्म माना है ॥ २ ॥

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥ ३ ॥

जनेश्वर! दण्ड ही धर्म और अर्थकी रक्षा करता है, वही कामका भी रक्षक है, अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है ॥ ३ ॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वानुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम्॥ ४ ॥

दण्डसे धान्यकी रक्षा होती है, उसीसे धनकी भी रक्षा होती है; ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिये और जगत्के व्यवहारपर दृष्टि डालिये ॥ ४ ॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ ५ ॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ ६ ॥

कितने ही पापी राजदण्डके भयसे पाप नहीं करते हैं। कुछ लोग यमदण्डके भयसे, कोई परलोकके भयसे और कितने ही पापी आपसमें एक दूसरेके भयसे पाप नहीं करते हैं। जगत्की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है; इसलिये सब कुछ दण्डमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५-६ ॥

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ७ ॥

बहुत-से मनुष्य दण्डके ही भयसे एक दूसरेको खा नहीं जाते हैं, यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग घोर अन्धकारमें डूब जायँ ॥ ७ ॥

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥ ८ ॥

यह उद्दण्ड मनुष्योंका दमन करता और दुष्टोंको दण्ड देता है, अतः उस दमन और दण्डके कारण ही विद्वान् पुरुष इसे दण्ड कहते हैं ॥ ८ ॥

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मण अपराध करे तो वाणीसे उसको अपमानित करना ही उसका दण्ड है, क्षत्रियको भोजनमात्रके लिये वेतन देकर उससे काम लेना उसका दण्ड है, वैश्योंसे जुर्मानाके रूपमें धन वसूल करना उनका दण्ड है, परंतु शूद्र दण्डरहित कहा गया है। उससे सेवा लेनेके सिवा और कोई दण्ड उसके लिये नहीं है ॥ ९ ॥

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते॥ १० ॥

प्रजानाथ! मनुष्योंको प्रमादसे बचाने और उनके धनकी रक्षा करनेके लिये लोकमें जो मर्यादा स्थापित की गयी है, उसीका नाम दण्ड है ॥ १० ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत् साधु पश्यति॥ ११ ॥

दण्डनीयपर ऐसी जोरकी मार पड़ती है कि उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा जाता है; इसलिये दण्डको काला कहा गया है, दण्ड देनेवालेकी आँखें क्रोधसे लाल रहती हैं; इसलिये उसे लोहिताक्ष कहते हैं। ऐसा दण्ड जहाँ सर्वथा शासनके लिये उद्यत होकर विचरता रहता है और नेता या शासक अच्छी तरह अपराधोंपर दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती ॥ ११ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्डके ही भयसे अपने-अपने मार्गपर स्थिर रहते हैं ॥ १२ ॥

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति॥ १३ ॥

राजन्! बिना भयके कोई यज्ञ नहीं करता है, बिना भयके कोई दान नहीं करना चाहता है और दण्डका भय न हो तो कोई पुरुष मर्यादा या प्रतिज्ञाके पालनपर भी स्थिर नहीं रहना चाहता है ॥ १३ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ १४ ॥

मछली मारनेवाले मल्लाहोंकी तरह दूसरोंके मर्मस्थानोंका उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियोंको मारे बिना कोई बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता ॥

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत॥ १५ ॥

जो दूसरोंका वध नहीं करता, उसे इस संसारमें न तो कीर्ति मिलती है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही उपलब्ध होती है। इन्द्र वृत्रासुरका वध करनेसे ही महेन्द्र हो गये॥ १५॥

य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम्।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः॥ १६॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत॥ १७॥
एतान् देवान् नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः।

जो देवता दूसरोंका वध करनेवाले हैं, उन्हींकी संसार अधिक पूजा करता है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुद्गण, साध्य तथा विश्वेदेव—ये सब देवता दूसरोंका वध करते हैं; इनके प्रतापके सामने नतमस्तक होकर सब लोग इन्हें नमस्कार करते हैं॥ १६-१७½॥

न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथंचन॥ १८॥
मध्यस्थान् सर्वभूतेषु दान्ताञ्शमपरायणान्।
यजन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्वकर्मसु॥ १९॥

परंतु ब्रह्मा, धाता और पूषाकी कोई किसी तरह भी पूजा अर्चा नहीं करते हैं; क्योंकि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेके कारण मध्यस्थ, जितेन्द्रिय एवं शान्तिपरायण हैं। जो शान्त स्वभावके मनुष्य हैं, वे ही समस्त कर्मोंमें इन धाता आदिकी पूजा करते हैं॥ १८-१९॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः॥ २०॥

संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको मैं नहीं देखता, जो अहिंसासे जीविका चलाता हो; क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवोंद्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं॥ २०॥

नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजञ्श्वानं व्यालमृगस्तथा॥ २१॥

राजन्! नेवला चूहेको खा जाता है और नेवलेको बिलाव, बिलावको कुत्ता और कुत्तेको चीता चबा जाता है॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान् पश्य कालो यथागतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत्॥ २२॥

परंतु इन सबको मनुष्य मारकर खा जाता है। देखो, कैसा काल आ गया है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्राणका अन्न है॥ २२॥

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि॥ २३॥

यह सब दैवका विधान है। इसमें विद्वान् पुरुषको मोह नहीं होता है। राजेन्द्र! आपको विधाताने जैसा बनाया है, (जिस जाति और कुलमें आपको जन्म दिया है) वैसा ही आपको होना चाहिये॥ २३॥

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम्॥ २४॥

जिनमें क्रोध और हर्ष दोनों ही नहीं रह गये हैं, वे मन्दबुद्धि क्षत्रिय वनमें जाकर तपस्वी बन जाते हैं, परंतु बिना हिंसा किये वे भी जीवन-निर्वाह नहीं कर पाते हैं॥ २४॥

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्॥ २५॥

जलमें बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वीपर तथा वृक्षके फलोंमें भी बहुत-से कीड़े होते हैं। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो इनमेंसे किसीको कभी न मारता हो। यह सब जीवन-निर्वाहके सिवा और क्या है?॥ २५॥

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥ २६॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनिके जीव हैं, जो अनुमानसे ही जाने जाते हैं। मनुष्यकी पलकोंके गिरनेमात्रसे जिनके कंधे टूट जाते हैं (ऐसे जीवोंकी हिंसासे कोई कहाँ तक बच सकता है?)॥ २६॥

ग्रामान् निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः॥ २७॥

कितने ही मुनि क्रोध और ईर्ष्यासे रहित हो गाँवसे निकलकर वनमें चले जाते हैं और वहीं मोहवश गृहस्थधर्ममें अनुरक्त दिखायी देते हैं॥ २७॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान् पशून्।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च॥ २८॥

मनुष्य धरतीको खोदकर तथा ओषधियों, वृक्षों, लताओं, पक्षियों और पशुओंका उच्छेद करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और वे स्वर्गमें भी चले जाते हैं॥ २८॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः॥ २९॥

कुन्तीनन्दन! दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग होनेपर समस्त प्राणियोंके सभी कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है॥ २९॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥ ३०॥

यदि संसारमें दण्ड न रहे तो यह सारी प्रजा नष्ट हो जाय और जैसे जलमें बड़े मत्स्य छोटी मछलियोंको खा जाते हैं, उसी प्रकार प्रबल जीव दुर्बल जीवोंको अपना आहार बना लें॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं
दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः
संतर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति॥ ३१॥

ब्रह्माजीने पहले ही इस सत्यको बता दिया है कि अच्छी तरह प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड प्रजाजनोंकी रक्षा करता है। देखो, जब आग बुझने लगती है, तब वह फूँककी फटकार

पड़नेपर डर जाती और दण्डके भयसे फिर प्रज्वलित हो उठती है ॥ ३१ ॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्राज्ञायत किंचन ।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३२ ॥

यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला दण्ड न हो तो सब जगह अंधेर मच जाय और किसीको कुछ सूझ न पड़े ॥ ३२ ॥

येऽपि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः ॥ ३३ ॥

जो धर्मकी मर्यादा नष्ट करके वेदोंकी निन्दा करनेवाले नास्तिक मनुष्य हैं, वे भी डंडे पड़नेपर उससे पीड़ित हो शीघ्र ही राहपर आ जाते हैं—मर्यादा-पालनके लिये तैयार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः ।
दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥ ३४ ॥

सारा जगत् दण्डसे विवश होकर ही रास्तेपर रहता है; क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्डके भयसे डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालनमें प्रवृत्त होता है ॥ ३४ ॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम्॥ ३५ ॥

विधाताने दण्डका विधान इस उद्देश्यसे किया है कि चारों वर्णोंके लोग आनन्दसे रहें, सबमें अच्छी नीतिका बर्ताव हो तथा पृथ्वीपर धर्म और अर्थकी रक्षा रहे ॥ ३५ ॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च ।
अद्युः पशून् मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥

यदि पक्षी और हिंसक जीव दण्डके भयसे डरते न होते तो वे पशुओं, मनुष्यों और यज्ञके लिये रक्खे हुए हविष्योंको खा जाते ॥ ३६ ॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते ।
न कन्योद्वहनं गच्छेद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥

यदि दण्ड मर्यादाकी रक्षा न करे तो ब्रह्मचारी वेदोंके अध्ययनमें न लगे, सीधी गौ भी दूध न दुहावे और कन्या ब्याह न करे ॥ ३७ ॥

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो चारों ओरसे धर्म-कर्मका लोप हो जाय, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और लोग यह भी न जानें कि कौन वस्तु मेरी है और कौन नहीं ?

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥

यदि दण्ड धर्मका पालन न करावे तो विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त संवत्सरयज्ञ भी बेखटके न होने पावे ॥

चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः ।
न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥४०॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो लोग आश्रमोंमें रहकर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धर्मका पालन न करें और कोई विद्या भी न पढ़ सके ॥ ४० ॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥

यदि दण्ड कर्तव्यका पालन न करावे तो ऊँट, बैल, घोड़े, खच्चर और गदहे रथोंमें जोत दिये जानेपर भी उन्हें ढोकर ले न जायँ ॥ ४१ ॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित् ।
न तिष्ठेद् युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४२ ॥

यदि दण्ड धर्म और कर्तव्यका पालन न करावे तो सेवक स्वामीकी बात न माने, बालक भी कभी माँ-बापकी आज्ञाका पालन न करें और युवती स्त्री भी अपने सतीधर्ममें स्थिर न रहे ॥ ४२ ॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ॥ ४३ ॥

दण्डपर ही सारी प्रजा टिकी हुई है, दण्डसे ही भय होता है, ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है । मनुष्योंका इहलोक और स्वर्गलोक दण्डपर ही प्रतिष्ठित है ॥ ४३ ॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि दृश्यते ।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥ ४४ ॥

जहाँ शत्रुओंका विनाश करनेवाला दण्ड सुन्दर ढंगसे संचालित हो रहा है, वहाँ छल, पाप और ठगी भी नहीं देखनेमें आती है ॥ ४४ ॥

हविः श्वा प्रलिहेद् दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् ।
हरेत् काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४५ ॥

यदि दण्ड रक्षाके लिये सदा उद्यत न रहे तो कुत्ता हविष्यको देखते ही चाट जाय और यदि दण्ड रक्षा न करे तो कौआ पुरोडाशको उठा ले जाय ॥ ४५ ॥

यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः ।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुङ्क्ष्व भोगान् यजस्व च॥ ४६ ॥

यह राज्य धर्मसे प्राप्त हुआ हो या अधर्मसे, इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आप भोग भोगिये और यज्ञ कीजिये ॥ ४६ ॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः ।
संवर्षन्तः फलैर्दानैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाले धनवान् पुरुष सुखपूर्वक धर्मका आचरण करते हैं और उत्तम अन्न भोजन करते हुए फलों और दानोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः ।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥ ४८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि सारे कार्य धनके अधीन हैं, परंतु धन दण्डके अधीन है। देखिये, दण्डकी कैसी महिमा है ?॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।
अहिंसासाधुहिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥ ४९ ॥

लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। सर्वथा हिंसा न की जाय अथवा दुष्टकी हिंसा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होनेपर जिसमें धर्मकी रक्षा हो, वही कार्य श्रेष्ठ मानना चाहिये * ॥ ४९ ॥

नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम्।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥ ५० ॥

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें सर्वथा गुण-ही-गुण हो। ऐसी भी वस्तु नहीं है जो सर्वथा गुणोंसे वञ्चित ही हो। सभी कार्योंमें अच्छाई और बुराई दोनों ही देखनेमें आती हैं॥

पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति वहवो भारान् वध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥

बहुत-से मनुष्य पशुओं (बैलों) का अण्डकोश काटकर फिर उसके मस्तकपर उगे हुए दोनों सींगोंको भी विदीर्ण कर देते हैं, जिससे वे अधिक बढ़ने न पावें। फिर उनसे भार ढुलाते हैं, उन्हें घरमें बाँधे रखते हैं और नये बच्छेको गाड़ी आदिमें जोतकर उसका दमन करते हैं—उनकी उद्दण्डता दूर करके उनसे काम करनेका अभ्यास कराते हैं॥

एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥

महाराज! इस प्रकार सारा जगत् मिथ्या व्यवहारोंसे आकुल और दण्डसे जर्जर हो गया है। आप भी उन्हीं-उन्हीं न्यायोंका अनुसरण करके प्राचीन धर्मका आचरण कीजिये॥

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ ५३ ॥

यज्ञ कीजिये, दान दीजिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और धर्मका निरन्तर पालन करते रहिये। कुन्तीनन्दन! आप शत्रुओंका वध और मित्रोंका पालन कीजिये ॥ ५३ ॥

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किंचित् कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

राजन्! शत्रुओंका वध करते समय आपके मनमें दीनता नहीं आनी चाहिये। भारत! शत्रुओंका वध करनेसे कर्ताको कोई पाप नहीं लगता ॥ ५४ ॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥ ५५ ॥

जो हाथमें हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायीको जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, उससे वह भ्रूण-हत्याका भागी नहीं होता; क्योंकि मारनेके लिये आये हुए उस मनुष्यका क्रोध ही उसका वध करनेवालेके मनमें भी क्रोध पैदा कर देता है ॥ ५५ ॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्यचित् ॥ ५६ ॥

समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा अवध्य है, इसमें संशय नहीं है। जब आत्माका वध हो ही नहीं सकता, तब वह किसीका वध्य कैसे होगा ? ॥ ५६ ॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

जैसे मनुष्य बारंबार नये घरोंमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न शरीरोंको ग्रहण करता है। पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंको अपना लेता है। इसीको तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्युका मुख बताते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

भीमसेनका राजाको भुक्त दुःखोंकी स्मृति कराते हुए मोह छोड़कर मनको काबूमें करके राज्यशासन और यज्ञके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेनने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाईसे कहा—॥ १ ॥

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥ २ ॥

'राजन्! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हमलोग आपसे सदा ही सदाचारकी शिक्षा पाते हैं। हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते ॥ २ ॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।

* यदि गोशालामें बाघ आ जाय तो उसकी हिंसा ही उचित होगी, क्योंकि उसका वध न करनेसे कितनी ही गौओंकी हिंसा हो जायगी। अतः 'आर्त-रक्षा' रूप धर्मकी सिद्धिके लिये उस हिंसक प्राणीका वध ही वहाँ श्रेयस्कर होगा।

अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥

'जनेश्वर ! मैंने कई बार मनमें निश्चय किया कि 'अब नहीं बोलूँगा, नहीं बोलूँगा;' परंतु अधिक दुःख होनेके कारण बोलना ही पड़ता है । आप मेरी बात सुनें ॥ ३ ॥

भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम् ।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥

'आपके इस मोहसे सब कुछ संशयमें पड़ गया है । हमारे तन-मनमें व्याकुलता और निर्बलता प्राप्त हो गयी है ॥

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः ।
मोहमापद्यसे दैन्याद् यथा कापुरुषस्तथा ॥ ५ ॥

'आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और इस जगत्के राजा होकर क्यों कायर मनुष्यके समान दीनतावश मोहमें पड़े हुए हैं ॥ ५ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव ।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'आपको संसारकी गति और अगति दोनोंका ज्ञान है । प्रभो ! आपसे न तो वर्तमान छिपा है और न भविष्य ही ॥६॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप ।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥

'महाराज ! जनेश्वर ! ऐसी स्थितिमें आपको राज्यके प्रति आकृष्ट करनेका जो कारण है, उसे ही यहाँ बता रहा हूँ । आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ ७ ॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा ।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते ॥ ८ ॥

'मनुष्यको दो प्रकारकी व्याधियाँ होती हैं—एक शारीरिक और दूसरी मानसिक । इन दोनोंकी उत्पत्ति एक दूसरेके आश्रित है । एकके बिना दूसरीका होना सम्भव नहीं है ॥

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः ।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥

'कभी शारीरिक व्याधिसे मानसिक व्याधि होती है, इसमें संशय नहीं है । इसी प्रकार कभी मानसिक व्याधिसे शारीरिक व्याधिका होना भी निश्चित ही है ॥ ९ ॥

शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति ॥ १० ॥

'जो मनुष्य बीते हुए मानसिक अथवा शारीरिक दुःखके लिये बारंबार शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है । उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥

'सर्दी, गर्मी और वायु (कफ, पित्त और वात) ये तीन शारीरिक गुण हैं । इन गुणोंका साम्यावस्थामें रहना ही स्वस्थताका लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते ।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥

'उन तीनोंमेंसे यदि किसी एककी वृद्धि हो जाय तो उसकी चिकित्सा बतायी जाती है । उष्ण द्रव्यसे सर्दी और शीत पदार्थसे गर्मीका निवारण होता है ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ १३ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन मानसिक गुण हैं । इन तीनों गुणोंका सम अवस्थामें रहना मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १४ ॥

'इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उपचार बताया जाता है । हर्ष (सत्त्व) के द्वारा शोक (रजोगुण) का निवारण होता है और शोकके द्वारा हर्षका ॥ १४ ॥

कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १५ ॥

'कोई सुखमें रहकर दुःखकी बातें याद करना चाहता है और कोई दुःखमें रहकर सुखका स्मरण करना चाहता है॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा ।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥ १६ ॥
स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम् ।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे ॥ १७ ॥

'कुरुनन्दन ! परंतु आप न दुखी होकर दुःखकी, न सुखी होकर सुखकी, न दुःखकी अवस्थामें सुखकी और न सुखकी अवस्थामें दुःखकी ही बातें याद करना चाहते हैं; क्योंकि भाग्य बड़ा प्रबल होता है अथवा महाराज ! आपका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे आप क्लेश उठाकर रहते हैं ॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'कौरव-सभामें पाण्डुपुत्रोंके देखते-देखते जो एक वस्त्र-धारिणी रजस्वला कृष्णाको लाया गया था, उसे आपने अपनी आँखों देखा था । क्या आपको उस घटनाका स्मरण नहीं होना चाहिये ? ॥ १८ ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम् ।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'आप नगरसे निकाले गये, आपको मृगछाला पहनाकर वनवास दे दिया गया और बड़े-बड़े जङ्गलोंमें आपको रहना पड़ा । क्या इन सब बातोंको आप याद नहीं कर सकते ? ॥

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम् ।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥ २० ॥

'जटासुरसे जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेनके साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिंधुराज जयद्रथके कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी बातें आप कैसे भूल गये ? ॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम्।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥ २१ ॥

'फिर अज्ञातवासके समय कीचकने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदीको लात मारी थी, उस घटनाको आपने सहसा कैसे भुला दिया ? ॥ २१ ॥

(बलिनो हि वयं राजन् देवैरपि सुदुर्जयाः।
कथं भृत्यत्वमापन्ना विराटनगरे स्मर ॥)

'राजन् ! हम बलवान् हैं, देवताओंके लिये भी हमें परास्त करना कठिन होगा तो भी विराटनगरमें हमें कैसे दासता करनी पड़ी थी, इसे याद कीजिये ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको एकमात्र अपने मनके साथ युद्ध करना है ॥ २२ ॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

'इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है, न मित्रों और बन्धुओंकी सहायताका। अकेले आपको ही लड़ना है। वह युद्ध आपके सामने उपस्थित है ॥ २३ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥ २४ ॥

'इस युद्धमें विजय पाये बिना यदि आप प्राणोंका परित्याग कर देंगे तो दूसरा देह धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओंके साथ आपको युद्ध करना पड़ेगा ॥ २४ ॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्ध्यस्व भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥ २५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले साकार शत्रुको छोड़कर अव्यक्त (सूक्ष्म) शत्रु मनके साथ युद्ध करनेके लिये आपको अभी चल देना चाहिये; विचार आदि अपनी बौद्धिक क्रियाओंद्वारा उसके साथ आप अवश्य युद्ध करें ॥ २५ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २६ ॥

'महाराज ! यदि युद्धमें आपने मनको परास्त नहीं किया तो पता नहीं, आप किस अवस्थाको पहुँच जायँगे ? और यदि मनको जीत लिया तो अवश्य कृतकृत्य हो जायँगे ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ २७ ॥

'प्राणियोंके आवागमनको देखते हुए इस विचारधाराको बुद्धिमें स्थिर करके आप पिता-पितामहोंके आचारमें प्रतिष्ठित हो यथोचित रूपसे राज्यका शासन कीजिये ॥ २७ ॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि।
द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥ २८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि पापी दुर्योधन सेवकोंसहित युद्धमें मारा गया और सौभाग्यसे ही आप दुःशासनके हाथसे मुक्त हुए द्रौपदीके केशपाशकी भाँति युद्धसे छुटकारा पा गये ॥ २८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

'कुन्तीनन्दन! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करें। हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमवाक्यविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भीमकी बातका विरोध करते हुए मुनिवृत्तिकी और ज्ञानी महात्माओंकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

असंतोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥ १ ॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसे।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! असंतोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान तथा उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, इसीलिये तुम्हें राज्यकी इच्छा होती है। भाई ! सकाम कर्म और बन्धनसे* रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ ॥ १-२ ॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥

जो सम्राट् इस सारी पृथ्वीका अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी एक ही पेट होता है; अतः तुम किसलिये इस राज्यकी प्रशंसा करते हो ? ॥ ३ ॥

नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस इच्छाको एक दिनमें या कई महीनोंमें भी पूर्ण नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, सारी आयु प्रयत्न करनेपर भी इस अपूरणीय इच्छाकी पूर्ति होनी असम्भव है ॥ ४ ॥

* आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥
(१७। १७)

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ॥ ५ ॥

जैसे आगमें जितना ही ईंधन डालो, वह प्रज्वलित होती जायगी और ईंधन न डाला जाय तो वह अपने-आप बुझ जाती है। इसी प्रकार तुम भी अपना आहार कम करके इस जगी हुई जठराग्निको शान्त करो ॥ ५ ॥

आत्मोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥ ६ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपने पेटके लिये ही बहुत हिंसा करता है; अतः तुम पहले अपने पेटको ही जीतो। फिर ऐसा समझा जायगा कि इस जीती हुई पृथ्वीके द्वारा तुमने कल्याणपर विजय पा ली है ॥ ६ ॥

मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

भीमसेन! तुम मनुष्योंके कामभोग और ऐश्वर्यकी बड़ी प्रशंसा करते हो; परंतु जो भोगरहित हैं और तपस्या करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पदको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ ।
मुच्यस्व महतो भारात् त्यागमेवाभिसंश्रय ॥ ८ ॥

राष्ट्रके योग और क्षेम, धर्म तथा अधर्म सब तुममें ही स्थित हैं। तुम इस महान् भारसे मुक्त हो जाओ और त्यागका ही आश्रय लो ॥ ८ ॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु ।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः ॥ ९ ॥

बाघ एक ही पेटके लिये बहुत-से प्राणियोंकी हिंसा करता है, दूसरे लोभी और मूर्ख पशु भी उसीके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ९ ॥

विषयान् प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुरुते यतिः ।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ १० ॥

यत्नशील साधक विषयोंका परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, तो वह संतुष्ट हो जाता है; परंतु विषयभोगोंसे सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी संतुष्ट नहीं होते। देखो, इन दोनोंके विचारोंमें कितना अन्तर है? ॥ १० ॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥ ११ ॥

जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं, जो पत्थरपर पीसकर अथवा दाँतोंसे ही चबाकर भोजन करनेवाले हैं (अर्थात् जो चक्कीका पीसा और ओखलीका कूटा नहीं खाते हैं) तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषोंने ही नरकपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः ।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥ १२ ॥

जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोनेको समान समझनेवाला है—इन दोनोंमेंसे वह त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं।

संकल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १३ ॥

अपने मनोरथोंके पीछे बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करो, आशा तथा ममता न रक्खो और उस शोकरहित पदका आश्रय लो, जो इहलोक और परलोकमें भी अविनाशी है ॥

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम् ।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात् प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे तो कभी शोक नहीं करते हैं; फिर तुम क्यों भोगोंकी चिन्ता करते हो? सारे भोगोंका परित्याग कर देनेपर तुम मिथ्यावादसे छूट जाओगे॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥ १५ ॥

देवयान और पितृयान—ये दो परलोकके प्रसिद्ध मार्ग हैं। जो सकाम यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं, वे पितृयानसे जाते हैं और मोक्षके अधिकारी देवयानमार्गसे ॥ १५ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १६ ॥

महर्षिगण तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्यायके बलसे देहत्यागके पश्चात् ऐसे लोकमें पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है ॥ १६ ॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम् ॥ १७ ॥

इस जगत्‌में ममता और आसक्तिके बन्धनको आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है। इन दोनों आमिषस्वरूप पापोंसे जो मुक्त हो गया है, वही परमपदको प्राप्त होता है॥

अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १८ ॥

इस विषयमें पूर्वकालमें राजा जनककी कही हुई एक गाथाका लोग उल्लेख किया करते हैं। राजा जनक समस्त द्वन्द्वोंसे रहित और जीवन्मुक्त पुरुष थे। उन्होंने मोक्षस्वरूप परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया था ॥ १८ ॥

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ १९ ॥

(उनकी वह गाथा इस प्रकार है—) दूसरोंकी दृष्टिमें मेरे पास बहुत धन है; परंतु उसमेंसे कुछ भी मेरा नहीं है। सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा ॥ १९ ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यञ्शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥ २० ॥

जैसे पर्वतकी चोटीपर चढ़ा हुआ मनुष्य धरतीपर खड़े

हुए प्राणियोंको केवल देखता है, उनकी परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़ा हुआ मनुष्य उन शोक करनेवाले मन्दबुद्धि लोगोंको देखता है, किंतु स्वयं उनकी भाँति दुखी नहीं होता ॥ २० ॥

दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात् सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते ॥ २१ ॥

जो स्वयं द्रष्टारूपसे पृथक् रहकर इस दृश्यप्रपञ्चको देखता है, वही आँखवाला है और वही बुद्धिमान् है । अज्ञात तत्त्वोंका ज्ञान एवं सम्यग् बोध करानेके कारण अन्तःकरण-की एक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं ॥ २१ ॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै ।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २२ ॥

जो ब्रह्मभावको प्राप्त हुए शुद्धात्मा विद्वानोंका-सा बोलना जान लेता है, उसे अपने ज्ञानपर बड़ा अभिमान हो जाता है (जैसे कि तुम हो) ॥ २२ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २३ ॥

जब पुरुष प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको एकमात्र परमात्मामें ही स्थित देखता है और उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् और तपस्वी ही उस गतिको प्राप्त होते हैं । जो अज्ञानी, मन्दबुद्धि, शुद्धबुद्धिसे रहित और तपस्यासे शून्य हैं, वे नहीं; क्योंकि सब कुछ बुद्धिमें ही प्रतिष्ठित है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा जनक और उनकी रानीका दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिरको संन्यास ग्रहण करनेसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णीम्भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
संतप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्छल्यपीडितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा युधिष्ठिर ऐसा कहकर चुप हो गये, तब राजाके वाग्बाणोंसे पीड़ित हो शोक और दुःखसे संतप्त हुए अर्जुन फिर उनसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—भारत ! विज्ञ पुरुष विदेहराज जनक और उनकी रानीका संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम् ।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत ॥ ३ ॥

एक समय राजा जनकने भी राज्य छोड़कर भिक्षासे जीवन-निर्वाह कर लेनेका निश्चय कर लिया था । उस समय विदेहराजकी महारानीने दुखी होकर जो कुछ कहा था, वही आपको सुना रहा हूँ ॥ ३ ॥

धनान्यपत्यं दारांश्च रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः ॥ ४ ॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिंचनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः ॥ ६ ॥

कहते हैं, एक दिन राजा जनकपर मूढ़ता छा गयी और वे धन, संतान, स्त्री, नाना प्रकारके रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्रका भी त्याग करके अकिंचन हो गये । उन्होंने भिक्षु-वृत्ति अपना ली और वे मुट्ठीभर भुना हुआ जौ खाकर रहने लगे । उन्होंने सब प्रकारकी चेष्टाएँ छोड़ दीं । उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं रह गया था । इस प्रकार निर्भय स्थितिमें पहुँचे हुए अपने स्वामीको उनकी भार्याने देखा और उनके पास आकर कुपित हुई उस मनस्विनी एवं प्रिय रानीने एकान्तमें यह युक्तियुक्त बात कही—॥४-६॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपने धन-धान्यसे सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगनेका धंधा कैसे अपना लिया ? यह मुट्ठीभर जौ आपको शोभा नहीं दे रहा है ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है । भूपाल ! आपने विशाल राज्य छोड़कर थोड़ी-सी वस्तुमें संतोष कर लिया ॥ ८ ॥

नैतेनातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा ।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस मुट्ठीभर जौसे देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियोंका आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ है ॥ ९ ॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव ।

सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १० ॥

'पृथ्वीनाथ ! आप सम्पूर्ण देवताओं, अतिथियों और पितरोंसे परित्यक्त होकर अकर्मण्य हो घर छोड़ रहे हैं॥१०॥

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः ।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि॥ ११ ॥

'तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े सहस्रों ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले होकर भी आज आप उन्हींके द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं ॥ ११ ॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे ।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥

'इस जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर इस समय आप दर-दर भटकनेवाले कुत्तेके समान दिखायी देते हैं। आज आपके जीते-जी आपकी माता पुत्रहीन और यह अभागिनी कौशल्या पतिहीन हो गयी ॥ १२ ॥

अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते ।
त्वदाशामभिकाङ्क्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १३ ॥

'ये धर्मकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय जो सदा आपकी सेवामें बैठे रहते हैं, आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, इन बेचारोंको सेवाका फल चाहिये ॥ १३ ॥

तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥

'राजन् ! मोक्षकी प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं, ऐसी दशामें उन अर्थार्थी सेवकोंको यदि आप विफल-मनोरथ करते हैं तो पता नहीं, किस लोकमें जायँगे ?

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः ।
धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् १५

'आप अपनी धर्मपत्नीका परित्याग करके जो अकेला जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा, न परलोक ॥ १५ ॥

स्रजो गन्धानलंकारान् वासांसि विविधानि च।
किमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १६ ॥

'बताइये तो सही, इन सुन्दर-सुन्दर मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंको छोड़कर किसलिये कर्महीन होकर घरका परित्याग कर रहे हैं ?॥१६॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत् ।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये पवित्र एवं विशाल प्याऊके समान थे—सभी आपके पास अपनी प्यास बुझाने आते थे। आप फलोंसे भरे हुए वृक्षके समान थे—कितने ही प्राणियोंकी भूख मिटाते थे, परंतु वे ही आप अब (भूख-प्यास मिटानेके लिये) दूसरोंका मुँह जोह रहे हैं ॥ १७ ॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत ।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम् ॥ १८ ॥

'यदि हाथी भी सारी चेष्टा छोड़कर एक जगह पड़ जाय तो मांसभक्षी जीव-जन्तु और कीड़े धीरे-धीरे उसे खा जाते हैं, फिर सब पुरुषार्थोंसे शून्य आप-जैसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत् तस्मिन् कथं ते मानसं भवेत्॥ १९ ॥

'यदि आपकी कोई यह कुण्डी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले जाय और ये वस्त्र भी चुरा ले जाय तो उस समय आपके मनकी कैसी अवस्था होगी ? ॥ १९ ॥

यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः ।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे ॥ २० ॥

'यदि सब कुछ छोड़कर भी आप मुट्ठीभर जौके लिये दूसरोंकी कृपा चाहते हैं तो राज्य आदि अन्य सब वस्तुएँ भी तो इसीके समान हैं, फिर उस राज्यके त्यागकी क्या विशेषता रही ? ॥ २० ॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति ।
का वाहं तव को मे त्वं कश्च तेमय्यनुग्रहः ॥ २१ ॥

'यदि यहाँ मुट्ठीभर जौकी आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देनेकी जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जानेपर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं तथा आपका मुझपर अनुग्रह भी क्या है ? ॥ २१ ॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत् ।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वीका शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणोंको भी उपयोगमें लाइये ॥ २२ ॥

श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः ।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥२३॥

'श्रीहीन, निर्धन, मित्रोंद्वारा त्यागे हुए, अकिंचन एवं सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंकी भाँति सब प्रकारसे परिपूर्ण राजलक्ष्मीका जो परित्याग करता है उससे उसे क्या लाभ ?॥ २३ ॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद् यश्च दद्यात् सदैव हि ।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते ॥ २४ ॥

'जो बराबर दूसरोंसे दान लेता (भिक्षा ग्रहण करता) तथा जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनोंमें क्या अन्तर है और उनमेंसे किसको श्रेष्ठ कहा जाता है ? यह आप समझिये॥ २४ ॥

सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च ।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २५ ॥

'सदा ही याचना करनेवालेको और दम्भीको दी हुई

दक्षिणा दावानलमें दी गयी आहुतिके समान व्यर्थ है॥ २५ ॥

जातवेदा यथा राजन् नादग्ध्वैवोपशाम्यति ।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति न द्विजः ॥ २६ ॥

'राजन् ! जैसे आग लकड़ीको जलाये बिना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करनेवाला ब्राह्मण (याचनाका अन्त किये बिना) कभी शान्त नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिर्ध्रुवा ।
न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः ॥२७॥

'इस संसारमें दाताका अन्न ही साधु-पुरुषोंकी जीविकाका निश्चित आधार है। यदि दान करनेवाला राजा न हो तो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले साधु-संन्यासी कैसे जी सकते हैं ? ॥ २७ ॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च ।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ २८ ॥

'इस जगत्में अन्नसे गृहस्थ और गृहस्थोंसे भिक्षुओंका निर्वाह होता है। अन्नसे प्राणशक्ति प्रकट होती है; अतः अन्नदाता प्राणदाता होता है ॥ २८ ॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः ।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते ॥ २९ ॥

'जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ-आश्रमसे अलग होकर भी गृहस्थोंके ही सहारे जीवन धारण करते हैं। वहींसे वह प्रकट होते हैं और वहीं उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति नसुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥ ३० ॥

'केवल त्यागसे, मूढ़तासे और याचना करनेसे किसीको भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरलभावसे स्वार्थका त्याग करता है और सुखमें आसक्त नहीं होता, उसे ही भिक्षु समझिये ॥ ३० ॥

असक्तः सक्तवद् गच्छन् निःसङ्गो मुक्तबन्धनः ।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥ ३१ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्तकी भाँति विचरता है, जो संगरहित एवं सब प्रकारके बन्धनोंको तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्रमें जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है ॥ ३१ ॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः ।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम् ॥ ३२ ॥

'बहुत-से मनुष्य दान लेने (पेट पालने) के लिये मूड़ मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और घरसे निकल जाते हैं। वे नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधे होनेके कारण व्यर्थ भोगोंकी ही खोज करते रहते हैं * ॥ ३२ ॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये ।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥ ३३ ॥

'बहुत-से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदोंके अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रोंका परित्याग करके चल देते हैं और त्रिदण्ड एवं भगवा वस्त्र धारण कर लेते हैं ॥ ३३ ॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम् ।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मितिः ॥ ३४ ॥

'यदि हृदयका कषाय (राग आदि दोष) दूर न हुआ हो तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधनकी चेष्टाके लिये ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्मका ढोंग रखनेवाले मथमुंडोंके लिये यह जीविका चलानेका एक धंधामात्र है ॥ ३४ ॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान् ।
बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥३५॥

'महाराज ! आप तो जितेन्द्रिय होकर नंगे रहनेवाले, मूड़ मुड़ाने और जटा रखानेवाले साधुओंका गेरुआ वस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रोंके द्वारा भरण-पोषण करते हुए पुण्य-लोकोंपर विजय प्राप्त कीजिये ॥ ३५ ॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान् ।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः ॥ ३६ ॥

'जो प्रतिदिन पहले गुरुके लिये अग्निहोत्रार्थ समिधा लाता है; फिर उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ एवं दान करता रहता है, उससे बढ़कर धर्मपरायण कौन होगा ?' ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते ।
सोऽप्यासीन्मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥ ३७ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज ! राजा जनकको इस जगत्में 'तत्त्वज्ञ' कहा जाता है; किंतु वे भी मोहमें पड़ गये थे। (रानीके इस तरह समझानेपर राजाने संन्यासका विचार छोड़ दिया। अतः) आप भी मोहके वशीभूत न होइये ॥ ३७ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ३८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः ।
इष्टाँल्लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः ॥ ३९ ॥

यदि हमलोग सदा दान और तपस्यामें तत्पर हो इसी प्रकार धर्मका अनुसरण करेंगे, दया आदि गुणोंसे सम्पन्न रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोषोंको त्याग देंगे, उत्तम दान-धर्मका आश्रय ले प्रजापालनमें लगे रहेंगे तथा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहेंगे तो हम अपने अभीष्ट लोक प्राप्त कर लेंगे ॥ ३८-३९ ॥

देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि ।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ४० ॥

---

* इसी पर्वमें अध्याय १७ श्लोक १७ देखना चाहिये ।

इसी प्रकार देवता, अतिथि और समस्त प्राणियोंको विधिपूर्वक उनका भाग अर्पण करते हुए यदि हम ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी बने रहेंगे तो हमें अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनका वाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने मतकी यथार्थताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च ।
उभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! मैं धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले अपर तथा पर दोनों प्रकारके शास्त्रोंको जानता हूँ । वेदमें दोनों प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं—'कर्म करो और कर्म छोड़ो'—इन दोनोंका ही मुझे ज्ञान है ॥ १ ॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च ।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥

परस्परविरोधी भावोंसे युक्त जो शास्त्र-वाक्य हैं, उनपर भी मैंने युक्तिपूर्वक विचार किया है । वेदमें उन दोनों प्रकारके वाक्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त है, उसे भी मैं विधिपूर्वक जानता हूँ ॥ २ ॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः ।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥

तुम तो केवल अस्त्रविद्याके पण्डित हो और वीरव्रतका पालन करनेवाले हो । शास्त्रोंके तात्पर्यको यथार्थरूपसे जाननेकी शक्ति तुममें किसी प्रकार नहीं है ॥ ३ ॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः ।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

जो लोग शास्त्रोंके सूक्ष्म रहस्यको समझनेवाले हैं और धर्मका निर्णय करनेमें कुशल हैं, वे भी मुझे इस प्रकार उपदेश नहीं दे सकते । यदि तुम धर्मपर दृष्टि रखते हो तो मेरे इस कथनकी यथार्थताका अनुभव करोगे ॥ ४ ॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया ।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥ ५ ॥

अर्जुन ! कुन्तीनन्दन ! तुमने भ्रातृस्नेहवश जो बात कही है, वह न्यायसङ्गत और उचित है। मैं उससे तुमपर प्रसन्न ही हुआ हूँ ॥ ५ ॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च ।
न त्वया सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण युद्धधर्मोंमें और संग्राम करनेकी कुशलतामें तुम्हारी समानता करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई नहीं है ॥ ६ ॥

धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया ।
धनंजय न मे बुद्धिमभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ७ ॥

धनंजय ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध कहा गया है । उसमें तुम्हारा प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है । मेरी बुद्धि भी उसे समझती है या नहीं, यह आशङ्का तुम्हें नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ ८ ॥

तुम युद्धशास्त्रके ही विद्वान् हो, तुमने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है, अतः संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मको जाननेवाले उन महापुरुषोंका क्या सिद्धान्त है, इसका तुम्हें पता नहीं है ॥ ८ ॥

तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम् ।
परं परं ज्याय एषां येषां नैःश्रेयसी मतिः ॥ ९ ॥

जिन महानुभावोंकी बुद्धि परम कल्याणमें लगी हुई है, उन बुद्धिमानोंका निर्णय इस प्रकार है । तपस्या, त्याग और विधिविधानसे अतीत (ब्रह्मज्ञान) इनमेंसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत् प्रधानतः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम जो यह मानते हो कि धनसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें ऐसी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारी समझमें आ जायगा कि धन प्रधान नहीं है ॥ १० ॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः ।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥

इस जगत्में बहुत-से तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए धर्मात्मा पुरुष देखे जाते हैं तथा ऋषि तो तपस्वी होते ही हैं । इन सबको सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

अजातशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः ।
अरण्ये बहवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ १२ ॥

कितने ही ऐसे धीर पुरुष हैं, जिनके शत्रु पैदा ही नहीं हुए । ये तथा और भी बहुत-से वनवासी हैं, जो वनमें स्वाध्याय करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात् ।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥

बहुत-से आर्य पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर

अविवेकजनित अज्ञानका त्याग करके उत्तरमार्ग (देवयान) के द्वारा त्यागी पुरुषोंके लोकोंमें चले गये ॥ १३ ॥

दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते ।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥

इसके सिवा जो दक्षिण मार्ग है, जिसे प्रकाशपूर्ण बताया गया है, वहाँ जो लोक हैं, वे सकाम कर्म करनेवाले उन गृहस्थोंके लिये हैं, जो श्मशानभूमिका सेवन करते हैं (जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं) ॥ १४ ॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्माद् योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥

परंतु मोक्ष-मार्गसे चलनेवाले पुरुष जिस गतिका साक्षात्कार करते हैं, वह अनिर्देश्य है; अतः ज्ञानयोग ही सब साधनोंमें प्रधान एवं अभीष्ट है, किंतु उसके स्वरूपको समझना बहुत कठिन है ॥ १५ ॥

अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीह स्यादपीह स्यात् सारासारदिदृक्षया ॥ १६ ॥

कहते हैं, किसी समय विद्वान् पुरुषोंने सार और असार वस्तुका निर्णय करनेकी इच्छासे इकट्ठे होकर समस्त शास्त्रोंका बार-बार स्मरण करते हुए यह विचार आरम्भ किया कि क्या इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कुछ सार है या इसके त्यागमें सार है ? ॥ १६ ॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते ॥ १७ ॥

उन्होंने वेदोंके सम्पूर्ण वाक्यों तथा शास्त्रों और बृहदारण्यक आदि वेदान्तग्रन्थोंको भी पढ़ लिया, परंतु जैसे केलेके खम्भेको फाड़नेसे कुछ सार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार उन्हें इस जगत्में सार वस्तु नहीं दिखायी दी ॥ १७ ॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥

कुछ लोग एकान्तभावका परित्याग करके इस पाञ्चभौतिक शरीरमें विभिन्न संकेतोंद्वारा इच्छा, द्वेष आदिमें आसक्त आत्माकी स्थिति बताते हैं ॥ १८ ॥

अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥ १९ ॥

परंतु आत्माका स्वरूप तो अत्यन्त सूक्ष्म है । उसे नेत्रोंद्वारा देखा नहीं जा सकता, वाणीद्वारा उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता । वह समस्त प्राणियोंमें कर्मकी हेतुभूत अविद्याको आगे रखकर—उसीके द्वारा अपने स्वरूपको छिपाकर विद्यमान है ॥ १९ ॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसंततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥

अतः (मनुष्यको चाहिये कि) मनको कल्याणके मार्गमें लगाकर तृष्णाको रोके और कर्मोंकी परम्पराका परित्याग करके धन-जन आदिके अवलम्बसे दूर हो सुखी हो जाय ॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिसे जाननेयोग्य एवं साधु पुरुषोंसे सेवित इस उत्तम मार्गके रहते हुए तुम अनर्थोंसे भरे हुए अर्थ (धन) की प्रशंसा कैसे करते हो ? ॥ २१ ॥

पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! दान, यज्ञ तथा अतिथिसेवा आदि अन्य कर्मोंमें नित्य लगे रहनेवाले प्राचीन शास्त्रज्ञ भी इस विषयमें ऐसी ही दृष्टि रखते हैं ॥ २२ ॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।
दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीतिवादिनः ॥ २३ ॥

कुछ तर्कवादी पण्डित भी अपने पूर्वजन्मके दृढ़ संस्कारोंसे प्रभावित होकर ऐसे मूढ़ हो जाते हैं कि उन्हें शास्त्रके सिद्धान्तको ग्रहण कराना अत्यन्त कठिन हो जाता है । वे आग्रहपूर्वक यही कहते रहते हैं कि 'यह (आत्मा, धर्म, परलोक, मर्यादा आदि) कुछ नहीं है' ॥ २३ ॥

अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥

किंतु बहुत-से ऐसे बहुश्रुत, बोलनेमें चतुर और विद्वान् भी हैं, जो जनताकी सभामें व्याख्यान देते और उपर्युक्त असत्य मतका खण्डन करते हुए सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ २४ ॥

पार्थ यान् विजानीमः कस्ताञ्ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः ॥ २५ ॥

पार्थ ! जिन विद्वानोंको हम नहीं जान पाते हैं, उन्हें कोई साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है ? इस प्रकार शास्त्रोंके अच्छे-अच्छे ज्ञाता एवं महान् विद्वान् सुननेमें आये हैं (जिनको पहचानना बड़ा कठिन है) ॥ २५ ॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्त्ववेत्ता पुरुष तपस्याद्वारा महान् पदको प्राप्त कर लेता है, ज्ञानयोगसे उस परमतत्त्वको उपलब्ध कर लेता है और स्वार्थत्यागके द्वारा सदा नित्य सुखका अनुभव करता रहता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थानका राजा युधिष्ठिरको यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन् वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होनेपर प्रवचनकुशल महातपस्वी देवस्थानने युक्तियुक्त वाणीमें राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

देवस्थान उवाच

यद् वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥ २ ॥

देवस्थान बोले—राजन्! अर्जुनने जो यह बात कही है कि 'धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।' इसके विषयमें मैं भी तुमसे कुछ कहूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

नरेश्वर! अजातशत्रो! तुमने धर्मके अनुसार यह सारी पृथ्वी जीती है। इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ३ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ४ ॥

महाबाहु भूपाल! ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्मको प्राप्त करानेकी चार सीढ़ियाँ हैं, जो वेदमें ही प्रतिष्ठित हैं। इन्हें क्रमशः यथोचितरूपसे पार करो ॥ ४ ॥

तस्मात् पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करो। स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ तो ऋषिलोग किया करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव ।
वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥

राजन्! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि ऋषियोंमें कुछ लोग कर्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ भी होते हैं। कुन्तीनन्दन! वैखानस महात्माओंका वचन इस प्रकार सुननेमें आता है—॥

ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान् दोषो हि वर्धेत यस्तं धनमुपाश्रयेत् ॥ ७ ॥

'जो धनके लिये विशेष चेष्टा करता है, वह वैसी चेष्टा न करे—यही सबसे अच्छा है; क्योंकि जो उस धनकी उपासना करने लगता है, उसके महान् दोषकी वृद्धि होती है॥७॥

कृच्छ्राच्च द्रव्यसंहारं कुर्वन्ति धनकारणात्।
धनेन तृषितोऽबुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुद्ध्यते ॥ ८ ॥

'लोग धनके लिये बड़े कष्टसे नाना प्रकारके द्रव्योंका संग्रह करते हैं। परंतु धनके लिये प्यासा हुआ मनुष्य अज्ञानवश भ्रूणहत्या-जैसे पापका भागी हो जाता है, इस बातको वह नहीं समझता ॥ ८ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ९ ॥

'बहुधा मनुष्य अनधिकारीको धन दे देता है और योग्य अधिकारीको नहीं देता। योग्य-अयोग्य पात्रकी पहचान न होनेसे (भ्रूणहत्याके समान दोष लगता है, अतः) दानधर्म भी दुष्कर ही है ॥ ९ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ १० ॥

'ब्रह्माने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है तथा यज्ञके उद्देश्यसे ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उत्पन्न किया है, इसलिये यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग कर देना चाहिये। फिर शीघ्र ही (उस यज्ञसे ही) यजमानके सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है ॥ १० ॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधै रत्नवद्भि-
र्देवान् सर्वानभ्ययाद् भूरितेजाः ।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ
तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥

'महातेजस्वी इन्द्र धनरत्नोंसे सम्पन्न नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके सम्पूर्ण देवताओंसे अधिक उत्कर्षशाली हो गये; इसलिये इन्द्रका पद पाकर वे स्वर्गलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं, अतः यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग करना चाहिये ॥ ११ ॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा
हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव ।
विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या
विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥

'गजासुरके चर्मको वस्त्रकी भाँति धारण करनेवाले महात्मा महादेवजी सर्वस्वसमर्पणरूप यज्ञमें अपने आपको होमकर देवताओंके भी देवता हो गये। वे अपने उत्तम कीर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १२ ॥

आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो
वृद्ध्या शक्रं योऽजयद् देवराजम्।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं संनिविष्टा
यस्मिन् भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥

'अविक्षित्के पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज मरुत्तने अपनी समृद्धिके द्वारा देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया था, उनके यज्ञमें लक्ष्मी देवी स्वयं ही पधारी थीं। उस यज्ञके उपयोगमें आये हुए सारे पात्र सोनेके बने हुए थे ॥ १३ ॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते
यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग् वीतशोकः ।
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषः सं-
स्तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ १४ ॥

'राजाधिराज हरिश्चन्द्रका नाम तुमने सुना होगा, जिन्होंने मनुष्य होकर भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रको भी परास्त कर दिया था, वे भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके पुण्यके भागी एवं शोकशून्य हो गये थे; अतः यज्ञमें ही सारा धन लगा देना चाहिये' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

देवस्थान मुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रति उत्तम धर्मका और यज्ञादि करनेका उपदेश

देवस्थान उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥ १ ॥

देवस्थान कहते हैं--राजन् ! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। किसी समय इन्द्रके पूछनेपर बृहस्पतिने इस प्रकार कहा था— ॥ १ ॥

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति॥ २ ॥

'राजन् ! मनुष्यके मनमें संतोष होना स्वर्गकी प्राप्तिसे भी बढ़कर है। संतोष ही सबसे बड़ा सुख है। संतोष यदि मनमें भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे बढ़कर संसारमें कुछ भी नहीं है ॥ २ ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥

'जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सब कामनाओंको सब ओरसे समेट लेता है, उस समय तुरंत ही ज्योतिःस्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरणमें प्रकाशित हो जाता है ॥ ३ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥ ४ ॥

'जब मनुष्य किसीसे भय नहीं मानता और जब उससे भी दूसरे प्राणी भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेषको जीत लेता है, तब अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ४ ॥

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

'जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे किसीके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीकी अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है' ॥५॥

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा ।
तदाऽऽत्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुद्ध्यस्व भारत॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार सम्पूर्ण जीव उस-उस धर्मका उसी-उसी प्रकारसे जब ठीक-ठीक पालन करते हैं, तब स्वयं आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं; अतः भरतनन्दन ! इस समय तुम अपना कर्तव्य समझो ॥ ६ ॥

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः ।
नैकं न चापरं केचिदुभयं च तथापरे ॥ ७ ॥

कुछ लोग साम (प्रेमपूर्ण बर्ताव) की प्रशंसा करते हैं और कोई व्यायाम (यत्न और परिश्रम) के गुण गाते हैं। कोई इन दोनोंमेंसे एक (साम)की प्रशंसा नहीं करते हैं तो कोई दूसरे (व्यायाम) की तथा कुछ लोग दोनोंकी ही बड़ी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः ।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥ ८ ॥

कोई यज्ञको ही अच्छा बताते हैं तो दूसरे लोग संन्यासकी ही सराहना करते हैं। कोई दान देनेके प्रशंसक हैं तो कोई दान लेनेके ॥ ८ ॥

केचित् सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥ ९ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः ।

कोई सब छोड़कर चुपचाप भगवान्के ध्यानमें लगे रहते हैं और कुछ लोग मार-काट मचाकर शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करके राज्य पानेके अनन्तर प्रजापालनरूपी धर्मकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे लोग एकान्तमें रहकर आत्मचिन्तन करना अच्छा समझते हैं ॥ ९½ ॥

एतत् सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः ॥ १० ॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।

इन सब बातोंपर विचार करके विद्वानोंने ऐसा निश्चय किया है कि किसी भी प्राणीसे द्रोह न करके जिस धर्मका पालन होता है, वही साधु पुरुषोंकी रायमें उत्तम धर्म है ॥ १०½ ॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥ ११ ॥

प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वाम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

किसीसे द्रोह न करना, सत्य बोलना, (बलिवैश्वदेव कर्मद्वारा) समस्त प्राणियोंको यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियोंका संयम करना, अपनी ही पत्नीसे संतान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा एवं अचञ्चलता आदि गुणोंको अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं, ऐसा स्वायम्भुव मनुका कथन है ॥ ११-१२ ॥

तस्मादेतत् प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय ।
यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्यप्रियाप्रियः॥ १३ ॥
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ॥ १४ ॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः ।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन् ॥ १५ ॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः ।
य एवं वर्तते राजन् स राजा धर्मनिश्चितः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन ! अतः तुम भी प्रयत्नपूर्वक इस धर्मका पालन करो । जो क्षत्रियनरेश राज्यसिंहासनपर स्थित हो अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखता है, प्रिय और अप्रियको समानदृष्टिसे देखता है, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन करता है, शास्त्रोंके यथार्थ रहस्यको जानता है, दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंका पालन करता है, समस्त प्रजाको धर्मके मार्गमें स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल बर्ताव करता है, वृद्धावस्थामें राजलक्ष्मीको पुत्रके अधीन करके वनमें जाकर जंगली फल-मूलोंका आहार करते हुए जीवन बिताता है तथा वहाँ भी शास्त्र-श्रवणसे ज्ञात हुए शास्त्रविहित कर्मोंका आलस्य छोड़कर पालन करता है, ऐसा बर्ताव करनेवाला वह राजा ही धर्मको निश्चितरूपसे जानने और माननेवाला है ॥

तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात् सफलोदयः ।
निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥ १७ ॥

उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं, मेरा यह विश्वास है कि संन्यासके द्वारा निर्वाण प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर एवं दुर्लभ है; क्योंकि उसमें बहुत-से विघ्न आते हैं ॥ १७ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ १८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः ।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार धर्मका अनुसरण करनेवाले, सत्य, दान और तपमें संलग्न रहनेवाले, दया आदि गुणोंसे युक्त, काम-क्रोध आदि दोषोंसे रहित, प्रजापालनपरायण, उत्तम धर्मसेवी तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये युद्ध करनेवाले नरेशोंने परम उत्तम गति प्राप्त की है ॥१८-१९॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परंतप ।
साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः ।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर ! इसी प्रकार रुद्र, वसु, आदित्य, साध्यगण तथा राजर्षिसमूहोंने सावधान होकर इस धर्मका आश्रय लिया है । फिर उन्होंने अपने पुण्यकर्मों-द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनका पुनः राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीचमें देवस्थानका भाषण समाप्त होते ही अर्जुनने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा कभी धर्मसे च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् ।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥ २ ॥

'धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार इस परम दुर्लभ राज्यको पाकर और शत्रुओंको जीतकर इतने अधिक संतप्त क्यों हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥

'महाराज ! आप क्षत्रियधर्मका स्मरण तो कीजिये, क्षत्रियोंके लिये संग्राममें मर जाना तो बहुसंख्यक यज्ञोंसे भी बढ़कर माना गया है ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ॥ ४ ॥

'प्रभो ! तप और त्याग ब्राह्मणोंके धर्म हैं, जो मृत्युके पश्चात् परलोकमें धर्मजनित फल देनेवाले हैं; क्षत्रियोंके लिये संग्राममें प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रियोंका धर्म बड़ा भयंकर है । उसमें

सदा शस्त्रसे ही काम पड़ता है और समय आनेपर युद्धमें शस्त्रद्वारा उनका वध भी हो जाता है (अतः उनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं है) ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्यापि चेद् राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः ।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ ६ ॥

'राजन् ! ब्राह्मण भी यदि क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करता हो तो लोकमें उसका जीवन उत्तम ही माना गया है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है ॥ ६ ॥

न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥

'नरेश्वर ! क्षत्रियके लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरेके धनसे जीवन-निर्वाहका विधान नहीं है ॥ ७ ॥

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसारमें आगे-पीछेकी सब बातोंपर दृष्टि रखनेवाले हैं ॥ ८ ॥

त्यक्त्वा संतापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम् ॥ ९ ॥

'आप यह शोक-संताप छोड़कर क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये तैयार हो जाइये । क्षत्रियका हृदय तो विशेषरूपसे वज्रके तुल्य कठोर होता है ॥ ९ ॥

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥ १० ॥

'नरेन्द्र ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार शत्रुओंको जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है । अब अपने मनको वशमें करके यज्ञ और दानमें संलग्न हो जाइये ॥ १० ॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥

'देखिये, इन्द्र ब्राह्मणके पुत्र हैं, किंतु कर्मसे क्षत्रिय हो गये हैं । उन्होंने पापमें प्रवृत्त हुए अपने ही भाई-बन्धुओं (दैत्यों) मेंसे आठ सौ दस व्यक्तियोंको मार डाला ॥ ११ ॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते ।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

'प्रजानाथ ! उनका वह कर्म पूजनीय एवं प्रशंसाके योग्य माना गया । उन्होंने उसी कर्मसे देवेन्द्रपद प्राप्त कर लिया, ऐसा हमने सुना है ॥ १२ ॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥ १३ ॥

'महाराज ! नरेन्द्र ! आप भी इन्द्रके समान ही चिन्ता और शोकसे रहित हो दीर्घ कालतक बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहिये ॥ १३ ॥

मा त्वमेवं गते किंचिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥

'क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसी अवस्थामें आप तनिक भी शोक न कीजिये । युद्धमें मारे गये वे सभी वीर क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे पवित्र होकर परम गतिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १४ ॥

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ हुआ है, वह उसी रूपमें होनेवाला था । राजसिंह ! दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

व्यासजीका शङ्ख और लिखितकी कथा सुनाते हुए राजा सुद्युम्नके दण्डधर्मपालनका महत्त्व सुनाकर युधिष्ठिरको राजधर्ममें ही दृढ़ रहनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किंचित् कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निद्राविजयी अर्जुनके ऐसा कहनेपर भी कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब कुछ न बोले, तब द्वैपायन व्यासजीने इस प्रकार कहा ॥

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—सौम्य युधिष्ठिर ! अर्जुनने जो बात कही है, वह ठीक है । शास्त्रोक्त परम धर्म गृहस्थ-आश्रमका ही आश्रय लेकर टिका हुआ है ॥ २ ॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! तुम शास्त्रके कथनानुसार विधिपूर्वक स्वधर्मका ही आचरण करो । तुम्हारे लिये गृहस्थ-आश्रमको छोड़कर वनमें जानेका विधान नहीं है ॥ ३ ॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।

भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः तुम उनका भरण-पोषण करो ॥ ४ ॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५ ॥

जनेश्वर ! पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थोंसे ही पालित होते हैं; अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः ।
तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! चारों आश्रमोंमें यह गृहस्थाश्रम ही ऐसा है, जिसका ठीक-ठीक पालन करना बहुत कठिन है । जिनकी इन्द्रियाँ दुर्बल हैं, उनके द्वारा गृहस्थ-धर्मका आचरण दुष्कर है । तुम अब उसी दुष्कर धर्मका पालन करो ॥ ६ ॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत् ।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद् वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

तुम्हें वेदका पूरा-पूरा ज्ञान है, तुमने बड़ी भारी तपस्या की है । इसलिये अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यका भार तुम्हें एक धुरन्धर पुरुषकी भाँति वहन करना चाहिये ॥ ७॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका ।

महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रियसंयम, ध्यान, एकान्त-वासका स्वभाव, संतोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये सब गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणोंके लिये सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं ॥ ८ ½ ॥

क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥
यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १० ॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! अब मैं पुनः क्षत्रियोंके धर्म बता रहा हूँ, यद्यपि वह तुम्हें भी ज्ञात है । यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओंपर चढ़ाई करना, राजलक्ष्मीकी प्राप्तिसे कभी संतुष्ट न होना, दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना, क्षत्रियतेजसे सम्पन्न रहना, प्रजाकी सब ओरसे रक्षा करना, समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त करना, तप, सदाचार, अधिक द्रव्योपार्जन और सत्पात्रको दान देना—ये सब राजाओंके कर्म हैं, जो सुन्दर ढंगसे किये जानेपर उनके इहलोक और परलोक दोनोंको सफल बनाते हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९-१२ ॥

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! इनमें भी दण्ड धारण करना राजाका प्रधान धर्म बताया जाता है; क्योंकि क्षत्रियमें बलकी नित्य स्थिति है और बलमें ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत ॥ १४ ॥

राजन् ! ये विद्याएँ (धार्मिक क्रियाएँ) क्षत्रियोंको सदा सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं । इस विषयमें बृहस्पतिजीने इस गाथाका भी गान किया है ॥ १४ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १५ ॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार विरोध न करनेवाले राजा और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियोंको भूमि निगल जाती है॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ १६ ॥

सुना जाता है कि राजर्षि सुद्युम्नने दण्डधारणके द्वारा ही प्रचेताकुमार दक्षके समान परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! पृथिवीपति सुद्युम्नने किस कर्मसे परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी । मैं उन नरेशका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥ १८ ॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं— शङ्ख और लिखित नामवाले दो भाई थे । दोनों ही कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ १८ ॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ १९ ॥

बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे, जो सदा फल-फूलोंसे लदे रहनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित थे ॥ १९ ॥

ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागतः ।
यदृच्छयाथ शङ्खोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात्॥२०॥

एक दिन लिखित शङ्खके आश्रमपर आये । दैवेच्छासे शङ्ख भी उसी समय आश्रमसे बाहर निकल गये थे ॥ २० ॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
फलानि पातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥ २१ ॥
तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।

भाई शङ्खके आश्रममें जाकर लिखितने खूब पके हुए बहुत-से फल तोड़कर गिराये और उन सबको लेकर वे ब्रह्मर्षि बड़ी निश्चिन्तताके साथ खाने लगे ॥ २१½ ॥

तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागतः ॥ २२ ॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत् ।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ २३ ॥

वे खा ही रहे थे कि शङ्ख भी आश्रमपर लौट आये। भाईको फल खाते देख शङ्खने उनसे पूछा—'तुमने ये फल कहाँसे प्राप्त किये हैं और किस लिये तुम इन्हें खा रहे हो?'॥

सोऽब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च ।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ २४ ॥

लिखितने निकट जाकर बड़े भाईको प्रणाम किया और हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—'भैया! मैंने ये फल यहींसे लिये हैं' ॥ २४ ॥

तमब्रवीत् तथा शङ्खस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥ २५ ॥

तब शङ्खने तीव्र रोषमें भरकर कहा—'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है ॥ २५ ॥

गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै ।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥ २६ ॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय ।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २७ ॥

'अतः तुम राजाके पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें कह सुनाओ। उनसे कहना—'नृपश्रेष्ठ! मैंने इस प्रकार बिना दिये हुए फल ले लिये हैं, अतः मुझे चोर समझकर अपने धर्मका पालन कीजिये। नरेश्वर! चोरके लिये जो नियत दण्ड हो, वह शीघ्र मुझे प्रदान कीजिये'' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात् सुद्युम्नं स नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ २८ ॥

महाबाहो! बड़े भाईके ऐसा कहनेपर उनकी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले लिखित मुनि राजा सुद्युम्नके पास गये ॥ २८ ॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् ।
अभ्यगच्छत् सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २९ ॥

सुद्युम्नने द्वारपालोंसे जब यह सुना कि लिखित मुनि आये हैं तो वे नरेश अपने मन्त्रियोंके साथ पैदल ही उनके निकट गये ॥ २९ ॥

तमब्रवीत् समागम्य स राजा धर्मवित्तमम् ।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत् ॥ ३० ॥

राजाने उन धर्मज्ञ मुनिसे मिलकर पूछा—'भगवन्! आपका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है? यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही समझिये' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत् कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

उनके इस तरह कहनेपर विप्रर्षि लिखितने सुद्युम्नसे यों कहा—'राजन्! पहले यह प्रतिज्ञा कर लो कि 'हम करेंगे' उसके बाद मेरा उद्देश्य सुनो और सुनकर उसे तत्काल पूरा करो ॥ ३१ ॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥ ३२ ॥

'नरश्रेष्ठ! मैंने बड़े भाईके दिये बिना ही उनके बगीचेसे फल लेकर खा लिये हैं; महाराज! इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये' ॥ ३२ ॥

सुद्युम्न उवाच

प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे ।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ ॥ ३३ ॥

सुद्युम्नने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जानेकी आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है ॥ ३३ ॥

स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः ।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥ ३४ ॥

आप पवित्र कर्म करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं। मैंने अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनाएँ आपके मनमें हों तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ३४ ॥

व्यास उवाच

संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना ।
नान्यं स वरयामास तस्माद् दण्डादृते वरम् ॥ ३५ ॥

व्यासजीने कहा—महामना राजा सुद्युम्नके बारंबार आग्रह करनेपर भी ब्रह्मर्षि लिखितने उस दण्डके सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ३५ ॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः ।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ ३६ ॥

तब उन भूपालने महामना लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँसे चले गये ॥ ३६ ॥

स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम् ।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत् क्षन्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

अपने भाई शङ्खके पास जाकर लिखितने आर्त होकर कहा—'भैया! मैंने दण्ड पा लिया। मुझ दुर्बुद्धिके उस अपराधको आप क्षमा कर दें' ॥ ३७ ॥

शङ्ख उवाच

न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम ।
सुनिर्मलं कुलं ब्रह्मन्नस्मिञ्जगति विश्रुतम् ।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥ ३८ ॥

शङ्ख बोले—धर्मज्ञ! मैं तुमपर कुपित नहीं हूँ। तुम मेरा कोई अपराध नहीं करते हो। ब्रह्मन्! हम दोनोंका कुल इस जगत्में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलङ्क रूपमें विख्यात

है । तुमने धर्मका उल्लङ्घन किया था, अतः उसीका प्रायश्चित्त किया है ॥ ३८ ॥

त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन् पितॄंश्चैवं मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ३९ ॥

अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें फिर कभी अधर्मकी ओर मन न ले जाना ॥ ३९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसंनिभौ ।

शङ्खकी वह बात सुनकर लिखितने उस समय पवित्र नदी बाहुदामें स्नान किया और पितरोंका तर्पण करनेके लिये चेष्टा आरम्भ की । इतनेहीमें उनके कमल-सदृश सुन्दर दो हाथ प्रकट हो गये ॥ ४०½ ॥

ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ ४१ ॥
ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया ।
मा च तेऽत्र विशङ्काभूद् दैवमत्र विधीयते ॥ ४२ ॥

तदनन्तर लिखितने चकित होकर अपने भाईको वे दोनों हाथ दिखाये । तब शङ्खने उनसे कहा—'भाई ! इस विषयमें तुम्हें शङ्का नहीं होनी चाहिये । मैंने तपस्यासे तुम्हारे हाथ उत्पन्न किये हैं । यहाँ दैवका विधान ही सफल हुआ है'॥

लिखित उवाच

किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ ४३ ॥

तब लिखितने पूछा—महातेजस्वी द्विजश्रेष्ठ ! जब आपकी तपस्याका ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया ? ॥ ४३ ॥

शङ्ख उवाच

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥ ४४ ॥

शङ्ख बोले—भाई ! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परंतु मुझे तुम्हें दण्ड देनेका अधिकार नहीं है । दण्ड देनेका कार्य तो राजाका ही है । इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्डको स्वीकार करके तुम पितरोंसहित पवित्र हो गये ॥ ४४ ॥

व्यास उवाच

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ ४५ ॥

व्यासजी कहते हैं—पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उस दण्ड-प्रदानरूपी कर्मसे राजा सुद्युम्न उच्चतम पदको प्राप्त हुए । उन्होंने प्रचेताओंके पुत्र दक्षकी भाँति परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४५ ॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् ।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४६ ॥

महाराज ! प्रजाजनोंका पूर्णरूपसे पालन करना ही क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है । दूसरा काम उसके लिये कुमार्गके तुल्य है; अतः तुम मनको शोकमें न डुबाओ ॥ ४६ ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञ सत्तम ।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ४७ ॥

धर्मके ज्ञाता सत्पुरुष ! तुम अपने भाईकी हितकर बात सुनो । राजेन्द्र ! दण्ड-धारण ही क्षत्रिय-धर्मके अन्तर्गत है, मूँड़ मुड़ाकर संन्यासी बनना नहीं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको राजा हयग्रीवका चरित्र सुनाकर उन्हें राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये जोर देना

वैशम्पायन उवाच

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासजीने अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते मनस्विनाम् ।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन् युधिष्ठिर ॥ २ ॥
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ।

'तात ! महाराज युधिष्ठिर ! वनमें रहते समय तुम्हारे मनस्वी भाइयोंके मनमें जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, भरतश्रेष्ठ ! उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें ॥ २½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥ ३ ॥
अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम नहुषपुत्र ययातिके समान इस पृथिवीका पालन करो । तुम्हारे इन तपस्वी भाइयोंने वनवासके समय बड़े दुःख उठाये हैं । नरव्याघ्र ! अब ये उस दुःखके बाद सुखका अनुभव करें ॥ ३-४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते ॥ ५ ॥

'भरतनन्दन ! प्रजानाथ ! इस समय भाइयोंके साथ तुम धर्म, अर्थ और कामका उपभोग करो। पीछे वनमें चले जाना ॥ ५ ॥

अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत् सर्वं च करिष्यसि ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! पहले याचकों, पितरों और देवताओंके ऋणसे उऋण हो लो, फिर वह सब करना ॥६॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥

'कुरुनन्दन ! महाराज ! पहले सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो। उससे परम गतिको प्राप्त करोगे॥७॥

भ्रातृंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥

'पाण्डुपुत्र ! अपने समस्त भाइयोंको बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंमें लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

विद्मस्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम।
शृणुष्वैवं यथा कुर्वन् न धर्माच्च्यवसे नृप ॥ ९ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! पुरुषसिंह नरेश्वर ! मैं तो तुम्हारी बात समझता हूँ। अब तुम मेरा यह वचन सुनो, जिसके अनुसार कार्य करनेपर धर्मसे च्युत नहीं होओगे ॥ ९ ॥

आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥ १० ॥

'राजा युधिष्ठिर ! विषम भावसे रहित धर्ममें कुशल पुरुष विजय पानेकी इच्छावाले राजाके लिये संग्रामकी ही स्थापना करते हैं॥ १० ॥

(प्रत्यक्षमनुमानं च उपमानं तथाऽऽगमः।
अर्थापत्तिस्तथैतिह्यं संशयो निर्णयस्तथा ॥
आकारो ह्यीङ्गितश्चैव गतिश्चेष्टा च भारत।
प्रतिज्ञा चैव हेतुश्च दृष्टान्तोपनयौ तथा ॥
उक्तं निगमनं तेषां प्रमेयं च प्रयोजनम्।
एतानि साधनान्याहुर्बहुवर्गप्रसिद्धये ॥

'भरतनन्दन ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संशय, निर्णय, आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन सबका प्रयोजन है प्रमेयकी सिद्धि। बहुत-से वर्गोंकी प्रसिद्धिके लिये इन सबको साधन बताया गया है ॥

प्रत्यक्षमनुमानं च सर्वेषां योनिरिष्यते।
प्रमाणज्ञो हि शक्नोति दण्डनीतौ विचक्षणः ॥
अप्रमाणवतां नीतो दण्डो हन्यान्महीपतिम्।)

'इनमेंसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो सभीके लिये निर्णयके आधार माने गये हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको जाननेवाला पुरुष दण्डनीतिमें कुशल हो सकता है। जो प्रमाणशून्य हैं, उनके द्वारा प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड राजाका विनाश कर सकता है ॥

देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून् मर्षयते नृपः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ ११ ॥

'देश और कालकी प्रतीक्षा करनेवाला जो राजा शास्त्रीय बुद्धिका आश्रय ले लुटेरोंके अपराधको धैर्यपूर्वक सहन करता है अर्थात् उनको दण्ड देनेमें जल्दी नहीं करता, समयकी प्रतीक्षा करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥ १२ ॥

'जो प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें लेकर भी राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता है, वह राजा उसके चौथाई पापको मानो ग्रहण कर लेता है ॥ १२ ॥

निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामनुरुद्ध्यन्नपेतभीः ॥ १३ ॥

'मेरी वह बात सुनो, जिसके अनुसार चलनेवाला राजा धर्मसे नीचे नहीं गिरता। धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे राजाका पतन हो जाता है और यदि धर्मशास्त्रका अनुसरण करता है तो वह निर्भय होता है ॥ १३ ॥

कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ १४॥

'जो काम और क्रोधकी अवहेलना करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले सर्वत्र पिताके समान समदृष्टि रखता है, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते।
न साधयति यत् कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥ १५ ॥

'महातेजस्वी युधिष्ठिर ! दैवका मारा हुआ राजा कार्य करनेके समय जिस कार्यको नहीं सिद्ध कर पाता, उसमें उसका कोई दोष या अपराध नहीं बताया जाता है ॥ १५ ॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शात्रवः।
पापैः सह न संदध्याद् राज्यं पण्यं न कारयेत् ॥१६ ॥

'शत्रुओंको अपने बल और बुद्धिसे काबूमें कर ही लेना चाहिये। पापियोंके साथ कभी मेल नहीं करना चाहिये। अपने राज्यको बाजारका सौदा नहीं बनाना चाहिये ॥ १६ ॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर।
गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १७ ॥

'युधिष्ठिर ! शूरवीरों, श्रेष्ठ पुरुषों तथा विद्वानोंका सत्कार करना बहुत आवश्यक है। अधिक-से-अधिक गौएँ रखनेवाले धनी वैश्योंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः।
(प्रमाणज्ञा महीपाल न्यायशास्त्रावलम्बिनः।
वेदार्थतत्त्वविद् राजंस्तर्कशास्त्रबहुश्रुताः ॥
मन्त्रे च व्यवहारे च नियोक्तव्या विजानता।

'जो बहुज्ञ विद्वान् हों, उन्हींको धर्म तथा शासन-कार्योंमें लगाना चाहिये। भूपाल ! जो प्रमाणोंके ज्ञाता, न्यायशास्त्रका अवलम्बन करनेवाले, वेदोंके तत्त्वज्ञ तथा तर्कशास्त्रके बहुश्रुत विद्वान् हों, उन्हींको विज्ञ पुरुष मन्त्रणा तथा शासन-कार्यमें लगाये ॥

तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या ॥
दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत् ।

'तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दण्डनीतिसे प्रभावित हुई बुद्धि तीनों लोकोंकी भी सिद्धि कर सकती है ॥

नियोज्या वेदतत्त्वज्ञा यज्ञकर्मसु पार्थिव ॥
वेदज्ञा ये च शास्त्रज्ञास्ते च राजन् सुबुद्धयः ।

'राजन् ! भूपाल ! जो वेदोंके तत्त्वज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ तथा उत्तम बुद्धिसे सम्पन्न हों, उन्हें यज्ञकर्मोंमें नियुक्त करना चाहिये ॥

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिषु पारगाः ।
ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धेः परं गताः ॥)
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १८ ॥

'आन्वीक्षिकी (वेदान्त), वेदत्रयी, वार्ता तथा दण्डनीतिके जो पारंगत विद्वान् हों, उन्हें सभी कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि वे बुद्धिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं। एक व्यक्ति कितना ही गुणवान् क्यों न हो, विद्वान् पुरुषको उसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः ।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १९ ॥

'जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता, जो उद्दण्ड, मानी, अकड़ रखनेवाला और दूसरोंके दोष देखनेवाला है, वह पापसे संयुक्त होता है और लोग उसे दुर्दान्त कहते हैं ॥१९॥

येऽरक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप ।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद् राजकिल्बिषम् ॥२० ॥

'नरेश्वर ! जो लोग राजाकी ओरसे सुरक्षित न होनेके कारण अनावृष्टि आदि दैवी आपत्तियोंसे तथा चोरोंके उपद्रवसे नष्ट हो जाते हैं, उनके इस विनाशका सारा पाप राजाको ही लगता है ॥ २० ॥

सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते ।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

'युधिष्ठिर ! अच्छी तरह मन्त्रणा की गयी हो, सुन्दर नीतिसे काम लिया गया हो और सब ओरसे पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न किये गये हों (उस अवस्थामें यदि प्रजाको कोई कष्ट हो जाय) तो राजाको उसका पाप नहीं लगता ॥ २१ ॥

विच्छिद्यन्ते समारब्धाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवतः ।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २२ ॥

'आरम्भ किये हुए कार्य दैवकी प्रतिकूलतासे नष्ट हो जाते हैं और उसके अनुकूल होनेपर सिद्ध भी हो जाते हैं; परंतु अपनी ओरसे (यथोचित) पुरुषार्थ कर देनेपर (यदि कार्यकी सिद्धि नहीं भी हुई तो) राजाको पापका स्पर्श नहीं प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम् ।
यद् वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥ २३ ॥

'राजसिंह पाण्डुकुमार ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, जो पूर्वकालवर्ती राजर्षि हयग्रीवके जीवनका वृत्तान्त है ॥ २३ ॥

शत्रून् हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः ।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

'हयग्रीव बड़े शूरवीर और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले थे। युधिष्ठिर ! उन्होंने युद्धमें शत्रुओंको मार गिराया था; परंतु पीछे असहाय हो जानेपर वे संग्राममें परास्त हुए और शत्रुओंके हाथसे मारे गये ॥ २४ ॥

यत् कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां
योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् ।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्
वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २५ ॥

'उन्होंने शत्रुओंको परास्त करनेमें जो पराक्रम दिखाया था, मानवीय प्रजाके पालनमें जिस श्रेष्ठ उद्योग एवं एकाग्रताका परिचय दिया था, वह अद्भुत था। उन्होंने पुरुषार्थ करके युद्धसे उत्तम कीर्ति पायी और इस समय वे राजा हयग्रीव स्वर्गलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ २५ ॥

संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी
शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः ।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा
संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥ २६ ॥

'वे अपने मनको वशमें करके समराङ्गणमें हथियार लेकर शत्रुओंका वध कर रहे थे; परंतु डाकुओंने उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न करके मार डाला। इस समय कर्मपरायण महामनस्वी हयग्रीव पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें आनन्द कर रहे हैं ॥ २६ ॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्
स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम् ।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्नि-
श्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २७ ॥
हुत्वा तस्मिन् यज्ञवह्नावथारीन्
पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २८ ॥

'उनका धनुष ही यूप था, करधनी प्रत्यञ्चाके समान थी, बाण स्रुक् और तलवार स्रुवाका काम दे रही थी, रक्त ही घृतके तुल्य था, इच्छानुसार विचरनेवाला रथ ही वेदी था,

युद्ध अग्नि था और चारों प्रधान घोड़े ही ब्रह्मा आदि चारों ऋत्विज थे। इस प्रकार वे वेगशाली राजसिंह हयग्रीव उस यज्ञरूपी अग्निमें शत्रुओंकी आहुति देकर पापसे मुक्त हो गये तथा अपने प्राणोंको होमकर युद्धकी समाप्तिरूपी अवभृथस्नान करके वे इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं ॥ २७-२८ ॥

राष्ट्रं रक्षन् बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २९ ॥

'यज्ञ करना उन महामना नरेशका स्वभाव बन गया था। वे नीतिके द्वारा बुद्धिपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करते हुए शरीरका परित्याग करके मनस्वी हयग्रीव सम्पूर्ण जगत्में अपनी कीर्ति फैलाकर इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं ॥ २९ ॥

दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं
योगन्यासैः पालयित्वा महीं च।
तस्माद् राजा धर्मशीलो महात्मा
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३० ॥

'योग (कर्मविषयक उत्साह) और न्यास (अहंकार आदिके त्याग) सहित दैवी सिद्धि, मानुषी सिद्धि, दण्डनीति तथा पृथ्वीका पालन करके धर्मशील महात्मा राजा हयग्रीव उसीके पुण्यसे इस समय देवलोकमें सुख भोगते हैं ॥ ३० ॥

विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञ-
स्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा।
मेधाविनां विदुषां सम्मतानां
तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा ॥ ३१ ॥

'वे विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु और कृतज्ञ राजा हयग्रीव अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्यलोकको त्यागकर मेधावी, सर्वसम्मानित, ज्ञानी एवं पुण्य-तीर्थोंमें शरीरका त्याग करनेवाले पुण्यात्माओंके लोकमें जाकर स्थित हुए हैं ॥ ३१ ॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा महात्मा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३२ ॥

'वेदोंका ज्ञान पाकर, शास्त्रोंका अध्ययन करके, राज्यका अच्छी तरह पालन करते हुए महामना राजा हयग्रीव चारों वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके इस समय देवलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ ३२ ॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च
सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान्।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

'राजा हयग्रीव अनेकों युद्ध जीतकर, प्रजाका पालन करके, यज्ञोंमें सोमरस पीकर, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दक्षिणा आदिसे तृप्त करके युक्तिसे प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दण्ड धारण करते हुए युद्धमें मारे गये और अब देवलोकमें सुख भोगते हैं ३३

वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः
सन्तो विद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम्।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य
सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा॥ ३४ ॥

'साधु एवं विद्वान् पुरुष उनके स्पृहणीय एवं आदरणीय चरित्रकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। पुण्यकीर्ति महामना हयग्रीवने स्वर्गलोक जीतकर वीरोंको मिलनेवाले लोकोंमें पहुँचकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९ श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

पञ्चविंशोऽध्यायः

सेनजित्के उपदेशयुक्त उद्गारोंका उल्लेख करके व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनंजये।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी बात सुनकर और अर्जुनके कुपित हो जानेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने व्यासजीको आमन्त्रित करके उत्तर देना आरम्भ किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने! यह भूतलका राज्य और ये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोग आज मेरे मनको प्रसन्न नहीं कर रहे हैं। यह शोक मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है ॥ २ ॥

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम्।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ॥ ३ ॥

महर्षे! पति और पुत्रोंसे हीन हुई युवतियोंका करुण विलाप सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और वेदोंके

पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ महाज्ञानी व्यासने उनसे फिर इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा
नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित् ।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा
कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! न तो कोई कर्म करनेसे नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, न चिन्तासे ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो मनुष्यको उसकी विनष्ट वस्तु दे दे । बारी-बारीसे विधाताके विधानानुसार मनुष्य समयपर सब कुछ पा लेता है ॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले ।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ॥ ६ ॥

बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययनसे भी मनुष्य असमयमें किसी विशेष वस्तुको नहीं पा सकता और समय आनेपर कभी-कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है; अतः काल ही कार्यकी सिद्धिमें सामान्य कारण है ॥ ६ ॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि ।
तान्येव कालेन समाहितानि
सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले॥ ७ ॥

अवनतिके समय शिल्पकलाएँ, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते हैं। वे ही जब उन्नतिके समय उपयोगमें लाये जाते हैं, तब कालकी प्रेरणासे सफल होते और वृद्धिमें सहायक बनते हैं ॥ ७ ॥

कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति ।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च
कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥ ८ ॥

समयसे ही तेज हवा चलती है, समयसे ही मेघ जल बरसाते हैं, समयसे ही पानीमें कमल तथा उत्पल उत्पन्न हो जाते हैं और समयसे ही वनमें वृक्ष पुष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः
कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः ।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां
नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥

समयसे ही अँधेरी और उजेली रातें होती हैं, समयसे ही चन्द्रमाका मण्डल परिपूर्ण होता है, असमयमें वृक्षोंमें फल और फूल भी नहीं लगते हैं और न असमयमें नदियाँ ही वेगसे बहती हैं ॥ ९ ॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च
मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके ।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा
नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः॥ १० ॥

लोकमें पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमयमें स्त्रियोंके गर्भ नहीं रहते और बिना समयके सर्दी, गर्मी तथा वर्षा भी नहीं होती है ॥ १० ॥

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः ।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति
नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥

बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमयमें बोलता ही है। बिना समयके जवानी नहीं आती और बिना समयके बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है ॥ ११ ॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं
नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति ।
नाकालतो वर्धते हीयते च
चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली ॥ १२ ॥

असमयमें सूर्य उदयाचलसे संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचलपर भी नहीं जाते हैं, असमयमें न तो चन्द्रमा घटते-बढ़ते हैं और न समुद्रमें ही ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। एक समय शोकसे आतुर हुए राजा सेनजित्ने जो उद्गार प्रकट किया था, वही तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १३ ॥

सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः ।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥

(राजा सेनजित्ने मन-ही-मन कहा कि) 'यह दुःसह कालचक्र सभी मनुष्योंपर अपना प्रभाव डालता है। एक दिन सभी भूपाल कालसे परिपक्व होकर मृत्युके अधीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन् न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥

'राजन् ! मनुष्य दूसरोंको मारते हैं, फिर उन्हें भी दूसरे लोग मार देते हैं। नरेश्वर ! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञामात्र है। वास्तवमें न कोई मारता है और न मारा ही जाता है ॥ १५ ॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः ।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥

'एक मानता है कि 'आत्मा मारता है।' दूसरा ऐसा

मानता है कि 'नहीं मारता है।' पाञ्चभौतिक शरीरोंके जन्म और मरण स्वभावतः नियत हैं ॥ १६ ॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥ १७ ॥

'धनके नष्ट होनेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु होनेपर मनुष्य 'हाय ! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःखकी निवृत्तिकी चेष्टा करता है ॥ १७ ॥

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यान् किमनुशोचसि।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥ १८ ॥

'तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो ? उन मरे हुए शोचनीय व्यक्तियोंका बारंबार स्मरण ही क्यों करते हो ? देखो, शोक करनेसे दुःखमें दुःख तथा भयमें भयकी वृद्धि होगी ॥ १८ ॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति ॥ १९ ॥

'यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है। यह जिस तरहसे मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है। ऐसी दृष्टि रखनेवाला पुरुष कभी मोहमें नहीं फँसता है ।१९।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २० ॥

'शोकके सहस्रों स्थान हैं, हर्षके भी सैकड़ों अवसर हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्-पर नहीं ॥ २० ॥

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २१ ॥

'इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं ॥२१॥

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात् तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥ २२ ॥

'संसारमें केवल दुःख ही है, सुख नहीं, अतः दुःख ही उपलब्ध होता है। तृष्णाजनित पीड़ासे दुःख और दुःखकी पीड़ासे सुख होता है अर्थात् दुःखसे आर्त हुए मनुष्यको ही उसके न रहनेपर सुखकी प्रतीति होती है ॥ २२ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २३ ॥

'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद् दुःखतः सुखम् ।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥२४॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम् ।

'कभी दुःखके अन्तमें सुख और कभी सुखके अन्तमें दुःख भी आता है; अतः जो नित्य सुखकी इच्छा रखता हो, वह इन दोनोंका परित्याग कर दे; क्योंकि दुःख सुखके अन्तमें अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःखके अन्तमें अवश्यम्भावी है ॥ २४½ ॥

यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः ॥ २५ ॥
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत् ।

'जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप होता हो अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, वह अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो भी उसको त्याग देना चाहिये ॥ २५½॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६ ॥

'सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे सहर्ष अपनावे। अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकार करे (हिम्मत न हारे) ॥ २६ ॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम् ।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥ २७ ॥

'प्रिय मित्र ! स्त्री अथवा पुत्रोंका थोड़ा सा भी अप्रिय कर दो, फिर स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतुसे किस तरह किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है ? ॥ २७॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥ २८ ॥

'संसारमें जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही सुखी होते हैं; बीचवाले लोग कष्ट ही उठाते हैं' ॥

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित् ।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! लोकके भूत और भविष्य तथा सुख एवं दुःखको जाननेवाले धर्मवेत्ता महाज्ञानी सेनजित्ने ऐसा ही कहा है ॥२९॥

येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत् ।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात् परम् ॥ ३० ॥

जिस किसी भी दुःखसे जो दुखी है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखोंका अन्त नहीं है। एक दुःखसे दूसरा दुःख होता ही रहता है ॥ ३० ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ॥ ३१ ॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं; इसलिये धीर पुरुष इनके लिये हर्ष और शोक न करे ॥ ३१ ॥

दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहु-
र्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक् ।

वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे
सम्यग् दानं पावनानीति विद्यात्॥ ३२ ॥

राजाके लिये संग्राममें जूझना ही यज्ञकी दीक्षा लेना बताया गया है। राज्यकी रक्षा करते हुए दण्डनीतिमें भलीभाँति प्रतिष्ठित होना ही उसके लिये योगसाधन है तथा यज्ञमें दक्षिणारूपसे धनका त्याग एवं उत्तम रीतिसे दान ही राजाके लिये त्याग है। ये तीनों कर्म राजाको पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझे ॥ ३२ ॥

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चा-
प्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

जो राजा अहंकार छोड़कर बुद्धिमानीसे नीतिके अनुसार राज्यकी रक्षा करता है, स्वभावसे ही यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता है और धर्मकी रक्षाको दृष्टिमें रखकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है, वह महामनस्वी नरेश देहत्यागके पश्चात् देवलोकमें आनन्द भोगता है ॥ ३३ ॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं
सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३४ ॥

जो संग्राममें विजय, राष्ट्रका पालन, यज्ञमें सोमरसका पान, प्रजाओंकी उन्नति तथा प्रजावर्गके हितके लिये युक्तिपूर्वक दण्डधारण करते हुए युद्धमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह देवलोकमें आनन्दका भागी होता है ॥ ३४ ॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
पूतात्मा वै मोदते देवलोके ॥ ३५ ॥

सम्यक् प्रकारसे वेदोंका ज्ञान, शास्त्रोंका अध्ययन, राज्यका ठीक-ठीक पालन तथा चारों वर्णोंका अपने-अपने धर्ममें स्थापन करके जो अपने मनको पवित्र कर चुका है, वह राजा देवलोकमें सुखी होता है ॥ ३५ ॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

स्वर्गलोकमें रहनेपर भी जिसके चरित्रको नगर और जनपदके मनुष्य एवं मन्त्री मस्तक झुकाते हैं, वही राजा समस्त नरपतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनजित्का उपाख्यानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा धनके त्यागकी ही महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनंजयमुदारधीः।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी प्रसंगमें उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने अर्जुनसे यह युक्तियुक्त बात कही—॥ १ ॥

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥ २ ॥

'पार्थ! तुम जो यह समझते हो कि धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धनको स्वर्ग, सुख और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं है ॥ २ ॥

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥

'बहुत-से मनुष्य केवल स्वाध्याययज्ञ करके सिद्धिको प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तपस्यामें लगे हुए बहुतेरे मुनि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति हुई है ॥ ३ ॥

ऋषीणां समयं शश्वद् ये रक्षन्ति धनंजय।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान् ब्राह्मणान् विदुः ॥ ४ ॥

'धनंजय! सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले जो लोग ब्रह्मचर्य-आश्रममें स्थित हो ऋषियोंकी स्वाध्याय-परम्पराकी सदैव रक्षा करते हैं, देवता उन्हें ही ब्राह्मण मानते हैं ॥ ४ ॥

स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथापरान्।
बुद्ध्येथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनंजय ॥ ५ ॥

'अर्जुन! तुम्हें सदा यह समझना चाहिये कि ऋषियोंमेंसे कुछ लोग वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते हैं, कुछ ज्ञानोपार्जनमें संलग्न होते हैं और कुछ लोग धर्म-पालनमें ही निष्ठा रखते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन! प्रभो! वानप्रस्थोंके वचनको जैसा हमने समझा है, उसके अनुसार ज्ञाननिष्ठ महात्माओंको ही राज्यके सारे कार्य सौंपने चाहिये ॥ ६ ॥

अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ ७ ॥

'भारत! अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु नामवाले ऋषिगणोंने तो स्वाध्यायके द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त कर लिया था ॥

अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनंजय ।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः ॥ ८ ॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः ।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान् पूर्वमप्यहम् ॥ ९ ॥

'धनंजय ! दान, अध्ययन, यज्ञ और निग्रह—ये सभी कर्म बहुत कठिन हैं । इन वेदोक्त कर्मोंका (सकामभावसे) आश्रय लेकर लोग सूर्यके दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं । इन कर्ममार्गी पुरुषोंके लोकोंकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ ॥ ८-९ ॥

उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद् यं प्रपश्यसि ।
एते यागवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः ॥ १० ॥

'कुन्तीनन्दन ! सूर्यके उत्तरमें स्थित जो मार्ग है, जिसे तुम नियमके प्रभावसे देख रहे हो, वहाँ जो ये सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, वे निष्काम यज्ञ करनेवालोंको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः ।
संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम् ॥ ११ ॥

'पार्थ ! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले लोग इन दोनों मार्गोंमेंसे उत्तर मार्गकी प्रशंसा करते हैं । वास्तवमें संतोष ही सबसे बढ़कर स्वर्ग है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है ॥

तुष्टेर्न किञ्चित् परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ १२ ॥

'संतोषसे बढ़कर कुछ नहीं है । जिसने क्रोध और हर्षको जीत लिया है, उसीके हृदयमें उस परम वैराग्यरूप संतोष-की सम्यक् प्रतिष्ठा होती है और उसे ही सदा उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा गीता ययातिना ।
याभिः प्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ १३॥

'इस प्रसङ्गमें लोग राजा ययातिकी गायी हुई इन गाथाओंको उदाहरणके तौरपर कहा करते हैं । जिनके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको उसी प्रकार समेट लेता है, जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लिया करता है ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १४ ॥

'राजा ययातिने कहा था—'जब यह पुरुष किसीसे नहीं डरता, जब इससे भी किसीको भय नहीं रहता तथा जब यह न तो किसीको चाहता है और न उससे द्वेष ही रखता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १५ ॥

''जब यह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति पाप-बुद्धिका परित्याग कर देता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते ॥ १६ ॥

''जिसके मान और मोह दूर हो गये हैं, जो नाना प्रकार-की आसक्तियोंसे रहित है तथा जिसे आत्माका ज्ञान प्राप्त हो गया है, उस साधु पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है' ॥ १६ ॥

इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः ।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे ॥ १७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मैं जो बात कह रहा हूँ, उसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखकर सुनो ! कुछ लोग धर्मकी, कोई सदाचारकी और दूसरे कितने ही मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट रहते हैं ॥ १७ ॥

धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान् दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः ॥ १८ ॥

'जो धनके लिये चेष्टा करता है, उसका निश्चेष्ट होकर बैठ रहना ही ठीक है, क्योंकि धन और उसके आश्रित धर्ममें महान् दोष दिखायी देता है ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम् ॥ १९ ॥

'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और तुम भी देख सकते हो, जो लोग धनोपार्जनके प्रयत्नमें लगे हुए हैं, उनके लिये त्याज्य-कर्मोंको छोड़ना अत्यन्त कठिन हो रहा है ॥ १९ ॥

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥ २० ॥

'जो धनके पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है; क्योंकि जो लोग दूसरोंसे द्रोह करते हैं, उन्हींको धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है तथा वह मिला हुआ धन प्रकारान्तरसे प्रतिकूल ही होता है ॥ २० ॥

यस्तु सम्भिन्नवृत्तः स्याद् वीतशोकभयो नरः ।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ २१ ॥

'शोक और भयसे रहित होनेपर भी जो मनुष्य सदाचार-से भ्रष्ट है, उसे यदि धनकी थोड़ी-सी भी तृष्णा हो तो वह दूसरोंसे ऐसा द्रोह करता है कि भ्रूण-हत्या-जैसे पापका भी ध्यान नहीं रखता ॥ २१ ॥

दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव ।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्त्वानुतप्यते ॥ २२ ॥

'अपना वेतन यथासमय पाते हुए भी जब भृत्योंको संतोष नहीं होता, तब वे स्वामीसे अप्रसन्न रहते हैं और वह धनी दुर्लभ धनको पाकर यदि सेवकोंको अधिक देता है तो उसे उतना ही अधिक संताप होता है, जितना चोर-डाकुओंसे भयके कारण हुआ करता है ॥ २२ ॥

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी ।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

'निर्धनको कौन क्या कह सकता है ? वह सब प्रकारके

भयसे मुक्त हो सुखी रहता है। देवताओंकी सम्पत्ति लेकर भी कोई धनसे सुखी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

अत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥

'इस विषयमें यज्ञमें ऋत्विजोंद्वारा गायी हुई एक गाथा है जो तीनों वेदोंके आश्रित है, वह गाथा लोकमें यज्ञकी प्रतिष्ठा करनेवाली है। पुरानी बातोंको जाननेवाले लोग उसे ऐसे अवसरोंपर दुहराया करते हैं ॥ २४ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥ २५ ॥

'विधाताने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है और यज्ञके लिये उसकी रक्षा करनेके निमित्त पुरुषको उत्पन्न किया है; इसलिये सारे धनका यज्ञ-कार्यमें ही उपयोग करना चाहिये। भोगके लिये धनका उपयोग न तो हितकर है और न उत्तम ही ॥ २५ ॥

एतत् स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥ २६ ॥

'धनवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजय! विधाता मनुष्यों-को स्वार्थके लिये भी जो धन देते हैं उसे यज्ञार्थ ही समझो ॥

तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत् कस्यचिद् ध्रुवम्।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥ २७ ॥

'इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि धन कभी किसी एकके पास स्थिर होकर नहीं रहता; अतः श्रद्धालु मनुष्यको चाहिये कि वह उस धनका दान करे और उसे यज्ञमें लगावे ॥ २७ ॥

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम्।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥

'प्राप्त किये हुए धनका दान करना ही उचित बताया गया है। उसे भोगमें लगाना या संग्रह करके रखना ठीक नहीं है। जिसके सामने बहुत बड़ा कार्य यज्ञ आदि मौजूद है, उसे धनको संग्रह करके रखनेकी क्या आवश्यकता है?॥

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥

'जो मन्दबुद्धि मानव अपने धर्मसे गिरे हुए मनुष्योंको धन देते हैं, वे मरनेके बाद सौ वर्षोंतक विष्ठा भोजन करते हैं ॥ २९ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ३० ॥

'लोग अधिकारीको धन नहीं देते और अनधिकारीको दे डालते हैं, योग्य-अयोग्य पात्रका ज्ञान न होनेसे दानधर्मका सम्पादन भी बहुत कठिन है ॥ ३० ॥

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ॥
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥

'प्राप्त हुए धनका उपयोग करनेमें दो प्रकारकी भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिये। पहली भूल है अपात्रको धन देना और दूसरी है सुपात्रको धन न देना' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरको शोकवश शरीर त्याग देनेके लिये उद्यत देख व्यासजीका उन्हें उससे निवारण करके समझाना

युधिष्ठिर उवाच

अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम्।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने व्यासजीसे कहा—मुनिश्रेष्ठ! इस युद्धमें बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, विराट, राजा द्रुपद, धर्मज्ञ वृषसेन, चेदिराज धृष्टकेतु तथा नाना देशोंके निवासी अन्यान्य नरेश भी वीरगतिको प्राप्त हुए हैं। मैं जाति-भाइयोंका घातक, राज्यका लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने वंशका विनाश करनेवाला निकला, यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त आतुर हो रहा हूँ ॥ १-३ ॥

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥ ४ ॥

जिनकी गोदीमें खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजीको मैंने राज्यके लोभसे मरवा डाला ॥ ४ ॥

यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥
जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम्।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥

जब मैंने देखा कि अर्जुनके वज्रोपम बाणोंसे आहत हो बूढ़े सिंहके समान मेरे उन्नतकाय पुरुषसिंह पितामह

कम्पित हो रहे हैं और उन्हें चक्कर-सा आने लगा है, शिखण्डी उनकी ओर देख रहा है और उनका सारा शरीर बाणोंसे खचाखच भर गया है तो यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ५-६ ॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम् ।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥

जो शत्रुदलके रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ थे, वे पूर्वकी ओर मुँह करके चुपचाप बैठे हुए बाणोंका आघात सह रहे थे और जैसे पर्वत हिल रहा हो, उसी प्रकार झूम रहे थे। उस समय उनकी यह अवस्था देखकर मुझे मूर्छा-सी आ गयी थी॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् ।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः ।
कन्यार्थमाह्वयद् वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः ।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥

जिन कुरुकुलशिरोमणि वीरने कुरुक्षेत्रमें महायुद्ध ठानकर हाथमें धनुष-बाण लिये बहुत दिनोंतक परशुरामजीके साथ युद्ध किया था, जिन वीर गङ्गानन्दन भीष्मने वाराणसी पुरीमें काशिराजकी कन्याओंके लिये युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर एकमात्र रथके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त क्षत्रिय-नरेशोंको ललकारा था तथा जिन्होंने दुर्जय चक्रवर्ती राजा उग्रायुधको अपने अस्त्रोंके प्रतापसे दग्ध कर दिया था, उन्हींको मैंने युद्धमें मरवा डाला ॥ ८–१० ॥

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् ।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने अपने लिये मृत्यु बनकर आये हुए पाञ्चाल-राजकुमार शिखण्डीकी स्वयं ही रक्षा की और उसे बाणोंसे धराशायी नहीं किया, उन्हीं पितामहको अर्जुनने मार गिराया॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् ।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! जब मैंने पितामहको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा, उसी समय मुझपर अत्यन्त भयंकर शोक-ज्वरका आवेश हो गया ॥ १२ ॥

येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः ।
स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १३ ॥
अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः ।

जिन्होंने हमें बचपनसे पाल-पोसकर बड़ा किया और सब प्रकारसे हमारी रक्षा की, उन्हींको मुझ पापी, राज्य-लोभी, गुरुघाती एवं मूर्खने थोड़े समयतक रहनेवाले राज्यके लिये मरवा डाला ॥ १३½ ॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ॥ १४ ॥
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ।

सम्पूर्ण राजाओंसे पूजित, महाधनुर्धर आचार्यके पास जाकर मुझ पापीने उनके पुत्रके सम्बन्धमें झूठी बात कही ॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत ॥ १५ ॥
सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः ।
सत्यमामर्षयन् विप्रो मयि तत् परिपृष्टवान् ॥ १६ ॥

उस समय गुरुने मुझसे पूछा था—'राजन् ! सच बताओ, क्या मेरा पुत्र जीवित है ?' उन ब्राह्मणने सत्यका निर्णय करनेके लिये ही मुझसे यह बात पूछी थी। उनकी वह बात जब याद आती है तो मेरा सारा शरीर शोकाग्निसे दग्ध होने लगता है ॥ १५-१६ ॥

कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ।
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १७ ॥

परंतु राज्यके लोभमें अत्यन्त फँसे हुए मुझ पापी गुरु-हत्यारेने मरे हुए हाथीकी आड़ लेकर उनसे झूठ बोल दिया और उनके साथ धोखा किया ॥ १७ ॥

सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे ।
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते ॥ १८ ॥

मैंने सत्यका चोला उतार फेंका और युद्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर गुरुदेवसे कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' (इससे उन्हें अपने पुत्रके मारे जानेका विश्वास हो गया) ॥ १८ ॥

काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
अघातयं च यत् कर्णं समरेष्वपलायिनम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः ।

यह अत्यन्त दुष्कर पापकर्म करके मैं किन लोकोंमें जाऊँगा ? युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले अत्यन्त उग्र पराक्रमी अपने बड़े भाई कर्णको भी मैंने मरवा दिया—मुझसे बढ़कर महान् पापाचारी दूसरा कौन होगा ? ॥१९½॥

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ॥ २० ॥
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ।
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥ २१ ॥
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ।

मैंने राज्यके लोभमें पड़कर जब पर्वतोंपर उत्पन्न हुए सिंहके समान पराक्रमी अभिमन्युको द्रोणाचार्यद्वारा सुरक्षित कौरवसेनामें झोंक दिया, तभीसे भ्रूण-हत्या करनेवाले पापीके समान मैं अर्जुन तथा कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाता हूँ ॥ २०-२१½ ॥

द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विनाकृताम् ॥ २२ ॥
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव ।

जैसे पृथ्वी पाँच पर्वतोंसे हीन हो जाय, उसी प्रकार अपने पाँचो पुत्रोंसे हीन होकर दुःखसे आतुर हुई द्रौपदीके लिये भी मुझे निरन्तर शोक बना रहता है ॥ २२½ ॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ॥ २३ ॥

आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ।

अतः मैं पापी, अपराधी तथा सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश करनेवाला हूँ; इसलिये यहीं इसी रूपमें बैठा हुआ अपने इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ २३½ ॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ॥ २४ ॥
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ।

आपलोग मुझ गुरुघातीको आमरण अनशनके लिये बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्मोंमें मैं फिर अपने कुलका विनाश करनेवाला न होऊँ ॥ २४½ ॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन ॥ २५ ॥
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ।

तपोधनो ! अब मैं किसी तरह न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा । यहीं रहकर अपने प्यारे प्राणोंको सुखा दूँगा ॥ २५½ ॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ।

मैं आपलोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओरसे चले जानेकी अनुमति देता हूँ । जिसकी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपनी रुचिके अनुसार चला जाय । आप सब लोग मुझे आज्ञा दें कि मैं इस शरीरको अनशन करके त्याग दूँ ॥ २६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ॥ २७ ॥
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने बन्धु-जनोंके शोकसे विह्वल होकर युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यासजीने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता' ॥ २७½ ॥

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ २८ ॥
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ।

व्यासजी बोले—महाराज ! तुम बहुत शोक न करो । प्रभो ! मैं पहलेकी कही हुई बात ही फिर दुहरा रहा हूँ । यह सब प्रारब्धका ही खेल है ॥ २८½ ॥

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ॥ २९ ॥
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ।

जैसे पानीमें बुलबुले होते और मिट जाते हैं, उसी प्रकार संसारमें उत्पन्न हुए प्राणियोंके जो आपसमें संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोगमें होता है ॥ २९½ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ३० ॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ।

सम्पूर्ण संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ ३०½ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥ ३१ ॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है, परंतु उसका अन्त दुःख है तथा कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है, परंतु उससे सुखका उदय होता है । इसके सिवा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुषमें ही निवास करती हैं, आलसीमें नहीं ॥ ३१ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥ ३२ ॥

न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें । इसी प्रकार न तो प्रज्ञा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है ॥ ३२ ॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत् कुरु ।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३३ ॥

कुन्तीनन्दन ! नरेश्वर ! विधाताने जैसे कर्मोंके लिये तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हींका अनुष्ठान करो । उन्हींसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी । तुम कर्मोंके (फलके) स्वामी या नियन्ता नहीं हो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अश्मा ऋषि और जनकके संवादद्वारा प्रारब्धकी प्रबलता बतलाते हुए व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः ।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भाई-बन्धुओं-के शोकसे संतप्त हो अपने प्राणोंको त्याग देनेकी इच्छावाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके शोकको महर्षि व्यासने इस प्रकार दूर किया ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! इस प्रसङ्गमें जानकार लोग अश्मा ब्राह्मणके गीतसम्बन्धी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, इसे सुनो ॥ २ ॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः ।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, दुःख-शोकमें डूबे हुए विदेहराज जनकने ज्ञानी ब्राह्मण अश्मासे अपने मनका संदेह इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

जनक उवाच

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च ।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन् ! कुटुम्बीजन और धनकी उत्पत्ति या विनाश होनेपर कल्याण चाहनेवाले पुरुषको कैसा निश्चय करना चाहिये ? ॥ ४ ॥

अश्मोवाच

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः ।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ५ ॥

अश्माने कहा—राजन् ! मनुष्यका यह शरीर जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके साथ ही सुख और दुःख भी उसके पीछे लग जाते हैं ॥ ५ ॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद् यदेवोपपद्यते ।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥

इन दोनोंमेंसे एक-न-एककी प्राप्ति तो होती ही है; अतः जो भी सुख या दुःख उपस्थित होता है, वही मनुष्यके ज्ञानको उसी प्रकार हर लेता है, जैसे हवा बादलको उड़ा ले जाती है ॥ ६ ॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ॥ ७ ॥

इसीसे 'मैं कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ और कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ' ये अहंकारकी तीन धाराएँ मनुष्यके चित्तको सींचने लगती हैं ॥ ७ ॥

सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ ८ ॥

फिर वह मनुष्य भोगोंमें आसक्तचित्त होकर क्रमशः बाप-दादोंकी रक्खी हुई कमाईको उड़ाकर कंगाल हो जाता है और दूसरोंके धनको हड़प लेना अच्छा मानने लगता है ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम् ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ ९ ॥

जैसे व्याधे अपने बाणोंद्वारा मृगोंको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, उसी प्रकार मर्यादा लाँघकर अनुचितरूपसे दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाले उस मनुष्यको राजालोग दण्डद्वारा वैसे कुमार्गपर चलनेसे रोकते हैं ॥ ९ ॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥

राजन् ! जो बीस या तीस वर्षकी उम्रवाले मनुष्य चोरी आदि कुकर्मोंमें लग जाते हैं, वे सौ वर्षतक जीवित नहीं रह पाते ॥ १० ॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ ११ ॥

जहाँ-तहाँ समस्त प्राणियोंके दुःखद बर्तावसे उनपर जो कुछ बीतता है· उसे देखता हुआ मनुष्य दरिद्रतासे प्राप्त होनेवाले उन महान् दुःखोंका निवारण करनेके लिये बुद्धिके द्वारा औषध करे (अर्थात् विचारद्वारा अपने आपको कुमार्गपर जानेसे रोके) ॥ ११ ॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः ।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥ १२ ॥

मनुष्योंको बार-बार मानसिक दुःखोंकी प्राप्तिके कारण दो ही हैं—चित्तका भ्रम और अनिष्टकी प्राप्ति । तीसरा कोई कारण सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥ १३ ॥

इस प्रकार मनुष्यको इन्हीं दो कारणोंसे ये भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं । विषयोंकी आसक्तिसे भी ये दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥

बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियोंके समान हैं, जो बलवान्, दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियोंको खा जाते हैं॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः ।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौतको लाँघ नहीं सकता । भले ही वह समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीपर विजय पा चुका हो ॥ १५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् ।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥

प्राणियोंके निकट जो सुख या दुःख उपस्थित होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालनेका कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप ।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै कांक्षिता ये ततोऽन्यथा ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! पूर्वावस्था, मध्यावस्था अथवा उत्तरावस्थामें कभी-न-कभी वे क्लेश अनिवार्यरूपसे प्राप्त होते ही हैं, जिन्हें मनुष्य उनके विपरीतरूपमें चाहता है (अर्थात् सुख-ही-सुखकी इच्छा करता है; परंतु उसे कष्ट भी प्राप्त होते ही हैं) ॥

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥ १८ ॥

अप्रिय वस्तुओंके साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओंका वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्धके विधानके अनुसार होती है ॥ १८ ॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च ।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, देहावसान, लाभ[1] और हानि—ये सब प्रारब्धके ही आधारपर स्थित हैं ॥ १९ ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः ।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥

जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वभावतः आते-जाते रहते हैं; उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःखोंको प्रारब्धानुसार पाता रहता है ॥ २० ॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥ २१ ॥

सभी प्राणियोंके लिये बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समयके अनुसार ही नियत रूपसे होते रहते हैं ॥ २१ ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं, यह समयका उलटफेर बड़ा अद्भुत है ॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप, सौभाग्य और उपभोग-सामग्री—ये सब होनहारके अनुसार ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ २४ ॥

जो दरिद्र हैं और संतानकी इच्छा नहीं रखते हैं, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमेंसे किसी-किसीको एक पुत्र भी नहीं प्राप्त होता । विधाताकी चेष्टा बड़ी विचित्र है ॥ २४ ॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम् ।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा ॥ २५ ॥
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं तेन गच्छति सेतुना ।

रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख-प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थानसे गिरना—ये सब जीवकी मृत्युके निमित्त हैं । जन्मके समय जिसके लिये प्रारब्धवश जो निमित्त नियत कर दिया गया है, वही उसका सेतु है, अतः उसीके द्वारा वह जाता है अर्थात् परलोकमें गमन करता है ॥२५½॥

दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥ २६ ॥

दृश्यते चाप्यतिक्रामन्ननिग्राह्योऽथवा पुनः ।

कोई इस सेतुका उल्लङ्घन करता दिखायी नहीं देता अथवा पहले भी किसीने इसका उल्लङ्घन किया हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया । कोई-कोई पुरुष जो (तपस्या आदि प्रबल पुरुषार्थके द्वारा) दैवके नियन्त्रणमें रहने योग्य नहीं है, वह पूर्वोक्त सेतुका उल्लङ्घन करता भी दिखायी देता है॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः ।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥

इस जगत्में धनवान् मनुष्य भी जवानीमें ही नष्ट होता दिखायी देता है और क्लेशमें पड़ा हुआ दरिद्र भी सौ वर्षों-तक जीवित रहकर अत्यन्त वृद्धावस्थामें मरता देखा जाता है॥

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥ २८ ॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गोंके समान नष्ट होते रहते हैं ॥ २८ ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥ २९ ॥

जगत्में प्रायः धनवानोंको खाने और पचानेकी शक्ति ही नहीं रहती है और दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥२९॥

अहमेतत् करोमीति मन्यते कालनोदितः ।
यद् यदिष्टमसंतोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत् ॥ ३० ॥

दुरात्मा मनुष्य कालसे प्रेरित होकर यह अभिमान करने लगता है कि मैं यह करूँगा । तत्पश्चात् असंतोषवश उसे जो-जो अभीष्ट होता है, उस पापपूर्ण कृत्यको भी वह करने लगता है ॥ ३० ॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः ।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥

विद्वान् पुरुष शिकार करने, जूआ खेलने, स्त्रियोंके संसर्गमें रहने और मदिरा पीनेके प्रसङ्गोंकी बड़ी निन्दा करते हैं, परंतु इन पाप-कर्मोंमें अनेक शास्त्रोंके श्रवण और अध्ययन-से सम्पन्न पुरुष भी संलग्न देखे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह ।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कालके प्रभावसे समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्त करते रहते हैं, इस इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिका अदृष्टके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ ३२ ॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षपे ।
ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च ॥ ३३ ॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, नक्षत्र, नदी और पर्वतोंको कालके सिवा कौन बनाता और धारण करता है ? ॥ ३३ ॥

---

१. नीलकण्ठने 'प्राप्ति' का अर्थ 'लाभ' और 'व्यायाम' का अर्थ उसके विपरीत 'अलाभ' किया है ।

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥

सर्दी, गर्मी और वर्षाका चक्र भी कालसे ही चलता है। नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मनुष्योंके सुख-दुःख भी कालसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ ३५ ॥

वृद्धावस्था और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्यको औषध, मन्त्र, होम और जप भी नहीं बचा पाते हैं ॥ ३५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ ३६ ॥

जैसे महासागरमें एक काठ एक ओरसे और दूसरा दूसरी ओरसे आकर दोनों थोड़ी देरके लिये मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर बिछुड़ भी जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियोंके संयोग-वियोग होते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥

जगत्में जिन धनवान् पुरुषोंकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्योंके साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरोंके अन्नपर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति कालकी समान चेष्टा होती है ॥ ३७ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥

हमने संसारमें अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ३८ ॥

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥

इस जीवका न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसीका सम्बन्धी है । जैसे मार्गमें चलनेवालोंको दूसरे राहगीरोंका साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदोंका समागम होता है ॥ ३९ ॥

क्वासे क च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥ ४० ॥

अतः विवेकी पुरुषको अपने मनमें यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, यहाँ किसलिये आया हूँ और किस लिये किसका शोक करूँ ?' ॥ ४० ॥

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा ॥ ४१ ॥

यह संसार चक्रके समान घूमता रहता है । इसमें प्रियजनोंका सहवास अनित्य है । यहाँ भ्राता, मित्र, पिता और माता आदिका साथ रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान ही है ॥४१॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४२ ॥

यद्यपि विद्वान् पुरुष कहते हैं कि परलोक न तो आँखोंके सामने है और न पहलेका ही देखा हुआ है, तथापि अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके उसकी बातोंपर विश्वास करना चाहिये ॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत् ।
यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥

विज्ञ पुरुष पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका यजन करे । धर्मानुकूल कार्योंका अनुष्ठान और यज्ञ करे तथा विधिपूर्वक धर्म, अर्थ और कामका भी सेवन करे ॥ ४३ ॥

संनिमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४४ ॥

जिसमें जरा और मृत्युरूपी बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसमुद्रमें यह सारा संसार डूब रहा है, किंतु कोई इस बातको समझ नहीं पाता है ॥ ४४ ॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥ ४५ ॥

केवल आयुर्वेदका अध्ययन करनेवाले बहुत-से वैद्य भी परिवारसहित रोगोंके शिकार हुए देखे जाते हैं ॥ ४५ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४६ ॥

वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकारके घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तट-भूमिसे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौतको लाँघ नहीं पाते हैं ॥ ४६ ॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥

रसायन जाननेवाले वैद्य अपने लिये रसायनोंका अच्छी तरह प्रयोग करके भी वृद्धावस्थाद्वारा वैसे ही जर्जर हुए दिखायी देते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियोंके आघातसे टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४७ ॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार शास्त्रोंके स्वाध्याय और अभ्यासमें लगे हुए विद्वान्, तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्युको पार नहीं कर पाते हैं ॥ ४८ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४९ ॥

संसारमें जन्म लेनेवाले सभी प्राणियोंके दिन-रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लौटते हैं ॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥

मृत्युके इस विशाल मार्गका सेवन सभी प्राणियोंको करना पड़ता है । इस अनित्य मानवको भी कालसे विवश होकर कभी

न टलनेवाले मृत्युके मार्गपर आना ही पड़ता है ॥ ५० ॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः।
पथि सङ्गममभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥

(आस्तिक मतके अनुसार) जीव (चेतन) से शरीरकी उत्पत्ति हो या (नास्तिकोंकी मान्यताके अनुसार) शरीरसे जीवकी । सर्वथा स्त्री-पुत्र आदि या अन्य बन्धुओंके साथ जो समागम होता है, वह रास्तेमें मिलनेवाले राहगीरोंके समान ही है ॥ ५१ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

किसी भी पुरुषको कभी किसीके साथ भी सदा एक स्थानमें रहनेका सुयोग नहीं मिलता । जब अपने शरीरके साथ भी बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसीके साथ कैसे रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

क नु तेऽद्य पिता राजन् क नु तेऽद्य पितामहाः।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ ॥ ५३ ॥

राजन् ! आज तुम्हारे पिता कहाँ हैं ? आज तुम्हारे पितामह कहाँ गये ? निष्पाप नरेश ! आज न तो तुम उन्हें देख रहे हो और न वे तुम्हें देखते हैं ॥ ५३ ॥

न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च ।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥

कोई भी मनुष्य यहींसे इन स्थूल नेत्रोंद्वारा स्वर्ग और नरकको नहीं देख सकता । उन्हें देखनेके लिये सत्पुरुषोंके पास शास्त्र ही एकमात्र नेत्र हैं, अतः नरेश्वर ! तुम यहाँ उस शास्त्रके अनुसार ही आचरण करो ॥ ५४ ॥

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च ।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपसे पालन करके गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करे और पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों (अतिथियों) के ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पादन तथा यज्ञ करे, किसीके प्रति दोषदृष्टि न रक्खे ॥ ५५ ॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः
प्राग् ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः ।
आराधयेत् स्वर्गमिमं च लोकं
परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥ ५६ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पालन करके संतानोत्पादनके लिये विवाह करे, नेत्र आदि इन्द्रियोंको पवित्र रक्खे और स्वर्गलोक तथा इहलोकके सुखकी आशा छोड़कर हृदयके शोक-संतापको दूर करके यज्ञ-परायण हो परमात्माकी आराधना करता रहे ॥ ५६ ॥

समं हि धर्मं चरतो नृपस्य
द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत् ।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते
सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५७ ॥

राजा यदि नियमपूर्वक प्रजाके निकटसे करके रूपमें द्रव्य ग्रहण करे और राग-द्वेषसे रहित हो राजधर्मका पालन करता रहे तो उस धर्मपरायण नरेशका सुयश सम्पूर्ण चराचर लोकोंमें फैल जाता है ॥ ५७ ॥

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो
वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः ।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धि-
र्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ॥ ५८ ॥

निर्मल बुद्धिवाले विदेहराज जनक अश्माका यह युक्तिपूर्ण सम्पूर्ण उपदेश सुनकर शोकरहित हो गये और उनकी आज्ञा ले अपने घरको लौट गये ॥ ५८ ॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोक-
मुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि ।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते
तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः॥५९॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! तुम भी शोक छोड़कर उठो और हृदयमें हर्ष धारण करो । तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है; अतः इसे भोगो । इसकी अवहेलना न करो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा नारद-सृंजय-संवादके रूपमें सोलह राजाओंका उपाख्यान संक्षेपमें सुनाकर युधिष्ठिरके शोकनिवारणका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सबके समझाने-बुझानेपर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसंतप्तो धर्मपुत्रः परंतपः ।

स्वयं श्रीकृष्ण शोकमग्न युधिष्ठिरको समझा रहे हैं

एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—माधव ! शत्रुओंको संताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो शोकके समुद्रमें डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइये ॥ २ ॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

महाबाहु जनार्दन ! हम सब लोग पुनः महान् संशयमें पड़ गये हैं । आप इनके शोकका नाश कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महामना अर्जुनके ऐसा कहनेपर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले कमलनयन भगवान् गोविन्द राजा युधिष्ठिरकी ओर घूमे—उनके सम्मुख हुए ॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात् प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात् ॥५॥

धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकते थे; क्योंकि श्रीकृष्ण बाल्यावस्थासे ही उन्हें अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे ॥ ५ ॥

सम्प्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥

महाबाहु गोविन्दने युधिष्ठिरकी पत्थरके बने हुए खम्भे-जैसी चन्दनचर्चित भुजाको हाथमें लेकर उनका मनोरञ्जन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते ॥ ७ ॥

उस समय सुन्दर दाँतों और मनोहर नेत्रोंसे युक्त उनका मुखारविन्द सूर्योदयके समय पूर्णतः विकसित हुए कमलके समान शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह ! तुम शोक न करो । शोक तो शरीरको सुखा देनेवाला होता है । इस समराङ्गणमें जो वीर मारे गये हैं, वे फिर सहज ही मिल सकें, यह सम्भव नहीं है ॥ ८ ॥

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥ ९ ॥

राजन् ! जैसे सपनेमें मिले हुए धन जगनेपर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय महासमरमें नष्ट हो गये हैं, उनका दर्शन अब दुर्लभ है ॥ ९ ॥

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः ।
नैषां कश्चित् पृष्ठतो वा पलायन् वापि पातितः ॥ १० ॥

संग्राममें शोभा पानेवाले वे सभी शूरवीर शत्रुका सामना करते हुए पराजित हुए हैं । उनमेंसे कोई भी पीठपर चोट खाकर या भागता हुआ नहीं मारा गया है ॥ १० ॥

सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान् युद्ध्वा वीरा महामृधे ।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥

सभी वीर महायुद्धमें जूझते हुए अपने प्राणोंका परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रोंसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये हैं, अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्षत्रधर्मरताः शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः ।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान् न शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ।

क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत वे शूरवीर नरेश पुण्यमयी वीर-गतिको प्राप्त हुए हैं । पहलेके मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका चरित्र सुनकर तुम्हें अपने उन बन्धुओंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२½ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ १३ ॥
सृंजयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् ।

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जैसा कि इन देवर्षि नारदजीने पुत्र-शोकसे पीड़ित हुए राजा सृंजयसे कहा था ॥ १३½ ॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृंजय ॥ १४ ॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ।

'सृंजय ! मैं, तुम और ये समस्त प्रजावर्गके लोग कोई भी सुख और दुःखोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हुए हैं तथा एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी । फिर इसके लिये शोक क्या करना है ? ॥ १४½ ॥

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥ १५ ॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ।

'नरेश्वर ! मैं पूर्ववर्ती राजाओंके महान् सौभाग्यका वर्णन करता हूँ । सुनो और सावधान हो जाओ । इससे तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥ १५½ ॥

मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥ १६ ॥
शममानय संतापं शृणु विस्तरशश्च मे ।

'मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका नाम सुनकर ही तुम अपने मानसिक संतापको शान्त कर लो और मुझसे विस्तार-पूर्वक उन सबका परिचय सुनो ॥ १६½ ॥

क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम् ।

'उन पूर्ववर्ती राजाओंका श्रवण करने योग्य मनोहर वृत्तान्त बहुत ही उत्तम, क्रूर ग्रहोंको शान्त करनेवाला और आयुको बढ़ानेवाला है ॥ १७½ ॥

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥

यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः ।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १९ ॥

'सृंजय ! हमने सुना है कि अविक्षित्के पुत्र वे राजा मरुत्त भी मर गये, जिन महात्मा नरेशके यज्ञमें इन्द्र तथा वरुणसहित सम्पूर्ण देवता और प्रजापतिगण बृहस्पतिको आगे करके पधारे थे ॥ १८-१९ ॥

यः स्पर्धयायजच्छक्रं देवराजं पुरंदरम् ।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान् प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥
संवर्तो याजयामास यवीयान् स बृहस्पतेः ।

'उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखनेके कारण अपने यज्ञ-वैभवद्वारा उन्हें पराजित कर दिया था । इन्द्रका प्रिय चाहनेवाले बृहस्पतिजीने जब उनका यज्ञ करानेसे इन्कार कर दिया, तब उन्हींके छोटे भाई संवर्तने मरुत्तका यज्ञ कराया था ॥ २०½ ॥

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम ।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! राजा मरुत्त जब इस पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी और समस्त भूमण्डलमें देवालयोंकी माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथ्वीकी बड़ी शोभा होती थी ॥ २१ ॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः ।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन् महात्मनः ॥ २२ ॥

'महामना मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेवगण सभासद थे और मरुद्गण तथा साध्यगण रसोई परोसनेका काम करते थे॥२२॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत् सोममपिबंस्ततः ।
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २३ ॥

'मरुद्गणोंने मरुत्तके यज्ञमें उस समय खूब सोमरसका पान किया था । राजाने जो दक्षिणाएँ दी थीं, वे देवताओं, मनुष्यों और गन्धर्वोंके सभी यज्ञोंसे बढ़कर थीं ॥ २३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २४ ॥

'सृजय ! धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चारों बातोंमें राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥

सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यस्मिन् हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥ २५ ॥

'सृंजय ! अतिथिसत्कारके प्रेमी राजा सुहोत्र भी जीवित नहीं रहे, ऐसा सुननेमें आया है । उनके राज्यमें इन्द्रने एक वर्षतक सोनेकी वर्षा की थी ॥ २५ ॥

सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम् ।
हिरण्यमवहन् नद्यस्तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ २६ ॥

'राजा सुहोत्रको पाकर पृथ्वीका वसुमती नाम सार्थक हो गया था । जिस समय वे जनपदके स्वामी थे, उन दिनों वहाँकी नदियाँ अपने जलके साथ-साथ सुवर्ण बहाया करती थीं ॥

कूर्मान् कर्कटकान् नक्रान् मकराञ्छिशुकानपि ।
नदीष्वपातयद् राजन् मघवा लोकपूजितः ॥ २७ ॥

'राजन् ! लोकपूजित इन्द्रने सोनेके बने हुए बहुत से कछुए, केकड़े, नाके, मगर, सूँस और मत्स्य उन नदियोंमें गिराये थे ॥ २७ ॥

हिरण्यान् पातितान् दृष्ट्वा मत्स्यान् मकरकच्छपान् ।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः ॥ २८ ॥

'उन नदियोंमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें सुवर्णमय मत्स्यों, ग्राहों और कछुओंको गिराया गया देख अतिथिप्रिय राजा सुहोत्र आश्चर्यचकित हो उठे थे ॥ २८ ॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समर्पयत् ॥ २९ ॥

'वह अनन्त सुवर्णराशि कुरुजाङ्गल देशमें छा गयी थी । राजा सुहोत्रने वहाँ यज्ञ किया और उसमें वह सारी धनराशि ब्राह्मणोंमें बाँट दी ॥ २९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३० ॥
अदक्षिणमयज्वानं श्वैत्य संशाम्य मा शुचः ।

'श्वेतपुत्र सृंजय ! वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो । उसने न तो कोई यज्ञ किया था और न दक्षिणा ही बाँटी थी, अतः उसके लिये शोक न करो, शान्त हो जाओ ॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३१ ॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥ ३२ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'सृंजय ! अङ्गदेशके राजा बृहद्रथकी भी मृत्यु हुई थी, ऐसा हमने सुना है । उन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें दस लाख श्वेत घोड़े और सोनेके आभूषणोंसे भूषित दस लाख कन्याएँ दक्षिणारूपमें बाँटी थीं ॥ ३१-३२½ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां गजानां पद्ममालिनाम् ॥ ३३ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'इसी प्रकार यजमान बृहद्रथने उस विस्तृत यज्ञमें सुवर्णमय कमलोंकी मालाओंसे अलङ्कृत दस लाख हाथी भी दक्षिणामें बाँटे थे ॥ ३३½ ॥

शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम् ॥ ३४ ॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ।

'उन्होंने उस यज्ञमें एक करोड़ सुवर्णमालाधारी गाय, बैल और उनके सहस्रों सेवक दक्षिणारूपमें दिये थे ॥३४½॥

अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥ ३५ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।

'यजमान अङ्ग जब विष्णुपद पर्वतपर यज्ञ कर रहे थे, उस समय इन्द्र वहाँ सोमरस पीकर मतवाले हो उठे थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंपर भी आनन्दोन्माद छा गया था॥३५½॥

यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥ ३६ ॥
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ।

'राजेन्द्र ! प्राचीन कालमें अङ्गराजने ऐसे-ऐसे सौ यज्ञ किये थे और उन सबमें जो दक्षिणाएँ दी गयी थीं, वे देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंके यज्ञोंसे बढ़ गयी थीं ॥

न जातो जनिता नान्यः पुमान् यः सम्प्रदास्यति ॥३७॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ।

'अङ्गराजने सातों सोम[1]-संस्थाओंमें जो धन दिया था, उतना जो दे सके, ऐसा दूसरा न तो कोई मनुष्य पैदा हुआ है और न पैदा होगा ॥ ३७½ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ३८ ॥
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

'सृंजय ! पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे बृहद्रथ तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ! अतः तुम अपने पुत्रके लिये संतप्त न होओ ॥ ३८½ ॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३९ ॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ।

'सृंजय ! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वीको चमड़ेकी भाँति लपेट लिया था (सर्वथा अपने अधीन कर लिया था), वे उशीनरपुत्र राजा शिबि भी मरे थे, यह हमने सुना है॥३९½॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥ ४० ॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ।

'वे अपने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथके द्वारा इस भूमण्डलका एकछत्र शासन करते थे ॥ ४०½ ॥

यावदद्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ॥ ४१ ॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ।

'आज संसारमें जंगली पशुओंसहित जितने गाय-बैल और घोड़े हैं, उतनी संख्यामें उशीनरपुत्र शिबिने अपने यज्ञमें केवल गौओंका दान किया ॥ ४१½ ॥

न वोढारं धुरं तस्य कश्चिन्मेने प्रजापतिः ॥ ४२ ॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृंजय ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद् राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ४३ ॥

'सृंजय ! प्रजापति ब्रह्माने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उशीनर-पुत्र राजा शिबिके सिवा सम्पूर्ण राजाओंमें भूत या भविष्य-

१. अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोमसंस्थाएँ हैं ।

कालके दूसरे किसी राजाको ऐसा नहीं माना, जो शिबिका कार्यभार वहन कर सकता हो ॥ ४२-४३ ॥

अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४४ ॥

'सृंजय ! राजा शिबि पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे । तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब दूसरेकी क्या बात है, अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक मत करो । उसने न तो कोई यज्ञ किया था, न दक्षिणा ही दी थी; अतः उस पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥ ४५ ॥

'सृंजय ! दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र महाधनी महा-मनस्वी भरत भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमने सुना था॥

यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान् देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश ॥ ४६ ॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४७ ॥

'उन महातेजस्वी दुष्यन्त-कुमार भरतने पूर्वकालमें देवताओंकी प्रसन्नताके लिये यमुनाके तटपर तीन सौ, सरस्वती-के तटपर बीस और गङ्गाके तटपर चौदह घोड़े बाँधकर उतने-उतने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।* उन्होंने अपने जीवनमें एक सहस्र अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे ॥

भरतस्य महत् कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन्॥ ४८ ॥

'जैसे मनुष्य दोनों भुजाओंसे आकाशको तैर नहीं सकते, उसी प्रकार सम्पूर्ण राजाओंमें भरतका जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण न कर सके ॥ ४८ ॥

परं सहस्राद् यो बद्धान् हयान् वेदीर्वितत्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४९ ॥

'उन्होंने सहस्रसे भी अधिक घोड़े बाँधे और यज्ञ-वेदियों-का विस्तार करके अश्वमेध यज्ञ किये । उसमें भरतने आचार्य कण्वको एक हजार सुवर्णके बने हुए कमल भेंट किये॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५० ॥

'सृंजय ! वे साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार कल्याणमयी नीतियों अथवा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—

* पहले द्रोणपर्वमें जो सोलह राजाओंके प्रसङ्ग आये हैं, उनमें और यहाँके प्रसङ्गमें पाठभेदोंके कारण बहुत अन्तर देखा जाता है । वहाँ भरतके द्वारा यमुनातटपर सौ, सरस्वतीतटपर तीन सौ और गङ्गातटपर चार सौ अश्वमेध यज्ञ किये गये थे—यह उल्लेख है ।

इन चार मङ्गलकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरा कौन जीवित रह सकता है। अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥५०॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥ ५१ ॥

'सृंजय! सुननेमें आया है कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामजी भी यहाँसे परम धामको चले गये थे, जो सदा अपनी प्रजापर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे—पिता अपने औरस पुत्रोंपर रखता है ॥ ५१ ॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात् ॥ ५२ ॥

'उनके राज्यमें कोई भी स्त्री अनाथ-विधवा नहीं हुई। श्रीरामचन्द्रजीने जबतक राज्यका शासन किया, तबतक वे अपनी प्रजाके लिये सदा ही पिताके समान कृपालु बने रहे ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५३ ॥

'मेघ समयपर वर्षा करके खेतीको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलनेका अवसर देता था। रामके राज्य-शासन-कालमें सदा सुकाल ही रहता था (कभी अकाल नहीं पड़ता था) ॥ ५३ ॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
रुजाभयं न तत्रासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५४ ॥

'रामके राज्यका शासन करते समय कभी कोई प्राणी जलमें नहीं डूबते थे, आग अनुचितरूपसे कभी किसीको नहीं जलाती थी तथा किसीको रोगका भय नहीं होता था ॥

आसन् वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्यका शासन करते थे' उन दिनों हजार वर्षतक जीनेवाली स्त्रियाँ और सहस्रों वर्षतक जीवित रहनेवाले पुरुष थे। किसीको कोई रोग नहीं सताता था, सभीके सारे मनोरथ सिद्ध होते थे ॥ ५५ ॥

नान्योऽन्येन विवादोऽभूत् स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५६ ॥

'स्त्रियोंमें भी परस्पर विवाद नहीं होता था; फिर पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? श्रीरामके राज्य-शासनकालमें समस्त प्रजा सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ५६ ॥

संतुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्य करते थे, उस समय सभी मनुष्य संतुष्ट, पूर्णकाम, निर्भय, स्वाधीन और सत्यव्रती थे॥

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५८ ॥

'श्रीरामके राज्यशासनकालमें सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधाके सदा फले-फूले रहते थे और समस्त गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ ५८ ॥

स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः।
दशाश्वमेधान् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥ ५९ ॥

'महातपस्वी श्रीरामने चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके राज्य पानेके अनन्तर दस ऐसे अश्वमेध यज्ञ किये, जो सर्वथा स्तुतिके योग्य थे तथा जहाँ किसी भी याचकके लिये दरवाजा बंद नहीं होता था ॥ ५९ ॥

युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ६० ॥

'श्रीरामचन्द्रजी नवयुवक और श्याम वर्णवाले थे। उनकी आँखोंमें कुछ-कुछ लालिमा शोभा देती थी। वे यूथपति गजराजके समान शक्तिशाली थे। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। उनका मुख सुन्दर और कंधे सिंहके समान थे ॥ ६० ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥ ६१ ॥

'श्रीरामने अयोध्याके अधिपति होकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था ॥ ६१ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६२ ॥

'सृंजय! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी यहाँ रह न सके, तब दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम्हें अपने पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

भगीरथं च राजानं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ६३ ॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः।
अजयद् बाहुवीर्येण भगवान् पाकशासनः ॥ ६४ ॥

'सृंजय! राजा भगीरथ भी कालके गालमें चले गये, ऐसा हमने सुना है। जिनके विस्तृत यज्ञमें सोम पीकर मदोन्मत्त हुए सुरश्रेष्ठ भगवान् पाकशासन इन्द्रने अपने बाहुबलसे कई सहस्र असुरोंको पराजित किया ॥ ६३-६४ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ६५ ॥

'जिन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित दस लाख कन्याओंका दक्षिणारूपमें दान किया था ॥ ६५ ॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ६६ ॥

'वे सभी कन्याएँ अलग-अलग रथमें बैठी हुई थीं। प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे। हर एक रथके

पीछे सोनेकी मालाओंसे विभूषित तथा मस्तकपर कमलके चिह्नोंसे अलंकृत सौ-सौ हाथी थे ॥ ६६ ॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६७ ॥

'प्रत्येक हाथीके पीछे एक-एक हजार घोड़े, हर एक घोड़ेके पीछे हजार-हजार गायें और एक-एक गायके साथ हजार-हजार भेड़-बकरियाँ चल रही थीं ॥ ६७ ॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह ।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत् पुरा ॥ ६८ ॥

'तटके निकट निवास करते समय गङ्गाजी राजा भगीरथकी गोदमें आ बैठी थीं। इसलिये वे पूर्वकालमें भागीरथी और उर्वशी नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ ६८ ॥

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम् ।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥ ६९ ॥

'त्रिपथगामिनी गङ्गाने पुत्रीभावको प्राप्त होकर पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशी यजमान भगीरथको अपना पिता माना ॥ ६९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७० ॥

सृंजय ! वे पूर्वोक्त चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब वे भी कालसे न बच सके तो दूसरोंके लिये क्या कहा जा सकता है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥ ७० ॥

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥ ७१ ॥

'सृंजय ! महामना राजा दिलीप भी मरे थे, यह सुननेमें आया है । उनके महान् कर्मोंका आज भी ब्राह्मणलोग वर्णन करते हैं ॥ ७१ ॥

य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।
ददौ तस्मिन् महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ७२ ॥

'एकाग्रचित्त हुए उन नरेशने अपने उस महायज्ञमें रत्न और धनसे परिपूर्ण इस सारी पृथ्वीका ब्राह्मणोंके लिये दान कर दिया था ॥ ७२ ॥

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः ।
सहस्रं वारणान् हैमान् दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ७३ ॥

'यजमान दिलीपके प्रत्येक यज्ञमें पुरोहितजी सोनेके बने हुए एक हजार हाथी दक्षिणारूपमें पाकर उन्हें अपने घर ले जाते थे ॥ ७३ ॥

यस्य यज्ञे महानासीद् यूपः श्रीमान् हिरण्मयः ।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ७४ ॥

'उनके यज्ञमें सोनेका बना हुआ कान्तियुक्त बहुत बड़ा यूप शोभा पाता था । यज्ञकर्म करते हुए इन्द्र आदि देवता सदा उसी यूपका आश्रय लेकर रहते थे ॥ ७४ ॥

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये ।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ॥ ७५ ॥
अवादयत् तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ७६ ॥

'उनके उस सुवर्णमय यूपमें जो सोनेका चषाल (घेरा) बना था, उसके ऊपर छः हजार देवगन्धर्व नृत्य किया करते थे । वहाँ साक्षात् विश्वावसु बीचमें बैठकर सात स्वरोंके अनुसार वीणा बजाया करते थे । उस समय सब प्राणी यही समझते थे कि ये मेरे ही आगे बाजा बजा रहे हैं ॥७५-७६॥

एतद् राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यस्येभा हेमसंछन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ ७७ ॥
राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ।
येऽपश्यन् सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥ ७८ ॥

'राजा दिलीपके इस महान् कर्मका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सके । उनके सुनहरे साज-बाज और सोनेके आभूषणोंसे सजे हुए मतवाले हाथी रास्तेपर सोये रहते थे । सत्यवादी शतधन्वा महामनस्वी राजा दिलीपका जिन लोगोंने दर्शन किया था, उन्होंने भी स्वर्गलोकको जीत लिया ॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने ।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥ ७९ ॥

'महाराज दिलीपके भवनमें वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष, शूरवीरोंके धनुषकी टंकार तथा 'दान दो' की पुकार—ये तीन प्रकारके शब्द कभी बंद नहीं होते थे ॥ ७९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ८० ॥

'सृंजय ! वे राजा दिलीप चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे । तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥८०॥

मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ८१ ॥

'सृंजय ! जिन्हें मरुत् नामक देवताओंने गर्भावस्थामें पिताके पार्श्वभागको फाड़कर निकाला था, वे युवनाश्वके पुत्र मान्धाता भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ८१ ॥

समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः ।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ८२ ॥

'त्रिलोकविजयी श्रीमान् राजा मान्धाता पृषदाज्य (दधिमिश्रित घी जो पुत्रोत्पत्तिके लिये तैयार करके रक्खा गया था) से उत्पन्न हुए थे । वे अपने पिता महामना युवनाश्वके पेटमें ही पले थे ॥ ८२ ॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम् ।
अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कमयं धास्यतीति वै ॥ ८३ ॥

'जब वे शिशु-अवस्थामें पिताके पेटसे पैदा हो उनकी गोदमें सो रहे थे, उस समय उनका रूप देवताओंके बालकोंके समान दिखायी देता था। उस अवस्थामें उन्हें देखकर देवता आपसमें बात करने लगे 'यह मातृहीन बालक किसका दूध पीयेगा'॥

मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः॥ ८४॥

'यह सुनकर इन्द्र बोल उठे 'मां धाता—मेरा दूध पीयेगा।' जब इन्द्रने इस प्रकार उसे पिलाना स्वीकार कर लिया, तबसे उन्होंने ही उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया॥ ८४॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत्॥ ८५॥

'तदनन्तर उस महामनस्वी बालक युवनाश्वकुमारकी पुष्टिके लिये उसके मुखमें इन्द्रके हाथसे दूधकी धारा झरने लगी॥ ८५॥

तं पिबन् पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्धत।
स आसीद् द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः॥ ८६॥

'इन्द्रके उस हाथको पीता हुआ वह बालक एक ही दिनमें सौ दिनके बराबर बढ़ गया। बारह दिनोंमें राजकुमार मान्धाता बारह वर्षकी अवस्थावाले बालकके समान हो गये॥

तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि॥ ८७॥

'राजा मान्धाता बड़े धर्मात्मा और महामनस्वी थे। युद्धमें इन्द्रके समान शौर्य प्रकट करते थे। यह सारी पृथ्वी एक ही दिनमें उनके अधिकारमें आ गयी थी॥ ८७॥

यश्चाङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम्।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत्॥ ८८॥

'मान्धाताने समराङ्गणमें राजा अङ्गार, मरुत्त, असित, गय तथा अङ्गराज बृहद्रथको भी पराजित कर दिया था॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे॥ ८९॥

'जिस समय युवनाश्वपुत्र मान्धाताने रणभूमिमें राजा अङ्गारके साथ युद्ध किया था, उस समय देवताओंने ऐसा समझा कि 'उनके धनुषकी टंकारसे सारा आकाश ही फट पड़ा है'॥ ८९॥

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ ९०॥

'जहाँ सूर्य उदय होते हैं वहाँसे लेकर जहाँ अस्त होते हैं वहाँतकका सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाताका ही राज्य कहलाता था॥ ९०॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च।
अददाद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते ९१
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम्।
अतिरिक्तान् द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः॥ ९२॥

'प्रजानाथ! उन्होंने सौ अश्वमेध तथा सौ राजसूय यज्ञ करके दस योजन लंबे तथा एक योजन ऊँचे बहुत-से सोनेके रोहित नामक मत्स्य बनवाकर ब्राह्मणोंको दान किये थे। ब्राह्मणोंके ले जानेसे जो बच गये, उन्हें दूसरे लोगोंने बाँट लिया॥ ९१-९२॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ९३॥

'सृंजय! राजा मान्धाता चारों कल्याणमय गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मारे गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बिसात है? अतः तुम उसके लिये शोक न करो॥ ९३॥

ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सहसागराम्॥ ९४॥
शम्यापातेनाभ्यतीयाद् वेदीभिश्चित्रयन् महीम्।
ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद् वसुन्धराम्॥ ९५॥

'सृंजय! नहुषपुत्र राजा ययाति भी जीवित न रह सके—यह हमने सुना है। उन्होंने समुद्रोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर शम्यापातके[1] द्वारा पृथ्वीको नाप-नापकर यज्ञकी वेदियाँ बनायीं, जिनसे भूतलकी विचित्र शोभा होने लगी। उन्हीं वेदियोंपर मुख्य-मुख्य यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए उन्होंने सारी भारतभूमिकी परिक्रमा कर डाली॥ ९४-९५॥

इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च।
तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः॥ ९६॥

'उन्होंने एक हजार श्रौतयज्ञों और सौ वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सोनेके तीन पर्वत दान करके पूर्णतः संतुष्ट किया॥ ९६॥

व्यूढेनासुरयुद्धेन हत्वा दैतेयदानवान्।
व्यभजत् पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः॥ ९७॥

'नहुषपुत्र ययातिने व्यूह-रचनायुक्त आसुर युद्धके द्वारा दैत्यों और दानवोंका संहार करके यह सारी पृथ्वी अपने पुत्रोंको बाँट दी थी॥ ९७॥

अन्त्येषु पुत्रान् निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान्।
पूरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद् वनम्॥ ९८॥

'उन्होंने किनारेके प्रदेशोंपर अपने तीन पुत्र यदु, द्रुह्यु तथा अनुको स्थापित करके मध्य भारतके राज्यपर पूरुको अभिषिक्त किया; फिर अपनी स्त्रियोंके साथ वे वनमें चले गये॥ ९८॥

---

१. 'शम्या' एक ऐसे काठके डंडेको कहते हैं, जिसका निचला भाग मोटा होता है। उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं। इस तरह एक-एक शम्यापातमें एक-एक यज्ञवेदी बनाते और यज्ञ करते हुए राजा ययाति आगे बढ़ते गये। इस प्रकार चलकर उन्होंने भारतभूमिकी परिक्रमा की थी।

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९९ ॥

'सृंजय ! वे तुम्हारी अपेक्षा चारों कल्याणमय गुणोंमें बढ़े हुए थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारा पुत्र किस गिनतीमें है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ९९ ॥

अम्बरीषं च नाभागं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥१००॥

'सृंजय ! हमने सुना है कि नाभागके पुत्र अम्बरीष भी मृत्युके अधीन हो गये थे। उन नृपश्रेष्ठ अम्बरीषको सारी प्रजाने अपना पुण्यमय रक्षक माना था ॥ १०० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम् ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः सुसंहितः ॥१०१॥

'ब्राह्मणोंके प्रति अनुराग रखनेवाले राजा अम्बरीषने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमण्डपमें दस लाख ऐसे राजाओंको उन ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया था, जो स्वयं भी दस-दस हजार यज्ञ कर चुके थे ॥१०१॥

नैतत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥१०२॥

'उन यज्ञकुशल ब्राह्मणोंने नाभागपुत्र अम्बरीषकी सराहना करते हुए कहा था कि 'ऐसा यज्ञ न तो पहलेके राजाओंने किया है और न भविष्यमें होनेवाले ही करेंगे' ॥

शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च ।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥१०३॥

'उनके यज्ञमें एक लाख दस हजार राजा सेवाकार्य करते थे। वे सभी अश्वमेधयज्ञका फल पाकर दक्षिणायनके पश्चात् आनेवाले उत्तरायणमार्गसे ब्रह्मलोकमें चले गये थे ॥ १०३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१०४॥

'सृंजय ! राजा अम्बरीष चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी जीवित न रह सके तो दूसरेके लिये क्या कहा जा सकता है ? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १०४ ॥

शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृंजय ।
यस्य भार्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ॥१०५॥
सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासञ्शाशबिन्दवाः ।

'सृंजय ! हम सुनते हैं कि चित्ररथके पुत्र शशबिन्दु भी मृत्युसे अपनी रक्षा न कर सके। उन महामना नरेशके एक लाख रानियाँ थीं और उनके गर्भसे राजाके दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १०५½ ॥

हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ॥१०६॥
शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयुः ।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः॥१०७॥

'वे सभी राजकुमार सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले और उत्तम धनुर्धर थे। एक-एक राजकुमारको अलग-अलग सौ-सौ कन्याएँ ब्याही गयी थीं। प्रत्येक कन्याके साथ सौ-सौ हाथी प्राप्त हुए थे। हर एक हाथीके पीछे सौ-सौ रथ मिले थे ॥ १०६-१०७ ॥

रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः ।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम् ॥ १०८॥

'प्रत्येक रथके साथ सुवर्णमालाधारी सौ-सौ देशीय घोड़े थे। हर एक अश्वके साथ सौ गायें और एक-एक गायके साथ सौ-सौ भेड़-बकरियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १०८ ॥

एतद् धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे ।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥१०९॥

'महाराज ! राजा शशबिन्दुने यह अनन्त धनराशि अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दी थी ॥१०९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११०॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मृत्युसे बच न सके, तब तुम्हारे पुत्रके लिये क्या कहा जाय ? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

गयं चामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृंजय ।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥१११॥

'सृंजय ! सुननेमें आया है कि अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयकी भी मृत्यु हुई थी। उन्होंने सौ वर्षोंतक होमसे अवशिष्ट अन्नका ही भोजन किया ॥ १११ ॥

यस्मै वह्निर्वरं प्रादात् ततो वव्रे वरान् गयः ।
ददतो योऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥११२॥
मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन ।

'एक समय अग्निदेवने उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब राजा गयने ये वर माँगे, 'अग्निदेव ! आपकी कृपासे दान करते हुए मेरे पास अक्षय धनका भंडार भरा रहे। धर्ममें मेरी श्रद्धा बढ़ती रहे और मेरा मन सदा सत्यमें ही अनुरक्त रहे'॥

लेभे च कामांस्तान् सर्वान् पावकादिति नः श्रुतम् ॥११३॥
दर्शैश्च पूर्णमासैश्च चातुर्मास्यैः पुनः पुनः ।
अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥११४॥

'सुना है कि उन्हें अग्निदेवसे वे सभी मनोवाञ्छित फल प्राप्त हो गये थे। उन्होंने एक हजार वर्षोंतक बारंबार दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य तथा अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था॥

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च ।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात् सहस्रं परिवत्सरान् ॥११५॥

'वे हजार वर्षोंतक प्रतिदिन सबेरे उठ-उठकर एक-एक लाख गौओं और सौ-सौ खच्चरोंका दान करते थे ॥ ११५ ॥

तर्पयामास सोमेन देवान् वित्तैर्द्विजानपि ।
पितॄन् स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥११६॥

'पुरुषप्रवर ! इन्होंने सोमरसके द्वारा देवताओंको, धनके द्वारा ब्राह्मणोंको, श्राद्धकर्मसे पितरोंको और कामभोगद्वारा स्त्रियोंको तृप्त किया था ॥ ११६ ॥

सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा दशव्यामां द्विरायताम् ।
दक्षिणामददद् राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११७॥

'राजा गयने महायज्ञ अश्वमेधमें दस व्याम (पचास हाथ) चौड़ी और इससे दूनी लंबी सोनेकी पृथ्वी बनवाकर दक्षिणारूपसे दान की थी ॥ ११७ ॥

यावत्यः सिकता राजन् गङ्गायां पुरुषर्षभ ।
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः ॥११८॥

'पुरुषप्रवर नरेश ! गङ्गाजीमें जितने बालूके कण हैं, अमूर्तरयाके पुत्र गयने उतनी ही गौओंका दान किया था॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११९॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे । जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ११९ ॥

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं संजय शुश्रुम ।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥ १२०॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कंचन ॥१२१॥

'सृंजय ! संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेव भी कालके गालमें चले गये, यह हमारे सुननेमें आया है । उन महातपस्वी नरेशने इन्द्रकी अच्छी तरह आराधना करके उनसे यह वर माँगा कि 'हमारे पास अन्न बहुत हो, हम सदा अतिथियोंकी सेवाका अवसर प्राप्त करें, हमारी श्रद्धा दूर न हो और हम किसीसे कुछ भी न माँगें' ॥ १२०-१२१ ॥

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् ।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥१२२॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाले, यशस्वी महात्मा राजा रन्तिदेवके पास गाँवों और जंगलोंके पशु अपने-आप यज्ञके लिये उपस्थित हो जाते थे ॥ १२२ ॥

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् ससृजे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥१२३॥

'वहाँ भीगी चर्मराशिसे जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गयी, जो चर्मण्वती (चम्बल) के नामसे विख्यात हुई ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः ।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः॥१२४॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान् सम्प्रपद्यते ।

'राजा अपने विशाल यज्ञमें ब्राह्मणोंको सोनेके निष्क दिया करते थे । वहाँ द्विजलोग पुकार-पुकारकर कहते कि 'ब्राह्मणो! यह तुम्हारे लिये निष्क है, यह तुम्हारे लिये निष्क है' परंतु कोई लेनेवाला आगे नहीं बढ़ता था । फिर वे यह कहकर कि 'तुम्हारे लिये एक सहस्र निष्क है', लेनेवाले ब्राह्मणोंको उपलब्ध कर पाते थे ॥ १२४½ ॥

अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥१२५॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च ।
नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥१२६॥

'बुद्धिमान् राजा रन्तिदेवके उस यज्ञमें अन्वाहार्य अग्निमें आहुति देनेके लिये जो उपकरण थे तथा द्रव्य-संग्रहके लिये जो उपकरण—घड़े, पात्र, कड़ाहे, बटलोई और कठौते आदि सामान थे, उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो सोनेका बना हुआ न हो ॥ १२५-१२६ ॥

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः॥१२७॥

'संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरमें जिस रातको अतिथियोंका समुदाय निवास करता था, उस समय उन्हें बीस हजार एक सौ गौएँ छूकर दी जाती थीं ॥ १२७ ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य भोज्यं यथा पुरा ॥१२८॥

'वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये रसोइये पुकार-पुकारकर कहते थे कि 'आपलोग खूब दाल-भात खाइये । आजका भोजन पहले-जैसा नहीं है, अर्थात् पहलेकी अपेक्षा बहुत अच्छा है' ॥ १२८ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२९॥

'सृंजय ! रन्तिदेव तुमसे पूर्वोक्त चारों गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १२९ ॥

सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृंजय ।
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥१३०॥

'सृंजय ! इक्ष्वाकुवंशी पुरुषसिंह महामना सगर भी मरे थे, ऐसा सुननेमें आया है । उनका पराक्रम अलौकिक था ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे ।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥१३१॥

'जैसे वर्षाके अन्त (शरद्) में बादलोंसे रहित आकाशके भीतर तारे नक्षत्रराज चन्द्रमाका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार राजा सगर जब युद्ध आदिके लिये कहीं यात्रा करते थे, तब उनके साठ हजार पुत्र उन नरेशके पीछे-पीछे चलते थे ॥ १३१ ॥

एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत् पुरा ।

योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥१३२॥

'पूर्वकालमें राजाके प्रतापसे एकछत्र पृथ्वी उनके अधिकार-में आ गयी थी । उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था ॥ १३२ ॥

यः प्रादात् कनकस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥१३३॥
द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान् बहून्।
यस्यादेशेन तद् वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥१३४॥

'राजाने सोनेके खंभोंसे युक्त पूर्णतः सोनेका बना हुआ महल, जो कमलके समान नेत्रोंवाली सुन्दरी स्त्रियोंकी शय्याओं-से सुशोभित था, तैयार कराकर योग्य ब्राह्मणोंको दान किया। साथ ही नाना प्रकारकी भोगसामग्रियाँ भी प्रचुरमात्रामें उन्हें दी थीं। उनके आदेशसे ब्राह्मणोंने उनका सारा धन आपसमें बाँट लिया था ॥ १३३-१३४ ॥

खानयामास यः कोपात् पृथिवीं सागराङ्किताम्।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥१३५॥

'एक समय क्रोधमें आकर उन्होंने समुद्रसे चिह्नित सारी पृथ्वी खुदवा डाली थी। उन्हींके नामपर समुद्रकी 'सागर' संज्ञा हो गयी ॥ १३५ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१३६॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ! अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १३६ ॥

राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यमभ्यषिञ्चन् सम्भूय महारण्ये महर्षयः ॥१३७॥

'सृंजय ! वेनके पुत्र महाराज पृथुको भी अपने शरीरका त्याग करना पड़ा था, ऐसा हमने सुना है। महर्षियोंने महान् वनमें एकत्र होकर उनका राज्याभिषेक किया था ॥ १३७ ॥

प्रथयिष्यति वै लोकान् पृथुरित्येव शब्दितः।
क्षताद् यो वै त्रायतीति स तस्मात् क्षत्रियः स्मृतः॥१३८॥

'ऋषियोंने यह सोचकर कि सब लोकोंमें धर्मकी मर्यादा प्रथित (स्थापित) करेंगे, उनका नाम पृथु रक्खा था। वे क्षत अर्थात् दुःखसे सबका त्राण करते थे, इसलिये क्षत्रिय कहलाये ॥ १३८ ॥

पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥१३९॥

'वेननन्दन पृथुको देखकर समस्त प्रजाओंने एक साथ कहा कि 'हम इनमें अनुरक्त हैं' इस प्रकार प्रजाका रञ्जन करनेके कारण ही उनका नाम 'राजा' हुआ ॥ १३९ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन् प्रशासतः॥१४०॥

'पृथुके शासनकालमें पृथ्वी बिना जोते ही धान्य उत्पन्न करती थी, वृक्षोंके पुट-पुटमें मधु (रस) भरा था और सारी गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ १४० ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः।
यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥१४१॥

'मनुष्य नीरोग थे। उनकी सारी कामनाएँ सर्वथा परिपूर्ण थीं और उन्हें कभी किसी चीजसे भय नहीं होता था। सब लोग इच्छानुसार घरों या खेतोंमें रह लेते थे ॥ १४१ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः।
सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१४२॥

'जब वे समुद्रकी ओर यात्रा करते, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था। नदियोंकी बाढ़ शान्त हो जाती थी। उनके रथकी ध्वजा कभी भग्न नहीं होती थी ॥१४२॥

हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान् पर्वतानेकविंशतिम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥१४३॥

'राजा पृथुने अश्वमेधनामक महायज्ञमें चार सौ हाथ ऊँचे इक्कीस सुवर्णमय पर्वत ब्राह्मणोंको दान किये थे॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१४४॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १४४ ॥

किं वा तूष्णीं ध्यायसे सृंजय त्वं
न मे राजन् वाचमिमां शृणोषि।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं
पथ्यं मुमूर्षोरिव सुप्रयुक्तम् ॥१४५॥

'सृंजय ! तुम चुपचाप क्या सोच रहे हो। राजन् ! मेरी इस बातको क्यों नहीं सुनते हो ? जैसे मरणासन्न पुरुषके ऊपर अच्छी तरह प्रयोगमें लायी हुई ओषधि व्यर्थ जाती है, उसी प्रकार मेरा यह सारा प्रवचन निष्फल तो नहीं हो गया ?'॥

सृंजय उवाच

शृणोमि ते नारद वाचमेनां
विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम्।
राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां
कीर्त्या युक्तानां शोकनिर्णाशनार्थाम्॥१४६॥

सृंजयने कहा—नारद ! पवित्र गन्धवाली मालाके समान विचित्र अर्थसे भरी हुई आपकी इस वाणीको मैं सुन रहा हूँ। पुण्यात्मा महामनस्वी और कीर्तिशाली राजर्षियोंके चरित्रसे युक्त आपका यह वचन सम्पूर्ण शोकोंका विनाश करनेवाला है ॥ १४६ ॥

न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे
दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः।

शुश्रूषे ते वचनं ब्रह्मवादिन्
न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥१४७॥

महर्षि नारद ! आपने जो कुछ कहा है, आपका वह उपदेश व्यर्थ नहीं गया है। आपका दर्शन करके ही मैं शोक-रहित हो गया हूँ । ब्रह्मवादी मुने ! मैं आपका यह प्रवचन सुनना चाहता हूँ और अमृतपानके समान उससे तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ १४७ ॥

अमोघदर्शिन् मम चेत् प्रसादं
संतापदग्धस्य विभो प्रकुर्याः ।
सुतस्य सञ्जीवनमद्य मे स्यात्
तव प्रसादात् सुतसङ्गमश्च ॥१४८॥

प्रभो ! आपका दर्शन अमोघ है । मैं पुत्रशोकके संताप-से दग्ध हो रहा हूँ । यदि आप मुझपर कृपा करें तो मेरा पुत्र फिर जीवित हो सकता है और आपके प्रसादसे मुझे पुनः पुत्र-मिलनका सुख सुलभ हो जायगा ॥ १४८ ॥

नारद उवाच

यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः
स्वर्णष्ठीवी यमदात् पर्वतस्ते ।
पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि
हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥१४९॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! तुम्हारे यहाँ जो यह सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे पर्वत मुनिने तुम्हें दिया था, वह तो चला गया । अब मैं पुनः हिरण्यनाभ नामक एक पुत्र दे रहा हूँ, जिसकी आयु एक हजार वर्षोंकी होगी ॥ १४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षोडशराजोपाख्याने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सोलह राजाओंका उपाख्यानविषयक* उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

महर्षि नारद और पर्वतका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

स कथं काञ्चनष्ठीवी सृंजयस्य सुतोऽभवत् ।
पर्वतेन किमर्थं वा दत्तस्तेन ममार च ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! पर्वत मुनिने राजा सृंजयको सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र किस लिये दिया और वह क्यों मर गया ? ॥ १ ॥

यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः ।
कथमप्राप्तकौमारः सृंजयस्य सुतो मृतः ॥ २ ॥

जब उस समय मनुष्यकी एक हजार वर्षकी आयु होती थी, तब सृंजयका पुत्र कुमारावस्था आनेसे पहले ही क्यों मर गया ? ॥ २ ॥

उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत् ।
कथं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

उस बालकका नाममात्र ही सुवर्णष्ठीवी था या उसमें वैसा ही गुण भी था । सुवर्णष्ठीवी नाम पड़नेका कारण क्या था ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं जनेश्वर ।
नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—जनेश्वर ! इस विषयमें जो बात है, वह यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनिये । नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि सम्पूर्ण लोकोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ ।
विहर्तुकामौ सम्प्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो ॥ ५ ॥

ये दोनों परस्पर मामा और भानजे लगते हैं ! प्रभो ! पहलेकी बात है ये दोनों महर्षि मनुष्यलोकमें भ्रमण करनेके लिये प्रेमपूर्वक देवलोकसे यहाँ आये थे ॥ ५ ॥

हविःपवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि ।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ॥ ६ ॥

वे यहाँ पवित्र हविष्य तथा देवताओंके भोजन करने योग्य पदार्थ खाकर रहते थे । नारदजी मामा हैं और पर्वत इनके भानजे हैं ॥ ६ ॥

तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ ।
भुञ्जानौ मानुषान् भोगान् यथावत् पर्यधावताम् ॥ ७ ॥

वे दोनों तपस्वी पृथ्वीतलपर विचरते और मानवीय भोगोंका उपभोग करते हुए यहाँ यथावत्‌रूपसे परिभ्रमण करने लगे ॥ ७ ॥

प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं चैव चक्रतुः ।
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ॥ ८ ॥
अन्योन्यस्य स आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत् ।

उन दोनोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रेमपूर्वक यह शर्त कर रक्खी थी कि हमलोगोंके मनमें शुभ या अशुभ जो भी संकल्प प्रकट हो, उसे हम एक दूसरेसे कह दें; अन्यथा झूठे ही शापका भागी होना पड़ेगा ॥ ८½ ॥

* यह षोडश राजाओंका उपाख्यान द्रोणपर्वके पचपनवें अध्यायसे लेकर इकहत्तरवें अध्यायतक पहले आ चुका है । उसीको कुछ संक्षिप्त करके पुनः यहाँ लिया गया है । पहलेका परशुरामचरित्र इसमें संगृहीत नहीं हुआ है और पहले जो राजा पौरवका चरित्र आया था, उसके स्थानमें यहाँ अङ्गराज बृहद्रथके चरित्रका वर्णन है । कथाओंके क्रममें भी उलटा-पलटी हो गयी है । श्लोकोंके पाठोंमें भी कई जगह भेद दिखायी देता है ।

तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥ ९ ॥
सृंजयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ।

वे दोनों लोकपूजित महर्षि 'तथास्तु' कहकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् श्वेतपुत्र राजा सृंजयके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित् कालं हिताय ते ॥ १० ॥
यथावत् पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव ।

'भूपाल ! हम दोनों तुम्हारे हितके लिये कुछ कालतक तुम्हारे पास ठहरेंगे । तुम हमारे अनुकूल होकर रहो' ।१०½।

तथेति कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥ ११ ॥
ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ ।
अब्रवीत् परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥ १२ ॥
एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति ।
दर्शनीयानवद्याङ्गी शीलवृत्तसमाहिता ॥ १३ ॥
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिञ्जल्कसुप्रभा ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर राजाने उन दोनोंका सत्कारपूर्वक पूजन किया । तदनन्तर एक दिन राजा सृंजयने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन दोनों तपस्वी महात्माओंसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी एक ही कन्या है, जो परम सुन्दरी, दर्शनीय, निर्दोष अङ्गोंवाली तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न है । कमल-केसरके समान कान्तिवाली यह सुकुमारी कुमारी आजसे आप दोनोंकी सेवा करेगी' ॥ ११–१३½ ॥

परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥ १४ ॥
कन्ये विप्रावुपचर देववत् पितृवच्च ह ।

तब उन दोनोंने कहा—'बहुत अच्छा ।' इसके बाद राजाने उस कन्याको आदेश दिया—'बेटी ! तुम इन दोनों महर्षियोंकी देवता और पितरोंके समान सेवा किया करो'१४½

सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥ १५ ॥
यथानिदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ।

धर्माचरणमें तत्पर रहनेवाली उस कन्याने पितासे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर राजाकी आज्ञाके अनुसार उन दोनोंकी सत्कारपूर्वक सेवा आरम्भ कर दी ॥ १५½ ॥

तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥ १६ ॥
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत ।

उसकी उस सेवा तथा अनुपम रूप-सौन्दर्यसे नारदके हृदयमें सहसा कामभावका संचार हो गया ॥ १६½ ॥

ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥ १७ ॥
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तौ चन्द्रमाः शनैः ।

उन महामनस्वी नारदके हृदयमें काम उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा, जैसे शुक्लपक्ष आरम्भ होनेपर शनैः-शनैः चन्द्रमाकी वृद्धि होती है ॥ १७½ ॥

न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥ १८ ॥
शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् ।

धर्मज्ञ नारदने लज्जावश भानजे महात्मा पर्वतको अपने बढ़े हुए दुःसह कामकी बात नहीं बतायी ॥ १८½ ॥

तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोऽथ बुबोध तम् ॥ १९ ॥
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् ।

परंतु पर्वतने अपनी तपस्या और नारदजीकी चेष्टाओंसे जान लिया कि नारद कामवेदनासे पीड़ित हैं; फिर तो उन्होंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप देते हुए कहा—॥ १९½ ॥

कृत्वा समयमव्यग्रो भवान् वै सहितो मया ॥ २० ॥
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ।
अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद् वै मृषा कृतम् ॥ २१ ॥
भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'आपने मेरे साथ स्वस्थचित्तसे यह शर्त की थी कि 'हम दोनोंके हृदयमें जो भी शुभ या अशुभ संकल्प हो, उसे हम दोनों एक दूसरेसे कह दें।' परंतु ब्रह्मन् ! आपने अपने उस वचनको मिथ्या कर दिया; इसलिये मैं शाप देनेको उद्यत हुआ हूँ ॥ २०-२१½ ॥

न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥ २२ ॥
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'जब आपके मनमें पहले इस सुकुमारी कुमारीके प्रति कामभावका उदय हुआ तो आपने मुझे नहीं बताया; इसलिये यह मैं आपको शाप दे रहा हूँ ॥ २२½ ॥

ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात् तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३ ॥
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः ।
शप्स्ये तस्मात् सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥ २४ ॥

'आप ब्रह्मचारी, मेरे गुरुजन, तपस्वी और ब्राह्मण हैं तो भी आपने हमलोगोंमें जो शर्त हुई थी, उसे तोड़ दिया है; इसलिये मैं अत्यन्त कुपित होकर आपको जो शाप दे रहा हूँ उसे सुनिये— ॥ २३-२४ ॥

सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः ।
वानरं चैव ते रूपं विवाहात् प्रभृति प्रभो ॥ २५ ॥
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाकृतम् ।

'प्रभो ! यह सुकुमारी आपकी भार्या होगी, इसमें संशय नहीं है, परंतु विवाहके बादसे ही कन्या तथा अन्य सब लोग आपका रूप (मुख) वानरके समान देखने लगेंगे । बंदर जैसा मुँह आपके स्वरूपको छिपा देगा' ॥ २५½ ॥

स तद् वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतं तथा ॥ २६ ॥
अशपत्तमपि क्रोधाद् भागिनेयं स मातुलः ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ २७ ॥
युक्तोऽपि नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि ।

उस बातको समझकर मामा नारदजी भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने भानजे पर्वतको शाप देते हुए कहा—'अरे ! तू तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमसे युक्त एवं नित्य धर्मपरायण होनेपर भी स्वर्गलोकमें नहीं जा सकेगा' ॥ २६-२७½ ॥

तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ॥ २८ ॥
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ।

इस प्रकार अत्यन्त कुपित हो एक दूसरेको शाप दे वे दोनों क्रोधमें भरे हुए दो हाथियोंके समान अमर्षपूर्वक प्रतिकूल दिशाओंमें चल दिये ॥ २८½ ॥

पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥ २९ ॥
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ।

भारत ! परम बुद्धिमान् पर्वत अपने तेजसे यथोचित सम्मान पाते हुए सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २९½ ॥

अथ तामलभत् कन्यां नारदः सृंजयात्मजाम् ॥ ३० ॥
धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ।

इधर विप्रवर नारदजीने उस अनिन्द्य सुन्दरी सृंजय-कुमारी सुकुमारीको धर्मके अनुसार पत्नीरूपमें प्राप्त किया ३०½

सा तु कन्या यथाशापं नारदं तं ददर्श ह ॥ ३१ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् ।

वैवाहिक मन्त्रोंका प्रयोग होते ही वह राजकन्या शापके अनुसार नारद मुनिको वानराकार मुखसे युक्त देखने लगी ॥ ३१½ ॥

सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥ ३२ ॥
नैवावामन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ।

देवर्षिका मुँह वानरके समान देखकर भी सुकुमारीने उनकी अवहेलना नहीं की । वह उनके प्रति अपना प्रेम बढ़ाती ही गयी ॥ ३२½ ॥

उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाप्यगात् ॥ ३३ ॥
देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला ।

पतिपर स्नेह रखनेवाली सुकुमारी अपने स्वामीकी सेवामें सदा उपस्थित रहती और दूसरे किसी पुरुषका, वह यक्ष, मुनि अथवा देवता ही क्यों न हो, मनके द्वारा भी पतिरूपसे चिन्तन नहीं करती थी ॥ ३३½ ॥

ततः कदाचिद् भगवान् पर्वतोऽनुचचार ह ॥ ३४ ॥
वनं विरहितं किंचित् तत्रापश्यत् स नारदम् ।

तदनन्तर किसी समय भगवान् पर्वत घूमते हुए किसी एकान्त वनमें आ गये । वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा ३४½

ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥ ३५ ॥
भवान् प्रसादं कुरुतात् स्वर्गादेशाय मे प्रभो ।

तब पर्वतने नारदजीको प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! आप मुझे स्वर्गमें जानेके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें' ।३५½।

तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तथा ॥ ३६ ॥
कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् ।

नारदजीने देखा, पर्वत दीनभावसे हाथ जोड़कर मेरे पास खड़ा है; फिर तो वे स्वयं भी अत्यन्त दीन होकर उनसे बोले—॥ ३६½ ॥

त्वयाहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥ ३७ ॥
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात् ।
अद्यप्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३८ ॥
तव नैतद्धि सदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् ।

'वत्स ! पहले तुमने मुझे यह शाप दिया था कि 'तुम वानर हो जाओ ।' तुम्हारे ऐसा कहनेके बाद मैंने भी मत्सरता-वश तुम्हें शाप दे दिया, जिससे आजतक तुम स्वर्गमें नहीं जा सके । यह तुम्हारे योग्य कार्य नहीं था; क्योंकि तुम मेरे पुत्र-की जगहपर हो' ॥ ३७-३८½ ॥

न्यवर्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥ ३९ ॥
श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् ।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ४० ॥

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनों ऋषियोंने एक दूसरेके शापको निवृत्त कर दिया । तब नारदजीको देवताके समान तेजस्वी रूपमें देखकर सुकुमारी पराये पतिकी आशङ्का-से भाग चली ॥ ३९-४० ॥

तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् ।
अब्रवीत् तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥

उस सती साध्वी राजकन्याको भागती देख पर्वतने इससे कहा—'देवि ! ये तुम्हारे पति ही हैं । इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान् प्रभुः ।
तवैवाभेद्यहृदयो मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ४२ ॥

'ये तुम्हारे पति अभेद्य हृदयवाले परम धर्मात्मा प्रभु भगवान् नारद मुनि ही हैं । इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं होना चाहिये' ॥ ४२ ॥

सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
शापदोषं च तं भर्तुः श्रुत्वा प्रकृतिमागता ॥ ४३ ॥
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽभ्यगमद् गृहान् ।

महात्मा पर्वतके बहुत समझाने-बुझानेपर पतिके शाप-दोषकी बात सुनकर सुकुमारीका मन स्वस्थ हुआ । तत्पश्चात् पर्वतमुनि स्वर्गमें लौट गये और नारदजी सुकुमारीके घर आये ॥ ४३½ ॥

वासुदेव उवाच

प्रत्यक्षकर्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः ।
एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथावृत्तं नरोत्तम ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! भगवान् नारद ऋषि इन सब घटनाओंके प्रत्यक्षदर्शी हैं । तुम्हारे पूछनेपर ये सारी बातें बता देंगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नारद और पर्वतका उपाख्यानविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सुवर्णष्ठीवीके जन्म, मृत्यु और पुनर्जीवनका वृत्तान्त

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसम्भवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा—'भगवन् ! मैं सुवर्णष्ठीवीके जन्मका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः ।
आचचक्षे यथावृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति ॥ २ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर नारदमुनिने सुवर्णष्ठीवीके जन्मका यथावत् वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ २ ॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथायं केशवोऽब्रवीत् ।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत् ते वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ३ ॥

नारदजी बोले—महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णने इस विषयमें जैसा कहा है, वह सब सत्य है। इस प्रसङ्गमें जो कुछ शेष है, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं बता रहा हूँ ॥३॥

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः ।
वस्तुकामावभिगतौ सृंजयं जयतां वरम् ॥ ४ ॥

मैं और मेरे भानजे महामुनि पर्वत दोनों विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयके यहाँ निवास करनेके लिये गये ॥ ४ ॥

तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥ ५ ॥

वहाँ राजाने हम दोनोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजन किया और हमारे लिये सभी मनोवाञ्छित वस्तुओंके प्राप्त होनेकी सुव्यवस्था कर दी। हम दोनों उनके महलमें रहने लगे ॥ ५ ॥

व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च ।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥ ६ ॥

जब वर्षाके चार महीने बीत गये और हमलोगोंके वहाँसे चलनेका समय आया, तब पर्वतने मुझसे समयोचित एवं सार्थक वचन कहा—॥ ६ ॥

आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ ।
उषितौ समये ब्रह्मंस्तद् विचिन्तय साम्प्रतम् ॥ ७ ॥

'मामा ! हमलोग राजा सृंजयके घरमें बड़े आदर-सत्कारके साथ रहे हैं, अतः ब्रह्मन् ! इस समय इनका कुछ उपकार करनेकी बात सोचिये' ॥ ७ ॥

ततोऽहमब्रवं राजन् पर्वतं शुभदर्शनम् ।
सर्वमेतत् त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥ ८ ॥

राजन् ! तब मैंने शुभदर्शी पर्वतमुनिसे कहा—'भगिनीपुत्र ! यह सब तुम्हें ही शोभा देता है ॥ ८ ॥

वरेण च्छन्द्यतां राजा लभतां यद् यदिच्छति ।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'राजाको मनोवाञ्छित वर देकर संतुष्ट करो। वे जो-जो चाहते हों, वह सब उन्हें मिले। तुम्हारी राय हो तो हम दोनोंकी तपस्यासे उनके मनोरथकी सिद्धि हो' ॥ ९ ॥

तत आहूय राजानं सृंजयं जयतां वरम् ।
पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुपुङ्गव ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तब मेरी अनुमति ले पर्वतने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयको बुलाकर कहा—॥ १० ॥

प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैर्भवदार्जवसम्भृतैः ।
आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥ ११ ॥

'नरेश्वर ! हम दोनों तुम्हारे द्वारा सरलतापूर्वक किये गये सत्कारसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम इच्छानुसार कोई वर सोचकर माँग लो ॥ ११ ॥

देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुषक्षयम् ।
तद् गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान् ॥ १२ ॥

महाराज ! कोई ऐसा वर माँग लो, जिससे न तो देवताओंकी हिंसा हो और न मनुष्योंका संहार ही हो सके। तुम हमारी दृष्टिमें आदरके योग्य हो' ॥ १२ ॥

सृंजय उवाच

प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम ।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः ॥ १३ ॥

सृंजयने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप दोनों प्रसन्न हैं तो मैं इतनेसे ही कृतकृत्य हो गया। यही हमारे लिये महान् फलदायक परम लाभ सिद्ध हो गया ॥ १३ ॥

तमेवंवादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत ।
वृणीष्व राजन् संकल्पं यत् ते हृदि चिरं स्थितम् ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसी बात कहनेवाले राजा सृंजयसे पर्वतमुनिने फिर कहा—'राजन् ! तुम्हारे हृदयमें जो चिरकालसे संकल्प हो, वही माँग लो' ॥ १४ ॥

सृंजय उवाच

अभीप्सामि सुतं वीरं वीरवन्तं दृढव्रतम् ।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम् ॥ १५ ॥

सृंजय बोले—भगवन् ! मैं एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो वीर, बलवान्, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, आयुष्मान्, परम सौभाग्यशाली और देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हो ॥ १५ ॥

पर्वत उवाच

भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान् भविष्यति ।
देवराजाभिभूत्यर्थं संकल्पो ह्येष ते हृदि ॥ १६ ॥

पर्वतने कहा—राजन् ! तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा, परंतु वह पुत्र दीर्घायु नहीं हो सकेगा; क्योंकि देवराज इन्द्रको पराजित करनेके लिये तुम्हारे हृदयमें यह संकल्प उठा है ॥ १६ ॥

ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति ।
रक्ष्यश्च देवराजात् स देवराजसमद्युतिः ॥ १७ ॥

तुम्हारा वह पुत्र सुवर्णष्ठीवीके नामसे विख्यात तथा देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी होगा । तुम्हें देवराजसे सदा उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा सृंजयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति ॥ १८ ॥
आयुष्मान् मे भवेत् पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया ॥ १९ ॥

महात्मा पर्वतका यह वचन सुनकर सृंजयने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा— 'ऐसा न हो। मुने ! आपकी तपस्यासे मेरा पुत्र दीर्घजीवी होना चाहिये ।' परंतु इन्द्रका ख्याल करके पर्वत मुनि कुछ नहीं बोले ॥ १८-१९ ॥

तमहं नृपतिं दीनमब्रवं पुनरेव च ।
स्मर्तव्योऽस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥ २० ॥
अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते ॥ २१ ॥

तब मैंने दीन हुए उस नरेशसे कहा—'महाराज ! संकटके समय मुझे याद करना । मैं तुम्हारे पुत्रको तुमसे मिला दूँगा । पृथ्वीनाथ ! चिन्ता न करो । यमराजके वशमें पड़े हुए तुम्हारे उस प्रिय पुत्रको मैं पुनः उस रूपमें लाकर तुम्हें दे दूँगा' ॥ २०-२१ ॥

एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृंजयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥ २२ ॥

राजासे ऐसा कहकर हम दोनों अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये और राजा सृंजयने अपने इच्छानुसार महलमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

सृंजयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित् कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २३ ॥

तदनन्तर किसी समय राजर्षि सृंजयके एक पुत्र हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। वह महान् बलशाली था ॥ २३ ॥

ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥ २४ ॥

जैसे सरोवरमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार वह राजकुमार यथासमय बढ़ने लगा । वह मुखसे स्वर्ण उगलनेके कारण सुवर्णष्ठीवी नामसे प्रसिद्ध हुआ । उसका वह नाम सार्थक था ॥ २४ ॥

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः ॥ २५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उसका वह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त सारे जगत्में फैल गया । देवराज इन्द्रको भी यह मालूम हो गया कि वह बालक महर्षि पर्वतके वरदानका फल है ॥ २५ ॥

ततः स्वाभिभवाद् भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥

तदनन्तर अपनी पराजयसे डरकर बृहस्पतिकी सम्मतिके अनुसार चलते हुए बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्र उस राजकुमारके वधका अवसर देखने लगे ॥ २६ ॥

चोदयामास तद् वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत् स्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥ २७ ॥
प्रवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृंजयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥ २८ ॥

प्रभो ! इन्द्रने मूर्तिमान् होकर सामने खड़े हुए अपने दिव्य अस्त्र वज्रसे कहा—'वज्र ! तुम बाघ बनकर इस राजकुमारको मार डालो । जैसा कि इसके विषयमें पर्वतने बताया है, बड़ा होनेपर सृंजयका यह पुत्र अपने पराक्रमसे मुझे परास्त कर देगा' ॥ २७-२८ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरञ्जयः ।
कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला वज्र मौका देखता हुआ सदा उस राजकुमारके आसपास ही रहने लगा ॥ २९ ॥

सृंजयोऽपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥ ३० ॥

सृंजय भी देवराजके समान पराक्रमी पुत्र पाकर रानीसहित बड़े प्रसन्न हुए और निरन्तर वनमें ही रहने लगे ३०

ततो भागीरथीतीरे कदाचिन्निर्जने वने ।
धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन निर्जन वनमें गङ्गाजीके तटपर वह बालक धायको साथ लेकर खेलनेके लिये गया और इधर-उधर दौड़ने लगा ॥ ३१ ॥

पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः ।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥ ३२ ॥

उस बालककी अवस्था अभी पाँच वर्षकी थी तो भी वह गजराजके समान पराक्रमी था । वह सहसा उछलकर आये हुए एक महाबली बाघके पास जा पहुँचा ॥ ३२ ॥

स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥

उस बाघने वहाँ काँपते हुए राजकुमारको गिराकर पीस डाला । वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । यह देखकर धाय चिल्ला उठी ॥ ३३ ॥

हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत ।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥

राजकुमारकी हत्या करके देवराज इन्द्रका भेजा हुआ वह वज्ररूपी बाघ मायासे वहीं अदृश्य हो गया ॥ ३४ ॥

धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्याः परमार्तवत् ।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥

रोती हुई धायका वह आर्तनाद सुनकर राजा सृंजय स्वयं ही उस स्थानपर दौड़े हुए आये ॥ ३५ ॥

स ददर्श शयानं तं गतासुं पीतशोणितम् ।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥ ३६ ॥

उन्होंने देखा, राजकुमार प्राणशून्य होकर आकाशसे गिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति पड़ा है । उसका सारा रक्त बाघके द्वारा पी लिया गया है और वह आनन्दहीन हो गया है ॥

स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितमानसः ।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥

खूनसे लथपथ हुए उस बालकको गोदमें लेकर व्यथित-चित्त हुए राजा सृंजय व्याकुल होकर विलाप करने लगे ॥

ततस्ता मातरस्तस्य रुदत्यः शोककर्शिताः ।
अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृंजयः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर शोकसे पड़ित हो उसकी माताएँ रोती हुई उस स्थानकी ओर दौड़ीं, जहाँ राजा सृंजय विलाप करते थे ॥

ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः ।
तदाहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥

उस समय अचेत-से होकर राजाने मेरा ही स्मरण किया । तब मैंने उनका चिन्तन जानकर उन्हें दर्शन दिया ॥

मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः ।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥

पृथ्वीनाथ ! यदुवीर श्रीकृष्णने जो बातें तुम्हारे सामने कही हैं, उन्हींको मैंने उस शोकाकुल राजाको सुनाया ॥४०॥

संजीवितश्चापि पुनर्वासवानुमते तदा ।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥

फिर इन्द्रकी अनुमतिसे उस बालकको जीवित भी कर दिया । उसकी वैसी ही होनहार थी । उसे कोई पलट नहीं सकता था ॥ ४१ ॥

तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः ।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर महायशस्वी और शक्तिशाली कुमार सुवर्णष्ठीवी-ने जीवित होकर पिता और माताके चित्तको प्रसन्न किया ॥

कारयामास राज्यं च पितरि स्वर्गते नृप ।
वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! उस भयानक पराक्रमी कुमारने पिताके स्वर्ग-वासी हो जानेपर ग्यारह सौ वर्षोंतक राज्य किया ॥ ४३ ॥

तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
तर्पयामास देवांश्च पितॄंश्चैव महाद्युतिः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर उस महातेजस्वी राजकुमारने बहुत-सी दक्षिणा-वाले अनेक महायज्ञोंका अनुष्ठान किया और उनके द्वारा देवताओं तथा पितरोंकी तृप्ति की ॥ ४४ ॥

उत्पाद्य च बहून् पुत्रान् कुलसंतानकारिणः ।
कालेन महता राजन् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥

राजन् ! इसके बाद उसने बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र उत्पन्न किये और दीर्घकालके पश्चात् वह काल-धर्मको प्राप्त हुआ ॥ ४५ ॥

स त्वं राजेन्द्र संजातं शोकमेनं निवर्तय ।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥
पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह ।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! तुम भी अपने हृदयमें उत्पन्न हुए इस शोक-को दूर करो तथा भगवान् श्रीकृष्ण और महातपस्वी व्यास-जी जैसा कह रहे हैं, उसके अनुसार अपने बाप-दादोंके राज्य-पर आरूढ़ हो इसका भार वहन करो; फिर पुण्यदायक महायज्ञोंका अनुष्ठान करके तुम अभीष्ट लोकमें चले जाओगे ॥ ४६-४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्वर्णष्ठीविसम्भवोपाख्याने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्वर्णष्ठीवीके जन्मका उपाख्यानविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका अनेक युक्तियोंसे राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम्।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरको चुपचाप शोकमें डूबा हुआ देख धर्मके तत्त्वको जाननेवाले तपोधन श्रीकृष्णद्वैपायनने कहा॥ १॥

व्यास उवाच

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः॥ २॥

व्यासजी बोले—कमलनयन युधिष्ठिर! राजाओंका धर्म प्रजाजनोंका पालन करना ही है। धर्मका अनुसरण करनेवाले लोगोंके लिये सदा धर्म ही प्रमाण है॥ २॥

अनुतिष्ठस्व तद् राजन् पितृपैतामहं पदम्।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः॥ ३॥

अतः राजन्! तुम अपने बाप-दादोंके राज्यको ग्रहण करके उसका धर्मानुसार पालन करो। तपस्या तो ब्राह्मणोंका नित्य धर्म है। यही वेदका निश्चय है॥ ३॥

तत् प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ।
तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता॥ ४॥

भरतश्रेष्ठ! वह सनातन तप ब्राह्मणोंके लिये प्रमाणभूत धर्म है। क्षत्रिय तो उस सम्पूर्ण ब्राह्मण-धर्मकी रक्षा करनेवाला ही है॥ ४॥

यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः॥ ५॥

जो मनुष्य विषयासक्त होकर स्वयं शासन-धर्मका उल्लङ्घन करता है, वह लोकमर्यादाका नाश करनेवाला है। क्षत्रियको चाहिये कि अपनी दोनों भुजाओंके बलसे उस धर्मद्रोहीका दमन करे॥ ५॥

प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः।
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वाथ कश्चन॥ ६॥
पापान् सर्वैरुपायैस्तान् नियच्छेच्छातयीत वा।

जो मोहके वशीभूत हो प्रमाणभूत धर्म और उसका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको अमान्य कर दें, वह सेवक हो या पुत्र, तपस्वी हो या और कोई; सभी उपायोंसे उन पापियोंका दमन करे अथवा उन्हें नष्ट कर डाले॥ ६½॥

अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम्॥७॥
धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत् स धर्महा।

इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा पापका भागी होता है, जो नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा नहीं करता, वह राजा धर्मका घात करनेवाला है॥ ७½॥

ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः॥ ८॥
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव।
राजा हि हन्याद् दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः॥ ९॥

पाण्डुनन्दन! तुमने तो उन्हीं लोगोंका सेवकोंसहित वध किया है, जो धर्मका नाश करनेवाले थे। अपने धर्ममें स्थित रहते हुए भी तुम शोक क्यों कर रहे हो? क्योंकि राजाका यह कर्तव्य ही है कि वह धर्मद्रोहियोंका वध करे, सुपात्रोंको दान दे और धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करे॥ ८-९॥

युधिष्ठिर उवाच

न तेऽभिशंके वचनं यद् ब्रवीषि तपोधन।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदां वर॥ १०॥

युधिष्ठिर बोले—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ तपोधन! आपको धर्मके स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान है। आप जो बात कह रहे हैं, उसपर मुझे तनिक भी संदेह नहीं है॥ १०॥

मया त्ववध्या बहवो घातिता राज्यकारणात्।
तानि कर्माणि मे ब्रह्मन् दहन्ति च पचन्ति च॥ ११॥

परंतु ब्रह्मन्! मैंने तो इस राज्यके लिये अनेक अवध्य पुरुषोंका भी वध करा डाला है। मेरे वे ही कर्म मुझे जलाते और पकाते हैं॥ ११॥

व्यास उवाच

ईश्वरो वा भवेत् कर्ता पुरुषो वापि भारत।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम्॥ १२॥

व्यासजीने कहा—भरतनन्दन! जो लोग मारे गये हैं, उनके वधका उत्तरदायित्व किसपर है? इस प्रश्नको लेकर चार विकल्प हो सकते हैं। (१) सबका प्रेरक ईश्वर कर्ता है? या (२) वध करनेवाला पुरुष कर्ता है? अथवा (३) मारे जानेवाले पुरुषका हठ (बिना विचारे किसी कामको कर डालनेका दुराग्रही स्वभाव) कर्ता है? अथवा (४) उसके प्रारब्ध कर्मका फल इस रूपमें प्राप्त होनेके कारण प्रारब्ध ही कर्ता है?॥ १२॥

ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत।
कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत्॥ १३॥

(१) भारत! यदि प्रेरक ईश्वरको कर्ता माना जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि ईश्वरसे प्रेरित होकर ही मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म करता है; अतः उसका फल भी ईश्वरको ही मिलना चाहिये॥ १३॥

यथा हि पुरुषश्छिद्याद् वृक्षं परशुना वने।
छेत्तुरेव भवेत् पापं परशोर्न कथञ्चन॥ १४॥

जैसे कोई पुरुष वनमें कुल्हाड़ीद्वारा जब किसी वृक्षको काटता है, तब उसका पाप कुल्हाड़ी चलानेवाले पुरुषको ही लगता है। कुल्हाड़ीको किसी प्रकार नहीं लगता॥ १४॥

अथवा तदुपादानात् प्राप्नुयात् कर्मणः फलम् ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १५ ॥

अथवा यदि कहें कि 'उस कुल्हाड़ीको ग्रहण करनेके कारण चेतन पुरुषको ही उस हिंसाकर्मका फल प्राप्त होगा (जड होनेके कारण कुल्हाड़ीको नहीं),' तब तो जिसने उस शस्त्रको बनाया और जिसने उसमें डंडा लगाया, वह पुरुष ही प्रधान प्रयोजक होनेके कारण उसीको उस कर्मका फल मिलना चाहिये । चलानेवाले पुरुषपर उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम् ।
प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥ १६ ॥

परंतु कुन्तीनन्दन ! यह अभीष्ट नहीं है कि दूसरेके द्वारा किये हुए कर्मका फल दूसरेको मिले (काटनेवालेका अपराध हथियार बनानेवालेपर थोपा जाय); इसलिये सर्वप्रेरक ईश्वरको ही सारे शुभाशुभ कर्मोंका कर्तृत्व और फल सौंप दो ॥

अथापि पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः ।
न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥ १७ ॥

(२) यदि कहो पुण्य और पापकर्मोंका कर्ता उसे करनेवाला पुरुष ही है, दूसरा कोई (ईश्वर) नहीं तो ऐसा माननेपर भी तुमने यह शुभ कर्म ही किया है; क्योंकि तुम्हारे द्वारा पापियों और उनके समर्थकोंका ही वध हुआ है, इसके सिवा, उनके प्रारब्धका फल ही उन्हें इस रूपमें मिला है तुम तो निमित्तमात्र हो ॥ १७ ॥

न हि कश्चित् क्वचिद् राजन् दिष्टं प्रतिनिवर्तते ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १८ ॥

राजन् ! कोई कहीं भी दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । अतः दण्ड अथवा शस्त्रद्वारा किया हुआ पाप किसी पुरुषको लागू नहीं हो सकता (क्योंकि वे दैवाधीन होकर ही दण्ड या शस्त्रद्वारा मारे गये हैं) ॥ १८ ॥

यदि वा मन्यसे राजन् हतमेकं प्रतिष्ठितम् ।
एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥ १९ ॥

(३) नरेश्वर ! यदि ऐसा मानते हो कि युद्ध करनेवाले दो व्यक्तियोंमेंसे एकका मरना निश्चित ही है अर्थात् वह स्वभाववश हठात् मारा गया है, तब तो स्वभाववादीके अनुसार भूत या भविष्य कालमें किसी अशुभ कर्मसे न तो तुम्हारा सम्पर्क था और न होगा ही ॥ १९ ॥

अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या पुण्यपापयोः ।
अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥ २० ॥

(४) यदि कहो, लोगोंको जो पुण्यफल (सुख) और पापफल (दुःख) प्राप्त होते हैं, उनकी संगति लगानी चाहिये; क्योंकि बिना कारणके तो कोई कार्य हो नहीं सकता; अतः प्रारब्ध ही कर्ता है तो उस कारणभूत प्रारब्धको धर्माधर्म रूप ही मानना होगा, धर्माधर्मका निर्णय शास्त्रसे होता है और शास्त्रके अनुसार जगत्में उद्दण्ड मनुष्योंको दण्ड देना राजाओंके लिये सर्वथा युक्तिसंगत है; अतः किसी भी दृष्टिसे तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत ।
शुभाशुभफलं चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥ २१ ॥
एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फलात्मकम् ।
त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! यदि कहो कि यह सब माननेपर भी लोकमें कर्मोंकी आवृत्ति होती ही है—लोग कर्म करते और उनके शुभाशुभ फलोंको पाते ही हैं, ऐसा मेरा मत है; तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि इस दशामें भी जिस कर्मके कारण उसके फल रूपसे अशुभकी प्राप्ति होती है, उस पापमूलक कर्मको ही तुम त्याग दो । अपने मनको शोकमें न डुबाओ ॥ २१-२२ ॥

स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन् न शोभनः ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! अपना धर्म दोषयुक्त हो तो भी उसमें स्थित रहनेवाले तुम-जैसे धर्मात्मा नरेशके लिये अपने शरीरका परित्याग करना शोभाकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि युद्ध आदिमें राग-द्वेषके कारण निन्द्यकर्म बन गये हों तो शास्त्रोंमें उन कर्मोंके लिये प्रायश्चित्तका भी विधान है । जो अपने शरीरको सुरक्षित रखता है, वह तो पापनिवारणके लिये प्रायश्चित्त कर सकता है; परंतु जिसका शरीर ही नहीं रहेगा, उसे तो प्रायश्चित्त न कर सकनेके कारण उन पापकर्मोंके फलस्वरूप पराभव (दुःख) ही प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

तद् राजञ्जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश ! यदि जीवित रहोगे तो उन कर्मोंका प्रायश्चित्त कर लोगे और यदि प्रायश्चित्तके बिना ही मर गये तो परलोकमें तुम्हें संतप्त होना पड़ेगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तविधिविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाते हुए कालकी प्रबलता बताकर देवासुरसंग्रामके उदाहरणसे धर्म-द्रोहियोंके दमनका औचित्य सिद्ध करना और प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता बताना

युधिष्ठिर उवाच

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः॥ १॥
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा।
वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह॥ २॥
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! अकेले मैंने ही राज्यके लोभमें आकर पुत्र, पौत्र, भाई, चाचा, ताऊ, श्वशुर, गुरु, मामा, बाबा, भानजे, सगे-सम्बन्धी, सुहृद्, मित्र तथा भाई-बन्धु आदि नाना देशोंसे आये हुए बहुसंख्यक क्षत्रिय-नरेशोंको मरवा डाला॥ १—३॥

तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान् महीक्षितः।
असकृत् सोमपान् वीरान् किं प्राप्स्यामि तपोधन॥ ४॥

तपोधन! जो अनेक बार सोमरसका पान कर चुके थे और सदा धर्ममें ही तत्पर रहते थे, वैसे वीर भूपालोंका वध करके मैं कौन-सा फल पाऊँगा?॥ ४॥

दह्याम्यनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम्॥ ५॥
दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान्।
कोटिशश्च नरानन्यान् परितप्ये पितामह॥ ६॥

पितामह! बारंबार इसी चिन्तासे मैं आज भी निरन्तर जल रहा हूँ। उन श्रीसम्पन्न राजसिंहोंसे हीन हुई इस पृथ्वीको, भाई-बन्धुओंके भयंकर वधको तथा सैकड़ों अन्य लोगोंके विनाशको एवं करोड़ों अन्य मानवोंके संहारको देखकर मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ॥ ५-६॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति।
विहीनानां तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा॥ ७॥

जो अपने पुत्रों, पतियों तथा भाइयोंसे सदाके लिये बिछुड़ गयी हैं, उन सुन्दरी स्त्रियोंकी आज क्या दशा होगी?॥

अस्मानन्तकरान् घोरान् पाण्डवान् वृष्णिसंहतान्।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले॥ ८॥

हम घोर विनाशकारी पाण्डवों और वृष्णिवंशियोंको कोसती हुई वे दीन-दुर्बल अबलाएँ पृथ्वीपर पछाड़ खा-खाकर गिरेंगी॥ ८॥

अपश्यन्त्यः पितॄन् भ्रातॄन् पतीन् पुत्रांश्च योषितः।
त्यक्त्वा प्राणान् प्रियान् सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम्॥ ९॥

अपने पिता, भाई, पति और पुत्रोंको न देखकर वे सारी युवती स्त्रियाँ प्राण त्याग देंगी और यमलोकमें चली जायँगी॥ ९॥

वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम्॥ १०॥

द्विजश्रेष्ठ! वे अपने सगे-सम्बन्धियोंके प्रति वात्सल्य रखनेके कारण अवश्य ऐसा ही करेंगी, इसमें मुझे संशय नहीं है। धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण निश्चय ही हमें नारीहत्याके पापका भागी होना पड़ेगा॥ १०॥

यद् वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम्।
नरके निपतिष्यामो ह्यधःशिरस एव ह॥ ११॥

हमने सुहृदोंका वध करके ऐसा पाप कर लिया है, जिसका प्रायश्चित्तसे अन्त नहीं हो सकता; अतः हमें नीचे सिर करके निस्संदेह नरकमें ही गिरना पड़ेगा॥ ११॥

शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम।
आश्रमाणां विशेषं त्वमथाचक्ष्व पितामह॥ १२॥

संतोंमें श्रेष्ठ पितामह! हम घोर तपस्या करके अपने शरीरका परित्याग कर देंगे। आप इसके लिये कोई विशेष आश्रम हो तो बताइये॥ १२॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा।
निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम्॥ १३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासने इस विषयमें अपनी बुद्धिद्वारा अच्छी तरह विचार करनेके पश्चात् उन पाण्डुकुमारसे कहा॥ १३॥

व्यास उवाच

मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन्।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ॥ १४॥

व्यासजी बोले—राजन्! क्षत्रियशिरोमणे! तुम क्षत्रियधर्मका बारंबार स्मरण करते हुए विषाद न करो; क्योंकि ये सभी क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार मारे गये हैं॥ १४॥

काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद् यशः।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः॥ १५॥

वे सम्पूर्ण राजलक्ष्मी और भूमण्डलव्यापी महान् यशको प्राप्त करना चाहते थे; परंतु यमराजके विधानसे प्रेरित हो कालके गालमें चले गये हैं॥ १५॥

न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम्॥ १६॥

न तुम, न भीमसेन, न अर्जुन और न नकुल-सहदेव ही उनका वध करनेवाले हैं। कालने बारी-बारीसे आकर अपने नियमके अनुसार उन सभी देहधारियोंके प्राण लिये हैं ॥ १६ ॥

न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्यो हि कश्चन।
कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥ १७ ॥

कालके माता-पिता नहीं हैं। उसका किसीपर भी अनुग्रह नहीं होता। जो प्रजावर्गके कर्मका साक्षी है, उसी कालने तुम्हारे शत्रुओंका संहार किया है ॥ १७ ॥

हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं भरतर्षभ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ! कालने इस युद्धको निमित्तमात्र बनाया है। वह जो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध करता है, वही उसका ईश्वरीय रूप है ॥ १८ ॥

कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥ १९ ॥

राजन्! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि काल जीवके पाप और पुण्यकर्मोंका साक्षी है। वह कर्मकी डोरीका सहारा ले भविष्यमें होनेवाले सुख और दुःखका उत्पादक होता है। वही समयानुसार कर्मोंका फल देता है ॥ १९ ॥

तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय।
विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः ॥ २० ॥

महाबाहो! तुम युद्धमें मारे गये उन क्षत्रियोंके भी ऐसे कर्मोंका चिन्तन करो, जो उनके विनाशके कारण थे और जिनके होनेसे ही उन्हें कालके अधीन होना पड़ा ॥ २० ॥

आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम्।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाऽऽक्रम्य कारितः ॥ २१ ॥

तुम अपने आचार-व्यवहारपर भी ध्यान दो कि 'तुम सदा ही नियमपूर्वक उत्तम व्रतके पालनमें लगे रहते थे तो भी विधाताने बलपूर्वक तुम्हें अपने अधीन करके तुम्हारे द्वारा ऐसा निष्ठुर कर्म करवा लिया' ॥ २१ ॥

त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥ २२ ॥

जैसे लोहार या बढ़ईका बनाया हुआ यन्त्र सदा उसके चालकके अधीन रहता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् कालयुक्त कर्मकी प्रेरणासे ही सचेष्ट हो रहा है ॥ २२ ॥

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥ २३ ॥

प्राणी किसी व्यक्त कारणके बिना ही दैवात् उत्पन्न होता है और दैवेच्छासे ही अकस्मात् उसका विनाश हो जाता है। यह सब देखकर शोक और हर्ष करना व्यर्थ है ॥ २३ ॥

व्यलीकमपि यत् त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव।
तदर्थमिष्यते राजन् प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ २४ ॥

राजन्! तथापि तुम्हारे चित्तमें जो यहाँ उन सबको मरवानेके कारण झूठे ही चिन्ता और पीड़ा हो रही है, इसकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त कर देना उचित है, अतः तुम अवश्य प्रायश्चित्त करो ॥ २४ ॥

इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥ २५ ॥
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत् समुच्छ्रयः।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत् किल ॥ २६ ॥

पार्थ! यह बात सुनी जाती है कि पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर बड़े भाई असुर और छोटे भाई देवता आपसमें लड़ गये थे। उनमें भी राजलक्ष्मीके लिये ही बत्तीस हजार वर्षोंतक बड़ा भारी संग्राम हुआ था ॥ २५-२६ ॥

एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम्।
जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥ २७ ॥

देवताओंने खूनसे भीगी हुई इस पृथ्वीको एकार्णवमें निमग्न करके दैत्योंका संहार कर डाला और स्वर्गलोकपर अधिकार कर लिया ॥ २७ ॥

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥ २८ ॥
शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत।
अष्टाशीतिसहस्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥ २९ ॥

भारत! इसी प्रकार पृथ्वीको भी अपने अधीन करके देवताओंने तीनों लोकोंमें शालावृक नामसे विख्यात उन अट्ठासी हजार ब्राह्मणोंका भी वध कर डाला, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और अभिमानसे मोहित होकर दानवोंकी सहायताके लिये उनके पक्षमें जा मिले थे ॥ २८-२९ ॥

धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ ३० ॥

जो धर्मका विनाश चाहते हुए अधर्मके प्रवर्तक हो रहे हों, उन दुरात्माओंका वध करना ही उचित है। जैसे देवताओंने उद्दण्ड दैत्योंका विनाश कर डाला था ॥ ३० ॥

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम्।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम् ॥ ३१ ॥

यदि एक पुरुषको मार देनेसे कुटुम्बके शेष व्यक्तियोंका कष्ट दूर हो जाय और एक कुटुम्बका नाश कर देनेसे सारे राष्ट्रमें सुख और शान्ति छा जाय तो वैसा करना सदाचार या धर्मका नाशक नहीं है ॥ ३१ ॥

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ ३२ ॥

नरेश्वर! किसी समय धर्म ही अधर्मरूप हो जाता है और कहीं अधर्मरूप दीखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है; इसलिये विद्वान् पुरुषको धर्म और अधर्मका रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ३२ ॥

तस्मात् संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव।

देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ ३३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता हो, तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेश सुने हैं; इसलिये अपने हृदयको स्थिर करो, शोकसे विचलित न होने दो । भारत ! तुमने तो उसी मार्गका अनुसरण किया है, जिसपर देवतालोग पहलेसे चल चुके हैं ॥ ३३ ॥

न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ ।
भ्रातॄनाश्वासयैतांस्त्वं सुहृदश्च परंतप ॥ ३४ ॥

पाण्डवशिरोमणे ! तुम्हारे-जैसे लोग नरकमें नहीं गिरेंगे । शत्रुसंतापी नरेश ! तुम इन भाइयों और सुहृदोंको आश्वासन दो ॥ ३४ ॥

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ॥ ३५ ॥
तस्मिंस्तत् कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥ ३६ ॥

जो पुरुष हृदयमें पापकी भावना रखकर किसी पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसे करते हुए भी उसी भावनासे भावित रहता है तथा पापकर्म करनेके पश्चात् भी लज्जित नहीं होता, उसमें वह सारा पाप पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है, ऐसा शास्त्रका कथन है । उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा प्रायश्चित्त-से भी उसके पापकर्मका नाश नहीं होता है ॥ ३५-३६ ॥

त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः ।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ ३७ ॥

तुम तो जन्मसे ही शुद्ध स्वभावके हो । तुम्हारे मनमें युद्धकी इच्छा बिल्कुल नहीं थी । शत्रुओंके अपराधसे ही तुम्हें इस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ा । तुम यह युद्धकर्म करके भी निरन्तर पश्चात्ताप ही कर रहे हो ॥ ३७ ॥

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥ ३८ ॥

इसके लिये महान् यज्ञ अश्वमेध ही प्रायश्चित्त बताया गया है । महाराज ! तुम इस यज्ञका अनुष्ठान करो । ऐसा करनेसे तुम पापरहित हो जाओगे ॥ ३८ ॥

मरुद्भिः सह जित्वारीन् भगवान् पाकशासनः ।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥ ३९ ॥

मरुद्गणोंसहित भगवान् पाकशासन इन्द्रने शत्रुओंको जीतकर एक-एक करके सौ बार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया । इससे वे 'शतक्रतु' नामसे विख्यात हो गये ॥ ३९ ॥

धूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान् प्राप्य सुखोदयान् ।
मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन् दिशः ॥ ४० ॥

उनके सारे पाप धुल गये । उन्होंने स्वर्गपर विजय पायी और सुखदायक लोकोंमें पहुँचकर वे इन्द्र सम्पूर्ण दिशाओं-को प्रकाशित करते हुए मरुद्गणोंके साथ शोभा पाने लगे ॥

स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम् ।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ ४१ ॥

स्वर्गलोकमें अप्सराओंद्वारा पूजित होनेवाले शचीपति देवराज इन्द्रकी सम्पूर्ण देवता और महर्षि भी उपासना करते हैं ॥ ४१ ॥

सेयं त्वामनुसम्प्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा ।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयानघ ॥ ४२ ॥

अनघ ! तुमने भी इस वसुन्धराको अपने पराक्रमसे प्राप्त किया है और भुजाओंके बलसे समस्त राजाओंको परास्त किया है ॥ ४२ ॥

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः ।
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ ४३ ॥

राजन् ! अब तुम अपने सुहृदोंके साथ उनके देश और नगरोंमें जाकर उनके भाइयों, पुत्रों अथवा पौत्रोंको अपने-अपने राज्यपर अभिषिक्त करो ॥ ४३ ॥

बालानपि च गर्भस्थान् सान्त्वेन समुदाचरन् ।
रञ्जयन् प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥ ४४ ॥

जिनके उत्तराधिकारी अभी बालक हों या गर्भमें हों, उनकी प्रजाको समझा-बुझाकर सान्त्वनाद्वारा शान्त करो और सारी प्रजाका मनोरञ्जन करते हुए इस पृथ्वीका पालन करो॥

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय ।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि ॥ ४५ ॥

जिन राजाओंके कोई पुत्र नहीं हो, उनकी कन्याओंको ही राज्यपर अभिषिक्त कर दो । ऐसा करनेसे उनकी स्त्रियों-की मनःकामना पूर्ण होगी और वे शोक त्याग देंगी ॥ ४५ ॥

एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत ।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ४६ ॥

भारत ! इस प्रकार सारे राज्यमें शान्ति स्थापित करके तुम उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो, जैसे पूर्वकालमें विजयी इन्द्रने किया था ॥ ४६ ॥

अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ४७ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! वे महामनस्वी क्षत्रिय, जो युद्धमें मारे गये हैं, शोक करनेके योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे कालकी शक्तिसे मोहित होकर अपने ही कर्मोंसे नष्ट हुए हैं ॥ ४७ ॥

अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान् यः प्रेत्य भारत ॥ ४८ ॥

कुन्तीकुमार ! भरतनन्दन ! तुमने क्षत्रियधर्मका पालन किया है और इस समय तुम्हें यह निष्कण्टक राज्य मिला है; अतः अब तुम उस धर्मकी ही रक्षा करो, जो मृत्युके पश्चात् सबका कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तीयोपाख्यानविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

जिन कर्मोंके करने और न करनेसे कर्ता प्रायश्चित्तका भागी होता और नहीं होता—उनका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः।
किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किन-किन कर्मोंको करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है और उनके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त करके वह पापसे मुक्त होता है ? इस विषयमें यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अकुर्वन् विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन्।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्यानुवर्तयन् ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण न करके निषिद्ध कर्म कर बैठता है, वह उस विपरीत आचरणके कारण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ २ ॥

सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥

जो ब्रह्मचारी सूर्योदय अथवा सूर्यास्तके समयतक सोता रहे तथा जिसके नख और दाँत काले हों;* उन सबको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः।
दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रेदिधिषुरेव च ॥ ४ ॥
अवकीर्णी भवेद् यश्च द्विजातिवधकस्तथा।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥ ५ ॥
ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी।
यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥ ६ ॥
स्त्रीशूद्रवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः।
यथा पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः ॥ ७ ॥
अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा।
एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसके सिवा परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई), परिवित्ति (परिवेत्ताका बड़ा भाई), ब्रह्महत्यारा और जो दूसरोंकी निन्दा करनेवाला है वह तथा छोटी बहिनके विवाहके बाद उसीकी बड़ी बहिनसे ब्याह करनेवाला, जेठी बहिनके अविवाहित रहते हुए ही उसकी छोटी बहिनसे विवाह करनेवाला, जिसका व्रत नष्ट हो गया हो वह ब्रह्मचारी, द्विजकी हत्या करनेवाला, अपात्रको दान देनेवाला, सुपात्र ब्राह्मणको दान न देनेवाला, ग्रामका नाश करनेवाला, मांस बेचनेवाला तथा जो आग लगानेवाला है, जो वेतन लेकर वेद पढ़ानेवाला एवं स्त्री और शूद्रका वध करनेवाला है, इनमें पीछेवालोंसे पहलेवाले अधिक पापी हैं तथा पशु-वध करनेवाला, दूसरोंके घरमें आग लगानेवाला, झूठ बोलकर पेट पालनेवाला, गुरुका अपमान और सदाचारकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला—ये सभी पापी माने गये हैं। इन्हें प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ४–८

अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥

इनके सिवा, जो लोक और वेदसे विरुद्ध न करने योग्य कर्म हैं, उन्हें भी बताता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और समझो ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया।
अयाज्ययाजनं चैव तथाभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ १० ॥
शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥
आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥ १२ ॥
दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम्।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ १३ ॥

भारत ! अपने धर्मको त्याग देना और दूसरेके धर्मका आचरण करना, यज्ञके अनधिकारीको यज्ञ कराना तथा अभक्ष्य भक्षण करना, शरणागतका त्याग करना और भरण करने योग्य व्यक्तियोंका भरण-पोषण न करना, एवं रसोंको बेचना, पशु-पक्षियोंको मारना और शक्ति रहते हुए भी अग्न्याधान आदि कर्मोंको न करना, नित्य देने योग्य गोग्रास आदिको न देना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा न देना और उनका सर्वस्व छीन लेना, धर्मतत्त्वके जाननेवालोंने ये सभी कर्म न करने योग्य बताये हैं ॥ १०–१३ ॥

पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद् गुरुतल्पगः।
अप्रजायन् नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥ १४ ॥

राजन् ! जो पुरुष पिताके साथ झगड़ा करता है, गुरुकी शय्यापर सोता है, ऋतुकालमें भी अपनी पत्नीके साथ समागम नहीं करता है, वह मनुष्य अधार्मिक होता है ॥ १४ ॥

उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च।
यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ १५ ॥

इस प्रकार संक्षेप और विस्तारसे जो ये कर्म बताये गये हैं, उनमेंसे कुछको करनेसे और कुछको न करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १५ ॥

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवाः।
येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ ताञ्शृणु ॥ १६ ॥

---

* क्योंकि 'स्वर्णहारी तु कुनखी सुरापः श्यामदन्तकः' (कर्मविपाक) इस स्मृतिके अनुसार वे पूर्व जन्ममें क्रमशः सुवर्णकी चोरी करनेवाले और शराबी होते हैं।

अब जिन-जिन कारणोंके होनेपर इन कर्मोंको करते रहनेपर भी मनुष्य पापसे लिप्त नहीं होते, उनका वर्णन सुनो॥

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥ १७॥

यदि युद्धस्थलमें वेदवेदान्तोंका पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भी हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आवे तो स्वयं भी उसको मार डालनेकी चेष्टा करे। इससे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता है॥ १७॥

इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते।
वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते॥ १८॥

कुन्तीनन्दन! इस विषयमें वेदका एक मन्त्र भी पढ़ा जाता है। मैं तुमसे उसी धर्मकी बात कहता हूँ, जो वैदिक प्रमाणसे विहित है॥ १८॥

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद् यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥१९॥

जो ब्राह्मणोचित आचारसे भ्रष्ट होकर आततायी बन गया हो—हाथमें हथियार लेकर मारने आ रहा हो, ऐसे ब्राह्मणको मारनेसे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता। क्रोध ही उसके क्रोधका सामना करता है॥ १९॥

प्राणात्यये तथाज्ञानादाचरन्मदिरामपि।
आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति॥ २०॥

अनजानमें अथवा प्राणसंकटके समय भी यदि मदिरापान कर ले तो बादमें धर्मात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार उसका पुनः संस्कार होना चाहिये॥ २०॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम्।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! यही बात अन्य सब अभक्ष्यभक्षणोंके विषयमें भी कही गयी है। प्रायश्चित्त कर लेनेसे सब शुद्ध हो जाता है॥ २१॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम्।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः॥ २२॥

गुरुकी आज्ञासे उन्हींके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये गुरुकी शय्यापर शयन करना मनुष्यको दूषित नहीं करता है। उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको शिष्यद्वारा उत्पन्न कराया था॥

स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते।
बहुशः कामकारेण न चेद् यः सम्प्रवर्तते॥ २३॥
अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते॥२४॥

(चोरी सर्वथा निषिद्ध है) किंतु आपत्तिकालमें कभी गुरुके लिये चोरी करनेवाला पुरुष दोषका भागी नहीं होता है। यदि मनमें कामना रखकर बारंबार उस चौर्य-कर्ममें वह प्रवृत्त न होता हो तो आपत्तिके समय ब्राह्मणके सिवा किसी दूसरेका धन लेनेवाला मनुष्य पापका भागी नहीं होता है। जो स्वयं उस चोरीका अन्न नहीं खाता, वह भी चौर्यदोषसे लिप्त नहीं होता है॥ २३-२४॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद् विवाहकरणेषु च॥ २५॥

अपने या दूसरेके प्राण बचानेके लिये, गुरुके लिये, एकान्तमें अपनी स्त्रीके पास विनोद करते समय अथवा विवाहके प्रसङ्गमें झूठ बोल दिया जाय तो पाप नहीं लगता है॥

नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथंचन।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते॥ २६॥

यदि किसी कारणसे स्वप्नमें वीर्य स्खलित हो जाय तो इससे ब्रह्मचारीके लिये दुबारा व्रत लेने—उपनयन-संस्कार करानेकी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये प्रज्वलित अग्निमें घीका हवन करना प्रायश्चित्त बताया गया है॥ २६॥

पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा।
भिक्षिते पारदार्यं च तद् धर्मस्य न दूषकम्॥ २७॥

यदि बड़ा भाई पतित हो जाय या संन्यास ले ले तो उसके अविवाहित रहते हुए भी छोटे भाईका विवाह कर लेना दोषकी बात नहीं है। संतान-प्राप्तिके लिये स्त्रीद्वारा प्रार्थना करनेपर यदि कभी परस्त्रीसंगम किया जाय तो वह धर्मका लोप करनेवाला नहीं होता है॥ २७॥

वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत्।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः॥ २८॥

मनुष्यको चाहिये कि वह व्यर्थ ही पशुओंका वध न तो करे और न करावे। विधिपूर्वक किया हुआ पशुओंका संस्कार उनपर अनुग्रह है॥ २८॥

अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात् तन्न दूषकम्।
सत्काराणां तथा तीर्थे नित्यं वाप्रतिपादनम्॥ २९॥

यदि अनजानमें किसी अयोग्य ब्राह्मणको दान दे दिया जाय अथवा योग्य ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दान न दिया जा सके तो वह दोषकारक नहीं होता॥ २९॥

स्त्रियास्तथापचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्ता प्रदुष्यति॥ ३०॥

यदि व्यभिचारिणी स्त्रीका तिरस्कार किया जाय तो वह दोषकी बात नहीं है। उस तिरस्कारसे स्त्रीकी तो शुद्धि होती है और पति भी दोषका भागी नहीं होता॥ ३०॥

तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान्।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान्।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः॥ ३१॥

सोमरसके तत्त्वको जानकर यदि उसका विक्रय किया जाय तो बेचनेवाला दोषका भागी नहीं होता। जो सेवक काम करनेमें असमर्थ हो जाय, उसे छोड़ देनेसे भी दोष नहीं लगता। गौओंकी सुविधाके लिये यदि जंगलमें आग लगायी जाय तो उससे पाप नहीं होता है॥ ३१॥

उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति।

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! ये सब तो मैंने वे कर्म बताये हैं, जिन्हें करनेवाला दोषका भागी नहीं होता है। अब मैं विस्तार-पूर्वक प्रायश्चित्तोंका वर्णन करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तके प्रकरणमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

पापकर्मके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

व्यास उवाच

तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—भरतनन्दन ! मनुष्य तपसे यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे तथा दानके द्वारा पापको धो-बहाकर अपने आपको पवित्र कर लेता है, परंतु यह तभी सम्भव होता है, जब वह फिर पापमें प्रवृत्त न हो ॥ १ ॥

एककालं तु भुञ्जीत चरन् भैक्ष्यं स्वकर्मकृत्।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥ २ ॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन्।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यदि किसीने ब्रह्महत्या की हो तो वह भिक्षा माँगकर एक समय भोजन करे, अपना सब काम स्वयं ही करे, हाथमें खप्पर और खाटका पाया लिये रहे, सदा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे, उद्यमशील बना रहे, किसीके दोष न देखे, जमीन-पर सोये और लोकमें अपना पापकर्म प्रकट करता रहे। इस प्रकार बारह वर्षतक करनेसे ब्रह्महत्यारा पापमुक्त हो जाता है ॥ २–३ ॥

लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्छिराः ॥ ४ ॥
जपन् वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ५ ॥
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

अथवा प्रायश्चित्त बतानेवाले विद्वानोंकी या अपनी इच्छासे शस्त्रधारी पुरुषोंके अस्त्र-शस्त्रोंका निशाना बन जाय अथवा अपनेको प्रज्वलित आगमें झोंक दे अथवा नीचे सिर किये किसी भी एक वेदका पाठ करते हुए तीन बार सौ-सौ योजनकी यात्रा करे अथवा किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको अपना सर्वस्व समर्पण कर दे या जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त धन अथवा सब सामानोंसे भरा हुआ घर ब्राह्मणको दान कर दे— इस प्रकार गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाला पुरुष ब्रह्म-हत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ ४–६ ॥

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष कृच्छ्रव्रतके अनुसार भोजन करे तो छः वर्षोंमें वह शुद्ध हो जाता है और एक-एक मासमें एक-एक कृच्छ्रव्रतका निर्वाह करते हुए भोजन करे तो वह तीन ही वर्षोंमें पापमुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः।
तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥ ८ ॥

यदि एक-एक मासपर भोजनक्रम बदलते हुए अत्यन्त तीव्र कृच्छ्रव्रतके अनुसार अन्न ग्रहण करे तो एक वर्षमें ही ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल सकता है* इसमें संशय नहीं है। राजन् ! इसी प्रकार यदि केवल उपवास करनेवाला मनुष्य हो तो उसकी स्वल्प समयमें ही शुद्धि हो जाती है ॥

क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः।
ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवंविधा नराः ॥ ९ ॥
ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः।

अश्वमेध यज्ञ करनेसे भी ब्रह्महत्याका पाप शुद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। जो इस प्रकारके लोग महा-यज्ञोंमें अवभृथ-स्नान करते हैं, वे सभी पापमुक्त हो जाते हैं—ऐसा श्रुतिका† कथन है ॥ ९½ ॥

ब्राह्मणार्थे हतो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १० ॥
गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत्।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ११ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणके लिये युद्धमें प्राण दे देता है, वह भी ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। ब्रह्महत्यारा होनेपर भी जो सुपात्र

---

* तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगे जो मिल जाय वह खा लेना तथा तीन दिन उपवास करना—इस प्रकार बारह दिनका कृच्छ्रव्रत होता है। इसी क्रमसे छः वर्षतक रहनेसे ब्रह्महत्या छूट सकती है। यही क्रम यदि तीन-तीन दिनमें परिवर्तित न होकर सम मासोंमें एक-एक सप्ताह-में और विषम मासोंमें आठ-आठ दिनोंमें बदलते हुए एक-एक मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो तीन वर्षोंमें शुद्धि हो जायगी और यदि एक मास प्रातःकाल, एक मास सायंकाल और एक मास अयाचित भोजन तथा एक मास उपवास—इस प्रकार चार-चार मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो एक ही वर्षमें ब्रह्महत्या-का पाप छूट सकता है।

† श्रुति इस प्रकार है 'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति श्रुतिः।

ब्राह्मणोंको एक लाख गौओंका दान करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०-११ ॥

कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात् पञ्चविंशतिम् ।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥ १२ ॥

जो दूध देनेवाली पचीस हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १२ ॥

गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये ।
साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ १३ ॥

जब मृत्युकाल निकट हो, उस समय सदाचारी दरिद्र ब्राह्मणोंको दूध देनेवाली एक हजार सवत्सा गौओंका दान करके भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १३ ॥

शतं वै यस्तु काम्बोजान् ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥

भूपाल ! जो संयम-नियमसे रहनेवाले ब्राह्मणोंको सौ काबुली घोड़ोंका दान करता है, उसे भी पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ १४ ॥

मनोरथं तु यो दद्यादेकस्या अपि भारत ।
न कीर्तयेत दत्त्वा यः स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! जो एक ब्राह्मणको भी उसकी मनोवाञ्छित वस्तु दे देता है और देकर फिर उसकी कहीं चर्चा नहीं करता, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

सुरापानं सकृत् कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥ १६ ॥

जो एक बार मदिरा-पान करके फिर आगके समान गर्म की हुई मदिरा पी लेता है, वह इहलोक और परलोकमें भी अपनेको पवित्र कर लेता है ॥ १६ ॥

मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा समाविशन् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठन् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७ ॥

जलहीन देशमें पर्वतसे गिरकर अथवा अग्निमें प्रवेश करके या महाप्रस्थानकी विधिसे हिमालयमें गलकर प्राण दे देनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १७ ॥

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः ॥ १८ ॥

मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञ करके शुद्ध होनेपर ब्रह्माजीकी सभामें जा सकता है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १८ ॥

भूमिप्रदानं कुर्याद् यः सुरां पीत्वा विमत्सरः ।
पुनर्न च पिबेद् राजन् संस्कृतः स च शुद्ध्यति ॥ १९ ॥

राजन् ! जो मदिरा पी लेनेपर ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो भूमिदान करे और फिर कभी उसे न पीये, वह संस्कार करनेके पश्चात् शुद्ध होता है ॥ १९ ॥

गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत् ।
अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥ २० ॥
शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।

गुरुपत्नीगमन करनेवाला मनुष्य तपायी हुई लोहेकी शिलापर सो जाय अथवा अपनी मूत्रेन्द्रिय काटकर ऊपरकी ओर देखता हुआ आगे बढ़ता चला जाय । इस प्रकार शरीर छूट जानेपर वह उस पापकर्मसे मुक्त हो जाता है ॥ २०½ ॥

कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥ २१ ॥
महाव्रतं चरेद् यस्तु दद्यात् सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत् कर्मणोऽशुभात् ॥ २२ ॥

स्त्रियाँ भी एक वर्षतक मिताहार एवं संयमपूर्वक रहनेपर उक्त पापकर्मोंसे मुक्त हो जाती हैं । जो महाव्रतका (एक महीनेतक जल न पीनेके नियमका) पालन करता है, ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है अथवा गुरुके लिये युद्धमें मारा जाता है, वह अशुभ कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

अनृतेनोपवर्ती चेत् प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।
उपाहृत्य प्रियं तस्मै तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

झूठ बोलकर जीविका चलानेवाला तथा गुरुका अपमान करनेवाला पुरुष गुरुजीको मनचाही वस्तु देकर प्रसन्न कर ले तो उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २४ ॥

जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित हो गया हो, वह ब्रह्मचारी उस दोषकी निवृत्तिके उद्देश्यसे ब्रह्महत्याके लिये बताये हुए व्रतका आचरण करे तथा छः महीनोंतक गोचर्म ओढ़कर रहे; ऐसा करनेपर वह पापसे मुक्त हो सकता है ॥ २४ ॥

परदारापहारी तु परस्यापहरन् वसु ।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २५ ॥

परायी स्त्री तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला पुरुष एक वर्षतक कठोर व्रतका पालन करनेपर उस पापसे मुक्त होता है ॥ २५ ॥

धनं तु यस्यापहरेत् तस्मै दद्यात् समं वसु ।
विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २६ ॥

जिसके धनका अपहरण करे, उसे अनेक उपाय करके उतना ही धन लौटा दे तो उस पापसे छुटकारा मिल सकता है ॥ २६ ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः ।
परिवेत्ता भवेत् पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥ २७ ॥

बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई और उसका वह बड़ा भाई—ये दोनों मनको संयममें रखते हुए बारह राततक कृच्छ्रव्रतका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध हो जाते हैं ॥ २७ ॥

निवेश्यं तु पुनस्तेन सदा तारयता पितॄन् ।
न तु स्त्रिया भवेद् दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥ २८ ॥

इसके सिवा, बड़े भाईका विवाह होनेके बाद पहलेका व्याहा हुआ छोटा भाई पितरोंके उद्धारके निमित्त पुनः विवाह-संस्कार करे; ऐसा करनेसे उस स्त्रीके कारण उसे दोष नहीं प्राप्त होता और न वह स्त्री ही उसके दोषसे लिप्त होती है ॥ २८ ॥

भोजनं ह्यन्तराशुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते।
स्त्रियस्तेन प्रशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥ २९ ॥

चौमासेमें एक दिनका अन्तर देकर भोजन करनेका विधान है। उसके पालनसे स्त्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ २९ ॥

स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ ३० ॥

यदि अपनी स्त्रीके विषयमें पापाचारकी आशङ्का हो तो विज्ञपुरुषको रजस्वला होनेतक उनके साथ समागम नहीं करना चाहिये। रजस्वला होनेपर वे उसी प्रकार शुद्ध हो जाती हैं, जैसे राखसे माँजा हुआ बर्तन ॥ ३० ॥

पादजोच्छिष्टकांस्यं यद् गवा घ्रातमथापि वा।
गण्डूषोच्छिष्टमपिवा विशुध्येद् दशभिस्तु तत् ॥ ३१ ॥

यदि काँसेका बर्तन शूद्रके द्वारा जूठा कर दिया जाय अथवा उसे गाय सूँघ ले अथवा किसीके भी कुल्ला करनेसे वह जूठा हो जाय तो वह दस वस्तुओंसे शोधन करनेपर शुद्ध होता है ॥ ३१ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥ ३२ ॥
तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते।

ब्राह्मणके लिये चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मके पालन-का विधान है। तात्पर्य यह कि वह शौचाचार या आत्म-शुद्धिके लिये किये जानेवाले प्रायश्चित्तका पूरा-पूरा पालन करे। क्षत्रियके लिये एक पाद कमका विधान है। इसी तरह वैश्यके लिये उसके दो पाद और शूद्रके लिये एक पादके पालनकी विधि है। (उदाहरणके तौरपर जहाँ ब्राह्मणके लिये चार दिन उपवासका विधान हो, वहाँ क्षत्रियके लिये तीन दिन, वैश्यके लिये दो दिन और शूद्रके लिये एक दिनके उपवासका विधान समझना चाहिये) ॥ ३२½ ॥

विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान् बहून्।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात् कर्म च प्रथयन्नरः ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार इन पापोंके गौरव और लाघवका निश्चय करना चाहिये। पशु-पक्षियोंका वध और दूसरे-दूसरे बहुत-से वृक्षोंका उच्छेद करके पापयुक्त हुआ पुरुष अपनी शुद्धिके लिये तीन दिन, तीन रात केवल हवा पीकर रहे और अपना पापकर्म लोगोंपर प्रकट करता रहे ॥ ३३-३४ ॥

अगम्यागमने राजन् प्रायश्चित्तं विधीयते।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान् विहार्यं भस्मशायिना ॥ ३५ ॥

राजन्! जो स्त्री समागम करनेके योग्य नहीं है, उसके साथ समागम कर लेनेपर प्रायश्चित्तका विधान है। उसे छः महीनेतक गीला वस्त्र पहनकर घूमना और राखके ढेरपर सोना चाहिये ॥ ३५ ॥

एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत्।
ब्राह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥ ३६ ॥

जितने न करने योग्य पापकर्म हैं, उन सबके लिये यही विधि हो। ब्राह्मणग्रन्थोंमें बतायी हुई विधिसे दृष्टान्त बताने-वाले शास्त्रोंकी युक्तियोंसे इसी तरह पापशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३६ ॥

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः।
अहिंस्रो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ३७ ॥

जो पवित्र स्थानमें मिताहारी हो हिंसाका सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदिसे शून्य हो मौनभावसे गायत्रीमन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन्।
त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ॥ ३८ ॥
स्त्रीशूद्रं पतितं चापि नाभिभाषेद् व्रतान्वितः।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवंव्रतो द्विजः ॥ ३९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह दिनमें खड़ा रहे, रातमें खुले मैदानमें सोये, तीन बार दिनमें और तीन बार रातमें वस्त्रों-सहित जलमें घुसकर स्नान करे और इस व्रतका पालन करते समय स्त्री-शूद्र और पतितसे बातचीत न करे, ऐसा नियम लेनेवाला द्विज अज्ञानवश किये हुए सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३८-३९ ॥

शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम्।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥ ४० ॥

मनुष्य शुभ और अशुभ जो कर्म करता है, उसके पाँच महाभूत साक्षी होते हैं। उन शुभ और अशुभ कर्मोंका फल मृत्युके पश्चात् उसे प्राप्त होता है। उन दोनों प्रकारके कर्मोंमें जो अधिक होता है। उसीका फल कर्ताको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

तस्माद् दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम्।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ४१ ॥

इसलिये यदि मनुष्यसे अशुभ कर्म बन जाय तो वह दान, तपस्या और सत्कर्मके द्वारा शुभ फलकी वृद्धि करे, जिससे उसके पास अशुभको दबाकर शुभका ही संग्रह अधिक हो जाय ॥ ४१ ॥

१. गायके दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर—इन पाँच गव्य पदार्थोंसे तथा मिट्टी, जल, राख, खटाई और आग—इन पाँच वस्तुओंसे पात्रको शुद्ध किया जाता है—यही उसका दस वस्तुओं-से शोधन है।

कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्तेत् पापकर्मणः ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात्॥ ४२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ कर्मोंका ही अनुष्ठान करे, पापकर्मसे सर्वथा दूर रहे तथा प्रतिदिन (निष्कामभावसे) धनका दान करे; ऐसा करनेसे वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४३ ॥

मैंने तुम्हारे सामने पापके अनुरूप प्रायश्चित्त बतलाया है, परंतु महापातकोंसे भिन्न पापोंके लिये ही ऐसा प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ ४३ ॥

भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥ ४४ ॥

राजन् ! भक्ष्य, अभक्ष्य, वाच्य और अवाच्य तथा जान-बूझकर और बिना जाने किये हुए पापोंके लिये ये प्रायश्चित्त कहे गये हैं । विज्ञ पुरुषको समझकर इनका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४४ ॥

जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात् स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४५ ॥

जान-बूझकर किया हुआ सारा पाप भारी होता है और अनजानमें वैसा पाप बन जानेपर कम दोष लगता है । इस प्रकार भारी और हल्के पापके अनुसार ही उसके प्रायश्चित्त-का विधान है ॥ ४५ ॥

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥ ४६ ॥

शास्त्रोक्त विधिसे प्रायश्चित्त करके सारा पाप दूर किया जा सकता है । परंतु यह विधि आस्तिक और श्रद्धालु पुरुषके लिये ही कही गयी है ॥ ४६ ॥

नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥ ४७ ॥

जिनमें दम्भ और द्वेषकी प्रधानता है, उन नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषोंके लिये कभी ऐसे प्रायश्चित्तका विधान नहीं देखा जाता है ॥ ४७ ॥

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥ ४८ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह ! जो इहलोक और परलोक-में सुख चाहता हो, उसे श्रेष्ठ पुरुषोंके आचार तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मका सदा ही सेवन करना चाहिये ॥४८॥

स राजन् मोक्ष्यसे पापात् तेन पूर्वेण हेतुना ।
प्राणार्थं वा धनेनैषामथवा नृपकर्मणा ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! तुमने तो अपने प्राणोंकी रक्षा, धनकी प्राप्ति अथवा राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही शत्रुओंका वध किया है; अतः इतना ही पर्याप्त कारण है, जिससे तुम पापमुक्त हो जाओगे ॥ ४९ ॥

अथवा ते घृणा काचित् प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥ ५० ॥

अथवा यदि तुम्हारे मनमें उन अतीत घटनाओंके कारण कोई घृणा या ग्लानि हो तो उनके लिये प्रायश्चित्त कर लेना। परंतु इस प्रकार अनार्य पुरुषोंद्वारा सेवित खेद या रोषके वशीभूत होकर आत्महत्या न करो ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् व्यास-के ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके तपोधन व्याससे इस प्रकार कहा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तवर्णनके प्रसङ्गमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुके कथनानुसार धर्मका स्वरूप, पापसे शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओंका वर्णन तथा दानके अधिकारी एवं अनधिकारीका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य ? किस वस्तुका दान उत्तम माना जाता है ? कौन दानका पात्र है अथवा कौन अपात्र ? यह सब मुझे बताइये ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! इस विषयमें लोग प्रजापति मनु और सिद्ध पुरुषोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है एक समय बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी ऋषि एकत्र हो प्रजापति राजा मनुके पास गये और उन बैठे हुए नरेशसे धर्मकी बात पूछते हुए बोले— ॥ ३ ॥

कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः ।

कार्याकार्यं च यत् सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ४ ॥

'प्रजापते ! अन्न क्या है ? पात्र कैसा होना चाहिये ? दान, अध्ययन और तपका क्या स्वरूप है ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? यह सब हमें बताइये' ॥ ४ ॥

तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् स्वायम्भुव मनुने कहा—'महर्षियो ! मैं संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मका यथार्थ स्वरूप बताता हूँ, आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च ।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्पराः ॥ ६ ॥
अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः ।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥ ७ ॥
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च ।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥ ८ ॥

'जिनके दोषोंका विशेषरूपसे उल्लेख नहीं हुआ है, ऐसे कर्म बन जानेपर उनके दोषके निवारणके लिये जप, होम, उपवास, आत्मज्ञान, पवित्र नदियोंमें स्नान तथा जहाँ जप-होम आदिमें तत्पर रहनेवाले बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों, उस स्थानका सेवन—ये सामान्य प्रायश्चित्त हैं। ये सारे कर्म पुण्यदायक हैं । पर्वत, सुवर्णप्राशन (सोनेसे स्पर्श कराये हुए जलका पान), रत्न आदिसे मिश्रित जलमें स्नान, देव-स्थानोंकी यात्रा और घृतपान—ये सब मनुष्यको शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६–८ ॥

न गर्वेण भवेत् प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः ।
दीर्घमायुरथेच्छन् हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥ ९ ॥

'विद्वान् पुरुष कभी गर्व न करे और यदि दीर्घायुकी इच्छा हो तो तीन रात तप्तकृच्छ्रव्रतकी विधिसे गरम-गरम दूध, घृत और जल पीये ॥ ९ ॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

'बिना दी हुई वस्तुको न लेना, दान, अध्ययन और तपमें तत्पर रहना, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना—ये सब धर्मके लक्षण हैं ॥ १० ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ११ ॥

'एक ही क्रिया देश और कालके भेदसे धर्म या अधर्म हो जाती है ! चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्थाविशेषमें धर्म माने गये हैं ॥ ११॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥ १२ ॥

'इस प्रकार विज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिमें धर्म और अधर्म दोनों ही देश-कालके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। धर्माधर्ममें जो अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति होती हैं, ये भी लोक और वेदके भेदसे दो प्रकारकी हैं (अर्थात् लौकिकी अप्रवृत्ति और लौकिकी प्रवृत्ति, वैदिकी अप्रवृत्ति और वैदिकी प्रवृत्ति)॥ १२॥

अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् ।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ॥ १३ ॥

'वैदिकी अप्रवृत्ति (निवृत्ति-धर्म) का फल है अमृतत्व (मोक्ष) और वैदिकी प्रवृत्ति अर्थात् सकाम कर्मका फल है जन्म-मरणरूप संसार। लौकिकी अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति—ये दोनों यदि अशुभ हों तो उनका फल भी अशुभ समझे तथा शुभ हों तो उनका फल भी शुभ जानना चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही शुभ और अशुभरूप होती हैं ॥ १३ ॥

दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह ।
अपेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥ १४ ॥

'देवताओंके निमित्त, दैवयुक्त (शास्त्रीय कर्म), प्राण और प्राणदाता—इन चारोंकी अपेक्षापूर्वक जो कुछ किया जाता है, उससे अशुभका भी शुभ ही फल होता है ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वं भवति संदेहादिह दृष्टार्थमेव च ।
अपेक्षापूर्वकरणात् प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १५ ॥

'प्राणोंपर संशय न होनेकी स्थितिमें अथवा किसी प्रत्यक्ष लाभके लिये जो यहाँ अशुभ कर्म बन जाता है, उसे इच्छापूर्वक करनेके कारण उसके दोषकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्तका विधान है ॥ १५ ॥

क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये ।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥ १६ ॥

'यदि क्रोध और मोहके वशीभूत होकर मनको प्रिय या अप्रिय लगनेवाले अशुभ कार्य हो जाते हैं तो उनके निवारणके लिये दृष्टान्तप्रतिपादक शास्त्रकी दृष्टियोंसे उपवास आदिके द्वारा शरीरको सुखाना ही करने योग्य प्रायश्चित्त माना गया है। इसके सिवा, हविष्यान्न-भोजन, मन्त्रोंके जप तथा अन्यान्य प्रायश्चित्तोंसे भी क्रोध आदिके कारण किये गये पापकी शान्ति होती है ॥ १६ ॥

उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः ।
विशुद्ध्येयदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः ॥ १७ ॥

'यदि राजा दण्डनीय पुरुषको दण्ड न दे तो उसे अपनी शुद्धिके लिये एक दिन-रातका उपवास करना चाहिये। यदि पुरोहित राजाको ऐसे अवसरपर कर्तव्यका उपदेश न दे तो उसे तीन रात उपवास करना चाहिये ॥ १७ ॥

क्षयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः ।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥ १८ ॥

'यदि पुत्र आदिकी मृत्युके कारण शोक करनेवाला

पुरुष आमरण उपवास करनेके लिये बैठ जाय अथवा शस्त्र आदिसे आत्मघातकी चेष्टा करे; परंतु उसकी मृत्यु न हो, उस दशामें भी उस निन्द्यकर्मके लिये जो चेष्टा की गयी थी, उसके दोषकी निवृत्तिके लिये उसे तीन रातका उपवास बताना चाहिये ॥ १८ ॥

जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः ।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥

'परंतु जो पुरुष अपनी जाति, आश्रम तथा कुलके धर्मोका सर्वथा परित्याग कर देते हैं और जो लोग धर्ममात्रको छोड़ बैठते हैं, उनके लिये कोई धर्म (प्रायश्चित्त) नहीं है अर्थात् किसी भी प्रायश्चित्तसे उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है ॥ १९ ॥

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः ।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥ २० ॥

'यदि प्रायश्चित्तकी आवश्यकता पड़ जाय और धर्मके निर्णयमें संदेह उपस्थित हो जाय तो वेद और धर्म-शास्त्रको जाननेवाले दस अथवा निरन्तर धर्मका विचार करनेवाले तीन ब्राह्मण उस प्रश्नपर विचार करके जो कुछ कहें, उसे ही धर्म मानना चाहिये ॥ २० ॥

अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥ २१ ॥

'बैल, मिट्टी, छोटी-छोटी चींटियाँ, श्लेष्मातक[1] (लसोड़ा) और विष—ये सब ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं ॥ २१ ॥

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः ।
चतुष्पात् कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ २२ ॥

'काँटोंसे रहित जो मत्स्य हैं, वे भी ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं। कच्छप और उसके सिवा अन्य चार पैरवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं। मेढक और जलमें उत्पन्न होनेवाले अन्य जीव भी अभक्ष्य ही हैं॥ २२ ॥

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः ।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥ २३ ॥
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये ।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥

'भास, हंस, गरुड़, चक्रवाक, बतख, बगुले, कौए, मद्गु[2], गीध, बाज, उल्लू, कच्चे मांस खानेवाले दाढ़ोंसे युक्त सभी हिंसक पशु, चार पैरवाले जीव और पक्षी तथा दोनों ओर दाँत और चार दाढ़ोंवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं २३-२४

एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि ।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद् ब्राह्मणः पयः ॥ २५ ॥

'भेड़, घोड़ी, गदही, ऊँटनी, दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई गाय, मानवी स्त्री और हिरनियोंका दूध ब्राह्मण न पीये ॥ २५ ॥

प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किंचिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥ २६ ॥

'यदि किसीके यहाँ मरणाशौच या जननाशौच हो गया हो तो उसके यहाँ दस दिनोंतक कोई अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार ब्यायी हुई गायका दूध भी यदि दस दिनके भीतरका हो तो उसे नहीं पीना चाहिये ॥ २६ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥ २७ ॥

'राजाका अन्न तेज हर लेता है, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेज-को नष्ट कर देता है, सुनारका तथा पति और पुत्रसे हीन युवतीका अन्न आयुका नाश करता है ॥ २७ ॥

विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः ॥ २८ ॥

'ब्याजखोरका अन्न विष्ठाके समान है और वेश्याका अन्न वीर्यके समान। जो अपनी स्त्रीके पास किसी उपपतिका आना सह लेते हैं, उन कायरोंका तथा सदा स्त्रीके वशीभूत रहनेवाले पुरुषोंका अन्न भी वीर्यके ही तुल्य है ॥ २८ ॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च ।
तक्ष्णश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ॥ २९ ॥
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ।

'जिसने यज्ञकी दीक्षा ली हो, उसका अन्न अग्निषोमीय होमविशेषके पहले अग्राह्य है। कंजूस, यज्ञ बेचनेवाले, बढ़ई, चमार या मोची, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, वैद्य तथा चौकी-दारका अन्न भी खाने योग्य नहीं है ॥ २९½ ॥

गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ ३० ॥
परिवित्तीनां पुंसां च बन्दिद्यूतविदां तथा ।

'जिन्हें किसी समाज या गाँवने दोषी ठहराया हो, जो नर्तकीके द्वारा अपनी जीविका चलाते हों, छोटे भाईका ब्याह हो जानेपर भी कुँवारे रह गये हों, बंदी (चारण या भाट) का काम करते हों या जुआरी हों, ऐसे लोगोंका अन्न भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ३०½ ॥

वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत् ॥ ३१ ॥
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ।

'बायें हाथसे लाया अथवा परोसा गया अन्न, बासी भात, शराब मिला हुआ, जूठा और घरवालोंको न देकर अपने लिये बचाया हुआ अन्न भी अखाद्य ही है ॥ ३१½॥

पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥ ३२ ॥
सक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः ।

'इसी प्रकार जो पदार्थ आटे, ईखके रस, साग या दूधको बिगाड़कर या सड़ाकर बनाये गये हों, सत्तू, भूने हुए

---

१. श्लेष्मातकके वैद्यकमें अनेक नाम आये हैं, उनमेंसे एक नाम 'द्विजकुत्सित' भी है। इससे सिद्ध होता है कि वह द्विजाति मात्रके लिये अभक्ष्य है।

२. मद्गु एक प्रकारके जलचर पक्षीका नाम है।

जौ और दहीमिश्रित सत्तू इन्हें विकृत करके बनाये हुए पदार्थ यदि बहुत देरके बने हों तो उन्हें नहीं खाना चाहिये॥

पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥ ३३ ॥
अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः ।

'खीर, खिचड़ी, फलका गूदा और पूए यदि देवताके उद्देश्यसे न बनाये गये हों तो गृहस्थ ब्राह्मणोंके लिये खाने-पीने योग्य नहीं हैं ॥ ३३½ ॥

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः॥ ३४ ॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।

'गृहस्थको चाहिये कि वह पहले देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों), पितरों और घरके देवताओंका पूजन करके पीछे अपने भोजन करे ॥ ३४½ ॥

यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥ ३५ ॥
एवंवृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात् ।

'जैसे गृहत्यागी संन्यासी घरके प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थको भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घरमें रहना चाहिये । जो इस प्रकार सदाचारका पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नीके साथ घरमें निवास करता है, वह धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है ॥ ३५½ ॥

न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ॥ ३६ ॥
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके ॥ ३७ ॥
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने ।
न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः ।
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ॥ ३८ ॥

'धर्मात्मा पुरुषको चाहिये कि वह यशके लोभसे, भयके कारण अथवा अपना उपकार करनेवालेको दान न दे अर्थात् उसे जो दिया जाय वह दान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । जो नाचने-गानेवाले, हँसी-मजाक करनेवाले (भाँड़ आदि), मदमत्त, उन्मत्त, चोर, निन्दक, गूँगे, कान्तिहीन, अङ्गहीन, बौने, दुष्ट, दूषित कुलमें उत्पन्न तथा व्रत एवं संस्कारसे शून्य हों, उन्हें भी दान न दे । श्रोत्रियके सिवा वेदज्ञानशून्य ब्राह्मणको दान नहीं देना चाहिये ॥ ३६—३८ ॥

असम्यक् चैव यद् दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः ।
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३९ ॥

'जो उत्तम विधिसे दिया न गया हो तथा जिसे उत्तम विधिके साथ ग्रहण न किया गया हो, वे देना और लेना दोनों ही देने और लेनेवालेके लिये अनर्थकारी होते हैं ॥ ३९ ॥

यथा खदिरमालम्ब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन् ।
मज्जेत मज्जतस्तद्वद् दाता यश्च प्रतिग्रही ॥ ४० ॥

'जैसे खैरकी लकड़ी या पत्थरकी शिलाका सहारा लेकर समुद्र पार करनेवाला मनुष्य बीचमें ही डूब जाता है, उसी प्रकार अविधिपूर्वक दान देने और लेनेवाले यजमान और पुरोहित दोनों डूब जाते हैं ॥ ४० ॥

काष्ठैरार्द्रैर्यथा वह्निरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपःस्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥ ४१ ॥

'जैसे गीली लकड़ीसे ढकी हुई आग प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार तपस्या, स्वाध्याय तथा सदाचारसे हीन ब्राह्मण यदि दान ग्रहण कर ले तो वह उसे पचा नहीं सकता ॥

कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः ।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥ ४२ ॥

'जैसे मनुष्यकी खोपड़ीमें भरा हुआ जल और कुत्तेकी खालमें रक्खा हुआ दूध आश्रयदोषसे अपवित्र होता है, उसी प्रकार सदाचारहीन ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान भी आश्रय-स्थानके दोषसे दूषित हो जाता है ॥ ४२ ॥

निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनुक्रोशात् प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च ॥ ४३ ॥

'जो ब्राह्मण वेदज्ञानसे शून्य और शास्त्रज्ञानसे रहित होता हुआ भी दूसरोंमें दोष नहीं देखता तथा संतुष्ट रहता है, उसे तथा व्रतशून्य दीन-हीनको भी दया करके दान देना चाहिये ॥ ४३ ॥

न वै देयमनुक्रोशाद् दीनायाप्यपकारिणे ।
आप्ताचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ४४ ॥

'पर जो दूसरोंका बुरा करनेवाला हो वह यदि दीन हो तो भी उसे दया करके नहीं देना चाहिये । यह शिष्टोंका आचार है और यही धर्म है ॥ ४४ ॥

निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥ ४५ ॥

'वेदविहीन ब्राह्मणको दिया हुआ दान अपात्रदोषसे निरर्थक हो जाता है, इसमें कोई विचार करनेकी बात नहीं है॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ४६ ॥

'जैसे लकड़ीका हाथी और चामका बना हुआ मृग हो, उसी प्रकार वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे शून्य ब्राह्मण है । ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं (परंतु नामके अनुसार काम नहीं देते) ॥ ४६ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४७ ॥

'जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियोंके पास जाकर निष्फल होता है, गाय गायसे ही संयुक्त होनेपर कोई फल नहीं दे सकती और जैसे बिना पंखका पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ ही होता है ॥ ४७ ॥

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥ ४८ ॥

'जिस प्रकार अन्नहीन ग्राम, जलरहित कुँआ और राखमें की हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार मूर्ख

ब्राह्मणको दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही है ॥ ४८ ॥

देवतानां पितॄणां च हव्यकव्यविनाशकः ।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान् प्राप्तुमर्हति ॥ ४९ ॥

'मूर्ख ब्राह्मण देवताओंके यज्ञ और पितरोंके श्राद्धका नाश करनेवाला होता है। वह धनका अपहरण करनेवाला शत्रु है। वह दान देनेवालोंको उत्तम लोकमें नहीं पहुँचा सकता' ॥ ४९ ॥

एतत् ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतभूषण युधिष्ठिर ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् रूपसे थोड़ेमें बताया गया। यह महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग सबको सुनना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजी तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाराज युधिष्ठिरका नगरमें प्रवेश

युधिष्ठिर उवाच

श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान्॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! महामुने ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं चारों वर्णोंके सम्पूर्ण धर्मोंका तथा राजधर्मका भी विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपत्तिकालमें मुझे कैसी नीतिसे काम लेना चाहिये ? धर्मके अनुकूल मार्गपर दृष्टि रखते हुए मैं किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय पा सकता हूँ ? ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता ।
कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे ॥ ३ ॥

भक्ष्य और अभक्ष्यसे रहित, उपवासस्वरूप प्रायश्चित्तकी यह चर्चा बड़ी उत्सुकता पैदा करनेवाली है। यह मेरे हृदयमें हर्ष-सा उत्पन्न कर रही है ॥ ३ ॥

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

एक ओर धर्मका आचरण और दूसरी ओर राज्यका पालन—ये दोनों सदा एक दूसरेके विरुद्ध हैं। यह सोचकर मुझे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है और मेरे चित्तपर मोह छा रहा है॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदां वरः ।
नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तब वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजीने सर्वज्ञ महात्माओंमें सबसे प्राचीन नारदजीकी ओर देखकर युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छसि चेद् धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ६ ॥

'महाबाहु नरेश्वर ! यदि तुम धर्मका पूर्णरूपसे विवेचन सुनना चाहते हो तो कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मके पास जाओ ॥ ६ ॥

स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ ७ ॥

'गङ्गापुत्र भीष्म सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ हैं। वे धर्म-रहस्यके विषयमें तुम्हारे मनमें स्थित हुए सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करेंगे ॥ ७ ॥

जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी ।
साक्षाद् ददर्श यो देवान् सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ८ ॥
बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत् प्रभुः ।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥ ९ ॥

'जिन्हें दिव्य नदी त्रिपथगा गङ्गादेवीने जन्म दिया है, जिन्होंने इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका साक्षात् दर्शन किया है तथा जिन शक्तिशाली भीष्मने बृहस्पति आदि देवर्षियोंको बारंबार अपनी सेवाद्वारा संतुष्ट करके राजनीतिका अध्ययन किया है, उनके पास चलो ॥ ८-९ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः ।
तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः ॥ १० ॥

'शुक्राचार्य जिस शास्त्रको जानते हैं तथा देवगुरु विप्रवर बृहस्पतिको जिस शास्त्रका ज्ञान है, वह सम्पूर्ण शास्त्र कुरुश्रेष्ठ भीष्मने व्याख्यासहित प्राप्त किया है ॥ १० ॥

भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरितव्रतः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके महाबाहु भीष्मने भृगुवंशी च्यवन तथा महर्षि वसिष्ठसे वेदाङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन किया है ॥ ११ ॥

पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥ १२ ॥

'इन्होंने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके ज्येष्ठ पुत्र उद्दीप्त तेजस्वी सनत्कुमारजीसे, जो अध्यात्मगतिके तत्त्वको जाननेवाले हैं, अध्यात्मज्ञानकी शिक्षा पायी थी ॥ १२ ॥

मार्कण्डेयमुखात् कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान् पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

'पुरुषप्रवर भीष्मने मार्कण्डेयजीके मुखसे सम्पूर्ण यतिधर्म-

का ज्ञान प्राप्त किया है और परशुराम तथा इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी है ॥ १३ ॥

मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथानपत्यस्य सतः पुण्यलोका दिवि श्रुताः ॥ १४ ॥

'मनुष्योंमें उत्पन्न होकर भी इन्होंने मृत्युको अपनी इच्छाके अधीन कर लिया है । संतानहीन होनेपर भी उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य लोक देवलोकमें विख्यात हैं ॥ १४ ॥

यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन् सभासदः ।
यस्य नाविदितं किंचिज्ज्ञानयज्ञेषु विद्यते ॥ १५ ॥

'पुण्यात्मा ब्रह्मर्षि सदा उनके सभासद रहे हैं । ज्ञानयज्ञमें कोई भी ऐसी बात नहीं है, जिसका उन्हें ज्ञान न हो ॥ १५ ॥

स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित् ।
तमभ्येहि पुरा प्राणान् स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ १६ ॥

'सूक्ष्म धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वे धर्मवेत्ता भीष्म तुम्हें धर्मका उपदेश देंगे । वे धर्मज्ञ महात्मा अपने प्राणोंका परित्याग करें, इसके पहले ही तुम इनके पास चलो' ॥

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् दूरदर्शी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने वक्ताओंमें श्रेष्ठ सत्यवतीनन्दन व्यासजीसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

वैशसं सुमहत् कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम् ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥ १८ ॥
घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! मैं अपने भाई-बन्धुओंका यह महान् एवं रोमाञ्चकारी संहार करके सम्पूर्ण लोकोंका अपराधी बन गया हूँ । मैंने इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश किया है । भीष्मजी सरलतापूर्वक युद्ध करनेवाले थे तो भी मैंने युद्धमें उन्हें छलसे मरवा डाला । अब फिर उन्हींसे मैं अपनी शङ्काओंको पूछूँ, क्या इसके योग्य मैं रह गया हूँ ? अब मैं किस हेतुसे उन्हें मुँह दिखा सकता हूँ ? ॥ १८-१९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब परम बुद्धिमान् महाबाहु यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने चारों वर्णोंके हितकी इच्छासे नृपतिशिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥

वासुदेव उवाच

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ ! अब आप अत्यन्त हठपूर्वक शोकको ही पकड़े न रहें । भगवान् व्यास जो आज्ञा देते हैं, वही करें ॥ २१ ॥

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जैसे वर्षाकालमें लोग मेघकी ओर टकटकी लगाये देखते हैं—उससे जलकी याचना करते हैं, उसी प्रकार ये सारे ब्राह्मण और आपके ये महातेजस्वी भाई आपसे धैर्य धारण करनेकी प्रार्थना करते हुए आपके पास बैठे हैं ॥ २२ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥ २३ ॥

महाराज ! मरनेसे बचे हुए राजालोग और चारों वर्णोंकी प्रजाओंसे युक्त यह सारा कुरुजाङ्गल देश इस समय आपकी सेवामें उपस्थित है ॥ २३ ॥

प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥
सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परंतप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ २५ ॥

शत्रुओंको मारने और संताप देनेवाले नरेश ! इन महामना ब्राह्मणोंका प्रिय करनेके लिये भी आपको इनकी बात मान लेनी चाहिये । आप अमित तेजस्वी गुरुदेव व्यासकी आज्ञासे हम सुहृदोंका और द्रौपदीका प्रिय कीजिये तथा सम्पूर्ण जगत्के हितसाधनमें लग जाइये ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः ।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कमलनयन महामनस्वी राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये उठ खड़े हुए ॥ २६ ॥

सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।
व्यजहान्मानसं दुःखं संतापं च महायशाः ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, द्वैपायन व्यास, देवस्थान, अर्जुन तथा अन्य बहुत-से लोगोंके समझाने-बुझानेपर महायशस्वी युधिष्ठिरने मानसिक दुःख और संतापको त्याग दिया ॥ २७-२८ ॥

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः ।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥ २९ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेशको सुना था । वेद-शास्त्रोंके ज्ञानकी तो वे निधि ही थे । सुने हुए शास्त्रों तथा सुनने योग्य नीतिग्रन्थोंके विचारमें भी वे कुशल थे । उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय करके मनमें पूर्ण शान्ति पा ली थी ॥ २९ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ३० ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान राजा युधिष्ठिर वहाँ आये हुए सब लोगोंसे घिरकर धृतराष्ट्रको आगे करके अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चल दिये ॥ ३० ॥

प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥

ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम् ।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ ३२ ॥

मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥ ३३ ॥

नगरमें प्रवेश करते समय धर्मज्ञ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने देवताओं तथा सहस्रों ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर कम्बल और मृगचर्मसे ढके हुए एक नूतन उज्ज्वल रथपर जिसकी पवित्र मन्त्रोंद्वारा पूजा की गयी थी तथा जिसमें शुभ लक्षणसम्पन्न सोलह सफेद बैल जुते हुए थे, वे वन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उसी प्रकार सवार हुए, जैसे चन्द्रदेव अपने अमृतमय रथपर आरूढ़ होते हैं॥३१–३३॥

जग्राह रश्मीन् कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः ।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥३४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र भीमसेनने उन बैलोंकी रास सँभाली। अर्जुनने तेजस्वी श्वेत छत्र धारण किया ॥३४॥

ध्रियमाणं च तच्छत्रं पाण्डुरं रथमूर्धनि ।
शुशुभे तारकाकीर्णे सितमभ्रमिवाम्बरे ॥ ३५॥

रथके ऊपर तना हुआ वह श्वेत छत्र आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त श्वेत बादलके समान शोभा पाता था ॥

चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा ।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ ३६ ॥

उस समय माद्रीके वीर पुत्र नकुल और सहदेवने चन्द्रमाकी किरणोंके समान चमकीले रत्नभूषित श्वेत चँवर और व्यजन हाथोंमें ले लिये ॥ ३६ ॥

ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः ।
भूतानीव समस्तानि राजन् ददृशिरे तदा ॥ ३७ ॥

राजन्! वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुए वे पाँचों भाई रथपर बैठकर मूर्तिमान् पाँच महाभूतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३७ ॥

आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः ।
अन्वयात् पृष्ठतो राजन् युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम्॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! मनके समान वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए शुभ्र रथपर आरूढ़ हो युयुत्सु ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चले ॥ ३८ ॥

रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितम् ।
सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात् कुरून्॥ ३९॥

शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए सुन्दर सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो सात्यकिसहित श्रीकृष्ण भी कौरवोंके पीछे-पीछे गये ॥ ३९ ॥

नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत ।
अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरके ज्येष्ठ पिता (ताऊ) गान्धारीसहित पालकीमें बैठकर उनके आगे-आगे जा रहे थे ॥ ४० ॥

कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च ।
यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥ ४१ ॥

इन सबके पीछे कुन्ती और द्रौपदी आदि कुरुकुलकी वे सभी स्त्रियाँ यथायोग्य भिन्न-भिन्न सवारियोंपर चढ़कर चल रही थीं। इनके पीछे विदुरजी थे, जो इन सबकी देख-भाल करते थे ॥ ४१ ॥

ततो रथाश्च बहुला नागाश्वसमलंकृताः ।
पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर इन सबके पीछे हाथी और घोड़ोंसे विभूषित बहुत-से रथी, पैदल और घुड़सवार सैनिक चल रहे थे ॥

ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः ।
स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वैतालिकों, सूतों और मागधोंद्वारा सुन्दर वाणीमें अपनी स्तुति सुनते हुए राजा युधिष्ठिरने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

तत् प्रयाणं महाबाहोर्बभूवाप्रतिमं भुवि ।
आकुलाकुलमुत्कृष्टं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४४ ॥

महाबाहु युधिष्ठिरकी यह सामूहिक यात्रा (जुलूस) इस भूतलपर अनुपम थी। उसमें हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भरे हुए थे। भीड़-पर-भीड़ बढ़ती चली जाती थी और बड़े जोरसे जयघोष एवं कोलाहल हो रहा था ॥ ४४ ॥

अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः ।
नगरं राजमार्गाश्च यथावत्समलङ्कृताः ॥ ४५ ॥

राजा युधिष्ठिरकी इस यात्राके समय नगरनिवासी मनुष्योंने समूचे नगर तथा वहाँकी सड़कोंको अच्छी तरहसे सजा दिया था ॥ ४५ ॥

पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी ।
संस्कृतो राजमार्गोऽभूद्धूपनैश्च प्रधूपितः ॥ ४६ ॥

सफेद मालाओं तथा पताकाओंसे नगरभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी। राजमार्गको झाड़-बुहारकर वहाँ छिड़काव किया गया था और धूपोंकी सुगन्ध फैलायी गयी थी ॥४६॥

अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पप्रियङ्गुभिः ।
माल्यदामभिरासक्तै राजवेश्माभिसंवृतम् ॥ ४७ ॥

राजमहलके आस-पास चारों ओर सुगन्धित चूर्ण बिखेरे गये थे, नाना प्रकारके फूलों, बेलों और पुष्पहारोंकी बन्दनवारोंसे उसे अच्छी तरह सुसज्जित किया गया था ॥
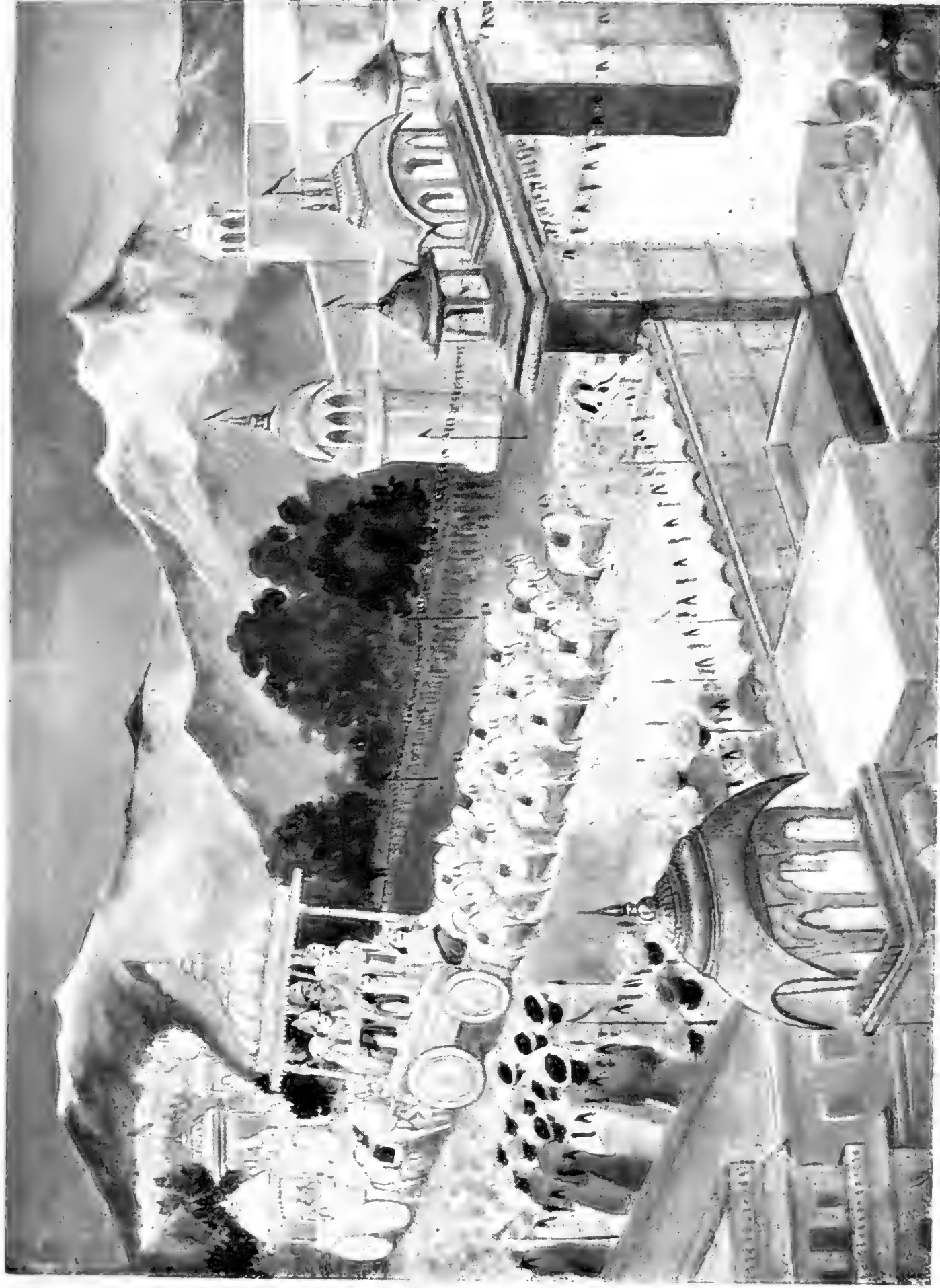
महाभारतकी समाप्तिपर महाराज युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें प्रवेश

कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः ।
सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥ ४८ ॥

नगरके द्वारपर जलसे भरे हुए नूतन एवं सुदृढ़ कलश रक्खे गये थे और जगह-जगह सफेद फूलोंके गुच्छे रख दिये गये थे ॥ ४८ ॥

तथा स्वलंकृतद्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः ।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ४९ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरे हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार सजे सजाये द्वारवाले नगर-हस्तिनापुरमें प्रवेश किया । उस समयसुन्दर वचनोंद्वारा उनकी स्तुति की जा रही थी ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें युधिष्ठिरका नगरप्रवेशविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

नगर-प्रवेशके समय पुरवासियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरका सत्कार और उनपर आक्षेप करनेवाले चार्वाकका ब्राह्मणोंद्वारा वध

वैशम्पायन उवाच

प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम् ।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्रोंके हस्तिनापुरमें प्रवेश करते समय उन्हें देखनेके लिये दस लाख नगरनिवासी सड़कोंपर एकत्र हो गये ॥ १ ॥

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः ।
यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥ २ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदय होनेपर महासागर उमड़ने लगता है, उसी प्रकार जिसके चौराहे खूब सजाये गये थे, वह राजमार्ग मनुष्योंकी उमड़ती हुई भीड़से बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २ ॥

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च ।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! सड़कोंके आस-पास जो रत्नविभूषित विशाल भवन थे, वे स्त्रियोंसे भरे होनेके कारण उनके भारी भारसे काँपते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

वे नारियाँ लजाती हुई-सी धीरे-धीरे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेवकी प्रशंसा करने लगीं ॥ ४ ॥

धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान् ।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५ ॥
तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनि ।

वे बोलीं—'कल्याणि ! पाञ्चालराजकुमारी ! तुम धन्य हो, जो इन पाँच महान् पुरुषोंकी सेवामें उसी प्रकार उपस्थित रहती हो, जैसे गौतमवंशमें उत्पन्न हुई जटिला अनेक महर्षियों-की सेवा करती हैं । भाविनि ! तुम्हारे सभी पुण्यकर्म अमोघ हैं और समस्त व्रतचर्या सफल है' ॥ ५½ ॥

इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥ ६ ॥
प्रशंसावचनैस्तासां मिथःशब्दैश्च भारत ।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत् समाकुलम् ॥ ७ ॥

महाराज ! इस प्रकार उस समय सारी स्त्रियाँ द्रुपदकुमारी कृष्णाकी प्रशंसा करती थीं । भारत ! एक दूसरीके प्रति कहे जानेवाले उनके प्रशंसा-वचनों और प्रीतिजनित शब्दोंसे उस समय सारा नगर व्याप्त हो रहा था ॥ ६-७ ॥

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः ।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद् राजवेश्म ह ॥ ८ ॥

राजन् ! उस सजे-सजाये शोभासम्पन्न राजमार्गको यथोचित रूपसे लाँघकर राजा युधिष्ठिर राजभवनके समीप जा पहुँचे ॥ ८ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा ।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥ ९ ॥

तदनन्तर मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतिवर्गके सभी लोग, नगरवासी और जनपदनिवासी मनुष्य इधर-उधरसे आकर कानों-को सुख देनेवाली बातें कहने लगे— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन ।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १० ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले राजेन्द्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप विजयी हो रहे हैं, आपने धर्मके प्रभाव तथा बलसे अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया—यह बड़े हर्षका विषय है ॥ १० ॥

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम् ।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥ ११ ॥

'महाराज ! आप सैकड़ों वर्षोंतक हमारे राजा बने रहें । जैसे इन्द्र स्वर्गलोकका पालन करते हैं, उसी प्रकार आप भी धर्मपूर्वक अपनी प्रजाकी रक्षा करें' ॥ ११ ॥

एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः ।
आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान् प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥
प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम् ।
श्रद्धाविजयसंयुक्तं रथात् पश्चादवातरत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार राजकुलके द्वारपर माङ्गलिक द्रव्योंद्वारा पूजित हो ब्राह्मणोंके दिये हुए आशीर्वाद सब ओरसे ग्रहण करके

राजा युधिष्ठिर देवराज इन्द्रके महलके समान राजभवनमें प्रविष्ट हुए, जो श्रद्धा और विजयसे सम्पन्न था। वहाँ पहुँचकर वे रथसे नीचे उतरे ॥ १२-१३ ॥

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान् दैवतान्यभिगम्य च।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥

राजमहलके भीतर प्रवेश करके श्रीमान् नरेशने कुल-देवताओंका दर्शन किया और रत्न, चन्दन तथा माला आदिसे सर्वथा उनकी पूजा की ॥ १४ ॥

निश्चक्राम ततः श्रीमान् पुनरेव महायशाः।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानवस्थितान् ॥ १५ ॥

इसके बाद महायशस्वी श्रीमान् राजा युधिष्ठिर महलसे बाहर निकले। वहाँ उन्हें बहुत-से ब्राह्मण खड़े दिखायी दिये, जो हाथमें मङ्गलद्रव्य लिये खड़े थे ॥ १५ ॥

स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥

जैसे तारोंसे घिरे हुए निर्मल चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार आशीर्वाद देनेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद् द्विजान्।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने गुरु धौम्य तथा ताऊ धृतराष्ट्रको आगे करके उन सभी ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया ॥

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! इन्होंने फूल, मिठाई, रत्न, बहुत-से सुवर्ण, गौओं, वस्त्रों तथा उनकी इच्छा पूछ-पूछ कर मँगाये हुए नाना प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंद्वारा उन सबका यथोचित सत्कार किया ॥ १८ ॥

ततः पुण्याहघोषोऽभूद् दिवं स्तब्ध्वेव भारत।
सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥ १९ ॥

भारत ! इसके बाद पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष होने लगा, जो आकाशको स्तब्ध-सा किये देता था। वह पवित्र शब्द कानोंको सुख देनेवाला तथा सुहृदोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला था ॥ १९ ॥

हंसवद् विदुषां राजन् द्विजानां तत्र भारती।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षरा ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मणोंने हंसके समान हर्ष-गद्गद स्वरसे जो प्रचुर अर्थ, पद एवं अक्षरोंसे युक्त वाणी कही थी, वह वहाँ सबको स्पष्ट सुनायी दे रही थी ॥ २० ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर दुन्दुभियों और शङ्खोंकी मनोरम ध्वनि होने लगी, जय-जयकार करनेवालोंका गम्भीर घोष वहाँ प्रकट होने लगा ॥ २१ ॥

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

जब सब ब्राह्मण चुपचाप खड़े हो गये, तब ब्राह्मणका वेष बनाकर आया हुआ चार्वाक नामक राक्षस राजा युधिष्ठिरसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ २२ ॥

तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥ २३ ॥

वह दुर्योधनका मित्र था। उसने संन्यासी ब्राह्मणके वेषमें अपने असली रूपको छिपा रक्खा था। उसके हाथमें अक्षमाला थी और मस्तकपर शिखा। उसने त्रिदण्ड धारण कर रक्खा था। वह बड़ा ढीठ और निर्भय था ॥ २३ ॥

वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परःसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥ २४ ॥
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम्।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥ २५ ॥

राजेन्द्र ! तपस्या और नियममें लगे रहनेवाले और आशीर्वाद देनेके इच्छुक उन समस्त ब्राह्मणोंसे, जिनकी संख्या हजारसे भी अधिक थी, घिरा हुआ वह दुष्ट राक्षस महात्मा पाण्डवोंका विनाश चाहता था। उसने उन सब ब्राह्मणोंसे अनुमति लिये बिना ही राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ २४-२५ ॥

चार्वाक उवाच

इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि।
धिग् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम्।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥ २७ ॥

चार्वाक बोला—राजन् ! ये सब ब्राह्मण मुझपर अपनी बात कहनेका भार रखकर मेरेद्वारा ही तुमसे कह रहे हैं—'कुन्तीनन्दन ! तुम अपने भाई-बन्धुओंका वध करनेवाले एक दुष्ट राजा हो। तुम्हें धिक्कार है ! ऐसे पुरुषके जीवनसे क्या लाभ ? इस प्रकार यह बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके गुरु-जनोंकी हत्या करवाकर तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है, जीवित रहना नहीं' ॥ २६-२७ ॥

इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥

वे ब्राह्मण उस दुष्ट राक्षसकी यह बात सुनकर उसके वचनोंसे तिरस्कृत हो व्यथित हो उठे और मन-ही-मन उसके कथनकी निन्दा करने लगे ॥ २८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशाम्पते ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसके बाद वे सभी ब्राह्मण तथा राजा युधिष्ठिर

अत्यन्त उद्विग्न और लज्जित हो गये। प्रतिवादके रूपमें उनके मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकला। वे सभी कुछ देरतक चुप रहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः।
प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने कहा—ब्राह्मणो! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके विनीतभावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग मुझपर प्रसन्न हों। इस समय मुझपर सब ओरसे बड़ी भारी विपत्ति आ गयी है; अतः आपलोग मुझे धिक्कार न दें ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशाम्पते।
ऊचुर्नैतद् वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! प्रजानाथ! उनकी यह बात सुनकर सब ब्राह्मण बोल उठे—'महाराज! यह हमारी बात नहीं कह रहा है। हम तो यह आशीर्वाद देते हैं कि 'आपकी राजलक्ष्मी सदा बनी रहे'' ॥ ३१ ॥

जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥

उन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंका अन्तःकरण तपस्यासे निर्मल हो गया था। उन महात्माओंने ज्ञानदृष्टिसे उस राक्षसको पहचान लिया ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥
वयं ब्रूमो न धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम्।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण बोले—धर्मात्मन्! यह दुर्योधनका मित्र चार्वाक नामक राक्षस है, जो संन्यासीके रूपमें यहाँ आकर उसका हित करना चाहता है। हमलोग आपसे कुछ नहीं कहते हैं। आपका इस तरहका भय दूर हो जाना चाहिये। हम आशीर्वाद देते हैं कि 'भाइयोंसहित आपको कल्याणकी प्राप्ति हो' ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्छिताः।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर क्रोधसे आतुर हुए उन सभी शुद्धात्मा ब्राह्मणोंने उस पापात्मा राक्षसको बहुत फटकारा और अपने हुङ्कारोंसे उसे नष्ट कर दिया ॥ ३५ ॥

स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम्।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवादी महात्माओंके तेजसे दग्ध होकर वह राक्षस गिर पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रसे जलकर कोई अङ्कुरयुक्त वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ ३६ ॥

पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम्।
राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् राजाद्वारा पूजित हुए वे ब्राह्मण उनका अभिनन्दन करके चले गये और पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सुहृदोंसहित बड़े हर्षको प्राप्त हुए ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकका वधविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

चार्वाकको प्राप्त हुए वर आदिका श्रीकृष्णद्वारा वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह।
उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सर्वदर्शी देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ भाइयोंसहित खड़े हुए राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले—तात! इस संसारमें ब्राह्मण मेरे लिये सदा ही पूजनीय हैं। ये पृथ्वीपर विचरनेवाले देवता हैं। कुपित होनेपर इनकी वाणीमें विषका-सा प्रभाव होता है। ये सहज ही प्रसन्न होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते हैं ॥ २ ॥

पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥ ३ ॥

राजन्! महाबाहो! पहले सत्ययुगकी बात है, चार्वाक राक्षसने बहुत वर्षोंतक बदरिकाश्रममें तपस्या की ॥ ३ ॥

वरेण च्छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन! जब ब्रह्माजीने उससे बारंबार वर माँगनेका अनुरोध किया, तब उसने यही वर माँगा कि मुझे किसी भी प्राणीसे भय न हो ॥ ४ ॥

द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद् वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥ ५ ॥

जगदीश्वर ब्रह्माजीने उसे यह परम उत्तम वर देते हुए कहा कि 'तुम्हें ब्राह्मणका अपमान करनेके सिवा और कहीं किसीसे भय नहीं है' इस तरह उन्होंने उसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी ओरसे अभयदान दे दिया ॥ ५ ॥

स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ६ ॥

वर पाकर वह अमित पराक्रमी महाबली और दुःसह कर्म करनेवाला पापात्मा राक्षस देवताओंको संताप देने लगा ॥

ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ७ ॥

तब उसके बलसे तिरस्कृत हुए सब देवताओंने एकत्र हो ब्रह्माजीसे उसके वधके लिये प्रार्थना की ॥ ७ ॥

तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया।
यथास्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'मैंने ऐसा विधान कर दिया है, जिससे शीघ्र ही उस राक्षसकी मृत्यु हो जायगी ॥ ८ ॥

राजा दुर्योधनो नाम सखास्य भविता नृषु।
तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ९ ॥

'मनुष्योंमें राजा दुर्योधन उसका मित्र होगा और उसीके स्नेहसे बँधकर वह राक्षस ब्राह्मणोंका अपमान कर बैठेगा ॥

तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः।
धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥ १० ॥

'उसके विरुद्धाचरणसे तिरस्कृत हो रोषमें भरे हुए वाक्शक्तिसे सम्पन्न ब्राह्मण वहीं उस पापीको जला देंगे, इससे उसका नाश हो जायगा' ॥ १० ॥

स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! अब आप शोक न करें। यह वही राक्षस चार्वाक ब्रह्मदण्डसे मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥

हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

राजन् ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार भाई-बन्धुओंका वध किया है। वे महामनस्वी क्षत्रियशिरोमणि वीर स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद् ग्लानिरच्युत।
शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥ १३ ॥

अच्युत ! अब आप अपने कर्तव्यका पालन करें। आपके मनमें ग्लानि न हो। आप शत्रुओंको मारिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करते रहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकको प्राप्त हुए वरदान आदिका वर्णनविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत् परमासने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर खेद और चिन्तासे रहित हो पूर्वकी ओर मुँह करके प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णके सुन्दर सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ १ ॥

तमेवाभिमुखो पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिंदमौ ॥ २ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका दमन करनेवाले सात्यकि और भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके जगमगाते हुए सुन्दर आसनपर उन्हींकी ओर मुँह करके बैठे ॥ २ ॥

मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरको बीचमें करके महामनस्वी भीमसेन और अर्जुन दो मणिमय मनोहर पीठोंपर विराजमान हुए ॥ ३ ॥

दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥

एक ओर हाथी दाँतके बने हुए स्वर्णविभूषित शुभ्र सिंहासनपर नकुल और सहदेवके साथ माता कुन्ती भी बैठ गयीं ॥ ४ ॥

सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

इसी प्रकार सुधर्मा, विदुर, धौम्य और कुरुराज धृतराष्ट्र अग्निके समान तेजस्वी पृथक्-पृथक् सिंहासनोंपर विराजमान हुए ॥ ५ ॥

युयुत्सुः संजयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी।
धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥ ६ ॥

युयुत्सु, संजय और यशस्विनी गान्धारी—ये सब लोग उधर ही बैठे, जिस ओर राजा धृतराष्ट्र थे ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत्।
स्वस्तिकानक्षतान् भूमिं सुवर्णं रजतं मणिम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने सिंहासनपर बैठकर श्वेत पुष्प, स्वस्तिक, अक्षत, भूमि, सुवर्ण, रजत एवं मणिका स्पर्श किया ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहुमङ्गलम् ॥ ८ ॥

इसके बाद मन्त्री, सेनापति आदि सभी प्रकृतियोंने पुरोहितको आगे करके बहुत-सी माङ्गलिक सामग्री साथ लिये धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ ८ ॥

पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च ।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसम्भारसम्भृतम् ॥ ९ ॥
काञ्चनोदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः ।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम् ॥ १० ॥
शमीपिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी ।
स्रुव औदुम्बरः शङ्खस्तथा हेमविभूषितः ॥ ११ ॥

मिट्टी, सुवर्ण, तरह-तरहके रत्न, राज्याभिषेककी सामग्री, सब प्रकारके आवश्यक सामान, सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी-के बने हुए जलपूर्ण कलश, फूल, लाजा (खील), कुशा, गोरस, शमी, पीपल और पलाशकी समिधाएँ, मधु, घृत, गूलरकी लकड़ीका स्रुवा तथा स्वर्णजटित शङ्ख—ये सब वस्तुएँ वे संग्रह करके लाये थे ॥ ९–११ ॥

दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः ।
प्रागुदक्प्रवणां वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च ॥ १२ ॥
व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने ।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि ॥ १३ ॥
उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान् विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे पुरोहित धौम्यजीने एक वेदी बनायी जो पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर नीची थी। उसे गोबरसे लीपकर कुशके द्वारा उसपर रेखा की। इस प्रकार वेदीका संस्कार करके सर्वतोभद्र नामक एक चौकी-पर बाघम्बर एवं श्वेत वस्त्र बिछाकर उसके ऊपर महात्मा युधिष्ठिर तथा द्रुपदकुमारी कृष्णाको बिठाया। उस चौकीके पाये और बैठनेके आधार बहुत मजबूत थे। सुवर्णजटित होनेके कारण वह आसन प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। बुद्धिमान् पुरोहितने वेदीपर अग्निको स्थापित करके उसमें विधि और मन्त्रके साथ आहुति दी ॥ १२–१४ ॥

तत उत्थाय दाशार्हः शङ्खमादाय पूजितम् ।
अभ्यषिञ्चत् पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥
धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।

तत्पश्चात् दशार्हवंशी श्रीकृष्णने उठकर जिसकी पूजा की गयी थी, वह पाञ्चजन्य शङ्ख हाथमें ले उसके जलसे पृथ्वीपति कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका अभिषेक किया। फिर राजा धृतराष्ट्र तथा प्रकृतिवर्गके अन्य सब लोगोंने भी अभिषेकका कार्य सम्पन्न किया ॥ १५½ ॥

अनुज्ञातोऽथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ १६ ॥
पाञ्चजन्याभिषिक्तश्च राजामृतमुखोऽभवत् ।

श्रीकृष्णकी आज्ञासे पाञ्चजन्य शङ्खद्वारा अभिषेक हो जानेपर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरका मुख इतना सुन्दर दिखायी देने लगा, मानो नेत्रोंसे अमृतकी वर्षा कर रहा हो ॥ १६½ ॥

ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन् ॥ १७ ॥
धर्मराजोऽपि तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः ।

तदनन्तर वहाँ बाजा बजानेवाले लोग पणव, आनक तथा दुन्दुभिकी ध्वनि करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरने भी धर्मा-नुसार वह सारा स्वागत-सत्कार स्वीकार किया ॥ १७½ ॥

पूजयामास तांश्चापि विधिवद् भूरिदक्षिणः ॥ १८ ॥
ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयन् ।
वेदाध्ययनसम्पन्नान् धृतिशीलसमन्वितान् ॥ १९ ॥

बहुत दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिरने वेदाध्ययनसे सम्पन्न तथा धैर्य और शीलसे संयुक्त ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्ति-वाचन कराकर उनका विधिपूर्वक पूजन किया और उन्हें एक हजार अशर्फियाँ दान कीं ॥ १८-१९ ॥

ते प्रीता ब्राह्मणा राजन् स्वस्त्यूचुर्जयमेव च ।
हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

राजन्! इससे प्रसन्न होकर उन ब्राह्मणोंने उनके कल्याणका आशीर्वाद दिया और जय-जयकार की। वे सभी ब्राह्मण हंसके समान गम्भीर स्वरमें बोलते हुए राजा युधिष्ठिर-की इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—॥ २० ॥

युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव ।
दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते ॥ २१ ॥

'पाण्डुनन्दन महाबाहु युधिष्ठिर! तुम्हारी विजय हुई, यह बड़े भाग्यकी बात है। महातेजस्वी नरेश! तुमने पराक्रमसे अपना धर्मानुकूल राज्य प्राप्त कर लिया, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ॥ २१ ॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २२ ॥
मुक्ता वीरक्षयात् तस्मात् संग्रामाद् विजितद्विषः ।
क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत ॥ २३ ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डुपुत्र भीमसेन, तुम और माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव—ये सभी शत्रुओंपर विजय पाकर इस वीरविनाशक संग्रामसे कुशलपूर्वक बच गये, इसे भी महान् सौभाग्यकी ही बात समझनी चाहिये। भारत! अब आगे जो कार्य करने हैं, उन सबको शीघ्र पूर्ण कीजिये' ॥ २२-२३ ॥

ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

प्रतिपेदे महद् राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् समागत सज्जनोंने धर्मराज युधिष्ठिरका पुनः सत्कार किया । फिर उन्होंने सुहृदोंके साथ अपने विशाल राज्यका भार हाथोंमें ले लिया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराभिषेके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेकविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रके अधीन रहकर राज्यकी व्यवस्थाके लिये भाइयों तथा अन्य लोगोंको विभिन्न कार्योंपर नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

प्रकृतीनां च तद् वाक्यं देशकालोपबृंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा चोत्तरं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्त्री, प्रजा आदिके उस देशकालोचित वचनको सुनकर राजा युधिष्ठिरने उसका उत्तर देते हुए कहा—॥ १ ॥

धन्याः पाण्डुसुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
तथ्यान् वाप्यथवातथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥ २ ॥

'निश्चय ही हम सभी पाण्डव धन्य हैं, जिनके गुणोंका बखान यहाँ पधारे हुए सभी ब्राह्मण कर रहे हैं । हममें वास्तवमें वे गुण हों या न हों, आपलोग हमें गुणवान् बता रहे हैं ॥ २ ॥

अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान् ब्रूथ विमत्सराः ॥ ३ ॥

'हमारा विश्वास है कि आपलोग निश्चय ही हमें अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं, तभी तो ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर हमें इस प्रकार गुणसम्पन्न बता रहे हैं ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र मेरे पिता (ताऊ) और श्रेष्ठ देवता हैं । जो लोग मेरा प्रिय करना चाहते हों, उन्हें सदा उनकी आज्ञाके पालन तथा हित-साधनमें लगे रहना चाहिये ॥४॥

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥ ५ ॥

'अपने भाई-बन्धुओंका इतना बड़ा संहार करके मैं इन्हीं महाराजके लिये जी रहा हूँ । मुझे नित्य-निरन्तर आलस्य छोड़कर इनकी सेवा-शुश्रूषामें संलग्न रहना है ॥ ५ ॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥

'यदि आप सब सुहृदोंका मुझपर अनुग्रह हो तो आपलोग महाराज धृतराष्ट्रके प्रति वैसा ही भाव और बर्ताव बनाये रक्खें, जैसा पहले रखते थे ॥ ६ ॥

एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥
एतन्मनसि कर्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ।

'ये ही सम्पूर्ण जगत्के, आपलोगोंके और मेरे भी स्वामी हैं । यह सारी पृथ्वी और ये समस्त पाण्डव इन्हींके अधिकारमें हैं । आप सब लोग मेरी इस प्रार्थनाको अपने हृदयमें स्थान दें' ॥ ७½ ॥

अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥ ८ ॥
पौरजानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥ ९ ॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिरने नगर और जनपदके निवासियोंको यह आज्ञा दी कि आपलोग इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको पधारें । इस प्रकार उन सबको बिदा करके कुरुनन्दन युधिष्ठिरने कुन्तीकुमार भीमसेनको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ८-९ ॥

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥ १० ॥

फिर उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ बुद्धिमान् विदुरजीको मन्त्रणा[1], कर्तव्यनिश्चय तथा छहों[2] गुणोंके चिन्तनके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।
संजयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥ ११ ॥

कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इसकी जाँच करने तथा आय और व्ययपर विचार करनेके कार्यमें उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न वयोवृद्ध संजयको लगाया ॥ ११ ॥

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥ १२ ॥

सेनाकी गणना करना, उसे भोजन और वेतन देना तथा उसके कामकी देखभाल करना—इन सब कार्योंका भार राजा युधिष्ठिरने नकुलको सौंप दिया ॥ १२ ॥

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १३ ॥

महाराज ! शत्रुओंके देशपर चढ़ाई करने और दुष्टोंका दमन करनेके कार्यमें युधिष्ठिरने अर्जुनको नियुक्त किया ॥ १३ ॥

---

१. राज-काजके सम्बन्धमें गुप्त सलाह देना—'मन्त्रणा' है।

२. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय—ये छः राजाके नीतिसम्बन्धी गुण हैं ।

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणों और देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंपर तथा अन्यान्य ब्राह्मणोचित कर्तव्योंपर सदाके लिये पुरोहितोंमें श्रेष्ठ धौम्यजीकी नियुक्ति की गयी ॥ १४ ॥

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! सहदेवको राजा युधिष्ठिरने सदा ही अपने पास रहनेका आदेश दिया । उन्हें सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षाका काम सौंपा गया था ॥ १५ ॥

यान् यानमन्यद् योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥ १६ ॥

प्रसन्न हुए महाराज युधिष्ठिरने जिन-जिन लोगोंको जिन-जिन कार्योंके योग्य समझा, उन-उनको उन्हीं-उन्हीं कार्योंपर नियुक्त किया ॥ १६ ॥

विदुरं संजयं चैव युयुत्सुं च महामतिम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥
उत्थायोत्थाय तत् कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम ।
सर्वं भवद्भिः कर्तव्यमप्रमत्तैर्यथायथम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धर्मवत्सल धर्मात्मा युधिष्ठिरने विदुर, संजय तथा परम बुद्धिमान् युयुत्सुसे कहा— 'आपलोगोंको सदा सावधान रहकर प्रतिदिन उठ-उठकर मेरे ताऊ महाराज धृतराष्ट्रकी सेवाका सारा आवश्यक कार्य यथोचितरूपसे सम्पन्न करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि सर्वशः ।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः ॥ १९ ॥

'पुरवासियों और जनपदनिवासियोंके भी जो-जो कार्य हों, उन्हें इन्हीं महाराजकी आज्ञा लेकर पृथक्-पृथक् पूर्ण करना चाहिये' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमादिकर्मनियोगे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेन आदिकी भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्तिविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्रका युद्धमें मारे गये सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य राजाओंके लिये श्राद्धकर्म करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता युधि ।
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने जाति, भाई और कुटुम्बीजनोंमेंसे जो लोग युद्धमें मारे गये थे, उन सबके अलग-अलग श्राद्ध करवाये॥

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥ २ ॥
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ।

महायशस्वी राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंके श्राद्धमें समस्त कमनीय गुणोंसे युक्त अन्न, गो, धन और बहुमूल्य विचित्र रत्न प्रदान किये ॥ २½ ॥

युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः ।
विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥ ४ ॥
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ ।

युधिष्ठिरने द्रौपदीको साथ लेकर आचार्य द्रोण, महामना कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, विराट आदि उपकारी सुहृद्, द्रुपद तथा द्रौपदीकुमारोंका श्राद्ध किया ३-४½

ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥ ५ ॥
धनै रत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् ।

उन्होंने प्रत्येकके उद्देश्यसे हजारों ब्राह्मणोंको अलग-अलग धन, रत्न, गौ और वस्त्र देकर संतुष्ट किया ॥ ५½ ॥

ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥ ६ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदेहिकम् ।

इनके सिवा जो दूसरे भूपाल थे, जिनके सुहृद् या सम्बन्धी जीवित नहीं थे, उन सबके उद्देश्यसे राजा युधिष्ठिरने श्राद्ध-कर्म किया ॥ ६½ ॥

सभाः प्रपाश्च विविधास्तडागानि च पाण्डवः ॥ ७ ॥
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदेहिकम् ।

साथ ही उनके निमित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने धर्मशालाएँ, प्याऊ-घर और पोखरे बनवाये । इस प्रकार उन्होंने सभी सुहृदोंके श्राद्ध-कर्म सम्पन्न कराये ॥ ७½ ॥

स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥ ८ ॥
कृतकृत्योऽभवद् राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ।

उन सबके ऋणसे मुक्त हो वे लोकमें किसीकी निन्दा या आक्षेपके पात्र नहीं रह गये । राजा युधिष्ठिर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए कृतकृत्यताका अनुभव करने लगे ॥८½॥

धृतराष्ट्रं यथापूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ॥ ९ ॥
सर्वांश्च कौरवान् मान्यान् भृत्यांश्च समपूजयत् ।

धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर तथा अन्य आदरणीय कौरवोंकी वे पहलेकी ही भाँति सेवा करते और भृत्यजनोंका भी आदर-सत्कार करते थे ॥ ९½ ॥

याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥ १० ॥
सर्वास्ताः कौरवो राजा सम्पूज्यापालयद् घृणी ।

वहाँ जो कोई भी स्त्रियाँ थीं, जिनके पति और पुत्र मारे गये थे, उन सबका कृपालु कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर बड़े आदर-के साथ पालन-पोषण करते थे ॥ १०½ ॥

दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ॥ ११ ॥
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ।

दीन, दुखियों और अन्धोंके लिये घर एवं भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था करके सबके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाले सामर्थ्यशाली राजा युधिष्ठिर उनपर बड़ी कृपा रखते थे ॥ ११½ ॥

स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

इस सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे उऋण हो शत्रुहीन राजा युधिष्ठिर सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्राद्धक्रियायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्राद्धकर्मविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः ।
दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! राज्याभिषेकके पश्चात् राज्य पाकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पवित्रभावसे हाथ जोड़कर कमलनयन दशार्हवंशी श्रीकृष्णसे कहा—॥ १ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च ।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥ २ ॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया ।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम ॥ ३ ॥

'यदुसिंह श्रीकृष्ण ! आपकी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रमसे मुझे पुनः अपने बाप-दादोंका यह राज्य प्राप्त हुआ है । शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २-३ ॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम् ।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥ ४ ॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले द्विज एकमात्र आपको ही अन्तर्यामी पुरुष एवं उपासना करनेवाले भक्तोंका प्रतिपालक बताते हैं । साथ ही वे नाना प्रकारके नामोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

'यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीलामयी सृष्टि है । आप इस विश्वके आत्मा हैं । आपहीसे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है । आप ही व्यापक होनेके कारण 'विष्णु', विजयी होनेसे 'जिष्णु', दुःख और पाप हर लेनेसे 'हरि', अपनी ओर आकृष्ट करनेके कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धामके अधिपति होनेसे 'वैकुण्ठ' तथा क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं । आपको नमस्कार है ॥ ५ ॥

अदित्याः सप्तधा त्वं तु पुराणो गर्भतां गतः ।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥ ६ ॥

'आप पुराणपुरुष परमात्माने ही सात प्रकारसे अदितिके गर्भमें अवतार लिया है । आप ही पृश्निगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं । विद्वान्लोग तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण आपको 'त्रियुग' कहते हैं ॥ ६ ॥

शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते ।
त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥ ७ ॥

'आपकी कीर्ति परम पवित्र है । आप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक हैं । घृत ही जिसकी ज्वाला है, वह यज्ञपुरुष आप ही हैं । आप ही हंस (विशुद्ध परमात्मा) कहे जाते हैं । त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्कर और आप एक ही हैं । आप सर्वव्यापी होनेके साथ ही दामोदर (यशोदा मैयाके द्वारा बँध जानेवाले नटवरनागर) भी हैं ॥ ७ ॥

वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः ।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥ ८ ॥

'वराह, अग्नि, बृहद्भानु (सूर्य), वृषभ (धर्म), गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रुसेनाका वेग सह सकनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), शिपिविष्ट (सबके शरीरमें आत्मारूपसे प्रविष्ट) और उरुक्रम (वामन)—ये सभी आपके ही नाम और रूप हैं ॥ ८ ॥

वरिष्ठ उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः ।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संस्कृतो विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥

'सबसे श्रेष्ठ, भयंकर सेनापति, सत्यस्वरूप, अन्नदाता तथा स्वामी कार्तिकेय भी आप ही हैं । आप स्वयं कभी युद्धसे विचलित न होकर शत्रुओंको पीछे हटा देते हैं । संस्कार-सम्पन्न द्विज और संस्कारशून्य वर्णसंकर भी आपके ही स्वरूप हैं । आप कामनाओंकी वर्षा करनेवाले वृष (धर्म) हैं ॥ ९ ॥

कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः ।
सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्युतः ॥ १० ॥

'कृष्णधर्म (यज्ञस्वरूप) और सबके आदिकारण आप ही हैं । वृषदर्भ (इन्द्रके दर्पका दलन करनेवाले) और वृषाकपि (हरिहर) भी आप ही हैं । आप ही सिन्धु (समुद्र),

विधर्म (निर्गुण परमात्मा), त्रिककुप् (ऊपर-नीचे और मध्य—ये तीन दिशाएँ), त्रिधामा (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये त्रिविध तेज) तथा वैकुण्ठधामसे नीचे अवतीर्ण होनेवाले भी हैं ॥ १० ॥

सम्राड् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः।
विभुर्भूरतिभूः कृष्णः कृष्णवर्त्मा त्वमेव च ॥ ११ ॥

'आप सम्राट्, विराट्, स्वराट् और देवराज इन्द्र हैं। यह संसार आपहीसे प्रकट हुआ है ? आप सर्वत्र व्यापक, नित्य सत्तारूप और निराकार परमात्मा हैं। आप ही कृष्ण (सबको अपनी ओर खींचनेवाले) और कृष्णवर्त्मा (अग्नि) हैं ॥ ११ ॥

स्विष्टकृद् भिषगावर्तः कपिलस्त्वं च वामनः।
यज्ञो ध्रुवः पतङ्गश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥

'आपहीको लोग अभीष्टसाधक, अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य, कपिल मुनि, वामन, यज्ञ, ध्रुव, गरुड़ तथा यज्ञसेन कहते हैं ॥ १२ ॥

शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवःस्पृक् त्वं पुनर्वसुः।
सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥

'आप अपने मस्तकपर मोरका पङ्ख धारण करते हैं। आप ही पूर्वकालमें राजा नहुष होकर प्रकट हुए थे। आप सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करनेवाले महेश्वर तथा एक ही पैर-में आकाशको नाप लेनेवाले विराट् हैं। आप ही पुनर्वसु नक्षत्रके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। सुबभ्रु (अत्यन्त पिङ्गल वर्ण), रुक्मयज्ञ (सुवर्णकी दक्षिणासे भरपूर यज्ञ), सुषेण (सुन्दर सेनासे सम्पन्न) तथा दुन्दुभिस्वरूप हैं ॥ १३ ॥

गभस्तिनेमिः श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मश्चारित्रं चैव पठ्यसे ॥ १४ ॥

'आप ही गभस्तिनेमि (कालचक्र), श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारी, ऋभु, विभु, सर्वथा सूक्ष्म और सदाचार-स्वरूप कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित्।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥ १५ ॥

'आप ही जलनिधि समुद्र, आप ही ब्रह्मा तथा आप ही पवित्र धाम एवं धामके ज्ञाता हैं। केशव ! विद्वान् पुरुष आपको ही हिरण्यगर्भ, स्वधा और स्वाहा आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ १५ ॥

योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण
त्वमेवेदं सृजसे विश्वमग्रे।
विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने
नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप ही इस जगत्के आदि कारण हैं और आप ही इसके प्रलयस्थान। कल्पके आरम्भमें आप ही इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। विश्वके कारण ! यह सम्पूर्ण विश्व आपके ही अधीन है। हाथोंमें धनुष, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले परमात्मन् ! आपको नमस्कार है' ॥ १६ ॥

एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः
सभामध्ये प्रीतिमान् पुष्कराक्षः।
तमभ्यनन्दद् भारतं पुष्कलाभि-
र्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें यदुकुलशिरोमणि कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर भरतभूषण ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरका उत्तम वचनोंद्वारा अभिनन्दन किया ॥ १७ ॥

(एतन्नामशतं विष्णोर्धर्मराजेन कीर्तितम्।
यः पठेच्छृणुयाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥)

जो धर्मराज युधिष्ठिरद्वारा वर्णित भगवान् श्रीकृष्णके इन सौ नामोंका पाठ या श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

महाराज युधिष्ठिरके दिये हुए विभिन्न भवनोंमें भीमसेन आदि सब भाइयोंका प्रवेश और विश्राम

वैशम्पायन उवाच

ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथास्वानि गृहाणि ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने मन्त्री, प्रजा आदि सारी प्रकृतियोंको बिदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर सब लोग अपने-अपने घरको चले गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम्।
सान्त्वयन्नब्रवीच्छ्रीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥ २ ॥

इसके बाद श्रीमान् महाराज युधिष्ठिरने भयानक पराक्रमी भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ २ ॥

शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ॥ ३ ॥

'बन्धुओ ! इस महासमरमें शत्रुओंने नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा तुम्हारे शरीरको घायल कर दिया है। तुम सब लोग अत्यन्त थक गये हो और शोक तथा क्रोधने तुम्हें संतप्त कर दिया है ॥ ३ ॥

अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः।

भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषैस्तथा ॥ ४ ॥

'भरतश्रेष्ठ वीरो ! तुमने मेरे लिये वनमें रहकर जैसे कोई भाग्यहीन मनुष्य दुःख भोगता है, उसी प्रकार दुःख और कष्ट भोगे हैं ॥ ४ ॥

यथासुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम् ।
विश्रान्ताल्लँब्धविज्ञानाःश्वः समेतास्मि वः पुनः ॥५॥

'अब इस समय तुमलोग सुखपूर्वक जी भरकर इस विजयजनित आनन्दका अनुभव करो । अच्छी तरह विश्राम करके जब तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जाय, तब फिर कल तुम लोगोंसे मिलूँगा' ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥ ७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भाई युधिष्ठिरने दुर्योधनका महल भीमसेनको अर्पित किया । वह बहुत-सी अट्टालिकाओंसे सुशोभित था । वहाँ अनेक प्रकारके रत्नोंका भण्डार पड़ा था और बहुत-सी दास-दासियाँ सेवाके लिये प्रस्तुत थीं । जैसे इन्द्र अपने भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार महाबाहु भीमसेन उस महलमें चले गये ॥ ६-७ ॥

यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥
दासीदाससुसम्पूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥ ९ ॥

जैसा दुर्योधनका भवन सजा हुआ था, वैसा ही दुःशासनका भी था । उसमें भी प्रासादमालाएँ शोभा दे रही थीं । वह सोनेकी बंदनवारोंसे सजाया गया था । प्रचुर धन-धान्य तथा दास-दासियोंसे भरा-पूरा था । राजाकी आज्ञासे वह भवन महाबाहु अर्जुनको मिला ॥ ८-९ ॥

दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद् वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥ १० ॥

दुर्मर्षणका महल तो दुःशासनके घरसे भी सुन्दर था । उसे सोने और मणियोंसे सजाया गया था; अतः वह कुबेरके राजभवनकी भाँति प्रकाशित होता था ॥ १० ॥

नकुलाय वराहाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

महाराज ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर महान् वनमें कष्ट उठाये हुए, वर पानेके अधिकारी नकुलको दुर्मर्षणका वह सुन्दर भवन प्रदान किया ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत् कनकभूषणम् ।
पूर्णपद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥
प्रददौ सहदेवाय संततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वासौ कैलासं धनदो यथा ॥ १३ ॥

दुर्मुखका श्रेष्ठ भवन तो और भी सुन्दर था । उसे सुवर्णसे सुसज्जित किया गया था । खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाली सुन्दर स्त्रियोंकी शय्याओंसे भरा हुआ वह भवन युधिष्ठिरने सदा अपना प्रिय करनेवाले सहदेवको दिया । जैसे कुबेर कैलासको पाकर संतुष्ट हुए थे, उसी प्रकार उस सुन्दर महलको पाकर सहदेवको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १२-१३ ॥

युयुत्सुर्विदुरश्चैव संजयश्च विशाम्पते ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथास्वान् जग्मुरालयान् ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! युयुत्सु, विदुर, संजय, सुधर्मा और धौम्य मुनि भी अपने-अपने पहलेके ही घरोंमें गये ॥ १४ ॥

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव ॥ १५ ॥

जैसे व्याघ्र पर्वतकी कन्दरामें प्रवेश करता है, उसी प्रकार सात्यकिसहित पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अर्जुनके महलमें पदार्पण किया ॥ १५ ॥

तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

वहाँ अपने-अपने स्थानोंपर खान-पानसे संतुष्ट हो वे सब लोग रातभर बड़े सुखसे सोये और सबेरे उठकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हो गये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गृहोंका विभाजनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा ब्राह्मणों तथा आश्रितोंका सत्कार एवं दान और श्रीकृष्णके पास जाकर उनकी स्तुति करते हुए कृतज्ञता-प्रकाशन

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! राज्य पानेके पश्चात् धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिरने और कौन-कौन-सा कार्य किया था ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भगवान् वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

महर्षे ! तीनों लोकोंके परम गुरु वीरवर भगवान् श्रीकृष्णने भी क्या-क्या किया था ? यह भी विस्तारपूर्वक बतावें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—निष्पाप नरेश ! भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके पाण्डवोंने जो कुछ किया था, उसे ठीक-ठीक बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत्॥ ४ ॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने राज्य प्राप्त करनेके बाद सबसे पहले चारों वर्णोंको योग्यतानुसार अपने-अपने स्थान (कर्तव्यपालन) में स्थिर किया ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम् ।
सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् सहस्रों महामना स्नातक ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवायीं ॥

तथाऽनुजीविनो भृत्यान् संश्रितानतिथीनपि ।
कामैः संतर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि ॥ ६ ॥

इसी तरह जिनकी जीविकाका भार उन्हींके ऊपर था, उन भृत्यों, शरणागतों तथा अतिथियोंको उन्होंने इच्छानुसार भोग्यपदार्थ देकर संतुष्ट किया । दीन-दुखियों तथा पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देनेवाले ज्योतिषियोंको भी संतुष्ट किया ॥६॥

पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः ।
धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि ॥ ७ ॥

अपने पुरोहित धौम्यजीको उन्होंने दस हजार गौएँ, धन, सोना, चाँदी तथा नाना प्रकारके वस्त्र दिये ॥ ७ ॥

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः ॥ ८ ॥

महाराज ! राजाने कृपाचार्यके साथ वही बर्ताव किया, जो एक शिष्यको अपने गुरुके साथ करना चाहिये । नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले युधिष्ठिरजीने विदुरजीका भी पूजनीय पुरुषकी भाँति सम्मान किया ॥ ८ ॥

भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनासनैः ।
सर्वान् संतोषयामास संश्रितान् ददतां वरः ॥ ९ ॥

दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने समस्त आश्रित जनोंको खाने-पीनेकी वस्तुएँ, भाँति-भाँतिके कपड़े, शय्या तथा आसन देकर संतुष्ट किया ॥ ९ ॥

लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तम ।
युयुत्सोर्धार्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः ॥ १० ॥
धृतराष्ट्राय तद् राज्यं गान्धार्यै विदुराय च ।
निवेद्य सुस्थवद् राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महायशस्वी राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार प्राप्त हुए धनका यथोचित विभाग करके उसकी शान्ति की तथा युयुत्सु एवं धृतराष्ट्रका विशेष सत्कार किया । धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा विदुरजीकी सेवामें अपना सारा राज्य समर्पित करके राजा युधिष्ठिर स्वस्थ एवं सुखी हो गये ॥ १०-११ ॥

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत् कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार सम्पूर्ण नगरकी प्रजाको प्रसन्न करके वे हाथ जोड़कर महात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके पास गये ॥ १२ ॥

ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम् ॥ १३ ॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥ १४ ॥

उन्होंने देखा, भगवान् श्रीकृष्ण मणियों तथा सुवर्णसे भूषित एक बड़े पलंगपर बैठे हैं, उनकी श्याम सुन्दर छवि नील मेघके समान सुशोभित हो रही है । उनका श्रीविग्रह दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहा है । एक-एक अङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विभूषित है। श्याम शरीरपर रेशमी पीताम्बर धारण किये भगवान् सुवर्णजटित नीलमके समान जान पड़ते हैं ॥

कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम् ॥ १५ ॥

उनके वक्षःस्थलपर स्थित हुई कौस्तुभ मणि अपना प्रकाश बिखेरती हुई उसी प्रकार उनकी शोभा बढ़ाती है, मानो उगते हुए सूर्य उदयाचलको प्रकाशित कर रहे हों ॥

नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किंचन ।
सोऽभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥ १६ ॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा ।

भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीकी तीनों लोकोंमें कहीं उपमा नहीं थी । राजा युधिष्ठिर मानवविग्रहधारी उन परमात्मा विष्णुके समीप जाकर मुस्कराते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

सुखेन ते निशा कच्चिद् व्युष्टा बुद्धिमतां वर ॥ १७ ॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अच्युत ! आपकी रात सुखसे बीती है न ? सारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न तो हैं न ? ॥ १७½ ॥

तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ १८ ॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।
तव प्रसादाद् भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ॥ १९ ॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम् ।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! बुद्धिदेवीने आपका आश्रय लिया है न ? प्रभो ! हमने आपकी ही कृपासे राज्य पाया है और यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें आयी है । भगवन् ! आप ही तीनों लोकोंके आश्रय और पराक्रम हैं । आपकी ही दयासे हमने विजय तथा उत्तम यश प्राप्त किये हैं और

धर्मसे भ्रष्ट नहीं हुए हैं' ॥ १८-१९½ ॥

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजमरिंदमम्।
नोवाच भगवान् किंचिद् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ २० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार कहते चले जा रहे थे; परंतु भगवान्‌ने उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया। वे उस समय ध्यानमें मग्न थे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णके प्रति युधिष्ठिरका वचनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवाद, श्रीकृष्णद्वारा भीष्मकी प्रशंसा और युधिष्ठिरको उनके पास चलनेका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यमितविक्रम।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥
चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ।
अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी, जगत्के आश्रय-दाता पुरुषोत्तम! आप यह किसका ध्यान कर रहे हैं? यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है! इस त्रिलोकीका कुशल तो है न? आप तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय ध्यानमार्गका आश्रय लेकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे ऊपर उठ गये हैं। इससे मेरे मनको बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १-२ ॥

निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः।
इन्द्रियाणि प्रसन्नानि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥

आपके शरीरमें रहनेवाली और श्वास-प्रश्वास आदि पाँच कर्म करनेवाली प्राणवायु अवरुद्ध हो गयी है। आपने अपनी प्रसन्न इन्द्रियोंको मनमें स्थापित कर दिया है ॥ ३ ॥

वाक् च सत्त्वं च गोविन्द बुद्धौ संवेशितानि ते।
सर्वे चैव गुणा देवाः क्षेत्रज्ञे ते निवेशिताः ॥ ४ ॥

गोविन्द! मन तथा वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आपके द्वारा बुद्धिमें लीन कर दी गयी हैं। समस्त गुणोंको और इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंको आपने क्षेत्रज्ञ आत्मामें स्थापित कर दिया है ॥ ४ ॥

नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः।
काष्ठकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥

आपके रोंगटे खड़े हो गये हैं। जरा भी हिलते नहीं हैं। बुद्धि तथा मन भी स्थिर हैं। माधव! आप काठ, दीवार और पत्थरकी तरह निश्चेष्ट हो गये हैं ॥ ५ ॥

यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलते पुनः।
तथासि भगवन् देव पाषाण इव निश्चलः ॥ ६ ॥

भगवन्! देवदेव! जैसे वायुशून्य स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौ काँपती नहीं, एकतार जलती रहती है, उसी तरह आप भी स्थिर हैं मानो पाषाणकी मूर्ति हों ॥ ६ ॥

यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥ ७ ॥

देव! यदि मैं सुननेका अधिकारी होऊँ और यदि यह आपका कोई गोपनीय रहस्य न हो तो मेरे इस संशयका निवारण कीजिये; इसके लिये मैं आपकी शरणमें आकर बारंबार याचना करता हूँ ॥ ७ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥

पुरुषोत्तम! आप ही इस जगत्‌को बनाने और विलीन करनेवाले हैं। आप ही क्षर और अक्षर पुरुष हैं। आपका न आदि है और न अन्त। आप ही सबके आदि कारण हैं ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च।
ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ भक्त हूँ और माथा टेककर आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रभो! इस ध्यानका यथार्थ तत्त्व मुझे बता दीजिये ॥ ९ ॥

ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान् वासवानुजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरकी यह प्रार्थना सुनकर मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों-को अपने स्थानमें स्थापित करके इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! बाण-शय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं; इसलिये मेरा मन भी उन्हीं-में लगा हुआ है ॥ ११ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥

ध्यानमग्न श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहे हैं

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान जिनके धनुषकी टंकारको देवराज इन्द्र भी नहीं सह सके थे, उन्हीं भीष्मके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ है ॥ १२ ॥

येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥ १३॥

जिन्होंने काशीपुरीमें समस्त राजाओंके समुदायको वेगपूर्वक परास्त करके काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था, उन्हीं भीष्मके पास मेरा मन चला गया है ॥१३॥

त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥

जो लगातार तेईस दिनोंतक भृगुनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करते रहे, तो भी परशुरामजी जिन्हें परास्त न कर सके, उन्हीं भीष्मके पास मैं मनके द्वारा पहुँच गया था॥

एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।
शरणं मामुपागच्छत् ततो मे तद्गतं मनः ॥ १५ ॥

वे भीष्मजी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको एकाग्र-कर बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके मेरी शरणमें आ गये थे; इसीलिये मेरा मन भी उन्हींमें जा लगा था ॥ १५ ॥

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥

तात ! भूपाल ! जिन्हें गङ्गादेवीने विधिपूर्वक अपने गर्भमें धारण किया था और जिन्हें महर्षि वसिष्ठके द्वारा वेदोंकी शिक्षा प्राप्त हुई थी, उन्हीं भीष्मजीके पास मैं मन-ही-मन पहुँच गया था ॥ १६ ॥

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥

जो महातेजस्वी बुद्धिमान् भीष्म दिव्यास्त्रों तथा अङ्गोंसहित चारों वेदोंको धारण करते हैं, उन्हींके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ था ॥ १७ ॥

रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १८ ॥

पाण्डुकुमार ! जो जमदग्निनन्दन परशुरामजीके प्रिय शिष्य तथा सम्पूर्ण विद्याओंके आधार हैं, उन्हीं भीष्मजीका मैं मन-ही-मन चिन्तन करता था ॥ १८ ॥

स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानते हैं । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ उन्हीं भीष्मका मैं मन-ही-मन चिन्तन करने लगा था ॥ १९ ॥

तस्मिन् हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥

पार्थ ! जब पुरुषसिंह भीष्म अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्गलोकमें चले जायँगे, उस समय यह पृथ्वी अमावास्याकी रात्रिके समान श्रीहीन हो जायगी ॥ २० ॥

तद् युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत् ते मनोगतम् ॥ २१ ॥

अतः महाराज युधिष्ठिर ! आप भयानक पराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके पास चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम कीजिये और आपके मनमें जो संदेह हो उसे पूछिये ॥ २१ ॥

चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥ २२ ॥

पृथ्वीनाथ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों विद्याओंको, होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्युसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञादि कर्मोंको, चारों आश्रमोंके धर्मोंको तथा सम्पूर्ण राजधर्मोंको उनसे पूछिये ॥ २२ ॥

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥२३॥

कौरववंशका भार सँभालनेवाले भीष्मरूपी सूर्य जब अस्त हो जायँगे, उस समय सब प्रकारके ज्ञानोंका प्रकाश नष्ट हो जायगा; इसलिये मैं आपको वहाँ चलनेके लिये कहता हूँ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥ २४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वह उत्तम और यथार्थ वचन सुनकर धर्मज्ञ युधिष्ठिरका गला भर आया और वे आँसू बहाते हुए वहाँ श्रीकृष्णसे कहने लगे— ॥ २४ ॥

यद् भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम माधव ॥ २५ ॥

'माधव ! भीष्मजीके प्रभावके विषयमें आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें मुझे भी संदेह नहीं है ॥ २५ ॥

महाभाग्यं च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युते ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

'महातेजस्वी केशव ! मैंने महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे भी भीष्मजीके महान् सौभाग्य और प्रभावका वर्णन सुना है ॥

भवांश्च कर्ता लोकानां यद् ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन ! यादवनन्दन ! आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं । आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें भी सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥ २८ ॥

'माधव ! यदि आपका विचार मेरे ऊपर अनुग्रह करनेका है तो हमलोग आपको ही आगे करके भीष्मजीके पास चलेंगे ॥ २८ ॥

आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥

'महाबाहो ! सूर्यके उत्तरायण होते ही कुरुकुलभूषण

भीष्म देवलोकको चले जायँगे; अतः उन्हें आपका दर्शन अवश्य प्राप्त होना चाहिये ॥ २९ ॥

तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।
दर्शनं त्वस्य लाभः स्यात् त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥३०॥

'आप आदिदेव तथा क्षर-अक्षर पुरुष हैं । आपका दर्शन उनके लिये महान् लाभकारी होगा; क्योंकि आप ब्रह्ममयी निधि हैं' ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराजका यह वचन सुनकर मधुसूदन श्रीकृष्णने पास ही खड़े हुए सात्यकिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय' ॥ ३१ ॥

सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः ।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाते ही सात्यकि श्रीकृष्णके पाससे तुरंत बाहर निकल गये और दारुकसे बोले—'भगवान् श्रीकृष्णका रथ तैयार करो' ॥

स सात्यकेराशु वचो निशम्य
रथोत्तमं काञ्चनभूषिताङ्गम् ।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गै-
र्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ॥ ३३ ॥

दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं
विचित्रनानामणिभूषितान्तरम् ।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं
विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥ ३४ ॥

सुग्रीवशैब्यप्रमुखैर्वराश्वै-
र्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः ।
संयुक्तमावेदयदच्युताय
कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥

राजसिंह ! सात्यकिका यह वचन सुनकर दारुकने मरकत, चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त मणियोंकी ज्योतिर्मयी तरङ्गोंसे विभूषित उस उत्तम रथको, जिसका एक-एक अङ्ग सुनहरे साजोंसे सजाया गया था तथा जिसके पहियोंपर सोनेके पत्र जड़े गये थे, जोतकर तैयार किया और हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णको इसकी सूचना दी । वह शीघ्रगामी रथ सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे उद्भासित हो तुरंतके उगे हुए सूर्यके समान प्रकाशित होता था, उसके भीतरी भागको नाना प्रकारकी विचित्र मणियोंसे विभूषित किया गया था । वह प्रतापी रथ विचित्र गरुड़चिह्नित ध्वजा और पताकासे सुशोभित था । उसमें सोनेके साजबाजसे सजे हुए अङ्गोंवाले, मनके समान वेगशाली, सुग्रीव और शैब्य आदि सुन्दर घोड़े जुते हुए थे ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें महापुरुषस्तुतिविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति—भीष्मस्तवराज

जनमेजय उवाच

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः ।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—बाणशय्यापर सोये हुए भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीने किस प्रकार अपने शरीरका त्याग किया और उस समय उन्होंने किस योगकी धारणा की ? ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्छुचिर्भूत्वा समाहितः ।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कुरुश्रेष्ठ ! तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर महात्मा भीष्मके देहत्यागका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

(शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव ।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥)
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे ।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥

राजन् ! जब दक्षिणायन समाप्त हुआ और सूर्य उत्तरायणमें आ गये, तब माघमासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको रोहिणीनक्षत्रमें मध्याह्नके समय भीष्मजीने ध्यानमग्न होकर अपने मनको परमात्मामें लगा दिया ॥ ३ ॥

विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः ।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥

चारों ओर अपनी किरणें बिखेरनेवाले सूर्यके समान सैकड़ों बाणोंसे छिदे हुए भीष्म उत्तम शोभासे सुशोभित होने लगे, अनेकानेक श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे थे ॥ ४ ॥

व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा ।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥
तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना ।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ६ ॥
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना ।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता ॥ ७ ॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः ।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः ॥ ८ ॥
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।

पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥ ९ ॥
काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः ।
मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः ॥ १० ॥
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ११ ॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः ।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥ १२ ॥
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।

वेदोंके ज्ञाता व्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय, असित, वसिष्ठ, महात्मा कौशिक (विश्वामित्र), हारीत, लोमश, बुद्धिमान् दत्तात्रेय, बृहस्पति, शुक्र, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, कपिल, वाल्मीकि, तुम्बुरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुवंशी परशुराम, महामुनि तृणविन्दु, पिप्पलाद, वायु, संवर्त, पुलह, कच, कश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, गालव मुनि, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्र, कृष्णानुभौतिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण और परम-धार्मिक सूत—ये तथा और भी बहुत-से सौभाग्यशाली महात्मा मुनि, जो श्रद्धा, शम, दम आदि गुणोंसे सम्पन्न थे, भीष्म-जीको घेरे हुए थे। इन ऋषियोंके बीचमें भीष्मजी ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५–१२½ ॥

भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३ ॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः ।

पुरुषसिंह भीष्म शरशय्यापर ही पड़े-पड़े हाथ जोड़ पवित्र भावसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करने लगे ॥ १३½ ॥

स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ १४ ॥
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ॥ १५ ॥
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ।

ध्यान करते-करते वे हृष्ट-पुष्ट स्वरसे भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे। वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली, परम धर्मात्मा भीष्मने हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर वासुदेवकी इस प्रकार स्तुति आरम्भ की॥

भीष्म उवाच

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ॥ १६ ॥
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ।

भीष्मजी बोले—मैं श्रीकृष्णके आराधनकी इच्छा मनमें लेकर जिस वाणीका प्रयोग करना चाहता हूँ, वह विस्तृत हो या संक्षिप्त, उसके द्वारा वे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥ १६½ ॥

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ॥ १७ ॥
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ।

जो स्वयं शुद्ध हैं, जिनकी प्राप्तिका मार्ग भी शुद्ध है, जो हंसस्वरूप, तत् पदके लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक परमेष्ठी हैं, मैं सब ओरसे सम्बन्ध तोड़ केवल उन्हींसे नाता जोड़कर सब प्रकारसे उन्हीं सर्वात्मा श्रीकृष्णकी शरण लेता हूँ ॥ १७½ ॥

अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ॥ १८ ॥
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः ।

उनका न आदि है न अन्त। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि। एकमात्र सबका धारण-पोषण करनेवाले ये भगवान् श्रीनारायण हरि ही उन्हें जानते हैं ॥१८½ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः ॥ १९ ॥
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम् ।

नारायणसे ही ऋषिगण, सिद्ध, बड़े-बड़े नाग, देवता तथा देवर्षि भी उन्हें अविनाशी परमात्माके रूपमें जानने लगे हैं॥ १९½ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ २० ॥
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति ।

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग भी जिनके विषयमें यह नहीं जानते हैं कि 'ये भगवान् कौन हैं? तथा कहाँसे आये हैं?' ॥ २०½ ॥

यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च॥ २१॥
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ।

उन्हींमें सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हींमें उनका लय होता है। जैसे डोरेमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मामें समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुए हैं ॥

यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ॥ २२ ॥
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ।

भगवान् सदा नित्य विद्यमान (कभी नष्ट न होनेवाले) और तने हुए एक सुदृढ सूतके समान हैं। उनमें यह कार्य-कारणरूप जगत् उसी प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे सूतमें फूलकी माला। यह सम्पूर्ण विश्व उनके ही श्रीअङ्गमें स्थित है; उन्होंने ही इस विश्वकी सृष्टि की है ॥ २२½ ॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ॥ २३ ॥
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ।

उन श्रीहरिके सहस्रों सिर, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं, वे सहस्रों भुजाओं, सहस्रों मुकुटों तथा सहस्रों मुखोंसे देदीप्यमान रहते हैं ॥ २३½ ॥

प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ २४ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ २५ ॥

वे ही इस विश्वके परम आधार हैं। इन्हींको नारायणदेव कहते हैं। वे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और स्थूलसे भी स्थूल हैं। वे

भारीसे भारी और उत्तमसे भी उत्तम हैं ॥ २४-२५ ॥

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ २६ ॥

वाकों[1] और अनुवाकोंमें[2], निषदों[3] और उपनिषदोंमें[4] तथा सच्ची बात बतानेवाले साममन्त्रोंमें उन्हींको सत्य और सत्यकर्मा कहते हैं ॥ २६ ॥

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम् ।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २७ ॥

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार दिव्य गोपनीय और उत्तम नामोंद्वारा ब्रह्म, जीव, मन और अहङ्कार—इन चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए उन्हीं भक्तप्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की जाती है, जो सबके अन्तःकरणमें विद्यमान हैं ॥ २७ ॥

यस्मिन् नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति ।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ २८ ॥

भगवान् वासुदेवकी प्रसन्नताके लिये ही नित्य तपका अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि वे सबके हृदयोंमें विराजमान हैं। वे सबके आत्मा, सबको जाननेवाले, सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ २९ ॥

जैसे अरणि प्रज्वलित अग्निको प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकीदेवीने इस भूतलपर रहनेवाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंकी रक्षाके लिये उन भगवान्को वसुदेवजीके तेजसे प्रकट किया था ॥ २९ ॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
दृष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ३० ॥
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम् ।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके अनन्यभावसे स्थित रहनेवाला साधक मोक्षके उद्देश्यसे अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें जिन पापरहित शुद्ध बुद्ध परमात्मा गोविन्दका ज्ञानदृष्टिसे साक्षात्कार करता है, जिनका पराक्रम वायु और इन्द्रसे बहुत बढ़कर है, जो अपने तेजसे सूर्यको भी तिरस्कृत कर देते हैं तथा जिनके स्वरूपतक इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं हो पाती, उन प्रजापालक परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ॥

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु ।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ॥ ३२ ॥

पुराणोंमें जिनका 'पुरुष' नामसे वर्णन किया गया है, जो युगोंके आरम्भमें 'ब्रह्म' और युगान्तमें 'सङ्कर्षण' कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वरकी हम उपासना करते हैं ॥ ३२ ॥

यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् ।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥ ३३ ॥
यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन् संनिहिताः प्रजाः ।
यस्मिँल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥ ३४ ॥
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत् तत् सदसतोः परम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ॥ ३५ ॥
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ।
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम् ॥ ३६ ॥
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ।
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३७ ॥

जो एक होकर भी अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जो इन्द्रियों और उनके विषयोंसे ऊपर उठे होनेके कारण 'अधोक्षज' कहलाते हैं, उपासकोंके समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, यज्ञादि कर्म और पूजनमें लगे हुए अनन्य भक्त जिनका यजन करते हैं, जिन्हें जगत्का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सम्पूर्ण प्रजाएँ स्थित हैं, पानीके ऊपर तैरनेवाले जलपक्षियोंकी तरह जिनके ही ऊपर इस सम्पूर्ण जगत्की चेष्टाएँ हो रही हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव) हैं, सत् और असत्से विलक्षण हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जिन्हें न देवता ठीक-ठीक जानते हैं और न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सम्पूर्ण देवता, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि, बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा पूजा किया करते हैं, जो दुःखरूपी रोगकी सबसे बड़ी ओषधि हैं, जन्म-मरणसे रहित, स्वयम्भू एवं सनातन देवता हैं, जिन्हें इन चर्म-चक्षुओंसे देखना और बुद्धिके द्वारा सम्पूर्णरूपसे जानना असम्भव है, उन भगवान् श्रीहरि नारायण देवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३८ ॥

जो इस विश्वके विधाता और चराचर जगत्के स्वामी हैं, जिन्हें संसारका साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, उन परमात्माकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ ॥

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ३९ ॥

जो सुवर्णके समान कान्तिमान्, अदितिके गर्भसे उत्पन्न,

१. सामान्यतः कर्ममात्रको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रोंको 'वाक' कहते हैं।

२. मन्त्रोंके अर्थको खोलकर बतानेवाले ब्राह्मणग्रन्थोंके जो वाक्य हैं, उनका नाम 'अनुवाक' है।

३. कर्मके अङ्ग आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले देवता आदिका ज्ञान करानेवाले वचन 'निषद्' कहलाते हैं।

४. विशुद्ध आत्मा एवं परमात्माका ज्ञान करानेवाले वचनोंकी 'उपनिषद्' संज्ञा है।

दैत्योंके नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपोंमें प्रकट हुए हैं, उन सूर्यस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ४० ॥

जो अपनी अमृतमयी कलाओंसे शुक्लपक्षमें देवताओंको और कृष्णपक्षमें पितरोंको तृप्त करते हैं तथा जो सम्पूर्ण द्विजोंके राजा हैं, उन सोमस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

(हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत् ।
हविःप्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः ॥)

अग्नि जिनके मुख हैं, वे देवता सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं, जो हविष्यके सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्र-स्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ ४१ ॥

जो अज्ञानमय महान् अन्धकारसे परे और ज्ञानालोकसे अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे सदाके लिये छूट जाता है, उन ज्ञेयरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४१ ॥

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ ४२ ॥

उक्थनामक बृहत् यज्ञके समय, अग्न्याधानकालमें तथा महायागमें ब्राह्मणवृन्द जिनका ब्रह्मके रूपमें स्तवन करते हैं, उन वेदस्वरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ ४३ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसके आश्रय हैं, पाँच प्रकारका हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञके रूपमें प्रकट हुए परमात्माको प्रणाम है ॥ ४३ ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥ ४४ ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] और दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंसे जिन्हें हविष्य अर्पण किया जाता है, उन होमस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

यः सुपर्णो यजुर्नाम च्छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥ ४५ ॥

जो 'यजुः' नाम धारण करनेवाले वेदरूपी पुरुष हैं, गायत्री आदि छन्द जिनके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, यज्ञ ही जिनका मस्तक है तथा 'रथन्तर' और 'बृहत्' नामक साम ही जिनकी सान्त्वनाभरी वाणी है, उन स्तोत्ररूपी भगवान्को प्रणाम है ॥ ४५ ॥

१. आश्रावय । २. अस्तु श्रौषट् । ३. यज । ४. ये यजामहे । ५. वषट् ।

यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥ ४६ ॥

जो ऋषि हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले प्रजापतियोंके यज्ञमें सोनेकी पाँखवाले पक्षीके रूपमें प्रकट हुए थे, उन हंसरूप-धारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ४६ ॥

पादाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम् ।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४७ ॥

पदोंके समूह जिनके अङ्ग हैं, सन्धि जिनके शरीरकी जोड़ है, स्वर और व्यञ्जन जिनके लिये आभूषणका काम देते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहते हैं, उन परमेश्वरको वाणीके रूपमें नमस्कार है ॥ ४७ ॥

यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह ।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ४८ ॥

जिन्होंने तीनों लोकोंका हित करनेके लिये यज्ञमय वराहका स्वरूप धारण करके इस पृथ्वीको रसातलसे ऊपर उठाया था, उन वीर्यस्वरूप भगवान्को प्रणाम है ॥ ४८ ॥

यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते ।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ४९ ॥

जो अपनी योगमायाका आश्रय लेकर शेषनागके हजार फनोंसे बने हुए पलंगपर शयन करते हैं, उन निद्रास्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ४९ ॥

(विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादित्याश्विनावपि ।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः ॥

विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, सिद्ध और साध्य—ये सब जिनकी विभूतियाँ हैं, उन देवस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

अव्यक्तबुद्ध्यहंकारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और उनका कार्य—ये सब जिनके ही स्वरूप हैं, उन तत्त्वमय परमात्माको नमस्कार है ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः ।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः ॥

जो भूत, वर्तमान और भविष्य—कालरूप हैं, जो भूत आदिकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण प्राणियोंका अग्रज बताया गया है, उन भूतात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

यं हि सूक्ष्मं विचिन्वन्ति परं सूक्ष्मविदो जनाः ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मं च यद् ब्रह्म तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥

सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष जिस परम सूक्ष्म तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, वह ब्रह्म जिनका स्वरूप है, उन सूक्ष्मात्माको नमस्कार है ॥

मत्स्यो भूत्वा विरिञ्चाय येन वेदाः समाहृताः ।
रसातलगतः शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने मत्स्य-शरीर धारण करके रसातलमें जाकर नष्ट हुए सम्पूर्ण वेदोंको ब्रह्माजीके लिये शीघ्र ला दिया था, उन मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

मन्दराद्रिर्धृतो येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने ।
अतिकर्कशदेहाय तस्मै कूर्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अमृतके लिये समुद्रमन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया था, उन अत्यन्त कठोर देह-धारी कच्छपरूप भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वाराहं रूपमास्थाय महीं सवनपर्वताम् ।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः ॥

जिन्होंने वाराहरूप धारण करके अपने एक दाँतसे वन और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीका उद्धार किया था, उन वाराहरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है ॥

नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयंकरम् ।
हिरण्यकशिपुं जघ्ने तस्मै सिंहात्मने नमः ॥

जिन्होंने नृसिंहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्‌के लिये भयंकर हिरण्यकशिपु नामक राक्षसका वध किया था, उन नृसिंहस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य मायया ।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः॥

जिन्होंने वामनरूप धारण करके मायाद्वारा बलिको बाँध-कर सारी त्रिलोकीको अपने पैरोंसे नाप लिया था, उन क्रान्तिकारी वामनरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है ॥

जमदग्निसुतो भूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः ।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः ॥

जिन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निकुमार परशुरामका रूप धारण करके इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया, उन परशुराम-स्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यश्चैको धर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान् ।
जघान क्षत्रियान् संख्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः ॥

जिन्होंने अकेले ही धर्मके प्रति गौरवका उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रियोंका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, उन क्रोधात्मा परशुरामको नमस्कार है ॥

रामो दाशरथिर्भूत्वा पुलस्त्यकुलनन्दनम् ।
जघान रावणं संख्ये तस्मै क्षत्रात्मने नमः ॥

जिन्होंने दशरथनन्दन श्रीरामका रूप धारण करके युद्धमें पुलस्त्यकुलनन्दन रावणका वध किया था, उन क्षत्रियात्मा श्रीरामस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यो हली मुसली श्रीमान् नीलाम्बरधरः स्थितः ।
रामाय रौहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः ॥

जो सदा हल, मूसल धारण किये अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गोंपर नील वस्त्र शोभा पाता है, उन शेषावतार रोहिणीनन्दन रामको नमस्कार है ॥

शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शार्ङ्गिणे पीतवाससे ।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जो शङ्ख, चक्र, शार्ङ्ग धनुष, पीताम्बर और वनमाला धारण करते हैं, उन श्रीकृष्णस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रीडितो नन्दगोकुले ।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः ॥

जो कंसवधके लिये वसुदेवके शोभाशाली पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और नन्दके गोकुलमें भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते रहे, उन लीलामय श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वासुदेवत्वमागम्य यदोर्वंशसमुद्भवः ।
भूभारहरणं चक्रे तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट हो वासुदेवके रूपमें आकर पृथ्वीका भार उतारा है, उन श्रीकृष्णात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अर्जुनका सारथित्व करते समय तीनों लोकोंके उपकारके लिये गीता-ज्ञानमय अमृत प्रदान किया था, उन ब्रह्मात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

दानवांस्तु वशे कृत्वा पुनर्बुद्धत्वमागतः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै बुद्धात्मने नमः ॥

जो सृष्टिकी रक्षाके लिये दानवोंको अपने अधीन करके पुनः बुद्धभावको प्राप्त हो गये, उन बुद्धस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

हनिष्यति कलौ प्राप्ते म्लेच्छांस्तुरगवाहनः ।
धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः ॥

जो कलियुग आनेपर घोड़ेपर सवार हो धर्मकी स्थापनाके लिये म्लेच्छोंका वध करेंगे, उन कल्किरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

तारामये कालनेमिं हत्वा दानवपुङ्गवम् ।
ददौ राज्यं महेन्द्राय तस्मै मुख्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने तारामय संग्राममें दानवराज कालनेमिका वध करके देवराज इन्द्रको सारा राज्य दे दिया था, उन मुख्यात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यः सर्वप्राणिनां देहे साक्षिभूतो ह्यवस्थितः ।
अक्षरः क्षरमाणानां तस्मै साक्ष्यात्मने नमः ॥

जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें साक्षीरूपसे स्थित हैं तथा सम्पूर्ण क्षर (नाशवान्) भूतोंमें अक्षर (अविनाशी) स्वरूपसे विराजमान हैं, उन साक्षी परमात्माको नमस्कार है ॥

नमोऽस्तु ते महादेव नमस्ते भक्तवत्सल ।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु प्रसीद परमेश्वर ॥
अव्यक्तव्यक्तरूपेण व्याप्तं सर्वं त्वया विभो ।

महादेव ! आपको नमस्कार है । भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है । सुब्रह्मण्य (विष्णु) ! आपको नमस्कार है । परमेश्वर ! आप मुझपर प्रसन्न हों । प्रभो ! आपने अव्यक्त और व्यक्तरूपसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है ॥

नारायणं सहस्राक्षं सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
हिरण्यनाभं यज्ञाङ्गममृतं विश्वतोमुखम् ।
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम् ॥

मैं सहस्रों नेत्र धारण करनेवाले, सर्वलोकमहेश्वर, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्गस्वरूप, अमृतमय, सब ओर मुखवाले और कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीनारायणदेवकी शरण लेता हूँ ॥

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो देवेशो मङ्गलायतनं हरिः ॥

जिनके हृदयमें मङ्गलभवन देवेश्वर श्रीहरि विराजमान हैं, उनका सभी कार्योंमें सदा मङ्गल ही होता है—कभी किसी भी कार्यमें अमङ्गल नहीं होता ॥

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं मधुसूदनः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलं गरुडध्वजः ॥)

भगवान् विष्णु मङ्गलमय हैं, मधुसूदन मङ्गलमय हैं, कमलनयन मङ्गलमय हैं और गरुडध्वज मङ्गलमय हैं ॥

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना ।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ५० ॥

जिनका सारा व्यवहार केवल धर्मके ही लिये है, उन वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा जो मोक्षके साधनभूत वैदिक उपायोंसे काम लेकर संतोंकी धर्म-मर्यादाका प्रसार करते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५० ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ५१ ॥

जो भिन्न-भिन्न धर्मोंका आचरण करके अलग-अलग उनके फलोंकी इच्छा रखते हैं, ऐसे पुरुष पृथक् धर्मोंके द्वारा जिनकी पूजा करते हैं, उन धर्मस्वरूप भगवान्को प्रणाम है ॥

यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः ।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥ ५२ ॥

जिस अनङ्गकी प्रेरणासे सम्पूर्ण अङ्गधारी प्राणियोंका जन्म होता है, जिससे समस्त जीव उन्मत्त हो उठते हैं, उस कामके रूपमें प्रकट हुए परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः ।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ५३ ॥

जो स्थूल जगत्में अव्यक्त रूपसे विराजमान है, बड़े-बड़े महर्षि जिसके तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें बैठा हुआ है, उस क्षेत्ररूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५३ ॥

यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥ ५४ ॥

जो सत्, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदसे त्रिविध प्रतीत होते हैं, गुणोंके कार्यभूत सोलह विकारोंसे आवृत होनेपर भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं, सांख्यमतके अनुयायी जिन्हें सत्रहवाँ तत्त्व (पुरुष) मानते हैं, उन सांख्यरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५४ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ ५५ ॥

जो नींदको जीतकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको अपने वशमें करके शुद्ध सत्त्वमें स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाभ्यासमें लगे हुए योगिजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन योगरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥ ५६ ॥

पाप और पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनर्जन्मके भयसे मुक्त हुए शान्तचित्त संन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन मोक्षरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५६ ॥

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः ।
सम्भक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ५७ ॥

सृष्टिके एक हजार युग बीतनेपर प्रचण्ड ज्वालाओंसे युक्त प्रलयकालीन अग्निका रूप धारण कर जो सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार करते हैं, उन घोररूपधारी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५७ ॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत् ।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका भक्षण करके जो इस जगत्को जलमय कर देते हैं और स्वयं बालकका रूप धारण कर अक्षयवटके पत्तेपर शयन करते हैं, उन मायामय बालमुकुन्दको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

तद् यस्य नाभ्यां सम्भूतं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ५९ ॥

जिसपर यह विश्व टिका हुआ है, वह ब्रह्माण्ड-कमल जिन पुण्डरीकाक्ष भगवान्की नाभिसे प्रकट हुआ है, उन कमलरूपधारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने ।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः ॥ ६० ॥

जिनके हजारों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामीरूपसे सबके भीतर विराजमान हैं, जिनका स्वरूप किसी सीमामें आबद्ध

नहीं है, जो चारों समुद्रोंके मिलनेसे एकार्णव हो जानेपर योग-निद्राका आश्रय लेकर शयन करते हैं, उन योगनिद्रारूप भगवान्‌को नमस्कार है ॥ ६० ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु ।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६१ ॥

जिनके मस्तकके बालोंकी जगह मेघ हैं, शरीरकी सन्धियोंमें नदियाँ हैं और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलरूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ६१ ॥

यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥ ६२॥

सृष्टि और प्रलयरूप समस्त विकार जिनसे उत्पन्न होते हैं और जिनमें ही सबका लय होता है, उन कारणरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६२ ॥

यो निषण्णो भवेद् रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः ।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः ॥ ६३ ॥

जो रातमें भी जागते रहते हैं और दिनके समय साक्षीरूपमें स्थित रहते हैं तथा जो सदा ही सबके भले-बुरेको देखते रहते हैं, उन द्रष्टारूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ६३ ॥

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य च तद् रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥ ६४ ॥

जिन्हें कोई भी काम करनेमें रुकावट नहीं होती, जो धर्मका काम करनेको सर्वदा उद्यत रहते हैं तथा जो वैकुण्ठधामके स्वरूप हैं, उन कार्यरूप भगवान्‌को नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम् ।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥ ६५ ॥

जिन्होंने धर्मात्मा होकर भी क्रोधमें भरकर धर्मके गौरवका उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रिय-समाजका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, कठोरताका अभिनय करनेवाले उन भगवान् परशुरामको प्रणाम है ॥ ६५ ॥

विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६६ ॥

जो प्रत्येक शरीरके भीतर वायुरूपमें स्थित हो अपनेको प्राण-अपान आदि पाँच स्वरूपोंमें विभक्त करके सम्पूर्ण प्राणियोंको क्रियाशील बनाते हैं, उन वायुरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६६ ॥

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः ।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६७ ॥

जो प्रत्येक युगमें योगमायाके बलसे अवतार धारण करते हैं और मास, ऋतु, अयन तथा वर्षोंके द्वारा सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं, उन कालरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण जिनके मुख हैं, सम्पूर्ण क्षत्रिय-जाति भुजा है, वैश्य जङ्घा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणोंके आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्यरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६८ ॥

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ ६९ ॥

अग्नि जिनका मुख है, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र हैं और दिशाएँ कान हैं, उन लोकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ६९ ॥

परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ७० ॥

जो कालसे परे हैं, यज्ञसे भी परे हैं और परेसे भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्वके आदि हैं; किंतु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

(वैद्युतो जाठरश्चैव पावकः शुचिरेव च ।
दहनः सर्वभक्षाणां तस्मै वह्न्यात्मने नमः ॥)

जो मेघमें विद्युत् और उदरमें जठरानलके रूपमें स्थित हैं, जो सबको पवित्र करनेके कारण पावक तथा स्वरूपतः शुद्ध होनेसे 'शुचि' कहलाते हैं, समस्त भक्ष्य पदार्थोंको दग्ध करनेवाले वे अग्निदेव जिनके ही स्वरूप हैं, उन अग्निमय परमात्माको नमस्कार है ॥

विषये वर्तमानानां यं ते वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः ॥ ७१ ॥

वैशेषिक दर्शनमें बताये हुए रूप, रस आदि गुणोंके द्वारा आकृष्ट हो जो लोग विषयोंके सेवनमें प्रवृत्त हो रहे हैं, उनकी उन विषयोंकी आसक्तिसे जो रक्षा करनेवाले हैं, उन रक्षकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ७१ ॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७२ ॥

जो अन्न-जलरूपी ईंधनको पाकर शरीरके भीतर रस और प्राणशक्तिको बढ़ाते तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करते हैं, उन प्राणात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७२ ॥

प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम् ।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥ ७३ ॥

प्राणोंकी रक्षाके लिये जो भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य—चार प्रकारके अन्नोंका भोग लगाते हैं और स्वयं ही पेटके भीतर अग्निरूपमें स्थित भोजनको पचाते हैं, उन पाकरूप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७३ ॥

पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।
दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥ ७४ ॥

जिनका नरसिंहरूप दानवराज हिरण्यकशिपुका अन्त करनेवाला था, उस समय जिनके नेत्र और कंधेके बाल पीले दिखायी पड़ते थे, बड़ी-बड़ी दाढ़ें और नख ही जिनके आयुध थे, उन दर्परूपधारी भगवान् नरसिंहको प्रणाम है ॥

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।

तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः॥ ७५ ॥

जिन्हें न देवता, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, उन सूक्ष्मस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ७५ ॥

रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः ।
जगद् धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७६ ॥

जो सर्वव्यापक भगवान् श्रीमान् अनन्त नामक शेषनागके रूपमें रसातलमें रहकर सम्पूर्ण जगत्को अपने मस्तकपर धारण करते हैं, उन वीर्यरूप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७६ ॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ७७ ॥

जो इस सृष्टि-परम्पराकी रक्षाके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंको स्नेहपाशमें बाँधकर मोहमें डाले रखते हैं, उन मोहरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ७७ ॥

आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ७८ ॥

अन्नमयादि पाँच कोषोंमें स्थित आन्तरतम आत्माका ज्ञान होनेके पश्चात् विशुद्ध बोधके द्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन ज्ञानस्वरूप परब्रह्मको प्रणाम है ॥ ७८ ॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतोबुद्धिचक्षुषे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥ ७९ ॥

जिनका स्वरूप किसी प्रमाणका विषय नहीं है, जिनके बुद्धिरूपी नेत्र सब ओर व्याप्त हो रहे हैं तथा जिनके भीतर अनन्त विषयोंका समावेश है, उन दिव्यात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ८० ॥

जो जटा और दण्ड धारण करते हैं, लम्बोदर शरीरवाले हैं तथा जिनका कमण्डलु ही तूणीरका काम देता है, उन ब्रह्माजीके रूपमें भगवान्को प्रणाम है ॥ ८० ॥

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने ।
भस्मदिग्धाङ्गलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ८१ ॥

जो त्रिशूल धारण करनेवाले और देवताओंके स्वामी हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो महात्मा हैं तथा जिन्होंने अपने शरीरपर विभूति रमा रक्खी है, उन रुद्ररूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने ।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मा उग्रात्मने नमः ॥ ८२ ॥

जिनके मस्तकपर अर्धचन्द्रका मुकुट और शरीरपर सर्पका यज्ञोपवीत शोभा दे रहा है, जो अपने हाथमें पिनाक और त्रिशूल धारण करते हैं, उन उग्ररूपधारी भगवान् शङ्करको प्रणाम है ॥ ८२ ॥

सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च ।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥ ८३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा और उनकी जन्म-मृत्युके कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोहका सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८३ ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ८४ ॥

जिनके भीतर सब कुछ रहता है, जिनसे सब उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वस्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्माको प्रणाम है ॥८४॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ८५ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको प्रणाम है । विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप पाँचों भूतोंसे परे हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके मोक्षस्वरूप ब्रह्म हैं ॥ ८५ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥ ८६ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है, त्रिभुवनसे परे रहनेवाले आपको प्रणाम है, सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यापक आप प्रभुको नमस्कार है; क्योंकि आप सब पदार्थोंसे पूर्ण भण्डार हैं ॥ ८६ ॥

नमस्ते भगवन् विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ८७ ॥

संसारकी उत्पत्ति करनेवाले अविनाशी भगवान् विष्णु ! आपको नमस्कार है । हृषीकेश ! आप सबके जन्मदाता और संहारकर्ता हैं । आप किसीसे पराजित नहीं होते ॥८७॥

न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु ।
त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत् ते रूपं सनातनम्॥ ८८ ॥

मैं तीनों लोकोंमें आपके दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य नहीं जान पाता; मैं तो तत्त्वदृष्टिसे आपका जो सनातन रूप है, उसीकी ओर लक्ष्य रखता हूँ ॥ ८८ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८९ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे, पृथ्वीदेवी आपके पैरोंसे और तीनों लोक आपके तीन पगोंसे व्याप्त हैं, आप सनातन पुरुष हैं ॥ ८९ ॥

दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ९० ॥

दिशाएँ आपकी भुजाएँ, सूर्य आपके नेत्र और प्रजापति शुक्राचार्य आपके वीर्य हैं । आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुके रूपमें ऊपरके सातों मार्गोंको रोक रक्खा है ॥ ९० ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ९१ ॥

जिनकी कान्ति अलसीके फूलकी तरह साँवली है, शरीर-पर पीताम्बर शोभा देता है, जो अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते, उन भगवान् गोविन्दको जो लोग नमस्कार करते हैं, उन्हें कभी भय नहीं होता ॥ ९१ ॥

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥ ९२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल देनेवाला होता है। इसके सिवा प्रणाममें एक विशेषता है—दस अश्वमेध करनेवालेका तो पुनः इस संसारमें जन्म होता है, किंतु श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला मनुष्य फिर भव-बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ ९२ ॥

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये ।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥ ९३ ॥

जिन्होंने श्रीकृष्ण-भजनका ही व्रत ले रक्खा है, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करते हुए ही रातको सोते हैं और उन्हींका स्मरण करते हुए सबेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्निमें मिल जाता है ॥ ९३ ॥

नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे ।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥ ९४ ॥

जो नरकके भयसे बचानेके लिये रक्षामण्डलका निर्माण करनेवाले और संसाररूपी सरिताकी भँवरसे पार उतारनेके लिये काठकी नावके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ ९४ ॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ९५ ॥

जो ब्राह्मणोंके प्रेमी तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, जिनसे समस्त विश्वका कल्याण होता है, उन सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् गोविन्दको प्रणाम है ॥ ९५ ॥

प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम् ।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥ ९६ ॥

'हरि' ये दो अक्षर दुर्गम पथमें संकटके समय प्राणोंके लिये राह-खर्चके समान हैं, संसाररूपी रोगसे छुटकारा दिलानेके लिये औषधके तुल्य हैं तथा सब प्रकारके दुःख-शोकसे उद्धार करनेवाले हैं ॥ ९६ ॥

यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं जगत् ।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥ ९७ ॥

जैसे सत्य विष्णुमय है, जैसे सारा संसार विष्णुमय है, जिस प्रकार सब कुछ विष्णुमय है, उस प्रकार इस सत्यके प्रभावसे मेरे सारे पाप नष्ट हो जायँ ॥ ९७ ॥

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९८ ॥

देवताओंमें श्रेष्ठ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण ! मैं आपका शरणागत भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ; जिसमें मेरा कल्याण हो, वह आप ही सोचिये ॥

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः ।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥ ९९ ॥

जो विद्या और तपके जन्मस्थान हैं, जिनको दूसरा कोई जन्म देनेवाला नहीं है, उन भगवान् विष्णुका मैंने इस प्रकार वाणीरूप यज्ञसे पूजन किया है। इससे वे भगवान् जनार्दन मुझपर प्रसन्न हों ॥ ९९ ॥

नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः ।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा ॥१००॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तप हैं। नारायण ही सबसे बड़े देवता हैं और भगवान् नारायण ही सदा सब कुछ हैं ॥ १०० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत् तदा ॥१०१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भीष्मजीका मन भगवान् श्रीकृष्णमें लगा हुआ था, उन्होंने ऊपर बतायी हुई स्तुति करनेके पश्चात् 'नमः श्रीकृष्णाय' कहकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १०१ ॥

अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः ।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः ॥१०२॥

भगवान् भी अपने योगबलसे भीष्मजीकी भक्तिको जान-कर उनके निकट गये और उन्हें तीनों लोकोंकी बातोंका बोध करानेवाला दिव्य ज्ञान देकर लौट आये ॥ १०२ ॥

(यं योगिनः प्राणवियोगकाले
यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति ।
स तं पुरस्ताद्धरिमीक्षमाणः
प्राणाञ्जहौ प्राप्तफलो हि भीष्मः ॥)

योगी पुरुष प्राणत्यागके समय जिन्हें बड़े यत्नसे अपने हृदयमें स्थापित करते हैं, उन्हीं श्रीहरिको अपने सामने देखते हुए भीष्मजीने जीवनका फल प्राप्त करके अपने प्राणोंका परित्याग किया था ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः ।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥१०३॥

जब भीष्मजीका बोलना बंद हो गया, तब वहाँ बैठे हुए ब्रह्मवादी महर्षियोंने आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे परम बुद्धिमान् भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १०३ ॥

ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् ।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥१०४॥

वे ब्राह्मणशिरोमणि सभी महर्षि पुरुषोत्तम भगवान् केशवकी स्तुति करते हुए धीरे-धीरे भीष्मजीकी बारंबार सराहना करने लगे ॥ १०४ ॥

विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः ।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥१०५॥

इधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भीष्मजीके भक्तियोगको जानकर सहसा उठे और बड़े हर्षके साथ रथपर जा बैठे ॥ १०५ ॥

केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः ।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनंजयौ ॥१०६॥

एक रथसे सात्यकि और श्रीकृष्ण चले तथा दूसरे रथसे महामना युधिष्ठिर और अर्जुन ॥ १०६ ॥

भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः ।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च संजयश्च परंतपः ॥१०७॥

भीमसेन और नकुल-सहदेव तीसरे रथपर सवार हुए । चौथे रथसे कृपाचार्य, युयुत्सु और शत्रुओंको तपानेवाला सारथि संजय—ये तीनों चल दिये ॥ १०७ ॥

ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः ।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥१०८॥

वे पुरुषप्रवर पाण्डव और श्रीकृष्ण नगराकार रथोंद्वारा उनके पहियोंके गम्भीर घोषसे पृथ्वीको कँपाते हुए बड़े वेगसे गये ॥ १०८ ॥

ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता
द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे ।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं
स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत॥१०९॥

उस समय बहुत-से ब्राह्मण मार्गमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी स्तुति करते और भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमनसे उसे सुनते थे । दूसरे बहुत-से लोग हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम करते और केशिहन्ता केशव मन-ही-मन आनन्दित हो उन लोगोंका अभिनन्दन करते थे ॥ १०९ ॥

(इति स्मरन् पठति च शार्ङ्गधन्वनः
शृणोति वा यदुकुलनन्दनस्तवम् ।
स चक्रभृत्प्रतिहतसर्वकिल्बिषो
जनार्दनं प्रविशति देहसंक्षये ॥

जो मनुष्य शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले यदुकुलनन्दन श्रीकृष्णकी इस स्तुतिको याद करते, पढ़ते अथवा सुनते हैं, वे इस शरीरका अन्त होनेपर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवेश कर जाते हैं । चक्रधारी श्रीहरि उनके सारे पापोंका नाश कर डालते हैं ॥

स्तवराजः समाप्तोऽयं विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशनः ॥

गङ्गानन्दन भीष्मने पूर्वकालमें जिसका गान किया था, अद्भुतकर्मा विष्णुका वही यह स्तवराज पूरा हुआ है, यह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है ॥

इमं नरः स्तवराजं मुमुक्षुः
पठञ्शुचिः कलुषितकल्मषापहम् ।
अतीत्य लोकानमलान् सनातनान्
पदं स गच्छत्यमृतं महात्मनः ॥)

यह स्तोत्रराज पापियोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छावाला जो मनुष्य इसका पवित्रभावसे पाठ करता है, वह निर्मल सनातन लोकोंको भी लाँघकर परमात्मा श्रीकृष्णके अमृतमय धामको चला जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीष्मस्तवराजविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल १४२ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

परशुरामजीद्वारा होनेवाले क्षत्रियसंहारके विषयमें राजा युधिष्ठिरका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १ ॥
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि सब लोग तथा शेष चारों पाण्डव ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित एवं शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा संचालित नगराकार विशाल रथोंसे शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्रकी ओर बढ़े ॥ १-२ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

वे सब लोग केश, मज्जा और हड्डियोंसे भरे हुए कुरुक्षेत्रमें उतरे, जहाँ महामनस्वी क्षत्रियवीरोंने अपने शरीरका त्याग किया था ॥ ३ ॥

गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम् ।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव च सर्वशः ॥ ४ ॥

वहाँ हाथियों और घोड़ोंके शरीरों तथा हड्डियोंके अनेकानेक पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे । सब ओर शङ्खके समान सफेद नरमुण्डोंकी खोपड़ियाँ फैली हुई थीं ॥ ४ ॥

चितासहस्रप्रचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम् ।
आपानभूमिं कालस्य तथा भुक्तोज्झितामिव ॥ ५ ॥

उस भूमिमें सहस्रों चिताएँ जली थीं, कवच और अस्त्र-शस्त्रोंसे वह स्थान ढका हुआ था। देखनेपर ऐसा जान पड़ता था, मानो वह कालके खान-पानकी भूमि हो और कालने वहाँ खान-पान करके उसे उच्छिष्ट करके छोड़ दिया हो॥

भूतसंघानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम् ।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥ ६ ॥

जहाँ झुंड-के-झुंड भूत विचर रहे थे और राक्षसगण निवास करते थे, उस कुरुक्षेत्रको देखते हुए वे सभी महारथी शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुः स वै यादवनन्दनः ।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥ ७ ॥

रास्तेमें चलते-चलते ही महाबाहु भगवान् यादवनन्दन श्रीकृष्ण युधिष्ठिरको जमदग्निकुमार परशुरामजीका पराक्रम सुनाने लगे—॥ ७ ॥

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः ।
तेषु संतर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः ॥ ८ ॥

'कुन्तीनन्दन ! ये जो पाँच सरोवर कुछ दूरसे दिखायी देते हैं, 'राम-ह्रद' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हींमें उन्होंने क्षत्रियोंके रक्तसे अपने पितरोंका तर्पण किया था ॥ ८ ॥

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥ ९ ॥

'शक्तिशाली परशुरामजी इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य करके यहीं आनेके पश्चात् अब उस कर्मसे विरत हो गये हैं' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।
रामेणेति तथाऽऽत्थ त्वमत्र मे संशयो महान्॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रभो ! आपने यह बताया है कि पहले परशुरामजीने इक्कीस बार यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी थी, इस विषयमें मुझे बहुत बड़ा संदेह हो गया है ॥१०॥

क्षत्रबीजं यथा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव ।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥ ११ ॥

अमित पराक्रमी यदुनाथ ! जब परशुरामजीने क्षत्रियोंका बीजतक दग्ध कर दिया, तब फिर क्षत्रिय-जातिकी उत्पत्ति कैसे हुई ? ॥ ११ ॥

महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव ।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम् ॥ १२ ॥

यदुपुङ्गव ! महात्मा भगवान् परशुरामने क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया और उसके बाद इस जातिकी वृद्धि कैसे हुई ? ॥ १२ ॥

महता रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर ॥ १३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! महारथयुद्धके द्वारा जब करोड़ों क्षत्रिय मारे गये होंगे, उस समय उनकी लाशोंसे यह सारी पृथ्वी ढक गयी होगी ॥ १३ ॥

किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा ।
रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना ॥ १४ ॥

यदुसिंह ! भृगुवंशी महात्मा परशुरामने पूर्वकालमें कुरुक्षेत्रमें यह क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया ? ॥ १४ ॥

एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन ।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज ॥ १५ ॥

गरुडध्वज श्रीकृष्ण ! इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्र ! आप मेरे संदेहका निवारण कीजिये; क्योंकि कोई भी शास्त्र आपसे बढ़कर नहीं है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो यथावत् स गदाग्रजः प्रभुः
शशंस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः ।
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा
यथाभवत् क्षत्रियसंकुला मही ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने अप्रतिम तेजस्वी युधिष्ठिरसे वह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया कि किस प्रकार यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंकी लाशोंसे ढक गयी थी॥१६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्यानेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामके उपाख्यानका आरम्भविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

परशुरामजीके उपाख्यानमें क्षत्रियोंके विनाश और पुनः उत्पन्न होनेकी कथा

वासुदेव उवाच

शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः ।
महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! मैंने महर्षियोंके मुखसे परशुरामजीके प्रभाव, पराक्रम तथा जन्मकी कथा जिस प्रकार सुनी है, वह सब आपको बताता हूँ, सुनिये ॥

यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥ २ ॥

जिस प्रकार जमदग्निनन्दन परशुरामने करोड़ों क्षत्रियोंका संहार किया था, पुनः जो क्षत्रिय राजवंशोंमें उत्पन्न हुए, वे अब फिर भारतयुद्धमें मारे गये ॥ २ ॥

जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते ॥ ३ ॥

प्राचीनकालमें जह्नुनामक एक राजा हो गये हैं, उनके पुत्रका नाम था अज। पृथ्वीनाथ! अजसे बलाकाश्व नामक पुत्रका जन्म हुआ। बलाकाश्वके कुशिक नामक पुत्र हुआ। कुशिक बड़े धर्मज्ञ थे ॥ ३ ॥

अग्र्यं तपः समातिष्ठत् सहस्राक्षसमो भुवि।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥ ४ ॥

वे इस भूतलपर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उन्होंने यह सोचकर कि मैं एक ऐसा पुत्र प्राप्त करूँ, जो तीनों लोकोंका शासक होनेके साथ ही किसीसे पराजित न हो, उत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ४ ॥

तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरंदरः।
समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥ ५ ॥
पुत्रत्वमगमद् राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः।
गाधिर्नामाभवत् पुत्रः कौशिकः पाकशासनः॥ ६ ॥

उनकी भयंकर तपस्या देखकर और उन्हें शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ जानकर लोकपालोंके स्वामी सहस्र नेत्रोंवाले पाकशासन इन्द्र स्वयं ही उनके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए। राजन्! कुशिकका वह पुत्र गाधिनामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्य कन्याभवद् राजन् नाम्ना सत्यवती प्रभो।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय सर्चीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥

प्रभो! गाधिके एक कन्या थी, जिसका नाम था सत्यवती। राजा गाधिने अपनी इस कन्याका विवाह भृगुपुत्र ऋचीकके साथ कर दिया ॥ ७ ॥

तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन! सत्यवती बड़े शुद्ध आचार-विचारसे रहती थी। उसकी शुद्धतासे प्रसन्न हो ऋचीक मुनिने उसे तथा राजा गाधिको भी पुत्र देनेके लिये चरु तैयार किया ॥ ८ ॥

आहूयोवाच तां भार्यां सर्चीको भार्गवस्तदा।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राप्ययं तव ॥ ९ ॥

भृगुवंशी ऋचीकने उस समय अपनी पत्नी सत्यवतीको बुलाकर कहा—'यह चरु तो तुम खा लेना और यह दूसरा अपनी माँको खिला देना ॥ ९ ॥

तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान् क्षत्रियर्षभः।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ १० ॥

'तुम्हारी माताके जो पुत्र होगा, वह अत्यन्त तेजस्वी एवं क्षत्रियशिरोमणि होगा। इस जगत्‌के क्षत्रिय उसे जीत नहीं सकेंगे। वह बड़े-बड़े क्षत्रियोंका संहार करने वाला होगा ॥ १० ॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम्।
तपोऽन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ ११ ॥

'कल्याणि! तुम्हारे लिये जो यह चरु तैयार किया है, यह तुम्हें धैर्यवान्, शान्त एवं तपस्यापरायण श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र प्रदान करेगा' ॥ ११ ॥

इत्येवमुक्त्वा तां भार्यां सर्चीको भृगुनन्दनः।
तपस्यभिरतः श्रीमाञ्जगामारण्यमेव हि ॥ १२ ॥

अपनी पत्नीसे ऐसा कहकर भृगुनन्दन श्रीमान् ऋचीक मुनि तपस्यामें तत्पर हो जंगलमें चले गये ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः।
गाधिः सदारः सम्प्राप्तः सर्चीकस्याश्रमं प्रति ॥ १३ ॥

इसी समय तीर्थयात्रा करते हुए राजा गाधि अपनी पत्नीके साथ ऋचीक मुनिके आश्रमपर आये ॥ १३ ॥

चरुद्वयं गृहीत्वा च राजन् सत्यवती तदा।
भर्तुर्वाक्यं तदाव्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय सत्यवती वह दोनों चरु लेकर शान्त-भावसे माताके पास गयी और बड़े हर्षके साथ पतिकी कही हुई बातको उससे निवेदित किया ॥ १४ ॥

माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥ १५ ॥

कुन्तीकुमार! सत्यवतीकी माताने अज्ञानवश अपना चरु तो पुत्रीको दे दिया और उसका चरु लेकर भोजनद्वारा अपनेमें स्थित कर लिया ॥ १५ ॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सत्यवतीने अपने तेजस्वी शरीरसे एक ऐसा गर्भ धारण किया, जो क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला था और देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ १६ ॥

तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्या गर्भगतं द्विजम्।
अब्रवीद् भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम्॥ १७ ॥
मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्मात्यमर्षणः ॥ १८ ॥

सत्यवतीके गर्भगत बालकको देखकर भृगुश्रेष्ठ ऋचीकने अपनी उस देवरूपिणी पत्नीसे कहा—'भद्रे! तुम्हारी माताने चरु बदलकर तुम्हें ठग लिया। तुम्हारा पुत्र अत्यन्त क्रोधी और क्रूरकर्म करनेवाला होगा ॥ १७-१८ ॥

उत्पत्स्यति च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः।
विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥ १९ ॥
क्षत्रवीर्यं च सकलं तव मात्रे समर्पितम्।
विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥ २० ॥

मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात् तव च क्षत्रियः सुतः ।

'परंतु तुम्हारा भाई ब्राह्मणस्वरूप एवं तपस्यापरायण होगा । तुम्हारे चरुमें मैंने सम्पूर्ण महान् तेज ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की थी और तुम्हारी माताके लिये जो चरु था, उसमें सम्पूर्ण क्षत्रियोचित बल-पराक्रमका समावेश किया गया था; परंतु कल्याणि! चरुके बदल देनेसे अब ऐसा नहीं होगा । तुम्हारी माताका पुत्र तो ब्राह्मण होगा और तुम्हारा क्षत्रिय' ॥ १९-२०½ ॥

सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥ २१ ॥
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् ।
नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः ।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो ॥ २२ ॥

पतिके ऐसा कहनेपर महाभागा सत्यवती उनके चरणोंमें सिर रखकर गिर पड़ी और काँपती हुई बोली—'प्रभो ! भगवन् ! आज आप मुझसे ऐसी बात न कहें कि तुम ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न करोगी' ॥ २१-२२ ॥

ऋचीक उवाच

नैष संकल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि ।
उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥ २३ ॥

ऋचीक बोले—कल्याणि ! मैंने यह संकल्प नहीं किया था कि तुम्हारे गर्भसे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो । परंतु चरु बदल जानेके कारण तुम्हें भयंकर कर्म करनेवाले पुत्रको जन्म देना पड़ रहा है ॥ २३ ॥

सत्यवत्युवाच

इच्छँल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम् ।
शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥ २४ ॥

सत्यवती बोली—मुने ! आप चाहें तो सम्पूर्ण लोकोंकी नयी सृष्टि कर सकते हैं; फिर इच्छानुसार पुत्र उत्पन्न करनेकी तो बात ही क्या है ? अतः प्रभो ! मुझे तो शान्त एवं सरल स्वभाववाला पुत्र ही प्रदान कीजिये ॥ २४ ॥

ऋचीक उवाच

नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन ।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २५ ॥

ऋचीक बोले—भद्रे ! मैंने कभी हास-परिहासमें भी झूठी बात नहीं कही है; फिर अग्निकी स्थापना करके मन्त्रयुक्त चरु तैयार करते समय मैंने जो संकल्प किया है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? ॥ २५ ॥

दृष्टमेतत् पुरा भद्रे ज्ञातं च तपसा मया ।
ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥ २६ ॥

कल्याणि ! मैंने तपस्याद्वारा पहले ही यह बात देख और जान ली है कि तुम्हारे पिताका समस्त कुल ब्राह्मण होगा ॥

सत्यवत्युवाच

काममेवं भवेत् पौत्रो ममेह तव च प्रभो ।
शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जपतां वर ॥ २७ ॥

सत्यवती बोली—प्रभो ! आप जप करनेवाले ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, आपका और मेरा पौत्र भले ही उग्र स्वभावका हो जाय; परंतु पुत्र तो मुझे शान्तस्वभावका ही मिलना चाहिये ॥ २७ ॥

ऋचीक उवाच

पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि ।
यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥ २८ ॥

ऋचीक बोले—सुन्दरी ! मेरे लिये पुत्र और पौत्रमें कोई अन्तर नहीं है । भद्रे ! तुमने जैसा कहा है, वैसा ही होगा ॥ २८ ॥

वासुदेव उवाच

ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् ।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्निं यतव्रतम् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! तदनन्तर सत्यवतीने शान्त, संयमपरायण और तपस्वी भृगुवंशी जमदग्निको पुत्रके रूपमें उत्पन्न किया ॥ २९ ॥

विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ।
यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥ ३० ॥

कुशिकनन्दन गाधिने विश्वामित्र नामक पुत्र प्राप्त किया, जो सम्पूर्ण ब्राह्मणोचित गुणोंसे सम्पन्न थे और ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त हुए ॥ ३० ॥

ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम् ।
सोऽपि पुत्रं ह्यजनयज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥ ३१ ॥
सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३२ ॥

ऋचीकने तपस्याके भंडार जमदग्निको जन्म दिया और जमदग्निने अत्यन्त उग्र स्वभाववाले जिस पुत्रको उत्पन्न किया, वही ये सम्पूर्ण विद्याओंतथा धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी क्षत्रियहन्ता परशुरामजी हैं ॥ ३१-३२ ॥

तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने ।
अस्त्राणि वरयामास परशुं चातितेजसम् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीने गन्धमादन पर्वतपर महादेवजीको संतुष्ट करके उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र और अत्यन्त तेजस्वी कुठार प्राप्त किये ॥ ३३ ॥

स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा ।
कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥ ३४ ॥

उस कुठारकी धार कभी कुण्ठित नहीं होती थी । वह जलती हुई आगके समान उद्दीप्त दिखायी देता था । उस अप्रमेय शक्तिशाली कुठारके कारण परशुरामजी सम्पूर्ण लोकोंमें अप्रतिम वीर हो गये ॥ ३४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली ।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥ ३५ ॥

इसी समय राजा कृतवीर्यका बलवान् पुत्र अर्जुन हैहय-वंशका राजा हुआ, जो एक तेजस्वी क्षत्रिय था ॥ ३५ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् ।
चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥ ३६ ॥
ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् ।
स्वबाहस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्मवित् ॥ ३७ ॥

दत्तात्रेयजीकी कृपासे राजा अर्जुनने एक हजार भुजाएँ प्राप्त की थीं। वह महातेजस्वी चक्रवर्ती नरेश था। उस परम धर्मज्ञ नरेशने अपने बाहुबलसे पर्वतों और द्वीपोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको युद्धमें जीतकर अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दिया था ॥ ३६-३७ ॥

तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद् भिक्षामथाग्नये ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन ! एक समय भूखे-प्यासे हुए अग्निदेवने पराक्रमी सहस्रबाहु अर्जुनसे भिक्षा माँगी और अर्जुनने अग्निको वह भिक्षा दे दी ॥ ३८ ॥

ग्रामान् पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान्।
जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् बलशाली अग्निदेव कार्तवीर्य अर्जुनके बाणोंके अग्रभागसे गाँवों, गोष्ठों, नगरों और राष्ट्रोंको भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३९ ॥

स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः ।
ददाह कार्तवीर्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥ ४० ॥

उन्होंने उस महापराक्रमी नरेश कार्तवीर्यके प्रभावसे पर्वतों और वनस्पतियोंको जलाना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

स शून्यमाश्रमं रम्यमापवस्य महात्मनः ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ४१ ॥

हवाका सहारा पाकर उत्तरोत्तर प्रज्वलित होते हुए अग्निदेवने हैहयराजको साथ लेकर महात्मा आपवके सूने एवं सुरम्य आश्रमको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ४१ ॥

आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाबाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

महाबाहु अच्युत ! कार्तवीर्यके द्वारा अपने आश्रमके जला दिये जानेपर शक्तिशाली आपव मुनिको बड़ा रोष हुआ। उन्होंने कृतवीर्यपुत्र अर्जुनको शाप देते हुए कहा—॥

त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद् वनम् ।
दग्धं तस्माद् रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन॥ ४३ ॥

'अर्जुन ! तुमने मेरे इस विशाल वनको भी जलाये बिना नहीं छोड़ा, इसलिये संग्राममें तुम्हारी इन भुजाओंको परशुरामजी काट डालेंगे' ॥ ४३ ॥

अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥ ४४ ॥

भारत ! अर्जुन महातेजस्वी, बलवान्, नित्य शान्तिपरायण, ब्राह्मण-भक्त शरणागतोंको शरण देनेवाला, दानी और शूरवीर था ॥ ४४ ॥

नाचिन्तयत् तदा शापं तेन दत्तं महात्मना ।
तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन् पितुर्वधे ॥ ४५ ॥

अतः उसने उस समय उन महात्माके दिये हुए शापपर कोई ध्यान नहीं दिया। शापवश उसके बलवान् पुत्र ही पिताके वधमें कारण बन गये ॥ ४५ ॥

निमित्तादवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा ।
जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानिन्युर्भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस शापके ही कारण सदा क्रूरकर्म करनेवाले वे घमंडी राजकुमार एक दिन जमदग्नि मुनिकी होमधेनुके बछड़ेको चुरा ले आये ॥ ४६ ॥

अज्ञातं कार्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता ।
तन्निमित्तमभूद् युद्धं जामदग्नेर्महात्मनः ॥ ४७ ॥

उस बछड़ेके लाये जानेकी बात बुद्धिमान् हैहयराज कार्तवीर्यको मालूम नहीं थी, तथापि उसीके लिये महात्मा परशुरामका उसके साथ घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ४७ ॥

ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तांश्छित्त्वा रामो रुषान्वितः ।
तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥ ४८ ॥
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात् प्रभुः ।

राजेन्द्र ! तब रोषमें भरे हुए प्रभावशाली जमदग्निनन्दन परशुरामने अर्जुनकी उन भुजाओंको काट डाला और इधर-उधर घूमते हुए उस बछड़ेको वे हैहयोंके अन्तःपुरसे निकालकर अपने आश्रममें ले आये ॥ ४८½ ॥

अर्जुनस्य सुतास्ते तु सम्भूयाबुद्धयस्तदा ॥ ४९ ॥
गत्वाऽऽश्रममसम्बुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः ।
अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ॥ ५० ॥
समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः ।

नरेश्वर ! अर्जुनके पुत्र बुद्धिहीन और मूर्ख थे। उन्होंने संगठित हो महात्मा जमदग्निके आश्रमपर जाकर भल्लोंके अग्रभागसे उनके मस्तकको धड़से काट गिराया। उस समय यशस्वी परशुरामजी समिधा और कुशा लानेके लिये आश्रमसे दूर चले गये थे ॥ ४९-५०½ ॥

ततः पितृवधामर्षाद् रामः परममन्युमान् ॥ ५१ ॥
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत ।

पिताके इस प्रकार मारे जानेसे परशुरामके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर देनेकी भीषण प्रतिज्ञा करके हथियार उठाया ॥ ५१½ ॥

ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान् पौत्रांश्च सर्वशः ।

भृगुकुलके सिंह पराक्रमी परशुरामने पराक्रम प्रकट करके कार्तवीर्यके सभी पुत्रों तथा पौत्रोंका शीघ्र ही संहार कर डाला ॥ ५२½ ॥

स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ॥ ५३ ॥
चकार भार्गवो राजन् महीं शोणितकर्दमाम् ।

राजन् ! परम क्रोधी परशुरामने सहस्रों हैहयोंका वध करके इस पृथ्वीपर रक्तकी कीच मचा दी ॥ ५३½ ॥

स तथाऽऽशु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो वनमेव जगाम ह ।

इस प्रकार शीघ्र ही पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन करके महातेजस्वी परशुराम अत्यन्त दयासे द्रवित हो वनमें ही चले गये ॥ ५४½ ॥

ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ॥ ५५ ॥
क्षेपं सम्प्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः ।

तदनन्तर कई हजार वर्ष बीत जानेपर एक दिन वहाँ स्वभावतः क्रोधी परशुरामपर आक्षेप किया गया ॥ ५५½ ॥

विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ॥ ५६ ॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाऽऽह जनसंसदि ।
ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः ॥ ५७ ॥
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते ।
मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि ॥ ५८ ॥
भयात् क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ।
सा पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवी सर्वतः स्तृता ॥ ५९ ॥

महाराज ! विश्वामित्रके पौत्र तथा रैभ्यके पुत्र महातेजस्वी परावसुने भरी सभामें आक्षेप करते हुए कहा—'राम ! राजा ययातिके स्वर्गसे गिरनेके समय जो प्रतर्दन आदि सज्जन पुरुष यज्ञमें एकत्र हुए थे, क्या वे क्षत्रिय नहीं थे ? तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी है । तुम व्यर्थ ही जनताकी सभामें डींग हाँका करते हो कि मैंने क्षत्रियोंका अन्त कर दिया । मैं तो समझता हूँ कि तुमने क्षत्रिय वीरोंके भयसे ही पर्वतकी शरण ली है । इस समय पृथ्वीपर सब ओर पुनः सैकड़ों क्षत्रिय भर गये हैं' ॥ ५६–५९ ॥

परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः ।
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः ॥ ६० ॥
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन् ।

राजन् ! परावसुकी बात सुनकर भृगुवंशी परशुरामने पुनः शस्त्र उठा लिया । पहले उन्होंने जिन सैकड़ों क्षत्रियोंको छोड़ दिया था, वे ही बढ़कर महापराक्रमी भूपाल बन बैठे थे ॥ ६०½ ॥

स पुनस्ताञ्जघानाशु बालानपि नराधिप ॥ ६१ ॥
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत् तदा ।
जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह ॥ ६२ ॥
अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित् तदा क्षत्रिययोषितः ।

नरेश्वर ! उन्होंने पुनः उन सबके छोटे-छोटे बचोंतकको शीघ्र ही मार डाला । जो बच्चे गर्भमें रह गये थे, उन्हींसे पुनः यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी । परशुरामजी एक-एक गर्भके उत्पन्न होनेपर पुनः उसका वध कर डालते थे। उस समय क्षत्राणियाँ कुछ ही पुत्रोंको बचा सकी थीं ६१-६२½

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ॥ ६३ ॥
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत् ततः ।

इस प्रकार शक्तिशाली परशुरामजीने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे हीन करके अश्वमेध यज्ञ किया और उसकी समाप्ति होनेपर दक्षिणाके रूपमें यह सारी पृथ्वी उन्होंने कश्यपजीको दे दी ॥ ६३½ ॥

स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः ॥ ६४ ॥
स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत् ।
गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने ॥ ६५ ॥
न ते मद् विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ।

राजन् ! तदनन्तर कुछ क्षत्रियोंको बचाये रखनेकी इच्छासे कश्यपजीने स्रुक् लिये हुए हाथसे संकेत करते हुए यह बात कही—'महामुने ! अब तुम दक्षिण समुद्रके तटपर चले जाओ । अब कभी मेरे राज्यमें निवास न करना' ६४-६५½

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे ॥ ६६ ॥
सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तमहीतलम् ।

(यह सुनकर परशुरामजी चले गये) समुद्रने सहसा जमदग्निकुमार परशुरामजीके लिये जगह खाली करके शूर्पारक देशका निर्माण किया; जिसे अपरान्तभूमि भी कहते हैं ॥

कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम् ॥ ६७ ॥
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद् वनम् ।

महाराज ! कश्यपने पृथ्वीको दानमें लेकर उसे ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया और वे स्वयं विशाल वनके भीतर चले गये ॥

ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथा स्वैरप्रचारिणः ॥ ६८ ॥
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! फिर तो स्वेच्छाचारी वैश्य और शूद्र श्रेष्ठ द्विजोंकी स्त्रियोंके साथ अनाचार करने लगे ॥ ६८½ ॥

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः ॥ ६९ ॥
पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित् तदा ।

सारे जीवजगत्‌में अराजकता फैल गयी । बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको पीड़ा देने लगे । उस समय ब्राह्मणोंमेंसे किसीकी प्रभुता कायम न रही ॥ ६९½ ॥

ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः ॥ ७० ॥
विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम् ।
अरक्ष्यमाणा विधिवत् क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः ॥ ७१ ॥

कालक्रमसे दुरात्मा मनुष्य अपने अत्याचारोंसे पृथ्वीको पीड़ित करने लगे । इस उलट-फेरसे पृथ्वी शीघ्र ही रसातलमें प्रवेश करने लगी; क्योंकि उस समय धर्मरक्षक क्षत्रियोंद्वारा विधिपूर्वक पृथिवीकी रक्षा नहीं की जा रही थी ॥७०-७१॥

तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र संत्रासात् स महामनाः ।
ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः ॥ ७२ ॥

भयके मारे पृथ्वीको रसातलकी ओर भागती देख महामनस्वी कश्यपने अपने ऊरुओंका सहारा देकर उसे रोक दिया ॥ ७२ ॥

धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ।
रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवी तदा ॥ ७३ ॥
प्रसाद्य कश्यपं देवी वरयामास भूमिपम् ।

कश्यपजीने ऊरुसे इस पृथ्वीको धारण किया था; इसलिये यह उर्वी नामसे प्रसिद्ध हुई। उस समय पृथ्वीदेवीने कश्यपजीको प्रसन्न करके अपनी रक्षाके लिये यह वर माँगा कि मुझे भूपाल दीजिये ॥

पृथिव्युवाच

सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ ७४ ॥
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ।

पृथ्वी बोली—ब्रह्मन्! मैंने स्त्रियोंमें कई क्षत्रिय-शिरोमणियोंको छिपा रक्खा है। मुने! वे सब हैहयकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जो मेरी रक्षा कर सकते हैं ॥ ७४½ ॥

अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ॥ ७५ ॥
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ।

प्रभो! उनके सिवा पुरुवंशी विदूरथका भी एक पुत्र जीवित है, जिसे ऋक्षवान् पर्वतपर रीछोंने पालकर बड़ा किया है ॥ ७५½ ॥

तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा ॥ ७६ ॥
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ।
सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत् तस्य स द्विजः ॥ ७७ ॥
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ।

इसी प्रकार अमित शक्तिशाली यज्ञपरायण महर्षि पराशरने दयावश सौदासके पुत्रकी जान बचायी है, वह राज-कुमार द्विज होकर भी शूद्रोंके समान सब कर्म करता है; इसलिये 'सर्वकर्मा' नामसे विख्यात है। वह राजा होकर मेरी रक्षा करे ॥ ७६-७७½ ॥

शिबिपुत्रो महातेजा गोपतिर्नाम नामतः ॥ ७८ ॥
वने संवर्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ।

राजा शिबिका एक महातेजस्वी पुत्र बचा हुआ है, जिसका नाम है गोपति। उसे वनमें गौओंने पाल-पोसकर बड़ा किया है। मुने! आपकी आज्ञा हो तो वही मेरी रक्षा करे ॥

प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः ॥ ७९ ॥
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ।

प्रतर्दनका महाबली पुत्र वत्स भी राजा होकर मेरी रक्षा कर सकता है। उसे गोशालामें बछड़ोंने पाला था, इसलिये उसका नाम 'वत्स' हुआ है ॥ ७९½ ॥

दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च ॥ ८० ॥
गुप्तः स गौतमेनासीद् गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ।

दधिवाहनका पौत्र और दिविरथका पुत्र भी गङ्गातटपर महर्षि गौतमके द्वारा सुरक्षित है ॥ ८०½ ॥

बृहद्रथो महातेजा भूरिभूतिपरिष्कृतः ॥ ८१ ॥
गोलाङ्गूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ।

महातेजस्वी महाभाग बृहद्रथ महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न है। उसे गृध्रकूट पर्वतपर लङ्गूरोंने बचाया था ॥ ८१½ ॥

मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः ॥ ८२ ॥
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ।

राजा मरुत्तके वंशमें भी कई क्षत्रिय बालक सुरक्षित हैं, जिनकी रक्षा समुद्रने की है। उन सबका पराक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य है ॥ ८२½ ॥

एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः ॥ ८३ ॥
द्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ।

ये सभी क्षत्रिय बालक जहाँ-तहाँ विख्यात हैं। वे सदा शिल्पी और सुनार आदि जातियोंके आश्रित होकर रहते हैं ॥

यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला ॥ ८४ ॥
एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ।
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ८५ ॥

यदि वे क्षत्रिय मेरी रक्षा करें तो मैं अविचल भावसे स्थिर हो सकूँगी। इन बेचारोंके बाप-दादे मेरे ही लिये युद्धमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुरामजीके द्वारा मारे गये हैं ॥ ८४-८५ ॥

तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महामुने ।
न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् ।
वर्तमानेन वर्तेयं तत् क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ ८६ ॥

महामुने! मुझे उन राजाओंसे उऋण होनेके लिये उनके इन वंशजोंका सत्कार करना चाहिये। मैं धर्मकी मर्यादाको लाँघनेवाले क्षत्रियके द्वारा कदापि अपनी रक्षा नहीं चाहती। जो अपने धर्ममें स्थित हो, उसीके संरक्षणमें रहूँ, यही मेरी इच्छा है; अतः आप इसकी शीघ्र व्यवस्था करें ॥ ८६ ॥

वासुदेव उवाच

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान् समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्मतान् ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पृथ्वीके बताये हुए उन सब पराक्रमी क्षत्रिय भूपालोंको बुलाकर कश्यपजीने उनका भिन्न-भिन्न राज्योंपर अभिषेक कर दिया ॥ ८७ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत् पुरावृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥ ८८ ॥

उन्हींके पुत्र-पौत्र बढ़े, जिनके वंश इस समय प्रतिष्ठित हैं। पाण्डुनन्दन! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह पुरातन वृत्तान्त ऐसा ही है ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवंस्तं च यदुप्रवीरो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
रथेन तेनाशु ययौ महात्मा
दिशः प्रकाशन् भगवानिवार्कः ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे इस प्रकार वार्तालाप करते हुए यदुकुलतिलक महात्मा श्रीकृष्ण उस रथके द्वारा भगवान् सूर्यके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ते चले गये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामोपाख्यानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा भीष्मजीके गुण-प्रभावका सविस्तर वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो रामस्य तत् कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परशुरामजीका वह अलौकिक कर्म सुनकर राजा युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ १ ॥

अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः ।
विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता ॥ २ ॥

'वृष्णिनन्दन ! महात्मा परशुरामका पराक्रम तो इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत है, जिन्होंने क्रोध करके यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी ॥ २ ॥

गोभिः समुद्रेण तथा गोलाङ्गूलर्क्षवानरैः ।
गुप्ता रामभयोद्विग्नाः क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः ॥ ३ ॥

'क्षत्रियोंके कुलका भार वहन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष परशुरामजीके भयसे उद्विग्न हो छिपे हुए थे और गाय, समुद्र लंगूर, रीछ तथा वानरोंद्वारा उनकी रक्षा हुई थी ॥ ३ ॥

अहो धन्यो नृलोकोऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि ।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत ॥ ४ ॥

'अहो! यह मनुष्यलोक धन्य है और इस भूतलके मनुष्य बड़े भाग्यवान् हैं, जहाँ द्विजवर परशुरामजीने ऐसा धर्मसङ्गत कार्य किया' ॥ ४ ॥

तथावृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ ५ ॥

तात ! युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण इस प्रकार बातचीत करते हुए उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ प्रभावशाली गङ्गानन्दन भीष्म बाणशय्यापर सोये हुए थे ॥ ५ ॥

ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् ।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यसमप्रभम् ॥ ६ ॥

उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्यापर सो रहे हैं और अपनी किरणोंसे घिरे हुए सायंकालिक सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ६ ॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥ ७ ॥

जैसे देवता इन्द्रकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से महर्षि ओघवती नदीके तटपर परम धर्ममय स्थानमें उनके पास बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः ।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥ ८ ॥
अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, अन्य चारों पाण्डव तथा कृपाचार्य आदि सब लोग दूरसे ही उन्हें देखकर अपने-अपने रथसे उतर गये और चञ्चल मनको काबूमें करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियोंकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ८-९ ॥

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः ।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा अन्य राजाओंने व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्मको मस्तक झुकाया ॥ १० ॥

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे सभी यदुवंशी और कौरव नरश्रेष्ठ बूढ़े गङ्गानन्दन भीष्मजीका दर्शन करके उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किंचिद् दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥ १२ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन कुछ दुखी हो बुझती हुई आगके समान दिखायी देनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा ।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥ १३ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्मजी ! क्या आपकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ पहलेकी ही भाँति प्रसन्न हैं ? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है ? ॥ १३ ॥

शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते ।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

'आपको बाणोंकी चोट सहनेका जो कष्ट उठाना पड़ा है उससे आपके शरीरमें विशेष पीड़ा तो नहीं हो रही है ? क्योंकि मानसिक दुःखसे शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहना कठिन हो जाता है ॥ १४ ॥

वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम्॥ १५॥

'प्रभो! आपने निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले पिता शान्तनुके वरदानसे मृत्युको अपने अधीन कर लिया है। जब आपकी इच्छा हो तभी मृत्यु हो सकती है अन्यथा नहीं। यह आपके पिताके वरदानका ही प्रभाव है, मेरा नहीं॥१५॥

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव॥ १६॥

'राजन्! यदि शरीरमें कोई महीन-से-महीन भी काँटा गड़ जाय तो वह भारी वेदना पैदा करता है। फिर जो बाणोंके समूहसे चुन दिया गया है, उस आपके शरीरकी पीड़ाके विषयमें तो कहना ही क्या है?॥ १६॥

कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत॥ १७॥

'भरतनन्दन! अवश्य ही आपके सामने यह कहना उचित न होगा कि 'सभी प्राणियोंके जन्म और मरण प्रारब्धके अनुसार नियत हैं। अतः आपको दैवका विधान समझकर अपने मनमें कोई दुःख नहीं मानना चाहिये।' आपको कोई क्या उपदेश देगा? आप तो देवताओंको भी उपदेश देनेमें समर्थ हैं॥ १७॥

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम्॥ १८॥

'पुरुषप्रवर भीष्म! आप ज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपकी बुद्धिमें भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्रतिष्ठित है॥ १८॥

संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः॥ १९॥

'महामते! प्राणियोंका संहार कब होता है? धर्मका क्या फल है? और उसका उदय कब होता है? ये सारी बातें आपको ज्ञात हैं; क्योंकि आप धर्मके प्रचुर भण्डार हैं॥

त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम्।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम्॥ २०॥

'आप एक समृद्धिशाली राज्यके अधिकारी थे, आपके सपूर्ण अङ्ग ठीक थे, किसी अङ्गमें कोई न्यूनता नहीं थी; आपको कोई रोग भी नहीं था और आप हजारों स्त्रियोंके बीचमें रहते थे, तो भी मैं आपको ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) ही देखता हूँ॥ २०॥

ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्यधर्मान्महावीर्याच्छूराद् धर्मैकतत्परात्॥ २१॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः।
निसर्गप्रभवं किंचिन्न च तातानुशुश्रुम॥ २२॥

'तात! पृथ्वीनाथ! मैंने तीनों लोकोंमें सत्यवादी, एकमात्र धर्ममें तत्पर, शूरवीर, महापराक्रमी तथा बाणशय्यापर शयन करनेवाले आप शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा दूसरे किसी ऐसे प्राणीको ऐसा नहीं सुना है, जिसने शरीरके लिये स्वभावसिद्ध मृत्युको अपनी तपस्यासे रोक दिया हो॥२१-२२॥

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे॥ २३॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम्।
महारथं त्वत्सदृशं न कंचिदनुशुश्रुम॥ २४॥

'सत्य, तप, दान और यज्ञके अनुष्ठानमें, वेद, धनुर्वेद तथा नीतिशास्त्रके ज्ञानमें, प्रजाके पालनमें, कोमलतापूर्ण बर्ताव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मन और इन्द्रियोंके संयम तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसाधनमें आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथीको नहीं सुना है॥ २३-२४॥

त्वं हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान्।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः॥ २५॥

आप सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसोंको एकमात्र रथके द्वारा ही जीत सकते थे, इसमें संशय नहीं है॥

स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः॥ २६॥

'महाबाहो भीष्म! आप वसुओंमें वासव (इन्द्र) के समान हैं। ब्राह्मणोंने सदा आपको आठ वसुओंके अंशसे उत्पन्न नवाँ वसु बताया है। आपके समान गुणोंमें कोई नहीं है॥ २६॥

अहं च त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः॥ २७॥

पुरुषप्रवर! आप कैसे हैं और क्या हैं, यह मैं जानता हूँ। आप पुरुषोंमें उत्तम और अपनी शक्तिके लिये देवताओंमें भी विख्यात हैं॥ २७॥

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित्॥ २८॥

'नरेन्द्र! मनुष्योंमें आपके समान गुणोंसे युक्त पुरुष इस पृथ्वीपर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है॥२८॥

त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान्॥ २९॥

'राजन्! आप अपने सम्पूर्ण गुणोंके द्वारा तो देवताओंसे भी बढ़कर हैं तथा तपस्याके द्वारा चराचर लोकोंकी भी सृष्टि कर सकते हैं॥ २९॥

किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः।
तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै॥ ३०॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद।

'फिर अपने लिये उत्तम गुणसम्पन्न लोकोंकी सृष्टि करना आपके लिये कौन बड़ी बात है? अतः भीष्म! आपसे यह निवेदन है कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनोंके वधसे बहुत संतप्त हो रहे हैं। आप इनका शोक दूर करें॥३०½॥

ये हि धर्माः समाख्याताश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥ ३१ ॥
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।
चातुर्विद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥ ३२ ॥

'भारत ! शास्त्रोंमें चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये जो-जो धर्म बताये गये हैं, वे सब आपको विदित हैं। चारों विद्याओंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है तथा चारों होताओंके जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी आपको ज्ञात हैं॥

योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।
चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स विरुध्यते ॥ ३३ ॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।

'गङ्गानन्दन ! योग और सांख्यमें जो सनातन धर्म नियत हैं तथा चारों वर्णोंके लिये जो अविरोधी धर्म बताया गया है, जिसका सभी लोग सेवन करते हैं, वह सब आपको व्याख्यासहित ज्ञात है ॥ ३३½ ॥

प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥ ३४ ॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥ ३५ ॥

'विलोम क्रमसे उत्पन्न हुए वर्णसङ्करोंका जो धर्म है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। देश, जाति और कुलके धर्मोंका क्या लक्षण है, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। वेदोंमें प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा कथित धर्मोंको भी आप सदासे ही जानते हैं ॥ ३४-३५ ॥

इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥ ३६ ॥

'इतिहास और पुराणोंके अर्थ आपको पूर्णरूपसे ज्ञात हैं। सारा धर्मशास्त्र सदा आपके मनमें स्थित है ॥ ३६ ॥

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३७ ॥

'पुरुषप्रवर ! संसारमें जो कोई संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है॥

स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं
नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा
विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥ ३८ ॥

'नरेन्द्र ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके हृदयमें जो शोक उमड़ आया है, उसे आप अपनी बुद्धिके द्वारा दूर कीजिये। आप-जैसे उत्तम बुद्धिके विस्तारवाले पुरुष ही मोहग्रस्त मनुष्यके शोक-संतापको दूर करके उसे शान्ति दे सकते हैं' ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा श्रीकृष्णका भीष्मकी प्रशंसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः ।
किंचिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर भीष्मजीने अपना मुँह कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर कहा ॥

भीष्म उवाच

नमस्ते भगवन् कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है। हृषीकेश ! आप ही इस जगत्‌की सृष्टि और संहार करनेवाले हैं। आपकी कभी पराजय नहीं होती ॥ २ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है। आप पाँचों भूतोंसे परे और सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये मोक्षस्वरूप हैं ॥ ३ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है। तीनों गुणोंसे अतीत आपको प्रणाम है। योगेश्वर ! आपको नमस्कार है। आप ही सबके परम आधार हैं ॥ ४ ॥

मत्संश्रितं यदाऽऽत्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम ।
तेन पश्यामि ते दिव्यान् भावान् हि त्रिषु वर्त्मसु॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो बात कही है, उससे मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपके दिव्य भावोंका साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

तच्च पश्यामि गोविन्द यत् ते रूपं सनातनम् ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६ ॥

गोविन्द ! आपका जो सनातन रूप है, उसे भी मैं देख रहा हूँ। आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुका रूप धारण करके ऊपरके सातों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है ॥ ६ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्‌भ्यां देवी वसुन्धरा।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और वसुन्धरा देवी आपके पैरोंसे व्याप्त हैं। दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं। सूर्य नेत्र हैं और शुक्राचार्य आपके वीर्यमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥ ८ ॥

आपका श्रीविग्रह तीसीके फूलकी भाँति श्याम है। उसपर पीताम्बर शोभा दे रहा है, वह कभी अपनी महिमासे च्युत नहीं होता। उसे देखकर हम अनुमान करते हैं कि बिजलीसहित मेघ शोभा पा रहा है ॥ ८ ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ आपका भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ। कमलनयन! सुरश्रेष्ठ! मेरे लिये जो कल्याणकारी उपाय हो उसीका संकल्प कीजिये ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच

यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन् प्रदर्शितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन्! पुरुषप्रवर! मुझमें आपकी पराभक्ति है। इसीलिये मैंने आपको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ १० ॥

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न च।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥ ११ ॥

भारत! राजेन्द्र! जो मेरा भक्त नहीं है अथवा भक्त होनेपर भी सरल स्वभावका नहीं है। जिसके मनमें शान्ति नहीं है, उसे मैं अपने स्वरूपका दर्शन नहीं कराता ॥ ११ ॥

भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥

आप मेरे भक्त तो हैं ही। आपका स्वभाव भी सरल है। आप इन्द्रिय-संयम, तपस्या, सत्य और दानमें तत्पर रहनेवाले तथा परम पवित्र हैं ॥ १२ ॥

अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥ १३ ॥

भूपाल! आप अपने तपोबलसे ही मेरा दर्शन करनेके योग्य हैं। आपके लिये वे दिव्य लोक प्रस्तुत हैं, जहाँसे फिर इस लोकमें नहीं आना पड़ता ॥ १३ ॥

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर
शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं
समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥ १४ ॥

कुरुवीर भीष्म! अब आपके जीवनके कुल छप्पन दिन शेष हैं। तदनन्तर आप इस शरीरका त्याग करके अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंमें जायँगे ॥ १४ ॥

एते हि देवा वसवो विमाना-
न्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति
काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम् ॥ १५ ॥

देखिये, ये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी देवता और वसु विमानोंमें बैठकर आकाशमें अदृश्यरूपसे रहते हुए सूर्य उत्तरायण होने और आपके आनेकी बाट जोहते हैं ॥ १५ ॥

व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं
सूर्ये दिशं कालवशात् प्रपन्ने।
गन्तासि लोकान् पुरुषप्रवीर
नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥ १६ ॥

पुरुषोंमें प्रमुख वीर! जब भगवान् सूर्य कालवश दक्षिणायनसे लौटते हुए उत्तर दिशाके मार्गपर लौटेंगे, उस समय आप उन्हीं लोकोंमें जाइयेगा, जहाँ जाकर ज्ञानी पुरुष फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं ॥ १६ ॥

अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते
ज्ञानानि नङ्‌क्ष्यन्त्यखिलेन वीर।
अतस्तु सर्वे त्वयि संनिकर्षं
समागता धर्मविवेचनाय ॥ १७ ॥

वीर भीष्म! जब आप परलोकमें चले जाइयेगा, उस समय सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; अतः ये सब लोग आपके पास धर्मका विवेचन करानेके लिये आये हैं ॥ १७ ॥

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय
सत्याभिसंधाय युधिष्ठिराय।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं
सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम् ॥ १८ ॥

ये सत्यपरायण युधिष्ठिर बन्धुजनोंके शोकसे अपना सारा शास्त्रज्ञान खो बैठे हैं; अतः आप इन्हें धर्म, अर्थ और योगसे युक्त यथार्थ बातें सुनाकर शीघ्र ही इनका शोक दूर कीजिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका अपनी असमर्थता प्रकट करना, भगवान्‌का उन्हें वर देना तथा ऋषियों एवं पाण्डवोंका दूसरे दिन आनेका संकेत करके वहाँसे विदा होकर अपने-अपने स्थानोंको जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णस्य तद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णका यह धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने दोनों हाथ जोड़कर कहा—॥ १॥

लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत।
तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः॥ २॥

'लोकनाथ! महाबाहो! शिव! नारायण! अच्युत! आपका यह वचन सुनकर मैं आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया हूँ॥ २॥

किं चाहमभिधास्यामि वाक्यं ते तव संनिधौ।
यदा वाचोगतं सर्वं तव वाचि समाहितम्॥ ३॥

'भला' मैं आपके समीप क्या कह सकूँगा? जब कि वाणीका सारा विषय आपकी वेदमयी वाणीमें प्रतिष्ठित है॥ ३॥

यच्च किंचित् क्वचिल्लोके कर्तव्यं क्रियते च यत्।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते॥ ४॥

'देव! लोकमें कहीं भी जो कुछ कर्तव्य किया जाता है, वह सब आप बुद्धिमान् परमेश्वरसे ही प्रकट हुआ है॥ ४॥

कथयेद् देवलोकं यो देवराजसमीपतः।
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात् तवाग्रतः॥ ५॥

'जो मनुष्य देवराज इन्द्रके निकट देवलोकका वृत्तान्त बतानेका साहस कर सके, वही आपके सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी बात कह सकता है॥ ५॥

शराभितापाद् व्यथितं मनो मे मधुसूदन।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति॥ ६॥

'मधुसूदन! इन बाणोंके गड़नेसे जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ी व्यथा है। सारा शरीर पीड़ाके मारे शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है॥

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित् प्रभाषितुम्।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः॥ ७॥

'गोविन्द! ये बाण विष और अग्निके समान मुझे निरन्तर पीड़ा दे रहे हैं; अतः मुझमें कुछ भी कहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है॥ ७॥

बलं मे प्रजहातीव प्राणाः संत्वरयन्ति च।
मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम्॥ ८॥

'मेरा बल शरीरको छोड़ता-सा जान पड़ता है। ये प्राण निकलनेको उतावले हो रहे हैं। मेरे मर्मस्थानोंमें बड़ी पीड़ा हो रही है; अतः मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है॥ ८॥

दौर्बल्यात् सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलवर्धन॥ ९॥

'दुर्बलताके कारण मेरी जीभ तालूमें सट जाती है, ऐसी दशामें मैं कैसे बोल सकता हूँ? दशार्हकुलकी वृद्धि करनेवाले प्रभो! आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हो जाइये॥ ९॥

तत् क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किंचिदच्युत।
त्वत्संनिधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन्॥ १०॥

'महाबाहो! क्षमा कीजिये। मैं बोल नहीं सकता। आपके निकट प्रवचन करनेमें बृहस्पतिजी भी शिथिल हो सकते हैं; फिर मेरी क्या बिसात है?॥ १०॥

न दिशः सम्प्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम्।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन॥ ११॥

'मधुसूदन! मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान है और न आकाश एवं पृथ्वीका ही भान हो रहा है। केवल आपके प्रभावसे ही जी रहा हूँ॥ ११॥

स्वयमेव भवांस्तस्माद् धर्मराजस्य यद्धितम्।
तद् ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः॥ १२॥

'इसलिये आप स्वयं ही जिसमें धर्मराजका हित हो, वह बात शीघ्र बताइये; क्योंकि आप शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं॥

कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद् गुरौ शिष्य इव स्थिते॥ १३॥

'श्रीकृष्ण! आप जगत्‌के कर्ता और सनातन पुरुष हैं। आपके रहते हुए मेरे-जैसा कोई भी मनुष्य कैसे उपदेश कर सकता है? क्या गुरुके रहते हुए शिष्य उपदेश देनेका अधिकारी है?'॥ १३॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे।
महावीर्ये महासत्त्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भीष्मजी! आप कुरुकुलका भार वहन करनेवाले, महापराक्रमी, परम धैर्यवान्, स्थिर तथा सर्वार्थदर्शी हैं; आपका यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है॥

यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो॥ १५॥

गङ्गानन्दन भीष्म! प्रभो! बाणोंके आघातसे होनेवाली पीड़ाके विषयमें जो आपने कहा है, उसके लिये आप मेरी प्रसन्नतासे दिये हुए इस 'वर' को ग्रहण करें॥ १५॥

न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत॥ १६॥

गङ्गाकुमार! अब आपको न ग्लानि होगी न मूर्छा; न

दाह होगा न रोग, भूख और प्यासका कष्ट भी नहीं रहेगा ॥

ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥

अनघ! आपके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठेंगे। आपकी बुद्धि किसी भी विषयमें कुण्ठित नहीं होगी ॥ १७ ॥

सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥ १८ ॥

भीष्म! आपका मन मेघके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सदा सत्त्वगुणमें स्थित रहेगा ॥१८॥

यद् यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ १९ ॥

आप जिस-जिस धर्मयुक्त या अर्थयुक्त विषयका चिन्तन करेंगे, उसमें आपकी बुद्धि सफलतापूर्वक आगे बढ़ती जायगी ॥ १९ ॥

इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम्।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥ २० ॥

अमितपराक्रमी नृपश्रेष्ठ! आप दिव्य दृष्टि पाकर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन चारों प्रकारके प्राणियोंको देख सकेंगे ॥ २०॥

संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥ २१ ॥

भीष्म! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न होकर आप संसारबन्धनमें पड़नेवाले सम्पूर्ण जीवसमुदायको उसी तरह यथार्थ रूपसे देख सकेंगे, जैसे मत्स्य निर्मल जलमें सब कुछ देखता रहता है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः।
ऋग्यजुःसामसहितैर्वचोभिः कृष्णमार्चयन् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर व्याससहित सम्पूर्ण महर्षियोंने ऋक्, यजु तथा सामवेदके मन्त्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया ॥ २२ ॥

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात्।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् जहाँ गङ्गापुत्र भीष्म और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ वृष्णिवंशी भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे, वहाँ आकाशसे सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ २३ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि जगुश्चाप्सरसां गणाः।
न चाहितमनिष्टं च किञ्चित्तत्र प्रदृश्यते ॥ २४ ॥

सब प्रकारके बाजे बजने लगे, अप्सराओंके समुदाय गीत गाने लगे। वहाँ कुछ भी ऐसा नहीं देखा जाता था, जो अहितकर और अनिष्टकारक हो ॥ २४ ॥

ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः।
शान्तायां दिशि शान्ताश्च प्रावदन् मृगपक्षिणः ॥ २५ ॥

शीतल, सुखद, मन्द, पवित्र एवं सर्वथा सुगन्धयुक्त वायु चल रही थी, सम्पूर्ण दिशाएँ शान्त थीं और उनमें रहनेवाले पशु एवं पक्षी शान्तभावसे मनोहर वचन बोल रहे थे ॥ २५ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः।
दहन् वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥

इसी समय दो ही घड़ीमें भगवान् सहस्रकिरणमाली दिवाकर पश्चिम दिशाके एकान्त प्रदेशमें वहाँके वनप्रान्तको दग्ध करते हुए-से दिखायी दिये ॥ २६ ॥

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम्।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥

तब सभी महर्षियोंने उठकर भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्म तथा राजा युधिष्ठिरसे विदा माँगी ॥ २७ ॥

ततः प्रणाममकरोत् केशवः सहपाण्डवः।
सात्यकिः संजयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥

इसके बाद पाण्डवोंसहित श्रीकृष्ण, सात्यकि, संजय तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उन सबको प्रणाम किया ॥२८ ॥

ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे धर्मपरायण महर्षि, 'हमलोग फिर कल सबेरे यहाँ आयँगे' ऐसा कहकर तुरंत ही अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ २९ ॥

तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३० ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण और पाण्डव भी गङ्गानन्दन भीष्मजीसे जानेकी आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके अपने मङ्गलमय रथोंपर जा बैठे ॥ ३० ॥

ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरै-
र्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः
पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः ॥ ३१ ॥
ययौ रथानां पुरतो हि सा चमू-
स्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी।
पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी
तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ॥ ३२ ॥

सुवर्णनिर्मित विचित्र कूबरोंवाले रथों, पर्वताकार मतवाले हाथियों, गरुड़के समान तीव्रगतिसे चलनेवाले घोड़ों तथा हाथमें धनुष-बाण आदि लिये हुए पैदल सैनिकोंसे युक्त वह विशाल सेना रथोंके आगे और पीछे भी बहुत दूरतक फैलकर

वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे ऋक्षवान् पर्वतके पास पहुँचकर पूर्व और पश्चिम दिशामें भी प्रवाहित होनेवाली महानदी नर्मदा सुशोभित होती है ॥ ३१-३२ ॥

ततः पुरस्ताद् भगवान् निशाकरः
समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसा महौषधीः
पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन् ॥ ३३ ॥

इसके बाद पूर्व दिशाके आकाशमें भगवान् चन्द्रदेवका उदय हुआ, जो उस सेनाका हर्ष बढ़ा रहे थे और सूर्यने जिन बड़ी-बड़ी ओषधियोंका रस पी लिया था, उन सबको अपनी सुधावर्षी किरणोंद्वारा पुनः उनके स्वाभाविक गुणोंसे सम्पन्न कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ततः पुरं सुरपुरसम्मितद्युति
प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा ।
यथोचितान् भवनवरान् समाविशन्
श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे यदुकुलके श्रेष्ठ वीर तथा पाण्डव सुरपुरके समान शोभा पानेवाले हस्तिनापुरमें प्रवेश करके यथायोग्य श्रेष्ठ महलोंके भीतर चले गये। ठीक उसी तरह, जैसे थके-मादे सिंह विश्रामके लिये पर्वतकी कन्दराओंमें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका आगमनविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातश्चर्या, सात्यकिद्वारा उनका संदेश पाकर भाइयोंसहित युधिष्ठिरका उन्हींके साथ कुरुक्षेत्रमें पधारना

वैशम्पायन उवाच

ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्ध्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण एक सुन्दर शय्याका आश्रय लेकर सो गये। जब आधा पहर रात बीतनेको बाकी रह गयी, तब वे जागकर उठ बैठे ॥ १ ॥

स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद् दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् ध्यानमार्गमें स्थित हो माधव सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे ॥

ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
अस्तुवन् विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

इसी समय स्तुति और पुराणोंके ज्ञाता, मधुरकण्ठवाले, सुशिक्षित सूत-मागध और वन्दीजन विश्वनिर्माता, प्रजापालक उन भगवान् वासुदेवकी स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायनाः ।
शङ्खानथ मृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रशः ॥ ४ ॥

हाथसे वीणा आदि बजानेवाले पुरुष स्तुतिपाठ करने लगे, गायक गीत गाने लगे और सहस्रों मनुष्य शङ्ख एवं मृदङ्ग बजाने लगे ॥ ४ ॥

वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः ।
प्रहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥ ५ ॥

वीणा, पणव तथा मुरलीका अत्यन्त मनोरम स्वर इस तरह सुनायी देने लगा, मानो उस महलका अट्टहास सब ओर फैल रहा हो ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः ।
उच्चेरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरके भवनसे भी मधुर, मङ्गलमयी वाणी तथा गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट होने लगी ॥ ६ ॥

तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु ! भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, फिर गूढ़ गायत्री-मन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए अग्निके समीप जा बैठे ॥ ७ ॥

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥ ८ ॥

वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेदमन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन कराया ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

इसके बाद माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया और सात्यकिसे कहा—॥ ९ ॥

गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'शिनिनन्दन ! जाओ, राजमहलमें जाकर पता लगाओ कि महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर भीष्मजीके दर्शनार्थ चलनेके लिये तैयार हो गये क्या ?' ॥ १० ॥

ततः कृष्णस्य वचनात् सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर सात्यकि तुरंत वहाँसे चल दिये और राजा युधिष्ठिरके पास जाकर बोले—॥ ११॥

युक्तो रथवरो राजन् वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥

'राजन् ! परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवका श्रेष्ठ रथ जुतकर तैयार हो गया है। श्रीजनार्दन शीघ्र ही गङ्गानन्दन भीष्मके समीप जानेवाले हैं॥ १२ ॥

भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

'महातेजस्वी धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब आप जो उचित समझें, वह कार्य कर सकते हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

सात्यकिके इस प्रकार कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अर्जुनको यह आदेश दिया ॥ १३½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनाप्रतिमद्युते ॥ १४ ॥
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥ १५ ॥
अतः पुरःसराश्चापि निवर्तन्तु धनंजय ।

युधिष्ठिर बोले—अनुपम तेजस्वी अर्जुन ! मेरा श्रेष्ठ रथ जोतकर तैयार कराओ। आज सैनिकोंको हमारे साथ नहीं जाना चाहिये। केवल हमलोगोंको ही चलना है। धनंजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको अधिक भीड़ बढ़ाकर कष्ट देना उचित नहीं है। अतः आगे चलनेवाले सैनिकोंको भी जानेके लिये मना कर देना चाहिये ॥ १४-१५½ ॥

अद्यप्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ॥ १६ ॥
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम् ।

कुन्तीनन्दन ! आजसे गङ्गाकुमार भीष्मजी धर्मके अत्यन्त गूढ़ रहस्यका उपदेश करेंगे। अतः मैं भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले साधारण जनसमाजको वहाँ नहीं जुटाना चाहता॥

वैशम्पायन उवाच

स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥
युक्तं रथवरं तस्मा आचचक्षे नरर्षभः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य करके कुन्तीकुमार नरश्रेष्ठ अर्जुनने वैसा ही किया। फिर आकर उन्हें सूचना दी कि महाराजका श्रेष्ठ रथ तैयार है ॥ १७½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥ १८ ॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम् ।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव सब एक रथपर आरूढ हो श्रीकृष्णके निवासस्थानपर गये, मानो समस्त महाभूत मूर्तिमान् होकर पधारे हों ॥१८½॥

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १९ ॥
शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत ।

महात्मा पाण्डवोंके पदार्पण करनेपर सात्यकिसहित बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण भी एक ही रथपर आरूढ़ हो गये॥

रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम् ॥ २०॥
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः ।

रथपर बैठे-बैठे ही उन सबने बातचीत की और एक दूसरेसे रात्रिके सुखपूर्वक व्यतीत होनेका कुशल-समाचार पूछा। फिर वे नरश्रेष्ठ मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रेष्ठ रथोंद्वारा वहाँसे चल पड़े ॥ २०½ ॥

बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥ २१ ॥
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः ।

दारुकने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंको हाँका ॥२१½॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
गां खुराग्रैस्तथा राजल्लिँखन्तः प्रययुस्तदा ।

राजन् ! उस समय दारुकद्वारा हाँके गये श्रीकृष्णके वे घोड़े अपनी टापोंके अग्रभागसे पृथ्वीपर चिह्न बनाते हुए बड़े वेगसे दौड़े ॥ २२½ ॥

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः ॥ २३ ॥
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन् ।

उन अश्वोंका बल और वेग महान् था। वे आकाशको पीते हुए-से उड़ चले और बात-की-बातमें सम्पूर्ण धर्मके क्षेत्रभूत कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २३½ ॥

ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ २४ ॥
आस्ते महर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा ।

तदनन्तर वे सब लोग उस स्थानपर गये, जहाँपर प्रभावशाली भीष्मजी बाणशय्यापर सो रहे थे। जैसे देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजी शोभा पाते हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके साथ भीष्मजी सुशोभित हो रहे थे ॥ २४½ ॥

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात् स च युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् रथसे उतरकर भगवान् श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सात्यकिने अपने-अपने दाहिने हाथोंको उठाकर ऋषियोंके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित किया ॥ २५-२६ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥ २७ ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति भाइयोंसे घिरे हुए

राजा युधिष्ठिर गङ्गानन्दन भीष्मके समीप गये, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीके निकट पधारे हों ॥ २७ ॥

शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा।
स ददर्श महाबाहुं भयाच्चागतसाध्वसः ॥ २८ ॥

शर-शय्यापर सोये हुए महाबाहु भीष्मजी वैसे ही दिखायी दे रहे थे, मानो सूर्यदेव आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हों। युधिष्ठिरने उसी अवस्थामें उनका दर्शन किया। उस समय वे भयसे काँप उठे थे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्माभिगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका भीष्मके समीप गमनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मजीकी बातचीत

जनमेजय उवाच

धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसंधे जितात्मनि।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥ १ ॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शान्तनुनन्दने।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते ॥ २ ॥
काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन् वीरसमागमे।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुने! धर्मात्मा, महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महाभाग शान्तनुनन्दन गङ्गाकुमार पुरुषसिंह देवव्रत भीष्म जब वीर-शय्यापर सो रहे थे और पाण्डव उनकी सेवामें आकर उपस्थित हो गये थे, उस समय वीर पुरुषोंके उस समागमके अवसरपर, जब कि उभयपक्षकी सम्पूर्ण सेनाएँ मारी जा चुकी थीं, कौन-कौन-सी बातें हुईं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १–३ ॥

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर! कौरवकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजी जब बाणशय्यापर सो रहे थे, उस समय वहाँ नारद आदि सिद्ध महर्षि भी पधारे थे ॥४॥

हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥ ५ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम्।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥

महाभारत-युद्धमें जो लोग मरनेसे बच गये थे, वे युधिष्ठिर आदि राजा तथा धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये सभी महामनस्वी पुरुष पृथ्वीपर गिरे हुए सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले, भरतवंशियोंके पितामह, गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर बारंबार शोक प्रकट करने लगे ॥ ५-६ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः।
उवाच पाण्डवान् सर्वान् हतशिष्टांश्च पार्थिवान् ॥ ७ ॥

तब दिव्य दृष्टि रखनेवाले देवर्षि नारदने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर समस्त पाण्डवों तथा मरनेसे बचे हुए अन्य नरेशोंको सम्बोधित करके कहा—॥ ७ ॥

प्राप्तकालं समाचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम्।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन युधिष्ठिर तथा अन्य भूपालगण! मैं आपलोगोंको समयोचित कर्तव्य बता रहा हूँ। आपलोग गङ्गानन्दन भीष्मजीसे धर्म और ब्रह्मके विषयमें प्रश्न कीजिये, क्योंकि अब ये भगवान् सूर्यके समान अस्त होनेवाले हैं ॥८॥

अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत।
कृत्स्नान् हि विविधान् धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम् ॥ ९ ॥

'भीष्मजी अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हैं, अतः आप सब लोग इनसे अपने मनकी बातें पूछ लें; क्योंकि ये चारों वर्णोंके सम्पूर्ण एवं विभिन्न धर्मोंको जानते हैं॥

एष वृद्धः परांल्लोकान् सम्प्राप्नोति तनुं त्यजन्।
तं शीघ्रमनुयुञ्जीध्वं संशयान् मनसि स्थितान् ॥ १० ॥

'भीष्मजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और अपने शरीरका त्याग करके उत्तम लोकोंमें पदार्पण करनेवाले हैं; अतः आपलोग शीघ्र ही इनसे अपने मनके संदेह पूछ लें' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नारदजीके ऐसा कहनेपर सब नरेश भीष्मजीके निकट आ गये; परंतु उन्हें उनसे कुछ पूछनेका साहस नहीं हुआ। वे सभी एक दूसरेका मुँह ताकने लगे ॥ ११ ॥

अथोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
नान्यस्तु देवकीपुत्राच्छक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥

तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने हृषीकेशकी ओर लक्ष्य करके कहा—'दिव्यज्ञानसम्पन्न देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो पितामहसे प्रश्न कर सके' ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका देवर्षि नारद एवं पाण्डवोंको लेकर शरशय्यास्थित भीष्मके निकट गमन

प्रव्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥

(फिर श्रीकृष्णसे कहने लगे—) 'मधुसूदन ! यदुश्रेष्ठ ! आप ही पहले वार्तालाप आरम्भ कीजिये । तात ! आप ही हम सब लोगोंमें सम्पूर्ण धर्मोंके श्रेष्ठ ज्ञाता हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान् केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं प्रव्याहारयदच्युतः ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने दुर्जय भीष्मजीके निकट जाकर इस प्रकार बातचीत की ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

कच्चित् सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ भीष्मजी ! आपकी रात सुखसे बीती है न ? क्या आपको सभी ज्ञातव्य विषयोंका सुस्पष्टरूपसे दर्शन करानेवाली निर्मल बुद्धि प्राप्त हो गयी ? ॥ १५ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥

निष्पाप भीष्म ! क्या आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञान प्रकाशित हो रहे हैं ? आपके हृदयमें ग्लानि तो नहीं है ? आपका मन व्याकुल तो नहीं हो रहा है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा ।
तव प्रसादाद् वार्ष्णेय सद्यः प्रतिगतानि मे ॥ १७ ॥

भीष्मजी बोले—वृष्णिनन्दन ! आपकी कृपासे मेरे शरीरकी जलन, मनका मोह, थकावट, विकलता, ग्लानि तथा रोग—ये सब तत्काल दूर हो गये थे ॥ १७ ॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते ।
तत् सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥ १८ ॥

परम तेजस्वी पुरुषोत्तम ! अब मैं हाथपर रक्खे हुए फलकी भाँति भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सभी बातें सुस्पष्टरूपसे देख रहा हूँ ॥ १८ ॥

वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये ।
तान् सर्वान् सम्प्रपश्यामि वरदानात् तवाच्युत॥ १९ ॥

अच्युत ! वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं तथा वेदान्तों (उपनिषदों) द्वारा जिनको जाना गया है, उन सब धर्मोंको मैं आपके वरदानके प्रभावसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते ।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥ २० ॥

जनार्दन ! शिष्ट पुरुषोंने जिस धर्मका उपदेश किया है, वह भी मेरे हृदयमें स्फुरित हो रहा है । देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी इस समय मुझे पूर्ण ज्ञान है ॥ २० ॥

चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः ।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥ २१ ॥

चारों आश्रमोंके धर्मोंमें जो सारभूत तत्त्व है, वह भी मेरे हृदयमें प्रकाशित हो रहा है । केशव ! इस समय मैं सम्पूर्ण राजधर्मोंको भी भलीभाँति जानता हूँ ॥ २१ ॥

यच्च यत्र च वक्तव्यं तद् वक्ष्यामि जनार्दन ।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥ २२ ॥

जनार्दन ! जिस विषयमें जो कुछ भी कहने योग्य बात है, वह सब मैं कहूँगा । आपकी कृपासे मेरे हृदयमें निर्मल मन और कल्याणमयी बुद्धिका आवेश हुआ है ॥ २२ ॥

युवेवास्मि समावृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः ।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन॥ २३ ॥

जनार्दन ! आपके निरन्तर चिन्तनसे मेरी शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि मैं जवान-सा हो गया हूँ । आपके प्रसादसे अब मैं कल्याणकारी उपदेश देनेमें समर्थ हूँ ॥ २३ ॥

स्वयं किमर्थं तु भवाञ्छ्रेयो न प्राह पाण्डवम् ।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥ २४ ॥

माधव ! तो भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप स्वयं ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कल्याणकारी उपदेश क्यों नहीं देते हैं ? इस विषयमें आप क्या कहना चाहते हैं ? यह शीघ्र बताइये ॥ २४ ॥

वासुदेव उवाच

यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव ।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुनन्दन ! आप मुझे ही यश और श्रेयका मूल समझें । संसारमें जो भी सत् और असत् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति ।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥ २६ ॥

'चन्द्रमा शीतल किरणोंसे सम्पन्न हैं' यह बात कहनेपर जगत्में किसको आश्चर्य होगा ? अर्थात् किसीको नहीं होगा । उसी प्रकार सम्पूर्ण यशसे सम्पन्न मुझ परमेश्वरके द्वारा कोई उत्तम उपदेश प्राप्त हो तो उसे सुनकर कौन आश्चर्य करेगा ? ॥ २६ ॥

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भीष्म ! मुझे इस जगत्में आपके महान् यशकी प्रतिष्ठा करनी है, अतः मैंने अपनी विशाल बुद्धि तुम्हें समर्पित की है ॥ २७ ॥

यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ॥ २८ ॥

भूपाल ! जबतक यह अचला पृथ्वी स्थिर रहेगी, तबतक सम्पूर्ण जगत्में आपकी अक्षय कीर्ति विख्यात होती रहेगी॥

यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले ॥ २९ ॥

भीष्म ! आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर उसके उत्तरमें जो कुछ कहेंगे, वह वेदके सिद्धान्तकी भाँति इस भूतलपर मान्य होगा ॥ २९ ॥

यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना ।
स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥ ३० ॥

जो मनुष्य आपके इस उपदेशको प्रमाण मानकर उसे अपने जीवनमें उतारेगा, वह मृत्युके बाद सब प्रकारके पुण्यों-का फल प्राप्त करेगा ॥ ३० ॥

एतस्मात् कारणाद् भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
दत्ता यशो विप्रथयेत् कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥

भीष्म ! इसीलिये मैंने आपको दिव्य बुद्धि प्रदान की है कि जिस किसी प्रकारसे भी आपके महान् यशका इस भूतल-पर विस्तार हो ॥ ३१ ॥

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत् तस्याक्षयं स्थानं भवतीति विनिश्चिता ॥ ३२ ॥

जगत्में जबतक भूतलपर मनुष्यके यशका विस्तार होता रहता है, तबतक उसकी परलोकमें अचल स्थिति बनी रहती है, यह निश्चय है ॥ ३२ ॥

राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! नरेश्वर ! मरनेसे बचे हुए ये भूपाल आपके पास धर्मकी जिज्ञासासे बैठे हैं। आप इन सबको धर्मका उपदेश करें ॥ ३३ ॥

भवान् हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥

आपकी अवस्था सबसे बड़ी है। आप शास्त्रज्ञान तथा सदाचारसे सम्पन्न हैं। साथ ही समस्त राजधर्मों तथा अन्य धर्मोंके ज्ञानमें भी आप कुशल हैं ॥ ३४ ॥

जन्मप्रभृति ते कश्चिद् वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥ ३५ ॥

जन्मसे लेकर आजतक किसीने भी आपमें कोई भी दोष (पाप) नहीं देखा है। सब राजा इस बातको स्वीकार करते हैं कि आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं ॥ ३५ ॥

तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन् ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥
तस्माद् वक्तव्यमेवेदं त्वयावश्यमशेषतः ।

राजन् ! आप इन राजाओंको उसी प्रकार उत्तम नीति-का उपदेश करें, जैसे पिता अपने पुत्रको सद्धर्मकी शिक्षा देता है। आपने देवताओं और ऋषियोंकी सदा उपासना की है; इसलिये आपको अवश्य ही सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश करना चाहिये ॥ ३६½ ॥

धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥
वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।

मनीषी पुरुषोंने यह धर्म बताया है कि 'श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषसे जब कुछ पूछा जाय तो उसे उचित है कि वह सुनने-की इच्छावाले लोगोंको धर्मका उपदेश दे' ॥ ३७½ ॥

अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥ ३८ ॥
तस्मात् पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान् पृष्टान् सनातनान्।
विद्वाञ्जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

प्रभो ! जो मनुष्य जानते हुए भी श्रद्धापूर्वक प्रश्न करनेवालेको उपदेश नहीं देता, उसे अत्यन्त दुःखदायक दोषकी प्राप्ति होती है; अतः भरतश्रेष्ठ ! धर्मको जाननेकी इच्छावाले अपने पुत्रों और पौत्रोंके पूछनेपर उन्हें सनातन धर्मका उपदेश करें; क्योंकि आप धर्मशास्त्रोंके विद्वान् हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-वाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका युधिष्ठिरके गुणकथनपूर्वक उनको प्रश्न करनेका आदेश देना, श्रीकृष्णका उनके लज्जित और भयभीत होनेका कारण बताना और भीष्मका आश्वासन पाकर युधिष्ठिरका उनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महातेजा वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ॥ १ ॥
तव प्रसादाद् गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णकी बात सुनकर कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी भीष्मजीने कहा—'गोविन्द ! आप सम्पूर्ण भूतोंके सनातन आत्मा हैं। आपके प्रसादसे मेरी वाक्शक्ति सुदृढ़ है और मन भी स्थिर हो गया है; अतः मैं समस्त धर्मोंका प्रवचन करूँगा ॥ १½ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान् वक्ष्यामि चाखिलान् ॥ २ ॥

'धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे एक-एक करके धर्मोंके विषय-में प्रश्न करें, इससे मुझे प्रसन्नता होगी और मैं सम्पूर्ण धर्मों-का उपदेश कर सकूँगा ॥ २ ॥

यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन्नृषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥

'जिन राजर्षिशिरोमणि धर्मपरायण महात्मा युधिष्ठिरका जन्म होनेपर सभी महर्षि हर्षसे खिल उठे थे, वे ही पाण्डुपुत्र मुझसे प्रश्न करें ॥ ३ ॥

सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम्।
यस्य नास्ति समः कश्चित् स मां पृच्छतु पाण्डवः॥ ४ ॥

'जिनके यशका प्रताप सर्वत्र छा रहा है, उन समस्त धर्माचारी कौरवोंमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ४ ॥

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥

'जिनमें धैर्य, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, ओज और तेज सदा विद्यमान रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ५ ॥

सम्बन्धिनोऽतिथीन् भृत्यान् संश्रितांश्चैव यो भृशम् ।
सम्मानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ६ ॥

'जो सम्बन्धियों, अतिथियों, भृत्यों तथा शरणागतोंका सदा सत्कारपूर्वक विशेष सम्मान करते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ६ ॥

सत्यं दानं तपः शौर्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसम्भ्रमः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥

'जिनमें सत्य, दान, तप, शूरता, शान्ति, दक्षता तथा असम्भ्रम (स्थिरचित्तता)—ये समस्त सद्गुण सदा मौजूद रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ७ ॥

यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात् ।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥

'जो न तो कामनासे, न क्रोधसे, न भयसे और न किसी स्वार्थके ही लोभसे अधर्म करते हैं, वे धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ८ ॥

सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ९ ॥

'जिनमें सदा ही सत्य, सदा ही क्षमा और सदा ही ज्ञानकी स्थिति है, जो निरन्तर अतिथिसत्कारके प्रेमी हैं और सत्पुरुषोंको सदा दान देते रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ९ ॥

इज्याध्ययननित्यश्च धर्मे च निरतः सदा ।
क्षान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥

'जिन्होंने शास्त्रोंके रहस्यका श्रवण किया है, जो सदा ही यज्ञ, स्वाध्याय और धर्ममें लगे रहनेवाले तथा क्षमाशील हैं, वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें' ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—प्रजानाथ! धर्मराज युधिष्ठिर बहुत लज्जित हैं, वे शापके भयसे डरे होनेके कारण आपके निकट नहीं आ रहे हैं ॥ ११ ॥

लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशाम्पते ।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ १२ ॥

प्रजापालक भीष्म! ये लोकनाथ युधिष्ठिर जगत्का संहार करके शापके भयसे त्रस्त हो उठे हैं; इसीलिये आपके निकट नहीं आते हैं ॥ १२ ॥

पूज्यान् मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् ।
अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥ १३ ॥

पूजनीय, माननीय गुरुजनों, भक्तों तथा अर्घ्य आदिके द्वारा सत्कार करने योग्य सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंका बाणोंद्वारा भेदन करके भयके मारे ये आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—श्रीकृष्ण! जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणोंका धर्म है, उसी प्रकार समरभूमिमें शत्रुओंके शरीरको मार गिराना क्षत्रियोंका धर्म है ॥ १४ ॥

पितॄन् पितामहान् भ्रातॄन् गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद् धर्म एव सः ॥ १५ ॥

जो असत्यके मार्गपर चलनेवाले पिता (ताऊ-चाचा), बाबा, भाई, गुरुजन, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको संग्राममें मार डालता है, उसका वह कार्य धर्म ही है ॥ १५ ॥

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १६ ॥

केशव ! जो क्षत्रिय लोभवश धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले पापाचारी गुरुजनोंका भी समराङ्गणमें वध कर डालता है, वह अवश्य ही धर्मका ज्ञाता है ॥ १६ ॥

यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम् ।
निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥ १७ ॥

जो लोभवश सनातन धर्ममर्यादाकी ओर दृष्टिपात नहीं करता, उसे जो क्षत्रिय समरभूमिमें मार गिराता है, वह निश्चय ही धर्मज्ञ है ॥ १७ ॥

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम् ।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १८ ॥

जो क्षत्रिय युद्धभूमिमें रक्तरूपी जल, केशरूपी तृण, हाथीरूपी पर्वत और ध्वजरूपी वृक्षोंसे युक्त खूनकी नदी बहा देता है, वह धर्मका ज्ञाता है ॥ १८ ॥

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

संग्राममें शत्रुके ललकारनेपर क्षत्रिय-बन्धुको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये। मनुजीने कहा है कि युद्ध

क्षत्रियके लिये धर्मका पोषक, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और लोकमें यश फैलानेवाला है ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भीष्मजीके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उनके पास जाकर एक विनीत पुरुषके समान उनकी दृष्टिके सामने खड़े हो गये ॥ २० ॥

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम्।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥ २१ ॥

फिर उन्होंने भीष्मजीके दोनों चरण पकड़ लिये। तब भीष्मजीने उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—'बेटा! बैठ जाओ' ॥ २१ ॥

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम्।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात! मैं इस समय स्वस्थ हूँ, तुम मुझसे निर्भय होकर प्रश्न करो। कुरुश्रेष्ठ! तुम भय न मानो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा राजधर्मका वर्णन, राजाके लिये पुरुषार्थ और सत्यकी आवश्यकता, ब्राह्मणोंकी अदण्डनीयता तथा राजाकी परिहासशीलता और मृदुतासे प्रकट होनेवाले दोष

वैशम्पायन उवाच

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम्।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मको प्रणाम करके युधिष्ठिरने समस्त गुरुजनोंकी अनुमति ले इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! धर्मज्ञ विद्वानोंकी यह मान्यता है कि राजाओंका धर्म श्रेष्ठ है। मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल! आप मुझे राजधर्मका उपदेश कीजिये ॥ २ ॥

राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥ ३ ॥

पितामह! राजधर्म सम्पूर्ण जीवजगत्का परम आश्रय है; अतः आप राजधर्मोंका ही विशेषरूपसे वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन! राजाके धर्मोंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समावेश है और यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मोक्षधर्म भी राजधर्ममें निहित है ॥४॥

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

जैसे घोड़ोंको काबूमें रखनेके लिये लगाम और हाथीको वशमें करनेके लिये अङ्कुश है, उसी प्रकार समस्त संसारको मर्यादाके भीतर रखनेके लिये राजधर्म आवश्यक है; वह उसके लिये प्रग्रह अर्थात् उसको नियन्त्रित करनेमें समर्थ माना गया है ॥ ५ ॥

तत्र चेत् सम्प्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते।
लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलीभवेत् ॥ ६ ॥

प्राचीन राजर्षियोंद्वारा सेवित उस राजधर्ममें यदि राजा मोहवश प्रमाद कर बैठे तो संसारकी व्यवस्था ही बिगड़ जाय और सब लोग दुखी हो जायँ ॥ ६ ॥

उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः।
राजधर्मास्तथालोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यदेव उदय होते ही घोर अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार राजधर्म मनुष्योंके अशुभ आचरणोंका, जो उन्हें पुण्य लोकोंसे वञ्चित कर देते हैं, निवारण करता है ॥७॥

तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थे त्वं पितामह।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ८ ॥

अतः भरतश्रेष्ठ पितामह! आप सबसे पहले मेरे लिये राजधर्मोंका ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परंतप।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥ ९ ॥

परंतप पितामह! हम सब लोगोंको आपसे ही शास्त्रोंके उत्तम सिद्धान्तका ज्ञान हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी आपको ही बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१०॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मोंका वर्णन आरम्भ करूँगा ॥ १० ॥

शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! अब तुम नियमपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्णरूपसे राजधर्मोंका वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो ॥ ११ ॥

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाको सबसे पहले प्रजाका रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखनेकी इच्छासे देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये (अर्थात् वह देवताओंका विधिपूर्वक पूजन तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करे)॥

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥ १३ ॥

कुरुकुलभूषण ! देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन करके राजा धर्मके ऋणसे मुक्त होता है और सारा जगत् उसका सम्मान करता है ॥ १३ ॥

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसादयेत् ॥ १४ ॥

बेटा युधिष्ठिर ! तुम सदा पुरुषार्थके लिये प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थके बिना केवल प्रारब्ध राजाओंका प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता ॥ १४ ॥

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ॥ १५ ॥

यद्यपि कार्यकी सिद्धिमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थको ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहलेसे ही निश्चित बताया गया है॥ १५॥

विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १६ ॥

अतः यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा न हो सके अथवा उसमें बाधा पड़ जाय तो इसके लिये तुम्हें अपने मनमें दुःख नहीं मानना चाहिये। तुम सदा अपने आपको पुरुषार्थमें ही लगाये रक्खो। यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १६ ॥

न हि सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥

सत्यके सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओंके लिये सिद्धिकारक नहीं है। सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोकमें भी सुख पाता है ॥ १७ ॥

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम्॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! ऋषियोंके लिये भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओंके लिये सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजावर्गमें उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके॥

गुणवाञ्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥

जो राजा गुणवान्, शीलवान्, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, कोमलस्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, देखनेमें प्रसन्नमुख और बहुत देनेवाला उदारचित्त है, वह कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! तुम सभी कार्योंमें सरलता एवं कोमलताका अवलम्बन करना, परंतु नीतिशास्त्रकी आलोचनासे यह ज्ञात होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा तथा अपने कार्य-कौशल—इन तीन बातोंको गुप्त रखनेमें सरलताका अवलम्बन करना उचित नहीं है ॥ २० ॥

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ २१ ॥

जो राजा सदा सब प्रकारसे कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला ही होता है, उसकी आज्ञाका लोग उल्लङ्घन कर जाते हैं और केवल कठोर बर्ताव करनेसे भी सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम आवश्यकतानुसार कठोरता और कोमलता दोनोंका अवलम्बन करो ॥ २१ ॥

अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर।
भूतमेतत् परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥ २२ ॥

दाताओंमें श्रेष्ठ बेटा पाण्डुकुमार युधिष्ठिर ! तुम्हें ब्राह्मणोंको कभी दण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि संसारमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है ॥ २२ ॥

मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुनन्दन ! महात्मा मनुने अपने धर्मशास्त्रोंमें दो श्लोकोंका गान किया है, तुम उन दोनोंको अपने हृदयमें धारण करो॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥

'अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे प्रकट हुआ है। इनका तेज अन्य सब स्थानोंपर तो अपना प्रभाव दिखाता है; परंतु अपनेको उत्पन्न करनेवाले कारणसे टक्कर लेनेपर स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥

'जब लोहा पत्थरपर चोट करता है, आग जलको नष्ट करने लगती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों ही दुःख उठाते हैं अर्थात् ये दुर्बल हो जाते हैं॥ २५॥

एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥ २६ ॥

महाराज ! ऐसा सोचकर तुम्हें ब्राह्मणोंको सदा नमस्कार ही करना चाहिये; क्योंकि वे श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजित होनेपर भूतलके ब्रह्मको अर्थात् वेदको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥

पुरुषसिंह ! यद्यपि ऐसी बात है, तथापि यदि ब्राह्मण भी तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो जायँ तो ऐसे लोगोंको अपने बाहु-बलसे परास्त करके सदा नियन्त्रणमें ही रखना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥

तात ! नरेश्वर ! इस विषयमें दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पूर्वकालमें महर्षि शुक्राचार्यने गाया था । महाराज ! तुम एकाग्रचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको सुनो ॥ २८ ॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ २९ ॥

'वेदान्तका पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो ? यदि वह शस्त्र उठाकर युद्धमें सामना करनेके लिये आ रहा हो तो धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले राजाको अपने धर्मके अनुसार ही युद्ध करके उसे कैद कर लेना चाहिये ॥ २९ ॥

विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित् ।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ ३० ॥

'जो राजा उसके द्वारा नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है । अतः उसे मारनेसे वह धर्मका नाशक नहीं माना जाता । वास्तवमें क्रोध ही उनके क्रोधसे टक्कर लेता है' ॥

एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः ।
सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! यह सब होनेपर भी ब्राह्मणोंकी तो सदा रक्षा ही करनी चाहिये; यदि उनके द्वारा अपराध बन गये हों तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्यकी सीमासे बाहर करके छोड़ देना चाहिये ॥ ३१ ॥

अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते ।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इनमें कोई कलङ्कित हो तो उसपर भी कृपा ही करनी चाहिये । ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन, भ्रूणहत्या तथा राजद्रोहका अपराध होनेपर भी ब्राह्मणको देशसे निकाल देनेका ही विधान है—उसे शारीरिक दण्ड कभी नहीं देना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये ।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसंचयात् ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखते हैं, वे सबके प्रिय होते हैं । राजाओंके लिये ब्राह्मणके भक्तोंका संग्रह करनेसे बढ़कर दूसरा कोई कोश नहीं है ॥ ३४ ॥

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः ।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥

महाराज ! मरु (जलरहित भूमि), जल, पृथ्वी, वन, पर्वत और मनुष्य—इन छःप्रकारके दुर्गोंमें मानवदुर्ग ही प्रधान है । शास्त्रोंके सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् उक्त सभी दुर्गोंमें मानव दुर्गको ही अत्यन्त दुर्लङ्घ्य मानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ ३६ ॥

अतः विद्वान् राजाको चारों वर्णोंपर सदा दया करनी चाहिये, धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजाको प्रसन्न रख पाता है ॥ ३६ ॥

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥ ३७ ॥

बेटा ! तुम्हें सदा और सब ओर क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिये; क्योंकि क्षमाशील हाथीके समान कोमल स्वभाववाला राजा दूसरोंको भयभीत न कर सकनेके कारण अधर्मके प्रसारमें ही सहायक होता है ॥ ३७ ॥

बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा ।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३८ ॥

महाराज ! इसी बातके समर्थनमें बार्हस्पत्यशास्त्रका एक प्राचीन श्लोक पढ़ा जाता है । मैं उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्यैव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥

'नीच मनुष्य क्षमाशील राजाका सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथीका महावत उसके सिरपर ही चढ़े रहना चाहता है' ॥ ३९ ॥

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त ऋतुका तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठंडक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही करता है, उसी प्रकार राजाको भी न तो बहुत कोमल होना चाहिये और न अधिक कठोर ही ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥ ४१ ॥

महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणोंके द्वारा सदा अपने-परायेकी पहचान करते रहना चाहिये ॥ ४१ ॥

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्गं तु परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले नरेश्वर ! तुम्हें सभी प्रकारके

व्यसनोंको त्याग देना चाहिये; परंतु साहस आदिका भी सर्वथा प्रयोग न किया जाय, ऐसी बात नहीं है (क्योंकि शत्रुविजय आदिके लिये उसकी आवश्यकता है); अतः सभी प्रकारके व्यसनोंकी आसक्तिका परित्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥ ४३ ॥

व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा सदा सब लोगोंके अनादरका पात्र होता है और जो भूपाल सबके प्रति अत्यन्त द्वेष रखता है, वह सब लोगोंको उद्वेगयुक्त कर देता है ॥ ४३ ॥

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥

महाराज ! राजाका प्रजाके साथ गर्भिणी स्त्रीका-सा बर्ताव होना चाहिये । किस कारणसे ऐसा होना उचित है, यह बताता हूँ, सुनो ॥ ४४ ॥

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥

जैसे गर्भवती स्त्री अपने मनको अच्छे लगनेवाले प्रिय भोजन आदिका भी परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालकके हितका ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजाको भी चाहिये कि निःसंदेह वैसा ही बर्ताव करे । कुरुश्रेष्ठ ! राजा अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयका परित्याग करके जिसमें सब लोगोंका हित हो वही कार्य करे ॥४५-४६॥

न संत्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ ४७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हें कभी भी धैर्यका त्याग नहीं करना चाहिये । जो अपराधियोंको दण्ड देनेमें संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजाको कभी भय नहीं होता ॥

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥ ४८ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजसिंह ! तुम्हें सेवकोंके साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये; इसमें जो दोष है, वह मुझसे सुनो ॥ ४८ ॥

अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥ ४९ ॥

राजासे जीविका चलानेवाले सेवक अधिक मुँहलगे हो जानेपर मालिकका अपमान कर बैठते हैं । वे अपनी मर्यादामें स्थिर नहीं रहते और स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करने लगते हैं ॥ ४९ ॥

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥ ५० ॥

वे जब किसी कार्यके लिये भेजे जाते हैं तो उसकी सिद्धिमें संदेह उत्पन्न कर देते हैं । राजाकी गोपनीय त्रुटियोंको भी सबके सामने ला देते हैं । जो वस्तु नहीं माँगनी चाहिये उसे भी माँग बैठते हैं तथा राजाके लिये रक्खे हुए भोज्य पदार्थोंको स्वयं खा लेते हैं ॥ ५० ॥

क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥

राज्यके अधिपति भूपालको कोसते हैं, उनके प्रति क्रोधसे तमतमा उठते हैं; घूस लेकर और धोखा देकर राजाके कार्योंमें विघ्न डालते हैं ॥ ५१ ॥

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥ ५२ ॥

वे जाली आज्ञापत्र जारी करके राजाके राज्यको जर्जर कर देते हैं । रनवासके रक्षकोंसे मिल जाते हैं अथवा उनके समान ही वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते फिरते हैं ॥ ५२ ॥

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य संनिधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥ ५३ ॥

राजाके पास ही मुँह बाकर जँभाई लेते और थूकते हैं, नृपश्रेष्ठ ! वे मुँहलगे नौकर लाज छोड़कर मनमानी बातें बोलते हैं ॥ ५३ ॥

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥ ५४ ॥

नृपशिरोमणे ! परिहासशील कोमलस्वभाववाले राजाको पाकर सेवकगण उसकी अवहेलना करते हुए उसके घोड़े, हाथी अथवा रथको अपनी सवारीके काममें लाते हैं ॥

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम् ।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिषद्गताः ॥ ५५ ॥

आम दरबारमें बैठकर दोस्तोंकी तरह बराबरीका बर्ताव करते हुए कहते हैं कि 'राजन् ! आपसे इस कामका होना कठिन है, आपका यह बर्ताव बहुत बुरा है' ॥ ५५ ॥

क्रुद्धे चास्मिन् हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः ।
संघर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥ ५६ ॥

इस बातसे यदि राजा कुपित हुए तो वे उन्हें देखकर हँस देते हैं और उनके द्वारा सम्मानित होनेपर भी वे धृष्ट सेवक प्रसन्न नहीं होते । इतना ही नहीं, वे सेवक परस्पर स्वार्थ-साधनके निमित्त राजसभामें ही राजाके साथ विवाद करने लगते हैं ॥ ५६ ॥

---

१. व्यसन अठारह प्रकारके बताये गये हैं । इनमें दस तो कामज है और आठ क्रोधज । शिकार, जूआ, दिनमें सोना, परनिन्दा, स्त्रीसेवन, मद, वाद्य, गीत, नृत्य और मदिरापान—ये दस कामज व्यसन बताये गये हैं, चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये आठ क्रोधज व्यसन कहे गये हैं ।

विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् ।
लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥ ५७ ॥

राजकीय गुप्त बातों तथा राजाके दोषोंको भी दूसरोंपर प्रकट कर देते हैं । राजाके आदेशकी अवहेलना करके खिलवाड़ करते हुए उसका पालन करते हैं ॥ ५७ ॥

अलंकारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने ।
हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥ ५८ ॥

पुरुषसिंह ! राजा पास ही खड़ा-खड़ा सुनता रहता है निर्भय होकर उसके आभूषण पहनने, खाने, नहाने और चन्दन लगाने आदिका मजाक उड़ाया करते हैं ॥ ५८ ॥

निन्दन्ते स्वानधीकारान् संत्यजन्ते च भारत ।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ॥ ५९ ॥

भारत ! उनके अधिकारमें जो काम सौंपा जाता है, उसको वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं । उन्हें जो वेतन दिया जाता है, उससे वे संतुष्ट नहीं होते हैं और राजकीय धनको हड़पते रहते हैं ॥ ५९ ॥

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत ॥ ६० ॥

जैसे लोग डोरेमें बँधी हुई चिड़ियाके साथ खेलते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाके साथ खेलना चाहते हैं और साधारण लोगोंसे कहा करते हैं कि 'राजा तो हमारा गुलाम है' ॥ ६० ॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर ! राजा जब परिहासशील और कोमलस्वभावका हो जाता है, तब ये ऊपर बताये हुए तथा दूसरे दोष भी प्रकट होते हैं ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाके धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्तावका वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजाको सदा ही उद्योगशील होना चाहिये । जो उद्योग छोड़कर स्त्रीकी भाँति बेकार बैठा रहता है, उस राजाकी प्रशंसा नहीं होती है ॥ १ ॥

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते ।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे ॥ २ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें भगवान् शुक्राचार्यने एक श्लोक कहा है, उसे मैं बता रहा हूँ । तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर मुझसे उस श्लोकको सुनो ॥ २ ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ३ ॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहोंको निगल जाता है, उसी प्रकार दूसरोंसे लड़ाई न करनेवाले राजा तथा विद्याध्ययन आदिके लिये घर छोड़कर अन्यत्र न जानेवाले ब्राह्मणको पृथ्वी निगल जाती है (अर्थात् वे पुरुषार्थ-साधन किये बिना ही मर जाते हैं)' ॥ ३ ॥

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
संधेयानभिसंधत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥ ४ ॥

अतः नरश्रेष्ठ ! तुम इस बातको अपने हृदयमें धारण कर लो, जो संधि करनेके योग्य हों, उनसे संधि करो और जो विरोधके पात्र हों, उनका डटकर विरोध करो ॥ ४ ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥ ५ ॥

राज्यके सात अङ्ग हैं—राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना । जो इन सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालनेके ही योग्य है ॥ ५ ॥

मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः ।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें राजा मरुत्तने एक प्राचीन श्लोकका गान किया था, जो बृहस्पतिके मतानुसार राजाके अधिकारके विषयमें प्रकाश डालता है ॥ ६ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥ ७ ॥

'घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रखनेवाला तथा कुमार्गपर चलनेवाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो तो उसे भी दण्ड देनेका सनातन विधान है' ॥ ७ ॥

बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता ।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥ ८ ॥

बाहुके पुत्र बुद्धिमान् राजा सगरने तो पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने ज्येष्ठ पुत्र असमंजाका भी त्याग कर दिया था ॥

असमंजाः सरय्वां स पौराणां बालकान् नृप ।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! असमंजा पुरवासियोंके बालकोंको पकड़कर

सरयूनदीमें डुबा दिया करता था; अतः उसके पिताने उसे दुत्कारकर घरसे बाहर निकाल दिया ॥ ९ ॥

ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्रानुपचरन् संत्यक्तो दयितः सुतः ॥ १० ॥

उद्दालक ऋषिने अपने प्रिय पुत्र महातपस्वी श्वेतकेतुको केवल इस अपराधसे त्याग दिया कि वह ब्राह्मणोंके साथ मिथ्या एवं कपटपूर्ण व्यवहार करता था ॥ १० ॥

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥

अतः इस लोकमें प्रजावर्गको प्रसन्न रखना ही राजाओंका सनातन धर्म है, सत्यकी रक्षा और व्यवहारकी सरलता ही राजोचित कर्तव्य हैं ॥ ११ ॥

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥

दूसरोंके धनका नाश न करे । जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समयपर दिलानेकी व्यवस्था करे । पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे—ऐसा करनेवाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता ॥ १२ ॥

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ॥ १४ ॥

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, क्रोधको जीत लिया है तथा शास्त्रोंके सिद्धान्तका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रयत्नमें निरन्तर लगा रहता है, जिसे तीनों वेदोंका ज्ञान है तथा जो अपने गुप्त विचारोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं होने देता है, वही राजा होने योग्य है, प्रजाकी रक्षा न करनेसे बढ़कर राजाओंके लिये दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ १३-१४ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥

राजाको चारों वर्णोंके धर्मोंकी रक्षा करनी चाहिये, प्रजाको धर्मसंकरतासे बचाना राजाओंका सनातन धर्म है ॥ १५ ॥

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥

राजा किसीपर भी विश्वास न करे । विश्वसनीय व्यक्तिका भी अत्यन्त विश्वास न करे । राजनीतिके छः गुण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय * । इन सबके गुण-दोषोंका अपनी बुद्धिद्वारा सदा निरीक्षण करे ॥

द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते ।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥

शत्रुओंके छिद्र देखनेवाले राजाकी सदा ही प्रशंसा की जाती है । जिसे धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वका ज्ञान है तथा जिसने शत्रुओंकी गुप्त बातोंको जानने और उनके मन्त्री आदिको फोड़नेके लिये गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसाके ही योग्य है ॥ १७ ॥

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः ।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥

राजाको उचित है कि वह सदा अपने कोषागारको भरा-पूरा रखनेका प्रयत्न करता रहे, उसे न्याय करनेमें यमराज और धन-संग्रह करनेमें कुबेरके समान होना चाहिये । वह स्थान, वृद्धि तथा क्षयके हेतुभूत दस[1] वर्गोंका सदा ज्ञान रक्खे ॥ १८ ॥

अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः ।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥ १९ ॥

जिनके भरण-पोषणका प्रबन्ध न हो, उनका पोषण राजा स्वयं करे और उसके द्वारा जिनका भरण-पोषण चल रहा हो, उन सबकी देखभाल रखे । राजाको सदा प्रसन्नमुख रहना और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना चाहिये ॥ १९ ॥

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः संतोष्यश्चारुदर्शनः ॥ २० ॥

राजाको वृद्ध पुरुषोंकी उपासना (सेवा या सङ्ग) करनी चाहिये, वह आलस्यको जीते और लोलुपताका परित्याग करे । सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मन लगावे । संतुष्ट होने योग्य स्वभाव

---

* यदि शत्रुपर चढ़ाई की जाय और वह अपनेसे बलवान् सिद्ध हो तो उससे मेल कर लेना 'सन्धि' नामक गुण है । यदि दोनोंमें समान बल हो तो लड़ाई जारी रखना 'विग्रह' है । यदि शत्रु दुर्बल हो तो उस अवस्थामें उसके दुर्ग आदिपर जो आक्रमण किया जाता है, उसे 'यान' कहते हैं । यदि अपने ऊपर शत्रुकी ओरसे आक्रमण हो और शत्रुका पक्ष प्रबल जान पड़े तो उस समय अपनेको दुर्ग आदिमें छिपाये रखकर जो आत्मरक्षा की जाती है, वह 'आसन' कहलाता है । यदि चढ़ाई करनेवाला शत्रु मध्यम श्रेणीका हो तो 'द्वैधीभाव' का सहारा लिया जाता है । उसमें ऊपरसे दूसरा भाव दिखाया जाता है और भीतर दूसरा ही भाव रक्खा जाता है । जैसे आधी सेना दुर्गमें रखकर आत्मरक्षा करना और आधीको भेजकर शत्रुओंके अन्न आदि सामग्रीपर कब्जा करना आदि कार्य 'द्वैधीभाव' नीतिके अन्तर्गत हैं । आक्रमणकारीसे पीड़ित होनेपर किसी मित्र राजाका सहारा लेकर उसके साथ लड़ाई छेड़ना 'समाश्रय' कहलाता है ।

१. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), खजाना और दण्ड—ये पाँच 'प्रकृति' कहे गये हैं । ये ही अपने और शत्रुपक्षके मिलाकर 'दशवर्ग' कहलाते हैं, यदि दोनोंके मन्त्री आदि समान हों तो ये स्थानके हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्षकी स्थिति कायम रहती है, अगर अपने पक्षमें इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धिके साधक होते हैं और कमी हो तो क्षयके कारण बनते हैं ।

बनाये रक्खे। वेश-भूषा ऐसी रक्खे, जिससे वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर जान पड़े ॥ २० ॥

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन ।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥

साधुपुरुषोंके हाथसे कभी धन न छीने। असाधु पुरुषोंसे दण्डके रूपमें धन लेना चाहिये; साधु पुरुषोंको तो धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः ।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥ २२ ॥

स्वयं दुष्टोंपर प्रहार करे, दानशील बने, मनको वशमें रखे, सुरम्य साधनसे युक्त रहे, समय-समयपर धनका दान और उपभोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे ॥ २२ ॥

शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः ।
शिष्टाञ्शिष्टाभिसम्बन्धान्मानिनोऽनवमानिनः ॥ २३ ॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ।
धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव ॥ २४ ॥
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरस्कृतः ।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥

जो शूरवीर एवं भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग एवं शिष्ट हों तथा शिष्ट पुरुषोंसे सम्बन्ध रखते हों, जो आत्मसम्मानकी रक्षा करते हुए दूसरोंका कभी अपमान न करते हों, धर्मपरायण, विद्वान्, लोकव्यवहारके ज्ञाता और शत्रुओंकी गतिविधिपर दृष्टि रखनेवाले हों, जिनमें साधुता भरी हो तथा जो पर्वतोंके समान अटल रहनेवाले हों, ऐसे लोगोंको ही राजा सदा अपना सहायक बनावे और उन्हें ऐश्वर्यका पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोगकी सुविधा प्रदान करे, केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातोंमें ही वह उन सहायकोंकी अपेक्षा अधिक रहे ॥ २३—२५ ॥

प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत् समा ।
एवं कुर्वन् नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्षमें भी उनके साथ राजाका एक-सा ही बर्ताव होना चाहिये। ऐसा करनेवाला नरेश इस जगत्‌में कभी कष्ट नहीं उठाता ॥ २६ ॥

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् ।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव वध्यते ॥ २७ ॥

जो राजा सबपर संदेह करता और सबका सर्वस्व हर लेता है, वह लोभी और कुटिल राजा एक दिन अपने ही लोगोंके हाथसे शीघ्र मारा जाता है ॥ २७ ॥

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः ।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ २८ ॥

जो भूपाल बाहर-भीतरसे शुद्ध रहकर प्रजाके हृदयको अपनानेका प्रयत्न करता है, वह शत्रुओंका आक्रमण होनेपर भी उनके वशमें नहीं पड़ता, यदि उसका पतन हुआ भी तो वह सहायकोंको पाकर शीघ्र ही उठ खड़ा होता है ॥ २८ ॥

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥

जिसमें क्रोधका अभाव होता है, जो दुर्व्यसनोंसे दूर रहता है, जिसका दण्ड भी कठोर नहीं होता तथा जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है, वह राजा हिमालयके समान सम्पूर्ण प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है ॥ २९ ॥

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः ।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा ॥ ३० ॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः ।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥ ३१ ॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च ।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥ ३२ ॥

जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओंकी दुर्बलता जाननेके प्रयत्नमें तत्पर, देखनेमें सुन्दर, सभी वर्णोंके न्याय और अन्यायको समझनेवाला, शीघ्र कार्य करनेमें समर्थ, क्रोधपर विजय पानेवाला, आश्रितोंपर कृपा करनेवाला, महामनस्वी, कोमल स्वभावसे युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मप्रशंसासे दूर रहनेवाला है, जिस राजाके आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूपसे समाप्त होते दिखायी देते हैं, वह समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३०—३२ ॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥

जैसे पुत्र अपने पिताके घरमें निर्भीक होकर रहते हैं, उसी प्रकार जिस राजाके राज्यमें मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ३४ ॥

जिसके राज्य अथवा नगरमें निवास करनेवाले लोग (चोरोंसे भय न होनेके कारण) अपने धनको छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्यायको समझते हों, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः ।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥ ३५ ॥
वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः ।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥

जिसके राज्यमें निवास करनेवाले लोग विधिपूर्वक सुरक्षित एवं पालित होकर अपने-अपने कर्ममें संलग्न, शरीरमें आसक्ति न रखनेवाले और जितेन्द्रिय हों, अपने वशमें रहते हों, शिक्षा देने और ग्रहण करने योग्य हों, आज्ञा पालन करते हों,

कलह और विवादसे दूर रहते हों और दान देनेकी रुचि रखते हों, वह राजा श्रेष्ठ है ॥ ३५-३६ ॥

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥

जिस भूपालके राज्यमें कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो उसीके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है ॥ ३७ ॥

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥

जो ज्ञान एवं ज्ञानियोंका सत्कार करता है, शास्त्रके ज्ञातव्य विषयको समझने तथा परहित-साधन करनेमें संलग्न रहता है, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलनेवाला और स्वार्थत्यागी है, वही राजा राज्य चलानेके योग्य समझा जाता है ॥ ३८ ॥

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किए हुए करने योग्य कर्म और किये हुए कर्म शत्रुओंद्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पानेका अधिकारी है ॥ ३९ ॥

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते राजचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥

भारत ! महात्मा भार्गवने पूर्वकालमें किसी राजाके प्रति राजोचित कर्तव्यका वर्णन करते समय इस श्लोकका गान किया था ॥ ४० ॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥ ४१ ॥

'मनुष्य पहले राजाको प्राप्त करे। उसके बाद पत्नीका परिग्रह और धनका संग्रह करे। लोकरक्षक राजाके न होनेपर कैसे भार्या सुरक्षित रहेगी और किस तरह धनकी रक्षा हो सकेगी ?' ॥ ४१ ॥

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥ ४२ ॥

राज्य चाहनेवाले राजाओंके लिये राज्यमें प्रजाओंकी भलीभाँति रक्षाको छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है, रक्षा ही जगत्‌को धारण करनेवाली है ॥ ४२ ॥

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र ! प्राचेतस मनुने राजधर्मके विषयमें ये दो श्लोक कहे हैं। तुम एकचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको यहाँ सुनो ॥

षडेतान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ४५ ॥

'जैसे समुद्रकी यात्रामें टूटी हुई नौकाका त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह उपदेश न देनेवाले आचार्य, वेदमन्त्रोंका उच्चारण न करनेवाले ऋत्विज, रक्षा न कर सकनेवाले राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, गाँवमें रहनेकी इच्छा रखनेवाले ग्वाले और जंगलमें रहनेकी कामना करनेवाले नाई—इन छः व्यक्तियोंका त्याग कर दे' ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा राज्यरक्षाके साधनोंका वर्णन तथा संध्याके समय युधिष्ठिर आदिका विदा होना और रास्तेमें स्नान-संध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर हस्तिनापुरमें प्रवेश

भीष्म उवाच

एतत् ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर।
बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, राजधर्मरूपी दूधका माखन है। भगवान् बृहस्पति इस न्यायानुकूल धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥ २ ॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥
रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र मे शृणु ॥ ४ ॥

इनके सिवा भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य, सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र, प्राचेतस मनु, भगवान् भरद्वाज और मुनिवर गौरशिरा—ये सभी ब्राह्मणभक्त और ब्रह्मवादी लोग राजशास्त्रके प्रणेता हैं, ये सब राजाके लिये प्रजापालनरूप धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कमलनयन युधिष्ठिर! इस रक्षात्मक धर्मके साधनोंका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २-४ ॥

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात्।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम्।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥ ६ ॥

केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ ७ ॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥ ८ ॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥ ९ ॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम् ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥ १० ॥
उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम् ।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! गुप्तचर (जासूस) रखना, दूसरे राष्ट्रोंमें अपना प्रतिनिधि (राजदूत) नियुक्त करना, सेवकोंको उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समयपर वेतन और भत्ता देना, युक्तिसे कर लेना, अन्यायसे प्रजाके धनको न हड़पना, सत्पुरुषोंका संग्रह करना, शूरता, कार्यदक्षता, सत्यभाषण, प्रजाका हित-चिन्तन, सरल या कुटिल उपायोंसे भी शत्रुपक्षमें फूट डालना, पुराने घरोंकी मरम्मत एवं मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराना, दीन-दुखियोंकी देखभाल करना, समयानुसार शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकारके दण्डका प्रयोग करना, साधु पुरुषोंका त्याग न करना, कुलीन मनुष्योंको अपने पास रखना, संग्रह-योग्य वस्तुओंका संग्रह करना, बुद्धिमान् पुरुषोंका सेवन करना, पुरस्कार आदिके द्वारा सेनाका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, नित्य-निरन्तर प्रजाकी देख-भाल करना, कार्य करनेमें कष्टका अनुभव न करना, कोषको बढ़ाना, नगरकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध करना, इस विषयमें दूसरोंके विश्वासपर न रहना, पुरवासियोंने अपने विरुद्ध कोई गुटबंदी की हो तो उसमें फूट डलवा देना, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंपर यथोचित दृष्टि रखना, दूसरोंके द्वारा अपने सेवकोंमें भी गुटबंदी न होने देना, स्वयं ही अपने नगरका निरीक्षण करना, स्वयं किसीपर भी पूरा विश्वास न करना, दूसरोंको आश्वासन देना, नीतिधर्मका अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बने रहना, शत्रुओंकी ओरसे सावधान रहना और नीच कर्मों तथा दुष्ट पुरुषोंको सदाके लिये त्याग देना—ये सभी राज्यकी रक्षाके साधन हैं ॥ ५—१२

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥

बृहस्पतिने राजाओंके लिये उद्योगके महत्त्वका प्रतिपादन किया है । उद्योग ही राजधर्मका मूल है । इस विषयमें जो श्लोक हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ १३ ॥

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥

'देवराज इन्द्रने उद्योगसे ही अमृत प्राप्त किया, उद्योगसे ही असुरोंका संहार किया तथा उद्योगसे ही देवलोक और इहलोकमें श्रेष्ठता प्राप्त की ॥ १४ ॥

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ १५ ॥

'जो उद्योगमें वीर है, वह पुरुष केवल वाग्वीर पुरुषोंपर अपना आधिपत्य जमा लेता है । वाग्वीर विद्वान् उद्योगवीर पुरुषोंका मनोरञ्जन करते हुए उनकी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः ।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ १६ ॥

'जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होनेपर भी विषहीन सर्पके समान सदैव शत्रुओंके द्वारा परास्त होता रहता है ॥ १६ ॥

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७॥

'बलवान् पुरुष कभी दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना न करे अर्थात् उसे छोटा समझकर उसकी ओरसे लापरवाही न दिखावे ; क्योंकि आग थोड़ी-सी हो तो भी जला डालती है और विष कम मात्रामें हो तो भी मार डालता है ॥ १७ ॥

एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः ।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥

'चतुरङ्गिणी सेनाके एक अङ्गसे भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्गका आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजाके समूचे देशको भी संतप्त कर डालता है' ॥ १८ ॥

राज्ञो रहस्यं यद् वाक्यं जयार्थं लोकसंग्रहः ।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणेन च यद् भवेत् ॥ १९ ॥
यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनैव धारयेत् ।
दम्भनार्थं च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत् क्रियाम् ॥ २० ॥

राजाके लिये जो गोपनीय रहस्यकी बात हो, शत्रुओंपर विजय पानेके लिये वह जो लोगोंका संग्रह करता हो, विजयके ही उद्देश्यसे उसके हृदयमें जो कार्य छिपा हो अथवा उसे जो न करने योग्य असत्कार्य करना हो, वह सब कुछ उसे सरलभावसे ही छिपाये रखना चाहिये । वह लोगोंमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये सदा धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान करे ॥ १९-२० ॥

राज्यं हि सुमहत् तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः ।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

राज्य एक बहुत बड़ा तन्त्र है । जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे क्रूर-स्वभाववाले राजा उस विशाल तन्त्रको सँभाल नहीं सकते । इसी प्रकार जो बहुत कोमल प्रकृतिके होते हैं, वे भी इसका भार वहन नहीं कर सकते । उनके लिये राज्य बड़ा भारी जंजाल हो जाता है ॥ २१ ॥

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते ।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! राज्य सबके उपभोगकी वस्तु है; अतः सदा सरल भावसे ही उसकी सँभाल की जा सकती है। इसलिये राजामें क्रूरता और कोमलता दोनों भावोंका मम्मिश्रण होना चाहिये॥२२॥

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः ।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥

प्रजाकी रक्षा करते हुए राजाके प्राण चले जायँ तो भी वह उसके लिये महान् धर्म है। राजाओंके व्यवहार और वर्ताव ऐसे ही होने चाहिये ॥ २३ ॥

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः ।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे सामने राजधर्मोंका लेशमात्र वर्णन किया है। अब तुम्हें जिस बातमें संदेह हो, वह पूछो ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासश्च भगवान् देवस्थानोऽश्म एव च।
वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः संजयस्तथा ॥ २५ ॥
साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्प्यमाणैरिवाननैः ।
अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! भीष्मजीका यह वक्तव्य सुनकर भगवान् व्यास, देवस्थान, अश्म, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और संजय बड़े प्रसन्न हुए और हर्षसे खिले हुए मुखोंद्वारा साधुवाद देते हुए धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २५-२६॥

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन्॥ २७ ॥
श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने मन-ही-मन दुखी हो दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर धीरेसे भीष्मजीके चरण छूए और कहा— 'पितामह ! इस समय भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीके रसका शोषण करके अस्ताचलको जा रहे हैं; इसलिये अब मैं कल आपसे अपना संदेह पूछूँगा' ॥ २७-२८ ॥

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः
कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं
ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥ २९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंको प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा युधिष्ठिर आदिने महानदी गङ्गाके पुत्र भीष्मजीकी परिक्रमा की। फिर वे प्रसन्नतापूर्वक अपने रथोंपर आरूढ़ हो गये ॥ २९ ॥

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः
कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः ।
उपास्य संध्यां विधिवत् परंतपा-
स्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥ ३० ॥

फिर दृषद्वती नदीमें स्नान करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे शत्रुसंतापी वीर विधिपूर्वक संध्या, तर्पण और जप आदि मङ्गलकारी कर्मोंका अनुष्ठान करके वहाँसे हस्तिनापुरमें चले आये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरादिस्वस्थानगमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका अपने निवास-स्थानको प्रस्थानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रका तथा राजा पृथुके चरित्रका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दूसरे दिन सबेरे उठकर पाण्डव और यदुवंशी वीर पूर्वाह्णकालके नित्य-कर्म पूर्ण करनेके अनन्तर नगराकार विशाल रथोंपर सवार हो हस्तिनापुरसे चल दिये ॥ १ ॥

प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गाङ्गेयं रथिनां वरम् ॥ २ ॥
व्यासादीनभिवाद्यर्षीन् सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! कुरुक्षेत्रमें जा रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास पहुँचकर उनसे सुखपूर्वक रात बीतनेका समाचार पूछकर व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके उन सबके द्वारा अभिनन्दित हो वे पाण्डव और श्रीकृष्ण भीष्मजीको सब ओरसे घेरकर उनके पास ही बैठ गये ॥ २-३ ॥

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ॥ ४ ॥

तब महातेजस्वी राजा धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मजीका विधिपूर्वक पूजन करके उनसे दोनों हाथ जोड़कर कहा ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परंतप॥ ५॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतवंशी नरेश! लोकमें जो यह राजा शब्द चल रहा है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥ ५॥

तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः॥ ६॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान्॥ ७॥
समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति॥ ८॥

जिसे हम राजा कहते हैं, वह सभी गुणोंमें दूसरोंके समान ही है। उसके हाथ, बाँह और गर्दन भी औरोंकी ही भाँति हैं। बुद्धि और इन्द्रियाँ भी दूसरे लोगोंके ही तुल्य हैं। उसके मनमें भी दूसरे मनुष्योंके समान ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। मुँह, पेट, पीठ, वीर्य, हड्डी, मज्जा, मांस, रक्त, उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, शरीर, जन्म और मरण आदि सभी बातें राजामें भी दूसरोंके समान ही हैं। फिर वह विशिष्ट बुद्धि रखनेवाले अनेक शूरवीरोंपर अकेला ही कैसे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है?॥ ६—८॥

कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम्।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति॥ ९॥

अकेला होनेपर भी वह शूरवीर एवं सत्पुरुषोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका कैसे पालन करता है और कैसे सम्पूर्ण जगत्‌की प्रसन्नता चाहता है?॥ ९॥

एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः॥ १०॥

यह निश्चित रूपसे देखा जाता है कि एकमात्र राजाकी प्रसन्नतासे ही सारा जगत् प्रसन्न होता है और उस एकके ही व्याकुल होनेपर सब लोग व्याकुल हो जाते हैं॥ १०॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ! इसका क्या कारण है? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह! यह सारा रहस्य मुझे यथावत् रूपसे बताइये॥ ११॥

नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते।
यदेकस्मिन् जगत् सर्वं देववद् याति संनतिम्॥ १२॥

प्रजानाथ! यह सारा जगत् जो एक ही व्यक्तिको देवताके समान मानकर उसके सामने नतमस्तक हो जाता है, इसका कोई स्वल्प कारण नहीं हो सकता॥ १२॥

भीष्म उवाच

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत्॥ १३॥

भीष्मजीने कहा—पुरुषसिंह! आदि सत्ययुगमें जिस प्रकार राजा और राज्यकी उत्पत्ति हुई, वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो॥ १३॥

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ १४॥

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, समस्त प्रजा धर्मके द्वारा ही एक दूसरेकी रक्षा करती थी॥ १४॥

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्॥ १५॥

भारत! सब मनुष्य धर्मके द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ दिनोंके बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षणके कार्यमें महान् कष्टका अनुभव करने लगे; फिर उन सबपर मोह छा गया॥ १५॥

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥ १६॥

नरश्रेष्ठ! जब सारे मनुष्य मोहके वशीभूत हो गये, तब कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण उनके धर्मका नाश हो गया॥ १६॥

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥ १७॥

भरतभूषण! कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जानेपर मोहके वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभके अधीन हो गये॥ १७॥

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥ १८॥

फिर जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पानेका वे प्रयत्न करने लगे। प्रभो! इतनेहीमें वहाँ काम नामक दूसरे दोषने उन्हें घेर लिया॥ १८॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर॥ १९॥

युधिष्ठिर! कामके अधीन हुए उन मनुष्योंपर राग नामक शत्रुने आक्रमण किया। रागके वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य?॥

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन्॥ २०॥

राजेन्द्र! उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष कुछ भी नहीं छोड़ा॥ २०॥

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत्॥ २१॥

इस प्रकार मनुष्यलोकमें धर्मका विप्लव हो जानेपर वेदोंके स्वाध्यायका भी लोप हो गया। राजन्! वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ आदि कर्मोंका भी नाश हो गया॥ २१॥

राजासे हीन प्रजाकी ब्रह्माजीसे राजाके लिये प्रार्थना

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ २२ ॥

इस प्रकार जब वेद और धर्मका नाश होने लगा, तब देवताओंके मनमें भय समा गया। पुरुषसिंह! वे भयभीत होकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ २२ ॥

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ २३ ॥

लोकपितामह भगवान् ब्रह्माको प्रसन्न करके दुःखके वेगसे पीड़ित हुए समस्त देवता उनसे हाथ जोड़कर बोले—॥

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥

'भगवन्! मनुष्यलोकमें लोभ, मोह आदि दूषित भावोंने सनातन वैदिक ज्ञानको विलुप्त कर डाला है; इसलिये हमें बड़ा भय हो रहा है ॥ २४ ॥

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥२५॥

'ईश्वर! तीनों लोकोंके स्वामी परमेश्वर! वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ-धर्म नष्ट हो गया। इससे हम सब देवता मनुष्योंके समान हो गये हैं ॥ २५ ॥

अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः।
क्रियाव्युपरमात् तेषां ततो गच्छाम संशयम् ॥२६॥

'मनुष्य यज्ञ आदिमें घीकी आहुति देकर हमारे लिये ऊपरकी ओर वर्षा करते थे और हम उनके लिये नीचेकी ओर पानी बरसाते थे; परंतु अब उनके यज्ञकर्मका लोप हो जानेसे हमारा जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ २६ ॥

अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद् ध्यायस्व पितामह।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥ २७॥

'पितामह! अब जिस उपायसे हमारा कल्याण हो सके, वह सोचिये। आपके प्रभावसे हमें जो दैवस्वभाव प्राप्त हुआ था, वह नष्ट हो रहा है' ॥ २७ ॥

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥ २८ ॥

तब भगवान् ब्रह्माने उन सब देवताओंसे कहा—'सुरश्रेष्ठगण! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। मैं तुम्हारे कल्याणका उपाय सोचूँगा' ॥ २८ ॥

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ २९ ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायोंका एक ऐसा नीति-शास्त्र रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और कामका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जिसमें इन वर्गोंका वर्णन हुआ है, वह प्रकरण 'त्रिवर्ग'नामसे विख्यात है ॥ २९½ ॥

चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ ३० ॥

चौथा वर्ग मोक्ष है; उसके प्रयोजन और गुण इन तीनों वर्गोंसे भिन्न हैं ॥ ३० ॥

मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥

मोक्षका त्रिवर्ग दूसरा बताया गया है। उसमें सत्त्व, रज और तमकी गणना है। दण्डजनित त्रिवर्ग उससे भिन्न है। स्थान, वृद्धि और क्षय—ये ही उसके भेद हैं (अर्थात् दण्डसे धनियोंकी स्थिति, धर्मात्माओंकी वृद्धि और दुष्टोंका विनाश होता है) ॥ ३१ ॥

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीके नीति-शास्त्रमें आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक—इन छः वर्गोंका वर्णन है। ये छहों नीतिद्वारा संचालित होनेपर उन्नतिके कारण होते हैं ॥३२॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस ग्रन्थमें वेदत्रयी (कर्मकाण्ड), आन्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्ड), वार्ता (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) और दण्डनीति—इन विपुल विद्याओंका निरूपण किया गया है ॥ ३३ ॥

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम्।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ ३४ ॥
साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीके उस नीतिशास्त्रमें मन्त्रियोंकी रक्षा (उन्हें कोई फोड़ न ले, इसके लिये सतर्कता), प्रणिधि (राजदूत), राजपुत्रके लक्षण, गुप्तचरोंके विचरणके विविध उपाय, विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न प्रकारके गुप्तचरोंकी नियुक्ति, साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन पाँचों उपायोंका पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है ॥ ३४-३५ ॥

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च।
विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्ध्योश्च यत् फलम्॥३६॥

सब प्रकारकी मन्त्रणा, भेद-नीतिके प्रयोगके प्रयोजन, मन्त्रणामें होनेवाले भ्रम या उसके फूटनेके भय तथा मन्त्रणाकी सिद्धि और असिद्धिके फलका भी इस शास्त्रमें वर्णन है ॥ ३६ ॥

संधिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः।
भयसत्कारवित्ताख्यं कार्त्स्न्येन परिवर्णितम् ॥ ३७ ॥

संधिके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इनकी क्रमशः वित्तसंधि, सत्कारसंधि और भयसंधि—ये तीन संज्ञाएँ हैं। धन लेकर जो संधि की जाती है, वह वित्तसंधि उत्तम है। सत्कार पाकर की हुई दूसरी संधि मध्यम

है और भयके कारण की जानेवाली तीसरी संधि अधम मानी गयी है। इन सबका उस ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक वर्णन है॥

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः।
विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥
आसुरश्चैव विजयस्तथा कार्त्स्न्येन वर्णितः।
लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥ ३९ ॥

शत्रुओंपर चढ़ाई करनेके चार[1] अवसर, त्रिवर्गके विस्तार, धर्म-विजय, अर्थ-विजय तथा आसुर विजयका भी उक्त ग्रन्थमें पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष—इन पाँच वर्गोंके उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारके लक्षणोंका भी प्रतिपादन किया गया है॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥ ४० ॥

प्रकट और गुप्त दो प्रकारकी सेनाओंका भी वर्णन किया गया है। उनमें प्रकट सेना आठ प्रकारकी बतायी गयी है और गुप्त सेनाका विस्तार बहुत अधिक कहा गया है॥४०॥

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ ४१ ॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु।

कुरुवंशी पाण्डुनन्दन! हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, बेगारमें पकड़े गये बोझ ढोनेवाले लोग, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्यका उपदेश करनेवाले गुरु—ये सेनाके प्रकट आठ अङ्ग हैं॥ ४१½ ॥

जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ ४२ ॥

सेनाके गुप्त अङ्ग हैं जङ्गम (सर्पादिजनित) और अजङ्गम (पेड़-पौदोंसे उत्पन्न) विष आदि चूर्णयोग अर्थात् विनाशकारक ओषधियाँ॥ ४२ ॥

स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः।
अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥ ४३ ॥

यह गोपनीय दण्डसाधन (विष आदि) शत्रुपक्षके लोगोंके वस्त्र आदिके साथ स्पर्श कराने अथवा उनके भोजनमें मिला देनेके उपयोगमें आता है। विभिन्न मन्त्रोंके जपका प्रयोग भी पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें बताया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें शत्रु, मित्र और उदासीनका भी बारंबार वर्णन किया गया है॥ ४३ ॥

कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह।
आत्मरक्षणमाश्वासः स्पर्शानां चान्ववेक्षणम् ॥ ४४ ॥

तथा मार्गके समस्त गुण, भूमिके गुण, आत्मरक्षाके उपाय, आश्वासन तथा रथ आदिके निर्माण और निरीक्षण आदिका भी वर्णन है॥ ४४ ॥

कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम्।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥ ४५ ॥
उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम्।
शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

सेनाको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकारके योग, हाथी, घोड़ा रथ और मनुष्य-सेनाकी भाँति-भाँतिकी व्यूह-रचना, नाना प्रकारके युद्धकौशल, जैसे ऊपर उछल जाना, नीचे झुककर अपनेको बचा लेना, सावधान होकर भलीभाँति युद्ध करना, कुशलतापूर्वक वहाँसे निकल भागना—इन सब उपायोंका भी इस ग्रन्थमें वर्णन है। भरतश्रेष्ठ! शस्त्रोंके संरक्षण और प्रयोगके ज्ञानका भी उसमें उल्लेख है॥ ४५-४६ ॥

बलव्यसनमुक्तं च तथैव बलहर्षणम्।
पीडा चापत्कालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥ ४७ ॥

पाण्डुकुमार! विपत्तिसे सेनाओंका उद्धार करना, सैनिकोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, पीड़ा और आपत्तिके समय पैदल सैनिकोंकी स्वामिभक्तिकी परीक्षा करना—इन सब बातोंका उस शास्त्रमें वर्णन किया गया है॥ ४७ ॥

तथा खातविधानं च योगः संचार एव च।
चौरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥
अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ ४९ ॥
दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च।
आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥ ५० ॥

दुर्गके चारों ओर खाई खुदवाना, सेनाका युद्धके लिये सुसज्जित होना तथा रणयात्रा करना, चोरों और भयानक जंगली लुटेरोंद्वारा शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देना, आग लगानेवाले, जहर देनेवाले, छद्मवेशधारी लोगोंद्वारा भी शत्रुको हानि पहुँचाना तथा एक-एक शत्रुदलके प्रधान-प्रधान लोगोंमें भेद उत्पन्न करना, फसल और पौधोंको काट लेना, हाथियोंको भड़काना, लोगोंमें आतङ्क उत्पन्न करना, शत्रुओंमें अनुरक्त पुरुषको अनुनय आदिके द्वारा फोड़ लेना और शत्रुपक्षके लोगोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराना आदि उपायोंसे शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देनेकी कलाका भी ब्रह्माजीके उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है॥ ४८—५० ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्जसम्।
दूतसामर्थ्यसंयोगात् सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥ ५१ ॥
अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक् चोक्तं प्रपञ्चनम्।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके ह्रास, वृद्धि और समान भावसे स्थिति, दूतके सामर्थ्यसे होनेवाली अपनी और अपने राष्ट्रकी वृद्धि, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंका विस्तारपूर्वक सम्यक्

[1] १. शत्रुपर चढ़ाई करनेके चार अवसर ये हैं—(१) अपने मित्रोंकी वृद्धि। (२) अपने कोशका भरपूर संग्रह। (३) शत्रुके मित्रोंका नाश। (४) शत्रुके कोशकी हानि।

विवेचन, बलवान् शत्रुओंको कुचल डालने तथा उनसे टक्कर लेनेकी विधि आदिका उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है ॥

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥ ५३ ॥

शासनसम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म व्यवहार, कण्टक-शोधन (राज्यकार्यमें विघ्न डालनेवालेको उखाड़ फेंकना), परिश्रम, व्यायाम-योग तथा धनके त्याग और संग्रहका भी उसमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ५३ ॥

अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥ ५४ ॥

जिनके भरण-पोषणका कोई उपाय न हो, उनके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना, जिनके भरण-पोषणकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे की गयी हो उनकी देखभाल करना, समय-पर धनका दान करना, दुर्व्यसनमें आसक्त न होना आदि विविध विषयोंका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५४ ॥

तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।
कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥

राजाके गुण, सेनापतिके गुण, अर्थ, धर्म और कामके साधन तथा उनके गुण-दोषका भी उसमें निरूपण किया गया है ॥ ५५ ॥

दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥ ५६ ॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥ ५७ ॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहैतुकमुच्यते ।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥ ५८ ॥

भाँति-भाँतिकी दुश्चेष्टा, अपने सेवकोंकी जीविकाका विचार, सबके प्रति सशङ्क रहना, प्रमादका परित्याग करना, अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना, प्राप्त हुई वस्तुको सुरक्षित रखते हुए उसे बढ़ाना और बढ़ी हुई वस्तुका सुपात्रोंको विधिपूर्वक दान देना—यह धनका पहला उपयोग है । धर्मके लिये धनका त्याग उसका दूसरा उपयोग है, कामभोगके लिये उसका व्यय करना तीसरा और संकट-निवारणके लिये उसे खर्च करना उसका चौथा उपयोग है। इन सब बातोंका उस ग्रन्थमें भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ५६–५८ ॥

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥ ५९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! क्रोध और कामसे उत्पन्न होनेवाले जो यहाँ दस प्रकारके भयंकर व्यसन हैं, उनका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५९ ॥

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ ! नीतिशास्त्रके आचार्योंने जो मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्रीप्रसङ्ग—ये चार प्रकारके कामजनित व्यसन बताये हैं, उन सबका इस ग्रन्थमें ब्रह्माजीने प्रतिपादन किया है ॥ ६० ॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥

वाणीकी कटुता, उग्रता, दण्डकी कठोरता, शरीरको कैद कर लेना, किसीको सदाके लिये त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना—ये छः प्रकारके क्रोधजनित व्यसन उक्त ग्रन्थमें बताये गये हैं ॥ ६१ ॥

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥ ६२ ॥

नाना प्रकारके यन्त्रों और उनकी क्रियाओंका भी वर्णन किया गया है । शत्रुके राष्ट्रको कुचल देना, उसकी सेनाओंपर चोट करना और उनके निवास-स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देना—इन सब बातोंका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् ।
अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥ ६३ ॥

शत्रुकी राजधानीके चैत्य वृक्षोंका विध्वंस करा देना, उसके निवास-स्थान और नगरपर चारों ओरसे घेरा डालना आदि उपायोंका तथा कृषि एवं शिल्प आदि कर्मोंका उपदेश, रथके विभिन्न अवयवोंका निर्माण, ग्राम और नगर आदिमें निवास करनेकी विधि तथा जीवननिर्वाहके अनेक उपायोंका भी उक्त ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६३ ॥

पणवानकशङ्खानां भेरीणां च युधिष्ठिर ।
उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर ! ढोल, नगारे, शङ्ख, भेरी आदि रणवाद्योंको बजाने, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण—इन छः प्रकारके द्रव्योंका अपने लिये उपार्जन करने तथा शत्रु-पक्षकी इन वस्तुओंका विनाश कर देनेका भी इस शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६४ ॥

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् ।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥ ६५ ॥
मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥ ६६ ॥

अपने अधिकारमें आये हुए देशोंमें शान्ति स्थापित करना, सत्पुरुषोंका सत्कार करना, विद्वानोंके साथ एकता (मेल-जोल) बढ़ाना, दान और होमकी विधिको जानना, माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना, शरीरको वस्त्र और आभूषणोंसे सजाना, भोजनकी व्यवस्था करना और सर्वदा आस्तिक बुद्धि रखना–इन सब बातोंका भी उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६५-६६ ॥

एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः ।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥

मनुष्य अकेला होकर भी किस प्रकार उत्थान (उन्नति) करे ? इसका विचार, सत्यता, उत्सवों और समाजोंमें मधुर वाणीका प्रयोग तथा गृहसम्बन्धी क्रियाएँ—इन सबका वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ ।
वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥

भरतवंशके सिंह युधिष्ठिर ! समस्त न्यायालयोंमें जो प्रत्यक्ष और परोक्ष विचार होते हैं तथा वहाँ जो राजकीय पुरुषोंके व्यवहार होते हैं, उन सबका प्रतिदिन निरीक्षण करना चाहिये । इसका भी उक्त शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६८ ॥

अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् ।
अनुजीविस्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥ ६९ ॥

ब्राह्मणोंको दण्ड न देनेका, अपराधियोंको युक्तिपूर्वक दण्ड देनेका, अपने पीछे जिनकी जीविका चलती हो उनकी, अपने जाति-भाइयोंकी तथा गुणवान् पुरुषोंकी भी उन्नति करनेका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६९ ॥

रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।
मण्डलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका॥ ७० ॥

राजन् ! पुरवासियोंकी रक्षा, राज्यकी वृद्धि तथा द्वादश[1] राजमण्डलोंके विषयमें जो चिन्तन किया जाता है, उसका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख हुआ है ॥ ७० ॥

द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥

वैद्यक शास्त्रके अनुसार बहत्तर प्रकारकी शारीरिक चिकित्सा तथा देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ७१ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥ ७२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर! इस ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका,इनकी प्राप्तिके उपायोंका तथा नाना प्रकार-की धन-लिप्साका भी वर्णन है ॥ ७२ ॥

मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिराम्भसाम् ॥ ७३ ॥

इस ग्रन्थमें कोशकी वृद्धि करनेवाले जो कृषि, वाणिज्य आदि मूल कर्म हैं, उनके करनेका प्रकार बताया गया है । मायाके प्रयोगकी विधि समझायी गयी है । स्रोतजल और अस्थिरजलके दोषोंका वर्णन किया गया है ॥ ७३ ॥

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत् सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥ ७४ ॥

राजसिंह ! जिन-जिन उपायोंद्वारा यह जगत् सन्मार्गसे विचलित न हो, उन सबका इस नीति-शास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ७४ ॥

एतत् कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥

इस शुभ शास्त्रका निर्माण करके जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार बोले—॥ ७५ ॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥

'देवगण ! सम्पूर्ण जगत्के उपकार तथा धर्म, अर्थ एवं कामकी स्थापनाके लिये वाणीका सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया ॥ ७६ ॥

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥ ७७ ॥

'दण्ड-विधानके साथ रहनेवाली यह नीति सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाली है । यह दुष्टोंके निग्रह और साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रहमें तत्पर रहकर सम्पूर्ण जगत्में प्रचलित होगी॥ ७७॥

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीँल्लोकानभिवर्तते ॥ ७८ ॥

'इस शास्त्रके अनुसार दण्डके द्वारा जगत्का सन्मार्गपर स्थापन किया जाता है अथवा राजा इसके अनुसार प्रजावर्गमें दण्डकी स्थापना करता है; इसलिये यह विद्या दण्डनीतिके नामसे विख्यात है । इसका तीनों लोकोंमें विस्तार होगा॥ ७८॥

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥ ७९ ॥

'यह विद्या संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंका सारभूत है । महात्माओंमें इसका स्थान सबसे आगे होगा । इस शास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है' ॥ ७९ ॥

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८० ॥

तदनन्तर सबसे पहले भगवान् शङ्करने इस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया । वे बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ८० ॥

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ८१ ॥

---

१. पहला शत्रु राजा, दूसरा मित्र राजा, तीसरा शत्रुका मित्र, राजा,चौथा मित्रका मित्र राजा; पाँचवाँ शत्रुके मित्रका मित्र राजा, छठा अपने पृष्ठभागकी रक्षाके लिये स्वयं उपस्थित हुआ राजा, सातवाँ शत्रुकी सहायता एवं पृष्ठपोषणके लिये स्वयं उपस्थित राजा, आठवाँ अपने पक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, नवाँ शत्रुपक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, दसवाँ स्वयं विजयाभिलाषी नरेश, ग्यारहवाँ अपने और शत्रु दोनोंकी ओरसे मध्यस्थ राजा, बारहवाँ सबसे अधिक शक्तिशाली एवं उदासीन राजा—ये द्वादश राज-मण्डल कहे गये हैं ।

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।

विशालाक्ष भगवान् शिवने प्रजावर्गकी आयुका ह्रास होता जानकर ब्रह्माजीके रचे हुए इस महान् अर्थसे भरे हुए शास्त्रको संक्षिप्त किया था; इसलिये इसका नाम 'वैशालाक्ष' हो गया । फिर इसे इन्द्रने ग्रहण किया ॥ ८१½ ॥

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८२ ॥
भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः ।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥ ८३ ॥

महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दरने जब इसका अध्ययन किया, उस समय इसमें दस हजार अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका संक्षेप किया, जिससे यह पाँच हजार अध्यायोंका ग्रन्थ हो गया । तात ! वही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक'-नामक नीतिशास्त्रके रूपमें विख्यात हुआ ॥ ८२-८३ ॥

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

इसके बाद सामर्थ्यशाली बृहस्पतिने अपनी बुद्धिसे इसका संक्षेप किया, तबसे इसमें तीन हजार अध्याय रह गये । यही 'बार्हस्पत्य' नामक नीतिशास्त्र कहलाता है ॥ ८४ ॥

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥ ८५ ॥

फिर महायशस्वी, योगशास्त्रके आचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें उस शास्त्रका संक्षेप किया ॥ ८५ ॥

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥ ८६ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी आयुका ह्रास होता जानकर जगत्के हितके लिये महर्षियोंने इस शास्त्रका संक्षेप किया है ॥ ८६ ॥

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश॥ ८७॥

तदनन्तर देवताओंने प्रजापति भगवान् विष्णुके पास जाकर कहा—'भगवन् ! मनुष्योंमें जो एक पुरुष सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करनेका अधिकारी हो, उसका नाम बताइये' ॥ ८७ ॥

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ८८ ॥

तब प्रभावशाली भगवान् नारायणदेवने भलीभाँति सोच-विचारकर अपने तेजसे एक मानस पुत्रकी सृष्टि की, जो विरजाके नामसे विख्यात हुआ ॥ ८८ ॥

विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥ ८९ ॥

पाण्डुनन्दन ! महाभाग विरजाने पृथ्वीपर राजा होनेकी इच्छा नहीं की । उनकी बुद्धिने संन्यास लेनेका ही निश्चय किया ॥ ८९ ॥

कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत् सोऽपि पञ्चातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत् तपः ॥ ९० ॥

विरजाके कीर्तिमान् नामक एक पुत्र हुआ । वह भी पाँचों विषयोंसे ऊपर उठकर मोक्षमार्गका ही अवलम्बन करने लगा । कीर्तिमान्के पुत्र हुए कर्दम । वे भी बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ९० ॥

प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनङ्गो नाम वै सुतः ।
प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९१ ॥

प्रजापति कर्दमके पुत्रका नाम अनङ्ग था, जो कालक्रमसे प्रजाका संरक्षण करनेमें समर्थ, साधु तथा दण्डनीतिविद्यामें निपुण हुआ ॥ ९१ ॥

अनङ्गपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै ।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥ ९२ ॥

अनङ्गके पुत्रका नाम था अतिबल । वह भी नीतिशास्त्र-का ज्ञाता था, उसने विशाल राज्य प्राप्त किया । राज्य पाकर वह इन्द्रियोंका गुलाम हो गया ॥ ९२ ॥

मृत्योस्तु दुहिता राजन् सुनीथा नाम मानसी ।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु यासौ वेनमजीजनत् ॥ ९३ ॥

राजन् ! मृत्युकी एक मानसिक कन्या थी, जिसका नाम था सुनीथा । जो अपने रूप और गुणके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात थी । उसीने वेनको जन्म दिया था ॥ ९३ ॥

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥

वेन राग-द्वेषके वशीभूत हो प्रजाओंपर अत्याचार करने लगा । तब वेदवादी ऋषियोंने मन्त्रपूत कुशोंद्वारा उसे मार डाला ॥ ९४ ॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः ।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ॥ ९५ ॥

फिर वे ही ऋषि मन्त्रोच्चारणपूर्वक वेनकी दाहिनी जङ्घाका मन्थन करने लगे । उससे इस पृथ्वीपर एक नाटे कदका मनुष्य उत्पन्न हुआ, जिसकी आकृति बेडौल थी ॥ ९५ ॥

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥

वह जले हुए खम्भेके समान जान पड़ता था । उसकी आँखें लाल और काले बाल थे । वेदवादी महर्षियोंने उसे देखकर कहा—'निषीद' बैठ जाओ ॥ ९६ ॥

तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥ ९७ ॥

उसीसे पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले क्रूर निषादोंकी उत्पत्ति हुई तथा दूसरे जो विन्ध्यगिरिके निवासी लाखों म्लेच्छ थे, उनका भी प्रादुर्भाव हुआ ॥ ९७ ॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥

इसके बाद फिर महर्षियोंने वेनके दाहिने हाथका मन्थन

किया। उससे एक दूसरे पुरुषका प्राकट्य हुआ, जो रूपमें देवराज इन्द्रके समान थे ॥ ९८ ॥

कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ ९९ ॥

वे कवच धारण किये, कमरमें तलवार बाँधे तथा धनुष और बाण लिये प्रकट हुए थे। उन्हें वेदों और वेदान्तोंका पूर्ण ज्ञान था। वे धनुर्वेदके भी पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ९९ ॥

तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन् नरोत्तमम्।
ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥१००॥

राजन्! नरश्रेष्ठ वेनकुमारको सारी दण्डनीतिका स्वतः ज्ञान हो गया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन महर्षियोंसे कहा— ॥ १०० ॥

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥

'महात्माओ! धर्म और अर्थका दर्शन करानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि मुझे स्वतः प्राप्त हो गयी है। मुझे इस बुद्धिके द्वारा आपलोगोंकी कौन-सी सेवा करनी है, यह मुझे यथार्थ रूपसे बताइये ॥ १०१ ॥

यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०२॥

'आपलोग मुझे जिस किसी भी प्रयोजनपूर्ण कार्यके लिये आज्ञा देंगे, उसे मैं अवश्य पूरा करूँगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १०२ ॥

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥१०३॥

तब वहाँ देवताओं और उन महर्षियोंने उनसे कहा— 'वेननन्दन! जिस कार्यमें नियमपूर्वक धर्मकी सिद्धि होती हो, उसे निर्भय होकर करो ॥ १०३ ॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥१०४॥

'प्रिय और अप्रियका विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ और मानको दूर हटाकर समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खो ॥ १०४ ॥

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥१०५॥

'लोकमें जो कोई भी मनुष्य धर्मसे विचलित हो, उसे सनातन धर्मपर दृष्टि रखते हुए अपने बाहुबलसे परास्त करके दण्ड दो ॥ १०५ ॥

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०६॥

'साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'मैं मन, वाणी और क्रिया-द्वारा भूतलवर्ती ब्रह्म (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा ॥१०६॥

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०७॥

''वेदमें दण्डनीतिसे सम्बन्ध रखनेवाला जो नित्य धर्म बताया गया है, उसका मैं निःशङ्क होकर पालन करूँगा। कभी स्वच्छन्द नहीं होऊँगा' ॥ १०७ ॥

अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥१०८॥

''परंतप'प्रभो! साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'ब्राह्मण मेरे लिये अदण्डनीय होंगे तथा मैं सम्पूर्ण जगत्को वर्णसंकरता और धर्मसंकरतासे बचाऊँगा'' ॥ १०८ ॥

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥ १०९॥

तब वेनकुमारने उन देवताओं तथा उन अग्रवर्ती ऋषियोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ महात्माओ! महाभाग ब्राह्मण मेरे लिये सदा वन्दनीय होंगे' ॥ १०९ ॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥११०॥

उनके ऐसा कहनेपर उन वेदवादी महर्षियोंने उनसे इस प्रकार कहा 'एवमस्तु'। फिर शुक्राचार्य उनके पुरोहित हुए, जो वैदिक ज्ञानके भण्डार हैं ॥ ११० ॥

मन्त्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा।
महर्षिर्भगवान् गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥१११॥

वालखिल्यगण तथा सरस्वतीतटवर्ती महर्षियोंके समुदायने उनके मन्त्रीका कार्य सँभाला। महर्षि भगवान् गर्ग उनके दरबारके ज्योतिषी हुए ॥ १११ ॥

आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु।
उत्पन्नौ बन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥११२॥

मनुष्योंमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि स्वयं राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें थे *। उनके जन्मसे पहले ही सूत और मागध नामक दो बन्दी (स्तुतिपाठक) उत्पन्न हुए थे ॥ ११२ ॥

तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥११३॥

वेनके पुत्र प्रतापी राजा पृथुने उन दोनोंको प्रसन्न होकर पुरस्कार दिया। सूतको अनूप देश (सागरतटवर्ती प्रान्त) और मागधको मगध देश प्रदान किया ॥ ११३ ॥

समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११४॥

सुना जाता है कि पृथुके समय यह पृथ्वी बहुत ऊँची-नीची थी। उन्होंने ही इसे भलीभाँति समतल बनाया था॥ ११४॥

* १ विष्णु २ विरजा ३ कीर्तिमान् ४ कर्दम ५ अनङ्ग ६ अतिबल ७ वेन ८ पृथु। इस प्रकार गणना करनेपर राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें ज्ञात होते हैं।

राजा वेनके बाहु-मन्थनसे महाराज पृथुका प्राकट्य

मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही ।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान् समन्ततः ॥११५॥
धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः ।

महाराज ! सभी मन्वन्तरोंमें यह पृथ्वी ऊँची-नीची हो जाती है; उस समय वेनकुमार पृथुने धनुषकी कोटिद्वारा चारों ओरसे शिलासमूहोंको उखाड़ डाला और उन्हें एक स्थानपर संचित कर दिया; इसीलिये पर्वतोंकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बढ़ गयी ॥ ११५½ ॥

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ॥११६॥
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः ।

भगवान् विष्णु, देवताओंसहित इन्द्र, ऋषिसमूह, प्रजापतिगण तथा ब्राह्मणोंने पृथुका राजाके पदपर अभिषेक किया ॥ ११६½ ॥

तं साक्षात् पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ॥११७॥
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः ।
शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात् तस्मै युधिष्ठिर ॥११८॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! उस समय साक्षात् पृथ्वी देवी रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुई थी । सरिताओंके स्वामी समुद्र, पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमवान् तथा देवराज इन्द्रने अक्षय धन समर्पित किया ॥ ११७-११८ ॥

रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः ।
यक्षराक्षसभर्ता च भगवान् नरवाहनः ॥११९॥
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ।

सुवर्णमय पर्वत महामेरुने स्वयं आकर उन्हें सुवर्णकी राशि भेंट की । मनुष्योंपर सवारी करनेवाले यक्षराक्षसराज भगवान् कुबेरने भी उन्हें इतना धन दिया, जो उनके धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह करनेके लिये पर्याप्त हो ॥११९½॥

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ॥१२०॥
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! वेनपुत्र पृथुके चिन्तन करते ही उनकी सेवामें घोड़े, रथ, हाथी और करोड़ों मनुष्य प्रकट हो गये ॥

न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥१२१॥
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात् कदाचन ।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥१२२॥

उनके राज्यमें किसीको बुढ़ापा, दुर्भिक्ष तथा आधि-व्याधिका कष्ट नहीं था । राजाकी ओरसे रक्षाकी समुचित व्यवस्था होनेके कारण वहाँ कभी किसीको सर्पों, चोरों तथा आपसके लोगोंसे भय नहीं प्राप्त होता था ॥ १२१-१२२ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१२३॥

जिस समय वे समुद्रमें होकर चलते थे, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था । पर्वत उन्हें रास्ता दे देते थे, उनके रथकी ध्वजा कभी टूटी नहीं ॥ १२३ ॥

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च ।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥१२४॥

उन्होंने इस पृथ्वीसे सत्रह प्रकारके धान्योंका दोहन किया था, यक्षों, राक्षसों और नागोंमेंसे जिसको जो वस्तु अभीष्ट थी, वह उन्होंने पृथ्वीसे दुह ली थी ॥ १२४ ॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥१२५॥

उन महात्माने सम्पूर्ण जगत्में धर्मकी प्रधानता स्थापित कर दी थी । उन्होंने समस्त प्रजाओंका रंजन किया था; इसलिये वे 'राजा' कहलाते थे ॥ १२५ ॥

ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते ।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥१२६॥

ब्राह्मणोंको क्षतिसे बचानेके कारण वे क्षत्रिय कहे जाने लगे । उन्होंने धर्मके द्वारा इस भूमिको प्रथित किया—इसकी ख्याति बढ़ायी; इसलिये बहुसंख्यक मनुष्योंद्वारा यह 'पृथ्वी' कहलायी ॥ १२६ ॥

स्थापनं चाकरोद् विष्णुः स्वयमेव सनातनः ।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद् राजंस्त्वामिति भारत ॥१२७॥

भरतनन्दन ! स्वयं सनातन भगवान् विष्णुने उनके लिये यह मर्यादा स्थापित की कि 'राजन् ! कोई भी तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकेगा' ॥ १२७ ॥

तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम् ।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥१२८॥

राजा पृथुकी तपस्यासे प्रसन्न हो भगवान् विष्णुने स्वयं उनके भीतर प्रवेश किया था । समस्त नरेशोंमेंसे राजा पृथुको ही यह सारा जगत् देवताके समान मस्तक झुकाता था ॥

दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर ।
नाधर्षयेत् तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥१२९॥

नरेश्वर ! इसलिये तुम्हें गुप्तचर नियुक्त करके राज्यकी अवस्थापर दृष्टिपात करते हुए सदा दण्डनीतिके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये, जिससे कोई इसपर आक्रमण करनेका साहस न कर सके ॥ १२९ ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।
आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥१३०॥
को हेतुर्यद् वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात् ।

राजेन्द्र ! चित्त और क्रियाद्वारा समभाव रखनेवाले राजाका किया हुआ शुभ कर्म प्रजाके भलेके लिये ही होता है । उसके दैवी गुणके सिवा और क्या कारण हो सकता है, जिससे सारा देश उस एक ही व्यक्तिके अधीन रहे ? ॥ १३०½ ॥

विष्णोर्ललाटात् कमलं सौवर्णमभवत् तदा ॥१३१॥
श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः ।

उस समय भगवान् विष्णुके ललाटसे एक सुवर्णमय कमल प्रकट हुआ, जिससे बुद्धिमान् धर्मकी पत्नी श्रीदेवीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १३१½ ॥

श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥१३२॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता ।

पाण्डुनन्दन ! धर्मके द्वारा श्रीदेवीसे अर्थकी उत्पत्ति हुई । तदनन्तर धर्म, अर्थ और श्री—तीनों ही राज्यमें प्रतिष्ठित हुए ॥

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१३३॥
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारदः ।

तात ! पुण्यका क्षय होनेपर मनुष्य स्वर्गलोकसे पृथिवीपर आता और दण्डनीतिविशारद राजाके रूपमें जन्म लेता है ॥

महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ॥१३४॥
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति।

वह मनुष्य इस भूतलपर भगवान् विष्णुकी महत्तासे युक्त तथा बुद्धिसम्पन्न हो विशेष माहात्म्य प्राप्त कर लेता है ॥ १३४½ ॥

स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते ।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥१३५॥

तदनन्तर उसे देवताओंद्वारा राजाके पदपर स्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता। यह सारा जगत् उस एक ही व्यक्तिके वशमें स्थित रहता है, उसके ऊपर यह जगत् अपना शासन नहीं चला सकता ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३६॥

राजेन्द्र ! शुभ कर्मका परिणाम शुभ ही होता है, कभी तो अन्य मनुष्योंके समान होनेपर भी एकमात्र राजाकी आज्ञामें यह सारा जगत् स्थित रहता है ॥ १३६ ॥

योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत् सौम्यं सोऽस्य वशानुगः।
सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥१३७॥

जिसने राजाका सौम्य मुख देख लिया, वह उसके अधीन हो गया । प्रत्येक मनुष्य राजाको सौभाग्यशाली, धनवान् और रूपवान् देखता है ॥ १३७ ॥

महत्त्वात् तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ।
नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥१३८॥

पूर्वोक्त दण्डकी महत्तासे ही स्पष्ट लक्षणोंवाली नीति तथा न्यायोचित आचारका अधिक प्रचार होता है, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है ॥ १३८ ॥

आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः ।
तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥१३९॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ।
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥१४०॥

युधिष्ठिर ! पुराणशास्त्र, महर्षियोंकी उत्पत्ति, तीर्थसमूह, नक्षत्रसमुदाय, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम, होता आदि चार प्रकारके ऋत्विजोंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्म, चारों वर्ण और चारों विद्याओंका पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ १३९-१४० ॥

इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ।
तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्येन यः परः ॥१४१॥
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१४२॥

इतिहास, वेद, न्याय—इन सबका उसमें पूरा-पूरा वर्णन है । तप, ज्ञान, अहिंसाका तथा जो सत्य, असत्यसे परे है उसका और वृद्धजनोंकी सेवा, दान, शौच, उत्थान तथा समस्त प्राणियोंपर दया आदि सभी विषयोंका उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥

भुवि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ।
तस्मिन् पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न संशयः ॥१४३॥

पाण्डुनन्दन ! अधिक क्या कहा जाय ? जो कुछ इस पृथ्वीपर है और जो इसके नीचे है, उस सबका ब्रह्माजीके पूर्वोक्त शास्त्रमें समावेश किया गया है, इसमें संशय नहीं है ॥

ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥१४४॥

राजेन्द्र ! प्रजानाथ ! तबसे जगत्में विद्वानोंने सदाके लिये यह घोषणा कर दी है कि 'देव और नरदेव (राजा) दोनों समान हैं' ॥ १४४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रति राजसु ।
कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तते ॥१४५॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार राजाओंका जो कुछ महत्त्व है, वह सब मैंने सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें बता दिया ! अब इस विषयमें तुम्हारे लिये और क्या जानना शेष रह गया है ? ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सूत्राध्यायविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५९॥

षष्टितमोऽध्यायः
वर्णधर्मका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मनको वशमें करके गङ्गानन्दन पितामह भीष्मको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—॥ १ ॥

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥

'पितामह ! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णोंके लिये उपयोगी हो सकते हैं । चारों वर्णोंके पृथक्-पृथक् धर्म कौन-से हैं ? चारों वर्णोंके साथ ही चारों आश्रमोंके भी धर्म कौन हैं तथा राजाके द्वारा पालन करने योग्य कौन-कौनसे धर्म माने गये हैं ? ॥ २ ॥

केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते ।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥

'राष्ट्रकी वृद्धि कैसे होती है, राजाका अभ्युदय किस उपायसे होता है ? भरतश्रेष्ठ ! पुरवासियों और भरण-पोषण करने योग्य सेवकोंकी उन्नति भी किस उपायसे होती है ? ॥

कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान् मन्त्रिणस्तथा।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् कीदृशान् वर्जयेन्नृपः ॥ ४ ॥

'राजाको किस प्रकारके कोश, दण्ड, दुर्ग, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्योंका त्याग कर देना चाहिये?॥

केषु विश्वसितव्यं स्याद् राज्ञा कस्याञ्चिदापदि।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

'पितामह ! किसी आपत्तिके आनेपर राजाको किन लोगोंपर विश्वास करना चाहिये और किन लोगोंसे अपने शरीरकी दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिये ? यह मुझे बताइये'॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है, विश्व-विधाता श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं उपस्थित ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मका वर्णन आरम्भ करता हूँ॥६॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥ ७ ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ॥ ८ ॥

किसीपर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धनको बाँटकर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नीके गर्भसे संतान पैदा करना, बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरलभाव रखना और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये नौ सभी वर्णोंके लिये उपयोगी धर्म हैं। अब मैं केवल ब्राह्मणका जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ ॥ ७-८॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ९ ॥

महाराज ! इन्द्रिय-संयमको ब्राह्मणोंका प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके सिवा, उन्हें सदा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि इसीसे उनके सब कर्मोंकी पूर्ति हो जाती है॥

तं चेद् द्विजमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥ १० ॥
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद् यजेत च।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ॥ ११ ॥

यदि अपने वर्णोचित कर्ममें स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त ब्राह्मणको किसी प्रकारके असत् कर्मका आश्रय लिये बिना ही धन प्राप्त हो जाय तो वह उस धनसे विवाह करके संतानकी उत्पत्ति करे अथवा उस धनको दान और यज्ञमें लगा दे। धनको बाँटकर ही भोगना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंका कथन है ॥ १०-११ ॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण केवल वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह दूसरा कर्म करे या न करे। सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखनेके कारण वह मैत्र कहलाता है ॥ १२ ॥

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रियका भी जो धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। राजन् ! क्षत्रिय दान तो करे, किंतु किसीसे याचना न करे; स्वयं यज्ञ करे, किंतु पुरोहित बनकर दूसरोंका यज्ञ न करावे ॥ १३ ॥

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥ १४ ॥

वह अध्ययन करे, किंतु अध्यापक न बने, प्रजाजनोंका सब प्रकारसे पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओंका वध करनेके लिये सदा तैयार रहे। रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करे॥

ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥ १५ ॥

इन राजाओंमें जो भूपाल बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले तथा वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं और जो युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले हैं, वे ही पुण्यलोकोंपर विजय प्राप्त करनेवालोंमें उत्तम हैं ॥ १५ ॥

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १६ ॥

जो क्षत्रिय शरीरपर घाव हुए बिना ही समरभूमिसे लौट आता है, उसके इस कर्मकी पुरातन धर्मको जाननेवाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद् दस्युनिबर्हणात् ॥१७॥
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥ १८ ॥

इस प्रकार युद्धको ही क्षत्रियोंके लिये प्रधान मार्ग बताया गया है, उसके लिये लुटेरोंके संहारसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है। यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठानसे भी राजाओंका कल्याण होता है, तथापि युद्ध उनके लिये सबसे बढ़कर है; अतः विशेषरूपसे धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये॥

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥ १९ ॥

राजा समस्त प्रजाओंको अपने-अपने धर्मोंमें स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मोंका धर्मके अनुसार अनुष्ठान करावे ॥ १९ ॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥ २० ॥

राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजाकी रक्षा करनेमात्रसे वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र देवतासम्बन्धी बलकी प्रधानता होनेसे राजा 'ऐन्द्र' कहलाता है ॥ २० ॥

वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥ २१ ॥

अब वैश्यका जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ ! दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धनका संग्रह—ये वैश्यके कर्म हैं ॥ २१ ॥

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥ २२॥

वैश्य सदा उद्योगशील रहकर पुत्रोंकी रक्षा करनेवाले पिताके समान सब प्रकारके पशुओंका पालन करे। इन कर्मोंके सिवा वह और जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिये विपरीत कर्म होगा ॥ २२ ॥

रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २३ ॥

पशुओंके पालनसे वैश्यको महान् सुखकी प्राप्ति हो सकती है। प्रजापतिने पशुओंकी सृष्टि करके उनके पालनका भार वैश्यको सौंप दिया था ॥ २३ ॥

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥

ब्राह्मण और राजाको उन्होंने सारी प्रजाके पोषणका भार सौंपा था। अब मैं वैश्यकी उस वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसका जीवन-निर्वाह हो ॥ २४ ॥

षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलां खुरे ॥ २५ ॥

वैश्य यदि राजा या किसी दूसरेकी छः दुधारू गौओंका एक वर्षतक पालन करे तो उनमेंसे एक गौका दूध वह स्वयं पीये (यही उसके लिये वेतन है)। यदि दूसरेकी एक सौ गौओंका वह पालन करे तो सालभरमें एक गाय और एक बैल मालिकसे वेतनके रूपमें ले ले। यदि उन पशुओंके दूध आदि बेचनेसे धन प्राप्त हो तो उसमें सातवाँ भाग वह अपने वेतनके रूपमें ग्रहण करे। सींग बेचनेसे जो धन मिले, उसमेंसे भी वह सातवाँ भाग ही ले; परंतु पशुविशेषका बहुमूल्य खुर बेचनेसे जो धन प्राप्त हो, उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिये ॥ २५ ॥

सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥ २६ ॥

दूसरेके अनाजकी फसलों तथा सब प्रकारके बीजोंकी रक्षा करनेपर वैश्यको उपजका सातवाँ भाग वेतनके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। यह उसके लिये वार्षिक वेतन है। वैश्यके मनमें कभी यह संकल्प नहीं उठना चाहिये कि 'मैं पशुओंका पालन नहीं करूँगा' ॥ २६ ॥

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ।
शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ॥ २७ ॥

जबतक वैश्य पशुपालनका कार्य करना चाहे, तबतक मालिकको दूसरे किसीके द्वारा किसी तरह भी वह कार्य नहीं कराना चाहिये, भारत ! अब मैं शूद्रका भी धर्म तुम्हें बता रहा हूँ ॥

प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥ २८ ॥

प्रजापतिने अन्य तीनों वर्णोंके सेवकके रूपमें शूद्रकी सृष्टि की है; अतः शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही शास्त्र-विहित कर्म है ॥ २८॥

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात् ।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥ २९ ॥

वह उन तीनों वर्णोंकी सेवासे ही महान् सुखका भागी हो सकता है। अतः शूद्र इन तीनों वर्णोंकी क्रमशः सेवा करे॥

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन ।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः ॥३०॥

शूद्रको कभी किसी प्रकार भी धनका संग्रह नहीं करना चाहिये; क्योंकि धन पाकर वह महान् पापमें प्रवृत्त हो जाता है और अपनेसे श्रेष्ठतम पुरुषोंको भी अपने अधीन रखने लगता है ॥ ३० ॥

राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा शूद्र राजाकी आज्ञा लेकर अपनी इच्छाके अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है। अब मैं उसकी वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसकी आजीविका चल सकती है ॥ ३१ ॥

अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च ॥ ३२ ॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ।

तीनों वर्णोंको शूद्रका भरण-पोषण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि वह भरण-पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवामें रहनेवाले शूद्रको उपभोगमें लाये हुए छाते, पगड़ी, अनुलेपन, जूते और पंखे देने चाहिये ॥

अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ॥ ३३ ॥
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ।

फटे-पुराने कपड़े, जो अपने धारण करने योग्य न रहें, वे द्विजातियोंद्वारा शूद्रको ही दे देने योग्य हैं; क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएँ शूद्रकी ही सम्पत्ति हैं ॥ ३३½ ॥

यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥ ३४ ॥
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः ।

द्विजातियोंमेंसे जिस किसीकी सेवा करनेके लिये कोई शूद्र आवे, उसीको उसकी जीविकाकी व्यवस्था करनी चाहिये; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ ३४½ ॥

देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥ ३५ ॥
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि ।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥ ३६ ॥

यदि स्वामी संतानहीन हो तो सेवा करनेवाले शूद्रको ही उसके लिये पिण्डदान करना चाहिये। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकारसे भरण-पोषण करना चाहिये। किसी आपत्तिमें भी शूद्रको अपने स्वामीका परित्याग

नहीं करना चाहिये। यदि स्वामीके धनका नाश हो जाय तो शूद्रको अपने कुटुम्बके पालनसे बचे हुए धनके द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥ ३७ ॥

शूद्रका अपना कोई धन नहीं होता। उसके सारे धनपर उसके स्वामीका ही अधिकार होता है। भरतनन्दन! यज्ञका अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्रके लिये भी आवश्यक बताया गया है। शूद्रके यज्ञमें स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग नहीं होता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३८ ॥

अतः शूद्र स्वयं वैदिक व्रतोंकी दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलिवैश्वदेव आदि) द्वारा यजन करे। पाकयज्ञकी दक्षिणा पूर्णपात्रमयी[1] बतायी गयी है ॥ ३८ ॥

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥

हमने सुना है कि पैजवन नामक शूद्रने ऐन्द्राग्न यज्ञकी विधिसे मन्त्रहीन यज्ञका अनुष्ठान करके उसकी दक्षिणाके रूपमें एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे ॥ ३९ ॥

यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका जो यज्ञ है वह सब सेवाकार्य करनेके कारण शूद्रका भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञोंमें पहले श्रद्धारूप यज्ञका ही विधान है ॥ ४० ॥

दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि श्रद्धा सबसे बड़ा देवता है। वही यज्ञ करनेवालोंको पवित्र करती है। ब्राह्मण साक्षात् यज्ञ करानेके कारण परम देवता माने गये हैं। सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मद्वारा एक दूसरेके यज्ञोंमें सहायक होते हैं ॥ ४१ ॥

अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४२ ॥

सभी वर्णके लोगोंने यहाँ यज्ञोंका अनुष्ठान किया है और उनके द्वारा वे मनोवाञ्छित फलोंसे सम्पन्न हुए हैं। ब्राह्मणोंने ही तीनों वर्णोंकी संतानोंकी सृष्टि की है ॥ ४२ ॥

देवानामपि ये देवा यद् ब्रूयुस्ते परं हितम्।
तस्माद् वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४३ ॥

जो देवताओंके भी देवता हैं, वे ब्राह्मण जो कुछ कहें, वही सबके लिये परम हितकारक है; अतः अन्य वर्णोंके लोग ब्राह्मणोंके बताये अनुसार ही सब यज्ञोंका अनुष्ठान करें, अपनी इच्छासे न करें ॥ ४३ ॥

ऋग्यजुःसामवित् पूज्यो नित्यं स्याद् देववद् द्विजः।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदका ज्ञाता ब्राह्मण सदा देवताके समान पूजनीय है। दास या शूद्र ऋक्, यजु और सामके ज्ञानसे शून्य होता है; तो भी वह 'प्राजापत्य' (प्रजापतिका भक्त) कहा गया है। तात! भरतनन्दन! मानसिक संकल्पद्वारा जो भावनात्मक यज्ञ होता है, उसमें सभी वर्णोंका अधिकार है ॥ ४४ ॥

नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४५ ॥

इस मानसिक यज्ञ करनेवाले यजमानके यज्ञमें देवता और मनुष्य सभी भाग ग्रहण करनेकी अभिलाषा रखते हैं; क्योंकि उसका यज्ञ श्रद्धाके कारण परम पवित्र होता है; अतः श्रद्धाप्रधान यज्ञ करनेका अधिकार सभी वर्णोंको प्राप्त है ॥

स्वं दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं
परान् वर्णानयजन्नैवमासीत्।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो
ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण अपने कर्मोंद्वारा ही सदा दूसरे वर्णोंके लिये अपने-अपने देवताके समान है; अतः वह दूसरे वर्णोंका यज्ञ न करता हो, ऐसी बात नहीं है। जिस यज्ञमें वैश्य आचार्य आदिके रूपमें कार्य कर रहा हो, वह निकृष्ट माना गया है। विधाताने केवल ब्राह्मणको ही तीनों वर्णोंका यज्ञ करानेके लिये उत्पन्न किया है ॥ ४६ ॥

तस्माद् वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः
संसृज्यन्ते तस्य विकार एव।
एकं साम यजुरेकमृगेका
विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥ ४७ ॥

विधाता एकमात्र ब्राह्मणसे ही अन्य तीन वर्णोंकी सृष्टि करते हैं, अतः शेष तीन वर्ण भी ब्राह्मणके समान ही सरल तथा उनके जाति-भाई या कुटुम्बी हैं। क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणकी संतान ही हैं। जैसे ऋक्, यजुः और साम एकमात्र अकारसे ही प्रकट होनेके कारण परस्पर अभिन्न हैं, उसी प्रकार उन सभी वर्णोंमें तत्त्वका निश्चय किया जाय तो एकमात्र ब्राह्मण ही उन सबके रूपमें प्रकट हुआ है, अतः ब्राह्मणके साथ सबकी अभिन्नता है ॥ ४७ ॥

अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र! प्राचीन बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें यज्ञकी अभिलाषा रखनेवाले वैखानस मुनियोंकी कही हुई

---

१. पूर्णपात्रका परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्नको 'किञ्चित्' कहते हैं, आठ किञ्चित्का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कलका एक 'पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठीका एक पूर्णपात्र होता है।

एक गाथाका उल्लेख किया करते हैं, जो यज्ञके सम्बन्धमें गायी गयी है ॥ ४८ ॥

उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥४९॥

'सूर्यके उदय होनेपर अथवा सूर्योदयसे पहले ही श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय मनुष्य जो धर्मके अनुसार अग्निमें आहुति देता है, उसमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है ॥ ४९ ॥

यत् स्कन्नमस्य तत् पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥ ५० ॥

(बह्वृच ब्राह्मणमें सोलह प्रकारके अग्निहोत्र बताये गये हैं) होताको किया हुआ जो हवन वायुदेवताके उद्देश्यसे होता है, वह स्कन्नसंज्ञक होम प्रथम है और उससे भिन्न जो स्कन्नसंज्ञक होम है, वह अन्तिम या सबसे उत्कृष्ट है। इसी प्रकार रौद्र आदि बहुतसे यज्ञ हैं, जो नाना प्रकारके कर्मफल देनेवाले हैं ॥ ५० ॥

तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ५१ ॥

उन षोडश प्रकारके अग्निहोत्रोंको जो जानता है, वही यज्ञ-सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञानसे सम्पन्न है। ऐसा ज्ञानी एवं श्रद्धालु द्विज ही यज्ञ करनेका अधिकारी है ॥ ५१ ॥

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः ।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५२ ॥

यदि कोई चोर हो, पापी हो अथवा पापाचारियोंमें भी सबसे महान् हो तो भी जो यज्ञ करना चाहता है, उसे सभी लोग 'साधु' ही कहते हैं ॥ ५२ ॥

ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् ।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः ॥ ५३ ॥

ऋषि भी उसकी प्रशंसा करते हैं। यह यज्ञकर्म श्रेष्ठ है, इसमें कोई संदेह नहीं है; अतः सभी वर्णके लोगोंको सदा सब प्रकारसे यज्ञ करना चाहिये, यही शास्त्रोंका निर्णय है ॥

न हि यज्ञसमं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तस्माद् यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता ।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंमें यज्ञके समान कुछ भी नहीं है; इसलिये मनुष्यको दोषदृष्टिका परित्याग करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार उत्तम श्रद्धापूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

आश्रमधर्मका वर्णन

भीष्म उवाच

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम ।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रमोंके नाम और कर्म सुनो ॥ १ ॥

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भैक्ष्यचर्य (संन्यास)—ये चार आश्रम हैं। चौथे आश्रम संन्यासका अवलम्बन केवल ब्राह्मणोंने किया है ॥ २ ॥

जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचर्य-आश्रममें) चूड़ाकरणसंस्कार और उपनयनके अनन्तर द्विजत्वको प्राप्त हो वेदाध्ययन पूर्ण करके (समावर्तनके पश्चात् विवाह करे, फिर) गार्हस्थ्य-आश्रममें अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मनस्वी पुरुष स्त्रीको साथ लेकर अथवा बिना स्त्रीके ही गृहस्थाश्रमसे कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करे ॥३-४॥

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥

वहाँ धर्मज्ञ पुरुष आरण्यकशास्त्रोंका अध्ययन करके वानप्रस्थ-धर्मका पालन करे। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक उस आश्रमसे निकल जाय और विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले। इस प्रकार संन्यास लेनेवाला पुरुष अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥

राजन्! विद्वान् ब्राह्मणको ऊर्ध्वरेता मुनियोंद्वारा आचरणमें लाये हुए इन्हीं साधनोंका सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिये ॥ ६ ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! जिसने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके मनमें यदि मोक्षकी अभिलाषा जाग उठे तो उसे ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करनेका उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः ।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

संन्यासीको चाहिये कि वह मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मुनिवृत्तिसे रहे। किसी वस्तुकी कामना न करे।

अपने लिये मठ या कुटी न बनवावे। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाय। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ८ ॥

निराशीः स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ९ ॥

आशा-तृष्णाका सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समान भाव रक्खे। भोगोंसे दूर रहे और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मोंके कारण इस आश्रमको 'क्षेमाश्रम' (कल्याणप्राप्तिका स्थान) कहते हैं। इस आश्रममें आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्मके साथ एकता प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः
संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो
गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥ १० ॥

अब गृहस्थाश्रमके धर्म सुनो—जो वेदोंका अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नीके गर्भसे संतान उत्पन्न कर उस आश्रमके न्यायोचित भोगोंको भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्मसे युक्त दुष्कर गार्हस्थ्यधर्मका पालन करता है, वह उत्तम है ॥ १० ॥

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी
नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः
सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥

गृहस्थको चाहिये कि वह अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करे। शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करता रहे। शठता और कुटिलता-से दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओंकी आराधनामें तत्पर रहे। उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रक्खे। किसीके प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमाभाव रक्खे ॥ ११ ॥

दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो
ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता
वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥ १२ ॥

गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियोंका संयम करे, गुरुजनों एवं शास्त्रोंकी आज्ञा माने, देवताओं और पितरोंकी तृप्तिके लिये हव्य और कव्य समर्पित करनेमें कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणों-को निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या-द्वेषसे दूर रहे, अन्य सब आश्रमोंको भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ-यागादिमें लगा रहे ॥ १२ ॥

अथात्र नारायणगीतमाहु-
र्महर्षयस्तात महानुभावाः।
महार्थमत्यन्ततपःप्रयुक्तं
तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥

तात! इस विषयमें महानुभाव महर्षिगण नारायण-गीतका उल्लेख किया करते हैं जो महान् अर्थसे युक्त और अत्यन्त तपस्याद्वारा प्रेरित होकर कहा गया है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ १३ ॥

सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके
ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत् ॥ १४ ॥

'गृहस्थ पुरुष इस लोकमें सत्य, सरलता, अतिथिसत्कार, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नीके प्रति अनुराग तथा सुखका सेवन करे। ऐसा होनेपर ही उसे परलोकमें भी सुख प्राप्त होते हैं, यह मेरा मत है' ॥ १४ ॥

भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्यमें निवास करनेवाले द्विजोंके लिये महर्षिगण यह कर्तव्य बताते हैं कि वह स्त्री और पुत्रोंका भरण-पोषण तथा वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय करे ॥ १५ ॥

एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो
गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत्।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्
स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार स्वभावतः यज्ञपरायण हो, गृहस्थ-धर्मका यथावत् रूपसे पालन करता है, वह गृहस्थ-वृत्तिका अच्छी तरह शोधन करके स्वर्गलोकमें विशुद्ध फलका भागी होता है ॥ १६ ॥

तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः ॥ १७ ॥

उस गृहस्थको देह-त्यागके पश्चात् उसके अभीष्ट मनोरथ अक्षयरूपसे प्राप्त होते हैं। वे उस पुरुषका संकल्प जानकर इस प्रकार अनन्तकालतकके लिये उसकी सेवामें उपस्थित हो जाते हैं, मानो उनके नेत्र, मस्तक और मुख सभी दिशाओं-की ओर हों ॥ १७ ॥

स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह अकेला ही वेदमन्त्रोंका चिन्तन और अभीष्ट मन्त्रोंका जप करते हुए सारे कार्य सम्पन्न करे, अपने शरीरमें मैल और कीचड़ लगी हो तो भी वह सेवाके लिये उद्यत हो एकमात्र आचार्यकी ही परिचर्यामें संलग्न रहे ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा ॥ १९ ॥

ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए व्रत एवं दीक्षाके पालनमें तत्पर रहे। वेदोंका स्वाध्याय करते हुए सदा कर्तव्य कर्मोंके पालनपूर्वक गुरु गृहमें निवास करे ॥ १९ ॥

शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च ।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥

निरन्तर गुरुकी सेवामें संलग्न रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे किये जानेवाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंसे अलग रहे और किसी भी असत् कर्ममें वह कभी प्रवृत्त न हो ॥ २० ॥

न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च ।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥

अपने अधिकारका प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे; द्वेष रखनेवालोंका सङ्ग न करे। वत्स युधिष्ठिर ! ब्रह्मचारीके लिये यही आश्रम-धर्म अभीष्ट है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चतुराश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मोंका वर्णनविषयक एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणधर्म और कर्तव्यपालनका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

शिवान् सुखान् महोदर्कानहिंस्राँल्लोकसम्मतान् ।
ब्रूहि धर्मान् सुखोपायान् मद्विधानां सुखावहान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! अब आप ऐसे धर्मोंका वर्णन कीजिये, जो कल्याणमय, सुखमय, भविष्यमें अभ्युदयकारी, हिंसारहित, लोकसम्मानित, सुखसाधक तथा मुझ-जैसे लोगोंके लिये सुखपूर्वक आचरणमें लाये जा सकते हों ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! भरतवंशावतंस युधिष्ठिर ! चारों आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही विहित हैं। अन्य तीनों वर्णोंके लोग उन सभी आश्रमोंका अनुसरण नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन्
स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि ।
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि
क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत् ॥ ३ ॥

राजन् ! क्षत्रियके लिये शास्त्रमें बहुत-से ऐसे स्वर्गसाधक कर्म बताये गये हैं, जो हिंसाप्रधान हैं, जैसे युद्ध ! परंतु ये कर्म ब्राह्मणके लिये आदर्श नहीं हो सकते; क्योंकि क्षत्रियके लिये सभी प्रकारके कर्मोंका यथोचित विधान है ॥ ३ ॥

क्षात्राणि वैश्यानि च सेवमानः
शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन् ।
अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः
परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥

जो ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका सेवन करता है, वह मन्दबुद्धि पुरुष इस लोकमें निन्दित और परलोकमें नरकगामी होता है ॥ ४ ॥

या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥ ५ ॥

पाण्डुनन्दन ! लोकमें दास, कुत्ते, भेड़िये तथा अन्य पशुओंके लिये जो निन्दासूचक संज्ञा दी गयी है, अपने वर्णधर्मके विपरीत कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणके लिये भी वही संज्ञा दी जाती है ॥ ५ ॥

षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसम्मिताः ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना तथा दान लेना और देना—इन छः कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, चारों आश्रमोंमें स्थित हो उनके सम्पूर्ण धर्मोंका पालन करता है, धर्ममय कवचसे सुरक्षित होता है और मनको वशमें किये रहता है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं होती, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध, तपस्यापरायण और उदार होता है, उसे अविनाशी लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६-७ ॥

यो यस्मिन् कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च ।
तादृशं तादृशेनैव स गुणं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

जो पुरुष जिस अवस्थामें, जिस देश अथवा कालमें, जिस उद्देश्यसे जैसा कर्म करता है, वह (उसी अवस्थामें वैसे ही देश अथवा कालमें) वैसे भावसे उस कर्मका वैसा ही फल पाता है ॥ ८ ॥

वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसंजीवनेन च ।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! वैश्यकी व्याज लेनेवाली वृत्ति, खेती और वाणिज्यके समान तथा क्षत्रियके प्रजापालनरूप कर्मके समान ब्राह्मणोंके लिये वेदाभ्यासरूपी कर्म ही महान् है—ऐसा तुम्हें समझना चाहिये ॥ ९ ॥

कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ॥ १० ॥

कालके उलट-फेरसे प्रभावित तथा स्वभावसे प्रेरित हुआ मनुष्य विवश-सा होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता है ॥ १० ॥

अन्तवन्ति प्रधानानि पुरा श्रेयस्कराणि च ।
स्वकर्मनिरतो लोके ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥

पहलेके जो कल्याणकारी और अमङ्गलकारी शुभाशुभ

कर्म हैं, वे ही प्रधान होकर इस शरीरका निर्माण करते हैं। इस शरीरके साथ ही उनका भी अन्त हो जाता है; परंतु जगत्‌में अपने वर्णाश्रमोचित कर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष तो हर अवस्थामें सर्वव्यापी और अविनाशी ही है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्मका वर्णन तथा राजधर्मकी श्रेष्ठता

भीष्म उवाच

ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणं च
कृषिर्वणिज्या पशुपालनं च।
शुश्रूषणं चापि तथार्थहेतो-
रकार्यमेतत् परमं द्विजस्य ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! धनुषकी डोरी खींचना, शत्रुओंको उखाड़ फेंकना, खेती, व्यापार और पशुपालन करना अथवा धनके उद्देश्यसे दूसरोंकी सेवा करना—ये ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध कर्म हैं ॥ १ ॥

सेव्यं तु ब्रह्म षट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥

मनीषी ब्राह्मण यदि गृहस्थ हो तो उसके लिये वेदोंका अभ्यास और यजन-याजन आदि छः कर्म ही सेवन करने योग्य हैं। गृहस्थ-आश्रमका उद्देश्य पूर्ण कर लेनेपर ब्राह्मणके लिये (वानप्रस्थी होकर) वनमें निवास करना उत्तम माना गया है ॥ २ ॥

राजप्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण राजाकी दासता, खेतीके द्वारा धनका उपार्जन, व्यापारसे जीवन-निर्वाह, कुटिलता, व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ व्यभिचारकर्म तथा सूदखोरी छोड़ दे ॥ ३ ॥

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धु-
र्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च
राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ॥ ४ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला, चुगलखोर, नाचनेवाला, राजसेवक तथा दूसरे-दूसरे विपरीत कर्म करनेवाला होता है, वह ब्राह्मणत्वसे गिरकर शूद्र हो जाता है ॥ ४ ॥

जपन् वेदानजपंश्चापि राजन्
समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति
राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ॥ ५ ॥

नरेश्वर! उपर्युक्त दुर्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करता हो या न करता हो, शूद्रोंके ही समान है। उसे दासकी भाँति पंक्तिसे बाहर भोजन कराना चाहिये। ये राज-सेवक आदि सभी अधम ब्राह्मण शूद्रोंके ही तुल्य हैं। राजन्! देवकार्यमें इनका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ
हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्
देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै ॥ ६ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण मर्यादाशून्य, अपवित्र, क्रूर स्वभाववाला, हिंसापरायण तथा अपने धर्म और सदाचारका परित्याग करनेवाला है, उसे हव्य-कव्य तथा दूसरे दान देना न देनेके ही बराबर है ॥ ६ ॥

तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य
दमः शौचमार्जवं चापि राजन्।
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव
पुरा राजन् ब्राह्मणा वै निसृष्टाः ॥ ७ ॥

अतः नरेश्वर! ब्राह्मणके लिये इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि और सरलताके साथ-साथ धर्माचरणका ही विधान है। राजन्! सभी आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही हैं क्योंकि सबसे पहले ब्राह्मणोंकी ही सृष्टि हुई है ॥ ७ ॥

यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, सोमयाग करके सोमरस पीनेवाला, सदाचारी, दयालु, सब कुछ सहन करनेवाला, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरतारहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है। उससे भिन्न जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये ॥ ८ ॥

शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राज-
ल्लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः।
तस्माद् वर्णाञ्शान्तिधर्मेष्वसक्तान्
मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ॥ ९ ॥

राजन्! पाण्डुनन्दन! धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले सभी लोग, सहायताके लिये शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियकी शरण लेते हैं। अतः जो वर्ण शान्तिधर्म (मोक्ष-साधन) में असमर्थ माने गये हैं, उनको भगवान् विष्णु शान्तिपरक धर्मका उपदेश करना नहीं चाहते ॥ ९ ॥

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्या-
च्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च
सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः ॥ १० ॥

यदि भगवान् विष्णु यथायोग्य विधान न करें तो लोकमें जो सब लोगोंको यह सुख आदि उपलब्ध है, वह न रह जाय।

चारों वर्ण तथा वेदोंके सिद्धान्त टिक न सकें। सम्पूर्ण यज्ञ तथा समस्त लोककी क्रियाएँ बंद हो जायँ तथा आश्रमोंमें रहनेवाले सब लोग तत्काल विनष्ट हो जायँ ॥ १० ॥

यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम् ।
चातुराश्रम्यदृष्टांश्च धर्मांस्ताञ्शृणु पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! जो राजा अपने राज्यमें तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के द्वारा शास्त्रोक्त रूपसे आश्रमधर्मका सेवन कराना चाहता हो, उसके लिये जानने योग्य जो चारों आश्रमोंके लिये उपयोगी धर्म हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥

शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः ।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥ १३ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है, शौच और सदाचारकी दृष्टिसे जिसमें अन्य त्रैवर्णिकोंकी अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त दस धर्मोंके पालनमें तत्पर रहा है*, वह शूद्र यदि राजाकी अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिये संन्यासको छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं॥

भैक्ष्यचर्या ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वोक्त धर्मोंका आचरण करनेवाले शूद्रके लिये तथा वैश्य और क्षत्रियके लिये भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करनेका विधान है ॥ १४ ॥

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥ १५ ॥

अपने वर्णधर्मका परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जानेपर राजाकी आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रमोंका ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।
संतानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥ १६ ॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर ।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान् यज्ञैर्ऋषीन् वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥ २० ॥
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् २१

निष्पाप नरेश ! राजाको चाहिये कि पहले धर्माचरणपूर्वक वेदों तथा राजशास्त्रोंका अध्ययन करे। फिर संतानोत्पादन आदि कर्म करके यज्ञमें सोमरसका सेवन करे । समस्त प्रजाओंका धर्मके अनुसार पालन करके राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञोंका अनुष्ठान करे । शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार सब सामग्री एकत्र करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे । संग्राममें अल्प या महान् विजय पाकर राज्यपर प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पुत्रको स्थापित कर दे । पुत्र न हो तो दूसरे गोत्रके किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको राज्यसिंहासनपर अभिषिक्त कर दे । वक्ताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय-शिरोमणि पाण्डुनन्दन ! पितृयज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक पितरोंका, देवयज्ञोंद्वारा देवताओंका तथा वेदोंके स्वाध्यायद्वारा ऋषियोंका यत्नपूर्वक भलीभाँति पूजन करके अन्तकाल आनेपर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमोंको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, वह क्रमशः आश्रमोंको अपनाकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १६—२१ ॥

राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्या न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥ २२ ॥

गृहस्थ-धर्मोंका त्याग कर देनेपर भी क्षत्रियको ऋषि-भावसे वेदान्तश्रवण आदि संन्यासधर्मका पालन करते हुए जीवन-रक्षाके लिये ही भिक्षाका आश्रय लेना चाहिये, सेवा करानेके लिये नहीं ॥ २२ ॥

न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥

पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले राजसिंह ! यह भैक्ष्यचर्या क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये नित्य या अनिवार्य कर्म नहीं है । चारों आश्रमवासियोंका कर्म उनके लिये ऐच्छिक ही बताया गया है ॥ २३ ॥

बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां
लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः ।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां
राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि ॥ २४ ॥

राजन् ! राजधर्म बाहुबलके अधीन होता है। वह क्षत्रियके लिये जगत्का श्रेष्ठतम धर्म है, उसका सेवन करनेवाले क्षत्रिय मानवमात्रकी रक्षा करते हैं । अतः तीनों वर्णोंके उपधर्मों-सहित जो अन्यान्य समस्त धर्म हैं । वे राजधर्मसे ही सुरक्षित रह सकते हैं, यह मैंने वेद-शास्त्रसे सुना है ॥ २४ ॥

यथा राजन् हस्तिपदे पदानि
संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान् निबोध ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! जैसे हाथीके पदचिह्नमें सभी प्राणियोंके पदचिह्न विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सब धर्मोंको सभी अवस्थाओंमें राजधर्मके भीतर ही समाविष्ट हुआ समझो ॥ २५ ॥

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति
धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः ।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं
क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥

* धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका त्याग, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान सत्यभाषण और क्रोधका अभाव—ये दस धर्मके लक्षण हैं ।

धर्मके ज्ञाता आर्य पुरुषोंका कथन है कि अन्य समस्त धर्मोंका आश्रय तो अल्प है ही, फल भी अल्प ही है। परंतु क्षात्रधर्मका आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परमकल्याणरूप हैं, अतः इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है॥

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः
सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजं-
स्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥ २७॥

सभी धर्मोंमें राजधर्म ही प्रधान है; क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णोंका पालन होता है। राजन्! राजधर्मोंमें सभी प्रकारके त्यागका समावेश है और ऋषिगण त्यागको सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते हैं॥ २७॥

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः
क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥ २८॥

यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातलको चले जायँ और वेदोंके नष्ट होनेसे समाजमें प्रचलित हुए सारे धर्मोंका नाश हो जाय। पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं, यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमोंके सम्पूर्ण धर्मोंका ही लोप हो जायगा॥ २८॥

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः
सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥ २९॥

राजाके धर्मोंमें सारे त्यागोंका दर्शन होता है, राजधर्मोंमें सारी दीक्षाओंका प्रतिपादन हो जाता है, राजधर्ममें सम्पूर्ण विद्याओंका संयोग सुलभ है तथा राजधर्ममें सम्पूर्ण लोकोंका समावेश हो जाता है॥ २९॥

यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना
धर्मश्रुतानामुपपीडनाय।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः
संचिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम्॥ ३०॥

व्याध आदि नीच प्रकृतिके मनुष्योंद्वारा मारे जाते हुए पशु-पक्षी आदि जीव जिस प्रकार घातकके धर्मका विनाश करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष यदि राजधर्मसे रहित हो जायँ तो धर्मका अनुसंधान करते हुए भी वे चोर-डाकुओंके उत्पातसे स्वधर्मके प्रति आदरका भाव नहीं रख पाते हैं और इस प्रकार जगत्‌की हानिमें कारण बन जाते हैं (अतः राजधर्म सबसे श्रेष्ठ है)॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन और इस विषयमें इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

वैशम्पायन उवाच

चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव।
लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—पाण्डुनन्दन! चारों आश्रमोंके धर्म, यतिधर्म तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्रधर्ममें प्रतिष्ठित हैं॥ १॥

सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम।
निराशिषो जीवलोकाः क्षत्रधर्मेऽव्यवस्थिते॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! ये सारे कर्म क्षात्रधर्मपर अवलम्बित हैं। यदि क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित न हो तो जगत्‌के सभी जीव अपनी मनोवाञ्छित वस्तु पानेसे निराश हो जायँ॥ २॥

अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम्।
प्ररूपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम्॥ ३॥

आश्रमवासियोंका सनातन धर्म अनेक द्वारवाला और अप्रत्यक्ष है, विद्वान् पुरुष शास्त्रोंद्वारा ही उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं॥ ३॥

अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम्।
अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः॥ ४॥

अतः दूसरे वक्तालोग जो धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, वे सुन्दर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा लोगोंके विश्वासको नष्ट कर तब वे श्रोतागण प्रत्यक्ष उदाहरण न पाकर परलोकमें नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ४॥

प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम्।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्॥ ५॥

जो धर्म प्रत्यक्ष है, अधिक सुखमय है आत्माके साक्षित्वसे युक्त है, छलरहित है तथा सर्वलोकहितकारी है, वह धर्म क्षत्रियोंमें प्रतिष्ठित है॥ ५॥

धर्माश्रमेऽध्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा॥ ६॥

युधिष्ठिर! जैसे तीनों वर्णोंके धर्मोंका पहले क्षत्रियधर्ममें अन्तर्भाव बताया गया है, उसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यति—इन तीनों आश्रमोंमें स्थित ब्राह्मणोंके धर्मोंका गार्हस्थ्याश्रममें समावेश होता है॥ ६॥

राजधर्मेष्वनुमता लोकाः सुचरितैः सह।
उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम्॥ ७॥
सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा।
जग्मुः सुबहुशः शूरा राजानो दण्डनीतये॥ ८॥

राजेन्द्र! उत्तम चरित्रों (धर्मों) सहित सम्पूर्ण लोक राजधर्ममें अन्तर्भूत हैं। यह बात मैं तुमसे कह चुका हूँ। किसी समय बहुतसे शूरवीर नरेश दण्डनीतिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण

भूतोंके स्वामी महातेजस्वी सर्वव्यापी भगवान् नारायण देवकी शरणमें गये थे ॥ ७-८ ॥

एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाऽऽश्रमं पुरा ।
राजानः पर्युपासन्त दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ९ ॥

वे पूर्वकालमें आश्रमसम्बन्धी एक-एक कर्मकी दण्डनीतिके साथ तुलना करके संशयमें पड़ गये कि इनमें कौन श्रेष्ठ है? अतः सिद्धान्त जाननेके लिये उन राजाओंने भगवान्‌की उपासना की थी ॥ ९ ॥

साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च
रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
सृष्टाः पुरा ह्यादिदेवेन देवाः
क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः ॥ १० ॥

साध्यदेव, वसुगण, अश्विनीकुमार, रुद्रगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण—ये देवता और सिद्धगण पूर्वकालमें आदिदेव भगवान् विष्णुके द्वारा रचे गये हैं, जो क्षात्रधर्ममें ही स्थित रहते हैं ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम् ।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥ ११ ॥

मैं इस विषयमें तात्त्विक अर्थका निश्चय करनेवाला एक धर्ममय इतिहास सुनाऊँगा। पहलेकी बात है, यह सारा जगत् दानवताके समुद्रमें निमग्न होकर उच्छृङ्खल हो चला था ॥ ११ ॥

बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान् ।
पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ॥ १२ ॥
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजेन्द्र! उन्हीं दिनों मान्धाता नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी पृथ्वीपालक नरेश हुए थे, जिन्होंने आदि, मध्य और अन्तसे रहित भगवान् नारायणदेवका दर्शन पानेकी इच्छासे एक यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १२½ ॥

स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥ १३ ॥
जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः ।
दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥ १४ ॥

राजसिंह! राजा मान्धाताने उस यज्ञमें परमात्मा भगवान् विष्णुके चरणोंकी भावनासे पृथ्वीपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय श्रीहरिने देवराज इन्द्रका रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १३-१४ ॥

स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम् ।
तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः ।
संवादोऽयं महानासीद् विष्णुं प्रति महाद्युतिम् ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ भूपालोंसे घिरे हुए मान्धाताने उन इन्द्ररूपधारी भगवान्‌का पूजन किया। फिर उन राजसिंह और महात्मा इन्द्रमें महातेजस्वी भगवान् विष्णुके विषयमें यह महान् संवाद हुआ ॥ १५ ॥

इन्द्र उवाच

किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ
यद् द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम् ।
अनन्तमायामितमन्त्रवीर्यं
नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥ १६ ॥

इन्द्र बोले—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! आदिदेव पुराणपुरुष भगवान् नारायण अप्रमेय हैं। वे अपनी अनन्त मायाशक्ति, असीम धैर्य तथा अमित बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं, तुम जो उनका दर्शन करना चाहते हो, उसका क्या कारण है? तुम्हें उनसे कौन-सी वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छा है? ॥ १६ ॥

नासौ देवो विश्वरूपो मयापि
शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात् ।
येऽन्ये कामास्तव राजन् हृदिस्था
दास्ये चैतांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥ १७ ॥

उन विश्वरूप भगवान्‌को मैं और साक्षात् ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते। राजन्! तुम्हारे हृदयमें जो दूसरी कामनाएँ हों, उन्हें मैं पूर्ण कर दूँगा; क्योंकि तुम मनुष्योंके राजा हो ॥

सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः
शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम् ।
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमश्रद्धया च
ततस्तेऽहं दद्मि वरान् यथेष्टम् ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तुम सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय और शूरवीर हो, देवताओंके प्रति अविचल प्रेमभाव रखते हो, तुम्हारी बुद्धि, भक्ति और उत्तम श्रद्धासे संतुष्ट होकर मैं तुम्हें इच्छानुसार वर दे रहा हूँ ॥ १८ ॥

मान्धातोवाच

असंशयं भगवन्नादिदेवं
द्रक्ष्यामित्वाहं शिरसा सम्प्रसाद्य ।
त्यक्त्वा कामान् धर्मकामो ह्यरण्य-
मिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम् ॥ १९ ॥

मान्धाताने कहा—भगवन्! मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करके आपकी ही दयासे आदि-

देव भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है। इस समय मैं समस्त कामनाओंका परित्याग करके केवल धर्मसम्पादनकी इच्छा रखकर वनमें जाना चाहता हूँ; क्योंकि लोकमें सभी सत्पुरुष अन्तमें इसी सन्मार्गका दिग्दर्शन करा गये हैं ॥ १९ ॥

क्षात्राद् धर्माद् विपुलादप्रमेया-
ल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च।
धर्मो योऽसावादिदेवात् प्रवृत्तो
लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुम् ॥ २० ॥

विशाल एवं अप्रमेय क्षात्रधर्मके प्रभावसे मैंने उत्तम लोक प्राप्त किये और सर्वत्र अपने यशका प्रचार एवं प्रसार कर दिया; परंतु आदिदेव भगवान् विष्णुसे जिस धर्मकी प्रवृत्ति हुई है, उस लोकश्रेष्ठ धर्मका आचरण करना मैं नहीं जानता॥ २० ॥

इन्द्र उवाच

असैनिका धर्मपराश्च धर्मे
परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम्।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ २१ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! आदिदेव भगवान् विष्णुसे तो पहले राजधर्म ही प्रवृत्त हुआ है। अन्य सभी धर्म उसीके अङ्ग हैं और उसके बाद प्रकट हुए हैं। जो सैनिक शक्तिसे सम्पन्न राजा नहीं हैं, वे धर्मपरायण होनेपर भी दूसरोंको अनायास ही धर्मविषयक परम गतिकी प्राप्ति नहीं करा सकते ॥

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः
सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टा-
स्तस्माद् धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥ २२ ॥

क्षात्र-धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। शेष धर्म असंख्य हैं और उनका फल भी विनाशशील है। इस क्षात्रधर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है, इसलिये इसी धर्मको श्रेष्ठ कहते हैं ॥

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन् क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने क्षात्रधर्मके द्वारा ही शत्रुओंका दमन करके देवताओं तथा अमिततेजस्वी समस्त ऋषियोंकी रक्षा की थी ॥ २३ ॥

यदि ह्यसौ भगवान् नाहनिष्यद्
रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता
नायं धर्मो नादिधर्मोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥

यदि वे अप्रमेय भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूप असुरोंका संहार नहीं करते तो न कहीं ब्राह्मणोंका पता लगता, न जगत्के आदिस्रष्टा ब्रह्माजी ही दिखायी देते। न यह धर्म रहता और न आदि धर्मका ही पता लग सकता था ॥ २४ ॥

इमामुर्वीं नाजयद् विक्रमेण
देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः
सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥ २५ ॥

देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ आदिदेव भगवान् विष्णु असुरों-सहित इस पृथ्वीको अपने बल और पराक्रमसे जीत नहीं लेते तो ब्राह्मणोंका नाश हो जानेसे चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके सभी धर्मोंका लोप हो जाता ॥ २५ ॥

नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते
क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता
लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥ २६ ॥

वे सदासे चले आनेवाले धर्म सैकड़ों बार नष्ट हो चुके हैं, परंतु क्षात्रधर्मने उनका पुनः उद्धार एवं प्रसार किया है। युग-युगमें आदिधर्म (क्षात्रधर्म) की प्रवृत्ति हुई है; इसलिये इस क्षात्रधर्मको लोकमें सबसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥ २६ ॥

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा
लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां
क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥ २७ ॥

युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देना, समस्त प्राणियोंपर दया करना, लोकव्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना, प्रजाकी रक्षा करना, विषादग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्योंको दुःख और कष्टसे छुड़ाना—ये सब बातें राजाओंके क्षात्रधर्ममें ही विद्यमान हैं॥

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता
भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम्।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः
साध्वाचाराः साधु धर्मं वदन्ति ॥ २८ ॥

जो लोग-काम, क्रोधमें फँसकर उच्छृङ्खल हो गये हैं, वे भी राजाके भयसे ही पाप नहीं कर पाते हैं तथा जो सब प्रकारके धर्मोंका पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे राजासे सुरक्षित हो सदाचारका सेवन करते हुए धर्मका सदुपदेश करते हैं॥

पुत्रवत् पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः।
लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः ॥ २९ ॥

राजाओंसे राजधर्मके द्वारा पुत्रकी भाँति पालित होनेवाले जगत्के सम्पूर्ण प्राणी निर्भय विचरते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें क्षात्रधर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ, सनातन, नित्य, अविनाशी, मोक्षतक पहुँचानेवाला सर्वतो-मुखी है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

इन्द्र उवाच

एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः
क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः ।
पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारै-
र्विपर्यये स्यादभवः प्रजानाम् ॥ १ ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार क्षात्रधर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और शक्तिशाली है । यह सभी धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है । तुम-जैसे लोकहितैषी उदार पुरुषोंको सदा इस क्षात्रधर्मका ही पालन करना चाहिये । यदि इसका पालन नहीं किया जायगा तो प्रजाका नाश हो जायगा ॥ १ ॥

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोग-
मभैक्ष्यचर्या पालनं च प्रजानाम् ।
विद्याद् राजा सर्वभूतानुकम्पी
देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम् ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले राजाको उचित है कि वह नीचे लिखे हुए कार्योंको ही श्रेष्ठ धर्म समझे। वह पृथ्वीका संस्कार करावे, राजसूय-अश्वमेधादि यज्ञोंमें अवभृथस्नान करे, भिक्षाका आश्रय न ले, प्रजाका पालन करे और संग्रामभूमिमें शरीरको त्याग दे ॥ २ ॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति
सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः ।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे
प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥ ३ ॥

ऋषि-मुनि त्यागको ही श्रेष्ठ बताते हैं । उसमें भी युद्धमें राजालोग जो अपने शरीरका त्याग करते हैं, वह सबसे श्रेष्ठ त्याग है । सदा राजधर्ममें संलग्न रहनेवाले समस्त भूमिपालोंने जिस प्रकार युद्धमें प्राण-त्याग किया है, वह सब तुम्हारी आँखोंके सामने है ॥ ३ ॥

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च
परस्परं संहननाद् वदन्ति ।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी
चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः ॥ ४ ॥

क्षत्रिय ब्रह्मचारी धर्मपालनकी इच्छा रखकर अनेक शास्त्रोंके ज्ञानका उपार्जन तथा गुरुशुश्रूषा करते हुए अकेला ही नित्य ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्मका आचरण करे । यह बात ऋषिलोग परस्पर मिलकर कहते हैं ॥ ४ ॥

सामान्यार्थे व्यवहारे प्रवृत्ते
प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात् ।
चातुर्वर्ण्यस्थापनात् पालनाच्च
तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥ ५ ॥
सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः
क्षात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
स्वं स्वं धर्मं येन चरन्ति वर्णा-
स्तांस्तान् धर्माननयथार्थान् वदन्ति॥६॥

जनसाधारणके लिये व्यवहार आरम्भ होनेपर राजा प्रिय और अप्रियकी भावनाका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे । भिन्न-भिन्न उपायों, नियमों, पुरुषार्थों तथा सम्पूर्ण उद्योगोंके द्वारा चारों वर्णोंकी स्थापना एवं रक्षा करनेके कारण क्षात्र-धर्म एवं गृहस्थ-आश्रमको ही सबसे श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है;क्योंकि सभी वर्णोंके लोग उस क्षात्र-धर्मके सहयोगसे ही अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं । क्षत्रियधर्म-के न होनेसे उन सब धर्मोंका प्रयोजन विपरीत होता है; ऐसा कहते हैं ॥ ५-६ ॥

निर्मर्यादान् नित्यमर्थे निविष्टा-
नाहुस्तांस्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान् ।
यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगा-
च्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात् क्षत्रधर्मः ॥ ७ ॥

जो लोग सदा अर्थसाधनमें ही आसक्त होकर मर्यादा छोड़ बैठते हैं, उन मनुष्योंको पशु कहा गया है । क्षत्रिय-धर्म अर्थकी प्राप्ति करानेके साथ-साथ उत्तम नीतिका ज्ञान प्रदान करता है; इसलिये वह आश्रम-धर्मोंसे भी श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां
ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम् ।
एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्य-
मन्यत् कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥ ८ ॥

तीनों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मणोंके लिये जो यज्ञादि कार्य विहित हैं तथा उनके लिये जो चारों आश्रम बताये गये हैं— उन्हींको ब्राह्मणका सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है । इसके विपरीत आचरण करनेवाला ब्राह्मण शूद्रके समान ही शस्त्रोंद्वारा वधके योग्य है ॥ ८ ॥

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव ।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात् कदाचन ॥ ९ ॥

राजन् ! चारों आश्रमोंके जो धर्म हैं तथा वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं, उन सबका अनुसरण ब्राह्मणको ही करना चाहिये । दूसरा कोई शूद्र आदि कभी किसी तरह भी उन धर्मोंको नहीं जान सकता ॥ ९ ॥

अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते ।
कर्मणा वर्धते धर्मो यथाधर्मस्तथैव सः ॥ १० ॥

जो ब्राह्मण इसके विपरीत आचरण करता है, उसके लिये ब्राह्मणोचित वृत्तिकी व्यवस्था नहीं की जाती । कर्मसे ही धर्मकी वृद्धि होती है । जो जिस प्रकारके धर्मको अपनाता है, वह वैसा ही हो जाता है ॥ १० ॥

यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सम्मानमर्हति ।
कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण विपरीत कर्ममें स्थित होता है, वह सम्मान पाने-

का अधिकारी नहीं है । अपने कर्मका आचरण न करनेवाले ब्राह्मणको विश्वास न करने योग्य माना गया है ॥ ११ ॥

एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना
उत्क्रष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः ।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये
वीर्यज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥ १२ ॥

समस्त वर्णोंमें स्थित हुए जो ये धर्म हैं, उन्हें क्षत्रियोंको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाना चाहिये । यही क्षत्रियधर्म है, इसीलिये राजधर्म श्रेष्ठ हैं। दूसरे धर्म इस प्रकार श्रेष्ठ नहीं हैं । मेरे मतमें वीर क्षत्रियोंके धर्मोंमें बल और पराक्रमकी प्रधानता है ॥

मान्धातोवाच

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥ १५ ॥

मान्धाता बोले—भगवन् ! मेरे राज्यमें यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौंड्र ,पुलिन्द, रमठ और काम्बोज देशोंके निवासी म्लेच्छगण सब ओर निवास करते हैं,कुछ ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी भी संतानें हैं; कुछ वैश्य और शूद्र भी हैं, जो धर्मसे गिर गये हैं। ये सब-के-सब चोरी और डकैतीसे जीविका चलाते हैं । ऐसे लोग किस प्रकार धर्मोंका आचरण करेंगे ? मेरे-जैसे राजाओंको इन्हें किस तरह मर्यादाके भीतर स्थापित करना चाहिये?॥ १३-१५॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ।
त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥

भगवन् ! सुरेश्वर ! यह मैं सुनना चाहता हूँ । आप मुझे यह सब बताइये; क्योंकि आप ही हम क्षत्रियोंके बन्धु हैं ॥१६॥

इन्द्र उवाच

मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥१७ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! जो लोग दस्यु-वृत्तिसे जीवन निर्वाह करते हैं, उन सबको अपने माता-पिता, आचार्य, गुरु तथा आश्रमवासी मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥ १८ ॥

भूमिपालोंकी सेवा करना भी समस्त दस्युओंका कर्त्तव्य है। वेदोक्त धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान भी उनके लिये शास्त्रविहित धर्म है ॥ १८ ॥

पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा ॥ १९ ॥

पितरोंका श्राद्ध करना, कुआँ खुदवाना, जलक्षेत्र चलाना और लोगोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाएँ बनवाना भी उनका कर्तव्य है । उन्हें यथासमय ब्राह्मणोंको दान देते रहना चाहिये ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥ २० ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधशून्य बर्ताव, दूसरोंकी आजीविका तथा बँटवारेमें मिली हुई पैतृक सम्पत्तिकी रक्षा, स्त्री-पुत्रोंका भरण-पोषण, बाहर भीतरकी शुद्धि रखना तथा द्रोहभावका त्याग करना— यह उन सबका धर्म है ॥ २० ॥

दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥

कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सब प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको भरपूर दक्षिणा देनी चाहिये । सभी दस्युओंको अधिक खर्चवाला पाकयज्ञ करना और उसके लिये धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतान्येवंप्रकाराणि विहितानि पुरानघ ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार प्रजापति ब्रह्माने सब मनुष्योंके कर्तव्य पहले ही निर्दिष्ट कर दिये हैं । उन दस्युओंको भी इनका यथावत् रूपसे पालन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मान्धातोवाच

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः ।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥

मान्धाता बोले—भगवन् ! मनुष्य-लोकमें सभी वर्णों तथा चारों आश्रमोंमें भी डाकू और लुटेरे देखे जाते हैं, जो विभिन्न वेशभूषाओंमें अपनेको छिपाये रखते हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते ।
सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले—निष्पाप नरेश ! जब राजाकी दुष्टताके कारण दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है, तब सभी प्राणी मोहवश कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक खो बैठते हैं ॥ २४ ॥

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा ।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन् कृते युगे॥ २५॥

इस सत्ययुगके समाप्त हो जानेपर नानावेषधारी असंख्य भिक्षुक प्रकट हो जायँगे और लोग आश्रमोंके स्वरूपकी विभिन्न मनमानी कल्पना करने लगेंगे ॥ २५ ॥

अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः ।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥

लोग काम और क्रोधसे प्रेरित होकर कुमार्गपर चलने लगेंगे । वे पुराणप्रोक्त प्राचीन धर्मोंके पालनका जो उत्तम फल है, उस विषयकी बात नहीं सुनेंगे ॥ २६ ॥

यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः ।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥

जब महामनस्वी राजालोग दण्डनीतिके द्वारा पापीको पाप करनेसे रोकते रहते हैं, तब सत्‌स्वरूप परमोत्कृष्ट सनातन धर्मका ह्रास नहीं होता है ॥ २७ ॥

सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते ।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके गुरुस्वरूप राजाका अपमान करता है, उसके किये दान, होम और श्राद्ध कभी सफल नहीं होते हैं ॥ २८ ॥

मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम् ।
देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥

राजा मनुष्योंका अधिपति, सनातन देवस्वरूप तथा धर्मकी इच्छा रखनेवाला होता है । देवता भी उसका अपमान नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्हि भगवान् सर्वं चैवासृजज्जगत् ।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥ ३० ॥

भगवान् प्रजापतिने जब इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की थी, उस समय लोगोंको सत्कर्ममें लगाने और दुष्कर्मसे निवृत्त करनेके लिये उन्होंने धर्मरक्षाके हेतु क्षात्रबलको प्रतिष्ठित करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम् ।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष प्रवृत्त धर्मकी गतिका अपनी बुद्धिसे विचार करता है, वही मेरे लिये माननीय और पूजनीय है; क्योंकि उसीमें क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् मरुद्गणवृतः प्रभुः ।
जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मान्धाताको इस प्रकार उपदेश देकर इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु मरुद्गणोंके साथ अविनाशी एवं सनातन परमपद विष्णुधामको चले गये ॥ ३२ ॥

एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान् बहुश्रुतः ॥ ३३ ॥

निष्पाप नरेश्वर ! इस प्रकार प्राचीन कालमें भगवान् विष्णुने ही राजधर्मको प्रचलित किया और सत्पुरुषोंद्वारा वह भलीभाँति आचरणमें लाया गया । ऐसी दशामें कौन ऐसा सचेत और बहुश्रुत विद्वान् होगा, जो क्षात्रधर्मकी अवहेलना करेगा ? ॥ ३३ ॥

अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च ।
अन्तरा विलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥

अन्यायपूर्वक क्षत्रिय-धर्मकी अवहेलना करनेसे प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म भी उसी प्रकार बीचमें ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अन्धा मनुष्य रास्तेमें नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे ।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! निष्पाप युधिष्ठिर ! विधाताका यह आज्ञा-चक्र (राजधर्म) आदि कालमें प्रचलित हुआ और पूर्ववर्ती महापुरुषोंका परम आश्रय बना रहा । तुम भी उसीपर चलो । मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम इस क्षात्रधर्मके मार्गपर चलनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रमान्धातृसंवादे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और मान्धाताका संवादविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मके पालनसे चारों आश्रमोंके धर्मका फल मिलनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुता मे कथिताः पूर्वं चत्वारो मानवाश्रमाः ।
व्याख्यानयित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपने मानवमात्रके लिये जो चार आश्रम पहले बताये थे, वे सब मैंने सुन लिये । अब विस्तारपूर्वक इनकी व्याख्या कीजिये । मेरे प्रश्नके अनुसार इनका स्पष्टीकरण कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर ।
यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर ! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित समस्त धर्मोंका जैसा मुझे ज्ञान है, वैसा ही तुमको भी है ॥ २ ॥

यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर ।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! तथापि जो तुम विभिन्न लिङ्गों (हेतुओं) से रूपान्तरको प्राप्त हुए सूक्ष्म धर्मके विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, उसके विषयमें कुछ निवेदन कर रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥ ४ ॥
अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर ।
समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! चारों आश्रमोंके धर्मोंका पालन करनेवाले सदाचारपरायण पुरुषोंको जिन फलोंकी प्राप्ति होती है, वे ही सब राग-द्वेष छोड़कर दण्डनीतिके अनुसार बर्ताव करनेवाले राजाको भी प्राप्त होते हैं । युधिष्ठिर ! यदि राजा सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखनेवाला है तो उसे संन्यासियोंको प्राप्त होनेवाली गति प्राप्त होती है ॥ ४-५ ॥

वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा ।
यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥

जो तत्त्वज्ञान, सर्वत्याग, इन्द्रियसंयम तथा प्राणियोंपर अनुग्रह करना जानता है तथा जिसका पहले कहे अनुसार उत्तम आचार-विचार है, उस धीर पुरुषको कल्याणमय गृहस्थाश्रमसे

मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! इसी प्रकार जो पूजनीय पुरुषोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर सदा सम्मानित करता है, उसे ब्रह्मचारियोंको प्राप्त होनेवाली गति मिलती है ॥ ७ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो संकटमें पड़े हुए अपने सजातियों, सम्बन्धियों और सुहृदोंका उद्धार करता है, उसे वानप्रस्थ आश्रममें मिलनेवाले पदकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत् ।
कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो जगत्‌के श्रेष्ठ पुरुषों और आश्रमियोंका निरन्तर सत्कार करता है, उसे भी वानप्रस्थ-आश्रमद्वारा मिलनेवाले फलोंकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

आह्निकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान् समानुषान् ।
कुर्वतः पार्थ विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! जो नित्यप्रति संध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म, पितृ श्राद्ध, भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सेवा)—इन सबका अनुष्ठान प्रचुर मात्रामें करता रहता है, उसे वानप्रस्थाश्रमके सेवनसे मिलनेवाले पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

संविभागेन भूतानामतिथीनां तथार्चनात् ।
देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! बलिवैश्वदेवके द्वारा प्राणियोंको उनका भाग समर्पित करनेसे, अतिथियोंके पूजनसे तथा देवयज्ञोंके अनुष्ठानसे भी वानप्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम ।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥

सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! शिष्टपुरुषोंकी रक्षाके लिये अपने शत्रुके राष्ट्रोंको कुचल डालनेवाले राजाको भी वान-प्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पालनात् सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राजन् सत्याश्रमपदं भवेत् ॥ १३ ॥

समस्त प्राणियोंके पालन तथा अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेसे राजाको नाना प्रकारके यज्ञोंकी दीक्षा लेनेका पुण्य प्राप्त होता है । राजन् ! इससे वह संन्यासाश्रमके सेवनका फल प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्यपूजनम् ।
अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १४ ॥

जो प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करता है, क्षमाभाव रखता है, आचार्यकी पूजा करता है और गुरुकी सेवामें संलग्न रहता है, उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) द्वारा मिलनेवाला फल प्राप्त होता है ॥

आह्निकं जपमानस्य देवान् पूजयतः सदा ।
धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह ! जो प्रतिदिन इष्ट मन्त्रका जप और देवताओंका सदा पूजन करता है, उसे उस धर्मके प्रभावसे धर्माश्रमके पालनका अर्थात् गार्हस्थ्य धर्मके पालनका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः ।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १६ ॥

जो राजा युद्धमें प्राणोंकी बाजी लगाकर इस निश्चयके साथ शत्रुओंका सामना करता है कि 'या तो मैं मर जाऊँगा या देशकी रक्षा करके ही रहूँगा' उसे भी ब्रह्माश्रम अर्थात् संन्यास-आश्रमके पालनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत ।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो सदा समस्त प्राणियोंके प्रति माया और कुटिलतासे रहित यथार्थ व्यवहार करता है, उसे भी ब्रह्माश्रम-सेवनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत ।
प्रयच्छतोऽर्थान् विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥

भारत ! जो वानप्रस्थ, ब्राह्मणों तथा तीनों वेदके विद्वानोंको प्रचुर धन-दान करता है, उसे वानप्रस्थ-आश्रमके सेवनका फल मिलता है ॥ १८ ॥

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत ।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! जो समस्त प्राणियोंपर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, उसे सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! जो बालकों और बूढ़ोंके प्रति दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसे भी सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २० ॥

बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह ।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिन प्राणियोंपर बलात्कार हुआ हो और वे शरणमें आये हों, उनका संकटसे उद्धार करनेवाला पुरुष गार्हस्थ्य-धर्मके पालनसे मिलनेवाले पुण्यफलका भागी होता है ॥

चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः ।
यथार्हपूजां च तथा कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २२ ॥

चराचर प्राणियोंकी सब प्रकारसे रक्षा तथा उनकी यथायोग्य पूजा करनेवाले पुरुषको गार्हस्थ्य-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणां पुत्रनप्तृणाम् ।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत् तपः ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! बड़ी-छोटी पत्नियों, भाइयों, पुत्रों और नातियोंको भी जो राजा अपराध करनेपर दण्ड और अच्छे कार्य करनेपर अनुग्रहरूप पुरस्कार देता है, यही उसके द्वारा

गार्हस्थ्य-धर्मका पालन है और यही उसकी तपस्या है ॥ २३ ॥

साधूनामर्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम् ।
पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ २४ ॥

पुरुषसिंह ! पूजनके योग्य सुप्रसिद्ध आत्मज्ञानी साधुओंकी पूजा तथा रक्षा गृहस्थाश्रमके पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ २४ ॥

आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत ।
आदद्यीतेह भोज्येन तद् गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! जो किसी भी आश्रममें रहनेवाले प्राणियोंको अपने घरमें ठहराकर उनका भोजन आदिसे सत्कार करता है, उस राजाके लिये वही गार्हस्थ्य-धर्मका पालन है ॥

यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथार्थवत् ।
आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥ २६ ॥

जो पुरुष विधाताद्वारा विहित धर्ममें स्थित होकर यथार्थ रूपसे उसका पालन करता है, वह सभी आश्रमोंके निर्दोष फलको प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा ।
आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! जिस पुरुषमें स्थित हुए सद्गुणोंका कभी नाश नहीं होता, उस नरश्रेष्ठको सभी आश्रमोंके पालनमें स्थित बताया गया है ॥ २७ ॥

स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च ।
कुर्वन् वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! जो राजा स्थान, कुल और अवस्थाका मान रखते हुए कार्य करता है, वह सभी आश्रमोंमें निवास करनेका फल पाता है ॥ २८ ॥

देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च ।
पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २९ ॥

कुन्तीकुमार ! पुरुषसिंह ! देश-धर्म और कुलधर्मका पालन करनेवाला राजा सभी आश्रमोंके पुण्यफलका भागी होता है ॥ २९ ॥

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च ।
अर्हयन् पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥ ३० ॥

नरव्याघ्र नरेश ! जो समय-समयपर सम्पत्ति और उपहार देकर समस्त प्राणियोंका सम्मान करता रहता है, वह साधु पुरुषोंके आश्रममें निवासका पुण्यफल पा लेता है ॥ ३० ॥

दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते ।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो राजा मनुप्रोक्त दस धर्मोंमें स्थित होकर भी सम्पूर्ण जगत्के धर्मपर दृष्टि रखता है, वह सभी आश्रमोंके पुण्य-फलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत ।
पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपतेः ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! जो धर्मकुशल मनुष्य लोकमें धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे जिस राजाके राज्यमें पालित होते हैं, उस राजाको उनके धर्मका छठा अंश प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

धर्मारामान् धर्मपरान् ये न रक्षन्ति मानवान् ।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ ३३ ॥

पुरुषसिंह ! जो राजा धर्ममें ही रमण करनेवाले धर्मपरायण मानवोंकी रक्षा नहीं करते हैं, वे उनके पाप बटोर लेते हैं ॥ ३३ ॥

ये चाप्यत्र सहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर ।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! जो लोग इस जगत्में राजाओंके सहायक होते हैं, वे सभी उस राज्यमें दूसरोंद्वारा किये गये धर्मका अंश प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! शास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं कि हमलोग जिस गार्हस्थ्य-धर्मका सेवन कर रहे हैं, वह सभी आश्रमोंमें श्रेष्ठ एवं पावन है। उसके विषयमें शास्त्रोंका यह निर्णय सबको विदित है ॥ ३५ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥ ३६ ॥

जो मानव समस्त प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखता है, दण्डका त्याग कर देता है, क्रोधको जीत लेता है, वह इस लोकमें और मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी सुख पाता है ॥

धर्मे स्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्त्वं संतारयिष्यति ॥ ३७ ॥

राजधर्म एक नौकाके समान है। वह नौका धर्मरूपी समुद्रमें स्थित है। सत्त्वगुण ही उस नौकाका संचालन करनेवाला बल (कर्णधार) है, धर्मशास्त्र ही उसे बाँधनेवाली रस्सी है, त्यागरूपी वायुका सहारा पाकर वह मार्गपर शीघ्रतापूर्वक चलती है, वह नाव ही राजाको संसारसमुद्रसे पार कर देगी ॥ ३७ ॥

यदा निवृत्तः सर्वस्मात् कामो योऽस्य हृदि स्थितः।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥ ३८ ॥

मनुष्यके हृदयमें जो-जो कामनाएँ स्थित हैं, उन सबसे जब वह निवृत्त हो जाता है, तब उसकी विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थिति होती है और इसी समय उसे परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है ॥ ३८ ॥

सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगसे और समभावसे जब अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध एवं प्रसन्न हो जाता है, तब प्रजापालनपरायण राजा उत्तम धर्मके फलका भागी होता है ॥ ३९ ॥

वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम् ।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! तुम वेदाध्ययनमें संलग्न रहनेवाले, सत्कर्म-

परायण ब्राह्मणों तथा अन्य सब लोगोंके पालन-पोषणका प्रयत्न करो ॥ ४० ॥

वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत।
रक्षणात् तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! वनमें और विभिन्न आश्रमोंमें रहकर जो लोग जितना धर्म करते हैं, उनकी रक्षा करनेसे राजा उनसे सौगुने धर्मका भागी होता है ॥ ४१ ॥

एष ते विविधो धर्मः पाण्डवश्रेष्ठ कीर्तितः।
अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! यह तुम्हारे लिये नाना प्रकारका धर्म बताया गया है। पूर्वजोंद्वारा आचरित इस सनातनधर्मका तुम पालन करो ॥ ४२ ॥

चातुराश्रम्यमैकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ४३ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन ! यदि तुम प्रजाके पालनमें तत्पर रहोगे तो चारों आश्रमोंके, चारों वर्णोंके तथा एकाग्रताके धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा और उन्नतिके लिये राजाकी आवश्यकताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइये कि समूचे राष्ट्रका—उस राष्ट्रमें निवास करनेवाले प्रत्येक नागरिकका मुख्य कार्य क्या है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! राष्ट्र अथवा राष्ट्रवासी प्रजावर्गका सबसे प्रधान कार्य यह है कि वह किसी योग्य राजाका अभिषेक करे, क्योंकि बिना राजाका राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते तथा सताते हैं ॥ २ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥

जिन देशोंमें कोई राजा नहीं होता, वहाँ धर्मकी भी स्थिति नहीं रहती है; अतः वहाँके लोग एक दूसरेको हड़पने लगते हैं; इसलिये जहाँ अराजकता हो, उस देशको सर्वथा धिक्कार है ! ॥ ३ ॥

इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा सम्पूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥

श्रुति कहती है, 'प्रजा जो राजाका वरण करती है, वह मानो इन्द्रका ही वरण करती है,' अतः लोकका कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इन्द्रके समान ही राजाका पूजन करना चाहिये ॥ ४ ॥

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥ ५ ॥

मेरी रुचि तो यह है कि जहाँ कोई राजा न हो, उन देशोंमें निवास ही नहीं करना चाहिये। बिना राजाके राज्यमें दिये हुए हविष्यको अग्निदेव वहन नहीं करते ॥ ५ ॥

अथ चेदभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥ ६ ॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम्।
न हि पापात् पापतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥ ७ ॥

यदि कोई प्रबल राजा राज्यके लोभसे उन बिना राजाके दुर्बल देशोंपर आक्रमण करे तो वहाँके निवासियोंको चाहिये कि वे आगे बढ़कर उसका स्वागत-सत्कार करें। यही वहाँके लिये सबसे अच्छी सलाह हो सकती है; क्योंकि पापपूर्ण अराजकतासे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ ६-७ ॥

स चेत् समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत्।
बलवान् हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥ ८ ॥

वह बलवान् आक्रमणकारी नरेश यदि शान्त दृष्टिसे देखे तो राज्यकी पूर्णतः भलाई होती है और यदि वह कुपित हो गया तो उस राज्यका सर्वनाश कर सकता है ॥ ८ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ९ ॥

राजन् ! जो गाय कठिनाईसे दुही जाती है, उसे बड़े-बड़े क्लेश उठाने पड़ते हैं, परंतु जो सुगमतापूर्वक दूध दुह लेने देती है, उसे लोग पीड़ा नहीं देते हैं, आरामसे रखते हैं ॥

यदतप्तं प्रणमते नैतत् संतापमर्हति।
यत् स्वयं नमते दारु न तत् संनामयन्त्यपि ॥ १० ॥

जो राष्ट्र बिना कष्ट पाये ही नतमस्तक हो जाता है, वह अधिक संतापका भागी नहीं होता। जो लकड़ी स्वयं ही झुक जाती है, उसे लोग झुकानेका प्रयत्न नहीं करते हैं ॥ १० ॥

एतयोपमया वीर संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥

वीर ! इस उपमाको ध्यानमें रखते हुए दुर्बलको बलवान्‌के सामने नतमस्तक हो जाना चाहिये। जो बलवान्‌को प्रणाम करता है, वह मानो इन्द्रको ही नमस्कार करता है ॥ ११ ॥

तस्माद् राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥

अतः सदा उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले देशको अपनी

रक्षाके लिये किसीको राजा अवश्य बना लेना चाहिये। जिनके देशमें अराजकता है, उनके धन और स्त्रियोंपर उन्हींका अधिकार बना रहे, यह सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके ।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥

अराजकताकी स्थितिमें दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है, परंतु जब दूसरे लुटेरे उसका भी सारा धन हड़प लेते हैं, तब वह राजाकी आवश्यकताका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन ।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ १४ ॥

अराजक देशमें पापी मनुष्य भी कभी कुशलपूर्वक नहीं रह सकते। एकका धन दो मिलकर उठा ले जाते हैं और उन दोनोंका धन दूसरे बहुसंख्यक लुटेरे लूट लेते हैं ॥ १४ ॥

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः ।
एतस्मात् कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

अराजकताकी स्थितिमें जो दास नहीं है, उसे दास बना लिया जाता है और स्त्रियोंका बलपूर्वक अपहरण किया जाता है। इसी कारणसे देवताओंने प्रजापालक नरेशोंकी सृष्टि की है ॥

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥ १६ ॥

यदि इस जगत्में भूतलपर दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, उसी प्रकार प्रबल मनुष्य दुर्बलोंको लूट खायँ ॥ १६ ॥

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥

हमने सुन रखा है कि जैसे पानीमें बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्योंको अपना आहार बना लेते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें राजाके न रहनेपर प्रजावर्गके लोग परस्पर एक दूसरेको लूटते हुए नष्ट हो गये थे ॥ १७ ॥

समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥ १८ ॥
यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति ।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥ १९ ॥

तब उन सबने मिलकर आपसमें नियम बनाया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वह नियम इस प्रकार है—'हम लोगोंमेंसे जो भी निष्ठुर बोलनेवाला, भयानक दण्ड देनेवाला, परस्त्रीगामी तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला हो, ऐसे सब लोगोंको हमें समाजसे बहिष्कृत कर देना चाहिये।' सभी वर्णके लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये सामान्यतः ऐसा नियम बनाकर उसका पालन करते हुए वे सब लोग सुखसे रहने लगे ॥ १८-१९ ॥

सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ।

(कुछ समयतक इस प्रकार काम चलता रहा; किंतु आगे चलकर पुनः दुर्व्यवस्था फैल गयी) तब दुःखसे पीड़ित हुई सारी प्रजाएँ एक साथ मिलकर ब्रह्माजीके पास गयीं और उनसे कहने लगीं—'भगवन्! राजाके बिना तो हमलोग नष्ट हो रहे हैं। आप हमें कोई ऐसा राजा दीजिये, जो शासन करनेमें समर्थ हो, हम सब लोग मिलकर जिसकी पूजा करें और जो निरन्तर हमारा पालन करता रहे' ॥ २०½ ॥

ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ २१ ॥

तब ब्रह्माजीने मनुको राजा होनेकी आज्ञा दी; परंतु मनुने उन प्रजाओंको स्वीकार नहीं किया' ॥ २१ ॥

मनुरुवाच

बिभेमि कर्मणः पापाद् राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥ २२ ॥

मनु बोले—भगवन्! मैं पापकर्मसे बहुत डरता हूँ। राज्य करना बड़ा कठिन काम है—विशेषतः सदा मिथ्याचारमें प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्योंपर शासन करना तो और भी दुष्कर है ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति ।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब समस्त प्रजाओंने मनुसे कहा—'महाराज! आप डरें मत। पाप तो उन्हींको लगेगा, जो उसे करेंगे। हमलोग आपके कोशकी वृद्धिके लिये प्रति पचास पशुओंपर एक पशु आपको दिया करेंगे। इसी प्रकार सुवर्णका भी पचासवाँ भाग देते रहेंगे। अनाजकी उपजका दसवाँ भाग करके रूपमें देंगे। जब हमारी बहुत-सी कन्याएँ विवाहके लिये उद्यत होंगी, उस समय उनमें जो सबसे सुन्दरी कन्या होगी, उसे हम शुल्कके रूपमें आपको भेंट कर देंगे ॥ २३-२४ ॥

मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः ।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २५ ॥

'जैसे देवता देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार प्रधान-प्रधान मनुष्य अपने प्रमुख शस्त्रों और वाहनोंके साथ आपके पीछे-पीछे चलेंगे ॥ २५ ॥

स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान् ।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥ २६ ॥

'प्रजाका सहयोग पाकर आप एक प्रबल, दुर्जय और प्रतापी राजा होंगे। जैसे कुबेर यक्षों तथा राक्षसोंकी रक्षा करके उन्हें सुखी बनाते हैं, उसी प्रकार आप हमें सुरक्षित एवं सुखसे रक्खेंगे ॥ २६ ॥

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७ ॥

'आप-जैसे राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजाएँ जो-जो धर्म

करेंगी, उसका चतुर्थ भाग आपको मिलता रहेगा ॥ २७ ॥

तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥ २८ ॥

'राजन् ! सुखपूर्वक प्राप्त हुए उस महान् धर्मसे सम्पन्न हो आप उसी प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा कीजिये, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥ २९ ॥

'महाराज ! आप तपते हुए अंशुमाली सूर्यके समान विजयके लिये यात्रा कीजिये, शत्रुओंका घमंड धूलमें मिला दीजिये और सर्वदा आपकी जय हो' ॥ २९ ॥

स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः ।
महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३० ॥

तब महान् सैन्यबलसे घिरे हुए महाकुलीन, महातेजस्वी राजा मनु अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए-से निकले॥ ३० ॥

तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः ।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥ ३१ ॥

जैसे देवता देवराज इन्द्रका प्रभाव देखकर प्रभावित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब लोग महाराज मनुका महत्त्व देखकर आतङ्कित हो उठे और अपने-अपने धर्ममें मन लगाने लगे ॥ ३१॥

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन्॥ ३२ ॥

तदनन्तर वर्षा करनेवाले मेघके समान मनु पापाचारियोंको शान्त करते और उन्हें अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें लगाते हुए भूमण्डलपर चारों ओर घूमने लगे ॥ ३२ ॥

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित्।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य वैभव-वृद्धिकी कामना रखते हों, उन्हें सबसे पहले इस भूमण्डलमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये कोई राजा अवश्य बना लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा ।
देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके ॥ ३४ ॥

फिर जैसे शिष्य भक्तिभावसे गुरुको नमस्कार करते हैं तथा जैसे देवता देवराज इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजाजनोंको अपने राजाके निकट नमस्कार करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥

इस लोकमें आत्मीय जन जिसका आदर करते हैं, उसे दूसरे लोग भी बहुत मानते हैं और जो स्वजनोंद्वारा तिरस्कृत होता है, उसका दूसरे भी अनादर करते हैं ॥ ३५ ॥

राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः ।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥ ३६ ॥
भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च ।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३७ ॥

राजाका यदि दूसरोंके द्वारा पराभव हुआ तो वह समस्त प्रजाके लिये दुःखदायी होता है; इसलिये प्रजाको चाहिये कि वह राजाके लिये छत्र, वाहन, वस्त्र, आभूषण, भोजन, पान, गृह, आसन और शय्या आदि सभी प्रकार-की सामग्री भेंट करे ॥ ३६-३७ ॥

गोप्ता तस्माद् दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत मानवान् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रजाकी सहायता पाकर राजा दुर्धर्ष एवं प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है। राजाको चाहिये कि वह मुस्कराकर बात-चीत करे। यदि प्रजावर्गके लोग उससे कोई बात पूछें तो वह मधुर वाणीमें उन्हें उत्तर दे ॥ ३८ ॥

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥ ३९ ॥

राजा उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञ और अपने भक्तों-पर सुदृढ़ स्नेह रखनेवाला हो। उपभोगमें आनेवाली वस्तुओंको यथायोग्य विभाजन करके उन्हें काममें ले। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। जो उसकी ओर देखे, उसे वह भी देखे एवं स्वभावसे ही मृदु, मधुर और सरल हो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रके लिये राजाको नियुक्त करनेकी आवश्यकताका कथनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

वसुमना और बृहस्पतिके संवादमें राजाके न होनेसे प्रजाकी हानि और होनेसे लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह ! जो मनुष्योंका अधिपति है, उस राजाको ब्राह्मणलोग देवस्वरूप क्यों बताते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमनाने बृहस्पतिजीसे यही बात पूछी थी॥२॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥

कहते हैं, प्राचीन कालमें बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश राजा वसुमनाने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पतिसे कुछ प्रश्न किया ॥ ३ ॥

सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम् ।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः ।
प्रजानां सुखमन्विच्छन् धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

राजा वसुमना सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे । वे विनय प्रकट करनेकी कलाको जानते थे । बृहस्पतिजीके आनेपर उन्होंने उठकर उनका अभिवादन किया और चरण-प्रक्षालन आदि सारा विनयसम्बन्धी बर्ताव पूर्ण करके महर्षिकी परिक्रमा करनेके अनन्तर उन्होंने विधिपूर्वक उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया । फिर प्रजाके सुखकी इच्छा रखते हुए राजाने धर्मशील बृहस्पतिसे राज्यसंचालनकी विधिके विषयमें इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया ॥ ४-५ ॥

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

वसुमना बोले—महामते ! राज्यमें रहनेवाले प्राणियोंकी वृद्धि कैसे होती है ? उनका ह्रास कैसे हो सकता है ? किस देवताकी पूजा करनेवाले लोगोंको अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? ॥ ६ ॥

एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा ।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

अमित तेजस्वी कोसलनरेशके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महाज्ञानी बृहस्पतिजीने शान्तभावसे राजाके सत्कारकी आवश्यकता बताते हुए इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—महाप्राज्ञ ! लोकमें जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है । राजाके भयसे ही प्रजा एक दूसरेको हड़प नहीं लेती है ॥ ८ ॥

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥ ९ ॥

राजा ही मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तथा अनुचित भोगोंमें आसक्त हो उनकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले सारे जगत्के लोगोंको धर्मानुकूल शासनद्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेजसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ १० ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥

राजन् ! जैसे सूर्य और चन्द्रमाका उदय न होनेपर समस्त प्राणी घोर अन्धकारमें डूब जाते हैं और एक दूसरेको देख नहीं पाते हैं, जैसे थोड़े जलवाले तालाबमें मत्स्यगण तथा रक्षकरहित उपवनमें पक्षियोंके झुंड परस्पर एक दूसरेपर बारंबार चोट करते हुए इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहारसे दूसरोंको कुचलते और मथते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी स्वयं दूसरेकी चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं । इस प्रकार आपसमें लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनोंमें नष्टप्राय हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है । इसी तरह राजाके बिना वे सारी प्रजाएँ आपसमें लड़-झगड़कर बात-की-बातमें नष्ट हो जायँगी और बिना चरवाहेके पशुओंकी भाँति दुःखके घोर अन्धकारमें डूब जायँगी ॥ १०—१३ ॥

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलोंकी बहू-बेटियोंको हर ले जायँ और अपने घर-बारकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेवालोंको मार डालें ॥ १४ ॥

ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः ।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत्में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार कोई भी ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता, जिसके लिये कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सारी सम्पत्तिका लोप हो जाय ॥ १५ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकारके रत्न लूट ले जायँ ॥ १६ ॥

पतेद् बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरुषोंपर बारंबार नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी मार पड़े और विवश होकर लोगोंको अधर्मका मार्ग ग्रहण करना पड़े ॥ १७ ॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥

यदि राजा पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुको क्लेश पहुँचावें अथवा मार डालें ॥ १८ ॥

वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत्॥ १९॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानोंको प्रतिदिन वध या बन्धनका क्लेश उठाना पड़े और किसी भी वस्तुको वे अपनी न कह सकें॥ १९॥

अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद् भवेत्।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत्॥ २०॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो अकालमें ही लोगोंकी मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओंके अधीन हो जाय और (पापके कारण) घोर नरकमें गिर जाय॥ २०॥

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः।
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥ २१॥

यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचारसे किसीको घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाय, व्यापार चौपट हो जाय, धर्म डूब जाय और तीनों वेदोंका कहीं पता न चले॥ २१॥

न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्॥ २२॥

यदि राजा जगत्की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान बंद हो जाय, विवाह न हो और सामाजिक कार्य रुक जायँ॥ २२॥

न वृषाः सम्प्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत्॥ २३॥

यदि राजा पशुओंका पालन न करे तो साँड गायोंमें गर्भाधान न करें, दूध-दहीसे भरे हुए घड़े या मटके कभी महे न जायँ और गोशाले नष्ट हो जायँ॥ २३॥

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥ २४॥

यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्न-चित्त, हाहाकारपरायण तथा अचेत हो क्षणभरमें नष्ट हो जाय॥ २४॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत्॥ २५॥

यदि राजा पालन न करे तो उनमें विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त वार्षिक यज्ञ बेखटके न चल सकें॥ २५॥

ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान् नाधीयीरंस्तपस्विनः।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत्॥ २६॥

यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदोंका अध्ययन छोड़ दें॥ २६॥

न लभेद् धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद् यदि राजा न पालयेत्॥ २७॥

यदि राजा पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्मका सम्पर्क छोड़ दें और चोर घरका मालमता लेकर अपने शरीर और इन्द्रियोंपर आँच आये बिना ही सकुशल लौट जायँ॥ २७॥

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥ २८॥

यदि राजा पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथमें रक्खी हुई वस्तुको भी हाथसे छीन ले जायँ, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और सब लोग भयसे पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें॥ २८॥

अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्॥ २९॥

यदि राजा पालन न करे तो सब ओर अन्याय एवं अत्याचार फैल जाय, वर्णसंकर संतानें पैदा होने लगें और समूचे देशमें अकाल पड़ जाय॥ २९॥

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः॥ ३०॥

राजासे रक्षित हुए मनुष्य सब ओरसे निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार घरके दरवाजे खोलकर सोते हैं॥

नाक्रुष्टं सहते कश्चित् कुतो वा हस्तलाघवम्।
यदि राजा न सम्यग् गां रक्षयत्यपि धार्मिकः॥ ३१॥

यदि धर्मात्मा राजा भलीभाँति पृथ्वीकी रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य गाली-गलौज अथवा हाथसे पीटे जानेका अपमान कैसे सहन करे॥ ३१॥

स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः॥ ३२॥

यदि पृथ्वीका पालन करनेवाला राजा अपने राज्यकी रक्षा करता है तो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुषको साथ लिये बिना भी निर्भय होकर मार्गसे आती-जाती हैं॥ ३२॥

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः॥ ३३॥

जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्मका ही पालन करते हैं, कोई किसीकी हिंसा नहीं करते और सभी एक दूसरेपर अनुग्रह रखते हैं॥ ३३॥

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः॥ ३४॥

जब राजा रक्षा करता है, तब तीनों वर्णोंके लोग नाना प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययनमें लगे रहते हैं॥ ३४॥

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत् सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः॥ ३५॥

खेती आदि समुचित जीविकाकी व्यवस्था ही इस जगत्के जीवनका मूल है तथा वृष्टि आदिकी हेतुभूत त्रयी विद्यासे ही सदा जगत्का धारण-पोषण होता है। जब राजा प्रजाकी रक्षा करता है, तभी वह सब कुछ ठीक ढंगसे चलता रहता है॥

यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति॥ ३६॥

जब राजा विशाल सैनिक-शक्तिके सहयोगसे भारी भार,

उठाकर प्रजाकी रक्षाका भार वहन करता है, तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होता है ॥ ३६ ॥

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७॥

जिसके न रहनेपर सब ओरसे समस्त प्राणियोंका अभाव होने लगता है और जिसके रहनेपर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजाका पूजन (आदर-सत्कार) कौन नहीं करेगा ? ॥ ३७ ॥

तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम् ।
तिष्ठन् प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥ ३८ ॥

जो उस राजाके प्रिय एवं हितसाधनमें संलग्न रहकर उसके सर्वलोकभयंकर शासन-भारको वहन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है ॥ ३८ ॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

जो पुरुष मनसे भी राजाके अनिष्टका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही इह लोकमें कष्ट भोगता है और मरनेके बाद भी नरकमें पड़ता है ॥ ३९ ॥

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥

'यह भी एक मनुष्य है' ऐसा समझकर कभी भी पृथ्वीपालक नरेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि राजा मनुष्यरूपमें एक महान् देवता है ॥ ४० ॥

कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥

राजा ही सदा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज बन जाता है ॥ ४१ ॥

यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥

जब पापात्मा मनुष्य राजाके साथ मिथ्या बर्ताव करकेउसे ठगते हैं, तब वह अग्निस्वरूप हो जाता है और अपने उग्र तेजसे समीप आये हुए उन पापियोंको जलाकर भस्म कर देता है ।४२।

यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥

जब राजा गुप्तचरोंद्वारा समस्त प्रजाओंकी देख-भाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है, तब वह सूर्यरूप होता है ॥ ४३ ॥

अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः॥ ४४॥

जब राजा कुपित होकर अशुद्धाचारी सैकड़ों मनुष्योंका उनके पुत्र, पौत्र और मन्त्रियोंसहित संहार कर डालता है, तब वह मृत्युरूप होता है ॥ ४४ ॥

यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥

जब वह कठोर दण्डके द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषोंको काबूमें करके सन्मार्गपर लाता है और धर्मात्माओंपर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज माना जाता है ॥ ४५ ॥

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति ।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४७ ॥

जब राजा उपकारी पुरुषोंको धनरूपी जलकी धाराओंसे तृप्त करता है और अपकार करनेवाले दुष्टोंके नाना प्रकारके रत्नोंको छीन लेता है, किसी राज्यहितैषीको धन देता है तो किसी (राज्यविद्रोही)के धनका अपहरण कर लेता है, उस समय वह पृथिवीपालक नरेश इस संसारमें कुबेर समझा जाता है॥

नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा ।
धर्म्यमाकाङ्क्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥

जो समस्त कार्योंमें निपुण, अनायास ही कार्य-साधन करनेमें समर्थ, धर्ममय लोकोंमें जानेकी इच्छा रखनेवाला तथा दोषदृष्टिसे रहित हो, उस पुरुषको अपने देशके शासक नरेशकी निन्दाके काममें नहीं पड़ना चाहिये ॥ ४८ ॥

न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात् ।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ॥ ४९ ॥

राजाके विपरीत आचरण करनेवाला मनुष्य उसका पुत्र, भाई, मित्र अथवा आत्माके तुल्य ही क्यों न हो, कभी सुख नहीं पा सकता ॥ ४९ ॥

कुर्यात् कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः ।
न तु राजाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥ ५० ॥

वायुकी सहायतासे प्रज्वलित हुई आग जब किसी गाँव या जंगलको जलाने लगे तो सम्भव है कि वहाँका कुछ भाग जलाये बिना शेष छोड़ दे; परंतु राजा जिसपर आक्रमण करता है, उसकी कहीं कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती ॥५०॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥ ५१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि राजाकी सारी रक्षणीय वस्तुओंको दूरसे ही त्याग दे और मृत्युकी ही भाँति राजधनके अपहरणसे घृणा करके उससे अपनेको बचानेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

नश्येदभिमृशन् सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन् ।
आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

जैसे मृग मारण-मन्त्रका स्पर्श करते ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार राजाके धनपर हाथ लगानेवाला मनुष्य तत्काल मारा जाता है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने ही धनके समान इस जगत्में राजाके धनकी भी रक्षा करे ॥ ५२ ॥

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम् ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥

राजाके धनका अपहरण करनेवाले मनुष्य दीर्घकालके लिये विशाल, भयंकर, अस्थिर और चेतनाशक्तिको लुप्त कर देनेवाले नरकमें गिरते हैं ॥ ५३ ॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ ५४ ॥

भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप—इन शब्दोंद्वारा जिस राजाकी स्तुति की जाती है, उस प्रजापालक नरेशकी पूजा कौन नहीं करेगा ? ॥ ५४ ॥

तस्माद् बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः ।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥ ५५ ॥

इसलिये अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाला, मेधावी, स्मरण-शक्तिसे सम्पन्न एवं कार्यदक्ष मनुष्य नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए राजाका आश्रय ग्रहण करे ॥ ५५ ॥

कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम् ।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः ॥ ५६ ॥

राजाको उचित है कि वह कृतज्ञ, विद्वान्, महामना, राजाके प्रति दृढ़ भक्ति रखनेवाले, जितेन्द्रिय, नित्य धर्म-परायण और नीतिज्ञ मन्त्रीका आदर करे ॥ ५६ ॥

दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार राजा अपने प्रति दृढ़ भक्तिसे सम्पन्न, युद्धकी शिक्षा पाये हुए, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर और श्रेष्ठ कर्म करनेवाले ऐसे वीर पुरुषको सेनापति बनावे, जो अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय लेनेवाला न हो ॥

राजा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं
राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम् ।
राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि
राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥ ५८ ॥

राजा मनुष्यको धृष्ट एवं सबल बनाता है और राजा ही उसे दुर्बल कर देता है। राजाके रोषका शिकार बने हुए मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है ? राजा अपने शरणागतको सुखी बना देता है ॥ ५८ ॥

(राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥)

राजा प्रजाओंका प्रथम अथवा प्रधान शरीर है । प्रजा भी राजाका अनुपम शरीर है। राजाके बिना देश और वहाँके निवासी नहीं रह सकते और देशों तथा देशवासियोंके बिना राजा भी नहीं रह सकते हैं ॥

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।
समाश्रिता लोकमिमं परं च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

राजा प्रजाका गुरुतर हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है। नरेन्द्र ! राजाका आश्रय लेनेवाले मनुष्य इस लोक और परलोकपर भी पूर्णतः विजय पा लेते हैं ॥ ५९ ॥

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशा-
स्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥ ६० ॥

राजा भी इन्द्रिय-संयम, सत्य और सौहार्दके साथ इस पृथ्वीका भलीभाँति शासन करके बड़े-बड़े यज्ञोंके अनुष्ठान-द्वारा महान् यशका भागी हो स्वर्गलोकमें सनातन स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ६० ॥

स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः ।
प्रयत्नात् कृतवान् वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! बृहस्पतिजीके ऐसा कहनेपर राजाओंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश वीर वसुमना अपनी प्रजाओंका प्रयत्नपूर्वक पालन करने लगे ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि आङ्गिरसवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बृहस्पतिजीका उपदेशविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके प्रधान कर्तव्योंका तथा दण्डनीतिके द्वारा युगोंके निर्माणका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके द्वारा विशेष-रूपसे पालन करने योग्य और कौन-सा कार्य शेष है ? उसे गाँवोंकी रक्षा कैसे करनी चाहिये और शत्रुओंको किस प्रकार जीतना चाहिये ? ॥ १ ॥

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत् कथम् ।
कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ॥ २ ॥

राजा गुप्तचरकी नियुक्ति कैसे करे ? सब वर्णोंके मनमें किस प्रकार विश्वास उत्पन्न करे ? भारत ! वह भृत्यों, स्त्रियों और पुत्रोंको भी कैसे कार्यमें लगावे ? तथा उनके मनमें भी किस तरह विश्वास पैदा करे ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत् कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! क्षत्रिय राजा अथवा राज-कार्य करनेवाले अन्य पुरुषको सबसे पहले जो कार्य करना चाहिये, वह सारा राजकीय आचार-व्यवहार सावधान होकर सुनो ॥ ३ ॥

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥

राजाको सबसे पहले सदा अपने मनपर विजय प्राप्त करनी चाहिये, उसके बाद शत्रुओंको जीतनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस राजाने अपने मनको नहीं जीता, वह शत्रुपर विजय कैसे पा सकता है ? ॥ ४ ॥

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखना यही मनपर विजय पाना है। जितेन्द्रिय नरेश ही अपने शत्रुओंका दमन कर सकता है॥ ५ ॥

न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु संधौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! राजाको किलोंमें, राज्यकी सीमापर तथा नगर और गाँवके बगीचोंमें सेना रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ ७ ॥

नरसिंह ! इसी प्रकार सभी पड़ावोंपर, बड़े-बड़े गाँवों और नगरोंमें, अन्तःपुरमें तथा राजमहलके आसपास भी रक्षक सैनिकोंकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ७ ॥

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥

तदनन्तर जिन लोगोंकी अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी हो, जो बुद्धिमान् होनेपर भी देखनेमें गूँगे, अंधे और बहरे-से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और परिश्रम सहनेकी शक्ति रखते हों, ऐसे लोगोंको ही गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥ ९ ॥

महाराज ! राजा एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकारके मित्रों तथा पुत्रोंपर भी गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ९ ॥

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥

नगर, जनपद तथा मल्ललोग जहाँ व्यायाम करते हों उन स्थानोंमें ऐसी युक्तिसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये, जिससे वे आपसमें भी एक दूसरेको पहचान न सकें ॥ १० ॥

चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥ ११ ॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजाको अपने गुप्तचरोंद्वारा बाजारों, लोगोंके घूमने-फिरनेके स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुकोंके समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानोंकी सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओंमें शत्रुओंके भेजे हुए गुप्तचरोंका पता लगाते रहना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

एवं विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षणः।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा शत्रुके गुप्तचरका टोह लेता रहे। यदि उसने शत्रुके जासूसका पहले ही पता लगा लिया तो इससे उसका बड़ा हित होता है ॥ १३ ॥

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना।
अमात्यैः सह सम्मन्त्र्य कुर्यात् संधिं बलीयसा ॥१४॥

यदि राजाको अपना पक्ष स्वयं ही निर्बल जान पड़े तो मन्त्रियोंसे सलाह लेकर बलवान् शत्रुके साथ संधि कर ले॥१४॥

(विद्वांसः क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
दण्डनीतौ तु निष्पन्ना मन्त्रिणः पृथिवीपते ॥
प्रष्टव्यो ब्राह्मणः पूर्वं नीतिशास्त्रस्य तत्त्ववित्।
पश्चात् पृच्छेत भूपालः क्षत्रियं नीतिकोविदम् ॥
वैश्यशूद्रौ तथा भूयः शास्त्रज्ञौ हितकारिणौ ।)

पृथ्वीपते ! विद्वान् क्षत्रिय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीतिके ज्ञानमें निपुण हों तो इन्हें मन्त्री बनाना चाहिये। पहले नीतिशास्त्रका तत्त्व जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणसे किसी कार्यके लिये सलाह पूछनी चाहिये। इसके बाद पृथ्वीपालक नरेशको चाहिये कि वह नीतिज्ञ क्षत्रियसे अभीष्ट कार्यके विषयमें पूछे। तदनन्तर अपने हितमें लगे रहनेवाले शास्त्रज्ञ वैश्य और शूद्रोंसे सलाह ले ॥

अज्ञायमाने हीनत्वे संधिं कुर्यात् परेण वै।
लिप्सुर्वा कंचिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥

अपनी हीनता या निर्बलताका पता शत्रुको लगनेसे पहले ही शत्रुके साथ संधि कर लेनी चाहिये। यदि इस संधिके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छा हो तो विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजाको इस कार्यमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥१५॥

गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १६ ॥

जो गुणवान्, महान् उत्साही, धर्मज्ञ और साधु पुरुष हों, उन्हें सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला नरेश बलवान् राजाओंके साथ संधि स्थापित करे ॥ १६ ॥

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥

यदि यह पता लग जाय कि कोई हमारा उच्छेद कर रहा है, तो परम बुद्धिमान् राजा पहलेके अपकारियोंको तथा जनताके साथ द्वेष रखनेवालोंको भी सर्वथा नष्ट कर दे ॥१७ ॥

यो नोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः।
न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥ १८ ॥

जो राजा न तो उपकार कर सकता हो और न अपकार कर सकता हो तथा जिसका सर्वथा उच्छेद कर डालना भी उचित नहीं प्रतीत होता हो, उस राजाकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १८ ॥

यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम्।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥ १९ ॥
यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥ २० ॥

यदि शत्रुपर चढ़ाई करनेकी इच्छा हो तो पहले उसके बलाबलके बारेमें अच्छी तरह पता लगा लेना चाहिये । यदि वह मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओंसे रहित, दूसरोंके साथ युद्धमें लगा हुआ, प्रमादमें पड़ा हुआ तथा दुर्बल जान पड़े और इधर अपनी सैनिक शक्ति प्रबल हो तो युद्धनिपुण, सुखके साधनोंसे सम्पन्न एवं वीर राजाको उचित है कि अपनी सेनाको यात्राके लिये आज्ञा दे दे। पहले अपनी राजधानीकी रक्षाका प्रबन्ध करके शत्रुपर आक्रमण करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान् ।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥ २१ ॥

बल और पराक्रमसे हीन राजा भी जो अपनेसे अत्यन्त शक्तिशाली नरेश हो उसके अधीन न रहे । उसे चाहिये कि गुप्तरूपसे प्रबल शत्रुको क्षीण करनेका प्रयत्न करता रहे ॥२१॥

राष्ट्रं च पीडयेत् तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥ २२ ॥

वह शस्त्रोंके प्रहारसे घायल करके, आग लगाकर तथा विषके प्रयोगद्वारा मूर्छित करके शत्रुके राष्ट्रमें रहनेवाले लोगोंको पीड़ा दे । मन्त्रियों तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंमें कलह प्रारम्भ करा दे ॥ २२ ॥

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥ २३ ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यदर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥ २४ ॥

जो बुद्धिमान् राजा राज्यका हित चाहे, उसे सदा युद्धको टालनेका ही प्रयत्न करना चाहिये । नरेश्वर ! बृहस्पतिजीने साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे ही राजाके लिये धनकी आय बतायी है । इन उपायोंसे जो धन प्राप्त किया जा सके, उसीसे विद्वान् राजाको संतुष्ट होना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन ! बुद्धिमान् नरेश प्रजाजनोंसे उन्हींकी रक्षाके लिये उनकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे ॥२५॥

दशधर्मगतेभ्यो यद् वसु बह्वल्पमेव च ।
तदाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥ २६ ॥

मत्त, उन्मत्त आदि जो दस[1] प्रकारके दण्डनीय मनुष्य हैं, उनसे थोड़ा या बहुत जो धन दण्डके रूपमें प्राप्त हो, उसे पुरवासियोंकी रक्षाके लिये ही सहसा ग्रहण कर ले ॥ २६ ॥

यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ २७ ॥

निःसंदेह राजाको चाहिये कि वह अपनी प्रजाको पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति स्नेहदृष्टिसे देखे; परंतु जब न्याय करनेका अवसर प्राप्त हो, तब उसे स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिये॥

श्रोतुं चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

राजा न्याय करते समय सदा वादी-प्रतिवादीकी बातोंको सुननेके लिये अपने पास सर्वार्थदर्शी विद्वान् पुरुषोंको बिठाये रक्खे; क्योंकि विशुद्ध न्यायपर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है॥

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान्॥२९॥

सोने आदिकी खान, नमक, अनाज आदिकी मंडी, नावके घाट तथा हाथियोंके यूथ—इन सब स्थानोंपर होनेवाली आयके निरीक्षणके लिये मन्त्रियोंको अथवा अपना हित चाहनेवाले विश्वसनीय पुरुषोंको राजा नियुक्त करे ॥ २९ ॥

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग् धर्मः प्रशस्यते ॥ ३० ॥

भलीभाँति दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्मका भागी होता है । निरन्तर दण्ड धारण किये रहना राजाके लिये उत्तम धर्म मानकर उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ३० ॥

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! राजाको वेदों और वेदाङ्गोंका विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, सदा दानशील और यज्ञपरायण होना चाहिये ॥ ३१ ॥

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३२ ॥

ये सारे गुण राजामें सदा स्थिरभावसे रहने चाहिये । यदि राजाका न्यायोचित व्यवहार ही लुप्त हो गया, तो उसे कैसे स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और कैसे यश ? ॥ ३२ ॥

यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा ।
तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् पृथिवीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान् राजासे पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्गका आश्रय लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

विधावाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् ।
सामभेदान् विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

उस समय प्राप्त कर्तव्यपर विचार करनेके लिये मित्रोंका आश्रय लेकर उनकी सलाहसे पहले तो अपनी रक्षाके लिये उचित व्यवस्था करे; फिर साम, भेद अथवा युद्धमेंसे क्या करना है ? इसपर विचार करके उसके उपयुक्त कार्य करे ॥ ३४॥

घोषान् न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान् सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥ ३५ ॥

यदि युद्धका ही निश्चय हो तो पशुशालाओंको वनमेंसे उठाकर सड़कोंपर ले आवे, छोटे-छोटे गाँवोंको उठा दे और उन सबको शाखानगरों (कस्बों) में मिला दे ॥ ३५ ॥

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

---

१. मत्त, उन्मत्त आदि दस प्रकारके अपराधियोंके नाम इस प्रकार हैं—१ मत्त, २ उन्मत्त, ३ दस्यु, ४ तस्कर, ५ प्रतारक, ६ शठ, ७ लम्पट, ८ जुआरी, ९ कृत्रिम लेखक (जालिया), और १० घूसखोर।

राज्यमें जो धनी और सेनाके प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो मुख्य-मुख्य सेनाएँ हों, उन सबको बारंबार सान्त्वना देकर ऐसे स्थानोंमें रख दे, जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हो ॥ ३६ ॥

शस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असम्भवे प्रवेशस्य दहेद् दावाग्निना भृशम् ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतोंमें तैयार हुई अनाजकी फसलको कटवाकर किलेके भीतर रखवा ले । यदि किलेमें लाना सम्भव न हो तो उन फसलोंको आग लगाकर जला दे ॥ ३७ ॥

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् ।
विनाशयेद् वा तत् सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥ ३८ ॥

शत्रुके खेतोंमें जो अनाज हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये वहींके लोगोंमें फूट डाले अथवा अपनी ही सेनाके द्वारा वह सब नष्ट करा दे, जिससे शत्रुके पास खाद्यसामग्रीका अभाव हो जाय ॥ ३८ ॥

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३९ ॥

नदीके मार्गोंपर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रुके मार्गमें जो जलाशय हों, उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे । जो जल बहाया न जा सके, उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य न रह जाय ॥ ३९ ॥

तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद् भूम्यनन्तरम् ।
प्रतीघातं परस्याजौ मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥ ४० ॥

वर्तमान अथवा भविष्यमें सदा किसी मित्रका कार्य उपस्थित हो तो उसे भी छोड़कर अपने शत्रुके उस शत्रुका आश्रय लेकर रहे जो राज्यकी भूमिके निकटका निवासी हो तथा युद्धमें शत्रुपर आघात करनेके लिये तैयार रहता हो ॥ ४० ॥

दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत् ।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान् विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

जो छोटे-छोटे दुर्ग हों (जिनमें शत्रुओंके छिपनेकी सम्भावना हो), उन सबका राजा मूलोच्छेद करा डाले और चैत्य (देवालय-सम्बन्धी) वृक्षोंको छोड़कर अन्य सभी छोटे-छोटे वृक्षोंको कटवा दे ॥ ४१ ॥

प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत् तथा ।
चैत्यानां सर्वथा त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४२ ॥

जो वृक्ष बढ़कर बहुत फैल गये हों, उनकी डालियाँ कटवा दे; परंतु देवसम्बन्धी वृक्षोंको सर्वथा सुरक्षित रहने दे। उनका एक पत्ता भी न गिरावे ॥ ४२ ॥

प्रगण्डीः कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तदा ।
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥ ४३ ॥

नगर एवं दुर्गके परकोटोंपर शूरवीर रक्षा-सैनिकोंके बैठनेके लिये स्थान बनावे, ऐसे स्थानोंको 'प्रगण्डी' कहते हैं, इन्हीं प्रगण्डियोंकी एक पाखवाली दीवारोंमें बाहरकी वस्तुओंको देखनेके लिये छोटे-छोटे छिद्र बनवावे, इन छिद्रोंको 'आकाशजननी' कहते हैं (इनके द्वारा तोपोंसे गोलियाँ छोड़ी जाती हैं); इन सबका अच्छी तरहसे निर्माण करावे । परकोटोंके बाहर बनी हुई खाईमें जल भरवा दे और उसमें त्रिशूलयुक्त खंभे गड़वा दे तथा मगरमच्छ और बड़े-बड़े मत्स्य भी डलवा दे ॥ ४३ ॥

संकटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च ।
तेषां च द्वारवद् गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४४ ॥

नगरमें हवा आने-जानेके लिये परकोटोंमें सँकरे दरवाजे बनावे और बड़े दरवाजोंकी भाँति उनकी भी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४४ ॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत् सदा ।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४५ ॥

सभी दरवाजोंपर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाये रक्खे और उन सबको अपने अधिकारमें रक्खे ॥ ४५ ॥

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत् ।
संशोधयेत् तथा कूपान् कृतपूर्वान् पयोऽर्थिभिः ॥४६॥

किलेके भीतर बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर ले और कुएँ खुदवाये । जल पीनेकी इच्छावाले लोगोंने पहले जो कुएँ बना रक्खे हों, उनको भी झरवाकर शुद्ध करा दे ॥ ४६ ॥

तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत् ।
निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात् तथा ॥ ४७ ॥

घास-फूँससे छाये हुए घरोंको गीली मिट्टीसे लिपवा दे और चैतका महीना आते ही आग लगनेके भयसे नगरके भीतरसे घास-फूँस हटवा दे । खेतोंसे भी तृण आदिको हटा दे ॥४७॥

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः ।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽऽग्निहोत्रिकम्॥४८॥

राजाको चाहिये कि वह युद्धके अवसरोंपर नगरके लोगोंको रातमें ही भोजन बनानेकी आज्ञा दे । दिनमें अग्निहोत्रको छोड़कर और किसी कामके लिये कोई आग न जलावे ॥४८॥

कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः ।
गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥ ४९ ॥

लोहार आदिकी भट्ठियोंमें और सूतिकागृहोंमें भी अत्यन्त सुरक्षित रूपसे आग जलानी चाहिये, आगको घरके भीतर ले जाकर ढककर रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

महादण्डश्च तस्य स्याद् यस्याग्निर्वै दिवा भवेत् ।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥ ५० ॥

नगरकी रक्षाके लिये यह घोषणा करा दे कि 'जिसके यहाँ दिनमें आग जलायी जाती होगी उसे बड़ा भारी दण्ड दिया जायगा'॥ ५० ॥

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान् कुशीलवान् ।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा॥५१॥

नरश्रेष्ठ ! जब युद्ध छिड़ा हो, तब राजाको चाहिये कि वह नगरसे भिखमंगों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करनेवालोंको बाहर निकाल दे; अन्यथा वे बड़ी भारी विपत्ति ला सकते हैं ॥ ५१ ॥

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात् सर्वस्य पार्थिवः ॥ ५२ ॥

राजाको चाहिये कि वह चौराहोंपर, तीर्थोंमें, सभाओंमें और धर्मशालाओंमें सबकी मनोवृत्तिको जाननेके लिये किसी शुद्ध वर्णवाले पुरुषको (जो वर्णसंकर न हो) गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ५२ ॥

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः ।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥ ५३ ॥

प्रत्येक नरेशको बड़ी-बड़ी सड़कें बनवानी चाहिये और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार जलक्षेत्र और बाजारों-की व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

भाण्डागारायुधागारान् योधागारांश्च सर्वशः ।
अश्वागारान् गजागारान् बलाधिकरणानि च ॥ ५४ ॥
परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च ।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! अन्नके भण्डार, शस्त्रागार, योद्धाओंके निवासस्थान, अश्वशालाएँ, गजशालाएँ, सैनिक शिविर, खाई, गलियाँ तथा राजमहलके उद्यान—इन सब स्थानोंको गुप्तरीतिसे बनवाना चाहिये, जिससे कभी दूसरा कोई देख न सके ॥५४-५५॥

अर्थसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः ।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥ ५६ ॥
अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम् ।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयीत च संचयान् ॥ ५७ ॥

शत्रुओंकी सेनासे पीड़ित हुआ राजा धन-संचय तथा आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके रखे । घायलोंकी चिकित्साके लिये तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकारके औषध, अङ्गारे, कुश, मूँज, ढाक, बाण, लेखक, घास और विषमें बुझाये हुए बाणोंका भी संग्रह करावे ॥ ५६-५७ ॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार राजाको चाहिये कि शक्ति, ऋष्टि और प्रास आदि सब प्रकारके आयुधों, कवचों तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करावे ॥ ५८ ॥

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च ।
चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः ॥ ५९ ॥

सब प्रकारके औषध, मूल, फूल तथा विषका नाश करनेवाले, घावपर पट्टी करनेवाले, रोगोंको निवारण करनेवाले और कृत्याका नाश करनेवाले—इन चार प्रकारके वैद्योंका विशेष रूपसे संग्रह करे ॥ ५९ ॥

नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ६० ॥

साधारण स्थितिमें राजाको नटों, नर्तकों, पहलवानों तथा इन्द्रजाल दिखानेवालोंको भी अपने यहाँ आश्रय देना चाहिये; क्योंकि ये राजधानीकी शोभा बढ़ाते हैं और सबको अपने खेलोंसे आनन्द प्रदान करते हैं ॥ ६० ॥

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥ ६१ ॥

यदि राजाको अपने किसी नौकरसे, मन्त्रीसे, पुरवासियोंसे अथवा किसी पड़ोसी राजासे भी कोई संदेह हो जाय तो समयोचित उपायोंद्वारा उन सबको अपने वशमें कर ले ॥

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसंचयैः ।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! जब कोई अभीष्ट कार्य पूरा हो जाय तो उसमें सहयोग करनेवालोंका बहुत-से धन, यथायोग्य पुरस्कार तथा नाना प्रकारके सान्त्वनापूर्ण मधुर वचनके द्वारा सत्कार करना चाहिये ॥ ६२ ॥

निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन ।
ततोऽनृणो भवेद् राजा यथा शास्त्रे निदर्शितम् ॥ ६३ ॥

कुरुनन्दन ! राजा शत्रुको ताड़ना आदिके द्वारा खिन्न करके अथवा उसका वध करके फिर उसवंशमें हुए राजाका जैसा शास्त्रोंमें बताया गया है, उसके अनुसार दान-मानादिद्वारा सत्कार करके उससे उऋण हो जाय ॥ ६३ ॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे ।
आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ६५ ॥

कुरुनन्दन ! राजाको उचित है कि सात वस्तुओंकी अवश्य रक्षा करे । वे सात कौन हैं ? यह मुझसे सुनो । राजाका अपना शरीर, मन्त्री, कोश, दण्ड (सेना), मित्र, राष्ट्र और नगर—ये राज्यके सात अङ्ग हैं, राजाको इन सबका प्रयत्न-पूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुङ्क्ते पृथिवीमिमाम् ॥ ६६॥

पुरुषसिंह ! जो राजा छः गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग—इन सबको अच्छी तरह जानता है, वही इस पृथ्वी-का उपभोग कर सकता है ॥ ६६ ॥

षाड्गुण्यमिति यत् प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
संधानासनमित्येव यात्रासंधानमेव च ॥ ६७ ॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां सम्परिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर ! इनमेंसे जो छः गुण कहे गये हैं, उनका परिचय सुनो, शत्रुसे संधि करके शान्तिसे बैठ जाना, शत्रुपर चढ़ाई करना, वैर करके बैठ रहना, शत्रुको डरानेके लिये आक्रमणका प्रदर्शनमात्र करके बैठ जाना, शत्रुओंमें भेद डलवा देना तथा किसी दुर्ग या दुर्जय राजाका आश्रय लेना॥

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥ ६९ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७० ॥

जिन वस्तुओंको त्रिवर्गके अन्तर्गत बताया गया है, उनको

भी यहाँ एकचित्त होकर सुनो। क्षय, स्थान और वृद्धि—ये ही त्रिवर्ग हैं तथा धर्म, अर्थ और काम—इनको परम त्रिवर्ग कहा गया है। इन सबका समयानुसार सेवन करना चाहिये। राजा धर्मके अनुसार चले तो वह पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन कर सकता है ॥ ६९-७० ॥

अस्मिन्नर्थे च श्लोकौ द्वौ गीतावङ्गिरसा स्वयम्।
यादवीपुत्र भद्रं ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥ ७१ ॥

पृथापुत्र युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। इस विषयमें साक्षात् बृहस्पतिजीने जो दो श्लोक कहे हैं, उन्हें भी तुम सुनो ॥

कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम्।
पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते ॥ ७२ ॥

'सारे कर्तव्योंको पूरा करके पृथ्वीका अच्छी तरह पालन तथा नगर एवं राष्ट्रकी प्रजाका संरक्षण करनेसे राजा परलोकमें सुख पाता है ॥ ७२ ॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ ७३ ॥

'जिस राजाने अपनी प्रजाका अच्छी तरह पालन किया है, उसे तपस्यासे क्या लेना है? उसे यज्ञोंका भी अनुष्ठान करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता है'॥

(श्लोकाश्चोशनसा गीतास्तान् निबोध युधिष्ठिर।
दण्डनीतेश्च यन्मूलं त्रिवर्गस्य च भूपते ॥
भार्गवाङ्गिरसं कर्म षोडशाङ्गं च यद् बलम्।
विषं माया च दैवं च पौरुषं चार्थसिद्धये ॥
प्रागुदक्प्रवणं दुर्गं समासाद्य महीपतिः।
त्रिवर्गत्रयसम्पूर्णमुपादाय तमुद्वहेत् ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें शुक्राचार्यके कहे हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें सुनो। राजन्! उन श्लोकोंमें जो भाव है, वह दण्डनीति तथा त्रिवर्गका मूल है। भार्गवाङ्गिरस-कर्म, षोडशाङ्ग बल, विष, माया, दैव और पुरुषार्थ—ये सभी वस्तुएँ राजाकी अर्थसिद्धिके कारण हैं। राजाको चाहिये, जिसमें पूर्व और उत्तर दिशाकी भूमि नीची हो तथा जो तीनों प्रकारके त्रिवर्गोंसे परिपूर्ण हो उस दुर्गका आश्रय ले राज्यकार्यका भार वहन करे॥

षट् पञ्च च विनिर्जित्य दश चाष्टौ च भूपतिः।
त्रिवर्गैर्दशभिर्युक्तः सुरैरपि न जीयते ॥

षडवर्ग[1] पञ्चवर्ग[2], दस[3] दोष और आठ दोष[4]—इन सबको जीतकर त्रिवर्ग[5]युक्त एवं दस[6] वर्गोंके ज्ञानसे सम्पन्न हुआ राजा देवताओंद्वारा भी जीता नहीं जा सकता॥

न बुद्धिं परिगृह्णीत स्त्रीणां मूर्खजनस्य च।
दैवोपहतबुद्धीनां ये च वेदैर्विवर्जिताः ॥
न तेषां श्रृणुयाद् राजा बुद्धिस्तेषां पराङ्मुखी।

राजा कभी स्त्रियों और मूर्खोंसे सलाह न ले। जिनकी बुद्धि दैवसे मारी गयी है तथा जो वेदोंके ज्ञानसे शून्य हैं, उनकी बात राजा कभी न सुने; क्योंकि उन लोगोंकी बुद्धि नीतिसे विमुख होती है॥

स्त्रीप्रधानानि राज्यानि विद्वद्भिर्वर्जितानि च ॥
मूर्खामात्यप्रतप्तानि शुष्यन्ते जलबिन्दुवत्।

जिन राज्योंमें स्त्रियोंकी प्रधानता हो और जिन्हें विद्वानोंने छोड़ रक्खा हो; वे राज्य मूर्ख मन्त्रियोंसे संतप्त होकर पानीकी बूँदके समान सूख जाते हैं॥

विद्वांसः प्रथिता ये च ये चाप्ताः सर्वकर्मसु ॥
युद्धेषु दृष्टकर्माणस्तेषां च श्रृणुयान्नृपः।

जो अपनी विद्वत्ताके लिये विख्यात हों, सभी कार्योंमें विश्वासके योग्य हों तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके कार्य देखे गये हों, ऐसे मन्त्रियोंकी ही बात राजाको सुननी चाहिये॥

दैवं पुरुषकारं च त्रिवर्गं च समाश्रितः ॥
दैवतानि च विप्रांश्च प्रणम्य विजयी भवेत्।)

दैव, पुरुषार्थ और त्रिवर्गका आश्रय ले देवताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके युद्धकी यात्रा करनेवाला राजा विजयी होता है॥

युधिष्ठिर उवाच

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७४॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! दण्डनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं। इनमेंसे किसके क्या करनेसे कार्य-सिद्धि होती है? यह मुझे बताइये ॥ ७४ ॥

भीष्म उवाच

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः।
श्रृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥ ७५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! भरतनन्दन! दण्डनीतिसे राजा और प्रजाके जिस महान् सौभाग्यका उदय होता है, उसका

१. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः आन्तरिक शत्रुओंके समुदायको षड्वर्ग कहते हैं, इनको पूर्णरूपसे जीत लेनेवाला नरेश ही सर्वत्र विजयी होता है।

२. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंके समूहको ही पञ्चवर्ग कहते हैं। इन सबको क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंमें आसक्त न होने देना ही इनपर विजय पाना है।

३. आखेट, जूआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रियोंमें आसक्त होना, मद्य पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना—ये कामजनित दस दोष हैं, जिनपर राजाको विजय पाना चाहिये। इनको सर्वथा त्याग देना ही इनपर विजय पाना है।

४. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष राजाके लिये त्याज्य हैं।

५. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं।

६. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड-ये पाँच ही अपने और शत्रुवर्गके मिलाकर दस वर्ग कहलाते हैं। इनकी पूरी जानकारी रखनेपर राजाको अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका पूर्ण ज्ञान होता है।

मैं लोकप्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त शब्दोंद्वारा वर्णन करता हूँ; तुम यथावत् रूपसे यहाँ उसे सुनो ॥ ७५ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ ७६ ॥

यदि राजा दण्डनीतिका उत्तम रीतिसे प्रयोग करे तो वह चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें बलपूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्मकी ओर जानेसे रोक देती है ॥ ७६ ॥

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ७७ ॥
साम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि ।
तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार दण्डनीतिके प्रभावसे जब चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मोंमें संलग्न रहते हैं, धर्ममर्यादामें संकीर्णता नहीं आने पाती और प्रजा सब ओरसे निर्भय एवं कुशलपूर्वक रहने लगती है, तब तीनों वर्णोंके लोग विधिपूर्वक स्वाध्य-रक्षाका प्रयत्न करते हैं । युधिष्ठिर ! इसीमें मनुष्योंका सुख निहित है, यह तुम्हें ज्ञात होना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ ७९ ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका, ऐसा संशय तुम्हें नहीं होना चाहिये ।यह निश्चित है कि राजा ही कालका कारण होता है ॥ ७९ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥ ८० ॥

जिस समय राजा दण्डनीतिका पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथ्वीपर पूर्णरूपसे सत्ययुगका आरम्भ हो जाता है । राजासे प्रभावित हुआ समय ही सत्ययुगकी सृष्टि कर देता है ॥ ८० ॥

ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥ ८१ ॥

उस सत्ययुगमें धर्म-ही-धर्म रहता है, अधर्मका कहीं नाम-निशान भी नहीं दिखायी देता तथा किसी भी वर्णकी अधर्ममें रुचि नहीं होती ॥ ८१ ॥

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ ८२ ॥

उस समय प्रजाके योगक्षेम स्वतः सिद्ध होते रहते हैं तथा सर्वत्र वैदिक गुणोंका विस्तार हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८२ ॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥

सभी ऋतुएँ सुखदायिनी और आरोग्य बढ़ानेवाली होती हैं । मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन स्वच्छ एवं प्रसन्न होते हैं ॥ ८३ ॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥

इस जगत्‌में उस समय रोग नहीं होते, कोई भी मनुष्य अल्पायु नहीं दिखायी देता, स्त्रियाँ विधवा नहीं होती हैं तथा कोई भी मनुष्य दीन-दुखी नहीं होता है ॥ ८४ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥

पृथ्वीपर बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा होता है, ओषधियाँ भी स्वतः उत्पन्न होती हैं; उनकी छाल, पत्ते, फल और मूल सभी शक्तिशाली होते हैं ॥ ८५ ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६ ॥

सत्ययुगमें अधर्मका सर्वथा अभाव हो जाता है । उस समय केवल धर्म-ही-धर्म रहता है। युधिष्ठिर ! इन सबको सत्ययुगके धर्म समझो ॥ ८६ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥ ८७ ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥

जब राजा दण्डनीतिके एक चौथाई अंशको छोड़कर केवल तीन अंशोंका अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग प्रारम्भ हो जाता है । उस समय अशुभका चौथा अंश पुण्यके तीन अंशोंके पीछे लगा रहता है । उस अवस्थामें पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अन्न पैदा होता है । ओषधियाँ भी उसी तरह पैदा होती हैं ॥ ८७-८८ ॥

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

जब राजा दण्डनीतिके आधे भागको त्यागकर आधेका अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युगका आरम्भ हो जाता है ॥ ८९ ॥

अशुभस्य यदा त्वर्धं द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥ ९० ॥

उस समय पापके दो भाग, पुण्यके दो भागोंका अनुसरण करते हैं। पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अनाज पैदा होता है; परंतु आधी फसलमें ही फल लगते हैं, आधी मारी जाती है ॥ ९० ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥

जब राजा समूची दण्डनीतिका परित्याग करके अयोग्य उपायोंद्वारा प्रजाको कष्ट देने लगता है, तब कलियुगका आरम्भ हो जाता है ॥ ९१ ॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ ९२ ॥

कलियुगमें अधर्म तो अधिक होता है; परंतु धर्मका पालन कहीं नहीं देखा जाता । सभी वर्णोंका मन अपने धर्मसे च्युत हो जाता है ॥ ९२ ॥

शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसंकरः ॥ ९३ ॥

शूद्र भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करते हैं और ब्राह्मण सेवा

वृत्तिसे । प्रजाके योगक्षेमका नाश हो जाता है और सब ओर वर्णसंकरता फैल जाती है ॥ ९३ ॥

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ ९४ ॥

वैदिक कर्म विधिपूर्वक सम्पन्न न होनेके कारण गुणहीन हो जाते हैं । प्रायः सभी ऋतुएँ सुखरहित तथा रोग प्रदान करनेवाली हो जाती हैं ॥ ९४ ॥

ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥

मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन मलिन हो जाते हैं । सबको रोग-व्याधि सताने लगती है और लोग अल्पायु होकर छोटी अवस्थामें ही मरने लगते हैं ॥ ९५ ॥

विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् सस्यं प्ररोहति ॥ ९६ ॥

इस युगमें स्त्रियाँ प्रायः विधवा होती हैं, प्रजा क्रूर हो जाती है, बादल कहीं-कहीं पानी बरसाते हैं और कहीं-कहीं ही धान उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ॥ ९७ ॥

जब राजा दण्डनीतिमें प्रतिष्ठित होकर प्रजाकी भली-भाँति रक्षा करना नहीं चाहता है, उस समय इस पृथ्वीके सारे रस ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ ९८ ॥

राजा ही सत्ययुगकी सृष्टि करनेवाला होता है और राजा ही त्रेता, द्वापर तथा चौथे युग कलिकी भी सृष्टिका कारण है ॥९८॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते॥ ९९ ॥

सत्ययुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी सृष्टि करनेसे राजाको स्वर्ग तो मिलता है; परंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ ९९ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥१००॥

द्वापरका प्रसार करनेसे वह अपने पुण्यके अनुसार कुछ कालतक स्वर्गका सुख भोगता है; परंतु कलियुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अत्यन्त पापका भागी होना पड़ता है॥१००॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति ॥१०१॥

तदनन्तर वह दुराचारी राजा उस पापके कारण बहुत वर्षोंतक नरकमें निवास करता है । प्रजाके पापमें डूबकर वह अपयश और पापके फलस्वरूप दुःखका ही भागी होता है१०१

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा ।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥१०२॥

अतः विज्ञ क्षत्रियनरेशको चाहिये कि वह सदा दण्ड-नीतिको सामने रखकर उसके द्वारा अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करे । इसके द्वारा प्रजाके योगक्षेम सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १०२ ॥

(योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।)
लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी ।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥१०३॥

यदि दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय तो वह बालककी रक्षा करनेवाले माता-पिताके समान लोककी सुन्दर व्यवस्था करनेवाली और धर्ममर्यादा तथा जगत्की रक्षामें समर्थ होती है ॥ १०३ ॥

यस्यां भवन्ति भूतानि तद् विद्धि मनुजर्षभ ।
एष एव परो धर्मो यद् राजा दण्डनीतिमान् ॥१०४॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि समस्त प्राणी दण्डनीतिके आधारपर ही टिके हुए हैं । राजा दण्डनीतिसे युक्त हो उसीके अनुसार चले—यही उसका सबसे बड़ा धर्म है ॥१०४॥

तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् ।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥१०५॥

अतः कुरुनन्दन ! तुम दण्डनीतिका आश्रय ले धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो । यदि नीतियुक्त व्यवहारसे रहकर प्रजाकी रक्षा करोगे तो दुर्जय स्वर्गको जीत लोगे ॥ १०५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल ११६½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

राजाको इहलोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान् सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—आचारके ज्ञाता पितामह ! किस प्रकारका आचरण करनेसे राजा इहलोक और परलोकमें भी भविष्यमें सुख देनेवाले पदार्थोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान् गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दया और उदारता आदि गुणोंसे युक्त राजा जिन गुणोंको आचरणमें लाकर उत्कर्ष लाभ कर सकता है, वे छत्तीस प्रकारके गुण हैं । राजाको चाहिये कि वह इन छत्तीस गुणोंसे सम्पन्न होनेकी चेष्टा करे ॥ २ ॥

चरेद् धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिकः।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ॥ ३ ॥

(अब मैं क्रमशः उन गुणोंका वर्णन करता हूँ) १—धर्मका आचरण करे, किंतु कटुता न आने दे । २—आस्तिक रहते हुए दूसरोंके साथ प्रेमका बर्ताव न छोड़े । ३—क्रूरताका आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। ४—मर्यादाका अतिक्रमण न करते हुए ही विषयोंको भोगे ॥ ३ ॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥ ४ ॥

५—दीनता न लाते हुए ही प्रिय भाषण करे । ६-शूर-वीर बने, किंतु बढ़-बढ़कर बातें न बनावे । ७-दान दे, परंतु अपात्रको नहीं । ८—साहसी हो, किंतु निष्ठुर न हो ॥ ४ ॥

संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया ॥ ५ ॥

९—दुष्टोंके साथ मेल न करे ।१०-बन्धुओंके साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। ११—जो राजभक्त न हो,ऐसे गुप्तचरसे काम न ले। १२—किसीको कष्ट पहुँचाये बिना ही अपना कार्य करे॥५॥

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥

१३— दुष्टोंसे अपना अभीष्ट कार्य न कहे । १४—अपने गुणोंका स्वयं ही वर्णन न करे । १५—श्रेष्ठ पुरुषोंसे उनका धन न छीने । १६—नीच पुरुषोंका आश्रय न ले ॥ ६ ॥

नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ ७ ॥

१७—अपराधकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना ही किसीको दण्ड न दे । १८—गुप्त मन्त्रणाको प्रकट न करे। १९—लोभियोंको धन न दे । २०—जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उनपर विश्वास न करे ॥ ७ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥ ८ ॥

२१—ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्रीकी रक्षा करे । २२-राजा शुद्ध रहे; किंतु किसीसे घृणा न करे । २३-स्त्रियोंका अधिक सेवन न करे । २४—शुद्ध और स्वादिष्ठ भोजन करे, परंतु अहितकर भोजन न करे ॥ ८ ॥

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया।
अर्चेद् देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥

२५—उद्दण्डता छोड़कर विनीतभावसे माननीय पुरुषोंका आदर-सत्कार करे । २६-निष्कपटभावसे गुरुजनोंकी सेवा करे। २७-दम्भहीन होकर देवताओंकी पूजा करे । २८—अनिन्दित उपायसे धन-सम्पत्ति पानेकी इच्छा करे ॥ ९ ॥

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥

२९—हठ छोड़कर प्रीतिका पालन करे । ३०—कार्य-कुशल हो, किंतु अवसरके ज्ञानसे शून्य न हो । ३१—केवल पिण्ड छुड़ानेके लिये किसीको सान्त्वना या भरोसा न दे । ३२—किसीपर कृपा करते समय आक्षेप न करे ॥ १० ॥

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून् न शोचयेत्।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥

३३—बिना जाने किसीपर प्रहार न करे । ३४—शत्रुओंको मारकर शोक न करे । ३५—अकस्मात् किसीपर क्रोध न करे तथा ३६—कोमल हो, परंतु अपकार करनेवालोंके लिये नहीं ॥

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! यदि इस लोकमें कल्याण चाहते हो तो राज्यपर स्थित रहकर ऐसा ही बर्ताव करो; क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा बड़ी भारी विपत्ति या भयमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥

जो राजा यथार्थरूपसे बताये गये इन सभी गुणोंका अनुवर्तन करता है, वह इस जगत्‌में कल्याणका अनुभव करके मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इदं वचः शान्तनवस्य शुश्रुवान्
युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः।
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो
यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मका यह उपदेश सुनकर पाण्डवोंसे और प्रधान राजाओंसे घिरे हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने जैसा बताया था, वैसा ही किया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धर्मपूर्वक प्रजाका पालन ही राजाका महान् धर्म है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते।
धर्मेण नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किस प्रकार प्रजाका पालन करनेवाला राजा चिन्तामें नहीं पड़ता और धर्मके विषयमें अपराधी नहीं होता, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

समासेनैव ते राजन् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मैं संक्षेपसे ही तुम्हारे लिये सनातन राजधर्मोंका वर्णन करूँगा । विस्तारसे वर्णन आरम्भ करूँ तो उन धर्मोंका कभी अन्त ही नहीं हो सकता ॥ २ ॥

धर्मनिष्ठाञ्श्रुतवतो वेदव्रतसमाहितान् ।
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥ ३ ॥
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।
अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥

जब घरपर वेदव्रतपरायण, शास्त्रज्ञ एवं धर्मिष्ठ गुणवान् ब्राह्मण पधारें, उस समय उन्हें देखते ही खड़े हो उनका स्वागत करो । उनके चरण पकड़कर प्रणाम करो और उनकी विधिपूर्वक अर्चन करके पूजा करो । तदनन्तर पुरोहितको साथ लेकर समस्त आवश्यक कार्य सम्पन्न करो ॥ ३-४ ॥

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च ।
ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥

पहले संध्या-वन्दन आदि धार्मिक कृत्य पूर्ण करके माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थसिद्धि एवं विजयके लिये उनके आशीर्वाद ग्रहण करो ॥ ५ ॥

आर्जवेन च सम्पन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत ।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! राजाको चाहिये कि वह सरल स्वभावसे सम्पन्न हो, धैर्य तथा बुद्धिके बलसे सत्यको ही ग्रहण करे और काम-क्रोधका परित्याग कर दे ॥ ६ ॥

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति ।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥ ७ ॥

जो राजा काम और क्रोधका आश्रय लेकर धन पैदा करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्मको पाता है और न धन ही उसके हाथ लगता है ॥ ७ ॥

मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः ।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

तुम लोभी और मूर्ख मनुष्योंको काम और अर्थके साधनमें न लगाओ । जो लोभरहित और बुद्धिमान् हों, उन्हींको समस्त कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥ ९ ॥

जो कार्यसाधनमें कुशल नहीं है और काम तथा क्रोधके वशमें पड़ा हुआ है, ऐसे मूर्ख मनुष्यको यदि अर्थसंग्रहका अधिकारी बना दिया जाय तो वह अनुचित उपायसे प्रजाओंको क्लेश पहुँचाता है ॥ ९ ॥

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥

प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करके, उचित शुल्क या टैक्स लेकर, अपराधियोंको आर्थिक दण्ड देकर तथा शास्त्रके अनुसार व्यापारियोंकी रक्षा आदि करनेके कारण उनके दिये हुए वेतन लेकर इन्हीं उपायों तथा मार्गोंसे राजाको धन-संग्रहकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ १० ॥

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि ।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ ११ ॥

प्रजासे धर्मानुकूल कर ग्रहण करके राज्यका नीतिके अनुसार विधिपूर्वक पालन करते हुए राजाको आलस्य छोड़कर प्रजावर्गके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ११ ॥

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् ।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥

जो राजा आलस्य छोड़कर राग-द्वेषसे रहित हो सदा प्रजाकी रक्षा करता है, दान देता है तथा निरन्तर धर्म एवं न्यायमें तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजावर्गके सभी लोग अनुरक्त होते हैं ॥ १२ ॥

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम लोभवश अधर्ममार्गसे धन पानेकी कभी इच्छा न करना; क्योंकि जो लोग शास्त्रके अनुसार नहीं चलते हैं, उनके धर्म और अर्थ दोनों ही अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं ॥ १३ ॥

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थौ नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥

शास्त्रसे विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्मकी सिद्धि कर पाता है और न अर्थकी ही । यदि उसे धन मिल भी जाय तो वह सारा ही बुरे कामोंमें नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः ॥ १५ ॥

जो धनका लोभी राजा मोहवश प्रजासे शास्त्रविरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है ॥ १५ ॥

ऊधश्छिन्द्यात् तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ १६ ॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य यदि गायका थन काट ले तो इससे वह दूध नहीं पा सकता, उसी प्रकार राज्यमें रहनेवाली प्रजाका अनुचित उपायसे शोषण किया जाय तो उससे राष्ट्रकी उन्नति नहीं होती ॥ १६ ॥

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥

जो दूध देनेवाली गायकी प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है; इसी प्रकार उचित उपायसे राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठाता है ॥ १७ ॥

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! न्यायसङ्गत उपायसे राष्ट्रको सुरक्षित रखते हुए

उसका उपभोग किया जाय अर्थात् करके रूपमें उससे धन लिया जाय तो वह सदा राजाके कोशकी अनुपम वृद्धि करता है ॥ १८ ॥

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥ १९ ॥

जैसे माता स्वयं तृप्त रहनेपर ही बालकको यथेष्ट दूध पिलाती है, उसी प्रकार राजासे सुरक्षित होनेपर ही यह दुधारू गायके समान पृथ्वी राजाके स्वजनों तथा दूसरे लोगोंको सदा अन्न एवं सुवर्ण देती है ॥ १९ ॥

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! तुम मालीके समान बनो। कोयला बनानेवालेके समान न बनो (माली वृक्षकी जड़को सींचता और उसकी रक्षा करता है, तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परंतु कोयला बनानेवाला वृक्षको समूल नष्ट कर देता है; उसी प्रकार तुम भी माली बनकर राज्यरूपी उद्यानको सींचकर सुरक्षित रक्खो और फल-फूलकी तरह प्रजासे न्यायोचित कर लेते रहो, कोयला बनानेवालेकी तरह सारे राज्यको जलाकर भस्म न करो), ऐसा करके प्रजापालनमें तत्पर रहकर तुम दीर्घकालतक राज्यका उपभोग कर सकोगे ॥ २० ॥

परचक्राभियानेन यदि ते स्याद् धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ ॥

यदि शत्रुओंके आक्रमणसे तुम्हारे धनका नाश हो जाय तो भी सान्त्वनापूर्ण मधुर वाणीद्वारा ही ब्राह्मणेतर प्रजासे धन लेनेकी इच्छा रक्खो ॥ २१ ॥

मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! धनसम्पन्न अवस्थाकी तो बात ही क्या है ? तुम अत्यन्त निर्धन अवस्थामें पड़ जाओ तो भी ब्राह्मणको धनी देखकर उसका धन लेनेके लिये तुम्हारा मन चञ्चल नहीं होना चाहिये ॥२२॥

धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन् परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥ २३ ॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंको सान्त्वना देते और उनकी रक्षा करते हुए उन्हें यथाशक्ति यथायोग्य धन देते रहना, इससे तुम्हें दुर्जय स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ २३ ॥

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय ।
स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! इस प्रकार तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाजनोंका पालन करो । इससे परिणाममें सुखद पुण्य तथा चिरस्थायी यश प्राप्त कर लोगे ॥ २४ ॥

धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर यथा युक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाका पालन करते रहो, जिससे युक्त रहकर तुम्हें कभी भी चिन्ता या पश्चात्ताप न हो ॥ २५ ॥

एष एव परो धर्मो यद् राजा रक्षति प्रजाः ।
भूतानां हि यथा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ २६ ॥

राजा जो प्रजाकी रक्षा करता है, यही उसका सबसे बड़ा धर्म है । समस्त प्राणियोंकी रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही महान् धर्म है ॥ २६ ॥

तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः ।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥

इसलिये जो राजा प्रजापालनमें तत्पर रहकर प्राणियोंपर दया करता है, उसके इस बर्तावको धर्मज्ञ पुरुष परम धर्म मानते हैं ॥ २७ ॥

यदह्ना कुरुते पापमरक्षन् भयतः प्रजाः ।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥

राजा प्रजाकी भयसे रक्षा न करनेके कारण एक दिनमें जिस पापका भागी होता है, उसका परिणाम उसे एक हजार वर्षोंतक भोगना पड़ता है ॥ २८ ॥

यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दशवर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥ २९ ॥

और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेके कारण राजा एक दिनमें जिस धर्मका भागी होता है, उसका फल वह दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें रहकर भोगता है ॥ २९ ॥

स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकाञ्जयति यावतः ।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

उत्तम यज्ञके द्वारा गृहस्थ-धर्मका, उत्तम स्वाध्यायके द्वारा ब्रह्मचर्यका तथा श्रेष्ठ तपके द्वारा वानप्रस्थ-धर्मका पालन करनेवाला पुरुष जितने पुण्यलोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है, धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाला राजा उन्हें क्षणभरमें पा लेता है ॥ ३० ॥

एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय ।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक धर्मका पालन करो। इससे पुण्यका फल पाकर तुम कभी चिन्तामें नहीं पड़ोगे ॥

स्वर्गलोके सुमहतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव ।
असम्भवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! धर्म-पालन करनेसे स्वर्गलोकमें तुम्हें बड़ी भारी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होगी । जो राजा नहीं हैं, उन्हें ऐसे धर्मोंका लाभ मिलना असम्भव है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात् ।
स राज्यं धृतिमान् प्राप्य धर्मेण परिपालय ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥

इसलिये धर्मात्मा राजा ही ऐसे धर्मका फल पाता है,

दूसरा नहीं। तुम धैर्यवान् तो हो ही। यह राज्य पाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यज्ञमें सोमरसद्वारा इन्द्रको तृप्त करो और मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करके सुहृदोंको संतुष्ट करो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके लिये सदाचारी विद्वान् पुरोहितकी आवश्यकता तथा प्रजापालनका महत्त्व

भीष्म उवाच

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राज्ञः कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! राजाको चाहिये कि वह एक ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको अपना पुरोहित बनावे, जो उसके सत्कर्मोंकी रक्षा करे और उसे असत् कर्मसे दूर रक्खे (तथा जो उसके शुभकी रक्षा और अशुभका निवारण करे)॥ १ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुरूरवस ऐलस्य संवादं मातरिश्वनः ॥ २ ॥

इस विषयमें विद्वान् लोग इला-कुमार पुरूरवा तथा वायुके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पुरूरवा उवाच

कुतःस्विद् ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः।
कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! ब्राह्मणकी उत्पत्ति किससे हुई है? अन्य तीनों वर्ण भी किससे उत्पन्न हुए हैं तथा ब्राह्मण उन सबसे श्रेष्ठ क्यों है? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

मातरिश्वोवाच

ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च ॥ ४ ॥

वायुने कहा—नृपश्रेष्ठ! ब्रह्माजीके मुखसे ब्राह्मणकी, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियकी तथा दोनों ऊरुओंसे वैश्यकी सृष्टि हुई है ॥ ४ ॥

वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः पश्चात् तु पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद इन तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये ब्रह्माजीके दोनों पैरोंसे चौथे वर्ण शूद्रकी रचना हुई ॥ ५ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ६ ॥

ब्राह्मण जन्मकालसे ही भूतलपर धर्मकोषकी रक्षाके लिये अन्य सब वर्णोंका नियन्ता होता है ॥ ६ ॥

अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारिणम्।
द्वितीयं वर्णमकरोत् प्रजानामनुगुप्तये ॥ ७ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने पृथ्वीपर शासन करनेवाले और दण्ड-धारणमें समर्थ दूसरे वर्ण क्षत्रियको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किया ॥ ७ ॥

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयादिमान्।
शूद्रो ह्येतान् परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ ८ ॥

वैश्य धन-धान्यके द्वारा इन तीनों वर्णोंका पोषण करे और शूद्र शेष तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहे, यह ब्रह्माजी-का आदेश है ॥ ८ ॥

ऐल उवाच

द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत्।
धर्मतः सह वित्तेन सम्यग् वायो प्रचक्ष्व मे ॥ ९ ॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! धन-धान्यसहित यह पृथ्वी धर्मतः किसकी है? ब्राह्मणकी या क्षत्रियकी? यह मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ ९ ॥

वायुरुवाच

विप्रस्य सर्वमेवैतद् यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्मकुशला विदुः ॥ १० ॥

वायुदेवने कहा—राजन्! धर्मनिपुण विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तम स्थानसे उत्पन्न और ज्येष्ठ होनेके कारण इस पृथ्वीपर जो कुछ है, वह सब ब्राह्मणका ही है ॥ १० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है। निश्चय ही ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।
आनन्तर्यात् तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्।
एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेत् ततः ॥ १२ ॥

जैसे वाग्दानके अनन्तर पतिके मर जानेपर स्त्री देवरको पति बनाती है*, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके बाद ही क्षत्रियका पतिरूपमें वरण करती है, यह तुम्हें मैंने अनादि कालसे प्रचलित प्रथम श्रेणीका नियम बताया है। आपत्तिकालमें इसमें फेर-फार भी हो सकता है ॥ १२ ॥

यदि स्वर्गे परं स्थानं स्वधर्मं परिमार्गसि।
यत् किञ्चिज्जयसे भूमिं ब्राह्मणाय निवेदय ॥ १३ ॥
श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्मज्ञाय तपस्विने।
स्वधर्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत् ॥ १४ ॥

यदि तुम स्वधर्म-पालनके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें उत्तम स्थानकी खोज कर रहे हो (चाहते हो) तो जितनी

* यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
(मनु० ९।६९)

भूमिपर तुम विजय प्राप्त करो, वह सब शास्त्र और सदाचारसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, तपस्वी तथा स्वधर्मसे संतुष्ट ब्राह्मणको पुरोहित बनाकर सौंप दो, जो कि धनोपार्जनमें आसक्त न हो ॥ १३-१४ ॥

यो राजानं नयेद् बुद्ध्या सर्वतः परिपूर्णया ।
ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवान् ॥ १५ ॥
श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् ।
राजा चरति यद् धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम् ॥ १६ ॥

तथा जो सर्वतोभावसे परिपूर्ण अपनी बुद्धिके द्वारा राजाको सन्मार्गपर ले जा सके; क्योंकि जो ब्राह्मण उत्तम कुलमें उत्पन्न, विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और विनयशील होता है, वह विचित्र वाणी बोलकर राजाको कल्याणके पथपर ले जाता है। जो ब्राह्मणका बताया हुआ धर्म है, उसीको राजा आचरणमें लाता है ॥ १५-१६ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ।
तावता सत्कृतः प्राज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ १७ ॥
तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः ।

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला, अहंकारशून्य तथा पुरोहितकी बात सुननेके लिये उत्सुक उतनेसे ही सम्मानको प्राप्त हुआ विद्वान् नरेश चिरकालतक यशस्वी बना रहता है तथा राजपुरोहित उसके सम्पूर्ण धर्मका भागीदार होता है ॥ १७½ ॥

एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः ॥ १८ ॥
सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद् भयान्विताः ।

इस प्रकार राजाके आश्रयमें रहकर सारी प्रजा सदाचार-परायण, अपने-अपने धर्ममें तत्पर और सब ओरसे निर्भय हो जाती है ॥ १८½ ॥

राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः ॥ १९ ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागं तु विन्दति ।

राजाके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित हुए मनुष्य राज्यमें जिस धर्मका आचरण करते हैं, उसका एक चौथाई भाग राजा भी प्राप्त कर लेता है ॥ १९½ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ २० ॥
यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके ।

देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सबके सब यज्ञका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; परंतु जहाँ कोई राजा नहीं है, उस राज्यमें यज्ञ नहीं होता है ॥ २०½ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ॥ २१ ॥
राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः ।

देवता और पितर भी इस मर्त्यलोकसे ही दिये गये यज्ञ और श्राद्धसे जीवन यापन करते हैं। अतः इस धर्मका योगक्षेम राजापर ही अवलम्बित है ॥ २१½ ॥

छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति॥ २२ ॥
अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति ।

जब गर्मी पड़ती है, उस समय मनुष्य छायामें, जलमें और वायुमें सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार सर्दी पड़नेपर अग्नि और सूर्यके तापसे तथा कपड़ा ओढ़नेसे उसे सुख मिलता है (परंतु अराजकताका भय उपस्थित होनेपर मनुष्यको कहीं किसी वस्तुसे भी सुख प्राप्त नहीं होता है) ॥ २२½ ॥

शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः ॥ २३ ॥
तेषु भोगेषु सर्वेषु न भीतो लभते सुखम् ।
अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत् फलम् ।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २४ ॥

साधारण अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका मन शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्धमें आनन्दका अनुभव करता है; परंतु भयभीत मनुष्यको उन सभी भोगोंमें कोई सुख नहीं मिलता है, इसलिये जो अभयदान करनेवाला है, उसीको महान् फलकी प्राप्ति होती है; क्योंकि तीनों लोकोंमें प्राण-दानके समान दूसरा कोई दान नहीं है ॥ २३-२४ ॥

इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च ।
राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥ २५ ॥

राजा इन्द्र है, राजा यमराज है तथा राजा ही धर्मराज है। राजा अनेक रूप धारण करता है और राजाने ही इस सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रक्खा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विद्वान् सदाचारी पुरोहितकी आवश्यकता तथा ब्राह्मण और क्षत्रियमें मेल रहनेसे लाभविषयक राजा पुरूरवाका उपाख्यान

भीष्म उवाच

राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद् विद्वान् बहुश्रुतः ।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! राजाको चाहिये कि धर्म और अर्थकी गतिको अत्यन्त गहन समझकर अविलम्ब किसी ऐसे ब्राह्मणको पुरोहित बना ले, जो विद्वान् और बहुश्रुत हो ॥ १ ॥

धर्मात्मा मन्त्रविद् येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः ।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥ २ ॥

राजन्! जिन राजाओंका पुरोहित धर्मात्मा एवं सलाह देनेमें कुशल होता है और जिनका राजा भी ऐसे ही गुणोंसे सम्पन्न (धर्मपरायण एवं गुप्त बातोंका जाननेवाला) होता है, उन राजा और प्रजाओंका सब प्रकारसे भला होता है ॥ २ ॥

(तेषामर्थश्च कामश्च धर्मश्चेति विनिश्चयः ।
श्लोकांश्चोशनसा गीतांस्तान् निबोध युधिष्ठिर॥

उच्छिष्टः स भवेद् राजा यस्य नास्ति पुरोहितः ।

उनके धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी निश्चय ही सिद्धि होती है । युधिष्ठिर ! इस विषयमें शुक्राचार्यके गाये हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें तुम सुनो । जिस राजाके पास पुरोहित नहीं है, वह उच्छिष्ट (अपवित्र) हो जाता है ॥

रक्षसामसुराणां च पिशाचोरगपक्षिणाम् ।
शत्रूणां च भवेद् वध्यो यस्य नास्ति पुरोहितः॥

जिसके पास पुरोहित नहीं है, वह राजा राक्षसों, असुरों, पिशाचों, नागों, पक्षियोंका तथा शत्रुओंका वध्य होता है ॥

ब्रूयात् कार्याणि सततं महोत्पातानि यानि च ।
इष्टमङ्गलयुक्तानि तथाऽऽन्तःपुरिकाणि च ॥

पुरोहितको चाहिये कि राजाके लिये जो सदा आवश्यक कर्तव्य हों, जो-जो बड़े-बड़े उत्पात होनेवाले हों, जो अभीष्ट तथा माङ्गलिक कृत्य हों तथा जो अन्तःपुरसे सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्त हों, वे सब राजाको बतावे ॥

गीतनृत्ताधिकारेषु सम्मतेषु महीपतेः ।
कर्तव्यं करणीयं वै वैश्वदेवबलिस्तथा ॥

राजाको प्रिय लगनेवाले जो गीत और नृत्यसम्बन्धी कार्य हों, उनमें करने योग्य कर्तव्यका पुरोहित निर्देश करे, बलिवैश्वदेवकर्मका सम्पादन करे ॥

नक्षत्रस्यानुकूल्येन यः संजातो नरेश्वरः ।
राजशास्त्रविनीतश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः ॥

जो राजा अनुकूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है तथा राजशास्त्रकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुका है, उससे भी श्रेष्ठ उसका पुरोहित होना चाहिये ॥

अथान्यानां निमित्तानामुत्पातानामथार्थवित् ॥
शत्रुपक्षक्षयज्ञश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः ।)

जो भिन्न-भिन्न प्रकारके निमित्तों और उत्पातोंका रहस्य जानता हो तथा शत्रुपक्षके विनाशकी प्रणालीका भी जानकार हो, ऐसा श्रेष्ठतम पुरुष राजाका पुरोहित होना चाहिये ॥

उभौ प्रजा वर्धयतो देवान् सर्वान् सुतान् पितॄन् ।
भवेयातां स्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ ॥ ३ ॥
परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ ।
ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

यदि राजा और पुरोहित धर्मनिष्ठ, श्रद्धेय तथा तपस्वी हों, एक दूसरेके प्रति सौहार्द रखते हों और समान हृदयवाले हों तो वे दोनों मिलकर प्रजाकी वृद्धि करते हैं तथा सम्पूर्ण देवताओं एवं पितरोंको तृप्त करके पुत्र और प्रजावर्गको भी अभ्युदयशील बनाते हैं । ऐसे ब्राह्मण (पुरोहित) और क्षत्रिय (राजा) का सम्मान करनेसे प्रजाको सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ३-४ ॥

विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि ।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते ॥ ५ ॥

उन दोनोंका अनादर करनेसे प्रजाका विनाश ही होता है, क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सभी वर्णोंके मूल कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऐलकश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

इस विषयमें राजा पुरूरवा और महर्षि कश्यपके संवाद-रूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । युधिष्ठिर ! तुम उसे सुनो ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं
क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म ।
अन्वग्बलं कतमेऽस्मिन् भजन्ते
तथा वर्णाः कतमेऽस्मिन् ध्रियन्ते ॥७॥

पुरूरवाने पूछा—महर्षे ! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों साथ रहकर ही सबल होते हैं; परंतु जब ब्राह्मण (पुरोहित) किसी कारणसे क्षत्रियको छोड़ देता है अथवा जब राजा ब्राह्मणका परित्याग कर देता है, तब अन्य वर्णके लोग इन दोनोंमेंसे किसका आश्रय ग्रहण करते हैं ? तथा दोनोंमेंसे कौन सबको आश्रय देता है ? ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच

विद्धं राष्ट्रं क्षत्रियस्य भवति
ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुद्ध्यतीह ।
अन्वग्बलं दस्यवस्तद् भजन्ते
तथा वर्णं तत्र विदन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

कश्यपने कहा—राजन् ! श्रेष्ठ पुरुष इस बातको जानते हैं कि संसारमें जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियसे विरोध करता है, वहाँ क्षत्रियका राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और लुटेरे दल-बलके साथ आकर उसपर अधिकार जमा लेते हैं तथा वहाँ निवास करनेवाले सभी वर्णके लोगोंको अपने अधीन कर लेते हैं॥८॥

नैषां ब्रह्म च वर्धते नोत पुत्रा
न गर्गरो मथ्यते नो यजन्ते ।
नैषां पुत्रा वेदमधीयते च
यदा ब्रह्म क्षत्रियाः संत्यजन्ति ॥ ९ ॥

जब क्षत्रिय ब्राह्मणको त्याग देते हैं, तब उनका वेदाध्ययन आगे नहीं बढ़ता, उनके पुत्रोंकी भी वृद्धि नहीं होती, उनके यहाँ दही-दूधका मटका नहीं महा जाता और न वे यज्ञ ही कर पाते हैं । इतना ही नहीं, उन ब्राह्मणोंके पुत्रोंका वेदाध्ययन भी नहीं हो पाता ॥ ९ ॥

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे
नाधीयते सुप्रजा नो यजन्ते ।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः संत्यजन्ति ॥ १० ॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणोंको त्याग देते हैं, उनके घरमें कभी धनकी वृद्धि नहीं होती । उनकी संतानें न तो पढ़ती हैं और न यज्ञ ही करती हैं । वे पदभ्रष्ट होकर डाकुओंकी भाँति लूटपाट करने लगते हैं ॥१०॥

एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतरधारणे ।
क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ११ ॥

वे दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय सदा एक दूसरेसे मिलकर रहें, तभी वे एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। ब्राह्मणकी उन्नतिका आधार क्षत्रिय होता है और क्षत्रियकी उन्नतिका आधार ब्राह्मण ॥ ११ ॥

उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ
सम्प्रापतुर्महतीं सम्प्रतिष्ठाम् ।
तयोः संधिर्भिद्यते चेत् पुराण-
स्ततः सर्वं भवति हि सम्प्रमूढम् ॥ १२ ॥

ये दोनों जातियाँ जब सदा एक दूसरेके आश्रित होकर रहती हैं, तब बड़ी भारी प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं और यदि इनकी प्राचीन कालसे चली आती हुई मैत्री टूट जाती है, तो सारा जगत् मोहग्रस्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। १२।

नात्र पारं लभते पारगामी
महागाधे नौरिव सम्प्रपन्ना ।
चातुर्वर्ण्यं भवति हि सम्प्रमूढं
प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥

जैसे महान् एवं अगाध समुद्रमें टूटी हुई नौका पार नहीं पहुँच पाती, उसी प्रकार उस अवस्थामें मनुष्य अपनी जीवनयात्राको कुशलपूर्वक पूर्ण नहीं कर पाते हैं। चारों वर्णोंकी प्रजापर मोह छा जाता है और वह नष्ट होने लगती है ॥ १३ ॥

ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति ।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापं च वर्षति ॥ १४ ॥

ब्राह्मणरूपी वृक्षकी यदि रक्षा की जाती है तो वह मधुर सुख और सुवर्णकी वर्षा करता है और यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो उससे निरन्तर दुःखके आँसुओं और पापकी वृष्टि होती है ॥ १४ ॥

न ब्रह्मचारी चरणादपेतो
यदा ब्रह्म ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत् ।
आश्चर्यतो वर्षति तत्र देव-
स्तत्राभीक्ष्णं दुःसहाश्चाविशन्ति ॥ १५ ॥

जहाँ ब्रह्मचारी ब्राह्मण लुटेरोंके उपद्रवसे विवश हो वेदकी शाखाके स्वाध्यायसे वञ्चित होता है और उसके लिये अपनी रक्षा चाहता है, वहाँ इन्द्रदेव यदि पानी बरसावें तो आश्चर्यकी ही बात है (वहाँ प्रायः वर्षा नहीं होती है) तथा महामारी और दुर्भिक्ष आदि दुःसह उपद्रव आ पहुँचते हैं ॥ १५ ॥

स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वापि पापः
सभायां यत्र लभतेऽनुवादम् ।
राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि
ततो भयं विद्यते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥

जब पापात्मा मनुष्य किसी स्त्री अथवा ब्राह्मणकी हत्या करके लोगोंकी सभामें साधुवाद या प्रशंसा पाता है तथा राजाके निकट भी पापसे भय नहीं मानता, उस समय क्षत्रिय राजाके लिये बड़ा भारी भय उपस्थित होता है ॥ १६ ॥

पापैः पापे क्रियमाणे हि चैल
ततो रुद्रो जायते देव एषः ।
पापैः पापाः संजनयन्ति रुद्रं
ततः सर्वान् साध्वसाधून् हिनस्ति ॥ १७ ॥

इलानन्दन ! जब बहुत-से पापी पापाचार करने लगते हैं, तब ये संहारकारी रुद्रदेव प्रकट हो जाते हैं। पापात्मा पुरुष अपने पापोंद्वारा ही रुद्रको प्रकट करते हैं; फिर वे रुद्रदेव साधु और असाधु सब लोगोंका संहार कर डालते हैं ॥ १७ ॥

ऐल उवाच

कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः
सत्त्वैः सत्त्वं दृश्यते वध्यमानम् ।
एतत् सर्वं कश्यप मे प्रचक्ष्व
कुतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥

पुरूरवाने पूछा—कश्यपजी ! ये रुद्रदेव कहाँसे आते हैं और कैसे हैं ? इस जगत्में तो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध होता देखा जाता है; फिर ये रुद्रदेव किससे उत्पन्न होते हैं ? ये सब बातें मुझे बताइये ॥ १८ ॥

कश्यप उवाच

आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां
स्वं स्वं देहं परदेहं च हन्ति ।
वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहु-
र्दैवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य ॥ १९ ॥

कश्यपने कहा—राजन् ! ये रुद्रदेव मनुष्योंके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं और समय आनेपर अपने तथा दूसरेके शरीरोंका नाश करते हैं। विद्वान् पुरुष रुद्रको उत्पात-वायु (तूफानी हवा) के समान वेगवान् कहते हैं और उनका रूप बादलोंके समान बताते हैं ॥ १९ ॥

ऐल उवाच

न वै वातः परिवृणोति कश्चि-
न्न जीमूतो वर्षति नापि देवः ।
तथायुक्तो दृश्यते मानुषेषु
कामद्वेषाद् बध्यते मुह्यते च ॥ २० ॥

पुरूरवाने कहा—कोई भी हवा किसीको आवृत नहीं करती है, न अकेले मेघ ही पानी बरसाता है, रुद्रदेव भी वर्षा नहीं करते हैं। जैसे वायु और बादलको आकाशमें संयुक्त देखा जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंमें आत्मा मन, इन्द्रिय आदिसे संयुक्त ही देखा जाता है और वह राग-द्वेषके कारण मोहग्रस्त होता है तथा मारा जाता है ॥ २० ॥

कश्यप उवाच

यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः
कृत्स्नं ग्रामं दहते चत्वरं वा ।
विमोहनं कुरुते देव एष
ततः सर्वं स्पृश्यते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥

कश्यपने कहा—जैसे एक घरमें लगी हुई आग प्रज्वलित हो आँगन तथा सारे गाँवको जला देती है, उसी प्रकार ये रुद्रदेव किसी एक प्राणीके भीतर विशेषरूपसे प्रकट हो दूसरोंके मनमें भी मोह उत्पन्न करते हैं; फिर सारे जगत्का पुण्य और पापसे सम्बन्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

ऐल उवाच

यदि दण्डः स्पृशतेऽपुण्यपापं
पापैः पापे क्रियमाणे विशेषात्।
कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद्
दुष्कृतं वा कस्य हेतोर्न कुर्यात्॥ २२ ॥

पुरूरवाने पूछा—यदि पापियोंद्वारा विशेषरूपसे पाप और पुण्यात्माओंद्वारा विशेषरूपसे पुण्य किये जानेपर पुण्य-पापसे रहित आत्माको भी दण्ड भोगना पड़ता है, तब किस लिये कोई पुण्य करे और किस लिये पाप न करे ? ॥२२॥

कश्यप उवाच

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
न्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥२३॥

कश्यपने कहा—पापाचारियोंके संसर्गका त्याग न करनेसे पापहीन–धर्मात्मा पुरुषोंको भी उनसे मेल-जोल रखनेके कारण उनके समान ही दण्ड भोगना पड़ता है। ठीक उसी तरह, जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है । अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंके साथ किसी तरह भी सम्पर्क न स्थापित करे ॥२३॥

ऐल उवाच

साध्वसाधून् धारयतीह भूमिः
साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः।
साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायु-
रापस्तथा साध्वसाधून् पुनन्ति ॥२४॥

पुरूरवा बोले—इस जगत्में पृथ्वी तो पापियों और पुण्यात्माओंको समान रूपसे धारण करती है। सूर्य भी भले-बुरोंको एक-सा ही संताप देते हैं। वायु साधु और दुष्ट दोनोंका स्पर्श करती है और जल पापी एवं पुण्यात्मा दोनोंको पवित्र करता है ॥ २४ ॥

कश्यप उवाच

एवमस्मिन् वर्तते लोक एव
नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र।
प्रेत्यैतयोरन्तरावान् विशेषो
यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम्॥ २५ ॥

कश्यपने कहा—राजकुमार ! इस लोकमें ही ऐसी बात देखी जाती है, परलोकमें इस प्रकारका बर्ताव नहीं है। जो पुण्य करता है वह और जो पाप करता है वह–दोनों जब मृत्युके पश्चात् परलोकमें जाते हैं तो वहाँ उन दोनोंकी स्थितिमें बड़ा भारी अन्तर हो जाता है ॥ २५ ॥

पुण्यस्य लोको मधुमान् घृतार्चि-
र्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी
न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥ २६ ॥

पुण्यात्माका लोक मधुरतम सुखसे भरा होता है। वहाँ घीके चिराग जलते हैं। उसमें सुवर्णके समान प्रकाश फैला रहता है। वहाँ अमृतका केन्द्र होता है । उस लोकमें न तो मृत्यु है, न बुढ़ापा है और न दूसरा ही कोई दुःख है। ब्रह्मचारी पुरुष मृत्युके पश्चात् उसी स्वर्गादि लोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करता है ॥ २६ ॥

पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो
नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा
बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः॥ २७ ॥

पापीका लोक नरक है, जहाँ सदा अँधेरा छाया रहता है। वहाँ प्रतिदिन दुःख तथा अधिक-से-अधिक शोक होता है। पापात्मा पुरुष वहाँ बहुत वर्षोंतक कष्ट भोगता हुआ कभी एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता और निरन्तर अपने लिये शोक करता रहता है ॥ २७ ॥

मिथोभेदाद् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह नित्यं
पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण॥ २८ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें परस्पर फूट होनेसे प्रजाको दुःसह दुःख उठाना पड़ता है । इन सब बातोंको समझ-बूझकर राजाको चाहिये कि वह सदाके लिये एक सदाचारी बहुज्ञ पुरोहित बना ही ले ॥ २८ ॥

तं चैवान्वभिषिच्येत तथा धर्मो विधीयते।
अग्र्यो हि ब्राह्मणः प्रोक्तः सर्वस्यैवेह धर्मतः॥ २९ ॥

राजा पहले पुरोहितका वरण कर ले । उसके बाद अपना अभिषेक करावे। ऐसा करनेसे ही धर्मका पालन होता है; क्योंकि धर्मके अनुसार ब्राह्मण यहाँ सबसे श्रेष्ठ बताया गया है॥

पूर्वं हि ब्रह्मणः सृष्टिरिति ब्रह्मविदो विदुः।
ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं पूर्वं यदुत्तरम्॥ ३० ॥

वेदवेत्ता विद्वानोंका यह मत है कि सबसे पहले ब्राह्मणकी ही सृष्टि हुई है; अतः ज्येष्ठ तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेके कारण प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तुपर सबसे पहले ब्राह्मणका ही अधिकार होता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्।
सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टं च निवेद्यं तस्य धर्मतः॥ ३१ ॥
अवश्यमेव कर्तव्यं राज्ञा बलवतापि हि।

इसलिये ब्राह्मण सब वर्णोंका सम्माननीय और पूजनीय है। वही भोजनके लिये प्रस्तुत की हुई सब वस्तुओंको सबसे पहले भोगनेका अधिकारी है। सभी श्रेष्ठ और उत्तम पदार्थोंको धर्मके अनुसार पहले ब्राह्मणकी सेवामें ही

निवेदित करना चाहिये। बलवान् राजाको भी अवश्य ऐसा ही करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ॥ ३२ ॥

(राज्ञः सर्वस्य चान्यस्य स्वामी राजपुरोहितः।)

ब्राह्मण क्षत्रियको बढ़ाता है और क्षत्रियसे ब्राह्मणकी उन्नति होती है। अतः राजाको विशेषरूपसे सदा ही ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि राजपुरोहित राजाका तथा अन्य सब लोगोंका भी स्वामी है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऐलकश्यपसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पुरूरवा और कश्यपका संवादविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे लाभका प्रतिपादन करनेवाला मुचुकुन्दका उपाख्यान

भीष्म उवाच

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राष्ट्रका योगक्षेम राजाके अधीन बताया जाता है; परंतु राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है ॥ १ ॥

यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद् राज्यं सुखमेधते ॥ २ ॥

जहाँ ब्राह्मण अपने तेजसे प्रजाके अदृष्ट भयका निवारण करता है और राजा अपने बाहुबलसे दृष्ट भयको दूर करता है, वह राज्य सुखसे उत्तरोत्तर उन्नति करता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष मुचुकुन्द और राजा कुबेरके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥

मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं पृथिवीपतिः।
जिज्ञासमानः स्वबलमभ्ययादलकाधिपम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, पृथ्वीपति राजा मुचुकुन्दने इस पृथ्वीको जीतकर अपने बलकी परीक्षा लेनेके लिये अलकापति कुबेरपर चढ़ाई की ॥

ततो वैश्रवणो राजा राक्षसानसृजत् तदा।
ते बलान्यवमृद्नन्त मुचुकुन्दस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥

तब राजा कुबेरने उनका सामना करनेके लिये राक्षसोंकी सेना भेजी। उन राक्षसोंने मुचुकुन्दकी सेनाओंको कुचलना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः।
गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिंदमः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी सेनाको मारी जाती देखकर शत्रुदमन राजा मुचुकुन्दने अपने विद्वान् पुरोहित वसिष्ठजीको इसके लिये उलाहना दिया ॥ ६ ॥

तत उग्रं तपस्तप्त्वा वसिष्ठो धर्मवित्तमः।
रक्षांस्युपावधीत् तस्य पन्थानं चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठजीने घोर तपस्या करके उन राक्षसोंका विनाश कर डाला और राजाके लिये विजय पानेका मार्ग प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत्।
वध्यमानेषु सैन्येषु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इसके बाद राजा कुबेरने, अपनी सेनाको मरते देखकर राजा मुचुकुन्दको दर्शन दिया और इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

धनद उवाच

बलवन्तस्त्वया पूर्वे राजानः सपुरोहिताः।
न चैवं समवर्तन्त यथा त्वमिह वर्तसे ॥ ९ ॥

कुबेर बोले—राजन्! पहले भी तुम्हारे समान बलवान् राजा हो चुके हैं और उन्हें भी पुरोहितोंकी सहायता प्राप्त थी, परंतु मेरे साथ यहाँ तुम जैसा बर्ताव कर रहे हो, वैसा किसीने नहीं किया था ॥ ९ ॥

ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः।
आगम्य पर्युपासन्ते मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥

वे भूपाल भी अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा बलवान् थे और मुझे सुख एवं दुःख देनेमें समर्थ ईश्वर मानकर मेरे पास आते और मेरी उपासना करते थे ॥ १० ॥

यद्यस्ति बाहुवीर्यं ते तद् दर्शयितुमर्हसि।
किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्तसे ॥ ११ ॥

महाराज! यदि तुम्हारी भुजाओंमें कुछ बल है तो उसे दिखाओ। ब्राह्मणके बलपर इतना घमंड क्यों कर रहे हो? ॥ ११ ॥

मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम्।
न्यायपूर्वमसंरब्धमसम्भ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥

यह सुनकर मुचुकुन्द कुपित हो उठे और धनाध्यक्ष कुबेरसे यह न्याययुक्त, रोषरहित तथा सम्भ्रमशून्य वचन बोले— ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयम्भुवा।
पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥ १३ ॥

'राजराज! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही है। दोनोंको स्वयम्भू ब्रह्माजीने ही पैदा किया है। यदि उनका बल और प्रयत्न अलग-अलग हो जाय तो वे संसारकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

'ब्राह्मणोंमें सदा तप और मन्त्रका बल उपस्थित होता

है और क्षत्रियोंमें अस्त्र तथा भुजाओंका ॥ १४ ॥

ताभ्यां सम्भूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम्।
तथा च मां प्रवर्तन्तं किं गर्हस्यलकाधिप ॥ १५ ॥

'अलकापते ! अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको एकसाथ मिलकर ही प्रजाका पालन करना चाहिये। मैं भी इसी नीतिके अनुसार कार्य कर रहा हूँ; फिर आप मेरी निन्दा क्यों करते हैं ?' ॥ १५ ॥

ततोऽब्रवीद् वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम्।
नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचिद् विदधाम्युत ॥ १६ ॥
नाच्छिन्दे चाप्यनिर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां मद्दत्तामखिलामिमाम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मुचुकुन्दो महीपतिः ॥ १७ ॥

तब कुबेरने पुरोहितसहित राजा मुचुकुन्दसे कहा— 'पृथ्वीपते ! मैं ईश्वरकी आज्ञाके बिना न तो किसीको राज्य देता हूँ और न भगवान्‌की अनुमतिके बिना दूसरेका राज्य छीनता ही हूँ। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यद्यपि ऐसी ही बात है तो भी आज मैं तुम्हें इस सारी पृथ्वी-का राज्य दे रहा हूँ। तुम मेरी दी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करो'। उनके ऐसा कहनेपर राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १६-१७ ॥

मुचुकुन्द उवाच

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ १८ ॥

मुचुकुन्द बोले—राजाधिराज ! मैं आपके दिये हुए राज्यको नहीं भोगना चाहता। मेरी तो यही इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ॥१८॥

भीष्म उवाच

ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ।
क्षत्रधर्मे स्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसम्भ्रमम् ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा मुचुकुन्दको बिना किसी घबराहटके इस प्रकार क्षत्रियधर्ममें स्थित हुआ देख कुबेरको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १९ ॥

ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद् वसुन्धराम्।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥२०॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस वसुधाका शासन किया ॥ २० ॥

एवं यो धर्मविद् राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो धर्मज्ञ राजा पहले ब्राह्मणका आश्रय लेकर उसकी सहायतासे राज्यकार्यमें प्रवृत्त होता है, वह बिना जीती हुई पृथ्वीको भी जीतकर महान् यशका भागी होता है॥२१॥

नित्योदकी ब्राह्मणःस्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः।
तयोर्हि सर्वमायत्तं यत् किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥

ब्राह्मणको प्रतिदिन स्नान करके जलसम्बन्धी कृत्य—संध्या-वन्दन, तर्पण आदि कर्म करने चाहिये और क्षत्रियको सदा शस्त्रविद्याका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इस भूतलपर जो कोई भी वस्तु है, वह सब इन्हीं दोनोंके अधीन है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मुचुकुन्दोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मुचुकुन्दका उपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७४॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन, युधिष्ठिरका राज्यसे विरक्त होना एवं भीष्मजीका पुनः राज्यकी महिमा सुनाना

युधिष्ठिर उवाच

यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान्।
पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा जिस वृत्तिसे रहनेपर अपने प्रजाजनोंकी उन्नति करता है और स्वयं भी विशुद्ध लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

दानशीलो भवेद् राजा यज्ञशीलश्च भारत।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! राजाको सदा ही दानशील, यज्ञशील, उपवास और तपस्यामें तत्पर एवं प्रजा-पालनमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २ ॥

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन्।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥ ३ ॥

समस्त प्रजाओंका सदा धर्मपूर्वक पालन करनेवाले राजाको घरपर आये हुए धर्मात्मा पुरुषोंका खड़ा होकर स्वागत करना चाहिये और उत्तम वस्तुएँ देकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ३ ॥

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानां स रोचते ॥ ४ ॥

राजाद्वारा जब जिस धर्मका आदर किया जाता है उसका फिर सर्वत्र आदर होने लगता है; क्योंकि राजा जो-जो कार्य करता है, प्रजावर्गको वही करना अच्छा लगता है ॥ ४ ॥

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु।
निहन्यात् सर्वतो दस्यून् न कामात् कस्यचित् क्षमेत्॥

राजाको चाहिये कि वह शत्रुओंको यमराजकी भाँति सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे। वह डाकुओं और लुटेरोंको सब ओरसे पकड़कर मार डाले। स्वार्थवश किसी दुष्टके अपराधको क्षमा न करे ॥ ५ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥

भारत ! राजाद्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका

आचरण करती है, उसका चौथा भाग राजाको भी मिल जाता है ॥ ६ ॥

यदधीते यद् ददाति यज्जुहोति यदर्चति ।
राजा चतुर्थभाक् तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥

प्रजा जो स्वाध्याय, जो दान, जो होम और जो पूजन करती है, उन पुण्य कर्मोंका एक चौथाई भाग उस प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेवाला नरेश प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! यदि राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता तो उसके राज्यमें प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पापकर्मका एक चौथाई भाग राजाको भोगना पड़ता है ॥८॥

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥ ९ ॥

पृथ्वीपते ! कुछ लोगोंका मत है कि उपर्युक्त अवस्थामें राजाको पूरे पापका भागी होना पड़ता है और कुछ लोगोंका यह निश्चय है कि उसको आधा पाप लगता है। ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझा जाता है ॥ ९ ॥

तादृशात् किल्बिषाद् राजा शृणु येन प्रमुच्यते ।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद् धनं चोरैर्हृतं यदि ।
तत् स्वकोशात् प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः ॥ १० ॥

ऐसे पापसे राजाको किस उपायसे छुटकारा मिलता है, वह बताता हूँ, सुनो। चोरों या लुटेरोंने यदि किसीके धनका अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धनको लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेशको चाहिये कि वह अपने आश्रयमें रहनेवाले उस मनुष्यको उतना ही धन राजकीय खजानेसे दे दे ॥ १० ॥

सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणा यथा ।
न स्थेयं विषये तेन योऽपकुर्याद् द्विजातिषु ॥ ११ ॥

सभी वर्णके लोगोंको ब्राह्मणोंके धनकी भी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार स्वयं ब्राह्मणोंकी। जो ब्राह्मणोंको कष्ट पहुँचाता हो, उसे राजाको अपने राज्यमें नहीं रहने देना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे तु सर्वं भवति रक्षितम् ।
तस्मात् तेषां प्रसादेन कृतकृत्यो भवेन्नृपः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणके धनकी रक्षा की जानेपर ही सब कुछ रक्षित हो जाता है; क्योंकि उन ब्राह्मणोंकी कृपासे राजा कृतार्थ हो जाता है ॥ १२ ॥

पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥

जैसे सब प्राणी मेघोंके और पक्षी वृक्षोंके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले राजाके आश्रित होकर जीवन-यापन करते हैं ॥ १३ ॥

न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥ १४ ॥

जो राजा कामासक्त हो सदा कामका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और अत्यन्त लोभी होता है, वह प्रजाका पालन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! मैं राज्यसे सुख मिलनेकी आशा रखकर कभी एक क्षणके लिये भी राज्य करनेकी इच्छा नहीं करता। मैं तो धर्मके लिये ही राज्यको पसंद करता था; परंतु मालूम होता है कि इसमें धर्म नहीं है ॥

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद् धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥

जिसमें धर्म ही नहीं है, उस राज्यसे मुझे क्या लेना है ? अतः अब मैं धर्म करनेकी इच्छासे वनमें ही चला जाऊँगा ॥

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १७ ॥

वहाँ वनके पावन प्रदेशोंमें हिंसाका सर्वथा त्याग कर दूँगा और जितेन्द्रिय हो मुनिवृत्तिसे रहकर फल-मूलका आहार करते हुए धर्मकी आराधना करूँगा ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा ।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम् ॥ १८ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धिमें दया और कोमलतारूपी गुण ही भरा है; परंतु केवल दया एवं कोमलतासे ही राज्यका शासन नहीं किया जा सकता ॥१८॥

अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम् ।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १९ ॥

तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त कोमल है। तुम बड़े सज्जन और बड़े धर्मात्मा हो। धर्मके प्रति तुम्हारा महान् अनुग्रह है। यह सब होनेपर भी संसारके लोग तुम्हें कायर समझकर अधिक आदर नहीं देंगे ॥ १९ ॥

वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम् ।
नैव राज्ञां तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥

तुम्हारे बाप-दादोंने जिस आचार-व्यवहारको अपनाया था, उसे ही प्राप्त करनेकी तुम भी इच्छा रक्खो। तुम जिस तरह रहना चाहते हो, वह राजाओंका आचरण नहीं है ॥ २० ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतमाप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥

इस प्रकार व्याकुलताजनित कोमलताका आश्रय लेकर तुम यहाँ प्रजापालनमें सुलभ होनेवाले धर्मके फलको नहीं पा सकोगे ॥ २१ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्ती त्वयाचत ।
तथैतत् प्रज्ञया तात यथाऽऽचरसि मेधया ॥ २२ ॥

तात ! तुम अपनी बुद्धि और विचारसे जैसा आचरण

करते हो, तुम्हारे विषयमें ऐसी आशा न तो पाण्डुने की थी और न कुन्तीने ही ऐसी आशा की थी ॥ २२ ॥

शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाब्रवीत् ।
माहात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥ २३ ॥

तुम्हारे पिता पाण्डु तुम्हारे लिये सदा कहा करते थे कि मेरे पुत्रमें शूरता, बल और सत्यकी वृद्धि हो। तुम्हारी माता कुन्ती भी यही इच्छा किया करती थी कि तुम्हारी महत्ता और उदारता बढ़े ॥ २३ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं चोभे मानुषदैवते ।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥

प्रतिदिन यज्ञ और श्राद्ध—ये दोनों कर्म क्रमशः देवताओं तथा मानव-पितरोंको आनन्दित करनेवाले हैं। देवता और पितर अपनी संतानोंसे सदा इन्हीं कर्मोंकी आशा रखते हैं ॥

दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ।
धर्ममेतदधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ॥ २५ ॥

दान, वेदाध्ययन, यज्ञ तथा प्रजाका पालन—ये धर्मरूप हों या अधर्मरूप। तुम्हारा जन्म इन्हीं कर्मोंको करनेके लिये हुआ है ॥ २५ ॥

काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितम् ।
सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन! यथासमय भार वहन करनेमें लगाये गये पुरुषोंपर जो राज्य आदिका भार रख दिया जाता है, उसे वहन करते समय यद्यपि कष्ट उठाना पड़ता है तथापि उससे उन पुरुषोंकी कीर्ति चिरस्थायी होती है, उसका कभी क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हि यः ।
निर्दोषः कर्मवचनात् सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥

जो मनुष्य सब ओरसे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर अपने ऊपर रक्खे हुए कार्यभारको पूर्णरूपसे वहन करता है और कभी लड़खड़ाता नहीं है, उसे कोई दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि शास्त्रमें कर्म करनेका कथन है; अतः राजाको कर्म करनेसे ही वह सिद्धि प्राप्त हो जाती है (जिसे तुम वनवास और तपस्यासे पाना चाहते हो) ॥ २७ ॥

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन ।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः ॥ २८ ॥

कोई धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो या राजा हो, पूर्णतया धर्मका आचरण नहीं कर सकता (कुछ-न-कुछ अधर्मका मिश्रण हो ही जाता है) ॥ २८ ॥

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत् ।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥

कोई काम देखनेमें छोटा होनेपर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करनेकी अपेक्षा कुछ करना ही अच्छा है; क्योंकि कर्तव्य कर्म न करनेवालेसे बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है ॥ २९ ॥

यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम् ।
योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्पते ॥ ३० ॥

जब धर्मज्ञ एवं कुलीन मनुष्य राजाके यहाँ उत्तम ईश्वरभावको अर्थात् मन्त्री आदिके उच्च अधिकारको पाता है, तभी राजाका योग और क्षेम सिद्ध होता है, जो उसके कुशल-मङ्गलका साधक है ॥ ३० ॥

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा राजा राज्य पानेके अनन्तर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा सब ओरसे अपने वशमें कर ले ॥ ३१ ॥

यं हि वैद्याः कुले जाता ह्यवृत्तिभयपीडिताः ।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः॥ ३२ ॥

जीवननिर्वाहका कोई उपाय न होनेके कारण जो भयसे पीड़ित रहते हैं, ऐसे कुलीन एवं विद्वान् पुरुष जिस राजाका आश्रय लेकर संतुष्ट हो प्रतिष्ठापूर्वक रहने लगते हैं, उस राजाके लिये इससे बढ़कर धर्मकी बात और क्या होगी? ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा ।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! स्वर्ग-प्राप्तिका उत्तम साधन क्या है? उससे कौन-सी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है? तथा उसकी अपेक्षा महान् ऐश्वर्य क्या है? यदि आप इन बातोंको जानते हैं तो मुझे बताइये ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम् ।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भयसे डरा हुआ मनुष्य जिसके पास जाकर एक क्षणके लिये भी भलीभाँति शान्ति पा लेता है, वही हमलोगोंमें स्वर्गलोककी प्राप्तिका सबसे बड़ा अधिकारी है, यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम ।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥ ३५ ॥

इसलिये कुरुश्रेष्ठ! तुम्हीं प्रसन्नतापूर्वक कुरुदेशकी प्रजाके राजा बनो। सत्पुरुषोंकी रक्षा तथा दुष्टोंका संहार करो और इस प्रकार अपने कर्तव्यका पालन करके स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लो ॥ ३५ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह ।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥ ३६ ॥

तात! जैसे सब प्राणी मेघके और पक्षी स्वादिष्ट फलवाले वृक्षके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार साधु पुरुषों-सहित समस्त सुहृद्गण तुम्हारे आश्रयमें रहकर अपनी जीविका चलावें ॥ ३६ ॥

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् ।

वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥ ३७ ॥

जो राजा निर्भय, शूरवीर, प्रहार करनेमें कुशल, दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और दानी होता है, उसीका आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

उत्तम-अधम ब्राह्मणोंके साथ राजाका बर्ताव

युधिष्ठिर उवाच

स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि ।
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कुछ ब्राह्मण अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण अपने वर्णके विपरीत कर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं । उन सभी ब्राह्मणोंमें क्या अन्तर है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो विद्वान् उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले हैं, ऐसे ब्राह्मण ब्रह्माजीके समान कहे गये हैं ॥ २ ॥

ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः ।
एते देवसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! जो ऋग्, यजुः और सामवेदका अध्ययन करके अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे हुए हैं, वे ब्राह्मणोंमें देवताके समान समझे जाते हैं ॥ ३ ॥

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः ।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥

राजन् ! जो अपने जातीय कर्मसे हीन हो कुत्सित कर्मोंमें लगकर ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुके हैं, ऐसे लोग ब्राह्मणोंमें शूद्रके तुल्य होते हैं ॥ ४ ॥

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः ।
तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥५॥

जो ब्राह्मण वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य हैं तथा जो अग्निहोत्र नहीं करते हैं, वे सभी शूद्रतुल्य हैं । धर्मात्मा राजाको चाहिये कि इन सब लोगोंसे कर ले और बेगार करावे ॥५॥

आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः ।
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ६ ॥

न्यायालयमें या कहीं भी लोगोंको बुलाकर लानेका काम करनेवाले, वेतन लेकर देवमन्दिरमें पूजा करनेवाले, नक्षत्र-विद्याद्वारा जीविका चलानेवाले, ग्रामपुरोहित तथा पाँचवें महापथिक (दूर देशके यात्री या समुद्र—यात्रा करनेवाले) ब्राह्मण चाण्डालके तुल्य माने जाते हैं ॥ ६ ॥

(म्लेच्छदेशास्तु ये केचित् पापैरध्युषिता नरैः ।
गत्वा तु ब्राह्मणस्तांश्च चाण्डालः प्रेत्य चेह च ॥

जो कोई म्लेच्छ देश हैं और जहाँ पापी मनुष्य निवास करते हैं, वहाँ जाकर ब्राह्मण इहलोकमें चाण्डालके तुल्य हो जाता है और मृत्युके बाद अधोगतिको प्राप्त होता है ॥

व्रात्यान् म्लेच्छांश्च शूद्रांश्च याजयित्वा द्विजाधमः।
अकीर्तिमिह सम्प्राप्य नरकं प्रतिपद्यते ॥

संस्कारभ्रष्ट, म्लेच्छ तथा शूद्रोंका यज्ञ कराकर पतित हुआ अधम ब्राह्मण इस संसारमें अपयश पाता और मरनेके बाद नरकमें गिरता है ॥

ब्राह्मणो ऋग्यजुःसाम्नां मूढः कृत्वा तु विप्लवम्।
कल्पमेकं कृमिः सोऽथ नानाविष्ठासु जायते) ॥

जो मूर्ख ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंका विप्लव करता है, वह एक कल्पतक नाना प्राणियोंकी विष्ठाओंका कीड़ा होता है ॥

ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः ।
एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंमेंसे जो ऋत्विज्, राजपुरोहित, मन्त्री, राजदूत अथवा संदेशवाहक हों, वे क्षत्रियके समान माने जाते हैं ॥ ७ ॥

अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः ।
एते वैश्यसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! घुड़सवार, हाथीसवार, रथी और पैदल सिपाहीका काम करनेवाले ब्राह्मणोंको वैश्यके समान समझा जाता है ॥ ८ ॥

एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः ।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ ९ ॥

यदि राजाके खजानेमें कमी हो तो वह इन ब्राह्मणोंसे कर ले सकता है । केवल उन ब्राह्मणोंसे, जो ब्रह्माजी तथा देवताओंके समान बताये गये हैं, कर नहीं लेना चाहिये ॥९॥

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ १० ॥

राजा ब्राह्मणके सिवा अन्य सब वर्णोंके धनका स्वामी होता है, यही वैदिक सिद्धान्त है । ब्राह्मणोंमेंसे जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करनेवाले हैं, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ १० ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन ।
नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात् ॥ ११ ॥

राजाको कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणोंकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । बल्कि धर्मपर अनुग्रह करनेके लिये उन्हें दण्ड देना और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये ॥

यस्य स्म विषये राजन् स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥

राजन् ! जिस किसी भी राजाके राज्यमें यदि ब्राह्मण चोर बन जाता है तो उसकी इस परिस्थितिके लिये जानकार लोग उस राजाका ही अपराध ठहराते हैं ॥ १२ ॥

अवृत्त्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ।
राजन् स राज्ञा भर्तव्य इति वेदविदो विदुः ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! यदि कोई वेदवेत्ता अथवा स्नातक ब्राह्मण जीविकाके अभावमें चोरी करता हो तो राजाको उचित है कि उसके भरण-पोषणकी व्यवस्था करे; यह वेदवेत्ताओंका मत है ॥

स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात् तस्माद् देशात् सबान्धवः ॥

परंतप ! यदि जीविकाका प्रबन्ध कर देनेपर भी उस ब्राह्मणमें कोई परिवर्तन न हो—वह पूर्ववत् चोरी करता ही रह जाय तो उसे बन्धु-बान्धवोंसहित उस देशसे निर्वासित कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

(यज्ञः श्रुतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम् ।
दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥)

यज्ञ, वेदोंका अध्ययन, किसीकी चुगली न करना, किसी भी प्राणीको मन, वाणी और क्रियाद्वारा क्लेश न पहुँचाना, अतिथियोंका पूजन करना, इन्द्रियोंको संयममें रखना, सच बोलना, तप करना और दान देना, यह सब ब्राह्मणका लक्षण है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

केकयराज तथा राक्षसका उपाख्यान और केकयराज्यकी श्रेष्ठताका विस्तृत वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतकुलभूषण पितामह ! किन-किन मनुष्योंके धनपर राजाका अधिकार होता है ? तथा राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मणके सिवा अन्य सभी वर्णोंके धनका स्वामी राजा होता है, यह वैदिक मत है । ब्राह्मणोंमें भी जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करते हों, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ २ ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः ॥ ३ ॥

अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मणोंकी राजाको किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये (क्योंकि उन्हें दण्ड देकर भी राहपर लाना राजाका कर्तव्य है) । साधुपुरुष इसीको राजाओंका प्राचीनकालसे चला आता हुआ बर्ताव या धर्म कहते हैं ॥ ३ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिस राजाके राज्यमें कोई ब्राह्मण चोरी करने लग जाता है, वह राजा अपराधी माना जाता है । विचारवान् पुरुष इसे राजाका ही अपराध और पाप समझते हैं ॥ ४ ॥

अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते येन कर्मणा ।
तस्माद् राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणमें उक्त दोष आ जाय तो उससे राजा अपने आपको कलङ्कित मानते हैं; इसीलिये सभी राजर्षियोंने ब्राह्मणोंकी सदा ही रक्षा की है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं कैकेयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ॥ ६ ॥

इस विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । जिसमें राक्षसके द्वारा अपहृत होते समय केकयराजके प्रकट किये हुए उद्गारका वर्णन है ॥ ६ ॥

केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम् ।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केकयराज वनमें रहकर कठोर व्रतका पालन (तप) और स्वाध्याय किया करते थे । एक दिन उन्हें एक भयंकर राक्षसने पकड़ लिया ॥ ७ ॥

राजोवाच

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥

यह देख राजाने उस राक्षससे कहा—मेरे राज्यमें एक भी चोर, कंजूस, शराबी अथवा अग्निहोत्र और यज्ञका त्याग करनेवाला नहीं है तो भी तुम्हारा मेरे शरीरमें प्रवेश कैसे हो गया ? ॥ ८ ॥

न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥

मेरे राज्यमें एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो विद्वान्, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, यज्ञमें सोमरस पीनेवाला, अग्निहोत्री और यज्ञकर्ता न हो तो भी तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया ? ॥ ९ ॥

नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
नाधीते नाव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ १० ॥

मेरे राज्यमें समस्त द्विज नाना प्रकारकी उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं । कोई भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना वेदोंका अध्ययन नहीं

करता। फिर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ ?॥

अधीयतेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥ ११ ॥

मेरे राज्यके ब्राह्मण पढ़ते-पढ़ाते, यज्ञ करते-कराते, दान देते और लेते हैं । इस प्रकार वे ब्राह्मणोचित छः कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं ॥ ११ ॥

पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १२ ॥

मेरे राज्यके सभी ब्राह्मण अपने-अपने कर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं । कोमल स्वभाववाले तथा सत्यवादी हैं । उन सबको मेरे राज्यसे वृत्ति मिलती है तथा वे मेरे द्वारा पूजित होते रहते हैं तो भी तुम्हारा मेरे शरीरके भीतर प्रवेश कैसे सम्भव हुआ ? ॥ १२ ॥

न याचन्ते प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न ॥ १३ ॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १४ ॥

मेरे राज्यमें जो क्षत्रिय हैं, वे अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे वेदोंका अध्ययन तो करते हैं, परंतु अध्यापन नहीं करते; यज्ञ करते हैं, परंतु कराते नहीं हैं तथा दान देते हैं, किंतु स्वयं लेते नहीं हैं । मेरे राज्यके क्षत्रिय याचना नहीं करते; स्वयं ही याचकोंको मुँहमाँगी वस्तुएँ देते हैं । सत्यभाषी तथा धर्मसम्पादनमें कुशल हैं । वे ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे प्रविष्ट हो गये ? ॥ १३-१४ ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया ।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १६ ॥

मेरे राज्यके वैश्य भी अपने कर्मोंमें ही लगे रहते हैं । वे छल-कपट छोड़कर खेती, गोरक्षा और व्यापारसे जीविका चलाते हैं । प्रमादमें न पड़कर सदा सत्कर्मोंमें संलग्न रहते हैं । उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले और सत्यवादी हैं । अतिथियोंको देकर खाते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं, शौचाचारका पालन करते और सबके प्रति सौहार्द बनाये रखते हैं तो भी मेरे भीतर तुम कैसे घुस आये ? ॥१५-१६॥

त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः ।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १७ ॥

मेरे यहाँके शूद्र भी तीनों वर्णोंकी यथावत् सेवासे जीवन-निर्वाह करते हैं तथा परदोषदर्शनसे दूर ही रहते हैं । इस प्रकार वे भी अपने कर्मोंमें ही स्थित हैं, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ? ॥ १७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १८ ॥

दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्री—इन सबको मैं अन्न-वस्त्र तथा औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ देता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरमें कैसे प्रविष्ट हो गये ?॥

कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १९ ॥

मैं अपने सुविख्यात कुल-धर्म, देश-धर्म तथा जाति-धर्मकी परम्पराका विधिपूर्वक पालन करता हुआ इन सब धर्मोंमेंसे किसीका भी लोप नहीं होने देता, तो भी तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ?॥

तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः ॥ २० ॥

अपने राज्यके तपस्वी मुनियोंकी मैंने सदा ही पूजा और रक्षा की है तथा उन्हें सत्कारपूर्वक आवश्यक वस्तुएँ दी हैं । इतनेपर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे सम्भव हुआ है ? ॥ २० ॥

नासंविभज्य भोक्तास्मि नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः ॥ २१ ॥

मैं देवता, पितर तथा अतिथि आदिको उनका भाग अर्पण किये बिना कभी नहीं भोजन करता । परायी स्त्रीसे कभी सम्पर्क नहीं रखता तथा कभी स्वच्छन्द होकर क्रीडा नहीं करता तो भी तुमने मेरे शरीरमें कैसे प्रवेश किया ! ॥ २१ ॥

नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान् ।
अनृत्विजा हुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः ॥ २२ ॥

मेरे राज्यमें कोई भी ब्रह्मचर्यका पालन न करनेवाला भिक्षा नहीं माँगता अथवा भिक्षु या संन्यासी ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना नहीं रहता । बिना ऋत्विजके मेरे यहाँ होम नहीं होता; फिर तुम कैसे मेरे भीतर घुस आये ? ॥ २२ ॥

(कृतं राज्यं मया सर्वं राज्यस्थेनापि कार्यवत् ।
नाहं व्युत्क्रामितः सत्यान्मामकान्तरमाविशः ॥)

राज्यसिंहासनपर स्थित होकर भी मैंने सारा राज्यकार्य कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है और कभी सत्यसे मैं विचलित नहीं हुआ हूँ तो भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ है ? ॥

नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः ॥ २३ ॥

मैं विद्वानों, वृद्धों तथा तपस्वी जनोंका कभी तिरस्कार नहीं करता हूँ । जब सारा राष्ट्र सोता है, उस समय भी मैं उसकी रक्षाके लिये जागता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे चले आये ? ॥ २३ ॥

(शुक्लकर्मास्मि सर्वत्र न दुर्गतिभयं मम ।
धर्मचारी गृहस्थश्च मामकान्तरमाविशः ॥)
आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥ २४ ॥

मैं सब जगह निर्दोष एवं विशुद्ध कर्म करनेवाला हूँ, मुझे कहीं भी दुर्गतिका भय नहीं है । मैं धर्मका आचरण करनेवाला गृहस्थ हूँ । तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे आ गये ?

मेरे बुद्धिमान् पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी तथा सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। वे सम्पूर्ण राष्ट्रके स्वामी हैं ॥ २४ ॥

दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि
सत्येनार्थं ब्राह्मणानां च गुप्त्या।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २५ ॥

मैं धन देकर विद्या पानेकी इच्छा रखता हूँ। सत्यके पालन तथा ब्राह्मणोंके संरक्षणद्वारा अभीष्ट अर्थ (पुण्यलोकोंपर अधिकार) पाना चाहता हूँ तथा सेवा-शुश्रूषाद्वारा गुरुजनों-को संतुष्ट करनेके लिये उनके पास जाता हूँ; अतः मुझे राक्षसोंसे कभी भय नहीं है ॥ २५ ॥

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धु-
र्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २६ ॥

मेरे राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं है तथा कोई भी ब्राह्मण अधम, धूर्त, चोर, अनधिकारियोंका यज्ञ करानेवाला और पापाचारी नहीं है; इसलिये मुझे राक्षसोंसे तनिक भी भय नहीं है ॥ २६ ॥

न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम्।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः ॥ २७ ॥

मेरे शरीरमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं है, जो धर्म-के लिये युद्ध करते समय अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल न हुआ हो, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २७ ॥

गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥

मेरे राज्यमें रहनेवाले लोग गौओं, ब्राह्मणों तथा यज्ञोंके लिये सदा मङ्गल-कामना करते रहते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २८ ॥

राक्षस उवाच

(नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम् ॥

राक्षसने कहा—स्त्रियोंके व्यभिचारसे, राजाओंके अन्यायसे तथा ब्राह्मणोंके कर्मदोषसे प्रजाको भय प्राप्त होता है।

अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः ॥

जिस देशमें उक्त दोष होते हैं, वहाँ वर्षा नहीं होती, महामारी फैल जाती है, सदा भूखका भय बना रहता है और बड़ा भयानक संग्राम छिड़ जाता है ॥

यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो नासुरेभ्यः कथञ्चन।
भयमुत्पद्यते तत्र यत्र विप्राः सुसंयताः ॥)

जहाँ ब्राह्मण संयमपूर्ण जीवन बिता रहे हों, वहाँ यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा असुरोंसे किसी प्रकार भय नहीं प्राप्त होता ॥

यस्मात् सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय गृहं स्वस्ति व्रजाम्यहम् ॥ २९ ॥

केकयनरेश ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मपर ही दृष्टि रखते हो, इसलिये कुशलपूर्वक घरको जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाता हूँ ॥ २९ ॥

येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजा रक्ष्याश्च केकय।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥ ३० ॥

केकयराज ! जो राजा गौओं तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और प्रजाका पालन करना अपना धर्म समझते हैं, उन्हें राक्षसोंसे भय नहीं है; फिर अग्निसे तो हो ही कैसे सकता है ?

येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥ ३१ ॥

जिनके आगे-आगे ब्राह्मण चलते हैं, जिनका सबसे बड़ा बल ब्राह्मण ही हैं तथा जिनके राज्यके नागरिक अतिथि-सत्कारके प्रेमी हैं, वे नरेश निश्चय ही स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच

तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः।
आशीरेषां भवेद् राजन् राज्ञां सम्यक्प्रवर्तताम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसलिये ब्राह्मणोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। सुरक्षित रहनेपर वे राजाओंकी रक्षा करते हैं। ठीक-ठीक बर्ताव करनेवाले राजाओंको ब्राह्मणों-का आशीर्वाद प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः।
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

अतः राजाओंको चाहिये कि वे विपरीत कर्म करनेवाले ब्राह्मणोंको उनपर अनुग्रह करनेके लिये ही नियन्त्रणमें रक्खें और उनकी आवश्यकताकी वस्तुएँ उन्हें देते रहें ॥ ३३ ॥

एवं यो वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ३४ ॥

जो राजा अपने नगर और राष्ट्रकी प्रजाके साथ ऐसा धर्मपूर्ण बर्ताव करता है, वह इस लोकमें सुख भोगकर अन्तमें इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें केकयराजका उपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

इन्द्रकी ब्राह्मणवेषमें दैत्यराज प्रह्लादसे भेंट

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

आपत्तिकालमें ब्राह्मणके लिये वैश्यवृत्तिसे निर्वाह करनेकी छूट तथा लुटेरोंसे अपनी और दूसरोंकी रक्षा करनेके लिये सभी जातियोंको शस्त्र धारण करनेका अधिकार एवं रक्षकको सम्मानका पात्र स्वीकार करना

युधिष्ठिर उवाच

व्याख्याता राजधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत।
कथं स्विद् वैश्यधर्मेण संजीवेद् ब्राह्मणो न वा॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! आपने ब्राह्मणके लिये आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे जीविका चलानेकी बात पहले बतायी है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ब्राह्मण किसी तरह वैश्य-धर्मसे भी जीवननिर्वाह कर सकता है या नहीं? ॥ १॥

भीष्म उवाच

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत्।
कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! यदि ब्राह्मण अपनी जीविका नष्ट होनेपर आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे भी जीवननिर्वाह न कर सके तो वैश्यधर्मके अनुसार खेती और गोरक्षाका आश्रय लेकर वह अपनी जीविका चलावे॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

कानि पण्यानि विक्रीय स्वर्गलोकान्न हीयते
ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन् भरतर्षभ॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यह तो बताइये कि यदि ब्राह्मण वैश्यधर्मसे जीविका चलाते समय व्यापार भी करे तो किन-किन वस्तुओंका क्रय-विक्रय करनेसे वह स्वर्गलोककी प्राप्तिके अधिकारसे वञ्चित नहीं होगा॥ ३॥

भीष्म उवाच

सुरा लवणमित्येव तिलान् केसरिणः पशून्।
वृषभान् मधुमांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर॥ ४॥
सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत्।
एतेषां विक्रयात् तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर! ब्राह्मणको मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल, बनायी हुई रसोई, घोड़ा तथा बैल, गाय, बकरा, भेड़ और भैंस आदि पशु—इन वस्तुओंका विक्रय तो सभी अवस्थाओंमें त्याग देना चाहिये; क्योंकि इनको बेचनेसे ब्राह्मण नरकमें पड़ता है॥ ४-५॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट्।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथंचन॥ ६॥
पक्वेनामस्य निमयं न प्रशंसन्ति साधवः।
निमयेत् पक्वमामेन भोजनार्थाय भारत॥ ७॥

बकरा अग्निस्वरूप, भेड़ वरुणस्वरूप, घोड़ा सूर्यस्वरूप पृथ्वी विराट्स्वरूप तथा गौ यज्ञ और सोमका स्वरूप है; अतः इनका विक्रय कभी किसी तरह नहीं करना चाहिये। भरतनन्दन! ब्राह्मणके लिये बनी-बनायी रसोई देकर बदलेमें कच्चा अन्न लेनेकी साधु पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं; किंतु केवल भोजनके लिये कच्चा अन्न देकर उसके बदले पकाया अन्न ले सकते हैं॥ ६-७॥

वयं सिद्धमशिष्यामो भवान् साधयतामिदम्।
एवं संवीक्ष्य निमयेन्नाधर्मोऽस्ति कथंचन॥ ८॥

'हमलोग बनी-बनायी रसोई पाकर भोजन कर लेंगे। आप यह कच्चा अन्न लेकर इसे पकाइये' इस भावमें अच्छी तरह विचार करके यदि कच्चे अन्नसे पके-पकाये अन्नको बदल लिया जाय तो इसमें किसी प्रकार भी अधर्म नहीं होता॥८॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मः सनातनः।
व्यवहारप्रवृत्तानां तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ९॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें व्यवहारपरायण मनुष्योंके लिये सनातन कालसे चला आता हुआ धर्म जैसा है, वैसा मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो॥ ९॥

भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत् प्रयच्छतु।
रुचितो वर्तते धर्मो न बलात् सम्प्रवर्तते॥ १०॥

मैं आपको यह वस्तु देता हूँ, इसके बदलेमें आप मुझे वह वस्तु दे दीजिये, ऐसा कहकर दोनोंकी रुचिसे जो वस्तुओंकी अदला-बदली की जाती है, उसे धर्म माना जाता है। यदि बलात्कारपूर्वक अदला-बदली की जाय तो वह धर्म नहीं है॥

इत्येवं सम्प्रवर्तन्ते व्यवहाराः पुरातनाः।
ऋषीणामितरेषां च साधु चैतदसंशयम्॥ ११॥

प्राचीन कालसे ऋषियों तथा अन्य सत्पुरुषोंके सारे व्यवहार ऐसे ही चले आ रहे हैं। यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।
व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम्॥ १२॥
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात् परायणम्।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप॥ १३॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! नरेश्वर! यदि सारी प्रजा शस्त्र धारण कर ले और अपने धर्मसे गिर जाय, उस समय क्षत्रियकी शक्ति तो क्षीण हो जायगी। फिर राजा राष्ट्रकी रक्षा कैसे कर सकता है और वह सब लोगोंको किस तरह शरण

दे सकता है । मेरे इस संदेहका आप विस्तारपूर्वक समाधान करें ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंको दान, तप, यज्ञ, प्राणियोंके प्रति द्रोहका अभाव तथा इन्द्रिय-संयमके द्वारा अपने कल्याणकी इच्छा रखनी चाहिये ॥१४॥

तेषां ये वेदबलिनस्तेऽभ्युत्थाय समन्ततः ।
राज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥

उनमेंसे जिन ब्राह्मणोंमें वेद-शास्त्रोंका बल हो, वे सब ओरसे उठकर राजाका उसी प्रकार बल बढ़ावें, जैसे देवता इन्द्रका बल बढ़ाते हैं ॥ १५ ॥

राज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम् ।
तस्माद् ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥

जिसकी शक्ति क्षीण हो रही हो, उस राजाके लिये ब्राह्मणको ही सबसे बड़ा सहायक बताया गया है; अतः बुद्धिमान् नरेशको ब्राह्मणके बलका आश्रय लेकर ही अपनी उन्नति करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यदा भुवि जयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसंदधेत् ।
तदा वर्णा यथाधर्मं निविशेयुः कथंचन ॥ १७ ॥

जब भूतलपर विजयी राजा अपने राष्ट्रमें कल्याणमय शासन स्थापित करना चाहता हो, तब उसे चाहिये कि जिस किसी प्रकारसे सभी वर्णके लोगोंको अपने-अपने धर्मका पालन करनेमें लगाये रखे ॥ १७ ॥

उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते ।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! जब डाकू और लुटेरे धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हुए हों और प्रजामें वर्णसंकरता फैला रहे हों, उस समय इस अत्याचारको रोकनेके लिये यदि सभी वर्णोंके लोग हथियार उठा लें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद् ब्राह्मणं प्रति ।
कस्तस्य ब्राह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि क्षत्रिय जाति ही सब ओरसे ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करने लगे, उस समय उस ब्राह्मणकुलकी रक्षा कौन ब्राह्मण कर सकता है ? उनके लिये कौन-सा धर्म (कर्तव्य) है तथा कौन-सा महान् आश्रय ? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च ।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! उस समय ब्राह्मण अपने तपसे, ब्रह्मचर्यसे, शस्त्रसे, बलसे, निष्कपट व्यवहारसे अथवा भेदनीतिसे—जैसे भी सम्भव हो, उसी तरह क्षत्रिय जातिको दबानेका प्रयत्न करे ॥ २० ॥

क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ २१ ॥

जब क्षत्रिय ही प्रजाके ऊपर, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मणों-पर अत्याचार करने लगे तो उस समय उसे ब्राह्मण ही दबा सकता है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है॥२१॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥

अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे पैदा हुआ है । इनका तेज या प्रभाव सर्वत्र काम करता है; परंतु अपनी उत्पत्तिके मूल कारणोंसे मुकाबला पड़नेपर शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

यदा छिनत्त्ययोऽश्मानमग्निश्चापोऽभिगच्छति ।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥

जब लोहा पत्थर काटता है, अग्नि जलके पास जाती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! यद्यपि क्षत्रियोंके तेज और बल प्रचण्ड और अजेय होते हैं, तथापि ब्राह्मणसे टक्कर लेनेपर शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मवीर्ये मृदुभूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले ।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥
ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते ।
ब्राह्मणार्थे हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥

जब ब्राह्मणकी शक्ति मन्द पड़ जाय, क्षत्रियका पराक्रम भी दुर्बल हो जाय और सभी वर्णोंके लोग सर्वथा ब्राह्मणोंसे दुर्भाव रखने लगें, उस समय जो लोग ब्राह्मणोंकी, धर्मकी तथा अपने आपकी रक्षाके लिये प्राणोंकी परवा न करके दुष्टोंके साथ क्रोध-पूर्वक युद्ध करते हैं, उन मनस्वी पुरुषोंका पवित्र यश सब ओर फैल जाता है; क्योंकि ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये सबको शस्त्र ग्रहण करनेका अधिकार है ॥ २५—२७ ॥

अतिस्विष्टमधीतानां लोकानतितपस्विनाम् ।
अनाशनाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम्॥ २८ ॥

अतिमात्रामें यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या और उपवासव्रत करनेवालोंको तथा आत्मशुद्धिके लिये अग्निप्रवेश करनेवाले लोगोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उनसे भी उत्तम लोक ब्राह्मणके लिये प्राण देनेवाले शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २९ ॥

ब्राह्मण भी यदि तीनों वर्णोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता। विद्वान् पुरुष इस प्रकार युद्धमें अपने शरीरके त्यागसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं मानते हैं ॥ २९ ॥

तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ।
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान् वीरांस्तान् मनुरब्रवीत् ॥३०॥

जो लोग ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले दुराचारियोंको दबानेके लिये युद्धकी ज्वालामें अपने शरीरकी आहुति दे डालते हैं, उन वीरोंको नमस्कार है, उनका कल्याण हो। हमलोगोंको उन्हींके समान लोक प्राप्त हो। मनुजीने कहा है कि 'वे स्वर्गीय शूरवीर ब्रह्मलोकपर विजय पा जाते हैं' ॥ ३० ॥

यथाश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत ।
दुष्कृतस्य प्रणाशेन ततः शस्त्रहता रणे ॥ ३१ ॥

जैसे अश्वमेध यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करनेवाले मनुष्य पापरहित एवं पवित्र हो जाते हैं, उसी प्रकार युद्धमें शस्त्रोंद्वारा मारे गये वीर अपने पाप नष्ट हो जानेके कारण पवित्र हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद् देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३२ ॥

देश-कालकी परिस्थितिके कारण कभी अधर्म तो धर्म हो जाता है और धर्म अधर्मरूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि वह वैसा ही देश-काल है ॥ ३२ ॥

मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् ।
धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम्॥३३॥

सबके प्रति मैत्रीका भाव रखनेवाले मनुष्य भी (दूसरोंकी रक्षाके लिये किसी दुष्टके प्रति) क्रूरतापूर्ण बर्ताव करके उत्तम स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तथा धर्मात्मा पुरुष किसीकी रक्षाके लिये पाप (हिंसा आदि) करते हुए भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च ॥ ३४ ॥

अपनी रक्षाके लिये, अन्य वर्णोंमें यदि कोई बुराई आ रही हो तो उसे रोकनेके लिये तथा दुर्दान्त दुष्टोंका दमन करनेके लिये—इन तीन अवसरोंपर ब्राह्मण भी शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसंकरे ।
सम्प्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽभिभवेद् बली ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन् ॥३६॥
कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात् संवार्यो वा भवेन्न वा ।
तस्माच्छस्त्रं ग्रहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! नृपश्रेष्ठ ! यदि डाकुओंका दल उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो, समाजमें वर्णसंकरता फैल रही हो और क्षत्रियके प्रजापालनरूपी कार्यके लिये समस्त वर्णोंके लोग कोई उपाय न ढूँढ़ पाते हों, उस अवस्थामें यदि कोई बलवान् ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र धर्मकी रक्षाके निमित्त दण्ड धारण करके लुटेरोंके हाथसे प्रजाको बचा ले तो वह राजशासनका कार्य कर सकता है या नहीं अथवा उसे इस कार्यसे रोकना चाहिये या नहीं ? मेरा तो मत है कि क्षत्रियसे भिन्न वर्णके लोगोंको भी ऐसे अवसरोंपर अवश्य शस्त्र उठाना चाहिये ॥ ३५–३७ ॥

भीष्म उवाच

अपारे यो भवेत् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३८ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जो अपार संकटसे पार लगा दे, नौकाके अभावमें डूबते हुएको जो नाव बनकर सहारा दे, वह शूद्र हो या कोई अन्य, सर्वथा सम्मानके योग्य है ॥३८॥

यमाश्रित्य नरा राजन् वर्तयेयुर्यथासुखम् ।
अनाथास्तप्यमानाश्च दस्युभिः परिपीडिताः ॥ ३९ ॥
तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम् ।
अभीरभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सन्मानमर्हति ॥ ४० ॥

डाकुओंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते हुए अनाथ मनुष्यगण जिसकी शरणमें जाकर सुखपूर्वक रह सकें, उसीको अपने बन्धु-बान्धवके समान मानकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उसका आदर-सत्कार करना उनके लिये उचित है; क्योंकि कुरुनन्दन ! जो निर्भय होकर बारंबार दूसरोंका संकट निवारण कर सके, वही राजोचित सम्मान पानेके योग्य है ॥ ३९-४० ॥

किं तैर्येऽनडुहो नोह्याः किं धेन्वा वाप्यदुग्धया ।
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षता॥ ४१ ॥

जो बोझ न ढो सकें, ऐसे बैलोंसे क्या लाभ ? जो दूध न दे, ऐसी गाय किस कामकी ? जो बाँझ हो, ऐसी स्त्रीसे क्या प्रयोजन है ? और जो रक्षा न कर सके, ऐसे राजासे क्या लाभ है ? ॥ ४१ ॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४२ ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता ।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ ४३ ॥

कुन्तीनन्दन ! जैसे काठका हाथी, चमड़ेका हिरन, हिजड़ा मनुष्य, ऊसर खेत तथा वर्षा न करनेवाला बादल—ये सब-के-सब व्यर्थ हैं, उसी प्रकार अपढ़ ब्राह्मण तथा रक्षा न करनेवाला राजा भी सर्वथा निरर्थक हैं ॥ ४२-४३ ॥

नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत् ।

स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४४ ॥

जो सदा सत्पुरुषोंकी रक्षा करे तथा दुष्टोंको दण्ड देकर दुष्कर्म करनेसे रोके, उसे ही राजा बनाना चाहिये; क्योंकि उसीके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् सुरक्षित होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

ऋत्विजोंके लक्षण, यज्ञ और दक्षिणाका महत्त्व तथा तपकी श्रेष्ठता

युधिष्ठिर उवाच

क्वसमुत्थाः कथंशीला ऋत्विजः स्युः पितामह ।
कथंविधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! ऋत्विजोंकी उत्पत्ति किस निमित्तसे हुई है ? उनके स्वभाव कैसे होने चाहिये ? तथा वे किस-किस प्रकारके होते हैं ? मुझे ये सब बातें बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते ।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो ब्राह्मण छन्दःशास्त्र, 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः' नामक तीनों वेद तथा ऋषियोंके रचे हुए स्मृति और दर्शनशास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे ही 'ऋत्विज' होने योग्य हैं, उन ऋत्विजोंका मुख्य आचार है—राजाके लिये 'शान्ति' 'पौष्टिक' आदि कर्मोंका अनुष्ठान ॥

ये त्वेकरतयो नित्यं धीराश्च प्रियवादिनः ।
परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः ॥ ३ ॥

जो सदा एकमात्र यजमानके ही हित-साधनमें तत्पर रहनेवाले, धीर, प्रियवादी, एक दूसरेके सुहृद् तथा सब ओर समान दृष्टि रखनेवाले हैं, वे ही ऋत्विज होनेके योग्य हैं॥३॥

अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते ।

जिनमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है, जो सत्यभाषण करनेवाले और सरल हैं, जो व्याज नहीं लेते तथा जिनमें द्रोह और अभिमानका अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह आदि गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं ॥ ४½ ॥

धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः ।
अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ॥ ५ ॥
अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।
एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथार्हतः ॥ ६ ॥

इसी तरह जो बुद्धिमान्, सत्यको धारण करनेवाला, इन्द्रिय-संयमी, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेवाला तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूर रहनेवाला है, जिसके शास्त्रज्ञान; सदाचार और कुल—ये तीनों अत्यन्त शुद्ध एवं निर्दोष हैं; जो अहिंसक और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, वही ब्रह्माके आसनपर बैठनेका अधिकारी है । तात ! ये सभी महान् ऋत्विज यथायोग्य सम्मानके पात्र हैं ॥ ५-६॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते ।
इदं देयमिदं देयं न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! यह जो यज्ञसम्बन्धी दक्षिणाके विषयमें वेदवाक्य उपलब्ध होता है कि 'यह भी देना चाहिये, यह भी देना चाहिये' यह वाक्य किसी सीमित वस्तुपर अवलम्बित नहीं है ॥ ७ ॥

नेदं प्रतिधनं शास्त्रमापद्धर्मानुशास्त्रतः ।
आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥ ८ ॥

अतः दक्षिणामें दिये जानेवाले धनके विषयमें जो यह शास्त्र-वचन है, यह आपत्कालिक धर्मशास्त्रके अनुसार नहीं है । मेरी समझमें तो यह शास्त्रकी आज्ञा भयंकर है; क्योंकि यह इस बातकी ओर नहीं देखती कि दातामें कितने दानकी शक्ति है ॥ ८ ॥

श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥ ९ ॥

दूसरी ओर वेदकी यह आज्ञा भी सुनी जाती है कि प्रत्येक श्रद्धालु पुरुषको यज्ञ करना चाहिये । यदि दरिद्र श्रद्धाके बलपर यज्ञमें प्रवृत्त हो और उचित दक्षिणा न दे सके तो वह यज्ञ मिथ्या भावसे युक्त होगा; उस दशामें उसकी न्यूनताकी पूर्ति श्रद्धा कैसे कर सकेगी ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! वेदोंकी निन्दा करनेसे, शठतापूर्ण बर्तावसे तथा छल-कपटसे कोई भी महान् पद नहीं पाता है; अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी न हो ॥ १० ॥

यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथंचन ॥ ११ ॥

तात ! दक्षिणा यज्ञोंका अङ्ग है । वही वेदोक्त यज्ञोंका विस्तार एवं उनमें न्यूनताकी पूर्ति करनेवाली है । दक्षिणाहीन यज्ञ किसी प्रकार भी यजमानका उद्धार नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत्।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥

जहाँ धनी और दरिद्रकी शक्तिका प्रश्न है, उधर भी शास्त्रकी दृष्टि है ही। दोनोंके लिये समान दक्षिणा नहीं रक्खी गयी है। (दरिद्रकी) शक्तिको पूर्णपात्रसे मापा गया है अर्थात् जहाँ धनीके लिये बहुत धन देनेका विधान है, वहाँ दरिद्रके लिये एक पूर्णपात्र ही दक्षिणामें देनेका विधान कर दिया है; अतः तात! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके लोगोंको अवश्य ही विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी स्थितिः।
तं च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथा वृत्तिरिष्यते ॥ १३ ॥

वेदोंका यह सिद्धान्त है कि सोम ब्राह्मणोंका राजा है; परंतु यज्ञके लिये ब्राह्मणलोग उसे भी बेच देनेकी इच्छा रखते हैं। जहाँ यज्ञ आदि कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो, वहाँ व्यर्थ ही उदरपूर्तिके लिये सोमरसका विक्रय अभीष्ट नहीं है ॥ १३ ॥

तेन क्रीतेन यज्ञेन ततो यज्ञः प्रतायते।
इत्येवं धर्मतो ख्यातमृषिभिर्धर्मचारिभिः ॥ १४ ॥

दक्षिणाद्वारा उस सोमरसके साथ खरीद किये हुए यज्ञ-साधनोंसे यजमानके यज्ञका विस्तार होता है। धर्मका आचरण करनेवाले ऋषियोंने इस विषयमें धर्मके अनुसार ऐसा ही विचार व्यक्त किया है ॥ १४ ॥

पुमान् यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यदा भवेत्।
अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १५ ॥

यज्ञकर्ता पुरुष, यज्ञ और सोमरस—ये तीनों जब न्याय-सम्पन्न होते हैं, तब यज्ञका यथार्थरूपसे सम्पादन होता है। अन्यायपरायण पुरुष न दूसरेका भला कर सकता है, न अपना ही ॥ १५ ॥

शरीरवृत्तमास्थाय इत्येषा श्रूयते श्रुतिः।
नातिसम्यक् प्रणीतानि ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

शरीर-निर्वाहमात्रके लिये धन प्राप्त करके यज्ञमें प्रवृत्त हुए महामनस्वी ब्राह्मणोंद्वारा जो यज्ञ सम्पादित होते हैं, वे भी हिंसा आदि दोषोंसे युक्त होनेपर उत्तम फल नहीं देते हैं, ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त सुननेमें आता है ॥ १६ ॥

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः।
तत् ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

अतः यज्ञकी अपेक्षा भी तप श्रेष्ठ है, यह वेदका परम उत्तम वचन है। विद्वान् युधिष्ठिर! मैं तुम्हें तपका स्वरूप बताता हूँ, तुम मुझसे उसके विषयमें सुनो ॥ १७ ॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरताको त्याग देना, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हींको धीर पुरुषोंने तप माना है। केवल शरीरको सुखाना ही तप नहीं है ॥ १८ ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मनः ॥ १९ ॥

वेदको अप्रामाणिक बताना, शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था पैदा करना—ये सब दुर्गुण अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

निबोध देवहोतॄणां विधानं पार्थ यादृशम्।
चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् २०

कुन्तीनन्दन! दैवी सम्पदायुक्त होताओंके यज्ञसम्बन्धी उपकरण जिस प्रकारके होते हैं, उन्हें सुनो। उनके सहायक चित्ति ही स्रुक् है, चित्त ही आज्य (घी) है और उत्तम ज्ञान ही पवित्री है ॥ २० ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ २१ ॥

सारी कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता परब्रह्मकी प्राप्तिका स्थान है। इतना ही ज्ञानका विषय है और सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आयेगा? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

राजाके लिये मित्र और अमित्रकी पहचान तथा उन सबके साथ नीतिपूर्ण बर्तावका और मन्त्रीके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो छोटे-से-छोटा काम है, उसे भी बिना किसीकी सहायताके अकेले मनुष्यके द्वारा किया जाना कठिन हो जाता है। फिर राजा दूसरेकी सहायताके बिना महान् राज्यका संचालन कैसे कर सकता है? ॥ १ ॥

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत्।
कीदृशे विश्वसेद् राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥ २ ॥

अतः राजाकी सहायताके लिये जो सचिव (मन्त्री) हो, उसका स्वभाव और आचरण कैसा होना चाहिये? राजा कैसे मन्त्रीपर विश्वास करे और कैसेपर न करे? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत।

सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! राजाके सहायक या मित्र चार प्रकारके होते हैं—१—सहार्थ, २—भजमान, ३—सहज और ४—कृत्रिम * ॥ ३ ॥

धर्मात्मा पञ्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः ।
यतो धर्मस्ततो वा स्याद् धर्मस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥
यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत् ।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ ५ ॥

इनके सिवा, राजाका एक पाँचवाँ मित्र धर्मात्मा पुरुष होता है, वह किसी एकका पक्षपाती नहीं होता और न दोनों पक्षोंसे वेतन लेकर कपटपूर्वक दोनोंका ही मित्र बना रहता है । जिस पक्षमें धर्म होता है, उसी ओर वह भी हो जाता है अथवा जो धर्मपरायण राजा है, वही उसका आश्रय ग्रहण कर लेता है । ऐसे धर्मात्मा पुरुषको जो कार्य न रुचे, वह उसके सामने नहीं प्रकाशित करना चाहिये; क्योंकि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजा कभी धर्ममार्गसे चलते हैं और कभी अधर्ममार्गसे ॥ ४-५ ॥

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त चार प्रकारके मित्रोंमेंसे भजमान और सहज—ये बीचवाले दो मित्र श्रेष्ठ समझे जाते हैं, किंतु शेष दोकी ओरसे सदा सशङ्क रहना चाहिये । वास्तवमें तो अपने कार्यको ही दृष्टिमें रखकर सभी प्रकारके मित्रोंसे सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ६ ॥

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजाको अपने मित्रोंकी रक्षामें कभी असावधानी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि असावधान राजाका सभी लोग तिरस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत् कार्यं प्रत्यक्षं तत् समाचरेत् ॥ ९ ॥

बुरा मनुष्य भला और भला मनुष्य बुरा हो जाया करता है । शत्रु भी मित्र बन जाता है और मित्र भी बिगड़ जाता है; क्योंकि मनुष्यका चित्त सदैव एक-सा नहीं रहता । अतः उसपर किसी भी समय कोई कैसे विश्वास करेगा ? इसलिये जो प्रधान कार्य हो, उसे अपनी आँखोंके सामने पूरा कर देना चाहिये ॥ ८-९ ॥

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥

किसीपर भी किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म और अर्थ दोनोंका नाश करनेवाला होता है और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्युसे बढ़कर है ॥ १० ॥

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥११॥

दूसरोंपर किया हुआ पूरा-पूरा विश्वास अकालमृत्युके समान है; क्योंकि अधिक विश्वास करनेवाला मनुष्य भारी विपत्तिमें पड़ जाता है । वह जिसपर विश्वास करता है, उसीकी इच्छापर उसका जीवन निर्भर होता है ॥ ११ ॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥१२॥

इसलिये राजाको कुछ चुने हुए लोगोंपर विश्वास तो करना चाहिये, पर उनकी ओरसे सशङ्क भी रहना चाहिये । तात ! यही सनातन नीतिकी गति है । इसे सदा दृष्टिमें रखना चाहिये॥

यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमं स्पृशेत् ।
नित्यं तस्माच्छङ्कितव्यममित्रं तद् विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

'अमुक व्यक्ति मेरे मरनेके बाद राजा हो सकता है और धनकी यह सारी आय अपने हाथमें ले सकता है' ऐसी मान्यता जिसके विषयमें हो (वह भाई, पड़ोसी या पुत्र ही क्यों न हो) उससे सदा सतर्क ही रहना चाहिये; क्योंकि विद्वान् पुरुष उसे शत्रु ही समझते हैं ॥ १३ ॥

यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति ।
न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन् सर्वसेतवः ॥ १४ ॥

वर्षा आदिका जल जिसके खेतसे होकर दूसरेके खेतमें जाता है, उसकी इच्छाके बिना उसके खेतकी आड़ या मेड़को नहीं तोड़ना चाहिये ॥ १४ ॥

तथैवात्युदकाद् भीतस्तस्य भेदनमिच्छति ।
यमेवंलक्षणं विद्यात् तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार आड़ न टूटनेसे जिसके खेतमें अधिक जल भर जाता है, वह भयभीत हो उस जलको निकालनेके लिये खेतकी आड़को तोड़ डालना चाहता है । जिसमें ऐसे लक्षण जान पड़ें, उसीको शत्रु समझो, अर्थात् जो अपने राज्यकी सीमाका रक्षक है, वह यदि सीमा तोड़ दे तो अपने राज्यपर भय आ सकता है; अतः उसे भी शत्रु ही समझना चाहिये ॥

यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥ १६ ॥

जो राजाकी उन्नतिसे कभी तृप्त न हो, उत्तरोत्तर उसकी अधिक उन्नति ही चाहता रहे और अवनति होनेपर बहुत

---

* सहार्थ मित्र उनको कहते हैं, जो किसी शर्तपर एक दूसरेकी सहायताके लिये मित्रता करते हैं । 'अमुक शत्रुपर हम दोनों मिलकर चढ़ाई करें, विजय होनेपर दोनों उसके राज्यको आधा-आधा बाँट लेंगे'—इत्यादि शर्तें सहार्थ मित्रोंमें होती हैं । जिनके साथ परम्परागत वंशसम्बन्धसे मित्रता हो, वे 'भजमान' कहलाते हैं । जन्मसे ही साथ रहनेसे अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जिनमें परस्पर स्वाभाविक मैत्री हो जाती है वे 'सहज' मित्र कहे गये हैं; और धन आदि देकर अपनाये हुए लोग 'कृत्रिम' मित्र कहलाते हैं ।

दुखी हो जाय, यही उत्तम मित्रकी पहचान बतायी गयी है॥

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ १७ ॥

जिसके विषयमें ऐसी मान्यता हो कि मेरे न रहनेपर यह भी नहीं रहेगा, उसपर पिताके समान विश्वास करना चाहिये ॥ १७ ॥

तं शक्त्या वर्धमानश्च सर्वतः परिबृंहयेत् ।
नित्यं क्षताद् वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु ॥ १८ ॥
क्षताद् भीतं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम् ।
ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः ॥ १९ ॥

और जब अपनी वृद्धि हो तो यथाशक्ति उसे भी सब ओरसे समृद्धिशाली बनावे । जो धर्मके कार्योंमें भी राजाको सदा हानिसे बचानेका प्रयत्न करता है तथा उसकी हानिसे भयभीत हो उठता है, उसके इस स्वभावको ही उत्तम मित्र-का लक्षण समझना चाहिये । जो राजाकी हानि और विनाश-की इच्छा रखते हैं, वे उसके शत्रु माने गये हैं ॥ १८-१९ ॥

व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न दुष्यति ।
यत् स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥ २० ॥

जो मित्रपर विपत्ति आनेकी सम्भावनासे सदा डरता रहता है और उसकी उन्नति देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या नहीं करता है, ऐसे मित्रको अपने आत्माके समान बताया गया है॥

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः ।
कुलीनः शीलसम्पन्नः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः ॥ २१ ॥

जिसका रूप-रंग सुन्दर और स्वर मीठा हो, जो क्षमा-शील हो, निन्दक न हो तथा कुलीन और शीलवान् हो, वह तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिये ॥ २१ ॥

मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृशंस्यवान् ।
यो मानितोऽमानितो वा न च दुष्येत् कदाचन॥२२॥
ऋत्विग्वा यदि वाऽऽचार्यः सखा वात्यन्तसंस्तुतः ।
गृहे वसेदमात्यस्ते स स्यात् परमपूजितः ॥ २३ ॥

जिसकी बुद्धि अच्छी और स्मरणशक्ति तीव्र हो, जो कार्य-साधनमें कुशल और स्वभावतः दयालु हो तथा कभी मान या अपमान हो जानेपर जिसके हृदयमें द्वेष या दुर्भाव नहीं पैदा होता हो, ऐसा मनुष्य यदि ऋत्विज, आचार्य अथवा अत्यन्त प्रशंसित मित्र हो तो वह मन्त्री बनकर तुम्हारे घरमें रहे तथा तुम्हें उसका विशेष आदर-सम्मान करना चाहिये॥

स ते विद्यात् परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः ।
विश्वासस्ते भवेत् तत्र यथा पितरि वै तथा ॥ २४ ॥

वह तुम्हारे उत्तम-से-उत्तम गोपनीय मन्त्र तथा धर्म और अर्थकी प्रकृति* को भी जाननेका अधिकारी है। उसपर तुम्हारा वैसा ही विश्वास होना चाहिये, जैसा कि एक पुत्रका पितापर होता है ॥ २४ ॥

नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन् परस्परम् ।
एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा ॥ २५ ॥

एक कामपर एक ही व्यक्तिको नियुक्त करना चाहिये, दो या तीनको नहीं; क्योंकि वे आपसमें एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते; एक कार्यपर नियुक्त हुए अनेक व्यक्तियोंमें प्रायः सदा मतभेद हो ही जाता है ॥ २५ ॥

कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद् यश्च स्यात् समये स्थितः ।
समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः॥ २६ ॥
यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद् वा धर्ममुत्सृजेत् ।
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः ॥ २७ ॥

जो कीर्तिको प्रधानता देता है और मर्यादाके भीतर स्थित रहता है, जो सामर्थ्यशाली पुरुषोंसे द्वेष और अनर्थ नहीं करता है, जो कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा क्रोधसे भी धर्मका त्याग नहीं करता, जिसमें कार्यकुशलता तथा आवश्यकता-के अनुरूप बातचीत करनेकी पूरी योग्यता हो, वही पुरुष तुम्हारा प्रधान मन्त्री होना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः ।
शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः ॥ २८ ॥
एते ह्यमात्याः कर्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः ।
पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः ॥ २९ ॥

जो कुलीन, शीलसम्पन्न, सहनशील, झूठी आत्मप्रशंसा न करनेवाले, शूरवीर, श्रेष्ठ, विद्वान् तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको समझनेमें कुशल हों, उन्हें तुम्हें मन्त्रिपदपर प्रतिष्ठित करना चाहिये । वे तुम्हारे सभी कार्योंमें नियुक्त होने योग्य हैं । उन्हें तुम सत्कारपूर्वक सुख और सुविधाकी वस्तुएँ देना । इस प्रकार आदरपूर्वक अपनाये जानेपर वे तुम्हारे अच्छे सहायक सिद्ध होंगे ॥ २८-२९ ॥

कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु ।
युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत ॥ ३० ॥

इन्हें इनकी योग्यताके अनुरूप कर्मोंमें पूरा अधिकार देकर लगा दिया जाय तो ये बड़े-बड़े कार्योंके साधनमें तत्पर हो राजाके लिये कल्याणकी वृद्धि कर सकते हैं ॥ ३० ॥

एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा ।
अनुतिष्ठन्ति चैवार्थमाचक्षाणाः परस्परम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि ये सदा परस्पर होड़ लगाकर कार्य करते हैं और एक दूसरेसे सलाह लेकर अर्थकी सिद्धिके विषयमें विचार करते रहते हैं ॥ ३१ ॥

---

* प्रकृतियाँ तीन प्रकारकी बतायी गयी हैं—अर्थप्रकृति, धर्म-प्रकृति तथा अर्थ-धर्मप्रकृति । इनमें अर्थ-प्रकृतिके अन्तर्गत आठ वस्तुएँ हैं—खेती, वाणिज्य, दुर्ग, सेतु (पुल), जंगलमें हाथी बाँधनेके स्थान, सोने-चाँदी आदि धातुओंकी खान, कर-ग्रहण और सूने स्थानोंको बसाना । इनके अतिरिक्त जो दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्यौतिषी—ये सात प्रकृतियाँ हैं, इनमेंसे 'धर्माध्यक्ष' तो धर्मप्रकृति हैं और शेष छः 'अर्थ-धर्म-प्रकृति'के अन्तर्गत हैं ।

ज्ञातिभ्यश्चैव बुद्ध्येथा मृत्योरिव भयं सदा ।
उपराजेव राजर्धि ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम अपने कुटुम्बीजनोंसे सदा उसी प्रकार भय मानना, जैसे लोग मृत्युसे डरते रहते हैं। जिस प्रकार पड़ोसी राजा अपने पासके राजाकी उन्नति देख नहीं सकता, उसी प्रकार एक कुटुम्बी दूसरे कुटुम्बीका अभ्युदय कभी नहीं सह सकता ॥ ३२ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥

महाबाहो ! जो सरल, कोमल स्वभाववाला, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी है ऐसे राजाके विनाशका समर्थन कुटुम्बीके सिवा दूसरा नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञेयास्ततः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥

जिसके कुटुम्बी या सगे-सम्बन्धी नहीं हैं, वह भी सुखी नहीं होता; इसलिये कुटुम्बी जनोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। भाई-बन्धु या कुटुम्बी जनोंसे रहित पुरुषको दूसरे लोग दबाते रहते हैं ॥ ३४ ॥

निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् ।
नान्यैर्निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ ३५ ॥

दूसरोंके दबानेपर उस मनुष्यको उसके सगे भाई-बन्धु ही सहारा देते हैं। दूसरे लोग किसी सजातीय बन्धुका अपमान करें तो जाति-भाई उसको किसी तरह सहन नहीं कर सकते हैं॥

आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि ।
तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं चैव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

यदि सगे-सम्बन्धी भी किसी पुरुषका अपमान करें तो उसकी जातिके लोग उसे अपना ही अपमान समझते हैं। इस प्रकार कुटुम्बीजनोंमें गुण भी हैं और अवगुण भी दिखायी देते हैं ॥ ३६ ॥

नाज्ञातिरनुगृह्णाति न चाज्ञातिर्नमस्यति ।
उभयं ज्ञातिवर्गेषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ३७ ॥

दूसरी जातिका मनुष्य न अनुग्रह करता है, न नमस्कार। इस प्रकार जाति-भाइयोंमें भलाई और बुराई दोनों देखनेमें आती हैं॥

सम्मानयेत् पूजयेच्च वाचा नित्यं च कर्मणा ।
कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ३८ ॥

राजाका कर्तव्य है कि वह सदा अपने जातीय बन्धुओंका वाणी और क्रियाद्वारा आदर-सत्कार करे। वह प्रतिदिन उनका प्रिय ही करता रहे। कभी कोई अप्रिय कार्य न करे ॥

विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्तेत सर्वदा ।
न हि दोषो गुणो वेति निरूप्यस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥

उनपर विश्वास तो न करे; परंतु विश्वास करनेवालेकी ही भाँति सदा उनके साथ बर्ताव करे। उनमें दोष है या गुण—इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती है ॥

अस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ ४० ॥

जो पुरुष सदा सावधान रहकर ऐसा बर्ताव करता है, उसके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मित्रताका बर्ताव करने लगते हैं ॥ ४० ॥

य एवं वर्तते नित्यं ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रे मध्यस्थे चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ४१ ॥

जो कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी, मित्र, शत्रु तथा मध्यस्थ व्यक्तियोंकी मण्डलीमें सदा इसी नीतिसे व्यवहार करता है, वह चिरकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

कुटुम्बीजनोंमें दलबंदी होनेपर उस कुलके प्रधान पुरुषको क्या करना चाहिये ? इसके विषयमें श्रीकृष्ण और नारदजीका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

एवमग्राह्यके तस्मिञ्ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि सजातीय बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंके समुदायको पारस्परिक स्पर्धाके कारण वशमें करना असम्भव हो जाय, कुटुम्बीजनोंमें ही यदि दो दल हों तो एकका आदर करनेसे दूसरा दल रुष्ट हो ही जाता है। ऐसी परिस्थितिके कारण यदि मित्र भी शत्रु बन जायँ, तब उन सबके चित्तको किस प्रकार वशमें किया जा सकता है ?॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मनीषी पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके भूतपूर्व संवादरूप इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् ।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥

एक समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षे ! जो व्यक्ति सुहृद् न हो, जो सुहृद् तो हो किंतु पण्डित न हो तथा जो सुहृद् और पण्डित तो हो किंतु अपने मनको वशमें न कर सका हो—ये तीनों ही परम गोपनीय मन्त्रणाको सुनने या जाननेके अधिकारी नहीं हैं ॥ ३ ॥

स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद् वक्ष्यामि नारद ।
कृत्स्नां बुद्धिबलं प्रेक्ष्य सम्पृच्छे त्रिदिवंगम ॥ ४ ॥

स्वर्गमें विचरनेवाले नारदजी ! मैं आपके सौहार्दपर भरोसा रखकर आपसे कुछ निवेदन करूँगा । मनुष्य किसी व्यक्तिमें बुद्धि-बलकी पूर्णता देखकर ही उससे कुछ पूछता या जिज्ञासा प्रकट करता है ॥ ४ ॥

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् ।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥

मैं अपनी प्रभुता प्रकाशित करके जाति-भाइयों, कुटुम्बीजनोंको अपना दास बनाना नहीं चाहता । मुझे जो भोग प्राप्त होते हैं, उनका आधा भाग ही अपने उपभोगमें लाता हूँ, शेष आधा भाग कुटुम्बीजनोंके लिये ही छोड़ देता हूँ और उनकी कड़वी बातोंको सुनकर भी क्षमा कर देता हूँ ॥ ५ ॥

अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥ ६ ॥

देवर्षे ! जैसे अग्निको प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है, उसी प्रकार इन कुटुम्बीजनोंका कटुवचन मेरे हृदयको सदा मथता और जलाता रहता है ॥ ६ ॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥

नारदजी ! बड़े भाई बलराममें सदा ही असीम बल है; वे उसीमें मस्त रहते हैं । छोटे भाई गदमें अत्यन्त सुकुमारता है (अतः वह परिश्रमसे दूर भागता है); रह गया बेटा प्रद्युम्न, सो वह अपने रूप-सौन्दर्यके अभिमानसे ही मतवाला बना रहता है । इस प्रकार इन सहायकोंके होते हुए भी मैं असहाय हूँ ॥ ७ ॥

अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः ।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८ ॥

नारदजी ! अन्धक तथा वृष्णिवंशमें और भी बहुत-से वीर पुरुष हैं, जो महान् सौभाग्यशाली, बलवान् एवं दुःसह पराक्रमी हैं, वे सब-के-सब सदा उद्योगशील बने रहते हैं ॥८॥

यस्य न स्युर्न वै स स्याद् यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत् ।
द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥

ये वीर जिसके पक्षमें न हों, उसका जीवित रहना असम्भव है और जिसके पक्षमें ये चले जायँ, वह सारा-का-सारा समुदाय ही विजयी हो जाय । परंतु आहुक और अक्रूरने आपसमें वैमनस्य रखकर मुझे इस तरह अवरुद्ध कर दिया है कि मैं इनमेंसे किसी एकका पक्ष नहीं ले सकता ॥ ९ ॥

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥

आपसमें लड़नेवाले आहुक और अक्रूर दोनों ही जिसके स्वजन हों, उसके लिये इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ? और वे दोनों ही जिसके सुहृद् न हों, उसके लिये भी इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है ? (क्योंकि ऐसे मित्रोंका न रहना भी महान् दुःखदायी होता है) ॥१०॥

सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते ।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ ११ ॥

महामते ! जैसे दो जुआरियोंकी एक ही माता एककी जीत चाहती है तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहती, उसी प्रकार मैं भी इन दोनों सुहृदोंमेंसे एककी विजयकामना करता हूँ तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहता ॥ ११ ॥

ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥

नारदजी ! इस प्रकार मैं सदा उभय पक्षका हित चाहनेके कारण दोनों ओरसे कष्ट पाता रहता हूँ । ऐसी दशामें मेरा अपना तथा इन जाति-भाइयोंका भी जिस प्रकार भला हो, वह उपाय आप बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

नारद उवाच

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वान्यतः ॥ १३ ॥

नारदजीने कहा—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! आपत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर । वे दोनों ही स्वकृत[1] और परकृत[2]-भेदसे दो-दो प्रकारकी होती हैं ॥ १३ ॥

सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते त्वदन्वयाः ॥ १४ ॥

अक्रूर और आहुकसे उत्पन्न हुई यह कष्टदायिनी आपत्ति जो आपको प्राप्त हुई है, आभ्यन्तर है और अपनी ही करतूतोंसे प्रकट हुई है । ये सभी जिनके नाम आपने गिनाये हैं, आपके ही वंशके हैं ॥ १४ ॥

अर्थहेतोर्हि कामाद् वा वाचा बीभत्सयापि वा ।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥

आपने स्वयं जिस ऐश्वर्यको प्राप्त किया था, उसे किसी प्रयोजनवश या स्वेच्छासे अथवा कटुवचनसे डरकर दूसरेको दे दिया ॥ १५ ॥

कृतमूलमिदानीं तज्ज्ञातिवृन्दं सहायवत् ।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥ १६ ॥

सहायशाली श्रीकृष्ण ! इस समय उग्रसेनको दिया हुआ वह ऐश्वर्य दृढ़मूल हो चुका है । उग्रसेनके साथ जातिके लोग भी सहायक हैं; अतः उगले हुए अन्नकी भाँति आप उस दिये हुए ऐश्वर्यको वापस नहीं ले सकते ॥ १६ ॥

---

१. जो आपत्तियाँ स्वतः अपनी ही करतूतोंसे आती हैं, उन्हें स्वकृत कहते हैं ।

२. जिन्हें लानेमें दूसरे लोग निमित्त बनते हैं, वे विपत्तियाँ परकृत कहलाती हैं ।

बभ्रुग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण ! अक्रूर और उग्रसेनके अधिकारमें गये हुए राज्यको भाई-बन्धुओंमें फूट पड़नेके भयसे अन्यकी तो कौन कहे इतने शक्तिशाली होकर स्वयं भी आप किसी तरह वापस नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

तच्च सिध्येत् प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
महाक्षयं व्ययो वा स्याद् विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥ १८ ॥

बड़े प्रयत्नसे अत्यन्त दुष्कर कर्म महान् संहाररूप युद्ध करनेपर राज्यको वापस लेनेका कार्य सिद्ध हो सकता है, परंतु इसमें धनका बहुत व्यय और असंख्य मनुष्योंका पुनः विनाश होगा ॥ १८ ॥

अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १९ ॥

अतः श्रीकृष्ण ! आप एक ऐसे कोमल शस्त्रसे, जो लोहेका बना हुआ न होनेपर भी हृदयको छेद डालनेमें समर्थ है, परिमार्जन और अनुमार्जन करके उन सबकी जीभ उखाड़ लें—उन्हें मूक बना दें (जिससे फिर कलहका आरम्भ न हो) ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम्।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मुने ! बिना लोहेके बने हुए उस कोमल शस्त्रको मैं कैसे जानूँ, जिसके द्वारा परिमार्जन और अनुमार्जन करके इन सबकी जिह्वाको उखाड़ लूँ ॥ २० ॥

नारद उवाच

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम्।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥ २१ ॥

नारदजीने कहा—श्रीकृष्ण ! अपनी शक्तिके अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता तथा यथायोग्य पूजन (आदर-सत्कार) करना—यही बिना लोहेका बना हुआ शस्त्र है ॥ २१ ॥

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥ २२ ॥

जब सजातीय बन्धु आपके प्रति कड़वी तथा ओछी बातें कहना चाहें, उस समय आप मधुर वचन बोलकर उनके हृदय, वाणी तथा मनको शान्त कर दें ॥ २२ ॥

नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान्।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ २३ ॥

जो महापुरुष नहीं है, जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है तथा जो सहायकोंसे सम्पन्न नहीं है, वह कोई भारी भार नहीं उठा सकता। अतः आप ही इस गुरुतर भारको हृदयसे उठाकर वहन करें ॥ २३ ॥

सर्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे।
दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥

समतल भूमिपर सभी बैल भारी भार वहन कर लेते हैं; परंतु दुर्गम भूमिपर कठिनाईसे वहन करने योग्य गुरुतर भारको अच्छे बैल ही ढोते हैं ॥ २४ ॥

भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु ॥ २५ ॥

केशव ! आप इस यादवसंघके मुखिया हैं। यदि इसमें फूट हो गयी तो इस समूचे संघका विनाश हो जायगा; अतः आप ऐसा करें जिससे आपको पाकर इस संघका—इस यादवगणतन्त्र राज्यका मूलोच्छेद न हो जाय ॥ २५ ॥

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥

बुद्धि, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रहके बिना तथा धन-वैभवका त्याग किये बिना कोई गण अथवा संघ किसी बुद्धिमान् पुरुषकी आज्ञाके अधीन नहीं रहता है ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद् यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! सदा अपने पक्षकी ऐसी उन्नति होनी चाहिये जो धन, यश तथा आयुकी वृद्धि करनेवाली हो और कुटुम्बीजनोंमेंसे किसीका विनाश न हो। यह सब जैसे भी सम्भव हो, वैसा ही कीजिये ॥ २७ ॥

आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो।
षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा ॥ २८ ॥

प्रभो ! संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छहों गुणोंके यथासमय प्रयोगसे तथा शत्रुपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा करनेपर वर्तमान या भविष्यमें क्या परिणाम निकलेगा ? यह सब आपसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये ॥ २९ ॥
उपासते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि माधव।

महाबाहु माधव ! कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशके सभी यादव आपमें प्रेम रखते हैं। दूसरे लोग और लोकेश्वर भी आपमें अनुराग रखते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या है ? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी आपकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं ॥ २९½ ॥

त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम्।
त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते यादवाः सुखम् ॥ ३० ॥

१. क्षमा, सरलता और कोमलताके द्वारा दोषोंको दूर करना 'परिमार्जन' कहलाता है।

२. यथायोग्य सेवा-सत्कारके द्वारा हृदयमें प्रीति उत्पन्न करना 'अनुमार्जन' कहा गया है।

आप समस्त प्राणियोंके गुरु हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यको जानते हैं। आप-जैसे यदुकुलतिलक महापुरुषका आश्रय लेकर ही समस्त यादव सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवनारदसंवादो नामैकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवाद नामक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मन्त्रियोंकी परीक्षाके विषयमें तथा राजा और राजकीय मनुष्योंसे सतर्क रहनेके विषयमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यान

भीष्म उवाच

एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत।
यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! यह राजा अथवा राजनीतिकी पहली वृत्ति है, अब दूसरी सुनो। जो कोई मनुष्य राजाके धनकी वृद्धि करे, उसकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये॥ १॥

ह्रियमाणममात्येन भृत्यो वा यदि वा भृतः।
यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर॥ २॥
श्रोतव्यमस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत्।
अमात्या ह्युपहर्तारो भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत॥ ३॥

भरतवंशी युधिष्ठिर! यदि मन्त्री राजाके खजानेसे धनका अपहरण करता हो और कोई सेवक अथवा राजाके द्वारा पालित हुआ दूसरा कोई मनुष्य राजकीय कोषके नष्ट होनेका समाचार राजाको बतावे, तब राजाको उसकी बात एकान्तमें सुननी चाहिये और मन्त्रीसे उसके जीवनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि चोरी करनेवाले मन्त्री अपना भंडाफोड़ करनेवाले मनुष्यको प्रायः मार डाला करते हैं॥ २-३॥

राजकोशस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः।
समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः॥ ४॥

जो राजाके खजानेकी रक्षा करनेवाला है, उस पुरुषको राजकीय कोष लूटनेवाले सब लोग एकमत होकर सताने लगते हैं। यदि राजाके द्वारा उसकी रक्षा नहीं की जाय तो वह बेचारा बेमौत मारा जाता है॥ ४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुनिः कालकवृक्षीयः कौसल्यं यदुवाच ह॥ ५॥

इस विषयमें जानकार लोग, कालकवृक्षीय मुनिने कोसलराजको जो उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ ५॥

कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेमदर्शिनम्।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम्॥ ६॥

हमने सुना है कि राजा क्षेमदर्शी जब कोसल प्रदेशके राजसिंहासनपर आसीन थे, उन्हीं दिनों कालकवृक्षीय मुनि उस राज्यमें पधारे थे॥ ६॥

स काकं पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः।
सर्वं पर्यचरद् युक्तः प्रवृत्त्यर्थी पुनः पुनः॥ ७॥

उन्होंने क्षेमदर्शीके सारे देशमें, उस राज्यका समाचार जाननेके लिये एक कौएको पिंजड़ेमें बाँधकर साथ ले बड़ी सावधानीके साथ बारंबार चक्कर लगाया॥ ७॥

अधीध्वं वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः।
अनागतमतीतं च यच्च सम्प्रति वर्तते॥ ८॥

घूमते समय वे लोगोंसे कहते थे, 'सज्जनो! तुमलोग मुझसे वायसी विद्या (कौओंकी बोली समझनेकी कला) सीखो। मैंने सीखी है, इसलिये कौए मुझसे भूत, भविष्य तथा इस समय जो वर्तमान है, वह सब बता देते हैं'॥ ८॥

इति राष्ट्रे परिपतन् बहुभिः पुरुषैः सह।
सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्करं परिदृष्टवान्॥ ९॥

यही कहते हुए वे बहुतेरे मनुष्योंके साथ उस राष्ट्रमें सब ओर घूमते फिरे। उन्होंने राजकार्यमें लगे हुए समस्त कर्मचारियोंका दुष्कर्म अपनी आँखों देखा॥ ९॥

स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः।
राजयुक्तापहारांश्च सर्वान् बुद्ध्वा ततस्ततः॥ १०॥
ततः स काकमादाय राजानं द्रष्टुमागमत्।
सर्वज्ञोऽस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः॥ ११॥

उस राष्ट्रके सारे व्यवसायोंको जानकर तथा राजकीय कर्मचारियोंद्वारा राजाकी सम्पत्तिके अपहरण होनेकी सारी घटनाओंका जहाँ-तहाँसे पता लगाकर वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अपनेको सर्वज्ञ घोषित करते हुए उस कौएको साथ ले राजासे मिलनेके लिये आये॥ १०-११॥

स स्म कौसल्यमागम्य राजामात्यमलंकृतम्।
प्राह काकस्य वचनादमुत्रेदं त्वया कृतम्॥ १२॥
असौ चासौ च जानीते राजकोशस्त्वया हृतः।
एवमाख्याति काकोऽयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम्॥ १३॥

कोसलनरेशके निकट उपस्थित हो मुनिने सज-धजकर बैठे हुए राजमन्त्रीसे कौएके कथनका हवाला देते हुए कहा—'तुमने अमुक स्थानपर राजाके अमुक धनकी चोरी की है। अमुक-अमुक व्यक्ति इस बातको जानते हैं, जो इसके साक्षी हैं'। हमारा यह कौआ कहता है कि 'तुमने राजकीय कोषका अपहरण किया है; अतः तुम अपने इस अपराधको शीघ्र स्वीकार करो'॥ १२-१३॥

तथान्यानपि स प्राह राजकोशहरांस्तदा।
न चास्य वचनं किंचिदनृतं श्रूयते क्वचित्॥ १४॥

इसी प्रकार मुनिने राजाके खजानेसे चोरी करनेवाले अन्य कर्मचारियोंसे भी कहा—'तुमने चोरी की है । मेरे इस कौएकी कही हुई कोई भी बात कभी और कहीं भी झूठी नहीं सुनी गयी है' ॥ १४ ॥

तेन विप्रकृताः सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह ।
तमस्यभिप्रसुप्तस्य निशि काकमवेधयन् ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुनिके द्वारा तिरस्कृत हुए सभी राजकर्मचारियोंने अँधेरी रातमें सोये हुए मुनिके उस कौएको बाणसे बींधकर मार डाला ॥ १५ ॥

वायसं तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे ।
पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अपने कौएको पिंजड़ेमें बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर ब्राह्मणने पूर्वाह्णमें राजा क्षेमदर्शीसे इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम् ।
अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं भवतो हितम् ॥ १७ ॥

'राजन् ! आप प्रजाके प्राण और धनके स्वामी हैं । मैं आपसे अभयकी याचना करता हूँ । यदि आज्ञा हो तो मैं आपके हितकी बात कहूँ ॥ १७ ॥

मित्रार्थमभिसंतप्तो भक्त्या सर्वात्मनाऽऽगतः ।

'आप मेरे मित्र हैं । मैं आपके ही हितके लिये आपके प्रति सम्पूर्ण हृदयसे भक्तिभाव रखकर यहाँ आया हूँ । आपकी जो हानि हो रही है, उसे देखकर मैं बहुत संतप्त हूँ ॥ १७½ ॥

अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमान्वितः ॥ १८ ॥
सम्बुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः ।
अतिमन्युप्रसक्तो हि प्रसह्य हितकारणात् ॥ १९ ॥
तथाविधस्य सुहृदा क्षन्तव्यं स्वं विजानता ।
ऐश्वर्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥

'जैसे सारथि अच्छे घोड़ेको सचेत करता है, उसी प्रकार यदि कोई मित्र मित्रको समझानेके लिये आया हो, मित्रकी हानि देखकर जो अत्यन्त दुखी हो और उसे सहन न कर सकनेके कारण जो हठपूर्वक अपने सुहृद् राजाका हित-साधन करनेके लिये उसके पास आकर कहे कि 'राजन् ! तुम्हारे इस धनका अपहरण हो रहा है' तो सदा ऐश्वर्य और उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले विज्ञ एवं सुहृद् पुरुषको अपने उस हितकारी मित्रकी बात सुननी चाहिये और उसके अपराध-को क्षमा कर देना चाहिये' ॥ १८—२० ॥

तं राजा प्रत्युवाचेदं यत् किंचिन्मां भवान् वदेत् ।
कस्मादहं न क्षमेयमाकाङ्क्षन्नात्मनो हितम् ॥ २१ ॥
ब्राह्मण प्रतिजाने ते प्रब्रूहि यदिहेच्छसि ।
करिष्यामि हि ते वाक्यं यदस्मान्विप्र वक्ष्यसि ॥ २२ ॥

तब राजाने मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—'ब्राह्मण ! आप जो कुछ कहना चाहें, मुझसे निर्भय होकर कहें । अपने हितकी इच्छा रखनेवाला मैं आपको क्षमा क्यों नहीं करूँगा ? विप्रवर ! आप जो चाहें, कहिये । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप मुझसे जो कोई भी बात कहेंगे, आपकी उस आज्ञाका मैं पालन करूँगा' ॥ २१-२२ ॥

मुनिरुवाच

ज्ञात्वा पापानपापांश्च भृत्यतस्ते भयानि च ।
भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोऽन्तिकमागमम् ॥ २३ ॥

मुनि बोले—महाराज ! आपके कर्मचारियोंमेंसे कौन अपराधी है और कौन निरपराध ? इस बातका पता लगाकर तथा आपपर आपके सेवकोंकी ओरसे ही अनेक भय आनेवाले हैं, यह जानकर प्रेमपूर्वक राज्यका सारा समाचार बतानेके लिये मैं आपके पास आया था ॥ २३ ॥

प्रागेवोक्तस्तु दोषोऽयमाचार्यैर्नृपसेविनाम् ।
अगतीकगतिर्ह्येषा पापा राजोपसेविनाम् ॥ २४ ॥

नीतिशास्त्रके आचार्योंने राजसेवकोंके इस दोषका पहलेसे ही वर्णन कर रक्खा है कि जो राजाकी सेवा करनेवाले लोग हैं, उनके लिये यह पापमयी जीविका अगतिक गति है अर्थात् जिन्हें कहीं भी सहारा नहीं मिलता, वे राजाके सेवक होते हैं ॥ २४ ॥

आशीविषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः ।
बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च ॥ २५ ॥
तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपजीविनाम् ।
तथैषां राजतो राजन् मुहूर्तादेव भीर्भवेत् ॥ २६ ॥

जिसका राजाओंके साथ मेल-जोल हो गया, उसकी विषधर सर्पोंके साथ सङ्गति हो गयी, ऐसा नीतिज्ञोंका कथन है । राजाके जहाँ बहुत-से मित्र होते हैं, वहीं उनके अनेक शत्रु भी हुआ करते हैं । राजाके आश्रित होकर जीविका चलानेवालोंको उन सभीसे भय बताया गया है । राजन् ! स्वयं राजासे भी उन्हें घड़ी-घड़ीमें खतरा रहता है ॥ २५-२६ ॥

नैकान्तेन प्रमादो हि शक्यः कर्तुं महीपतौ ।
न तु प्रमादः कर्तव्यः कथंचिद् भूतिमिच्छता ॥ २७ ॥

राजाके पास रहनेवालोंसे कभी कोई प्रमाद हो ही नहीं, यह तो असम्भव है, परंतु जो अपना भला चाहता हो उसे किसी तरह उसके पास जान-बूझकर प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्रमादाद्धि स्खलेद् राजा स्खलिते नास्ति जीवितम् ।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद् राजानमुपशिक्षितः ॥ २८ ॥

यदि सेवकके द्वारा असावधानीके कारण कोई अपराध बन गया तो राजा पहलेके उपकारको भुलाकर कुपित हो उससे द्वेष करने लगता है और जब राजा अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो जाय तो उस सेवकके जीवनकी आशा नहीं रह जाती । जैसे जलती हुई आगके पास मनुष्य सचेत होकर जाता है, उसी प्रकार शिक्षित पुरुषको राजाके पास सावधानीसे रहना चाहिये ॥ २८ ॥
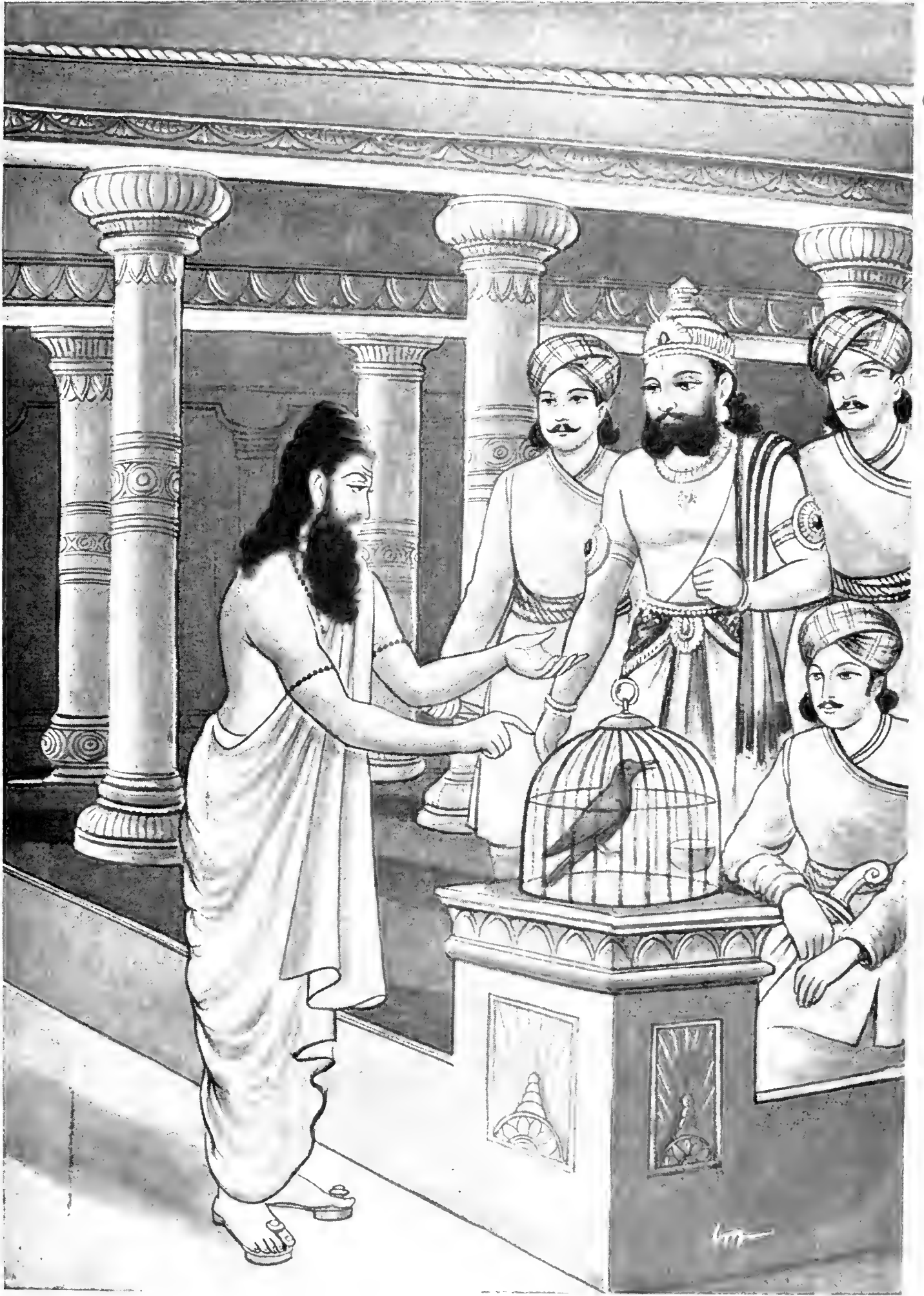
राजा क्षेमदर्शी और कालकवृक्षीय मुनि

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥ २९ ॥

राजा प्राण और धन दोनोंका स्वामी है। जब वह कुपित होता है तो विषधर सर्पके समान भयंकर हो जाता है; अतः मनुष्यको चाहिये कि 'मैं जीवित नहीं हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् अपनी जानको हथेलीपर लेकर सदा बड़े यत्नसे राजाकी सेवा करे ॥ २९ ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमानो दुष्कृताद् दुरधिष्ठितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजिताद्दिङ्गिताद‌ङ्गचेष्टितात् ॥ ३० ॥

मुँहसे कोई बुरी बात न निकल जाय, कोई बुरा काम न बन जाय, खड़ा होते, किसी आसनपर बैठते, चलते, संकेत करते तथा किसी अङ्गके द्वारा कोई चेष्टा करते समय असभ्यता अथवा बेअदबी, न हो जाय, इसके लिये सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ३० ॥

देवतेव हि सर्वार्थान् कुर्याद् राजा प्रसादितः।
वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ॥ ३१ ॥

यदि राजाको प्रसन्न कर लिया जाय तो वह देवताकी भाँति सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध कर देता है और यदि कुपित हो जाय तो जलती हुई आगकी भाँति जड़मूलसहित भस्म कर डालता है ॥ ३१ ॥

इति राजन् यमः प्राह वर्तते च तथैव तत्।
अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

राजन्! यमराजने जो यह बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों ठीक है; फिर भी मैं तो बारंबार आपके महान् अर्थका साधन करूँगा ही ॥ ३२ ॥

ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि।
वायसस्त्वेष मे राजन् ननु कार्याभिसंहितः ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा मन्त्री आपत्तिकालमें बुद्धिद्वारा सहायता देता है। राजन्! मेरा यह कौआ भी आपके कार्यसाधनमें संलग्न था; किंतु मारा गया (सम्भव है मेरी भी वही दशा हो)॥

न च मेऽत्र भवान् गर्ह्यो न च येषां भवान् प्रियः।
हिताहितांस्तु बुद्ध्येथा मा परोक्षमतिर्भवेः ॥ ३४ ॥

परंतु इसके लिये मैं आपकी और आपके प्रेमियोंकी निन्दा नहीं करता। मेरा कहना तो इतना ही है कि आप स्वयं अपने हित और अनहितको पहचानिये। प्रत्येक कार्यको अपनी आँखोंसे देखिये। दूसरोंकी देख-भालपर विश्वास न कीजिये ॥ ३४ ॥

ये त्वादानपरा एव वसन्ति भवतो गृहे।
अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३५ ॥

जो लोग आपका खजाना लूट रहे हैं और आपके ही घरमें रहते हैं, वे प्रजाकी भलाई चाहनेवाले नहीं है। वैसे लोगोंने मेरे साथ वैर बाँध लिया है ॥ ३५ ॥

यो वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छत्यनन्तरम्।
आन्तरैरभिसंधाय राजन् सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ३६ ॥

राजन्! जो आपका विनाश करके आपके बाद इस राज्यको अपने हाथमें लेना चाहता है, उसका वह कर्म अन्तःपुरके सेवकोंसे मिलकर कोई षड्यन्त्र करनेसे ही सफल हो सकता है; अन्यथा नहीं (अतः आपको सावधान हो जाना चाहिये) ॥ ३६ ॥

तेषामहं भयाद् राजन् गमिष्याम्यन्यमाश्रमम्।
तैर्हि मे संधितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! मैं उन विरोधियोंके भयसे दूसरे आश्रममें चला जाऊँगा। प्रभो! उन्होंने मेरे लिये ही बाणका संधान किया था; किंतु वह उस कौएपर जा गिरा ॥ ३७ ॥

छद्मकामैरकामस्य गमितो यमसादनम्।
दृष्टं ह्येतन्मया राजंस्तपोदीर्घेन चक्षुषा ॥ ३८ ॥

मैं कोई कामना लेकर यहाँ नहीं आया था तो भी छल-कपटकी इच्छा रखनेवाले षड्यन्त्रकारियोंने मेरे कौएको मारकर यमलोक पहुँचा दिया। राजन्! तपस्याके द्वारा प्राप्त हुई दूरदर्शिनी दृष्टिसे मैंने यह सब देखा है ॥ ३८॥

बहुनक्रझषग्राहां तिमिङ्गिलगणैर्युताम्।
काकेन बालिशेनेमां यामतार्षमहं नदीम् ॥ ३९ ॥

यह राजनीति एक नदीके समान है। राजकीय पुरुष उसमें मगर, मत्स्य, तिमिङ्गल-समूहों और ग्राहोंके समान हैं। बेचारे कौएके द्वारा मैं किसी तरह इस नदीसे पार हो सका हूँ ॥ ३९ ॥

स्थाण्वश्मकण्टकवतीं सिंहव्याघ्रसमाकुलाम्।
दुरासदां दुष्प्रसहां गुहां हैमवतीमिव ॥ ४० ॥

जैसे हिमालयकी कन्दरामें ठूँठ, पत्थर और काँटें होते हैं, उसके भीतर सिंह और व्याघ्रोंका भी निवास होता है तथा इन्हीं सब कारणोंसे उसमें प्रवेश पाना या रहना अत्यन्त कठिन एवं दुःसह हो जाता है, उसी प्रकार दुष्ट अधिकारियोंके कारण इस राज्यमें किसी भले मनुष्यका रहना मुश्किल है ॥ ४० ॥

अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यं च गम्यते।
राजदुर्गावतरणे नोपायं पण्डिता विदुः ॥ ४१ ॥

अन्धकारमय दुर्गको अग्निके प्रकाशसे तथा जल-दुर्गको नौकाओंद्वारा पार किया जा सकता है; परंतु राजारूपी दुर्गसे पार होनेके लिये विद्वान् पुरुष भी कोई उपाय नहीं जानते हैं॥

गहनं भवतो राज्यमन्धकारं तमोऽन्वितम्।
नेह विश्वसितुं शक्यं भवतापि कुतो मया ॥ ४२ ॥

आपका यह राज्य गहन अन्धकारसे आच्छन्न और दुःखसे परिपूर्ण है। आप स्वयं भी इस राज्यपर विश्वास नहीं कर सकते; फिर मैं कैसे करूँगा? ॥ ४२ ॥

अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह।
वधो ह्येवात्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४३ ॥

अतः यहाँ रहनेमें किसीका कल्याण नहीं है। यहाँ भले-बुरे सब एक समान हैं। इस राज्यमें बुराई करनेवाले और

भलाई करनेवालेका भी वध हो सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते न कथंचन ।
नेह युक्तं स्थिरं स्थातुं जवेनैवाव्रजेद् बुधः ॥ ४४ ॥

न्यायकी बात तो यह है कि बुराई करनेवालेको ही मारा जाय और पुण्य—श्रेष्ठ कर्म करनेवालेको किसी तरह भी कोई कष्ट न होने पावे, परंतु यहाँ ऐसा नहीं होता; अतः इस राज्यमें स्थिरभावसे निवास करना किसीके लिये भी उचित नहीं है। विद्वान् पुरुषको यहाँसे अति शीघ्र हट जाना चाहिये ॥ ४४ ॥

सीता नाम नदी राजन् प्लवो यस्यां निमज्जति ।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४५ ॥

राजन्! सीता नामसे प्रसिद्ध एक नदी है, जिसमें नाव भी डूब जाती है, वैसी ही यहाँकी राजनीति भी है (इसमें मेरे-जैसे सहायकोंके भी डूब जानेकी आशङ्का है)। मैं तो इसे समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाली फाँसी ही समझता हूँ ॥ ४५ ॥

मधुप्रपातो हि भवान् भोजनं विषसंयुतम् ।
असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ॥ ४६ ॥

आप शहदके छत्तेसे युक्त पेड़की उस ऊँची डालीके समान हैं, जहाँसे नीचे गिरनेका ही भय है। आप विष मिलाये हुए भोजनके तुल्य हैं, आपका भाव असज्जनोंके समान है, सज्जनोंके तुल्य नहीं है ॥ ४६ ॥

आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव ।
दुर्गतीर्था बृहत्कूला कारीरा वेत्रसंयुता ॥ ४७ ॥
नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान् ।

भूपाल! आप विषैले सर्पोंसे घिरे हुए कुएँके समान हैं, राजन्! आपकी अवस्था उस मीठे जलवाली नदीके समान हो गयी है, जिसके घाटतक पहुँचना कठिन है, जिसके दोनों किनारे बहुत ऊँचे हों और वहाँ करीलके झाड़ तथा बेंतकी वल्लरियाँ सब ओर छा रही हों ॥ ४७½ ॥

श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि ॥ ४८ ॥
यथाऽऽश्रित्य महावृक्षं कक्षः संवर्धते महान् ।
ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्धते ॥ ४९ ॥
तेनैवोग्रेन्धनेनैनं दावो दहति दारुणः ।
तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान् परिशोधय ॥ ५० ॥

जैसे कुत्तों, गीधों और गीदड़ोंसे घिरा हुआ राजहंस बैठा हो, उसी तरह दुष्ट कर्मचारियोंसे आप घिरे हुए हैं। जैसे लताओंका विशाल समूह किसी महान् वृक्षका आश्रय लेकर बढ़ता है, फिर धीरे-धीरे उस वृक्षको लपेट लेता है और उसका अतिक्रमण करके उससे भी ऊँचेतक फैल जाता है, फिर वही सूखकर भयानक ईंधन बन जाता है, तब दारुण दावानल उसी ईंधनके सहारे उस विशाल वृक्षको भी जला डालता है, राजन्! आपके मन्त्री भी उन्हीं सूखी लताओंके समान हो गये हैं अर्थात् आपके ही आश्रयसे बढ़-कर आपहीके विनाशका कारण बन रहे हैं। अतः आप उनका शोधन कीजिये ॥ ४८—५० ॥

त्वया चैव कृता राजन् भवता परिपालिताः ।
भवन्तमभिसंधाय जिघांसन्ति भवत्प्रियम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर! आपने ही जिन्हें मन्त्री बनाया और आपने जिनका पालन किया, वे आपसे ही कपटभाव रखकर आपके ही हितका विनाश करना चाहते हैं ॥ ५१ ॥

उषितं शङ्कमानेन प्रमादं परिरक्षता ।
अन्तःसर्प इवागारे वीरपत्न्या इवालये ॥ ५२ ॥
शीलं जिज्ञासमानेन राज्ञश्च सहजीविनः ।

मैं राजाके साथ रहनेवाले अधिकारियोंका शील-स्वभाव जानना चाहता था, इसलिये सदा सशङ्क रहकर बड़ी सावधानीके साथ यहाँ रहा हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई साँपवाले मकानमें रहता हो अथवा किसी शूर-वीरकी पत्नीके घरमें घुस गया हो ॥ ५२½ ॥

कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा कच्चिदस्यान्तरा जिताः ॥ ५३ ॥
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद् राज्ञः प्रियाः प्रजाः ।
विजिज्ञासुरिह प्राप्तस्तवाहं राजसत्तम ॥ ५४ ॥

क्या इस देशके राजा जितेन्द्रिय हैं ? क्या इनके अंदर रहनेवाले सेवक इनके वशमें हैं ? क्या यहाँकी प्रजाओंका राजापर प्रेम है ? और राजा भी क्या अपनी प्रजाओंपर प्रेम रखते हैं ? नृपश्रेष्ठ! इन्हीं सब बातोंको जाननेकी इच्छासे मैं आपके यहाँ आया था ॥ ५३-५४ ॥

तस्य मे रोचते राजन् क्षुधितस्येव भोजनम् ।
अमात्या मे न रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् ॥ ५५ ॥

जैसे भूखेको भोजन अच्छा लगता है, उसी प्रकार आपका दर्शन मुझे बड़ा प्रिय लगता है; परंतु जैसे प्यास न रहनेपर पानी अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार आपके ये मन्त्री मुझे अच्छे नहीं जान पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

भवतोऽर्थकृदित्येवं मयि दोषो हि तैः कृतः ।
विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्र संशयः ॥ ५६ ॥

मैं आपकी भलाई करनेवाला हूँ, यही इन मन्त्रियोंने मुझमें बड़ा भारी दोष पाया है और इसीलिये ये मुझसे द्वेष रखने लगे हैं। इसके सिवा दूसरा कोई इनके रोषका कारण नहीं है। मुझे अपने इस कथनकी सत्यतामें कोई संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषदर्शनम् ।
अरेर्हि दुर्हृदाद् भेयं भग्नपुच्छादिवोरगात् ॥ ५७ ॥

यद्यपि मैं इन लोगोंसे द्रोह नहीं करता तो भी मेरे प्रति इन लोगोंकी दोष-दृष्टि हो गयी है। जिसकी पूँछ दबा दी गयी हो, उस सर्पके समान दुष्ट हृदयवाले शत्रुसे सदा डरते रहना चाहिये (इसलिये अब मैं यहाँ रहना नहीं चाहता) ॥ ५७ ॥

राजोवाच

भूयसा परिहारेण सत्कारेण च भूयसा।
पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५८ ॥

राजाने कहा—विप्रवर! आपपर आनेवाले भय अथवा संकटका विशेषरूपसे निवारण करते हुए मैं आपको बड़े आदर-सत्कारके साथ अपने यहाँ रक्खूँगा। आप मेरेद्वारा सम्मानित हो बहुत कालतक मेरे महलमें निवास कीजिये ॥ ५८ ॥

ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति ते न वत्स्यन्ति मे गृहे।
भवतैव हि तज्ज्ञेयं यत्तदेषामनन्तरम् ॥ ५९ ॥

ब्रह्मन्! जो आपको मेरे यहाँ नहीं रहने देना चाहते हैं, वे स्वयं ही मेरे घरमें नहीं रहने पायेंगे अब इन विरोधियोंका दमन करनेके लिये जो आवश्यक कर्त्तव्य हो, उसे आप स्वयं ही सोचिये और समझिये ॥ ५९ ॥

यथा स्यात् सुधृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम्।
तथा समीक्ष्य भगवञ्छ्रेयसे विनियुङ्क्ष्व माम् ॥ ६० ॥

भगवन्! जिस तरह राजदण्डको मैं अच्छी तरह धारण कर सकूँ और मेरेद्वारा अच्छे ही कार्य होते रहें, वह सब सोचकर आप मुझे कल्याणके मार्गपर लगाइये ॥ ६० ॥

मुनिरुवाच

अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलीकुरु।
ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥ ६१ ॥

मुनिने कहा—राजन्! पहले तो कौएको मारनेका जो अपराध है, इसे प्रकट किये बिना ही एक-एक मन्त्रीको उसका अधिकार छीनकर दुर्बल कर दीजिये। उसके बाद अपराधके कारणका पूरा-पूरा पता लगाकर क्रमशः एक-एक व्यक्तिका वध कर डालिये ॥ ६१ ॥

एकदोषा हि बहवो मृद्नीयुरपि कण्टकान्।
मन्त्रभेदभयाद् राजंस्तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

नरेश्वर! जब बहुत-से लोगोंपर एक ही तरहका दोष लगाया जाता है तो वे सब मिलकर एक हो जाते हैं और उस दशामें वे बड़े-बड़े कण्टकोंको भी मसल डालते हैं, अतः यह गुप्त विचार दूसरोंपर प्रकट न हो जाय, इसी भयसे मैं तुम्हें इस प्रकार एक-एक करके विरोधियोंके वधकी सलाह दे रहा हूँ ॥ ६२ ॥

वयं तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः।
स्वस्ति चेच्छाम भवतः परेषां च यथाऽऽत्मनः॥ ६३ ॥

महाराज! हमलोग ब्राह्मण हैं। हमारा दण्ड भी बहुत कोमल होता है। हम स्वभावसे ही दयालु होते हैं; अतः अपने ही समान आपका और दूसरोंका भी भला चाहते हैं ॥

राजन्नात्मानमाचक्षे सम्बन्धी भवतो ह्यहम्।
मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६४ ॥

राजन्! अब मैं आपको अपना परिचय देता हूँ। मैं आपका सम्बन्धी हूँ। मेरा नाम है कालकवृक्षीय मुनि ॥६४॥

पितुः सखा च भवतः सम्मतः सत्यसङ्गरः।
व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन् पितरि संस्थिते ॥ ६५ ॥
सर्वकामान् परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया।
स्नेहात् त्वां तु ब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥६६॥

मैं आपके पिताका आदरणीय एव सत्यप्रतिज्ञ मित्र हूँ। नरेश्वर! आपके पिताके स्वर्गवास हो जानेके पश्चात् जब आपके राज्यपर भारी संकट आ गया था, तब अपनी समस्त कामनाओंका परित्याग करके मैंने (आपके हितके लिये) तपस्या की थी। आपके प्रति स्नेह होनेके कारण मैं फिर यहाँ आया हूँ और आपको ये सब बातें इसलिये बता रहा हूँ कि आप फिर किसीके चक्करमें न पड़ जायँ ॥ ६५-६६ ॥

उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया।
राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन् प्रमाद्यसि ॥ ६७ ॥

महाराज! आपने सुख और दुःख दोनों देखे हैं। यह राज्य आपको दैवेच्छासे प्राप्त हुआ है तो भी आप इसे केवल मन्त्रियोंपर छोड़कर क्यों भूल कर रहे हैं? ॥ ६७ ॥

ततो राजकुले नान्दी संजज्ञे भूयसा पुनः।
पुरोहितकुले चैव सम्प्राप्ते ब्राह्मणर्षभे ॥ ६८ ॥

तदनन्तर पुरोहितके कुलमें उत्पन्न विप्रवर कालकवृक्षीय मुनिके पुनः आ जानेसे राजपरिवारमें मङ्गलपाठ एवं आनन्दोत्सव होने लगा ॥ ६८ ॥

एकच्छत्रां महीं कृत्वा कौसल्याय यशस्विने।
मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ ६९ ॥

कालकवृक्षीय मुनिने अपने बुद्धिबलसे यशस्वी कोसल-नरेशको भूमण्डलका एकच्छत्र सम्राट् बनाकर अनेक उत्तम यज्ञोंद्वारा यजन किया ॥ ६९ ॥

हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौसल्योऽप्यजयन्महीम्।
तथा च कृतवान् राजा यथोक्तं तेन भारत ॥ ७० ॥

भारत! कोसलराजने भी पुरोहितका हितकारी वचन सुना और उन्होंने जैसा कहा, वैसा ही किया। इससे उन्होंने समस्त भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यपरीक्षायां कालकवृक्षीयोपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रियोंकी परीक्षाके प्रसङ्गमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

सभासद् आदिके लक्षण, गुप्त सलाह सुननेके अधिकारी और अनधिकारी तथा गुप्त-मन्त्रणाकी विधि एवं स्थानका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते।
परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजापालक पितामह ! राजाके सभासद्, सहायक, सुहृद्, परिच्छद (सेनापति आदि) तथा मन्त्री कैसे होने चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषयपर अच्छी तरह प्रवचन करनेमें समर्थ हों, ऐसे ही लोग तुम्हारे सभासद् होने चाहिये ॥

अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान्।
सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु॥ ३ ॥
एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत।

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! मन्त्रियोंको, अत्यन्त शूरवीर पुरुषोंको, विद्वान् ब्राह्मणोंको, पूर्णतया संतुष्ट रहनेवालोंको और सभी कार्योंके लिये उत्साह रखनेवालोंको—इन सब लोगोंको तुम सभी आपत्तियोंके समय सहायक बनानेकी इच्छा करना ॥ ३½ ॥

कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति॥ ४ ॥
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हतमेव वा।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम्॥ ५ ॥

जो कुलीन हो, जिसका सदा सम्मान किया जाय, जो अपनी शक्तिको छिपावे नहीं तथा राजा प्रसन्न हो या अप्रसन्न हो, पीडित हो अथवा हताहत हो, प्रत्येक अवस्थामें जो बारंबार उसका अनुसरण करता हो, वही सुहृद् होने योग्य है ॥ ४-५ ॥

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः॥ ६ ॥

जो उत्तम कुल और अपने ही देशमें उत्पन्न हुए हों, बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुज्ञ, निर्भय और अनुरक्त हों, वे ही तुम्हारे परिच्छद (सेनापति आदि) होने चाहिये ॥ ६ ॥

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः॥ ७ ॥

तात ! जो निन्दित कुलमें उत्पन्न, लोभी, क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे तभीतक तुम्हारी सेवा करेंगे, जबतक उनके हाथ गीले रहेंगे ॥ ७ ॥

कुलीनाञ्शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान्।
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः॥ ८ ॥
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, शीलवान्, इशारे समझनेवाले, निष्ठुरतारहित (दयालु), देश-कालके विधानको समझनेवाले और स्वामीके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि तथा हित चाहनेवाले मनुष्योंको राजा सदा सभी कार्योंके लिये अपना मन्त्री बनावे ॥ ८½ ॥

अर्थमानार्घ्यसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियान्॥ ९ ॥
यानर्थभाजो मन्येथास्ते ते स्युः सुखभागिनः।

तुम जिन्हें अपना प्रिय मानते हो, उन्हें धन, सम्मान, अर्घ्य, सत्कार तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके भोगोंद्वारा संतुष्ट करो, जिससे वे तुम्हारे प्रियजन धन और सुखके भागी हों ॥

अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः।
न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः॥ १० ॥

जिनका सदाचार नष्ट नहीं हुआ है, जो विद्वान्, सदाचारी और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं; जिन्हें सदा तुमसे अभीष्ट वस्तुके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता पड़ती है तथा जो श्रेष्ठ और सत्यवादी हैं, वे कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकते ॥ १० ॥

अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः।
तेभ्यः परिजुगुप्सेथा ये चापि समयच्युताः॥ ११ ॥

जो अनार्य और मन्दबुद्धि हैं, जिन्हें की हुई प्रतिज्ञाके पालनका ध्यान नहीं रहता तथा जो कई बार अपनी प्रतिज्ञासे गिर चुके हैं, उनसे अपनेको सुरक्षित रखनेके लिये तुम्हें सदा सावधान रहना चाहिये ॥ ११ ॥

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत्॥ १२॥

एक ओर एक व्यक्ति हो और दूसरी ओर एक समूह हो तो समूहको छोड़कर एक व्यक्तिको ग्रहण करनेकी इच्छा न करे । परंतु जो एक मनुष्य बहुत मनुष्योंकी अपेक्षा गुणोंमें श्रेष्ठ हो और इन दोनोंमेंसे एकको ही ग्रहण करना पड़े तो ऐसी परिस्थितिमें कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उस एकके लिये समूहको त्याग देना चाहिये ॥ १२ ॥

श्रेयसो लक्षणं चैतद् विक्रमो यस्य दृश्यते।
कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात् समये यश्च तिष्ठति॥ १३ ॥
समर्थान् पूजयेद् यश्च नास्पर्धैः स्पर्धते च यः।
न च कामाद् भयात् क्रोधाल्लोभाद् वा धर्ममुत्सृजेत् १४
अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः।
स ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः॥ १५ ॥

श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण इस प्रकार है—जिसका पराक्रम देखा जाता हो, जिसके जीवनमें कीर्तिकी प्रधानता हो, जो अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहता हो, सामर्थ्यशाली पुरुषोंका सम्मान करता हो, जो स्पर्धाके अयोग्य पुरुषोंसे ईर्ष्या न रखता हो, कामना, भय, क्रोध अथवा लोभसे भी धर्मका

उलङ्घन न करता हो, जिसमें अभिमानका अभाव हो, जो सत्यवान्, क्षमाशील, जितात्मा तथा सम्मानित हो और जिसकी सभी अवस्थाओंमें परीक्षा कर ली गयी हो, ऐसा पुरुष ही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणामें सहायक होना चाहिये ॥

कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान्।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन ! उत्तम कुलमें जन्म होना, सदा श्रेष्ठ कुलके सम्पर्कमें रहना, सहनशीलता, कार्यदक्षता, मनस्विता, शूरता, कृतज्ञता और सत्यभाषण—ये ही श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः।
अमित्राः सम्प्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ १७ ॥

ऐसा बर्ताव करनेवाले विज्ञ पुरुषके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मैत्री स्थापित कर लेते हैं ॥ १७ ॥

अत ऊर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणम्।
संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः ॥ १८ ॥

इसके बाद मनको वशमें रखनेवाला शुद्धबुद्धि और ऐश्वर्यकामी भूपाल अपने मन्त्रियोंके गुण और अवगुणकी परीक्षा करे ॥ १८ ॥

सम्बन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः।
अहार्यैरव्यभीचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ १९ ॥
यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यनहंकृताः।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥

जिनके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध हो, जो अच्छे कुलमें उत्पन्न, विश्वासपात्र, स्वदेशीय, घूस न खानेवाले तथा व्यभिचार दोषसे रहित हों, जिनकी सब प्रकारसे भलीभाँति परीक्षा ले ली गयी हो, जो उत्तम जातिवाले, वेदके मार्गपर चलनेवाले, कई पीढ़ियोंसे राजकीय सेवा करनेवाले तथा अहङ्कारशून्य हों, ऐसे ही लोगोंको अपनी उन्नति चाहनेवाला ऐश्वर्यकामी पुरुष मन्त्री बनावे ॥ १९-२० ॥

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥ २१ ॥
परीक्ष्य च गुणान् नित्यं प्रौढभावान् धुरंधरान्।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थकारिणः ॥ २२ ॥

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धृति और स्थिरता हो, उनके इन गुणोंकी परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्य-भारको सँभालनेमें प्रौढ़ तथा निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमेंसे पाँच व्यक्तियोंको चुनकर अर्थमन्त्री बनावे ॥ २१-२२ ॥

पर्याप्तवचनान् वीरान् प्रतिपत्तिविशारदान्।
कुलीनान् सत्त्वसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ॥ २३ ॥
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजन् कुर्वीत मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो बोलनेमें कुशल, शौर्यसम्पन्न, प्रत्येक बातको ठीक-ठीक समझनेमें निपुण, कुलीन, सत्त्वयुक्त, संकेत समझनेवाले, निष्ठुरतासे रहित (दयालु), देश और कालके विधानको जाननेवाले तथा स्वामीके कार्य एवं हितकी सिद्धि चाहनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको सदा सभी प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये मन्त्री बनाना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

हीनतेजोऽभिसंसृष्टो नैव जातु व्यवस्यति।
अवश्यं जनयत्येव सर्वकर्मसु संशयम् ॥ २५ ॥

तेजोहीन मन्त्रीके सम्पर्कमें रहनेवाला राजा कभी कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकता। वैसा मन्त्री सभी कार्योंमें अवश्य ही संशय उत्पन्न कर देता है ॥ २५ ॥

एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २६॥

इसी प्रकार जो मन्त्री उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी शास्त्रोंका बहुत कम ज्ञान रखता हो, वह धर्म, अर्थ और कामसे संयुक्त होकर भी गुप्त मन्त्रणाकी परीक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यणुषु कर्मसु ॥ २७ ॥

वैसे ही जो अच्छे कुलमें उत्पन्न नहीं है, वह भले ही अनेक शास्त्रोंका विद्वान् हो, किंतु नायकरहित सैनिक तथा नेत्रहीन मनुष्यकी भाँति वह छोटे-छोटे कार्योंमें भी मोहित हो जाता है—कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं कर पाता ॥ २७ ॥

यो वाप्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्म प्रापयितुं चिरम् ॥ २८ ॥

जिसका संकल्प स्थिर नहीं है, वह बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ और उपायोंका जानकार होनेपर भी किसी कार्यको दीर्घकालमें भी पूरा नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

केवलात् पुनरादानात् कर्मणो नोपपद्यते।
परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मतेः ॥२९ ॥

जिसकी बुद्धि खोटी है तथा जिसे शास्त्रोंका बिल्कुल ज्ञान नहीं है, वह केवल मन्त्रीका कार्य हाथमें ले लेनेमात्रसे सफल नहीं हो सकता। विशेष कार्योंके विषयमें उसका दिया हुआ परामर्श युक्तिसंगत नहीं होता है ॥ २९ ॥

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

जिस मन्त्रीका राजाके प्रति अनुराग न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है; अतः अनुरागरहित मन्त्रीके सामने अपने गुप्त विचारको प्रकट न करे ॥ ३० ॥

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ॥ ३१ ॥

वह कपटी मन्त्री यदि गुप्त विचारोंको जान ले तो अन्य मन्त्रियोंके साथ मिलकर राजाको उसी प्रकार पीड़ा देता है, जैसे आग हवासे भरे हुए छेदोंमें घुसकर समूचे वृक्षको भस्म कर डालती है ॥ ३१ ॥

संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति।

वाचाक्षिपति संरब्धः पुनः पश्चात् प्रसीदति ॥ ३२ ॥

राजा एक बार कुपित होकर मन्त्रीको उसके स्थानसे हटा देता है और रोषमें भरकर वाणीद्वारा उसपर आक्षेप भी करता है; परंतु फिर अन्तमें प्रसन्न हो जाता है ॥ ३२ ॥

तानि तान्यनुरक्तेन शक्यानि हि तितिक्षितुम्।
मन्त्रिणां च भवेत् क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ ३३ ॥

राजाके इन सब बर्तावोंको वही मन्त्री सह सकता है, जिसका उसके प्रति अनुराग हो। अनुरागशून्य मन्त्रियोंका क्रोध वज्रपातके समान भयंकर होता है ॥ ३३ ॥

यस्तु संसहते तानि भर्तुः प्रियचिकीर्षया।
समानसुखदुःखं तं पृच्छेदर्थेषु मानवम् ॥ ३४॥

जो मन्त्री स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके उन सभी बर्तावोंको सह लेता है, वही अनुरक्त है। वह राजाके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानता है। ऐसे ही मनुष्यसे राजाको सभी कार्योंमें सलाह पूछनी चाहिये ॥३४॥

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥

जो अनुरक्त हो, अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न हो और बुद्धिमान् हो, वह भी यदि सरल स्वभावका न हो तो राजाकी गुप्त सलाहको सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३५ ॥

योऽमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते।
असुहृत् तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥

जिसका शत्रुओंके साथ सम्बन्ध हो तथा अपने राज्यके नागरिकोंके प्रति जिसकी अधिक आदरबुद्धि न हो, ऐसे मनुष्यको सुहृद् नहीं मानना चाहिये। वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३६ ॥

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३७ ॥

जो मूर्ख, अपवित्र, जड, शत्रुसेवी, बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला, क्रोधी और लोभी है तथा सुहृद् नहीं है, उसको भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकार नहीं है ॥ ३७ ॥

आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
सत्कृतः संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥

जो कोई अनुरक्त, अनेक शास्त्रोंका विद्वान् और सबके द्वारा सम्मानित हो तथा जिसको भलीभाँति भेंट दी गयी हो, वह भी यदि नया आया हुआ हो तो गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है ॥

विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत् पुरा।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके पिताको अधर्माचरणके कारण पहले अपमानपूर्वक निकाल दिया गया हो और उसका वह पुत्र सम्मानपूर्वक पिताके पदपर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो, तो वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३९ ॥

यः स्वल्पेनापि कार्येण सुहृदाक्षारितो भवेत्।
पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४० ॥

जो थोड़े-से भी अनुचित कार्यके कारण दण्डित करके निर्धन कर दिया गया हो, वह सुहृद् एवं अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है ॥४०॥

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४१ ॥

जिसकी बुद्धि तीव्र और धारणाशक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देशमें उत्पन्न, शुद्ध आचरणवाला और विद्वान् हो तथा सब तरहके कार्योंमें परीक्षा करनेपर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४१ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४२ ॥

जो ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, अपने और शत्रुओंके पक्षके लोगोंकी प्रकृतिको परखनेवाला तथा राजाका अपने आत्माके समान अभिन्न सुहृद् हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है॥

सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः।
पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४३ ॥

जो सत्यवादी, शीलवान्, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाववाला तथा बाप-दादोंके समयसे ही राजाकी सेवा करता आया है, वह भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है॥

संतुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः।
मन्त्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४४ ॥

जो संतोषी, सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूरवीर, पापसे घृणा करनेवाला, राजकीय मन्त्रणाको समझनेवाला, समयकी पहचान रखनेवाला तथा शौर्यसम्पन्न है, वह भी गुप्त मन्त्रणाको सुननेकी योग्यता रखता है ॥ ४४ ॥

सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे।
तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! जो राजा चिरकालतक दण्ड धारण करनेकी इच्छा रखता हो, उसे अपनी गुप्त सलाह उसी व्यक्तिको बतानी चाहिये, जो शक्तिशाली हो और सारे जगत्‌को समझा-बुझाकर अपने वशमें कर सकता हो ॥ ४५ ॥

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४६ ॥

नगर और जनपदके लोग जिसपर धर्मतः विश्वास करते हों तथा जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्रका विद्वान् हो, वही गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४६ ॥

तस्मात् सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४७ ॥

इसलिये जो उपर्युक्त सभी गुणोंसे सम्पन्न, सबके द्वारा सम्मानित, प्रकृतिको परखनेवाले तथा महान् पदकी इच्छा रखनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको ही मन्त्रीके पदपर नियुक्त करना चाहिये। राजाके मन्त्रियोंकी संख्या कम-से-कम तीन होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

स्वासु प्रकृतिषुच्छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते॥ ४८॥

अपनी तथा शत्रुकी प्रकृतियोंमें जो दोष या दुर्बलता हो, उनपर मन्त्रियोंको दृष्टि रखनी चाहिये; क्योंकि मन्त्रियोंकी मन्त्रणा (उनकी दी हुई नेक सलाह) ही राजाके राष्ट्रकी जड़ है। उसीके आधारपर राज्यकी उन्नति होती है॥ ४८॥

नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः॥ ४९॥

राजा ऐसा प्रयत्न करे कि उसका छिद्र शत्रु न देख सके; परंतु वह शत्रुकी सारी दुर्बलताओंको जान ले। जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटे रहता है, उसी तरह राजाको भी अपने गुप्त विचारों तथा छिद्रोंको छिपाये रखना चाहिये॥

मन्त्रगूढा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः।
मन्त्रसंहननो राजा मन्त्राङ्गानीतरे जनाः॥ ५०॥

जो बुद्धिमान् मन्त्री हैं, वे राज्यके गुप्त मन्त्रको छिपाये रखते हैं; क्योंकि मन्त्र ही राजाका कवच है और सदस्य आदि दूसरे लोग मन्त्रणाके अङ्ग हैं॥ ५०॥

राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते।
स्वामिनं त्वनुवर्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः॥ ५१॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि राज्यका मूल है गुप्तचर और उसका सार है गुप्त मन्त्रणा। मन्त्रीलोग तो यहाँ अपनी जीविकाके लिये ही राजाका अनुसरण करते हैं॥ ५१॥

संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृताः।
नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः॥ ५२॥

जो मद और क्रोधको जीतकर मान और ईर्ष्यासे रहित हो गये हैं तथा जो कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्मकृत और संकेतजनित—इन पाँचों प्रकारके छलोंको लाँघकर ऊपर उठे हुए हैं, ऐसे मन्त्रियोंके साथ ही राजाको सदा गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये॥ ५२॥

तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं
विबुद्ध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र।
स्वनिश्चयं तं परनिश्चयं च
निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले॥ ५३॥

राजा पहले सदा तीनों मन्त्रियोंकी पृथक्-पृथक् सलाह जानकर उसपर मनोयोगपूर्वक विचार करे। तत्पश्चात् बादमें होनेवाली मन्त्रणाके समय अपने तथा दूसरोंके निश्चयको राजगुरुकी सेवामें निवेदन करे॥ ५३॥

धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्
युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम्।
निष्ठा कृता तेन यदा सहः स्यात्
तं मन्त्रमार्गं प्रणयेदसक्तः॥ ५४॥

राजा सावधान होकर धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता ब्राह्मणगुरुके समीप जा उनका उत्तर जाननेके लिये उनकी राय पूछे। जब वे कोई निर्णय दे दें और वह सब लोगोंको एक मतसे स्वीकार हो जाय, तब राजा दूसरे किसी विचारमें न पड़कर उसी मन्त्रमार्ग (विचारपद्धति) को कार्यरूपमें परिणत करे॥ ५४॥

एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहु-
र्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्चयज्ञाः।
तस्मात् तमेवं प्रणयेत् सदैव
मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थम्॥ ५५॥

मन्त्रतत्त्वके अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सदा इसी तरह मन्त्रणा करे और जो विचार प्रजाको अपने अनुकूल बनानेमें अधिक प्रबल जान पड़े, सर्वदा उसे ही काममें ले॥ ५५॥

न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा
नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकं च।
न चात्र तिर्यक् च पुरो न पश्चा-
न्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत् कथंचित्॥ ५६॥

जहाँ गुप्त विचार किया जाता हो, वहाँ या उसके अगल-बगल, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे भी किसी तरह बौने, कुबड़े, दुबले, लँगड़े, अन्धे, गूँगे, स्त्री और हीजड़े—ये न आने पावें॥ ५६॥

आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं
स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनम्।
वागङ्गदोषान् परिहृत्य सर्वान्
सम्मन्त्रयेत् कार्यमहीनकालम्॥ ५७॥

महलके ऊपरी मंजिलपर चढ़कर अथवा सूने एवं खुले हुए समतल मैदानमें जहाँ कुश-कास—घास-पात बढ़े हुए न हों, ऐसी जगह बैठकर वाणी और शरीरके सारे दोषोंका परित्याग करके उपयुक्त समयमें भावी कार्यके सम्बन्धमें गुप्त विचार करना चाहिये॥ ५७॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सभ्यादिलक्षणकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सभासद् आदिके लक्षणोंका कथनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८३॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

इन्द्र और बृहस्पतिके संवादमें सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन बोलनेका महत्त्व

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादं शक्रस्य च युधिष्ठिर॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस विषयमें मनस्वी पुरुष इन्द्र और बृहस्पतिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, वह सुनो॥ १॥

शक्र उवाच

किं स्विदेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ २॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन्! वह कौन-सी ऐसी एक वस्तु है, जिसका नाम एक ही पदका है और जिसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ २॥

बृहस्पतिरुवाच

सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ ३॥

बृहस्पतिजीने कहा—इन्द्र! जिसका नाम एक ही पदका है, वह एकमात्र वस्तु है सान्त्वना (मधुर वचन बोलना)। उसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम्।
आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा॥ ४॥

शक्र! यही एक वस्तु सम्पूर्ण जगत्के लिये सुखदायक है। इसको आचरणमें लानेवाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियोंका प्रिय होता है॥ ४॥

यो हि नाभाषते किंचित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः।
द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन्॥ ५॥

जो मनुष्य सदा भौंहें टेढ़ी किये रहता है, किसीसे कुछ बातचीत नहीं करता, वह शान्त भाव (मृदुभाषी होनेके गुण) को न अपनानेके कारण सब लोगोंके द्वेषका पात्र हो जाता है॥

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति॥ ६॥

जो सभीको देखकर पहले ही बात करता है और सबसे मुसकराकर ही बोलता है, उसपर सब लोग प्रसन्न रहते हैं॥

दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितम्।
न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम्॥ ७॥

जैसे बिना व्यञ्जन (साग-दाल आदि) का भोजन मनुष्यको संतुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार मधुर वचन बोले बिना दिया हुआ दान भी प्राणियोंको प्रसन्न नहीं कर पाता है॥ ७॥

आदानादपि भूतानां मधुरामीरयन् गिरम्।
सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे॥ ८॥

शक्र! मधुर वचन बोलनेवाला मनुष्य लोगोंकी कोई वस्तु लेकर भी अपनी मधुर वाणीद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को वशमें कर लेता है॥ ८॥

तस्मात् सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सतोऽपि हि।
फलं च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः॥ ९॥

अतः किसीको दण्ड देनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको भी उससे सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोलना चाहिये। ऐसा करके वह अपना प्रयोजन तो सिद्ध कर ही लेता है और उससे कोई मनुष्य उद्विग्न भी नहीं होता है॥ ९॥

सुकृतस्य हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च।
सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते॥ १०॥

यदि अच्छी तरहसे सान्त्वनापूर्ण, मधुर एवं स्नेहयुक्त वचन बोला जाय और सदा सब प्रकारसे उसीका सेवन किया जाय तो उसके समान वशीकरणका साधन इस जगत्में निःसंदेह दूसरा कोई नहीं है॥ १०॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः कृतवान् सर्वं यथा शक्रः पुरोधसा।
तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत् समाचर॥ ११॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! अपने पुरोहित बृहस्पतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सब कुछ उसी तरह किया। इसी प्रकार तुम भी इस सान्त्वनापूर्ण वचनको भलीभाँति आचरणमें लाओ॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजाकी व्यावहारिक नीति, मन्त्रिमण्डलका संघटन, दण्डका औचित्य तथा दूत, द्वारपाल, शिरोरक्षक, मन्त्री और सेनापतिके गुण

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र! इस जगत्में राजा किस प्रकार धर्मविशेषके द्वारा प्रजाका पालन करे, जिससे वह लोगोंका प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके?॥ १॥

भीष्म उवाच

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकावाप्नोत्युभौ शुचिः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो राजा बाहर-भीतरसे पवित्र रहकर शुद्ध व्यवहारसे प्रजापालनमें तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके इहलोक और परलोक दोनोंको

सुधार लेता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशैर्व्यवहारैस्तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः ।
एतत्पृष्टो महाप्राज्ञ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामते ! राजाको किस-किस प्रकारके लोगोंसे किस-किस प्रकारका बर्ताव काममें लाना चाहिये ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत्‌रूपसे समाधान करें॥

ये चैव पूर्वं कथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति ।
नैकस्मिन् पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

मेरी तो ऐसी मान्यता है कि पहले आपने पुरुषके लिये जिन गुणोंका वर्णन किया है, वे सब किसी एक पुरुषमें नहीं मिल सकते ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमन् ।
दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ ! परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर ! तुम जैसा कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है । वस्तुतः इन सभी शुभ गुणोंसे सम्पन्न किसी एक पुरुषका मिलना कठिन है ॥ ५ ॥

किंतु संक्षेपतः शीलं प्रयत्नेनेह दुर्लभम् ।
वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि । ६ ।

इसलिये तुम जिस भावसे जैसे मन्त्रियोंको संगठित करोगे अर्थात् करना चाहते हो, उनका दुर्लभ शील-स्वभाव जैसा होना चाहिये—इस बातको मैं प्रयत्नपूर्वक संक्षेपसे बताऊँगा॥६॥

चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकाञ्शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥ ७ ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥ ८ ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ १० ॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि जो वेदविद्याके विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतरसे शुद्ध एवं स्नातक हों, ऐसे चार ब्राह्मण, शरीरसे बलवान् तथा शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धन-धान्यसे सम्पन्न इक्कीस वैश्य, पवित्र आचार-विचारवाले तीन विनयशील शूद्र तथा आठ गुणोंसे युक्त[1] एवं पुराणविद्याको जाननेवाला एक सूत जातिका मनुष्य—इन सब लोगोंका एक मन्त्रिमण्डल बनावे । उस सूतकी अवस्था लगभग पचास वर्षकी हो और वह निर्भीक, दोषदृष्टिसे रहित, श्रुतियों और स्मृतियोंके ज्ञानसे सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादीके मामलोंका निपटारा करनेमें समर्थ, लोभरहित और अत्यन्त भयंकर सात प्रकारके दुर्व्यसनोंसे[2] बहुत दूर रहनेवाला हो । ऐसे आठ मन्त्रियोंके बीचमें राजा गुप्त मन्त्रणा करे ॥ ७–११ ॥

ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ १२ ॥

इन सबकी रायसे जो बात निश्चित हो, उसको देशमें प्रचारित करे और राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकको इसका ज्ञान करा दे । युधिष्ठिर ! इस प्रकारके व्यवहारसे तुम्हें सदा प्रजावर्गकी देख-रेख करनी चाहिये ॥ १२ ॥

न चापि गूढं द्रव्यं ते ग्राह्यं कार्योपघातकम् ।
कार्ये खलु विपन्ने त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत् ॥ १३ ॥

राजन् ! तुमको किसीका कोई गुप्त धन ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह तुम्हारे कर्तव्य—न्यायधर्मका नाश करनेवाला होगा । यदि कहीं वास्तवमें तुम्हारे न्यायधर्मका नाश हुआ तो वह अधर्म तुम्हें और तुम्हारे मन्त्रियोंको बड़े कष्टमें डाल देगा ॥ १३ ॥

विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात् पक्षिगणा इव ।
परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १४ ॥

फिर तो तुम्हें अन्यायी मानकर राष्ट्रकी सारी प्रजा तुमसे उसी प्रकार दूर भागेगी, जैसे बाज पक्षीके डरसे दूसरे पक्षी भागते हैं तथा जैसे टूटी हुई नाव समुद्रमें कहाँकी कहाँ बह जाती है, उसी प्रकार प्रजा धीरे-धीरे तुम्हारा राज्य छोड़कर अन्यत्र चली जायगी ॥ १४ ॥

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं सम्भवति स्वर्गश्चास्य विरुद्ध्यते ॥ १५ ॥

जो राजा अन्याय एवं अधर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसके हृदयमें भय बना रहता है तथा उसका परलोक भी बिगड़ जाता है ॥ १५ ॥

अथ योऽधर्मतः पाति राजामात्योऽथ वाऽऽत्मजः।
धर्मासने संनियुक्तो धर्ममूले नरर्षभ ॥ १६ ॥
कार्येष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः ।
आत्मानं पुरतः कृत्वा यान्त्यधः सहपार्थिवाः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! धर्म ही जिसकी जड़ है, उस धर्मासन अथवा न्यायासनपर बैठकर जो राजा, मन्त्री अथवा राजकुमार धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा नहीं करता तथा राजाका अनुसरण

---

१. सेवा करनेको सदा तैयार रहना, कही हुई बातको ध्यानसे सुनना, उसे ठीक-ठीक समझना, याद रखना, किस कार्यका कैसा परिणाम होगा—इसपर तर्क करना, यदि अमुक प्रकारसे कार्य सिद्ध न हुआ तो क्या करना चाहिये ?—इस तरह वितर्क करना, शिल्प और व्यवहारकी जानकारी रखना और तत्त्वका बोध होना—ये आठ गुण पौराणिक सूतमें होने चाहिये ।

२. शिकार, जूआ, परस्त्रीप्रसंग और मदिरापान—ये चार कामजनित दोष और मारना, गाली बकना तथा दूसरेकी चीज खराब कर देना—ये तीन क्रोधजनित दोष मिलकर सात दुर्व्यसन माने गये हैं ।

करनेवाले राज्यके दूसरे अधिकारी भी यदि अपनेको सामने रखकर प्रजाके साथ उचित बर्ताव नहीं करते हैं तो वे राजाके साथ ही स्वयं भी नरकमें गिर जाते हैं ॥ १६–१७ ॥

बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं बहु जल्पताम् ।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् ॥ १८ ॥

बलवानोंके बलात्कार (अत्याचार) से पीड़ित हो अत्यन्त दीनभावसे पुकार मचाते हुए अनाथ मनुष्योंको आश्रय देनेवाला उनका संरक्षक या स्वामी राजा ही होता है ॥१८॥

ततः साक्षिबलं साधु द्वैधवादकृतं भवेत् ।
असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद् विशेषतः ॥ १९ ॥

जब कोई अभियोग उपस्थित हो और उसमें उभय पक्षद्वारा दो प्रकारकी बातें कही जायँ, तब उसमें यथार्थताका निर्णय करनेके लिये साक्षीका बल श्रेष्ठ माना गया है (अर्थात् मौकेका गवाह बुलाकर उससे सच्ची बात जाननेका प्रयत्न करना चाहिये)। यदि कोई गवाह न हो तथा उस मामलेकी पैरवी करनेवाला कोई मालिक-मुख्तार न दिखायी दे तो राजाको स्वयं ही विशेष प्रयत्न करके उसकी छानबीन करनी चाहिये ॥ १९ ॥

अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु धारयेत् ।
वियोजयेद् धनैर्ऋद्धानधनानथ बन्धनैः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् अपराधियोंको अपराधके अनुरूप दण्ड देना चाहिये । अपराधी धनी हो तो उसको उसकी सम्पत्तिसे वञ्चित कर दे और निर्धन हो तो उसे बन्दी बनाकर कारागारमें डाल दे ॥ २० ॥

विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥ २१ ॥

जो अत्यन्त दुराचारी हों, उन्हें मार-पीटकर भी राजा राह-पर लानेका प्रयत्न करे तथा जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें मीठी वाणीसे सान्त्वना देते हुए सुख-सुविधाकी वस्तुएँ अर्पित करके उनका पालन करे ॥ २१ ॥

राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत् ।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरिकस्य च ॥ २२ ॥

जो राजाका वध करनेकी इच्छा करे, जो गाँव या घरमें आग लगावे, चोरी करे अथवा व्यभिचारद्वारा वर्ण-संकरता फैलानेका प्रयत्न करे, ऐसे अपराधीका वध अनेक प्रकारसे करना चाहिये ॥ २२ ॥

सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते ।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! जो भलीभाँति विचार करके अपराधीको उचित दण्ड देता है और अपने कर्त्तव्यपालनके लिये सदा उद्यत रहता है, उस राजाको वध और बन्धनका पाप नहीं लगता, अपितु उसे सनातन धर्मकी ही प्राप्ति होती है॥२३॥

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः ।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥ २४ ॥

जो अज्ञानी नरेश बिना विचारे स्वेच्छापूर्वक दण्ड देता है, वह इस लोकमें तो अपयशका भागी होता है और मरनेपर नरकमें पड़ता है ॥ २४ ॥

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥ २५ ॥

राजा दूसरेके अपराधपर दूसरोंको दण्ड न दे, बल्कि शास्त्रके अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होता हो तो अपराधीको कैद करे और सिद्ध न होता हो तो उसे मुक्त कर दे ॥ २५ ॥

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह ॥ २६ ॥

राजा कभी किसी आपत्तिमें भी किसीके दूतकी हत्या न करे । दूतका वध करनेवाला नरेश अपने मन्त्रियोंसहित नरकमें गिरता है ॥ २६ ॥

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
यो हन्यात् पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २७ ॥

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला जो राजा अपने स्वामीके कथनानुसार यथार्थ बातें कहनेवाले दूतको मार डालता है, उसके पितरोंको भ्रूणहत्याके फलका भोग करना पड़ता है ॥ २७ ॥

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः॥२८॥

राजाके दूतको कुलीन, शीलवान्, वाचाल, चतुर, प्रिय वचन बोलनेवाला, संदेशको ज्यों-का-त्यों कह देनेवाला तथा स्मरणशक्तिसे सम्पन्न—इस प्रकार सात गुणोंसे युक्त होना चाहिये ॥ २८ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतिहारोऽस्य रक्षिता ।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥ २९ ॥

राजाके द्वारकी रक्षा करनेवाले प्रतीहारी (द्वारपाल) में भी ये ही गुण होने चाहिये । उसका शिरोरक्षक (अथवा अङ्गरक्षक) भी इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ २९ ॥

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सांधिविग्रहिको भवेत् ।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥ ३० ॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते ।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥

सन्धि-विग्रहके अवसरको जाननेवाला, धर्मशास्त्रका तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान्, धीर, लज्जावान्, रहस्यको गुप्त रखनेवाला, कुलीन, साहसी तथा शुद्ध हृदयवाला मन्त्री ही उत्तम माना जाता है । सेनापति भी इन्हीं गुणोंसे युक्त होना चाहिये॥ ३०-३१॥

व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥ ३२ ॥

इनके सिवा वह व्यूहरचना (मोर्चाबंदी), यन्त्रोंके प्रयोग तथा नाना प्रकारके अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलाका तत्त्वज्ञ—विशेष जानकार हो, पराक्रमी हो, सर्दी,

गर्मी, आँधी और वर्षाके कष्टको धैर्यपूर्वक सहनेवाला तथा शत्रुओंके छिद्रको समझनेवाला हो ॥ ३२ ॥

विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

राजा दूसरोंके मनमें अपने ऊपर विश्वास पैदा करे; परंतु स्वयं किसीका भी विश्वास न करे। राजेन्द्र! अपने पुत्रोंपर भी पूरा-पूरा विश्वास करना अच्छा नहीं माना गया है ॥ ३३ ॥

एतच्छास्त्रार्थतत्त्वं तु मयाऽऽख्यातं तवानघ।
अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परममुच्यते ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर! यह नीतिशास्त्रका तत्त्व है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है। किसीपर भी पूरा विश्वास न करना नरेशोंका परम गोपनीय गुण बताया जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यविभागे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रीविभागविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजाके निवासयोग्य नगर एवं दुर्गका वर्णन, उसके लिये प्रजापालनसम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वीजनोंके समादरका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! राजाको स्वयं कैसे नगरमें निवास करना चाहिये? वह पहलेसे बनी हुई राजधानीमें रहे या नये नगरका निर्माण कराकर उसमें निवास करे, यह मुझे बताइये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत! कुन्तीनन्दन! पुत्र, कुटुम्बीजन तथा बन्धुवर्गके साथ राजा जिस नगरमें निवास करे, उसमें जीवन-निर्वाह तथा रक्षाकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें तुम्हारा प्रश्न करना न्यायसङ्गत है ॥ २ ॥

तस्मात् ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥ ३ ॥

इसलिये मैं तुम्हारे समक्ष दुर्गनिर्माणकी क्रियाका विशेषरूपसे वर्णन करूँगा। तुम इस विषयको सुनकर वैसा ही करना और प्रयत्नपूर्वक दुर्गका निर्माण कराना ॥ ३ ॥

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।
सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत् ॥ ४ ॥

जहाँ सब प्रकारकी सम्पत्ति प्रचुरमात्रामें भरी हुई हो तथा जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छः प्रकारके दुर्गोंका आश्रय लेकर राजाको नये नगर बसाने चाहिये ॥ ४ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥

उन छहों दुर्गोंके नाम इस प्रकार हैं—धन्वदुर्ग[1], महीदुर्ग[2], गिरिदुर्ग[3], मनुष्यदुर्ग[4], जलदुर्ग[5] तथा वनदुर्ग[6] ॥ ५ ॥

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ६ ॥
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः ॥ ७ ॥
ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम्।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥ ९ ॥
समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजितदैवतम्।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ॥ १० ॥

जिस नगरमें इनमेंसे कोई-न-कोई दुर्ग हो, जहाँ अन्न और अस्त्र-शस्त्रोंकी अधिकता हो, जिसके चारों ओर मजबूत चहारदीवारी और गहरी एवं चौड़ी खाई बनी हो, जहाँ हाथी, घोड़े और रथोंकी बहुतायत हो, जहाँ विद्वान् और कारीगर बसे हों, जिस नगरमें आवश्यक वस्तुओंके संग्रहसे भरे हुए कई भंडार हों, जहाँ धार्मिक तथा कार्यकुशल मनुष्योंका निवास हो, जो बलवान् मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे सम्पन्न हो, चौराहे तथा बाजार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हों, जहाँका न्याय-विचार एवं न्यायालय सुप्रसिद्ध हो,

१. धन्वदुर्गका दूसरा नाम मरुदुर्ग भी है। जिसके चारों ओर बालूका घेरा हो, उस किलेको धन्वदुर्ग कहते हैं।

२. समतल जमीनके अंदर बना हुआ किला या तहखाना महीदुर्ग कहलाता है।

३. पर्वतशिखरपर बना हुआ वह किला जो चारों ओरसे उत्तुंग पर्वतमालाओंद्वारा घिरा हुआ हो, गिरिदुर्ग कहलाता है।

४. फौजी किलेका ही नाम मनुष्यदुर्ग है।

५. जिसके चारों ओर जलका घेरा हो, वह जल-दुर्ग कहलाता है।

६. जो स्थान कटवाँसी आदिके घने जंगलोंसे घिरा हुआ हो, उसे वनदुर्ग कहा गया है।

जो सब प्रकारसे शान्तिपूर्ण हो, जहाँ कहींसे कोई भय या उपद्रव न हो, जिसमें रोशनीका अच्छा प्रबन्ध हो, संगीत और वाद्योंकी ध्वनि होती रहती हो, जहाँका प्रत्येक घर सुन्दर और सुप्रशस्त हो, जिसमें बड़े-बड़े शूरवीर और धनाढ्य लोग निवास करते हों, वेदमन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती हो तथा जहाँ सदा ही सामाजिक उत्सव और देवपूजनका क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगरके भीतर अपने वशमें रहनेवाले मन्त्रियों तथा सेनाके साथ राजाको स्वयं निवास करना चाहिये ॥ ६–१० ॥

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि वह उस नगरमें कोष, सेना, मित्रोंकी संख्या तथा व्यवहारको बढ़ावे। नगर तथा बाहरके ग्रामोंमें सभी प्रकारके दोषोंको दूर करे॥ ११ ॥

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत् ।
निचयान् वर्धयेत् सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥ १२ ॥

अन्नभण्डार तथा अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहालयको प्रयत्नपूर्वक बढ़ावे, सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहालयोंकी भी वृद्धि करे, यन्त्रों तथा अस्त्र-शस्त्रोंके कारखानोंकी उन्नति करे ॥ १२ ॥

काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान् ।
मज्जा स्नेहवसा क्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥
शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा ।
चर्म स्नायुं तथा वेत्रं मुञ्जबल्वजबन्धनान् ॥ १४ ॥

काठ, लोहा, धानकी भूसी, कोयला, बाँस, लकड़ी, सींग, हड्डी, मज्जा, तेल, घी, चरबी, शहद, औषधसमूह, सन, राल, धान्य, अस्त्र-शस्त्र, बाण, चमड़ा, ताँत, बेंत तथा मूँज और बल्वजकी रस्सी आदि सामग्रियोंका संग्रह रक्खे ॥ १३–१४ ॥

आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिलाकराः ।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥ १५ ॥

जलाशय (तालाब, पोखरे आदि), उदपान (कुँए बावड़ी आदि), प्रचुर जलराशिसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब तथा दूधवाले वृक्ष—इन सबकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विक्पुरोहिताः ।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ॥ १६ ॥

आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित और महान् धनुर्धरोंका तथा घर बनानेवालोंका, वर्षफल बतानेवाले ज्यौतिषियोंका और वैद्योंका यत्नपूर्वक सत्कार करे ॥ १६ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः ।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥

विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कार्यकुशल, शूर, बहुज्ञ, कुलीन तथा साहस और धैर्यसे सम्पन्न पुरुषोंको यथा-योग्य समस्त कर्मोंमें लगावे ॥ १७ ॥

पूजयेद् धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान् ।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥ १८ ॥

राजाको चाहिये कि धार्मिक पुरुषोंका सत्कार करे और पापियोंको दण्ड दे। वह सभी वर्णोंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मोंमें लगावे ॥ १८ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा ।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

गुप्तचरोंद्वारा नगर तथा छोटे ग्रामोंके बाहरी और भीतरी समाचारोंको अच्छी तरह जानकर फिर उसके अनुसार कार्य करे ॥ १९ ॥

चरान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

गुप्तचरोंसे मिलने, गुप्त सलाह करने, खजानेकी जाँच-पड़ताल करने तथा विशेषतः अपराधियोंको दण्ड देनेका कार्य राजा स्वयं करे; क्योंकि इन्हींपर सारा राज्य प्रतिष्ठित है ॥ २० ॥

उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम् ।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥

राजाको गुप्तचररूपी नेत्रोंके द्वारा देखकर सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये कि मेरे शत्रु, मित्र तथा तटस्थ व्यक्ति नगर और छोटे ग्रामोंमें कब क्या करना चाहते हैं ? ॥ २१ ॥

ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः ।
भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥ २२ ॥

उनकी चेष्टाएँ जान लेनेके पश्चात् उनके प्रतीकारके लिये सारा कार्य बड़ी सावधानीके साथ करना चाहिये । राजाको उचित है कि वह अपने भक्तोंका सदा आदर करे और द्वेष रखनेवालोंको कैद कर ले ॥ २२ ॥

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया ।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥ २३ ॥

उसे प्रतिदिन नाना प्रकारके यज्ञ करना तथा दूसरोंको कष्ट न पहुँचाते हुए दान देना चाहिये । वह प्रजाजनोंकी रक्षा करे और कोई भी कार्य ऐसा न करे, जिससे धर्ममें बाधा आती हो ॥ २३ ॥

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥

दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेम एवं जीविकाका सदा ही प्रबन्ध करे ॥ २४ ॥

आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपहरेद् राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥ २५ ॥

राजा आश्रमोंमें यथासमय वस्त्र, बर्तन और भोजन आदि सामग्री सदा ही भेजा करे तथा सबको सत्कार, पूजन एवं सम्मानपूर्वक वे वस्तुएँ अर्पित करे ॥ २५ ॥

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥ २६ ॥

अपने राज्यमें जो तपस्वी हों, उन्हें अपने शरीरसम्बन्धी, सम्पूर्ण कार्यसम्बन्धी तथा राष्ट्रसम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे और उनके सामने सदा विनीतभावसे रहे ॥ २६ ॥

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥ २७ ॥

जिसने सम्पूर्ण स्वार्थोंका परित्याग कर दिया है, ऐसे कुलीन एवं बहुश्रुत विद्वान् तपस्वीको देखकर राजा शय्या, आसन और भोजन देकर उसका सम्मान करे ॥ २७ ॥

तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्यांश्चिदापदि ।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥ २८ ॥

कैसी भी आपत्तिका समय क्यों न हो ? राजाको तो तपस्वीपर विश्वास करना ही चाहिये; क्योंकि चोर और डाकू भी तपस्वी महात्माओंपर विश्वास करते हैं ॥ २८ ॥

तस्मिन् निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च ।
न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥

राजा उस तपस्वीके निकट अपने धनकी निधियोंको रखे और उससे सलाह भी लिया करे; परंतु बार-बार उसके पास जाना-आना और उसका सङ्ग न करे तथा उसका अधिक सम्मान भी न करे (अर्थात् गुप्तरूपसे ही उसकी सेवा और सम्मान करे। लोगोंपर इस बातको प्रकट न होने दे) ॥ २९ ॥

अन्यः कार्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः ।
अटवीषु परः कार्यः सामन्तनगरेष्वपि ॥ ३० ॥

राजा अपने राज्यमें, दूसरोंके राज्योंमें, जंगलोंमें तथा अपने अधीन राजाओंके नगरोंमें भी एक-एक भिन्न-भिन्न तपस्वीको अपना सुहृद् बनाये रक्खे ॥ ३० ॥

तेषु सत्कारमानाभ्यां संविभागांश्च कारयेत् ।
परराष्ट्राटवीस्थेषु यथा स्वविषये तथा ॥ ३१ ॥

उन सबको सत्कार और सम्मानके साथ आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे। जैसे अपने राज्यके तपस्वीका आदर करे, वैसे ही दूसरे राज्यों तथा जंगलोंमें रहनेवाले तापसोंका भी सम्मान करना चाहिये ॥ ३१ ॥

ते कस्यांश्चिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने ।
राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ॥ ३२ ॥

वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शरणार्थी राजाको किसी भी अवस्थामें इच्छानुसार शरण दे सकते हैं ॥

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः ।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार राजाको स्वयं जैसे नगरमें निवास करना चाहिये, उसका लक्षण मैंने यहाँ संक्षेपसे बताया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गपरीक्षायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गपरीक्षाविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिके उपाय

युधिष्ठिर उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! अब मैं यह अच्छी तरह जानना चाहता हूँ कि राष्ट्रकी रक्षा तथा उसकी वृद्धि किस प्रकार हो सकती है, अतः आप इसी विषयका वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! अब मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिका सारा रहस्य बता रहा हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथा परः ।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥

एक गाँवका, दस गाँवोंका, बीस गाँवोंका, सौ गाँवोंका तथा हजार गाँवोंका अलग-अलग एक-एक अधिपति बनाना चाहिये ॥ ३ ॥

ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥ ४ ॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने ।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥ ५ ॥

गाँवके स्वामीका यह कर्तव्य है कि वह गाँववालोंके मामलोंका तथा गाँवमें जो-जो अपराध होते हों, उन सबका वहीं रहकर पता लगावे और उनका पूरा विवरण दस गाँवके अधिपतिके पास भेजे। इसी तरह दस गाँवोंवाला बीस गाँव-वालेके पास और बीस गाँवोंवाला अपने अधीनस्थ जनपदके लोगोंका सारा वृत्तान्त सौ गाँववाले अधिकारीको सूचित करे। (फिर सौ गाँवोंका अधिकारी हजार गाँवोंके अधिपतिको अपने अधिकृत क्षेत्रोंकी सूचना भेजे । इसके बाद हजार

गाँवोंका अधिपति स्वयं राजाके पास जाकर अपने यहाँ आये हुए सभी विवरणोंको उसके सामने प्रस्तुत करे)॥ ४-५ ॥

यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नुयात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥ ६ ॥

गाँवोंमें जो आय अथवा उपज हो, वह सब गाँवका अधिपति अपने ही पास रखे (तथा उसमेंसे नियत अंशका वेतनके रूपमें उपभोग करे) । उसीमेंसे नियत वेतन देकर उसे दस गाँवोंके अधिपतिका भी भरण पोषण करना चाहिये, इसी तरह दस गाँवके अधिपतिको भी बीस गाँवोंके पालकका भरण-पोषण करना उचित है ॥ ६ ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥ ७ ॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत ।

जो सत्कारप्राप्त व्यक्ति सौ गाँवोंका अध्यक्ष हो, वह एक गाँवकी आमदनीको उपभोगमें ला सकता है । भरतश्रेष्ठ ! वह गाँव बहुत बड़ी बस्तीवाला, मनुष्योंसे भरपूर और धन-धान्यसे सम्पन्न हो । भरतनन्दन ! उसका प्रबन्ध राजाके अधीनस्थ अनेक अधिपतियोंके अधिकारमें रहना चाहिये ॥ ७½ ॥

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ॥ ८ ॥
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसङ्गतः ।

सहस्र गाँवका श्रेष्ठ अधिपति एक शाखानगर (कस्बे) की आय पानेका अधिकारी है । उस कस्बेमें जो अन्न और सुवर्णकी आय हो, उसके द्वारा वह इच्छानुसार उपभोग कर सकता है । उसे राष्ट्रवासियोंके साथ मिलकर रहना चाहिये ॥ ८½ ॥

तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्॥ ९ ॥
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् तत्पश्येदतन्द्रितः ।

इन अधिपतियोंके अधिकारमें जो युद्धसम्बन्धी तथा गाँवोंके प्रबन्धसम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों, उनकी देखभाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करे ॥ ९½ ॥

नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥ १० ॥
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः ।
भवेत् स तान् परिक्रामेत् सर्वानेव सभासदः ॥११ ॥

अथवा प्रत्येक नगरमें एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये, जो सभी कार्योंका चिन्तन और निरीक्षण कर सके । जैसे कोई भयंकर ग्रह आकाशमें नक्षत्रोंके ऊपर स्थित हो परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार वह अधिकारी उच्चतम स्थानपर प्रतिष्ठित होकर उन सभी सभासद् आदिके निकट परिभ्रमण करे और उनके कार्योंकी जाँच-पड़ताल करता रहे ॥१०-११॥

तेषां वृत्तिं परिणयेत् कश्चिद् राष्ट्रेषु तच्चरः ।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ॥ १२ ॥
रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ।

उस निरीक्षकका कोई गुप्तचर राष्ट्रमें घूमता रहे और सभासद् आदिके कार्य एवं मनोभावको जानकर उसके पास सारा समाचार पहुँचाता रहे । रक्षाके कार्यमें नियुक्त हुए अधिकारी लोग प्रायः हिंसक स्वभावके हो जाते हैं । वे दूसरोंकी बुराई चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराये धनका अपहरण कर लेते हैं । ऐसे लोगोंसे वह सर्वार्थचिन्तक अधिकारी इस सारी प्रजाकी रक्षा करे ॥ १२½ ॥

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ॥ १३ ॥
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ।

राजाको मालकी खरीद—बिक्री, उसके मँगानेका खर्च, उसमें काम करनेवाले नौकरोंके वेतन, बचत और योग-क्षेमके निर्वाहकी ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियोंपर कर लगाना चाहिये ॥ १३½ ॥

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्॥ १४ ॥
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ।

इसी तरह मालकी तैयारी, उसकी खपत तथा शिल्पकी उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियोंका बार-बार निरीक्षण करके शिल्प एवं शिल्पकारोंपर कर लगावे ॥ १४½ ॥

उच्चावचकरा दाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर ॥ १५ ॥
यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ।
फलं कर्म च सम्प्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! महाराजको चाहिये कि वह लोगोंकी हैसियतके अनुसार भारी और हल्का कर लगावे । भूपालको उतना ही कर लेना चाहिये, जितनेसे प्रजा संकटमें न पड़ जाय । उनका कार्य और लाभ देखकर ही सब कुछ करना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित् सम्प्रवर्तते ।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ॥ १७ ॥
संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः ।

लाभ और कर्म दोनों ही यदि निष्प्रयोजन हुए तो कोई भी काम करनेमें प्रवृत्त नहीं होगा । अतः जिस उपायसे राजा और कार्यकर्ता दोनोंको कृषि, वाणिज्य आदि कर्मके लाभका भाग प्राप्त हो, उसपर विचार करके राजाको सदैव करोंका निर्णय करना चाहिये ॥ १७½ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया॥ १८ ॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः ।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥ १९ ॥

अधिक तृष्णाके कारण अपने जीवनके मूल आधार प्रजाओंके जीवनभूत खेती-बारी आदिका उच्छेद न कर डाले । राजा लोभके दरवाजोंको बंद करके ऐसा बने कि उसका दर्शन प्रजामात्रको प्रिय लगे । यदि राजा अधिक शोषण करनेवाला विख्यात हो जाय तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है ॥ १८-१९ ॥

प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम् ।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥ २० ॥

जिससे सब लोग द्वेष करते हों, उसका कल्याण कैसे

हो सकता है ? जो प्रजावर्गका प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उस राजाको चाहिये कि वह गायसे बछड़ेकी तरह राष्ट्रसे धीरे-धीरे अपने उदरकी पूर्ति करे ॥ २० ॥

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! जिस गायका दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक कालतक उसके दूधसे पुष्ट एवं बलवान् हो भारी भार ढोनेका कष्ट सहन कर लेता है; परंतु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया हो, उसका बछड़ा कमजोर होनेके कारण वैसा काम नहीं कर पाता ॥

राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः ॥ २२ ॥
संजातमुपजीवन् स लभते सुमहत् फलम्।

इसी प्रकार राष्ट्रका भी अधिक दोहन करनेसे वह दरिद्र हो जाता है; इस कारण वह कोई महान् कर्म नहीं कर पाता। जो राजा स्वयं रक्षामें तत्पर होकर समूचे राष्ट्रपर अनुग्रह करता है और उसकी प्राप्त हुई आयसे अपनी जीविका चलाता है, वह महान् फलका भागी होता है ॥ २२½ ॥

आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा।

राजाको चाहिये कि वह अपने देशमें लोगोंके पास इकट्ठे हुए धनको आपत्तिके समय काम आनेके लिये बढ़ावे और अपने राष्ट्रको घरमें रक्खा हुआ खजाना समझे ॥ २३½ ॥

पौरजानपदान् सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनानपि ॥ २४ ॥

नगर और ग्रामके लोग यदि साक्षात् शरणमें आये हों या किसीको मध्यस्थ बनाकर उसके द्वारा शरणागत हुए हों, राजा उन सब स्वल्प धनवालोंपर भी अपनी शक्तिके अनुसार कृपा करे ॥ २४ ॥

बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम्।
एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः ॥ २५ ॥

जंगली लुटेरोंको बाह्यजन कहते हैं, उनमें भेद डालकर राजा मध्यमवर्गके ग्रामीण मनुष्योंका सुखपूर्वक उपभोग करे—उनसे राष्ट्रके हितके लिये धन ले, ऐसा करनेसे सुखी और दुःखी दोनों प्रकारके मनुष्य उसपर क्रोध नहीं करते ॥

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
संनिपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥ २६ ॥

राजा पहले ही धन लेनेकी आवश्यकता बताकर फिर अपने राज्यमें सर्वत्र दौरा करे और राष्ट्रपर आनेवाले भयकी ओर सबका ध्यान आकर्षित करे ॥ २६ ॥

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥ २७ ॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥ २८ ॥

वह लोगोंसे कहे—'सज्जनो ! अपने देशपर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रुदलके आक्रमणका महान् भय उपस्थित है। जैसे बाँसमें फलका लगना बाँसके विनाशका ही कारण होता है, उसी प्रकार मेरे शत्रु बहुत-से लुटेरोंको साथ लेकर अपने ही विनाशके लिये उठकर मेरे इस राष्ट्रको सताना चाहते हैं ॥ २७-२८ ॥

अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २९ ॥

'इस घोर आपत्ति और दारुण भयके समय मैं आपलोगोंकी रक्षाके लिये (ऋणके रूपमें) धन माँग रहा हूँ ॥ २९ ॥

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥ ३० ॥

'जब यह भय दूर हो जायगा, उस समय सारा धन मैं आपलोगोंको लौटा दूँगा। शत्रु आकर यहाँसे बलपूर्वक जो धन लूट ले जायँगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे ॥ ३० ॥

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसंचय इष्यते ॥ ३१ ॥

'शत्रुओंका आक्रमण होनेपर आपकी स्त्रियोंपर पहले संकट आयगा। उनके साथ ही आपका सारा धन नष्ट हो जायगा। स्त्री और पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही धनसंग्रहकी आवश्यकता होती है ॥ ३१ ॥

नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३२ ॥

'जैसे पुत्रोंके अभ्युदयसे पिताको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार मैं आपके प्रभावसे—आपलोगोंकी बढ़ती हुई समृद्धि-शक्तिसे आनन्दित होता हूँ। इस समय राष्ट्रपर आये हुए संकटको टालनेके लिये मैं आपलोगोंसे आपकी शक्तिके अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्रवासियोंको किसी प्रकारका कष्ट न हो ॥ ३२ ॥

आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः पुङ्गवैरिव।
न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्याञ्चिदापदि ॥ ३३ ॥

'जैसे बलवान् बैल दुर्गम स्थानोंमें भी बोझ ढोकर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार आपलोगोंको भी देशपर आयी हुई इस आपत्तिके समय कुछ भार उठाना ही चाहिये। किसी विपत्तिके समय धनको अधिक प्रिय मानकर छिपाये रखना आपके लिये उचित न होगा' ॥ ३३ ॥

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद् योगमाधाय कालवित् ॥ ३४ ॥

समयकी गति-विधिको पहचाननेवाले राजाको चाहिये कि वह इसी प्रकार स्नेहयुक्त और अनुनयपूर्ण मधुर वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर उपयुक्त उपायका आश्रय ले अपने पैदल सैनिकों या सेवकोंको प्रजाजनोंके घरपर धनसंग्रहके लिये भेजे ॥ ३४ ॥

प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत् करम्॥ ३५॥

नगरकी रक्षाके लिये चहारदिवारी बनवानी है, सेवकों और सैनिकोंका भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय करने हैं, युद्धके भयको टालना है तथा सबके योग-क्षेमकी चिन्ता करनी है, इन सब बातोंकी आवश्यकता दिखाकर राजा धनवान् वैश्योंसे कर वसूल करे॥ ३५॥

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः।
तस्मात् तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत्॥ ३६॥

यदि राजा वैश्योंके हानि-लाभकी परवा न करके उन्हें करभारसे विशेष कष्ट पहुँचाता है तो वे राज्य छोड़कर भाग जाते और वनमें जाकर रहने लगते हैं; अतः उनके प्रति विशेष कोमलताका बर्ताव करना चाहिये॥ ३६॥

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च॥ ३७॥

कुन्तीनन्दन! वैश्योंको सान्त्वना दे, उनकी रक्षा करे, उन्हें धनकी सहायता दे, उनकी स्थितिको सुदृढ़ रखनेका बारंबार प्रयत्न करे, उन्हें आवश्यक वस्तुएँ अर्पित करे और सदा उनके प्रिय कार्य करता रहे॥ ३७॥

अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा॥ ३८॥

भारत! व्यापारियोंको उनके परिश्रमका फल सदा देते रहना चाहिये; क्योंकि वे ही राष्ट्रके वाणिज्य, व्यवसाय तथा खेतीकी उन्नति करते हैं॥ ३८॥

तस्माद् गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद् विचक्षणः।
दयावानप्रमत्तश्च करान् सम्प्रणयन् मृदून्॥ ३९॥

अतः बुद्धिमान् राजा सदा उन वैश्योंपर यत्नपूर्वक प्रेम-भाव बनाये रखे। सावधानी रखकर उनके साथ दयालुताका बर्ताव करे और उनपर हलके कर लगावे॥ ३९॥

सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं नाम गोमिषु।
न ह्यतः सदृशं किंचिद् वरमस्ति युधिष्ठिर॥ ४०॥

युधिष्ठिर! राजाको वैश्योंके लिये ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वे देशमें सब ओर कुशलपूर्वक विचरण कर सकें। राजाके लिये इससे बढ़कर हितकर काम दूसरा नहीं है॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्त्यादिकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षा आदिका वर्णनविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

प्रजासे कर लेने तथा कोश संग्रह करनेका प्रकार

युधिष्ठिर उवाच

यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते।
कथं प्रवर्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! जब राजा पूर्णतः समर्थ हो—उसपर कोई संकट न आया हो, तो भी यदि वह अपना कोष बढ़ाना चाहे तो उसे किस तरहका उपाय काममें लाना चाहिये, यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

यथादेशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम्।
अनुशिष्यात् प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालकी परिस्थितिका ध्यान रखते हुए अपनी बुद्धि और बलके अनुसार प्रजाके हितसाधनमें संलग्न रहकर उसे अपने अनुशासनमें रखना चाहिये॥ २॥

यथा तासां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च।
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्तयेत्॥ ३॥

जिस प्रकारसे काम करनेपर प्रजाओंकी तथा अपनी भी भलाई समझमें आवे, वैसे ही समस्त कार्योंका राजा अपने राष्ट्रमें प्रचार करे॥ ३॥

मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्॥ ४॥

जैसे भौंरा धीरे-धीरे फूल एवं वृक्षका रस लेता है, वृक्षको काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़ेको कष्ट न देकर धीरे-धीरे गायको दुहता है, उसके थनोंको कुचल नहीं डालता है, उसी प्रकार राजा कोमलताके साथ ही राष्ट्ररूपी गौका दोहन करे, उसे कुचले नहीं॥ ४॥

जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत्॥ ५॥

जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीरका रक्त चूसती है, उसी प्रकार राजा भी कोमलताके साथ ही राष्ट्रसे कर वसूल करे। जैसे बाघिन अपने बच्चेको दाँतसे पकड़कर इधर-उधर ले जाती है; परंतु न तो उसे काटती है और न उसके शरीरमें पीड़ा ही पहुँचने देती है, उसी तरह राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रका दोहन करे॥ ५॥

यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्॥ ६॥

जैसे तीखे दाँतोंवाला चूहा सोये हुए मनुष्यके पैरके मांस-को ऐसी कोमलतासे काटता है कि वह मनुष्य केवल पैरको कम्पित करता है, उसे पीड़ाका ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रसे कर ले, जिससे प्रजा दुखी न हो॥ ६॥

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥ ७॥

वह पहले थोड़ा-थोड़ा कर लेकर फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ावे और उस बढ़े हुए करको वसूल करे। उसके बाद

समयानुसार फिर उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे (ताकि किसीको विशेष भार न जान पड़े) ॥७॥

दमयन्निव दम्यानि शश्वद् भारं विवर्धयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥ ८ ॥

जैसे बछड़ोंको पहले-पहल बोझ ढोनेका अभ्यास करानेवाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है और धीरे-धीरे उनपर अधिक भार लादता ही रहता है, उसी प्रकार प्रजापर भी करका भार पहले कम रक्खे; फिर उसे धीरे-धीरे बढ़ावे ॥८॥

सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः ।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः ॥ ९ ॥

यदि उनको एक साथ नाथकर उनपर भारी भार लादना चाहे तो उन्हें काबूमें लाना कठिन हो जायगा; अतः उचित ढंगसे प्रयत्नपूर्वक एक-एकको नाथकर उन्हें भार ढोनेके उपयोगमें लाना चाहिये । ऐसा करनेसे वे पूरा भार वहन करनेके योग्य हो जायँगे ॥ ९ ॥

तस्मात् सर्वसमारम्भो दुर्लभः पुरुषं प्रति ।
यथामुख्यान् सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः ॥१०॥

अतः राजाके लिये भी सभी पुरुषोंको एक साथ वशमें करनेका प्रयत्न दुष्कर है, इसलिये उसे चाहिये कि प्रधान-प्रधान मनुष्योंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर वशमें कर ले; फिर अन्य साधारण मनुष्योंको यथेष्ट उपयोगमें लाता रहे ॥

ततस्तान् भेदयित्वा तु परस्परविवक्षितान् ।
भुञ्जीत सान्त्वयंश्चैव यथासुखमयत्नतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर उन परस्पर विचार करनेवाले मनुष्योंमें भेद डलवाकर राजा सबको सान्त्वना प्रदान करता हुआ बिना किसी प्रयत्नके सुखपूर्वक सबका उपभोग करे ॥ ११ ॥

न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत् ।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि परिस्थिति और समयके प्रतिकूल प्रजापर करका बोझ न डाले । समयके अनुसार प्रजाको समझा-बुझाकर उचित रीतिसे क्रमशः कर वसूल करे ॥ १२ ॥

उपायान् प्रब्रवीम्येतान् न मे माया विवक्षिता ।
अनुपायेन दमयन् प्रकोपयति वाजिनः ॥१३॥

राजन् ! मैं ये उत्तम उपाय बतला रहा हूँ । मुझे छल-कपट या कूटनीतिकी बात बताना यहाँ अभीष्ट नहीं है । जो लोग उचित उपायका आश्रय न लेकर मनमाने तौरपर घोड़ोंका दमन करना चाहते हैं, वे उन्हें कुपित कर देते हैं (इसी तरह जो अयोग्य उपायसे प्रजाको दबाते हैं, वे उनके मनमें रोष उत्पन्न कर देते हैं) ॥ १३ ॥

पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥१४॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥१५॥

शराबखाना खोलनेवाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओंके दलाल, जुआरी तथा ऐसे ही बुरे पेशे करनेवाले और भी जितने लोग हों, वे समूचे राष्ट्रको हानि पहुँचानेवाले हैं; अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिये । यदि ये राज्यमें टिके रहते हैं तो कल्याणमार्गपर चलनेवाली प्रजाको बड़ी बाधाएँ पहुँचाते हैं ॥ १४-१५ ॥

न केनचिद् याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि ।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥ १६ ॥

मनुजीने बहुत पहलेसे समस्त प्राणियोंके लिये यह नियम बना दिया है कि आपत्तिकालको छोड़कर अन्य समयमें कोई किसीसे कुछ न माँगे ॥ १६ ॥

सर्वे तथानुजीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह ।
सर्व एव इमे लोका न भवेयुरसंशयम् ॥ १७ ॥

यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो सब लोग भीख माँगकर ही गुजारा करते, कोई भी यहाँ कर्म नहीं करता । ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण जगत्के लोग निःसंदेह नष्ट हो जाते ॥१७॥

प्रभुर्नियमने राजा य एतान् न नियच्छति ।
भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ॥ १८ ॥

जो राजा इन सबको नियमके अंदर रखनेमें समर्थ होकर भी इन्हें काबूमें नहीं रखता, वह इनके किये हुए पापका चौथाई भाग स्वयं भोगता है, ऐसा श्रुतिका कथन है॥१८॥

भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथा तथा ।
नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! राजा जैसे प्रजाके पापका चतुर्थांश भोगता है उसी प्रकार पुण्यका भी चतुर्थांश उसे प्राप्त होता है; अतः राजाको चाहिये कि वह सदा पापियोंको दण्ड देकर उन्हें दबाये रक्खे ॥ १९ ॥

कृतपापस्त्वसौ राजा य एतान् न नियच्छति ।
तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते ॥ २० ॥

जो राजा इन पापियोंको नियन्त्रणमें नहीं रखता, वह स्वयं भी पापाचारी माना जाता है तथा जो पापियोंका दमन करता है, वह प्रजाके किये हुए धर्मका चौथाई भाग स्वयं प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

स्थानान्येतानि संयम्य प्रसंगो भूतिनाशनः ।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥ २१ ॥

ऊपर जो मदिरालय तथा वेश्यालय आदि स्थान बताये गये हैं, उनपर रोक लगा देनी चाहिये; क्योंकि इससे काम-विषयक आसक्ति बढ़ती है । जो धन-वैभव तथा कल्याणका नाश करनेवाली है । काममें आसक्त हुआ पुरुष कौन-सा ऐसा न करनेयोग्य काम है, जिसे छोड़ दे ? ॥ २१ ॥

मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च ।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥ २२ ॥

आसक्तिके वशीभूत हुआ मानव मांस खाता, मदिरा पीता और परधन तथा परस्त्रीका अपहरण करता है । साथ ही दूसरोंको भी यही सब करनेका उपदेश देता है ॥ २२ ॥

आपद्येव तु याचन्ते येषां नास्ति परिग्रहः।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद् भयान्न तु ॥ २३ ॥

जिन लोगोंके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, वे यदि आपत्तिके समय ही याचना करें तो उन्हें धर्म समझकर और दया करके ही देना चाहिये, किसी भय या दबावमें पड़कर नहीं ॥ २३ ॥

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २४ ॥

तुम्हारे राज्यमें भिखमंगे और लुटेरे न हों; क्योंकि ये प्रजाके धनको केवल छीननेवाले हैं, उनके ऐश्वर्यको बढ़ानेवाले नहीं हैं ॥ २४ ॥

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २५ ॥

जो सब प्राणियोंपर दया करते और प्रजाकी उन्नतिमें योग देते हैं, वे तुम्हारे राष्ट्रमें निवास करें। जो लोग प्राणियोंका विनाश करनेवाले हैं, वे न रहें ॥ २५ ॥

दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजकाः।
प्रयोगं कारयेयुस्तान् यथाबलिकरांस्तथा ॥ २६ ॥

महाराज! जो राजकर्मचारी उचितसे अधिक कर वसूल करते या कराते हों, वे तुम्हारे हाथसे दण्ड पानेके योग्य हैं। दूसरे अधिकारी आकर उन्हें ठीक-ठीक भेंट या कर लेनेका अभ्यास करावें ॥ २६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम्।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः ॥ २७ ॥

खेती, गोरक्षा, वाणिज्य तथा इस तरहके अन्य व्यवसायोंको जो जिस कर्मको करनेमें कुशल हो, तदनुसार अधिक आदमियोंके द्वारा सम्पन्न कराना चाहिये ॥ २७ ॥

नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः।
संशयं लभते किंचित् तेन राजा विगर्ह्यते ॥ २८ ॥

मनुष्य यदि कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आरम्भ कर दे तथा चोरों और लुटेरोंके आक्रमणसे कुछ-कुछ प्राण-संशयकी-सी स्थितिमें पहुँच जाय तो इससे राजाकी बड़ी निन्दा होती है ॥ २८ ॥

धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह देशके धनी व्यक्तियोंका सदा भोजन-वस्त्र और अन्नपान आदिके द्वारा आदर-सत्कार करे और उनसे विनयपूर्वक कहे, 'आपलोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओंपर कृपादृष्टि रक्खें' ॥ २९ ॥

अङ्गमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन! धनी लोग राष्ट्रके मुख्य अङ्ग हैं। धनवान् पुरुष समस्त प्राणियोंमें प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है॥३०॥

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ ३१ ॥

विद्वान्, शूरवीर, धनी, धर्मनिष्ठ, स्वामी, तपस्वी, सत्यवादी तथा बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजाकी रक्षा करते हैं॥३१॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥ ३२ ॥

अतः भूपाल! तुम समस्त प्राणियोंसे प्रेम रक्खो तथा सत्य, सरलता, क्रोधहीनता और दयालुता आदि सद्धर्मोंका पालन करो ॥ ३२ ॥

एवं दण्डं च कोशं च मित्रं भूमिं च लप्स्यसि।
सत्यार्जवपरो राजन् मित्रकोशबलान्वितः ॥ ३३ ॥

नरेश्वर! ऐसा करनेसे तुम्हें दण्डधारणकी शक्ति, खजाना, मित्र तथा राज्यकी भी प्राप्ति होगी। तुम सत्य और सरलतामें तत्पर रहकर मित्र, कोष और बलसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कोशसंचयप्रकारकथने अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कोशसंग्रहके प्रकारका वर्णनविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८८॥
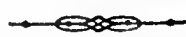
एकोननवतितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन

भीष्म उवाच

वनस्पतीन् भक्ष्यफलान् न च्छिन्द्युर्विषये तव।
ब्राह्मणानां मूलफलं धर्म्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिन वृक्षोंके फल खानेके काम आते हैं, उनको तुम्हारे राज्यमें कोई काटने न पावे, इसका ध्यान रखना चाहिये। मनीषी पुरुष मूल और फलको धर्मतः ब्राह्मणोंका धन बताते हैं। इसलिये भी उनको काटना ठीक नहीं है ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तं च भुञ्जीरन्नितरे जनाः।
न ब्राह्मणापराधेन हरेदन्यः कथंचन ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंसे जो बच जाय, उसीको दूसरे लोग अपने उपभोगमें लावें। ब्राह्मणका अपराध करके अर्थात् उसे भोग्य वस्तु न देकर दूसरा कोई किसी प्रकार भी उसका अपहरण न करे ॥ २ ॥

विप्रश्चेत् त्यागमातिष्ठेदात्मार्थे वृत्तिकर्शितः।
परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात् सदारस्य नराधिप॥ ३ ॥

राजन्! यदि ब्राह्मण अपने लिये जीविकाका प्रबन्ध न होनेसे दुर्बल हो जाय और उस राज्यको छोड़कर अन्यत्र जाने लगे तो राजाका कर्तव्य है कि परिवारसहित उस ब्राह्मणके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे ॥ ३ ॥

स चेन्नोपनिवर्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि।
कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति ॥ ४ ॥

इतनेपर भी यदि वह ब्राह्मण न लौटे तो ब्राह्मणोंके समाजमें जाकर राजा उससे यों कहे—'ब्रह्मन्! यदि आप यहाँसे चले जायँगे तो ये प्रजावर्गके लोग किसके आश्रयमें रहकर धर्ममर्यादाका पालन करेंगे?' ॥ ४ ॥

असंशयं निवर्तेत न चेद् वक्ष्यत्यतः परम्।
पूर्वं परोक्षं कर्तव्यमेतत् कौन्तेय शाश्वतम् ॥ ५ ॥

इतना सुनकर वह निश्चय ही लौट आयेगा। यदि इतनेपर भी वह कुछ न बोले तो राजाको इस प्रकार कहना चाहिये—'भगवन्! मेरे द्वारा जो पहले अपराध बन गये हों, उन्हें आप भूल जायँ' कुन्तीनन्दन! इस प्रकार विनयपूर्वक ब्राह्मणको प्रसन्न करना राजाका सनातन कर्तव्य है ॥ ५ ॥

आहुरेतज्जना नित्यं न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम्।
निमन्त्र्यश्च भवेद् भोगैरवृत्त्या च तदाचरेत् ॥ ६ ॥

लोग कहते हैं कि ब्राह्मणको भोग-सामग्रीका अभाव हो तो उसे भोग अर्पित करनेके लिये निमन्त्रित करे और यदि उसके पास जीविकाका अभाव हो तो उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे, परंतु मैं इस बातपर विश्वास नहीं करता; (क्योंकि ब्राह्मणमें भोगेच्छाका होना सम्भव नहीं है)॥ ६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान् भावयत्युत ॥ ७ ॥

खेती, पशुपालन और वाणिज्य—ये तो इसी लोकमें लोगोंकी जीविकाके साधन हैं; परंतु तीनों वेद ऊपरके लोकोंमें भी रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें हेतु हैं ॥ ७ ॥

तस्यां प्रवर्तमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ ८ ॥

जो लोग उस वेदविद्याके अध्ययनाध्यापनमें अथवा वेदोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें बाधा पहुँचाते हैं, वे डकैत हैं। उन डाकुओंका वध करनेके लिये ही ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ ८ ॥

शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ ९ ॥

नरेश्वर! कौरवनन्दन! तुम शत्रुओंको जीतो, प्रजाकी रक्षा करो, नाना प्रकारके यज्ञ करते रहो और समरभूमिमें वीरतापूर्वक लड़ो ॥ ९ ॥

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित् तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन॥१०॥

जो रक्षा करनेके योग्य पुरुषोंकी रक्षा करता है, वही राजा समस्त राजाओंमें शिरोमणि है। जो रक्षाके पात्र मनुष्योंकी रक्षा नहीं करते, उन राजाओंकी जगत्को कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

सदैव राज्ञा योद्धव्यं सर्वलोकाद् युधिष्ठिर।
तस्माद्धेतोर्हि युञ्जीत मनुष्यानेव मानवः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर! राजाको सब लोगोंकी भलाईके लिये सदा ही युद्ध करना अथवा उसके लिये उद्यत रहना चाहिये। अतः वह मानवशिरोमणि नरेश शत्रुओंकी गतिविधिको जाननेके लिये मनुष्योंको ही गुप्तचर नियत कर दे ॥ ११ ॥

आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालय नित्यदा १२

युधिष्ठिर! जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों, उनसे बाहरी लोगोंकी रक्षा करो और बाहरी लोगोंसे सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियोंको बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियोंकी बाहरके लोगोंसे और समस्त आत्मीयजनोंकी आत्मीयोंसे सदा रक्षा करते रहो ॥ १२ ॥

आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम्।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विदुषो जनाः ॥ १३ ॥

राजन्! तुम सब ओरसे अपनी रक्षा करते हुए ही इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करो; क्योंकि विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि इन सबका मूल अपना सुरक्षित शरीर ही है ॥ १३ ॥

किं छिद्रं को नु सङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम्।
कुतो मामाश्रयेद् दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ॥१४॥

मुझमें कौन-सी दुर्बलता है, किस तरहकी आसक्ति है और कौन-सी ऐसी बुराई है, जो अबतक दूर नहीं हुई है और किस कारणसे मुझपर दोष आता है? इन सब बातोंका राजाको सदा विचार करते रहना चाहिये ॥ १४ ॥

अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ॥ १५ ॥

कलतक मेरा जैसा बर्ताव रहा है, उसकी लोग प्रशंसा करते हैं या नहीं? इस बातका पता लगानेके लिये अपने विश्वासपात्र गुप्तचरोंको पृथ्वीपर सब ओर घुमाते रहना चाहिये ॥ १५ ॥

जानीयुर्यदि ते वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद् रोचेज्जनपदे कच्चिद् राष्ट्रे च मे यशः ॥ १६ ॥

उनके द्वारा यह भी पता लगाना चाहिये कि यदि अबसे लोग मेरे बर्तावको जान लें तो उसकी प्रशंसा करेंगे या नहीं। क्या बाहरके गाँवोंमें और समूचे राष्ट्रमें मेरा यश लोगोंको अच्छा लगता है? ॥ १६ ॥

धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम्।
राष्ट्रे तु येऽनुजीवन्ति ये तु राज्ञोऽनुजीविनः ॥ १७ ॥
अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानां च सर्वशः।
ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथवा पुनः ॥ १८ ॥
सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर! जो धर्मज्ञ, धैर्यवान् और संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर हैं, जो राज्यमें रहकर जीविका चलाते हैं अथवा राजाके आश्रित रहकर जीते हैं तथा जो मन्त्रिगण और तटस्थवर्गके लोग हैं, वे सब तुम्हारी प्रशंसा करें या

निन्दा, तुम्हें सबका सत्कार ही करना चाहिये ॥ १७-१८½ ॥

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम्।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥ १९ ॥

तात ! किसीका कोई भी काम सबको सर्वथा अच्छा ही लगे, ऐसा सम्भव नहीं है। भरतनन्दन ! सभी प्राणियोंके शत्रु, मित्र और मध्यस्थ होते हैं ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानां च गुणैरपि।
कथं स्यादधिकः कश्चित् स च भुञ्जीत मानवान्॥२०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो बाहुबलमें एक समान हैं और गुणोंमें भी एक समान हैं, उनमेंसे कोई एक मनुष्य सबसे अधिक कैसे हो जाता है, जो अन्य सब मनुष्योंपर शासन करने लगता है ? ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

यच्चरा ह्यचरानद्युरदंष्ट्रान् दंष्ट्रिणस्तथा।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजङ्गान् भुजगा इव ॥ २१ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जैसे क्रोधमें भरे हुए बड़े-बड़े विषधर सर्प दूसरे छोटे सर्पोंको खा जाते हैं, जिस प्रकार पैरोंसे चलनेवाले प्राणी न चलनेवाले प्राणियोंको अपने उपभोगमें लाते हैं और दाढ़वाले जन्तु बिना दाढ़वाले जीवोंको अपना आहार बना लेते हैं (उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्योंपर एक सबल मनुष्य शासन करने लगता है) ॥ २१ ॥

एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात् सदा शत्रोर्युधिष्ठिर।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इन सभी हिंसक जन्तुओं तथा शत्रुकी ओरसे राजाको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि असावधान होनेपर ये गिद्ध पक्षियोंके समान सहसा टूट पड़ते हैं ॥ २२ ॥

कच्चित् ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥ २३ ॥

ऊँचे या नीचे भावसे माल खरीदनेवाले और व्यापारके लिये दुर्गम प्रदेशोंमें विचरनेवाले वैश्य तुम्हारे राज्यमें करके भारी भारसे पीड़ित हो उद्विग्न तो नहीं होते हैं ? ॥ २३ ॥

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि ॥ २४ ॥

किसानलोग अधिक लगान लिये जानेके कारण अत्यन्त कष्ट पाकर तुम्हारा राज्य छोड़कर तो नहीं जा रहे हैं। क्योंकि किसान ही राजाओंका भार ढोते हैं और वे ही दूसरे लोगोंका भी भरण-पोषण करते हैं ॥ २४ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २५ ॥

इन्हींके दिये हुए अन्नसे देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस और पशु-पक्षी-सबकी जीविका चलती है ॥ २५ ॥

एषा ते राष्ट्रवृत्तिश्च राज्ञां गुप्तिश्च भारत।
एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! यह मैंने राजाके राष्ट्रके साथ किये जानेवाले बर्तावका वर्णन किया। इसीसे राजाओंकी रक्षा होती है। पाण्डुकुमार ! इसी विषयको लेकर मैं आगेकी भी बात कहूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षाविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

उतथ्यका मान्धाताको उपदेश—राजाके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता

भीष्म उवाच

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अङ्गिरापुत्र उतथ्यने युवनाश्वके पुत्र मान्धातासे प्रसन्नतापूर्वक जिन क्षत्रिय-धर्मोंका वर्णन किया था, उन्हें सुनो ॥ १ ॥

स यथानुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! ब्रह्मज्ञानियोंमें शिरोमणि उतथ्यने जिस प्रकार उन्हें उपदेश दिया था, वह सब प्रसङ्ग पूरा-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, श्रवण करो ॥ २ ॥

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥

उतथ्य बोले—मान्धाता ! राजा धर्मका पालन और प्रचार करनेके लिये ही होता है, विषय-सुखोंका उपभोग करनेके लिये नहीं। तुम्हें यह जानना चाहिये कि राजा सम्पूर्ण जगत्का रक्षक है ॥ ३ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥

यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है, और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरकमें ही गिरता है॥

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥५॥

सम्पूर्ण प्राणी धर्मके ही आधारपर स्थित हैं और धर्म राजाके ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्मका पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल-तक इस पृथ्वीका स्वामी बना रहता है ॥ ५ ॥

राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते ।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥६॥

परम धर्मात्मा और श्रीसम्पन्न राजा धर्मका साक्षात् स्वरूप कहलाता है। यदि वह धर्मका पालन नहीं करता तो लोग देवताओंकी भी निन्दा करते हैं और वह धर्मात्मा नहीं, पापात्मा कहलाता है ॥ ६ ॥

स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते ।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते ॥ ७ ॥

जो अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन्हींसे अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि होती देखी जाती है। सारा संसार उसी मङ्गलमय धर्मका अनुसरण करता है ॥ ७ ॥

उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान् ।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ॥ ८ ॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब जगत्में धार्मिक बर्तावका उच्छेद हो जाता है और सब ओर महान् अधर्म फैल जाता है, जिससे प्रजाको दिन-रात भय बना रहता है ॥

ममेदमिति नैवैतत् साधूनां तात धर्मतः ।
न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते ॥ ९ ॥

तात ! यदि पापकी प्रवृत्तिका निवारण न किया जाय तो यह मेरी वस्तु है, ऐसा कहना श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये असम्भव हो जाता है और उस समय कोई भी धार्मिक व्यवस्था टिकने नहीं पाती है ॥

नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम् ।
संदृश्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत् ॥ १० ॥

जब जगत्में पापका बल बढ़ जाता है, तब मनुष्योंके लिये अपनी स्त्री, अपने पशु और अपने खेत या घरका भी कुछ ठिकाना दिखायी नहीं देता ॥ १० ॥

देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा ।
न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते ॥ ११ ॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब देवता पूजाको नहीं जानते हैं, पितरोंको स्वधा (श्राद्ध) का अनुभव नहीं होता है तथा अतिथियोंकी कहीं पूजा नहीं होती है ॥ ११ ॥

न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ।
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते ॥ १२ ॥

जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले द्विज वेदोंका अध्ययन छोड़ देते हैं और ब्राह्मण यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर पाते हैं ॥ १२ ॥

वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम् ।
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते ॥ १३ ॥

महाराज ! जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब बूढ़े जन्तुओंकी भाँति मनुष्योंका मन घबराहटमें पड़ा रहता है ॥ १३ ॥

उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ।
असृजन् सुमहद् भूतमयं धर्मो भविष्यति ॥ १४ ॥

लोक और परलोक दोनोंको दृष्टिमें रखकर महर्षियोंने स्वयं ही राजा नामक महान् शक्तिशाली मनुष्यकी सृष्टि की। उन्होंने सोचा था कि 'यह साक्षात् धर्मस्वरूप होगा' ॥१४॥

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥ १५ ॥

अतः जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसीको राजा कहते हैं और जिसमें धर्म (वृष) का लय हो गया हो, उसे देवतालोग 'वृषल' मानते हैं ॥ १५ ॥

वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत् ॥ १६ ॥

वृष नाम है भगवान् धर्मका। जो धर्मके विषयमें 'अलम्' (बस) कह देता है, उसे देवता 'वृषल' समझते हैं; अतः धर्मकी सदा ही वृद्धि करनी चाहिये ॥ १६ ॥

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१७॥

धर्मकी वृद्धि होनेपर सदा समस्त प्राणियोंका अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होनेपर सबका ह्रास हो जाता है; अतः धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये ॥ १७ ॥

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः ।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥ १८ ॥

नरेन्द्र ! धनसे धर्मकी उत्पत्ति होती है सबको धारण करनेके कारण वह निश्चितरूपसे धर्म कहा गया है। वह धर्म अकर्तव्य (पाप) की सीमाका अन्त करनेवाला माना गया है ॥१८॥

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा ।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥ १९ ॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके कल्याणार्थ ही धर्मकी सृष्टि की है, इसलिये राजाको चाहिये कि अपने देशमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका प्रचार करे ॥ १९ ॥

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः ।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ ॥ २० ॥

राजसिंह ! इसी कारणसे धर्मको सबसे श्रेष्ठ माना गया है। पुरुषप्रवर ! जो सद्धर्मके पालनपूर्वक प्रजाका शासन करता है, वही राजा है ॥ २० ॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय ।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥ २१ ॥

भरतभूषण ! तुम भी काम और क्रोधकी अवहेलना करके निरन्तर धर्मका ही पालन करो। धर्म ही राजाओंके लिये सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला है ॥ २१ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत् सदा ।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी ॥ २२ ॥

मान्धाता ! धर्मका मूल है ब्राह्मण; इसलिये ब्राह्मणोंका सदा सम्मान करना चाहिये, ब्राह्मणोंकी प्रत्येक कामनाको ईर्ष्यारहित होकर पूर्ण करना उचित है ॥ २२ ॥

तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः संजायते भयम् ।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथामित्रीभवन्त्यपि ॥ २३ ॥

उनकी इच्छा पूर्ण न करनेसे राजाओंके ऊपर भय आता है। राजाके मित्रोंकी वृद्धि नहीं होती, उलटे शत्रु बनते जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्राह्मणानां सदासूयाद् बाल्याद् वैरोचनो बलिः ।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद् यास्मिन्नासीत् प्रतापिनी ।२४।

विरोचनकुमार बलि बाल्यकालसे ही सदा ब्राह्मणोंपर दोषारोपण करते थे; इसलिये उनकी राजलक्ष्मी, जो शत्रुओं-को संताप देनेवाली थी, उनके पाससे हट गयी ॥ २४ ॥

ततस्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम्।
अथ सोऽन्वतपत् पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥ २५ ॥

बलिसे हटकर वह राजलक्ष्मी देवराज इन्द्रके पास चली गयी। फिर इन्द्रके पास उस लक्ष्मीको देखकर राजा बलिको बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २५ ॥

एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो ।
तस्माद् बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात् प्रतापिनी ॥२६॥

प्रभो ! यह अभिमान और असूयाका फल है, अतः मान्धाता ! तुम सचेत हो जाओ, कहीं तुम्हारी भी शत्रुतापिनी लक्ष्मी तुमको छोड़ न दे ॥ २६ ॥

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम् ॥ २७ ॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २८ ॥

राजन् ! सम्पत्तिका पुत्र है दर्प, जो अधर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ है, यह श्रुतिका कथन है। उस दर्पने बहुत-से देवताओं, असुरों और राजर्षियोंका विनाश कर डाला है। अतः भूपाल ! अब भी चेतो। जो दर्पको जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है ॥ २७-२८ ॥

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छसि ॥ २९ ॥

मान्धाता ! यदि तुम चिरकालतक राजसिंहासनपर विराजमान रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्मका सेवन न हो ॥ २९ ॥

मत्तात्प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।
तदभ्यासादुपावर्तं संहितानां च सेवनात् ॥ ३० ॥

मतवाले, प्रमादी, बालक तथा विशेषतः पागलोंसे बचो। उनके निकट सम्पर्कसे भी दूर रहो और यदि वे एक साथ रहकर सेवा करना चाहें तो उनकी उस सेवासे भी सर्वथा बचे रहो ॥ ३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ।३१।
एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तंचर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

इसी तरह जिसको एक बार कैद किया हो उस मन्त्रीसे, विशेषतः परायी स्त्रियोंसे, ऊँचे-नीचे और दुर्गम पर्वतसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पोंसे राजाको बचकर रहना चाहिये। इनकी ओरसे सदा सावधान रहे और रातमें घूमना-फिरना छोड़ दे। कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोधका भी सर्वथा परित्याग कर दे॥

अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च ।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः ॥ ३३ ॥

अपरिचित स्त्रियों, बाँझ स्त्रियों, वेश्याओं, परायी स्त्रियों तथा कुमारी कन्याओंके साथ राजा मैथुन न करे ॥ ३३ ॥

कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥ ३४ ॥
एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३५ ॥

जब राजा धर्मकी ओरसे प्रमाद करता है, तब वर्णसंकरता-के कारण उत्तम कुलोंमें पापी और राक्षस जन्म लेते हैं। नपुंसक, काने, लँगड़े, लूले, गूँगे तथा बुद्धिहीन बालकोंकी उत्पत्ति होती है। ये तथा और भी बहुत-सी कुत्सित संतानें जन्म लेती हैं। इसलिये राजाको विशेषरूपसे धर्मपरायण एवं सावधान होकर प्रजाके हितसाधनमें तत्पर रहना चाहिये ॥

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान् ।
अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासंकरकारकाः ॥ ३६ ॥

क्षत्रियके प्रमादसे बड़े-बड़े दोष प्रकट होते हैं। वर्ण-संकरोंको जन्म देनेवाले पापकर्मोंकी वृद्धि होती है ॥ ३६ ॥

अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते ।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत् प्रजाः ॥ ३७ ॥

गर्मीके मौसममें सर्दी और सर्दीके मौसममें गर्मी पड़ने लगती है। कभी सूखा पड़ जाता है, कभी अधिक वर्षा होती है तथा प्रजामें नाना प्रकारके रोग फैल जाते हैं ॥ ३७ ॥

नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते ।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३८ ॥

आकाशमें भयानक ग्रह और धूमकेतु आदि तारे उगते हैं तथा राष्ट्रके विनाशकी सूचना देनेवाले बहुत-से उत्पात दिखायी देने लगते हैं ॥ ३८ ॥

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति ।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥ ३९ ॥

जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता, वह प्रजाकी भी रक्षा नहीं कर सकता। पहले उसकी प्रजाएँ क्षीण होती हैं; फिर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे ।
कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ४० ॥

जब दो मनुष्य मिलकर एककी वस्तु छीन लेते हैं, बहुत-से मिलकर दोको लूटते हैं तथा कुमारी कन्याओंपर बलात्कार होने लगता है, उस समय इन सारे अपराधोंका कारण राजाको ही बताया जाता है ॥ ४० ॥

ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति ।

त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति ॥ ४१ ॥

जब राजा धर्म छोड़कर प्रमादमें पड़ जाता है, तब मनुष्योंमेंसे एक भी अपने धनको 'यह मेरा है' ऐसा समझकर स्थिर नहीं रह सकता ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

उतथ्यके उपदेशमें धर्माचरणका महत्त्व और राजाके धर्मका वर्णन

उतथ्य उवाच

कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः ।
सम्पद् यदैषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः ॥ १ ॥

उतथ्य कहते हैं--राजन् ! राजा धर्मका आचरण करे और मेघ समयपर वर्षा करता रहे। इस प्रकार जो सम्पत्ति बढ़ती है, वह प्रजावर्गका सुखपूर्वक भरण-पोषण करती है ॥ १ ॥

यो न जानाति हर्तुं वा वस्त्राणां रजको मलम् ।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥ २ ॥

यदि धोबी कपड़ोंकी मैल उतारना नहीं जानता अथवा रँगे हुए वस्त्रोंको धोकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनानेकी कला उसे नहीं ज्ञात है तो उसका होना न होना बराबर है ॥

एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा ।
शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चौथे शूद्र वर्णके मनुष्य यदि अपने-अपने पृथक्-पृथक् कर्मोंको जानकर उनमें संलग्न नहीं रहते हैं तो उनका होना न होना एक-सा ही है ॥ ३ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥ ४ ॥

शूद्रमें द्विजोंकी सेवा, वैश्यमें कृषि, राजा या क्षत्रियमें दण्डनीति तथा ब्राह्मणोंमें ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदमन्त्र और सत्यकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् ।
शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥

इनमें जो क्षत्रिय वस्त्रोंकी मैल दूर करनेवाले धोबीके समान चरित्रदोषको दूर करना जानता है, वही प्रजावर्गका पिता और वही प्रजाका अधिपति है ॥ ५ ॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सबके सब राजाके आचरणोंमें स्थित हैं। राजा ही युगोंका प्रवर्तक होनेके कारण युग कहलाता है ॥ ६ ॥

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥

जब राजा प्रमाद करता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः ।
सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ८ ॥

जब राजा प्रमादी हो जाता है, तब गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—ये तीन अग्नि; ऋक्, साम और यजु—ये तीन वेद एवं दक्षिणाओंके साथ सम्पूर्ण यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥ ९ ॥

राजा ही प्राणियोंका कर्ता (जीवनदाता) और राजा ही उनका विनाश करनेवाला है। जो धर्मात्मा है, वह प्रजाका जीवनदाता है और जो पापात्मा है, वह उसका विनाश करनेवाला है ॥ ९ ॥

राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ १० ॥

जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव तथा सुहृद् सब मिलकर शोक करते हैं ॥१०॥

हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः ।
अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥ ११ ॥

राजाके पापपरायण हो जानेपर उसके हाथी, घोड़े, गौ, ऊँट, खच्चर और गदहे आदि सभी पशु दुःख पाते हैं ॥

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते ।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥

मान्धाता ! कहते हैं कि विधाताने दुर्बल प्राणियोंकी रक्षाके लिये ही बलसम्पन्न राजाकी सृष्टि की है। निर्बल प्राणियोंका महान् समुदाय राजाके बलपर टिका हुआ है ॥

यच्च भूतं सम्भजते ये च भूतास्तदन्वयाः ।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥ १३ ॥

भूपाल ! राजा जिन प्राणियोंको अन्न आदि देकर उनकी सेवा करता है और जो प्राणी राजासे सम्बन्ध रखते हैं, वे सबके सब उस राजाके अधर्मपरायण होनेपर शोक प्रकट करने लगते हैं ॥ १३ ॥

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १४ ॥

दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इन सबकी दृष्टिको मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ; इसलिये तुम किसी दुर्बल प्राणीको न सताना ॥ १४ ॥

दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान् ।

मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥ १५ ॥

तात ! तुम दुर्बल प्राणियोंको सदा ही अपमानका पात्र न समझना, दुर्बलोंकी आँखें तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित जला-कर भस्म न कर डालें, इसके लिये सदा सावधान रहना ॥

न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किंचित् प्ररोहति ।
आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १६ ॥

दुर्बल मनुष्य जिसको अपनी क्रोधाग्निसे जला डालते हैं, उसके कुलमें फिर कोई अङ्कुर नहीं जमता । वे जड़मूल-सहित दग्ध कर देते हैं; अतः तुम दुर्बलोंको कभी न सताना॥

अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
बलस्याबलदग्धस्य न किंचिदवशिष्यते ॥ १७ ॥

निर्बल प्राणी बलवान्से श्रेष्ठ है, क्योंकि जो अत्यन्त बलवान् है, उसके बलसे भी निर्बलका बल अधिक है । निर्बल-के द्वारा दग्ध किये गये बलवान्का कुछ भी शेष नहीं रह जाता ॥ १७ ॥

विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति ।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥ १८ ॥

यदि अपमानित, हताहत तथा गाली-गलौजसे तिरस्कृत होनेवाला दुर्बल मनुष्य राजाको अपने रक्षकके रूपमें नहीं उपलब्ध कर पाता तो वहाँ दैवका दिया हुआ दण्ड राजाको मार डालता है ॥ १८ ॥

मा स्म तात रणे स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम् ॥ १९ ॥

तात ! तुम युद्धमें संलग्न होकर दुर्बल मनुष्यको कर लेनेके द्वारा अपने उपभोगका विषय न बनाना । जैसे आग अपने आश्रयभूत काष्ठको जला देती है, उसी प्रकार दुर्बलोंकी दृष्टि तुम्हें दग्ध न कर डाले ॥ १९ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ।२०।

झूठे अपराध लगाये जानेपर रोते हुए दीन-दुर्बल मनुष्योंके नेत्रोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलङ्क लगाने-के कारण उन अपराधियोंके पुत्रों और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ २० ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २१ ॥

यदि पापका फल अपनेको नहीं मिला तो वह पुत्रों तथा नाती-पोतोंको अवश्य मिलता है । जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ बीज तुरंत फल नहीं देता, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी तत्काल फल नहीं देता (समय आनेपर ही उसका फल मिलता है) ॥ २१ ॥

यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति ।
महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २२ ॥

सताया जानेवाला दुर्बल मनुष्य जहाँ अपने लिये कोई रक्षक नहीं पाता है, वहाँ सतानेवाले पापीको दैवकी ओरसे भयंकर दण्ड प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव ।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २३ ॥

जब बाहर गाँवोंके लोग एक समूह बनाकर भिक्षुकरूपसे ब्राह्मणोंके समान भिक्षा माँगने लगते हैं, तब वैसे लोग एक दिन राजाका विनाश कर डालते हैं ॥ २३ ॥

राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
अनयेनोपवर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत् ॥ २४ ॥

जब राजाके बहुत-से कर्मचारी देशमें अन्यायपूर्ण बर्ताव करने लगते हैं, तब वह महान् पाप राजाको ही लगता है॥२४॥

यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा ।
कृपणं याचमानानां तद् राज्ञो वैशसं महत् ॥ २५ ॥

यदि कोई राजा या राजकीय कर्मचारी दीनतापूर्ण याचना करती हुई प्रजाओंकी उस प्रार्थनाको ठुकराकर स्वेच्छासे अथवा धनके लोभवश कोई-न-कोई युक्ति करके उनके धनका अपहरण कर ले तो वह राजाके महान् विनाशका सूचक है ॥ २५ ॥

महान् वृक्षो जायते वर्धते च
तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च
तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २६ ॥

जब कोई महान् वृक्ष पैदा होता और क्रमशः बढ़ता है, तब बहुत-से प्राणी (पक्षी) आकर उसपर बसेरे लेते हैं और जब उस वृक्षको काटा या जला दिया जाता है, तब उसपर रहनेवाले सभी जीव निराश्रय हो जाते हैं ॥ २६ ॥

यदा राष्ट्रे धर्ममग्र्यं चरन्ति
संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्
तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतं च ॥ २७ ॥

जब राज्यमें रहनेवाले लोग राजाके गुणोंका बखान करते हुए वैदिक संस्कारोंके साथ उत्तम धर्मका आचरण करते हैं, उस समय राजा पापमुक्त हो जाता है तथा जब वे ही लोग धर्मके विषयमें मोहित हो जानेके कारण अधर्माचरण करने लगते हैं, उस समय राजा शीघ्र ही पुण्यसे हीन हो जाता है॥

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति
सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः ।
यदा राजा शास्ति नरानशिष्टां-
स्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य ॥ २८ ॥

जहाँ पापी मनुष्य प्रकटरूपसे निर्भय विचरते हैं, वहाँ सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें समझा जाता है कि राजाको कलियुगने घेर लिया है; किंतु जब राजा दुष्ट मनुष्योंको दण्ड देता है, तब उसका राज्य सब ओरसे उन्नत होने लगता है ॥ २८ ॥

यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थे
मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात् ।
विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य
भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलां चिराय ॥ २९ ॥

जो राजा अपने मन्त्रियोंका यथार्थरूपसे सम्मान करके उन्हें मन्त्रणा अथवा युद्धके काममें नियुक्त करता है, उसका राज्य दिनोंदिन बढ़ता है, और वह चिरकालतक समूची पृथ्वीका राज्य भोगता है ॥ २९ ॥

यच्चापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम्।
समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३० ॥

जो राजा अपने कर्मचारी अथवा प्रजाका पुण्यकर्म देखकर तथा उनकी सुन्दर वाणी सुनकर उन सबका यथा-योग्य सम्मान करता है, वह परम उत्तम धर्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उप-भोग करता है, मन्त्रियोंका अनादर नहीं करता है और बलके घमंडमें चूर रहनेवाले दुष्ट पुरुष या शत्रुको मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है ॥ ३१ ॥

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥

जब वह मन, वाणी और शरीरके द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्रके भी अपराधको क्षमा नहीं करता, तब उसका वह बर्ताव भी 'राजाका धर्म' कहा जाता है ॥ ३२ ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥

जब राजा दुर्बल मनुष्योंको यथावश्यक वस्तुएँ देकर पीछे स्वयं भोजन करता है, तब वे दुर्बल मनुष्य बलवान् हो जाते हैं। वह त्याग राजाका धर्म कहा गया है ॥ ३३ ॥

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥

जब राजा समूचे राष्ट्रकी रक्षा करता है, डाकू और लुटेरोंको मार भगाता है तथा संग्राममें विजयी होता है, तब वह सब राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३४ ॥

पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥

प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणीद्वारा पाप करे तो राजाको चाहिये कि उसे भी क्षमा न करे अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा बर्ताव है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३५ ॥

यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥

जब राजा व्यापारियोंकी पुत्रके समान रक्षा करता है और धर्मकी मर्यादाको भङ्ग नहीं करता, तब वह भी राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३६ ॥

यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३७ ॥

जब वह राग और द्वेषका अनादर करके पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करता है, तब वह राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३८ ॥

जब वह दीन, अनाथ और वृद्धोंके आँसू पोंछता है और इस बर्तावद्वारा सब लोगोंके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका वह सद्भाव राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३८ ॥

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चापि कर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३९ ॥

वह जो मित्रोंकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश और साधु पुरुषोंका समादर करता है, उसे राजाका धर्म कहते हैं ॥ ३९ ॥

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४० ॥

राजा जो प्रेमपूर्वक सत्यका पालन करता है, प्रतिदिन भूदान देता है और अतिथियों तथा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका सत्कार करता है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिन् लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम् ॥ ४१ ॥

जिसमें निग्रह[1] और अनुग्रह[2] दोनों प्रतिष्ठित हों, वह राजा इहलोक और परलोकमें मनोवाञ्छित फल पाता है ॥

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः ॥ ४२ ॥

मान्धाता ! राजा दुष्टोंको दण्ड देनेके कारण यम तथा धार्मिकोंपर अनुग्रह करनेके कारण उनके लिये परमेश्वरके समान है। जब वह अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखता है, तब शासनमें समर्थ होता है और जब संयममें नहीं रखता, तब मर्यादासे नीचे गिर जाता है ॥ ४२ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च।
यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४३ ॥

जब राजा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यका बिना अव-हेलनाके सत्कार करके उनको उचित बर्तावके साथ अपनाता है, तब वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ४३ ॥

यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः ॥ ४४ ॥

जैसे यमराज सभी प्राणियोंपर समानरूपसे शासन करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी बिना किसी भेदभावके समस्त प्रजाओंपर विधिपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ४४ ॥

सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥

पुरुषप्रवर ! राजाकी उपमा सब प्रकारसे हजार नेत्रों-

---

१. दुष्टोंको दण्ड देनेका स्वभाव। २. दीन-दुखियों तथा साधु पुरुषोंके प्रति दया एवं सहानुभूति।

वाले इन्द्रसे दी जाती है; अतः राजा जिस धर्मको भलीभाँति समझकर निश्चित कर देता है वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है॥

अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४६ ॥

राजन्! तुम सावधान होकर क्षमा, विवेक, धृति और बुद्धिकी शिक्षा ग्रहण करो। समस्त प्राणियोंकी शक्ति तथा भलाई-बुराईको भी सदा जाननेकी इच्छा करो॥ ४६ ॥

संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥ ४७ ॥

समस्त प्राणियोंको अपने अनुकूल बनाये रखना, दान देना और मीठे वचन बोलना सीखो। नगर और बाहर गाँववाले लोगोंकी तुम्हें इस प्रकार रक्षा करनी चाहिये, जिससे उन्हें सुख मिले॥ ४७ ॥

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४८ ॥

तात! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजाकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि यह राज्यका संचालनरूप अत्यन्त दुष्कर कार्य बहुत बड़ा भार है॥ ४८ ॥

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥ ४९ ॥

राज्यकी रक्षा तो वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान् और शूरवीर होनेके साथ ही दण्ड देनेकी नीतिको भी जानता हो। जो दण्ड देनेसे हिचकता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन नरेश कदापि राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता॥४९॥

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ॥ ५० ॥

तुम्हें रूपवान्, कुलीन, कार्यदक्ष, राजभक्त एवं बहुज्ञ मन्त्रियोंके साथ रहकर तापसों और आश्रम-वासियोंकी भी सम्पूर्ण बुद्धियों (सारे विचारों) की परीक्षा करनी चाहिये॥ ५० ॥

अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम्।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनङ्क्ष्यति ॥ ५१ ॥

ऐसा करनेसे तुमको सम्पूर्ण भूतोंके परम धर्मका ज्ञान हो जायगा; फिर स्वदेशमें रहो या परदेशमें, कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं होगा॥ ५१ ॥

तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥ ५२ ॥

इस तरह विचार करनेसे अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। धर्मात्मा पुरुष इहलोकमें और परलोकमें भी सुख भोगता है॥ ५२ ॥

त्यजन्ति दारान् पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ ५३ ॥
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत्।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥ ५४ ॥

यदि मनुष्योंका सम्मान किया जाय तो वे सम्मानदाताके हितके लिये अपने पुत्रों और स्त्रियोंको भी छोड़ देते हैं। समस्त प्राणियोंको अपने पक्षमें मिलाये रखना, दान देना, मीठे वचन बोलना, प्रमादका त्याग करना तथा बाहर और भीतरसे पवित्र रहना—ये राजाका ऐश्वर्य बढ़ानेवाले बहुत बड़े साधन हैं। मान्धाता! तुम इन सब बातोंकी ओरसे कभी प्रमाद न करना॥ ५३-५४ ॥

अप्रमत्तो भवेद् राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः।
नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५५ ॥

राजाको सदा सावधान रहना चाहिये। वह शत्रुका तथा अपना भी छिद्र देखे और यह प्रयत्न करे कि शत्रु मेरा छिद्र अच्छी तरह न देखने पाये; परंतु यदि शत्रुके छिद्रों (दुर्बलताओं) का पता लग जाय तो वह उसपर चढ़ाई कर दे॥ ५५ ॥

एतद् वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत् त्वमप्यनुपालय ॥ ५६ ॥

इन्द्र, यम, वरुण तथा सम्पूर्ण राजर्षियोंका यही बर्ताव है, तुम भी इसका निरन्तर पालन करो॥ ५६ ॥

तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम्।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय पुरुषर्षभ ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रवर महाराज! राजर्षियोंद्वारा सेवित उस आचारका तुम पालन करो और शीघ्र ही प्रकाशयुक्त दिव्य मार्गका आश्रय लो॥ ५७ ॥

धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्त्यमितौजसः ॥ ५८ ॥

भारत! * महातेजस्वी देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व इहलोक और परलोकमें भी धर्मपरायण राजाके यशका गान करते रहते हैं॥ ५८ ॥

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! उतथ्यके इस प्रकार उपदेश देनेपर मान्धाताने निःशङ्क होकर उनकी आज्ञाका पालन किया और सारी पृथ्वीका एकछत्र राज्य पा लिया॥ ५९ ॥

भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपते।

* उतथ्यने राजा मान्धाताको उपदेश दिया है और मान्धाता सूर्यवंशी नरेश थे, इसलिये उनके उद्देश्यसे 'भारत' सम्बोधन पद यद्यपि उचित नहीं है तथापि यह प्रसंग भीष्मजी युधिष्ठिरको सुनाते हैं; अतः यह समझना चाहिये कि युधिष्ठिरके उद्देश्यसे उन्होंने यहाँ 'भारत' विशेषणका प्रयोग किया है।

धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥ ६० ॥

पृथ्वीनाथ ! मान्धाताकी ही भाँति तुम भी अच्छी तरह धर्मका पालन करते हुए इस पृथ्वीकी रक्षा करो; फिर तुम भी स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लोगे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

राजाके धर्मपूर्वक आचारके विषयमें वामदेवजीका वसुमनाको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुश्रेष्ठ पितामह ! धर्मात्मा राजा यदि धर्ममें स्थित रहना चाहे तो उसे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये ? यह मैं आपसे पूछता हूँ; आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें लोग तत्त्वज्ञानी महात्मा वामदेवजीद्वारा दिये हुए उपदेशरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम ज्ञानवान् धृतिमाञ्शुचिः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम् ॥ ३ ॥

वसुमना नामक एक प्रसिद्ध राजा हो गये हैं, जो ज्ञानवान्, धैर्यवान् और पवित्र आचार-विचारवाले थे । उन्होंने एक दिन तपस्वी महर्षि वामदेवजीसे पूछा—॥ ३ ॥

धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि माम् ।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन् न हीयेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥

'भगवन् ! मैं किस बर्तावका पालन करता रहूँ, जिससे अपने धर्मसे कभी न गिरूँ । आप अपने अर्थ और धर्मयुक्त वचनोंद्वारा मुझे इसी बातका उपदेश दीजिये' ॥ ४ ॥

तमब्रवीद् वामदेवस्तेजस्वी तपतां वरः ।
हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥

तब तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी महर्षि वामदेवने नहुषपुत्र ययातिके समान सुखपूर्वक बैठे हुए सुवर्णकी-सी कान्तिवाले राजा वसुमनासे कहा ॥ ५ ॥

वामदेव उवाच

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥

वामदेवजी बोले—राजन् ! तुम धर्मका ही अनुसरण करो । धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि धर्ममें स्थित रहनेवाले राजा इस सारी पृथ्वीको जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः ।
वृद्धयां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥ ७ ॥

जो भूपाल धर्मको अर्थ-सिद्धिकी अपेक्षा भी बड़ा मानता है और उसीको बढ़ानेमें अपने मन और बुद्धिका उपयोग करता है, वह धर्मके कारण बड़ी शोभा पाता है ॥ ७ ॥

अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते ।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥ ८ ॥

इसके विपरीत जो राजा अधर्मपर ही दृष्टि रखकर बलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चल देते हैं ॥ ८ ॥

असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥ ९ ॥

जो दुष्ट एवं पापिष्ठ मन्त्रियोंकी सहायतासे धर्मको हानि पहुँचाता है, वह सब लोगोंका वध्य हो जाता है और अपने परिवारके साथ ही शीघ्र संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः ।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥

जो राजा अर्थ-सिद्धिकी चेष्टा नहीं करता और स्वेच्छाचारी हो बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, वह सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥

परंतु जो कल्याणकारी गुणोंको ग्रहण करनेवाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धिको प्राप्त होता है, जैसे नदियोंके प्रवाहसे समुद्र ॥ ११ ॥

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि वह सदा धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी कभी अपनेको पूर्ण न माने—सदा उन सबके संग्रहको बढ़ानेकी ही चेष्टा करे ॥ १२ ॥

एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ।
एतानि शृण्वँल्लभते यशः कीर्तिं श्रियं प्रजाः ॥ १३ ॥

राजाकी जीवनयात्रा इन्हीं सबोंपर अवलम्बित है । इन सबको सुनने और ग्रहण करनेसे राजाको यश, कीर्ति, लक्ष्मी और प्रजाकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः ।
अर्थान् समीक्ष्य भजते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥

जो इस प्रकार धर्मके प्रति आग्रह रखनेवाला एवं धर्म और अर्थका चिन्तन करनेवाला है तथा अर्थपर भलीभाँति विचार करके उसका सेवन करता है, वह निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥ १४ ॥

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः ।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १५ ॥

जो दुःसाहसी, दान न देनेवाला और स्नेहशून्य तथा दण्डके द्वारा प्रजाको बार-बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अथ पापकृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान् ।
अकीर्त्याभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो बुद्धिहीन राजा पाप करके भी अपनी बुद्धिके द्वारा अपनेको पापी नहीं समझता, वह इस लोकमें अपकीर्तिसे कलङ्कित हो परलोकमें नरकका भागी होता है ॥ १६ ॥

अथ मानयितुर्दातुः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

जो सबका मान करनेवाला, दानी, स्नेहयुक्त तथा दूसरोंके वशवर्ती होकर रहता है, उसपर यदि कोई संकट आ जाय तो सब लोग उसे अपना ही संकट मानकर उसको मिटानेकी चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति ।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते ॥ १८ ॥

जिसको धर्मके विषयमें शिक्षा देनेवाला कोई गुरु नहीं है और जो दूसरोंसे भी कुछ नहीं पूछता है तथा धन मिल जानेपर सुखभोगमें आसक्त हो जाता है, वह दीर्घकालतक सुख नहीं भोग पाता है ॥ १८ ॥

गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थानवेक्षिता ।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥ १९ ॥

जो धर्मके विषयमें गुरुको प्रधान मानकर उनके उपदेशके अनुसार चलता है, जो स्वयं ही अर्थ-सम्बन्धी सारे कार्योंको देखता है तथा सब प्रकारके लाभोंमें धर्मको ही प्रधान लाभ समझता है, वह चिरकालतक सुखका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवजीकी गीताविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

वामदेवजीके द्वारा राजोचित बर्तावका वर्णन

वामदेव उवाच

यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः ।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—राजन् ! जिस राज्यमें अत्यन्त बलवान् राजा दुर्बल प्रजापर अधर्म या अत्याचार करने लगता है, वहाँ उसके अनुचर भी उसी बर्तावको अपनी जीविकाका साधन बना लेते हैं ॥ १ ॥

राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम् ।
अविनीतमनुष्यं तत् क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति ॥ २ ॥

वे उस पापप्रवर्तक राजाका ही अनुसरण करते हैं; अतः उद्दण्ड मनुष्योंसे भरा हुआ वह राष्ट्र शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

यद् वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः ।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥ ३ ॥

अच्छी अवस्थामें रहनेपर मनुष्यके जिस बर्तावका दूसरे लोग भी आश्रय लेते हैं, संकटमें पड़ जानेपर उसी मनुष्यके उसी बर्तावको उसके स्वजन भी नहीं सहन करते हैं ॥ ३ ॥

साहसप्रकृतिर्यत्र किंचिदुल्बणमाचरेत् ।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ४ ॥

दुःसाहसी प्रकृतिवाला जो राजा जहाँ कुछ उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करता है, वहाँ शास्त्रोक्त मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥

जो क्षत्रिय राज्यमें रहनेवाले विजित या अविजित मनुष्योंकी अत्यन्त आचरणमें लायी हुई वृत्तिका अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् उनलोगोंको अपने परम्परागत आचार-विचारका पालन नहीं करने देता) वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ ५ ॥

द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे ।
यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥

यदि कोई राजा पहलेका उपकारी हो और किसी कारणवश वर्तमानकालमें द्वेष करने लगा हो तो उस समय जो भूपाल उसे युद्धमें बंदी बनाकर द्वेषवश उसका सम्मान नहीं करता, वह भी क्षत्रियधर्मसे गिर जाता है ॥ ६ ॥

शक्तः स्यात् सुसुखो राजा कुर्यात् करणमापदि ।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥

राजा यदि समर्थ हो तो उत्तम सुखका अनुभव करे और करावे तथा आपत्तिमें पड़ जाय तो उसके निवारणका प्रयत्न करे । ऐसा करनेसे वह सब प्राणियोंका प्रिय होता है और कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत् ।
नचिरेण प्रियः स स्याद् योऽप्रियः प्रियमाचरेत् ॥ ८ ॥

राजाको चाहिये कि यदि किसीका अप्रिय किया हो तो फिर उसका प्रिय भी करे । इस प्रकार यदि अप्रिय पुरुष भी प्रिय करने लगता है तो थोड़े ही समयमें वह प्रिय हो जाता है ॥ ८ ॥

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥

मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना याचना या प्रार्थना किये ही दूसरोंका प्रिय करे। किसी कामनासे, क्रोधसे तथा द्वेषसे भी धर्मका त्याग न करे ॥ ९ ॥

(अमाययैव वर्तेत न च सत्यं त्यजेद् बुधः ॥
दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम् ॥)
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत् ।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥

विद्वान् राजा छल-कपट छोड़कर ही बर्ताव करे। सत्यको कभी न छोड़े। इन्द्रिय-संयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय-धर्म तथा प्रजाके हितका कभी परित्याग न करे। यदि कोई कुछ पूछे तो उसका उत्तर देनेमें संकोच न करे, बिना विचारे कोई बात मुँहसे न निकाले, किसी काममें जल्दबाजी न करे और किसीकी निन्दा न करे, ऐसा बर्ताव करनेसे शत्रु भी अपने वशमें हो जाता है ॥ १० ॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

यदि अपना प्रिय हो जाय तो बहुत प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाय तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि आर्थिक संकट आ पड़े तो प्रजाके हितका चिन्तन करते हुए तनिक भी संतप्त न हो ॥ ११ ॥

यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः ।
तस्य कर्माणि सिद्ध्यन्ति न च संत्यज्यते श्रिया॥ १२ ॥

जो भूपाल अपने गुणोंसे सदा सबका प्रिय करता है, उसके सभी कर्म सफल होते हैं और सम्पत्ति कभी उसका साथ नहीं छोड़ती ॥ १२ ॥

निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्तमानमनुप्रिये ।
भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः ॥ १३ ॥

राजा सदा सावधान रहकर अपने उस सेवकको हर तरहसे अपनावे, जो प्रतिकूल कार्योंसे अलग रहता हो और राजाका निरन्तर प्रिय करनेमें ही संलग्न हो ॥ १३ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम् ।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥

जो बड़े-बड़े काम हों, उनपर जितेन्द्रिय, अत्यन्त अनुगत, पवित्र आचार-विचारवाले, शक्तिशाली और अनुरक्त पुरुषको नियुक्त करे ॥ १४ ॥

एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरज्यति भूमिपम् ।
भर्तुरर्थेष्वप्रमत्तं नियुज्यादर्थकर्मणि ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जिसमें वे सब गुण मौजूद हों, जो राजाको प्रसन्न भी रख सकता हो तथा स्वामीका कार्य सिद्ध करनेके लिये सतत सावधान रहता हो, उसको धनकी व्यवस्थाके कार्यमें लगावे ॥ १५ ॥

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम् ।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥ १६ ॥
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम् ।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ १७ ॥

मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य, उच्चभावनासे रहित, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट और मृगयासक्त पुरुषको जो राजा महत्त्वपूर्ण कार्योंपर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मीसे हीन हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति ।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते ॥ १८ ॥

जो नरेश अपने शरीरकी रक्षा करके रक्षणीय पुरुषोंकी भी सदा रक्षा करता है, उसकी प्रजा अभ्युदयशील होती है और वह राजा भी निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥

ये केचिद् भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत् ।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजातिरिच्यते ॥ १९ ॥

जो राजा अपने अप्रसिद्ध सुहृदोंके द्वारा गुप्तरूपसे समस्त भूपतियोंकी अवस्थाका निरीक्षण कराता है, वह अपने इस बर्तावके द्वारा सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १९ ॥

अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ २० ॥

किसी बलवान् शत्रुका अपकार करके हम दूर जाकर रहेंगे, ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि जैसे बाज पक्षी झपट्टा मारता है, उसी प्रकार ये दूरस्थ शत्रु भी असावधानीकी अवस्थामें टूट पड़ते हैं ॥ २० ॥

दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः ।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥ २१ ॥

राजा अपनेको दृढ़मूल (अपनी राजधानीको सुरक्षित) करके विरोधी लोगोंको दूर रखकर अपनी शक्तिको समझ ले; फिर अपनेसे दुर्बल शत्रुपर ही आक्रमण करे। जो अपनेसे प्रबल हों, उनपर आक्रमण न करे ॥ २१ ॥

विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयेत् ।
आहवे निधनं कुर्याद् राजा धर्मपरायणः ॥ २२ ॥

पराक्रमसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करे तथा युद्धमें शत्रुओंका संहार कर डाले ॥ २२ ॥

मरणान्तमिदं सर्वं नेह किंचिदनामयम् ।
तस्माद् धर्मे स्थितो राजा प्रजा धर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥

राजन्! इस जगत्के सभी पदार्थ अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं; यहाँ कोई भी वस्तु नीरोग या अविनाशी नहीं है। इसलिये राजाको धर्मपर स्थित रहकर प्रजाका धर्मके अनुसार ही पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥ २४ ॥

रक्षाके स्थान दुर्ग आदि, युद्ध, धर्मके अनुसार राज्यका शासन, मन्त्रचिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान

करना—इन पाँचोंके द्वारा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तमः ।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा धत्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥

जिसकी ये सब बातें गुप्त या सुरक्षित रहती हैं, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ माना जाता है। इनके पालनमें सदा संलग्न रहनेवाला नरेश ही इस पृथ्वीकी रक्षा कर सकता है ॥

नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम् ।
तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुङ्क्ते चिरं महीम् ॥ २६ ॥

एक ही पुरुष इन सभी बातोंपर सदा ध्यान नहीं रख सकता, इसलिये इन सबका भार सुयोग्य अधिकारियोंको सौंपकर राजा चिरकालतक इस भूतलका राज्य भोग सकता है ॥

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥ २७ ॥

जो पुरुष दानशील, सबके लिये सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओंका वितरण करनेवाला, मृदुलस्वभाव, शुद्ध आचार-विचारवाला तथा मनुष्योंका त्याग न करनेवाला होता है, उसीको लोग राजा बनाते हैं ॥ २७ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत् प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥

जो कल्याणकारी उपदेश सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़ उस ज्ञानको ग्रहण कर लेता है, उसके पीछे यह सारा जगत् चलता है ॥ २८ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि सर्वदा विमना इव ॥ २९ ॥
अग्राम्यचरितां वृत्तिं यो न सेवेत नित्यदा ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ३० ॥

जो मनके प्रतिकूल होनेके कारण अपने ही प्रयोजनकी सिद्धि चाहनेवाले सुहृद्‌की बात नहीं सहन करता और अपनी अर्थसिद्धिके विरोधी वचनोंको भी सुनता है, सदा अनमना-सा रहता है, जो बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए बर्तावका सदा सेवन नहीं करता एवं पराजित या अपराजित व्यक्तियोंको उनके परम्परागत आचारका पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ २९-३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ।
एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु ॥ ३१ ॥

जिसको कभी कैद किया गया हो ऐसे मन्त्रीसे, विशेषतः स्त्रियोंसे, विषम पर्वतसे, दुर्गम स्थानसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पसे सदा सावधान रहकर राजा अपनी रक्षा करे ॥ ३१ ॥

मुख्यानमात्यान् यो हित्वा निहीनान् कुरुते प्रियान् ।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति ॥ ३२ ॥

जो प्रधान मन्त्रियोंका त्याग करके निम्न श्रेणीके मनुष्योंको अपना प्रिय बनाता है, वह संकटके घोर समुद्रमें पड़कर पीड़ित हो कहीं आश्रय नहीं पाता है ॥ ३२ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् प्रद्वेषान्नो बुभूषति ।
अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेऽन्तिके ॥ ३३ ॥

जो द्वेषवश कल्याणकारी गुणोंवाले अपने सजातीय बन्धुओं एवं कुटुम्बीजनोंका सम्मान नहीं करता, जिसका चित्त चञ्चल है तथा जो क्रोधको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेवाला है, वह सदा मृत्युके समीप निवास करता है ॥ ३३ ॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३४ ॥

जो राजा हृदयको प्रिय लगनेवाले न होनेपर भी गुणवान् पुरुषोंको प्रीतिजनक बर्तावद्वारा अपने वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ३४ ॥

नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ।
प्रिये नातिभृशं तुष्येद् युज्येतारोग्यकर्मणि ॥ ३५ ॥

राजाको चाहिये कि वह असमयमें कर लगाकर धन-संग्रहकी चेष्टा न करे । कोई अप्रिय कार्य हो जानेपर कभी चिन्ताकी आगमें न जले और प्रिय कार्य बन जानेपर अत्यन्त हर्षसे फूल न उठे और अपने शरीरको नीरोग बनाये रखनेके कार्यमें तत्पर रहे ॥ ३५ ॥

के वानुरक्ता राजानः के भयात् समुपाश्रिताः ।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

इस बातका ध्यान रक्खे कि कौन राजा मुझसे प्रेम रखते हैं ? कौन भयके कारण मेरा आश्रय लिये हुए हैं ? इनमेंसे कौन मध्यस्थ हैं और कौन-कौन नरेश मेरे शत्रु बने हुए हैं ? ॥ ३६ ॥

न जातु बलवान् भूत्वा दुर्बले विश्वसेत् क्वचित् ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं बलवान् होकर भी कभी अपने दुर्बल शत्रुका विश्वास न करे; क्योंकि ये असावधानीकी दशामें बाज पक्षीकी तरह झपट्टा मारते हैं ॥ ३७ ॥

अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् ।
अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद् विश्वसेज्जनात् ॥ ३८ ॥

जो पापात्मा मनुष्य अपने सर्वगुणसम्पन्न और सर्वदा प्रिय वचन बोलनेवाले स्वामीसे भी अकारण द्रोह करता है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः ।
मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३९ ॥

नहुषपुत्र राजा ययातिने मानवमात्रके हितमें तत्पर हो इस राजोपनिषद्‌का वर्णन किया है । जो इसमें निष्ठा रखकर इसके अनुसार चलता है, वह बड़े-बड़े शत्रुओंका विनाश कर डालता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

वामदेवके उपदेशमें राजा और राज्यके लिये हितकर बर्ताव

वामदेव उवाच

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा युद्धके सिवा किसी और ही उपायसे पहले अपनी विजय-वृद्धिकी चेष्टा करे; युद्धसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे निम्न श्रेणीकी बताया गया है ॥ १ ॥

न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥ २ ॥

यदि राज्यकी जड़ मजबूत न हो तो राजाको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति—अनधिकृत देशोंपर अधिकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिसके मूलमें ही दुर्बलता है, उस राजाको वैसा लाभ होना सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धनधान्यसे सम्पन्न, राजाको प्रिय माननेवाले मनुष्योंसे परिपूर्ण और हृष्ट-पुष्ट मन्त्रियोंसे सुशोभित है, उसीकी जड़ मजबूत समझनी चाहिये॥

यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥ ४ ॥

जिसके सैनिक संतुष्ट, राजाके द्वारा सान्त्वनाप्राप्त और शत्रुओंको धोखा देनेमें चतुर हों, वह भूपाल थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी पृथ्वीपर विजय पा लेता है ॥ ४ ॥

(दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वं च भेदमूलं प्रशस्यते ॥

जिस स्थानपर शत्रुपक्षकी सेना अधिक प्रबल हो, वहाँ पहले सामनीतिका ही प्रयोग करना उचित है। यदि उससे काम न चले तो धन या उपहार देनेकी नीतिको अपनाना चाहिये। इस दाननीतिके मूलमें भी यदि भेदनीतिका समावेश हो अर्थात् शत्रुओंमें फूट डालनेकी चेष्टा की जा रही हो तो उसे उत्तम माना गया है ॥

त्रयाणां विफलं कर्म यदा पश्येत भूमिपः।
रन्ध्रं ज्ञात्वा ततो दण्डं प्रयुञ्जीताविचारयन् ॥)

जब राजा साम, दान और भेद—तीनोंका प्रयोग निष्फल देखे, तब शत्रुकी दुर्बलताका पता लगाकर दूसरा कोई विचार मनमें न लाते हुए दण्डनीतिका ही प्रयोग करे—शत्रुके साथ युद्ध छेड़ दे ॥

पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥

जिसके नगर और जनपदमें रहनेवाले लोग समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥ ५ ॥

(राष्ट्रकर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः।
दुर्विनीता विनीताश्च सर्वे साध्याः प्रयत्नतः ॥

ये नगर और जनपदके लोग राष्ट्रके कार्यकी सिद्धि करनेवाले और उसके विरोधी भी होते हैं। उद्दण्ड और विनयशील भी होते हैं। उन सबको प्रयत्नपूर्वक अपने वशमें करना चाहिये ॥

चाण्डालम्लेच्छजात्याश्च पाषण्डाश्च विकर्मिणः।
बलिनश्चाश्रमाश्चैव तथा गायकनर्तकाः ॥
यस्य राष्ट्रे वसन्त्येते धान्योपचयकारिणः।
आयवृद्धौ सहायाश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥)

चाण्डाल, म्लेच्छ, पाखण्डी, शास्त्र-विरुद्ध कर्म करनेवाले, बलवान्, सभी आश्रमोंके निवासी तथा गायक और नर्तक—इन सबको प्रयत्नपूर्वक वशमें करना चाहिये। जिसके राज्यमें ये सब लोग धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले और आय बढ़नेमें सहायक होकर रहते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥

प्रतापकालमधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् राजा जब अपने प्रतापको प्रकाशित करनेका उपयुक्त अवसर समझे, तभी दूसरेका राज्य और धन लेनेकी चेष्टा करे ॥ ६ ॥

भोगेषूदयमानस्य भूतेषु च दयावतः।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ ॥

जिसके वैभव-भोग दिनोंदिन बढ़ रहे हों, जो सब प्राणियोंपर दया रखता हो, काम करनेमें फुर्तीला हो और अपने शरीरकी रक्षाका ध्यान रखता हो, उस राजाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग् वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो अच्छा बर्ताव करनेवाले स्वजनोंके प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, वह इस बर्तावद्वारा कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति अपने आपका ही उच्छेद कर डालता है ॥ ८ ॥

नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः।
क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥

यदि राजा कभी किसी द्वेष करनेवालेको दण्ड न दे तो उससे द्वेष करनेवालोंकी कमी नहीं होती है; परंतु जो क्रोधको मारनेकी कला जानता है, उसका कोई द्वेषी नहीं रहता है ॥ ९ ॥

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥

जिसे श्रेष्ठ पुरुष बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कर्म कभी न करे। जिस कार्यको सबके लिये कल्याणकारी समझे, उसीमें अपने आपको लगावे ॥ १० ॥

नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते ।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति ॥ ११ ॥

जो राजा अपना कर्तव्य पूर्ण करके ही सुखका अनुभव करना चाहता है, उसका न तो दूसरे लोग अनादर करते हैं और न वह स्वयं ही संतप्त होता है ॥ ११ ॥

इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः ।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये सम्प्रतिष्ठते ॥ १२ ॥

जो राजा प्रजाके प्रति ऐसा बर्ताव करता है, वह इहलोक और परलोक दोनोंको जीतकर विजयमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत् कृतवान् नृपः ।
तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर राजा वसुमना सब कार्य उसी प्रकार करने लगे । यदि तुम भी ऐसा ही आचरण करोगे तो निःसंदेह लोक और परलोक दोनों सुधार लोगे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

विजयाभिलाषी राजाके धर्मानुकूल बर्ताव तथा युद्धनीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि ।
कस्तस्य विजये धर्मो ह्येतं पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय नरेशपर युद्धमें विजय पाना चाहे तो उसे अपनी जीतके लिये किस धर्मका पालन करना चाहिये ? इस समय यही मेरा आपसे प्रश्न है, आप मुझे इसका उत्तर दीजिये ॥

भीष्म उवाच

ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः ।
ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥
मम धर्मबलिं दत्त किं वा मां प्रतिपत्स्यथ ।
ते चेत् तमागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहले राजा सहायकोंके साथ अथवा बिना सहायकोंके ही जिसपर विजय पाना चाहता हो, उस राज्यमें जाकर वहाँके लोगोंसे कहे कि मैं तुम्हारा राजा हूँ और सदा तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा, मुझे धर्मके अनुसार कर दो अथवा मेरे साथ युद्ध करो । उसके ऐसा कहनेपर यदि वे उस समागत नरेशका अपने राजाके रूपमें वरण कर लें तो सबकी कुशल हो ॥ २-३ ॥

ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुध्येरन् कथंचन ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! यदि वे क्षत्रिय न होकर भी किसी प्रकार विरोध करें तो वर्ण-विपरीत कर्ममें लगे हुए उन सब मनुष्योंका सभी उपायोंसे दमन करना चाहिये ॥ ४ ॥

अशस्त्रं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णाद् यथापरः ।
त्राणायाप्यसमर्थं तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥

यदि उस देशका क्षत्रिय शस्त्रहीन हो और अपनी रक्षा करनेमें भी अपनेको अत्यन्त असमर्थ मानता हो तो वहाँका क्षत्रियेतर मनुष्य भी देशकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण कर सकता है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् ।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय राजापर चढ़ाई कर दे तो उस समय उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो कवच बाँधे हुए न हो, उस क्षत्रियके साथ रणभूमिमें युद्ध नहीं करना चाहिये । एक योद्धा दूसरे एकाकी योद्धासे कहे 'तुम मुझपर शस्त्र छोड़ो । मैं भी तुमपर प्रहार करता हूँ' ॥ ७ ॥

स चेत् सन्नद्ध आगच्छेत् सन्नद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत् ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥

यदि वह कवच बाँधकर सामने आ जाय तो स्वयं भी कवच धारण कर ले । यदि विपक्षी सेनाके साथ आवे तो स्वयं भी सेनाके साथ आकर शत्रुको ललकारे ॥ ८ ॥

स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद् धर्मतो युद्ध्येद् धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ९ ॥

यदि वह छलसे युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीतिसे उसका सामना करे और यदि वह धर्मसे युद्ध आरम्भ करे तो धर्मसे ही उसका सामना करना चाहिये ॥ ९ ॥

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥ १० ॥

घोड़ेके द्वारा रथीपर आक्रमण न करे । रथीका सामना रथीको ही करना चाहिये । यदि शत्रु किसी संकटमें पड़ जाय तो उसपर प्रहार न करे । डरे और पराजित हुए शत्रुपर भी कभी प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥ ११ ॥

युद्धमें विषलिप्त और कर्णी बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ये दुष्टोंके अस्त्र हैं। यथार्थ रीतिसे ही युद्ध करना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति युद्धमें किसीका वध करना चाहता हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये (किंतु यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिये) ॥ ११ ॥

साधूनां तु मिथो भेदात् साधुश्चेद् व्यसनी भवेत्।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन ॥ १२ ॥

जब श्रेष्ठ पुरुषोंमें परस्पर भेद होनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष संकटमें पड़ जाय, तब उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये। जो बलहीन और संतानहीन हो, उसपर तो किसी प्रकार भी आघात न करे ॥ १२ ॥

भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।
चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् १३

जिसके शस्त्र टूट गये हों, जो विपत्तिमें पड़ गया हो, जिसके धनुषकी डोरी कट गयी हो तथा जिसके वाहन मार डाले गये हों, ऐसे मनुष्यपर भी प्रहार न करे। ऐसा पुरुष यदि अपने राज्यमें या अधिकारमें आ जाय तो उसके घावोंकी चिकित्सा करानी चाहिये अथवा उसे उसके घर पहुँचा देना चाहिये ॥ १३ ॥

निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः।
तस्माद् धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥

किंतु जिसके कोई घाव न हो, उसे न छोड़े। यह सनातनधर्म है। अतः धर्मके अनुसार युद्ध करना चाहिये, यह स्वायम्भुव मनुका कथन है ॥ १४ ॥

सत्सु नित्यः सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत्।
यो वै जयत्यधर्मेण क्षत्रियो धर्मसंगरः ॥ १५ ॥
आत्मानमात्मना हन्ति पापो निकृतिजीवनः।

सज्जनोंका धर्म सदा सत्पुरुषोंमें ही रहा है। अतः उसका आश्रय लेकर उसे नष्ट न करे। धर्मयुद्धमें तत्पर हुआ जो क्षत्रिय अधर्मसे विजय पाता है, छल-कपटको जीविकाका साधन बनानेवाला वह पापी स्वयं ही अपना नाश करता है ॥

कर्म चैतदसाधूनामसाधून् साधुना जयेत् ॥ १६ ॥
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

यह तो दुष्टोंका काम है। श्रेष्ठ पुरुषको तो दुष्टोंपर भी धर्मसे ही विजय पानी चाहिये। धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मर जाना भी अच्छा है; परंतु पापकर्मके द्वारा विजय पाना अच्छा नहीं है ॥ १६½ ॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ॥ १७ ॥
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति।

राजन्! जैसे पृथ्वीमें बोये हुए बीजका फल तत्काल नहीं मिलता, उसी प्रकार किये हुए पापका भी फल तुरंत नहीं मिलता है; परंतु जब वह फल प्राप्त होता है, तब मूल और शाखा दोनोंको जलाकर भस्म कर देता है ॥ १७½ ॥

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ॥ १८ ॥
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ॥ १९ ॥
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति।
सम्बद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते ॥ २० ॥

पापी मनुष्य पापकर्मके द्वारा धन पाकर हर्षसे खिल उठता है। वह पापी चोरीसे ही बढ़ता हुआ पापमें आसक्त हो जाता है और यह समझकर कि धर्म है ही नहीं, पवित्रात्मा पुरुषोंकी हँसी उड़ाता है। धर्ममें उसकी तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती और पापके ही द्वारा वह विनाशके मुखमें जा पड़ता है। वह अपनेको देवताओं-सा अजर-अमर मानता है; परंतु उसे वरुणके पाशोंमें बँधना पड़ता है ॥ १८—२० ॥

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते।
ततः समूलो ह्रियते नदीकूलादिव द्रुमः ॥ २१ ॥

जैसे चमड़ेकी थैली हवा भरनेसे फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पापसे फूल उठता है। वह पुण्यकर्ममें कभी प्रवृत्त ही नहीं होता है, तदनन्तर जैसे नदीके तटपर खड़ा हुआ वृक्ष वहाँसे जड़सहित उखड़कर नदीमें बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि।
तस्माद् धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ॥ २२ ॥

पत्थरपर पटके हुए घड़ेके समान उसके टूक-टूक हो जाते हैं और सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं; अतः राजाको चाहिये कि वह धर्मपूर्वक ही धन और विजय प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

राजाके छलरहित धर्मयुक्त बर्तावकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! किसी भी भूपालको अधर्मके द्वारा पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। अधर्मसे विजय पाकर कौन राजा सम्मानित हो सकता है? ॥ १ ॥

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।

सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥ २ ॥

अधर्मसे पायी हुई विजय स्वर्गसे गिरानेवाली और अस्थायी होती है। भरतश्रेष्ठ ! ऐसी विजय राजा और राज्य दोनोंका पतन कर देती है ॥ २ ॥

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम्।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत्॥ ३ ॥

जिसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया हो, जो 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहा हो और हाथ जोड़े खड़ा हो अथवा जिसने हथियार रख दिये हों, ऐसे विपक्षी योद्धाको कैद करके मारे नहीं ॥ ३ ॥

बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः।
संवत्सरं विप्रणयेत् तस्माज्जातः पुनर्भवेत्॥ ४ ॥

जो बलके द्वारा पराजित कर दिया गया हो, उसके साथ राजा कदापि युद्ध न करे। उसे कैद करके एक सालतक अनुकूल रहनेकी शिक्षा दे; फिर उसका नया जन्म होता है। वह विजयी राजाके लिये पुत्रके समान हो जाता है (इसलिये एक साल बाद उसे छोड़ देना चाहिये) ॥ ४ ॥

नार्वाक्संवत्सरात् कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत्सहसाऽऽहृतम्॥ ५ ॥

यदि राजा किसी कन्याको अपने पराक्रमसे हरकर ले आवे तो एक सालतक उससे कोई प्रश्न न करे (एक सालके बाद पूछनेपर यदि वह कन्या किसी दूसरेको वरण करना चाहे तो उसे लौटा देना चाहिये)। इसी प्रकार सहसा छलसे अपहरण करके लाये हुए सम्पूर्ण धनके विषयमें भी समझना चाहिये (उसे भी एक सालके बाद उसके स्वामीको लौटा देना चाहिये) ॥ ५ ॥

न तु वध्यधनं तिष्ठेत् पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः।
युञ्जीरन्नप्यनडुहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत्॥ ६ ॥

चोर आदि अपराधियोंका धन लाया गया हो तो उसे अपने पास न रक्खे (सार्वजनिक कार्योंमें लगा दे) और यदि गौ छीनकर लायी गयी हो तो उसका दूध स्वयं न पीकर ब्राह्मणोंको पिलावे। बैल हों तो उन्हें ब्राह्मणलोग ही गाड़ी आदिमें जोतें अथवा उन सब अपहृत वस्तुओं या धनका स्वामी आकर क्षमा-प्रार्थना करे तो उसे क्षमा करके उसका धन उसे लौटा देना चाहिये ॥ ६ ॥

राज्ञा राजैव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते।
नान्यो राजानमभ्यस्येदराजन्यः कथञ्चन॥ ७ ॥

राजाको राजाके साथ ही युद्ध करना चाहिये। उसके लिये यही धर्म विहित है। जो राजा या राजकुमार नहीं है, उसे किसी प्रकार भी राजापर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरा।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत्॥ ८ ॥

दोनों ओरकी सेनाओंके भिड़ जानेपर यदि उनके बीचमें संधि करानेकी इच्छासे ब्राह्मण आ जाय तो दोनों पक्षवालोंको तत्काल युद्ध बंद कर देना चाहिये ॥ ८ ॥

मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद् ब्राह्मणं योऽभिलङ्घयेत्।
अथ चेल्लङ्घयेदेव मर्यादां क्षत्रियब्रुवः॥ ९ ॥
असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि।

इन दोनोंमेंसे जो कोई भी पक्ष ब्राह्मणका तिरस्कार करता है, वह सनातनकालसे चली आयी हुई मर्यादाको तोड़ता है। यदि अपनेको क्षत्रिय कहनेवाला अधम योद्धा उस मर्यादाका उल्लङ्घन कर ही डाले तो उसके बादसे उसे क्षत्रियजातिके अंदर नहीं गिनना चाहिये और क्षत्रियोंकी सभामें उसे स्थान भी नहीं देना चाहिये ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च॥ १० ॥
तां वृत्तिं नानुवर्तेत विजिगीषुर्महीपतिः।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत्॥ ११॥

जो कोई धर्मका लोप और मर्यादाको भङ्ग करके विजय पाता है, उसके इस बर्तावका विजयाभिलाषी नरेशको अनुसरण नहीं करना चाहिये। धर्मके द्वारा प्राप्त हुई विजयसे बढ़कर दूसरा कौन-सा लाभ हो सकता है ? ॥ १०-११ ॥

सहसानार्यभूतानि क्षिप्रमेव प्रसादयेत्।
सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः॥ १२ ॥

विजयी राजाको चाहिये कि वह मधुर वचन बोलकर और उपभोगकी वस्तुएँ देकर अनार्य (म्लेच्छ आदि) प्रजाको शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न कर ले। यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १२ ॥

भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिताः।
अमित्रास्तमुपासीरन् व्यसनौघप्रतीक्षिणः॥ १३ ॥

यदि ऐसा न करके अनुचित कठोरताके द्वारा उनपर शासन किया जाता है तो वे दुखी होकर अपने देशसे चले जाते हैं और शत्रु बनकर विजयी राजाकी विपत्तिके समयकी बाट देखते हुए कहीं पड़े रहते हैं ॥ १३ ॥

अमित्रोपग्रहं चास्य ते कुर्युः क्षिप्रमापदि।
संतुष्टाः सर्वतो राजन् राजव्यसनकाङ्क्षिणः॥ १४ ॥

राजन् ! जब विजयी राजापर कोई विपत्ति आ जाती है, तब वे राजापर संकट पड़नेकी इच्छा रखनेवाले लोग विपक्षियोंद्वारा सब प्रकारसे संतुष्ट हो राजाके शत्रुओंका पक्ष ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजेच्च कदाचन॥ १५ ॥

शत्रुके साथ छल नहीं करना चाहिये। उसे किसी प्रकार भी अत्यन्त उच्छिन्न करना उचित नहीं है। अत्यन्त क्षत-विक्षत कर देनेपर वह कभी अपने जीवनका त्याग भी कर सकता है ॥ १५ ॥

अल्पेनापि च संयुक्तस्तुष्यत्येव नराधिपः।
शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते॥ १६ ॥

राजा थोड़े-से लाभसे भी संयुक्त होनेपर संतुष्ट हो जाता है। वैसा नरेश निर्दोष जीवनको ही बहुत अधिक महत्त्व देता है ॥ १६ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः ।
संतुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १७ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धन-धान्यसे सम्पन्न तथा राजभक्त होता है और जिसके सेवक एवं मन्त्री संतुष्ट रहते हैं, उसीकी जड़ मजबूत मानी जाती है ॥ १७ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसत्तमाः।
पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकविदुच्यते ॥ १८ ॥

जो राजा ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य तथा अन्यान्य पूजाके पात्र शास्त्रज्ञोंका सत्कार करता है, वही लोकगतिको जाननेवाला कहा जाता है ॥ १८ ॥

एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः ।
अनेन चेन्द्रविषयं विजिगीषन्ति पार्थिवाः ॥ १९ ॥

इसी बर्तावसे देवराज इन्द्रने राज्य पाया था और इसी बर्तावके द्वारा भूपालगण स्वर्गलोकपर विजय पाना चाहते हैं ॥

भूमिवर्जं धनं राजा जित्वा राजन् महाहवे ।
अपि चान्नौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥ २० ॥

राजन्! पूर्वकालमें राजा प्रतर्दन महासमरमें विजय प्राप्त करके पराजित राजाकी भूमिको छोड़कर शेष सारा धन, अन्न एवं औषध अपनी राजधानीमें ले आये ॥ २० ॥

अग्निहोत्राग्निशेषं च हविर्भोजनमेव च ।
आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोऽभवत् ॥ २१ ॥

राजा दिवोदास अग्निहोत्र, यज्ञका अङ्गभूत हविष्य तथा भोजन भी हर लाये थे। इसीसे वे तिरस्कृत हुए ॥२१॥

सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ ।
अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसार्थाच्च भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन! राजा नाभागने श्रोत्रिय और तापसके धनको छोड़कर शेष सारा राष्ट्र दक्षिणारूपमें ब्राह्मणोंको दे दिया ॥ २२ ॥

उच्चावचानि वित्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर ।
आसन् राज्ञां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! प्राचीन धर्मज्ञ राजाओंके पास जो नाना प्रकारके धन थे, वे सब मुझे भी अच्छे लगते हैं ॥ २३ ॥

सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः ।
न मायया न दम्भेन य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २४ ॥

जिस राजाको अपना वैभव बढ़ानेकी इच्छा हो, वह सम्पूर्ण विद्याओंके उत्कर्षद्वारा विजय पानेकी इच्छा करे; दम्भ या पाखण्डद्वारा नहीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

शूरवीर क्षत्रियोंके कर्तव्यका तथा उनकी आत्मशुद्धि और सद्गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षत्रधर्मान्न पापीयान् धर्मोऽस्ति नराधिप ।
अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर! क्षत्रियधर्मसे बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है; क्योंकि राजा किसी देशपर चढ़ाई करने और युद्ध छेड़नेके द्वारा महान् जन-संहार कर डालता है ॥ १ ॥

अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

विद्वन्! भरतश्रेष्ठ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि राजाको किस कर्मसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है; अतः यही मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! पापियोंको दण्ड देने और सत्पुरुषोंको आदरपूर्वक अपनानेसे तथा यज्ञोंका अनुष्ठान और दान करनेसे राजालोग सब प्रकारके दोषोंसे छूटकर निर्मल एवं शुद्ध हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः ।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥

जो राजा विजयकी कामना रखकर युद्धके समय प्राणियोंको कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही विजय प्राप्त कर लेनेके बाद पुनः सारी प्रजाकी उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञतपोबलैः ।
अनुग्रहाय भूतानां पुण्यमेषां विवर्धते ॥ ५ ॥

वे दान, यज्ञ और तपके प्रभावसे अपने सारे पाप नष्ट कर डालते हैं; फिर तो प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये उनके पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

यथैव क्षेत्रनिर्याता निर्यातं क्षेत्रमेव च ।
हिनस्ति धान्यं कक्षं च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥
एवं शस्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्याननेकधा ।
तस्यैषा निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः ॥७॥

जैसे खेतको निरानेवाला किसान जिस खेतकी निराई करता है, उसकी घास आदिके साथ-साथ कितने ही धानके

पौधोंको भी काट डालता है तो भी धान नष्ट नहीं होता है (बल्कि निराई करनेके पश्चात् उसकी उपज और बढ़ती है)। इसी प्रकार जो युद्धमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके राजसैनिक वध करने योग्य शत्रुओंका अनेक प्रकारसे वध करते हैं, राजाके उस कर्मका यही पूरा-पूरा प्रायश्चित्त है कि उस युद्धके पश्चात् उस राज्यके प्राणियोंकी पुनः सब प्रकारसे उन्नति करे ॥ ६-७ ॥

यो भूतानि धनाक्रान्त्या वधात् क्लेशाच्च रक्षति।
दस्युभ्यः प्राणदानात् स धनदः सुखदो विराट् ॥८॥

जो राजा समस्त प्रजाको धनक्षय, प्राणनाश और दुःखोंसे बचाता है, लुटेरोंसे रक्षा करके जीवन-दान देता है, वह प्रजाके लिये धन और सुख देनेवाला परमेश्वर माना गया है॥

स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथाभयदक्षिणैः।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ९ ॥

वह राजा सम्पूर्ण यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करके प्राणियोंको अभय-दान देकर इहलोकमें सुख भोगता है और परलोकमें भी इन्द्रके समान स्वर्गलोकका अधिकारी होता है ॥

ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽरिभिः सृत्य युध्यति।
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ १० ॥

ब्राह्मणकी रक्षाका अवसर आनेपर जो आगे बढ़कर शत्रुओंके साथ युद्ध छेड़ देता है और अपने शरीरको यूपकी भाँति निछावर कर देता है, उसका वह त्याग अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञके ही तुल्य है ॥ १० ॥

अभीतो विकिरञ्शत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ॥ ११ ॥

जो निर्भय हो शत्रुओंपर बाणोंकी वर्षा करता और स्वयं भी बाणोंका आघात सहता है, उस क्षत्रियके लिये उस कर्मसे बढ़कर देवतालोग इस भूतलपर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

तस्य शस्त्राणि यावन्ति त्वचं भिन्दन्ति संयुगे।
तावतः सोऽश्नुते लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान्॥१२॥

युद्धस्थलमें उस वीर योद्धाकी त्वचाको जितने शस्त्र विदीर्ण करते हैं, उतने ही सर्वकामनापूरक अक्षय लोक उसे प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

यदस्य रुधिरं गात्रादाहवे सम्प्रवर्तते।
सह तेनैव रक्तेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

समरभूमिमें उसके शरीरसे जो रक्त बहता है, उस रक्तके साथ ही वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

यानि दुःखानि सहते क्षत्रियो युधि तापितः।
तेन तेन तपो भूय इति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

युद्धमें बाणोंसे पीड़ित हुआ क्षत्रिय जो-जो दुःख सहता है, उस-उस कष्टके द्वारा उसके तपकी ही उत्तरोत्तर वृद्धि होती है; ऐसी धर्मज्ञ पुरुषोंकी मान्यता है ॥ १४ ॥

पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तन्तेऽधर्मपूरुषाः।
शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम् ॥ १५ ॥

जैसे समस्त प्राणी बादलसे जीवनदायक जलकी इच्छा रखते हैं, उसी प्रकार शूरवीरसे अपनी रक्षा चाहते हुए डरपोक एवं नीच श्रेणीके मनुष्य युद्धमें वीर योद्धाओंके पीछे खड़े रहते हैं ॥ १५ ॥

यदि शूरस्तथा क्षेमं प्रतिरक्षेद् यथाभये।
प्रतिरूपं जनं कुर्यान्न चेत् तद्वर्तते तथा ॥ १६ ॥

अभयकालके समान ही उस भयके समय भी यदि कोई शूरवीर उस भीरु पुरुषकी सकुशल रक्षा कर लेता है तो उसके प्रति वह अपने अनुरूप उपकार एवं पुण्य करता है। यदि पृष्ठवर्ती पुरुषको वह अपने-जैसा न बना सके तो भी पूर्वकथित पुण्यका भागी तो होता ही है ॥ १६ ॥

यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैवतम्।
युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद् वर्तते तथा ॥ १७ ॥

यदि वे रक्षा पाये हुए मनुष्य कृतज्ञ होकर सदैव उस शूरवीरके सामने नतमस्तक होते रहें, तभी उसके प्रति उचित एवं न्यायसङ्गत कर्तव्यका पालन कर पाते हैं; अन्यथा उनकी स्थिति इसके विपरीत होती है ॥ १७ ॥

पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम्।
संग्रामेऽनीकवेलायामुत्कृष्टेऽभिपतन्त्युत ॥ १८ ॥

सभी पुरुष देखनेमें समान होते हैं; परंतु युद्धस्थलमें जब सैनिकोंके परस्पर भिड़नेका समय आता है और चारों ओरसे वीरोंकी पुकार होने लगती है, उस समय उनमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। एक श्रेणीके वीर तो निर्भय होकर शत्रुओंपर टूट पड़ते हैं और दूसरी श्रेणीके लोग प्राण बचानेकी चिन्तामें पड़ जाते हैं ॥ १८ ॥

पतत्यभिमुखः शूरः परान् भीरुः पलायते।
आस्थाय स्वर्ग्यमध्वानं सहायान् विषमे त्यजेत् ॥ १९ ॥

शूरवीर शत्रुके सम्मुख वेगसे आगे बढ़ता है और भीरु पुरुष पीठ दिखाकर भागने लगता है। वह स्वर्गलोकके मार्गपर पहुँचकर भी अपने सहायकोंको उस संकटके समय अकेला छोड़ देता है ॥ १९ ॥

मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान्।
ये सहायान् रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान् ययुः ॥२०॥

तात ! जो लोग रणभूमिमें अपने सहायकोंको छोड़कर कुशलपूर्वक अपने घर लौट जाते हैं, वैसे नराधमोंको तुम कभी पैदा मत करना ॥ २० ॥

अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः।
त्यागेन यः सहायानां स्वान् प्राणांस्त्रातुमिच्छति ॥२१॥
तं हन्युः काष्ठलोष्टैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना।
पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥

उनके लिये इन्द्र आदि देवता अमङ्गल मनाते हैं। जो सहायकोंको छोड़कर अपने प्राण बचानेकी इच्छा रखता है, ऐसे कायरको उसके साथी क्षत्रिय लाठी या ढेलोंसे पीटें अथवा घासके ढेरकी आगमें जला दें या उसे पशुकी भाँति गला घोटकर मार डालें ॥ २१-२२ ॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥ २३ ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥

खाटपर सोकर मरना क्षत्रियके लिये अधर्म है। जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र छोड़ता तथा दुखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीरसे मृत्युको प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्मकी प्राचीन धर्मको जाननेवाले विद्वान् पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २३-२४ ॥

न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौटीराणामशौटीर्यमधर्मं कृपणं च तत् ॥ २५ ॥

क्योंकि तात ! वीर क्षत्रियोंका घरमें मरण हो, यह उनके लिये प्रशंसाकी बात नहीं है। वीरोंके लिये यह कायरता और दीनता अधर्मकी बात है ॥ २५ ॥

इदं दुःखं महत् कष्टं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥ २६ ॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥ २७ ॥

'यह बड़ा दुःख है। बड़ी पीड़ा हो रही है ! यह मेरे किसी महान् पापका सूचक है।' इस प्रकार आर्तनाद करना, विकृत-मुख हो जाना, दुर्गन्धित शरीरसे मन्त्रियोंके लिये निरन्तर शोक करना, नीरोग मनुष्योंकी-सी स्थिति प्राप्त करनेकी कामना करना और वर्तमान रुग्णावस्थामें बारंबारमृत्युकी इच्छा रखना—ऐसी मौत किसी स्वाभिमानी वीरके योग्य नहीं है ॥

रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ २८ ॥

क्षत्रियको तो चाहिये कि अपने सजातीय बन्धुओंसे घिरकर समराङ्गणमें महान् संहार मचाता हुआ तीखे शस्त्रोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर प्राणोंका परित्याग करे—वह ऐसी ही मृत्युके योग्य है ॥ २८ ॥

शूरो हि काममन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् ।
हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥

शूरवीर क्षत्रिय विजयकी कामना और शत्रुके प्रति रोषसे युक्त हो बड़े वेगसे युद्ध करता है। शत्रुओंद्वारा क्षत-विक्षत किये जानेवाले अपने अङ्गोंकी उसे सुध-बुध नहीं रहती है ॥ २९ ॥

स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्येति सलोकताम् ॥ ३० ॥

वह युद्धमें लोकपूजित सर्वश्रेष्ठ मृत्यु एवं महान् धर्मको पाकर इन्द्रलोकमें चला जाता है ॥ ३० ॥

सर्वोपायै रणमुखमातिष्ठंस्त्यक्तजीवितः ।
प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥

शूरवीर प्राणोंका मोह छोड़कर युद्धके मुहानेपर खड़ा होकर सभी उपायोंसे जूझता है और शत्रुको कभी पीठ नहीं दिखाता है; ऐसा शूरवीर इन्द्रके समान लोकका अधिकारी होता है ॥ ३१ ॥

यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि दैन्यं न सेवते ॥ ३२ ॥

शत्रुओंसे घिरा हुआ शूरवीर यदि मनमें दीनता न लावे तो वह जहाँ कहीं भी मारा जाय, अक्षय लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

इन्द्र और अम्बरीषके संवादमें नदी और यज्ञके रूपकोंका वर्णन तथा समरभूमिमें जूझते हुए मारे जानेवाले शूरवीरोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो शूरवीर शत्रुके साथ डटकर युद्ध करते हैं और कभी पीठ नहीं दिखाते, वे समराङ्गणमें मृत्युको प्राप्त होकर किन लोकोंमें जाते हैं, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें अम्बरीष और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अम्बरीषो हि नाभागिः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् ।
ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥ ३ ॥

नाभागपुत्र अम्बरीषने अत्यन्त दुर्लभ स्वर्गलोकमें जाकर देखा कि उनका सेनापति देवलोकमें इन्द्रके साथ विराजमान है ॥

सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम् ।
उपर्युपरि गच्छन्तं स्वं वै सेनापतिं प्रभुम् ॥ ४ ॥
स दृष्ट्वोपरि गच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः ।
ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितः प्राह वासवम् ॥ ५ ॥

वह सम्पूर्णतः तेजस्वी, दिव्य एवं श्रेष्ठ विमानपर बैठकर ऊपर-ऊपर चला जा रहा था। अपने शक्तिशाली सेनापतिको अपनेसे भी ऊपर होकर जाते देख सुदेवकी उस समृद्धिका

प्रत्यक्ष दर्शन करके उदारबुद्धि राजा अम्बरीष आश्चर्यसे चकित हो उठे और इन्द्रदेवसे बोले ॥ ४-५ ॥

अम्बरीष उवाच

सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशास्य यथाविधि ।
चातुर्वर्ण्यं यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥ ६ ॥

अम्बरीषने पूछा—देवराज ! मैं समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका विधिपूर्वक शासन और संरक्षण करता था। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार धर्मकी कामनासे चारों वर्णोंके पालनमें तत्पर रहता था ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण घोरेण गुर्वाचारेण सेवया ।
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रं च केवलम् ॥ ७ ॥

मैंने घोर ब्रह्मचर्यका पालन करके गुरुके बताये हुए आचार और गुरुकी सेवाके द्वारा धर्मपूर्वक वेदोंका अध्ययन किया तथा राजशास्त्रकी विशेष शिक्षा प्राप्त की ॥ ७ ॥

अतिथीनन्नपानेन पितृंश्च स्वधया तथा ।
ऋषीन् स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान् यज्ञैरनुत्तमैः ॥ ८ ॥

सदा ही अन्न-पान देकर अतिथियोंका, श्राद्धकर्म करके पितरोंका, स्वाध्यायकी दीक्षा लेकर ऋषियोंका तथा उत्तमोत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका पूजन किया ॥ ८ ॥

क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि ।
उदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥ ९ ॥

देवेन्द्र ! मैं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्षत्रिय-धर्ममें स्थित होकर सेनाकी देख-भाल करता और युद्धमें शत्रुओंपर विजय पाता था ॥ ९ ॥

देवराज सुदेवोऽयं मम सेनापतिः पुरा ।
आसीद् योधः प्रशान्तात्मा सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥१०॥

देवराज ! यह सुदेव पहले मेरा सेनापति था। शान्त-स्वभावका एक सैनिक था; फिर यह मुझे लाँघकर कैसे जा रहा है ? ॥ १० ॥

अनेन क्रतुभिर्मुख्यैर्नेष्टं नापि द्विजातयः ।
तर्पिता विधिवच्छक्र सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ ११ ॥
(ऐश्वर्यमीदृशं प्राप्तः सर्वदेवैः सुदुर्लभम् ।

इन्द्रदेव ! इसने न तो बड़े-बड़े यज्ञ किये और न विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको ही तृप्त किया । वही यह सुदेव आज मुझको लाँघकर ऊपर-ऊपरसे कैसे जा रहा है ? इसे ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे प्राप्त हो गया, जो सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ? ॥ ११ ॥

शक्र उवाच

यदनेन कृतं कर्म प्रत्यक्षं ते महीपते ॥
पुरा पालयतः सम्यक् पृथिवीं धर्मतो नृप ।

इन्द्रने कहा—पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! पूर्वकालमें जब आप धर्मके अनुसार भलीभाँति इस पृथ्वीका पालन कर रहे थे, उस समय सुदेवने जो पराक्रम किया था, उसे आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥

शत्रवो निर्जिताः सर्वे ये तवाहितकारिणः ॥
संयमो वियमश्चैव सुयमश्च महाबलः ।
राक्षसा दुर्जया लोके त्रयस्ते युद्धदुर्मदाः ॥
पुत्रास्ते शतशृङ्गस्य राक्षसस्य महीपते ॥

महीपाल ! उन दिनों आपके तीन शत्रु थे—संयम, वियम और महाबली सुयम। वे सब-के-सब आपका अहित करनेवाले थे। वे शतशृङ्ग नामक राक्षसके पुत्र थे। लोकमें किसीके लिये भी उन तीनों रणदुर्मद राक्षसोंपर विजय पाना कठिन था। सुदेवने उन सबको परास्त कर दिया था ॥

अथ तस्मिञ्शुभे काले तव यज्ञं वितन्वतः ।
अश्वमेधं महायागं देवानां हितकाम्यया ।
तस्य ते खलु विघ्नार्थं आगता राक्षसास्त्रयः ।

एक समय जब आप देवताओंके हितकी इच्छासे शुभ मुहूर्तमें अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, उन्हीं दिनों आपके उस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये वे तीनों राक्षस वहाँ आ पहुँचे ॥

कोटीशतपरीवारां राक्षसानां महाचमूम् ।
परिगृह्य ततः सर्वाः प्रजा बन्दीकृतास्तव ॥
विह्वलाश्च प्रजाः सर्वाः सर्वे च तव सैनिकाः ।

उन्होंने सौ करोड़ राक्षसोंकी विशाल सेना साथ लेकर आक्रमण किया और आपकी समस्त प्रजाओंको पकड़कर बंदी बना लिया। उस समय आपकी समस्त प्रजा और सारे सैनिक व्याकुल हो उठे थे ॥

निराकृतस्त्वया चासीत् सुदेवः सैन्यनायकः॥
तत्रामात्यवचः श्रुत्वा निरस्तः सर्वकर्मसु ॥

उन दिनों सेनापतिके विरुद्ध मन्त्रीकी बात सुनकर आपने सेनापति सुदेवको अधिकारसे वञ्चित करके सब कार्योंसे अलग कर दिया था ॥

श्रुत्वा तेषां वचो भूयः सोपधं वसुधाधिप ।
सर्वसैन्यसमायुक्तः सुदेवः प्रेरितस्त्वया ॥
राक्षसानां वधार्थाय दुर्जयानां नराधिप ।

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! फिर उन्हीं मन्त्रियोंकी कपटपूर्ण बात सुनकर आपने उन दुर्जय राक्षसोंके वधके लिये सेनासहित सुदेवको युद्धमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥

नाजित्वा राक्षसीं सेनां पुनरागमनं तव ॥
बन्दीमोक्षमकृत्वा च न चागमनमिष्यते ।

और जाते समय यह कहा—'राक्षसोंकी सेनाको पराजित करके उनके कैदमें पड़ी हुई प्रजा और सैनिकोंका उद्धार किये बिना तुम यहाँ लौटकर मत आना' ॥

सुदेवस्तद्वचः श्रुत्वा प्रस्थानमकरोन्नृप ॥
सम्प्राप्तश्च स तं देशं यत्र बन्दीकृताः प्रजाः ।
पश्यति स महाघोरां राक्षसानां महाचमूम् ॥

नरेश्वर ! आपकी वह बात सुनकर सुदेवने तुरंत ही प्रस्थान

किया और वह उस स्थानपर गया, जहाँ आपकी प्रजा बंदी बना ली गयी थी। उसने वहाँ राक्षसोंकी महाभयंकर विशाल सेना देखी ॥

दृष्ट्वा संचिन्तयामास सुदेवो वाहिनीपतिः ।
नेयं शक्या चमूर्जेतुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥
नाम्बरीषः कलामेकामेषां क्षपयितुं क्षमः ।
दिव्यास्त्रबलभूयिष्ठः किमहं पुनरीदृशः ॥

उसे देखकर सेनापति सुदेवने सोचा कि यह विशाल वाहिनी तो इन्द्र आदि देवताओं तथा असुरोंसे भी नहीं जीती जा सकती। महाराज अम्बरीष दिव्य अस्त्र एवं दिव्य बलसे सम्पन्न हैं, परंतु वे इस सेनाके सोलहवें भागका भी संहार करनेमें समर्थ नहीं हैं। जब उनकी यह दशा है, तब मेरे-जैसा साधारण सैनिक इस सेनापर कैसे विजय पा सकता है! ॥

ततः सेनां पुनः सर्वां प्रेषयामास पार्थिव ।
यत्र त्वं सहितः सर्वैर्मन्त्रिभिः सोपधैर्नृप ॥

राजन्! यह सोचकर सुदेवने फिर सारी सेनाको वहीं वापस भेज दिया, जहाँ आप उन समस्त कपटी मन्त्रियोंके साथ विराजमान थे ॥

ततो रुद्रं महादेवं प्रपन्नो जगतः पतिम् ।
श्मशाननिलयं देवं तुष्टाव वृषभध्वजम् ॥

तदनन्तर सुदेवने श्मशानवासी महादेव जगदीश्वर रुद्रदेवकी शरण ली और उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥

स्तुत्वा शस्त्रं समादाय स्वशिरश्छेत्तुमुद्यतः ।
कारुण्याद् देवदेवेन गृहीतस्तस्य दक्षिणः ॥
सपाणिः सह शस्त्रेण दृष्ट्वा चेदमुवाच ह ।

स्तुति करके वह खड्ग हाथमें लेकर अपना सिर काटनेको उद्यत हो गया। तब देवाधिदेव महादेवने करुणावश सुदेवका वह खड्गसहित दाहिना हाथ पकड़ लिया और उसकी ओर स्नेहपूर्वक देखकर इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

किमिदं साहसं पुत्र कर्तुकामो वदस्व मे ।

रुद्र बोले—पुत्र! तुम ऐसा साहस क्यों करना चाहते हो? मुझसे कहो ॥

इन्द्र उवाच

स उवाच महादेवं शिरसा त्ववनीं गतः ॥
भगवन् वाहिनीमेनां राक्षसानां सुरेश्वर ।
अशक्तोऽहं रणे जेतुं तस्मात् त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥
गतिर्भव महादेव ममार्तस्य जगत्पते ।
नागन्तव्यमजित्वा च मामाह जगतीपतिः ॥
अम्बरीषो महादेव क्षारितः सचिवैः सह ।
तमुवाच महादेवः सुदेवं पतितं क्षितौ ।
अधोमुखं महात्मानं सत्त्वानां हितकाम्यया ॥
धनुर्वेदं समाहूय सगुणं सहविग्रहम् ।
रथनागाश्वकलिलं दिव्यास्त्रसमलंकृतम् ॥
रथं च सुमहाभागं येन तत् त्रिपुरं हतम् ।
धनुः पिनाकं खड्गं च रौद्रमस्त्रं च शङ्करः ॥
निजघानासुरान् सर्वान् येन देवस्त्र्यम्बकः ।
उवाच च महादेवः सुदेवं वाहिनीपतिम् ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन्! तब सुदेवने महादेवजीको पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'भगवन्! सुरेश्वर! मैं इस राक्षससेनाको युद्धमें नहीं जीत सकता; इसलिये इस जीवनको त्याग देना चाहता हूँ। महादेव! जगत्पते! आप मुझ आर्तको शरण दें। मन्त्रियोंसहित महाराज अम्बरीष मुझपर कुपित हुए बैठे हैं। उन्होंने स्पष्टरूपसे आज्ञा दी है कि इस सेनाको पराजित किये बिना तुम लौटकर न आना।' तब महादेवजीने पृथ्वीपर नीचे मुख किये पड़े हुए महामना सुदेवसे समस्त प्राणियोंके हितकी कामनासे कुछ कहनेकी इच्छा की। पहले उन्होंने गुण और शरीरसहित धनुर्वेदको बुलाकर रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई सेनाका आवाहन किया, जो दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे विभूषित थी। इसके बाद उन्होंने उस महान् भाग्यशाली रथको भी वहाँ उपस्थित कर दिया, जिससे उन्होंने त्रिपुरका नाश किया था। फिर पिनाकनामक धनुष, अपना खड्ग तथा अस्त्र भी भगवान् शंकरने दे दिया, जिसके द्वारा उन भगवान् त्रिलोचनने समस्त असुरोंका संहार किया था। तदनन्तर महादेवजीने सेनापति सुदेवसे इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

रथादस्मात् सुदेव त्वं दुर्जयस्तु सुरासुरैः ।
मायया मोहितो भूमौ न पदं कर्तुमर्हसि ॥
अत्रस्थस्त्रिदशान् सर्वाञ्जेष्यसे सर्वदानवान् ।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च न शक्ता द्रष्टुमीदृशम् ॥
रथं सूर्यसहस्राभं किमु योद्धुं त्वया सह ।

रुद्र बोले—सुदेव! तुम इस रथके कारण देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय हो गये हो, परंतु किसी मायासे मोहित होकर अपना पैर पृथ्वीपर न रख देना। इसपर बैठे रहोगे, तो समस्त देवताओं और दानवोंको जीत लोगे। यह रथ सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी है। राक्षस और पिशाच ऐसे तेजस्वी रथकी ओर देख भी नहीं सकते; फिर तुम्हारे साथ युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है? ॥

इन्द्र उवाच

स जित्वा राक्षसान् सर्वान् कृत्वा बन्दीविमोक्षणम् ।
घातयित्वा च तान् सर्वान् बाहुयुद्धे त्वयं हतः ॥
वियमं प्राप्य भूपाल वियमश्च निपातितः ॥)

इन्द्र कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् सुदेवने उस रथके द्वारा समस्त राक्षसोंको जीतकर बंदी प्रजाओंको बन्धनसे छुड़ा दिया और समस्त शत्रुओंका संहार करके वियमके साथ बाहुयुद्ध करते समय स्वयं भी मारा गया, साथ ही इसने उस युद्धमें वियमको भी मार डाला ॥

इन्द्र उवाच

एतस्य विततस्तात सुदेवस्य बभूव ह।
संग्रामयज्ञः सुमहान् यश्चान्यो युद्धयते नरः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले—तात ! इस सुदेवने बड़े विस्तारके साथ महान् रणयज्ञ सम्पन्न किया था। दूसरा भी जो मनुष्य युद्ध करता है, उसके द्वारा इसी तरह संग्राम-यज्ञ सम्पादित होता है ॥ १२ ॥

संनद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम्।
युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥

कवच धारण करके युद्धकी दीक्षा लेनेवाला प्रत्येक योद्धा सेनाके मुहानेपर जाकर इसी प्रकार संग्रामयज्ञका अधिकारी होता है। यह मेरा निश्चित मत है ॥ १३ ॥

अम्बरीष उवाच

कानि यज्ञे हवींष्यस्मिन् किमाज्यं का च दक्षिणा।
ऋत्विजश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो ॥ १४ ॥

अम्बरीषने पूछा—शतक्रतो ! इस रणयज्ञमें कौन-सा हविष्य है ? क्या घृत है ? कौन-सी दक्षिणा है और इसमें कौन-कौन-से ऋत्विज बताये गये हैं ? यह मुझसे कहिये ॥

इन्द्र उवाच

ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा।
हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमुच्यते ॥ १५ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! इस युद्धयज्ञमें हाथी ही ऋत्विज हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रुओंका मांस ही हविष्य है और उनके रक्तको ही घृत कहा जाता है ॥ १५ ॥

शृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र पत्रिणः।
आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे ॥ १६ ॥

सियार, गीध, कौए तथा अन्य मांसभक्षी पक्षी उस यज्ञशालाके सदस्य हैं, जो यज्ञावशिष्ट घृत (रक्त) को पीते और उस यज्ञमें अर्पित हविष्य (मांस) को खाते हैं ॥ १६ ॥

प्रासतोमरसंघाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः।
ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः॥ १७ ॥

प्रास, तोमरसमूह, खड्ग, शक्ति, फरसे आदि चमचमाते हुए तीखे और पानीदार शस्त्र यज्ञकर्ताके लिये स्रुक्‌का काम देते हैं ॥ १७ ॥

चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावभेदनः।
ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकश्च स्रुवो महान् ॥ १८ ॥

धनुषके वेगसे दूरतक जानेके कारण जो विशाल आकार धारण करता है, वह शत्रुके शरीरको विदीर्ण करनेवाला, तीखा, सीधा, पैना और पानीदार बाण ही यजमानके हाथमें स्थित महान् स्रुव है ॥ १८ ॥

द्वीपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः।
हस्तिहस्तहरः खड्गः स्फ्यो भवेत् तस्य संयुगे ॥ १९ ॥

जो व्याघ्रचर्मकी म्यानमें बँधा रहता है, जिसकी मूँठ हाथीके दाँतकी बनी होती है तथा जो गजराजोंके शुण्डदण्डको काट लेता है, वह खड्ग उस युद्धमें स्फ्यका काम देता है ॥

ज्वलितैर्निशितैः प्रासशक्त्यृष्टिसपरश्वधैः।
शैक्यायसमयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद् वसु ॥ २० ॥
संख्यासमयविस्तीर्णमभिजातोद्भवं बहु।

उज्ज्वल और तेज धारवाले, सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए तथा तीखे प्रास, शक्ति, ऋष्टि और परशु आदि अस्त्र-शस्त्रों-द्वारा जो आघात किया जाता है, वही उस युद्धयज्ञका बहुसंख्यक, अधिक समयसाध्य और कुलीन पुरुषद्वारा संगृहीत नाना प्रकारका द्रव्य है ॥ २०½ ॥

आवेगाद् यच्च रुधिरं संग्रामे स्रवते भुवि ॥ २१ ॥
सास्य पूर्णाहुतिर्होमे समृद्धा सर्वकामधुक्।

वीरोंके शरीरसे संग्रामभूमिमें बड़े वेगसे जो रक्तकी धारा बहती है, वही उस युद्धयज्ञके होममें समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली समृद्धिशालिनी पूर्णाहुति है ॥ २१½ ॥

छिन्धि भिन्धीति यः शब्दः श्रूयते वाहिनीमुखे ॥ २२ ॥
सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने।
हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीमुखम् ॥ २३ ॥

सेनाके मुहानेपर जो 'काट डालो, फाड़ डालो' आदिका भयंकर शब्द सुना जाता है, वही सामगान है। सैनिकरूपी सामगायक शत्रुओंको यमलोकमें भेजनेके लिये मानो साम-गान करते हैं। शत्रुओंकी सेनाका प्रमुख भाग उस वीर यजमानके लिये हविर्धान (हविष्य रखनेका पात्र) बताया गया है ॥ २२-२३ ॥

कुञ्जराणां हयानां च वर्मिणां च समुच्चयः।
अग्निः श्येनचितो नाम स च यज्ञे विधीयते ॥ २४ ॥

हाथी, घोड़े और कवचधारी वीर पुरुषोंके समूह ही उस युद्धयज्ञके श्येनचित नामक अग्नि हैं ॥ २४ ॥

उत्तिष्ठते कबन्धोऽत्र सहस्रे निहते तु यः।
स यूपस्तस्य शूरस्य खादिरोऽष्टास्रिरुच्यते ॥ २५ ॥

सहस्रों वीरोंके मारे जानेपर जो कबन्ध खड़े दिखायी देते हैं, वे ही मानो उस शूरवीरके यज्ञमें खदिरकाष्ठके बने हुए आठ कोणवाले यूप कहे गये हैं ॥ २५ ॥

इडोपहूताः क्रोशन्ति कुञ्जरास्त्वंकुशेरिताः।
व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव ॥ २६ ॥
उद्गाता तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिर्नृप।

राजन् ! वाणीद्वारा ललकारने और महावतोंके अंकुशों-की मार खानेपर हाथी जो चिग्घाड़ते हैं, कोलाहल और करतलध्वनिके साथ होनेवाली वह चिग्घाड़नेकी आवाज उस यज्ञमें वषट्‌कार है। नरेश्वर ! संग्राममें जिस दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनि होती है, वही सामवेदके तीन मन्त्रोंका पाठ करनेवाला उद्गाता है ॥ २६½ ॥

ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे तु त्यक्त्वा युद्धे प्रियां तनुम् ॥२७॥
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः।

जब लुटेरे ब्राह्मणके धनका अपहरण करते हों, उस

समय वीर पुरुष उनके साथ किये जानेवाले युद्धमें अपने प्रिय शरीरके त्यागके लिये जो उद्यम करता है अथवा जो देहरूपी यूपका उत्सर्ग करके प्रहार ही कर बैठता है, उसका वह युद्ध ही अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है॥

भर्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद् वाहिनीमुखे ॥ २८ ॥
न भयाद् विनिवर्तेत तस्य लोका यथा मम ।

जो शूरवीर अपने स्वामीके लिये सेनाके मुहानेपर खड़ा होकर पराक्रम प्रकट करता है और भयसे कभी पीठ नहीं दिखाता, उसको मेरे समान लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥२८½॥

नीलचर्मावृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ॥ २९ ॥
यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी नीले चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रखी जानेवाली तलवारों तथा परिघके समान मोटी-मोटी भुजाओंसे बिछ जाती है, उसे वैसे ही लोक प्राप्त होते हैं, जैसे मुझे मिले हैं ॥ २९½ ॥

यस्तु नापेक्षते कंचित् सहायं विजये स्थितः ॥ ३० ॥
विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम ।

जो विजयके लिये युद्धमें डटा रहकर शत्रुकी सेनामें घुस जाता है और दूसरे किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं रखता, उसे मेरे समान ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३०½ ॥

यस्य शोणितसंघाता भेरीमण्डूककच्छपा ॥ ३१ ॥
वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा ।
असिचर्मप्लवा घोरा केशशैवलशाद्वला ॥ ३२ ॥
अश्वनागरथैश्चैव संच्छिन्नैः कृतसंक्रमा ।
पताकाध्वजवानीरा हतवारणवाहिनी ॥ ३३ ॥
शोणितोदा सुसम्पूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः ।
हतनागमहानक्रा परलोकवहाशिवा ॥ ३४ ॥
ऋष्टिखड्गमहानौका गृध्रकङ्कबलप्लवा ।
पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ॥ ३५ ॥
नदी योधस्य संग्रामे तदस्यावभृथं स्मृतम् ।

जिस योद्धाके युद्धरूपी यज्ञमें रक्तकी नदी प्रवाहित होती है, उसके लिये वह अवभृथस्नानके समान पुण्यजनक है। रक्त ही उस नदीकी जलराशि है, नगाड़े ही मेढक और कछुओंके समान हैं, वीरोंकी हड्डियाँ ही छोटे-छोटे कंकड़ और बालूके समान हैं, उसमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है, मांस और रक्त ही उस नदीकी कीच हैं, ढाल और तलवार ही उसमें नौकाके समान हैं, वह भयानक नदी केशरूपी सेवार और घाससे ढकी हुई है। कटे हुए घोड़े, हाथी और रथ ही उसमें उतरनेके लिये सीढ़ी हैं, ध्वजा-पताका तटवर्ती बेंतकी लताके समान हैं, मारे गये हाथियोंको भी वह बहा ले जानेवाली है, रक्तरूपी जलसे वह लबालब भरी है, पार जानेकी इच्छावाले मनुष्योंके लिये वह अत्यन्त दुस्तर है, मरे हुए हाथी बड़े-बड़े मगरमच्छके समान हैं, वह परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली नदी अमङ्गलमयी प्रतीत होती है, ऋष्टि और खड्ग—ये उससे पार होनेके लिये विशाल नौकाके समान हैं। गीध, कङ्क और काक छोटी-छोटी नौकाओंके समान हैं, उसके आस-पास राक्षस विचरते हैं तथा वह भीरु पुरुषोंको मोहमें डालनेवाली है ॥ ३१—३५½ ॥

वेदिर्यस्य त्वमित्राणां शिरोभ्यश्च प्रकीर्यते ॥ ३६ ॥
अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी शत्रुओंके मस्तकों, घोड़ोंकी गर्दनों और हाथियोंके कंधोंसे बिछ जाती है, उस वीरको मेरे-जैसे ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३६½ ॥

पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ॥ ३७ ॥
हविर्धानं स्ववाहिन्यास्तदस्याहुर्मनीषिणः ।

जो वीर शत्रुसेनाके मुहानेको पत्नीशाला बना लेता है, मनीषी पुरुष उसके लिये अपनी सेनाके प्रमुख भागको युद्ध-यज्ञके हवनीय पदार्थोंके रखनेका पात्र बताते हैं ॥ ३७½ ॥

सदस्या दक्षिणा योधा आग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ॥३८॥
शत्रुसेनाकलत्रस्य सर्वलोका न दूरतः ।

जिस वीरके लिये दक्षिणदिशामें स्थित योद्धा सदस्य हैं, उत्तरदिशावर्ती योद्धा आग्नीध्र (ऋत्विक्) हैं एवं शत्रुसेना पत्नीस्वरूप है, उसके लिये समस्त पुण्यलोक दूर नहीं हैं ॥

यदा तूभयतो व्यूहे भवत्याकाशमग्रतः ॥ ३९ ॥
सास्य वेदिस्तदा यज्ञैर्नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः ।

जब अपनी सेना तथा शत्रुसेना एक दूसरेके सामने व्यूह बनाकर उपस्थित होती है, उस समय दोनोंमेंसे जिसके सम्मुख केवल जनशून्य आकाश रह जाता है, वह निर्जन आकाश ही उस वीरके लिये युद्ध-यज्ञकी वेदी है। उस स्थानपर मानो सदा यज्ञ होता है तथा तीनों वेद और त्रिविध अग्नि सदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ३९½ ॥

यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते परैः ॥ ४० ॥
अप्रतिष्ठः स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः ।

जो योद्धा भयभीत हो पीठ दिखाकर भागता है और उसी अवस्थामें शत्रुओंद्वारा मारा जाता है, वह कहीं भी न ठहरकर सीधा नरकमें गिरता है, इसमें संशय नहीं है ॥४०½॥

यस्य शोणितवेगेन वेदिः स्यात् सम्परिप्लुता ॥ ४१ ॥
केशमांसास्थिसम्पूर्णा स गच्छेत् परमां गतिम्।

जिसके रक्तके वेगसे केश, मांस और हड्डियोंसे भरी हुई रणयज्ञकी वेदी आप्लावित हो उठती है, वह वीर योद्धा परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४१½ ॥

यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यानमधिरोहति ॥ ४२ ॥
स विष्णुविक्रमकामी बृहस्पतिसमः प्रभुः ।

जो योद्धा शत्रुके सेनापतिका वध करके उसके रथपर आरूढ़ हो जाता है, वह भगवान् विष्णुके समान पराक्रमशाली, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली वीर समझा जाता है ॥ ४२½ ॥

नायकं तत्कुमारं वा यो वा स्याद् यत्र पूजितः ॥ ४३ ॥
जीवग्राहं प्रगृह्णाति तस्य लोका यथा मम ।

जो शत्रुपक्षके सेनापति, उसके पुत्र अथवा उस पक्षके किसी भी सम्मानित वीरको जीते-जी पकड़ लेता है, उसको मेरे-जैसे लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४३½ ॥

आहवे तु हतं शूरं न शोचेत कथंचन ॥ ४४ ॥
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ।

युद्धस्थलमें मारे गये शूरवीरके लिये किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिये । वह मारा गया शूरवीर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है, अतः कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ४४½ ॥

न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ॥ ४५ ॥
हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकाञ्शृणुष्व मे ।

युद्धमें मारे गये वीरके लिये उसके आत्मीयजन न तो स्नान करना चाहते हैं, न अशौचसम्बन्धी कृत्यका पालन, न अन्नदान (श्राद्ध) करनेकी इच्छा करते हैं, और न जलदान (तर्पण) करनेकी । उसे जो लोक प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो ॥ ४५½ ॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ४६ ॥
त्वरमाणाभिधावन्ति मम भर्ता भवेदिति ।

युद्धस्थलमें मारे गये शूरवीरकी ओर सहस्रों सुन्दरी अप्सराएँ यह आशा लेकर बड़ी उतावलीके साथ दौड़ी जाती हैं कि यह मेरा पति हो जाय ॥ ४६½ ॥

एतत् तपश्च पुण्यं च धर्मश्चैव सनातनः ॥ ४७ ॥
चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धमनुपालयेत् ।

जो युद्धधर्मका निरन्तर पालन करता है, उसके लिये यही तपस्या, पुण्य, सनातनधर्म तथा चारों आश्रमोंके नियमोंका पालन है ॥ ४७½ ॥

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ॥ ४८ ॥
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ।

युद्धमें वृद्ध, बालक और स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये, किसी भागते हुएकी पीठमें आघात नहीं करना चाहिये, जो मुँहमें तिनका लिये शरणमें आ जाय और कहने लगे कि मैं आपका ही हूँ, उसका भी वध नहीं करना चाहिये ॥

जम्भं वृत्रं बलं पाकं शतमायं विरोचनम् ॥ ४९ ॥
दुर्वार्यं चैव नमुचिं नैकमायं च शम्बरम् ।
विप्रचित्तिं च दैतेयं दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ।
प्रह्लादं च निहत्याजौ ततो देवाधिपोऽभवम् ॥ ५० ॥

जम्भ, वृत्रासुर, बलासुर, पाकासुर, सैकड़ों माया जाननेवाले विरोचन, दुर्जय वीर नमुचि, विविधमायाविशारद शम्बरासुर, दैत्यवंशी विप्रचित्ति, सम्पूर्ण दानवदल तथा प्रह्लादको भी युद्धमें मारकर मैं देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोऽभिपन्नवान् ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रका यह वचन सुनकर राजा अम्बरीषने मन-ही-मन इसे स्वीकार किया और वे यह मान गये कि योद्धाओंको स्वतः सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्राम्बरीषसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और अम्बरीषका संवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ७४½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

शूरवीरोंको स्वर्ग और कायरोंको नरककी प्राप्तिके विषयमें मिथिलेश्वर जनकका इतिहास

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे यह पता चलता है कि किसी समय राजा प्रतर्दन तथा मिथिलेश्वर जनकने परस्पर संग्राम किया था ॥ १ ॥

यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा ।
योधानुद्धर्षयामास तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! यज्ञोपवीतधारी मिथिलापति जनकने रणभूमिमें अपने योद्धाओंको जिस प्रकार उत्साहित किया था, वह सुनो ॥ २ ॥

जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित् ।
योधान् स्वान् दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥ ३ ॥

मिथिलाके राजा जनक बड़े महात्मा और सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञाता थे । उन्होंने अपने योद्धाओंको योगबलसे स्वर्ग और नरकका प्रत्यक्ष दर्शन कराया और इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

अभीरूणामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत ।
पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोऽक्षयाः ॥ ४ ॥

'वीरो ! देखो, ये जो तेजस्वी लोक दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये निर्भय होकर युद्ध करनेवाले वीरोंको प्राप्त होते हैं । ये अविनाशी लोक असंख्य गन्धर्वकन्याओं (अप्सराओं) से भरे हुए हैं और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं ॥

इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः ।
अकीर्तिः शाश्वती चैव पतितव्यमनन्तरम् ॥ ५ ॥

'और देखो, ये जो तुम्हारे सामने नरक उपस्थित हुए हैं, युद्धमें पीठ दिखाकर भागनेवालोंको मिलते हैं । साथ ही इस जगत्‌में उनकी सदा रहनेवाली अपकीर्ति फैल जाती है; अतः अब तुमलोगोंको विजयके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

तान् दृष्ट्वारीन् विजयत भूत्वा संत्यागबुद्धयः ।

राजर्षि जनक अपने सैनिकोंको स्वर्ग और नरककी बात कह रहे हैं

नरकस्याप्रतिष्ठस्य मा भूत वशवर्तिनः ॥ ६ ॥

'उन स्वर्ग और नरक दोनों प्रकारके लोकोंका दर्शन करके तुमलोग युद्धमें प्राण-विसर्जनके लिये दृढ़ निश्चयके साथ डट जाओ और शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो। जिसकी कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है, उस नरकके अधीन न होओ ॥६॥

त्यागमूलं हि शूराणां स्वर्गद्वारमनुत्तमम्।
इत्युक्तास्ते नृपतिना योधाः परपुरंजय ॥ ७ ॥
अजयन्त रणे शत्रून् हर्षयन्तो नरेश्वरम्।
तस्मादात्मवता नित्यं स्थातव्यं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

'शूरवीरोंको जो सर्वोत्तम स्वर्गलोकका द्वार प्राप्त होता है, उसमें उनका त्याग ही मूल कारण है'। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले युधिष्ठिर! राजा जनकके ऐसा कहनेपर उन योद्धाओंने रणभूमिमें अपने महाराजका हर्ष बढ़ाते हुए उनके शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली; अतः मनस्वी वीरको सदा युद्धके मुहानेपर डटे रहना चाहिये ॥ ७-८ ॥

गजानां रथिनो मध्ये रथानामनु सादिनः।
सादिनामन्तरे स्थाप्यं पादातमपि दंशितम् ॥ ९ ॥

गजारोहियोंके बीचमें रथियोंको खड़ा करे। रथियोंके पीछे घुड़सवारोंकी सेना रक्खे और उनके बीचमें कवच एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित पैदलोंकी सेना खड़ी करे ॥ ९ ॥

य एवं व्यूहते राजा स नित्यं जयति द्विषः।
तस्मादेवं विधातव्यं नित्यमेव युधिष्ठिर ॥१०॥

जो राजा अपनी सेनाका इस प्रकार व्यूह बनाता है, वह सदा शत्रुओंपर विजय पाता है; अतः युधिष्ठिर! तुम्हें भी सदा इसी प्रकार व्यूहरचना करनी चाहिये ॥ १० ॥

सर्वे स्वर्गतिमिच्छन्ति सुयुद्धेनातिमन्यवः।
क्षोभयेयुरनीकानि सागरं मकरा यथा ॥ ११ ॥

सभी क्षत्रिय उत्तम युद्धके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं; अतः जैसे मकर समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार वे अत्यन्त कुपित हो शत्रुओंकी सेनाओंमें हलचल मचा देते हैं ॥ ११ ॥

हर्षयेयुर्विषण्णांश्च व्यवस्थाप्य परस्परम्।
जितां च भूमिं रक्षेत भग्नान् नात्यनुसारयेत् ॥ १२ ॥

यदि अपने सैनिक विषादग्रस्त या शिथिल हो रहे हों तो उनका पूर्ववत् व्यूह बनाकर उन्हें परस्पर स्थापित करे और उन समस्त योद्धाओंका हर्ष एवं उत्साह बढ़ावे। जो भूमि जीत ली गयी हो, उसकी रक्षा करे; परंतु शत्रुओंके जो सैनिक पराजित होकर भाग रहे हों, उनका बहुत दूरतक पीछा नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

पुनरावर्तमानानां निराशानां च जीविते।
वेगः सुदुःसहो राजंस्तस्मान्नात्यनुसारयेत् ॥ १३ ॥

राजन्! जो जीवनसे निराश होकर पुनः युद्धके लिये लौट पड़ते हैं, उनका वेग अत्यन्त दुःसह होता है; अतः भागते हुओंके पीछे अधिक नहीं पड़ना चाहिये ॥ १३ ॥

न हि प्रहर्तुमिच्छन्ति शूराः प्रद्रवतो भृशम्।
तस्मात् पलायमानानां कुर्यान्नात्यनुसारणम् ॥ १४ ॥

शूरवीर जोर-जोरसे भागते हुए योद्धाओंपर प्रहार करना नहीं चाहते हैं; अतः पलायन करनेवाले सैनिकोंका अधिक दूरतक पीछा नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

चराणामचरा ह्यन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि।
आपः पिपासतामन्नमन्नं शूरस्य कातराः ॥ १५ ॥

चलनेवाले प्राणियोंके अन्न हैं स्थावर, दाँतवाले जीवोंके अन्न हैं बिना दाँतके प्राणी, प्यासोंका अन्न है पानी और शूरवीरोंके अन्न हैं कायर ॥ १५ ॥

समानपृष्ठोदरपाणिपादाः
पराभवं भीरवो वै व्रजन्ति।
अतो भयार्ताः प्रणिपत्य भूयः
कृत्वाञ्जलीनुपतिष्ठन्ति शूरान् ॥ १६ ॥

वीरों और कायरोंके पेट, पीठ, हाथ और पैर समान ही होते हैं; तो भी कायर पुरुष जगत्‌में अपमानको प्राप्त होते हैं। अतः भयसे आतुर हुए वे मनुष्य हाथ जोड़कर बारंबार प्रणाम करते हुए सदा शूरवीरोंकी शरणमें आते हैं॥

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत् सदा।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ॥ १७ ॥

जैसे पुत्र सदा पितापर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् शूरवीरकी भुजाओंपर ही टिका हुआ है; इसलिये सभी अवस्थाओंमें वीर पुरुष सम्मान पानेके योग्य है ॥

न हि शौर्यात् परं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

तीनों लोकोंमें शूरवीरतासे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। शूरवीर सबका पालन करता है और सारा जगत् उसीके आधारपर टिका हुआ है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

सैन्यसंचालनकी रीति-नीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यथा जयार्थिनः सेनां नयन्ति भरतर्षभ।
ईषद् धर्मं प्रपीड्यापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह! विजयाभिलाषी राजालोग जिस प्रकार धर्मका थोड़ा-सा उल्लङ्घन करके भी अपनी सेनाको आगे ले जाते हैं, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सत्येन हि स्थितो धर्म उपपत्त्या तथा परे ।
साध्वाचारतया केचित् तथैवौपयिकादपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! किन्हींका मत है कि धर्म सत्यसे ही स्थिर रहता है। दूसरे लोग युक्तिवादसे ही धर्मकी प्रतिष्ठा मानते हैं। किसी-किसीके मतमें श्रेष्ठ आचरणसे ही धर्मकी स्थिति है और कितने ही लोग यथासम्भव साम-दान आदि उपायोंके अवलम्बनसे भी धर्मकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं ॥

उपायधर्मान् वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः ।
निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ॥ ३ ॥
तेषां प्रतिविघातार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् ।
कार्याणां सर्वसिद्ध्यर्थं तानुपायान् निबोध मे ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं अर्थसिद्धिके साधनभूत धर्मोंका वर्णन करूँगा। यदि डाकू और लुटेरे अर्थ और धर्मकी मर्यादा तोड़ने लगें, तब उनके विनाशके लिये वेदोंमें जो साधन बताया गया है, उसका वर्णन आरम्भ करता हूँ। तुम समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये उन उपायोंको मुझसे सुनो ॥ ३-४ ॥

उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत ।
जानन् वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! बुद्धि दो प्रकारकी होती है। एक सरल, दूसरी कुटिल। राजाको उन दोनोंका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, जान-बूझकर कुटिल बुद्धिका सेवन न करे। यदि वैसी बुद्धि स्वतः आ जाय तो भी उसे हटानेका ही प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत ।
तां राजा निकृतिं जानन् यथामित्रान् प्रबाधते ॥ ६ ॥

जो वास्तवमें मित्र नहीं हैं, वे ही भीतरसे राजाके अन्तरङ्ग व्यक्तियोंमें फूट डालनेका प्रयत्न करते हुए ऊपरसे उसकी सेवामें लगे रहते हैं। राजा उनकी इस शठताको समझे और शत्रुओंकी भाँति उनको भी मिटानेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

गजानां पार्श्व वर्माणि गोवृषाजगराणि च ।
शल्यकण्टकलोहानि तनुत्रचमराणि च ॥ ७ ॥
सितपीतानि शस्त्राणि संनाहाः पीतलोहिताः ।
नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताकाः केतवश्च ह ॥ ८ ॥
ऋष्टयस्तोमराः खड्गा निशिताश्च परश्वधाः ।
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजाको चाहिये कि वह गाय, बैल तथा अजगरके चमड़ोंसे हाथियोंकी रक्षाके लिये कवच बनवावे। इसके सिवा लोहेकी कीलें, लोहे, कवच, चँवर, चमकीले और पानीदार शस्त्र, पीले और लाल रंगके कवच, बहुरंगी ध्वजा-पताकाएँ, ऋष्टि, तोमर, खड्ग, तीखे फरसे, फलक और ढाल—इन्हें भारी संख्यामें तैयार कराकर सदा अपने पास रक्खे ॥ ७-९ ॥

अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्चयाः ।
चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते ॥ १० ॥

यदि शस्त्र तैयार हों और योद्धा भी शत्रुओंसे भिड़नेका दृढ़ निश्चय कर चुके हों, तो चैत्र या मार्गशीर्ष मासकी पूर्णिमाको सेनाका युद्धके लिये उद्यत होकर प्रस्थान करना उत्तम माना गया है ॥ १० ॥

पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बुमती तदा ।
नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ॥ ११ ॥

क्योंकि उस समय खेती पक जाती है और भूतलपर जलकी प्रचुरता रहती है। भरतनन्दन ! उस समय मौसम भी न तो अधिक ठंड रहती है और न अधिक गरम ॥ ११ ॥

तस्मात् तदा योजयेत परेषां व्यसनेऽथवा ।
एते हि योगाः सेनायाः प्रशस्ताः परबाधने ॥ १२ ॥

इसलिये उसी समय चढ़ाई करे अथवा जिस समय शत्रु संकटमें हो, उसी अवसरपर उसपर आक्रमण कर दे। शत्रुओंको सेनाद्वारा बाधा पहुँचानेके लिये ये ही अवसर अच्छे माने गये हैं ॥ १२ ॥

जलवांस्तृणवान् मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते ।
चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ १३ ॥

युद्धके लिये यात्रा करते समय मार्ग समतल और सुगम हो तथा वहाँ जल और घास आदि सुलभ हों तो अच्छा समझा जाता है। वनमें विचरनेवाले कुशल गुप्तचरोंको मार्गके विषयमें विशेष जानकारी रहा करती है ॥ १३ ॥

न ह्यरण्येन शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव ।
तस्मात् सेनासु तानेव योजयन्ति जयार्थिनः ॥ १४ ॥

वन्य पशुओंकी भाँति मनुष्य जङ्गलमें आसानीसे नहीं चल सकते; इसलिये विजयाभिलाषी राजा सेनाओंमें मार्ग-दर्शन करानेके लिये उन्हीं गुप्तचरोंको नियुक्त करते हैं ॥ १४ ॥

अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलोद्भवम् ।
आवासस्तोयवान् दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते ॥ १५ ॥

सेनामें सबसे आगे कुलीन एवं शक्तिशाली पैदल सिपाहियोंको रखना चाहिये। शत्रुसे बचावके लिये सैनिकोंके रहनेका स्थान या किला ऐसा होना चाहिये, जहाँ पहुँचना कठिन हो, जिसके चारों ओर जलसे भरी हुई खाईं और ऊँचा परकोटा हो। साथ ही उसके चारों ओर खुला आकाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत् ।
आकाशात् तु वनाभ्याशं मन्यन्ते गुणवत्तरम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्गुणजातैश्च ये युद्धकुशला जनाः ।
उपन्यासो भवेत् तत्र बलानां नातिदूरतः ॥ १७ ॥

उस स्थानपर शत्रुओंके आक्रमणको रोकनेके लिये सुविधा होनी चाहिये। युद्धकुशल पुरुष सेनाकी छावनी डालनेके लिये खुले मैदानकी अपेक्षा अनेक गुणोंके कारण जंगलके

निकटवर्ती स्थानको अधिक लाभदायक मानते हैं। उस वनके समीप ही सेनाका पड़ाव डालना चाहिये ॥ १६-१७॥

उपन्यासावतरणं पदातीनां च गूहनम्।
अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थे परायणम् ॥ १८ ॥

वहाँ व्यूह निर्माण करनेके लिये रथ और वाहनोंसे उतरना तथा पैदल सैनिकोंको छिपाकर रखना सम्भव है। वहाँ रहकर शत्रुओंके प्रहारका जवाब दिया जा सकता है और आपत्तिके समय छिप जानेका भी सुभीता रहता है॥ १८॥

सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव।
अनेन विधिना शत्रून् जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १९ ॥

योद्धाओंको चाहिये कि वे सप्तर्षियोंको पीछे रखकर पर्वतकी तरह अविचलभावसे युद्ध करें। इस विधिसे आक्रमण करनेवाला राजा दुर्जय शत्रुओंको भी जीतनेकी आशा कर सकता है॥ १९॥

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः।
पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां संनिपाते युधिष्ठिर ॥ २० ॥

जिस ओर वायु, जिस ओर सूर्य और जिस ओर शुक्र हों, उसी ओर पृष्ठभाग रखकर युद्ध करनेसे विजय प्राप्त होती है। युधिष्ठिर! यदि ये तीनों भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हों तो इनमें पहला-पहला श्रेष्ठ है अर्थात् वायुको पीछे रखकर शेष दोको सामने रखते हुए भी युद्ध किया जा सकता है॥

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम्।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥ २१ ॥

घुड़सवार सेनाके लिये युद्धकुशल पुरुष उसी भूमिकी प्रशंसा करते हैं, जिसमें कीचड़, पानी, बाँध और ढेले न हों॥ २१॥

अपङ्का गर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥ २२ ॥

रथसेनाके लिये वह भूमि अच्छी मानी गयी है, जहाँ कीचड़ और गड्ढे न हों। जिस भूमिमें नाटे वृक्ष, बहुत-से घास-फूस और जलाशय हों, वह गजारोही योद्धाओंके लिये अच्छी मानी गयी है॥ २२॥

बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥ २३ ॥

जो भूमि अत्यन्त दुर्गम, अधिक घास-फूसवाली, बाँस और बेंतोंसे भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनोंसे युक्त हो, वह पैदल सेनाओंके योग्य होती है॥ २३॥

पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥

भरतनन्दन! जिस सेनामें पैदलोंकी संख्या बहुत अधिक हो, वह मजबूत होती है। जिसमें रथों और घोड़ोंकी संख्या बढ़ी हुई हो, वह सेना अच्छे दिनोंमें (जब कि वर्षा न होती हो) अच्छी मानी जाती है॥ २४॥

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतान् प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

बरसातमें वही सेना श्रेष्ठ समझी जाती है, जिसमें पैदलों और हाथीसवारोंकी संख्या अधिक हो। इन गुणोंका विचार करके देश और कालको दृष्टिमें रखते हुए सेनाका संचालन करना चाहिये॥ २५॥

एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः।
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन्।
प्रसुप्तांस्तृषिताञ्श्रान्तान् प्रकीर्णान् नाभिघातयेत्॥२६॥

जो इन सब बातोंपर विचार करके शुभ तिथि और श्रेष्ठ नक्षत्रसे युक्त होकर शत्रुपर चढ़ाई करता है, वह सेनाका ठीक ढंगसे संचालन करके सदा ही विजयलाभ करता है। जो लोग सो रहे हों, प्यासे हों, थक गये हों अथवा इधर-उधर भाग रहे हों, उनपर आघात न करे॥ २६॥

मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः।
अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान् प्रतनूकृतान्॥२७॥
सुविस्रब्धान् कृतारम्भानुपन्यासान् प्रतापितान्।
बहिश्चरानुपन्यासान् कृतवेश्मानुसारिणः ॥ २८ ॥

शस्त्र और कवच उतार देनेके बाद, युद्धस्थलसे प्रस्थान करते समय, घूमते-फिरते समय और खाने-पीनेके अवसरपर किसीको न मारे। इसी प्रकार जो बहुत घबराये हुए हों, पागल हो गये हों, घायल हों, दुर्बल हो गये हों, निश्चिन्त होकर बैठे हों, दूसरे किसी काममें लगे हों, लेखनका कार्य करते हों, पीड़ासे संतप्त हों, बाहर घूम रहे हों, दूरसे सामान लाकर लोगोंके निकट पहुँचानेका काम करते हों अथवा छावनीकी ओर भागे जा रहे हों, उनपर भी प्रहार न करे॥ २७-२८॥

पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः।
परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः ॥ २९ ॥

जो परम्परासे प्राप्त हुए राजद्वारपर रक्षा आदि सेवाका कार्य करते हों अथवा जो राजसेवक मन्त्री आदिके द्वारपर पहरा देते हों तथा किसी यूथके अधिपति हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये॥ २९॥

अनीकं ये विभिन्दन्ति भिन्नं संस्थापयन्ति च।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥ ३० ॥

जो शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और अपनी तितर-बितर हुई सेनाको संगठित करके दृढ़तापूर्वक स्थापित करनेकी शक्ति रखते हैं, ऐसे लोगोंको राजा अपने समान ही भोजन-पानकी सुविधा देकर सम्मानित करे और उन्हें दुगुना वेतन दे॥ ३०॥

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ ३१ ॥

सेनामें कुछ लोगोंको दस-दस सैनिकोंका नायक बनावे,

कुछको सौका तथा किसी प्रमुख और आलस्यरहित वीरको एक हजार योद्धाओंका अध्यक्ष नियुक्त करे ॥ ३१ ॥

यथामुख्यान् संनिपात्य वक्तव्याः संशपामहे ।
विजयार्थं हि संग्रामे न त्यक्ष्यामः परस्परम् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वीरोंको एकत्र करके यह प्रतिज्ञा करावे कि हम संग्राममें विजय प्राप्त करनेके लिये प्राण रहते एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ेंगे ॥ ३२ ॥

इहैव ते निवर्तन्तां ये च केचन भीरवः ।
ये घातयेयुः प्रवरं कुर्वाणास्तुमुलं प्रति ॥ ३३ ॥

जो लोग डरपोक हों, वे यहींसे लौट जायँ और जो लोग भयानक संग्राम करते हुए शत्रुपक्षके प्रधान वीरका वध कर सकें, वे ही यहाँ ठहरें ॥ ३३ ॥

न संनिपाते प्रदरं वधं वा कुर्युरीदृशाः ।
आत्मानं च स्वपक्षं च पालयन् हन्ति संयुगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि ऐसे डरपोक मनुष्य घमासान युद्धमें शत्रुओंको न तो तितर-बितर करके भगा सकते हैं और न उनका वध ही कर सकते हैं। शूरवीर पुरुष ही युद्धमें अपनी और अपने पक्षके सैनिकोंकी रक्षा करता हुआ शत्रुओंका संहार कर सकता है ॥ ३४ ॥

अर्थनाशो वधोऽकीर्तिरयशश्च पलायने ।
अमनोज्ञासुखा वाचः पुरुषस्य पलायने ॥ ३५ ॥

सैनिकोंको यह भी समझा देना चाहिये कि युद्धके मैदानसे भागनेमें कई प्रकारके दोष हैं, एक तो अपने प्रयोजन और धनका नाश होता है। दूसरे भागते समय शत्रुके हाथसे मारे जानेका भय रहता है, तीसरे भागनेवालेकी निन्दा होती है और सब ओर उसका अपयश फैल जाता है। इसके सिवा युद्धमे भागनेपर लोगोंके मुखसे मनुष्यको तरह-तरहकी अप्रिय और दुःखदायिनी बातें भी सुननी पड़ती हैं ॥ ३५ ॥

प्रतिध्वस्तोष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च ।
अमित्रैरवरुद्धस्य द्विषतामस्तु नः सदा ॥ ३६ ॥

जिसके ओठ और दाँत टूट गये हों, जिसने सारे अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल दिया हो तथा जिसे शत्रुगण सब ओरसे घेरकर खड़े हों; ऐसा योद्धा सदा हमारे शत्रुओंकी सेनामें ही रहे ॥ ३६ ॥

मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः ।
राशिवर्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह ॥ ३७ ॥

जो लोग युद्धमें पीठ दिखाते हैं, वे मनुष्योंमें अधम हैं; केवल योद्धाओंकी संख्या बढ़ानेवाले हैं। उन्हें इहलोक या परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिलता ॥ ३७ ॥

अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम् ।
जयिनस्तु नरास्तात चन्दनैर्मण्डनेन च ॥ ३८ ॥

शत्रु प्रसन्नचित्त होकर भागनेवाले योद्धाका पीछा करते हैं तथा तात ! विजयी मनुष्य चन्दन और आभूषणोंद्वारा पूजित होते हैं ॥ ३८ ॥

यस्य स्म संग्राममगता यशो वै घ्नन्ति शत्रवः ।
तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३९ ॥

संग्रामभूमिमें आये हुए शत्रु जिसके यशका नाश कर देते हैं, उसके लिये उस दुःखको मैं मरणसे भी बढ़कर असह्य मानता हूँ ॥ ३९ ॥

जयं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च ।
या भीरूणां परा ग्लानिः शूरस्तामधिगच्छति ॥ ४० ॥

वीरो ! तुमलोग युद्धमें विजयको ही धर्म एवं सम्पूर्ण सुखोंका मूल समझो। कायरों या डरपोक मनुष्योंको जिससे भारी ग्लानि होती है, वीर पुरुष उसी प्रहार और मृत्युको सहर्ष स्वीकार करता है ॥ ४० ॥

ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे त्यक्तजीविताः ।
जयन्तो वध्यमाना वा प्राप्नुयाम च सद्गतिम् ॥ ४१ ॥

अतः तुमलोग यह निश्चय कर लो कि हम स्वर्गकी इच्छा रखकर संग्राममें अपने प्राणोंका मोह छोड़कर लड़ेंगे। या तो विजय प्राप्त करेंगे या युद्धमें मारे जाकर सद्गति पायेंगे ॥

एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः ।
अमित्रवाहिनीं वीराः प्रतिगाहन्त्यभीरवः ॥ ४२ ॥

जो इस प्रकार शपथ लेकर जीवनका मोह छोड़ देते हैं, वे वीर पुरुष निर्भय होकर शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं ॥

अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां भवेत् ।
पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४३ ॥

सेनाके कूच करते समय सबसे आगे ढाल-तलवार धारण करनेवाले पुरुषोंकी टुकड़ी रक्खे। पीछेकी ओर रथियोंकी सेना खड़ी करे और बीचमें राज-स्त्रियोंको रखे ॥ ४३ ॥

परेषां प्रतिघातार्थं पदातीनां च बृंहणम् ।
अपि तस्मिन् पुरे वृद्धा भवेयुर्ये पुरोगमाः ॥ ४४ ॥

उस नगरमें जो वृद्ध पुरुष अगुआ हों, वे शत्रुओंका सामना और विनाश करनेके लिये पैदल सैनिकोंको प्रोत्साहन एवं बढ़ावा दें ॥ ४४ ॥

ये पुरस्तादभिमताः सत्त्ववन्तो मनस्विनः ।
ते पूर्वमभिवर्तेरंश्चैतानेवेतरे जनाः ॥ ४५ ॥

जो पहलेसे ही अपने शौर्यके लिये सम्मानित, धैर्यवान् और मनस्वी हैं, वे आगे रहें और दूसरे लोग उन्हींके पीछे-पीछे चलें ॥ ४५ ॥

अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः ।
स्कन्धदर्शनमात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४६ ॥

जो डरनेवाले सैनिक हों, उनका भी प्रयत्नपूर्वक उत्साह बढ़ाना चाहिये अथवा वे सेनाका विशेष समुदाय दिखानेके लिये ही आसपास खड़े रहें ॥ ४६ ॥

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥ ४७ ॥

यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उन्हें एक साथ

संघबद्ध रखकर युद्ध करनेका आदेश देना चाहिये और यदि बहुत-से योद्धा हों तो उन्हें बहुत दूरतक इच्छानुसार फैलाकर रखना चाहिये। थोड़े-से सैनिकोंको बहुतोंके साथ युद्ध करना हो तो उनके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी होता है॥

सम्प्रयुक्ते निकृष्टे वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
प्रगृह्य बाहून् क्रोशेत भग्ना भग्नाः परे इति॥ ४८॥
आगतं मे मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत्।

अपनी सेना उत्कृष्ट अवस्थामें हो या निकृष्ट अवस्थामें, बात सची हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर हल्ला मचाते हुए कहे, 'वह देखो, शत्रु भाग रहे हैं, भाग रहे हैं, हमारी मित्रसेना आ गयी। अब निर्भय होकर प्रहार करो'॥ ४८½॥

सत्त्ववन्तोऽभिधावेयुः कुर्वन्तो भैरवान् रवान्॥ ४९॥

इतनी बात सुनते ही धैर्यवान् और शक्तिशाली वीर भयंकर सिंहनाद करते हुए शत्रुओंपर टूट पड़ें॥ ४९॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयेयुः पुरश्चरान्॥ ५०॥

जो लोग सेनाके आगे हों, उन्हें गर्जन-तर्जन करते और किल्कारियाँ भरते हुए क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजे बजाने चाहिये॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने शततमोऽध्यायः॥ १००॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न देशके योद्धाओंके स्वभाव, रूप, बल, आचरण और लक्षणोंका वणन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलाः किंसमाचाराः कथंरूपाश्च भारत।
किंसंनाहाः कथंशस्त्रा जनाः स्युः संगरे क्षमाः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! युद्धस्थलमें कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण और कैसे रूपवाले योद्धा ठीक समझे जाते हैं? उनके कवच और अस्त्र-शस्त्र भी कैसे होने चाहिये?॥ १॥

भीष्म उवाच

यथाऽऽचरितमेवात्र शस्त्रं पत्रं विधीयते।
आचाराद् वीरपुरुषस्तथा कर्मसु वर्तते॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन्! अस्त्र-शस्त्र और वाहन तो योद्धाओंके देश और कुलके आचारके अनुरूप ही होने चाहिये। वीर पुरुष अपने परम्परागत आचारके अनुसार ही सभी कार्योंमें प्रवृत्त होता है॥ २॥

गान्धाराः सिन्धुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः।
अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम्॥ ३॥

गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशके योद्धा नखर (बघनखे) और प्राससे युद्ध करनेवाले हैं। वे बड़े बलवान् और निडर होते हैं। उनकी सेना सबको लाँघ जानेवाली होती है॥

सर्वशस्त्रेषु कुशलाः सत्त्ववन्तो ह्युशीनराः।
प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः॥ ४॥

उशीनरदेशके वीर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंमें कुशल और बड़े बलशाली होते हैं। पूर्वदेशके योद्धा हाथीपर सवार होकर युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं। वे कपटयुद्धके भी ज्ञाता हैं॥ ४॥

तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये।
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिपाणयः॥ ५॥

यवन, काम्बोज और मथुराके आसपासके रहनेवाले योद्धा मल्लयुद्धमें निपुण होते हैं तथा दक्षिण देशोंके निवासी हाथोंमें तलवार लिये रहते हैं। (वे तलवार चलाना अच्छा जानते हैं)॥ ५॥

सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्त्वा महाबलाः।
प्राय एव समुद्दिष्टा लक्षणानि तु मे शृणु॥ ६॥

प्रायः सभी देशोंमें महान् धैर्यशाली, महाबली एवं शूरवीर पैदा होते हैं। उन सबका उल्लेख अधिकतर किया जा चुका है। अब तुम मुझसे उनके लक्षण सुनो॥ ६॥

सिंहशार्दूलवाङ्नेत्राः सिंहशार्दूलगामिनः।
पारावतकुलिङ्गाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः॥ ७॥

जिनकी वाणी, नेत्र तथा चाल-ढाल सिंहों या बाघोंके समान होती है और जिनकी आँखें कबूतर या गौरैयेके समान होती हैं, वे सभी शूरवीर एवं शत्रुसेनाको मथ डालनेवाले होते हैं॥ ७॥

मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरस्विनः।
प्रमादिनश्च मन्दाश्च क्रोधनाः किङ्किणीस्वनाः॥ ८॥

जिनका कण्ठस्वर मृगोंके समान और नेत्र बाघ एवं बैलोंके तुल्य होते हैं, वे वीर वेगशाली, असावधान और मूर्ख हुआ करते हैं। जिनका कण्ठनाद किङ्किणीके समान मधुर हो, वे स्वभावके बड़े क्रोधी होते हैं॥ ८॥

मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित् करभसंनिभाः।
जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगा दूरपातिनः॥ ९॥

जिनकी गर्जना मेघके समान, मुख क्रोधयुक्त, शरीर ऊँटकी तरह तथा नाक और जीभ टेढ़ी हो, वे बहुत दूरतक दौड़नेवाले तथा सुदूरवर्ती लक्ष्यको भी मार गिरानेवाले होते हैं॥

बिडालकुब्जतनवस्तनुकेशास्तनुत्वचः।
शीघ्राश्चपलवृत्ताश्च ते भवन्ति दुरासदाः॥ १०॥

जिनका शरीर बिलावके समान कुबड़ा तथा सिरके बाल

और देहकी खाल पतले होते हैं, वे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, चञ्चल और दुर्जय होते हैं ॥ १० ॥

गोधानिमीलिताः केचिन्मृदुप्रकृतयस्तथा ।
तरङ्गगतिनिर्घोषास्ते नराः पारयिष्णवः ॥ ११ ॥

जो गोहटीके समान आँखें बंद किये रहते हैं, जिनका स्वभाव कोमल होता है तथा जिनके चलनेपर घोड़ेकी टाप पड़ने जैसी आवाज होती है, वे मनुष्य युद्धके पार पहुँच जाते हैं ॥ ११ ॥

सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ।
प्रवादितेषु कुप्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥

जिनके शरीर गठीले, छाती चौड़ी और अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल होते हैं, जो युद्धमें डटकर खड़े होनेवाले हैं, वे वीर पुरुष युद्धका धौंसा सुनते ही कुपित हो उठते हैं । उन्हें लड़ने-भिड़नेमें ही आनन्द आता है ॥ १२ ॥

गम्भीराक्षा निःसृताक्षाः पिङ्गाक्षा भ्रुकुटीमुखाः ।
नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥

जिनकी आँखें गहरी हैं अथवा बड़ी होनेके कारण निकली हुई-सी प्रतीत होती हैं या जिनके नेत्र पिङ्गलवर्णके हैं अथवा जिनकी आँखें नेवलेके समान भूरी-भूरी हैं और जिनके मुखपर भौंहें तनी रहती हैं, ऐसे लक्षणोंवाले सभी मनुष्य शूरवीर तथा रणभूमिमें शरीरका त्याग करनेवाले होते हैं ॥

जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च ।
वज्रबाहङ्गुलीचक्राः कृशा धमनिसंतताः ॥ १४ ॥
प्रविशन्ति च वेगेन साम्पराये ह्युपस्थिते ।
वारणा इव सम्मत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥

जिनकी आँखें तिरछी, ललाट ऊँचे और ठोड़ी मांसहीन एवं दुबली-पतली है, जिनकी भुजाओंपर वज्रका और अंगुलियोंपर चक्रका चिह्न होता है तथा जिनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हैं, वे युद्ध उपस्थित होते ही बड़े वेगसे शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं और मतवाले हाथियोंके समान शत्रुओंके लिये दुर्जय होते हैं ॥ १४-१५ ॥

दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ।
उन्नतांसाः पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डिकाः ॥१६ ॥
उद्धता इव सुग्रीवा विनताविहगा इव ॥
पिण्डशीर्षाहिवक्त्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥ १७ ॥
उग्रस्वरा मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः ।
अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शनाः ॥ १८ ॥

जिनके केशोंके अग्रभाग पीले और छितराये हुए हैं, पसलियाँ, ठोड़ी और मुँह लंबे एवं मोटे हैं, कंधे ऊँचे, गर्दन मोटी और पिण्डली भारी हैं, जो देखनेमें विकट जान पड़ते हैं, सुग्रीव जातिवाले अश्वोंके समान तथा गरुड़ पक्षीकी भाँति उद्धत स्वभावके हैं, जिनके सिर गोल और मुख विशाल हैं, जो बिलाव-जैसा मुख धारण करते हैं तथा जिनके स्वरमें कठोरता है, वे बड़े क्रोधी होते हैं और युद्धमें गर्जना करते हुए विचरते हैं । उन्हें धर्मका ज्ञान नहीं होता । वे घमंडमें भरे हुए घोर आकृतिवाले दिखायी देते हैं । उनका दर्शन ही बड़ा भयंकर है ॥ १६—१८ ॥

त्यक्तात्मानः सर्व एते अन्त्यजा ह्यनिवर्तिनः ।
पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चापि ये ॥ १९ ॥

ये सबके सब अन्त्यज (कोल-भील आदि) हैं, जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते और शरीरका मोह छोड़कर लड़ते हैं । सेनामें ऐसे लोगोंको सदा पुरस्कार देना चाहिये और इन्हें सदा आगे आगे रखना चाहिये । ये धैर्यपूर्वक शत्रुओंकी मार सहते और उन्हें भी मारते हैं ॥ १९ ॥

अधार्मिका भिन्नवृत्ताः सान्त्वेनैषां पराभवः ।
एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोऽप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥ २० ॥

ये अधर्मी होते हैं, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर देते हैं । इसी तरह ये बारंबार राजापर भी कुपित हो उठते हैं; अतः इन्हें मीठी-मीठी बातोंसे समझा-बुझाकर ही काबूमें करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

विजयसूचक शुभाशुभ लक्षणोंका तथा उत्साही और बलवान् सैनिकोंका वर्णन एवं राजाको युद्धसम्बन्धी नीतिका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

जयित्र्याः कानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि चेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! विजय पानेवाली सेनाके कौन-कौन-से शुभ लक्षण होते हैं ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

जयित्र्या यानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतभूषण ! विजय पानेवाली सेनाके समक्ष जो-जो शुभ लक्षण प्रकट होते हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते ।
तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदिव्येन चक्षुषा ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्तविधिं चात्र जपहोमांश्च तद्विदः ।

मङ्गलानि च कुर्वन्ति शमयन्त्यहितानि च ॥ ४ ॥

कालसे प्रेरित हुए मनुष्यपर पहले दैवका कोप होता है। उसे विद्वान् पुरुष जब ज्ञानमयी दिव्यदृष्टिसे देख लेते हैं, तब उसके प्रतीकारको जाननेवाले वे पुरुष उसके प्रायश्चित्तका विधान—जप, होम आदि माङ्गलिक कृत्य करते हैं और उस अहितकारक दैवी उपद्रवको शान्त कर देते हैं ॥ ३-४ ॥

उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत ।
यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां परो जयः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिस सेनाके योद्धा और वाहन मनमें प्रसन्न एवं उत्साहयुक्त होते हैं, उसकी उत्तम विजय अवश्य होती है ॥

अन्वेतान् वायवो यान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च ।
अनुप्लवन्तो मेघाश्च तथाऽऽदित्यस्य रश्मयः ॥ ६ ॥
गोमायवश्चानुकूला बलगृध्राश्च सर्वशः ।
अर्हयेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥

यदि सेनाकी रणयात्राके समय सैनिकोंके पीछेसे मन्द-मन्द वायु प्रवाहित हो, सामने इन्द्रधनुषका उदय हो, बार-बार बादलोंकी छाया होती रहे और सूर्यकी किरणोंका भी प्रकाश फैलता रहे तथा गीदड़, गीध और कौए भी अनुकूल दिशामें आ जायँ तो निश्चय ही उस सेनाको परम उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६-७ ॥

प्रसन्नभाः पावकश्चोर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ८ ॥

यदि बिना धुएँकी आग प्रज्वलित हो, उसकी ज्वाला निर्मल हो और लपटें ऊपरकी ओर उठ रही हों अथवा उस अग्निकी शिखाएँ दाहिनी ओर जाती दिखायी देती हों तथा आहुतियोंकी पवित्र गन्ध प्रकट हो रही हो तो इन सबको भावी विजयका शुभ चिह्न बताया गया है ॥ ८ ॥

गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च
शङ्खाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र ।
युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥

जहाँ शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनि और रणभेरीकी ऊँची आवाज फैल रही हो, युद्धकी इच्छा रखनेवाले सैनिक सर्वथा अनुकूल हों तो वहाँके लिये इसे भी भावी विजयका सूचक शुभ लक्षण कहा गया है ॥ ९ ॥

इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहु-
र्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ १० ॥

सेनाके प्रस्थान करते समय अथवा जानेके लिये तैयारी करते समय यदि इष्ट मृग पीछे और बायें आ जायँ तो इच्छित फल प्रदान करते हैं। तथा युद्ध करते समय दाहिने हो जायँ तो वे सिद्धिकी सूचना देते हैं; किंतु यदि सामने आ जायँ तो उस युद्धकी यात्राका निषेध करते हैं ॥ १० ॥

माङ्गल्यशब्दाञ्शकुना वदन्ति
हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः ।
हृष्टा योधाः सत्त्ववन्तो भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ११ ॥

जब हंस, क्रौञ्च, शतपत्र और नीलकण्ठ आदि पक्षी मङ्गल-सूचक शब्द करते हों और सैनिक हर्ष तथा उत्साहसे सम्पन्न दिखायी देते हों तो यह भी भावी विजयका शुभ लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

शस्त्रैर्यन्त्रैः कवचैः केतुभिश्च
सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥ १२ ॥

जिनकी सेना भाँति-भाँतिके शस्त्र, कवच, यन्त्र तथा ध्वजाओंसे सुशोभित हो, जिनके नौजवान सैनिकोंके मुखकी सुन्दर प्रभामयी कान्तिसे प्रकाशित होती हुई सेनाकी ओर शत्रुओंको देखनेका भी साहस न होता हो, वे निश्चय ही शत्रुदलको परास्त कर सकते हैं ॥ १२ ॥

शुश्रूषवश्चानभिमानिनश्च
परस्परं सौहृदमास्थिताश्च ।
येषां योधाः शौचमनुष्ठिताश्च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥

जिनके योद्धा स्वामीकी सेवामें उत्साह रखनेवाले, अहंकाररहित, आपसमें एक दूसरेका हित चाहनेवाले तथा शौचाचारका पालन करनेवाले हों, उनकी होनेवाली विजयका यही शुभ लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः ।
धैर्यं चाविशते योधान् विजयस्य मुखं च तत् ॥ १४ ॥

जब योद्धाओंके मनको प्रिय लगनेवाले शब्द, स्पर्श और गन्ध सब ओर फैल रहे हों तथा उनके भीतर धैर्यका संचार हो रहा हो तो वह विजयका द्वार माना जाता है ॥ १४ ॥

इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः ।
पश्चात्संसाधयत्यर्थं पुरस्ताच्च निषेधति ॥ १५ ॥

यदि कौआ युद्धमें प्रवेश करते समय दाहिने भागमें और प्रविष्ट हो जानेके बाद बायें भागमें आ जाय तो शुभ है। पीछेकी ओर होनेसे भी वह कार्यकी सिद्धि करता है; परंतु सामने होनेपर विजयमें बाधा डालता है ॥ १५ ॥

सम्भृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां युधिष्ठिर ।
साम्नैव वर्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! विशाल चतुरङ्गिणी सेना एकत्र कर लेनेके बाद भी तुम्हें पहले सामनीतिके द्वारा शत्रुसे सन्धि करनेका ही प्रयास करना चाहिये। यदि वह सफल न हो तो युद्धके लिये प्रयत्न करना उचित है ॥ १६ ॥

जघन्य एष विजयो यद् युद्धं नाम भारत।
यादृच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! युद्ध करके जो विजय प्राप्त होती है, उसे निकृष्ट ही माना गया है। युद्धसम्बन्धी विजय अचानक प्राप्त होती है या दैवेच्छासे; यह बात विचारणीय ही होती है। इसका पहलेसे कोई निश्चय नहीं रहता ॥ १७ ॥

अपामिव महावेगस्त्रस्ता इव महामृगाः।
दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥

यदि विशाल सेनामें भगदड़ मच जाती है तो उसे जलके महान् वेगके समान तथा भयभीत हुए महामृगोंके समान रोकना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १८ ॥

भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोऽपि न कारणम्।
उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥ १९ ॥

विशाल सेना मृगोंके झुंडके समान होती है। उसमें कितने ही बलवान् वीर क्यों न भरे हों, कुछ लोग भाग रहे हैं—इतना ही देखकर सब भागने लगते हैं, यद्यपि उन्हें भागनेका कारण नहीं मालूम रहता है ॥ १९ ॥

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः।
अपि पञ्चाशतं शूरा निघ्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥

एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण, प्राणोंका मोह छोड़ देनेवाले तथा मरने-मारनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त पचास शूरवीर भी सारी शत्रु-सेनाका संहार कर सकते हैं ॥

अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग् विजयन्तीह शात्रवान् ॥ २१ ॥

अच्छे कुलमें उत्पन्न, परस्पर संगठित तथा राजाद्वारा सम्मानित पाँच, छः या सात वीर भी यदि दृढ़ निश्चयके साथ युद्धस्थलमें डटे रहें तो युद्धमें शत्रुओंपर भलीभाँति विजय पा सकते हैं ॥ २१ ॥

संनिपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथंचन।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥ २२ ॥

जबतक किसी तरह सन्धि हो सकती हो, तबतक युद्धको स्वीकार नहीं करना चाहिये। पहले सामनीतिसे समझावे। इससे काम न चले तो भेदनीतिके अनुसार शत्रुओंमें फूट डाले। इसमें भी सफलता न मिले तो दाननीतिका प्रयोग करे—धन देकर शत्रुके सहायकोंको वशमें करनेकी चेष्टा करे। इन तीनों उपायोंके सफल न होनेपर अन्तमें युद्धका आश्रय लेना उचित बताया गया है ॥ २२ ॥

संदर्शनैव सेनाया भयं भीरून् प्रबाधते।
वज्रादिव प्रज्वलितादियं क्व नु पतिष्यति ॥ २३ ॥

शत्रुकी सेनाको देखते ही कायरोंको भय सताने लगता है, मानो उनके ऊपर प्रज्वलित वज्र गिरनेवाला हो। वे सोचते हैं, न जाने यह सेना किसके ऊपर पड़ेगी ? ॥ २३ ॥

अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्यथ।
तेषां स्यन्दन्ति गात्राणि योधानां विजयस्य च ॥ २४ ॥

जो युद्धको उपस्थित हुआ जानकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, उन वीरोंके शरीरमें विजयकी आशासे आनन्द-जनित पसीनेके बिन्दु प्रकट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

विषयो व्यथते राजन् सर्वः सस्थाणुजङ्गमः।
अस्य प्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहिनाम् ॥ २५ ॥

राजन् ! युद्ध उपस्थित होनेपर स्थावर-जङ्गम प्राणियोंसहित समस्त देश ही व्यथित हो उठता है और अस्त्रोंके प्रतापसे संतप्त हुए देहधारियोंकी मज्जा भी सूखने लगती है ॥ २५ ॥

तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः।
सम्पीड्यमाना हि परैर्योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥

उन देशवासियोंके प्रति कठोरताके साथ-साथ सान्त्वनापूर्ण मधुर वचनोंका बारंबार प्रयोग करना चाहिये; अन्यथा केवल कठोर वचनोंसे पीड़ित हो वे सब ओरसे जाकर शत्रुओंके साथ मिल जाते हैं ॥ २६ ॥

आन्तराणां च भेदार्थं चरानभ्यवचारयेत्।
यश्च तस्मात् परो राजा तेन सन्धिः प्रशस्यते ॥ २७ ॥

शत्रुके मित्रोंमें फूट डालनेके लिये गुप्तचरोंको भेजना चाहिये और जो शत्रुसे भी बलवान् राजा हो, उसके साथ सन्धि करना श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथाविधा।
यथा सार्धममित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥

अन्यथा उसको वैसी पीड़ा नहीं दी जा सकती, जैसी कि उसके शत्रुके साथ सन्धि करके दी जा सकती है। युद्ध इस प्रकार करना चाहिये, जिससे शत्रुपक्ष सब ओरसे संकटमें पड़ जाय ॥ २८ ॥

क्षमा वै साधुमायाति न ह्यसाधून्क्षमा सदा।
क्षमायाश्चाक्षमायाश्च पार्थ विद्धि प्रयोजनम् ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्पुरुषोंको ही सदा क्षमा करना आता है, दुष्टोंको नहीं। क्षमा करने और न करनेका प्रयोजन बताता हूँ; इसे सुनो और समझो ॥ २९ ॥

विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्धते।
महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शात्रवः ॥ ३० ॥

जो राजा शत्रुओंको जीत लेनेके बाद उनके अपराध क्षमा कर देता है, उसका यश बढ़ता है। उसके प्रति महान् अपराध करनेपर भी शत्रु उसपर विश्वास करते हैं ॥ ३० ॥

मन्यते कर्षयित्वा तु क्षमा साध्वीति शम्बरः।
असंतप्तं तु यद् दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥ ३१ ॥

शम्बरासुरका मत है कि पहले शत्रुको पीड़ाद्वारा अत्यन्त दुर्बल करके फिर उसके प्रति क्षमाका प्रयोग करना ठीक है; क्योंकि यदि टेढ़ी लकड़ीको बिना गर्म किये ही सीधी किया जाय तो वह फिर ज्योंकी त्यों हो जाती है ॥ ३१ ॥

नैतत् प्रशंसन्त्याचार्या न च साधुनिदर्शनम्।
अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥ ३२ ॥

परंतु आचार्यगण इस बातकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि यह साधु पुरुषोंका दृष्टान्त नहीं है। राजाको चाहिये कि वह पुत्रकी ही भाँति अपने शत्रुको भी बिना क्रोध किये ही वशमें करे; उसका विनाश न करे ॥ ३२ ॥

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! राजा यदि उग्रस्वभावका हो जाय तो वह समस्त प्राणियोंके द्वेषका पात्र बन जाता है और यदि सर्वथा कोमल हो जाय तो सभी उसकी अवहेलना करने लगते हैं; इसलिये उसे आवश्यकतानुसार उग्रता और कोमलता दोनोंसे काम लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचन्निव रुदन्निव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! राजा शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे प्रिय वचन ही बोले। प्रहारके बाद भी शोक प्रकट करते और रोते हुए-से उसके प्रति दया दिखावे ॥ ३४ ॥

न मे प्रियं यन्निहताः संग्रामे मामकैर्नरैः।
न च कुर्वन्ति मे वाक्यमुच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

वह शत्रुको सुनाकर इस प्रकार कहे—'ओह ! इस युद्धमें मेरे सिपाहियोंने जो इतने वीरोंको मार डाला है, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है; परंतु क्या करूँ ? बारंबार कहनेपर भी ये मेरी बात नहीं मानते हैं ॥ ३५ ॥

अहो जीवितमाकाङ्क्षेन्नेदृशो वधमर्हति।
सुदुर्लभाः सुपुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ ३६ ॥
कृतं ममाप्रियं तेन येनायं निहतो मृधे।
इति वाचा वदन् हन्तॄन् पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥

'अहो ! सभी लोग अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं; अतः ऐसे पुरुषका वध करना उचित नहीं है। संग्राममें पीठ न दिखानेवाले सत्पुरुष इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। मेरे जिन सैनिकोंने युद्धमें इस श्रेष्ठ वीरका वध किया है, उनके द्वारा मेरा बड़ा अप्रिय कार्य हुआ है। शत्रुपक्षके सामने वाणी-द्वारा इस प्रकार खेद प्रकट करके राजा एकान्तमें जानेपर अपने उन बहादुर सिपाहियोंकी प्रशंसा करे, जिन्होंने शत्रुपक्ष-के प्रमुख वीरोंका वध किया हो ॥ ३६-३७ ॥

हन्तॄणामाहतानां च यत् कुर्युरपराधिनः।
क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥

इसी तरह शत्रुओंको मारनेवाले अपने पक्षके वीरोंमेंसे जो हताहत हुए हों, उनकी हानिके लिये इस प्रकार दुःख प्रकट करे, जैसे अपराधी किया करते हैं। जनमतको अपने अनुकूल करनेकी इच्छासे जिसकी हानि हुई हो, उसकी बाँह पकड़कर सहानुभूति प्रकट करते हुए जोर-जोरसे रोवे और विलाप करे ॥ ३८ ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरेत्।
प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें जो सान्त्वनापूर्ण बर्ताव करता है, वह धर्मज्ञ राजा सब लोगोंका प्रिय एवं निर्भय हो जाता है ॥ ३९ ॥

विश्वासं चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत।
विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! उसके ऊपर सब प्राणी विश्वास करने लगते हैं। विश्वासपात्र हो जानेपर वह सबके निकट रहकर इच्छा-नुसार सारे राष्ट्रका उपभोग कर सकता है ॥ ४० ॥

तस्माद् विश्वासयेद् राजा सर्वभूतान्यमायया।
सर्वतः परिरक्षेच्च यो महीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४१ ॥

अतः जो राजा इस पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है, उसे चाहिये कि छल-कपट छोड़कर अपने ऊपर समस्त प्राणियों-का विश्वास उत्पन्न करे और इस भूमण्डलकी सब ओरसे पूर्णरूपसे रक्षा करे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुको वशमें करनेके लिये राजाको किस नीतिसे काम लेना चाहिये और दुष्टोंको कैसे पहचानना चाहिये—इसके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव।
आदौ वर्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पृथ्वीपते ! जिसका पक्ष प्रबल और महान् हो, वह शत्रु यदि कोमल स्वभावका हो तो उसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और यदि वह तीक्ष्ण स्वभावका हो तो उसके साथ पहले किस तरहका बर्ताव करना राजाके लिये उचित है, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान्

पुरुष बृहस्पति और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृताञ्जलिः।
उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देव-राज इन्द्रने बृहस्पतिजीके पास जा उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

अहितेषु कथं ब्रह्मन् प्रवर्तेयमतन्द्रितः।
असमुच्छिद्य चैवैतान् नियच्छेयमुपायतः ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मन् ! मैं आलस्यरहित हो अपने शत्रुओंके प्रति कैसा बर्ताव करूँ ? उन सबका समूलोच्छेद किये बिना ही उन्हें किस उपायसे वशमें करूँ ? ॥ ४ ॥

सेनयोर्व्यतिषङ्गेण जयः साधारणो भवेत्।
किंकुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीःप्रतापिनी ॥ ५ ॥

दो सेनाओंमें परस्पर भिड़न्त हो जानेपर विजय दोनों पक्षोंके लिये साधारण-सी वस्तु हो जाती है (अमुक पक्षकी ही जीत होगी, यह नियम नहीं रह जाता)। अतः मुझे क्या करना चाहिये, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाली यह समुज्ज्वल राज्यलक्ष्मी मुझे कभी न छोड़े ॥ ५ ॥

ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान्।
राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरंदरम् ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर धर्म, अर्थ और कामके प्रतिपादनमें कुशल, प्रतिभाशाली तथा राजधर्मके विधानको जाननेवाले बृहस्पतिने इन्द्रको इस प्रकार उत्तर दिया॥ ६ ॥

बृहस्पतिरुवाच

न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः।
बालैरासेवितं ह्येतद् यदमर्षो यदक्षमा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिजी बोले—राजन् ! कोई भी राजा कभी कलह या युद्धके द्वारा शत्रुओंको वशमें करनेकी इच्छा न करे। असहनशीलता अथवा क्षमाको छोड़ना, यह बालकों या मूर्खोंद्वारा सेवित मार्ग है ॥ ७ ॥

न शत्रुर्विवृतः कार्यो वधमस्याभिकाङ्क्षता।
क्रोधं भयं च हर्षं च नियम्य स्वयमात्मनि ॥ ८ ॥

शत्रुके वधकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह क्रोध, भय और हर्षको अपने मनमें ही रोक ले तथा शत्रुको सावधान न करे ॥ ८॥

अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन्।
प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किंचिदाचरेत् ॥ ९ ॥

भीतरसे विश्वास न करते हुए भी बाहरसे विश्वस्त पुरुषकी भाँति अपना भाव प्रदर्शित करते हुए शत्रुकी सेवा करे। सदा उससे प्रिय वचन ही बोले, कभी कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ९ ॥

विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत्।
यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ॥ १० ॥
तान् द्विजान् कुरुते वश्यांस्तथा युक्तो महीपतिः।
वशं चोपनयेच्छत्रून् निहन्याच्च पुरंदर ॥ ११ ॥

पुरंदर ! सूखे वैरसे अलग रहे, कण्ठको पीड़ा देनेवाले वादविवादको त्याग दे। जैसे व्याध अपने कार्यमें सावधानीके साथ संलग्न हो पक्षियोंको फँसानेके लिये उन्हींके समान बोली बोलता है और मौका पाकर उन पक्षियोंको वशमें कर लेता है, उसी प्रकार उद्योगशील राजा धीरे-धीरे शत्रुओंको वशमें कर ले। तत्पश्चात् उन्हें मार डाले ॥ १०-११ ॥

न नित्यं परिभूयारीन् सुखं स्वपिति वासव।
जागर्त्येव हि दुष्टात्मा संकरेऽग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

इन्द्र ! जो सदा शत्रुओंका तिरस्कार ही करता है, वह सुखसे सोने नहीं पाता। वह दुष्टात्मा नरेश बाँस और घास-फूसमें प्रज्वलित हो चटचट शब्द करनेवाली आगके समान सदा जागता ही रहता है ॥ १२ ॥

न संनिपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति।
विश्वास्यैवोपसन्नार्थो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १३ ॥

प्रभो ! जब युद्धमें विजय एक सामान्य वस्तु है (किसीको भी वह मिल सकती है), तब उसके लिये पहले ही युद्ध नहीं करना चाहिये, अपितु शत्रुको अच्छी तरह विश्वास दिलाकर वशमें कर लेनेके पश्चात् अवसर देखकर उसके सारे मनसूबेको नष्ट कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

सम्प्रधार्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः।
उपेक्ष्यमाणोऽवज्ञातो हृदयेनापराजितः ॥ १४ ॥
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद्विचलिते पदे।
दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥

शत्रुके द्वारा उपेक्षा अथवा अवहेलना की जानेपर भी राजा अपने मनमें हिम्मत न हारे। वह मन्त्रियोंसहित मन्त्रवेत्ता महापुरुषोंके साथ कर्त्तव्यका निश्चय करके समय आनेपर जब शत्रुकी स्थिति कुछ डाँवाडोल हो जाय, तब उसपर प्रहार करे और विश्वासपात्र पुरुषोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुकी सेनामें फूट डलवा दे ॥ १४-१५ ॥

आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नं च विधारयेत्।
बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः ॥ १६ ॥

राजा शत्रुके राज्यकी आदि, मध्य और अन्तिम सीमाको जानकर गुप्तरूपसे मन्त्रियोंके साथ बैठकर अपने कर्त्तव्यका निश्चय कर तथा शत्रुकी सेनाकी संख्या कितनी है, इसको अच्छी तरह जानते हुए ही उसमें फूट डलवानेकी चेष्टा करे ॥ १६ ॥

भेदेनोपप्रदानेन संसृजेदौषधैस्तथा।
न त्वेवं खलु संसर्गं रोचयेदरिभिः सह ॥ १७ ॥

राजाको चाहिये कि वह दूर रहकर गुप्तचरोंद्वारा शत्रुकी सेनामें मतभेद पैदा करे। घूस देकर लोगोंको अपने पक्षमें

करनेकी चेष्टा करे अथवा उनके ऊपर विभिन्न औषधोंका प्रयोग करे; परंतु किसी तरह भी शत्रुओंके साथ प्रकटरूपसे साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा न करे ॥ १७ ॥

दीर्घकालमपीक्षेत निहन्यादेव शात्रवान् ।
कालाकाङ्क्षी हि क्षपयेद् यथा विश्रम्भमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

अनुकूल अवसर पानेके लिये कालक्षेप ही करता रहे। उसके लिये दीर्घ कालतक भी प्रतीक्षा करनी पड़े तो करे, जिससे शत्रुओंको भलीभाँति विश्वास हो जाय। तदनन्तर मौका पाकर उन्हें मार ही डाले ॥ १८ ॥

न सद्योऽरीन् विहन्याच्च द्रष्टव्यो विजयो ध्रुवः ।
न शल्यं वा घटयति न वाचा कुरुते व्रणम् ॥ १९ ॥

राजा शत्रुओंपर तत्काल आक्रमण न करे। अवश्यम्भावी विजयके उपायपर विचार करे। न तो उसपर विषका प्रयोग करे और न उसे कठोर वचनोंद्वारा ही घायल करे ॥ १९ ॥

प्राप्ते च प्रहरेत् काले न च संवर्तते पुनः ।
हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपून् प्रति ॥ २० ॥

देवेन्द्र! जो शत्रुको मारना चाहता है, उस पुरुषके लिये बारंबार मौका हाथमें नहीं लगता; अतः जब कभी अवसर मिल जाय, उस समय उसपर अवश्य प्रहार करे ॥

यो हि कालो व्यतिक्रामेत् पुरुषं कालकाङ्क्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा ॥ २१ ॥

समयकी प्रतीक्षा करनेवाले पुरुषके लिये जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य करनेकी इच्छावाले उस पुरुषके लिये फिर दुर्लभ हो जाता है ॥ २१ ॥

ओजश्च जनयेदेव संगृह्णन् साधुसम्मतम् ।
अकाले साधयेन्मित्रं न च प्राप्ते प्रपीडयेत् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर अपने बलको सदा बढ़ाता रहे। जबतक अनुकूल अवसर न आये, तबतक अपने मित्रोंकी संख्या बढ़ावे और शत्रुको भी पीड़ा न दे; परंतु अवसर आ जाय तो शत्रुपर प्रहार करनेसे न चूके ॥

विहाय कामं क्रोधं च तथाहंकारमेव च ।
युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुनः पुनः ॥ २३ ॥

काम, क्रोध तथा अहंकारको त्यागकर सावधानीके साथ बारंबार शत्रुओंके छिद्रोंको देखता रहे ॥ २३ ॥

मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम ।
मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्यविचक्षणम् ॥ २४ ॥

सुरश्रेष्ठ इन्द्र! कोमलता, दण्ड, आलस्य, असावधानी और शत्रुओंद्वारा अच्छी तरह प्रयोग की हुई माया—ये अनभिज्ञ राजाको बड़े कष्टमें डाल देते हैं ॥ २४ ॥

निहत्यैतानि चत्वारि मायां प्रति विधाय च ।
ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥ २५ ॥

कोमलता, दण्ड, आलस्य और प्रमाद—इन चारोंको नष्ट करके शत्रुकी मायाका भी प्रतीकार करे। तत्पश्चात् वह बिना विचारे शत्रुओंपर प्रहार कर सकता है ॥ २५ ॥

यदैवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत् ।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विश्रावयन्त्यपि ॥ २६ ॥

राजा अकेला ही जिस गुप्त कार्यको कर सके, उसे अवश्य कर डाले; क्योंकि मन्त्रीलोग कभी-कभी गुप्त विषयको प्रकाशित कर देते हैं और नहीं तो आपसमें ही एक दूसरेको सुना देते हैं ॥ २६ ॥

अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत् ।
ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरङ्गिणीम् ॥ २७ ॥

जो कार्य अकेले करना असम्भव हो जाय, उसीके लिये दूसरोंके साथ बैठकर विचार-विमर्श करे। यदि शत्रु दूरस्थ होनेके कारण दृष्टिगोचर न हो तो उसपर ब्रह्मदण्डका प्रयोग करे और यदि शत्रु निकटवर्ती होनेके कारण दृष्टिगोचर हो तो उसपर चतुरङ्गिणी सेना भेजकर आक्रमण करे ॥ २७ ॥

भेदं च प्रथमं युञ्ज्यात् तूष्णीं दण्डं तथैव च ।
काले प्रयोजयेद् राजा तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ २८ ॥

राजा शत्रुके प्रति पहले भेदनीतिका प्रयोग करे। तत्पश्चात् वह उपयुक्त अवसर आनेपर भिन्न-भिन्न शत्रुके प्रति भिन्न-भिन्न समयमें चुपचाप दण्डनीतिका प्रयोग करे ॥ २८ ॥

प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः ।
युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥ २९ ॥

यदि बलवान् शत्रुसे पाला पड़ जाय और समय उसीके अनुकूल हो तो राजा उसके सामने नतमस्तक हो जाय और जब वह शत्रु असावधान हो, तब स्वयं सावधान और उद्योगशील होकर उसके वधके उपायका अन्वेषण करे ॥ २९ ॥

प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन् ।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ॥ ३० ॥

राजाको चाहिये कि वह मस्तक झुकाकर, दान देकर तथा मीठे वचन बोलकर शत्रुका भी मित्रके समान ही सेवन करे। उसके मनमें कभी संदेह न उत्पन्न होने दे ॥ ३० ॥

स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विवर्जयेत् ।
न च तेष्वाश्वसेद् राजा जाग्रतीह निराकृताः ॥ ३१ ॥

जिन शत्रुओंके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया हो, उनके निकटवर्ती स्थानोंमें रहना या आना-जाना सदाके लिये त्याग दे। राजा उनपर कभी विश्वास न करे; क्योंकि इस जगत्‌में उसके द्वारा तिरस्कृत या क्षतिग्रस्त हुए शत्रुगण सदा बदला लेनेके लिये सजग रहते हैं ॥ ३१ ॥

न ह्यतो दुष्करं कर्म किंचिदस्ति सुरोत्तम ।
यथा विविधवृत्तानामैश्वर्यममराधिप ॥ ३२ ॥

देवेश्वर! सुरश्रेष्ठ! नाना प्रकारके व्यवहारचतुर लोगोंके ऐश्वर्यपर शासन करना जितना कठिन काम है, उससे बढ़कर दुष्कर कर्म दूसरा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

तथा विविधवृत्तानामपि सम्भव उच्यते।
यतते योगमास्थाय मित्रामित्रं विचारयेत् ॥ ३३ ॥

वैसे भिन्न-भिन्न व्यवहारचतुर लोगोंके ऐश्वर्यपर भी शासन करना तभी सम्भव बताया गया है, जब कि राजा मनोयोगका आश्रय ले सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहे और कौन मित्र है तथा कौन शत्रु; इसका विचार करता रहे ॥ ३३ ॥

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥ ३४ ॥

मनुष्य कोमल स्वभाववाले राजाका अपमान करते हैं और अत्यन्त कठोर स्वभाववालेसे भी उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम न कठोर बनो, न कोमल । समय-समयपर कठोरता भी धारण करो और कोमल भी हो जाओ ॥ ३४ ॥

यथा वप्रे वेगवति सर्वतः सम्प्लुतोदके।
नित्यं विवरणाद् बाधस्तथा राज्यं प्रमाद्यतः ॥ ३५ ॥

जैसे जलका प्रवाह बड़े वेगसे बह रहा हो और सब ओर जल-ही-जल फैल रहा हो, उस समय नदीतटके विदीर्ण होकर गिर जानेका सदा ही भय रहता है। उसी प्रकार यदि राजा सावधान न रहे तो उसके राज्यके नष्ट होनेका खतरा बना रहता है ॥ ३५ ॥

न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान्।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरंदर ॥ ३६ ॥
एकैकमेषां निष्पिष्य शिष्टेषु निपुणं चरेत्।
न तु शक्तोऽपि मेधावी सर्वानेवारभेन्नृपः ॥ ३७ ॥

पुरंदर ! बहुत-से शत्रुओंपर एक ही साथ आक्रमण नहीं करना चाहिये। साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा इन शत्रुओंमेंसे एक-एकको बारी-बारीसे कुचलकर शेष बचे हुए शत्रुको पीस डालनेके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न आरम्भ करे। बुद्धिमान् राजा शक्तिशाली होनेपर भी सब शत्रुओंको कुचलनेका कार्य एक ही साथ आरम्भ न करे ॥ ३६-३७ ॥

यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला।
पदातियन्त्रबहुला अनुरक्ता षडङ्गिनी ॥ ३८ ॥
यदा बहुविधां वृद्धिं मन्येत प्रतिलोमतः।
तदा विवृत्य प्रहरेद् दस्यूनामविचारयन् ॥ ३९ ॥

जब हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई और बहुत-से पैदलों तथा यन्त्रोंसे सम्पन्न, छः[1] अङ्गोंवाली विशाल सेना स्वामीके प्रति अनुरक्त हो, जब शत्रुकी अपेक्षा अपनी अनेक प्रकारसे उन्नति होती जान पड़े, उस समय राजा दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर प्रकटरूपसे डाकू और लुटेरोंपर प्रहार आरम्भ कर दे ॥ ३८-३९ ॥

न सामदण्डोपनिषत् प्रशस्यते
न मार्दवं शत्रुषु यात्रिकं सदा।
न सस्यघातो न च संकरक्रिया
न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥ ४० ॥

शत्रुके प्रति सामनीतिका प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता, बल्कि गुप्तरूपसे दण्डनीतिका प्रयोग ही श्रेष्ठ समझा जाता है। शत्रुओंके प्रति न तो कोमलता और न उनपर आक्रमण करना ही सदा ठीक माना जाता है। उनकी खेतीको चौपट करना तथा वहाँके जल आदिमें विष मिला देना भी अच्छा नहीं है। इसके सिवा, सात प्रकृतियोंपर विचार करना भी उपयोगी नहीं है (उसके लिये तो गुप्त दण्डका प्रयोग ही श्रेष्ठ है) ॥ ४० ॥

मायाविभेदानुपसर्जनानि
तथैव पापं न यशःप्रयोगात्।
आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत
पुरेषु राष्ट्रेषु च सम्प्रयुक्तान् ॥ ४१ ॥

राजा विश्वस्त मनुष्योंद्वारा शत्रुके नगर और राज्यमें नाना प्रकारके छल और परस्पर वैर-विरोधकी सृष्टि कर दे। इसी तरह छद्मवेषमें वहाँ अपने गुप्तचर नियुक्त कर दे; परंतु अपने यशकी रक्षाके लिये वहाँ अपनी ओरसे चोरी या गुप्त हत्या आदि कोई पापकर्म न होने दे ॥ ४१ ॥

पुरापि चैषामनुसृत्य भूमिपाः
पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति।
पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि
प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४२ ॥

बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्र ! पृथ्वीका पालन करनेवाले राजालोग पहले इन शत्रुओंके नगरोंमें विधिपूर्वक व्यवहारमें लायी हुई नीतिका प्रयोग करके दिखावें। इस प्रकार उनके अनुकूल व्यवहार करके वे उनकी राजधानीमें सारे भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४२ ॥

प्रदाय गूढानि वसूनि राजन्
प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान्।
दुष्टान् स्वदोषैरिति कीर्तयित्वा
पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४३ ॥

देवराज ! राजा अपने ही आदमियोंके विषयमें यह प्रचार कर देते हैं कि 'ये लोग दोषसे दूषित हो गये हैं; अतः मैंने इन दुष्टोंको राज्यसे बाहर निकाल दिया है। ये दूसरे देशमें चले गये हैं। ऐसा करके उन्हें वह शत्रुओंके राज्यों और नगरोंका भेद लेनेके कार्यमें नियुक्त कर देते हैं। ऊपरसे तो वे उनकी सारी भोग-सामग्री छीन लेते हैं; परंतु गुप्तरूपसे उन्हें प्रचुर धन अर्पित करके उनके साथ कुछ अन्य आत्मीय जनोंको भी लगा देते हैं ॥ ४३ ॥

तथैव चान्यैरपि शास्त्रवेदिभिः
स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः।
सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः
परेषु कृत्यामुपधारयेच्च ॥ ४४ ॥

---

[1] हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, कोष और धनी वैश्य—ये सेनाके छः अङ्ग हैं।

इसी तरह अन्यान्य शास्त्रज्ञ शास्त्रीय विधिके ज्ञाता सुशिक्षित तथा भाष्यकथाविशारद विद्वानोंको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उनके द्वारा शत्रुओंपर कृत्याका प्रयोग करावे ॥ ४४ ॥

इन्द्र उवाच

कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम ।
कथं दुष्टं विजानीयामेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ४५ ॥

इन्द्रने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! दुष्टके कौन-कौन-से लक्षण हैं ? मैं दुष्टको कैसे पहचानूँ ? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ४६ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज ! जो परोक्षमें किसी व्यक्तिके दोष-ही-दोष बताता है, उसके सद्गुणोंमें भी दोषारोपण करता रहता है और यदि दूसरे लोग उसके गुणोंका वर्णन करते हैं तो जो मुँह फेरकर चुप बैठ जाता है, वही दुष्ट माना जाता है ॥ ४६ ॥

तूष्णीम्भावेऽपि विज्ञेयं न चेद् भवति कारणम् ।
निःश्वासं चोष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४७ ॥

चुप बैठनेपर भी उस व्यक्तिकी दुष्टताको इस प्रकार जाना जा सकता है । निःश्वास छोड़नेका कोई कारण न होनेपर भी जो किसीके गुणोंका वर्णन होते समय लंबी-लंबी साँस छोड़े, ओठ चबाये और सिर हिलाये, वह दुष्ट है ॥

करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते ।
अदृष्टितो न कुरुते दृष्टो नैवाभिभाषते ॥ ४८ ॥

जो बारंबार आकर संसर्ग स्थापित करता है, दूर जानेपर दोष बताता है, कोई कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके भी आँखसे ओझल होनेपर उस कार्यको नहीं करता है और आँखके सामने होनेपर भी कोई बातचीत नहीं करता, उसके मनमें भी दुष्टता भरी है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि ।
आसने शयने याने भावा लक्ष्या विशेषतः ॥ ४९ ॥

जो कहींसे आकर साथ नहीं, अलग बैठकर खाता है और कहता है, आजका जैसा भोजन चाहिये, वैसा नहीं बना है (वह भी दुष्ट है) । इस प्रकार बैठने, सोने और चलने-फिरने आदिमें दुष्ट व्यक्तिके दुष्टतापूर्ण भाव विशेषरूपसे देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ५० ॥

यदि मित्रके पीड़ित होनेपर किसीको स्वयं भी पीड़ा होती हो और मित्रके प्रसन्न रहनेपर उसके मनमें भी प्रसन्नता छायी रहती हो तो यही मित्रके लक्षण हैं । इसके विपरीत जो किसीको पीड़ित देखकर प्रसन्न होता और प्रसन्न देखकर पीड़ाका अनुभव करता है तो समझना चाहिये कि यह शत्रुके लक्षण हैं ॥ ५० ॥

एतान्येव यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप ।
पुरुषाणां प्रदुष्टानां स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५१ ॥

देवेश्वर ! इस प्रकार जो मनुष्योंके लक्षण बताये गये हैं, उनको समझना चाहिये । दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव अत्यन्त प्रबल होता है ॥ ५१ ॥

इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुरसत्तम ।
निशम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५२ ॥

सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! शास्त्रके सिद्धान्तका यथावत् रूपसे विचार करके ये मैंने तुमसे दुष्ट पुरुषकी पहचान करानेवाले लक्षण बताये हैं ॥ ५२ ॥

भीष्म उवाच

स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रत-
स्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः ।
चचार काले विजयाय चारिहा
वशं च शत्रूननयत् पुरंदरः ॥ ५३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शत्रुओंके संहारमें तत्पर रहनेवाले शत्रुनाशक इन्द्रने बृहस्पतिजीका वह यथार्थ वचन सुनकर वैसा ही किया । उन्होंने उपयुक्त समयपर विजयके लिये यात्रा की और समस्त शत्रुओंको अपने अधीन कर लिया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

राज्य, खजाना और सेना आदिसे वञ्चित हुए असहाय क्षेमदर्शी राजाके प्रति कालकवृक्षीय मुनिका वैराग्यपूर्ण उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धार्मिकोऽर्थानसम्प्राप्य राजामात्यैः प्रबाधितः ।
च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन् कथं चरेत् ॥१॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजा धर्मात्मा हो और उद्योग करते रहनेपर भी धन न पा सके, उस अवस्थामें यदि मन्त्री उसे कष्ट देने लगें और उसके पास खजाना तथा

सेना भी न रह जाय तो सुख चाहनेवाले उस राजाको कैसे काम चलाना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्रायं क्षेमदर्शीय इतिहासोऽनुगीयते ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें यह क्षेमदर्शीका इतिहास जगत्में बार-बार कहा जाता है । उसीको मैं तुमसे कहूँगा । तुम ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

क्षेमदर्शी नृपसुतो यत्र क्षीणबलः पुरा ।
मुनिं कालकवृक्षीयमाजगामेति नः श्रुतम् ।
तं पप्रच्छानुसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि प्राचीनकालमें एक बार कोसलराजकुमार क्षेमदर्शीको बड़ी कठिन विपत्तिका सामना करना पड़ा । उसकी सारी सैनिक-शक्ति नष्ट हो गयी । उस समय वह कालकवृक्षीय मुनिके पास गया और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उसने उस विपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय पूछा ॥३॥

राजोवाच

अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः ।
अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन् किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

राजाने इस प्रकार प्रश्न किया—ब्रह्मन् ! मनुष्य धनका भागीदार समझा जाता है; किंतु मेरे-जैसा पुरुष बार-बार उद्योग करनेपर भी यदि राज्य न पा सके तो उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ४ ॥

अन्यत्र मरणाद् दैन्यादन्यत्र परसंश्रयात् ।
क्षुद्रादन्यत्र चाचारात् तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥ ५ ॥

साधुशिरोमणे ! आत्मघात करने, दीनता दिखाने, दूसरोंकी शरणमें जाने तथा इसी तरहके और भी नीच कर्म करनेकी बात छोड़कर दूसरा कोई उपाय हो तो वह मुझे बताइये ॥

व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥

जो मानसिक अथवा शारीरिक रोगसे पीड़ित है, ऐसे मनुष्यको आप-जैसे धर्मज्ञ और कृतज्ञ महात्मा ही शरण देनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते ।
त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु॥ ७ ॥

मनुष्यको जब कभी विषय-भोगोंसे वैराग्य होता है, तब विरक्त होनेपर वह हर्ष और शोकको त्याग देता तथा ज्ञानमय धन पाकर नित्य सुखका अनुभव करने लगता है ॥ ७ ॥

सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् ।
मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८ ॥

जिनके सुखका आधार धन है अर्थात् जो धनसे ही सुख मानते हैं, उन मनुष्योंके लिये मैं निरन्तर शोक करता हूँ; क्योंकि मेरे पास धन बहुत था, परंतु वह सब सपनेमें मिली हुई सम्पत्तिकी तरह नष्ट हो गया ॥ ८ ॥

दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये ।
वयं त्वेतान् परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९ ॥

मेरी समझमें जो अपनी विशाल सम्पत्तिको त्याग देते हैं, वे अत्यन्त दुष्कर कार्य करते हैं । मेरे पास तो अब धनके नाम-पर कुछ नहीं है, तो भी मैं उसका मोह नहीं छोड़ पाता हूँ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तं दीनमार्तं श्रिया च्युतम् ।
यदन्यत् सुखमस्तीह तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! मैं राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट, दीन और आर्त होकर इस शोचनीय अवस्थामें आ पड़ा हूँ । इस जगत्में धनके अतिरिक्त जो सुख हो, उसीका मुझे उपदेश कीजिये ॥१०॥

कौसल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता ।
मुनिः कालकवृक्षीयः प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् कोसलराजकुमारके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी कालकवृक्षीय मुनिने इस तरह उत्तर दिया ॥ ११ ॥

मुनिरुवाच

पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानता ।
अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥ १२ ॥

मुनि बोले—राजकुमार ! तुम समझदार हो; अतः तुम्हें पहलेसे ही अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा ही निश्चय कर लेना उचित था । इस जगत्में 'मैं' और 'मेरा' कहकर जो कुछ भी समझा या ग्रहण किया जाता है, वह सब अनित्य ही है ॥ १२ ॥

यत् किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३ ॥

तुम जिस किसी वस्तुको ऐसा मानते हो कि 'यह है' वह सब पहलेसे ही समझ लो कि 'नहीं है' ऐसा समझनेवाला विद्वान् पुरुष कठिन-से-कठिन विपत्तिमें पड़नेपर भी व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति ।
एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जो वस्तु पहले थी और होगी, वह सब न तो थी और न होगी ही । इस प्रकार जानने योग्य तत्त्वको जान लेनेपर तुम सम्पूर्ण अधर्मोंसे छुटकारा पा जाओगे ॥ १४ ॥

यच्च पूर्वं समाहारे यच्च पूर्वं परे परे ।
सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥१५॥

जो वस्तु पहले बहुत बड़े समुदायके अधीन (गणतन्त्र) रह चुकी है तथा जो एकके बाद दूसरेकी होती आयी है, वह सबकी सब तुम्हारी भी नहीं है; इस बातको भलीभाँति समझ लेनेपर किसको बारंबार चिन्ता होगी ॥ १५ ॥

भूत्वा च न भवत्येतदभूत्वा च भविष्यति ।
शोके न ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात् कथंचन ॥१६॥

यह राजलक्ष्मी होकर भी नहीं रहती और जिनके पास नहीं होती, उनके पास आ जाती है; परंतु शोककी सामर्थ्य

नहीं है कि वह गयी हुई सम्पत्तिको लौटा लावे; अतः किसी तरह भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च ।१७।

राजन्! बताओ तो सही, तुम्हारे पिता आज कहाँ हैं? तुम्हारे पितामह अब कहाँ चले गये? आज न तो तुम उन्हें देखते हो और न वे तुम्हें देख पाते हैं ॥ १७ ॥

आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि ।
बुद्ध्या चैवानुबुद्ध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥

यह शरीर अनित्य है, इस बातको तुम देखते और समझते हो, फिर उन पूर्वजोंके लिये क्यों निरन्तर शोक करते हो? जरा बुद्धि लगाकर विचार तो करो, निश्चय ही एक दिन तुम भी नहीं रहोगे ॥ १८ ॥

अहं च त्वं च नृपते सुहृदः शत्रवश्च ते ।
अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति ॥ १९ ॥

नरेश्वर! मैं, तुम, तुम्हारे मित्र और शत्रु—ये हम सब लोग एक दिन नहीं रहेंगे। यह सब कुछ नष्ट हो जायगा ॥

ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥ २० ॥

इस समय जो बीस या तीस वर्षकी अवस्थावाले मनुष्य हैं, ये सभी सौ वर्षके पहले ही मर जायँगे ॥ २० ॥

अपि चेन्महतो वित्तान्न प्रमुच्येत पूरुषः ।
नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें यदि मनुष्य बहुत बड़ी सम्पत्तिसे न बिछुड़ जाय तो भी उसे 'यह मेरा नहीं है' ऐसा समझकर अपना कल्याण अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

अनागतं यन्न ममेति विद्या-
दतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात् ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमाना-
स्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः ॥ २२ ॥

जो वस्तु भविष्यमें मिलनेवाली है, उसे यही माने कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो चुकी हो, उसके विषयमें भी यही भाव रखे कि 'वह मेरी नहीं थी।' जो ऐसा मानते हैं कि 'प्रारब्ध ही सबसे प्रबल है,' वे ही विद्वान् हैं और उन्हें सत्पुरुषोंका आश्रय कहा गया है ॥ २२ ॥

अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यं चाप्यनुशासति ।
बुद्धिपौरुषसम्पन्नास्त्वया तुल्याधिका जनाः ॥ २३ ॥
न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात् त्वमपि मा शुचः ।
किं न त्वं तैर्नरैः श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः ॥ २४ ॥

जो धनाढ्य नहीं हैं, वे भी जीते हैं और कोई राज्यका शासन भी करते हैं। उनमेंसे कुछ तुम्हारे समान ही बुद्धि और पौरुषसे सम्पन्न हैं तथा कुछ तुमसे बढ़कर भी हो सकते हैं। परंतु वे भी तुम्हारी तरह शोक नहीं करते; अतः तुम भी शोक न करो। क्या तुम बुद्धि और पुरुषार्थमें उन मनुष्योंसे श्रेष्ठ या उनके समान नहीं हो? ॥ २३-२४ ॥

राजोवाच

यादृच्छिकं सर्वमासीत् तद् राज्यमिति चिन्तये ।
ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो यही समझता हूँ कि वह सारा राज्य मुझे स्वतः अनायास ही प्राप्त हो गया था और अब महान् शक्तिशाली कालने यह सब कुछ छीन लिया है ॥ २५ ॥

तस्यैव ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन ।
फलमेतत् प्रपश्यामि यथालब्धेन वर्तयन् ॥ २६ ॥

तपोधन! जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहा ले जाता है, उसी प्रकार कालके वेगसे मेरे राज्यका अपहरण हो गया। उसीके फलस्वरूप मैं इस शोकका अनुभव करता हूँ और जैसे तैसे जो कुछ मिल जाता है, उसीसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ २६ ॥

मुनिरुवाच

अनागतमतीतं च याथातथ्यविनिश्चयात् ।
नानुशोचेत कौसल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥

मुनिने कहा—कोसलराजकुमार! यथार्थ तत्त्वका निश्चय हो जानेपर मनुष्य भविष्य और भूतकालकी किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता। इसलिये तुम भी सभी पदार्थोंके विषयमें उसी तरह शोकरहित हो जाओ ॥ २७ ॥

अवाप्यान् कामयन्नर्थान् नानवाप्यान् कदाचन ।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन् मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥

मनुष्य पाने योग्य पदार्थोंकी ही कामना करता है। अप्राप्य वस्तुओंकी कदापि नहीं। अतः तुम्हें भी जो कुछ प्राप्त है, उसीका उपभोग करते हुए अप्राप्त वस्तुके लिये कभी चिन्तन नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

यथालब्धोपपन्नार्थैस्तथा कौसल्य रंस्यसे ।
कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रिया हीनो न शोचसि ॥ २९ ॥

कोसलनरेश! क्या तुम दैववश जो कुछ मिल जाय, उसीसे उतने ही आनन्दके साथ रह सकोगे, जैसे पहले रहते थे। आज राजलक्ष्मीसे वञ्चित होनेपर भी क्या तुम शुद्ध हृदयसे शोकको छोड़ चुके हो? ॥ २९ ॥

पुरस्ताद् भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः ।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थश्च न मृष्यते ॥ ३० ॥

जब पहले सम्पत्ति प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है, तब उसीके कारण अपनेको भाग्यहीन माननेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य सदा विधाताकी निन्दा करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए पदार्थोंसे उसे संतोष नहीं होता है ॥ ३० ॥

अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान् ।
एतस्मात् कारणादेतद् दुःखं भूयोऽनुवर्तते ॥ ३१ ॥

वह दूसरे धनी मनुष्योंको धनके अयोग्य मानता है। इसी कारण उसका यह ईर्ष्याजनक दुःख सदा उसके पीछे लगा रहता है ॥ ३१ ॥

ईर्ष्याभिमानसम्पन्ना राजन् पुरुषमानिनः ।
कच्चित् त्वं न तथा राजन् मत्सरी कोसलाधिप॥ ३२ ॥

राजन्! अपनेको पुरुष माननेवाले बहुत-से मनुष्य ईर्ष्या और अहंकारसे भरे होते हैं। कोसलनरेश! क्या तुम ऐसे ईर्ष्यालु तो नहीं हो? ॥ ३२ ॥

सहस्व श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा ।
अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ॥ ३३ ॥
अभिनिष्यन्दते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनम् ।

यद्यपि तुम्हारे पास लक्ष्मी नहीं है तो भी तुम दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर सहन करो; क्योंकि चतुर मनुष्य दूसरोंके यहाँ रहनेवाली सम्पत्तिका भी सदा उपभोग करते हैं और जो लोगोंसे द्वेष रखता है, उसके पास सम्पत्ति हो तो भी वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ ३३½ ॥

श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः ।
योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥ ३४ ॥

योगधर्मको जाननेवाले धर्मात्मा धीर मनुष्य अपनी सम्पत्ति तथा पुत्र-पौत्रोंका भी स्वयं ही त्याग कर देते हैं ॥३४॥

(त्यक्तं स्वायम्भुवे वंशे शुभेन भरतेन च ।
नानारत्नसमाकीर्णं राज्यं स्फीतमिति श्रुतम् ॥
तथान्यैर्भूमिपालैश्च त्यक्तं राज्यं महोदयम् ।
त्यक्त्वा राज्यानि सर्वे च वने वन्यफलाशनाः ॥
गताश्च तपसः पारं दुःखस्यान्तं च भूमिपाः ।)
बहुसंकुसुकं दृष्ट्वा विधित्सासाधनेन च ।
तथान्ये संत्यजन्त्येव मत्वा परमदुर्लभम् ॥ ३५ ॥

स्वायम्भुव मनुके वंशमें उत्पन्न हुए शुभ आचार-विचारवाले राजा भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अपने समृद्धिशाली राज्यको त्याग दिया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है इसी प्रकार अन्य भूमिपालोंने भी महान् अभ्युदयशाली राज्यका परित्याग किया है। राज्य छोड़कर वे सब-के-सब भूपाल वनमें जंगली फल-मूल खाकर रहते थे। वहीं वे तपस्या और दुःखके पार पहुँच गये। धनकी प्राप्ति निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहनेसे होती है, फिर भी वह अत्यन्त अस्थिर है, यह देखकर तथा इसे परम दुर्लभ मानकर भी दूसरे लोग उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन् कृपणं परितप्यसे ।
अकाम्यान् कामयानोऽर्थान् पराधीनानुपद्रवान् ॥३६॥

परंतु तुम तो समझदार हो, तुम्हें मालूम है, भोग प्रारब्धके अधीन और अस्थिर हैं, तो भी नहीं चाहनेयोग्य विषयोंको चाहते हो और उनके लिये दीनता दिखाते हुए शोक कर रहे हो ॥ ३६ ॥

तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैतान् परित्यज ।
अनर्थांश्चार्थरूपेण ह्यर्थांश्चानर्थरूपिणः ॥ ३७ ॥

तुम पूर्वोक्त बुद्धिको समझनेकी चेष्टा करो और इन भोगोंको छोड़ो, जो तुम्हें अर्थके रूपमें प्रतीत होनेवाले अनर्थ हैं; क्योंकि वास्तवमें समस्त भोग अनर्थस्वरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

अर्थायैव हि केषांचिद् धननाशो भवत्युत ।
आनन्त्यं तत्सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीप्सति ॥ ३८ ॥

इस अर्थ या भोगके लिये ही कितने ही लोगोंके धनका नाश हो जाता है। दूसरे लोग सम्पत्तिको अक्षय सुख मानकर उसे पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ३८ ॥

रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते ।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥ ३९ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो धन-सम्पत्तिमें इस तरह रम जाता है कि उसे उससे बढ़कर सुखका साधन और कुछ जान ही नहीं पड़ता है। अतः वह धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहता है। परंतु दैववश उस मनुष्यका वह सारा उद्योग सहसा नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

कृच्छ्राल्लब्धमभिप्रेतं यदि कौसल्य नश्यति ।
तदा निर्विद्यते सोऽर्थात् परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥
(अनित्यां तां श्रियं मत्वा श्रियं वा कः परीप्सति।)

कोसलनरेश! बड़े कष्टसे प्राप्त किया हुआ वह अभीष्ट धन यदि नष्ट हो जाता है तो उसके उद्योगका सिलसिला टूट जाता है और वह धनसे विरक्त हो जाता है। इस प्रकार उस सम्पत्तिको अनित्य समझकर भी भला कौन उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करेगा? ॥ ४० ॥

धर्ममेकेऽभिपद्यन्ते कल्याणाभिजना नराः ।
परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए कुछ ही मनुष्य ऐसे हैं, जो धर्मकी शरण लेते हैं और परलोकमें सुखकी इच्छा रखकर समस्त लौकिक व्यापारसे उपरत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

जीवितं संत्यजन्त्येके धनलोभपरा जनाः ।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥

कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो धनके लोभमें पड़कर अपने प्राणतक गँवा देते हैं। ऐसे मनुष्य धनके सिवा जीवनका दूसरा कोई प्रयोजन ही नहीं समझते हैं ॥ ४२ ॥

पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम् ।
अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ॥ ४३ ॥

देखो, उनकी दीनता और देख लो उनकी मूर्खता, जो इस अनित्य जीवनके लिये मोहवश धनमें ही दृष्टि गड़ाये रहते हैं ॥ ४३ ॥

संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते ।
संयोगे च वियोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ॥ ४४ ॥

जब संग्रहका अन्त विनाश ही है, जब जीवनका अन्त

मृत्यु ही है और जब संयोगका अन्त वियोग ही है, तब इनकी ओर कौन अपना मन लगायेगा ? ॥ ४४ ॥

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येव तद् विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत् ॥४५॥

राजन् ! चाहे मनुष्य धनको छोड़ता है, चाहे धन ही मनुष्यको छोड़ देता है । एक दिन अवश्य ऐसा होता है । इस बातको जाननेवाला कौन मनुष्य धनके लिये चिन्ता करेगा ? ॥

(अन्यत्रोपनता ह्यापत् पुरुषं तोषयत्युत ।
तेन शान्तिं न लभते नाहमेवेति कारणात् ॥)

दूसरोंपर पड़ी हुई आपत्ति मूर्ख मनुष्यको संतोष प्रदान करती है । वह समझता है कि मैं उस संकटमें नहीं पड़ा हूँ । इस भेददृष्टिके कारण ही उसे कभी शान्ति नहीं मिलती ॥

अन्येषामपि नश्यन्ति सुहृदश्च धनानि च ।
पश्य बुद्ध्या मनुष्याणां राजन्नापदमात्मनः ॥ ४६ ॥

राजन् ! दूसरोंके भी धन और सुहृद् नष्ट होते हैं; अतः तुम बुद्धिसे विचारकर देखो कि दूसरे मनुष्योंके समान ही तुम्हारी अपनी आपत्ति भी है ॥ ४६ ॥

नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरम् ।
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि ॥ ४७ ॥

इन्द्रियोंको संयममें रक्खो, मनको वशमें करो और वाणीका संयम करके मौन रहा करो । ये मन, वाणी और इन्द्रियाँ दुर्बल हों या अहितकारक, इन्हें विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेवाला अपने सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ४७ ॥

प्रातिसृष्टेषु भावेषु व्यपकृष्टेष्वसम्भवे ।
प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥ ४८ ॥

सारे पदार्थ जब संसर्गमें आते हैं, तभी दृष्टिगोचर होते हैं । दूर हो जानेपर उनका दर्शन सम्भव नहीं हो पाता । ऐसी स्थितिमें ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त तथा पराक्रमसे सम्पन्न तुम्हारे-जैसा पुरुष शोक नहीं करता है ॥ ४८ ॥

अल्पमिच्छन्नचपलो मृदुर्दान्तः सुनिश्चितः ।
ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव शोचति ॥ ४९ ॥

तुम्हारी इच्छा तो बहुत थोड़ी है । तुममें चपलताका दोष भी नहीं है । तुम्हारा हृदय कोमल और बुद्धि एक निश्चयपर डटी रहनेवाली है तथा तुम जितेन्द्रिय होनेके साथ ही ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न भी हो; अतः तुम्हारे-जैसे पुरुषको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४९ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेपितुमर्हसि ।
नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुष्टां कापुरुषोचिताम् ॥ ५० ॥

तुमको हाथमें कपाल लेकर भीख माँगनेवालोंकी तथा निर्दय पुरुषोंकी उस कपटभरी वृत्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो अत्यन्त पापपूर्ण, अनेक दोषोंसे दूषित तथा कायरोंके ही योग्य है ॥ ५० ॥

अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने ।
वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूतदयान्वितः ॥ ५१ ॥

तुम मूल-फलसे जीवन-निर्वाह करते हुए विशाल वनमें अकेले ही विचरण करो । वाणीको संयममें रखकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो और सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयाभाव बनाये रक्खो ॥ ५१ ॥

सदृशं पण्डितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिना ।
यदेको रमतेऽरण्येष्वारण्ये नैव तुष्यति ॥ ५२ ॥

तुम-जैसे विद्वान् पुरुषके योग्य कार्य तो यह है कि वनमें ईषाके समान बड़े-बड़े दाँतवाले जंगली हाथीके साथ अकेला विचरे और जंगलके ही पत्र, पुष्प तथा फल मूल खाकर संतुष्ट रहे ॥ ५२ ॥

महाह्रदः संक्षुभित आत्मनैव प्रसीदति ।
(इत्थं नरोऽप्यात्मनैव कृतप्रज्ञः प्रसीदति ।)
एतदेवंगतस्याहं सुखं पश्यामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

जैसे क्षुब्ध हुआ महान् सरोवर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धिवाला मनुष्य क्षुब्ध होनेपर भी निर्मल हो जाता है । अतः राजकुमार ! इस अवस्थामें तुम्हारा इस रूपमें आ जाना अर्थात् तुम्हारे मनमें ऐसे विशुद्ध भावका उदय होना शुभ है । इस प्रकारके जीवनको ही मैं सुखमय समझता हूँ ॥

असम्भवे श्रियो राजन् हीनस्य सचिवादिभिः ।
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान् ॥ ५४ ॥

राजन् ! तुम्हारे लिये अब धन-सम्पत्तिकी कोई सम्भावना नहीं है । तुम मन्त्री आदिसे भी रहित हो गये हो तथा दैव भी तुम्हारे प्रतिकूल ही है, ऐसी अवस्थामें तुम अपने लिये किस मार्गका अवलम्बन अच्छा समझते हो ? ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिके द्वारा गये हुए राज्यकी प्राप्तिके लिये विभिन्न उपायोंका वर्णन

मुनिरुवाच

अथ चेत् पौरुषं किंचित् क्षत्रियात्मनि पश्यसि ।
ब्रवीमि तां तु ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥ १ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! यदि तुम अपनेमें कुछ पुरुषार्थ देखते हो तो मैं तुम्हें राज्यकी प्राप्तिके लिये एक नीति बता रहा हूँ ॥ १ ॥

तां चेच्छक्नोषि निर्मातुं कर्म चैव करिष्यसि ।
शृणु सर्वमशेषेण यत् त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

यदि तुम उसे कार्यरूपमें परिणत कर सको, उसके अनुसार ही सारा कार्य करो तो मैं उस नीतिका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ । तुम वह सब पूर्णरूपसे सुनो ॥ २ ॥

आचरिष्यसि चेत् कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।
राज्यं राज्यस्य मन्त्रं वा महतीं वा पुनः श्रियम् ॥ ३ ॥
अथैतद् रोचते राजन् पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते ।

यदि तुम मेरी बतायी हुई नीतिके अनुसार कार्य करोगे तो तुम्हें पुनः महान् वैभव, राज्य, राज्यकी मन्त्रणा और विशाल सम्पत्तिकी प्राप्ति होगी । राजन् ! यदि मेरी यह बात तुम्हें रुचती हो तो फिरसे कहो, क्या मैं तुमसे इस विषयका वर्णन करूँ ? ॥ ३½ ॥

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नोऽस्म्यहं प्रभो ॥ ४ ॥
अमोघोऽयं भवत्वद्य त्वया सह समागमः ।

राजाने कहा—प्रभो ! आप अवश्य उस नीतिका वर्णन करें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आपके साथ जो समागम प्राप्त हुआ है, यह आज व्यर्थ न हो ॥ ४½ ॥

मुनिरुवाच

हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा ॥ ५ ॥
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।

मुनिने कहा—राजन् ! तुम दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भयको त्यागकर हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर शत्रुओंकी भी सेवा करो ॥ ५½ ॥

तमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिधारय ॥ ६ ॥
दातुमर्हति ते वित्तं वैदेहः सत्यसंगरः ।
प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च भविष्यसि ॥ ७ ॥

तुम पवित्र व्यवहार और उत्तम कर्मद्वारा अपने प्रति विदेहराजका विश्वास उत्पन्न करो । विदेहराज सत्यप्रतिज्ञ हैं; अतः वे तुम्हें अवश्य धन प्रदान करेंगे । यदि ऐसा हुआ तो तुम समस्त प्राणियोंके लिये प्रमाणभूत (विश्वासपात्र) तथा राजाकी दाहिनी बाँह हो जाओगे ॥ ६-७ ॥

ततः सहायान् सोत्साहाँल्लप्स्यसेऽव्यसनाञ्शुचीन् ।
वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ।

फिर तो तुम्हें बहुत-से शुद्ध हृदयवाले, दुर्व्यसनोंसे रहित तथा उत्साही सहायक मिल जायँगे । जो मनुष्य शास्त्रके अनुकूल आचरण करता हुआ अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह अपना तो उद्धार करता ही है, प्रजाको भी प्रसन्न कर लेता है ॥ ८½ ॥

तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ॥ ९ ॥
प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा च ग्रहणं महत् ।
ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रिभिः ॥ १० ॥
आन्तरैर्भेदयित्वारीन् विल्वं विल्वेन भेदय ।

राजा जनक बड़े धीर और श्रीसम्पन्न हैं । जब वे तुम्हारा सत्कार करेंगे, तब सभी लोगोंके विश्वासपात्र होकर तुम अत्यन्त गौरवान्वित हो जाओगे । उस अवस्थामें तुम मित्रोंकी सेना इकट्ठी करके अच्छे मन्त्रियोंके साथ सलाह लेकर अन्तरङ्ग व्यक्तियोंद्वारा शत्रुदलमें फूट डलवाकर बेलको बेलसे ही फोड़ो (शत्रुके सहयोगसे ही शत्रुका विध्वंस कर डालना) ॥ ९-१०½ ॥

परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥ ११ ॥
अलभ्या ये शुभा भावाः स्त्रियश्चाच्छादनानि च ।
शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ १२ ॥
पक्षिणो मृगजातानि रसगन्धाः फलानि च ।
तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्यत्वयं परः ॥ १३ ॥

अथवा दूसरोंसे मेल करके उन्हींके द्वारा शत्रुके बलका भी नाश कराओ । राजकुमार ! जो शुभ पदार्थ अलभ्य हैं, उनमें तथा स्त्री, ओढ़ने-बिछानेके सुन्दर वस्त्र, अच्छे-अच्छे पलंग, आसन, वाहन, बहुमूल्य गृह, तरह-तरहके रस, गन्ध और फल—इन्हीं वस्तुओंमें शत्रुको आसक्त करो । भाँति-भाँतिके पक्षियों और विभिन्न जातिके पशुओंके पालनकी भी आसक्ति शत्रुके मनमें पैदा करो, जिससे यह शत्रु धीरे-धीरे धनहीन होकर स्वतः नष्ट हो जाय ॥ ११—१३ ॥

यद्येवं प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति ।
न जातु विवृतः कार्यः शत्रुः सुनयमिच्छता ॥ १४ ॥

यदि ऐसा करते समय कभी शत्रुको उस व्यसनकी ओर जानेसे रोकने या मना करनेकी आवश्यकता पड़े तो वह भी करना चाहिये अथवा वह उपेक्षाके योग्य हो तो उपेक्षा ही कर देनी चाहिये; किंतु उत्तम नीतिका फल चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह किसी भी दशामें शत्रुपर अपना गुप्त मनोभाव प्रकट न होने दे ॥ १४ ॥

रमस्व परमामित्रे विषये प्राज्ञसम्मतः ।
भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्रधर्ममनर्थकैः ॥ १५ ॥

तुम बुद्धिमानोंके विश्वासभाजन बनकर अपने महाशत्रुके राज्यमें सानन्द विचरण करो और कुत्ते, हिरन तथा कौओंकी तरह* चौकन्ने रहकर निरर्थक बर्तावोंद्वारा विदेहराजके प्रति

* जैसे कुत्ते बहुत जागते हैं, उसी तरह शत्रुकी गति-विधिको देखनेके लिये बराबर जागता रहे । जिस प्रकार हिरन बहुत चौकन्ने होते हैं, जरा भी भयकी आशङ्का होते ही भाग जाते हैं, उसी तरह हर समय सावधान रहे । भय आनेके पहले ही वहाँसे खिसक जाय । जैसे कौए प्रत्येक मनुष्यकी चेष्टा देखते रहते हैं, किसीको हाथ उठाते देख तुरंत उड़ जाते हैं; इसी प्रकार शत्रुकी चेष्टापर सदा दृष्टि रक्खे ।

मित्रधर्मका पालन करो ॥ १५ ॥

आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय ।
नदीवच्च विरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १६ ॥

शत्रुको इतने बड़े-बड़े कार्य करनेकी प्रेरणा दो, जिनका पूरा होना अत्यन्त कठिन हो और बलवान् राजाओंके साथ शत्रुका ऐसा विरोध करा दो, जो किसी विशाल नदीके समान अत्यन्त दुस्तर हो ॥ १६ ॥

उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिभोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े बगीचे लगवाकर, बहुमूल्य पलंग-बिछौने तथा भोग-विलासके अन्य साधनोंमें खर्च कराकर उसका सारा खजाना खाली करा दो ॥ १७ ॥

यज्ञदाने प्रशाध्यस्मै ब्राह्मणाननुवर्ण्य तान् ।
ते त्वां प्रतिकरिष्यन्ति तं भोक्ष्यन्ति वृका इव ॥ १८ ॥

तुम मिथिलाके प्रसिद्ध ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करके उनके द्वारा विदेहराजको बड़े-बड़े यज्ञ और दान करनेका उपदेश दिलाओ। नित्य ही वे ब्राह्मण तुम्हारा उपकार करेंगे और विदेहराजको भेड़ियोंके समान नोच खायेंगे ॥ १८ ॥

असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति मानवः ॥ १९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि पुण्यशील मानव परम गतिको प्राप्त होता है । उसे स्वर्गलोकमें परम पवित्र स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति ।
उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मेणाधर्म एव च ॥ २० ॥

कोसलराज! धर्म अथवा अधर्म या उन दोनोंमें ही प्रवृत्त रहनेवाले राजाका कोष निश्चय ही खाली हो जाता है । खजाना खाली होते ही राजा अपने शत्रुओंके वशमें आ जाता है ॥ २० ॥

फलार्थमूलं व्युच्छिद्येत् तेन नन्दन्ति शात्रवः ।
न चास्मै मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ॥ २१ ॥

शत्रुके राज्यमें जो फल-मूल और खेती आदि हो, उसे गुप्तरूपसे नष्ट करा दे । इससे उसके शत्रु प्रसन्न होते हैं । यह कार्य किसी मनुष्यका किया हुआ न बतावे । दैवी घटना कहकर इसका वर्णन करे ॥ २१ ॥

असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति ।
याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्य तम् ॥ २२ ॥

इसमें संदेह नहीं कि दैवका मारा हुआ मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । हो सके तो शत्रुको विश्वजित् नामक यज्ञमें लगा दो और उसके द्वारा दक्षिणारूपमें सर्वस्वदान कराकर उसे निर्धन बना दो ॥ २२ ॥

ततो गच्छसि सिद्धार्थः पीड्यमानं महाजनम् ।
योगधर्मविदं पुण्यं कंचिदस्योपवर्णयेत् ॥ २३ ॥
अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिद् गच्छेदनामयम् ।
सिद्धेनौषधियोगेन सर्वशत्रुविनाशिना ।
नागानश्वान् मनुष्यांश्च कृतकैरुपघातयेत् ॥ २४ ॥

इससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा । तदनन्तर तुम्हें कष्ट पाते हुए किसी श्रेष्ठपुरुषकी दुरवस्थाका और किसी योगधर्मके ज्ञाता पुण्यात्मा पुरुषकी महिमाका राजाके सामने वर्णन करना चाहिये, जिससे शत्रु राजा अपने राज्यको त्याग देनेकी इच्छा करने लगे । यदि कदाचित् वह प्रकृतिस्थ ही रह जाय, उसके ऊपर वैराग्यका प्रभाव न पड़े, तब अपने नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा सर्वशत्रुविनाशक सिद्ध औषधके प्रयोगसे शत्रुके हाथी, घोड़े और मनुष्योंको मरवा डालना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

एते चान्ये च बहवो दम्भयोगाः सुचिन्तिताः ।
शक्या विषहता कर्तुं पुरुषेण कृतात्मना ॥ २५ ॥

राजकुमार ! अपने मनको वशमें रखनेवाला पुरुष यदि धर्म-विरुद्ध आचरण करना सह सके तो ये तथा और भी बहुत-से भलीभाँति सोचे हुए कपटपूर्ण प्रयोग हैं, जो उसके द्वारा किये जा सकते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिका विदेहराज तथा कोसलराजकुमारमें मेल कराना और विदेहराजका कोसलराजको अपना जामाता बना लेना

राजोवाच

न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान् सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं कपट और दम्भका आश्रय लेकर जीवित रहना नहीं चाहता । अधर्मके सहयोगसे मुझे बहुत बड़ी सम्पत्ति मिलती हो तो भी मैं उसकी इच्छा नहीं करता ॥ १ ॥

पुरस्तादेव भगवन् मयैतदपवर्जितम् ।
येन मां नाभिशङ्केत येन कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥

भगवन् ! मैंने तो पहलेसे ही इन सब दुर्गुणोंका परित्याग कर दिया है, जिससे किसीका मुझपर संदेह न हो और सबका सम्पूर्णरूपसे हित हो ॥ २ ॥

आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतत् त्वय्युपपद्यते ॥ ३ ॥

मैं दया-धर्मका आश्रय लेकर ही इस जगत्में जीना चाहता हूँ । मुझसे यह अधर्माचरण कदापि नहीं हो सकता और ऐसा उपदेश देना आपको भी शोभा नहीं देता ॥ ३ ॥

मुनिरुवाच

उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे ।
प्रकृत्या ह्युपपन्नोऽसि बुद्ध्या वा बहुदर्शनः ॥ ४ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसे ही गुणोंसे सम्पन्न भी हो । तुम धार्मिक स्वभावसे युक्त हो और अपनी बुद्धिके द्वारा बहुत कुछ देखने तथा समझनेकी शक्ति रखते हो ॥ ४ ॥

उभयोरेव वामर्थे यतिष्ये तव तस्य च ।
संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनपायिनम् ॥ ५ ॥

मैं तुम्हारे और राजा जनक—दोनोंके ही हितके लिये अब स्वयं ही प्रयत्न करूँगा और तुम दोनोंमें ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करा दूँगा, जो अमिट और चिरस्थायी हो ॥

त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतम् ।
अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥

तुम्हारा जन्म उच्चकुलमें हुआ है । तुम दयालु, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा राज्यसंचालनकी कलामें कुशल हो । तुम्हारे-जैसे योग्य पुरुषको कौन अपना मन्त्री नहीं बनायेगा ? ॥ ६ ॥

यस्त्वं प्रच्यावितो राज्याद् व्यसनं चोत्तमं गतः।
आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥

राजकुमार ! तुम्हें राज्यसे भ्रष्ट कर दिया गया है । तुम बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये हो तथापि तुमने क्रूरताको नहीं अपनाया, तुम दयायुक्त बर्तावसे ही जीवन बिताना चाहते हो ॥ ७ ॥

आगन्ता मद्गृहं तात वैदेहः सत्यसंगरः ।
अथाहं तं नियोक्ष्यामि तत् करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥

तात ! सत्यप्रतिज्ञ विदेहराज जनक जब मेरे आश्रमपर पधारेंगे, उस समय मैं उन्हें जो भी आज्ञा दूँगा, उसे वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे ॥ ८ ॥

तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत् ।
अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुनिने विदेहराज जनकको बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! यह राजकुमार राजवंशमें उत्पन्न हुआ है, इसकी आन्तरिक बातोंको भी मैं जानता हूँ ॥ ९ ॥

आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा यथा ।
नास्मिन् पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥

'इसका हृदय दर्पणके समान शुद्ध और शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल है । मैंने इसकी सब प्रकारसे परीक्षा कर ली है । इसमें मैं कोई पाप या दोष नहीं देख रहा हूँ ॥

तेन ते संधिरेवास्तु विश्वसास्मिन् यथा मयि ।
न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम् ॥ ११ ॥

'अतः इसके साथ अवश्य ही तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये । तुम जैसा मुझपर विश्वास करते हो, वैसा ही इसपर भी करो । कोई भी राज्य बिना मन्त्रीके तीन दिन भी नहीं चलाया जा सकता ॥ ११ ॥

अमात्यः शूर एव स्याद् बुद्धिसम्पन्न एव वा ।
ताभ्यां चैवोभयं राजन् पश्य राज्यप्रयोजनम् ॥ १२ ॥

'मन्त्री वही हो सकता है, जो शूरवीर अथवा बुद्धिमान् हो । शौर्य और बुद्धिसे ही लोक और परलोक दोनोंका सुधार होता है । राजन् ! उभयलोककी सिद्धि ही राज्यका प्रयोजन है । इसे अच्छी तरह देखो और समझो ॥ १२ ॥

धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी ।
महात्मा राजपुत्रोऽयं सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ १३ ॥

'जगत्में धर्मात्मा राजाओंके लिये अच्छे मन्त्रीके समान दूसरी कोई गति नहीं है । यह राजकुमार महामना है । इसने सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय लिया है ॥ १३ ॥

सुसंगृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः ।
संसेव्यमानः शत्रूंस्ते गृह्णीयान्महतो गणान् ॥ १४ ॥

'यदि तुमने धर्मको सामने रखकर इसे सम्मानपूर्वक अपनाया तो तुमसे सेवित होकर यह तुम्हारे शत्रुओंके भारी-से भारी समुदायोंको काबूमें कर सकता है ॥ १४ ॥

यद्ययं प्रतियुद्ध्येत् त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत् ।
जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे ॥ १५ ॥

'यदि यह अपने बाप-दादोंके राज्यके लिये युद्धमें तुम्हें जीतनेकी इच्छा रखकर तुम्हारे साथ संग्राम छेड़ दे तो क्षत्रियके लिये यह स्वधर्मका पालन ही होगा ॥ १५ ॥

त्वं चापि प्रतियुद्ध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः ।
अयुद्ध्वैव नियोगान्मे वशे कुरु हिते स्थितः ॥ १६ ॥

उस समय तुम भी विजयाभिलाषी राजाके व्रतमें स्थित हो इसके साथ युद्ध करोगे ही । अतः मेरी आज्ञा मानकर इसके हित-साधनमें तत्पर हो जाओ और युद्ध किये बिना ही इसे वशमें कर लो ॥ १६ ॥

स त्वं धर्ममवेक्षस्व हित्वा लोभमसाम्प्रतम् ।
न च कामान्न च द्रोहात् स्वधर्मं हातुमर्हसि ॥ १७ ॥

'अनुचित लोभका परित्याग करके तुम धर्मपर ही दृष्टि रक्खो, कामना अथवा द्रोहसे भी अपने धर्मका परित्याग न करो ॥ १७ ॥

कालकवृक्षीय मुनि राजा जनकका राजकुमार क्षेमदर्शीके साथ मेल करा रहे हैं

नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः ।
तस्माद् भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः ॥ १८ ॥

'तात ! किसीकी भी न तो सदा जय होती है और न नित्य पराजय ही होती है । जैसे राजा दूसरे मनुष्योंको जीतकर उसका तथा उसकी सम्पत्तिका उपभोग करता है, वैसे ही दूसरोंको भी उसे अपनी सम्पत्ति भोगनेका अवसर देना चाहिये ॥ १८ ॥

आत्मन्यपि च संदृश्यावुभौ जयपराजयौ ।
निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद् भयम् ॥ १९ ॥

'वत्स ! अपनेमें भी जय और पराजय दोनोंको देखना चाहिये । जो दूसरोंकी सम्पत्ति छीनकर उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहने देते, उन्हें उस सर्वस्वापहरणरूपी पापसे अपने लिये भी सदा भय बना रहता है' ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम् ।
प्रतिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य च ॥ २० ॥

मुनिके इस प्रकार कहनेपर राजाने उन पूजनीय ब्राह्मण-शिरोमणि महर्षिका पूजन और आदर-सत्कार करके उनकी बातका अनुमोदन करते हुए इस तरह उत्तर दिया—॥ २० ॥

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महाश्रुतः ।
श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोरेव तत् क्षमम् ॥ २१ ॥

'कोई महाबुद्धिमान् जैसी बात कह सकता है, कोई महाविद्वान् जैसी वाणी बोल सकता है तथा दूसरोंका कल्याण चाहनेवाला महापुरुष जैसा उपदेश दे सकता है, वैसी ही बात आपने कही है । यह हम दोनोंके लिये ही शिरोधार्य करने योग्य है ॥ २१ ॥

यद् यद् वचनमुक्तोऽस्मि करिष्यामि च तत् तथा ।
एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २२ ॥

'भगवन् ! आपने मेरे लिये जो-जो आदेश दिया है, उसका मैं उसी रूपमें पालन करूँगा । यह मेरे लिये परम कल्याणकी बात है । इसके सम्बन्धमें मुझे दूसरा कोई विचार नहीं करना है' ॥ २२ ॥

ततः कौसल्यमाहूय मैथिलो वाक्यमब्रवीत् ।
धर्मतो नीतितश्चैव लोकश्च विजितो मया ॥ २३ ॥
अहं त्वया चात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम ।
आत्मानमनवज्ञाय जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २४ ॥

तदनन्तर मिथिलानरेशने कोसल-राजकुमारको अपने निकट बुलाकर कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मैंने धर्म और नीतिका सहारा लेकर सम्पूर्ण जगत्पर विजय पायी है, परंतु आज तुमने अपने गुणोंसे मुझे भी जीत लिया । अतः तुम अपनी अवज्ञा न करके एक विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २३-२४ ॥

नावमन्यामि ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम् ।
नावमन्ये जयामीति जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हारी बुद्धिका अनादर नहीं करता, तुम्हारे पुरुषार्थकी अवहेलना नहीं करता और विजयी हूँ, यह सोचकर तुम्हारा तिरस्कार भी नहीं करता; अतः तुम विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २५ ॥

यथावत् पूजितो राजन् गृहं गन्तासि मे भृशम् ।
ततः सम्पूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥ २६ ॥

'राजन् ! तुम मेरेद्वारा भलीभाँति सम्मानित होकर मेरे घर पधारो ।' इतना कहकर वे दोनों परस्पर विश्वस्त हो उन ब्रह्मर्षिकी पूजा करके घरकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा ।
पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं प्रत्यपूजयत् ॥ २७ ॥

विदेहराजने कोसलराजकुमारको आदरपूर्वक अपने महलके भीतर ले जाकर अपने उस पूजनीय अतिथिका पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्कके द्वारा पूजन किया ॥२७॥

ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च ।
एष राज्ञां परो धर्मोऽनित्यौ जयपराजयौ ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और दहेजमें नाना प्रकारके रत्न भेंट किये । यही राजाओंका परम धर्म है, जय और पराजय तो अनित्य हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गणतन्त्र राज्यका वर्णन और उसकी नीति

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
धर्मवृत्तं च वित्तं च वृत्त्युपायाः फलानि च ॥ १ ॥
राज्ञां वित्तं च कोशं च कोशसंचयनं जयः ।
अमात्यगुणवृत्तिश्च प्रकृतीनां च वर्धनम् ॥ २ ॥
षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनावृत्तिस्तथैव च ।
परिज्ञानं च दुष्टस्य लक्षणं च सतामपि ॥ ३ ॥
समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणं च यत् ।
मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विवर्धता ॥ ४ ॥
क्षीणग्रहणवृत्तिश्च यथाधर्मं प्रकीर्तितम् ।

लघुना देशरूपेण ग्रन्थयोगेन भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परंतप भरतनन्दन ! आपने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्ममय आचार, धन, जीविकाके उपाय तथा धर्म आदिके फल बताये हैं। राजाओंके धन, कोश, कोश-संग्रह, शत्रुविजय, मन्त्रीके गुण और व्यवहार, प्रजावर्गकी उन्नति, संधि-विग्रह आदि छः गुणोंके प्रयोग, सेनाके बर्ताव, दुष्टोंकी पहचान, सत्पुरुषोंके लक्षण, जो अपने समान, अपनेसे हीन तथा अपनेसे उत्कृष्ट हैं—उन सब लोगोंके यथावत् लक्षण, मध्यम वर्गको संतुष्ट रखनेके लिये उन्नतिशील राजाको कैसे रहना चाहिये—इसका निर्देश, दुर्बल पुरुषको अपनाने और उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकता—इन सब विषयोंका आपने देशाचार और शास्त्रके अनुसार संक्षेपसे धर्मके अनुकूल प्रतिपादन किया है ॥ १–५ ॥

विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते ।
गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपने विजयाभिलाषी राजाके बर्तावका भी वर्णन कर दिया है। अब मैं गणों (गणतन्त्र राज्यों)का बर्ताव एवं वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ॥

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

भारत ! गणतन्त्र-राज्योंकी जनता जिस प्रकार अपनी उन्नति करती है, जिस प्रकार आपसमें मतभेद या फूट नहीं होने देती, जिस तरह शत्रुओंपर विजय पाना चाहती है और जिस उपायसे उसे सुहृदोंकी प्राप्ति होती है—ये सारी बातें सुननेके लिये मेरी बड़ी इच्छा है ॥ ७ ॥

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥

मैं देखता हूँ, संघबद्ध राज्योंके विनाशका मूल कारण है आपसकी फूट। मेरा विश्वास है कि बहुत-से मनुष्योंके जो समुदाय हैं, उनके लिये किसी गुप्त मन्त्रणा या विचारको छिपाये रखना बहुत ही कठिन है ॥ ८ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परंतप ।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ९ ॥

परंतप राजन् ! इन सारी बातोंको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ। किस प्रकार वे सङ्घ या गण आपसमें फूटते नहीं हैं, यह मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! गणोंमें, कुलोंमें तथा राजाओंमें वैरकी आग प्रज्वलित करनेवाले ये दो ही दोष हैं—लोभ और अमर्ष ॥ १० ॥

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥ ११ ॥

पहले एक मनुष्य लोभका वरण करता है (लोभवश दूसरेका धन लेना चाहता है), तदनन्तर दूसरेके मनमें अमर्ष पैदा होता है; फिर वे दोनों लोभ और अमर्षसे प्रभावित हुए व्यक्ति समुदाय, धन और जनकी बड़ी भारी हानि उठाकर एक दूसरेके विनाशक बन जाते हैं ॥ ११ ॥

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः ।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥

वे भेद लेनेके लिये गुप्तचरोंको भेजते, गुप्त मन्त्रणाएँ करते तथा सेना एकत्र करनेमें लग जाते हैं। साम, दान और भेदनीतिके प्रयोग करते हैं तथा जनसंहार, अपार धन-राशिके व्यय एवं अनेक प्रकारके भय उपस्थित करनेवाले विविध उपायोंद्वारा एक दूसरेको दुर्बल कर देते हैं ॥ १२ ॥

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥

सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले गणराज्यके सैनिकोंको भी यदि समयपर भोजन और वेतन न मिले तो भी वे फूट जाते हैं। फूट जानेपर सबके मन एक दूसरेके विपरीत हो जाते हैं और वे सबके सब भयके कारण शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं ॥ १३ ॥

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४ ॥

आपसमें फूट होनेसे ही सङ्घ या गणराज्य नष्ट हुए हैं। फूट होनेपर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं; अतः गणोंको चाहिये कि वे सदा सङ्घबद्ध—एकमत होकर ही विजयके लिये प्रयत्न करें ॥ १४ ॥

अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥

जो सामूहिक बल और पुरुषार्थसे सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाती है। सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले लोगोंके साथ सङ्घसे बाहरके लोग भी मैत्री स्थापित करते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष गणराज्यके नागरिकोंकी प्रशंसा करते हैं। सङ्घबद्ध लोगोंके मनमें आपसमें एक दूसरेको ठगनेकी दुर्भावना नहीं होती। वे सभी एक दूसरेकी सेवा करते हुए सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ १६ ॥

धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ नागरिक शास्त्रके अनुसार धर्मानुकूल व्यवहारोंकी स्थापना करते हैं। वे यथोचित दृष्टिसे सबको देखते हुए उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ते जाते हैं ॥ १७ ॥

पुत्रान् भ्रातॄन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ पुरुष पुत्रों और भाइयोंको भी यदि वे कुमार्गपर चलें तो दण्ड देते हैं। सदा उन्हें उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित हो जानेपर उन सबको बड़े आदरसे अपनाते हैं। इसलिये वे विशेष उन्नति करते हैं ॥

चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! गणराज्यके नागरिक गुप्तचर या दूतका काम करने, राज्यके हितके लिये गुप्त मन्त्रणा करने, विधान बनाने तथा राज्यके लिये कोश-संग्रह करने आदिके लिये सदा उद्यत रहते हैं, इसीलिये सब ओरसे उनकी उन्नति होती है ॥ १९ ॥

प्राज्ञाञ्शूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! सङ्घराज्यके सदस्य सदा बुद्धिमान्, शूरवीर, महान् उत्साही और सभी कार्योंमें दृढ़ पुरुषार्थका परिचय देनेवाले लोगोंका सदा सम्मान करते हुए राज्यकी उन्नतिके लिये उद्योगशील बने रहते हैं। इसीलिये वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं ॥ २० ॥

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु सम्मूढान् गणाः संतारयन्ति ते ॥ २१ ॥

गणराज्यके सभी नागरिक धनवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् होते हैं। वे कठिन विपत्तिमें पड़कर मोहित हुए लोगोंका उद्धार करते रहते हैं ॥

क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सङ्घराज्यके लोगोंमें यदि क्रोध, भेद (फूट), भय, दण्डप्रहार, दूसरोंको दुर्बल बनाने, बन्धनमें डालने या मार डालनेकी प्रवृत्ति पैदा हो जाय तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओंके वशमें डाल देती है ॥ २२ ॥

तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें गणराज्यके जो प्रधान-प्रधान अधिकारी हैं, उन सबका सम्मान करना चाहिये; क्योंकि लोकयात्राका महान् भार उनके ऊपर अवलम्बित है ॥ २३ ॥

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन ! भारत ! गण या सङ्घके सभी लोग गुप्त-मन्त्रणा सुननेके अधिकारी नहीं हैं। मन्त्रणाको गुप्त रखने तथा गुप्तचरोंकी नियुक्तिका कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके ही अधीन होता है ॥ २४ ॥

गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च ।

गणके मुख्य-मुख्य व्यक्तियोंको परस्पर मिलकर समस्त गणराज्यके हितका साधन करना चाहिये अन्यथा यदि सङ्घमें फूट होकर पृथक्-पृथक् कई दलोंका विस्तार हो जाय तो उसके सभी कार्य बिगड़ जाते और बहुत-से अनर्थ पैदा हो जाते हैं ॥ २५½ ॥

तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥ २६ ॥
निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।

परस्पर फूटकर पृथक्-पृथक् अपनी शक्तिका प्रयोग करनेवाले लोगोंमें जो मुख्य-मुख्य नेता हों, उनका सङ्घराज्यके विद्वान् अधिकारियोंको शीघ्र ही दमन करना चाहिये ॥ २६½ ॥

कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ॥ २७ ॥
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।

कुलोंमें जो कलह होते हैं, उनकी यदि कुलके वृद्ध पुरुषोंने उपेक्षा कर दी तो वे कलह गणोंमें फूट डालकर समस्त कुलका नाश कर डालते हैं ॥ २७½ ॥

आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥ २८ ॥
आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ।

भीतरी भय दूर करके सङ्घकी रक्षा करनी चाहिये। यदि सङ्घमें एकता बनी रहे तो बाहरका भय उसके लिये निःसार है (वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता)। राजन् ! भीतरका भय तत्काल ही सङ्घराज्यकी जड़ काट डालता है ॥

अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद् वापि स्वभावजात् ॥ २९ ॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ।

अकस्मात् पैदा हुए क्रोध और मोहसे अथवा स्वाभाविक लोभसे भी जब सङ्घके लोग आपसमें बातचीत करना बंद कर दें, तब यह उनकी पराजयका लक्षण है ॥ २९½ ॥

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥

जाति और कुलमें सभी एक समान हो सकते हैं; परंतु उद्योग, बुद्धि और रूप-सम्पत्तिमें सबका एक-सा होना सम्भव नहीं है। शत्रुलोग गणराज्यके लोगोंमें भेदबुद्धि पैदा करके तथा उनमेंसे कुछ लोगोंको धन देकर भी समूचे सङ्घमें फूट डाल देते हैं; अतः सङ्घबद्ध रहना ही गणराज्यके नागरिकोंका महान् आश्रय है ॥ ३०—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गणवृत्ते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गणराज्यका बर्तावविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

माता-पिता तथा गुरुकी सेवाका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है तथा इसकी बहुत-सी शाखाएँ हैं । इन धर्मोंमेंसे किसको आप विशेषरूपसे आचरणमें लाने योग्य समझते हैं ? ॥ १ ॥

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम् ।
यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सब धर्मोंमें कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोकमें भी परम धर्मका फल प्राप्त कर सकूँ ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम ।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है । इसलोकमें इस पुण्य कार्यमें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक पाता है ॥ ३ ॥

यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः ।
धर्माधर्मविरुद्धं वा तत् कर्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर ! भलीभाँति पूजित हुए वे माता-पिता और गुरुजन जिस कामके लिये आज्ञा दें, वह धर्मके अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन करना ही चाहिये ॥ ४ ॥

न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।
यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥ ५ ॥

जो उनकी आज्ञाके पालनमें सलग्न है, उसके लिये दूसरे किसी धर्मके आचरणकी आवश्यकता नहीं है । जिस कार्यके लिये वे आज्ञा दें, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ६ ॥

ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं ॥ ६ ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ ७ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि हैं, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है और गुरु आहवनीय अग्निका स्वरूप है । लौकिक अग्नियोंसे माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियोंका गौरव अधिक है ॥ ७ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ।

यदि तुम इन तीनोंकी सेवामें कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकोंको जीत लोगे । पिताकी सेवासे इस लोकको, माताकी सेवासे परलोकको तथा नियमपूर्वक गुरुकी सेवासे ब्रह्मलोकको भी लाँघ जाओगे ॥ ८½ ॥

सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ९ ॥
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मं च सुमहत्फलम् ।

भरतनन्दन ! इसलिये तुम त्रिविध लोकस्वरूप इन तीनोंके प्रति उत्तम बर्ताव करो । तुम्हारा कल्याण हो । ऐसा करनेसे तुम्हें यश और महान् फल देनेवाले धर्मकी प्राप्ति होगी ॥

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥ १० ॥
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥ ११ ॥

इन तीनोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे, इनको भोजन करानेके पहले स्वयं भोजन न करे, इनपर कोई दोषारोपण न करे और सदा इनकी सेवामें संलग्न रहे । यही सबसे उत्तम पुण्यकर्म है । नृपश्रेष्ठ ! इनकी सेवासे तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥ १०-११ ॥

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ १२ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका आदर हो गया और जिसने इनका अनादर कर दिया, उसके सम्पूर्ण शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं ॥ १२ ॥

न चायं न परो लोकस्तस्य चैव परंतप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! जिसने इन तीनों गुरुजनोंका सदा अपमान ही किया है, उसके लिये न तो यह लोक सुखद है और न परलोक ॥ १३ ॥

न चास्मिन्नपरे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥ १४ ॥

न इस लोकमें और न परलोकमें ही उसका यश प्रकाशित होता है । परलोकमें जो अन्य कल्याणमय सुखकी प्राप्ति बतायी गयी है, वह भी उसे सुलभ नहीं होती है ॥ १४ ॥

तेभ्य एव हि यत् सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ॥ १५ ॥
तस्मान्मे सम्प्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ।

मैं तो सारा शुभ कर्म करके इन तीनों गुरुजनोंको ही समर्पित कर देता था । इससे मेरे उन सभी शुभ कर्मोंका पुण्य सौगुना और हजारगुना बढ़ गया है । युधिष्ठिर ! इसीसे तीनों लोक मेरी दृष्टिके सामने प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

दशैव तु सदाऽऽचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ॥ १६ ॥
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ।
पितॄन् दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि ॥ १७ ॥

गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।

आचार्य सदा दस श्रोत्रियोंसे बढ़कर है । उपाध्याय (विद्यागुरु) दस आचार्योंसे अधिक महत्त्व रखता है, पिता दस उपाध्यायोंसे बढ़कर है और माताका महत्त्व दम पिताओंसे भी अधिक है । वह अकेली ही अपने गौरवके द्वारा सारी पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है । अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १६-१७½ ॥

गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ॥ १८ ॥
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः ।

परंतु मेरा विश्वास यह है कि गुरुका पद पिता और मातासे भी बढ़कर है; क्योंकि माता-पिता तो केवल इस शरीरको जन्म देनेके ही उपयोगमें आते हैं ॥ १८½ ॥

शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत ॥ १९ ॥
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ।

भारत ! पिता और माता केवल शरीरको ही जन्म देते हैं; परंतु आचार्यका उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है ॥ १९½ ॥

अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ ॥ २० ॥

न संदुष्यति तत् कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम् ।
धर्माय यतमानानां विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २१ ॥

पिता-माता यदि कोई अपराध करें तो भी वे सदा अवध्य ही हैं; क्योंकि पुत्र या शिष्य पिता-माता और गुरुका अपराध करके भी उनकी दृष्टिमें दूषित नहीं होते हैं । वे गुरुजन पुत्र या शिष्यपर स्नेहवश दोषारोपण नहीं करते हैं; बल्कि सदा उसे धर्मके मार्गपर ही ले जानेका प्रयत्न करते हैं । ऐसे पिता-माता आदि गुरुजनोंका महत्त्व महर्षियोंसहित देवता ही जानते हैं ॥ २०-२१ ॥

यश्चावृणोत्यवितथेन कर्मणा
ऋतं ब्रुवन्ननृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं वै मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ २२ ॥

जो सत्य कर्म(के द्वारा और यथार्थ उपदेश)के द्वारा पुत्र या शिष्यको कवचकी भाँति ढक लेता है, सत्यस्वरूप वेदका उपदेश देता और असत्यकी रोक-थाम करता है, उस गुरुको ही पिता और माता समझे और उसके उपकारको जानकर कभी उससे द्रोह न करे ॥ २२ ॥

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते
प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ।
यथैव ते गुरुभिर्भावनीया-
स्तथा तेषां गुरवोऽभ्यर्चनीयाः ॥ २३ ॥

जो लोग विद्या पढ़कर गुरुका आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वाणी और क्रियाद्वारा गुरुकी सेवा नहीं करते हैं, उन्हें गर्भके बालककी हत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है । संसारमें उनसे बड़ा पापी दूसरा कोई नहीं है । जैसे गुरुओंका कर्त्तव्य है, शिष्यको आत्मोन्नतिके पथपर पहुँचाना, उसी तरह शिष्योंका धर्म है गुरुओंका पूजन करना ॥ २३ ॥

तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ २४ ॥

अतः जो पुरातन धर्मका फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे गुरुओंकी पूजा-अर्चा करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥

मनुष्य जिस कर्मसे पिताको प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा प्रजापति ब्रह्माजी भी प्रसन्न होते हैं तथा जिस बर्तावसे वह माताको प्रसन्न कर लेता है, उसीके द्वारा समूची पृथ्वीकी भी पूजा हो जाती है ॥ २५ ॥

येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २६ ॥

जिस कर्मसे शिष्य उपाध्याय (विद्यागुरु) को प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है; अतः गुरु माता पितासे भी अधिक पूजनीय है ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह ।
पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २७ ॥

गुरुओंके पूजित होनेपर पितरोंसहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं; इसलिये गुरु परम पूजनीय है ॥ २७ ॥

केनचिन्न च वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् ।
न च माता न च पिता मन्यते यादृशो गुरुः ॥ २८ ॥

किसी भी बर्तावके कारण गुरु अपमानके योग्य नहीं होता । इसी तरह माता और पिता भी अनादरके योग्य नहीं हैं । जैसे गुरु माननीय हैं, वैसे ही माता-पिता भी हैं ॥२८॥

न तेऽवमानमर्हन्ति न तेषां दूषयेत् कृतम् ।
गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे तीनों कदापि अपमानके योग्य नहीं हैं । उनके किये हुए किसी भी कार्यकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । गुरुजनोंके इस सत्कारको देवता और महर्षि भी अपना सत्कार मानते हैं ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३० ॥

अध्यापक, पिता और माताके प्रति जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा द्रोह करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी महान् पाप लगता है । संसारमें उससे बढ़कर दूसरा कोई पापाचारी नहीं है ॥ ३० ॥

भृतो वृद्धो यो न बिभर्ति पुत्रः
स्वयोनिजः पितरं मातरं च।
तद् वै पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३१ ॥

जो पिता-माताका औरस पुत्र है और पाल-पोसकर बड़ा कर दिया गया है, वह यदि अपने माता-पिताका भरण-पोषण नहीं करता है तो उसे भ्रूणहत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है और जगत्में उससे बड़ा पापात्मा दूसरा कोई नहीं है ॥ ३१ ॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुम ॥ ३२ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीहत्यारे और गुरुघाती—इन चारोंके पापका प्रायश्चित्त हमारे सुननेमें नहीं आया है ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वमनिर्देशेनैवमुक्तं
यत् कर्तव्यं पुरुषेणेह लोके।
एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद् विशिष्टं
सर्वान् धर्माननुसृत्यैतदुक्तम् ॥ ३३ ॥

ये सारी बातें जो इस जगत्में पुरुषके द्वारा पालनीय हैं, यहाँ विस्तारके साथ बतायी गयी हैं। यही कल्याणकारी मार्ग है। इससे बढ़कर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। सम्पूर्ण धर्मों-का अनुसरण करके यहाँ सबका सार बताया गया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मातृपितृगुरुमाहात्म्ये अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें माता-पिता और गुरुका माहात्म्यविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

सत्य-असत्यका विवेचन, धर्मका लक्षण तथा व्यावहारिक नीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् नरो वर्तेत भारत।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! धर्ममें स्थित रहनेकी इच्छावाला मनुष्य कैसा बर्ताव करे ? विद्वन् ! मैं इस बातको जानना चाहता हूँ। भरतश्रेष्ठ ! आप मुझसे इसका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः।
तयोः किमाचरेद् राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥ २ ॥

राजन् ! सत्य और असत्य—ये दोनों सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं; किंतु धर्मपर विश्वास करनेवाला मनुष्य इन दोनोंमेंसे किसका आचरण करे ? ॥ २ ॥

किंस्वित् सत्यं किमनृतं किंस्विद् धर्म्यं सनातनम्।
कस्मिन् काले वदेत् सत्यं कस्मिन् कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥

क्या सत्य है और क्या झूठ ? तथा कौन-सा कार्य सनातन धर्मके अनुकूल है ? किस समय सत्य बोलना चाहिये और किस समय झूठ ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत् प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सत्य बोलना अच्छा है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है; परंतु लोकमें जिसे जानना अत्यन्त कठिन है, उसीको मैं बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥ ५ ॥

जहाँ झूठ ही सत्यका काम करे (किसी प्राणीको संकट-से बचावे) अथवा सत्य ही झूठ बन जाय (किसीके जीवन-को संकटमें डाल दे); ऐसे अवसरोंपर सत्य नहीं बोलना चाहिये। वहाँ झूठ बोलना ही उचित है ॥ ५ ॥

तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ६ ॥

जिसमें सत्य स्थिर न हो, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही मारा जाता है। सत्य और असत्यका निर्णय करके सत्यका पालन करनेवाला पुरुष ही धर्मज्ञ माना जाता है ॥ ६ ॥

अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥

जो नीच है, जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है तथा जो अत्यन्त कठोर स्वभावका है, वह मनुष्य भी कभी अंधे पशुको मारनेवाले बलाक नामक व्याधकी भाँति महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है* ॥ ७ ॥

किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित्।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः ॥ ८ ॥

* देखिये कर्णपर्व अध्याय ६९ श्लोक ३८ से ४५ तक।

१. गङ्गाके तटपर किसी सर्पिणीने सहस्रों अंडे देकर रख दिये थे। उन अंडोंको एक उल्लूने रातमें फोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। इससे वह महान् पुण्यका भागी हुआ; अन्यथा उन अंडोंसे हजारों विषैले सर्प पैदा होकर कितने ही लोगोंका विनाश कर डालते।

कैसा आश्चर्य है कि धर्मकी इच्छा रखनेवाला मूर्ख (तपस्वी) (सत्य बोलकर भी) अधर्मके फलको प्राप्त हो जाता है (कर्णपर्व अध्याय ६९) और गङ्गाके तटपर रहनेवाले एक उल्लूकी भाँति कोई (हिंसा करके भी) महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः ।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत् केनात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह पिछला प्रश्न भी ऐसा ही है । इसके अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन करना या समझना बहुत कठिन है; इसीलिये उसका प्रतिपादन करना भी दुष्कर ही है; अतः धर्मके विषयमें कोई किस प्रकार निश्चय करे ? ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥

प्राणियोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही धर्मका प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्यसे युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओंका निश्चय है ॥ १० ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥

धर्मका नाम 'धर्म' इसलिये पड़ा है कि वह सबको धारण करता है—अधोगतिमें जानेसे बचाता और जीवनकी रक्षा करता है । धर्मने ही सारी प्रजाको धारण कर रक्खा है; अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है; ऐसा धर्मवेत्ताओंका निश्चय है ॥ ११ ॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥

प्राणियोंकी हिंसा न हो, इसके लिये धर्मका उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसासे युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥ १२ ॥

(अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः ।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ॥
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना ।
ब्रह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः ॥
अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति ।)

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियोंका संयम, विशुद्ध बुद्धि, किसीके दोष न देखना, किसीसे डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शीलस्वभावका परिचय देना—ये धर्म हैं, देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने इन्हींको सनातन धर्म बताया है । जो मनुष्य इस सनातन धर्ममें स्थित है, उसे ही कल्याणका दर्शन होता है ॥

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः ।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १३ ॥

वेदमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही धर्म है, यह एक श्रेणीके विद्वानोंका मत है; किंतु दूसरे लोग धर्मका यह लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं । हम किसी भी मतपर दोषारोपण नहीं करते । इतना अवश्य है कि वेदमें सभी बातोंका विधान नहीं है ॥ १३ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् ।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १४ ॥

जो अन्यायसे अपहरण करनेकी इच्छा रखकर किसी धनीके धनका पता लगाना चाहते हों, उन लुटेरोंसे उसका पता न बतावे और यही धर्म है, ऐसा निश्चय रक्खे ॥ १४ ॥

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथंचन ।
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात् ॥ १५ ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् ।

यदि न बतानेसे उस धनीका बचाव हो जाता हो तो किसी तरह वहाँ कुछ बोले ही नहीं; परंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय और न बोलनेसे लुटेरोंके मनमें संदेह पैदा होने लगे तो वहाँ सत्य बोलनेकी अपेक्षा झूठ बोलनेमें ही कल्याण है; यही इस विषयमें विचारपूर्वक निर्णय किया गया है ॥ १५½ ॥

यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि ॥ १६ ॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथंचन ।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १७ ॥

यदि शपथ खा लेनेसे भी पापियोंके हाथसे छुटकारा मिल जाय तो वैसा ही करे । जहाँतक वश चले, किसी तरह भी पापियोंके हाथमें धन न जाने दे; क्योंकि पापाचारियोंको दिया हुआ धन दाताको भी पीड़ित कर देता है ॥ १६-१७ ॥

स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः ।
सत्यसम्प्रतिपत्त्यर्थं यद् ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥ १८ ॥
अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः ।

जो कर्जदारको अपने अधीन करके उससे शारीरिक सेवा कराकर धन वसूल करना चाहता है, उसके दावेको सही साबित करनेके लिये यदि कुछ लोगोंको गवाही देनी पड़े और वे गवाह अपनी गवाहीमें कहने योग्य सत्य बातको न कहें तो वे सब-के-सब मिथ्यावादी होते हैं ॥ १८½ ॥

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥ १९ ॥
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ।

परंतु प्राण-संकटके समय, विवाहके अवसरपर, दूसरेके धनकी रक्षाके लिये तथा धर्मकी रक्षाके लिये असत्य बोला जा सकता है ॥ १९½ ॥

परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन् नीचः स्याद् धर्मभिक्षुकः ॥ २० ॥
प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वकार्यस्तु बलात्कृतः ।

कोई नीच मनुष्य भी यदि दूसरोंकी कार्यसिद्धिकी इच्छासे धर्मके लिये भीख माँगने आवे तो उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर अवश्य ही धनका दान देना चाहिये । इस प्रकार धनोपार्जन करनेवाला यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है तो वह दण्डका पात्र होता है ॥ २०½ ॥

यः कश्चिद् धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मसाधनः ॥ २१ ॥
दण्डेनैव स हन्तव्यस्तं पन्थानं समाश्रितः ।

जो कोई धर्मसाधक मनुष्य धार्मिक आचारसे भ्रष्ट हो पापमार्गका आश्रय ले, उसे अवश्य दण्डके द्वारा मारना चाहिये ॥ २१½ ॥

च्युतः सदैव धर्मेभ्योऽमानवं धर्ममास्थितः ॥ २२ ॥
शठः स्वधर्ममुत्सृज्य तमिच्छेदुपजीवितुम् ।
सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापो निकृतिजीवनः ॥ २३ ॥
धनमित्येव पापानां सर्वेषामिह निश्चयः ।

जो दुष्ट धर्ममार्गसे भ्रष्ट होकर आसुरी प्रवृत्तिमें लगा रहता है और स्वधर्मका परित्याग करके पापसे जीविका चलाना चाहता है, कपटसे जीवन-निर्वाह करनेवाले उस पापात्माको सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये; क्योंकि सभी पापात्माओं-का यही विचार रहता है कि जैसे बने, वैसे धनको लूट-खसोट-कर रख लिया जाय ॥ २२-२३½ ॥

अविषह्या ह्यसम्भोज्या निकृत्या पतनं गताः ॥ २४ ॥
च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते ।
निर्यज्ञास्तपसा हीना मा स्म तैः सह सङ्गमः ॥ २५ ॥

ऐसे लोग दूसरोंके लिये असह्य हो उठते हैं। इनका अन्न न तो स्वयं भोजन करे और न इन्हें ही अपना अन्न दे; क्योंकि ये छल-कपटके द्वारा पतनके गर्तमें गिर चुके हैं और देवलोक तथा मनुष्यलोक दोनोंसे वञ्चित हो प्रेतोंके समान अवस्थाको पहुँच गये हैं। इतना ही नहीं, वे यज्ञ और तपस्या-से भी हीन हैं; अतः तुम कभी उनका संग न करो २४-२५

धननाशाद् दुःखतरं जीविताद् विप्रयोजनम् ।
अयं ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ॥ २६ ॥

'किसीके धनका नाश करनेसे भी अधिक दुःखदायक कर्म है जीवनका नाश; अतः तुम्हें धर्मकी ही रुचि रखनी चाहिये' यह बात तुम्हें दुष्टोंको यत्नपूर्वक बतानी और समझानी चाहिये ॥ २६ ॥

न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ।
तथागतं च यो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ॥ २७ ॥

पापियोंका तो यही निश्चय होता है कि धर्म कोई वस्तु नहीं है; ऐसे लोगोंको जो मार डाले, उसे पाप नहीं लगता ॥

स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २८ ॥

पापी मनुष्य अपने कर्मसे ही मरा हुआ है; अतः उसको जो मारता है, वह मरे हुएको ही मारता है। उसके मारनेका पाप नहीं लगता; अतः जो कोई भी मनुष्य इन हतबुद्धि पापियोंके वधका नियम ले सकता है ॥ २८ ॥

यथा काकाश्च गृध्राश्च तथैवोपधिजीविनः ।
ऊर्ध्वं देहविमोक्षात् ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २९ ॥

जैसे कौए और गीध होते हैं, वैसे ही कपटसे जीविका चलानेवाले लोग भी होते हैं। वे मरनेके बाद इन्हीं योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २९ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही बर्ताव करना चाहिये; यह धर्म (न्याय) है। कपटपूर्ण आचरण करनेवालेको वैसे ही आचरणके द्वारा दबाना उचित है और सदाचारीको सद्‌व्यवहारके द्वारा ही अपनाना चाहिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सत्यानृतकविभागे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्यासत्यविभागविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

सदाचार और ईश्वरभक्ति आदिको दुःखोंसे छूटनेका उपाय बताना

युधिष्ठिर उवाच

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद् येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जगत्‌के जीव भिन्न-भिन्न भावोंके द्वारा जहाँ-तहाँ नाना प्रकारके कष्ट उठा रहे हैं; अतः जिस उपायसे मनुष्य इन दुःखोंसे छुटकारा पा सके, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः ।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो द्विज अपने मनको वशमें करके शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंमें रहते हुए उनके अनु-सार ठीक-ठीक बर्ताव करते हैं, वे दुःखोंके पार हो जाते हैं ॥

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता ।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥

जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयोंके लिये बढ़ती हुई इच्छाको रोकते हैं, वे दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥

जो दूसरोंके कटु वचन सुनाने या निन्दा करनेपर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसीको मारते नहीं तथा स्वयं देते हैं, परंतु दूसरोंसे माँगते नहीं; वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहराते हैं, कभी किसीके दोष नहीं देखते हैं तथा नित्य नियमपूर्वक वेदादि सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते रहते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ ५ ॥

मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिताकी सेवामें लगे रहते हैं और दिनमें कभी सोते नहीं हैं, वे सभी दुःखोंसे छूट जाते हैं॥

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी पाप नहीं करते हैं और किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ये न लोभान्नयन्त्यर्थान् राजानो रजसान्विताः।
विषयान् परिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥

जो रजोगुणसम्पन्न राजा लोभवश प्रजाके धनका अपहरण नहीं करते हैं और अपने राज्यकी सब ओरसे रक्षा करते हैं, वे भी दुर्गम दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ८ ॥

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते और ऋतुकालमें अपनी ही स्त्रीके साथ धर्मानुकूल समागम करते हैं, वे दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥ ९ ॥

आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम्।
धर्मेण जयमिच्छन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥

जो शूरवीर युद्धस्थलमें मृत्युका भय छोड़कर धर्मपूर्वक विजय पाना चाहते हैं, वे सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं १०

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११ ॥

जो लोग प्राण जानेका अवसर उपस्थित होनेपर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥

जिनके शुभ कर्म दिखावेके लिये नहीं होते, जो सदा मीठे वचन बोलते और जिनका धन सत्कर्मोंके लिये बँधा हुआ है, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १२ ॥

अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नेह कुर्वते।
तपोनिष्ठाः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥

जो अनध्यायके अवसरोंपर वेदोंका स्वाध्याय नहीं करते और तपस्यामें ही लगे रहते हैं, वे उत्तम तपस्वी ब्राह्मण दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १३ ॥

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥

जो तपस्या करते, कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यके पालनमें तत्पर रहते और विद्या एवं वेदोंके अध्ययनसम्बन्धी व्रतको पूर्ण करके स्नातक हो चुके हैं, वे दुस्तर दुःखोंको तर जाते हैं॥

ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये।
सत्त्वे स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥

जिनके रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं तथा जो विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं, वे महात्मा दुर्लङ्घ्य संकटोंको भी लाँघ जाते हैं ॥ १५ ॥

येषां न कश्चित् त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित्।
येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥

जिनसे कोई भयभीत नहीं होता, जो स्वयं भी किसीसे भय नहीं मानते तथा जिनकी दृष्टिमें यह सारा जगत् अपने आत्माके ही तुल्य है, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं॥ १६॥

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १७ ॥

जो दूसरोंकी सम्पत्तिसे ईर्ष्यावश जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगसे निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति सर्वधर्मांश्च शृण्वते।
ये श्रद्दधानाः शान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १८ ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते और सभी धर्मोंको सुनते हैं, जिनमें श्रद्धा और शान्ति विद्यमान है, वे सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ १८ ॥

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १९ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरोंको सम्मान देते हैं और सम्माननीय पुरुषोंको नमस्कार करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥

जो संतानकी इच्छा रखकर प्रत्येक तिथिपर विशुद्ध हृदयसे पितरोंका श्राद्ध करते हैं, वे दुर्गम विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ २० ॥

ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च ।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २१ ॥

जो क्रोधको काबूमें रखते, क्रोधी मनुष्योंको शान्त करते और स्वयं किसी भी प्राणीपर कुपित नहीं होते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २१ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥

जो मानव जन्मसे ही सदाके लिये मधु, मांस और मदिराका त्याग कर देते हैं, वे भी दुस्तर दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥ २२ ॥

यात्रार्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २३ ॥

जिनका भोजन स्वादके लिये नहीं, जीवनयात्राका निर्वाह करनेके लिये होता है, जो विषयवासनाकी तृप्तिके लिये नहीं, संतानकी इच्छासे मैथुनमें प्रवृत्त होते हैं तथा जिनकी वाणी केवल सत्य बोलनेके लिये है, वे समस्त संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २४ ॥

जो समस्त प्राणियोंके स्वामी तथा जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयके हेतुभूत भगवान् नारायणमें भक्तिभाव रखते हैं, वे दुस्तर दुःखोंसे तर जाते हैं ॥ २४ ॥

य एष पद्मरक्ताक्षः पीतवासा महाभुजः ।
सुहृद् भ्राता च मित्रं च सम्बन्धी च तथाच्युतः॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ये जो कमलपुष्पके समान कुछ-कुछ लाल रङ्गके नेत्रोंसे सुशोभित पीताम्बरधारी महाबाहु श्रीकृष्ण हैं, जो तुम्हारे सुहृद्, भाई, मित्र और सम्बन्धी भी हैं, यही साक्षात् नारायण हैं ॥ २५ ॥

य इमान् सकलाँल्लोकांश्चर्मवत् परिवेष्टयेत् ।
इच्छन् प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥ २६ ॥

इनका स्वरूप अचिन्त्य है। ये पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द इन सम्पूर्ण लोकोंको इच्छापूर्वक चमड़ेकी भाँति आच्छादित किये हुए हैं ॥ २६ ॥

स्थितः प्रियहिते जिष्णोः स एष पुरुषोत्तमः ।
राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! वे ही ये दुर्धर्ष वीर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण साक्षात् वैकुण्ठधामके निवासी श्रीविष्णु हैं । राजन् ! ये इस समय तुम्हारे और अर्जुनके प्रिय तथा हित-साधनमें संलग्न हैं ॥ २७ ॥

य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् ।
ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ॥ २८ ॥

जो भक्त पुरुष यहाँ इन भगवान् श्रीहरि—नारायण देवकी शरण लेते हैं, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं। इस विषयमें कोई संशय नहीं है ॥ २८ ॥

(अस्मिन्नर्पितकर्माणः सर्वभावेन भारत ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

भारत ! जो इन कमलनयन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भक्ति-भावसे अपने सारे कर्म समर्पित कर देते हैं, वे दुर्गम संकटोंको लाँघ जाते हैं ॥

ब्रह्माणं लोककर्तारं ये नमस्यन्ति सत्पतिम् ।
यष्टव्यं क्रतुभिर्देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो यज्ञोंद्वारा आराधनाके योग्य हैं, उन साधुप्रतिपालक विश्वविधाता भगवान् ब्रह्माको जो नमस्कार करते हैं, वे समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥

यं विष्णुरिन्द्रः शम्भुश्च ब्रह्मा लोकपितामहः ।
स्तुवन्ति विविधैः स्तोत्रैर्देवदेवं महेश्वरम् ॥
तमर्चयन्ति ये शश्वद् दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥)

विष्णु, इन्द्र, शिव तथा लोकपितामह ब्रह्मा नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, उन देवाधिदेव परमेश्वरकी जो सदा आराधना करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥

दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च ।
कथयन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो लोग इस दुर्गातितरण नामक अध्यायको पढ़ते और सुनते हैं तथा ब्राह्मणोंके सामने इसकी चर्चा करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इति कृत्यसमुद्देशः कीर्तितस्ते मयानघ ।
तरन्ते येन दुर्गाणि परत्रेह च मानवाः ॥ ३० ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने यहाँ संक्षेपसे उस कर्तव्यका प्रतिपादन किया है, जिसका पालन करनेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गातितरणं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गातितरण नामक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

मनुष्यके स्वभावकी पहचान बतानेवाली बाघ और सियारकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

असौम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शनाः।
ईदृशान् पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! बहुत-से कठोर स्वभाववाले मनुष्य ऊपरसे कोमल और शान्त बने रहते हैं तथा कोमल स्वभावके लोग कठोर दिखायी देते हैं, ऐसे मनुष्योंकी मुझे ठीक-ठीक पहचान कैसे हो ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्याघ्रगोमायुसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग एक बाघ और सियारके संवादरूप प्राचीन आख्यानका उदाहरण दिया करते हैं, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः।
परहिंसारतिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥

पूर्वकालकी बात है, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न पुरिका नामकी नगरीमें पौरिक नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करता था। वह बड़ा ही क्रूर और नराधम था, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें ही उसका मन लगता था ॥ ३ ॥

स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम्।
गोमायुत्वं च सम्प्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥ ४ ॥

धीरे-धीरे उसकी आयु समाप्त हो गयी और वह ऐसी गतिको प्राप्त हुआ, जो किसी भी प्राणीको अभीष्ट नहीं है। वह अपने पूर्वकर्मसे दूषित होकर दूसरे जन्ममें गीदड़ हो गया ॥ ४ ॥

संस्मृत्य पूर्वभूतिं च निर्वेदं परमं गतः।
न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥

उस समय अपने पूर्वजन्मके वैभवका स्मरण करके उस सियारको बड़ा खेद और वैराग्य हुआ। अतः वह दूसरोंके द्वारा दिये हुए मांसको भी नहीं खाता था ॥ ५ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः।
स चकार यथाकालमाहारं पतितैः फलैः ॥ ६ ॥

अब उसने जीवोंकी हिंसा करनी छोड़ दी, सत्य बोलनेका नियम ले लिया और दृढ़तापूर्वक अपने व्रतका पालन करने लगा। वह नियत समयपर वृक्षोंसे अपने आप गिरे हुए फलोंका आहार करता था ॥ ६ ॥

(पर्णाहारः कदाचिच्च नियमव्रतवानपि।
कदाचिदुदकेनापि वर्तयन्ननुयन्त्रितः ॥)

व्रत और नियमोंके पालनमें तत्पर हो कभी पत्ता चबा लेता और कभी पानी पीकर ही रह जाता था। उसका जीवन संयममें बँध गया था ॥

श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः सम्मतोऽभवत्।
जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यवासमरोचयत् ॥ ७ ॥

वह श्मशानभूमिमें ही रहता था। वहीं उसका जन्म हुआ था, इसलिये वही स्थान उसे पसंद था। उसे और कहीं जाकर रहनेकी रुचि नहीं होती थी ॥ ७ ॥

तस्य शौचममृष्यन्तस्ते सर्वे सहजातयः।
चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥

सियारका इस तरह पवित्र आचार-विचारसे रहना उसके सभी जाति-भाइयोंको अच्छा न लगा। यह सब उनके लिये असह्य हो उठा; इसलिये वे प्रेम और विनयभरी बातें कहकर उसकी बुद्धिको विचलित करने लगे ॥ ८ ॥

वसन् पितृवने रौद्रे शौचे वर्तितुमिच्छसि।
इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥

उन्होंने कहा—'भाई सियार ! तू तो मांसाहारी जीव है और भयंकर श्मशानभूमिमें निवास करता है, फिर भी पवित्र आचार-विचारसे रहना चाहता है—यह विपरीत निश्चय है ॥ ९ ॥

तत्समानो भवास्माभिर्भोज्यं दास्यामहे वयम्।
भुङ्क्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं सदास्तु ते ॥ १० ॥

'भैया ! अतः तू हमारे ही समान होकर रह। तेरेलिये भोजन तो हमलोग ला दिया करेंगे। तू इस शौचाचारका नियम छोड़कर चुपचाप खा लिया करना। तेरी जातिका जो सदासे भोजन रहा है, वही तेरा भी होना चाहिये' ॥ १० ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः।
मधुरैः प्रसृतैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥

उनकी ऐसी बात सुनकर सियार एकाग्रचित्त हो मधुर, विस्तृत, युक्तियुक्त तथा कोमल वचनोंद्वारा इस प्रकार बोला—॥ ११ ॥

अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम्।
प्रार्थयामि च तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥

'बन्धुओ ! अपने बुरे आचरणोंसे ही हमारी जातिका कोई विश्वास नहीं करता। अच्छे स्वभाव और आचरणसे ही कुलकी प्रतिष्ठा होती है; अतः मैं भी वही कर्म करना चाहता हूँ, जिससे अपने वंशका यश बढ़े ॥ १२ ॥

श्मशाने यदि मे वासः समाधिर्मे निशाम्यताम्।
आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम् ॥ १३ ॥

'यदि मेरा निवास श्मशानभूमिमें है तो इसके लिये मैं जो समाधान देता हूँ, उसको सुनो। आत्मा ही शुभ कर्मोंके

लिये प्रेरणा करता है। कोई आश्रम ही धर्मका कारण नहीं हुआ करता ॥ १३ ॥

आश्रमे यो द्विजं हन्याद् गां वा दद्यादनाश्रमे।
किं नु तत्पातकं न स्यात् तद्वा दत्तं वृथा भवेत् ॥ १४ ॥

'क्या यदि कोई आश्रममें रहकर ब्राह्मणकी हत्या करे तो उसे उसका पातक नहीं लगेगा और यदि कोई बिना आश्रमके स्थानमें गोदान करे तो क्या वह व्यर्थ हो जायगा ? ॥ १४ ॥

भवन्तः स्वार्थलोभेन केवलं भक्षणे रताः।
अनुबन्धे त्रयो दोषास्तान् न पश्यन्ति मोहिताः ॥ १५ ॥

'तुमलोग केवल स्वार्थके लोभसे मांसभक्षणमें रचे-पचे रहते हो। उसके परिणामस्वरूप जो तीन दोष प्राप्त होते हैं, उनकी ओर मोहवश तुम्हारी दृष्टि नहीं जाती ॥ १५ ॥

अप्रत्ययकृतां गर्ह्यामर्थापनयदूषिताम्।
इह चामुत्र चानिष्टां तस्माद् वृत्तिं न रोचये ॥ १६ ॥

'तुमलोगोंकी जीविका असंतोषसे पूर्ण, निन्दनीय, धर्मकी हानिके कारण दूषित तथा इहलोक और परलोकमें भी अनिष्ट फल देनेवाली है; इसलिये मैं उसे पसंद नहीं करता हूँ ॥ १६ ॥

तं शुचिं पण्डितं मत्वा शार्दूलः ख्यातविक्रमः।
कृत्वाऽऽत्मसदृशीं पूजां साचिव्येऽवरयत् स्वयम् ॥

सियारके इस पवित्र आचार-विचारकी चर्चा चारों ओर फैल जानेके कारण एक प्रख्यातपराक्रमी व्याघ्रने उसे विद्वान् और विशुद्ध स्वभावका मानकर उसके निकट पदार्पण किया और उसकी अपने अनुरूप पूजा करके स्वयं ही मन्त्री बनानेके लिये उसका वरण किया ॥ १७ ॥

शार्दूल उवाच

सौम्य विज्ञातरूपस्त्वं गच्छ यात्रां मया सह।
व्रियन्तामीप्सिता भोगाः परिहार्याश्च पुष्कलाः ॥ १८ ॥

व्याघ्र बोला—सौम्य ! मैं तुम्हारे स्वरूपसे परिचित हूँ। तुम मेरे साथ चलो और अपनी रुचिके अनुसार अधिक-से अधिक भोगोंका उपभोग करो। जो वस्तुएँ प्रिय न हों, उन्हें त्याग देना ॥ १८ ॥

तीक्ष्णा इति वयं ख्याता भवन्तं ज्ञापयामहे।
मृदुपूर्वं हितं चैव श्रेयश्चाधिगमिष्यसि ॥ १९ ॥

परंतु एक बात मैं तुम्हें सूचित कर देता हूँ। सारे संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि हमारी जातिका स्वभाव कठोर होता है; अतः यदि तुम कोमलतापूर्वक व्यवहार करते हुए मेरे हित-साधनमें लगे रहोगे तो अवश्य ही कल्याणके भागी होओगे ॥ १९ ॥

अथ सम्पूज्य तद् वाक्यं मृगेन्द्रस्य महात्मनः।
गोमायुः संश्रितं वाक्यं बभाषे किंचिदानतः ॥ २० ॥

महामनस्वी मृगराजके उस कथनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके सियारने कुछ नतमस्तक होकर विनययुक्त वाणीमें कहा ॥ २० ॥

गोमायुरुवाच

सदृशं मृगराजैतत् तव वाक्यं मदन्तरे।
यत् सहायान् मृगयसे धर्मार्थकुशलाञ्शुचीन् ॥ २१ ॥

सियार बोला—मृगराज ! आपने मेरे लिये जो बात कही है, वह सर्वथा आपके योग्य ही है तथा आप जो धर्म और अर्थसाधनमें कुशल एवं शुद्ध स्वभाववाले सहायकों (मन्त्रियों) की खोज कर रहे हैं, यह भी उचित ही है ॥

न शक्यं ह्यनमात्येन महत्त्वमनुशासितुम्।
दुष्टामात्येन वा वीर शरीरपरिपन्थिना ॥ २२ ॥

वीर ! मन्त्रीके बिना एकाकी राजा विशाल राज्यका शासन नहीं कर सकता। यदि शरीरको सुखा देनेवाला कोई दुष्ट मन्त्री मिल गया तो उसके द्वारा भी शासन नहीं चलाया जा सकता ॥ २२ ॥

सहायाननुरक्तांश्च नयज्ञानुपसंहितान्।
परस्परमसंसृष्टान् विजिगीषूनलोलुपान् ॥ २३ ॥
अनतीतोपधान् प्राज्ञान् हिते युक्तान् मनस्विनः।
पूजयेथा महाभाग यथाऽऽचार्यान् यथा पितॄन् ॥ २४ ॥

महाभाग ! इसके लिये आपको चाहिये कि जिनका आपके प्रति अनुराग हो, जो नीतिके जानकार, सद्भाव-सम्पन्न, परस्पर गुटबंदीसे रहित, विजयकी अभिलाषासे युक्त, लोभरहित, कपटनीतिमें कुशल, बुद्धिमान्, स्वामीके हितसाधनमें तत्पर और मनस्वी हों, ऐसे व्यक्तियोंको सहायक या सचिव बनाकर आप पिता और गुरुके समान उनका सम्मान करें ॥ २३-२४ ॥

न त्वेव मम संतोषाद् रोचतेऽन्यन्मृगाधिप।
न कामये सुखान् भोगानैश्वर्यं च तदाश्रयम् ॥ २५ ॥

मृगराज ! मुझे तो संतोषके सिवा और कोई वस्तु रुचती ही नहीं है। मैं सुख, भोग और उनके आधारभूत ऐश्वर्यको नहीं चाहता ॥ २५ ॥

न योक्ष्यति हि मे शीलं तव भृत्यैः पुरातनैः।
ते त्वां विभेदयिष्यन्ति दुःशीलाश्च मदन्तरे ॥ २६ ॥

आपके पुराने सेवकोंके साथ मेरे शीलस्वभावका मेल नहीं खायेगा। वे दुष्ट स्वभावके जीव हैं। अतः मेरे निमित्त वे लोग आपके कान भरते रहेंगे ॥ २६ ॥

संश्रयः श्लाघनीयस्त्वमन्येषामपि भास्वताम्।
कृतात्मा सुमहाभागः पापकेष्वप्यदारुणः ॥ २७ ॥

आप अन्यान्य तेजस्वी प्राणियोंके भी स्पृहणीय आश्रय हैं। आपकी बुद्धि सुशिक्षित है। आप महान् भाग्यशाली तथा अपराधियोंके प्रति भी दयालु हैं ॥ २७ ॥

दीर्घदर्शी महोत्साहः स्थूललक्ष्यो महाबलः।
कृती चामोघकर्तासि भाग्यैश्च समलंकृतः ॥ २८ ॥

आप दूरदर्शी, महान् उत्साही, स्थूललक्ष्य (जिसका उद्देश्य बहुत स्पष्ट हो वह), महाबली, कृतार्थ, सफलता-पूर्वक कार्य करनेवाले तथा भाग्यसे अलंकृत हैं ॥ २८ ॥

किं तु स्वेनास्मि संतुष्टो दुःखवृत्तिरनुष्ठिता ।
सेवायां चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः ॥ २९ ॥

इधर मैं अपने आपमें ही संतुष्ट रहनेवाला हूँ । मैंने ऐसी जीविका अपनायी है, जो अत्यन्त दुःखमयी है। मैं राजसेवाके कार्यसे अनभिज्ञ और वनमें स्वच्छन्दतापूर्वक घूमनेवाला हूँ ॥ २९ ॥

राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम् ।
व्रतचर्या तु निःसंगा निर्भया वनवासिनाम् ॥ ३० ॥

जो राजाके आश्रयमें रहते हैं, उन्हें राजाकी निन्दासे सम्बन्ध रखनेवाले सभी दोष प्राप्त होते हैं । इधर मेरे-जैसे वनवासियोंकी व्रतचर्या सर्वथा असङ्ग और भयसे रहित होती है ॥ ३० ॥

नृपेणाहूयमानस्य यत् तिष्ठति भयं हृदि ।
न तत् तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम् ॥ ३१ ॥

राजा जिसे अपने सामने बुलाता है, उसके हृदयमें जो भय खड़ा होता है, वह वनमें फल-मूल खाकर संतुष्ट रहनेवाले लोगोंके मनमें नहीं होता ॥ ३१ ॥

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥ ३२ ॥

एक जगह बिना किसी भयके केवल जल मिलता है और दूसरी जगह अन्तमें भय देनेवाला स्वादिष्ट अन्न प्राप्त होता है—इन दोनोंको यदि विचार करके मैं देखता हूँ तो मुझे वहाँ ही सुख जान पड़ता है, जहाँ कोई भय नहीं है ॥ ३२ ॥

अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः ।
उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः ॥ ३३ ॥

राजाओंने किन्हीं वास्तविक अपराधोंके कारण उतने सेवकोंको दण्ड नहीं दिया होगा, जितने कि लोगोंके झूठे लगाये गये दोषोंसे कलङ्कित होकर राजाके हाथसे मारे गये हैं ॥ ३३ ॥

यदि त्वेतन्मया कार्यं मृगेन्द्र यदि मन्यसे ।
समयं कृतमिच्छामि वर्तितव्यं यथा मयि ॥ ३४ ॥

मृगराज ! यदि आप मुझसे मन्त्रित्वका कार्य लेना ही ठीक समझते हैं तो मैं आपसे एक शर्त कराना चाहता हूँ, उसीके अनुसार आपको मेरे साथ बर्ताव करना उचित होगा ॥ ३४ ॥

मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यं च हितं वचः ।
कल्पिता या च मे वृत्तिः सा भवेत् त्वयि सुस्थिरा ॥ ३५ ॥

मेरे आत्मीयजनोंका आपको सम्मान करना होगा । मेरी कही हुई हितकर बातें आपको सुननी होंगी । मेरे लिये जो जीविकाकी व्यवस्था आपने की है, वह आपहीके पास सुस्थिर एवं सुरक्षित रहे ॥ ३५ ॥

न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित् ।
नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि ॥ ३६ ॥

मैं आपके दूसरे मन्त्रियोंके साथ बैठकर कभी कोई परामर्श नहीं करूँगा; क्योंकि दूसरे नीतिज्ञ मन्त्री मुझसे ईर्ष्या करते हुए मेरे प्रति व्यर्थकी बातें कहने लगेंगे ॥ ३६ ॥

एक एकेन संगम्य रहो ब्रूयां हितं वचः ।
न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहिते ॥ ३७ ॥

मैं अकेला एकान्तमें अकेले आपसे मिलकर आपको हितकी बातें बताया करूँगा । आप भी अपने जाति-भाइयोंके कार्योंमें मुझसे हिताहितकी बात न पूछियेगा ॥ ३७ ॥

मया सम्मन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया ।
मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातयेः ॥ ३८ ॥

मुझसे सलाह लेनेके बाद यदि आपके पहलेके मन्त्रियोंकी भूल प्रमाणित हो तो भी उन्हें प्राणदण्ड न दीजियेगा तथा कभी क्रोधमें आकर मेरे आत्मीयजनोंपर भी प्रहार न कीजियेगा ॥ ३८ ॥

एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः ।
प्राप्तवान् मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः ॥ ३९ ॥

'अच्छा, ऐसा ही होगा' यह कहकर शेरने उसका बड़ा सम्मान किया । सियार बाघराजाके बुद्धिदायक सचिवके पदपर प्रतिष्ठित हो गया ॥ ३९ ॥

तं तथा सुकृतं दृष्ट्वा पूज्यमानं स्वकर्मसु ।
प्राद्विषन् कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥

सियार बहुत अच्छा कार्य करने लगा और उसको अपने सभी कार्योंमें बड़ी प्रशंसा प्राप्त होने लगी । इस प्रकार उसे सम्मानित होता देख पहलेके राजसेवक संगठित हो बारंबार उससे द्वेष करने लगे ॥ ४० ॥

मित्रबुद्ध्या च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रसाद्य च ।
दोषैस्तु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः ॥ ४१ ॥

उनके मनमें दुष्टता भरी थी । वे सियारके पास मित्रभावसे आते और उसे समझा-बुझाकर प्रसन्न करके अपने ही समान दोषके पथपर चलानेकी चेष्टा करते थे ॥ ४१ ॥

अन्यथा ह्युषिताः पूर्वं परद्रव्याभिहारिणः ।
अशक्ताः किंचिदादातुं द्रव्यं गोमायुयन्त्रिताः ॥ ४२ ॥

उसके आनेके पहले वे और ही प्रकारसे रहा करते थे। दूसरोंका धन हड़प लिया करते थे, परंतु अब वैसा नहीं कर सकते थे । सियारने उन सबपर ऐसी कड़ी पाबंदी लगा दी थी कि वे किसीकी कोई भी वस्तु लेनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ४२ ॥

व्युत्थानं च विकाङ्क्षद्भिः कथाभिः प्रतिलोभ्यते ।
धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते ॥ ४३ ॥

उनकी यही इच्छा थी कि सियार भी डिग जाय; इसलिये वे तरह-तरहकी बातोंमें उसे फुसलाते और बहुत-सा धन देनेका लोभ देकर उसकी बुद्धिको प्रलोभनमें फँसाना चाहते थे ॥ ४३ ॥

न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद् धैर्याच्चचाल ह ।
अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय तथा परे ॥ ४४ ॥

परंतु सियार बड़ा बुद्धिमान् था । अतः वह उनके प्रलोभनमें आकर धैर्यसे विचलित नहीं हुआ । तब दूसरे-दूसरे सभी सेवकोंने मिलकर उसके विनाशके लिये प्रतिज्ञा की और तदनुसार प्रयत्न आरम्भ कर दिया ॥ ४४ ॥

ईप्सितं तु मृगेन्द्रस्य मांसं यत् यत्र संस्कृतम् ।
अपनीय स्वयं तद्धि तैर्न्यस्तं तस्य वेश्मनि ॥४५॥

एक दिन उन सेवकोंने शेरके खानेके लिये जो मांस तैयार करके रक्खा गया था, उसके स्थानसे हटाकर सियारके घरमें रख दिया ॥ ४५ ॥

यदर्थं चाप्यपहृतं येन तच्चैव मन्त्रितम् ।
तस्य तद् विदितं सर्वं कारणार्थं च मर्षितम् ॥ ४६ ॥

जिसने जिस उद्देश्यसे उस मांसको चुराया और जिसने ऐसा करनेकी सलाह दी, वह सब कुछ सियारको मालूम हो गया तो भी किसी कारणवश उसने चुपचाप सह लिया ॥४६॥

समयोऽयं कृतस्तेन साचिव्यमुपगच्छता ।
नोपघातस्त्वया कार्यो राजन् मैत्रीमिहेच्छता॥ ४७ ॥

मन्त्रीपदपर आते समय सियारने यह शर्त करा ली थी कि राजन्! यदि आप मुझसे मैत्री चाहते हैं तो किसीके बहकावेमें आकर मेरा विनाश न कर डालियेगा ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

क्षुधितस्य मृगेन्द्रस्य भोक्तुमभ्युत्थितस्य च ।
भोजनायोपहर्तव्यं तन्मांसं नोपदृश्यते ॥ ४८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उधर शेरको जब भूख लगी और वह भोजनके लिये उठा, तब उसके खानेके लिये जो परोसा जानेवाला था, वह मांस उसे नहीं दिखायी दिया ॥ ४८ ॥

मृगराजेन चाज्ञप्तं दृश्यतां चोर इत्युत ।
कृतकैश्चापि तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ॥ ४९ ॥
सचिवेनापनीतं ते विदुषा प्राज्ञमानिना ।

तब मृगराजने सेवकोंको आज्ञा दी कि चोरका पता लगाओ। तब जिनकी यह करतूत थी, उन्हीं लोगोंने उस मांसके बारेमें शेरको बताया—'महाराज ! अपनेको अत्यन्त बुद्धिमान् और पण्डित माननेवाले आपके मन्त्री महोदयने ही इस मांसका अपहरण किया है' ॥ ४९½ ॥

सरोषस्त्वथ शार्दूलः श्रुत्वा गोमायुचापलम् ॥ ५० ॥
बभूवामर्षितो राजा वधं चास्य व्यरोचयत् ।

सियारकी यह चपलता सुनकर शेर गुस्सेसे भर गया। उससे यह बात सही नहीं गयी; अतः मृगराजने उसका वध करनेका ही विचार कर लिया ॥ ५०½ ॥

छिद्रं तु तस्य तद् दृष्ट्वा प्रोचुस्ते पूर्वमन्त्रिणः ॥ ५१ ॥
सर्वेषामेव सोऽस्माकं वृत्तिभङ्गे प्रवर्तते ।
निश्चित्यैव पुनस्तस्य ते कर्माण्यपि वर्णयन् ॥ ५२ ॥

उसका यह छिद्र देखकर पहलेके मन्त्री आपसमें कहने लगे, वह हम सब लोगोंकी जीविका नष्ट करनेपर तुला हुआ है; अतः हम भी उससे बदला लें, ऐसा निश्चय करके वे उसके अपराधोंका वर्णन करने लगे—॥ ५१-५२ ॥

इदं तस्येदृशं कर्म किं तेन न कृतं भवेत् ।
श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५३ ॥

'महाराज ! जब उसके द्वारा ऐसा कर्म किया जा सकता है, तब वह और क्या नहीं कर सकता ? स्वामीने पहले उसके बारेमें जैसा सुन रक्खा है, वह वैसा नहीं है ॥ ५३ ॥

वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः ।
धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः ॥ ५४ ॥

'वह बातोंसे ही धर्मात्मा बना हुआ है। स्वभावसे तो बड़ा क्रूर है । भीतरसे यह बड़ा पापी है; परंतु ऊपरसे धर्मात्मापनका ढोंग बनाये हुए है । उसका सारा आचार-विचार व्यर्थ दिखावेके लिये है ॥ ५४ ॥

कार्यार्थं भोजनार्थेषु व्रतेषु कृतवाञ्श्रमम् ।
यदि विप्रत्ययो ह्येष तदिदं दर्शयाम ते ॥ ५५ ॥

'उसने तो अपना काम बनाने और पेट भरनेके लिये ही व्रत करनेमें परिश्रम किया है । यदि आपको विश्वास न हो तो यह लीजिये, हम अभी उसके यहाँसे मांस ले आकर दिखाते हैं' ॥ ५५ ॥

तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणादाशु ढौकितम् ।
मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रः श्रुत्वा च तद्वचः ॥ ५६ ॥
आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति ।

ऐसा कहकर वे क्षणभरमें ही सियारके घरसे उस मांसको उठा लाये । मांसके अपहरणकी बात जानकर और उन सेवकोंकी बातें सुनकर शेरने उस समय यह आज्ञा दे दी कि सियारको प्राणदण्ड दे दिया जाय ॥ ५६½ ॥

शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः ॥ ५७ ॥
मृगराजं हितैर्वाक्यैः सम्बोधयितुमागमत् ।
पुत्र नैतत् त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंयुतम् ॥ ५८ ॥

शेरकी यह बात सुनकर उसकी माता हितकर वचनोंद्वारा उसे समझानेके लिये वहाँ आयी और बोली—'बेटा ! इसमें कुछ कपटपूर्ण षड्यन्त्र हुआ मालूम पड़ता है; अतः तुम्हें इसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दुष्येताशुचिभिः शुचिः ।
नोच्छ्रितं सहते कश्चित् प्रक्रिया वैरकारिका ॥ ५९ ॥

'काममें लाग-डाँट हो जानेसे जिनके मनमें शुद्धभाव नहीं हैं, वे लोग निर्दोषपर ही दोषारोपण करते हैं । किसीको अपनेसे ऊँची अवस्थामें देखकर कोई-कोई ईर्ष्यावश सहन नहीं कर पाते हैं । यही वैरभाव उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया है ॥ ५९ ॥

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ॥ ६० ॥
उत्पाद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।

'कोई कितना ही शुद्ध और उद्योगी क्यों न हो, लोग उसपर दोषारोपण कर ही देते हैं। अपने धार्मिक कर्मोंमें लगे हुए वनवासी मुनिके भी शत्रु, मित्र और उदासीन—ये तीन पक्ष पैदा हो जाते हैं ॥ ६०½ ॥

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ॥ ६१ ॥
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः ।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥ ६२ ॥

'लोभी लोग निर्लोभीसे, कायर बलवानोंसे, मूर्ख विद्वानोंसे, दरिद्र बड़े-बड़े धनियोंसे, पापाचारी धर्मात्माओंसे और कुरूप सुन्दर रूपवालोंसे द्वेष करते हैं ॥ ६१-६२ ॥

बहवः पण्डिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः ।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ६३ ॥

'विद्वानोंमें भी बहुत-से ऐसे अविवेकी, लोभी और कपटी होते हैं, जो बृहस्पतिके समान बुद्धि रखनेवाले निर्दोष व्यक्तिमें भी दोष ढूँढ निकालते हैं ॥ ६३ ॥

शून्यात् तच्च गृहान्मांसं यद्यप्यपहृतं तव ।
नेच्छते दीयमानं च साधु तावद् विमृश्यताम् ॥ ६४ ॥

'एक ओर तो तुम्हारे सूने घरसे मांसकी चोरी हुई है और दूसरी ओर एक व्यक्ति ऐसा है, जो देनेपर भी मांस लेना नहीं चाहता—इन दोनों बातोंपर पहले अच्छी तरह विचार करो ॥ ६४ ॥

असभ्याः सभ्यसंकाशाः सभ्याश्चासभ्यदर्शनाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६५ ॥

'संसारमें बहुत-से असभ्य प्राणी सभ्यकी तरह और सभ्य-लोग असभ्यके समान देखे जाते हैं। इस तरह अनेक प्रकारके भाव दृष्टिगोचर होते हैं; अतः उनकी परीक्षा कर लेनी उचित है ॥ ६५ ॥

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥ ६६ ॥

'आकाश औंधी की हुई कड़ाहीके तले (भीतरी भागों) के समान दिखायी देता है और जुगनू अग्निके सदृश दृष्टिगोचर होता है; परंतु न तो आकाशमें तल है और न जुगनूमें अग्नि ही है ॥ ६६ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात् परितप्यते ॥ ६७ ॥

'इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुकी भी परीक्षा करनी उचित है। जो परीक्षा लेकर भले-बुरेकी जाँच करके किसी कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता ॥ ६७ ॥

न दुष्करमिदं पुत्र यत् प्रभुर्घातयेत् परम् ।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६८ ॥

'बेटा ! यदि शक्तिशाली राजा दूसरेको मरवा डाले तो यह उसके लिये कोई कठिन काम नहीं है; परंतु शक्तिशाली पुरुषोंमें यदि क्षमाका भाव हो तो संसारमें उसीकी बड़ाई की जाती है और उसीसे राजाओंका यश बढ़ता है ॥ ६८ ॥

स्थापितोऽयं त्वया पुत्र सामन्तेष्वपि विश्रुतः ।
दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्यतामेष ते सुहृत् ॥ ६९ ॥

'बेटा ! तुमने ही इस सियारको मन्त्रीके पदपर बिठाया है और तुम्हारे सामन्तोंमें भी इसकी ख्याति बढ़ गयी है। कोई सुपात्र व्यक्ति बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। यह सियार तुम्हारा हितैषी सुहृद् है; इसलिये तुम इसकी रक्षा करो ॥ ६९ ॥

दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ७० ॥

'जो दूसरोंके मिथ्या कलंक लगानेपर किसी निर्दोषको भी दण्ड देता है, वह दुष्ट मन्त्रियोंवाला राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है' ॥ ७० ॥

तस्मादप्यरिसंघाताद् गोमायोः कश्चिदागतः ।
धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत् कपटं कृतम् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर उन्हीं शत्रुओंके समूहमेंसे किसी धर्मात्मा सियारने (जो शेरका गुप्तचर बना था,) आकर गीदड़के साथ जो यह छल-कपट किया गया था, वह सब सिंहको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

ततो विज्ञातचरितः सत्कृत्य स विमोक्षितः ।
परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

इससे शेरको सियारकी सच्चरित्रताका पता चल गया और उसने उसका सत्कार करके उसे इस अभियोगसे मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, मृगराजने स्नेहपूर्वक बारंबार अपने सचिवको गलेसे लगाया ॥ ७२ ॥

अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीतिशास्त्रवित् ।
तेनामर्षेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् नीतिशास्त्रके ज्ञाता सियारने मृगराजकी आज्ञा लेकर अमर्षसे संतप्त हो उपवास करके प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ ७३ ॥

शार्दूलस्तं तु गोमायुं स्नेहात् प्रोत्फुल्ललोचनः ।
अवारयत् स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७४ ॥

शेरने धर्मात्मा गीदड़का भलीभाँति आदर-सत्कार करके उसे उपवाससे रोक दिया। उस समय उसके नेत्र स्नेहसे खिल उठे थे ॥ ७४ ॥

तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसम्भ्रमम् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७५ ॥

सियारने देखा, मालिकका हृदय स्नेहसे आकुल हो रहा है, तब उसने उसे प्रणाम करके अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ७५ ॥

पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः ।
परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नार्हाम्यहं त्वयि ॥ ७६ ॥

'महाराज ! पहले तो आपने मुझे सम्मान दिया और पीछे अपमानित कर दिया, शत्रुओंकी-सी अवस्थामें डाल दिया; अतः अब मैं आपके पास रहनेके योग्य नहीं हूँ ॥ ७६ ॥

असंतुष्टाश्च्युताः स्थानान्मानात् प्रत्यवरोपिताः ।
स्वयं चोपहृता भृत्या ये चाप्युपहिताः परैः ॥ ७७ ॥
परिक्षीणाश्च लुब्धाश्च क्रुद्धा भीताः प्रतारिताः ।
हृतस्वा मानिनो ये च त्यक्तादाना महेप्सवः ॥ ७८ ॥
संतापिताश्च ये केचिद् व्यसनौघप्रतीक्षिणः ।
अन्तर्हिताः सोपहितास्ते सर्वे परसाधनाः ॥ ७९ ॥

'जो अपने पदसे गिरा दिये जानेके कारण असंतुष्ट हों, अपमानित किये गये हों, जो स्वयं राजासे पुरस्कृत होकर दूसरोंके द्वारा कलंक लगाये जानेके कारण उस आदरसे वञ्चित कर दिये गये हों, जो क्षीण, लोभी, क्रोधी, भयभीत और धोखेमें डाले गये हों, जिनका सर्वस्व छीन लिया गया हो, जो मानी हों, जिनकी आय छिन गयी हो, जो महत्त्वपूर्ण पद पाना चाहते हों, जिन्हें सताया गया हो, जो किसी राजापर आनेवाले संकट-समूहकी प्रतीक्षा कर रहे हों, छिपे रहते हों और मनमें कपटभाव रखते हों, वे सभी सेवक शत्रुओंका काम बनानेवाले होते हैं ॥ ७७–७९ ॥

अवमानेन युक्तस्य स्थानभ्रष्टस्य वा पुनः ।
कथं यास्यसि विश्वासमहं तिष्ठामि वा कथम् ॥ ८० ॥

'जब मैं एक बार अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित हो गया, तब पुनः आप मुझपर कैसे विश्वास कर सकेंगे? अथवा मैं ही कैसे आपके पास रह सकूँगा ? ॥ ८० ॥

समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्षितः ।
कृतं च समयं भित्त्वा त्वयाहमवमानितः ॥ ८१ ॥

'आपने योग्य समझकर मुझे अपनाया और मन्त्रीके पदपर बिठाकर मेरी परीक्षा ली। इसके बाद अपनी की हुई प्रतिज्ञाको तोड़कर मेरा अपमान किया ॥ ८१ ॥

प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि ।
न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ८२ ॥

'पहले भरी सभामें शीलवान् कहकर जिसका परिचय दिया गया हो, प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उसका दोष नहीं बताना चाहिये ॥ ८२ ॥

एवं चावमतस्येह विश्वासं मे न यास्यसि ।
त्वयि चापेतविश्वासे ममोद्वेगो भविष्यति ॥ ८३ ॥

'जब मैं इस प्रकार यहाँ अपमानित हो गया तो अब आपपर मेरा विश्वास न होगा और आप भी मुझपर विश्वास नहीं कर सकेंगे। ऐसी दशामें आपसे मुझे सदा भय बना रहेगा ॥ ८३ ॥

शंकितस्त्वमहं भीतः परच्छिद्रानुदर्शिनः ।
अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद् बहुच्छलम् ॥ ८४ ॥

'आप मुझपर संदेह करेंगे और मैं आपसे डरता रहूँगा, इधर पराये दोष ढूँढ़नेवाले आपके भृत्यलोग मौजूद ही हैं। इनका मुझपर तनिक भी स्नेह नहीं है तथा इन्हें संतुष्ट रखना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। साथ ही यह मन्त्रीका कर्म भी अनेक प्रकारके छल-कपटसे भरा हुआ है ॥

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ॥ ८५ ॥

'प्रेमका बन्धन बड़ी कठिनाईसे टूटता है, पर जब वह एक बार टूट जाता है, तब बड़ी कठिनाईसे जुट पाता है। जो प्रेम बारंबार टूटता और जुड़ता रहता है, उसमें स्नेह नहीं होता ॥ ८५ ॥

कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः ।
कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ॥ ८६ ॥

'ऐसा मनुष्य कोई एक ही होता है, जो अपने या दूसरेके हितमें रत न रहकर स्वामीके ही हितमें संलग्न दिखायी देता हो; क्योंकि अपने कार्यकी अपेक्षा रखकर स्वार्थसाधनका उद्देश्य लेकर प्रेम करनेवाले तो बहुत होते हैं, परंतु शुद्धभावसे स्नेह रखनेवाले मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ८६ ॥

सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम् ।
समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८७ ॥

'योग्य मनुष्यको पहचानना राजाओंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि उनका चित्त चञ्चल होता है। सैकड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा मिलता है, जो सब प्रकारसे सुयोग्य होता हुआ भी संदेहसे परे हो ॥ ८७ ॥

अकस्मात् प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् ।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥ ८८ ॥

'मनुष्यके उत्कर्ष और अपकर्ष (उन्नति और अवनति) अकस्मात् होते हैं, किसीका भला करके बुरा करना और उसे महत्त्व देकर नीचे गिराना, यह सब ओछी बुद्धिका परिणाम है' ॥

एवंविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मकामार्थहेतुमत् ।
प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और युक्तियोंसे युक्त सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर सियारने बाघराजाको प्रसन्न कर लिया और उसकी अनुमति लेकर वह वनमें चला गया ॥ ८९ ॥

अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य च बुद्धिमान् ।
गोमायुः प्रायमास्थाय त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ ॥ ९० ॥

वह बड़ा बुद्धिमान् था; अतः शेरकी अनुनय-विनय न मानकर मृत्युपर्यन्त निराहार रहनेका व्रत ले एक स्थानपर बैठ गया और अन्तमें शरीर त्यागकर स्वर्गधाममें जा पहुँचा ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्याघ्रगोमायुसंवादे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्याघ्र और गीदड़का संवादविषयक एकसौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ९१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

एक तपस्वी ऊँटके आलस्यका कुपरिणाम और राजाका कर्तव्य

युधिष्ठिर उवाच

किं पार्थिवेन कर्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत् ।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह ! राजाको क्या करना चाहिये ? क्या करनेसे वह सुखी हो सकता है ? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम् ।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! राजाका जो कर्त्तव्य है और जो कुछ करके वह सुखी हो सकता है, उस कार्यका निश्चय करके अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ उसे सुनो ॥ २ ॥

न चैवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम ।
उष्ट्रस्य तु महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ! हमने एक ऊँटका जो महान् वृत्तान्त सुन रखा है, उसे तुम सुनो । राजाको वैसा बर्ताव नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत् ।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥

प्राजापत्ययुग (सत्ययुग) में एक महान् ऊँट था । उसको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था । उसने कठोर व्रतके पालनका नियम लेकर वनमें बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की ॥

तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद् विभुः ।
वरेण च्छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥

उस तपस्याके अन्तमें पितामह भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उससे वर माँगनेके लिये कहा ॥ ५ ॥

उष्ट्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् ।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो ॥ ६ ॥

ऊँट बोला—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरी यह गर्दन बहुत बड़ी हो जाय, जिससे जब मैं चरनेके लिये जाऊँ तो सौ योजनसे अधिक दूरतककी खाद्य वस्तुएँ ग्रहण कर सकूँ ॥ ६ ॥

एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना ।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥

वरदायक महात्मा ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहकर उसे मुँहमाँगा वर दे दिया । वह उत्तम वर पाकर ऊँट अपने वनमें चला गया ॥ ७ ॥

स चकार तदाऽऽलस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले ऊँटने वरदान पाकर कहीं आने-जानेमें आलस्य कर लिया । वह दुरात्मा कालसे मोहित होकर चरनेके लिये कहीं जाना ही नहीं चाहता था ॥ ८ ॥

स कदाचित् प्रसार्यैव तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात् ततो महान् ॥ ९ ॥

एक समयकी बात है, वह अपनी सौ योजन लंबी गर्दन फैलाकर चर रहा था, उसका मन चरनेसे कभी थकता ही नहीं था । इतनेमें ही बड़े जोरसे हवा चलने लगी ॥ ९ ॥

स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः ।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत् प्लावयज्जगत् ॥ १० ॥

वह पशु किसी गुफामें अपनी गर्दन डालकर चर रहा था, इसी समय सारे जगत्‌को जलसे आप्लावित करती हुई बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ १० ॥

अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥ ११ ॥

वर्षा आरम्भ होनेपर भूख और थकावटसे कष्ट पाता हुआ एक गीदड़ अपनी स्त्रीके साथ शीघ्र ही उस गुहामें आ घुसा । वह जलसे पीडित था, सर्दीसे उसके सारे अङ्ग अकड़ गये थे ॥ ११ ॥

स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
अभक्षयत् ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी गीदड़ अत्यन्त भूखके कारण कष्ट पा रहा था, अतः उसने ऊँटकी गर्दनका मांस काट-काटकर खाना आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः ।
तदा संकोचने यत्नमकरोद् भृशदुःखितः ॥ १३ ॥

जब उस पशुको यह मालूम हुआ कि उसकी गर्दन खायी जा रही है, तब वह अत्यन्त दुखी हो उसे समेटनेका प्रयत्न करने लगा ॥ १३ ॥

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः ।
तावत् तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥

वह पशु जबतक अपनी गर्दनको ऊपर-नीचे समेटनेका यत्न करता रहा, तबतक ही स्त्रीसहित सियारने उसे काटकर खा लिया ॥ १४ ॥

स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा ।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऊँटको मारकर खा जानेके पश्चात् जब आँधी और वर्षा बंद हो गयी, तब वह गीदड़ गुफाके मुहानेसे निकल गया ॥ १५ ॥

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा ।
आलस्यस्य क्रमात् पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥ १६ ॥

इस तरह उस मूर्ख ऊँटकी मृत्यु हो गयी। देखो, उसके आलस्यके क्रमसे कितना महान् दोष प्राप्त हो गया ॥ १६ ॥

त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः।
वर्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

इसलिये तुम्हें भी ऐसे आलस्यको त्याग करके इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए बुद्धिपूर्वक बर्ताव करना उचित है। मनुजीका कथन है कि 'विजयका मूल बुद्धि ही है' ॥ १७ ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ १८ ॥

भारत! बुद्धिबलसे किये गये कार्य श्रेष्ठ हैं। बाहुबलसे किये जानेवाले कार्य मध्यम हैं। जाँघ अर्थात् पैरके बलसे किये गये कार्य जघन्य (अधम कोटिके) हैं तथा मस्तकसे भार ढोनेका कार्य सबसे निम्न श्रेणीका है ॥ १८ ॥

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

जो जितेन्द्रिय और कार्यदक्ष है, उसीका राज्य स्थिर रहता है। मनुजीका कथन है कि संकटमें पड़े हुए राजाकी विजयका मूल बुद्धि-बल ही है ॥ १९ ॥

गुह्यं मन्त्रं श्रुतवतः सुसहायस्य चानघ।
परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥ २० ॥

निष्पाप युधिष्ठिर! जो गुप्त मन्त्रणा सुनता है, जिसके सहायक अच्छे हैं तथा जो भलीभाँति जाँच-बूझकर कोई कार्य करता है, उसके पास ही धन स्थिर रहता है। सहायकोंसे सम्पन्न नरेश ही समूची पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ २० ॥

इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः
पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव।
मयापि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या
यथैव बुद्ध्वा प्रचरस्व राजन् ॥ २१ ॥

महेन्द्रके समान प्रभावशाली नरेश! पूर्वकालमें राज्य-संचालनकी विधिको जाननेवाले सत्पुरुषोंने यह बात कही थी। मैंने भी शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार तुम्हें यह बात बतायी है। राजन्! इसे अच्छी तरह समझकर इसीके अनुसार चलो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उष्ट्रग्रीवोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऊँटकी गर्दनकी कथाविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिशाली शत्रुके सामने बेंतकी भाँति नतमस्तक होनेका उपदेश—सरिताओं और समुद्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! राजा एक दुर्लभ राज्यको पाकर भी सेना और खजाना आदि साधनोंसे रहित हो तो सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त बढ़े-चढ़े हुए शत्रुके सामने कैसे टिक सकता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत! इस विषयमें विज्ञ पुरुष सरिताओं तथा समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन उपाख्यानका दृष्टान्त दिया करते हैं ॥ २ ॥

सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरितांपतिः।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, दैत्योंके निवासस्थान और सरिताओंके स्वामी समुद्रने सम्पूर्ण नदियोंसे अपने मनका एक संदेह पूछा ॥ ३ ॥

सागर उवाच

समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान्।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नेयस्तत्र न वेतसम् ॥ ४ ॥

समुद्रने कहा—नदियो! मैं देखता हूँ कि जब बाढ़ आनेके कारण तुमलोग लबालब भर जाती हो, तब विशालकाय वृक्षोंको जड़-मूल और शाखाओंसहित उखाड़कर अपने प्रवाहमें बहा लाती हो; परंतु उनमें बेंतका कोई पेड़ नहीं दिखायी देता ॥ ४ ॥

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥ ५ ॥

बेंतका शरीर तो नहींके बराबर बहुत पतला है। उसमें कुछ दम नहीं होता है और वह तुम्हारे खास किनारेपर जमता है; फिर भी तुम उसे न ला सकी, क्या कारण है? क्या तुम अवहेलनावश उसे कभी नहीं लायीं अथवा उसने तुम्हारा कोई उपकार किया है? ॥ ५ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम्।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥ ६ ॥

इस विषयमें तुम सब लोगोंका विचार मैं सुनना चाहता हूँ, क्या कारण है कि बेंतका वृक्ष तुम्हारे इन तटोंको छोड़कर नहीं आता है? ॥ ६ ॥

समुद्र देवताका मूर्तिमती नदियोंके साथ संवाद

तत्र प्राह नदी गङ्गा वाक्यमुत्तममर्थवत् ।
हेतुमद् ग्राहकं चैव सागरं सरिताम्पतिम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रश्न होनेपर गङ्गानदीने सरिताओंके स्वामी समुद्रसे यह उत्तम अर्थपूर्ण, युक्तियुक्त तथा मनको ग्रहण करनेवाली बात कही ॥ ७ ॥

गङ्गोवाच

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः ।
ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥ ८ ॥

गङ्गा बोली—नदीश्वर ! ये वृक्ष अपने-अपने स्थानपर अकड़कर खड़े रहते हैं, हमारे प्रवाहके सामने मस्तक नहीं झुकाते । इस प्रतिकूल बर्तावके कारण ही उन्हें नष्ट होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ता है; परंतु बेंत ऐसा नहीं है ॥८॥

वेतसो वेगमायातं दृष्ट्वा नमति नापरे ।
सरिद्वेगेऽव्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

बेंत नदीके वेगको आते देख झुक जाता है, पर दूसरे वृक्ष ऐसा नहीं करते; अतः वह सरिताओंका वेग शान्त होनेपर पुनः अपने स्थानमें ही स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः ।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥ १० ॥

बेंत समयको पहचानता है, उसके अनुसार बर्ताव करना जानता है, सदा हमारे वशमें रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता और अनुकूल बना रहता है । उसमें कभी अकड़ नहीं आती है; इसीलिये उसे स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना पड़ता है ॥ १० ॥

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च ।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥ ११ ॥

जो पौधे, वृक्ष या लता-गुल्म हवा और पानीके वेगसे झुक जाते तथा वेग शान्त होनेपर सिर उठाते हैं, उनका कभी पराभव नहीं होता ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्वन्धविनाशने ।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी प्रकार जो राजा बलमें बढ़े-चढ़े तथा बन्धनमें डालने और विनाश करनेमें समर्थ शत्रुके प्रथम वेगको सिर झुकाकर नहीं सह लेता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः ।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥ १३ ॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने तथा शत्रुके सार-असार, बल तथा पराक्रमको जानकर उसके अनुसार बर्ताव करता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती है ॥ १३ ॥

एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद् वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार विद्वान् राजा जब शत्रुके बलको अपनेसे अधिक समझे, तब बेंतका ही ढंग अपना ले अर्थात् उसके सामने नतमस्तक हो जाय । यही बुद्धिमानीका लक्षण है ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सरित्सागरसंवादे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सरिताओं और समुद्रका संवादविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

दुष्ट मनुष्यद्वारा की हुई निन्दाको सह लेनेसे लाभ

युधिष्ठिर उवाच

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—शत्रुदमन भारत ! यदि कोई ढीठ मूर्ख मधुर या तीखे शब्दोंमें भरी सभाके बीच किसी विद्वान् पुरुषकी निन्दा करने लगे, तो वह उसके साथ कैसा बर्ताव करे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते ।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भूपाल ! सुनो, इस विषयमें सदासे जैसी बात कही जाती है, उसे बता रहा हूँ । विशुद्ध चित्तवाला पुरुष इस जगत्में सदा ही मूर्ख मनुष्यके कठोर वचनोंको सहन करता है ॥ २ ॥

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति ।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै ॥ ३ ॥

जो निन्दा करनेवाले पुरुषके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्यको प्राप्त कर लेता है । वह सहनशील मनुष्य अपना सारा पाप उस क्रोधी पुरुषपर ही धो डालता है ॥३॥

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम् ।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

अच्छे पुरुषको चाहिये कि वह टिटिहरी या रोगीकी तरह टाँय-टाँय करते हुए उस निन्दाकारी पुरुषकी उपेक्षा कर दे । इससे वह सब लोगोंके द्वेषका पात्र बन जायगा और उसके सारे सत्कर्म निष्फल हो जायँगे ॥ ४ ॥

इति संश्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा ।
इदमुक्तो मया कश्चित् सम्मतो जनसंसदि ॥ ५ ॥
स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोऽवतिष्ठते ।
श्लाघन्नश्लाघनीयेन कर्मणा निरपत्रपः ॥ ६ ॥

वह मूर्ख तो उस पापकर्मके द्वारा सदा अपनी प्रशंसा करते हुए कहता है कि मैंने अमुक सम्मानित पुरुषको भरी सभामें ऐसी-ऐसी बातें सुनायीं कि वह लाजसे गड़ गया, उसका मुख सूख गया और वह अधमरा-सा हो गया, इस प्रकार निन्दनीय कर्म करके वह अपनी प्रशंसा करता है और तनिक भी लजाता नहीं है ॥ ५-६ ॥

उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः ।
यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद्बुधः ॥ ७ ॥

ऐसे नराधमकी यत्नपूर्वक उपेक्षा कर देनी चाहिये । मूर्ख मनुष्य जो कुछ भी कह दे, विद्वान् पुरुषको वह सब सह लेना चाहिये ॥ ७ ॥

प्राकृतो हि प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति ।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ॥ ८ ॥

जैसे वनमें कौआ व्यर्थ ही काँव-काँव किया करता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अकारण ही निन्दा करता है । वह प्रशंसा करे या निन्दा, किसीका क्या भला या बुरा करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकेगा ॥ ८ ॥

यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात् प्रयोगे पापकर्मणः ।
वागेवार्थो भवेत् तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ९ ॥

यदि पापाचारी पुरुषके कटुवचन बोलनेपर बदलेमें वैसे ही वचनोंका प्रयोग किया जाय तो उससे केवल वाणीद्वारा कलहमात्र होगा । जो हिंसा करना चाहता है, उसका गाली देनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ॥ ९ ॥

निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया ।
मयूर इव कौपीनं नृत्यं संदर्शयन्निव ॥ १० ॥

मयूर जब नाच दिखाता है, उस समय वह अपने गुप्त अङ्गोंको भी उघाड़ देता है । इसी प्रकार जो मूर्ख अनुचित आचरण करता है, वह उस कुचेष्टाद्वारा अपने छिपे हुए दोषोंको प्रकट करता है ॥ १० ॥

यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किंचन ।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संक्लिष्टकर्मणा ॥ ११ ॥

संसारमें जिसके लिये कुछ भी कह देना या कर डालना असम्भव नहीं है, ऐसे मनुष्यसे उस भले मनुष्यको बात भी नहीं करनी चाहिये, जो अपने सत्कर्मके द्वारा विशुद्ध समझा जाता है ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥ १२ ॥

जो सामने आकर गुण गाता है और परोक्षमें निन्दा करता है, वह मनुष्य संसारमें कुत्तेके समान है । उसके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादी यस्तं नाशयति तत्क्षणात् ॥ १३ ॥

परोक्षमें परनिन्दा करनेवाला मनुष्य सैकड़ों मनुष्योंको जो कुछ दान देता है और होम करता है, उन सब अपने कर्मोंको तत्काल नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तस्मात् प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।
वर्जयेत् साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १४ ॥

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह वैसे पापपूर्ण विचारवाले पुरुषको तत्काल त्याग दे । वह कुत्तेके मांसके समान साधु पुरुषोंके लिये सदा ही त्याज्य है ॥ १४ ॥

परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महाजने ।
प्रकाशयति दोषांस्तु सर्पः फणमिवोच्छ्रितम् ॥ १५ ॥

जैसे साँप अपने फनको ऊँचा उठाकर प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जनसमुदायमें किसी महापुरुषकी निन्दा करनेवाला दुरात्मा अपने ही दोषोंको प्रकट करता है ॥ १५ ॥

तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति ।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि सज्जति ॥ १६ ॥

जो परनिन्दारूप अपना कार्य करनेवाले दुष्ट पुरुषसे बदला लेना चाहता है, वह राखमें लोटनेवाले मूर्ख गदहेके समान केवल दुःखमें निमग्न होता है ॥ १६ ॥

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं
जनापवादे सततं निविष्टम् ।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं
त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १७ ॥

जो सदा लोगोंकी निन्दामें ही तत्पर रहता है, वह मनुष्यके शरीररूप घरमें रहनेवाला भेड़िया है । वह सदा अशान्त बना रहता है । मतवाले हाथीके समान चीत्कार करता है और अत्यन्त भयंकर कुत्तेके समान काटनेको दौड़ता है । श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि उसे सदाके लिये त्याग दें ॥ १७ ॥

अधीरजुष्टे पथि वर्तमानं
दमादपेतं विनयाच्च पापम् ।
अरिव्रतं नित्यमभूतिकामं
धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १८ ॥

वह मूर्खोंद्वारा सेवित पथपर चलनेवाला है । इन्द्रिय-संयम और विनयसे कोसों दूर है । उसने शत्रुताका व्रत ले रक्खा है । वह सदा सबकी अवनति चाहता है । उस पापात्मा एवं पापबुद्धि मनुष्यको धिक्कार है ॥ १८ ॥

प्रत्युच्यमानस्त्वभिभूय एभि-
र्निशाम्य मा भूस्त्वमथार्तरूपः ।
उच्चस्य नीचेन हि सम्प्रयोगं
विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १९ ॥

यदि ऐसे दुष्ट मनुष्य किसीपर आक्रमण करके उसकी निन्दा करने लगें और उसे सुनकर भला मनुष्य उसका उत्तर-

देनेके लिये उद्यत हो तो उसे रोककर कहे कि तुम दुखी न होओ; क्योंकि स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य उच्च पुरुषका नीचके साथ होनेवाले संयोगकी अर्थात् बराबरीकी निन्दा करते हैं ॥

क्रुद्धो दशार्धेन हि ताडयेद् वा
स पांसुभिर्वा विकिरेत् तुषैर्वा ।
विवृत्य दन्तांश्च विभीषयेद् वा
सिद्धं हि मूढे कुपिते नृशंसे ॥ २० ॥

यदि क्रूर स्वभावका मूर्ख मनुष्य कुपित हो जाय तो वह थप्पड़ मार सकता है, मुँहपर धूल अथवा भूसी झोंक सकता है और दाँत निकालकर डरा सकता है। उसके द्वारा सारी कुचेष्टाएँ सम्भव हैं ॥ २० ॥

विगर्हणां परमदुरात्मना कृतां
सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः ।
पठेदिदं चापि निदर्शनं सदा
न वाङ्मयं स लभति किंचिदप्रियम् ॥२१॥

जो इस दृष्टान्तको सदा पढ़ता या सुनता रहता है और जो मनुष्य सभामें किसी अत्यन्त दुष्टात्माद्वारा की हुई निन्दाको सह लेता है, वह दुर्जन मनुष्यसे कभी वाणीद्वारा होनेवाले निन्दाजनित किंचिन्मात्र दुःखका भी भागी नहीं होता ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि (टिट्टिभकं नाम) चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा तथा राजसेवकोंके आवश्यक गुण

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम् ।
संछेत्तव्यस्त्वया राजन् भवान् कुलकरो हि नः॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—परमबुद्धिमान् पितामह ! मेरे मनमें यह एक महान् संशय बना हुआ है। राजन् ! आप मेरे उस संदेहका निवारण करें; क्योंकि आप हमारे वंशके प्रवर्तक हैं ॥

पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम् ।
कथितो वाक्यसंचारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥

तात ! आपने दुरात्मा और दुराचारी पुरुषोंके बोलचालकी चर्चा की है; इसीलिये मैं आपसे कुछ निवेदन कर रहा हूँ ॥ २ ॥

यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरं च यत्॥ ३ ॥
पुत्रपौत्राभिरामं च राष्ट्रवृद्धिकरं च यत् ।
अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये, जो हमारे इस राज्यतन्त्रके लिये हितकारक, कुलके लिये सुखदायक, वर्तमान और भविष्यमें भी कल्याणकी वृद्धि करनेवाला, पुत्र और पौत्रोंकी परम्पराके लिये हितकर, राष्ट्रकी उन्नति करनेवाला तथा अन्न, जल और शरीरके लिये भी लाभकारी हो ॥३-४॥

अभिषिक्तो हि यो राजा राष्ट्रस्थो मित्रसंवृतः ।
ससुहृत्समुपेतो वा स कथं रञ्जयेत् प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अपने राज्यपर अभिषिक्त हो देशमें मित्रोंसे घिरा हुआ रहता है तथा जो हितैषी सुहृदोंसे भी सम्पन्न है, वह किस प्रकार अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खे ? ॥ ५ ॥

यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥
तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः ।
न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा सम्प्रयुज्यते ॥ ७ ॥

जो असद् वस्तुओंके संग्रहमें अनुरक्त है, स्नेह और रागके वशीभूत हो गया है और इन्द्रियोंपर वश न चलनेके कारण सज्जन बननेकी चेष्टा नहीं करता, उस राजाके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए समस्त सेवक भी विपरीत गुणवाले हो जाते हैं। ऐसी दशामें सेवकोंके रखनेका जो फल धनकी वृद्धि आदि है, उससे वह राजा सर्वथा वञ्चित रह जाता है ॥

एतन्मे संशयस्यास्य राजधर्मान् सुदुर्विदान् ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवान् शंसितुमर्हति ॥ ८ ॥

मेरे इस संशयका निवारण करके आप दुर्बोध राजधर्मोंका वर्णन कीजिये; क्योंकि आप बुद्धिमें साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं ॥ ८ ॥

शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वन्नः कुलहिते रतः ।
क्षत्ता चैको महाप्राज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह ! हमारे कुलके हितमें तत्पर रहनेवाले आप ही हमें ऐसा उपदेश दे सकते हैं। दूसरे हमारे हितैषी महाज्ञानी विदुरजी हैं, जो हमें सर्वदा सदुपदेश दिया करते हैं ॥

त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम्।
अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् ॥ १० ॥

आपके मुखसे कुलके लिये हितकारी तथा राज्यके लिये कल्याणकारी उपदेश सुनकर मैं अक्षय अमृतसे तृप्त होनेके समान सुखसे सोऊँगा ॥ १० ॥

कीदृशाः संनिकर्षस्था भृत्याः सर्वगुणान्विताः।
कीदृशैः किं कुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥ ११ ॥

कैसे सर्वगुणसम्पन्न सेवक राजाके निकट रहने चाहिये और किस कुलमें उत्पन्न हुए कैसे सैनिकोंके साथ राजाको युद्धकी यात्रा करनी चाहिये ?॥ ११ ॥

न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता।
राज्यं चेदं जनः सर्वस्तत्कुलीनोऽभिकाङ्क्षति॥ १२॥

सेवकोंके बिना अकेला राजा राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि उत्तम कुलमें उत्पन्न सभी लोग इस राज्यकी अभिलाषा करते हैं ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत॥ १३॥
लब्धुं लब्धा ह्यपि सदा रक्षितुं भरतर्षभ।
यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः॥ १४॥
हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते॥ १५॥

भीष्मजीने कहा—तात भरतनन्दन! कोई भी सहायकोंके बिना अकेले राज्य नहीं चला सकता। राज्य ही क्या? सहायकोंके बिना किसी भी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती। यदि प्राप्ति हो भी गयी तो सदा उसकी रक्षा असम्भव हो जाती है (अतः सेवकों या सहायकोंका होना आवश्यक है)। जिसके सभी सेवक ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, हितैषी, कुलीन और स्नेही हों, वही राजा राज्यका फल भोग सकता है ॥

मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः।
नृपतेर्मतिदाः सन्तः सम्बन्धज्ञानकोविदाः॥ १६॥
अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः।
अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते॥ १७॥

जिसके मन्त्री कुलीन, धनके लोभसे फोड़े न जा सकनेवाले, सदा राजाके साथ रहनेवाले, उन्हें अच्छी बुद्धि देनेवाले, सत्पुरुष, सम्बन्ध-ज्ञानकुशल, भविष्यका भलीभाँति प्रबन्ध करनेवाले, समयके ज्ञानमें निपुण तथा बीती हुई बातके लिये शोक न करनेवाले हों, वही राजा राज्यके फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

समदुःखसुखा यस्य सहायाः प्रियकारिणः।
अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्यफलमश्नुते॥ १८॥

जिसके सहायक राजाके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख मानते हों, सदा उसका प्रिय करनेवाले हों और राजकीय धन कैसे बढ़े—इसकी चिन्तामें तत्पर तथा सत्यवादी हों, वह राजा राज्यका फल पाता है ॥ १८ ॥

यस्य नार्तो जनपदः संनिकर्षगतः सदा।
अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राजा राज्यभाग्भवेत्॥ १९॥

जिसका देश दुखी न हो तथा सदा समीपवर्ती बना रहे, जो स्वयं भी छोटे विचारका न होकर सदा सन्मार्गका अवलम्बन करनेवाला हो, वही राजा राज्यका भागी होता है ॥

कोशाख्यपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः॥ २०॥

विश्वासपात्र, संतोषी तथा खजाना बढ़ानेका सतत प्रयत्न करनेवाले, खजांचियोंके द्वारा जिसके कोषकी सदा वृद्धि हो रही हो, वही राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

कोष्ठागारमसंहार्यैराप्तैः संचयतत्परैः।
पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणी भवेत्॥ २१॥

यदि लोभवश फूट न सकनेवाले, विश्वासपात्र, संग्रही, सुपात्र एवं निर्लोभ मनुष्य अन्नादि भण्डारकी रक्षामें तत्पर हों तो उसकी विशेष उन्नति होती है ॥ २१ ॥

व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्मफलोदयः।
दृश्यते शंखलिखितः स धर्मफलभाङ् नृपः॥ २२॥

जिसके नगरमें कर्मके अनुसार फलकी प्राप्तिका प्रतिपादन करनेवाले शङ्खलिखित मुनिके बनाये हुए न्याय-व्यवहारका पालन होता देखा जाता है, वह राजा धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित्।
षड्वर्गं प्रतिगृह्णाति स धर्मफलमश्नुते॥ २३॥

जो राजा राजधर्मको जानता और अपने यहाँ अच्छे लोगोंको जुटाकर रखता है तथा अवसरके अनुसार संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाश्रय नामक छः गुणोंका उपयोग करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

सज्जनोंके चरित्रके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक महर्षि और कुत्तेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

(न सन्ति कुलजा यत्र सहायाः पार्थिवस्य तु।
अकुलीनाश्च कर्तव्या न वा भरतसत्तम॥)

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जहाँ राजाके पास अच्छे कुलमें उत्पन्न सहायक नहीं हैं, वहाँ वह नीच कुलके मनुष्योंको सहायक बना सकता है या नहीं?॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निदर्शनं परं लोके सज्जनाचरिते सदा॥ १॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार

लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो लोकमें सत्पुरुषोंके आचरणके सम्बन्धमें सदा उत्तम आदर्श माना जाता है ॥ १ ॥

अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने।
जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः ॥ २ ॥

मैंने तपोवनमें इस विषयके अनुरूप बातें सुनी हैं, जिन्हें श्रेष्ठ महर्षियोंने जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे कहा था ॥ २ ॥

वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते।
ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥

किसी महान् निर्जन वनमें फल-मूलका आहार करके रहनेवाले एक नियमपरायण, जितेन्द्रिय महर्षि रहते थे ॥ ३ ॥

दीक्षादमपरः शान्तः स्वाध्यायपरमः शुचिः।
उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्त्वमास्थितः ॥ ४ ॥

वे उत्तम व्रतकी दीक्षा लेकर इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह करते हुए प्रतिदिन पवित्रभावसे वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगे रहते थे। उपवाससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था। वे सदा सत्त्वगुणमें स्थित थे ॥ ४ ॥

तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः।
सर्वे सत्त्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥

एक जगह बैठे हुए उन बुद्धिमान् महर्षिके सद्भावको देखकर सभी वनचारी जीव-जन्तु उनके निकट आया करते थे ॥ ५ ॥

सिंहव्याघ्रगणाः क्रूरा मत्ताश्चैव महागजाः।
द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥

क्रूर स्वभाववाले सिंह और व्याघ्र, बड़े-बड़े मतवाले हाथी, चीते, गैंड़े, भालू तथा और भी जो भयानक दिखायी देनेवाले जानवर थे, वे सब उनके पास आते थे ॥ ६ ॥

ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः।
तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूताः प्रियकारिणः ॥ ७ ॥

यद्यपि वे सारेके सारे मांसाहारी हिंसक जानवर थे, तो भी उस ऋषिके शिष्यकी भाँति नीचे सिर किये उनके पास बैठते थे, उनके सुख और स्वास्थ्यकी बात पूछते थे और सदा उनका प्रिय करते थे ॥ ७ ॥

दत्त्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम्।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्रनाजहात् स महामुनिम् ॥ ८ ॥

वे सब जानवर ऋषिसे उनका कुशल-समाचार पूछकर जैसे आते, वैसे लौट जाते थे; परंतु एक ग्रामीण कुत्ता वहाँ उन महामुनिको छोड़कर कहीं नहीं जाता था ॥ ८ ॥

भक्तोऽनुरक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः।
फलमूलोदकाहारः शान्तः शिष्टाकृतिर्यथा ॥ ९ ॥

वह उन महामुनिका भक्त और उनमें अनुरक्त था; उपवास करनेके कारण दुर्बल एवं निर्बल हो गया था। वह भी फल-मूल और जलका आहार करके रहता, मनको वशमें रखता और साधु-पुरुषोंके समान जीवन बिताता था ॥ ९ ॥

तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामते।
मनुष्यवद्गतो भावो स्नेहबद्धोऽभवद् भृशम् ॥ १० ॥

महामते! उन महर्षिके चरणप्रान्तमें बैठे हुए उस कुत्तेके मनमें मनुष्यके समान भाव (स्नेह) हो गया। वह उनके प्रति अत्यन्त स्नेहसे बँध गया ॥ १० ॥

ततोऽभ्ययान्महावीर्यो द्वीपी क्षतजभोजनः।
स्वार्थमत्यन्तसंतुष्टः क्रूरकाल इवान्तकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर एक दिन कोई महाबली रक्तभोजी चीता अत्यन्त प्रसन्न होकर उस कुत्तेको पकड़नेके लिये क्रूर काल एवं यमराजके समान उधर आ निकला ॥ ११ ॥

लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः।
व्यादितास्यः क्षुधाभुग्नः प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥

वह बारंबार अपने दोनों जबड़े चाटता और पूँछ फटकारता था, उसे प्यास सता रही थी। उसने मुँह फैला रक्खा था। भूखसे उसकी व्याकुलता बढ़ गयी थी और वह उस कुत्तेका मांस प्राप्त करना चाहता था ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तं क्रूरमायान्तं जीवितार्थी नराधिप।
प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ १३ ॥

प्रजानाथ! नरेश्वर! उस क्रूर चीतेको आते देख अपनी प्राणरक्षा चाहते हुए वहाँ कुत्तेने मुनिसे जो कुछ कहा, वह सुनो— ॥ १३ ॥

श्वशत्रुर्भगवन्नेष द्वीपी मां हन्तुमिच्छति।
त्वत्प्रसादाद् भयं न स्यादस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥
तथा कुरु महाबाहो सर्वज्ञस्त्वं न संशयः।

'भगवन्! यह चीता कुत्तोंका शत्रु है और मुझे मार डालना चाहता है। महामुने! महाबाहो! आप ऐसा करें, जिससे आपकी कृपासे मुझे इस चीतेसे भय न हो। आप सर्वज्ञ हैं, इसमें संशय नहीं है। (अतः मेरी प्रार्थना सुनकर उसको अवश्य पूर्ण करें)' ॥ १४½ ॥

स मुनिस्तस्य विज्ञाय भावज्ञो भयकारणम्।
रुतज्ञः सर्वसत्त्वानां तमैश्वर्यसमन्वितः ॥ १५ ॥

वे सिद्धिके ऐश्वर्यसे सम्पन्न मुनि सबके मनोभावको जाननेवाले और समस्त प्राणियोंकी बोली समझनेवाले थे। उन्होंने उस कुत्तेके भयका कारण जानकर उससे कहा ॥ १५ ॥

मुनिरुवाच

न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथंचन।
एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १६ ॥

मुनिने कहा—बेटा! अपने लिये मृत्युस्वरूप इस चीतेसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये। यह लो, तुम अभी कुत्तेके रूपसे रहित चीता हुए जाते हो ॥ १६ ॥

ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः।
चित्राङ्गो विस्फुरद्दंष्ट्रो वने वसति निर्भयः ॥ १७ ॥

तदनन्तर मुनिने कुत्तेको चीता बना दिया। उसकी आकृति सुवर्णके समान चमकने लगी। उसका सारा शरीर

चितकबरा हो गया और बड़ी-बड़ी दाढ़ें चमक उठीं । अब वह निर्भय होकर वनमें रहने लगा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा सम्मुखे द्वीपी आत्मनः सदृशं पशुम् ।
अविरुद्धस्ततस्तस्य क्षणेन समपद्यत ॥ १८ ॥

चीतेने अपने सामने जब अपने ही समान एक पशुको देखा, तब उसका विरोधी भाव क्षणभरमें दूर हो गया ॥

ततोऽभ्ययान्महारौद्रो व्यादितास्यः क्षुधान्वितः ।
द्वीपिनं लेलिहद्वक्रो व्याघ्रो रुधिरलालसः ॥ १९ ॥

तदनन्तर एक दिन एक महाभयंकर भूखे बाघने उसका रक्त पीनेकी इच्छासे मुँह फैलाकर दोनों जबड़ोंको चाटते हुए उस चीतेका पीछा किया ॥ १९ ॥

व्याघ्रं दृष्ट्वा क्षुधाभुग्नं दंष्ट्रिणं वनगोचरम् ।
द्वीपी जीवितरक्षार्थमृषिं शरणमेयिवान् ॥ २० ॥

बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे युक्त वनचारी बाघको भूखसे कुटिल भाव धारण किये देख वह चीता अपने जीवनकी रक्षाके लिये पुनः ऋषिकी शरणमें आया ॥२० ॥

संवासजं परं स्नेहमृषिणा कुर्वता तदा ।
स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपूणां बलवत्तरः ॥ २१ ॥

तब सहवासजनित उत्तम स्नेहका निर्वाह करते हुए महर्षिने चीतेको बाघ बना दिया । अब वह अपने शत्रुओंके लिये अत्यन्त प्रबल हो उठा ॥ २१ ॥

ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाहनत् तं विशाम्पते ।
स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान् पिशिताशनः॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर वह बाघ उसे अपने समान रूपमें देखकर मार न सका । उधर वह कुत्ता बलवान् बाघ होकर मांसका आहार करने लगा ॥ २२ ॥

न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत् तदा ।
यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकाङ्क्षति वनौकसः ।
तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत् तदा ॥ २३ ॥

महाराज ! अब तो उसे फल-मूल खानेकी कभी इच्छा ही नहीं होती थी । जैसे वनराज सिंह प्रतिदिन जन्तुओंका मांस खाना चाहता है, उसी प्रकार वह बाघ भी उस समय मांसभोजी हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

कुत्तेका शरभकी योनिमें जाकर महर्षिके शापसे पुनः कुत्ता हो जाना

भीष्म उवाच

व्याघ्रश्चोटजमूलस्थस्तृप्तः सुप्तो हतैर्मृगैः ।
नागश्चागात् तमुद्देशं मत्तो मेघ इवोद्धतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वह बाघ अपने मारे हुए मृगोंके मांस खाकर तृप्त हो महर्षिकी कुटीके पास ही सो रहा था । इतनेमें ही वहाँ ऊँचे उठे हुए मेघके समान काला एक मदोन्मत्त हाथी आ पहुँचा ॥ १ ॥

प्रभिन्नकरटः प्रांशुः पद्मी विततकुम्भकः ।
सुविषाणो महाकायो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ २ ॥

उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा चू रही थी । उसका कुम्भस्थल बहुत विस्तृत था । उसके ऊपर कमलका चिह्न बना हुआ था, उसके दाँत बड़े सुन्दर थे । वह विशालकाय ऊँचा हाथी मेघके समान गम्भीर गर्जना करता था ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा कुञ्जरं मत्तमायान्तं बलगर्वितम् ।
व्याघ्रो हस्तिभयात् त्रस्तस्तमृषिं शरणं ययौ ॥ ३ ॥

उस बलाभिमानी मदोन्मत्त गजराजको आते देख वह बाघ भयभीत हो पुनः ऋषिकी शरणमें गया ॥ ३ ॥

ततोऽनयत् कुञ्जरत्वं व्याघ्रं तमृषिसत्तमः ।
महामेघनिभं दृष्ट्वा स भीतो ह्यभवद् गजः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिश्रेष्ठने उस बाघको हाथी बना दिया । उस महामेघके समान हाथीको देखकर वह जंगली हाथी भयभीत होकर भाग गया ॥ ४ ॥

ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च ।
व्यचरत् स मुदायुक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर वह हाथी कमलोंके परागसे विभूषित और आनन्दित हो कमलसमूहों तथा शल्लकी लताकी झाड़ियोंमें विचरने लगा॥ ५॥

कदाचिद् भ्रममाणस्य हस्तिनः सम्मुखं तदा ।
ऋषेस्तस्योटजस्थस्य कालोऽगच्छन्निशानिशम् ॥ ६ ॥

कभी-कभी वह हाथी आश्रमवासी ऋषिके सामने भी घूमा करता था । इस तरह उसका कितनी ही रातोंका समय व्यतीत हो गया ॥ ६ ॥

अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः ।
गिरिकन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उस प्रदेशमें एक केसरी सिंह आया, जो अपनी केसरके कारण कुछ लाल-सा जान पड़ता था। पर्वतकी कन्दरामें पैदा हुआ वह भयानक सिंह गजवंशका विनाश करनेवाला काल था ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयार्दितः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः ॥ ८ ॥

उस सिंहको आते देख वह हाथी उसके भयसे पीड़ित एवं आतुर हो थरथर काँपने लगा और ऋषिकी शरणमें गया ॥ ८ ॥

स ततः सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा ।
वन्यं नागणयत् सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् ॥ ९ ॥

तब मुनिने उस गजराजको सिंह बना दिया । अब वह समान जातिके सम्बन्धसे जंगली सिंहको कुछ भी नहीं गिनता था ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च सोऽभवत् सिंहो वन्यो भयसमन्वितः ।
स चाश्रमेऽवसत् सिंहस्तस्मिन्नेव महावने ॥ १० ॥

उसे देखकर जंगली सिंह स्वयं ही डर गया । वह सिंह बना हुआ कुत्ता महावनमें उसी आश्रममें रहने लगा ॥१०॥

तद्भयात् पशवो नान्ये तपोवनसमीपतः ।
व्यदृश्यन्त तदा त्रस्ता जीविताकाङ्क्षिणस्तथा ॥११॥

उसके भयसे जंगलके दूसरे पशु डर गये और अपनी जान बचानेकी इच्छासे तपोवनके समीप कभी नहीं दिखायी दिये ॥ ११ ॥

कदाचित् कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः ।
बलवान् क्षतजाहारो नानासत्त्वभयंकरः ॥ १२ ॥
अष्टपादूर्ध्वनयनः शरभो वनगोचरः ।
तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर कालयोगसे वहाँ एक बलवान् वनवासी समस्त प्राणियोंका हिंसक शरभ आ पहुँचा, जिसके आठ पैर और ऊपरकी ओर नेत्र थे । वह रक्त पीनेवाला जानवर नाना प्रकारके वन-जन्तुओंके मनमें भय उत्पन्न कर रहा था । वह उस सिंहको मारनेके लिये मुनिके आश्रमपर आया॥१२-१३॥

(तं दृष्ट्वा शरभं यान्तं सिंहः परभयातुरः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानः कृताञ्जलिः ॥)

शरभको आते देख सिंह अत्यन्त भयसे व्याकुल हो काँपता हुआ हाथ जोड़कर मुनिकी शरणमें आया ॥

तं मुनिः शरभं चक्रे बलोत्कटमरिंदम ।
ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं सम्प्राद्रवद् वनात् ।

शत्रुदमन युधिष्ठिर ! तब मुनिने उसे बलोन्मत्त शरभ बना दिया । जंगली शरभ उस मुनिनिर्मित अत्यन्त भयंकर एवं बलवान् शरभको सामने देखकर भयभीत हो तुरंत ही उस वनसे भाग गया ॥ १४½ ॥

स एवं शरभस्थाने संन्यस्तो मुनिना तदा ॥ १५ ॥
मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शरभः सुखमाप्तवान् ।

इस प्रकार मुनिने उस कुत्तेको उस समय शरभके स्थान-में प्रतिष्ठित कर दिया । वह शरभ प्रतिदिन मुनिके पास सुखसे रहने लगा ॥ १५½ ॥

ततः शरभसंत्रस्ताः सर्वे मृगगणास्तदा ॥ १६ ॥
दिशः सम्प्राद्रवन् राजन् भयाज्जीवितकाङ्क्षिणः ।

राजन् ! उस शरभसे भयभीत हो जंगलके सभी पशु अपनी जान बचानेके लिये डरके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ १६½ ॥

शरभोऽप्यतिसंहृष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ॥ १७ ॥
फलमूलाशनं कर्तुं नैच्छत् स पिशिताशनः ।

शरभ भी अत्यन्त प्रसन्न हो सदा प्राणियोंके वधमें तत्पर रहता था । वह मांसभोजी जीव फल-मूल खानेकी कभी इच्छा नहीं करता था ॥ १७½ ॥

ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोऽन्वितः ॥ १८ ॥
इयेष तं मुनिं हन्तुमकृतज्ञः श्वयोनिजः ।

तदनन्तर एक दिन रक्तकी प्रबल प्याससे पीडित वह शरभ, जो कुत्तेकी जातिसे पैदा होनेके कारण कृतघ्न बन गया था, मुनिको ही मार डालनेकी इच्छा करने लगा ॥१८½॥

(चिन्तयामास च तदा शरभः श्वानपूर्वकः ।
अस्य प्रभावात् सम्प्राप्तो वाङ्मात्रेण तु केवलम् ॥
शरभत्वं सुदुष्प्रापं सर्वभूतभयङ्करम् ।

उस पहलेके कुत्ते और वर्तमानकालके शरभने सोचा कि इन महर्षिके प्रभावसे—इनके वाणीद्वारा केवल कह देने-मात्रसे मैंने परम दुर्लभ शरभका शरीर पा लिया, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर है ॥

अन्येऽप्यत्र भयत्रस्ताः सन्ति हस्तिभयार्दिताः ॥
मुनिमाश्रित्य जीवन्तो मृगाः पक्षिगणास्तथा ।
तेषामपि कदाचिच्च शरभत्वं प्रयच्छति ॥
सर्वसत्त्वोत्तमं लोके बलं यत्र प्रतिष्ठितम् ।

इन मुनीश्वरकी शरण लेकर जीवन धारण करनेवाले दूसरे भी बहुत-से मृग और पक्षी हैं, जो हाथी तथा दूसरे भयानक जन्तुओंसे भयभीत रहते हैं । सम्भव है, ये उन्हें भी कदाचित् शरभका शरीर प्रदान कर दें, जहाँ संसारके सभी प्राणियोंसे श्रेष्ठ बल प्रतिष्ठित है ॥

पक्षिणामप्ययं दद्यात् कदाचिद् गारुडं बलम् ॥
यावदन्यस्य सम्प्रीतः कारुण्यं च समाश्रितः ।
न ददाति बलं तुष्टः सत्त्वस्यान्यस्य कस्यचित् ॥
तावदेनमहं विप्रं वधिष्यामि च शीघ्रतः ।
स्थातुं मया शक्यमिह मुनिघातान्न संशयः ॥)

ये चाहें तो कभी पक्षियोंको भी गरुड़का बल दे सकते हैं । अतः दयाके वशीभूत हो जबतक किसी दूसरे जीवपर संतुष्ट या प्रसन्न हो ये उसे ऐसा ही बल नहीं दे देते, तबतक ही इन ब्रह्मर्षिका मैं शीघ्र वध कर डालूँगा । मुनिका वध हो जानेके पश्चात् मैं यहाँ बेखटके रह सकूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥

ततस्तेन तपःशक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा ॥ १९ ॥

विज्ञाय स महाप्राज्ञो मुनिः श्वानं तमुक्तवान् ।

ज्ञाननेत्रोंसे युक्त उन मुनीश्वरने अपनी तपःशक्तिसे शरभके उस मनोभावको जान लिया । जानकर उन महाज्ञानी मुनिने उस कुत्तेसे कहा— ॥ १९½ ॥

श्वा त्वं द्वीपित्वमापन्नो द्वीपी व्याघ्रत्वमागतः ॥ २० ॥
व्याघ्रान्नागो मदपटुर्नागः सिंहत्वमागतः ।
सिंहस्त्वं बलमापन्नो भूयः शरभतां गतः ॥ २१ ॥

'अरे ! तू पहले कुत्ता था, फिर चीता बना, चीतेसे बाघकी योनिमें आया, बाघसे मदोन्मत्त हाथी हुआ, हाथीसे सिंहकी योनिमें आ गया, बलवान् सिंह रहकर फिर शरभका शरीर पा गया ॥ २०-२१ ॥

मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो न कुलान्वयः ।
यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि ।
तस्मात् स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि ॥ २२ ॥

'यद्यपि तू नीच कुलमें पैदा हुआ था, तो भी मैंने स्नेहवश तेरा परित्याग नहीं किया । पापी ! तेरे प्रति मेरे मनमें कभी पापभाव नहीं हुआ था, तो भी इस प्रकार तू मेरी हत्या करना चाहता है; अतः तू फिर अपनी पूर्वयोनिमें ही आकर कुत्ता हो जा' ॥ २२ ॥

ततो मुनिजनद्वेष्टा दुष्टात्मा प्राकृतोऽबुधः ।
ऋषिणा शरभः शप्तस्तद्रूपं पुनराप्तवान् ॥ २३ ॥

महर्षिके इस प्रकार शाप देते ही वह मुनिजनद्रोही दुष्टात्मा नीच और मूर्ख शरभ फिर कुत्तेके रूपमें परिणत हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता तथा ऋषिका संवादविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

राजाके सेवक, सचिव तथा सेनापति आदि और राजाके उत्तम गुणोंका वर्णन एवं उनसे लाभ

भीष्म उवाच

स श्वा प्रकृतिमापन्नः परं दैन्यमुपागतः ।
ऋषिणा हुङ्कृतः पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपनी योनिमें आकर वह कुत्ता अत्यन्त दीनदशाको पहुँच गया । ऋषिने हुङ्कार करके उस पापीको तपोवनसे बाहर निकाल दिया ॥ १ ॥

एवं राज्ञा मतिमता विदित्वा सत्यशौचताम् ।
आर्जवं प्रकृतिं सत्त्वं श्रुतं वृत्तं कुलं दमम् ॥ २ ॥
अनुक्रोशं बलं वीर्यं प्रभावं प्रश्रयं क्षमाम् ।
भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुरक्षिताः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह पहले अपने सेवकोंकी सचाई, शुद्धता, सरलता, स्वभाव, शास्त्रज्ञान, सदाचार, कुलीनता, जितेन्द्रियता, दया, बल, पराक्रम, प्रभाव, विनय तथा क्षमा आदिका पता लगाकर जो सेवक जिस कार्यके योग्य जान पड़ें, उन्हें उसीमें लगावे और उनकी रक्षाका पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दे ॥ २-३ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्तुमर्हति ।
अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥

राजा परीक्षा लिये बिना किसीको भी अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि नीच कुलके मनुष्यका साथ पाकर राजाको न तो सुख मिलता है और न उसकी उन्नति ही होती है ॥ ४ ॥

कुलजः प्राकृतो राज्ञा स्वकुलीनतया सदा ।
न पापे कुरुते बुद्धिं भिद्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥

कुलीन पुरुष यदि कभी राजाके द्वारा बिना अपराधके ही तिरस्कृत हो जाय और लोग उसे फोड़ें या उभाड़ें तो भी वह अपनी कुलीनताके कारण राजाका अनिष्ट करनेकी बात कभी मनमें नहीं लाता है ॥ ५ ॥

अकुलीनस्तु पुरुषः प्राकृतः साधुसंश्रयात् ।
दुर्लभैश्वर्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

किंतु नीच कुलका मनुष्य साधुस्वभावके राजाका आश्रय पाकर यद्यपि दुर्लभ ऐश्वर्यका भोग करता है तथापि यदि राजाने एक बार भी उसकी निन्दा कर दी तो वह उसका शत्रु बन जाता है ॥ ६ ॥

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्त्वसंग्रहणे रतम् ।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥ ९ ॥
युक्तचारं स्वविषये संधिविग्रहकोविदम् ।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥

खातकव्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम् ।
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम् ॥ ११ ॥
हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम् ।
प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिनं युक्तकारिणम् ॥ १२ ॥
चौक्षं चौक्षजनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम् ।
नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासमन्वितम् ॥ १३ ॥
अस्तब्धं प्रश्रितं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च ।
धीरं शूरं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम् ॥ १४ ॥

अतः राजा उसीको मन्त्री बनावे, जो कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञानमें पारङ्गत, सब शास्त्रोंका तत्त्व जाननेवाला, सहनशील, अपने देशका निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मनका दमन करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाय उसीसे संतोष करनेवाला, स्वामी और उसके मित्रकी उन्नति चाहनेवाला देश-कालका ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओंके संग्रहमें तत्पर, सदा मनको वशमें रखनेवाला, स्वामीका हितैषी, आलस्यरहित, अपने राज्यमें गुप्तचर लगाये रखनेवाला, संधि और विग्रहके अवसरको समझनेमें कुशल, राजाके धर्म, अर्थ और कामकी उन्नतिका उपाय जाननेवाला, नगर और ग्रामवासी लोगोंका प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह निर्माण करानेकी कलामें कुशल, अपनी सेनाका उत्साह बढ़ानेमें प्रवीण, शकल-सूरत और चेष्टा देखकर ही मनके यथार्थ भावको समझ लेनेवाला, शत्रुओंपर चढ़ाई करनेके अवसरको समझनेमें विशेष चतुर, हाथीकी शिक्षाके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला, अहंकाररहित, निर्भीक, उदार, संयमी, बलवान्, उचित कार्य करनेवाला, शुद्ध, शुद्ध पुरुषोंसे युक्त, प्रसन्नमुख, प्रियदर्शन, नेता, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओंसे सम्पन्न, उद्दण्डतारहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न तथा देश और कालके अनुसार कार्य करनेवाला हो ॥ ७–१४ ॥

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते ।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥ १५ ॥

जो राजा ऐसे योग्य पुरुषको सचिव (मन्त्री) बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता है, उसका राज्य चन्द्रमाकी चाँदनीके समान चारों ओर फैल जाता है ॥ १५॥

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः ।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥ १६ ॥

राजाको भी ऐसे ही गुणोंसे युक्त होना चाहिये । साथ ही उसमें शास्त्रज्ञान, धर्मपरायणता तथा प्रजापालनकी लगन भी होनी चाहिये; ऐसा ही राजा प्रजाजनोंके लिये वाञ्छनीय होता है ॥ १६ ॥

धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकारवित् ।
शुश्रूषुः श्रुतवाञ्छ्रोता ऊहापोहविशारदः ॥ १७ ॥

राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समयपर तीक्ष्ण, पुरुषार्थको जाननेवाला, सुननेके लिये उत्सुक, वेदज्ञ, श्रवण-परायण तथा तर्क-वितर्कमें कुशल हो ॥ १७ ॥

मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥ १८ ॥

मेधावी, धारणाशक्तिसे सम्पन्न, यथोचित कार्य करनेवाला, इन्द्रियसंयमी, प्रिय वचन बोलनेवाला तथा शत्रुको भी क्षमा प्रदान करनेवाला हो ॥ १८ ॥

दानाच्छेदे स्वयंकारी श्रद्धालुः सुखदर्शनः ।
आर्तहस्तप्रदो नित्यमाप्तामात्यो नये रतः ॥ १९ ॥

राजाको दानकी परम्पराका कभी उच्छेद न करनेवाला, श्रद्धालु, दर्शनमात्रसे सुख देनेवाला, दीन-दुखियोंको सदा हाथका सहारा देनेवाला, विश्वसनीय मन्त्रियोंसे युक्त तथा नीतिपरायण होना चाहिये ॥ १९ ॥

नाहंवादी न निर्द्वन्द्वो न यत्किंचनकारकः ।
कृते कर्मण्यमात्यानां कर्ता भृत्यजनप्रियः ॥ २० ॥

वह अहङ्कार छोड़ दे, द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, जो ही मनमें आवे वही न करने लगे, मन्त्रियोंके किये हुए कर्मका अनुमोदन करे और सेवकोंपर प्रेम रक्खे ॥ २० ॥

संगृहीतजनोऽस्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा ।
सदा भृत्यजनापेक्षी न क्रोधी सुमहामनाः ॥ २१ ॥

अच्छे मनुष्योंका संग्रह करे, जडताको त्याग दे, सदा प्रसन्नमुख रहे, सेवकोंका सदा ख्याल रक्खे, किसीपर क्रोध न करे, अपना हृदय विशाल बनाये रक्खे ॥ २१ ॥

युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासनः ।
चारनेत्रः प्रजावेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा ॥ २२ ॥

न्यायोचित दण्ड दे, दण्डका कभी त्याग न करे, धर्मकार्यका उपदेश दे, गुप्तचररूपी नेत्रोंद्वारा राज्यकी देखभाल करे, प्रजापर कृपादृष्टि रक्खे तथा सदा ही धर्म और अर्थके उपार्जनमें कुशलतापूर्वक लगा रहे ॥ २२ ॥

राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत् ।
योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वे गुणगणैर्वृताः ॥ २३ ॥
अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणे ।
न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता ॥ २४ ॥

ऐसे सैकड़ों गुणोंसे सम्पन्न राजा ही प्रजाके लिये वाञ्छनीय होता है । नरेन्द्र ! राज्यकी रक्षामें सहायता देनेवाले समस्त सैनिक भी इसी प्रकार श्रेष्ठ गुण-समूहोंसे सम्पन्न होने चाहिये, इस कार्यके लिये अच्छे पुरुषोंकी ही खोज करनी चाहिये तथा अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले राजाको कभी अपने सैनिकोंका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः ।
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंवृताः ॥ २५ ॥
अभया गजपृष्ठस्था रथचर्याविशारदाः ।
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २६ ॥

जिसके योद्धा युद्धमें वीरता दिखानेवाले, कृतज्ञ, शस्त्र चलानेकी कलामें कुशल, धर्मशास्त्रके ज्ञानसे सम्पन्न, पैदल सैनिकोंसे घिरे हुए, निर्भय, हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें समर्थ, रथचर्यामें निपुण, तथा धनुर्विद्यामें प्रवीण होते हैं, उसी राजाके अधीन इस भूमण्डलका राज्य होता है ॥ २५-२६ ॥

(ज्ञातीनामनवज्ञानं भृत्येष्वशठता सदा ।
नैपुण्यं चार्थचर्यासु यस्यैते तस्य सा मही ॥

जो जातिभाइयोंका अपमान तथा सेवकोंके प्रति शठता कभी नहीं करता और कार्यसाधनमें कुशल है, उसी राजाके अधिकारमें यह पृथ्वी रहती है ॥

आलस्यं चैव निद्रा च व्यसनान्यतिहास्यता ।
यस्यैतानि न विद्यन्ते तस्यैव सुचिरं मही ॥

जिस राजामें आलस्य, निद्रा, दुर्व्यसन तथा अत्यन्त हास्यप्रियता—ये दुर्गुण नहीं हैं, उसीके अधिकारमें यह पृथ्वी दीर्घकालतक रहती है ॥

वृद्धसेवी महोत्साहो वर्णानां चैव रक्षिता ।
धर्मचर्याः सदा यस्य तस्येयं सुचिरं मही ॥

जो बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाला, महान् उत्साही, चारों वर्णोंका रक्षक तथा सदा धर्माचरणमें तत्पर रहता है, उसीके पास यह पृथ्वी चिरकालतक स्थिर रहती है ॥

नीतिमार्गानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं तस्येयं सुचिरं मही ॥

जो राजा नीतिमार्गका अनुसरण करता, सदा ही उद्योगमें तत्पर रहता और शत्रुओंकी अवहेलना नहीं करता, उसके अधिकारमें दीर्घकालतक इस पृथ्वीका राज्य बना रहता है ॥

उत्थानं चैव दैवं च तयोर्नानात्वमेव च ।
मनुना वर्णितं पूर्वं वक्ष्ये शृणु तदेव हि ॥

पूर्वकालमें मनुजीने पुरुषार्थ, दैव तथा उन दोनोंके अनेक भेदोंका वर्णन किया था । वह बताता हूँ, सुनो ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
नयानयविधानज्ञः सदा भव कुरूद्वह ॥

कुरुश्रेष्ठ ! बृहस्पतिजीने नरेशोंके लिये सदा ही उद्योगशील बने रहनेका उपदेश दिया है । तुम सदा नीति और अनीतिके विधानको जानो ॥

दुर्हृदां छिद्रदर्शी यः सुहृदामुपकारवान् ।
विशेषविच्च भृत्यानां स राज्यफलमश्नुते ॥)

जो शत्रुओंके छिद्र देखे, सुहृदोंका उपकार करे और सेवकोंकी विशेषताको समझे, वह राज्यके फलका भागी होता है ॥

सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा ।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥

जो राजा सदा सबके संग्रहमें संलग्न, उद्योगशील और मित्रोंसे सम्पन्न होता है, वही सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत ।
संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ ॥ २८ ॥

भारत ! जो उपर्युक्त मनुष्योंका संग्रह करता है, वह केवल एक सहस्र अश्वारोही वीरोंके द्वारा सारी पृथ्वीको जीत सकता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेवकोंको उनके योग्य स्थानपर नियुक्त करने, कुलीन और सत्पुरुषोंका संग्रह करने, कोष बढ़ाने तथा सबकी देखभाल करनेके लिये राजाको प्रेरणा

भीष्म उवाच

एवं गुणयुतान् भृत्यान् स्वे स्वे स्थाने नराधिपः ।
नियोजयति कृत्येषु स राज्यफलमश्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार जो राजा गुणवान् भृत्योंको अपने-अपने स्थानपर रखते हुए कार्योंमें लगाता है, वह राज्यके यथार्थ फलका भागी होता है ॥ १ ॥

न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः ।
आरोप्यः श्वा स्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत् प्रमाद्यति ।२।

पहले कहे हुए इतिहाससे यह सिद्ध होता है कि कुत्ता अपने स्थानको छोड़कर ऊँचे चढ़ जाय तो न वह विश्वासके योग्य रह जाता है और न कभी उसका सत्कार ही होता है । कुत्तेको उसकी जगहसे उठाकर ऊँचे कदापि न बिठावे; क्योंकि वह दूसरे किसी ऊँचे स्थानपर चढ़कर प्रमाद करने लगता है (इसी प्रकार किसी हीन कुलके मनुष्यको उसकी योग्यता और मर्यादासे ऊँचा स्थान मिल जाय तो वह अहंकार-वश उच्छृङ्खल हो जाता है) ॥ २ ॥

स्वजातिगुणसम्पन्नाः स्वेषु कर्मसु संस्थिताः ।
प्रकर्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रिया क्षमा ॥ ३ ॥

जो अपनी जातिके गुणसे सम्पन्न हो अपने वर्णोचित कर्मोंमें ही लगे रहते हों, उन्हें मन्त्री बनाना चाहिये; किंतु

किसीको भी उसकी योग्यतासे बाहरके कार्यमें नियुक्त करना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति ।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

जो राजा अपने सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुरूप कार्य सौंपता है, वह भृत्यके गुणोंसे सम्पन्न हो उत्तम फलका भागी होता है ॥ ४ ॥

शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः ।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥ ५ ॥

शरभको शरभकी जगह, बलवान् सिंहको सिंहके स्थानमें, बाघको बाघकी जगह तथा चीतेको चीतेके स्थानपर नियुक्त करना चाहिये (तात्पर्य यह कि चारों वर्णोंके लोगोंको उनकी मर्यादाके अनुसार कार्य देना उचित है) ॥ ५ ॥

कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि ।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ ६ ॥

सब सेवकोंको उनके योग्य कार्यमें ही लगाना चाहिये । कर्मफलकी इच्छा करनेवाले राजाको चाहिये कि वह अपने सेवकोंको ऐसे कार्योंमें न नियुक्त करे, जो उनकी योग्यता और मर्यादाके प्रतिकूल पड़ते हों ॥ ६ ॥

यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः ।
भृत्यान् स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः ॥ ७ ॥

जो बुद्धिहीन नरेश मर्यादाका उल्लङ्घन करके अपने भृत्योंको प्रतिकूल कार्योंमें लगाता है, वह प्रजाको प्रसन्न नहीं रख सकता ॥ ७ ॥

न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा॥ ८ ॥

उत्तम गुणोंकी इच्छा रखनेवाले नरेशको चाहिये कि वह उन सभी मनुष्योंको काममें न लगावे, जो मूर्ख, नीच, बुद्धिहीन, अजितेन्द्रिय और निन्दित कुलमें उत्पन्न हुए हों ॥

साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः ॥ ९ ॥

साधु, कुलीन, शूरवीर, ज्ञानवान्, अदोषदर्शी, अच्छे स्वभाववाले, पवित्र और कार्यदक्ष मनुष्योंको ही राजा अपना पार्श्ववर्ती सेवक बनावे ॥ ९ ॥

न्यग्भूतास्तत्पराः शान्ताश्चौक्षाः प्रकृतिजैः शुभाः ।
स्वस्थानानपकृष्टा ये ते स्यू राज्ञां बहिश्चराः ॥ १०॥

जो विनीत, कार्यपरायण, शान्तस्वभाव, चतुर, स्वाभाविक शुभ गुणोंसे सम्पन्न तथा अपने-अपने पदपर निन्दासे रहित हों, वे ही राजाओंके बाह्य सेवक होने योग्य हैं ॥ १० ॥

सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एवानुगो भवेत् ।
असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥

सिंहके पास सदा सिंह ही सेवक रहे । यदि सिंहके साथ सिंहसे भिन्न प्राणी रहने लगता है तो वह सिंहके तुल्य ही फल भोगने लगता है ॥ ११ ॥

यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः ।
न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः ॥ १२ ॥

किंतु जो सिंह कुत्तोंसे घिरा रहकर सिंहोचित कर्म एवं फलमें अनुरक्त रहता है, वह कुत्तोंसे उपासित होनेके कारण सिंहोचित कर्मफलका उपभोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

एवमेतन्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः ।
कुलीनैः सह शक्येत कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! इसी प्रकार शूरवीर, विद्वान्, बहुश्रुत और कुलीन पुरुषोंके साथ रहकर ही सारी पृथ्वीपर विजय पायी जा सकती है ॥ १३ ॥

नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥ १४ ॥

भृत्यवानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भूपालोंको चाहिये कि अपने पास ऐसे किसी भृत्यका संग्रह न करें, जो विद्याहीन, सरलतासे रहित, मूर्ख और दरिद्र हो ॥ १४ ॥

बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा नराः ।
ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

जो मनुष्य स्वामीके कार्यमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे धनुषसे छूटे हुए बाणके समान लक्ष्यसिद्धिके लिये आगे बढ़ते हैं । जो सेवक राजाके हित-साधनमें संलग्न रहते हों, राजा मधुर बचन बोलकर उन्हें प्रोत्साहन देता रहे ॥ १५ ॥

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ॥ १६ ॥

राजाओंको पूरा प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि कोष ही उनकी जड़ है, कोष ही उन्हें आगे बढ़ानेवाला होता है ॥ १६ ॥

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा अन्न-भण्डार सदा पुष्टिकारक अनाजोंसे भरा रहना चाहिये और उसकी रक्षाका भार श्रेष्ठ पुरुषोंको सौंप देना चाहिये । तुम सदा धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले बनो ॥ १७ ॥

नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या भवन्तु रणकोविदाः ।
वाजिनां च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते ॥ १८ ॥

तुम्हारे सभी सेवक सदा उद्योगशील तथा युद्धकी कलामें कुशल हों । घोड़ोंकी सवारी करने अथवा उन्हें हाँकनेमें भी उनको विशेष चतुर होना चाहिये ॥ १८ ॥

ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसम्बन्धिसंवृतः ।
पौरकार्यहितान्वेषी भव कौरवनन्दन ॥ १९ ॥

कौरवनन्दन ! तुम जातिभाइयोंपर ख्याल रक्खो,

मित्रों और सम्बन्धियोंसे घिरे रहो तथा पुरवासियोंके कार्य और हितकी सिद्धिका उपाय ढूँढ़ा करो ॥ १९ ॥

एषा ते नैष्ठिकी बुद्धिः प्रजास्वभिहिता मया ।
शुनो निदर्शनं तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

तात ! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रजापालनविषयक स्थिर बुद्धिका प्रतिपादन किया है और कुत्तेका दृष्टान्त सामने रक्खा है, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषिसंवादे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मका साररूपमें वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

राजवृत्तान्यनेकानि त्वया प्रोक्तानि भारत ।
पूर्वैः पूर्वनियुक्तानि राजधर्मार्थवेदिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भारत ! राजधर्मके तत्त्वको जाननेवाले पूर्ववर्ती राजाओंने पूर्वकालमें जिनका अनुष्ठान किया है, उन अनेक प्रकारके राजोचित बर्तावोंका आपने वर्णन किया ॥ १ ॥

तदेव विस्तरेणोक्तं पूर्वदृष्टं सतां मतम् ।
प्रणेयं राजधर्माणां प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपने पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित तथा सज्जन-सम्मत जिन श्रेष्ठ राजधर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उन्हींको इस प्रकार संक्षिप्त करके बताइये, जिससे उनका विशेषरूपसे पालन हो सके ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् ।
तद् यथा रक्षणं कुर्यात् तथा शृणु महीपते ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—भूपाल ! क्षत्रियके लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है समस्त प्राणियोंकी रक्षा करना; परंतु यह रक्षाका कार्य कैसे किया जाय, उसको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

यथा बर्हाणि चित्राणि बिभर्ति भुजगाशनः ।
तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत धर्मवित् ॥ ४ ॥

जैसे साँप खानेवाला मोर विचित्र पंख धारण करता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ राजाको समय-समयपर अपना अनेक प्रकारका रूप प्रकट करना चाहिये ॥ ४ ॥

तैक्ष्ण्यं जिह्मत्वमादाल्भ्यं सत्यमार्जवमेव च ।
मध्यस्थः सत्त्वमातिष्ठंस्तथा वै सुखमृच्छति ॥ ५ ॥

राजा मध्यस्थ-भावसे रहकर तीक्ष्णता, कुटिल नीति, अभय-दान, सत्य, सरलता तथा श्रेष्ठभावका अवलम्बन करे । ऐसा करनेसे ही वह सुखका भागी होता है ॥ ५ ॥

यस्मिन्नर्थे हितं यत् स्यात् तद्वर्णं रूपमादिशेत् ।
बहुरूपस्य राज्ञो हि सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥ ६ ॥

जिस कार्यके लिये जो हितकर हो, उसमें वैसा ही रूप प्रकट करे (उदाहरणके लिये अपराधीको दण्ड देते समय उग्र रूप और दीनोंपर अनुग्रह करते समय शान्त एवं दयालु रूप प्रकट करे) । इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाले राजाका छोटा-सा कार्य भी बिगड़ने नहीं पाता है ॥ ६ ॥

नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद् यथा मूकः शरच्छिखी ।
श्लक्ष्णाक्षरतनुः श्रीमान् भवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुका मोर बोलता नहीं, उसी प्रकार राजाको भी मौन रहकर सदा राजकीय गुप्त विचारोंको सुरक्षित रखना चाहिये । वह मधुर वचन बोले, सौम्य-स्वरूपसे रहे, शोभा-सम्पन्न होवे और शास्त्रोंका विशेष ज्ञान प्राप्त करे ॥ ७ ॥

आपद्‌द्वारेषु युक्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव ।
शैलवर्षोदकानीव द्विजान् सिद्धान् समाश्रयेत् ।
अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ॥ ८ ॥

बाढ़के समय जिस ओरसे जल बहकर गाँवोंको डुबा देनेका संकट उपस्थित कर दे, उस स्थानपर जैसे लोग मजबूत बाँध बाँध देते हैं, उसी प्रकार जिन द्वारोंसे संकट आनेकी सम्भावना हो, उन्हें सुदृढ़ बनाने और बंद करनेके लिये राजाको सतत सावधान रहना चाहिये । जैसे पर्वतोंपर वर्षा होनेसे जो पानी एकत्र होकर नदी या तालाबके रूपमें रहता है, उसका उपयोग करनेके लिये लोग उसका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार राजाको सिद्ध ब्राह्मणोंका आश्रय लेना चाहिये तथा जिस प्रकार धर्मका ढोंगी सिरपर जटा धारण करता है, उसी तरह राजाको भी अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छासे उच्च लक्षणोंको धारण करना चाहिये ॥ ८ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः ।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥ ९ ॥

वह सदा अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानीके साथ करे, लोगोंके आय-व्यय देखकर ताड़के वृक्षसे रस निकालनेकी भाँति उनसे धनरूपी रस ले (अर्थात् जैसे उस रसके लिये पेड़को काट नहीं दिया जाता, उसी प्रकार प्रजाका उच्छेद न करे) ॥ ९ ॥

मृजावान् स्यात् स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत् प्रेक्षेद् वैकल्यमात्मनः ॥ १० ॥

राजा अपने दलके लोगोंके प्रति विशुद्ध व्यवहार करे। शत्रुके राज्यमें जो खेतीकी फसल हो, उसे अपने दलके घोड़ों और बैलोंके पैरोंसे कुचलवा दे। अपना पक्ष बलवान् होनेपर ही शत्रुओंपर आक्रमण करे और अपनेमें कहाँ कैसी दुर्बलता है, इसका भलीभाँति निरीक्षण करता रहे॥ १०॥

दोषान् विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान् विधूनयेत्।
काननेष्विव पुष्पाणि बहिरर्थान् समाचरन्॥ ११॥

शत्रुके दोषोंको प्रकाशित करे और उसके पक्षके लोगोंको अपने पक्षमें आनेके लिये विचलित कर दे। जैसे लोग जंगलसे फूल चुनते हैं, उसी प्रकार राजा बाहरसे धनका संग्रह करे॥ ११॥

उच्छ्रितान् नाशयेत् स्फीतान् नरेन्द्रानचलोपमान्।
श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं रणमुपाश्रयेत्॥ १२॥

पर्वतके समान ऊँचा सिर करके अविचलभावसे बैठे हुए धनी नरेशोंको नष्ट करे। उनको जताये बिना ही उनकी छायाका आश्रय ले अर्थात् उनके सरदारोंसे मिलकर उनमें फूट डाल दे और गुप्तरूपसे अवसर देखकर उनके साथ युद्ध छेड़ दे॥

प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्जने।
मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चालक्षितश्चरेत्॥ १३॥

जैसे मोर आधी रातके समय एकान्त स्थानमें छिपा रहता है, उसी प्रकार राजा वर्षाकालमें शत्रुओंपर चढ़ाई न करके अदृश्यभावसे ही महलमें रहे। मोरके ही गुणको अपनाकर स्त्रियोंसे अलक्षित रहकर विचरे॥ १३॥

न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना।
चारभूमिष्वभिगतान् पाशांश्च परिवर्जयेत्॥ १४॥

अपने कवचको कभी न उतारे। स्वयं ही शरीरकी रक्षा करे। घूमने-फिरनेके स्थानोंपर शत्रुओंद्वारा जो जाल बिछाये गये हों, उनका निवारण करे॥ १४॥

प्रणयेद् वापि तां भूमिं प्रणश्येद् गहने पुनः।
हन्यात्क्रुद्धानतिविषांस्तान् जिह्मगतयोऽहितान्॥ १५॥

राजा सुयोग समझे तो जहाँ शत्रुओंका जाल बिछा हो, वहाँ भी अपने आपको ले जाय। यदि संकटकी सम्भावना हो तो गहन वनमें छिप जाय तथा जो कुटिल चाल चलनेवाले हों उन क्रोधमें भरे हुए शत्रुओंको अत्यन्त विषैले सर्पोंके समान समझकर मार डाले॥ १५॥

नाशयेद् बलबर्हाणि संनिवासान् निवासयेत्।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत्।
सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव॥ १६॥

शत्रुकी सेनाकी पाँख काट डाले—उसे दुर्बल कर दे, श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने निकट बसावे। मोरके समान स्वेच्छानुसार उत्तम कार्य करे—जैसे मोर अपने पंख फैलाता है, उसी प्रकार अपने पक्ष (सेना और सहायकों) का विस्तार करे। सबसे बुद्धि—सद्विचार ग्रहण करे और जैसे टिड्डियोंका दल जंगलमें जहाँ गिरता है, वहाँ वृक्षोंपर पत्तेतक नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुओंपर आक्रमण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर दे॥ १६॥

एवं मयूरवद् राजा स्वराज्यं परिपालयेत्।
आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः॥ १७॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजा अपने स्थानकी रक्षा करनेवाले मोरके समान अपने राज्यका भलीभाँति पालन करे तथा उसी नीतिका आश्रय ले, जो अपनी उन्नतिमें सहायक हो॥ १७॥

आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्यावधारणम्।
बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्तिरेतच्छास्त्रनिदर्शनम्॥ १८॥

केवल अपनी बुद्धिसे मनको वशमें किया जाता है। मन्त्री आदि दूसरोंकी बुद्धिके सहयोगसे कर्तव्यका निश्चय किया जाता है और शास्त्रीय बुद्धिसे आत्मगुणकी प्राप्ति होती है। यही शास्त्रका प्रयोजन है॥ १८॥

परं विश्वासयेत् साम्ना स्वशक्तिं चोपलक्षयेत्।
आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत्॥ १९॥

राजा मधुर वाणीद्वारा समझा-बुझाकर अपने प्रति दूसरेका विश्वास उत्पन्न करे। अपनी शक्तिका भी प्रदर्शन करे तथा अपने विचार और बुद्धिसे कर्तव्यका निश्चय करे॥ १९॥

सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यप्रयोजकः।
निगूढबुद्धेर्धीरस्य वक्तव्ये वा कृतं तथा॥ २०॥

राजामें सबको समझा-बुझाकर युक्तिसे काम निकालनेकी बुद्धि होनी चाहिये। वह विद्वान् होनेके साथ ही लोगोंको कर्तव्यकी प्रेरणा दे और अकर्तव्यकी ओर जानेसे रोके अथवा जिसकी बुद्धि गूढ़ या गम्भीर है, उस धीर पुरुषको उपदेश देनेकी आवश्यकता ही क्या है?॥ २०॥

स निकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्ध्या बृहस्पतिः।
स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके॥ २१॥

वह बुद्धिमान् राजा बुद्धिमें बृहस्पतिके समान होकर भी किसी कारणवश यदि निम्न श्रेणीकी बात कह डाले तो उसे चाहिये कि जैसे तपाया हुआ लोहा पानीमें डालनेसे शान्त हो जाता है, उसी तरह अपने शान्त स्वभावको स्वीकार कर ले॥ २१॥

अनुयुञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः।
आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य चैव परस्य च॥ २२॥

राजा अपने तथा दूसरेको भी शास्त्रमें बताये हुए समस्त कर्मोंमें ही लगावे॥ २२॥

मृदुशीलं तथा प्राज्ञं शूरं चार्थविधानवित्।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये च बलाधिकाः॥ २३॥

कार्य-साधनके उपायको जाननेवाला राजा अपने कार्योंमें कोमल-स्वभाव, विद्वान् तथा शूरवीर मनुष्यको तथा अन्य जो अधिक बलशाली व्यक्ति हों, उनको नियुक्त करे॥ २३॥

अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्मसु।
सर्वांस्ताननुवर्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता॥ २४॥

जैसे वीणाके विस्तृत तार सातों स्वरोंका अनुसरण करते

हैं, उसी प्रकार राजा अपने कर्मचारियोंको योग्यतानुसार कर्मोंमें संलग्न देख उन सबके अनुकूल व्यवहार करे ॥ २४ ॥

धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रियमाचरेत् ।
ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः ॥ २५ ॥

राजाको चाहिये कि सबका प्रिय करे, किंतु धर्ममें बाधा न आने दे। प्रजागणको 'यह मेरा ही प्रियगण है' ऐसा समझनेवाला राजा पर्वतके समान अविचल बना रहता है ॥ २५ ॥

व्यवसायं समाधाय सूर्यो रश्मीनिवायतान् ।
धर्ममेवाभिरक्षेत कृत्वा तुल्ये प्रियाप्रिये ॥ २६ ॥

जैसे सूर्य अपनी विस्तृत किरणोंका आश्रय ले सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा प्रिय और अप्रियको समान समझकर सुदृढ़ उद्योगका अवलम्बन करके धर्मकी ही रक्षा करे ॥

कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान् मृदुभाषिणः ।
मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान् ॥ २७ ॥
अलुब्धाञ्शिक्षितान् दान्तान् धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत् सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥ २८ ॥

जो लोग कुल, स्वभाव और देशके धर्मको जानते हों, मधुरभाषी हों, युवावस्थामें जिनका जीवन निष्कलङ्क रहा हो, जो हितसाधनमें तत्पर और घबराहटसे रहित हों, जिनमें लोभका अभाव हो, जो शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म एवं अर्थकी रक्षा करनेवाले हों, उन्हींको राजा अपने समस्त कार्योंमें लगावे ॥ २७-२८ ॥

एतेन च प्रकारेण कृत्यानामागतिं गतिम् ।
युक्तः समनुतिष्ठेत तुष्टश्चारैरुपस्कृतः ॥ २९ ॥

इस प्रकार राजा सदा सावधान रहकर राज्यके प्रत्येक कार्यका आरम्भ और समाप्ति करे। मनमें संतोष रखे और गुप्तचरोंकी सहायतासे राष्ट्रकी सारी बातें जानता रहे ॥ २९ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ ३० ॥

जिसका हर्ष और क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, जो स्वयं ही सारे कार्योंकी देखभाल करता है तथा आत्मविश्वास ही जिसका खजाना है, उस राजाके लिये यह वसुन्धरा (पृथ्वी) ही धन देनेवाली बन जाती है ॥ ३० ॥

व्यक्तश्चानुग्रहो यस्य यथार्थश्चापि निग्रहः ।
गुप्तात्मा गुप्तराष्ट्रश्च स राजा राजधर्मवित् ॥ ३१ ॥

जिसका अनुग्रह सबपर प्रकट है तथा जिसका निग्रह (दण्ड देना) भी यथार्थ कारणसे होता है, जो अपनी और अपने राज्यकी सुरक्षा करता है, वही राजा राजधर्मका ज्ञाता है ॥

नित्यं राष्ट्रमवेक्षेत गोभिः सूर्य इवोदितः ।
चरान् स्वनुचरान् विद्यात् तथा बुद्ध्या स्वयं चरेत् ॥ ३२ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर प्रतिदिन अपनी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते (या देखते) हैं, उसी प्रकार राजा सदा अपनी दृष्टिसे सम्पूर्ण राष्ट्रका निरीक्षण करे। गुप्तचरोंको बारंबार भेजकर राज्यके समाचार जाने तथा स्वयं अपनी बुद्धिके द्वारा भी सोच-विचारकर कार्य करे ॥ ३२ ॥

कालं प्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत् ।
अहन्यहनि संदुह्यान्महीं गामिव बुद्धिमान् ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् राजा समय पड़नेपर ही प्रजासे धन ले। अपनी अर्थ-संग्रहकी नीति किसीके सम्मुख प्रकट न करे। जैसे बुद्धिमान् मनुष्य गायकी रक्षा करते हुए ही उससे दूध दुहता है, उसी प्रकार राजा सदा पृथ्वीका पालन करते हुए ही उससे धनका दोहन करे ॥ ३३ ॥

यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः ।
तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत संचयम् ॥ ३४ ॥

जैसे मधुमक्खी क्रमशः अनेक फूलोंसे रसका संचय करके शहद तैयार करती है, उसी प्रकार राजा समस्त प्रजाजनोंसे थोड़ा-थोड़ा द्रव्य लेकर उसका संचय करे ॥ ३४ ॥

यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात् तद्वित्तं धर्मकामयोः ।
संचयान्न विसर्गी स्याद् राजा शास्त्रविदात्मवान् ॥ ३५ ॥

जो धन राज्यकी सुरक्षा करनेसे बचे, उसीको धर्म और उपभोगके कार्यमें खर्च करना चाहिये। शास्त्रज्ञ और मनस्वी राजाको कोषागारके संचित धनसे द्रव्य लेकर भी खर्च नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत शात्रवान् ।
बुद्ध्या तु बुद्ध्येदात्मानं न चाबुद्धिषु विश्वसेत् ॥ ३६ ॥

थोड़ा-सा भी धन मिलता हो तो उसका तिरस्कार न करे। शत्रु शक्तिहीन हो तो भी उसकी अवहेलना न करे। बुद्धिसे अपने स्वरूप और अवस्थाको समझे तथा बुद्धिहीनोंपर कभी विश्वास न करे ॥ ३६ ॥

धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा
धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः ।
अल्पस्य वा बहुनो वा विवृद्धौ
धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥ ३७ ॥

धारणाशक्ति, चतुरता, संयम, बुद्धि, शरीर, धैर्य, शौर्य तथा देश-कालकी परिस्थितिसे असावधान न रहना—ये आठ गुण थोड़े या अधिक धनको बढ़ानेके मुख्य साधन हैं अर्थात् धनरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये ईंधन हैं ॥ ३७ ॥

अग्निः स्तोको वर्धतेऽप्याज्यसिक्तो
बीजं चैकं रोहसहस्रमेति ।
आयव्ययौ विपुलौ संनिशाम्य
तस्मादल्पं नावमन्येत वित्तम् ॥ ३८ ॥

थोड़ी-सी भी आग यदि घीसे सिंच जाय तो बढ़कर बहुत बड़ी हो जाती है। एक ही छोटे-से बीजको बो देनेपर उससे सहस्रों बीज पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार महान् आय-व्ययके विषयमें विचार करके थोड़े-से भी धनका अनादर न करे ॥ ३८ ॥

बालोऽप्यबालः स्थविरो रिपुर्यः
सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात्।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत
कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३९ ॥

शत्रु बालक, जवान अथवा बूढ़ा ही क्यों न हो, सदा सावधान न रहनेवाले मनुष्यका नाश कर डालता है। दूसरा कोई धनसम्पन्न शत्रु अनुकूल समयका सहयोग पाकर राजाकी जड़ उखाड़ सकता है। इसलिये जो समयको जानता है, वही समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥

हरेत् कीर्तिं धर्ममस्योपरुन्ध्या-
दर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात्।
रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा
तस्माच्छत्रोर्नैव हीयेद् यतात्मा ॥ ४० ॥

द्वेष रखनेवाला शत्रु दुर्बल हो या बलवान्, राजाकी कीर्ति नष्ट कर देता है, उसके धर्ममें बाधा पहुँचाता है तथा अर्थोपार्जनमें उसकी बढ़ी हुई शक्तिका विनाश कर डालता है; इसलिये मनको वशमें रखनेवाला राजा शत्रुकी ओरसे लापरवाह न रहे ॥ ४० ॥

क्षयं वृद्धिं पालनं संचयं वा
बुद्ध्वाप्युभौ संहतौ सर्वकामौ।
ततश्चान्यन्मतिमान् संदधीत
तस्माद् राजा बुद्धिमत्तां श्रयेत ॥ ४१ ॥

हानि, लाभ, रक्षा और संग्रहको जानकर तथा सदा परस्पर सम्बन्धित ऐश्वर्य और भोगको भी भलीभाँति समझकर बुद्धिमान् राजाको शत्रुके साथ संधि या विग्रह करना चाहिये; इस विषयपर विचार करनेके लिये बुद्धिमानोंका सहारा लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

बुद्धिर्दीप्ता बलवन्तं हिनस्ति
बलं बुद्ध्या पाल्यते वर्धमानम्।
शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो
बुद्धेः पश्चात् कर्म यत्तत् प्रशस्तम् ॥ ४२ ॥

प्रतिभाशालिनी बुद्धि बलवान्‌को भी पछाड़ देती है। बुद्धिके द्वारा नष्ट होते हुए बलकी भी रक्षा होती है। बढ़ता हुआ शत्रु भी बुद्धिके द्वारा परास्त होकर कष्ट उठाने लगता है। बुद्धिसे सोचकर पीछे जो कर्म किया जाता है, वह सर्वोत्तम होता है ॥ ४२ ॥

सर्वान् कामान् कामयानो हि धीरः
सत्त्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदोषः।
यश्चात्मानं प्रार्थयतेऽर्थ्यमानैः
श्रेयःपात्रं पूरयते च नाल्पम् ॥ ४३ ॥

जिसने सब प्रकारके दोषोंका त्याग कर दिया है, वह धीर राजा यदि किसी वस्तुकी कामना करे तो वह थोड़ा-सा बल लगानेपर भी अपने सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होनेपर भी अपने लिये कुछ चाहता है अर्थात् दूसरोंसे अपनी इच्छा पूरी करानेकी आशा रखता है, वह लोभी और अहङ्कारी नरेश अपने श्रेयका छोटा-सा पात्र भी नहीं भर सकता ॥ ४३ ॥

तस्माद् राजा प्रगृहीतः प्रजासु
मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत।
दीर्घं कालं ह्यपि सम्पीड्यमानो
विद्युत्सम्पातमपि वा नोर्जितः स्यात् ॥ ४४ ॥

इसलिये राजाको चाहिये कि वह सारी प्रजापर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर (धन) वसूल करे। वह दीर्घकालतक प्रजाको सताकर उसपर बिजलीके समान गिरकर अपना प्रभाव न दिखाये ॥ ४४ ॥

विद्या तपो वा विपुलं धनं वा
सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम्।
बुद्ध्यायत्तं तन्निवसेद् देहवत्सु
तस्माद् विद्याद् व्यवसायं प्रभूतम् ॥ ४५ ॥

विद्या, तप तथा प्रचुर धन—ये सब उद्योगसे प्राप्त हो सकते हैं। वह उद्योग प्राणियोंमें बुद्धिके अधीन होकर रहता है; अतः उद्योगको ही समस्त कार्योंकी सिद्धिका पर्याप्त साधन समझे ॥ ४५ ॥

यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनः
शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च।
वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं
तस्माद् विद्वान् नावमन्येत देहम् ॥ ४६ ॥

अतः जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंमें बुद्धिमान् एवं मनस्वी महर्षि निवास करते हैं,* जिसमें इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें इन्द्र, विष्णु एवं सरस्वतीका निवास है तथा जिसके भीतर सदा सम्पूर्ण प्राणी वास करते हैं अर्थात् जो शरीर समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आधार है, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि उस मानव-देहकी अवहेलना न करे ॥ ४६ ॥

लुब्धं हन्यात् सम्प्रदानेन नित्यं
लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति।
सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे
योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ॥ ४७ ॥

राजा लोभी मनुष्यको सदा ही कुछ देकर दबाये रक्खे; क्योंकि लोभी पुरुष दूसरेके धनसे कभी तृप्त नहीं होता। सत्कर्मोंके फलस्वरूप सुखका उपभोग करनेके लिये तो सभी लालायित रहते हैं; परंतु जो लोभी धनहीन है, वह धर्म और काम दोनोंको त्याग देता है ॥ ४७ ॥

धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं
सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम्।

---

* 'इमावेव गौतमभरद्वाजौ' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका गौतम, भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि महर्षियोंसे सम्बन्ध सूचित होता है।

लुब्धे दोषाः सम्भवन्तीह सर्वे
तस्माद् राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम्॥४८॥

लोभी मनुष्य दूसरोंके धन, भोग-सामग्री, स्त्री-पुत्र और समृद्धि सबको प्राप्त करना चाहता है। लोभीमें सब प्रकारके दोष प्रकट होते हैं; अतः राजा उसे अपने यहाँ किसी पदपर स्थान न दे ॥ ४८ ॥

संदर्शनेन पुरुषं जघन्यमपि चोदयेत्।
आरम्भान् द्विषतां प्राज्ञः सर्वार्थांश्च प्रसूदयेत् ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् राजा नीच मनुष्यको देखते ही अपने यहाँसे दूर हटा दे और यदि उसका वश चले तो वह शत्रुओंके सारे उद्योगों तथा कार्योंका विध्वंस कर डाले ॥ ४९ ॥

धर्मान्वितेषु विज्ञाता मन्त्री गुप्तश्च पाण्डव।
आप्तो राजा कुलीनश्च पर्याप्तो राजसंग्रहे ॥ ५० ॥

पाण्डुनन्दन ! धर्मात्मा पुरुषोंमें जो विशेषरूपसे सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता हो, उसीको मन्त्री बनावे और उसकी सुरक्षाका विशेष प्रबन्ध करे। प्रजाका विश्वासपात्र और कुलीन राजा नरेशोंको वशमें करनेमें समर्थ होता है ॥ ५० ॥

विधिप्रयुक्तान् नरदेवधर्मा-
नुक्तान् समासेन निबोध बुद्ध्या।
इमान् विदध्याद् व्यतिसृत्य यो वै
राजा महीं पालयितुं स शक्तः ॥ ५१ ॥

राजाके जो शास्त्रोक्त धर्म हैं, उन्हें संक्षेपसे मैंने यहाँ बताया है। तुम अपनी बुद्धिसे विचार करके उन्हें हृदयमें धारण करो। जो उन्हें गुरुसे सीखकर हृदयमें धारण करता और आचरणमें लाता है, वही राजा अपने राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है ॥ ५१ ॥

अनीतिजं यस्य विधानजं सुखं
हठप्रणीतं विधिवत्प्रदृश्यते।
न विद्यते तस्य गतिर्महीपते-
र्न विद्यते राज्यसुखं ह्यनुत्तमम् ॥ ५२ ॥

जिन्हें अन्यायसे उपार्जित, हठसे प्राप्त तथा दैवके विधानके अनुसार उपलब्ध हुआ सुख विधिके अनुरूप प्राप्त हुआ-सा दिखायी देता है, राजधर्मको न जाननेवाले उस राजाकी कहीं गति नहीं है तथा उसका परम उत्तम राज्यसुख चिरस्थायी नहीं होता ॥ ५२ ॥

धनैर्विशिष्टान् मतिशीलपूजितान्
गुणोपपन्नान् युधि दृष्टविक्रमान्।
गुणेषु दृष्ट्वा न चिरादिवात्मवान्
यतोऽभिसंधाय निहन्ति शात्रवान् ।५३।

उक्त राजधर्मके अनुसार संधि-विग्रह आदि गुणोंके प्रयोगमें सतत सावधान रहनेवाला नरेश धनसम्पन्न, बुद्धि और शीलके द्वारा सम्मानित, गुणवान् तथा युद्धमें जिनका पराक्रम देखा गया है, उन वीर शत्रुओंको भी कूटकौशलपूर्वक नष्ट कर सकता है ॥ ५३ ॥

पश्येदुपायान् विविधैः क्रियापथै-
र्न चानुपायेन मतिं निवेशयेत्।
श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो धनं
न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते ॥ ५४ ॥

राजा नाना प्रकारकी कार्यपद्धतियोंद्वारा शत्रु-विजयके बहुत-से उपाय ढूँढ़ निकाले। अयोग्य उपायसे काम लेनेका विचार न करे, जो निर्दोष व्यक्तियोंके भी दोष देखता है, वह मनुष्य विशिष्ट सम्पत्ति, महान् यश और प्रचुर धन नहीं पा सकता ॥ ५४ ॥

प्रीतिप्रवृत्तौ विनिवर्तितौ यथा
सुहृत्सु विज्ञाय निवृत्य चोभयोः।
यदेव मित्रं गुरुभारमावहेत्
तदेव सुस्निग्धमुदाहरेद् बुधः ॥ ५५ ॥

सुहृदोंमेंसे जो दो मित्र प्रेमपूर्वक साथ-साथ एक कार्यमें प्रवृत्त होते हों और साथ-ही-साथ उससे निवृत्त होते हों, उन्हें अच्छी तरह जानकर उन दोनोंमेंसे जो मित्र लौटकर मित्रका गुरुतर भार वहन कर सके, उसीको विद्वान् पुरुष अत्यन्त स्नेही मित्र मानकर दूसरोंके सामने उसका उदाहरण दें॥

एतान् मयोक्तांश्चर राजधर्मान्
नृणां च गुप्तौ मतिमादधत्स्व।
अवाप्स्यसे पुण्यफलं सुखेन
सर्वो हि लोको नृप धर्ममूलः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! मेरे बताये हुए इन राजधर्मोंका आचरण करो और प्रजाके पालनमें मन लगाओ। इससे तुम सुखपूर्वक पुण्यफल प्राप्त करोगे; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्का मूल धर्म ही है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राजधर्मकथने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राजधर्मका वर्णनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

दण्डके स्वरूप, नाम, लक्षण, प्रभाव और प्रयोगका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अयं पितामहेनोक्तो राजधर्मः सनातनः।
ईश्वरश्च महादण्डो दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने यह सनातन राजधर्मका वर्णन किया। इसके अनुसार महान् दण्ड ही सबका ईश्वर है, दण्डके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥१॥

देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम्।
यक्षरक्षःपिशाचानां साध्यानां च विशेषतः॥ २ ॥
सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यग्योनिनिवासिनाम्।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो॥ ३ ॥

प्रभो! देवता, ऋषि, पितर, महात्मा, यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा साध्यगण एवं पशु-पक्षियोंकी योनिमें निवास करनेवाले जगत्के समस्त प्राणियोंके लिये भी सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड ही कल्याणका साधन है॥ २-३॥

इत्येवमुक्तं भवता दण्डे वै सचराचरम्।
पश्यता लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम्।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ॥ ४ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित इस सम्पूर्ण विश्वको अपने समीप देखते हुए आपने कहा है कि दण्डपर ही चराचर जगत् प्रतिष्ठित है। भरतश्रेष्ठ! मैं यथार्थरूपसे यह सब जानना चाहता हूँ॥ ४॥

को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः।
किमात्मकः कथंभूतः कथंमूर्तिः कथं प्रभो॥ ५ ॥

दण्ड क्या है? कैसा है? उसका स्वरूप किस तरहका है? और किसके आधारपर उसकी स्थिति है? प्रभो! उसका उपादान क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? उसका आकार कैसा है?॥ ५॥

जागर्ति च कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः।
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन्॥ ६ ॥

वह किस प्रकार सावधान रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करनेके लिये जागता रहता है? कौन इस पूर्वापर जगत्का प्रतिपालन करता हुआ जागता है?॥ ६॥

कश्च विज्ञायते पूर्वं को वरो दण्डसंज्ञितः।
किंसंस्थश्च भवेद् दण्डः का वास्य गतिरुच्यते॥ ७ ॥

पहले इसे किस नामसे जाना जाता था? कौन दण्ड प्रसिद्ध है? दण्डका आधार क्या है? तथा उसकी गति क्या बतायी गयी है?॥ ७॥

भीष्म उवाच

शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहारो यथा च सः।
यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन! दण्डका जो स्वरूप है तथा जिस प्रकार उसको 'व्यवहार' कहा जाता है, वह सब तुम्हें बताता हूँ; सुनो। इस संसारमें सब कुछ जिसके अधीन है, वही अद्वितीय पदार्थ यहाँ 'दण्ड' कहलाता है॥ ८॥

धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्ववहितात्मनः॥ ९ ॥
इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते।

महाराज! धर्मका ही दूसरा नाम व्यवहार है। लोकमें सतत सावधान रहनेवाले पुरुषके धर्मका किसी तरह लोप न हो, इसीलिये दण्डकी आवश्यकता है और यही उस व्यवहारका व्यवहारत्व[1] है॥ ९½॥

अपि चैतत् पुरा राजन् मनुना प्रोक्तमादितः॥ १० ॥
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः॥ ११ ॥

राजन्! पूर्वकालमें मनुने यह उपदेश दिया है कि जो राजा प्रिय और अप्रियके प्रति समान भाव रखकर—किसीके प्रति पक्षपात न करके दण्डका ठीक-ठीक उपयोग करते हुए प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, उसका वह कार्य केवल धर्म है॥

यथोक्तमेतद् वचनं प्रागेव मनुना पुरा।
यन्मयोक्तं मनुष्येन्द्र ब्रह्मणो वचनं महत्॥ १२ ॥
प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः।
व्यवहारस्य चाख्यानाद् व्यवहार इहोच्यते॥ १३ ॥

नरेन्द्र! उपर्युक्त सारी बातें मनुजीने पहले ही कह दी हैं और मैंने जो बात कही है, वह ब्रह्माजीका महान् वचन है। यही वचन मनुजीके द्वारा पहले कहा गया है; इसलिये इसको 'प्राग्वचन' के नामसे भी जानते हैं। इसमें व्यवहारका प्रतिपादन होनेसे यहाँ व्यवहार नाम दिया गया है॥ १२-१३॥

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः॥ १४ ॥

दण्डका ठीक-ठीक उपयोग होनेपर राजाके धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि सदा होती रहती है। इसलिये दण्ड महान् देवता है, यह अग्निके समान तेजस्वी रूपसे प्रकट हुआ है॥

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान्॥ १५ ॥

इसके शरीरकी कान्ति नील कमलदलके समान श्याम है, इसके चार दाढ़ें और चार भुजाएँ हैं। आठ पैर और अनेक नेत्र हैं। इसके कान खूँटेके समान हैं और रोएँ ऊपरकी ओर उठे हुए हैं॥ १५॥

जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः।
एतद् रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः॥ १६ ॥

इसके सिरपर जटा है, मुखमें दो जिह्वाएँ हैं, मुखका रंग ताँबेके समान है, शरीरको ढकनेके लिये उसने व्याघ्रचर्म धारण कर रक्खा है, इस प्रकार दुर्धर्ष दण्ड सदा यह भयंकर रूप धारण किये रहता है*॥ १६॥

असिर्धनुर्गदा शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः।
मुसलं परशुश्चक्रं पाशो दण्डर्ष्टितोमराः॥ १७ ॥

---

१. विगतः अवहारः धर्मस्य येन सः व्यवहारः। दूर हो गया है धर्मका अवहार (लोप) जिसके द्वारा, वह व्यवहार है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार धर्मको लुप्त होनेसे बचाना ही व्यवहारका व्यवहारत्व है।

* यहाँ पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें आये हुए पदोंकी नीलकण्ठने व्यावहारिक दण्डके विशेषणरूपसे भी सङ्गति लगायी है। इन विशेषणोंको रूपक मानकर अर्थ किया है।

सर्वप्रहरणीयानि सन्ति यानीह कानिचित्।
दण्ड एव स सर्वात्मा लोके चरति मूर्तिमान् ॥ १८ ॥

खड्ग, धनुष, गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुद्गर, बाण, मुसल, फरसा, चक्र, पाश, दण्ड, ऋष्टि, तोमर तथा दूसरे-दूसरे जो कोई प्रहार करने योग्य अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबके रूपमें सर्वात्मा दण्ड ही मूर्तिमान् होकर जगत्में विचरता है ॥

भिन्दंश्छिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पाटयंस्तथा।
घातयन्नभिधावंश्च दण्ड एव चरत्युत ॥ १९ ॥

वही अपराधियोंको भेदता, छेदता, पीड़ा देता, काटता, चीरता, फाड़ता तथा मरवाता है। इस प्रकार दण्ड ही सब ओर दौड़ता-फिरता है ॥ १९ ॥

असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुराधरः।
श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः सनातनः ॥ २० ॥
शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्राश्च शास्ता प्राग्वदतां वरः।
धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगोऽग्रजः ॥ २१ ॥
असंगो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवंकरः।
नामान्येतानि दण्डस्य कीर्तितानि युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! असि, विशसन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मन्त्र, शास्ता, प्राग्वदतांवर, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असङ्ग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर— ये दण्डके नाम कहे गये हैं ॥ २०-२२ ॥

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।
शश्वद् रूपं महद् बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥ २३ ॥

दण्ड सर्वत्र व्यापक होनेके कारण भगवान् विष्णु है और नरों (मनुष्यों) का अयन (आश्रय) होनेसे नारायण कहलाता है। वह प्रभावशाली होनेसे प्रभु और सदा महत् रूप धारण करता है, इसलिये महान् पुरुष कहलाता है॥२३॥

तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः ॥ २४ ॥

इसी प्रकार दण्डनीति भी ब्रह्माजीकी कन्या कही गयी है। लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती तथा जगद्धात्री भी उसीके नाम हैं। इस प्रकार दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥ २४॥

अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले।
दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २५ ॥
कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः।
अप्रमादः प्रमादश्च हर्षक्रोधौ शमो दमः ॥ २६ ॥
दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये।
हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २७ ॥
अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥ २८ ॥
अशक्तिः शक्तिरित्येवं मानस्तम्भौ व्ययाव्ययौ।
विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २९ ॥
अनृतं ज्ञानिता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव च।
क्लीवता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ ३० ॥
तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा।
विरोधश्चाविरोधश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३१ ॥
असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च।
अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च सम्पद्विपत्पदम् ॥ ३२ ॥
तेजः कर्माणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता।
एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन् बहुरूपता ॥ ३३ ॥

अर्थ-अनर्थ, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, बल-अबल, दौर्भाग्य-सौभाग्य, पुण्य-पाप, गुण-अवगुण, काम-अकाम, ऋतु-मास, दिन-रात, क्षण, प्रमाद-अप्रमाद, हर्ष-क्रोध, शम-दम, दैव-पुरुषार्थ, बन्ध-मोक्ष, भय-अभय, हिंसा-अहिंसा, तप-यज्ञ, संयम, विष-अविष, आदि, अन्त, मध्य, कार्यविस्तार, मद, असावधानता, दर्प, दम्भ, धैर्य, नीति-अनीति, शक्ति-अशक्ति, मान, स्तब्धता, व्यय-अव्यय, विनय 'दान, काल-अकाल, सत्य-असत्य, ज्ञान, श्रद्धा-अश्रद्धा, अकर्मण्यता, उद्योग, लाभ-हानि, जय-पराजय, तीक्ष्णता-मृदुता, मृत्यु, आना-जाना, विरोध-अविरोध, कर्तव्य-अकर्तव्य, सबलता-निर्बलता, असूया-अनसूया, धर्म-अधर्म, लज्जा-अलज्जा, सम्पत्ति-विपत्ति, स्थान, तेज, कर्म, पाण्डित्य, वाक्शक्ति तथा तत्त्व-बोध—ये सब दण्डके ही अनेक नाम और रूप हैं। कुरुनन्दन! इस प्रकार इस जगत्में दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥२५—३३॥

न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद् दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! यदि संसारमें दण्डकी व्यवस्था न होती तो सब लोग एक दूसरेको नष्टकर डालते। दण्डके ही भयसे मनुष्य आपसमें मार-काट नहीं मचाते हैं ॥ ३४ ॥

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद् दण्डः परायणम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! दण्डसे सुरक्षित रहती हुई प्रजा ही इस जगत्में अपने राजाको प्रतिदिन धन-धान्यसे सम्पन्न करती रहती है। इसलिये दण्ड ही सबको आश्रय देनेवाला है ॥ ३५ ॥

व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर।
सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! दण्ड ही इस लोकको शीघ्र ही सत्यमें स्थापित करता है। सत्यमें ही धर्मकी स्थिति है और धर्म ब्राह्मणोंमें स्थित है ॥ ३६ ॥

धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा वेदयुक्ता भवन्ति च।
बभूव यज्ञो वेदेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः ॥ ३७ ॥
प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिवदन्त्यपि।
अन्नं ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः ॥ ३८ ॥
प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः।
तस्मात् प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दण्डो जागर्ति तासु च ॥ ३९ ॥

धर्मयुक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करते हैं। वेदोंसे ही यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ देवताओंको तृप्त करता है। तृप्त हुए देवता इन्द्रसे प्रजाके लिये प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं, इससे इन्द्र प्रजाजनोंपर अनुग्रह करके (समयपर वर्षाके द्वारा खेती उपजाकर) उन्हें अन्न देता है, समस्त प्राणियोंके प्राण सदा अन्नपर ही टिके हुए हैं; इसलिये दण्डसे ही प्रजाओंकी स्थिति बनी हुई है। वही उनकी रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहता है॥

एवंप्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः।
रक्षन् प्रजाः स जागर्ति नित्यं स्ववहितोऽक्षरः ॥४०॥

इस प्रकार रक्षारूपी प्रयोजन सिद्ध करनेवाला दण्ड क्षत्रियभावको प्राप्त हुआ है। वह अविनाशी होनेके कारण सदा सावधान होकर प्रजाकी रक्षाके लिये जागता रहता है॥

ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः।
भूतात्मा जीव इत्येवं नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः ॥ ४१ ॥

ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव-इन आठ नामोंसे दण्डका ही प्रतिपादन किया जाता है ॥ ४१ ॥

अददद् दण्डमेवास्मै धृतमैश्वर्यमेव च।
बलेन यश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः ॥ ४२ ॥

जो सर्वदा सैनिक-बलसे सम्पन्न है तथा जो धर्म, व्यवहार, दण्ड, ईश्वर और जीवरूपसे पाँच[1] प्रकारके स्वरूप धारण करता है, उस राजाको ईश्वरने ही दण्डनीति तथा अपना ऐश्वर्य प्रदान किया है ॥ ४२ ॥

कुलं बहुधनामात्याः प्रज्ञा प्रोक्ता बलानि तु।
आहार्यमष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद् युधिष्ठिर ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर! राजाका बल दो तरहका होता है-एक प्राकृत और दूसरा आहार्य। उनमेंसे कुल, प्रचुर धन, मन्त्री तथा बुद्धि-ये चार प्राकृतिक बल कहे गये हैं, आहार्य बल उससे भिन्न है। वह निम्नाङ्कित आठ वस्तुओंके द्वारा आठ प्रकारका माना गया है ॥ ४३ ॥

हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टिस्तथैव च।
दैशिकाश्चाविकाश्चैव तदष्टाङ्गं बलं स्मृतम् ॥ ४४ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, नौका, बेगार, देशकी प्रजा तथा भेड़ आदि पशु—ये आठ अङ्गोंवाला बल आहार्य माना गया है ॥ ४४ ॥

अथवाङ्गस्य युक्तस्य रथिनो हस्तियायिनः।
अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥ ४५ ॥
भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः।
कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ॥ ४६ ॥
सप्तप्रकृति चाष्टाङ्गं शरीरमिह यद् विदुः।
राज्यस्य दण्डमेवाङ्गं दण्डः प्रभव एव च ॥ ४७ ॥

अथवा संयुक्त अङ्गके रथी, हाथीसवार, घुड़सवार, पैदल, मन्त्री, वैद्य, भिक्षुक, वकील, ज्यौतिषी, दैवज्ञ, कोश, मित्र, धान्य तथा अन्य सब सामग्री, राज्यकी सात प्रकृतियाँ (स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना) और उपर्युक्त आठ अङ्गोंसे युक्त बल—इन सबको राज्यका शरीर माना गया है। इन सबमें दण्ड ही प्रधान अङ्ग है, क्योंकि दण्ड ही सबकी उत्पत्तिका कारण है ॥ ४५—४७ ॥

ईश्वरेण प्रयत्नेन कारणात् क्षत्रियस्य च।
दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ॥ ४८ ॥

ईश्वरने यत्नपूर्वक धर्मरक्षाके लिये क्षत्रियके हाथमें उसके समान जातिवाला दण्ड समर्पित किया है; इसलिये दण्ड ही इस सनातन व्यवहारका कारण है ॥ ४८ ॥

राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथा धर्मः प्रदर्शितः।
ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च ॥ ४९ ॥

ब्रह्माजीने लोकरक्षा तथा स्वधर्मकी स्थापनाके निमित्त जिस धर्मका प्रदर्शन (उपदेश) किया था, वह दण्ड ही है। राजाओंके लिये उससे बढ़कर परम पूजनीय दूसरा धर्म नहीं है ॥ ४९ ॥

भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथापरः।
तस्माद् यः स हितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ५० ॥

स्वामी अथवा विचारकके विश्वासके अनुसार जो व्यवहार उत्पन्न होता है, वह (वादी-प्रतिवादीद्वारा उठाये हुए विवाद-से उत्पन्न व्यवहारकी अपेक्षा) भिन्न है। उससे जो दण्ड दिया जाता है, उसका नाम है 'भर्तृप्रत्ययलक्षण' वह सम्पूर्ण जगत्के लिये हितकर देखा गया है (यह पहला भेद है) ॥ ५० ॥

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथा परः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! वेदप्रतिपादित दोषोंका आचरण करनेवाले अपराधीके लिये जो व्यवहार या विचार होता है, वह वेदप्रत्यय कहलाता है (यह दूसरा भेद है) और कुलाचार भङ्ग करनेके अपराधपर किये जानेवाले विचार या व्यवहारको मौल कहते हैं (यह तीसरा भेद है)। इसमें भी शास्त्रोक्त दण्डका ही विधान किया जाता है ॥ ५१ ॥

उक्तो यश्चापि दण्डोऽसौ भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
ज्ञेयो नः स नरेन्द्रस्थो दण्डः प्रत्यय एव च ॥ ५२ ॥

पहले जो भर्तृप्रत्ययलक्षण दण्ड बताया गया है, वह हमें राजामें ही स्थित जानना चाहिये; क्योंकि वह विश्वास और दण्ड राजापर ही अवलम्बित है ॥ ५२ ॥

दण्डः प्रत्ययदृष्टोऽपि व्यवहारात्मकः स्मृतः।
व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः ॥ ५३ ॥

१. किन्हीं-किन्हींके मतमें प्रजाके जीवन, धन, मान, स्वास्थ्य और न्यायकी रक्षा करनेके कारण राजाका स्वरूप पाँच प्रकारका बताया गया है।

यद्यपि स्वामीके विश्वासके आधारपर ही वह दण्ड देखा गया है; तथापि उसे भी व्यवहारस्वरूप ही माना गया है। जिसे व्यवहार माना गया है, वह भी वेदोक्त विषयसे भिन्न नहीं है ॥ ५३ ॥

यश्च वेदप्रसूतात्मा स धर्मो गुणदर्शनः।
धर्मप्रत्यय उद्दिष्टो यथाधर्मं कृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

जिसका स्वरूप वेदसे प्रकट हुआ है, वह धर्म ही है। जो धर्म है, वह अपना गुण (लाभ) दिखाता ही है। पुण्यात्मा पुरुषोंने धर्मके अनुसार ही धर्मविश्वासमूलक दण्डका प्रतिपादन किया है ॥ ५४ ॥

व्यवहारः प्रजागोप्ता ब्रह्मदिष्टो युधिष्ठिर।
त्रीन् धारयति लोकान् वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥५५॥

युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीका बताया हुआ जो प्रजा-रक्षक व्यवहार है, वह सत्यस्वरूप होनेके साथ ही ऐश्वर्यकी वृद्धि करनेवाला है, वही तीनों लोकोंको धारण करता है ॥

यश्च दण्डः स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः।
व्यवहारश्च दृष्टो यः स वेद इति निश्चितम् ॥ ५६ ॥

जो दण्ड है, वही हमारी दृष्टिमें सनातन व्यवहार है। जो व्यवहार देखा गया है, वही वेद है, यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है ॥ ५६ ॥

यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः।
ब्रह्मा पितामहः पूर्वं बभूवाथ प्रजापतिः ॥ ५७ ॥

जो वेद है, वही धर्म है और जो धर्म है, वही सत्पुरुषोंका सन्मार्ग है। सत्पुरुष हैं लोकपितामह प्रजापति ब्रह्माजी, जो सबसे पहले प्रकट हुए थे ॥ ५७ ॥

लोकानां स हि सर्वेषां ससुरासुररक्षसाम्।
समनुष्योरगवतां कर्ता चैव स भूतकृत् ॥ ५८ ॥

वे ही देवता, मनुष्य, नाग, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके कर्ता तथा समस्त प्राणियोंके स्रष्टा हैं ॥ ५८ ॥

ततोऽन्यो व्यवहारोऽयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
तस्मादिदमथोवाच व्यवहारनिदर्शनम् ॥ ५९ ॥

उन्हींसे भर्तृप्रत्यय नामक इस अन्य प्रकारके दण्डकी प्रवृत्ति हुई; फिर उन्होंने ही इस व्यवहारके लिये यह आदर्श वाक्य कहा—॥ ५९ ॥

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ६० ॥

'माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्ममें स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजाके लिये कोई भी अदण्डनीय नहीं है' ॥६०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डस्वरूपाभिकथने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डके स्वरूपका वर्णनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

दण्डकी उत्पत्ति तथा उसके क्षत्रियोंके हाथमें आनेकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अङ्गेषु राजा द्युतिमान् वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस दण्डकी उत्पत्तिके विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। उसे भी तुम सुन लो। अङ्गदेशमें वसुहोम नामसे प्रसिद्ध एक तेजस्वी राजा राज्य करते थे ॥ १ ॥

स राजा धर्मविन्नित्यं सह पत्न्या महातपाः।
मुञ्जपृष्ठं जगामाथ पितृदेवर्षिपूजितम् ॥ २ ॥

'एक समयकी बात है, वे महातपस्वी धर्मज्ञ नरेश अपनी पत्नीके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे पूजित मुञ्जपृष्ठ नामक तीर्थस्थानमें आये ॥ २ ॥

तत्र शृङ्गे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते।
यत्र मुञ्जावटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः संशितव्रतैः।
मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! वह स्थान सुवर्णमय पर्वत सुमेरुके समीपवर्ती हिमालयके शिखरपर है, जहाँ मुञ्जावटमें परशुरामजीने अपनी जटाएँ बाँधनेका आदेश दिया था। तभीसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ऋषियोंने उस रुद्रसेवित प्रदेशको मुञ्जपृष्ठ नाम दे दिया ॥ ३-४ ॥

स तत्र बहुभिर्युक्तस्तदा श्रुतिमयैर्गुणैः।
ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षिसदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥

वे वहाँ बहुतेरे वेदोक्त गुणोंसे सम्पन्न हो तपस्या करने लगे। उस तपके प्रभावसे वे देवर्षियोंके तुल्य हो गये। ब्राह्मणोंमें उनका बड़ा सम्मान होने लगा ॥ ५ ॥

तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानितः।
अभ्यगच्छन्महीपालो मान्धाता शत्रुकर्शनः ॥ ६ ॥

एक दिन इन्द्रके सम्मानित सखा उदारचेता शत्रुसूदन राजा मान्धाता उनके दर्शनके लिये आये ॥ ६ ॥

सोपसृत्य तु मान्धाता वसुहोमं नराधिपम्।
दृष्ट्वा प्रकृष्टतपसं विनतोऽग्रेऽभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥

राजा मान्धाता उत्तम तपस्वी अङ्गनरेश वसुहोमके पास पहुँचकर दर्शन करके उनके सामने विनीतभावसे खड़े हो गये ॥ ७ ॥

वसुहोमोऽपि राज्ञो वै पाद्यमर्घ्यं न्यवेदयत् ।
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य पप्रच्छ कुशलाव्ययं ॥ ८ ॥

वसुहोमने भी राजाको पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया तथा सातों अङ्गोंसे युक्त उनके राज्यका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनम् ।
अपृच्छद् वसुहोमस्तं राजन् किं करवाणि ते॥ ९ ॥

पूर्वकालमें साधु पुरुषोंने जिस पथका अनुसरण किया था, उसीपर यथावत् रूपसे निरन्तर चलनेवाले मान्धातासे वसुहोमने पूछा—'राजन् ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥

सोऽब्रवीत्परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम् ।
वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! तब परम प्रसन्न हुए मान्धाताने वहाँ बैठे हुए महाज्ञानी नृपश्रेष्ठ वसुहोमसे पूछा ॥१० ॥

मान्धातोवाच

बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया ।
तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नरोत्तम ॥ ११ ॥

मान्धाता बोले—राजन् ! नरश्रेष्ठ ! आपने बृहस्पतिके सम्पूर्ण मतका अध्ययन किया है । साथ ही शुक्राचार्यके नीति-शास्त्रका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ ११ ॥

तदहं ज्ञातुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम् ।
किं चास्य पूर्वं जागर्ति किं वा परममुच्यते ॥ १२ ॥

अतः मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि दण्डकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके पहले कौन-सी वस्तु जागरूक थी ? तथा इस दण्डको सबसे उत्कृष्ट क्यों कहा जाता है ? ॥१२ ॥

कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः सम्प्रत्यवस्थितः ।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥

इस समय यह दण्ड क्षत्रियोंके हाथमें कैसे आया है ? महामते ! यह सब मुझे बताइये । मैं आपको गुरुदक्षिणा प्रदान करूँगा ॥ १३॥

वसुहोम उवाच

शृणु राजन् यथा दण्डः सम्भूतो लोकसंग्रहः ।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४ ॥

वसुहोम बोले—राजन् ! दण्ड सम्पूर्ण जगत्‌को नियमके अंदर रखनेवाला है । यह धर्मका सनातन स्वरूप है । इसका उद्देश्य है प्रजाको उद्दण्डतासे बचाना । इसकी उत्पत्ति जिस तरह हुई है, सो बता रहा हूँ; सुनो ॥ १४ ॥

ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान् सर्वलोकपितामहः ।
ऋत्विजं नात्मनस्तुल्यं ददर्शेति हि नः श्रुतम् ॥ १५ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्मा किसी समय यज्ञ करना चाहते थे; किंतु उन्हें अपने योग्य कोई ऋत्विज नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

स गर्भं शिरसा देवो बहुवर्षाण्यधारयत् ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु स गर्भः क्षुवतोऽपतत् ॥ १६ ॥

तब उन्होंने बहुत वर्षोंतक अपने मस्तकपर एक गर्भ धारण किया । जब एक हजार वर्ष बीत गये, तब ब्रह्माजीको छींक आयी और वह गर्भ नीचे गिर पड़ा ॥ १६ ॥

स क्षुपो नाम सम्भूतः प्रजापतिररिंदम ।
ऋत्विगासीन्महाराज यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

शत्रुदमन नरेश ! उससे जो बालक प्रकट हुआ, उसका नाम 'क्षुप' रक्खा गया । महाराज ! महात्मा ब्रह्माजीके उस यज्ञमें प्रजापति क्षुप ही ऋत्विज हुए ॥ १७ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ ।
हृष्टरूपप्रधानत्वाद् दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्माजीका वह यज्ञ आरम्भ होते ही वहाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाले यज्ञकी प्रधानता होनेसे ब्रह्माका वह दण्ड अन्तर्धान हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत् ।
नैव कार्यं न वाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥

दण्ड लुप्त होते ही प्रजामें वर्णसंकरता फैलने लगी । कर्तव्याकर्तव्य तथा भक्ष्याभक्ष्यका विचार सर्वथा उठ गया ॥१९॥

पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम् ।
गम्यागम्यं तदा नासीत् स्वं परस्वं च वै समम् ॥ २० ॥

फिर पेयापेयका ही विचार कैसे रह सकता था ! सब लोग एक दूसरेकी हिंसा करने लगे । उस समय गम्यागम्यका विचार भी नहीं रह गया था । अपना और पराया धन एक-सा समझा जाने लगा ॥ २० ॥

परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ।
अबलान् बलिनो घ्नन्ति निर्मर्यादमवर्तत ॥ २१ ॥

जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये आपसमें छीना-झपटी और नोच-खसोट करते हैं, उसी तरह मनुष्य भी परस्पर लूट-पाट करने लगे । बलवान् पुरुष दुर्बलोंकी हत्या करने लगे । सर्वत्र उच्छृङ्खलता फैल गयी ॥ २१ ॥

ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम् ।
सम्पूज्य वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
अत्र त्वमनुकम्पां वै कर्तुमर्हसि शंकर ।
संकरो न भवेदत्र यथा तद् वै विधीयताम् ॥ २३ ॥

ऐसी अवस्था हो जानेपर पितामह ब्रह्माने सनातन भगवान् विष्णुका पूजन करके वरदायक देवता महादेवजीसे कहा 'शंकर ! इस परिस्थितिमें आपको कृपा करनी चाहिये । जिस प्रकार संसारमें वर्णसंकरता न फैले, वह उपाय आप करें' ॥ २२-२३ ॥

ततः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
आत्मानमात्मना दण्डं ससृजे देवसत्तमः ॥ २४ ॥

तब शूलनामक श्रेष्ठ शस्त्र धारण करनेवाले सुरश्रेष्ठ महादेव-जीने देरतक विचार करके स्वयं अपने-आपको ही दण्डके रूपमें प्रकट किया ॥ २४ ॥

तस्माच्च धर्मचरणान्नीतिर्देवी सरस्वती ।
ससृजे दण्डनीतिं सा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २५ ॥

उससे धर्माचरण होता देख नीतिस्वरूपा देवी सरस्वतीने दण्डनीतिकी रचना की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है॥२५॥

भूयः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
तस्य तस्य निकायस्य चकारैकैकमीश्वरम् ॥ २६ ॥

भगवान् शूलपाणिने पुनः चिरकालतक चिन्तन करके भिन्न-भिन्न समूहका एक-एक राजा बनाया॥ २६ ॥

देवानामीश्वरं चक्रे देवं दशशतेक्षणम् ।
यमं वैवस्वतं चापि पितॄणामकरोत् प्रभुम् ॥ २७ ॥

उन्होंने सहस्रनेत्रधारी इन्द्रदेवको देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित किया और सूर्यपुत्र यमको पितरोंका राजा बनाया ॥

धनानां राक्षसानां च कुबेरमपि चेश्वरम् ।
पर्वतानां पतिं मेरुं सरितां च महोदधिम् ॥ २८ ॥

कुबेरको धन और राक्षसोंका, सुमेरुको पर्वतोंका और महासागरको सरिताओंका स्वामी बना दिया ॥ २८ ॥

अपां राज्येऽसुराणां च विदधे वरुणं प्रभुम् ।
मृत्युं प्राणेश्वरमथो तेजसां च हुताशनम् ॥ २९ ॥

शक्तिशाली भगवान् वरुणको जल और असुरोंके राज्यपर प्रतिष्ठित किया । मृत्युको प्राणोंका तथा अग्निदेवको तेजका आधिपत्य प्रदान किया ॥ २९ ॥

रुद्राणामपि चेशानं गोप्तारं विदधे प्रभुम् ।
महात्मानं महादेवं विशालाक्षं सनातनम् ॥ ३० ॥

विशाल नेत्रोंवाले सनातन महात्मा महादेवजीने अपने आपको रुद्रोंका अधीश्वर तथा शक्तिशाली संरक्षक बनाया॥३०॥

वसिष्ठमीशं विप्राणां वसूनां जातवेदसम् ।
तेजसां भास्करं चक्रे नक्षत्राणां निशाकरम् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठको ब्राह्मणोंका, जातवेदा अग्निको वसुओंका, सूर्यको तेजस्वी ग्रहोंका और चन्द्रमाको नक्षत्रोंका अधिपति बनाया ॥

वीरुधामंशुमन्तं च भूतानां च प्रभुं वरम् ।
कुमारं द्वादशभुजं स्कन्दं राजानमादिशत् ॥ ३२ ॥

अंशुमान्‌को लताओंका तथा बारह भुजाओंसे विभूषित शक्तिशाली कुमार स्कन्दको भूतोंका श्रेष्ठ राजा नियुक्त किया। ३२।

कालं सर्वेशमकरोत् संहारविनयात्मकम् ।
मृत्योश्चतुर्विभागस्य दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ३३ ॥

संहार और विनय (उत्पादन) जिसका स्वरूप है, उस सर्वेश्वर कालको चार प्रकारकी मृत्युका, सुखका और दुःखका भी स्वामी बनाया ॥ ३३ ॥

ईश्वरः सर्वदेवस्तु राजराजो नराधिपः ।
सर्वेषामेव रुद्राणां शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

सबके देवता, राजाओंके राजा और मनुष्योंके अधिपति शूलपाणि भगवान् शिव स्वयं समस्त रुद्रोंके अधीश्वर हुए । ऐसा सुना जाता है॥ ३४ ॥

तमेनं ब्रह्मणः पुत्रमनुजातं क्षुपं ददौ ।
प्रजानामधिपं श्रेष्ठं सर्वधर्मभृतामपि ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीके छोटे पुत्र क्षुपको उन्होंने समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण धर्मधारियोंका श्रेष्ठ अधिपति बना दिया ॥ ३५ ॥

महादेवस्ततस्तस्मिन् वृत्ते यज्ञे यथाविधि ।
दण्डं धर्मस्य गोप्तारं विष्णवे सत्कृतं ददौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीका वह यज्ञ जब विधिपूर्वक सम्पन्न हो गया, तब महादेवजीने धर्मरक्षक भगवान् विष्णुका सत्कार करके उन्हें वह दण्ड समर्पित किया ॥ ३६ ॥

विष्णुरङ्गिरसे प्रादादङ्गिरा मुनिसत्तमः ।
प्रादादिन्द्रमरीचिभ्यां मरीचिर्भृगवे ददौ ॥ ३७ ॥

भगवान् विष्णुने उसे अङ्गिराको दे दिया । मुनिवर अङ्गिराने इन्द्र और मरीचिको दिया और मरीचिने भृगुको सौंप दिया ॥ ३७ ॥

भृगुर्ददावृषिभ्यस्तु दण्डं धर्मसमाहितम् ।
ऋषयो लोकपालेभ्यो लोकपालाः क्षुपाय च ॥ ३८ ॥
क्षुपस्तु मनवे प्रादादादित्यतनयाय च ।
पुत्रेभ्यः श्राद्धदेवस्तु सूक्ष्मधर्मार्थकारणात् ॥ ३९ ॥

भृगुने वह धर्मसमाहित दण्ड ऋषियोंको दिया। ऋषियोंने लोकपालोंको, लोकपालोंने क्षुपको, क्षुपने सूर्यपुत्र मनु (श्राद्ध-देव) को और श्राद्धदेवने सूक्ष्म धर्म तथा अर्थकी रक्षाके लिये उसे अपने पुत्रोंको सौंप दिया ॥ ३८-३९ ॥

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया ।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥ ४० ॥

अतः धर्मके अनुसार न्याय-अन्यायका विचार करके ही दण्डका विधान करना चाहिये, मनमानी नहीं करनी चाहिये। दुष्टोंका दमन करना ही दण्डका मुख्य उद्देश्य है। स्वर्णमुद्राएँ लेकर खजाना भरना नहीं। दण्डके तौरपर सुवर्ण (धन) लेना तो बाह्यअङ्ग—गौण कर्म है ॥ ४० ॥

व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात् ।
शरीरपीडास्तास्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥ ४१ ॥

किसी छोटे-से अपराधपर प्रजाका अङ्ग-भंग करना, उसे मार डालना, उसे तरह-तरहकी यातनाएँ देना तथा उसको देहत्यागके लिये विवश करना अथवा देशसे निकाल देना कदापि उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

तं ददौ सूर्यपुत्रस्तु मनुर्वै रक्षणार्थकम् ।
आनुपूर्व्याच्च दण्डोऽयं प्रजा जागर्ति पालयन् ॥ ४२ ॥

सूर्यपुत्र मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये ही अपने पुत्रोंके हाथोंमें दण्ड सौंपा था, वही क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकारियोंके हाथमें आकर प्रजाका पालन करता हुआ जागता रहता है ॥ ४२ ॥

इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः।
अग्नेर्जागर्ति वरुणो वरुणाच्च प्रजापतिः ॥ ४३ ॥

भगवान् इन्द्र दण्ड-विधान करनेमें सदा जागरूक रहते हैं। इन्द्रसे प्रकाशमान अग्नि, अग्निसे वरुण और वरुणसे प्रजापति उस दण्डको प्राप्त करके उसके यथोचित प्रयोगके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं ॥ ४३ ॥

प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विनयात्मकः।
धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः ॥ ४४ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्को शिक्षा देनेवाले हैं, वे धर्म प्रजापतिसे दण्डको ग्रहण करके प्रजाकी रक्षाके लिये सदा जागरूक रहते हैं। ब्रह्मपुत्र सनातन व्यवसाय वह दण्ड धर्मसे लेकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं ॥ ४४ ॥

व्यवसायात् ततस्तेजो जागर्ति परिपालयत्।
ओषध्यस्तेजसस्तस्मादोषधीभ्यश्च पर्वताः ॥ ४५ ॥
पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रसगुणात् तथा।
जागर्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि ॥ ४६ ॥

व्यवसायसे दण्ड लेकर तेज जगत्की रक्षा करता हुआ सजग रहता है। तेजसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे पर्वत, पर्वतोंसे रस, रससे निर्ऋति और निर्ऋतिसे ज्योतियाँ क्रमशः उस दण्डको हस्तगत करके लोक-रक्षाके लिये जागरूक बनी रहती हैं॥४५-४६॥

वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः।
ब्रह्मा पितामहस्तस्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः ॥ ४७ ॥

ज्योतियोंसे दण्ड ग्रहण करके वेद प्रतिष्ठित हुए हैं। वेदोंसे भगवान् हयग्रीव और हयग्रीवसे अविनाशी प्रभु ब्रह्मा वह दण्ड पाकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं ॥ ४७ ॥

पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवाञ्शिवः।
विश्वेदेवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः ॥ ४८ ॥
ऋषिभ्यो भगवान् सोमः सोमाद् देवाः सनातनाः।
देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय ॥ ४९ ॥

पितामह ब्रह्मासे दण्ड और रक्षाका अधिकार पाकर महान् देव भगवान् शिव जागते हैं। शिवसे विश्वेदेव, विश्वेदेवोंसे ऋषि, ऋषियोंसे भगवान् सोम, सोमसे सनातन देवगण और देवताओंसे ब्राह्मण वह अधिकार लेकर लोक-रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥४८-४९॥

ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान् रक्षन्ति धर्मतः।
स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे दण्डधारणका अधिकार पाकर क्षत्रिय धर्मानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करते हैं। क्षत्रियोंसे ही यह सनातन चराचर जगत् सुरक्षित होता रहा है ॥ ५० ॥

प्रजा जागर्ति लोकेऽस्मिन् दण्डो जागर्ति तासु च।
सर्वं संक्षिपते दण्डः पितामहसमप्रभः ॥ ५१ ॥

इस लोकमें प्रजा जागती है और प्रजाओंमें दण्ड जागता है। वह ब्रह्माजीके समान तेजस्वी दण्ड सबको मर्यादाके भीतर रखता है ॥ ५१ ॥

जागर्ति कालः पूर्वं च मध्ये चान्ते च भारत।
ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

भारत! यह कालरूप दण्ड सृष्टिके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें भी जागता रहता है। यह सर्वलोकेश्वर महादेवका स्वरूप है। यही समस्त प्रजाओंका पालक है ॥ ५२ ॥

देवदेवः शिवः सर्वो जागर्ति सततं प्रभुः।
कपर्दी शङ्करो रुद्रः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ५३ ॥

इस दण्डके रूपमें देवाधिदेव कल्याणस्वरूप सर्वात्मा प्रभु जटाजूटधारी उमावल्लभ दुःखहारी स्थाणुस्वरूप एवं लोक-मङ्गलकारी भगवान् शिव ही सदा जाग्रत् रहते हैं ॥ ५३ ॥

इत्येष दण्डो विख्यात आदौ मध्ये तथावरे।
भूमिपालो यथान्यायं वर्तेतानेन धर्मवित् ॥ ५४ ॥

इस तरह यह दण्ड आदि, मध्य और अन्तमें विख्यात है। धर्मज्ञ राजाको चाहिये कि इसके द्वारा न्यायोचित बर्ताव करे ॥

भीष्म उवाच

इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद् यो मतं नरः।
श्रुत्वा सम्यक् प्रवर्तेत सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जो नरेश इस प्रकार बताये हुए वसुहोमके इस मतको सुनता और सुनकर यथोचित बर्ताव करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

इति ते सर्वमाख्यातं यो दण्डो मनुजर्षभ।
नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत ॥ ५६ ॥

नरश्रेष्ठ! भरतनन्दन! जो दण्ड सम्पूर्ण धार्मिक जगत्को नियमके भीतर रखनेवाला है, उसके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें मैंने तुम्हें बता दीं ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डोत्पत्त्युपाख्याने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डकी उत्पत्तिकी कथाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२२॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्रिवर्गका विचार तथा पापके कारण पदच्युत हुए राजाके पुनरुत्थानके विषयमें आङ्गिरिष्ठ और कामन्दकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! मैं धर्म, अर्थ और कामके सम्बन्धमें आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किनपर अवलम्बित होनेपर लोकयात्राका पूर्णरूपसे निर्वाह होता है? ॥

धर्मार्थकामाः किंमूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः ।
अन्योन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

धर्म, अर्थ और कामका मूल क्या है ? इन तीनोंकी उत्पत्तिका कारण क्या है ? ये कहीं एक साथ मिले हुए और कहीं पृथक्-पृथक् क्यों रहते हैं ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये ।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! संसारमें जब मनुष्योंका चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी अर्थकी प्राप्तिका निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण तथा कर्मानुष्ठानवश धर्म, अर्थ और काम तीनों एक साथ मिले हुए प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥ ४ ॥

इनमें धर्म सदा ही अर्थकी प्राप्तिका कारण है और काम अर्थका फल कहलाता है, परंतु इन तीनोंका मूल कारण है संकल्प और संकल्प है विषयरूप ॥ ४ ॥

विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये ।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विषय पूर्णतः इन्द्रियोंके उपभोगमें आनेके लिये हैं । यही धर्म, अर्थ और कामका मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहा जाता है ॥ ५ ॥

धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते ।
कामो रतिफलश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥ ६ ॥

धर्मसे शरीरकी रक्षा होती है, धर्मका उपार्जन करनेके लिये ही अर्थकी आवश्यकता बतायी जाती है तथा कामका फल है रति । वे सभी रजोगुणमय हैं ॥ ६ ॥

संनिकृष्टांश्चरेदेतान् न चैतान् मनसा त्यजेत् ।
विमुक्तस्तपसा सर्वान् धर्मादीन् कामनैष्ठिकान्॥ ७ ॥

ये धर्म आदि जिस प्रकार संनिकृष्ट अर्थात् अपना वास्तविक हित करनेवाले हों, उसी रूपमें इनका सेवन करे अर्थात् इनको कल्याणसाधन बनाकर ही उपयोगमें लावे । मनद्वारा भी इनका त्याग न करे, फिर स्वरूपसे शरीरद्वारा त्याग करना तो दूरकी बात है । केवल तप अथवा विचारके द्वारा ही उनसे अपनेको मुक्त रखे अर्थात् आसक्ति और फलका त्याग करके ही इन सब धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिये ॥ ७ ॥

श्रेष्ठे बुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयान्नरः ।
कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्यर्थो न वा पुनः ॥ ८ ॥

आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर त्रिवर्गका सेवन किया जाय तो उसका पर्यवसान कल्याणमें ही होता है । यदि मनुष्य उसे प्राप्त कर सके तो बड़े सौभाग्यकी बात है । अर्थसिद्धिके लिये समझ-बूझकर धर्मानुष्ठान करनेपर भी कभी अर्थकी सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है ॥ ८ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमवाप्यार्थमन्यत्राद्योपकारकम् ।
बुद्ध्याबुद्धिरिहार्थे न तदज्ञाननिकृष्टया ॥ ९ ॥

इसके सिवा, कभी दूसरे-दूसरे उपाय भी अर्थके साधक हो जाते हैं और कभी अर्थसाधक कर्म भी विपरीत फल देनेवाला हो जाता है । कभी धन पाकर भी मनुष्य अनर्थकारी कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है और धनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे साधन हैं, वे धर्ममें सहायक हो जाते हैं । अतः धर्मसे धन होता है और धनसे धर्म, इस मान्यताके विषयमें अज्ञानमयी निकृष्ट बुद्धिसे मोहित हुआ मूढ मानव विश्वास नहीं रखता, इसलिये उसे दोनोंका फल सुलभ नहीं होता ॥ ९ ॥

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥ १० ॥

फलकी इच्छा धर्मका मल है, संगृहीत करके रखना अर्थका मल है और आमोद-प्रमोद कामका मल है, परंतु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषोंसे रहित हो तो कल्याणकारक होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कामन्दकस्य संवादमाङ्गरिष्ठस्य चोभयोः ॥ ११ ॥

इस विषयमें जानकार लोग राजा आङ्गरिष्ठ और कामन्दक मुनिका संवादरूप प्राचीन इतिहास सुनाया करते हैं ॥ ११ ॥

कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नराधिपः ।
आङ्गरिष्ठोऽथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्ययम् ॥ १२ ॥

एक समयकी बात है, कामन्दक ऋषि अपने आश्रममें बैठे थे । उन्हें प्रणाम करके राजा आङ्गरिष्ठने प्रश्नके उपयुक्त समय देखकर पूछा— ॥ १२ ॥

यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः ।
प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात् पापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥

'महर्षे ! यदि कोई राजा काम और मोहके वशीभूत होकर पाप कर बैठे, किंतु फिर उसे पश्चात्ताप होने लगे तो उसके उस पापको दूर करनेके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त है ? ॥

अधर्मं धर्म इति च योऽज्ञानादाचरेन्नरः ।
तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्तयेत् ॥ १४ ॥

'जो अज्ञानवश अधर्मको ही धर्म मानकर उसका आचरण कर रहा हो, उस लोकविख्यात सम्मानित पुरुषको राजा किस प्रकार उस अधर्मसे दूर हटावे ?' ॥ १४ ॥

कामन्दक उवाच

यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते ।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥ १५ ॥

कामन्दकने कहा—राजन् ! जो धर्म और अर्थका परित्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, उन दोनोंके त्यागसे उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः ।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १६ ॥

बुद्धिका नाश ही मोह है । वह धर्म और अर्थ दोनोंका विनाश करनेवाला है । इससे मनुष्यमें नास्तिकता आती है और वह दुराचारी हो जाता है ॥ १६ ॥

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान् न नियच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १७ ॥

जब राजा दुष्टों और दुराचारियोंको दण्ड देकर काबूमें नहीं करता है, तब सारी प्रजा घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उस राजासे उद्विग्न हो उठती है ॥ १७ ॥

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः ।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥ १८ ॥

उस दशामें प्रजा उसका साथ नहीं देती । साधु और ब्राह्मण भी उसका अनुसरण नहीं करते हैं । फिर तो उसका जीवन खतरेमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा वह प्रजाके ही हाथसे मारा भी जाता है ॥ १८ ॥

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति ।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १९ ॥

वह अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित होकर दुःखमय जीवन बिताता है । यदि पदभ्रष्ट होकर भी वह जीता है तो वह जीवन भी स्पष्टरूपमें मरण ही है ॥ १९ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम् ।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥

इस अवस्थामें आचार्यगण उसके लिये यह कर्तव्य बतलाते हैं कि वह अपने पापोंकी निन्दा करे, वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय करे और ब्राह्मणोंका सत्कार करे ॥ २० ॥

महामना भवेद् धर्मे विवहेच्च महाकुले ।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥ २१ ॥

धर्माचरणमें विशेष मन लगावे । उत्तम कुलमें विवाह करे । उदार एवं क्षमाशील ब्राह्मणोंकी सेवामें रहे ॥ २१ ॥

जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः ।
धर्मान्वितान् सम्प्रविशेद् बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥ २२ ॥

वह जलमें खड़ा होकर गायत्रीका जप करे । सदा प्रसन्न रहे । पापियोंको राज्यसे बाहर निकालकर धर्मात्मा पुरुषोंका संग करे ॥ २२ ॥

प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा ।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन् गुणान् ॥ २३ ॥

मीठी वाणी तथा उत्तम कर्मके द्वारा सबको प्रसन्न रखे, दूसरोंके गुणोंका बखान करे और सबसे यही कहे—मैं आपका ही हूँ—आप मुझे अपना ही समझें ॥ २३ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २४ ॥

जो राजा इस प्रकार अपना आचरण बना लेता है, वह शीघ्र ही निष्पाप होकर सबके सम्मानका पात्र बन जाता है । वह अपने कठिन-से-कठिन पापोंको भी शान्त (नष्ट) कर देता है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्तं तथा कुरु ।
गुरूणां हि प्रसादाद् वै श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

राजन् ! गुरुजन तुम्हारे लिये जिस उत्तम धर्मका उपदेश करें, उसका उसी रूपमें पालन करो । गुरुजनोंकी कृपासे तुम परम कल्याणके भागी होओगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कामन्दकाङ्गरिष्ठसंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कामन्दक और आङ्गरिष्ठका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और प्रह्लादकी कथा—शीलका प्रभाव, शीलके अभावमें धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीके न रहनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि ।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरश्रेष्ठ ! पितामह ! भूमण्डलके ये सभी मनुष्य सर्वप्रथम धर्मके अनुरूप शीलकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं; अतः इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो गया है ॥ १ ॥

यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! यदि मैं उसे जान सकूँ तो जिस प्रकार शीलकी उपलब्धि होती है, वह सब सुनना चाहता हूँ ॥

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ३ ॥

भारत ! वह शील कैसे प्राप्त होता है ? यह सुननेकी मेरी बड़ी इच्छा है । वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! उसका क्या लक्षण बताया गया है ? यह मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।

आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागताम् ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महाराज तव सभ्रातृकस्य ह ।
सभायां चाह वचनं तत् सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥
भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिं चाप्यनुत्तमाम् ।
दुर्योधनस्तदाऽऽसीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले महाराज ! भरतनन्दन ! पहले इन्द्रप्रस्थमें (राजसूययज्ञके समय) भाइयोंसहित तुम्हारी वैसी अद्भुत श्री-सम्पत्ति, वह परम उत्तम सभा और समृद्धि देखकर संतप्त हुए दुर्योधनने कौरवसभामें बैठकर पिता धृतराष्ट्रसे अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की—सारी मनोव्यथा कह सुनायी । उसने सभामें जो बातें कही थीं, वह सब सुनो ॥ ४–६ ॥

श्रुत्वा हि धृतराष्ट्रश्च दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत् कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने दुर्योधनकी बात सुनकर कर्णसहित उससे इस प्रकार कहा ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किमर्थं तप्यसे पुत्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग् भविष्यति ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! तुम किसलिये संतप्त हो रहे हो ? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ, सुनकर यदि उचित होगा तो तुम्हें समझानेका प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

त्वया च महदैश्वर्यं प्राप्तं परपुरञ्जय ।
किंकरा भ्रातरः सर्वे मित्रसम्बन्धिनः सदा ॥ ९ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले वीर ! तुमने भी तो महान् ऐश्वर्य प्राप्त किया है ? तुम्हारे समस्त भाई, मित्र और सम्बन्धी सदा तुम्हारी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥ ९ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥

तुम अच्छे-अच्छे वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, पिशितौदन खाते हो और 'आजानेय' अश्व (अरबी घोड़े) तुम्हारा रथ खींचते हैं, फिर तुम क्यों सफेद और दुबले हुए जाते हो ? ॥ १० ॥

दुर्योधन उवाच

दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ११ ॥

दुर्योधनने कहा—पिताजी ! युधिष्ठिरके महलमें दस हजार महामनस्वी स्नातक ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम् ।
अश्वांस्तित्तिरकल्माषान् वस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानामृद्धिं वैश्रवणीं शुभाम् ।
अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि भारत ॥ १३ ॥

भारत ! दिव्य फल-फूलोंसे सुशोभित वह दिव्य सभा, वे तीतरके समान रंगवाले चितकबरे घोड़े और वे भाँति-भाँतिके दिव्य वस्त्र (अपने पास कहाँ हैं ? वह सब) देखकर अपने शत्रु पाण्डवोंके उस कुबेरके समान शुभ एवं विशाल ऐश्वर्यका अवलोकन करके मैं निरन्तर शोकमें डूबा जा रहा हूँ ॥ १२-१३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात ! पुरुषसिंह ! बेटा ! युधिष्ठिरके पास जैसी सम्पत्ति है, वैसी या उससे भी बढ़कर राजलक्ष्मीको यदि तुम पाना चाहते हो तो शीलवान् बनो ॥१४॥

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥ १५ ॥

इसमें संशय नहीं है कि शीलके द्वारा तीनों लोकोंपर विजय पायी जा सकती है । शीलवानोंके लिये संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १५ ॥

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः ।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥ १६ ॥

मान्धाताने एक ही दिनमें, जनमेजयने तीन ही दिनोंमें और नाभागने सात दिनोंमें ही इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया था ॥ १६ ॥

एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः ।
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥ १७ ॥

ये सभी राजा शीलवान् और दयालु थे । अतः उनके द्वारा गुणोंके मोल खरीदी हुई यह पृथ्वी स्वयं ही उनके पास आयी थी ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
येन शीलेन तैः प्राप्ता क्षिप्रमेव वसुन्धरा ॥ १८ ॥

दुर्योधनने पूछा—भारत ! जिसके द्वारा उन राजाओंने शीघ्र ही भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लिया, वह शील कैसे प्राप्त होता है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भरतनन्दन ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जिसे नारदजीने पहले शीलके प्रसंगमें कहा था ॥ १९ ॥

प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशे कृतम् ॥ २० ॥

दैत्यराज प्रह्लादने शीलका ही आश्रय लेकर महामना महेन्द्रका राज्य हर लिया और तीनों लोकोंको भी अपने वशमें कर लिया ॥ २० ॥

ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः।
तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम्॥ २१॥

तब महाबुद्धिमान् इन्द्र हाथ जोड़कर बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हुए और उनसे बोले—'भगवन्! मैं अपने कल्याणका उपाय जानना चाहता हूँ' ॥ २१ ॥

ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम्।
कथयामास भगवान् देवेन्द्राय कुरूद्वह॥ २२॥

कुरुश्रेष्ठ! तब भगवान् बृहस्पतिने उन देवेन्द्रको कल्याणकारी परम ज्ञानका उपदेश दिया॥ २२॥

एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत।
इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति॥ २३॥

तत्पश्चात् इतना ही श्रेय (कल्याणका उपाय) है, ऐसा बृहस्पतिने कहा। तब इन्द्रने फिर पूछा—'इससे विशेष वस्तु क्या है?' ॥ २३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः।
अत्रागमय भद्रं ते भूय एव सुरर्षभ॥ २४॥

बृहस्पतिने कहा—तात! सुरश्रेष्ठ! इससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तुका ज्ञान महात्मा शुक्राचार्यको है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन्हींके पास जाकर पुनः उस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करो॥ २४॥

आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात् सुमहातपाः।
ज्ञानमागमयत् प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः॥ २५॥

तब परम तेजस्वी महातपस्वी इन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक शुक्राचार्यसे पुनः अपने लिये श्रेयका ज्ञान प्राप्त किया॥ २५॥

तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः॥ २६॥

महात्मा भार्गवने जब उन्हें उपदेश दे दिया, तब इन्द्रने पुनः शुक्राचार्यसे पूछा—'क्या इससे भी विशेष श्रेय है'? ॥

भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः।
ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत्॥ २७॥

तब सर्वज्ञ शुक्राचार्यने कहा—'महात्मा प्रह्लादको इससे विशेष श्रेयका ज्ञान है।' यह सुनकर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए॥

स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः।
गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम्॥ २८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रह्लादके पास गये और बोले—'राजन्! मैं श्रेय जानना चाहता हूँ' ॥ २८ ॥

प्रह्लादस्त्वब्रवीद् विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ।
त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते॥ २९॥

प्रह्लादने ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! त्रिलोकीके राज्यकी व्यवस्थामें व्यस्त रहनेके कारण मेरे पास समय नहीं है, अतः मैं आपको उपदेश नहीं दे सकूँगा' ॥ २९ ॥

ब्राह्मणस्त्वब्रवीद् राजन् यस्मिन् काले क्षणो भवेत्।
तदोपादेष्टुमिच्छामि यदाचर्यमनुत्तमम्॥ ३०॥

यह सुनकर ब्राह्मणने कहा—'राजन्! जब आपको अवसर मिले, उसी समय मैं आपसे सर्वोत्तम आचरणीय धर्मका उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ३० ॥

ततः प्रीतोऽभवद् राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा॥ ३१॥

ब्राह्मणकी इस बातसे राजा प्रह्लादको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली और शुभ समयमें उसे ज्ञानका तत्त्व प्रदान किया॥ ३१॥

ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम्।
चकार सर्वभावेन यदस्य मनसेप्सितम्॥ ३२॥

ब्राह्मणने भी उनके प्रति यथायोग्य परम उत्तम गुरु-भक्तिपूर्ण बर्ताव किया और उनके मनकी रुचिके अनुसार सब प्रकारसे उनकी सेवा की॥ ३२॥

पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमनुत्तमम्।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद् ब्रवीहि मे।
प्रह्लादोऽपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्॥ ३३॥

ब्राह्मणने प्रह्लादसे बारंबार पूछा—'धर्मज्ञ! आपको यह त्रिलोकीका उत्तम राज्य कैसे प्राप्त हुआ? इसका कारण मुझे बताइये। महाराज! तब प्रह्लाद भी ब्राह्मणसे इस प्रकार बोले—॥

प्रह्लाद उवाच

नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च॥ ३४॥

प्रह्लादने कहा—विप्रवर! 'मैं राजा हूँ' इस अभिमानमें आकर कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता; बल्कि जब वे मुझे शुक्रनीतिका उपदेश करते हैं, तब मैं संयमपूर्वक उनकी बातें सुनता हूँ और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा।
ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम्॥ ३५॥
धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥ ३६॥

वे ब्राह्मण विश्वस्त होकर मुझे नीतिका उपदेश देते और सदा संयममें रखते हैं। मैं सदा ही यथाशक्ति शुक्राचार्यके बताये हुए नीतिमार्गपर चलता, ब्राह्मणोंकी सेवा करता, किसीके दोष नहीं देखता और धर्ममें मन लगाता हूँ। क्रोधको जीतकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें किये रहता हूँ। अतः जैसे मधुकी मक्खियाँ शहदके छत्तेको फूलोंके रससे सींचती रहती हैं, उसी प्रकार उपदेश देनेवाले ब्राह्मण मुझे शास्त्रके अमृतमय वचनोंसे सींचा करते हैं॥ ३५-३६॥

सोऽहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः॥ ३७॥

मैं उनकी नीति-विद्याओंके रसका आस्वादन करता हूँ

और जैसे चन्द्रमा नक्षत्रोंपर शासन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनी जातिवालोंपर राज्य करता हूँ ॥ ३७ ॥

एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद् ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके मुखमें जो शुक्राचार्यका नीतिवाक्य है, यही इस भूतलपर अमृत है, यही सर्वोत्तम नेत्र है। राजा इसे सुनकर इसीके अनुसार बर्ताव करे ॥ ३८ ॥

एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

इतना ही श्रेय है, यह बात प्रह्लादने उस ब्रह्मवादी ब्राह्मणसे कहा। इसके बाद भी उसके सेवा-शुश्रूषा करनेपर दैत्यराजने उससे यह बात कही—॥ ३९ ॥

यथावद् गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदातास्मि न संशयः ॥ ४० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे द्वारा की हुई यथोचित गुरुसेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। मैं उसे दूँगा। इसमें संशय नहीं है' ॥ ४० ॥

कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत् प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४१ ॥

तब उस ब्राह्मणने दैत्यराजसे कहा—'आपने मेरी सारी अभिलाषा पूर्ण कर दी'। यह सुनकर प्रह्लाद और भी प्रसन्न हुए और बोले—'कोई वर अवश्य माँगो' ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण उवाच

यदि राजन् प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण बोला—राजन् ! यदि आप प्रसन्न हैं और मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका ही शील प्राप्त करनेकी इच्छा है, यही मेरा वर है ॥ ४२ ॥

ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याभवन्महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजायमित्युत ॥ ४३ ॥

यह सुनकर दैत्यराज प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए; परंतु उनके मनमें बड़ा भारी भय समा गया। ब्राह्मणके वर माँगनेपर वे सोचने लगे कि यह कोई साधारण तेजवाला पुरुष नहीं है ॥

एवमस्त्विति स प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४४ ॥

फिर भी 'एवमस्तु' कहकर प्रह्लादने वह वर दे दिया। उस समय उन्हें बड़ा विस्मय हो रहा था। ब्राह्मणको वह वर देकर वे बहुत दुखी हो गये ॥ ४४ ॥

दत्ते वरे गते विप्रे चिन्ताऽऽसीन्महती तदा ।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥

महाराज ! वर देनेके पश्चात् जब ब्राह्मण चला गया, तब प्रह्लादको बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—क्या करना चाहिये ? परंतु किसी निश्चयपर पहुँच न सके ॥ ४५ ॥

तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति ।
तेजो विग्रहवत् तात शरीरमजहात् तदा ॥ ४६ ॥

तात ! वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके शरीरसे परम कान्तिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसने उनके शरीरको त्याग दिया था ॥ ४६ ॥

तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति ।
प्रत्याहतं तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया॥ ४७ ॥

प्रह्लादने उस विशालकाय पुरुषसे पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'मैं शील हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया है, इसलिये मैं जा रहा हूँ' ॥ ४७ ॥

तस्मिन् द्विजोत्तमे राजन् वत्स्याम्यहमनिन्दिते ।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः॥ ४८ ॥

'राजन् ! अब मैं उस अनिन्दित श्रेष्ठ ब्राह्मणके शरीरमें निवास करूँगा, जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहाँ बड़ी सावधानीके साथ रहता था' ॥ ४८ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितं तद् वै शक्रं चान्वाविशत् प्रभो ।
तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत् ।
धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥ ५० ॥
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ।

प्रभो ! ऐसा कहकर शील अदृश्य हो गया और इन्द्रके शरीरमें समा गया। उस तेजके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ। प्रह्लादने पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'प्रह्लाद ! मुझे धर्म समझो। जहाँ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है, वहीं जाऊँगा। दैत्यराज ! जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ' ॥ ४९-५०½ ॥

ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ५१ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ।

महाराज ! तदनन्तर महात्मा प्रह्लादके शरीरसे एक तीसरा पुरुष प्रकट हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ॥ ५१½ ॥

को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ॥ ५२ ॥
सत्यं विद्ध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम् ।

'आप कौन हैं ?' यह प्रश्न होनेपर उस महातेजस्वीने उन्हें उत्तर दिया—'असुरेन्द्र ! मुझे सत्य समझो ! मैं अब धर्मके पीछे-पीछे जाऊँगा' ॥ ५२½ ॥

तस्मिन्ननुगते सत्ये महान् वै पुरुषोऽपरः ॥ ५३ ॥
निश्चक्राम ततस्तस्मात् पृष्टश्चाह महाबलः ।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५४ ॥

सत्यके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा महापुरुष प्रकट हुआ। परिचय पूछनेपर उस महाबलीने उत्तर दिया—

प्रह्लाद ! मुझे सदाचार समझो। जहाँ सत्य होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ ॥ ५३-५४ ॥

तस्मिन् गते महाशब्दः शरीरात् तस्य निर्ययौ।
पृष्टश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥ ५५ ॥

उसके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे महान् शब्द करता हुआ पुनः एक पुरुष प्रकट हुआ। उसने पूछनेपर बताया—'मुझे बल समझो। जहाँ सदाचार होता है, वहीं मेरा भी स्थान है' ॥ ५५ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप।
ततः प्रभामयी देवी शरीरात् तस्य निर्ययौ ॥ ५६ ॥
तामपृच्छत् स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत्।
उषितास्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ५७ ॥
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम्।

नरेश्वर ! ऐसा कहकर बल सदाचारके पीछे चला गया। तत्पश्चात् प्रह्लादके शरीरसे एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई। दैत्यराजने उससे पूछा—'आप कौन हैं ?' वह बोली—'मैं लक्ष्मी हूँ। सत्यपराक्रमी वीर ! मैं स्वयं ही आकर तुम्हारे शरीरमें निवास करती थी, परंतु अब तुमने मुझे त्याग दिया; इसलिये चली जाऊँगी; क्योंकि मैं बलकी अनुगामिनी हूँ' ॥५६-५७½॥

ततो भयं प्रादुरासीत् प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ५८ ॥
अपृच्छत् स ततो भूयः क्व यासि कमलालये।
त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी।
कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५९ ॥

तब महात्मा प्रह्लादको बड़ा भय हुआ। उन्होंने पुनः पूछा—'कमलालये ! तुम कहाँ जा रही हो, तुम तो सत्यव्रता देवी और सम्पूर्ण जगत्‌की परमेश्वरी हो। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था ? यह मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ' ॥ ५८-५९ ॥

श्रीरुवाच

स शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः।
त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्यं तत् तेनापहृतं प्रभो ॥ ६० ॥

लक्ष्मीने कहा—प्रभो ! तुमने जिसे उपदेश दिया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् इन्द्र थे। तीनों लोकोंमें जो तुम्हारा ऐश्वर्य फैला हुआ था, वह उन्होंने हर लिया ॥ ६० ॥

शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः।
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ६१ ॥

धर्मज्ञ ! तुमने शीलके द्वारा ही तीनों लोकोंपर विजय पायी थी। प्रभो ! यह जानकर ही सुरेन्द्रने तुम्हारे शीलका अपहरण कर लिया है ॥ ६१ ॥

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६२ ॥

महाप्राज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी)—ये सब सदा शीलके ही आधारपर रहते हैं—शील ही इन सबकी जड़ है। इसमें संशय नहीं है ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा गता श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद् वचः ॥ ६३ ॥
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन।
प्राप्यते च यथा शीलं तं चोपायं वदस्व मे ॥ ६४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यों कहकर लक्ष्मी तथा वे शील आदि समस्त सद्गुण इन्द्रके पास चले गये। इस कथाको सुनकर दुर्योधनने पुनः अपने पितासे कहा—'कौरवनन्दन ! मैं शीलका तत्त्व जानना चाहता हूँ। शील जिस तरह प्राप्त हो सके, वह उपाय भी मुझे बताइये' ॥६३-६४॥

धृतराष्ट्र उवाच

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ॥ ६५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—नरेश्वर ! शीलका स्वरूप और उसे पानेका उपाय—ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लादने पहले ही बतायी हैं। मैं संक्षेपसे शीलकी प्राप्तिका उपायमात्र बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ६५ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥ ६६ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दया करना और यथाशक्ति दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं ॥ ६६ ॥

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥ ६७ ॥

अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके लिये हितकर न हो अथवा जिसे करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये ॥ ६७ ॥

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥ ६८ ॥

जो कर्म जिस प्रकार करनेसे भरी सभामें मनुष्यकी प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिये। कुरुश्रेष्ठ ! यह तुम्हें थोड़ेमें शीलका स्वरूप बताया गया है ॥ ६८ ॥

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित्।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥ ६९ ॥

तात ! नरेश्वर ! यद्यपि कहीं-कहीं शीलहीन मनुष्य भी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूलसहित नष्ट हो जाते हैं ॥

एतद् विदित्वा तत्त्वेन शीलवान् भव पुत्रक।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात्॥ ७० ॥

बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिरसे भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त करना चाहो तो इस उपदेशको यथार्थरूपसे समझकर शीलवान् बनो ॥ ७० ॥

भीष्म उवाच

एतत् कथितवान् पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिपः।
एतत् कुरुष्व कौन्तेय ततः प्राप्स्यसि तत् फलम्॥७१॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको यह उपदेश दिया था। तुम भी इसका आचरण करो, इससे तुम्हें भी वही फल प्राप्त होगा॥७१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि शीलवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें शीलवर्णनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१२४॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका आशाविषयक प्रश्न—उत्तरमें राजा सुमित्र और ऋषभ नामक ऋषिके इतिहासका आरम्भ, उसमें राजा सुमित्रका एक मृगके पीछे दौड़ना

युधिष्ठिर उवाच

शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तद् वदस्व मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने पुरुषमें शीलको ही प्रधान बताया है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आशाकी उत्पत्ति कैसे हुई? आशा क्या है? यह भी मुझे बताइये॥१॥

संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह।
छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरञ्जय॥ २॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले पितामह! मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है। इसका निवारण करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है॥२॥

पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने।
प्राप्ते युद्धे तु तद् युक्तं तत् कर्तायमिति प्रभो॥ ३॥

पितामह! दुर्योधनपर मेरी बड़ी भारी आशा थी कि युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर वह उचित कार्य करेगा। प्रभो! मैं समझता था कि वह युद्ध किये बिना ही मुझे आधा राज्य लौटा देगा॥३॥

सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः॥ ४॥

प्रायः सभी मनुष्योंके हृदयमें कोई-न-कोई बड़ी आशा पैदा होती ही है। उसके भङ्ग होनेपर महान् दुःख होता है। किसी-किसीकी मृत्युतक हो जाती है, इसमें संशय नहीं है॥

सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम॥ ५॥

राजेन्द्र! उस दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रने मुझ दुर्बुद्धिको हताश कर दिया। देखिये, मैं कैसा मन्दभाग्य हूँ॥५॥

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात्।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः॥ ६॥

राजन्! मैं आशाको वृक्षसहित पर्वतसे भी बहुत बड़ी मानता हूँ अथवा वह आकाशसे भी बढ़कर अप्रमेय है॥६॥

एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद् दुर्लभं ततः॥ ७॥

कुरुश्रेष्ठ! वह अचिन्त्य और परम दुर्लभ है—उसे जीतना कठिन है। उसके दुर्लभ या दुर्जय होनेके कारण ही मैं उसे इतनी बड़ी देखता और समझता हूँ। भला, आशासे बढ़कर दुर्लभ और क्या है?॥७॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत्।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च॥ ८॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें मैं राजा सुमित्र तथा ऋषभ मुनिका पूर्वघटित इतिहास तुम्हें बताऊँगा। उसे ध्यान देकर सुनो॥८॥

सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः।
ससार स मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा॥ ९॥

राजर्षि सुमित्र हैहयवंशी राजा थे। एक दिन वे शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक मृगको घायल करके उसका पीछा करना आरम्भ किया॥९॥

स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः।
स च राजा बलात् तूर्णं ससार मृगयूथपम्॥ १०॥

वह मृग बहुत तेज दौड़नेवाला था। वह राजाका बाण लिये-दिये भाग निकला। राजाने भी बलपूर्वक मृगोंके उस यूथपतिका तुरंत पीछा किया॥१०॥

ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः।
मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथागमत्॥ ११॥

राजेन्द्र! शीघ्रतापूर्वक भागनेवाला वह मृग वहाँसे नीची भूमिकी ओर दौड़ा। फिर दो ही घड़ीमें वह समतल मार्गसे भागने लगा॥११॥

ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च।
ससार बाणासनभृत् सखड्गोऽसौ तनुत्रवान्॥ १२॥

राजा भी नौजवान और हार्दिक बलसे सम्पन्न थे, उन्होंने कवच बाँध रक्खा था। वे धनुष-बाण और तलवार लिये उसका पीछा करने लगे॥१२॥

ततो नदान् नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः॥ १३॥

उधर वह वनमें विचरनेवाला मृग अकेला ही अनेकों नदों, नदियों, गड्ढों और जङ्गलोंको बारंबार लाँघता हुआ आगे-आगे भागता जा रहा था ॥ १३ ॥

स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम्।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥ १४ ॥

राजन्! वह वेगशाली मृग अपनी इच्छासे ही राजाके निकट आ-आकर पुनः बड़े वेगसे आगे भागता था ॥ १४॥

स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र! यद्यपि राजाके बहुत-से बाण उसके शरीरमें धँस गये थे, तथापि वह वनचारी मृग खेल करता हुआ-सा बारंबार उनके निकट आ जाता था ॥ १५ ॥

पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! वह मृग-समूहोंका सरदार था। उसका वेग बड़ा तीव्र था। वह बारंबार बड़े वेगसे छलाँग मारता और दूरतककी भूमि लाँघ-लाँघकर पुनः निकट आ जाता था ॥ १६ ॥

तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णं चामित्रकर्शनः।
समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथासृजत् ॥ १७ ॥

तब शत्रुसूदन नरेशने एक बड़ा भयंकर तीखा बाण हाथमें लिया, जो मर्मस्थलोंको विदीर्ण कर देनेवाला था। उस श्रेष्ठ बाणको उन्होंने धनुषपर रक्खा ॥ १७ ॥

ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः।
तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान् प्रहसन्निव ॥ १८ ॥

यह देख मृगोंका वह यूथपति राजाके बाणका मार्ग छोड़कर दो कोस दूर जा पहुँचा और हँसता हुआ-सा खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥

जब राजाका वह तेजस्वी बाण पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब मृग एक महान् वनमें घुस गया, राजाने उस समय भी उसका पीछा नहीं छोड़ा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा सुमित्रका मृगकी खोज करते हुए तपस्वी मुनियोंके आश्रमपर पहुँचना और उनसे आशाके विषयमें प्रश्न करना

भीष्म उवाच

प्रविश्य स महारण्यं तापसानामथाश्रमम्।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत् तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस महान् वनमें प्रवेश करके राजा सुमित्र तापसोंके आश्रमपर जा पहुँचे और वहाँ थककर बैठ गये ॥ १ ॥

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ २ ॥

वे परिश्रमसे पीड़ित और भूखसे व्याकुल हो रहे थे। उस अवस्थामें धनुष धारण किये राजा सुमित्रको देखकर बहुत-से ऋषि उनके पास आये और सबने मिलकर उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ २ ॥

स पूजामृषिभिर्दत्तां सम्प्रगृह्य नराधिपः।
अपृच्छत् तापसान् सर्वांस्तपसो वृद्धिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

ऋषियोंद्वारा किये गये उस स्वागत-सत्कारको ग्रहण करके राजाने भी उन सब तापसोंसे उनकी तपस्याकी भलीभाँति वृद्धि होनेका समाचार पूछा ॥ ३ ॥

ते तस्य राज्ञो वचनं सम्प्रगृह्य तपोधनाः।
ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन् प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन तपस्याके धनी महर्षियोंने राजाके वचनोंको सादर ग्रहण करके उन नृपश्रेष्ठसे वहाँ आनेका प्रयोजन पूछा ॥ ४॥

केन भद्र सुखार्थेन सम्प्राप्तोऽसि तपोवनम्।
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर ॥ ५ ॥

'कल्याणस्वरूप नरेश्वर! किस सुखके लिये आप इस तपोवनमें तलवार बाँधे धनुष और बाण लिये पैदल ही चले आये हैं? ॥ ५॥

एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद।
कस्मिन् कुले तु जातस्त्वं किंनामा चासि ब्रूहि नः ॥ ६ ॥

'मानद! हम यह सब सुनना चाहते हैं, आप कहाँसे पधारे हैं? किस कुलमें आपका जन्म हुआ है? तथा आपका नाम क्या है? ये सारी बातें हमें बताइये' ॥ ६॥

ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ।
आचचक्षे यथान्यायं परिचर्यां च भारत ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर भरतनन्दन! तदनन्तर राजा सुमित्रने उन समस्त ब्राह्मणोंसे यथोचित बात कही और अपना कार्यक्रम बताया— ॥ ७ ॥

हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः।
चरामि मृगयूथानि निघ्नन् बाणैः सहस्रशः ॥ ८ ॥

'तपोधनो! मेरा जन्म हैहय-कुलमें हुआ है। मैं मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाला राजा सुमित्र हूँ और सहस्रों बाणोंके

आघातसे मृग-समूहोंका विनाश करता हुआ विचर रहा हूँ॥

बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः।
मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान्॥ ९॥

'मेरे साथ बहुत बड़ी सेना थी। उसके द्वारा सुरक्षित हो मैं मन्त्री और अन्तःपुरके साथ आया था, परंतु मेरे बाणोंसे घायल हुआ एक मृग बाणसहित इधर ही भाग निकला॥

तं द्रवन्तमनुप्राप्तो वनमेतद् यदृच्छया।
भवत्सकाशं नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः॥ १०॥

'उस भागते हुए मृगके पीछे मैं अकस्मात् इस वनमें आपलोगोंके समीप आ पहुँचा हूँ। मेरी सारी शोभा नष्ट हो गयी है। मैं हताश होकर भारी परिश्रमसे कष्ट पा रहा हूँ॥ १०॥

किं नु दुःखमतोऽन्यद् वै यदहं श्रमकर्शितः।
भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो भ्रष्टलक्षणः॥ ११॥

'मैंने परिश्रमके कारण जो इतना कष्ट पाया है और अपने राजचिह्नोंसे भ्रष्ट होकर एक हताशकी भाँति आपके आश्रममें पैर रक्खा है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?॥

न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः।
दुःखं करोति तत् तीव्रं यथाऽऽशा विहता मम॥ १२॥

'तपोधनो! नगर तथा राजचिह्नोंका परित्याग मुझे वैसा तीव्र कष्ट नहीं दे रहा है, जैसा कि मेरी भग्न हुई आशा दे रही है॥ १२॥

हिमवान् वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा॥ १३॥
आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः।
भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः॥ १४॥

'महान् पर्वत हिमालय अथवा अगाध जलराशि समुद्र अपनी विशालताके द्वारा आशाकी समानता नहीं कर सकते। तपस्यामें श्रेष्ठ तपोधनो! जैसे आकाशका कहीं अन्त नहीं है, उसी प्रकार मैं आशाका अन्त नहीं पा सका हूँ। आपको तो सब कुछ मालूम ही है; क्योंकि तपोधन मुनि सर्वज्ञ होते हैं॥

भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात् पृच्छामि संशयम्।
आशावान् पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा॥ १५॥
किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात् प्रतिभाति वः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम्॥ १६॥

'आप महान् सौभाग्यशाली तपस्वी हैं; इसलिये मैं आपसे अपने मनका संदेह पूछता हूँ। एक ओर आशावान् पुरुष हो और दूसरी ओर अनन्त आकाश हो तो जगत्में महत्ताकी दृष्टिसे आपलोगोंको कौन बड़ा जान पड़ता है? मैं इस बातको तत्त्वसे सुनना चाहता हूँ। भला, यहाँ आकर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रहेगी?॥ १५-१६॥

यदि गुह्यं न वो नित्यं तदा प्रब्रूत मा चिरम्।
न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्भ्यो द्विजसत्तमाः॥१७॥

'यदि आपके लिये सदा यह कोई गोपनीय रहस्य न हो तो शीघ्र इसका वर्णन कीजिये। विप्रवरो! मैं आपलोगोंसे ऐसी कोई बात नहीं सुनना चाहता, जो गोपनीय रहस्य हो॥

भवत् तपोविघातो वा यदि स्याद् विरमे ततः।
यदि वास्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः॥ १८॥
एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
भवन्तोऽपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत् समन्विताः॥ १९॥

'यदि मेरे इस प्रश्नसे आपलोगोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ रहा हो तो मैं इससे विराम लेता हूँ और यदि आपके पास बातचीतका समय हो तो जो प्रश्न मैंने उपस्थित किया है, इसका आप समाधान करें। मैं इस आशाके कारण और सामर्थ्यके विषयमें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। आपलोग भी सदा तपमें संलग्न रहनेवाले हैं; अतः एकत्र होकर इस प्रश्नका विवेचन करें'॥ १८-१९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१२६॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभका राजा सुमित्रको वीरद्युम्न और तनु मुनिका वृत्तान्त सुनाना

भीष्म उवाच

ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः।
ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर उन समस्त ऋषियोंमेंसे मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि ऋषभने विस्मित होकर इस प्रकार कहा—॥ १॥

पुराहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन् प्रभो।
समासादितवान् दिव्यं नरनारायणाश्रमम्॥ २॥

'नृपश्रेष्ठ! पहलेकी बात है, मैं सब तीर्थोंमें विचरण करता हुआ भगवान् नरनारायणके दिव्य आश्रममें जा पहुँचा॥२॥

यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा।
यत्र चाश्वशिरा राजन् वेदान् पठति शाश्वतान्॥ ३॥

'राजन्! जहाँ वह रमणीय बदरीका वृक्ष है, जहाँ वैहायस[1] कुण्ड है तथा जहाँ अश्वशिरा (हयग्रीव) सनातन वेदोंका

१. विहायसा गच्छन्त्या मन्दाकिन्या वैहायस्त्वा अयं वैहायसः अर्थात् आकाशमार्गसे गमन करनेवाली मन्दाकिनी या आकाश गङ्गाका नाम वैहायसी है। वहींके जलसे भरा होनेके कारण वह कुण्ड वैहायस कहलाता है। बदरिकाश्रममें गङ्गाका नाम अलकनन्दा है।

पाठ करते हैं (वहीं नरनारायणाश्रम है) ॥ ३ ॥

तस्मिन् सरसि कृत्वाहं विधिवत् तर्पणं पुरा।
पितृणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा ॥ ४ ॥
रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी।

उस वैहायस कुण्डमें स्नान करके मैंने विधिपूर्वक देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। उसके बाद उस आश्रममें प्रवेश किया, जहाँ मुनिवर नर और नारायण नित्य सानन्द निवास करते हैं ॥ ४½ ॥

अदूरादाश्रमं कञ्चिद् वासार्थमगमं तदा ॥ ५ ॥
तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम् ॥ ६ ॥

उसके बाद वहाँसे निकट ही एक दूसरे आश्रममें मैं ठहरनेके लिये गया। वहाँ मुझे तनु नामवाले एक तपोधन ऋषि आते दिखायी दिये, जो चीर और मृगचर्म धारण किये हुए थे। उनका शरीर बहुत ऊँचा और अत्यन्त दुर्बल था॥

अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम्।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥ ७ ॥

महाबाहो! उन महर्षिका शरीर दूसरे मनुष्योंसे आठ गुना लंबा था। राजर्षे! मैंने उनकी-जैसी दुर्बलता कहीं भी नहीं देखी है ॥ ७ ॥

शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम्।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र! उनका शरीर भी कनिष्ठिका अङ्गुलीके समान पतला था। उनकी गर्दन, दोनों भुजाएँ, दोनों पैर और सिरके बाल भी अद्भुत दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च।
तस्य वाक्चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥

शरीरके अनुरूप ही उनके मस्तक, कान और नेत्र भी थे। नृपश्रेष्ठ! उनकी वाणी और चेष्टा साधारण थी ॥ ९ ॥

दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥ १० ॥

मैं उन दुबले-पतले ब्राह्मणको देखकर डर गया और मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया; फिर उनके चरणोंमें प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया ॥१०॥

निवेद्य नामगोत्रे च पितरं च नरर्षभ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ! उनके सामने नाम, गोत्र और पिताका परिचय देकर उन्हींके दिये हुए आसनपर धीरेसे बैठ गया ॥ ११ ॥

ततः स कथयामास कथां धर्मार्थसंहिताम्।
ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

महाराज! तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु ऋषियोंके बीचमें बैठकर धर्म और अर्थसे युक्त कथा कहने लगे ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः ॥ १३ ॥

उनके कथा कहते समय ही कमलके समान नेत्रोंवाले एक नरेश वेगशाली घोड़ोंद्वारा अपनी सेना और अन्तःपुरके साथ वहाँ आ पहुँचे ॥ १३ ॥

स्मरन् पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान् वीरद्युम्नो महायशाः ॥ १४ ॥

उनका पुत्र जंगलमें खो गया था। उसकी याद करके वे बहुत दुखी हो रहे थे। उनके पुत्रका नाम था भूरिद्युम्न और वे उसके महायशस्वी पिता श्रीमान् वीरद्युम्न थे ॥ १४॥

इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः।
एवमाशाहतो राजा चरन् वनमिदं पुरा ॥ १५ ॥

यहाँ उस पुत्रको अवश्य देखूँगा। यहाँ वह निश्चय ही दिखायी देगा। इसी आशासे बँधे हुए पृथ्वीपति राजा वीरद्युम्न उन दिनों उस वनमें विचर रहे थे ॥ १५ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत् तदा ॥ १६ ॥

'वह बड़ा धर्मात्मा था। अब उसका दर्शन होना अवश्य ही मेरे लिये दुर्लभ है। एक ही बेटा था, वह भी इस विशाल वनमें खो गया' इन्हीं बातोंको वे बार-बार दुहराते थे ॥ १६ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

'मेरे लिये उसका दर्शन दुर्लभ है तो भी मेरे मनमें उसके मिलनेकी बड़ी भारी आशा लगी हुई है। उस आशाने मेरे सम्पूर्ण शरीरपर अधिकार कर लिया है। इसमें संदेह नहीं कि मैं उसके लिये मौतको भी स्वीकार कर लेना चाहता हूँ'॥

एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥

राजाकी यह बात सुनकर मुनियोंमें श्रेष्ठ भगवान् तनु नीचे सिर किये ध्यानमग्न हो दो घड़ीतक चुपचाप बैठे रह गये ॥ १८ ॥

तमनुध्यान्तमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः।
उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दं मन्दमिवासकृत् ॥ १९ ॥

उनको चिन्तन करते देख परम दुखी हुए नरेश दीनहृदय हो मन्द-मन्द वाणीमें बारंबार इस प्रकार कहने लगे—॥ १९ ॥

दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत्।
ब्रवीतु भगवानेतद् यदि गुह्यं न ते मयि ॥ २० ॥

'देवर्षे! कौन वस्तु दुर्लभ है? और आशासे भी बड़ा क्या है? यदि आपकी दृष्टिमें यह बात मुझसे छिपाने योग्य न हो तो आप इसे अवश्य बतावें' ॥ २० ॥

मुनिरुवाच

महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद् विमानितः।

बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयाऽऽत्मनः॥ २१ ॥

तब मुनिने कहा—राजन् ! आपके उस पुत्रने पहले कभी मूढ़ बुद्धिका आश्रय लेकर अपने दुर्भाग्यके कारण एक पूजनीय महर्षिका अपमान कर दिया था ॥ २१ ॥

अर्थयन् कलशं राजन् काञ्चनं वल्कलानि च ।
अवज्ञापूर्वकेनापि न सम्पादितवांस्ततः ।
निर्विण्णः स तु विप्रर्षिर्निराशः समपद्यत ॥ २२ ॥

राजन् ! वे उससे एक सुवर्णमय कलश और वल्कल माँग रहे थे। आपके पुत्रने अवहेलना करके भी महर्षिकी वह इच्छा पूरी नहीं की; इससे वे विप्र ऋषि अत्यन्त खिन्न और निराश हो गये थे ॥ २२ ॥

एवमुक्तोऽभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम् ।
श्रान्तोऽवसीदद् धर्मात्मा यथा त्वं नरसत्तम ॥ २३ ॥

(ऋषभ कहते हैं-) नरश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर उन लोकपूजित महर्षिको प्रणाम करके धर्मात्मा राजा वीरद्युम्न तुम्हारे ही समान थककर शिथिल हो गये ॥ २३ ॥

अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महानृषिः ।
आरण्यकेनैव विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षिने तपोवनमें प्रचलित शिष्टाचारकी विधिसे राजाको पाद्य और अर्घ्य आदि सब वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ २४ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम् ।
उपाविशन् नरव्याघ्र सप्तर्षय इव ध्रुवम् ॥ २५ ॥

पुरुषसिंह ! तब वे सभी मुनि नरश्रेष्ठ वीरद्युम्नको सब ओरसे घेरकर उनके पास बैठ गये, मानो सप्तर्षि ध्रुवको चारों ओरसे घेरकर शोभा पा रहे हों ॥ २५ ॥

अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम् ।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य निवेशने ॥ २६ ॥

उन सबने वहाँ उन अपराजित नरेशसे उस आश्रमपर पधारनेका सारा प्रयोजन पूछा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२७॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

तनुमुनिका राजा वीरद्युम्नको आशाके स्वरूपका परिचय देना और ऋषभके उपदेशसे सुमित्रका आशाको त्याग देना

राजोवाच

वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाहं दिक्षु विश्रुतः ।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः ॥ १ ॥

राजाने कहा—मुने ! मैं सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात वीरद्युम्न नामक राजा हूँ और खोये हुए अपने पुत्र भूरिद्युम्नकी खोज करनेके लिये वनमें आया हूँ ॥ १ ॥

एकः पुत्रः स विप्राग्र्य बाल एव च मेऽनघ ।
न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चराम्यहम् ॥ २ ॥

निष्पाप विप्रवर ! मेरे एक ही वह पुत्र था। वह भी बालक ही था। इस वनमें आनेपर वह कहीं दिखायी नहीं दे रहा है, उसीको खोजनेके लिये मैं चारों ओर विचर रहा हूँ ॥ २ ॥

ऋषभ उवाच

इत्येवमुक्ते वचने राज्ञा मुनिरधोमुखः ।
तूष्णीमेवाभवत् तत्र न च प्रत्युक्तवान् नृपम् ॥ ३ ॥

ऋषभ कहते हैं—राजन् ! राजाके ऐसा कहनेपर वे मुनि नीचे मुँह किये चुपचाप बैठे ही रह गये। राजाको कुछ उत्तर न दे सके ॥ ३ ॥

स हि तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः ।
आशाकृतश्च राजेन्द्र तपो दीर्घं समाश्रितः ॥ ४ ॥
प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथञ्चन ।
अन्येषां चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें कभी उसी राजाने उन्हीं ऋषिका विशेष आदर नहीं किया था। उनकी आशा भंग कर दी थी। इससे वे मुनि 'मैं किसी प्रकार भी किसी राजा या दूसरे वर्णके लोगोंका दिया हुआ दान नहीं ग्रहण करूँगा' ऐसा निश्चय करके दीर्घकालीन तपस्यामें लग गये थे ॥ ४-५ ॥

आशा हि पुरुषं बालमुत्थापयति तस्थुषी ।
तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः ।
वीरद्युम्नस्तु तं भूयः पप्रच्छ मुनिसत्तमम् ॥ ६ ॥

बहुत कालतक रहनेवाली आशा मूर्ख मनुष्यको ही उद्यमशील बनाती है। मैं उसे दूर कर दूँगा। ऐसा निश्चय करके वे तपस्यामें स्थिर हो गये थे। इधर वीरद्युम्नने उन मुनिश्रेष्ठसे पुनः प्रश्न किया ॥ ६ ॥

राजोवाच

आशायाः किं कृशत्वं च किं चेह भुवि दुर्लभम् ।
ब्रवीतु भगवानेतत् त्वं हि धर्मार्थदर्शिवान् ॥ ७ ॥

राजा बोले—विप्रवर ! आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं, अतः यह बतानेकी कृपा करें कि आशासे बढ़कर दुर्बलता क्या है ? और इस पृथ्वीपर सबसे दुर्लभ क्या है ? ॥ ७ ॥

ततः संस्मृत्य तत् सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत् ।
राजानं भगवान् विप्रस्ततः कृशतनुस्तदा ॥ ८ ॥

तब उन दुर्बल शरीरवाले पूज्यपाद ऋषिने पहलेकी सारी बातोंको याद करके राजाको भी उनका स्मरण दिलाते हुए-से इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

ऋषिरुवाच

कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप ।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया ॥ ९ ॥

ऋषि बोले— नरेश्वर! आशा या आशावान्‌की दुर्बलताके समान और किसीकी दुर्बलता नहीं है। जिस वस्तुकी आशा की जाती है, उसकी दुर्लभताके कारण ही मैंने बहुत-से राजाओंके यहाँ याचना की है ॥ ९ ॥

राजोवाच

कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात् तव ।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ १० ॥

राजाने कहा— ब्रह्मन्! मैंने आपके कहनेसे यह अच्छी तरह समझ लिया कि जो आशासे बँधा हुआ है, वह दुर्बल है और जिसने आशाको जीत लिया है, वह पुष्ट है। द्विजश्रेष्ठ! आपकी इस बातको भी मैंने वेदवाक्यकी भाँति ग्रहण किया कि जिस वस्तुकी आशा की जाती है, वह अत्यन्त दुर्लभ होती है ॥ १० ॥

संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम ।
तन्मुने मम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ११ ॥

महाप्राज्ञ! मुने! किंतु मेरे मनमें एक संशय है, जिसे पूछ रहा हूँ। आप उसे यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ११ ॥

त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम् ।
यदि गुह्यं न ते किञ्चिद् विद्यते मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ! यदि कोई वस्तु आपके लिये गोपनीय या छिपाने योग्य न हो तो आप यह बतावें कि आपसे भी बढ़कर अत्यन्त दुर्बल वस्तु क्या है? ॥ १२ ॥

कृश उवाच

दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात् ।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते ॥ १३ ॥

दुर्बल शरीरवाले मुनिने कहा— तात! जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तुकी आवश्यकता होनेपर भी उसके लिये किसीसे याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करनेवाले याचककी अवहेलना न करे—आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १३ ॥

सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः ।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १४ ॥

जब मनुष्य सत्कार करके याचकको आशा दिलाकर भी उसका शक्तिके अनुसार यथायोग्य उपकार नहीं करता, उस स्थितिमें सम्पूर्ण भूतोंके मनमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १४ ॥

कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च ।
अपकारिषु चासक्ता साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १५ ॥

कृतघ्न, नृशंस, आलसी तथा दूसरोंका अपकार करनेवाले पुरुषोंमें जो आशा होती है, वह (कभी पूर्ण न होनेके कारण चिन्तासे दुर्बल बना देती है; इसलिये वह) मुझसे भी अत्यन्त कृश है ॥ १५ ॥

एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा ।
प्रवृत्तिं यो न जानाति साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १६ ॥

इकलौते बेटेका बाप जब अपने पुत्रके खो जाने या परदेशमें चले जानेपर उसका कोई समाचार नहीं जान पाता, तब उसके मनमें जो आशा रहती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १६ ॥

प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता ।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १७ ॥

नरेन्द्र! वृद्ध अवस्थावाली नारियोंके हृदयमें जो पुत्र पैदा होनेके लिये आशा बनी रहती है तथा धनियोंके मनमें जो अधिकाधिक धन-लाभकी आशा रहती है, वह मुझसे अत्यन्त कृश है ॥ १७ ॥

प्रदानकाङ्क्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते ।
श्रुत्वा कथास्तथायुक्ताः साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १८ ॥

तरुण अवस्था आनेपर विवाहकी चर्चा सुनकर ब्याहकी इच्छा रखनेवाली कन्याओंके हृदयमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है* ॥ १८ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् स राजा सावरोधनः ।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम् ॥ १९ ॥

राजन्! ब्राह्मणश्रेष्ठ उस ऋषिकी वह बात सुनकर राजा अपनी रानीके साथ उनके चरणोंका मस्तकसे स्पर्श करके वहीं गिर पड़े ॥ १९ ॥

राजोवाच

प्रसादये त्वां भगवन् पुत्रेणेच्छामि संगमम् ।
यदेतदुक्तं भवता सम्प्रति द्विजसत्तम ॥ २० ॥
सत्यमेतन्न संदेहो यदेतद् व्याहृतं त्वया ।

राजा बोले— भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझे अपने पुत्रसे मिलनेकी बड़ी इच्छा है। द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझसे इस समय जो कुछ कहा है, आपका यह सारा कथन सत्य है, इसमें संदेह नहीं ॥ २०½ ॥

ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥
पुत्रमस्यानयत् क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च ।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् तनुने हँसकर अपनी तपस्या और शास्त्रज्ञानके प्रभावसे राजकुमारको शीघ्र वहाँ बुला दिया ॥ २१½ ॥

स समानीय तत्पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम् ॥ २२ ॥
आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतां वरः ।

इस प्रकार उनके पुत्रको वहाँ बुलाकर तथा राजाको

* आशाको अत्यन्त कृश कहनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्यको अत्यन्त कृश बना देती है।

उलाहना देकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु मुनिने उन्हें अपने साक्षात् धर्मस्वरूपका दर्शन कराया ॥ २२½ ॥

स दर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।
विपाप्मा विगतक्रोधश्चचार वनमन्तिकात् ॥ २३ ॥

दिव्य और अद्भुत दिखायी देनेवाले अपने स्वरूपका उन्हें दर्शन कराकर क्रोध और पापसे रहित तनु मुनि निकटवर्ती वनमें चले गये ॥ २३ ॥

एतद् दृष्टं मया राजंस्तथा च वचनं श्रुतम् ।
आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम् ॥ २४ ॥

ऋषभ मुनि कहते हैं—राजन् ! मैंने यह सब कुछ अपनी आँखों देखा है और मुनिका वह कथन भी अपने कानों सुना है। ऐसे ही तुम भी शरीरको अत्यन्त कृश बना देनेवाली इस मृगविषयक दुराशाको शीघ्र ही त्याग दो ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

स तथोक्तस्तदा राजन् ऋषभेण महात्मना ।
सुमित्रोऽपनयत् क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ऋषभके ऐसा कहनेपर सुमित्रने शरीरको अत्यन्त दुर्बल बनानेवाली वह आशा तुरंत ही त्याग दी ॥ २५ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम ।
स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः ॥ २६ ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार ! तुम भी मेरा यह कथन सुनकर आशाको त्याग दो और हिमालय पर्वतके समान स्थिर हो जाओ ॥

त्वं हि प्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेष्विह ।
श्रुत्वा मम महाराज न संतप्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

महाराज ! ऐसे सङ्कट उपस्थित होनेपर भी तुम यहाँ उपयुक्त प्रश्न करते और उनका योग्य उत्तर सुनते हो; इसलिये दुर्योधनके साथ जो संधि न हो सकी, उसको लेकर तुम्हें संतप्त नहीं होना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौअट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यम और गौतमका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

नामृतस्येव पर्याप्तिर्ममास्ति ब्रुवति त्वयि ।
यथा हि स्वात्मवृत्तिस्थस्तथा तृप्तोऽस्मि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतनन्दन ! जैसे अमृतको पीनेसे इच्छा पूर्ण नहीं होती, और भी पीनेकी इच्छा बढ़ती जाती है, उसी प्रकार जब आप उपदेश करने लगते हैं, उस समय उसे सुननेसे मेरा मन नहीं भरता है। जैसे परमात्माके ध्यानमें निमग्न हुआ योगी परमानन्दसे तृप्त हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी अत्यन्त तृप्तिका अनुभव करता हूँ ॥ १ ॥

तस्मात् कथय भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह ।
न हि तृप्तिमहं यामि पिबन् धर्मामृतं हि ते ॥ २ ॥

अतः पितामह ! आप पुनः धर्मकी ही बात बताइये। आपके धर्मोपदेशरूपी अमृतका पान करते समय मुझे यह नहीं अनुभव होता है कि बस, अब पूरा हो गया, बल्कि सुननेकी प्यास और बढ़ती ही जाती है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य च संवादं यमस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस धर्मके विषयमें भी विज्ञ पुरुष गौतम तथा महात्मा यमके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

पारियात्रं गिरिं प्राप्य गौतमस्याश्रमो महान् ।
उवास गौतमो यं च कालं तमपि मे शृणु ॥ ४ ॥

पारियात्रनामक पर्वतपर महर्षि गौतमका महान् आश्रम है। उसमें गौतम जितने समयतक रहे, वह भी मुझसे सुनो ॥४॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि सोऽतप्यद् गौतमस्तपः ।
तमुग्रतपसा युक्तं भावितं सुमहामुनिम् ॥ ५ ॥
उपयातो नरव्याघ्र लोकपालो यमस्तदा ।
तमपश्यत् सुतपसमृषिं वै गौतमं तदा ॥ ६ ॥

गौतमने उस आश्रममें साठ हजार वर्षोंतक तपस्या की। नरश्रेष्ठ ! एक दिन उग्र तपस्यामें लगे हुए पवित्र महात्मा महामुनि गौतमके पास लोकपाल यम स्वयं आये। उन्होंने वहाँ आकर उत्तम तपस्वी गौतम ऋषिको देखा ॥ ५-६ ॥

स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यममागतमोजसा ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपविष्टस्तपोधनः ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षि गौतमने वहाँ आये हुए यमराजको उनके तेजसे ही जान लिया। फिर वे तपोधन मुनि हाथ जोड़ संयतचित्त हो उनके पास जा बैठे ॥ ७ ॥

तं धर्मराजो दृष्ट्वैव सत्कृत्यैव द्विजर्षभम् ।
न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥

धर्मराजने विप्रवर गौतमको देखते ही उनका सत्कार किया और मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ऐसा कहते हुए उन्हें धर्मचर्चा सुननेके लिये सम्मति प्रदान की ॥ ८ ॥

गौतम उवाच

मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात् ।
कथं च लोकानाप्नोति पुरुषो दुर्लभाञ्शुचीन् ॥ ९ ॥

तब गौतमने कहा—भगवन् ! मनुष्य कौन-सा कर्म करके माता-पिताके ऋणसे उऋण हो सकता है ? और किस प्रकार उसे दुर्लभ एवं पवित्र लोकोंकी प्राप्ति होती है ? ॥९॥

यम उवाच

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च ।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ १० ॥

यमराजने कहा—ब्रह्मन् ! मनुष्य तप करे, बाहर-भीतरसे पवित्र रहे और सदा सत्यभाषणरूप धर्मके पालनमें तत्पर रहे । यह सब करते हुए ही उसे नित्यप्रति माता-पिताकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १० ॥

अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
तेन लोकानवाप्नोति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान् ॥ ११ ॥

राजाको तो पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान भी करना चाहिये । ऐसा करनेसे पुरुष अद्भुत दृश्योंसे सम्पन्न पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि यमगौतमसंवादे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें यम और गौतमका संवादविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१२९॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिके समय राजाका धर्म

युधिष्ठिर उवाच

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः ।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! यदि राजाके शत्रु अधिक हो जायँ, मित्र उसका साथ छोड़ने लगें और सेना तथा खजाना भी नष्ट हो जाय तो उसके लिये कौन-सा मार्ग हितकर है ? ॥१॥

दुष्टामात्यसहायस्य च्युतमन्त्रस्य सर्वतः ।
राज्यात् प्रच्यवमानस्य गतिमग्र्यामपश्यतः ॥ २ ॥

दुष्ट मन्त्री ही जिसका सहायक हो, इसीलिये जो श्रेष्ठ परामर्शसे भ्रष्ट हो गया हो एवं राज्यसे जिसके भ्रष्ट हो जानेकी सम्भावना हो और जिसे अपनी उन्नतिका कोई श्रेष्ठ उपाय न दिखायी देता हो, उसके लिये क्या कर्तव्य है ? ॥ २ ॥

परचक्राभियातस्य परराष्ट्राणि मृद्नतः ।
विग्रहे वर्तमानस्य दुर्बलस्य बलीयसा ॥ ३ ॥

जो शत्रुसेनापर आक्रमण करके शत्रुके राज्यको रौंद रहा हो; इतनेहीमें कोई बलवान् राजा उसपर भी चढ़ाई कर दे तो उसके साथ युद्धमें लगे हुए उस दुर्बल राजाके लिये क्या आश्रय है ? ॥ ३ ॥

असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः ।
अप्राप्यं च भवेत् सान्त्वं भेदो वाप्यतिपीडनात् ।
जीवितं त्वर्थहेतुर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥

जिसने अपने राज्यकी रक्षा नहीं की हो, जिसे देश और कालका ज्ञान नहीं हो, अत्यन्त पीड़ा देनेके कारण जिसके लिये साम अथवा भेदनीतिका प्रयोग असम्भव हो जाय, उसके लिये क्या करना उचित है ? वह जीवनकी रक्षा करे या धनके साधनकी ? उसके लिये क्या करनेमें भलाई है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मनन्दन ! भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यह तो तुमने मुझसे बड़ा गोपनीय विषय पूछा है । यदि तुम्हारे द्वारा प्रश्न न किया गया होता तो मैं इस समय इस संकटकालिक धर्मके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकता था ॥ ५ ॥

धर्मो ह्यणीयान् वचनाद् बुद्धिश्च भरतर्षभ ।
श्रुत्वोपास्य सदाचारैः साधुर्भवति स क्वचित् ॥ ६ ॥

भरतभूषण ! धर्मका विषय बड़ा सूक्ष्म है, शास्त्रवचनोंके अनुशीलनसे उसका बोध होता है । शास्त्रश्रवण करनेके पश्चात् अपने सदाचरणोंद्वारा उसका सेवन करके साधु जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष कहीं कोई बिरला ही होता है ॥६॥

कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुनः ।
तादृशोऽयमनुप्रश्नः संव्यवस्यः स्वया धिया ॥ ७ ॥

बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म (प्रयत्न) से मनुष्य धनाढ्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है । तुम्हें ऐसे प्रश्नपर स्वयं अपनी ही बुद्धिसे विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचना चाहिये ॥ ७ ॥

उपायं धर्मबहुलं यात्रार्थं शृणु भारत ।
नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणात् ॥ ८ ॥

भारत ! उपर्युक्त संकटके समय राजाओंके जीवनकी रक्षाके लिये मैं ऐसा उपाय बताता हूँ, जिसमें धर्मकी अधिकता है । उसे ध्यान देकर सुनो । परंतु मैं धर्माचरणके उद्देश्यसे ऐसे धर्मको नहीं अपनाना चाहता ॥ ८ ॥

दुःखादान इह ह्येष स्यात् तु पश्चात् क्षयोपमः ।
अभिगम्यमतीनां हि सर्वासामेव निश्चयः ॥ ९ ॥

आपत्तिके समय भी यदि प्रजाको दुःख देकर धन वसूल किया जाता है तो पीछे वह राजाके लिये विनाशके तुल्य सिद्ध होता है । आश्रय लेने योग्य जितनी बुद्धियाँ हैं, उन सबका यही निश्चय है ॥ ९ ॥

यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते ॥ १० ॥

पुरुष प्रतिदिन जैसे-जैसे शास्त्रका स्वाध्याय करता है,

वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता जाता है, फिर तो विशेष ज्ञान प्राप्त करनेमें ही उसकी रुचि हो जाती है ॥ १० ॥

अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते ।
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः ॥ ११ ॥

ज्ञान न होनेसे मनुष्यको संकटकालमें उससे बचनेके लिये कोई योग्य उपाय नहीं सूझता; परंतु ज्ञानसे वह उपाय ज्ञात हो जाता है। उचित उपाय ही ऐश्वर्यकी वृद्धि करनेका श्रेष्ठ साधन है ॥ ११ ॥

अशङ्कमानो वचनमनसूयुरिदं शृणु ।
राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥ १२ ॥

तुम मेरी बातपर संदेह न करते हुए दोष-दृष्टिका परित्याग करके यह उपदेश सुनो। खजानेके नष्ट होनेसे ही राजाके बलका नाश होता है ॥ १२ ॥

कोशं च जनयेद् राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ।
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः ।
उपायधर्मं प्राप्येमं पूर्वैराचरितं जनैः ॥ १३ ॥

जैसे मनुष्य निर्जल स्थानोंसे भी खोदकर जल निकाल लेता है, उसी प्रकार राजा संकटकालमें निर्धन प्रजासे भी यथासाध्य धन लेकर अपना खजाना बढ़ावे; फिर अच्छा समय आनेपर उस धनके द्वारा प्रजापर अनुग्रह करे, यही सनातनकालसे चला आनेवाला धर्म है। पूर्ववर्ती राजाओंने भी आपत्तिकालमें इस उपायधर्मको पाकर इसका आचरण किया है ॥ १३ ॥

अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यश्च भारत ।
प्राक्कोशात्प्राप्यते धर्मो वृत्तिर्धर्माद् गरीयसी॥१४॥

भारत! सामर्थ्यशाली पुरुषोंका धर्म दूसरा है और आपत्तिग्रस्त मनुष्योंका दूसरा। अतः पहले कोशसंग्रह कर लेनेपर राजाके लिये धर्मपालनका अवसर प्राप्त होता है; क्योंकि जीवननिर्वाहका साधन प्राप्त करना धर्मसे भी बड़ा है ॥ १४ ॥

धर्मं प्राप्य न्यायवृत्तिं न बलीयान् न विन्दति ।
यस्माद् बलस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते ॥ १५ ॥
तस्मादापत्स्वधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः ।
अधर्मो जायते तस्मिन्निति वै कवयो विदुः ॥ १६ ॥

दुर्बल मनुष्य धर्मको पाकर भी न्यायोचित जीविका नहीं उपलब्ध कर पाता है। धर्माचरण करनेसे बलकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता; इसलिये आपत्तिकालमें अधर्म भी धर्मरूप सुना जाता है। परंतु विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि आपत्तिकालमें भी धर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे अधर्म होता ही है ॥ १५-१६ ॥

अनन्तरं क्षत्रियस्य तत्र किं विचिकित्स्यते ।
यथास्य धर्मो न ग्लायेन्नेयाच्छत्रुवशं यथा ।
तत् कर्तव्यमिहेत्याहुर्नात्मानमवसादयेत् ॥ १७ ॥

आपत्ति दूर होनेके बाद क्षत्रियको क्या करना चाहिये ? वह प्रायश्चित्त करे या प्रजासे कर लेना छोड़ दे; यह संशय उपस्थित होता है। इसका समाधान यह है कि वह ऐसा बर्ताव करे, जिससे उसके धर्मको हानि न पहुँचे तथा उसे शत्रुके अधीन न होना पड़े। विद्वानोंने उसके लिये यही कर्तव्य बतलाया है, वह किसी तरह अपने आपको संकटमें न डाले॥

सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः ।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥ १८ ॥

संकटकालमें मनुष्य अपने या दूसरेके धर्मकी ओर न देखे; अपितु सम्पूर्ण हृदयसे सभी उपायोंद्वारा अपने आपके ही उद्धारकी अभिलाषा करे, यही सबका निश्चय है ॥ १८ ॥

तत्र धर्मविदां तात निश्चयो धर्मनैपुणम् ।
उद्यमो नैपुणं क्षात्रे बाहुवीर्यादिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

तात ! धर्मज्ञ पुरुषोंका निश्चय जैसे उनकी धर्मविषयक निपुणताको सूचित करता है, उसी प्रकार बाहुबलसे अपनी उन्नतिके लिये उद्योग करना क्षत्रियकी निपुणताका सूचक है; यह श्रुतिका निर्णय है ॥ १९ ॥

क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति ।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रिय यदि आजीविकासे रहित हो जाय तो वह तपस्वी और ब्राह्मणका धन छोड़कर और किसका धन नहीं ले सकता है ? (अर्थात् सभीका ले सकता है) ॥

यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत् ।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात् तथेदं नात्र संशयः॥ २१ ॥

जैसे ब्राह्मण यदि जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहा हो तो वह यज्ञके अनधिकारीसे भी यज्ञ करा सकता है तथा प्राण बचानेके लिये न खाने योग्य अन्नको भी खा सकता है, उसी प्रकार यह (पूर्वश्लोकमें) क्षत्रियके लिये भी कर्तव्यका निर्देश किया गया है। इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

पीडितस्य किमद्वारमुत्पथो विधृतस्य च ।
अद्वारतः प्रद्रवति यदा भवति पीडितः ॥ २२ ॥

आपद्ग्रस्त मनुष्यके लिये कौन-सा द्वार नहीं है। (वह जिस ओरसे निकल भागे, वही उसके लिये द्वार है)। कैदीके लिये कौन-सा बुरा मार्ग है (वह बिना मार्गके भी भागकर आत्मरक्षा कर सके तो ऐसा प्रयत्न कर सकता है)। मनुष्य जब आपत्तिमें घिरा होता है, तब वह बिना दरवाजेके भी भाग निकलता है ॥ २२ ॥

यस्य कोशबलग्लान्या सर्वलोकपराभवः ।
भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ॥ २३ ॥

खजाना और सेना न रहनेसे जिस क्षत्रियको सब लोगोंकी ओरसे पराभव प्राप्त होनेकी सम्भावना हो, उसीके लिये उपर्युक्त बातें बतायी गयी हैं। भीख माँगने और वैश्य या शूद्रकी जीविका अपनानेका क्षत्रियके लिये विधान नहीं है ॥

स्वधर्मानन्तरा वृत्तिर्जात्याननुपजीवतः ।
जहतः प्रथमं कल्पमनुकल्पेन जीवनम् ॥ २४ ॥

परंतु जब अपनी जातिके लिये प्रतिपादित धर्मका अव-

लम्बन करके जीवन-निर्वाह न कर सके, तब उसके लिये स्वधर्मसे विपरीत वृत्ति भी बतायी गयी है; क्योंकि आपत्ति-कालमें प्रथम कल्प अर्थात् स्वधर्मानुकूल वृत्तिका त्याग करनेवाले पुरुषके लिये अपनेसे नीचे वर्णकी वृत्तिसे जीविका चलानेका विधान है ॥ २४ ॥

आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम् ।
अपि ह्येतद् ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥

जो आपत्तिमें पड़ा हो, वह धर्मके विपरीत आचरणद्वारा जीवन-निर्वाह कर सकता है । जीविका क्षीण होनेपर ब्राह्मणोंमें ऐसा व्यवहार देखा गया है ॥ २५ ॥

क्षत्रिये संशयः कस्मादित्येवं निश्चितं सदा ।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथंचन ॥ २६ ॥

फिर क्षत्रियके लिये कैसे संदेह किया जा सकता है ? उसके लिये भी सदा यही निश्चित है कि वह आपत्तिकालमें विशिष्ट अर्थात् धनवान् पुरुषोंसे बलपूर्वक धन ग्रहण करे । धनके अभावमें वह किसी तरह कष्ट न भोगे ॥ २६ ॥

हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः ।
तस्मात् संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥

विद्वान् पुरुष क्षत्रियको प्रजाका रक्षक और विनाशक भी मानते हैं । अतः क्षत्रियबन्धुको प्रजाकी रक्षा करते हुए ही धन ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥

राजन् ! इस संसारमें किसीकी भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो हिंसासे शून्य हो । औरोंकी तो बात ही क्या है, वनमें रहकर एकाकी विचरनेवाले तपस्वी मुनिकी भी वृत्ति सर्वथा हिंसारहित नहीं है ॥ २८ ॥

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई भी ललाटमें लिखी हुई वृत्तिका ही भरोसा करके जीवननिर्वाह नहीं कर सकता; अतः प्रजापालनकी इच्छा रखनेवाले राजाका भाग्यके भरोसे निर्वाह चलाना तो सर्वथा अशक्य है ॥ २९ ॥

परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि ।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥

इसलिये आपत्तिकालमें राजा और राज्यकी प्रजा दोनोंको निरन्तर एक दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये, यही सदाका धर्म है ॥

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥

जैसे राजा प्रजापर संकट आ जाय तो राशि-राशि धन लुटाकर भी उसकी रक्षा करता है, उसी तरह राजाके ऊपर संकट पड़नेपर राष्ट्रकी प्रजाको भी उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् ।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ॥ ३२ ॥

राजा भूखसे पीड़ित होने—जीविकाके लिये कष्ट पानेपर भी खजाना, राजदण्ड, सेना, मित्र तथा अन्य संचित साधनोंको कभी राज्यसे दूर न करे ॥ ३२ ॥

बीजं भक्तेन सम्पाद्यमिति धर्मविदो विदुः ।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोंका कहना है कि मनुष्यको अपने भोजनके लिये संचित अन्नमेंसे भी बीजको बचाकर रखना चाहिये । इस विषयमें महामायावी शम्बरासुरका विचार भी ऐसा ही बताया गया है ॥ ३३ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यावसीदति ।
अवृत्त्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥ ३४ ॥

जिसके राज्यकी प्रजा तथा वहाँ आये हुए परदेशी मनुष्य भी जीविकाके बिना कष्ट पा रहे हों, उस राजाके जीवनको धिक्कार है ॥ ३४ ॥

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥

राजाकी जड़ है सेना और खजाना । इनमें भी खजाना ही सेनाकी जड़ है । सेना सम्पूर्ण धर्मोंकी रक्षाका मूल कारण है और धर्म प्रजाकी जड़ है ॥ ३५ ॥

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम् ।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥ ३६ ॥

दूसरोंको पीड़ा दिये बिना धनका संग्रह नहीं किया जा सकता और धन-संग्रहके बिना सेनाका संग्रह कैसे हो सकता है ? अतः आपत्तिकालमें कोश या धन-संग्रहके लिये प्रजाको पीड़ा देकर भी राजा दोषका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु ।
एतस्मात् कारणाद् राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

जैसे यज्ञकर्मोंमें यज्ञके लिये वह कार्य भी किया जाता है, जो करने योग्य नहीं है (किंतु वह दोषयुक्त नहीं माना जाता), उसी प्रकार आपत्तिकालमें प्रजापीडनसे राजाको दोष नहीं लगता है ॥ ३७ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत् तत् सर्वं ह्यर्थकारणम् ।
एवं बुद्ध्या सम्प्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥ ३८ ॥

आपत्तिकालमें प्रजापीडन अर्थसंग्रहरूप प्रयोजनका साधक होनेके कारण अर्थकारक होता है, इसके विपरीत उसे पीडा न देना ही अनर्थकारक हो जाता है । इसी प्रकार जो दूसरे अनर्थकारी (व्यय बढ़ानेवाले सैन्य-संग्रह आदि) कार्य हैं, वे भी युद्धका संकट उपस्थित होनेपर अर्थकारी (विजय-साधक) सिद्ध होते हैं । बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार बुद्धिसे विचार करके कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थमन्यद् भवति यज्ञोऽन्यार्थस्तथा परः ।
यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत् तत् सर्वं यज्ञसाधनम् ॥ ३९ ॥

जैसे अन्यान्य सामग्रियाँ यज्ञकी सिद्धिके लिये होती हैं, उत्तम यज्ञ किसी और ही प्रयोजनके लिये होता है, यज्ञ-सम्बन्धी अन्यान्य बातें भी किसी-न-किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होती हैं तथा यह सब कुछ यज्ञका साधन ही है॥

उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम्।
यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः॥ ४०॥
द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि।
ते चापि निपतन्तोऽन्यान् निघ्नन्त्येव वनस्पतीन्॥४१॥

अब मैं यहाँ धर्मके तत्त्वको प्रकाशित करनेवाली एक उपमा बता रहा हूँ। ब्राह्मणलोग यज्ञके लिये यूप निर्माण करनेके उद्देश्यसे वृक्षका छेदन करते हैं। उस वृक्षको काटकर बाहर निकालनेमें जो-जो पार्श्ववर्ती वृक्ष बाधक होते हैं, उन्हें भी निश्चय ही वे काट डालते हैं। वे वृक्ष भी गिरते समय दूसरे-दूसरे वनस्पतियोंको भी प्रायः तोड़ ही डालते हैं॥४०-४१॥

एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः।
तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परंतप॥ ४२॥

परंतप! इस प्रकार जो मनुष्य (प्रजारक्षाके लिये किये जानेवाले) महान् कोशके संग्रहमें बाधा उपस्थित करते हैं, उनका वध किये बिना इस कार्यमें मुझे सफलता होती नहीं दिखायी देती॥ ४२॥

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा॥ ४३॥

धनसे मनुष्य इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है तथा सत्य और धर्मका भी सम्पादन कर लेता है, परंतु निर्धनको इस कार्यमें वैसी सफलता नहीं मिलती। उसका अस्तित्व नहींके बराबर होता है॥ ४३॥

सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम्।
न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्याकार्येषु भारत॥ ४४॥

भरतनन्दन! यज्ञ करनेके उद्देश्यको लेकर सभी उपायोंसे धनका संग्रह करे; इस प्रकार करने और न करने योग्य कर्म बन जानेपर भी कर्ताको अन्य अवसरोंके समान दोष नहीं लगता॥ ४४॥

नैतौ सम्भवतो राजन् कथंचिदपि पार्थिव।
न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित्॥ ४५॥

राजन्! पृथ्वीनाथ! धनका संग्रह और उसका त्याग—ये दोनों एक व्यक्तिमें एक ही साथ किसी तरह नहीं रह सकते; क्योंकि मैं वनमें रहनेवाले त्यागी महात्माओंको कहीं भी धनमें बढ़ा-चढ़ा नहीं देखता॥ ४५॥

यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किंचन।
ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्येवं काङ्क्षते जनः॥ ४६॥

यहाँ इस पृथ्वीपर यह जो कुछ भी धन देखा जाता है, 'यह मेरा हो जाय, यह मेरा हो जाय' ऐसी ही अभिलाषा सभी लोगोंको रहती है॥ ४६॥

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा॥ ४७॥

परंतप! राजाके लिये राज्यकी रक्षाके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस धर्मकी चर्चा की गयी है, वह केवल राजाओंके लिये आपत्तिकालमें ही आचरणमें लाने योग्य है, अन्यथा नहीं॥ ४७॥

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसंचयान्॥ ४८॥

कुछ लोग दानसे, कुछ लोग यज्ञकर्म करनेसे, कुछ तपस्वी तपस्या करनेसे, कुछ लोग बुद्धिसे और अन्य बहुत-से मनुष्य कार्य-कौशलसे धनराशि प्राप्त कर लेते हैं॥ ४८॥

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान्॥ ४९॥

निर्धनको दुर्बल कहा जाता है। धनसे मनुष्य बलवान् होता है। धनवान्‌को सब कुछ सुलभ है। जिसके पास खजाना है, वह सारे संकटोंसे पार हो जाता है॥ ४९॥

कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम्।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन॥ ५०॥

धन-संचयसे ही धर्म, काम, लोक तथा परलोककी सिद्धि होती है। उस धनको धर्मसे ही पानेकी इच्छा करे, अधर्मसे कभी नहीं॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

(आपद्धर्मपर्व)

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिग्रस्त राजाके कर्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु।
परिशङ्कितवृत्तस्य श्रुतमन्त्रस्य भारत॥ १॥
विभक्तपुरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च।
असम्भावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः॥ २॥
परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! जिसकी सेना और धन-सम्पत्ति क्षीण हो गयी है, जो आलसी है, बन्धु-बान्धवोंपर अधिक दया रखनेके कारण उनके नाशकी आशङ्कासे जो उन्हें साथ लेकर शत्रुके साथ युद्ध नहीं कर सकता, जो मन्त्री आदिके चरित्रपर संदेह रखता है अथवा जिसका चरित्र स्वयं भी शङ्कास्पद है, जिसकी मन्त्रणा गुप्त नहीं रह सकी है, उसे दूसरे लोगोंने सुन लिया है, जिसके नगर और राष्ट्रको कई भागोंमें बाँटकर शत्रुओंने अपने अधीन कर लिया है, इसीलिये जिसके पास द्रव्यका भी संग्रह नहीं रह गया है, द्रव्याभावके कारण ही समादर न पानेसे जिसके मित्र साथ छोड़ चुके हैं, मन्त्री भी शत्रुओंद्वारा फोड़ लिये गये हैं, जिसपर शत्रुदलका आक्रमण हो गया हो, जो दुर्बल होकर बलवान् शत्रुके द्वारा पीड़ित हो और विपत्तिमें पड़कर जिसका चित्त घबरा उठा हो, उसके लिये कौन-सा कार्य शेष रह जाता है ?—उसे इस संकटसे मुक्त होनेके लिये क्या करना चाहिये ? ॥ १—३ ॥

भीष्म उवाच

बाह्यश्चेद् विजिगीषुः स्याद् धर्मार्थकुशलः शुचिः ।
जवेन संधिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! यदि विजयकी इच्छासे आक्रमण करनेवाला राजा बाहरका हो, उसका आचार-विचार शुद्ध हो तथा वह धर्म और अर्थके साधनमें कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ संधि कर लेनी चाहिये और जो ग्राम तथा नगर अपने पूर्वजोंके अधिकारमें रहे हों, वे यदि आक्रमणकारीके हाथमें चले गये हों तो उसे मधुर वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर उसके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा करे ॥४॥

योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान् पापनिश्चयः ।
आत्मनः संनिरोधेन संधिं तेनापि रोचयेत् ॥ ५ ॥

जो विजय चाहनेवाला शत्रु अधर्मपरायण हो तथा बलवान् होनेके साथ ही पापपूर्ण विचार रखता हो, उसके साथ अपना कुछ खोकर भी संधि कर लेनेकी ही इच्छा रक्खे ॥ ५ ॥

अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम् ।
तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपार्जयेत् ॥ ६ ॥

अथवा आवश्यकता हो तो अपनी राजधानीको भी छोड़कर बहुत-सा द्रव्य देकर उस विपत्तिसे पार हो जाय। यदि वह जीवित रहे तो राजोचित गुणसे युक्त होनेपर पुनः धनका उपार्जन कर सकता है ॥ ६ ॥

यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ७ ॥

खजाना और सेनाका त्याग कर देनेसे ही जहाँ विपत्तियोंको पार किया जा सके, ऐसी परिस्थितिमें कौन अर्थ और धर्मका ज्ञाता पुरुष अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु शरीरका त्याग करेगा ? ॥ ७ ॥

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथंचन ॥ ८ ॥

शत्रुका आक्रमण हो जानेपर राजाको सबसे पहले अपने अन्तःपुरकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिये। यदि वहाँ शत्रुका अधिकार हो जाय, तब उधरसे अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिये; क्योंकि शत्रुके अधिकारमें गये हुए धन और परिवारपर दया दिखाना किस कामका ? जहाँतक सम्भव हो, अपने आपको किसी तरह भी शत्रुके हाथमें नहीं फँसने देना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि बाहर राष्ट्र और दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों और भीतर मन्त्री आदि भी कुपित हों, खजाना खाली हो गया हो और राजाका गुप्त रहस्य सबके कानोंमें पड़ गया हो, तब उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

क्षिप्रं वा संधिकामः स्यात् क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! उस अवस्थामें राजा या तो शीघ्र ही संधिका विचार कर ले अथवा जल्दी-से-जल्दी दुःसह पराक्रम प्रकट करके शत्रुको राज्यसे निकाल बाहर करे, ऐसा उद्योग करते समय यदि कदाचित् मृत्यु भी हो जाय तो वह परलोकमें मङ्गलकारी होती है ॥ १० ॥

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥ ११ ॥

यदि सेना स्वामीके प्रति अनुराग रखनेवाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो तो उस थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी राजा पृथ्वीपर विजय पा सकता है ॥ ११ ॥

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि संत्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ १२ ॥

यदि वह युद्धमें मारा जाय तो स्वर्गलोकके शिखरपर आरूढ़ हो सकता है अथवा यदि उसीने शत्रुको मार लिया तो वह पृथ्वीका राज्य भोग सकता है। जो युद्धमें प्राणोंका परित्याग करता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद् विनयं कुर्याद् विश्वसेच्चाप्युपायतः ॥ १३ ॥

अथवा दुर्बल राजा शत्रुमें कोमलता लानेके लिये विपक्ष-

के सभी लोगोंको संतुष्ट करके उनके मनमें विश्वास जमाकर उनसे युद्ध बंद करनेके लिये अनुनय-विनय करे और स्वयं भी उपायपूर्वक उनके ऊपर विश्वास करे ॥ १३ ॥

अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
विलङ्घयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

अथवा वह मधुर वचनोंद्वारा विरोधी दलके मन्त्री आदिको प्रसन्न करके दुर्गसे पलायन करनेका प्रयत्न करे । तदनन्तर कुछ काल व्यतीत करके श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति ले अपनी खोयी हुई सम्पत्ति अथवा राज्यको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न आरम्भ करे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणों और श्रेष्ठ राजाओंके धर्मका वर्णन तथा धर्मकी गतिको सूक्ष्म बताना

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिसंहिते ।
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥ १ ॥
केन स्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ।
असंत्यजन् पुत्रपौत्राननुक्रोशात् पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजाका सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षापर अवलम्बित परम धर्म न निभ सके और भूमण्डलमें आजीविकाके सारे साधनोंपर लुटेरोंका अधिकार हो जाय, तब ऐसा जघन्य संकटकाल उपस्थित होनेपर यदि ब्राह्मण दयावश अपने पुत्रों तथा पौत्रोंका परित्याग न कर सके तो वह किस वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते ।
सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किंचन ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ऐसी परिस्थितिमें ब्राह्मणको तो अपने विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये । इस जगत्में यह जो कुछ भी धन आदि दिखायी देता है, वह सब कुछ श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये ही है, दुष्टोंके लिये कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृच्छ्रधर्मविदेव सः ॥ ४ ॥

जो अपनेको सेतु बनाकर दुष्ट पुरुषोंसे धन लेकर श्रेष्ठ पुरुषोंको देता है, वह आपद्धर्मका ज्ञाता है ॥ ४ ॥

आकाङ्क्षन्नात्मनो राज्यं राज्ये स्थितिमकोपयन् ।
अदत्तमेवाददीत दातुर्वित्तं ममेति च ॥ ५ ॥

जो अपने राज्यको बनाये रखना चाहे, उस राजाको उचित है कि वह राज्यकी व्यवस्थाका बिगाड़ न करते हुए ब्राह्मण आदि प्रजाकी रक्षाके उद्देश्यसे ही राज्यके धनियोंका धन मेरा ही है, ऐसा समझकर उनके दिये बिना भी बलपूर्वक ले ले ॥ ५ ॥

विज्ञानबलपूतो यो वर्तते निन्दितेष्वपि ।
वृत्तिविज्ञानवान् धीरः कस्तं वा वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

जो तत्त्वज्ञानके प्रभावसे पवित्र है और किस वृत्तिसे किसका निर्वाह हो सकता है, इस बातको अच्छी तरह समझता है, वह धीर नरेश यदि राज्यको संकटसे बचानेके लिये निन्दित कर्मोंमें भी प्रवृत्त होता है ? तो कौन उसकी निन्दा कर सकता है ? ॥ ६ ॥

येषां बलकृता वृत्तिस्तेषामन्या न रोचते ।
तेजसाभिप्रवर्तन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो बल और पराक्रमसे ही जीविका चलानेवाले हैं, उन्हें दूसरी वृत्ति अच्छी नहीं लगती । बलवान् पुरुष अपने तेजसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ७ ॥

यदैव प्राकृतं शास्त्रमविशेषेण वर्तते ।
तदैवमभ्यसेदेवं मेधावी वाप्यथोत्तरम् ॥ ८ ॥

जब आपद्धर्मोपयोगी प्राकृत शास्त्र ही सामान्यरूपसे चल रहा हो, उस आपत्तिकालमें 'अपने या दूसरेके राज्यसे जैसे भी सम्भव हो, धन लेकर अपना खजाना भरना चाहिये' इत्यादि वचनोंके अनुसार राजा जीवन-निर्वाह करे । परंतु जो मेधावी हो, वह इससे भी आगे बढ़कर 'जो दो राज्योंमें रहनेवाले धनीलोग कंजूसी अथवा असदाचरणके द्वारा दण्ड पाने योग्य हों, उनसे ही धन लेना चाहिये ।' इत्यादि विशेष शास्त्रोंका अवलम्बन करे ॥ ८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान् ।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषान् प्राप्नोति घातयन् ॥ ९ ॥

कितनी ही आपत्ति क्यों न हो, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा सत्कृत या असत्कृत ब्राह्मणोंसे, वे धनी हों तो भी धन लेकर उन्हें पीड़ा न दे । यदि राजा उन्हें धनापहरणके द्वारा कष्ट देता है तो पापका भागी होता है ॥ ९ ॥

एतत् प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत् सनातनम् ।
तत् प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत् साध्वसाधु वा ॥ १० ॥

यह मैंने तुम्हें सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत बात बतायी है । यही सनातन दृष्टि है । राजा इसीको प्रमाण मानकर व्यवहारक्षेत्रमें प्रवेश करे तथा इसीके अनुसार आपत्तिकालमें उसे भले या बुरे कार्यका निर्णय करना चाहिये ॥ १० ॥

बहवो ग्रामवास्तव्या रोषाद् ब्रूयुः परस्परम् ।
न तेषां वचनाद् राजा सत्कुर्याद् घातयीत वा ॥ ११ ॥

यदि बहुत-से ग्रामवासी मनुष्य परस्पर रोषवश राजाके

पास आकर एक दूसरेकी निन्दा-स्तुति करें तो राजा केवल उनके कहनेसे ही किसीको न तो दण्ड दे और न किसीका सत्कार ही करे ॥ ११ ॥

न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥ १२ ॥

किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये और न उसे किसी प्रकार सुनना ही चाहिये । यदि कोई दूसरेकी निन्दा करता हो तो वहाँ अपने कान बंद कर ले अथवा वहाँसे उठकर अन्यत्र चला जाय ॥ १२ ॥

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! दूसरोंकी निन्दा करना या चुगली खाना यह दुष्टोंका स्वभाव ही होता है । श्रेष्ठ पुरुष तो सज्जनोंके समीप दूसरोंके गुण ही गाया करते हैं ॥ १३ ॥

यथा सुमधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ॥ १४ ॥

जैसे मनोहर आकृतिवाले, सुशिक्षित तथा अच्छी तरहसे बोझ ढोनेमें समर्थ नयी अवस्थाके दो बैल कंधोंपर भार उठाकर उसे सुन्दर ढंगसे ढोते हैं, उसी प्रकार राजाको भी अपने राज्यका भार अच्छी तरह सँभालना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा यथास्य वहवः सहायाः स्युस्तथा परे ।
आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

जैसे-जैसे आचरणोंसे राजाके बहुत-से दूसरे लोग सहायक हों, वैसे ही आचरण उसे अपनाने चाहिये । धर्मज्ञ पुरुष आचारको ही धर्मका प्रधान लक्षण मानते हैं ॥ १५ ॥

अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः ।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥ १६ ॥

किंतु जो शङ्ख और लिखित मुनिके प्रेमी हैं—उन्हींके मतका अनुसरण करनेवाले हैं, वे दूसरे-दूसरे लोग इस उपर्युक्त मत (ऋत्विक् आदिको दण्ड न देने आदि)को नहीं स्वीकार करते हैं । वे लोग ईर्ष्या अथवा लोभसे ऐसी बात नहीं कहते हैं (धर्म मानकर ही कहते हैं) ॥ १६ ॥

आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम् ।
न तादृक्सदृशं किञ्चित् प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥ १७ ॥

शास्त्र-विपरीत कर्म करनेवालेको दण्ड देनेकी जो बात आती है, उसमें वे आर्षप्रमाण भी देखते हैं* । ऋषियोंके वचनोंके समान दूसरा कोई प्रमाण कहीं भी दिखायी नहीं देता ॥ १७ ॥

देवताश्च विकर्मस्थं पातयन्ति नराधमम् ।
व्याजेन विन्दन् वित्तं हि धर्मात् स परिहीयते ॥ १८ ॥

देवता भी विपरीत कर्ममें लगे हुए अधम मनुष्यको नरकोंमें गिराते हैं; अतः जो छलसे धन प्राप्त करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रवरकारणैः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥ १९ ॥

ऐश्वर्यकी प्राप्तिके जो प्रधान कारण हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जिसका सब प्रकारसे सत्कार करते हैं तथा हृदयसे भी जिसका अनुमोदन होता है, राजा उसी धर्मका अनुष्ठान करे ॥ १९ ॥

यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात् स धर्मवित् ।
अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ २० ॥

जो वेदविहित, स्मृतिद्वारा अनुमोदित, सज्जनोंद्वारा सेवित तथा अपनेको प्रिय लगनेवाला धर्म है, उसे चतुर्गुणसम्पन्न माना गया है । जो वैसे धर्मका उपदेश करता है, वही धर्मज्ञ है । सर्पके पदचिह्नकी भाँति धर्मके यथार्थ स्वरूपको ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

यथा मृगस्य विद्धस्य पदमेकं पदं नयेत् ।
लक्षेद् रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ २१ ॥

जैसे बाणसे बिंधे हुए मृगका एक पैर पृथ्वीपर रक्तका लेप कर देनेके कारण व्याधको उस मृगके रहनेके स्थानको लक्षित कराकर वहाँ पहुँचा देता है, उसी प्रकार उक्त चतुर्गुणसम्पन्न धर्म भी धर्मके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है ॥

एवं सद्भिर्विनीतेन पथा गन्तव्यमित्युत ।
राजर्षीणां वृत्तमेतदवगच्छ युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम्हें भी चलना चाहिये । इसीको तुम राजर्षियोंका सदाचार समझो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि राजर्षिवृत्तं नाम द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें राजर्षियोंका चरित्रनामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजाके लिये कोशसंग्रहकी आवश्यकता, मर्यादाकी स्थापना और अमर्यादित दस्युवृत्तिकी निन्दा

भीष्म उवाच

स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राच्च कोशं संजनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजाको चाहिये कि वह अपने तथा शत्रुके राज्यसे धन लेकर खजानेको भरे। कोशसे ही धर्मकी वृद्धि होती है और राज्यकी जड़ें बढ़ती

* यथा—गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥
अर्थात् घमंडमें आकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विचार न करते हुए कुमार्गपर चलनेवाले गुरुको भी दण्ड देना आवश्यक है ।

अर्थात् सुदृढ़ होती हैं ॥ १ ॥

तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ॥ २ ॥

इसलिये राजा कोशका संग्रह करे, संग्रह करके सादर उसकी रक्षा करे और रक्षा करके निरन्तर उसको बढ़ाता रहे; यही राजाका सदासे चला आनेवाला धर्म है ॥ २ ॥

न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् ।
मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ३ ॥

जो विशुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाला है, उसके द्वारा कभी कोशका संग्रह नहीं हो सकता । जो अत्यन्त क्रूर है, वह भी कदापि इसमें सफल नहीं हो सकता; अतः मध्यम मार्गका आश्रय लेकर कोश संग्रह करना चाहिये ॥ ३ ॥

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥ ४ ॥

यदि राजा बलहीन हो तो उसके पास कोश कैसे रह सकता है ? कोशहीनके पास सेना कैसे रह सकती है ? जिसके पास सेना ही नहीं है, उसका राज्य कैसे टिक सकता है और राज्यहीनके पास लक्ष्मी कैसे रह सकती है ? ॥ ४ ॥

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥ ५ ॥

जो धनके कारण ऊँचे तथा महत्त्वपूर्ण पदपर पहुँचा हुआ है, उसके धनकी हानि हो जाय तो उसे मृत्युके तुल्य कष्ट होता है, अतः राजाको कोश, सेना तथा मित्रकी संख्या बढ़ानी चाहिये ॥ ५ ॥

हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च॥ ६ ॥

जिस राजाके पास धनका भण्डार नहीं है, उसकी साधारण मनुष्य भी अवहेलना करते हैं । उससे थोड़ा लेकर लोग संतुष्ट नहीं होते हैं और न उसका कार्य करनेमें ही उत्साह दिखाते हैं ॥ ६ ॥

श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः॥ ७ ॥

लक्ष्मीके कारण ही राजा सर्वत्र बड़ा भारी आदर-सत्कार पाता है । जैसे कपड़ा नारीके गुप्त अङ्गोंको छिपाये रखता है, उसी प्रकार लक्ष्मी राजाके सारे दोषोंको ढक लेती है॥७॥

ऋद्धिमस्यानु तप्यन्ते पुरा विप्रकृता नराः ।
शालावृका इवाजस्रं जिघांसुमेव विन्दति ॥ ८ ॥

पहलेके तिरस्कृत हुए मनुष्य इस राजाकी बढ़ती हुई समृद्धिको देखकर जलते रहते हैं और अपने वधकी इच्छा रखनेवाले उस राजाका ही कपटपूर्वक आश्रय ले उसी तरह उसकी सेवा करते हैं, जैसे कुत्ते अपने घातक चाण्डालकी सेवामें रहते हैं ॥ ८ ॥

ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भवति भारत ।
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ॥ ९ ॥
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ।

भारत ! ऐसे नरेशको कैसे सुख मिलेगा ? अतः राजाको सदा उद्यम ही करना चाहिये, किसीके सामने झुकना नहीं चाहिये; क्योंकि उद्यम ही पुरुषत्व है । जैसे सूखी लकड़ी बिना गाँठके ही टूट जाती है, परंतु झुकती नहीं है, उसी प्रकार राजा नष्ट भले ही हो जाय, परंतु उसे कभी दबना नहीं चाहिये ॥ ९½ ॥

अप्यरण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह ॥ १० ॥
न त्वेवोज्झितमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत् ।

वह वनकी शरण लेकर मृगोंके साथ भले ही विचरे, किंतु मर्यादा भंग करनेवाले डाकुओंके साथ कदापि न रहे ॥

दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ ११ ॥
एकान्ततो ह्यमर्यादात् सर्वोऽप्युद्विजते जनः ।
दस्यवोऽप्यभिशङ्कन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥ १२ ॥

भारत ! डाकुओंको लूट पाट या हिंसा आदि भयानक कर्मोंके लिये अनायास ही सेना सुलभ हो जाती है । सर्वथा मर्यादाशून्य मनुष्यसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं । केवल निर्दयतापूर्ण कर्म करनेवाले पुरुषकी ओरसे डाकू भी शङ्कित रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनीम् ।
अल्पेऽप्यर्थे च मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥ १३ ॥

राजाको ऐसी ही मर्यादा स्थापित करनी चाहिये, जो सब लोगोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली हो । लोकमें छोटे-से काममें भी मर्यादाका ही मान होता है ॥ १३ ॥

नायं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः ।
नालं गन्तुं हि विश्वासं नास्तिके भयशङ्किते ॥ १४ ॥

संसारमें ऐसे भी मनुष्य हैं, जो यह निश्चय किये बैठे हैं कि 'यह लोक और परलोक हैं ही नहीं ।' ऐसा नास्तिक मानव भयकी शङ्काका स्थान है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा सद्भिः परादानमहिंसा दस्युभिः कृता ।
अनुरज्यन्ति भूतानि समर्यादेषु दस्युषु ॥ १५ ॥

दस्युओंमें भी मर्यादा होती है, जैसे अच्छे डाकू दूसरोंका धन तो लूटते हैं, परंतु हिंसा नहीं करते (किसीकी इज्जत नहीं लेते) । जो मर्यादाका ध्यान रखते हैं, उन लुटेरोंमें बहुत-से प्राणी स्नेह भी करते हैं (क्योंकि उनके द्वारा बहुतोंकी रक्षा भी होती है) ॥ १५ ॥

अयुद्ध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता ।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा ॥ १६ ॥
स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद् विगर्हितम् ।
संश्लेषं च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत् ॥ १७ ॥

युद्ध न करनेवालेको मारना, परायी स्त्रीपर बलात्कार करना, कृतघ्नता, ब्राह्मणके धनका अपहरण, किसीका सर्वस्व छीन लेना, कुमारी कन्याका अपहरण करना तथा किसी ग्राम आदिपर आक्रमण करके स्वयं उसका स्वामी बन बैठना—ये सब बातें डाकुओंमें भी निन्दित मानी गयी

हैं। दस्युको भी परस्त्रीका स्पर्श और उपर्युक्त सभी पाप त्याग देने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अभिसंदधते ये च विश्वासायास्य मानवाः ।
अशेषमेवोपलभ्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥ १८ ॥

जिनका सर्वस्व लूट लिया जाता है, वे मनुष्य उन डाकुओंके साथ मेलजोल और विश्वास बढ़ानेकी चेष्टा करते हैं और उनके स्थान आदिका पता लगाकर फिर उनका सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, यह निश्चित बात है ॥ १८ ॥

तस्मात् सशेषं कर्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः ।
न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् ॥ १९ ॥

इसलिये दस्युओंको उचित है कि वे दूसरोंके धनको अपने अधिकारमें पाकर भी कुछ शेष छोड़ दें, साराका सारा न लूट लें। 'मैं बलवान् हूँ' ऐसा समझकर क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करे ॥ १९ ॥

स शेषकारिणस्तत्र शेषं पश्यन्ति सर्वशः ।
निःशेषकारिणो नित्यं निःशेषकरणाद् भयम् ॥ २० ॥

जो डाकू दूसरोंके धनको शेष छोड़ देते हैं, वे सब ओर अपने धनका भी अवशेष देख पाते हैं तथा जो दूसरोंके धनमेंसे कुछ भी शेष नहीं छोड़ते, उन्हें सदा अपने धनके भी निःशेष हो जानेका भय बना रहता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बलकी महत्ता और पापसे छूटनेका प्रायश्चित्त

भीष्म उवाच

अत्र धर्मानुवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः ।
प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! प्राचीनकालकी बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें जो धर्मका प्रवचन करते हैं, वह इस प्रकार है—विज्ञ क्षत्रियके लिये धर्म और अर्थ—ये दो ही प्रत्यक्ष हैं ॥ १ ॥

तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षा धर्मयापना ।
अधर्मो धर्म इत्येतद् यथा वृकपदं तथा ॥ २ ॥

धर्म और अधर्मकी समस्या रखकर किसीके कर्तव्यमें व्यवधान नहीं डालना चाहिये; क्योंकि धर्मका फल प्रत्यक्ष नहीं है। जैसे भेड़ियेका पदचिह्न देखकर किसीको यह निश्चय नहीं होता कि यह व्याघ्रका पदचिह्न है या कुत्तेका? उसी प्रकार धर्म और अधर्मके विषयमें निर्णय करना कठिन है ॥ २ ॥

धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन ।
बुभूषेद् बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्मका फल किसीने कभी यहाँ प्रत्यक्ष नहीं देखा है। अतः राजा बलप्राप्तिके लिये प्रयत्न करे; क्योंकि यह सब जगत् बलवान्के वशमें होता है ॥ ३ ॥

श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति ।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥ ४ ॥

बलवान् पुरुष इस जगत्में सम्पत्ति, सेना और मन्त्री सब कुछ पा लेता है। जो दरिद्र है, वह पतित समझा जाता है और किसीके पास जो बहुत थोड़ा धन है, वह उच्छिष्ट या जूठन समझा जाता है ॥ ४ ॥

बह्वपथ्यं बलवति न किंचित् क्रियते भयात् ।
उभौ सत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो भयात् ॥ ५ ॥

बलवान् पुरुषमें बहुत-सी बुराई होती है तो भी भयके मारे उसके विषयमें कोई मुँहसे कुछ बात नहीं निकालता है। यदि बल और धर्म दोनों सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हों तो वे मनुष्यकी महान् भयसे रक्षा करते हैं ॥ ५ ॥

अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद् धर्मः प्रवर्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥ ६ ॥

मैं अधिक धर्मसे भी बलको ही श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि बलसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है। जैसे चलने-फिरनेवाले सभी प्राणी पृथ्वीपर ही स्थित हैं, उसी प्रकार धर्म बलपर ही प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते ।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता ॥ ७ ॥

जैसे धूआँ वायुके अधीन होकर चलता है, उसी प्रकार धर्म भी बलका अनुसरण करता है; अतः जैसे लता किसी वृक्षके सहारे फैलती है, उसी प्रकार निर्बल धर्म बलके ही आधारपर सदा स्थिर रहता है ॥ ७ ॥

वशो बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥ ८ ॥

जैसे भोग-सामग्रीसे सम्पन्न पुरुषोंके अधीन सुख-भोग होता है, उसी प्रकार धर्म बलवानोंके वशमें रहता है। बलवानोंके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। बलवानोंकी सारी वस्तु ही शुद्ध एवं निर्दोष होती है ॥ ८ ॥

दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति ।
अथ तस्मादुद्विजते सर्वो लोको वृकादिव ॥ ९ ॥

जिसका बल नष्ट हो गया है, जो दुराचारी है, उसको भय उपस्थित होनेपर कोई रक्षक नहीं मिलता है। दुर्बलसे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न हो उठते हैं, जैसे भेड़ियेसे ॥ ९ ॥

अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।

जीवितं यदपकृष्टं यथैव मरणं तथा ॥ १० ॥

दुर्बल अपनी सम्पत्तिसे वञ्चित हो जाता है, सबके अपमान और उपेक्षाका पात्र बनता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। जो जीवन निन्दित हो जाता है, वह मृत्युके ही तुल्य है ॥ १० ॥

यदेवमाहुः पापेन चारित्रेण विवर्जितः।
सुभृशं तप्यते तेन वाक्शल्येन परिक्षतः ॥ ११ ॥

दुर्बल मनुष्यके विषयमें लोग इस प्रकार कहने लगते हैं—'अरे ! यह तो अपने पापाचारके कारण बन्धु-बान्धवोंद्वारा त्याग दिया गया है।' उनके उस वाग्बाणसे घायल होकर वह अत्यन्त संतप्त हो उठता है ॥ ११ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिमोक्षणे।
त्रयीं विद्यामवेक्षेत तथोपासीत वै द्विजान् ॥ १२ ॥
प्रसादयेन्मधुरया वाचा चाप्यथ कर्मणा।
महामनाश्चापि भवेद् विवहेच्च महाकुले ॥ १३ ॥
इत्यस्मीति वदेदेवं परेषां कीर्तयेद् गुणान्।
जपेदुदकशीलः स्यात् पेशलो नातिजल्पकः ॥ १४ ॥
ब्रह्मक्षत्रं सम्प्रविशेद् बहु कृत्वा सुदुष्करम्।
उच्यमानो हि लोकेन बहुधा तदचिन्तयन् ॥ १५ ॥

यहाँ अधर्मपूर्वक धनका उपार्जन करनेपर जो पाप होता है, उससे छूटनेके लिये आचार्योंने यह उपाय बताया है—उक्त पापसे लिप्त हुआ राजा तीनों वेदोंका स्वाध्याय करे, ब्राह्मणोंकी सेवामें उपस्थित रहे, मधुर वाणी तथा सत्कर्मोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करे, अपने मनको उदार बनावे और उच्चकुलमें विवाह करे। मैं अमुक नामवाला आपका सेवक हूँ, इस प्रकार अपना परिचय दे, दूसरोंके गुणोंका बखान करे, प्रतिदिन स्नान करके इष्ट-मन्त्रका जप करे, अच्छे स्वभावका बने, अधिक न बोले, लोग उसे बहुत पापाचारी बताकर उसकी निन्दा करें तो भी उसकी परवा न करे और अत्यन्त दुष्कर तथा बहुत-से पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके समाजमें प्रवेश करे ॥ १२—१५ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत्।
सुखं च चित्रं भुञ्जीत कृतेनैकेन गोपयेत् ॥ १६ ॥
लोके च लभते पूजां परत्रेह महत् फलम् ॥ १७ ॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष पापहीन हो शीघ्र ही बहुसंख्यक मनुष्योंके आदरका पात्र हो जाता है, नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है और अपने किये हुए एक सत्कर्मके प्रभावसे अपनी रक्षा कर लेता है। लोकमें सर्वत्र उसका आदर होने लगता है तथा वह इहलोक और परलोकमें भी महान् फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मर्यादाका पालन करने-करानेवाले कायव्यनामक दस्युकी सद्गतिका वर्णन

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावे न नश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो दस्यु (डाकू) मर्यादाका पालन करता है, वह मरनेके बाद दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इस विषयमें विद्वान् पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

प्रहर्ता मतिमाञ्शूरः श्रुतवाननृशंसवान्।
रक्षन्नाश्रमिणां धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥ २ ॥
निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः।
कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात् सिद्धिमाप्तवान् ॥ ३ ॥

कायव्यनामसे प्रसिद्ध एक निषादपुत्रने दस्यु होनेपर भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वह प्रहारकुशल, शूरवीर, बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ, क्रूरतारहित, आश्रमवासियोंके धर्मकी रक्षा करनेवाला, ब्राह्मणभक्त और गुरुपूजक था। वह क्षत्रिय पितासे एक निषादजातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था; अतः क्षत्रिय-धर्मका निरन्तर पालन करता था ॥ २-३ ॥

अरण्ये सायं पूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता।
विधिज्ञो मृगजातीनां नैषादानां च कोविदः ॥ ४ ॥

कायव्य प्रतिदिन प्रातःकाल औ सायङ्कालके समय वनमें जाकर मृगोंकी टोलियोंको उत्तेजित कर देता था। वह मृगोंकी विभिन्न जातियोंके स्वभावसे परिचित तथा उन्हें काबूमें करनेकी कलाको जाननेवाला था। निषादोंमें वह सबसे निपुण था ॥ ४ ॥

सर्वकाननदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा।
धर्मज्ञः सर्वभूतानाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥

उसे वनके सम्पूर्ण प्रदेशोंका ज्ञान था। वह सदा पारियात्र पर्वतपर विचरनेवाला तथा समस्त प्राणियोंके धर्मोंका ज्ञाता था। उसका बाण लक्ष्य बेधनेमें अचूक था। उसके सारे अस्त्र-शस्त्र सुदृढ़ थे ॥ ५ ॥

अप्यनेकशतां सेनामेक एव जिगाय सः।
स वृद्धावन्धबधिरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ॥ ६ ॥

वह सैकड़ों मनुष्योंकी सेनाको अकेले ही जीत लेता था और उस महान् वनमें रहकर अपने अन्धे और बहरे माता-पिताकी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ६ ॥

मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि ।
सत्कृत्य भोजयामास मान्यान् परिचचार च ॥ ७ ॥

वह निषाद मधु, मांस, फल, मूल तथा नाना प्रकारके अन्नोंद्वारा माता-पिताको सत्कारपूर्वक भोजन कराता था तथा दूसरे-दूसरे माननीय पुरुषोंकी भी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ७ ॥

आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान् परिपूजयन् ।
अपि तेभ्यो गृहान् गत्वा निनाय सततं वने ॥ ८ ॥

वह वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ और संन्यासी ब्राह्मणोंकी पूजा करता और प्रतिदिन उनके घरमें जाकर उनके लिये अन्न आदि वस्तुएँ पहुँचा देता था ॥ ८ ॥

येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया ।
तेषामासज्य गेहेषु कल्य एव स गच्छति ॥ ९ ॥

जो लोग लुटेरेके घरका भोजन होनेकी आशङ्कासे उसके हाथसे अन्न नहीं ग्रहण करते थे, उनके घरोंमें वह बड़े सबेरे ही अन्न और फल-मूल आदि भोजनसामग्री रख जाता था ॥ ९ ॥

बहूनि च सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे ।
निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्तिनाम् ॥ १० ॥

एक दिन मर्यादाका अतिक्रमण और भाँति-भाँतिके क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले कई हजार डाकुओंने उससे अपना सरदार बननेके लिये प्रार्थना की ॥ १० ॥

दस्यव ऊचुः

मुहूर्तदेशकालज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव सम्मतः ॥ ११ ॥

डाकू बोले—तुम देश, काल और मुहूर्तके ज्ञाता, विद्वान्, शूरवीर और दृढ़प्रतिज्ञ हो; इसलिये हम सब लोगोंकी सम्मतिसे तुम हमारे सरदार हो जाओ ॥ ११ ॥

यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ।
पालयास्मान् यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ १२ ॥

तुम हमें जैसी-जैसी आज्ञा दोगे, वैसा-ही-वैसा हम करेंगे। तुम माता-पिताके समान हमारी यथोचित रीतिसे रक्षा करो ॥ १२ ॥

कायव्य उवाच

मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम् ।
नायुद्ध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात् स्त्रियः ॥ १३ ॥

कायव्यने कहा—प्रिय बन्धुओ ! तुम कभी स्त्री, डरपोक, बालक और तपस्वीकी हत्या न करना। जो तुमसे युद्ध न कर रहा हो, उसका भी वध न करना। स्त्रियोंको कभी बलपूर्वक न पकड़ना ॥ १३ ॥

सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित् ।
नित्यं तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः ॥ १४ ॥

तुममेंसे कोई भी सभी प्राणियोंके स्त्रीवर्गकी किसी तरह भी हत्या न करे। ब्राह्मणोंके हितका सदा ध्यान रखना। आवश्यकता हो तो उनकी रक्षाके लिये युद्ध भी करना ॥ १४ ॥

शस्यं च नापि हर्तव्यं सारविघ्नं च मा कृथाः ।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा ॥ १५ ॥

खेतकी फसल न उखाड़ लाना, विवाह आदि उत्सवोंमें विघ्न न डालना, जहाँ देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा होती हो, वहाँ कोई उपद्रव न खड़ा करना ॥ १५ ॥

सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति ।
कार्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें ब्राह्मण विशेषरूपसे डाकुओंके हाथसे छुटकारा पानेका अधिकारी है। अपना सर्वस्व लगाकर भी तुम्हें उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यस्य ह्येते सम्प्ररुष्टा मन्त्रयन्ति पराभवम् ।
न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥

देखो, ब्राह्मणलोग कुपित होकर जिसके पराभवका चिन्तन करने लगते हैं, उसका तीनों लोकोंमें कोई रक्षक नहीं होता ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणान् परिवदेद् विनाशं चापि रोचयेत् ।
सूर्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता और उनका विनाश चाहता है, उसका जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी प्रकार अवश्य ही पतन हो जाता है ॥ १८ ॥

इहैव फलमासीनः प्रत्याकाङ्क्षेत सर्वशः ।
ये ये नो न प्रदास्यन्ति तांस्तांस्तेनाभियास्यसि ॥ १९ ॥

तुमलोग यहीं बैठे-बैठे लुटेरेपनका जो फल है, उसे पानेकी अभिलाषा रक्खो। जो-जो व्यापारी हमें स्वेच्छासे धन नहीं देंगे, उन्हीं-उन्हींपर तुम दल बाँधकर आक्रमण करोगे ॥ १९ ॥

शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृद्ध्यर्थं विनिश्चयः ।
ये च शिष्टान् प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः ॥ २० ॥

दण्डका विधान दुष्टोंके दमनके लिये है, अपना धन बढ़ानेके लिये नहीं। जो शिष्ट पुरुषोंको सताते हैं, उनका वध ही उनके लिये दण्ड माना गया है ॥ २० ॥

ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केचन ।
तदैव तेऽनुमार्यन्ते कुणपे क्रमयो यथा ॥ २१ ॥

जो लोग राष्ट्रको हानि पहुँचाकर अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे मुर्दोंमें पड़े हुए कीड़ोंके समान उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्तेरन्निह दस्यवः ।
अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥

जो दस्यु-जातिमें उत्पन्न होकर भी धर्मशास्त्रके अनुसार आचरण करते हैं, वे लुटेरे होनेपर भी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं (ये सब बातें तुम्हें स्वीकार हों तो मैं तुम्हारा सरदार बन सकता हूँ) ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

ते सर्वमेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनम् ।
वृद्धिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर उन दस्युओंने कायव्य-

की सारी आज्ञा मान ली और सदा उसका अनुसरण किया। इससे उन सभीकी उन्नति हुई और वे पाप-कर्मोंसे हट गये॥ २३॥

कायव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान्।
साधूनामाचरन् क्षेमं दस्यून् पापान्निवर्तयन्॥ २४॥

कायव्यने उस पुण्यकर्मसे बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त कर ली; क्योंकि उसने साधु पुरुषोंका कल्याण करते हुए डाकुओं-को पापसे बचा लिया था॥ २४॥

इदं कायव्यचरितं यो नित्यमनुचिन्तयेत्।
नारण्येभ्यो हि भूतेभ्यो भयं प्राप्नोति किंचन॥ २५॥

जो प्रतिदिन कायव्यके इस चरित्रका चिन्तन करता है, उसे वनवासी प्राणियोंसे किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं प्राप्त होता॥२५॥

न भयं तस्य भूतेभ्यः सर्वेभ्यश्चैव भारत।
नासतो विद्यते राजन् स ह्यरण्येषु गोपतिः॥ २६॥

भारत! उसे सम्पूर्ण भूतोंसे भी भय नहीं होता। राजन्! किसी दुष्टात्मासे भी उसको डर नहीं लगता। वह तो वनका अधिपति हो जाता है॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कायव्यचरिते पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कायव्यका चरित्रविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३५॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा किसका धन ले और किसका न ले तथा किसके साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार

भीष्म उवाच

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
येन मार्गेण राजा वै कोशं संजनयत्युत॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिस मार्ग या उपायसे राजा अपना खजाना भरता है, उसके विषयमें प्राचीन इतिहासके जानकारलोग ब्रह्माजीकी कही हुई कुछ गाथाएँ कहा करते हैं॥ १॥

न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति॥ २॥

राजाको यज्ञानुष्ठान करनेवाले द्विजोंका धन नहीं लेना चाहिये। इसी प्रकार उसे देवसम्पत्तिमें भी हाथ नहीं लगाना चाहिये। वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्योंके धनका अपहरण कर सकता है॥ २॥

इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते॥ ३॥
तदस्य स्याद् बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।

भरतनन्दन! ये समस्त प्रजाएँ क्षत्रियोंकी हैं। राज्यभोग भी क्षत्रियोंके ही हैं और सारा धन भी उन्हींका है, दूसरेका नहीं है; किंतु वह धन उसकी सेनाके लिये है या यज्ञानुष्ठानके लिये॥ ३½॥

अभोग्याश्चौषधीश्छित्त्वा भोग्या एव पचन्त्युत॥ ४॥
यो वै न देवान् न पितॄन् न मर्त्यान् हविषार्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥ ५॥
हरेत् तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः॥ ६॥

राजन्! जो खाने योग्य नहीं हैं, उन ओषधियों या वृक्षोंको काटकर मनुष्य उनके द्वारा खाने योग्य ओषधियोंको पकाते हैं। इसी प्रकार जो देवताओं, पितरों और मनुष्योंका हविष्यके द्वारा पूजन नहीं करता है, उसके धनको धर्मज्ञ पुरुषोंने व्यर्थ बताया है। अतः धर्मात्मा राजा ऐसे धनको छीन ले और उसके द्वारा प्रजाका पालन करे, किंतु वैसे धनसे राजा अपना कोश न भरे॥ ४—६॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ ७॥

जो राजा दुष्टोंसे धन छीनकर उसे श्रेष्ठ पुरुषोंको बाँट देता है, वह अपने आपको सेतु बनाकर उन सबको पार कर देता है। उसे सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता ही मानना चाहिये॥७॥

तथा तथा जयेल्लोकाञ्शक्त्या चैव यथा यथा।
उद्भिज्जा जन्तवो यद्वच्छुक्लजीवा यथा यथा॥ ८॥
अनिमित्तात् सम्भवन्ति तथायज्ञः प्रजायते॥ ९॥
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥ १०॥

धर्मज्ञ राजा अपनी शक्तिके अनुसार उसी-उसी तरह लोकोंपर विजय प्राप्त करे, जैसे उद्भिज जन्तु (वृक्ष आदि) अपनी शक्तिके अनुसार आगे बढ़ते हैं तथा जैसे वज्रकीट आदि क्षुद्र जीव बिना ही निमित्तके उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही बिना ही कारणके यज्ञहीन कर्तव्यविरोधी मनुष्य भी राज्यमें उत्पन्न हो जाते हैं। अतः राजाको चाहिये कि मच्छर, डाँस और चींटी आदि कीटोंके साथ जैसा बर्ताव किया जाता है, वही बर्ताव उन सत्कर्मविरोधियोंके साथ करे, जिससे धर्मका प्रचार हो॥८—१०॥

यथा ह्यकस्माद् भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः।
तथैवेह भवेद् धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा॥ ११॥

जिस प्रकार अकस्मात् पृथ्वीकी धूलको लेकर सिलपर पीसा जाय तो वह और भी महीन ही होती है, उसी प्रकार विचार करनेसे धर्मका स्वरूप उत्तरोत्तर सूक्ष्म जान पड़ता है॥११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्म पर्वमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३६॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आनेवाले संकटसे सावधान रहनेके लिये दूरदर्शी, तत्कालज्ञ और दीर्घसूत्री—इन तीन मत्स्योंका दृष्टान्त

भीष्म उवाच

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, उसे अनागतविधाता कहते हैं तथा जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति' कहलाता है। ये दो ही प्रकारके लोग सुखसे अपनी उन्नति करते हैं; परंतु जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला होता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अत्रैव चेदमव्यग्रं शृणुष्वाख्यानमुत्तमम्।
दीर्घसूत्रमुपाश्रित्य कार्याकार्यविनिश्चये ॥ २ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करनेमें जो दीर्घसूत्री होता है, उसको लेकर मैं एक सुन्दर उपाख्यान सुना रहा हूँ। तुम स्वस्थचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

नातिगाधे जलाधारे सुहृदः कुशलास्त्रयः।
प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभूवुः सहचारिणः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! कहते हैं, एक तालाबमें जो अधिक गहरा नहीं था, बहुत सी मछलियाँ रहती थीं, उसी जलाशयमें तीन कार्यकुशल मत्स्य भी रहते थे, जो सदा साथ-साथ विचरनेवाले और एक दूसरेके सुहृद् थे ॥ ३ ॥

तत्रैको दीर्घकालज्ञ उत्पन्नप्रतिभोऽपरः।
दीर्घसूत्रश्च तत्रैकस्त्रयाणां सहचारिणाम् ॥ ४ ॥

वहाँ उन तीनों सहचारियोंमेंसे एक तो (अनागतविधाता था, जो) आनेवाले दीर्घकालतककी बात सोच लेता था। दूसरा प्रत्युत्पन्नमति था, जिसकी प्रतिभा ठीक समयपर ही काम दे देती थी और तीसरा दीर्घसूत्री था (जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करता था) ॥ ४ ॥

कदाचित् तं जलस्थायं मत्स्यबन्धाः समन्ततः।
निस्रावयामासुरथो निम्नेषु विविधैर्मुखैः ॥ ५ ॥

एक दिन कुछ मछलीमारोंने उस जलाशयमें चारों ओरसे नालियाँ बनाकर अनेक द्वारोंसे उसका पानी आसपासकी नीची भूमिमें निकालना आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥

प्रक्षीयमाणं तं दृष्ट्वा जलस्थायं भयागमे।
अब्रवीद् दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥ ६ ॥

जलाशयका पानी घटता देख भय आनेकी सम्भावना समझकर दूरतककी बातें सोचनेवाले उस मत्स्यने अपने उन दोनों सुहृदोंसे कहा— ॥ ६ ॥

इयमापत् समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम्।
शीघ्रमन्यत्र गच्छामः पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ७ ॥

'बन्धुओ ! जान पड़ता है कि इस जलाशयमें रहनेवाले सभी मत्स्योंपर संकट आ पहुँचा है; इसलिये जबतक हमारे निकलनेका मार्ग दूषित न हो जाय, तबतक शीघ्र ही हमें यहाँसे अन्यत्र चले जाना चाहिये ॥ ७ ॥

अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधयेत्।
स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे ॥ ८ ॥

'जो आनेवाले संकटको उसके आनेसे पहले ही अपनी अच्छी नीतिद्वारा मिटा देता है, वह कभी प्राण जानेके संशयमें नहीं पड़ता। यदि आपलोगोंको मेरी बात ठीक जान पड़े, तो चलिये, दूसरे जलाशयको चलें' ॥ ८ ॥

दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत् सम्यगुच्यते।
न तु कार्या त्वरा तावदिति मे निश्चिता मतिः ॥ ९ ॥

इसपर वहाँ जो दीर्घसूत्री था, उसने कहा—मित्र ! तुम बात तो ठीक कहते हो; परंतु मेरा यह दृढ़ विचार है कि अभी हमें जल्दी नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

अथ सम्प्रतिपत्तिज्ञः प्राब्रवीद् दीर्घदर्शिनम्।
प्राप्ते काले न मे किंचिन्न्यायतः परिहास्यते ॥ १० ॥

तदनन्तर प्रत्युत्पन्नमतिने दूरदर्शीसे कहा 'मित्र ! जब समय आ जाता है, तब मेरी बुद्धि न्यायतः कोई युक्ति ढूँढ़ निकालनेमें कभी नहीं चूकती है' ॥ १० ॥

एवं श्रुत्वा निराक्रम्य दीर्घदर्शी महामतिः।
जगाम स्रोतसा तेन गम्भीरं सलिलाशयम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर परम बुद्धिमान् दीर्घदर्शी (अनागतविधाता) वहाँसे निकलकर एक नालीके रास्तेसे दूसरे गहरे जलाशयमें चला गया ॥ ११ ॥

ततः प्रस्रुततोयं तं प्रसमीक्ष्य जलाशयम्।
बबन्धुर्विविधैर्योगैर्मत्स्यान् मत्स्योपजीविनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर मछलियोंसे ही जीविका चलानेवाले मछलीमारोंने जब यह देखा कि जलाशयका जल प्रायः बाहर निकल चुका है, तब उन्होंने अनेक उपायोंद्वारा वहाँकी सब मछलियोंको फँसा लिया ॥ १२ ॥

विलोड्यमाने तस्मिंस्तु स्रुततोये जलाशये।
अगच्छद् बन्धनं तत्र दीर्घसूत्रः सहापरैः ॥ १३ ॥

जिसका पानी बाहर निकल चुका था, वह जलाशय जब मथा जाने लगा, तब दीर्घसूत्री भी दूसरे मत्स्योंके साथ जालमें फँस गया ॥ १३ ॥

उद्दाने क्रियमाणे तु मत्स्यानां तत्र रज्जुभिः।
प्रविश्यान्तरमेतेषां स्थितः सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १४ ॥

जब मछलीमार रस्सी खींचकर मछलियोंसे भरे हुए उस जालको उठाने लगे, तब प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य भी उन्हीं मत्स्योंके भीतर घुसकर जालमें बँध-सा गया ॥ १४ ॥

गृह्यमेव तदुद्दानं गृहीत्वा तं तथैव सः।

सर्वानेव च तांस्तत्र ते विदुर्ग्रथितानिति ॥ १५ ॥

वह जाल मुखसे पकड़ने योग्य था; अतः उसकी ताँतको मुँहमें लेकर वह भी अन्य मछलियोंकी तरह बँधा हुआ प्रतीत होने लगा। मछलीमारोंने उन सब मछलियोंको वहाँ बँधा हुआ ही समझा ॥ १५ ॥

ततः प्रक्षाल्यमानेषु मत्स्येषु विपुले जले।
मुक्त्वा रज्जुं प्रमुक्तोऽसौ शीघ्रं सम्प्रतिपत्तिमान् ॥

तदनन्तर उस जालको लेकर वे मछलीमार जब दूसरे अगाध जलवाले जलाशयके समीप गये और उन मछलियोंको धोने लगे, उसी समय प्रत्युत्पन्नमति मुखमें ली हुई जालकी रस्सीको छोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो गया और जलमें समा गया ॥ १६ ॥

दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः।
मरणं प्राप्तवान् मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥ १७ ॥

परंतु बुद्धिहीन और आलसी मूर्ख दीर्घसूत्री अचेत होकर मृत्युको प्राप्त हुआ, जैसे कोई इन्द्रियोंके नष्ट होनेसे नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्राप्ततमं कालं यो मोहान्नावबुद्ध्यते।
स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घसूत्रो यथा झषः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो पुरुष मोहवश अपने सिरपर आये हुए कालको नहीं समझ पाता, वह उस दीर्घसूत्री मत्स्यके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान्।
स संशयमवाप्नोति यथा सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १९ ॥

जो पुरुष यह समझकर कि मैं बड़ा कार्यकुशल हूँ, पहलेसे ही अपने कल्याणका उपाय नहीं करता, वह प्रत्युत्पन्नमति मत्स्यके समान प्राणसंशयकी स्थितिमें पड़ जाता है ॥

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥ २० ॥

जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, वह 'अनागतविधाता' और जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका कोई उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति'—ये दो ही सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं; परंतु प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला 'दीर्घसूत्री' नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

काष्ठाः कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवाः।
मासाः पक्षाः षड् ऋतवः कल्पः संवत्सरास्तथा ॥ २१ ॥
पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं ध्यायते यच्च तत्तथा ॥ २२ ॥

काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, लव, मास, पक्ष, छः ऋतु,, संवत्सर और कल्प—इन्हें 'काल' कहते हैं तथा पृथ्वीको 'देश' कहा जाता है। इनमेंसे देशका तो दर्शन होता है, किंतु काल दिखायी नहीं देता है। अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये जिस देश और कालको उपयोगी मानकर उसका विचार किया जाता है, उसको ठीक-ठीक ग्रहण करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः।
प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामे चाभिमतौ नृणाम् ॥ २३ ॥

ऋषियोंने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रमें इन देश और कालको ही कार्य-सिद्धिका प्रधान उपाय बताया है। मनुष्योंकी कामना-सिद्धिमें भी ये देश और काल ही प्रधान माने गये हैं ॥ २३ ॥

परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत्।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पुरुष सोच-समझकर या जान-बूझकर काम करनेवाला तथा सतत सावधान रहनेवाला है, वह अभीष्ट देश और कालका ठीक-ठीक उपयोग करता और उनके सहयोगसे इच्छानुसार फल प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि शाकुलोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें शाकुलोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुओंसे घिरे हुए राजाके कर्त्तव्यके विषयमें बिडाल और चूहेका आख्यान

युधिष्ठिर उवाच

सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ।
अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतश्रेष्ठ! आपने सर्वत्र अनागत (संकट आनेसे पहले ही आत्मरक्षाकी व्यवस्था करनेवाली) तथा प्रत्युत्पन्न (समयपर बचावका उपाय सोच लेनेवाली) बुद्धिको ही श्रेष्ठ बताया है और प्रत्येक कार्यमें आलस्यके कारण विलम्ब करनेवाली बुद्धिको विनाशकारी बताया है ॥ १ ॥

तदिच्छामि परां श्रोतुं बुद्धिं ते भरतर्षभ।
यथा राजा न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥
धर्मार्थकुशलो राजा धर्मशास्त्रविशारदः।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

भरतभूषण! अतः अब मैं उस श्रेष्ठ बुद्धिके विषयमें आपसे सुनना चाहता हूँ, जिसका आश्रय लेनेसे धर्म और अर्थमें कुशल तथा धर्मशास्त्रविशारद राजा शत्रुओंद्वारा घिरा रहनेपर भी मोहमें नहीं पड़ता। कुरुश्रेष्ठ! उसी बुद्धिके विषयमें मैं आपसे प्रश्न करता हूँ; अतः आप मेरे लिये उसकी व्याख्या करें ॥ २-३ ॥

शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्तेत पार्थिवः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथाविधि ॥ ४ ॥

बहुत-से शत्रुओंका आक्रमण हो जानेपर राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये ? यह सब कुछ मैं विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः।
बहवोऽप्येकमुद्धर्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः ॥ ५ ॥

पहलेके सताये हुए डाकू आदि शत्रु जब राजाको संकटमें पड़ा हुआ देखते हैं, तब वे बहुत-से मिलकर उस असहाय राजाको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ५ ॥

सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम् ॥ ६ ॥

जब अनेक महाबली शत्रु किसी दुर्बल राजाको सब ओरसे हड़प जानेके लिये तैयार हो जायँ, तब उस एकमात्र असहाय नरेशके द्वारा उस परिस्थितिका कैसे सामना किया जा सकता है ? ॥ ६ ॥

कथं मित्रमरिं चापि विन्दते भरतर्षभ।
चेष्टितव्यं कथं चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे ॥ ७ ॥

राजा किस प्रकार मित्र और शत्रुको अपने वशमें करता है तथा उसे शत्रु और मित्रके बीचमें रहकर कैसी चेष्टा करनी चाहिये ? ॥ ७ ॥

प्रज्ञातलक्षणे मित्रे तथैवामित्रतां गते।
कथं तु पुरुषः कुर्यात् कृत्वा किं वा सुखी भवेत्॥ ८ ॥

पहले लक्षणोंद्वारा जिसे मित्र समझा गया है, वही मनुष्य यदि शत्रु हो जाय, तब उसके साथ कोई पुरुष कैसा बर्ताव करे ? अथवा क्या करके वह सुखी हो ? ॥ ८ ॥

विग्रहं केन वा कुर्यात् संधिं वा केन योजयेत्।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि ॥ ९ ॥

किसके साथ विग्रह करे ? अथवा किसके साथ संधि जोड़े और बलवान् पुरुष भी यदि शत्रुओंके बीचमें मिल जाय तो उसके साथ कैसा बर्ताव करे ? ॥ ९ ॥

एतद् वै सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परंतप।
नैतस्य कश्चिद् वक्तास्ति श्रोता वापि सुदुर्लभः ॥ १० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् सत्यसंधाज्जितेन्द्रियात्।
तदन्विष्य महाभाग सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ११ ॥

परंतप पितामह ! यह कार्य समस्त कार्योंमें श्रेष्ठ है। सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, दूसरा कोई इस विषयको बतानेवाला नहीं है। इसको सुननेवाला भी दुर्लभ ही है। अतः महाभाग ! आप उसका अनुसंधान करके यह सारा विषय मुझसे कहिये ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः।
शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन बेटा युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह विस्तारपूर्वक पूछना बहुत ठीक है। यह सुखकी प्राप्ति करानेवाला है। आपत्तिके समय क्या करना चाहिये ? यह विषय गोपनीय होनेसे सबको मालूम नहीं है। तुम यह सब रहस्य मुझसे सुनो ॥ १२ ॥

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वै सदा गतिः॥ १३ ॥

भिन्न-भिन्न कार्योंका ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्रका मन भी द्वेषभावसे दूषित हो जाता है। वास्तवमें शत्रु-मित्रकी परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती है ॥ १३ ॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १४ ॥

अतः देश-कालको समझकर कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके किसीपर विश्वास और किसीके साथ युद्ध करना चाहिये ॥ १४ ॥

संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः।
अमित्रैरपि संधेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ॥ १५ ॥

भारत ! कर्तव्यका विचार करके सदा हित चाहनेवाले विद्वान् मित्रोंके साथ संधि करनी चाहिये और आवश्यकता पड़नेपर शत्रुओंसे भी संधि कर लेनी चाहिये; क्योंकि प्राणोंकी रक्षा सदा ही कर्तव्य है ॥ १५ ॥

यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात् किंचित् फलान्यपि च भारत॥ १६॥

भारत ! जो मूर्ख मानव शत्रुओंके साथ कभी किसी भी दशामें संधि ही नहीं करता, वह अपने किसी भी उद्देश्यको सिद्ध नहीं कर सकता और न कोई फल ही पा सकता है ॥

यस्त्वमित्रेण संदध्यान्मित्रेण च विरुद्ध्यते।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद् विन्दते फलम् ॥ १७ ॥

जो स्वार्थसिद्धिका अवसर देखकर शत्रुसे तो संधि कर लेता है और मित्रोंके साथ विरोध बढ़ा लेता है, वह महान् फल प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषिकस्य च ॥ १८ ॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष वटवृक्षके आश्रयमें रहनेवाले एक बिलाव और चूहेके संवादरूप एक प्राचीन कथानकका दृष्टान्त दिया करते हैं ॥ १८ ॥

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत्।
लताजालपरिच्छिन्नो नानाद्विजगणान्वितः ॥ १९ ॥

किसी महान् वनमें एक विशाल बरगदका वृक्ष था, जो लतासमूहोंसे आच्छादित तथा भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सुशोभित था ॥ १९ ॥

स्कन्धवान् मेघसङ्काशः शीतच्छायो मनोरमः।
अरण्यमभितो जातः स तु व्यालमृगाकुलः ॥ २० ॥

वह अपनी मोटी-मोटी डालियोंसे हरा-भरा होनेके

कारण मेघके समान दिखायी देता था। उसकी छाया शीतल थी। वह मनोरम वृक्ष वनके समीप होनेके कारण बहुत-से सर्पों तथा पशुओंका आश्रय बना हुआ था॥ २०॥

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम्।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषिकः॥ २१॥

उसीकी जड़में सौ दरवाजोंका बिल बनाकर पलित नामक एक परम बुद्धिमान् चूहा निवास करता था। ॥ २१॥

शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातखादकः॥ २२॥

उसी बरगदकी डालीपर पहले लोमश नामका एक बिलाव भी बड़े सुखसे रहता था। पक्षियोंका समूह ही उसका भोजन था॥ २२॥

तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तंगते रवौ॥ २३॥
तत्र स्नायुमयान् पाशान् यथावत् संविधाय सः।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम्॥ २४॥

उसी वनमें एक चाण्डाल भी घर बनाकर रहता था। वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर वहाँ आकर जाल फैला देता और उसकी ताँतकी डोरियोंको यथास्थान लगा घर जाकर मौजसे सोता था; फिर सबेरा होनेपर वहाँ आया करता था॥ २३-२४॥

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः।
कदाचित्तत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत॥ २५॥

रातको उस जालमें प्रतिदिन नाना प्रकारके पशु फँस जाते थे (उन्हींको लेनेके लिये वह सबेरे आता था)। एक दिन अपनी असावधानीके कारण पूर्वोक्त बिलाव भी उस जालमें फँस गया॥ २५॥

तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः॥ २६॥

उस महान् शक्तिशाली और नित्य आततायी शत्रुके फँस जानेपर जब पलितको यह समाचार मालूम हुआ, तब वह उस समय बिलसे बाहर निकलकर सब ओर निर्भय विचरने लगा॥ २६॥

तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम्॥ २७॥
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत्॥ २८॥

उस वनमें विश्वस्त होकर विचरते तथा आहारकी खोज करते हुए उस चूहेने बहुत देरके बाद वह मांस देखा, जो जालपर बिखेरा गया था। चूहा उस जालपर चढ़कर उस मांसको खाने लगा॥ २७-२८॥

तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन्।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन्॥ २९॥

जालके ऊपर मांस खानेमें लगा हुआ वह चूहा अपने शत्रुके ऊपर मन-ही-मन हँस रहा था। इतनेहीमें कभी उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गयी॥ २९॥

अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम्।
शरप्रसूनसङ्काशं महीविवरशायिनम्॥ ३०॥

फिर तो उसने एक दूसरे भयंकर शत्रुको वहाँ आया हुआ देखा, जो सरकण्डेके फूलके समान भूरे रङ्गका था। वह धरतीमें विवर बनाकर उसके भीतर सोया करता था॥

नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम्।
तेन मूषिकगन्धेन त्वरमाणमुपागतम्॥ ३१॥

वह जातिका न्यौला था। उसकी आँखें ताँबेके समान दिखायी देती थीं। वह चपल नेवला हरिणके नामसे प्रसिद्ध था और उसी चूहेकी गन्ध पाकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आ पहुँचा था॥ ३१॥

भक्ष्यार्थं संलिहानं तं भूमावूर्ध्वमुखं स्थितम्।
शाखागतमरिं चान्यमपश्यत् कोटरालयम्॥ ३२॥
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम्।

इधर तो वह नेवला अपना आहार ग्रहण करनेके लिये जीभ लपलपाता हुआ ऊपर मुँह किये पृथ्वीपर खड़ा था और दूसरी ओर बरगदकी शाखापर बैठा हुआ दूसरा ही शत्रु दिखायी दिया, जो वृक्षके खोखलेमें निवास करता था। वह चन्द्रक नामसे प्रसिद्ध उल्लू था। उसकी चोंच बड़ी तीखी थी। वह रातमें विचरनेवाला पक्षी था॥ ३२½॥

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा॥ ३३॥
अथास्यासीदियं चिन्ता तत् प्राप्य सुमहद् भयम्।

न्यौले और उल्लू-दोनोंका लक्ष्य बने हुए उस चूहेको बड़ा भय हुआ। अब उसे इस प्रकार चिन्ता होने लगी—॥

आपद्यस्यां सुकष्टायां मरणे प्रत्युपस्थिते॥ ३४॥
समन्ताद् भय उत्पन्ने कथं कार्यं हितैषिणा।

'अहो! इस कष्टदायिनी विपत्तिमें मृत्यु निकट आकर खड़ी है। चारों ओरसे भय उत्पन्न हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना हित चाहनेवाले प्राणीको किस उपायका अवलम्बन करना चाहिये?'॥ ३४½॥

स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र भयदर्शनः॥ ३५॥
अभवद् भयसंतप्तश्चक्रे च परमां मतिम्।

इस प्रकार सब ओरसे उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया था। सर्वत्र उसे भय-ही-भय दिखायी देता था। उस भयसे वह संतप्त हो उठा। इसके बाद उसने पुनः श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले सोचना आरम्भ किया—॥ ३५½॥

आपद्विनाशभूयिष्ठं गतैः कार्यं हि जीवितम्॥ ३६॥
समन्तात् संशयात् सैषा तस्मादापदुपस्थिता।

'आपत्तिमें पड़कर विनाशके समीप पहुँचे हुए प्राणियोंको भी अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न तो करना ही चाहिये। आज सब ओरसे प्राणोंका संशय उपस्थित है; अतः यह मुझपर बड़ी भारी आपत्ति आ गयी है॥ ३६½॥

गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति॥ ३७॥

उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात् ।

'यदि मैं पृथ्वीपर उतरकर भागता हूँ तो सहसा नेवला मुझे पकड़कर खा जायगा। यदि यहीं ठहर जाता हूँ तो उल्लू मुझे चोंचसे मार डालेगा और यदि जाल काटकर भीतर घुसता हूँ तो बिलाव जीवित नहीं छोड़ेगा ॥ ३७½ ॥

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः सम्मोहं गन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
करिष्ये जीविते यत्नं यावद् युक्त्या प्रतिग्रहात् ।

'तथापि मुझ-जैसे बुद्धिमान्‌को घबराना नहीं चाहिये । अतः जहाँतक युक्ति काम देगी, परस्पर सहयोगका आदान-प्रदान करके मैं जीवन-रक्षाके लिये प्रयत्न करूँगा ॥ ३८½ ॥

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३९ ॥
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥ ४० ॥

'बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्रमें निपुण पुरुष भारी और भयंकर विपत्तिमें पड़नेपर भी उसमें डूब नहीं जाता है—उससे छूटनेकी चेष्टा करता है ॥ ३९-४० ॥

न त्वन्यामिह मार्जाराद् गतिं पश्यामि साम्प्रतम् ।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥ ४१ ॥

'मैं इस समय इस बिलावका सहारा लेनेके सिवा, अपने लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं देखता। यद्यपि यह मेरा कट्टर शत्रु है, तथापि इस समय स्वयं ही भारी संकटमें पड़ा हुआ है। मेरेद्वारा इसका भी बड़ा भारी काम निकल सकता है ॥

जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः ।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥ ४२ ॥

'इधर, मैं भी जीवनकी रक्षा चाहता हूँ, तीन-तीन शत्रु मुझपर घात लगाये बैठे हैं; अतः क्यों न आज मैं अपने शत्रु इस बिलावका ही आश्रय लूँ ! ॥ ४२ ॥

नीतिशास्त्रं समाश्रित्य हितमस्योपवर्णये ।
येनेमं शत्रुसंघातं मतिपूर्वेण वञ्चये ॥ ४३ ॥

'आज नीतिशास्त्रका सहारा लेकर इसके हितका वर्णन करूँगा; जिससे बुद्धिके द्वारा इस शत्रुसमुदायको धोखा देकर बच जाऊँगा ॥ ४३ ॥

अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः ।
मूढो ग्राहयितुं स्वार्थं सङ्गत्या यदि शक्यते ॥ ४४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि बिलाव मेरा महान् दुश्मन है, तथापि इस समय महान् संकटमें है। यदि सम्भव हो तो इस मूर्खको संगतिके द्वारा स्वार्थ सिद्ध करनेकी बातपर राजी करूँ॥

कदाचिद् व्यसनं प्राप्य संधिं कुर्यान्मया सह ।
बलिना संनिकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ॥ ४५ ॥
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना ।

'हो सकता है कि विपत्तिमें पड़ा होनेके कारण यह मेरे साथ संधि कर ले। आचार्योंका कथन है कि संकट आ पड़नेपर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले बलवान् पुरुषको भी अपने निकटवर्ती शत्रुसे मेल कर लेना चाहिये ॥ ४५½ ॥

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ॥ ४६ ॥
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम् ।

'विद्वान् शत्रु भी अच्छा होता है, किंतु मूर्ख मित्र भी अच्छा नहीं है। मेरा जीवन तो आज मेरे शत्रु बिलावके ही अधीन है॥

हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ॥ ४७ ॥
अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत् ।

'अच्छा, अब मैं इसे आत्मरक्षाके लिये एक युक्ति बता रहा हूँ। सम्भव है, यह शत्रु इस समय मेरी संगतिसे विद्वान् हो जाय—विवेकसे काम ले' ॥ ४७½ ॥

एवं विचिन्तयामास मूषिकः शत्रुचेष्टितम् ॥ ४८ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः संधिविग्रहकालवित् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषिकोऽब्रवीत् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार चूहेने शत्रुकी चेष्टापर विचार किया। वह अर्थसिद्धिके उपायको यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा संधि और विग्रहके अवसरको समझनेवाला था। उसने बिलावको सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें कहा—॥ ४८-४९ ॥

सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि ।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५० ॥

'भैया बिलाव ! मैं तुम्हारे प्रति मैत्रीका भाव रखकर बातचीत कर रहा हूँ। तुम अभी जीवित तो हो न ? मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रहे; क्योंकि इसमें मेरी और तुम्हारी दोनोंकी एक-सी भलाई है ॥ ५० ॥

न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम् ।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ॥ ५१ ॥

'सौम्य ! तुम्हें डरना नहीं चाहिये। तुम आनन्दपूर्वक जीवित रह सकोगे। यदि मुझे मार डालनेकी इच्छा त्याग दो तो मैं इस संकटसे तुम्हारा उद्धार कर दूँगा ॥ ५१ ॥

अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र दुष्करः प्रतिभाति मे ।
येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेयस्तथा मया ॥ ५२ ॥

'एक उपाय है जिससे तुम इस संकटसे छुटकारा पा सकते हो और मैं भी कल्याणका भागी हो सकता हूँ। यद्यपि वह उपाय मुझे दुष्कर प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

मयाप्युपायो दृष्टोऽयं विचार्य मतिमात्मनः ।
आत्मार्थं च त्वदर्थं च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५३ ॥

'मैंने अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह सोच-विचार करके अपने और तुम्हारे लिये एक उपाय ढूँढ़ निकाला है, जिससे हम दोनोंकी समानरूपसे भलाई होगी ॥ ५३ ॥

इदं हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्याभिसंस्थितम् ।
न धर्षयति मार्जार तेन मे स्वस्ति साम्प्रतम् ॥ ५४ ॥

'मार्जार ! देखो, ये नेवला और उल्लू दोनों पापबुद्धिसे यहाँ ठहरे हुए हैं। मेरी ओर घात लगाये बैठे हैं। जबतक वे मुझपर आक्रमण नहीं करते, तभीतक मैं कुशलसे हूँ ॥५४॥

कूजंश्चपलनेत्रोऽयं कौशिको मां निरीक्षते ।
नगशाखाग्रगः पापस्तस्याहं भृशमुद्विजे ॥ ५५ ॥

'यह चञ्चल नेत्रोंवाला पापी उल्लू वृक्षकी डालीपर बैठकर 'हू हू' करता मेरी ही ओर घूर रहा है। उससे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ ५५ ॥

सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि पण्डितः।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ॥ ५६ ॥

'साधु पुरुषोंमें तो सात पग साथ-साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है। हम और तुम तो यहाँ सदासे ही साथ रहते हैं; अतः तुम मेरे विद्वान् मित्र हो। मैं इतने दिन साथ रहनेका अपना मित्रोचित धर्म अवश्य निभाऊँगा, इसलिये अब तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना।
अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥ ५७ ॥

'मार्जार! तुम मेरी सहायताके बिना अपना यह बन्धन नहीं काट सकते। यदि तुम मेरी हिंसा न करो तो मैं तुम्हारे ये सारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ५७ ॥

त्वमाश्रितो द्रुमस्याग्रं मूलं त्वहमुपाश्रितः।
चिरोषितावुभावावां वृक्षेऽस्मिन् विदितं च ते ॥ ५८ ॥

'तुम इस पेड़के ऊपर रहते हो और मैं इसकी जड़में रहता हूँ। इस प्रकार हम दोनों चिरकालसे इस वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, यह बात तो तुम्हें ज्ञात ही है ॥ ५८॥

यस्मिन्नाश्वासते कश्चिद् यश्च नाश्वसिति क्वचित्।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ ॥ ५९ ॥

'जिसपर कोई भरोसा नहीं करता तथा जो दूसरे किसी-पर स्वयं भी भरोसा नहीं करता, उन दोनोंकी धीर पुरुष कोई प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि उनके मनमें सदा उद्वेग भरा रहता है ॥ ५९ ॥

तस्माद् विवर्धतां प्रीतिर्नित्यं संगतमस्तु नौ।
कालातीतमिहार्थं तु न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ६० ॥

'अतः हमलोगोंमें सदा प्रेम बढ़े तथा नित्य प्रति हमारी संगति बनी रहे। जब कार्यका समय बीत जाता है, उसके बाद विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ६० ॥

अर्थयुक्तिमिमां तत्र यथाभूतां निशामय।
तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम् ॥ ६१ ॥

'बिलाव! हम दोनोंके प्रयोजनका जो यह संयोग आ बना है, उसे यथार्थरूपसे सुनो। मैं तुम्हारे जीवनकी रक्षा चाहता हूँ और तुम मेरे जीवनकी रक्षा चाहते हो ॥ ६१ ॥

कश्चित् तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम्।
स तारयति तत् काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ॥ ६२ ॥

'कोई पुरुष जब लकड़ीके सहारे किसी गहरी एवं विशाल नदीको पार करता है, तब उस लकड़ीको भी किनारे लगा देता है तथा वह लकड़ी भी उसे तारनेमें सहायक होती है ॥ ६२ ॥

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ॥ ६३ ॥

'इसी प्रकार हम दोनोंका यह संयोग चिरस्थायी होगा। मैं तुम्हें विपत्तिसे पार कर दूँगा और तुम मुझे आपत्तिसे बचा लोगे' ॥ ६३ ॥

एवमुक्त्वा तु पलितस्तमर्थमुभयोर्हितम्।
हेतुमद् ग्रहणीयं च कालापेक्षी न्यवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥

इस प्रकार पलित दोनोंके लिये हितकर, युक्तियुक्त और माननेयोग्य बात कहकर उत्तर मिलनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ बिलावकी ओर देखने लगा ॥ ६४ ॥

अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥

अपने उस शत्रुका यह युक्तियुक्त और मान लेने योग्य सुन्दर भाषण सुनकर बुद्धिमान् बिलाव कुछ बोलनेको उद्यत हुआ ॥ ६५ ॥

बुद्धिमान् वाक्यसम्पन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन्।
स्वामवस्थां समीक्ष्याथ साम्नैव प्रत्यपूजयत् ॥ ६६ ॥

उसकी बुद्धि अच्छी थी। वह बोलनेकी कलामें कुशल था। पहले तो उसने चूहेकी बातको मन-ही-मन दुहराया; फिर अपनी दशापर दृष्टिपात करके उसने सामनीतिसे ही उस चूहेकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६६ ॥

ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो मणिवैदूर्यलोचनः।
मूषिकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशोऽब्रवीत् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर जिसके आगेके दाँत बड़े तीखे थे और दोनों नेत्र नीलमके समान चमक रहे थे, उस लोमश नामक बिलावने चूहेकी ओर किञ्चिद् दृष्टिपात करके इस प्रकार कहा—॥ ६७ ॥

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥ ६८ ॥

'सौम्य! मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, जो कि तुम मुझे जीवन प्रदान करना चाहते हो। यदि हमारे कल्याणका उपाय जानते हो तो इसे अवश्य करो, कोई अन्यथा विचार मनमें न लाओ ॥ ६८ ॥

अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मम।
द्वयोरापन्नयोः संधिः क्रियतां मा चिराय च ॥ ६९ ॥

'मैं भारी विपत्तिमें फँसा हूँ और तुम भी महान् संकटमें पड़े हुए हो। इस प्रकार आपत्तिमें पड़े हुए हम दोनोंको संधि कर लेनी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो॥ ६९ ॥

विधास्ये प्राप्तकालं यत् कार्यं सिद्धिकरं विभो।
मयि कृच्छ्राद् विनिर्मुक्ते न विनङ्क्ष्यति ते कृतम् ॥ ७० ॥

'प्रभो! समय आनेपर तुम्हारे अभीष्टकी सिद्धि करने-वाला जो भी कार्य होगा, उसे अवश्य करूँगा। इस संकटसे मेरे मुक्त हो जानेपर तुम्हारा किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होगा। मैं इसका बदला अवश्य चुकाऊँगा ॥ ७० ॥

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत् तथा।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥ ७१ ॥

'इस समय मेरा मान भंग हो चुका है। मैं तुम्हारा भक्त और शिष्य हो गया हूँ। तुम्हारे हितका साधन करूँगा और सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहूँगा। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी शरणमें आ गया हूँ' ॥ ७१ ॥

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम्।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवित्॥ ७२ ॥

बिलावके ऐसा कहनेपर अपने प्रयोजनको समझनेवाले पलितने वशमें आये हुए उस बिलावसे यह अभिप्रायपूर्ण हितकर बात कही—॥ ७२ ॥

उदारं यद् भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम॥ ७३ ॥

'भैया बिलाव! आपने जो उदारतापूर्ण वचन कहा है, यह आप-जैसे बुद्धिमान्‌के लिये आश्चर्यकी बात नहीं है। मैंने दोनोंके हितके लिये जो बात निर्धारित की है, वह मुझसे सुनो ॥ ७३ ॥

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद् भयम्।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽसि तव रक्षणे॥ ७४ ॥

'भैया! इस नेवलेसे मुझे बड़ा डर लग रहा है। इसलिये मैं तुम्हारे पीछे इस जालमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु दादा! तुम मुझे मार न डालना, बचा लेना; क्योंकि जीवित रहनेपर ही मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ ॥ ७४ ॥

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम्।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे॥ ७५ ॥

'इधर यह नीच उल्लू भी मेरे प्राणका ग्राहक बना हुआ है। इससे भी तुम मुझे बचा लो। सखे! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मैं तुम्हारे बन्धन काट दूँगा' ॥ ७५ ॥

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत्।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत्॥ ७६ ॥

चूहेकी यह युक्तियुक्त, सुसंगत और अभिप्रायपूर्ण बात सुनकर लोमशने उसकी ओर हर्षभरी दृष्टिसे देखा तथा स्वागतपूर्वक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७६ ॥

तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः।
स विचिन्त्याब्रवीद् धीरः प्रीतस्त्वरित एव च॥ ७७ ॥

इस प्रकार पलितकी प्रशंसा एवं पूजा करके सौहार्दमें प्रतिष्ठित हुए धीरबुद्धि मार्जारने भलीभाँति सोच-विचारकर तुरंत ही प्रसन्नतापूर्वक कहा— ॥ ७७ ॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम्॥ ७८ ॥

'भैया! शीघ्र आओ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम तो हमारे प्राणोंके समान प्रिय सखा हो। विद्वन्! इस समय मुझे प्रायः तुम्हारी ही कृपासे जीवन प्राप्त होगा ॥ ७८ ॥

यद् यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव।
तदाज्ञापय कर्तास्मि संधिरेवास्तु नौ सखे॥ ७९ ॥

'सखे! इस दशामें पड़े हुए मुझ सेवकके द्वारा तुम्हारा जो-जो कार्य किया जा सकता हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दो, मैं अवश्य करूँगा। हम दोनोंमें संधि रहनी चाहिये ॥ ७९ ॥

अस्मात् तु संकटान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः।
सर्वकार्याणि कर्ताहं प्रियाणि च हितानि च॥ ८० ॥

'इस संकटसे मुक्त होनेपर मैं अपने सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ तुम्हारे सभी प्रिय एवं हितकर कार्य करता रहूँगा ॥ ८० ॥

मुक्तश्च व्यसनादस्मात् सौम्याहमपि नाम ते।
प्रीतिमुत्पादयेयं च प्रीतिकर्तुश्च सत्क्रियाम्॥ ८१ ॥

'सौम्य! इस विपत्तिसे छुटकारा पानेपर मैं भी तुम्हारे हृदयमें प्रीति उत्पन्न करूँगा। तुम मेरा प्रिय करनेवाले हो, अतः तुम्हारा भलीभाँति आदर-सत्कार करूँगा ॥ ८१ ॥

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति
पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकः करोति हि कृते
निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः॥ ८२ ॥

'कोई किसीके उपकारका कितना ही अधिक बदला क्यों न चुका दे, वह प्रथम उपकार करनेवालेके समान नहीं शोभा पाता है; क्योंकि एक तो किसीके उपकार करनेपर बदलेमें उसका उपकार करता है; परंतु दूसरेने बिना किसी कारणके ही उसकी भलाई की है' ॥ ८२ ॥

भीष्म उवाच

ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्जारं मूषिकस्तथा।
प्रविवेश तु विश्रभ्य क्रोडमस्य कृतागसः॥ ८३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार चूहेने बिलावसे अपने मतलबकी बात स्वीकार कराकर और स्वयं भी उसका विश्वास करके उस अपराधी शत्रुकी भी गोदमें जा बैठा ॥ ८३ ॥

एवमाश्वासितो विद्वान् मार्जारेण स मूषिकः।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत्॥ ८४ ॥

बिलावने जब उस विद्वान् चूहेको पूर्वोक्तरूपसे आश्वासन दिया, तब वह माता-पिताकी गोदके समान उस बिलावकी छातीपर निर्भय होकर सो गया ॥ ८४ ॥

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषिकम्।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम्॥ ८५ ॥

चूहेको बिलावके अङ्गोंमें छिपा हुआ देख नेवला और उल्लू दोनों निराश हो गये ॥ ८५ ॥

तथैव तौ सुसंत्रस्तौ दृढमागततन्द्रितौ।
दृष्ट्वा तयोः परां प्रीतिं विस्मयं परमं गतौ॥ ८६ ॥

उन दोनोंको बड़े जोरसे औंघाई आ रही थी और वे अत्यन्त भयभीत भी हो गये थे। उस समय चूहे और बिलावका वह विशेष प्रेम देखकर नेवला और उल्लू दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८६ ॥

बलिनौ मतिमन्तौ च सुवृत्तौ चाप्युपासितौ।
अशक्तौ तु नयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात्॥ ८७ ॥

यद्यपि वे बड़े बलवान्, बुद्धिमान्, सुन्दर बर्ताव करने

वाले, कार्यकुशल तथा निकटवर्ती थे तो भी उस संधिकी नीतिसे काम लेनेके कारण उन चूहे और बिलावपर वे बलपूर्वक आक्रमण करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ८७ ॥

कार्यार्थं कृतसंधी तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ।
उलूकनकुलौ तूर्णं जग्मतुस्तौ स्वमालयम् ॥ ८८ ॥

अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये चूहे और बिलाव-ने आपसमें संधि कर ली है, यह देखकर उल्लू और नेवला दोनों तत्काल अपने निवासस्थानको लौट गये ॥ ८८ ॥

लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान् नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ॥ ८९ ॥

नरेश्वर ! चूहा देश-कालकी गतिको अच्छी तरह जानता था; इसलिये वह बिलावके अङ्गोंमें ही छिपा रहकर चाण्डाल-के आनेके समयकी प्रतीक्षा करता हुआ धीरे-धीरे जालको काटने लगा ॥ ८९ ॥

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषिकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ॥ ९० ॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तथा ।
संचोदयितुमारेभे मार्जारो मूषिकं तदा ॥ ९१ ॥

बिलाव उस बन्धनसे तंग आ गया था । उसने देखा, चूहा जाल तो काट रहा है; किंतु इस कार्यमें फुर्ती नहीं दिखा रहा है, तब वह उतावला होकर बन्धन काटनेमें जल्दी न करनेवाले पलित नामक चूहेको उकसाता हुआ बोला— ॥ ९०-९१ ॥

किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे ।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥ ९२ ॥

'सौम्य ! तुम जल्दी क्यों नहीं करते हो ? क्या तुम्हारा काम बन गया, इसलिये मेरी अवहेलना करते हो ? शत्रुसूदन ! देखो, अब चाण्डाल आ रहा होगा । उसके आनेसे पहले ही मेरे बन्धनोंको काट दो' ॥ ९२ ॥

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत् ।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥ ९३ ॥

उतावले हुए बिलावके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् पलितने अपवित्र विचार रखनेवाले उस मार्जारसे अपने लिये हितकर और लाभदायक बात कही—॥ ९३ ॥

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न सम्भ्रमः ।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ९४ ॥

'सौम्य ! चुप रहो, तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिये, घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । मैं समयको खूब पहचानता हूँ, ठीक अवसर आनेपर मैं कभी नहीं चूकूँगा ॥

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥ ९५ ॥

'बेमौके शुरू किया हुआ काम करनेवालेके लिये लाभ-दायक नहीं होता है और वही उपयुक्त समयपर आरम्भ किया जाय तो महान् अर्थका साधक हो जाता है ॥ ९५ ॥

अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत् ।
तस्मात् कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ९६ ॥

'यदि असमयमें ही तुम छूट गये तो मुझे तुम्हींसे भय प्राप्त हो सकता है, इसलिये मेरे मित्र ! थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो; क्यों इतनी जल्दी मचा रहे हो ? ॥ ९६ ॥

यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम् ।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥ ९७ ॥

'जब मैं देख लूँगा कि चाण्डाल हाथमें हथियार लिये आ रहा है, तब तुम्हारे ऊपर साधारण-सा भय उपस्थित होनेपर मैं शीघ्र ही तुम्हारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ९७ ॥

तस्मिन् काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोक्ष्यसे ।
न हि ते जीवितादन्यत् किंचित् कृत्यं भविष्यति ॥ ९८ ॥

'उस समय छूटते ही तुम पहले पेड़पर ही चढ़ोगे । अपने जीवनकी रक्षाके सिवा दूसरा कोई कार्य तुम्हें आवश्यक नहीं प्रतीत होगा ॥ ९८ ॥

ततो भवत्यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश ।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान् शाखां भजिष्यति ॥ ९९ ॥

'लोमशजी ! जब आप त्रास और भयसे आक्रान्त हो भाग खड़े होंगे, उस समय मैं बिलमें घुस जाऊँगा और आप वृक्षकी शाखापर जा बैठेंगे' ॥ ९९ ॥

एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषिकेणात्मनो हितम् ।
वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महामतिः ॥ १०० ॥

चूहेके ऐसा कहनेपर वाणीके मर्मको समझनेवाला और अपने जीवनकी रक्षा चाहनेवाला परम बुद्धिमान् बिलाव अपने हितकी बात बताता हुआ बोला ॥ १०० ॥

अथात्मकृत्ये त्वरितः सम्यक् प्रश्रितमाचरन् ।
उवाच लोमशो वाक्यं मूषिकं चिरकारिणम् ॥ १०१ ॥

लोमशको अपना काम बनानेकी जल्दी लगी हुई थी; अतः वह भलीभाँति विनयपूर्ण बर्ताव करता हुआ विलम्ब करनेवाले चूहेसे इस प्रकार कहने लगा—॥ १०१ ॥

न ह्येवं मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः ।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात् त्वरमाणेन वै मया ॥ १०२ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष मित्रोंके कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नताके साथ किया करते हैं; तुम्हारी तरह नहीं । जैसे मैंने तुरंत ही तुम्हें संकटसे छुड़ा लिया था ॥ १०२ ॥

तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम ।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥ १०३ ॥

'इसी प्रकार तुम्हें भी जल्दी ही मेरे हितका कार्य करना चाहिये । महाप्राज्ञ ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे हम दोनों-की रक्षा हो सके ॥ १०३ ॥

अथवा पूर्ववैरं त्वं स्मरन् कालं जिहीर्षसि ।
पश्य दुष्कृतकर्मंस्त्वं व्यक्तमायुःक्षयं तव ॥ १०४ ॥

'अथवा यदि पहलेके वैरका स्मरण करके तुम यहाँ व्यर्थ समय काटना चाहते हो तो पापी ! देख लेना, इसका

क्या फल होगा ? निश्चय ही तुम्हारी आयु क्षीण हो चली है ॥ १०४॥

यदि किंचिन्मयाज्ञानात् पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥१०५॥

'यदि मैंने अज्ञानवश पहले कभी तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो तुम्हें उसको मनमें नहीं लाना चाहिये, मैं क्षमा माँगता हूँ। तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ' ॥ १०५ ॥

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषिकस्तदा ॥१०६॥

चूहा बड़ा विद्वान् तथा नीतिशास्त्रको जाननेवाली बुद्धि-से सम्पन्न था । उसने उस समय इस प्रकार कहनेवाले बिलावसे यह उत्तम बात कही—॥ १०६ ॥

श्रुतं मे तव मार्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः।
ममापि त्वं विजानासि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥१०७॥

'भैया बिलाव ! तुमने अपनी स्वार्थसिद्धिपर ही ध्यान रखकर जो कुछ कहा है, वह सब मैंने सुन लिया तथा मैंने भी अपने प्रयोजनको सामने रखते हुए जो कुछ कहा है, उसे तुम भी अच्छी तरह समझते हो ॥ १०७ ॥

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम्।
सुरक्षितव्यं तत् कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥१०८॥

'जो किसी डरे हुए प्राणीद्वारा मित्र बनाया गया हो तथा जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उसका मित्र बना हो—इन दोनों प्रकारके मित्रोंकी ही रक्षा होनी चाहिये और जैसे बाजीगर सर्पके मुखसे हाथ बचाकर ही उसे खेलाता है, उसी प्रकार अपनी रक्षा करते हुए ही उन्हें एक दूसरेका कार्य करना चाहिये ॥ १०८ ॥

कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद् भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥१०९॥

'जो व्यक्ति बलवान्से संधि करके अपनी रक्षाका ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्नके समान हितकर नहीं होता ॥ १०९ ॥

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥११०॥
अर्थैरर्था निबद्ध्यन्ते गजैर्वनगजा इव।

'न तो कोई किसीका मित्र है और न कोई किसीका शत्रु। स्वार्थको ही लेकर मित्र और शत्रु एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। जैसे पालतू हाथियोंद्वारा जङ्गली हाथी बाँध लिये जाते हैं, उसी प्रकार अर्थोंद्वारा ही अर्थ बँधते हैं॥ ११०½ ॥

न च कश्चित् कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ॥ १११ ॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्।

'काम पूरा हो जानेपर कोई भी उसके करनेवालेको नहीं देखता—उसके हितपर नहीं ध्यान देता; अतः सभी कार्योंको अधूरे ही रखना चाहिये ॥ १११½ ॥

तस्मिन् कालेऽपि च भवान् दिवाकीर्तिभयार्दितः॥ ११२॥
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः।

'जब चाण्डाल आ जायगा, उस समय तुम उसीके भयसे पीड़ित हो भागने लग जाओगे; फिर मुझे पकड़ न सकोगे॥ ११२½॥

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः ॥ ११३ ॥
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृतो भव लोमश।

'मैंने बहुत-से तंतु काट डाले हैं, केवल एक ही डोरी बाकी रख छोड़ी है। उसे भी मैं शीघ्र ही काट डालूँगा; अतः लोमश ! तुम शान्त रहो, घबराओ न' ॥ ११३½ ॥

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ॥ ११४॥
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद् भयम्।

इस प्रकार संकटमें पड़े हुए उन दोनोंके वार्तालाप करते-करते ही वह रात बीत गयी। अब लोमशके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ११४½ ॥

ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ॥ ११५॥
स्थूलस्फिग् विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः।
शंकुकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोरदर्शनः ॥ ११६॥
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत।

तदनन्तर प्रातःकाल परिघ नामक चाण्डाल हाथमें हथियार लेकर आता दिखायी दिया। उसकी आकृति बड़ी विकराल थी। शरीरका रंग काला और पीला था। उसका नितम्ब-भाग बहुत स्थूल था। कितने ही अङ्ग विकृत हो गये थे। वह स्वभावका रूखा जान पड़ता था। कुत्तोंसे घिरा हुआ वह मलिनवेषधारी चाण्डाल बड़ा भयंकर दिखायी दे रहा था, उसका मुँह विशाल था और कान दीवारमें गड़ी हुई खूँटियोंके समान जान पड़ते थे ॥ ११५-११६½ ॥

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ॥ ११७॥
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि।

यमदूतके समान चाण्डालको आते देख बिलावका चित्त भयसे व्याकुल हो गया। उसने डरते-डरते यही कहा—'भैया चूहा ! अब क्या करोगे ?' ॥ ११७½ ॥

अथ तावपि संत्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ॥ ११८॥
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः।

एक ओर वे दोनों भयभीत थे। दूसरी ओर भयानक प्राणियोंसे घिरा हुआ चाण्डाल आ रहा था। उन सबको देख-कर नेवला और उल्लू क्षणभरमें ही निराश हो गये॥ ११८½॥

बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ॥ ११९॥
अशक्तौ सुनयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात्।

वे दोनों बलवान् और बुद्धिमान् तो थे ही। चूहेके घातमें पासहीमें बैठे हुए थे; परंतु अच्छी नीतिसे संगठित हो जानेके कारण चूहे और बिलावपर वे बलपूर्वक आक्रमण न कर सके ॥ ११९½ ॥

कार्यार्थे कृतसंधानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ॥ १२०॥
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम्।

चूहे और बिल्लीको कार्यवश संधिसूत्रमें बँधे देख उल्लू

और नेवला दोनों अपने-अपने निवासस्थानको चले गये। १२०½।

ततश्चिच्छेद तं पाशं मार्जारस्य च मूषिकः ॥१२१॥
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम्।
स तस्मात् सम्भ्रमावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ॥१२२॥
बिलं विवेश पलितः शाखां लेभे स लोमशः।

तदनन्तर चूहेने बिलावका बन्धन काट दिया। जालसे छूटते ही बिलाव उसी पेड़पर चढ़ गया। उस घोर शत्रु तथा उस भारी घबराहटसे छुटकारा पाकर पलित अपने बिलमें घुस गया और लोमश वृक्षकी शाखापर जा बैठा। १२१-१२२½।

उन्माथमप्यथादाय चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ॥१२३॥
विहताशः क्षणेनास्ते तस्माद् देशादपाक्रमत्।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥१२४॥

भरतश्रेष्ठ! चाण्डालने उस जालको लेकर उसे सब ओरसे उलट-पलटकर देखा और निराश होकर क्षणभरमें उस स्थानसे हट गया और अन्तमें अपने घरको चला गया॥ १२३-१२४॥

ततस्तस्माद् भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम्।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥१२५॥

उस भारी भयसे मुक्त हो दुर्लभ जीवन पाकर वृक्षकी शाखापर बैठे हुए लोमशने बिलके भीतर बैठे हुए चूहेसे कहा—॥ १२५ ॥

अकृत्वा संविदं काञ्चित् सहसा समवप्लुतः।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशंकसे ॥१२६॥

'भैया! तुम मुझसे कोई बातचीत किये बिना ही इस प्रकार सहसा बिलमें क्यों घुस गये? मैं तो तुम्हारा बड़ा ही कृतज्ञ हूँ। मैंने तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करके तुम्हारा भी बड़ा भारी काम किया है। तुम्हें मेरी ओरसे कुछ शङ्का तो नहीं है? ॥

गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम्।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥१२७॥

'मित्र! तुमने विपत्तिके समय मेरा विश्वास किया और मुझे जीवनदान दिया। अब तो मैत्रीके सुखका उपभोग करनेका समय है, ऐसे समय तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो? ॥ १२७ ॥

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥१२८॥

'जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य पहले बहुत-से मित्र बनाकर पीछे उस मित्रभावमें स्थिर नहीं रहता है, वह कष्टदायिनी विपत्तिमें पड़नेपर उन मित्रोंको नहीं पाता है अर्थात् उनसे उसको सहायता नहीं मिलती॥ १२८ ॥

सत्कृतोऽहं त्वया मित्र सामर्थ्यादात्मनः सखे।
स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥१२९॥

'सखे! मित्र! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार मेरा पूरा सत्कार किया है और मैं भी तुम्हारा मित्र हो गया हूँ; अतः तुम्हें मेरे साथ रहकर इस मित्रताका सुख भोगना चाहिये॥१२९॥

यानि मे सन्ति मित्राणि ये च सम्बन्धिबान्धवाः।
सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम् ॥१३०॥

'मेरे जो भी मित्र, सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव हैं, वे सब तुम्हारी उसी प्रकार सेवा-पूजा करेंगे, जैसे शिष्य अपने श्रद्धेय गुरुकी करते हैं ॥ १३० ॥

अहं च पूजयिष्ये त्वां समित्रगणबान्धवम्।
जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् ॥१३१॥

'मैं भी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा सदा ही आदर-सत्कार करूँगा। संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने जीवनदाताकी पूजा न करे? ॥ १३१ ॥

ईश्वरो मे भवानस्तु स्वशरीरगृहस्य च।
अर्थानां चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥१३२॥

'तुम मेरे शरीरके और मेरे घरके भी स्वामी हो जाओ। मेरी जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सारीकी सारी तुम्हारी है। तुम उसके शासक और व्यवस्थापक बनो ॥ १३२ ॥

अमात्यो मे भव प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम्।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥१३३॥

'विद्वन्! तुम मेरे मन्त्री हो जाओ और पिताकी भाँति मुझे कर्तव्यका उपदेश दो। मैं अपने जीवनकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें हमलोगोंकी ओरसे कोई भय नहीं है॥१३३॥

बुद्ध्या त्वमुशना साक्षाद् बलेनाधिकृता वयम्।
त्वं मन्त्रबलयुक्तो हि दत्त्वा जीवितमद्य मे ॥१३४॥

'तुम साक्षात् शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् हो। तुममें मन्त्रणाका बल है। आज तुमने मुझे जीवनदान देकर अपने मन्त्रणाबलसे हम सब लोगोंके हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है' ॥ १३४ ॥

एवमुक्तः परां शान्तिं मार्जारेण स मूषिकः।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥१३५॥

बिलावकी ऐसी परम शान्तिपूर्ण बातें सुनकर उत्तम मन्त्रणाके ज्ञाता चूहेने मधुर वाणीमें अपने लिये हितकर वचन कहा—॥ १३५ ॥

यद् भवानाह तत् सर्वं मया ते लोमश श्रुतम्।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥ १३६॥

'लोमश! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब मैंने ध्यान देकर सुना। अब मेरी बुद्धिमें जो विचार स्फुरित हो रहा है उसे बतलाता हूँ, अतः मेरे इस कथनको भी सुन लो॥१३६॥

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः।
एतत् सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम्॥१३७॥

'मित्रोंको जानना चाहिये, शत्रुओंको भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये—इस जगत्में मित्र और शत्रुकी यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म तथा विज्ञजनोंको अभिमत है ॥ १३७ ॥

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः।
संधितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गताः ॥१३८॥

'अवसर आनेपर कितने ही मित्र शत्रुरूप हो जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं। परस्पर संधि कर
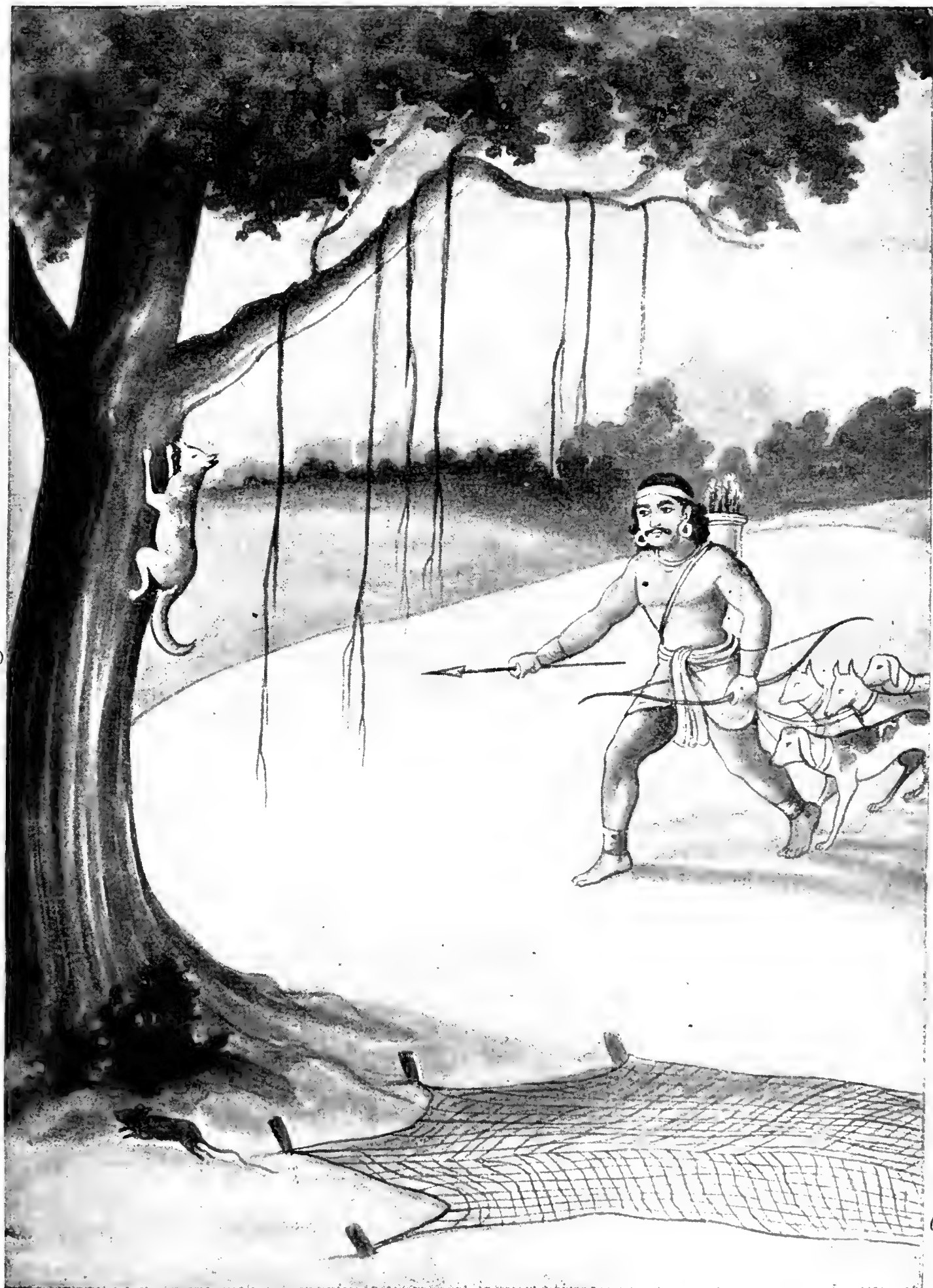
चूहेकी सहायताके फलस्वरूप चाण्डालके जालसे विलावकी मुक्ति

लेनेके पश्चात् जब वे काम और क्रोधके अधीन हो जाते हैं, तब यह समझना असम्भव हो जाता है कि वे मित्रभावसे युक्त हैं या शत्रुभावसे ? ॥ १३८ ॥

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १३९ ॥

'न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है । आवश्यक शक्तिके सम्बन्धसे लोग एक दूसरेके मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ॥ १३९ ॥

यो यस्मिन् जीवति स्वार्थं पश्येत् पीडां न जीवति ।
स तस्य मित्रं तावत् स्याद् यावन्न स्याद् विपर्ययः ॥ १४० ॥

'जो जिसके जीते-जी अपना स्वार्थ सधता देखता है और जिसके मर जानेपर अपनी हानि मानता है, वह तबतक उसका मित्र बना रहता है, जबतक कि इस स्थितिमें कोई उलट-फेर नहीं होता ॥ १४० ॥

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १४१ ॥

'मैत्री कोई स्थिर वस्तु नहीं है और शत्रुता भी सदा स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है । स्वार्थके सम्बन्धसे मित्र और शत्रु होते रहते हैं ॥ १४१ ॥

मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित् कालपर्यये ।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥ १४२ ॥

'कभी-कभी समयके फेरसे मित्र शत्रु बन जाता है और शत्रु भी मित्र हो जाता है; क्योंकि स्वार्थ बड़ा बलवान् होता है ॥ १४२ ॥

यो विश्वसिति मित्रेषु न विश्वसिति शत्रुषु ।
अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः प्रीतौ कुरुते मनः ॥ १४३ ॥
मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः ।

'जो मनुष्य स्वार्थके सम्बन्धका विचार किये बिना ही मित्रोंपर केवल विश्वास और शत्रुओंपर केवल अविश्वास करता जाता है तथा जो शत्रु हो या मित्र, जो सबके प्रति प्रेमभाव ही स्थापित करने लगता है, उसकी बुद्धि भी चञ्चल ही समझनी चाहिये ॥ १४३½ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥ १४४ ॥
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ।

'जो विश्वासपात्र न हो, उसपर कभी विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मनुष्यका मूलोच्छेद कर डालता है ॥ १४४½ ॥

अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ॥ १४५ ॥
मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः ।

'माता-पिता, पुत्र, मामा, भांजे, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव—इन सबमें स्वार्थके सम्बन्धसे ही स्नेह होता है ॥ १४५½ ॥

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ॥ १४६ ॥
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम् ।

'अपना प्यारा पुत्र भी यदि पतित हो जाता है तो माँ-बाप उसे त्याग देते हैं और सब लोग सदा अपनी ही रक्षा करना चाहते हैं । अतः देख लो, इस जगत्में स्वार्थ ही सार है ॥ १४६½ ॥

सामान्या निष्कृतिः प्राज्ञ यो मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् ॥ १४७ ॥
कृतं मृगयसे शत्रुं सुखोपायमसंशयम् ।

'बुद्धिमान् लोमश ! जो तुम आज जालके बन्धनसे छूटनेके बाद ही कृतज्ञतावश मुझ अपने शत्रुको सुख पहुँचानेका असंदिग्ध उपाय ढूँढ़ने लगे हो, इसका क्या कारण है ? जहाँतक उपकारका बदला चुकानेका प्रश्न है, वहाँतक तो हमारी-तुम्हारी समान स्थिति है । यदि मैंने तुम्हें संकटसे छुड़ाया है, तो तुमने भी तो मुझे वैसी ही विपत्तिसे बचाया है; फिर मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं क्यों उपकारका बदला देनेके लिये उतावले हो उठे हो ? ॥ १४७½ ॥

अस्मिन् निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ॥ १४८ ॥
पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान् ।

'तुम इसी स्थानपर बरगदसे उतरे थे और पहलेसे ही यहाँ जाल बिछा हुआ था; परंतु तुमने चपलताके कारण उधर ध्यान नहीं दिया और फँस गये ॥ १४८½ ॥

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ॥ १४९ ॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ।

'चपल प्राणी जब अपने ही लिये कल्याणकारी नहीं होता तो वह दूसरेकी भलाई क्या करेगा ? अतः यह निश्चित है कि चपल पुरुष सब काम चौपट कर देता है ॥ १४९½ ॥

ब्रवीषि मधुरं यच्च प्रियो मेऽद्य भवानिति ॥ १५० ॥
तन्मित्र कारणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु ।
कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ॥ १५१ ॥

'इसके सिवा तुम जो यह मीठी-मीठी बात कह रहे हो कि 'आज तुम मुझे बड़े प्रिय लगते हो' इसका भी कारण है, मेरे मित्र ! वह सब मैं विस्तारके साथ बताता हूँ, सुनो । मनुष्य कारणसे ही प्रेमपात्र और कारणसे ही द्वेषका पात्र बनता है ॥ १५०-१५१ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः ।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ॥ १५२ ॥
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ।

'यह जीव-जगत् स्वार्थका ही साथी है । कोई किसीका प्रिय नहीं है । दो सगे भाइयों तथा पति और पत्नीमें भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है । इस जगत्में किसीके भी प्रेमको मैं निष्कारण (स्वार्थरहित) नहीं समझता ॥ १५२½ ॥

यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्या वा कारणान्तरे ॥ १५३ ॥
स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः ।

'कभी-कभी किसी स्वार्थको लेकर भाई भी कुपित हो जाते हैं अथवा पत्नी भी रूठ जाती है । यद्यपि वे स्वभावतः एक

दूसरेसे जैसा प्रेम करते हैं, ऐसा प्रेम दूसरे लोग नहीं करते हैं ॥ १५३½ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ॥१५४॥
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थे प्रीयते जनः ।

'कोई दान देनेसे प्रिय होता है, कोई प्रिय वचन बोलनेसे प्रीतिपात्र बनता है और कोई कार्यसिद्धिके लिये मन्त्र, होम एवं जप करनेसे प्रेमका भाजन बन जाता है ॥ १५४½ ॥

उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ॥१५५॥
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ।

'किसी कारण (स्वार्थ) को लेकर उत्पन्न होनेवाली प्रीति जबतक वह कारण रहता है, तबतक बनी रहती है। उस कारणका स्थान नष्ट हो जानेपर उसको लेकर की हुई प्रीति भी स्वतः निवृत्त हो जाती है ॥ १५५½ ॥

किं नु तत् कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ॥१५६॥
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम् ।

'अब मेरे शरीरको खा जानेके सिवा दूसरा कौन-सा ऐसा कारण रह गया है, जिससे मैं यह मान लूँ कि वास्तवमें तुम्हारा मुझपर प्रेम है । इस समय जो तुम्हारा स्वार्थ है, उसे मैं अच्छी तरह समझता हूँ ॥१५६½ ॥

कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्तते ॥१५७॥
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तते ।
न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते ॥१५८॥

'समय कारणके स्वरूपको बदल देता है; और स्वार्थ उस समयका अनुसरण करता रहता है । विद्वान् पुरुष उस स्वार्थको समझता है और साधारण लोग विद्वान् पुरुषके ही पीछे चलते हैं । तात्पर्य यह है कि मैं विद्वान् हूँ; इसलिये तुम्हारे स्वार्थको अच्छी तरह समझता हूँ; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ १५७-१५८ ॥

अकाले हि समर्थस्य स्नेहहेतुरयं तव ।
तस्मान्नाहं चले स्वार्थात् सुस्थिरः संधिविग्रहे ॥१५९॥

'तुम शक्तिशाली हो तो भी जो बेसमय मुझपर इतना स्नेह दिखा रहे हो, इसका यह स्वार्थ ही कारण है; अतः मैं भी अपने स्वार्थसे विचलित नहीं हो सकता । संधि और विग्रहके विषयमें मेरा विचार सुनिश्चित है ॥१५९॥

अभ्राणामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे ।
अद्यैव हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृत् ॥१६०॥
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम् ।

'मित्रता और शत्रुताके रूप तो बादलोंके समान क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं । आज ही तुम मेरे शत्रु होकर फिर आज ही मेरे मित्र हो सकते हो और उसके बाद आज ही पुनः शत्रु भी बन सकते हो । देखो, यह स्वार्थका सम्बन्ध कितना चञ्चल है ! ॥ १६०½ ॥

आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ॥१६१॥
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ।

'पहले जब उपयुक्त कारण था, तब हम दोनोंमें मैत्री हो गयी थी, किंतु कालने जिसे उपस्थित कर दिया था उस कारणके निवृत्त होनेके साथ ही वह मैत्री भी चली गयी ॥

त्वं हि मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ॥१६२॥
तत् कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता ।

'तुम जातिसे ही मेरे शत्रु हो, किंतु विशेष प्रयोजनसे मित्र बन गये थे । वह प्रयोजन सिद्ध कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी प्रकृति फिर सहज शत्रुभावको प्राप्त हो गयी ॥ १६२½ ॥

सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्त्वतः ॥१६३॥
प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृते तद् वदस्व मे ।

'मैं इस प्रकार शुक्र आदि आचार्योंके बनाये हुए नीतिशास्त्रकी बातोंको ठीक-ठीक जानकर भी तुम्हारे लिये उस जालके भीतर कैसे प्रवेश कर सकता था ? यह तुम्हीं मुझे बताओ ॥ १६३½ ॥

त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ॥१६४॥
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ।

'तुम्हारे पराक्रमसे मैं प्राण-संकटसे मुक्त हुआ और मेरी शक्तिसे तुम । जब एक दूसरेपर अनुग्रह करनेका काम पूरा हो गया, तब फिर हमें परस्पर मिलनेकी आवश्यकता नहीं ॥

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्था स्तथा वयम् ॥१६५॥
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किंचिदन्यत्र भक्षणात् ।

'सौम्य ! अब तुम्हारा काम बन गया और मेरा प्रयोजन भी सिद्ध हो गया; अतः अब मुझे खा लेनेके सिवा मेरेद्वारा तुम्हारा दूसरा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है ॥१६५½॥

अहमन्नं भवान् भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ॥१६६॥
नावयोर्विद्यते संधिर्वियुक्ते विषमे बले ।

'मैं अन्न हूँ और तुम मुझे खानेवाले हो । मैं दुर्बल हूँ और तुम बलवान् हो । इस प्रकार मेरे और तुम्हारे बलमें कोई समानता नहीं है । दोनोंमें बहुत अन्तर है । अतः हम दोनोंमें संधि नहीं हो सकती ॥ १६६½ ॥

स मन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् ॥१६७॥
भक्ष्यं मृगयसे नूनं सुखोपायेन कर्मणा ।

'मैं तुम्हारा विचार जान गया हूँ, निश्चय ही तुम जालसे छूटनेके बादसे ही सहज उपाय तथा प्रयत्नद्वारा आहार ढूँढ़ रहे हो ॥ १६७½ ॥

भक्ष्यार्थं ह्यवबद्धस्त्वं स मुक्तः पीडितः क्षुधा ॥१६८॥
शास्त्रजां मतिमास्थाय नूनं भक्षयिताद्य माम् ।
जानामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ॥१६९॥
स त्वं मामभिसंधाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ।

'आहारकी खोजके लिये ही निकलनेपर तुम इस जालमें फँसे थे और अब इससे छूटकर भूखसे पीड़ित हो रहे हो । निश्चय ही शास्त्रीय बुद्धिका सहारा लेकर अब तुम मुझे खा जाओगे । मैं जानता हूँ कि तुम भूखे हो और यह तुम्हारे भोजनका समय है; अतः तुम पुनः मुझसे संधि करके अपने

लिये भोजनकी तलाश करते हो ॥ १६८-१६९½ ॥

त्वं चापि पुत्रदारस्थो यत् संधिं सृजसे मयि ॥१७०॥
शुश्रूषां यतसे कर्तुं सखे मम न तत् क्षमम् ।

'सखे ! तुम जो बाल-बच्चोंके बीचमें बैठकर मुझपर संधि-का भाव दिखा रहे हो तथा मेरी सेवा करनेका यत्न करते हो, वह सब मेरे योग्य नहीं है ॥ १७०½ ॥

त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्या सुताश्च ते ॥१७१॥
कस्मात् ते मां न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयिनस्त्वयि ।

'तुम्हारे साथ मुझे देखकर तुम्हारी प्यारी पत्नी और पुत्र जो तुमसे बड़ा प्रेम रखते हैं, हर्षसे उल्लसित हो मुझे कैसे नहीं खा जायँगे ? ॥ १७१½ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ॥१७२॥
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ।

'अब मैं तुमसे नहीं मिलूँगा । हम दोनोंके मिलनका जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। यदि तुम्हें मेरे शुभ कर्म (उपकार) का स्मरण है तो स्वयं स्वस्थ रहकर मेरे भी कल्याणका चिन्तन करो ॥ १७२½ ॥

शत्रोरनार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ॥१७३॥
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ।

'जो अपना शत्रु हो, दुष्ट हो, कष्टमें पड़ा हुआ हो, भूखा हो और अपने लिये भोजनकी तलाश कर रहा हो, उसके सामने कोई भी बुद्धिमान् (जो उसका भोज्य है) कैसे जा सकता है ? ॥ १७३½ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ॥१७४॥
विश्वस्तं वा प्रमत्तं वा एतदेव कृतं भवेत् ।
बलवत्संनिकर्षो हि न कदाचित् प्रशस्यते ॥१७५॥

'तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं चला जाऊँगा । मुझे दूरसे भी तुमसे डर लगता है। मेरा यह पलायन विश्वासपूर्वक हो रहा हो या प्रमादके कारण; इस समय यही मेरा कर्तव्य है। बलवानोंके निकट रहना दुर्बल प्राणीके लिये कभी अच्छा नहीं माना जाता ॥ १७४-१७५ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि निवृत्तो भव लोमश ।
यदि त्वं सुकृतं वेत्सि तत् सख्यमनुसारय ॥१७६॥

'लोमश ! अब मैं तुमसे कभी नहीं मिलूँगा। तुम लौट जाओ। यदि तुम समझते हो कि मैंने तुम्हारा कोई उपकार किया है तो तुम मेरे प्रति सदा मैत्रीभाव बनाये रखना ॥१७६॥

प्रशान्तादपि मे पापाद् भेतव्यं बलिनः सदा ।
यदि स्वार्थं न ते कार्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१७७॥

'जो बलवान् और पापी हो, वह शान्तभावसे रहता हो तो भी मुझे सदा उससे डरना चाहिये । यदि तुम्हें मुझसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है तो बताओ मैं तुम्हारा (इसके अतिरिक्त) कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ १७७ ॥

कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे संततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१७८॥
अपि सर्वस्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना ।

'मैं तुम्हें इच्छानुसार सब कुछ दे सकता हूँ; परंतु अपने आपको कभी नहीं दूँगा । अपनी रक्षा करनेके लिये तो संतति, राज्य, रत्न और धन—सबका त्याग किया जा सकता है । अपना सर्वस्व त्यागकर भी स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्तताम् ॥१७९॥
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ।

'हमने सुना है कि यदि प्राणी जीवित रहे तो वह शत्रुओं-द्वारा अपने अधिकारमें किये हुए ऐश्वर्य, धन और रत्नोंको पुनः वापस ला सकता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गयी है ॥

न त्वात्मनः सम्प्रदानं धनरत्नवदिष्यते ॥१८०॥
आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि ।

'धन और रत्नोंकी भाँति अपने आपको शत्रुके हाथमें दे देना अभीष्ट नहीं है। धन और स्त्रीके द्वारा अर्थात् उनका त्याग करके भी सर्वदा अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥ १८०½ ॥

आत्मरक्षणतन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ॥१८१॥
आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः ।

'जो आत्मरक्षामें तत्पर हैं और भलीभाँति परीक्षापूर्वक निर्णय करके काम करते हैं, ऐसे पुरुषोंको अपने ही दोषसे उत्पन्न होनेवाली आपत्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं ॥ १८१½ ॥

शत्रून् सम्यग् विजानन्ति दुर्बला ये बलीयसः ॥१८२॥
न तेषां चाल्यते बुद्धिः शास्त्रार्थकृतनिश्चया ।

'जो दुर्बल प्राणी अपने बलवान् शत्रुओंको अच्छी तरह जानते हैं, उनकी शास्त्रके अर्थज्ञानद्वारा स्थिर हुई बुद्धि कभी विचलित नहीं होती' ॥ १८२½ ॥

इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ॥१८३॥
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषिकं वाक्यमब्रवीत् ॥१८४॥

पलितने जब इस प्रकार स्पष्टरूपसे कड़ी फटकार सुनायी, तब बिलावने लज्जित होकर पुनः उस चूहेसे इस प्रकार कहा ॥

लोमश उवाच

सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१८५॥

लोमश बोला—भाई ! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मित्रसे द्रोह करना तो बड़ी घृणित बात है । तुम जो सदा मेरे हितमें तत्पर रहते हो, इसे मैं तुम्हारी उत्तम बुद्धिका ही परिणाम समझता हूँ ॥ १८५ ॥

उक्तवानर्थतत्त्वेन मयासम्भिन्नदर्शनः ।
न तु मामन्यथा साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥१८६॥

श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने तो यथार्थरूपसे नीति-शास्त्रका सार ही बता दिया । मुझसे तुम्हारा विचार पूरा-पूरा मिलता है । मित्रवर ! किंतु तुम मुझे गलत न समझो । मेरा भाव तुमसे विपरीत नहीं है ॥ १८६ ॥

प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम् ।
धर्मज्ञोऽस्मि गुणज्ञोऽस्मि कृतज्ञोऽस्मि विशेषतः ॥१८७॥

मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः।
तस्मादेवं पुनः साधो मय्याचरितुमर्हसि ॥१८८॥

तुमने मुझे प्राणदान दिया है। इसीसे मुझपर तुम्हारे सौहार्दका प्रभाव पड़ा। मैं धर्मको जानता हूँ, गुणोंका मूल्य समझता हूँ, विशेषतः तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ, मित्रवत्सल हूँ और सबसे बड़ी बात यह है कि मैं तुम्हारा भक्त हो गया हूँ; अतः मेरे अच्छे मित्र ! तुम फिर मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव करो—मेल-जोल बढ़ाकर मेरे साथ घूमो-फिरो ॥ १८७-१८८॥

त्वया हि वाच्यमानोऽहं जह्यां प्राणान् सबान्धवः।
विश्रम्भो हि बुधैर्दृष्टो मद्विधेषु मनस्विषु ॥१८९॥

यदि तुम कह दो तो मैं बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे लिये अपने प्राण भी त्याग दे सकता हूँ। विद्वानोंने मुझ-जैसे मनस्वी पुरुषोंपर सदा विश्वास ही किया और देखा है ॥१८९॥

तदेतद् धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शङ्कितुमर्हसि।

अतः धर्मके तत्त्वको जाननेवाले पलित ! तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १८९½ ॥

इति संस्तूयमानोऽपि मार्जारेण स मूषिकः ॥१९०॥
मनसा भावगम्भीरो मार्जारं वाक्यमब्रवीत्।

बिलावके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर भी चूहा अपने मनसे गम्भीर भाव ही धारण किये रहा। उसने मार्जार-से पुनः इस प्रकार कहा—॥ १९०½ ॥

साधुर्भवाञ्श्रुतार्थोऽस्मि प्रीये च न च विश्वसे॥१९१॥
संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया।
न ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ॥१९२॥

'भैया ! तुम वास्तवमें बड़े साधु हो। यह बात मैंने तुम्हारे विषयमें सुन रक्खी है। उससे मुझे प्रसन्नता भी है; परंतु मैं तुमपर विश्वास नहीं कर सकता। तुम मेरी कितनी ही स्तुति क्यों न करो। मेरे लिये कितनी ही धनराशि क्यों न लुटा दो; परंतु अब मैं तुम्हारे साथ मिल नहीं सकता। सखे ! बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष बिना किसी विशेष कारण-के अपने शत्रुके वशमें नहीं जाते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥१९३॥
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत्।

'इस विषयमें शुक्राचार्यने दो गाथाएँ कही हैं। उन्हें ध्यान देकर सुनो। जब अपने और शत्रुपर एक-सी विपत्ति आयी हो, तब निर्बलको सबल शत्रुके साथ मेल करके बड़ी सावधानी और युक्तिसे अपना काम निकालना चाहिये और जब काम हो जाय, तब फिर उस शत्रुपर विश्वास नहीं करना चाहिये (यह पहली गाथा है) ॥ १९३½ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥१९४॥
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत्।

'(दूसरी गाथा यों है) जो विश्वासपात्र न हो, उसपर विश्वास न करे तथा जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे। अपने प्रति सदा दूसरोंका विश्वास उत्पन्न करे; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे ॥ १९४½ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ॥१९५॥
द्रव्याणि संततिश्चैव सर्वं भवति जीवितः।

'इसलिये सभी अवस्थाओंमें अपने जीवनकी रक्षा करे; क्योंकि जीवित रहनेपर पुरुषको धन और संतान—सभी मिल जाते हैं ॥ १९५½ ॥

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ॥१९६॥
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः।

'संक्षेपमें नीतिशास्त्रका सार यह है कि किसीका भी विश्वास न करना ही उत्तम माना गया है; इसलिये दूसरे लोगोंपर विश्वास न करनेमें ही अपना विशेष हित है ॥१९६½॥

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ॥१९७॥
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः।

'जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं, वे दुर्बल होनेपर भी शत्रुओंद्वारा मारे नहीं जाते। परंतु जो उनपर विश्वास करते हैं, वे बलवान् होनेपर भी दुर्बल शत्रुओंद्वारा मार डाले जाते हैं ॥ १९७½ ॥

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा ॥१९८॥
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात्।

'बिलाव ! तुम-जैसे लोगोंसे मुझे सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये और तुम भी अपने जन्मजात शत्रु चाण्डालसे अपने-को बचाये रक्खो' ॥ १९८½ ॥

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं संत्रासाज्जातसाध्वसः ॥१९९॥
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः।

चूहेके इस प्रकार कहते समय चाण्डालका नाम सुनते ही बिलाव बहुत डर गया और वह डाली छोड़कर बड़े वेगसे तुरंत दूसरी ओर चला गया ॥ १९९½ ॥

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ॥२००॥
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह।

तदनन्तर नीतिशास्त्रके अर्थ और तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पलित अपने बौद्धिक शक्तिका परिचय दे दूसरे बिलमें चला गया ॥ २००½ ॥

एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः ॥२०१॥
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसंधिताः।
अरिणापि समर्थेन संधिं कुर्वीत पण्डितः ॥२०२॥
मूषिकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात्।

इस प्रकार दुर्बल और अकेला होनेपर भी बुद्धिमान् पलित चूहेने अपने बुद्धि-बलसे बहुतेरे प्रबल शत्रुओंको परास्त कर दिया; अतः आपत्तिके समय विद्वान् पुरुष बलवान् शत्रुके साथ भी संधि कर ले। देखो, चूहे और बिलाव दोनों एक दूसरेका आश्रय लेकर विपत्तिसे छुटकारा पा गये थे ॥

इत्येवं क्षत्रधर्मस्य मया मार्गो निदर्शितः ॥२०३॥
विस्तरेण महाराज संक्षेपमपि मे शृणु।

महाराज ! इस दृष्टान्तसे मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक क्षात्रधर्मका मार्ग दिखाया है। अब संक्षेपसे कुछ मेरी बात सुनो ॥

अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम् ॥२०४॥
अन्योन्यमभिसंधातुं सम्बभूव तयोर्मतिः।

चूहे और बिलाव एक दूसरेसे वैर रखनेवाले प्राणी हैं तो भी उन्होंने संकटके समय एक दूसरेसे उत्तम प्रीति कर ली। उनमें परस्पर संधि कर लेनेका विचार पैदा हो गया ॥

तत्र प्राज्ञोऽभिसंधत्ते सम्यग् बुद्धिसमाश्रयात् ॥२०५॥
अभिसंधीयते प्राज्ञः प्रमादादपि वा बुधैः।

ऐसे अवसरोंपर बुद्धिमान् पुरुष उत्तम बुद्धिका आश्रय ले संधि करके शत्रुको परास्त कर देता है। इसी तरह विद्वान् पुरुष भी यदि असावधान रहे तो उसे दूसरे बुद्धिमान् पुरुष परास्त कर देते हैं ॥ २०५½ ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२०६॥
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति।

इसलिये मनुष्य भयभीत होकर भी निडरके समान और किसीपर विश्वास न करते हुए भी विश्वास करनेवालेके समान बर्ताव करे, उसे कभी असावधान होकर नहीं चलना चाहिये। यदि चलता है तो नष्ट हो जाता है ॥ २०६½ ॥

कालेन रिपुणा संधिः काले मित्रेण विग्रहः ॥२०७॥
कार्य इत्येव संधिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप।

नरेश्वर ! समयानुसार शत्रुके साथ भी संधि और मित्रके साथ भी युद्ध करना उचित है। संधिके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् पुरुष इसी बातको सदा कहते हैं ॥ २०७½ ॥

एतज्ज्ञात्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ॥२०८॥
अभियुक्तोऽप्रमत्तश्च प्राग्भयाद् भीतवच्चरेत्।

महाराज ! ऐसा जानकर नीति-शास्त्रके तात्पर्यको हृदयङ्गम करके उद्योगशील एवं सावधान रहकर भय आनेसे पहले भयभीतके समान आचरण करना चाहिये ॥ २०८½ ॥

भीतवत् संनिधिः कार्यः प्रतिसंधिस्तथैव च ॥२०९॥
भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगजा।

बलवान् शत्रुके समीप डरे हुएके समान उपस्थित होना चाहिये। उसी तरह उसके साथ संधि भी कर लेनी चाहिये। सावधान पुरुषके उद्योगशील बने रहनेसे स्वयं ही संकटसे बचानेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ २०९½ ॥

न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये ॥२१०॥
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम्।

राजन् ! जो पुरुष भय आनेके पहलेसे ही उसकी ओरसे सशङ्क रहता है, उसके सामने प्रायः भयका अवसर ही नहीं आता है; परंतु जो निःशङ्क होकर दूसरोंपर विश्वास कर लेता है, उसे सहसा बड़े भारी भयका सामना करना पड़ता है ॥

अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेयः कथंचन ॥२११॥
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु।

जो मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानकर निर्भय विचरता है, उसे कभी कोई सलाह नहीं देनी चाहिये; क्योंकि वह दूसरेकी सलाह सुनता ही नहीं है। भयको न जाननेकी अपेक्षा उसे जाननेवाला ठीक है; क्योंकि वह उससे बचनेके लिये उपाय जाननेकी इच्छासे परिणामदर्शी पुरुषोंके पास जाता है ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२१२॥
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किंचिदाचरेत्।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको डरते हुए भी निर्भयके समान रहना चाहिये तथा भीतरसे विश्वास न करते हुए भी ऊपरसे विश्वासी पुरुषकी भाँति बर्ताव करना चाहिये। कार्योंकी कठिनता देखकर कभी कोई मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये ॥ २१२½ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तमितिहासं युधिष्ठिर ॥२१३॥
श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत् समुपाचर।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह मैंने तुम्हारे सामने नीतिकी बात बतानेके लिये चूहे तथा बिलावके इस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया है। इसे सुनकर तुम अपने सुहृदोंके बीचमें यथायोग्य बर्ताव करो ॥ २१३½ ॥

उपलभ्य मतिं चाग्र्यामरिमित्रान्तरं तथा ॥२१४॥
संधिविग्रहकालौ च मोक्षोपायस्तथैव च।

श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर शत्रु और मित्रके भेद, संधि और विग्रहके अवसरका तथा विपत्तिसे छूटनेके उपायका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २१४½ ॥

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥२१५॥
समागतश्चरेद् युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत्।

अपने और शत्रुके प्रयोजन यदि समान हों तो बलवान् शत्रुके साथ संधि करके उससे मिलकर युक्तिपूर्वक अपना काम बनावे और कार्य पूरा हो जानेपर फिर कभी उसका विश्वास न करे ॥ २१५½ ॥

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते ॥२१६॥
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद् भूयः संरक्षयन् प्रजाः।

पृथ्वीनाथ ! यह नीति धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल है। तुम इसका आश्रय लो। मुझसे सुने हुए इस उपदेशके अनुसार कर्तव्यपालनमें तत्पर हो सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हुए अपनी उन्नतिके लिये उठकर खड़े हो जाओ ॥२१६½॥

ब्राह्मणैश्चापि ते सार्धं यात्रा भवतु पाण्डव ॥२१७॥
ब्राह्मणा वै परं श्रेयो दिवि चेह च भारत।

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी जीवनयात्रा ब्राह्मणोंके साथ होनी चाहिये। भरतनन्दन ! ब्राह्मणलोग इहलोक और परलोकमें भी परम कल्याणकारी होते हैं ॥ २१७½ ॥

एते धर्मस्य वेत्तारः कृतज्ञाः सततं प्रभो ॥२१८॥
पूजिताः शुभकर्तारः पूजयेत् तान् नराधिप।

प्रभो ! नरेश्वर ! ये ब्राह्मण धर्मज्ञ होनेके साथ ही सदा कृतज्ञ होते हैं। सम्मानित होनेपर शुभकारक एवं शुभचिन्तक होते हैं; अतः इनका सदा आदर-सम्मान करना चाहिये ॥

राज्यं श्रेयः परं राजन् यशः कीर्तिं च लप्स्यसे ॥२१९॥
कुलस्य संततिं चैव यथान्यायं यथाक्रमम् ॥२२०॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंके यथोचित सत्कारसे क्रमशः राज्य, परम कल्याण, यश, कीर्ति तथा वंशपरम्पराको बनाये रखनेवाली संतति सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥ २१९-२२० ॥

द्वयोरिमं भारत संधिविग्रहं
सुभाषितं बुद्धिविशेषकारकम् ।
यथा त्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा
निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डले ॥२२१॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! चूहे और बिलावका जो यह सुन्दर उपाख्यान कहा गया है, यह संधि और विग्रहका ज्ञान तथा विशेष बुद्धि उत्पन्न करनेवाला है । भूपालको सदा इसीके अनुसार दृष्टि रखकर शत्रुमण्डलके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये ॥ २२१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि मार्जारमूषिकसंवादे अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें चूहे और बिलावका संवादविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुसे सदा सावधान रहनेके विषयमें राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़ियाका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु ।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाबाहो ! आपने यह सलाह दी है कि शत्रुओंपर विश्वास नहीं करना चाहिये । साथ ही यह कहा है कि कहीं भी विश्वास करना उचित नहीं है, परंतु यदि राजा सर्वत्र अविश्वास ही करे तो किस प्रकार वह राज्यसम्बन्धी व्यवहार चला सकता है ? ॥ १ ॥

विश्वासाद्धि परं राजन् राज्ञामुत्पद्यते भयम् ।
कथं हि नाश्वसन् राजा शत्रून् जयति पार्थिवः॥ २ ॥

राजन् ! यदि विश्वाससे राजाओंपर महान् भय आता है तो सर्वत्र अविश्वास करनेवाला भूपाल अपने शत्रुओंपर विजय कैसे पा सकता है ? ॥ २ ॥

एतन्मे संशयं छिन्धि मतिर्मे सम्प्रमुह्यति ।
अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! आपकी यह अविश्वास-कथा सुनकर तो मेरी बुद्धिपर मोह छा गया । कृपया आप मेरे इस संशयका निवारण कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्व राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने ।
पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥

भीष्मने कहा—राजन् ! राजा ब्रह्मदत्तके घरमें पूजनी चिड़ियाके साथ जो उनका संवाद हुआ था, उसे ही तुम्हारे समाधानके लिये उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी ।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ॥ ५ ॥

काम्पिल्य नगरमें ब्रह्मदत्त नामके एक राजा राज्य करते थे । उनके अन्तःपुरमें पूजनी नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया निवास करती थी । वह दीर्घकालतक उनके साथ रही थी ॥ ५ ॥

रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः ।
सर्वज्ञा सर्वतत्त्वज्ञा तिर्यग्योनिं गतापि सा ॥ ६ ॥

वह चिड़िया 'जीवजीवक' नामक विशेष पक्षीके समान समस्त प्राणियोंकी बोली समझती थी तथा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होनेपर भी सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली थी ॥

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम् ।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥ ७ ॥

एक दिन उसने रनिवासमें ही एक बच्चा दिया, जो बड़ा तेजस्वी था; उसी दिन उसके साथ ही राजाकी रानीके गर्भसे भी एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा ।
समुद्रतीरं सा गत्वा आजहार फलद्वयम् ॥ ८ ॥

आकाशमें विचरनेवाली वह कृतज्ञ पूजनी चिड़िया प्रतिदिन समुद्रतटपर जाकर वहाँसे उन दोनों बच्चोंके लिये दो फल ले आया करती थी ॥ ८ ॥

पुष्ट्यर्थं च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह ।
फलमेकं सुतायादाद् राजपुत्राय चापरम् ॥ ९ ॥

वह अपने बच्चेकी पुष्टिके लिये एक फल उसे देती तथा राजाके बेटेकी पुष्टिके लिये दूसरा फल उस राजकुमारको अर्पित कर देती थी ॥ ९ ॥

अमृतास्वादसदृशं बलतेजोऽभिवर्धनम् ।
आदायादाय सैवाशु तयोः प्रादात् पुनः पुनः ॥ १० ॥

पूजनीका लाया हुआ वह फल अमृतके समान स्वादिष्ठ और बल तथा तेजकी वृद्धि करनेवाला होता था । वह बारंबार उस फलको ला-लाकर शीघ्रतापूर्वक उन दोनोंको दिया करती थी ॥ १० ॥

ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् ।
ततः स धात्र्या कक्षेण उह्यमानो नृपात्मजः ॥ ११ ॥
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः ।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥ १२ ॥

राजकुमार उस फलको खा-खाकर बड़ा हृष्ट-पुष्ट हो गया। एक दिन धाय उस राजपुत्रको गोदमें लिये घूम रही थी। वह बालक ही तो ठहरा, बाल-स्वभाववश आकर उसने उस चिड़ियाके बच्चेको देखा और उसके साथ यत्नपूर्वक वह खेलने लगा ॥ ११-१२ ॥

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम्।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! अपने साथ ही पैदा हुए उस पक्षीको सूने स्थानमें ले जाकर राजकुमारने मार डाला और मारकर वह धायकी गोदमें जा बैठा ॥ १३ ॥

अथ सा पूजनी राजन्नागमत् फलहारिणी।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥ १४ ॥

राजन्! तदनन्तर जब पूजनी फल लेकर लौटी तो उसने देखा कि राजकुमारने उसके बच्चेको मार डाला है और वह धरतीपर पड़ा है ॥ १४ ॥

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम्।
पूजनी दुःखसंतप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपने बच्चेकी ऐसी दुर्गति देखकर पूजनीके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह दुःखसे संतप्त हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी—॥ १५ ॥

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम्।
कारणात् सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः संत्यजन्ति च ॥ १६ ॥

'क्षत्रियमें संगति निभानेकी भावना नहीं होती। उसमें न प्रेम होता है, न सौहार्द। ये किसी हेतु या स्वार्थसे ही दूसरोंको सान्त्वना देते हैं। जब इनका काम निकल जाता है, तब ये आश्रित व्यक्तिको त्याग देते हैं ॥ १६ ॥

क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापकारिषु।
अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥ १७ ॥

'क्षत्रिय सबकी बुराई ही करते हैं। इनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ये दूसरोंका अपकार करके भी सदा उसे व्यर्थ सान्त्वना दिया करते हैं ॥ १७ ॥

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम्।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १८ ॥

'देखो तो सही, यह राजकुमार कैसा कृतघ्न, अत्यन्त क्रूर और विश्वासघाती है! अच्छा, आज मैं इससे इस वैरका बदला लेकर ही रहूँगी ॥ १८ ॥

सहसंजातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः।
शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्येव पातकम् ॥ १९ ॥

'जो साथ ही पैदा हुआ और पाला-पोसा गया हो, साथ ही भोजन करता हो और शरणमें आकर रहता हो, ऐसे व्यक्तिका वध करनेसे उपर्युक्त तीन प्रकारका पातक लगता है' ॥

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर पूजनीने अपने दोनों पञ्जोंसे राजकुमारकी दोनों आँखें फोड़ डालीं। फोड़कर वह आकाशमें स्थिर हो गयी और इस प्रकार बोली—॥ २० ॥

इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ २१ ॥

'इस जगत्में स्वेच्छासे जो पाप किया जाता है, उसका फल तत्काल ही कर्ताको मिल जाता है। जिनके पापका बदला मिल जाता है, उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म नष्ट नहीं होते हैं ॥

पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥ २२ ॥

'राजन्! यदि यहाँ किये हुए पापकर्मका कोई फल कर्ताको मिलता न दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि उसके पुत्रों, पोतों और नातियोंको उसका फल भोगना पड़ेगा' ॥

ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्याहृतलोचनम्।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

राजा ब्रह्मदत्तने देखा कि पूजनीने मेरे पुत्रकी आँखें ले लीं, तब उन्होंने यह समझ लिया कि राजकुमारको उसके कुकर्मका ही बदला मिला है। यह सोचकर राजाने रोष त्याग दिया और पूजनीसे इस प्रकार कहा ॥ २३ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया।
उभयं तत् समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥ २४ ॥

ब्रह्मदत्त बोले—पूजनी! हमने तेरा अपराध किया था और तूने उसका बदला चुका लिया। अब हम दोनोंका कार्य बराबर हो गया। इसलिये अब यहीं रह। किसी दूसरी जगह न जा ॥ २४ ॥

पूजन्युवाच

सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः।

न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥ २५ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! एक बार किसीका अपराध करके फिर वहीं आश्रय लेकर रहे तो विद्वान् पुरुष उसके इस कार्यकी प्रशंसा नहीं करते हैं। वहाँसे भाग जानेमें ही उसका कल्याण है ॥ २५ ॥

सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत्।
क्षिप्रं स बध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति ॥ २६ ॥

जब किसीसे वैर बँध जाय तो उसकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आकर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वैरकी आग तो बुझती नहीं, वह विश्वास करनेवाला मूर्ख शीघ्र ही मारा जाता है ॥ २६ ॥

अन्योन्यकृतवैराणां पुत्रपौत्रं नियच्छति।
पुत्रपौत्रविनाशे च परलोकं नियच्छति ॥ २७ ॥

जो लोग आपसमें वैर बाँध लेते हैं, उनका वह वैरभाव पुत्रों और पौत्रोंतकको पीड़ा देता है। पुत्रों-पौत्रोंका विनाश हो जानेपर परलोकमें भी वह साथ नहीं छोड़ता है ॥ २७ ॥

सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकैः ॥ २८ ॥

जो लोग आपसमें वैर रखनेवाले हैं, उन सबके लिये सुखकी प्राप्तिका उपाय यही है कि परस्पर विश्वास न करे। विश्वासघाती मनुष्योंका सर्वथा विश्वास तो करना ही नहीं चाहिये ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति।
कामं विश्वासयेदन्यान् परेषां च न विश्वसेत् ॥ २९ ॥

जो विश्वासपात्र न हो, उसपर विश्वास न करे। जो विश्वासका पात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न होनेवाला भय विश्वास करनेवालेका मूलोच्छेद कर डालता है। अपने प्रति दूसरोंका विश्वास भले ही उत्पन्न कर ले; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे ॥

माता पिता बान्धवानां वरिष्ठौ
भार्या जरा बीजमात्रं तु पुत्रः।
भ्राता शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य
आत्मा ह्येकः सुखदुःखस्य भोक्ता ॥ ३० ॥

माता और पिता स्वाभाविक स्नेह होनेके कारण बान्धवगणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, पत्नी वीर्यकी नाशक (होनेसे) वृद्धावस्थाका मूर्तिमान् रूप है, पुत्र अपना ही अंश है, भाई (धनमें हिस्सा बँटानेके कारण) शत्रु समझा जाता है और मित्र तभीतक मित्र है, जबतक उसका हाथ गीला रहता है। अर्थात् जबतक उसका स्वार्थ सिद्ध होता रहता है; केवल आत्मा ही सुख और दुःखका भोग करनेवाला कहा गया है ॥

अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते।
स च हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥ ३१ ॥

जब आपसमें वैर हो जाय, तब संधि करना ठीक नहीं होता। मैं अबतक जिस उद्देश्यसे यहाँ रही हूँ, वह तो समाप्त हो गया ॥ ३१ ॥

पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः।
मनो भवत्यविश्वस्तं कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ३२ ॥

जो पहलेका अपकार करनेवाला प्राणी है, वह दान और मानसे पूजित हो तो भी उसका मन विश्वस्त नहीं होता। अपना किया हुआ अनुचित कर्म ही दुर्बल प्राणियोंको डराता रहता है ॥ ३२ ॥

पूर्वं सम्माननाा यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात् तत् सत्त्ववान् स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन् ॥

जहाँ पहले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली पुरुषको पुनः सम्मान मिलनेपर भी उस स्थानका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ३३ ॥

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! मैं आपके घरमें बहुत दिनोंतक बड़े आदरके साथ रही हूँ; परंतु अब यह वैर उत्पन्न हो गया; इसलिये मैं बहुत जल्दी यहाँसे सुखपूर्वक चली जाऊँगी ॥ ३४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

यः कृते प्रतिकुर्याद् वै न स तत्रापराध्नुयात्।
अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! जो एक व्यक्तिके अपराध करनेपर बदलेमें स्वयं भी कुछ करे, वह कोई अपराध नहीं करता—अपराधी नहीं माना जाता। इससे तो पहलेका अपराधी ऋणमुक्त हो जाता है; इसलिये तू यहीं रह। कहीं मत जा ॥ ३५ ॥

पूजन्युवाच

न कृतस्य तु कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
हृदयं तत्र जानाति कर्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३६ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! जिसका अपकार किया जाता है और जो अपकार करता है, उन दोनोंमें फिर मेल नहीं हो सकता। जो अपराध करता है और जिसपर किया जाता है, उन दोनोंके ही हृदयोंमें वह बात खटकती रहती है ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
वैरस्योपशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! बदला ले लेनेपर तो वैर शान्त हो जाता है और अपकार करनेवालेको उस पापका फल भी नहीं भोगना पड़ता; अतः अपराध करने और सहनेवालेका मेल पुनः हो सकता है ॥ ३७ ॥

पूजन्युवाच

नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत्।
विश्वासाद् बध्यते लोके तस्माच्छ्रेयोऽप्यदर्शनम् ॥

पूजनी बोली—राजन् ! इस प्रकार कभी वैर शान्त नहीं होता है। 'शत्रुने मुझे सान्त्वना दी है' ऐसा समझकर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसी अवस्थामें

विश्वास करनेसे जगत्में अपने प्राणोंसे भी (कभी-न-कभी) हाथ धोना पड़ता है, इसलिये वहाँ मुँह न दिखाना ही अच्छा है ॥

तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि।
साम्ना तेऽपि निगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥ ३९ ॥

जो लोग बलपूर्वक तीखे शस्त्रोंसे भी वशमें नहीं किये जा सकते, उन्हें भी मीठी वाणीद्वारा बंदी बना लिया जाता है। जैसे हथिनियोंकी सहायतासे हाथी कैद कर लिये जाते हैं ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥ ४० ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! प्राणोंका नाश करनेवाले भी यदि एक साथ रहने लगें तो उनमें परस्पर स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वे एक-दूसरेका विश्वास भी करने लगते हैं; जैसे श्वपच (चाण्डाल) के साथ रहनेसे कुत्तेका उसके प्रति स्नेह और विश्वास हो जाता है ॥ ४० ॥

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम्।
नैव तिष्ठति तद् वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

आपसमें जिनका वैर हो गया है, उनका वह वैर भी एक साथ रहनेसे मृदु हो जाता है, अतः कमलके पत्तेपर जैसे जल नहीं ठहरता है, उसी प्रकार वह वैर भी टिक नहीं पाता है ॥ ४१ ॥

पूजन्युवाच

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥ ४२ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! वैर पाँच कारणोंसे हुआ करता है; इस बातको विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते हैं । १. स्त्रीके लिये, २. घर और जमीनके लिये, ३. कठोर वाणीके कारण, ४. जातिगत द्वेषके कारण और ५. किसी समय किये हुए अपराधके कारण ॥ ४२ ॥

तत्र दाता न हन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ॥ ४३ ॥

इन कारणोंसे भी ऐसे व्यक्तिका वध नहीं करना चाहिये जो दाता हो अर्थात् परोपकारी हो, विशेषतः क्षत्रियनरेशको छिपकर या प्रकटरूपमें ऐसे व्यक्तिपर हाथ नहीं उठाना चाहिये। पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि उसका दोष हल्का है या भारी। उसके बाद कोई कदम उठाना चाहिये ॥

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि।
छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४४ ॥

जिसने वैर बाँध लिया हो, ऐसे सुहृद्पर भी इस जगत्में विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे लकड़ीके भीतर आग छिपी रहती है, उसी प्रकार उसके हृदयमें वैरभाव छिपा रहता है ॥ ४४ ॥

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥ ४५ ॥

राजन् ! जिस प्रकार बड़वानल समुद्रमें किसी तरह शान्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी न धनसे, न कठोरता दिखानेसे, न मीठे वचनोंद्वारा समझाने-बुझानेसे और न शास्त्रज्ञानसे ही शान्त होती है ॥ ४५ ॥

न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म चाप्यपराधजम्।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! प्रज्वलित हुई वैरकी आग एक पक्षको दग्ध किये बिना नहीं बुझती है और अपराधजनित कर्म भी एक पक्षका संहार किये बिना नहीं शान्त होता है ॥ ४६ ॥

सत्कृतस्यार्थमानाभ्यां तत्र पूर्वापकारिणः।
नादेयोऽमित्रविश्वासः कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ४७ ॥

जिसने पहले अपकार किया है, उसका यदि अपकृत व्यक्तिके द्वारा धन और मानसे सत्कार किया जाय तो भी उसे उस शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपना किया हुआ पापकर्म ही दुर्बलोंको डराता रहता है ॥ ४७ ॥

नैवापकारे कस्मिंश्चिदहं त्वयि तथा भवान्।
उषितास्मि गृहेऽहं ते नेदानीं विश्वसाम्यहम् ॥ ४८ ॥

अबतक तो न मैंने कोई आपका अपकार किया था और न आपने ही मेरी कोई हानि की थी; इसलिये मैं आपके महलमें रहती थी, किंतु अब मैं आपका विश्वास नहीं कर सकती ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

कालेन क्रियते कार्यं तथैव विविधाः क्रियाः।
कालेनैते प्रवर्तन्ते कः कस्येहापराध्यति ॥ ४९ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! काल ही समस्त कार्य करता है तथा कालके ही प्रभावसे भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ आरम्भ होती हैं। इसमें कौन किसका अपराध करता है ?

तुल्यं चोभे प्रवर्तेते मरणं जन्म चैव ह।
कार्यते चैव कालेन तन्निमित्तं न जीवति ॥ ५० ॥

जन्म और मृत्यु—ये दोनों क्रियाएँ समानरूपसे चलती रहती हैं और काल ही इन्हें कराता है। इसीलिये प्राणी जीवित नहीं रह पाता ॥ ५० ॥

वध्यन्ते युगपत् केचिदेकैकस्य न चापरे।
कालो दहति भूतानि सम्प्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥ ५१ ॥

कुछ लोग एक साथ ही मारे जाते हैं; कुछ एक-एक करके मरते हैं और बहुत-से लोग दीर्घकालतक मरते ही नहीं हैं। जैसे आग ईंधनको पाकर उसे जला देती है, उसी प्रकार काल ही समस्त प्राणियोंको दग्ध कर देता है ॥ ५१ ॥

नाहं प्रमाणं नैव त्वमन्योन्यं कारणं शुभे।
कालो नित्यमुपादत्ते सुखं दुःखं च देहिनाम् ॥ ५२ ॥

शुभे ! एक दूसरेके प्रति किये गये अपराधमें न तो तुम यथार्थ कारण हो और न मैं ही वास्तविक हेतु हूँ। काल ही सदा समस्त देहधारियोंके सुख-दुःखको ग्रहण या उत्पन्न करता है ॥ ५२ ॥

एवं वसेह सस्नेहा यथाकाममहिंसिता।

यत् कृतं तत् तु मे क्षान्तं त्वं च वै क्षम पूजनि॥ ५३ ॥

पूजनी ! मैं तेरी किसी प्रकार हिंसा नहीं करूँगा। तू यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार स्नेहपूर्वक निवास कर। तूने जो कुछ किया है, उसे मैंने क्षमा कर दिया और मैंने जो कुछ किया हो, उसे तू भी क्षमा कर दे ॥ ५३ ॥

पूजन्युवाच

यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।
कस्मात् त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः॥ ५४ ॥

पूजनी बोली—राजन्! यदि आप कालको ही सब क्रियाओंका कारण मानते हैं, तब तो किसीका किसीके साथ वैर नहीं होना चाहिये; फिर अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर उनके सगे-सम्बन्धी बदला क्यों लेते हैं ? ॥ ५४ ॥

कस्माद् देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ५५ ॥

यदि कालसे ही मृत्यु, दुःख-सुख और उन्नति-अवनति आदिका सम्पादन होता है, तब पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंने क्यों आपसमें युद्ध करके एक दूसरेका वध किया ? ॥

भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५६ ॥

वैद्यलोग रोगियोंकी दवा करनेकी अभिलाषा क्यों करते हैं ? यदि काल ही सबको पका रहा है तो दवाओंका क्या प्रयोजन है ? ॥ ५६ ॥

प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तृषु॥ ५७ ॥

यदि आप कालको ही प्रमाण मानते हैं तो शोकसे मूर्छित हुए प्राणी क्यों महान् प्रलाप एवं हाहाकार करते हैं ? फिर कर्म करनेवालोंके लिये विधि-निषेधरूपी धर्मके पालनका नियम क्यों रखा गया है ? ॥ ५७ ॥

तव पुत्रो ममापत्यं हतवान् स हतो मया।
अनन्तरं त्वयाहं च हन्तव्या हि नराधिप ॥ ५८ ॥

नरेश्वर ! आपके बेटेने मेरे बच्चेको मार डाला और मैंने भी उसकी आँखोंको नष्ट कर दिया। इसके बाद अब आप मेरा वध कर डालेंगे ॥ ५८॥

अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे।
यथा त्वया प्रहर्तव्यं तथा तत्त्वं च मे शृणु॥ ५९ ॥

जैसे मैं पुत्रशोकसे संतप्त होकर आपके पुत्रके प्रति पापपूर्ण बर्ताव कर बैठी, उसी प्रकार आप भी मुझपर प्रहार कर सकते हैं। यहाँ जो यथार्थ बात है, वह मुझसे सुनिये ॥

भक्ष्यार्थं क्रीडनार्थं च नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः ॥ ६० ॥

मनुष्य खाने और खेलनेके लिये ही पक्षियोंकी कामना करते हैं। वध करने या बन्धनमें डालनेके सिवा तीसरे प्रकारका कोई सम्पर्क पक्षियोंके साथ उनका नहीं देखा जाता है ॥

वधबन्धभयादेते मोक्षतन्त्रमुपाश्रिताः।
जनीमरणजं दुःखं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६१ ॥

इस वध और बन्धनके भयसे ही मुमुक्षुलोग मोक्षशास्त्रका आश्रय लेकर रहते हैं; क्योंकि वेदवेत्ता पुरुषोंका कहना है कि जन्म और मरणका दुःख असह्य होता है ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ६२ ॥

सबको अपने प्राण प्रिय होते हैं, सभीको अपने पुत्र प्यारे लगते हैं; सब लोग दुःखसे उद्विग्न हो उठते हैं और सभीको सुखकी प्राप्ति अभीष्ट होती है ॥ ६२ ॥

दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्ययः।
दुःखं चानिष्टसंवासो दुःखमिष्टवियोजनम् ॥ ६३ ॥

महाराज ब्रह्मदत्त ! दुःखके अनेक रूप हैं। बुढ़ापा दुःख है, धनका नाश दुःख है, अप्रियजनोंके साथ रहना दुःख है और प्रियजनोंसे बिछुड़ना दुःख है ॥ ६३ ॥

वधबन्धकृतं दुःखं स्त्रीकृतं सहजं तथा।
दुःखं सुतेन सततं जनान् विपरिवर्तते ॥ ६४ ॥

वध और बन्धनसे भी सबको दुःख होता है। स्त्रीके कारण और स्वाभाविक रूपसे भी दुःख हुआ करता है तथा पुत्र यदि नष्ट हो जाय या दुष्ट निकल जाय तो उससे भी लोगोंको सदा दुःख प्राप्त होता रहता है ॥ ६४ ॥

न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६५ ॥

कुछ मूढ़ मनुष्य कहा करते हैं कि पराये दुःखमें दुःख नहीं होता; परंतु वही ऐसी बात श्रेष्ठ पुरुषोंके निकट कहा करता है, जो दुःखके तत्त्वको नहीं जानता ॥ ६५ ॥

यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत्।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ ६६ ॥

जो दुःखसे पीड़ित होकर शोक करता है तथा जो अपने और पराये सभीके दुःखका रस जानता है, वह ऐसी बात कैसे कह सकता है ? ॥ ६६ ॥

यत् कृतं ते मया राजंस्त्वया च मम यत् कृतम्।
न तद् वर्षशतैः शक्यं व्यपोहितुमरिंदम ॥ ६७ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपने जो मेरा अपकार किया है तथा मैंने बदलेमें जो कुछ किया है, उसे सैकड़ों वर्षोंमें भी भुलाया नहीं जा सकता ॥ ६७ ॥

आवयोः कृतमन्योन्यं पुनः संधिर्न विद्यते।
स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति ॥ ६८ ॥

इस प्रकार आपसमें एक दूसरेका अपकार करनेके कारण अब हमारा फिर मेल नहीं हो सकता। अपने पुत्रको याद कर-करके आपका वैर ताजा होता रहेगा ॥ ६८ ॥

वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति।
मृन्मयस्येव भग्नस्य यथा संधिर्न विद्यते ॥ ६९ ॥

इस प्रकार मरणान्त वैर ठन जानेपर जो प्रेम करना चाहता है, उसका वह प्रेम उसी प्रकार असम्भव है, जैसे

मिट्टीका बर्तन एक बार फूट जानेपर फिर नहीं जुटता है ॥

निश्चयः स्वार्थशास्त्रेषु विश्वासश्चासुखोदयः ।
उशना चैव गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत् पुरा ॥ ७० ॥

विश्वास दुःख देनेवाला है, यही नीतिशास्त्रोंका निश्चय है। प्राचीनकालमें शुक्राचार्यने भी प्रह्लादसे दो गाथाएँ कही थीं, जो इस प्रकार हैं ॥ ७० ॥

ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा ।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा ॥ ७१ ॥

जैसे सूखे तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेके ऊपर रक्खे हुए मधुको लेने जानेवाले मनुष्य मारे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग वैरीकी झूठी या सच्ची बातपर विश्वास करते हैं, वे भी बेमौत मरते हैं ॥ ७१ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै म्रियते पुमान् ॥ ७२ ॥

जब किसी कुलमें दुःखदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता। उसे याद दिलानेवाले बने ही रहते हैं, इसलिये जबतक कुलमें एक भी पुरुष जीवित रहता है, तबतक वह वैर नहीं मिटता है ॥ ७२ ॥

उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! दुष्ट प्रकृतिके लोग मनमें वैर रखकर ऊपरसे शत्रुको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देते रहते हैं। तदनन्तर अवसर पाकर उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं, जैसे कोई पानीसे भरे हुए घड़ेको पत्थरपर पटककर चूर-चूर कर दे ॥ ७३ ॥

सदा न विश्वसेद् राजन् पापं कृत्वेह कस्यचित् ।
अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद् दुःखमश्नुते ॥ ७४ ॥

राजन् ! किसीका अपराध करके फिर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। जो दूसरोंका अपकार करके भी उनपर विश्वास करता है, उसे दुःख भोगना पड़ता है ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

नाविश्वासाद् विन्दतेऽर्थानीहते चापि किंचन ।
भयात् त्वेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ॥ ७५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! अविश्वास करनेसे तो मनुष्य संसारमें अपने अभीष्ट पदार्थोंको कभी नहीं प्राप्त कर सकता और न किसी कार्यके लिये कोई चेष्टा ही कर सकता है, यदि मनमें एक पक्षसे सदा भय बना रहे तो मनुष्य मृतकतुल्य हो जायँगे—उनका जीवन ही मिट्टी हो जायगा ॥ ७५ ॥

पूजन्युवाच

यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति ।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः ॥ ७६ ॥

पूजनीने कहा—राजन् ! जिसके दोनों पैरोंमें घाव हो गया हो; फिर भी वह उन पैरोंसे ही चलता रहे तो कितना ही बचा-बचाकर क्यों न चले, यहाँ दौड़ते हुए उन पैरोंमें पुनः घाव होते ही रहेंगे ॥ ७६ ॥

नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते ।
तस्य वायुरुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य अपने रोगी नेत्रोंसे हवाकी ओर रुख करके देखता है, उसके उन नेत्रोंमें वायुके कारण अवश्य ही बहुत पीड़ा बढ़ जाती है ॥ ७७ ॥

दुष्टं पन्थानमासाद्य यो मोहादुपपद्यते ।
आत्मनो बलमज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७८ ॥

जो अपनी शक्तिको न समझकर मोहवश दुर्गम मार्गपर चल देता है, उसका जीवन वहीं समाप्त हो जाता है ॥ ७८ ॥

यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति कर्षकः ।
हीनः पुरुषकारेण सस्यं नैवाप्नुते ततः ॥ ७९ ॥

जो किसान वर्षाके समयका विचार न करके खेत जोतता है, उसका पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है और उस जुताईसे उसको अनाज नहीं मिल पाता ॥ ७९ ॥

यस्तु तिक्तं कषायं वा स्वादु वा मधुरं हितम् ।
आहारं कुरुते नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥

जो प्रतिदिन तीता, कसैला, स्वादिष्ट अथवा मधुर, जैसा भी हो, हितकर भोजन करता है, वही अन्न उसके लिये अमृतके समान लाभकारी होता है ॥ ८० ॥

पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद् दुष्टमश्नाति भोजनम् ।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ८१ ॥

परंतु जो परिणामके विचार किये बिना ही मोहवश पथ्य छोड़कर अपथ्य भोजन करता है, उसके जीवनका वहीं अन्त हो जाता है ॥ ८१ ॥

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् ।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ॥ ८२ ॥

दैव और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरेके सहारे रहते हैं, परंतु उदार विचारवाले पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते हैं और नपुंसक दैवके भरोसे पड़े रहते हैं ॥ ८२ ॥

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः ॥ ८३ ॥

कठोर अथवा कोमल, जो अपने लिये हितकर हो, वह कर्म करते रहना चाहिये। जो कर्मको छोड़ बैठता है, वह निर्धन होकर सदा अनर्थोंका शिकार बना रहता है ॥ ८३ ॥

तस्मात् सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्य एव पराक्रमः ।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥

अतः काल, दैव और स्वभाव आदि सारे पदार्थोंका भरोसा छोड़कर पराक्रम ही करना चाहिये। मनुष्यको सर्वस्वकी बाजी लगाकर भी अपने हितका साधन ही करना चाहिये ॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ॥ ८५ ॥

विद्या, शूरवीरता, दक्षता, बल और पाँचवाँ धैर्य—ये पाँच मनुष्यके स्वाभाविक मित्र बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा ही इस जगत्‌में सारे कार्य करते हैं ॥ ८५ ॥

निवेशनं च कुप्यं च क्षेत्रं भार्या सुहृज्जनः ।
एतान्युपहितान्याहुः सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८६ ॥

घर, ताँबा आदि धातु, खेत, स्त्री और सुहृद्जन—ये उपमित्र बताये गये हैं। इन्हें मनुष्य सर्वत्र पा सकता है ॥·

सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते ।
न विभीषयते कश्चिद् भीषितो न बिभेति च ॥ ८७ ॥

विद्वान् पुरुष सर्वत्र आनन्दमें रहता है और सर्वत्र उसकी शोभा होती है। उसे कोई डराता नहीं है और किसीके डरानेपर भी वह डरता नहीं है ॥ ८७ ॥

नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।
दाक्ष्येण कुर्वतः कर्म संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ८८ ॥

बुद्धिमान्के पास थोड़ा-सा धन हो तो वह भी सदा बढ़ता रहता है। वह दक्षतापूर्वक काम करते हुए संयमके द्वारा प्रतिष्ठित होता है ॥ ८८ ॥

गृहस्नेहावबद्धानां नराणामल्पमेधसाम् ।
कुस्त्री खादति मांसानि माघमां सेगवा इव ॥ ८९ ॥

घरकी आसक्तिमें बँधे हुए मन्दबुद्धि मनुष्योंके मांसोंको कुटिल स्त्री खा जाती है अर्थात् उसे सुखा डालती है, जैसे केंकड़ेकी मादाको उसकी संतानें ही नष्ट कर देती हैं ॥

गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्वदेश इति चापरे ।
इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविपर्यये ॥ ९० ॥

बुद्धि विपरीत हो जानेसे दूसरे-दूसरे बहुतेरे मनुष्य घर, खेत, मित्र और अपने देश आदिकी चिन्तासे ग्रस्त होकर सदा दुखी बने रहते हैं ॥ ९० ॥

उत्पतेत् सहजाद् देशाद् व्याधिदुर्भिक्षपीडितात् ।
अन्यत्र वस्तुं गच्छेद् वा वसेद् वा नित्यमानितः॥९१॥

अपना जन्मस्थान भी यदि रोग और दुर्भिक्षसे पीड़ित हो तो आत्मरक्षाके लिये वहाँसे हट जाना या अन्यत्र निवासके लिये चले जाना चाहिये। यदि वहाँ रहना ही हो तो सदा सम्मानित होकर रहे ॥ ९१ ॥

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥ ९२ ॥

भूपाल ! मैंने तुम्हारे पुत्रके साथ दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया है, इसलिये मैं अब यहाँ रहनेका साहस नहीं कर सकती, दूसरी जगह चली जाऊँगी ॥ ९२ ॥

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९३ ॥

दुष्टा भार्या, दुष्ट पुत्र, कुटिल राजा, दुष्ट मित्र, दूषित सम्बन्ध और दुष्ट देशको दूरसे ही त्याग देना चाहिये॥९३॥

कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥ ९४ ॥

कुपुत्रपर कभी विश्वास नहीं हो सकता। दुष्टा भार्यापर प्रेम कैसे हो सकता है ? कुटिल राजाके राज्यमें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और दुष्ट देशमें जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता ॥ ९४ ॥

कुमित्रे संगतिर्नास्ति नित्यमस्थिरसौहृदे ।
अवमानः कुसम्बन्धे भवत्यर्थविपर्यये ॥ ९५ ॥

कुमित्रका स्नेह कभी स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये उसके साथ सदा मेल बना रहे—यह असम्भव है और जहाँ दूषित सम्बन्ध हो, वहाँ स्वार्थमें अन्तर आनेपर अपमान होने लगता है ॥ ९५ ॥

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥ ९६ ॥

पत्नी वही अच्छी है, जो प्रिय वचन बोले। पुत्र वही अच्छा है, जिससे सुख मिले। मित्र वही श्रेष्ठ है, जिसपर विश्वास बना रहे और देश भी वही उत्तम है, जहाँ जीविका चल सके ॥९६॥

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः ।
भीरेव नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥ ९७ ॥

उग्र शासनवाला राजा वही श्रेष्ठ है, जिसके राज्यमें बलात्कार न हो, किसी प्रकारका भय न रहे, जो दरिद्रका पालन करना चाहता हो तथा प्रजाके साथ जिसका पाल्य-पालक सम्बन्ध सदा बना रहे ॥ ९७ ॥

भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसम्बन्धिबान्धवाः ।
एते सर्वे गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९८ ॥

जिस देशका राजा गुणवान् और धर्मपरायण होता है, वहाँ स्त्री, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी तथा देश सभी उत्तम गुणसे सम्पन्न होते हैं ॥ ९८ ॥

अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजा गच्छन्ति निग्रहात् ।
राजा मूलं त्रिवर्गस्य स्वप्रमत्तोऽनुपालयेत् ॥ ९९ ॥

जो राजा धर्मको नहीं जानता, उसके अत्याचारसे प्रजाका नाश हो जाता है। राजा ही धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका मूल है। अतः उसे पूर्ण सावधान रहकर निरन्तर अपनी प्रजाका पालन करना चाहिये ॥ ९९ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः॥१००॥

जो प्रजाकी आयका छठा भाग कररूपसे ग्रहण करके उसका उपभोग करता है और प्रजाका भलीभाँति पालन नहीं करता, वह तो राजाओंमें चोर है ॥ १०० ॥

दत्त्वाभयं यः स्वयमेव राजा
न तत्प्रमाणं कुरुतेऽर्थलोभात् ।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापं
सोऽधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥१०१॥

जो प्रजाको अभयदान देकर धनके लोभसे स्वयं ही उसका पालन नहीं करता, वह पापबुद्धि राजा सारे जगत्का पाप बटोरकर नरकमें जाता है ॥ १०१ ॥

दत्त्वाभयं स्वयं राजा प्रमाणं कुरुते यदि ।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥१०२॥

जो अभयदान देकर प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए

स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञाको सत्य प्रमाणित कर देता है, वह राजा सबको सुख देनेवाला समझा जाता है ॥ १०२ ॥

माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः ।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् मनुराह प्रजापतिः ॥१०३॥

प्रजापति मनुने राजाके सात गुण बताये हैं और उन्हींके अनुसार उसे माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुवेर और यमकी उपमा दी है ॥ १०३ ॥

पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः ।
तस्मिन् मिथ्याविनीतो हि तिर्यग् गच्छति मानवः॥१०४॥

जो राजा प्रजापर सदा कृपा रखता है, वह अपने राष्ट्रके लिये पिताके समान है । उसके प्रति जो मिथ्याभाव प्रदर्शित करता है, वह मनुष्य दूसरे जन्ममें पशु-पक्षीकी योनिमें जाता है ॥ १०४ ॥

सम्भावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते ।
दहत्यग्निरिवानिष्टान् यमयन्नसतो यमः ॥१०५॥

राजा दीन-दुखियोंकी भी सुधि लेता और सबका पालन करता है, इसलिये वह माताके समान है । अपने और प्रजाके अप्रियजनोंको वह जलाता रहता है; अतः अग्निके समान है और दुष्टोंका दमन करके उन्हें संयममें रखता है; इसलिये यम कहा गया है ॥ १०५ ॥

इष्टेषु विसृजन्नर्थान् कुबेर इव कामदः ।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन् ॥१०६॥

प्रियजनोंको खुले हाथ धन लुटाता है और उनकी कामना पूरी करता है, इसलिये कुबेरके समान है । धर्मका उपदेश करनेके कारण गुरु और सबका संरक्षण करनेके कारण रक्षक है ॥ १०६ ॥

यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः ।
न तस्य भ्रमते राज्यं स्वयं धर्मानुपालनात् ॥१०७॥

जो राजा अपने गुणोंसे नगर और जनपदके लोगोंको प्रसन्न रखता है, उसका राज्य कभी डावाँडोल नहीं होता; क्योंकि वह स्वयं धर्मका निरन्तर पालन करता रहता है ॥

स्वयं समुपजानन् हि पौरजानपदार्चनम् ।
स सुखं प्रेक्षते राजा इह लोके परत्र च ॥१०८॥

जो स्वयं नगर और गाँवोंके लोगोंका सम्मान करना जानता है, वह राजा इहलोक और परलोकमें सर्वत्र सुख-ही-सुख देखता है ॥ १०८ ॥

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः ।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥१०९॥

जिसकी प्रजा सर्वदा करके भारसे पीड़ित हो नित्य उद्विग्न रहती है और नाना प्रकारके अनर्थ उसे सताते रहते हैं, वह राजा पराभवको प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

प्रजा यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम् ।
स सर्वफलभाग् राजा स्वर्गलोके महीयते ॥११०॥

इसके विपरीत जिसकी प्रजा सरोवरमें कमलोंके समान विकास एवं वृद्धिको प्राप्त होती रहती है, वह सब प्रकारके पुण्यफलोंका भागी होता है और स्वर्गलोकमें भी सम्मान पाता है ॥

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते ।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्॥१११॥

राजन् ! बलवान्के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता । जिसने बलवान्के साथ झगड़ा मोल ले लिया, उसके लिये कहाँ राज्य है और कहाँ सुख ? ॥ १११ ॥

भीष्म उवाच

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिप ।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम् ॥११२॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा कहकर वह पूजनी चिड़िया उनसे विदा ले अभीष्ट दिशाको चली गयी ॥ ११२ ॥

एतत् ते ब्रह्मदत्तस्य पूजन्या सह भाषितम् ।
मयोक्तं नृपतिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥११३॥

नृपश्रेष्ठ ! राजा ब्रह्मदत्तका पूजनी चिड़ियाके साथ जो संवाद हुआ था, यह मैंने तुम्हें सुना दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि ब्रह्मदत्तपूजन्योः संवादे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें ब्रह्मदत्त और पूजनीका संवादविषयक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भारद्वाज कणिकका सौराष्ट्रदेशके राजाको कूटनीतिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत ।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! पितामह ! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—ये तीनों युग प्रायः समाप्त हो रहे हैं, इसलिये जगत्में धर्मका क्षय हो चला है । डाकू और लुटेरे इस धर्ममें और भी बाधा डाल रहे हैं; ऐसे समयमें किस तरह रहना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत ।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! ऐसे समयमें मैं

तुम्हें आपत्तिकालकी वह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार भूमिपालको दयाका परित्याग करके भी समयोचित बर्ताव करना चाहिये ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुंजयस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भारद्वाज कणिक तथा राजा शत्रुञ्जयके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

राजा शत्रुंजयो नाम सौवीरेषु महारथः ।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

सौवीरदेशमें शत्रुञ्जय नामसे प्रसिद्ध एक महारथी राजा थे । उन्होंने भारद्वाज कणिकके पास जाकर अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—॥

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ॥ ५ ॥

'अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कैसे होती है ? प्राप्त द्रव्यकी वृद्धि किस तरह हो सकती है ? बढ़े हुए द्रव्यकी रक्षा किससे की जाती है ? और उस सुरक्षित द्रव्यका सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिये ?' ॥ ५ ॥

तस्मै विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम् ।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तमम् ॥ ६ ॥

राजा शत्रुञ्जयको शास्त्रका तात्पर्य निश्चितरूपसे ज्ञात था । उन्होंने जब कर्तव्य-निश्चयके लिये प्रश्न उपस्थित किया, तब ब्राह्मण भारद्वाज कणिकने यह युक्तियुक्त उत्तम वचन बोलना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥ ७ ॥

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये । राजा अपनेमें छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे । शत्रुपक्षके छिद्र या दुर्बलता-पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओंकी दुर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ॥ ७ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ८ ॥

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजा-जन बहुत डरते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंको दण्डके द्वारा ही काबूमें करे ॥ ८ ॥

एवं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन् प्रधानो दण्ड उच्यते ॥ ९ ॥

'इस प्रकार तत्त्वदर्शी विद्वान् दण्डकी प्रशंसा करते हैं; अतः साम, दान आदि चारों उपायोंमें दण्डको ही प्रधान बताया जाता है ॥ ९ ॥

छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हतम् ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १० ॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले सभी शत्रुओंका जीवन नष्ट हो जाता है । यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं ? ॥ १० ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः ।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ॥ ११ ॥

'विद्वान् पुरुष पहले शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले । तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियोंको भी उस मूलके पथका ही अनुसरण करावे ॥ ११ ॥

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥

'संकटकाल उपस्थित होनेपर राजा सुन्दर मन्त्रणा, उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंगसे पलायन भी करे । आपत्कालके समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिये, पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

'राजा केवल बातचीतमें ही अत्यन्त विनयशील हो, हृदयको छुरेके समान तीखा बनाये रखे; पहले मुसकराकर मीठे वचन बोले तथा काम-क्रोधको त्याग दे ॥ १३ ॥

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत् ।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥

'शत्रुके साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्यमें संधि करके भी उसपर विश्वास न करे । अपना काम बना लेनेपर बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही वहाँसे हट जाय ॥ १४ ॥

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
नित्यशश्चोद्विजेत् तस्माद् गृहात् सर्पयुतादिव ॥ १५ ॥

'शत्रुको उसका मित्र बनकर मीठे वचनोंसे ही सान्त्वना देता रहे; परंतु जैसे सर्पयुक्त गृहसे मनुष्य डरता है, उसी प्रकार उस शत्रुसे भी सदा उद्विग्न रहे ॥ १५ ॥

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ १६ ॥

'जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा भगवान् श्रीराम आदिके जीवन-वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे, जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ॥ १६ ॥

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥

'ऐश्वर्य चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह अवसर देखकर शत्रुके सामने हाथ जोड़े, शपथ खाय, आश्वासन दे और चरणोंमें सिर झुकाकर बातचीत करे । इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसूतक पोंछे ॥ १७ ॥

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।

प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥ १८ ॥

'जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे; परंतु जब अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ दिया जाता है ॥

मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत् ।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः ॥ १९ ॥

'राजेन्द्र ! दो ही घड़ी सही, मनुष्य तिन्दुककी लकड़ीकी मशालके समान जोर-जोरसे प्रज्वलित हो उठे (शत्रुके सामने घोर पराक्रम प्रकट करे), दीर्घकालतक भूसीकी आगके समान बिना ज्वालाके ही धूआँ न उठावे (मन्द पराक्रमका परिचय न दे) ॥ १९ ॥

नानार्थिकोऽर्थसम्बन्धं कृतघ्नेन समाचरेत् ।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥ २० ॥

'अनेक प्रकारके प्रयोजन रखनेवाला मनुष्य कृतघ्नके साथ आर्थिक सम्बन्ध न जोड़े, किसीका भी काम पूरा न करे, क्योंकि जो अर्थी (प्रयोजन-सिद्धिकी इच्छावाला) होता है, उससे तो बारंबार काम लिया जा सकता है; परंतु जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह अपने उपकारी पुरुषकी उपेक्षा कर देता है; इसलिये दूसरोंके सारे कार्य (जो अपने द्वारा होनेवाले हों) अधूरे ही रखने चाहिये ॥ २० ॥

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ॥ २१ ॥

'कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्यगृह, नट तथा अनुरक्त सुहृद्—इनमें जो श्रेष्ठ गुण या विशेषताएँ हैं, उन्हें राजा काममें लावे* ॥ २१ ॥

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ॥ २२ ॥

'राजाको चाहिये कि वह प्रतिदिन उठ-उठकर पूर्ण सावधान हो शत्रुके घर जाय और उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे और मङ्गल-कामना करे ॥२२॥

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः॥ २३ ॥

'जो आलसी हैं, कायर हैं, अभिमानी हैं, लोकचर्चासे डरनेवाले और सदा समयकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थको नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ २४ ॥

'राजा इस तरह सतर्क रहे कि उसके छिद्रका शत्रुको पता न चले, परंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले । जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रोंको छिपाये रखे ॥ २४ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥ २५ ॥

'राजा बगुलेके समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्यविषयका चिन्तन करे । सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे । भेड़ियेकी भाँति सहसा आक्रमण करके शत्रुका धन लूट ले तथा बाणकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ २५ ॥

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ २६ ॥

'पान, जूआ, स्त्री, शिकार तथा गाना-बजाना—इन सबका संयमपूर्वक अनासक्तभावसे सेवन करे; क्योंकि इनमें आसक्ति होना अनिष्टकारक है ॥ २६ ॥

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥

'राजा बाँसका धनुष बनावे, हिरनके समान चौकन्ना होकर सोये, अंधा बने रहनेयोग्य समय हो तो अंधेका भाव किये रहे और अवसरके अनुसार बहरेका भाव भी स्वीकार कर ले ॥ २७ ॥

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥ २८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुष देश और कालको अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे । देश-कालकी अनुकूलता न होनेपर किया गया पराक्रम निष्फल होता है ॥ २८ ॥

कालाकालौ सम्प्रधार्य बलाबलमथात्मनः ।
परस्य च बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ २९ ॥

'अपने लिये समय अच्छा है या खराब ? अपना पक्ष प्रबल है या निर्बल ? इन सब बातोंका निश्चय करके तथा शत्रुके भी बलको समझकर युद्ध या संधिके कार्यमें अपने आपको लगावे ॥ २९ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३० ॥

'जो राजा दण्डसे नतमस्तक हुए शत्रुको पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्युको आमन्त्रित करता है । ठीक उसी तरह, जैसे खचरी मौतके लिये ही गर्भ धारण करती है ॥ ३० ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित्॥ ३१ ॥

'नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों, परंतु फल न हो । फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके

---

* कोयलका श्रेष्ठ गुण है कण्ठकी मधुरता, सूअरके आक्रमणको रोकना कठिन है, यही उसकी विशेषता है; मेरुका गुण है सबसे अधिक उन्नत होना, सूने घरकी विशेषता है अनेकको आश्रय देना, नटका गुण है, दूसरोंको अपने क्रिया-कौशलद्वारा संतुष्ट करना तथा अनुरक्त सुहृद्की विशेषता है हितपरायणता । ये सारे गुण राजाको अपनाने चाहिये ।

समान तथा स्वयं कभी जीर्ण-शीर्ण न हो ॥ ३१ ॥

आशां कालवतीं कुर्यात् तां च विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ॥ ३२ ॥

'राजा शत्रुकी आशा पूर्ण होनेमें विलम्ब पैदा करे, उसमें विघ्न डाल दे। उस विघ्नका कुछ कारण बता दे और उस कारणको युक्तिसङ्गत सिद्ध कर दे ॥ ३२ ॥

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ३३ ॥

'जबतक अपने ऊपर भय न आया हो, तबतक डरे हुएकी भाँति उसे टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब भयको सामने आया हुआ देखे तो निडर होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥

'जहाँ प्राणोंका संशय हो, ऐसे कष्टको स्वीकार किये बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं कर पाता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है ॥ ३४ ॥

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम् ।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत् ॥ ३५ ॥

'भविष्यमें जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहलेसे ही जाननेका प्रयत्न करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाय, उसे दबानेकी चेष्टा करे। दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, इस डरसे यही समझे कि अभी वह निवृत्त ही नहीं हुआ है (और ऐसा समझकर सतत सावधान रहे) ॥ ३५ ॥

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम् ।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ॥ ३६ ॥

'जिसके सुलभ होनेका समय आ गया हो, उस सुखको त्याग देना और भविष्यमें मिलनेवाले सुखकी आशा करना—यह बुद्धिमानोंकी नीति नहीं है ॥ ३६ ॥

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३७ ॥

'जो शत्रुके साथ संधि करके विश्वासपूर्वक सुखसे सोता है, वह उसी मनुष्यके समान है, जो वृक्षकी शाखापर गाढ़ी नींदमें सो गया हो। ऐसा पुरुष नीचे गिरने (शत्रुद्वारा संकटमें पड़ने) पर ही सजग या सचेत होता है ॥ ३७ ॥

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८ ॥

'मनुष्य कोमल या कठोर, जिस किसी भी उपायसे सम्भव हो, दीनदशासे अपना उद्धार करे। इसके बाद शक्तिशाली हो पुनः धर्माचरण करे ॥ ३८ ॥

ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानुपसेवयेत् ।
आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चारा विनिहिताः परैः ॥ ३९ ॥

'जो लोग शत्रुके शत्रु हों, उन सबका सेवन करना चाहिये। अपने ऊपर शत्रुओंद्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये गये हों, उनको भी पहचाननेका प्रयत्न करे ॥ ३९ ॥

चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च ।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥

'अपने तथा शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे, जिसको कोई जानता-पहचानता न हो। शत्रुके राज्योंमें पाखण्डवेषधारी और तपस्वी आदिको ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिये ॥ ४० ॥

उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च ।
पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च ॥ ४१ ॥

'वे गुप्तचर बागीचा, घूमने-फिरनेके स्थान, पौंसला, धर्मशाला, मदविक्रीके स्थान, नगरके प्रवेशद्वार, तीर्थस्थान और सभाभवन—इन सब स्थलोंमें विचरें ॥ ४१ ॥

धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कण्टकाः ।
समागच्छन्ति तान् बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥ ४२ ॥

'कपटपूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले, पापात्मा, चोर तथा जगत्‌के लिये कण्टकरूप मनुष्य वहाँ छद्मवेष धारण करके आते रहते हैं, उन सबका पता लगाकर उन्हें कैद कर ले अथवा भय दिखाकर उनकी पापवृत्ति शान्त कर दे ॥ ४२ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेद् ॥ ४३ ॥

'जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे, परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि अधिक विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, अतः बिना जाँचे-बूझे किसीपर भी विश्वास न करे ॥ ४३ ॥

विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद् विचलिते पदे ॥ ४४ ॥

'किसी यथार्थ कारणसे शत्रुके मनमें विश्वास उत्पन्न करके जब कभी उसका पैर लड़खड़ाता देखे अर्थात् उसे कमजोर समझे तभी उसपर प्रहार कर दे ॥ ४४ ॥

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ ४५ ॥

'जो संदेह करने योग्य न हो, ऐसे व्यक्तिपर भी संदेह करे—उसकी ओरसे चौकन्ना रहे और जिससे भयकी आशङ्का हो, उसकी ओरसे तो सदा सब प्रकारसे सावधान रहे ही; क्योंकि जिसकी ओरसे भयकी आशङ्का नहीं है, उसकी ओरसे यदि भय उत्पन्न होता है तो वह जड़मूलसहित नष्ट कर देता है ॥ ४५ ॥

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः ।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः ॥ ४६ ॥

'शत्रुके हितके प्रति मनोयोग दिखाकर, मौनव्रत लेकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर तथा जटा और मृगचर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाय तो मौका देखकर भूखे भेड़ियेकी तरह शत्रुपर टूट पड़े ॥ ४६ ॥

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ४७ ॥

'पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो भी अर्थप्राप्तिमें विघ्न डालनेवाले हों, उन्हें ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ॥ ४७ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥ ४८ ॥

'यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको नहीं समझ रहा हो और बुरे मार्गपर चलता हो तो उसके लिये भी दण्ड देना उचित है; दण्ड उसे राहपर लाता है ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९ ॥

'शत्रुके आनेपर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे और कोई अपूर्व उपहार दे। इन सब बर्तावोंके द्वारा पहले उसे वशमें करे। इसके बाद ठीक वैसे ही जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्षके प्रत्येक फूल और फलपर चोंच मारता है, उसी प्रकार उसके साधन और साध्यपर आघात करे ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ५० ॥

'राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पा सकता है ॥ ५० ॥

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ५१ ॥

'कोई जन्मसे ही मित्र अथवा शत्रु नहीं होता है। सामर्थ्य-योगसे ही शत्रु और मित्र उत्पन्न होते रहते हैं ॥ ५१ ॥

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात् पूर्वापकारिणम् ॥ ५२ ॥

'शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो तो भी उसे मारे बिना न छोड़े। जिसने पहले अपना अपकार किया हो, उसको अवश्य मार डाले और उसमें दुःख न माने ॥ ५२ ॥

संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाला राजा दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा लोगोंको अपने पक्षमें मिलाये रखने तथा दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये यत्नशील बना रहे और शत्रुओंका दमन भी प्रयत्नपूर्वक करे ॥ ५३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥ ५४ ॥

'प्रहार करनेके लिये उद्यत होकर भी प्रिय वचन बोले, प्रहार करनेके पश्चात् भी प्रिय वाणी ही बोले, तलवारसे शत्रुका मस्तक काटकर भी उसके लिये शोक करे और रोये ॥ ५४ ॥

निमन्त्रयीत सान्त्वेन सम्मानेन तितिक्षया।
लोकाराधनमित्येतत् कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ५५ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको मधुर वचन बोलकर दूसरोंका सम्मान करके और सहनशील होकर लोगोंको अपने पास आनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये, यही लोककी आराधना अथवा साधारण जनताका सम्मान है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत्।
अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम्।
दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते ॥ ५६ ॥

'सूखा वैर न करे तथा दोनों बाँहोंसे तैरकर नदीके पार न जाय। यह निरर्थक और आयुनाशक कर्म है। यह कुत्तेके द्वारा गायका सींग चबाने-जैसा कार्य है, जिससे उसके दाँत भी रगड़ उठते हैं और रस भी नहीं मिलता है ॥ ५६ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडानुबन्धास्त्रय एव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडाश्च परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें लोभ, मूर्खता और दुर्बलता—यह तीन प्रकारकी 'बाधा-अड़चन उपस्थित होती है। उसी प्रकार उनके शान्ति, सर्वहित-कारी कर्म और उपभोग—ये तीन ही प्रकारके फल होते हैं। इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये॥

ऋणशेषमाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ ५८ ॥

'ऋण, अग्नि और शत्रुमेंसे कुछ बाकी रह जाय तो वह बारंबार बढ़ता रहता है; इसलिये इनमेंसे किसीको शेष नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ५८ ॥

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

'यदि बढ़ता हुआ ऋण रह जाय, तिरस्कृत शत्रु जीवित रहें और उपेक्षित रोग शेष रह जायँ तो ये सब तीव्र भय उत्पन्न करते हैं ॥ ५९ ॥

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥ ६० ॥

'किसी कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न किये बिना न छोड़े और सदा सावधान रहे। शरीरमें गड़ा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूपसे निकाल न दिया जाय—उसका कुछ भाग शरीरमें ही टूटकर रह जाय तो वह चिरकालतक विकार उत्पन्न करता है ॥ ६० ॥

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
अगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥

'मनुष्योंका वध करके, सड़कें तोड़-फोड़कर और घरोंको नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रुके राष्ट्रका विध्वंस करना चाहिये॥ ६१ ॥

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।

अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥ ६२ ॥

'राजा गीधके समान दूरतक दृष्टि डाले, बगुलेके समान लक्ष्यपर दृष्टि जमाये, कुत्तेके समान चौकन्ना रहे और सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे, मनमें उद्वेगको स्थान न दे, कौएकी भाँति सशङ्क रहकर दूसरोंकी चेष्टापर ध्यान रक्खे और दूसरेके बिलमें प्रवेश करनेवाले सर्पके समान शत्रुका छिद्र देखकर उसपर आक्रमण करे ॥ ६२ ॥

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥ ६३ ॥

'जो अपनेसे शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे, जो डरपोक हो, उसे भय दिखाकर फोड़ ले, लोभीको धन देकर काबूमें कर ले तथा जो बराबर हो उसके साथ युद्ध छेड़ दे ॥ ६३ ॥

श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च ।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६४ ॥

अनेक जातिके लोग जो एक कार्यके लिये संगठित होकर अपना दल बना लेते हैं, उस दलको श्रेणी कहते हैं। ऐसी श्रेणियोंके जो प्रधान हैं, उनमें जब भेद डाला जा रहा हो और अपने मित्रोंको अनुनय-विनयके द्वारा जब दूसरे लोग अपनी ओर खींच रहे हों तथा जब सब ओर भेदनीति और दलबंदीके जाल बिछाये जा रहे हों, ऐसे अवसरोंपर अपने मन्त्रियोंकी पूर्णरूपसे रक्षा करनी चाहिये (न तो वे फूटने पावें और न स्वयं ही कोई दल बनाकर अपने विरुद्ध कार्य करने पावें । इसके लिये सतत सावधान रहना चाहिये) ॥

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत् तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥ ६५ ॥

'राजा सदा कोमल रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठोर बना रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अतः जब वह कठोरता दिखानेका समय हो तो कठोर बने और जब कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेका अवसर हो तो कोमल बन जाय ॥ ६५ ॥

मृदुनैव मृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ६६ ॥

'बुद्धिमान् राजा कोमल उपायसे कोमल शत्रुका नाश करता है और कोमल उपायसे ही दारुण शत्रुका भी संहार कर डालता है । कोमल उपायसे कुछ भी असाध्य नहीं है; अतः कोमल ही अत्यन्त तीक्ष्ण है ॥ ६६ ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥ ६७ ॥

'जो समयपर कोमल होता है और समयपर कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है और शत्रुपर भी उसका अधिकार हो जाता है ॥ ६७ ॥

पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ६८ ॥

'विद्वान् पुरुषसे विरोध करके 'मैं दूर हूँ' ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि बुद्धिमान्‌की बाँहें बहुत बड़ी होती हैं (उसके द्वारा किये गये प्रतीकारके उपाय दूरतक प्रभाव डालते हैं), अतः यदि बुद्धिमान् पुरुषपर चोट की गयी तो वह अपनी उन विशाल भुजाओंद्वारा दूरसे भी शत्रुका विनाश कर सकता है ॥ ६८ ॥

न तत् तरेद् यस्य न पारमुत्तरे-
न्न तद्धरेद् यत् पुनराहरेत् परः ।
न तत् खनेद् यस्य न मूलमुद्धरे-
न्न तं हन्याद् यस्य शिरो न पातयेत् ॥ ६९ ॥

'जिसके पार न उतर सके, उस नदीको तैरनेका साहस न करे । जिसको शत्रु पुनः बलपूर्वक वापस ले सके ऐसे धनका अपहरण ही न करे । ऐसे वृक्ष या शत्रुको खोदने या नष्ट करनेकी चेष्टा न करे जिसकी जड़को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो सके तथा उस वीरपर आघात न करे, जिसका मस्तक काटकर धरतीपर गिरा न सके ॥ ६९ ॥

इतीदमुक्तं वृजिनाभिसंहितं
न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्ते न कथं विभावये-
दतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ॥ ७० ॥

'यह जो मैंने शत्रुके प्रति पापपूर्ण बर्तावका उपदेश किया है, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्तिके समय कदापि आचरणमें न लावे । परंतु जब शत्रु ऐसे ही बर्तावोंद्वारा अपने ऊपर संकट उपस्थित कर दे, तब उसके प्रतीकारके लिये वह इन्हीं उपायोंको काममें लानेका विचार क्यों न करे, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैंने यह सब कुछ बताया है' ॥ ७० ॥

यथावदुक्तं वचनं हितार्थिना
निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रपः ।
तथाकरोद् वाक्यमदीनचेतनः
श्रियं च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः ॥ ७१ ॥

हितार्थी ब्राह्मण भारद्वाज कणिककी कही हुई उन यथार्थ बातोंको सुनकर सौवीरदेशके राजाने उनका यथोचितरूपसे पालन किया, जिससे वे बन्धु-बान्धवोंसहित समुज्ज्वल राजलक्ष्मीका उपभोग करने लगे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कणिकोपदेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कणिकका उपदेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

'ब्राह्मण भयंकर संकटकालमें किस तरह जीवन निर्वाह करे' इस विषयमें विश्वामित्र मुनि और चाण्डालका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलङ्घिते ।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥
मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशाम्पते ॥ २ ॥
सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च ।
कामाल्लोभाच्च मोहाच्च भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥
अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव ।
निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥ ४ ॥
सम्प्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपीडिते ।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते ॥ ५ ॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद् भूते पृथिव्यामुपजीवने ।
केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! भूपाल-शिरोमणे ! जब सब लोगोंके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन होनेके कारण श्रेष्ठ धर्म क्षीण हो चले, अधर्मको धर्म मान लिया जाय और धर्मको अधर्म समझा जाने लगे, सारी मार्यादाएँ नष्ट हो जायँ, धर्मका निश्चय डावाँडोल हो जाय, राजा अथवा शत्रु प्रजाको पीड़ा देने लगें, सभी आश्रम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायँ, धर्म-कर्म नष्ट हो जायँ, काम, लोभ तथा मोहके कारण सबको सर्वत्र भय दिखायी देने लगे, किसीका किसीपर विश्वास न रह जाय, सभी सदा डरते रहें, लोग धोखेसे एक दूसरेको मारने लगें, सभी आपसमें ठगी करने लगें, देशमें सब ओर आग लगायी जाने लगे, ब्राह्मण अत्यन्त पीडित हो जायँ, वृष्टि न हो, परस्पर वैर-विरोध और फूट बढ़ जाय और पृथ्वीपर जीविकाके सारे साधन लुटेरोंके अधीन हो जायँ, तब ऐसा अधम समय उपस्थित होनेपर ब्राह्मण किस उपायसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १–६ ॥

अतितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ।
कथमापत्सु वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पितामह ! यदि ब्राह्मण ऐसी आपत्तिके समय दयावश अपने पुत्र-पौत्रोंका परित्याग करना न चाहे तो वह कैसे जीविका चलावे, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषतां गते ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परंतप ॥ ८ ॥

परंतप ! जब लोग पापपरायण हो जायँ, उस अवस्थामें राजा कैसा बर्ताव करे, जिससे वह धर्म और अर्थसे भी भ्रष्ट न हो ? ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।

प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! प्रजाके योग, क्षेम, उत्तम वृष्टि, व्याधि, मृत्यु और भय—इन सबका मूल कारण राजा ही है ॥ ९ ॥

कृतं त्रेतां द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन सबका मूल कारण राजा ही है, ऐसा मेरा विचार है । इसकी सत्यतामें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है ॥ १० ॥

तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत् तदा ॥ ११ ॥

प्रजाओंके लिये दोष उत्पन्न करनेवाले ऐसे भयानक समयके आनेपर ब्राह्मणको विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये ॥ ११ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विश्वामित्रस्य संवादं चाण्डालस्य च पक्कणे ॥ १२ ॥

इस विषयमें चाण्डालके घरमें चाण्डाल और विश्वामित्र-का जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण लोग दिया करते हैं ॥ १२ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥ १३ ॥

त्रेता और द्वापरके संधिकी बात है, दैववश संसारमें बारह वर्षोंतक भयंकर अनावृष्टि हो गयी (वर्षा हुई ही नहीं) ॥

प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ॥ १४ ॥

त्रेतायुग प्रायः बीत गया था, द्वापरका आरम्भ हो रहा था, प्रजाएँ बहुत बढ़ गयी थीं, जिनके लिये वर्षा बंद हो जानेसे प्रलयकाल-सा उपस्थित हो गया ॥ १४ ॥

न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥

इन्द्रने वर्षा बंद कर दी थी, बृहस्पति प्रतिलोम (वक्री) हो गया था, चन्द्रमा विकृत हो गया था और वह दक्षिण मार्गपर चला गया था ॥ १५ ॥

नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः ।
नद्यः संक्षिप्ततोयौघाः किंचिदन्तर्गतास्ततः ॥ १६ ॥

उन दिनों कुहासा भी नहीं होता था, फिर बादल कहाँ-से उत्पन्न होते । नदियोंका जलप्रवाह अत्यन्त क्षीण हो गया और कितनी ही नदियाँ अदृश्य हो गयीं ॥ १६ ॥

सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च ।
हतत्विषो न लक्ष्यन्ते निसर्गाद् दैवकारितात् ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े सरोवर, सरिताएँ, कूप और झरने भी उस दैवविहित अथवा स्वाभाविक अनावृष्टिसे श्रीहीन होकर दिखायी ही नहीं देते थे ॥ १७ ॥

उपशुष्कजलस्थाया विनिवृत्तसभाप्रपा ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया निर्वषट्कारमङ्गला ॥ १८ ॥
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तयूपसम्भारा विप्रणष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥

छोटे-छोटे जलाशय सर्वथा सूख गये । जलाभावके कारण पौंसले बंद हो गये । भूतलपर यज्ञ और स्वाध्यायका लोप हो गया । वषट्कार और माङ्गलिक उत्सवोंका कहीं नाम भी नहीं रह गया । खेती और गोरक्षा चौपट हो गयी, बाजार-हाट बंद हो गये । यूप और यज्ञोंका आयोजन समाप्त हो गया तथा बड़े-बड़े उत्सव नष्ट हो गये ॥ १८-१९ ॥

अस्थिसंचयसंकीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥ २० ॥

सब ओर हड्डियोंके ढेर लग गये । प्राणियोंके महान् आर्तनाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे । नगरके अधिकांश भाग उजाड़ हो गये थे तथा गाँव और घर जल गये थे ॥ २० ॥

क्वचिच्चोरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद् राजभिरातुरैः ।
परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्जना ॥ २१ ॥

कहीं चोरोंसे, कहीं अस्त्र-शस्त्रोंसे, कहीं राजाओंसे और कहीं क्षुधातुर मनुष्योंद्वारा उपद्रव खड़ा होनेके कारण तथा पारस्परिक भयसे भी वसुधाका बहुत बड़ा भाग उजाड़ होकर निर्जन बन गया था ॥ २१ ॥

गतदैवतसंस्थाना वृद्धबालविनाकृता ।
गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहता ॥ २२ ॥

देवालय तथा मठ-मन्दिर आदि संस्थाएँ उठ गयी थीं, बालक और बूढ़े मर गये थे, गाय, भेड़, बकरी और भैंसें प्रायः समाप्त हो गयी थीं, क्षुधातुर प्राणी एक दूसरेपर आघात करते थे ॥ २२ ॥

हतविप्रा हतारक्षा प्रणष्टौषधिसंचया ।
सर्वभूतरुतप्राया बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥

ब्राह्मण नष्ट हो गये थे, रक्षकवृन्दका भी विनाश हो गया था, ओषधियोंके समूह (अनाज और फल आदि) भी नष्ट हो गये थे, वसुधापर सब ओर समस्त प्राणियोंका हाहाकार व्याप्त हो रहा था ॥ २३ ॥

तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! ऐसे भयंकर समयमें धर्मका नाश हो जानेके कारण भूखसे पीड़ित हुए मनुष्य एक दूसरेको खाने लगे ॥२४॥

ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यज्याग्निदेवताः ।
आश्रमान् सम्परित्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥

अग्निके उपासक ऋषिगण नियम और अग्निहोत्र त्यागकर अपने आश्रमोंको भी छोड़कर भोजनके लिये इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ २५ ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥ २६ ॥

इन्हीं दिनों बुद्धिमान् महर्षि भगवान् विश्वामित्र भूखसे पीड़ित हो घर छोड़कर चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥२६॥

त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च कस्मिंश्च जनसंसदि ।
भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा निरग्निरनिकेतनः ॥ २७ ॥

उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रोंको किसी जनसमुदायमें छोड़ दिया और स्वयं अग्निहोत्र तथा आश्रम त्यागकर भक्ष्य और अभक्ष्यमें समान भाव रखते हुए विचरने लगे ॥ २७ ॥

स कदाचित् परिपतञ्श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥ २८ ॥

एक दिन वे किसी वनके भीतर प्राणियोंका वध करनेवाले हिंसक चाण्डालोंकी बस्तीमें गिरते-पड़ते जा पहुँचे ॥२८॥

विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्मच्छेदनायुतम् ।
वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २९ ॥

वहाँ चारों ओर टूटे-फूटे घरोंके खपरे और ठीकरे बिखरे पड़े थे, कुत्तोंके चमड़े छेदनेवाले हथियार रक्खे हुए थे, सूअरों और गदहोंकी टूटी हड्डियाँ, खपड़े और घड़े वहाँ सब ओर भरे दिखायी दे रहे थे ॥ २९ ॥

मृतचैलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् ।
सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नकुटीमठम् ॥ ३० ॥

मुर्दोंके ऊपरसे उतारे गये कपड़े चारों ओर फैलाये गये थे और वहींसे उतारे हुए फूलकी मालाओंसे उन चाण्डालोंके घर सजे हुए थे । चाण्डालोंकी कुटियों और मठोंको सर्पकी केंचुलोंकी मालाओंसे विभूषित एवं चिह्नित किया गया था ॥

कुक्कुटारावबहुलं गर्दभध्वनिनादितम् ।
उद्घोषद्भिः खरैर्वाक्यैः कलहद्भिः परस्परम् ॥ ३१ ॥

उस पल्लीमें सब ओर मुर्गोंकी 'कुकुडूकू' की आवाज गूँज रही थी । गदहोंके रेंकनेकी ध्वनि भी प्रतिध्वनित हो रही थी । वे चाण्डाल आपसमें झगड़ा-फसाद करके कठोर वचनोंद्वारा एक दूसरेको कोसते हुए कोलाहल मचा रहे थे ॥ ३१ ॥

उलूकपक्षिध्वनिभिर्देवतायतनैर्वृतम् ।
लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३२ ॥

वहाँ कई देवालय थे, जिनके भीतर उल्लू पक्षीकी आवाज गूँजती रहती थी । वहाँके घरोंको लोहेकी घंटियोंसे सजाया गया था और झुंड-के-झुंड कुत्ते उन घरोंको घेरे हुए थे ॥ ३२ ॥

तत् प्रविश्य क्षुधाविष्टो विश्वामित्रो महानृषिः ।
आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥ ३३ ॥

उस बस्तीमें घुसकर भूखसे पीड़ित हुए महर्षि विश्वामित्र आहारकी खोजमें लगकर उसके लिये महान् प्रयत्न करने लगे ॥

न च क्वचिदविन्दत् स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः ।
मांसमन्नं फलं मूलमन्यद् वा तत्र किञ्चन ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र वहाँ घर-घर घूम-घूमकर भीख माँगते फिरे, परंतु कहीं भी उन्हें मांस, अन्न, फल, मूल या दूसरी कोई वस्तु प्राप्त न हो सकी ॥ ३४ ॥

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात् तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे ॥ ३५ ॥

'अहो ! यह तो मुझपर बड़ा भारी संकट आ गया ।' ऐसा सोचते-सोचते विश्वामित्र अत्यन्त दुर्बलताके कारण वहीं एक चाण्डालके घरमें पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३५ ॥

स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब वे मुनि यह विचार करने लगे कि किस तरह मेरा भला होगा ! क्या उपाय किया जाय, जिससे अन्नके बिना मेरी व्यर्थ मृत्यु न हो सके ? ॥ ३६ ॥

स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥ ३७ ॥

राजन् ! इतनेहीमें उन्होंने देखा कि चाण्डालके घरमें तुरंतके शस्त्रद्वारा मारे हुए कुत्तेकी जाँघके मांसका एक बड़ा-सा टुकड़ा पड़ा है ॥ ३७ ॥

स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥ ३८ ॥

तब मुनिने सोचा कि 'मुझे यहाँसे इस मांसकी चोरी करनी चाहिये; क्योंकि इस समय मेरे लिये अपने प्राणोंकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३८ ॥

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ३९ ॥

'आपत्तिकालमें प्राणरक्षाके लिये ब्राह्मणको श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्यके घरसे चोरी कर लेना उचित है, यह शास्त्रका निश्चित विधान है ॥ ३९ ॥

हीनादादेयमादौ स्यात् समानात् तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाऽऽददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ ४० ॥

'पहले हीनपुरुषके घरसे उसे भक्ष्य पदार्थकी चोरी करना चाहिये । वहाँ काम न चले तो अपने समान व्यक्तिके घरसे खानेकी वस्तु लेनी चाहिये, यदि वहाँ भी अभीष्टसिद्धि न हो सके तो अपनेसे विशिष्ट धर्मात्मा पुरुषके यहाँसे वह खाद्य वस्तुका अपहरण कर ले ॥ ४० ॥

सोऽहमन्त्यावसायानां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४१ ॥

'अतः इन चाण्डालोंके घरसे मैं यह कुत्तेकी जाँघ चुराये लेता हूँ । किसीके यहाँ दान लेनेसे अधिक दोष मुझे इस चोरीमें नहीं दिखायी देता है; अतः अवश्य इसका अपहरण करूँगा' ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः ।
तस्मिन् देशे स सुष्वाप श्वपचो यत्र भारत ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! ऐसा निश्चय करके महामुनि विश्वामित्र उसी स्थानपर सो गये, जहाँ चाण्डाल रहा करते थे ॥ ४२ ॥

स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
शनैरुत्थाय भगवान् प्रविवेश कुटीमठम् ॥ ४३ ॥

जब प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त आधी रात हो गयी और चाण्डालके घरके सभी लोग सो गये, तब भगवान् विश्वामित्र धीरेसे उठकर उस चाण्डालकी कुटियामें घुस गये ॥ ४३ ॥

स सुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः ।
परिभिन्नस्वरो रूक्षः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥ ४४ ॥

वह चाण्डाल सोया हुआ जान पड़ता था । उसकी आँखें कीचड़से बंद-सी हो गयी थीं; परंतु वह जागता था । वह देखनेमें बड़ा भयानक था । स्वभावका रूखा भी प्रतीत होता था । मुनिको आया देख वह फटे हुए स्वरमें बोल उठा ॥

श्वपच उवाच

कः कुतन्त्रीं घटयति सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोऽसीति च दारुणः ॥ ४५ ॥
विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह ।
तत्र व्रीडाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

चाण्डालने कहा—अरे ! चाण्डालोंके घरोंमें तो सब लोग सो गये हैं । फिर कौन यहाँ आकर कुत्तेकी जाँघ लेनेकी चेष्टा कर रहा है ? मैं जागता हूँ, सोया नहीं हूँ । मैं देखता हूँ, तू मारा गया । उस क्रूर स्वभाववाले चाण्डालने जब ऐसी बात कही, तब विश्वामित्र उससे डर गये । उनके मुखपर लज्जा घिर आयी । वे उस नीच कर्मसे उद्विग्न हो सहसा बोल उठे—॥ ४५-४६ ॥

विश्वामित्रोऽहमायुष्मन्नागतोऽहं बुभुक्षितः ।
मा वधीर्मम सद्बुद्धे यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ४७ ॥

'आयुष्मन् ! मैं विश्वामित्र हूँ । भूखसे पीड़ित होकर यहाँ आया हूँ । उत्तम बुद्धिवाले चाण्डाल ! यदि तू ठीक-ठीक देखता और समझता है तो मेरा वध न कर' ॥ ४७ ॥

चाण्डालस्तद् वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः ।
शयनादुपसम्भ्रान्त उद्ययौ प्रति तं ततः ॥ ४८ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले उस महर्षिका वह वचन सुनकर चाण्डाल घबराकर अपनी शय्यासे उठा और उनके पास चला गया ॥ ४८ ॥

स विसृज्याश्रु नेत्राभ्यां बहुमानात् कृताञ्जलिः ।
उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् किं ते चिकीर्षितम् ॥४९॥

उसने बड़े आदरके साथ हाथ जोड़कर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ विश्वामित्रजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस रातके समय आपकी यह कैसी चेष्टा है !—आप क्या करना चाहते हैं ?' ॥ ४९ ॥

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५० ॥

विश्वामित्रने चाण्डालको सान्त्वना देते हुए कहा—'भाई ! मैं बहुत भूखा हूँ । मेरे प्राण जा रहे हैं; अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५० ॥

क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५१ ॥

'भूखके मारे यह पापकर्म करनेपर उतर आया हूँ । भोजनकी इच्छावाले भूखे मनुष्यको कुछ भी करनेमें लज्जा नहीं आती । भूख ही मुझे कलङ्कित कर रही है, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५१ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः ॥ ५२ ॥

'मेरे प्राण शिथिल हो रहे हैं । क्षुधासे मेरी श्रवणशक्ति नष्ट होती जा रही है । मैं दुबला हो गया हूँ । मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है; अतः अब मुझमें भक्ष्य और अभक्ष्यका विचार नहीं रह गया है ॥ ५२ ॥

सोऽधर्मं बुद्ध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥ ५३ ॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।

'मैं जानता हूँ कि यह अधर्म है तो भी यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा । मैं तुमलोगोंके घरोंपर घूम-घूमकर माँगनेपर भी जब भीख नहीं पा सका हूँ, तब मैंने यह पापकर्म करनेका विचार किया है; अतः कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥५३½॥

अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड् विभुः ॥ ५४ ॥
यथावत् सर्वभुग् ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।

'अग्निदेव देवताओंके मुख हैं, पुरोहित हैं, पवित्र द्रव्य ही ग्रहण करते हैं और महान् प्रभावशाली हैं तथापि वे जैसे अवस्थाके अनुसार सर्वभक्षी हो गये हैं, उसी प्रकार मैं ब्राह्मण होकर भी सर्वभक्षी बनूँगा; अतः तुम धर्मतः मुझे ब्राह्मण ही समझो' ॥ ५४½ ॥

तमुवाच स चाण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ॥ ५५ ॥
श्रुत्वा तत् त्वं तथाऽऽतिष्ठ यथा धर्मो न हीयते ।

तब चाण्डालने उनसे कहा—'महर्षे ! मेरी बात सुनिये और उसे सुनकर ऐसा काम कीजिये, जिससे आपका धर्म नष्ट न हो ५५½ ॥

धर्मं चापि विप्रर्षे शृणु यत् ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५६ ॥
शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी ॥ ५७ ॥

'ब्रह्मर्षे ! मैं आपके लिये भी जो धर्मकी ही बात बता रहा हूँ, उसे सुनिये । मनीषी पुरुष कहते हैं कि कुत्ता सियारसे भी अधम होता है । कुत्तेके शरीरमें भी उसकी जाँघका भाग सबसे अधम होता है ॥ ५६-५७ ॥

नेदं सम्यग् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम् ।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥ ५८ ॥

'महर्षे ! आपने जो निश्चय किया है, यह ठीक नहीं है, चाण्डालके धनका, उसमें भी विशेषरूपसे अभक्ष्य पदार्थका अपहरण धर्मकी दृष्टिसे अत्यन्त निन्दित है ॥ ५८ ॥

साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे ।
न मांसलोभात् तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥ ५९ ॥

'महामुने ! अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कोई दूसरा अच्छा-सा उपाय सोचिये । मांसके लोभसे आपकी तपस्याका नाश नहीं होना चाहिये ॥ ५९ ॥

जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ६० ॥

'आप शास्त्रविहित धर्मको जानते हैं, अतः आपके द्वारा धर्मसंकरताका प्रचार नहीं होना चाहिये । धर्मका त्याग न कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं' ॥६०॥

विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्षभ ।
क्षुधार्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! चाण्डालके ऐसा कहनेपर क्षुधासे पीड़ित हुए महामुनि विश्वामित्रने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६१ ॥

निराहारस्य सुमहान् मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥ ६२ ॥

'मैं भोजन न मिलनेके कारण उसकी प्राप्तिके लिये इधर-उधर दौड़ रहा हूँ । इसी प्रयत्नमें एक लंबा समय व्यतीत हो गया, किंतु मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिये अबतक कोई उपाय हाथ नहीं आया ॥ ६२ ॥

येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ६३ ॥

'जो भूखों मर रहा हो, वह जिस-जिस उपायसे अथवा जिस किसी भी कर्मसे सम्भव हो, अपने जीवनकी रक्षा करे, फिर समर्थ होनेपर वह धर्मका आचरण कर सकता है ॥६३॥

ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥ ६४ ॥

'इन्द्रदेवताका जो पालनरूप धर्म है, वही क्षत्रियोंका भी है और अग्निदेवका जो सर्वभक्षित्व नामक गुण है, वह ब्राह्मणोंका है । मेरा बल वेदरूपी अग्नि है; अतः मैं क्षुधाकी शान्तिके लिये सब कुछ भक्षण करूँगा ॥ ६४ ॥

यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'जैसे-जैसे ही जीवन सुरक्षित रहे, उसे बिना अवहेलनाके करना चाहिये । मरनेसे जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्मका आचरण कर सकता है ॥ ६५ ॥

सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।

व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ६६ ॥

'इसलिये मैंने जीवनकी आकाङ्क्षा रखकर इस अभक्ष्य पदार्थका भी भक्षण कर लेनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय किया है । इसका तुम अनुमोदन करो ॥ ६६ ॥

बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥ ६७ ॥

'जैसे सूर्य आदि ज्योतिर्मय ग्रह महान् अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार मैं पुनः तप और विद्याद्वारा जब अपने आपको सबल कर लूँगा, तब सारे अशुभ कर्मोंका नाश कर डालूँगा' ॥ ६७ ॥

श्वपच उवाच

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
र्नैव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥ ६८ ॥

चाण्डालने कहा—मुने ! इसे खाकर कोई बहुत बड़ी आयु नहीं प्राप्त कर सकता । न तो इससे प्राणशक्ति प्राप्त होती है और न अमृतके समान तृप्ति ही होती है; अतः आप कोई दूसरी भिक्षा माँगिये । कुत्तेका मांस खानेकी ओर आपका मन नहीं जाना चाहिये । कुत्ता द्विजोंके लिये अभक्ष्य है॥

विश्वामित्र उवाच

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्य-
च्छ्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम् ।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये ॥

विश्वामित्र बोले—श्वपाक ! सारे देशमें अकाल पड़ा है; अतः दूसरा कोई मांस सुलभ नहीं होगा, यह मेरी दृढ़ मान्यता है । मेरे पास धन नहीं है कि मैं भोज्य पदार्थ खरीद सकूँ, इधर भूखसे मेरा बुरा हाल है । मैं निराश्रय तथा निराश हूँ । मैं समझता हूँ कि मुझे इस कुत्तेके मांसमें ही षड्रस भोजनका आनन्द भलीभाँति प्राप्त होगा ॥ ६९ ॥

श्वपच उवाच

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः ।
यथा शास्त्रं प्रमाणं ते माभक्ष्ये मानसं कृथाः॥ ७० ॥

चाण्डालने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये पाँच नखोंवाले पाँच प्रकारके प्राणी आपत्कालमें भक्ष्य बताये गये है । यदि आप शास्त्रको प्रमाण मानते हैं तो अभक्ष्य पदार्थकी ओर मन न ले जाइये ॥ ७० ॥

विश्वामित्र उवाच

अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः क्षुधितेन वै ।
अहमापद्गतः क्षुत्तो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७१ ॥

विश्वामित्र बोले—भूखे हुए महर्षि अगस्त्यने वातापि नामक असुरको खा लिया था । मैं तो क्षुधाके कारण भारी आपत्तिमें पड़ गया हूँ; अतः यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७१ ॥

श्वपच उवाच

भिक्षामन्यामाहरेति न च कर्तुमिहार्हसि ।
न नूनं कार्यमेतद् वै हर कामं श्वजाघनीम् ॥ ७२ ॥

चाण्डालने कहा—मुने ! आप दूसरी भिक्षा ले आइये । इसे ग्रहण करना आपके लिये उचित नहीं है । आपकी इच्छा हो तो यह कुत्तेकी जाँघ ले जाइये; परंतु मैं निश्चितरूपसे कहता हूँ कि आपको इसका भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

विश्वामित्र उवाच

शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्तये ।
परां मेध्याशनामेनां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम्॥ ७३ ॥

विश्वामित्र बोले—शिष्टपुरुष ही धर्मकी प्रवृत्तिके कारण हैं । मैं उन्हींके आचारका अनुसरण करता हूँ; अतः इस कुत्तेकी जाँघको मैं पवित्र भोजनके समान ही भक्षणीय मानता हूँ॥ ७३ ॥

श्वपच उवाच

असता यत् समाचीर्णं न च धर्मः सनातनः ।
नाकार्यमिह कार्यं वै मा छलेनाशुभं कृथाः ॥ ७४ ॥

चाण्डालने कहा—किसी असाधु पुरुषने यदि कोई अनुचित कार्य किया हो तो वह सनातन धर्म नहीं माना जायगा; अतः आप यहाँ न करने योग्य कर्म न कीजिये । कोई बहाना लेकर पाप करनेपर उतारू न हो जाइये॥ ७४ ॥

विश्वामित्र उवाच

न पातकं नावमतमृषिः सन् कर्तुमर्हति ।
समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद् भोक्ष्ये श्वजाघनीम्॥ ७५॥

विश्वामित्र बोले—कोई श्रेष्ठ ऋषि ऐसा कर्म नहीं कर सकता, जो पातक हो अथवा जिसकी निन्दा की गयी हो। कुत्ते और मृग दोनों ही पशु होनेके कारण मेरे मतमें समान हैं, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७५ ॥

श्वपच उवाच

यद् ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन
तेनर्षिणा तदवस्थाधिकारे ।
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति
सर्वैरुपायैर्गुरवो हि रक्ष्याः ॥ ७६ ॥

चाण्डालने कहा—महर्षि अगस्त्यने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना की जानेपर वैसी अवस्थामें वातापिका भक्षणरूप कार्य किया था (उनके वैसा करनेसे बहुत-से ब्राह्मणोंकी रक्षा हो गयी; अन्यथा वह राक्षस उन सबको खा जाता; अतः महर्षिका वह कार्य धर्म ही था) । धर्म वही है, जिसमें लेशमात्र भी पाप न हो । ब्राह्मण गुरुजन हैं; अतः सभी उपायोंसे उनकी एवं उनके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ॥७६॥

विश्वामित्र उवाच

मित्रं च मे ब्राह्मणस्यायमात्मा
प्रियश्च मे पूज्यतमश्च लोके।
तं धर्तुकामोऽहमिमां जिहीर्षे
नृशंसानामीदृशानां न बिभ्ये ॥ ७७ ॥

विश्वामित्र बोले—(यदि अगस्त्यने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये वह कार्य किया था तो मैं भी मित्रकी रक्षाके लिये उसे करूँगा)यह ब्राह्मणका शरीर मेरा मित्र ही है। यही जगत्में मेरे लिये परम प्रिय और आदरणीय है। इसीको जीवित रखनेके लिये मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाना चाहता हूँ, अतः ऐसे नृशंस कर्मोंसे मुझे तनिक भी भय नहीं होता है ॥७७॥

श्वपच उवाच

कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित् कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥ ७८ ॥

चाण्डालने कहा—विद्वन्! अच्छे पुरुष अपने प्राणोंका परित्याग भले ही कर दें, परंतु वे कमी अभक्ष्य-भक्षणका विचार नहीं करते हैं। इसीसे वे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेते हैं; अतः आप भी भूखके साथ ही—उपवासद्वारा ही अपनी मनःकामनाकी पूर्ति कीजिये ॥ ७८ ॥

विश्वामित्र उवाच

स्थाने भवेत् संशयः प्रेत्यभावे
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूलं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम्॥ ७९ ॥

विश्वामित्र बोले—यदि उपवास करके प्राण दे दिया जाय तो मरनेके बाद क्या होगा? यह संशययुक्त बात है; परंतु ऐसा करनेसे पुण्यकर्मोंका विनाश होगा, इसमें संशय नहीं है, (क्योंकि शरीर ही धर्माचरणका मूल है) अतः मैं जीवनरक्षाके पश्चात् फिर प्रतिदिन व्रत एवं शम, दम आदिमें तत्पर रहकर पापकर्मोंका प्रायश्चित्त कर लूँगा। इस समय तो धर्मके मूलभूत शरीरकी ही रक्षा करना आवश्यक है; अतः मैं इस अभक्ष्य पदार्थका भक्षण करूँगा ॥ ७९ ॥

बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यं
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।
यद्यप्येतत् संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥ ८० ॥

यह कुत्तेका मांस-भक्षण दो प्रकारसे हो सकता है—एक बुद्धि और विचारपूर्वक तथा दूसरा अज्ञान एवं आसक्तिपूर्वक। बुद्धि एवं विचारद्वारा सोचकर धर्मके मूल तथा ज्ञानप्राप्तिके साधनभूत शरीरकी रक्षामें पुण्य है, यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह मोह एवं आसक्तिपूर्वक उस कार्यमें प्रवृत्त होनेसे दोषका होना भी स्पष्ट ही है। यद्यपि मैं मनमें संशय लेकर यह कार्य करने जा रहा हूँ तथापि मेरा विश्वास है कि मैं इस मांसको खाकर तुम्हारे-जैसा चाण्डाल नहीं बन जाऊँगा (तपस्याद्वारा इसके दोषका मार्जन कर दूँगा) ॥ ८० ॥

श्वपच उवाच

गोपनीयमिदं दुःखमिति मे निश्चिता मतिः।
दुष्कृतोऽब्राह्मणः सन् यस्त्वामहमुपालभे ॥ ८१ ॥

चाण्डालने कहा—यह कुत्तेका मांस खाना आपके लिये अत्यन्त दुःखदायक पाप है। इससे आपको बचना चाहिये। यह मेरा निश्चित विचार है, इसीलिये मैं महान् पापी और ब्राह्मणेतर होनेपर भी आपको बारंबार उलाहना दे रहा हूँ। अवश्य ही यह धर्मका उपदेश करना मेरे लिये धूर्ततापूर्ण चेष्टा ही है ॥ ८१ ॥

विश्वामित्र उवाच

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥ ८२ ॥

विश्वामित्र बोले—मेढकोंके टर्र-टर्र करते रहनेपर भी गौएँ जलाशयोंमें जल पीती ही हैं (वैसे ही तुम्हारे मना करनेपर भी मैं तो यह अभक्ष्य-भक्षण करूँगा ही)। तुम्हें धर्मोपदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है; अतः तुम अपनी प्रशंसा करनेवाले न बनो ॥ ८२ ॥

श्वपच उवाच

सुहृद् भूत्वानुशासे त्वां कृपा हि त्वयि मे द्विज।
यदिदं श्रेय आधत्स्व मा लोभात् पातकं कृथाः॥ ८३ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो आपका हितैषी सुहृद् बनकर ही यह धर्माचरणकी सलाह दे रहा हूँ; क्योंकि आपपर मुझे दया आ रही है। यह जो कल्याणकी बात बता रहा हूँ, इसे आप ग्रहण करें। लोभवश पाप न करें ॥ ८३ ॥

विश्वामित्र उवाच

सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां समुद्धर।
जानेऽहं धर्मतोऽऽत्मानं शौनीमुत्सृज जाघनीम्॥८४॥

विश्वामित्र बोले—भैया! यदि तुम मेरे हितैषी सुहृद् हो और मुझे सुख देना चाहते हो तो इस विपत्तिसे मेरा उद्धार करो। मैं अपने धर्मको जानता हूँ। तुम तो यह कुत्तेकी जाँघ मुझे दे दो ॥ ८४ ॥

श्वपच उवाच

नैवोत्सहे भवतो दातुमेतां
नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम्।
उभौ स्यावः पापलोकावलिप्तौ
दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन्॥ ८५ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं यह अभक्ष्य वस्तु आपको नहीं दे सकता और मेरे इस अन्नका आपके द्वारा

अपहरण हो, इसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकता। इसे देनेवाला मैं और लेनेवाले आप ब्राह्मण दोनों ही पापलिप्त होकर नरकमें पड़ेंगे ॥ ८५ ॥

विश्वामित्र उवाच

अद्याहमेतद् वृजिनं कर्म कृत्वा
जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम्।
स पूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये
यदेतयोर्गुरु तद् वै ब्रवीहि ॥ ८६ ॥

विश्वामित्र बोले—आज यह पापकर्म करके भी यदि मैं जीवित रहा तो परम पवित्र धर्मका अनुष्ठान करूँगा। इससे मेरे तन, मन पवित्र हो जायँगे और मैं धर्मका ही फल प्राप्त करूँगा। जीवित रहकर धर्माचरण करना और उपवास करके प्राण देना—इन दोनोंमें कौन बड़ा है, यह मुझे बताओ ॥ ८६ ॥

श्वपच उवाच

आत्मैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये
त्वमेव जानासि यदत्र दुष्कृतम्।
यो ह्याद्रियाद् भक्ष्यमिति श्वमांसं
मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम् ॥ ८७ ॥

चाण्डालने कहा—किस कुलके लिये कौन-सा कार्य धर्म है, इस विषयमें यह आत्मा ही साक्षी है। इस अभक्ष्य-भक्षणमें जो पाप है, उसे आप भी जानते हैं। मेरी समझमें जो कुत्तेके मांसको भक्षणीय बताकर उसका आदर करे, उसके लिये इस संसारमें कुछ भी त्याज्य नहीं है ॥ ८७ ॥

विश्वामित्र उवाच

उपादाने खादने चास्ति दोषः
कार्यात्यये नित्यमत्रापवादः।
यस्मिन् हिंसा नानृतं वाच्यलेशो-
ऽभक्ष्यक्रिया यत्र न तद्गरीयः ॥ ८८ ॥

विश्वामित्र बोले—चाण्डाल ! मैं इसे मानता हूँ कि तुमसे दान लेने और इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें दोष है, फिर भी जहाँ न खानेसे प्राण जानेकी सम्भावना हो, वहाँके लिये शास्त्रोंमें सदा ही अपवाद वचन मिलते हैं। जिसमें हिंसा और असत्यका तो दोष है ही नहीं, लेशमात्र निन्दारूप दोष है। प्राण जानेके अवसरोंपर भी जो अभक्ष्य-भक्षणका निषेध ही करनेवाले वचन हैं, वे गुरुतर अथवा आदरणीय नहीं हैं ॥ ८८ ॥

श्वपच उवाच

यद्येष हेतुस्तव खादने स्या-
न्न ते वेदः कारणं नार्यधर्मः।
तस्माद् भक्ष्येऽभक्षणे वा द्विजेन्द्र
दोषं न पश्यामि यथेदमत्र ॥ ८९ ॥

चाण्डालने कहा—द्विजेन्द्र ! यदि इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें आपके लिये यह प्राणरक्षारूपी हेतु ही प्रधान है तब तो आपके मतमें न वेद प्रमाण है और न श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार-धर्म ही। अतः मैं आपके लिये भक्ष्य वस्तुके अभक्षण-में अथवा अभक्ष्य वस्तुके भक्षणमें कोई दोष नहीं देख रहा हूँ, जैसा कि यहाँ आपका इस मांसके लिये यह महान् आग्रह देखा जाता है ॥ ८९ ॥

विश्वामित्र उवाच

नैवातिपापं भक्ष्यमाणस्य दृष्टं
सुरां तु पीत्वा पततीति शब्दः।
अन्योन्यकार्याणि यथा तथैव
न पापमात्रेण कृतं हिनस्ति ॥ ९० ॥

विश्वामित्र बोले—अखाद्य वस्तु खानेवालेको ब्रह्महत्या आदिके समान महान् पातक लगता हो, ऐसा कोई शास्त्रीय वचन देखनेमें नहीं आता। हाँ, शराब पीकर ब्राह्मण पतित हो जाता है, ऐसा शास्त्रवाक्य स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है; अतः वह सुरापान अवश्य त्याज्य है। जैसे दूसरे-दूसरे कर्म निषिद्ध हैं, वैसा ही अभक्ष्य-भक्षण भी है। आपत्तिके समय एक बार किये हुए किसी सामान्य पापसे किसीके आजीवन किये हुए पुण्यकर्मका नाश नहीं होता ॥ ९० ॥

श्वपच उवाच

अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद् वा
तद् विद्वांसं बाधते साधुवृत्तम्।
स्थानं पुनर्यो लभतेऽभिषङ्गात्
तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥ ९१ ॥

चाण्डालने कहा—जो अयोग्य स्थानसे, अनुचित कर्मसे तथा निन्दित पुरुषसे कोई निषिद्ध वस्तु लेना चाहता है, उस विद्वान्‌को उसका सदाचार ही वैसा करनेसे रोकता है (अतः आपको तो ज्ञानी और धर्मात्मा होनेके कारण स्वयं ही ऐसे निन्द्य कर्मसे दूर रहना चाहिये); परंतु जो बारंबार अत्यन्त आग्रह करके कुत्तेका मांस ग्रहण कर रहा है, उसीको इसका दण्ड भी सहन करना चाहिये (मेरा इसमें कोई दोष नहीं है) ॥ ९१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा निववृते मातङ्गः कौशिकं तदा।
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥ ९२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर चाण्डाल मुनिको मना करनेके कार्यसे निवृत्त हो गया। विश्वामित्र तो उसे लेनेका निश्चय कर चुके थे; अतः कुत्तेकी जाँघ ले ही गये ॥ ९२ ॥

ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः।
सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेष सः ॥ ९३ ॥

जीवित रहनेकी इच्छावाले उन महामुनिने कुत्तेके शरीर-के उस एक भागको ग्रहण कर लिया और उसे वनमें ले

जाकर पत्नीसहित खानेका विचार किया ॥ ९३ ॥

अथास्य बुद्धिरभवद् विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं संतर्प्य देवताः ॥ ९४ ॥

इतनेहीमें उनके मनमें यह विचार उठा कि मैं कुत्तेकी जाँघके इस मांसको विधिपूर्वक पहले देवताओंको अर्पण करूँगा और उन्हें संतुष्ट करके फिर अपनी इच्छाके अनुसार उसे खाऊँगा ॥ ९४ ॥

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम् ॥ ९५ ॥

ऐसा सोचकर मुनिने वेदोक्त विधिसे अग्निकी स्थापना करके इन्द्र और अग्नि देवताके उद्देश्यसे स्वयं ही चरु पकाकर तैयार किया ॥ ९५ ॥

ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यं च भारत ।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! फिर उन्होंने देवकर्म और पितृकर्म आरम्भ किया। इन्द्र आदि देवताओंका आवाहन करके उनके लिये क्रमशः विधिपूर्वक पृथक्-पृथक् भाग अर्पित किया॥९६॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
संजीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९७ ॥

इसी समय इन्द्रने समस्त प्रजाको जीवनदान देते हुए बड़ी भारी वर्षा की और अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया॥९७॥

विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥ ९८ ॥

भगवान् विश्वामित्र भी दीर्घकालतक निराहार व्रत एवं तपस्या करके अपने सारे पाप दग्ध कर चुके थे; अतः उन्हें अत्यन्त अद्भुत सिद्धि प्राप्त हुई ॥ ९८ ॥

स संहृत्य च तत् कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।
तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः ॥ ९९ ॥

उन द्विजश्रेष्ठ मुनिने वह कर्म समाप्त करके उस हविष्यका आस्वादन किये बिना ही देवताओं और पितरोंको संतुष्ट कर दिया और उन्हींकी कृपासे पवित्र भोजन प्राप्त करके उसके द्वारा जीवनकी रक्षा की ॥ ९९ ॥

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥१००॥

राजन् ! इस प्रकार संकटमें पड़कर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको दीनचित्त न होकर कोई उपाय ढूँढ़ निकालनी चाहिये और सभी उपायोंसे अपने आपका आपत्कालमें परिस्थितिसे उद्धार करना चाहिये ॥ १०० ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥१०१॥

इस बुद्धिका सहारा लेकर सदा जीवित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि जीवित रहनेवाला पुरुष पुण्य करनेका अवसर पाता और कल्याणका भागी होता है ॥ १०१ ॥

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ॥१०२॥

अतः कुन्तीनन्दन ! अपने मनको वशमें रखनेवाले विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इस जगत्में धर्म और अधर्मका निर्णय करनेके लिये अपनी ही विशुद्ध बुद्धिका आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे ॥ १०२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि विश्वामित्रश्वपचसंवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें विश्वामित्र और चाण्डालका संवादविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्कालमें राजाके धर्मका निश्चय तथा उत्तम ब्राह्मणोंके सेवनका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

यदि घोरं समुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम् ।
अस्ति स्विद् दस्युमर्यादा यामहं परिवर्जये ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—यदि महापुरुषोंके लिये भी ऐसा भयंकर कर्म (संकटकालमें) कर्तव्यरूपसे बता दिया गया तो दुराचारी डाकुओं और लुटेरोंके दुष्कर्मोंकी कौन-सी ऐसी सीमा रह गयी है, जिसका मुझे सदा ही परित्याग करना चाहिये ? (इससे अधिक घोर कर्म तो दस्यु भी नहीं कर सकते) ॥ १ ॥

सम्मुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः ।
उद्यमं नाधिगच्छामि कदाचित् परिसान्त्वयन्॥ २ ॥

आपके मुँहसे यह उपाख्यान सुनकर मैं मोहित एवं विषादग्रस्त हो रहा हूँ। आपने मेरा धर्मविषयक उत्साह शिथिल कर दिया। मैं अपने मनको बारंबार समझा रहा हूँ तो भी अब कदापि इसमें धर्मविषयक उद्यमके लिये उत्साह नहीं पाता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

नैतच्छ्रुत्वाऽऽगमादेव तव धर्मानुशासनम् ।
प्रज्ञासमवहारोऽयं कविभिः सम्भृतं मधु ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! मैंने केवल शास्त्रसे ही सुनकर तुम्हारे लिये यह धर्मोपदेश नहीं किया है। जैसे अनेक स्थानसे अनेक प्रकारके फूलोंका रस लाकर मक्खियाँ

मधुका संचय करती हैं, उसी प्रकार विद्वानोंने यह नाना प्रकारकी बुद्धियों (विचारों) का संकलन किया है (ऐसी बुद्धियोंका कदाचित् संकटकालमें उपयोग किया जा सकता है। ये सदा काममें लेनेके लिये नहीं कही गयी हैं; अतः तुम्हारे मनमें मोह या विषाद नहीं होना चाहिये) ॥ ३ ॥

यद्धयः प्रतिविधातव्याः प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः ।
नैकशाखेन धर्मेण यत्रैषा सम्प्रवर्तते ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! राजाको इधर-उधरसे नाना प्रकारके मनुष्यों-के निकटसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धियाँ सीखनी चाहिये । उसे एक ही शाखावाले धर्मको लेकर नहीं बैठे रहना चाहिये । जिस राजामें संकटके समय यह बुद्धि स्फुरित होती है, वह आत्मरक्षाका कोई उपाय निकाल लेता है ॥ ४ ॥

बुद्धिसंजननो धर्म आचारश्च सतां सदा ।
ज्ञेयो भवति कौरव्य सदा तद् विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! धर्म और सत्पुरुषोंका आचार—ये बुद्धिसे ही प्रकट होते हैं और सदा उसीके द्वारा जाने जाते हैं। तुम मेरी इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानश्चरन्ति विजयैषिणः ।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः ॥ ६ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले एवं बुद्धिमें श्रेष्ठ सभी राजा धर्मका आचरण करते हैं । अतः राजाको इधर-उधरसे बुद्धिके द्वारा शिक्षा लेकर धर्मका भलीभाँति आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते ।
दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता ॥ ७ ॥

एक शाखावाले (एकदेशीय) धर्मसे राजाका धर्म-निर्वाह नहीं होता । जिसने पहले अध्ययनकालमें एकदेशीय धर्मविषयक बुद्धिकी शिक्षा ली, उस दुर्बल राजाको पूर्ण प्रज्ञा कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ ७ ॥

अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति ।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत ॥ ८ ॥

एक ही धर्म या कर्म किसी समय धर्म माना जाता है और किसी समय अधर्म । उसकी जो यह दो प्रकारकी स्थिति है, उसीका नाम द्वैध है। जो इस द्विविधतत्त्वको नहीं जानता, वह द्वैधमार्गपर पहुँचकर संशयमें पड़ जाता है । भरतनन्दन ! बुद्धिके द्वैधको पहले ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥

पार्श्वतः करणं प्राज्ञो विष्टम्भित्वा प्रकारयेत् ।
जनस्तच्चरितं धर्मं विजानात्यन्यथान्यथा ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विचार करते समय पहले अपने प्रत्येक कार्यको गुप्त रखकर उसे प्रारम्भ करे; फिर उसे सर्वत्र प्रकाशित करे; अन्यथा उसके द्वारा आचरणमें लाये हुए धर्मको लोग किसी और ही रूपमें समझने लगते हैं ॥ ९ ॥

अमिथ्याज्ञानिनः केचिन्मिथ्याविज्ञानिनः परे ।
तद्वै यथायथं बुद्ध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥ १० ॥

कुछ लोग यथार्थ ज्ञानी होते हैं और कुछ लोग मिथ्या ज्ञानी, इस बातको ठीक-ठीक समझकर राजा सत्यज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषोंके ही ज्ञानको ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः ।
वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥

धर्मद्रोही मनुष्य शास्त्रोंकी प्रामाणिकतापर डाका डालते हैं, उन्हें अग्राह्य और अमान्य बताते हैं । वे अर्थज्ञानसे शून्य मनुष्य अर्थशास्त्रकी विषमताका मिथ्या प्रचार करते हैं ।११।

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! जो जीविकाकी इच्छासे विद्याका उपार्जन करते हैं, सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी विद्याके बलसे यश पानेकी इच्छा और मनोवाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं, वे सभी पापात्मा और धर्मद्रोही हैं ॥ १२ ॥

अपक्कमतयो मन्दा न जानन्ति यथातथम् ।
यथा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रायुक्तिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥

जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है, वे मन्दमति मानव यथार्थ तत्त्वको नहीं जानते हैं । शास्त्रज्ञानमें निपुण न होकर सर्वत्र असंगत युक्तिपर ही अवलम्बित रहते हैं ॥ १३ ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः ।
विज्ञानमर्थविद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥ १४ ॥

निरन्तर शास्त्रके दोष देखनेवाले लोग शास्त्रोंकी मर्यादा लूटते हैं और यह कहा करते हैं कि अर्थशास्त्रका ज्ञान समीचीन नहीं है ॥ १४ ॥

निन्द्या परविद्यानां स्वविद्यां ख्यापयन्ति च ।
वागस्त्रा वाक्छुरीभूता दुग्धविद्याफला इव ॥ १५ ॥

वाणी ही जिनका अस्त्र है तथा जिनकी बोली ही बाणके समान लगती है, वे मानो विद्याके फल तत्त्वज्ञानसे ही विद्रोह करते हैं । ऐसे लोग दूसरोंकी विद्याकी निन्दा करके अपनी विद्याकी अच्छाईका मिथ्या प्रचार करते हैं ॥ १५ ॥

तान् विद्यावणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत ।
व्याजेन सद्भिर्विहितो धर्मस्ते परिहास्यति ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! ऐसे लोगोंको तुम विद्याका व्यापार करने-वाले तथा राक्षसोंके समान परद्रोही समझो । उनकी बहाने-बाजीसे तुम्हारा सत्पुरुषोंद्वारा प्रतिपादित एवं आचरित धर्म नष्ट हो जायगा ॥ १६ ॥

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥ १७ ॥

हमने सुना है कि केवल वचनद्वारा अथवा केवल बुद्धि (तर्क)के द्वारा ही धर्मका निश्चय नहीं होता है, अपितु शास्त्र-वचन और तर्क दोनोंके समुच्चयद्वारा उसका निर्णय होता है—यही बृहस्पतिका मत है, जिसे स्वयं इन्द्रने बताया है ॥

न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते ।
सुविनीतेन शास्त्रेण न व्यवस्यन्त्यथापरे ॥ १८ ॥

विद्वान् पुरुष अकारण कोई बात नहीं कहते हैं और दूसरे बहुत-से मनुष्य भलीभाँति सीखे हुए शास्त्रके अनुसार कार्य करनेकी चेष्टा नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत पण्डितः ॥ १९ ॥

इस जगत्में कोई-कोई मनीषी पुरुष शिष्ट पुरुषोंद्वारा परि-चालित लोकाचारको ही धर्म कहते हैं, परंतु विद्वान् पुरुष स्वयं ही ऊहापोह करके सत्पुरुषोंके शास्त्रविहित धर्मका निश्चय कर ले ॥ १९ ॥

अमर्षाच्छास्त्रसम्मोहादविज्ञानाच्च भारत ।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! जो बुद्धिमान् होकर शास्त्रको ठीक-ठीक न समझते हुए मोहमें आबद्ध होकर बड़े जोशके साथ शास्त्र-का प्रवचन करता है, उसके उस कथनका लोकसमाजमें कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ॥ २० ॥

आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते ।
अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद् वचनं साधु मन्यते ॥ २१ ॥

वेद-शास्त्रोंके द्वारा अनुमोदित, तर्कयुक्त बुद्धिके द्वारा जो बात कही जाती है, उसीसे शास्त्रकी प्रशंसा होती है अर्थात् शास्त्रकी वही बात लोगोंके मनमें बैठती है। दूसरे लोग अज्ञात विषयका ज्ञान करानेके लिये केवल तर्कको ही श्रेष्ठ मानते हैं, परंतु यह उनकी नासमझी ही है ॥ २१ ॥

अनया हतमेवेदमिति शास्त्रमपार्थकम् ।
दैतेयानुशना प्राह संशयच्छेदनं पुरा ॥ २२ ॥

वे लोग केवल तर्कको प्रधानता देकर अमुक युक्तिसे शास्त्रकी यह बात कट जाती है; इसलिये यह व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं; किंतु यह कथन भी अज्ञानके ही कारण है (अतः तर्कसे शास्त्रका और शास्त्रसे तर्कका बोध न करके दोनोंके सहयोगसे जो कर्तव्य निश्चित हो, उसीका पालन करना चाहिये) । पूर्वकालमें यह संशयनाशक बात स्वयं शुक्राचार्यने दैत्योंसे कही थी ॥ २२ ॥

ज्ञानमप्यपदिश्यं हि यथा नास्ति तथैव तत् ।
तं तथा छिन्नमूलेन सन्नोदयितुमर्हसि ॥ २३ ॥

जो संशयात्मक ज्ञान है, उसका होना और न होना बराबर है; अतः तुम उस संशयका मूलोच्छेद करके उसे दूर हटा दो (संशयरहित ज्ञानका आश्रय लो) ॥ २३ ॥

अनव्यवहितं यो वा नेदं वाक्यमुपाश्नुते ।
उग्रायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे न त्वमीक्षसे ॥ २४ ॥

यदि तुम मेरे इस नीतियुक्त कथनको नहीं स्वीकार करते हो तो तुम्हारा यह व्यवहार उचित नहीं है; क्योंकि तुम (क्षत्रिय होनेके कारण) उग्र (हिंसापूर्ण) कर्मके लिये ही विधाताद्वारा रचे गये हो। इस बातकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है ॥ २४ ॥

अङ्ग मामन्ववेक्षस्व राजन्याय बुभूषते ।
यथा प्रमुच्यते त्वन्यो यदर्थं न प्रमोदते ॥ २५ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! मेरी ओर तो देखो, मैंने क्या किया है। भूमण्डलका राज्य पानेकी इच्छावाले क्षत्रिय राजाओंके साथ मैंने वही बर्ताव किया है, जिससे वे संसारबन्धनसे मुक्त हो जायँ (अर्थात् उन सबको मैंने युद्धमें मारकर स्वर्गलोक भेज दिया) । यद्यपि मेरे इस कार्यका दूसरे लोग अनुमोदन नहीं करते थे—मुझे क्रूर और हिंसक कहकर मेरी निन्दा करते थे (तो भी मैंने किसीकी परवा न करके अपने कर्तव्य-का पालन किया, इसी प्रकार तुम अपने कर्तव्यपथपर दृढ़ता-पूर्वक डटे रहो) ॥ २५ ॥

अजोऽश्वः क्षत्रमित्येतत् सदृशं ब्रह्मणा कृतम् ।
तस्मादभीक्ष्णं भूतानां यात्रा काचित् प्रसिद्ध्यति॥२६॥

बकरा, घोड़ा और क्षत्रिय—इन तीनोंको ब्रह्माजीने एक-सा बनाया है। इनके द्वारा समस्त प्राणियोंकी बारंबार कोई-न-कोई जीवनयात्रा सिद्ध होती रहती है ॥ २६ ॥

यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः ।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥

अवध्य मनुष्यका वध करनेमें जो दोष माना गया है, वही वध्यका वध न करनेमें भी है। वह दोष ही अकर्तव्यकी वह मर्यादा (सीमा) है, जिसका क्षत्रिय राजाको परित्याग करना चाहिये ॥ २७ ॥

तस्मात् तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत् ततः ।
अन्योन्यं भक्षयन्तो हि प्रचरेयुर्वृका इव ॥ २८ ॥

अतः तीक्ष्ण स्वभाववाला राजा ही प्रजाको अपने-अपने धर्ममें स्थापित कर सकता है; अन्यथा प्रजावर्गके सब लोग भेड़ियोंके समान एक दूसरेको लूट-खसोटकर खाते हुए स्वच्छन्द विचरने लगें ॥ २८ ॥

यस्य दस्युगणा राष्ट्रे ध्वांक्षा मत्स्यान् जलादिव ।
विहरन्ति परस्वानि स वै क्षत्रियपांसनः ॥ २९ ॥

जिसके राज्यमें डाकुओंके दल जलसे मछलियोंको पकड़ने-वाले बगुलेके समान पराये धनका अपहरण करते हैं, वह राजा निश्चय ही क्षत्रियकुलका कलङ्क है ॥ २९ ॥

कुलीनान् सचिवान् कृत्वा वेदविद्यासमन्वितान्।
प्रशाधि पृथिवीं राजन् प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा वेदविद्यासे सम्पन्न पुरुषोंको मन्त्री बनाकर प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए तुम इस पृथ्वीका शासन करो ॥ ३० ॥

विहीनं कर्मणान्यायं यः प्रगृह्णाति भूमिपः ।
उपायस्याविशेषज्ञं तद् वै क्षत्रं नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

जो राजा सत्कर्मसे रहित, न्यायशून्य तथा कार्यसाधनके उपायोंसे अनभिज्ञ पुरुषको सचिवके रूपमें अपनाता है, वह नपुंसक क्षत्रिय है ॥ ३१ ॥

नैवोग्रं नैव चानुग्रं धर्मेणेह प्रशस्यते ।
उभयं न व्यतिक्रामेदुग्रो भूत्वा मृदुर्भव ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! राजधर्मके अनुसार केवल उग्रभाव अथवा केवल मृदुभावकी प्रशंसा नहीं की जाती है। उन दोनोंमेंसे

किसीका भी परित्याग नहीं करना चाहिये। इसलिये तुम पहले उग्र होकर फिर मृदु होओ ॥ ३२ ॥

कष्टः क्षत्रियधर्मोऽयं सौहृदं त्वयि मे स्थितम्।
उग्रकर्मणि सृष्टोऽसि तस्माद् राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३३ ॥

वत्स! यह क्षत्रियधर्म कष्टसाध्य है। तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह है, इसलिये कहता हूँ। विधाताने तुम्हें उग्र कर्मके लिये ही उत्पन्न किया है; इसलिये तुम अपने धर्ममें स्थित होकर राज्यका शासन करो ॥ ३३ ॥

अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोऽब्रवीद् धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! आपत्तिकालमें भी सदा दुष्टोंका दमन और शिष्ट पुरुषोंका पालन करना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान् शुक्राचार्यका कथन है ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति चेदिह मर्यादा यामन्यो नाभिलङ्घयेत्।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! इस जगत्‌में यदि कोई ऐसी मर्यादा है, जिसका दूसरा कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता तो मैं उसके विषयमें आपसे पूछता हूँ। आप वही मुझे बताइये ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः।
श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान् पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! विद्यामें बढ़े-चढ़े तपस्वी तथा शास्त्रज्ञान, उत्तम चरित्र एवं सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मणोंका ही सेवन करे, यह परम उत्तम एवं पवित्र कार्य है ॥ ३६ ॥

या देवतासु वृत्तिस्ते सास्तु विप्रेषु नित्यदा।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! देवताओंके प्रति जो तुम्हारा बर्ताव है, वही भाव और बर्ताव ब्राह्मणोंके प्रति भी सदैव होना चाहिये; क्योंकि क्रोधमें भरे हुए ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके अद्भुत कर्म कर डाले हैं ॥ ३७ ॥

प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम्।
प्रीत्या ह्यमृतवद् विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतासे श्रेष्ठ यशका विस्तार होता है। उनकी अप्रसन्नतासे महान् भयकी प्राप्ति होती है। प्रसन्न होनेपर ब्राह्मण अमृतके समान जीवनदायक होते हैं और कुपित होनेपर विषके तुल्य भयंकर हो उठते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शरणागतकी रक्षा करनेके विषयमें एक बहेलिये और कपोत-कपोतीका प्रसङ्ग, सर्दीसे पीड़ित हुए बहेलियेका एक वृक्षके नीचे जाकर सोना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं; अतः मुझे यह बताइये कि शरणागतकी रक्षा करनेवाले प्राणीको किस धर्मकी प्राप्ति होती है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

महान् धर्मो महाराज शरणागतपालने।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! शरणागतकी रक्षा करनेमें महान् धर्म है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हीं ऐसा प्रश्न पूछनेके अधिकारी हो ॥ २ ॥

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान्।
परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ३ ॥

राजन्! शिबि आदि महात्मा राजाओंने तो शरणागतोंकी रक्षा करके ही परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी ॥ ३ ॥

श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ ४ ॥

यह भी सुना जाता है कि एक कबूतरने शरणमें आये हुए शत्रुका यथायोग्य सत्कार किया था और अपना मांस खानेके लिये उसको निमन्त्रित किया था ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः।
स्वमांसं भोजितः कां च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! प्राचीनकालमें कबूतरने शरणागत शत्रुको किस प्रकार अपना मांस खिलाया और ऐसा करनेसे उसे कौन-सी सद्गति प्राप्त हुई ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम्।
नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेण वै ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! वह दिव्य कथा सुनो, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है। परशुरामजीने राजा मुचुकुन्दको यह कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

इममर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः।
भार्गवं परिपप्रच्छ प्रणतः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर कुन्तीनन्दन! पहिलेकी बात है, राजा मुचुकुन्दने परशुरामजीको प्रणाम करके उनसे यही प्रश्न किया था ॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय भार्गवोऽकथयत् कथाम् ।
इमां यथा कपोतेन सिद्धिः प्राप्ता नराधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! तब परशुरामजीने सुननेके लिये उत्सुक हुए मुचुकुन्दको, कबूतरने जिस प्रकार सिद्धि प्राप्ति की थी, वह कथा कह सुनायी ॥ ८ ॥

मुनिरुवाच

धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थसहितां कथाम् ।
शृणुष्वावहितो राजन् गदतो मे महाभुज ॥ ९ ॥

मुनि बोले—महाबाहो ! यह कथा धर्मके निर्णयसे युक्त तथा अर्थ और कामसे सम्पन्न है । राजन् ! तुम सावधान होकर मेरे मुखसे इस कथाको सुनो ॥ ९ ॥

कश्चित् क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसम्मितः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १० ॥

एक समयकी बात है किसी महान् वनमें कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था । वह बड़े खोटे आचार-विचारका था । पृथ्वीपर वह कालके समान जान पड़ता था ॥

काकोल इव कृष्णाङ्गो रूक्षाक्षः कालसम्मितः ।
दीर्घजङ्घो ह्रस्वपादो महावक्त्रो महाहनुः ॥ ११ ॥

उसका सारा शरीर 'काकोल' जातिके कौओंके समान काला था । आँखें लाल-लाल थीं । वह देखनेपर काल-सा प्रतीत होता था । बड़ी-बड़ी पिंडलियाँ, छोटे-छोटे पैर, विशाल मुख और लंबी-सी ठोढ़ी—यही उसकी हुलिया थी ॥ ११ ॥

नैव तस्य सुहृत् कश्चिन्न सम्बन्धी न बान्धवाः ।
स हि तैः सम्परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

उसके न कोई सुहृद्, न सम्बन्धी और न भाई-बन्धु ही थे । उसके भयानक क्रूर-कर्मके कारण सबने उसे त्याग दिया था ॥

नरः पापसमाचारस्त्यक्तव्यो दूरतो बुधैः ।
आत्मानं योऽभिसंधत्ते सोऽन्यस्य स्यात् कथं हितः ॥

वास्तवमें जो पापाचारी हो, उसे विज्ञ पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये । जो अपने आपको धोखा देता है, वह दूसरेका हितैषी कैसे हो सकता है ? ॥ १३ ॥

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिप्राणहरा नराः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४ ॥

जो मनुष्य क्रूर, दुरात्मा तथा दूसरे प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले होते हैं, उन्हें सर्पोंके समान सभी जीवोंकी ओरसे उद्वेग प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

स वै क्षारकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! वह प्रतिदिन जाल लेकर वनमें जाता और बहुत-से पक्षियोंको मारकर उन्हें बाजारमें बेंच दिया करता था ॥

एवं तु वर्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः ।
अगमत् सुमहान् कालो न चाधर्ममबुध्यत ॥ १६ ॥

यही उसका नित्यका काम था । इसी वृत्तिसे रहते हुए उस दुरात्माको वहाँ दीर्घ काल व्यतीत हो गया, किंतु उसे अपने इस अधर्मका बोध नहीं हुआ ॥ १६ ॥

तस्य भार्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् ।
दैवयोगविमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १७ ॥

सदा अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ वह बहेलिया दैवयोगसे ऐसा मूढ़ हो गया था कि उसे दूसरी कोई वृत्ति अच्छी ही नहीं लगती थी ॥ १७ ॥

ततः कदाचित् तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षांस्तान् सुमहान् वातसम्भ्रमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन वह वनमें ही घूम रहा था कि चारों ओरसे बड़े जोरकी आँधी उठी । वायुका प्रचण्ड वेग वहाँके समस्त वृक्षोंको धराशायी करता हुआ-सा जान पड़ा ॥

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
संछन्नस्तु मुहूर्तेन नौसार्थैरिव सागरः ॥ १९ ॥
वारिधारासमूहेन सम्प्रविष्टः शतक्रतुः ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुन्धराम् ॥ २० ॥

आकाशमें मेघोंकी घटाएँ घिर आयीं, विद्युन्मण्डलसे उसकी अपूर्व शोभा होने लगी । जैसे समुद्र नौकारोहियोंके समुदायसे ढक जाता है, उसी प्रकार दो ही घड़ीमें जल-धाराओंके समूहसे आच्छादित हुए इन्द्रदेवने व्योममण्डलमें प्रवेश किया और क्षणभरमें इस पृथ्वीको जलराशिसे भर दिया ॥ १९–२० ॥

ततो धाराकुले काले सम्भ्रमन् नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद् वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

उस समय मूसलाधार पानी बरस रहा था । बहेलिया शीतसे पीड़ित हो अचेत-सा हो गया और व्याकुल हृदयसे सारे वनमें भटकने लगा ॥ २१ ॥

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य च ॥ २२ ॥

वनका मार्ग जिसपर वह चलता था, जलके प्रवाहमें डूब गया था । उस बहेलियेको नीची-ऊँची भूमिका कुछ पता नहीं चलता था ॥ २२ ॥

पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ॥ २३ ॥

वर्षाके वेगसे बहुतेरे पक्षी मरकर धरतीपर लोट गये थे । कितने ही अपने घोंसलोंमें छिपे बैठे थे । मृग, सिंह और सूअर स्थल-भूमिका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ २३ ॥

महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौकसः ।
भयार्ताश्च क्षुधार्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥ २४ ॥

भारी आँधी और वर्षासे आतङ्कित हुए वनवासी जीव-जन्तु भय और भूखसे पीड़ित हो झुंड-के-झुंड एक साथ घूम रहे थे ॥ २४ ॥

स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥ २५ ॥

बहेलियेके सारे अङ्ग सर्दीसे ठिठुर गये थे । इसलिये न तो वह चल पाता था और न खड़ा ही हो पाता था । इसी अवस्थामें उसने धरतीपर गिरी हुई एक कबूतरी देखी, जो सर्दीके कष्टसे व्याकुल हो रही थी ॥ २५ ॥

दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत्।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत् परे ॥ २६ ॥
पापात्मा पापकारित्वात् पापमेव चकार सः।

वह पापात्मा व्याध यद्यपि स्वयं भी बड़े कष्टमें था तो भी उसने उस कबूतरीको उठाकर पिंजड़ेमें डाल लिया। स्वयं दुःखसे पीड़ित होनेपर भी उसने दूसरे प्राणीको दुःख ही पहुँचाया। सदा पापमें ही प्रवृत्त रहनेके कारण उस पापात्माने उस समय भी पाप ही किया ॥ २६½ ॥

सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ॥ २७ ॥
सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः।
धात्रा परोपकाराय स साधुरिव निर्मितः ॥ २८ ॥

इतनेहीमें उसे वृक्षोंके समूहमें एक मेघके समान सघन एवं नील विशाल वनस्पति दिखायी दिया, जिसपर बहुत-से विहंगम छाया, निवास और फलकी इच्छासे बसेरे लेते थे, मानो विधाताने परोपकारके लिये ही उस साधुतुल्य महान् वृक्षका निर्माण किया था ॥ २७-२८ ॥

अथाभवत् क्षणेनैव वियद् विमलतारकम्।
महत्सर इवोत्फुल्लं कुमुदच्छुरितोदकम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें आकाशके बादल फट गये, निर्मल तारे चमक उठे, मानो खिले हुए कुमुद-पुष्पोंसे सुशोभित जलवाला कोई विशाल सरोवर प्रकाशित हो रहा हो ॥

ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्मलं बहु।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥ ३० ॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम्।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद् देशादिति प्रभो ॥ ३१ ॥

प्रभो ! ताराओंसे भरा हुआ अत्यन्त निर्मल आकाश विकसित कुमुद-कुसुमोंसे सुशोभित सरोवर-सा प्रतीत होता था। आकाशको मेघोंसे मुक्त हुआ देख सर्दीसे काँपते हुए उस व्याधने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात किया और गाढ़े अन्धकारसे भरी हुई रात्रि देखकर मन-ही-मन विचार किया कि मेरा निवासस्थान तो यहाँसे बहुत दूर है ॥ ३०-३१ ॥

कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः।
साञ्जलिः प्रणतिं कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम्॥ ३२ ॥
शरणं यामि यान्यस्मिन् दैवतानि वनस्पतौ।

इसके बाद उसने उस वृक्षके नीचे ही रातभर रहनेका निश्चय किया। फिर हाथ जोड़ प्रणाम करके उस वनस्पतिसे कहा—'इस वृक्षपर जो-जो देवता हों, उन सबकी मैं शरण लेता हूँ'॥

स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य भूतले।
दुःखेन महताऽऽविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर उसने पृथ्वीपर पत्ते बिछा दिये और एक शिलापर सिर रखकर महान् दुःखसे घिरा हुआ वह बहेलिया वहाँ सो गया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादोपक्रमे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कपोत और व्याधके संवादका उपक्रमविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरद्वारा अपनी भार्याका गुणगान तथा पतिव्रता स्त्रीकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससुहृज्जनः।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस वृक्षकी शाखापर बहुत दिनोंसे एक कबूतर अपने सुहृदोंके साथ निवास करता था। उसके शरीरके रोएँ चितकबरे थे ॥ १ ॥

तस्य कल्यगता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥ २ ॥

उसकी पत्नी सबेरेसे ही चारा चुगनेके लिये गयी थी, जो लौटकर नहीं आयी। अब रात हुई देख वह कबूतर उसके लिये बहुत संतप्त होने लगा ॥ २ ॥

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
किं नु तत् कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥ ३ ॥

कबूतर दुखी होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—'अहो ! आज बड़ी भारी आँधी और वर्षा हुई है; किंतु अब तक मेरी प्यारी भार्या लौटकर नहीं आयी। ऐसा कौन-सा कारण हो गया, जिससे वह अभीतक नहीं लौट सकी है ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तस्याः प्रियाया मम कानने।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥ ४ ॥

'क्या इस वनमें मेरी प्रिया कुशलसे होगी ? उसके बिना आज मेरा यह घर—यह घोंसला सूना लग रहा है ॥ ४ ॥

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥ ५ ॥

'पुत्र, पौत्र, पतोहू तथा अन्य भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंसे भरा होनेपर भी गृहस्थका घर उसकी पत्नीके बिना सूना ही रहता है ॥ ५ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ ६ ॥

'वास्तवमें घरको घर नहीं कहते, घरवालीका ही नाम घर है। घरवालीके बिना जो घर होता है, उसे जंगलके समान ही माना गया है ॥ ६ ॥

यदि सा रक्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा।
अद्य नायाति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे ॥ ७ ॥

'जिसके नेत्रोंके प्रान्तभाग कुछ-कुछ लाल हैं, अङ्ग चितकबरे हैं और स्वरमें अद्भुत मिठास भरा है, वह मेरी प्राण-वल्लभा यदि आज नहीं आ रही है तो मुझे इस जीवनसे

क्या प्रयोजन है ? ॥ ७ ॥

न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि ॥ ८ ॥

'वह उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिव्रता थी, इसलिये मुझे भोजन कराये बिना भोजन नहीं करती, नहलाये बिना स्नान नहीं करती, मुझे बैठाये बिना बैठती नहीं तथा मेरे सो जानेपर ही शयन करती थी ॥ ८ ॥

हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ॥ ९ ॥

'मेरे प्रसन्न रहनेपर वह हर्षसे खिल उठती थी और मेरे दुखी होनेपर वह स्वयं भी दुखमें डूब जाती थी। जब मैं बाहर जाने लगता तो उसके मुखपर दीनता छा जाती थी और जब कभी मुझे क्रोध आता, तब मीठी-मीठी बातें करके शान्त कर देती थी ॥ ९ ॥

पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता।
यस्य स्यात् तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १० ॥

'वह बड़ी पतिव्रता थी। पतिके सिवा दूसरी कोई उसकी गति नहीं थी। वह सदा ही पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहती थी। जिसको ऐसी पत्नी प्राप्त हुई हो, वह पुरुष इस पृथ्वीपर धन्य है ॥ १० ॥

सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी।
अनुरक्ता स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी ॥ ११ ॥

'वह तपस्विनी यह जानती है कि मैं थका, माँदा और भूखसे पीड़ित हूँ, सो भी न जाने क्यों नहीं आ रही है ? मेरे प्रति उसका अत्यन्त अनुराग है, उसकी बुद्धि स्थिर है, वह यशस्विनी भार्या मेरे प्रति स्नेह रखनेवाली तथा मेरी परम भक्त है ॥

वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥ १२ ॥

'वृक्षके नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिये वही घर है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि स्त्रीसे रहित है तो वह निश्चय ही दुर्गम गहन वनके समान है ॥ १२ ॥

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥ १३ ॥

'पुरुषके धर्म, अर्थ और कामके अवसरोंपर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है। परदेश जानेपर भी वही उसके लिये विश्वसनीय मित्रका काम करती है ॥ १३ ॥

भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते।
असहायस्य लोकेऽस्मिँल्लोकयात्रासहायिनी ॥ १४ ॥

'पुरुषकी प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही कही जाती है। इस लोकमें जो असहाय है, उसे भी लोक-यात्रामें सहायता देनेवाली उसकी पत्नी ही है ॥ १४ ॥

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ १५ ॥

'जो पुरुष रोगसे पीड़ित हो और बहुत दिनोंसे विपत्तिमें फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्यके लिये भी स्त्रीके समान दूसरी कोई ओषधि नहीं है ॥ १५ ॥

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥ १६ ॥

'संसारमें स्त्रीके समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्रीके समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्रीके समान धर्मसंग्रहमें सहायक भी दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥ १७ ॥

'जिसके घरमें साध्वी और प्रिय वचन बोलनेवाली भार्या नहीं है, उसे तो वनमें चला जाना चाहिये; क्योंकि उसके लिये जैसा घर है, वैसा ही वन' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि भार्याप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पत्नीकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका कबूतरसे शरणागत व्याधकी सेवाके लिये प्रार्थना

भीष्म उवाच

एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस तरह विलाप करते हुए कबूतरका वह करुणायुक्त वचन सुनकर बहेलियेके कैदमें पड़ी हुई कबूतरीने कहा ॥ १ ॥

कपोत्युवाच

अहोऽतीव सुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः।
असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ॥ २ ॥

कबूतरी बोली—अहो ! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरे प्रियतम पतिदेव इस प्रकार मेरे गुणोंका, वे मुझमें हों या न हों, गान कर रहे हैं ॥ २ ॥

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३ ॥

उस स्त्रीको स्त्री ही नहीं समझना चाहिये, जिसका पति उससे संतुष्ट नहीं रहता है। पतिके संतुष्ट रहनेसे स्त्रियोंपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट रहते हैं ॥ ३ ॥

अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम्।
दावाग्निनेव निर्दग्धा सपुष्पस्तबका लता ॥ ४ ॥
भस्मीभवति सा नारी यस्या भर्ता न तुष्यति।

अग्निको साक्षी बनाकर स्त्रीका जिसके साथ विवाह हो गया, वही उसका पति है और वही उसके लिये परम देवता है। जिसका पति संतुष्ट नहीं रहता, वह नारी दावानलसे दग्ध हुई पुष्पगुच्छोंसहित लताके समान भस्म हो जाती है ॥ ४½ ॥

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ॥ ५ ॥
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत् ।

ऐसा सोचकर दुःखसे पीड़ित हो व्याधके कैदमें पड़ी हुई कबूतरीने अपने दुःखित पतिसे उस समय इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत् तथा ॥ ६ ॥
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः ।

'प्राणनाथ ! मैं आपके कल्याणकी बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिये । इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणीकी रक्षा कीजिये ॥ ६½ ॥

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ॥ ७ ॥
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ।

'यह व्याध आपके निवास-स्थानपर आकर सर्दी और भूखसे पीड़ित होकर सो रहा है । आप इसकी यथोचित सेवा कीजिये ॥ ७½ ॥

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद् गां च लोकस्य मातरम् ॥ ८ ॥
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम् ।

'जो कोई पुरुष ब्राह्मणकी, लोकमाता गायकी तथा शरणागतकी हत्या करता है, उन तीनोंको समानरूपसे पातक लगता है ॥ ८½ ॥

अस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती जातिधर्मतः ॥ ९ ॥
सा न्याय्याऽऽत्मवता नित्यं त्वद्विधेनानुवर्तितुम् ।

'भगवान्ने जातिधर्मके अनुसार हमारी कापोतीवृत्ति बना दी है । आप-जैसे मनस्वी पुरुषको सदा ही उस वृत्तिका पालन करना उचित है ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ॥ १० ॥
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ।

'जो गृहस्थ यथाशक्ति अपने धर्मका पालन करता है, वह मरनेके पश्चात् अक्षय लोकोंमें जाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ १०½ ॥

स त्वं संतानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज ॥ ११ ॥
तत् स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ।
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १२ ॥

'पक्षिप्रवर ! आप अब संतानवान् और पुत्रवान् हो चुके हैं । अतः आप अपनी देहपर दया न करके धर्म और अर्थपर ही दृष्टि रखते हुए इस बहेलियेका ऐसा सत्कार करें, जिससे इसका मन प्रसन्न हो जाय ॥ ११-१२ ॥

मत्कृते मा च संतापं कुर्वीथास्त्वं विहङ्गम ।
शरीरयात्राकृत्यर्थमन्यान् दारानुपैष्यसि ॥ १३ ॥

'विहंगम ! आप मेरे लिये संताप न करें । आपको अपनी शरीरयात्राका निर्वाह करनेके लिये दूसरी स्त्री मिल जायगी ॥

इति सा शकुनी वाक्यं पञ्जरस्था तपस्विनी ।
अतिदुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ॥ १४ ॥

इस प्रकार पिंजड़ेमें पड़ी हुई वह तपस्विनी कबूतरी पतिसे यह बात कहकर अत्यन्त दुखी हो पतिके मुँहकी ओर देखने लगी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतं प्रति कपोतीवाक्ये पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरके प्रति कबूतरीका वाक्यविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरके द्वारा अतिथि-सत्कार और अपने शरीरका बहेलियेके लिये परित्याग

भीष्म उवाच

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पत्नीकी वह धर्मके अनुकूल और युक्तियुक्त बात सुनकर कबूतरको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये ॥ १ ॥

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात् तं पक्षिजीविनम् ॥ २ ॥

उस पक्षीने पक्षियोंकी हिंसासे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले उस बहेलियेकी ओर देखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार यत्नपूर्वक उसका पूजन किया ॥ २ ॥

उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
संतापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ ३ ॥

और बोला—'आज आपका स्वागत है । बोलिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको संताप नहीं करना चाहिये, आप इस समय अपने ही घरमें हैं ॥ ३ ॥

तद् ब्रवीतु भवान् क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि ।
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ॥ ४ ॥

'अतः शीघ्र बताइये, आप क्या चाहते हैं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़े प्रेमसे पूछ रहा हूँ; क्योंकि आप हमारे घर पधारे हैं ॥ ४ ॥

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५ ॥

'यदि शत्रु भी घरपर आ जाय तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिये । जो काटनेके लिये आया हो, उसके ऊपरसे भी वृक्ष अपनी छाया नहीं हटाता ॥ ५ ॥

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥ ६ ॥

'यों तो घरपर आये हुए अतिथिका सभीको यत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिये; परंतु पञ्चयज्ञके अधिकारी गृहस्थका यह प्रधान धर्म है ॥ ६ ॥

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।

तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥ ७ ॥

'जो मोहवश गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करता, उसके लिये धर्मके अनुसार न तो यह लोक प्राप्त होता है और न परलोक ही ॥ ७ ॥

तद् ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत् त्वं वाचा वदिष्यसि।
तत् करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः॥ ८ ॥

'अतः तुम पूर्ण विश्वास रखकर मुझसे अपनी बात बताओ, तुम अपने मुँहसे जो कुछ कहोगे, वह सब मैं करूँगा; अतः तुम मनमें शोक न करो' ॥ ८ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत्।
बाधते खलु मे शीतं संत्राणं हि विधीयताम् ॥ ९ ॥

कबूतरकी यह बात सुनकर व्याधने कहा—'इस समय मुझे सर्दीका कष्ट है; अतः इससे बचानेका कोई उपाय करो' ॥९॥

एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले।
यथाशक्त्या हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥ १० ॥

उसके ऐसा कहनेपर पक्षीने पृथ्वीपर बहुत-से पत्ते लाकर रख दिये और आग लानेके लिये अपने पंखोंद्वारा यथाशक्ति बड़ी तेजीसे उड़ान लगायी ॥ १० ॥

स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत्।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ॥ ११ ॥

वह लुहारके घर जाकर आग ले आया और सूखे पत्तोंपर रखकर उसने वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर दी ॥ ११ ॥

स संदीप्तं महत् कृत्वा तमाह शरणागतम्।
प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोभयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार आगको बहुत प्रज्वलित करके कबूतरने शरणागत अतिथिसे कहा—'भाई ! अब तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम निश्चिन्त होकर अपने सारे अङ्गोंको आगसे तपाओ' ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत्।
अग्नि प्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहङ्गमम् ॥ १३ ॥

तब उस व्याधने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने सारे अङ्गोंको तपाया। अग्निका सेवन करके उसकी जानमें जान आयी। तब वह कबूतरसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥१३॥

हर्षेण महताऽऽविष्टो वाक्यं व्याकुललोचनः।
तथेमं शकुनिं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥

शास्त्रीय विधिसे सत्कार पा उसने बड़े हर्षमें भरकर डबडबायी हुई आँखोंसे कबूतरकी ओर देखकर कहा—॥ १४ ॥

दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद् बाधते हि माम्।
स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः ॥ १५ ॥
न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधां तव।
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ॥ १६ ॥
संचयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने।

'भाई ! अब मुझे भूख सता रही है; इसलिये तुम्हारा दिया हुआ कुछ भोजन करना चाहता हूँ।' उसकी बात सुनकर कबूतर बोला—'भैया ! मेरे पास सम्पत्ति तो नहीं है, जिससे मैं तुम्हारी भूख मिटा सकूँ। हमलोग वनवासी पक्षी हैं। प्रतिदिन चुगे हुए चारेसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। मुनियोंके समान हमारे पास कोई भोजनका संग्रह नहीं रहता है' ॥

इत्युक्त्वा तं तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत् ॥ १७ ॥
कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरस्तदा।
बभूव भरतश्रेष्ठ गर्हयन् वृत्तिमात्मनः ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर कबूतरका मुख कुछ उदास हो गया। वह इस चिन्तामें पड़ गया कि अब मुझे क्या करना चाहिये? भरतश्रेष्ठ ! वह अपनी कापोती वृत्तिकी निन्दा करने लगा ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातिनम्।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १९ ॥

थोड़ी देरमें उसे कुछ याद आया और उस पक्षीने बहेलियेसे कहा—'अच्छा, थोड़ी देरतक ठहरिये। मैं आपकी तृप्ति करूँगा' ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु समुज्ज्वाल्य हुताशनम्।
हर्षेण महताऽऽविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर उसने सूखे पत्तोंसे पुनः आग प्रज्वलित की और बड़े हर्षमें भरकर व्याधसे कहा—॥ २० ॥

ऋषीणां देवतानां च पितॄणां च महात्मनाम्।
श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥ २१ ॥

'मैंने ऋषियों, देवताओं, पितरों तथा महात्माओंके मुखसे पहले सुना है कि अतिथिकी पूजा करनेमें महान् धर्म है॥

कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥ २२ ॥

'सौम्य ! अतः मैंने भी आज अतिथिकी उत्तम पूजा करनेका निश्चय कर लिया है। आप मुझे ही ग्रहण करके मुझपर कृपा कीजिये। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥

ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव।
तमग्निं त्रिःपरिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर अतिथि-पूजनकी प्रतिज्ञा करके उस परम बुद्धिमान् पक्षीने तीन बार अग्निदेवकी परिक्रमा की और हँसते हुए-से आगमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

अग्निमध्ये प्रविष्टं तु लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम्।
चिन्तयामास मनसा किमिदं वै मया कृतम् ॥ २४ ॥

पक्षीको आगके भीतर घुसा हुआ देख व्याध मन-ही-मन चिन्ता करने लगा कि मैंने यह क्या कर डाला ? ॥ २४ ॥

अहो मम नृशंसस्य गर्हितस्य स्वकर्मणा।
अधर्मः सुमहान् घोरो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥

अहो ! अपने कर्मसे निन्दित हुए मुझ क्रूरकर्मा व्याधके जीवनमें यह सबसे भयंकर और महान् पाप होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

एवं बहुविधं भूरि विललाप स लुब्धकः।
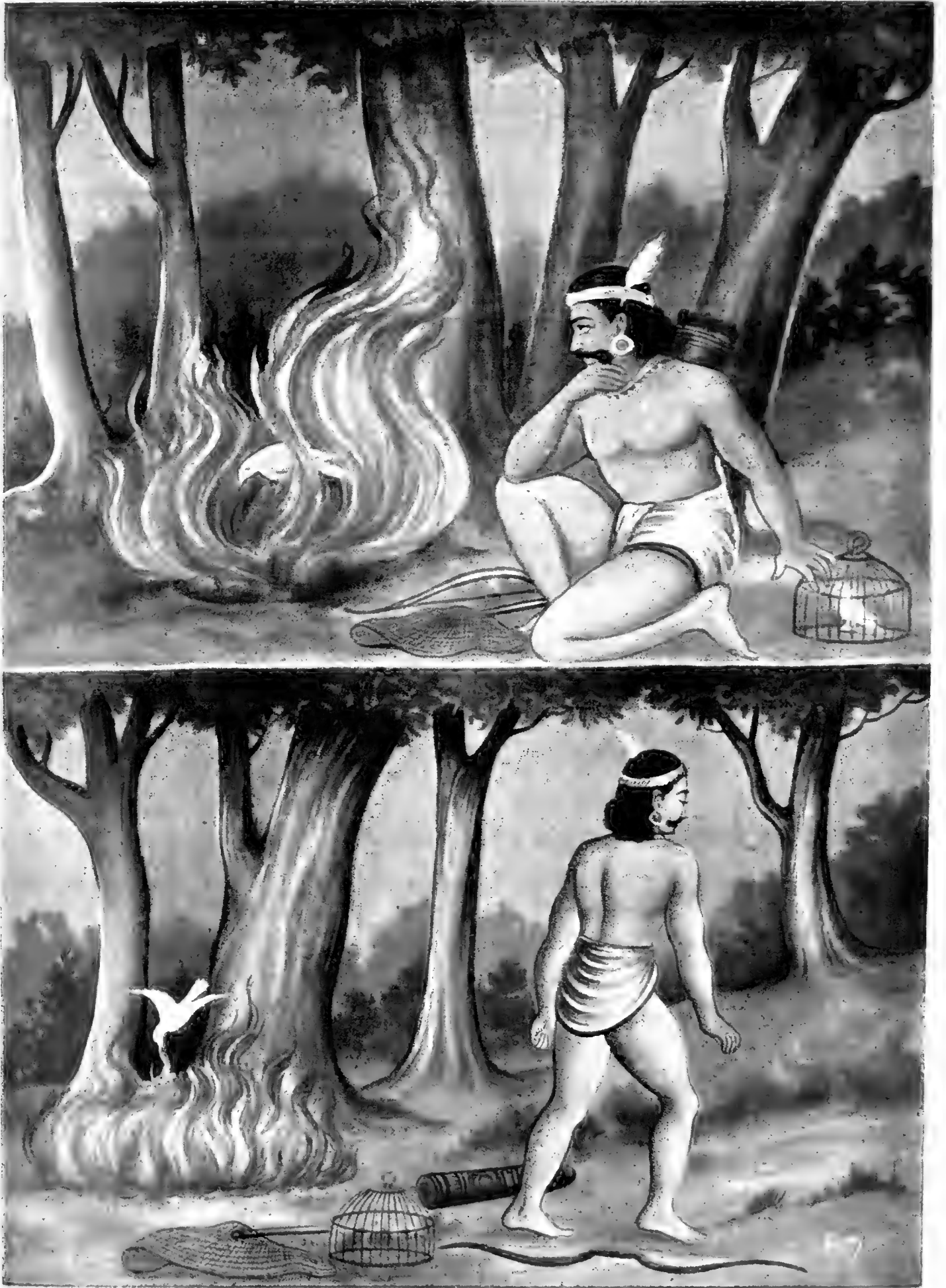
कपोतके द्वारा व्याधका आतिथ्य-सत्कार

गर्हयन् स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार कबूतरकी वैसी अवस्था देखकर अपने कर्मोंकी निन्दा करते हुए उस व्याधने अनेक प्रकारकी बातें कहकर बहुत विलाप किया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतर और व्याधका संवादविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेका वैराग्य

भीष्म उवाच

ततः स लुब्धकः पश्यन् क्षुधयापि परिप्लुतः ।
कपोतमग्निपतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूखसे व्याकुल होनेपर भी बहेलियेने जब देखा कि कबूतर आगमें कूद पड़ा, तब वह दुखी होकर इस प्रकार कहने लगा—॥ १ ॥

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं कृतजीविनः ॥ २ ॥

'हाय ! मुझ क्रूर और बुद्धिहीनने कैसा पाप कर डाला ? मैंने अपना जीवन ही ऐसा बना रक्खा है कि मुझसे नित्य पाप बनता ही रहेगा' ॥ २ ॥

स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह ।
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बारंबार अपनी निन्दा करता हुआ वह फिर बोला—'मैं बड़ा दुष्ट बुद्धिका मनुष्य हूँ, मुझपर किसीको विश्वास नहीं करना चाहिये। शठता और क्रूरता ही मेरे जीवनका सिद्धान्त बन गया है ॥ ३ ॥

शुभं कर्म परित्यज्य सोऽहं शकुनिलुब्धकः ।
नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः ॥ ४ ॥
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ।

'अच्छे-अच्छे कर्मोंको छोड़कर मैंने पक्षियोंको मारने और फँसानेका धंधा अपना लिया है। मुझ क्रूर और कुकर्मीको महात्मा कबूतरने अपने शरीरकी आहुति दे अपना मांस अर्पित किया है। इसमें संदेह नहीं कि इस अपूर्व त्यागके द्वारा उसने मुझे धिक्कारते हुए धर्माचरण करनेका आदेश दिया ॥ ४½ ॥

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान् प्राणान् पुत्रान् दारांस्तथैव च ५
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ।

'अब मैं पापसे मुँह मोड़कर स्त्री, पुत्र तथा अपने प्यारे प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा। महात्मा कबूतरने मुझे विशुद्ध धर्मका उपदेश दिया है ॥ ५½ ॥

अद्यप्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम् ॥ ६ ॥
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ।

'आजसे मैं अपने शरीरको सम्पूर्ण भोगोंसे वञ्चित करके उसी प्रकार सुखा डालूँगा, जैसे गर्मीमें छोटा-सा तालाब सूख जाता है ॥ ६½ ॥

क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः ॥ ७ ॥
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये पारलौकिकम् ।

'भूख, प्यास और धूपका कष्ट सहन करते हुए शरीरको इतना दुर्बल बना दूँगा कि सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देंगी। मैं बारंबार अनेक प्रकारसे उपवास-व्रत करके परलोक सुधारनेवाला पुण्य कर्म करूँगा ॥ ७½ ॥

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजना ॥ ८ ॥
तस्माद् धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ।
दृष्टो धर्मो हि धर्मिष्ठे यादृशो विहगोत्तमे ॥ ९ ॥

'अहो ! महात्मा कबूतरने अपने शरीरका दान करके मेरे सामने अतिथि-सत्कारका उज्ज्वल आदर्श रक्खा है, अतः मैं भी अब धर्मका ही आचरण करूँगा; क्योंकि धर्म ही परम गति है। उस धर्मात्मा श्रेष्ठ पक्षीमें जैसा धर्म देखा गया है, वैसा ही मुझे भी अभीष्ट है' ॥ ८-९ ॥

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ॥ १० ॥

ऐसा कहकर धर्माचरणका ही निश्चय करके वह भयानक कर्म करनेवाला व्याध कठोर व्रतका आश्रय ले महाप्रस्थानके पथपर चल दिया ॥ १० ॥

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथा ।
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह ॥ ११ ॥

उस समय उसने उस बन्दी की हुई कबूतरीको पींजरेसे मुक्त करके अपनी लाठी, शलाका, जाल, पिंजड़ा सब कुछ छोड़ दिया ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकोपरतौ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें बहेलियेकी उपरतिविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका विलाप और अग्निमें प्रवेश तथा उन दोनोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता ।
संस्मृत्य सा च भर्तारं रुदती शोककर्शिता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस बहेलियेके चले

जानेपर कबूतरी अपने पतिका स्मरण करके शोकसे कातर हो उठी और दुःख-मग्न हो रोती हुई विलाप करने लगी—॥

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे ।
सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते ॥ २ ॥

'प्रियतम ! आपने कभी मेरा अप्रिय किया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। सारी स्त्रियाँ अनेक पुत्रोंसे युक्त होनेपर भी पतिहीन होनेपर शोकमें डूब जाती हैं ॥ २ ॥

शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना तपस्विनी ।
लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ॥ ३ ॥

'पतिहीन तपस्विनी नारी अपने भाई-बन्धुओंके लिये भी शोचनीय बन जाती है। आपने सदा ही मेरा लाड-प्यार किया और बड़े सम्मानके साथ मुझे आदरपूर्वक रक्खा ॥३॥

वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसंक्लिष्टमनोहरैः ।
कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ॥ ४ ॥
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह ।
आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ॥ ५ ॥

'आपने स्नेहसिक्त, सुखद, मनोहर तथा मधुर वचनोंद्वारा मुझे आनन्दित किया। मैंने आपके साथ पर्वतोंकी गुफाओंमें, नदियोंके तटोंपर, झरनोंके आस-पास तथा वृक्षोंकी सुरम्य शिखाओंपर रमण किया है। आकाशयात्रामें भी मैं सदा आपके साथ सुखपूर्वक विचरण करती रही हूँ ॥ ४-५ ॥

रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किञ्चन ।
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ॥ ६ ॥
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।

'प्राणनाथ ! पहले मैं जिस प्रकार आपके साथ आनन्दपूर्वक रमण करती थी, अब उन सब सुखोंमेंसे कुछ भी मेरे लिये शेष नहीं रह गया है। पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब लोग नारीको परिमित सुख देते हैं, केवल पति ही उसे अपरिमित या असीम सुख प्रदान करता है। ऐसे पतिकी कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी ? ॥ ६½ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥ ७ ॥
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।

'स्त्रीके लिये पतिके समान कोई रक्षक नहीं है और पतिके तुल्य कोई सुख नहीं है। उसके लिये तो धन और सर्वस्वको त्यागकर पति ही एकमात्र गति है ॥ ७½ ॥

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ ८ ॥
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।

'नाथ ! अब तुम्हारे बिना यहाँ इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ऐसी कौन-सी पतिव्रता स्त्री होगी, जो पतिके बिना जीवित रह सकेगी ?' ॥८½ ॥

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ॥ ९ ॥
पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।

इस तरह अनेक प्रकारसे करुणाजनक विलाप करके अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई वह पतिव्रता कबूतरी उसी प्रज्वलित अग्निमें समा गयी ॥ ९½ ॥

ततश्चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपश्यत ॥ १० ॥
विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।

तदनन्तर उसने अपने पतिको देखा। वह विचित्र अङ्गद धारण किये विमानपर बैठा था और बहुत-से पुण्यात्मा महात्मा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे ॥ १०½ ॥

चित्रमाल्याम्बरधरं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११ ॥
विमानशतकोटीभिरावृतं पुण्यकर्मभिः ।

उसने विचित्र हार और वस्त्र धारण कर रक्खे थे और वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित था। अरबों पुण्यकर्मी पुरुषोंसे युक्त विमानोंने उसे घेर रक्खा था ॥ ११½ ॥

ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमानवरमास्थितः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्यया ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विमानपर बैठा हुआ वह पक्षी अपने स्त्रीके सहित स्वर्गलोकको चला गया और अपने सत्कर्मसे पूजित हो वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतस्वर्गगमने अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरका स्वर्गगमनविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४८॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

विमानस्थौ तु तौ राजँल्लुब्धकः खे ददर्श ह ।
दृष्ट्वा तौ दम्पती राजन् व्यचिन्तयत तां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्याधने उन दोनों पक्षियोंको दिव्य रूप धारण करके विमानपर बैठे और आकाश-मार्गसे जाते देखा। उन दिव्य दम्पतिको देखकर व्याध उनकी उस सद्गतिके विषयमें विचार करने लगा ॥ १ ॥

ईदृशेनैव तपसा गच्छेयं परमां गतिम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे ॥ २ ॥
महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवकः ।
निश्चेष्टो मरुदाहारो निर्ममः स्वर्गकाङ्क्षया ॥ ३ ॥

मैं भी इसी प्रकार तपस्या करके परम गतिको प्राप्त होऊँगा, ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके पक्षियोंद्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाला वह बहेलिया वहाँसे महाप्रस्थानके पथका आश्रय लेकर चल दिया। उसने सब प्रकारकी चेष्टा त्याग दी। वायु पीकर रहने लगा। स्वर्गकी अभिलाषासे अन्य सब वस्तुओंकी ओरसे उसने ममता हटा ली ॥ २-३ ॥

ततोऽपश्यत् सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्माभिभूषितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं सरः शीतजलं शिवम् ॥ ४ ॥

आगे जाकर उसने एक विस्तृत एवं मनोरम सरोवर

देखा, जो कमल-समूहोंसे सुशोभित हो रहा था। नाना प्रकारके जलपक्षी उसमें कलरव कर रहे थे। वह तालाब शीतल जलसे भरा था और अत्यन्त सुखद जान पड़ता था ॥ ४ ॥

पिपासार्तोऽपि तद् दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः ।
उपवासकृशोऽत्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः ॥ ५ ॥
अनवेक्ष्यैव संहृष्टः श्वापदाध्युषितं वनम् ।
महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः प्रविवेश ह ॥ ६ ॥
प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः सकण्टकैः ।
स कण्टकैर्विभिन्नाङ्गो लोहितार्द्रीकृतच्छविः ॥ ७ ॥

राजन्! कोई मनुष्य कितनी ही प्यासले पीड़ित क्यों न हो, निःसंदेह उस सरोवरके दर्शनमात्रसे वह तृप्त हो सकता था। इधर यह व्याध उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गया था, तो भी उधर दृष्टिपात किये बिना ही बड़े हर्षके साथ हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें प्रवेश कर गया। महान् लक्ष्यपर पहुँचनेका निश्चय करके बहेलिया उस वनमें घुसा। घुसते ही कटीली झाड़ियोंमें फँस गया। काँटोंसे उसका सारा शरीर छिदकर लहूलुहान हो गया ॥ ५—७ ॥

बभ्राम तस्मिन् विजने नानामृगसमाकुले ।
ततो द्रुमाणां महता पवनेन वने तदा ॥ ८ ॥
उदतिष्ठत संघर्षात् सुमहान् हव्यवाहनः ।
तद् वनं वृक्षसम्पूर्णं लताविटपसंकुलम् ॥ ९ ॥
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः ।

नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे भरे हुए उस निर्जन वनमें वह इधर-उधर भटकने लगा। इतनेहीमें प्रचण्ड पवनके वेगसे वृक्षोंमें परस्पर रगड़ होनेके कारण उस वनमें बड़ी भारी आग लग गयी। आगकी बड़ी-बड़ी लपटें ऊपरको उठने लगीं। प्रलयकालकी संवर्तक अग्निके समान प्रज्वलित एवं कुपित हुए अग्निदेव लता, डालियों और वृक्षोंसे व्याप्त हुए उस वनको दग्ध करने लगे ॥ ८-९½ ॥

स ज्वालैः पवनोद्धूतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः ॥ १० ॥
ददाह तद् वनं घोरं मृगपक्षिसमाकुलम् ।

हवासे उड़ी हुई चिनगारियों तथा ज्वालाओंद्वारा चारों ओर फैलकर उस दावानलने पशु-पक्षियोंसे भरे हुए भयंकर वनको जलाना आरम्भ किया ॥ १०½ ॥

ततः स देहमोक्षार्थं सम्प्रहृष्टेन चेतसा ॥ ११ ॥
अभ्यधावत वर्धन्तं पावकं लुब्धकस्तदा ।

बहेलिया अपने शरीरका परित्याग करनेके लिये मनमें हर्ष और उल्लास भरकर उस बढ़ती हुई आगकी ओर दौड़ पड़ा ॥

ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकल्मषः ।
जगाम परमां सिद्धिं ततो भरतसत्तम ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उस आगमें जल जानेसे बहेलियेके सारे पाप नष्ट हो गये और उसने परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥

ततः स्वर्गस्थमात्मानमपश्यद् विगतज्वरः ।
यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत् ॥ १३ ॥

थोड़ी ही देरमें अपने आपको उसने देखा कि वह बड़े आनन्दसे स्वर्गलोकमें विराजमान है तथा अनेक यक्ष, सिद्ध और गन्धर्वोंके बीचमें इन्द्रके समान शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता ।
लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा ॥ १४ ॥

इस प्रकार वह धर्मात्मा कबूतर, पतिव्रता कपोती और बहेलिया—तीनों साथ-साथ अपने पुण्यकर्मके बलसे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १४ ॥

यापि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते ।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिका अनुसरण करती है, वह कपोतीके समान शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थित हो अपने तेजसे प्रकाशित होती है ॥ १५ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः ।
कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा ॥ १६ ॥

यह प्राचीन वृत्तान्त (परशुरामजीने मुचुकुन्दको सुनाया था) यह ठीक ऐसा ही है। बहेलिये और महात्मा कबूतरको उनके पुण्य कर्मके प्रभावसे धर्मात्माओंकी गति प्राप्त हुई ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं विद्यते तस्य मनसापि प्रमादतः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य इस प्रसङ्गको प्रतिदिन सुनता और जो इसका वर्णन करता है, उन दोनोंको मनसे भी प्रमादजनित अशुभकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृतां वर ।
गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन्निष्कृतिः पापकर्मणः ॥ १८ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! यह शरणागतका पालन महान् धर्म है। ऐसा करनेमे गोवध करनेवाले पुरुषोंके पापका भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १८ ॥

न निष्कृतिर्भवेत् तस्य यो हन्याच्छरणागतम् ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुण्यं पापप्रणाशनम् ।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १९ ॥

जो शरणागतका वध करता है, उसको कभी इस पापसे छुटकारा नहीं मिलता। इस पापनाशक पुण्यमय इतिहासको सुन लेनेपर मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकस्वर्गगमने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें व्याधका स्वर्गलोकमें गमनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोत मुनिका राजा जनमेजयको फटकारना

युधिष्ठिर उवाच

अबुद्धिपूर्वं यत् पापं कुर्याद् भरतसत्तम ।
मुच्यते स कथं तस्मादेतत् सर्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यदि कोई पुरुष

अनजानमें किसी तरहका पापकर्म कर बैठे तो वह उससे किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम्।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें ऋषियोंद्वारा प्रशंसित एक प्राचीन प्रसङ्ग एवं उपदेश तुम्हें सुनाऊँगा, जिसे शुनकवंशी विप्रवर इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे कहा था॥

आसीद् राजा महावीर्यः परिक्षिज्जनमेजयः।
अबुद्धिपूर्वमागच्छद् ब्रह्महत्यां महीपतिः ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें परिक्षित्के पुत्र राजा जनमेजय बड़े पराक्रमी थे; परंतु उन्हें बिना जाने ही ब्रह्महत्याका पाप लग गया था ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्व एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः।
स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ४ ॥

इस बातको जानकर पुरोहितसहित सभी ब्राह्मणोंने जनमेजयको त्याग दिया। राजा चिन्तासे दिन-रात जलते हुए वनमें चले गये ॥ ४ ॥

प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत्।
अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥ ५ ॥

प्रजाने भी उन्हें गद्दीसे उतार दिया था; अतः वे वनमें रहकर महान् पुण्य कर्म करने लगे। दुःखसे दग्ध होते हुए वे दीर्घकालतक तपस्यामें लगे रहे ॥ ५ ॥

ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद् ब्राह्मणान् बहून्।
पर्यटन् पृथिवीं कृत्स्नां देशे देशे नराधिपः ॥ ६ ॥

राजाने सारी पृथ्वीके प्रत्येक देशमें घूम-घूमकर बहुतेरे ब्राह्मणोंसे ब्रह्महत्या-निवारणके लिये उपाय पूछा ॥ ६ ॥

तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम्।
दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ७ ॥
चरिष्यमाणं इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम्।

राजन्! यहाँ मैं जो इतिहास बता रहा हूँ, वह धर्मकी वृद्धि करनेवाला है। राजा जनमेजय अपने पाप-कर्मसे दग्ध होते और वनमें विचरते हुए कठोर व्रतका पालन करनेवाले शुनकवंशी इन्द्रोत मुनिके पास जा पहुँचे ॥ ७½ ॥

समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ८ ॥
ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा।
कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥ ९ ॥
किं त्वयास्मासु कर्तव्यं मा मां स्प्राक्षीः कथंचन।
गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मानिति ब्रुवन्॥१०॥

वहाँ जाकर उन्होंने मुनिके दोनों पैर पकड़ लिये और उन्हें धीरे-धीरे दबाने लगे। ऋषिने वहाँ राजाको देखकर उस समय उनकी बड़ी निन्दा की। वे कहने लगे—अरे! तू तो महान् पापाचारी और ब्रह्महत्यारा है। यहाँ कैसे आया? हमलोगोंसे तेरा क्या काम है? मुझे किसी तरह छूना मत। जा-जा, तेरा यहाँ ठहरना हमलोगोंको अच्छा नहीं लगता ॥ ८—१० ॥

रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम्।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥ ११ ॥

'तुमसे रुधिरकी-सी गन्ध निकलती है। तेरा दर्शन वैसा ही है, जैसा मुर्देका दीखना। तू देखनेमें मङ्गलमय है; परंतु है अमङ्गलरूप। वास्तवमें तू मर चुका; परंतु जीवितकी भाँति घूम रहा है ॥ ११ ॥

ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन्।
प्रबुद्ध्यसे प्रस्वपिषि वर्तसे परमे सुखे ॥ १२ ॥

'तू ब्राह्मणकी मृत्युका कारण है। तेरा अन्तःकरण नितान्त अशुद्ध है। तू पापकी ही बात सोचता हुआ जागता और सोता है और इसीसे अपनेको परम सुखी मानता है॥

मोघं ते जीवितं राजन् परिक्लिष्टं च जीवसि।
पापायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे हि यवीयसे ॥ १३ ॥

'राजन्! तेरा जीवन व्यर्थ और अत्यन्त क्लेशमय है। तू पापके लिये ही पैदा हुआ है। खोटे कर्मके ही लिये तेरा जन्म हुआ है ॥ १३ ॥

बहुकल्याणमिच्छन्ति ईहन्ते पितरः सुतान्।
तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥ १४ ॥

'माता-पिता तपस्या, देवपूजा, नमस्कार और सहनशीलता या क्षमा आदिके द्वारा पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त हुए पुत्रोंसे परम कल्याण पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ १४ ॥

पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम्।
निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥ १५ ॥

'परंतु तेरे कारण तेरे पितरोंका यह समुदाय नरकमें पड़ गया है। तू आँख उठाकर उनकी दशा देख ले। उन्होंने तुझसे जो-जो आशाएँ बाँध रक्खी थीं, उनकी वे सभी आशाएँ आज व्यर्थ हो गयीं ॥ १५ ॥

यान् पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः प्रजाः।
तेषु त्वं सततं द्वेष्टा ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १६ ॥

'जिनकी पूजा करनेवाले लोग स्वर्ग, आयु, यश और संतान प्राप्त करते हैं। उन्हीं ब्राह्मणोंसे तू सदा द्वेष रखता है। तेरा जीवन व्यर्थ है ॥ १६ ॥

इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्द्धा पतिष्यसि।
अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १७ ॥

'इस लोकको छोड़नेके बाद तू अपने पापकर्मके फल-स्वरूप अनन्त वर्षोंतक नीचा सिर किये नरकमें पड़ा रहेगा॥

अर्द्यमानो यत्र गृध्रैः शितिकण्ठैरयोमुखैः।
ततश्च पुनरावृत्तः पापयोनिं गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'वहाँ लोहेके समान चोंचवाले गीध और मोर तुझे नोच-नोचकर पीड़ा देंगे और उसके बाद भी नरकसे लौटनेपर तुझे किसी पापयोनिमें ही जन्म लेना पड़ेगा ॥ १८ ॥

यदिदं मन्यसे राजन् नायमस्ति कुतः परः।
प्रतिस्मारयितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १९ ॥

---

१. ये परिक्षित् और जनमेजय अर्जुनके पौत्र और प्रपौत्र नहीं हैं।

'राजन् ! तू जो यह समझता है कि जब इसी लोकमें पापका फल नहीं मिल रहा है, तब परलोकका तो अस्तित्व ही कहाँ है ? सो इस धारणाके विपरीत यमलोकमें जानेपर यमराजके दूत तुझे इन सारी बातोंकी याद दिला देंगे' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीयसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके अपराधी जनमेजयका इन्द्रोत मुनिकी शरणमें जाना और इन्द्रोत मुनिका उससे ब्राह्मणद्रोह न करनेकी प्रतिज्ञा कराकर उसे शरण देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमेजयः ।
गर्ह्यं भवान् गर्हयते निन्द्यं निन्दति मां पुनः ॥ १ ॥
धिक्कार्यं मां धिक्कुरुते तस्मात् त्वाहं प्रसादये ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मुनिवर इन्द्रोतके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'मुने ! मैं घृणा और तिरस्कारके योग्य हूँ, इसीलिये आप मेरा तिरस्कार करते हैं । मैं निन्दाका पात्र हूँ; इसीलिये बार-बार मेरी निन्दा करते हैं । मैं धिक्कारने और दुतकारनेके ही योग्य हूँ; इसीलिये आपकी ओरसे मुझे धिक्कार मिल रहा है और इसीलिये मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ १½ ॥

सर्वं हीदं दुष्कृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥
स्वकर्माण्यभिसंधाय नाभिनन्दति मे मनः ।

'यह सारा पाप मुझमें मौजूद है; अतः मैं चिन्तासे उसी प्रकार जल रहा हूँ, मानो किसीने मुझे आगके भीतर रख दिया हो । अपने कुकर्मोंको याद करके मेरा मन स्वतः प्रसन्न नहीं हो रहा है ॥ २½ ॥

प्राप्यं घोरं भयं नूनं मया वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥
तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् ।
सर्वं मन्युं विनीय त्वमभि मां वद शौनक ॥ ४ ॥

'निश्चय ही मुझे यमराजसे भी घोर भय प्राप्त होनेवाली है, यह बात मेरे हृदयमें काँटेकी भाँति चुभ रही है । अपने हृदयसे इसको निकाले बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगा ? अतः शौनकजी ! आप समस्त क्रोधका त्याग करके मुझे उद्धारका कोई उपाय बताइये ॥ ३–४ ॥

महानासं ब्राह्मणानां भूयो वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥

'मैं ब्राह्मणोंका महान् भक्त रहा हूँ; इसीलिये इस समय पुनः आपसे निवेदन करता हूँ कि मेरे इस कुलका कुछ भाग अवश्य शेष रहना चाहिये । समूचे कुलका पराभव या विनाश नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

न हि नो ब्रह्मशप्तानां शेषं भवितुमर्हति ।
स्तुतीरलभमानानां संविदं वेदनिश्चितान् ॥ ६ ॥
निर्विद्यमानः सुभृशं भूयो वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
भूयश्चैवाभिरक्षन्तु निर्धनान् निर्जना इव ॥ ७ ॥

'ब्राह्मणोंके शाप दे देनेपर हमारे कुलका कुछ भी शेष नहीं रह जायगा । हम अपने पापके कारण न तो समाजमें प्रशंसा पा रहे हैं न सजातीय बन्धुओंके साथ एकमत ही हो रहे हैं; अतः अत्यन्त खेद और विरक्तिको प्राप्त होकर हम पुनः वेदोंका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले आप-जैसे ब्राह्मणोंसे सदा यही कहेंगे कि जैसे निर्जन स्थानमें रहनेवाले योगीजन पापी पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपलोग अपनी दयासे ही हम-जैसे दुखी मनुष्योंकी रक्षा करें ॥ ६-७ ॥

न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथञ्चन ।
आपातान् प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशबरा इव ॥ ८ ॥

'जो क्षत्रिय अपने पापके कारण यज्ञके अधिकारसे वञ्चित हो जाते हैं, वे पुलिन्दों और शबरोंके समान नरकोंमें ही पड़े रहते हैं । किसी प्रकार परलोकमें उत्तम गतिको नहीं पाते ॥

अविज्ञायैव मे प्रज्ञां बालस्येव स पण्डितः ।
ब्रह्मन् पितेव पुत्रस्य प्रीतिमान् भव शौनक ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! शौनक ! आप विद्वान् हैं और मैं मूर्ख । आप मेरी बालबुद्धिपर ध्यान न देकर जैसे पिता पुत्रपर स्वभावतः संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मुझपर भी प्रसन्न होइये' ॥

शौनक उवाच

किमाश्चर्यं यदप्राज्ञो बहु कुर्यादसाम्प्रतम् ।
इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नानुकुप्यते ॥ १० ॥

शौनकने कहा—यदि अज्ञानी मनुष्य अयुक्त कार्य भी कर बैठे तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है; अतः इस रहस्यको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्राणियोंपर क्रोध न करे ॥ १० ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति ॥ ११ ॥

जो विशुद्ध बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़कर स्वयं शोकसे रहित हो दूसरे दुखी मनुष्योंके लिये शोक करता है, वह अपने ज्ञानबलसे सब कुछ उसी प्रकार जान लेता है, जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य उस पर्वतके आस-पासकी भूमिपर रहनेवाले सब लोगोंको देखता रहता है ॥ ११ ॥

न चोपलभ्यते तेन न चाश्चर्याणि कुर्वते ।
निर्विण्णात्मा परोक्षो वा धिक्कृतः पूर्वसाधुषु ॥ १२ ॥

जो प्राचीन श्रेष्ठ पुरुषोंसे विरक्त हो उनके दृष्टिपथसे दूर रहता है तथा उनके द्वारा धिक्कारको प्राप्त होता रहता है, उसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है और ऐसे पुरुषके लिये दूसरे लोग आश्चर्य भी नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

विदितं भवतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे ।

कुरुष्वेह यथाशान्ति ब्रह्म शरणमस्तु ते ॥ १३ ॥

तुम्हें ब्राह्मणोंकी शक्तिका ज्ञान है। वेदों और शास्त्रोंमें जो उनकी महिमा उपलब्ध होती है, उसका भी पता है; अतः तुम शान्तिपूर्वक ऐसा प्रयत्न करो, जिससे ब्राह्मण-जाति तुम्हें शरण दे सके ॥ १३ ॥

तद् वै पारत्रिकं तात ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।
अथवा तप्यसे पापे धर्ममेवानुपश्य वै ॥ १४ ॥

तात! क्रोधरहित ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये जो कुछ किया जाता है, वह पारलौकिक लाभका ही हेतु होता है अथवा यदि तुम्हें पापके लिये पश्चात्ताप होता है तो तुम निरन्तर धर्मपर ही दृष्टि रक्खो ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच

अनुतप्ये च पापेन न च धर्मं विलोपये ।
बुभूषुं भजमानं च प्रीतिमान् भव शौनक ॥ १५ ॥

जनमेजयने कहा—शौनक! मुझे अपने पापके कारण बड़ा पश्चात्ताप होता है, अब मैं धर्मका कभी लोप नहीं करूँगा। मुझे कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा है; अतः आप मुझ भक्तपर प्रसन्न होइये ॥ १५ ॥

शौनक उवाच

छित्त्वा दम्भं च मानं च प्रीतिमिच्छामि ते नृप ।
सर्वभूतहितं तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मरन् ॥ १६ ॥

शौनक बोले—नरेश्वर! मैं तुम्हें तुम्हारे दम्भ और अभिमानका नाश करके तुम्हारा प्रिय करना चाहता हूँ। तुम धर्मका निरन्तर स्मरण रखते हुए समस्त प्राणियोंके हितका साधन करो ॥ १६ ॥

न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभात् त्वामुपाह्वये ।
तां मे दैवीं गिरं सत्यां शृणु त्वं ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥

राजन्! मैं भयसे, दीनतासे और लोभसे भी तुम्हें अपने पास नहीं बुलाता हूँ। तुम इन ब्राह्मणोंके सहित दैवी वाणीके समान मेरी यह सच्ची बात कान खोलकर सुन लो ॥

सोऽहं न केनचिच्चार्थी त्वां च धर्मादुपाह्वये ।
क्रोशतां सर्वभूतानां हाहा धिगिति जल्पताम् ॥ १८ ॥

मैं तुमसे कोई वस्तु लेनेकी इच्छा नहीं रखता। यदि समस्त प्राणी मुझे खोटी-खरी सुनाते रहें, हाय-हाय मचाते रहें और धिक्कार देते रहें तो भी उनकी अवहेलना करके मैं तुम्हें केवल धर्मके कारण निकट आनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ॥

वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञं त्यक्ष्यन्ति सुहृदो जनाः ।
ता वाचः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९॥

मुझे लोग अधर्मज्ञ कहेंगे। मेरे हितैषी सुहृद् मुझे त्याग देंगे तथा तुम्हें धर्मोपदेश देनेकी बात सुनकर मेरे सुहृद् मुझपर अत्यन्त रोषसे जल उठेंगे ॥ १९ ॥

केचिदेव महाप्राज्ञाः प्रतिज्ञास्यन्ति तत्त्वतः ।
जानीहि मत्कृतं तात ब्राह्मणान् प्रति भारत ॥ २० ॥

तात! भारत! कोई-कोई महाज्ञानी पुरुष ही मेरे अभिप्रायको यथार्थरूपसे समझ सकेंगे। ब्राह्मणोंके प्रति भलाई करनेके लिये ही मेरी यह सारी चेष्टा है। यह तुम अच्छी तरह जान लो ॥ २० ॥

यथा ते मत्कृते क्षेमं लभन्ते ते तथा कुरु ।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २१ ॥

ब्राह्मणलोग मेरे कारण जैसे भी सकुशल रहें, वैसा ही प्रयत्न तुम करो। नरेश्वर! तुम मेरे सामने यह प्रतिज्ञा करो कि अब मैं ब्राह्मणोंसे कभी द्रोह नहीं करूँगा ॥ २१ ॥

जनमेजय उवाच

नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा ।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥ २२ ॥

जनमेजयने कहा—विप्रवर! मैं आपके दोनों चरण छूकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी ब्राह्मणोंसे द्रोह नहीं करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोतका जनमेजयको धर्मोपदेश करके उनसे अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराना तथा निष्पाप राजाका पुनः अपने राज्यमें प्रवेश

शौनक उवाच

तस्मात् तेऽहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृतचेतसे ।
श्रीमान् महाबलस्तुष्टः स्वयं धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥

शौनकने कहा—राजन्! तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की है, इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा मन पापकी ओरसे निवृत्त हो गया है; इसलिये मैं तुम्हें धर्मका उपदेश करूँगा; क्योंकि तुम श्रीसम्पन्न, महाबलवान् और संतुष्टचित्त हो। साथ ही स्वयं धर्मपर दृष्टि रखते हो ॥ १ ॥

पुरस्ताद् दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत् ।
अनुगृह्णाति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिवः ॥ २ ॥

राजा पहले कठोर स्वभावका होकर पीछे कोमल भावका अवलम्बन करके जो अपने सद्व्यवहारसे समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करता है, वह अत्यन्त आश्चर्यकी ही बात है ॥ २ ॥

कृत्स्नं नूनं स दहति इति लोको व्यवस्यति ।
यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्ममेवानुपश्यसि ॥ ३ ॥

चिरकालतक तीक्ष्ण स्वभावका आश्रय लेनेवाला राजा निश्चय ही अपना सब कुछ जलाकर भस्म कर डालता है, ऐसी लोगोंकी धारणा है; परंतु तुम वैसे होकर भी जो धर्मपर

ही दृष्टि रख रहे हो, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३ ॥

हित्वा तु सुचिरं भक्ष्यं भोज्यांश्च तप आस्थितः।
इत्येतदभिभूतानामद्भुतं जनमेजय ॥ ४ ॥

जनमेजय ! तुम जो दीर्घकालसे भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका परित्याग करके तपस्यामें लगे हुए हो, यह पापसे अभिभूत हुए मनुष्योंके लिये अद्भुत बात है ॥ ४ ॥

योऽदुर्लभो भवेद् दाता कृपणो वा तपोधनः।
अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नातिदूरेण वर्तते ॥ ५ ॥

यदि धन-सम्पन्न पुरुष दानी हो एवं कृपण या दरिद्र मनुष्य तपस्याका धनी हो जाय तो इसे आश्चर्यकी बात नहीं मानते हैं; क्योंकि ऐसे पुरुषोंका दान और तपसे सम्पन्न होना अधिक कठिन नहीं है ॥ ५ ॥

एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमीक्षितम्।
यच्चेत् समीक्ष्यैव स्याद् भवेत् तस्मिंस्ततो गुणः॥ ६ ॥

यदि सारी बातोंपर पूर्वापर विचार न करके कोई कार्य आरम्भ किया जाय तो यही कायरतापूर्ण दोष है और यदि भलीभाँति आलोचना करके कोई कार्य हो तो यही उसमें गुण माना जाता है ॥ ६ ॥

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! यज्ञ, दान, दया, वेद और सत्य—ये पाँचों पवित्र बताये गये हैं। इनके साथ अच्छी तरह आचरणमें लाया हुआ तप भी छठा पवित्र कर्म माना गया है॥

तदेव राज्ञां परमं पवित्रं जनमेजय।
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥ ८ ॥

जनमेजय ! राजाओंके लिये ये छहों वस्तुएँ परम पवित्र हैं। इन्हें भलीभाँति आचरणमें लानेपर तुम श्रेष्ठतम धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम्।
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ॥ ९ ॥

पुण्य तीर्थोंकी यात्रा करना भी परम पवित्र माना गया है। इस विषयमें विज्ञ पुरुष राजा ययातिकी गायी हुई इस गाथाका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ९ ॥

यो मर्त्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः।
यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत् संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ १० ॥

जो मनुष्य अपने लिये दीर्घ जीवनकी इच्छा रखता है, वह यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करके फिर उसे त्यागकर तपस्यामें लग जाय ॥ १० ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वतीम्।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ ११ ॥

कुरुक्षेत्रको पवित्र तीर्थ बताया गया। कुरुक्षेत्रसे अधिक पवित्र सरस्वती नदी है, उससे भी अधिक पवित्र उसके भिन्न-भिन्न तीर्थ हैं। उन तीर्थोंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा पृथूदक तीर्थको श्रेष्ठ कहा गया है॥ ११ ॥

यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वोमरणं तपेत्।
महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥
कालोदकं च गन्तासि लब्धायुर्जीविते पुनः।
सरस्वतीदृषद्वत्योः संगमो मानसः सरः ॥ १३ ॥

उसमें स्नान करने और उसका जल पीनेसे मनुष्यको कल ही होनेवाली मृत्युका भय नहीं सताता अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है। इस कारण मरनेसे नहीं डरता। यदि तुम महासरोवर पुष्कर, प्रभास, उत्तर मानस, कालोदक, दृषद्वती और सरस्वतीके सङ्गम तथा मानसरोवर आदि तीर्थोंमें जाकर स्नान करोगे तो तुम्हें पुनः अपने जीवनके लिये दीर्घायु प्राप्त होगी ॥ १२—१३ ॥

स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेषु समुपस्पृशेत्।
त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥

सभी तीर्थस्थानोंमें स्वाध्यायशील होकर स्नान करे। मनुने कहा है कि सर्वत्यागरूप संन्यास सम्पूर्ण पवित्र धर्मोंमें श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः।
यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् ॥ १५ ॥

इस विषयमें भी सत्यवान्‌द्वारा निर्मित हुई इन गाथाओंका उदाहरण दिया जाता है। जैसे बालक राग-द्वेषसे शून्य होनेके कारण सदा सत्यपरायण ही रहता है। न तो वह पुण्य करता है और न पाप ही। इसी प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुषको भी होना चाहिये ॥ १५ ॥

न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन् कुतः सुखम्।
एवं प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥ १६ ॥
त्यजतां जीवितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके।

इस संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंमें जब दुःख ही नहीं है, तब सुख कहाँसे हो सकता है ? यह सुख और दुःख दोनों ही प्रकृतिस्थ प्राणियोंके धर्म हैं, जो कि सब प्रकारके संसर्गदोषको स्वीकार करके उनके अनुसार चलते हैं। जिन्होंने ममता और अहङ्कार आदिके साथ सब कुछ त्याग दिया है, जिनके पुण्य और पाप सभी निवृत्त हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका जीवन ही कल्याणमय है ॥ १६½ ॥

यत्त्वेव राज्ञो ज्यायिष्ठं कार्याणां तद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
बलेन संविभागैश्च जय स्वर्गं जनेश्वर।
यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ॥ १८ ॥

अब मैं राजाके कार्योंमें जो सबसे श्रेष्ठ है, उसका वर्णन करता हूँ। जनेश्वर ! तुम धैर्ययुक्त बल और दानके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त करो। जिसके पास बल और ओज है, वही मनुष्य धर्माचरणमें समर्थ होता है ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां सुखार्थं हि त्वं पाहि वसुधां नृप।
यथैवैतान् पुराऽऽक्षैप्सीस्तथैवैतान् प्रसादय ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! तुम ब्राह्मणोंको सुख पहुँचानेके लिये ही सारी पृथ्वीका पालन करो। जैसे पहले इन ब्राह्मणोंपर आक्षेप किया था, वैसे इन सबको अपने सद्बर्तावसे प्रसन्न करो ॥

अपि धिक्क्रियमाणोऽपि त्यज्यमानोऽप्यनेकधा।

आत्मनो दर्शनाद् विप्रान्न हन्तास्मीति मार्गय।
घटमानः स्वकार्येषु कुरु निःश्रेयसं परम् ॥ २० ॥

वे बार-बार तुम्हें धिक्कारें और फटकारकर दूर हटा दें तो भी उनमें आत्मदृष्टि रखकर तुम यही निश्चय करो कि अब मैं ब्राह्मणोंको नहीं मारूँगा। अपने कर्तव्यपालनके लिये पूरी चेष्टा करते हुए परम कल्याणका साधन करो ॥ २० ॥

हिमाग्निघोरसदृशो राजा भवति कश्चन।
लांगलाशनिकल्पो वा भवेदन्यः परंतप ॥ २१ ॥

परंतप! कोई राजा बर्फके समान शीतल होता है, कोई अग्निके समान ताप देनेवाला होता है, कोई यमराजके समान भयानक जान पड़ता है, कोई घास-फूसका मूलोच्छेद करनेवाले हलके समान दुष्टोंका समूल उन्मूलन करनेवाला होता है तथा कोई पापाचारियोंपर अकस्मात् वज्रके समान टूट पड़ता है॥

न विशेषेण गन्तव्यमविच्छिन्नेन वा पुनः।
न जातु नाहमस्मीति सुप्रसक्तमसाधुषु ॥ २२ ॥

कभी मेरा अभाव नहीं हो जाय, ऐसा समझकर राजाको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग कभी न करे। न तो उनके किसी विशेष गुणपर आकृष्ट हो, न उनके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करे और न उनमें अत्यन्त आसक्त ही हो॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
नैतत् कार्यं पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥

यदि कोई शास्त्रविरुद्ध कर्म बन जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करनेवाला पुरुष पापसे मुक्त हो जाता है। यदि दूसरी बार पाप बन जाय तो 'अब फिर ऐसा काम नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे वह पापमुक्त हो सकता है॥

करिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात् परिमुच्यते।
शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात्परिमुच्यते ॥ २४ ॥

'आजसे केवल धर्मका ही आचरण करूँगा' ऐसा नियम लेनेसे वह तीसरी बारके पापसे छुटकारा पा जाता है और पवित्र तीर्थोंमें विचरण करनेवाला पुरुष अनेक बारके किये हुए बहुसंख्यक पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता।
ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ॥ २५ ॥
ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते।
तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद् विपरिमुच्यते ॥ २६ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको कल्याणकारी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो सुगन्धित पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनके शरीरसे सुगन्ध निकलती है और जो सदा दुर्गन्धका सेवन करते हैं, वे अपने शरीरसे दुर्गन्ध ही फैलाते हैं। जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर होता है, वह तत्काल सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

संवत्सरमुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते।
त्रीणि वर्षाण्युपास्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥

लगातार एक वर्षतक अग्निहोत्र करनेसे कलङ्कित पुरुष अपने ऊपर लगे हुए कलङ्कसे छूट जाता है। तीन वर्षोंतक अग्निकी उपासना करनेसे भ्रूणहत्यारा भी पापमुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे।
अभ्येत्य योजनशतं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २८ ॥

महासरोवर पुष्कर, प्रभास तीर्थ तथा उत्तर मानसरोवर आदि तीर्थोंमें सौ योजनतककी पैदल यात्रा करनेसे भी भ्रूणहत्याके पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ २८ ॥

यावतः प्राणिनो हन्यात् तज्जातीयांस्तु तावतः।
प्रमीयमानानुन्मोच्य प्राणिहा विप्रमुच्यते ॥ २९ ॥

प्राणियोंकी हत्या करनेवाला मनुष्य जितने प्राणियोंका वध करता है, उसी जातिके उतने ही प्राणियोंको मृत्युसे छुटकारा दिला दे अर्थात् उनको मरनेके संकटसे छुड़ा दे तो वह उनकी हत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम्।
यथाश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥

यदि मनुष्य तीन बार अघमर्षणका जप करते हुए जलमें गोता लगावे तो उसे अश्वमेध यज्ञमें अवभृथस्नान करनेका फल मिलता है, ऐसा मनुजीने कहा है ॥ ३० ॥

तत् क्षिप्रं नुदते पापं सत्कारं लभते तथा।
अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जडमूकवत् ॥ ३१ ॥

वह अघमर्षण मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही अपने सारे पापोंको दूर कर देता है और उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है। सब प्राणी जड एवं मूकके समान उसपर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः
सर्वे समेत्याभ्यनुयुज्य राजन्।
धर्म्यं फलं वेत्थ फलं महर्षे
तथैव तस्मिन्नरके पारलोक्ये ॥ ३२ ॥
उभे तु यस्य सदृशे भवेतां
किंस्वित् तयोस्तत्र जयोऽथ न स्यात्।
आचक्ष्व नः पुण्यफलं महर्षे
कथं पापं नुदते धर्मशीलः ॥ ३३ ॥

राजन्! एक समय सब देवताओं और असुरोंने बड़े आदरके साथ देवगुरु बृहस्पतिके निकट जाकर पूछा— 'महर्षे! आप धर्मका फल जानते हैं। इसी प्रकार परलोकमें जो पापोंके फलस्वरूप नरकका कष्ट भोगना पड़ता है, वह भी आपसे अज्ञात नहीं है, परंतु जिस योगीके लिये सुख और दुःख दोनों समान हैं, वह उन दोनोंके कारणरूप पुण्य और पापको जीत लेता है या नहीं। महर्षे! आप हमारे समक्ष पुण्यके फलका वर्णन करें और यह भी बतावें कि धर्मात्मा पुरुष अपने पापोंका नाश कैसे करता है?' ॥ ३२-३३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं
पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम्।
स तत् पापं नुदते कर्मशीलो
वासो यथा मलिनं क्षारयुक्तम् ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—यदि मनुष्य पहले बिना जाने पाप करके फिर जान-बूझकर पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सत्कर्मपरायण पुरुष अपने पापको उसी प्रकार दूर कर देता है, जैसे क्षार (सोडा, साबुन आदि) लगानेसे कपड़ेका मैल छूट जाता है ॥ ३४ ॥

पापं कृत्वाभिमन्येत नाहमस्मीति पूरुषः।
तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ३५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पाप करके अहङ्कार न प्रकट करे—हेकड़ी न दिखावे, अपितु श्रद्धापूर्वक दोषदृष्टिका परित्याग करके कल्याणमय धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे ॥

छिद्राणि विवृतान्येव साधूनां चावृणोति यः।
यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके खुले हुए छिद्रोंको ढकता है अर्थात् उनके प्रकट हुए दोषोंको भी छिपानेकी चेष्टा करता है तथा जो पाप करके उससे विरत हो कल्याणमय कर्ममें लग जाता है, वे दोनों ही पापरहित हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

यथाऽऽदित्यः प्रातरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति।
कल्याणमाचरन्नेवं सर्वपापं व्यपोहति ॥ ३७ ॥

जैसे सूर्य प्रातःकाल उदित होकर सारे अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शुभकर्मका आचरण करनेवाला पुरुष अपने सभी पापोंका अन्त कर देता है ॥ ३७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम्।
याजयामास विधिवद् वाजिमेधेन शौनकः ॥ ३८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर शौनक इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ ३८ ॥

ततः स राजा व्यपनीतकल्मषः
श्रेयोवृतः प्रज्वलिताग्निरूपवान्।
विवेश राज्यं स्वममित्रकर्षणो
यथा दिवं पूर्णवपुर्निशाकरः ॥ ३९ ॥

इससे राजा जनमेजयका सारा पाप नष्ट हो गया और वे प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान होने लगे। उन्हें सब प्रकारके श्रेय प्राप्त हो गये। जैसे पूर्ण चन्द्रमा आकाशमण्डलमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन जनमेजयने पुनः अपने राज्यमें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

मृतककी पुनर्जीवन-प्राप्तिके विषयमें एक ब्राह्मण बालकके जीवित होनेकी कथा; उसमें गीध और सियारकी बुद्धिमत्ता

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित् पितामहेनासीच्छ्रुतं वा दृष्टमेव च।
कच्चिन्मर्त्यो मृतो राजन् पुनरुज्जीवितोऽभवत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! क्या आपने कभी यह भी देखा या सुना है कि कोई मनुष्य मरकर फिर जी उठा हो! ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु पार्थ यथावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
गृध्रजम्बुकसंवादं यो वृत्तो नैमिषे पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन! प्राचीनकालमें नैमिषारण्यक्षेत्रमें गीध और गीदड़का जो संवाद हुआ था, उसे सुनो, वह पूर्वघटित यथार्थ इतिहास है ॥ २ ॥

कस्यचिद् ब्राह्मणस्यासीद् दुःखलब्धः सुतो मृतः।
बाल एव विशालाक्षो बालग्रहनिपीडितः ॥ ३ ॥

किसी ब्राह्मणको बड़े कष्टसे एक पुत्र प्राप्त हुआ था। वह बड़े-बड़े नेत्रोंवाला सुन्दर बालक बाल ग्रहसे पीड़ित हो बाल्यावस्थामें ही चल बसा ॥ ३ ॥

दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम्।
कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ ४ ॥

जिसने युवावस्थामें अभी प्रवेश ही नहीं किया था तथा जो अपने कुलका सर्वस्व था, उस मरे हुए बालकको लेकर उसके कुछ दुखी बान्धव शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४ ॥

बालं मृतं गृहीत्वाथ श्मशानाभिमुखाः स्थिताः।
अङ्केनैव च संक्रम्य रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ ५ ॥

उस मृत बालकको गोदमें लेकर वे श्मशानकी ओर चले। वहाँ पहुँचकर खड़े हो गये और अत्यन्त दुखी होकर रोने लगे ॥ ५ ॥

शोचन्तस्तस्य पूर्वोक्तान् भाषितांश्चासकृत् पुनः।
तं बालं भूतले क्षिप्य प्रतिगन्तुं न शक्नुयुः ॥ ६ ॥

वे उसकी पहलेकी बातोंको बारंबार याद करके शोकमग्न हो जाते थे; इसलिये उसे श्मशानभूमिमें डालकर लौट जानेमें असमर्थ हो रहे थे ॥ ६ ॥

तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
एकात्मजमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत मा चिरम् ॥ ७ ॥
इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव ह।

समानीतानि कालेन हित्वा वै यान्ति बान्धवाः ॥ ८ ॥

उनके रोनेके शब्दसे आकृष्ट होकर एक गीध वहाँ आया और इस प्रकार कहने लगा—'मनुष्यो ! इस जगत्में अपने इस इकलौते पुत्रको यहाँ छोड़कर लौट जाओ, देर मत करो। यहाँ हजारों स्त्री-पुरुष कालके द्वारा लाये जा चुके हैं और उन सबको उनके भाई-बन्धु छोड़कर चले जाते हैं ॥ ७-८ ॥

सम्पश्यत जगत् सर्वं सुखदुःखैरधिष्ठितम्।
संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ॥ ९ ॥

'देखो, यह सम्पूर्ण जगत् ही सुख और दुःखसे व्याप्त है, यहाँ सबको बारी-बारीसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं ॥

गृहीत्वा ये च गच्छन्ति ये न यान्ति च तान् मृतान्।
तेऽप्यायुषः प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ १० ॥

'जो लोग अपने मृतक सम्बन्धियोंको लेकर श्मशानमें जाते हैं और जो नहीं जाते हैं, वे सभी जीव-जन्तु अपनी आयु पूरी होनेपर इस संसारसे चल बसते हैं ॥ १० ॥

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ११ ॥

'गीधों और गीदड़ोंसे भरे हुए इस भयंकर श्मशानमें सब ओर असंख्य नरकंकाल पड़े हैं। यह स्थान सभी प्राणियोंके लिये भयदायक है। यहाँ तुम्हें नहीं ठहरना चाहिये; ठहरनेसे कोई लाभ भी नहीं है ॥ ११ ॥

न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ १२ ॥

'अपना प्रिय हो या द्वेषपात्र। कोई भी कालधर्ममें (मृत्यु) को पाकर कभी पुनः जीवित नहीं हुआ है। समस्त प्राणियोंकी ऐसी ही गति है ॥ १२ ॥

सर्वेण खलु मर्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति ॥ १३ ॥

'जिसने इस मर्त्यलोकमें जन्म लिया है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा। कालद्वारा निर्मित पथपर मरकर गये हुए प्राणीको कौन जीवित कर सकेगा ॥ १३ ॥

कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे।
गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥ १४ ॥

'सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं, जगत्के सब लोग दैनिक कार्य समाप्त करके अब उससे विरत हो रहे हैं। तुमलोग भी अब अपने पुत्रका स्नेह छोड़कर घर लौट जाओ' ॥ १४ ॥

ततो गृध्रवचः श्रुत्वा प्राक्रोशन्तस्तदा नृप।
बान्धवास्तेऽभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! तब गीधकी बात सुनकर वे बन्धु-बान्धव जोर-जोरसे रोते हुए अपने पुत्रको भूतलपर छोड़कर घरकी ओर लौटने लगे ॥ १५ ॥

विनिश्चित्याथ च तदा विक्रोशन्तस्ततस्ततः।
मृतमित्येव गच्छन्तो निराशास्तस्य दर्शने ॥ १६ ॥

वे इधर-उधर रो-गाकर इसी निश्चयपर पहुँचे कि अब तो यह बालक मर ही गया; अतः उसके दर्शनसे निराश हो वहाँसे जानेके लिये तैयार हो गये ॥ १६ ॥

निश्चितार्थाश्च ते सर्वे संत्यजन्तः स्वमात्मजम्।
निराशा जीविते तस्य मार्गमावृत्य धिष्ठिताः ॥ १७ ॥

जब उन्हें यह निश्चित हो गया कि अब यह नहीं जी सकेगा, तो उसके जीवनसे निराश हो वे सब लोग अपने बच्चेको छोड़कर जानेके लिये रास्तेपर आकर खड़े हुए ॥

ध्वांक्षपक्षसवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः।
गच्छमानान् स्म तानाह निर्घृणाः खलु मानुषाः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें कौएकी पाँखके समान काले रंगका एक गीदड़ अपनी माँद (घूरी) से निकलकर उन लौटते हुए बान्धवोंसे कहा—'मनुष्यो ! तुम बड़े निर्दय हो ! ॥ १८ ॥

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम्।
बहुरूपो मुहूर्तश्च जीवेदपि कदाचन ॥ १९ ॥

'अरे मूर्खो ! अभी तो सूर्यास्त भी नहीं हुआ है; अतः डरो मत। बच्चेको लाड़-प्यार कर लो। अनेक प्रकारका मुहूर्त आता रहता है। सम्भव है किसी शुभ घड़ीमें यह बालक जी उठे ॥ १९ ॥

यूयं भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद् गच्छत निर्घृणाः॥ २० ॥

'तुमलोग कैसे निर्दयी हो ? पुत्रस्नेहका त्याग करके इस नन्हे-से बालकको श्मशान–भूमिमें लाकर डाल दिया। अरे ! अपने बेटेको इस मरघटमें छोड़कर क्यों जा रहे हो ? ॥ २० ॥

न वोऽस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है' इस मधुरभाषी छोटे-से बालकपर तुम्हारा तनिक भी स्नेह नहीं है। यह वही बालक है, जिसकी मीठी-मीठी बातें सुनते ही तुम्हारा हृदय हर्षसे खिल उठता था ॥

ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम्।
न तेषां धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः ॥ २२ ॥
चतुष्पात्पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम्।
परलोकगतिस्थानां मुनियज्ञक्रिया इव ॥ २३ ॥

'पशु और पक्षियोंका भी अपने बच्चेपर जैसा स्नेह होता है, उसे तुम देखो। यद्यपि स्नेहमें आसक्त उन पशु-पक्षी-कीट आदि प्राणियोंको अपने बच्चोंके पालन-पोषण करनेपर भी परलोकमें उनसे उस प्रकार कोई फल नहीं मिलता जैसे कि परलोककी गतिमें स्थित हुए मुनियोंको यज्ञादि क्रियासे मिलता है ॥ २२-२३ ॥

तेषां पुत्राभिरामाणामिहलोके परत्र च।
न गुणो दृश्यते कश्चित् प्रजाः संधारयन्ति च ॥ २४ ॥

'क्योंकि उनके पुत्रोंमें स्नेह रखनेवाले पशु आदिके लिये इहलोक और परलोकमें संतानोंके लालन-पालनसे कोई लाभ नहीं दिखायी देता तो भी वे अपने-अपने बच्चोंकी रक्षा करते रहते हैं ॥ २४ ॥

अपश्यतां प्रियान् पुत्रांस्तेषां शोको न तिष्ठति ।
न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ क्वचित् ॥ २५ ॥

'यद्यपि उनके बच्चे बड़े हो जानेपर अपने माँ-बापका पालन-पोषण नहीं करते हैं तो भी अपने प्यारे बच्चोंको न देखनेपर उनका शोक काबूमें नहीं रहता ॥ २५ ॥

मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भविष्यति ।
इमं कुलकरं पुत्रं त्यक्त्वा क नु गमिष्यथ ॥ २६ ॥

'परंतु मनुष्योंमें इतना स्नेह ही कहाँ है, जो उन्हें अपने बच्चोंके लिये शोक होगा । अरे ! यह तुम्हारा वंशधर बालक है । इसे छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ॥ २६ ॥

चिरं मुञ्चत बाष्पं च चिरं स्नेहेन पश्यत ।
एवंविधानि हीष्टानि दुस्त्यजानि विशेषतः ॥ २७ ॥

'इस अपने लाड़लेके लिये देरतक आँसू बहाओ और दीर्घकालतक स्नेहभरी दृष्टिसे इसकी ओर देखो, क्योंकि ऐसी प्यारी-प्यारी संतानोंको छोड़कर जाना अत्यन्त कठिन है ॥

क्षीणस्यार्थाभियुक्तस्य श्मशानाभिमुखस्य च ।
बान्धवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नाधितिष्ठति ॥ २८ ॥

'जो शरीरसे क्षीण हुआ हो, जिसपर कोई आर्थिक अभियोग लगाया गया हो तथा जो श्मशानकी ओर जा रहा हो, ऐसे अवसरोंपर उसके भाई-बन्धु ही उसके साथ खड़े होते हैं । दूसरा कोई वहाँ साथ नहीं देता ॥ २८ ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥ २९ ॥

'सबको अपने-अपने प्राण प्यारे होते हैं और सभी दूसरोंसे स्नेह पाते हैं । पशु-पक्षीकी योनिमें भी जो प्राणी रहते हैं, उनका अपनी संतानोंपर कैसा प्रेम है, इसे देखो ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा कथं गच्छथेमं पद्मलोलायताक्षिकम् ।
यथा नवोद्वाहकृतं स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ ३० ॥

'इस बालककी कमल-जैसी चञ्चल एवं विशाल आँखें कितनी सुन्दर हैं । इसका शरीर स्नान एवं पुष्पमाला आदिसे विभूषित नया-नया विवाह करके आये दुल्हे-जैसा है । ऐसे मनोहर बालकको छोड़कर जानेके लिये तुम्हारे पैर कैसे उठ रहे हैं ?' ॥ ३० ॥

जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा कृपणं परिदेवतः ।
न्यवर्तन्त तदा सर्वे शवार्थे ते स्म मानुषाः ॥ ३१ ॥

करुणाजनक विलाप करते हुए उस सियारकी यह बात सुनकर वे सभी मनुष्य उस मृत बालकके शरीरकी देखरेखके लिये पुनः लौट आये ॥ ३१ ॥

गृध्र उवाच

अहो बत नृशंसेन जम्बुकेनाल्पमेधसा ।
क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्त्वा मानुषाः किं निवर्तथ ॥ ३२ ॥

तब गीधने कहा—अहो ! उस मन्दबुद्धि एवं क्रूर स्वभाववाले क्षुद्र गीदड़की बातोंमें आकर तुम लौटे कैसे आते हो ? मनुष्यो ! तुम बड़े धैर्यहीन हो ॥ ३२ ॥

पञ्चेन्द्रियपरित्यक्तं शुष्कं काष्ठत्वमागतम् ।
कस्माच्छोचथ तिष्ठन्तमात्मानं किं न शोचथ ॥ ३३ ॥

इस बच्चेका शरीर पाँचों इन्द्रियोंसे परित्यक्त होकर सूखे काठके समान तुम्हारे सामने पड़ा है । तुम इसके लिये क्यों शोक करते हो ? एक दिन तुम्हारी भी यही दशा होगी, फिर अपने लिये क्यों नहीं शोक करते ? ॥ ३३ ॥

तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्बिषात् ।
तपसा लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥ ३४ ॥

अब तुमलोग तीव्र तपस्या करो, जिससे समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाओगे । तपस्यासे सब कुछ मिल सकता है । तुम्हारा यह विलाप क्या करेगा ? ॥ ३४ ॥

अनिष्टानि च भाग्यानि जातानि सह मूर्तिना ।
येन गच्छति बालोऽयं दत्त्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३५ ॥

भाग्य शरीरके साथ ही प्रकट होता है और उसका अनिष्ट फल भी सामने आता ही है, जिससे यह बालक तुम्हें अनन्त शोक देकर जा रहा है ॥ ३५ ॥

धनं गावः सुवर्णं च मणिरत्नमथापि च ।
अपत्यं च तपोमूलं तपोयोगाच्च लभ्यते ॥ ३६ ॥

धन, गाय, सोना, मणि, रत्न और पुत्र—इन सबका मूल कारण तप ही है । तपस्याके योगसे ही इनकी उपलब्धि होती है ॥ ३६ ॥

यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखिता ।
गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥ ३७ ॥

जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार दुःख-सुखको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है । सभी प्राणियोंमें सुख और दुःखका भोग कर्मानुसार ही प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥ ३८ ॥

पिताके कर्मसे पुत्रका और पुत्रके कर्मसे पिताका कोई सम्बन्ध नहीं है । अपने-अपने पाप-पुण्यके बन्धनमें बँधे हुए जीव कर्मानुसार विभिन्न मार्गसे जाते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मं चरत यत्नेन न चाधर्मे मनः कृथाः ।
वर्तध्वं च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३९ ॥

तुमलोग यत्नपूर्वक धर्मका आचरण करो और अधर्ममें कभी मन न लगाओ । देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें यथासमय तत्पर रहो ॥ ३९ ॥

शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्तत ।
त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्तत ॥ ४० ॥

शोक और दीनता छोड़ो तथा पुत्रस्नेहसे मनको हटा लो । इस बालकको इसी सूने स्थानमें छोड़ दो और शीघ्र लौट जाओ ॥ ४० ॥

यत् करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम् ।
तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥ ४१ ॥

प्राणी जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल भी करनेवाला ही भोगता है । इसमें भाई-बन्धुओंका क्या है ? ॥

इह त्यक्त्वा न तिष्ठन्ति बान्धवा बान्धवं प्रियम् ।
स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णाविलेक्षणाः ॥ ४२ ॥

बन्धु-बान्धव लोग यहाँ अपने प्रिय बन्धुओंका परित्याग करके ठहरते नहीं हैं । सारा स्नेह छोड़कर आँखोंमें आँसू भरे यहाँसे चल देते हैं ॥ ४२ ॥

प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोऽपि वा ।
सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥ ४३ ॥

विद्वान् हो या मूर्ख, धनवान् हो या निर्धन, सभी अपने शुभ या अशुभ कर्मोंके साथ कालके अधीन हो जाते हैं ।४३।

किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ ।
सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥ ४४ ॥

अच्छा, यह तो बताओ, तुम शोक करके क्या कर लोगे ? क्या इसे जिला दोगे ? फिर इस मृतकके लिये क्यों शोक करते हो ? काल ही सबका शासक और स्वामी है, जो धर्मतः सबके ऊपर समान दृष्टि रखता है ॥ ४४ ॥

यौवनस्थांश्च बालांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥

यह कराल काल युवा, बालक, वृद्ध और गर्भस्थ शिशु—सबमें प्रवेश करता है । इस संसारकी ऐसी ही दशा है ॥४५॥

जम्बुक उवाच

अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पबुद्धिना ।
पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम् ॥ ४६ ॥

इसपर गीदड़ने कहा—अहो ! क्या इस मन्दबुद्धि गीधने तुम्हारे स्नेहको शिथिल कर दिया ? तुम तो पुत्रस्नेह-से अभिभूत होकर उसके लिये बड़ा शोक कर रहे थे ॥४६॥

समैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रत्ययोत्तरैः ।
यद् गच्छति जनश्चायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४७ ॥

गीधके अच्छी युक्तियोंसे युक्त न्यायसङ्गत और विश्वा-सोत्पादक प्रतीत होनेवाले वचनोंसे प्रभावित हो ये सब लोग जो दुस्त्यज स्नेहका परित्याग करके चले जा रहे हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥ ४७ ॥

अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात् ।
क्रोशतां सुभृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४८ ॥
अद्य शोकं विजानामि मानुषाणां महीतले ।
स्नेहं हि कारणं कृत्वा ममाप्यश्रूण्यथापतन् ॥ ४९ ॥

अहो ! पुत्रके वियोगसे पीड़ित हो मृतकोंके इस शून्य स्थानमें आकर अत्यन्त दुःखसे रोने-बिलखनेवाले इन भूतल-वासी मनुष्योंके हृदयमें बछड़ोंसे रहित हुई गायोंकी भाँति कितना शोक होता है ? इसका अनुभव मुझे आज हुआ है; क्योंकि इनके स्नेहको निमित्त बनाकर मेरी आँखोंसे भी आँसू बहने लगे हैं ॥ ४८-४९ ॥

यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिद्ध्यति ।
दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ॥ ५० ॥

अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये, तब दैवयोगसे उसकी सिद्धि होती है । दैव और पुरुषार्थ—दोनों कालसे ही सम्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात् प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद् गच्छथ निर्दयम् ॥ ५१ ॥

खेद और शिथिलताको कभी अपने मनमें स्थान नहीं देना चाहिये । खेद होनेपर कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है । प्रयत्नसे ही अभिलषित अर्थकी प्राप्ति होती है; अतः तुमलोग इस बालककी रक्षाका प्रयत्न छोड़कर निर्दयतापूर्वक कहाँ चले जा रहे हो ? ॥ ५१ ॥

आत्ममांसोपवृत्तं च शरीरार्धमयीं तनुम् ।
पितॄणां वंशकर्तारं वने त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥ ५२ ॥

यह बालक तुम्हारे अपने ही रक्त-मांसका बना हुआ है, आधे शरीरके समान है और पितरोंके वंशकी वृद्धि करनेवाला है, इसे वनमें छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ५२ ॥

अथवास्तंगते सूर्ये संध्याकाल उपस्थिते ।
ततो नेष्यथ वा पुत्रमिहस्था वा भविष्यथ ॥ ५३ ॥

अच्छा, इतना ही करो कि जबतक सूर्य अस्त न हो और संध्याकाल उपस्थित न हो जाय, तबतक यहाँ रुके रहो; फिर अपने इस पुत्रको साथ ले जाना अथवा यहीं बैठे रहना ॥

गृध्र उवाच

अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः ।
न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ५४ ॥

गीधने कहा—मनुष्यो ! मुझे जन्म लिये आज एक हजार वर्षसे अधिक हो गये; परंतु मैंने कभी किसी स्त्री-पुरुष या नपुंसकको मरनेके बाद फिर जीवित होते नहीं देखा ।५४।

मृता गर्भेषु जायन्ते जातमात्रा म्रियन्ति च ।
चङ्क्रमन्तो म्रियन्ते च यौवनस्थास्तथा परे ॥ ५५ ॥

कुछ लोग गर्भोंमें ही मरकर जन्म लेते हैं, कुछ जन्म लेते ही मर जाते हैं, कुछ चलने-फिरने लायक होकर मरते हैं और कुछ लोग भरी जवानीमें ही चल बसते हैं ॥ ५५ ॥

अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि ।
जङ्गमानां नगानां चाप्यायुरग्रेऽवतिष्ठते ॥ ५६ ॥

इस संसारमें पशुओं और पक्षियोंके भी भाग्यफल अनित्य हैं । स्थावरों और जङ्गमोंके जीवनमें भी आयुकी ही प्रधानता है ॥ ५६ ॥

इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्रशोकान्वितास्तथा ।
दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यशः ॥ ५७ ॥

प्रिय पत्नीके वियोग और पुत्रशोकसे संतप्त हो कितने ही प्राणी प्रतिदिन शोककी आगमें जलते हुए इस मरघटसे अपने घरको लौटते हैं ॥ ५७ ॥

अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च ।
उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥ ५८ ॥

कितने ही भाई-बन्धु अत्यन्त दुखी हो यहाँ हजारों अप्रिय तथा सैकड़ों प्रिय व्यक्तियोंको छोड़कर चले गये हैं ॥ ५८ ॥

त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः ।
अन्यदेहविषक्तं हि शावं काष्ठत्वमागतम् ॥ ५९ ॥
त्यक्तजीवस्य चैवास्य कस्माद्धित्वा न गच्छत ।
निरर्थको ह्ययं स्नेहो निष्फलश्च परिश्रमः ॥ ६० ॥

यह मृत बालक तेजोहीन होकर थोथे काठके समान हो गया है । इसे छोड़ दो । इसका जीव दूसरे शरीरमें आसक्त है । इस निष्प्राण बालकका यह शव काठके समान हो गया है। तुमलोग इसे छोड़कर चले क्यों नहीं जाते ? तुम्हारा यह स्नेह निरर्थक है और इस परिश्रमका भी कोई फल नहीं है ॥ ५९-६० ॥

चक्षुर्भ्यां न च कर्णाभ्यां संशृणोति समीक्षते ।
कस्मादेनं समुत्सृज्य न गृहान् गच्छताशु वै ॥६१॥

यह न तो आँखोंसे देखता है और न कानोंसे कुछ सुनता ही है । फिर इसे त्यागकर तुमलोग जल्दी अपने घर क्यों नहीं चले जाते ॥ ६१ ॥

मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिः सुनिष्ठुरैः ।
मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ॥ ६२ ॥

मेरी ये बातें बड़ी निष्ठुर जान पड़ती हैं; परंतु हेतुगर्भित और मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं; अतः इन्हें मानकर मेरे कहनेसे तुमलोग शीघ्र अपने-अपने घर पधारो ॥ ६२ ॥

प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना ।
वचनं श्राविता नूनं मानुषाः संनिवर्तत ।
शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम् ॥६३॥

मनुष्यो ! मैं बुद्धि और विज्ञानसे युक्त तथा दूसरोंको भी ज्ञान प्रदान करनेवाला हूँ । मैंने तुम्हें विवेक उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी बातें सुनायी हैं। अब तुमलोग लौट जाओ। अपने मरे हुए स्वजनका शव देखकर तथा उसकी चेष्टाओंको स्मरण करके दूना शोक होता है ॥ ६३ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा संनिवृत्तास्तु मानुषाः ।
अपश्यत् तं तदा सुप्तं द्रुतमागत्य जम्बुकः ॥ ६४ ॥

गीधकी यह बात सुनकर वे सब मनुष्य घरकी ओर लौट पड़े । तब सियारने तुरंत आकर उस सोते हुए बालकको देखा ॥ ६४ ॥

जम्बुक उवाच

इमं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं पुत्रं त्यजध्वं पितृपिण्डदम् ॥६५॥

सियार बोला—बन्धुओ ! देखो तो सही, इस बालकका रंग कैसा सोनेके समान चमक रहा है ।आभूषणोंसे भूषित होकर यह कैसी शोभा पाता है । पितरोंको पिण्ड प्रदान करनेवाले अपने इस पुत्रको तुम गीधकी बातोंमें आकर कैसे छोड़ रहे हो ? ॥ ६५ ॥

न स्नेहस्य च विच्छेदो विलापरुदितस्य च ।
मृतस्यास्य परित्यागात् तापो वै भविता ध्रुवम् ॥६६ ॥

इस मृत बालकको छोड़कर जानेसे न तो तुम्हारे स्नेहमें कमी आयेगी और न तुम्हारा रोना-धोना एवं विलाप ही बंद होगा । उलटे तुम्हारा संताप और बढ़ जायगा, यह निश्चित है ॥ ६६ ॥

श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः ।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात् सत्यपराक्रमात् ॥ ६७ ॥

सुना जाता है कि सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे शम्बूक नामक शूद्रके मारे जानेपर उस धर्मके प्रभावसे एक मरा हुआ ब्राह्मणबालक जीवित हो उठा था ॥ ६७ ॥

तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दिष्टान्तमागतः ।
श्वेतेन धर्मनिष्ठेन मृतः संजीवितः पुनः ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार राजर्षि श्वेतका भी बालक मर गया था, परंतु धर्मनिष्ठ श्वेतने उसे पुनः जीवित कर दिया था ॥६८॥

तथा कश्चिल्लभेत् सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा ।
कृपणानामनुक्रोशं कुर्याद् वो रुदतामिह ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार सम्भव है कोई सिद्ध मुनि या देवता मिल जायँ और यहाँ रोते हुए तुम दीन-दुखियोंपर दया कर दें ॥

इत्युक्तास्ते न्यवर्तन्त शोकार्ताः पुत्रवत्सलाः ।
अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम् ।
तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ७० ॥

सियारके ऐसा कहनेपर वे पुत्रवत्सल बान्धव शोकसे पीड़ित हो लौट पड़े और बालकका मस्तक अपनी गोदमें रखकर जोर-जोरसे रोने लगे । उनके रोनेकी आवाज सुनकर गीध पास आ गया और इस प्रकार बोला ॥ ७० ॥

गृध्र उवाच

अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शप्रपीडितः ।
धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ७१ ॥

गीधने कहा—तुमलोगोंके आँसू बहानेसे जिसका शरीर गीला हो गया है और जो तुम्हारे हाथोंसे बार-बार दबाया गया है, ऐसा यह बालक धर्मराजकी आज्ञासे चिरनिद्रामें प्रविष्ट हो गया है ॥ ७१ ॥

तपसापि हि संयुक्ता धनवन्तो महाधियः ।
सर्वे मृत्युवशं यान्ति तदिदं प्रेतपत्तनम् ॥ ७२ ॥

बड़े-बड़े तपस्वी, धनवान् और महाबुद्धिमान् सभी यहाँ मृत्युके अधीन हो जाते हैं । यह प्रेतोंका नगर है ॥ ७२ ॥

बालवृद्धसहस्राणि सदा संत्यज्य बान्धवाः ।
दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ७३ ॥

यहाँ लोगोंके भाई-बन्धु सदा सहस्रों बालकों और वृद्धोंको त्यागकर दिन-रात दुखी रहते हैं ॥ ७३ ॥

अलं निर्बन्धमागत्य शोकस्य परिधारणे ।
अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ७४ ॥

दुराग्रहवश बारंबार लौटकर शोकका बोझ धारण करनेसे कोई लाभ नहीं है । अब इसके जीनेका कोई भरोसा नहीं

है । भला, आज यहाँ इसका पुनर्जीवन कैसे हो सकता है ? ॥

मृतस्योत्सृष्टदेहस्य पुनर्देहो न विद्यते ।
नैव मूर्तिप्रदानेन जम्बुकस्य शतैरपि ॥ ७५ ॥
शक्यं जीवयितुं ह्येष बालो वर्षशतैरपि ।

जो व्यक्ति एक बार इस देहसे नाता तोड़कर मर जाता है, उसके लिये फिर इस शरीरमें लौटना सम्भव नहीं है । सैकड़ों सियार अपना शरीर बलिदान कर दें तो भी सैकड़ों वर्षोंमें इस बालकको जिलाया नहीं जा सकता ॥ ७५½ ॥

अथ रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव च ॥ ७६ ॥
वरमस्मै प्रयच्छेयुस्ततो जीवेदयं शिशुः ।

यदि भगवान् शिव, कुमार कार्तिकेय, ब्रह्माजी और भगवान् विष्णु इसे वर दें तो यह बालक जी सकता है ॥

नैव बाष्पविमोक्षेण न वा श्वासकृतेन च ॥ ७७ ॥
न दीर्घरुदितेनायं पुनर्जीवं गमिष्यति ।

न तो आँसू बहानेसे, न लंबी-लंबी साँस खींचनेसे और न दीर्घकालतक रोनेसे ही यह फिर जी सकेगा ॥ ७७½ ॥

अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं ये चास्य बान्धवाः ॥ ७८ ॥
धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि ।

मैं, यह सियार और तुम सब लोग जो इसके भाई-बन्धु हो—ये सभी धर्म और अधर्मको लेकर यहाँ अपनी-अपनी राहपर चल रहे हैं ॥ ७८½ ॥

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ॥ ७९ ॥
अधर्ममनृतं चैव दूरात् प्राज्ञो विवर्जयेत् ।

बुद्धिमान् पुरुषको अप्रिय आचरण, कठोर वचन, दूसरोंके साथ द्रोह, परायी स्त्री, अधर्म और असत्य-भाषणका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये ॥ ७९½ ॥

धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ॥ ८० ॥
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ।

तुम सब लोग धर्म, सत्य, शास्त्रज्ञान, न्यायपूर्ण बर्ताव, समस्त प्राणियोंपर बड़ी भारी दया, कुटिलताका अभाव तथा शठताका त्याग—इन्हीं सद्गुणोंका यत्नपूर्वक अनुसरण करो ॥ ८०½ ॥

मातरं पितरं वापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ॥ ८१ ॥
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ।

जो लोग जीवित माता-पिता, सुहृदों और भाई-बन्धुओंकी देखभाल नहीं करते हैं, उनके धर्मकी हानि होती है ॥ ८१½ ॥

यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथञ्चन ॥ ८२ ॥
तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ ।

जो न आँखोंसे देखता है, न शरीरसे कोई चेष्टा ही करता है, उसके जीवनका अन्त हो जानेपर अब तुमलोग रोकर क्या करोगे ॥ ८२½ ॥

इत्युक्तास्ते सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः ।
दह्यमानाः सुतस्नेहात् प्रययुर्बान्धवा गृहम् ॥ ८३ ॥

गीधके ऐसा कहनेपर वे शोकमें डूबे हुए भाई-बन्धु अपने उस पुत्रको धरतीपर सुलाकर उसके स्नेहसे दग्ध होते हुए अपने घरकी ओर लौटे ॥ ८३ ॥

जम्बुक उवाच

दारुणो मर्त्यलोकोऽयं सर्वप्राणिविनाशनः ।
इष्टबन्धुवियोगश्च तथेहाल्पं च जीवितम् ॥ ८४ ॥

तब सियारने कहा—यह मर्त्यलोक अत्यन्त दुःखद है । यहाँ समस्त प्राणियोंका नाश ही होता है । प्रिय बन्धुजनोंके वियोगका कष्ट भी प्राप्त होता रहता है । यहाँका जीवन बहुत थोड़ा है ॥ ८४ ॥

बह्वलीकमसत्यं चाप्यतिवादाप्रियंवदम् ।
इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं दुःखशोकविवर्धनम् ॥ ८५ ॥
न मे मानुषलोकोऽयं मुहूर्तमपि रोचते ।

इस संसारमें सब कुछ असत्य एवं बहुत अरुचिकर है । यहाँ अनाप-शनाप बकनेवाले तो बहुत हैं, परंतु प्रिय वचन बोलनेवाले विरले ही हैं । यहाँका भाव दुःख और शोककी वृद्धि करनेवाला है । इसे देखकर मुझे यह मनुष्य-लोक दो घड़ी भी अच्छा नहीं लगता ॥ ८५½ ॥

अहो धिग् गृध्रवाक्येन यथैवाबुद्धयस्तथा ॥ ८६ ॥
कथं गच्छत निःस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च ।

अहो ! धिक्कार है । तुमलोग गीधकी बातोंमें आकर मूर्खोंके समान पुत्रस्नेहसे रहित हुए प्रेमशून्य होकर कैसे घरको लौटे जा रहे हो ? ॥ ८६½ ॥

प्रदीप्ताः पुत्रशोकेन संनिवर्तत मानुषाः ॥ ८७ ॥
श्रुत्वा गृध्रस्य वचनं पापस्येहाकृतात्मनः ।

मनुष्यो ! यह गीध तो बड़ा पापी और अपवित्र हृदयवाला है । इसकी बात सुनकर तुमलोग पुत्रशोकसे जलते हुए भी क्यों लौटे जा रहे हो ? ॥ ८७½ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥ ८८ ॥
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ।

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । सुख और दुःखसे घिरे हुए इस जगत्में निरन्तर (सुख या दुःख) अकेला नहीं बना रहता है ॥ ८८½ ॥

इमं क्षितितले त्यक्त्वा बालं रूपसमन्वितम् ॥ ८९ ॥
कुलशोभाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क्व यास्यथ ।
रूपयौवनसम्पन्नं द्योतमानमिव श्रिया ॥ ९० ॥

यह सुन्दर बालक तुम्हारे कुलकी शोभा बढ़ानेवाला है । यह रूप और यौवनसे सम्पन्न है तथा अपनी कान्तिसे प्रकाशित हो रहा है । मूर्खो ! इस पुत्रको पृथ्वीपर डालकर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ८९-९० ॥

जीवन्तमेव पश्यामि मनसा नात्र संशयः ।
विनाशो नास्य न हि वै सुखं प्राप्स्यथ मानुषाः ॥ ९१ ॥

मनुष्यो ! मैं तो अपने मनसे इस बालकको जीवित ही देख रहा हूँ, इसमें संशय नहीं है । इसका नाश नहीं होगा, तुम्हें अवश्य ही सुख मिलेगा ॥ ९१ ॥

पुत्रशोकाभितप्तानां मृतानामद्य वः क्षमम् ।
सुखसम्भावनं कृत्वा धारयित्वा सुखं स्वयम् ।
त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत् ॥

पुत्रशोकसे संतप्त होकर तुमलोग स्वयं ही मृतक-तुल्य हो रहे हो; अतः तुम्हारे लिये इस तरह लौट जाना उचित नहीं है । इस बालकसे सुखकी सम्भावना करके सुख पानेकी सुदृढ़ आशा धारण कर तुम सब लोग अल्पबुद्धि मनुष्यके समान स्वयं ही इसे त्यागकर अब कहाँ जाओगे ? ॥ ९२ ॥

भीष्म उवाच

तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिधायिना ।
श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता नृप ॥ ९३ ॥
ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः ।
जम्बुकेन स्वकार्यार्थं बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वह सियार सदा श्मशानभूमिमें ही निवास करता था और अपना काम बनानेके लिये रात्रिकालकी प्रतीक्षा कर रहा था; अतः उसने धर्मविरोधी, मिथ्या तथा अमृततुल्य वचन कहकर उस बालकके बन्धु-बान्धवोंको बीचमें ही अटका दिया । वे न जा पाते थे और न रह पाते थे, अन्तमें उन्हें ठहर जाना पड़ा ९३-९४

गृध्र उवाच

अयं प्रेतसमाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः ।
दारुणः काननोद्देशः कौशिकैरभिनादितः ॥ ९५ ॥

तब गीधने कहा—मनुष्यो ! यह वन्य प्रदेश प्रेतोंसे भरा हुआ है । इसमें बहुत-से यक्ष और राक्षस निवास करते हैं तथा कितने ही उल्लू हू-हूकी आवाज कर रहे हैं; अतः यह स्थान बड़ा भयंकर है ॥ ९५ ॥

भीमः सुघोरश्च तथा नीलमेघसमप्रभः ।
अस्मिञ्छवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९६ ॥

यह अत्यन्त घोर, भयानक तथा नीलमेघके समान काला अन्धकारपूर्ण है । इस मुर्देको यहीं छोड़कर तुमलोग प्रेतकर्म करो ॥ ९६ ॥

भानुर्यावत् प्रयात्यस्तं यावच्च विमला दिशः ।
तावदेनं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९७ ॥

जबतक सूर्य डूब नहीं जाते हैं और जबतक दिशाएँ निर्मल हैं, तभीतक इसे यहाँ छोड़कर तुमलोग इसके प्रेतकर्ममें लग जाओ ॥९७ ॥

नदन्ति परुषं श्येनाः शिवाः क्रोशन्ति दारुणम् ।
मृगेन्द्राः प्रतिनन्दन्ति रविरस्तं च गच्छति ॥ ९८ ॥

इस वनमें बाज अपनी कठोर बोली बोलते हैं, सियार भयंकर आवाजमें हुआँ-हुआँ कर रहे हैं, सिंह दहाड़ रहे हैं और सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं ॥ ९८ ॥

चिताधूमेन नीलेन संरज्यन्ते च पादपाः ।
श्मशाने च निराहाराः प्रतिनर्दन्ति देहिनः ॥ ९९ ॥

चिताके काले धुएँसे यहाँके सारे वृक्ष उसी रंगमें रँग गये हैं । श्मशानभूमिमें यहाँके निराहार प्राणी (प्रेत-पिशाच आदि) गरज रहे हैं ॥ ९९ ॥

सर्वे विकृतदेहाश्चाप्यस्मिन् देशे सुदारुणे ।
युष्मान् प्रधर्षयिष्यन्ति विकृता मांसभोजिनः ॥१००॥

इस भयंकर प्रदेशमें रहनेवाले सभी प्राणी विकराल शरीरके हैं । ये सबके सब मांस खानेवाले और विकृत अङ्गवाले हैं । वे तुमलोगोंको धर दबायेंगे ॥ १०० ॥

क्रूरश्चायं वनोद्देशो भयमद्य भविष्यति ।
त्यज्यतां काष्ठभूतोऽयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः॥१०१॥

जंगलका यह भाग क्रूर प्राणियोंसे भरा हुआ है । अब तुम्हें यहाँ बहुत बड़े भयका सामना करना पड़ेगा । यह बालक तो अब काठके समान निष्प्राण हो गया है । इसे छोड़ो और सियारकी बातोंके लोभमें न पड़ो ॥ १०१ ॥

यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च ।
श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ १०२ ॥

यदि तुमलोग विवेकभ्रष्ट होकर सियारकी झूठी और निष्फल बातें सुनते रहोगे तो सबके सब नष्ट हो जाओगे॥१०२॥

जम्बुक उवाच

स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत् तपति भास्करः ।
तावदस्मिन् सुते स्नेहादनिर्वेदेन वर्तत ॥१०३॥
स्वैरं रुदन्तो विश्रब्धाश्चिरं स्नेहेन पश्यत ।
(दारुणेऽस्मिन् वनोद्देशे भयं वो न भविष्यति ।
अयं सौम्यो वनोद्देशः पितॄणां निधनाकरः ॥)
स्थीयतां यावदादित्यः किं च क्रव्यादभाषितैः ॥ १०४ ॥

सियार बोला—ठहरो, ठहरो । जबतक यहाँ सूर्यका प्रकाश है, तबतक तुम्हें बिल्कुल नहीं डरना चाहिये । उस समयतक इस बालकपर स्नेह करके इसके प्रति ममतापूर्ण बर्ताव करो । निर्भय होकर दीर्घकालतक इसे स्नेहदृष्टिसे देखो और जी भरकर रो लो । यद्यपि यह वन्यप्रदेश भयंकर है तो भी यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं होगा; क्योंकि यह भू-भाग पितरोंका निवास-स्थान होनेके कारण श्मशान होता हुआ भी सौम्य है । जबतक सूर्य दिखायी देते हैं, तबतक यहीं ठहरो। इस मांसभक्षी गीधके कहनेसे क्या होगा ?॥ १०३-१०४ ॥

यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च ।
गृह्णीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति ॥१०५॥

यदि तुम मोहितचित्त होकर इस गीधकी घोर एवं घबराहटमें डालनेवाली बातोंमें आ जाओगे तो इस बालकसे हाथ धो बैठोगे ॥ १०५ ॥

भीष्म उवाच

गृध्रोऽस्तमित्याह गतो गतो नेति च जम्बुकः ।
मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ ॥१०६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वे गीध और गीदड़ दोनों ही भूखे थे और अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मृतकके बन्धु-बान्धवोंसे बातें करते थे । गीध कहता था कि सूर्य अस्त हो गये और सियार कहता था नहीं ॥ १०६ ॥

स्वकार्यबद्धकक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुकः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पतः ॥१०७॥

राजन्! गीध और गीदड़ अपना-अपना काम बनानेके लिये कमर कसे हुए थे। दोनोंको ही भूख और प्यास सता रही थी और दोनों ही शास्त्रका आधार लेकर बात करते थे ॥ १०७॥

तयोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोर्मृगपतत्रिणोः ।
वाक्यैरमृतकल्पैस्तैः प्रतिष्ठन्ति व्रजन्ति च ॥ १०८॥

उनमेंसे एक पशु था और दूसरा पक्षी। दोनों ही ज्ञानकी बातें जानते थे। उन दोनोंके अमृतरूपी वचनोंसे प्रभावित हो वे मृतकके सम्बन्धी कभी ठहर जाते और कभी आगे बढ़ते थे ॥ १०८ ॥

शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा ।
स्वकार्यकुशलाभ्यां ते सम्भ्राम्यन्ते ह नैपुणात्॥ १०९॥

शोक और दीनतासे आविष्ट होकर वे उस समय रोते हुए वहाँ खड़े ही रह गये। अपना-अपना कार्य सिद्ध करनेमें कुशल गीध और गीदड़ने चालाकीसे उन्हें चक्करमें डाल रक्खा था ॥ १०९ ॥

तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः ।
बान्धवानां स्थितानां चाप्युपातिष्ठत शङ्करः ॥११०॥
देव्या प्रणोदितो देवः कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः ।
ततस्तानाह मनुजान् वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥१११॥

ज्ञान-विज्ञानकी बातें जाननेवाले उन दोनों जन्तुओंमें इस प्रकार वाद-विवाद चल रहा था और मृतकके भाई-बन्धु वहीं खड़े थे। इतनेहीमें भगवती श्रीपार्वती देवीकी प्रेरणासे भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हो गये। उस समय उनके नेत्र करुणारससे आर्द्र हो रहे थे। वरदायक भगवान् शिवने उन मनुष्योंसे कहा—'मैं तुम्हें वर दे रहा हूँ'॥ ११०-१११॥

ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः ।
एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीवितार्थिनाम् ॥११२॥
पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि ।

तब वे दुखी मनुष्य भगवान्‌को प्रणाम करके खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—'प्रभो! इस इकलौते पुत्रसे हीन होकर हम मृतकतुल्य हो रहे हैं। आप हमारे इस पुत्रको जीवित करके हम समस्त जीवनार्थियोंको जीवन-दान देनेकी कृपा करें' ॥११२½ ॥

एवमुक्तः स भगवान् वारिपूर्णेन चक्षुषा ॥११३॥
जीवितं स्म कुमाराय प्रादाद् वर्षशतानि वै ।

उन्होंने जब नेत्रोंमें आँसू भरकर भगवान् शङ्करसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने उस बालकको जीवित कर दिया और उसे सौ वर्षोंकी आयु प्रदान की ॥ ११३½ ॥

तथा गोमायुगृध्राभ्यां प्राददत् क्षुद्विनाशनम्॥ ११४॥
वरं पिनाकी भगवान् सर्वभूतहिते रतः ।

इतना ही नहीं, सर्वभूतहितकारी पिनाकपाणि भगवान् शिवने गीध और गीदड़को भी उनकी भूख मिट जानेका वरदान दे दिया ॥ ११४½ ॥

ततः प्रणम्य ते देवं प्रायो हर्षसमन्विताः ॥११५॥
कृतकृत्याः सुखं हृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो ।

राजन्! तब वे सब लोग हर्षसे उल्लसित एवं कृतकार्य हो महादेवजीको प्रणाम करके सुख और प्रसन्नताके साथ वहाँसे चले गये ॥ ११५½ ॥

अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च ॥ ११६ ॥
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते ।

यदि मनुष्य उकताहटमें न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चयके साथ प्रयत्न करता रहे तो देवाधिदेव भगवान् शिवके प्रसादसे शीघ्र ही मनोवाञ्छित फल पा लेता है ॥ ११६½ ॥

पश्य दैवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्चयम् ॥११७॥
कृपणानां तु रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम् ।
पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च ॥११८॥

देखो, दैवका संयोग और उन बन्धु-बान्धवोंका दृढ़ निश्चय; जिससे दीनतापूर्वक रोते हुए उन मनुष्योंका आँसू थोड़े ही समयमें पोंछा गया। यह उनके निश्चयपूर्वक किये हुए अनुसंधान एवं प्रयत्नका फल है ॥ ११७-११८ ॥

प्रसादं शङ्करात् प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् ।
ते विस्मिताः प्रहृष्टाश्च पुत्रसंजीवनात् पुनः ॥११९॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे उन दुखी मनुष्योंने सुख प्राप्त कर लिया। पुत्रके पुनर्जीवनसे वे आश्चर्यचकित एवं प्रसन्न हो उठे ॥ ११९ ॥

बभूवुर्भरतश्रेष्ठ प्रसादाच्छङ्करस्य वै ।
ततस्ते त्वरिता राजंस्त्यक्त्वा शोकं शिशूद्भवम्॥१२०॥
विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्टमानसाः ।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! भगवान् शङ्करकी कृपासे वे सब लोग तुरंत ही पुत्रशोक त्यागकर प्रसन्नचित्त हो पुत्रको साथ ले अपने नगरको चले गये ॥ १२०½ ॥

एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्ये निदर्शिता ॥१२१॥
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शुभम् ।
श्रुत्वा मनुष्यः सततमिहामुत्र च मोदते ॥१२२॥

चारों वर्णोंमें उत्पन्न हुए सभी लोगोंके लिये यह बुद्धि प्रदर्शित की गयी है। धर्म, अर्थ और मोक्षसे युक्त इस शुभ इतिहासको सदा सुननेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें आनन्दका अनुभव करता है ॥ १२१-१२२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि गृध्रगोमायुसंवादे कुमारसंजीवने त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें गीदड़-गोमायुका संवाद एवं मरे हुए बालकका पुनर्जीवनविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १२३ श्लोक हैं)

मरे हुए ब्राह्मण-बालकपर तथा गीध एवं गीदड़पर शङ्करजीकी कृपा

भगवान् नारायणके नाभि-कमलसे लोकपितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षसे प्रशंसापूर्वक प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

बलिनः प्रत्यमित्रस्य नित्यमासन्नवर्तिनः।
उपकारापकाराभ्यां समर्थस्योद्यतस्य च ॥ १ ॥
मोहाद् विकत्थनामात्रैरसारोऽल्पबलो लघुः।
वाग्भिरप्रतिरूपाभिरभिद्रुह्य पितामह ॥ २ ॥
आत्मनो बलमास्थाय कथं वर्तेत मानवः।
आगच्छतोऽतिक्रुद्धस्य तस्योद्धरणकाम्यया ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो बलवान्, नित्य निकटवर्ती, उपकार और अपकार करनेमें समर्थ तथा नित्य उद्योगशील है, ऐसे शत्रुके साथ यदि कोई अल्प बलवान्, असार एवं सभी बातोंमें छोटी हैसियत रखनेवाला मनुष्य मोहवश शेखी बघारते हुए अयोग्य बातें कहकर वैर बाँध ले और वह बलवान् शत्रु अत्यन्त कुपित हो उस दुर्बल मनुष्यको उखाड़ फेंकनेके लिये आक्रमण कर दे, तब वह आक्रान्त मनुष्य अपने ही बलका भरोसा करके उस आक्रमणकारीके साथ कैसा बर्ताव करे ? (जिससे उसकी रक्षा हो सके) ॥ १-३ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष वायु और सेमलवृक्षके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

हिमवन्तं समासाद्य महानासीद् वनस्पतिः।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान् ॥ ५ ॥

हिमालय पर्वतपर एक बहुत बड़ा वनस्पति था, जो बहुत वर्षोंसे बढ़कर प्रबल हो गया था। वह स्कन्ध, शाखा और पत्तोंसे खूब हरा-भरा था ॥ ५ ॥

तत्र स्म मत्तमातङ्गा घर्मार्ताः श्रमकर्शिताः।
विश्राम्यन्ति महाबाहो तथान्या मृगजातयः ॥ ६ ॥

महाबाहो ! उसके नीचे बहुत-से मतवाले हाथी तथा दूसरे-दूसरे पशु धूपसे पीड़ित और परिश्रमसे थकित होकर विश्राम करते थे ॥ ६ ॥

नल्वमात्रपरीणाहो घनच्छायो वनस्पतिः।
सारिकाशुकसंजुष्टः पुष्पवान् फलवानपि ॥ ७ ॥

उस वृक्षकी लंबाई चार सौ हाथकी थी। छाया बड़ी सघन थी। उसपर तोते और मैनाओंके समूह बसेरा लेते थे। वह वृक्ष फल और फूल दोनोंसे ही भरा था ॥ ७ ॥

सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः।
वसन्ति तत्र मार्गस्थाः सुरम्ये नगसत्तमे ॥ ८ ॥

दल बाँधकर यात्रा करनेवाले वणिक्, वनवासी तपस्वी तथा दूसरे राहगीर भी उस रमणीय एवं श्रेष्ठ वृक्षके नीचे निवास किया करते थे ॥ ८ ॥

तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धं च सर्वशः।
अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस वृक्षकी बड़ी-बड़ी शाखाओं तथा मोटे तनोंको देखकर देवर्षि नारद उसके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

अहो नु रमणीयस्त्वमहो चासि मनोहरः।
प्रीयामहे त्वया नित्यं तरुप्रवर शाल्मले ॥ १० ॥

'अहो ! शाल्मले ! तुम बड़े रमणीय और मनोहर हो। तरुप्रवर ! तुमसे हमें सदा प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ १० ॥

सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाथ तथा गजाः।
वसन्ति तव संहृष्टा मनोहर मनोहराः ॥ ११ ॥

'तात ! मनोहर वृक्षराज ! तुम्हारी शाखाओंपर सदा ही बहुत-से पक्षी तथा नीचे अनेकानेक मृग एवं हाथी प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं ॥ ११ ॥

तव शाखा महाशाख स्कन्धांश्च विपुलांस्तथा।
न वै प्रभग्नान् पश्यामि मारुतेन कथंचन ॥ १२ ॥

'महान् शाखाओंसे सुशोभित वनस्पते ! मैं देखता हूँ कि तुम्हारी शाखाओं और मोटे तनोंको वायुदेव भी किसी तरह तोड़ नहीं सके हैं ॥ १२ ॥

किं नु ते पवनस्तात प्रीतिमानथवा सुहृत्।
त्वां रक्षति सदा येन वनेऽत्र पवनो ध्रुवम् ॥ १३ ॥

'तात ! क्या पवनदेव तुमसे किसी कारणवश विशेष प्रसन्न रहते हैं अथवा वे तुम्हारे सुहृद् हैं, जिससे इस वनमें सदा तुम्हारी निश्चितरूपसे रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

भगवान् पवनः स्थानाद् वृक्षानुच्चावचानपि।
पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान् ॥ १४ ॥

'भगवान् वायु इतने वेगशाली हैं कि छोटे-बड़े वृक्षोंको कौन कहे, पर्वतोंके शिखरोंको भी अपने स्थानसे हिला देते हैं ॥ १४ ॥

शोषयत्येव पातालं वहन् गन्धवहः शुचिः।
सरांसि सरितश्चैव सागरांश्च तथैव च ॥ १५ ॥

'गन्धवाही पवित्र पवन पाताल, सरोवर, सरिताओं और समुद्रोंको भी सुखा सकता है ॥ १५ ॥

संरक्षति त्वां पवनः सखित्वेन न संशयः।
तस्मात् त्वं बहुशाखोऽपि पर्णवान् पुष्पवानपि॥ १६ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वायुदेव तुम्हें अपना मित्र माननेके कारण ही तुम्हारी रक्षा करते हैं; इसीलिये तुम अनेक शाखाओंसे सम्पन्न तथा पत्ते और पुष्पोंसे हरे-भरे हो ॥ १६ ॥

इदं च रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते।
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥ १७ ॥

'तात वनस्पते ! तुम्हारे पास यह बड़ा ही रमणीय दृश्य जान

पड़ता है कि ये पक्षी तुम्हारी शाखाओंपर बड़े प्रसन्न रहकर रमण कर रहे हैं ॥ १७ ॥

एषां पृथक् समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः ।
पुष्पसम्मोदने काले वाशतां सुमनोहरम् ॥ १८ ॥

'वसन्त ऋतुमें अत्यन्त मनोरम बोली बोलनेवाले इन पक्षियोंका अलग-अलग तथा सबका एक साथ बड़ा मधुर स्वर सुनायी पड़ता है ॥ १८ ॥

तथेमे गर्जिता नागाः स्वयूथकुलशोभिताः ।
घर्मार्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शाल्मले॥ १९ ॥

'शाल्मले ! अपने यूथकुलसे सुशोभित ये गर्जना करते हुए गजराज धूपसे पीड़ित हो तुम्हारे पास आकर सुख पाते हैं ॥

तथैव मृगजातीभिरन्याभिरभिशोभसे ।
तथा सर्वाधिवासैश्च शोभसे मेरुवद्द्रुम ॥ २० ॥

'वृक्षप्रवर ! इसी प्रकार दूसरी-दूसरी जातिके पशु भी तुम्हारी शोभा बढ़ा रहे हैं । तुम सबके निवासस्थान होनेके कारण मेरुपर्वतके समान सुशोभित होते हो ॥ २० ॥

ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैस्तथा ।
त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव हि ॥ २१ ॥

'तपस्यासे शुद्ध हुए तापसों, ब्राह्मणों तथा श्रमणोंसे संयुक्त हो तुम्हारा यह स्थान मुझे स्वर्गके समान जान पड़ता है' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें वायु और शाल्मलिसंवादके प्रसङ्गमें एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षको उसका अहंकार देखकर फटकारना

नारद उवाच

बन्धुत्वादथवा सख्याच्छाल्मले नात्र संशयः ।
पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोऽनिलः ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इसमें संशय नहीं कि तुम्हें अपना बन्धु अथवा मित्र माननेके कारण ही सर्वत्रगामी भयानक वायुदेव सदा तुम्हारी रक्षा करते हैं ॥ १ ॥

न्यग्भावं परमं वायोः शाल्मले त्वमुपागतः ।
तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २ ॥

शाल्मले ! मालूम होता है, तुम वायुके सामने अत्यन्त विनम्र होकर कहते हो कि 'मैं तो आपका ही हूँ' इसीसे वह सदा तुम्हारी रक्षा करता है ॥ २ ॥

न तं पश्याम्यहं वृक्षं पर्वतं वेश्म चेदृशम् ।
यं न वायुबलाद् भग्नं पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ ३ ॥

मैं इस भूतलपर ऐसे किसी वृक्ष, पर्वत या घरको नहीं देखता, जो वायुके बलसे भग्न न हो जाय । मेरा यही विश्वास है कि वायुदेव सबको तोड़कर गिरा सकते हैं ॥ ३ ॥

त्वं पुनः कारणैर्नूनं रक्ष्यसे शाल्मले यथा ।
वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ ४ ॥

शाल्मले ! कुछ ऐसे कारण अवश्य हैं, जिनसे प्रेरित होकर वायुदेव निश्चित रूपसे सपरिवार तुम्हारी रक्षा करते हैं । निस्संदेह इसीसे यों ही खड़े रहते हो ॥ ४ ॥

शाल्मलिरुवाच

न मे वायुः सखा ब्रह्मन् न बन्धुर्न च मे सुहृत् ।
परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति वानिलः ॥ ५ ॥

सेमलने कहा—ब्रह्मन् ! वायु न तो मेरा मित्र है, न बन्धु है, न सुहृद् ही है । वह ब्रह्मा भी नहीं है, जो मेरी रक्षा करेगा ॥ ५ ॥

मम तेजो बलं भीमं वायोरपि हि नारद ।
कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ॥ ६ ॥

नारद ! मेरा तेज और बल वायुसे भी भयंकर है । वायु अपनी प्राणशक्तिके द्वारा मेरी अठारहवीं कलाको भी नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

आगच्छन् परुषो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात् ।
भञ्जन् द्रुमान् पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किंचन ॥ ७ ॥

जिस समय वायु देवता वृक्ष, पर्वत तथा दूसरी वस्तुओंको तोड़ता-फोड़ता हुआ मेरे पास पहुँचता है, उस समय मैं बलसे उसकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ७ ॥

स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन् वै प्रभञ्जनः ।
तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥ ८ ॥

देवर्षे ! इस प्रकार मैंने तोड़-फोड़ करनेवाले वायुकी गतिको अनेक बार रोक दिया है; अतः वह कुपित हो जाय तो भी मुझे उससे भय नहीं है ॥ ८ ॥

नारद उवाच

शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः ।
न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ ९ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इस विषयमें तुम्हारी दृष्टि विपरीत है—समझ उलटी हो गयी है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वायुके बलके समान किसी भी प्राणीका बल नहीं है ॥

इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः ।
नैतेऽपि तुल्या मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ १० ॥

वनस्पते ! इन्द्र, यम, कुबेर तथा जलके स्वामी वरुण—ये भी वायुके तुल्य बलशाली नहीं हैं; फिर तुम-जैसे साधारण वृक्षकी तो बात ही क्या है ? ॥ १० ॥

यच्च किंचिदिह प्राणी चेष्टते शाल्मले भुवि ।
सर्वत्र भगवान् वायुश्चेष्टाप्राणकरः प्रभुः ॥ ११ ॥

शाल्मले ! प्राणी इस पृथ्वीपर जो कुछ भी चेष्टा करता है, उस चेष्टाकी शक्ति तथा जीवन देनेवाले सर्वत्र सामर्थ्यशाली भगवान् वायु ही हैं ॥ ११ ॥

एष चेष्टयते सम्यक् प्राणिनः सम्यगायतः ।
असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतं नृपु ॥ १२ ॥

ये जब शरीरमें ठीक ढंगसे प्राण आदिके रूपमें विस्तारको प्राप्त होते हैं, तब समस्त प्राणियोंको चेष्टाशील बनाते हैं और जब ये ठीक ढंगसे काम नहीं करते हैं, तब प्राणियोंके शरीरमें विकृति आने लगती है ॥ १२ ॥

स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृतां वरम् ।
न पूजयसि पूज्यं तं किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं पूजनीय वायुदेवकी जो तुम पूजा नहीं करते हो, यह तुम्हारी बुद्धिकी लघुताके सिवा और क्या है ॥ १३ ॥

असारश्चापि दुर्मेधाः केवलं बहु भाषसे ।
क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या वदसि शाल्मले ॥ १४ ॥

शाल्मले ! तुम सारहीन और दुर्बुद्धि हो, केवल बहुत बातें बनाते हो तथा क्रोध आदि दुर्गुणोंसे प्रेरित होकर झूठ बोलते हो ॥ १४ ॥

मम रोषः समुत्पन्नस्त्वय्येवं सम्प्रभाषति ।
ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु ॥ १५ ॥

तुम्हारे इस तरह बातचीत करनेसे मेरे मनमें रोष उत्पन्न हुआ है; अतः मैं स्वयं वायुके सामने तुम्हारे इन दुर्वचनोंको सुनाऊँगा ॥ १५ ॥

चन्दनैः स्यन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभिः ।
वेतसैर्धन्वनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ १६ ॥
तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभिः ।
तेऽपि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ १७ ॥
तस्मात् तं वै नमस्यन्ति श्वसनं तरुसत्तमाः ।

चन्दन, स्यन्दन (तिनिश), शाल, सरल, देवदारु, वेतस (बेत), धामिन तथा अन्य जो बलवान् वृक्ष हैं, उन जितात्मा वृक्षोंने भी कभी इस प्रकार वायुदेवपर आक्षेप नहीं किया है। दुर्बुद्धे ! वे भी अपने और वायुके बलको अच्छी तरह जानते हैं; इसीलिये वे श्रेष्ठ वृक्ष वायुदेवके सामने मस्तक झुका देते हैं ॥ १६-१७½ ॥

त्वं तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम् ।
एवं तस्माद् गमिष्यामि सकाशं मातरिश्वनः ॥ १८ ॥

तुम तो मोहवश वायुके अनन्त बलको कुछ समझते ही नहीं हो; अतः अब मैं यहाँसे सीधे वायुदेवके ही पास जाऊँगा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५५॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीकी बात सुनकर वायुका सेमलको धमकाना और सेमलका वायुको तिरस्कृत करके विचारमग्न होना

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शाल्मलिं ब्रह्मवित्तमः ।
नारदः पवने सर्वं शाल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! सेमलसे ऐसा कहकर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने वायुदेवके पास आकर उसकी सब बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

नारद उवाच

हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छाल्मलिः परिवारवान् ।
बृहन्मूलो बृहच्छायः स त्वां वायोऽवमन्यते ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—वायुदेव ! हिमालयके पृष्ठभागपर एक सेमलका वृक्ष है, जो बहुत बड़े परिवारके साथ है। उसकी छाया विशाल और घनी है और जड़ें बहुत दूरतक फैली हैं। वह तुम्हारा अपमान करता है ॥ २ ॥

बहुव्याक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः ।
न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं तवाग्रतः ॥ ३ ॥

उसने तुम्हारे प्रति बहुत-से ऐसे आक्षेपयुक्त वचन कहे हैं, जिन्हें तुम्हारे सामने मुझे कहना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतां वरम् ।
वरिष्ठं च गरिष्ठं च क्रोधे वैवस्वतं यथा ॥ ४ ॥

पवनदेव ! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम समस्त प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ, महान् एवं गौरवशाली हो तथा क्रोधमें वैवस्वत यमके समान हो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एतत् तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः ।
शाल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! नारदजीकी यह बात सुनकर वायुदेवने शाल्मलिके पास जा कुपित होकर कहा ॥ ५ ॥

वायुरुवाच

शाल्मले नारदो गच्छंस्त्वयोक्तो मद्विगर्हणम् ।
अहं वायुः प्रभावं ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥ ६ ॥

वायु बोले—सेमल ! तुमने इधरसे जाते हुए नारदजीसे मेरी निन्दा की है। मैं वायु हूँ। तुम्हें अपना बल और प्रभाव दिखाता हूँ ॥ ६ ॥

अहं त्वामभिजानामि विदितश्चासि मे द्रुम ।
पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान् प्रभुः ॥ ७ ॥

वृक्ष ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारे विषयमें मुझे सब कुछ ज्ञात है। भगवान् ब्रह्माजीने प्रजाकी सृष्टि करते समय तुम्हारी छायामें विश्राम किया था ॥ ७ ॥

तस्य विश्रमणादेष प्रसादो मत्कृतस्तव ।
रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्याद् द्रुमाधम ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धे ! उनके विश्राम करनेसे ही मैंने तुमपर यह कृपा की थी, इसीसे तुम्हारी रक्षा हो रही है । द्रुमाधम ! तुम अपने बलसे नहीं बचे हुए हो ॥ ८ ॥

यन्मां त्वमवजानीषे यथान्यं प्राकृतं तथा ।
दर्शयाम्येष चात्मानं यथा मां नावमन्यसे ॥ ९ ॥

परंतु तुम अन्य प्राकृतिक मनुष्यकी भाँति जो मेरा अपमान कर रहे हो, इससे कुपित होकर मैं अपना वह स्वरूप दिखाऊँगा, जिससे तुम फिर मेरा अपमान नहीं करोगे ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततः प्राह शाल्मलिः प्रहसन्निव ।
पवन त्वं च मे क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पवनदेवके ऐसा कहनेपर सेमलने हँसते हुए-से कहा-'पवन ! तुम कुपित होकर स्वयं ही अपनी सारी शक्ति दिखाओ ॥ १० ॥

मयि वै त्यज्यतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि ।
न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयं प्रभुः ॥ ११ ॥

'मेरे ऊपर अपना क्रोध उतारो । तुम कुपित होकर मेरा क्या कर लोगे । पवन ! यद्यपि तुम स्वयं बड़े प्रभावशाली हो; फिर भी मैं तुमसे डरता नहीं हूँ ॥ ११ ॥

बलाधिकोऽहं त्वत्तश्च न भीः कार्या मया तव ।
ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ॥ १२ ॥
प्राणमात्रबला ये वै नैव ते बलिनो मताः ।

'मैं बलमें तुमसे बहुत बढ़-चढ़कर हूँ; अतः मुझे तुमसे भय नहीं मानना चाहिये । जो बुद्धिके बली होते हैं, वे ही बलिष्ठ माने जाते हैं । जिनमें केवल शारीरिक बल होता है, वे वास्तवमें बलवान् नहीं समझे जाते' ॥ १२½ ॥

इत्येवमुक्तः पवनः श्व इत्येवाब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥
दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रिरुपागमत् ।

सेमलके ऐसा कहनेपर वायुने कहा—'अच्छा, कल मैं तुम्हें अपना पराक्रम दिखाऊँगा' । इतनेहीमें रात आ गयी ॥

अथ निश्चित्य मनसा शाल्मलिर्वातकारितम् ॥ १४ ॥
पश्यमानस्तदाऽऽत्मानमसमं मातरिश्वना ।

उस समय सेमलने वायुके द्वारा जो कुछ किया जानेवाला था, उसपर मन-ही-मन विचार करके तथा अपने आपको वायुके समान बलवान् न देखकर सोचा—॥ १४½ ॥

नारदे यन्मया प्रोक्तं वचनं प्रति तन्मृषा ॥ १५ ॥
असमर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान् हि सः ।

'अहो ! मैंने नारदजीसे जो बातें कही थीं, वे सब झूठी थीं । मैं वायुका सामना करनेमें असमर्थ हूँ; क्योंकि वे बलमें मुझसे बढ़े हुए हैं ॥ १५½ ॥

मारुतो बलवान् नित्यं यथा वै नारदोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥
अहं तु दुर्बलोऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः ।
किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मया कश्चिद् वनस्पतिः॥१७॥

'जैसा कि नारदजीने कहा था, वायुदेव नित्य बलवान् हैं । मैं तो दूसरे वृक्षोंसे भी दुर्बल हूँ, इसमें संशय नहीं है; परंतु बुद्धिमें कोई भी वृक्ष मेरे समान नहीं है ॥ १६-१७ ॥

तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात् ।
यदि तां बुद्धिमास्थाय तिष्ठेयुः पर्णिनो वने ॥ १८ ॥
अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात् पवनान्नात्र संशयः ।

'मैं बुद्धिका आश्रय लेकर वायुके भयसे छुटकारा पाऊँगा । यदि वनमें रहनेवाले दूसरे वृक्ष भी उसी बुद्धिका सहारा लेकर रहे तो निःसंदेह कुपित वायुसे उनका कोई अनिष्ट नहीं होगा ॥

ते तु बाला न जानन्ति यथा वै तान् समीरणः ।
समीरयति संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १९ ॥

'परंतु वे मूर्ख हैं; अतः वायुदेव जिस प्रकार कुपित होकर उन्हें दबाते हैं, उसका उन्हें ज्ञान नहीं है । मैं यह सब अच्छी तरह जानता हूँ' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलि-संवादविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५६॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सेमलका हार स्वीकार करना तथा बलवान्‌के साथ वैर न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

ततो निश्चित्य मनसा शाल्मलिः क्षुभितस्तदा ।
शाखाः स्कन्धान् प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मन-ही-मन ऐसा विचारकर सेमलने क्षुभित हो अपनी शाखाओं, डालियों तथा टहनियोंको स्वयं ही नीचे गिरा दिया ॥ १ ॥

स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च ।
प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥ २ ॥

वह वनस्पति अपनी शाखाओं, पत्तों और फूलोंको त्याग-कर प्रातःकाल वायुके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २ ॥

ततः क्रुद्धः श्वसन् वायुः पातयन् वै महाद्रुमान् ।
आजगामाथ तं देशमास्ते यत्र स शाल्मलिः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सबेरा होनेपर वायुदेव कुपित हो बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करते हुए उस स्थानपर आये, जहाँ वह सेमलका वृक्ष था ॥ ३ ॥

तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं
विशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः ।
उवाच वाक्यं स्मयमान एवं
मुदा युतः शाल्मलिमुग्रशाखम् ॥ ४ ॥

वायुने देखा कि सेमलके पत्ते गिर गये हैं और उसकी श्रेष्ठ शाखाएँ धराशायी हो गयी हैं। यह फूलोंसे भी हीन हो चुका है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जिसकी शाखाएँ पहले बड़ी भयंकर थीं, उस सेमलसे मुसकराते हुए इस प्रकार बोले॥

वायुरुवाच

अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः शाल्मले रुषा।
आत्मना यत्कृतं कृच्छ्रं शाखानामपकर्षणम्॥ ५॥
हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णाङ्कुरपलाशकः।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगः कृतः॥ ६॥

वायुने कहा—शाल्मले! मैं भी रोषमें भरकर तुम्हें ऐसा ही बना देना चाहता था। तुमने स्वयं ही यह कष्ट स्वीकार कर लिया है, तुम्हारी शाखाएँ गिर गयीं। फूल, पत्ते, डालियाँ और अङ्कुर सभी नष्ट हो गये। तुमने अपनी ही कुमतिसे यह विपत्ति मोल ली है। तुम्हें मेरे बल और पराक्रमका शिकार बनना पड़ा है॥ ५-६॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शाल्मलिर्व्रीडितस्तदा।
अतप्यत वचः स्मृत्वा नारदो यत् तदाब्रवीत्॥ ७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वायुका यह वचन सुनकर सेमल उस समय लज्जित हो गया और नारदजीने जो कुछ कहा था, उसे याद करके वह बहुत पछताने लगा॥ ७॥

एवं हि राजशार्दूल दुर्बलः सन् बलीयसा।
वैरमारभते बालस्तप्यते शाल्मलिर्यथा॥ ८॥

नृपश्रेष्ठ! इसी प्रकार जो मूर्ख मनुष्य स्वयं दुर्बल होकर किसी बलवान्‌के साथ वैर बाँध लेता है, वह सेमलके समान ही संतापका भागी होता है॥ ८॥

तस्माद् वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः।
शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शाल्मलिस्तथा॥ ९॥

अतः दुर्बल मनुष्य बलवानोंके साथ वैर न करे। यदि वह करता है तो सेमलके समान ही शोचनीय दशाको पहुँचकर शोकमग्न होता है॥ ९॥

न हि वैरं महात्मानो विवृण्वन्त्यपकारिषु।
शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम्॥ १०॥

महाराज! महामनस्वी पुरुष अपनी बुराई करनेवालोंपर वैरभाव नहीं प्रकट करते हैं। वे धीरे-धीरे ही अपना बल दिखाते हैं॥ १०॥

वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना।
बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः॥ ११॥

खोटी बुद्धिवाला मनुष्य किसी बुद्धिजीवी पुरुषसे वैर न बाँधे; क्योंकि घास-फूँसपर फैलनेवाली आगके समान बुद्धिमानोंकी बुद्धि सर्वत्र पहुँच जाती है॥ ११॥

न हि बुद्ध्या समं किंचिद् विद्यते पुरुषे नृप।
तथा बलेन राजेन्द्र न समोऽस्तीह कश्चन॥ १२॥

नरेश्वर! राजेन्द्र! पुरुषमें बुद्धिके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। संसारमें जो बुद्धि-बलसे युक्त है, उसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है॥ १२॥

तस्मात् क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च।
बलाधिकाय राजेन्द्र तद् दृष्टं त्वयि शत्रुहन्॥ १३॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले राजेन्द्र! इसलिये जो बालक, जड, अन्ध, बधिर तथा बलमें अपनेसे बढ़ा-चढ़ा हो, उसके द्वारा किये गये प्रतिकूल बर्तावको भी क्षमा कर देना चाहिये; यह क्षमाभाव तुम्हारे भीतर विद्यमान है॥ १३॥

अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते।
बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः॥ १४॥

महातेजस्वी नरेश! अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ भी बलमें महात्मा अर्जुनके समान नहीं हैं॥ १४॥

निहताश्चैव भग्नाश्च पाण्डवेन यशस्विना।
चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे॥ १५॥

इन्द्र और पाण्डुके यशस्वी पुत्र अर्जुनने अपने बलका भरोसा करते हुए युद्धमें विचरते हुए यहाँ उन समस्त सेनाओंको मार डाला और भगा दिया॥ १५॥

उक्ताश्च ते राजधर्मा आपद्धर्माश्च भारत।
विस्तरेण महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १६॥

भरतनन्दन! महाराज! मैंने तुमसे राजधर्म और आपद्धर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हो॥ १६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५७॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

समस्त अनर्थोंका कारण लोभको बताकर उससे होनेवाले विभिन्न पापोंका वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषोंके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि पापका अधिष्ठान क्या है और किससे उसकी प्रवृत्ति होती है?॥ १॥

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! पापका जो अधिष्ठान है, उसे सुनो । एकमात्र लोभ ही पापका अधिष्ठान है । वह मनुष्यको निगल जानेके लिये एक बड़ा ग्राह है । लोभसे ही पापकी प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥

लोभसे ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःखकी उत्पत्ति होती है । शठता तथा छल-कपटका भी मूल कारण लोभ ही है । इसीके कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥

लोभसे ही क्रोध प्रकट होता है, लोभसे ही कामकी प्रवृत्ति होती है और लोभसे ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता तथा पराधीनता आदि दोष प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते ॥ ५ ॥

असहनशीलता, निर्लज्जता, सम्पत्तिनाश, धर्मक्षय, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभसे ही सम्भव होते हैं ॥ ५ ॥

अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च याः क्रियाः ।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः ।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥ ७ ॥

लोभसे ही कृपणता, अत्यन्त तृष्णा, शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति, कुल और विद्याविषयक अभिमान, रूप और ऐश्वर्यका मद, समस्त प्राणियोंके प्रति द्रोह, सबका तिरस्कार, सबके प्रति अविश्वास तथा कुटिलतापूर्ण बर्ताव होते हैं ॥ ६-७ ॥

हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम् ।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः ।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः ॥ ९ ॥
रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ।
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता ॥ १० ॥
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा ।

पराये धनका अपहरण, परायी स्त्रियोंके प्रति बलात्कार, वाणीका वेग, मनका वेग, निन्दा करनेकी विशेष प्रवृत्ति, जननेन्द्रियका वेग, उदरका वेग, मृत्युका भयंकर वेग अर्थात् आत्महत्या, ईर्ष्याका प्रबल वेग, मिथ्याका दुर्जय वेग, अनिवार्य रसनेन्द्रियका वेग, दुःसह श्रोत्रेन्द्रियका वेग, घृणा, अपनी प्रशंसाके लिये बढ़-बढ़कर बातें बनाना, मत्सरता, पाप, दुष्कर कर्मोंमें प्रवृत्ति, न करने योग्य कार्य कर बैठना—इन सबका कारण भी लोभ ही है ॥ ८–१०½ ॥

जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः ॥ ११ ॥
न संत्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः ।
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह ॥१२॥
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः ।

कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्य जन्मकालमें, बाल्यावस्थामें तथा कौमार और यौवनावस्थामें जिसके कारण अपने बुरे कर्मोंको छोड़ नहीं पाते हैं, जो मनुष्यके वृद्ध होनेपर भी जीर्ण नहीं होता, वह लोभ ही है । जिस प्रकार गहरे जलवाली बहुत-सी नदियोंके मिल जानेसे भी समुद्र नहीं भरता है, उसी प्रकार कितने ही पदार्थोंका लाभ क्यों न हो जाय, लोभका पेट कभी नहीं भरता है ॥ ११-१२½ ॥

न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति ॥ १३ ॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः ।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥ १४ ॥

लोभी मनुष्य बहुत-सा लाभ पाकर भी संतुष्ट नहीं होता । भोगोंसे वह कभी तृप्त नहीं होता । नरेश्वर ! न देवताओं, न गन्धर्वों, न असुरों, न बड़े-बड़े नागों और न सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा ही लोभका स्वरूप यथार्थरूपसे जाना जाता है ॥

स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना ।
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ।

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया है, उस पुरुषको चाहिये कि वह मोहसहित लोभको जीते । कुरुनन्दन ! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुषोंमें ही होते हैं ॥ १५½ ॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥ १६ ॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ।

बहुश्रुत विद्वान् बड़े-बड़े शास्त्रोंको कण्ठस्थ कर लेते हैं । सबकी शङ्काओंका निवारण कर देते हैं; परंतु इस लोभमें फँसकर उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे निरन्तर क्लेश उठाते रहते हैं ॥ १६½ ॥

द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥ १७ ॥
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव ।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥ १८ ॥

वे दोष और क्रोधमें फँसकर शिष्टाचारको छोड़ देते हैं और ऊपरसे मीठे वचन बोलते हुए भी भीतरसे अत्यन्त कठोर हो जाते हैं । उनकी स्थिति घास-फूँससे ढके हुए कुएँके समान होती है । वे धर्मके नामपर संसारको धोखा देनेवाले, क्षुद्र मनुष्य धर्मध्वजी होकर (धर्मका ढोंग फैलाकर) जगत्को लूटते हैं ॥ १७-१८ ॥

कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः ।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिताः ।१९।

युक्तिबलका आश्रय लेकर बहुत-से असत् मार्ग खड़े कर

देते हैं तथा लोभ और अज्ञानमें स्थित हो सत्पुरुषोंके स्थापित किये हुए मार्गों (धर्ममर्यादाओं) का नाश करने लगते हैं ॥

धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते ॥ २० ॥

लोभग्रस्त दुरात्मा पुरुषोंद्वारा अपहृत (विकृत) होनेवाले धर्मकी जो-जो स्थिति बिगड़ जाती या बदल जाती है, वह उसी रूपमें प्रचलित हो जाती है ॥ २० ॥

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिनकी बुद्धि लोभमें फँसी हुई है, उन मनुष्योंमें दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक तथा अत्यन्त अभिमान—ये ही दोष दिखायी देते हैं ॥ २१ ॥

एतानशिष्टान् बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान् वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥२२॥

जो सदा लोभमें डूबे रहते हैं, ऐसे ही मनुष्योंको तुम अशिष्ट समझो। तुम्हें शिष्ट पुरुषोंसे ही अपनी शंकाएँ पूछनी चाहिये। पवित्र नियमोंका पालन करनेवाले उन शिष्ट पुरुषोंका मैं परिचय दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ।
नामिषेषु प्रसंगोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ॥ २३ ॥

जिन्हें फिर संसारमें जन्म लेनेका भय नहीं है, परलोकसे भी भय नहीं है, जिनकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है तथा प्रिय और अप्रियमें भी जिनका राग-द्वेष नहीं है ॥ २३ ॥

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥ २४ ॥

जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है। जिनमें इन्द्रिय-संयम प्रतिष्ठित है। जिनके लिये सुख और दुःख समान हैं। सत्य ही जिनका परम आश्रय है ॥ २४ ॥

दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २५ ॥

वे देते हैं, लेते नहीं। उनमें स्वभावसे ही दया भरी रहती है। वे देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके सेवक होते हैं और सत्कर्म करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः ।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! वे वीर पुरुष सबका उपकार करनेवाले, सम्पूर्ण धर्मोंके रक्षक तथा समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। वे परहितके लिये सर्वस्व निछावर कर देते हैं ॥ २६ ॥

न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः ।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ॥ २७ ॥

उन्हें सत्कर्मसे विचलित नहीं किया जा सकता। वे केवल धर्मके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं। पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने जिसका पालन किया है, उसी सदाचारका वे भी पालन करते हैं। उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता ॥ २७ ॥

न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥ २८ ॥

वे किसीको भय नहीं दिखाते, चपलता नहीं करते, उनका स्वभाव किसीके लिये भयंकर नहीं होता है, वे सदा सन्मार्गमें ही स्थित रहते हैं, उनमें अहिंसा नित्य प्रतिष्ठित होती है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंका ही सदा सेवन करना चाहिये ॥ २८ ॥

कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ २९ ॥

जो काम और क्रोधसे रहित, ममता और अहङ्कारसे शून्य, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्ममर्यादाको स्थिर रखनेवाले हैं, उन्हीं महापुरुषोंका संग करो और उनसे अपना संदेह पूछो ॥ २९ ॥

न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर ।
अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! उनका धर्मपालन धन बटोरने या यश कमानेके लिये नहीं होता। वे धर्म तथा शारीरिक क्रियाओंको अवश्यकर्तव्य समझकर ही करते हैं॥ ३० ॥

न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते ।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं किञ्चिदास्थिताः ॥ ३१ ॥

उनमें भय, क्रोध, चपलता तथा शोक नहीं होता। वे धर्मध्वजी (पाखण्डी) नहीं होते, किसी गोपनीय पाखण्डपूर्ण धर्मका आश्रय नहीं लेते हैं ॥ ३१ ॥

येष्वलोभस्तथामोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः ।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३२ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिनमें लोभ और मोहका अभाव है, जो सत्य और सरलतामें स्थित हैं तथा कभी सदाचारसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, ऐसे पुरुषोंमें तुम्हें प्रेम रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३३ ॥

लाभालाभौ सुखदुःखे च तात
प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां
बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम् ॥ ३४ ॥
धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान्
दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः ।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति
शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये ॥ ३५ ॥

तात ! जो लाभमें हर्षसे फूल नहीं उठते, हानिमें व्यथित नहीं होते, ममता और अहङ्कारसे शून्य हैं, जो सर्वदा सत्त्वगुणमें स्थित और समदर्शी होते हैं, जिनकी दृष्टिमें लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण समान हैं, जो सुदृढ़ पराक्रमी, आध्यात्मिक उन्नतिके इच्छुक और सत्त्वमय मार्गमें स्थित हैं, उन धर्मप्रेमी महानुभावोंकी तुम सावधान

और जितेन्द्रिय रहकर सेवा-सत्कार करो । ये सब महापुरुष स्वभावसे ही बड़े गुणवान् होते हैं । शुभ और अशुभके विषयमें उनकी वाणी यथार्थ होती है । दूसरे लोग तो केवल बातें बनानेवाले होते हैं ॥ ३३—३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि आपन्मूलभूतदोषकथने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें आपत्तिके मूलभूत दोषका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अज्ञान और लोभको एक दूसरेका कारण बताकर दोनोंकी एकता करना और दोनोंको ही समस्त दोषोंका कारण सिद्ध करना

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह ।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने सब अनर्थोंके आधारभूत लोभका वर्णन तो किया, अब अज्ञानका भी यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; मैं उसके परिणामको भी सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम् ।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अज्ञान-वश पाप करता है और उससे होनेवाली अपनी ही हानिको नहीं समझता तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे द्वेष करता है, उसकी संसार-में बड़ी निन्दा होती है ॥ २ ॥

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम् ।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥ ३ ॥

अज्ञानसे ही जीव नरकमें पड़ता है । अज्ञानसे ही उसकी दुर्गति होती है, अज्ञानसे वह कष्ट उठाता तथा विपत्तियोंके समुद्रमें डूब जाता है ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिक्षयोदयौ ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल ! अज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उद्गम, मूल, योग, गति, काल, कारण और हेतु क्या हैं ? ॥ ४ ॥

श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव ।
अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैं इस विषयको यथावत्‌रूपसे तत्त्वके विवेचनपूर्वक सुनना चाहता हूँ; क्योंकि यह जो दुःख उपलब्ध होता है, उसकी उत्पत्तिका कारण अज्ञान ही है ॥

भीष्म उवाच

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता ।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ताप, दूसरोंकी उन्नति देखकर जलना और पापाचार करना—इन सबको (अज्ञानका कार्य होनेसे) अज्ञान बताया गया है ॥

एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्यांश्च पृच्छसि ।
विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः ॥ ८ ॥

महाराज ! इस अज्ञानकी उत्पत्ति और वृद्धि आदिके विषयमें जो प्रश्न कर रहे हो, उसके विषयमें विशेष विस्तारके साथ किया हुआ मेरा वर्णन सुनो ॥ ८ ॥

उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत ।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव ॥ ९ ॥

भारत ! पृथ्वीनाथ ! अज्ञान और अत्यन्त लोभ—इन दोनोंको एक समझो, क्योंकि इनके परिणाम और दोष समान ही हैं ॥ ९ ॥

लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्धते ।
स्थाने स्थानं क्षये क्षैण्यमुपैति विविधां गतिम् ॥ १० ॥

लोभसे ही अज्ञान प्रकट होता है और लोभके बढ़नेपर वह अज्ञान और भी बढ़ता है । जबतक लोभ रहता है, तब-तक अज्ञान भी बना रहता है और जब लोभका क्षय होता है, तब अज्ञान भी क्षीण हो जाता है । अज्ञान और लोभके कारण ही जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च ।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च ॥ ११ ॥

मोह ही निःसंदेह लोभका मूलकारण है । यह कालस्वरूप मोहात्मक अज्ञान ही मनुष्यकी बुरी गतिका कारण है । लोभ-के छिन्न-भिन्न होनेमें भी काल ही कारण है ॥ ११ ॥

तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च ।
सर्वदोषास्तथा लोभात् तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १२ ॥

मूढ़ मनुष्यको अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान होता है । लोभसे ही सारे दोष पैदा होते हैं; इसलिये लोभको त्याग देना चाहिये ॥ १२ ॥

जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित्।
लोभक्षयाद् दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः॥ १३॥

जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा अन्य नरेश लोभका नाश करके ही दिव्यलोकमें गये हैं॥ १३॥

प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि॥ १४॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम स्वयं प्रयत्न करके इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोभका परित्याग करो। लोभका त्याग कर इस लोकमें सुख तथा मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी आनन्द प्राप्त करके सुखपूर्वक विचरोगे॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें अज्ञानका माहात्म्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५९॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मन और इन्द्रियोंके संयमरूप दमका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह।
धर्मकामस्य धर्मात्मन् किं नु श्रेय इहोच्यते॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्मा पितामह! जो स्वाध्यायके लिये यत्नशील है और धर्मपालनकी इच्छा रखता है, उस मनुष्यके लिये इस संसारमें श्रेय क्या बताया जाता है?॥ १॥

बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे।
अस्मिँल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २॥

पितामह! जगत्में श्रेयका प्रतिपादन करनेवाले अनेक प्रकारके दर्शन (मत) हैं; परंतु आप जिसे श्रेय मानते हों, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो, उसे मुझे बताइये॥ २॥

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम्॥ ३॥

भारत! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है। इससे बहुत-सी शाखाएँ निकली हुई हैं। इन धर्मोंमेंसे कौन-सा धर्म सर्वोत्तम, अवश्य पालन करनेयोग्य माना गया है?॥ ३॥

धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः।
यन्मूलं परमं तात तत् सर्वं ब्रूह्यशेषतः॥ ४॥

राजन्! बहुत-सी शाखाओंसे युक्त इस महान् धर्मका वास्तवमें परम मूल क्या है? तात! ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे बताइये॥ ४॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम कल्याण प्राप्त कर लोगे। जैसे अमृतको पीकर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञान-सुधासे पूर्णतः तृप्त हो जाओगे॥ ५॥

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्॥ ६॥

महर्षियोंने अपने-अपने ज्ञानके अनुसार धर्मकी एक नहीं, अनेक विधियाँ बतायी हैं, परंतु उन सबका आधार दम (मन और इन्द्रियोंका संयम) ही है॥ ६॥

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः॥ ७॥

धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाले वृद्ध पुरुष दमको निःश्रेयस (परम कल्याण)का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन धर्म है॥ ७॥

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते॥ ८॥

दमसे ही उसे अपने शुभ कर्मोंकी यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसके लिये दान, यज्ञ और स्वाध्यायसे भी बढ़कर है॥ ८॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥ ९॥

दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन है, दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परमपदको प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम्॥ १०॥

हमने संसारमें दमके समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। जगत्में सभी धर्मवालोंके यहाँ दमको उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है॥ १०॥

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते॥ ११॥

नरेन्द्र! दमसे अर्थात् इन्द्रिय और मनके संयमसे युक्त पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति होती है। वह इहलोक और परलोकमें भी परम सुख पाता है॥ ११॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति॥ १२॥

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, वह सुखसे सोता, सुखसे ही जागता और सुखपूर्वक ही लोकोंमें विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है॥ १२॥

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान्॥ १३॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, वह पुरुष निरन्तर क्लेश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषोंसे

बहुत-से दूसरे-दूसरे अनर्थोंकी भी सृष्टि कर लेता है ॥ १३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। अब मैं इन्द्रिय-दमन एवं मनोनिग्रहके उन लक्षणोंको बताऊँगा, जिनका उदय होना ही दम कहा गया है ॥ १४ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, संतोष, प्रिय वचन बोलनेका स्वभाव, किसी भी प्राणीको कष्ट न देना और दूसरोंके दोष न देखना—इन सद्गुणोंका उदय होना ही दम कहलाता है ॥ १५-१६ ॥

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! जिसने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनोंके प्रति आदरका भाव, समस्त प्राणियोंके प्रति दया और किसीकी भी चुगली न खानेकी प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा-स्तुतिकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जडता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरोंका अपमान—इन दुर्गुणोंका कभी सेवन नहीं करता ॥ १७-१८ ॥

अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥

इन्द्रिय और मनको वशमें रखनेवाले पुरुषकी कभी निन्दा नहीं होती। उसके मनमें कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओंके लिये किसीके सामने हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय-सुखोंकी अभिलाषा नहीं रखता, दूसरोंके दोष नहीं देखता। वह मनुष्य समुद्रके समान अगाध गाम्भीर्य धारण करता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, उसी प्रकार वह भी निरन्तर धर्मसंचयसे कभी तृप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

अहं त्वयि मयि त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम् ।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगं नैतद् दान्तो निषेवते ॥ २० ॥

'मैं तुमपर स्नेह रखता हूँ और तुम मुझपर। वे मुझमें अनुराग रखते हैं और मैं उनमें' इस प्रकार पहलेके सम्बन्धियोंके सम्बन्धका जितेन्द्रिय पुरुष चिन्तन नहीं करता ॥

सर्वा ग्राम्यास्तथाऽऽरण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः ।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥

जगत्‌में ग्रामीणों और वनवासियोंकी जो-जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबका जो सेवन नहीं करता तथा दूसरोंकी निन्दा और प्रशंसासे भी दूर रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है ॥

मैत्रोऽथ शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्च यः ।
मुक्तस्य विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य फलं महत् ॥ २२ ॥

जो सबके प्रति मित्रताका भाव रखनेवाला और सुशील है, जिसका मन प्रसन्न है, जो नाना प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त तथा आत्मज्ञानी है, उसे मृत्युके पश्चात् मोक्षरूप महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः ।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जो सदाचारी, शीलसम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्म-तत्त्वको जाननेवाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोकमें सत्कार पाकर परलोकमें परम गति पाता है ॥ २३ ॥

कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्वर्त्म न हीयते ॥ २४ ॥

इस जगत्‌में जो केवल शुभ (कल्याणकारी) कर्म है तथा सत्पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, वही ज्ञानवान् मुनिका मार्ग है। वह स्वभावतः उसका आचरण करता है। उससे कभी च्युत नहीं होता ॥ २४ ॥

निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २५ ॥

ज्ञानसम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष घरसे निकलकर वनका आश्रय ले वहाँ मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता रहता है। इस प्रकार वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ २५ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥

जिसको दूसरे प्राणियोंसे भय नहीं है तथा जिससे दूसरे प्राणी भी भय नहीं मानते, उस देहाभिमानसे रहित महात्मा पुरुषको कहींसे भी भय नहीं प्राप्त होता ॥ २६ ॥

अवाचिनोति कर्माणि न च सम्प्रचिनोति ह ।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥

वह उपभोगद्वारा प्रारब्ध कर्मोंको क्षीण करता है और कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्तिसे शून्य होनेके कारण नूतन कर्मोंका संचय नहीं करता है। सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सबको मित्रकी भाँति अभयदान देता हुआ विचरता है ॥ २७ ॥

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंका और जलमें जलचर जन्तुओं-का पदचिह्न नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार ज्ञानीकी गति भी जाननेमें नहीं आती है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥

गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः ॥ २९ ॥

राजन्! जो घर-बारको छोड़कर मोक्षमार्गका ही आश्रय लेता है, उसे अनन्त वर्षोंके लिये दिव्य तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥
कामे शुचिरनावृत्तः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः।
प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते ॥ ३१ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल है, जिसकी कामनाएँ शुद्ध हैं तथा जो भोगोंसे पराङ्मुख हो चुका है, वह आत्मज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका, तपस्याका तथा नाना प्रकारकी विद्याओंका विधिवत् संन्यास (त्याग) करके सर्वत्यागी संन्यासी होकर इहलोकमें सम्मानित हो परलोकमें अक्षय स्वर्ग (ब्रह्मधाम) को प्राप्त होता है ।३०-३१।

यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम्।
गुहायां पिहितं नित्यं तद् दमेनाभिगम्यते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मराशिसे उत्पन्न हुआ जो पितामह ब्रह्माजीका उत्तम धाम है, वह हृदयगुहामें छिपा हुआ है। उसकी प्राप्ति सदा दम (इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह) से ही होती है ॥ ३२॥

ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ ३३ ॥

जिसका किसी भी प्राणीके साथ विरोध नहीं है, जो ज्ञानस्वरूप आत्मामें रमता रहता है, ऐसे ज्ञानीको इस लोकमें पुनः जन्म लेनेका भय ही नहीं रहता, फिर उसे परलोकका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥

दम अर्थात् संयममें एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होनेके कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं ॥ ३४ ॥

एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात् सुमहान् गुणः।
क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करनेसे उसको बहुत-से पुण्यलोक सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमासे सहिष्णुता भी आ जाती है ॥ ३५ ॥

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥ ३६ ॥

भारत! संयमी पुरुषको वनमें जानेकी क्या आवश्यकता है ? और जो असंयमी है, उसको वनमें रहनेसे भी क्या लाभ है ? संयमी पुरुष जहाँ रहे, वहीं उसके लिये वन और आश्रम है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गये हों ॥ ३७ ॥

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
तपः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीसे पुनः तपस्याके विषयमें प्रश्न किया। तब भीष्मजीने उन्हें उसके विषयमें सब कुछ बताना आरम्भ किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें दमका वर्णनविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

तपकी महिमा

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है ॥ १ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

भगवान् प्रजापतिने तपसे ही इस समस्त संसारकी सृष्टि की है तथा ऋषियोंने तपसे ही वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है ॥

तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रीँल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥

जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाताने तपसे ही उत्पन्न किया है। तपस्यासे सिद्ध हुए एकाग्रचित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ३ ॥

औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥

औषध, आरोग्य आदिकी प्राप्ति तथा नाना प्रकारकी क्रियाएँ तपस्यासे ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधनकी जड़ तपस्या ही है ॥ ४ ॥

यद् दुरापं भवेत् किंचित् तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥ ५ ॥

संसारमें जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्यासे सुलभ हो सकती है। ऋषियोंने तपस्यासे ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यको प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

शराबी, किसीकी सम्मतिके बिना ही उसकी वस्तु उठा लेनेवाला (चोर), गर्भहत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्याद्वारा ही पापसे छुटकारा पाता है ॥ ६ ॥

तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः ।
निवृत्तस्य वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम् ॥ ७ ॥

तपस्याके अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायोंद्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परंतु जो निवृत्ति-मार्गसे चल रहा है, उसके लिये उपवाससे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ७ ॥

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम् ॥ ८ ॥

महाराज ! अहिंसा, सत्यभाषण, दान और इन्द्रिय-संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवाससे बड़ी कोई तपस्या नहीं है ॥ ८ ॥

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः ।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥

दानसे बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, माताकी सेवासे बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, तीनों वेदोंके विद्वानोंसे श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास सबसे बड़ा तप है ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये ।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात् परम् ॥ १० ॥

इस संसारमें धार्मिक पुरुष स्वर्गके साधनभूत धर्मकी रक्षाके लिये इन्द्रियोंको सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं । परंतु धर्म और अर्थ दोनोंकी सिद्धिके लिये तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ॥१०॥

ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ११ ॥
तपःपरायणाः सर्वे सिद्ध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्यामें ही तत्पर रहते हैं । तपस्यासे ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार देवताओंने भी तपस्यासे ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया है ॥ ११-१२ ॥

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥ १३ ॥

ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्यासे ही सुलभ होते हैं । तपस्यासे निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि तपःप्रशंसायामेकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें तपस्याकी प्रशंसाविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यके लक्षण, स्वरूप और महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सब सत्यभाषणरूप धर्मकी प्रशंसा करते हैं; अतः अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है ? उसे मुझे बताइये ॥ १ ॥

सत्यं किंलक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत् किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥ २ ॥

राजन् ! सत्यका लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? सत्यका पालन करनेसे क्या लाभ होता है ? और कैसे होता है ? यह बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते ।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके जो धर्म हैं, उनका परस्पर सम्मिश्रण अच्छा नहीं माना जाता है । निर्विकार सत्य सभी वर्णोंमें प्रतिष्ठित है ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥

सत्पुरुषोंमें सदा सत्यरूप धर्मका ही पालन हुआ है । सत्य ही सनातन धर्म है । सत्यको ही सदा सिर झुकाना चाहिये; क्योंकि सत्य ही जीवकी परम गति है ॥ ४ ॥

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्यको ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है ॥ ५ ॥

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः ।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

अब मैं तुम्हें क्रमशः सत्यके आचार और लक्षण ठीक-ठीक बताऊँगा ॥ ६ ॥

प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि ।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥

साथ ही यह भी बता देना चाहता हूँ कि उस सत्य-

की प्राप्ति कैसे होती है ? तुम ध्यान देकर सुनो। भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें सत्यके तेरह भेद माने गये हैं ॥ ७ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरताका अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनसूया, त्याग, परमात्माका ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहनेवाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा—ये तेरह सत्यके ही स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ८-९ ॥

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥ १० ॥

नित्य एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्यका लक्षण है। समस्त धर्मोंके अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योगके द्वारा इस सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥

अपने प्रिय मित्रमें तथा अप्रिय शत्रुमें भी समानभाव रखना 'समता' है। इच्छा (राग), द्वेष, काम और क्रोधको मिटा देना ही समताकी प्राप्तिका उपाय है ॥ ११ ॥

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥

किसी दूसरेकी वस्तुको लेनेकी इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भयको त्याग देना तथा मनके रोगोंको शान्त कर देना—यह 'दम' (मन और इन्द्रियोंके संयम) का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है ॥ १२ ॥

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥

दान और धर्म करते समय मनपर संयम रखना अर्थात् इस विषयमें दूसरोंसे ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरताका अभाव' कहते हैं। सदा सत्यका पालन करनेसे ही मनुष्य मत्सरतासे रहित हो सकता है ॥ १३ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥ १४ ॥

जो सहने और न सहनेयोग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनोंको भी समानरूपसे सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुषको ही उत्तम रीतिसे क्षमाभावकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥ १५ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति दूसरोंका कल्याण करता है और मनमें कभी खेद नहीं मानता, जिसकी मन-वाणी सदा शान्त रहती हैं, वह लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जा-नामक गुण धर्मके आचरणसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥

धर्म और अर्थके लिये मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करनेके लिये उसका अवश्य पालन करना चाहिये। तितिक्षाकी प्राप्ति धैर्यसे होती है। (दूसरोंके दोष न देखना 'अनसूया' है)॥ १६ ॥

त्यागः स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

विषयोंकी आसक्तिका जो त्याग है, वही वास्तविक त्याग है। राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही त्यागकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं (परमात्मचिन्तनका नाम ही 'ध्यान' है)॥

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥

जो मनुष्य अपनेको प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियोंकी भलाईका काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरणका नाम ही 'आर्यता' है। यह आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १९ ॥

सुख या दुःख प्राप्त होनेपर मनमें विकार न होना 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान् पुरुषको सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिये ॥ १९ ॥

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥ २० ॥

मनुष्यको सदा क्षमाशील होना तथा सत्यमें तत्पर रहना चाहिये। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनोंको त्याग दिया है, उस विद्वान् पुरुषको ही 'धैर्य' की प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥

एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥

ये पृथक्-पृथक् तेरह रूपोंमें बताये हुए धर्म एकमात्र सत्यको ही लक्षित करानेवाले हैं। ये सत्यका ही आश्रय लेते और उसीकी वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं ॥ २२ ॥

नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव ।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ ! सत्यके गुणोंकी सीमा नहीं बतायी जा

सकती। इसीलिये पितर और देवताओंके सहित ब्राह्मण सत्यकी प्रशंसा करते हैं ॥ २३ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥ २४ ॥

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठसे बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्मकी आधारशिला है; अतः सत्यका लोप न करे ॥ २४ ॥

उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः॥ २५ ॥

दानका, दक्षिणाओंसहित यज्ञका, त्रिविध अग्नियोंमें हवनका, वेदोंके स्वाध्यायका तथा अन्य जो धर्मका निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययनका फल मनुष्य सत्यसे प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ २६ ॥

यदि एक ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंको और दूसरी ओर एकमात्र सत्यको तराजूपर रक्खा जाय तो एक हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही पलड़ा भारी होगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें सत्यकी प्रशंसाविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

काम, क्रोध आदि तेरह दोषोंका निरूपण और उनके नाशका उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः॥ १ ॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! परम बुद्धिमान् पितामह ! क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा (शास्त्रविरुद्ध काम करनेकी इच्छा), परासुता (दूसरोंके मारनेकी इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कंजूसी (दैन्यभाव)—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं ? यह ठीक-ठीक बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे कहे हुए ये तेरह दोष प्राणियोंके अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं, जो यहाँ मनुष्योंको सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ ३ ॥

एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात्॥ ४ ॥

ये सदा सावधान रहकर प्रमादमें पड़े हुए पुरुषको अत्यन्त पीड़ा देते हैं। मनुष्यको देखते ही भेड़ियोंकी तरह बलपूर्वक उसपर टूट पड़ते हैं ॥ ४ ॥

एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते।
इति मर्त्यो विजानीयात् सततं पुरुषर्षभ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ ! इन्हींसे सबको दुःख प्राप्त होता है, इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्यकी पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पुरुषको सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः॥ ६ ॥
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु।

पृथ्वीनाथ ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि इनकी उत्पत्ति किससे होती है ? ये किस तरह स्थिर रहते हैं ? और कैसे इनका विनाश होता है ? राजन् ! सबसे पहले क्रोधकी उत्पत्तिका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषयको सुनो ॥ ६½ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते॥ ७ ॥
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।

राजन् ! क्रोध लोभसे उत्पन्न होता, दूसरोंके दोष देखनेसे बढ़ता, क्षमा करनेसे थम जाता और क्षमासे ही निवृत्त हो जाता है ॥ ७½ ॥

संकल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते॥ ८ ॥
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।

काम संकल्पसे उत्पन्न होता है। उसका सेवन किया जाय तो बढ़ता है और जब बुद्धिमान् पुरुष उससे विरक्त हो जाता है, तब वह (काम) तत्काल नष्ट हो जाता है॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते॥ ९ ॥
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते।
अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम्॥ १० ॥

क्रोध और लोभसे तथा अभ्याससे परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयासे और वैराग्यसे वह निवृत्त होती है। परदोष-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती और बुद्धिमानोंके तत्त्वज्ञानसे वह नष्ट हो जाती है ॥ ९-१० ॥

अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति॥ ११ ॥

मोह अज्ञानसे उत्पन्न होता है और पापकी आवृत्ति करनेसे बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानोंमें अनुराग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह।

विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जो लोग धर्मके विरोधी शास्त्रोंका अवलोकन करते हैं, उनके मनमें अनुचित कर्म करनेकी इच्छारूप विधित्सा उत्पन्न होती है। यह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होती है ॥

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ १३ ॥

जिसपर प्रेम हो, उस प्राणीके वियोगसे शोक प्रकट होता है। परंतु जब मनुष्य यह समझ ले कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरंत ही उस शोककी शान्ति हो जाती है ॥ १३ ॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते ॥ १४ ॥

क्रोध, लोभ और अभ्यासके कारण परासुता अर्थात् दूसरोंको मारनेकी इच्छा होती है। समस्त प्राणियोंके प्रति दया और वैराग्य होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया।
एतत् तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १५ ॥

सत्यका त्याग और दुष्टोंका साथ करनेसे मात्सर्यदोषकी उत्पत्ति होती है। तात ! श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा और संगति करनेसे उसका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम्।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥ १६ ॥

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्यका अभिमान होनेसे देहाभिमानी मनुष्योंपर मद सवार हो जाता है; परंतु इनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर वह मद तत्काल उतर जाता है ॥ १६ ॥

ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १७ ॥

मनमें कामना होनेसे तथा दूसरे प्राणियोंकी हँसी-खुशी देखनेसे ईर्ष्याकी उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धिके द्वारा उसका नाश होता है ॥ १७ ॥

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः।
कुत्सा संजायते राजँल्लोकान् प्रेक्ष्याभिशाम्यति ॥

राजन् ! समाजसे बहिष्कृत हुए नीच मनुष्योंके द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनोंको सुनकर भ्रममें पड़ जानेसे निन्दा करनेकी आदत होती है; परंतु श्रेष्ठ पुरुषोंको देखनेसे वह शान्त हो जाती है ॥ १८ ॥

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते ॥ १९ ॥

जो लोग अपनी बुराई करनेवाले बलवान् मनुष्यसे बदला लेनेमें असमर्थ होते हैं, उनके हृदयमें तीव्र असूया (दोषदर्शन-की प्रवृत्ति) पैदा होती है, परंतु दयाका भाव जाग्रत् होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥ २० ॥

सदा कृपण मनुष्योंको देखनेसे अपनेमें भी दैन्यभाव—कंजूसीका भाव पैदा होता है; धर्मनिष्ठ पुरुषोंके उदार भावको जान लेनेपर वह कंजूसीका भाव नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥ २१ ॥

प्राणियोंका भोगोंके प्रति जो लोभ देखा जाता है, वह अज्ञानके ही कारण है। भोगोंकी क्षणभङ्गुरताको देखने और जाननेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश ॥ २२ ॥
त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात् ॥ २३ ॥

कहते हैं, ये तेरहों दोष शान्ति धारण करनेसे जीत लिये जाते हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये सभी दोष मौजूद थे और तुम सत्यको ग्रहण करना चाहते हो; इसलिये तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवनसे इन सबपर विजय प्राप्त कर ली ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभनिरूपणे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें लोभनिरूपणविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुषके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! सदा श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवन और दर्शनसे मैं इस बातको तो जानता हूँ कि कोमलतापूर्ण बर्ताव कैसे किया जाता है ? परंतु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मोंका मुझे विशेष ज्ञान नहीं है ॥ १ ॥

कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥

जैसे मनुष्य रास्तेमें मिले हुए काँटों, कुओं और आगको बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस कर्म करनेवाले पुरुषको भी दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ २ ॥

नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत।
तस्मात् त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! नृशंस मनुष्य इस लोक और पर-लोकमें भी सदा ही शोककी आगसे जलता रहता है; अतः

आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्मका यथार्थ परिचय दीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते स च ॥ ४ ॥
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥ ५ ॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥ ६ ॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जिसके मनमें बड़ी घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसाप्रधान कुत्सित कर्मोंको आरम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरोंकी निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपनेको दैवसे वञ्चित समझता और पापमें प्रवृत्त होता है, दिये हुए दानका बारंबार बखान करता है, जिसके मनमें विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करनेवाला, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला और शठ है, भोग्य वस्तुओंको दूसरोंको दिये बिना ही अकेले भोगता है, जिसके भीतर अभिमान भरा हुआ है, जो विषयोंमें आसक्त और अपनी प्रशंसाके लिये व्यर्थ ही बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला है, जिसके मनमें सबके प्रति संदेह बना रहता है, जो कौएकी तरह वञ्चक दृष्टि रखनेवाला है, जिसमें कृपणता कूट-कूटकर भरी है, जो अपने ही वर्गके लोगोंकी प्रशंसा करता, सदा आश्रमोंसे द्वेष रखता और वर्णसंकरता फैलाता है, सदा हिंसाके लिये ही जिसका घूमना-फिरना होता है, जो गुणको भी अवगुणके समान समझता और बहुत झूठ बोलता है, जिसके मनमें उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करनेवाला कहा गया है ॥ ४—७ ॥

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुषको ही पापी मानता है और अपने स्वभावको आदर्श मानकर किसीपर विश्वास नहीं करता है ॥ ८ ॥

परेषां यत्र दोषः स्यात् तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥ ९ ॥

जहाँ दूसरोंकी बदनामी होती हो, वहाँ उनके गुप्त दोषोंको भी प्रकट कर देता है और अपने तथा दूसरेके अपराध बराबर होनेपर भी वह आजीविकाके लिये दूसरेका ही सर्वनाश करता है ॥ ९ ॥

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम्।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥ १० ॥

जो उसका उपकार करता है, उसको वह अपने जालमें फँसा हुआ समझता है और उपकारीको भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिये बहुत समयतक पश्चात्ताप करता रहता है ॥ १० ॥

भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत् साधु भोजनम्।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य दूसरोंके देखते रहनेपर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य तथा दूसरे-दूसरे भोज्य पदार्थोंको अकेला ही खा जाता है, उसको भी नृशंस ही कहना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२ ॥

जो पहले ब्राह्मणको देकर पीछे अपने सुहृदोंके साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोकमें अनन्त सुख भोगता है और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः।
सदा विवर्जनीयो हि पुरुषेण विजानता ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्यका परिचय दिया गया है। विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह सदा उससे बचकर रहे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें नृशंसका वर्णनविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके पापों और उनके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

भीष्म उवाच

हृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः।
आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च ॥ १ ॥
एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदोंका पारंगत विद्वान् ब्राह्मण यदि यज्ञ करनेवाला हो तथा उसका धन चोर चुरा ले गये हों तो राजाका कर्तव्य है कि वह उसे आचार्यकी दक्षिणा देने, पितरोंका श्राद्ध करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेके लिये धन दे। भरतनन्दन! ये श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रायः धर्मके लिये धनकी भिक्षा माँगते देखे गये हैं। इन्हें दान और विद्याध्ययनके लिये धन देना चाहिये ॥ १-२ ॥

अन्यत्र दक्षिणादानं देयं भरतसत्तम।

अन्येभ्योऽपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं विधीयते ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे भिन्न परिस्थितिमें ब्राह्मणको केवल दक्षिणा देनी चाहिये और ब्राह्मणेतर मनुष्योंको भी यज्ञ-वेदीसे बाहर कच्चा अन्न देनेका विधान है ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
अन्योन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा ॥ ४ ॥

राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंको उनकी योग्यताके अनुसार सब प्रकारके रत्नोंका दान करे; क्योंकि ब्राह्मण ही वेद एवं बहुसंख्यक दक्षिणावाले यज्ञरूप हैं । अपनी सम्पत्तिके अनुसार समस्त कार्योंका आयोजन करनेवाले वे ब्राह्मण सदा आपसमें मिलकर गुणयुक्त यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ ४ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥

जिस ब्राह्मणके पास अपने पालनीय कुटुम्बीजनोंके भरण-पोषणके लिये तीन वर्षतक उपभोगमें आने लायक पर्याप्त धन हो अथवा उससे भी अधिक वैभव विद्यमान हो, वही सोमपानका अधिकारी है—उसे ही सोमयागका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ॥ ५ ॥

यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादंशेनैकेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ६ ॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात् तस्य तद् वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥

यदि धर्मात्मा राजाके रहते हुए किसी यज्ञकर्ताका, विशेषतः ब्राह्मणका यज्ञ धनके बिना अधूरा रह जाय—उसके एक अंशकी पूर्ति शेष रह जाय तो राजाको चाहिये कि उसके राज्यमें जो बहुत पशुओं तथा वैभवसे सम्पन्न वैश्य हो, यदि वह यज्ञ तथा सोमयागसे रहित हो तो उसके कुटुम्बसे उस धनको यज्ञके लिये ले ले ॥ ६-७ ॥

आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किञ्चिदस्ति परिग्रहः ॥ ८ ॥

किंतु राजा अपनी इच्छाके अनुसार शूद्रके घरसे थोड़ा-सा भी धन न ले आवे; क्योंकि यज्ञोंमें शूद्रका किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ९ ॥

जिस वैश्यके पास एक सौ गौएँ हों और वह अग्निहोत्र न करता हो तथा जिसके पास एक हजार गौएँ हों और वह यज्ञ न करता हो, उन दोनोंके कुटुम्बोंसे राजा बिना विचारे ही धन उठा लावे ॥ ९ ॥

अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा ।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ १० ॥

जो धन रहते हुए उसका दान न करते हों, ऐसे लोगोंके इस दोषको विख्यात करके राजा सदा धर्मके लिये उनका धन ले ले, ऐसा आचरण करनेवाले राजाको सम्पूर्ण धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नतः ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रकार मैं अन्नके विषयमें जो बातें बता रहा हूँ, उसे सुनो । यदि ब्राह्मण अन्नाभावके कारण लगातार छः समयतक उपवास कर जाय तो उस अवस्थामें वह किसी निकृष्ट कर्म करनेवाले मनुष्यके घरसे उतने धनका अपहरण कर सकता है, जिससे उसके एक दिनका भोजन चल जाय और दूसरे दिनके लिये कुछ बाकी न रहे ॥ ११ ॥

खलात् क्षेत्रात् तथा रामाद् यतो वाप्युपपद्यते ।
आख्यातव्यं नृपस्यैतत् पृच्छतेऽपृच्छतेऽपि वा ॥ १२ ॥

खलिहानसे, खेतसे, बगीचेसे अथवा जहाँसे भी अन्न मिल सके, वहींसे वह भोजनमात्रके लिये अन्न उठा लावे और उसके बाद राजा पूछे या न पूछे, उसके पास जाकर अपनी वह बात उसे कह दे ॥ १२ ॥

न तस्मै धारयेद् दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित् ।
क्षत्रियस्य तु बालिश्याद् ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ॥ १३ ॥

उस दशामें धर्मज्ञ राजा धर्मके अनुसार उसे दण्ड न दे; क्योंकि क्षत्रिय राजाकी नादानीसे ही ब्राह्मणको भूखका कष्ट उठाना पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् ।
अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४ ॥

राजा उसके शास्त्रज्ञान और स्वभावका परिचय प्राप्त करके उसके लिये उचित आजीविकाकी व्यवस्था करे और जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह उस ब्राह्मणकी रक्षा करे ॥ १४ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १५ ॥

प्रतिवर्ष किये जानेवाले आग्रयण आदि यज्ञ यदि न किये जा सके हों तो उनके बदले प्रतिदिन वैश्वानरी इष्टि समर्पित करे । मुख्य कर्मके स्थानमें जो गौण कार्य किया जाता है, उसका नाम अनुकल्प है, धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा बताया गया अनुकल्प भी परम धर्म ही है ॥ १५ ॥

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः ॥ १६ ॥

क्योंकि विश्वेदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षि—इन सब लोगोंने मृत्युसे डरकर आपत्कालके विषयमें प्रत्येक विधिका प्रतिनिधि नियत कर दिया है ॥ १६ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पे न वर्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १७ ॥

जो मुख्य विधिके अनुसार कर्म करनेमें समर्थ होकर भी गौण विधिसे काम चलाता है, उस दुर्बुद्धि मनुष्यको पार-लौकिक फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

न ब्राह्मणो निवेदेत किंचिद् राजनि वेदवित्।
स्ववीर्याद् राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मणको चाहिये कि वह राजाके निकट अपनी आवश्यकता निवेदन न करे; क्योंकि ब्राह्मणकी अपनी शक्ति तथा राजाकी शक्तिमेंसे उसकी अपनी ही शक्ति प्रबल है ॥

तस्माद् राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम्।
कर्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ॥ १९ ॥

अतः ब्रह्मवादियोंका तेज राजाके लिये सदा दुःसह है। ब्राह्मण इस जगत्का कर्ता, शासक, धारण-पोषण करनेवाला और देवता कहलाता है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद् गिरम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ २० ॥
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः।

अतः उसके प्रति अमङ्गलसूचक बात न कहे। रूखे वचन न बोले। क्षत्रिय अपने बाहुबलसे, वैश्य और शूद्र धनके बलसे तथा ब्राह्मण मन्त्र एवं हवनकी शक्तिसे अपनी विपत्तिसे पार हो सकता है ॥ २०½ ॥

नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः ॥ २१ ॥
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा।

न कन्या, न युवती, न मन्त्र न जाननेवाला, न मूर्ख और न संस्कारहीन पुरुष ही अग्निमें हवन करनेका अधिकारी है ॥ २१½ ॥

नरकं निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत्।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥ २२ ॥

यदि ये हवन करते हैं तो स्वयं तो नरकमें पड़ते ही हैं, जिसका वह यज्ञ है, वह भी नरकमें गिरता है। अतः जो यज्ञकर्ममें कुशल और वेदोंका पारङ्गत विद्वान् हो, वही होता हो सकता है ॥ २२ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २३ ॥

जो अग्निहोत्र आरम्भ करके प्रजापति देवताके लिये अश्वरूप दक्षिणाका दान नहीं करता, धर्मदर्शी पुरुष उसे अनाहिताग्नि[1] कहते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन ॥ २४ ॥

मनुष्य जो भी पुण्यकर्म करे, उसे श्रद्धापूर्वक और जितेन्द्रिय भावसे करे। पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी तरह यज्ञ न करे ॥ २४ ॥

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ॥ २५ ॥

बिना दक्षिणाका यज्ञ प्रजा और पशुका नाश करता है और स्वर्गकी प्राप्तिमें भी विघ्न डाल देता है। इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय, यश, कीर्ति तथा आयुको भी क्षीण करता है ॥

उदक्यामासते ये च द्विजाः केचिदनग्नयः।
होमं चाश्रोत्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिणः ॥ २६ ॥

जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्रीके साथ समागम करते हैं, जिन्होंने घरमें अग्निकी स्थापना नहीं की है तथा जो अवैदिक रीतिसे हवन करते हैं, वे सभी पापाचारी हैं ॥ २६ ॥

उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः।
उषित्वा द्वादश समाः शूद्रकर्मैव गच्छति ॥ २७ ॥

जिस गाँवमें एक ही कुएँका पानी सब लोग पीते हैं, वहाँ बारह वर्षोंतक निवास करनेसे तथा शूद्रजातिकी स्त्रीके साथ विवाह कर लेनेसे ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है ॥ २७ ॥

अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विजः।
अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः।
तथा संशुध्यते राजञ्शृणु चात्र वचो मम ॥ २८ ॥

यदि ब्राह्मण अपनी पत्नीके सिवा दूसरी स्त्रीको शय्यापर बिठा ले अथवा बड़े-बूढ़े शूद्रको या ब्राह्मणेतर—क्षत्रिय या वैश्यको सम्मान देता हुआ ऊँचे आसनपर बैठाकर स्वयं चटाईपर बैठे तो वह ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है। राजन्! उसकी शुद्धि जिस प्रकार होती है, वह मुझसे सुनो ॥ २८ ॥

यदेकरात्रेण करोति पापं
निकृष्टवर्णं ब्राह्मणः सेवमानः।
स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स
त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥ २९ ॥

यदि ब्राह्मण एक रात भी किसी नीच वर्णके मनुष्यकी सेवा करे अथवा उसके साथ एक जगह रहे या एक आसनपर बैठे तो इससे जो पाप लगता है, उसको वह तीन वर्षोंतक व्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरनेसे दूर कर सकता है ॥ २९ ॥

न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ ३० ॥

राजन्! परिहासमें, स्त्रीके पास, विवाहके अवसरपर, गुरुके हितके लिये अथवा अपने प्राण बचानेके उद्देश्यसे बोला गया असत्य हानिकारक नहीं होता। इन पाँच अवसरोंपर असत्य बोलना पाप नहीं बताया गया है॥ ३० ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥ ३१ ॥

नीच वर्णके पुरुषके पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये और सोना अपवित्र स्थानमें भी पड़ा हो तो उसे बिना हिचकिचाहटके उठा लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

[1] जिसने अग्निकी स्थापना नहीं की है, उसे 'अनाहिताग्नि' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उक्त दक्षिणा दिये बिना उसके द्वारा की हुई अग्निस्थापना व्यर्थ हो जाती है।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् ।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥ ३२ ॥

नीच कुलसे भी उत्तम स्त्रीको ग्रहण कर ले, विषके स्थानसे भी अमृत मिले तो उसे पी ले; क्योंकि स्त्रियाँ, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषणीय नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां संकरेषु च ।
वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः ॥ ३३ ॥

गौ और ब्राह्मणोंका हित, वर्णसंकरताका निवारण तथा अपनी रक्षा करनेके लिये वैश्य भी हथियार उठा सकता है ॥

सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा ।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा ॥ ३४ ॥

मदिरापान, ब्रह्महत्या तथा गुरुपत्नीगमन—इन महापापोंसे छूटनेके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है । किसी भी उपायसे अपने प्राणोंका अन्त कर देना ही उन पापोंका प्रायश्चित्त होगा, ऐसी विद्वानोंकी धारणा है ॥ ३४ ॥

सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वं चेति पातकम् ।
विहरन् मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि ॥ ३५ ॥
पतितैः सम्प्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा ।
अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत ॥ ३६ ॥

सुवर्णकी चोरी, अन्य वस्तुओंकी चोरी तथा ब्राह्मणका धन छीन लेना—यह महान् पाप है । महाराज ! मदिरापान और अगम्या स्त्रीके साथ गमन करनेसे, पतितोंके साथ सम्पर्क रखनेसे तथा ब्राह्मणेतर होकर ब्राह्मणीके साथ समागम करनेसे स्वेच्छाचारी पुरुष शीघ्र ही पतित हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद् यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ३७ ॥

पतितके साथ रहनेसे, उसका यज्ञ करानेसे और उसे पढ़ानेसे मनुष्य एक वर्षमें पतित हो जाता है;परंतु उसकी संतानके साथ अपनी संतानका विवाह करनेसे, एक सवारी या एक आसन-पर बैठनेसे तथा उसके साथमें भोजन करनेसे वह एक वर्षमें नहीं, किंतु तत्काल पतित हो जाता है ॥ ३७ ॥

एतानि हित्वातोऽन्यानि निर्देश्यानीति भारत ।
निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३८ ॥

भरतनन्दन ! उपर्युक्त पाप अनिर्देश्य (प्रायश्चित्तरहित) कहे गये हैं । इन्हें छोड़कर और जितने पाप हैं, वे निर्देश्य हैं—शास्त्रमें उनका प्रायश्चित्त बताया गया है । उसके अनुसार प्रायश्चित्त करके पापका व्यसन छोड़ देना चाहिये ॥ ३८ ॥

अन्नं वीर्यं ग्रहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते ।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणाम् ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त (शराबी, ब्रह्महत्यारा और गुरुपत्नीगामी) तीन पापियोंके मरनेपर उनकी दाहादिक क्रिया किये बिना ही कुटुम्बी-जनोंको उनके अन्न और धनपर अधिकार कर लेना चाहिये । इसमें कुछ अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

अमात्यान् वा गुरून् वापि जह्याद् धर्मेण धार्मिकः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणैर्नैतैरर्हति संविदम् ॥ ४० ॥

धार्मिक राजा अपने मन्त्री और गुरुजनोंको भी पतित हो जानेपर धर्मानुसार त्याग दे और जबतक ये अपने पापोंका प्रायश्चित्त न कर लें, तबतक इनके साथ बातचीत न करे ॥ ४० ॥

अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
ब्रुवन् स्तेन इति स्तेनं तावत् प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ४१ ॥

पापाचारी मनुष्य यदि धर्माचरण और तपस्या करे तो अपने पापको नष्ट कर देता है । चोरको 'यह चोर है' ऐसा कह देनेमात्रसे चोरके बराबर पापका भागी होना पड़ता है ॥

अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात् ।
त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ॥ ४२ ॥

जो चोर नहीं है, उसको चोर कह देनेसे मनुष्यको चोरसे दूना पाप लगता है । कुमारी कन्या यदि अपनी इच्छासे चरित्रभ्रष्ट हो जाय तो उसे ब्रह्महत्याका तीन चौथाई पाप भोगना पड़ता है ॥ ४२ ॥

यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः ।
ब्राह्मणानवगर्ह्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ॥ ४३ ॥

और जो उसे कलंकित करनेवाला पुरुष है, वह शेष एक चौथाई पापका भागी होता है । इस जगत्‌में ब्राह्मणोंको गाली देकर या उन्हें तिरस्कारपूर्वक धक्के देकर हटानेसे मनुष्यको बड़ा भारी पाप लगता है ॥ ४३ ॥

वर्षाणां हि शतं तावत् प्रतिष्ठां नाधिगच्छति ।
सहस्रं चैव वर्षाणां निपत्य नरकं वसेत् ॥ ४४ ॥

सौ वर्षोंतक तो उसे प्रेतकी भाँति भटकना पड़ता है, कहीं भी ठहरनेके लिये ठौर नहीं मिलता । फिर एक हजार वर्षोंतक उसे नरकमें गिरकर रहना पड़ता है ॥ ४४ ॥

तस्मान्नैवावगर्ह्येत नैव जातु निपातयेत् ।
शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णीयाद् द्विजक्षतात् ॥ ४५ ॥
तावतीः स समा राजन् नरके प्रतिपद्यते ।

अतः न ब्राह्मणको गाली दे और न उसे कभी धरतीपर गिरावे । राजन् ! ब्राह्मणके शरीरमें घाव हो जानेपर उससे निकला हुआ रक्त धूलके जितने कणोंको भिगोता है, उसे चोट पहुँचानेवाला मनुष्य उतने ही वर्षोंतक नरकमें पड़ा रहता है ॥ ४५½ ॥

भ्रूणहाऽऽहवमध्ये तु शुद्ध्यते शस्त्रपाततः ॥ ४६ ॥
आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते ।

गर्भके बच्चेकी हत्या करनेवाला यदि युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे मर जाय तो उसकी शुद्धि हो जाती है अथवा प्रज्वलित अग्निमें कूदकर अपने आपको होम दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४६½ ॥

सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद् विमुच्यते॥ ४७ ॥
तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः ॥ ४८ ॥

मदिरा पीनेवाला पुरुष यदि मदिराको खूब गरम करके पी ले तो पापसे छुटकारा पा जाता है, अथवा उससे शरीर जल जानेके कारण उसकी मृत्यु हो जाय तो वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर ही वह ब्राह्मण शुद्ध लोकोंको प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७-४८ ॥

गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः।
स्त्र्याकारां प्रतिमां लिंग्य मृत्युना सोऽभिशुद्ध्यति ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाला दुरात्मा पुरुष यदि गुरुपत्नी-गमनका पाप कर बैठे तो वह लोहेकी गरम की हुई नारी-प्रतिमाका आलिङ्गन करके प्राण दे देनेपर ही उस पापसे शुद्ध होता है ॥ ४९ ॥

अथवा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम् ॥५०॥
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत् स त्वजिह्मगः।
ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान् संत्यजेत् तेन शुद्ध्यति॥५१॥

अथवा अपने शिश्न और अण्डकोषको स्वयं ही काटकर अञ्जलिमें ले सीधे नैर्ऋत्यदिशाकी ओर जाता हुआ गिर पड़े या ब्राह्मणके लिये प्राणोंका परित्याग कर दे तो शुद्ध हो जाता है॥

अश्वमेधेन वापीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते ॥ ५२ ॥

अथवा अश्वमेधयज्ञ, गोसव नामक यज्ञ या अग्निष्टोम यज्ञके द्वारा भलीभाँति यजन करके वह इहलोक तथा परलोकमें पूजित होता है ॥ ५२ ॥

तथैव द्वादशसमाः कपाली ब्रह्महा भवेत्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन् मुनिः ॥ ५३ ॥
एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत्।

ब्रह्महत्या करनेवाला मनुष्य उस मरे हुए ब्राह्मणकी खोपड़ी लेकर अपना पापकर्म लोगोंको सुनाता रहे और बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सबेरे, शाम तथा दोपहर तीनों समय स्नान करे। इस प्रकार वह तपस्यामें संलग्न रहे। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है ॥ ५३½ ॥

एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत् ॥ ५४ ॥
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत्।

इसी तरह जो जान-बूझकर गर्भिणी स्त्रीकी हत्या करता है, उसे उस गर्भिणी-वधके कारण दो ब्रह्महत्याओंका पाप लगता है॥

सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम्।
ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्त्वा शौचमाप्नुयात् ॥ ५६ ॥

मदिरा पीनेवाला मनुष्य मिताहारी और ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करे। इस तरह तीन वर्षोंतक रहनेके बाद 'अग्निष्टोम' यज्ञ करे। तत्पश्चात् एक हजार बैल या इतनी ही गौएँ ब्राह्मणोंको दान दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥५५-५६॥

वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशतं च गाः।
शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः ॥ ५७ ॥

यदि वैश्यकी हत्या कर दे तो दो वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमसे रहनेके बाद एक सौ बैल और एक सौ गौओंका दान करे तथा शूद्रकी हत्या कर देनेपर हत्यारेको एक वर्षतक पूर्वोक्त नियमसे रहकर एक बैल और सौ गौओंका दान करना चाहिये ॥ ५७ ॥

श्ववराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत्।
मार्जारचाषमण्डूकान् काकं व्यालं च मूषिकम्॥ ५८ ॥
उक्तः पशुसमो दोषो राजन् प्राणिनिपातनात्।

कुत्ते, सूअर और गदहोंकी हत्या करके मनुष्य शूद्रवध-सम्बन्धी व्रतका ही आचरण करे। राजन्! बिल्ली, नीलकण्ठ, मेढक, कौआ, साँप और चूहा आदि प्राणियोंको मारनेसे भी उक्त पशुवधके ही समान पाप बताया गया है ॥ ५८½ ॥

प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५९ ॥
अल्पे वाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत्।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते ॥ ६० ॥
काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् त्रिरह्नाभ्युपयन्नपः।
एवमेव निराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ६१ ॥

अब दूसरे प्रायश्चित्तोंका भी क्रमशः वर्णन करता हूँ। अनजानमें कीड़ों-मकोड़ोंका वध आदि छोटा पाप हो जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करे। इतनेहीसे उसकी शुद्धि हो जाती है। गोवधके सिवा अन्य जितने उपपातक हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिये एक-एक वर्षतक व्रतका आचरण करे। श्रोत्रियकी पत्नीसे व्यभिचार करनेपर तीन वर्षतक और अन्य परस्त्रियोंसे समागम करनेपर दो वर्षोंतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे। अपने लिये पृथक् स्थान और आसनकी व्यवस्था रखते हुए घूमता रहे। दिनमें तीन बार जलसे स्नान करे। ऐसा करनेसे ही वह अपने उपर्युक्त पापोंका निवारण कर सकता है। जो अग्निको भ्रष्ट करता है, उसके लिये भी यही प्रायश्चित्त है ॥ ५९–६१ ॥

त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्।
पतितः स्यात्स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः ॥ ६२ ॥
ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम्।
(ब्रह्मचारी द्विजेभ्यश्च दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते।)

कुरुनन्दन! जो अकारण ही पिता, माता और गुरुका परित्याग करता है, वह पतित हो जाता है। उसे केवल अन्न और वस्त्र दे और पैतृकसम्पत्तिसे वञ्चित कर दे। वह ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए ब्राह्मणोंको दान दे (और पिता-माता आदिका पूर्ववत् आदर करने लगे) तो उस पापसे मुक्त हो जाता है, यही धर्मशास्त्रोंका निर्णय है ॥ ६२½ ॥

भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः ।
यत् पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम् ॥ ६३ ॥

यदि पत्नीने व्यभिचार किया हो और विशेषतः इस कार्यमें पकड़ ली गयी हो तो परायी स्त्रीसे व्यभिचार करनेवाले पुरुषके लिये जो प्रायश्चित्तरूप व्रत बताया गया है, वही उससे भी करावे ॥ ६३ ॥

श्रेयांसं शयनं हित्वा यान्यं पापं निगच्छति ।
श्वभिस्तामर्दयेद् राजा संस्थाने बहुविस्तरे ॥ ६४ ॥

जो अपने श्रेष्ठ पतिको छोड़कर अन्य पापीकी शय्यापर जाती है, उस कुलटाको अत्यन्त विस्तृत मैदानमें खड़ी करके राजा कुत्तोंसे नोचवा डाले ॥ ६४ ॥

पुमांसमुन्नयेत् प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ६५ ॥
एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमात् ।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् ॥ ६६ ॥
द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनि ।
कुचरः पञ्चवर्षाणि चरेद् भैक्ष्यं मुनिव्रतः ॥ ६७ ॥

इसी तरह व्यभिचारी पुरुषको बुद्धिमान् राजा लोहेकी तपायी हुई खाटपर सुलाकर ऊपरसे लकड़ी रख दे और आग लगा दे, जिससे वह पापी उसीमें जलकर भस्म हो जाय। महाराज ! पतिकी अवहेलना करके परपुरुषोंसे व्यभिचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये भी यही दण्ड है, उपर्युक्त कहे हुएमें जिन दुष्टोंके लिये प्रायश्चित्त बताया है, उनके लिये यह भी विधान है कि एक वर्षके भीतर प्रायश्चित्त न करनेपर दुष्ट पुरुषको दूना दण्ड प्राप्त होना चाहिये। जो मनुष्य दो, तीन, चार या पाँच वर्षोंतक उस पतित पुरुषके संसर्गमें रहे, वह मुनिजनोचित व्रत धारण करके उतने ही वर्षोंतक पृथ्वीपर घूमता हुआ भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ६५–६७ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते ।
पाणिग्रहास्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः॥ ६८ ॥

ज्येष्ठ भाईका विवाह होनेसे पहले ही यदि छोटा भाई अधर्मपूर्वक विवाह कर ले तो ज्येष्ठको 'परिवित्ति' कहते हैं। छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं और उसकी पत्नीको जिसका परिवेदन (ग्रहण) किया जाता है, परिवेदनीया कहते हैं, ये सबके सब पतित माने गये हैं ॥ ६८ ॥

चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत् ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥ ६९ ॥

इन तीनोंको पृथक्-पृथक् अपनी शुद्धिके लिये उसी व्रतका आचरण करना चाहिये, जो यज्ञहीन ब्राह्मणके लिये बताया गया है अथवा एक मासतक चान्द्रायण या कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत करे ॥ ६९ ॥

परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये ।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनन्तरम् ।
एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च सा चैव धर्मतः ॥ ७० ॥

परिवेत्ता पुरुष उस नववधूको पतोहूके रूपमें ज्येष्ठ भाईको सौंप दे और ज्येष्ठ भाईकी आज्ञा मिलनेपर छोटा भाई उसे पत्नीरूपमें ग्रहण करे। ऐसा करनेपर वे तीनों धर्मके अनुसार पापसे छुटकारा पाते हैं ॥ ७० ॥

अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति ।
अधिष्ठातारमन्तारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ७१ ॥

पशु जातियोंमें गौओंको छोड़कर अन्य किसीकी अनजानमें हिंसा हो जाय तो वह दोषावह नहीं मानी जाती; क्योंकि मनुष्यको पशुओंका अधिष्ठाता एवं पालक माना गया है ॥ ७१ ॥

परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् ।
चरेत् सप्तगृहान्नित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ७२ ॥
तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात्स शुद्ध्यति।
चरेत् संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति ॥ ७३ ॥

गोवध करनेवाला पापी उस गायकी पूँछको इस प्रकार धारण करे कि उसका बाल ऊपरकी ओर रहे। फिर मिट्टीका पात्र हाथमें लेकर प्रतिदिन सात घरोंमें भिक्षा माँगे और अपने पापकर्मकी बात कहकर लोगोंको सुनाता रहे। उन्हीं सात घरोंकी भिक्षामें जो अन्न मिल जाय, वही खाकर रहे। ऐसा करनेसे वह बारह दिनोंमें शुद्ध हो जाता है। यदि पाप अधिक हो तो एक वर्षतक उस व्रतका अनुष्ठान करे, जिससे वह अपने पापको नष्ट कर देता है ॥ ७२-७३ ॥

भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ।
दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत् प्रकल्पयेत् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके लिये परम उत्तम प्रायश्चित्तका विधान है। उनमें जो दान करनेमें समर्थ हों, उनके लिये दानकी भी विधि है। यह सब प्रायश्चित्त विचारपूर्वक करना चाहिये ॥ ७४ ॥

अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते ।
श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ॥ ७५ ॥
मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति ।

अनास्तिक पुरुषोंके लिये एक गोदानमात्र ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है। कुत्ते, सूअर, मनुष्य, मुर्गे और गदहेके मांस और मल-मूत्र खा लेनेपर द्विजका पुनः संस्कार होना चाहिये ॥ ७५½ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमादाय सोमपः ॥ ७६ ॥
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ७७॥

सोमपान करनेवाला ब्राह्मण यदि किसी शराबीकी गन्ध भी सूँघ ले तो वह तीन दिनोंतक गरम जल पीकर रहे, फिर तीन दिन गरम दूध पीये। तीन दिन गरम दूध पीनेके बाद तीन दिनतक केवल वायु पीकर रहे। इससे वह शुद्ध हो जाता है ॥ ७६-७७ ॥

एवमेतत् समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन सम्भवेत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार यह सनातन प्रायश्चित्त सबके लिये बताया गया है। ब्राह्मणके लिये इसका विशेषरूपसे विधान है। अनजानमें जो पाप बन जाय, उसीके लिये प्रायश्चित्त है॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पापोंके प्रायश्चित्तकी विधिविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ७८$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

खड्गकी उत्पत्ति और प्राप्तिकी परम्पराकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कथाप्रसङ्गकी समाप्तिके समय अवसर पाकर खड्गयुद्धविशारद नकुलने बाणशय्यापर सोये हुए पितामह भीष्मसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

नकुल उवाच

धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवात्र पितामह।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥

नकुल बोले—धर्मज्ञ पितामह ! यद्यपि इस जगत्में धनुष अत्यन्त श्रेष्ठ अस्त्र समझा जाता है, तथापि मुझे तो अत्यन्त तीखा खड्ग ही अच्छा जान पड़ता है ॥ २ ॥

विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

राजन् ! जब धनुष टूट जाय और घोड़े भी नष्ट हो जायँ तब भी युद्धस्थलमें खड्गके द्वारा अपने शरीरकी भलीभाँति रक्षा की जा सकती है ॥ ३ ॥

शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥

एक ही खड्गधारी वीर धनुष, गदा और शक्ति धारण करनेवाले बहुत-से योद्धाओंको बाधा देनेमें समर्थ है ॥ ४ ॥

अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च।
किंस्वित् प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस विषयमें मेरे मनमें संशय और अत्यन्त कौतूहल भी हो रहा है कि सम्पूर्ण युद्धोंमें कौन-सा आयुध श्रेष्ठ है ?॥ ५ ॥

कथं चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च।
पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥

पितामह ! खड्गकी उत्पत्ति कैसे और किस प्रयोजनके लिये हुई ? किसने इसे उत्पन्न किया ? खड्गयुद्धका प्रथम आचार्य कौन था ? यह सब मुझे बताइये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः।
स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसम्मतम् ॥ ७ ॥
ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम्।
शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत ॥ ८ ॥
उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! जनमेजय ! बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलकी वह बात कौशलयुक्त तो थी ही, सूक्ष्म तथा विचित्र अर्थसे भी सम्पन्न थी । उसे सुनकर बाणशय्यापर सोये हुए धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ भीष्मने शिक्षाप्राप्त महामनस्वी द्रोणशिष्य नकुलको सुन्दर स्वर एवं वर्णोंसे युक्त वाणीमें इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७–९ ॥

भीष्म उवाच

तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत् परिपृच्छसि।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—माद्रीनन्दन ! तुम जो यह प्रश्न कर रहे हो, इसका तत्त्व सुनो । मैं तो खूनसे लथपथ हो गेरूधातुसे रँगे हुए पर्वतके समान पड़ा हुआ था । तुमने यह प्रश्न करके मुझे जगा दिया ॥ १० ॥

सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम्।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥

तात ! पूर्वकालमें यह सम्पूर्ण जगत् जलके एकमात्र महासागरके रूपमें था । उस समय इसमें कम्पन नहीं था । आकाशका पता नहीं था । भूतलका कहीं नाम भी नहीं था॥११॥

तमसाऽऽवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम्।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः ॥ १२ ॥

सब कुछ अन्धकारसे आवृत था । शब्द और स्पर्शका भी अनुभव नहीं होता था । वह एकार्णव देखनेमें बड़ा गम्भीर था । उसकी कहीं सीमा नहीं थी, उसीमें पितामह ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १२ ॥

सोऽसृजद् वातमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान्।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतीम् ॥ १३॥

उन शक्तिशाली पितामहने वायु, अग्नि और सूर्यकी सृष्टि की । आकाश, ऊपर, नीचे, भूमि तथा राक्षससमूहकी भी रचना की ॥ १३ ॥

नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
संवत्सरानृतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ।१४।

चन्द्रमा तथा तारोंसहित आकाश, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर,

ऋतु, मास, पक्ष, लव और क्षणोंकी सृष्टि भी उन्होंने ही की ॥ १४ ॥

ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः ।
जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर भगवान् ब्रह्माने लौकिक शरीर धारण करके मुनिवर मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अङ्गिरा तथा स्वभाव एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न रुद्र—इन तेजस्वी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १५-१६ ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याःषष्टिमजीजनत् ।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥

प्रचेताओंके पुत्र दक्षने साठ कन्याओंको जन्म दिया । उन सबको प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्मर्षियोंने पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च ॥ १८ ॥
पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च महोरगाः ।
तथा पक्षिगणाः सर्वे जलस्थलविचारिणः ॥ १९ ॥
उद्भिदः स्वेदजाश्चैव साण्डजाश्च जरायुजाः ।
जज्ञे तात जगत् सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

उन्हीं कन्याओंसे समस्त प्राणी, देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, नाना प्रकारके राक्षस, पशु, पक्षी, मत्स्य, वानर, बड़े-बड़े नाग, जल और स्थलमें विचरनेवाले सब प्रकारके पक्षिगण, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज प्राणी उत्पन्न हुए । तात ! इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ॥ १८–२० ॥

भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयुयुजे ततः ॥ २१ ॥

सर्वलोकपितामह ब्रह्माने इन समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करके उनके ऊपर वेदोक्त सनातनधर्मके पालनका भार रक्खा ॥ २१ ॥

तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः ।
आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुदश्विनः ॥२२॥

आचार्य और पुरोहितगणोंसहित देवता, आदित्य, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण तथा अश्विनीकुमार—ये सभी उस सनातन धर्ममें प्रतिष्ठित हुए ॥ २२ ॥

भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपोधनाः ।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा ।
घृतपाः सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः ॥ २४ ॥
अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयो वाग्नियोनयः ।
वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने ॥ २५ ॥

भृगु, अत्रि और अङ्गिरा—ये सिद्ध मुनि, तपस्याके धनी काश्यपगण, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, देवर्षि नारद, पर्वत, वालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतप (घी पीकर रहनेवाले), सोमप (सोमपान करनेवाले), वायव्य (वायु पीकर रहनेवाले), मरीचिप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) और वैश्वानर तथा अकृष्ट (बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए अन्नसे जीविका चलानेवाले), हंसमुनि (संन्यासी), अग्निसे उत्पन्न होनेवाले ऋषिगण, वानप्रस्थ और पृश्निगण—ये सभी महात्मा ब्रह्माजीकी आज्ञाके अधीन रहकर सनातनधर्मका पालन करने लगे ॥ २३–२५ ॥

दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत् पितामहशासनम् ।
धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः ॥ २६ ॥

परंतु दानवेश्वरोंने क्रोध और लोभसे युक्त हो ब्रह्माजीकी उस आज्ञाका उल्लङ्घन करके धर्मको हानि पहुँचाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः ।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च विराधो नमुचिर्बलिः ॥ २७ ॥
एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः ।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः ॥ २८ ॥

हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, विराध, नमुचि और बलि—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य और दानव अपने दलके साथ धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्म करनेका ही दृढ़ निश्चय लेकर आमोद-प्रमोदमें जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २७-२८ ॥

सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा वयम् ।
इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे सभी दैत्य कहते थे कि 'हम और देवता एक ही जातिके हैं; अतः जैसे देवता हैं, वैसे हम हैं ।' इस प्रकार जातीय धर्मका आश्रय लेकर दैत्यगण देवर्षियोंके साथ स्पर्धा रखने लगे ॥ २९ ॥

न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! वे न तो प्राणियोंका प्रिय करते थे और न उनपर दयाभाव ही रखते थे । वे साम, दाम और भेद—इन तीनों उपायोंको लाँघकर केवल दण्डके द्वारा समस्त प्रजाओंको पीड़ा देने लगे ॥ ३० ॥

न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः ।
अथ वै भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके ।
शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते ॥ ३२ ॥

वे असुरश्रेष्ठ घमण्डमें भरकर उन प्रजाओंके साथ बातचीत भी नहीं करते थे । तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसहित भगवान् ब्रह्मा हिमालयके सुरम्य शिखरपर उपस्थित हुए । वह इतना ऊँचा था कि आकाशके तारे उसपर विकसित कमलके समान जान पड़ते थे । उसका विस्तार सौ योजनका

था ! वह मणियों तथा रत्नसमूहोंसे व्याप्त था ॥ ३१-३२ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने ।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३३ ॥

बेटा नकुल ! जहाँके वृक्ष और वन फूलोंसे भरे हुए थे, उस श्रेष्ठ पर्वतशिखरपर सुरश्रेष्ठ ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत्का कार्य सिद्ध करनेके लिये ठहर गये ॥ ३३ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत् प्रभुः ।
विधिना कल्पदृष्टेन यथावच्चोपपादितम् ॥ ३४ ॥
ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत् कर्मकर्तृभिः ।
समिद्भिः परिसंकीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः ॥ ३५ ॥
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् ।
वृतं देवगणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम् ॥ ३६ ॥
तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम् ।

तदनन्तर कई सहस्र वर्ष व्यतीत होनेपर भगवान् ब्रह्माने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार वहाँ एक यज्ञ आरम्भ किया । यज्ञकुशल महर्षियों तथा अन्य कार्यकर्ताओंने यथावत् विधिके अनुसार उस यज्ञका सम्पादन किया । वहाँ यज्ञवेदियोंपर समिधाएँ फैली हुई थीं । जगह-जगह अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे थे । चमचमाते हुए सुवर्णनिर्मित यज्ञपात्र यज्ञमण्डपकी शोभा बढ़ाते थे । वह यज्ञमण्डल श्रेष्ठ देवताओं तथा सभासद् बने हुए महर्षियोंसे सुशोभित होता था ॥ ३४—३६½ ॥

तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम् ॥ ३७ ॥
चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम् ।
विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ एक अत्यन्त भयंकर घटना घटित हुई, जिसे मैंने ऋषियोंके मुँहसे सुना था । जैसे ताराओंके उगनेपर निर्मल आकाशमें चन्द्रमाका उदय हो, उसी प्रकार उस यज्ञ-मण्डपमें अग्निको इधर-उधर बिखेरकर एक भयंकर भूत प्रकट हुआ, ऐसा सुना जाता है ॥ ३७-३८ ॥

नीलोत्पलसवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् ।
प्रांशुं सुदुर्धर्षतरं तथैव ह्यमितौजसम् ॥ ३९ ॥

उसके शरीरका रंग नीलकमलके समान श्याम था, दाढ़ें अत्यन्त तीखी दिखायी देती थीं और उसका पेट अत्यन्त कृश था । वह बहुत ऊँचा, परम दुर्धर्ष और अमित तेजस्वी जान पड़ता था ॥ ३९ ॥

तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुन्धरा ।
महोर्मिकलितावर्तश्चुक्षुभे स महोदधिः ॥ ४० ॥

उसके उत्पन्न होते ही धरती डोलने लगी, समुद्र क्षुब्ध हो उठा और उसमें उत्ताल तरंगोंके साथ भँवरें उठने लगीं॥

पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः ।
अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ ॥ ४१॥

आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, बड़े-बड़े उत्पात प्रकट होने लगे, वृक्ष स्वयं ही अपनी शाखाओंको गिराने लगे, सम्पूर्ण दिशाएँ अशान्त हो गयीं और अमङ्गलकारी वायु प्रचण्ड वेगसे बहने लगी ॥ ४१ ॥

मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात् तथा ।
ततः स तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम् ॥ ४२ ॥
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः ।

सभी प्राणी भयके मारे बारंबार व्यथित हो उठते थे । उस भयानक भूतको उपस्थित हुआ देख पितामह ब्रह्माने महर्षियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंसे कहा—॥ ४२½ ॥

मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान् ॥ ४३ ॥
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम् ।

'मैंने ही इस भूतका चिन्तन किया था । यह असि नामधारी प्रबल आयुध है । इसे मैंने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा तथा देव-द्रोही असुरोंके वधके लिये प्रकट किया है' ॥४३½॥

ततस्तद् रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ॥ ४४ ॥
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः ।

तत्पश्चात् वह भूत उस रूपको त्यागकर तीस अङ्गुलसे कुछ बड़े खड्गके रूपमें प्रकाशित होने लगा । उसकी धार बड़ी तीखी थी । वह चमचमाता हुआ खड्ग काल और अन्तकके समान उद्यत प्रतीत होता था ॥ ४४½ ॥

ततः स शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे ॥ ४५ ॥
ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्णमधर्मप्रतिवारणम् ।

इसके बाद ब्रह्माजीने अधर्मका निवारण करनेमें समर्थ वह तीखी तलवार वृषभचिह्नित ध्वजावाले नीलकण्ठ भगवान् रुद्रको दे दी ॥ ४५½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसंस्तुतः ॥ ४६ ॥
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह ।
चतुर्बाहुः स्पृशन् मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि दिवाकरम् ४७

उस समय महर्षिगण रुद्रदेवकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । तब अप्रमेयस्वरूप भगवान् रुद्रने वह तलवार लेकर एक दूसरा चतुर्भुज रूप धारण किया, जो भूतलपर खड़ा होकर भी अपने मस्तकसे सूर्यदेवका स्पर्श कर रहा था ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन् ।
विकुर्वन् बहुधा वर्णान् नीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४८ ॥

उसकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी, वह महान् चिह्न धारण किये हुए था । मुखसे आगकी लपटें छोड़ रहा था और अपने अङ्गोंसे नील, श्वेत तथा लोहित (लाल) अनेक प्रकारके रंग प्रकट कर रहा था ॥ ४८ ॥

बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् ।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन् ॥ ४९ ॥
शुशुभातेऽतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले ।

उसने काले मृगचर्मको वस्त्रके रूपमें धारण कर रक्खा था, जिसमें सुवर्णनिर्मित तारे जड़े हुए थे । वह अपने ललाटमें सूर्यके समान एक तेजस्वी नेत्र धारण करता था । उसके सिवा काले और पिङ्गलवर्णके दो अत्यन्त निर्मल नेत्र और शोभा पा रहे थे ॥ ४९½ ॥

ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ॥ ५० ॥
सम्प्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम् ।
त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम् ।
चचार विविधान् मार्गान् महाबलपराक्रमः ॥ ५१ ॥
विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया ।

तदनन्तर भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शूलपाणि भगवान् महादेव काल और अग्निके तुल्य तेजस्वी खड्गको तथा बिजलीसहित मेघके समान चमकीली तीन कोनोंवाली ढालको हाथमें लेकर भाँति-भाँतिके मार्गोंमें विचरने लगे और युद्ध करनेकी इच्छासे वह तलवार आकाशमें घुमाने लगे ॥ ५०-५१½ ॥

तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः ॥ ५२ ॥
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उस समय जोर-जोरसे गर्जते और महान् अट्टहास करते हुए रुद्रदेवका स्वरूप बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ५२½ ॥

तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया ॥ ५३ ॥
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः ।

भयानक कर्म करनेकी इच्छासे वैसा ही रूप धारण करनेवाले रुद्रदेवको देखकर समस्त दानव हर्ष और उत्साहमें भरकर उनके ऊपर टूट पड़े ॥ ५३½ ॥

अश्मभिश्चाभ्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ॥ ५४ ॥
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः ।

कुछ लोग पत्थर बरसाने लगे, कुछ जलते लुआठे चलाने लगे, दूसरे भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे काम लेने लगे और कितने ही लोहनिर्मित छुरोंकी तीखी धारोंसे चोट करने लगे ॥ ५४½ ॥

ततस्तु दानवानीकं सम्प्रणेतारमच्युतम् ॥ ५५ ॥
रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च ।

तत्पश्चात् दानवदलने देखा कि देवसेनापतिका कार्य सँभालनेवाले उत्कट बलशाली रुद्रदेव युद्धसे पीछे नहीं हट रहे हैं, तब वे मोहित और विचलित हो उठे ॥ ५५½ ॥

चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम् ॥ ५६ ॥
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे ।

शीघ्रतापूर्वक पैर उठानेके कारण विचित्र गतिसे विचरण करनेवाले एकमात्र खड्गधारी रुद्रदेवको वे सब असुर सहस्रोंके समान समझने लगे ॥ ५६½ ॥

छिन्दन् भिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पोथयन्नपि॥५७॥
अचरद् वैरिसङ्घेषु दावाग्निरिव कक्षगः ।

जैसे सूखी लकड़ी और घास-फूँसमें लगा हुआ दावानल वनके समस्त वृक्षोंको जला देता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्र शत्रुसमुदायमें दैत्योंको मारते-काटते, चीरते-फाड़ते, घायल करते, छेदते तथा विदीर्ण और धराशायी करते हुए विचरने लगे ॥

असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ॥ ५८ ॥
सम्प्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः ।

तलवारके वेगसे उन सबमें भगदड़ मच गयी। कितनोंकी भुजाएँ और जाँघें कट गयीं। बहुतोंके वक्षःस्थल विदीर्ण हो गये और कितनोंके शरीरोंसे आँतें बाहर निकल आयीं। इस प्रकार वे महाबली दैत्य मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥

अपरे दानवा भग्नाः खड्गपातावपीडिताः ॥ ५९ ॥
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः सम्प्रतिपेदिरे ।

दूसरे दानव तलवारकी चोटसे पीड़ित हो भाग खड़े हुए और एक दूसरेको डाँट बताते हुए उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण ली ॥ ५९½ ॥

भूमिं केचित् प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा ॥ ६० ॥
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन् ।

कितने ही धरतीमें घुस गये, बहुत-से पर्वतोंमें छिप गये, कुछ आकाशमें उड़ चले और दूसरे बहुत-से दानव पानीमें समा गये ॥ ६०½ ॥

तस्मिन् महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे ॥ ६१ ॥
बभूव भूः प्रतिभया मांसशोणितकर्दमा ।

वह अत्यन्त दारुण महान् युद्ध आरम्भ होनेपर पृथ्वीपर रक्त और मांसकी कीच जम गयी। जिससे वह अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः ॥ ६२ ॥
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः ।

महाबाहो ! खूनसे लथपथ होकर गिरी हुई दानवोंकी लाशोंसे ढकी हुई यह भूमि पलाशके फूलोंसे युक्त पर्वत-शिखरोंद्वारा आच्छादित-सी जान पड़ती थी॥ ६२½ ॥

स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत् ॥ ६३ ॥
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः ।

दानवोंका वध करके जगत्‌में धर्मकी प्रधानता स्थापित करनेके पश्चात् भगवान् रुद्रदेवने उस रौद्र रूपको त्याग दिया। फिर वे कल्याणकारी शिव अपने मङ्गलमय रूपसे सुशोभित होने लगे ॥ ६३½ ॥

ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा ॥ ६४ ॥
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथार्चयन् ।

तत्पश्चात् सम्पूर्ण महर्षियों और देवताओंने उस अद्भुत विजयसे संतुष्ट हो देवाधिदेव महादेवकी पूजा की ॥ ६४½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम् ॥ ६५ ॥
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे ।

तदनन्तर भगवान् रुद्रने दानवोंके खूनसे रँगे हुए उस धर्मरक्षक खड्गको बड़े सत्कारके साथ भगवान् विष्णुके हाथमें दे दिया ॥ ६५½ ॥

विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवानपि ॥ ६६ ॥
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च ।

भगवान् विष्णुने मरीचिको, मरीचिने महर्षियोंको और महर्षियोंने इन्द्रको वह खड्ग प्रदान किया ॥ ६६½ ॥

महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥ ६७ ॥
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम् ।

बेटा ! फिर महेन्द्रने लोकपालोंको और लोकपालोंने सूर्य-पुत्र मनुको वह विशाल खड्ग दे दिया ॥ ६७½ ॥

ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ॥ ६८ ॥
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति ।

तलवार देकर उन्होंने मनुसे कहा—'तुम मनुष्योंके शासक हो; अतः इस धर्मगर्भित खड्गसे प्रजाका पालन करो ॥

धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ॥ ६९ ॥
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥ ७० ॥
व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात् ।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वादादीनि निर्दिशेत् ॥ ७१ ॥

'जो लोग स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको सुख देनेके लिये धर्मकी मर्यादाका उल्लङ्घन करें, उन्हें न्यायपूर्वक पृथक्-पृथक् दण्ड देना। धर्मपूर्वक समस्त प्रजाकी रक्षा करना किसीके प्रति स्वेच्छाचार न करना। कटुवचनसे अपराधीका दमन करना 'वाग्दण्ड' कहलाता है। जिसमें अपराधीसे बहुत-सा सुवर्ण वसूल किया जाय, वह 'अर्थदण्ड' कहलाता है। शरीरके किसी अङ्गविशेषका छेदन करना 'काय-दण्ड' कहा गया है। किसी महान् अपराधके कारण अपराधीका जो वध किया जाता है, वह 'प्राणदण्ड' के रूपमें प्रसिद्ध है। ये चारों दण्ड तलवारके दुर्निवार या दुर्धर्षरूप हैं। यह बात समस्त प्रजाको बता देनी चाहिये ॥ ६९—७१ ॥

असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात् ।
स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः ॥ ७२ ॥
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम् ।
क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः ॥ ७३ ॥

'जब प्रजाके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन हो जाय तो खड्गके द्वारा प्रमाणित (साधित) होनेवाले इन दण्डोंका यथा-योग्य प्रयोग करके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये।' ऐसा कहकर लोकपालोंने अपने पुत्र प्रजापालक मनुको विदा कर दिया। तत्पश्चात् मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये वह खड्ग क्षुपको दे दिया। क्षुपसे इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकुसे पुरूरवाने उस तलवार-को ग्रहण किया ॥ ७२—७३ ॥

आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि ।
ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान् ॥ ७४ ॥

पुरूरवासे आयुने, आयुसे नहुषने, नहुषसे ययातिने और ययातिसे पूरुने इस भूतलपर वह खड्ग प्राप्त किया ॥७४॥

अमूर्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः ।
भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम् ॥ ७५ ॥

पूरुसे अमूर्तरया, अमूर्तरयासे राजा भूमिशयने और भूमिशयसे दुष्यन्तकुमार भरतने उस खड्गको ग्रहण किया ॥

तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा ।
ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुन्धुमारो नरेश्वरः ॥ ७६ ॥

राजन् ! उनसे धर्मज्ञ ऐलविलने वह तलवार प्राप्त की। ऐलविलसे वह महाराज धुन्धुमारको मिली ॥ ७६ ॥

धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत् ।
मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः ॥ ७७ ॥
रैवताद् युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः ।
इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि ।
उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद् भोजः स यादवः॥ ७९ ॥
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः ।
प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोऽष्टकादपि ॥ ८० ॥

धुन्धुमारसे काम्बोजने, काम्बोजसे मुचुकुन्दने, मुचुकुन्दसे मरुत्तने, मरुत्तसे रैवतने, रैवतसे युवनाश्वने, युवनाश्वसे इक्ष्वाकुवंशी रघुने, रघुसे प्रतापी हरिणाश्वने, हरिणाश्वसे शुनकने, शुनकसे धर्मात्मा उशीनरने, उशीनरसे यदुवंशी भोजने, यदुवंशियोंसे शिबिने, शिबिसे प्रतर्दनने, प्रतर्दनसे अष्टकने तथा अष्टकसे पृषदश्वने वह तलवार प्राप्त की ॥

पृषदश्वाद् भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात् कृपस्ततः ।
ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ८१ ॥

पृषदश्वसे भरद्वाजवंशी द्रोणाचार्यने और द्रोणाचार्यसे कृपाचार्यने खड्गविद्या प्राप्त की। फिर कृपाचार्यसे भाइयों-सहित तुमने उस उत्तम खड्गका उपदेश प्राप्त किया है ॥८१॥

कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम् ।
रोहिणी गोत्रमस्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥ ८२ ॥

उस 'असि' का नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि है, गोत्र रोहिणी है तथा उत्तम गुरु रुद्रदेव हैं ॥ ८२ ॥

असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे ।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम् ॥ ८३ ॥

पाण्डुनन्दन ! असिके आठ गोपनीय नाम हैं। उन्हें मेरे मुँहसे सुनो। उन नामोंका कीर्तन करनेवाला पुरुष युद्धमें विजय प्राप्त करता है ॥ ८३ ॥

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८४ ॥

१. असि, २. विशसन, ३. खड्ग, ४. तीक्ष्णधार, ५. दुरासद, ६. श्रीगर्भ, ७. विजय और ८. धर्मपाल—ये ही वे आठ नाम हैं ॥ ८४ ॥

अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत ।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ॥ ८५ ॥
(एतानि चैव नामानि पुराणे निश्चितानि वै ।)

माद्रीनन्दन ! खड्ग सब आयुधोंमें श्रेष्ठ है। भगवान् रुद्रने सबसे पहले इसका संचालन किया था। पुराणमें इसकी श्रेष्ठताका निश्चय किया गया है। उपर्युक्त सारे नाम पुराणोंमें निश्चितरूपसे कहे गये हैं ॥ ८५ ॥

पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिंदमः ।

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि ।
धर्मेण च यथापूर्वं वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८६ ॥

शत्रुदमन पृथुने सबसे पहले धनुषका उत्पादन किया था और उन्होंने ही इस पृथ्वीसे नाना प्रकारके शस्यों (अन्नके बीजों) का दोहन किया था। उन वेनकुमार पृथुने पहलेके ही समान धर्मपूर्वक इस पृथ्वीकी रक्षा की थी ॥

तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि ।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः ॥ ८७ ॥

माद्रीनन्दन ! यह ऋषियोंका बताया हुआ मत है। तुम्हें इसे प्रमाण मानकर इसपर विश्वास करना चाहिये। युद्धविशारद पुरुषोंको सदा ही खड्गकी पूजा करनी चाहिये ॥

इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरात् ।
असेरुत्पत्तिसंसर्गो यथावद् भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने असि (खड्ग) की उत्पत्तिका प्रसङ्ग तुम्हें विस्तारपूर्वक और यथावत्‌रूपसे बताया है ! इससे यह सिद्ध हुआ कि खड्ग ही आयुधोंमें सबसे प्रथम प्रकट हुआ है ॥ ८८ ॥

सर्वथैतदिदं श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम् ।
लभते पुरुषः कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ८९ ॥

खड्गप्राप्तिका यह उत्तम प्रसङ्ग सब प्रकारसे सुनकर पुरुष इस संसारमें कीर्ति पाता है और देहत्यागके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गोत्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें खड्गकी उत्पत्तिका कथनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्म, अर्थ और कामके विषयमें विदुर तथा पाण्डवोंके पृथक्-पृथक् विचार तथा अन्तमें युधिष्ठिरका निर्णय

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिरने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजीसे प्रश्न किया—॥ १ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता ।
तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥

'लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ और कामकी ओर होती है। इन तीनोंमें कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है ?॥ २ ॥

कस्मिंश्चात्मा नियन्तव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै ।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥

'इन तीनोंपर विजय पानेके लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिये। आप सब लोग हर्ष और उत्साहके साथ इस प्रश्नका यथावत्‌रूपसे उत्तर दें और वही बात कहें, जिसपर आपकी पूरी आस्था हो' ॥ ३ ॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् ।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

तब अर्थकी गति और तत्त्वको जाननेवाले प्रतिभाशाली विदुरजीने धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा ।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! बहुत-से शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्माकी सम्पत्ति हैं ॥ ५ ॥

एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मनः ।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! तुम इन्हींको प्राप्त करो। इनकी ओरसे तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थकी जड़ ये ही हैं। मेरे मतमें ये ही परम पद हैं ॥ ६ ॥

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥

धर्मसे ही ऋषियोंने संसार-समुद्रको पार किया है। धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई है और धर्ममें ही अर्थकी भी स्थिति है ॥ ७ ॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

राजन् ! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थको मध्यम बताया जाता है और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ॥ ९ ॥

अतः मनको वशमें करके धर्मको अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः ।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीकी बात समाप्त होनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले अर्थशास्त्रविशारद अर्जुनने युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर कहा ॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।

कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्म-भूमि है। यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँतिके शिल्प—ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं ॥ ११ ॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ १२ ॥

अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है। अर्थके बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १२ ॥

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

धनवान् मनुष्य धनके द्वारा उत्तम धर्मका पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये दुर्लभ कामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ १४ ॥

श्रुतिका कथन है कि धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं। अर्थकी सिद्धिसे उन दोनोंकी भी सिद्धि हो जायगी ॥ १४ ॥

तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १५ ॥

जैसे सब प्राणी सदा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जातिके मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुषकी उपासना किया करते हैं ॥ १५ ॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १६ ॥

जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीरमें पङ्क धारण किये मुण्डितमस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थकी अभिलाषा रखकर पृथक्-पृथक् निवास करते हैं॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥ १७ ॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः ॥ १८ ॥

सब प्रकारके संग्रहसे रहित, संकोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धनकी अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पानेकी इच्छा रखते हैं और कुलपरम्परागत नियमोंका पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान कर रहे हैं; किंतु वे भी धनकी इच्छा रखते हैं ॥ १७-१८ ॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता ॥ १९ ॥

दूसरे बहुत-से आस्तिक-नास्तिक संयम-नियम-परायण पुरुष हैं, जो अर्थके इच्छुक होते हैं। अर्थकी प्रधानताको न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थकी प्रधानताका ज्ञान प्रकाशमय है ॥ १९ ॥

भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ॥ २० ॥

धनवान् वही है, जो अपने भृत्योंको उत्तम भोग और शत्रुओंको दण्ड देकर उनको वशमें रखता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जँचता है। अब आप इन दोनोंकी बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठतक आ गयी है अर्थात् ये दोनों भाई बोलनेके लिये उतावले हो रहे हैं॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम्।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की ॥ २१ ॥

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि ॥ २२ ॥

नकुल-सहदेव बोले—महाराज! मनुष्यको बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरहके उपायोंसे धनकी आयको सुदृढ़ बनाना चाहिये॥२२॥

अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २३ ॥

धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जानेपर मनुष्य संसारमें अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभीको प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह ॥ २४ ॥

जो धन धर्मसे युक्त हो और जो धर्म धनसे सम्पन्न हो, वह निश्चितरूपसे आपके लिये अमृतके समान होगा, यह हम दोनोंका मत है ॥ २४ ॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः ॥ २५ ॥

निर्धन मनुष्यकी कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्यको धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थसे वञ्चित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं ॥ २५ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि ॥ २६ ॥

इसलिये मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धनका साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास

करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम् ।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम् ।२७।

अतः सबसे पहले धर्मका आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धनका संग्रह करे । इसके बाद दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद् वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये । तब भीमसेनने इस तरह कहना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते।२९।

भीमसेन बोले—धर्मराज ! जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही । कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्गमें काम ही सबसे बढ़कर है ॥ २९ ॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः ।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥

किसी-न-किसी कामनासे संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्यामें मन लगाते हैं । फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं । वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं ॥ ३० ॥

वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः ।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥

कामनासे ही लोग वेद और उपवेदोंका स्वाध्याय करते तथा उसमें पारङ्गत विद्वान् हो जाते हैं । कामनासे ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म, दान और प्रतिग्रहमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है ॥३१॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा ।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव-सम्बन्धी कार्य करनेवाले लोग भी कामनासे ही अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३२ ॥

समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः ।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३३ ॥

कामनासे युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्रमें भी घुस जाते हैं । कामनाके विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामनासे व्याप्त है ॥ ३३ ॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम् ।
एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४ ॥

सभी प्राणी कामना रखते हैं । उससे भिन्न कामनारहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्यमें होगा ही; अतः यह काम ही त्रिवर्गका सार है । महाराज ! धर्म और अर्थ भी इसीमें स्थित हैं ॥ ३४ ॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः ॥ ३५ ॥

जैसे दहीका सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार काम है । जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घी है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनोंसे श्रेष्ठ काम है ॥ ३५ ॥

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः ।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः ॥ ३६ ॥

जैसे फूलसे उसका मधु-तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थसे काम श्रेष्ठ माना गया है । काम धर्म और अर्थका कारण है, अतः वह धर्म और अर्थरूप है ॥ ३६ ॥

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्था-
न्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः ।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा
तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥ ३७ ॥

बिना किसी कामनाके ब्राह्मण अच्छे अन्नका भी भोजन नहीं करते और बिना कामनाके कोई ब्राह्मणोंको धनका दान नहीं करते हैं । जगत्के प्राणियोंकी जो नाना प्रकारकी चेष्टा होती है, वह बिना कामनाके नहीं होती; अतः त्रिवर्गमें कामका ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है ॥ ३७ ॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभि-
र्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः ।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं
कामो हि राजन् परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥

अतः राजन् ! आप कामका अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे विभूषित तथा देखनेमें मनोहर एवं मदमत्त युवतियोंके साथ विहार कीजिये । हमलोगोंको इस जगत्में कामको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य
मा भूद् विचारस्तव धर्मपुत्र ।
स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं
समेति वाक्यं परमानृशंसम् ॥ ३९ ॥

धर्मपुत्र ! मैंने गहराईमें पैठकर ऐसा निश्चय किया है । मेरे इस कथनमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये । मेरा यह वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छतारहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः ।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥ ४० ॥

मेरे विचारसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंका एक साथ ही सेवन करना चाहिये । जो इनमेंसे एकका ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दोके सेवनमें निपुण है, उसे मध्यम श्रेणीका बताया गया है और जो त्रिवर्गमें समानरूपसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है ॥ ४० ॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो
विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः ।
ततो वचः संग्रहविस्तरेण
प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दनसारसे चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित भीमसेन उन वीर बन्धुओं-से संक्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो
वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक् ।
उवाच वाचावितथं स्मयन् वै
लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥

जिन्होंने महात्माओंके मुखसे धर्मका उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक पूर्व वक्ताओं-के वचनोंपर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः
सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः ।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्य-
मुक्तं यद् वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे ।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि
वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ ! इसमें संदेह नहीं कि आप-लोग धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निश्चयपर पहुँच चुके हैं । आपलोगोंको प्रमाणोंका भी ज्ञान प्राप्त है । मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिये मेरे सामने यहाँ आपलोगोंने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यानसे सुना है । अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बातको भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये ॥ ४३ ॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो
विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४४ ॥

जो न पापमें लगा हो और न पुण्यमें, न तो अर्थोपार्जन-में तत्पर हो न धर्ममें, न काममें ही । वह सब प्रकारके दोषों-से रहित मनुष्य दुःख और सुखको देनेवाली सिद्धियोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टीके ढेले और सोनेमें उसका समान भाव हो जाता है ॥ ४४ ॥

भूतानि जातिस्मरणात्मकानि
जराविकारैश्च समन्वितानि ।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि
मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४५ ॥

जो पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाले तथा वृद्धा-वस्थाके विकारसे युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंके उपभोगसे निरन्तर पीड़ित हो मुक्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, परंतु हमलोग उस मोक्षके विषयमें जानते ही नहीं हैं ॥ ४५ ॥

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच ।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च ॥ ४६ ॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीका कथन है कि जिसके मनमें आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती । आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं; अतः मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे ॥ ४६ ॥

एतत् प्रधानं च न कामकारो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते
विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥

इस प्रकार विचार करना ही मोक्षका प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं । विधाताने मुझे जिस कार्यमें लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ । विधाता सभी प्राणियोंको विभिन्न कार्योंके लिये प्रेरित करता है । अतः आप सब लोगोंको ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है ॥ ४७ ॥

न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं
यद् भावि तद् वै भवतीति वित्त ।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम् ॥ ४८ ॥

मनुष्य कर्मद्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता । जो होन-हार है, वही होती है; इस बातको तुम सब लोग जान लो । मनुष्य त्रिवर्गसे रहित होनेपर भी आवश्यक पदार्थको प्राप्त कर लेता है; अतः मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत्‌का वास्तविक कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं
समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत् ।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते
कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मनमें बैठनेवाली हुई। उसे पूर्णरूपसे समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे। उन सबने कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरको अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां
मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम् ।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां
गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥ ५० ॥

जनमेजय ! युधिष्ठिरकी उस वाणीमें किसी प्रकारका दोष नहीं था। वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यञ्जनके संनिवेशसे विभूषित तथा मनके अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओंने युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५० ॥

स चापि तान् धर्मसुतो महामना-
स्तदा प्रतीतान् प्रशशंस वीर्यवान् ।
पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं
ततः परं धर्ममहीनचेतसम् ॥ ५१ ॥

पराक्रमी धर्मपुत्र महामना युधिष्ठिरने भी उन समस्त विश्वासपात्र नरेशों एवं बन्धुजनोंकी प्रशंसा की और पुनः उदारचेता गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास आकर उनसे उत्तम धर्मके विषयमें प्रश्न किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें षड्जगीताविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषोंके लक्षण तथा कृतघ्न गौतमकी कथाका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन ।
प्रश्नं कञ्चित् प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कौरवकुलकी प्रीति बढ़ानेवाले महाज्ञानी पितामह ! मैं कुछ और प्रश्न आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ। मेरे उन प्रश्नोंका विवेचन कीजिये ॥

कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत् ।
आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान् वदस्व मे ॥ २ ॥

सौम्य स्वभावके मनुष्य कैसे होते हैं ? किनके साथ प्रेम करना उत्तम होता है ? वर्तमान और भविष्यमें कौन-से मनुष्य उपकार करनेमें समर्थ होते हैं ? उन सबका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

न हि तत्र धनं स्फीतं न च सम्बन्धिबान्धवाः ।
तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि जिस स्थानपर सुहृद् खड़े होते हैं, वहाँ न तो प्रचुर धन काम दे सकता है और न सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव ही ठहर सकते हैं ॥ ३ ॥

दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत् ।
एतद् धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

हितकी बात सुननेवाला सुहृद् दुर्लभ है तथा हितकारी सुहृद् भी दुर्लभ ही है। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! इन सब प्रश्नोंका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

संधेयान् पुरुषान् राजन्नसंधेयांश्च तत्त्वतः ।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! किनके साथ संधि (मित्रता) करनी चाहिये और किनके साथ नहीं ? यह बात मैं तुम्हें ठीक-ठीक बता रहा हूँ। तुम सब कुछ ध्यान देकर सुनो ॥ ५ ॥

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च ।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः ॥ ६ ॥
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः ।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः ।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ॥ ८ ॥
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः ।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥ ९ ॥
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा ।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः ॥ १० ॥
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः ।
अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुध्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्विषी ॥ १२ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च ।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः ।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम् ॥ १४ ॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ॥ १५ ॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कदाचन ।
छिद्रान्वेषी ह्यसंधेयः संधेयानपि मे शृणु ॥ १६ ॥

जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सबपर संदेह करनेवाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरुपत्नीगामी, संकटके समय साथ छोड़कर चल

देनेवाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पापपूर्ण दृष्टि डालनेवाला, नास्तिक, वेदोंकी निन्दा करनेवाला, इन्द्रियोंको खुला छोड़कर जगत्में इच्छानुसार विचरनेवाला, झूठा, सबके द्वेषका पात्र, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर न रहनेवाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धिवाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखनेवाला, दुष्ट स्वभाववाला, मनको वशमें न रखनेवाला, नृशंस, धूर्त, मित्रोंकी बुराई करनेवाला, सदा दूसरोंका धन लेनेकी इच्छा रखनेवाला, यथाशक्ति देनेवालेपर भी संतुष्ट न रहनेवाला, मन्दबुद्धि, मित्रको भी सदा धैर्यसे विचलित करनेवाला, असावधान, बेमौके क्रोध करनेवाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदोंको भी शीघ्र ही त्याग देनेवाला, अनजानमें थोड़ा-सा भी अपराध बन जानेपर मित्रका अनिष्ट करनेवाला, पापी, अपना काम बनानेके लिये ही मित्रोंसे मेल रखनेवाला, वास्तवमें मित्रद्वेषी, मुखसे मित्रताकी बातें करके भीतरसे शत्रुभाव रखनेवाला, कुटिल दृष्टिसे देखनेवाला, विपरीतदर्शी, भलाईसे कभी पीछे न हटनेवाले मित्रको भी त्याग देनेवाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरोंको सतानेवाला, मित्रद्रोही, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसारमें ऐसे मनुष्यके साथ कभी संधि नहीं करनी चाहिये। जो दूसरोंका छिद्र खोजता हो, वह भी संधि करनेके योग्य नहीं है। अब संधि करनेके योग्य पुरुषोंको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ६—१६ ॥

कुलीना वाक्यसम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः ॥ १७ ॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः।
माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥
व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बोलनेमें समर्थ, ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, रूपवान्, गुणवान्, लोभहीन, काम करनेसे कभी न थकनेवाले, अच्छे मित्रोंसे सम्पन्न, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभसे दूर रहनेवाले, मधुरस्वभाववाले, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सदा व्यायामशील, उत्तम कुलकी संतान, अपने कुलका भार वहन करनेमें समर्थ, दोषशून्य तथा लोकमें विख्यात हों, ऐसे मनुष्योंको राजा अपना मित्र बनावे ॥ १७—१९ ॥

यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद् विरागिणः।
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः ॥ २० ॥
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थे युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः ॥ २२ ॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः ॥ २३ ॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः संधिं कुरुते नृपः ॥ २४ ॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।

प्रभो! जो अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करते और संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें बेमौके क्रोध नहीं आता, जो अकस्मात् स्नेहका त्याग नहीं करते, जो उदासीन हो जानेपर भी मनसे कभी बुराई नहीं चाहते, अर्थके तत्त्वको समझते हैं और अपनेको कष्टमें डालकर भी हितैषी पुरुषोंका कार्य सिद्ध करते हैं। जैसे रँगा हुआ ऊनी कपड़ा अपना रंग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जो मित्रकी ओरसे विरक्त नहीं होते हैं, जो क्रोधवश मित्रका अनर्थ करनेमें प्रवृत्त नहीं होते हैं तथा लोभ और मोहके वशीभूत हो मित्रकी युवतियोंपर अपनी आसक्ति नहीं दिखाते, जो मित्रके विश्वासपात्र और धर्मके प्रति अनुरक्त हैं, जिनकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला और सोना दोनों एक-से हैं, जो सदा सुहृदोंके प्रति सुस्थिर बुद्धि रखनेवाले हैं, सबके लिये प्रमाणभूत शास्त्रोंके अनुसार चलते हैं और प्रारब्धवश प्राप्त हुए धनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जो कुटुम्बका संग्रह रखते हुए सदा अपने सुहृद् एवं स्वामीके कार्य-साधनमें तत्पर रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ जो राजा संधि (मेल) करता है, उसका राज्य उसी तरह बढ़ता है, जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी २०-२४½

शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा ॥ २५ ॥
जन्मशीलगुणोपेताः संधेयाः पुरुषोत्तमाः।

जो प्रतिदिन शास्त्रोंका स्वाध्याय करते हैं, क्रोधको काबूमें रखते हैं और युद्धमें सदा प्रबल रहते हैं, जिनका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है, जो शीलवान् और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष ही मित्र बनानेके योग्य होते हैं ॥ २५½ ॥

ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ ॥ २६ ॥
तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः॥ २७॥

निष्पाप नरेश! मैंने जो दोषयुक्त मनुष्य बताये हैं, उन सबमें अधम होते हैं कृतघ्न! वे मित्रोंकी हत्यातक कर डालते हैं। ऐसे दुराचारी नराधमोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये। यह सबका निश्चय है ॥ २६-२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाथ सम्बन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तद् वदस्व मे ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने जिसे मित्रद्रोही और कृतघ्न कहा है, उसका यथार्थ इतिहास क्या है? यह मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे बताइये ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप॥ २९ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें एक पुराना इतिहास बता रहा हूँ। यह घटना उत्तरदिशामें म्लेच्छोंके देशमें घटित हुई थी ॥ २९ ॥

ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद् वै ब्रह्मवर्जितः।
ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष्यकाङ्क्षया ॥ ३० ॥

मध्यदेशका एक ब्राह्मण, जिसने वेद बिल्कुल नहीं पढ़ा था, कोई सम्पन्न गाँव देखकर उसमें भीख माँगनेके लिये गया ॥ ३० ॥

तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित्।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

उस गाँवमें एक धनी डाकू रहता था, जो समस्त वर्णोंकी विशेषताका जानकार था । उसके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति थी। वह सत्यप्रतिज्ञ और दानी था ॥ ३१ ॥

तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥ ३२ ॥
प्रादात् तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदृशं नवम्।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने उसीके घर जाकर भिक्षाके लिये याचना की। दस्युने ब्राह्मणको रहनेके लिये एक घर देकर वर्षभर निर्वाह करनेके योग्य अन्नकी भिक्षाका प्रबन्ध कर दिया, उपयुक्त नया वस्त्र दिया और उसकी सेवामें एक युवती दासी भी दे दी, जो उस समय पतिसे रहित थी ॥ ३२-३३ ॥

एतत् सम्प्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा।
तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥ ३४ ॥

राजन् ! दस्युसे ये सारी वस्तुएँ पाकर ब्राह्मण मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सुन्दर गृहमें दासीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ ३४ ॥

कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत्।
तत्रावसत् स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये ॥ ३५ ॥

वह दासीके कुटुम्बके लिये कुछ सहायता भी करने लगा। ब्राह्मणने भीलके उस समृद्धिशाली भवनमें अनेक वर्षों-तक निवास किया ॥ ३५ ॥

बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः।
चक्राङ्गान् स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान्॥ ३६ ॥
जघान गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा।
हिंसापटुर्घृणाहीनः सदा प्राणिवधे रतः ॥ ३७ ॥

उसका नाम गौतम था। उसने बाण चलाकर लक्ष्य बेधनेका वहाँ बड़े यत्नके साथ अभ्यास किया। राजन् ! गौतम भी दस्युओंकी तरह प्रतिदिन जंगलमें सब ओर घूम-फिरकर हंसोंका शिकार करने लगा। वह हिंसामें बड़ा प्रवीण था। उसमें दया नहीं थी। वह सदा प्राणियोंको मारनेकी ही ताकमें लगा रहता था ॥ ३६-३७ ॥

गौतमः संनिकर्षेण दस्युभिः समतामियात्।
तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ॥ ३८ ॥
अगमन् बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून्।

डाकुओंके सम्पर्कमें रहनेसे गौतम भी उनके ही समान पूरा डाकू बन गया। डाकुओंके गाँवमें सुखपूर्वक रहकर प्रतिदिन बहुत-से पक्षियोंका शिकार करते हुए उसके कई महीने बीत गये ॥ ३८½ ॥

ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥ ३९ ॥
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः।
विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ॥ ४० ॥

तदनन्तर एक दिन कोई दूसरा ब्राह्मण उस गाँवमें आया, जो जटा, वल्कल और मृगचर्म धारण किये हुए था। वह स्वाध्यायपरायण, पवित्र, विनयी, नियमके अनुकूल भोजन करनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ३९-४० ॥

स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः।
तं दस्युग्राममगमद् यत्रासौ गौतमोऽवसत् ॥ ४१ ॥

वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण गौतमके ही गाँवका निवासी तथा उसका परम प्रिय मित्र था और घूमता हुआ डाकुओंके उसी गाँवमें जा पहुँचा था, जहाँ गौतम निवास करता था ॥ ४१॥

स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः।
ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत् सर्वतोदिशम् ॥ ४२ ॥

वह शूद्रका अन्न नहीं खाता था; इसलिये दस्युओंसे भरे हुए उस गाँवमें ब्राह्मणके घरकी तलाश करता हुआ सब ओर घूमने लगा ॥ ४२ ॥

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः।
गौतमश्चापि सम्प्राप्तस्तावन्योन्येन संगतौ ॥ ४३ ॥

घूमता-घामता वह श्रेष्ठ ब्राह्मण गौतमके घरपर गया, इतनेहीमें गौतम भी शिकारसे लौटकर वहाँ आ पहुँचा। उन दोनोंकी एक दूसरेसे भेंट हुई ॥ ४३ ॥

चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम्।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४४ ॥
तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम्।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने देखा, गौतमके कंधेपर मारे गये हंसकी लाश है, हाथमें धनुष और बाण है, सारा शरीर रक्तसे सींच उठा है, घरके दरवाजेपर आया हुआ गौतम नरभक्षी राक्षसके समान जान पड़ता है और ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुका है। उसे इस अवस्थामें घरपर आया देख ब्राह्मणने पहचान लिया। पहचानकर वे बड़े लज्जित हुए और उससे इस प्रकार बोले—॥ ४४-४५ ॥

किमिदं कुरुषे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४६ ॥

'अरे ! तू मोहवश यह क्या कर रहा है ? तू तो मध्यदेश-का विख्यात एवं कुलीन ब्राह्मण था। यहाँ डाकू कैसे बन गया ? ॥ ४६ ॥

पूर्वान् स्मर द्विज ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान्।
तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्मन्! अपने पूर्वजोंको तो याद कर। उनकी कितनी ख्याति थी। वे कैसे वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और तू उन्हींके वंशमें पैदा होकर ऐसा कुलकलङ्क निकला ॥ ४७ ॥

अवबुध्यात्मनाऽऽत्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम्।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ॥ ४८ ॥

'अब भी तो अपने-आपको पहचान! तू द्विज है; अतः द्विजोचित सत्त्व, शील, शास्त्रज्ञान, संयम और दयाभावको याद करके अपने इस निवासस्थानको त्याग दे' ॥ ४८ ॥

स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा।
प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्तवत् ॥ ४९ ॥

राजन्! अपने उस हितैषी सुहृद्के इस प्रकार कहनेपर गौतम मन-ही-मन कुछ निश्चय करके आर्त-सा होकर बोला—॥ ४९ ॥

निर्धनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम्।
वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ ५० ॥

'द्विजश्रेष्ठ! मैं निर्धन हूँ और वेदको भी नहीं जानता; अतः द्विजप्रवर! मुझे धन कमानेके लिये इधर आया हुआ समझें ॥ ५० ॥

त्वद्दर्शनात् तु विप्रेन्द्र कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज।
आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम् ॥ ५१ ॥

'विप्रेन्द्र! आज आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। ब्रह्मन्! अब रातभर यहीं रहिये, कल सवेरे हम दोनों साथ ही चलेंगे' ॥ ५१ ॥

स तत्र न्यवसद् विप्रो घृणी किञ्चिदसंस्पृशन्।
क्षुधितश्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत ॥ ५२ ॥

वह ब्राह्मण दयालु था। गौतमके अनुरोधसे उसके यहाँ ठहर गया, किंतु वहाँकी किसी भी वस्तुको हाथसे छुआ भी नहीं। यद्यपि वह भूखा था और भोजन करनेके लिये गौतमद्वारा उससे बड़ी अनुनय-विनय की गयी, तो भी किसी तरह वहाँका अन्न ग्रहण करना उसने स्वीकार नहीं किया॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका समुद्रकी ओर प्रस्थान और संध्याके समय एक दिव्य बकपक्षीके घरपर अतिथि होना

भीष्म उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन् द्विजोत्तमे।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत् समुद्रं प्रति भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! जब रात बीती, सवेरा हुआ और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँसे चला गया, तब गौतम भी घर छोड़कर समुद्रकी ओर चल दिया ॥ १ ॥

सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति ॥ २ ॥

रास्तेमें उसने देखा कि समुद्रके आसपास रहनेवाले कुछ व्यापारी वैश्य ठहरे हुए हैं। वह उन्हींके दलके साथ हो लिया और समुद्रकी ओर जाने लगा ॥ २ ॥

स तु सार्थो महान् राजन् कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत् ॥ ३ ॥

राजन्! वैश्योंका वह महान् दल किसी पर्वतकी गुफामें डेरा डाले हुए था। इतनेहीमें एक मतवाले हाथीने उसपर आक्रमण कर दिया। उस दलके अधिकांश मनुष्य उसके द्वारा मारे गये ॥ ३ ॥

स कथंचिद् भयात् तस्माद् विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा।
कांदिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम् ॥ ४ ॥

गौतम ब्राह्मण किसी तरह उस भयसे छूट तो गया; परंतु उस घबराहटमें वह यह निर्णय न कर सका कि मुझे किस दिशामें जाना है? अपने प्राण बचानेके लिये वह उत्तर दिशाकी ओर भाग चला ॥ ४ ॥

स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद् देशात् तथा च्युतः।
एकाकी व्यचरत् तत्र वने किंपुरुषो यथा ॥ ५ ॥

व्यापारियोंके दलका साथ छूट गया, अतः उस देशसे भी भ्रष्ट होकर वह अकेला ही उस वनमें विचरने लगा; मानो कोई किंपुरुष घूम रहा हो ॥ ५ ॥

स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा।
आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

उस समय समुद्रकी ओर जानेवाला एक मार्ग उसे मिल गया और उसीको पकड़कर वह दिव्य एवं रमणीय वनमें जा पहुँचा। वहाँके सभी वृक्ष सुन्दर फूलोंसे सुशोभित थे॥६॥

सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम्।
नन्दनोद्देशसदृशं यक्षकिन्नरसेवितम् ॥ ७ ॥

सभी ऋतुओंमें फूलने-फलनेवाली आम्रवृक्षोंकी पंक्तियाँ उस वनकी शोभा बढ़ा रही थीं। यक्षों और किन्नरोंसे सेवित वह प्रदेश नन्दनवनके समान मनोरम जान पड़ता था ॥७॥

शालैस्तालैस्तमालैश्च कालागुरुवनैस्तथा।
चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपैरुपशोभितम्।
गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु ॥ ८ ॥
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा।

शाल, ताल, तमाल, काले अगुरुके वन तथा श्रेष्ठ चन्दनके वृक्ष उस वनको सुशोभित करते थे। वहाँके रमणीय और सुगन्धित पर्वतीय समतल प्रदेशोंमें चारों ओर उत्तमोत्तम पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ८½ ॥

मनुष्यवदनाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः ॥ ९ ॥
भूलिङ्गशकुनाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः ।

कहीं मनुष्योंके समान मुखवाले 'भारुण्ड' नामक पक्षी बोलते थे। कहीं समुद्रतट और पर्वतोंपर रहनेवाले भूलिङ्ग पक्षी तथा अन्य विहंगम चहचहा रहे थे ॥ ९½ ॥

स तान्यतिमनोज्ञानि विहगानां रुतानि वै ॥ १० ॥
शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रोऽगच्छत गौतमः ।

पक्षियोंके उन मधुर मनोहर एवं रमणीय कलरवोंको सुनता हुआ गौतम ब्राह्मण आगे बढ़ता चला गया ॥ १०½ ॥

ततोऽपश्यत् सुरम्येषु सुवर्णसिकताचिते ॥ ११ ॥
देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे नृप ।
श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधं च सुमण्डलम् ॥ १२ ॥
शाखाभिरनुरूपाभिर्भूयिष्ठं क्षत्रसंनिभम् ।
तस्य मूलं च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा ॥ १३ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर उन रमणीय प्रदेशोंमेंसे एक ऐसे स्थानपर जो सुवर्णमयी बालुकाराशिसे व्याप्त, समतल, सुखद, विचित्र तथा स्वर्गीय भूमिके समान मनोहर था, गौतमने एक अत्यन्त शोभायमान बरगदका विशाल वृक्ष देखा, जो चारों ओर मण्डलाकार फैला हुआ था। अपनी बहुत-सी सुन्दर शाखाओंके कारण वह वृक्ष एक महान् छत्रके समान जान पड़ता था। उसकी जड़ चन्दनमिश्रित जलसे सींची गयी थी ॥ ११—१३ ॥

दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत् पितामहसभोपमम् ।
तं दृष्ट्वा गौतमः प्रीतो मनःकान्तमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीकी सभाके समान शोभा पानेवाला वह वृक्ष दिव्य पुष्पोंसे सुशोभित था। उस परम उत्तम मनोरम वटवृक्षको देखकर गौतमको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १४ ॥

मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितैः पादपैर्वृतम् ।
तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत् ॥ १५ ॥

वह पवित्र, देवगृहके समान सुन्दर और खिले हुए वृक्षोंसे घिरा हुआ था। उस वृक्षके पास जाकर वह बड़े हर्षके साथ उसके नीचे छायामें बैठा ॥ १५ ॥

तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुखः शिवः ।
पुष्पाणि समुपस्पृश्य प्रववावनिलः शुभः ।
ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन! गौतमके वहाँ बैठते ही फूलोंका स्पर्श करके सुन्दर मन्द सुगन्ध वायु चलने लगी, जो बड़ी ही सुखद और कल्याणप्रद जान पड़ती थी। नरेश्वर! वह गौतमके सम्पूर्ण अङ्गोंको आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ १६ ॥

स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना ।
सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्ययात् ॥ १७ ॥

उस पवित्र वायुका स्पर्श पाकर गौतमको बड़ी शान्ति मिली। वह सुखका अनुभव करता हुआ वहीं लेट गया। उधर सूर्य भी डूब गया ॥ १७ ॥

ततोऽस्तं भास्करे याते संध्याकाल उपस्थिते ।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात् खगोत्तमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर, सूर्यके अस्ताचलको चले जानेके पश्चात् संध्याकाल उपस्थित होनेपर ब्रह्मलोकसे वहाँ एक श्रेष्ठ पक्षी आया। वह वृक्ष ही उसका घर या वासस्थान था ॥ १८ ॥

नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा ।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसम्भवः ॥ १९ ॥

वह महर्षि कश्यपका पुत्र और ब्रह्माजीका प्रिय सखा था। उसका नाम था नाडीजङ्घ। वह बगुलोंका राजा और महाबुद्धिमान था ॥ १९ ॥

राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि ।
देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान् देवसमप्रभः ॥ २० ॥

वह अनुपम पक्षी इस भूतलपर राजधर्माके नामसे विख्यात था। देवकन्यासे उत्पन्न होनेके कारण उसके शरीरकी कान्ति देवताके समान थी। वह बड़ा विद्वान् था और दिव्य तेजसे सम्पन्न दिखायी देता था ॥ २० ॥

मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसंनिभैः ।
भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन् ॥ २१ ॥

उसके अङ्गोंमें सूर्यदेवकी किरणोंके समान चमकीले आभूषण शोभा देते थे। वह देवकुमार अपने सभी अङ्गोंमें विशुद्ध एवं दिव्य आभरणोंसे विभूषित हो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान होता था ॥ २१ ॥

तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत ॥ २२ ॥

उस पक्षीको आया देख गौतम आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस समय वह भूखा-प्यासा तो था ही, रास्ता चलनेकी थकावटसे भी चूर-चूर हो रहा था। अतः राजधर्माको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर देखा ॥ २२ ॥

राजधर्मोवाच

स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम् ।
अस्तं च सविता यातः संध्येयं समुपस्थिता ॥ २३ ॥

राजधर्मा (पास आकर) बोला—विप्रवर! आपका स्वागत है। यह मेरा घर है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। यह संध्याकाल उपस्थित है ॥ २३ ॥

मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः ।
पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २४ ॥

आप मेरे घर आये हुए प्रिय एवं उत्तम अतिथि हैं। मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार आज आपकी पूजा करूँगा। रातमें मेरा आतिथ्य स्वीकार करके कल प्रातःकाल यहाँसे जाइयेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राजधर्माद्वारा आतिथ्यसत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्षके भवनमें प्रवेश

भीष्म उवाच

गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा ।
कौतूहलान्वितो राजन् राजधर्माणमैक्षत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पक्षीकी वह मधुर वाणी सुनकर गौतमको बड़ा आश्चर्य हुआ । वह कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे राजधर्माकी ओर देखने लगा ॥ १ ॥

राजधर्मोवाच

भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे ।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

राजधर्मा बोला—द्विजश्रेष्ठ ! मैं महर्षि कश्यपका पुत्र हूँ । मेरी माता दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं । आप गुणवान् अतिथि हैं, मैं आपका स्वागत करता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं वै समकल्पयत् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर राजधर्माने शास्त्रीय विधिके अनुसार गौतमका सत्कार किया । शालके फूलोंका आसन बनाकर उसे बैठनेके लिये दिया ॥ ३ ॥

भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान् ।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥ ४ ॥

राजा भगीरथके रथसे आक्रान्त हुए जिन भूभागोंमें श्रीगङ्गाजी प्रवाहित होती हैं, वहाँ गङ्गाजीके जलमें जो बड़े-बड़े मत्स्य विचरते हैं, उन्हींमेंसे कुछ मत्स्योंको लाकर राजधर्माने गौतमके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥ ४ ॥

वह्निं चापि सुसंदीप्तं मीनांश्चापि सुपीवरान् ।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः ॥ ५ ॥

कश्यपके उस पुत्रने अग्नि प्रज्वलित कर दी और मोटे-मोटे मत्स्य लाकर अपने अतिथि गौतमको अर्पित कर दिये ॥ ५ ॥

भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः ।
क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ॥ ६ ॥

वह ब्राह्मण उन मत्स्योंको पकाकर जब खा चुका और उसकी अन्तरात्मा तृप्त हो गयी, तब वह महातपस्वी पक्षी उसकी थकावट दूर करनेके लिये अपने पंखोंसे हवा करने लगा ॥ ६ ॥

ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत ।
सोऽब्रवीद् गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥

विश्रामके पश्चात् जब वह बैठा, तब राजधर्माने उससे गोत्र पूछा । गौतमने कहा—'मेरा नाम गौतम है और मैं जातिसे ब्राह्मण हूँ ।' इससे अधिक कोई बात वह बता न सका ॥ ७ ॥

तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम् ।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात् स शिश्ये तत्र वै सुखम् ॥ ८ ॥

तब पक्षीने उसके लिये पत्तोंका दिव्य बिछावन तैयार किया, जो फूलोंसे अधिवासित होनेके कारण सुगन्धसे महँ-महँ महक रहा था । वह बिछावन उसे दिया और गौतम उसपर सुखपूर्वक सोया ॥ ८ ॥

अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तदा ।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥

धर्मराज ! जब गौतम उस बिछौनेपर बैठा, तब बातचीतमें कुशल कश्यपकुमारने पूछा—'ब्रह्मन् ! आप इधर किसलिये आये हैं ?' ॥ ९ ॥

ततोऽब्रवीद् गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते ।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत ॥ १० ॥

भारत ! तब गौतमने उससे कहा—'महामते ! मैं दरिद्र हूँ और धनके लिये समुद्रतटपर जानेकी इच्छा लेकर घरसे चला हूँ' ॥ १० ॥

तं काश्यपोऽब्रवीत् प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्द्रव्यो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर राजधर्माने प्रसन्न होकर कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! अब आप वहाँतक जानेके लिये उत्सुक न हों, यहीं आपका काम हो जायगा । आप यहींसे धन लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ११ ॥

चतुर्विधा ह्यर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा ।
पारम्पर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥

'प्रभो ! बृहस्पतिजीके मतके अनुसार अर्थकी सिद्धि चार

प्रकारसे होती है—वंशपरम्परासे, प्रारब्धकी अनुकूलतासे, धनके लिये किये गये सकामकर्मसे और मित्रके सहयोगसे ॥ १२॥

प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथार्थवान्॥ १३॥

'मैं आपका मित्र हो गया हूँ, आपके प्रति मेरा सौहार्द बढ़ गया है; अतः मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे आपको अर्थकी प्राप्ति हो जायगी'॥ १३॥

ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाब्रवीदिदम्।
गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि॥ १४॥
इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान्।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः॥ १५॥

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब राजधर्माने ब्राह्मणके सुखका उपाय सोचकर इस प्रकार कहा—'सौम्य! इस मार्गसे जाइये, आपका कार्य सिद्ध हो जायगा। यहाँसे तीन योजन दूर जानेपर जो नगर मिलेगा, वहाँ महाबली राक्षसराज विरूपाक्ष रहते हैं, वे मेरे महान् मित्र हैं॥ १४-१५॥

तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः॥ १६॥

'द्विजश्रेष्ठ! आप उनके पास जाइये। वे मेरे कहनेसे आपको यथेष्ट धन देंगे और आपकी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण करेंगे, इसमें संशय नहीं है'॥ १६॥

इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो विगतक्लमः।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः॥ १७॥
चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च।
तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ॥ १८॥

राजन्! उसके ऐसा कहनेपर गौतम वहाँसे चल दिया। उसकी सारी थकावट दूर हो चुकी थी। महाराज! मार्गमें तेजपातोंके वनमें, जहाँ चन्दन और अगुरुके वृक्षोंकी प्रधानता थी, विश्राम करता और इच्छानुसार अमृतके समान मधुर फल खाता हुआ वह बड़ी तेजीसे आगे बढ़ता चला गया॥

ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम्।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्राकुलं तथा॥ १९॥

चलते-चलते वह मेरुव्रज नामक नगरमें जा पहुँचा, जिसके चारों ओर पर्वतोंके टीले और पर्वतोंकी ही चहारदिवारी थी। उसका सदर फाटक भी एक पर्वत ही था। नगरकी रक्षाके लिये सब ओर शिलाकी बड़ी-बड़ी चट्टानें और मशीनें थीं॥ १९॥

विदितश्चाभवत् तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः।
प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणः प्रियातिथिः॥ २०॥

परम बुद्धिमान् राक्षसराज विरूपाक्षको सेवकोंद्वारा यह सूचना दी गयी कि राजन्! आपके मित्रने अपने एक प्रिय अतिथिको आपके पास भेजा है, वह बहुत प्रसन्न है॥ २०॥

ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान् प्रेष्यानाह युधिष्ठिर।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति॥ २१॥

युधिष्ठिर! यह समाचार पाते ही राक्षसराजने अपने सेवकोंसे कहा—'गौतमको नगरद्वारसे शीघ्र यहाँ लाया जाय'॥

ततः पुरवरात् तस्मात् पुरुषाः श्येनचेष्टनाः।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन्॥ २२॥

यह आदेश प्राप्त होते ही राजसेवक गौतमको पुकारते हुए बाजकी तरह झपटकर उस श्रेष्ठ नगरके फाटकपर आये॥

ते तमूचुर्महाराज राजप्रेष्यास्तदा द्विजम्।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति॥ २३॥

महाराज! राजाके उन सेवकोंने उस समय उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्रह्मन्! जल्दी कीजिये। शीघ्र आइये। महाराज आपसे मिलना चाहते हैं॥ २३॥

राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत् क्षिप्रं संविधीयताम्॥ २४॥

'विरूपाक्ष नामसे प्रसिद्ध वीर राक्षसराज आपको देखनेके लिये उतावले हो रहे हैं; अतः आप शीघ्रता कीजिये'॥२४॥

ततः स प्राद्रवद् विप्रो विस्मयाद् विगतक्लमः।
गौतमः परमर्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः॥ २५॥

बुलावा सुनते ही गौतमकी थकावट दूर हो गयी। वह विस्मित होकर दौड़ पड़ा। राक्षसराजकी उस महासमृद्धिको देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था॥ २५॥

तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत्।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा॥ २६॥

राक्षसराजके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये वह ब्राह्मण उन सेवकोंके साथ शीघ्र ही राजमहलमें जा पहुँचा॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७०॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राक्षसराजके यहाँसे सुवर्णराशि लेकर लौटना और अपने मित्र बकके वधका घृणित विचार मनमें लाना

भीष्म उवाच

ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम्।
पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजाको उसके आगमनकी सूचना दी गयी और वह उनके उत्तम भवनमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ राक्षसराजने उसका विधिवत् पूजन किया।

तत्पश्चात् वह एक उत्तम आसनपर विराजमान हुआ ॥ १ ॥

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम्।
न तत्र व्याजहारान्यद् गोत्रमात्रादृते द्विजः ॥ २ ॥

विरूपाक्षने गौतमसे उसके गोत्र, शाखा और ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक किये गये स्वाध्यायके विषयमें प्रश्न किया; परंतु उसने गोत्र (जाति) के सिवा और कुछ नहीं बताया ॥ २ ॥

ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत ॥ ३ ॥

तब ब्राह्मणोचित तेजसे हीन, स्वाध्यायसे उपरत, केवल गोत्र अथवा जातिका नाम जाननेवाले उस ब्राह्मणसे राजाने उसका निवासस्थान पूछा ॥ ३ ॥

राक्षस उवाच

क्व ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्वसस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

राक्षसराज बोले—भद्र ! तुम्हारा निवास कहाँ है ? तुम्हारी पत्नी किस गोत्रकी कन्या है ? यह सब ठीक-ठीक बताओ। भय न करो। मुझपर विश्वास करो और सुखसे रहो ॥

गौतम उवाच

मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

गौतमने कहा—राक्षसराज ! मेरा जन्म तो हुआ है मध्यदेशमें, किंतु मैं एक भीलके घरमें रहता हूँ। मेरी स्त्री शूद्र जातिकी है और मुझसे पहले दूसरेकी पत्नी रह चुकी है। यह बात मैं आपसे सत्य ही कहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत्।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सुनकर राक्षसराज मन-ही-मन विचार करने लगे कि अब किस तरह काम करना चाहिये ? कैसे मुझे पुण्य प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार उन्होंने बारंबार बुद्धि लगाकर सोचा और विचारा ॥ ६ ॥

अयं वै जन्मना विप्रः सुहृत् तस्य महात्मनः।
सम्प्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम् ॥ ७ ॥
तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः ॥ ८ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे, 'यह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण है; परंतु महात्मा राजधर्माका सुहृद् है। उन कश्यपकुमारने ही इसे यहाँ मेरे पास भेजा है; अतः उनका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। वह सदा मुझपर भरोसा रखता है और मेरा भाई, बान्धव तथा हार्दिक मित्र भी है ॥ ७-८ ॥

कार्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः।
तत्रायमपि भोक्ता च देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥
स चाद्य दिवसः पुण्यो ह्यतिथिश्चायमागतः।
संकल्पितं चैव धनं किं विचार्यमतः परम् ॥ १० ॥

'आज कार्तिककी पूर्णिमा है। आजके दिन सहस्रों श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे यहाँ भोजन करेंगे। उन्हींमें यह भी भोजन कर लेगा, उन्हींके साथ इसे भी धन देना चाहिये। आज पुण्य दिवस है, यह ब्राह्मण अतिथिरूपसे यहाँ आया है और मैंने धन दान करनेका संकल्प कर ही रक्खा है। अब इसके बाद क्या विचार करना है ?' ॥ ९-१० ॥

ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम्।
स्नातानामनुसम्प्राप्तं सुमहत् क्षौमवाससाम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भोजनके समय हजारों विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके रेशमी वस्त्र और अलंकार धारण किये वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

तानागतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशाम्पते।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! विरूपाक्षने वहाँ पधारे हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ॥

बृस्यस्तेषां तु संन्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्।
भूमौ वरकुशाः स्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षसराजकी आज्ञासे सेवकोंने जमीनपर उनके लिये कुशाके सुन्दर आसन बिछा दिये ॥ १३ ॥

तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः।
तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद् द्विजाः ॥ १४ ॥

राजाके द्वारा सम्मानित वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जब उन आसनोंपर विराजमान हो गये, तब विरूपाक्षने तिल, कुश और जल लेकर उनका विधिवत् पूजन किया ॥ १४ ॥

विश्वेदेवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः।
विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः।
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा ॥ १५ ॥

उनमें विश्वेदेवों, पितरों तथा अग्निदेवकी भावना करके उन सबको चन्दन लगाया, फूलोंकी मालाएँ पहनायीं और सुन्दर रीतिसे उनकी पूजा की। महाराज ! उन आसनोंपर बैठकर वे ब्राह्मण चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगे ॥

ततो जाम्बूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः।
वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् उसने हीरोंसे जड़ी हुई सोनेकी स्वच्छ सुन्दर थालियोंमें घीसे बने हुए मीठे पकवान परोसकर उन ब्राह्मणोंके आगे रख दिये ॥ १६ ॥

तस्य नित्यं सदाऽऽषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः।
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा ॥ १७ ॥

उसके यहाँ आषाढ़ और माघकी पूर्णिमाको सदा बहुत-से ब्राह्मण सत्कारपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम भोजन पाते थे ॥ १७ ॥

विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः सम्प्रयच्छति।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः ॥ १८ ॥

विशेषतः कार्तिककी पूर्णिमाको, जब कि शरदृतुकी

समाप्ति होती है, वह ब्राह्मणोंको रत्नोंका दान करता था; ऐसा सुननेमें आया है ॥ १८ ॥

सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ १९ ॥
वज्रान् महाधनांश्चैव वैदूर्याजिनराङ्कवान् ।
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत ॥ २० ॥
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः ।
गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः ॥ २१ ॥
येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः ।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भोजनके पश्चात् ब्राह्मणोंके समक्ष बहुत-से सोने, चाँदी, मणि, मोती, बहुमूल्य हीरे, वैदूर्यमणि, रंकु-मृगके चर्म तथा रत्नोंके कई ढेर लगाकर महाबली विरूपाक्षने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा—'द्विजवरो ! आपलोग अपनी इच्छा और उत्साहके अनुसार इन रत्नोंको उठा ले जायँ और जिनमें आपलोगोंने भोजन किया है, उन पात्रोंको भी अपने घर लेते जायँ' ॥

इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि ।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २३ ॥

उन महात्मा राक्षसराजके ऐसा कहनेपर उन ब्राह्मणोंने इच्छानुसार उन-सब रत्नोंको ले लिया ॥ २३ ॥

ततो महार्हैस्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः ।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म ततोऽभवन् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् उन सुन्दर एवं महामूल्यवान् रत्नोंद्वारा पूजित हुए वे सभी उज्ज्वल वस्त्रधारी ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः ।
नानादेशगतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य वै ॥ २५ ॥
अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् ।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात माचिरम् ॥ २६ ॥

राजन् ! इसके बाद राक्षसराज विरूपाक्षने नाना देशोंसे आये हुए राक्षसोंको हिंसा करनेसे रोककर उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण ! आज एक दिनके लिये आपलोगोंको राक्षसोंकी ओरसे कहीं कोई भय नहीं है; अतः आनन्द कीजिये और शीघ्र ही अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइये ! विलम्ब न कीजिये' ॥ २५-२६ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः ।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥
कृच्छ्रात् समुद्वहन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत् ।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः ॥ २८ ॥

यह सुनकर सब ब्राह्मणसमुदाय चारों ओर भाग चले । गौतम भी सुवर्णका भारी भार लेकर बड़ी कठिनाईसे ढोता हुआ जल्दी-जल्दी चलकर बरगदके पास आया । वहाँ पहुँचते ही थककर बैठ गया । वह भूखसे पीड़ित और क्लान्त हो रहा था ॥

ततस्तमभ्यगाद् राजन् राजधर्मा खगोत्तमः ।
स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥ २९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पक्षियोंमें श्रेष्ठ मित्रवत्सल राजधर्मा गौतमके पास आया और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ॥

तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत् खगः ।
पूजां चाप्यकरोद् धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ ३० ॥

उस बुद्धिमान् पक्षीने अपने पंखोंके अग्रभागका संचालन करके उसे हवा की और उसकी सारी थकावट दूर कर दी; फिर उसका पूजन किया तथा उसके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥

स भुक्तवान् सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत् तदा ।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान् मया ॥ ३१ ॥
गृहीतो लोभमोहाभ्यां दूरं च गमनं मम ।
न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ॥ ३२ ॥

भोजन करके विश्राम कर लेनेपर गौतम इस प्रकार चिन्ता करने लगा—'अहो ! मैंने लोभ और मोहसे प्रेरित होकर सुन्दर सुवर्णका यह महान् भार ले लिया है । अभी मुझे बहुत दूर जाना है । रास्तेमें खानेके लिये कुछ भी नहीं है, जिससे मेरे प्राणोंकी रक्षा हो सके ॥ ३१-३२ ॥

किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत् ।
ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किंचन ॥ ३३ ॥
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् ।
अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान् ॥ ३४ ॥
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥ ३५ ॥

'अब मैं कौन-सा उपाय करके अपने प्राणोंको धारण कर सकूँगा ?' इस प्रकारकी चिन्तामें वह मग्न हो गया । पुरुषसिंह ! तदनन्तर मार्गमें भोजनके लिये कुछ भी न देखकर उस कृतघ्नने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'यह बगुलोंका राजा राजधर्मा मेरे पास ही तो है । यह मांसका एक बहुत बड़ा ढेर है । इसीको मारकर ले लूँ और शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दूँ' ॥ ३३-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कृतघ्न गौतमद्वारा मित्र राजधर्माका वध तथा राक्षसोंद्वारा उसकी हत्या और कृतघ्नके मांसको अभक्ष्य बताना

भीष्म उवाच

अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः ।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पक्षिराज राजधर्माने अपने मित्र

गौतमकी रक्षाके लिये उससे थोड़ी दूरपर आग प्रज्वलित कर-दी थी, जिससे हवाका सहारा पाकर बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं ॥ १ ॥

स चापि पार्श्वे सुष्वाप विश्वस्तो बकराट् तदा।
कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः ॥ २ ॥
ततोऽलातेन दीप्तेन विश्वस्तं निजघान तम्।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥

बकराजको भी मित्रपर विश्वास था; इसलिये उस समय उसके पास ही सो गया। इधर वह दुष्टात्मा कृतघ्न उसका वध करनेकी इच्छासे उठा और विश्वासपूर्वक सोये हुए राजधर्माको सामनेसे जलती हुई लकड़ी लेकर उसके द्वारा मार डाला। उसे मारकर वह बहुत प्रसन्न हुआ, मित्रके वधसे जो पाप लगता है, उसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी ॥

स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत् तदा।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः ॥ ४ ॥

उसने मरे हुए पक्षीके पंख और बाल नोचकर उसे आगमें पकाया और उसे साथमें ले सुवर्णका बोझ सिरपर उठाकर वह ब्राह्मण बड़ी तेजीके साथ वहाँसे चल दिया ॥४॥

(ततो दाक्षायणीपुत्रं नागतं तं तु भारत।
विरूपाक्षश्चिन्तयन् वै हृदयेन विदूयता) ॥

भारत! उस दिन दक्षकन्याका पुत्र राजधर्मा अपने मित्र विरूपाक्षके यहाँ न जा सका; इससे विरूपाक्ष व्याकुल हृदयसे उसके लिये चिन्ता करने लगा ॥

ततोऽन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत् सुतम्।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर दूसरा दिन भी व्यतीत हो जानेपर विरूपाक्षने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! मैं आज पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजधर्माको नहीं देख रहा हूँ ॥ ५ ॥

स पूर्वसंध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां वा दृष्ट्वा कदाचित् स न गच्छति गृहं खगः ॥६ ॥

'वे पक्षिप्रवर प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माजीकी वन्दना करनेके लिये जाया करते थे और वहाँसे लौटनेपर मुझसे मिले बिना कभी अपने घर नहीं जाते थे ॥ ६ ॥

उभे द्विरात्रिसंध्ये वै नाभ्यगात् स ममालयम्।
तस्मान्न शुद्ध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत् ॥ ७ ॥

'आज दो संध्याएँ व्यतीत हो गयीं, किंतु वह मेरे घर-पर नहीं पधारे; अतः मेरे मनमें संदेह पैदा हो गया है। तुम मेरे मित्रका पता लगाओ ॥ ७ ॥

स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तद्गतस्तत्र मे शंका हन्यात् तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥

'वह अधम ब्राह्मण गौतम स्वाध्यायरहित और ब्रह्मतेजसे शून्य था तथा हिंसक जान पड़ता था। उसीपर मेरा संदेह है। कहीं वह मेरे मित्रको मार न डाले ॥ ८ ॥

दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः ॥ ९ ॥

'उसकी चेष्टाओंसे मैंने लक्षित किया तो वह मुझे दुर्बुद्धि एवं दुराचारी तथा दयाहीन प्रतीत होता था। वह आकारसे ही बड़ा भयानक और दुष्ट दस्युके समान अधम जान पड़ता था ॥ ९ ॥

गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ॥ १० ॥
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम्।

'नीच गौतम यहाँसे लौटकर फिर उन्हींके निवासस्थान-पर गया था; इसलिये मेरे मनमें उद्वेग हो रहा है। बेटा! तुम शीघ्र यहाँसे राजधर्माके घरपर जाओ और पता लगाओ कि वे शुद्धात्मा पक्षिराज जीवित हैं या नहीं। इस कार्यमें विलम्ब न करो' ॥ १०½ ॥

स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ॥ ११ ॥
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत् कङ्कालं राजधर्मणः।

पिताकी ऐसी आज्ञा पाकर वह तुरंत ही राक्षसोंके साथ उस वटवृक्षके पास गया। वहाँ उसे राजधर्माका कंकाल अर्थात् उसके पंख, हड्डियों और पैरोंका समूह दिखायी दिया ॥

स रुदन्नगमत् पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ १२ ॥
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै।

बुद्धिमान् राक्षसराजका पुत्र राजधर्माकी यह दशा देखकर रो पड़ा और उसने पूरी शक्ति लगाकर गौतमको शीघ्र पकड़नेकी चेष्टा की ॥ १२½ ॥

ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ॥ १३ ॥
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम्।

तदनन्तर कुछ ही दूर जानेपर राक्षसोंने गौतमको पकड़ लिया। साथ ही उन्हें पंख, पैर और हड्डियोंसे रहित राज-धर्माकी लाश भी मिल गयी ॥ १३½ ॥

तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ॥ १४ ॥
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः।
कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापकारिणम् ॥ १५ ॥

गौतमको लेकर वे राक्षस शीघ्र ही मेरुव्रजमें गये। वहाँ उन्होंने राजाको राजधर्माका मृत शरीर दिखाया और पापा-चारी कृतघ्न गौतमको भी सामने खड़ा कर दिया ॥१४-१५॥

रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः।
आर्तनादश्च सुमहानभूत् तस्य निवेशने ॥ १६ ॥
सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम्।

अपने मित्रको इस दशामें देखकर मन्त्री और पुरोहितोंके साथ राजा विरूपाक्ष फूट-फूटकर रोने लगे। उनके महलमें महान् आर्तनाद गूँजने लगा। स्त्री और बच्चोंसहित सारे नगरमें शोक छा गया। किसीका भी मन स्वस्थ न रहा।१६½।

अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति ॥ १७ ॥
अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः ।

तब राजाने अपने पुत्रको आज्ञा दी—'बेटा ! इस पापीको मार डालो। ये समस्त राक्षस इसके मांसका यथेष्ट उपयोग करें ॥

पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः ॥ १८ ॥
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः ।

'राक्षसो ! यह पापाचारी, पापकर्मा और पापात्मा है। इसके सारे साधन पापमय हैं; अतः तुम्हें इसका वध कर देना चाहिये, यही मेरा मत है' ॥ १८½ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ॥ १९ ॥
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत ।

राक्षसराजके इस प्रकार आदेश देनेपर भी भयानक पराक्रमी राक्षसोंने गौतमको खानेकी इच्छा नहीं की; क्योंकि वह घोर पापाचारी था ॥ १९½ ॥

दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः ॥ २० ॥
इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः ।
शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम् ॥ २१ ॥
न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम् ।

महाराज ! उन निशाचरोंने राक्षसराजसे कहा—'प्रभो ! इस नराधमका मांस दस्युओंको दे दिया जाय। आप हमें इसका पाप खानेके लिये न दें' इस प्रकार समस्त राक्षसोंने राक्षसराजके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की ॥ २०-२१½ ॥

एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ॥ २२ ॥
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः ।

यह सुनकर राक्षसराजने उन निशाचरोंसे कहा—'राक्षसो ! ऐसा ही सही, इस कृतघ्नको आज ही डाकुओंके हवाले कर दो' ॥

इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः ॥ २३ ॥
कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा ।

राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर हाथमें शूल और पट्टिश धारण किये राक्षसोंने पापी गौतमके टुकड़े-टुकड़े करके उसे दस्युओंको सौंप दिया ॥ २३½ ॥

दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम् ।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! उन दस्युओंने भी उस पापाचारीका मांस खानेकी इच्छा नहीं की। मांसाहारी जीव-जन्तु भी कृतघ्नका मांस काममें नहीं लेते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २५ ॥

राजन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभङ्ग करनेवालोंके लिये शास्त्रमें प्रायश्चित्तका विधान है; परंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं बताया गया है ॥ २५ ॥

मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः ।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥ २६ ॥

मित्रद्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न—ऐसे मनुष्योंका मांस मांसभक्षी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यान-विषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २७ श्लोक हैं)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मा और गौतमका पुनः जीवित होना

भीष्म उवाच

ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः ।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विरूपाक्षने बकराजके लिये एक चिता तैयार करायी। उसे बहुत-से रत्नों, सुगन्धित चन्दनों तथा वस्त्रोंसे खूब सजाया गया था ॥

ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान् ।
प्रेतकार्याणि विधिवद् राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥

तत्पश्चात् बकराजके शवको उसके ऊपर रखकर प्रतापी राक्षसराजने उसमें आग लगायी और विधिपूर्वक मित्रका दाह-कर्म सम्पन्न किया ॥ २ ॥

तस्मिन् काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा ।
उपरिष्टात् ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥

उसी समय दिव्य धेनु दक्षकन्या सुरभिदेवी वहाँ आकर आकाशमें ठीक चिताके ऊपर खड़ी हो गयीं ॥

तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदानघ ।
सोऽपतद् वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥ ४ ॥

अनघ ! उनके मुखसे जो दूधमिश्रित फेन झरकर गिरा, वह राजधर्माकी उस चितापर पड़ा ॥ ४ ॥

ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदानघ ।
उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥

निष्पाप नरेश ! उससे उस समय बकराज जी उठा और वह उड़कर विरूपाक्षसे जा मिला ॥ ५ ॥

ततोऽभ्ययाद् देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा ।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या संजीवितस्त्वया ॥ ६ ॥

उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्षके नगरमें आये और विरूपाक्षसे इस प्रकार बोले—'बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारेद्वारा बकराजको जीवन मिला' ॥ ६ ॥

श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् ।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥

इन्द्रने विरूपाक्षको एक प्राचीन घटना सुनायी, जिसके अनुसार ब्रह्माजीने पहले राजधर्माको शाप दिया था ॥ ७ ॥

यदा बकपती राजन् ब्रह्माणं नोपसर्पति ।
ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥

राजन्! एक समय जब बकराज ब्रह्माजीकी सभामें नहीं पहुँच सके, तब पितामहने बड़े रोषमें भरकर इन पक्षि-राजको शाप देते हुए कहा—॥ ८ ॥

यस्मान्मूढो मम सभां नागतोऽसौ बकाधमः ।
तस्माद् वधं स दुष्टात्मा नचिरात् समवाप्स्यति॥ ९ ॥

'वह मूर्ख और नीच बगला मेरी सभामें नहीं आया है; इसलिये शीघ्र ही उस दुष्टात्माको वधका कष्ट भोगना पड़ेगा'॥

तदयं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै ।
तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥ १० ॥

ब्रह्माजीके उस वचनसे ही गौतमने इनका वध किया और ब्रह्माजीने ही पुनः अमृत छिड़ककर राजधर्माको जीवन-दान दिया है ॥ १० ॥

राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर ॥ ११ ॥
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत ।

तदनन्तर राजधर्मा बकने इन्द्रको प्रणाम करके कहा—'सुरेश्वर! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मेरे प्रिय मित्र गौतमको भी जीवित कर दीजिये' ॥ ११½ ॥

तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥
सिक्त्वामृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत् तदा ।

'पुरुषप्रवर! उसके अनुरोधको स्वीकार करके इन्द्रदेवने गौतम ब्राह्मणको भी अमृत छिड़ककर जिला दिया ॥१२½॥

सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ॥ १३ ॥
सम्परिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः ।

राजन्! बर्तन और सुवर्ण आदि सब सामग्रीसहित प्रिय सुहृद् गौतमको पाकर बकराजने बड़े प्रेमसे उसको हृदयसे लगा लिया॥

अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः ॥ १४ ॥
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम् ।

फिर बकराज राजधर्माने उस पापाचारीको धनसहित विदा करके अपने घरमें प्रवेश किया ॥ १४½ ॥

यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा ॥ १५ ॥
ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् ।

तदनन्तर बकराज यथोचित रीतिसे ब्रह्माजीकी सभामें गया और ब्रह्माजीने उस महात्माका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

गौतमश्चापि सम्प्राप्य पुनस्तं शबरालयम् ।
शूद्रायां जनयामास पुत्रान् दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥

गौतम भी पुनः भीलोंके ही गाँवमें जाकर रहने लगा। वहाँ उसने उस शूद्रजातिकी स्त्रीके पेटसे ही अनेक पापाचारी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा ।
कुक्षौ पुनर्भ्वाः पापोऽयं जनयित्वा चिरात् सुतान्॥१७॥
निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो ।

तब देवताओंने गौतमको महान् शाप देते हुए कहा—'यह पापी कृतघ्न है और दूसरा पति स्वीकार करनेवाली शूद्रजातीय स्त्रीके पेटसे बहुत दिनोंसे संतान पैदा करता आ रहा है। इस पापके कारण यह घोर नरकमें पड़ेगा' ॥

एतत् प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ॥ १८ ॥
संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ ।
मयापि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ १९ ॥

भारत! यह सारा प्रसङ्ग पूर्वकालमें मुझसे महर्षि नारदने कहा था। भरतश्रेष्ठ! इस महान् आख्यानको याद करके मैंने तुम्हारे समक्ष सब यथार्थरूपसे कहा है ॥१८-१९॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २० ॥

कृतघ्नको कैसे यश प्राप्त हो सकता है? उसे कैसे स्थान और सुखकी उपलब्धि हो सकती है? कृतघ्न विश्वासके योग्य नहीं होता। कृतघ्नके उद्धारके लिये शास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है ॥ २० ॥

मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः ।
मित्रध्रुङ्नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्यको विशेष ध्यान देकर मित्रद्रोहके पापसे बचना चाहिये। मित्रद्रोही मनुष्य अनन्तकालके लिये घोर नरकमें पड़ता है ॥ २१ ॥

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह ।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च ॥ २२ ॥

प्रत्येक मनुष्यको सदा कृतज्ञ होना चाहिये और मित्रकी इच्छा रखनी चाहिये; क्योंकि मित्रसे सब कुछ प्राप्त होता है। मित्रके सहयोगसे सदा सम्मानकी प्राप्ति होती है ॥

मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते ।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २३ ॥

मित्रकी सहायतासे भोगोंकी भी उपलब्धि होती है और मित्रद्वारा मनुष्य आपत्तियोंसे छुटकारा पा जाता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारोंद्वारा मित्रका पूजन करे ॥

परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः ।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः ॥ २४ ॥

जो पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार और पापाचारी हो, ऐसे अधम मनुष्यका विद्वान् पुरुष सदा त्याग करे ॥ २४ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव ।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ २५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! इस प्रकार यह मैंने तुम्हें पापी, मित्रद्रोही और कृतघ्न पुरुषका परिचय दिया है। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥२५॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भीष्मका यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(मोक्षधर्मपर्व)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शोकाकुल चित्तकी शान्तिके लिये राजा सेनजित् और ब्राह्मणके संवादका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः ।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यहाँतक आपने राजधर्मसम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मोंका उपदेश दिया । पृथ्वीनाथ ! अब आप आश्रमियोंके उत्तम धर्मका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः ।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! वेदोंमें सर्वत्र सभी आश्रमोंके लिये स्वर्गसाधक यथार्थ फलकी प्राप्ति करानेवाली तपस्याका उल्लेख है । धर्मके बहुत-से द्वार हैं । संसारमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषयमें पूर्ण निश्चयको पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है), उसीको वह कर्तव्य समझता है । दूसरे विषयको नहीं ॥ ३ ॥

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

मनुष्य जैसे-जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर ।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान् नरः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षके लिये प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! धनके नष्ट हो जानेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताके मर जानेपर किस बुद्धिसे मनुष्य अपने शोकका निवारण करे ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तब 'ओह ! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोकको दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान करे ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत् ॥ ८ ॥

इस विषयमें किसी हितैषी ब्राह्मणने राजा सेनजित्‌के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किया करते हैं ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानं शोकविह्वलम् ।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

राजा सेनजित्‌के पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी । वे उसीके शोककी आगसे जल रहे थे । उनका मन विषादमें डूबा हुआ था । उन शोकविह्वल नरेशको देखकर ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि ।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम मूढ मनुष्यकी भाँति क्यों मोहित हो रहे हो ? शोकके योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरोंके लिये क्यों शोक करते हो ? अजी ! एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिये भी शोक करते हुए उसी गतिको प्राप्त होंगे ॥ १० ॥

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव ।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जायँगे, जहाँसे हम आये हैं' ॥ ११ ॥

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन ।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि ॥ १२ ॥

सेनजित्ने पूछा—तपस्याके धनी ब्राह्मणदेव ! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन तप, कौन समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकारका विषाद नहीं है ॥ १२ ॥

(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये ।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः ॥)

सुख और दुःखका चक्र घूमता रहता है । मैं सुखमें हर्षसे फूल उठता हूँ और दुःखमें खिन्न हो जाता हूँ । ऐसी अवस्थामें पड़े हुए अपने आपके लिये मुझे निरन्तर शोक होता है । यह शोक मेरे हृदयमें डेरा डाले बैठा है ॥

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! देखो, इस संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें आसक्त हो दुःखसे ग्रस्त हो रहे हैं ॥ १३ ॥

(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥)

मैं तो अकेला हूँ । न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरेका हूँ । मैं उस पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझपर किसीकी ममता है, न मेरा ही किसीपर ममत्व है)॥

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा ।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १४ ॥

यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है । ये सब वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरोंकी भी हैं । ऐसा सोचकर इनके लिये मेरे मनमें कोई व्यथा नहीं होती । इसी बुद्धिको पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक ॥ १४ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥१५॥

जिस प्रकार समुद्रमें बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है ॥ १५ ॥

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥ १६ ॥

इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं । उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि १७

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थितिसे आया था और अब अज्ञात स्थितिमें ही चला गया है । न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किस लिये शोक करते हो ? ॥ १७ ॥

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात् संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥ १८ ॥

संसारमें विषयोंकी तृष्णासे जो व्याकुलता होती है, उसीका नाम दुःख है और उस दुःखका विनाश ही सुख है । उस सुखके बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है । इस प्रकार बारंबार दुःख ही होता रहता है ॥ १८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥ १९ ॥

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं॥१९॥

सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २० ॥

इस समय तुम सुखसे दुःखमें आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी । यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही ॥ २० ॥

शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म
तेनैव देही समुपाश्नुते तत् ॥ २१ ॥

यह शरीर ही सुखका आधार है और यही दुःखका भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसीके अनुसार वह सुख एवं दुःखरूप फल भोगता है॥२१॥

जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः ॥ २२ ॥

यह जीवन स्वभावतः शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपोंमें रहते हैं और साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥ २३ ॥

मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं; इसीलिये जैसे बालूद्वारा बनाये हुए पुल जलके वेगसे बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्योंकी विषयकामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥ २४ ॥

तेलीलोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेहके कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टि-चक्रमें पिस रहे हैं ॥ २४ ॥

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २५ ॥

मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बके लिये चोरी आदि पाप-कर्मोंका संग्रह करता है; किंतु इस लोक और परलोकमें उसे अकेले ही उन समस्त कर्मोंका क्लेशमय फल भोगना पड़ता है ॥ २५ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः ।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ २६ ॥

स्त्री, पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोकके समुद्रमें डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जंगली हाथी दलदलमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो ।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ २७ ॥

प्रभो ! यहाँ सब लोगोंको पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियों-का नाश होनेपर दावानलके समान दाह उत्पन्न करनेवाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परंतु सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्धके ही अधीन है ॥ २७ ॥

असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि ।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥ २८ ॥

मनुष्य हितैषी सुहृदोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुके साथ हो या मित्रके, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पाता है ॥ २८ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥ २९ ॥

अन्यथा न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देनेकी शक्ति रखती है और न धन ही सुख देनेमें समर्थ होता है ॥ २९ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३० ॥

न तो बुद्धि धनकी प्राप्तिमें कारण है, न मूर्खता निर्धनतामें, वास्तवमें संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं ॥ ३० ॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम् ।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ़, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान् होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्नके ही सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च ।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥ ३२ ॥

दूध देनेवाली गौ बछड़ेकी है या उसे दुहने अथवा चरानेवाले ग्वालेकी है या रखनेवाले मालिककी है अथवा उसे चुराकर ले जानेवाले चोरकी है ? वास्तवमें जो उसका दूध पीता है, उसीकी वह गाय है; ऐसा विद्वानोंका निश्चय है ॥ ३२ ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जो अत्यन्त मूढ़ हैं और जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं । बीचके सभी लोग कष्ट भोगते हैं ॥ ३३ ॥

अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥ ३४ ॥

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियोंमें रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थितिमें नहीं । अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बतायी जाती है और उन दोनोंके मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है ॥ ३४ ॥

(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन् ।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः ॥)

खोटी बुद्धिवाला मूर्ख मनुष्य अपने कर्मोंके शुभाशुभ परिणामकी कोई परवा न करके सुखसे सोता है; क्योंकि वह कम्बलसे ढके हुए पुरुषकी भाँति महान् अज्ञानसे आवृत रहता है ॥

ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥ ३५ ॥

किंतु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वोंसे अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरताका भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं ॥ ३५ ॥

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् ।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति संतापमुपयान्ति च ॥ ३६ ॥

जो मूढ़ताको तो लाँघ चुके हैं, परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुखकी परिस्थिति आनेपर अत्यन्त हर्षसे फूल उठते हैं और दुःखकी परिस्थितिमें अतिशय संतापका अनुभव करने लगते हैं ॥ ३६ ॥

नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव ।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः ॥ ३७ ॥

मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें देवताओंकी भाँति सदा विषयसुखमें मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्तिके कीचड़में लथपथ होकर मोहित हो जाता है ॥ ३७ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे ॥ ३८ ॥

आरम्भमें आलस्य सुख-सा जान पड़ता है, परंतु वह अन्तमें दुःखदायी होता है और कार्यकौशल दुःख-सा लगता है, परंतु वह सुखका उत्पादक है । कार्यकुशल पुरुषमें ही लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसीमें नहीं ॥ ३८ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ३९ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाय, उसका हृदयसे स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे ॥ ३९ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४० ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों स्थान हैं; किंतु वे प्रतिदिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानोंपर नहीं ॥ ४० ॥

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥ ४१ ॥

जो बुद्धिमान्, ऊहापोहमें कुशल एवं शिक्षित बुद्धिवाला, अध्यात्मशास्त्रके श्रवणकी इच्छा रखनेवाला, किसीके दोष न देखनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्यको शोक कभी छू भी नहीं सकता ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इसी विचारका आश्रय लेकर मनको काम, क्रोध आदि शत्रुओंसे सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे। जो उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत् ॥ ४३ ॥

जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके कारण अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःखका मूल कारण अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिये ॥ ४३ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥ ४४ ॥

मनुष्य जब किसी भी पदार्थमें ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःखके कारण बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

यद् यत् यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति ॥ ४५ ॥

वह कामनाओंमेंसे जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुखकी पूर्ति करनेवाली हो जाती है। जो पुरुष कामनाओंका अनुसरण करता है, वह उन्हींके पीछे नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४६ ॥

संसारमें जो कुछ इस लोकके भोगोंका सुख है और जो स्वर्गका महान् सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ॥ ४६ ॥

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥ ४७ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्ममें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ४७ ॥

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४८ ॥

इस प्रकार जीवोंको प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति बार-बार क्रमसे होती ही रहती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४८ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः ।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः ॥ ४९ ॥

ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त हुआ मनुष्य सुखसे रहता है; इसलिये सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर उन्हें पीठ-पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाय ॥ ४९ ॥

वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः ।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः ॥ ५० ॥

हृदयसे उत्पन्न होनेवाला यह काम हृदयमें ही पुष्ट होता है, फिर यही मृत्युका रूप धारण कर लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धिमें कोई बाधा आती है, तब) विद्वानोंद्वारा यही प्राणियोंके शरीरके भीतर क्रोधके नामसे पुकारा जाता है ॥ ५० ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥ ५१ ॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओंका संकोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें ही स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ५१ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥

जब यह किसीसे भय नहीं मानता और इससे भी किसीको भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तुको न तो चाहता है और न उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥ ५३ ॥

जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत्‌के व्यक्त और अव्यक्त पदार्थोंका, शोक और हर्षका, भय और अभयका तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वोंका परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५४ ॥

जब धैर्यसम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणीके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण (वृद्ध) हो जानेपर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाला रोग

बनकर रहती है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ५५ ॥

अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव ।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! इस विषयमें पिङ्गलाकी गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर संकटकालमें भी उसने सनातन धर्मको प्राप्त कर लिया था ॥ ५६ ॥

संकेते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता ।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा ॥ ५७ ॥

एक बार पिङ्गला वेश्या बहुत देरतक संकेत-स्थानपर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्टमें पड़ गयी, तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी ॥ ५७ ॥

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम् ।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा ॥ ५८ ॥

पिङ्गला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकालसे मेरे निकट ही रहते हैं । मैं सदासे उनके साथ ही रहती आयी हूँ । वे कभी उन्मत्त नहीं होते; परंतु मैं ऐसी मतवाली हो गयी थी कि आजसे पहले उन्हें पहचान ही न सकी ॥ ५८ ॥

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम् ।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते ॥ ५९ ॥

जिसमें एक ही खंभा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घरको आजसे मैं दूसरोंके लिये बंद कर दूँगी । यहाँ आनेवाले उस सच्चे प्रियतमको जानकर भी कौन नारी किसी हाड़-मांसके पुतलेको अपना प्राणवल्लभ मानेगी ? ॥ ५९ ॥

अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः ।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि ॥ ६० ॥

अब मैं मोहनिद्रासे जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओंका भी त्याग कर चुकी हूँ । अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य कामका रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे ॥ ६० ॥

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६१ ॥

भाग्यसे अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी हूँ । अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ ॥ ६१ ॥

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ६२ ॥

वास्तवमें जिसे किसी प्रकारकी आशा नहीं है, वही सुखसे सोता है । आशाका न होना ही परम सुख है । देखो, आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला सुखकी नींद सोने लगी ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥ ६३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मणके कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनोंसे राजा सेनजित्का चित्त स्थिर हो गया । वे शोक छोड़कर सुखी हो गये और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्राह्मण और सेनजित्के संवादका कथनविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका क्या कर्तव्य है, इस विषयमें पिताके प्रति पुत्रद्वारा ज्ञानका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! समस्त भूतोंका संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करनेसे कल्याणका भागी हो सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । तुम उस संवादको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार ! प्राचीन कालमें एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेदशास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे । उनके एक पुत्र हुआ, जो गुणसे तो मेधावी था ही नामसे भी मेधावी था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थमें कुशल तथा लोकतत्त्वका अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्रने अपने स्वाध्याय-परायण पितासे कहा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्योंकी आयु तीव्र गतिसे बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुषको क्या करना चाहिये? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपायका उपदेश कीजिये, जिसके अनुसार मैं धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पितरोंकी सद्गतिके लिये पुत्र पैदा करनेकी इच्छा करे। विधिपूर्वक त्रिविध अग्नियोंकी स्थापना करके यज्ञोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उसके बाद मौनभावसे रहते हुए संन्यासी होनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकारसे मृत्युद्वारा मारा जा रहा है, जरा-अवस्थाद्वारा चारों ओरसे घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक आयुक्षयरूप काम करके बीत रहे हैं ऐसी दशामें भी आप धीरकी भाँति कैसी बात कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिताने पूछा—बेटा! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो। बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रक्खा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! देखिये, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्युके द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापेने इसे चारों ओरसे घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियोंकी आयुका अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बातको आप समझते क्यों नहीं हैं? ॥ ९ ॥

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बातको जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभरके लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जालमें फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब-जब एक-एक रात बीतनेके साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है? ॥ ११ ॥

(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किंचिच्छुभमाचरेत्।)
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जिस रातके बीतनेपर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिनको विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे। मनुष्यकी कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उसके पास आ पहुँचती है ॥ १२ ॥

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १३ ॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़के पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥ १४ ॥

इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी ॥ १४ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥ १५ ॥

कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं ॥ १५ ॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
(न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः।

अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा ॥)

कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा ? सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहलेसे निमन्त्रण नहीं भेजती है। जैसे मछेरे चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है॥

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥ १६ ॥

अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निःसंदेह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है ॥ १६ ॥

मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥ १७ ॥

जो मनुष्य मोहमें डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्रीके लिये उद्योग करने लगता है और करने तथा न करने योग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है ॥ १७ ॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १८ ॥

जैसे सोये हुए मृगको बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओंसे सम्पन्न एवं उन्हींमें मनको फँसाये रखनेवाले मनुष्यको एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है।१८।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥ १९ ॥

जबतक मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभीतक ही उसे मौत आकर ले जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशुको ले जाता है ॥ १९ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥ २० ॥

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है; इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानवको काल अपने वशमें कर लेता है॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम् ।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति ॥ २१ ॥

मनुष्य अपने खेत, दूकान और घरमें ही फँसा रहता है, उसके किये हुए उन कर्मोंका फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है।२१।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् ।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥ २२ ॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या डरपोक तथा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २२ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥ २३ ॥

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं ? ॥ २३ ॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम् ।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ २४ ॥

देहधारी जीवके जन्म लेते ही अन्त करनेके लिये मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥ २५ ॥

ग्राम या नगरमें रहकर जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्ति बढ़ायी जाती है, यह मृत्युका मुख ही है और जो वनका आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओंको बाँधनेके लिये गोशालाके समान है, यह श्रुतिका कथन है ॥ २५ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ २६ ॥

ग्राममें रहनेपर वहाँके स्त्री-पुत्र आदि विषयोंमें जो आसक्ति होती है, यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ २६ ॥

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥ २७ ॥

जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनोंद्वारा प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थका नाश करनेवाले हिंसक प्राणी हिंसा नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥ २८ ॥

सत्यके बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्युकी सेनाका कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिये असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यमें ही स्थित है।२८।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ २९ ॥

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्ययोगमें तत्पर रहना और शास्त्रकी बातोंको सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये। इस प्रकार सत्यके द्वारा ही मनुष्य मृत्युपर विजय पा सकता है॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥ ३० ॥

अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीरमें ही स्थित हैं। मनुष्य मोहसे मृत्युको और सत्यसे अमृतको प्राप्त होता है ॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥ ३१ ॥

अतः अब मैं हिंसासे दूर रहकर सत्यकी खोज करूँगा,

काम और क्रोधको हृदयसे निकालकर दुःख और सुखमें समान भाव रक्खूँगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओंके समान मृत्युके भयसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३१ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥ ३२ ॥

मैं निवृत्तिपरायण होकर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर रहूँगा, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय) में लग जाऊँगा और मुनिवृत्तिसे रहूँगा । उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३२ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचोंके समान अपने शरीरके ही रक्त-मांसद्वारा किये जानेवाले तामस यज्ञोंका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? ॥ ३३ ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्यसे सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३५ ॥

संसारमें विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५ ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा ।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा ॥ ३६ ॥

मैं संतानरहित होनेपर भी परमात्मामें ही परमात्माद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मामें ही स्थित हूँ । आगे भी आत्मामें ही लीन होऊँगा । संतान मुझे पार नहीं उतारेगी ॥ ३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

परमात्माके साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्डका परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे उपरति—इनके समान ब्राह्मणके लिये दूसरा कोई धन नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव पिताजी ! जब आप एक दिन मर ही जायँगे तो आपको इस धनसे क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओंसे आपका क्या काम है तथा स्त्री आदिसे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है । आप अपने हृदयरूपी गुफामें स्थित हुए परमात्माको खोजिये । सोचिये तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप ।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने जैसे सत्य-धर्मका अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्ममें तत्पर रहकर यथायोग्य बर्ताव करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादकथने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रके संवादका कथनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्यागकी महिमाके विषयमें शम्पाक ब्राह्मणका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः ।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूपमें और कैसे सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाकने यहाँ कहा था ॥ २ ॥

अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, फटे-पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्रीके और भूखके कारण अत्यन्त कष्ट पानेवाले एक त्यागी ब्राह्मणने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४ ॥

'इस संसारमें जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्मसे ही नाना प्रकारके सुख-दुःख प्राप्त होने लगते हैं ॥ ४ ॥

तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य संज्वरेत् ॥ ५ ॥

'विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे किसी एकके मार्गपर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःखमें पड़कर परितप्त हो ॥ ५ ॥

न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह ॥ ६ ॥

'तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याणका साधन नहीं कर रहे हो और मनको वशमें नहीं कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्यका बोझा अपनेपर उठा रखा है ॥ ६ ॥

अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ॥ ७ ॥

'यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तुका संग्रह नहीं रक्खोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखका ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुखसे सोता और जागता है ॥ ७ ॥

आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ॥ ८ ॥

'संसारमें अकिंचनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्गमें किसी प्रकारके शत्रुका भी खटका नहीं है। यह दुर्लभ होनेपर भी सुलभ है ॥ ८ ॥

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये ॥ ९ ॥

'मैं तीनों लोकोंपर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिंचन, शुद्ध एवं सब ओरसे वैराग्यसम्पन्न पुरुषके समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है ॥ ९ ॥

आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥ १० ॥

'मैंने अकिंचनता तथा राज्यको बुद्धिकी तराजूपर रखकर तौला तो गुणोंमें अधिक होनेके कारण राज्यसे भी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी निकला ॥ १० ॥

आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥ ११ ॥

'अकिंचनता तथा राज्यमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौतके मुखमें पड़ा हुआ हो ॥ ११ ॥

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥ १२ ॥

'परंतु जो मनुष्य धनको त्यागकर उसकी आसक्तिसे मुक्त हो गया है और मनमें किसी तरहकी कामना नहीं रखता, उसपर न अग्निका जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहोंका, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही ॥ १२ ॥

तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥ १३ ॥

'वह सदा दैव-इच्छाके अनुसार विचरता है। बिना बिछौनेके भूतलपर सोता है। बाँहोंकी ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है। देवतालोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥ १४ ॥

'जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभके आवेशमें आकर अपनी विचारशक्तिको खो बैठता है, टेढ़ी आँखोंसे देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और वह पापमें ही मग्न रहा करता है ॥ १४ ॥

निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥ १५ ॥

'क्रोधके कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वीका राज्य ही दे देना चाहता हो, तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा? ॥ १५ ॥

श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः ॥ १६ ॥

'सदा धन-सम्पत्तिका सहवास मूर्ख मनुष्यके चित्तको लुभाकर उसे मोहमें ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद् ऋतुके बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्यके मनको हर लेती है ॥ १६ ॥

अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ॥ १७ ॥

'फिर उसके ऊपर रूपका अहंकार और धनका मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ ॥ १७ ॥

इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ १८ ॥

'रूप, धन और कुल—इन तीनोंके अभिमानके कारण उसके चित्तमें प्रमाद भर जाता है, वह भोगोंमें आसक्त होकर

बाप-दादोंके जोड़े हुए पैसोंको खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरोंके धनको हड़प लाना अच्छा मानने लगता है ॥ १८ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ १९ ॥

'इस तरह मर्यादाका उल्लङ्घन करके जब वह इधर-उधरसे लूट-खसोटकर धन ले आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणोंसे मारकर मृगोंकी गति रोक देते हैं ॥ १९ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥

'इस प्रकार मनको तप्त करनेवाले और शरीरके स्पर्शसे होनेवाले ये नाना प्रकारके दुःख मनुष्यको प्राप्त होते हैं ।२०।

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह ॥ २१ ॥

'अतः अनित्य शरीरोंके साथ सदैव लगे रहनेवाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मोंकी अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त महान् दुःखोंकी विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥२२॥

'कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्माको नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ' ॥ २२ ॥

इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें शम्पाक नामक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें मुझसे त्यागकी महिमाका वर्णन किया था । अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शम्पाकगीताविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

मङ्किगीता—धनकी तृष्णासे दुःख और उसकी कामनाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! यदि कोई मनुष्य धनकी तृष्णासे ग्रस्त होकर तरह-तरहके उद्योग करनेपर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुखकी प्राप्ति हो सके ?॥

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सबमें समताका भाव, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्यभाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्यमें होते हैं, वह सुखी होता है ॥ २ ॥

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥ ३ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओंको शान्तिका कारण बताते हैं । यही स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनिने भोगोंसे विरक्त होकर जो उद्गार प्रकट किया था, वही इस इतिहासमें वर्णित है । उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥ ५ ॥

मङ्कि धनके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते थे; परंतु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था । अन्तमें जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे ॥ ५ ॥

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥ ६ ॥

एक दिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर वे हल चलानेकी शिक्षा देनेके लिये ले जा रहे थे । जब वे दोनों बछड़े गाँवसे बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े ॥ ६ ॥

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥ ७ ॥

जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे तो ऊँटके लिये यह असह्य हो उठा । वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ोंको ऊपर लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा ॥७॥

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँटके द्वारा उन

दोनों बछड़ोंको अपहृत होते और मरते देख मङ्किने इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥ ९ ॥

'मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्यमें नहीं है, उस धनको वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता ॥ ९ ॥

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः ।
इमं पश्यत संगतया मम दैवमुपप्लवम् ॥ १० ॥

'पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकारके अनर्थ खड़े हो गये थे । उन अनर्थोंसे युक्त होनेपर भी मैं धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहा; परंतु देखो, आज इन बछड़ोंकी सङ्गतिसे मुझपर कैसा दैवी उपद्रव आ गया ! ॥

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः ।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥

'यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर विषम मार्गसे ही जा रहा है । काकतालीयन्यायसे (अर्थात् दैवसंयोगसे) इन्हें गर्दनपर उठाकर बुरे मार्गसे ही दौड़ रहा है । इस ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं । यह केवल दैवकी ही लीला है । हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थसे क्या होता है ? ॥ ११-१२ ॥

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित् ।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥

'यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करनेपर दैवका ही सहयोग सिद्ध होता है ॥

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता ।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥

'अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको धन आदिकी ओरसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये । धनोपार्जनकी चेष्टासे निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुखकी नींद सोता है ॥ १४ ॥

अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता ।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥ १५ ॥

'अहा ! शुकदेव मुनिने जनकके राजमहलसे विशाल वनकी ओर जाते समय सब ओरसे बन्धनमुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था ?॥ १५ ॥

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ १६ ॥

''जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनोंके कार्योंमें समस्त कामनाओंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन ।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥ १७ ॥

'कोई भी पहले कभी धन आदिके लिये होनेवाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका अन्त नहीं पा सका है । शरीर और जीवनके प्रति मूर्ख मनुष्यकी ही तृष्णा बढ़ती है ॥ १७ ॥

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक ।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ॥ १८ ॥

'ओ कामनाओंके दास मन ! तू सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर । तू धनकी चेष्टा करके बारंबार ठगा गया है तो भी उसकी ओरसे वैराग्य नहीं होता है ॥ १८ ॥

यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया ।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥ १९ ॥

'ओ धनकी कामनावाले मन ! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है । यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभमें न फँसा ॥ १९ ॥

संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः ।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक ॥ २० ॥

'तूने बार-बार द्रव्यका संचय किया और वह बारंबार नष्ट होता चला गया । धनकी इच्छा रखनेवाले मूढ ! क्या कभी तू धनकी इस तृष्णा और चेष्टाका त्याग भी करेगा ? ॥

अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव ।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात् ॥ २१ ॥

'अहो ! यह मेरी कैसी नादानी है ? जो मैं तेरे हाथका खिलौना बना हुआ हूँ । यदि ऐसी बात न होती तो क्या कोई समझदार पुरुष कभी दूसरोंकी दासता स्वीकार कर सकता है ? ॥ २१ ॥

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन् ।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ।२२।

'पूर्वकालके तथा पीछेके मनुष्य भी कभी कामनाओंका अन्त नहीं पा सके हैं, अतः मैं समस्त कर्मोंका आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ और मैं पूर्णतः जग गया हूँ॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम् ।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते ॥ २३ ॥

१. एक ताड़के वृक्षके नीचे एक बटोही बैठा था । उसी वृक्षके ऊपर एक काक भी आ बैठा । काकके आते ही ताड़का एक पका हुआ फल नीचे गिरा । यद्यपि फल पककर आपसे आप ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातोंको साथ होते देख, यही समझ गया कि कौवेके आनेसे ही ताड़का फल गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश अचानक कोई घटना घटित हो जाय, वहाँ उसे काकतालीयन्यायसे घटित हुई बताया जाता है । यहाँ बछड़ोंका आना और ऊँटका रास्तेमें बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गयी थीं ।

'काम ! निश्चय ही तेरा हृदय फौलादका बना हुआ है; अतएव अत्यन्त सुदृढ़ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त होनेपर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ २३ ॥

जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम् ॥ २४ ॥

'काम ! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता चला आ रहा हूँ; परंतु कभी मेरे मनमें सुखका अनुभव नहीं हुआ ॥ २४॥

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥ २५ ॥

'काम ! मैं तेरी जड़को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥ २६ ॥

''धनकी इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय तो उसकी रक्षा आदिके लिये बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह नष्ट हो जाय, तब तो मृत्युके समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करनेपर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता ॥ २६ ॥

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥ २७ ॥

'शरीरको निछावर कर देनेपर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है तो उसके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? यदि धनकी उपलब्धि हो भी जाय तो उतनेसे ही वह संतुष्ट नहीं होता है अपितु अधिक धनकी तलाश करने लग जाता है ॥ २७ ॥

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥ २८ ॥

'काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजलके समान यह धन तृष्णाकी ही वृद्धि करनेवाला है मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह तृष्णाकी वृद्धि मेरे विनाशका कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे ॥ २८ ॥

य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम् ॥ २९ ॥

'मेरे इस शरीरका आश्रय लेकर जो पाँचों भूतोंका समुदाय स्थित है, वह इसमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक चला जाय या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है ॥२९॥

न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम्॥३० ॥

'पञ्चभूतगण ! अहंकार आदिके साथ तुम सब लोग काम और लोभके पीछे लगे रहनेवाले हो। अतः तुमपर यहाँ मेरा रत्तीभर भी स्नेह नहीं है। इसलिये मैं समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल अब सत्त्वगुणका आश्रय ले रहा हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यथा मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥

'मैं अपने शरीरमें मनके अंदर सम्पूर्ण भूतोंको देखता हुआ बुद्धिको योगमें, एकाग्रचित्तको श्रवण-मनन आदि साधनोंमें और मनको परब्रह्म परमात्मामें लगाकर रोग-शोकसे रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरूँगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखोंमें न डाल सकेगा ॥ ३१-३२ ॥

त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा ॥ ३३ ॥

'काम ! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्तिस्थान सदा तू ही है। जबतक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तबतक मेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥ ३४ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि धनका नाश होनेपर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जो धनसे वञ्चित हो जाता है, उसे अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥

'दरिद्रको सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्थामें बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धनमें जो सुखका लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखोंसे ही सम्पादित होता है ॥ ३५ ॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥ ३६ ॥

'जिस पुरुषके पास धन होनेका संदेह होता है, उसे उसका धन लूटनेके लिये लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेगमें डाले रहते हैं ॥ ३६ ॥

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥ ३७ ॥

'धनलोलुपता दुःखका कारण है, यह बात बहुत देरके बाद मेरी समझमें आयी है। काम ! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी उसीके पीछे पड़ जाता है ॥ ३७ ॥

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।

नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥ ३८ ॥

'तू तत्त्वज्ञानसे रहित और बालकके समान मूढ है, तुझे संतोष देना कठिन है। आगके समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि ।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥ ३९ ॥

'काम ! पातालके समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है; किंतु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया ।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये ॥ ४० ॥

'अकस्मात् धनका नाश हो जानेसे वैराग्यको प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगोंका चिन्तन नहीं करूँगा ॥ ४० ॥

अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान् ।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४१ ॥

'पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परंतु ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धनकी कामनामें कष्ट है,' इस बातको समझ ही नहीं पाता था। परंतु अब धनका नाश होनेसे उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्लेश और चिन्ताओंसे मुक्त होकर सुखसे सोता हूँ ॥ ४१ ॥

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः ।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ॥ ४२ ॥

'काम ! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा ॥ ४२ ॥

क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः ।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥ ४३ ॥

'अब जो लोग मुझपर आक्षेप या मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके उस बर्तावको मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारे-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदलेमें वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेषके योग्य पुरुषका भी यदि साथ हो जाय और वह मुझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उसपर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा ॥ ४३ ॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन् ।
न सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः ॥ ४४ ॥

'मैं सदा संतुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियोंसे सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करता रहूँगा; परंतु तुझे कभी सफल न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है ॥ ४४ ॥

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम् ।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥ ४५ ॥

'तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च ।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम् ॥ ४६ ॥

'अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मोक्षकी ओर प्रस्थान करनेवाले मुझ साधकको छोड़कर चले जायँ। अब मैं सत्त्वगुणमें स्थित हो गया हूँ ॥ ४६ ॥

प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम् ।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥ ४७ ॥

'इस समय काम और लोभका त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुषकी भाँति अब लोभमें फँसकर दुःख नहीं उठाऊँगा ॥ ४७ ॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४८ ॥

'मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है, उस-उसकी ओरसे सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है ॥ ४८ ॥

कामानुबन्धं नुदते यत् किंचित् पुरुषो रजः ।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च ॥ ४९ ॥

'मनुष्य कामसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असंतोष—ये काम और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम् ॥ ५० ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें लोग शीतल जलवाले सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब मैं परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो गया हूँ, अतः शान्त हूँ, सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख-ही-सुख मिल रहा है ॥ ५० ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ५१ ॥

'इस लोकमें जो विषयोंका सुख है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं महान् सुख है, ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं ॥ ५१ ॥

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५२ ॥

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु कामका नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुरमें स्थित हो राजाके समान सुखी होऊँगा' ॥ ५२ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥ ५३ ॥

राजन् ! इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगोंसे विरक्त हो गये और समस्त कामनाओंका परित्याग

करके उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लिया ॥

दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत् ।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम् ॥ ५४ ॥

बछड़ोंके नाशको निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्वको प्राप्त हो गये। उन्होंने कामकी जड़ काट डाली; इसीलिये महान् सुख प्राप्त कर लिया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि **मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायां सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः** ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मङ्किगीताविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

जनककी उक्ति तथा राजा नहुषके प्रश्नोंके उत्तरमें बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें शान्तभावको प्राप्त हुए विदेहराज जनकने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ २ ॥

[जनक बोले—]मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है। इस मिथिलापुरीमें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता ॥ २ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसंचयम् ।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रसंगमें वैराग्यको लक्ष्य करके बोध्य मुनिने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत ।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययातिने वैराग्यसे शान्तभावको प्राप्त हुए शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानसे परितृप्त परम शान्त बोध्य ऋषिसे पूछा— ॥ ४ ॥

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे ।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मुझे शान्ति मिले। कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और संतोषके साथ विचरते हैं ?' ॥५॥

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन ।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत् स्वयं परिमृश्यताम् ॥ ६ ॥

बोध्यने कहा—राजन् ! मैं किसीको उपदेश नहीं देता, बल्कि स्वयं दूसरोंसे प्राप्त हुए उपदेशके अनुसार आचरण करता हूँ। मैं अपनेको मिले हुए उपदेशका लक्षण बता रहा हूँ (जिनसे उपदेश मिला है, उन गुरुओंका संकेतमात्र कर रहा हूँ), उसपर तुम स्वयं विचार करो ॥ ६ ॥

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने ।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥ ७ ॥

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वनमें सारङ्गका अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छः मेरे गुरु हैं ॥

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! बोध्यको अपने गुरुओंसे जो उपदेश प्राप्त हुआ था, वह इस प्रकार समझना चाहिये—आशा बड़ी प्रबल है। वही सबको दुःख देती है। निराशा ही परम सुख है। आशाको निराशके रूपमें परिणत करके पिङ्गला वेश्या सुखसे सो गयी। (पिङ्गला आशाके त्यागका उपदेश देनेके कारण गुरु हुई) ॥ ८ ॥

सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः ।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥ ९ ॥

चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर(क्रौञ्च)पक्षीको देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे। तब उसने उस मांसके टुकड़ेको त्याग दिया। अतः पक्षियोंने उसका पीछा करना छोड़ दिया। इस प्रकार आमिषके त्यागसे क्रौञ्चपक्षी सुखी हो गया। भोगोंके परित्यागका उपदेश देनेके कारण कुरर (क्रौञ्च) पक्षी गुरु हुआ ॥ ९ ॥

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १० ॥

घर बनानेका खटपट करना दुःखका ही कारण है। उससे कभी सुख नहीं मिलता। देखो, साँप दूसरोंके बनाये हुए घर (बिल) में प्रवेश करके सुखसे रहता है। (अतः अनिकेत रहने—घर-द्वारके चक्करमें न पड़नेका उपदेश देनेके कारण सर्प गुरु हुआ) ॥ १० ॥

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः ।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणीसे वैर न करके याचनावृत्तिसे अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्तिका आश्रय लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं (अद्रोहका उपदेश देनेके कारण पपीहा गुरु हुआ) ॥ ११॥

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२ ॥

एक बार एक बाण बनानेवालेको देखा गया, वह अपने

कामर्में ऐसा दत्तचित्त था कि उसके पाससे निकली हुई राजाकी सवारीका भी उसे कुछ पता नहीं चला (उसके द्वारा एकाग्रचित्तताका उपदेश प्राप्त हुआ; इसलिये वह गुरु हो गया) ॥ १२ ॥

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशंखको यथा ॥ १३ ॥

बहुत मनुष्य एक साथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है; अतः मैं कुमारी कन्याके हाथमें धारण की हुई शङ्खकी एक-एक चूड़ीके समान अकेला ही विचरूँगा* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बोध्यगीताविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७८॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रह्लाद और अवधूतका संवाद—आजगर वृत्तिकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किञ्च कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप सदाचारके स्वरूपको जाननेवाले हैं। कृपया यह बताइये, किस तरहके आचारको अपनाकर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वीपर विचरण कर सकता है ? और इस जगत्में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें भी प्रह्लाद तथा अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है ॥ २ ॥

चरन्तं ब्राह्मणं कञ्चित् कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम् ॥ ३ ॥

एक सुदृढ़चित्त, दुःख-शोकसे रहित तथा बुद्धिसम्मत ब्राह्मणको पृथ्वीपर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने उससे इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक् प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥ ४ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वस्थ, शक्तिमान्, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भसे दूर रहनेवाले, दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि न डालनेवाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलनेवाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकोंके समान विचर रहे हैं ॥ ४॥

नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे ॥ ५ ॥

न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होनेपर उसके लिये ही शोक करते हैं। ब्रह्मन् ! आप नित्यतृप्त-से रहते हुए न किसी वस्तुको प्रिय मानते हैं और न अप्रिय ॥ ५ ॥

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव ।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे ॥ ६ ॥

सारी प्रजा काम-क्रोध आदिके प्रवाहमें पड़कर बही जा रही है; परंतु आप उधरसे उदासीन-जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कार्योंके प्रति भी निश्चेष्ट-से दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत् ॥ ७ ॥

धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काममें भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है। आप इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके साक्षीके समान मुक्तरूपसे विचरते हैं ॥७॥

का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने ।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे ॥ ८ ॥

मुने ! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्र-ज्ञान अथवा कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है ? ब्रह्मन् ! आपके मतसे इस जगत्में मेरे लिये जो श्रेयका साधन हो, उसे शीघ्र बतावें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! प्रह्लादके इस प्रकार पूछनेपर लोक-धर्मके विधानको जाननेवाले उन मेधावी मुनिने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

* एक गृहस्थके घरपर कुछ अतिथि आ गये। घरके सब लोग कहीं बाहर चले गये थे। भीतर केवल एक कुमारी कन्या थी, जिसपर उन अतिथियोंके भोजन आदिका भार आ पड़ा। वह उनके निमित्त रसोई बनानेके लिये धान कूटने लगी। उसके हाथोंमें शङ्खकी बनी हुई कई चूड़ियाँ थीं, जो धान कूटते समय खनखना उठीं। अतिथियोंको इस बातका पता न चल जाय; इसलिये एक-एक करके उसने चूड़ियाँ निकाल लीं, दोनों हाथोंमें केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गयी; फिर उनका बजना बंद हो गया। इस तरह एकाकी रहनेका उपदेश देनेके कारण वह कुमारी गुरु हुई।

पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १० ॥

'प्रह्लाद ! देखो, इस जगत्के प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारणरहित सत्स्वरूप परमात्मासे ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिये न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ ॥ १० ॥

स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः ।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित् ॥ ११ ॥

'ऐसा समझना चाहिये, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभावसे ही प्राणियोंकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभावमें ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥

पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान् ।
संचयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे मनः ॥१२॥

'प्रह्लाद ! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोगमें ही होता है और जितने संचय हैं, उनकी समाप्ति विनाशमें ही होती है । यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता हूँ ॥ १२ ॥

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः ।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ १३ ॥

'जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतोंको नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको जानता है, उसके लिये यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है ?॥ १३ ॥

जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये ।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ ॥ १४ ॥

'महासागरके जलमें पैदा होनेवाले विशाल शरीरवाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ोंका भी बारी-बारी-से विनाश होता देखता हूँ ॥ १४ ॥

जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप ।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः ॥ १५ ॥

'असुरराज ! पृथ्वीपर भी जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे स्पष्ट दिखायी दे रही है ॥

अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम् ।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि ॥ १६ ॥

'दानवश्रेष्ठ ! आकाशमें विचरनेवाले बलवान् पक्षियों-के समक्ष भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है ॥ १६ ॥

दिवि संचरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च ।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये ॥ १७ ॥

'आकाशमें जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचर रहे हैं, उन्हें भी मैं यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ ॥१७॥

इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना ।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ १८ ॥

'इस प्रकार सारे प्राणियोंको मैं मृत्युके पाशमें बद्ध देखता हूँ; इसलिये तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता हुआ सुखसे सोता हूँ ॥ १८ ॥

सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया ।
शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ १९ ॥

'यदि दैवेच्छासे अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रासमात्र मिले तो उसीमें संतुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनोंतक बिना खाये-पीये भी सो रहता हूँ ॥ १९ ॥

आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु ।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ २० ॥

'फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणोंसे सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं । पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़ेसे भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता ॥ २० ॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे ।
भक्षये शालिमांसानि भक्षांश्चोच्चावचान् पुनः ॥ २१ ॥

'कभी चावलकी कनी खाता हूँ, कभी तिलकी खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनीके चावलका भात भरपेट खाता हूँ । इस प्रकार मुझे बढ़िया-घटिया सभी तरहके भोजन बारंबार प्राप्त होते रहते हैं ॥ २१ ॥

शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये ।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥

'कभी पलंगपर सोता हूँ, कभी पृथ्वीपर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महलके भीतर बिछी हुई बहु-मूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है ॥ २२ ॥

धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च ।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ २३ ॥

'मैं कभी तो चिथड़े अथवा वल्कल पहनकर रहता हूँ, कभी सनके, कभी रेशमके और कभी मृगचर्मके वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी एक कालमें बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रोंको भी पहन लेता हूँ ॥ २३ ॥

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया ।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥ २४ ॥

'यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होनेपर किसी दुर्लभ भोगकी भी कभी इच्छा नहीं करता ॥ २४ ॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं
शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम् ।
अनभिमतमसेवितं विमूढै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २५ ॥

मैं सदा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरवृत्तिका अनु-सरण करता हूँ । यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्युसे दूर रखनेवाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतके

अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं ॥ २५ ॥

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्
परिमितसंसरणः परावरज्ञः ।
विगतभयकषायलोभमोहो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २६ ॥

'मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्मसे च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधमका ज्ञान है, मेरे हृदयसे भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गये हैं तथा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरोचित व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २६ ॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम् ।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २७ ॥

'यह अजगरसम्बन्धी व्रत मेरे हृदयको सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदिके मिलनेकी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती--अनियतरूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करना होता है। इस व्रतमें प्रारब्धके परिणामके अनुसार देश और कालका विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्रभावसे इसी व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २७ ॥

इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं
जनमनवाप्तधनं विषीदमानम् ।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २८ ॥

'जो यह मिले, वह मिले, इस प्रकार तृष्णासे दबे रहते हैं और धन न मिलनेके कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगोंकी दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न हुआ मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ २८ ॥

बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः
कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम् ।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २९ ॥

'मैं बारंबार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धनके लिये दीनभावसे नीच पुरुषका आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गयी है। अतः मैं अपने स्वरूपको प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्रभावसे इस आजगर व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २९ ॥

सुखमसुखमलाभमर्थलाभं
रतिमरतिं मरणं च जीवितं च ।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३० ॥

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैवके अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे जानकर मैं शुद्धभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

अपगतभयरागमोहदर्पो
धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः ।
उपगतफलभोगिनो निशाम्य
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३१ ॥

'मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गये हैं। मैं धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ। और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तुका ही उपभोग करनेवालोंको देखकर मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३१ ॥

अनियतशयनासनः प्रकृत्या
दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः ।
अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३२ ॥

'मेरे सोने-बैठनेका कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारसे सम्पन्न हूँ। मेरे कर्मफलसंचयका नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-
रुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम् ।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३३ ॥

'जिनका परिणाम दुःख है, उन इच्छाके विषयभूत समस्त पदार्थोंसे जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अतः मैं तृष्णासे व्याकुल असंयत मनको वशमें करनेके लिये पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३३ ॥

न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा
प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च ।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३४ ॥

'मन, वाणी और बुद्धिकी उपेक्षा करके इनको प्रिय लगनेवाले विषय-सुखोंकी दुर्लभता तथा अनित्यता—इन दोनोंको देखनेवालेकी भाँति मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३४ ॥

बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः
कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम् ।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त
स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः ॥ ३५ ॥

'अपनी कीर्तिका विस्तार करनेवाले विद्वानों और बुद्धि-

मानोंने अपने और दूसरोंके मतसे गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे करना चाहिये' इत्यादि कह-कर इस व्रतकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की है ॥ ३५ ॥

तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं
पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं
नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः ॥ ३६॥

'मूर्खलोग इस अजगरवृत्तिको सुनकर इसे पहाड़की चोटीसे गिरनेकी भाँति भयंकर समझते हैं। परंतु उनकी वह मान्यता भिन्न है। मैं इस अजगरवृत्तिको अज्ञानका नाशक और समस्त दोषोंसे रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णाका त्याग करके मनुष्योंमें विचरता हूँ' ॥ ३६॥

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा
य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः
स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगर व्रतका पालन करता है, वह इस लोकमें सानन्द विचरण करता है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरप्रह्लादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अजगरवृत्तिसे रहनेवाले मुनि और प्रह्लादका संवादविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सद्बुद्धिका आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्मसे निवृत्त होनेके सम्बन्धमें काश्यप ब्राह्मण और इन्द्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! अब मेरे प्रश्नके अनुसार मुझे यह बताइये कि मनुष्यको बन्धुजन, कर्म, धन अथवा बुद्धि--इनमेंसे किसका आश्रय लेना चाहिये ? ॥ १॥

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राणियोंका प्रधान आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसारमें बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। सत्पुरुषोंके मतमें बुद्धि ही स्वर्ग है ॥ २॥

प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये ।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥ ३ ॥

राजा बलिने अपना ऐश्वर्य क्षीण हो जानेपर पुनः उसे बुद्धिबलसे ही पाया था। प्रह्लाद, नमुचि और मङ्किने भी बुद्धिबलसे ही अपना-अपना अर्थ सिद्ध किया था। संसारमें बुद्धिसे बढ़कर और क्या है ? ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और काश्यप-के संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ ४ ॥

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम् ।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें धनके अभिमानसे मतवाले हुए किसी धनी वैश्यने कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यपको अपने रथसे धक्के देकर गिरा दिया ॥

आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत्।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥ ६ ॥

वे पीड़ासे कराहकर गिर पड़े और कुपित होकर आत्म-हत्याके लिये उद्यत हो इस प्रकार बोले-'अब मैं प्राण दे दूँगा; क्योंकि इस संसारमें निर्धन मनुष्यका जीवन व्यर्थ है' ॥

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥ ७ ॥

उन्हें इस प्रकार मरनेकी इच्छा लेकर बैठे मूर्छासे अचेत हो कुछ न बोलते और मन-ही-मन धनके लिये ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियारका रूप धारण करके आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ ७ ॥

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ॥ ८ ॥

'मुने ! सभी प्राणी सब प्रकारसे मनुष्ययोनि पानेकी इच्छा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्वकी प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं ॥ ८ ॥

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप ।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'काश्यप ! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोष-दृष्टि करके स्वयं ही मरनेके लिये उद्यत होना उचित नहीं है ॥

काश्यप ब्राह्मणके प्रति गीदड़के रूपमें इन्द्रका उपदेश

इन्द्रको पहचाननेपर काश्यपद्वारा उनकी पूजा

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः ।
संतोषणीयरूपोऽसि लोभाद् यदभिमन्यसे ॥ १० ॥

'संसारमें जितने लाभ हैं, वे सभी अभिमानपूर्ण हैं, ऐसा सत्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका कथन है (अर्थात् मैंने यह लाभ अपने पुरुषार्थसे किया है, ऐसा अहंकार प्रायः सभी मनुष्य कर लेते हैं)।आपका स्वरूप तो संतोष रखनेके योग्य है । आप लोभवश ही उसकी अवहेलना करते हैं ॥

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥ ११ ॥

'अहो ! जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए हाथ हैं, उनको तो मैं कृतार्थ मानता हूँ । इस जगत्‌में जिनके पास एकसे अधिक हाथ हैं, उनके-जैसा सौभाग्य पानेकी इच्छा मुझे बारंबार होती है ॥ ११ ॥

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥ १२ ॥

'जैसे आपके मनमें धनकी लालसा है, उसी प्रकार हम पशुओंको हाथवाले मनुष्योंसे हाथ पानेकी अभिलाषा रहती है । हमारी दृष्टिमें हाथ मिलनेसे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं ॥ १२ ॥

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकं नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ॥ १३ ॥

'ब्रह्मन् ! हमारे शरीरमें काँटे गड़ जाते हैं; परंतु हाथ न होनेसे हम उन्हें निकाल नहीं पाते हैं । जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीरमें डँसते हैं, उनको भी हम हटा नहीं सकते ॥

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ॥ १४ ॥

'परंतु जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए दस अंगुलियों-से युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गोंसे उन कीड़ोंको हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ॥ १४ ॥

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥ १५ ॥

'वे वर्षा, सर्दी और धूपसे अपनी रक्षा कर लेते हैं, कपड़ा पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछा-कर सोते हैं तथा एकान्त स्थानका उपभोग करते हैं ॥ १५ ॥

अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥

'हाथवाले मनुष्य बैलोंसे जुती हुई गाड़ीपर चढ़कर उन्हें हाँकते हैं और जगत्‌में उनका यथेष्ट उपभोग करते हैं तथा हाथसे ही अनेक प्रकारके उपाय करके लोगोंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ १६ ॥

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने ॥ १७ ॥

'मुने ! जो दुःख बिना हाथके दीन, दुर्बल और बेजबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते हैं ॥

दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥ १८ ॥

'आपका बड़ा भाग्य है कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप, मेढक या किसी दूसरी पापयोनिमें नहीं उत्पन्न हुए ॥

एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप ।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः ॥ १९ ॥

'काश्यप ! आपको इतने ही लाभसे संतुष्ट रहना चाहिये । इससे अधिक लाभ क्या होगा कि आप सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं ॥ १९ ॥

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ॥ २० ॥

'मुझे ये कीड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । हाथ न होनेके कारण होनेवाली मेरी इस दुर्दशाको आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ २० ॥

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं संत्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥

'आत्महत्या करना पाप है; यह सोचकर ही मैं अपने इस शरीरका परित्याग नहीं करता हूँ । मुझे भय है कि मैं इससे भी बढ़कर किसी दूसरी पापयोनिमें न गिर जाऊँ ॥

मध्ये वै पापयोनीनां शार्गाली यामहं गतः ।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः ॥ २२ ॥

'यद्यपि मैं इस समय जिस शृगालयोनिमें हूँ, इसकी गणना भी पापयोनियोंमें ही है, तथापि दूसरी बहुत-सी पाप-योनियाँ इससे भी नीची श्रेणीकी हैं ॥ २२ ॥

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥ २३ ॥

'कुछ देवता आदि जातिसे ही सुखी हैं, दूसरे पशु आदि जातिसे ही अत्यन्त दुखी हैं; परंतु मैं कहीं किसीको ऐसा नहीं देखता, जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ॥ २३ ॥

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥ २४ ॥

'मनुष्य धनी हो जानेपर राज्य पाना चाहते हैं, राज्यसे देवत्वकी इच्छा करते हैं और देवत्वसे फिर इन्द्रपद प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २४ ॥

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥ २५ ॥

'यदि आप धनी हो जायँ तो भी ब्राह्मण होनेके कारण राजा नहीं हो सकते । यदि कदाचित् राजा हो जायँ तो देवता नहीं हो सकते । देवता और इन्द्रका पद भी पा जायँ तो भी आप उतनेसे संतुष्ट नहीं रह सकेंगे ॥ २५ ॥

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥ २६ ॥

'प्रिय वस्तुओंका लाभ होनेसे कभी तृप्ति नहीं होती ।

बढ़ती हुई तृष्णा जलसे नहीं बुझती। ईंधन पाकर जलनेवाली आगके समान वह और भी प्रज्वलित होती जाती है ॥

अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि ।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना ॥ २७ ॥

'तुम्हारे भीतर शोक भी है और हर्ष भी। साथ ही सुख और दुःख दोनों हैं; फिर शोक करना किस कामका? ॥ २७ ॥

परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम् ।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे ॥ २८ ॥

'बुद्धि और इन्द्रियाँ ही समस्त कामनाओं और कर्मोंकी मूल हैं। उन्हें पिंजड़ेमें बंद पक्षियोंकी तरह अपने काबूमें रखा जाय तो कोई भय नहीं है ॥ २८ ॥

न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित् ।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम् ॥ २९ ॥

'मनुष्यको दूसरे सिर और तीसरे हाथके कटनेका कभी भय नहीं होता है। जो वास्तवमें है ही नहीं, उसके कारण भय भी नहीं होता है ॥ २९ ॥

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।
संस्पर्शाद् दर्शनाद् वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥ ३० ॥

'जो किसी विषयका रस नहीं जानता, उसके मनमें कभी उसकी कामना भी नहीं होती। स्पर्शसे, दर्शनसे अथवा श्रवणसे भी कामनाका उदय होता है ॥ ३० ॥

न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम् ।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित् ३१

'वारुणी मदिरा तथा चिड़िया—इन दोनोंका आप कभी स्मरण नहीं करते होंगे; क्योंकि इनको आपने नहीं खाया है; परंतु (जो तामसी मनुष्य इनको खाते हैं उनके लिये) कहीं और कोई भी भक्ष्य पदार्थ उन दोनोंसे बढ़कर नहीं है ॥ ३१ ॥

यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित् ।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते ॥ ३२ ॥

'प्राणियोंमें किसीके भी जो अन्यान्य भक्ष्य पदार्थ हैं, जिनका तुमने पहले उपभोग नहीं किया है, उन भोजनोंकी स्मृति तुमको कभी नहीं होगी ॥ ३२ ॥

अप्राशनमसंस्पर्शमसंदर्शनमेव च ।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः ॥ ३३ ॥

'मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी वस्तुको न खाने, न छूने और न देखनेका नियम लेना ही पुरुषके लिये कल्याणकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ३३ ॥

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः ।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ ३४ ॥

'जिनके दोनों हाथ बने हुए हैं, निस्संदेह वे ही बलवान् और धनवान् हैं। मनुष्योंको तो मनुष्योंने ही दास बना रक्खा है ॥

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः ।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

'कितने ही मनुष्य बारंबार वध और बन्धनके क्लेश भोगते रहते हैं, परंतु वे भी (आत्महत्या करके प्राण नहीं देते, बल्कि) आपसमें क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं ॥

अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते ॥ ३६ ॥

'दूसरे बहुत-से बाहुबलसे सम्पन्न विद्वान् और मनस्वी मनुष्य दीन, निन्दित एवं पापपूर्ण वृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥

उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम् ।
स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं तु तत् तथा ॥ ३७ ॥

'वे दूसरी वृत्तिका सेवन करनेके लिये भी उत्साह रखते हैं; परंतु अपने कर्मके अनुसार जो नियत है, वैसा ही भविष्यमें होता है ॥ ३७ ॥

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम् ॥ ३८ ॥

'भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीरको त्यागना नहीं चाहता है, वह अपनी उसी योनिसे संतुष्ट रहता है। देखिये, भगवान्‌की कैसी माया है ! ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ३९

'काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लँगड़े हैं, कुछ लोगोंको लकवा मार गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं। उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनिके अनुसार नीरोग और परिपूर्ण अङ्गवाले हैं। आपको मानवशरीरका लाभ मिल चुका है ॥ ३९ ॥

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः ।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ॥ ४० ॥

'ब्राह्मणदेव ! यदि आपका शरीर निर्भय और नीरोग है, आपके सारे अङ्ग ठीक हैं, किसीमें कोई विकार नहीं आया है तो लोकमें कोई भी आपको धिक्कार नहीं सकता—आप धिक्कारके पात्र नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा ।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'यदि आपपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलङ्क लगा हो तो भी आपको प्राणत्यागका विचार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मर्षे ! आप धर्मपालनके लिये उठ खड़े होइये ॥

यदि ब्रह्मञ्शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः ।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि आप मेरी बात सुनेंगे और उसपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्मके पालनका ही मुख्य फल प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय ।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ॥४३॥

'आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सत्य,

इन्द्रियसंयम तथा दानधर्मका पालन कीजिये। किसीके साथ स्पर्धा न कीजिये ॥ ४३ ॥

ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम्।
कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः ॥ ४४ ॥

'जो ब्राह्मण स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा यज्ञ करते और कराते हैं, वे किसी प्रकारकी चिन्ता क्यों करेंगे और कोई आत्महत्या आदि बुरी बात भी क्यों सोचेंगे ? वे यदि चाहें तो यज्ञादिके द्वारा विहार करते हुए महान् सुख पा सकते हैं ॥

उत जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

'जो उत्तम नक्षत्र, उत्तम तिथि और उत्तम मुहूर्तमें पैदा हुए हैं, वे अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ एवं दान करते और न्यायानुकूल संतानोत्पादनकी चेष्टा भी करते हैं ॥ ४५ ॥

नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः।
सम्पतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥

'दूसरे जो लोग आसुर नक्षत्र, दूषित तिथि तथा अशुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं, वे यज्ञ तथा संतानसे रहित होकर आसुरी योनिमें पड़ते हैं ॥ ४६ ॥

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥

'पूर्वजन्ममें मैं एक पण्डित था और कुतर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता था। प्रत्यक्षके आधारपर अनुमानको प्रधानता देनेवाली थोथी तर्कविद्यापर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था ॥ ४७ ॥

हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ४८

'मैं सभाओंमें जाकर तर्क और युक्तिकी बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेदवाक्योंपर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी सुना देता और स्वयं ही अपना तर्कवाद बका करता था ॥ ४८ ॥

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥ ४९ ॥

'मैं नास्तिक, सबपर संदेह करनेवाला तथा मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाला था। विप्रवर ! यह शृगाल-योनि मेरे उसी कुकर्मका फल है ॥ ४९ ॥

अपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥ ५० ॥

अब मैं सैकड़ों दिन-रातोंतक साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ, जिससे आज सियारकी योनिमें पड़ा हुआ मैं पुनः वह मनुष्ययोनि पा सकूँ ॥ ५० ॥

संतुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥ ५१ ॥

'जिस मनुष्ययोनिमें मैं संतुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तपस्यामें लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जाननेयोग्य वस्तुको जान लूँ और त्यागनेयोग्य वस्तुका त्याग कर दूँ' ॥ ५१ ॥

ततः स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः ॥ ५२ ॥

यह सुनकर काश्यप मुनि आश्चर्यसे चकित होकर खड़े हो गये और बोले—'अहो ! तुम तो बड़े कुशल और बुद्धिमान् हो' ॥ ५२ ॥

समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम् ॥ ५३ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्मर्षिने उसकी ओर ज्ञानदृष्टिसे देखा। तब उसके रूपमें इन्हें देवदेव शचीपति इन्द्र दिखायी दिये ॥ ५३ ॥

ततः सम्पूजयामास काश्यपो हरिवाहनम्।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर काश्यपने इन्द्रदेवका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे पुनः अपने घरको लौट गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गीदड़ और काश्यपका संवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरुशुश्रूषा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! काम, क्रोध आदि दोषोंसे युक्त बुद्धिकी प्रेरणासे मन पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कार्योंद्वारा पाप करके दुःखमय लोक

(नरक) में गिराया जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥ ३ ॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्षसे दुर्भिक्ष, क्लेशसे क्लेश और भयसे भय पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथिसत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होनेयोग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानवसमाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानमें थोथा पौधा और पङ्खवाले जीवोंमें मच्छर ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम् ।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, जो कर्मजनित अदृष्टके द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस कर्मफलको प्राणिसमुदायके पास खींच लाता है ॥ ११ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्वशरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे पहलेसे क्षार आदिमें भिगोया हुआ कपड़ा पीछे धोनेसे साफ हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने ।
धर्मनिर्धूतपापानां सम्पद्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥
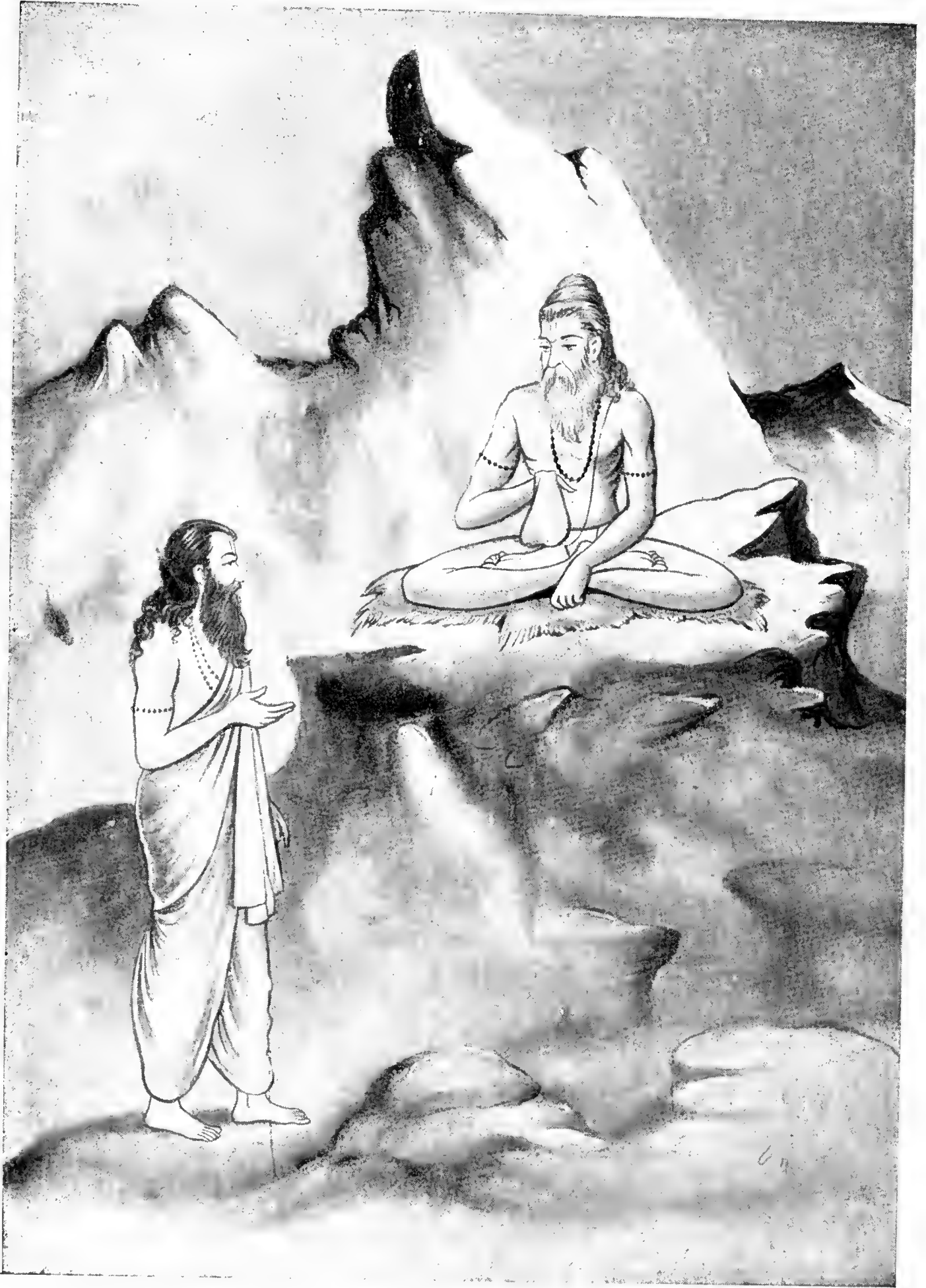
महर्षि भृगुके साथ भरद्वाज मुनिका प्रश्नोत्तर

तपोवनमें रहकर की हुई दीर्घकालतककी तपस्यासे तथा धर्मसे जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधोंकी चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाज और भृगुके संवादमें जगत्‌की उत्पत्तिका और विभिन्न तत्त्वोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्‌की उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? प्रलयकालमें यह किसमें लीन होता है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः ।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ २ ॥

समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है ? ॥ २ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः ।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ३ ॥

प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई ? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया ? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई ? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया ? ॥ ३ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः ।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥ ४ ॥

जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है ? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं ? इस लोकसे उस लोकमें जानेका क्रम क्या है ? ये सब बातें आप हमें बतावें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥ ५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! विज्ञ पुरुष इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें भरद्वाजके प्रश्न करनेपर भृगुके उपदेशका उल्लेख हुआ है ॥ ५ ॥

कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम् ।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥ ६ ॥

कैलास पर्वतके शिखरपर अपने तेजसे देदीप्यमान होते हुए महातेजस्वी महर्षि भृगुको बैठा देख भरद्वाज मुनिने पूछा—॥ ६ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः ।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ ७ ॥

'समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है ? ॥ ७ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः ।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ८ ॥

'प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई ? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया ? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई ? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया ? ॥ ८ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः ।
परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है ? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं ? तथा यह लोक और परलोक कैसा है ? यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ ९ ॥

एवं स भगवान् पृष्टो भरद्वाजेन संशयम् ।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसंकाशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

भरद्वाज मुनिके इस प्रकार अपना संशय पूछनेपर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगुने उन्हें सब कुछ बताया ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

(नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः ।
कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः ॥
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः ।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः ।)
मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः ।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः ॥ ११ ॥

भृगु बोले—ब्रह्मन् ! भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप हैं। वे ही सबके अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे

ही कूटस्थ, अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृतिसे परे और इन्द्रियातीत हैं। उन भगवान् नारायणके हृदयमें जब सृष्टिविषयक संकल्पका उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंशसे एक पुरुषको उत्पन्न किया, महर्षियोंने सर्वप्रथम जिसको इसी नामसे सुना था, जो मानसपुरुषके नामसे प्रसिद्ध है। पूर्वकालमें उत्पन्न वह मानसदेव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है ॥ ११ ॥

अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ १२ ॥

उसीकी अव्यक्त नामसे प्रसिद्धि है। वही शाश्वत, अक्षय और अविनाशी है। उससे उत्पन्न सब प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं ॥ १२ ॥

सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।
महान् ससर्जाहंकारं स चापि भगवानथ ॥ १३ ॥

उस स्वयम्भू देवने पहले महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की रचना की। फिर उस महत्तत्त्वस्वरूप भगवान्ने अहङ्कार (समष्टि अहङ्कार) की सृष्टि की ॥ १३ ॥

आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।
आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाले अहङ्कारस्वरूप भगवान्ने शब्दतन्मात्रा रूप आकाशको उत्पन्न किया। आकाशसे जल और जलसे अग्नि एवं वायुकी उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायुके संयोगसे इस पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ* ॥ १४ ॥

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः ॥ १५ ॥

उसके बाद उस स्वयम्भू मानसदेवने पहले एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमलसे वेदमय निधिरूप ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ १५ ॥

अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः ॥ १६ ॥

वे अहङ्कार नामसे भी विख्यात हैं और समस्त भूतोंके आत्मा तथा उन भूतोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। ये जो पाँच महाभूत हैं, इनके रूपमें महातेजस्वी ब्रह्मा ही प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा ॥ १७ ॥

पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, पृथ्वी उनका मेद और मांस है। समुद्र उनका रुधिर है और आकाश उदर है ॥ १७ ॥

पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः।
अग्नीषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते ॥ १८ ॥

वायु निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिन्हें अग्नि और सोम भी कहते हैं, ब्रह्माजीके नेत्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं ॥ १८ ॥

नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः ॥ १९ ॥

आकाशका ऊपरी भाग उनका सिर है, पृथ्वी पैर है और दिशाएँ भुजाएँ हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप ब्रह्मा सिद्ध पुरुषोंके लिये भी दुर्विज्ञेय हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ २० ॥

वह स्वयम्भू ही भगवान् विष्णु हैं, जो अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विद्यमान हैं। जिनका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिये इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

अहंकारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै।
यतः समभवद् विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया ॥ २१ ॥

वे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके लिये प्राकृत अहङ्कारकी सृष्टि करनेवाले हैं। तुमने मुझसे जो पूछा था कि इस विश्वकी उत्पत्ति किससे हुई है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच

गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा।
कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वतः ॥ २२ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आकाश, दिशा, पृथ्वी और वायुका कितना-कितना परिमाण है? यह ठीक-ठीक बताकर मेरा संशय दूर कीजिये ॥ २२ ॥

भृगुरुवाच

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम्।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते ॥ २३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकानेक सिद्ध और देवता निवास करते हैं। इसमें उनके भिन्न-भिन्न लोक भी स्थित हैं। यह बड़ा ही रमणीय है और इतना महान् है कि कहीं इसका अन्त नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः।
तत्र देवाः स्वयं दीप्ता भास्कराभाग्निवर्चसः ॥ २४ ॥

ऊपर तथा नीचे जानेसे जहाँ सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखायी देते, वहाँ सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं ॥ २४ ॥

ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद ॥ २५ ॥

मानद! परंतु वे तेजस्वी नक्षत्रस्वरूप देवता भी इस आकाशका अन्त नहीं देख पाते; क्योंकि यह दुर्गम और अनन्त है, यह बात तुम्हें मेरे मुखसे सुनकर अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये ॥ २५ ॥

* यहाँ जो सृष्टिका क्रम बताया गया है, वह श्रुतिसम्मत क्रमसे भिन्न है। श्रुतिने आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्तिका क्रम बताया है।

उपरिष्टोपरिष्टात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः ।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥ २६ ॥

ऊपर-ऊपर प्रकाशित होनेवाले स्वयंप्रकाश देवताओंसे यह अप्रमेय आकाश भी भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥२६॥

पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥ २७ ॥

पृथ्वीके अन्तमें समुद्र हैं। समुद्रके अन्तमें घोर अन्धकार है। अन्धकारके अन्तमें जल है और जलके अन्तमें अग्निकी स्थिति बतायी गयी है ॥ २७ ॥

रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः ।
तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥ २८ ॥

रसातलके अन्तमें जल है। जलके अन्तमें नागराज शेष हैं। उनके अन्तमें पुनः आकाश और आकाशके ही अन्तभागमें पुनः जल है ॥ २८ ॥

एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान्‌का, आकाशका, जलका तथा अग्नि और वायुका भी अन्त और परिमाण जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २९ ॥

अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात् ॥ ३० ॥

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी— इनके रंग-रूप आकाशसे ही गृहीत होते हैं; अतः उससे भिन्न नहीं हैं। तत्त्वज्ञान न होनेसे ही उनमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।
त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥ ३१ ॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः ॥ ३२ ॥

ऋषियोंने विविध शास्त्रोंमें तीनों लोकों और समुद्रोंके विषयमें तो कुछ निश्चित प्रमाण बताया भी है; परंतु जो दृष्टिसे परे हैं और जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है, उस परमात्माका परिमाण कोई कैसे बतायेगा ? आखिर इन सिद्धों और देवताओंका ज्ञान भी तो परिमित ही है ॥ ३१-३२ ॥

तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

अतः परमात्मा मानसदेव अपने नामके अनुरूप ही अनन्त हैं। उनका सुप्रसिद्ध अनन्त नाम उनके गुणके अनुसार ही है ॥ ३३ ॥

यदा तु दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तो योऽपि स्यात् तद्विधोऽपरः ॥३४॥

जब उन परमात्माका वह दिव्यरूप उनकी मायासे कभी बहुत छोटा हो जाता है और कभी बहुत बढ़ जाता है, तब कोई उनसे भिन्न दूसरा उन्हींके समान प्रतिभाशाली कौन है, जो कि उस स्वरूपका यथार्थ परिमाण जान सके अर्थात् ऐसा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।
ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त कमलसे सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभावशाली, परम उत्तम तथा प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३५ ॥

भरद्वाज उवाच

पुष्कराद् यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे ॥ ३६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि ब्रह्माजी कमलसे प्रकट हुए तब तो कमल ही ज्येष्ठ प्रतीत होता है; परंतु आपने ब्रह्माजीको पूर्वज बताया है; अतः यह संदेह मेरे मनमें बना ही रह गया ॥ ३६ ॥

भृगुरुवाच

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३७ ॥

भृगुने कहा—मुने ! मानसदेवका जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्मरूपमें प्रकट है। उन्हीं ब्रह्माजीके आसनके लिये इस पृथ्वीको ही पद्म (कमल) कहते हैं ॥ ३७ ॥

कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः ।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः ॥ ३८ ॥

इस कमलकी कर्णिका मेरुपर्वत है, जो आकाशमें बहुत ऊँचेतक गया है। उसी पर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर जगदीश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजका संवादविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

आकाशसे अन्य चार स्थूल भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः ।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! मेरुपर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर ब्रह्माजी नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि कैसे करते हैं, यह मुझे बताइये ! ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत् ।

संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥ २ ॥

भृगुने कहा—उन मानसदेवने अपने मानसिक संकल्पसे ही नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि की है। उन्होंने प्राणियोंकी रक्षाके लिये सबसे पहले जलकी सृष्टि की ॥ २ ॥

यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥ ३ ॥

वह जल समस्त प्राणियोंका जीवन है। उसीसे प्रजाकी वृद्धि होती है। जलके न मिलनेसे प्राणी नष्ट हो जाते हैं। उसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥ ३ ॥

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे।
सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥ ४ ॥

पृथ्वी, पर्वत, मेघ तथा अन्य जो मूर्तिमान् वस्तुएँ हैं, उन सबको जलमय समझना चाहिये; क्योंकि जलने ही उन सबको स्थिर कर रक्खा है ॥ ४ ॥

भरद्वाज उवाच

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! जलकी उत्पत्ति कैसे हुई? अग्नि और वायुकी सृष्टि किस प्रकार हुई तथा पृथ्वीकी भी रचना कैसे की गयी, इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसम्भवसंदेहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ ६ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब ब्रह्मकल्प चल रहा था, उस समय ब्रह्मर्षियोंका परस्पर समागम हुआ। उन महात्माओंकी उस सभामें लोकसृष्टिविषयक संदेह उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ७ ॥

वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षोंतक ध्यान लगाकर मौनका आश्रय ले निश्चलभावसे बैठे रह गये ॥ ७ ॥

तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥ ८ ॥

उस ध्यानावस्थामें उन सबके कानोंमें ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी। उस समय वहाँ आकाशसे दिव्य सरस्वती प्रकट हुई थी ॥ ८ ॥

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥ ९ ॥

वह आकाशवाणी इस प्रकार है—'पूर्वकालमें अनन्त आकाश पर्वतके समान निश्चल था। उसमें चन्द्रमा, सूर्य अथवा वायु किसीके दर्शन नहीं होते थे। वह सोया हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ९ ॥

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥ १० ॥

'तदनन्तर आकाशसे जलकी उत्पत्ति हुई; मानो अन्धकारमें ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो। उस जलप्रवाहसे वायुका उत्थान हुआ ॥ १० ॥

यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥ ११ ॥

'जैसे कोई छिद्ररहित पात्र निःशब्द-सा लक्षित होता है; परंतु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, तब वायु उसमें आवाज प्रकट कर देती है ॥ ११ ॥

तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार जलसे आकाशका सारा प्रान्त ऐसा अवरुद्ध हो गया था कि उसमें कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं था। तब उस एकार्णवके तलप्रदेशका भेदन करके बड़ी भारी आवाजके साथ वायुका प्राकट्य हुआ ॥ १२ ॥

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥ १३ ॥

'इस प्रकार समुद्रके जलसमुदायसे प्रकट हुई यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाशके किसी भी स्थानमें पहुँचकर वह शान्त नहीं हुई ॥ १३ ॥

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥ १४ ॥

'वायु और जलके उस संघर्षसे अत्यन्त तेजोमय महाबली अग्निदेवका प्राकट्य हुआ, जिनकी लपटें ऊपरकी ओर उठ रही थीं। वह आग आकाशके सारे अन्धकारको नष्ट करके प्रकट हुई थी ॥ १४ ॥

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥

'वायुका संयोग पाकर अग्नि जलको आकाशमें उछालने लगी; फिर वही जल अग्नि और वायुके संयोगसे घनीभूत हो गया ॥ १५ ॥

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

'उसका जो वह गीलापन आकाशमें गिरा, वही घनीभूत होकर पृथ्वीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १६ ॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा।
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥ १७ ॥

'इस पृथ्वीको सम्पूर्ण रसों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियोंका कारण समझना चाहिये। इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें मानसभूतोंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन

भरद्वाज उवाच

त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा।
आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिताः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! लोकमें ये पाँच धातु ही 'महाभूत' कहलाते हैं, जिन्हें ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें रचा था। ये ही इन समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं ॥ १ ॥

यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते ॥ २ ॥

परंतु जब महाबुद्धिमान् ब्रह्माजीने और भी हजारों भूतोंकी रचना की है, तब इन पाँचको ही 'भूत' कहना कहाँतक युक्तिसंगत है? ॥ २ ॥

भृगुरुवाच

अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम्।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! ये पाँच भूत ही असीम हैं, इसलिये इन्हींके साथ 'महा'शब्द जोड़ा जाता है। इन्हींसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है; अतः इन्हींके लिये 'महाभूत' शब्दका प्रयोग सुसंगत है ॥ ३ ॥

चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः।
पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥

प्राणियोंका शरीर इन पाँच महाभूतोंका ही संघात है। इसमें जो चेष्टा या गति है, वह वायुका भाग है। जो खोखलापन है, वह आकाशका अंश है। ऊष्मा (गर्मी) अग्निका अंश है। लोहू आदि तरल पदार्थ जलके अंश हैं और हड्डी मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वीके अंश हैं ॥ ४ ॥

इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम्।
श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सारा स्थावर-जङ्गम जगत् इन पाँच भूतोंसे युक्त है। इन्हींके सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र—इन पाँच इन्द्रियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं॥

भरद्वाज उवाच

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! आपके कथनानुसार यदि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थ इन पाँच महाभूतोंसे ही संयुक्त हैं तो स्थावरोंके शरीरोंमें तो पाँच भूत नहीं दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ७ ॥

वृक्षोंके शरीरमें गर्मी नहीं है, कोई चेष्टा भी नहीं है तथा वास्तवमें वे घन हैं; अतः उनके शरीरमें पाँचों भूतोंकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥

न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥ ८ ॥

वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न गन्ध और रसका ही अनुभव करते हैं और न उन्हें स्पर्शका ही ज्ञान होता है; फिर वे पाञ्चभौतिक कैसे कहे जाते हैं? ॥ ८ ॥

अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥९॥

उनमें न तो द्रवत्व देखा जाता है, न अग्निका अंश, न पृथ्वी और वायुका ही भाग उपलब्ध होता है। आकाश तो अप्रमेय है; अतः वह भी वृक्षोंमें नहीं है, इसलिये वृक्षोंकी पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने! यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है। इसीसे उनमें नित्यप्रति फल-फूल आदिकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ॥

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ ११ ॥

वृक्षोंके भीतर जो ऊष्मा या गर्मी है, उसीसे उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं; इससे उनमें स्पर्शका होना भी सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ १२ ॥

यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि और बिजलीकी कड़क आदि भीषण शब्द होनेपर वृक्षोंके फल-फूल झड़कर गिर जाते हैं। शब्दका ग्रहण तो श्रवणेन्द्रियसे ही होता है;

इससे यह सिद्ध हुआ कि वृक्ष भी सुनते हैं ॥ १२ ॥

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥ १३ ॥

लता वृक्षको चारों ओरसे लपेट लेती है और उसके ऊपरी भागतक चढ़ जाती है। बिना देखे किसीको अपने जानेका मार्ग नहीं मिल सकता; इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं ॥ १३ ॥

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः॥ १४ ॥

पवित्र और अपवित्र गन्धसे तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं; इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष भी सूँघते हैं ॥ १४ ॥

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात्।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे॥ १५ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जल पीते हैं और कोई रोग होनेपर जड़में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है; इससे सिद्ध है कि वृक्षमें रसनेन्द्रिय भी है ॥ १५ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत्।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य कमलकी नाल मुँहमें लगाकर उसके द्वारा ऊपरको जल खींचता है, उसी तरह वायुकी सहायतासे युक्त वृक्ष अपनी जड़ोंद्वारा ऊपरकी ओर पानी खींचता है ॥ १६ ॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥ १७ ॥

वृक्ष कट जानेपर उनमें नया अंकुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूँ कि वृक्षोंमें जीव भी है। वे अचेतन नहीं हैं ॥ १७ ॥

तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते॥ १८ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जो जल खींचता है, उसे उसके अंदर रहनेवाली वायु और अग्नि पचाती है। आहारका परिपाक होनेसे वृक्षमें स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं ॥

जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते॥ १९ ॥

समस्त जङ्गमोंके शरीरोंमें भी पाँच भूत रहते हैं; परंतु वहाँ उनके स्वरूपमें भेद होता है। उन पाँच भूतोंके सहयोगसे ही शरीर चेष्टाशील होता है ॥ १९ ॥

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्।
इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम्॥ २० ॥

शरीरमें त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु—इन पाँच वस्तुओंका समुदाय पृथ्वीमय है ॥ २० ॥

तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च।
अग्निर्जरयते यश्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः॥ २१ ॥

तेज, क्रोध, नेत्र, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच वस्तुएँ देहधारियोंके शरीरमें अग्निमय हैं ॥ २१ ॥

श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः॥ २२ ॥

कान, नासिका, मुख, हृदय और उदर प्राणियोंके शरीरमें ये पाँच धातुमय खोखलापन आकाशसे उत्पन्न हुए हैं—॥ २२ ॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा॥ २३ ॥

कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—ये प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाली पाँच गीली वस्तुएँ जलरूप हैं ॥ २३ ॥

प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः॥ २४ ॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम्॥ २५ ॥

प्राणसे प्राणी चलने-फिरनेका काम करता है, व्यानसे व्यायाम (बलसाध्य उद्यम) करता है, अपान वायु ऊपरसे नीचेकी ओर जाती है, समान वायु हृदयमें स्थित होती है, उदानसे पुरुष उच्छ्वास लेता है और कण्ठ, तालु आदि स्थानोंके भेदसे शब्दों एवं अक्षरोंका उच्चारण करता है। इस प्रकार ये पाँच वायुके परिणाम हैं, जो शरीरधारीको चेष्टाशील बनाते हैं ॥ २४-२५ ॥

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान्।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वायुना॥ २६ ॥

जीव भूमिसे ही (अर्थात् घ्राणेन्द्रियद्वारा) गन्ध गुणका अनुभव करता है, जलसम्बन्धी इन्द्रिय रसनासे शरीरधारी पुरुष रसका आस्वादन करता है, तेजोमय नेत्रके द्वारा रूपका तथा वायुसम्बन्धी त्वगिन्द्रियके द्वारा उसे स्पर्शका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान्॥ २७॥

गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—ये पृथ्वीके गुण माने गये हैं। इनमेंसे प्रधान गन्धके गुणोंका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ २७ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च॥ २८ ॥
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः।

अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी अर्थात् दूरसे आनेवाली, तेज गन्धमिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये गन्धके नौ भेद जानने चाहिये। इस प्रकार पार्थिव गन्धका विस्तार बताया गया ॥ २८½ ॥

ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना॥ २९॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः।

रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

मनुष्य दोनों नेत्रोंसे रूपको देखता है और त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये जलके गुण माने गये हैं। उनमें प्रधान गुण रस है, उसकी जानकारीके लिये अब मैं उसके भेदोंका वर्णन करता हूँ। तुम उसे मेरे मुँहसे सुनो॥ २९-३०॥

रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः।
मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा॥ ३१॥

उदारचेता महर्षियोंने रसके अनेक भेद बताये हैं—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु। इन छः रूपोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ रस जलमय माना गया है॥ ३१॥

एष षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते॥ ३२॥
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये अग्निके तीन गुण बताये जाते हैं। ज्योतिर्मय नेत्र रूपको देखते हैं। अग्निके प्रधान गुण रूपको भी अनेक प्रकारका माना गया है॥ ३२½॥

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान्॥ ३३॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः॥ ३४॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर और सब ओरसे गोल, सफेद, काला, लाल, पीला और आकाशकी भाँति नीला, कठिन, चिक्कण, अल्प, पिच्छिल, मृदु और दारुण—इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपनामक गुण सोलह भेदोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ है॥ ३३-३४½॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत॥ ३५॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।

वायुके दो गुण जानने चाहिये—शब्द और स्पर्श। वायुका प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जिसके अनेक भेद माने गये हैं—॥ ३५½॥

उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च॥ ३६॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते॥ ३७॥

उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूक्ष, हल्का, भारी और अधिक भारी—इस प्रकार वायुसम्बन्धी स्पर्श गुणके बारह भेद कहे जाते हैं॥ ३६-३७॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम्॥ ३८॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्॥ ३९॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।

आकाशका एकमात्र गुण शब्द ही माना गया है। उस शब्दगुणका अनेक भेदोंमें जो विस्तार हुआ है, उसका वर्णन करता हूँ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये आकाशजनित शब्दगुणके सात भेद बताये गये हैं, जिन्हें जानना चाहिये॥ ३८-३९½॥

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु॥ ४०॥
मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा।
एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः॥ ४१॥

अपने व्यापक स्वरूपसे तो शब्द सर्वत्र है, किंतु पटह (नगाड़े) आदिमें इसकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है। मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघ तथा रथकी घर्घराहट आदिमें जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड या चेतनका जो कुछ भी शब्द श्रवणगोचर होता है, वह सब इन सात भेदोंके ही अन्तर्गत बताया गया है॥ ४०-४१॥

एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह॥ ४२॥

इस प्रकार आकाशजनित शब्दके अनेक भेद हैं। वायुसम्बन्धी गुणोंके साथ ही आकाशजनित शब्द होता है; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं॥ ४२॥

अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः।
आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः॥ ४३॥

जब वायुसम्बन्धी गुण बाधित न होकर शब्दके साथ रहता है, तब मनुष्य शब्दको सुनता और समझता है; किंतु जब वायुसम्बन्धी गुण दीवार अथवा प्रतिकूल वायुसे बाधित होकर विषम अवस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब शब्दका ग्रहण नहीं होता है। वे शब्द आदिके उत्पादक धातु (इन्द्रिय-गोलक) धातुओं (इन पाँचों भूतों) द्वारा ही पोषित होते हैं॥

आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः॥ ४४॥

जल, अग्नि और वायु—ये तीन तत्त्व सदा देहधारियोंमें जाग्रत् रहते हैं। ये ही शरीरके मूल हैं और प्राणोंमें ओतप्रोत होकर शरीरमें स्थित रहते हैं॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभारद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८४॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शरीरके भीतर जठरानल तथा प्राण-अपान आदि वायुओंकी स्थिति आदिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! शरीरके भीतर रहनेवाली अग्नि पार्थिव धातु (पाञ्चभौतिक देह) का आश्रय लेकर कैसे रहती है और वायु भी उसी पार्थिव धातुका आश्रय लेकर अवकाश विशेषके द्वारा देहको कैसे चेष्टाशील बनाती है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ ।
प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बली ॥ २ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! निष्पाप महर्षे! मैं तुमसे वायुकी गतिका वर्णन करता हूँ। प्रबल वायु प्राणियोंके शरीरोंको किस प्रकार चेष्टाशील बनाती है ? यह बताता हूँ॥

श्रितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥

आत्मा मस्तकके रन्ध्रस्थानमें स्थित होकर सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा करता है और प्राण मस्तक तथा अग्नि दोनोंमें स्थित होकर शरीरको चेष्टाशील बनाता है ॥ ३ ॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः ॥ ४ ॥

वह प्राणसे संयुक्त आत्मा ही जीव है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है। वही मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों भूत और विषयरूप हो रहा है ॥ ४ ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ५ ॥

इस प्रकार (जीवात्मासे संयुक्त हुए) प्राणके द्वारा शरीरके भीतरके समस्त विभाग तथा इन्द्रिय आदि सारे बाह्य अङ्ग परिचालित होते हैं। तत्पश्चात् समान वायुके रूपमें परिणत हो प्राण ही अपनी-अपनी गतिके आश्रित शरीरका संचालक होता है ॥ ५ ॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ॥ ६ ॥

अपान वायु जठरानल, मूत्राशय और गुदाका आश्रय ले मल एवं मूत्रको निकालता हुआ ऊपरसे नीचेको घूमता रहता है ॥ ६ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते ।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ७ ॥

जिस एक ही वायुकी प्रयत्न, कर्म और बल तीनोंमें प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंने उदान कहा है ॥ ७ ॥

संधिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

जो मनुष्योंके शरीरोंमें और उनकी समस्त संधियोंमें भी व्याप्त है, उस वायुको 'व्यान' कहते हैं ॥ ८ ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते ॥ ९ ॥

शरीरके समस्त धातुओंमें व्याप्त जो अग्नि है, वह समान वायुद्वारा संचालित होती है। वह समान वायु ही शरीरगत रसों, धातुओं (इन्द्रियों) और दोषों (कफ आदि) का संचालन करती हुई सम्पूर्ण शरीरमें स्थित है ॥ ९ ॥

अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः ।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १० ॥

अपान और प्राणके मध्यभाग (नाभि) में प्राण और अपान दोनोंका आश्रय लेकर स्थित हुआ जठरानल खाये हुए अन्नको भलीभाँति पचाता है ॥ १० ॥

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसंज्ञितम् ।
स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम् ॥ ११ ॥

मुखसे लेकर पायु (गुदा) तक जो महान् स्रोत (प्राणके प्रवाहित होनेका मार्ग) है, वही अन्तिम छोरमें गुदाके नामसे प्रसिद्ध है। उसी महान् स्रोतसे देहधारियोंके अन्य सभी छोटे-छोटे स्रोत (प्राणोंके संचरणके मार्ग अथवा नाडीसमुदाय) प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

प्राणानां संनिपाताच्च संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ १२॥

उन स्रोतोंद्वारा सारे अङ्गोंमें प्राणोंका सम्बन्ध या प्रसार होनेसे उसके साथ रहनेवाले जठरानलका भी सम्बन्ध या प्रसार हो जाता है। प्राणियोंके शरीरमें जो गर्मीका अनुभव होता है, उसे उस जठरानलका ही ताप समझना चाहिये। वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ॥१२॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १३ ॥

अग्निके वेगसे बहता हुआ प्राण गुदाके निकट जाकर प्रतिहत हो जाता है; फिर ऊपरकी ओर लौटकर समीपवर्ती अग्निको भी ऊपर उठा देता है ॥ १३ ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः ॥ १४ ॥

नाभिसे नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय स्थित है तथा नाभिके मध्यभागमें शरीरसम्बन्धी सभी प्राण स्थित हैं॥

प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १५ ॥

वे समस्त प्राण हृदयसे इधर-उधर और ऊपर-नीचे

प्रस्थान करते हैं; इसलिये दस¹ प्राणोंसे परिचालित होकर सारी नाड़ियाँ अन्नका रस वहन करती हैं ॥ १५ ॥

एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥ १६ ॥

यह मुखसे लेकर गुदातकका जो महान् स्रोत है, वह योगियोंका मार्ग है। उससे वे योगी परमपदको प्राप्त होते हैं, जिन्होंने सारे क्लेशोंको जीत लिया है, जो सर्वत्र समदर्शी और धीर हैं तथा जिन महात्माओंने सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मस्तकमें पहुँचकर वहीं अपने आपको स्थित कर दिया है॥

एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम्।
तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥१७॥

प्राणियोंके प्राण, अपान आदि सभी वायुओंमें स्थापित हुई जठराग्नि शरीरमें ही रहकर सदा अग्निकुण्डमें रखी हुई अग्निकी भाँति प्रज्वलित होती रहती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्तापर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शंका उपस्थित करना

भरद्वाज उवाच

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! यदि वायु ही प्राणीको जीवित रखती है, वायु ही शरीरको चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस शरीरमें जीवकी सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

यद्यूष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ २ ॥

यदि शरीरमें गर्मी अग्निका अंश है, यदि अग्निसे ही खाये हुए अन्नका परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ ही है॥

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥ ३ ॥

जब किसी प्राणीकी मृत्यु होती है; तब वहाँ जीवकी उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणीका परित्याग करती है और शरीरकी गर्मी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना।
वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणैः ॥ ४ ॥

यदि जीव वायुमय है, यदि वायुसे उसका घनिष्ठ सम्पर्क है, तब तो वायुमण्डलके समान उसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आना चाहिये। वह मृत्युके पश्चात् वायुके साथ ही जाता हुआ दिखायी देना चाहिये ॥ ४ ॥

संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति।
महार्णवविमुक्तत्वादन्यत् सलिलभाजनम् ॥ ५ ॥

यदि वायुके साथ जीवका दृढ़ संयोग है और उसीके कारण वह वायुके साथ ही नष्ट हो जाता है, तब तो जैसे जलपात्रमें पत्थर भरकर उसे कोई समुद्रमें डाल दे और वह डूब जाय, उसी प्रकार वायुके सम्पर्कसे ही जीवका विनाश मानना पड़ेगा। उस दशामें जैसे प्रस्तरसे पृथक् जलपात्रकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्राणवायुसे पृथक् जीवकी उपलब्धि होनी चाहिये ॥ ५ ॥

कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं वा हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥ ६ ॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥ ७ ॥

अथवा जैसे कुआँमें जल गिराया जाय या जलती आगमें जला हुआ दीपक डाल दिया जाय, तो वे दोनों शीघ्र ही उनमें प्रविष्ट होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं। उसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीरका नाश होनेपर जीव भी पाँचों तत्त्वमें विलीन होकर अपने पृथक् अस्तित्वसे रहित हो जाना चाहिये, ऐसा मान लेनेपर तो पाँच भूतोंसे धारण किये हुए इस शरीरमें जीव है ही कहाँ? अतः यह सिद्ध हुआ कि पाञ्चभौतिक संघातसे भिन्न जीव नहीं है; उन पाँच तत्त्वोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेपर शेष चारोंका भी अभाव हो जाता है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥ ८ ॥

जलका सर्वथा त्याग करनेसे शरीरके जलीय अंशका नाश हो जाता है, श्वास रुक जानेसे वायुका नाश होता है। उदरका भेदन होनेसे आकाशतत्त्व नष्ट होता है और भोजन बंद कर देनेसे शरीरके अग्नितत्त्वका नाश हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां संघातो याति पञ्चधा ॥ ९ ॥

ज्वर आदि रोग, घाव तथा अन्यान्य प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका पृथ्वीतत्त्व बिखर जाता है। इन पाँचों तत्त्वोंमेंसे एक

१. प्राणवायुके दस भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

तत्त्वको भी यदि हानि पहुँची तो इनका सारा संघात ही पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति ।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च ॥ १० ॥

पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होनेपर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है ? क्या अनुभव करता है ? क्या सुनता है और क्या बोलता है ? ॥ १० ॥

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति ।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति ॥ ११ ॥

मृत्युके समय लोग इस आशासे गोदान करते हैं कि यह गौ परलोकमें जानेपर मुझे तार देगी; परंतु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी ? ॥

गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा ।
इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥ १२ ॥

गौ, गोदान करनेवाला मनुष्य तथा उसको लेनेवाला ब्राह्मण—ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोकमें उनका कैसे समागम होता है ? ॥ १२ ॥

विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च ।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥ १३ ॥

इनमेंसे जो मरता है, उसे या तो पक्षी खा जाते हैं या वह पर्वतके शिखरसे गिरकर चूर-चूर हो जाता है अथवा आगमें जलकर भस्म हो जाता है । ऐसी दशामें उनका पुनः जीवित होना कैसे सम्भव है ? ॥ १३ ॥

छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क्व पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

यदि जड़से कटे हुए वृक्षका मूल फिर अंकुरित नहीं होता है, केवल उसके बीज ही जमते हैं, तब मरा हुआ मनुष्य फिर कहाँसे आ जायगा ? ॥ १४ ॥

बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते ।
मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें बीजमात्रकी सृष्टि हुई थी, जिससे यह जगत् चलता आ रहा है । जो लोग मर जाते हैं, वे तो नष्ट हो जाते हैं और बीजसे बीज पैदा होता रहता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जीवके स्वरूपपर आक्षेपविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्ता तथा नित्यताको युक्तियोंसे सिद्ध करना

भृगुरुवाच

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते ॥ १ ॥

भृगुजीने कहा—ब्रह्मन् ! जीवका तथा उसके दिये हुए दान एवं किये हुए कर्मका कभी नाश नहीं होता है । जीव तो दूसरे शरीरमें चला जाता है, केवल उसका छोड़ा हुआ शरीर ही यहाँ नष्ट होता है ॥ १ ॥

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥ २ ॥

शरीरके आश्रयसे रहनेवाला जीव उसके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है । जैसे समिधाओंके आश्रित हुई आग उनके जल जानेपर भी देखी जाती है, उसी प्रकार जीवकी सत्ताका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥ २ ॥

भरद्वाज उवाच

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥ ३ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! यदि अग्निके समान जीवका नाश नहीं होता तो ईंधनके जल जानेपर वह भी तो बुझ ही जाती है; फिर उसकी तो उपलब्धि नहीं होती है ॥ ३ ॥

नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।
गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥ ४ ॥

अतः मैं ईंधनरहित बुझी हुई आगको यही समझता हूँ कि वह नष्ट हो गयी; क्योंकि जिसकी गति, प्रमाण अथवा स्थिति नहीं है, उसका नाश भी मानना पड़ता है । यही दशा जीवकी भी है ॥ ४ ॥

भृगुरुवाच

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥ ५ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! समिधाओंके जल जानेपर अग्निका नाश नहीं होता । वह आकाशमें अव्यक्तरूपसे स्थित हो जाती है, इसलिये उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि बिना किसी आश्रयके अग्निका ग्रहण होना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः ॥ ६ ॥

उसी प्रकार शरीरको त्याग देनेपर जीव आकाशकी भाँति स्थित होता है । वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण बुझी हुई आगके समान अनुभवमें नहीं आता, परंतु रहता अवश्य है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम् ।

वायुसंधारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात्॥ ७ ॥

अग्नि प्राणोंको धारण करती है। जीवको उस अग्निके समान ही ज्योतिर्मय समझो। उस अग्निको वायु देहके भीतर धारण किये रहती है। श्वास रुक जानेपर वायुके साथ-साथ अग्नि भी नष्ट हो जाती है॥ ७ ॥

तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः॥ ८ ॥
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम्॥ ९ ॥

उस शरीराग्निके नष्ट होनेपर अचेतन शरीर पृथ्वीपर गिरकर पार्थिवभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पृथ्वी ही उसका आधार है। समस्त स्थावरों और जङ्गमोंकी प्राणवायु आकाशको प्राप्त होती है और अग्नि भी उस वायुका ही अनुसरण करती है। इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि—ये तीन तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और जल तथा पृथ्वी—दो तत्त्व भूमिपर ही रह जाते हैं॥ ८-९ ॥

यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम्॥ १० ॥

जहाँ आकाश होता है, वहीं वायुकी स्थिति होती है और जहाँ वायु होती है, वहीं अग्नि भी रहती है। ये तीनों तत्त्व यद्यपि निराकार हैं तथापि देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित होकर मूर्तिमान् समझे जाते हैं॥ १० ॥

भरद्वाज उवाच

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ॥ ११ ॥

भरद्वाजने पूछा—निष्पाप मुनिवर! यदि देहधारियोंके शरीरोंमें केवल अग्नि, वायु, भूमि, आकाश और जल-तत्त्व ही विद्यमान है तो उनमें रहनेवाले जीवके क्या लक्षण हैं? यह मुझे बताइये॥ ११ ॥

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम्॥ १२ ॥

प्राणियोंका शरीर पाञ्चभौतिक है। पाँच विषयोंमें इसकी रति है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चित्त उपलब्ध होते हैं। इसमें रहनेवाले जीवका स्वरूप कैसा है; इस बातको मैं जानना चाहता हूँ॥ १२ ॥

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते॥ १३ ॥

रक्त और मांसके समूह, चर्बी, नाड़ी और हड्डियोंके संग्रहरूपी इस शरीरको चीरने-फाड़नेपर इसके भीतर कोई जीव नहीं उपलब्ध होता॥ १३ ॥

यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम्।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम्॥ १४ ॥

यदि इस पाञ्चभौतिक शरीरको जीवरहित मान लिया जाय, तब प्रश्न यह होता है कि शरीर अथवा मनमें पीड़ा होनेपर उसके कष्टका अनुभव कौन करता है!॥ १४ ॥

शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत्।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः॥ १५ ॥

महर्षे! जीव किसीकी कही हुई बातको पहले दोनों कानोंसे सुनता है; परंतु यदि मनमें व्यग्रता रही तो वह सुनकर भी नहीं सुनता; इसलिये मनके अतिरिक्त किसी जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ है॥ १५ ॥

सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥ १६ ॥

जो भी दृश्य पदार्थ है, उसे प्राणी तभी देख पाता है जब कि उसकी दृष्टिके साथ मनका संयोग हो। यदि मन व्याकुल हो तो उसकी आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती है॥ १६ ॥

न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः॥ १७ ॥

निद्राके वशमें पड़ा हुआ पुरुष (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके होते हुए भी) न देखता है, न सूँघता है, न सुनता है, न बोलता है और न स्पर्श तथा रसका ही अनुभव करता है॥

हृष्यति क्रुद्ध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः॥ १८ ॥

अतः यह जिज्ञासा होती है कि इस शरीरके अंदर कौन हर्ष और कौन क्रोध करता है? किसे शोक और उद्वेग होता है? इच्छा, ध्यान, द्वेष और बातचीत कौन करता है?॥

भृगुरुवाच

न पञ्चसाधारणमत्र किंचि-
च्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा।
स वेत्ति गन्धांश्च रसाञ्छ्रुतीश्च
स्पर्शं च रूपं च गुणाश्च येऽन्ये॥ १९ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! मन भी पाञ्चभौतिक ही है; अतः वह पाँचों भूतोंसे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। एकमात्र अन्तरात्मा ही इस शरीरका भार वहन करता है, वही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दका और दूसरे भी जो गुण हैं, उनका अनुभव करता है॥ १९ ॥

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी
स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र
तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः॥ २० ॥

वह अन्तरात्मा पाँचों इन्द्रियोंके गुणोंको धारण करनेवाले मनका द्रष्टा है और वही इस पाञ्चभौतिक शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। जब उसका शरीरके साथ सम्बन्ध छूट जाता है, तब इस शरीरको सुख-

दुःखका भान नहीं होता है (इससे मनके अतिरिक्त उसके साक्षी आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ २० ॥

यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥ २१ ॥

जब पाञ्चभौतिक शरीरमें रूप, स्पर्श और गर्मीका भान नहीं होता, उस अवस्थामें शरीरस्थित अग्निके शान्त हो जानेपर जीवात्मा इस शरीरको त्यागकर भी नष्ट नहीं होता ॥ २१ ॥

आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम्।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥ २२ ॥

यह सब प्रपञ्च जलमय है, प्राणियोंका यह शरीर भी प्रायः जलमय ही है। उसमें मनमें रहनेवाला आत्मा विद्यमान है। वही सम्पूर्ण भूतोंमें लोकस्रष्टा ब्रह्माके नामसे विख्यात है; क्योंकि समस्त जीवोंके संघातका ही नाम ब्रह्मा है ॥ २२ ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ २३ ॥

आत्मा जब प्राकृत गुणोंसे युक्त होता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं और उन्हीं गुणोंसे जब वह मुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है ॥ २३ ॥

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥ २४ ॥

तुम क्षेत्रज्ञको आत्मा ही समझो। वह सर्वलोकहितकारी है। इस शरीरमें रहकर भी वह कमल-पत्रपर पड़े हुए जल-बिन्दुकी तरह वास्तवमें इससे पृथक् ही है ॥ २४ ॥

क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥ २५ ॥

उस क्षेत्रज्ञको सदा आत्मा ही जानो। वह सम्पूर्ण जगत्का हितस्वरूप है। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनों प्राकृत गुणोंको प्रकृति-स्थित होनेके कारण जीवके गुण समझो ॥ २५ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २६ ॥

चेतन जीवके सम्बन्धसे उपर्युक्त जीवके गुणोंको चेतनायुक्त कहते हैं*। वह जीव स्वयं चेष्टा करता है और सबसे चेष्टा करवाता है। शरीरके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष इस क्षेत्रज्ञ आत्मासे उस परमात्माको श्रेष्ठ बताते हैं, जिसने भूः भुवः आदि सातों लोकोंको उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥

देहका नाश होनेपर भी जीवका नाश नहीं होता। जो जीवकी मृत्यु बताते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मृत देहका त्याग करके दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँच तत्त्वोंका अलग-अलग हो जाना ही शरीरका नाश है ॥ २७ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें गूढ़भावसे छिपा रहता है। वह तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धिसे साक्षात् किया जाता है ॥ २८ ॥

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ २९ ॥

जो विद्वान् परिमित आहार करके रातके पहले और पिछले पहरमें सदा ध्यानयोगका अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने हृदयमें ही उस आत्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ ३० ॥

चित्त शुद्ध होनेपर वह शुभाशुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध हटाकर प्रसन्नचित्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है और अनन्त आनन्दका अनुभव करने लगता है ॥ ३० ॥

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ ३१ ॥

समस्त शरीरोंमें मनके भीतर रहनेवाला जो अग्निके समान प्रकाशस्वरूप चैतन्य है, उसीको समष्टि जीवस्वरूप प्रजापति कहते हैं। उसी प्रजापतिसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह बात अध्यात्मतत्त्वका निश्चय करके कही गयी है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके संवादके प्रसङ्गमें जीवके स्वरूपका निरूपणविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

---

* जैसे लोहा दाहक एवं दीप्तिमान् हो उठता है, उसी प्रकार चेतन जीवके संसर्गसे उसके सत्त्वादि गुणको भी चैतन्ययुक्त कहते हैं।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्णविभागपूर्वक मनुष्योंकी और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भृगुरुवाच

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भमें अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियोंको ही उत्पन्न किया ॥१॥

ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम् ।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥ २ ॥

उसके बाद भगवान् ब्रह्माने स्वर्ग-प्राप्तिके साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार और शौचके नियम बनाये ॥ २ ॥

देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः ।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥ ३ ॥

तदनन्तर देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्योंको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे ॥ ४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी रचना की और प्राणिसमूहोंमें जो अन्य समुदाय हैं, उनकी भी सृष्टि की ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंका रंग श्वेत, क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला तथा शूद्रोंका काला बनाया ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि चारों वर्णोंमेंसे एक वर्णके साथ दूसरे वर्णका रंग-भेद है, तब तो सभी वर्णोंमें विभिन्न रंगके मनुष्य होनेके कारण वर्णसंकरता ही दिखायी देती है ॥ ६ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥ ७ ॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और थकावटका प्रभाव हम सब लोगोंपर समानरूपसे ही पड़ता है; फिर वर्णोंका भेद कैसे सिद्ध होता है ? ॥ ७ ॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते ॥ ८ ॥

हम सब लोगोंके शरीरसे पसीना, मल, मूत्र, कफ, पित्त और रक्त निकलते हैं । ऐसी दशामें रंगके द्वारा वर्णोंका विभाग कैसे किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः ।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः ॥ ९ ॥

पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणियों तथा वृक्ष आदि स्थावर जीवोंकी असंख्य जातियाँ हैं । उनके रंग भी नाना प्रकारके हैं, अतः उनके वर्णोंका निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! पहले वर्णोंमें कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था । पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उनमें वर्णभेद हो गया ॥ १० ॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ११ ॥

जो अपने ब्राह्मणोचित धर्मका परित्याग करके विषय-भोगके प्रेमी, तीखे स्वभाववाले, क्रोधी और साहसका काम पसंद करनेवाले हो गये और इन्हीं कारणोंसे जिनके शरीरका रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भावको प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे ॥ ११ ॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥

जिन्होंने गौओंसे तथा कृषिकर्मके द्वारा जीविका चलानेकी वृत्ति अपना ली और उसीके कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्मको छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्यभावको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥ १३ ॥

जो शौच और सदाचारसे भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्यके प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधोंके समान सभी तरहके निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिये जिनके शरीरका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्रभावको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥

इन्हीं कर्मोंके कारण ब्राह्मणत्वसे अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्णके हो गये, किंतु उनके लिये नित्य-धर्मानुष्ठान और यज्ञकर्मका कभी निषेध नहीं किया गया है ॥ १४ ॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात् त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिये ब्रह्माजीने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की। परंतु लोभ-विशेषके कारण शूद्र अज्ञानभावको प्राप्त हुए—वेदाध्ययनके अनधिकारी हो गये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण वेदकी आज्ञाके अधीन रहकर सारा कार्य करते, वेदमन्त्रोंको स्मरण रखते और सदा व्रत एवं नियमोंका पालन करते हैं, उनकी तपस्या कभी नष्ट नहीं होती ॥ १६ ॥

ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥ १७ ॥

जो इस सारी सृष्टिको परब्रह्म परमात्माका रूप नहीं जानते हैं, वे द्विज कहलानेके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगोंको नाना प्रकारकी दूसरी-दूसरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है ॥

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥ १८ ॥

वे ज्ञान-विज्ञानसे हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, राक्षस, प्रेत तथा नाना प्रकारकी म्लेच्छ-जातिके होते हैं ॥१८॥

प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः ।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥ १९ ॥

पीछेसे ऋषियोंने अपनी तपस्याके बलसे कुछ ऐसी प्रजा उत्पन्न की, जो वैदिक संस्कारोंसे सम्पन्न तथा अपने धर्म-कर्ममें दृढ़तापूर्वक डटी रहनेवाली थी । इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंद्वारा अर्वाचीन ऋषियोंकी सृष्टि होने लगी ॥ १९ ॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥ २० ॥

किंतु जो सृष्टि आदिदेव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुई है, जिसके जड़-मूल केवल ब्रह्माजी ही हैं तथा जो अक्षय, अविकारी एवं धर्ममें तत्पर रहनेवाली है, वह सृष्टि मानसी कहलाती है ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथनेऽष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके प्रसङ्गमें वर्णोंके विभागका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका और सदाचारका वर्णन तथा वैराग्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम ।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! द्विजोत्तम ! अब मुझे यह बताइये कि मनुष्य कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ २ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—जो जाति, कर्म आदि संस्कारोंसे सम्पन्न, पवित्र तथा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न है, (यजन-याजन, अध्ययनाध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन) छः कर्मोंमें स्थित रहता है, शौच एवं सदाचारका पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता है, गुरुके प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रतका पालन करता तथा सत्यमें तत्पर रहता है, वही ब्राह्मण कहलाता है ॥ २-३ ॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ४ ॥

जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करनेका भाव, क्रूरताका अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है ॥ ४ ॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥

जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्मका सेवन करता है, वेदोंके अध्ययनमें लगा रहता है, ब्राह्मणोंको दान देता है और प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है ॥५॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेतीका काम करके अन्न संग्रह करनेकी रुचि रखता है और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है ॥ ६ ॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ ७ ॥

किंतु जो वेद और सदाचारका परित्याग करके सदा सब कुछ खानेमें अनुरक्त रहता है और सब तरहके काम करता है, साथ ही बाहर-भीतरसे अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है ॥ ७ ॥

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ८ ॥

उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण यदि शूद्रमें दिखायी दें और ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ८ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९ ॥

सभी उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना चाहिये। यही ज्ञानोंमें पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम है॥ ९ ॥

वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ।
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात् ॥१०॥
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।

क्रोध और लोभ मनुष्यके कल्याणमें बाधा डालनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; अतः पूरी शक्ति लगाकर इन दोनोंका निवारण करना चाहिये । धन-सम्पत्तिको क्रोधके आघातसे बचाना चाहिये, तपको मात्सर्यके आघातसे बचाना चाहिये, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादके आक्रमणसे बचाना चाहिये ॥ १०½ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ॥ ११ ॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ।

ब्रह्मन् ! जिसके सभी कार्य कामनाओंके बन्धनसे रहित होते हैं तथा जिसने त्यागकी आगमें सब कुछ होम दिया है, वही त्यागी और वही बुद्धिमान् है ॥ ११½ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ॥ १२ ॥
परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥ १३ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, सबके साथ मैत्रीपूर्ण बर्ताव करे । स्त्री-पुत्र आदिकी ममता एवं आसक्तिको त्यागकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करे और उस स्थितिको प्राप्त करे, जो इहलोक और परलोकमें भी निर्भय एवं शोक-रहित है ॥ १२-१३ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ १४ ॥

नित्य तप करे, मननशील होकर इन्द्रियोंका दमन और मनका संयम करे । आसक्तिके आश्रयभूत देह-गेह आदिमें आसक्त न होकर अजित (परमात्मा) को जीतने (प्राप्त करने) की इच्छा रक्खे ॥ १४ ॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत्तद् व्यक्तमिति स्थितिः।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त कहलाता है । जो इन्द्रियातीत होनेके कारण अनुमानसे ही जाना जाय, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ १५ ॥

अविस्रम्भे न गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः ।
मनः प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत् ॥ १६ ॥

जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस मार्गपर न चले और जो विश्वास करनेयोग्य है, उसमें मन लगावे । मनको प्राणमें और प्राणको ब्रह्ममें स्थापित करे ॥ १६ ॥

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत् ।
सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति ॥ १७ ॥

वैराग्यसे ही निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त होता है । उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्मपदार्थका चिन्तन नहीं करता है । ब्राह्मण संसारसे वैराग्य होनेपर सुखस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥ १८ ॥

सर्वदा शौच और सदाचारका पालन करे और समस्त प्राणियोंपर दयाभाव बनाये रक्खे; यह ब्राह्मणका प्रधान लक्षण है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें वर्णोंके स्वरूपका कथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यकी महिमा, असत्यके दोष तथा लोक और परलोकके सुख-दुःखका विवेचन

भृगुरुवाच

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है, सत्यके ही आधारपर संसार टिका हुआ है और सत्यके ही प्रभावसे मनुष्य स्वर्गमें जाता है ॥ १ ॥

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥ २ ॥

असत्य अन्धकारका रूप है । वह मनुष्यको नीचे गिराता है । अज्ञानान्धकारसे घिरे हुए मनुष्य तमोगुणसे ग्रस्त होकर ज्ञानके प्रकाशको नहीं देख पाते हैं ॥ २ ॥

स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ।
सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥ ३ ॥

स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है, ऐसा कहते हैं। सत्य और अनृतसे युक्त जो मानव-योनि है, वह ज्ञान और अज्ञान दोनोंके सम्मिश्रणसे जगत्‌के जीवोंको प्राप्त होती है ॥३॥

तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत् ।

धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥ ४ ॥

उसमें भी लोकमें ऐसी वृत्ति जाननी चाहिये, जो सत्य और अनृत हैं, वे ही धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार तथा दुःख और सुख हैं ॥ ४ ॥

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति । तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥ ५ ॥

वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है । इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः ।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥ ६ ॥

इस विषयमें ऐसा कहा जाता है—संसारकी सृष्टि शारीरिक और मानसिक क्लेशोंसे युक्त है । इसमें जो सुख हैं, वे भी अन्तमें दुःख ही उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसी दृष्टि रखनेवाले विद्वान् पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः ।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च ॥ ७ ॥

अतः विज्ञ एवं बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सदा दुःखसे छूटनेके लिये प्रयत्न करे । इहलोक और परलोकमें भी प्राणियोंको जो सुख मिलता है, वह अनित्य है ॥ ७ ॥

राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते ।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥ ८ ॥

जैसे राहुसे ग्रस्त होनेपर चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाशमें नहीं आती, उसी प्रकार तम (अज्ञान एवं दुःख) से पीड़ित हुए प्राणियोंका सुख नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च । इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते । न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थ आरम्भः ॥ ९ ॥

सुख दो प्रकारका बताया जाता है—शारीरिक और मानसिक । इहलोक और परलोकमें जो वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्तियाँ हैं, वे सुखके लिये ही बतायी जाती हैं । इस सुखसे बढ़कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का और कोई अत्यन्त विशिष्ट फल नहीं है । वह सुख ही प्राणीका वाञ्छनीय गुणविशेष है । धर्म और अर्थ जिसके अङ्ग हैं, उस सुखके लिये ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि सुखकी उत्पत्तिमें उद्यम ही हेतु हैं; अतः सुखके उद्देश्यसे ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति । ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति । अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत् । तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति । नैतद् भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति ॥ १० ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! आपने जो यह बताया है कि सुखोंका ही सबसे ऊँचा स्थान है—सुखसे बढ़कर त्रिवर्गका और कोई फल नहीं है, आपकी यह बात हमारे मनमें ठीक नहीं जँचती है; क्योंकि जो महान् तपमें स्थित ऋषिगण हैं, उनके लिये यह वाञ्छनीय गुणविशेष सुख यद्यपि प्राप्त हो सकता है, तो भी वे इसे नहीं चाहते हैं । सुना जाता है कि तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा अकेले ही रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और कामसुखमें कभी मन नहीं लगाते हैं । भगवती उमाके प्राणवल्लभ भगवान् विश्वनाथने भी अपने सामने आये हुए कामको जलाकर शान्त कर दिया और उसे अनङ्ग बना दिया; इसलिये हम कहते हैं कि महात्मा पुरुषोंने कभी इसे स्वीकार नहीं किया है । उनके लिये यह कामसुख अर्थात् सांसारिक भोगोंका सुख सबसे बढ़कर सुखविशेष नहीं है; परंतु आपकी बातोंसे मुझे ऐसी प्रतीति नहीं होती है । आपने तो यह कहा है कि इस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई फल नहीं है । लोकमें ऐसा कहा जाता है कि फलकी उत्पत्ति दो प्रकारकी होती है । पुण्यकर्मसे सुख प्राप्त होता है और पापकर्मसे दुःख ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

अत्रोच्यते—अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति । विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते । वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते । वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते । बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति ॥ ११ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! असत्यसे अज्ञानकी उत्पत्ति हुई है; अतः तमोग्रस्त मनुष्य अधर्मके ही पीछे चलते हैं; धर्मका अनुसरण नहीं करते हैं । जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदिसे आच्छादित हैं, वे न तो इस लोकमें सुखी होते हैं और न परलोकमें ही । वे नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे संतप्त होते रहते हैं । वध और बन्धन आदिके क्लेशोंसे तथा भूख, प्यास और थकावटके कारण होनेवाले

संतापोंसे भी पीड़ित होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें आँधी, पानी, अत्यन्त गर्मी और अधिक सर्दीसे उत्पन्न हुए भयङ्कर शारीरिक कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोक भी उन्हें सताते रहते हैं। बुढ़ापा और मृत्युके कारण भी बहुत-से दूसरे-दूसरे क्लेश भी उन्हें पीड़ा देते रहते हैं॥११॥

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद। न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति। तत्र खलु भवन्ति ॥ १२ ॥

जो इन शारीरिक और मानसिक दुःखोंके सम्बन्धसे रहित है, उसीको सुखका अनुभव होता है। स्वर्गलोकमें ये पूर्वोक्त दुःखरूप दोष नहीं उत्पन्न होते हैं। वहाँ निम्नाङ्कित बातें होती हैं ॥ १२ ॥

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्॥ १३ ॥

स्वर्गमें अत्यन्त सुखदायिनी हवा चलती है। मनोहर सुगन्ध छायी रहती है। भूख, प्यास, परिश्रम, बुढ़ापा और पापके फलका कष्ट वहाँ कभी नहीं भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम् ॥ १४ ॥

स्वर्गमें सदा सुख ही होता है। इस मर्त्यलोकमें सुख और दुःख दोनों होते हैं। नरकमें केवल दुःख-ही-दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥ १५ ॥

पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंकी जननी है। संसारकी स्त्रियाँ भी पृथ्वीके समान ही संतानकी जननी होती हैं। पुरुष ही वहाँ प्रजापतिके समान है। पुरुषका जो वीर्य है, उसे तेजःस्वरूप समझा जाता है ॥ १५ ॥

इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस स्त्री-पुरुषस्वरूप जगत्‌की सृष्टि की थी। यहाँ समस्त प्रजा अपने-अपने कर्मोंसे आवृत होकर सुख-दुःखका अनुभव करती है ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंके धर्मका वर्णन

भरद्वाज उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! आचरणमें लाये हुए दानरूप धर्मका, भलीभाँति की हुई तपस्याका तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्रका क्या फल बताया गया है? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! अग्निहोत्रसे पापका निवारण किया जाता है, स्वाध्यायसे उत्तम शान्ति मिलती है, दानसे भोगोंकी प्राप्ति बतायी गयी है और तपस्यासे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद् दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥ ३ ॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥ ४ ॥

दान दो प्रकारका बताया जाता है—एक परलोकके लिये है और दूसरा इहलोकके लिये। सत्पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोकमें अपना फल देनेके लिये उपस्थित होता है और असत्पुरुषोंको जो दान दिया जाता है, उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगनेमें आता है ॥ ३-४ ॥

भरद्वाज उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम्।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्मका लक्षण क्या है? या धर्मके कितने भेद हैं? यह सब आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ॥ ६ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! जो मनीषी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके आचरणमें सावधानीके साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्मका आचरण करता है, वह मोहके वशीभूत होता है* ॥ ६ ॥

* इस श्लोकमें पूर्वोक्त तीनों प्रश्नोंका एक साथ ही सामान्य उत्तर दे दिया गया है। जो जिस वर्ण अथवा आश्रमका है,

भरद्वाज उवाच

यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान् मे वक्तुमिहार्हसि॥ ७ ॥

भरद्वाज ऋषिने पूछा—भगवन्! ब्रह्मर्षियोंने पूर्वकालमें जो चार आश्रमोंका विभाग किया है, उनके अपने-अपने धर्म क्या हैं? उन्हें बतानेकी कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः। तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति।सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रयालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात्॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! जगत्का कल्याण करनेवाले भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें ही धर्मकी रक्षाके लिये चार आश्रमोंका निर्देश किया था। उनमेंसे ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासको ही पहला आश्रम कहते हैं। उसमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत-नियमोंका पालन करते हुए अपने मनको वशमें रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनों संध्याओंके समय संध्योपासना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवकी आराधना करनी चाहिये। तन्द्रा और आलस्यको त्यागकर प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे और वेदोंके अभ्यास तथा श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे। सबेरे, शाम और दोपहर तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे। प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये। भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे। गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दें, उसके विपरीत आचरण न करे। गुरुके कृपाप्रसादसे मिले हुए स्वाध्यायमें तत्पर होवे ॥ ८ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात्।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति।९।

इस विषयमें यह श्लोक है—

जो द्विज गुरुकी आराधना करके वेदाध्ययन करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और उसका मानसिक संकल्प सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति। तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः। समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिना गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा। हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

गार्हस्थ्यको दूसरा आश्रम कहते हैं। अब हम उसमें पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरणोंकी व्याख्या करेंगे। जो सदाचारका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुलसे स्नातक होकर लौटते हैं, उन्हें यदि सहधर्मिणीके साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका फल पानेकी इच्छा हो तो उनके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी विधि है। इस आश्रममें धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी प्राप्ति होती है; इसलिये त्रिवर्गसाधनकी इच्छा रखकर गृहस्थको उत्तम कर्मके द्वारा धन संग्रह करना चाहिये, अर्थात् वह स्वाध्यायसे प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यतासे, ब्रह्मर्षियोंद्वारा धर्मशास्त्रोंमें निश्चित किये हुए मार्गसे अथवा पर्वतसे उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणि-रत्न, दिव्यौषधि एवं स्वर्ण आदिसे धनका संचय करे। अथवा हव्य (यज्ञ), कव्य (श्राद्ध), नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओंकी प्रसन्नतासे प्राप्त धनके द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थीका निर्वाह करे; क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रमको सब आश्रमोंका मूल कहते हैं। गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, वनमें रहकर संकल्पके अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मोंका पालन करनेवाले अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्यागकर सर्वत्र विचरनेवाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रमसे ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्मके पालनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति, तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुखशक्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥ ११ ॥

वानप्रस्थोंके लिये धनका संग्रह करना निषिद्ध है। ये

उसका धर्माचरण भी वैसा ही है। धर्मका लक्षण है—स्वर्गप्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार। वर्ण और आश्रमके जितने भेद हैं, उतने ही उनके धर्मके भी हैं।

श्रेष्ठ लोग प्रायः शुद्ध एवं हितकर अन्नमात्रके इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थयात्रा एवं देश-दर्शनके निमित्त सारी पृथ्वीपर घूमते-फिरते हैं। ये घरपर पधारें तो उठकर, आगे बढ़कर इनका स्वागत करे। इनके चरणोंमें मस्तक झुकावे, दोषदृष्टि न रखकर उनसे उत्तम वचन बोले। यथाशक्ति सुखद आसन दे, सुखद शय्यापर उन्हें सुलावे और उत्तम भोजन करावे। इस प्रकार उनका पूर्ण सत्कार करे। यही उन श्रेष्ठ पुरुषके प्रति गृहस्थका कर्तव्य है ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ १२ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जिस गृहस्थके दरवाजेसे कोई अतिथि भिक्षा न पानेके कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थको अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १२ ॥

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते। निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥ १३ ॥

इसके सिवा गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञ करनेसे देवता, श्राद्ध-तर्पण करनेसे पितर, वेद-शास्त्रोंके श्रवण, अभ्यास और धारणसे ऋषि तथा संतानोत्पादनसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानोंको सुखद जान पड़े। दूसरोंको पीड़ा देना, मारना और कटु वचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं ॥ १४ ॥

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ १५ ॥

किसीका अनादर करना, अहंकार दिखाना और ढोंग करना—इन दुर्गुणोंकी भी विशेष निन्दा की गयी है। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना और मनमें क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमवालोंके लिये उपयोगी तप है॥

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः। स्वविहारसंतोषः कामसुखावाप्तिरिति ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस गृहस्थ-आश्रममें फूलोंकी माला, नाना प्रकारके आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग (तेल-उबटन), नित्य उपभोगकी वस्तु, नृत्य, गीत, वाद्य, श्रवणसुखद शब्द और नयनाभिराम रूपके दर्शनकी भी प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्यरूप नानाप्रकारके भोजनसम्बन्धी पदार्थ खाने-पीनेको भी मिलते हैं। अपने उद्यानमें घूमने-फिरनेका आनन्द प्राप्त होता है और कामसुखकी भी उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

जिस पुरुषको गृहस्थाश्रममें सदा धर्म, अर्थ और कामके गुणोंकी सिद्धि होती रहती है, वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके अन्तमें शिष्ट पुरुषोंकी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणमें तत्पर हो उञ्छवृत्तिसे (खेत या बाजारमें बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर) जीविका चलाता है तथा कामसुखका परित्याग कर देता है, उसके लिये स्वर्ग कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९१॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंका वर्णन तथा हिमालयके उत्तर पार्श्वमें स्थित उत्कृष्ट लोककी विलक्षणता एवं महत्ताका प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज-संवादका उपसंहार

भृगुरुवाच

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहा-

रसम्मार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमोपयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! तीसरे आश्रम वानप्रस्थका पालन करनेवाले मनुष्य धर्मका अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थोंमें, नदियोंके किनारे, झरनोंके आसपास तथा मृग, भैंसे, सूअर, सिंह एवं जंगली हाथियोंसे भरे हुए एकान्त वनोंमें तप करते हुए विचरते रहते हैं। गृहस्थोंके उपभोगमें आनेवाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय-भोगोंका परित्याग करके वे जंगलमें अपने-आप होनेवाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तोंका परिमित, विचित्र एवं नियत आहार करते हैं। भूमिपर ही बैठते हैं। जमीन, पत्थर, रेत, कँकरीली मिट्टी, बालू अथवा राखपर ही सोते हैं। काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षोंकी छालसे बने वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकते हैं। सिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किये रहते हैं। नियत समयपर स्नान करके निश्चित कालका उल्लङ्घन न करते हुए बलिवैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। सबेरे हवन-पूजनके लिये समिधा, कुशा और फूल आदिका संग्रह करके आश्रमको झाड़-बुहार लेनेके पश्चात् उन्हें कुछ विश्राम मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवाका वेग सहते-सहते उनके शरीरके चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकारके नियमोंका पालन और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीरकी जगह चामसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह जाता है; फिर भी धैर्य रखकर साहसपूर्वक शरीरका भार ढोते रहते हैं ॥ १ ॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् स दहेदग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च दुर्जयान् ॥ २ ॥

जो पुरुष नियमके साथ रहकर ब्रह्मर्षियोंद्वारा आचरणमें लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्मकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह अग्निकी भाँति अपने दोषोंको भस्म करके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

परिव्राजकानां पुनराचारः—तद्यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूल देवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥ ३ ॥

अब संन्यासियोंका आचरण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—इसमें प्रवेश करनेवाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घरकी सारी सामग्रीका परित्याग करके भोगों और सङ्गोंके प्रति अपनी आसक्तिके बन्धनोंको तोड़कर सदाके लिये घरसे बाहर निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रवृत्तियोंमें उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीन—सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उदभिज्ज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं, कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रिमें ठहरनेके लिये पर्वतकी गुफा, नदीका किनारा, वृक्षकी जड़, देवमन्दिर, नगर अथवा गाँवमें चले जाया करें। नगरमें पाँच रात्रि और गाँवमें एक रातसे अधिक न ठहरें। प्राणधारणके लिये अपने विशुद्ध धर्मोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजातियोंके ऐसे घरोंपर जाकर खड़े हो जायँ, जहाँ संकीर्णता न हो। बिना माँगे ही पात्रमें जितनी भिक्षा आ जाय, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसासे सर्वथा दूर रहें ॥ ३ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जो मुनि सब प्राणियोंको अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं
शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भि-
श्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥ ५॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रको अपने शरीरमें आरोपित करके शरीरस्थ अग्निके उद्देश्यसे अपने मुखमें प्राप्त भिक्षारूप हविष्यका होम करता है, वह अग्नि-चयन करनेवाले अग्निहोत्रियोंके लोकमें जाता है ॥ ५ ॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं
शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं
स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥ ६ ॥

जो बुद्धिको संकल्परहित करके पवित्र हो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मोक्ष-आश्रम (संन्यास) के नियमोंका

पालन करता है, वह मनुष्य बिना ईंधनकी आगके समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन् ! इस लोकसे कोई श्रेष्ठ लोक सुना जाता है; किंतु वह देखनेमें नहीं आता। मैं उसे जानना चाहता हूँ, आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! उत्तरदिशामें हिमालयके पार्श्वभागमें, जो सर्वगुणसम्पन्न एवं पुण्यमय प्रदेश है, वहाँके भू-भागपर श्रेष्ठ लोक बताया जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कमनीय लोक है ॥ ८ ॥

तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ९ ॥

वहाँ पापकर्मसे रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ और मोहसे शून्य तथा सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित मानव निवास करते हैं ॥ ९ ॥

स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥ १० ॥

वह देश स्वर्गके तुल्य है। वहाँ सभी शुभ गुणोंकी स्थिति बतायी गयी है। वहाँ समयपर ही मृत्यु होती है। रोग-व्याधि किसीका स्पर्श नहीं करते हैं ॥ १० ॥

न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
नान्योन्यं वध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति संदेहो नापि जायते ॥ ११ ॥

वहाँ किसीके मनमें परायी स्त्रियोंके प्रति लोभ नहीं होता। सब लोग अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं। वहाँके निवासी धनके लिये एक दूसरेका वध नहीं करते। किसीको बन्धनमें नहीं डालते। उन्हें कभी महान् विस्मय नहीं होता। अधर्मका तो वहाँ नाम भी नहीं है। वहाँ किसीके मनमें संदेह नहीं पैदा होता है ॥ ११ ॥

कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥ १२ ॥
सर्वकामैर्वृताः केचिद्धेमाभरणभूषिताः ।
प्राणधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ।
श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणधारणम् ॥ १३ ॥

वहाँ किये हुए कर्मका फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। उस लोकमें कुछ लोग बड़े-बड़े महलोंमें रहते, अच्छे आसनोंपर बैठते और उत्तमोत्तम वस्तुएँ खाते-पीते हैं। समस्त कामनाओंसे सम्पन्न और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित होते हैं तथा कुछ लोगोंको प्राणधारणमात्रके लिये भोजन प्राप्त होता है, कुछ लोग बड़े परिश्रमसे तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं (इस प्रकार वह लोक इस लोकसे सर्वथा उत्कृष्ट है) * ॥ १२-१३ ॥

इह धर्मपराः केचित् केचिन्नैकृतिका नराः ।
सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥ १४ ॥

इस मनुष्यलोकमें कुछ मनुष्य धर्मपरायण होते हैं तो कुछ बड़े भारी ठग निकलते हैं। इसीलिये कोई सुखी और कोई दुखी होते हैं। कुछ धनवान् और कुछ लोग निर्धन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥ १५ ॥

इहलोकमें श्रम, भय, मोह और तीव्र भूखका कष्ट होता है। मनुष्योंमें धनका लोभ विशेष होता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १५ ॥

इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।
यस्तद्वेदोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते ॥ १६ ॥

इस देशमें धर्म और अधर्म करनेवाले मनुष्योंके विषयमें नाना प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं। जो धर्म और अधर्म दोनोंके परिणामको जानता है, वह विद्वान् पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥ १७ ॥
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।
यस्त्वेतान् नाचरेद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥ १८ ॥

कपट, शठता, चोरी, निन्दा, दूसरोंके दोष देखना, दूसरोंको हानि पहुँचाना, प्राणियोंकी हिंसा करना, चुगली खाना और झूठ बोलना—जो इन दुर्गुणोंका सेवन करता है, उसकी तपस्या क्षीण होती है और जो विद्वान् इन दोषोंको कभी अपने आचरणमें नहीं लाता, उसकी तपस्या निरन्तर बढ़ती रहती है ॥ १७-१८ ॥

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।
कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम् ।
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा ॥ १९ ॥

इस लोकमें पुण्य और पापकर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके विचार होते रहते हैं। यह कर्मभूमि है। इस जगत्‌में शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मोंका शुभ फल पाता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल भोगता है ॥ १९ ॥

* आचार्य नीलकण्ठने 'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे' इत्यादिसे लेकर इस अध्यायके अन्ततकके श्लोकोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है। वे परलोक या उत्कृष्ट लोकका अर्थ परमात्मा मानते हैं और इसी दृष्टिसे उन्होंने श्रुति और युक्तिका आश्रय ले पूरे प्रकरणकी संगति लगायी है।

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा ।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पूर्वकालमें यहीं प्रजापति, देवता तथा ऋषियोंने यज्ञ और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया ॥

उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः ।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥ २१ ॥

पृथ्वीका उत्तरभाग सबसे अधिक पवित्र और मङ्गलमय है । इस लोकमें जो पुण्यात्मा मनुष्य हैं, वे ही मृत्युके पश्चात् उस भूभागमें जन्म लेते हैं ॥ २१ ॥

असत्कर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे ।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ २२ ॥

दूसरे लोग जो यहाँ पापकर्म करते हैं, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और दूसरे कितने ही आयुक्षय होनेपर नष्ट हो जाते हैं और पातालमें चले जाते हैं ॥ २२ ॥

अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः ।
इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥

जो लोभ और मोहसे युक्त हो एक दूसरेको खा जानेके लिये उद्यत रहते हैं, वे भी इसी लोकमें आवागमन करते रहते हैं, उत्तरदिशाके उत्कृष्ट लोकमें नहीं जाने पाते हैं ॥

ये गुरून् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः ।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनोंकी उपासना करते हैं, वे मनीषी पुरुष सभी लोकोंके मार्गको जानते हैं ॥ २४ ॥

इत्युक्तोऽयं मया धर्मः संक्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः ।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान् ॥२५॥

इस प्रकार मैंने यहाँ ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित इस धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया है । जो लोकमें करने और न करने योग्य धर्म और अधर्मको जानता है, वही बुद्धिमान् है ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान् ।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भृगुजीके इस प्रकार कहनेपर परम धर्मात्मा प्रतापी भरद्वाजने आश्चर्यचकित होकर उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

एष ते प्रसवो राजन् जगतः सम्प्रकीर्तितः ।
निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २७ ॥

परम बुद्धिमान् नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे जगत्की उत्पत्तिके सम्बन्धमें ये सारी बातें बतायी हैं । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिष्टाचारका फलसहित वर्णन, पापको छिपानेसे हानि और धर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं आपके मुखसे सदाचारकी विधि सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः ।
असंतस्त्विति विख्याताः संतश्चाचारलक्षणाः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले, दुर्बुद्धि और दुःसाहसको प्रिय माननेवाले हैं, वे दुष्टात्माके नामसे विख्यात होते हैं । श्रेष्ठ पुरुष तो वही हैं, जिनमें सदाचार देखा जाय—सदाचार ही उनका लक्षण है ॥ २ ॥

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः ।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सड़कपर, गौओंके बीचमें और अनाजमें मल या मूत्रका त्याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥

शौचमावश्यकं कृत्वा देवतानां च तर्पणम् ।
धर्ममाहुर्मनुष्याणामुपस्पृश्य नदीं तरेत् ॥ ४ ॥

प्रतिदिन आवश्यक शौचका सम्पादन करके आचमन करे; फिर नदीमें नहाये और अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासनाके अनन्तर देवता आदिका तर्पण करे । इसे विद्वान् पुरुष मानवमात्रका धर्म बताते हैं ॥ ४ ॥

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत् ।
सायं प्रातर्जपेत् संध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम् ॥ ५ ॥

नित्यप्रति सूर्योपस्थान करे । सूर्योदयके समय कभी न सोये । सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय संध्योपासना करके गायत्रीमन्त्रका जप करे ॥ ५ ॥

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थितः ।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥ ६ ॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह-इन पाँच अङ्गोंको धोकर[१]

१. तात्पर्य यह कि भोजनके लिये जाते समय तत्काल हाथ, पैर और मुँह धोने चाहिये । बहुत पहलेके धोये हों, तो भी उस समय धो लेना आवश्यक है ।

पूर्वाभिमुख हो भोजन करे। भोजनके समय मौन रहे। परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। वह स्वादिष्ट हो या न हो, प्रेमसे भोजन कर ले ॥ ६ ॥

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥ ७ ॥

भोजनके बाद हाथ धोकर उठे। रातको भीगे पैर न सोये। देवर्षि नारद इसीको सदाचारका लक्षण कहते हैं ॥७॥

शुचि देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम्॥ ८ ॥
अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥ ९ ॥

यज्ञशाला आदि पवित्र स्थान, बैल, देवालय, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मात्मा मनुष्य तथा चैत्य (देवसम्बन्धी वृक्ष)— इनको सदा दाहिने करके चले। गृहस्थ पुरुषको घरमें अतिथियों, सेवकों और स्वजनोंके लिये भी एक-सा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है ॥ ८-९॥

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥ १० ॥

शास्त्रमें मनुष्योंके लिये सायंकाल और प्रातःकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान है। बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी गयी है। जो इस नियमका पालन करता है, उसे उपवास करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

होमकाले तथा जुह्वन्नृतुकाले तथा व्रजन्।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ॥ ११ ॥

जो होमके समय प्रतिदिन हवन करता, ऋतुकालमें स्त्रीके पास जाता और परायी स्त्रीपर कभी दृष्टि नहीं डालता, वह बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचारीके समान माना जाता है ॥११॥

अमृतं ब्राह्मणोच्छिष्टं जनन्या हृदयं कृतम्।
तज्जनाः पर्युपासन्ते सत्यं सन्तः समासते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको भोजन करानेके बाद बचा हुआ अन्न अमृत है। वह माताके स्तन्यकी भाँति हितकर है। उसका जो लोग सेवन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः।
नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य मिट्टीके ढेल फाड़ता, तिनके ताड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटीमें बँधे हुए तोतेके समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस जगत्में बड़ी आयु नहीं मिलती ॥ १३ ॥

यजुषा संस्कृतं मांसं निवृत्तो मांसभक्षणात्।
न भक्षयेद् वृथामांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥

जो मांस-भक्षण न करता हो, वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कार किया हुआ मांस भी न खाय। व्यर्थ मांस और श्राद्ध-शेष मांस भी वह त्याग दे ॥ १४ ॥

स्वदेशे परदेशे वा अतिथिं नोपवासयेत्।
काम्यकर्मफलं लब्ध्वा गुरूणामुपपादयेत् ॥ १५ ॥

मनुष्य स्वदेशमें हो या परदेशमें—अपने पास आये हुए अतिथिको भूखा न रहने दे। सकाम कर्तव्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त पदार्थ अपने गुरुजनोंको निवेदित कर दे ॥ १५ ॥

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम्।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १६ ॥

गुरुजन पधारें तो उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, प्रणाम करे, गुरुओंकी पूजा करनेसे मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं न च नग्नां परस्त्रियम्।
मैथुनं सततं धर्म्यं गुह्ये चैव समाचरेत् ॥ १७ ॥

उगते हुए सूर्यकी ओर न देखे, नंगी हुई परायी स्त्रीकी ओर दृष्टि न डाले और सदा धर्मानुसार ऋतुकालके समय अपनी ही पत्नीके साथ एकान्त स्थानमें समागम करे ॥१७॥

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥ १८ ॥

तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है, पवित्र वस्तुओंमें अतिपवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है। शिष्ट पुरुष जिसे आचरणमें लाते हैं, वह आचरण सर्वश्रेष्ठ है। चँवर आदिमें लगे हुए गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श भी शिष्टाचारानुमोदित होनेके कारण शुद्ध है ॥ १८ ॥

दर्शने दर्शने नित्यं सुखप्रश्नमुदाहरेत्।
सायं प्रातश्च विप्राणां प्रदिष्टमभिवादनम् ॥ १९ ॥

परिचित मनुष्यसे जब-जब भेंट हो, सदा उसका कुशल-समाचार पूछे। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करे, यह शास्त्रकी आज्ञा है ॥ १९ ॥

देवागारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां क्रियापथे।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ २० ॥

देवमन्दिरमें, गौओंके बीचमें, ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें, शास्त्रोंके स्वाध्यायकालमें और भोजन करते समय दाहिने हाथसे काम ले ॥ २० ॥

सायं प्रातश्च विप्राणां पूजनं च यथाविधि।
पण्यानां शोभते पण्यं कृषीणां बाद्यते कृषिः ॥ २१ ॥
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाहो गवां तथा।

सबेरे और शाम दोनों समय विधिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन (सेवा-सत्कार) करना चाहिये। यही व्यापारोंमें उत्तम व्यापारकी भाँति शोभा पाता है और यही खेतीमें सबसे अच्छी खेतीके समान प्रत्यक्ष फलदायक है। ब्राह्मण-पूजक पुरुषके विविध अन्नोंकी वृद्धि होती है और उसे वाहनोंमें गोजातिके श्रेष्ठ वाहन सुलभ होते हैं ॥ २१½ ॥

सम्पन्नं भोजने नित्यं पानीये तर्पणं तथा ॥ २२ ॥
सुशृतं पायसे ब्रूयाद् यवाग्वां कृसरे तथा ।

भोजन करानेके पश्चात् दाता पूछे कि क्या भोजन सम्पन्न हो गया ? ब्राह्मण उत्तर दे कि सम्पन्न हो गया । इसी प्रकार जल पिलानेके बाद दाता पूछे तृप्ति हुई क्या ? ब्राह्मण उत्तर दे कि अच्छी तरह तृप्ति हो गयी । खीर खिलानेके बाद जब यजमान पूछे कि अच्छा बना था न ? तब ब्राह्मण उत्तर दे बहुत अच्छा बना था। इसी प्रकार जौका हलुआ और खिचड़ी खिलानेके बाद भी प्रश्न और उत्तर होना चाहिये ॥ २२½ ॥

श्मश्रुकर्मणि सम्प्राप्ते क्षुते स्नानेऽथ भोजने ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुष्यमभिनन्दनम् ॥ २३ ॥

हजामत बनाने, छींकने, स्नान और भोजन करनेके बाद हरेक मनुष्यको तथा सभी अवस्थाओंमें सम्पूर्ण रोगियोंका कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणोंको प्रणाम आदिसे प्रसन्न करें । इससे उनकी आयु बढ़ती है ॥ २३ ॥

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सह भोज्यं च वर्जयेत् ॥ २४ ॥

सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे । अपनी विष्ठापर दृष्टि न डाले । स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोना और एक थालीमें भोजन करना छोड़ दे ॥ २४ ॥

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥ २५ ॥

अपनेसे बड़ोंका नाम लेकर या तू कहकर न पुकारे, जो अपनेसे छोटे या समवयस्क हों, उनके लिये वैसा करना दोषकी बात नहीं है ॥ २५ ॥

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २६ ॥

पापियोंका हृदय तथा उनके नेत्र और मुख आदिका विकार ही उनके पापोंको बता देता है । जो लोग जान-बूझ-कर किये हुए पापको महापुरुषोंसे छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ॥

ज्ञानपूर्वकृतं पापं छादयत्यबहुश्रुतः ।
नैनं मनुष्याः पश्यन्ति पश्यन्त्येव दिवौकसः ॥ २७ ॥

मूर्ख मनुष्य ही जान-बूझकर किये हुए पापको छिपाता है । यद्यपि उस पापको मनुष्य नहीं देखते हैं, तो भी देवता-लोग तो देखते ही हैं ॥ २७ ॥

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥ २८ ॥

पापी मनुष्यका पापके द्वारा छिपाया हुआ पाप पुनः उसे पापमें ही लगाता है और धर्मात्माका धर्मतः गुप्त रक्खा हुआ धर्म उसे पुनः धर्ममें ही प्रवृत्त करता है ॥ २८ ॥

पापं कृतं न स्मरतीह मूढो
विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि
तथाबुधं पापमुपैति कर्म ॥ २९ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापको याद नहीं रखता; परंतु पापमें प्रवृत्त हुए कर्ताका पाप स्वयं ही उसके पीछे लगा रहता है, जैसे राहु चन्द्रमाके पास स्वतः पहुँच जाता है, उसी प्रकार उस मूढ़ मनुष्यके पास उसका पाप स्वयं चला जाता है ॥ २९ ॥

आशया संचितं द्रव्यं दुःखेनैवोपभुज्यते ।
तद् बुधा न प्रशंसन्ति मरणं न प्रतीक्षते ॥ ३० ॥

किसी विशेष कामनाकी पूर्तिकी आशासे जो धन संचित करके रखा गया है, उसका उपभोग दुःखपूर्वक ही किया जाता है; अतः विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि मृत्यु किसीकी कामना-पूर्तिके अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करती है ॥ ३० ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ ३१ ॥

मनीषी पुरुषोंका कथन है कि समस्त प्राणियोंके लिये मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है; अतः मनसे सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण सोचता रहे ॥ ३१ ॥

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ॥ ३२ ॥

केवल वेदविधिका सहारा लेकर अकेले ही धर्मका आचरण करना चाहिये । उसमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है । कोई दूसरा सहायक आकर क्या करेगा ? ॥ ३२ ॥

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥ ३३ ॥

धर्म ही मनुष्योंकी योनि है । वही स्वर्गमें देवताओंका अमृत है । धर्मात्मा मनुष्य मरनेके पश्चात् धर्मके ही बलसे सदा सुख भोगते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे आचारविधौ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें आचारविधिविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह चिन्त्यते ।
यदध्यात्मं यथा चैतत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अध्यात्मके नामसे जिसका विचार किया जाता है, वह अध्यात्मज्ञान क्या है और कैसा है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये कथमभ्येति तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इस चराचर जगत्‌की सृष्टि किससे हुई है और प्रलयकालमें इसका लय किस प्रकार होता है; इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अध्यात्ममिति मां पार्थ यदेतदनुपृच्छसि ।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात श्रेयस्करतमं सुखम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! तुम जिस अध्यात्मज्ञानके विषयमें पूछ रहे हो, उसकी व्याख्या मैं तुम्हारे लिये करता हूँ; वह परम कल्याणकारी और सुखस्वरूप है ॥ ३ ॥

सृष्टिप्रलयसंयुक्तमाचार्यैः परिदर्शितम् ।
यज्ज्ञात्वा पुरुषो लोके प्रीतिं सौख्यं च विन्दति ।
फललाभश्च तस्य स्यात् सर्वभूतहितं च तत् ॥ ४ ॥

आचार्योंने सृष्टि और प्रलयकी व्याख्याके साथ अध्यात्मज्ञानका विवेचन किया है, जिसे जानकर मनुष्य इस संसारमें सुख और प्रसन्नताका भागी होता है । उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति भी होती है । वह अध्यात्मज्ञान समस्त प्राणियोंके लिये हितकर है ॥ ४ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ५ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥५॥

यतः सृष्टानि तत्रैव तानि यान्ति पुनः पुनः ।
महाभूतानि भूतेभ्यः सागरस्योर्मयो यथा ॥ ६ ॥

जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ये पाँच महाभूत भी जिस परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें सब प्राणियोंके सहित बारंबार लीन होते हैं ॥ ६ ॥

प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वद् भूतानि भूतात्मा सृष्टानि हरते पुनः ॥ ७ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर पुनः समेट लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परब्रह्म परमेश्वर अपने रचे हुए सम्पूर्ण भूतोंको फैलाकर फिर अपने भीतर ही समेट लेते हैं ॥ ७ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्माने सब प्राणियोंके शरीरोंमें पाँच ही महाभूतोंको स्थापित किया है; परंतु उनमें विषमता कर दी है—किसी महाभूतके अंशको अधिक और किसीके अंशको कम करके रक्खा है । उस वैषम्यको साधारण जीव नहीं देख पाता ॥ ८ ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
वायोः स्पर्शस्तथा चेष्टा त्वक् चैव त्रितयं स्मृतम् ॥ ९ ॥

शब्दगुण, श्रोत्र इन्द्रिय और शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । स्पर्श, चेष्टा और त्वगिन्द्रिय—ये तीन वायुके कार्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते ।
रसः क्लेदश्च जिह्वा च त्रयो जलगुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—ये तीन तेजके कार्य बताये जाते हैं । रस, जिह्वा तथा क्लेद (गीलापन)—ये तीन जलके गुण अर्थात् कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणास्त्रयः ।
महाभूतानि पञ्चैव षष्ठं च मन उच्यते ॥ ११ ॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये तीन भूमिके गुण अर्थात् कार्य हैं । इस प्रकार इस शरीरमें पाँच महाभूत और छठा मन है; ऐसा बताया जाता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।
सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ और मन—ये जीवात्माको विषयोंका ज्ञान करानेवाले हैं । शरीरमें इन छःके अतिरिक्त सातवीं बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ है ॥ १२ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण कराती हैं । मन संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि निश्चय करानेवाली है और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षीकी भाँति स्थित रहता है ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं पादतलाभ्यां यदर्वाक्चोर्ध्वं च पश्यति ।
एतेन सर्वमेवेदं विद्ध्यभिव्याप्तमन्तरम् ॥ १४ ॥

दोनों पैरोंके तलोंसे लेकर ऊपरतक जो शरीर स्थित है, उसे जो साक्षीभूत चेतन ऊपर-नीचे सब ओरसे देखता है, वह इस सारे शरीरके भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १४ ॥

पुरुषैरिन्द्रियाणीह वेदितव्यानि कृत्स्नशः ।
तमो रजश्च सत्त्वं च तेऽपि भावास्तदाश्रिताः॥ १५ ॥

सभी मनुष्योंको अपनी इन्द्रियों (और मन-बुद्धि) की देख-भाल करके उनके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उन्हींका आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १५ ॥

एतां बुद्ध्वा नरो बुद्ध्या भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य शनैश्चैव लभते शममुत्तमम् ॥ १६ ॥

मनुष्य अपनी बुद्धिके बलसे इन सबको और जीवोंके आवागमनकी अवस्थाको जानकर शनैः-शनैः उसपर विचार करनेसे उत्तम शान्ति पा जाता है ॥ १६ ॥

गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि तदभावे कुतो गुणाः ॥ १७ ॥

तम आदि गुण बुद्धिको बारंबार विषयोंकी ओर ले जाते हैं; तथा बुद्धिके साथ-साथ मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको और उनकी समस्त वृत्तियोंको भी ले जाते हैं। उस बुद्धिके अभावमें गुण कैसे रह सकते हैं ? ॥ १७ ॥

इति तन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलीयते चोद्भवति तस्मान्निर्दिश्यते तथा ॥ १८ ॥

यह चराचर जगत् बुद्धिके उदय होनेपर ही उत्पन्न होता है और उसके लयके साथ ही लीन हो जाता है; इसलिये यह सारा प्रपञ्च बुद्धिमय ही है; अतएव श्रुतिने सबकी बुद्धिरूपताका ही निर्देश किया है ॥ १८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रति घ्राणमित्याहू रसं जानाति जिह्वया ॥ १९ ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उसे नेत्र और जिसके द्वारा सुनती है, उसे श्रोत्र कहते हैं। इसी प्रकार जिससे वह सूँघती है, उसे घ्राण कहा गया है, वही जिह्वाके द्वारा रसका अनुभव करती है ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शयते स्पर्शं बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत् ।
येन प्रार्थयते किञ्चित् तदा भवति तन्मनः ॥ २० ॥

बुद्धि त्वचासे स्पर्शका बोध प्राप्त करती है। इस प्रकार वह बारंबार विकारको प्राप्त होती रहती है। वह जिस करणके द्वारा जिसका अनुभव करना चाहती है, मन उसीका रूप धारण कर लेता है ॥ २० ॥

अधिष्ठानानि बुद्धेर्हि पृथगर्थानि पञ्चधा ।
इन्द्रियाणीति यान्याहुस्तान्यदृश्योऽधितिष्ठति ॥ २१ ॥

भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये जो बुद्धिके पाँच अधिष्ठान हैं, उन्हींको पाँच इन्द्रियाँ कहते हैं। अदृश्य जीवात्मा उन सबका अधिष्ठाता (प्रेरक) है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदनुशोचति ॥ २२ ॥
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते ।

जीवात्माके आश्रित रहकर बुद्धि (सुख, दुःख और मोह) तीन भावोंमें स्थित होती है। वह कभी तो प्रसन्नताका अनुभव करती है, कभी शोकमें डूबी रहती है और कभी सुख और दुःख दोनोंके अनुभवसे रहित मोहाच्छन्न हो जाती है ॥ २२½ ॥

एवं नराणां मनसि त्रिषु भावेष्ववस्थिता ॥ २३ ॥
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ २४ ॥

इस प्रकार वह मनुष्योंके मनके भीतर तीन भावोंमें अवस्थित है, यह भावात्मिका बुद्धि (समाधि-अवस्थामें) सुख, दुःख और मोह—इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है। ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे संयुक्त हो अपनी विशाल तटभूमिको भी कभी-कभी लाँघ जाता है ॥ २३-२४ ॥

अतिभावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ।
प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावमनुवर्तते ॥ २५ ॥

उपर्युक्त भावोंको लाँघ जानेपर भी बुद्धि भावात्मक मनमें सूक्ष्मरूपसे स्थित रहती है । तत्पश्चात् समाधिसे उत्थानके समय प्रवृत्यात्मक रजोगुण बुद्धिभावका अनुसरण करता है ॥

इन्द्रियाणि हि सर्वाणि प्रवर्तयति सा तदा ।
ततः सत्त्वं तमोभावः प्रीतियोगात् प्रवर्तते ॥ २६ ॥

उस समय रजोगुणसे युक्त हुई बुद्धि सारी इन्द्रियोंको प्रवृत्तिमें लगा देती है। तदनन्तर विषयोंके सम्बन्धसे प्रीतिरूप सत्त्वगुण प्रकट होता है। उसके बाद पुरुषके आसक्ति आदि दोषोंसे तमोमय भावका उदय होता है ॥ २६ ॥

प्रीतिः सत्त्वं रजः शोकस्तमो मोहस्तु ते त्रयः ।
ये ये च भावा लोकेऽस्मिन् सर्वेष्वेतेषु वै त्रिषु ।२७।

प्रसन्नता या हर्ष सत्त्वगुणका कार्य है, शोक रजोगुणरूप है और मोह तमोगुणरूप । इस संसारमें जो-जो भाव हैं, वे सब इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत हैं ॥ २७ ॥

इति बुद्धिगतिः सर्वा व्याख्याता तव भारत ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि विजेतव्यानि धीमता ॥ २८ ॥

भारत ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष बुद्धिकी सम्पूर्ण गतिका विशद विवेचन किया है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे ॥ २८ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्राणिनां संश्रिताः सदा ।
त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते ॥ २९ ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत ।

भारत ! सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सदा ही प्राणियोंमें स्थित रहते हैं और इनके कारण उन सब जीवोंमें सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यह तीन प्रकारकी अनुभूति देखी जाती है ॥ २९½ ॥

सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः ।

तमोगुणेन संयुक्तौ भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ ३० ॥

सत्त्वगुण सुखकी अनुभूति करानेवाला है, रजोगुण दुःखकी प्राप्ति कराता है और जब वे दोनों तमोगुण (मोह) से संयुक्त होते हैं, तब व्यवहारके विषय नहीं रह जाते ॥ ३० ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्याचक्षीत तत् तथा ॥ ३१ ॥

जब शरीर या मनमें किसी प्रकारसे भी प्रसन्नताका भाव हो, तब यह कहना चाहिये कि सात्त्विकभावका उदय हुआ है ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येव तन्न संरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

जब अपने मनमें दुःखसे युक्त अप्रसन्नताका भाव जाग्रत् हो, तब यह समझना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है । अतः उस दुःखको पाकर मनमें चिन्ता न करे (क्योंकि चिन्तासे दुःख और बढ़ता है) ॥ ३२ ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३३ ॥

जब मनमें कोई मोहयुक्तभाव पैदा हो और किसी भी इन्द्रियका विषय स्पष्ट जान न पड़े, उसके विषयमें कोई तर्क भी काम न करे और वह किसी तरह समझमें न आवे, तब यही निश्चय करना चाहिये कि तमोगुणकी वृद्धि हुई है ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
कथंचिदभिवर्तन्त इत्येते सात्त्विका गुणाः ॥ ३४ ॥

जब मनमें किसी प्रकार भी अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, सुख और शान्तिका अनुभव हो रहा हो, तब इन गुणोंको सात्त्विक समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ३५ ॥

जिस समय किसी कारणसे या बिना कारण ही असंतोष, शोक, संताप, लोभ और असहनशीलताके भाव दिखायी दें तो उन्हें रजोगुणका चिह्न जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

अवमानस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार जब अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष किसी तरह भी घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप समझे ॥ ३६ ॥

दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ।
मनः सुनियतं यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥ ३७ ॥

जिसका दूरतक दौड़ लगानेवाला और अनेक विषयोंकी ओर जानेवाला कामनायुक्त संशयात्मक मन अच्छी तरह वशमें हो जाता है, वह मनुष्य इहलोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी सुखी होता है ॥ ३७ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः ।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३८ ॥

बुद्धि और आत्मा—ये दोनों ही सूक्ष्म तत्त्व हैं तथापि इनमें बड़ा भारी अन्तर है । तुम इस अन्तरपर दृष्टिपात करो । इनमें बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा गुणोंकी सृष्टिसे अलग रहता है ॥ ३८ ॥

मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सदा ।
अन्योन्यमेतौ स्यातां च सम्प्रयोगस्तथा तयोः ॥ ३९ ॥

जैसे गूलरका फल और उसके भीतर रहनेवाले कीड़े एक साथ रहते हुए भी एक दूसरेसे अलग हैं, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा दोनोंका एक साथ रहना और भिन्न-भिन्न होना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ।
यथा मत्स्यो जलं चैव सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ॥ ४० ॥

ये दोनों स्वभावसे ही अलग-अलग हैं तो भी सदा एक दूसरेसे मिले रहते हैं । ठीक वैसे ही, जैसे मछली और जल एक दूसरेसे पृथक् होकर भी परस्पर संयुक्त रहते हैं । यही स्थिति बुद्धि और आत्माकी भी है ॥ ४० ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेत्ति सर्वशः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संसृष्टान्मन्यते तथा ॥ ४१ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते; किंतु आत्मा चेतन है, इसलिये वह गुणोंको सब प्रकारसे जानता है । यद्यपि आत्मा गुणोंका साक्षी है, अतः उनसे सर्वथा भिन्न है तो भी वह अपनेको उन गुणोंसे संयुक्त मानता है ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः ।
निर्विचेष्टैरजानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत् ॥ ४२ ॥

जैसे घड़ेमें रक्खा हुआ दीपक घड़ेके छेदोंसे अपना प्रकाश फैलाकर वस्तुओंका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार परमात्मा शरीरके भीतर स्थित होकर चेष्टा और ज्ञानसे शून्य इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि इन सातोंके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुभव कराता है ॥ ४२ ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ४३ ॥

बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा साक्षी बनकर देखता रहता है । उन बुद्धि और आत्माका यह संयोग अनादि है ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य क्षेत्रज्ञस्य च कश्चन ।
सत्त्वं मनः संसृजते न गुणान् वै कदाचन ॥ ४४ ॥

बुद्धिका परमात्माके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं है और क्षेत्रज्ञका भी कोई दूसरा आश्रय नहीं है बुद्धि । मनसे ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है । गुणोंके साथ उसका साक्षात् सम्पर्क कदापि नहीं होता ॥ ४४ ॥

रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ॥ ४५ ॥

जब जीव बुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी बागडोरद्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी लगाम अच्छी तरह काबूमें रखता है,

तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्वलित दीपकके समान अपने भीतर ही उसका आत्मा प्रकाशित होने लगता है ॥ ४५ ॥

त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूस्तस्मात् स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥ ४६ ॥

जो सांसारिक कर्मोंका परित्याग करके सदा अपने-आपमें ही अनुरक्त रहता है, वह मननशील मुनि सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होकर परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥ ४७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष निर्लिप्त रहकर ही सम्पूर्ण भूतोंमें विचरता है ॥ ४७ ॥

एवं स्वभावमेवैतत् स्वबुद्ध्या विहरेन्नरः ।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च समो विगतमत्सरः ॥ ४८ ॥

यह आत्मतत्त्व ऐसा ही निर्लिप्त एवं शुद्ध-बुद्धिस्वरूप है; ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष हर्ष, शोक और मात्सर्य-दोषसे रहित हो सर्वत्र समानभाव रखते हुए विचरे ॥ ४८ ॥

स्वभावयुक्त्या युक्तस्तु स नित्यं सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४९ ॥

आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर ही सदा गुणोंकी सृष्टि करता है । ठीक उसी तरह, जैसे मकड़ी अपने स्वरूपमें स्थित रहती हुई ही जाला बनाती है । मकड़ीके जालेके ही समान समस्त गुणोंकी सत्ता समझनी चाहिये ॥ ४९ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते निवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिध्यति ॥ ५० ॥
एवमेकेऽध्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ।
उभयं सम्प्रधार्यैतद् व्यवस्येत यथामति ॥ ५१ ॥

आत्मसाक्षात् हो जानेपर गुण नष्ट हो जाते हैं तो भी सर्वथा निवृत्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी निवृत्ति प्रत्यक्ष नहीं देखी जाती है । जो परोक्ष वस्तु है, उसकी सिद्धि अनुमानसे होती है । एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है । दूसरे लोग यह मानते हैं कि गुणोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है । इन दोनों मतोंपर भलीभाँति विचार करके अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ वस्तुका निश्चय करना चाहिये ॥

इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम् ।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः ॥ ५२ ॥

बुद्धिके द्वारा कल्पित हुआ जो भेद है, वही हृदयकी सुदृढ़ गाँठ है । उसे खोलकर संशयरहित हो ज्ञानवान् पुरुष सुखसे रहे, कदापि शोक न करे ॥ ५२ ॥

मलिनाः प्राप्नुयुः शुद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाह्य सुविद्वांसो विद्धि ज्ञानमिदं तथा ॥५३॥

जैसे मैले शरीरवाले मनुष्य जलसे भरी हुई नदीमें नहा-धोकर साफ-सुथरे हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानमयी नदीमें अवगाहन करके मलिन-चित्त मनुष्य भी शुद्ध एवं ज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं; ऐसा जानो ॥ ५३ ॥

महानद्या हि पारज्ञस्तप्यते न तदन्यथा ।
न तु तप्यति तत्त्वज्ञः फले ज्ञाते तरत्युत ॥ ५४ ॥

किसी महानदीके पारको जाननेवाला पुरुष केवल जानने-मात्रसे कृतकृत्य नहीं होता । जबतक वह नौका आदिके द्वारा वहाँ पहुँच न जाय, तबतक वह चिन्तासे संतप्त ही रहता है; परंतु तत्त्वज्ञ पुरुष ज्ञानमात्रसे ही संसार-सागरसे पार हो जाता है, उसे संताप नहीं होता; क्योंकि यह ज्ञान स्वयं ही पुलस्वरूप है ॥ ५४ ॥

एवं ये विदुराध्यात्मं केवलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम् ।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनं ततः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य बुद्धिसे जीवोंके इस आवागमनपर शनैः-शनैः विचार करके उस विशुद्ध एवं उत्तम आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, वह परम शान्ति पाता है ॥ ५५-५६ ॥

त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति ।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ ५७ ॥

जिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका ठीक-ठीक ज्ञान है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मनके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुसंधान करके योगयुक्त हो, आत्मासे भिन्न वस्तुके लिये उत्सुकताका त्याग-कर दिया है, वही तत्त्वदर्शी है ॥ ५७ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः ॥ ५८ ॥

जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वे भिन्न-भिन्न विषयोंकी ओर प्रेरित हुई दुर्निवार्य इन्द्रियोंद्वारा आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते ॥ ५८ ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ५९ ॥

यह जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है । ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण है? क्योंकि मनीषी पुरुष उस परमात्म-तत्त्वको जानकर ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५९ ॥

न भवति विदुषां ततो भयं
यदविदुषां सुमहद् भयं भवेत् ।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ॥ ६० ॥

अज्ञानियोंके लिये जो महान् भयका स्थान है, उसी संसारसे ज्ञानी पुरुषोंको भय नहीं होता । ज्ञान होनेपर सबको एक-सी ही गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । किसीको उत्कृष्ट या निकृष्ट गति नहीं मिलती; क्योंकि गुणोंका सम्बन्ध रहनेपर ही उनके तारतम्यके अनुसार प्राप्त होनेवाली गतिमें

भी असमानता बतायी जाती है (ज्ञानीका गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता) ॥ ६० ॥

यः करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति यत्पुराकृतम् ।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं
तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६१ ॥

जो निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किये हुए समस्त कर्म-संस्कारोंका नाश कर देता है। पूर्वजन्म और इस जन्मके किये हुए वे दोनों प्रकारके कर्म उस पुरुषके लिये न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न तो प्रिय फलके ही जनक होते हैं (क्योंकि कर्तापनके अभिमान और फलकी आसक्तिसे शून्य होनेके कारण उनका उन कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रह जाता) ॥ ६१ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६२ ॥

जो काम, क्रोध आदि दुर्व्यसनोंसे आतुर रहता है, उसे विचारवान् पुरुष धिक्कारते हैं। उसके निन्दनीय कर्म उस आतुर मानवको सभी योनियों (पशु-पक्षी आदिके शरीरों) में जन्म दिलाता है ॥ ६२ ॥

लोक आतुरजनान् विराविण-
स्तत्तदेव बहु पश्य शोचतः ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं पदं सताम् ॥ ६३ ॥

लोकमें भोगासक्तिके कारण आतुर रहनेवाले लोग स्त्री, पुत्र आदिके नाश होनेपर उनके लिये बहुत शोक करते और फूट-फूटकर रोते हैं। तुम उनकी इस दुर्दशाको देख लो। साथ ही, जो सारासार-विवेकमें कुशल हैं और सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले दो प्रकारके पदको अर्थात् सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाके फलको जानते हैं, वे कभी शोक नहीं करते हैं। उनकी अवस्थापर भी दृष्टिपात कर लो (फिर तुम्हें अपने लिये जो हितकर दिखायी दे, उसी पथका आश्रय लो) ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अध्यात्मकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ध्यानयोगका वर्णन

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते पार्थ ध्यानयोगं चतुर्विधम् ।
यं ज्ञात्वा शाश्वतीं सिद्धिं गच्छन्तीह महर्षयः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुमसे ध्यानयोगका वर्णन करूँगा, जो आलम्बनके भेदसे चार प्रकारका होता है। जिसे जानकर महर्षिगण यहीं सनातन सिद्धिको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः ।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः ॥ २ ॥

निर्वाणस्वरूप मोक्षमें मन लगानेवाले ज्ञानतृप्त योगयुक्त महर्षिगण उसी उपायका अवलम्बन करते हैं, जिससे ध्यानका भलीभाँति अनुष्ठान हो सके ॥ २ ॥

नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ताः संसारदोषतः ।
जन्मदोषपरिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! वे संसारके काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त तथा जन्मसम्बन्धी दोषसे शून्य होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, इसलिये पुनः इस संसारमें उन्हें नहीं लौटना पड़ता ॥ ३ ॥

निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नियमस्थिताः।
असङ्गान्यविवादीनि मनःशान्तिकराणि च ॥ ४ ॥
तत्र ध्यानेन संश्लिष्टमेकाग्रं धारयेन्मनः ।
पिण्डीकृत्येन्द्रियग्राममासीनः काष्ठवन्मुनिः ॥ ५ ॥

ध्यानयोगके साधकोंको चाहिये कि सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित और शौच-संतोषादि नियमोंमें तत्पर रहें। जो स्थान असङ्ग (सब प्रकारके भोगोंके सङ्गसे शून्य), ध्यानविरोधी वस्तुओंसे रहित तथा मनको शान्ति देनेवाले हों, वहीं इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर काठकी भाँति स्थिरभावसे बैठ जाय और मनको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें लगा दे ॥४-५॥

शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण स्पर्शं त्वचा न वेदयेत् ।
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया न रसांस्तथा ॥ ६ ॥
घ्रेयाण्यपि च सर्वाणि जह्याद् ध्यानेन योगवित् ।
पञ्चवर्गप्रमाथीनि नेच्छेच्चैतानि वीर्यवान् ॥ ७ ॥

योगको जाननेवाले समर्थ पुरुषको चाहिये कि कानोंके द्वारा शब्द न सुने, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, आँखसे रूपको न देखे और जिह्वासे रसोंको ग्रहण न करे एवं ध्यानके द्वारा समस्त सूँघने योग्य वस्तुओंको भी त्याग दे तथा पाँचों इन्द्रियोंको मथ डालनेवाले इन विषयोंकी कभी मनसे भी इच्छा न करे ॥ ६-७ ॥

ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।

समादध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। उसके बाद पाँचों इन्द्रियोंसहित चञ्चल मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र करे ॥ ८ ॥

विसंचारि निरालम्बं पञ्चद्वारं चलाचलम्।
पूर्वे ध्यानपथे धीरः समादध्यान्मनोऽन्तरा ॥ ९ ॥

मन नाना प्रकारके विषयोंमें विचरण करनेवाला है। उसका कोई स्थिर आलम्बन नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके इधर-उधर निकलनेके द्वार हैं तथा वह अत्यन्त चञ्चल है। ऐसे मनको धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदयके भीतर ध्यानमार्गमें एकाग्र करे॥ ९ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्।
एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥ १० ॥

जब यह योगी इन्द्रियोंसहित मनको एकाग्र कर लेता है, तभी उसके प्रारम्भिक ध्यानमार्गका आरम्भ होता है। युधिष्ठिर! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रथम ध्यानमार्गका वर्णन किया है ॥ १० ॥

तस्य तत् पूर्वसंरुद्धमात्मनः षष्ठमान्तरम्।
स्फुरिष्यति समुद्भ्रान्ता विद्युदम्बुधरे यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे जो इन्द्रियोंसहित मन कुछ देरके लिये स्थिर हो जाता है, वही फिर अवसर पाकर जैसे बादलोंमें बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार पुनः बारंबार विषयोंकी ओर जानेके लिये चञ्चल हो उठता है ॥ ११ ॥

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥ १२ ॥

जैसे पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँद सब ओरसे हिलती रहती है, उसी प्रकार ध्यानमार्गमें स्थित साधकका मन भी प्रारम्भमें चञ्चल होता रहता है ॥ १२ ॥

समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥ १३ ॥

एकाग्र करनेपर कुछ देर तो वह ध्यानमें स्थित रहता है; परंतु फिर नाड़ी मार्गमें पहुँचकर भ्रान्त-सा होकर वायुके समान चञ्चल हो उठता है ॥ १३ ॥

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥ १४ ॥

ध्यानयोगको जाननेवाला साधक ऐसे विक्षेपके समय खेद या क्लेशका अनुभव न करे; अपितु आलस्य और मात्सर्यका त्याग करके ध्यानके द्वारा मनको पुनः एकाग्र करनेका प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥ १५ ॥

योगी जब ध्यानका आरम्भ करता है, तब पहले उसके मनमें ध्यानविषयक विचार, विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं ॥ १५ ॥

मनसा क्लिश्यमानस्तु समाधानं च कारयेत्।
न निर्वेदं मुनिर्गच्छेत् कुर्यादेवात्मनो हितम् ॥ १६ ॥

ध्यानके समय मनमें कितना ही क्लेश क्यों न हो, साधकको उससे ऊबना नहीं चाहिये; बल्कि और भी तत्परताके साथ मनको एकाग्र करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ध्यानयोगी मुनिको सर्वथा अपने कल्याणका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १६ ॥

पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः।
सहसा वारिणा सिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥ १७ ॥
किञ्चित् स्निग्धं यथा च स्याच्छुष्कचूर्णमभावितम्।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत् सर्वं तत्परिभावनम् ॥ १८ ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।
संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ १९ ॥

जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबरके चूर्णकी अलग-अलग इकट्ठी की हुई ढेरियोंपर जल छिड़का जाय तो वे सहसा जलसे भीगकर इतनी तरल नहीं हो सकतीं कि उनके द्वारा कोई आवश्यक कार्य किया जा सके; क्योंकि बार-बार भिगोये बिना वह सूखा चूर्ण थोड़ा-सा भीगता है, पूरा नहीं भीगता; परंतु उसको यदि बार-बार जल देकर क्रमसे भिगोया जाय तो धीरे-धीरे वह सब गीला हो जाता है, उसी प्रकार योगी विषयोंकी ओर बिखरी हुई इन्द्रियोंको धीरे-धीरे विषयोंकी ओरसे समेटे और चित्तको ध्यानके अभ्याससे क्रमशः स्नेहयुक्त बनावे। ऐसा करनेपर वह चित्त भलीभाँति शान्त हो जाता है ॥ १७–१९ ॥

स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ २० ॥

भरतनन्दन! ध्यानयोगी पुरुष स्वयं ही मन और पाँचों इन्द्रियोंको पहले ध्यानमार्गमें स्थापित करके नित्य किये हुए योगाभ्यासके बलसे शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

न तत्पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित्।
सुखमेष्यति तत् तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनोनिग्रहपूर्वक ध्यान करनेवाले योगीको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है, वह मनुष्यको किसी दूसरे पुरुषार्थसे या दैवयोगसे भी नहीं मिल सकता ॥ २१ ॥

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम् ॥ २२ ॥

उस ध्यानजनित सुखसे सम्पन्न होकर योगी उस ध्यानयोगमें अधिकाधिक अनुरक्त होता जाता है। इस प्रकार योगीलोग दुःख-शोकसे रहित निर्वाण (मोक्ष) पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ध्यानयोगकथने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ध्यानयोगका वर्णनविषयक एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जपयज्ञके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न, उसके उत्तरमें जप और ध्यानकी महिमा और उसका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते राजधर्मास्तथैव च।
नानाश्रयाश्च बहव इतिहासाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने चार आश्रमों तथा राजधर्मोंका वर्णन किया एवं अनेकानेक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से भिन्न-भिन्न इतिहास भी सुनाये ॥ १ ॥

श्रुतास्त्वत्तः कथाश्चैव धर्मयुक्ता महामते।
संदेहोऽस्ति तु कश्चिन्मे तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ २ ॥

महामते ! मैंने आपके मुखसे अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुनी हैं; फिर भी मेरे मनमें एक संदेह रह गया है, उसे आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

जापकानां फलावाप्तिं श्रोतुमिच्छामि भारत।
किं फलं जपतामुक्तं क्व वा तिष्ठन्ति जापकाः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जप करनेवालोंको फलकी प्राप्ति कैसे होती है ? जापकोंके जपका फल क्या बताया गया है अथवा जप करनेवाले पुरुष किन लोकोंमें स्थान पाते हैं ? ॥ ३॥

जप्यस्य च विधिं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि मेऽनघ।
जापका इति किं चैतत् सांख्ययोगक्रियाविधिः ॥ ४ ॥

अनघ ! आप मुझे जपकी सम्पूर्ण विधि भी बताइये। 'जापक' इस पदसे क्या तात्पर्य है ? क्या यह सांख्ययोग, ध्यानयोग अथवा क्रियायोगका अनुष्ठान है ? ॥ ४ ॥

किं यज्ञविधिरेवैष किमेतज्जप्यमुच्यते।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ५ ॥

अथवा यह जप भी कोई यज्ञकी ही विधि है ? जिसका जप किया जाता है, वह क्या वस्तु है ? आप यह सारी बातें मुझे बताइये; क्योंकि आप मेरी मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ हैं ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य यत् पुरावृत्तं कालस्य ब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पूर्वकालमें यम, काल और ब्राह्मणके बीचमें घटित हुआ था ॥ ६ ॥

सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः।
संन्यास एव वेदान्ते वर्तते जपनं प्रति ॥ ७ ॥

मोक्षदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योगका वर्णन किया है, उनमेंसे वेदान्त (सांख्य) में तो जपका संन्यास (त्याग) ही बताया गया है ॥ ७ ॥

वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ता ब्रह्मण्यवस्थिताः।
सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिः समदर्शिभिः॥ ८ ॥
मार्गौ तावप्युभावेतौ संश्रितौ न च संश्रितौ।

उपनिषदोंके वाक्य निर्वृत्ति (परमानन्द), शान्ति तथा ब्रह्मनिष्ठताका बोध करानेवाले हैं (अतः वहाँ जपकी अपेक्षा नहीं है)। समदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योग बताये हैं, वे दोनों मार्ग चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें उपकारक होनेसे जपका आश्रय लेते हैं, नहीं भी लेते हैं ॥ ८½ ॥

यथा संश्रूयते राजन् कारणं चात्र वक्ष्यते ॥ ९ ॥
मनःसमाधिरत्रापि तथेन्द्रियजयः स्मृतः।

राजन् ! यहाँ जैसा कारण सुना जाता है, वैसा आगे बताया जायगा। सांख्य और योग—इन दोनों मार्गोंमें भी मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयम आवश्यक माने गये हैं ॥९½॥

सत्यमग्निपरीचारो विविक्तानां च सेवनम् ॥ १० ॥
ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम्।
विषयप्रतिसंहारो मितजल्पस्तथा शमः ॥ ११ ॥
एष प्रवर्तको यज्ञो निवर्तकमथो शृणु।
यथा निवर्तते कर्म जपतो ब्रह्मचारिणः ॥ १२ ॥

सत्य, अग्निहोत्र, एकान्तसेवन, ध्यान, तपस्या, दम, क्षमा, अनसूया, मिताहार, विषयोंका संकोच, मितभाषण तथा शम–यह प्रवर्तक यज्ञ है। अब निवर्तक यज्ञका वर्णन सुनो; जिसके अनुसार जप करनेवाले ब्रह्मचारी साधकके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं (अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ १०–१२ ॥

एतत् सर्वमशेषेण यथोक्तं परिवर्तयेत्।
निवृत्तं मार्गमासाद्य व्यक्ताव्यक्तमनाश्रयम् ॥ १३ ॥

इन मनोनिग्रह आदि पूर्वोक्त सभी साधनोंका निष्काम-भावसे अनुष्ठान करके उन्हें प्रवृत्तिके विपरीत निवृत्तिमार्गमें बदल डाले। निवृत्तिमार्ग तीन तरहका है—व्यक्त, अव्यक्त और अनाश्रय, उस मार्गका आश्रय लेकर स्थिरचित्त हो जाय ॥ १३ ॥

कुशोच्चयनिषण्णः सन् कुशहस्तः कुशैः शिखी।
कुशैः परिवृतस्तस्मिन् मध्ये छन्नः कुशैस्तथा ॥ १४॥

निवृत्तिमार्गपर पहुँचनेकी विधि यह है—जपकर्ताको कुशासनपर बैठना चाहिये। उसे अपने हाथमें भी कुश रखना चाहिये। शिखामें भी कुश बाँध लेना चाहिये, वह कुशोंसे घिरकर बैठे और मध्यभागमें भी कुशोंसे आच्छादित रहे ॥

विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च भावयेत्।
साम्यमुत्पाद्य मनसा मनस्येव मनो दधत् ॥ १५ ॥

विषयोंको दूरसे ही नमस्कार करे और कभी उनका अपने मनमें चिन्तन न करे। मनसे समताकी भावना करके मनका मनमें ही लय करे ॥ १५ ॥

तद् धिया ध्यायति ब्रह्म जपन् वै संहिताम् हिताम्।
संन्यस्यत्यथवा तां वै समाधौ पर्यवस्थितः ॥ १६ ॥

फिर बुद्धिके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ध्यान करे तथा सर्व-हितकारिणी वेदसंहिताका एवं प्रणव और गायत्री मन्त्रका जप करे। फिर समाधिमें स्थित होनेपर उस संहिता एवं गायत्री मन्त्र आदिके जपको भी त्याग दे ॥ १६ ॥

ध्यानमुत्पादयत्यत्र संहिताबलसंश्रयात्।
शुद्धात्मा तपसा दान्तो निवृत्तद्वेषकामवान् ॥ १७ ॥
अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते।
न कर्ता कारणानां च न कार्याणामिति स्थितिः ॥ १८ ॥

संहिताके जपसे जो बल प्राप्त होता है, उसका आश्रय लेकर साधक अपने ध्यानको सिद्ध कर लेता है। वह शुद्धचित्त होकर तपके द्वारा मन और इन्द्रियोंको जीत लेता है तथा द्वेष और कामनासे रहित एवं आसक्ति और मोहसे रहित हुआ शीत और उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंसे अतीत हो जाता है। अतः वह न तो कभी शोक करता है और न कहीं भी आसक्त होता है। वह कर्मोंका कारण और कार्यका कर्ता नहीं होता (अर्थात् अपनेमें कर्तापनका अभिमान नहीं लाता है) ॥ १७-१८ ॥

न चाहङ्कारयोगेन मनः प्रस्थापयेत् क्वचित्।
न चार्थग्रहणे युक्तो नावमानी न चाक्रियः ॥ १९ ॥

वह अहंकारसे युक्त होकर कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता है। वह न तो स्वार्थ-साधनमें संलग्न होता है, न किसीका अपमान करता है और न अकर्मण्य होकर ही बैठता है ॥ १९ ॥

ध्यानक्रियापरो युक्तो ध्यानवान् ध्याननिश्चयः।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य तदपि त्यजति क्रमात् ॥ २० ॥

वह ध्यानरूप क्रियामें ही नित्य तत्पर रहता है, ध्यान-निष्ठ हो ध्यानके द्वारा ही तत्त्वका निश्चय कर लेता है, ध्यानमें समाधिस्थ होकर क्रमशः ध्यानरूप क्रियाका भी त्याग कर देता है ॥ २० ॥

स वै तस्यामवस्थायां सर्वत्यागकृतः सुखम्।
निरिच्छस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मीं संविशते तनुम् २१

वह उस अवस्थामें स्थित हुआ योगी निस्संदेह सर्वत्याग-रूप निर्वीज समाधिसे प्राप्त होनेवाले दिव्य परमानन्दका अनुभव करता है। वह योगजनित अणिमा आदि सिद्धियोंकी भी इच्छा न रखकर सर्वथा निष्काम हो प्राणोंका परित्याग कर देता है और विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है ॥ २१ ॥

अथवा नेच्छते तत्र ब्रह्मकायनिषेवणम्।
उत्क्रामति च मार्गस्थो नैव क्वचन जायते ॥ २२ ॥

अथवा यदि वह परब्रह्मका सायुज्य नहीं प्राप्त करना चाहता तो देवयानमार्गपर स्थित हो ऊपरके लोकोंमें गमन करता है अर्थात् परब्रह्म परमात्माके परम धाममें चला जाता है। पुनः इस संसारमें कहीं जन्म नहीं लेता ॥ २२ ॥

आत्मबुद्ध्या समास्थाय शान्तीभूतो निरामयः।
अमृतं विरजः शुद्धमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेसे वह रजोगुणसे रहित निर्मल शान्तस्वरूप योगी अमृतस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकमें दोष आनेके कारण उसे नरककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

गतीनामुत्तमा प्राप्तिः कथिता जापकेष्विह।
एकैवैषा गतिस्तेषामुत यान्त्यपरामपि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने यहाँ जापकोंके लिये गतियोंमें उत्तम गतिकी प्राप्ति बतायी है। क्या उनके लिये एकमात्र यही गति है ? या वे किसी दूसरी गतिको भी प्राप्त होते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् जापकानां गतिं विभो।
यथा गच्छन्ति निरयाननेकान् पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम सावधान होकर जापकोंकी गतिका वर्णन सुनो। प्रभो! पुरुषप्रवर! अब मैं यह बता रहा हूँ कि वे किस तरह नाना प्रकारके नरकोंमें पड़ते हैं* ॥ २ ॥

यथोक्तपूर्वं पूर्वं यो नानुतिष्ठति जापकः।
एकदेशक्रियश्चात्र निरयं स च गच्छति ॥ ३ ॥

जो जापक जैसा पहले बताया गया है, उसी तरह नियमोंका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, एकदेशका ही अनुष्ठान करता है अर्थात् किसी एक ही नियमका पालन करता है, वह नरकमें पड़ता है ॥ ३ ॥

अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो अवहेलनापूर्वक जप करता है, उसके प्रति प्रेम या प्रसन्नता नहीं प्रकट करता है, ऐसा जापक भी निःसंदेह नरकमें ही पड़ता है ॥ ४ ॥

अहङ्कारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥ ५ ॥

जपके कारण अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करनेवाले सभी जापक नरकगामी होते हैं। दूसरोंका अपमान करनेवाला जापक भी नरकमें ही पड़ता है ॥ ५ ॥

अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्राभिध्यां स कुरुते तं वै निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो मोहित हो फलकी इच्छा रखकर जप करता है, वह जिस फलका चिन्तन करता है, उसीके उपयुक्त नरकमें पड़ता है ॥ ६ ॥

अथैश्वर्यप्रवृत्तेषु जापकस्तत्र रज्यते।
स एव निरयस्तस्य नासौ तस्मात् प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि जप करनेवाले साधकको अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हों और वह उनमें अनुरक्त हो जाय तो वह ही उसके लिये नरक है, वह उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ७ ॥

रागेण जापको जप्यं कुरुते तत्र मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ८ ॥

जो जापक मोहके वशीभूत हो विषयासक्तिपूर्वक जप करता है, वह जिस फलमें उसकी आसक्ति होती है, उसीके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसका पतन हो जाता है ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धिरकृतप्रज्ञश्चले मनसि तिष्ठति।
चलामेव गतिं याति निरयं वा नियच्छति ॥ ९ ॥

जिसकी बुद्धि भोगोंमें आसक्तिके कारण दूषित है तथा जो विवेकशील नहीं है, वह जापक यदि मनके चञ्चल रहते हुए ही जप करता है तो विनाशशील गतिको प्राप्त होता है अथवा नरकमें गिरता है अर्थात् विनाशशील या स्वर्गादि विचलित स्वभाववाले लोकोंको प्राप्त होता है या तिर्यक्-योनियोंमें जाता है ॥ ९ ॥

अकृतप्रज्ञको बालो मोहं गच्छति जापकः।
स मोहान्निरयं याति तत्र गत्वानुशोचति ॥ १० ॥

जो विवेकशून्य मूढ़ जापक मोहग्रस्त हो जाता है, वह उस मोहके कारण नरकमें गिरता है और उसमें गिरकर निरन्तर शोकमग्न रहता है ॥ १० ॥

दृढग्राही करोमीति जाप्यं जपति जापकः।
न सम्पूर्णो न संयुक्तो निरयं सोऽनुगच्छति॥ ११॥

'मैं निश्चय ही जपका अनुष्ठान पूरा करूँगा,' ऐसा दृढ़ आग्रह रखकर जो जापक जपमें प्रवृत्त होता है, परंतु न तो उसमें अच्छी तरह संलग्न होता है और न उसे पूरा ही कर पाता है, वह नरकमें गिरता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिवृत्तं परं यत्तदव्यक्तं ब्रह्मणि स्थितम्।
तद्भूतो जापकः कस्मात् स शरीरमिहाविशेत् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो कभी निवृत्त न होनेवाला सनातन अव्यक्त ब्रह्म है, उस गायत्रीके जपमें स्थित रहनेवाला एवं उससे भावित हुआ जापक किस कारणसे यहाँ शरीरमें प्रवेश करता है अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करता है? ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

दुष्प्रज्ञानेन निरया बहवः समुदाहृताः।
प्रशस्तं जापकत्वं च दोषाश्चैते तदात्मकाः ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम आदिसे बुद्धि दूषित होनेके कारण ही उसके लिये बहुत-से नरकोंकी प्राप्ति अर्थात् नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेकी बात कही गयी है। जापक होना तो बहुत उत्तम है। वे उपर्युक्त राग आदि दोष तो उसमें दूषित बुद्धिके कारण ही आते हैं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

---

* इस प्रकरणमें पुनर्जन्मको ही नरकके नामसे कहा गया है। यह बात छठे और सातवें श्लोकके वर्णनसे स्पष्ट हो जाती है।

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

परमधामके अधिकारी जापकके लिये देवलोक भी नरक-तुल्य हैं—इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशं निरयं याति जापको वर्णयस्व मे ।
कौतूहलं हि राजन् मे तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! जप करनेवालेको उसके दोषोंके कारण किस तरहके नरककी प्राप्ति होती है ? उसका मुझसे वर्णन कीजिये । राजन् ! उसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है; अतः आप अवश्य बतावें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्यांशप्रसूतोऽसि धर्मिष्ठोऽसि स्वभावतः ।
धर्ममूलाश्रयं वाक्यं शृणुष्वावहितोऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—अनघ ! तुम धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हो और स्वभावसे ही धर्मनिष्ठ हो; अतः सावधान होकर धर्मके मूलभूत वेद और परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली मेरी बात सुनो ॥ २ ॥

अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम् ।
नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि च ॥ ३ ॥
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा ।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः ॥ ४ ॥

परम बुद्धिमान् देवताओंके ये जो स्थान बताये जाते हैं, उनके रूप-रङ्ग अनेक प्रकारके हैं। फल भी नाना प्रकारके हैं। देवताओंके यहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले दिव्य विमान तथा दिव्य सभाएँ होती हैं। राजन्! उनके यहाँ नाना प्रकारके क्रीडा-स्थल तथा सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित बावलियाँ होती हैं॥३-४॥

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः ।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥ ५ ॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम् ।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥ ६ ॥

तात! वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमराज—इन चारों लोकपालों, शुक्र, बृहस्पति, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु तथा अन्य देवताओंके जो ऐसे ही लोक हैं, वे सब परमात्माके परमधामके सामने नरक ही हैं ॥ ५-६ ॥

अभयं चानिमित्तं च न तत् क्लेशसमावृतम् ।
द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च ॥ ७ ॥

परमात्माका परमधाम विनाशके भयसे रहित है; क्योंकि वह कारणरहित नित्य-सिद्ध है । वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशोंसे घिरा हुआ नहीं है । उसमें प्रिय और अप्रिय ये दो भाव नहीं हैं*। प्रिय और अप्रियके हेतुभूत तीन गुण—सत्त्व, रज और तम भी नहीं हैं तथा वह परमधाम भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, उपासना, कर्म, प्राण और अविद्या—इन आठ पुरियों † से भी मुक्त है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीका भी अभाव है ॥७॥

चतुर्लक्षणवर्ज्यं तु चतुष्कारणवर्जितम् ।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ ८ ॥

इतना ही नहीं, वह दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञाति—इन चार लक्षणोंसे रहित है‡। ज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारोंसे वह परे है। वहाँ इष्टविषयकी प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष और उसके भोगजनित आनन्दका भी अभाव है। वह शोक और श्रमसे भी सर्वथा रहित है ॥८॥

कालः सम्पद्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः ।
स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्यापि तथेश्वरः ॥ ९ ॥

राजन् ! कालकी उत्पत्ति भी वहींसे होती है । उस धामपर कालकी प्रभुता नहीं चलती । वह परमात्मा कालका भी स्वामी और स्वर्गका भी ईश्वर है ॥ ९ ॥

आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति ।
ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ १० ॥

जो आत्मकैवल्यको प्राप्त हो चुका है, वही मनुष्य वहाँ जाकर शोकसे रहित हो जाता है । उस परमधामका स्वरूप ऐसा ही है और पहले जो नाना प्रकारके सुखभोगोंसे सम्पन्न लोक बताये गये हैं, वे सभी उसकी तुलनामें नरक हैं ॥१०॥

एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम् ।
तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥ ११ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे ये सभी नरक बताये हैं। उस परमपदके सामने वस्तुतः वे सभी लोक 'नरक' ही कहलाने योग्य हैं ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

---

* श्रुति भी कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।'

† आठ पुरियोंका बोधक वचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः । अविद्या चेत्यमुं वर्गमाहुः पुर्यष्टकं बुधाः ॥

‡ इन लक्षणोंका नाम-निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।

कौशिक ब्राह्मणको सावित्रीदेवीका प्रत्यक्ष दर्शन

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकको सावित्रीका वरदान, उसके पास धर्म, यम और काल आदिका आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मणका संवाद, सत्यकी महिमा तथा जापककी परम गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च ।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने काल, मृत्यु, यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मणके विवादकी पहले चर्चा की थी; अतः उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद् वृत्तं ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥
कालस्य मृत्योश्च तथा यद् वृत्तं तन्निबोध मे ।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन् स्थानेऽपि चाभवत् ।३।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसी प्रसङ्गमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम, ब्राह्मण, काल और मृत्युके वृत्तान्तका उल्लेख है। जिस स्थानपर और जिस रूपमें उनका वह संवाद हुआ था, उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणो जापकः कश्चिद् धर्मवृत्तो महायशाः ।
षडङ्गविन्महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः ॥ ४ ॥
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह ।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः ॥ ५ ॥

कहते हैं कि हिमालय पर्वतके निकटवर्ती पहाड़ियोंपर एक महायशस्वी धर्मात्मा ब्राह्मण रहता था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, परम बुद्धिमान् तथा जपमें तत्पर रहनेवाला था। वह पिप्पलादका पुत्र था और कौशिक वंशमें उसका जन्म हुआ था। वेदके छहों अङ्गोंका विज्ञान उसे प्रत्यक्ष हो गया था, अतः वह वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ४-५ ॥

सोऽयं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन् ।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम् ॥ ६ ॥

वह अर्थज्ञानपूर्वक संहिताका जप करता हुआ इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मणोचित तपस्या करने लगा। नियमपूर्वक जप-तप करते हुए उसके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ६ ॥

स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीतास्मीति तदा किल ।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ७ ॥

कहते हैं, उसके उस जपसे प्रसन्न होकर देवी सावित्रीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण अपने जपनीय वेद-संहिताके गायत्रीमन्त्रकी आवृत्ति कर रहा था; इसलिये सावित्रीदेवीके आनेपर भी चुपचाप बैठा ही रह गया। उनसे कुछ न बोला ॥ ७ ॥

तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत् तदा ।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत् ॥ ८ ॥

देवी सावित्रीकी उसपर कृपा हो गयी थी; अतः वे उसके उस समयके व्यवहारसे भी प्रसन्न ही हुईं। वेदमाताने ब्राह्मणके उस नियमानुकूल जपकी मन-ही-मन प्रशंसा की ॥ ८ ॥

समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा ।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

जब जप समाप्त हो गया, तब धर्मात्मा ब्राह्मणने उठकर देवी सावित्रीके चरणोंमें मस्तक रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता मम ।
यदि चापि प्रसन्नासि जप्ये मे रमतां मनः ॥ १० ॥

'देवि ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया। यदि वास्तवमें आप मुझपर संतुष्ट हैं तो ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा मन जपमें लगा रहे' ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते ।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत् ते भविष्यति ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—ब्रह्मर्षे ! तुम क्या चाहते हो ? कौन-सी वस्तु तुम्हें अभीष्ट है ? बताओ। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी। जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! तुम अपनी अभिलाषा बताओ। तुम्हारी वह सारी इच्छा पूर्ण हो जायगी। ११।

इत्युक्तः स तदा देव्या विप्रः प्रोवाच धर्मवित् ।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मनसश्च समाधिर्मे वर्धेताहरहः शुभे ।

सावित्रीदेवीके ऐसा कहनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण बोला—'शुभे ! इस मन्त्रके जपमें मेरी यह इच्छा बराबर बढ़ती रहे और मेरे मनकी एकाग्रता भी प्रतिदिन बढ़े' ॥ १२½ ॥

तत् तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया ।
निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभाः ॥ १४ ॥
यास्यसि ब्रह्मणः स्थानमनिमित्तमनिन्दितम् ।
साधये भविता चैतद् यत्त्वयाहमिहार्थिता ॥ १५ ॥
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति ।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम् ॥ १६ ॥
भविता च विवादोऽत्र तव तेषां च धर्मतः ।

तब सावित्रीदेवीने मधुर वाणीमें 'तथास्तु' कहा। इसके बाद देवीने ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे यह दूसरा वचन और कहा—'विप्रवर! जहाँ दूसरे श्रेष्ठ ब्राह्मण गये हैं, उन स्वर्गादि निम्नश्रेणीके लोकोंमें तुम नहीं जाओगे। तुम्हें स्वभाव-सिद्ध एवं निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी। तुमने मुझसे जो यहाँ प्रार्थना की है, वह पूरी होगी। मैं उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करूँगी। तुम नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर जप करो। धर्म स्वयं तुम्हारी सेवामें उपस्थित होगा। काल, मृत्यु और यम भी तुम्हारे निकट पधारेंगे, तुम्हारा उन सबके साथ यहाँ धर्मानुकूल वाद-विवाद भी होगा ॥ १३—१६½ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवती सावित्री देवी अपने धामको चली गयीं और ब्राह्मण भी दिव्य सौ वर्षोंतक पूर्ववत् जपमें संलग्न रहा ॥ १७½ ॥

सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसंधोऽनसूयकः॥ १८ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः ।
साक्षात् प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्॥ १९ ॥

वह सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता था, क्रोधको जीत चुका था। अपनी की हुई प्रतिज्ञाका सचाईके साथ पालन करता था और किसीके दोष नहीं देखता था। बुद्धिमान् ब्राह्मणका वह नियम पूर्ण होनेपर साक्षात् भगवान् धर्म उस समय उसपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया १८-१९

धर्म उवाच

द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः ।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत् सम्प्राप्तं तच्च मे शृणु ॥२०॥

धर्म बोले—विप्रवर! तुम मेरी ओर देखो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा दर्शन करनेके लिये आया हूँ। तुम्हें इस जपका जो फल प्राप्त हुआ है, वह सब मुझसे सुन लो ॥ २० ॥

जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः ।
देवानां निलयान् साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि॥२१॥

तुमने दिव्य और मानुष सभी लोकोंपर विजय प्राप्त की है। साधो! तुम सम्पूर्ण देवताओंके लोकोंको लाँघकर उनसे भी ऊपर जाओगे ॥ २१ ॥

प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान् यथेप्सितान् ।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि२२

मुने! अब तुम अपने प्राणोंका परित्याग करो और अभीष्ट लोकोंमें जाओ। अपने शरीरका परित्याग करनेके पश्चात् ही तुम उन पुण्यलोकोंमें जाओगे ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच

किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम्।
बहुदुःखसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो ॥ २३ ॥

ब्राह्मणने कहा—धर्म! मुझे उन लोकोंको लेकर क्या करना है? आप सुखपूर्वक यहाँसे अपने स्थानको पधारिये। प्रभो! मैंने इस शरीरके साथ बहुत दुःख और सुख उठाया है; अतः इसका त्याग नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

धर्म उवाच

अवश्यं भोः शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव ।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ ॥ २४ ॥

धर्म बोले—निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! शरीर तो तुम्हें अवश्य त्यागना पड़ेगा। विप्रवर! अब स्वर्गलोकपर आरूढ़ हो जाओ अथवा तुम्हारी क्या रुचि है? बताओ ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो ।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना।२५।

ब्राह्मणने कहा—प्रभो! मैं इस शरीरके बिना स्वर्ग-लोकमें निवास करना नहीं चाहता; अतः धर्मदेव! आप यहाँसे जाइये। इस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकमें जानेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ २५ ॥

धर्म उवाच

अलं देहे मनः कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव ।
गच्छ लोकानरजसो यत्र गत्वा न शोचसि ॥ २६ ॥

धर्म बोले—मुने! शरीरमें मनको आसक्त रखना ठीक नहीं है। तुम देह त्यागकर सुखी हो जाओ। उन रजोगुणरहित निर्मल लोकोंमें जाओ, जहाँ जाकर फिर तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच

रमे जपन् महाभाग किं नु लोकैः सनातनैः ।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! मैं तो जपमें ही सुख मानता हूँ। मुझे सनातन लोकोंको लेकर क्या करना है? भगवन्! यह बताइये, मैं सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकता हूँ या नहीं? ॥ २७ ॥

धर्म उवाच

यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज ।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागताः ॥ २८ ॥

धर्म बोले—ब्रह्मन्! यदि तुम शरीर छोड़ना नहीं चाहते हो तो देखो, ये काल, मृत्यु और यम तुम्हारे पास आये हैं ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो ।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन् ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वैवस्वत यम, काल और मृत्यु—तीनों उस महाभाग ब्राह्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

यम उवाच

तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च ।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा यमोऽहं त्वामुपब्रुवे ॥ ३० ॥

यमराज बोले—ब्रह्मन् ! तुम्हारेद्वारा भलीभाँति की हुई इस तपस्याका तथा शुभ आचरणोंका भी तुम्हें उत्तम फल प्राप्त हुआ है । मैं यमराज हूँ और स्वयं तुमसे यह बात कहता हूँ ॥ ३० ॥

काल उवाच

यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम् ।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः ॥ ३१ ॥

कालने कहा—विप्रवर ! तुम्हारे इस जपका यथायोग्य सर्वोत्तम फल प्राप्त हुआ है । अतः अब तुम्हारे लिये स्वर्गलोकमें जानेका समय आया है । यही सूचित करनेके लिये मैं साक्षात् काल तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ३१ ॥

मृत्युरुवाच

मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम् ।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै ॥ ३२ ॥

मृत्युने कहा—धर्मज्ञ ब्राह्मण ! मुझे मृत्यु समझो । मैं स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ । विप्रवर ! मैं कालसे प्रेरित होकर आज तुम्हें यहाँसे ले जानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय च महात्मने ।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने कहा—सूर्यपुत्र यम, महामना काल, मृत्यु तथा धर्म—इन सबका स्वागत है । बताइये, मैं आपलोगोंका कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे ।
अब्रवीत् परमप्रीतः स्वशक्त्या किं करोमि वः ॥ ३४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वहाँ उन सबका समागम होनेपर ब्राह्मणने उनके लिये अर्घ्य और पाद्य देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा—'देवताओ ! मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३४ ॥

तस्मिन्नेवाथ काले तु तीर्थयात्रामुपागतः ।
इक्ष्वाकुरगमत् तत्र समेता यत्र ते विभो ॥ ३५ ॥

इसी समय तीर्थयात्राके लिये आये हुए राजा इक्ष्वाकु भी उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ वे सब लोग एकत्र हुए थे ॥ ३५ ॥

सर्वानेव तु राजर्षिः सम्पूज्याथ प्रणम्य च ।
कुशलप्रश्नमकरोत् सर्वेषां राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि इक्ष्वाकुने उन सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उन सबका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३६ ॥

तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम् ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणने भी राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछनेके बाद इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥
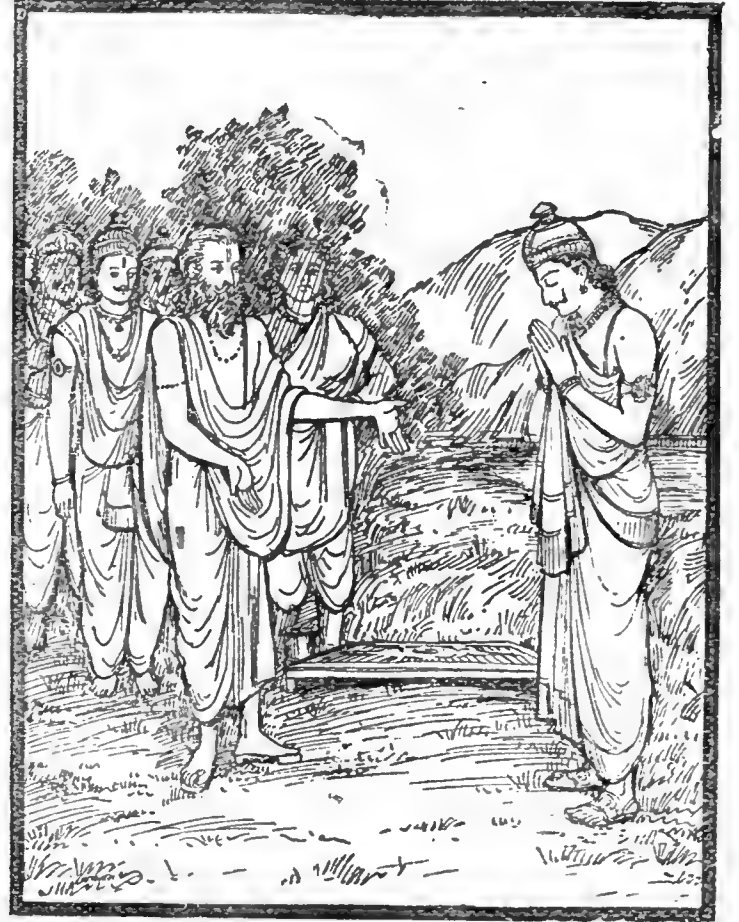
स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद् यदिहेच्छसि ।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद् भवान् प्रब्रवीतु माम् ॥ ३८ ॥

'महाराज ! आपका स्वागत है ! आपकी जो-जो इच्छा हो, उसे यहाँ बताइये । मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ ? यह आप मुझे बतावें' ॥ ३८ ॥

राजोवाच

राजाहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः ।
ददानि वसु किंचित्ते प्रथितं तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप छः कर्मोंमें स्थित रहनेवाले ब्राह्मण । अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ । आप प्रसिद्ध धनरत्न मुझसे माँगिये ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण उवाच

द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः ।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं और धर्म भी दो प्रकारका माना गया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति । मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ ॥ ४० ॥

तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम्॥ ४१॥

नरेश्वर! आप उन ब्राह्मणोंको दान दीजिये, जो प्रवृत्ति-मार्गमें हों। मैं आपसे दान नहीं लूँगा। नृपश्रेष्ठ! इस समय आपको क्या अभीष्ट है? मैं आपको क्या दूँ? बताइये, मैं अपनी तपस्याद्वारा आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?॥४१॥

राजोवाच

क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित्।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम॥ ४२॥

राजा बोले—द्विजश्रेष्ठ! मैं क्षत्रिय हूँ। 'दीजिये' ऐसा कहकर याचना करनेकी बातको मैं कभी नहीं जानता। माँगनेके नामपर तो हमलोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो'॥ ४२॥

ब्राह्मण उवाच

तुष्यसि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप।
अन्योन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत् समाचर॥ ४३॥

ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर! जैसे आप अपने धर्मसे संतुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे संतुष्ट हैं। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। अतः आपको जो अच्छा लगे, वह कीजिये॥ ४३॥

राजोवाच

स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम्।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज॥ ४४॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे पहले कहा है कि 'मैं अपनी शक्तिके अनुसार दान दूँगा' तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अपने जपका फल मुझे दे दीजिये॥

ब्राह्मण उवाच

युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः॥ ४५॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! आप तो बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहे थे कि मेरी वाणी सदा युद्धकी ही याचना करती है, तब आप मेरे साथ भी युद्धकी ही याचना क्यों नहीं कर रहे हैं?॥ ४५॥

राजोवाच

वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह॥ ४६॥

राजाने कहा—विप्रवर! ब्राह्मणोंकी वाणी ही वज्रके समान प्रभाव डालनेवाली होती है और क्षत्रिय बाहुबलसे जीवन-निर्वाह करनेवाले होते हैं; अतः आपके साथ मेरा यह तीव्र वाग्युद्ध उपस्थित हुआ है॥ ४६॥

ब्राह्मण उवाच

सैवाद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम्।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम्॥४७॥

ब्राह्मणने कहा—राजेन्द्र! मेरी वही प्रतिज्ञा इस समय भी है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपको क्या दूँ? बोलिये, विलम्ब न कीजिये। मैं शक्ति रहते आपको मुँहमाँगी वस्तु अवश्य प्रदान करूँगा॥ ४७॥

राजोवाच

यत्तद् वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया।
फलं प्राप्तं तत् प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि॥ ४८॥

राजाने कहा—मुने! यदि आप देना ही चाहते हैं तो पूरे सौ वर्षोंतक जप करके आपने जिस फलको प्राप्त किया है, वही मुझे दे दीजिये॥ ४८॥

ब्राह्मण उवाच

परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया।
अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि॥ ४९॥
अथवा सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम्।
राजन् प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि॥ ५०॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! मैंने जो जप किया है, उसका उत्तम फल आप ग्रहण करें। मेरे जपका आधा फल तो आप बिना विचारे ही प्राप्त करें अथवा यदि आप मेरेद्वारा किये हुए जपका सारा ही फल लेना चाहते हों तो अवश्य अपनी इच्छाके अनुसार वह सब प्राप्त कर लें॥ ४९-५०॥

राजोवाच

कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद् याचितं मया।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किंच तस्य फलं वद॥ ५१॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैंने जो जपका फल माँगा है, उन सबकी पूर्ति हो गयी। आपका भला हो, कल्याण हो। मैं चला जाऊँगा; किंतु यह तो बता दीजिये कि उसका फल क्या है?॥ ५१॥

ब्राह्मण उवाच

फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः॥ ५२॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! इस जपका फल क्या मिलेगा? इसको मैं नहीं जानता; परंतु मैंने जो कुछ जप किया था, वह सब आपको दे दिया। ये धर्म, यम, मृत्यु और काल इस बातके साक्षी हैं॥ ५२॥

राजोवाच

अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं किं मे करिष्यति।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम्।
प्राप्नोतु तत् फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम्॥ ५३॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे अपने जप-जनित धर्मका फल नहीं बता रहे हैं तो इस धर्मका अज्ञात फल मेरे किस काम आयेगा ? वह सारा फल आपहीके पास रहे। मैं संदिग्ध फल नहीं चाहता ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाददेऽपरवक्तव्यं दत्तं चास्य फलं मया।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य तव चैव हि ॥ ५४ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजर्षे ! अब तो मैं अपने जपका फल दे चुका; अतः दूसरी कोई बात नहीं स्वीकार करूँगा। इस विषयमें आज मेरी और आपकी बातें ही प्रमाण-स्वरूप हैं (हम दोनोंको अपनी-अपनी बातोंपर दृढ़ रहना चाहिये) ॥ ५४ ॥

नाभिसंधिर्मया जप्ये कृतपूर्वः कदाचन।
जप्यस्य राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम् ॥ ५५ ॥

राजसिंह ! मैंने जप करते समय कभी फलकी कामना नहीं की थी; अतः इस जपका क्या फल होगा, यह कैसे जान सकूँगा ? ॥ ५५ ॥

ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति मया तथा।
न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव ॥ ५६ ॥

आपने कहा था कि 'दीजिये' और मैंने कहा था कि 'दूँगा'—ऐसी दशामें मैं अपनी बात झूठी नहीं करूँगा। आप सत्यकी रक्षा कीजिये और इसके लिये सुस्थिर हो जाइये॥ ५६ ॥

अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता तव राजन् मृषा कृतः ॥ ५७ ॥

राजन् ! यदि इस तरह स्पष्ट बात करनेपर भी आप आज मेरे वचनका पालन नहीं करेंगे तो आपको असत्यका महान् पाप लगेगा ॥ ५७ ॥

न युक्तं तु मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिंदम।
तथा मयाप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते ॥ ५८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपके लिये भी झूठ बोलना उचित नहीं है और मैं भी अपनी कही हुई बातको मिथ्या नहीं कर सकता ॥ ५८ ॥

संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद् गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान् ॥ ५९ ॥

मैंने बिना कुछ सोच-विचार किये ही पहले देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः आप भी बिना विचारे मेरा दिया हुआ जप ग्रहण करें। यदि आप सत्यपर दृढ़ हैं तो आपको ऐसा अवश्य करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च॥ ६० ॥

राजन् ! आपने स्वयं यहाँ आकर मुझसे जपके फलकी याचना की है और मैंने उसे आपके लिये दे दिया है; अतः आप उसे ग्रहण करें और सत्यपर डटे रहें ॥ ६० ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः ॥ ६१ ॥

जो झूठ बोलनेवाला है, उस मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। वह अपने पूर्वजोंको भी नहीं तार सकता; फिर भविष्यमें होनेवाली संततिका उद्धार तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ ६१ ॥

न यज्ञाध्ययने दानं नियमास्तारयन्ति हि।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ ६२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! परलोकमें सत्य जिस प्रकार जीवोंका उद्धार करता है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नहीं तार सकते हैं ॥ ६२ ॥

तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत् तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ ६३ ॥

लोगोंने अबतक जितनी तपस्याएँ की हैं और भविष्यमें भी जितनी करेंगे, उन सबको सौगुना या लाखगुना करके एकत्र किया जाय तो भी उनका महत्त्व सत्यसे बढ़कर नहीं सिद्ध होगा ॥ ६३ ॥

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ ६४ ॥

सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एकमात्र अक्षय तप है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है ॥ ६४ ॥

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

वेदोंमें सत्य ही जागता है—उसीकी महिमा बतायी गयी है। सत्यका ही सबसे श्रेष्ठ फल माना गया है। धर्म और इन्द्रिय-संयमकी सिद्धि भी सत्यसे ही होती है। सत्यके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥ ६५ ॥

सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥ ६६ ॥

सत्य ही वेद और वेदाङ्ग है। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओङ्कार है ॥ ६६ ॥

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥ ६७ ॥

सत्य प्राणियोंको जन्म देनेवाला (पिता) है, सत्य ही संतति है, सत्यसे ही वायु चलती है और सत्यसे ही सूर्य तपता है॥६७॥

सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती ॥ ६८ ॥

सत्यसे ही आग जलती है तथा सत्यपर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती—सब सत्यके ही स्वरूप हैं ॥ ६८ ॥

तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम् ।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम् ॥ ६९ ॥

मैंने सुना है कि किसी समय धर्म और सत्यको तराजूपर, जिसके दोनों पलड़े बराबर थे, रक्खा और तौला गया; उस समय जिस ओर सत्य था, उधरका ही पलड़ा भारी हुआ ॥

यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते ।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि ॥ ७० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है । सत्यसे ही सबकी वृद्धि होती है । राजन् ! आप क्यों असत्यपूर्ण बर्ताव करना चाहते हैं ? ॥ ७० ॥

सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः ।
कस्मात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम् ॥ ७१ ॥

महाराज ! आप सत्यमें ही अपने मनको स्थिर कीजिये । मिथ्यापूर्ण बर्ताव न कीजिये । यदि लेना ही नहीं था तो आपने 'दीजिये' यह झूठा और अशुभ वचन क्यों मुँहसे निकाला था ॥ ७१ ॥

यदि जप्यफलं दत्तं मया नैषिष्यसे नृप ।
धर्मेभ्यः सम्परिभ्रष्टो लोकाननुचरिष्यसि ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! यदि आप मेरे दिये हुए इस जपके फलको नहीं स्वीकार करेंगे तो धर्मभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भटकते फिरेंगे ॥ ७२ ॥

संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा यश्च नेच्छति ।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

जो पहले देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर देना नहीं चाहता तथा जो याचना तो करता है, किंतु मिलनेपर उसे लेना नहीं चाहता, वे दोनों ही मिथ्यावादी होते हैं; अतः आप अपनी और मेरी भी बात मिथ्या न कीजिये ॥ ७३ ॥

राजोवाच

योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज ।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम् ॥ ७४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! क्षत्रियका धर्म तो प्रजाकी रक्षा और युद्ध करना है । क्षत्रियोंको दाता कहा गया है; फिर मैं उल्टे ही आपसे दान कैसे ले सकता हूँ ? ॥ ७४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम् ।
इहागम्य तु याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम् ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! दान लेनेके लिये मैंने आपसे अनुरोध या आग्रह नहीं किया था और न मैं देनेके लिये आपके घर ही गया था । आपने स्वयं यहाँ आकर याचना की है; फिर लेनेसे कैसे इन्कार करते हैं ? ॥ ७५ ॥

धर्म उवाच

अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्त मां धर्ममागतम् ।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च ॥ ७६ ॥

धर्म बोले—आप दोनोंमें विवाद न हो । आपको विदित होना चाहिये कि मैं साक्षात् धर्म यहाँ आया हूँ । ब्राह्मण-देवता दानके फलसे युक्त हो जायँ और राजा भी सत्यके फलसे सम्पन्न हों ॥ ७६ ॥

स्वर्ग उवाच

स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम् ।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम् ॥ ७७ ॥

स्वर्ग बोला—राजेन्द्र ! आपको विदित हो कि मैं स्वर्ग हूँ और स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ । आप दोनोंमें विवाद न हो । आप दोनों समान फलके भागी हों ॥

राजोवाच

कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम् ।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम् ॥ ७८ ॥

राजाने कहा—मुझे स्वर्गकी कोई आवश्यकता नहीं है । स्वर्ग ! तुम जैसे आये थे, वैसे ही लौट जाओ । यदि ये ब्राह्मणदेवता स्वर्गमें जाना चाहते हों तो मेरे किये हुए पुण्य-फलको ग्रहण करें ॥ ७८ ॥

ब्राह्मण उवाच

बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः ।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन् ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणने कहा—यदि बाल्यावस्थामें अज्ञानवश मैंने कभी किसीके सामने हाथ फैलाया हो तो उसका मुझे स्मरण नहीं है; परंतु अब तो संहिता—गायत्रीमन्त्रका जप करता हुआ निवृत्तिधर्मकी उपासना करता हूँ ॥ ७९ ॥

निवृत्तं मां चिराद्राजन् विप्रलोभयसे कथम् ।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप ।
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ॥ ८० ॥

राजन् ! मैं निवृत्तिमार्गका पथिक हूँ, आप बहुत देरसे मुझे लुभानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? नरेश्वर ! मैं स्वयं ही अपना कर्तव्य करूँगा, आपसे कोई फल नहीं लेना चाहता । मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त होकर तप और स्वाध्यायमें लगा हुआ हूँ ॥

राजोवाच

यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम् ।
आवयोर्यत् फलं किंचित् सहितं नौ तदस्त्विह ॥ ८१ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि आपने अपने जपका उत्तम फल दे ही दिया है तो ऐसा कीजिये कि हम दोनोंके जो भी पुण्यफल हों, उन्हें एकत्र करके हम दोनों साथ ही भोगें—हम दोनोंका उनपर समान अधिकार रहे ॥ ८१ ॥

द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः ।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ ॥ ८२ ॥

ब्राह्मणोंको दान लेनेका अधिकार है और क्षत्रिय केवल दान देते हैं, लेते नहीं; यह धर्म आपने भी सुना होगा; अतः

विप्रवर ! हम दोनोंके कार्यका फल साथ ही हम दोनोंके उपयोगमें आवे ॥ ८२ ॥

मा वा भूत् सहभोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि ।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ ८३ ॥

अथवा यदि आपकी इच्छा न हो तो हमें साथ रहकर कर्मफल भोगनेकी आवश्यकता नहीं है । उस अवस्थामें मैं यही प्रार्थना करूँगा कि यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो आप ही मेरे शुभकर्मोंका पूरा-पूरा फल ग्रहण कर लें । मैंने जो कुछ भी धर्म किया है, वह सब आप स्वीकार कर लें ॥

भीष्म उवाच

ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ ।
गृहीत्वान्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः ॥ ८४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय वहाँ विकराल वेषधारी दो पुरुष उपस्थित हुए । दोनोंने एक दूसरेको पकड़-कर अपने हाथोंसे आवेष्टित कर रक्खा था । दोनोंके शरीरपर मैले वस्त्र थे (उनमेंसे एकका नाम विकृत था और दूसरेका नाम विरूप) । वे दोनों बारंबार इस प्रकार कह रहे थे ॥८४॥

न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः ।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजानुशासकः ॥ ८५ ॥

एकने कहा—भाई ! तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । दूसरा कहता—नहीं, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ । पहलेने कहा—यहाँ जो हम दोनोंका विवाद है, इसका निर्णय ये सबका शासन करनेवाले राजा करेंगे ॥ ८५ ॥

सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान् ।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम् ॥ ८६ ॥

दूसरा बोला—मैं सच कहता हूँ कि तुमपर मेरा कोई ऋण नहीं है । पहलेने कहा—तुम झूठ बोलते हो । मुझपर तुम्हारा ऋण है ॥ ८६ ॥

तावुभौ सुभृशं तप्तौ राजानमिदमूचतुः ।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ ॥ ८७ ॥

तब वे दोनों अत्यन्त संतप्त होकर राजासे इस प्रकार बोले—आप हमारे मामलेकी जाँच-पड़ताल करके फैसला कर दें, जिससे हम दोनों यहाँ दोषके भागी और निन्दाके पात्र न हों ॥ ८७ ॥

विरूप उवाच

धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम् ।
ददतश्च न गृह्णाति विकृतो मे महीपते ॥ ८८ ॥

विरूप बोला—पुरुषसिंह ! मैं विकृतके एक गोदानका फल ऋणके तौरपर अपने यहाँ रखता हूँ । पृथ्वीनाथ ! उस ऋणको आज मैं दे रहा हूँ; परंतु यह विकृत ले नहीं रहा है ॥

विकृत उवाच

न मे धारयते किञ्चिद् विरूपोऽयं नराधिप ।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हि त्वां सत्याभासं नराधिप ॥ ८९ ॥

विकृतने कहा—नरेश्वर ! इस विरूपपर मेरा कोई ऋण नहीं है । यह आपसे झूठ बोलता है । इसकी बातमें सत्यका आभासमात्र है ॥ ८९ ॥

राजोवाच

विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे ।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः ॥ ९० ॥

राजा बोले—विरूप ! तुम्हारे ऊपर विकृतका कौन-सा ऋण है । बताओ, मैं उसे सुनकर कोई निर्णय करूँगा । मेरे मनका ऐसा ही निश्चय है ॥ ९० ॥

विरूप उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद् धारयाम्यहम् ।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप ॥ ९१ ॥

विरूप बोला—राजन् ! नरेश्वर ! आप सावधान होकर सुनें, राजर्षे ! इस विकृतका ऋण जिस प्रकार मैं धारण करता हूँ, वह सब पूर्णरूपसे बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुरानघ ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने ॥ ९२ ॥

निष्पाप राजर्षे ! इसने धर्मकी प्राप्तिके लिये एक तपस्वी और स्वाध्यायशील ब्राह्मणको एक दूध देनेवाली उत्तम गाय दी थी ॥ ९२ ॥

तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः ।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ९३ ॥

राजन् ! मैंने इसके घर जाकर इससे उसी गोदानका फल माँगा था और विकृतने शुद्ध हृदयसे मुझे वह दे दिया था ॥ ९३ ॥

ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये ।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने ॥ ९४ ॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन् मया समपवर्जिते ।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैंने भी अपनी शुद्धिके लिये पुण्यकर्म किया । राजन् ! दो अधिक दूध देनेवाली कपिला गौएँ, जिनके साथ उनके बछड़े भी थे, खरीदकर उन्हें मैंने एक उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको विधि और श्रद्धापूर्वक दे दिया । प्रभो ! उसी गोदानका फल मैं पुनः इसे वापस करना चाहता हूँ ॥९४-९५॥

इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम् ।
एवं स्यात् पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान् ९६

पुरुषसिंह ! इससे एक गोदानका फल लेकर आज मैं इसे दूना फल लौटा रहा हूँ । ऐसी परिस्थितिमें आप स्वयं निर्णय कीजिये कि हम दोनोंमेंसे कौन शुद्ध है और कौन दोषी ? ॥ ९६ ॥

एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाभ्यागतौ नृप ।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध ॥ ९७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए हम दोनों

यहाँ आपके समीप आये हैं । आप निर्णय कीजिये । अब आप चाहे न्याय करें या अन्याय । इस झगड़ेका निपटारा कर दें । हम दोनोंको विशिष्ट न्यायके मार्गपर लगा दें ॥९७॥

यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै ।
भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताद्य नौ ॥ ९८॥

इसने जिस तरह मुझे दान दिया है, उसी तरह यदि स्वयं भी मुझसे लेना नहीं चाहता है तो आप स्वयं सुस्थिर होकर हम दोनोंको धर्मके मार्गपर स्थापित कर दें ॥ ९८ ॥

राजोवाच

दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात् त्वमद्य वै ।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम् ॥ ९९ ॥

राजाने कहा—विकृत ! जब विरूप तुम्हें तुम्हारा दिया हुआ ऋण लौटा रहा है, तब तुम उसे आज ग्रहण क्यों नहीं करते ? जैसे इसने तुम्हारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार तुम भी इसकी दी हुई वस्तुको ले लो । बिलम्ब न करो ॥ ९९ ॥

विकृत उवाच

धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया ।
नायं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति ॥१००॥

विकृत बोला—राजन् ! विरूपने अभी आपसे कहा है कि मैं ऋण धारण करता हूँ; परंतु मैंने उस समय 'दान' कह करके वह वस्तु इसे दी थी; इसलिये इसके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । अब यह जहाँ जाना चाहे, जा सकता है ॥ १०० ॥

राजोवाच

ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे ।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः १०१

राजाने कहा—विकृत ! यह तुम्हें तुम्हारी वस्तु दे रहा है और तुम लेते नहीं हो । यह मुझे अनुचित जान पड़ता है; अतः मेरे मतमें तुम दण्डनीय हो; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

विकृत उवाच

मयास्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत् कथं पुनः ।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो ॥ १०२ ॥

विकृत बोला—राजर्षे ! मैंने इसे दान दिया था; फिर वह दान इससे वापस कैसे ले लूँ । भले, इसमें मेरा अपराध समझा जाय; परंतु मैं दिया हुआ दान वापस नहीं ले सकता । प्रभो ! मुझे दण्ड भोगनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ १०२ ॥

विरूप उवाच

दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथञ्चन ।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः ॥ १०३ ॥

विरूपने कहा—विकृत ! यदि तुम मेरी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करोगे तो ये धर्मपूर्ण शासन करनेवाले नरेश तुम्हें कैद कर लेंगे ॥ १०३ ॥

विकृत उवाच

स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत् ।
गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते ॥ १०४ ॥

विकृत बोला—तुम्हारे माँगनेपर मैंने अपना धन दानके रूपमें दिया था; फिर आज उसे वापस कैसे ले सकता हूँ ? तुम्हारे ऊपर मेरा कुछ भी पावना नहीं है । मैं तुम्हें जानेके लिये आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुतमेतत्त्वया राजन्ननयोः कथितं द्वयोः ।
प्रतिज्ञातं मया यत्ते तद् गृहाणाविचारितम् ॥ १०५ ॥

इसी बीचमें जापक ब्राह्मण बोल उठा—राजन् ! आपने इन दोनोंकी बातें सुन लीं । मैंने आपको देनेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप मेरा दान बिना विचारे ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

राजोवाच

प्रस्तुतं सुमहत् कार्यमनयोर्गह्वरं यथा ।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद् भविष्यति ॥१०६॥

राजाने मन-ही-मन कहा—इन दोनोंका बड़ा भारी और गहन कार्य सामने आ गया है । इधर जापक ब्राह्मणका सुदृढ़ आग्रह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है । इससे निपटारा कैसे होगा ॥ १०६ ॥

यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम् ।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताद्य वै ॥१०७॥

यदि मैं आज ब्राह्मणकी दी हुई वस्तु ग्रहण न करूँ तो किस प्रकार महान् पापसे निर्लिप्त रह सकूँगा ॥ १०७ ॥

तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः ।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा ॥१०८॥

इसके बाद राजर्षि इक्ष्वाकुने उन दोनोंसे कहा—'तुम दोनों अपने विवादका निपटारा हो जानेपर ही यहाँसे जाना । इस समय मेरे पास आकर अपना कार्य पूर्ण हुए बिना न जाना । मुझे भय है कि राजधर्म मिथ्या अथवा कलङ्कित न हो जाय ॥

स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः ।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत् ॥१०९॥

राजाओंको अपने धर्मका पालन करना चाहिये, यही शास्त्रका सिद्धान्त है । इधर मुझ अजितात्माके भीतर गहन ब्राह्मणधर्मने प्रवेश किया है ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण उवाच

गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं मया ।
न चेद् ग्रहीष्यसे राजञ्शपिष्ये त्वां न संशयः॥११०॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आपने जो वस्तु माँगी थी

और जिसे देनेकी मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे मैं आपकी धरोहरके रूपमें अपने पास रखता हूँ; अतः शीघ्र उसे ले लें। यदि नहीं लेंगे तो निस्संदेह मैं आपको शाप दे दूँगा॥११०॥

राजोवाच

धिग्राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति॥१११॥

राजाने कहा—धिक्कार है राजधर्मको, जिसके कार्यका यहाँ यह परिणाम निकला। ब्राह्मणको और मुझको समान फलकी प्राप्ति कैसे हो, इसी उद्देश्यसे मुझे यह दान ग्रहण करना है॥१११॥

एष पाणिरपूर्वं मे निक्षेपार्थं प्रसारितः।
यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम्॥११२॥

ब्रह्मन्! यह मेरा हाथ जो आजसे पहले किसीके सामने नहीं फैलाया गया था, आज आपसे धरोहर लेनेके लिये आपके सामने फैला है। आप मेरा जो कुछ भी धरोहर धारण करते हैं, उसे इस समय मुझे दे दीजिये॥११२॥

ब्राह्मण उवाच

संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित् कृतो मया।
तत् सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किंचिदिहास्ति मे॥११३॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! मैंने संहिताका जप करते हुए कहींसे जितना भी पुण्य अथवा सद्गुण संग्रह किया है, वह सब आप ले लें। इसके सिवा भी मेरे पास जो कुछ पुण्य हो, उसे ग्रहण करें॥११३॥

राजोवाच

जलमेतन्निपतितं मम पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान्॥११४॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे हाथपर यह संकल्पका जल पड़ा हुआ है। मेरा और आपका सारा पुण्य हम दोनों-के लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें; इस उद्देश्यसे आप मेरा दिया हुआ दान भी ग्रहण करें॥

विरूप उवाच

कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमावाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च॥११५॥

विरूपने कहा—राजन्! आपको विदित हो कि हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही आपको इस कार्यमें लगाया है। आपने जो साथ-साथ फल भोगनेकी बात कही है, इससे आपको और इस ब्राह्मणको एक समान लोक प्राप्त होंगे॥११५॥

नायं धारयते किंचिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम्॥११६॥
सर्वमन्योन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्र वाञ्छसि॥११७॥

यह मेरा साथी कुछ भी धारण नहीं करता अथवा मुझपर भी इसका कोई ऋण नहीं है। यह सब खेल तो हमलोगोंने आपकी परीक्षा लेनेके लिये किया था। काल, धर्म, मृत्यु, काम, क्रोध और आप दोनों—ये सब-के-सब एक दूसरेकी कसौटीपर आपके देखते-देखते कसे गये हैं। अब जहाँ आप-की इच्छा हो, अपने कर्मसे जीते हुए उन लोकोंमें जाइये॥

जापकानां फलावाप्तिर्मया ते सम्प्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन यथा जिताः॥११८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जापकोंको किस प्रकार फलकी प्राप्ति होती है? इस बातका दिग्दर्शन मैंने तुम्हें करा दिया। जापक ब्राह्मणने कौन-सी गति प्राप्त की? किस स्थानपर अधिकार किया? कौन-कौन-से लोक उसके लिये सुलभ हुए? और यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ? ये बातें आगे बतायी जायँगी॥११८॥

प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
अथवाग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि वा॥११९॥

संहिताका स्वाध्याय करनेवाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्माको प्राप्त होता है अथवा अग्निमें समा जाता है अथवा सूर्यमें प्रवेश कर जाता है॥११९॥

स तैजसेन भावेन यदि तत्र रमत्युत।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः॥१२०॥

यदि वह जापक तैजस शरीरसे उन लोकोंमें रमण करता है तो रागसे मोहित होकर उनके गुणोंको अपने भीतर धारण कर लेता है॥१२०॥

एवं सोमे तथा वायौ भूम्याकाशशरीरगः।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन्॥१२१॥

इसी प्रकार संहिताका जप करनेवाला पुरुष रागयुक्त होनेपर चन्द्रलोक, वायुलोक, भूमिलोक तथा अन्तरिक्षलोकके योग्य शरीर धारण करके वहाँ निवास करता है और उन लोकोंमें रहनेवाले पुरुषोंके गुणोंका आचरण करता रहता है॥

अथ तत्र विरागी स गच्छति त्वथ संशयम्।
परमव्ययमिच्छन् स तमेवाविशते पुनः॥१२२॥

यदि उन लोकोंकी उत्कृष्टतामें संदेह हो जाय और इस कारण वह जापक वहाँसे विरक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट एवं अविनाशी मोक्षकी इच्छा रखता हुआ फिर उसी परमेष्ठी ब्रह्मामें प्रवेश कर जाता है॥१२२॥

अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः॥१२३॥

अन्य लोकोंकी अपेक्षा परमेष्ठिभावकी प्राप्ति अमृत-रूप है। उससे भी उत्कृष्ट कैवल्यरूपी अमृतको प्राप्त होकर वह शान्त (निष्काम), अहङ्कारशून्य, निर्द्वन्द्व, सुखी,

शान्तिपरायण तथा रोग-शोकसे रहित ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥

ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते ॥ १२४ ॥

ब्रह्मपद पुनरावृत्तिरहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख-शून्य, अजर और शान्त आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है ॥ १२४ ॥

चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः ।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते ॥ १२५ ॥

जापक पूर्वोक्त परमेष्ठी पुरुष (सगुण ब्रह्म) से भी ऊपर उठकर आकाशस्वरूप निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों प्रमाणों और लक्षणोंकी पहुँच नहीं है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह तथा जरा और मृत्यु—ये छः तरङ्गें वहाँ नहीं हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण तथा मन—इन सोलह उपकरणोंसे भी वह रहित है ॥ १२५ ॥

अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति ।
यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते ॥ १२६ ॥

यदि उसके मनमें भोगोंके प्रति राग है और वह निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होना नहीं चाहता है तो वह सभी पुण्यलोकोंका अधिष्ठाता बन जाता है और मनसे जिस वस्तुको पाना चाहता है, उसे तुरंत प्राप्त कर लेता है ॥ १२६ ॥

अथवा चेक्षते लोकान् सर्वान् निरयसंज्ञितान् ।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम् ॥ १२७ ॥

अथवा वह सम्पूर्ण उत्तम लोकोंको भी नरकके तुल्य देखता है और सब ओरसे निःस्पृह एवं मुक्त होकर उसी निर्गुण ब्रह्ममें सुखपूर्वक रमण करता है ॥ १२७ ॥

एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १२८ ॥

महाराज ! इस प्रकार यह जापककी गति बतायी गयी है। यह सारा प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकुकी उत्तम गतिका वर्णन तथा जापकको मिलनेवाले फलकी उत्कृष्टता

युधिष्ठिर उवाच

किमुत्तरं तदा तौ स्म चक्रतुस्तस्य भाषिते ।
ब्राह्मणो वाथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उस समय विरूपके पूर्वोक्त वचन कहनेपर ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु उन दोनोंने उसे क्या उत्तर दिया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अथवा तौ गतौ तत्र यदेतत् कीर्तितं त्वया ।
संवादो वा तयोः कोऽभूत् किं वा तौ तत्र चक्रतुः ॥ २ ॥

तथा आपने जो यह सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तरकी प्राप्तिरूप तीन प्रकारकी गति बतायी है, उनमेंसे वे दोनों किस गतिको प्राप्त हुए ? उस समय उन दोनोंमें क्या बातचीत हुई और उन्होंने क्या किया ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं सम्पूज्य च प्रभो ।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं सम्पूज्य चार्हतः ॥ ३ ॥
पूर्वं ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः ।
सर्वान् सम्पूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणने धर्म, यम, काल, मृत्यु और स्वर्ग—इन सभी पूजनीय देवताओंका पूजन किया। वहाँ पहलेसे जो ब्राह्मण मौजूद थे और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबके चरणोंमें सिर झुकाकर सबकी यथोचित पूजा करके ब्राह्मणने राजासे कहा— ॥ ३-४ ॥

फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम् ।
भवता चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह ॥ ५ ॥

'राजर्षे ! इस फलसे संयुक्त होकर आप श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कीजिये और आपकी आज्ञा लेकर मैं फिर जपमें लग जाऊँगा ॥ ५ ॥

वरश्च मम पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल ।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशाम्पते ॥ ६ ॥

'महाबली प्रजानाथ ! मुझे देवी सावित्रीने वर दिया है कि जपमें तुम्हारी नित्य श्रद्धा बनी रहेगी' ॥ ६ ॥

राजोवाच

यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं तव ।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि ॥ ७ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि इस प्रकार मुझे फल समर्पण करनेके कारण आपको फलकी प्राप्ति नहीं हो रही है और पुनः जप करनेमें ही आपकी श्रद्धा होती है तो आप मेरे साथ ही चलें और जप-दानजनित फलको प्राप्त करें ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

कृतः प्रयत्नः सुमहान् सर्वेषां संनिधाविह ।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने यहाँ सबके समीप आपको अपने जपका फल देनेके लिये महान् प्रयत्न किया है; फिर भी आपका आग्रह साथ-साथ फलका उपभोग करनेका रहा है; अतः हम दोनों समान फलके ही भागी हों। चलिये,

जापक ब्राह्मण एवं महाराज इक्ष्वाकुकी ऊर्ध्वगति

जहाँतक हम दोनोंकी गति हो सके, साथ-साथ चलें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः।
सह देवैरुपययौ लोकपालैस्तथैव च ॥ ९ ॥
साध्याश्च विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च ॥१०॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदाः स्तोभाः सरस्वती।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥११॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः।
नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत्।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उन दोनोंका वहाँ ऐसा निश्चय जानकर सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्र उस स्थानपर आये। उनके साथ साध्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण भी थे। बड़े-बड़े वाद्य बज रहे थे। नदियाँ, पर्वत, समुद्र, नाना प्रकारके तीर्थ, तपस्या, संयोग-विधि, वेद, स्तोभ (साम-गानकी पूर्तिके लिये बोले जानेवाले अक्षर हाई हावु इत्यादि), सरस्वती, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, परिवारसहित चित्रसेन गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवाधिदेव प्रजापति ब्रह्मा, सहस्रों मस्तकवाले शेषनाग तथा अचिन्त्य देव भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे। प्रभो! उस समय आकाशमें भेरियाँ और तुरही आदि बाजे बज रहे थे ॥ ९–१३ ॥

पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम्।
ननृतुश्चाप्सरःसंघास्तत्र तत्र समन्ततः ॥ १४ ॥

वहाँ उन महात्माओंपर दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी। झुंडकी झुंड अप्सराएँ सब ओर नृत्य करने लगीं ॥ १४ ॥

अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्।
संसिद्धस्त्वं महाभाग त्वं च सिद्धस्तथा नृप ॥ १५ ॥

तदनन्तर मूर्तिमान् स्वर्गने ब्राह्मणसे कहा—'महाभाग! तुम सिद्ध हो गये।' फिर राजासे कहा—'नरेश्वर! तुम भी सिद्ध हो गये' ॥ १५ ॥

अथ तौ सहितौ राजन्नन्योन्यविधिना ततः।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः ॥ १६ ॥

राजन्! तदनन्तर वे दोनों एक दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ अपने मनको विषयोंकी ओरसे हटा लिया ॥ १६ ॥

प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः ॥ १७ ॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राण-वायुओंको हृदयमें स्थापित किया; इस प्रकार स्थित हुए उन दोनोंने मनको प्राण और अपानके साथ मिला दिया। भौंहोंके नीचे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए मनसहित प्राण-अपानको उन्होंने दोनों भौंहोंके बीच स्थिर किया ॥ १७-१८ ॥

निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च ॥१९॥

इस प्रकार मनको जीतकर दृष्टिको एकाग्र करके उन दोनोंने प्राणसहित मनको सुषुम्णा मार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित कर दिया। फिर वे दोनों समाधिमें स्थित हो गये। उस समय उन दोनोंके शरीर जडकी भाँति चेष्टाहीन हो गये ॥

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा ॥ २० ॥

इसी समय महात्मा ब्राह्मणके तालुदेश (ब्रह्म-रन्ध्र) का भेदन करके एक ज्योतिर्मयी विशाल ज्वाला निकली और स्वर्गकी ओर चल दी ॥ २० ॥

हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत्।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत् तदा ॥ २१ ॥
ततः स्वागतमित्याह तत् तेजः प्रपितामहः।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशाम्पते ॥ २२ ॥

फिर तो सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् कोलाहल मच गया। उस ज्योतिकी सभी लोग स्तुति करने लगे। प्रजानाथ! प्रादेशके बराबर लंबे पुरुषका आकार धारण किये वह तेजःपुञ्ज ब्रह्माजीके पास पहुँचा, तब ब्रह्माजीने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया ॥ २१-२२ ॥

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने उस तेजोमय पुरुषका स्वागत करनेके पश्चात् पुनः उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—'विप्रवर! योगियोंको जो फल मिलता है, निस्संदेह वही फल जप करनेवालोंको भी प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २४ ॥

'योगियोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह इन सभासदोंने प्रत्यक्ष देखा है; किंतु जापकोंको उनसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, यह सूचित करनेके लिये ही मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है ॥ २४ ॥

उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाचेतयत् सततं पुनः।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः ॥ २५ ॥

'अब तुम मेरे भीतर सुखपूर्वक निवास करो।' इतना कहकर ब्रह्माजीने उसे पुनः तत्त्वज्ञान प्रदान किया। आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण-तेज रोग-शोकसे मुक्त हो ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गया ॥ २५ ॥

राजाप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम् ।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत् तदा ॥ २६ ॥

राजा इक्ष्वाकु भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी ही भाँति विधिपूर्वक भगवान् ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये ॥ २६ ॥

स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन् ।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर देवताओंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! आपने जो आगे बढ़कर इस ब्राह्मणका स्वागत किया है, इससे सिद्ध हो गया कि जापकोंको योगियोंसे भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः ।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ ॥ २८ ॥

'इस जापक ब्राह्मणको सद्गति देनेके लिये ही आपने ऐसा उद्योग किया था । इसीको देखनेके लिये हमलोग भी आये थे । आपने इन दोनोंका समानरूपसे आदर किया और ये दोनों ही एक-सी स्थितिमें पहुँचकर आपके समान फलके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै ।
सर्वांल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम् ॥ २९ ॥

'आज हमलोगोंने योगी और जापकके महान् फलको प्रत्यक्ष देख लिया । वे सम्पूर्ण लोकोंको लाँघकर जहाँ उनकी इच्छा हो, जा सकते हैं' ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम् ।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम् ॥ ३० ॥
यश्च योगे भवेद् भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः ।
विधिनानेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात् ।
साधये गम्यतां चैव यथास्थानानि सिद्धये ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! जो महास्मृति तथा कल्याणमयी अनुस्मृतिका पाठ करता है, वह भी इसी विधिसे मेरा सालोक्य प्राप्त कर लेता है । जो योगका भक्त है, वह भी देहत्यागके पश्चात् इसी विधिसे मेरे लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है । अब तुम सब लोग अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये अपने-अपने स्थानको जाओ । मैं तुम लोगोंका अभीष्ट साधन करता रहूँगा ॥ ३०-३१ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये । देवता भी उनकी आज्ञा पाकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३२ ॥

ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै ।
पृष्ठतोऽनुययू राजन् सर्वे सुप्रीतचेतसः ॥ ३३ ॥

राजन् ! फिर वे सभी महात्मा धर्मको सत्कारपूर्वक आगे करके प्रसन्नचित्त हो पीछे-पीछे चल दिये ॥ ३३ ॥

एतत् फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता ।
यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥

महाराज ! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार जापकोंको मिलनेवाले इस उत्तम फल और गतिका वर्णन किया । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिके प्रश्नके उत्तरमें मनुद्वारा कामनाओंके त्यागकी एवं ज्ञानकी प्रशंसा तथा परमात्मतत्त्वका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च ।
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ज्ञानयोगका, वेदोंका तथा वेदोक्त नियम (अग्निहोत्र आदि) का क्या फल है? समस्त प्राणियोंके भीतर रहनेवाले परमात्माका ज्ञान कैसे हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें प्रजापति मनु तथा महर्षि बृहस्पतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां
देवर्षिसंघप्रवरो महर्षिः ।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं
पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवता और ऋषियोंकी मण्डलीमें प्रधान महर्षि बृहस्पतिने प्रजाओंके श्रेष्ठतम प्रजापति गुरु मनुको शिष्यभावसे प्रणाम करके यह प्राचीन प्रश्न पूछा— ॥

यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो
ज्ञाने फलं यत्प्रवदन्ति विप्राः ।

प्रजापति मनु एवं महर्षि बृहस्पतिका संवाद

यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यतां मे भगवन् यथावत्॥ ४ ॥

भगवन्! जो इस जगत्का कारण है, जिसके लिये वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ही ज्ञान होनेपर प्राप्त होनेवाला फल (परब्रह्म परमात्मा) बताते हैं तथा वेदके मन्त्र-वाक्योंद्वारा जिसका तत्त्व पूर्णरूपसे प्रकाशमें नहीं आता, उस नित्य वस्तुका आप मेरे लिये यथावद्रूपसे वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

यच्चार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भि-
र्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते च
किं तत्कथं वा भविता क वा तत्॥ ५ ॥

अर्थशास्त्र, आगम (वेद) और मन्त्रको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अनेकानेक महान् यज्ञों और गोदानोंद्वारा जिस सुखमय फलकी उपासना करते हैं, वह क्या है, किस प्रकार प्राप्त होता है और कहाँ उसकी स्थिति है ? ॥ ५ ॥

मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं
जलौकसश्चैव जलं दिवं च।
दिवौकसश्चापि यतः प्रसूता-
स्तदुच्यतां मे भगवन् पुराणम्॥ ६ ॥

भगवन्! पृथ्वी, पार्थिव पदार्थ, वायु, आकाश, जलजन्तु, जल, द्युलोक और देवता जिससे उत्पन्न होते हैं, वह पुरातन वस्तु क्या है ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै
ततस्तदर्थो भवति प्रवृत्तिः।
न चाप्यहं वेद परं पुराणं
मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम्॥ ७ ॥

मनुष्यको जिस वस्तुका ज्ञान होता है, उसीको वह पाना चाहता है और पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसके लिये वह प्रयत्न आरम्भ करता है; परंतु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तुके विषयमें कुछ जानता ही नहीं हूँ; फिर उसे पानेके लिये झूठा प्रयत्न कैसे करूँ ? ॥ ७ ॥

ऋक्सामसंघांश्च यजूंषि चापि
च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं
शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि॥ ८ ॥

मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेदका तथा छन्दका अर्थात् अथर्ववेदका एवं नक्षत्रोंकी गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षाका भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतोंके उपादान कारणको न जान सका॥ ८ ॥

स मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्
सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च।
स मे भवान् शंसतु तावदेत-
ज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति॥ ९ ॥

यथा च देहाच्च्यवते शरीरी
पुनः शरीरं च यथाभ्युपैति।

अतः आप सामान्य और विशेष शब्दोंद्वारा इस सम्पूर्ण विषयका मेरे निकट वर्णन कीजिये। तत्त्वज्ञान होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है ? कर्म करनेपर किस फलकी उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देहसे किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ?—ये सारी बातें भी आप मुझे बताइये ॥ ९½ ॥

मनुरुवाच

यद् यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहु-
स्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम्॥ १० ॥
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्या-
देतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेते-
त्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः॥ ११ ॥

मनुने कहा—जिसको जो-जो विषय प्रिय होता है, वही उसके लिये सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है, उसे ही दुःखरूप कहा गया है। मुझे इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति हो और अनिष्टका निवारण हो जाय, इसीके लिये कर्मोंका अनुष्ठान आरम्भ किया गया है तथा इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञानयोगका उपदेश किया गया है ॥ १०-११ ॥

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा
एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी
नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति॥ १२ ॥

वेदमें जो कर्मोंके प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकामभावसे युक्त हैं। जो इन कामनाओंसे मुक्त होता है, वही परमात्माको पा सकता है। नाना प्रकारके कर्ममार्गमें सुखकी इच्छा रखकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च
साशीस्त्ववच्छन्दति कर्मभिश्च।

बृहस्पतिने कहा—भगवन् ! सुख सबको अभीष्ट होता है और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं होता। इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके निवारणके लिये जो कामना होती है, वही मनुष्योंसे कर्म करवाती है और उन कर्मोंद्वारा उनका मनोरथ पूर्ण करती है; अतः कामनाको आप त्याज्य कैसे बताते हैं ? ॥ १२½ ॥

मनुरुवाच

एभिर्विमुक्तः परमाविवेश
एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः।

कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग
एभिर्विमुक्तः परमाददीत ॥ १३ ॥

मनुने कहा—मनुष्य इन कामनाओंसे मुक्त हो निष्काम भावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करे, इसी उद्देश्यसे कर्मोंका विधान किया है, वेदमें स्वर्ग आदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। वास्तवमें इन कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे (भगवत्प्राप्तिके लिये ही कर्म करे, क्षुद्रभोगोंके लिये नहीं) ॥ १३ ॥

आत्मादिभिः कर्मभिरिन्ध्यमानो
धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी।
परं हि तत् कर्मपथादपेतं
निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति ॥ १४ ॥

जब मन नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे राग आदि दोषोंको दूर करके दर्पणकी भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् (सदसद्-विवेकके प्रकाशसे युक्त) और नित्य सुखका अभिलाषी (मुमुक्षु) होकर निर्वाणभावसे धर्ममें प्रवृत्त होता है एवं कर्ममार्गसे अतीत तथा कामनाओंसे रहित परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १४ ॥

प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा च
द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च
मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने मन और कर्म—इन दोनोंके सहित प्रजाकी सृष्टि की है; अतः ये दोनों लोकसेवित सन्मार्गरूप हैं। कर्म दो प्रकारका देखा गया है—एक सनातन और दूसरा विनाशशील, (मोक्षका हेतुभूत कर्म सनातन है और नश्वर भोगोंकी प्राप्ति करानेवाला नाशवान् है) मनके द्वारा किये जानेवाले फलकी इच्छाका त्याग ही कर्मोंको सनातन बनाने और उनके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें कारण है, दूसरा कुछ नहीं ॥

स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता
निशात्यये तमसा संवृतात्मा।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं
कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥ १६ ॥

जब रात बीत जाती है और अन्धकारका आवरण हट जाता है, उस समय जैसे चलनेमें प्रवृत्त करनेवाला नेत्र अपने तैजस स्वरूपसे युक्त हो रास्तेमें पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदिको देखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि भी मोहका पर्दा हट जानेपर ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हो त्यागने योग्य अशुभ कर्मको देखती है ॥ १६ ॥

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं
ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचि-
ज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥ १७ ॥

मनुष्य जब जान लेते हैं कि रास्तेमें सर्प है, कुशोंके काँटे हैं और कुएँ हैं, तब उनसे बचकर निकलते हैं। जो नहीं जानते हैं, ऐसे कितने ही पुरुष उन्हींपर गिर पड़ते हैं। अतः ज्ञानका जो विशिष्ट फल है, उसे तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ १७ ॥

कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत् प्रयुक्तो
यथा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः
पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति ॥ १८ ॥

विधिपूर्वक सम्पूर्ण मन्त्रोंका उच्चारण, वेदोक्त विधानके अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठान, यथायोग्य दक्षिणा, अन्नका दान और मनकी एकाग्रता—इन पाँच अङ्गोंसे सम्पन्न होनेपर ही यज्ञ-कर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ १८ ॥

गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदा-
स्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः
फलस्य भोक्ता तु तथा शरीरी ॥ १९ ॥

वेदोंका कहना है कि कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके होते हैं; इसीलिये मन्त्र भी सात्त्विक आदि भेदसे तीन प्रकारके ही होते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही कर्मका अनुष्ठान किया जाता है। इसी तरह उन कर्मोंकी विधि, विधेय (उनके लिये किया जानेवाला कार्य), मनके द्वारा अभीष्ट फलकी सिद्धि और उसका भोक्ता देहाभिमानी जीव—ये सभी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ॥ १९ ॥

शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः
स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्या-
देतत् फलं सिद्ध्यति कर्मलोके ॥ २० ॥

शब्द, रूप, पवित्र रस, सुखद स्पर्श और सुन्दर गन्ध—ये ही कर्मोंके फल हैं; किंतु इस शरीरमें स्थित हुआ मनुष्य इन फलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। कर्मोंके फलकी प्राप्ति जो उनका फल भोगनेके लिये प्राप्त शरीरमें होती है, वह दैवाधीन है ॥ २० ॥

यद् यच्छरीरेण करोति कर्म
शरीरयुक्तः समुपाश्नुते तत्।
शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ॥ २१ ॥

जीव शरीरसे जो-जो अशुभ या शुभ कर्म करता है, शरीरसे युक्त हुआ ही उसके फलोंको भोगता है; क्योंकि शरीर ही सुख और दुःख भोगनेका स्थान है ॥ २१ ॥

वाचा तु यत् कर्म करोति किंचिद्
वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत्।
मनस्तु यत् कर्म करोति किञ्चि-
न्मनःस्थ एवायमुपाश्नुते तत् ॥ २२ ॥

मनुष्य वाणीद्वारा जो कोई कर्म करता है, उसका सारा फल वह वाणीद्वारा ही भोगता है और मनसे जो कुछ कर्म करता है, उसका फल यह जीवात्मा मनके साथ हुआ मनसे ही भोगता है ॥ २२ ॥

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी
करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः
शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ २३ ॥

फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कर्मके फलमें आसक्त हो जैसे-जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे-ही-वैसे गुणोंसे प्रेरित होकर इसे उस कर्मका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती
तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु
न तुष्यते वै परमः शरीरी ॥ २४ ॥

जैसे मछली जलके बहावके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिलेके किये हुए कर्मका अनुसरण करता है। उसे उस कर्मप्रवाहमें बहना पड़ता है; परंतु उस दशामें वह श्रेष्ठ देहधारी जीव शुभ फल मिलनेपर तो संतुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होनेपर दुखी हो जाता है (यह उसकी मूढ़ता ही तो है) ॥ २४ ॥

यतो जगत् सर्वमिदं प्रसूतं
ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत् तत्।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यमानं शृणु मे परं यत् ॥ २५ ॥

जिससे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिसे जानकर मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष इस संसारको लाँघकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं तथा वेदके मन्त्रवाक्योंद्वारा जिसका तात्त्विक स्वरूप पूर्णतः प्रकाशमें नहीं आता, उस सर्वोत्कृष्ट वस्तुका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धै-
रशब्दमस्पर्शमरूपवच्च।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं
पञ्चप्रकारान् ससृजे प्रजानाम् ॥ २६ ॥

वह अनिर्वचनीय वस्तु नाना प्रकारके रस और भाँति-भाँतिके गन्धोंसे रहित है। शब्द, स्पर्श एवं रूपसे भी शून्य है। मन, बुद्धि और वाणीद्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय तथा रूप-रंगसे रहित है तथापि उसीने प्रजाओंके लिये रूप, रस आदि पाँचों विषयोंकी सृष्टि की है ॥

न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च
न सन्न चासत् सदसच्च तन्न।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्या-
स्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि ॥ २७ ॥

वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मतत्त्वका और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंका विवेचन तथा उसके साक्षात्कारका उपाय

मनुरुवाच

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत् ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते ! अविनाशी परमात्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वीमें ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा
जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम्।
खाद् वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते
मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

इन पूर्वोक्त शरीरोंके साथ (पार्थिव शरीरके बाद) प्राणियोंका जलमें लय होता है; फिर वे जलसे अग्निमें, अग्निसे वायुमें और वायुसे आकाशमें लीन होते हैं। आकाशसे सृष्टिकालमें फिर वे पूर्वोक्त क्रमसे उत्पन्न होते हैं; परंतु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्षस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ २ ॥

नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं
नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।

न शब्दवन्नापि च गन्धवत्त-
न्न रूपवत्तत् परमस्वभावम् ॥ ३ ॥

वह परमात्मतत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता। शब्द, गन्ध और रूपसे भी वह रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है ॥ ३ ॥

स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा
घ्राणं च गन्धान् श्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद्
गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः ॥ ४ ॥

त्वचा स्पर्शका, जिह्वा रसका, घ्राणेन्द्रिय गन्धका, कान शब्दका और नेत्र रूपका ही अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। अध्यात्मज्ञानसे हीन मनुष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो
घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षु-
स्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ॥५॥

अतः जो जिह्वाको रससे, नासिकाको गन्धसे, कानोंको शब्दसे, त्वचाको स्पर्शसे और नेत्रोंको रूपसे हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है, वही अपने मूलस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ ५ ॥

यतो गृहीत्वा हि करोति यच्च
यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।
यस्मिंश्च यद् येन च यश्च कर्ता
यत् कारणं ते समुदायमाहुः ॥ ६ ॥

महर्षिगण कहते हैं जो कर्ता जिस कारणसे, जिस फलके उद्देश्यसे, जिस देश या कालमें, जिस प्रिय या अप्रियके निमित्त, जिस राग या द्वेषसे प्रभावित हो प्रवृत्तिमार्गका आश्रय ले जिस कर्मको करता है, इन सबके समुदायका जो कारण है, वही सबका स्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा है ॥ ६ ॥

यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च
यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी
तत् कारणं कार्यमतो यदन्यत् ॥ ७ ॥

श्रुतिके कथनानुसार जो व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है, जो सम्पूर्ण लोकमें सदा ही स्थित रहनेवाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही सब कुछ करनेवाला है, वही परम कारण है। उसके सिवा जो कुछ है, सब कार्यमात्र है ॥ ७ ॥

यथा हि कश्चित् सुकृतैर्मनुष्यः
शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात्।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु
स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम् ॥ ८ ॥

जैसे कोई मनुष्य भलीभाँति किये हुए कर्मोंद्वारा बिना किसी प्रतीकारके विभिन्न देश और कालमें उनका शुभाशुभ फल पाता है, उसी प्रकार अपने कर्मानुसार प्राप्त उत्तम और अधम शरीरोंमें यह चिन्मय ज्ञान बिना किसी विरोधके स्थित रहता है ॥ ८ ॥

यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः
प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन्।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा
ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अग्निसे प्रज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित होता हुआ पासमें स्थित अन्य वस्तुओंको भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार इस शरीररूप वृक्षमें स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैतन्यरूपी ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयोंको प्रकाशित करती हैं (उनका प्रकाश चिन्मय प्रकाशके ही अधीन होनेके कारण वे पराधीन हैं। स्वतः प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं)॥

यथा च राज्ञा बहवो ह्यमात्याः
पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च
ज्ञानैकदेशाः परमः स तेभ्यः ॥ १० ॥

जैसे किसी राजाके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त किये गये बहुत-से मन्त्री अपने पृथक्-पृथक् कार्योंकी जानकारी राजाको कराते हैं। उसी प्रकार शरीरोंमें स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने एकदेशीय विषयका परिचय राजस्थानीय बुद्धिको देती हैं। जैसे मन्त्रियोंसे राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँचों इन्द्रियोंसे उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो
मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः।
गच्छन्ति चायान्ति च संचरन्त्य-
स्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु ॥ ११ ॥

जैसे अग्निकी शिखाएँ, वायुका वेग, सूर्यकी किरणें और नदियोंका बहता हुआ जल—ये सदा आते-जाते रहते हैं, इसी प्रकार देहधारियोंके शरीर भी आवागमनके प्रवाहमें पड़े हुए हैं ॥ ११ ॥

यथा च कश्चित् परशुं गृहीत्वा
धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं
छित्त्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत् ॥१२॥

जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर लकड़ीको चीरे तो उसमें उसे न तो आग दिखायी देगी और न धुआँ ही प्रकट होगा, उसी प्रकार इस शरीरका पेट फाड़ने या हाथ-पैर काटनेसे कोई उसे नहीं देख पाता, जो अन्तर्यामी आत्मा शरीरसे भिन्न है ॥ १२ ॥

तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य
धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।

तद्वत् सबुद्धिः सममिन्द्रियात्मा
बुधः परं पश्यति तं स्वभावम् ॥ १३ ॥

परंतु उन्हीं काठोंका युक्तिपूर्वक मन्थन करनेपर जैसे अग्नि और धूम दोनों ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार योगके द्वारा मन और इन्द्रियोंको बुद्धिके सहित समाहित कर लेनेवाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष इन सबसे परम श्रेष्ठ उस ज्ञानको और आत्माको साक्षात् कर लेता है ॥ १३ ॥

यथात्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां
स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत् ।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धि-
र्लिङ्गात्तथा गच्छति लिङ्गमन्यत् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें मनुष्य अपने शरीरके कटे हुए अङ्गको अपनेसे अलग और पृथ्वीपर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धिवाला मनुष्य शरीरको अपनेसे पृथक् जाने । जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म लेता रहता है ॥ १४ ॥

उत्पत्तिवृद्धिव्ययसंनिपातै-
र्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी ।
अनेन लिङ्गेन तु लिङ्गमन्यद्
गच्छत्यदृष्टः फलसंनियोगात् ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है । वह इसके उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और मृत्यु आदि दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता । किंतु अज्ञानी मनुष्य पूर्वकृत कर्मोंके फलके सम्बन्धसे इस ऊपर बताये हुए सूक्ष्म शरीरके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ १५ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न चापि संस्पर्शमुपैति किंचित् ।
न चापि तैः साधयते तु कार्यं
ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान् ॥ १६ ॥

कोई भी इन चर्मचक्षुओंके द्वारा आत्माके स्वरूपको नहीं देख सकता । अपनी त्वचासे उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता । भाव यह कि इन्द्रियोंद्वारा आत्माको जाननेका कोई कार्य नहीं किया जा सकता । वे इन्द्रियाँ उसे नहीं देखतीं; पर वह आत्मा उन सबको देखता है ॥ १६ ॥

यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य
संतापजं रूपमुपैति कश्चित् ।
न चान्तरं रूपगुणं बिभर्ति
तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य ॥ १७ ॥

जैसे कोई लोहा आदि पदार्थ समीप जलती हुई आगकी गर्मीसे लाल रंगका हो जाता है और उसमें दाहकताका गुण भी थोड़ी मात्रामें आ जाता है; परंतु वह उसके वास्तविक आन्तरिक रूप और गुणको धारण नहीं करता, उसी प्रकार आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र इन्द्रियादिके समूह शरीरमें दिखायी देता है, किंतु उनका समुदायभूत शरीर वास्तवमें चेतन नहीं होता । एवं समीपस्थ वस्तुका जैसा रूप होता है वैसा ही रूप उस अग्निका भी प्रतीत होने लगता है ॥ १७ ॥

तथा मनुष्यः परिमुच्य काय-
मदृश्यमन्यद् विशते शरीरम् ।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं
तदाश्रयं चैव बिभर्ति रूपम् ॥ १८ ॥

इसी तरह मनुष्य अपने दृश्य शरीरका त्याग करके जब दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है, तब पहलेके स्थूल शरीरको पञ्च महाभूतोंमें मिलनेके लिये छोड़कर दूसरे शरीरका आश्रय ले उसीको अपना स्वरूप मानकर धारण करता है ॥

खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं
समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी ।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः
श्रोत्रादयः पञ्च गुणाञ्श्रयन्ते ॥ १९ ॥

देहाभिमानी जीव जब शरीर छोड़ता है, तब उस शरीरमें जो आकाशका अंश होता है, वह सब प्रकारसे आकाशमें, वायुका अंश वायुमें, अग्निका अंश अग्निमें, जलका अंश जलमें तथा पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें विलीन हो जाता है । किंतु इन नाना भूतोंके आश्रित जो श्रोत्र आदि तत्त्व हैं, वे विलीन न होकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं और दूसरे शरीरमें जाकर पाँचों भूतोंका आश्रय ले लेते हैं ॥ १९ ॥

श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्या-
स्तेजोमयं रूपमथो विपाकः ।
जलाश्रयं स्वेदमुक्तं रसं च
वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च ॥ २० ॥

आकाशसे श्रोत्रेन्द्रिय (और उसका विषय शब्द), पृथ्वीसे घ्राणेन्द्रिय (और उसका विषय गन्ध) होता है तथा रूप और विपाक वे दोनों (एवं नेत्र-इन्द्रिय)—ये सब तेजोमय हैं । स्वेद एवं रस (और रसना-) इन्द्रिय—ये जलके आश्रित हैं । एवं स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श यह वायुस्वरूप है ॥ २० ॥

महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च
पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि ।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि
बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम् ॥ २१ ॥

पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषय तथा पाँचों इन्द्रियाँ भी पञ्च सूक्ष्म महाभूतोंमें निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय, आकाश आदि भूत तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ सब-के-सब मनके अनुगामी हैं । मन बुद्धिका अनुसरण करता है और बुद्धि आत्माका आश्रय लेकर रहती है ॥ २१ ॥

शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत्
तदेव प्रत्याददते स्वदेहे ।
मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि
जलौकसः स्रोत इवानुकूलम् ॥ २२ ॥

जब जीवात्मा अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित नवीन शरीरमें स्थित होता है, उस समय वह पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हुए है उन्हींका फल प्राप्त करता है। जैसे जल-जन्तु जलके अनुकूल प्रवाहका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्म मनका अनुगमन करते हैं अर्थात् मनके द्वारा फल प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

चलं यथा दृष्टिपथं परैति
सूक्ष्मं महद् रूपमिवाभिभाति ।
स्वरूपमालोचयते च रूपं
परं तथा बुद्धिपथं परैति ॥ २३ ॥

जैसे शीघ्रगामी नौकापर बैठे हुए पुरुषकी दृष्टिमें पार्श्ववर्ती वृक्ष पीछेकी ओर वेगसे भागते हुए दिखायी देते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ निर्विकारी आत्मा बुद्धिके विकारसे विकारवान्-सा प्रतीत होता है एवं जैसे चश्मे या दूरबीनसे महीन अक्षर मोटा दीखता है और छोटी आकृति बहुत बड़ी दिखायी देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्मतत्त्व भी बुद्धि, विवेक-समूह शरीरसे संयुक्त होनेके कारण शरीरके रूपमें प्रतीत होने लगता है। तथा जैसे स्वच्छ दर्पण अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखा देता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिमें आत्माके स्वरूपकी झाँकी उपलब्ध हो जाती है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु-बृहस्पति-संवादविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

मनुरुवाच

यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात्
प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय ।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्
स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जो जीव नामक चेतनतत्त्व है, वह इन्द्रियोंद्वारा दीर्घकालतक पहलेके भोगे हुए विषयोंका कालान्तरमें स्मरण करता है। यद्यपि उस समय उन विषयोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं है, उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है तो भी वे बुद्धिमें संस्काररूपसे अङ्कित हैं; इसलिये उनका स्मरण होता है। (इससे बुद्धिके अतिरिक्त उसके प्रकाशक चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ १ ॥

यथेन्द्रियार्थान् युगपत् समस्ता-
न्नोपेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम् ।
तथाचलं संचरते स विद्वां-
स्तस्मात् स एकः परमः शरीरी ॥ २ ॥

वह एक समय अथवा अनेक समयोंमें भूत और भविष्यके सम्पूर्ण पदार्थोंकी, जो इस जन्ममें या दूसरे जन्मोंमें देखे गये हैं, सामान्य रूपसे उपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन्हें प्रकाशित ही करता है तथा परस्पर विलग न होनेवाली तीनों अवस्थाओंमें विचरता रहता है; अतः वह सबको जाननेवाला साक्षी सर्वोत्कृष्ट देहका स्वामी आत्मा एक है ॥ २ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं
गच्छत्यसौ स्थानगुणान् विरूपान् ।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ ३ ॥

बुद्धिके जो स्थान—जागरित आदि अवस्थाएँ हैं, वे सभी सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे विभक्त हैं। इन अवस्थाओंसे सम्बन्धित जो सुख-दुःख आदि गुण हैं, वे परस्पर विलक्षण हैं। उन सबको वह आत्मा बुद्धिके सम्बन्धसे अनुभव करता है। इन्द्रियोंमें भी उस जीवात्माका आवेश उसी प्रकार होता है जैसे काठमें लगी हुई आगमें वायुका अर्थात् वायु जैसे अग्निमें प्रविष्ट होकर अग्निको उद्दीप्त कर देती है, इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियोंको चेतना प्रदान करता है ॥ ३ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम् ।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं
तथा कृतं पश्यति तद् विनश्यति ॥४ ॥

मनुष्य नेत्रोंद्वारा आत्माके रूपका दर्शन नहीं कर सकता। त्वचा नामक इन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती; क्योंकि वह इन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय अर्थात् उनका प्रकाशक है। उस आत्माके स्वरूपका श्रवणेन्द्रियके द्वारा श्रवण नहीं हो सकता; क्योंकि वह शब्दरहित है। ज्ञानविषयक विचारसे जब आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, तब उसके साधनोंका बाध हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं अपनेद्वारा आपको नहीं जान सकतीं। आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है। सर्वज्ञ होनेके कारण ही वह उन सबको जानता है ॥ ५ ॥

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता॥ ६॥
तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता॥ ७॥

जैसे मनुष्योंद्वारा हिमालय पर्वतका दूसरा पार्श्व तथा चन्द्रमाका पृष्ठ-भाग देखा हुआ नहीं है तो भी इसके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पार्श्व और पृष्ठ भागका अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके भीतर रहनेवाला उनका अन्तर्यामी ज्ञानस्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण कभी नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया है; अतः उतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा है ही नहीं॥ ६-७॥

पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत् सोमे न विन्दति।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च तन्न परायणम्॥ ८॥

जैसे चन्द्रमामें जो कलङ्क है, वह जगत्का अर्थात् तद्गत पृथ्वीका ही चिह्न है; परंतु उसको देखकर भी मनुष्य ऐसा नहीं समझता कि वह जगत्का अर्थात् पृथ्वीका चिह्न है। इसी प्रकार सबको 'मैं हूँ' इस रूपमें आत्माका ज्ञान है; परंतु यथार्थ ज्ञान नहीं है; इस कारण मनुष्य उसके परायण—आश्रित नहीं है॥ ८॥

रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम्॥ ९॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम्॥ १०॥

रूपवान् पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व और नष्ट हो जानेके बाद रूपहीन ही रहते हैं, इस नियमसे जैसे बुद्धिमान् लोग उनकी अरूपताका निश्चय करते हैं तथा सूर्यके उदय और अस्तके द्वारा विद्वान् पुरुष बुद्धिसे जिस प्रकार न दिखायी देनेवाली सूर्यकी गतिका अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य बुद्धिरूप दीपकके द्वारा इन्द्रियातीत ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं और इस निकटवर्ती दृश्य-प्रपञ्चको उस ज्ञानस्वरूप परमात्मामें विलीन कर देना चाहते हैं॥ ९-१०॥

न हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः॥ ११॥
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा।
गजानां च गजैरेव ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते॥ १२॥

उचित उपाय किये बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाले प्राणियोंसे जीविका चलानेवाले सूतके जाल बनाकर उनके द्वारा मछलियोंको बाँध लेते हैं, जैसे मृगोंके द्वारा मृगोंको, पक्षियोंद्वारा पक्षियोंको और हाथियोंद्वारा हाथियोंको पकड़ा जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तुका ज्ञानके द्वारा ग्रहण होता है॥ ११-१२॥

अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम्।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति॥ १३॥

हमने सुना है कि सर्पके पैरोंको सर्प ही पहचानता है, उसी प्रकार मनुष्य समस्त शरीरोंमें शरीरस्थ ज्ञेयस्वरूप आत्माको ज्ञानके द्वारा ही जान सकता है॥ १३॥

नोत्सहन्ते यथा वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति॥ १४॥

जैसे इन्द्रियाँ भी इन्द्रियोंद्वारा किसी ज्ञेयको नहीं जान सकतीं, उसी प्रकार यहाँ परा बुद्धि भी उस परम बोध्य तत्त्वको स्वयं नहीं देख पाती है; किंतु ज्ञाता पुरुष ही बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात् करता है॥ १४॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम्॥ १५॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको प्रकाशहीन हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है; किंतु उस समय उसका नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीरधारी आत्माके विषयमें भी समझना चाहिये अर्थात् आत्मा अदृश्य होनेपर भी उसका अभाव नहीं है, ऐसा समझना चाहिये॥ १५॥

क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते॥ १६॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको अपने प्रकाश्य स्थानसे वियुक्त हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा शरीरसे वियुक्त होनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता है॥ १६॥

यथाऽऽकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः।
तद्वल्लिङ्गान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः॥ १७॥

फिर वही चन्द्रमा जैसे अन्यत्र आकाशमें स्थान पाकर पुनः प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करके पुनः प्रकट हो जाता है॥ १७॥

जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः॥ १८॥

जन्म, वृद्धि और क्षयका जो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वह चन्द्रमण्डलमें प्रतीत होनेवाली वृत्ति चन्द्रमाकी नहीं है। उसी प्रकार शरीरका ही जन्म आदि होता है, उस शरीरधारी आत्माका नहीं॥ १८॥

उत्पत्तिवृद्धिवयसा यथा स इति गृह्यते।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान्॥ १९॥

जैसे किसी व्यक्तिका जन्म होता है, वह बढ़ता है और किशोर, यौवन आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पहुँच जाता है तो भी यही समझा जाता है कि यह वही व्यक्ति है तथा अमावास्याके बाद जब चन्द्रमा पुनः मूर्तिमान् होकर प्रकट होता है तो यही माना जाता है कि यह वही चन्द्रमा है (उसी प्रकार दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर भी वह देहधारी आत्मा वही है—ऐसा समझना चाहिये)॥ १९॥

नोपसर्पद् विमुञ्चद् वा शशिनं दृश्यते तमः।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत् पश्य शरीरिणम्॥ २०॥

जैसे अन्धकाररूप राहु चन्द्रमाकी ओर आता और

उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दिखायी देता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीरमें आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है। ऐसा समझो ॥ २० ॥

यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यग्रहणकालमें चन्द्रमा सूर्यसे संयुक्त होनेपर सूर्यमें छायारूपी राहुका दर्शन होता है, उसी प्रकार शरीरसे संयुक्त होनेपर शरीरधारी आत्माकी उपलब्धि होती है ॥ २१ ॥

यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ २२ ॥

जैसे चन्द्रमा-सूर्यसे अलग होनेपर सूर्यमें राहुकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार शरीरसे विलग होनेपर शरीरधारी आत्माका दर्शन नहीं होता ॥ २२ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः ॥ २३ ॥

जैसे अमावास्याका अतिक्रमण करनेपर चन्द्रमा नक्षत्रोंसे संयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीरका त्याग करनेपर कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे शरीरसे युक्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मा एवं परमात्माके साक्षात्कारका उपाय तथा महत्त्व

मनुरुवाच

यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्।
ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत् प्रेत्य भवाभवौ ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते ! जैसे स्वप्नावस्थामें यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर विचरण करता रहता है, उसी प्रकार इस शरीरको छोड़नेपर यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियोंके सहित पुनः शरीर ग्रहण कर लेता है या सुषुप्तिकी भाँति मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत्प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ २ ॥

जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जलमें नेत्रोंद्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मनसहित इन्द्रियोंके शुद्ध एवं स्थिर हो जानेपर वह ज्ञानदृष्टिसे ज्ञेयस्वरूप आत्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २ ॥

स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥ ३ ॥

वही मनुष्य हिलते हुए जलमें जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मनसहित इन्द्रियोंके चञ्चल होनेपर वह बुद्धिमें ज्ञेयस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्या कृष्यते मनः।
दुष्टस्य मनसः पञ्च सम्प्रदुष्यन्ति मानसाः ॥ ४ ॥

अविवेकसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस भ्रष्ट बुद्धिसे मन राग आदि दोषोंमें फँस जाता है। इस प्रकार मनके दूषित होनेसे उसके अधीन रहनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं ॥ ४ ॥

अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते ॥ ५ ॥

जिसको अज्ञानसे ही तृप्ति प्राप्त हो रही है, वह मनुष्य विषयोंके अगाध जलमें सदा डूबा रहकर भी कभी तृप्त नहीं होता। वह जीवात्मा प्रारब्धाधीन हुआ विषय-भोगोंकी इच्छाके कारण बारंबार इस संसारमें आता और जन्म ग्रहण करता है ॥ ५ ॥

तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात्।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा ॥ ६ ॥

पापके कारण ही संसारमें पुरुषकी तृष्णाका अन्त नहीं होता। जब पापोंकी समाप्ति हो जाती है, तभी उसकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है ॥ ६ ॥

विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात्।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

विषयोंके संसर्गसे, सदा उन्हींमें रचे-पचे रहनेसे तथा मनके द्वारा साधनके विपरीत भोगोंकी इच्छा रखनेसे पुरुषको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ८ ॥

पाप-कर्मोंका क्षय होनेसे ही मनुष्योंके अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय होता है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही मानव अपने प्रतिबिम्बको अच्छी तरह देख पाता है ॥ ८ ॥

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥ ९ ॥

विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दुखी होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता है; इसलिये इन्द्रियोंके विषयोंसे बुद्धिके द्वारा अपने मनको रोकना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत् ॥ १० ॥

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अव्यक्तात् प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः ।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति ॥ ११ ॥

अव्यक्त परमात्मासे ज्ञान प्रसारित हुआ है । ज्ञानसे बुद्धि और बुद्धिसे मन प्रकट हुआ है । वह मन ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे युक्त होकर शब्द आदि विषयोंका भलीभाँति अनुभव करता है ॥ ११ ॥

यस्तांस्त्यजति शब्दादीन् सर्वांश्च व्यक्तयस्तथा ।
विमुञ्चेत् प्राकृतान्ग्रामांस्तान् मुक्त्वामृतमश्नुते ॥ १२ ॥

जो पुरुष शब्द आदि विषयोंको, उनके आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्वोंको, स्थूलभूतों और प्राकृत गुण-समुदायोंको त्याग देता है अर्थात् उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लेता है, वह उन्हें त्याग कर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

उद्यन् हि सविता यद्वत्सृजते रश्मिमण्डलम् ।
स एवास्तमपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १३ ॥
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः ।
प्राप्येन्द्रियगुणान् पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति ॥ १४ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अपनी किरणोंको सब ओर फैला देता है और अस्त होते समय उन समस्त किरणोंको अपने भीतर ही समेट लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा देहमें प्रविष्ट होकर फैली हुई इन्द्रियोंकी वृत्तिरूपी किरणोंद्वारा पाँचों विषयोंको ग्रहण करता है और शरीरको छोड़ते समय उन सबको समेटकर अपने साथ लेकर चल देता है ॥ १३-१४ ॥

प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः ।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान् ॥ १५ ॥

जिसने प्रवृत्तिप्रधान पुण्य-पापमय कर्मका आश्रय लिया है, वह जीवात्मा कर्मोंद्वारा कर्म-मार्गपर बारंबार लाया जाकर अर्थात् संसार-चक्रमें भ्रमाया जाकर सुख-दुःखरूप कर्म-फलको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ १६ ॥

इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेसे पुरुषके वे विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें उनकी आसक्ति बनी रहती है । परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर पुरुषकी वह आसक्ति भी दूर हो जाती है ॥ १६ ॥

बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते ।
तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम् ॥ १७ ॥

जिस समय बुद्धि कर्मजनित गुणोंसे छूटकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

अस्पर्शनमश्रृण्वानमनास्वादमदर्शनम् ।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम् ॥ १८ ॥

परब्रह्म परमात्मा स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, घ्राण और संकल्प-विकल्पसे भी रहित है; इसलिये केवल विशुद्ध बुद्धि ही उसमें प्रवेश कर पाती है ॥ १८ ॥

मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम् ।
मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम् ॥ १९ ॥

मनमें शब्दादि विषयरूप समस्त आकृतियोंका लय होता है । मनका बुद्धिमें, बुद्धिका ज्ञानमें और ज्ञानका परमात्मामें लय होता है ॥ १९ ॥

नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः ।
न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति ॥ २० ॥

इन्द्रियोंद्वारा मनकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मनको नहीं जानती हैं । मन बुद्धिको नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्माको नहीं जानती है; किंतु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

मनुरुवाच

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते ।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत् ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! जब मनुष्यपर कोई ऐसा शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े, जिसके रहते हुए साधन करना अशक्य हो जाय, तब उस दुःखका चिन्तन करना छोड़ दे ॥ १ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ २ ॥

दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय; क्योंकि चिन्तन करनेसे वह सामने आता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है ॥ २ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३ ॥

अतः मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा तथा शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी

सामर्थ्य है, जिससे मनुष्य दुःखमें पड़नेपर बच्चोंके समान बैठकर रोये नहीं ॥ ३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४ ॥

यौवन, रूप, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका समागम—ये सब अनित्य हैं। विवेकशील पुरुषोंको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ ५ ॥

जो दुःख सारे देशपर है, उसके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक नहीं करना चाहिये। यदि उसे टालनेका कोई उपाय दिखायी दे तो शोक न करके उस दुःखके निवारणका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है। जो पुरुष विषयोंमें अधिक आसक्त होता है, वह मोहवश मरणरूप अप्रिय कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालनेन च ते सुखम् ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

विषयोंके उपार्जनमें दुःख है। उनकी रक्षामें भी तुम्हें सुख नहीं मिल सकता। दुःखसे ही उनकी उपलब्धि होती है; अतः उनका नाश हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥

ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः ।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

बृहस्पते! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि ज्ञेयरूपमें परमात्मासे ज्ञान प्रकट होता है और मन ज्ञानका गुण (कार्य) है। जब वह ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त होता है, तब बुद्धि कर्मोंमें प्रवृत्त होती है ॥ ९ ॥

यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना ॥ १० ॥

जिस समय बुद्धि कर्म-संस्कारोंसे रहित होकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यानयोगजनित समाधिके द्वारा ब्रह्मका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ॥ १० ॥

सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते ।
अपराद्‌भिनिःसृत्य गिरेः श्रृङ्गादिवोदकम् ॥ ११ ॥

अन्यथा जैसे जलकी धारा पर्वतके शिखरसे निकलकर ढालकी ओर बहती है, उसी प्रकार यह गुणवती बुद्धि अज्ञानके कारण परमात्मासे नियुक्त होकर रूप आदि गुणोंकी ओर बहने लग जाती है ॥ ११ ॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२ ॥

परंतु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येयतत्त्वको ध्यानद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है, तब कसौटीपर कसे हुए सुवर्णके समान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३ ॥

परंतु इन्द्रियोंके विषयोंको दिखानेवाला मन जब पहलेसे ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषयरूप गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्त्वका दर्शन करानेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः ।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थित हो उन सबका हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये ।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते ॥ १५ ॥

जिस प्रकार गुणोंका क्षय होनेपर पञ्चमहाभूत निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियोंको लेकर हृदयमें स्थित हो जाती है ॥ १५ ॥

यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी ।
व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः ॥ १६ ॥

जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदयमें स्थित होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है ॥१६॥

गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः ।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

शब्दादि गुणोंसे युक्त इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उन गुणोंसे घिरा हुआ मन जब ध्यानजनित गुणोंसे सम्पन्न होता है, तब उन समस्त गुणोंको त्यागकर निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम् ।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अव्यक्त ब्रह्मका बोध करानेके लिये इस संसारमें कोई योग्य दृष्टान्त नहीं है। जहाँ वाणीका व्यापार ही नहीं है, उस वस्तुको कौन वर्णनका विषय बना सकता है ॥

तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च ।
निनीषेत् परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

इसलिये तपसे, अनुमानसे, शम आदि गुणोंसे, जातिगत धर्मोंके पालनसे तथा शास्त्रोंके स्वाध्यायसे अन्तःकरणको विशुद्ध करके उसके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥

गुणहीनो हि तं मार्गं बहिः समनुवर्तते ।
गुणाभावात् प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसम्मितम् ॥ २० ॥

उक्त तपस्या आदि गुणोंसे रहित मनुष्य बाहर रहकर बाह्य मार्गका ही अनुसरण करता है। वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा गुणोंसे अतीत होनेके कारण स्वभावसे ही तर्कका विषय नहीं है ॥ २० ॥

नैर्गुण्याद् ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते ।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने ॥ २१ ॥

जैसे अग्नि सूखे काठमें विचरण करती है, उसी प्रकार बुद्धि भी शब्द, स्पर्श आदि गुणोंमें विचरती रहती है। जब वह उन गुणोंका सम्बन्ध छोड़ देती है, तब निर्गुण होनेके कारण ब्रह्मको प्राप्त होती है और जबतक गुणोंमें आसक्त रहती है, तबतक गुणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण ब्रह्मको न पाकर लौट आती है ॥ २१ ॥

यथा पञ्च विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः ।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम् ॥ २२ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्यरूप शब्द आदि गुणोंसे भिन्न हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकृतिसे सर्वथा परे है ॥ २२ ॥

एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः ।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और यथासमय उसीमें लयको प्राप्त होते हैं। उस लय अथवा मृत्युके पश्चात् वे पुण्य और पापके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ॥ २४ ॥

पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन और पञ्च महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका समूह ही प्राणी नामसे कहा जाता है ॥ २४ ॥

एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात् सम्प्रवर्तते ।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति ॥ २५ ॥

बुद्धि आदि तत्त्वसमूहकी प्रथम सृष्टि प्रकृतिसे ही हुई है। तदनन्तर दूसरी बारसे उनकी सामान्यतः मैथुन-धर्मसे नियमपूर्वक अभिव्यक्ति होने लगी है ॥ २५ ॥

धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥ २६ ॥

धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है और अधर्म करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है। विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्मतत्त्वका निरूपण—मनु-बृहस्पति-संवादकी समाप्ति

मनुरुवाच

यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह ।
अथ तद् द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयोंसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको काबूमें कर लेता है, उस समय वह मणियोंमें ओतप्रोत तागेके समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १ ॥

तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा ॥ २ ॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत् कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

जैसे वही तागा सोनेकी लड़ियोंमें, मोतियोंमें, मूँगोंमें और मिट्टीकी मालाके दानोंमें ओतप्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गौ, अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट-पतङ्ग आदि समस्त शरीरोंमें व्याप्त है! विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है ॥ २-३ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

यह मनुष्य जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीरसे उसी-उसी कर्मका फल भोगता है ॥ ४ ॥

यथा ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी ।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी ॥ ५ ॥

जैसे भूमिमें एक ही रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार वह उसमें रस उत्पन्न करती है, उसी तरह अन्तरात्मासे ही प्रकाशित बुद्धि पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होती है ॥

ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाभिसंधिता ।
अभिसंधिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् ॥ ६ ॥

मनुष्यको पहले तो विषयका ज्ञान होता है; फिर उसके मनमें उसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। उसके बाद 'इस कार्यको सिद्ध करूँ' यह निश्चय और प्रयत्न आरम्भ होता है। फिर कर्म सम्पन्न होता और उसका फल मिलता है ॥ ६ ॥

फलं कर्मात्मकं विद्यात् कर्म ज्ञेयात्मकं तथा ।

ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार फलको कर्मस्वरूप समझे। कर्मको जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका रूप समझे और ज्ञेयको ज्ञानरूप समझे तथा ज्ञानका स्वरूप कार्य और कारण जाने ॥ ७ ॥

ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होनेपर जो प्राप्तव्य फलरूपसे शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेयमात्र(-में व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप परमात्मा समझो ॥८॥

महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥

उस परम महान् तत्त्वको योगिजन ही देख पाते हैं। विषयोंमें आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्माको नहीं देख सकते हैं ॥ ९ ॥

पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम्।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान् ॥ १० ॥
पवनाच्च महद् व्योम तस्मात् परतरं मनः।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान् स्मृतः ॥ ११ ॥
कालात् स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत्।
नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते ॥ १२ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके रूपसे जलका ही रूप महान् है। जलसे तेज अतिमहान् है, तेजसे पवन महान् है, पवनसे आकाश महान् है, आकाशसे मन परतर है अर्थात् सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् है। मनसे बुद्धि महान् है, बुद्धिसे काल अर्थात् प्रकृति महान् है और कालसे भगवान् विष्णु अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान हैं। यह सारा जगत् उन्हींकी सृष्टि है। उन भगवान् विष्णुका न कोई आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है ॥ १०—१२ ॥

अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते ॥ १३ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित होनेके कारण ही अविनाशी हैं;अतएव सम्पूर्ण दुःखोंसे परे हैं, क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःखरूप हुआ करती है ॥ १३ ॥

तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम्।
तद् गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः॥ १४॥

अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेनेपर जीव कालके राज्यसे मुक्त हो मोक्षधाममें स्थित हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम्।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥

ये बध्य जीव गुणोंमें अर्थात् गुणोंके कार्यरूप शरीर आदिके सम्बन्धसे व्यक्त हो रहे हैं; परंतु परमात्मा निर्गुण होनेके कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्तिरूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति करानेमें समर्थ है ॥ १५॥

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥ १६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययनकालमें शरीरके आश्रित रहते हैं और जिह्वाके अग्रभागपर प्रकट होते हैं; इसीलिये वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अर्थात् इनका लुप्त होना स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥

किंतु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययनकी भाँति यत्नसाध्य नहीं हैं; क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥

वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका आदि कहलाता है। जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थोंका अन्त होता देखा गया है। ब्रह्मका कोई भी आदि नहीं बताया गया है ॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥

वह अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय और अविनाशी है। अविनाशी होनेसे ही दुःखरहित है। उसमें हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वोंका अभाव है; अतएव वह सबसे परे है ॥ १९ ॥

अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसंधेश्च कर्मणः।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम् ॥ २० ॥

परंतु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्मफलविषयक आसक्तिके कारण जिससे परमात्माकी प्राप्ति होती है, मनुष्य उस मार्गका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ २० ॥

विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात्।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति है; क्योंकि विषयसुख सदा रहनेवाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मनसे सांसारिक पदार्थोंको पानेकी इच्छा रखते हैं; इसीलिये उन्हें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः ॥ २२ ॥

संसारी मनुष्य इस संसारमें जिन-जिन विषयोंको देखते हैं, उन्हींको पाना चाहते हैं। सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें पानेके लिये उनके मनमें इच्छा नहीं होती है; क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं ॥ २२ ॥

गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात् परान् गुणान्।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम् ॥ २३ ॥

भला, जो इन तुच्छ विषयोंमें फँसा हुआ है, वह परम-दिव्य गुणोंको कैसे जान सकता है ? जैसे धूमसे अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूपभूत दिव्य गुणोंद्वारा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका दिग्दर्शन हो सकता है ॥ २३ ॥

सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥

हम ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो कर सकते हैं, किंतु वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मनके द्वारा ही मानसिक विषय-का ग्रहण हो सकता है और ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना जा सकता है ॥ २४ ॥

ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये ज्ञानके द्वारा बुद्धिको, बुद्धिके द्वारा मनको तथा मनके द्वारा इन्द्रिय-समुदायको निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है ॥ २५ ॥

बुद्धिप्रवीणो मनसा समृद्धो
निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति ।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ २६ ॥

बुद्धिमें प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे सम्पन्न एवं मानसिक बलसे युक्त हुआ पुरुष, समस्त इच्छासे अतीत निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जैसे वायु काठमें रहनेवाले अदृश्य अग्निको बिना प्रज्वलित किये ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओंसे विकल हुए पुरुष भी अपने शरीरके भीतर स्थित परमात्माका त्याग कर देते हैं अर्थात् उसे जानने और पानेकी चेष्टा नहीं करते ॥ २६ ॥

गुणादाने विप्रयोगे च तेषां
मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम् ।
अनेनैव विधिना सम्प्रवृत्तो
गुणापाये ब्रह्म शरीर मेति ॥ २७ ॥

जब साधक साधनरूप गुणोंको धारण कर लेता है और उन सांसारिक पदार्थोंसे मनको हटा लेता है, तब उसका मन बुद्धिजन्य अच्छे-बुरे भावोंसे रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधनमें लगा हुआ साधक जब गुणोंसे अतीत हो जाता है, तब ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात् कर लेता है ॥

अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा
सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले ।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानै-
र्ग्लायद्भिर्वा ऽऽवर्तते ऽकामरूपः ॥२८ ॥

पुरुषका आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है और उसके कर्म शरीररूपमें व्यक्त हैं। अतः वह अन्तकालमें अव्यक्तभावको प्राप्त हो जाता है। परंतु कामनाओंसे तद्रूप हुआ वह जीव उन बढ़ी हुई विषयप्रबल इन्द्रियोंसे युक्त होकर पुनः संसारमें आ जाता है अर्थात् पुनः शरीरको धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

सर्वैरयं चेन्द्रियैः सम्प्रयुक्तो
देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात् ।
नासामर्थ्याद् गच्छति कर्मणेह
हीनस्तेन परमेणाव्ययेन ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर यह देहधारी जीव पञ्च-भूतस्वरूप शरीरके आश्रित हो जाता है। ज्ञान और उपासना आदिकी शक्तिके बिना वह केवल कर्मोंद्वारा परमात्माको नहीं पाता। अतः वह उस अविनाशी परमेश्वरसे वञ्चित रह जाता है ॥ २९ ॥

पृथ्व्यां नरः पश्यति नान्तमस्या
ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि ।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं
यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम् ॥ ३० ॥

इस भूतलपर रहनेवाला मनुष्य यद्यपि इस पृथ्वीका अन्त नहीं देखता है तो भी कहीं-न-कहीं इसका अन्त अवश्य है, ऐसा समझो। जैसे समुद्रमें लहरोंद्वारा ऊपर-नीचे होते हुए जहाजको प्रवाहके अनुकूल बहती हुई हवा तटपर लगा देती है, उसी प्रकार संसारसमुद्रमें गोता लगाते हुए मनुष्यको अनुकूल वातावरण संसारसागरसे पार कर देता है ॥ ३० ॥

दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो
यथा भवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान्
स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक सूर्य प्रकाशरूपी गुणको पाकर भी अस्ताचलको जाते समय अपने किरणसमूहको समेटकर जैसे निर्गुण हो जाता है, उसी प्रकार भेदभावसे रहित हुआ मुनि यहाँ अविनाशी निर्गुण ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥ ३१ ॥

अनागतं सुकृतवतां परां गतिं
स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं
निचाय्य तत् परममृतत्वमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो कहींसे आया हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्य-वानोंकी परमगति है, स्वयम्भू (अजन्मा) है, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है, अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं अचल है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परममोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका तथा उनकी महिमाका कथन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ १ ॥
नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! महाप्राज्ञ पितामह ! कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबके कर्ता, अकृत (नित्य सिद्ध), सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये कभी किसीसे पराजित नहीं होते। ये ही नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव—इन नामोंसे भी विख्यात हैं। मैं इनके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

श्रुतोऽयमर्थो रामस्य जामदग्न्यस्य जल्पतः ।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! मैंने इस विषयका विवेचन जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीके मुँहसे सुना है ॥ ३ ॥

असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः ।
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयन्त्यद्भुतं महत् ॥ ४ ॥

तात ! असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और महर्षि मार्कण्डेयजी भी इन भगवान् गोविन्दके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कहा करते हैं ॥ ४ ॥

केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः ।
पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं। श्रुतिमें 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्'* इत्यादि वचनोंद्वारा इन्हीं सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी महिमाका नाना प्रकारसे निरूपण किया गया है।

किं तु यानि विदुर्लोके ब्राह्मणाः शार्ङ्गधन्वनि ।
माहात्म्यानि महाबाहो शृणु तानि युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! जगत्में ब्राह्मणोंने शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णके जिन माहात्म्योंको जानते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

यानि चाहुर्मनुष्येन्द्र ये पुराणविदो जनाः ।
कर्माणि त्विह गोविन्दे कीर्तयिष्यामि तान्यहम् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! पुराणवेत्ता पुरुष गोविन्दकी जिन-जिन लीलाओं तथा चरित्रोंका वर्णन करते हैं, उनका मैं यहाँ वर्णन करूँगा ॥ ७ ॥

महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ।
वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत् ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महात्मा पुरुषोत्तमने आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी रचना की है ॥ ८ ॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं चैव सर्वभूतेश्वरः प्रभुः ।
अप्स्वेव भवनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

सर्वभूतेश्वर, प्रभु, महात्मा पुरुषोत्तमने इस पृथ्वीकी सृष्टि करके जलमें ही अपना निवासस्थान बनाया ॥ ९ ॥

सर्वतेजोमयस्तस्मिञ्शयानः पुरुषोत्तमः ।
सोऽग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ॥ १० ॥
आश्रयं सर्वभूतानां मनसेतीह शुश्रुम ।

उसमें शयन करते हुए सर्वतेजोमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने मनसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अग्रज तथा आश्रय संकर्षणको उत्पन्न किया, यह हमने सुना है ॥ १०½ ॥

स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती ॥ ११ ॥
ततस्तस्मिन् महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्ममजायत ॥ १२ ॥

वे संकर्षण ही समस्त भूतोंको धारण करते हैं तथा वे ही भूत और भविष्यके भी आधार हैं। उन महाबाहु महात्मा संकर्षणका प्रादुर्भाव होनेके पश्चात् श्रीहरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था ॥ ११-१२ ॥

स तत्र भगवान् देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः ।
ब्रह्मा समभवत् तात सर्वभूतपितामहः ॥ १३ ॥

तात ! उस कमलसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए समस्त प्राणियोंके पितामह देवस्वरूप भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

तस्मिन्नपि महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
तमसा पूर्वजो जज्ञे मधुर्नाम महासुरः ॥ १४ ॥

उन महाबाहु महात्मा ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति हो जानेपर वहाँ तमोगुणसे मधुनामक महान् असुर प्रकट हुआ, जो असुरोंका पूर्वज था ॥ १४ ॥

तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रं कर्म समास्थितम् ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

उसका स्वभाव बड़ा ही उग्र था। वह सदा ही भयानक कर्म करनेवाला था। भयंकर कर्म करनेका निश्चय लेकर आये हुए उस असुरको पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीका हित करनेके लिये मार डाला ॥ १५ ॥

तस्य तात वधात् सर्वे देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषभं सर्वसात्वताम् ॥ १६ ॥

तात ! उस मधुका वध करनेके कारण ही सम्पूर्ण देवता, दानव और मानव—इन सर्वसात्वतशिरोमणि श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं ॥ १६ ॥

---

* पुरुष (श्रीकृष्ण) ही यह सब कुछ हैं।

ब्रह्मानुससृजे पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान्।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ १७ ॥

ब्रह्माजीने सात मानस पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनमें दक्ष प्रजापति सातवें थे (ये ही सबसे प्रथम उत्पन्न हुए थे)। शेष छः पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १७ ॥

मरीचिः कश्यपं तात पुत्रमग्रजमग्रजः।
मानसं जनयामास तैजसं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १८ ॥

तात! इन छः पुत्रोंमें सबसे बड़े थे मरीचि। उन्होंने अपने मनसे ही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कश्यप नामक श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दिया, जो बड़े ही तेजस्वी हैं ॥ १८॥

अङ्गुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम्।
सोऽभवद् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने दक्षको अपने अँगूठेसे उत्पन्न किया था। वे मरीचिसे भी बड़े थे। इसीलिये प्रजापतिके पदपर दक्ष प्रतिष्ठित हुए ॥ १९ ॥

तस्य पूर्वमजायन्त दश तिस्रश्च भारत।
प्रजापतेर्दुहितरस्तासां ज्येष्ठाभवद् दितिः ॥ २० ॥

भरतनन्दन! प्रजापति दक्षके पहले तेरह कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें दिति सबसे बड़ी थी ॥ २० ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञः पुण्यकीर्तिर्महायशाः।
मारीचः कश्यपस्तात सर्वासामभवत् पतिः ॥ २१ ॥

तात! सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ, पुण्यकीर्ति, महायशस्वी मरीचिनन्दन कश्यप उन सब कन्याओंके पति हुए ॥ २१ ॥

उत्पाद्य तु महाभागस्तासामवरजा दश।
ददौ धर्माय धर्मज्ञो दक्ष एव प्रजापतिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर धर्मके ज्ञाता महाभाग प्रजापति दक्षने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं, जो पूर्वोक्त तेरह कन्याओंसे छोटी थीं। उन सबका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया ॥

धर्मस्य वसवः पुत्रा रुद्राश्चामिततेजसः।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च मरुत्वन्तश्च भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन! धर्मके वसु, अमित तेजस्वी रुद्र, विश्वेदेव, साध्य तथा मरुद्गण-ये बहुत-से पुत्र हुए ॥ २३ ॥

अपराश्च यवीयस्यस्ताभ्योऽन्याः सप्तविंशतिः।
सोमस्तासां महाभागः सर्वासामभवत् पतिः ॥ २४ ॥
इतरास्तु व्यजायन्त गन्धर्वांस्तुरगान् द्विजान्।
गाश्च किंपुरुषान्मत्स्यानुद्भिज्जांश्च वनस्पतीन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् दक्षके अन्य सत्ताईस कन्याएँ हुईं, जो पूर्वोक्त कन्याओंसे छोटी थीं। महाभाग सोम उन सबके पति हुए। इन सबके अतिरिक्त भी दक्षके बहुत-सी कन्याएँ हुईं, जिन्होंने गन्धर्वों, अश्वों, पक्षियों, गौओं, किम्पुरुषों, मत्स्यों, उद्भिज्जों और वनस्पतियोंको जन्म दिया ॥ २४-२५ ॥

आदित्यानदितिर्जज्ञे देवश्रेष्ठान् महाबलान्।
तेषां विष्णुर्वामनोऽभूद् गोविन्दश्चाभवत् प्रभुः ॥ २६ ॥

अदितिने देवताओंमें श्रेष्ठ महाबली आदित्योंको उत्पन्न किया। उन आदित्योंमें सर्वव्यापी भगवान् गोविन्द भी वामनरूपसे प्रकट हुए ॥ २६ ॥

तस्य विक्रमणाच्चापि देवानां श्रीर्व्यवर्धत।
दानवाश्च पराभूता दैतेयी चासुरी प्रजा ॥ २७ ॥

उनके विक्रमसे अर्थात् विराट्रूप धारणकर तीन पैडमें त्रिलोकीको नाप लेनेके कारण देवताओंकी श्रीवृद्धि हुई। दानव पराजित हुए तथा दैत्यों और असुरोंकी प्रजा भी पराभवको प्राप्त हुई ॥ २७ ॥

विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद् दनुः।
दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वानजीजनत् ॥ २८ ॥

दनुने दानवोंको जन्म दिया, जिनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रमुख थे। दिति समस्त असुरों—महान् शक्तिशाली दैत्योंकी जननी हुई ॥ २८ ॥

अहोरात्रं च कालं च यथर्तु मधुसूदनः।
पूर्वाह्णं चापराह्णं च सर्वमेवानुकल्पयत् ॥ २९ ॥

इन्हीं श्रीमधुसूदनने दिन-रात, ऋतुके अनुसार काल, पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण आदि समस्त कालविभागकी व्यवस्था की ॥ २९ ॥

प्रध्याय सोऽसृजन्मेघांस्तथा स्थावरजङ्गमान्।
पृथिवीं सोऽसृजद् विश्वां सहितां भूरितेजसा ॥ ३० ॥

उन्होंने ही अपने मनके संकल्पसे मेघों, स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा समस्त पदार्थोंसहित महान् तेजसे संयुक्त समूची पृथ्वीकी सृष्टि की ॥ ३० ॥

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने पुनः सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मुखसे ही उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम्।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन केशवने सैकड़ों क्षत्रियोंको अपनी दोनों भुजाओंसे, सैकड़ों वैश्योंको अपनी जाँघोंसे तथा सैकड़ों शूद्रोंको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन महातपस्वी श्रीहरिने चारों वर्णोंको उत्पन्न करके स्वयं ही धाताको सम्पूर्ण भूतोंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३३ ॥

वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम्।
भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥ ३४ ॥

वे ही वेदविद्याको धारण करनेवाले अमित तेजस्वी ब्रह्मा हुए। फिर श्रीहरिने भूतों और मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्ष (रुद्र) की रचना की ॥ ३४ ॥

शासितारं च पापानां पितॄणां समवर्तिनम्।
असृजत् सर्वभूतात्मा निधिपं च धनेश्वरम् ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिने पापियोंको दण्ड देनेवाले तथा पितरोंके समवर्ती यमराजको और सम्पूर्ण निधियोंके पालक धनाध्यक्ष कुबेरको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥

यादसामसृजन्नाथं वरुणं च जलेश्वरम् ।
वासवं सर्वदेवानामध्यक्षमकरोत् प्रभुः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार उन्होंने जल-जन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुण-की सृष्टि की । उन्हीं भगवान्‌ने इन्द्रको सम्पूर्ण देवताओंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३६ ॥

यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम् ।
तावत् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ॥ ३७ ॥

पहले मनुष्योंको जितने दिनोंतक शरीर धारण करनेकी इच्छा होती, उतने दिनोंतक वे जीवित रहते थे । उन्हें यम-राजका कोई भय नहीं होता था ॥ ३७ ॥

न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ ।
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके लोगोंमें मैथुनधर्मकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी । इन सबको संकल्पसे ही संतान पैदा होती थी ॥ ३८ ॥

ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा ।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ३९ ॥

तदनन्तर त्रेतायुगका समय आनेपर स्पर्श करनेमात्रसे संतानकी उत्पत्ति होने लगी । नरेश्वर! उस समयके लोगोंमें भी मैथुन-धर्मका प्रचार नहीं हुआ था ॥ ३९ ॥

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप ।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! द्वापरयुगमें प्रजाके मनमें मैथुनधर्मका सूत्रपात हुआ । राजन् ! उसी तरह कलियुगमें भी लोग मैथुनधर्मको प्राप्त होने लगे ॥ ४० ॥

एष भूतपतिस्तात स्वध्यक्षश्च तथोच्यते ।
निरपेक्षांश्च कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ४१ ॥

तात कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण ही भूतनाथ एवं सबके अध्यक्ष कहे जाते हैं । अब जो नरकका दर्शन करने-वाले हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः ।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चूचुका मद्रकैः सह ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! दक्षिण भारतमें जन्म लेनेवाले सभी आन्ध्र, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रक—ये सब-के-सब म्लेच्छ हैं ॥ ४२ ॥

उत्तरापथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि ।
यौनकाम्बोजगान्धाराः किराता बर्बरैः सह ॥ ४३ ॥
एते पापकृतस्तात चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।

तात ! अब उत्तर भारतमें जन्म लेनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन करूँगा; यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर—ये सब-के-सब पापाचारी होकर इस सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४३½ ॥

श्वपाकबलगृध्राणां सधर्माणो नराधिप ॥ ४४ ॥
नैते कृतयुगे तात चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।

नरेश्वर ! ये सब-के-सब चाण्डाल, कौए और गीधोंके समान आचार-विचारवाले हैं । ये सत्ययुगमें इस पृथ्वीपर नहीं विचरण करते हैं ॥ ४४½ ॥

त्रेताप्रभृति वर्धन्ते ते जना भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ततस्तस्मिन् महाघोरे संध्याकाल उपस्थिते ।
राजानः समसज्जन्त समासाद्येतरेतरम् ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! त्रेतासे वे लोग बढ़ने लगे थे । तदनन्तर त्रेता और द्वापरका महाघोर संध्याकाल उपस्थित होनेपर राजा-लोग एक दूसरेसे टक्कर लेकर युद्धमें आसक्त हुए ४५-४६

एवमेष कुरुश्रेष्ठ प्रादुर्भूतो महात्मना ।

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने इस लोकको उत्पन्न किया है ॥ ४६½ ॥

(तपःस्वरूपो महादेवः कृष्णो देवकिनन्दनः ।
तस्य प्रसादाद् दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद ॥
एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमा गतिः ।

सबको मान देनेवाले नरेश ! महान् देवता भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण तपस्यारूप ही हैं । उन्हींकी कृपासे तुम्हारे सारे दुःखोंका नाश हो जायगा । एकमात्र जगत्स्रष्टा श्रीकृष्ण ज्ञानियोंकी परमगति हैं ॥

इदमाश्रित्य देवेन्द्रो देवा रुद्रास्तथाश्विनौ ॥
स्वे स्वे पदे विविशिरे भुक्तिमुक्तिविदो जनाः ॥

तपस्यारूप इन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर देवराज इन्द्र अन्यान्य देवता, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा भोग और मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले महर्षि अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित रहते हैं ॥

श्रूयतामस्य सद्भावः सम्यग्ज्ञानं यथा तव ।
भूतानामन्तरात्मासौ स नित्यपदसंवृतः ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा नित्य वैकुण्ठ-धाममें अपनी योगमायासे आवृत होकर निवास करते हैं । उनकी सत्ता और महत्ताको तुम श्रवण करो, जिससे तुम्हें श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान हो जाय ॥

पुरा देवर्षिः श्रीमान् नारदः परमार्थवान् ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां तीर्थान्यनुचरन् प्रभुः ॥

पहलेकी बात है परमार्थसे सम्पन्न देवर्षि श्रीनारदजी भूमण्डलके सम्पूर्ण तीर्थोंमें विचरण करते हुए घूम रहे थे ॥

हिमवत्पादमाश्रित्य विचार्य च पुनः पुनः ।
स ददर्श ह्रदं तत्र पद्मोत्पलसमाकुलम् ॥

वे हिमालयके समीपवर्ती पर्वतपर बारंबार विचरण करके एक ऐसे स्थानपर गये, जहाँ उन्हें कमल और उत्पलसे भरा हुआ एक सरोवर दिखायी दिया ॥

ततः स्नात्वा महातेजा वाग्यतो नियतेन्द्रियः ।
तुष्टाव पुरुषव्याघ्रो जिज्ञासुश्च तदद्भुतम् ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी पुरुषप्रवर नारदने उस सरोवरमें मौनभावसे स्नान करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर उस भगवान्-

के स्वरूपका अद्भुत रहस्य जाननेके लिये भगवान्‌की स्तुतिकी ॥

ततो वर्षशते पूर्णे भगवाँल्लोकभावनः ।
प्रादुश्चकार विश्वात्मा ऋषेः परमसौहृदात् ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर लोकस्रष्टा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि ऋषिके प्रति परम सौहार्दवश उनके सामने प्रकट हुए ॥

तमागतं जगन्नाथं सर्वकारणकारणम् ।
अखिलामरमौल्यग्ररुक्मारुणपदद्वयम् ॥
वैनतेयपदस्पर्शकिणशोभितजानुकम् ।
पीताम्बरलसत्काञ्चीदामबद्धकटीतटम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं चारुमणिकौस्तुभकन्धरम् ।
मन्दस्मितमुखाम्भोजं चलदायतलोचनम् ॥
नम्रचापानुकरणनम्रभ्रूयुगशोभितम् ।
नानारत्नमणिवज्रस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
इन्द्रनीलनिभाभं तं केयूरमुकुटोज्ज्वलम् ।
देवैरिन्द्रपुरोगैश्च ऋषिसङ्घैरभिष्टुतम् ॥
नारदो जयशब्देन ववन्दे शिरसा हरिम् ।

नारदजीने देखा, समस्त कारणोंके भी कारण भगवान् जगन्नाथ पधारे हैं । उनके युगल चरणारविन्द सम्पूर्ण देवताओंके सुवर्णमय मुकुटोंके कुङ्कुमसे रक्तवर्ण हो रहे हैं । गरुड़जीके ऊपर सवारी करनेसे उनके दोनों घुटनोंमें रगड़ पड़नेके कारण चिह्न बन गये हैं; जो उन घुटनोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं । उनके श्यामसुन्दर अङ्गपर पीताम्बर शोभा पा रहा है और कटिप्रदेशमें किङ्किणीकी लड़ें बँधी हुई हैं । वक्षःस्थलमें श्रीवत्सकी सुनहरी रेखा शोभा पाती है । गलेमें मनोहर कौस्तुभमणि अपना प्रकाश बिखेर रही है । मुखारविन्दपर मन्द-मन्द मुसकानकी मनोहर छटा छा रही है । विशाल नेत्र चञ्चल गतिसे इधर-उधर देख रहे हैं । झुके हुए दो धनुषोंकी भाँति बाँकी भौंहें उनके मुखमण्डलकी शोभा बढ़ा रही हैं । नाना प्रकारके रत्न, मणि और हीरोंसे जटित मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं । उनकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है । बाँहोंमें केयूर तथा मस्तकपर मुकुटकी उज्ज्वल आभा छिटक रही है एवं इन्द्र आदि देवता और महर्षियोंके समुदाय उनकी स्तुति करते हैं । भगवान्‌की यह झाँकी देखकर जय-जयकार करते हुए नारदजीने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥

ततः स भगवाञ्श्रीमान् मेघगम्भीरया गिरः।
प्राहेशः सर्वभूतानां नारदं पतितं क्षितौ ॥

तदनन्तर नारदजीको पृथ्वीपर पड़ा देख सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीमान् भगवान् नारायणने मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

भद्रमस्तु ऋषे तुभ्यं वरं वरय सुव्रत ।
यत्ते मनसि सुव्यक्तमस्ति च प्रददामि तत् ॥

श्रीभगवान् बोले—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हुई हो, उसे स्पष्ट बताओ । मैं उसे पूर्ण करूँगा ॥

भीष्म उवाच

स चेमं जयशब्देन प्रसीदेत्यातुरो मुनिः ।
प्रोवाच हृदि संरूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
विवक्षितं जगन्नाथ मया ज्ञातं त्वयाच्युत ।
तत् प्रसीद हृषीकेश श्रोतुमिच्छामि तद्धरे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्रेमसे आतुर हुए मुनिवर नारदने जय-जयकार करते हुए अपने हृदयमें नित्य विराजमान रहनेवाले शङ्ख, चक्र और गदाधारी भगवान्‌से कहा—'प्रभो ! प्रसन्न होइये । जगन्नाथ ! अच्युत ! हृषीकेश ! हरे ! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह आपको पहलेसे ही ज्ञात है । मैं उसीको सुनना चाहता हूँ । आप मुझपर कृपा करें' ॥

ततः स्मयन् महाविष्णुरभ्यभाषत नारदम् ।
निर्द्वन्द्वा निरहङ्काराः शुचयः शुद्धलोचनाः ॥
ते मां पश्यन्ति सततं तान् पृच्छ यदिहेच्छसि ।

तब मुसकराते हुए भगवान् महाविष्णुने नारदजीसे कहा—'जो लोग शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, अहंकारशून्य, पवित्र तथा निर्दोष दृष्टिवाले महात्मा हैं, वे निरन्तर मेरे उस स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं; अतः तुम यहाँ जो कुछ चाहते हो, उसके विषयमें उन्हीं महात्माओंके पास जाकर प्रश्न करो ॥

ये योगिनो महाप्राज्ञा मदंशा ये व्यवस्थिताः ।
तेषां प्रसादं देवर्षे मत्प्रसादमवेहि तत् ॥

'देवर्षे ! जो लोग योगी और महाज्ञानी हैं तथा जो मेरे अंशरूपसे स्थित हैं, उनके प्रसादको तुम मेरा ही कृपाप्रसाद समझो' ॥

इत्युक्त्वा स जगामाथ भगवान् भूतभावनः ।
तस्माद् व्रज हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥

ऐसा कहकर भूतभावन भगवान् विष्णु वहाँसे चले गये; अतः युधिष्ठिर ! तुम भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी शरणमें जाओ ॥

एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः ।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम् ॥

इन भगवान् गोविन्दकी आराधना करके कितने ही महर्षि मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं । ये ही जगत्‌के सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और समस्त कारणोंके भी कारण हैं ॥

मयाप्येतच्छ्रुतं राजन् नारदात्तु निबोध तत् ।
स्वयमेव समाचष्ट नारदो भगवान् मुनिः ॥

राजन् ! मैंने भी यह बात नारदजीसे ही सुनी है। तुम भी उनके मुखसे सुन सकते हो। भगवान् नारदमुनिने स्वयं ही यह बात मुझसे कही थी ॥

समस्तसंसारविघातकारणं
भजन्ति ये विष्णुमनन्यमानसाः।
ते यान्ति सायुज्यमतीव दुर्लभं
इतीव नित्यं हृदि वर्णयन्ति ॥)

जो समस्त संसार-बन्धनकी निवृत्तिके कारणभूत भगवान् विष्णुकी अनन्य चित्तसे आराधना करते हैं, वे अत्यन्त दुर्लभ सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह बात सदा मेरे हृदयमें बनी रहती है तथा ऋषिलोग भी इसका वर्णन करते हैं ॥

देवं देवर्षिराचष्ट नारदः सर्वलोकदृक् ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण जगत्को देखनेवाले देवर्षि नारदने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन किया था ॥ ४७ ॥

नारदोऽप्यथ कृष्णस्य परं मेने नराधिप।
शाश्वतत्वं महाबाहो यथावद् भरतर्षभ ॥ ४८ ॥

महाबाहु भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! नारदजीने श्रीकृष्णके परम सनातन परमात्मभावको यथावत्‌रूपसे जाना और माना है ॥

एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः।
अचिन्त्यः पुण्डरीकाक्षो नैष केवलमानुषः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार ये सत्यपराक्रमी कमलनयन महाबाहु केशव अचिन्त्य परमेश्वर हैं। इन्हें केवल मनुष्य नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सर्वभूतोत्पत्तिकथने सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंके वंशका तथा प्रत्येक दिशामें निवास करनेवाले महर्षियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूर्वमासन् पतयः प्रजानां भरतर्षभ।
के चर्षयो महाभागा दिक्षु प्रत्येकशः स्मृताः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें कौन-कौन-से लोग प्रजापति थे और प्रत्येक दिशामें किन-किन महाभाग महर्षियोंकी स्थिति मानी गयी है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
प्रजानां पतयो येऽस्मिन् दिक्षु ये चर्षयः स्मृताः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्में जो प्रजापति रहे हैं तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें जिन-जिन ऋषियोंकी स्थिति मानी गयी है, उन सबको जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछते हो; मैं बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

एकः स्वयम्भूर्भगवानाद्यो ब्रह्मा सनातनः।
ब्रह्मणः सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुवः ॥ ३ ॥

एकमात्र सनातन भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा सबके आदि हैं। स्वयम्भू ब्रह्माके सात महात्मा पुत्र बताये गये हैं ॥ ३ ॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महाभागः सदृशो वै स्वयम्भुवा ॥ ४ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा महाभाग वसिष्ठ। ये सभी स्वयम्भू ब्रह्माके समान ही शक्तिशाली हैं ॥ ४ ॥

सप्तब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सर्वानेव प्रजापतीन् ॥ ५ ॥

पुराणमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। अब मैं समस्त प्रजापतियोंका वर्णन आरम्भ करता हूँ ॥ ५ ॥

अत्रिवंशसमुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात् प्राचेतसो दश ॥ ६ ॥

अत्रिकुलमें उत्पन्न जो सनातन ब्रह्मयोनि भगवान् प्राचीनबर्हि हैं, उनसे प्राचेतस नामवाले दस प्रजापति उत्पन्न हुए ॥

दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते ॥ ७ ॥

उन दसोंके एकमात्र पुत्र दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापति हैं। उनके दो नाम बताये जाते हैं—'दक्ष' और 'क' ॥ ७ ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः ॥ ८ ॥

मरीचिके पुत्र जो कश्यप हैं, उनके भी दो नाम माने गये हैं। कुछ लोग उन्हें अरिष्टनेमि कहते हैं और दूसरे लोग उन्हें कश्यपके नामसे जानते हैं ॥ ८ ॥

अत्रेश्चैवौरसः श्रीमान् राजा सोमश्च वीर्यवान्।
सहस्रं यश्च दिव्यानां युगानां पर्युपासिता ॥ ९ ॥

अत्रिके औरस पुत्र श्रीमान् और बलवान् राजा सोम हुए, जिन्होंने सहस्र दिव्य युगोंतक भगवान्‌की उपासना की थी ॥

अर्यमा चैव भगवान् ये चास्य तनया विभो।
एते प्रदेशाः कथिता भुवनानां प्रभावनाः ॥ १० ॥

प्रभो ! भगवान् अर्यमा और उनके सभी पुत्र—ये प्रदेश (आदेश देनेवाले शासक) तथा प्रभावन (उत्तम स्रष्टा) कहे गये हैं ॥ १० ॥

शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाच्युत।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत् तदा ॥ ११ ॥

एवं शतसहस्राणां शतं तस्य महात्मनः।
पुत्राणां च न ते कंचिदिच्छन्त्यन्यं प्रजापतिम्॥ १२॥

धर्मसे विचलित न होनेवाले युधिष्ठिर! शशबिन्दुके दस हजार स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे एक-एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन महात्माके एक करोड़ पुत्र थे। वे उनके सिवा किसी दूसरे प्रजापतिकी इच्छा नहीं करते थे॥ ११-१२॥

प्रजामाचक्षते विप्राः पुराणाः शाशबिन्दवीम्।
स वृष्णिवंशप्रभवो महावंशः प्रजापतेः॥ १३॥

प्राचीनकालके ब्राह्मण अधिकांश प्रजाकी उत्पत्ति शशबिन्दुसे ही बताते हैं। प्रजापतिका वह महान् वंश ही वृष्णिवंशका उत्पादक हुआ॥ १३॥

एते प्रजानां पतयः समुद्दिष्टा यशस्विनः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि देवांस्त्रिभुवनेश्वरान्॥ १४॥

युधिष्ठिर! ये सब यशस्वी प्रजापति बताये गये हैं। अब मैं तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले देवताओंका परिचय दूँगा॥

भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥ १५॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥ १६॥

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, महाबली विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु कहे गये हैं। ये बारह आदित्य हैं, जो कश्यप और अदितिके पुत्र हैं॥ १५-१६॥

नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि।
मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य महात्मनः॥ १७॥

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमार बताये गये हैं। ये दोनों अष्टम आदित्य महात्मा सूर्यके पुत्र हैं॥ १७॥

ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः॥ १८॥

ये तथा पूर्वोक्त देवता—दो प्रकारके पितर माने गये हैं। त्वष्टाके पुत्र महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप हुए॥ १८॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः॥ १९॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
पूर्वमेव महाभागा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥ २०॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सुरेश्वर, सावित्र, जयन्त, पिनाकी और अपराजित—ये ग्यारह रुद्र हैं। महाभाग आठ वसुओंके नाम पहले ही बताये गये हैं॥ १९-२०॥

एत एवंविधा देवा मनोरेव प्रजापतेः।
ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः॥ २१॥

इस प्रकार ये देवता प्रजापति मनुकी ही संतान हैं। वे तथा पूर्वोक्त देवता—ये दो प्रकारके पितर माने गये हैं॥२१॥

शीलयौवनतस्त्वन्यस्तथान्यः सिद्धसाध्ययोः।
ऋभवो मरुतश्चैव देवानां चोदितो गणः॥ २२॥

देवताओंमें एक वर्ग ऐसा है, जो सुन्दर शील-स्वभाव और अक्षय यौवनसे सम्पन्न है। दूसरा वर्ग सिद्धों और साध्योंका है। ऋभु और मरुत्—ये देवताओंके समुदायोंके नाम हैं॥

एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा॥ २३॥

इसी प्रकार ये विश्वेदेव और अश्विनीकुमार भी देवताओंके गण माने गये हैं। इन देवताओंमें आदित्यगण क्षत्रिय और मरुद्गण वैश्य माने जाते हैं॥ २३॥

अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४॥

उग्र तपस्यामें लगे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंको शूद्र कहा जाता है। अङ्गिरा गोत्रवाले सम्पूर्ण देवता ब्राह्मण माने गये हैं। यही विद्वानोंका निश्चय है॥ २४॥

इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।
एतान् वै प्रातरुत्थाय देवान् यस्तु प्रकीर्तयेत्॥ २५॥
स्वजादन्यकृताच्चैव सर्वपापात् प्रमुच्यते।

इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें जो चार वर्ण हैं, उनका वर्णन किया गया। जो सबेरे उठकर इन देवताओंका कीर्तन करता है, वह स्वयं किये हुए तथा दूसरोंके संसर्गसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापसमूहसे मुक्त हो जाता है॥ २५½॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू॥ २६॥
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुताः।

यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशिज, कक्षीवान् और बल—ये अङ्गिराके पुत्र हैं॥ २६½॥

ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा॥ २७॥
त्रैलोक्यभावनास्तात प्राच्यां सप्तर्षयस्तथा।

तात! मेधातिथिके पुत्र कण्वमुनि, बर्हिषद तथा त्रिलोकीको उत्पन्न करनेमें समर्थ सप्तर्षिगण हैं, जो पूर्व दिशामें स्थित होते हैं॥

उन्मुचो विमुचश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्॥ २८॥
प्रमुचश्चेध्मवाहश्च भगवांश्च दृढव्रतः।
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्॥ २९॥
एते ब्रह्मर्षयो नित्यमास्थिता दक्षिणां दिशम्।

उन्मुच, विमुच, बलवान् स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, इध्मवाह, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मित्रावरुणके प्रतापी पुत्र भगवान् अगस्त्य—ये ब्रह्मर्षि सदा दक्षिणदिशामें रहते हैं॥ २८-२९½॥

उषङ्गुः कवषो धौम्यः परिव्याधश्च वीर्यवान्॥ ३०॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
अत्रेः पुत्रश्च भगवांस्तथा सारस्वतः प्रभुः॥ ३१॥
एते चैव महात्मनः पश्चिमामाश्रिता दिशम्।

उषङ्गु, कवष, धौम्य, शक्तिशाली परिव्याध, एकत,

द्वित, त्रित तथा अत्रिके प्रभावशाली पुत्र भगवान् सारस्वत—ये महात्मा महर्षि पश्चिम दिशामें निवास करते हैं ॥ ३०-३१½ ॥

आत्रेयश्च वसिष्ठश्च कश्यपश्च महानृषिः ॥ ३२ ॥
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
जमदग्निश्च सप्तैते उदीचीमाश्रिता दिशम् ।

आत्रेय, वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र तथा महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहते हैं ॥ ३२-३३½ ॥

एते प्रतिदिशं सर्वे कीर्तितास्तिग्मतेजसः ॥ ३४ ॥
साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ।
एवमेते महात्मानः स्थिताः प्रत्येकशो दिशम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार प्रत्येक दिशामें रहनेवाले सम्पूर्ण तेजस्वी महर्षियोंका वर्णन किया गया । ये महात्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ एवं सबके साक्षी हैं । इनका हृदय बड़ा विशाल है । इस तरह ये प्रत्येक दिशामें निवास करते हैं ॥

एतेषां कीर्तनं कृत्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तां दिशं शरणं गतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥ ३६ ॥

इन सबका गुणगान करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । जिस-जिस दिशामें ये महर्षि रहते हैं, उस-उस दिशामें जानेपर जो मनुष्य इनकी शरण लेता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता और कुशलपूर्वक अपने घरको पहुँच जाता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दिशास्वस्तिकं नाम अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दिशास्वस्तिक नामक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुका वराहरूपमें प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा और दानवोंका विनाश कर देना तथा नारदको अनुस्मृतिस्तोत्रका उपदेश और नारदद्वारा भगवान्‌की स्तुति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ युधि सत्यपराक्रम ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कृष्णमव्ययमीश्वरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—युद्धमें सच्चा पराक्रम प्रकट करनेवाले महाप्राज्ञ पितामह ! भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी ईश्वर हैं; मैं पूर्णरूपसे इनके महत्त्वका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यच्चास्य तेजः सुमहद् यच्च कर्म पुरा कृतम् ।
तन्मे सर्वं यथातत्त्वं ब्रूहि त्वं पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर ! इनका जो महान् तेज है, इन्होंने पूर्वकालमें जो महान् कर्म किया है, वह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २ ॥

तिर्यग्योनिगतं रूपं कथं धारितवान् प्रभुः ।
केन कार्यनिसर्गेण तमाख्याहि महाबल ॥ ३ ॥

महाबली पितामह ! सम्पूर्ण जगत्के प्रभु होकर भी इन्होंने किस निमित्तसे तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण किया; यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुराहं मृगयां यातो मार्कण्डेयाश्रमे स्थितः ।
तत्रापश्यं मुनिगणान् समासीनान् सहस्रशः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहलेकी बात है, मैं शिकार खेलनेके लिये वनमें गया और मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर ठहरा । वहाँ मैंने सहस्रों मुनियोंको बैठे देखा ॥ ४ ॥

ततस्ते मधुपर्केण पूजां चक्रुरथो मयि ।
प्रतिगृह्य च तां पूजां प्रत्यनन्दमृषीनहम् ॥ ५ ॥

मेरे जानेपर उन महर्षियोंने मधुपर्क समर्पित करके मेरा आतिथ्य-सत्कार किया । मैंने भी उनका सत्कार ग्रहण करके उन सभी महर्षियोंका अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

कथैषा कथिता तत्र कश्यपेन महर्षिणा ।
मनःप्रह्लादिनीं दिव्यां तामिहैकमनाः शृणु ॥ ६ ॥

फिर महर्षि कश्यपने मनको आनन्द प्रदान करनेवाली यह दिव्य कथा मुझे सुनायी । मैं उसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

पुरा दानवमुख्या हि क्रोधलोभसमन्विताः ।
बलेन मत्ताः शतशो नरकाद्या महासुराः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें नरकासुर आदि सैकड़ों मुख्य-मुख्य दानव क्रोध और लोभके वशीभूत हो बलके मदसे मतवाले हो गये थे ॥ ७ ॥

तथैव चान्ये बहवो दानवा युद्धदुर्मदाः ।
न सहन्ते स्म देवानां समृद्धिं तामनुत्तमाम् ॥ ८ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से रणदुर्मद दानव थे, जो देवताओंकी उत्तम समृद्धिको सहन नहीं कर पाते थे ॥ ८ ॥

दानवैरर्द्यमानास्तु देवा देवर्षयस्तथा ।
न शर्म लेभिरे राजन् विशमानास्ततस्ततः ॥ ९ ॥

राजन् ! उन दानवोंसे पीड़ित हो देवता और देवर्षि कहीं चैन नहीं पाते थे । वे इधर-उधर लुकते-छिपते फिरते थे ॥ ९ ॥

पृथिवीमार्तरूपां ते समपश्यन् दिवौकसः ।
दानवैरभिसंस्तीर्णां घोररूपैर्महाबलैः ॥ १० ॥

समूचे भूमण्डलमें भयानक रूपधारी महाबली दानव

फैल गये थे। देवताओंने देखा, यह पृथ्वी दानवोंके पाप-भारसे पीड़ित एवं आर्त हो उठी है ॥ १० ॥

भारार्तामप्रहृष्टां च दुःखितां संनिमज्जतीम्।
अथादितेयाः संत्रस्ता ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥ ११ ॥

यह भारसे व्याकुल, हर्ष और उल्लाससे शून्य तथा दुखी हो रसातलमें डूब रही है। यह देखकर अदितिके सभी पुत्र भयसे थर्रा उठे और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥

कथं शक्ष्यामहे ब्रह्मन् दानवैरभिमर्दनम्।
स्वयम्भूस्तानुवाचेदं निसृष्टोऽत्र विधिर्मया ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन्! दानवलोग जो हमें इस प्रकार रौंद रहे हैं, इसे हम किस प्रकार सह सकेंगे?' तब स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे इस प्रकार कहा—'देवताओ! इस विपत्तिको दूर करनेके लिये मैंने उपाय कर दिया है ॥ १२ ॥

ते वरेणाभिसम्पन्ना बलेन च मदेन च।
नावबुध्यन्ति सम्मूढा विष्णुमव्यक्तदर्शनम् ॥ १३ ॥
वराहरूपिणं देवमधृष्यममरैरपि ।

'वे दानव वर पाकर बल और अभिमानसे मत्त हो उठे हैं। वे मूढ़ दैत्य अव्यक्तस्वरूप भगवान् विष्णुको नहीं जानते, जो देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष हैं। उन्होंने वाराह रूप धारण कर रखा है ॥ १३½ ॥

एष वेगेन गत्वा हि यत्र ते दानवाधमाः ॥ १४ ॥
अन्तर्भूमिगता घोरा निवसन्ति सहस्रशः।
शमयिष्यति तच्छ्रुत्वा जहृषुः सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

'वे सहस्रों घोर दैत्य और दानवाधम भूमिके भीतर पाताललोकमें निवास करते हैं; भगवान् वाराह वेगपूर्वक वहीं जाकर उन सबका विनाश कर देंगे। यह सुनकर सभी श्रेष्ठ देवता हर्षसे खिल उठे ॥ १४-१५ ॥

ततो विष्णुर्महातेजा वाराहं रूपमास्थितः।
अन्तर्भूमिं सम्प्रविश्य जगाम दितिजान् प्रति ॥ १६ ॥

उधर महातेजस्वी भगवान् विष्णु वाराहरूप धारण कर बड़े वेगसे भूमिके भीतर प्रविष्ट हुए और दैत्योंके पास जा पहुँचे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा च सहिताः सर्वे दैत्याः सत्त्वममानुषम्।
प्रसह्य तरसा सर्वे संतस्थुः कालमोहिताः ॥ १७ ॥

उस अलौकिक जन्तुको देखकर सब दैत्य एक साथ हो वेगपूर्वक उसका सामना करनेके लिये हठात् खड़े हो गये; क्योंकि वे कालसे मोहित हो रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ते समभिद्रुत्य वराहं जगृहुः समम्।
संक्रुद्धाश्च वराहं तं व्यकर्षन्त समन्ततः ॥ १८ ॥

उन सबने कुपित होकर भगवान् वाराहपर एक साथ धावा बोल दिया और उन्हें हाथोंहाथ पकड़ लिया। पकड़कर वे वाराहदेवको चारों ओरसे खींचने लगे ॥ १८ ॥

दानवेन्द्रा महाकाया महावीर्यबलोच्छ्रिताः।
नाशक्नुवंश्च किंचित् ते तस्य कर्तुं तदा विभो ॥ १९ ॥

प्रभो! यद्यपि वे विशालकाय दानवराज महान् बल और वीर्यसे सम्पन्न थे, तो भी उन भगवान्का कुछ बिगाड़ न सके ॥ १९ ॥

ततोऽगच्छत् विस्मयं ते दानवेन्द्रा भयं तथा।
संशयं गतमात्मानं मेनिरे च सहस्रशः ॥ २० ॥

इससे उन दानवेन्द्रोंको बड़ा विस्मय और भय प्राप्त हुआ। वे सहस्रों दैत्य अपने आपको जीवनके संशयमें पड़ा हुआ मानने लगे ॥ २० ॥

ततो देवाधिदेवः स योगात्मा योगसारथिः।
योगमास्थाय भगवांस्तदा भरतसत्तम ॥ २१ ॥
विननाद महानादं क्षोभयन् दैत्यदानवान्।
संनादिता येन लोकाः सर्वाश्चैव दिशो दश ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद योगस्वरूप योगके नियन्ता देवाधिदेव भगवान् वाराह दैत्यों और दानवोंको क्षोभमें डालनेके लिये योगका आश्रय ले बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। उस भीषण गर्जनासे तीनों लोक और ये सारी दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २१-२२ ॥

तेन संनादशब्देन लोकानां क्षोभ आगमत्।
संत्रस्ताश्च भृशं लोके देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ २३ ॥

उस भीषण गर्जनासे समस्त लोकोंमें हलचल मच गयी। स्वर्गलोकमें इन्द्र आदि देवता भी अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥ २३ ॥

निर्विचेष्टं जगच्चापि बभूवातिभृशं तदा।
स्थावरं जङ्गमं चैव तेन नादेन मोहितम् ॥ २४ ॥

उस सिंहनादसे मोहित होकर समस्त चराचर जगत् अत्यन्त चेष्टारहित हो गया ॥ २४ ॥

ततस्ते दानवाः सर्वे तेन नादेन भीषिताः।
पेतुर्गतासवश्चैव विष्णुतेजःप्रमोहिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वे सब दानव भगवान्की उस गर्जनासे भयभीत हो प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। वे सब-के-सब भगवान् विष्णुके तेजसे मोहित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे थे ॥ २५ ॥

रसातलगतश्चापि वराहस्त्रिदशद्विषाम्।
खुरैर्विदारयामास मांसमेदोऽस्थिसंचयान् ॥ २६ ॥

रसातलमें जाकर भी भगवान् वाराहने देवद्रोही असुरोंको अपने खुरोंसे विदीर्ण कर दिया। उनके मांस, मेदा और हड्डियोंके ढेर लग गये थे ॥ २६ ॥

नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः।
पद्मनाभो महायोगी भूताचार्यः स भूतराट् ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आचार्य और स्वामी महायोगी वे भगवान् पद्मनाभ अपने महान् सिंहनादके कारण 'सनातन'[1] माने गये हैं ॥ २७ ॥

---

१. इस श्लोकमें वर्णित भावके अनुसार सनातन शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—नादनेन सहितः सनादनः। दकारस्थाने

ततो देवगणाः सर्वे पितामहमुपाद्रवन् ।
तत्र गत्वा महात्मानमूचुश्चैव जगत्पतिम् ॥ २८ ॥
नादोऽयं कीदृशो देव नैतं विद्म वयं प्रभो ।
कोऽसौ हि कस्य वा नादो येन विह्वलितं जगत् ॥ २९ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव मोहितास्तस्य तेजसा ।

उनके उस सिंहनादको सुनकर सब देवता जगदीश्वर भगवान् ब्रह्माजीके पास गये । वहाँ पहुँचकर वे इस प्रकार बोले—'देव ! प्रभो ! यह कैसा सिंहनाद है ! इसे हमलोग नहीं जानते । वह कौन वीर है ? अथवा किसकी गर्जना है ? जिसने इस जगत्‌को व्याकुल कर दिया है । देवता और दानव सभी उसके तेजसे मोहित हो रहे हैं' ॥ २८-२९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः ।
उदतिष्ठन्महाबाहो स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ३० ॥

महाबाहो ! इसी बीचमें वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु जलसे ऊपर उठे । उस समय महर्षिगण उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३० ॥

पितामह उवाच

निहत्य दानवपतीन् महावर्ष्मा महाबलः ।
एष देवो महायोगी भूतात्मा भूतभावनः ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! ये महाकाय महाबली महायोगी भूतभावन भूतात्मा भगवान् विष्णु हैं, जो दानवराजोंका वध करके आ रहे हैं ॥ ३१ ॥

सर्वभूतेश्वरो योगी मुनिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।
स्थिरीभवत कृष्णोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ॥ ३२ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर, योगी, मुनि तथा आत्माके भी आत्मा हैं, ये ही समस्त विघ्नोंका विनाश करनेवाले श्रीकृष्ण हैं; अतः तुमलोग धैर्य धारण करो ॥ ३२ ॥

कृत्वा कर्मातिसाध्वेतदशक्यममितप्रभः ।
समायातः स्वमात्मानं महाभागो महाद्युतिः ॥ ३३ ॥

अनन्त प्रभासे परिपूर्ण, महातेजस्वी एवं महान् सौभाग्यके आश्रयभूत ये भगवान् अत्यन्त उत्तम और दूसरोंके लिये असम्भव कार्य करके आ रहे हैं ॥ ३३ ॥

पद्मनाभो महायोगी महात्मा भूतभावनः ।
न संतापो न भीः कार्या शोको वा सुरसत्तमाः ॥ ३४ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! ये महायोगी भूतभावन महात्मा पद्मनाभ हैं; अतः तुम्हें अपने मनसे संताप, भय एवं शोकको दूर कर देना चाहिये ॥ ३४ ॥

विधिरेष प्रभावश्च कालः संक्षयकारकः ।
लोकान् धारयता तेन नादो मुक्तो महात्मना ॥ ३५ ॥

ये ही विधि हैं, ये ही प्रभाव हैं और ये ही संहारकारी काल हैं, इन्हीं परमात्माने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हुए यह भीषण सिंहनाद किया है ॥ ३५ ॥

स एष हि महाबाहुः सर्वलोकनमस्कृतः ।
अच्युतः पुण्डरीकाक्षः सर्वभूतादिरीश्वरः ॥ ३६ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण, सर्वलोकवन्दित ईश्वर महाबाहु कमलनयन अच्युत हैं ॥ ३६ ॥

(युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
प्रयाणकाले किं जप्यं मोक्षिभिस्तत्त्वचिन्तकैः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले तत्त्व-चिन्तकोंको मृत्युकालमें किस मन्त्रका जप करना चाहिये ॥

किमनुस्मरन् कुरुश्रेष्ठ मरणे पर्युपस्थिते ।
प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मृत्युका समय उपस्थित होनेपर किसका चिन्तन करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है ? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

सद्युक्तिसहितः सूक्ष्म उक्तः प्रश्नस्त्वयानघ ।
शृणुष्वावहितो राजन् नारदेन पुरा श्रुतम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! निष्पाप नरेश ! तुमने जो प्रश्न उपस्थित किया है, वह उत्तम युक्तियुक्त और सूक्ष्म है । उसे सावधान होकर सुनो । जो पूर्वकालमें मैंने नारदजीसे सुना था, वही मैं तुमसे कहता हूँ ॥

श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजमनन्तं लोकसाक्षिणम् ।
पुरा नारायणं देवं नारदः परिपृष्टवान् ॥

जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित है, जो इस जगत्‌के बीज (मूल कारण) हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है तथा जो इस जगत्‌के साक्षी हैं, उन्हीं भगवान् नारायणसे पूर्वकालमें नारदजीने इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

त्वामक्षरं परं ब्रह्म निर्गुणं तमसः परम् ।
आहुर्वेद्यं परं धाम ब्रह्मादिकमलोद्भवम् ॥
भगवन् भूतभव्येश श्रद्दधानैर्जितेन्द्रियैः ।
कथं भक्तैर्विचिन्त्योऽसि योगिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

नारदजीने पूछा—भगवन् ! महर्षिगण कहते हैं, आप अविनाशी (नित्य), परब्रह्म, निर्गुण, अज्ञानान्धकार एवं तमोगुणसे अतीत, विद्याके अधिपति, परम धामस्वरूप, ब्रह्मा तथा उनकी प्राकट्यभूमि—आदिकमलके उत्पत्ति-स्थान हैं, भूत और भविष्यके स्वामी परमेश्वर ! श्रद्धालु और जितेन्द्रिय भक्तों तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले योगियोंको आपके स्वरूपका किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये ? ॥

तकारो छान्दसः । जो नादके साथ हो, वह 'सनादन' कहलाता है। सनादनके दकारके स्थानमें तकार हो जानेसे 'सनातन' बनता है ।

भगवान् वराहकी ऋषियोंद्वारा स्तुति

किं च जप्यं जपेन्नित्यं कल्यमुत्थाय मानवः।
कथं युञ्जन् सदा ध्यायेद् ब्रूहि तत्त्वं सनातनम्॥

मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर किस जपनीय मन्त्रका जप करे और योगी पुरुष किस प्रकार निरन्तर ध्यान करे ? आप इस सनातन तत्त्वका वर्णन कीजिये॥

श्रुत्वा तस्य तु देवर्षेर्वाक्यं वाचस्पतिः स्वयम्।
प्रोवाच भगवान् विष्णुर्नारदं वरदः प्रभुः॥

देवर्षि नारदका यह वचन सुनकर वाणीके अधिपति वरदायक भगवान् विष्णुने नारदजीसे इस प्रकार कहा॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि इमां दिव्यामनुस्मृतिम्।
यामधीत्य प्रयाणे तु मद्भावायोपपद्यते॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! मैं हर्षपूर्वक तुम्हारे सामने इस दिव्य अनुस्मृतिका वर्णन करता हूँ। मृत्युकालमें जिसका अध्ययन और श्रवण करके मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥

ओङ्कारमग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य नारद।
एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत्॥
ओं नमो भगवते वासुदेवायेति।

नारद ! आदिमें ओंकारका उच्चारण करके मुझे नमस्कार करे। अर्थात् एकाग्र एवं पवित्रचित्त होकर इस मन्त्रका उच्चारण करे—'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति॥

इत्युक्तो नारदः प्राह प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः॥
सर्वदेवेश्वरं विष्णुं सर्वात्मानं हरिं प्रभुम्।

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर नारदजी हाथ जोड़ प्रणाम करके खड़े हो गये और उन सर्वदेवेश्वर सर्वात्मा एवं पापहारी प्रभु श्रीविष्णुसे बोले॥

नारद उवाच

अव्यक्तं शाश्वतं देवं प्रभवं पुरुषोत्तमम्॥
प्रपद्ये प्राञ्जलिर्विष्णुमक्षरं परमं पदम्।

नारदजीने कहा—प्रभो ! जो अव्यक्त सनातन देवता, सबकी उत्पत्तिके कारण, पुरुषोत्तम, अविनाशी और परम पदस्वरूप हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं हाथ जोड़कर शरण लेता हूँ॥

पुराणं प्रभवं नित्यमक्षयं लोकसाक्षिणम्॥
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षमीशं भक्तानुकम्पिनम्।

जो पुराणपुरुष, सबकी उत्पत्तिके कारण, नित्य, अक्षय और सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी हैं, जिनके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, उन भक्तवत्सल भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ॥

लोकनाथं सहस्राक्षमद्भुतं परमं पदम्॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽस्मि भूतभव्यभवत्प्रभुम्।

जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी तथा संरक्षक हैं, जिनके सहस्रों नेत्र हैं तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, उन अद्भुत परमपदरूप भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ॥

स्रष्टारं सर्वलोकानामनन्तं विश्वतोमुखम्॥
पद्मनाभं हृषीकेशं प्रपद्ये सत्यमच्युतम्।

समस्त लोकोंके स्रष्टा और सब ओर मुखवाले, अनन्त, सत्य, अच्युत एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् पद्मनाभकी मैं शरण लेता हूँ॥

हिरण्यगर्भममृतं भूगर्भं परतः परम्॥
प्रभोः प्रभुमनाद्यन्तं प्रपद्ये तं रविप्रभम्।

जो हिरण्यगर्भ, अमृतस्वरूप, पृथ्वीको गर्भमें धारण करनेवाले, परात्पर तथा प्रभुओंके भी प्रभु हैं, उन अनादि, अनन्त तथा सूर्यके समान कान्तिवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ॥

सहस्रशीर्षं पुरुषं महर्षिं तत्त्वभावनम्॥
प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम्।

जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामी आत्मा हैं, तत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले महर्षि कपिलस्वरूप हैं, उन सूक्ष्म, अचल, वरेण्य और अभयप्रद भगवान् श्रीहरिकी शरण लेता हूँ॥

नारायणं पुराणर्षिं योगात्मानं सनातनम्॥
संस्थानं सर्वतत्त्वानां प्रपद्ये ध्रुवमीश्वरम्।

जो पुरातन ऋषि नारायण हैं, योगात्मा हैं, सनातन पुरुष हैं, सम्पूर्ण तत्त्वोंके अधिष्ठान एवं अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
चराचरगुरुर्विष्णुः स मे देवः प्रसीदतु।

जो सम्पूर्ण भूतोंके प्रभु हैं, जिन्होंने इस समस्त संसारको व्याप्त कर रक्खा है तथा जो चर और अचर प्राणियोंके गुरु हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों॥

यस्मादुत्पद्यते ब्रह्मा पद्मयोनिः पितामहः॥
ब्रह्मयोनिर्हि विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु।

जिनसे पद्मयोनि पितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है तथा जो वेद और ब्राह्मणोंकी योनि हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों॥

यः पुरा प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके परावरे॥
आभूतसम्प्लवे चैव प्रलीने प्रकृतौ महान्।
एकस्तिष्ठति विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु॥

प्राचीन कालमें महाप्रलय प्राप्त होनेपर जब सभी चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंका भी लय हो जाता है और संसारकी छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंका क्रमशः लय होकर जब प्रकृतिमें महत्तत्त्व भी विलीन हो जाता है, उस समय जो एकमात्र

शेष रह जाते हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] तथा दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंद्वारा जिन्हें आहुति दी जाती है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

पर्जन्यः पृथिवी सस्यं कालो धर्मः क्रियाक्रिये ।
गुणाकरः स मे बभ्रुर्वासुदेवः प्रसीदतु ॥

मेघ, पृथ्वी, सस्य, काल, धर्म, कर्म और कर्मका अभाव —ये सब जिनके स्वरूप हैं, गुणोंके भण्डाररूप वे श्यामवर्ण भगवान् वासुदेव मुझपर प्रसन्न हों ॥

अग्नीषोमार्कताराणां ब्रह्मरुद्रेन्द्रयोगिनाम् ।
यस्तेजयति तेजांसि स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

जो अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, तारागण, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा योगियोंके भी तेजको जीत लेते हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

योगावास नमस्तुभ्यं सर्वावास वरप्रद ।
यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग पञ्चयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥

योगके आवासस्थान ! आपको नमस्कार है । सबके निवासस्थान, वरदायक, यज्ञगर्भ, सुनहरे रंगोंवाले पञ्च-यज्ञमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते परं धाम लक्ष्म्यावास परार्चित ।
सर्वावास नमस्तेऽस्तु वासुदेव प्रधानकृत् ॥

आप श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंवाले, परमधामस्वरूप, लक्ष्मीनिवास, परमपूजित, सबके आवासस्थान और प्रकृतिके भी प्रवर्तक हैं । वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥

अजस्त्वमगमः पन्था ह्यमूर्तिर्विश्वमूर्तिधृक् ।
विकर्तः पञ्चकालज्ञ नमस्ते ज्ञानसागर ॥

आप अजन्मा हैं, अगम्य मार्ग हैं, निराकार हैं अथवा जगत्के सम्पूर्ण आकार आप ही धारण करते हैं, आप ही संहारकारी रुद्र हैं । आप प्रातः, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्न—इन पाँच कालोंको जाननेवाले हैं । ज्ञानसागर ! आपको नमस्कार है ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं व्यक्ताद् यस्तु परोऽक्षरः ।
यस्मात् परतरं नास्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

जिन अव्यक्त परमात्मासे इस व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो व्यक्तसे परे और अविनाशी हैं, जिनसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरणमें आया हूँ ॥

न प्रधानो न च महान् पुरुषश्चेतनो ह्यजः ।
अनयोर्यः परतरः तमस्मि शरणं गतः ॥

प्रकृति और महत्तत्त्व—ये दोनों जड हैं । पुरुष चेतन और अजन्मा है । इन दोनों क्षर और अक्षर पुरुषोंसे जो उत्कृष्ट और विलक्षण हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमकी मैं शरण लेता हूँ ॥

चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयः प्रभुम् ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

ब्रह्मा और शिव आदि देवता जिन भगवान्का सदा चिन्तन करते रहनेपर भी उनके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी निश्चय-तक नहीं पहुँच पाते, उन परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥

जितेन्द्रिया महात्मानो ज्ञानध्यानपरायणाः ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तमस्मि शरणं गतः ॥

ज्ञानी और ध्यानपरायण जितेन्द्रिय महात्मा जिन्हें पाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं, उन भगवान् श्रीहरि-की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥

एकांशेन जगत् सर्वमवष्टभ्य विभुः स्थितः ।
अग्राह्यो निर्गुणो नित्यस्तमस्मि शरणं गतः ॥

जो सर्वव्यापी परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हैं, जो किसी इन्द्रियविशेषके द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते तथा जो निर्गुण एवं नित्य हैं, उन परमात्माकी मैं शरणमें जाता हूँ ॥

सोमार्काग्निमयं तेजो या च तारामयी द्युतिः ।
दिवि संजायते योऽयं स महात्मा प्रसीदतु ॥

आकाशमें जो सूर्य और चन्द्रमाका तेज प्रकाशित होता है तथा तारागणोंकी जो ज्योति जगमगाती रहती है, वह सब जिनका ही स्वरूप है, वे परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों ॥

गुणादिर्निर्गुणश्चाद्यो लक्ष्मीवांश्चेतनो ह्यजः ।
सूक्ष्मः सर्वगतो योगी स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो समस्त गुणोंके आदि कारण और स्वयं निर्गुण हैं, आदि पुरुष, लक्ष्मीवान्, चेतन, अजन्मा, सूक्ष्म, सर्वव्यापी तथा योगी हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सांख्ययोगाश्च ये चान्ये सिद्धाश्च परमर्षयः ।
यं विदित्वा विमुच्यन्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी तथा जो दूसरे-दूसरे सिद्ध और महर्षि हैं, वे जिन्हें जानकर इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

अव्यक्तः समधिष्ठाता ह्यचिन्त्यः सदसत्परः ।
आस्थितिः प्रकृतिश्रेष्ठः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो अव्यक्त, सबके अधिष्ठाता, अचिन्त्य और सत्-असत्से विलक्षण हैं, आधाररहित एवं प्रकृतिसे श्रेष्ठ हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

क्षेत्रज्ञः पञ्चधा भुङ्क्ते प्रकृतिं पञ्चभिर्मुखैः ।
महान् गुणांश्च यो भुङ्क्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो जीवात्मारूपसे पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी मुखोंद्वारा शब्द आदि पाँच विषयोंका उपभोग करते हैं तथा स्वयं महान्

१. आश्रावय, २. अस्तु श्रौषट्, ३. यज, ४. ये यजामहे, ५. वषट् ।

होकर भी जो गुणोंका अनुभव करते हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सूर्यमध्ये स्थितः सोमस्तस्य मध्ये च या स्थिता ।
भूतवाह्या च या दीप्तिः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो सूर्यमण्डलमें सोमरूपसे स्थित होते हैं, उस सोमके भीतर जो अलौकिक दीप्ति है, वह जिनका स्वरूप है, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

नमस्ते सर्वतः सर्व सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ।
निर्विकार नमस्तेऽस्तु साक्षी क्षेत्रे व्यवस्थितः ॥

सर्वस्वरूप परमेश्वर ! आपको सब ओरसे नमस्कार है, आपके सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख है । निर्विकार परमात्मन् ! आपको नमस्कार है । आप प्रत्येक क्षेत्र (शरीर) में साक्षीरूपसे स्थित हैं ॥

अतीन्द्रिय नमस्तुभ्यं लिङ्गैर्व्यक्तैर्न मीयसे ।
ये च त्वां नाभिजानन्ति संसारे संसरन्ति ते ॥

इन्द्रियातीत परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । व्यक्त लिङ्गोंद्वारा आपका ज्ञान होना असम्भव है । संसारमें जो आपको नहीं जानते हैं, वे जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥

कामक्रोधविनिर्मुक्ता रागद्वेषविवर्जिताः ।
नान्यभक्ता विजानन्ति न पुनर्नारका द्विजाः ॥

जो काम और क्रोधसे मुक्त, राग-द्वेषसे रहित तथा आपके अनन्य भक्त हैं, वे ही आपको जान पाते हैं । जो विषयोंके नरकमें पड़े हुए द्विज हैं, वे आपको नहीं जानते हैं ॥

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशीःकर्मकारिणः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणस्त्वां विशन्ति विनिश्चिताः ॥

जो आपके अनन्य भक्त, द्वन्द्वोंसे रहित तथा निष्काम कर्म करनेवाले हैं, जिन्होंने ज्ञानमयी अग्निसे अपने समस्त कर्मोंको दग्ध कर दिया है, वे आपके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाले पुरुष आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु ।
पुण्यपापविनिर्मुक्ता भक्तास्त्वां प्रविशन्त्युत ॥

आप शरीरमें रहते हुए भी उससे रहित हैं तथा सम्पूर्ण देहधारियोंमें समभावसे स्थित हैं । जो पुण्य और पापसे मुक्त हैं, वे भक्तजन आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारमनोभूतेन्द्रियाणि च ।
त्वयि तानि च तेषु त्वं न तेषु त्वं न ते त्वयि ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहङ्कार, मन, पञ्च महाभूत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सभी आपमें हैं और उन सबमें आप हैं, किंतु वास्तवमें न उनमें आप हैं, न आपमें वे हैं ॥

एकत्वान्यत्वनानात्वं ये विदुर्यान्ति ते परम् ।
समोऽसि सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
समत्वमभिकाङ्क्षेऽहं भक्त्या वै नान्यचेतसा ।

एकत्व, अन्यत्व और नानात्वका रहस्य जो लोग अच्छी तरह जानते हैं, वे आप परमात्माको प्राप्त होते हैं । आप सम्पूर्ण भूतोंमें सम हैं । आपका न कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय । मैं अनन्य चित्तसे आपकी भक्तिके द्वारा समत्व पाना चाहता हूँ ॥

चराचरमिदं सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
त्वया त्वय्येव तत् प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

चार प्रकारका जो यह चराचर प्राणिसमुदाय है, वह सब आपसे व्याप्त है । जैसे सूतमें मणियाँ पिरोये होते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आपमें ही ओतप्रोत है ॥

स्रष्टा भोक्तासि कूटस्थो ह्यतत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ॥
अकर्महेतुरचलः पृथगात्मन्यवस्थितः ।

आप जगत्के स्रष्टा, भोक्ता और कूटस्थ हैं । तत्त्वरूप होकर भी उससे सर्वथा विलक्षण हैं । आप कर्मके हेतु नहीं हैं । अविचल परमात्मा हैं । प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् जीवात्मारूपसे आप ही विद्यमान हैं ॥

न ते भूतेषु संयोगो भूततत्त्वगुणातिगः ॥
अहङ्कारेण बुद्ध्या वा न ते योगस्त्रिभिर्गुणैः ।

वास्तवमें प्राणियोंसे आपका संयोग नहीं है । आप भूत, तत्त्व और गुणोंसे परे हैं । अहंकार, बुद्धि और तीनों गुणोंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

न ते धर्मोऽस्त्यधर्मो वा नारम्भो जन्म वा पुनः ॥
जरामरणमोक्षार्थं त्वां प्रपन्नोऽस्मि सर्वशः ।

न आपका कोई धर्म है और न कोई अधर्म । न कोई आरम्भ है न जन्म । मैं जरा-मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये सब प्रकारसे आपकी शरणमें आया हूँ ॥

ईश्वरोऽसि जगन्नाथ ततः परम उच्यसे ॥
भक्तानां यद्धितं देव तद्ध्याहि त्रिदशेश्वर ।

जगन्नाथ ! आप ईश्वर हैं, इसीलिये परमात्मा कहलाते हैं । देव ! सुरेश्वर ! भक्तोंके लिये जो हितकी बात हो, उसका मेरे लिये चिन्तन कीजिये ॥

विषयैरिन्द्रियैर्वापि न मे भूयः समागमः ॥
पृथिवीं यातु मे घ्राणं यातु मे रसना जलम् ।
रूपं हुताशनं यातु स्पर्शो यातु च मारुतम् ॥
श्रोत्रमाकाशमप्येतु मनो वैकारिकं पुनः ।

विषयों और इन्द्रियोंके साथ फिर मेरा कभी समागम न हो । मेरी घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी-तत्त्वमें मिल जाय और रसना जलमें, रूप (नेत्र) अग्निमें, स्पर्श (त्वचा) वायुमें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें और मन वैकारिक अहंकारमें मिल जाय ॥

इन्द्रियाण्यपि संयान्तु स्वासु स्वासु च योनिषु ॥
पृथिवी यातु सलिलमापोऽग्निमनलोऽनिलम् ।
वायुराकाशमप्येतु मनश्चाकाश एव च ॥
अहङ्कारं मनो यातु मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

अहङ्कारस्ततो बुद्धिं बुद्धिरव्यक्तमच्युत ॥

अच्युत ! इन्द्रियाँ अपनी-अपनी योनियोंमें मिल जायँ, पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन समस्त प्राणियोंको मोहनेवाले अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (महत्तत्त्व) में और बुद्धि अव्यक्त प्रकृतिमें मिल जाय ॥

प्रधाने प्रकृतिं याते गुणसाम्ये व्यवस्थिते।
वियोगः सर्वकरणैर्गुणभूतैश्च मे भवेत् ॥

जब प्रधान प्रकृतिको प्राप्त हो जाय और गुणोंकी साम्यावस्थारूप महाप्रलय उपस्थित हो जाय, तब मेरा समस्त इन्द्रियों और उनके विषयोंसे वियोग हो जाय ॥

निष्कैवल्यपदं तात काङ्क्षेऽहं परमं तव।
एकीभावस्त्वया मेऽस्तु न मे जन्म भवेत् पुनः ॥

तात ! मैं तुम्हारे लिये परम मोक्षकी आकाङ्क्षा रखता हूँ। आपके साथ मेरा एकीभाव हो जाय। इस संसारमें फिर मेरा जन्म न हो ॥

त्वद्बुद्धिस्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः।
त्वामेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते ॥

मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मेरी बुद्धि आपमें ही लगी रहे। मेरे प्राण आपमें ही लीन रहें। मेरा आपमें ही भक्ति-भाव बना रहे और मैं सदा आपकी ही शरणमें पड़ा रहूँ। इस प्रकार मैं निरन्तर आपका ही स्मरण करता रहूँ ॥

पूर्वदेहकृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम्।
अर्दयन्तु च दुःखानि ऋणं मे प्रतिमुञ्चतु ॥

पूर्वशरीरमें मैंने जो दुष्कर्म किये हों, उनके फलस्वरूप रोग-व्याधि मेरे शरीरमें प्रवेश करें और नाना प्रकारके दुःख मुझे आकर सतावें। इन सबका जो मेरे ऊपर ऋण है, वह उतर जाय ॥

अनुध्यातोऽसि देवेश न मे जन्म भवेत् पुनः।
तस्माद् ब्रवीमि कर्माणि ऋणं मे न भवेदिति ॥

देवेश्वर ! मैंने इसलिये आपका स्मरण किया है कि फिर मेरा जन्म न हो; अतः फिर कहता हूँ कि मेरे कर्म नष्ट हो जायँ और मुझपर किसीका ऋण बाकी न रह जाय ॥

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसंचिताः।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

पूर्व जन्ममें जिन कर्मोंका मेरे द्वारा संचय किया गया है, वे सभी रोग मेरे शरीरमें उपस्थित हो जायँ। मैं सबसे उऋण होकर भगवान् विष्णुके परम धामको जाना चाहता हूँ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

श्रीभगवान् बोले—नारद ! मैं उस सौभाग्यशाली भक्तका हूँ और वह भक्त भी मेरा सनातन सखा है। मैं उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और न वही कभी मेरी दृष्टिसे ओझल होता है ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च।
दशेन्द्रियाणि मनसि अहङ्कारे तथा मनः ॥
अहङ्कारं तथा बुद्धौ बुद्धिमात्मनि योजयेत्।

साधक पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर उन दसों इन्द्रियोंको मनमें विलीन करे। मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें लगावे॥

यतबुद्धीन्द्रियः पश्यन् बुद्ध्या बुद्ध्येत् परात्परम् ॥
ममायमिति यस्याहं येन सर्वमिदं ततम्।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर बुद्धिके द्वारा परात्पर परमात्माका अनुभव करे कि यह परमेश्वर मेरा है और मैं इसका हूँ तथा इसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संयोज्य परमात्मन्यनुस्मरेत् ॥
ततो बुद्धेः परं बुद्ध्वा लभते न पुनर्भवम्।
मरणे समनुप्राप्ते यश्चैवं मामनुस्मरेत् ॥
अपि पापसमाचारः स याति परमां गतिम्।

स्वयं ही अपने-आपको परमात्माके ध्यानमें लगाकर निरन्तर उनका स्मरण करे, तदनन्तर बुद्धिसे भी परे परमात्मा-को जानकर मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। जो मृत्युकाल आनेपर इस प्रकार मेरा स्मरण करता है, वह पुरुष पहलेका पापाचारी रहा हो तो भी परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ओं नमो भगवते तस्मै देहिनां परमात्मने ॥
नारायणाय भक्तानामेकनिष्ठाय शाश्वते।

समस्त देहधारियोंके परमात्मा तथा भक्तोंके प्रति एकमात्र निष्ठा रखनेवाले उन सनातन भगवान् नारायणको नमस्कार है॥

इमामनुस्मृतिं दिव्यां वैष्णवीं सुसमाहितः ॥
स्वपन् विबुध्यंश्च पठन् यत्र तत्र समभ्यसेत्।

यह दिव्य वैष्णवी-अनुस्मृति विद्या है। मनुष्य एकाग्र-चित्त होकर सोते, जागते और स्वाध्याय करते समय जहाँ कहीं भी इसका जप करता रहे ॥

पौर्णमास्याममायां च द्वादश्यां च विशेषतः ॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानांश्च मद्भक्तांश्च विशेषतः।

पूर्णिमा, अमावास्या तथा विशेषतः द्वादशी तिथिको मेरे श्रद्धालु भक्तोंको इसका श्रवण करावे ॥

यद्यहङ्कारमाश्रित्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
कुर्वंस्तत्फलमाप्नोति पुनरावर्तनं तु तत्।

यदि कोई अहंकारका आश्रय लेकर यज्ञ, दान और तपरूप कर्म करे तो उसका फल उसे मिलता है। परंतु वह आवागमनके चक्करमें डालनेवाला होता है ॥

अभ्यर्चयन् पितॄन् देवान् पठञ्जुह्वन् बलिं ददत् ॥
ज्वलन्नग्निं स्मरेद् यो मां स याति परमां गतिम्।

जो देवताओं और पितरोंकी पूजा, पाठ, होम और बलिवैश्वदेव करते तथा अग्निमें आहुति देते समय मेरा स्मरण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
यज्ञं दानं तपस्तस्मात् कुर्यादाशीर्विवर्जितः ।

यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं; अतः यज्ञ, दान और तपका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ॥
तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद ।

नारद ! जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे लिये केवल नमस्कारमात्र बोल देता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां साधका विधिपूर्वकम् ॥
श्रद्धावन्तो यतात्मानस्ते मां यान्ति मदाश्रिताः ।

फिर जो साधक मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर मेरे आश्रित हो श्रद्धा और विधिके साथ मेरी आराधना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥

कर्माण्याद्यन्तवन्तीह मद्भक्तो नान्तमश्नुते ॥
मामेव तस्माद् देवर्षे ध्याहि नित्यमतन्द्रितः ।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव पदं मम ॥

देवर्षे ! सारे कर्म और उनके फल आदि-अन्तवाले हैं; परंतु मेरा भक्त अन्तवान् (विनाशशील) फलका उपभोग नहीं करता; अतः तुम सदा आलस्यरहित होकर मेरा ही ध्यान करो । इससे तुम्हें परम सिद्धि प्राप्त होगी और तुम मेरे परमधामका दर्शन कर लोगे ॥

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद् धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात् तेन तुल्यं च तत्फलम् ॥

जो धर्मोपदेशके द्वारा अज्ञानी पुरुषको ज्ञान प्रदान करता है अथवा जो किसीको समूची पृथ्वीका दान कर देता है तो उस ज्ञानदानका फल इस पृथ्वीदानके बराबर ही माना जाता है ॥

तस्मात् प्रदेयं साधुभ्यो जन्मबन्धभयापहम् ।
एवं दत्त्वा नरश्रेष्ठ श्रेयो वीर्यं च विन्दति ॥

नरश्रेष्ठ नारद ! इसलिये साधु पुरुषोंको जन्म और बन्धनके भयको दूर करनेवाला ज्ञान ही देना चाहिये । इस प्रकार ज्ञान देकर मनुष्य कल्याण और बल प्राप्त करता है॥

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् ।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

जो दस लाख अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान कर ले, वह भी उस पदको नहीं पा सकता, जो मेरे भक्तोंको प्राप्त हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

एवं पृष्टः पुरा तेन नारदेन सुरर्षिणा ।
यदुवाच तदा शम्भुस्तदुक्तं तव सुव्रत ॥

भीष्मजी कहते हैं—सुव्रत ! इस प्रकार पूर्वकालमें देवर्षि नारदके पूछनेपर कल्याणमय भगवान् विष्णुने उस समय जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें बता दिया ॥

त्वमप्येकमना भूत्वा ध्याहि ध्येयं गुणातिगम् ।
भजस्व सर्वभावेन परमात्मानमव्ययम् ॥

तुम भी एकचित्त होकर उन गुणातीत परमात्माका ध्यान करो और सम्पूर्ण भक्तिभावसे उन्हीं अविनाशी परमात्माका भजन करो ॥

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणेरितम् ।
अत्यन्तभक्तिमान् देव एकान्तत्वमुपेयिवान् ॥

भगवान् नारायणका कहा हुआ यह दिव्य वचन सुनकर अत्यन्त भक्तिमान् देवर्षि नारद भगवान्‌के प्रति एकाग्रचित्त हो गये ॥

नारायणमृषिं देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक् ।
इदं जपन् वै प्राप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

जो पुरुष अनन्यभावसे दस वर्षोंतक ऋषिप्रवर नारायणदेवका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥

जिसकी भगवान् जनार्दनमें भक्ति है, उसे बहुत-से मन्त्रोंद्वारा क्या लेना है ? 'ॐ नमो नारायणाय' यह एकमात्र मन्त्र ही सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥

इमां रहस्यां परमामनुस्मृति-
मधीत्य बुद्धिं लभते च नैष्ठिकीम् ।
विहाय दुःखान्यवमुच्य सङ्कटात्
स वीतरागो विचरेन्महीमिमाम् ॥

इस परम गोपनीय अनुस्मृति विद्याका स्वाध्याय करके मनुष्य भगवान्‌के प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाली बुद्धि प्राप्त कर लेता है । वह सारे दुःखोंको दूर करके संकटसे मुक्त एवं वीतराग हो इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अन्तर्भूमिविक्रीडनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भूमिके भीतर भगवान् वाराहकी क्रीड़ानामक दो सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८६½ श्लोक मिलाकर कुल १२२½ श्लोक हैं)

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

योगं मे परमं तात मोक्षस्य वद भारत।
तमहं तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि वदतां वर॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ तात भरतनन्दन! आप मुझे मोक्षके साधनभूत परम योगका उपदेश कीजिये। मैं उसे यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषयमें एक शिष्यका गुरुके साथ जो मोक्षसम्बन्धी संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यमृषिसत्तमम्।
तेजोराशिं महात्मानं सत्यसंधं जितेन्द्रियम्॥ ३॥
शिष्यः परममेधावी श्रेयोऽर्थी सुसमाहितः।
चरणावुपसंगृह्य स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

किसी समयकी बात है, एक विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। वे आचार्यकोटिके पण्डित और श्रेष्ठतम महर्षि थे। देखनेमें महान् तेजकी राशि जान पड़ते थे। बड़े महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। एक दिन उनकी सेवामें कोई परम मेधावी कल्याणकामी एवं समाहितचित्त शिष्य आया (जो चिरकालतक उनकी शुश्रूषा कर चुका था), वह उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़ सामने खड़ा हो इस प्रकार बोला—॥ ३-४॥

उपासनात् प्रसन्नोऽसि यदि वै भगवन् मम।
संशयो मे महान् कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत् सम्यग्ब्रूहि यत्परम्॥ ५॥

'भगवन्! यदि आप मेरी सेवासे प्रसन्न हैं तो मेरे मनमें जो एक बड़ा भारी संदेह है, उसे दूर करनेकी कृपा करें—मेरे प्रश्नकी विशद व्याख्या करें। मैं इस संसारमें कहाँसे आया हूँ और आप भी कहाँसे आये हैं? यह भलीभाँति समझाकर बताइये। इसके सिवा जो परम तत्त्व है, उसका भी विवेचन कीजिये॥ ५॥

कथं च सर्वभूतेषु समेषु द्विजसत्तम।
सम्यग्वृत्ता निवर्तन्ते विपरीताः क्षयोदयाः॥ ६॥

'द्विजश्रेष्ठ! पृथ्वी आदि सम्पूर्ण महाभूत सर्वत्र समान हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर उन्हींसे निर्मित हुए हैं तो भी उनमें क्षय और वृद्धि—ये दोनों विपरीतभाव क्यों होते हैं?॥ ६॥

वेदेषु चापि यद् वाक्यं लौकिकं व्यापकं च यत्।
एतद् विद्वन् यथातत्त्वं सर्वं व्याख्यातुमर्हसि॥ ७॥

'वेदों और स्मृतियोंमें भी जो लौकिक और व्यापक धर्मोंका वर्णन है, उनमें भी विषमता है। अतः विद्वन्! इन सबकी आप यथार्थरूपसे व्याख्या करें'॥ ७॥

गुरुरुवाच

शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु॥ ८॥

गुरुने कहा—वत्स! सुनो। महामते! तुमने जो बात पूछी है, वह वेदोंका उत्तम एवं गूढ़ रहस्य है। यही अध्यात्मतत्त्व है तथा यही समस्त विद्याओं और शास्त्रोंका सर्वस्व है॥

वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥ ९॥

सम्पूर्ण वेदका मुख जो प्रणव है वह तथा सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परम तत्त्व—यह सब कुछ वासुदेव ही है॥ ९॥

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
स्वर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥ १०॥

वेदज्ञजन उसीको सनातन पुरुष और विष्णु भी मानते हैं। वही संसारकी सृष्टि और प्रलय करनेवाला अव्यक्त एवं सनातन ब्रह्म है॥ १०॥

तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा॥ ११॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः॥ १२॥

वही ब्रह्म वृष्णिकुलमें श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुआ, इस कथाको तुम मुझसे सुनो। ब्राह्मण ब्राह्मणको, क्षत्रिय क्षत्रियको, वैश्य वैश्यको तथा शूद्र महामनस्वी शूद्रको, अमित तेजस्वी देवाधिदेव विष्णुका माहात्म्य सुनावे॥ ११-१२॥

अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम्॥ १३॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशे चक्रवत्परिवर्तते।

तुम भी यह सब सुननेके योग्य अधिकारी हो; अतः भगवान् श्रीकृष्णका जो कल्याणमय उत्कृष्ट माहात्म्य है, उसे सुनो। यह जो सृष्टि-प्रलयरूप अनादि, अनन्त कालचक्र है, वह श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। सर्वभूतेश्वर श्रीकृष्णमें ये तीनों लोक चक्रकी भाँति घूम रहे हैं॥ १३½॥

यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्।
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम्॥ १४॥

पुरुषसिंह! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको ही अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सनातन परब्रह्म कहते हैं॥ १४॥

पितॄन् देवानृषींश्चैव तथा वै यक्षराक्षसान्।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः॥ १५॥

ये अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्ण ही पितर, देवता,

ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, असुर और मनुष्य आदिकी रचना करते हैं ॥ १५ ॥

तथैव वेदशास्त्राणि लोकधर्मांश्च शाश्वतान् ।
प्रलयं प्रकृतिं प्राप्य युगादौ सृजते पुनः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार प्रलयकाल बीतनेपर कल्पके आरम्भमें प्रकृतिका आश्रय ले भगवान् श्रीकृष्ण ही ये वेद-शास्त्र और सनातन लोक-धर्मोंको पुनः प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ १७ ॥

जैसे ऋतु-परिवर्तनके साथ ही भिन्न-भिन्न ऋतुओंके नाना प्रकारके वे-ही-वे लक्षण प्रकट होते रहते हैं, वैसे ही प्रत्येक कल्पके आरम्भमें पूर्व कल्पोंके अनुसार तदनुरूप भावोंकी अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ १७ ॥

अथ यद्यद् यदा भाति कालयोगाद् युगादिषु ।
तत् तदुत्पद्यते ज्ञानं लोकयात्राविधानजम् ॥ १८ ॥

काल-क्रमसे युगादिमें जब-जब जो-जो वस्तु भासित होती है, लोक-व्यवहारवश तब-तब उसी-उसी विषयका ज्ञान प्रकट होता रहता है ॥ १८ ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ १९ ॥

कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माके आदेशसे महर्षियोंने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥ १९ ॥

वेदविद् वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।
भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥ २० ॥

उस समय स्वयं भगवान् ब्रह्माको वेदोंका, बृहस्पतिजीको वेदाङ्गोंका और शुक्राचार्यको नीतिशास्त्रका ज्ञान हुआ तथा उन लोगोंने जगत्के हितके लिये उन सब विषयोंका उपदेश किया ॥ २० ॥

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् ।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥ २१ ॥

नारदजीको गान्धर्व वेदका, भरद्वाजको धनुर्वेदका, महर्षि गार्ग्यको देवर्षियोंके चरित्रका तथा कृष्णात्रेयको चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञान हुआ ॥ २१ ॥

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ॥ २२ ॥

तर्कशील विद्वानोंने तर्कशास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया । उन महर्षियोंने युक्तियुक्त शास्त्र और सदाचारके द्वारा जिस ब्रह्मका उपदेश किया है, उसीकी तुम भी उपासना करो ॥ २२ ॥

अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः ॥ २३ ॥

वह परब्रह्म अनादि और सबसे परे है । उसे न देवता जानते हैं न ऋषि । उसे तो एकमात्र जगत्पालक नारायण ही जानते हैं ॥ २३ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा मुख्याः सुरासुराः ।
राजर्षयः पुराणाश्च परमं दुःखभेषजम् ॥ २४ ॥

नारायणसे ही ऋषियों, मुख्य-मुख्य देवताओं, असुरों तथा प्राचीन राजर्षियोंने उस ब्रह्मको जाना है; वह ब्रह्म-ज्ञान ही समस्त दुःखोंका परम औषध है ॥ २४ ॥

पुरुषाधिष्ठितान् भावान् प्रकृतिः सूयते यदा ।
हेतुयुक्तमतः पूर्वं जगत् सम्परिवर्तते ॥ २५ ॥

पुरुषद्वारा संकल्पमें लाये गये विविध पदार्थोंकी रचना प्रकृति ही करती है । इस प्रकृतिसे सर्वप्रथम कारणसहित जगत् उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः ।
प्रकृतिः सूयते तद्वदानन्त्यान् नापचीयते ॥ २६ ॥

जैसे एक दीपकसे दूसरे सहस्रों दीप जला लिये जाते हैं और पहले दीपकको कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक प्रकृति ही असंख्य पदार्थोंको उत्पन्न करती है और अनन्त होनेके कारण उसका क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

अव्यक्तकर्मजा बुद्धिरहंकारं प्रसूयते ।
आकाशं चाप्यहंकाराद् वायुराकाशसम्भवः ॥ २७ ॥

अव्यक्त प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर जिस बुद्धि (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, वह बुद्धि अहंकारको जन्म देती है । अहंकारसे आकाश और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥

वायोस्तेजस्ततश्चाप अद्भ्योऽथ वसुधोद्गता ।
मूलप्रकृतयो ह्यष्टौ जगदेतास्ववस्थितम् ॥ २८ ॥

वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार ये आठ मूल-प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं । इन्हींमें सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २८ ॥

ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
विषयाः पञ्च चैकं च विकारे षोडशं मनः ॥ २९ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और एक मन—ये सोलह विकार कहे गये हैं। (इनमें मन तो अहंकारका विकार है और अन्य पन्द्रह अपने-अपने कारणरूप सूक्ष्म महाभूतोंके विकार हैं) ॥ २९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाक्कर्मणी अपि ॥ ३० ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ (लिङ्ग) और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ३० ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
विज्ञेयं व्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः ॥ ३१ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं तथा इनमें व्यापक जो चित्त है, उसीको मन समझना चाहिये । मन सर्वगत कहा गया है ॥ ३१ ॥

रसज्ञाने तु जिह्वेयं व्याहृते वाक् तथोच्यते ।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यक्तं मनस्तथा ॥ ३२ ॥

रस-ज्ञानके समय मन ही यह रसना (जिह्वा) रूप हो जाता है तथा बोलनेके समय वह मन ही वागिन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके साथ मिलकर उन सबके रूपमें मन ही व्यक्त होता है ॥ ३२ ॥

विद्यात् तु षोडशैतानि दैवतानि विभागशः।
देहेषु ज्ञानकर्तारमुपासीनमुपासते ॥ ३३ ॥

दस इन्द्रिय, पञ्च महाभूत और एक मन—ये सोलह तत्त्व इस शरीरमें विभागपूर्वक रहते हैं। इनको देवतारूप जानना चाहिये। शरीरके भीतर जो ज्ञान प्रकट करनेवाला परमात्मा-के निकटस्थ जीवात्मा है, उसकी ये सोलहों देवता उपासना करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्वत् सोमगुणा जिह्वा गन्धस्तु पृथिवीगुणः।
श्रोत्रं नभोगुणं चैव चक्षुरग्नेर्गुणस्तथा।
स्पर्शं वायुगुणं विद्यात् सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

जिह्वा जलका कार्य है, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीका कार्य है, श्रवणेन्द्रिय आकाशका और नेत्रेन्द्रिय अग्निका कार्य है तथा सम्पूर्ण भूतोंमें त्वचा नामकी इन्द्रियको सदा वायुका कार्य समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

मनः सत्त्वगुणं प्राहुः सत्त्वमव्यक्तजं तथा।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तस्माद् बुद्ध्येत बुद्धिमान्॥ ३५ ॥

मनको महत्तत्त्वका कार्य कहा है और महत्तत्त्वको अव्यक्त प्रकृतिका कार्य कहा है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह समस्त भूतोंके आत्मारूप परमेश्वरको समस्त प्राणियों-में स्थित जाने ॥ ३५ ॥

एते भावा जगत् सर्वं वहन्ति सचराचरम्।
श्रिता विरजसं देवं यमाहुः प्रकृतेः परम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ये सम्पूर्ण पदार्थ समस्त चराचर जगत्‌का भार वहन करते हैं। ये सब जो प्रकृतिसे अतीत रजोगुण-रहित हैं, उस परमदेव परमात्माके आश्रित हैं ॥ ३६ ॥

नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३७ ॥

इन्हीं चौबीस पदार्थोंसे सम्पन्न इस नौ द्वारोंवाले पवित्र पुर (शरीर) को व्याप्त करके इसमें इन सबसे जो महान् है वह आत्मा शयन करता है; इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अजरः सोऽमरश्चैव व्यक्ताव्यक्तोपदेशवान्।
व्यापकः सगुणः सूक्ष्मः सर्वभूतगुणाश्रयः ॥ ३८ ॥

वह पुरुष जरा-मरणसे रहित, व्यापक, (समस्त स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंका प्रेरक, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त, सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण भूतों और उनके गुणोंका आश्रय है ॥ ३८ ॥

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥ ३९ ॥

जैसे दीपक छोटा हो या बड़ा, प्रकाश-स्वरूप ही है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें स्थित जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा समझे ॥ ३९ ॥

श्रोत्रं वेदयते वेद्यं स शृणोति स पश्यति।
कारणं तस्य देहोऽयं स कर्ता सर्वकर्मणाम् ॥ ४० ॥

वही श्रवणेन्द्रियको उसके ज्ञेयभूत शब्दका बोध कराता है। तात्पर्य यह कि श्रवण और नेत्रोंद्वारा वही सुनता और देखता है। यह शरीर उसके शब्द आदि विषयोंके अनुभवमें निमित्त है। वह जीवात्मा ही समस्त कर्मोंका कर्ता है ॥४०॥

अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवानुदृश्यते ॥ ४१ ॥
अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहनेपर भी काष्ठके चीरनेपर भी उसमें दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा शरीरमें रहता है, परंतु दिखायी नहीं देता—योगसे ही उसका दर्शन होता है। जैसे मन्थन आदि उपायोंद्वारा काष्ठको मथकर उनमें अग्निको प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार योगके द्वारा शरीरस्थ आत्माका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४१-४२ ॥

नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः।
संततत्वाद् यथा यान्ति तथा देहाः शरीरिणाम् ॥ ४३ ॥

जैसे नदियोंमें जल रहता ही है और सूर्यमें किरणें भी रहती ही हैं तथा वे जल और किरणें नदी और सूर्यसे नित्य सम्बद्ध होनेके कारण उनके साथ-साथ जाती हैं, उसी प्रकार देहधारियोंके सूक्ष्म शरीर भी जीवात्माके साथ ही रहते हैं और उसे साथ लेकर ही आते-जाते हैं ॥ ४३ ॥

स्वप्नयोगे यथैवात्मा पञ्चेन्द्रियसमायुतः।
देहमुत्सृज्य वै याति तथैवात्मोपलभ्यते ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित जीवात्मा इस शरीर-को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, वैसे ही मृत्युके बाद भी वह इस शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा बाध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते।
कर्मणा नीयतेऽन्यत्र स्वकृतेन बलीयसा ॥ ४५ ॥

कर्मके द्वारा ही इस देहका बाध होता है; कर्मसे ही अन्य देहकी उपलब्धि होती है तथा अपने किये हुए प्रबल कर्मके द्वारा ही वह अन्य शरीरमें ले जाया जाता है ॥४५॥

स तु देहाद् यथा देहं त्यक्त्वान्यं प्रतिपद्यते।
तथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि भूतग्रामं स्वकर्मजम् ॥ ४६ ॥

वह जीवात्मा जिस प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है तथा अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुआ प्राणि-समुदाय जिस प्रकार अन्य देह धारण करता है, वह सब मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका निरूपणविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

संसारचक्र और जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

गुरुरुवाच

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
अव्यक्तप्रभवान्याहुरव्यक्तनिधनानि च ।
अव्यक्तलक्षणं विद्यादव्यक्तात्मात्मकं मनः ॥ १ ॥

गुरुजी कहते हैं—वत्स ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके जो स्थावर और जङ्गम प्राणी हैं, वे सब अव्यक्तसे उत्पन्न हुए बताये गये हैं और अव्यक्तमें ही उन सबका लय होता है । जिसका कोई लक्षण व्यक्त न हो उसे अव्यक्त समझना चाहिये । मन अव्यक्त प्रकृतिके समान ही त्रिगुणात्मक है ॥ १ ॥

यथाश्वत्थकणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात् सम्भवस्तथा ॥ २ ॥

जैसे पीपलके छोटे-से बीजमें एक विशाल वृक्ष अव्यक्त रूपसे समाया हुआ है, जो बीजके उगनेपर वृक्षरूपमें परिणत हो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसी प्रकार अव्यक्तसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा ।
स्वभावहेतुजा भावा यद्वदन्यदपीदृशम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार लोहा अचेतन होनेपर भी चुम्बककी ओर खिंच जाता है, वैसे ही शरीरके उत्पन्न होनेपर प्राणीके स्वाभाविक संस्कार तथा अविद्या, काम, कर्म आदि दूसरे गुण उसकी ओर खिंच आते हैं ॥ ३ ॥

तद्वदव्यक्तजा भावाः कर्तुः कारणलक्षणाः ।
अचेतनाश्चेतयितुः कारणादभिसंहताः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उस अव्यक्तसे उत्पन्न हुए उपर्युक्त कारण-स्वरूप भाव अचेतन होनेपर भी चेतनकर्ताके सम्बन्धसे चेतन-से होकर जानना आदि क्रियाके हेतु बन जाते हैं ॥ ४ ॥

न भूर्न खं द्यौर्भूतानि नर्षयो न सुरासुराः ।
नान्यदासीदृते जीवमासेदुर्न तु संहतम् ॥ ५ ॥

पहले पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, भूतगण, ऋषिगण तथा देवता और असुरगण इनमेंसे कोई नहीं था । चेतनके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं थी । जड-चेतनका संयोग भी नहीं था ॥ ५ ॥

पूर्वं नित्यं सर्वगतं मनोहेतुमलक्षणम् ।
अज्ञानकर्म निर्दिष्टमेतत् कारणलक्षणम् ॥ ६ ॥

आत्मा सबके पहले विद्यमान था । वह नित्य, सर्वगत, मनका भी हेतु और लक्षणरहित है । यह कारणस्वरूप समस्त जगत् अज्ञानका कार्य बताया गया है ॥ ६ ॥

तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम् ।
येनैतद् वर्तते चक्रमनादिनिधनं महत् ॥ ७ ॥

इन कारणोंसे युक्त होकर जीव कर्मोंका संग्रह करता है । कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं । इस प्रकार यह अनादि, अनन्त महान् संसार-चक्र चलता रहता है ॥ ७ ॥

अव्यक्तनाभं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यह जन्म-मरणका प्रवाहरूप संसार चक्रके समान घूम रहा है । अव्यक्त उसकी नाभि है । व्यक्त (देह और इन्द्रिय आदि) उसके अरे हैं । सुख-दुःख, इच्छा आदि विकार इसकी नेमि हैं । आसक्ति धुरा है । यह चक्र निश्चितरूपसे घूमता रहता है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस चक्रपर चालक बनकर बैठा हुआ है ॥ ८ ॥

स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ ९ ॥

जैसे तेली लोग तेलसे युक्त होनेके कारण तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होनेके कारण अज्ञानजनित भोगोंद्वारा दबा-दबाकर इस संसारचक्रमें पेरा जा रहा है ॥ ९ ॥

कर्म तत् कुरुते तर्षादहंकारपरिग्रहात् ।
कार्यकारणसंयोगे स हेतुरुपपादितः ॥ १० ॥

जीव अहङ्कारके अधीन होकर तृष्णाके कारण कर्म करता है और वह कर्म आगामी कार्य-कारण-संयोगमें हेतु बन जाता है ॥ १० ॥

नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा ।
कार्याणां तूपकरणे कालो भवति हेतुमान् ॥ ११ ॥

न तो कारण कार्यमें प्रवेश करता है और न कार्य कारणमें । कार्य करते समय काल ही उनकी सिद्धि और असिद्धिमें हेतु होता है ॥ ११ ॥

हेतुयुक्ताः प्रकृतयो विकाराश्च परस्परम् ।
अन्योन्यमभिवर्तन्ते पुरुषाधिष्ठिताः सदा ॥ १२ ॥

हेतुमहित आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकार—ये पुरुषसे अधिष्ठित हो सदा एक दूसरेसे मिलते और सृष्टिका विस्तार करते हैं ॥ १२ ॥

राजसैस्तामसैर्भावैर्युतो हेतुबलान्वितः ।
क्षेत्रज्ञमेवानुयाति पांसुर्वातेरितो यथा ॥ १३ ॥

राजस और तामसभावोंसे युक्त हेतुबलसे प्रेरित सूक्ष्म-शरीर क्षेत्रज्ञ जीवात्माके साथ-साथ ठीक उसी तरह दूसरे स्थूल शरीरमें चला जाता है, जैसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल उसीके साथ-साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती है ॥ १३ ॥

न च तैः स्पृश्यते भावैर्न ते तेन महात्मना ।
सरजस्कोऽरजस्कश्च नैव वायुर्भवेद् यथा ॥ १४ ॥

जैसे धूलके उड़नेसे वायु न तो धूलसे लिप्त होती है और न अलिप्त ही रहती है । उसी प्रकार न तो उन राजस, तामस आदि भावोंसे जीवात्मा लिप्त होता है और न अलिप्त ही रहता है ॥ १४ ॥

तथैतदन्तरं विद्यात् सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्बुधः ।
अभ्यासात् स तथा युक्तो न गच्छेत् प्रकृतिं पुनः ॥

अतः विवेकी पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह अन्तर जान लेना चाहिये। इन दोनोंके तादात्म्यका-सा अभ्यास हो जानेसे जीव ऐसा हो गया है कि उसे अपने शुद्ध स्वरूपका पता ही नहीं लगता ॥ १५ ॥

संदेहमेतमुत्पन्नमच्छिनद् भगवानृषिः ।
तथा वार्तां समीक्षेत कृतलक्षणसम्मिताम् ॥ १६ ॥

(भीष्मजी कहते हैं—) इस प्रकार उन महर्षि भगवान् गुरुदेवने शिष्यके उत्पन्न हुए इस संदेहको काट डाला । अतः विद्वान् पुरुष ऐसे उपायोंपर दृष्टि रक्खे, जो क्रिया-द्वारा उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक हों ॥ १६ ॥

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥ १७ ॥

जैसे आगमें भूने हुए बीज नहीं उगते, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यादि सब क्लेशोंके दग्ध हो जानेपर जीवात्माको फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दोसौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

निषिद्ध आचरणके त्याग, सत्त्व, रज और तमके कार्य एवं परिणामका तथा सत्त्वगुणके सेवनका उपदेश

भीष्म उवाच

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो यथा समुपलभ्यते ।
तेषां विज्ञाननिष्ठानामन्यत्तत्त्वं न रोचते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कर्मनिष्ठ पुरुषोंको जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मकी उपलब्धि होती है—वही उन्हें अच्छा लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले हैं, उन्हें ज्ञानके सिवा दूमरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती ॥ १ ॥

दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ।
प्रयोजनं महत्त्वात्तु मार्गमिच्छन्ति संस्तुतम् ॥ २ ॥

वेदोंके विद्वान् और वेदोक्त कर्मोंमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष प्रायः दुर्लभ हैं । जो अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, वे पुरुष वेदोक्त दोनों मार्गोंमेंसे जो अधिक महत्त्वपूर्ण होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित है, उस मोक्षमार्गको ही चाहते हैं ॥ २ ॥

सद्भिराचरितत्वात्तु वृत्तमेतदगर्हितम् ।
इयं सा बुद्धिरभ्येत्य यया याति परां गतिम् ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंने सदा इसी मार्गको ग्रहण किया है; अतः यही अनिन्द्य एवं निर्दोष है। यह वह बुद्धि है जिसके द्वारा चलकर मनुष्य परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

शरीरवानुपादत्ते मोहात् सर्वान् परिग्रहान् ।
क्रोधलोभादिभिर्भावैर्युक्तो राजसतामसैः ॥ ४ ॥

जो देहाभिमानी है, वह मोहवश क्रोध, लोभ आदि राजस, तामस-भावोंसे युक्त होकर सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहमें लग जाता है ॥ ४ ॥

नाशुद्धमाचरेत् तस्मादभीप्सन् देहयापनम् ।
कर्मणा विवरं कुर्वन्न लोकानाप्नुयाच्छुभान् ॥ ५ ॥

अतः जो देह-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कभी अशुद्ध (अवैध) आचरण नहीं करना चाहिये । वह निष्काम कर्मद्वारा मोक्षका द्वार खोले और स्वर्ग आदि पुण्यलोक पानेकी कदापि इच्छा न करे ॥ ५ ॥

लोहयुक्तं यथा हेम विपक्वं न विराजते ।
तथापक्वकषायाख्यं विज्ञानं न प्रकाशते ॥ ६ ॥

जैसे लोहयुक्त सुवर्ण आगमें पकाकर शुद्ध किये बिना अपने स्वरूपसे प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चित्तके राग आदि दोषोंका नाश हुए बिना उसमें ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता है ॥ ६ ॥

यश्चाधर्मं चरेल्लोभात् कामक्रोधावनुप्लवन् ।
धर्म्यं पन्थानमाक्रम्य सानुबन्धो विनश्यति ॥ ७ ॥

जो लोभवश काम-क्रोधका अनुसरण करते हुए धर्म-मार्गका उल्लङ्घन करके अधर्मका आचरण करने लगता है, वह सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

शब्दादीन् विषयांस्तस्मान्न संरागादयं व्रजेत् ।
क्रोधो हर्षो विषादश्च जायन्तेह परस्परात् ॥ ८ ॥

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको कभी रागके वशमें होकर शब्द आदि विषयोंका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर हर्ष, क्रोध और विषाद—इन सात्त्विक, राजस और तामस-भावोंकी एक दूसरेसे उत्पत्ति होती है ॥

पञ्चभूतात्मके देहे सत्त्वे राजसतामसे ।
कमभिष्टुवते चायं कं वाऽऽक्रोशति किं वदन् ॥ ९ ॥

यह शरीर पाँच भूतोंका विकार है और सत्त्व, रज एवं तम—तीन गुणोंसे युक्त है । इसमें रहकर यह निर्विकार आत्मा क्या कहकर किसकी निन्दा और किसकी स्तुति करे ॥ ९ ॥

स्पर्शरूपरसाद्येषु सङ्गं गच्छन्ति बालिशाः ।
नावगच्छन्त्यविज्ञानादात्मानं पार्थिवं गुणम् ॥ १० ॥

अज्ञानी पुरुष स्पर्श, रूप और रस आदि विषयोंमें आसक्त होते हैं । वे विशिष्ट ज्ञानसे रहित होनेके कारण यह नहीं जानते हैं कि यह शरीर पृथ्वीका विकार है ॥ १० ॥

मृन्मयं शरणं यद्वन्मृदैव परिलिप्यते ।
पार्थिवोऽयं तथा देहो मृद्विकारान्न नश्यति ॥ ११ ॥

जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे ही लीपा जाता है तो सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पृथ्वीके ही विकारभूत अन्न और जलके सेवनसे ही नष्ट नहीं होता है ॥ ११ ॥

मधु तैलं पयः सर्पिर्मांसानि लवणं गुडः ।
धान्यानि फलमूलानि मृद्विकाराः सहाम्भसा ॥ १२ ॥

मधु, तेल, दूध, घी, मांस, लवण, गुड़, धान्य, फल-मूल और जल—ये सभी पृथ्वीके ही विकार हैं ॥ १२ ॥

यद्वत् कान्तारमातिष्ठन्नौत्सुक्यं समनुव्रजेत् ।
ग्राम्यमाहारमादद्यादस्वाद्वपि हि यापनम् ॥ १३ ॥
तद्वत् संसारकान्तारमातिष्ठञ्श्रमतत्परः ।
यात्रार्थमद्यादाहारं व्याधितो भेषजं यथा ॥ १४ ॥

जैसे वनमें रहनेवाला संन्यासी स्वादिष्ट अन्न (मिठाई आदि) के लिये उत्सुक नहीं होता । वह शरीर-निर्वाहके लिये स्वाधीन रूखा सूखा ग्रामीण आहार भी ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संसाररूपी वनमें रहनेवाला गृहस्थ परिश्रममें संलग्न हो जीवन निर्वाहमात्रके लिये शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करे । ठीक उसी तरह, जैसे रोगी जीवनरक्षाके लिये औषध सेवन करता है ॥ १३-१४ ॥

सत्यशौचार्जवत्यागैर्वर्चसा विक्रमेण च ।
क्षान्त्या धृत्या च बुद्ध्या च मनसा तपसैव च ॥ १५ ॥
भावान् सर्वानुपावृत्तान् समीक्ष्य विषयात्मकान् ।
शान्तिमिच्छन्नदीनात्मा संयच्छेदिन्द्रियाणि च ॥ १६ ॥

उदारचित्त पुरुष सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तेज, पराक्रम, क्षमा, धैर्य, बुद्धि, मन और तपके प्रभावसे समस्त विषयात्मक भावोंपर आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए शान्तिकी इच्छासे अपनी इन्द्रियोंको संयममें रक्खे ॥ १५-१६ ॥

सत्त्वेन रजसा चैव तमसा चैव मोहिताः ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते ह्यज्ञानाज्जन्तवो भृशम् ॥ १७ ॥

अजितेन्द्रिय जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज और तमसे मोहित हो निरन्तर चक्रकी तरह घूमते रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मात् सम्यक् परीक्षेत दोषानज्ञानसम्भवान् ।
अज्ञानप्रभवं दुःखमहंकारं परित्यजेत् ॥ १८ ॥

अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अज्ञानजनित दोषोंकी भलीभाँति परीक्षा करे तथा उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए दुःख और अहंकारको त्याग दे ॥ १८ ॥

महाभूतानीन्द्रियाणि गुणाः सत्त्वं रजस्तमः ।
त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, शब्द आदि गुण, सत्त्व, रज और तम तथा लोकपालोंसहित तीनों लोक—यह सब कुछ अहंकारमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १९ ॥

यथेह नियतः कालो दर्शयत्यार्तवान् गुणान् ।
तद्वद्भूतेष्वहंकारं विद्यात् कर्मप्रवर्तकम् ॥ २० ॥

जैसे इस जगत्में नियत काल यथासमय ऋतु-सम्बन्धी गुणोंको प्रकट कर दिखाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें अहंकारको ही उनके कर्मोंका प्रवर्तक जानना चाहिये ॥

सम्मोहकं तमो विद्यात् कृष्णमज्ञानसम्भवम् ।
प्रीतिदुःखनिबद्धांश्च समस्तांस्त्रीनथो गुणान् ॥ २१ ॥

अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारका होता है । तमोगुण मोहमें डालनेवाला तथा अन्धकारके समान काला है । उसे अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये । प्रीति उत्पन्न करनेवाले भाव सात्त्विक है और दुःख देनेवाले राजस । इस प्रकार इन समस्त त्रिविध गुणोंका स्वरूप जानना चाहिये ॥ २१ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च निबोध तान् ।
प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसंदेहो धृतिः स्मृतिः ।
एतान् सत्त्वगुणान् विद्यादिमान् राजसतामसान् ॥ २२ ॥
कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः ।
विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता ॥ २३ ॥

अब मैं तुम्हें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके कार्य बताता हूँ, सुनो । प्रसन्नता, हर्षजनित प्रीति, संदेहका अभाव, धैर्य और स्मृति—इन सबको सत्त्वगुणके कार्य समझो । काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लान्ति, विषाद, शोक, अप्रसन्नता, मान, दर्प और अनार्यता—इन्हें रजोगुण और तमोगुणके कार्य समझना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

दोषाणामेवमादीनां परीक्ष्य गुरुलाघवम् ।
विमृशेदात्मसंस्थानमेकैकमनुसंततम् ॥ २४ ॥

इनके तथा ऐसे ही दूसरे दोषोंके बड़े-छोटेका विचार करके फिर इस बातकी परीक्षा करे कि इनमेंसे एक-एक दोष मुझमें है या नहीं । यदि है तो कितनी मात्रामें है (इस तरह विचार करते हुए सभी दोषोंसे छूटनेका प्रयत्न करे) ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के दोषा मनसा त्यक्ताः के बुद्ध्या शिथिलीकृताः।
के पुनः पुनरायान्ति के मोहादफला इव ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालके मुमुक्षुओंने किन-किन दोषोंका मनके द्वारा त्याग किया है और किन्हें बुद्धिके द्वारा शिथिल किया है ? कौन दोष बारंबार आते हैं और कौन मोहवश फल देनेमें असमर्थ-से प्रतीत होते हैं ? ॥

केषां बलाबलं बुद्ध्या हेतुभिर्विमृशेद् बुधः।
एष मे संशयस्तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धि तथा युक्तियोंद्वारा किन दोषोंके बलाबलका विचार करे। तात ! पितामह ! यह मेरा संशय है। आप मुझसे इसका विवेचन कीजिये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

दोषैर्मूलादवच्छिन्नैर्विशुद्धात्मा विमुच्यते।
विनाशयति सम्भूतमयस्मयमयो यथा।
तथा कृतात्मा सहजैर्दोषैर्नश्यति तामसैः ॥ २७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इन दोषोंका मूल कारण है अज्ञान। अतः मूलसहित इन दोषोंका नाश हो जानेपर मनुष्यका अन्तःकरण विशुद्ध होता है और वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जैसे लोहेकी बनी हुई छेनीकी धार लोहमयी साँकलको काटकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शुद्ध हुई बुद्धि तमोगुणजनित सहज दोषोंको नष्ट करके उनके साथ ही स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ २७ ॥

राजसं तामसं चैव शुद्धात्मकमकल्मषम्।
तत् सर्वं देहिनां बीजं सत्त्वमात्मवतः समम् ॥ २८ ॥

यद्यपि रजोगुण, तमोगुण तथा काम, मोह आदि दोषोंसे रहित शुद्ध सत्त्वगुण—ये तीनों ही देहधारियोंकी देहकी उत्पत्तिके मूल कारण हैं, तथापि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, उस पुरुषके लिये सत्त्वगुण ही समताका साधन है ॥२८॥

तस्मादात्मवता वर्ज्यं रजश्च तम एव च।
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तं सत्त्वं निर्मलतामियात् ॥ २९ ॥

अतः जितात्मा पुरुषको रजोगुण और तमोगुणका त्याग ही करना चाहिये। इन दोनोंसे छूट जानेपर बुद्धि निर्मल हो जाती है ॥ २९ ॥

अथवा मन्त्रवद् ब्रूयुरात्मादानाय दुष्कृतम्।
स वै हेतुरनादाने शुद्धधर्मानुपालने ॥ ३० ॥

अथवा बुद्धिको वशमें करनेके लिये शास्त्रविहित मन्त्रयुक्त यज्ञादि कर्मको कुछ लोग दोषयुक्त बताते हैं; परंतु वह मन्त्रयुक्त यज्ञादि धर्म भी निष्कामभावसे किये जानेपर वैराग्यका हेतु है तथा शुद्ध धर्म—शम, दम आदिके निरन्तर पालनमें भी वही निमित्त बनता है ॥ ३० ॥

रजसाधर्मयुक्तानि कार्याण्यपि समाप्नुते।
अर्थयुक्तानि चात्यर्थं कामान् सर्वांश्च सेवते ॥ ३१ ॥

मनुष्य रजोगुणके अधीन होनेपर उसके द्वारा भाँति-भाँतिके अधर्मयुक्त एवं अर्थयुक्त कर्म करने लगता है तथा वह सम्पूर्ण भोगोंका अत्यन्त आसक्तिपूर्वक सेवन करता है ॥३१॥

तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः ॥ ३२ ॥

तमोगुणद्वारा मनुष्य लोभ और क्रोधजनित कर्मोंका सेवन करता है, हिंसात्मक कर्मोंमें उसकी विशेष आसक्ति हो जाती है तथा वह हर समय निद्रा-तन्द्रासे घिरा रहता है ॥३२॥

सत्त्वस्थः सात्त्विकान् भावाञ्शुद्धान् पश्यति संश्रितः।
स देही विमलः श्रीमाञ्श्रद्धाविद्यासमन्वितः ॥ ३३ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित हुआ पुरुष शुद्ध सात्त्विक भावोंको ही देखता और उन्हींका आश्रय लेता है। वह अत्यन्त निर्मल और कान्तिमान् होता है। उसमें श्रद्धा और विद्याकी प्रधानता होती है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवोत्पत्तिका वर्णन करते हुए दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये विषयासक्तिके त्यागका उपदेश

भीष्म उवाच

रजसा साध्यते मोहस्तमसा भरतर्षभ।
क्रोधलोभौ भयं दर्प एतेषां सादनाच्छुचिः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण और तमोगुणसे मोहकी उत्पत्ति होती है तथा उससे क्रोध, लोभ, भय एवं दर्प उत्पन्न होते हैं; इन सबका नाश करनेसे ही मनुष्य शुद्ध होता है ॥ १ ॥

परमं परमात्मानं देवमक्षयमव्ययम्।
विष्णुमव्यक्तसंस्थानं विदुस्तं देवसत्तमम् ॥ २ ॥

ऐसे शुद्धात्मा पुरुष ही उस अक्षय, अविनाशी, परमदेव, अव्यक्तस्वरूप, देवप्रवर परमात्मा विष्णुका तत्त्व जान पाते हैं ॥ २ ॥

तस्य मायापिनद्धाङ्गा नष्टज्ञाना विचेतसः।
मानवा ज्ञानसम्मोहात् ततः क्रोधं प्रयान्ति वै ॥ ३ ॥

उसी ईश्वरकी मायासे आवृत हो जानेपर मनुष्योंके ज्ञान और विवेकका नाश हो जाता है तथा वे बुद्धिके व्यामोहसे क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

क्रोधात् काममवाप्याथ लोभमोहौ च मानवाः ।
मानदर्पावहङ्कारमहङ्कारात् ततः क्रियाः ॥ ४ ॥

क्रोधसे काम उत्पन्न होता है और फिर कामसे मनुष्य लोभ, मोह, मान, दर्प एवं अहङ्कारको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् अहङ्कारसे प्रेरित होकर ही उनकी सारी क्रियाएँ होने लगती हैं ॥ ४ ॥

क्रियाभिः स्नेहसम्बन्धात्स्नेहाच्छोकमनन्तरम् ।
सुखदुःखक्रियारम्भाज्जन्माजन्मकृतक्षणाः ॥ ५ ॥

ऐसी क्रियाओंद्वारा मनुष्य आसक्तिसे युक्त हो जाता है। आसक्तिसे शोक होता है। फिर सुख-दुःखयुक्त कार्य आरम्भ करनेसे मनुष्यको जन्म और मृत्युके कष्ट स्वीकार करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

जन्मतो गर्भवासं तु शुक्रशोणितसम्भवम् ।
पुरीषमूत्रविक्लेदं शोणितप्रभवाविलम् ॥ ६ ॥

जन्मके निमित्तसे गर्भवासका कष्ट भोगना पड़ता है। रज और वीर्यके परस्पर संयुक्त होनेपर गर्भवासका अवसर आता है, जहाँ मल और मूत्रसे भीगे तथा रक्तके विकारसे मलिन स्थानमें रहना पड़ता है ॥ ६ ॥

तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥ ७ ॥

तृष्णासे अभिभूत तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे बद्ध होकर उन्हींका अनुसरण करता हुआ मनुष्य (महान् दुःख उठाता रहता है। यदि उनसे छूटनेकी इच्छा हो तो) स्त्रियोंको संसाररूपी वस्त्रको बुननेवाली तन्तुवाहिनी समझे और उनसे दूर रहे ॥ ७ ॥

प्रकृत्या क्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणाः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽतीयाद् विशेषतः ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ प्रकृतिके तुल्य हैं; अतः क्षेत्रस्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञरूप हैं (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुषको बाँधती है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ पुरुषोंको अपने मोहजालमें बाँध लेती हैं), इसलिये सामान्यतः प्रत्येक पुरुषको विशेष प्रयत्नपूर्वक स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥ ९ ॥

ये स्त्रियाँ भयानक कृत्याके समान हैं; अतः अज्ञानी मनुष्योंको मोहमें डाल देती हैं। इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न करनेवाली यह सनातन नारीमूर्ति रजोगुणसे तिरोहित है ॥ ९ ॥

तस्मात् तदात्मकाद् रागाद् बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वदेहजानस्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात् कृमींस्त्यजेत् ।
स्वसंज्ञानस्वकांस्तद्वत् सुतसंज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥ १० ॥

अतः स्त्रीसम्बन्धी अनुरागके कारण पुरुषके वीर्यसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जैसे मनुष्य अपनी ही देहसे उत्पन्न हुए जूँ और लीख आदि स्वेदज कीटोंको अपना न मानकर त्याग देता है, उसी प्रकार अपने कहलानेवाले जो अनात्मा पुत्रनामधारी कीट हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वभावात् कर्मयोगाद् वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ११ ॥

इस शरीरसे वीर्यद्वारा अथवा पसीनोंद्वारा स्वभावसे अथवा प्रारब्धके अनुसार जन्तुओंका जन्म होता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

रजस्तमसि पर्यस्तं सत्त्वं च रजसि स्थितम् ।
ज्ञानाधिष्ठानमव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारलक्षणम् ॥ १२ ॥

तमोगुणमें स्थित रजोगुण तथा रजोगुणमें स्थित सत्त्वगुण जब रजोगुण-तमोगुणमें स्थित हो जाता है और सत्त्वगुण रजोगुणमें स्थित हो जाता है, तब ज्ञानका अधिष्ठानभूत अव्यक्त आत्मा बुद्धि और अहङ्कारसे युक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

तद् बीजं देहिनामाहुस्तद् बीजं जीवसंज्ञितम् ।
कर्मणा कालयुक्तेन संसारपरिवर्तनम् ॥ १३ ॥

वह अव्यक्त आत्मा ही देहधारी प्राणियोंका बीज है और वह बीजभूत आत्मा ही गुणोंके सङ्गके कारण जीव कहलाता है। वही कालसे युक्त कर्मसे प्रेरित हो संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ १३ ॥

रमत्ययं यथा स्वप्ने मनसा देहवानिव ।
कर्मगर्भैर्गुणैर्देही गर्भे तदुपलभ्यते ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें यह जीव मनके द्वारा ही दूसरा शरीर धारण करके क्रीडा करता है, उसी प्रकार वह कर्मगर्भित गुणोंद्वारा गर्भमें उपलब्ध होता है ॥ १४ ॥

कर्मणा बीजभूतेन चोद्यते यद् यदिन्द्रियम् ।
जायते तदहङ्काराद् रागयुक्तेन चेतसा ॥ १५ ॥

बीजभूत कर्मसे जिस-जिस इन्द्रियको उत्पत्तिके लिये प्रेरणा प्राप्त होती है, रागयुक्त चित्त एवं अहङ्कारसे वही-वही इन्द्रिय प्रकट हो जाती है ॥ १५ ॥

शब्दरागाच्छ्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धचिकीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दके प्रति राग होनेसे उस भावितात्मा पुरुषकी श्रवणेन्द्रिय प्रकट होती है। रूपके प्रति राग होनेसे नेत्र और गन्ध ग्रहण करनेकी इच्छा होनेसे नासिकाका प्राकट्य होता है ॥ १६ ॥

स्पर्शने त्वक् तथा वायुः प्राणापानव्यपाश्रयः ।
व्यानोदानौ समानश्च पञ्चधा देहयापनम् ॥ १७ ॥

स्पर्शके प्रति राग होनेसे त्वगिन्द्रिय और वायुका प्राकट्य होता है। वायु प्राण और अपानका आश्रय है। वही उदान, व्यान तथा समान है। इस प्रकार वह पाँच रूपोंमें प्रकट हो शरीर-यात्राका निर्वाह करती है ॥ १७ ॥

संजातैर्जायते गात्रैः कर्मजैर्वर्ष्मणा वृतः ।
दुःखाद्यन्तैर्दुःखमध्यैर्नरः शारीरमानसैः ॥ १८ ॥

मनुष्य जन्मकालमें पूर्णतः उत्पन्न हुए कर्मजनित अङ्गों और सम्पूर्ण शरीरसे युक्त होकर जन्म ग्रहण करता है। वह मनुष्य आदि, मध्य और अन्तमें भी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित रहता है ॥ १८ ॥

दुःखं विद्यादुपादानादभिमानाच्च वर्धते ।
त्यागात् तेभ्यो निरोधः स्यान्निरोधज्ञो विमुच्यते ॥ १९ ॥

शरीरके ग्रहणमात्रसे दुःखकी प्राप्ति निश्चित समझनी चाहिये। शरीरमें अभिमान करनेसे उस दुःखकी वृद्धि होती है। अभिमानके त्यागसे उन दुःखोंका अन्त होता है। जो दुःखोंके अन्त होनेकी इस कलाको जानता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणां रजस्येव प्रलयप्रभवावुभौ ।
परीक्ष्य संचरेद् विद्वान् यथावच्छास्त्रचक्षुषा ॥ २० ॥

इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और लय—ये दोनों कार्य रजोगुणमें ही होते हैं। विद्वान् पुरुष शास्त्रदृष्टिसे इन बातोंकी भलीभाँति परीक्षा करके यथोचित आचरण करे ॥ २० ॥

ज्ञानेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान्नोपसर्पन्त्यतर्षुलम् ।
हीनैश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति ॥ २१ ॥

जिसमें तृष्णाका अभाव है, उस पुरुषको ये ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंकी प्राप्ति नहीं करातीं। इन्द्रियोंके विषयासक्तिसे रहित हो जानेपर देही पुनः शरीरको धारण नहीं करता ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा वैराग्यसे मुक्ति

भीष्म उवाच

अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा ।
तत्त्वज्ञानाच्चरन् राजन् प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अब मैं तुम्हें शास्त्र-दृष्टिसे मोक्षका यथावत् उपाय बताता हूँ। शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानसे परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते ।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है। मनुष्योंमें द्विजोंका और द्विजोंमें भी मन्त्रद्रष्टा (वेदज्ञ) ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ बताया गया है ॥ २ ॥

सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयाः ॥ ३ ॥

वेद-शास्त्रोंके यथार्थ ज्ञाता ब्राह्मण समस्त भूतोंके आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उन्हें परमार्थतत्त्वका पूर्ण निश्चय होता है ॥ ३ ॥

नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि ।
ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥ ४ ॥

जैसे नेत्रहीन पुरुष मार्गमें अकेला होनेपर तरह-तरहके दुःख पाता है, उसी प्रकार संसारमें ज्ञानहीन मनुष्यको भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं; इसलिये ज्ञानी पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

तांस्तानुपासते धर्मान् धर्मकामा यथागमम् ।
न त्वेषामर्थसामान्यमन्तरेण गुणानिमान् ॥ ५ ॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य शास्त्रके अनुसार उन-उन यज्ञादि सकाम धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं; किंतु आगे बताये जानेवाले गुणोंके बिना इन्हें सबके लिये समानरूपसे अभीष्ट मोक्ष नामक पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः ।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥ ६ ॥

वाणी, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—इन गुणोंको प्रायः सभी धर्मोंके धर्मज्ञ पुरुष कल्याणकारी बताते हैं ॥ ६ ॥

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ॥ ७ ॥

यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे तो शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है। यह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ ८ ॥
वाक्सम्भाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनःपरिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ ९ ॥

वह परमपद पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दसों इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरके संयोगसे शून्य है, शब्द और स्पर्शसे रहित है। जो कानसे सुनता नहीं, आँखसे देखता नहीं और वाणीद्वारा कुछ बोलता नहीं है तथा जो मनसे भी रहित है, वही वह परमपद या ब्रह्म है। मनुष्य बुद्धिके द्वारा उसका निश्चय करे और उसकी प्राप्तिके लिये निष्कलङ्क ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ ८-९ ॥

सम्यग्वृत्तिर्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्।
द्विजाग्र्यो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः॥ १०॥

जो मनुष्य इस व्रतका अच्छी तरह पालन करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। मध्यम श्रेणीके ब्रह्मचारीको देवताओंका लोक प्राप्त होता है और कनिष्ठ श्रेणीका विद्वान् ब्रह्मचारी श्रेष्ठ ब्राह्मणके रूपमें जन्म लेता है॥ १०॥

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः॥ ११॥

ब्रह्मचर्यका पालन अत्यन्त कठिन है। उसके लिये जो उपाय है, वह मुझसे सुनो। ब्राह्मणको चाहिये कि जब रजोगुणकी वृत्ति प्रकट होने और बढ़ने लगे तो उसे रोक दे॥

योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः॥ १२॥

स्त्रियोंकी चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्थामें न देखे; क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओंमें उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बल हृदयवाले पुरुषोंके मनमें रजोगुण—राग या कामभावका प्रवेश हो जाता है॥ १२॥

रागोत्पन्नश्चरेत् कृच्छ्रं महार्तिः प्रविशेदपः।
मग्नः स्वप्ने च मनसा त्रिर्जपेदघमर्षणम्॥ १३॥

ब्रह्मचारीके मनमें यदि राग या काम-विकार उत्पन्न हो जाय तो वह आत्मशुद्धिके लिये कृच्छ्रव्रत[1]का आचरण करे। यदि वीर्यकी वृद्धि होनेसे उसे कामवेदना अधिक सता रही हो तो वह नदी या सरोवरके जलमें प्रवेश करके स्नान करे। यदि स्वप्नावस्थामें वीर्यपात हो जाय तो जलमें गोता लगाकर मन-ही-मन तीन बार अघमर्षण सूक्त[2]का जप करे॥

पाप्मानं निर्दहेदेवमन्तर्भूतरजोमयम्।
ज्ञानयुक्तेन मनसा संततेन विचक्षणः॥ १४॥

विवेकी पुरुषको इस प्रकार ज्ञानयुक्त एवं संयमशील मनके द्वारा अपने अन्तःकरणमें प्रकट हुए पापमय कामविकारको दग्ध कर देना चाहिये॥ १४॥

कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनम्।
तद्वद् देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनम्॥ १५॥

मुर्देके समान अपवित्र एवं मलयुक्त नाड़ियाँ जिस प्रकार देहके भीतर दृढ़तापूर्वक बँधी हुई हैं, उसी प्रकार (अज्ञानसे) उसके भीतर जीवात्मा भी दृढ़ बन्धनमें बँधा हुआ है, ऐसा जानना चाहिये॥ १५॥

वातपित्तकफाद् रक्तं त्वङ्मांसं स्नायुमस्थि च।
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम्॥ १६॥

भोजनसे प्राप्त हुए रस नाड़ीसमूहोंद्वारा संचरित होकर मनुष्योंके वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, चर्बी एवं सम्पूर्ण शरीरको तृप्त एवं पुष्ट करते हैं॥

दश विद्याद् धमन्योऽत्र पञ्चेन्द्रियगुणावहाः।
याभिः सूक्ष्माः प्रतायन्ते धमन्योऽन्याः सहस्रशः॥ १७॥

इस शरीरके भीतर उपर्युक्त वात, पित्त आदि दस वस्तुओंको वहन करनेवाली दस ऐसी नाड़ियाँ हैं, जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्द आदि गुणोंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करानेवाली हैं। उन्हींके साथ अन्य सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियाँ सारे शरीरमें फैली हुई हैं॥ १७॥

एवमेताः शिरा नद्यो रसोदा देहसागरम्।
तर्पयन्ति यथाकालमापगा इव सागरम्॥ १८॥

जैसे नदियाँ अपने जलसे यथासमय समुद्रको तृप्त करती रहती हैं, उसी प्रकार रसको बहानेवाली ये नाड़ीरूप नदियाँ इस देह-सागरको तृप्त किया करती हैं॥ १८॥

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति॥ १९॥

हृदयके मध्यभागमें एक मनोवहा नामकी नाड़ी है, जो पुरुषोंके कामविषयक संकल्पके द्वारा सारे शरीरसे वीर्यको खींचकर बाहर निकाल देती है॥ १९॥

सर्वगात्रप्रतायिन्यस्तस्या ह्यनुगताः शिराः।
नेत्रयोः प्रतिपद्यन्ते वहन्त्यस्तैजसं गुणम्॥ २०॥

उस नाड़ीके पीछे चलनेवाली और सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई अन्य नाड़ियाँ तैजस-गुणरूप ग्रहणकी शक्तिको वहन करती हुई नेत्रोंतक पहुँचती हैं॥ २०॥

पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद् देहसंकल्पजैः खजैः॥ २१॥

जिस प्रकार दूधमें छिपे हुए घीको मथानीसे मथकर अलग किया जाता है, उसी प्रकार देहस्थ संकल्प और इन्द्रियोंसे होनेवाले स्त्रियोंके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे मथित होकर पुरुषका वीर्य बाहर निकल जाता है॥ २१॥

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनःसंकल्पजं रजः।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा॥ २२॥

जैसे स्वप्नमें संसर्ग न होनेपर भी मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ स्त्रीविषयक राग उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार

---

१. 'कृच्छ्र' शब्दसे प्राजापत्यकृच्छ्रका ग्रहण किया जाता है। प्राजापत्यकृच्छ्रका विधान इस प्रकार है—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्योऽयमुच्यते॥
(मनुस्मृति ११। २१२)

तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल तथा तीन दिनतक केवल अयाचित अन्नका भोजन करे। फिर तीन दिनतक उपवास रक्खे। इसे प्राजापत्यकृच्छ्र कहा जाता है।

२. अघमर्षणसूक्त निम्नलिखित है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

मनोवहा नाड़ी पुरुषके शरीरसे संकल्पजनित वीर्यका निःसारण कर देती है ॥ २२ ॥

महर्षिर्भगवानत्रिर्वेद तच्छुक्रसम्भवम् ।
त्रिबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ॥ २३ ॥

भगवान् महर्षि अत्रि वीर्यकी उत्पत्ति और गतिको जानते हैं तथा ऐसा कहते हैं कि मनोवहा नाड़ी, संकल्प और अन्न—ये तीन ही वीर्यके कारण हैं। इस वीर्यका देवता इन्द्र है; इसलिये इसे इन्द्रिय कहते हैं ॥ २३ ॥

ये वै शुक्रगतिं विद्युर्भूतसंकरकारिकाम् ।
विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नुयुर्देहसम्भवम् ॥ २४ ॥

जो यह जानते हैं कि वीर्यकी गति ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाली है, वे विरक्त हो अपने सारे दोषोंको भस्म कर डालते हैं; इसलिये वे पुनः देहके बन्धनमें नहीं पड़ते ॥ २४ ॥

गुणानां साम्यमागम्य मनसैव मनोवहम् ।
देहकर्मा नुदन् प्राणानन्तकाले विमुच्यते ॥ २५ ॥

जो केवल शरीरकी रक्षाके लिये भोजन आदि कर्म करता है, वह अभ्यासके बलसे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके मनके द्वारा मनोवहा नाड़ीको संयममें रखते हुए अन्तकालमें प्राणोंको सुषुम्णा मार्गसे ले जाकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

भविता मनसो ज्ञानं मन एव प्रजायते ।
ज्योतिष्मद्विरजो नित्यं मन्त्रसिद्धं महात्मनाम् ॥ २६ ॥

उन महात्माओंके मनमें तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है; क्योंकि प्रणवोपासनासे परिशुद्ध हुआ उनका मन नित्य प्रकाशमय और निर्मल हो जाता है ॥ २६ ॥

तस्मात् तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
रजस्तमश्च हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ २७ ॥

अतः मनको वशमें करनेके लिये मनुष्यको निर्दोष एवं निष्काम कर्म करने चाहिये। ऐसा करनेसे वह रजोगुण और तमोगुणसे छूटकर इच्छानुसार गति प्राप्त कर लेता है ॥२७॥

तरुणाधिगतं ज्ञानं जरादुर्बलतां गतम् ।
विपक्वबुद्धिः कालेन आदत्ते मानसं बलम् ॥ २८ ॥

युवावस्थामें प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रायः बुढ़ापेमें क्षीण हो जाता है, परंतु परिपक्वबुद्धि मनुष्य समयानुसार ऐसा मानसिक बल प्राप्त कर लेता है, जिससे उसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता ॥ २८ ॥

सुदुर्गमिव पन्थानमतीत्य गुणबन्धनम् ।
यथा पश्येत् तथा दोषानतीत्यामृतमश्नुते ॥ २९ ॥

वह परिपक्व बुद्धिवाला मनुष्य अत्यन्त दुर्गम मार्गके समान गुणोंके बन्धनको पार करके जैसे-जैसे अपने दोष देखता है, वैसे ही वैसे उन्हें लाँघकर अमृतमय परमात्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

आसक्ति छोड़कर सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंके विषयोंका पार पाना बहुत कठिन है। जो प्राणी उनमें आसक्त होते हैं, वे दुःख भोगते रहते हैं और जो महात्मा उनमें आसक्त नहीं होते, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वेव संततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥ २ ॥

यह जगत् जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखों, नाना प्रकारके रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त है; ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुषको मोक्षके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

वाङ्मनोभ्यां शरीरेण शुचिः स्यादनहंकृतः ।
प्रशान्तो ज्ञानवान् भिक्षुर्निरपेक्षश्चरेत् सुखम् ॥ ३ ॥

वह मन, वाणी और शरीरसे पवित्र रहकर अहङ्कार-शून्य, शान्तचित्त, ज्ञानवान् एवं निःस्पृह होकर भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करता हुआ सुखपूर्वक विचरे ॥ ३ ॥

अथवा मनसः सङ्गं पश्येद् भूतानुकम्पया ।
तत्राप्युपेक्षां कुर्वीत ज्ञात्वा कर्मफलं जगत् ॥ ४ ॥

अथवा प्राणियोंपर दया करते रहनेसे भी मोहवश उनके प्रति मनमें आसक्ति हो जाती है। इस बातपर दृष्टिपात करे और यह समझकर कि सारा जगत् अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहा है, सबके प्रति उपेक्षाभाव रखे ॥ ४ ॥

यत् कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा यदि वाश्नुते ।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वा बुद्धिकर्मभिः ॥५॥

मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है; इसलिये मन, बुद्धि और

क्रियाके द्वारा सदा शुभ कर्मोंका ही आचरण करे ॥ ५ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, समस्त प्राणियोंके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव, क्षमा तथा प्रमादशून्यता—ये गुण जिस पुरुषमें विद्यमान हों, वही सुखी होता है ॥ ६ ॥

यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम्।
दुःखान्निःसरणं वेद सर्वज्ञः स सुखी भवेत्॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस अहिंसा आदि परम धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सुखद और दुःखनिवारक जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सुखी होता है ॥ ७ ॥

तस्मात् समाहितं बुद्ध्या मनो भूतेषु धारयेत्।
नापध्यायेन्न स्पृहयेन्नाबद्धं चिन्तयेदसत्॥ ८ ॥
अथामोघप्रयत्नेन मनो ज्ञाने निवेशयेत्।
वाचामोघप्रयासेन मनोज्ञं तत् प्रवर्तते॥ ९ ॥

इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको समाहित करके समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्मामें लगावे। किसीका अहित न सोचे, असम्भव वस्तुकी कामना न करे, मिथ्या पदार्थोंकी चिन्ता न करे और सफल प्रयत्न करके मनको ज्ञानके साधनमें लगा दे। वेदान्त-वाक्योंके श्रवण तथा सुदृढ़ प्रयत्नसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ८-९ ॥

विवक्षता च सद्वाक्यं धर्मं सूक्ष्ममवेक्षता।
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम्॥ १० ॥
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ।
ईदृगल्पं च वक्तव्यमविक्षिप्तेन चेतसा॥ ११ ॥

जो सूक्ष्म धर्मको देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो, उसको ऐसी बात कहनी चाहिये जो सत्य होनेके साथ ही हिंसा और परनिन्दासे रहित हो। जिसमें शठता, कठोरता, क्रूरता और चुगली आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो, ऐसी वाणी भी बहुत थोड़ी मात्रामें और सुस्थिर चित्तसे बोलनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

वाक्प्रबद्धो हि संसारो विरागाद् व्याहरेद् यदि।
बुद्ध्याप्यनुगृहीतेन मनसा कर्म तामसम्॥ १२ ॥

संसारका सारा व्यवहार वाणीसे ही बँधा हुआ है, अतः सदा उत्तम वाणी ही बोले और यदि वैराग्य हो तो बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके अपने किये हुए हिंसादि तामस कर्मोंको भी लोगोंसे कह दे (क्योंकि प्रकाशित कर देनेसे पापकी मात्रा घट जाती है) ॥ १२ ॥

रजोभूतैर्हि करणैः कर्मणि प्रतिपद्यते।
स दुःखं प्राप्य लोकेऽस्मिन् नरकायोपपद्यते।
तस्मान्मनोवाक्शरीरैराचरेद् धैर्यमात्मनः॥ १३ ॥

रजोगुणसे प्रभावित हुई इन्द्रियोंकी प्रेरणासे मनुष्य विषयभोगरूप कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और इस लोकमें दुःख भोगकर अन्तमें नरकगामी होता है; अतः मन, वाणी और शरीरद्वारा ऐसा कार्य करे, जिससे अपनेको धैर्य प्राप्त हो ॥ १३ ॥

प्रकीर्णमेषभारं हि यद्वद् धार्येत दस्युभिः।
प्रतिलोमां दिशं बुद्ध्वा संसारमबुधास्तथा॥ १४ ॥

जैसे चोर या लुटेरे किसीकी भेड़को मारकर उसे कंधेपर उठाये हुए जबतक भागते हैं, तबतक उन्हें सारी दिशाओंमें पकड़े जानेका भय बना रहता है और जब मार्गको प्रतिकूल समझकर उस भेड़के बोझको अपने कंधेसे उतार फेंकते हैं, तब अपनी अभीष्ट दिशाको सुखपूर्वक चले जाते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य जबतक सांसारिक कर्मरूप बोझको ढोते हैं, तबतक उन्हें सर्वत्र भय बना रहता है और जब उसे त्याग देते हैं, तब शान्तिके भागी हो जाते हैं ॥ १४ ॥

तमेव च यथा दस्युः क्षिप्त्वा गच्छेच्छिवां दिशम्।
तथा रजस्तमःकर्माण्युत्सृज्य प्राप्नुयाच्छुभम्॥ १५ ॥

जैसे चोर या डाकू जब उस चोरीके मालका बोझ उतार फेंकता है, तब जहाँ उसे सुख मिलनेकी आशा होती है, उस दिशामें अनायास चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्य राजस और तामस कर्मोंको त्यागकर शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

निःसंदिग्धमनीहो वै मुक्तः सर्वपरिग्रहैः।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः॥ १६ ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान्।
निष्प्रचारेण मनसा परं तदधिगच्छति॥ १७ ॥

जो सब प्रकारके संग्रहसे रहित, निरीह, एकान्तवासी, अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय है, जिसके सम्पूर्ण क्लेश ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गये हैं तथा जो योगानुष्ठानका प्रेमी और मनको वशमें रखनेवाला है, वह अपने निश्चल चित्तके द्वारा उस परब्रह्म परमात्माको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

धृतिमानात्मवान् बुद्धिं निगृह्णीयादसंशयम्।
मनो बुद्ध्या निगृह्णीयाद् विषयान्मनसाऽऽत्मनः॥ १८ ॥

बुद्धिमान् एवं धीर पुरुषको चाहिये कि वह बुद्धिको निश्चय ही अपने वशमें करे; फिर बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोककर अपने अधीन करे ॥ १८ ॥

निगृहीतेन्द्रियस्यास्य कुर्वाणस्य मनो वशे।
देवतास्तत् प्रकाशन्ते हृष्टा यान्ति तमीश्वरम्॥ १९ ॥

इस प्रकार जिसने इन्द्रियोंको वशमें करके मनको अपने अधीन कर लिया है, उस अवस्थामें उसकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता प्रसन्नतासे प्रकाशित होने लगते हैं और ईश्वरकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ताभिः संयुक्तमनसो ब्रह्म तत् सम्प्रकाशते।
शनैश्चोपगते सत्त्वे ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २० ॥

उन इन्द्रियदेवताओंसे जिसका मन संयुक्त हो गया है, उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म परमात्मा प्रकाशित हो उठता है;

फिर धीरे-धीरे सत्त्वगुण प्राप्त होनेपर वह मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अथवा न प्रवर्तेत योगतन्त्रैरुपक्रमेत्।
येन तन्त्रयतस्तन्त्रं वृत्तिः स्यात् तत् तदाचरेत्॥२१॥

अथवा यदि पूर्वोक्तरूपसे उसके भीतर ब्रह्म प्रकाशित न हो तो वह योगी योगप्रधान उपायोंद्वारा अभ्यास आरम्भ करे। जिस हेतुसे योगाभ्यास करते हुए योगीकी ब्रह्ममें ही स्थिति हो, वह उसी-उसीका अनुष्ठान करे ॥ २१ ॥

कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं पर्यायेणोपयोजयेत् ॥ २२ ॥

अन्नके दाने, उड़द, तिलकी खली, साग, जौकी लप्सी, सत्तू, मूल और फल जो कुछ भी भिक्षामें मिल जाय, क्रमशः उसी अन्नसे योगी अपने जीवनका निर्वाह करे ॥ २२ ॥

आहारनियमं चैव देशे काले च सात्त्विकम्।
तत् परीक्ष्यानुवर्तेत तत्प्रवृत्त्यनुपूर्वकम् ॥ २३ ॥

देश और कालके अनुसार सात्त्विक आहार ग्रहण करनेका नियम रक्खे। उस आहारके दोष-गुणकी परीक्षा करके यदि वह योगसिद्धिके अनुकूल हो तो उसे उपयोगमें ले ॥ २३ ॥

प्रवृत्तं नोपरुन्धेत शनैरग्निमिवेन्धयेत्।
ज्ञानान्वितं तथा ज्ञानमर्कवत् सम्प्रकाशते ॥ २४ ॥

साधन आरम्भ कर देनेपर उसे बीचमें न रोके। जैसे आग धीरे-धीरे तेज की जाती है, उसी प्रकार ज्ञानके साधनको शनैः-शनैः उद्दीपित करे। ऐसा करनेसे ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होने लगता है ॥ २४ ॥

ज्ञानाधिष्ठानमज्ञानं त्रीँल्लोकानधितिष्ठति।
विज्ञानानुगतं ज्ञानमज्ञानेनापकृष्यते ॥ २५ ॥

अज्ञानका अधिष्ठान भी ज्ञान ही है, जो तीनों लोकोंमें व्याप्त है। अज्ञानके द्वारा विज्ञानयुक्त ज्ञानका ह्रास होता है ॥ २५ ॥

पृथक्त्वात् सम्प्रयोगाच्च नासूयुर्वेद शाश्वतम्।
स तयोरपवर्गज्ञो वीतरागो विमुच्यते ॥ २६ ॥

शास्त्रोंमें कहीं जीवात्मा और परमात्माकी पृथक्ताका प्रतिपादन करनेवाले वचन उपलब्ध होते हैं और कहीं उनकी एकताका। यह परस्पर विरोध देखकर दोषदृष्टि न करते हुए सनातन ज्ञानको प्राप्त करे। जो उन दोनों प्रकारके वचनोंका तात्पर्य समझकर मोक्षके तत्त्वको जान लेता है, वह वीतराग पुरुष संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

ततो वीतजरामृत्युर्ज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम्।
अमृतं तदवाप्नोति यत् तदक्षरमव्ययम् ॥ २७ ॥

ऐसा पुरुष जरा और मृत्युका उल्लङ्घनकर सनातन ब्रह्मको जानकर उस अक्षर, अविकारी एवं अमृत ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें मनकी स्थिति तथा गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

भीष्म उवाच

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सदा निष्कलंक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको स्वप्नके दोषोंपर दृष्टि रखते हुए सब प्रकारसे निद्राका परित्याग कर देना चाहिये ॥ १ ॥

स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्युपगतस्पृहः ॥ २ ॥

स्वप्नमें जीवको प्रायः रजोगुण और तमोगुण दबा लेते हैं। वह कामनायुक्त होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हुएकी भाँति विचरता है ॥ २ ॥

ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम्।
विज्ञानाभिनिवेशात्तु स जागर्त्यनिशं सदा ॥ ३ ॥

मनुष्यमें पहले तो ज्ञानका अभ्यास करनेसे जागनेकी आदत होती है, तत्पश्चात् विचार करनेके लिये जागना अनिवार्य हो जाता है तथा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह तो ब्रह्ममें निरन्तर जागता ही रहता है ॥ ३ ॥

अत्राह को न्वयं भावः स्वप्ने विषयवानिव।
प्रलीनैरिन्द्रियैर्देही वर्तते देहवानिव ॥ ४ ॥

यहाँ पूर्व पक्ष यह प्रश्न उठाता है कि स्वप्नमें जो यह देहादि पदार्थ दिखायी देता है, क्या है? (सत्य है या असत्य? यदि कहें कि सत्य है तो ठीक नहीं; क्योंकि) स्वप्नावस्थामें सब कुछ विषयोंसे सम्पन्न-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें वहाँ कोई विषय नहीं होता, सारी इन्द्रियाँ उस समय मनमें विलीन हो जाती हैं। उन्हीं इन्द्रियोंसे देहाभिमानी जीव देहधारी-जैसा बर्ताव करता है। और यदि कहें कि स्वप्नके पदार्थ असत्य हैं तो यह भी ठीक नहीं;

क्योंकि जो सर्वथा असत् है, (जैसे आकाशका पुष्प) उसकी प्रतीति ही नहीं होती ॥ ४ ॥

अत्रोच्यते यथा ह्येतद् वेद योगेश्वरो हरिः ।
तथैतदुपपन्नार्थं वर्णयन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

अब यहाँ सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है । यह स्वप्न-जगत् जैसा है, उसे ठीक-ठीक योगेश्वर श्रीहरि ही जानते हैं; पर जैसा श्रीहरि जानते हैं, वैसा ही महर्षि भी उसका वर्णन करते हैं, उनका वह वर्णन युक्तिसंगत भी है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां श्रमात् स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः ।
मनसस्त्वप्रलीनत्वात् तत् तदाहुर्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् महर्षियोंका कहना है कि जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करते-करते श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब थक जाती हैं, तब सभी प्राणियोंके अनुभवमें आनेवाला स्वप्न दिखायी देने लगता है । उस समय इन्द्रियोंके लय होनेपर भी मनका लय नहीं होता है; इसलिये वह समस्त विषयोंका जो मनसे अनुभव करता है, वही स्वप्न कहलाता है । इस विषयमें प्रसिद्ध दृष्टान्त बताया जाता है ॥ ६ ॥

कार्ये व्यासक्तमनसः संकल्पो जाग्रतो ह्यपि ।
यद्वन्मनोरथैश्वर्यं स्वप्ने तद्वन्मनोगतम् ॥ ७ ॥

जैसे जाग्रत्-अवस्थामें विभिन्न कार्योंमें आसक्त-चित्त हुए मनुष्यके संकल्प मनोराज्यकी ही विभूति हैं, उसी प्रकार स्वप्नके भाव भी मनसे ही सम्बन्ध रखते हैं ॥ ७ ॥

संस्काराणामसंख्यानां कामात्मा तदवाप्नुयात् ।
मनस्यन्तर्हितं सर्वं स वेदोत्तमपूरुषः ॥ ८ ॥

कामनाओंमें जिसका मन आसक्त है, वह पुरुष स्वप्नमें असंख्य संस्कारोंके अनुसार अनेक दृश्योंको देखता है । वे समस्त संस्कार उसके मनमें ही छिपे रहते हैं, जिन्हें वह सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा जानता है ॥ ८ ॥

गुणानामपि यद्येतत् कर्मणा चाप्युपस्थितम् ।
तत् तच्छंसन्ति भूतानि मनो यद्भावितं यथा ॥ ९ ॥

कर्मोंके अनुसार सत्त्वादि गुणोंमेंसे यदि यह सत्त्व, रज या तम जो कोई भी गुण प्राप्त होता है, उससे मनपर जब जैसे संस्कार पड़ते हैं अथवा जब जिस कर्मसे मन भावित होता है, उस समय सूक्ष्मभूत स्वप्नमें वैसे ही आकार प्रकट कर देते हैं ॥ ९ ॥

ततस्तमुपसर्पन्ति गुणा राजसतामसाः ।
सात्त्विका वा यथायोगमानन्तर्यफलोदयम् ॥ १० ॥

उस स्वप्नका दर्शन होते ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस गुण यथायोग्य सुख-दुःखरूप फलका अनुभव कराने-के लिये उसके पास आ पहुँचते हैं ॥ १० ॥

ततः पश्यन्त्यसम्बुद्ध्या वातपित्तकफोत्तरान् ।
रजस्तमोगतैर्भावैस्तदप्याहुर्दुरत्ययम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मनुष्य स्वप्नमें अज्ञानवश वात, पित्त या कफकी प्रधानतासे युक्त तथा काम, मोह आदि राजस, तामस भावोंसे व्याप्त नाना प्रकारके शरीरोंका दर्शन करते हैं । तत्त्वज्ञान हुए बिना उस स्वप्नदर्शनको लाँघना अत्यन्त कठिन बताया गया है ॥ ११ ॥

प्रसन्नैरिन्द्रियैर्यद् यत् संकल्पयति मानसम् ।
तत् तत् स्वप्नेऽप्युपगते मनो ह्यप्यन्निरीक्षते ॥ १२ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें प्रसन्न इन्द्रियोंके द्वारा मनुष्य अपने मनमें जो-जो संकल्प करता है, स्वप्नावस्था आनेपर भी उसका वह मन हर्षपूर्वक उसी-उसी संकल्पको पूर्ण होता देखा करता है ॥ १२ ॥

व्यापकं सर्वभूतेषु वर्ततेऽप्रतिघं मनः ।
आत्मप्रभावात् विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥ १३ ॥

मनकी सर्वत्र अबाध गति है । वह अपने अधिष्ठान-भूत आत्माके ही प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त है; अतः आत्मा-को अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सभी देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १३ ॥

मनस्यन्तर्हितं द्वारं देहमास्थाय मानुषम् ।
यद् यत् सदसदव्यक्तं स्वपित्यस्मिन्निदर्शनम् ।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तमध्यात्मगुणं विदुः ॥ १४ ॥

स्वप्न-दर्शनका द्वारभूत जो स्थूल मानव देह है, वह सुषुप्ति-अवस्थामें मनमें लीन हो जाता है । उसी देहका आश्रय ले मन अव्यक्त सदसत्स्वरूप एवं साक्षीभूत आत्माको प्राप्त होता है । वह आत्मा सम्पूर्ण भूतोंके आत्मभूत है । ज्ञानी पुरुष उसे अध्यात्मगुणसे युक्त मानते हैं ॥ १४ ॥

लिप्सेत मनसा यश्च संकल्पादैश्वरं गुणम् ।
आत्मप्रसादं तं विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥ १५ ॥

जो योगी मनके द्वारा संकल्पसे ही ईश्वरीय गुणको पाना चाहता है, वह उस आत्मप्रसादको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि सम्पूर्ण देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

एवं हि तरसा युक्तमर्कवत् तमसः परम् ।
त्रैलोक्यप्रकृतिर्देही तमसोऽन्ते महेश्वरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार तपस्यासे युक्त हुआ मन अज्ञानान्धकारसे ऊपर उठकर सूर्यके समान ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होने लगता है । जीवात्मा तीनों लोकोंका कारणभूत ब्रह्म ही है । वह अज्ञान निवृत्तिके पश्चात् महेश्वर (विशुद्ध परमात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होता है ॥ १६ ॥

तपो ह्यधिष्ठितं देवैस्तपोघ्नमसुरैस्तमः ।
एतद् देवासुरैर्गुप्तं तदाहुर्ज्ञानलक्षणम् ॥ १७ ॥

देवताओंने तपका आश्रय लिया है और असुरोंने तपस्यामें विघ्न डालनेवाले दम्भ, दर्प आदि तमको अपनाया है; परंतु ब्रह्मतत्त्व देवताओं और असुरोंसे छिपा हुआ है; तत्त्वज्ञ पुरुष इसे ज्ञानस्वरूप बताते हैं ॥ १७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति देवासुरगुणान् विदुः ।
सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ ॥ १८ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन्हें देवताओं और असुरोंका गुण माना गया है। इनमें सत्त्व तो देवताओंका गुण और शेष दोनों असुरोंके गुण हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्म तत् परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम् ।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १९ ॥

ब्रह्म इन सभी गुणोंसे अतीत, अक्षर, अमृत, स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है। जो शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा उसे जानते हैं, वे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

हेतुमच्छक्यमाख्यातुमेतावज्ज्ञानचक्षुषा ।
प्रत्याहारेण वा शक्यमक्षरं ब्रह्म वेदितुम् ॥ २० ॥

ज्ञानमयी दृष्टि रखनेवाले महापुरुष ही ब्रह्मके विषयमें युक्तिसंगत बात कह सकते हैं अथवा मन और इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर एकाग्रचित्त हो चिन्तन करनेसे भी ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) उन चारोंके ज्ञानसे मुक्तिका कथन तथा परमात्मप्राप्तिके अन्य साधनोंका भी वर्णन

भीष्म उवाच

न स वेद परं ब्रह्म यो न वेद चतुष्टयम् ।
व्यक्ताव्यक्तं च यत् तत्त्वं सम्प्रोक्तं परमर्षिणा ॥ १ ॥
व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम् ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
तत्रैवावस्थितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
निवृत्तिलक्षणं धर्ममव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो मनुष्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग तथा प्रकृति और पुरुष—इन चारोंको नहीं जानता है, वह परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है। परम ऋषि नारायणने जिस व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वका प्रतिपादन किया है, उसमें व्यक्त (दृश्यवर्ग) को मृत्युके मुखमें पड़नेवाला जाने और अव्यक्तको अमृतपद समझे तथा नारायण ऋषिने जिस प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है, उसीपर चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी प्रतिष्ठित है। निवृत्तिरूप जो धर्म है, वह अव्यक्त सनातन ब्रह्मस्वरूप है ॥ १–३ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः ॥ ४ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने प्रवृत्तिरूप धर्मका उपदेश दिया है; परंतु प्रवृत्तिरूप धर्म पुनरावृत्तिका कारण है। उसके आचरणसे संसारमें बारंबार जन्म लेना पड़ता है और निवृत्तिरूप धर्म परमगतिकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ४ ॥

तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः ।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाशुभनिदर्शकः ॥ ५ ॥

जो सदा ज्ञानतत्त्वके चिन्तनमें संलग्न रहनेवाला, शुभ और अशुभको (ज्ञाननेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे) देखनेवाला तथा निवृत्तिपरायण मुनि है, वही उस परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्तपुरुषावुभौ ।
अव्यक्तपुरुषाभ्यां तु यत् स्यादन्यन्महत्तरम् ॥ ६ ॥
तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः ।

इस प्रकार विचारशील पुरुषको चाहिये कि वह पहले अव्यक्त[1] (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा)—इन दोनोंका ज्ञान प्राप्त करे; फिर इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो परम महान् पुरुषोत्तम तत्त्व है, उसका विशेषरूपसे ज्ञान प्राप्त करे ॥ ६½ ॥

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ॥ ७ ॥
उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ ।
सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम् ॥ ८ ॥

ये प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों ही अनादि और अनन्त हैं*। दोनों ही अलिङ्ग निराकार हैं तथा दोनों ही नित्य, अविचल और महान्‌से भी महान् हैं। ये सब बातें इन दोनोंमें समानरूपसे पायी जाती हैं; परंतु इनमें जो अन्तर या वैलक्षण्य है, वह दूसरा ही है, जिसे बताया जाता है ॥ ७-८ ॥

प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया ।
विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ॥ ९ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है। ब्रह्मके सकाशसे सृष्टि करना उसका सहज धर्म है, किंतु क्षेत्रज्ञ अथवा पुरुषके स्वरूपको प्रकृतिसे सर्वथा विपरीत (विलक्षण) जानना चाहिये ॥ ९ ॥

---

१. इससे पूर्व पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें अव्यक्त शब्द परमात्माका वाचक है और यहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिका वाचक समझना चाहिये।

* प्रकृति प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है तथा पुरुष (जीवात्मा) स्वरूपसे।

प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम् ।
अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिङ्गत्वादसंहतौ ॥ १० ॥

वह स्वयं गुणोंसे रहित तथा प्रकृतिके विकारों (कार्यों) का द्रष्टा है । ये दोनों प्रकृति और पुरुष सम्पूर्णतः इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं । दोनों ही आकाररहित तथा एक दूसरेसे विलक्षण हैं ॥ १० ॥

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कर्मणा गृह्यते यथा ।
करणैः कर्मनिर्वृत्तिः कर्ता यद् यद् विचेष्टते ।
कीर्त्यते शब्दसंज्ञाभिः कोऽहमेषोऽप्यसाविति॥ ११ ॥

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है, जो कर्मसे ही जानी जाती है। जीव मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म करता है । वह जिस-जिस कर्मको करता है, उस-उसका कर्ता कहलाता है । 'कौन' 'मैं' 'यह' और 'वह'—इन शब्दों एवं संज्ञाओंद्वारा उसीका वर्णन किया जाता है॥ ११ ॥

उष्णीषवान् यथा वस्त्रैस्त्रिभिर्भवति संवृतः ।
संवृतोऽयं तथा देही सत्त्वराजसतामसैः ॥ १२ ॥

जैसे पगड़ी बाँधनेवाला पुरुष तीन वस्त्रों (पगड़ी, ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र) से परिवेष्टित होता है, उसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव सत्त्व, रज और तम—तीन गुणोंसे आवृत होता है ॥ १२ ॥

तस्माच्चतुष्टयं वेद्यमेतैर्हेतुभिरावृतम् ।
यथासंज्ञो ह्ययं सम्यगन्तकाले न मुह्यति ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं हेतुओंसे आवृत हुई इन चार वस्तुओं (सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष) को जानना चाहिये । इन्हें भलीभाँति तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य मृत्युके समय मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान् मनसा शुचिः ।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः ॥ १४ ॥

जो दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहे, उस देहधारी पुरुषको अपना मन शुद्ध रखना चाहिये और शरीरसे कठोर नियमोंका पालन करते हुए निर्दोष तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यं तपसा व्याप्तमन्तर्भूतेन भास्वता ।
सूर्यश्च चन्द्रमाश्चैव भासतस्तपसा दिवि ॥ १५ ॥

आन्तरिक तप चैतन्यमय प्रकाशसे युक्त है। उसके द्वारा तीनों लोक व्याप्त हैं । आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा भी तपसे ही प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः ।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् ॥ १६ ॥

लोकमें तप शब्द विख्यात है । उस तपका फल है, ज्ञानस्वरूप प्रकाश । रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाला जो निष्काम कर्म है, वही तपस्याका स्वरूपबोधक लक्षण है ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।
वाङ्मनोनियमः सम्यङ्मानसं तप उच्यते ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीरिक तप कहते हैं । मन और वाणीका भलीभाँति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

विधिज्ञेभ्यो द्विजातिभ्यो ग्राह्यमन्नं विशिष्यते ।
आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः ॥ १८ ॥

वैदिक विधिको जानने और उनके अनुसार चलनेवाले द्विजातियोंसे ही अन्न ग्रहण करना उत्तम माना गया है । ऐसे अन्नका नियमपूर्वक भोजन करनेमें रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला पाप शान्त हो जाता है ॥ १८ ॥

वैमनस्यं च विषये यान्त्यस्य करणानि च ।
तस्मात् तन्मात्रमादद्याद् यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

उससे साधककी इन्द्रियाँ भी विषयोंकी ओरसे विरक्त हो जाती हैं । इसलिये उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, जितना जीवन-रक्षाके लिये वाञ्छनीय हो ॥ १९ ॥

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः ।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥ २० ॥

इस प्रकार योगयुक्त मनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे जीवनके अन्त समयतक पूरी शक्ति लगाकर धीरे-धीरे प्राप्त ही कर लेना चाहिये । इस कार्यमें धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २० ॥

रजोवर्ज्योऽप्ययं देही देहवाञ्छब्दवच्चरेत् ।
कार्यैरव्याहतमतिर्वैराग्यात् प्रकृतौ स्थितः ॥ २१ ॥

योगपरायण योगीकी बुद्धि कार्योंद्वारा व्याहत नहीं होती । वह वैराग्यवश अपने स्वाभावमें स्थित रहता है, रजोगुणसे रहित होता है तथा देहधारी होकर भी शब्दकी भाँति अबाध गतिसे सर्वत्र विचरण करता है ॥ २१ ॥

आ देहादप्रमादाच्च देहान्ताद् विप्रमुच्यते ।
हेतुयुक्तः सदा सर्गो भूतानां प्रलयस्तथा ॥ २२ ॥

देह-त्यागपर्यन्त प्रमाद न होनेपर योगी देहावसानके पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो बन्धनके कारणभूत अज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्राणियोंके सदा जन्म और मरण होते रहते हैं ॥ २२ ॥

परप्रत्ययसर्गे तु नियतिर्नानुवर्तते ।
भावान्तप्रभवप्रज्ञा आसते ये विपर्ययम् ॥ २३ ॥

जिनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उनका प्रारब्ध अनुसरण नहीं करता है अर्थात् वे प्रारब्धके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं । परंतु जो इसके विपरीत स्थितिमें हैं अर्थात् जिनका अज्ञान दूर नहीं हुआ है, वे प्रारब्धवश जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥ २३ ॥

धृत्या देहान् धारयन्तो बुद्धिसंक्षिप्तचेतसः ।
स्थानेभ्यो ध्वंसमानाश्च सूक्ष्मत्वात् तदुपासते ॥२४॥

कुछ योगीजन बुद्धिके द्वारा अपने चित्तको विषयोंकी

ओरसे हटाकर आसनकी दृढ़तासे स्थिरतापूर्वक देहको धारण करते हुए इन्द्रिय-गोलकोंसे सम्बन्ध त्यागकर सूक्ष्म बुद्धि होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करते हैं * ॥ २४ ॥

यथागमं च गत्वा वै बुद्ध्या तत्रैव बुद्ध्यते ।
देहान्तं कश्चिदन्वास्ते भावितात्मा निराश्रयम्॥ २५ ॥

कोई-कोई शास्त्रमें बताये हुए क्रमसे (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करते हुए पराकाष्ठातक पहुँचकर वहीं) बुद्धिके द्वारा ब्रह्मका अनुभव करते हैं। जिसने योगके द्वारा अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लिया है, ऐसा कोई-कोई योगी ही देहस्थितिपर्यन्त आश्रयरहित—अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित ब्रह्ममें स्थित रहता है ॥ २५ ॥

युक्तं धारणया सम्यक् सतः केचिदुपासते ।
अभ्यस्यन्ति परं देवं विद्युत्संशब्दिताक्षरम् ॥ २६ ॥

इसी तरह कोई तो योगधारणाके द्वारा सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं और कोई उस परम देवका चिन्तन करते हैं, जो विद्युत्के समान ज्योतिर्मय और अविनाशी कहा गया है ॥ २६ ॥

अन्तकाले ह्युपासन्ते तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
सर्व एते महात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ २७ ॥

कुछ लोग तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध करके अन्तकालमें ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं। इन सभी महात्माओंको उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं विशेषणं तेषामवेक्षेच्छास्त्रचक्षुषा ।
देहान्तं परमं विद्याद् विमुक्तमपरिग्रहम् ।
अन्तरिक्षादन्यतरं धारणासक्तमानसम् ॥ २८ ॥

शास्त्रीय दृष्टिसे उन महात्माओंकी सूक्ष्म विशेषताको देखे। देहत्यागपर्यन्त नित्यमुक्त, अपरिग्रह, आकाशसे भी विलक्षण उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करे, जिसमें योगधारणाद्वारा मनको स्थापित किया जाता है ॥ २८ ॥

मर्त्यलोकाद् विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः ।
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥ २९ ॥

जिनका मन ज्ञानके साधनमें लगा हुआ है, वे मर्त्यलोकके बन्धनसे छूट जाते हैं और रजोगुणसे रहित एवं ब्रह्मस्वरूप हो परम गतिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥

एवमेकायनं धर्ममाहुर्वेदविदो जनाः ।
यथाज्ञानमुपासन्तः सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ ३० ॥

वेदके ज्ञाता विद्वान् पुरुषोंने इस प्रकार एकमात्र ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले साधनरूप धर्मका वर्णन किया है। अपने-अपने ज्ञानके अनुसार उपासना करनेवाले सभी साधक परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

कषायवर्जितं ज्ञानं येषामुत्पद्यते चलम् ।
यान्ति तेऽपि पराँल्लोकान् विमुच्यन्ते यथाबलम्॥३१॥

जिन्हें राग आदि दोषोंसे रहित अस्थायी ज्ञान प्राप्त होता है, वे भी उत्तम लोकोंको प्राप्त होते हैं। तदनन्तर साधनबलसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥३१॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ३२ ॥

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे युक्त, अजन्मा, दिव्य एवं अव्यक्त नामवाले भगवान् विष्णुकी भक्तिभावसे शरण लेते हैं, वे ज्ञानानन्दसे तृप्त, विशुद्ध और कामनारहित हो जाते हैं ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत् परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ ३३ ॥

वे अपने अन्तःकरणमें श्रीहरिको स्थित जानकर अव्ययस्वरूप हो जाते हैं। उन्हें फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता। वे उस अविनाशी और अविकारी परमपदको पाकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

एतावदेतद् विज्ञानमेतदस्ति च नास्ति च ।
तृष्णाबद्धं जगत् सर्वं चक्रवत् परिवर्तते ॥ ३४ ॥

इतना ही यह विज्ञान है—यह जगत् है भी और नहीं भी है (अर्थात् व्यावहारिक अवस्थामें यह जगत् है और पारमार्थिक अवस्थामें नहीं है)। सम्पूर्ण जगत् तृष्णामें बँधकर चक्रके समान घूम रहा है ॥ ३४ ॥

बिसतन्तुर्यथैवायमन्तःस्थः सर्वतो बिसे ।
तृष्णातन्तुरनाद्यन्तस्तथा देहगतः सदा ॥ ३५ ॥

जैसे कमलकी नालमें रहनेवाला तन्तु उसके सभी अंशोंमें फैला रहता है, उसी प्रकार अनादि एवं अनन्त तृष्णातन्तु सदा देहधारीके चित्तमें स्थित रहता है ॥ ३५ ॥

सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः ।
तद्वत् संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबद्ध्यते ॥ ३६ ॥

जैसे कपड़ा बुननेवाला जुलाहा सूईसे वस्त्रमें सूतको पिरो देता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्र ग्रथित होता है ॥ ३६ ॥

विकारं प्रकृतिं चैव पुरुषं च सनातनम् ।
यो यथावद् विजानाति स वितृष्णो विमुच्यते ॥ ३७ ॥

जो प्रकृतिको, उसके कार्यको, पुरुष (जीवात्मा) को और सनातन परमात्माको यथार्थ रूपसे जानता है, वह तृष्णासे रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

प्रकाशं भगवानेतदृषिर्नारायणोऽमृतम् ।

* पुराणान्तरमें बताया गया है कि इन्द्रियोंका आत्मभावसे चिन्तन करनेवाले योगी दस मन्वन्तरोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं। यथा—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भूतानामनुकम्पार्थं जगाद जगतो गतिः ॥ ३८ ॥

संसारको शरण देनेवाले ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नारायणने जीवोंपर दया करनेके लिये ही इस अमृतमय ज्ञानको प्रकाशित किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका वर्णनविषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा जनकके दरबारमें पञ्चशिखका आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतोंके निराकरणपूर्वक शरीरसे भिन्न आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः।
जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सदाचारके ज्ञाता पितामह ! मोक्ष-धर्मको जाननेवाले मिथिलानरेश जनकने मानवभोगोंका परित्याग करके किस प्रकारके आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके आचरणसे धर्मज्ञ राजा जनक महान् सुख (मोक्ष) को प्राप्त हुए थे ॥ २ ॥

जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः।
और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद् युक्तो विचिन्तने ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है मिथिलामें जनकवंशी राजा जन-देव राज्य करते थे। वे सदा देह-त्यागके पश्चात् आत्माके अस्तित्वरूप धर्मोंके ही चिन्तनमें लगे रहते थे ॥ ३ ॥

तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः ॥ ४ ॥

उनके दरबारमें सौ आचार्य बराबर रहा करते थे, जो विभिन्न आश्रमोंके निवासी थे और उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मोंका उपदेश देते रहते थे ॥ ४ ॥

स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये।
आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥ ५ ॥

'इस शरीरको त्याग देनेके पश्चात् जीवकी सत्ता रहती है या नहीं, अथवा देह-त्यागके बाद उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं' इस विषयमें उन आचार्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त था, वे लोग आत्मतत्त्वके विषयमें जैसा विचार उपस्थित करते थे, उससे शास्त्रानुयायी राजा जनदेवको विशेष संतोष नहीं होता था ॥ ५ ॥

तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः।
परिधावन् महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥ ६ ॥

एक बार कपिलाके पुत्र महामुनि पञ्चशिख सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करते हुए मिथिलामें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ॥ ७ ॥

वे सम्पूर्ण संन्यास-धर्मोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानके निर्णयमें एक सुनिश्चित सिद्धान्तके पोषक थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था। वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे॥

ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय बताया जाता है। वे कामनासे सर्वथा शून्य थे। वे मनुष्योंके हृदयमें अपने उपदेशद्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुखकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे ॥८॥

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम्।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥ ९ ॥

सांख्यके विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिल-का ही स्वरूप बताते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्च-शिखके रूपमें आकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं ॥ ९ ॥

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥ १० ॥

उन्हें आसुरि मुनिका प्रथम शिष्य और चिरंजीवी बताया जाता है। उन्होंने एक हजार वर्षोंतक मानस यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १० ॥

तं समासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत्।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥ ११ ॥
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ १२ ॥

एक समय आसुरि मुनि अपने आश्रममें बैठे हुए थे। इसी समय कपिलमतावलम्बी मुनियोंका महान् समुदाय वहाँ आया और प्रत्येक पुरुषके भीतर स्थित, अव्यक्त एवं परमार्थ-तत्त्वके विषयमें उनसे कुछ कहनेका अनुरोध करने लगा।

उन्हींमें पञ्चशिख भी थे, जो पाँच स्रोतों (इन्द्रियों) वाले मनके व्यापार (ऊहापोह) में कुशल थे, पञ्चरात्र आगमके विशेषज्ञ थे, पाँच कोशोंके ज्ञाता और तद्विषयक पाँच प्रकारकी उपासनाओंके जानकार थे। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान—इन पाँच गुणोंसे भी युक्त थे। उन पाँचों कोशोंसे भिन्न होनेके कारण उनके शिखास्थानीय जो ब्रह्म है, वह पञ्चशिख कहा गया है। उसके ज्ञाता होनेसे ऋषिको भी 'पञ्चशिख' माना गया है ॥ ११-१२ ॥

इष्टसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥१३॥

आसुरि तपोबलसे दिव्य दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। ज्ञानयज्ञके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको स्पष्टरूपसे समझ लिया था ॥ १३॥

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥१४॥

जो एकमात्र अक्षर और अविनाशी ब्रह्म नाना रूपोंमें दिखायी देता है, उसका ज्ञान आसुरिने उस मुनिमण्डलीमें प्रतिपादित किया ॥ १४ ॥

तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी॥१५॥
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १६ ॥

उन्हींके शिष्य पञ्चशिख थे, जो मानवी स्त्रीके दूधसे पले थे। कपिला नामवाली कोई कुटुम्बिनी ब्राह्मणी थी। उसी स्त्रीके पुत्रभावको प्राप्त होकर वे उसके स्तनोंका दूध पीते थे; अतः कपिलाका पुत्र कहलानेके कारण कापिलेय नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। उन्होंने नैष्ठिक (ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाली) बुद्धि प्राप्त की थी ॥ १५-१६ ॥

एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम्।
तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥१७॥

कापिलेयके जन्मका यह वृत्तान्त मुझे भगवान्‌ने बताया था। उनके कपिलापुत्र कहलाने और सर्वज्ञ होनेका यही परम उत्तम वृत्तान्त है ॥ १७ ॥

सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम्।
उपेत्य शतमाचार्यान् मोहयामास हेतुभिः ॥ १८ ॥

धर्मज्ञ पञ्चशिखने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। वे राजा जनकको सौ आचार्योंपर समानभावसे अनुरक्त जान उनके दरबारमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने युक्तियुक्त वचनोंद्वारा उन सब आचार्योंको मोहित कर दिया ॥ १८ ॥

जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात्।
उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥१९॥

उस समय महाराज जनक कपिलानन्दन पञ्चशिखका ज्ञान देखकर उनके प्रति आकृष्ट हो गये और अपने सौ आचार्योंको छोड़कर उन्हींके पीछे चलने लगे ॥ १९ ॥

तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः।
अब्रवीत् परमं मोक्षं यत् तत् सांख्येऽभिधीयते॥२०॥

तब मुनिवर पञ्चशिखने राजाको धर्मानुसार चरणोंमें पड़ा देख उन्हें योग्य अधिकारी मानकर परम मोक्षका उपदेश दिया, जिसका सांख्यशास्त्रमें वर्णन है ॥ २० ॥

जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत्।
कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उन्होंने 'जातिनिर्वेद'[1] का वर्णन करके 'कर्मनिर्वेद'[2] का उपदेश किया। तत्पश्चात् 'सर्वनिर्वेद'[3] की बात बतायी॥२१॥

यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः।
तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥ २२ ॥

उन्होंने कहा— 'जिसके लिये धर्मका आचरण किया जाता है, जो कर्मोंके फलका उदय होनेपर प्राप्त होता है, वह इहलोक या परलोकका भोग नश्वर है। उसपर आस्था करना उचित नहीं। वह मोहरूप, चञ्चल और अस्थिर है' ॥ २२ ॥

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके।
आगमात् परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः ॥ २३ ॥

कुछ नास्तिक ऐसा कहा करते हैं कि देहरूपी आत्माका विनाश प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है। फिर भी यदि कोई शास्त्रप्रमाणकी ओट लेकर देहसे भिन्न आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन करता है तो वह परास्त है; क्योंकि उसका कथन लोकानुभवके विरुद्ध है ॥ २३ ॥

अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः।
आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परं मतम् ॥ २४ ॥

आत्माके स्वरूपभूत शरीरका अभाव होना ही उसकी मृत्यु है। इस दृष्टिसे दुःख, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकारके रोग—ये सभी आत्माकी मृत्यु ही है (क्योंकि इनके द्वारा शरीरका आंशिक विनाश होता रहता है)। फिर भी जो लोग आत्माको देहसे भिन्न मानते हैं, उनकी यह मान्यता बहुत ही असङ्गत है ॥ २४ ॥

अथ चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते।
अजरोऽयममृत्युश्च राजासौ मन्यते यथा ॥ २५ ॥

यदि ऐसी वस्तुका भी अस्तित्व मान लिया जाय, जो लोकमें सम्भव नहीं है अर्थात् यदि शास्त्रके आधारपर यह स्वीकार कर लिया जाय कि शरीरसे भिन्न कोई अजर-अमर आत्मा है, जो स्वर्गादि लोकोंमें दिव्य सुख भोगता है, तब तो

१- जन्मके समय गर्भवास आदिके कारण जो कष्ट होता है, उसपर विचार करके शरीरसे वैराग्य होना 'जातिनिर्वेद' है।

२- कर्मजनित क्लेश —नाना योनियोंकी प्राप्ति एवं नरकादि यातनाका विचार करके पाप तथा काम्य कर्मोंसे विरत होना 'कर्मनिर्वेद' है।

३- इस जगत्‌की छोटी-से-छोटी वस्तुओंसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका विचार करके सब ओरसे विरक्त होना 'सर्वनिर्वेद' कहलाता है।

महर्षि पञ्चशिखका महाराज जनकको उपदेश

बन्दीजन जो राजाको अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी ठीक माननी पड़ेगी (सारांश यह है कि जैसे बन्दीजन आशीर्वादमें उपचारतः राजाको अजर-अमर कहते हैं, उसी प्रकार यह शास्त्रका वचन भी औपचारिक ही है । नीरोग शरीरको ही अजर-अमर और यहाँके प्रत्यक्ष सुख-भोगको ही स्वर्गीय सुख कहा गया है) ॥ २५ ॥

अस्ति नास्तीति चाप्येतत् तस्मिन्नसति लक्षणे ।
किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्राविनिश्चयम् ॥ २६ ॥

यदि आत्मा है या नहीं—यह संशय उपस्थित होनेपर अनुमानसे उसके अस्तित्वका साधन किया जाय तो इसके लिये कोई ऐसा ज्ञापक हेतु नहीं उपलब्ध होता, जो कहीं दोषयुक्त न होता हो; फिर किस अनुमानका आश्रय लेकर लोकव्यवहार-का निश्चय किया जा सकता है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षं ह्येतयोर्मूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि ।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन ॥ २७ ॥

अनुमान और आगम—इन दोनों प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है । आगम या अनुमान यदि प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है तो वह कुछ भी नहीं है—उसकी प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती ॥ २७ ॥

यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च ।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥ २८ ॥

जहाँ-कहीं भी ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्माकी सिद्धिके लिये अनुमान किया जाता है, वहाँ साध्य-साधनके लिये की हुई भावना भी व्यर्थ है, अतः नास्तिकोंके मतमें जीवात्माकी शरीरसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है—यह बात स्थिर हुई ॥ २८ ॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥ २९ ॥

जैसे वटवृक्षके बीजमें पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वचा आदि छिपे होते हैं, जैसे गायके द्वारा खायी हुई घासमेंसे घी, दूध आदि प्रकट होते हैं तथा जिस प्रकार अनेक औषध द्रव्योंका पाक एवं अधिवासन करनेसे उसमें नशा पैदा करने-वाली शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार वीर्यसे ही शरीर आदिके साथ चेतनता भी प्रकट होती है । इसके सिवा जाति, स्मृति, अयस्कान्तमणि, सूर्यकान्तमणि और बड़वानलके द्वारा समुद्रके जलका पान आदि दृष्टान्तोंसे भी देहातिरिक्त चैतन्यकी सिद्धि नहीं होती * ॥ २९ ॥

प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपयाचनम् ।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥ ३० ॥

(इस नास्तिक मतका खण्डन इस प्रकार समझना चाहिये) मरे हुए शरीरमें जो चेतनताका अभाव देखा जाता है, वही देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है (यदि चेतनता देहका ही धर्म हो तो मृतक शरीरमें भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; परंतु मृत्युके पश्चात् कुछ कालतक शरीर तो रहता है, पर उसमें चेतनता नहीं रहती; अतः यह सिद्ध हो जाता है कि चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न है) । नास्तिक भी रोग आदिकी निवृत्तिके लिये मन्त्र, जप तथा तान्त्रिक पद्धतिसे देवता आदिकी आराधना करते हैं । (वह देवता क्या है ? यदि पाञ्चभौतिक है तो घट आदिकी भाँति उसका दर्शन होना चाहिये और यदि वह भौतिक पदार्थोंसे भिन्न है तो चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो गयी; अतः देहसे भिन्न आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाता है और देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध जान पड़ता है) । यदि शरीरकी मृत्युके साथ आत्माकी भी मृत्यु मान ली जाय, तब तो उसके किये हुए कर्मोंका भी नाश मानना पड़ेगा; फिर तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेवाला कोई नहीं रह जायगा और देहकी उत्पत्तिमें अकृताभ्यागम (बिना किये हुए कर्मका ही भोग प्राप्त हुआ ऐसा) मानने-का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ये सब प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि देहातिरिक्त चेतन आत्माकी सत्ता अवश्य है ॥ ३० ॥

नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।
अमूर्तस्य हि मूर्तेन सामान्यं नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

नास्तिकोंकी ओरसे जो कोई हेतुभूत दृष्टान्त दिये गये हैं, वे सब मूर्त पदार्थ हैं । मूर्त जड पदार्थसे मूर्त जड पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है । यही उन दृष्टान्तोंद्वारा सिद्ध होता है । जैसे काष्ठसे अग्निकी उत्पत्ति (यदि पञ्चभूतोंसे आत्माकी अथवा मूर्तसे अमूर्तकी उत्पत्ति स्वीकार की जाय तब तो पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो असम्भव है) । आत्मा अमूर्त पदार्थ है और देह मूर्त; अतः अमूर्तकी मूर्तके साथ समानता अथवा मूर्त भूतों-के संयोगसे अमूर्त चेतन आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

अविद्या कर्म तृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे ।
कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥ ३२ ॥

---

* जाति कहते हैं जन्मको । जैसे गुड़ या महुवे आदिसे अनेक द्रव्योंके संयोगद्वारा जो मद्य तैयार किया जाता है, उसमें उपा-दानकी अपेक्षा विलक्षण मादकताशक्तिका जन्म हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार द्रव्योंके संयोगसे इस शरीरमें ही जीव चैतन्य प्रकट हो जाता है । जैसे जड मनसे अजड स्मृति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड शरीरसे चेतन जीवकी उत्पत्ति हो जाती है । जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) जड होकर भी लोहको खींच लेती है, उसी प्रकार जड शरीर भी इन्द्रियोंका संचालन और नियन्त्रण कर लेता है; अतः आत्मा उससे भिन्न नहीं है । जैसे सूर्यकान्तमणि शीतल होकर भी सूर्यकी किरणोंके संयोगसे आग प्रकट करने लगती है, उसी प्रकार वीर्य शीतल होकर भी रस और रक्तके संयोगसे जठरानलका आविष्कार करता है और जैसे जलसे उत्पन्न हुआ बडवानल जलको ही भक्षण करता है, उसी प्रकार वीर्यसे उत्पन्न हुआ यह शरीर स्वयं भी वीर्यका आधान एवं धारण करता है । अतः शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

कुछ लोग अविद्या, कर्म, तृष्णा, लोभ, मोह तथा दोषोंके सेवनको पुनर्जन्ममें कारण बताते हैं ॥ ३२ ॥

अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्म बीजं तथा कृतम् ।
तृष्णा संजननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥ ३३ ॥

अविद्याको वे क्षेत्र कहते हैं । पूर्व-जन्मोंका किया हुआ कर्म बीज है और तृष्णा अङ्कुरकी उत्पत्ति करानेवाला स्नेह या जल है। यही उनके मतमें पुनर्जन्मका प्रकार है ॥ ३३ ॥

तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि ।
अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्त्वसंक्षयम् ॥ ३४ ॥

वे अविद्या आदि कारणसमूह सुषुप्ति और प्रलयमें भी संस्काररूपमें गूढ़भावसे स्थित रहते हैं । उनके रहते हुए जब एक मरणधर्मा शरीर नष्ट हो जाता है, तब उसीसे पूर्वोक्त अविद्या आदिके कारण दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है। जब ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि निमित्त दग्ध हो जाते हैं, तब शरीर-नाशके पश्चात् सत्त्व (बुद्धि) का क्षयरूप मोक्ष होता है, ऐसा उनका कथन है ॥ ३४ ॥

यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः ।
कथमस्मिन् स इत्येवं सर्वं वा स्यादसंहितम् ॥ ३५ ॥

(उपर्युक्त नास्तिक मतमें आस्तिकलोग इस प्रकार दोष देते हैं—) क्षणिक विज्ञानवादीकी मान्यताके अनुसार शरीर और जीव जब क्षणिक हैं, तब पूर्वक्षणवर्ती शरीरसे परक्षण-वर्ती शरीर रूप, जाति, धर्म और प्रयोजन सभी दृष्टियोंसे भिन्न हैं । ऐसी अवस्थामें यह वही है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) नहीं हो सकती । अथवा भोग, मोक्ष आदि सब कुछ बिना इच्छा किये ही अकस्मात् प्राप्त हो जाता है, ऐसा मानना पड़ेगा (उस दशामें यह भी कहा जा सकता है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाला दूसरा है, साधन करनेवाला दूसरा है और उससे मुक्त होनेवाला भी दूसरा ही है) ॥ ३५ ॥

एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः ।
यदस्याचरितं कर्म सर्वमन्यत् प्रपद्यते ॥ ३६ ॥

यदि ऐसी ही बात है, तब दान, विद्या, तपस्या और बलसे किसीको क्या प्रसन्नता होगी ? क्योंकि उसका किया हुआ सारा कर्म दूसरेको ही अपना फल प्रदान करेगा (अर्थात् दान करते समय जो दाता है, वह क्षणिक विज्ञानवादके अनुसार फल-भोगकालमें नहीं रह जाता, अतः पुण्य या पाप एक करता है और उसका फल दूसरा भोगता है) ॥ ३६ ॥

अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राक्कृतैर्दुःखितो भवेत् ।
सुखितो दुःखितो वापि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥ ३७ ॥

(यदि कहें, यह आपत्ति तो अभीष्ट ही है कि कर्म करते समय जो कर्ता है, वह फल-भोग-कालमें नहीं है । एक विज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञान ही फल भोगता है, तब तो) इस जगत्में यह देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त आदि दूसरोंके किये हुए अशुभ कर्मोंसे दुखी एवं परकृत शुभ कर्मोंसे सुखी हो सकता है (क्योंकि जब कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा है, तब तो किसीका भी कर्म किसीको भी सुख-दुःख दे सकता है)। उस दशामें दृश्य और अदृश्यका निर्णय भी यही होगा कि जो पूर्वक्षणमें दृश्य था, वह वर्तमान क्षणमें अदृश्य हो गया तथा जो पहले अदृश्य था, वही इस समय दृश्य हो रहा है ॥ ३७ ॥

तथा हि मुसलैर्हन्युः शरीरं तत् पुनर्भवेत् ।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥ ३८ ॥

यदि कहें, देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तका ज्ञान पृथक् एवं विजातीय है, सजातीय विज्ञानधारामें ही कर्म और उसके फलका भोग प्राप्त होता है; अतः देवदत्तके किये हुए कर्मका भोग यज्ञदत्तको नहीं प्राप्त हो सकता, उस कारण पूर्वोक्त दोषका आपत्ति सम्भव नहीं है, तब हम यह पूछते हैं कि आपके मतमें जो यह सादृश्य या सजातीय विज्ञान उत्पन्न होता है, उसका उपादान क्या है ? यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञान-को ही उपादान बताया जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह विज्ञान नष्ट हो चुका और यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञानका नाश ही उत्तरक्षणवर्ती सजातीय विज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, तब तो यदि कुछ लोग किसीके शरीरको मूसलोंसे मार डालें तो उस मरे हुए शरीरसे भी दूसरे शरीरकी पुनः उत्पत्ति हो सकती है (अतः यह मत ठीक नहीं है) ॥३८॥

ऋतुसंवत्सरौ तिष्यः शीतोष्णेऽथ प्रियाप्रिये ।
यथातीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ३९ ॥

ऋतु, संवत्सर, युग, सर्दी, गर्मी तथा प्रिय और अप्रिय—ये सब वस्तुएँ आकर चली जाती हैं और जाकर फिर आ जाती हैं, यह सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं । उसी प्रकार सत्त्व-संक्षयरूप मोक्ष भी फिर आकर निवृत्त हो सकता है (क्योंकि विज्ञानधाराका कहीं अन्त नहीं है) ॥ ३९ ॥

जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना ।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥ ४० ॥

जैसे मकानके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग पहले नष्ट होने लगते हैं और फिर क्रमशः सारा मकान ही गिर जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था और विनाशकारी मृत्युसे आक्रान्त हुए शरीरके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग क्षीण होते-होते एक दिन सम्पूर्ण शरीरका नाश हो जाता है ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥ ४१ ॥

इन्द्रिय, मन, प्राण, रक्त, मांस और हड्डी—ये सब क्रमशः नष्ट होते और अपने कारणमें मिल जाते हैं ॥ ४१ ॥

लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे ।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ॥ ४२ ॥

यदि आत्माकी सत्ता न मानी जाय तो लोकयात्राका निर्वाह नहीं होगा । दान और दूसरे धर्मोंके फलकी प्राप्तिके लिये कोई आस्था नहीं रहेगी; क्योंकि वैदिक शब्द और लौकिक व्यवहार सब आत्माको ही सुख देनेके लिये हैं ॥

इति सम्यङ्मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः ।
एतदस्तीदमस्तीति न किञ्चित्प्रतिदृश्यते ॥ ४३ ॥

इस प्रकार मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते हैं और उन तर्कों तथा युक्तियोंसे आत्माकी सत्ता या असत्ताका निर्धारण कुछ भी होता नहीं दिखायी देता ॥ ४३ ॥

तेषां विमृशतामेव तत् तत्समभिधावताम् ।
क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जीर्यति वृक्षवत् ॥ ४४ ॥

इस तरह विचार करते हुए भिन्न-भिन्न मतोंकी ओर दौड़नेवाले लोगोंकी बुद्धि कहीं एक जगह प्रवेश करती है और वहीं वृक्षकी भाँति जड़ जमाये जीर्ण हो जाती है ॥४४॥

एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।
आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिपैर्हस्तिनो यथा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अर्थ और अनर्थसे सभी प्राणी दुखी रहते हैं। केवल शास्त्रके वचन ही उन्हें खींचकर राहपर लाते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे महावत हाथीपर अङ्कुश रखकर उन्हें काबूमें किये रहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थांस्तथात्यन्तसुखावहांश्च
लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।
महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना
हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥ ४६ ॥

बहुत-से शुष्क हृदयवाले लोग ऐसे विषयोंकी लिप्सा रखते हैं, जो अत्यन्त सुखदायक हों; किंतु इस लिप्सामें उन्हें भारी-से-भारी दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है और अन्तमें वे भोगोंको छोड़कर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं ॥ ४६ ॥

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्भिन्नपरिग्रहैश्च ।
विहाय यो गच्छति सर्वमेव
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥ ४७ ॥

जो एक दिन नष्ट होनेवाला है, जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, ऐसे अनित्य शरीरको पाकर इन बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री-पुत्र आदिसे क्या लाभ है ? यह सोचकर जो मनुष्य इन सबको क्षणभरमें वैराग्यपूर्वक त्यागकर चल देता है, उसे मृत्युके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ४७ ॥

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि
सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्
विनाशिनोऽप्यस्य न शर्म विद्यते ॥ ४८ ॥

पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु—ये सदा शरीरकी रक्षा करते रहते हैं। इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर इसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है ? जो एक दिन मृत्युके मुखमें पड़नेवाला है, ऐसे शरीरसे सुख कहाँ है ॥ ४८ ॥

इदमनुपधिवाक्यमच्छलं
परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।
नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मितः
पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

पञ्चशिखका यह उपदेश जो भ्रम और वञ्चनासे रहित, सर्वथा निर्दोष तथा आत्माका साक्षात्कार करानेवाला था, सुनकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ; अतः उन्होंने पुनः प्रश्न करनेका विचार किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्ये पाखण्डखण्डनं नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखके उपदेशके प्रसङ्गमें पाखण्डखण्डन नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चशिखके द्वारा मोक्षतत्त्वका विवेचन एवं भगवान् विष्णुद्वारा मिथिलानरेश जनकवंशी जनदेवकी परीक्षा और उनके लिये वरप्रदान

भीष्म उवाच

जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।
पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महर्षि पञ्चशिखके इस प्रकार उपदेश देनेपर जनदेव जनकने पुनः उनसे मृत्युके पश्चात् आत्माकी सत्ता या विनाशके विषयमें प्रश्न किया ॥

जनक उवाच

भगवन् यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।
एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥ २ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! यदि मृत्युके पश्चात् किसीकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रह जाती तो उस स्थितिमें अज्ञान अथवा ज्ञान क्या करेगा ? ॥ २ ॥

सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात् पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।
अप्रमत्तः प्रमत्तो वा किं विशेषं करिष्यति ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देखिये, मनुष्यकी मृत्युके साथ-साथ उसका सारा साधन नष्ट हो जाता है; फिर वह पहलेसे सावधान हो या असावधान, क्या विशेष लाभ उठा सकेगा ? ॥ ३ ॥

असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।
कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥ ४ ॥

मृत्यु होनेके पश्चात् जीवात्माका विनाशशील पञ्च-महाभूतोंसे कोई संसर्ग रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो किसलिये रहता है ? इस विषयमें यथार्थरूपसे क्या निश्चय किया जा सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

पुनः प्रशमयन् वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राजा जनककी बुद्धिको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित तथा आत्माके नाशकी सम्भावनासे भ्रान्त एवं व्याकुल जानकर ज्ञानी महात्मा पञ्चशिख उन्हें मधुर वचनोंद्वारा शान्त करते हुए-से बोले—॥ ५ ॥

उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते।
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम्।
वर्तते पृथगन्योन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥ ६ ॥

'राजन्! मृत्युके पश्चात् आत्माका न तो नाश होता है और न वह किसी विशेष आकारमें ही परिणत होता है। यह जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला सङ्घात है, यह भी शरीर, इन्द्रिय और मनका समूहमात्र है। यद्यपि ये सब पृथक्-पृथक् हैं तो भी एक दूसरेका आश्रय लेकर कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ६ ॥

धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः ॥ ७ ॥

प्राणियोंके शरीरमें उपादानके रूपमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँच धातु हैं। ये स्वभावसे ही एकत्र होते और विलग हो जाते हैं ॥ ७ ॥

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥ ८ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच तत्त्वोंके समाहारसे ही अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण हुआ है ॥

ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसंग्रहः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः।
प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः ॥ ९ ॥

शरीरमें ज्ञान (बुद्धि), ऊष्मा (जठरानल) तथा वायु (प्राण)—इनका समुदाय समस्त कर्मोंका संग्राहकगण है; क्योंकि इन्हींसे इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान, विकार और धातु प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥

श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च।
इन्द्रियाणीति पञ्चैते चित्तपूर्वं गता गुणाः ॥ १० ॥

श्रवण, त्वचा, जिह्वा, नेत्र और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द आदि गुण चित्तसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियोंके विषय होते हैं ॥ १० ॥

तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा।
सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च ॥ ११ ॥

विज्ञानयुक्त चेतना (विषयोंकी उपादेयता, हेयता और उपेक्षणीयताके कारण) निश्चय ही तीन प्रकारकी होती है। उसे अदुःखा, असुखा और सुख-दुःखा कहते हैं ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः।
एते ह्यामरणात् पञ्च षड्गुणा ज्ञानसिद्धये ॥ १२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मूर्त द्रव्य—ये छः गुण जीवकी मृत्युके पहलेतक इन्द्रियजन्य ज्ञानके साधक होते हैं (इनके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर ही भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान होता है) ॥ १२ ॥

तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः।
तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत् ॥ १३ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें उनके विषयोंका विसर्जन (त्याग) करनेसे सम्पूर्ण तत्त्वोंके यथार्थ निश्चयरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। उस तत्त्वनिश्चयको अत्यन्त निर्मल उत्तम ज्ञान और अविनाशी महान् ब्रह्मपद कहते हैं ॥ १३ ॥

इमं गुणसमाहारमात्मभावेन पश्यतः।
असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ १४ ॥

जो लोग गुणोंके सङ्घातरूप इस शरीरको ही आत्मा समझ लेते हैं, उन्हें मिथ्या ज्ञानके कारण अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती है और उनकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती ॥ १४ ॥

अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं न ममेत्यपि।
वर्तते किमधिष्ठानात् प्रसक्ता दुःखसंस्तृतिः ॥ १५ ॥

इसके विपरीत जिनकी दृष्टिमें यह दृश्य-प्रपञ्च अनात्मा सिद्ध हो चुका है, उनकी इसके प्रति न ममता होती है न अहंता, फिर उन्हें दुःखपरम्परा कैसे प्राप्त हो; उन दुःखोंके लिये आधार ही क्या रह जाता है? ॥ १५ ॥

अत्र सम्यग्वधो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम्।
शृणु यत् तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥ १६ ॥

अब मैं उस परम उत्तम सांख्यशास्त्रका वर्णन करता हूँ, जिसका नाम है सम्यग्वध (सम्यग्रूपेण दुःखोंका नाश करनेवाला)। उसमें त्यागकी प्रधानता है। तुम ध्यान देकर सुनो। उसका उपदेश तुम्हारे लिये मोक्षदायक होगा ॥१६॥

त्याग एव हि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम्।
नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहो मतः ॥ १७ ॥

जो लोग मुक्तिके लिये प्रयत्नशील हों, उन सबको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करें। जो इनका त्याग किये बिना ही विनीत (शम, दम आदि साधनोंमें तत्पर) होनेका झूठा दावा करते हैं, उन्हें अविद्या आदि दुःखदायी क्लेश प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥ १८ ॥

शास्त्रोंमें द्रव्यका त्याग करनेके लिये यज्ञ आदि कर्म, भोगका त्याग करनेके लिये व्रत, दैहिक सुखोंके त्यागके लिये तप और सब कुछ (अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि) त्याग देनेके लिये योगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यही त्यागकी चरम सीमा है ॥ १८ ॥

तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः।
विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत् ॥ १९ ॥

सर्वस्व-त्यागका यह एकमात्र मार्ग ही दुःखोंसे छुटकारा

पानेके लिये उत्तम बताया गया है, इसके विपरीत आचरण करनेवालोंको दुर्गति भोगनी पड़ती है ॥ १९ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि ।
बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २० ॥

बुद्धिमें स्थित मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन करके अब पाँच कर्मेन्द्रियोंका वर्णन करूँगा । जिनके साथ प्राणशक्ति छठी बतायी गयी है ॥ २० ॥

हस्तौ कर्मेन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम् ।
प्रजनानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम् ॥ २१ ॥

दोनों हाथोंको काम करनेवाली इन्द्रिय जानना चाहिये, दोनों पैर चलने-फिरनेका काम करनेवाली इन्द्रिय हैं । लिङ्ग संतानोत्पादन एवं मैथुनजनित आनन्दकी प्राप्ति करनेके लिये है । गुदनामक इन्द्रियका कार्य मल-त्याग करना है ॥ २१ ॥

वाक् च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः ।
एवमेकादशैतानि बुद्ध्याऽऽशु विसृजेन्मनः ॥ २२ ॥

वाक्-इन्द्रिय शब्दविशेषका उच्चारण करनेके लिये है । इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियोंको पाँच विषयोंसे युक्त माना गया है । मनसहित एकादश इन्द्रियोंके विषयोंका बुद्धिके द्वारा शीघ्र त्याग कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

कर्णौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसंग्रहे ।
तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥ २३ ॥

श्रवण-कालमें श्रोत्ररूपी इन्द्रिय, शब्दरूपी विषय और चित्तरूपी कर्ता—इन तीनोंका संयोग होता है, इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धके अनुभव-कालमें भी इन्द्रिय, विषय एवं मनका संयोग अपेक्षित है ॥ २३ ॥

एवं पञ्चत्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये ।
येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात् समुपस्थितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार ये तीन-तीनके पाँच समुदाय हैं, ये सब गुण कहे गये हैं । इनसे शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है, जिससे ये कर्ता, कर्म और करणरूपी त्रिविध भाव बारी-बारीसे उपस्थित होते हैं ॥ २४ ॥

सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः ।
त्रिविधा वेदना येषु प्रसूताः सर्वसाधनाः ॥ २५ ॥

इनमेंसे एक-एकके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद होते हैं । उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव भी तीन प्रकारके ही हैं । जो हर्ष, प्रीति आदि सभी भावोंके साधक हैं ॥ २५ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
अकुतश्चित् कुतश्चिद् वा चिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥ २६ ॥

हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तकी शान्ति—ये सब भाव बिना किसी कारणके स्वतः हों, या कारणवश (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग आदिके कारण) हों, सात्त्विक गुण माने गये हैं ॥ २६ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २७ ॥

असंतोष, संताप, शोक, लोभ और असहनशीलता—ये किसी कारणसे हों या अकारण—रजोगुणके चिह्न हैं ॥ २७ ॥

अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और आलस्य—ये किसी तरह भी क्यों न हों, तमोगुणके ही विविध रूप हैं ॥ २८ ॥

अत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

इनमें जो शरीर या मनमें प्रीतिके संयोगसे उदित हो, वह सात्त्विक भाव है और उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि जाननी चाहिये ॥ २९ ॥

यत् त्वसंतोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जो अपने लिये असंतोषजनक एवं अप्रीतिकर हो, उसको रजोगुणकी प्रवृत्ति एवं अभिवृद्धि समझनी चाहिये ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

शरीर या मनमें जो अतर्क्य, अज्ञेय एवं मोहसंयुक्त भाव प्रादुर्भूत हो, उसको तमोगुणजनित जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः ।
नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥ ३२ ॥

शब्दका आधार श्रोत्रेन्द्रिय है और श्रोत्रेन्द्रियका आधार आकाश है; अतः वह आकाशरूप ही है । ऐसी स्थितिमें शब्दका अनुभव करते समय आकाश और श्रोत्र—ये दोनों ही ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते हैं* ॥ ३२ ॥

एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
स्पर्शे रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका भी क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आश्रय तथा अपने आधारभूत महाभूतोंके स्वरूप हैं । इन सबका कारण मन है, इसलिये ये सब-के-सब मनःस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।
चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ ३४ ॥

इन दसों इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंको एक साथ भी ग्रहण करनेकी शक्ति होती है । ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि—इनको इन्द्रियोंका सहायक समझना चाहिये ॥

तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।
आस्थितो युगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥ ३५ ॥

* 'ये दोनों ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते, इस कथनका अभिप्राय यों समझना चाहिये—जो श्रवणकालमें शब्दका अनुभव करता है, वह उसके साथ ही श्रोत्र और आकाशका अनुभव नहीं करता है । साथ ही उसे इन दोनोंका अज्ञान भी नहीं रहता; क्योंकि शब्दका श्रवणेन्द्रिय और आकाश दोनोंसे सम्बन्ध है । इन दोनोंके बिना शब्दका अनुभव हो ही नहीं सकता ।

तमोगुणजनित सुषुप्तिकालमें अपने कारणमें विलीन हो जानेसे इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं, किंतु उनका नाश नहीं होता है। उनमें जो अपने विषयोंको एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति है, वह लौकिक व्यवहारमें ही दिखायी देती है (सुषुप्तिकालमें नहीं) ॥ ३५ ॥

इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात्।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥ ३६ ॥

पहले जाग्रत्-अवस्थाके देखने-सुनने आदिके द्वारा पूर्व-वासनावश शब्द आदि विषयोंकी प्राप्ति होनेसे स्वप्नदर्शी पुरुष सूक्ष्म ग्यारह इन्द्रियोंको देखकर विषयसंगकी भावना करता हुआ सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे युक्त हो शरीरके भीतर ही इच्छानुसार घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

यत् तमोपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम्।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥ ३७ ॥

सुषुप्तिकालमें जब चित्त तमोगुणसे अभिभूत होकर अपने प्रवृत्ति और प्रकाश-स्वभावका शीघ्र ही संहार करके थोड़ी देरके लिये इन्द्रियोंके व्यापारको बंद कर देता है, उस समय शरीरमें जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे विद्वान् पुरुष तामस सुख कहते हैं ॥ ३७ ॥

यद् यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति।
अथ तत्राप्युपादत्ते तमोऽव्यक्तमिवानृतम् ॥ ३८ ॥

सुषुप्तिकालमें स्वप्नदर्शी पुरुष उपस्थित दुःखको प्रत्यक्षकी भाँति अनुभव नहीं करता है। इसलिये वह सुषुप्ति-कालमें भी तमोगुणयुक्त मिथ्या सुखका अनुभव करता है ॥

एवमेष प्रसंख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः।
कथञ्चिद् वर्तते सम्यक् केषांचिद् वा निवर्तते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने कर्मके अनुसार गुणकी प्राप्तिके विषयमें कहा गया है। अज्ञानियोंके ये गुण सम्यक्‌रूपेण प्रवृत्त होते हैं और ज्ञानियोंके निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ४० ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् इस शरीर और इन्द्रियोंके संघातको क्षेत्र कहते हैं और मनमें जो चेतन सत्ता स्थित है, वही क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहलाता है ॥ ४० ॥

एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्।
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥ ४१ ॥

ऐसी अवस्थामें आत्माका विनाश कैसे हो सकता है? अथवा हेतुपूर्वक प्रकृतिके अनुसार प्रवृत्त पञ्चमहाभूतोंसे उसका शाश्वत संसर्ग भी कैसे रह सकता है? ॥ ४१ ॥

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ४२ ॥

जैसे नद और नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम और व्यक्तित्व (रूप) का त्याग देती हैं तथा जैसे बड़े-बड़े नद छोटी छोटी नदियोंको अपनेमें विलीन कर लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मामें विलीन हो जाता है। यही मोक्ष है ॥ ४२ ॥

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ॥ ४३ ॥

जीवके ब्रह्ममें विलीन हो जानेपर उसके नाम-रूपका किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् जीवकी संज्ञा कैसे रहेगी? ॥ ४३ ॥

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि-
मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः
पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥ ४४ ॥

जो इस मोक्षविद्याको जानता है और सावधानीके साथ आत्मतत्त्वका अनुसंधान करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति कर्मके अनिष्ट फलोंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ४४ ॥

दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्रजानिमित्तैरपि दैवतैश्च।
यदा ह्यसौ सुखदुःखे जहाति
मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४५ ॥

किंतु संतानोंके प्रति आसक्तिके कारण और भिन्न-भिन्न देवताओंकी प्रसन्नताके लिये अज्ञानियोंद्वारा जो सकाम कर्म किये जाते हैं, ये सब मनुष्यके लिये नाना प्रकारके सुदृढ़ बन्धन हैं। जब वह इन बन्धनोंसे छूटकर सुख-दुःखकी चिन्ता छोड़ देता है, उस समय सूक्ष्म शरीरके अभिमानका त्याग करके सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च
शेते जरामृत्युभयादभीतः।
क्षीणे च पुण्ये विगते च पापे
ततो निमित्ते च फले विनष्टे।
अलेपमाकाशमलिङ्गमेव-
मास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ताः ॥ ४६ ॥

श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणोंका विचार और शास्त्रमें बताये हुए मङ्गलमय साधनोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जरा और मृत्युके भयसे रहित होकर सुखसे सोता है। जब पुण्य और पापका क्षय तथा उनसे मिलनेवाले सुख दुःख आदि फलोंका नाश हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण पदार्थोंमें सर्वथा आसक्तिसे रहित पुरुष आकाशके समान निर्लेप और निर्गुण परमात्मामें स्थित हुए उसका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

यथोर्णनाभिः परिवर्तमान-
स्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः।
तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं
विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥ ४७ ॥

जैसे मकड़ी जाला तानकर उसपर चक्कर लगाती रहती है; किंतु उन जालोंका नाश हो जानेपर एक स्थानपर स्थित हो जाती है, उसी प्रकार अविद्याके वशीभूत हो नीचे गिरने-

वाला जीव कर्मजालमें पड़कर भटकता रहता है और उससे छूटनेपर दुःखसे रहित हो जाता है। जैसे पर्वतपर फेंका हुआ मिट्टीका ढेला उससे टकराकर चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार उसके सम्पूर्ण दुःखोंका विध्वंस हो जाता है ॥ ४७ ॥

यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं
हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
विहाय गच्छत्यनवेक्षमाण-
स्तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम्॥ ४८॥

जैसे रुरुनामक मृग अपने पुराने सींगको और साँप अपनी केंचुलको त्यागकर उसकी ओर देखे बिना ही चल देता है, उसी प्रकार ममता और अभिमानसे रहित हुआ पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो अपने सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर देता है ॥ ४८ ॥

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्त-
मुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः।
तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय
मुक्तः परार्द्ध्यां गतिमेत्यलिङ्गः॥ ४९॥

जिस प्रकार पक्षी वृक्षको जलमें गिरते देख उसमें आसक्ति छोड़कर वृक्षका परित्याग करके उड़ जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष सुख और दुःख—दोनोंका त्याग करके सूक्ष्म शरीरसे रहित हो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥४९॥

भीष्म उवाच

अपि च भवति मैथिलेन गीतं
नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य ।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्
स्वयमिदमाह किल स भूमिपालः ॥५०॥
इदममृतपदं निशम्य राजा
स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम्।
निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः
परमसुखी विजहार वीतशोकः॥ ५१॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! स्वयं आचार्य पञ्चशिखके बताये हुए इस अमृतमय ज्ञानोपदेशको सुनकर राजा जनक एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँच गये और सारी बातोंपर विचार करके शोकरहित हो बड़े सुखसे रहने लगे; फिर तो उनकी स्थिति ही कुछ और हो गयी। एक बार उन मिथिला-नरेश राजा जनकने मिथिला-नगरीको आगसे जलती देखकर स्वयं यह उद्गार प्रकट किया था कि इस नगरके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है ॥ ५०-५१ ॥

इमं हि यः पठति विमोक्षनिश्चयं
महीपते सततमवेक्षते तथा।
उपद्रवान् नानुभवत्यदुःखितः
प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः॥ ५२॥

राजन्! यहाँ जो मोक्षतत्त्वका निर्णय किया गया है, उसका जो पुरुष सदा स्वाध्याय और चिन्तन करता रहता है, उसे उपद्रवोंका कष्ट नहीं भोगना पड़ता। दुःख तो उसके पास कभी फटकने नहीं पाते हैं तथा जिस प्रकार राजा जनक कपिलमतावलम्बी पञ्चशिखके समागमसे इस ज्ञानको पाकर मुक्त हो गये थे, उसी प्रकार वह भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

(श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थं दीपिता पुरा।
वह्निना दीपिता सा तु तन्मे शृणु महामते॥

नृपश्रेष्ठ! महामते! पूर्वकालमें जिस उद्देश्यसे अग्निद्वारा मिथिलानगरी जलायी गयी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

जनको जनदेवस्तु कर्माण्याधाय चात्मनि।
सर्वभावमनुप्राप्य भावेन विचचार सः॥

जनकवंशी राजा जनदेव परमात्मामें कर्मोंको स्थापित करके सर्वात्मताको प्राप्त होकर उसी भावसे सर्वत्र विचरण करते थे ॥

यजन् ददंस्तथा जुह्वन् पालयन् पृथिवीमिमाम्।
अध्यात्मविन्महाप्राज्ञस्तन्मयत्वेन निष्ठितः॥

महाप्राज्ञ जनक अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता होनेके कारण निष्कामभावसे यज्ञ, दान, होम और पृथ्वीका पालन करते हुए भी उस अध्यात्मज्ञानमें ही तन्मय रहते थे ॥

स तस्य हृदि संकल्पं ज्ञातुमैच्छत् स्वयं प्रभुः।
सर्वलोकाधिपस्तत्र द्विजरूपेण संयुतः॥
मिथिलायां महाबुद्धिर्व्यलीकं किंचिदाचरन्।
स गृहीत्वा द्विजश्रेष्ठैर्नृपाय प्रतिवेदितः॥
अपराधं समुद्दिश्य तं राजा प्रत्यभाषत॥

एक समय सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायणने राजा जनकके मनोभावकी परीक्षा लेनेका विचार किया; अतः वे ब्राह्मणरूपसे वहाँ आये। उन परम बुद्धिमान् श्रीहरिने मिथिलानगरीमें कुछ प्रतिकूल आचरण किया। तब वहाँके श्रेष्ठ द्विजोंने उन्हें पकड़कर राजाको सौंप दिया। ब्राह्मणके अपराधको लक्ष्य करके राजाने उनसे इस प्रकार कहा ॥

जनक उवाच

न त्वां ब्राह्मण दण्डेन नियोक्ष्यामि कथंचन।
मम राज्याद् विनिर्गच्छ यावत् सीमा भुवो मम॥

जनकने कहा—ब्राह्मण! मैं तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं दूँगा, तुम मेरे राज्यसे, जहाँतक मेरी राज्यभूमिकी सीमा है, उससे बाहर निकल जाओ ॥

इत्युक्तः स तथा तेन मैथिलेन द्विजोत्तमः।
अब्रवीत् तं महात्मानं राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्॥

मिथिलानरेशके ऐसा कहनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उन महात्मा राजा जनकसे इस प्रकार कहा— ॥

त्वमेवं पद्मनाभस्य नित्यं पक्षपदाहितः।
अहो सिद्धार्थरूपोऽसि गमिष्ये स्वस्ति तेऽस्तु वै॥

'महाराज! आप सदा पद्मनाभ भगवान् नारायणके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले और उन्हींके शरणागत हैं। अहो! आप कृतार्थरूप हैं, आपका कल्याण हो! अब मैं चला जाऊँगा' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तज्जिज्ञासुर्द्विजोत्तमः ।
अदहच्चाग्निना तस्य मिथिलां भगवान् स्वयम् ॥

ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहाँसे चल दिये । जाते-जाते राजाकी परीक्षा लेनेके लिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणरूपधारी भगवान् श्रीहरिने स्वयं ही मिथिलानगरीमें आग लगा दी ॥

प्रदीप्यमानां मिथिलां दृष्ट्वा राजा न कम्पितः ।
जनैः स परिपृष्टस्तु वाक्यमेतदुवाच ह ॥

मिथिलाको जलती हुई देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुए । लोगोंके पूछनेपर उन्होंने उनसे यह बात कही—॥

अनन्तं बत मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते ॥

'मेरे पास आत्मज्ञानरूप अनन्त धन है; अतः अब मेरे लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, इस मिथिलानगरीके जल जानेपर भी मेरा कुछ नहीं जलता है' ॥

तदस्य भाषमाणस्य श्रुत्वा श्रुत्वा हृदि स्थितम् ।
पुनः संजीवयामास मिथिलां तां द्विजोत्तमः ॥

राजा जनकके इस प्रकार कहनेपर उन द्विजश्रेष्ठने भी उनकी बात सुनी और उनके मनोभावको समझा; फिर उन्होंने मिथिलानगरीको पूर्ववत् सजीव एवं दाहरहित कर दिया ॥

आत्मानं दर्शयामास वरं चास्मै ददौ पुनः ।
धर्मे तिष्ठतु सद्भावो बुद्धिस्तेऽर्थे नराधिप ॥
सत्ये तिष्ठस्व निर्विण्णः स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।

साथ ही उन्होंने राजाको अपने साक्षात् स्वरूपका दर्शन कराया और उन्हें वर देते हुए पुनः कहा—'नरेश्वर ! तुम्हारा मन सद्भावपूर्वक धर्ममें लगा रहे और बुद्धि तत्त्वज्ञानमें परिनिष्ठित हो । सदा विषयोंसे विरक्त रहकर तुम सत्यके मार्गपर डटे रहो । तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं जाता हूँ' ॥

इत्युक्त्वा भगवांश्चैनं तत्रैवान्तरधीयत ।
एतत् ते कथितं राजन् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

उनसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये । राजन् ! यह प्रसङ्ग तुम्हें सुना दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्यं नाम एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखका उपदेशनामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्वेतकेतु और सुवर्चलाका विवाह, दोनों पति-पत्नीका अध्यात्मविषयक संवाद तथा गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हुए ही उनका परमात्माको प्राप्त होना एवं दमकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति कश्चिद् यदि विभो सदारो नियतो गृहे ।
अतीतसर्वसंसारः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥
तं मे ब्रूहि महाप्राज्ञ दुर्लभः पुरुषो महान् ।

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ ! प्रभो ! यदि कोई ऐसा पुरुष हो, जो गृहस्थ आश्रममें पत्नीसहित संयम-नियमके साथ रहता हो, समस्त सांसारिक बन्धनोंको पार कर चुका हो और सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे दूर रहकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता हो तो उसका मुझे परिचय दीजिये, क्योंकि ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं पृष्टवानसि ।
इतिहासमिमं शुद्धं संसारभयभेषजम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! तुमने मुझसे जो विषय पूछा है, उसे यथावत्‌रूपसे सुनो । यह विशुद्ध इतिहास जन्म-मरणरूप रोगका भय दूर करनेके लिये उत्तम औषध है ॥

देवलो नाम विप्रर्षिः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
क्रियावान् धार्मिको नित्यं देवब्राह्मणपूजकः ॥

ब्रह्मर्षि देवलका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है । वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देवताओं और ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करनेवाले थे ॥

सुता सुवर्चला नाम तस्य कल्याणलक्षणा ।
नातिह्रस्वा नातिकृशा नातिदीर्घा यशस्विनी ॥

उनके एक पुत्री थी, जो सुवर्चलाके नामसे पुकारी जाता थी । वह यशस्विनी कन्या सभी शुभ-लक्षणोंसे सम्पन्न थी । वह न तो अधिक नाटी थी और न अधिक लंबी, वह विशेष दुबली भी नहीं थी ॥

प्रदानसमयं प्राप्ता पिता तस्य ह्यचिन्तयत् ॥
अस्याः पतिः कुतो वेति ब्राह्मणः श्रोत्रियः परः ।
विद्वान् विप्रो ह्यकुटुम्बः प्रियवादी महातपाः ॥

धीरे-धीरे उसकी विवाहके योग्य अवस्था हो गयी । उसके पिता सोचने लगे, मेरी इस पुत्रीका पति श्रेष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण होना चाहिये, जो विद्वान् होनेके साथ ही प्रिय वचन बोलनेवाला, महातपस्वी और अविवाहित हो; परंतु ऐसा पुरुष कहाँसे सुलभ हो सकता है ? ॥

इत्येवं चिन्तयानं तं रहस्याह सुवर्चला ।
अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय वै पितः ।
एवं स्मर सदा विद्वन् ममेदं प्रार्थितं मुने ॥

एकान्तमें बैठकर ऐसी ही चिन्तामें पड़े हुए पिताके

पास जाकर सुवर्चलाने इस प्रकार कहा—'पिताजी ! आप परम बुद्धिमान्, विद्वान् और मुनि हैं। आप मुझे ऐसे पतिके हाथमें सौंपियेगा, जो अन्धा भी हो और आँखवाला भी हो। मेरी इस प्रार्थनाको सदा याद रखियेगा' ॥

पितोवाच

न शक्यं प्रार्थितं वत्से त्वयाद्य प्रतिभाति मे।
अन्धतानन्धता चेति विकारो मम जायते ॥
उन्मत्तेवाशुभं वाक्यं भाषसे शुभलोचने।

पिता बोले—बेटी ! तुम्हारी यह प्रार्थना पूर्ण हो सके, ऐसा तो मुझे नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति अन्धा भी हो और अन्धा न भी हो, यह कैसे सम्भव है ? तुम्हारी यह बात सुनकर मेरे मनमें खेद होता है। शुभलोचने ! तुम पगली-सी होकर अशुभ बात मुँहसे निकाल रही हो ॥

सुवर्चलोवाच

नाहमुन्मत्तभूताद्य बुद्धिपूर्वं ब्रवीमि ते।
विद्यते चेत् पतिस्तादृक् स मां भरति वेदवित् ॥

सुवर्चला बोली—पिताजी ! मैं पगली नहीं हूँ। खूब सोच-समझकर आपसे ऐसी बात कह रही हूँ। यदि ऐसा कोई वेदवेत्ता पति प्राप्त हो जाय तो वह मेरा भरण-पोषण कर सकता है ॥

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान्।
तादृशं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम् ॥

आप जिन ब्राह्मणोंके हाथमें मुझे देना चाहते हैं, उन सबको यहाँ बुलवा लीजिये। मैं उन्हींमेंसे अपनी पसंदके अनुसार योग्य पतिका वरण कर लूँगी ॥

तथेति चोक्त्वा तां कन्यामृषिः शिष्यानुवाच ह।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् योनिगोत्रविशोधितान्।
मातृतः पितृतः शुद्धाञ्शुद्धानाचारतः शुभान्।
अरोगान् बुद्धिसम्पन्नाञ्शीलसत्त्वगुणान्वितान् ॥
असंकीर्णांश्च गोत्रेषु वेदव्रतसमन्वितान्।
ब्राह्मणान् स्नातकाञ्शीघ्रं मातापितृसमन्वितान् ॥
निवेष्टुकामान् कन्यां मे दृष्ट्वाऽऽनयत शिष्यकाः।

तब अपनी पुत्रीसे 'तथास्तु' कहकर ऋषिने शिष्योंसे कहा—'शिष्यगण ! जो वेदविद्यासे सम्पन्न, निष्कलङ्क माता-पितासे उत्पन्न, निर्दोष कुलके बालक, शुद्ध आचार-विचारवाले, शुभ लक्षणोंसे युक्त, नीरोग, बुद्धिमान्, शील और सत्त्वसे सम्पन्न, गोत्रोंमें वर्णसंकरताके दोषसे रहित, वेदोक्त व्रतके पालनमें तत्पर, स्नातक, जीवित माता-पितावाले तथा मेरी कन्यासे विवाहकी इच्छा रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उन सबको देखकर तुमलोग यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥'

तच्छ्रुत्वा त्वरिताः शिष्या ह्याश्रमेषु ततस्ततः।
ग्रामेषु च ततो गत्वा ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥

मुनिकी यह बात सुनकर उनके शिष्योंने तुरंत इधर-उधर आश्रमों तथा गाँवोंमें जाकर ब्राह्मणोंको इसकी सूचना दी ॥

ऋषेः प्रभावं मत्वा ते कन्यायाश्च द्विजोत्तमाः।
अनेकमुनयो राजन् सम्प्राप्ता देवलाश्रमम् ॥

राजन् ! ऋषि और उस कन्याके प्रभावको जानकर अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि देवलके आश्रमपर आये ॥

अनुमान्य यथान्यायं मुनीन् मुनिकुमारकान्।
अभ्यर्च्य विधिवत् तत्र कन्यामाह पिता महान् ॥

कन्याके महान् पिता देवलने वहाँ आये हुए ऋषियों तथा ऋषिकुमारोंका यथायोग्य सम्मान तथा विधिपूर्वक पूजन करके अपनी पुत्रीसे कहा—

एतेऽपि नयो वत्से स्वपुत्रैकमता इह।
वेदवेदाङ्गसम्पन्नाः कुलीनाः शीलसम्मताः ॥
येऽमी तेषु वरं भद्रे त्वमिच्छसि महाव्रतम्।
तं कुमारं वृणीष्वाद्य तस्मै दास्याम्यहं शुभे ॥

'बेटी ! ये मुनि जो यहाँ पधारे हैं, वेद-वेदाङ्गोंसे सम्पन्न, कुलीन और शीलवान् हैं। ये मेरे लिये अपने पुत्रके समान प्रिय हैं। भद्रे ! इन लोगोंमेंसे तुम जिस महान् व्रतधारी ऋषिकुमारको पति बनाना चाहो, उसे आज चुन लो, शुभे ! मैं उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा' ॥

तथेति चोक्त्वा कल्याणी तप्तहेमनिभा तदा।
सर्वलक्षणसम्पन्ना वाक्यमाह यशस्विनी ॥
विप्राणां समितीर्दृष्ट्वा प्रणिपत्य तपोधनान्।

तब 'तथास्तु' कहकर तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली, समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, यशस्विनी, कल्याणमयी सुवर्चला ब्राह्मणोंके उस समुदायको देखकर सम्पूर्ण तपोधनोंको प्रणाम करके इस प्रकार बोली ॥

सुवर्चलोवाच

यद्यस्ति समितौ विप्रो ह्यन्धोऽनन्धः स मे वरः ॥

सुवर्चलाने कहा—इस ब्राह्मण-सभामें वही मेरा पति हो सकता है, जो अन्धा हो और अन्धा न भी हो ॥

तच्छ्रुत्वा मुनयस्तत्र वीक्षमाणाः परस्परम्।
नोचुर्विप्रा महाभागाः कन्यां मत्वा ह्यवेदिकाम् ॥

उस कन्याकी यह बात सुनकर सब मुनि एक दूसरेका मुँह देखने लगे। वे महाभाग ब्राह्मण उस कन्याको अबोध जानकर कुछ बोले नहीं ॥

कुत्सयित्वा मुनिं तत्र मनसा मुनिसत्तमाः ॥
यथागतं ययुः क्रुद्धा नानादेशनिवासिनः।
कन्या च संस्थिता तत्र पितृवेश्मनि भामिनी ॥

नाना देशोंमें निवास करनेवाले वे श्रेष्ठ मुनि कुपित हो मन-ही मन देवल ऋषिकी निन्दा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये और वह मानिनी कन्या वहाँ पिताके ही घरमें रह गयी

ततः कदाचिद् ब्रह्मण्यो विद्वान् न्यायविशारदः ।
ऊहापोहविधानज्ञो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ॥
वेदविद् वेदतत्त्वज्ञः क्रियाकल्पविशारदः ।
आत्मतत्त्वविभागज्ञः पितृमान् गुणसागरः ॥
श्वेतकेतुरिति ख्यातः श्रुत्वा वृत्तान्तमादरात् ।
कन्यार्थं देवलं चापि शीघ्रं तत्रागतोऽभवत् ॥

तदनन्तर किसी समय विद्वान्, ब्राह्मणभक्त, न्यायविशारद, ऊहापोह करनेमें कुशल, ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न, वेदवेत्ता, वेदतत्त्वज्ञ, कर्म-काण्डविशारद, आत्मतत्त्वको विवेकपूर्वक जाननेवाले, जीवित पितावाले तथा सद्गुणोंके सागर श्वेतकेतु ऋषि सारा वृत्तान्त सुनकर उस कन्याको प्राप्त करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आदरसहित देवल ऋषिके आश्रमपर आये ॥

उद्दालकसुतं दृष्ट्वा श्वेतकेतुं महाव्रतम् ।
यथान्यायं च सम्पूज्य देवलः प्रत्यभाषत ॥

उद्दालकके पुत्र महान् व्रतधारी श्वेतकेतुको आया देख देवलने उनकी यथायोग्य पूजा करके अपनी पुत्रीसे कहा—॥

कन्ये एष महाभागे प्राप्तो ऋषिकुमारकः ।
वरयैनं महाप्राज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥

'महान् सौभाग्यशालिनी कन्ये ! ये ऋषिकुमार श्वेतकेतु पधारे हैं । ये बड़े भारी पण्डित और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं । तुम इनका वरण कर लो' ॥

तच्छ्रुत्वा कुपिता कन्या ऋषिपुत्रमुदैक्षत ।
तां कन्यामाह विप्रर्षिः सोऽहं भद्रे समागतः ॥

पिताकी यह बात सुनकर कन्याने कुपित हो ऋषिकुमार श्वेतकेतुकी ओर देखा । तब ब्रह्मर्षि श्वेतकेतुने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मैं वही हूँ (जिसे तुम चाहती हो), तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ ॥

अन्धोऽहमत्र तत्त्वं हि तथा मन्ये च सर्वदा ।
विशालनयनं विद्धि तथा मां हीनसंशयम् ॥
वृणीष्व मां वरारोहे भजे च त्वामनिन्दिते ।

'मैं अन्ध हूँ, यह यथार्थ है । मैं अपने मनमें सदा ऐसा ही मानता भी हूँ । साथ ही मैं संदेहरहित होनेके कारण विशाल नेत्रोंसे युक्त भी हूँ । ऐसा ही तुम मुझे समझो । श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी ! तुम मुझे अङ्गीकार करो । मैं तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि करूँगा ॥

येनेदं वीक्षते नित्यं वृणोति स्पृशतेऽथ वा ॥
घ्रायते वक्ति सततं येनेदं रसते पुनः ।
येनेदं मन्यते तत्त्वं येन बुध्यति वा पुनः ॥
न चक्षुर्विद्यते ह्येतत् स वै भूतान्ध उच्यते ।

'जिस परमात्माकी शक्तिसे जीवात्मा सदा यह सब कुछ देखता है, ग्रहण करता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, बोलता है, निरन्तर विभिन्न वस्तुओंका स्वाद लेता है, तत्त्वका मनन करता और बुद्धिद्वारा निश्चय करता है, वह परमात्मा ही चक्षु[1] कहलाता है । जो इस चक्षुसे रहित है, वही प्राणियोंमें अन्धा कहलाता है (और परमात्मारूपी चक्षुसे युक्त होनेके कारण मैं अनन्ध-नेत्रवाला भी हूँ)॥

यस्मिन् प्रवर्तते चेदं पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन्नपि ॥
जिघ्रंश्च रसयंस्तद्वद् वर्तते येन चक्षुषा ।
तन्मे नास्ति ततो ह्यन्धो वृणु भद्रेऽद्य मामतः ॥

'जिस परमात्माके भीतर ही यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहारमें प्रवृत्त होता है । यह जगत् जिस आँखसे देखता, कानसे सुनता, त्वचासे स्पर्श करता, नासिकासे सूँघता, रसनासे रस लेता एवं जिस लौकिक चक्षुसे यह सारा बर्ताव करता है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मैं अन्ध हूँ; अतः भद्रे ! तुम मेरा वरण करो ॥

लोकदृष्ट्या करोमीह नित्यनैमित्तिकादिकम् ।
आत्मदृष्ट्या च तत् सर्वं विलिप्यामि च नित्यशः॥

'मैं लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ही यहाँ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करता हूँ तथा नित्य आत्मदृष्टि रखनेके कारण उन सब कर्मोंसे लिप्त नहीं होता हूँ ॥

स्थितोऽहं निर्भरः शान्तः कार्यकारणभावनः ।
अविद्यया तरन् मृत्युं विद्यया तं तथामृतम् ॥
यथाप्राप्तं तु संदृश्य वसामीह विमत्सरः ।

'कार्य-कारणरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ मैं सदा शान्तभावसे उन्हींपर निर्भर रहता हूँ । कर्मोंके अनुष्ठान-से मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमृतमय परमात्माका साक्षात्कार कर चुका हूँ और प्रारब्धवश जो कुछ प्रिय-अप्रिय पदार्थ प्राप्त होता है, उसको समानभावसे देखता हुआ मैं ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर यहाँ निवास करता हूँ ॥

क्रीते व्यवसितं भद्रे भर्ताहं ते वृणीष्व माम् ॥
ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम् ।

'भद्रे ! मैं तुम्हारा उचित शुल्क चुकानेका निश्चय कर चुका हूँ और तुम्हारा भरण-पोषण करनेमें समर्थ हूँ; अतः तुम मेरा वरण करो ।' यह सुनकर सुवर्चलाने द्विजश्रेष्ठ श्वेतकेतुकी ओर देखकर कहा ॥

सुवर्चलोवाच

मनसासि वृतो विद्वञ्शेषकर्ता पिता मम ।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिक्रमः ॥

सुवर्चला बोली—विद्वन् ! मैंने अपने हृदयसे आपका वरण कर लिया । शास्त्रमें कथित शेष कार्योंकी पूर्ति करनेवाले मेरे पिताजी हैं । आप उनसे मुझे माँग लीजिये । यही वेद-विहित मर्यादा है ॥

भीष्म उवाच

तद् विज्ञाय पिता तस्या देवलो मुनिसत्तमः ।
श्वेतकेतुं च सम्पूज्य तथैवोद्दालकेन तम् ॥
मुनीनामग्रतः कन्यां प्रददौ जलपूर्वकम् ।

१. चष्टे इति चक्षुः—जो देखता है, वह चक्षु है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वद्रष्टा परमात्मा ही चक्षुः पदका वाच्यार्थ है ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह सब वृत्तान्त जानकर सुवर्चलाके पिता मुनिश्रेष्ठ देवलने उद्दालकसहित श्वेतकेतुकी पूजा करके मुनियोंके सामने जलसे संकल्प करके अपनी कन्या श्वेतकेतुको दे दी ॥

उदाहरन्ति वै तत्र श्वेतकेतुं निरीक्ष्य तम् ॥
हृत्पुण्डरीकनिलयः सर्वभूतात्मको हरिः ।
श्वेतकेतुस्वरूपेण स्थितोऽसौ मधुसूदनः ॥

वहाँ श्वेतकेतुको देखकर ऋषिगण इस प्रकार कहने लगे–मानो यहाँ श्वेतकेतुके रूपमें सबके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले, सर्वभूतस्वरूप श्रीहरि भगवान् मधुसूदन ही विराजमान हैं ॥

देवल उवाच

प्रीयतां माधवो देवः पत्नी चेयं सुता मम ।
प्रतिपादयामि ते कन्यां सहधर्मचरीं शुभाम् ॥

देवल बोले—वररूपमें विराजमान ये भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों । यह मेरी पुत्री इन्हें पत्नीरूपसे समर्पित है । प्रभो ! मैं आपको कल्याणमयी सहधर्मिणीके रूपमें अपनी यह कन्या दे रहा हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै देवलो मुनिपुङ्गवः ।
प्रतिगृह्य च तां कन्यां श्वेतकेतुर्महायशाः ॥
उपयम्य यथान्यायमत्र कृत्वा यथाविधि ।
समाप्य तन्त्रं मुनिभिर्वैवाहिकमनुत्तमम् ॥
स गार्हस्थ्ये वसन् धीमान् भार्यां तामिदमब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मुनिवर देवलने उन्हें कन्यादान कर दिया । महायशस्वी श्वेतकेतुने उस कन्याको लेकर उसके साथ यथोचितरूपसे विधिपूर्वक विवाह किया । फिर मुनियोंद्वारा कराये हुए परम उत्तम वैवाहिक विधानको पूर्ण करके गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए बुद्धिमान् श्वेतकेतुने अपनी उस धर्मपत्नीसे इस प्रकार कहा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यानि चोक्तानि वेदेषु तत् सर्वं कुरु शोभने ।
मया सह यथान्यायं सहधर्मचरी मम ॥

श्वेतकेतुने कहा—शोभने ! वेदोंमें जिन शुभ कर्मोंका विधान है, मेरे साथ रहकर उन सबका यथोचितरूपसे अनुष्ठान करो और यथार्थरूपसे मेरी सहधर्मचारिणी बनो ॥

अहमित्येव भावेन स्थितोऽहं त्वं तथैव च ।
तस्मात् कर्माणि कुर्वीथाः कुर्यां ते च ततः परम् ॥

मैं इसी भावसे स्थित हूँ । तुम भी इसी भावसे स्थित रहना, अतः मेरी आज्ञाके अनुसार सारे कर्म करो, फिर मैं भी तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा ॥

न ममेति च भावेन ज्ञानाग्निनिलयेन च ।
अनन्तरं तथा कुर्यास्तानि कर्माणि भस्मसात् ॥
एवं त्वया च कर्तव्यं सर्वदादुर्भगा मया ।
यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः ॥
तस्माल्लोकस्य सिद्ध्यर्थं कर्तव्यं चात्मसिद्धये ॥

तदनन्तर 'ये सब कर्म मेरे नहीं हैं और मैं इनका कर्ता नहीं हूँ' इस भावसे ज्ञानाग्निद्वारा उन सब कर्मोंको भस्म कर डालो, तुम परम सौभाग्यवती हो । तुम्हें सदा इसी तरह ममता और अहंकारसे रहित होकर कर्म करना चाहिये और मुझे भी ऐसा ही करना चाहिये । श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वैसे ही दूसरे लोग भी करते हैं, अतः लोक-व्यवहारकी सिद्धि तथा आत्मकल्याणके लिये हम दोनोंको कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये ॥

भीष्म उवाच

उक्त्वैवं स महाप्राज्ञः सर्वज्ञानैकभाजनः ।
पुत्रानुत्पाद्य तस्यां च यज्ञैः संतर्प्य देवताः ॥
आत्मयोगपरो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा उपदेश देकर सम्पूर्ण ज्ञानके एकमात्र निधि महाज्ञानी श्वेतकेतुने सुवर्चलाके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये, यज्ञोंद्वारा देवताओंको संतुष्ट किया; फिर आत्मयोगमें नित्य तत्पर रहकर वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य हो गये ॥

भार्यां तां सदृशीं प्राप्य बुद्धिं क्षेत्रज्ञयोरिव ।
लोकमन्यमनुप्राप्तौ भार्या भर्ता तथैव च ॥
साक्षिभूतौ जगत्यस्मिंश्चरमाणौ मुदान्वितौ ।

अपने अनुरूप पत्नीको पाकर श्वेतकेतु उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे बुद्धिको पाकर क्षेत्रज्ञ । वे दोनों पति-पत्नी लोकान्तरमें भी पहुँच जाते थे और इस जगत्में साक्षीकी भाँति स्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥

ततः कदाचिद् भर्तारं श्वेतकेतुं सुवर्चला ।
पप्रच्छ को भवानत्र ब्रूहि मे तद् द्विजोत्तम ।
तामाह भगवान् वाग्मी त्वया ज्ञातो न संशयः ॥
द्विजोत्तमेति मामुक्त्वा पुनः कमनुपृच्छसि ।

तदनन्तर एक दिन सुवर्चलाने अपने पति श्वेतकेतुसे पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, यह मुझे बताइये !' उस समय प्रवचन-कुशल भगवान् श्वेतकेतुने उससे कहा—'देवि ! तुमने मेरे विषयमें जान ही लिया है, इसमें संदेह नहीं है। तुमने द्विजश्रेष्ठ कहकर मुझे सम्बोधित भी किया है; फिर उस द्विजश्रेष्ठके सिवा और किसको पूछ रही हो ?' ॥

सा तमाह महात्मानं पृच्छामि हृदि शायिनम् ॥

तब सुवर्चलाने अपने महात्मा पतिसे कहा—'नाथ ! मैं हृदय-गुफामें शयन करनेवाले आत्माको पूछती हूँ' ॥

तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचैनां स न वक्ष्यति भामिनि ।
नामगोत्रसमायुक्तमात्मानं मन्यसे यदि ।
तन्मिथ्या गोत्रसद्भावे वर्तते देहबन्धनम् ॥

यह सुनकर श्वेतकेतुने उससे कहा—'भामिनि ! वह तो कुछ कहेगा नहीं । यदि तुम आत्माको नाम और गोत्रसे

युक्त मानती हो तो यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है; क्योंकि नाम-गोत्र होनेपर देहका बन्धन प्राप्त होता है ॥

अहमित्येष भावोऽत्र त्वयि चापि समाहितः।
त्वमप्यहमहं सर्वमहमित्येव वर्तते ॥
नात्र तत् परमार्थं वै किमर्थमनुपृच्छसि ॥

'आत्मामें अहम् (मैं हूँ) यह भाव स्थापित किया गया है। तुममें भी वही भाव है। तुम भी अहम्, मैं भी अहम् और यह सब अहम्का ही रूप है। इसमें वह परमार्थतत्त्व नहीं है; फिर किसलिये पूछती हो ?'॥

ततः प्रहस्य सा हृष्टा भर्तारं धर्मचारिणी।
उवाच वचनं काले स्मयमाना तदा नृप ॥

नरेश्वर ! तब धर्मचारिणी पत्नी सुवर्चला बहुत प्रसन्न हुई, उसने हँसकर मुस्कराते हुए यह समयोचित वचन कहा ॥

सुवर्चलोवाच

किमनेकप्रकारेण विरोधेन प्रयोजनम्।
क्रियाकलापैर्ब्रह्मर्षे ज्ञाननष्टोऽसि सर्वथा ॥
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ यथाहं त्वामनुव्रता ॥

सुवर्चला बोली—ब्रह्मर्षे ! अनेक प्रकारके विरोधसे क्या प्रयोजन ? सदा इस नाना प्रकारके क्रिया-कलापमें पड़कर आपका ज्ञान लुप्त होता जा रहा है। अतः महाप्राज्ञ ! आप मुझे इसका कारण बताइये, क्योंकि मैं आपका अनुसरण करनेवाली हूँ ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः।
वर्तते तेन लोकोऽयं संकीर्णश्च भविष्यति ॥

श्वेतकेतुने कहा—प्रिये ! श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं; अतः हमारे कर्म त्याग देनेसे यह सारा जनसमुदाय संकरताके दोषसे दूषित हो जायगा ॥

संकीर्णे च तथा धर्मे वर्णसंकरमेति च।
संकरे च प्रवृत्ते तु मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥

इस प्रकार धर्ममें संकीर्णता आनेपर प्रजामें वर्णसंकरता फैल जाती है और संकरता फैल जानेपर सर्वत्र मात्स्यन्यायकी प्रवृत्ति हो जाती है (जैसे प्रबल मत्स्य दुर्बल मत्स्यको निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको सताने लगते हैं) ॥

तदनिष्टं हरेर्भद्रे धातुरस्य महात्मनः।
परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे ॥

भद्रे ! सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले परमात्मा श्रीहरिको यह अभीष्ट नहीं है। शुभे ! जगत्की यह सारी सृष्टि परमेश्वरकी क्रीड़ा है ॥

यावत् पांसव उद्दिष्टास्तावत्योऽस्य विभूतयः।
तावत्यश्चैव मायास्तु तावत्योऽस्याश्च शक्तयः ॥

धूलिके जितने कण हैं, उतनी ही परमेश्वर श्रीहरिकी विभूतियाँ हैं, उतनी ही उनकी मायाएँ हैं और उतनी ही उन मायाओंकी शक्तियाँ भी हैं ॥

एवं सुगह्वरे मुक्तो यत्र मे तद्भवाभवम्।
छित्त्वा ज्ञानासिना गच्छेत् स विद्वान् स च मे प्रियः ॥
सोऽहमेव न संदेहः प्रतिज्ञा इति तस्य वै ॥

स्वयं भगवान् नारायणका कथन है कि 'जो मुक्तिलाभके लिये उद्योगशील पुरुष अत्यन्त गहन गुफामें रहकर ज्ञानरूप खड्गके द्वारा जन्म-मृत्युके बन्धनको काटकर मेरे धामको चला जाता है, वही विद्वान् है और वही मुझे प्रिय है। वह योगी पुरुष मैं ही हूँ। इसमें संदेह नहीं है' यह भगवान्की प्रतिज्ञा है ॥

ये मूढास्ते दुरात्मानो धर्मसंकरकारकाः।
मर्यादाभेदका नीचा नरके यान्ति जन्तवः।
आसुरीं योनिमापन्ना इति देवानुशासनम् ॥

'जो मूढ, दुरात्मा, धर्मसंकरता उत्पन्न करनेवाले, मर्यादाभेदक और नीच मनुष्य हैं, वे नरकमें गिरते हैं और आसुरी योनिमें पड़ते हैं, यह भी उन्हीं भगवान्का अनुशासन है' ॥

भगवत्या तथा लोके रक्षितव्यं न संशयः।
मर्यादालोकरक्षार्थमेवमस्मि तथा स्थितः ॥

देवि ! तुम्हें भी जगत्की रक्षाके लिये लोकमर्यादाका पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। मैं भी इसी भावसे लोक-मर्यादाकी रक्षामें स्थित हूँ ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दः कोऽत्र इति ख्यातस्तथार्थश्च महामुने।
आकृत्यापि तयोर्ब्रूहि लक्षणेन पृथक् पृथक् ॥

सुवर्चलाने पूछा—महामुने ! यहाँ शब्द किसे कहा गया है और अर्थ भी क्या है ? आप उन दोनोंकी आकृति और लक्षणका निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।
स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

श्वेतकेतुने कहा—अकार आदि वर्णोंके समुदायको क्रम या व्यतिक्रमसे उच्चारण करनेपर जो वस्तु प्रकाशित होती है, उसे 'शब्द' जानना चाहिये और उस शब्दसे जिस अभिप्रायकी प्रतीति हो, उसका नाम 'अर्थ' है ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दार्थयोर्हि सम्बन्धस्त्वनयोरस्ति वा न वा।
तन्मे ब्रूहि यथातत्त्वं शब्दस्थानेऽर्थ एव चेत् ॥

सुवर्चला बोली—यदि शब्दके होनेपर ही अर्थकी प्रतीति होती है तो इन शब्द और अर्थमें कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यह आप मुझे यथार्थरूपसे बतावें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि।
पुष्करे च यथा तोयं तथास्तीति च वेत्थ तत् ॥

श्वेतकेतुने कहा—शब्द और अर्थमें एक प्रकारसे कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। कमलके पत्तेपर स्थित जलकी भाँति शब्द एवं अर्थका अनियत सम्बन्ध है, ऐसा जानो ॥

सुवर्चलोवाच

अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत्।
विद्यते चेन्महाप्राज्ञ विनार्थं ब्रूहि सत्तम ॥

सुवर्चला बोली—महाप्राज्ञ ! अर्थपर ही शब्दकी स्थिति है, अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती। साधु-शिरोमणे ! यदि बिना अर्थका कोई शब्द हो तो उसे बताइये॥

श्वेतकेतुरुवाच

स संसर्गोऽतिमात्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते।
अस्ति चेद् वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वै ॥

श्वेतकेतुने कहा—अर्थके साथ शब्दका वाचकत्वरूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। यदि शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रमसे उच्चारण करनेपर भी शब्दका कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है (जैसे नदी, दीन इत्यादि)॥

सुवर्चलोवाच

शब्दस्थानोऽत्र इत्युक्तस्तथार्थ इति मे कृतम्।
अर्थास्थितो न तिष्ठेच्च विरूढमिह भाषितम् ॥

सुवर्चला बोली—शब्द अर्थात् वेदका आधार है अर्थभूत परमात्मा। ऐसा ही विद्वानोंने कहा है और यही मेरा भी मत है। उस अर्थका आधार लिये बिना तो शब्द टिक ही नहीं सकता। परंतु आप तो इनमें कोई नियत सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, अतः आपका कथन प्रसिद्धिके विपरीत है॥

श्वेतकेतुरुवाच

न विकूलोऽत्र कथितो नाकाशं हि विना जगत्।
सम्बन्धस्तत्र नास्त्येव तद्वदित्येष मन्यताम् ॥

श्वेतकेतुने कहा—मैंने प्रसिद्धिके विपरीत कुछ नहीं कहा है। देखो, आकाशके बिना पृथ्वी अथवा पार्थिव जगत् टिक नहीं सकता तथापि इनमें कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी वैसा ही मानना चाहिये ॥

सुवर्चलोवाच

सदाहङ्कारशब्दोऽयं व्यक्तमात्मनि संश्रितः।
न वाचस्तत्र वर्तन्ते इति मिथ्या भविष्यति ॥

सुवर्चला बोली—यह 'अहम्' शब्द सदा ही आत्माके अर्थमें स्पष्टरूपसे प्रयुक्त होता है; परंतु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुतिके अनुसार वहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है; अतः आत्माके लिये 'अहम्' पदका प्रयोग भी मिथ्या ही होगा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

अहंशब्दो ह्यहंभावो नात्मभावे शुभव्रते।
न वर्तन्ते परेऽचिन्त्ये वाचः सगुणलक्षणाः ॥

श्वेतकेतुने कहा—शुभव्रते ! अहम् शब्दका आत्मभावमें प्रयोग नहीं होता; किंतु अहम्भावका ही आत्मभावमें प्रयोग होता है; क्योंकि सगुण पदार्थके बोधक वचन अचिन्त्य परब्रह्म परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं ॥

मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते।
अयं भावः परेऽचिन्त्ये ह्यात्मभावो यथा च तत् ॥

जैसे मिट्टीके घड़ेमें मृत्तिका-भाव होता है, उसी प्रकार परमात्मासे उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थमें परमात्मभाव अभीष्ट है; अतएव अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मामें अहम्भाव ही आत्मभाव है और वही यथार्थ है ॥

अहं त्वमेतदित्येव परे संकल्पना मया।
तस्माद् वाचो न वर्तन्त इति नैव विरुध्यते ॥

'मैं' 'तुम' और 'यह'—ये सब नाम परब्रह्म परमात्मामें हमलोगोंद्वारा कल्पित हैं (वास्तविक नहीं हैं), अतः 'उस परमात्मातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती' श्रुतिके इस कथनसे कोई विरोध नहीं है ॥

तस्माद् वामेन वर्तन्ते मनसा भीरु सर्वशः।
यथाकाशगतं विश्वं संसक्तमिव लक्ष्यते ॥

अतएव भीरु ! मनुष्य भ्रान्तचित्तद्वारा ही अहम् आदि पदोंका प्रयोग करता है । जैसे आकाशमें स्थित सम्पूर्ण विश्व उसमें सटा हुआ-सा दीखता है, उसी प्रकार परमात्मामें स्थित हुआ सारा दृश्य-प्रपञ्च उससे जुड़ा हुआ-सा जान पड़ता है ॥

संसर्गे सति सम्बन्धात् तद् विकारं भविष्यति।
अनाकाशगतं सर्वं विकारे च सदा गतम् ॥

ब्रह्मके साथ जगत्का जो सम्बन्ध है, उसी सम्बन्धसे यह उसीका कार्य जान पड़ता है। जैसे सारा जगत् आकाशसे पृथक् है तो भी उसके विकारोंसे सम्बन्ध होनेके कारण सदा उससे मिश्रित ही रहता है, उसी प्रकार जगत्से ब्रह्मका कोई सम्पर्क नहीं है तो भी यह उसीसे उत्पन्न होनेके कारण तद्रूप माना जाता है ॥

तद् ब्रह्म परमं शुद्धमनौपम्यं न शक्यते।
न दृश्यते तथा तच्च दृश्यते च मतिर्मम ॥

वह ब्रह्म परम शुद्ध और उपमारहित है; अतः वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इन चर्मचक्षुओंसे उसको नहीं देखा जा सकता है तथा ज्ञानदृष्टिसे उसका साक्षात्कार होता है, ऐसा मेरा मत है ॥

सुवर्चलोवाच

निर्विकारं ह्यमूर्तिं च निरयं सर्वगं तथा।
दृश्यते च वियन्नित्यं दृगात्मा तेन दृश्यते ॥

सुवर्चला बोली—तब तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार निर्विकार, निराकार, निःसीम और सर्वव्यापी आकाशका सर्वदा ही दर्शन होता है, उसीके समान ज्ञानस्वरूप आत्माका भी दर्शन होता है ॥

श्वेतकेतुरुवाच

त्वचा स्पृशति वै वायुमाकाशस्थं पुनः पुनः।
तत्स्थं गन्धं तथाऽऽघ्राति ज्योतिः पश्यति चक्षुषा॥

श्वेतकेतुने कहा—मनुष्य त्वचाद्वारा आकाशमें स्थित वायुका बारंबार स्पर्श करता है, नासिकाद्वारा आकाशवर्ती गन्धको बारंबार सूँघता है और नेत्रद्वारा आकाशस्थित ज्योतिका दर्शन करता है ॥

तमोरश्मिगणश्चैव मेघजालं तथैव च ।
वर्षं तारागणं चैव नाकाशं दृश्यते पुनः ॥

इसके सिवा अन्धकार, किरणसमूह, मेघोंकी घटा, वर्षा तथा तारागणका भी बारंबार दर्शन होता है; परंतु आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता ॥

आकाशस्याप्यथाकाशं सद्रूपमिति निश्चितम् ।
तदर्थं कल्पिता ह्येते तत् सत्यो विष्णुरेव च ॥

सत्स्वरूप परमात्मा उस आकाशका भी आकाश है, अर्थात् उसे भी अवकाश देनेवाला महाकाश है; यह निश्चित है, उन्हींके लिये और उन्हींके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि हुई है । वे ही सत्य तथा सर्वव्यापी हैं ॥

यानि नामानि गौणानि ह्युपचारात् परात्मनि ।
न चक्षुषा न मनसा न चान्येन परो विभुः ॥
चिन्त्यते सूक्ष्मया बुद्ध्या वाचा वक्तुं न शक्यते ।

भगवान्के जो गुण-सम्बन्धी नाम हैं, वे परमात्मामें औपचारिक हैं । नेत्र, मन तथा अन्य किसी इन्द्रियके द्वारा भी उस सर्वव्यापी परमात्माका ग्रहण नहीं हो सकता । वाणी-द्वारा भी उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । केवल सूक्ष्म बुद्धिद्वारा उनका चिन्तन एवं साक्षात्कार किया जा सकता है ॥

एतत् प्रपञ्चमखिलं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
महाघटोऽल्पकश्चैव यथा मह्यां प्रतिष्ठितौ ॥

यह सारा प्रपञ्च (समष्टि एवं व्यष्टि-जगत्) उन्हीं परमात्मामें प्रतिष्ठित है । ठीक उसी तरह, जैसे बड़ा और छोटा घड़ा पृथ्वीपर स्थित होते हैं ॥

न च स्त्री न पुमांश्चैव तथैव न नपुंसकः ।
केवलज्ञानमात्रं तत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

वह परमात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है, केवल ज्ञानस्वरूप है । उसीके आधारपर यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥

भूमिसंस्थानयोगेन वस्तुसंस्थानयोगतः ।
रसभेदा यथा तोये प्रकृत्यामात्मनस्तथा ॥

जैसे एक ही जलमें मृत्तिकाविशेष एवं बीज आदि द्रव्य-विशेषके संयोगसे रसभेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और आत्माके संयोगसे गुण-कर्मके अनुसार अनेक प्रकारकी सृष्टि प्रकट होती है ॥

तद्वाक्यस्मरणान्नित्यं तृप्तिं वारि पिबन्निव ।
प्राप्नोति ज्ञानमखिलं तेन तत् सुखमेधते ॥

जैसे प्यासा मनुष्य पानी पीकर तृप्ति लाभ करता है, उसी प्रकार साधक ब्रह्मबोधक वाक्यको स्मरण करके सदा तृप्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे उसका सुख उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त होता है ॥

सुवर्चलोवाच

अनेन साध्यं किं स्याद् वै शब्देनेति मतिर्मम ।
वेदगम्यः परोऽचिन्त्य इति पौराणिका विदुः ॥
निरर्थको यथा लोके तद्वत् स्यादिति मे मतिः ।
निरीक्ष्यवं यथान्यायं वक्तुमर्हसि मेऽनघ ॥

सुवर्चला बोली—निष्पाप मुने ! इस शब्दसे क्या सिद्ध होनेवाला है ? मेरी तो ऐसी धारणा है कि शब्दसे कुछ भी होने-जानेवाला नहीं है । परंतु पौराणिक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि परमात्मा अचिन्त्य एवं वेदगम्य हैं । जैसे लोकमें बहुत-से शब्द निरर्थक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक शब्द भी हो सकते हैं । मेरी बुद्धिमें तो यही बात आती है; अतः आप इस विषयमें यथोचित विचार करके मुझे यथार्थ बात बतानेकी कृपा करें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः ।
व्याहत्या नैतदित्याह व्युपलिङ्गे च वर्तते ॥

श्वेतकेतुने कहा—'शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्मा वेदगम्य हैं' श्रुतिका यह कथन परम सत्य है । इस विषयमें नास्तिकोंका कहना है कि परब्रह्मकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होनेसे उक्त श्रुतिका कथन व्याघात दोषसे दूषित होनेके कारण सत्य नहीं है । इसका उत्तर आस्तिक यों देते हैं कि सूक्ष्म शरीरविशिष्ट स्थूल देहमें जीवात्मारूपसे परब्रह्मकी ही उपलब्धि होती है; अतः श्रुतिका पूर्वोक्त कथन यथार्थ ही है ॥

निरर्थको न चैवास्ति शब्दो लौकिक उत्तमे ।
अनन्वयास्तथा शब्दा निरर्था इति लौकिकैः ॥

उत्तम अङ्गोंवाली देवि ! कोई लौकिक शब्द भी निरर्थक नहीं है; फिर वैदिक शब्द तो व्यर्थ हो ही कैसे सकता है । जिन शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं होता—जो एक दूसरेसे असम्बद्ध होते हैं, उन्हींको लौकिक पुरुष निरर्थक बताते हैं ॥

गृह्यन्ते तद्वदित्येव न वर्तन्ते परात्मनि ।
अगोचरत्वं वचसां युक्तमेवं तथा शुभे ॥

किंतु शुभे ! लौकिक शब्दोंकी ही भाँति वैदिक शब्द भी यद्यपि सार्थक समझे जाते हैं, तथापि वे साक्षात् परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं; क्योंकि परमात्माको वाणीका अगोचर बताया गया है और उनकी अगोचरता युक्ति-सङ्गत भी है ॥

साधनस्योपदेशाच्च ह्युपायस्य च सूचनात् ।
उपलक्षणयोगेन व्यावृत्या च प्रदर्शनात् ॥
वेदगम्यः परः शुद्ध इति मे धीयते मतिः ।

वेदोंमें ब्रह्मकी उपासना अथवा उसकी प्राप्तिके साधनका उपदेश है । उपासनाके उपाय भी सूचित किये गये हैं । (जैसे ग्रहणकालमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ राहुका दर्शन होता है उसी प्रकार) उपलक्षण-योगसे प्रत्येक शरीरमें जीवात्मा-रूपसे ब्रह्मकी ही स्थितिका प्रदर्शन किया गया है । इसके

सिवा नेति-नेति आदि निषेधात्मक वचनोंद्वारा अनात्मवस्तुके बाधपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपकी ओर संकेत किया गया है। इसलिये शुद्धस्वरूप परमात्मा एकमात्र वेदगम्य हैं, यही मेरी सुनिश्चित धारणा है॥

अध्यात्मध्यानसम्भूतभूतं दीपवत् स्फुटम्॥
ज्ञाने विद्धि शुभाचारे तेन यान्ति परां गतिम्।

शुभ आचरणोंवाली देवि! तुम्हें यह विदित हो कि अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनसे नित्य ज्ञान दीपककी भाँति स्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगता है। उस ज्ञानसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होते हैं॥

यदि मे व्याहृतं गुह्यं श्रुतं न तु त्वया शुभे॥
तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने।

शुभे! शुद्धस्वरूपे! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न देवि! मैंने यह जो गूढ़ एवं यथार्थ ब्रह्मज्ञानका विषय बताया है, इसे तुमने सुना है या नहीं?॥

नानारूपवदस्यैवमैश्वर्यं दृश्यते शुभे।
न वायुस्तत्र सूर्यस्तत्राग्निस्तत् तु परं पदम्॥
अनेन पूर्णमेतद्धि हृदि भूतमिहेष्यते।

शुभे! परब्रह्म परमात्माका ऐश्वर्य नाना रूपोंमें दिखायी देता है? वायुकी वहाँतक पहुँच नहीं है। सूर्य और अग्नि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्रकाशित नहीं कर सकते। परमात्मासे ही यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है और वे ही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं॥

एतावदात्मविज्ञानमेतावद् यदहं स्मृतम्॥
आवयोर्न च सत्त्वे वै तस्मादज्ञानबन्धनम्।

इतना ही परमात्मविज्ञान है। इतना ही अहम् पदार्थ माना गया है। हम दोनोंकी सत्ता नित्य नहीं है, ऐसी धारणा अज्ञानके कारण होती है॥

भीष्म उवाच

एवं सुवर्चला दृष्टा प्रोक्ता भर्त्रा यथार्थवत्।
परिचर्यमाणा ह्यनिशं तत्त्वबुद्धिसमन्विता॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने पति श्वेतकेतुके इस प्रकार यथार्थ उपदेश देनेपर सुवर्चला आनन्दमग्न हो गयी। वह निरन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठ रहकर तदनुरूप आचरण करने लगी॥

भर्ता च तामनुप्रेक्ष्य नित्यनैमित्तिकान्वितः।
परमात्मनि गोविन्दे वासुदेवे महात्मनि॥
समाधाय च कर्माणि तन्मयत्वेन भावितः।
कालेन महता राजन् प्राप्नोति परमां गतिम्॥

श्वेतकेतु पत्नीको साथ रखकर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें संलग्न रहते थे। वे सबके हृदयमें निवास करनेवाले महामना परमात्मा गोविन्दको अपने समस्त कर्म समर्पित करके उन्हींके ध्यानमें तन्मय रहा करते थे। राजन्! इस प्रकार दीर्घकाल-तक परमात्मचिन्तन करके उन्होंने परमगति प्राप्त कर ली॥

एतत् ते कथितं राजन् यस्मात् त्वं परिपृच्छसि।
गार्हस्थ्यं च समाधाय गतौ जायापती परम्॥

नरेश्वर! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें मैंने यह प्रसङ्ग सुनाया है। इस प्रकार वे दोनों पति-पत्नी गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर परमात्माको प्राप्त हो गये॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कुर्वन् सुखमाप्नोति किं कुर्वन् दुःखमाप्नुयात्।
किं कुर्वन्निर्भयो लोके सिद्धश्चरति भारत॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! मनुष्य क्या उपाय करनेसे सुख पाता है; क्या करनेसे दुःख उठाता है और कौन-सा काम करनेसे वह सिद्धकी भाँति संसारमें निर्भय होकर विचरता है॥ १॥

भीष्म उवाच

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः।
सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! मनोयोगपूर्वक वेदार्थका विचार करनेवाले वृद्ध पुरुष सामान्यतः सभी वर्णोंके लिये और विशेषतः ब्राह्मणके लिये मन और इन्द्रियोंके संयमरूप 'दम' की ही प्रशंसा करते हैं॥ २॥

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ३॥

जिसने दमका पालन नहीं किया है, उसे अपने कर्मोंमें यथोचित सफलता नहीं मिलती; क्योंकि क्रिया, तप और सत्य—ये सभी दमके आधारपर ही प्रतिष्ठित होते हैं॥ ३॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो विन्दते महत्॥ ४॥

'दम' तेजकी वृद्धि करता है। 'दम' परम पवित्र बताया गया है, मन और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला पुरुष पाप और भयसे रहित होकर 'महत्' पदको प्राप्त कर लेता है॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति॥ ५॥

दमका पालन करनेवाला मनुष्य सुखसे सोता, सुखसे जागता और सुखसे ही संसारमें विचरता है तथा उसका मन भी प्रसन्न रहता है॥ ५॥

तेजो दमेन ध्रियते तन्न तीक्ष्णोऽधिगच्छति।
अमित्रांश्च बहून् नित्यं पृथगात्मनि पश्यति॥ ६॥

दमसे ही तेजको धारण किया जाता है, जिसमें दमका अभाव है, वह तीव्र कामवाला रजोगुणी पुरुष उस तेजको नहीं धारण कर सकता और सदा काम, क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओंको अपनेसे पृथक् अनुभव करता है॥ ६॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम्।
तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा॥ ७॥

जिन्होंने मन और इन्द्रियोंका दमन नहीं किया है,

उनसे समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार सदा भय बना रहता है, जैसे मांसभक्षी व्याघ्र आदि जन्तुओंसे भय हुआ करता है। ऐसे उद्दण्ड मनुष्योंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ही ब्रह्माजीने राजाकी सृष्टि की है ॥ ७ ॥

आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥ ८ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही श्रेष्ठ बताया गया है। उन सब आश्रमोंमें धर्मका पालन करनेसे जो फल मिलता है, दमनशील पुरुषको वह फल और अधिक मात्रामें उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्धधानता ॥ ९ ॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता।
गुरुपूजानसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ १० ॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।
साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥ ११ ॥

अब मैं उन लक्षणोंका वर्णन करूँगा, जिनकी उत्पत्तिमें दम ही कारण है। कृपणताका अभाव, उत्तेजनाका न होना, संतोष, श्रद्धा, क्रोधका न आना, नित्य सरलता, अधिक बकवाद न करना, अभिमानका त्याग, गुरुसेवा, किसीके गुणोंमें दोषदृष्टि न करना, समस्त जीवोंपर दया करना, किसीकी चुगली न करना, लोकापवाद, असत्यभाषण तथा निन्दा-स्तुति आदिको त्याग देना, सत्पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा तथा भविष्यमें आनेवाले सुखकी स्पृहा और दुःखकी चिन्ता न करना—॥ ९-११ ॥

अवैरकृत् सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः।
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मवान् प्रभुः ॥१२॥
प्राप्य लोके च सत्कारं स्वर्गं वै प्रेत्य गच्छति।

जितेन्द्रिय पुरुष किसीके साथ वैर नहीं करता। उसका सबके साथ अच्छा बर्ताव होता है। वह निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखनेवाला, सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त, धैर्यवान् तथा दोषोंका दमन करनेमें समर्थ होता है। वह इहलोकमें सम्मान पाता और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२½ ॥

दुर्गमं सर्वभूतानां प्रापयन् मोदते सुखी ॥ १३ ॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स्म यो द्विषते जनम्।
महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥ १४ ॥

दमनशील पुरुष समस्त प्राणियोंको दुर्लभ वस्तुएँ देकर—दूसरोंको सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी और प्रमुदित होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगा रहता और किसीसे द्वेष नहीं करता है, वह बहुत बड़े जलाशयकी भाँति गम्भीर होता है। उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं होता तथा वह सदा ज्ञानानन्दसे तृप्त एवं प्रसन्न रहता है ॥ १३-१४ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥ १५ ॥

जो समस्त प्राणियोंसे निर्भय है तथा जिससे सम्पूर्ण प्राणी निर्भय हो गये हैं, वह दमनशील एवं बुद्धिमान् पुरुष सब जीवोंके लिये वन्दनीय होता है ॥ १५ ॥

न हृष्यति महत्यर्थे व्यसने च न शोचति।
स वै परिमितप्रज्ञः स दान्तो द्विज उच्यते ॥ १६ ॥

जो बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर हर्षसे फूल नहीं उठता और संकटमें पड़नेपर शोक नहीं करता, वह द्विज सूक्ष्म बुद्धिसे युक्त एवं जितेन्द्रिय कहलाता है ॥ १६ ॥

कर्मभिः श्रुतिसम्पन्नः सद्भिराचरितैः शुचिः।
सदैव दमसंयुक्तस्तस्य भुङ्क्ते महाफलम् ॥ १७ ॥

जो वेदशास्त्रोंका ज्ञाता और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए शुभ कर्मोंसे पवित्र है तथा जिसने सदा ही दमका पालन किया है, वह अपने शुभकर्मका महान् फल भोगता है ॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥

किसीके दोष न देखना, हृदयमें क्षमाभाव रखना, शान्ति, संतोष, मीठे वचन बोलना, सत्य, दान तथा क्रियामें परिश्रमका बोध न होना—ये सद्गुण हैं। दुरात्मा पुरुष इस मार्गसे नहीं चलते हैं ॥ १८ ॥

कामक्रोधौ च लोभश्च परस्येर्ष्याविकत्थना।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
विक्रम्य घोरे तपसि ब्राह्मणः संशितव्रतः।
कालाकाङ्क्षी चरेल्लोकान् निरपाय इवात्मवान् ॥ २० ॥

उनमें तो काम, क्रोध, लोभ, दूसरोंके प्रति डाह और अपनी झूठी प्रशंसा आदि दुर्गुण ही भरे रहते हैं; इसलिये उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करे तथा ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उत्साहके साथ घोर तपस्यामें संलग्न हो जाय एवं मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ विघ्न-बाधाओंसे रहित हो धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌में विचरे ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दमप्रशंसायां विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दमकी प्रशंसाविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १०८½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्रत, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य तथा अतिथिसेवा आदिका विवेचन तथा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवालेको परम उत्तम गतिकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता यदिदं भुञ्जते हविः।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! व्रतयुक्त द्विजगण वेदोक्त सकामकर्मोंके फलकी इच्छासे हविष्यान्नका भोजन करते हैं ! उनका यह कार्य उचित है या नहीं ?॥ १॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रतोपेता भुञ्जानाः कार्यकारिणः।
वेदोक्तेषु च भुञ्जाना व्रतलुब्धा युधिष्ठिर॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो लोग अवैदिक व्रतका आश्रय ले हविष्यान्नका भोजन करते हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं और जो वेदोक्त व्रतोंमें प्रवृत्त हो सकाम यज्ञ करते और उसमें खाते हैं, वे भी उस व्रतके फलोंके प्रति लोलुप कहे जाते हैं (अतः उन्हें भी बारंबार इस संसारमें आना पड़ता है)॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः।
एतत् तपो महाराज उताहो किं तपो भवेत्॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! संसारके साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहते हैं, क्या वास्तवमें यही तप है या दूसरा। यदि दूसरा है तो उस तपका क्या स्वरूप है ?॥३॥

भीष्म उवाच

मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत् तपो जनाः।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम्॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! साधारण जन जो महीने-पंद्रह दिन उपवास करके उसे तप मानते हैं, उनका वह कार्य धर्मके साधनभूत शरीरका शोषण करनेवाला है; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके मतमें वह तप नहीं है॥ ४॥

त्यागश्च संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी सदा भवेत्॥ ५॥

उनके मतमें तो त्याग और विनय ही उत्तम तप है। इनका पालन करनेवाला मनुष्य नित्य उपवासी और सदा ब्रह्मचारी है॥ ५॥

मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो दैवतं च सदा भवेत्।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च भारत॥ ६॥

भरतनन्दन ! त्यागी और विनयी ब्राह्मण सदा मुनि और सर्वदा देवता समझा जाता है। वह कुटुम्बके साथ रहकर भी निरन्तर धर्मपालनकी इच्छा रक्खे और निद्रा तथा आलस्यको कभी पास न आने दे॥ ६॥

मांसादी सदा च स्यात् पवित्रश्च सदा भवेत्।
अमृताशी सदा च स्याद् देवतातिथिपूजकः॥ ७॥

मांस कभी न खाय, सदा पवित्र रहे, वैश्वदेव आदि यज्ञसे बचे हुए अमृतमय अन्नका भोजन तथा देवता और अतिथियोंकी पूजा करे॥ ७॥

विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः।
श्रद्दधानः सदा च स्याद् देवताद्विजपूजकः॥ ८॥

उसे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता, अतिथिसेवाका व्रती, श्रद्धालु तथा देवता और ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये॥८॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी कथं भवेत्।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः॥ ९॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य नित्य उपवास करनेवाला कैसे हो सकता है ? वह सतत ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है ? वह किस प्रकार अन्न ग्रहण करे, जिससे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता हो सके तथा वह निरन्तर अतिथि-सेवाका व्रत भी कैसे निभा सकता है ?॥ ९॥

भीष्म उवाच

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी स भवेद् यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः॥ १०॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो प्रतिदिन प्रातःकाल-के सिवा फिर शामको ही भोजन करे और बीचमें कुछ न खाय, वह नित्य उपवास करनेवाला होता है॥ १०॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।
ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः॥ ११॥

जो द्विज केवल ऋतुस्नानके समय ही पत्नीके साथ समागम करता, सदा सत्य बोलता और नित्य ज्ञानमें स्थित रहता है, वह सदा ब्रह्मचारी ही होता है॥ ११॥

न भक्षयेत् तथा मांसममांसाशी भवत्यपि।
दाननित्यः पवित्रश्च अस्वप्नश्च दिवास्वपन्॥ १२॥

तथा जो कभी मांस न खाय, वह अमांसाहारी होता है। जो नित्य दान करनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिनमें कभी नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला समझा जाता है॥ १२॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर॥ १३॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भरण-पोषण करनेके योग्य पिता-माता आदि कुटुम्बीजनों, सेवकों तथा अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर ही खाता है, वह केवल अमृत भोजन करता है; ऐसा समझो॥ १३॥

(अदत्त्वा योऽतिथिभ्योऽन्नं न भुङ्क्ते सोऽतिथिप्रियः।
अदत्त्वान्नं दैवतेभ्यो यो न भुङ्क्ते स दैवतम्॥)

जो अतिथियोंको अन्न दिये बिना स्वयं भी नहीं खाता, वह अतिथिप्रिय है तथा जो देवताओंको अन्न दिये बिना भोजन नहीं करता, वह देवभक्त है ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नानः सततं यस्तु वै द्विजः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जो द्विज भृत्यों और अतिथियोंके भोजन न करनेपर स्वयं भी कभी अन्न ग्रहण नहीं करता, वह भोजन न करनेके उस पुण्यसे स्वर्गलोकपर विजय पा लेता है ॥ १४ ॥

देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह।
अवशिष्टं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्॥ १५ ॥

देवगण, पितृगण, माता-पिता तथा अतिथियोंसहित भृत्यवर्गसे अवशिष्ट अन्नको ही जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता) कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणा सह।
उपस्थिताश्चाप्सरोभिः परियान्ति दिवौकसः ॥ १६ ॥

ऐसे पुरुषोंको अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। ब्रह्माजी तथा अप्सराओंसहित समस्त देवता उनके घरपर आकर उनकी परिक्रमा किया करते हैं ॥ १६ ॥

देवताभिश्च ये सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और पितरोंके साथ (अर्थात् उन्हें उनका भाग अर्पण करके) भोजन करते हैं, वे इस लोकमें पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और परलोकमें भी उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अमृतप्राशनिको नाम एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अमृतभोजन-सम्बन्धी दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सनत्कुमारजीका ऋषियोंको भगवत्स्वरूपका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

केचिदाहुर्द्विजा लोके त्रिधा राजन्ननेकधा।
न प्रत्ययो न चान्यच्च दृश्यते ब्रह्म नैव तत्॥
नानाविधानि शास्त्राणि युक्ताश्चैव पृथग्विधाः।
किमधिष्ठाय तिष्ठामि तन्मे ब्रूहि पितामह॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! जगत्में कुछ विद्वान् जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं। कुछ लोग जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीन तत्त्वोंका वर्णन करते हैं और कितने ही विद्वान् अनेक तत्त्वोंका निरूपण करते रहते हैं; अतः कहीं न विश्वास किया जा सकता है, न अविश्वास। इसके सिवा वह परब्रह्म परमात्मा दिखायी नहीं देता है। नाना प्रकारके शास्त्र हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका वर्णन किया गया है; इसलिये पितामह! मैं किस सिद्धान्तका आश्रय लेकर रहूँ, यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

स्वे स्वे युक्ता महात्मानः शास्त्रेषु प्रभविष्णवः।
वर्तन्ते पण्डिता लोके को विद्वान् कश्च पण्डितः॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! शास्त्रोंके विचारमें प्रभावशाली सभी महात्मा अपने-अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें स्थित हैं। ऐसे पण्डित इस जगत्में बहुत हैं; परंतु उनमें वास्तवमें कौन तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् है और कौन शास्त्रचर्चामें पण्डित है? यह कहना कठिन है॥

सर्वेषां तत्त्वमज्ञाय यथारुचि तथा भवेत्।
अस्मिन्नर्थे पुराभूतमितिहासं पुरातनम्॥
महाविवादसंयुक्तमृषीणां भावितात्मनाम्।

सबके तत्त्वको भलीभाँति समझकर जैसी रुचि हो, उसीके अनुसार आचरण करे। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है। एक समय बहुत-से भावितात्मा मुनियोंका इसी विषयको लेकर आपसमें बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ था॥

हिमवत्पार्श्व आसीना ऋषयः संशितव्रताः॥
षण्णां तानि सहस्राणि ऋषीणां गणमाहितम्।

हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें कठोर व्रतका पालन करनेवाले छः हजार ऋषियोंकी एक बैठक हुई थी॥

तत्र केचिद् ध्रुवं विश्वं सेश्वरं तु निरीश्वरम्।
प्राकृतं कारणं नास्ति सर्वं नैवमिदं जगत्॥

उनमेंसे कुछ लोग इस जगत्को ध्रुव (सदा रहनेवाला) बताते थे, कुछ इसे ईश्वरसहित कहते थे और कुछ लोग बिना ईश्वरके ही जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगोंका कहना था कि इसका कोई प्राकृत कारण नहीं है तथा कुछ लोगोंका मत यह था कि वास्तवमें इस सम्पूर्ण जगत्की सत्ता है ही नहीं॥

अनेन चापरे विप्राः स्वभावं कर्म चापरे।
पौरुषं कर्म दैवं च यत् स्वभावादिरेव तम्॥

इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मणोंमेंसे कुछ लोग स्वभावको, कितने ही कर्मको, बहुतेरे पुरुषार्थको, दूसरे लोग दैवको और अन्य बहुत-से लोग स्वभाव-कर्म आदि सभीको जगत्का कारण बताते थे॥

नानाहेतुशतैर्युक्ता नानाशास्त्रप्रवर्तकाः।
स्वभावाद् ब्राह्मणा राजञ्जिगीषन्तः परस्परम्॥

वे नाना प्रकारके शास्त्रोंके प्रवर्तक थे तथा अनेक प्रकार-

की सैकड़ों युक्तियोंद्वारा अपने मतका पोषण करते थे। राजन्! वे सभी ब्राह्मण स्वभावसे ही इस शास्त्रार्थमें एक दूसरेको पराजित करनेकी इच्छा करते थे ॥

ततस्तु मूलमुद्भूतं वादिप्रत्यर्थिसंयुतम्।
पात्रदण्डविघातं च वल्कलाजिनवाससाम्॥
एके मन्युसमापन्नास्ततः शान्ता द्विजोत्तमाः।
वशिष्ठमब्रुवन् सर्वे त्वं नो ब्रूहि सनातनम्॥
नाहं जानामि विप्रेन्द्राः प्रत्युवाच स तान् प्रभुः।

तदनन्तर उन वादी और प्रतिवादियोंमें मूलभूत प्रश्नको लेकर बड़ा भारी वाद-विवाद खड़ा हो गया। उनमेंसे कितने ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेके पात्र, दण्ड, वल्कल, मृगचर्म और वस्त्रोंको भी नष्ट करने लगे। तत्पश्चात् शान्त होनेपर वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि वशिष्ठसे बोले—'प्रभो! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें।' यह सुनकर वशिष्ठने उत्तर दिया—'विप्रवरो! मैं उस सनातन तत्त्वके विषयमें कुछ नहीं जानता' ॥

ते सर्वे सहिता विप्रा नारदमृषिमब्रुवन्॥
त्वं नो ब्रूहि महाभाग तत्त्वविच्च भवानसि।

तब वे सब ब्राह्मण एक साथ नारदमुनिसे बोले—'महाभाग! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें; क्योंकि आप तत्त्ववेत्ता हैं' ॥

नाहं द्विजा विजानामि क्व हि गच्छाम संगताः॥
इति तानाह भगवांस्ततः प्राह च स द्विजान्।
को विद्वानिह लोकेऽस्मिन्नमोहोऽमृतमद्भुतम्॥

तब भगवान् नारदने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण! मैं उस तत्त्वको नहीं जानता। हम सब लोग मिलकर कहीं और चलें। इस जगत्‌में कौन ऐसा विद्वान् है, जिसमें मोह न हो तथा जो उस अद्भुत अमृततत्त्वके प्रतिपादनमें समर्थ हो' ॥

तच्च ते शुश्रुवुर्वाक्यं ब्राह्मणा ह्यशरीरिणः।
सनद्धाम द्विजा गत्वा पृच्छध्वं स च वक्ष्यति॥

यह बातचीत हो ही रही थी कि उन ब्राह्मणोंने किसी अदृश्य देवताकी बात सुनी—'ब्राह्मणो! सनत्कुमारके आश्रमपर जाकर पूछो। वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे' ॥

तमाह कश्चिद् द्विजवर्यसत्तमो
विभाण्डको मण्डितवेदराशिः।
कस्त्वं भवानर्थविभेदमध्ये
न दृश्यसे वाक्यमुदीरयंश्च॥

उस समय वेदराशिके ज्ञानसे सुशोभित विभाण्डक नामक किन्हीं ब्राह्मणशिरोमणिने उस अदृश्य देवतासे पूछा—'हम लोगोंमें तत्त्वके विषयमें मतभेद उत्पन्न हो गया है; ऐसी स्थितिमें आप कौन हैं, जो बात तो कर रहे हैं, किंतु दीखते नहीं हैं' ॥

अथाहेदं तं भगवान् सनन्तं
महामुने विद्धि मां पण्डितोऽसि।
ऋषिं पुराणं सततैकरूपं
यमक्षयं वेदविदो वदन्ति।

(भीष्मजी कहते हैं—राजन्!) तब भगवान् सनत्कुमारने उनसे कहा—'महामुने! तुम तो पण्डित हो। तुम मुझे सदा एकरूपसे ही विचरण करनेवाला पुरातन ऋषि सनत्कुमार समझो। मैं वही हूँ, जिसे वेदवेत्ता पुरुष अक्षय बताते हैं' ॥

पुनस्तमाहेदमसौ महात्मा
स्वरूपसंस्थं वद आह पार्थ।
त्वमेकोऽस्मदृषिपुङ्गवाद्य
न सत्स्वरूपमथवा पुनः किम्॥

कुन्तीनन्दन! तब उन महात्मा विभाण्डकने पुनः उनसे कहा—'आदिमुनिप्रवर! आप अपने स्वरूपका परिचय दीजिये। केवल आप ही हमसे विलक्षण जान पड़ते हैं, आपका स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा यदि आपका भी कोई स्वरूप है तो वह कैसा है?' ॥

अथाह गम्भीरतरानुपादं
वाक्यं महात्मा ह्यशरीर आदिः।
न ते मुने श्रोत्रमुखेऽपि चास्यं
न पादहस्तौ प्रपदात्मकेन॥

तब उस अदृश्य आदि महात्माने गम्भीर स्वरमें यह बात कही—'मुने! तुम्हारे न तो कान है, न मुख है, न हाथ है, न पैर है और न पैरोंके पंजे ही हैं' ॥

ब्रुवन् मुनीन् सत्यमथो निरीक्ष्य
स्वमाह विद्वान् मनसा निगम्य।
ऋषे कथं वाक्यमिदं ब्रवीषि
न चास्य मन्ता न च विद्यते चेत्॥
न शुश्रुवुस्ततस्तत् तु प्रतिवाक्यं द्विजोत्तमाः।
निरीक्ष्यमाणा आकाशं प्रहसन्तस्ततस्ततः॥

मुनियोंसे बातचीत करते हुए विद्वान् विभाण्डकने अपने विषयमें जब यह सब सत्य देखा तो मन-ही-मन विचार करके कहा—'ऋषे! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? यदि इसको जाननेवाला या न जाननेवाला कोई न रहे, तब क्या होगा?' परंतु इसका उत्तर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फिर नहीं सुनायी दिया। वे हँसते हुए आकाशकी ओर देखते ही रह गये ॥

आश्चर्यमिति मत्वा ते ययुर्हैमं महागिरिम्।
सनत्कुमारसंकाशं सगणा मुनिसत्तमाः॥

'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ऐसा मानकर वे सभी मुनिश्रेष्ठ दल-बलसहित सुवर्णमय महागिरि मेरुपर सनत्कुमारजीके पास गये ॥

तं पर्वतं समारुह्य ददृशुर्ध्यानमाश्रिताः।
कुमारं देवमर्हन्तं वेदपाराविवर्जितम्॥

उस पर्वतपर आरूढ़ हो ध्यानका आश्रय ले उन ऋषियोंने पूजनीय देव सनत्कुमारको देखा, जो निरन्तर वेदके पारायणमें लगे हुए थे ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे प्रकृतिस्थं महामुनिम् ।
सनत्कुमारं राजेन्द्र प्रणिपत्य द्विजाः स्थिताः ॥
आगतान् भगवानाह ज्ञाननिर्धूतकल्मषः ।
ज्ञातं मया मुनिगणा वाक्यं तदशरीरिणः ॥
कार्यमद्य यथाकामं पृच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः ।

राजेन्द्र ! एक वर्ष पूर्ण होनेपर जब महामुनि सनत्कुमार प्रकृतिस्थ हुए, तब वे ब्राह्मण उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये । ज्ञानसे जिनके सारे पाप धुल गये थे, उन भगवान् सनत्कुमारने वहाँ पधारे हुए ऋषियोंसे कहा–'मुनिगण ! अदृश्य देवताने जो बात कही है, वह मुझे ज्ञात है; अतः आज आपलोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देना है । मुनिवरो ! आप इच्छानुसार प्रश्न करें ॥

तमब्रुवन् प्राञ्जलयो महामुनिं
द्विजोत्तमं ज्ञाननिधिं सुनिर्मलम् ।
कथं वयं ज्ञाननिधिं वरेण्यं
यक्ष्यामहे विश्वरूपं कुमार ॥

(भीष्मजी कहते हैं—) तब उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर परमनिर्मल ज्ञाननिधि द्विजश्रेष्ठ महामुनि सनत्कुमारसे कहा– 'कुमार ! हमलोग ज्ञानके भण्डार और सर्वश्रेष्ठ विश्वरूप परमेश्वरका किस प्रकार यजन करें ? ॥

प्रसीद नो भगवञ्ज्ञानलेशं
मधु प्रयाताय सुखाय सन्तः ।
यत् तत्पदं विश्वरूपं महामुने
तत्र ब्रूहि किं कुत्र महानुभाव ॥

'भगवन्! महामुने! महानुभाव! आप हमपर प्रसन्न होइये और हमें ज्ञानरूपी मधुर अमृतका लेशमात्र दान दीजिये; क्योंकि संत अपने शरणागतोंको सदा सुख देते हैं । वह जो विश्वरूप पद है, वह क्या है ? यह हमें बताइये' ॥

स तैर्वियुक्तो भगवान् महात्मा
यः संगवान् सत्यवित् तच्छृणुष्व ।

उनके इस प्रकार विशेष अनुरोध करनेपर परब्रह्म परमात्मामें आसक्तचित्त सत्यवेत्ता महात्मा भगवान् सनत्कुमारने जो कुछ कहा, उसे सुनो ॥

अनेकसाहस्रकलेषु चैव
प्रसन्नधातुं च शुभाशया सत् ॥

वे अनेक सहस्र ऋषियोंके बीचमें बैठे थे । उन्होंने उनके शुभ निवेदनसे सत्स्वरूप आनन्दमय परमेश्वरका इस प्रकार प्रतिपादन प्रारम्भ किया ॥

यथाह पूर्वं युष्मासु ह्यशरीरी द्विजोत्तमाः ।
तथैव वाक्यं तत् सत्यमजानन्तश्च कीर्तितम् ॥

सनत्कुमार बोले—द्विजोत्तमो ! आपलोगोंके बीचमें पहले अदृश्य देवताने जो कुछ कहा था, उनका वह कथन उसी रूपमें सत्य है । आपलोगोंने उसे न जानते हुए ही उसके साथ वार्तालाप किया था ॥

शृणुध्वं परमं कारणमस्ति । स एव सर्वं विद्वान् बिभेति न गच्छति । कुत्राहं कस्य नाहं केन केनेत्यवर्तमानो विजानाति ।

सुनिये, वह विश्वरूप परमात्मा सबका परम कारण है । जो उस सर्वस्वरूप परमेश्वरको जानता है, वह न तो भयभीत होता है और न कहीं जाता है । मैं कहाँ हूँ ! किसका हूँ ? किसका नहीं हूँ ? किस-किस साधनसे कार्य करता हूँ ? इत्यादि विचारोंमें न पड़कर परमात्माको अनुभव करता है ॥

स युगतो व्यापी । स पृथक् स्थितः । तदपरमार्थम् ।

वह परमात्मा युग-युगमें व्यापक है । वह जड़ात्मक प्रपञ्चसे अत्यन्त भिन्न रूपमें पृथक् स्थित है । उस परमात्मासे भिन्न जो कोई भी जड वस्तु है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है ॥

यथा वायुरेकः सन् बहुधेरितः । यथावद् द्विजे मृगे व्याघ्रे च । मनुजे वेणुसंश्रयो भिद्यते वायुरथैकः । आत्मा तथासौ परमात्मासावन्य इव भाति ।

जैसे वायु एक होकर भी अनेक रूपोंमें संचरित होता है । पक्षी, मृग, व्याघ्र और मनुष्यमें तथा वेणुमें यथार्थ रूपसे स्थित होकर एक ही वायुके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं । जो आत्मा है वही परमात्मा है; परंतु वह जीवात्मासे भिन्न-सा जान पड़ता है ॥

एवमात्मा स एव गच्छति । सर्वमात्मा पश्यञ्शृणोति न जिघ्रति न भाषते ।

इस प्रकार वह आत्मा ही परमात्मा है । वही जाता है, वह आत्मा ही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, सभी गंधोंको सूँघता है और सबसे बातचीत करता है ॥

चक्रेऽस्य तं महात्मानं परितो दश रश्मयः ।
विनिष्क्रम्य यथासूर्यमनुगच्छति तं प्रभुम् ॥

सूर्यदेवके चक्रमें सब ओर दस-दस किरणें हैं, जो वहाँसे निकलकर महात्मा भगवान् सूर्यके पीछे-पीछे चलती हैं ॥

दिने दिनेऽस्तमभ्येति पुनरुद्गच्छते दिशः ।
तावुभौ न रवौ चास्तां तथा वित्त शरीरिणम् ॥

सूर्यदेव प्रतिदिन अस्त होते और पुनः पूर्वदिशामें उदित होते हैं; परंतु वे उदय और अस्त दोनों ही सूर्यमें नहीं हैं । इसी प्रकार शरीरके अन्तर्गत अन्तर्यामीरूपसे जो भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनको जानो (उनमें शरीर और अशरीरभाव सूर्यमें उदय-अस्तकी ही भाँति कल्पित हैं) ॥

पतिते वित्त विप्रेन्द्रा भक्षणे चरणे परः ।
ऊर्ध्वमेकस्तथाधस्तादेकस्तिष्ठति चापरः ॥

विप्रवरो ! आपलोगोंको गिरते-पड़ते, चलते-फिरते और खाते-पीते प्रत्येक कार्यके समय, ऊपर-नीचे आदि प्रत्येक देश और दिशामें एकमात्र भगवान् नारायण सर्वत्र विराज रहे हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिये ॥

हिरण्यसदनं ज्ञेयं समेत्य परमं पदम्।
आत्मना ह्यात्मदीपं तमात्मनि ह्यात्मपूरुषम्॥

उनका दिव्य सुवर्णमय धाम ही परमपद जानना चाहिये, उसे पाकर जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह स्वयं ही अपना प्रकाशक और स्वयं ही अपने-आपमें अन्तर्यामी आत्मा है॥

संचितं संचितं पूर्वं भ्रमरो वर्तते भ्रमन्।
योऽभिमानीव जानाति न मुह्यति न हीयते॥

भौंरा पहले रसका संचय कर लेता है, तब फूलके चारों ओर चक्कर लगाने लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष देहाभिमानी-जैसा बनकर लोकसंग्रहके लिये सब विषयोंका अनुभव करता है, वह न तो मोहमें पड़ता है और न क्षीण ही होता है॥

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं
हृदा मनीषा पश्यति रूपमस्य।
इज्यते यस्तु मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः॥

कोई भी उस परमात्माको अपने चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। अन्तःकरणमें स्थित निर्मल बुद्धिके द्वारा ही उसके रूपको ज्ञानी पुरुष देख पाता है। उस परमात्माका मन्त्रद्वारा यजन किया जाता है तथा श्रेष्ठ द्विज ही उसका यजन करता है॥

नैव धर्मी न चाधर्मी द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
ज्ञानतृप्तः सुखं शेते ह्यमृतात्मा न संशयः॥

वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है, न अधर्मी। वह द्वन्द्वोंसे अतीत और ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य है। इसमें संदेह नहीं कि वह ज्ञानसे परितृप्त होकर सुखपूर्वक सोता है॥

एवमेष जगत्सृष्टिं कुरुते मायया प्रभुः।
न जानाति विमूढात्मा कारणं चात्मनो ह्यसौ॥

तथा ये भगवान् अपनी मायाद्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं। जिसका हृदय मोहसे आच्छन्न है, वह अपने कारणभूत परमात्माको नहीं जानता॥

ध्याता द्रष्टा तथा मन्ता बोद्धा दृष्टान् स एव सः।
को विद्वान् परमात्मानमनन्तं लोकभावनम्॥
यत्तु शक्यं मया प्रोक्तं गच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः।

वही ध्यान, दर्शन, मनन और देखी हुई वस्तुओंका बोध प्राप्त करनेवाला है। सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले उस अनन्त परमात्माको कौन जान सकता है? मुनिवरो! मुझसे जहाँतक हो सकता था, मैंने इसका स्वरूप बता दिया। अब आपलोग जाइये॥

भीष्म उवाच

एवं प्रणम्य विप्रेन्द्रा ज्ञानसागरसम्भवम्।
सनत्कुमारं संदृश्य जग्मुस्ते रुचिरं पुनः॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार ज्ञानके समुद्रकी उत्पत्तिके कारणभूत मनोहर आकृतिवाले सनत्कुमारको प्रणाम करके उनका दर्शन करनेके पश्चात् वे सब ऋषि-मुनि वहाँसे चले गये॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय ज्ञानयोगपरो भव।
ज्ञानमेव महाराज सर्वदुःखविनाशनम्॥

अतः महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भी ज्ञानयोगके साधनमें तत्पर हो जाओ। ऐसा ज्ञान ही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाला है॥

इदं महादुःखसमाकराणां
नृणां परित्राणविनिर्मितं पुरा।
पुराणपुंसा ऋषिणा महात्मना
महामुनीनां प्रवरेण तद् ध्रुवम्॥

जो लोग महान् दुःखके आकर बने हुए हैं, उन मनुष्योंके परित्राणके लिये पूर्वकालमें पुराणपुरुष महात्मा महामुनिशिरोमणि नारायणऋषिने इस ज्ञानको प्रकट किया था, यह अविनाशी है॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं कर्म लोकेऽस्मिन् शुभं वा यदि वाशुभम्।
पुरुषं योजयत्येव फलयोगेन भारत॥ १॥
कर्तास्ति तस्य पुरुष उताहो नेति संशयः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन त्वत्तः श्रोतुं पितामह॥ २॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! इस लोकमें जो यह शुभ अथवा अशुभ कर्म होता है, वह पुरुषको उसके सुख-दुःखरूप फल भोगनेमें लगा ही देता है; परंतु पुरुष उस कर्मका कर्ता है या नहीं, इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः पितामह! मैं आपके द्वारा इसका तत्त्वयुक्त समाधान सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और प्रह्लादके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ ३॥

असक्तं धूतपाप्मानं कुले जातं बहुश्रुतम्।
अस्तब्धमनहङ्कारं सत्त्वस्थं समये रतम्॥ ४॥
तुल्यनिन्दास्तुतिं दान्तं शून्यागारनिवासिनम्।
चराचराणां भूतानां विदितप्रभवाप्ययम्॥ ५॥
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमप्रियेषु प्रियेषु च।
काञ्चने वाथ लोष्टे वा उभयोः समदर्शनम्॥ ६॥

आत्मनि श्रेयसि ज्ञाने धीरं निश्चितनिश्चयम् ।
परावरज्ञं भूतानां सर्वज्ञं समदर्शनम् ॥ ७ ॥
(भक्तं भागवतं नित्यं नारायणपरायणम् ।
ध्यायन्तं परमात्मानं हिरण्यकशिपोः सुतम् ॥)
शक्रः प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम् ।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

प्रह्लादजीके मनमें किसी विषयके प्रति आसक्ति नहीं थी । उनके सारे पाप धुल गये थे । वे कुलीन और बहुश्रुत विद्वान् थे । वे गर्व और अहंकारसे रहित थे । वे धर्मकी मर्यादाके पालनमें तत्पर और शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहते थे । निन्दा और स्तुतिको समान समझते, मन और इन्द्रियों-को काबूमें रखते और एकान्त स्थानमें निवास करते थे । उन्हें चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका ज्ञान था । अप्रियकी प्राप्तिमें क्रोधयुक्त तथा प्रियकी प्राप्ति होनेपर हर्षयुक्त नहीं होते थे। मिट्टीके ढेले और सुवर्ण दोनोंमें उनकी समानदृष्टि थी । वे ज्ञानस्वरूप कल्याणमय परमात्माके ध्यानमें स्थित और धीर थे । उन्हें परमात्मतत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया था । उन्हें परावरस्वरूप ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान था। वे सर्वज्ञ, सम्पूर्णभूत-प्राणियोंमें समदर्शी एवं जितेन्द्रिय थे । वे भगवान् नारायणके प्रिय भक्त और सदा उन्हींके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले थे । हिरण्यकशिपुनन्दन प्रह्लादजीको एकान्तमें बैठकर परमात्मा श्रीहरिका ध्यान करते देख इन्द्र उनकी बुद्धि और विचारको जाननेकी इच्छासे उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले—॥ ४–८ ॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैः स्यात् पुरुषो नृषु।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाँल्लक्षयामहे ॥ ९ ॥

'दैत्यराज ! संसारमें जिन गुणोंको पाकर कोई भी पुरुष सम्मानित हो सकता है, उन सबको मैं आपके भीतर स्थिरभावसे स्थित देखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ ते लक्ष्यते बुद्धिः समा बालजनैरिह ।
आत्मानं मन्यमानः सन् श्रेयः किमिह मन्यसे॥ १० ॥

'आपकी बुद्धि बालकोंके समान राग-द्वेषसे रहित दिखायी देती है । आप आत्माका अनुभव करते हैं, इसीलिये आपकी ऐसी स्थिति है; अतः मैं पूछता हूँ कि इस जगत्में आप किसको आत्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं ? ॥ १० ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनः प्रह्लाद शोचितव्ये न शोचसि ॥ ११ ॥

'आप रस्सियोंसे बाँधे गये, अपने राज्यसे भ्रष्ट हुए और शत्रुओंके वशमें पड़ गये थे । आप अपनी राज्यलक्ष्मीसे वञ्चित हो गये । प्रह्लादजी ! ऐसी शोचनीय स्थितिमें पड़ जानेपर भी आप शोक नहीं कर रहे हैं ?॥ ११ ॥

प्रज्ञालाभात् तु दैतेय उताहो धृतिमत्तया ।
प्रह्लाद सुस्थरूपोऽसि पश्यन् व्यसनमात्मनः ॥ १२ ॥

'प्रह्लादजी ! आप अपने ऊपर संकट आया देखकर भी निश्चिन्त कैसे हैं ? दैत्यराज ! आपकी यह स्थिति आत्मज्ञानके कारण है या धैर्यके कारण ?' ॥ १२ ॥

इति संचोदितस्तेन धीरो निश्चितनिश्चयः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा स्वां प्रज्ञामनुवर्णयन् ॥ १३ ॥

इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर परमात्मतत्त्वको निश्चितरूपसे जाननेवाले धीरबुद्धि प्रह्लादजीने अपने ज्ञानका वर्णन करते हुए मधुर वाणीमें कहा ॥ १३ ॥

प्रह्लाद उवाच

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानां यो न बुद्ध्यते ।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः॥१४॥

प्रह्लादजी बोले—देवराज ! जो प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण स्तम्भ (जडता या मोह) होता है । जिसे आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसको कभी मोह नहीं होता ॥ १४ ॥

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते॥ १५ ॥

सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं । उसके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता ॥१५॥

पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चिच्च कारकः ।
स्वयं न कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिह ॥ १६ ॥

पुरुषका प्रयत्न न होनेसे कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता; परंतु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत्में कर्तापनका अभिमान हो जाता है ॥ १६ ॥

यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधु वा ।
तस्य दोषवती प्रज्ञा अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥ १७ ॥

जो आत्माको शुभ या अशुभ कर्मोंका कर्ता मानता है, उसकी बुद्धि दोषसे युक्त और तत्त्वज्ञानसे रहित है—ऐसी मेरी मान्यता है ॥ १७ ॥

यदि स्यात् पुरुषः कर्ता शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयुर्न तु जातु पराभवेत्॥ १८ ॥

इन्द्र ! यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता, उसके भी सारे कार्य अवश्य सिद्ध होते । उसे अपने प्रयत्नमें कभी पराभव नहीं प्राप्त होता ॥

अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥ १९ ॥

परंतु देखा यह जाता है कि इष्टसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको अनिष्टकी भी प्राप्ति होती है और इष्टकी सिद्धिसे वे वञ्चित रह जाते हैं; अतः पुरुषार्थकी प्रधानता कहाँ रही ? ॥ १९ ॥

अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित् तत्स्वभावतः ॥ २० ॥

कितने ही प्राणियोंको बिना किसी प्रयत्नके ही हमलोग अनिष्टकी प्राप्ति और इष्टका निवारण होते देखते हैं। यह बात स्वभावसे ही होती है ॥ २० ॥

प्रतिरूपतराः केचिद् दृश्यन्ते बुद्धिमत्तराः।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम्॥ २१ ॥

कितने ही सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष भी कुरूप और अल्पबुद्धि मनुष्योंसे धन पानेकी आशा करते देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

स्वभावप्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा।
शुभाशुभास्तदा तत्र कस्य किं मानकारणम् ॥ २२ ॥

जब शुभ और अशुभ सभी प्रकारके गुण स्वभावकी ही प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, तब किसीको भी उनपर अभिमान करनेका क्या कारण है ? ॥ २२ ॥

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा ॥ २३ ॥

मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि स्वभावसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती ॥ २३ ॥

कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्।
कर्मणां विषयं कृत्स्नमहं वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २४ ॥

यहाँपर जो शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसमें लोग कर्मको ही कारण मानते हैं; अतः मैं तुमसे कर्मके विषयका ही पूर्णतया वर्णन करता हूँ, सुनो॥ २४ ॥

यथा वेदयते कश्चिदोदनं वायसो ह्यदन्।
एवं सर्वाणि कर्माणि स्वभावस्यैव लक्षणम् ॥ २५ ॥

जैसे कोई कौआ कहीं गिरे हुए भातको खाते समय काँव-काँव करके अन्य कार्कोको यह जता देता है कि यहाँ अन्न है, उसी प्रकार समस्त कर्म अपने स्वभावको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

विकारानेव यो वेद न वेद प्रकृतिं पराम्।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः।२६।

जो विकारों (कार्यों) को ही जानता है, उनकी परम प्रकृति (स्वभाव) को नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण मोह या अभिमान होता है। जो इस बातको ठीक-ठीक समझता है, उसे मोह नहीं होता॥ २६ ॥

स्वभावभाविनो भावान् सर्वानेवेह निश्चयात्।
बुद्ध्यमानस्य दर्पो वा मानो वा किं करिष्यति ॥ २७ ॥

सभी भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस बातको जो निश्चितरूपसे जान लेता है, उसका दर्प या अभिमान क्या बिगाड़ सकता है ? ॥ २७ ॥

वेद धर्मविधिं कृत्स्नं भूतानां चाप्यनित्यताम्।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ २८ ॥

इन्द्र ! मैं धर्मकी पूरी-पूरी विधि तथा सम्पूर्ण भूतोंकी अनित्यताको जानता हूँ। इसलिये, 'यह सब नाशवान् है' ऐसा समझकर किसीके लिये शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

निर्ममो निरहंकारो निराशीर्मुक्तबन्धनः।
स्वस्थो व्यपेतः पश्यामि भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ २९ ॥

ममता, अहङ्कार तथा कामनाओंसे शून्य और सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित हो आत्मनिष्ठ एवं असङ्ग रहकर मैं प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशको सदा देखता रहता हूँ॥

कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः।
नायासो विद्यते शक्र पश्यतो लोकमव्ययम् ॥ ३० ॥

इन्द्र ! मैं शुद्ध-बुद्धि तथा मन और इन्द्रियोंको अपने अधीन करके स्थित हूँ। मैं तृष्णा और कामनासे रहित हूँ और सदा अविनाशी आत्मापर ही दृष्टि रखता हूँ, इसलिये मुझे कभी कष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते ॥ ३१ ॥

प्रकृति और उसके कार्योंके प्रति मेरे मनमें न तो राग है, न द्वेष। मैं किसीको न अपना द्वेषी समझता हूँ और न आत्मीय ही मानता हूँ ॥ ३१ ॥

नोर्ध्वं नावाङ् न तिर्यक् च न क्वचिच्छक्र कामये।
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते ॥ ३२ ॥

इन्द्र ! मुझे ऊपर (स्वर्गकी), नीचे (पातालकी) तथा बीचके लोक (मर्त्यलोक) की भी कभी कामना नहीं होती। ज्ञान-विज्ञान और ज्ञेयके निमित्त भी मेरे लिये कोई कर्म आवश्यक नहीं है ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्लाद पृच्छतः ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—प्रह्लादजी ! जिस उपायसे ऐसी बुद्धि और इस तरहकी शान्ति प्राप्त होती है, उसे पूछता हूँ। आप मुझे अच्छी तरह उसे बताइये ॥ ३३ ॥

प्रह्लाद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥ ३४ ॥

प्रह्लादने कहा—इन्द्र ! सरलता, सावधानी, बुद्धिकी निर्मलता, चित्तकी स्थिरता तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे पुरुषको महत्-पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः।
स्वभावादेव तत्सर्वं यत्किंचिदनुपश्यसि ॥ ३५ ॥

इन गुणोंको अपनानेपर स्वभावसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, स्वभावसे ही शान्ति मिलती है तथा जो कुछ भी तुम देख रहे हो, सब स्वभावसे ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना शक्रो विस्मयमागमत् ।
प्रीतिमांश्च तदा राजंस्तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ३६ ॥

राजन् ! दैत्यराज प्रह्लादके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उनके वचनोंकी प्रशंसा की ॥ ३६ ॥

स तदाभ्यर्च्य दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यपतिरीश्वरः ।
असुरेन्द्रमुपामन्त्र्य जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इतना ही नहीं, त्रिलोकीनाथ देवेश्वर इन्द्रने उस समय दैत्यों और असुरोंके स्वामी प्रह्लादका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे अपने निवास-स्थान स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रप्रह्लादसंवादो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और प्रह्लादका संवादनामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४५½ श्लोक मिलाकर कुल ८२½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—इन्द्रके आक्षेपयुक्त वचनोंका बलिके द्वारा कठोर प्रत्युत्तर

युधिष्ठिर उवाच

यथा बुद्ध्या महीपालो भ्रष्टश्रीर्विचरेन्महीम् ।
कालदण्डविनिष्पिष्टस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया हो और कालके दण्डसे पिस गया हो, वह भूपाल किस बुद्धिसे इस पृथ्वीपर विचरे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य विरोचनकुमार बलि और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पितामहमुपागम्य प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ ३ ॥

एक समय इन्द्र समस्त असुरोंपर विजय पाकर पितामह ब्रह्माजीके पास गये और हाथ जोड़ प्रणाम करके उन्होंने पूछा—'भगवन् ! बलि कहाँ रहता है ?' ॥ ३ ॥

यस्य स्म ददतो वित्तं न कदाचन हीयते ।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! जिसके दान देते समय उसके धनका भण्डार कभी खाली नहीं होता था, उस राजा बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ । आप मुझे बलिका पता बताइये ॥ ४ ॥

स वायुर्वरुणश्चैव स रविः स च चन्द्रमाः ।
सोऽग्निस्तपति भूतानि जलं च स भवन्युत ॥ ५ ॥
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ।

'वह राजा बलि ही वायु बनकर चलता, वरुण बनकर वर्षा करता, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता, अग्नि बनकर समस्त प्राणियोंको ताप देता तथा जल बनकर सबकी प्यास बुझाता था, उसी राजा बलिको मैं कहीं नहीं पा रहा हूँ । ब्रह्मन् ! आप मुझे बलिका पता बताइये ॥५½॥

स एव ह्यस्तमयते स स्म विद्योतते दिशः ॥ ६ ॥
स वर्षति स्म वर्षाणि यथाकालमतन्द्रितः ।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ७ ॥

'वही यथासमय आलस्य छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाशित होता, वही अस्त होता और वही वर्षा करता था । ब्रह्मन् ! उस बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ । आप मुझे राजा बलिका पता बताइये ॥ ६-७ ॥

ब्रह्मोवाच

नैतत् ते साधु मघवन् यदेनमनुपृच्छसि ।
पृष्टस्तु नानृतं ब्रूयात् तस्माद् वक्ष्यामि ते बलिम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मघवन् ! यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है कि तुम मुझसे बलिका पता पूछ रहे हो । पूछनेपर झूठ नहीं बोलना चाहिये, इसलिये मैं तुमसे बलिका पता बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

उष्ट्रेषु यदि वा गोषु खरेष्वश्वेषु वा पुनः ।
वरिष्ठो भविता जन्तुः शून्यागारे शचीपते ॥ ९ ॥

शचीपते ! किसी शून्य घरमें ऊँट, गौ, गर्दभ अथवा अश्वजातिके पशुओंमें जो श्रेष्ठ जीव उपलब्ध हो, उसे बलि समझो ॥ ९ ॥

शक्र उवाच

यदि स्म बलिना ब्रह्मञ्शून्यागारे समेयिवान् ।
हन्यामेनं न वा हन्यां तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन् ! यदि किसी एकान्त गृहमें राजा बलिसे मेरी भेंट हो जाय तो मैं उन्हें मार डालूँ या न मारूँ, यह मुझे बतावें ॥ १० ॥

ब्रह्मोवाच

मा स्म शक्र बलिं हिंसीर्न बलिर्वधमर्हति ।
न्यायस्तु शक्र प्रष्टव्यस्त्वया वासव काम्यया ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र ! तुम बलिका वध न करना, बलि वधके योग्य नहीं है । वासव ! तुम उनसे इच्छानुसार न्यायोचित व्यवहारके विषयमें प्रश्न कर सकते हो ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तो भगवता महेन्द्रः पृथिवीं तदा ।
चचारैरावतस्कन्धमधिरुह्य श्रिया वृतः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार आदेश देनेपर देवराज इन्द्र ऐरावतकी पीठपर सवार हो राजलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ १२ ॥

ततो ददर्श स बलिं खरवेषेण संवृतम् ।
यथाऽऽख्यातं भगवता शून्यागारकृतालयम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उन्होंने भगवान् ब्रह्माके बताये अनुसार एक शून्य घरमें निवास करनेवाले राजा बलिको देखा, जिन्होंने गर्दभके वेषमें अपने आपको छिपा रखा था ॥ १३ ॥

शक्र उवाच

खरयोनिमनुप्राप्तस्तुषभक्षोऽसि दानव ।
इयं ते योनिरधमा शोचस्याहो न शोचसि ॥ १४ ॥

इन्द्र बोले—दानव ! तुम गदहेकी योनिमें पड़कर भूसी खा रहे हो । यह नीच योनि तुम्हें प्राप्त हुई है । इसके लये तुम्हें शोक होता है या नहीं ? ॥ १४ ॥

अदृष्टं बत पश्यामि द्विषतां वशमागतम् ।
श्रिया विहीनं मित्रैश्च भ्रष्टवीर्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥

आज तुम्हारी ऐसी अवस्था देख रहा हूँ, जो पहले कभी नहीं देखी गयी थी । तुम शत्रुओंके वशमें पड़ गये हो । राजलक्ष्मी तथा मित्रोंसे हीन हो गये हो तथा तुम्हारा बल-पराक्रम नष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

यत् तद् यानसहस्रैस्त्वं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ १६ ॥

पहले तुम अपने सहस्रों वाहनों और सजातीय बन्धुओंसे घिरकर सब लोगोंको ताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे ॥ १६ ॥

त्वन्मुखाश्चैव दैतेया व्यतिष्ठंस्तव शासने ।
अकृष्टपच्या च मही तवैश्वर्ये बभूव ह ॥ १७ ॥
इदं च तेऽद्य व्यसनं शोचस्याहो न शोचसि ।

सब दैत्य तुम्हारा मुँह जोहते हुए तुम्हारे ही शासनमें रहते थे । तुम्हारे राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी । परंतु आज तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट आ पहुँचा है । इसके लिये तुम शोक करते हो या नहीं ? ॥ १७½ ॥

यदाऽऽतिष्ठः समुद्रस्य पूर्वकूले विलेलिहन् ॥ १८ ॥
ज्ञातीन् विभजतो वित्तं तदाऽऽसीत् ते मनः कथम् ।

जिस समय तुम समुद्रके पूर्वतटपर विविध भोगोंका आस्वादन करते हुए निवास करते थे और अपने भाई-बन्धुओंको धन बाँटते थे, उस समय तुम्हारे मनकी अवस्था कैसी रही होगी ? ॥ १८½ ॥

यत् ते सहस्रसमिता ननृतुर्देवयोषितः ॥ १९ ॥
बहूनि वर्षपूगानि विहारे दीप्यतः श्रिया ।
सर्वाः पुष्करमालिन्यः सर्वाः काञ्चनसप्रभाः ॥ २० ॥
कथमद्य तदा चैव मनस्ते दानवेश्वर ।

तुमने बहुत वर्षोंतक राजलक्ष्मीसे सुशोभित हो विहारमें समय बिताया है । उस समय सुवर्णकी-सी कान्तिवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ जो सब-की-सब पद्ममालाओंसे अलंकृत होती थीं, तुम्हारे सामने नृत्य किया करती थीं । दानवराज ! उन दिनों तुम्हारे मनकी क्या अवस्था थी और अब कैसी है ? ॥

छत्रं तवासीत् सुमहत् सौवर्णं रत्नभूषितम् ॥ २१ ॥
ननृतुस्तत्र गन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ।

एक समय था, जब कि तुम्हारे ऊपर सोनेका बना हुआ रत्नभूषित विशाल छत्र तना रहता था और छः हजार गन्धर्व सप्त स्वरोंमें गीत गाते हुए तुम्हारे सम्मुख अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन करते थे ॥ २१½ ॥

यूपस्तवासीत् सुमहान् यजतः सर्वकाञ्चनः ॥ २२ ॥
यत्राददः सहस्राणि अयुतानां गवां दश ।
अनन्तरं सहस्रेण तदाऽऽसीद् दैत्य का मतिः ॥ २३ ॥

यज्ञ करते समय तुम्हारे यज्ञमण्डपका अत्यन्त विशाल मध्यवर्ती स्तम्भ पूरा-का-पूरा सोनेका बना हुआ होता था । जिस समय तुम निरन्तर दस-दस करोड़ गौओंका सहस्रों बार दान किया करते थे, दैत्यराज ! उस समय तुम्हारे मनमें कैसे विचार उठते रहे होंगे ? ॥ २२-२३ ॥

यदा च पृथिवीं सर्वां यजमानोऽनुपर्यगाः ।
शम्याक्षेपेण विधिना तदाऽऽसीत् किं नु ते हृदि ॥ २४ ॥

जब तुमने शम्याक्षेपकी[1] विधिसे यज्ञ करते हुए सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की थी, उस समय तुम्हारे हृदयमें कितना उत्साह रहा होगा ? ॥ २४ ॥

न ते पश्यामि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च ते मालां न पश्याम्यसुराधिप ॥ २५ ॥

असुरराज ! अब तो मैं तुम्हारे पास न तो सोनेकी झारी,

१. शम्याक्षेप कहते हैं शम्यापातको 'शम्या' एक ऐसे काठक डंडेको कहते है, जिसका निचला भाग मोटा होता है । उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं ।

न छत्र और न चँवर ही देखता हूँ तथा ब्रह्माजीकी दी हुई वह दिव्य माला भी तुम्हारे गलेमें नहीं दिखायी देती है ॥

(*भीष्म उवाच*

ततः प्रहस्य स बलिर्वासवेन समीरितम्।
निशम्य भावगम्भीरं सुरराजमथाब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रकी कही हुई वह भावगम्भीर वाणी सुनकर राजा बलि हँस पड़े और देवराजसे इस प्रकार बोले ॥

बलिरुवाच

अहो हि तव बालिश्यमिह देवगणाधिप।
अयुक्तं देवराजस्य तव कष्टमिदं वचः ॥)

बलिने कहा—देवेश्वर ! यहाँ तुमने जो मूर्खता दिखायी है, वह मेरे लिये आश्चर्यजनक है । तुम देवताओंके राजा हो । इस तरह दूसरोंको कष्ट देनेवाली बात कहना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है ॥

न त्वं पश्यसि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥ २६ ॥

इन्द्र ! इस समय तुम मेरी सोनेकी झारीको, मेरे छत्र और चँवरको तथा ब्रह्माजीकी दी हुई मेरी उस दिव्य मालाको भी नहीं देख सकोगे ॥ २६ ॥

गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥ २७ ॥

तुम मेरे जिन रत्नोंके विषयमें पूछ रहे हो, वे सब गुफामें छिपा दिये गये हैं । जब मेरे लिये अच्छा समय आयेगा, तब तुम फिर उन्हें देखोगे ॥ २७ ॥

न त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन गयी है, ऐसी अवस्थामें जो तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसाके गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यशके अनुरूप नहीं है ॥ २८ ॥

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥ २९ ॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध है तथा जो ज्ञानसे तृप्त हैं, वे क्षमाशील मनीषी सत्पुरुष दुःख पड़नेपर शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठते हैं ॥ २९ ॥

त्वं तु प्राकृतया बुद्ध्या पुरन्दर विकत्थसे।
यदाहमिव भावी स्यास्तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ३० ॥

पुरन्दर ! तुम अपनी अशुद्धि बुद्धिके कारण मेरे सामने आत्मप्रशंसा कर रहे हो । जब मेरी-जैसी स्थिति तुम्हारी भी हो जायगी, तब ऐसी बात नहीं बोल सकोगे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादो नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवाद नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बलि और इन्द्रका संवाद, बलिके द्वारा कालकी प्रबलताका प्रतिपादन करते हुए इन्द्रको फटकारना

भीष्म उवाच

पुनरेव तु तं शक्रः प्रहसन्निदमब्रवीत्।
निःश्वसन्तं यथा नागं प्रव्याहाराय भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! ऐसा कहकर सर्पके समान फुफकारते हुए बलिसे इन्द्रने पुनः अपना उत्कर्ष सूचित करनेके लिये हँसते हुए कहा ॥ १ ॥

शक्र उवाच

यत् तद् यानसहस्रेण ज्ञातिभिः परिवारितः।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुकृपणां चेमामवस्थामात्मनो बले।
ज्ञातिमित्रपरित्यक्तः शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—दैत्यराज बलि ! पहले जो तुम सहस्रों वाहनों और भाई-बन्धुओंसे घिरकर सम्पूर्ण लोकोंको संताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे और अब बन्धु-बान्धवों तथा मित्रोंसे परित्यक्त होकर जो अपनी यह अत्यन्त दीनदशा देख रहे हो, इससे तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ २-३ ॥

प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान्।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें तुमने सम्पूर्ण लोकोंको अपने अधीन कर लिया था और अनुपम प्रसन्नता प्राप्त की थी; किंतु इस समय बाह्य जगत्‌में तुम्हारा यह घोर पतन हुआ है, यह सब सोचकर तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ ४ ॥

बलिरुवाच

अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ ५ ॥

बलिने कहा—इन्द्र ! कालचक्र स्वभावसे ही परिवर्तनशील है, उसके द्वारा यहाँकी प्रत्येक वस्तुको मैं अनित्य

समझता हूँ, इसीलिये कभी शोक नहीं करता हूँ; क्योंकि यह सारा जगत् विनाशशील है ॥ ५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा भूतानां च सुराधिप ।
तेन शक्र न शोचामि नापराधादिदं मम ॥ ६ ॥

देवेश्वर ! प्राणियोंके ये सारे शरीर अन्तवान् हैं; इसलिये मैं कभी शोक नहीं करता हूँ। यह गर्दभका शरीर भी मुझे किसी अपराधसे नहीं प्राप्त हुआ है (मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है) ॥ ६ ॥

जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः ॥ ७ ॥

जीवन और शरीर दोनों जन्मके साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

न हीदृशमहं भावमवशः प्राप्य केवलम् ।
यदेवमभिजानामि का व्यथा मे विजानतः ॥ ८ ॥

मैं इस गर्दभ-शरीरको पाकर भी विवश नहीं हुआ हूँ । जब मैं इस प्रकार देहकी अनित्यता और आत्माकी असङ्गता-को जानता हूँ, तब यह जानते हुए मुझे क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ ८ ॥

भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः ।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक् ॥ ९ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! जैसे जलके प्रवाहोंका अन्तिम आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार शरीरधारियोंकी अन्तिम गति मृत्यु है । जो पुरुष इस बातको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ९ ॥

ये त्वेवं नाभिजानन्ति रजोमोहपरायणाः ।
ते कृच्छ्रं प्राप्य सीदन्ति बुद्धिर्येषां प्रणश्यति ॥ १० ॥

जो लोग रजोगुण (काम-क्रोध) और मोहके वशीभूत हो इस बातको भलीभाँति नहीं जानते हैं तथा जिनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वे सङ्कटमें पड़नेपर बहुत दुखी होते हैं ॥

बुद्धिलाभात् तु पुरुषः सर्वं नुदति किल्बिषम् ।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥ ११ ॥

जिसे सद्बुद्धि प्राप्त होती है, वह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा सारे पापोंको नष्ट कर देता है । पापहीन होनेपर उसे सत्त्वगुण-की प्राप्ति होती है और सत्त्वगुणमें स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

ततस्तु ये निवर्तन्ते जायन्ते वा पुनः पुनः ।
कृपणाः परितप्यन्ते तैरर्थैरभिचोदिताः ॥ १२ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव सत्त्वगुणसे भ्रष्ट हो जाते हैं, वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते हैं तथा रजोगुणजनित काम, क्रोध आदि दोषोंसे प्रेरित होकर सदा संतप्त होते रहते हैं ॥

अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा ।
सुखदुःखफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ॥ १३ ॥

मैं न तो अर्थसिद्धि, जीवन और सुखमय फलकी कामना करता हूँ और न अनर्थ, मृत्यु एवं दुःखमय फलसे द्वेष ही रखता हूँ ॥ १३ ॥

हतं हन्ति हतो ह्येव यो नरो हन्ति कञ्चन ।
उभौ तौ न विजानीतो यश्च हन्ति हतश्च यः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य किसीकी हत्या करता है, वह वास्तवमें स्वयं मरा हुआ होते हुए मरे हुएको ही मारता है । जो मारता है और जो मारा जाता है, वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते हैं (क्योंकि आत्मा हननक्रियाका न तो कर्म है, न कर्ता) ॥

हत्वा जित्वा च मघवन् यः कश्चित् पुरुषायते ।
अकर्ता ह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत् ॥ १५ ॥

मघवन् ! जो कोई किसीको मारकर या जीतकर अपने पौरुषपर गर्व करता है, वह वास्तवमें उस पुरुषार्थका कर्ता ही नहीं है; क्योंकि जो जगत्का कर्ता, जो परमात्मा है, वही उस कर्मका भी कर्ता है ॥ १५ ॥

को हि लोकस्य कुरुते विनाशप्रभवावुभौ ।
कृतं हि तत् कृतेनैव कर्ता तस्यापि चापरः ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्का संहार और सृष्टि—इन दोनों कार्योंको कौन करता है ? वह सब प्राणियोंके कर्मोंद्वारा ही किया गया है और उसका भी प्रयोजक कोई और (ईश्वर) ही है ॥

पृथिवी ज्योतिराकाशमापो वायुश्च पञ्चमः ।
एतद्योनीनि भूतानि तत्र का परिदेवना ॥ १७ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंके कारण हैं; अतः उनके लिये शोक और विलापकी क्या आवश्यकता है ? ॥ १७ ॥

महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः ।
दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ १८ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा ।
तस्मिन् कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ १९ ॥

कोई बड़ा भारी विद्वान् हो या अल्पविद्यासे युक्त, बलवान् हो या दुर्बल, सुन्दर हो या कुरूप, सौभाग्यशाली हो या दुर्भाग्ययुक्त, गम्भीर काल सबको अपने तेजसे ग्रहण कर लेता है; अतः उन सबके कालके अधीन हो जानेपर जगत्की क्षणभङ्गुरताको जाननेवाले मुझ बलिको क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ १८-१९ ॥

दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धव्यं लभते नरः ॥ २० ॥

जो कालके द्वारा दग्ध हो चुका है, उसीको पीछेसे आग जलाती है । जिसे कालने पहलेसे ही मार डाला है, वही

किसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है। जो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी है, वही वस्तु किसीके द्वारा नष्ट की जाती है तथा जिसका मिलना पहलेसे ही निश्चित है, उसीको मनुष्य हस्तगत करता है॥

नास्य द्वीपः कुतः पारो नावारः सम्प्रदृश्यते ।
नान्तमस्य प्रपश्यामि विधेर्दिव्यस्य चिन्तयन् ॥ २१ ॥

मैं बहुत सोचनेपर भी दिव्य विधाता कालका अन्त नहीं देख पाता हूँ। उस समुद्र-जैसे कालका कहीं द्वीप भी नहीं है, फिर पार कहाँसे प्राप्त हो सकता है? उसका आर-पार कहीं नहीं दिखायी देता है ॥ २१ ॥

यदि मे पश्यतः कालो भूतानि न विनाशयेत् ।
स्यान्मे हर्षश्च दर्पश्च क्रोधश्चैव शचीपते ॥ २२ ॥

शचीपते ! यदि काल मेरे देखते-देखते समस्त प्राणियोंका विनाश नहीं करता तो मुझे हर्ष होता, अपनी शक्तिपर गर्व होता और उस क्रूर कालपर मुझे क्रोध भी होता ॥ २२ ॥

तुषभक्षं तु मां ज्ञात्वा प्रविविक्तजने गृहे ।
बिभ्रतं गार्दभं रूपमागत्य परिगर्हसे ॥ २३ ॥

इस एकान्त गृहमें गर्दभका रूप धारण किये मुझे भूसी खाता जानकर तुम यहाँ आये हो और मेरी निन्दा करते हो॥

इच्छन्नहं विकुर्यां हि रूपाणि बहुधाऽऽत्मनः।
विभीषणानि यानीक्ष्य पलायेथास्त्वमेव मे ॥ २४ ॥

मैं चाहूँ तो अपने बहुत-से ऐसे भयानक रूप प्रकट कर सकता हूँ, जिन्हें देखकर तुम्हीं मेरे निकटसे भाग खड़े होओगे ॥

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥ २५ ॥

इन्द्र ! काल ही सबको ग्रहण करता है, काल ही सब कुछ देता है तथा कालने ही सब कुछ किया है; अतः अपने पुरुषार्थका गर्व न करो ॥ २५ ॥

पुरा सर्वं प्रव्यथितं मयि क्रुद्धे पुरंदर ।
अवैमि त्वस्य लोकस्य धर्मं शक्र सनातनम् ॥ २६ ॥

पुरन्दर ! पूर्वकालमें मेरे कुपित होनेपर सारा जगत् व्यथित हो उठता था। इस लोककी कभी वृद्धि होती है और कभी ह्रास। यह इसका सनातन स्वभाव है। शक्र ! इस बातको मैं अच्छी तरह जानता हूँ॥ २६ ॥

त्वमप्येवमवेक्षस्व माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।
प्रभवश्च प्रभावश्च नात्मसंस्थः कदाचन ॥ २७ ॥

तुम भी जगत्‌को इसी दृष्टिसे देखो। अपने मनमें विस्मित न होओ। प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं हैं ॥२७॥

कौमारमेव ते चित्तं तथैवाद्य यथा पुरा ।
समवेक्षस्व मघवन् बुद्धिं विन्दस्व नैष्ठिकीम् ॥ २८ ॥

तुम्हारा चित्त अभी बालकके समान है। वह जैसा पहले था, वैसा ही आज भी है। मघवन् ! इस बातकी ओर दृष्टिपात करो और नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त करो ॥ २८ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
आसन् सर्वे मम वशे तत् सर्वं वेत्थ वासव ॥ २९ ॥

वासव ! एक दिन देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सभी मेरे अधीन थे। वह सब कुछ तुम जानते हो ॥ २९ ॥

नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनो बलिः ।
इति मामभ्यपद्यन्त बुद्धिमात्सर्यमोहिताः ॥ ३० ॥

मेरे शत्रु अपने बुद्धिगत द्वेषसे मोहित होकर मेरी शरण ग्रहण करते हुए ऐसा कहा करते थे कि विरोचनकुमार बलि जिस दिशामें हों, उस दिशाको भी हमारा नमस्कार है ॥३०॥

नाहं तदनुशोचामि नात्मभ्रंशं शचीपते ।
एवं मे निश्चिता बुद्धिः शास्तुस्तिष्ठाम्यहं वशे ॥ ३१ ॥

शचीपते ! मुझे अपने इस पतनके लिये तनिक भी शोक नहीं होता है, मेरी बुद्धिका ऐसा निश्चय है कि मैं सदा सबके शासक ईश्वरके वशमें हूँ ॥ ३१ ॥

दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान् ।
दुःखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥३२॥

एक उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ दर्शनीय एवं प्रतापी पुरुष अपने मन्त्रियोंके साथ दुःखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है, उसका वैसा ही भवितव्य था ॥ ३२ ॥

दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते ।
सुखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ३३ ॥

इन्द्र ! एक नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मूढ़ मनुष्य जिसका जन्म दुराचारसे हुआ है, अपने मन्त्रियोंसहित सुखी जीवन बिताता देखा जाता है। उसकी भी वैसी ही होनहार समझनी चाहिये ॥ ३३ ॥

कल्याणी रूपसम्पन्ना दुर्भगा शक्र दृश्यते ।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा ॥ ३४ ॥

शक्र ! एक कल्याणमय आचार-विचार रखनेवाली सुरूपवती युवती विधवा हुई देखी जाती है और दूसरी कुलक्षणा और कुरूपा स्त्री सौभाग्यवती दिखायी देती है ॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र त्वया कृतम् ।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम् ॥ ३५ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! आज जो तुम इस तरह समृद्धिशाली हो गये हो और हमलोग जो ऐसी अवस्थामें पहुँच गये हैं, यह न तो हमारा किया हुआ है और न तुमने ही कुछ किया है ॥

न कर्म भविताप्येतत् कृतं मम शतक्रतो।
ऋद्धिर्वाप्यथवा नर्द्धिः पर्यायकृतमेव तत् ॥ ३६ ॥

शतक्रतो ! इस समय मैं इस परिस्थितिमें हूँ और जो

कर्म मेरे इस शरीरसे हो रहा है, यह सब मेरा किया हुआ नहीं है। समृद्धि और निर्धनता (प्रारब्धके अनुसार) बारी-बारीसे सबपर आती है ॥ ३६ ॥

पश्यामि त्वां विराजन्तं देवराजमवस्थितम्।
श्रीमन्तं द्युतिमन्तं च गर्जमानं ममोपरि ॥ ३७ ॥

मैं देखता हूँ, इस समय तुम देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हो। अपने कान्तिमान् और तेजस्वी स्वरूपसे विराज रहे हो और मेरे ऊपर बारंबार गर्जना करते हो ॥ ३७ ॥

एवं नैव न चेत् कालो मामाक्रम्य स्थितो भवेत्।
पातयेयमहं त्वाद्य सवज्रमपि मुष्टिना ॥ ३८ ॥

परंतु यदि इस तरह काल मुझपर आक्रमण करके मेरे सिरपर सवार न होता तो मैं आज वज्र लिये होनेपर भी तुम्हें केवल मुक्केसे मारकर धरतीपर गिरा देता ॥ ३८ ॥

न तु विक्रमकालोऽयं शान्तिकालोऽयमागतः।
कालः स्थापयते सर्वं कालः पचति वै तथा ॥ ३९ ॥

किंतु यह मेरे लिये पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है; अपितु शान्त रहनेका समय आया है। काल ही सबको विभिन्न अवस्थाओंमें स्थापित करके सबका पालन करता है और काल ही सबको पकाता (क्षीण करता) है ॥ ३९ ॥

मां चेदभ्यागतः कालो दानवेश्वरपूजितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च कमन्यं नागमिष्यति ॥ ४० ॥

एक दिन मैं दानवेश्वरोंद्वारा पूजित था और मैं भी गर्जता तथा अपना प्रताप सर्वत्र फैलाता था। जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ है, तब दूसरे किसपर वह आक्रमण नहीं करेगा ? ॥ ४० ॥

द्वादशानां तु भवतामादित्यानां महात्मनाम्।
तेजांस्येकेन सर्वेषां देवराज धृतानि मे ॥ ४१ ॥

देवराज ! तुमलोग जो बारह महात्मा आदित्य कहलाते हो, तुम सब लोगोंके तेज मैंने अकेले धारण कर रक्खे थे ॥

अहमेवोद्वहाम्यापो विसृजामि च वासव।
तपामि चैव त्रैलोक्यं विद्योताम्यहमेव च ॥ ४२ ॥

वासव ! मैं ही सूर्य बनकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीका जल ऊपर उठाता और मेघ बनकर वर्षा करता था। मैं ही त्रिलोकीको ताप देता और विद्युत् बनकर प्रकाश फैलाता था ॥ ४२ ॥

संरक्षामि विलुम्पामि ददाम्यहमथाददे।
संयच्छामि नियच्छामि लोकेषु प्रभुरीश्वरः ॥ ४३ ॥

मैं प्रजाकी रक्षा करता था और लुटेरोंको लूट भी लेता था। मैं सदा दान देता और प्रजासे कर लेता था। मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका शासक और प्रभु होकर सबको संयम-नियममें रखता था ॥ ४३ ॥

तदद्य विनिवृत्तं मे प्रभुत्वममराधिप।
कालसैन्यावगाढस्य सर्वं न प्रतिभाति मे ॥ ४४ ॥

अमरेश्वर ! आज मेरी वह प्रभुता समाप्त हो गयी। कालकी सेनासे मैं आक्रान्त हो गया हूँ; अतः मेरा वह सब ऐश्वर्य अब प्रकाशित नहीं हो रहा है ॥ ४४ ॥

नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया ॥ ४५ ॥

शचीपति इन्द्र ! न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्ता है। काल बारी-बारीसे अपनी इच्छाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका उपभोग करता है ॥ ४५ ॥

मासमासार्धवेश्मानमहोरात्राभिसंवृतम्।
ऋतुद्वारं वर्षमुखमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ४६ ॥

वेदवेत्ता पुरुष कहते हैं कि मास और पक्ष कालके आवास (शरीर) हैं। दिन और रात उसके आवरण (वस्त्र) हैं। ऋतुएँ द्वार (मन-इन्द्रिय) हैं और वर्ष मुख है। वह काल आयुस्वरूप है ॥ ४६ ॥

आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्येष्यामि च पञ्चधा ॥ ४७ ॥

कुछ विद्वान् अपनी बुद्धिके बलसे कहते हैं कि यह सब कुछ कालसंज्ञक ब्रह्म है। इसका इसी रूपमें चिन्तन करना चाहिये। इस चिन्तनके मास आदि उपर्युक्त पाँच ही विषय हैं। मैं पूर्वोक्त पाँच भेदोंसे युक्त कालको जानता हूँ ॥ ४७ ॥

गम्भीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥ ४८ ॥

वह कालरूप ब्रह्म अनन्त जलसे भरे हुए महासागरके समान गम्भीर एवं गहन है। उसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। उसे ही क्षर एवं अक्षररूप बताया गया है ॥ ४८ ॥

सत्त्वेषु लिङ्गमावेश्य निर्लिङ्गमपि तत् स्वयम्।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥

जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वे निश्चितरूपसे ऐसा मानते हैं कि वह कालरूप परब्रह्म परमात्मा स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियोंके भीतर जीवका प्रवेश कराता है ॥ ४९ ॥

भूतानां तु विपर्यासं कुरुते भगवानिति।
न ह्येतावद् भवेद् गम्यं न यस्मात् प्रभवेत् पुनः ॥ ५० ॥

भगवान् काल ही समस्त प्राणियोंकी अवस्थामें उलट-फेर कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति उनके इस माहात्म्यको समझ नहीं पाता। कालकी ही महिमासे पराजित होकर मनुष्य कुछ भी कर नहीं पाता ॥ ५० ॥

गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा क्व गमिष्यति।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥ ५१ ॥
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा।
आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥ ५२ ॥

देवराज! समस्त प्राणियोंकी गति जो काल है, उसको प्राप्त हुए बिना तुम कहाँ जाओगे? मनुष्य भागकर भी उसे छोड़ नहीं सकता—उससे दूर नहीं जा सकता और न खड़ा होकर ही उसके चंगुलसे छूट सकता है। श्रवण आदि समस्त इन्द्रियाँ मास-पक्ष आदि पाँच भेदोंसे युक्त उस कालका अनुभव नहीं कर पातीं। कुछ लोग इन कालदेवताको अग्नि कहते हैं और कुछ प्रजापति ॥ ५१-५२ ॥

ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥ ५३ ॥
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥ ५४ ॥

दूसरे लोग उस कालको ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्ण, अपराह्ण और मध्याह्न कहते हैं। उसीको विद्वान् पुरुष मुहूर्त भी कहते हैं। वह एक होकर भी अनेक प्रकारका बताया जाता है। इन्द्र! तुम उस कालको इस प्रकार जानो। यह सारा जगत् उसीके अधीन है ॥ ५३-५४ ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव।
बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते ॥ ५५ ॥

शचीपति इन्द्र! जैसे तुम हो, वैसे ही बल और पराक्रमसे सम्पन्न अनेक सहस्र इन्द्र समाप्त हो चुके हैं ॥ ५५ ॥

त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम्।
प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥ ५६ ॥

शक्र! तुम अपनेको अत्यन्त शक्तिशाली और उत्कट बलसे युक्त देवराज समझते हो; परंतु समय आनेपर महापराक्रमी काल तुम्हें भी शान्त कर देगा ॥ ५६ ॥

य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव।
मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥ ५७ ॥

इन्द्र! वह काल ही सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर लेता है; अतः तुम भी स्थिर रहो। मैं, तुम तथा हमारे पूर्वज भी कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ५७ ॥

यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥ ५८ ॥

तुम जिस इस परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर यह जानते हो कि यह मेरे पास स्थिरभावसे रहेगी, तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है; क्योंकि यह कहीं एक जगह बँधकर नहीं रहती है ॥५८॥

स्थिता हीन्द्र सहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम्।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद् विबुधाधिप ॥ ५९ ॥

इन्द्र! यह लक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ सहस्रों पुरुषोंके पास रह चुकी है। देवेश्वर! इस समय यह चञ्चला मुझे भी छोड़कर तुम्हारे पास गयी है ॥ ५९ ॥

मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥ ६० ॥

शक्र! अब फिर तुम ऐसा बर्ताव न करना। अब तुमको शान्ति धारण कर लेनी चाहिये। तुम्हें भी मेरी-जैसी स्थितिमें जानकर यह लक्ष्मी शीघ्र किसी दूसरेके पास चली जायगी ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवादविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और लक्ष्मीका संवाद, बलिको त्यागकर आयी हुई लक्ष्मीकी इन्द्रके द्वारा प्रतिष्ठा

भीष्म उवाच

शतक्रतुरथापश्यद् बलेर्दीप्तां महात्मनः।
स्वरूपिणीं शरीराद्धि निष्क्रामन्तीं तदा श्रियम्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रने देखा कि महात्मा बलिके शरीरसे परम सुन्दरी तथा कान्तिमती लक्ष्मी मूर्तिमती होकर निकल रही हैं ॥ १ ॥

तां दृष्ट्वा प्रभया दीप्तां भगवान् पाकशासनः।
विस्मयोत्फुल्लनयनो बलिं पप्रच्छ वासवः॥ २॥

पाकशासन भगवान् इन्द्र प्रभासे प्रकाशित होनेवाली उस लक्ष्मीको देखकर आश्चर्यचकित हो उठे। उनके नेत्र विस्मयसे खिल उठे। उन्होंने बलिसे पूछा॥ २॥

शक्र उवाच

बले केयमपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
त्वत्तः स्थिता सकेयूरा दीप्यमाना स्वतेजसा॥ ३॥

इन्द्र बोले—बले! यह वेणी धारण करनेवाली कान्तिमयी कौन सुन्दरी तुम्हारे शरीरसे निकल कर खड़ी है? इसकी भुजाओंमें बाजूबंद शोभा पा रहे हैं और यह अपने तेजसे उद्भासित हो रही है॥ ३॥

बलिरुवाच

न हीमामासुरीं वेद्मि न दैवीं च न मानुषीम्।
त्वमेनां पृच्छ वा मा वा यथेष्टं कुरु वासव॥ ४॥

बलिने कहा—इन्द्र! मेरी समझमें न तो यह असुरकुलकी स्त्री है, न देवजातिकी है और न मानवी ही है। तुम जानना चाहते हो तो इसीसे पूछो अथवा न पूछो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो॥ ४॥

शक्र उवाच

का त्वं बलेरपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
अजानतो ममाचक्ष्व नामधेयं शुचिस्मिते॥ ५॥
का त्वं तिष्ठसि मामेवं दीप्यमाना स्वतेजसा।
हित्वा दैत्यवरं सुभ्रु तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥ ६॥

तब **इन्द्रने पूछा**—पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी! बलिके शरीरसे निकलकर खड़ी हुई तुम कौन हो? तुम्हारी चमक-दमक अद्भुत है। तुम्हारी वेणी भी अत्यन्त सुन्दर है। मैं तुम्हें जानता नहीं हूँ; इसलिये पूछता हूँ। तुम मुझे अपना नाम बताओ। सुभ्रू! दैत्यराजको त्यागकर अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करती हुई इस प्रकार तुम कौन खड़ी हो? मेरे प्रश्नके अनुसार अपना परिचय दो॥ ५-६॥

श्रीरुवाच

न मां विरोचनो वेद नायं वैरोचनो बलिः।
आहुर्मां दुःसहेत्येवं विधित्सेति च मां विदुः॥ ७॥

लक्ष्मी बोली—मुझे न तो विरोचन जानता है और न उसका पुत्र यह बलि। लोग मुझे दुःसहा कहते हैं और कुछ लोग मुझे विधित्साके नामसे भी जानते हैं॥ ७॥

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव।
त्वं मां शक्र न जानीषे सर्वे देवा न मां विदुः॥ ८॥

वासव! जानकार मनुष्य मुझे भूति, लक्ष्मी और श्री भी कहते हैं। शक्र! तुम मुझे नहीं जानते तथा सम्पूर्ण देवताओंको भी मेरे विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ ८॥

शक्र उवाच

किमिदं त्वं मम कृते उताहो बलिनः कृते।
दुःसहे विजहास्येनं चिरसंवासिनी सती॥ ९॥

इन्द्रने पूछा—दुःसहे! तुमने चिरकालतक राजा बलिके शरीरमें निवास किया है, अब क्या तुम मेरेलिये अथवा बलिके ही हितके लिये इनका त्याग कर रही हो?॥ ९॥

श्रीरुवाच

नो धाता न विधाता मां विदधाति कथंचन।
कालस्तु शक्र पर्यागान्मैनं शक्रावमन्यथाः॥ १०॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र! धाता या विधाता किसी प्रकार भी मुझे किसी कार्यमें नियुक्त नहीं कर सकते हैं; किंतु कालका ही आदेश मुझे मानना पड़ता है। वही काल इस समय बलिका परित्याग करनेके लिये मुझे प्रेरित करनेके निमित्त उपस्थित हुआ है। इन्द्र! तुम उस कालकी अवहेलना न करना॥ १०॥

शक्र उवाच

कथं त्वया बलिस्त्यक्तः किमर्थं वा शिखण्डिनि।
कथं च मां न जह्यास्त्वं तन्मे ब्रूहि शुचिस्मिते॥ ११॥

इन्द्रने पूछा—वेणी धारण करनेवाली लक्ष्मी! तुमने बलिका कैसे और किसलिये त्याग किया है? शुचिस्मिते! तुम मेरा त्याग किस प्रकार नहीं करोगी? यह मुझे बताओ॥ ११॥

श्रीरुवाच

सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः॥ १२॥

लक्ष्मीने कहा—मैं सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम और धर्ममें निवास करती हूँ। राजा बलि इन सबसे विमुख हो चुके हैं॥ १२॥

ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः।
अभ्यसूयद् ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद् घृतम्॥ १३॥

ये पहले ब्राह्मणोंके हितैषी, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे; किंतु आगे चलकर ब्राह्मणोंके प्रति इनकी दोषदृष्टि हो गयी तथा इन्होंने जूठे हाथसे घी छू दिया था॥ १३॥

यज्ञशीलः सदा भूत्वा मामेव यजत स्वयम् ।
प्रोवाच लोकान् मूढात्मा कालेनोपनिपीडितः ॥ १४ ॥

पहले ये सदा यज्ञ किया करते थे; किंतु आगे चलकर कालसे पीड़ित एवं मोहितचित्त होकर इन्होंने सब लोगोंको स्वयं ही स्पष्टरूपसे आदेश दिया कि तुम सब लोग मेरा ही यजन करो। १४।

अपाकृता ततः शक्र त्वयि वत्स्यामि वासव ।
अप्रमत्तेन धार्योऽस्मि तपसा विक्रमेण च ॥ १५ ॥

वासव ! इस प्रकार इनके द्वारा तिरस्कृत होकर अब मैं तुममें ही निवास करूँगी। तुम्हें सदा सावधान रहकर तपस्या और पराक्रमद्वारा मुझे धारण करना चाहिये ॥ १५ ॥

शक्र उवाच

नास्ति देवमनुष्येषु सर्वभूतेषु वा पुमान् ।
यस्त्वामेको विषहितुं शक्नुयात् कमलालये ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—कमलालये ! देवताओं, मनुष्यों अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो अकेला तुम्हारा भार सहन कर सके ? ॥ १६ ॥

श्रीरुवाच

नैव देवो न गन्धर्वो नासुरो न च राक्षसः ।
यो मामेको विषहितुं शक्तः कश्चित् पुरंदर ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा—पुरंदर ! देवता, गन्धर्व, असुर और राक्षस कोई भी अकेला मेरा भार सहन नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

शक्र उवाच

तिष्ठेथा मयि नित्यं त्वं यथा तद् ब्रूहि मे शुभे ।
तत् करिष्यामि ते वाक्यमृतं तद् वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इन्द्रने कहा—शुभे ! तुम जिस प्रकार मेरे निकट सदा निवास कर सको, वह उपाय मुझे बताओ। मैं तुम्हारी आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि तुम वह उपाय मुझे अवश्य बता सकती हो ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

स्थास्यामि नित्यं देवेन्द्र यथा त्वयि निबोध तत् ।
विधिना वेददृष्टेन चतुर्धा विभजस्व माम् ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा—देवेन्द्र ! मैं जिस उपायसे तुम्हारे निकट सदा निवास कर सकूँगी, वह बताती हूँ, सुनो। तुम वेदमें बतायी हुई विधिसे मुझे चार भागोंमें विभक्त करो ॥ १९ ॥

शक्र उवाच

अहं वै त्वां निधास्यामि यथाशक्ति यथाबलम् ।
न तु मेऽतिक्रमः स्याद् वै सदा लक्ष्मि तवान्तिके ॥ २० ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मैं शारीरिक बल और मानसिक शक्तिके अनुसार तुम्हें धारण करूँगा, किंतु तुम्हारे निकट कभी मेरा परित्याग न हो ॥ २० ॥

भूमिरेव मनुष्येषु धारिणी भूतभाविनी ।
सा ते पादं तितिक्षेत समर्था हीति मे मतिः ॥ २१ ॥

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाली यह पृथ्वी ही सबको धारण करती है। वह तुम्हारे पैरका भार सह सकेगी; क्योंकि वह सामर्थ्यशालिनी है ॥ २१ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं भूमौ प्रतिष्ठितः ।
द्वितीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २२ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह जो मेरा एक पैर पृथ्वीपर रक्खा हुआ है, इसे मैंने यहीं प्रतिष्ठित कर दिया। अब तुम मेरे दूसरे पैरको भी सुप्रतिष्ठित करो ॥ २२ ॥

शक्र उवाच

आप एव मनुष्येषु द्रवन्त्यः परिचारिणीः ।
तास्ते पादं तितिक्षन्तामलमापस्तितिक्षितुम् ॥ २३ ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मनुष्यलोकमें जल ही सब ओर प्रवाहित होता है; अतः वही तुम्हारे दूसरे पैरका भार सहन करे; क्योंकि जल इस कार्यके लिये पूर्ण समर्थ है ॥ २३ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमप्सु प्रतिष्ठितः ।
तृतीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २४ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! लो, मैंने यह पैर जलमें रख दिया। अब यह जलमें ही सुप्रतिष्ठित है। अब तुम मेरे तीसरे पैरको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २४ ॥

शक्र उवाच

यस्मिन् वेदाश्च यज्ञाश्च यस्मिन् देवाः प्रतिष्ठिताः ।
तृतीयं पादमग्निस्ते सुधृतं धारयिष्यति ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! जिसमें वेद, यज्ञ और सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं। वे अग्निदेव तुम्हारे तीसरे पैरको अच्छी तरह धारण करेंगे ॥ २५ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमग्नौ प्रतिष्ठितः ।

चतुर्थं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २६ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह तीसरा पाद मैंने अग्निमें रख दिया । अब यह अग्निमें प्रतिष्ठित है । इसके बाद मेरे चौथे पादको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २६ ॥

शक्र उवाच

ये वै सन्तो मनुष्येषु ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
ते ते पादं तितिक्षन्तामलं सन्तस्तितिक्षितुम् ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले—देवि ! मनुष्योंमें जो ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे आपके चौथे पादका भार वहन करें; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष उसे सहन करनेमें पूर्ण समर्थ हैं॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं सत्सु प्रतिष्ठितः ।
एवं हि निहितां शक्र भूतेषु परिधत्स्व माम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह मैंने अपना चौथा पाद रक्खा । अब यह सत्पुरुषोंमें प्रतिष्ठित हुआ । इसी प्रकार तुम अब सम्पूर्ण भूतोंमें मुझे स्थापित करके सब ओरसे मेरी रक्षा करो ॥ २८ ॥

शक्र उवाच

भूतानामिह यो वै त्वां मया विनिहितां सतीम् ।
उपहन्यात् स मे धृष्यस्तथा शृण्वन्तु मे वचः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! मेरेद्वारा स्थापित की हुई आपको समस्त प्राणियोंमेंसे जो भी पीड़ा देगा, वह मेरेद्वारा दण्डनीय होगा । मेरी यह बात वे सब लोग सुन लें ॥ २९ ॥

ततस्त्यक्तः श्रिया राजा दैत्यानां बलिरब्रवीत् ।
यावत् पुरस्तात् प्रतपेत् तावद् वै दक्षिणां दिशम् ।
पश्चिमां तावदेवापि तथोदीचीं दिवाकरः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लक्ष्मीसे परित्यक्त होकर दैत्यराज बलिने कहा—'सूर्य जबतक पूर्वदिशामें प्रकाशित होंगे, तभीतक वे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशाको भी प्रकाशित करेंगे ॥ ३० ॥

तथा मध्यंदिने सूर्यो नास्तमेति यदा तदा ।
पुनर्देवासुरं युद्धं भावि जेतास्मि वस्तदा ॥ ३१ ॥

'जब सूर्य केवल मध्याह्नकालमें ही स्थित रहेंगे, अस्ताचलको नहीं जायँगे, उस समय पुनः देवासुरसंग्राम होगा और उसमें मैं तुम सब देवताओंको परास्त करूँगा ॥ ३१ ॥

सर्वलोकान् यदाऽऽदित्य एकस्थस्तापयिष्यति ।
तदा देवासुरे युद्धे जेताहं त्वां शतक्रतो ॥ ३२ ॥

'शतक्रतो ! जब सूर्य एक स्थान अर्थात्-ब्रह्मलोकमें ही स्थित होकर नीचेके सम्पूर्ण लोकोंको ताप देने लगेंगे, उस समय देवासुरसंग्राममें मैं तुम्हें अवश्य जीत लूँगा*' ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

ब्रह्मणोऽस्मि समादिष्टो न हन्तव्यो भवानिति ।
तेन तेऽहं बले वज्रं न विमुञ्चामि मूर्धनि ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बले ! ब्रह्माजीने मुझे आज्ञा दी है कि तुम बलिका वध न करना; इसीलिये तुम्हारे मस्तकपर मैं अपना वज्र नहीं छोड़ रहा हूँ ॥ ३३ ॥

यथेष्टं गच्छ दैत्येन्द्र स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः ॥ ३४ ॥

दैत्यराज ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ । महान् असुर ! तुम्हारा कल्याण हो । सूर्य कभी मध्याह्नमें ही स्थित होकर सम्पूर्ण लोकोंको ताप नहीं देंगे ॥ ३४ ॥

स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयम्भुवा ।
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन् प्रजाः ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने पहलेसे ही उनके लिये मर्यादा स्थापित कर दी है, अतः उसी सत्यमर्यादाके अनुसार सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको ताप प्रदान करते हुए निरन्तर परिभ्रमण करते हैं ॥ ३५ ॥

अयनं तस्य षण्मासानुत्तरं दक्षिणं तथा ।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः ॥ ३६ ॥

उनके दो मार्ग हैं—उत्तर और दक्षिण । छः महीनोंका उत्तरायण होता है और छः महीनोंका दक्षिणायन । उसीसे सम्पूर्ण जगत्में सर्दी-गर्मीकी सृष्टि करते हुए सूर्यदेव भ्रमण करते हैं ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत ।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं तु पुरंदरः ॥ ३७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर दैत्यराज बलि दक्षिणदिशाको चले गये और स्वयं इन्द्र उत्तरदिशाको ॥ ३७ ॥

---

* वैवस्वत मन्वन्तरको आठ भागोंमें विभक्त करके जब अन्तिम आठवाँ भाग व्यतीत होने लगेगा, तब पूर्व आदि चारों दिशाओंमें जो इन्द्र, यम, वरुण और कुबेरकी चार पुरियाँ हैं, वे नष्ट हो जायँगी । उस समय केवल ब्रह्मलोकमें स्थित होकर सूर्य नीचेके सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करेंगे । उसी समय सावर्णिक मन्वन्तरका आरम्भ होगा, जिसमें राजा बलि इन्द्र होंगे । (नीलकण्ठी)

इत्येतद् बलिना गीतमनहंकारसंज्ञितम् ।
वाक्यं श्रुत्वा सहस्राक्षः खमेवारुरुहे तदा ॥ ३८ ॥

राजा बलिका वह पूर्वोक्त अनहंकारसंज्ञक वाक्य सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र पुनः आकाशको ही उड़ चले ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रीसंनिधानो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीसंनिधाननामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और नमुचिका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और नमुचिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

श्रिया विहीनमासीनमक्षोभ्यमिव सागरम् ।
भवाभवज्ञं भूतानामित्युवाच पुरंदरः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, दैत्यराज नमुचि राजलक्ष्मीसे च्युत हो गये, तो भी वे प्रशान्त महासागरके समान क्षोभरहित बने रहे; क्योंकि वे कालक्रमसे होनेवाले प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवके तत्त्वको जाननेवाले थे। उस समय देवराज इन्द्र उनके पास जाकर इस प्रकार बोले--॥ २ ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनो नमुचे शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

'नमुचे ! तुम रस्सियोंसे बाँधे गये, राज्यसे भ्रष्ट हुए, शत्रुओंके वशमें पड़े और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित हो गये। तुम्हें अपनी इस दुरवस्थापर शोक होता है या नहीं ?' ॥ ३ ॥

नमुचिरुवाच

अनिवार्येण शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति शोके नास्ति सहायता ॥ ४ ॥

नमुचिने कहा--देवराज ! यदि शोकको रोका न जाय तो उसके द्वारा शरीर संतप्त हो उठता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। शोकके द्वारा विपत्तिको दूर करनेमें भी कोई सहायता नहीं मिलती ॥ ४ ॥

तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ।
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥
संतापाद् भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर ।

इन्द्र ! इसीलिये मैं शोक नहीं करता; क्योंकि यह सम्पूर्ण वैभव नाशवान् है। संताप करनेसे रूपका नाश होता है। संतापसे कान्ति फीकी पड़ जाती है और सुरेश्वर ! संतापसे आयु तथा धर्मका भी नाश होता है ॥ ५½ ॥

विनीय खलु तद् दुःखमागतं वैमनस्यजम् ॥ ६ ॥
ध्यातव्यं मनसा हृद्यं कल्याणं संविजानता ।

अतः समझदार पुरुषको वैमनस्यके कारण प्राप्त हुए दुःखका निवारण करके मन-ही-मन हृदयस्थित कल्याणमय परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ ६½ ॥

यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तदा तस्य प्रसिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥ ७ ॥

पुरुष जब-जब कल्याणस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें मन लगाता है, तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥

जगत्‌का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक गर्भमें सोये हुए जीवका भी शासन करता है, जैसे जल निम्न स्थानकी ओर ही प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्राणी उस शासकसे प्रेरित होकर उसकी अभीष्ट दिशाको ही गमन करता है। उस ईश्वरकी जैसी प्रेरणा होती है, उसीके अनुसार मैं भी कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ८ ॥

भवाभवौ त्वभिजानन् गरीयो
ज्ञानाच्छ्रेयो न तु तद् वै करोमि ।

आशासु धर्म्यासु परासु कुर्वन्
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ९ ॥

मैं प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवको जानता हूँ। श्रेष्ठ तत्त्वसे भी परिचित हूँ और ज्ञानसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि उसका सम्पादन नहीं करता हूँ। इसके विपरीत धर्मसम्मत अथवा अधर्मयुक्त आशाएँ मनमें लेकर जैसी अन्तर्यामीकी प्रेरणा होती है, उसके अनुसार कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ९ ॥

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।
भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा ॥ १० ॥

पुरुषको जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है ॥ १० ॥

यत्र यत्रैव संयुक्तो धात्रा गर्भे पुनः पुनः।
तत्र तत्रैव वसति न यत्र स्वयमिच्छति ॥ ११ ॥

विधाता जिस-जिस गर्भमें रहनेके लिये जीवको बार-बार प्रेरित करते हैं, वह जीव उसी-उसी गर्भमें वास करता है; किंतु वह स्वयं जहाँ रहनेकी इच्छा करता है, वहाँ नहीं रह पाता है ॥ ११ ॥

भावो योऽयमनुप्राप्तो भवितव्यमिदं मम।
इति यस्य सदा भावो न स मुह्येत् कदाचन ॥ १२ ॥

मुझे जो यह अवस्था प्राप्त हुई है, ऐसी ही होनहार थी। जिसके हृदयमें सदा इस तरहकी भावना होती है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

पर्यायैर्हन्यमानानामभियोक्ता न विद्यते।
दुःखमेतत् तु यद् द्वेष्टा कर्ताहमिति मन्यते ॥ १३ ॥

कालक्रमसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखोंद्वारा जो लोग आहत होते हैं, उनके उस दुःखके लिये दूसरा कोई दोषी या अपराधी नहीं है। दुःख पानेका कारण तो यह है कि पुरुष वर्तमान दुःखसे द्वेष करके अपनेको उसका कर्ता मान बैठता है ॥ १३ ॥

ऋषींश्च देवांश्च महासुरांश्च
त्रैविद्यवृद्धांश्च वने मुनींश्च।
कानापदो नोपनमन्ति लोके
परावरज्ञास्तु न सम्भ्रमन्ति ॥ १४ ॥

ऋषि, देवता, बड़े-बड़े असुर, तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े हुए विद्वान् पुरुष तथा वनवासी मुनि—इनमेंसे किनके ऊपर संसारमें आपत्तियाँ नहीं आती हैं; परंतु जिन्हें सत्-असत्‌का विवेक है, वे मोह या भ्रममें नहीं पड़ते हैं ॥ १४ ॥

न पण्डितः क्रुद्ध्यति नाभिपद्यते
न चापि संसीदति न प्रहृष्यति।
न चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ १५ ॥

विद्वान् पुरुष कभी क्रोध नहीं करता, कहीं आसक्त नहीं होता, अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर दुःखसे व्याकुल नहीं होता और किसी प्रिय वस्तुको पाकर अत्यन्त हर्षित नहीं होता है। आर्थिक कठिनाई या संकटके समय भी वह शोकग्रस्त नहीं होता है; अपितु हिमालयके समान स्वभावसे ही अविचल बना रहता है ॥ १५ ॥

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः स धुरंधरो नरः ॥ १६ ॥

जिसे उत्तम अर्थसिद्धि मोहमें नहीं डालती, इसी तरह जो कभी संकट पड़नेपर धैर्य या विवेकको खो नहीं बैठता तथा सुखका, दुःखका और दोनोंके बीचकी अवस्थाका समान भावसे सेवन करता है, वही महान् कार्यभारको सँभालनेवाला श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ॥ १६ ॥

यां यामवस्थां पुरुषोऽधिगच्छेत्
तस्यां रमेतापरितप्यमानः।
एवं प्रवृद्धं प्रणुदन्मनोजं
संतापनीयं सकलं शरीरात् ॥ १७ ॥

पुरुष जिस-जिस अवस्थाको प्राप्त हो, उसीमें उसे संतप्त न होकर आनन्द मानना चाहिये। इस प्रकार संतापजनक बढ़े हुए कामको अपने शरीर और मनसे पूर्णतः निकाल दे ॥ १७ ॥

न तत्सदः सत्परिषत् सभा च सा
प्राप्य यां न कुरुते सदा भयम्।
धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्
योऽभ्युपैति स धुरंधरः पुमान् ॥ १८ ॥

न तो ऐसी कोई सभा है, न साधु-सत्पुरुषोंकी कोई परिषद् है और न कोई ऐसा जनसमाज ही है, जिसे पाकर कोई पुरुष कभी भय न करे। जो बुद्धिमान् धर्मतत्त्वमें अवगाहन करके उसीको अपनाता है, वही धुरंधर माना गया है ॥ १८ ॥

प्राज्ञस्य कर्माणि दुरन्वयानि
न वै प्राज्ञो मुह्यति मोहकाले।
स्थानाच्च्युतश्चेन्न मुमोह गौतम-
स्तावत् कृच्छ्रामापदं प्राप्य वृद्धः॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुषके सारे कार्य साधारण लोगोंके लिये दुर्बोध होते हैं। विद्वान् पुरुष मोहके अवसरपर भी मोहित नहीं होता। जैसे वृद्ध गौतममुनि अत्यन्त कष्टजनक विपत्तिमें पड़कर और पदच्युत होकर भी मोहित नहीं हुए॥ १९ ॥

न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च।
न शीलेन न वृत्तेन तथा नैवार्थसम्पदा।
अलभ्यं लभते मर्त्यस्तत्र का परिदेवना॥ २० ॥

जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती है, उसको कोई मनुष्य मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे भी नहीं पा सकता; फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय ?॥ २० ॥

यदेवमनुजातस्य धातारो विदधुः पुरा।
तदेवानुचरिष्यामि किं मे मृत्युः करिष्यति॥ २१ ॥

पूर्वकालमें विधाताने मेरे लिये जैसा विधान रच रक्खा है, मैं जन्मके पश्चात् उसीका अनुसरण करता आया हूँ और आगे भी करूँगा; अतः मृत्यु मेरा क्या करेगी ?॥२१॥

लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति।
प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च॥ २२ ॥

मनुष्यको प्रारब्धके विधानसे जो कुछ पाना है, उसीको वह पाता है। जहाँ जाना है, वहीं वह जाता है और जो भी सुख या दुःख उसके लिये प्राप्तव्य हैं, उन्हें वह प्राप्त करता है॥ २२ ॥

एतद् विदित्वा कार्त्स्न्येन यो न मुह्यति मानवः।
कुशली सर्वदुःखेषु स वै सर्वधनो नरः॥ २३ ॥

यह पूर्णरूपसे जानकर जो मनुष्य कभी मोहित नहीं होता है, वह सब प्रकारके दुःखोंमें सकुशल रहता है और वही हर तरहसे धनवान् है॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रनमुचिसंवादो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और नमुचिका संवादनामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—काल और प्रारब्धकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः॥ १ ॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल ! जो मनुष्य बन्धु-बान्धवोंका अथवा राज्यका नाश हो जानेपर घोर संकटमें पड़ गया हो, उसके कल्याणका क्या उपाय है ? भरतश्रेष्ठ ! इस संसारमें आप ही हमारे लिये सबसे श्रेष्ठ वक्ता हैं; इसलिये यह बात आपसे ही पूछता हूँ। आप यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप॥ ३ ॥
धैर्येण युक्तस्य सतः शरीरं न विशीर्यते।

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! जिसके स्त्री-पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो और इन कारणोंसे जो कठिन विपत्तिमें फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करनेमें ही कल्याण है। जो धैर्यसे युक्त है, उस सत्पुरुषका शरीर चिन्ताके कारण नष्ट नहीं होता॥ ३½ ॥

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्॥ ४ ॥
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्।

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्यका उत्पादन करती है, शरीरके नीरोग होनेसे मनुष्य फिर धन-सम्पत्तिका उपार्जन कर लेता है॥ ४½ ॥

यश्च प्राज्ञो नरस्तात सात्त्विकीं वृत्तिमास्थितः॥ ५ ॥
तस्यैश्वर्यं च धैर्यं च व्यवसायश्च कर्मसु।

तात ! जो बुद्धिमान् मनुष्य सदा सात्त्विक वृत्तिका सहारा लिये रहता है। उसीको ऐश्वर्य और धैर्यकी प्राप्ति होती है तथा वही सम्पूर्ण कर्मोंमें उद्योगशील होता है॥ ५½ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ६ ॥
बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! इस विषयमें पुनः बलि और इन्द्रके संवाद-रूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ ६½ ॥

वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसंक्षये ॥ ७ ॥
विष्णुक्रान्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ ।
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ॥ ८ ॥
समृद्धमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि ।

पूर्वकालमें जब दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने अपने पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया और सौ यज्ञों-का अनुष्ठान करनेवाले इन्द्र जब देवताओंके राजा हो गये, तब देवताओंकी सब ओर आराधना होने लगी। चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थित रहने लगे। तीनों लोकोंका अभ्युदय होने लगा और सबको सुखी देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे ॥ ७-८½ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यामपि चर्षिभिः ॥ ९ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः ।
चतुर्दन्तं सुदान्तं च वारणेन्द्रं श्रिया वृतम् ।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ १० ॥

उन्हीं दिनोंकी बात है, देवराज इन्द्र अपने ऐरावत नामक गजराजपर, जो चार सुन्दर दाँतोंसे सुशोभित और दिव्य शोभासे सम्पन्न था, आरूढ़ हो तीनों लोकोंमें भ्रमण करनेके लिये निकले। उस समय त्रिलोकीनाथ इन्द्र रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, ऋषिगण, गन्धर्व, नाग, सिद्ध तथा विद्याधरों आदिसे घिरे हुए थे ॥ ९-१० ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ ११ ॥

घूमते-घूमते वे किसी समय समुद्रतटपर जा पहुँचे। वहाँ किसी पर्वतकी गुफामें उन्हें विरोचनकुमार बलि दिखायी दिये। उन्हें देखते ही इन्द्र हाथमें वज्र लिये उनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

तमैरावतमूर्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम् ।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ १२ ॥

देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रको ऐरावतकी पीठपर बैठे देख दैत्यराज बलिके मनमें तनिक भी शोक या व्यथा नहीं हुई ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम् ।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १३ ॥

उन्हें निर्भय और निर्विकार होकर खड़ा देख श्रेष्ठ गज-राजपर चढ़े हुए शतक्रतु इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

दैत्य न व्यथसे शौर्यादथवा वृद्धसेवया ।
तपसा भावितत्वाद् वा सर्वथैतत् सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

'दैत्य ! तुम्हें अपने शत्रुकी समृद्धि देखकर व्यथा क्यों नहीं होती ? क्या शौर्यसे अथवा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे या तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण तुम्हें शोक नहीं होता है ? साधारण पुरुषके लिये तो यह धैर्य सर्वथा परम दुष्कर है ॥ १४ ॥

शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १५ ॥

'विरोचनकुमार ! तुम शत्रुओंके वशमें पड़े और उत्तम स्थान (राज्य) से भ्रष्ट हुए—इस प्रकार शोचनीय दशामें पड़कर भी तुम किस बलका सहारा लेकर शोक नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वरत्नराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १६ ॥

'तुमने अपने जाति-भाइयोंमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था और परम उत्तम महान् भोगोंपर अधिकार जमा रक्खा था; किंतु इस समय तुम्हारे रत्न और राज्यका अपहरण हो गया है, तो भी बताओ, तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥

ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत्त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १७ ॥

'पहले तो तुम अपने बाप-दादोंके राज्यपर बैठकर तीनों लोकोंके ईश्वर बने हुए थे। अब उस राज्यको शत्रुओंने छीन लिया; यह देखकर भी तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥ १७ ॥

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १८ ॥

'तुम्हें वरुणके पाशसे बाँधा गया, वज्रसे घायल किया गया तथा तुम्हारी स्त्री और धनका भी अपहरण कर लिया गया; फिर भी बोलो, तुम्हें शोक कैसे नहीं होता है ? ॥ १८ ॥

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी। तुम अपने धन-वैभव-से हाथ धो बैठे। इतनेपर भी जो तुम्हें शोक नहीं होता है, यह दूसरोंके लिये बड़ा कठिन है। तीनों लोकोंका राज्य नष्ट हो जानेपर भी तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीवित रहनेके लिये उत्साह दिखा सकता है ? ॥ १९ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम्।
श्रुत्वा सुखमसम्भ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत्॥ २०॥

ये तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनाकर इन्द्रने बलिका तिरस्कार किया। विरोचनकुमार बलिने वे सारी बातें बड़े आनन्दसे सुन लीं और मनमें तनिक भी घबराहट न लाकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया॥ २०॥

बलिरुवाच

निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते।
वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरंदर॥ २१॥

बलिने कहा—इन्द्र! जब मैं शत्रुओं अथवा कालके द्वारा भलीभाँति बन्दी बना लिया गया हूँ, तब मेरे सामने इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? पुरंदर! मैं देखता हूँ, आज तुम वज्र उठाये मेरे सामने खड़े हो॥

अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्तां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति॥ २२॥

किंतु पहले तुममें ऐसा करनेकी शक्ति नहीं थी। अब किसी तरह शक्ति आ गयी है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा अत्यन्त क्रूर वचन कह सकता है?॥ २२॥

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदुः॥ २३॥

जो शक्तिशाली होकर भी अपने वशमें पड़े हुए अथवा हाथमें आये हुए वीर शत्रुपर दया करता है, उसे अच्छे लोग उत्तम पुरुष मानते हैं॥ २३॥

अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः।
एकः प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम्॥ २४॥

जब दो व्यक्तियोंमें विवाद एवं युद्ध छिड़ जाता है, तब किसकी जीत होगी—इसका कोई निश्चय नहीं रहता है। उनमेंसे एक पक्ष विजयी होता है और दूसरेको पराजय प्राप्त होती है॥ २४॥

मा च तेऽभूत् स्वभावोऽयमिति ते देवपुङ्गव।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात्॥ २५॥

इसलिये देवराज! तुम्हारा स्वभाव ऐसा न हो, तुम ऐसा न समझ लो कि मैंने अपने बल और पराक्रमसे ही समस्त प्राणियोंके स्वामी मुझ बलिपर विजय पायी है॥ २५॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यद्वाप्येवंगता वयम्॥ २६॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस प्रकार राज-वैभवसे सम्पन्न हो अथवा हमलोग जो इस दीन दशाको पहुँच गये हैं, यह सब न तो तुम्हारा किया हुआ है और न हमारा ही किया हुआ है॥ २६॥

अहमासं यथाद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम्।
मावमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत॥ २७॥

आज जैसे तुम हो, कभी मैं भी ऐसा ही था और इस समय जिस दशामें हमलोग पड़े हुए हैं, कभी तुम्हारी भी वैसी ही अवस्था होगी; अतः तुम यह समझकर कि मैंने बड़ा दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, मेरा अपमान न करो॥ २७॥

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणाधिगच्छति।
पर्यायेणासि शक्रत्वं प्राप्तः शक्र न कर्मणा॥ २८॥

प्रत्येक पुरुष बारी-बारीसे सुख और दुःख पाता है। इन्द्र! तुम भी अपने पराक्रमसे नहीं, कालक्रमसे ही इन्द्र-पदको प्राप्त हुए हो॥ २८॥

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम्।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वं चापि न यथा वयम्॥ २९॥

काल ही मुझे कुसमयकी ओर ले जा रहा है और यह काल ही तुम्हें अच्छे दिन दिखा रहा है; इसलिये आज जैसे तुम हो, वैसा मैं नहीं हूँ और जैसे हमलोग हैं, वैसे तुम नहीं हो॥ २९॥

न मातृपितृशुश्रूषा न च दैवतपूजनम्।
नान्यो गुणसमाचारः पुरुषस्य सुखावहः॥ ३०॥

माता-पिताकी सेवा, देवताओंकी पूजा तथा अन्य सद्गुणयुक्त सदाचार भी बुरे दिनोंमें किसी पुरुषके लिये सुखदायक नहीं होता है॥ ३०॥

न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्॥ ३१॥

कालसे पीड़ित हुए मनुष्यको न विद्या, न तप, न दान, न मित्र और न बन्धु-बान्धव ही कष्टसे बचा पाते हैं॥

नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः॥ ३२॥

मनुष्य बुद्धि-बलके सिवा और किसी उपायसे सैकड़ों आघात करके भी आनेवाले अनर्थको नहीं रोक सकते॥ ३२॥

पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते।
इदं तु दुःखं यच्छक्र कर्ताहमिति मन्यसे॥ ३३॥

कालक्रमसे जिनपर आघात होता है—स्वयं काल जिन्हें पीड़ा देता है, उनकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। शक्र! तुम जो अपनेको इस परिस्थितिका कर्ता मानते हो, यही तुम्हारे लिये दुःखकी बात है॥ ३३॥

यदि कर्ता भवेत् कर्ता न क्रियेत कदाचन।
यस्मात्तु क्रियते कर्ता तस्मात् कर्ताप्यनीश्वरः॥ ३४॥

यदि कार्य करनेवाला पुरुष स्वयं ही कर्ता होता तो

उसको उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई कभी न होता। वह दूसरेके द्वारा उत्पन्न किया जाता है; इसलिये कालके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

कालेनाहं त्वामजयं कालेनाहं जितस्त्वया।
गन्ता गतिमतां कालः कालः कलयति प्रजाः ॥ ३५ ॥

कालकी सहायता पाकर मैंने तुमपर विजय पायी थी और कालके ही सहयोगसे अब तुमने मुझे पराजित कर दिया है। काल ही जानेवाले प्राणियोंके साथ जाता या उन्हें गमनकी शक्ति प्रदान करता है और वही समस्त प्रजाका संहार करता है ॥ ३५ ॥

इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुद्ध्यसे।
केचित् त्वां बहु मन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३६ ॥

इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि साधारण है; इसलिये उसके द्वारा तुम एक-न-एक दिन अवश्य होनेवाले अपने विनाशकी बात नहीं समझ पाते। संसारमें कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो तुम्हें अपने ही पराक्रमसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुआ मानते और तुम्हें अधिक महत्त्व देते हैं ॥ ३६ ॥

कथमस्मद्विधो नाम जानँल्लोकप्रवृत्तयः।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद् वाप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३७ ॥

किंतु मेरे-जैसा पुरुष जो जगत्‌की प्रवृत्तिको जानता है— उन्नति और अवनतिका कारण काल—प्रारब्ध ही है; ऐसा समझता है, वह तुम्हें महत्त्व कैसे दे सकता है ? जो कालसे पीड़ित है, वह प्राणी शोकग्रस्त, मोहित अथवा भ्रान्त भी हो सकता है ॥ ३७ ॥

नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३८ ॥

मैं होऊँ या मेरे-जैसा दूसरा कोई पुरुष हो। जब काल (प्रारब्ध) से आक्रान्त हो जाता है, तब सदा ही उसकी बुद्धि संकटमें पड़कर फटी हुई नौकाके समान शिथिल हो जाती है ॥ ३८ ॥

अहं च त्वं च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः।
ते सर्वे शक्र यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्र ! मैं, तुम या और जो लोग भी देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, वे सब-के-सब उसी मार्गपर जायँगे, जिसपर पहलेके सैकड़ों इन्द्र जा चुके हैं ॥ ३९ ॥

त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया।
काले परिणते कालः कालयिष्यति मामिव ॥ ४० ॥

यद्यपि आज तुम इस प्रकार दुर्धर्ष हो और अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो रहे हो; किंतु जब समय परिवर्तित होगा, अर्थात् जब तुम्हारा प्रारब्ध खराब होगा, तब मेरी ही भाँति तुम्हें भी काल अपना शिकार बना लेगा—इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ४० ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४१ ॥

युग-युगमें (प्रत्येक मन्वन्तरमें) इन्द्रोंका परिवर्तन होनेके कारण अबतक देवताओंके अनेक सहस्र इन्द्र कालके गालमें चले गये हैं; अतः कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ४१ ॥

इदं तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४२ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं वापि कस्यचित्।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४३ ॥

तुम इस शरीरको पाकर समस्त प्राणियोंको जन्म देनेवाले सनातन देव भगवान् ब्रह्माजीकी भाँति अपनेको बहुत बड़ा मानते हो; किंतु तुम्हारा यह इन्द्रपद आजतक (किसीके लिये भी) अविचल या अनन्त कालतक रहनेवाला नहीं सिद्ध हुआ—इसपर कितने ही आये और चले गये। केवल तुम्हीं अपनी मूढ़बुद्धिके कारण इसे अपना मानते हो ॥ ४२-४३ ॥

अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे वाध्रुवे ध्रुवम्।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ ४४ ॥

देवेश्वर ! नाशवान् होनेके कारण जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस राज्यपर तुम विश्वास करते हो और जो अस्थिर है, उसे स्थिर मानते हो; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कालने जिसके हृदयपर अधिकार कर लिया हो, वह सदा ऐसी ही विपरीत भावनासे भावित होता है ॥ ४४ ॥

ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा ॥ ४५ ॥

तुम मोहवश जिस राजलक्ष्मीको 'यह मेरी है' ऐसा समझकर पाना चाहते हो, वह न तुम्हारी है, न हमारी है और न दूसरोंकी ही है। वह किसीके पास भी सदा स्थिर नहीं रहती ॥ ४५ ॥

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता।
कंचित् कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ॥ ४६ ॥
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति।

वासव ! यह चञ्चला राजलक्ष्मी दूसरे बहुत-से राजाओं-को लाँघकर इस समय तुम्हारे पास आयी है और कुछ कालतक तुम्हारे यहाँ ठहरकर फिर उसी तरह दूसरेके पास

चली जायगी, जैसे गौ जल पीनेके स्थानका परित्याग करके चली जाती है ॥ ४६½ ॥

राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न संख्यातुमुत्सहे ॥ ४७ ॥
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति पुरंदर ।

पुरंदर ! अबतक इसने जितने राजाओंका परित्याग किया है, उनकी गणना मैं नहीं कर सकता । तुम्हारे बाद भी बहुत-से नरेश इसके अधिकारी होंगे ॥ ४७½ ॥

सवृक्षौषधिरत्नेयं सहसत्त्ववनाकरा ॥ ४८ ॥
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ।

जिन लोगोंने पहले वृक्ष, ओषधि, रत्न, जीव-जन्तु, वन और खानोंसहित इस सारी पृथ्वीका उपभोग किया है, उन सबको मैं इस समय नहीं देखता हूँ ॥ ४८½ ॥

पृथुरैलो मयो भीमो नरकः शम्बरस्तथा ॥ ४९ ॥
अश्वग्रीवः पुलोमा च स्वर्भानुरमितध्वजः ।
प्रह्लादो नमुचिर्दक्षो विप्रचित्तिर्विरोचनः ॥ ५० ॥
ह्रीनिषेवः सुहोत्रश्च भूरिहा पुष्पवान् वृषः ।
सत्येषुर्ऋषभो बाहुः कपिलाश्वो विरूपकः ॥ ५१ ॥
बाणः कार्तस्वरो वह्निर्विश्वदंष्ट्रोऽथ नैर्ऋतिः ।
संकोचोऽथ वरीताक्षो वराहाश्वो रुचिप्रभः ॥ ५२ ॥
विश्वजित् प्रतिरूपश्च वृषाण्डो विष्करो मधुः ।
हिरण्यकशिपुश्चैव कैटभश्चैव दानवः ॥ ५३ ॥
दैतेया दानवाश्चैव सर्वे ते नैर्ऋतैः सह ।
एते चान्ये च बहवः पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ५४ ॥
दैत्येन्द्रा दानवेन्द्राश्च यांश्चान्याननुशुश्रुम ।
बहवः पूर्वदैत्येन्द्राः संत्यज्य पृथिवीं गताः ॥ ५५ ॥
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ।

पृथु, इलानन्दन पुरूरवा, मय, भीम, नरकासुर, शम्बरासुर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रह्लाद, नमुचि, दक्ष, विप्रचित्ति, विरोचन, ह्रीनिषेव, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवान्, वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाश्व, विरूपक, बाण, कार्तस्वर, वह्नि, विश्वदंष्ट्र, नैर्ऋति, संकोच, वरीताक्ष, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, वृषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु और कैटभ—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य, दानव एवं राक्षस सभी इस पृथ्वीके स्वामी हो चुके हैं । पहलेके और बहुत पहलेके ये पूर्वोक्त तथा अन्य अनेक दैत्यराज, दानवराज एवं दूसरे-दूसरे नरेश जिनका नाम हमलोग सुनते आ रहे हैं, कालसे पीड़ित हो सभी इस पृथ्वीको छोड़कर चले गये; क्योंकि काल ही सबसे बड़ा बलवान् है ॥ ४९—५५½ ॥

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ॥ ५६ ॥
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ।
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ॥ ५७ ॥

केवल तुमने ही सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया हो, यह बात नहीं है । उन सभी राजाओंने सौ-सौ यज्ञ किये थे । सभी धर्मपरायण थे और सभी निरन्तर यज्ञमें संलग्न रहते थे । वे सभी आकाशमें विचरनेकी शक्ति रखते थे और युद्धमें शत्रुके सामने डटकर लोहा लेनेवाले थे ॥ ५६-५७ ॥

सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ।
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ॥ ५८ ॥

वे सब-के-सब सुदृढ़ शरीरसे सुशोभित होते थे । उन सबकी भुजाएँ परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी और मजबूत थीं । वे सभी सैकड़ों माया जानते और इच्छानुसार रूप धारण करते थे ॥ ५८ ॥

सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ।
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ॥ ५९ ॥

वे सब लोग समराङ्गणमें पहुँचकर कभी पराजित होते नहीं सुने गये थे । सभी सत्यव्रतका पालन करनेमें तत्पर और इच्छानुसार विहार करनेवाले थे ॥ ५९ ॥

सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ।
सर्वे सम्मतमैश्वर्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥

सभी वेदोक्त व्रतको धारण करनेवाले और बहुश्रुत विद्वान् थे । सभी लोकेश्वर थे और सबने मनोवाञ्छित ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ६० ॥

न चैश्वर्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ।
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ॥ ६१ ॥

उन महामना नरेशोंको पहले कभी भी ऐश्वर्यका मद नहीं हुआ था । वे सब-के-सब यथायोग्य दान करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥ ६१ ॥

सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत् प्रतिपेदिरे ।
सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ॥ ६२ ॥

वे सभी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ यथायोग्य बर्ताव करते थे । उन सबका जन्म दक्ष-कन्याओंके गर्भसे हुआ था और वे सभी महाबलशाली वीर प्रजापति कश्यपकी संतान थे ॥

ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ।
त्वं चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्ष्यसे पुनः ॥ ६३ ॥
न शक्ष्यसि तदा शक्र नियन्तुं शोकमात्मनः ।

इन्द्र ! वे सभी नरेश अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले और प्रतापी थे, किंतु कालने उन सबका संहार कर दिया ।

तुम जब इस पृथ्वीका उपभोग करके पुनः इसे छोड़ोगे, तब अपने शोकको रोकनेमें समर्थ न हो सकोगे ॥ ६३½ ॥

मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ॥ ६४ ॥
एवं स्वराज्यनाशे त्वं शोकं सम्प्रसहिष्यसि ।

तुम काम-भोगकी इच्छाको छोड़ो और राजलक्ष्मीके इस मदको त्याग दो । इस दशामें यदि तुम्हारे राज्यका नाश हो जाय तो तुम उस शोकको सह सकोगे ॥ ६४½ ॥

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ॥ ६५ ॥
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ।

तुम शोकका अवसर आनेपर शोक न करो और हर्षके समय हर्षित मत होओ । भूत और भविष्यकी चिन्ता छोड़कर वर्तमान कालमें जो वस्तु उपलब्ध हो, उसीसे जीवन-निर्वाह करो ॥ ६५½ ॥

मां चेदभ्यागतः कालः सदा युक्तमतन्द्रितः ॥ ६६ ॥
क्षमस्व नचिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ।

इन्द्र ! मैं सदा सावधान रहता था, तथापि कभी आलस्य न करनेवाले कालका यदि मुझपर आक्रमण हो गया तो तुमपर भी शीघ्र ही उस कालका आक्रमण होगा । इस कटु सत्यके लिये मुझे क्षमा करना ॥ ६६½ ॥

त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ॥ ६७ ॥
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ।

देवेन्द्र ! इस समय भयभीत करते हुए-से तुम यहाँ अपने वाग्बाणोंसे मुझे छेदे डालते हो । मैं अपनेको संयममें रखकर शान्त बैठा हूँ; इसीलिये अवश्य तुम अपनेको बहुत बड़ा समझने लगे हो ॥ ६७½ ॥

कालः प्रथममायान्मां पश्चात् त्वामनुधावति ॥ ६८ ॥
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वं कालहते मयि ।

देवराज ! जिस कालका पहले मुझपर धावा हुआ है, वही पीछे तुमपर भी चढ़ाई करेगा । मैं पहले कालसे पीड़ित हो गया हूँ; इसीलिये तुम सामने खड़े होकर गरज रहे हो ॥

को हि स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ६९ ॥
कालस्तु बलवान् प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ।

अन्यथा संसारमें कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें कुपित होनेपर मेरे सामने ठहर सके । इन्द्र ! बलवान् काल (अदृष्ट) ने मुझपर आक्रमण किया है, इसीसे तुम मेरे सम्मुख खड़े हुए हो ॥ ६९½॥

यत् तद् वर्षसहस्रान्तं पूर्णं भवितुमर्हति ॥ ७० ॥
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ।
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात् त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि॥ ७१॥

देवताओंका वह सहस्रों वर्षका समय अब पूरा होना ही चाहता है, जबतक कि तुम्हें इन्द्रके पदपर रहना है । कालके ही प्रभावसे मुझ महाबली वीरके अब सारे अङ्ग उतने स्वस्थ नहीं रह गये हैं । मैं इन्द्रपदसे गिरा दिया गया और तुम स्वर्गमें इन्द्र बना दिये गये ॥ ७०-७१ ॥

सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ।
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः॥ ७२॥

कालके उलट-फेरसे ही इस विचित्र जीवलोकमें तुम सबके आराध्य बन गये हो । भला बताओ तो तुम कौन-सा शुभ कर्म करके आज इन्द्र हो गये और हम कौन-सा अशुभ कर्म करके इन्द्रपदसे नीचे गिर गये ॥ ७२ ॥

कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ७३ ॥
विद्वान् प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ।

काल (प्रारब्ध) ही सबकी उत्पत्ति और संहारका कर्ता है । दूसरी सारी वस्तुएँ इसमें कारण नहीं मानी जा सकतीं; अतः विद्वान् पुरुष नाश-विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख, अभ्युदय या पराभव पाकर न तो अत्यन्त हर्ष माने और न अधिक व्यथित ही हो ॥ ७३½ ॥

त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान् वेदाहं त्वां च वासव॥ ७४ ॥
किं कत्थसे मां किं च त्वं कालेन निरपत्रपः ।

इन्द्र ! हम कैसे हैं, यह तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो । वासव ! मैं तुम्हें भली-भाँति जानता हूँ; फिर भी तुम लज्जाको तिलाञ्जलि दे क्यों मेरे सामने व्यर्थ आत्मश्लाघा कर रहे हो । वास्तवमें काल ही यह सब कुछ करा रहा है ॥ ७४½ ॥

त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत् तदा पौरुषं मम ॥ ७५ ॥
समरेषु च विक्रान्तं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।

पहले मैं जो पुरुषार्थ प्रकट कर चुका हूँ, उसको सबसे अधिक तुम्हीं जानते हो । कई बारके युद्धोंमें तुम मेरा पराक्रम देख चुके हो । इस समय एक ही दृष्टान्त देना काफी होगा॥

आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह॥ ७६ ॥
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते ।
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ॥ ७७ ॥

शचीवल्लभ इन्द्र ! पहले जब देवासुरसंग्राम हुआ था, उस समयकी बात तुम्हें अच्छी तरह याद होगी । मैंने अकेले ही समस्त आदित्यों, रुद्रों, साध्यों, वसुओं तथा मरुद्गणोंको परास्त किया था ॥ ७६-७७ ॥

समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया ।
पर्वताश्चासकृत् क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ॥ ७८ ॥

सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्ध्नि ते मया ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७९ ॥

मेरे वेगसे सब देवता युद्धका मैदान छोड़कर एक साथ ही भाग खड़े हुए थे। वन एवं वनवासियोंसहित कितने ही पर्वत, मैंने बारंबार तुमलोगोंपर चलाये थे। तुम्हारे सिरपर भी सुदृढ़ पाषाण और शिखरोंसहित बहुत-से पर्वत मैंने फोड़ डाले थे; किंतु इस समय मैं क्या कर सकता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना बहुत कठिन है ॥७८-७९॥

न हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना ।
न तु विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः ॥ ८० ॥

तुम्हारे हाथमें वज्र रहनेपर भी मैं केवल मुक्केसे मारकर तुम्हें यमलोक न पहुँचा सकूँ, ऐसी बात नहीं है। किंतु मेरे लिये यह पराक्रम दिखानेका नहीं, क्षमा करनेका समय आया है ॥ ८० ॥

तेन त्वां मर्षये शक्र दुर्मर्षणतरस्त्वया ।
तं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना ॥ ८१ ॥
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे ।

इन्द्र! यही कारण है कि मैं तुम्हारे सब अपराध चुपचाप सहे लेता हूँ। अब भी मेरा वेग तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःसह है। किंतु जब समयने पलटा खाया है, कालरूपी अग्निने मुझे सब ओरसे घेर लिया है और मैं कालपाशसे निश्चितरूपसे बँध गया हूँ, तब तुम मेरे सामने खड़े होकर अपनी झूठी बड़ाई किये जा रहे हो ॥ ८१½ ॥

अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ॥ ८२ ॥
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा ।

जैसे मनुष्य रस्सीसे किसी पशुको बाँध लेता है, उसी प्रकार यह भयंकर कालपुरुष मुझे अपने पाशमें बाँधे खड़ा है ॥ ८२½ ॥

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ ॥ ८३ ॥
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ।

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, अभ्युदय-पराभव, वध, कैद और कैदसे छुटकारा—यह सब काल (प्रारब्ध) से ही प्राप्त होते हैं ॥ ८३½ ॥

नाहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु सदा प्रभुः ॥ ८४ ॥
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम् ।

न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो। जो वास्तवमें सदा कर्ता है, वह **सर्वस**मर्थ काल वृक्षपर लगे हुए फलके समान मुझे पका रहा है ॥ ८४½ ॥

यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन युज्यते ॥ ८५ ॥
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन युज्यते ।

पुरुष कालका सहयोग पाकर जिन कर्मोंको करनेसे सुखी होता है, कालका सहयोग न मिलनेसे पुनः उन्हीं कर्मोंको करके वह दुःखका भागी होता है ॥ ८५½ ॥

न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति ॥ ८६ ॥
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता ।

इन्द्र! जो कालके प्रभावको जानता है, वह उससे आक्रान्त होकर भी शोक नहीं करता; क्योंकि विपत्ति दूर करनेमें शोकसे कोई सहायता नहीं मिलती, इसलिये मैं शोक नहीं करता हूँ ॥ ८६½ ॥

यदा हि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ८७ ॥
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यतोऽहं नाद्य शोचिमि।

जब शोक करनेवाले पुरुषका शोक उसके संकटको दूर नहीं हटा पाता है, उलटे शोकग्रस्त मनुष्यकी शक्ति क्षीण हो जाती है, तब शोक क्यों किया जाय? यही सोचकर मैं शोक नहीं करता हूँ ॥ ८७½ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान् पाकशासनः ॥ ८८ ॥
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः ।

बलिके ऐसा कहनेपर सहस्रनेत्रधारी पाकशासन शतक्रतु भगवान् इन्द्रने अपने क्रोधको रोककर इस प्रकार कहा—॥

सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान् ॥ ८९ ॥
कस्येह न व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः ।
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ ९० ॥

'दैत्यराज! मेरे हाथको वज्र एवं वरुणपाशसहित ऊपर उठा देखकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्युका भी दिल दहल जाता है; फिर दूसरा कौन है जिसकी बुद्धि व्यथित न हो। तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है; इसलिये तनिक भी विचलित नहीं होती है ॥ ८९-९० ॥

ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्यात् सत्यपराक्रम ।
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत् ॥ ९१ ॥
कर्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं जगत् ।

'सत्यपराक्रमी वीर! तुम निश्चय ही धैर्यके कारण व्यथित नहीं होते हो। इस सम्पूर्ण जगत्को विनाशकी ओर जाते देखकर कौन शरीरधारी पुरुष धन-वैभव, विषय-भोग अथवा अपने शरीरपर भी विश्वास कर सकता है? ॥९१½॥

अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम् ॥ ९२ ॥
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे ।

'मैं भी इसी प्रकार सर्वव्यापी, अविनाशी,

घोर एवं गुह्य कालाग्निमें पड़े हुए इस जगत्‌को क्षण-भङ्गुर ही जानता हूँ ॥ ९२½ ॥

न चात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ॥ ९३ ॥
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम् ।

'जो कालकी पकड़में आ चुका है, ऐसे किसी भी पुरुषके लिये उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान् भूत भी कालाग्निमें पकाये जा रहे हैं, उनका भी उससे छुटकारा होनेवाला नहीं है ॥ ९३½ ॥

अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ॥ ९४ ॥
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ।

'कालपर किसीका भी वश नहीं चलता। वह सदा सावधान रहकर सम्पूर्ण भूतोंको पकाता रहता है। वह कभी लौटनेवाला नहीं है। ऐसे कालके अधीन हुआ प्राणी उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ९४½ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ॥ ९५ ॥
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित् ।

'देहधारी जीव प्रमादमें पड़कर सोते हैं; किंतु काल सदा सावधान रहकर जागता रहता है। किसीके प्रयत्नसे भी कालको पीछे हटाया जा सका हो, ऐसा पहले कभी किसीने देखा नहीं है॥ ९५½ ॥

पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ॥ ९६ ॥
कालो न परिहार्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ।

'काल पुरातन (अनादि), सनातन, धर्मस्वरूप और समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है। कालका किसीके द्वारा भी परिहार नहीं हो सकता और न उसका कोई उल्लङ्घन ही कर सकता है ॥ ९६½ ॥

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठा लवान् कलाः॥९७॥
सम्पीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ।

जैसे ऋण देनेवाला पुरुष व्याजका हिसाब जोड़कर ऋण लेनेवालोंको तंग करता है, उसी प्रकार वह काल दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव और कला तकका हिसाब लगाकर प्राणियोंको पीड़ा देता रहता है ॥ ९७½ ॥

इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्तास्मीति वादिनम् ॥ ९८ ॥
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ।

'जैसे नदीका वेग सहसा बढ़कर किनारेके वृक्षका हरण कर लेता है। उसी प्रकार 'यह आज करूँगा और वह कल पूरा करूँगा।' ऐसा कहनेवाले पुरुषका काल सहसा आकर हरण कर लेता है ॥ ९८½ ॥

इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ॥ ९९ ॥
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ।

''अरे! अभी-अभी तो मैंने उसे देखा था। वह मर कैसे गया ?' इस प्रकार कालसे अपहृत होनेवालोंके लिये अन्य मनुष्योंका प्रलाप सुना जाता है ॥ ९९½ ॥

नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥१००॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।

'धन और भोग नष्ट हो जाते हैं। स्थान और ऐश्वर्य छिन जाता है तथा इस जीव-जगत्‌के जीवनको भी काल आकर हर ले जाता है ॥ १००½ ॥

उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥१०१॥
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।

'ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना तथा जन्मका अन्त है मृत्यु। जो कुछ देखनेमें आता है, वह सब नाशवान् है, अस्थिर है तो भी इसका निरन्तर स्मरण रहना कठिन हो जाता है ॥ १०१½ ॥

सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥१०२॥
अहमासं पुरा चेति मनसापि न बुद्ध्यते ।

'अवश्य ही तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली तथा स्थिर है, इसीलिये उसे व्यथा नहीं होती। मैं पहले अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था, इस बातको तुम मनसे भी स्मरण नहीं करते ॥ १०२½ ॥

कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा॥१०३॥
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुद्ध्यते ।

'अत्यन्त बलवान् काल इस सम्पूर्ण जगत्‌पर आक्रमण करके सबको अपनी आँचमें पका रहा है। वह इस बातको नहीं देखता है कि कौन छोटा है और कौन बड़ा ? सब लोग कालाग्निमें झोंके जा रहे हैं, फिर भी किसीको चेत नहीं होता ॥ १०३½ ॥

ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ॥१०४॥
स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति ।

'लोग ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, स्पृहा, मोह और अभिमानमें फँसकर अपना विवेक खो बैठे हैं ॥ १०४½ ॥

भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः॥१०५॥
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ।
कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥१०६॥
विवेचने कृतात्मासि स्पृहणीयो विजानताम् ।
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ॥१०७॥

'परंतु तुम विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी हो। समस्त पदार्थोंके तत्त्वको जानते हो। कालकी लीला और उसके तत्त्वको समझते हो। सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो। तत्त्वके विवेचनमें कुशल, मनको वशमें रखनेवाले तथा ज्ञानी पुरुषोंके आदर्श हो। इसीलिये हाथपर रक्खे हुए आँवलेके

समान कालको स्पष्टरूपसे देख रहे हो। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुमने अपनी बुद्धिसे सम्पूर्ण लोकोंका तत्त्व जान लिया है ॥ १०५-१०७ ॥

विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिषज्जते।
रजश्च हि तमश्च त्वां स्पृशते न जितेन्द्रियम् ॥१०८॥

'तुम सर्वत्र विचरते हुए भी सबसे मुक्त हो। कहीं भी तुम्हारी आसक्ति नहीं है। तुमने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है; इसलिये रजोगुण और तमोगुण तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १०८ ॥

निष्प्रीतिं नष्टसंतापमात्मानं त्वमुपाससे।
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ॥१०९॥

'जो हर्षसे रहित, संतापसे शून्य, सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद्, वैररहित और शान्तचित्त है, उस आत्माकी तुम उपासना करते हो ॥ १०९ ॥

दृष्ट्वा त्वां मम संजाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः।
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ॥११०॥

'तुम्हें देखकर मेरे मनमें दयाका संचार हो आया है। मैं ऐसे ज्ञानी पुरुषको बन्धनमें रखकर उसका वध करना नहीं चाहता ॥ ११० ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि।
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ॥१११॥

'किसीके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करना सबसे बड़ा धर्म है। तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण अनुग्रह है। कुछ समय बीतनेपर तुम्हें बाँधनेवाले ये वरुणदेवताके पाश अपने आप ही तुम्हें छोड़ देंगे ॥ १११ ॥

प्रजानामपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर।
यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ॥११२॥
पुत्रश्च पितरं मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु।
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ॥११३॥
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः।
वियोनिषु विमोक्ष्यन्ति बीजानि पुरुषा यदा ॥११४॥
संकरं कांस्यभाण्डैश्च बलिं चैव कुपात्रकैः।
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ॥११५॥
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते।

'महान् असुर! जब प्रजाजनोंका न्यायके विपरीत आचरण होने लगेगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा। जब पतोहू बूढ़ी साससे अपनी सेवा-टहल कराने लगेगी और पुत्र भी मोहवश पिताको विभिन्न प्रकारके कार्य करनेके लिये आज्ञा प्रदान करने लगेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे पैर धुलाने लगेंगे तथा वे निर्भय होकर ब्राह्मण जातिकी स्त्रीको अपनी भार्या बनाने लगेंगे, जब पुरुष निर्भय होकर मानवेतर योनियोंमें अपना वीर्य स्थापित करने लगेंगे, जब काँसेके पात्रमें ऊँच जाति और नीच जातिके लोग एक साथ भोजन करने लगेंगे एवं अपवित्र पात्रोंद्वारा देवपूजाके लिये उपहार अर्पित किया जायगा, सारा वर्णधर्म जब मार्यादाशून्य हो जायगा, उस समय क्रमशः तुम्हारा एक-एक पाश (बन्धन) खुलता जायगा ॥ ११२-११५½ ॥

अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय।
सुखी भव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११६॥

'हमारी ओरसे तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम समयकी प्रतीक्षा करो और निर्बाध, स्वस्थचित्त एवं रोगरहित हो सुखसे रहो' ॥ ११६ ॥

तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः
प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः।
विजित्य सर्वानसुरान् सुराधिपो
ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११७॥

बलिसे ऐसा कहकर गजराजकी सवारीपर चलनेवाले भगवान् शतक्रतु इन्द्र अपने स्थानको लौट गये। वे समस्त असुरोंपर विजय पाकर देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए थे और एकच्छत्रसम्राट् होकर हर्षसे प्रफुल्लित हो उठे थे ॥ ११७ ॥

महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा च तं
वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम्।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे
तथामृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११८॥

उस समय महर्षियोंने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी इन्द्रका भलीभाँति स्तवन किया। अग्निदेव यज्ञमण्डपमें देवताओंके लिये हविष्य वहन करने लगे और देवेश्वर इन्द्र भी सेवकोंद्वारा अर्पित अमृत पीने लगे ॥ ११८ ॥

द्विजोत्तमैः सर्वगतैरभिष्टुतो
विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः।
प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं
त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११९॥

सर्वत्र पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उद्दीप्त तेजस्वी और क्रोधशून्य हुए देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति की; फिर वे इन्द्र शान्तचित्त एवं प्रसन्न हो अपने निवासस्थान स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि-वासवसंवादविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥
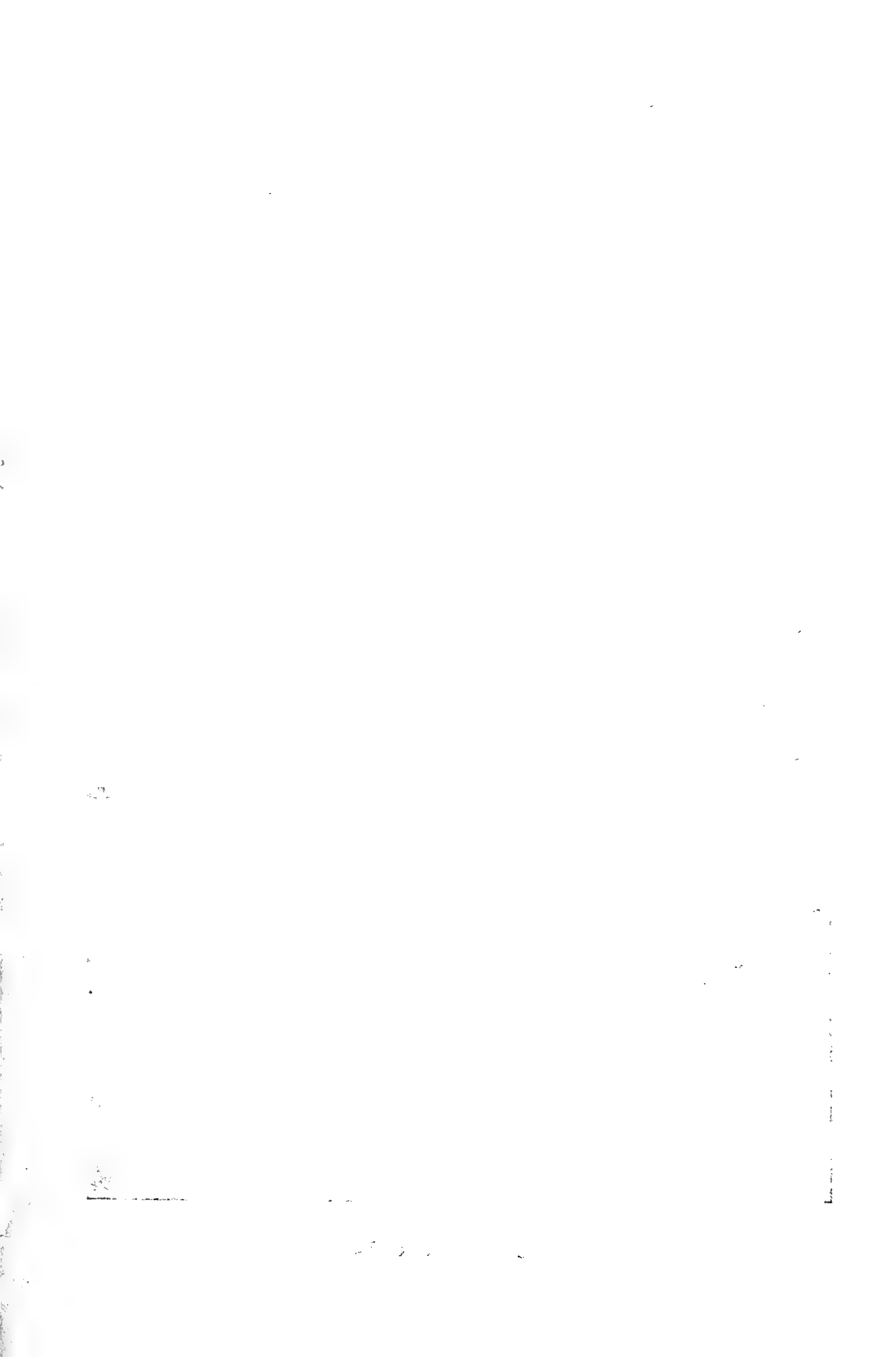
श्रीकृष्णकी उग्रसेनसे भेंट

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दैत्योंको त्यागकर इन्द्रके पास लक्ष्मीदेवीका आना तथा किन सद्गुणोंके होनेपर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणोंके होनेपर वे त्यागकर चली जाती हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक बताना

युधिष्ठिर उवाच

पूर्वरूपाणि मे राजन् पुरुषस्य भविष्यतः।
पराभविष्यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! पितामह! जिस पुरुषका उत्थान या पतन होनेवाला होता है, उसके पूर्व लक्षण कैसे होते हैं? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। जिस मनुष्यका उत्थान या पतन होनेको होता है, उसका मन ही उसके पूर्व लक्षणोंको प्रकट कर देता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
श्रिया शक्रस्य संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

इस विषयमें लक्ष्मीके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण यहाँ दिया जाता है। युधिष्ठिर! तुम ध्यान देकर उसे सुनो ॥ ३ ॥

महतस्तपसो व्युष्ट्या पश्यँल्लोकौ परावरौ।
सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महातपाः।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः ॥ ५ ॥

एक समयकी बात है, महातपस्वी एवं पापरहित नारदजी अपनी इच्छाके अनुसार तीनों लोकोंमें विचरण करते थे। वे अपनी बड़ी भारी तपस्याके प्रभावसे ऊँचे और नीचे दोनों प्रकारके लोकोंको देख सकते थे तथा ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियोंके समान होकर ब्रह्माजीकी ही भाँति अमित दीप्ति और ओजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४-५ ॥

कदाचित् प्रातरुत्थाय पिस्पृक्षुः सलिलं शुचि।
ध्रुवद्वारभवां गङ्गां जगामावततार च ॥ ६ ॥

एक दिन वे प्रातःकाल उठकर पवित्र जलमें स्नान करनेकी इच्छासे ध्रुवद्वारसे प्रवाहित हुई गङ्गाजीके तटपर गये और उसके भीतर उतरे ॥ ६ ॥

सहस्रनयनश्चापि वज्री शम्बरपाकहा।
तस्या देवर्षिजुष्टायास्तीरमभ्याजगाम ह ॥ ७ ॥

इसी समय शम्बरासुर और पाक नामक दैत्यका वध करनेवाले वज्रधारी सहस्रलोचन इन्द्र भी देवर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गाजीके उसी तटपर आये ॥ ७ ॥

तावाप्लुत्य यतात्मानौ कृतजप्यौ समासतः।
नद्याः पुलिनमासाद्य सूक्ष्मकाञ्चनवालुकम् ॥ ८ ॥

पुण्यकर्मभिराख्याता देवर्षिकथिताः कथाः।
चक्रतुस्तौ तथाऽऽसीनौ महर्षिकथितास्तथा ॥ ९ ॥

फिर उन दोनोंने गङ्गाजीमें गोते लगाकर मनको एकाग्र करके संक्षेपसे गायत्रीजपका कार्य पूर्ण किया। इसके बाद सूक्ष्म सुवर्णमयी बालुकासे भरे हुए सुन्दर गङ्गातटपर आकर वे दोनों बैठ गये और पुण्यात्मा पुरुषों, देवर्षियों तथा महर्षियोंके मुखसे सुनी हुई कथाएँ कहने-सुनने लगे ॥

पूर्ववृत्तव्यपेतानि कथयन्तौ समाहितौ।
अथ भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम् ॥ १० ॥
पूर्णमण्डलमालोक्य तावुत्थायोपतस्थतुः।

दोनों एकाग्रचित्त होकर प्राचीन वृत्तान्तोंकी चर्चा कर ही रहे थे कि किरणजालसे मण्डित भगवान् भास्करका उदय हुआ। सूर्यदेवका सम्पूर्ण मण्डल देख उन दोनोंने खड़े होकर उनका उपस्थान किया ॥ १०½ ॥

अभितस्तूदयन्तं तमर्कमर्कमिवापरम् ॥ ११ ॥
आकाशे ददृशे ज्योतिरुद्यतार्चिःसमप्रभम्।
तयोः समीपं तं प्राप्तं प्रत्यदृश्यत भारत ॥ १२ ॥

उदित होते हुए सूर्यके पास ही आकाशमें उन्हें द्वितीय सूर्यके समान एक दिव्य ज्योति दिखायी दी, जो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित हो रही थी। भारत! वह ज्योति क्रमशः उन दोनोंके समीप आती दिखायी दी ॥ ११-१२ ॥

तत् सुपर्णार्कचरितमास्थितं वैष्णवं पदम्।
भाभिरप्रतिमं भाति त्रैलोक्यमवभासयत् ॥ १३ ॥

वह प्रभापुञ्ज भगवान् विष्णुका एक विमान था, जो अपनी दिव्य प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करता हुआ अनुपम जान पड़ता था। सूर्य और गरुड़ जिस आकाशमार्गसे चलते हैं, उसीपर वह भी चल रहा था ॥ १३ ॥

तत्राभिरूपशोभाभिरप्सरोभिः पुरस्कृताम्।
बृहतीमंशुमत्प्रख्यां बृहद्भानोरिवार्चिषम् ॥ १४ ॥
नक्षत्रकल्पाभरणां तां मौक्तिकसमस्रजम्।
श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात् पद्मदलस्थिताम् ॥ १५ ॥

उस विमानमें उन दोनोंने कमलदलपर विराजमान साक्षात् लक्ष्मीदेवीको देखा, जो पद्माके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन्हें बहुत-सी परम शोभामयी सुन्दरी अप्सराएँ आगे किये खड़ी थीं। लक्ष्मीदेवीकी आकृति विशाल थी। वे अंशुमाली सूर्यके समान तेजस्विनी थीं और प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान जाज्वल्यमान हो रही थीं। उनके आभूषण नक्षत्रोंके समान चमक रहे थे। मोती-जैसे रत्नोंके हार उनके कण्ठदेशकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १४-१५ ॥

सावरुह्य विमानाग्रादङ्गनानामनुत्तमा ।
अभ्यागच्छत् त्रिलोकेशं देवर्षिं चापि नारदम् ॥ १६ ॥

अङ्गनाओंमें परम उत्तम लक्ष्मीदेवी उस विमानके अग्रभागसे उतरकर त्रिभुवनपति इन्द्र और देवर्षि नारदके पास आयीं ॥ १६ ॥

नारदानुगतः साक्षान्मघवांस्तामुपागमत् ।
कृताञ्जलिपुटो देवीं निवेद्यात्मानमात्मना ॥ १७ ॥
चक्रे चानुपमां पूजां तस्याश्चापि स सर्ववित् ।
देवराजः श्रियं राजन् वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

आगे-आगे नारदजी और उनके पीछे साक्षात् इन्द्रदेव हाथ जोड़े हुए देवीकी ओर बढ़े । उन्होंने स्वयं ही देवीको आत्मसमर्पण करके उनकी अनुपम पूजा की । राजन् ! तत्पश्चात् सर्वज्ञ देवराजने लक्ष्मीदेवीसे इस प्रकार कहा ॥ १७-१८ ॥

शक्र उवाच

का त्वं केन च कार्येण सम्प्राप्ता चारुहासिनि ।
कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क्व च ते शुभे ॥ १९ ॥

इन्द्र बोले—चारुहासिनि ! तुम कौन हो ? और किस कार्यसे यहाँ आयी हो ? सुन्दर भौंहोंवाली देवि ! तुम्हारा शुभागमन कहाँसे हुआ है ? और शुभे ! तुम्हें जाना कहाँ है ? ॥ १९ ॥

श्रीरुवाच

पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना ॥ २० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! तीनों पुण्यमय लोकोंके समस्त चराचर प्राणी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे परम उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं ॥ २० ॥

साहं वै पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते ।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां पद्मा श्रीः पद्ममालिनी ॥ २१ ॥

मैं समस्त प्राणियोंको ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिये सूर्यकी किरणोंके तापसे खिले हुए कमलमें प्रकट हुई हूँ । मेरा नाम पद्मा, श्री और पद्ममालिनी है ॥ २१ ॥

अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन ।
अहं श्रद्धा च मेधा च संनतिर्विजितिः स्थितिः ॥ २२ ॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्विड् भूतिरेव च ।
अहं स्वाहा स्वधा चैव संस्तुतिर्नियतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥

बलसूदन ! मैं ही लक्ष्मी हूँ । मैं ही भूति हूँ और मैं ही श्री हूँ । मैं श्रद्धा, मेधा, संनति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, कान्ति, समृद्धि, स्वाहा, स्वधा, संस्तुति, नियति और स्मृति हूँ ॥ २२-२३ ॥

राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च ।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु पुरेषु च ॥ २४ ॥

युद्धमें विजय पानेवाले राजाओंकी सेनाओंके अग्रभागमें फहरानेवाले ध्वजाओंपर और स्वभावसे ही धर्माचरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके निवासस्थानमें, उनके राज्य और नगरोंमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २४ ॥

जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ॥ २५ ॥

बलसूदन ! संग्रामसे पीछे न हटनेवाले तथा विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर नरेशके शरीरमें भी मैं सदा ही मौजूद रहती हूँ ॥ २५ ॥

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ २६ ॥

नित्य धर्माचरण करनेवाले, परम बुद्धिमान्, ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुषमें भी मैं सदा ही निवास करती हूँ ॥ २६ ॥

असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥ २७ ॥

सत्य और धर्मसे बँधकर पहले मैं असुरोंके यहाँ रहती थी । अब उन्हें धर्मके विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसंद किया है ॥ २७ ॥

शक्र उवाच

कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—सुमुखि ! दैत्योंका आचरण पहले कैसा था ? जिससे तुम उनके पास रहती थीं और अब क्या देखा है, जो उन दैत्यों और दानवोंको छोड़कर यहाँ चली आयी हो ? ॥ २८ ॥

श्रीरुवाच

स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! जो अपने धर्मका पालन करते, धैर्यसे कभी विचलित नहीं होते और स्वर्गप्राप्तिके साधनोंमें सानन्द लगे रहते हैं, उन प्राणियोंके भीतर मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २९ ॥

दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च तेषां सत्यमवर्तत ॥ ३० ॥

पहले दैत्यलोग दान, अध्ययन और यज्ञ-यागमें संलग्न रहते थे । देवता, गुरु, पितर और अतिथियोंकी पूजा करते थे । उनके यहाँ सत्यका भी पालन होता था ॥ ३० ॥

सुसम्मृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३१ ॥

वे अपना घर-द्वार झाड़-बुहारकर साफ रखते थे । अपनी स्त्रीके मनको प्यारसे जीत लेते थे । प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे । वे गुरुसेवी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी थे ॥

देवर्षि एवं देवराजको भगवती लक्ष्मीका दर्शन

श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलानसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्ष्यवः ॥ ३२ ॥

उनमें श्रद्धा थी। वे क्रोधको जीत चुके थे। वे दानी थे। दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं रखते थे और ईर्ष्यारहित थे। वे स्त्री, पुत्र और मन्त्री आदिका भरण-पोषण करते थे ॥

अमर्षेण न चान्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३३ ॥

अमर्षवश कभी एक दूसरेके प्रति लाग-डाँट नहीं रखते थे। सभी धीर स्वभावके थे। दूसरोंकी समृद्धियोंसे उनके मनमें कभी संताप नहीं होता था ॥ ३३ ॥

दातारः संगृहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥

वे दान देते, कर आदिके द्वारा धन-संग्रह करते तथा आर्य-जनोचित आचार-विचारसे रहते थे। वे दया करना जानते थे। वे दूसरोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले थे। वे सभी सरल स्वभावके और दृढ़तापूर्वक भक्ति रखनेवाले थे। उन सबने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पायी थी ॥ ३४ ॥

संतुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३५ ॥

वे अपने भृत्यों और मन्त्रियोंको संतुष्ट रखते थे। कृतज्ञ और मधुरभाषी थे। सबका समुचित रूपसे सम्मान करते, सबको धन देते, लज्जाका सेवन करते और व्रत एवं नियमोंका पालन करते थे ॥ ३५ ॥

नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलंकृताः ।
उपवासतपःशीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३६ ॥

सदा ही पर्वोंपर विशेष स्नान करते, अपने अङ्गोंमें चन्दन लगाते और सुन्दर अलंकार धारण करते थे। स्वभावसे ही उपवास और तपमें लगे रहते थे। सबके विश्वासपात्र थे और वेदोंका स्वाध्याय किया करते थे ॥ ३६ ॥

नैनानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३७ ॥

दैत्य कभी प्रातःकाल सोये नहीं रहते थे। उनके सोते समय सूर्य नहीं उगते थे अर्थात् वे सूर्योदयसे पहले ही जाग उठते थे। वे रातमें कभी दही और सत्तू नहीं खाते थे ॥ ३७ ॥

कल्यं घृतं चान्ववेक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः ।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३८ ॥

वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते, सबेरे उठकर घीका दर्शन करते, वेदोंका पाठ करते, अन्य माङ्गलिक वस्तुओंको देखते और ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे ॥ ३८ ॥

सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम् ।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३९ ॥

सदा धर्मकी ही चर्चामें लगे रहते और प्रतिग्रहसे दूर रहते थे। रातके आधे भागमें ही सोते थे और दिनमें नहीं सोते थे ॥ ३९ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
दयां च संविभागं च नित्यमेवान्वमोदताम् ॥ ४० ॥

कृपण, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और स्त्रियोंपर दया करते तथा उनके लिये अन्न और वस्त्र बाँटते थे। इस कार्यका वे सदा अनुमोदन किया करते थे ॥ ४० ॥

त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम् ।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४१ ॥

त्रस्त, विषादग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधिग्रस्त, दुर्बल और पीड़ितको तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उस मनुष्यको वे सदा ढाढ़स बँधाया करते थे ॥ ४१ ॥

धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४२ ॥

वे धर्मका ही आचरण करते थे। एक-दूसरेकी हिंसा नहीं करते थे। सब कार्योंमें परस्पर अनुकूल रहते और गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें दत्तचित्त थे ॥ ४२ ॥

पितॄन् देवातिथींश्चैव यथावत् तेऽभ्यपूजयन् ।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४३ ॥

पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी विधिवत् पूजा करते थे तथा उन्हें अर्पण करनेके पश्चात् बचे हुए अन्नको ही प्रसादरूपमें पाते थे। वे सभी सत्यवादी और तपस्वी थे ॥

नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम् ।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथाऽऽत्मनि दयां प्रति ॥ ४४ ॥

वे अकेले बढ़िया भोजन नहीं करते थे। पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे। परायी स्त्रीसे कभी संसर्ग नहीं रखते थे। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया रखते थे ॥ ४४ ॥

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु ।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

वे आकाशमें, पशुओंमें, विपरीत योनिमें तथा पर्वके अवसरोंपर वीर्यत्याग करना कदापि अच्छा नहीं मानते थे ॥

नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा ।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४६ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥ ४७ ॥

प्रभो ! नित्य दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहङ्कार-शून्यता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, करुणा, कोमल वचन, मित्रोंसे द्रोह न करनेका भाव—ये सभी सद्गुण उनमें सदा मौजूद रहते थे ॥ ४६-४७ ॥

निद्रा तन्द्रीरसम्प्रीतिरसूयाथानवेक्षिता ।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४८ ॥

निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), अप्रसन्नता, दोषदृष्टि,

अविवेक, अप्रीति, विषाद और कामना आदि दोष उनके भीतर प्रवेश नहीं कर पाते थे ॥ ४८ ॥

साहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा ।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंवाले दानवोंके पास सृष्टिकालसे लेकर अबतक मैं अनेक युगोंसे रहती आयी हूँ ॥ ४९ ॥

ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात् ।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम् ॥ ५० ॥

किंतु समयके उलट-फेरसे उनके गुणोंमें विपरीतता आ गयी । मैंने देखा, दैत्योंमें धर्म नहीं रह गया है । वे काम और क्रोधके वशीभूत हो गये हैं ॥ ५० ॥

सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः ।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः ॥ ५१ ॥

जब बड़े-बूढ़े लोग उस सभामें बैठकर कोई बात कहते हैं, तब गुणहीन दैत्य उनमें दोष निकालते हुए उन सब वृद्ध पुरुषोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ५१ ॥

युवानश्च समासीना वृद्धानपि गतान् सतः ।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन् ॥ ५२ ॥

ऊँचे आसनोंपर बैठे हुए नवयुवक दैत्य बड़े-बूढ़ोंके आ जानेपर भी पहलेकी भाँति न तो उठकर खड़े होते हैं और न प्रणाम करके ही उनका आदर-सत्कार करते हैं ॥५२॥

वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा ।
अमित्रभृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः ॥ ५३ ॥

बापके रहते ही बेटा मालिक बन बैठता है । वे शत्रुओंके सेवक बनकर अपने उस कर्मको निर्लज्जतापूर्वक दूसरोंके सामने कहते हैं ॥ ५३ ॥

तथा धर्मादपेतेन कर्मणा गर्हितेन ये ।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राभवत् स्पृहा ॥ ५४ ॥

धर्मके विपरीत निन्दित कर्मद्वारा जिन्हें महान् धन प्राप्त हो गया है, उनकी उसी प्रकार धनोपार्जन करनेकी अभिलाषा बढ़ गयी है ॥ ५४ ॥

उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत् ।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन् ॥ ५५ ॥

दैत्य रातमें जोर-जोरसे हल्ला मचाते हैं और उनके यहाँ अग्निहोत्रकी आग मन्दगतिसे जलने लगी है । पुत्रोंने पिताओंपर और स्त्रियोंने पतियोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया है ॥५५॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान् नान्वपालयन् ॥ ५६ ॥

दैत्य और दानव गुरुत्व होते हुए भी माता-पिता, वृद्ध-पुरुष, आचार्य, अतिथि और गुरुजनोंका अभिनन्दन नहीं करते हैं । संतानोंके लालन-पालनपर भी ध्यान नहीं देते हैं ॥ ५६ ॥

भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते ।
अनिष्ट्वासंविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून् ॥ ५७ ॥

देवताओं, पितरों, गुरुजनों तथा अतिथियोंका यजन-पूजन और उन्हें अन्नदान किये बिना, भिक्षादान और बलि-वैश्वदेवकर्मका सम्पादन किये बिना ही दैत्यलोग स्वयं भोजन कर लेते हैं ॥ ५७ ॥

न शौचमनुरुद्ध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा ।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम् ॥ ५८ ॥

दैत्य तथा उनके रसोइये मन, वाणी और क्रियाद्वारा शौचाचारका पालन नहीं करते हैं । उनका भोजन बिना ढके ही छोड़ दिया जाता है ॥ ५८ ॥

विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम् ।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम् ॥ ५९ ॥

उनके घरोंमें अनाजके दाने बिखरे रहते हैं और उन्हें कौए तथा चूहे खाते हैं । वे दूधको बिना ढके छोड़ देते हैं और घीको जूठे हाथोंसे छू देते हैं ॥ ५९ ॥

कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम् ।
द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी ॥ ६० ॥

दैत्योंकी गृहस्वामिनियाँ घरमें इधर-उधर बिखरे हुए कुदाल, दराँती (या हँसुआ), पिटारी, काँसेके बर्तन तथा अन्य सब द्रव्यों और सामानोंकी देख-भाल नहीं करती हैं ॥ ६० ॥

प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते ।
नाद्रियन्ते पशून् बद्ध्वा यवसेनोदकेन च ॥ ६१ ॥

उनके गाँवों और नगरोंकी चहारदिवारी तथा घर गिर जाते हैं; परंतु वे उसकी मरम्मत नहीं कराते हैं । दैत्यलोग पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, किंतु चारा और पानी देकर उनकी सेवा नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥

बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यमभक्षयन् ।
तथा भृत्यजनं सर्वमसंतर्प्य च दानवाः ॥ ६२ ॥

छोटे बच्चे आशा लगाये देखते रहते हैं और दानवलोग खानेकी चीजें स्वयं खा लेते हैं । सेवकों तथा अन्य सब कुटुम्बीजनोंको भूखे छोड़कर अपने खा लेते हैं ॥ ६२ ॥

पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः ।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन् ॥ ६३ ॥

खीर, खिचड़ी, मांस, पूआ और पूरी आदि भोजन वे सिर्फ अपने खानेके लिये बनवाते हैं तथा वे व्यर्थ ही मांस खाया करते हैं ॥ ६३ ॥

उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः ।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥ ६४ ॥

अब वे सूर्योदय होनेतक सोने लगे हैं । प्रातःकालको भी रात ही समझते हैं । उनके घर-घरमें दिन-रात कलह मचा रहता है ॥ ६४ ॥

अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह ।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ ६५ ॥

दानवोंके यहाँ अनार्य वहाँ बैठे हुए आर्य पुरुषकी सेवामें उपस्थित नहीं होते हैं। अधर्मपरायण दैत्य आश्रमवासी महात्माओंसे तथा आपसमें भी द्वेष रखते हैं ॥ ६५ ॥

संकराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृचश्च ये ॥ ६६ ॥
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः।

अब उनके यहाँ वर्णसङ्कर संतानें होने लगी हैं। किसीमें पवित्रता नहीं रह गयी है। जो वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण हैं और जो स्पष्ट ही वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते हैं, उन दोनोंमें वे दैत्यलोग कोई अन्तर या विशेषता नहीं समझते हैं और न उनका मान या अपमान करनेमें ही कोई अन्तर रखते हैं ॥ ६६½ ॥

हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥ ६७ ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम्।

वहाँकी दासियाँ सुन्दर हार एवं अन्य आभूषण पहनकर मनोहर वेष धारण करतीं और दुराचारिणी स्त्रियोंकी भाँति चलती-फिरती, खड़ी होती और कटाक्ष करती हैं। साथ ही वे उस कुकृत्यको अपनाती हैं, जिसका आचरण दुराचारीजन करते हैं ॥ ६७½ ॥

स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥ ६८ ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन्।

क्रीडा, रति और विहारके अवसरोंपर वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषवेष धारण करके और पुरुष स्त्रियोंका वेष बनाकर एक दूसरेसे मिलते और बड़े आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ६८½ ॥

प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ॥ ६९ ॥
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद् वर्तन्तः सम्भवेष्वपि।

कितने ही दानव पूर्वकालमें अपने पूर्वजोंद्वारा सुयोग्य ब्राह्मणोंको दानके रूपमें दी हुई जागीरें नास्तिकताके कारण उनके पास रहने नहीं देते हैं यद्यपि वे अन्य सम्भव उपायोंसे जीवन-निर्वाह कर सकते हैं तथापि उस दिये हुए दानको छीन लेते हैं ॥ ६९½ ॥

मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थसंशयिते क्वचित् ॥ ७० ॥
वालकोटयग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद् वसु।

कहीं धनके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर अर्थात् यह धन न्यायतः मेरा है या दूसरेका, यह प्रश्न खड़ा होनेपर यदि उस धनका अधिकारी व्यक्ति अपने किसी मित्रसे प्रार्थना करता है कि वह पंचायतद्वारा इस मामलेको निपटा दे तो वह मित्र अपने बालकी नोकके बराबर स्वार्थके लिये भी उसकी उस सम्पत्तिको चौपट कर देता है ॥ ७०½ ॥

परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः ॥ ७१ ॥
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः।

दानवोंके यहाँ जो व्यापारी हैं, वे सदा दूसरोंका धन ठग लेनेका ही विचार रखते हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें शूद्र भी मिलकर तपोधन बन बैठे हैं ॥ ७१½ ॥

अधीयतेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे ॥ ७२ ॥

कुछ लोग ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना ही वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, । कुछ लोग व्यर्थ (अवैदिक) व्रतका आचरण करते हैं ॥ ७२ ॥

अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः।

शिष्य गुरुकी सेवा करना नहीं चाहता। कोई-कोई गुरु भी ऐसा है जो शिष्योंको दोस्त बनाकर रखता है ॥

पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ॥ ७३ ॥
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान्।

जब पिता और माता उत्सवशून्यकी भाँति थक जाते हैं, तब घरमें उनकी कोई प्रभुता नहीं रह जाती। वे दोनों बूढ़े दम्पति बेटोंसे अन्नकी भीख माँगते हैं ॥ ७३½ ॥

तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ॥ ७४ ॥
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत।

वहाँ जो वेदवेत्ता ज्ञानी तथा गम्भीरतामें समुद्रके समान पुरुष हैं, वे तो खेती आदि कार्योंमें संलग्न हो गये हैं और मूर्खलोग श्राद्धान्न खाते फिरते हैं ॥ ७४½ ॥

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः ॥ ७५ ॥
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम्।

गुरुलोग प्रतिदिन प्रातःकाल जाकर शिष्योंसे पूछते हैं कि आपकी रात सुखसे बीती है न ? इसके सिवा वे उन शिष्योंके वस्त्र आदि ठीकसे पहनाते और उनकी वेश-भूषा सँवारते हैं तथा उनकी ओरसे कोई प्रेरणा न होनेपर भी स्वयं ही उनके संदेशवाहक दूत आदिका कार्य करते हैं ॥

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ॥ ७६ ॥
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति।

सास-ससुरके सामने ही बहू सेवकोंपर शासन करने लगी है। वह पतिको भी आदेश देती है और सबके सामने पतिको बुलाकर उससे बात करती है ॥ ७६½ ॥

प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ॥ ७७ ॥
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथावसत्।

पिता विशेष प्रयत्नपूर्वक पुत्रका मन रखते हैं। वे उनके क्रोधसे डरकर सारा धन पुत्रोंको बाँट देते हैं और स्वयं बड़े कष्टसे जीवन बिताते हैं ॥ ७७½ ॥

अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ॥ ७८ ॥
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्सम्भाविता ह्यपि।

जिन्हें हितैषी और मित्र समझा जाता था, वे ही लोग जब अपने सम्बन्धीके धनको आग लगने, चोरी हो जाने अथवा राजाके द्वारा छिन जानेसे नष्ट हुआ देखते हैं, तब द्वेषवश उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ ७८½ ॥

कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः ॥ ७९ ॥

अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः ।

दैत्यगण कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी तथा गुरुपत्नी-गामी हो गये हैं । जो चीज नहीं खानी चाहिये, वे भी खाते और धर्मकी मर्यादा तोड़कर मनमाने आचरण करते हैं । इसीलिये वे कान्तिहीन हो गये हैं ॥ ७९½ ॥

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये ॥ ८० ॥
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ।

देवेन्द्र ! जबसे इन दैत्योंने ये धर्मके विपरीत आचरण अपनाये हैं, तबसे मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अब इन दानवोंके घरमें नहीं रहूँगी ॥ ८०½ ॥

तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ॥ ८१ ॥
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः ।

शचीपते ! देवेश्वर ! इसीलिये मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ आयी हूँ । तुम मेरा अभिनन्दन करो । तुमसे पूजित होनेपर मुझे अन्य देवता भी अपने सम्मुख स्थापित (एवं सम्मानित) करेंगे ॥ ८१½ ॥

यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः ॥ ८२ ॥
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ।

जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ सात देवियाँ और निवास करेंगी, उन सबके आगे आठवीं जया देवी भी रहेंगी । ये आठों देवियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं, मुझसे भी श्रेष्ठ हैं और मुझे आत्मसमर्पण कर चुकी हैं ॥ ८२½ ॥

आशा श्रद्धा धृतिः शान्तिर्विजितिः संनतिः क्षमा॥८३॥
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ।

पाकशासन ! उन देवियोंके नाम इस प्रकार हैं—आशा, श्रद्धा, धृति, शान्ति, विजिति, संनति, क्षमा और आठवीं वृत्ति (जया) । ये आठवीं देवी उन सातोंकी अग्रगामिनी हैं ॥

ताश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः ॥ ८४ ॥
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु ।

वे देवियाँ और मैं सब-के-सब उन असुरोंको त्यागकर तुम्हारे राज्यमें आयी हैं । देवताओंकी अन्तरात्मा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली है; इसलिये अब हमलोग इन्हींके यहाँ निवास करेंगी ॥ ८४½ ॥

इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः ॥ ८५ ॥
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः ।

(भीष्मजी कहते हैं—) लक्ष्मीदेवीके इस प्रकार कहनेपर देवर्षि नारद तथा वृत्रहन्ता इन्द्रने उनकी प्रसन्नताके लिये उनका अभिनन्दन किया ॥ ८५½ ॥

ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववर्त्मसु ॥ ८६ ॥
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः ।

उस समय देवमार्गोंपर मनोरम गन्ध और सुखद स्पर्शसे युक्त तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आनन्द प्रदान करनेवाले वायुदेव, जो अग्निदेवताके मित्र हैं, मन्दगतिसे बहने लगे ॥

शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः ॥ ८७ ॥
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः ॥ ८८ ॥

उस परम पवित्र एवं मनोवाञ्छित प्रदेशमें राजलक्ष्मीसहित इन्द्रदेवका दर्शन करनेके लिये प्रायः सभी देवता उपस्थित हो गये ॥ ८७-८८ ॥

ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः
श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा ।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः
सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ ॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् सहस्रनेत्रधारी सुरश्रेष्ठ इन्द्र लक्ष्मीदेवी तथा अपने सुहृद् महर्षि नारदके साथ हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर स्वर्गलोककी राजधानी अमरावतीमें आये और देवताओंसे सत्कृत हो उनकी सभामें गये ॥ ८९ ॥

अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः
श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन् ।
श्रियै शशंसामरदृष्टपौरुषः
शिवेन तत्रागमनं महर्षिभिः ॥ ९० ॥

उस समय अमरोंके पौरुषको प्रत्यक्ष देखनेवाले देवर्षि नारदजीने अन्य महर्षियोंके साथ मिलकर वज्रधारी इन्द्र और लक्ष्मीदेवीके संकेतपर मन-ही-मन विचार करके वहाँ लक्ष्मी-जीके शुभागमनकी प्रशंसा की और उनका पदार्पण सम्पूर्ण लोकोंके लिये मङ्गलकारी बताया ॥ ९० ॥

ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती
पितामहस्यायतने स्वयम्भुवः ।
अनाहता दुन्दुभयोऽथ नेदिरे
तथा प्रसन्नाश्च दिशश्चकाशिरे ॥ ९१ ॥

तदनन्तर निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण आकाशमण्डल स्वयम्भू ब्रह्माजीके भवनमें अमृतकी वर्षा करने लगा । देवताओंकी दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं तथा सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ एवं प्रकाशित दिखायी देने लगीं ॥ ९१ ॥

यथर्तु सस्येषु ववर्ष वासवो
न धर्ममार्गाद् विचचाल कश्चन ।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः
सुघोषघोषा भुवनौकसां जये ॥ ९२ ॥

लक्ष्मीजीके स्वर्गमें पधारनेपर इन्द्रदेव ऋतुके अनुसार संसारमें लगी हुई खेतीको सींचनेके लिये समयपर वर्षा करने लगे । कोई भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होता था तथा अनेक समुद्रोंसे विभूषित हुई पृथ्वी उन समुद्रोंकी गर्जनाके रूपमें त्रिभुवनवासियोंकी विजयके लिये मानो सुन्दर जयघोष करने लगी ॥ ९२ ॥

क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो
बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः ।

नरामराः किन्नरयक्षराक्षसाः
समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन्॥ ९३ ॥

उस समय मनस्वी मानव पुण्यवानोंके मङ्गलमय पथपर स्थित हो सत्कर्मोंसे परम सुन्दर शोभा पाने लगे तथा देवता, किन्नर, यक्ष, राक्षस और मनुष्य समृद्धिशाली एवं उदारचेता हो गये ॥ ९३ ॥

न जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं
पपात वृक्षात् पवनेरितादपि ।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो
न दारुणा वाग् विचचार कस्यचित्॥ ९४॥

उन दिनों अकाल-मृत्युकी तो बात ही क्या है, प्रचण्ड पवनके वेगपूर्वक हिलानेसे भी किसी वृक्षसे असमयमें फूलतक नहीं गिरता था; फिर फल कहाँसे गिरेगा ? सभी धेनुएँ दुग्ध आदि रस देती थीं । वे इच्छानुसार दुग्ध दिया करती थीं । किसीके मुखसे कभी कोई कठोर वचन नहीं निकलता था ॥

इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः
श्रियश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः ।
पठन्ति ये विप्रसदःसमागताः
समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते॥ ९५ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले इन्द्र आदि देवताओंद्वारा की हुई लक्ष्मीजीकी इस पूजा-अर्चाके प्रसङ्गको जो लोग ब्राह्मणोंकी सभामें आकर पढ़ते हैं, उनकी सारी कामनाएँ सम्पन्न होती हैं और वे लक्ष्मी भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९५ ॥

त्वया कुरूणां वर यत् प्रचोदितं
भवाभवस्येह परं निदर्शनम् ।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया
परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥ ९६ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने जो अभ्युदय-पराभवका लक्षण पूछा था, वह सब मैंने आज यह उत्तम दृष्टान्त देकर बता दिया । तुम्हें स्वयं सोच-विचारकर उसकी यथार्थताका निश्चय करना चाहिये ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्री-वासवसंवादो नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें लक्ष्मी और इन्द्रका संवादनामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जैगीषव्यका असित-देवलको समत्वबुद्धिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे शील, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और कैसे पराक्रमसे युक्त होनेपर मनुष्य प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ? ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो पुरुष मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर मोक्षोपयोगी धर्मोंके पालनमें संलग्न रहता है, वही प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ ३ ॥

भारत ! इस विषयमें भी जैगीषव्य और असित-देवल-मुनिका संवादरूप यह पुरातन इतिहास उदाहरणके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है ॥ ३ ॥

जैगीषव्यं महाप्रज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक बार सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शास्त्रवेत्ता, महाज्ञानी और क्रोध एवं हर्षसे रहित जैगीषव्य मुनिसे असित-देवलने इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

देवल उवाच

न प्रीयसे वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यसे ।
का ते प्रज्ञा कुतश्चैषा किं ते तस्याः परायणम् ॥ ५ ॥

देवल बोले—मुनिवर ! यदि आपको कोई प्रणाम करे, तो आप अधिक प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करे तो भी आप उसपर क्रोध नहीं करते, यह आपकी बुद्धि कैसी है ? कहाँसे प्राप्त हुई है ? और आपकी इस बुद्धिका परम आश्रय क्या है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

इति तेनानुयुक्तः स तमुवाच महातपाः ।
महद्वाक्यमसंदिग्धं पुष्कलार्थपदं शुचि ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! देवलके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महातपस्वी जैगीषव्यने उनसे इस प्रकार संदेहरहित, प्रचुर अर्थका बोधक, पवित्र और उत्तम वचन कहा ॥ ६ ॥

जैगीषव्य उवाच

या गतिर्या परा काष्ठा या शान्तिः पुण्यकर्मणाम् ।
तां तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महतीमृषिसत्तम ॥ ७ ॥

जैगीषव्य बोले—मुनिश्रेष्ठ ! पुण्यकर्म करनेवाले महा-

पुरुषोंको जिसका आश्रय लेनेसे उत्तम गति, उत्कर्षकी चरम सीमा और परम शान्ति प्राप्त होती है, उस श्रेष्ठ बुद्धिका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥

निन्दत्सु च समा नित्यं प्रशंसत्सु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च यत् ॥ ८ ॥

देवल ! महात्मा पुरुषोंकी कोई निन्दा करे या सदा उनकी प्रशंसा करे अथवा उनके सदाचार तथा पुण्य कर्मों-पर पर्दा डाले, किंतु वे सबके प्रति एक-सी ही बुद्धि रखते हैं ॥ ८ ॥

उक्ताश्च न वदिष्यन्ति वक्तारमहिते हितम् ।
प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ॥ ९ ॥

उन मनीषी पुरुषोंसे कोई कटु वचन कह दे तो वे उस कटुवादी पुरुषको बदलेमें कुछ नहीं कहते । अपना अहित करनेवालेका भी हित ही चाहते हैं तथा जो उन्हें मारता है, उसे भी वे बदलेमें मारना नहीं चाहते हैं ॥ ९ ॥

नाप्राप्तमनुशोचन्ति प्राप्तकालानि कुर्वते ।
न चातीतानि शोचन्ति न चैव प्रतिजानत ॥ १० ॥

जो अभी सामने नहीं आयी है या भविष्यमें होनेवाली है, उसके लिये वे शोक या चिन्ता नहीं करते हैं । वर्तमान समयमें जो कार्य प्राप्त हैं, उन्हींको वे करते हैं । जो बातें बीत गयी हैं, उनके लिये भी उन्हें शोक नहीं होता है और वे किसी बातकी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं ॥ १० ॥

सम्प्राप्तानां च पूज्यानां कामादर्थेषु देवल ।
यथोपपत्ति कुर्वन्ति शक्तिमन्तः कृतव्रताः ॥ ११ ॥

देवल ! यदि कोई कामना मनमें लेकर किन्हीं विशेष प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये पूजनीय पुरुष उनके पास आ जायँ तो वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शक्तिशाली महात्मा यथाशक्ति उनके कार्य-साधनकी चेष्टा करते हैं ॥ ११ ॥

पक्वविद्या महाप्राज्ञा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १२ ॥

उनका ज्ञान परिपक्व होता है । वे महाज्ञानी, क्रोधको जीतनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं तथा मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीका अपराध नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

अनीर्षवो न चान्योन्यं विहिंसन्ति कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ १३ ॥

उनके मनमें एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या नहीं होती । वे कभी हिंसा नहीं करते तथा वे धीर पुरुष दूसरोंकी समृद्धियोंसे कभी मन-ही-मन जलते नहीं हैं ॥ १३ ॥

निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये ।
न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन ॥ १४ ॥

वे दूसरोंकी न तो निन्दा करते हैं और न अधिक प्रशंसा ही । उनकी भी कोई निन्दा या प्रशंसा करे तो उनके मनमें कभी विकार नहीं होता है ॥ १४ ॥

सर्वतश्च प्रशान्ता ये सर्वभूतहिते रताः ।
न क्रुद्ध्यन्ति न हृष्यन्ति नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

वे सर्वथा शान्त और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते हैं, न कभी क्रोध करते हैं, न हर्षित होते हैं और न किसीका अपराध ही करते हैं ॥ १५ ॥

विमुच्य हृदयग्रन्थिं चङ्क्रमन्ति यथासुखम् ।
न येषां बान्धवाः सन्ति ये चान्येषां न बान्धवाः ॥ १६ ॥

वे हृदयकी अज्ञानमयी गाँठ खोलकर चारों ओर आनन्द-के साथ विचरा करते हैं । न उनके कोई भाई-बन्धु होते हैं और न वे ही दूसरोंके भाई-बन्धु होते हैं ॥ १६ ॥

अमित्राश्च न सन्त्येषां ये चामित्रा न कस्यचित् ।
य एवं कुर्वते मर्त्याः सुखं जीवन्ति सर्वदा ॥ १७ ॥

न उनके कोई शत्रु होते हैं और न वे ही किसीके शत्रु होते हैं । जो मनुष्य ऐसा करते हैं, वे सदा सुखसे जीवन बिताते हैं ॥ १७ ॥

ये धर्मं चानुरुद्ध्यन्ते धर्मज्ञा द्विजसत्तम ।
ये ह्यतो विच्युता मार्गात् ते हृष्यन्त्युद्विजन्ति च ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मके अनुसार चलते हैं, वे ही धर्मज्ञ हैं । तथा जो धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें ही हर्ष-उद्वेग आदि प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

आस्थितस्तमहं मार्गमसूयिष्यामि कं कथम् ।
निन्द्यमानः प्रशस्तो वा हृष्येऽहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

मैंने भी उसी धर्ममार्गका अवलम्बन किया है; अतः अपनी निन्दा सुनकर क्यों किसीके प्रति द्वेष-दृष्टि करूँ ? अथवा प्रशंसा सुनकर भी किस लिये हर्ष मानूँ ? ॥ १९ ॥

यद् यदिच्छन्ति तत् तस्मादपि गच्छन्तु मानवाः ।
न मे निन्दाप्रशंसाभ्यां ह्रासवृद्धी भविष्यतः ॥ २० ॥

मनुष्य निन्दा और प्रशंसामेंसे जिससे जो-जो लाभ उठाना चाहते हों, उससे वह-वह लाभ उठा लें । उस निन्दा और प्रशंसासे न मेरी कोई हानि होगी, न लाभ ॥ २० ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित् ।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपमानको अमृतके समान समझकर उससे संतुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मान-को विषके तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे ॥ २१ ॥

अवज्ञातः सुखं शेते इह चामुत्र चाभयम् ।
विमुक्तः सर्वदोषेभ्यो योऽवमन्ता स बध्यते ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त महात्मा पुरुष अपमानित होनेपर भी इस लोक और परलोकमें निर्भय होकर सुखसे सोता है; परंतु उसका अपमान करनेवाला पुरुष पापबन्धनमें पड़ जाता है ॥ २२ ॥

परां गतिं च ये केचित् प्रार्थयन्ति मनीषिणः ।
एतद् व्रतं समाश्रित्य सुखमेधन्ति ते जनाः ॥ २३ ॥

जो मनीषी पुरुष उत्तम गति प्राप्त करना चाहते हैं, वे

इस उत्तम व्रतका आश्रय लेकर सुखी एवं अभ्युदयशील होते हैं ॥ २३ ॥

सर्वतश्च समाहृत्य क्रतून् सर्वान् जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २४ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सारे काम्यकर्मोंका परित्याग करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर ले । फिर वह प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
पदमन्ववरोहन्ति प्राप्तस्य परमां गतिम् ॥ २५ ॥

परमगतिको प्राप्त हुए उस ज्ञानी महात्माके पदका अनुसरण न देवता कर पाते हैं न गन्धर्व, न पिशाच कर पाते हैं और न राक्षस ही ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जैगीषव्यासितसंवादे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जैगीषव्य और असित-देवलसंवादविषयक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद—नारदजीकी लोकप्रियताके हेतुभूत गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

प्रियः सर्वस्य लोकस्य सर्वसत्त्वाभिनन्दिता ।
गुणैः सर्वैरुपेतश्च को न्वस्ति भुवि मानवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस भूतलपर कौन ऐसा मनुष्य है ? जो सब लोगोंका प्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंको आनन्द प्रदान करनेवाला तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पृच्छतो भरतर्षभ ।
उग्रसेनस्य संवादं नारदे केशवस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस प्रश्नके उत्तरमें मैं श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद सुनाता हूँ, जो नारदजीके विषयमें हुआ था ॥ २ ॥

उग्रसेन उवाच

यस्य संकल्पते लोको नारदस्य प्रकीर्तने ।
मन्ये स गुणसम्पन्नो ब्रूहि तन्मम पृच्छतः ॥ ३ ॥

उग्रसेन बोले—जनार्दन ! सब लोग जिनके गुणोंका कीर्तन करनेकी इच्छा रखते हैं, वे नारदजी मेरी समझमें अवश्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं; अतः मैं उनके गुणोंके विषयमें पूछता हूँ, तुम मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

कुकुराधिप यान् मन्ये शृणु तान् मे विवक्षतः ।
नारदस्य गुणान् साधून् संक्षेपेण नराधिप ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—कुकुरकुलके स्वामी ! नरेश्वर ! मैं नारदके जिन उत्तम गुणोंको मानता और जानता हूँ, उन्हें संक्षेपसे बताना चाहता हूँ । आप मुझसे उनका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

न चारित्रनिमित्तोऽस्याहंकारो देहतापनः ।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ५ ॥

नारदजीमें शास्त्रज्ञान और चरित्रबल दोनों एक साथ संयुक्त हैं । फिर भी उनके मनमें अपनी सच्चरित्रताके कारण तनिक भी अभिमान नहीं है । वह अभिमान शरीरको संतप्त करनेवाला है । उसके न होनेसे ही नारदजीकी सर्वत्र पूजा (प्रतिष्ठा) होती है ॥ ५ ॥

अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि नारदे ।
अदीर्घसूत्रः शूरश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ६ ॥

नारदजीमें अप्रीति, क्रोध, चपलता और भय-ये दोष नहीं हैं, वे दीर्घसूत्री (किसी कामको विलम्बसे करनेवाले या आलसी) नहीं हैं तथा धर्म और दया आदि करनेमें बड़े शूरवीर हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ ६ ॥

उपास्यो नारदो बाढं वाचि नास्य व्यतिक्रमः ।
कामतो यदि वा लोभात् तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ७ ॥

निश्चय ही नारद उपासना करनेके योग्य हैं । कामना या लोभसे भी कभी उनके द्वारा अपनी बात पलटी नहीं जाती; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ ७ ॥

अध्यात्मविधितत्त्वज्ञः क्षान्तः शक्तो जितेन्द्रियः ।
ऋजुश्च सत्यवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ८ ॥

वे अध्यात्मशास्त्रके तत्त्वज्ञ विद्वान्, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं । इसीलिये वे सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ९ ॥

नारदजी तेज, बुद्धि, यश, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्याद्वारा भी सबसे बढ़े-चढ़े हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ९ ॥

सुशीलः सुखसंवेशः सुभोजः स्वादरः शुचिः ।
सुवाक्यश्चाप्यनीर्ष्यश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १० ॥

वे सुशील, सुखसे सोनेवाले, पवित्र भोजन करनेवाले, उत्तम आदरके पात्र, पवित्र, उत्तम वचन बोलनेवाले तथा ईर्ष्यासे रहित हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा हुई है ॥ १० ॥

कल्याणं कुरुते बाढं पापमस्मिन्न विद्यते ।

न प्रीयते परानर्थैस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ११ ॥

वे खुले दिलसे सबका कल्याण करते हैं । उनके मनमें लेशमात्र भी पाप नहीं है । दूसरोंका अनर्थ देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती; इसीलिये उनका सब जगह सम्मान होता है ॥ ११ ॥

वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति ।
तितिक्षुरनवज्ञाता तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १२ ॥

नारदजी वेदों और उपनिषदोंकी, श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणकी कथाओंद्वारा प्रस्तुत विषयोंको समझाने और सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वे सहनशील तो हैं ही, कभी किसीकी अवज्ञा नहीं करते हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १२ ॥

समत्वाच्च प्रियो नास्ति नाप्रियश्च कथंचन ।
मनोऽनुकूलवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १३ ॥

वे सर्वत्र समभाव रखते हैं; इसलिये उनका न कोई प्रिय है और न किसी तरह अप्रिय ही है । वे मनके अनुकूल बोलते हैं, इसलिये सर्वत्र उनका आदर होता है ॥ १३ ॥

बहुश्रुतश्चित्रकथः पण्डितोऽलालसोऽशठः ।
अदीनोऽक्रोधनोऽलुब्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥१४॥

वे अनेक शास्त्रोंके विद्वान् हैं और उनका कथा कहनेका ढंग भी बड़ा विचित्र है । उनमें पूर्ण पाण्डित्य होनेके साथ ही लालसा और शठताका भी अभाव है । दीनता, क्रोध और लोभ आदि दोषसे वे सर्वथा रहित हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ १४ ॥

नार्थे धने वा कामे वा भूतपूर्वोऽस्य विग्रहः ।
दोषाश्चास्य समुच्छिन्नास्तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ १५ ॥

धन, अन्य कोई प्रयोजन अथवा कामके विषयमें नारदजीका पहले कभी किसीके साथ कलह हुआ हो, ऐसी बात नहीं है । उनमें समस्त दोषोंका अभाव है, इसीलिये उनका सब जगह आदर होता है ॥ १५ ॥

दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवाननृशंसवान् ।
वीतसम्मोहदोषश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १६ ॥

उनकी मेरे प्रति दृढ भक्ति है । उनका हृदय शुद्ध है । वे विद्वान् और दयालु हैं । उनके मोह आदि दोष दूर हो गये हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर है ॥ १६ ॥

असक्तः सर्वभूतेषु सक्तात्मेव च लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १७ ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित हैं; फिर भी आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं । उनके मनमें दीर्घकालतक कोई संशय नहीं रहता और वे बहुत अच्छे वक्ता हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १७ ॥

समाधिर्नास्य कामार्थे नात्मानं स्तौति कर्हिचित् ।
अनीर्षुर्मृदुसंवादस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १८ ॥

उनका मन कभी विषयभोगोंमें स्थित नहीं होता और वे कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं । किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं रखते तथा सबसे मीठे वचन बोलते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ १८ ॥

लोकस्य विविधं चित्तं प्रेक्षते चाप्यकुत्सयन् ।
संसर्गविद्याकुशलस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १९ ॥

नारदजी लोगोंकी नाना प्रकारकी चित्तवृत्तिको देखते और समझते हैं । फिर भी किसीकी निन्दा नहीं करते । किसका संसर्ग कैसा है ? इसके ज्ञानमें वे बड़े निपुण हैं; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित होते हैं ॥ १९ ॥

नासूयत्यागमं कंचित् स्वनयेनोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ २० ॥

वे किसी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते । अपनी नीतिके अनुसार जीवन-यापन करते हैं । समयको कभी व्यर्थ नहीं गँवाते और मनको वशमें रखते हैं; इसीलिये वे सर्वत्र सम्मानित होते हैं ॥ २० ॥

कृतश्रमः कृतप्रज्ञो न च तृप्तः समाधितः ।
नित्ययुक्तोऽप्रमत्तश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २१ ॥

उन्होंने योगाभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया है । उनकी बुद्धि पवित्र है । उन्हें समाधिसे कभी तृप्ति नहीं होती । वे कर्तव्य-पालनके लिये सदा उद्यत रहते हैं और कभी प्रमाद नहीं करते हैं; इसीलिये सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥२१॥

नापत्रपश्च युक्तश्च नियुक्तः श्रेयसे परैः ।
अभेत्ता परगुह्यानां तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २२ ॥

नारदजी निर्लज्ज नहीं हैं । दूसरोंकी भलाईके लिये सदा उद्यत रहते हैं; इसीलिये दूसरे लोग उन्हें अपने कल्याणकारी कार्योंमें लगाये रखते हैं तथा वे किसीके गुप्त रहस्यको कहीं प्रकट नहीं करते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥

न हृष्यत्यर्थलाभेषु नालाभे तु व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २३ ॥

वे धनका लाभ होनेसे प्रसन्न नहीं होते और उसके न मिलनेसे उन्हें दुःख भी नहीं होता है । उनकी बुद्धि स्थिर और मन आसक्तिरहित है; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित हुए हैं ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमनामयम् ।
कालज्ञं च प्रियज्ञं च कः प्रियं न करिष्यति ॥ २४ ॥

वे सम्पूर्ण गुणोंसे सुशोभित, कार्यकुशल, पवित्र, नीरोग, समयका मूल्य समझनेवाले और परम प्रिय आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं; फिर कौन उन्हें अपना प्रिय नहीं बनायेगा ? ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वासुदेवोग्रसेनसंवादे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवादविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३०॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका प्रश्न और व्यासजीका उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कालका स्वरूप बताना

युधिष्ठिर उवाच

आद्यन्तं सर्वभूतानां ज्ञातुमिच्छामि कौरव ।
ध्यानं कर्म च कालं च तथैवायुर्युगे युगे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति किससे होती है ? उनका अन्त कहाँ होता है ? परमार्थकी प्राप्तिके लिये किसका ध्यान और किस कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ? कालका क्या स्वरूप है ? तथा भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्योंकी कितनी आयु होती है ? ॥ १ ॥

लोकतत्त्वं च कार्त्स्न्येन भूतानामागतिं गतिम् ।
सर्गश्च निधनं चैव कुत एतत् प्रवर्तते ॥ २ ॥

मैं लोकका तत्त्व पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ । प्राणियोंके आवागमन और सृष्टि-प्रलय किससे होते हैं ? ॥ २ ॥

यदि तेऽनुग्रहे बुद्धिरस्मास्विह सतां वर ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह करनेका विचार है तो मैं यही बात आपसे पूछता हूँ । आप मुझे बताइये ॥ ३ ॥

पूर्वं हि कथितं श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम् ।
भरद्वाजस्य विप्रर्षेस्ततो मे बुद्धिरुत्तमा ॥ ४ ॥

पहले ब्रह्मर्षि भरद्वाजके प्रति भृगुजीका जो उत्तम उपदेश हुआ था, उसे आपके मुँहसे सुनकर मुझे उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई थी ॥ ४ ॥

जाता परमधर्मिष्ठा दिव्यसंस्थानसंस्थिता ।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मेरी बुद्धि परम धर्मिष्ठ एवं दिव्य स्थितिमें स्थित हो गयी थी; इसीलिये फिर पूछता हूँ । आप इस विषयका वर्णन करनेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
जगौ यद् भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें भगवान् व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर जो उपदेश दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं दुहराऊँगा ॥ ६ ॥

अधीत्य वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदस्तथा ।
अन्विच्छन्नैष्ठिकं कर्म धर्मनैपुणदर्शनात् ॥ ७ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं पुत्रो वैयासकिः शुकः ।
पप्रच्छ संदेहमिमं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ८ ॥

अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके व्यासपुत्र शुकदेवने नैष्ठिक कर्मको जाननेकी इच्छासे अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी धर्मज्ञानविषयक निपुणता देखकर उनसे अपने मनका संदेह पूछा । उन्हें यह विश्वास था कि पिताजीके उपदेशसे मेरा धर्म और अर्थविषयक सारा संशय दूर हो जायगा ॥ ७-८ ॥

श्रीशुक उवाच

भूतग्रामस्य कर्तारं कालज्ञाने च निश्चयम् ।
ब्राह्मणस्य च यत् कृत्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी ! समस्त प्राणिसमुदायको उत्पन्न करनेवाला कौन है ? कालके ज्ञानके विषयमें आपका क्या निश्चय है ? और ब्राह्मणका क्या कर्तव्य है ? ये सब बातें आप बतानेकी कृपा करें ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वं पिता पुत्राय पृच्छते ।
अतीतानागते विद्वान् सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले सर्वज्ञ विद्वान् पिता व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर उसे उन सब बातोंका इस प्रकार उपदेश किया ॥ १० ॥

व्यास उवाच

अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! सृष्टिके आरम्भमें अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर-अमर, ध्रुव, अविकारी, अतर्क्य और ज्ञानातीत ब्रह्म ही रहता है ॥ ११ ॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव
त्रिंशत्तु काष्ठा गणयेत् कलां ताम् ।
त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो
भागः कलाया दशमश्च यः स्यात् ॥ १२ ॥

(अब कालका विभाग इस प्रकार समझना चाहिये) पंद्रह निमेषकी एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला गिननी चाहिये तीस कलाका एक मुहूर्त होता है । उसके साथ कलाका दसवाँ भाग और सम्मिलित होता है अर्थात् तीस कला और तीन काष्ठाका एक मुहूर्त होता है ॥ १२ ॥

त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च
रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता ।
मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत्
संवत्सरो द्वादशमास उक्तः ॥ १३ ॥

तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है । महर्षियोंने दिन और रात्रिके मुहूर्तोंकी संख्या उतनी ही बतायी है । तीस रात-दिनका एक मास और बारह मासोंका एक संवत्सर बताया गया है ॥ १३ ॥

संवत्सरं द्वे त्वयने वदन्ति
संख्याविदो दक्षिणमुत्तरं च ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष दो अयनोंको मिलाकर एक संवत्सर कहते हैं। वे दो अयन हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकके दिन-रातका विभाग सूर्यदेव करते हैं। रात प्राणियोंके सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
शुक्लोऽहः कर्मचेष्टायां कृष्णः स्वप्नाय शर्वरी ॥ १६ ॥

मनुष्योंके एक मासमें पितरोंका एक दिन-रात होता है। शुक्लपक्ष उनके काम-काज करनेके लिये दिन है और कृष्णपक्ष उनके विश्रामके लिये रात है ॥ १६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम् ॥ १७ ॥

मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रातके बराबर है, उनके दिन-रातका विभाग इस प्रकार है। उत्तरायण उनका दिन है और दक्षिणायन उनकी रात्रि ॥ १७ ॥

ये ते रात्र्यहनी पूर्वे कीर्तिते जीवलौकिके।
तयोः संख्याय वर्षाग्रं ब्राह्मे वक्ष्याम्यहःक्षपे ॥ १८ ॥
पृथक् संवत्सराग्राणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
कृते त्रेतायुगे चैव द्वापरे च कलौ तथा ॥ १९ ॥

पहले मनुष्योंके जो दिन-रात बताये गये हैं, उन्हींकी संख्याके हिसाबसे अब मैं ब्रह्माके दिन-रातका मान बताता हूँ। साथ ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंकी वर्ष-संख्या भी अलग-अलग बता रहा हूँ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ २० ॥

देवताओंके चार हजार वर्षोंका एक सत्ययुग होता है। सत्ययुगमें चार सौ दिव्य वर्षोंकी संध्या होती है और उतने ही वर्षोंका एक संध्यांश भी होता है। (इस प्रकार सत्ययुग अड़तालीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥

इतरेषु ससंध्येषु संध्यांशेषु ततस्त्रिषु।
एकपादेन हीयन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २१ ॥

संध्या और संध्यांशोंसहित अन्य तीन युगोंमें यह (चार हजार आठ सौ वर्षोंकी) संख्या क्रमशः एक-एक चौथाई घटती जाती है* ॥ २१ ॥

एतानि शाश्वताँल्लोकान् धारयन्ति सनातनान्।
एतद् ब्रह्मविदां तात विदितं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २२ ॥

ये चारों युग प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले सनातन लोकोंको धारण करते हैं। तात ! यह युगात्मक काल ब्रह्मवेत्ताओंके सनातन ब्रह्मका ही स्वरूप है ॥ २२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चित् परस्तस्य प्रवर्तते ॥ २३ ॥

सत्ययुगमें सत्य और धर्मके चारों चरण मौजूद रहते हैं—उस समय सत्य और धर्मका पूरा-पूरा पालन होता है उस समय कोई भी धर्मशास्त्र अधर्मसे संयुक्त नहीं होता; उसका उत्तम रीतिसे पालन होता है ॥ २३ ॥

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ॥ २४ ॥

अन्य युगोंमें शास्त्रोक्त धर्मका क्रमशः एक-एक चरण क्षीण होता जाता है और चोरी, असत्य तथा छल-कपट आदिके द्वारा अधर्मकी वृद्धि होने लगती है ॥ २४ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ॥ २५ ॥

सत्ययुगके मनुष्य नीरोग होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं तथा वे चार सौ वर्षोंकी आयुवाले होते हैं। त्रेतायुग आनेपर उनकी आयु एक चौथाई घटकर तीन सौ वर्षोंकी रह जाती है। इसी प्रकार द्वापरमें दो सौ और कलियुगमें सौ वर्षोंकी आयु होती है ॥ २५ ॥

वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम्।
आयूंषि चाशिषश्चैव वेदस्यैव च यत्फलम् ॥ २६ ॥

त्रेता आदि युगोंमें वेदोंका स्वाध्याय और मनुष्योंकी आयु घटने लगती है, ऐसा सुना गया है। उनकी कामनाओंकी सिद्धिमें भी बाधा पड़ती है और वेदाध्ययनके फलमें भी न्यूनता आ जाती है ॥ २६ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥

युगोंके ह्रासके अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें मनुष्योंके धर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम्।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ २८ ॥

सत्ययुगमें तपस्याको ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है। त्रेतामें ज्ञानको ही उत्तम बताया गया है। द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें एकमात्र दान ही श्रेष्ठ कहा गया है ॥

एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः।
सहस्रपरिवर्तं तद् ब्राह्मं दिवसमुच्यते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है; यह विद्वानोंकी मान्यता है। एक सहस्र चतुर्युगको ब्रह्माका एक दिन बताया जाता है ॥ २९ ॥

रात्रिमेतावतीं चैव तदादौ विश्वमीश्वरः।
प्रलये ध्यानमाविश्य सुप्त्वा सोऽन्ते विबुद्ध्यते ॥ ३० ॥

* अर्थात् संध्या और संध्यांशोंसहित त्रेतायुग छत्तीस सौ वर्षोंका, द्वापर चौबीस सौ वर्षोंका और कलियुग बारह सौ वर्षोंका होता है।

इतने ही युगोंकी उनकी एक रात्रि भी होती है। भगवान् ब्रह्मा अपने दिनके आरम्भमें संसारकी सृष्टि करते हैं और रातमें जब प्रलयका समय होता है, तब सबको अपनेमें लीन करके योगनिद्राका आश्रय ले सो जाते हैं; फिर प्रलयका अन्त होने अर्थात् रात बीतनेपर वे जाग उठते हैं॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ३१॥

एक हजार चतुर्युगका जो ब्रह्माका एक दिन बताया गया है और उतनी ही बड़ी जो उनकी रात्रि कही गयी है, उसको जो लोग ठीक-ठीक जानते हैं, वे ही दिन और रात अर्थात् कालतत्त्वको जाननेवाले हैं॥ ३१॥

प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः॥ ३२॥

रात्रि समाप्त होनेपर जाग्रत् हुए ब्रह्माजी पहले अपने अक्षय स्वरूपको मायासे विकारयुक्त बनाते हैं फिर महत्तत्त्वको उत्पन्न करते हैं। तत्पश्चात् उससे स्थूल जगत्को धारण करनेवाले मनकी उत्पत्ति होती है॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३१॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासजीका शुकदेवको सृष्टिके उत्पत्ति-क्रम तथा युगधर्मोंका उपदेश

व्यास उवाच

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं जगत्।
एकस्य ब्रह्मभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम्॥ १॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तेजोमय ब्रह्म ही सबका बीज है, उसीसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस एक ही ब्रह्मसे स्थावर और जङ्गम दोनोंकी उत्पत्ति होती है॥

अहर्मुखे विबुद्धः सन् सृजतेऽविद्यया जगत्।
अग्र एव महद्भूतमाशु व्यक्तात्मकं मनः॥ २॥

पहले कह आये हैं, ब्रह्माजी अपने दिनके आरम्भमें जागकर अविद्या (त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके) द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं। सबसे पहले महत्तत्त्व प्रकट होता है। उससे स्थूल सृष्टिका आधारभूत मन उत्पन्न होता है॥

अभिभूयेह चार्चिष्मद् व्यसृजत् सप्त मानसान्।
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्॥ ३॥

उस मनकी दूरतक गति है तथा वह अनेक प्रकारसे गमनागमन करता है। प्रार्थना और संशयवृत्तिशाली वह मन चैतन्यसे संयुक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको अभिभूत करके सात मानस ऋषियोंकी[1] सृष्टि करता है॥ ३॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ ४॥

फिर सृष्टिकी इच्छासे प्रेरित होनेपर मन नाना प्रकारकी सृष्टि करता है। उससे आकाशकी उत्पत्ति होती है। आकाशका गुण 'शब्द' माना गया है॥ ४॥

आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥ ५॥

तत्पश्चात् जब आकाशमें विकार होता है, तब उससे पवित्र और सम्पूर्ण गन्धोंको वहन करनेवाले बलवान् वायु-तत्त्वका आविर्भाव होता है। उसका गुण 'स्पर्श' माना गया है॥ ५॥

वायोरपि विकुर्वाणाज्ज्योतिर्भवति भास्वरम्।
रोचिष्णु जायते शुक्रं तद्रूपगुणमुच्यते॥ ६॥

फिर वायुमें भी विकार होता है और उससे प्रकाशपूर्ण अग्नि-तत्त्व प्रकट होता है। वह अग्नि-तत्त्व चमचमाता हुआ एवं दीप्तिमान् है। उसका गुण 'रूप' बताया जाता है॥

ज्योतिषोऽपि विकुर्वाणाद् भवन्त्यापो रसात्मिकाः।
अद्भ्यो गन्धवहा भूमिः सर्वेषां सृष्टिरुच्यते॥ ७॥

फिर अग्नि-तत्त्वमें विकार आनेपर रसमय जल-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। जलसे गन्धका वहन करनेवाली पृथ्वीका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि बतायी जाती है॥ ७॥

गुणाः सर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्।
तेषां यावद् यथा यच्च तत्तत् तावद्गुणं स्मृतम्॥ ८॥

पीछे प्रकट हुए वायु आदि भूत उत्तरोत्तर अपने पूर्ववर्ती सभी भूतोंके गुण धारण करते हैं। इन सब भूतोंमेंसे जो भूत जितने समयतक जिस प्रकार रहता है, उसके गुण भी उतने ही समयतक रहते हैं॥ ८॥

उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणात्।

---

१. इन सप्तर्षियोंके नाम इस प्रकार हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥

(महा० शान्ति० ३४०। ६९)

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।

पृथिव्यामेव तं विद्यादपां वायोश्च संश्रितम् ॥ ९ ॥

यदि कुछ मनुष्य जलमें गन्ध पाकर अयोग्यतावश यह कहने लगें कि यह जलका ही गुण है तो उनका वह कथन मिथ्या होगा; क्योंकि गन्ध वास्तवमें पृथ्वीका गुण है; अतः उसे पृथ्वीमें ही स्थित जानना चाहिये। जल और वायुमें तो वह आगन्तुककी भाँति स्थित होता है ॥ ९ ॥

एते सप्तविधात्मानो नानावीर्याः पृथक् पृथक्।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ १० ॥

ये नाना प्रकारकी शक्तिवाले महत्तत्त्व, मन (अहंकार) और पञ्चसूक्ष्म महाभूत—सात पदार्थ पृथक्-पृथक् रहकर जबतक सब-के-सब मिल न सकें; तबतक उनमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं आयी ॥ १० ॥

ते समेत्य महात्मानो ह्यन्योन्यमभिसंश्रिताः।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ ११ ॥

परंतु ये सातों व्यापक पदार्थ ईश्वरकी इच्छा होनेपर जब एक दूसरेसे मिलकर परस्पर सहयोगी हो गये, तब भिन्न-भिन्न शरीरके आकारमें परिणत हुए। उस शरीर-नामक पुरमें निवास करनेके कारण जीवात्मा पुरुष कहलाता है॥

शरीरं श्रयणाद् भवति मूर्तिमत् षोडशात्मकम्।
तमाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मणा ॥ १२ ॥

पञ्च स्थूल महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन—इन सोलह तत्त्वोंसे शरीरका निर्माण हुआ है। इन सबका आश्रय होनेके कारण ही देहको शरीर कहते हैं। शरीरके उत्पन्न होनेपर उसमें जीवोंके भोगावशिष्ट कर्मोंके साथ सूक्ष्म महाभूत प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वभूतान्युपादाय तपसश्चरणाय हि।
आदिकर्ता स भूतानां तमेवाहुः प्रजापतिम् ॥ १३ ॥

भूतोंके आदि कर्ता ब्रह्माजी ही तपस्याके लिये समस्त सूक्ष्म भूतोंको साथ लेकर समष्टि शरीरमें प्रवेश करके स्थित होते हैं; इसलिये मुनिजन उन्हें प्रजापति कहते हैं ॥

स वै सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च।
ततः स सृजति ब्रह्मा देवर्षिपितृमानवान् ॥ १४ ॥
लोकान् नदीः समुद्रांश्च दिशः शैलान् वनस्पतीन्।
नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान्।
अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मा ही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। वे ही देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, नाना प्रकारके लोक, नदी, समुद्र, दिशा, पर्वत, वनस्पति, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, मृग तथा सर्पोंको भी उत्पन्न करते हैं। अक्षय आकाश आदि और क्षयशील चराचर प्राणियोंकी सृष्टि भी उन्हींके द्वारा हुई है ॥ १४-१५ ॥

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

पूर्वकल्पकी सृष्टिमें जिन प्राणियोंद्वारा जैसे कर्म किये गये होते हैं, दूसरे कल्पोंमें बारंबार जन्म लेनेपर वे उन पूर्वकृत कर्मोंकी वासनासे प्रभावित होनेके कारण वैसे ही कर्म करने लगते हैं ॥ १६ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ १७ ॥

एक जन्ममें मनुष्य हिंसा-अहिंसा, कोमलता-कठोरता, धर्म-अधर्म और सच-झूठ आदि जिन गुणों या दोषोंको अपनाता है, दूसरे जन्ममें भी उनके संस्कारोंसे प्रभावित होकर उन्हीं गुणोंको वह पसंद करता और वैसे ही कार्योंमें लग जाता है ॥ १७ ॥

महाभूतेषु नानात्वमिन्द्रियार्थेषु मूर्तिषु।
विनियोगं च भूतानां धातैव विदधात्युत ॥ १८ ॥

आकाश आदि महाभूतोंमें, शब्द आदि विषयोंमें तथा देवता आदिकी आकृतियोंमें जो अनेकता और भिन्नता है तथा प्राणियोंकी जो भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्ति है, इन सबका विधान विधाता ही करते हैं ॥ १८ ॥

केचित् पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १९ ॥

कुछ लोग कर्मोंकी सिद्धिमें पुरुषार्थको ही प्रधान मानते हैं। दूसरे ब्राह्मण दैवको प्रधानता देते हैं और भूत-चिन्तक नास्तिकगण स्वभावको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं ॥ १९ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिः स्वभावतः।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २० ॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि पुरुषार्थ, दैव और स्वभावसे अनुगृहीत कर्म—इन तीनोंके सहयोगसे फलकी सिद्धि होती है। ये तीनों मिलकर ही कार्यसाधक होते हैं। इनका अलग-अलग होना कार्यकी सिद्धिका हेतु नहीं होता है॥

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥

कर्मवादी इस विषयमें यह पुरुषार्थ ही कार्यसाधक है, ऐसा नहीं कहते। ऐसा नहीं है, अर्थात् पुरुषार्थ नहीं, दैव कारण है, यह भी नहीं कहते। दोनों मिलकर कार्यसिद्धिके हेतु हैं, यह भी नहीं कहते और दोनों नहीं हैं, यह भी नहीं कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे इस विषयमें कुछ निश्चय नहीं कर पाते हैं; परंतु जो सत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हुए योगी हैं, वे समदर्शी हैं अर्थात् शम (ब्रह्म) को ही कारण मानते हैं ॥ २१ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति॥ २२ ॥

तप ही जीवके कल्याणका मुख्य साधन है। तपका मूल है शम और दम। पुरुष अपने मनसे जिन-जिन कामनाओं-

को पाना चाहता है, उन सबको वह तपस्यासे प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद्भूतं सृजते जगत्।
स तद्भूतश्च सर्वेषां भूतानां भवति प्रभुः ॥ २३ ॥

तपस्यासे वह उस परमात्मसत्ताको भी प्राप्त कर लेता है, जिससे इस जगत्‌की सृष्टि होती है। तपसे परमात्मस्वरूप होकर मनुष्य समस्त प्राणियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ॥ २३ ॥

ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

तपके ही प्रभावसे महर्षिगण दिन-रात वेदोंका अध्ययन करते थे। तपःशक्तिसे सम्पन्न होकर ही ब्रह्माजीने आदि-अन्तसे रहित वेदमयी वाणीका प्रथम उच्चारण किया ॥ २४ ॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥ २५ ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

ऋषियोंके नाम, वेदोक्त सृष्टिक्रमके अनुसार रचे हुए सब पदार्थोंके नाम, प्राणियोंके अनेकविध रूप तथा उनके कर्मोंका विधान—यह सब कुछ वे ऐश्वर्यशाली प्रजापति सृष्टिके आदिकालमें वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही रचते हैं ॥ २५½ ॥

नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥ २६ ॥
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः।

वेदोंमें ऋषियोंके नाम तो हैं ही, सृष्टिमें उत्पन्न हुए सब पदार्थोंके भी नाम हैं। अजन्मा ब्रह्माजी अपनी रात्रिके अन्तमें अर्थात् नूतन सृष्टिके प्रभातकालमें अपने द्वारा रचे गये सभी पदार्थोंका दूसरोंके लिये नाम-निर्देश करते हैं ॥ २६½ ॥

नामभेदतपःकर्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः ॥ २७ ॥

फिर ब्रह्माजीने ऋग्वेद आदिके नाम, वर्ण और आश्रम-के भेद, तप, शम, दम (कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत), कर्म (संध्योपासन आदि नित्य-कर्म) और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ बनाये। ये नाम आदि लौकिक सिद्धियाँ हैं ॥ २७ ॥

आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते दशभिः क्रमैः।
यदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
तदन्तेषु यथायुक्तं क्रमयोगेन लक्ष्यते ॥ २८ ॥

आत्मा (के मोक्ष) की सिद्धि तो वेदोंमें दस[1] उपायों-द्वारा बतायी जाती है। जो गहन (दुर्बोध) ब्रह्म वेदवाक्यों-में वेददर्शी विद्वानोंद्वारा वर्णित हुआ है और वेदान्तवचनोंमें जिसका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है, वह क्रमयोगसे लक्षित होता है ॥ २८ ॥

कर्मजोऽयं पृथग्भावो द्वन्द्वयुक्तोऽपि देहिनः।
तमात्मसिद्धिर्विज्ञानाज्जहाति पुरुषो बलात् ॥ २९ ॥

देहाभिमानी जीवको जो यह पृथक्-पृथक् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका भोग प्राप्त होता है, वह कर्मजनित है। मनुष्य तत्त्वज्ञानके द्वारा उस द्वन्द्वभोगको त्याग देता है तथा ज्ञानके ही बलसे आत्मसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३० ॥

ब्रह्मके दो स्वरूप जानने चाहिये—एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म, जो शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदका पूर्ण विद्वान् है, वह सुगमतासे परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३० ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोंके लिये तप ही यज्ञ है, क्षत्रियोंके लिये हिंसा-प्रधान युद्ध आदि ही यज्ञ हैं, वैश्योंके लिये घृत आदि हविष्यकी आहुति देना ही यज्ञ है और शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही यज्ञ है ॥ ३१ ॥

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

यह यज्ञोंका विधान त्रेतायुगमें ही था, सत्ययुगमें नहीं। द्वापरसे क्रमशः क्षीण होते हुए यज्ञ कलियुगमें लुप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
काम्या इष्टीः पृथग् दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च ॥ ३३ ॥

सत्ययुगमें अद्वैत-धर्ममें निष्ठा रखनेवाले मनुष्य ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा सकाम इष्टियोंको ज्ञानरूप तपस्या-से भिन्न देखकर उन सबको छोड़ केवल ज्ञानरूप तपस्यामें ही संलग्न होते हैं ॥ ३३ ॥

त्रेतायां तु समस्ता ये प्रादुरासन् महाबलाः।
संयन्तारः स्थावराणां जङ्गमानां च सर्वशः ॥ ३४ ॥

त्रेतायुगमें जो महाबली नरेश प्रकट हुए थे, वे सब-के-सब समस्त चराचर प्राणियोंके नियन्ता थे ॥ ३४ ॥

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रश्यन्ते द्वापरे युगे ॥ ३५ ॥

त्रेतायुगमें वेद, यज्ञ और वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थितरूपसे पालित होते थे; परंतु द्वापरयुगमें आयुकी न्यूनता होनेसे लोगोंमें उनके पालनका उत्साह कम हो गया—वे वेद यज्ञ आदिसे च्युत होने लगे ॥ ३५ ॥

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥ ३६ ॥

कलियुग आनेपर तो कहीं वेदोंका दर्शन होता है और कहीं नहीं होता है। उस समय केवल अधर्मसे पीड़ित होकर यज्ञ और वेद लुप्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

---

[1] स्वाध्याय, गार्हस्थ्य, संध्यावन्दनादि, कृच्छ्रचान्द्रायणादि, यज्ञ, पूर्तकर्म, योग, दान, गुरुशुश्रूषा और समाधि—ये दस क्रमयोग हैं।

कृते युगे यस्तु धर्मो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते ।
आत्मवत्सु तपोवत्सु श्रुतवत्सु प्रतिष्ठितः ॥ ३७ ॥

सत्ययुगमें जिस चारों चरणोंवाले धर्मकी चर्चा की गयी है, वह अन्य युगोंमें भी मनको वशमें रखनेवाले तपस्वी एवं वेद-वेदान्तोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित देखा जाता है ॥ ३७ ॥

स्वधर्मव्रतसंयोगं यथाधर्मं युगे युगे ।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्था वेदवादा यथागमम् ॥ ३८ ॥

सत्ययुगमें मनुष्य स्वभावके अनुसार यज्ञ, व्रत और तीर्थाटन आदि करते हैं और त्रेता आदि युगमें वेदवादी एवं स्वधर्मनिष्ठ पुरुष शास्त्रके कथनानुसार धर्मके ह्रासमे विकारको प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

यथा विश्वानि भूतानि वृष्ट्या भूयांसि प्रावृषि ।
सृज्यन्ते जङ्गमस्थानि तथा धर्मा युगे युगे ॥ ३९ ॥

जैसे वर्षाकालमें जलकी वर्षा होनेसे स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थ वृद्धिको प्राप्त होते हैं और वर्षा बीतनेपर उनका ह्रास होने लगता है, उसी प्रकार प्रत्येक युगमें धर्म और अधर्मकी वृद्धि एवं ह्रास होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त आदि ऋतुओंमें फूल और फल आदि नाना प्रकारके ऋतुचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न ऋतुओंमें उन चिह्नोंका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरमें भी सृष्टि, रक्षा और संहारकी शक्तियाँ कभी न्यून और कभी अधिक दिखायी देती हैं ॥ ४० ॥

विहितं कालनानात्वमनादिनिधनं तथा ।
कीर्तितं तत्पुरस्तात् ते तत्सूते चात्ति च प्रजाः ॥ ४१ ॥

स्वयं ब्रह्माजीने ही सत्ययुग, त्रेता आदिके रूपमें काल-भेदका विधान किया है । वह अनादि और अनन्त है । वह काल ही लोककी सृष्टि और संहार करता है । बेटा ! यह बात मैं तुमसे पहले ही बता चुका हूँ ॥ ४१ ॥

दधाति प्रभवे स्थानं भूतानां संयमो यमः ।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वयुक्तानि भूरिशः ॥ ४२ ॥

काल ही सम्पूर्ण प्राणियोंको संयम और नियममें रखनेवाला है । वही उनकी उत्पत्तिके लिये स्थान धारण करता है । सारे प्राणी स्वभावसे ही द्वन्द्वोंसे युक्त होकर अत्यन्त कष्ट पाते हैं ॥ ४२ ॥

सर्गकालक्रिया वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम् ।
प्रोक्तं ते पुत्र सर्वं वै यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥

बेटा ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हें सृष्टि, काल, क्रिया, वेद, कर्ता, कार्य तथा क्रिया-फल आदि सब विषय बता दिये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलयका वर्णन

व्यास उवाच

प्रत्याहारं तु वक्ष्यामि शर्वर्यादौ गतेऽहनि ।
यथेदं कुरुतेऽध्यात्मं सुसूक्ष्मं विश्वमीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि ब्रह्माजीका दिन बीतनेपर उनकी रात्रि आरम्भ होनेके पहले ही किस प्रकार इस सृष्टिका लय होता है तथा लोकेश्वर ब्रह्माजी स्थूल जगत्को अत्यन्त सूक्ष्म करके इसे कैसे अपने भीतर लीन कर लेते हैं ? ॥ १ ॥

दिवि सूर्यस्तथा सप्त दहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेतत् तदार्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते जगत् ॥ २ ॥

जब प्रलयका समय आता है, तब आकाशमें ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निकी सात ज्वालाएँ संसारको भस्म करने लगती हैं । उस समय यह सारा जगत् ज्वालाओंसे व्याप्त होकर जाज्वल्यमान दिखायी देने लगता है ॥ २ ॥

पृथिव्यां यानि भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते भूमित्वमुपयान्ति च ॥ ३ ॥

भूतलके जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सब पहले ही दग्ध होकर पृथ्वीमें एकाकार हो जाते हैं ॥ ३ ॥

ततः प्रलीने सर्वस्मिन् स्थावरे जङ्गमे तथा ।
निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिर्दृश्यते कूर्मपृष्ठवत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण प्राणियोंके लीन हो जानेपर तृण और वृक्षोंसे रहित हुई यह भूमि कछुएकी पीठ-सी दिखायी देने लगती है ॥ ४ ॥

भूमेरपि गुणं गन्धमाप आददते यदा ।
आत्तगन्धा तदा भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् जब जल पृथ्वीके गुण गन्धको ग्रहण कर लेता है, तब गन्धहीन हुई पृथ्वी अपने कारणभूत जलमें लीन हो जाती है ॥ ५ ॥

आपस्तत्र प्रतिष्ठन्ति ऊर्मिमत्यो महास्वनाः ।
सर्वमेवेदमापूर्य तिष्ठन्ति च चरन्ति च ॥ ६ ॥

फिर तो जल गम्भीर शब्द करता हुआ चारों ओर उमड़ पड़ता है और उसमें उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं । वह सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें निमग्न करके लहराता रहता है ॥६॥

अपामपि गुणं तात ज्योतिराददते यदा ।
आपस्तदा त्वात्तगुणा ज्योतिःपूपरमन्ति वै ॥ ७ ॥

वत्स ! तदनन्तर तेज जलके गुण रसको ग्रहण कर लेता है और रसहीन जल तेजमें लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

यदाऽऽदित्यं स्थितं मध्ये गूहन्ति शिखिनोऽर्चिषः।
सर्वमेवेदमर्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥ ८ ॥

उस समय जब आगकी लपटें सूर्यको अपने भीतर करके चारों ओरसे ढक लेती हैं, तब सम्पूर्ण आकाश ज्वालाओंसे व्याप्त होकर प्रज्वलित होता-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुराददते यदा ।
प्रशाम्यति ततो ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् ॥ ९ ॥

फिर तेजके गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रहण कर लेता है। इससे आग शान्त हो जाती है और वायुमें मिल जाती है। तब वायु अपने महान् वेगसे सम्पूर्ण आकाशको क्षुब्ध कर डालती है ॥ ९ ॥

ततस्तु स्वनमासाद्य वायुः सम्भवमात्मनः ।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च दोधवीति दिशो दश ॥ १० ॥

वह बड़े जोरसे हरहराती और अपने वेगसे उत्पन्न आवाजको फैलाती हुई ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दसों दिशाओंमें चलने लगती है ॥ १० ॥

वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते यदा ।
प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ ११ ॥

इसके बाद आकाश वायुके गुण स्पर्शको भी ग्रस लेता है। तब वायु शान्त हो जाती और आकाशमें मिल जाती है; फिर तो आकाश महान् शब्दसे युक्त हो अकेला ही रह जाता है ॥ ११ ॥

अरूपमरसस्पर्शमगन्धं न च मूर्तिमत् ।
सर्वलोकप्रणदितं खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ १२ ॥

उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका नाम भी नहीं रह जाता । किसी भी मूर्त पदार्थकी सत्ता नहीं रहती । जिसका शब्द सभी लोकोंमें निनादित होता था, वह आकाश ही केवल शब्द गुणसे युक्त होकर शेष रहता है ॥ १२ ॥

आकाशस्य गुणं शब्दमभिव्यक्तात्मकं मनः ।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं ब्राह्मः सम्प्रतिसंचरः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् दृश्य प्रपञ्चको व्यक्त करनेवाला मन आकाशके गुण शब्दको, जो मनसे ही प्रकट हुआ था, अपनेमें लीन कर लेता है। इस तरह व्यक्त मन और अव्यक्त (महत्तत्त्व) का ब्रह्माके मनमें लय होना ब्राह्म प्रलय कहलाता है ॥ १३ ॥

तदात्मगुणमाविश्य मनो ग्रसति चन्द्रमाः ।
मनस्युपरते चापि चन्द्रमस्युपतिष्ठते ॥ १४ ॥

महाप्रलयके समय चन्द्रमा व्यक्त मनको आत्मगुणमें प्रविष्ट करके स्वयं उसको ग्रस लेते हैं। तब मन उपरत (शान्त) हो जाता है; फिर वह चन्द्रमामें उपस्थित रहता है ॥ १४ ॥

तं तु कालेन महता संकल्पः कुरुते वशे ।
चित्तं ग्रसति संकल्पं तच्च ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् संकल्प (अव्यक्त मन) दीर्घकालमें उस व्यक्त-मनसहित चन्द्रमाको अपने वशीभूत कर लेता है और समष्टि बुद्धि संकल्पको ग्रस लेती है। उसी बुद्धिको परम उत्तम ज्ञान माना गया है ॥ १५ ॥

कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः ।
बलं कालो ग्रसति तु तं विद्वान् कुरुते वशे ॥ १६ ॥

सुननेमें आया है कि काल ज्ञान (समष्टि बुद्धि) को ग्रस लेता है; शक्ति उस कालको अपने अधीन कर लेती है; फिर महाकाल-शक्तिको और परब्रह्म महाकालको अपने अधीन कर लेता है ॥ १६ ॥

आकाशस्य यथा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि ।
तदव्यक्तं परं ब्रह्म तच्छाश्वतमनुत्तमम् ।
एवं सर्वाणि भूतानि ब्रह्मैव प्रतिसंचरः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार आकाश अपने गुण शब्दको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म महाकालको अपनेमें विलीन कर लेता है। वह परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त, सनातन और सर्वोत्तम है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंका लय होता है और सबके लयका अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १७ ॥

यथावत् कीर्तितं सम्यगेवमेतदसंशयम् ।
बोध्यं विद्यामयं दृष्ट्वा योगिभिः परमात्मभिः ॥ १८ ॥

इस प्रकार परमात्मस्वरूप योगियोंने इस ज्ञानमय बोध्य-तत्त्वका साक्षात्कार करके इसका यथार्थरूपसे वर्णन किया है, यह उत्तम ज्ञान निःसंदेह ऐसा ही है ॥ १८ ॥

एवं विस्तारसंक्षेपौ ब्रह्माव्यक्ते पुनः पुनः ।
युगसाहस्रयोरादावहोरात्रस्तथैव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार बारंबार अव्यक्त परब्रह्ममें सृष्टिका विस्तार और लय होता है। ब्रह्माजीका दिन एक हजार चतुर्युगका होता है और उनकी रात भी उतनी ही बड़ी होती है; यह बात पहले ही बता दी गयी है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंका कर्तव्य और उन्हें दान देनेकी महिमाका वर्णन

व्यास उवाच

भूतग्रामे नियुक्तं यत् तदेतत् कीर्तितं मया ।
ब्राह्मणस्य तु यत् कृत्यं तत् ते वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! तुमने भूतसमुदायके

विषयमें जो प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें मैंने यह सब बताया है। अब मैं तुम्हें ब्राह्मणका जो कर्तव्य है, वह बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

जातकर्मप्रभृत्यस्य कर्मणां दक्षिणावताम्।
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे ॥ २ ॥

ब्राह्मण-बालकके जातकर्मसे लेकर समावर्तनतक समस्त संस्कार वेदोंके पारङ्गत विद्वान् आचार्यके निकट रहकर सम्पन्न होने चाहिये और उनमें समुचित दक्षिणा देनी चाहिये॥

अधीत्य वेदानखिलान् गुरुशुश्रूषणे रतः।
गुरूणामनृणो भूत्वा समावर्तेत यज्ञवित् ॥ ३ ॥

उपनयनके पश्चात् ब्राह्मण-बालक गुरुशुश्रूषामें तत्पर हो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे। तत्पश्चात् पर्याप्त गुरु-दक्षिणा दे। गुरु-ऋणसे उऋण हो वह यज्ञवेत्ता बालक समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घर लौटे ॥ ३ ॥

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽवतिष्ठेद् यथाविधि ॥ ४ ॥

तदनन्तर आचार्यकी आज्ञा लेकर चारों आश्रमोंमेंसे किसी एक आश्रममें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जीवनपर्यन्त रहे (अथवा क्रमशः सभी आश्रमोंमें प्रवेश करे) ॥ ४ ॥

प्रजासर्गेण दारैश्च ब्रह्मचर्येण वा पुनः।
वने गुरुसकाशे वा यतिधर्मेण वा पुनः ॥ ५ ॥

उसकी इच्छा हो तो स्त्री-परिग्रह करके गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए संतान उत्पन्न करे अथवा आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे या वनमें रहकर वानप्रस्थ-धर्मका आचरण करे अथवा गुरुके समीप रहे या सन्यास-धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करे ॥ ५ ॥

गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥ ६ ॥

यह गृहस्थ-आश्रम सब धर्मोंका मूल कहा जाता है। इसमें रहकर अन्तःकरणके रागादि दोष पक जानेपर जितेन्द्रिय पुरुषको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

प्रजावाञ्श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः।
अथान्यानाश्रमान् पश्चात् पूतो गच्छेत कर्मभिः॥ ७ ॥

गृहस्थ पुरुष संतान उत्पन्न करके पितृ-ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषि-ऋणसे और यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे छुटकारा पाता है। इस प्रकार तीनों ऋणोंसे मुक्त हो विहित कर्मोंका सम्पादन करके पवित्र बने। तत्पश्चात् दूसरे आश्रमोंमें प्रवेश करे ॥ ७ ॥

यत् पृथिव्यां पुण्यतमं विद्यात् स्थानं तदावसेत्।
यतेत तस्मिन् प्रामाण्यं गन्तुं यशसि चोत्तमे ॥ ८ ॥

इस पृथ्वीपर जो स्थान पवित्र एवं उत्तम जान पड़े, वहीं निवास करे। उसी स्थानमें रहकर वह उत्तम यशके विषयमें अपनेको आदर्श पुरुष बनानेका प्रयत्न करे ॥ ८ ॥

तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा।
इज्यया वा प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः ॥ ९ ॥
यावदस्य भवत्यस्मिन् कीर्तिर्लोके यशस्करी।
तावत् पुण्यकृतां लोकाननन्तान् पुरुषोऽश्नुते ॥ १० ॥

महान् तप, पूर्ण विद्याध्ययन, यज्ञ अथवा दान करनेसे ब्राह्मणोंका यश बढ़ता है। जबतक इस जगत्‌में यशको बढ़ाने-वाली उसकी कीर्ति बनी रहती है, तबतक वह पुण्यवानोंके अक्षय लोकोंमें निवास करके दिव्य सुख भोगता रहता है॥

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन ॥ ११ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंका आश्रय लेना चाहिये; परंतु उसे किसी तरह न तो अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये, न व्यर्थ दान ही देना चाहिये ॥ ११ ॥

याज्यतः शिष्यतो वापि कन्याया वा धनं महत्।
यदाऽऽगच्छेद् यजेद् दद्यान्नैकोऽश्नीयात् कथंचन ॥

यजमानसे, शिष्यसे अथवा कन्या-शुल्कसे जब महान् धन प्राप्त हो, तब उसके द्वारा यज्ञ करे, दान दे, अकेला किसी तरह उस धनका उपभोग न करे ॥ १२ ॥

गृहमावसतो ह्यस्य नान्यत् तीर्थं प्रतिग्रहात्।
देवर्षिपितृगुर्वर्थे वृद्धातुरबुभुक्षताम् ॥ १३ ॥

देवता, ऋषि, पितर, गुरु, वृद्ध, रोगी और भूखे मनुष्योंको भोजन देनेके लिये गृहस्थ ब्राह्मणको प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये। प्रतिग्रहके सिवा ब्राह्मणके लिये धन-संग्रहका दूसरा कोई पवित्र मार्ग नहीं है ॥ १३ ॥

अन्तर्हिताभितप्तानां यथाशक्ति बुभूषताम्।
देवानामतिशक्त्यापि देयमेषां कृतादपि ॥ १४ ॥
अर्हतामनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन।
उच्चैःश्रवसमप्यश्वं प्रापणीयं सतां विदुः ॥ १५ ॥

जो दारिद्र्यग्रस्त होनेके कारण लज्जासे छिपे-छिपे फिरते हैं तथा अत्यन्त संतप्त हैं, अथवा जो यथाशक्ति अपनी पारमार्थिक उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं, ऐसे भूदेवों-को उपार्जित धनमेंसे यथाशक्ति देना चाहिये। योग्य एवं पूजनीय ब्राह्मणोंके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। वैसे सत्पात्रोंके लिये तो उच्चैःश्रवा घोड़ा भी दिया जा सकता है, यह श्रेष्ठ पुरुषोंका मत है ॥ १४-१५ ॥

अनुनीय यथाकामं सत्यसंधो महाव्रतः।
स्वैः प्राणैर्ब्राह्मणप्राणान् परित्राय दिवं गतः ॥ १६ ॥

महान् व्रतधारी राजा सत्यसंधने इच्छानुसार अनुनय-विनय करके अपने प्राणोंद्वारा एक ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षा की थी, ऐसा करके वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १६ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अपः प्रदाय शीतोष्णा नाकपृष्ठे महीयते ॥ १७ ॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठको शीतोष्ण जल प्रदान किया था, जिससे वे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हैं ॥

आत्रेयश्चेन्द्रदमनो ह्यर्हते विविधं धनम् ।
दत्त्वा लोकान् ययौ धीमाननन्तान् स महीपतिः ॥ १८ ॥

अत्रिवंशज बुद्धिमान् राजा इन्द्रदमनने एक योग्य ब्राह्मणको नाना प्रकारके धनका दान करके अक्षय लोक प्राप्त किये थे ॥

शिबिरौशीनरोऽङ्गानि सुतं च प्रियमौरसम् ।
ब्राह्मणार्थमुपाहृत्य नाकपृष्ठमितो गतः ॥ १९ ॥

उशीनरके पुत्र राजा शिविने किसी ब्राह्मणके लिये अपने शरीर और प्रिय औरस पुत्रका दान कर दिया था, जिससे वे यहाँसे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १९ ॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय नयने स्वके ।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ २० ॥

काशिराज प्रतर्दनने किसी ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र प्रदान करके इस लोकमें अनुपम कीर्ति प्राप्त की और परलोकमें वे उत्तम सुख भोगते हैं ॥ २० ॥

दिव्यमष्टशलाकं तु सौवर्णं परमर्द्धिमत् ।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २१ ॥

राजा देवावृधने आठ शलाकाओं (ताड़ियों) से युक्त सोनेका बना हुआ बहुमूल्य छत्र दान करके अपने देशकी प्रजाके साथ स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सांकृतिश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम् ।
उपदिश्य महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २२ ॥

अत्रिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी सांकृति अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥

अम्बरीषो गवां दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रतापवान् ।
अर्बुदानि दशैकं च सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २३ ॥

प्रतापी राजा अम्बरीषने ब्राह्मणोंको ग्यारह अर्बुद (एक अरब दस करोड़) गौएँ दानमें देकर देशवासियों-सहित स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २३ ॥

सावित्री कुण्डले दिव्ये शरीरं जनमेजयः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य जग्मतुर्लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

सावित्रीने दो दिव्य कुण्डल दान किये थे और राजा जनमेजयने ब्राह्मणके लिये अपने शरीरका परित्याग किया था । इससे वे दोनों उत्तम लोकमें गये ॥ २४ ॥

सर्वरत्नं वृषादर्भिर्युवनाश्वः प्रियाः स्त्रियः ।
रम्यमावसथं चैव दत्त्वा स्वर्लोकमास्थितः ॥ २५ ॥

वृषदर्भके पुत्र युवनाश्व सब प्रकारके रत्न, अभीष्ट स्त्रियाँ तथा सुरम्य गृह दान करके स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥

निमी राष्ट्रं च वैदेहो जामदग्न्यो वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ चापि गयश्चोर्वीं सपत्तनाम् ॥ २६ ॥

विदेहराज निमिने अपना राज्य और जमदग्निनन्दन परशुराम तथा राजा गयने नगरोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणको दानमें दे दी थी ॥ २६ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत् ।
वसिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २७ ॥

एक बार पानी न बरसनेपर महर्षि वसिष्ठने प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले दूसरे प्रजापतिके समान सम्पूर्ण प्रजाको जीवन-दान दिया था ॥ २७ ॥

करन्धमस्य पुत्रस्तु कृतात्मा मरुत्तस्तथा ।
कन्यामङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम ह ॥ २८ ॥

करन्धमके पुण्यात्मा पुत्र राजा मरुत्तने महर्षि अङ्गिराको कन्यादान करके तत्काल स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया था ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा बुद्धिमतां वरः ।
निधिं शङ्खं द्विजाग्र्येभ्यो दत्त्वा लोकानवाप्तवान् ॥ २९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्तने उत्तम ब्राह्मणोंको शङ्खनिधि देकर पुण्यलोक प्राप्त किये थे ॥ २९ ॥

राजा मित्रसहश्चापि वसिष्ठाय महात्मने ।
मदयन्तीं प्रियां दत्त्वा तया सह दिवं गतः ॥ ३० ॥

राजा मित्रसहने महात्मा वसिष्ठको अपनी प्यारी रानी मदयन्ती देकर उसके साथ ही स्वर्गलोकमें पदार्पण किया था ॥

सहस्रजिच्च राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३१ ॥

महायशस्वी राजर्षि सहस्रजित् ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके परम उत्तम लोकोंमें गये ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम् ।
मुद्गलाय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ ३२ ॥

महाराज शतद्युम्न मुद्गल ब्राह्मणको समस्त भोगोंसे सम्पन्न सुवर्णमय भवन देकर स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ३२ ॥

नाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजः प्रतापवान् ।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३३ ॥

प्रतापी शाल्वराज द्युतिमान्ने ऋचीकको राज्य देकर परम उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३३ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः ।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥ ३४ ॥

शक्तिशाली राजर्षि लोमपाद अपनी पुत्री शान्ताका ऋष्यशृङ्गमुनिको दान करके सब प्रकारके प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न हो गये ॥ ३४ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम् ।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरभिष्टुतान् ॥ ३५ ॥

राजर्षि मदिराश्व हिरण्यहस्तको अपनी सुन्दरी कन्या देकर देववन्दित लोकोंमें गये थे ॥ ३५ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा प्रसेनजित् ।
सवत्सानां महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी राजा प्रसेनजित्ने एक लाख सवत्सा गौओं-का दान करके उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३६ ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसैव च ।
महात्मानो गताः स्वर्गं शिष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

ये तथा और भी बहुतसे शिष्ट स्वभाववाले जितेन्द्रिय

महात्मा दान और तपस्यासे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी ।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन् ॥ ३८ ॥

जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक उनकी कीर्ति संसारमें स्थिर रहेगी । उन सबने दान, यज्ञ और प्रजा-सृष्टिके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकानुप्रश्नविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३४॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणके कर्तव्यका प्रतिपादन करते हुए कालरूप नदको पार करनेका उपाय बतलाना

व्यास उवाच

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥
तिष्ठत्येतेषु भगवान् षट्सु कर्मसु संस्थितः ।

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! ब्राह्मणको चाहिये कि वेदोंमें बतायी गयी त्रयी विद्या—'अ उ म्' इन तीन अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रणवविद्याका चिन्तन एवं विचार करे । वेदके छहों अङ्गोंसहित ऋक्, साम, यजुष् एवं अथर्वके मन्त्रोंका स्वर-व्यञ्जनके सहित अध्ययन करे; क्योंकि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें विराजमान भगवान् धर्म ही इन वेदोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥

वेदवादेषु कुशला ह्यध्यात्मकुशलाश्च ये ॥ २ ॥
सत्त्ववन्तो महाभागाः पश्यन्ति प्रभवाप्ययौ ।
एवं धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ॥ ३ ॥

जो लोग वेदोंके प्रवचनमें निपुण, अध्यात्मज्ञानमें कुशल, सत्त्वगुणसम्पन्न और महान् भाग्यशाली हैं, वे जगत्की सृष्टि और प्रलयको ठीक-ठीक जानते हैं; अतः ब्राह्मणको इस प्रकार धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए शिष्ट पुरुषोंकी भाँति सदाचारका पालन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः ।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण किसी भी जीवको कष्ट न देकर—उसकी जीविकाका हनन न करके अपनी जीविका चलानेकी इच्छा करे । संतोंकी सेवामें रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे, सत्पुरुष बने और शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशल हो ॥ ४ ॥

स्वधर्मेण क्रिया लोके कुर्वाणः सत्यसंगरः ।
तिष्ठते तेषु गृहवान् षट्सु कर्मसु स द्विजः ॥ ५ ॥

जगत्में अपने धर्मके अनुकूल कर्म करे, सत्यप्रतिज्ञ बने । गृहस्थ ब्राह्मणको पूर्वोक्त छः कर्मोंमें ही स्थित रहना चाहिये ॥

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च ।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥ ६ ॥

सदा श्रद्धापूर्वक पञ्च-महायज्ञोंद्वारा परमात्माका पूजन करे, सर्वदा धैर्य धारण करे । प्रमाद (अकर्तव्य कर्मको करने और कर्तव्य कर्मकी अवहेलना करने) से बचे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे, धर्मका ज्ञाता बने और मनको भी अपने अधीन रक्खे ॥ ६ ॥

वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ॥ ७ ॥
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ।

जो ब्राह्मण हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, उसे कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता है । दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और इन्द्रियसंयम—इन सद्गुणोंसे ब्राह्मण अपने तेजकी वृद्धि और पापका नाश करता है ॥ ७½ ॥

धूतपाप्मा च मेधावी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ।

इस प्रकार पाप धुल जानेपर बुद्धिमान् ब्राह्मण स्वल्पाहार करते हुए इन्द्रियोंको जीते और काम तथा क्रोधको अधीन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ८½ ॥

अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ९ ॥
वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसां चाधर्मसंहिताम् ।
एषा पूर्वगता वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १० ॥

अग्नि, ब्राह्मण और देवताओंको प्रणाम एवं उनका पूजन करे । कड़वी बात मुँहसे न निकाले और हिंसा न करे; क्योंकि वह अधर्मसे युक्त है । यह ब्राह्मणके लिये परम्परागत वृत्ति (कर्तव्य) का विधान किया गया है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानागमेन कर्माणि कुर्वन् कर्मसु सिध्यति ।
पञ्चेन्द्रियजलां घोरां लोभकूलां सुदुस्तराम् ॥ ११ ॥
मन्युपङ्कामनाधृष्यां नदीं तरति बुद्धिमान् ।
कालमभ्युद्यतं पश्येन्नित्यमत्यन्तमोहनम् ॥ १२ ॥

कर्मोंके तत्त्वको जानकर उनका अनुष्ठान करनेसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है । संसारका जीवन एक भयंकर नदीके समान है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इस नदीका जल हैं । लोभ किनारा है । क्रोध इसके भीतर कीचड़ है । इसे पार करना अत्यन्त कठिन है और इसके वेगको दबाना अत्यन्त असम्भव है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष इसे पार कर जाता है । प्राणियोंको अत्यन्त मोहमें डालनेवाला काल सदा आक्रमण करनेके लिये उद्यत है, इस बातकी ओर सदा ही दृष्टि रखे ॥ ११-१२ ॥

महता विधिदृष्टेन बलेनाप्रतिघातिना ।
स्वभावस्रोतसा वृत्तमुह्यते सततं जगत् ॥ १३ ॥

जो महान् है, जो विधाताकी ही दृष्टिमें आ सकता है तथा जिसका बल कहीं प्रतिहत नहीं होता, उस स्वभावरूप

धारा-प्रवाहमें यह सारा जगत् निरन्तर बहता जा रहा है ॥

कालोदकेन महता वर्षावर्तेन संततम् ।
मासोर्मिणर्तुवेगेन पक्षोलपतृणेन च ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषफेनेन अहोरात्रजलेन च ।
कामग्राहेण घोरेण वेदयज्ञप्लवेन च ॥ १५ ॥
धर्मद्वीपेन भूतानां चार्थकामजलेन च ।
ऋतवाङ्मोक्षतीरेण विहिंसातरुवाहिना ॥ १६ ॥
युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च ।
धात्रा सृष्टानि भूतानि कृष्यन्ते यमसादनम् ॥ १७ ॥

कालरूपी महान् नद बह रहा है । इसमें वर्षरूपी भँवरें सदा उठ रही हैं । महीने इसकी उत्ताल तरंगें हैं । ऋतु वेग हैं । पक्ष लता और तृण हैं । निमेष और उन्मेष फेन हैं । दिन और रात जल-प्रवाह हैं । कामदेव भयंकर ग्राह है । वेद और यज्ञ नौका हैं । धर्म प्राणियोंका आश्रयभूत द्वीप है । अर्थ और काम जल हैं । सत्यभाषण और मोक्ष दोनों किनारे हैं । हिंसारूपी वृक्ष उस कालरूपी प्रवाहमें बह रहे हैं । युग ह्रद है तथा ब्रह्म ही उस कालनदको उत्पन्न करनेवाला पर्वत है । उसी प्रवाहमें पड़कर विधाताके रचे हुए समस्त प्राणी यमलोककी ओर खिंचे चले जा रहे हैं ॥ १४—१७ ॥

एतत् प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः ।
प्लवैरप्लववन्तो हि किं करिष्यन्त्यचेतसः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् और धीर मनुष्य प्रज्ञारूप नौकाओंद्वारा उस कालनदके पार हो जाते हैं । जो वैसी नौकाओंसे रहित हैं, वे अविवेकी मनुष्य क्या करेंगे ? ॥ १८ ॥

उपपन्नं हि यत् प्राज्ञो निस्तरेन्नेतरो जनः ।
दूरतो गुणदोषौ हि प्राज्ञः सर्वत्र पश्यति ॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुष जो कालनदसे पार हो जाता है और अज्ञानी मनुष्य नहीं पार होता है, यह युक्तिसङ्गत ही है; क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष सर्वत्र गुण और दोषोंको दूरसे ही देख लेता है ॥ १९ ॥

संशयं स तु कामात्मा चलचित्तोऽल्पचेतनः ।
अप्राज्ञो न तरत्येनं यो ह्यास्ते न स गच्छति ॥ २० ॥

कामनाओंमें आसक्त, चञ्चलचित्त, मन्दबुद्धि एवं अज्ञानी पुरुष संदेहमें पड़ जानेके कारण कालनदको पार नहीं कर पाता तथा जो निश्चेष्ट होकर बैठ जाता है, वह भी उसके पार नहीं जा सकता ॥ २० ॥

अप्लवो हि महादोषं मुह्यमानो नियच्छति ।
कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ॥ २१ ॥

जिसके पास ज्ञानमयी नौका नहीं है, वह मोहितचित्त मूढ़ मानव महान् दोषको प्राप्त होता है । कामरूपी ग्राहसे पीड़ित होनेके कारण ज्ञान भी उसके लिये नौका नहीं बन पाता ॥ २१ ॥

तस्मादुन्मज्जनस्यार्थे प्रयतेत विचक्षणः ।
एतदुन्मज्जनं तस्य यदयं ब्राह्मणो भवेत् ॥ २२ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको कालनद या भवसागरसे पार होनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये । उसका पार होना यही है कि वह वास्तवमें ब्राह्मण बन जाय अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे ॥ २२ ॥

अवदातेषु संजातस्त्रिसंदेहस्त्रिकर्मकृत् ।
तस्मादुन्मज्जने तिष्ठेत् प्रज्ञया निस्तरेद् यथा ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—इन तीन कर्मोंको संदेहकी दृष्टिसे देखे (कि कहीं इनमें आसक्त न हो जाऊँ) और अध्ययन, यजन तथा दान—इन तीन कर्मोंका अवश्य पालन करे । वह जैसे भी हो प्रज्ञाद्वारा अपने उद्धारका प्रयत्न करे, उस कालनदसे पार हो जाय ॥ २३ ॥

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च ॥ २४ ॥

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती ॥ २४ ॥

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः ।
पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥ २५ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण क्रोध और दोषदृष्टिका त्याग करके पूर्वोक्त नियमोंके पालनमें संलग्न रहे । नित्य पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे और यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करे ॥ २५ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंरोधेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेदगर्हिताम् ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मके अनुसार चले और शिष्टाचारका पालन करे तथा ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे, जिससे दूसरे लोगोंकी जीविकाका हनन न हो और जिसकी लोकमें निन्दा न होती हो ॥ २६ ॥

श्रुतिविज्ञानतत्त्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः ।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यसंकरः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणको वेदका विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, सदाचारी और चतुर होना चाहिये । वह अपने धर्मके अनुसार कार्य करे, परंतु कर्मद्वारा संकरता न फैलावे अर्थात् स्वधर्म और पर-धर्मका सम्मिश्रण न करे ॥ २७ ॥

क्रियावाञ्छ्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥ २८ ॥

जो अपने धर्मके अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, विद्वान्, किसीके दोष न देखनेवाला तथा धर्म और अधर्मका विशेषज्ञ है, वह सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ २८ ॥

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ २९ ॥

जो धैर्यवान्, प्रमादशून्य, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी

तथा हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषादको नहीं प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एषा पुरातनी वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
ज्ञानवत्त्वेन कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ ३० ॥

यह ब्राह्मणकी प्राचीनकालसे चली आनेवाली वृत्तिका विधान किया गया है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले ब्राह्मणको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अधर्मं धर्मकामो हि करोति ह्यविचक्षणः ।
धर्मं वाधर्मसंकाशं शोचन्निव करोति सः ॥ ३१ ॥

धर्मं करोमीति करोत्यधर्म-
मधर्मकामश्च करोति धर्मम् ।
उभे बालः कर्मणी न प्रजानन्
स जायते म्रियते चापि देही ॥ ३२ ॥

जो मूढ़ है, वह धर्मकी इच्छा रखकर भी अधर्म करता है अथवा शोकमग्न-सा होकर अधर्मतुल्य धर्मका सम्पादन करता है। मूर्ख या अविवेकी मनुष्य न जाननेके कारण 'मैं धर्म कर रहा हूँ' ऐसा समझकर अधर्म करता है और अधर्मकी इच्छा रखकर धर्म करता है, इस प्रकार अज्ञानपूर्वक दोनों तरहके कर्म करनेवाला देहधारी मनुष्य बारंबार जन्म लेता और मरता है ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ध्यानके सहायक योग, उनके फल और सात प्रकारकी धारणाओंका वर्णन तथा सांख्य एवं योगके अनुसार ज्ञानद्वारा मोक्षकी प्राप्ति

व्यास उवाच

अथ चेद् रोचयेदेतद्दुह्येत स्रोतसा यथा ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानवान् प्लववान् भवेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! मनुष्य जिस प्रकार डूबता-उतराता हुआ जलके प्रवाहमें बहता रहता है और यदि संयोगवश कोई नौका मिल गयी तो उसकी सहायतासे पार लग जाता है, उसी प्रकार संसार-सागरमें डूबता-उतराता हुआ मानव यदि इस संकटसे मुक्त होना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेना चाहिये ॥ १ ॥

प्रज्ञया निश्चिता धीरास्तारयन्त्यबुधान् प्लवैः ।
नाबुधास्तारयन्त्यन्यानात्मानं वा कथंचन ॥ २ ॥

जिन्हें बुद्धिद्वारा तत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया है, वे धीर पुरुष अपनी ज्ञाननौकाद्वारा दूसरे अज्ञानियोंको भी भवसागरसे पार कर देते हैं, परंतु जो अज्ञानी हैं वे न तो दूसरोंको तार सकते है और न अपना ही किसी प्रकार उद्धार कर पाते हैं ॥ २ ॥

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश ।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥ ३ ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च ।

समाहितचित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके राग आदि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंका आश्रय ले ध्यानयोगका अभ्यास करे* ॥ ३½ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या य इच्छेज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः ।

जो उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे बुद्धिके द्वारा मन और वाणीको जीतना चाहिये तथा जो अपने लिये शान्ति चाहे, उसे ज्ञानद्वारा बुद्धिको परमात्मामें नियन्त्रित करना चाहिये ॥ ४½ ॥

एतेषां चेदनुद्रष्टा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ ५ ॥
यदि वा सर्ववेदज्ञो यदि वाप्यनृचो द्विजः ।
यदि वा धार्मिको यज्वा यदि वा पापकृत्तमः ॥ ६ ॥

* ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है । ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं । आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये । यही कर्मनामक योग है । परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है । संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं । गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है । चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है । शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग । विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये ।

यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लेशधारितः ।
तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम् ॥ ७ ॥

मनुष्य अत्यन्त दारुण हो या सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता हो अथवा ब्राह्मण होकर भी वैदिकज्ञानसे शून्य हो अथवा धर्म-परायण एवं यज्ञशील हो या घोर पापाचारी हो अथवा पुरुषोंमें सिंहके समान शूरवीर हो या बड़े कष्टसे जीवन धारण करता हो, वह यदि इन बारह योगोंका भलीभाँति साक्षात्कार अर्थात् ज्ञान कर ले तो जरा-मृत्युके परम दुर्गम समुद्रसे पार हो जाता है ॥ ५—७ ॥

एवं ह्येतेन योगेन युञ्जानो ह्येवमन्ततः ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार सिद्धिपर्यन्त इस योगका अभ्यास करनेवाला पुरुष यदि ब्रह्मका जिज्ञासु हो तो वेदोक्त सकाम कर्मोंकी सीमाको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

धर्मोपस्थो ह्रीवरूथ उपायापायकूबरः ।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः ॥ ९ ॥
चेतनाबन्धुरश्चारुश्चाचारग्रहनेमिमान् ।
दर्शनस्पर्शनवहो घ्राणश्रवणवाहनः ॥ १० ॥
प्रज्ञानाभिः सर्वतन्त्रप्रतोदो ज्ञानसारथिः ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितो धीरः श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ११ ॥
त्यागसूक्ष्मानुगः क्षेम्यः शौचगो ध्यानगोचरः ।
जीवयुक्तो रथो दिव्यो ब्रह्मलोके विराजते ॥ १२ ॥

यह योग एक सुन्दर रथ है । धर्म ही इसका पिछला भाग या बैठक है । लज्जा आवरण है । पूर्वोक्त उपाय और अपाय इसका कूबर है । अपानवायु धुरा है । प्राणवायु जूआ है । बुद्धि आयु है । जीवन बन्धन है । चैतन्य बन्धुर है । सदाचार-ग्रहण इस रथकी नेमि हैं । नेत्र, त्वचा, घ्राण और श्रवण इसके वाहन हैं । प्रज्ञा नाभि है । सम्पूर्ण शास्त्र चाबुक है । ज्ञान सारथि है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इसपर रथी बनकर बैठा हुआ है । यह रथ धीरे-धीरे चलनेवाला है । श्रद्धा और इन्द्रियदमन इस रथके आगे-आगे चलनेवाले रक्षक हैं । त्यागरूपी सूक्ष्म गुण इसके अनुगामी (पृष्ठ-रक्षक) हैं । यह मङ्गलमय रथ ध्यानके पवित्र मार्गपर चलता है । इस प्रकार यह जीवयुक्त दिव्य रथ ब्रह्मलोकमें विराजमान होता है अर्थात् इसके द्वारा जीवात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ९—१२ ॥

अथ संत्वरमाणस्य रथमेवं युयुक्षतः ।
अक्षरं गन्तुमनसो विधिं वक्ष्यामि शीघ्रगम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार योगरथपर आरूढ़ हो साधनकी इच्छा रखनेवाले तथा अविनाशी परब्रह्म परमात्माको तत्काल प्राप्त करनेकी कामनावाले साधकको जिस उपायसे शीघ्र सफलता मिलती है, वह उपाय मैं बता रहा हूँ ॥ १३ ॥

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते ।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ १४ ॥

साधक वाणीका संयम करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बुद्धि और अहंकारसम्बन्धी सात धारणाओंको सिद्ध करता है । इनके विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंवृत्ति और निश्चय) से सम्बन्धित सात प्रधारणाएँ इनकी पार्श्ववर्तिनी एवं पृष्ठवर्तिनी हैं ॥ १४ ॥

क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः ।
ज्योतिषो यत् तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः ।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

साधक क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धिके ऐश्वर्यपर अधिकार कर लेता है । इसके बाद वह क्रमपूर्वक अव्यक्त ब्रह्मका ऐश्वर्य भी प्राप्त कर लेता है* ॥

विक्रमाश्चापि यस्यैते तथा युक्तेषु योगतः ।
तथा योगस्य युक्तस्य सिद्धिमात्मनि पश्यतः ॥ १६ ॥

अब योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुए योगियोंमेंसे जिस योगीको ये आगे बताये जानेवाले पृथ्वीजय आदि ऐश्वर्य जिस प्रकार प्राप्त होते हैं; वह बताता हूँ तथा धारणापूर्वक ध्यान करते समय ब्रह्म-प्राप्तिका अनुभव करनेवाले योगीको जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद् रूपाणीमानि पश्यतः ।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नभः ॥ १७ ॥

साधक जब स्थूल देहके अभिमानसे मुक्त होकर ध्यानमें स्थित होता है, उस समय सूक्ष्मदृष्टिसे युक्त होनेके कारण उसे कुछ इस तरहके रूप (चिह्न) दिखायी पड़ते हैं । प्रारम्भमें पृथ्वीकी धारणा करते समय मालूम होता है कि शिशिरकालीन कुहरेके समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर रही है ॥ १७ ॥

तथा देहाद् विमुक्तस्य पूर्वं रूपं भवत्युत ।
अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार देहाभिमानसे मुक्त हुए योगीके अनुभवका यह पहला रूप है । जब कुहरा निवृत्त हो जाता है, तब दूसरे रूपका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

---

* पातञ्जलयोग-दर्शनमें 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् एकदेशमें चित्तको एकाग्र करना धारणा बतलाया गया है । साधक सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्वमें चित्तको लगावे । इस धारणासे उसका पृथ्वीतत्त्वपर अधिकार हो जाता है । फिर पृथ्वीतत्त्वको जलतत्त्वमें विलीन करके जलतत्त्वकी धारणा करे । इससे साधक जलतत्त्वका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है । फिर जल-तत्त्वको अग्नितत्त्वमें विलीन करके अग्नितत्त्वकी धारणा करे । इससे अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जाता है । तदनन्तर अग्निको वायुमें विलीन करके चित्तको वायुतत्त्वमें एकाग्र करे । इससे साधक वायुतत्त्वपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है । इसीप्रकार क्रमशः वायुको आकाशमें और आकाशको मनमें और मनको बुद्धिमें लय करके उस-उस तत्त्वकी धारणा करे । इस प्रकार धारणाके ये सात स्तर हैं । अन्तमें बुद्धिको अव्यक्त ब्रह्ममें विलीन कर देना चाहिये ।

जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यति ।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते ॥ १९ ॥

वह सम्पूर्ण आकाशमें जल-ही-जल-सा देखता है तथा आत्माको भी जलरूप अनुभव करता है (यह अनुभव जल-तत्त्वकी धारणा करते समय होता है) । फिर जलका लय हो जानेपर अग्नितत्त्वकी धारणा करते समय उसे सर्वत्र अग्नि प्रकाशित दिखायी देती है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते ।
ऊर्णारूपसवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ २० ॥

उसके भी लय हो जानेपर योगीको आकाशमें सर्वत्र फैले हुए वायुका ही अनुभव होता है । उस समय वृक्ष और पर्वत आदि अपने समस्त शस्त्रोंको पी जानेके कारण वायुकी 'पीतशस्त्र' संज्ञा हो जाती है अर्थात् पृथ्वी, जल और तेजरूप समस्त पदार्थोंको निगलकर वायु केवल आकाशमें ही आन्दोलित होता रहता है और साधक स्वयं भी ऊनके धागेके समान अत्यन्त छोटा और हलका होकर अपनेको निराधार आकाशमें वायुके साथ ही स्थित मानता है ॥ २० ॥

अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममप्युत ।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमप्युक्तं ब्राह्मणस्य वै ॥ २१ ॥

तदनन्तर तेजका संहार और वायु-तत्त्वपर विजय प्राप्त होनेके पश्चात् वायुका सूक्ष्म रूप स्वच्छ आकाशमें लीन हो जाता है और केवल नीलाकाशमात्र शेष रह जाता है । उस अवस्थामें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले योगीका चित्त अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, ऐसा बताया गया है । (उसे अपने स्थूल रूपका तनिक भी भान नहीं रहता । यही वायुका लय और आकाशतत्त्वपर विजय कहलाता है ।) ॥ २१ ॥

एतेष्वपि हि जातेषु फलजातानि मे शृणु ।
जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयते ॥ २२ ॥

इन सब लक्षणोंके प्रकट हो जानेपर योगीको जो-जो फल प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो । पार्थिव ऐश्वर्यकी सिद्धि हो जानेपर योगीमें सृष्टि करनेकी शक्ति आ जाती है ॥

प्रजापतिरिवाक्षोभ्यः शरीरात् सृजते प्रजाः ।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठमात्रेण हस्तपादेन वा तथा ॥ २३ ॥
पृथिवीं कम्पयत्येको गुणो वायोरिति श्रुतिः ।

वह प्रजापतिके समान क्षोभरहित होकर अपने शरीरसे प्रजाकी सृष्टि कर सकता है । जिसको वायुतत्त्व सिद्ध हो जाता है, वह बिना किसीकी सहायताके हाथ-पैर, अँगूठे अथवा अङ्गुलिमात्रसे दबाकर पृथ्वीको कम्पित कर सकता है—ऐसा सुननेमें आया है २३½ ॥

आकाशभूतश्चाकाशे सवर्णत्वात् प्रकाशते ॥ २४ ॥
वर्णतो गृह्यते चापि कामात् पिबति चाशयान् ।

आकाशको सिद्ध करनेवाला पुरुष आकाशमें आकाशके ही समान सर्वव्यापी हो जाता है । वह अपने शरीरको अन्तर्धान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है । जिसका जल-तत्त्वपर अधिकार होता है, वह इच्छा करते ही बड़े-बड़े जलाशयोंको पी जाता है ॥ २४½ ॥

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते शाम्यते तथा ।
अहङ्कारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ॥ २५ ॥

अग्नितत्त्वको सिद्ध कर लेनेपर वह अपने शरीरको इतना तेजस्वी बना लेता है कि कोई उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता और न उसके तेजको बुझा ही सकता है । अहंकारको जीत लेनेपर पाँचों भूत योगीके वशमें हो जाते हैं ॥

षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ ।
निर्दोषप्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ॥ २६ ॥

पञ्चभूत और अहंकार—इन छः तत्त्वोंका आत्मा है बुद्धि । उसको जीत लेनेपर सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है तथा उस योगीको निर्दोष प्रतिभा (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) पूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

तथैव व्यक्तमात्मानमव्यक्तं प्रतिपद्यते ।
यतो निःसरते लोको भवति व्यक्तसंज्ञकः ॥ २७ ॥

उपर्युक्त सप्त पदार्थोंका कार्यभूत व्यक्त जगत् अव्यक्त परमात्मामें ही विलीन हो जाता है, क्योंकि उन्हीं परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न होता है और व्यक्त नाम धारण करता है ॥

तत्राव्यक्तमयीं विद्यां शृणु त्वं विस्तरेण मे ।
तथा व्यक्तमयं चैव सांख्ये पूर्वं निबोध मे ॥ २८ ॥

वत्स ! तुम सांख्यदर्शनमें वर्णित अव्यक्तविद्याका विस्तारपूर्वक मुझसे श्रवण करो । सर्वप्रथम सांख्यशास्त्रमें कथित व्यक्तविद्याको मुझसे समझो ॥ २८ ॥

पञ्चविंशति तत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम् ।
योगे सांख्येऽपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २९ ॥

सांख्य और पातञ्जलयोग—इन दोनों दर्शनोंमें समान-भावसे पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है* । इस

* सांख्य-कारिकामें बतलाया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सां० का० ३)

मूलप्रकृति—अव्याकृत माया, महत्तत्त्व आदि प्रकृतिके सात विकार—महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), सोलह विकार—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और शिश्न) तथा मन और पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) एवं पुरुष, जो न प्रकृति है और न प्रकृतिका विकार ही—इस प्रकार सांख्यके अनुसार ये पचीस तत्त्व हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।
(योग० साधनपाद १९)

'विशेष—पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, अविशेष—पञ्चतन्मात्रा और अहंकार, लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व, अलिङ्ग—मूलप्रकृति; इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व एवं पचीसवाँ द्रष्टा (पुरुष) है।

विषयमें जो विशेष बात है, वह मुझसे सुनो ॥ २९ ॥

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत् ।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ॥ ३० ॥

जन्म, वृद्धि, जरा और मरण—इन चार लक्षणोंसे युक्त जो तत्त्व है, उसीको व्यक्त कहते हैं ॥ ३० ॥

विपरीतमतो यत् तु तदव्यक्तमुदाहृतम् ।
द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व इसके विपरीत है अर्थात् जिसमें जन्म आदि चारों विकार नहीं हैं, उसे अव्यक्त कहा गया है। वेदों और सिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रोंमें उस अव्यक्तके दो भेद बताये गये हैं—जीवात्मा और परमात्मा ॥ ३१ ॥

चतुर्लक्षणजं त्वाद्यं चतुर्वर्गं प्रचक्षते ।
व्यक्तमव्यक्तजं चैव तथा बुद्धमथेतरत् ।
सत्त्वं क्षेत्रज्ञ इत्येतद् द्वयमप्यनुदर्शितम् ॥ ३२ ॥
द्वावात्मानौ च वेदेषु विषयेष्वनुरज्यतः ।
विषयात् प्रतिसंहारः सांख्यानां सिद्धिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

अव्यक्त होते हुए भी जीवात्मा व्यक्तके सम्पर्कसे जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु—इन चार लक्षणोंसे युक्त तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंसे सम्बन्धित कहा जाता है। दूसरा अव्यक्त परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। व्यक्त (जडवर्ग) की उत्पत्ति उसी अव्यक्त (परमात्मा) से होती है। व्यक्तको सत्त्व (जडवर्ग—क्षेत्र) तथा अव्यक्त जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनोंहीका वर्णन किया गया है। वेदोंमें भी पूर्वोक्त दो आत्मा बताये गये हैं। विषयोंमें आसक्त हुआ जीवात्मा जब आसक्तिरहित होकर विषयोंसे निवृत्त हो जाता है, तब वह मुक्त कहलाता है। सांख्यवादियोंके मतमें यही मोक्षका लक्षण है ॥ ३२-३३ ॥

निर्ममश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुद्ध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ॥ ३४ ॥
आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम् ।
वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः ॥ ३५ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते ।

जिसने ममता और अहंकारका त्याग कर दिया है, जो शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको समानभावसे सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं, जो कभी क्रोध और द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, किसीकी गाली सुनकर और मार खाकर भी उसका अहित नहीं सोचता, सबपर मित्रभाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाता और समस्त प्राणियोंपर समानभाव रखता है, वही योगी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३४-३५३ ॥

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ॥ ३६ ॥
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ॥ ३७ ॥
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ३८ ॥
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः ।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ॥ ३९ ॥

जो किसी वस्तुकी न तो इच्छा करता है, न अनिच्छा ही करता है, जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जो कुछ मिल जाता है, उसीपर संतोष करता है, जो निर्लोभ, व्यथारहित और जितेन्द्रिय है, जिसको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे ही, जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चञ्चल नहीं होते, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो समस्त प्राणियोंपर समान दृष्टि और मैत्रीभाव रखता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णको एक-सा समझता है, जिसकी दृष्टिमें प्रिय और अप्रियका भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा तथा स्तुतिमें सम रहता है, जो सम्पूर्ण भोगोंमें स्पृहारहित है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित है तथा जो सब प्राणियोंमें हिंसाभावसे रहित है, ऐसा सांख्ययोगी (ज्ञानी) संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६—३९ ॥

यथा योगाद् विमुच्यन्ते कारणैर्यैर्निबोध तत् ।
योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते ॥ ४० ॥

योगी जिस प्रकार और जिन कारणोंसे योगके फलस्वरूप मोक्ष लाभ करते हैं, अब उन्हें बताता हूँ, सुनो। जो पर-वैराग्यके बलसे योगजनित ऐश्वर्यको लाँघकर उसकी सीमासे बाहर निकल जाता है, वही मुक्त होता है ॥ ४० ॥

इत्येषा भावजा बुद्धिः कथिता ते न संशयः ।
एवं भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्माणं चाधिगच्छति ॥ ४१ ॥

बेटा ! यह तुम्हारे निकट मैंने भावशुद्धिसे प्राप्त होनेवाली बुद्धिका वर्णन किया है। जो उपर्युक्तरूपसे साधना करके द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, वही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सृष्टिके समस्त कार्योंमें बुद्धिकी प्रधानता और प्राणियोंकी श्रेष्ठताके तारतम्यका वर्णन

व्यास उवाच

अथ ज्ञानप्लवं धीरो गृहीत्वा शान्तिमात्मनः ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानमेवाभिसंश्रयेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! धीर पुरुषको चाहिये

कि वह विवेकरूप नौकाका अवलम्बन लेकर भवसागरमें डूबता-उतरता हुआ अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी परम शान्तिके लिये वास्तविक ज्ञानके आश्रित हो जाय ॥ १ ॥

शुक उवाच

किं तज्ज्ञानमथो विद्या यथा निस्तरते द्वयम्।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिरिति वा वद ॥ २ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! जिसके द्वारा मनुष्य जन्म और मृत्यु दोनोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है, वह ज्ञान अथवा विद्या क्या है ? वह प्रवृत्तिरूप धर्म है या निवृत्ति-रूप ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यस्तु पश्यन् स्वभावेन विनाभावमचेतनः।
पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया मुक्तहेतुकान् ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—जो यह समझता है कि यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न है, इसका कोई चेतन मूल कारण नहीं है, वह अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ तर्कयुक्त बुद्धिद्वारा हेतुरहित वचनोंका बारंबार पोषण करता रहता है ॥ ३ ॥

येषां चैकान्तभावेन स्वभावात् कारणं मतम्।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन ॥ ४ ॥

जिनकी यह मान्यता है कि निश्चित-रूपसे वस्तुगत स्वभाव ही जगत्का कारण है—स्वभावसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं है, (किंतु इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होने मात्र हेतुसे उनका यह मानना कि ईश्वर-जैसा कोई जगत्का कारण है ही नहीं, युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि) मूँजके भीतर स्थित दिखायी न देनेवाली सींक क्या मूँजको चीर डालनेपर उन्हें उपलब्ध नहीं होती ? अपितु अवश्य होती है (उसी प्रकार समस्त जगत्मे व्याप्त परमात्मा यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा दिखायी नहीं देता तो भी उसकी उपलब्धि दिव्य-ज्ञानके द्वारा अवश्य होती है) ॥ ४ ॥

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः।
स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते ॥ ५ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव इस नास्तिक-मतका अवलम्बन करके स्वभावहीको कारण जानकर परमेश्वरकी उपासनासे निवृत्त हो जाते हैं, वे कल्याणके भागी नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्म मनोभवः।
निरुक्तमेतयोरेतत् स्वभावपरिभावयोः ॥ ६ ॥

नास्तिक लोग जो स्वभाववादका आश्रय लेकर ईश्वर और अदृष्टकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनका मोह-जनित कार्य है, स्वभाववाद मूढ़ोंकी कल्पनामात्र है। यह मानवोंको परमार्थसे वञ्चित करके उनका विनाश करनेके लिये ही उपस्थित किया गया है । स्वभाव और परिभावके तत्त्वका यह आगे बताया जानेवाला विवेचन सुनो ॥ ६ ॥

कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च ॥ ७ ॥

देखा जाता है कि जगत्में बुद्धिसम्पन्न चेतन प्राणियोंद्वारा ही भूमिको जोतने आदिके कार्य, अनाजके बीजोंका संग्रह तथा सवारी, आसन और गृहनिर्माण—ये सब कार्य सदासे किये जाते हैं। यदि स्वभावसे ये कार्य हो जाते तो कोई इनमें प्रवृत्त ही न होता ॥ ७ ॥

आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः ॥ ८ ॥

बेटा ! चेतन प्राणी क्रीडाके लिये स्थान और रहनेके लिये घर बनाते हैं । वे ही रोगोंको पहचानकर उनपर ठीक-ठीक दवाका प्रयोग करते हैं । बुद्धिमान् पुरुषोंद्वारा ही इन सब कार्योंका यथावत् अनुष्ठान होता है (स्वभावसे—अपने आप नहीं) ॥ ८ ॥

प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः प्रज्ञा श्रेयोऽधिगच्छति।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥ ९ ॥

बुद्धि ही धनकी प्राप्ति कराती है । बुद्धिसे ही मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है । एक-से लक्षणोंवाले राजाओंमें भी जो बुद्धिमें बढ़े-चढ़े होते हैं, वे ही राज्यका उपभोग और दूसरोंपर शासन करते हैं ॥ ९ ॥

परावरं तु भूतानां ज्ञानेनैवोपलभ्यते।
विद्यया तात सृष्टानां विद्यैवेह परा गतिः ॥ १० ॥

तात ! प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म या छोटे-बड़ेका भेद बुद्धिसे ही जाना जाता है । इस जगत्में सब प्राणियोंकी सृष्टि विद्यासे हुई है और उनकी परम गति विद्या ही है ॥ १० ॥

भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम्।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत् ॥ ११ ॥

संसारमें जो नाना प्रकारके जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चतुर्विध प्राणी हैं, उन सबके जन्मकी ओर भी लक्ष्य करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्थावरेभ्यो विशिष्टानि जङ्गमान्युपधारयेत्।
उपपन्नं हि यच्चेष्टा विशिष्येत विशेष्यया ॥ १२ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणियोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये। यह बात युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि उनमें विशेषरूप-से चेष्टा देखी जाती है, इस विशेषताके कारण जङ्गम प्राणियों-की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है ॥ १२ ॥

आहुर्वै बहुपादानि जङ्गमानि द्वयानि तु।
बहुपाद्भ्यो विशिष्टानि द्विपदानि बहून्यपि ॥ १३ ॥

जङ्गम जीवोंमें भी बहुत पैरवाले और दो पैरवाले—ये दो तरहके प्राणी होते हैं । इनमें बहुत पैरवालोंकी अपेक्षा दो पैरवाले अनेक प्राणी श्रेष्ठ बताये गये हैं ॥ १३ ॥

द्विपदानि द्वयान्याहुः पार्थिवानीतराणि च।
पार्थिवानि विशिष्टानि तानि ह्यन्नानि भुञ्जते ॥ १४ ॥

दो पैरवाले जङ्गम प्राणी भी दो प्रकारके कहे गये हैं—पार्थिव (मनुष्य) और अपार्थिव (पक्षी) । अपार्थिवोंसे पार्थिव श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे अन्न भोजन करते हैं ॥ १४ ॥

पार्थिवानि द्वयान्याहुर्मध्यमान्यधमानि तु ।
मध्यमानि विशिष्टानि जातिधर्मोपधारणात् ॥ १५ ॥

पार्थिव (मनुष्य) भी दो प्रकारके बताये गये हैं—मध्यम और अधम । उनमें मध्यम मनुष्य अधमकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जाति-धर्मको धारण करते हैं ॥ १५ ॥

मध्यमानि द्वयान्याहुर्धर्मज्ञानीतराणि च ।
धर्मज्ञानि विशिष्टानि कार्याकार्योपधारणात् ॥ १६ ॥

मध्यम मनुष्य दो प्रकारके कहे गये हैं—धर्मज्ञ और धर्मसे अनभिज्ञ । इनमें धर्मज्ञ ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विवेक रखते और कर्त्तव्यका पालन करते हैं ॥ १६ ॥

धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च ।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः ॥ १७ ॥

धर्मज्ञोंके भी दो भेद कहे गये हैं—वेदज्ञ और अवेदज्ञ । इनमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें वेद प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

वेदज्ञानि द्वयान्याहुः प्रवक्तृणीतराणि च ।
प्रवक्तृणि विशिष्टानि सर्वधर्मोपधारणात् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ भी दो प्रकारके बताये गये हैं—प्रवक्ता और अप्रवक्ता । इनमें प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वेदमें बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंको धारण करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

विज्ञायन्ते हि यैर्वेदाः सधर्माः सक्रियाफलाः ।
सधर्मा निखिला वेदाः प्रवक्तृभ्यो विनिःसृताः ॥ १९ ॥

एवं उन्हींके द्वारा धर्म, कर्म और फलोंसहित वेदोंका ज्ञान दूसरोंको होता है । धर्मसहित सम्पूर्ण वेद प्रवक्ताओंके ही मुखसे प्रकट होते हैं ॥ १९ ॥

प्रवक्तृणि द्वयान्याहुरात्मज्ञानीतराणि च ।
आत्मज्ञानि विशिष्टानि जन्माजन्मोपधारणात् ॥ २० ॥

प्रवक्ता भी दो प्रकारके कहे गये हैं—आत्मज्ञ और अनात्मज्ञ । इनमें आत्मज्ञ पुरुष ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझते हैं ॥ २० ॥

धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वज्ञः स सर्ववित् ।
स त्यागी सत्यसंकल्पः सत्यः शुचिरथेश्वरः ॥ २१ ॥

जो प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो प्रकारके धर्मको जानता है, वही सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, त्यागी, सत्यसंकल्प, सत्यवादी, पवित्र और समर्थ होता है ॥ २१ ॥

ब्रह्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम् ॥ २२ ॥

जो शब्दब्रह्म (वेद) में पारङ्गत होकर परब्रह्मके तत्त्वका निश्चय कर चुका है और सदा ब्रह्मज्ञानमें ही स्थित रहता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ २२ ॥

अन्तःस्थं च बहिष्ठं च साधियज्ञाधिदैवतम् ।
ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः ॥ २३ ॥

बेटा ! जो लोग ज्ञानवान् होकर बाहर और भीतर व्याप्त अधियज्ञ (परमात्मा) और अधिदैव (पुरुष) का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे ही देवता और वे ही द्विज हैं ॥ २३ ॥

तेषु विश्वमिदं भूतं सर्वं च जगदाहितम् ।
तेषां माहात्म्यभावस्य सदृशं नास्ति किंचन ॥ २४ ॥

उन्हींमें यह सारा विश्व, सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है । उनके माहात्म्यकी कहीं कोई तुलना नहीं है ॥ २४ ॥

आद्यन्ते निधनं चैव कर्म चातीत्य सर्वशः ।
चतुर्विधस्य भूतस्य सर्वस्येशाः स्वयम्भुवः ॥ २५ ॥

वे जन्म, मृत्यु और कर्मकी सीमाको भलीभाँति लाँघकर समस्त चतुर्विध प्राणियोंके अधीश्वर एवं स्वयम्भू होते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके भूतोंकी समीक्षापूर्वक कर्मतत्त्वका विवेचन, युगधर्मका वर्णन एवं कालका महत्त्व

व्यास उवाच

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! यह ब्राह्मणकी अत्यन्त प्राचीनकालसे चली आयी हुई वृत्ति है, जो शास्त्रविहित है । ज्ञानवान् मनुष्य ही सर्वत्र कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १ ॥

तत्र चेन्न भवेदेवं संशयः कर्मसिद्धये ।
किं तु कर्म स्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः ॥ २ ॥

यदि कर्ममें संशय न हो तो वह सिद्धि देनेवाला होता है । यहाँ संदेह यह होता है कि क्या यह कर्म स्वभावसिद्ध है अथवा ज्ञानजनित ? ॥ २ ॥

तत्र वेदविधिः स स्याज्ज्ञानं चेत् पुरुषं प्रति ।
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां वर्णयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥

उपर्युक्त संशय होनेपर यह कहा जाता है कि यदि वह पुरुषके लिये वैदिक विधानके अनुसार कर्त्तव्य हो तो ज्ञान-जन्य है, अन्यथा स्वाभाविक है । मैं युक्ति और फल-प्राप्तिके सहित इस विषयका वर्णन करूँगा, तुम उसे सुनो ॥ ३ ॥

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः ॥ ४ ॥

कुछ मनुष्य कर्मोंमें पुरुषार्थको कारण बताते हैं । कोई-कोई दैव (प्रारब्ध अथवा भावी)की प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग स्वभावके गुण गाते हैं ॥ ४ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥

कितने ही मनुष्य पुरुषार्थद्वारा की हुई क्रिया, दैव और कालगत स्वभाव—इन तीनोंको कारण मानते हैं। कुछ लोग इन्हें पृथक्-पृथक् प्रधानता देते हैं अर्थात् इनमेंसे एक प्रधान है और दूसरे दो अप्रधान कारण हैं—ऐसा कहते हैं और कुछ लोग इन तीनोंको पृथक् न करके इनके समुच्चयको ही कारण बताते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवं च नैवं च न चोभे नानुभे तथा।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥

कुछ कर्मनिष्ठ विचारक घट-पट आदि विषयोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि 'यह ऐसा ही है।' दूसरे कहते हैं कि 'यह ऐसा नहीं है।' तीसरोंका कहना है कि 'ये दोनों ही सम्भव हैं अर्थात् यह ऐसा है और नहीं भी है।' अन्य लोग कहते हैं कि 'ये दोनों ही मत सम्भव नहीं हैं' परंतु सत्त्वगुणमें स्थित हुए योगी पुरुष सर्वत्र समस्वरूप ब्रह्मको ही कारणरूपमें देखते हैं ॥ ६ ॥

त्रेतायां द्वापरे चैव कलिजाश्च ससंशयाः।
तपस्विनः प्रशान्ताश्च सत्त्वस्थाश्च कृते युगे ॥ ७ ॥

त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके मनुष्य परमार्थके विषयमें संशयशील होते हैं; परंतु सत्ययुगके लोग तपस्वी और सत्त्वगुणी होनेके कारण प्रशान्त (संशयरहित) होते हैं ॥ ७ ॥

अपृथग्दर्शनाः सर्वे ऋक्सामसु यजुःषु च।
कामद्वेषौ पृथक् कृत्वा तपः कृत उपासते ॥ ८ ॥

सत्ययुगमें सभी द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनोंमें भेददृष्टि न रखते हुए राग-द्वेषको मनसे हटाकर तपस्याका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तपोधर्मेण संयुक्तस्तपोनित्यः सुसंशितः।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ॥ ९ ॥

जो मनुष्य तपस्यारूप धर्मसे संयुक्त हो पूर्णतया संयमका पालन करते हुए सदा तपमें ही तत्पर रहता है, वह उसीके द्वारा अपने मनसे जिन-जिन कामनाओंको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद् भूत्वा सृजते जगत्।
तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥ १० ॥

तपस्यासे मनुष्य उस ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभावको प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियोंका प्रभु हो जाता है। १०।

तदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
वेदान्तेषु पुनर्व्यक्तं कर्मयोगेन लक्ष्यते ॥ ११ ॥

वह ब्रह्म वेदके कर्मकाण्डोंमें गुप्तरूपसे प्रतिपादित हुआ है; अतः वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा भी वह अज्ञात ही रहता है। किंतु वेदान्तमें उसी ब्रह्मका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है और निष्काम कर्मयोगके द्वारा उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ११ ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥ १२ ॥

क्षत्रिय आलम्भ[1] यज्ञ करनेवाले होते हैं, वैश्य हविष्य-प्रधान यज्ञ करनेवाले माने गये हैं, शूद्र सेवारूप यज्ञ करनेवाले और ब्राह्मण जपयज्ञ करनेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १३ ॥

क्योंकि ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह और कोई कार्य करे या न करे, सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला होनेके कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है ॥

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १४ ॥

सत्ययुग और त्रेतामें वेद, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म विशुद्ध रूपमें पालित होते हैं, परंतु द्वापरयुगमें लोगोंकी आयुका ह्रास होनेके कारण ये भी क्षीण होने लगते हैं ॥ १४ ॥

द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।
दृश्यन्ते नापि दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल ॥ १५ ॥

द्वापर और कलियुगमें वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं। कलियुगके अन्तिम भागमें तो वे कभी कहीं दिखायी देते हैं और कभी दिखायी भी नहीं देते हैं ॥ १५ ॥

उत्सीदन्ति स्वधर्माश्च तत्राधर्मेण पीडिताः।
गवां भूमेश्च ये चापामोषधीनां च ये रसाः ॥ १६ ॥

उस समय अधर्मसे पीड़ित हो सभी वर्णोंके स्वधर्म नष्ट हो जाते हैं। गौ, जल, भूमि और ओषधियोंके रस भी नष्ट-प्राय हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्थाः स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥

वेद, वैदिक धर्म तथा स्वधर्मपरायण आश्रम ये—सभी उस समय अधर्मसे आच्छादित हो अदृश्य हो जाते हैं और स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं अर्थात् सबमें विकार उत्पन्न हो जाता है ॥ १७ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि वृष्टिर्भौमानि वर्षति।
सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे ॥ १८ ॥

जैसे वर्षा भूतलके समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करती है और सर्व ओरसे उनके अङ्गोंको पुष्ट करती है, उसी प्रकार वेद प्रत्येक युगमें सम्पूर्ण योगाङ्गोंका पोषण करते हैं ॥ १८ ॥

---

१. आलम्भके दो अर्थ हैं—स्पर्श और हिंसा। क्षत्रिय नरेश किसी वस्तुका स्पर्श करके अथवा छूकर जो दान देते हैं, वह आलम्भ कहलाता है। इसी प्रकार वे प्रजाकी रक्षाके लिये जो हिंसक जन्तुओं तथा दुष्ट डाकुओंका वध करते हैं, यह भी आलम्भ यज्ञके अन्तर्गत है।

निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं च यत्।
कीर्तितं यत् पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार निश्चय ही कालके भी अनेक रूप हैं। उसका न आदि है और न अन्त। वही प्रजाकी सृष्टि करता है और अन्तमें वही सबको अपना ग्रास बना लेता है। यह बात मैंने तुमको पहले ही बता दी है ॥ १९ ॥

यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः ॥ २० ॥

यह जो काल नामक तत्त्व है, वही प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाला है। उसीमें द्वन्द्वयुक्त असंख्य प्राणी स्वभावसे ही निवास करते हैं ॥ २० ॥

सर्गः कालो धृतिर्वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम्।
एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

तात ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हारे समक्ष सर्ग, काल, धारणा, वेद, कर्ता, कार्य और क्रियाफलके विषयमें ये सब बातें कही हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानका साधन और उसकी महिमा

भीष्म उवाच

इत्युक्तोऽभिप्रशस्यैतत् परमर्षेस्तु शासनम्।
मोक्षधर्मार्थसंयुक्तमिदं प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार महर्षि व्यासके उपदेश देनेपर शुकदेवजीने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और मोक्षधर्मके विषयमें पूछनेके लिये उत्सुक होकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शुक उवाच

प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! प्रज्ञावान्, वेदवेत्ता, याज्ञिक, दोष-दृष्टिसे रहित तथा शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष उस ब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी अज्ञात है तथा वेदके द्वारा भी जिसका इदमित्थंरूपसे वर्णन नहीं किया गया है ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया।
सांख्ये वा यदि वा योग एतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३ ॥

सांख्य एवं योगमें तप, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वका त्याग और मेधाशक्ति—इनमेंसे किस साधनके द्वारा तत्त्वका साक्षात्कार माना गया है ? यह आपसे मेरा प्रश्न है, आप मुझे कृपापूर्वक इस विषयका उपदेश दीजिये ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते।
येनोपायेन पुरुषैस्तत् त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

मनुष्य मन और इन्द्रियोंको जिस उपायसे और जिस तरह एकाग्र कर सकता है, उस विषयका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और सर्वस्वत्यागके बिना कोई भी सिद्धि नहीं पा सकता ॥ ५ ॥

महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयम्भुवः।
भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण महाभूत विधाताकी पहली सृष्टि हैं। वे समस्त प्राणिसमुदायमें तथा सभी देहधारियोंके शरीरोंमें अधिक-से-अधिक भरे हुए हैं ॥ ६ ॥

भूमेर्देहो जलात् स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते।
प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशं शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

देहधारियोंकी देहका निर्माण पृथ्वीसे हुआ है, चिकनाहट और पसीने आदि जलसे प्रकट होते हैं, अग्निसे नेत्र तथा वायुसे प्राण और अपानका प्रादुर्भाव हुआ है। नाक, कान आदिके छिद्रोंमें आकाश-तत्त्व स्थित है ॥ ७ ॥

क्रान्ते विष्णुर्बले शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति।
कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रं जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥ ८ ॥

चरणोंकी गतिमें विष्णु और बाहुबल [पाणिनामक इन्द्रिय]में इन्द्र स्थित हैं। उदरमें अग्निदेवता प्रतिष्ठित हैं, जो भोजन चाहते और पचाते हैं। कानोंमें श्रवणशक्ति और दिशाएँ हैं तथा जिह्वामें वाणी और सरस्वती देवीका निवास है ॥ ८ ॥

कर्णौ त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
दर्शनानीन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥ ९ ॥

दोनों कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें विषयानुभवका द्वार बतलाया गया है ॥ ९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः।
इन्द्रियार्थान् पृथग् विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हें सदा इन्द्रियोंसे पृथक् समझना चाहिये ॥ १० ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिनः।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११ ॥

जैसे सारथि घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उन्हें इच्छानुसार चलाता है, इसी प्रकार मन इन्द्रियोंको काबूमें रखकर

उन्हें स्वेच्छासे विषयोंकी ओर प्रेरित करता है, परंतु हृदयमें रहनेवाला जीवात्मा सदा उस मनपर भी शासन किया करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मानसस्तथा ॥ १२ ॥

जैसे मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राजा और उन्हें विषयोंकी ओर प्रवृत्त करने तथा रोकनेमें भी समर्थ है, उसी प्रकार हृदयस्थित जीवात्मा भी मनका स्वामी तथा उसके निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः।
प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके रूप, रस आदि विषय, स्वभाव [शीतोष्णादि धर्म], चेतना[1], मन, प्राण, अपान और जीव— ये देहधारियोंके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणाः शब्दो न चेतना।
सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान् वै कथंचन ॥ १४ ॥

शरीर भी वास्तवमें सत्त्व अर्थात् बुद्धिका आश्रय नहीं है; क्योंकि पाञ्चभौतिक शरीर तो उसका कार्य है तथा गुण, शब्द एवं चेतना भी बुद्धिके आश्रय (कारण) नहीं हैं; क्योंकि बुद्धि चेतनाकी सृष्टि करती है, परंतु बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि बुद्धि स्वयं उसका कार्य है ॥ १४ ॥

एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणैः।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् ब्राह्मण इस शरीरमें पाँच इन्द्रिय, पाँच विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव— इन सोलह तत्त्वोंसे आवृत सत्रहवें परमात्माका बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणमें साक्षात्कार करता है ॥ १५ ॥

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६ ॥

इस परमात्माका नेत्रों अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी दर्शन नहीं हो सकता। यह विशुद्ध मनरूपी दीपकसे ही बुद्धिमें प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम्।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वह आत्मतत्त्व यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे हीन, अविकारी तथा शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है तो भी शरीरोंके भीतर ही इसका अनुसंधान करना चाहिये ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमाश्रितम्।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ १८ ॥

जो इस विनाशशील समस्त शरीरोंमें अव्यक्तभावसे स्थित परमेश्वरका ज्ञानमयी दृष्टिसे निरन्तर दर्शन करता रहता है, वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १९ ॥

पण्डितजन विद्या और उत्तम कुलसे सम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे स्थित ब्रह्मका दर्शन करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ २० ॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियोंके भीतर निवास करता है ॥ २० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २१ ॥

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको स्थित देखता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २२ ॥

अपने शरीरके भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरोंके शरीरमें भी है, जिस पुरुषको निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥ २२ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा होकर सब प्राणियोंके हितमें लगा हुआ है, जिसका अपना कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपदको प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञानयोगीके मार्गकी खोज करनेमें देवता भी मोहित हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ २४ ॥

जैसे आकाशमें चिड़ियोंके और जलमें मछलियोंके पद-चिह्न नहीं दिखायी देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका भी किसीको पता नहीं चलता है ॥ २४ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ २५ ॥

काल सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं ही अपने भीतर पकाता रहता है, परंतु जहाँ काल भी पकाया जाता है, जो कालका भी काल है; उस परमात्माको यहाँ कोई नहीं जानता ॥ २५ ॥

न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचित् कुतश्चन ॥ २६ ॥
सर्वेऽन्तःस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन।

वह परमात्मा न ऊपर है न नीचे और न वह अगल-बगलमें अथवा बीचमें ही है। कोई भी स्थानविशेष उसको ग्रहण नहीं कर सकता, वह परमात्मा किसी एक स्थानसे दूसरे स्थानको

[1] अन्तःकरणमें जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जो कि अन्तःकरणकी एक वृत्तिविशेष है, इसे ही 'चेतना' कहते हैं।

नहीं जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसके भीतर ही स्थित हैं, इनका कोई भी भाग या प्रदेश उस परमात्मासे बाहर नहीं है॥

यद्यजस्रं समागच्छेद् यथा बाणो गुणच्युतः ॥ २७ ॥
नैवान्तं कारणस्येयाद् यद्यपि स्यान्मनोजवः ।

यदि कोई धनुषसे छूटे हुए बाणके समान अथवा मनके सदृश तीव्र वेगसे निरन्तर दौड़ता रहे तो भी जगत्के कारण-स्वरूप उस परमेश्वरका अन्त नहीं पा सकता ॥ २७½ ॥

तस्मात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः॥ २८ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥

उस सूक्ष्मस्वरूप परमात्मासे बढ़कर सूक्ष्मतर वस्तु कोई नहीं है, उससे बढ़कर स्थूलतर वस्तु भी कोई नहीं है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तःसर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३० ॥

वह लघुसे भी अत्यन्त लघु और महान्से भी अत्यन्त महान् है, वह निश्चय ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित है तो भी किसीको दिखायी नहीं देता ॥ ३० ॥

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं त्वमृतमक्षरम् ॥ ३१ ॥

उस परमात्माके क्षर और अक्षर ये दो भाव (स्वरूप) हैं, सम्पूर्ण भूतोंमें तो उसका क्षर (विनाशी) रूप है और दिव्य सत्यस्वरूप चेतनात्मा अक्षर (अविनाशी) है ॥ ३१ ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा हंसो हि नियतो वशी ।
ईशः सर्वस्य भूतस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ ३२ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका ईश्वर स्वाधीन परमात्मा नव द्वारोंवाले शरीरमें प्रवेश करके हंस (जीव) रूपसे स्थिरतापूर्वक स्थित है ॥ ३२ ॥

हानिभङ्गविकल्पानां नवानां संचयेन च ।
शरीराणामजस्याहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥ ३३ ॥

पारदर्शी (तत्त्वज्ञानी) पुरुष परिणाममें हानि, भङ्ग एवं विकल्पसे युक्त नवीन शरीरोंको बारंबार ग्रहण करनेके कारण अजन्मा परमात्माके अंशभूत जीवात्माको 'हंस' कहते हैं ॥ ३३ ॥

हंसोक्तं चाक्षरं चैव कूटस्थं यत् तदक्षरम् ।
तद् विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥ ३४ ॥

हंस नामसे जिस अविनाशी जीवात्माका प्रतिपादन किया गया है, वह कूटस्थ अक्षर ही है, इस प्रकार जो विद्वान् उस अक्षर आत्माको यथार्थरूपसे जान लेता है, वह प्राण, जन्म और मृत्युके बन्धनको सदाके लिये त्याग देता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगसे परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

व्यास उवाच

पृच्छतस्तव सत्पुत्र यथावदिह तत्त्वतः ।
सांख्यज्ञानेन संयुक्तं यदेतत् कीर्तितं मया ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—सत्पुत्र शुक ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने जो यहाँ ज्ञानके विषयका यथार्थ रूपसे तात्त्विक वर्णन किया है, ये सब सांख्यज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं ॥ १ ॥

योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु ।
एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥ २ ॥
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम् ।

अब योगसम्बन्धी सम्पूर्ण कृत्योंका वर्णन आरम्भ करता हूँ, सुनो । तात ! इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको सब ओरसे रोककर सर्वव्यापी आत्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्रियोंके मतमें सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ २½ ॥

तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥ ३ ॥
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ।

इसे प्राप्त करनेके लिये साधक सब ओरसे मनको हटाकर शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्म-तत्त्वका चिन्तन करे, एकमात्र परमात्मामें ही रमण करे, ज्ञानवान् पुरुषसे ज्ञान ग्रहण करे एवं शास्त्रविहित पवित्र कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करके ज्ञातव्य तत्त्वको जाने ॥ ३½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।

विद्वानोंने योगके जो काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवाँ स्वप्न—ये पाँच दोष बताये हैं उनका पूर्णतया उच्छेद करे । इनमेंसे क्रोधको शम (मनोनिग्रह) के द्वारा जीते, कामको संकल्पके त्यागद्वारा पराजित करे तथा धीर पुरुष सत्त्वगुणका सेवन करनेसे निद्राका उच्छेद कर सकता है ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च कर्मणा ।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥ ७ ॥

मनुष्य धैर्यका सहारा लेकर शिश्न और उदरकी रक्षा करे अर्थात् विषयभोग और भोजनकी चिन्ता दूर कर दे । नेत्रोंकी

सहायतासे हाथ और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा कर्मके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे अर्थात् इनको शुद्ध बनावे। सावधानीके द्वारा भयका और विद्वान् पुरुषोंके सेवनसे दम्भका त्याग करे ॥ ६-७ ॥

एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ८ ॥

इस प्रकार सदैव सावधानीपूर्वक आलस्य छोड़कर इन योगसम्बन्धी दोषोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। एवं अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा देवताओंको प्रणाम करना चाहिये ॥ ८ ॥

वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम्।
ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं रसः ॥ ९ ॥
एतस्य भूतं भव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम्।

साधकको चाहिये कि मनको पीड़ा देनेवाली हिंसायुक्त वाणीका प्रयोग न करे। तेजोमय निर्मल ब्रह्म सबका बीज (कारण) है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब उसीका रस (कार्य) है। सम्पूर्ण चराचर जगत् उस ब्रह्मके ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है ॥ ९½ ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥ १० ॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ ११ ॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि एवं इन्द्रियोंका निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पापोंका नाश हो जाता है ॥१०-११॥

सिध्यन्ति चास्य सर्वार्था विज्ञानं च प्रवर्तते।
समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ॥ १२ ॥
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १३ ॥

इतना ही नहीं, इनसे साधकके सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं तथा उसे विज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। योगीको चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाव रक्खे। जो कुछ भी मिले या न मिले, उसीसे संतोषपूर्वक निर्वाह करे। पापोंको धो डाले तथा तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करके ब्रह्मपदको पानेकी इच्छा करे ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः।
पूर्वरात्रापरार्धे च धारयेन्मन आत्मनि ॥ १४ ॥

योगी मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रातके पहले और पिछले पहरमें ध्यानस्थ होकर मनको आत्मामें लगावे ॥

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ १५ ॥

जैसे मशकमें एक जगह भी छेद हो जाय तो वहाँसे पानी बह जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माकी एक इन्द्रिय भी यदि छिद्रयुक्त हुई–विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई तो उसीसे उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है ॥

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥ १६ ॥

जैसे मछलीमार जाल काटनेवाली दुष्ट मछलीको पहले पकड़ता है, उसी तरह योगवेत्ता साधक पहले अपने मनको वशमें करे। उसके बाद कानका, फिर नेत्रका, तदनन्तर जिह्वा और घ्राण आदिका निग्रह करे ॥ १६ ॥

तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद् यतिः।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् ॥ १७ ॥

यत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके मनमें स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पोंका परित्याग करके मनको बुद्धिमें लीन करे ॥ १७ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् यतिः।
यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठान्यथात्मनि ॥ १८ ॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते।

योगी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें दृढ़तापूर्वक मनमें स्थापित करे। जब छठे मनसहित ये इन्द्रियाँ बुद्धिमें स्थिर होकर प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाती हैं, तब उस योगीको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १८½ ॥

विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान् ॥ १९ ॥
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि।

वह योगी अपने अन्तःकरणमें धूमरहित प्रज्वलित अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य तथा आकाशमें चमकती हुई बिजलीकी ज्योतिके समान प्रकाशस्वरूप आत्माका दर्शन करता है ॥ १९½ ॥

सर्वंस्तत्र स सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते ॥ २० ॥
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः ॥ २१ ॥

सब उस आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं और व्यापक होनेके कारण वह आत्मा सबमें दिखायी देता है। जो महात्मा ब्राह्मण मनीषी, महाज्ञानी, धैर्यवान् और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे ही उस परमात्माका दर्शन कर पाते हैं ॥

एवं परिमितं कालमाचरन् संशितव्रतः।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसात्मताम् ॥ २२ ॥

जो योगी प्रतिदिन नियत समयतक अकेला एकान्त स्थानमें बैठकर भलीभाँति नियमोंके पालनपूर्वक इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर-ब्रह्मकी समताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शौ शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥ २३ ॥

योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। फिर दिव्य सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंके दर्शन होते हैं। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुरूप होकर आकाशमें चलने-फिरनेकी शक्ति आ जाती है ॥ २३ ॥

प्रतिभामुपसर्गाश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत्॥ २४॥

प्रतिभा बढ़ जाती है। दिव्य भोग अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगी उनका आदर न करे; क्योंकि ये सब योगके विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे लौटाकर आत्मामें ही एकाग्र करे॥ २४॥

कुर्यात् परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत्॥ २५॥

नित्य-नियमसे रहकर योगी मुनि किसी पर्वतके शिखरपर किसी देववृक्षके समीप या एकान्त मन्दिरमें अथवा वृक्षोंके सम्मुख बैठकर तीन समय (सबेरे तथा रातके पहले और पिछले पहरोंमें) योगका अभ्यास करे॥ २५॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः॥ २६॥

द्रव्य चाहनेवाले मनुष्य जैसे सदा द्रव्यसमुदायको कोठेमें बाँध करके रखता है, उसी तरह योगका साधक भी इन्द्रिय-समुदायको संयममें रखकर हृदयकमलमें स्थित नित्य आत्माका एकाग्रभावसे चिन्तन करे। मनको योगसे उद्विग्न न होने दे॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत् ततः॥ २७॥

जिस उपायसे चञ्चल मनको रोका जा सके, योगका साधक उसका सेवन करे और उस साधनसे वह कभी विचलित न हो॥ २७॥

शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च।
शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत्॥ २८॥

एकाग्रचित्त योगी पर्वतकी सूनी गुफा, देवमन्दिर तथा एकान्तस्थ शून्य गृहको ही अपने निवासके लिये चुने॥ २८॥

नाभिष्वजेत् परं वाचा कर्मणा मनसापि वा।
उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत्॥ २९॥

योगका साधक मन, वाणी या क्रियाद्वारा भी किसी दूसरेमें आसक्त न हो। सबकी ओरसे उपेक्षाका भाव रक्खे। नियमित भोजन करे और लाभ-हानिमें भी समान भाव रक्खे॥

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत्।
समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम्॥ ३०॥

जो उसकी प्रशंसा करे और जो उसकी निन्दा करे, उन दोनोंमें वह समान भाव रक्खे, एककी भलाई या दूसरेकी बुराई न सोचे॥ ३०॥

न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः॥ ३१॥

कुछ लाभ होनेपर हर्षसे फूल न उठे और न होनेपर चिन्ता न करे। समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखे। वायुके समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असङ्ग और अनिकेत रहे॥ ३१॥

एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ३२॥

इस प्रकार स्वस्थचित्त और सर्वत्र समदर्शी रहकर कर्मफलका उल्लङ्घन करके छः महीनेतक नित्य योगाभ्यास करनेवाला श्रेष्ठ योगी वेदोक्त परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है॥ ३२॥

वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
एतस्मिन् विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहितः॥ ३३॥

प्रजाको धनकी प्राप्तिके लिये वेदनासे पीड़ित देख धनकी ओरसे विरक्त हो जाय—मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णको समान समझे। विरक्त पुरुष इस योगमार्गसे न तो विरत हो और न मोहमें ही पड़े॥ ३३॥

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥ ३४॥

कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है॥ ३४॥

अजं पुराणमजरं सनातनं
यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं
तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान्॥ ३५

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वही योगी निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है॥ ३५॥

इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो
यथावदुक्तं मनसानुदृश्य च।
अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां
प्रयान्ति चाभूतगतिं मनीषिणः॥ ३६॥

महर्षि महात्मा व्यासके यथावद्रूपसे कहे गये इस उपदेशवाक्यपर मन-ही-मन विचार करके एवं इसको भलीभाँति समझकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समानताको प्राप्त होते हैं और प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं॥ ३६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४०॥

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्म और ज्ञानका अन्तर तथा ब्रह्मप्राप्तिके उपायका वर्णन

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ॥ १ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो दो प्रकारके वचन मिलते हैं, उनके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि विद्या (ज्ञान) के द्वारा कर्मको त्याग देनेपर मनुष्य किस दिशामें जाते हैं ? और कर्म करनेसे उन्हें किस गतिकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

एतद् वै श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ।
एतच्चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः ॥ २ ॥

मैं इस विषयको सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे यह बतावें । ये दोनों वचन एक दूसरेके विपरीत हैं, अतः प्रतिकूल परिणाम ही उत्पन्न कर सकते हैं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम् ।
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! शुकदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर पराशरनन्दन भगवान् व्यासने यों उत्तर दिया—'बेटा ! ये कर्ममय और ज्ञानमय मार्ग क्रमशः विनाशशील और अविनाशी हैं, मैं इनकी व्याख्या आरम्भ करता हूँ ॥ ३ ॥

यां दिशं विद्यया यान्ति यां च गच्छन्ति कर्मणा ।
शृणुष्वैकमना वत्स गह्वरं ह्येतदन्तरम् ॥ ४ ॥

'वत्स ! ज्ञानसे मनुष्य जिस दिशाको जाते हैं और कर्मद्वारा उन्हें जिस गतिकी प्राप्ति होती है, वह सब बताता हूँ, एकचित्त होकर सुनो । इन दोनोंका अन्तर अत्यन्त गहन है ॥

अस्ति धर्म इति प्रोक्तं नास्तीत्यत्रैव यो वदेत् ।
तस्य पक्षस्य सदृशमिदं मम भवेद् व्यथा ॥ ५ ॥

'धर्म है, ऐसा शास्त्रका उपदेश है, इसके विपरीत यदि कोई कहे कि धर्म नहीं है तो उसे सुनकर एक आस्तिकको जितना कष्ट होता है, उसके पक्षके ही समान यह कर्म और विद्याका तारतम्यविषयक प्रश्न मेरे लिये क्लेशदायक है ॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः ॥ ६ ॥

'प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म, ये दो मार्ग हैं जहाँ वेद प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ७ ॥

'सकामकर्मसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, अतः दूरदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥ ८ ॥

'कर्म करनेसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् सोलह* तत्त्वोंके बने हुए मूर्तिमान् शरीरको धारण करके जन्म लेता है; किंतु ज्ञानके प्रभावसे जीव नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः ।
तेन ते देहजालानि रमयन्त उपासते ॥ ९ ॥

'अधूरे ज्ञानमें आसक्त अर्थात् इन्द्रियज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले कुछ मनुष्य सकामकर्मकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये वे भोगासक्त होकर बारंबार विभिन्न शरीरोंमें आनन्द मानकर उनका सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

ये तु बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः ।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ॥ १० ॥

'परंतु जो धर्मके तत्त्वको भलीभाँति समझकर सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी उसी तरह प्रशंसा नहीं करते हैं, जैसे प्रतिदिन नदीका पानी पीनेवाले मनुष्य कुएँका आदर नहीं करते हैं ॥ १० ॥

कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ११ ॥

'कर्मके फल हैं सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु । कर्मद्वारा मनुष्य इन्हींको पाते हैं, परंतु ज्ञानके द्वारा उन्हें उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ जानेसे सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते ।
न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते ॥ १२ ॥

'जहाँ जाकर फिर मृत्युका कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जहाँ जानेसे फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ १२ ॥

यत्र तद् ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
अव्याकृतमनायासमव्यक्तं चावियोगि च ॥ १३ ॥

'जहाँ बिना क्लेशके प्राप्त होनेवाले और मिलकर कभी विलग न होनेवाले, अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय तथा विकारशून्य उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १३ ॥

द्वन्द्वैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा ।
समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः ॥ १४ ॥

'उस स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्योंको सुख-दुःखादि द्वन्द्व,

* पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव (शीतोष्णादि धर्म), चेतना (ज्ञानशक्ति), मन, प्राण, अपान और जीव—ये सोलह तत्त्व पूर्वमें २३९ वें अध्यायके १३ वें श्लोकमें बतला चुके हैं ।

मानसिक संकल्प और कर्म-संस्कार बाधा नहीं पहुँचाते। वहाँ पहुँचे हुए मानव सर्वत्र समानभाव रखते हैं, सबको मित्र मानते हैं और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥

विद्यामयोऽन्यः पुरुषस्तात कर्ममयोऽपरः।
विद्धि चन्द्रमसं दर्शे सूक्ष्मया कलया स्थितम्॥ १५॥

'तात! ज्ञानी मनुष्य कुछ और ही होता है, कर्मासक्त मनुष्य उससे सर्वथा भिन्न है। जैसे चन्द्रमा घटते-घटते अमावास्याको एक सूक्ष्म कलाके रूपमें ही शेष रह जाता है, यही अवस्था तुम कर्मासक्त मनुष्योंकी भी समझो—उसे क्षय और वृद्धिके ही चक्करमें पड़े रहना पड़ता है॥ १५॥

तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुमीयते।
नवजं शशिनं दृष्ट्वा वक्रतन्तुमिवाम्बरे॥ १६॥

'इस बातको एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिने विस्तारके साथ बताया है। अमावास्याके बाद आकाशमें एक टेढ़े और पतले सूतके समान प्रतीत होनेवाले नवोदित चन्द्रमाको देखकर ऐसा ही अनुमान किया जाता है॥ १६॥

एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः।
मूर्तिमानिति तं विद्धि तात कर्मगुणात्मकम्॥ १७॥

'कर्मजन्य कलाओंके भारको धारण करनेवाला कर्मासक्त मनुष्य मन और इन्द्रियरूप ग्यारह विकारोंसे युक्त होकर जन्म धारण किया करता है। इस प्रकार वह मूर्तिमान् (देहधारी) व्यक्ति होता है। तुम उसे कर्मफलसम्भूत त्रिगुणात्मक शरीरसे युक्त तथा चन्द्रमाके समान वृद्धि और ह्रासका भागी होनेवाला समझो॥ १७॥

देवो यः संश्रितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम्॥ १८॥

'प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदयाकाश) में जो स्वयम्प्रकाश चिन्मय देवता कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँदके समान निर्लेपभावसे विराजमान है तथा जिसने योगके द्वारा चित्तको वशमें किया है, उस आत्मतत्त्वको तुम सदैव क्षेत्रज्ञ समझो॥ १८॥

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणात्मकम्।
जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः॥ १९॥

'तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको बुद्धिका गुण समझो, इनके सम्बन्धसे जीव गुणस्वरूप और गुण जीवस्वरूप प्रतीत होने लगते हैं। अतः वास्तवमें जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, ऐसा समझो॥ १९॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते जीवयते च सर्वम्।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त॥ २०॥

'शरीर स्वयं तो अचेतन (जड) है, परंतु चेतनसे युक्त होनेसे उसे जीवात्माके गुण चैतन्यसे युक्त कहा जाता है। जीवात्मा ही शरीरके द्वारा चेष्टा करता है और वही समस्त शरीरको जीवन (चेतना) प्रदान करता है, परंतु जिस परमात्माने सातों भुवनोंकी सृष्टि की है, उसे क्षेत्रवेत्ता विद्वान् उस जीवात्मासे भी श्रेष्ठ बताते हैं'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४१॥

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

आश्रमधर्मकी प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य-आश्रमका वर्णन

शुक उवाच

क्षरात्प्रभृति यः सर्गः सगुणानीन्द्रियाणि च।
बुद्ध्यैश्वर्यातिसर्गोऽयं प्रधानश्चात्मनः श्रुतम्॥ १॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! क्षर अर्थात् प्रधानसे जो चौबीस तत्त्वोंवाली सामान्य सृष्टि हुई है तथा शब्द आदि विषयोंसहित जो इन्द्रियाँ हैं, उनकी सृष्टि बुद्धिके सामर्थ्यसे हुई है, अतः यह अतिसर्ग—असाधारण सृष्टि है। बन्धनकारी होनेके कारण इसे प्रमुख या प्रबल माना गया है, यह दोनों प्रकारकी सृष्टि पुरुषके संनिधानसे, प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है; यह सब मैंने पहले सुन लिया है॥ १॥

भूय एव तु लोकेऽस्मिन् सद्वृत्तिं कालहैतुकीम्।
यया सन्तः प्रवर्तन्ते तदिच्छाम्यनुवर्तितुम्॥ २॥

अब पुनः इस संसारमें प्रत्येक युगके अनुसार जो शिष्ट पुरुषोंकी आचार-परम्परा रही है तथा जिसके अनुकूल सत्पुरुषोंका बर्ताव होता आया है, उसका मैं भी अनुसरण करना चाहता हूँ॥ २॥

वेदे वचनमुक्तं तु कुरु कर्म त्यजेति च।
कथमेतद् विजानीयां तच्च व्याख्यातुमर्हसि॥ ३॥

वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये दोनों बातें कही गयी हैं। मैं इनका तात्पर्य कैसे समझूँ? जिससे इनका विरोध हट जाय। आप इस विषयकी व्याख्या करें॥ ३॥

लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञः पूतोऽहं गुरुशासनात्।
कृत्वा बुद्धिं विमुक्तात्मा द्रक्ष्याम्यात्मानमव्ययम्॥ ४॥

मैं आप-जैसे गुरुके उपदेशसे पवित्र हो गया हूँ तथा मुझे जगत्के वृत्तान्त (लौकिक नीति-रीति) का भी ज्ञान हो गया है; अतः धर्माचरणसे बुद्धिका संस्कार करके स्थूल देहका अभिमान त्यागकर अपने अविनाशीस्वरूप परमात्माका दर्शन करूँगा॥ ४॥

व्यास उवाच

यथा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद् ब्रह्मणा स्वयम्।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः॥ ५॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजी-ने जिस आचार-व्यवहारका विधान कर दिया है, पहलेके सत्पुरुष तथा ऋषि-महर्षि भी उसीका पालन करते आ रहे हैं॥

ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन् मनसाऽऽत्मनि॥ ६ ॥

परम ऋषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम लोकोंपर विजय पायी है; अतः मन-ही-मन अपने कल्याणकी इच्छा रखकर पहले ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ६ ॥

वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः॥ ७ ॥

(फिर वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले) वनमें फल-मूल खाकर रहे, भारी तपस्यामें तत्पर हो जाय, पुण्य-तीर्थोंमें भ्रमण करे और किसी भी प्राणीकी अपने द्वारा हिंसा न होने दे ॥ ७ ॥

विधूमे सन्नमुसले वानप्रस्थप्रतिश्रये।
काले प्राप्ते चरन् भैक्ष्यं कल्पते ब्रह्मभूयसे॥ ८ ॥

इसके बाद संन्यासी होकर यथासमय भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए भिक्षाके लिये 'वानप्रस्थी' के आश्रमपर उस समय जाना चाहिये, जब कि मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न सुनायी पड़े और रसोईघरसे धूँआ निकलना बंद हो जाय। इस प्रकार जीवन बितानेवाला संन्यासी ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ८ ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे।
अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाशितः॥ ९ ॥

शुकदेव ! तुम भी स्तुति और नमस्कारसे अलग रहकर शुभाशुभ कर्मोंका परित्याग करके जो कुछ फल-मूल मिल जाय, उसीसे भूख मिटाते हुए वनमें अकेले विचरते रहो॥

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते।
प्रमाणे वाप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रता कुतः॥ १० ॥
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि प्रमाणं तूभयं कथम्।
कर्मणामविरोधेन कथं मोक्षः प्रवर्तते॥ ११ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो वेदके दो तरहके वचन हैं, लोकदृष्टिसे विचार करनेपर परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। ये प्रामाणिक हैं या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक हैं तो परस्पर विरोध रहते हुए इन्हें शास्त्रवचन कैसे माना जा सकता है तथा दोनों ही प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ; साथ ही यह भी बताइये कि कर्मोंका विरोध किये बिना मोक्षकी प्राप्ति किस तरह हो सकती है ? ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गन्धवत्याः सुतः सुतम्।
ऋषिस्तत्पूजयन् वाक्यं पुत्रस्यामिततेजसः॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके इस प्रकार पूछनेपर गन्धवती (सत्यवती) के पुत्र महर्षि व्यासने अपने अमिततेजस्वी पुत्रके वचनका आदर करते हुए उससे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

व्यास उवाच

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥ १३ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी अपने-अपने आश्रमके लिये विहित शास्त्रोक्त कर्मोंका पालन करते हुए परम गतिको प्राप्त होते हैं॥

एको वाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद् यथाविधि।
अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते॥ १४ ॥

यदि कोई एक पुरुष भी इन आश्रमोंके धर्मोंका राग-द्वेषसे शून्य होकर विधिपूर्वक अनुष्ठान कर ले तो वह परब्रह्म परमात्माको तत्त्वसे जाननेका अधिकारी हो जाता है ॥ १४ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥ १५ ॥

ये चारों आश्रम ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्मतक पहुँचानेके लिये चार पैंडीवाली सीढ़ीके समान माने गये हैं। इस सीढ़ीपर चढ़कर मनुष्य ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः॥ १६ ॥

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरु अथवा गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके एक चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है ॥ १६ ॥

जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।
यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः॥ १७ ॥

वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोवे और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे ॥ १७ ॥

कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः॥ १८ ॥

गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिये सदा यही उत्तर दे कि 'भगवन् ! इसे अभी पूरा किया' और वह सब कार्य करके उनके पास आकर खड़ा हो जाय। 'मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ऐसा पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवककी भाँति गुरुका सारा कार्य करनेके लिये तैयार रहे और सभी कर्मोंके सम्पादनमें कुशल हो ॥ १८ ॥

कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत्॥ १९ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले शिष्यको गुरुकी सेवा-टहल-का सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन

करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी-पर कोई कलङ्क न लगावे। गुरुके बुलानेपर झट उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय ॥ १९ ॥

शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा ।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे पवित्र रहे । कार्यमें कुशल हो । गुणवान् बने । भीतरसे सद्भावना रखकर बीच-बीचमें ऐसी बात बोले जो गुरुको प्रिय लगनेवाली हो। शान्त-भावसे भक्तिभरी दृष्टि डालकर गुरुकी ओर देखे और इन्द्रियोंको वशमें रखे ॥ २० ॥

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ॥ २१ ॥

आचार्य जबतक भोजन न कर लें, तबतक स्वयं भी न खाय। वे जबतक जल-पान न कर लें, तबतक स्वयं भी न करे। उनके बैठनेसे पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोनेसे पहले स्वयं भी न सोये ॥ २१ ॥

उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत् ॥ २२ ॥

दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे ॥ २२ ॥

अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया ॥ २३ ॥

इस प्रकार अभिवादनके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरुसे कहे—'भगवन्! अब आप मुझे पढ़ावें। मैंने अमुक काम पूरा कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूँगा ॥२३॥

ब्रह्मंस्तदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य च यथाविधि ॥ २४ ॥
कुर्यात् कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।

'ब्रह्मन्! इसके सिवा और भी जिन कार्योंके लिये आप आज्ञा देंगे, उन्हें भी मैं शीघ्र पूर्ण करूँगा।' इस तरह सब बातें विधिवत् निवेदन करके गुरुकी आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके पुनः उसका सारा समाचार गुरुजीको बतावे ॥ २४½ ॥

यांस्तु गन्धान् रसान् वापि ब्रह्मचारी न सेवते ॥२५॥
सेवेत तान् समावृत्य इति धर्मेषु निश्चयः ।

जिन-जिन गन्धों और रसोंका ब्रह्मचारीको सेवन नहीं करना चाहिये, उनका वह ब्रह्मचर्यकालमें त्याग करे। समावर्तनसंस्कारके बाद ही वह उनका सेवन कर सकता है, यही धर्मका निश्चय है ॥ २५½ ॥

ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
तान् सर्वानाचरेन्नित्यं भवेच्चानपगो गुरोः ।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये जो कोई भी नियम विस्तार-पूर्वक बताये गये हैं, उन सबका वह पालन करे तथा सदा गुरुके समीप ही रहे ॥ २६½ ॥

स एवं गुरवे प्रीतिमुपहृत्य यथाबलम् ॥ २७ ॥
आश्रमादाश्रमेष्वेव शिष्यो वर्तेत कर्मणा ।

इस प्रकार शिष्य यथाशक्ति सेवा करके गुरुको प्रसन्न करे और उन्हें उपहार देकर उनकी आज्ञासे ब्रह्मचर्य-आश्रम-से दूसरे आश्रमोंमें पदार्पण करे और वहाँ भी उन आश्रमोंके कर्तव्योंका पालन करता रहे ॥ २७½ ॥

वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते ॥ २८ ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्तेद् यथाविधि ॥ २९ ॥

जब वेदसम्बन्धी व्रत और उपवास करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे ॥ २८-२९ ॥

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती ॥ ३० ॥

धर्मतः पत्नीका पाणिग्रहण करके उसके साथ यत्नपूर्वक अग्निकी स्थापना करे और आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी अवस्थातक उत्तम व्रतका पालन करते हुए गृहस्थ बना रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके उपलक्षणसे गार्हस्थ्य-धर्मका वर्णन

व्यास उवाच

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत् ।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! गृहस्थ पुरुष अपनी आयुके दूसरे भागतक गृहस्थधर्मका पालन करते हुए घरपर ही रहे। धर्मानुसार स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ अग्नि-स्थापना करनेके पश्चात् नित्य अग्निहोत्र आदि करे और उत्तम व्रतका पालन करता रहे ॥ १ ॥

गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः ।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ २ ॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत् ।
तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणके लिये विद्वानोंने चार प्रकारकी आजीविका बतायी है—कोठेभर अनाजका संग्रह करके रखना, यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्नका संग्रह करना, यह दूसरी वृत्ति है तथा उतने ही अन्नका संग्रह करना जो

दूसरे दिनके लिये शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है। अथवा 'कापोतीवृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करे, यह चौथी वृत्ति है। इन चारोंमें पहलीकी अपेक्षा दूसरी-दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अन्तिम वृत्तिका आश्रय लेनेवाला धर्मकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ है और वही सबसे बढ़कर धर्म-विजयी है ॥ २-३ ॥

षट्कर्मा वर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

पहली श्रेणीके अनुसार जीविका चलानेवाले ब्राह्मणको यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म करने चाहिये। दूसरी श्रेणीवालेको अध्ययन, यजन और दान—इन तीन कर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। तीसरी श्रेणीवालेको अध्ययन और दान—ये दो ही कर्म करने चाहिये तथा चौथी श्रेणीवालेको केवल ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन) करना उचित है ॥ ४ ॥

गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते ।
नात्मार्थे पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून् ॥ ५ ॥

गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से श्रेष्ठ नियम बताये गये हैं। वह केवल अपने ही भोजनके लिये रसोई न बनावे (अपितु देवता, पितर और अतिथियोंके उद्देश्यसे ही बनावे) और पशुहिंसा न करे, क्योंकि यह अनर्थमूलक है ॥

प्राणी वा यदि वाप्राणी संस्कारं यजुषार्हति ।
न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ ६ ॥

यज्ञमें यजमान एवं हविष्य आदि सबका यजुर्वेदके मन्त्रसे संस्कार होना चाहिये। गृहस्थ पुरुष दिनमें कभी न सोये। रातके पहले और पिछले भागमें भी नींद न ले ॥ ६ ॥

न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः ॥ ७ ॥

सबेरे और शाम दो ही समय भोजन करे, बीचमें न खाय। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलावे। उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय ॥ ७ ॥

तथास्यातिथयः पूज्या हव्यकव्यवहाः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मजीविनो दान्ताः क्रियावन्तस्तपस्विनः ।
तेषां हव्यं च कव्यं चाप्यर्हणार्थं विधीयते ॥ ९ ॥

यदि द्वारपर अतिथिके रूपमें वेदके पारङ्गत विद्वान्, स्नातक, श्रोत्रिय, हव्य (यज्ञान्न) और कव्य (श्राद्धान्न) भोजन करनेवाले, जितेन्द्रिय, क्रियानिष्ठ, स्वधर्मसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले और तपस्वी ब्राह्मण आ जायँ तो सदा उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें हव्य और कव्य समर्पित करने चाहिये। उनके सत्कारके लिये यह सब करनेका विधान है ॥ ८-९ ॥

नखरैः सम्प्रयातस्य स्वधर्मज्ञापकस्य च ।
अपविद्धाग्निहोत्रस्य गुरोर्वालीककारिणः ॥ १० ॥
संविभागोऽत्र भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ११ ॥

जो धार्मिकताका ढोंग दिखानेके लिये अपने नख और बाल बढ़ाकर आया हो, अपने ही मुखसे अपने किये हुए धर्मका विज्ञापन करता हो, अकारण अग्निहोत्रका त्याग कर चुका हो अथवा गुरुके साथ कपट करनेवाला हो, ऐसा मनुष्य भी गृहस्थके घरमें अन्न पानेका अधिकारी है। वहाँ सभी प्राणियोंके लिये अन्न-वितरणकी विधि है। जो अपने हाथसे भोजन नहीं बनाते, ऐसे लोगों (ब्रह्मचारियों और संन्यासियों) के लिये गृहस्थ पुरुषको सदा ही अन्न देना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥ १२ ॥

गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन करना चाहिये। यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान और अमृत माना गया है ॥ १२ ॥

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥ १३ ॥

कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) बताया गया है। पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं ॥

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥ १४ ॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥ १५ ॥
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।
एतान् विमुच्य संवादान् सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ १६ ॥

गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे। इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसीके गुणोंमें दोष न ढूँढ़े। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बकी स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूहके साथ कभी विवाद न करे। जो इन सबके साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १४–१६ ॥

एतैर्जितस्तु जयति सर्वाँल्लोकान् न संशयः ।
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥ १७ ॥
अतिथिस्त्विन्द्रलोकस्य देवलोकस्य चर्त्विजः ।
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवे तु ज्ञातयः ॥ १८ ॥

इनसे हार मानकर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पाता है, इसमें संशय नहीं है। आचार्य ब्रह्मलोकका

स्वामी है, पिता प्रजापतिलोकका ईश्वर है, अतिथि इन्द्रलोकके और ऋत्विज देवलोकके स्वामी हैं । कुटुम्बकी स्त्रियाँ अप्सराओंके लोककी स्वामिनी हैं और जाति-भाई विश्वेदेव लोकके अधिकारी हैं ॥ १७-१८ ॥

सम्बन्धिबान्धवा दिक्षु पृथिव्यां मातृमातुलौ ।
वृद्धबालातुरकृशास्त्वाकाशे प्रभविष्णवः ॥ १९ ॥

सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव दिशाओंपर, माता और मामा पृथ्वीपर तथा वृद्ध, बालक और निर्बल रोगी आकाशपर अपना प्रभुत्व रखते हैं । इन सबको संतुष्ट रखनेसे उन-उन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ २० ॥

बड़ा भाई पिताके समान है । पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छायाके समान हैं । बेटी तो और भी अधिक दयनीय है ॥ २० ॥

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः ।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥ २१ ॥

अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो सदा क्रोधरहित रहकर सहन कर लेना चाहिये । गृहस्थधर्मका पालन करनेवाले विद्वान् पुरुषको निश्चिन्त होकर क्लेश और थकावटको जीतकर धर्मका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये ॥ २१ ॥

न चार्थबद्धः कर्माणि धर्मवान् कश्चिदाचरेत् ।
गृहस्थवृत्तयस्तिस्रस्तासां निःश्रेयसं परम् ॥ २२ ॥

किसी भी धर्मात्मा पुरुषको धनके लोभसे धर्मकर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये । गृहस्थ ब्राह्मणके लिये जो तीन आजीविकाकी वृत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ एवं कल्याणकारिणी हैं ॥ २२ ॥

परं परं तथैवाहुश्चातुराश्रम्यमेव तत् ।
यथोक्ता नियमास्तेषां सर्वं कार्यं बुभूषता ॥ २३ ॥

इसी प्रकार चारों आश्रम भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं । उन आश्रमोंके जो शास्त्रोक्त नियम हैं, उन सबका अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा ।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥ २४ ॥

कुंडेभर अनाजका संग्रह करके अथवा उञ्छशिल (अनाजके एक-एक दाने बीनने अथवा उस अनाजकी बाली बीनने) के द्वारा अन्नका संग्रह करके 'कापोती-वृत्ति' का आश्रय लेनेवाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देशमें निवास करते हैं, उस राष्ट्रकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान् ।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः ॥ २५ ॥

जो मनमें तनिक भी क्लेशका अनुभव न करके गृहस्थकी इन वृत्तियोंके सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढ़ीके पूर्वजोंको तथा दस पीढ़ीतक आगे होनेवाली संतानोंको पवित्र कर देता है ॥ २५ ॥

स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम् ।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥ २६ ॥

उसे चक्रधारी श्रीविष्णुके लोकके सदृश उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है अथवा वह जितेन्द्रिय पुरुषको मिलनेवाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः ।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥ २७ ॥

उदारचित्तवाले गृहस्थोंको हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है । उनके लिये विमानसहित सुन्दर फूलोंसे सुशोभित परम रमणीय स्वर्ग सुलभ होता है, जिसका वेदोंमें वर्णन है ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम् ।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते ।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥

मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले गृहस्थोंके लिये स्वर्गलोकको ही प्रतिष्ठाका स्थान नियत किया है । ब्रह्माजीने गार्हस्थ्य-आश्रमको स्वर्गकी प्राप्तिका कारण बनाया है; इसीलिये इसके पालनका विधान किया गया है । इस प्रकार क्रमशः द्वितीय आश्रम गार्हस्थ्यको पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अतः परं परममुदारमाश्रमं
तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम् ।
वनौकसां गृहपतिनामनुत्तमं
शृणुष्व संश्लिष्टशरीरकारिणाम् ॥ २९ ॥

इस गृहस्थाश्रमके पश्चात् तीसरा उससे भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ-आश्रम है; जो शरीरको सुखाकर अस्थिचर्मावशिष्ट कर देनेवाले तथा वनमें रहकर तपस्यापूर्वक शरीरको त्यागनेवाले वानप्रस्थियोंका आश्रय है । यह गृहस्थोंसे श्रेष्ठतम माना गया है, अब इसके धर्म बताता हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्म और महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

प्रोक्ता गृहस्थवृत्तिस्ते विहिता या मनीषिभिः ।
तदनन्तरमुक्तं यत् तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
(व्यासेन कथितं पूर्वं सुताय सुमहात्मने ।)

भीष्मजी कहते हैं—बेटा युधिष्ठिर ! मनीषी पुरुषोंद्वारा जिसका विधान एवं आचरण किया गया है, उस गृहस्थ-वृत्तिका मैंने तुमसे वर्णन किया। तदनन्तर व्यासजीने अपने महात्मा पुत्र शुकदेवसे जो कुछ कहा था, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

क्रमशस्त्ववधूयैनां तृतीयां वृत्तिमुत्तमाम्।
संयोगव्रतखिन्नानां वानप्रस्थाश्रमौकसाम् ॥ २ ॥
श्रूयतां पुत्र भद्रं ते सर्वलोकाश्रमात्मनाम्।
प्रेक्षापूर्वं प्रवृत्तानां पुण्यदेशनिवासिनाम् ॥ ३ ॥

वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो। गृहस्थकी इस उत्तम तृतीय वृत्तिकी भी उपेक्षा करके सहधर्मिणीके संयोगसे किये जानेवाले व्रत-नियमोंद्वारा जो खिन्न हो चुके हैं तथा वानप्रस्थ-आश्रमको जिन्होंने अपना आश्रय बना लिया है, सम्पूर्ण लोक और आश्रम जिनके अपने ही स्वरूप हैं, जो विचारपूर्वक व्रत और नियमोंमें प्रवृत्त हैं तथा पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं, ऐसे वनवासी मुनियोंका जो धर्म है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २-३ ॥

व्यास उवाच

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत् ॥ ४ ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! गृहस्थ पुरुष जब अपने सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो अपनी आयुका तीसरा भाग व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थ-आश्रममें रहे। वह वानप्रस्थ-आश्रममें भी उन्हीं अग्नियोंका सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रममें उपासना करता था। साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे ॥ ४-५ ॥

नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान्।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे। दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे। गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है ॥ ६ ॥

अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च।
हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ ७ ॥

वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार तथा विघस (अतिथियोंको देनेसे बचे हुए) अन्नसे जीवन-निर्वाह करे। वानप्रस्थमें भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे ॥ ७ ॥

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः।
सद्यःप्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः ॥ ८ ॥

वानप्रस्थ-आश्रममें भी चार प्रकारकी वृत्तियाँ मानी गयी हैं। कोई उतने ही अन्नका संग्रह करते हैं कि तुरंत बना-खाकर बर्तनको धो-माँजकर साफ कर लें अर्थात् वे दूसरे दिनके लिये कुछ नहीं बचाते। कुछ दूसरे लोग वे हैं, जो एक महीनेके लिये अनाजका संग्रह करते हैं ॥ ८ ॥

वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम्।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥ ९ ॥

कोई वर्षभरके लिये और कोई बारह वर्षोंके लिये अन्नका संग्रह करते हैं। उनका यह संग्रह अतिथि-सेवा तथा यज्ञकर्मके लिये होता है ॥ ९ ॥

अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः।
ग्रीष्मे च पञ्च तपसः शश्वच्च मितभोजनाः ॥ १० ॥

वे वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें पानीके भीतर खड़े रहते हैं। जब गर्मी आती है, तब पञ्चाग्निसे शरीरको तपाते हैं और सदा स्वल्प भोजन करनेवाले होते हैं ॥

भूमौ विपरिवर्तन्ते तिष्ठन्ति प्रपदैरपि।
स्थानासनैर्वर्तयन्ति सवनेष्वभिषिञ्चते ॥ ११ ॥

वानप्रस्थी महात्मा जमीनपर लोट-पोट करते, पंजोंके बल खड़े होते, एक स्थानपर आसन लगाकर बैठते तथा तीनों काल स्नान और संध्या करते हैं ॥ ११ ॥

दन्तोलूखलिकाः केचिदश्मकुट्टास्तथा परे।
शुक्लपक्षे पिबन्त्येके यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ १२ ॥
कृष्णपक्षे पिबन्त्यन्ये भुञ्जते वा यथागतम्।

कोई दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं, अर्थात् कच्चे अन्नको चबा-चबाकर खाते हैं। दूसरे लोग पत्थरपर कूटकर भोजन करते हैं और कोई-कोई शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एक बार जौका औटाया हुआ माँड़ पीकर रह जाते हैं अथवा समयानुसार जो कुछ मिल जाय वही खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ १२½ ॥

मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः ॥ १३ ॥
वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः।

वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय लेकर कोई कन्द-मूलसे और कोई-कोई दृढ़ व्रतका पालन करते हुए फूलोंसे ही धर्मानुकूल जीविका चलाते हैं ॥ १३½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधा दीक्षास्तेषां मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः सम्प्रवर्तते ॥ १५ ॥

उन मनीषी पुरुषोंके लिये ये तथा और भी बहुत-से नाना प्रकारके नियम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। चौथे संन्यास-आश्रममें विहित जो उपनिषद्-प्रतिपादित शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधानरूप धर्म है, वह सभी आश्रमोंके लिये साधारण माना गया है, उसका पालन सभी आश्रमवालोंको करना चाहिये; किंतु चौथे आश्रम संन्यासका जो विशेष धर्म है, वह वानप्रस्थ और गृहस्थसे भिन्न है ॥ १४-१५ ॥

अस्मिन्नेव युगे तात विप्रैः सर्वार्थदर्शिभिः ।
अगस्त्यः सप्त ऋषयो मधुच्छन्दोऽघमर्षणः ॥ १६ ॥
सांकृतिः सुदिवा तण्डिर्यथावासोऽकृतश्रमः ।
अहोवीर्यस्तथा काव्यस्ताण्ड्यो मेधातिथिर्बुधः ॥ १७ ॥
बलवान् कर्णनिर्वाकः शून्यपालः कृतश्रमः ।
एतं धर्मं कृतवन्तस्ततः स्वर्गमुपागमन् ॥ १८ ॥

तात ! इस युगमें भी सर्वार्थदर्शी ब्राह्मणोंने इस वानप्रस्थ-धर्मका पालन एवं प्रसार किया । अगस्त्य, सप्तर्षिगण, मधुच्छन्द, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवा, तण्डि, यथावास, अकृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य (शुक्राचार्य), ताण्ड्य, मेधातिथि, बुध, शक्तिशाली कर्ण निर्वाक, शून्यपाल और कृतश्रम—इन सबने इस धर्मका पालन किया, जिससे ये सभी स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ॥ १६–१८ ॥

तात प्रत्यक्षधर्माणस्तथा यायावरा गणाः ।
ऋषीणामुग्रतपसां धर्मनैपुणदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
अन्ये चापरिमेयाश्च ब्राह्मणा वनमाश्रिताः ।
वैखानसा वालखिल्याः सैकताश्च तथा परे ॥ २० ॥

तात ! जिनकी तपस्या उग्र है, जिन्होंने धर्मकी निपुणताको देखा और अनुभव किया है, उन ऋषियोंके यायावर नामक गण भी वानप्रस्थी हैं, जिन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव है । वे तथा और भी असंख्य वनवासी ब्राह्मण, वालखिल्य और सैकत नामवाले दूसरे मुनि भी वैखानस (वानप्रस्थ) धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १९-२० ॥

कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः ॥ २१ ॥
अनक्षत्रास्त्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ।

ये सब ब्राह्मण प्रायः उपवास आदि क्लेशदायक कर्म करनेके कारण लौकिक सुखसे रहित थे । सदा धर्ममें तत्पर रहते और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे । उन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव था । वे सब-के-सब वानप्रस्थी थे । इस लोकसे जानेपर आकाशमें वे नक्षत्र-भिन्न, दुर्धर्ष ज्योतिर्मय तारोंके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं २१½ ॥

जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः ॥ २२ ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्थासे शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगें तो उस आश्रमका परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले) । संन्यासकी दीक्षा लेते समय एक दिनमें पूरा होनेवाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणामें दे डाले ॥ २२-२३ ॥

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥ २४ ॥
साद्यस्कांश्च यजेद् यज्ञानिष्टीश्चैवेह सर्वदा ।
यदैव याजिनां यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥

फिर आत्माका ही यजन, आत्मामें ही रत होकर आत्मामें ही क्रीडा करे । सब प्रकारसे आत्माका ही आश्रय ले । अग्निहोत्रकी अग्नियोंको आत्मामें ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रहको त्याग दे और तुरंत सम्पन्न किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ आदि यज्ञों तथा इष्टियोंका सदा ही मानसिक अनुष्ठान करता रहे । ऐसा तबतक करे, जबतक कि याज्ञिकोंके कर्ममय यज्ञसे हटकर आत्मयज्ञका अभ्यास न हो जाय ॥ २४-२५ ॥

त्रींश्चैवाग्नीन् यजेत् सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात् ।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन् ॥ २६ ॥

आत्मयज्ञका स्वरूप इस प्रकार है, अपने भीतर ही तीनों अग्नियोंकी विधिपूर्वक स्थापना करके देहपात होनेतक प्राणाग्निहोत्र[1]की विधिसे भलीभाँति यजन करता रहे । यजुर्वेदके 'प्राणाय स्वाहा' आदि मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ पहले अन्नके पाँच-छः ग्रास ग्रहण करे (फिर आचमनके पश्चात्) शेष अन्नकी निन्दा न करते हुए मौनभावसे भोजन करे ॥ २६ ॥

केशलोमनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः ।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थ मुनि केश, लोम और नख कटाकर कर्मोंसे पवित्र हो वानप्रस्थ-आश्रमसे पुण्यमय संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ २७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ २८ ॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकमें जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

सुशीलवृत्तो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च कर्तुमीहते ।
अरोषमोहो गतसंधिविग्रहो
भवेदुदासीनवदात्मविन्नरः ॥ २९ ॥

आत्मज्ञानी पुरुष सुशील, सदाचारी और पापरहित होता है । वह इहलोक और परलोकके लिये भी कोई कर्म करना नहीं चाहता । क्रोध, मोह, संधि और विग्रहका त्याग करके वह सब ओरसे उदासीन-सा रहता है ॥ २९ ॥

यमेषु चैवानुगतेषु न व्यथे
स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः ।

१. ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा—ये प्राणाग्निहोत्रके पाँच मन्त्र हैं, भोजन आरम्भ करते समय पहले आचमन करके इनमेंसे एक-एक मन्त्रको पढ़कर एक-एक ग्रास अन्न मुँहमें डाले । इस प्रकार पाँच ग्रास पूरे होनेपर पुनः आचमन कर ले । यही प्राणाग्निहोत्र कहलाता है ।

भवेद् यथेष्टागतिरात्मवेदिनि
न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये ॥ ३० ॥

जो अहिंसा आदि यमों और शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करता, संन्यास-आश्रमका विधान करनेवाले शास्त्रके सूत्रभूत वचनोंके अनुसार त्यागमयी अग्निमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे देनेके लिये निरन्तर उत्साह दिखाता है, उसे इच्छानुसार गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । ऐसे जितेन्द्रिय एवं धर्मपरायण आत्मज्ञानीकी मुक्तिके विषयमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ ३० ॥

ततः परं श्रेष्ठमतीव सद्गुणै-
रधिष्ठितं त्रीनधिवृत्तिमुत्तमम् ।
चतुर्थमुक्तं परमाश्रमं शृणु
प्रकीर्त्यमानं परमं परायणम् ॥ ३१ ॥

जो वानप्रस्थ-आश्रमसे उत्कृष्ट तथा अपने सद्गुणोंके कारण अति ही श्रेष्ठ है, जो पूर्वोक्त तीनों आश्रमोंसे ऊपर है, जिसमें शम आदि गुणोंका अधिक विकास होता है, जो सबसे श्रेष्ठ और सबकी परम गति है, उस सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रमका यद्यपि वर्णन किया गया है, तथापि पुनः विशेषरूपसे उसका प्रतिपादन करता हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

संन्यासीके आचरण और ज्ञानवान् संन्यासीकी प्रशंसा

शुक उवाच

वर्तमानस्तथैवात्र वानप्रस्थाश्रमे यथा ।
योक्तव्योऽऽत्मा कथं शक्त्या वेद्यं वै काङ्क्षता परम् ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंमें जैसे शास्त्रोक्त नियमके अनुसार चलना आवश्यक है, उसी प्रकार इस वानप्रस्थ आश्रममें भी शास्त्रोक्त नियमका पालन करते हुए चलना चाहिये । यह सब तो मैंने सुन लिया । अब मैं यह जानना चाहता हूँ, जो जानने योग्य परब्रह्म परमात्माको पाना चाहता हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार उस परमात्माका चिन्तन कैसे करना चाहिये ? ॥

व्यास उवाच

प्राप्य संस्कारमेताभ्यामाश्रमाभ्यां ततः परम् ।
यत्कार्यं परमार्थं तु तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके धर्मोंद्वारा चित्तका संस्कार (शोधन) करनेके अनन्तर मुक्तिके लिये जो वास्तविक कर्तव्य है, उसे बताता हूँ, तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पङ्क्तिक्रमसे स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थमें चित्तके राग-द्वेष आदि दोषोंको पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यासको ग्रहण कर ले ॥

तद् भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ।
एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४ ॥

बेटा ! तुम इस संन्यास-धर्मके नियमोंको सुनो और उन्हें अभ्यासमें लाकर उसीके अनुसार बर्ताव करो । संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही संन्यास-धर्मका पालन करे ॥ ४ ॥

एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते ।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ५ ॥

जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं । संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे; केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय ॥ ५ ॥

अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः ।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥ ६ ॥

वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे । चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करके मौनभावसे रहे । हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे ॥ ६ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥ ७ ॥

भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे । वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे । जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे । किसीको साथ न रखे और सब प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे । ये सब संन्यासीके लक्षण हैं ॥ ७ ॥

यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ८ ॥

जैसे डरे हुए हाथी भागकर किसी जलाशयमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर सहसा निकलकर अपने पूर्व स्थानको नहीं लौटते उसी प्रकार जिस पुरुषमें दूसरोंके कहे हुए निन्दात्मक या प्रशंसात्मक वचन समा जाते हैं, परंतु प्रत्युत्तरके रूपमें वे वापस पुनः नहीं लौटते अर्थात् जो किसीकी की हुई निन्दा

या स्तुतिका कोई उत्तर नहीं देता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है ॥ ८ ॥

नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित्।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात् कथंचन ॥ ९ ॥

संन्यासी किसीकी निन्दा करनेवाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर देखे नहीं, कभी किसीका निन्दात्मक वचन सुने नहीं तथा विशेषतः ब्राह्मणोंके प्रति किसी प्रकार न कहने योग्य बात न कहे ॥ ९ ॥

यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः॥ १० ॥

जिससे ब्राह्मणोंका हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले। अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बनको भवरोगसे छूटनेकी दवा समझकर इसका सेवन करता रहे॥

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११ ॥

जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूपसे स्थित होनेके कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाशमें परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असङ्ग होनेके कारण लोगोंसे भरे हुए स्थानको भी सूना समझता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं ॥ ११ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १२ ॥

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वल्कल आदि) वस्तुसे अपना शरीर ढक लेता है, समयपर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसीसे भूख मिटा लेता है और जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं ॥ १२ ॥

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १३ ॥

जो जनसमुदायको सर्प-सा समझकर उसके निकट जानेसे डरता है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्तिको नरक-सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियोंको मुर्दोंके समान समझकर उनकी ओरसे विरक्त होता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥

न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १४ ॥

जो सम्मान प्राप्त होनेपर हर्षित, अपमानित होनेपर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ १४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥

संन्यासी न तो जीवनका अभिनन्दन करे और न मृत्युका ही। जैसे सेवक स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार उसे भी कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ १६ ॥

संन्यासी अपने चित्तको राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित न होने दे। अपनी वाणीको निन्दा आदि दोषोंसे बचावे और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर सर्वथा शत्रुहीन हो जाय। जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो उसे किसीसे क्या भय हो सकता है ? ॥ १६ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः।
तस्य मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ १७ ॥

जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है तथा जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोहमुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता ॥ १७ ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ १८ ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते॥ १९ ॥

जैसे पैरोंद्वारा चलनेवाले अन्य प्राणियोंके सम्पूर्ण पदचिह्न हाथीके पदचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार सारा धर्म और अर्थ अहिंसाके अन्तर्भूत है। जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह सदा अमृत (जन्म और मृत्युके बन्धनसे मुक्त) होकर निवास करता है ॥ १८-१९ ॥

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २० ॥

जो हिंसा न करनेवाला, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंको शरण देनेवाला है, वह अत्यन्त उत्तम गति पाता है ॥ २० ॥

एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः।
न मृत्युरतिगो भावः स मृत्युमधिगच्छति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो ज्ञानानन्दसे तृप्त होकर भय और कामनाओंसे रहित हो गया है, उसपर मृत्युका जोर नहीं चलता। वह स्वयं ही मृत्युको लाँघ जाता है ॥ २१ ॥

विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम्।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥

जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर मुनिवृत्तिसे रहता है, आकाशकी भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभावसे रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ॥ २२ ॥

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २३ ॥

जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान् श्रीहरिके लिये होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालनमें ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं ॥ २३ ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥

जो कामनाओंसे रहित तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, नमस्कार और स्तुतिसे दूर रहता तथा सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ २४ ॥

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी सुखमें प्रसन्न होते और दुःखसे बहुत डरते हैं; अतः प्राणियोंपर भय आता देखकर जिसे खेद होता है, उस श्रद्धालु पुरुषको भयदायक कर्म नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

दानं हि भूताभयदक्षिणायाः
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति
सोऽऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः॥ २६ ॥

इस जगत्में जीवोंको अभयकी दक्षिणा देना सब दानोंसे बढ़कर है । जो पहलेसे ही हिंसाका त्याग कर देता है, वह सब प्राणियोंसे निर्भय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

उत्तान आस्ये न हविर्जुहोति
लोकस्य नाभिर्जगतः प्रतिष्ठा ।
तस्याङ्गमङ्गानि कृताकृतं च
वैश्वानरः सर्वमिदं प्रपेदे ॥ २७ ॥

जो संन्यासी खोले हुए मुखमें 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे प्राणोंके लिये अन्नकी आहुति नहीं देता, अपितु प्राणों (इन्द्रिय-मन आदि) को ही आत्मामें होम देता—लीन करता है, उसका मस्तक आदि सारा अङ्गसमुदाय तथा किया हुआ और नहीं किया हुआ कर्मसमूह अग्निका ही अवयव हो जाता है अर्थात् वह उस अग्निका स्वरूप हो जाता है, जो सृष्टिके आरम्भसे ही प्राणियोंके नाभिस्थान—उदरमें जठरानलरूपमें विराजमान है तथा सम्पूर्ण जगत्का आश्रय है । उस वैश्वानर (अग्नि) ने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है ॥ २७ ॥

प्रादेशमात्रे हृदि निःसृतं यत्
तस्मिन् प्राणानात्मयाजी जुहोति।
तस्याग्निहोत्रं हुतमात्मसंस्थं
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ॥ २८ ॥

आत्मयज्ञ करनेवाला ज्ञानी पुरुष नाभिसे लेकर हृदय-तकका जो प्रादेशमात्र स्थान है, उसमें प्रकट हुई जो चैतन्य-ज्योति है, उसीमें समस्त प्राणोंकी—इन्द्रिय, मन आदिकी आहुति देता है अर्थात् समस्त प्राणादिका आत्मामें लय करता है । उसका प्राणाग्निहोत्र यद्यपि अपने शरीरके भीतर ही होता है तथापि वह सर्वात्मा होनेके कारण उसके द्वारा देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें प्राणाग्निहोत्रकर्म सम्पन्न हो जाता है; अर्थात् उसके प्राणोंकी तृप्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राण तृप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

देवं त्रिधातुं त्रिवृतं सुपर्णं
ये विद्युरग्र्यां परमात्मतां च ।
ते सर्वलोकेषु महीयमाना
देवाः समर्त्याः सुकृतं वदन्ति ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्में अपने चिन्मयस्वरूपसे प्रकाशित होता है, तीन धातु (वर्ण—अकार, उकार, मकार) अर्थात् प्रणव जिसका वाचक है, जो सत्त्व आदि तीनों गुणोंमें—त्रिगुणमयी मायामें उसके नियन्तारूपसे विद्यमान है तथा जिसके जगत्-सम्बन्धी व्यापार वृक्षके सुन्दर पत्तोंके समान विस्तारको प्राप्त हुए हैं, उस अन्तर्यामी पुरुषको तथा उसकी उत्तम परब्रह्मस्वरूपताको जो जानते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें सम्मानित होते हैं और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण देवता उनके शुभकर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च वेद्यं तु विधिं च कृत्स्न-
मथो निरुक्तं परमार्थतां च ।
सर्वं शरीरात्मनि यः प्रवेद
तस्यैव देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण वेदशास्त्र, ज्ञेय वस्तु (आकाश आदि भूत और भौतिक जगत्), समस्त विधि (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द-प्रमाणगम्य परलोक आदि) और परमार्थता (आत्माकी सत्यस्वरूपता)—यह सब कुछ शरीरके भीतर विद्यमान आत्मामें ही प्रतिष्ठित है । ऐसा जो जानता है, उस सर्वात्मा ज्ञानी पुरुषकी सेवाके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ ३० ॥

भूमावसक्तं दिवि चाप्रमेयं
हिरण्मयं योऽण्डजमण्डमध्ये ।
पतत्त्रिणं पक्षिणमन्तरिक्षे
यो वेद भोग्यात्मनि रश्मिदीप्तः॥ ३१ ॥

जो पृथ्वीपर रहकर भी उसमें आसक्त नहीं है, अनन्त आकाशमें अप्रमेयभावसे स्थित है, जो हिरण्मय (चिन्मय ज्योतिस्वरूप), अण्डज—ब्रह्माण्डके भीतर प्रादुर्भूत और अण्ड-पिण्डात्मक शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदय-कमलके आसनपर, भोग्यात्मा (शरीर) के अन्तर्गत हृदयाकाशमें जीवरूपसे विराजमान है; जिसमें अनेक अङ्गदेवता छोटे-छोटे पंखोंके समान शोभा पाते हैं तथा जो मोद और प्रमोद नामक दो प्रमुख पंखोंसे शोभायमान है; उस सुवर्णमय पक्षीरूप जीवात्मा एवं ब्रह्मको जो जानता है, वह ज्ञानकी तेजोमयी किरणोंसे प्रकाशित होता है ॥ ३१ ॥

आवर्तमानमजरं विवर्तनं
षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व ।
यस्येदमास्ये परियाति विश्वं
तत् कालचक्रं निहितं गुहायाम् ॥ ३२ ॥

जो निरन्तर घूमता रहता है, कभी जीर्ण या क्षीण नहीं होता, जो लोगोंकी आयुको क्षीण करता है, छः ऋतुएँ जिसकी नाभि हैं, बारह महीने जिसके अरे हैं, दर्शपौर्णमास आदि जिसके सुन्दर पर्व हैं; यह सम्पूर्ण विश्व जिसके मुँहमें भक्ष्य पदार्थके समान जाता है, वह कालचक्र बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है (उसे जो जानता है, देवगण उसके शुभकर्म-की प्रशंसा करते हैं) ॥ ३२ ॥

यः सम्प्रसादो जगतः शरीरं
सर्वान् स लोकानधिगच्छतीह ।
तस्मिन् हितं तर्पयतीह देवां-
स्ते वै तृप्तास्तर्पयन्त्यास्यमस्य ॥ ३३ ॥

जो मनको प्रसन्नता प्रदान करता है, इस जगत्का शरीर है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसके विराट् शरीरमें विराजित है, वह परमात्मा इस जगत्में सब लोकोंको घेरे हुए स्थित है। उस परमात्मामें ध्यानद्वारा स्थापित किया हुआ मन, इस देहमें स्थित देवताओं–प्राणोंको तृप्त करता है और वे तृप्त हुए प्राण उस ज्ञानीके मुखको ज्ञानामृतसे तृप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

तेजोमयो नित्यमयः पुराणो
लोकाननन्तानभयानुपैति ।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्
स भूतानां न त्रसते कदाचित् ॥ ३४ ॥

जो ब्रह्मज्ञानमय तेजसे सम्पन्न और पुरातन नित्य-ब्रह्म-परायण है, वह भिक्षु अनन्त एवं निर्भय लोकोंको प्राप्त होता है। जिससे जगत्के प्राणी कभी भयभीत नहीं होते, वह भी संसारके प्राणियोंसे कभी भय नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

अगर्हणीयो न च गर्हतेऽन्यान्
स वै विप्रः परमात्मानमीक्षेत् ।
विनीतमोहो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च सोऽन्नमृच्छति ॥ ३५ ॥

जो न तो स्वयं निन्दनीय है और न दूसरोंकी निन्दा करता है, वही ब्राह्मण परमात्माका दर्शन कर सकता है। जिसके मोह और पाप दूर हो गये हैं, वह इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः
प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः ।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रिय-
श्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ३६ ॥

ऐसे संन्यासीको रोष और मोह नहीं छू सकते। वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है। पाँच कोशोंका अभिमान त्याग देता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है। उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय। वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी श्रेष्ठता, उसके दर्शनका उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेशके पात्रका निर्णय

व्यास उवाच

प्रकृत्यास्तु विकारा ये क्षेत्रज्ञस्तैरधिष्ठितः ।
न चैनं ते प्रजानन्ति स तु जानाति तानपि ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! देह, इन्द्रिय और मन आदि जो प्रकृतिके विकार हैं, वे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के ही आधारपर स्थित रहते हैं। वे जड होनेके कारण क्षेत्रज्ञको नहीं जानते; परंतु क्षेत्रज्ञ उन सबको जानता है ॥ १ ॥

तैश्चैवं कुरुते कार्यं मनःषष्ठैरिहेन्द्रियैः ।
सुदान्तैरिव संयन्ता दृढैः परमवाजिभिः ॥ २ ॥

जैसे चतुर सारथि अपने वशमें किये हुए बलवान् और उत्तम घोड़ोंसे अच्छी तरह काम लेता है, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ भी अपने वशमें किये हुए मनसहित इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करता है ॥ २ ॥

इन्द्रियेभ्यः परे ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय बलवान् हैं, विषयोंसे मन बलवान् है, मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे जीवात्मा बलवान् है ॥ ३ ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् परतोऽमृतम् ।
अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ४ ॥

जीवात्मासे बलवान् है अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अव्यक्तसे बलवान् और श्रेष्ठ है अमृतस्वरूप परमात्मा। उस परमात्मासे बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही श्रेष्ठता-की चरम सीमा और परम गति है ॥ ४ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ वह परमात्मा इन्द्रियोंद्वारा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा ही अपनी सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ बुद्धिद्वारा उसका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ६ ॥
ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः ।
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ॥ ७ ॥

योगी बुद्धिके द्वारा मनसहित इन्द्रियों और उनके विषयोंको अन्तरात्मामें लीन करके नाना प्रकारके चिन्तनीय विषयका चिन्तन न करता हुआ जब विवेकद्वारा विशुद्ध किये हुए मनको ध्यानके द्वारा सब ओरसे पूर्णतया उपरत करके अपनेको कुछ भी करनेमें असमर्थ बना लेता है अर्थात् सर्वथा कर्तापनके अभिमानसे शून्य हो जाता है, तब उसका मन अविचल परम शान्ति-

सम्पन्न हो जाता है और वह अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ६-७ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा चलितस्मृतिः ।
आत्मनः सम्प्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥ ८ ॥

जिसका मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वशमें होता है, वह मनुष्य विवेक-शक्तिको खो देता है और अपनेको काम आदि शत्रुओंके हाथोंमें सौंपकर मृत्युका कष्ट भोगता है ॥ ८ ॥

आहृत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् ।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत् ॥ ९ ॥

अतः सब प्रकारके संकल्पोंका नाश करके चित्तको सूक्ष्म बुद्धिमें लीन करे । इस प्रकार बुद्धिमें चित्तका लय करके वह कालपर विजय पा जाता है ॥ ९ ॥

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते॥ १० ॥

चित्तकी पूर्ण शुद्धिसे सम्पन्न हुआ यत्नशील योगी इस जगत्‌में शुभ और अशुभको त्याग देता है और प्रसन्नचित्त एवं आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुखका उपभोग करता है ।१०।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥ ११ ॥

मनुष्य नींदके समय जैसे सुखसे सोता है—सुषुप्तिके सुखका अनुभव करता है, अथवा जैसे वायुरहित स्थानमें जलता हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, एकतार जला करता है, उसी प्रकार मन कभी चञ्चल न हो, यही उसके प्रसादका अर्थात् परम शुद्धिका लक्षण है ॥ ११ ॥

एवं पूर्वापरे काले युञ्जन्नात्मानमात्मनि ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १२ ॥

जो मिताहारी और शुद्धचित्त होकर रातके पहले और पिछले पहरोंमें उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाता है, वही अपने अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन करता है ॥ १२ ॥

रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम् ।
आत्मप्रत्ययिकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥ १३ ॥

बेटा ! मैंने जो यह उपदेश दिया है, यह परमात्माका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है । यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है । केवल अनुमान या आगमसे इसका ज्ञान नहीं होता, अनुभवसे ही यह ठीक-ठीक समझमें आता है ॥ १३ ॥

धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्याने च यद् वसु ।
दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ १४ ॥

धर्म और सत्यके जितने भी आख्यान हैं, उन सबका यह सारभूत धन है । ऋग्वेदकी दस हजार ऋचाओंका मन्थन करके यह अमृतमय सारतत्त्व निकाला गया है ॥१४॥

नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्र हेतोः समुद्धृतम् ॥ १५ ॥

बेटा ! मनुष्य जैसे दहीसे मक्खन निकालते हैं और काठसे आग प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी विद्वानोंके लिये ज्ञानजनक यह मोक्षशास्त्र शास्त्रोंको मथकर निकाला है ॥

स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् ।
तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने ॥ १६ ॥

बेटा ! व्रतधारी स्नातकोंको ही तुम इस मोक्षशास्त्रका उपदेश करना । जिसका मन शान्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं तथा जो तपस्वी नहीं है, उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च ।
नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥ १७ ॥
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च ।

जो वेदका विद्वान् न हो, अनुगत भक्त न हो, दोषदृष्टिसे रहित न हो, सरल स्वभावका न हो और आज्ञाकारी न हो तथा तर्कशास्त्रकी आलोचना करते-करते जिसका हृदय दग्ध—रस-शून्य हो गया हो और जो दूसरोंकी चुगली खाता हो—ऐसे लोगोंको इस ज्ञानका उपदेश देना उचित नहीं है॥ १७½ ॥

श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय तपस्विने ॥ १८ ॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय च ।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथंचन ॥ १९ ॥

जो तत्त्वज्ञानकी अभिलाषा रखनेवाला, स्पृहणीय गुणोंसे युक्त, शान्तचित्त, तपस्वी एवं अनुगत शिष्य हो अथवा इन्हीं गुणोंसे युक्त प्रिय पुत्र हो, उसीको इस गूढ़ रहस्यमय धर्मका उपदेश देना चाहिये; दूसरे किसीको किसी प्रकार भी नहीं ॥ १८-१९ ॥

यद्यप्यस्य महीं दद्याद् रत्नपूर्णामिमां नरः ।
इदमेव ततः श्रेय इति मन्येत तत्त्ववित् ॥ २० ॥

यदि कोई मनुष्य रत्नोंसे भरी हुई यह सम्पूर्ण पृथ्वी देने लगे तो भी तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझे कि इस सारे धनकी अपेक्षा यह ज्ञान ही श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् ।
यत् तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥ २१ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ २२ ॥

बेटा ! तुम मुझसे जो प्रश्न कर रहे हो, उसके अनुसार मैं इससे भी गूढ़तर अर्थवाले अलौकिक अध्यात्मज्ञानका उपदेश करूँगा, जिसे महर्षियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है और जिसका वेदान्तशास्त्र—उपनिषदोंमें गान किया गया है ॥ २१-२२ ॥

यच्च ते मनसि वर्तते परं
यत्र चास्ति तव संशयः क्वचित् ।
श्रूयतामयमहं तवाग्रतः
पुत्र किं हि कथयामि ते पुनः ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे मनमें जो वस्तु सर्वश्रेष्ठ जान पड़ती हो तथा जिसके विषयमें तुम्हें कहीं संशय हो रहा हो, उसे पूछो और उसके उत्तरमें मैं जो कुछ तुम्हारे सामने कहूँ, उसे सुनो ! बोलो, मैं फिर तुम्हें किस विषयका उपदेश करूँ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४६॥

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महाभूतादि तत्त्वोंका विवेचन

शुक उवाच

अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व मे ।
यदध्यात्मं यथा वेद भगवन्नृषिसत्तम ॥ १ ॥

शुकदेवजीने कहा—भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब पुनः मुझे अध्यात्मज्ञानका विस्तारपूर्वक उपदेश दीजिये । अध्यात्म क्या है और उसे मैं कैसे जानूँगा ? ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अध्यात्मं यदिदं तात पुरुषस्येह पठ्यते ।
तत् तेऽहं वर्तयिष्यामि तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! मनुष्यके लिये शास्त्रमें जो यह अध्यात्मविषयकी चर्चा की जाती है, उसका परिचय मैं तुम्हें दे रहा हूँ; तुम अध्यात्मकी यह व्याख्या सुनो ॥२॥

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश एव च ।
महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें स्थित हैं । जैसे समुद्रकी लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ये पाँचों महाभूत प्राणियोंके शरीरके रूपमें जन्म ग्रहण करते और विलीन होते रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वन्महान्ति भूतानि यवीयःसु विकुर्वते ॥ ४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको सब ओर फैलाकर फिर समेट लेता है, इसी प्रकार ये सारे महाभूत छोटे-छोटे शरीरोंमें विकृत होते—उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं ॥४॥

इति तन्मयमेवेदं सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्गे च प्रलये चैव तस्मिन् निर्दिश्यते तथा ॥ ५ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् पञ्चभूतमय ही है । सृष्टिकालमें पञ्चभूतोंसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और प्रलयके समय उन्हींमें सबका लय बताया जाता है ॥५॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तात वैषम्यं यस्मिन् यदनुपश्यति ॥ ६ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण शरीरोंमें पाँच ही भूत हैं तथापि लोगोंको उनमेंसे जिसमें जो वैषम्य दिखायी देता है, उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त प्राणियोंमें उनके कर्मानुसार ही न्यूनाधिकरूपमें उन भूतोंका समावेश किया है ॥ ६ ॥

शुक उवाच

अकरोद् यच्छरीरेषु कथं तदुपलक्षयेत् ।
इन्द्रियाणि गुणाः केचित् कथं तानुपलक्षयेत् ॥ ७ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! देवता, मनुष्य, पशु और पक्षी आदिके शरीरोंमें विधाताने जो वैषम्य किया है, उसको किस प्रकार लक्ष्य किया जाय ? शरीरमें इन्द्रियाँ भी हैं और कुछ गुण भी हैं, उन्हें कैसे देखा जाय—उनमेंसे कौन किस महाभूतके कार्य हैं, इसकी पहचान कैसे हो ? ॥ ७ ॥

व्यास उवाच

एतत् ते वर्तयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
शृणु तत् त्वमिहैकाग्रो यथातत्त्वं यथा च तत् ॥ ८ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! मैं इस विषयका क्रमशः और यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन करूँगा । यह समस्त विषय तत्त्वतः जैसा है, वह सब तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम् ।
प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः ॥ ९ ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय तथा शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीनों वस्तुएँ आकाशसे उत्पन्न हुई हैं । प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श—ये तीनों वायुके गुण (कार्य) हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते ।
रसोऽथ रसनं स्नेहो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसः॥ १० ॥

रूप, नेत्र और जठरानल—इन तीन रूपोंमें अग्निका ही कार्य प्रकट हुआ है । रस, रसना और स्नेह—ये तीनों जलके कार्य हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः ।
एतावानिन्द्रियग्रामैर्व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः ॥ ११ ॥

गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीनों भूमिके गुण हैं । इस प्रकार इन्द्रियसमुदायसहित यह शरीर पाञ्चभौतिक बताया गया है ॥ ११ ॥

वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते ।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः ॥ १२ ॥

स्पर्श वायुका, रस जलका और रूप तेजका गुण बताया जाता है एवं शब्द आकाशका और गन्ध भूमिका गुण माना गया है ॥ १२ ॥

मनो बुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते स्वयोनिजाः ।
न गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमागताः ॥ १३ ॥

मन, बुद्धि और स्वभाव (अहंभाव)—ये तीनों अपने कारणभूत पूर्वसंस्कारोंसे उत्पन्न हुए हैं। ये तीनों पाञ्चभौतिक होते हुए भी भूतोंके अन्य कार्य जो श्रोत्रादि हैं, उनसे श्रेष्ठ हैं तो भी गुणोंका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं कर पाते हैं ॥ १३ ॥

यथा कूर्म इहाङ्गानि प्रसार्य विनियच्छति ।
एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिः सृष्ट्वा नियच्छति ॥ १४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर फैलाकर फिर उन्हें वहाँसे हटा लेती है ॥ १४ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ्मूर्ध्नश्च पश्यति ।
एतस्मिन्नेव कृत्ये तु वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥ १५ ॥

पैरोंसे ऊपर और मस्तकसे नीचे मनुष्य जो कुछ देखता है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरको जो अहंभावसे देखना है, इस कार्यमें उत्तम बुद्धि प्रवृत्त होती है। तात्पर्य यह कि शरीरमें जो अहंभावका अनुभव है, वह बुद्धिका ही रूपान्तर है ॥ १५ ॥

गुणान् नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १६ ॥

बुद्धि ही शब्द आदि गुणोंको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके पास बार-बार ले जाती है और बुद्धि ही मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंके पास पुनः-पुनः खींच ले जाती है; यदि इनके साथ बुद्धि न रहे तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द आदि विषयोंका अनुभव कैसे हो सकता है ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते ।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञं पुनरष्टमम् ॥ १७ ॥

मनुष्यके शरीरमें पाँच इन्द्रियाँ हैं। छठा तत्त्व मन है। सातवाँ तत्त्व बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ बताया गया है ॥ १७ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

आँख देखनेका काम करती है, (यह उपलक्षण है। इससे सभी इन्द्रियोंके कार्यका लक्ष्य कराया गया है) मन संदेह करता है और बुद्धि उसका निश्चय करती है; किंतु क्षेत्रज्ञ (आत्मा) उन सबका साक्षी कहलाता है ॥ १८ ॥

रजस्तमश्च सत्त्वं च यत्र एते स्वयोनिजाः ।
समाः सर्वेषु भूतेषु तान् गुणानुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये तीनों अपने कारणभूत मूल प्रकृतिसे प्रकट हुए हैं; वे तीनों गुण सब प्राणियोंमें समानरूपसे रहते हैं। उनकी पहचान उनके कार्योंद्वारा करे ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव संशुद्धं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २० ॥

जब अपनेमें कुछ प्रसन्नतायुक्त विशुद्ध और शान्त-सा भाव दिखायी दे, तब यह निश्चय करे कि सत्त्वगुण प्रवृत्त हुआ है ॥

यत् तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥ २१ ॥

शरीर अथवा मनमें जब कुछ संतापयुक्त भाव दृष्टिगोचर हो, तब वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ २१ ॥

यत् तु सम्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधार्यताम् ॥ २२ ॥

जब मोहयुक्त भाव मनपर छा जाय, किसी भी विषयमें कोई बात स्पष्ट न जान पड़े, जब तर्क भी काम न दे और किसी तरह कोई बात समझमें न आवे, तब समझना चाहिये कि तमोगुण प्रवृत्त हुआ है ॥ २२ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता ।
अकस्माद् यदि वा कस्माद् वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः ॥ २३ ॥

जब अतिशय हर्ष, प्रेम, आनन्द, समता और स्वस्थचित्तता—ये सद्गुण अकस्मात् या किसी कारणवश विकसित हों, तब समझना चाहिये कि ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २३ ॥

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २४ ॥

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह और असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारणसे प्रकट हुए हों अथवा बिना कारणके हर एक परिस्थितिमें रजोगुणके ही चिह्न माने गये हैं ॥ २४ ॥

तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान जिस किसी कारणसे हो जायँ, उन्हें तमोगुणका कार्य जानना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

बुद्धिकी श्रेष्ठता और प्रकृति-पुरुष-विवेक

व्यास उवाच

मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी ।
हृदयं प्रियाप्रिये वेद त्रिविधा कर्मचोदना ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! कर्म करनेमें तीन प्रकारसे प्रेरणा प्राप्त होती है। पहले तो मन संकल्पमात्रसे नाना प्रकारके भावकी सृष्टि करता है, बुद्धि उसका निश्चय करती है। तत्पश्चात् हृदय उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव करता है। (इसके बाद कर्ममें प्रवृत्ति होती है) ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः ॥ २ ॥

इन्द्रियोंसे उनके विषय बलवान् हैं (क्योंकि वे बलात् इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं), उन विषयोंसे मन बलवान् है (क्योंकि वह इन्द्रियोंको उनसे हटानेमें समर्थ है)। मनसे बुद्धि बलवान् है (क्योंकि वह मनको वशमें रख सकती है) और बुद्धिसे आत्मा बलवान् माना गया है (क्योंकि वह बुद्धिको सम बनाकर स्वाधीन कर सकता है) ॥ २ ॥

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनाऽऽत्मनि ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥ ३ ॥

बुद्धि प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है, इसलिये वह जीवात्माके समान ही उनकी आत्मा मानी गयी है। बुद्धि ही स्वयं अपने भीतर जब भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये विकृत हो नाना प्रकारके रूप धारण करती है, तब वही मन बन जाती है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावाद् बुद्धिर्विक्रियते ह्यतः ।
शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी क्रियाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं। अतः उन्हींके लिये बुद्धि नाना प्रकारके रूप धारण करती है। वही जब सुनती है तो श्रोत्र कहलाती है और स्पर्श करते समय स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नामसे पुकारी जाती है ॥ ४ ॥

पश्यती भवते दृष्टी रसती रसनं भवेत् ।
जिघ्रती भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥ ५ ॥

वही देखते समय दृष्टि और रसास्वादनके समय रसना हो जाती है। जब वह गन्धको ग्रहण करती है, तब वही घ्राणेन्द्रिय कहलाती है। इस प्रकार बुद्धि ही पृथक्-पृथक् विकृत होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेष्वदृश्योऽधितिष्ठति ।
तिष्ठती पुरुषे बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ॥ ६ ॥

बुद्धिके इन विकारोंको ही इन्द्रियाँ कहते हैं। अदृश्य जीवात्मा उन सबमें अधिष्ठित है। बुद्धि उस जीवात्मामें ही स्थित हो सात्त्विक आदि तीनों भावोंमें रहती है ॥ ६ ॥

कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह युज्यते ॥ ७ ॥

इसी हेतुसे वह कभी प्रेम और प्रसन्नता लाभ करती है (यह उसका सात्त्विक भाव है)। कभी शोकमें डूबती है (यह उसका राजस भाव है)। और कभी न तो सुखसे युक्त होती है एवं न दुःखसे ही; उसपर मोह छाया रहता है (यही उसका तामस भाव है) ॥ ७ ॥

सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ ८ ॥

जैसे उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त सरिताओंका स्वामी समुद्र कभी-कभी अपनी विशाल तटभूमिको भी लाँघ जाता है, उसी प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित होनेपर इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है ॥ ८ ॥

यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः ।
अधिष्ठानानि वै बुद्ध्या पृथगेतानि संस्मरेत् ।
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि कृत्स्नशः ॥ ९ ॥

मनुष्य जब किसी वस्तुकी इच्छा करता है, तब उसकी बुद्धि मनके रूपमें परिणत हो जाती है। ये जो एक दूसरेसे पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके भाव हैं, इन्हें बुद्धिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। 'मेधा' कहते हैं रूप आदिके ज्ञानको, उसमें हितकर या सहायक होनेके कारण इन्द्रियाँ 'मेध्य' कही गयी हैं। योगीको सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वाण्येवानुपूर्व्येण यद् यदानुविधीयते ।
अविभागगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ १० ॥

बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमेंसे जब जिस इन्द्रियके साथ हो जाती है, उस समय पहले अलग न होनेपर भी वह बुद्धि संकल्पात्मक मन एवं घटादि पदार्थोंमें उपस्थित होती है अर्थात् बुद्धिसे अनुगृहीत होनेपर ही कोई भी इन्द्रिय संकल्पजनित घट-पटादिको क्रमशः ग्रहण करती है ॥ १० ॥

ये चैव भावा वर्तन्ते सर्वे एष्वेव ते त्रिषु ।
अन्वर्थाः सम्प्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥ ११ ॥

जगत्में जो भी नाना भाव हैं, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों भावोंके ही अन्तर्गत हैं। जैसे अरे रथकी नेमिसे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार सभी भाव सात्त्विक आदि गुणोंके अनुगामी हैं ॥ ११ ॥

प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः ।
निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥ १२ ॥

बुद्धिरूप अधिष्ठानमें स्थित हुई उदासीनभावसे स्वभावके अनुसार यथासम्भव विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंद्वारा मन दीपकका कार्य करता है अर्थात् जैसे दीपक अपनी प्रभाद्वारा घटादि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मन नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा घट-पट आदि वस्तुओंका दर्शन एवं ग्रहण कराता है ॥ १२ ॥

एवं स्वभावमेवेदमिति विद्वान् न मुह्यति ।
अशोचन्नप्रहृष्यन् हि नित्यं विगतमत्सरः ॥ १३ ॥

इस जगत्का ऐसा ही परिवर्तनस्वभाव है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ता, हर्ष और शोक नहीं करता तथा ईर्ष्या-द्वेष आदिसे रहित रहता है ॥ १३ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः ।
प्रवर्तमानैरनये दुष्करैरकृतात्मभिः ॥ १४ ॥

जो दुष्कर्मपरायण और अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे अज्ञानी पुरुष अन्यायपूर्वक मनोवाञ्छित विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंद्वारा आत्माका दर्शन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ॥ १५ ॥

परंतु जब मनुष्य अपने मनके द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोरको सदा पकड़े रहकर उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर लेता है; तब उसे ज्ञानके प्रकाशमें आत्माका दर्शन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें किसी वस्तुकी आकृति स्पष्ट दिखायी देती है ॥ १५ ॥

सर्वेषामेव भूतानां तमस्यपगते यथा ।
प्रकाशं भवते सर्वं तथेदमुपधार्यताम् ॥ १६ ॥

जैसे अन्धकार दूर हो जानेपर सभी प्राणियोंके सामने प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार यह निश्चितरूपसे समझ लो कि अज्ञानका नाश होनेपर ही ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है ॥ १६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन् ।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ॥ १७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलमें विचरता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी संसारमें रहकर भी उसके गुण और दोषोंसे लिपायमान नहीं होता ॥ १७ ॥

एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयांश्चरन् ।
असज्जमानः सर्वेषु कथंचन न लिप्यते ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जिसकी बुद्धि शुद्ध है, वह स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियोंमें आसक्त न होनेके कारण विषयोंका सेवन करता हुआ भी किसी प्रकार उनके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ १८ ॥

त्यक्त्वा पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि ।
सर्वभूतात्मभूतस्य गुणवर्गेष्वसज्जतः ॥ १९ ॥

जो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारोंका त्याग करके सदा परमात्मामें ही अनुराग रखता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा हो जाता है और विषयोंमें कभी आसक्त नहीं होता ॥

सत्त्वमात्मा प्रसरति गुणान् वापि कदाचन ।
न गुणा विदुरात्मानं गुणान् वेद स सर्वदा ॥ २० ॥
परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम् ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ॥ २१ ॥

जीवात्मा कभी बुद्धिकी ओर झुकता है और कभी गुणोंकी ओर । गुण आत्माको नहीं जानते, किंतु आत्मा गुणोंको सदा जानता रहता है, क्योंकि वह गुणोंका द्रष्टा और यथावत्‌रूपसे स्रष्टा भी है । यद्यपि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ दोनों ही सूक्ष्म वस्तु हैं, किंतु उन दोनोंमें यही अन्तर समझो कि बुद्धि दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है ॥ २०-२१ ॥

सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ।
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ॥ २२ ॥

इन दोनोंमेंसे एक (बुद्धि) तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता है । वे दोनों स्वरूपतः एक दूसरेसे पृथक् हैं; परंतु सदा संयुक्त रहते हैं ॥

यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ।
मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सह ॥ २३ ॥

जैसे मछली जलसे भिन्न है, फिर भी वे एक दूसरेसे संयुक्त रहते हैं । जैसे गूलर और उसके कीड़े एक दूसरेसे पृथक् हैं तथापि परस्पर संयुक्त रहते हैं । उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञको भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक् च सह चैव च ।
तथैव सहितावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ॥ २४ ॥

जैसे मूँजमें जो सींक है, वह उससे पृथक् है तो भी वे दोनों साथ ही रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञ सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी दोनों साथ-साथ और एक दूसरेके आश्रित रहते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानके साधन तथा ज्ञानीके लक्षण और महिमा

व्यास उवाच

सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वधितिष्ठति ।
गुणान् विक्रियतः सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! प्रकृति ही गुणोंकी सृष्टि करती है । क्षेत्रज्ञ—आत्मा तो उदासीनकी भाँति उन सम्पूर्ण विकारशील गुणोंको देखा करता है । वह स्वाधीन एवं उनका अधिष्ठाता है ॥ १ ॥

स्वभावयुक्तं तत् सर्वं यदिमान् सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥ २ ॥

जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तुओंकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार प्रकृति भी समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थोंको उत्पन्न करती है । प्रकृति जो इन सब विषयोंकी सृष्टि करती है, वह सब उसके स्वभावसे ही होता है ॥ २ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ३ ॥

किन्हींका मत है कि तत्त्वज्ञानसे जब गुणोंका नाश कर दिया जाता है, तब भी वे सर्वथा नष्ट नहीं होते; किंतु तत्त्वज्ञके लिये उनकी उपलब्धि नहीं होती अर्थात् उसका उनसे सम्बन्ध नहीं रहता । दूसरे लोग मानते हैं कि उनकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं रहता ॥

उभयं सम्प्रधार्यैतदध्यवस्येद् यथामति ।
अनेनैव विधानेन भवेद् गर्भशयो महान् ॥ ४ ॥

इन दोनों मतोंपर अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करके सिद्धान्तका निश्चय करे। इस प्रकार निश्चय करनेसे (बार-बार) गर्भमें शयन करनेवाला जीव महान् हो जाता है ॥ ४ ॥

अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥ ५ ॥

आत्मा आदि और अन्तसे रहित है। उसे जानकर मनुष्य सदा हर्ष, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो विचरता रहे ॥

इत्येवं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
अनित्यं सुखमासीत अशोचंश्छिन्नसंशयः ॥ ६ ॥

साधकको चाहिये कि बुद्धिके चिन्ता आदि धर्मोंसे सुदृढ़ हुई हृदयकी अविद्यामयी अनित्य ग्रन्थिको उपर्युक्त प्रकारसे काटकर शोक और संदेहसे रहित हो सुख-पूर्वक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाय ॥ ६ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्व्या यथा पूर्णां नदीं नराः।
अवगाढा ह्यविद्वांसो विद्धि लोकमिमं तथा ॥ ७ ॥

जैसे तैरनेकी कला न जाननेवाले मनुष्य यदि किनारेकी भूमिसे जलपूर्ण नदीमें गिर पड़ते हैं तो गोते खाते हुए महान् क्लेश सहन करते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य इस संसार-सागरमें डूबकर कष्ट भोगते रहते हैं—ऐसा समझो ॥ ७ ॥

न तु ताम्यति वै विद्वान् स्थले चरति तत्त्ववित्।
एवं यो विन्दतेऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥ ८ ॥

परंतु जो तैरना जानता है, वह कष्ट नहीं उठाता। वह तो जलमें भी स्थलकी ही भाँति चलता है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता संसार-सागरसे पार हो जाता है ॥ ८ ॥

एवं बुद्ध्वा नरः सर्वं भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य च वैषम्यं लभते शममुत्तमम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके आवागमनको जानता तथा उनकी विषम अवस्थापर विचार करता है, उसे परम उत्तम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

एतद् वै जन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम् ॥ १० ॥

विशेषरूपसे ब्राह्मणमें और समानभावसे मनुष्यमात्रमें इस ज्ञानको प्राप्त करनेकी जन्मसिद्ध शक्ति है। मन और इन्द्रियोंका संयम तथा आत्मज्ञान मोक्ष-प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन है ॥ १० ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम्।
विज्ञायैतद् विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ११ ॥

शम और आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध हो जाता है। ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण हो सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस आत्मतत्त्वको जानकर कृतार्थ और मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचिद्
भवति हि या विदुषः सनातनी ॥ १२ ॥

परलोकमें जो अज्ञानी मनुष्योंको महान् भय प्राप्त होता है, वह महान् भय ज्ञानी पुरुषोंको नहीं होता। ज्ञानीको जो सनातन गति प्राप्त होती है, उससे बढ़कर उत्तम गति और किसीको भी प्राप्त नहीं होती ॥ १२ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तत् तदेव च निरीक्ष्य शोचते।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥ १३ ॥

कुछ लोग मनुष्योंको दुखी और रोगी देखकर उनमें दोष-दृष्टि करते हैं और दूसरे लोग उनकी वह अवस्था देखकर शोक करते हैं। परंतु जो कार्य और कारण दोनोंको तत्त्वसे जानते हैं, वे शोक नहीं करते। तुम उन्हीं लोगोंको वहाँ कुशल समझो ॥ १३ ॥

यत् करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति तत् पुराकृतम्।
न प्रियं तदुभयं न चाप्रियं
तस्य तज्जनयतीह कुर्वतः ॥ १४ ॥

कर्मपरायण मनुष्य निष्कामभावसे जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वह पहलेके किये हुए सकाम या अशुभ कर्मोंको भी नष्ट कर देता है; इस प्रकार कर्म करनेवाले साधकके कर्म इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी उसका भला-बुरा या दोनों कुछ भी नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी प्राप्तिका साधन, संसार-नदीका वर्णन और ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति

शुक उवाच

यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! इस जगत्में जिस धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है तथा जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, उसका आप मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

धर्मं ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम्।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा! मैं ऋषियोंके बताये हुए

उस प्राचीन धर्मका, जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, तुमसे यहाँ वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य यत्नतः ।
सर्वतो निष्पतिष्णूनि पिता बालानिवात्मजान् ॥ ३ ॥

जैसे पिता अपने छोटे पुत्रोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार मनुष्यको चाहिये कि वह सब विषयोंपर टूट पड़नेवाली अपनी प्रमथनशील इन्द्रियोंका बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक संयम करके उन्हें वशमें रखे ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ ४ ॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है। यही सब धर्मोंसे श्रेष्ठतम परम धर्म बताया जाता है ॥४॥

तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया ।
आत्मतृप्त इवासीत बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ५ ॥

मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा स्थिर करके बहुत-से चिन्तनीय विषयोंका चिन्तन न करते हुए अपनी आत्मामें तृप्त-सा होकर निश्चिन्त और निश्चल हो जाय ॥५॥

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम् ॥ ६ ॥

जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर अपने निवासस्थानमें स्थित हो जायँगी, उस समय तुम स्वयं ही उस सनातन परमात्माका दर्शन कर लोगे ॥ ६ ॥

सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥

धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबका आत्मा और परम महान् है। महात्मा एवं ज्ञानी ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं ॥ ७ ॥

यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः ।
आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥ ८ ॥
एवमात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतस्त्वहम् ।
अन्यो ह्यत्रान्तरात्मास्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥ ९ ॥

जैसे फल और फूलोंसे भरा हुआ अनेक शाखाओंसे युक्त विशाल वृक्ष अपने ही विषयमें यह नहीं जानता कि कहाँ मेरा फूल है और कहाँ मेरा फल है; उसी प्रकार जीवात्मा यह नहीं जानता कि मैं कहाँसे आया हूँ और कहाँ जाऊँगा। किंतु शरीरमें जीवसे पृथक् दूसरा ही अन्तरात्मा है, जो सबको सब प्रकारसे निरन्तर देखता रहता है ॥ ८–९ ॥

ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
दृष्ट्वा त्वमात्मनाऽऽत्मानं निरात्मा भव सर्ववित् ॥१०॥

पुरुष प्रज्वलित ज्ञानमय प्रदीपके द्वारा अपनेमें ही परमात्माका दर्शन करता है; इसी प्रकार तुम भी आत्माद्वारा परमात्माका साक्षात्कार करके सर्वज्ञ और स्वाभिमानसे रहित हो जाओ ।१०।

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः ।
परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः ॥ ११ ॥

केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पके समान सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो उत्तम बुद्धि पाकर तुम यहाँ पाप और चिन्तासे रहित हो जाओ ॥ ११ ॥

सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥ १२ ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥ १३ ॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम् ॥ १४ ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥ १५ ॥

यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकमें प्रवाहित हो रही है। इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहोंके समान हैं। मनके संकल्प ही इसके किनारे हैं। लोभ और मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है। काम और क्रोध इसमें सर्पके समान निवास करते हैं। सत्य इसका घाट है। मिथ्या इसकी हलचल है। क्रोध ही कीचड़ है। यह नदी दूसरी नदियोंसे श्रेष्ठ है। यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है। इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है। अजितात्मा पुरुषोंके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूप ग्राह सब ओर भरे हैं। यह नदी संसार-सागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। तात ! यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है। जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इस नदीको पार कर जाओ ॥ १२–१५ ॥

यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः ।
तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मवित्छुचिः ॥१६॥
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्मभूयान् भविष्यसि ।
संतीर्णः सर्वसंसारात् प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥ १७ ॥

धैर्यशाली, मनीषी और तत्त्वज्ञानी लोग जिस नदीको पार करते हैं, उसे तुम भी तैर जाओ। सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, संयतचित्त, आत्मज्ञ और पवित्र हो जाओ। उत्तम बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय ले तुम सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे छूट जाओगे और निष्पाप एवं प्रसन्नचित्त हो ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाओगे ॥ १६-१७ ॥

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥ १८ ॥

जैसे पर्वतके शिखरपर खड़ा हुआ पुरुष धरतीपर रहनेवाले समस्त प्राणियोंको सुस्पष्ट देखता है, उसी प्रकार तुम भी ज्ञानरूपी शैलशिखरपर आरूढ़ हो समस्त प्राणियोंकी अवस्थापर दृष्टिपात करो। क्रोध और हर्षसे रहित हो जाओ तथा बुद्धिकी क्रूरतासे भी रहित हो जाओ ॥ १८ ॥

ततो द्रक्ष्यसि सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययौ।
एनं वै सर्वभूतेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥

ऐसा करनेसे तुम समस्त भूतोंके उत्पत्ति और प्रलयको देख सकोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तत्त्वदर्शी ज्ञानी मुनि इस धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १९ ॥

आत्मनो व्यापिनो ज्ञानमिदं पुत्रानुशासनम्।
प्रयताय प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च ॥ २० ॥

बेटा! यह उपदेश व्यापक आत्माका ज्ञान करानेवाला है। जो संयतचित्त, हितैषी और अनुगत भक्त हो, उसीके समक्ष इसका वर्णन करना चाहिये ॥ २० ॥

आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत्।
अब्रुवं यदहं तात आत्मसाक्षिकमञ्जसा ॥ २१ ॥

यह गोपनीय आत्मज्ञान सबसे अधिक गुह्यतम और महान् है। तात! मैंने जिसका उपदेश किया है, वह यथार्थतः मेरे अपने प्रत्यक्ष अनुभवमें लाया हुआ ज्ञान है ॥ २१ ॥

नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव चेदं नपुंसकम्।
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम् ॥ २२ ॥

दुःख और सुखसे रहित तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमानस्वरूप ब्रह्म तो न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है ॥

नैतज्ज्ञात्वा पुमान् स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुते।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद् धर्मं विधीयते ॥ २३ ॥

पुरुष हो या स्त्री, इस ब्रह्मको जान ले तो उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। अपुनर्भवस्थिति प्राप्त करनेके लिये ही इस ब्रह्मज्ञानरूप धर्मका विधान किया गया है ॥ २३ ॥

यथा मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा।
कथितानि मया पुत्र भवन्ति न भवन्ति च ॥ २४ ॥

बेटा! सारे विभिन्न मत जैसे रहे हैं, वैसे ही मेरेद्वारा तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे बताये गये हैं। जो इन मतोंका अनुसरण करते हैं; वे मुक्त हो जाते हैं, जो नहीं करते हैं, वे नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

तत् प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन
पुत्रेण सत्पुत्र दमान्वितेन।
पृष्टो हि सम्प्रीतमना यथार्थं
ब्रूयात् सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥ २५ ॥

सत्पुत्र शुकदेव! प्रीतियुक्त, गुणवान् तथा इन्द्रियसंयमी पुत्र यदि प्रश्न करे तो पिता संतुष्टचित्त होकर उस जिज्ञासु पुत्रके समीप यथार्थरूपसे इस ज्ञानका उपदेश करे, जो कुछ मैंने तुम्हारे निकट कहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके लक्षण और परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

व्यास उवाच

गन्धान् रसान् नानुरुन्ध्यात् सुखं वा
नालंकारांश्चाप्नुयात् तस्य तस्य।
मानं च कीर्तिं च यशश्च नेच्छेत्
स वै प्रचारः पश्यतो ब्राह्मणस्य ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! साधकको चाहिये कि गन्ध और रस आदि विषयोंका उपभोग न करे, विषयसेवन-जनित सुखकी ओर न जाय, स्वर्ण आदिके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंको भी न धारण करे तथा मान, बड़ाई और यशकी इच्छा न करे, यही ज्ञानवान् ब्राह्मणका आचार है ॥ १ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न स वै द्विजः ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर ले, गुरुकी सेवामें रहे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले, वही मुख्य ब्राह्मण है ॥ २ ॥

ज्ञातिवत् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित्।
नाकामो म्रियते जातु न तेन न च वै द्विजः ॥ ३ ॥

जो समस्त प्राणियोंको अपने कुटुम्बकी भाँति समझकर उनपर दया करता है। जाननेयोग्य तत्त्वका ज्ञाता तथा सब वेदोंका तत्त्वज्ञ है और कामनासे रहित है। वह कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ब्राह्मण नहीं है ऐसी बात नहीं, किंतु वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ३ ॥

इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
प्राप्नोति नैव ब्राह्मण्यमविधानात् कथंचन ॥ ४ ॥

नाना प्रकारकी इष्टियों और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमात्रसे बिना विधानके अर्थात् बिना आत्मज्ञानके किसीको किसी तरह भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ४ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

जिस समय वह दूसरे प्राणियोंसे नहीं डरता और दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते तथा जब वह इच्छा और द्वेषका सर्वथा परित्याग कर देता है, उसी समय उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी

बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥

जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥

कामनासे मुक्त हुआ रजोगुणरहित धीर पुरुष धूमिल रंगके बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी भाँति निर्मल होकर धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ ८ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामः॥ ९ ॥

जैसे नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं॥

स कामकान्तो न तु कामकामः
स वै कामात् स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥

भोग ही उस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना करते हैं, परंतु वह भोगोंकी कामना नहीं रखता। जो कामभोग चाहनेवाला देहाभिमानी है, वह कामनाओंके फल-स्वरूप स्वर्गलोकमें चला जाता है॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥ ११ ॥

वेदका सार है सत्य वचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान और दानका सार है तपस्या ॥

तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥

तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका सार है शान्ति ॥ १२ ॥

क्लेदनं शोकमनसोः संतापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि संतोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम् ॥ १३ ॥

मनुष्यको संतोषपूर्वक रहकर शान्तिके उत्तम उपाय सत्त्वगुणको अपनानेकी इच्छा करनी चाहिये। सत्त्वगुण मनकी तृष्णा, शोक और संकल्पको उसी प्रकार जलाकर नष्ट करनेवाला है, जैसे गरम जल चावलको गला देता है ॥

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और संतोषी—इन छः लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्णतः ज्ञानसे तृप्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः ।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥

जो देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्त्वप्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम—इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप त्रिविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्माको इस शरीरके रहते हुए ही जान लेते हैं, वे परम शान्तिरूप गुणको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम् ।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभावसिद्ध, संस्कारशून्य तथा शरीरके भीतर स्थित सुकृत नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १६ ॥

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा॥ १७ ॥

अपने मनको इधर-उधर जानेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्णरूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जिस संतोष और सुखकी प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपायसे प्राप्त होना असम्भव है॥

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान् ।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

जिससे बिना भोजनके भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होनेसे निर्धनको भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलनेसे घृत आदि स्निग्ध पदार्थका सेवन किये बिना भी मनुष्य अपनेमें अनन्त बलका अनुभव करता है, उस ब्रह्मको जो जानता है, वही वेदोंका तत्त्वज्ञ है ॥ १८ ॥

संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन् ।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥ १९ ॥

जो अपनी इन्द्रियोंके सुरक्षित द्वारोंको सब ओरसे बंद करके नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है ॥ १९ ॥

समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम् ।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

जो अपनी कामनाओंको नष्ट करके परम तत्त्वरूप परमात्मामें एकाग्रचित्त होकर स्थित है, उसका सुख शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति सब ओरसे बढ़ता रहता है ॥ २० ॥

अविशेषाणि भूतानि गुणांश्च जहतो मुनेः ।
सुखेनापोह्यते दुःखं भास्करेण तमो यथा ॥ २१ ॥

जो सामान्यतः सम्पूर्ण भूतों और भौतिक गुणोंका त्याग कर देता है, उस मुनिका दुःख उसी प्रकार सुखपूर्वक अनायास नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदयसे अन्धकार ॥ २१ ॥

तमतिक्रान्तकर्माणमतिक्रान्तगुणक्षयम् ।
ब्राह्मणं विषयाश्लिष्टं जरामृत्यू न विन्दतः ॥ २२ ॥

गुणोंके ऐश्वर्य तथा कर्मोंका परित्याग करके विषयवासनासे रहित हुए उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषको जरा और मृत्यु नहीं प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

स यदा सर्वतो मुक्तः समः पर्यवतिष्ठते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च शरीरस्थोऽतिवर्तते ॥ २३ ॥

जब मनुष्य समस्त बन्धनोंसे पूर्णतया मुक्त होकर समतामें स्थित हो जाता है, उस समय इस शरीरके भीतर रहकर भी वह इन्द्रियों और उनके विषयोंकी पहुँचके बाहर हो जाता है॥

कारणं परमं प्राप्य अतिक्रान्तस्य कार्यताम् ।
पुनरावर्तनं नास्ति सम्प्राप्तस्य परं पदम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार जो परम कारणस्वरूप ब्रह्मको पाकर कार्यमयी प्रकृतिकी सीमाको लाँघ जाता है, वह ज्ञानी परमपदको प्राप्त हो जाता है । उसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीरमें पञ्चभूतोंके कार्य और गुणोंकी पहचान

व्यास उवाच

द्वन्द्वानि मोक्षजिज्ञासुरर्थधर्मावनुष्ठितः ।
वक्त्रा गुणवता शिष्यः श्राव्यः पूर्वमिदं महत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! जो अर्थ और धर्मका अनुष्ठान करके सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहता हो और मोक्षकी जिज्ञासा रखता हो, उस श्रद्धालु शिष्यको गुणवान् वक्ता पहले इस महत्त्वपूर्ण अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराये ॥ १ ॥

आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पञ्चमी ।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

आकाश, वायु, जल, तेज और पाँचवाँ पृथ्वी तथा भावपदार्थ अर्थात् गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय एवं अभाव और काल (दिक्, आत्मा और मन)—ये सब-के-सब समस्त पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियोंमें स्थित हैं ॥

अन्तरात्मकमाकाशं तन्मयं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तस्य शब्दं गुणं विद्यान्मूर्तिशास्त्रविधानवित् ॥ ३ ॥

आकाश अवकाशस्वरूप है और श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है । शरीर-शास्त्रके विधानको जाननेवाला मनुष्य शब्दको आकाशका गुण जाने ॥ ३ ॥

चरणं मारुतात्मेति प्राणापानौ च तन्मयौ ।
स्पर्शनं चेन्द्रियं विद्यात् तथा स्पर्शं च तन्मयम् ॥ ४ ॥

चलना-फिरना वायुका धर्म है । प्राण और अपान भी वायुस्वरूप ही हैं (समान, उदान और व्यानको भी वायुरूप ही मानना चाहिये)। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) तथा स्पर्श नामक गुणको भी वायुमय ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तापः पाकः प्रकाशश्च ज्योतिश्चक्षुश्च पञ्चमम् ।
तस्य रूपं गुणं विद्यात् ताम्रगौरासितात्मकम् ॥ ५ ॥

ताप, पाक, प्रकाश और नेत्रेन्द्रिय—ये सब तेज या अग्नितत्त्वके कार्य हैं । श्याम, गौर और ताम्र आदि वर्णवाले रूपको उसका गुण समझना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रक्लेदः क्षुद्रता स्नेह इत्यपामुपदिश्यते ।
असृङ्मज्जा च यच्चान्यत् स्निग्धं विद्यात् तदात्मकम् ॥ ६ ॥

क्लेदन (किसी वस्तुको सड़ा-गला देना), क्षुद्रता (सूक्ष्मता) तथा स्निग्धता—ये जलके धर्म बताये जाते हैं । रक्त, मज्जा तथा अन्य जो कुछ स्निग्ध पदार्थ है, उस सबको जलमय समझे ॥ ६ ॥

रसनं चेन्द्रियं जिह्वा रसश्चापां गुणो मतः ।
संघातः पार्थिवो धातुरस्थिदन्तनखानि च ॥ ७ ॥

रसनेन्द्रिय, जिह्वा और रस—ये सब जलके गुण माने गये हैं । शरीरमें जो संघात या कड़ापन है, वह पृथ्वीका कार्य है, अतः हड्डी, दाँत और नख आदिको पृथ्वीका अंश समझना चाहिये ॥ ७ ॥

श्मश्रु रोम च केशाश्च शिरा स्नायु च चर्म च ।
इन्द्रियं घ्राणसंज्ञातं नासिकेत्यभिसंज्ञिता ॥ ८ ॥
गन्धश्चेवेन्द्रियार्थोऽयं विज्ञेयः पृथिवीमयः ।

इसी प्रकार दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोएँ, केश, नाड़ी, स्नायु और चर्म—इन सबकी उत्पत्ति भी पृथ्वीसे ही हुई है । नासिका नामसे प्रसिद्ध जो घ्राणेन्द्रिय है, वह भी पृथ्वीका ही अंश है । इस गन्धनामक विषयको भी पार्थिव गुण ही जानना चाहिये ॥ ८½ ॥

उत्तरेषु गुणाः सन्ति सर्वसत्त्वेषु चोत्तराः ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर सभी भूतोंमें पूर्ववर्ती भूतोंके गुण विद्यमान हैं, (जैसे आकाशमें शब्दमात्र गुण है; वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण; तेजमें शब्द, स्पर्श और रूप—तीन गुण; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—चार गुण तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं)॥ ९ ॥

पञ्चानां भूतसंघानां संततिं मुनयो विदुः ।
मनो नवममेषां तु बुद्धिस्तु दशमी स्मृता ॥ १० ॥

मुनिलोग भावना, अज्ञान और कर्म—इन तीनोंको पाँच महाभूतोंके समुदायकी संतति मानते हैं । इन्हीं तीनोंको अविद्या, काम और कर्म भी कहते हैं । ये सब मिलकर आठ हुए । इनके साथ मनको नवाँ और बुद्धिको दसवाँ तत्त्व माना गया है ॥ १० ॥

एकादशस्त्वनन्तात्मा स सर्वः पर उच्यते ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम् ।
कर्मानुमानाद् विज्ञेयः स जीवः क्षेत्रसंज्ञकः ॥ ११ ॥

अविनाशी आत्मा ग्यारहवाँ तत्त्व है । उसीको सर्वस्वरूप और श्रेष्ठ बताया जाता है । बुद्धि निश्चयात्मिका होती है और मनका स्वरूप संशय बताया गया है । कर्मोंका ज्ञाता और कर्ता कोई भी जड़तत्त्व नहीं हो सकता, इस अनुमान-ज्ञानसे उस क्षेत्रज्ञ नामक जीवात्माको समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एभिः कालात्मकैर्भावैर्यः सर्वैः सर्वमन्वितम् ।
पश्यत्यकलुषं कर्म स मोहं नानुवर्तते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य सारे जगत्‌को इन समस्त कालात्मक भावोंसे सम्पन्न देखता और निष्पाप कर्म करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे भिन्न जीवात्माका और परमात्माका योगके द्वारा साक्षात्कार करनेका प्रकार

व्यास उवाच

शरीराद् विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम् ।
कर्मभिः परिपश्यन्ति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! योगशास्त्रके ज्ञाता शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीरसे निकले हुए सूक्ष्म स्वरूप जीवात्माको देखते हैं ॥ १ ॥

यथा मरीच्यः सहिताश्चरन्ति
सर्वत्र तिष्ठन्ति च दृश्यमानाः ।
देहैर्विमुक्तानि चरन्ति लोकां-
स्तथैव सत्त्वान्यतिमानुषाणि ॥ २ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें परस्पर मिली हुई ही सर्वत्र विचरती हैं एवं स्थित हुई दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार अलौकिक जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलकर सम्पूर्ण लोकोंमें जाते हैं। (यह ज्ञानदृष्टिसे ही जाननेमें आ सकता है) ॥ २ ॥

प्रतिरूपं यथैवाप्सु तापः सूर्यस्य लक्ष्यते ।
सत्त्ववत्सु तथा सत्त्वं प्रतिरूपं स पश्यति ॥ ३ ॥

जैसे विभिन्न जलाशयोंके जलमें सूर्यकी किरणोंका पृथक्-पृथक् दर्शन होता है, उसी प्रकार योगी पुरुष सभी सजीव शरीरोंके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित पृथक्-पृथक् जीवोंको देखता है॥

तानि सूक्ष्माणि सत्त्वानि विमुक्तानि शरीरतः ।
स्वेन सत्त्वेन सत्त्वज्ञाः पश्यन्ति नियतेन्द्रियाः॥ ४ ॥

शरीरके तत्त्वको जाननेवाले जितेन्द्रिय योगीजन उन स्थूलशरीरोंसे निकले हुए सूक्ष्म लिङ्गशरीरोंसे युक्त जीवोंको अपने आत्माके द्वारा देखते हैं ॥ ४ ॥

स्वपतां जाग्रतां चैव सर्वेषामात्मचिन्तितम् ।
प्रधानाद्वैधमुक्तानां जहतां कर्मजं रजः ॥ ५ ॥
यथाहनि तथा रात्रौ यथा रात्रौ तथाहनि ।
वशे तिष्ठति सत्त्वात्मा सततं योगयोगिनाम् ॥ ६ ॥

जो अपने मनमें चिन्तित कर्मजनित रजोगुणका अर्थात् रजोगुणजनित काम आदिका योगबलसे परित्याग कर देते हैं तथा जो प्रकृतिके तादात्म्यभावसे भी मुक्त हैं, उन सभी योगपरायण योगी पुरुषोंका जीवात्मा जैसे दिनमें वैसे रातमें, जैसे रातमें वैसे दिनमें सोते-जागते समय निरन्तर उनके वशमें रहता है ॥ ५-६ ॥

तेषां नित्यं सदा नित्यो भूतात्मा सततं गुणैः ।
सप्तभिस्त्वन्वितः सूक्ष्मैश्चरिष्णुरजरामरः ॥ ७ ॥

उन योगियोंका नित्य-स्वरूप जीव सदा सात सूक्ष्म गुणों (महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) से युक्त हो अजर-अमर देवताओंकी भाँति नित्यप्रति विचरता रहता है ॥७॥

मनोबुद्धिपराभूतः स्वदेहपरदेहवित् ।
स्वप्नेष्वपि भवत्येष विज्ञाता सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

जिन मूढ़ मनुष्योंका जीवात्मा मन और बुद्धिके वशीभूत रहता है, वह अपने और पराये शरीरको जाननेवाला मनुष्य स्वप्न-अवस्थामें भी सूक्ष्म शरीरसे सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ ८ ॥

तत्रापि लभते दुःखं तत्रापि लभते सुखम् ।
क्रोधलोभौ तु तत्रापि कृत्वा व्यसनमृच्छति ॥ ९ ॥

वहाँ (स्वप्नमें भी) उसे दुःख और सुख प्राप्त होते हैं। एवं उस स्वप्नमें भी (जाग्रत्‌की भाँति ही) क्रोध और लोभ करके वह संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

प्रीणितश्चापि भवति महतोऽर्थानवाप्य हि ।
करोति पुण्यं तत्रापि जीवन्निव च पश्यति ॥ १० ॥

वहाँ भी महान् धन पाकर वह प्रसन्न होता है तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है; इतना ही नहीं, जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति वह स्वप्नमें भी सब वस्तुओंको देखता है ॥

महोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान् ।
दश मासान् वसन् कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते॥ ११ ॥

(यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि) गर्भभावको प्राप्त हुआ जीवात्मा दस मासतक माताके उदरमें निवास करता है और जठरानलकी अधिक आँचसे संतप्त होता रहता है तो भी अन्नकी भाँति पच नहीं जाता ॥ ११ ॥

तमेतमतितेजोऽशं भूतात्मानं हृदि स्थितम् ।
तमोरजोभ्यामाविष्टा नानुपश्यन्ति मूर्तिषु ॥ १२॥

यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और देहधारियोंके हृदयमें विराजमान है तथापि जो लोग रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत हैं, वे देहके भीतर उस जीवात्माकी स्थितिको देख या समझ नहीं पाते हैं ॥ १२ ॥

योगशास्त्रपरा भूत्वा तमात्मानं परीप्सवः ।
अनुच्छ्वासान्यमूर्तानि यानि वज्रोपमान्यपि ॥ १३ ॥

जड स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर तथा वज्रतुल्य सुदृढ़ कारण शरीर—ये जो तीन प्रकारके शरीर हैं, इन्हें आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले योगीजन योगशास्त्रपरायण होकर लाँघ जाते हैं ॥ १३ ॥

पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु ।
समाधौ योगमेवैतच्छाण्डिल्यः शममब्रवीत् ॥ १४ ॥

संन्यास-आश्रमके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके बताये गये हैं । उनमें समाधिके विषयमें मैंने जो कुछ बताया है, इसीको शाण्डिल्य मुनिने शमके नामसे (छान्दोग्यउपनिषद् शाण्डिल्य ब्राह्मणमें) कहा है ॥ १४ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।
प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्मानुपश्यति ॥ १५ ॥

जो पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको शाश्वत जानकर एवं छः अङ्गोंसे यानी ऐश्वर्योंसे युक्त महेश्वरका ज्ञान प्राप्त करके इस बातको जान लेता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका परिणाम ही यह सम्पूर्ण जगत् है, वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कामरूपी अद्भुत वृक्षका तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका और शरीररूपी नगरका वर्णन

व्यास उवाच

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥ १ ॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम् ।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरा दुष्कृतसारवान् ॥ २ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! मनुष्यकी हृदयभूमिमें मोहरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम । क्रोध और अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं । कुछ करनेकी इच्छा उसमें जल सींचनेका पात्र है । अज्ञान उसकी जड़ है । प्रमाद ही उसे सींचनेवाला जल है । दूसरोंके दोष देखना उस वृक्षका पत्ता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए पाप उसके सारभाग हैं ॥ १-२ ॥

सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः ।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥ ३ ॥

शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ एवं भय उसके अङ्कुर हैं । मोहमें डालनेवाली तृष्णारूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं ॥ ३ ॥

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः ।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥ ४ ॥

लोभी मनुष्य लोहेकी जंजीरोंके समान वासनाके बन्धनोंमें बँधकर उस फलदायक महान् वृक्षको चारों ओरसे घेरकर आसपास बैठे हैं और उसके फलको प्राप्त करना चाहते हैं ॥

यस्तान् पाशान् वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति ।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥

जो उन वासनाके बन्धनोंको वशमें करके वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उस काम-वृक्षको काट डालता है, वह मनुष्य जरा और मृत्युजनित दोनों प्रकारके दुःखोंसे पार हो जाता है ॥

संरोहत्यकृतप्रज्ञः सदा येन हि पादपम् ।
स तमेव ततो हन्ति विषग्रन्थिरिवातुरम् ॥ ६ ॥

परंतु जो मूर्ख फलके लोभसे सदा उस वृक्षपर चढ़ता है, उसे वह वृक्ष ही मार डालता है; ठीक वैसे ही, जैसे खायी हुई विषकी गोली रोगीको मार डालती है ॥ ६ ॥

तस्यानुगतमूलस्य मूलमुद्ध्रियते बलात् ।
योगप्रसादात् कृतिना साम्येन परमासिना ॥ ७ ॥

उस काम-वृक्षकी जड़ें बहुत दूरतक फैली हुई हैं। कोई विद्वान् पुरुष ही ज्ञानयोगके प्रसादसे समतारूप उत्तम खड्गके द्वारा बलपूर्वक उस वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है ॥

एवं यो वेद कामस्य केवलस्य निवर्तनम् ।
बन्धं वै कामशास्त्रस्य स दुःखान्यतिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो केवल कामनाओंको निवृत्त करनेका उपाय जानता है तथा भोगविधायक शास्त्र बन्धनकारक है—इस बातको समझता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्रबुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥ ९ ॥

इस शरीरको पुर या नगर कहते हैं । बुद्धि इस नगरकी रानी मानी गयी है और शरीरके भीतर रहनेवाला मन निश्चयात्मिका बुद्धिरूप रानीके अर्थकी सिद्धिका विचार करनेवाला मन्त्री है ॥

इन्द्रियाणि मनःपौरास्तदर्थे तु पराकृतिः ।
तत्र द्वौ दारुणौ दोषौ तमो नाम रजस्तथा ।
तदर्थमुपजीवन्ति पौराः सह पुरेश्वरैः ॥ १० ॥

इन्द्रियाँ इस नगरमें निवास करनेवाली प्रजा हैं । वे मनरूपी मन्त्रीकी आज्ञाके अधीन रहती हैं । उन प्रजाओंकी रक्षाके लिये मनको बड़े-बड़े कार्य करने पड़ते हैं । वहाँ दो

दारुण दोष हैं, जो रज और तमके नामसे प्रसिद्ध हैं। नगरके शासक मन, बुद्धि और जीव इन तीनोंके साथ समस्त पुरवासी रूप इन्द्रियगण मनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए शब्द आदि विषयोंका उपभोग करते हैं ॥ १० ॥

अद्वारेण तमेवार्थं द्वौ दोषावुपजीवतः।
तत्र बुद्धिर्हि दुर्धर्षा मनः सामान्यमश्नुते ॥ ११ ॥

रजोगुण और तमोगुण—ये दो दोष निषिद्धमार्गके द्वारा उस विषय-सुखका आश्रय लेते हैं। वहाँ बुद्धि दुर्धर्ष होनेपर भी मनके साथ रहनेसे उसीके समान हो जाती है ॥ ११ ॥

पौराश्चापि मनस्त्रस्तास्तेषामपि चला स्थितिः।
तदर्थं बुद्धिरध्यास्ते सोऽनर्थः परिषीदति ॥ १२ ॥

उस समय इन्द्रियरूपी पुरवासी जन मनके भयसे त्रस्त हो जाते हैं, अतः उनकी स्थिति भी चञ्चल ही रहती है। बुद्धि भी उस अनर्थका ही निश्चय करती है। इसलिये वह अनर्थ आ बसता है ॥ १२ ॥

यदर्थं पृथगध्यास्ते मनस्तत्परिषीदति।
पृथग्भूतं मनो बुद्ध्या मनो भवति केवलम् ॥ १३ ॥

बुद्धि जिस विषयका अवलम्बन करती है, मन भी उसीका आश्रय लेता है। मन जब बुद्धिसे पृथक् होता है, तब केवल मन रह जाता है ॥ १३ ॥

तत्रैनं विधृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते।
तन्मनः कुरुते सख्यं रजसा सह सङ्गतम्।
तं चादाय जनं पौरं रजसे सम्प्रयच्छति ॥ १४ ॥

उस समय रजोगुणजनित काम मनको आत्माके बलसे युक्त होनेपर भी विवेकसे रहित होनेके कारण सब ओरसे घेर लेता है। तब वह कामसे घिरा हुआ मन उस रजोगुणरूप कामके साथ मित्रता स्थापित कर लेता है। उसके बाद वह मन ही उस इन्द्रियरूप पुरवासीजनको रजोगुणजनित कामके हाथमें समर्पित कर देता है (जैसे राजाका विरोधी मन्त्री राज्य और प्रजाको शत्रुके हाथमें सौंप देता है) ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चभूतोंके तथा मन और बुद्धिके गुणोंका विस्तृत वर्णन

भीष्म उवाच

भूतानां परिसंख्यानं भूयः पुत्र निशामय।
द्वैपायनमुखाद् भ्रष्टं श्लाघया परयानघ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—निष्पाप पुत्र युधिष्ठिर ! द्वैपायन व्यासजीके मुखसे वर्णित जो पञ्चमहाभूतोंका निरूपण है, वह मैं पुनः तुम्हें बता रहा हूँ; तुम बड़ी स्पृहाके साथ इस विषयको सुनो ॥ १ ॥

दीप्तानलनिभः प्राह भगवान् धूमवर्चसे।
ततोऽहमपि वक्ष्यामि भूयः पुत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥

वत्स ! प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भगवान् वेदव्यासने धूमाच्छादित अग्निके सदृश विराजमान अपने पुत्र शुकदेवके समक्ष पहले जिस प्रकार इस विषयका प्रतिपादन किया था, उसे मैं पुनः तुमसे कहूँगा। बेटा ! तुम सुनिश्चित दर्शन-शास्त्रको श्रवण करो ॥ २ ॥

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः ॥ ३ ॥

स्थिरता, भारीपन, कठिनता (कड़ापन), बीजको अङ्कुरित करनेकी शक्ति, गन्ध, विशालता, शक्ति, संघात, स्थापना और धारणशक्ति—ये दस पृथ्वीके गुण हैं ॥ ३ ॥

अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा ॥ ४ ॥

शीतलता, रस, क्लेद (गलाना या गीला करना), द्रवत्व (पिघलना), स्नेह (चिकनाहट), सौम्यभाव, जिह्वा, टपकना, ओले या बर्फके रूपमें जम जाना तथा पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले चावल-दाल आदिको गला देना—ये सब जलके गुण हैं ॥ ४ ॥

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हल्कापन, तीक्ष्णता और आगकी लपटोंका सदा ऊपरकी ओर उठना एवं प्रकाशित होना—ये सब अग्निके गुण हैं ॥ ५ ॥

वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टाऽऽत्मता भवः ॥ ६ ॥

अनियत स्पर्श, वाक्-इन्द्रियकी स्थिति, चलने-फिरने आदिकी स्वतन्त्रता, बल, शीघ्रगामिता, मल-मूत्र आदिको शरीरसे बाहर निकालना, उत्क्षेपण आदि कर्म, क्रिया-शक्ति, प्राण और जन्म-मृत्यु—ये सब वायुके गुण हैं ॥ ६ ॥

आकाशस्य गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रतापि च।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता ॥ ७ ॥
अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च।
गुणाः पञ्चाशतं प्रोक्ताः पञ्चभूतात्मभाविताः ॥ ८ ॥

शब्द, व्यापकता, छिद्र होना, किसी स्थूल पदार्थका आश्रय न होना, स्वयं किसी दूसरे आधारपर न रहना, अव्यक्तता, निर्विकारता, प्रतिघातशून्यता और भूतता अर्थात् श्रवणेन्द्रियका कारण होना और विकृतिसे युक्त होना—ये सब

आकाशके गुण हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके ये पचास गुण बताये गये हैं ॥ ७-८ ॥

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ ९ ॥

धैर्य, तर्क-वितर्कमें कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ एवं अशुभ संकल्प और चञ्चलता—ये मनके नौ गुण हैं ॥ ९ ॥

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥ १० ॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियोंका नाश, विचार, समाधान, संदेह और निश्चय—ये पाँच बुद्धिके गुण माने गये हैं ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं पञ्चगुणा बुद्धिः कथं पञ्चेन्द्रिया गुणाः।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सूक्ष्मज्ञानं पितामह ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! बुद्धिके पाँच ही गुण कैसे हैं? तथा पाँच इन्द्रियाँ भी भूतोंके गुण कैसे हो सकती है? यह सारा सूक्ष्म ज्ञान आप मुझे बताइये ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

आहुः षष्टिं बुद्धिगुणान् वै
भूतविशिष्टा नित्यविषक्ताः।
भूतविभूतीश्चाक्षरसृष्टाः
पुत्र न नित्यं तदिह वदन्ति ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स युधिष्ठिर! महर्षियोंका कहना है कि बुद्धिके साठ गुण हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके पूर्वोक्त पचास गुण तथा बुद्धिके पाँच गुण मिलकर पचपन हुए। इनमें पञ्चभूतोंको भी बुद्धिके गुणरूपसे गिन लेनेपर वे साठ हो जाते हैं। ये सभी गुण नित्य चैतन्यसे मिले हुए हैं। पञ्चमहाभूत और उनकी विभूतियाँ अविनाशी परमात्माकी सृष्टि हैं; परंतु परिवर्तनशील होनेके कारण उसे तत्त्वज्ञ पुरुष नित्य नहीं बताते हैं ॥ १२ ॥

तत् पुत्र चिन्ताकलिलं तदुक्त-
मनागतं वै तव सम्प्रतीह।
भूतार्थतत्त्वं तदवाप्य सर्वं
भूतप्रभावाद् भव शान्तबुद्धिः ॥ १३ ॥

वत्स युधिष्ठिर! अन्य वक्ताओंने जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें पहले जो कुछ कहा है, वह सब वेदविरुद्ध और विचार-दूषित है; अतः इस समय तुम नित्यसिद्ध परमात्माका यथार्थ तत्त्व सुनकर उन्हीं परमेश्वरके प्रभाव एवं प्रसादसे शान्त-बुद्धि हो जाओ ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मृत्युविषयक प्रश्न, नारदजीका राजा अकम्पनसे मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाते हुए ब्रह्माजीकी रोषाग्निसे प्रजाके दग्ध होनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

य इमे पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले।
पृतनामध्य एते हि गतसंज्ञा महाबलाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! ये जो असंख्य भूपाल (प्राणशून्य होकर) इस भूतलपर सेनाके बीचमें सो रहे हैं इनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। ये महान् बलवान् थे तो भी संज्ञाहीन होकर पड़े हैं ॥ १ ॥

एकैकशो भीमबला नागायुतबलास्तथा।
एते हि निहताः संख्ये तुल्यतेजोबलैर्नरैः ॥ २ ॥

इनमेंसे एक-एक नरेश भयानक बलसे सम्पन्न था। दस-दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता था। ये सब-के-सब इस युद्धस्थलमें अपने समान ही तेजस्वी और बलवान् मनुष्यों-द्वारा मारे गये हैं ॥ २ ॥

नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे परम्।
विक्रमेणोपसम्पन्नास्तेजोबलसमन्विताः ॥ ३ ॥

इन प्राणशक्ति-सम्पन्न नरेशोंको कोई दूसरा वीर संग्राम-भूमिमें मार सके—ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता था; क्योंकि वे सब-के-सब बल-पराक्रमसे सम्पन्न और तेजस्वी थे ॥ ३ ॥

अथ चेमे महाप्राज्ञाः शेरते हि गतासवः।
मृता इति च शब्दोऽयं वर्तत्येषु गतासुषु ॥ ४ ॥

किंतु इस समय ये महाबुद्धिमान् भूपाल निष्प्राण होकर पड़े हैं। इनके प्राण निकल जानेपर इनके लिये मृत शब्दका व्यवहार होता है अर्थात् 'ये मर गये' ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

इमे मृता नृपतयः प्रायशो भीमविक्रमाः।
तत्र मे संशयो जातः कुतः संज्ञा मृता इति ॥ ५ ॥
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिह प्रजाः।
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

ये जो नरेश मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, इनमें बहुत-से भयानक पराक्रमसे सम्पन्न हैं। यहाँ मेरे मनमें यह संदेह होता है कि इन्हें मृत नाम कैसे दिया गया! किसकी मृत्यु होती है? किससे मृत्यु होती है! और किस कारणसे मृत्यु यहाँ समस्त प्राणियोंका अपहरण करती है? देवतुल्य पितामह! मुझे यह सब बतानेकी कृपा करें ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

पुरा कृतयुगे तात राजा ह्यासीदकम्पनः ।
स शत्रुवशमापन्नः संग्रामे क्षीणवाहनः ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! प्राचीन सत्ययुगकी बात है, अकम्पन नामके एक राजा थे । एक समय संग्राममें उनका रथ नष्ट हो गया और वे शत्रुके वशमें पड़ गये ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले ।
स शत्रुभिर्हतः संख्ये सबलः सपदानुगः ॥ ८ ॥

उनके एक पुत्र था, जिसका नाम था हरि । वह बलमें भगवान् नारायणके ही समान जान पड़ता था, परंतु उस समराङ्गणमें शत्रुओंने सेना और सेवकोंसहित उस राजकुमार-को मार गिराया ॥ ८ ॥

स राजा शत्रुवशगः पुत्रशोकसमन्वितः ।
यदृच्छया शान्तिपरो ददर्श भुवि नारदम् ॥ ९ ॥

राजा अकम्पन स्वतन्त्र भूपाल न रहकर शत्रुके अधीन हो गये तथा पुत्रके शोकमें डूबे रहने लगे । वे शान्तिका उपाय ढूँढ़ रहे थे । इतनेहीमें दैवेच्छासे भूतलपर विचरते हुए देवर्षि नारदका उन्हें दर्शन हुआ ॥ ९ ॥

तस्मै स सर्वमाचष्ट यथावृत्तं जनेश्वरः ।
शत्रुभिर्ग्रहणं संख्ये पुत्रस्य मरणं तथा ॥ १० ॥

राजाने युद्धस्थलमें शत्रुओंद्वारा अपने पकड़े जाने एवं पुत्रकी मृत्यु होनेका सारा समाचार यथावत् रूपसे नारदजी-के सामने कह सुनाया ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नारदोऽथ तपोधनः ।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं तदा ॥ ११ ॥

राजाका वह कथन सुनकर तपस्याके धनी नारदजीने उस समय उनसे यह प्राचीन इतिहास कहना आरम्भ किया, जो उनके पुत्रशोकको मिटानेवाला था ॥ ११ ॥

नारद उवाच

राजञ्शृणु समाख्यानमद्येदं बहुविस्तरम् ।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयेदं वसुधाधिप ॥ १२ ॥

नारदजी बोले—राजन् ! आज यह अत्यन्त विस्तृत आख्यान सुनो । पृथ्वीनाथ ! मैंने इसे जैसा सुना है, वह यथावत् वृत्तान्त तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १२ ॥

प्रजाः सृष्ट्वा महातेजाः प्रजासर्गे पितामहः ।
अतीव वृद्धा बहुला नामृष्यत पुनः प्रजाः ॥ १३ ॥

प्रजाकी सृष्टि करते समय महातेजस्वी पितामह ब्रह्माने जब बहुत-से प्राणियोंकी सृष्टि कर डाली, तब उनकी संख्या बहुत अधिक हो गयी । इतनी अधिक प्रजाओंका होना ब्रह्मा-जीसे सहन न हो सका ॥ १३ ॥

न ह्यन्तरमभूत् किंचित् कचिज्जन्तुभिरच्युत ।
निरुच्छ्वासमिवोन्नद्धं त्रैलोक्यमभवन्नृप ॥ १४ ॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! उस समय कहीं कोई थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जो जीव-जन्तुओंसे भरा न हो । सारी त्रिलोकी अवरुद्ध हो गयी । लोगोंका कहीं साँस लेना भी असम्भव-सा हो गया—सबका दम घुटने लगा ॥ १४ ॥

तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति भूपते ।
चिन्तयन् नाध्यगच्छच्च संहारे हेतुकारणम् ॥ १५ ॥

भूपाल ! अब ब्रह्माजीके मनमें प्रजाके संहारकी—उनकी संख्या घटानेकी चिन्ता उत्पन्न हुई । वे बहुत देरतक सोचते-विचारते रहे, परंतु प्रजाके संहारका कोई युक्तियुक्त कारण ध्यानमें नहीं आया ॥ १५ ॥

तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत ।
तेन सर्वा दिशो राजन् ददाह स पितामहः ॥ १६ ॥

महाराज ! उस समय रोषवश ब्रह्माजीके नेत्र आदि इन्द्रियगोलकोंसे अग्नि प्रकट हो गयी । राजन् ! उस अग्निसे पितामहने सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करना आरम्भ किया ॥

ततो दिवं भुवं खं च जगच्च सचराचरम् ।
ददाह पावको राजन् भगवत्कोपसम्भवः ॥ १७ ॥

राजन् ! तब भगवान् ब्रह्माके क्रोधसे प्रकट हुई वह आग स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्को जलाने लगी ॥ १७ ॥

तत्रादह्यन्त भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
महता क्रोधवेगेन कुपिते प्रपितामहे ॥ १८ ॥

प्रपितामह ब्रह्माके कुपित होनेपर उनके क्रोधके महान् वेगसे सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी दग्ध होने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽध्वरजटः स्थाणुर्वेदाध्वरपतिः शिवः ।
जगाम शरणं देवो ब्रह्माणं परवीरहा ॥ १९ ॥

तब यज्ञ ही जिनकी जटाएँ हैं तथा जो वेदों और यज्ञोंके प्रतिपालक हैं, वे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कल्याणकारी भगवान् शिव ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १९ ॥

तस्मिन्नभिगते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया ।
अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव तदा शिवम् ॥ २० ॥

प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महादेवजीके अपने सामने आनेपर तेजसे जलते हुए-से परमदेव ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

करवाण्यद्य कं कामं वरार्होऽसि मतो मम ।
कर्ता ह्यस्मि प्रियं शम्भो तव यद्धृदि वर्तते ॥ २१ ॥

'शम्भो ! मैं तुम्हें वर पानेके योग्य समझता हूँ, बोलो, आज तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ ? तुम्हारे हृदयमें जो भी प्रिय मनोरथ हो, उसे मैं पूर्ण करूँगा' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादोपक्रमे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिके संवादका उपक्रमविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महादेवजीकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीके द्वारा अपनी रोषाग्निका उपसंहार तथा मृत्युकी उत्पत्ति

स्थाणुरुवाच

प्रजासर्गनिमित्तं मे कार्यवत्तामिमां प्रभो।
विद्धि सृष्टास्त्वया हीमा मा कुप्यासां पितामह॥ १॥

महादेवजीने कहा—प्रभो ! पितामह ! मेरा मनोरथ या प्रयोजन आपसे प्रजासर्गकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना है। आप इस बातको जान लें। आपहीने इन प्रजाओंकी सृष्टि की है; अतः आप इनपर क्रोध न कीजिये॥ १॥

तव तेजोऽग्निना देव प्रजा दह्यन्ति सर्वशः।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं मा कुप्यासां जगत्प्रभो॥ २॥

देव ! जगदीश्वर ! आज आपकी क्रोधाग्निसे सारी प्रजाएँ दग्ध हो रही हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर मुझे दया आती है, आप उनपर क्रोध न करें॥ २॥

प्रजापतिरुवाच

न कुप्ये न च मे कामो न भवेयुः प्रजा इति।
लाघवार्थं धरण्यास्तु ततः संहार इष्यते॥ ३॥

प्रजापति ब्रह्माजी बोले—शिव ! मैं प्रजापर कुपित नहीं हूँ और न मेरी यही इच्छा है कि प्रजाओंका विनाश हो जाय। पृथ्वीका भार हल्का करनेके लिये ही प्रजाके संहारकी आवश्यकता प्रतीत हुई है॥ ३॥

इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचोदयत्।
संहारार्थं महादेव भारेणाप्सु निमज्जति॥ ४॥

महादेव ! यह पृथ्वीदेवी भारी भारसे पीड़ित हो सदा मुझे प्रजाके संहारके लिये प्रेरित करती रही है; क्योंकि यह जगत्‌के भारसे समुद्रमें डूबी जा रही है॥ ४॥

यदाहं नाधिगच्छामि बुद्ध्या बहु विचारयन्।
संहारमासां वृद्धानां ततो मां क्रोध आविशत्॥ ५॥

जब बहुत विचार करनेपर भी मुझे इन बढ़ी हुई प्रजाओंके संहारका कोई उपाय न सूझा, तब मुझे क्रोध आ गया॥ ५॥

स्थाणुरुवाच

संहारार्थं प्रसीदस्व मा क्रुधो विबुधेश्वर।
मा प्रजाः स्थावरं चैव जङ्गमं च व्यनीनशत्॥ ६॥

महादेवजीने कहा—देवेश्वर ! संहारके लिये आप क्रोध न करें। प्रजापर प्रसन्न हों। कहीं ऐसा न हो कि समस्त चराचर प्राणियोंका विनाश हो जाय॥ ६॥

पल्वलानि च सर्वाणि सर्वं चैव तृणोपलम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतग्रामं चतुर्विधम्॥ ७॥
तदेतद् भस्मसाद्भूतं जगत् सर्वमुपप्लुतम्।
प्रसीद भगवन् साधो वर एष वृतो मया॥ ८॥

ये सारे जलाशय, सब-के-सब घास और लता-बेलें तथा चार प्रकारके प्राणिसमुदाय (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज) भस्मीभूत हो रहे हैं। सारे जगत्‌का प्रलय उपस्थित हो गया है। भगवन् ! प्रसन्न होइये। साधो ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ॥ ७-८॥

नष्टा न पुनरेष्यन्ति प्रजा ह्येताः कथंचन।
तस्मान्निवर्ततामेतत् तेन स्वेनैव तेजसा॥ ९॥

यदि इन प्रजाओंका नाश हो गया तो ये किसी तरह फिर यहाँ उपस्थित न हो सकेंगी। इसलिये आप अपने ही प्रभावसे इस क्रोधाग्निको निवृत्त कीजिये॥ ९॥

उपायमन्यं सम्पश्य भूतानां हितकाम्यया।
यथामी जन्तवः सर्वे न दह्येरन् पितामह॥ १०॥

पितामह ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये संहारका कोई दूसरा ही उपाय सोचिये, जिससे ये सारे जीव-जन्तु एक साथ ही दग्ध न हो जायँ॥ १०॥

अभावं हि न गच्छेयुरुच्छिन्नप्रजनाः प्रजाः।
अधिदैवे नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेश्वरेश्वर॥ ११॥

लोकेश्वरेश्वर ! आपने मुझे देवताओंके आधिपत्य-पदपर नियुक्त किया है, अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यदि प्रजाकी संततिका उच्छेद होगा तो समस्त प्रजाओंका सर्वथा अभाव ही हो जायगा; अतः आप इस विनाशको बंद कीजिये॥

त्वद्भवं हि जगन्नाथ एतत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसाद्य त्वां महादेव याचाम्यावृत्तिजाः प्रजाः॥ १२॥

जगन्नाथ ! महादेव ! यह समस्त चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः मैं आपको प्रसन्न करके यह याचना करता हूँ कि ये सारी प्रजा पुनरावर्तनशील हो—मरकर पुनः जन्म धारण करे॥ १२॥

नारद उवाच

श्रुत्वा तु वचनं देवः स्थाणोर्नियतवाङ्मनाः।
तेजस्तत् संनिजग्राह पुनरेवान्तरात्मनि॥ १३॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीकी वह बात सुनकर भगवान् ब्रह्माने मन और वाणीका संयम किया तथा उस अग्निको पुनः अपनी अन्तरात्मामें ही लीन कर लिया॥

ततोऽग्निमुपसंगृह्य भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कल्पयामास वै प्रभुः॥ १४॥

तब लोकपूजित भगवान् ब्रह्माने उस अग्निका उपसंहार करके प्रजाके लिये जन्म और मृत्युकी व्यवस्था की॥ १४॥

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः॥ १५॥

उस क्रोधाग्निका उपसंहार करते समय महात्मा ब्रह्माजीकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे एक मूर्तिमती नारी प्रकट हुई॥ १५॥

कृष्णरक्ताम्बरधरा कृष्णनेत्रतलान्तरा।
दिव्यकुण्डलसम्पन्ना दिव्याभरणभूषिता॥ १६॥

उसके वस्त्र काले और लाल थे। आँखोंके निम्न और आभ्यन्तर प्रदेश भी काले रंगके ही थे। वह दिव्य कुण्डलोंसे कान्तिमती तथा अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित थी ॥ १६ ॥

सा विनिःसृत्य वै खेभ्यो दक्षिणामाश्रिता दिशम्।
ददृशाते च तां कन्यां देवौ विश्वेश्वरावुभौ ॥ १७ ॥

वह ब्रह्माजीके इन्द्रियच्छिद्रोंसे निकलकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दी। उस समय उन दोनों जगदीश्वरों (ब्रह्मा और शिव) ने उस कन्याको देखा ॥ १७ ॥

तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः।
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति ॥ १८ ॥

भूपाल! तब लोकोंके आदिकारण भगवान् ब्रह्माने उसे 'मृत्यु' कहकर पुकारा और निकट बुलाकर कहा—'तुम इन प्रजाओंका समय-समयपर विनाश करती रहो ॥ १८ ॥

त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च।
तस्मात् संहर सर्वांस्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥

'मैंने प्रजाके संहारकी भावनासे रोषमें भरकर तुम्हारा चिन्तन किया था; इसलिये तुम मूढ़ और विद्वानोंसहित सम्पूर्ण प्रजाओंका संहार करो ॥ १९ ॥

अविशेषेण चैव त्वं प्रजाः संहर कामिनि।
मम त्वं हि नियोगेन श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'कामिनि! तुम मेरे आदेशसे सामान्यतः सारी प्रजाका संहार करो। इससे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी' ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सा देवी मृत्युः कमलमालिनी।
प्रदध्यौ दुःखिता बाला साश्रुपातमतीव च ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर कमलोंकी मालासे अलंकृत नवयौवना मृत्यु देवी नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई दुखी हो बड़ी चिन्तामें पड़ गयी ॥ २१ ॥

पाणिभ्यां चैव जग्राह तान्यश्रूणि जनेश्वरः।
मानवानां हितार्थाय ययाचे पुनरेव ह ॥ २२ ॥

तब जनेश्वर ब्रह्माजीने मानवोंके हितके लिये अपने दोनों हाथोंमें मृत्युके आँसू ले लिये। फिर मृत्युने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृत्युकी घोर तपस्या और प्रजापतिकी आज्ञासे उसका प्राणियोंके संहारका कार्य स्वीकार करना

नारद उवाच

विनीय दुःखमबला साऽऽत्मनैवायतेक्षणा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा लतेवावर्जिता तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वह विशाल नेत्रोंवाली अबला स्वयं ही उस दुःखको दूर हटाकर झुकायी हुई लताके समान विनम्र हो हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे बोली—॥

त्वया सृष्टा कथं नारी मादृशी वदतां वर।
रौद्रकर्माभिजायेत सर्वप्राणिभयङ्करी ॥ २ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रजापते! (यदि मुझसे क्रूर कर्म ही कराना था तो) आपने मुझ-जैसी कोमलहृदया नारीको क्यों उत्पन्न किया? क्या मुझ-जैसी स्त्री समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर तथा क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली हो सकती है? ॥ २ ॥

बिभेम्यहमधर्मस्य धर्म्यमादिश कर्म मे।
त्वं मां भीतामवेक्षस्व शिवेनेक्षस्व चक्षुषा ॥ ३ ॥

'भगवन्! मैं अधर्मसे बहुत डरती हूँ। आप मुझे धर्मानुकूल कार्य करनेकी आज्ञा दें। मुझ भयभीत अबलापर दृष्टिपात करें और कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखें ॥ ३ ॥

बालान् वृद्धान् वयस्थांश्च न हरेयमनागसः।
प्राणिनः प्राणिनामीश नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥ ४ ॥

'समस्त प्राणियोंके अधीश्वर! मैं निरपराध बाल, वृद्ध और तरुण प्राणियोंके प्राण नहीं लूँगी। आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ४ ॥

प्रियान् पुत्रान् वयस्यांश्च भ्रातॄन् मातॄः पितॄनपि।
अपध्यास्यन्ति यद्येवं मृतास्तेषां बिभेम्यहम् ॥ ५ ॥

'जब मैं लोगोंके प्यारे पुत्रों, मित्रों, भाइयों, माताओं तथा पिताओंको मारने लगूँगी, तब उनके सम्बन्धी उनके इस प्रकार मारे जानेके कारण मेरा अनिष्ट-चिन्तन करेंगे; अतः मैं उन लोगोंसे बहुत डरती हूँ ॥ ५ ॥

कृपणाश्रुपरिक्लेदो दहेन्मां शाश्वतीः समाः।
तेभ्योऽहं बलवद् भीता शरणं त्वामुपागता ॥ ६ ॥

'उन दीन-दुखियोंके नेत्रोंसे जो आँसू बहकर उनके कपोलों और वक्षःस्थलको भिगो देगा, वह मुझे सदा अनन्त वर्षोंतक जलाता रहेगा। मैं उनसे बहुत डरी हुई हूँ, इसलिये आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ६ ॥

यमस्य भवने देव पात्यन्ते पापकर्मिणः।
प्रसादये त्वां वरद प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ७ ॥

'वरदायक प्रभो! देव! सुना है कि पापाचारी प्राणी यमराजके लोकमें गिराये जाते हैं, अतः आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करती हूँ, आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह।
इच्छेयं त्वत्प्रसादार्थं तपस्तप्तुं महेश्वर ॥ ८ ॥

'लोकपितामह! महेश्वर! मैं आपसे अपनी एक अभिलाषाकी पूर्ति चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिये कहीं जाकर तप करूँ' ॥ ८ ॥

पितामह उवाच

मृत्यो संकल्पिता मे त्वं प्रजासंहारहेतुना ।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा च विचारय ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो ! प्रजाके संहारके लिये ही मैंने संकल्पपूर्वक तुम्हारी सृष्टि की है । जाओ, सारी प्रजाका संहार करो । इसके लिये मनमें कोई विचार न करो ॥ ९ ॥

एतदेवमवश्यं हि भविता नैतदन्यथा ।
क्रियतामनवद्याङ्गि यथोक्तं मद्वचोऽनघे ॥ १० ॥

यह बात अवश्य ही इसी प्रकार होनेवाली है । इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । निर्दोष अङ्गोंवाली देवि ! मैंने जो बात कही है, उसका पालन करो । इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ १० ॥

एवमुक्ता महाबाहो मृत्युः परपुरंजय ।
न व्याजहार तस्थौ च प्रह्वा भगवदुन्मुखी ॥ ११ ॥

महाबाहो ! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले नरेश ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु उन्हींकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े खड़ी रह गयी—कुछ बोल न सकी ॥ ११ ॥

पुनः पुनरथोक्ता सा गतसत्त्वेव भामिनी ।
तूष्णीमासीत् ततो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ १२ ॥
प्रससाद किल ब्रह्मा स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
स्मयमानश्च लोकेशो लोकान् सर्वानवैक्षत ॥ १३ ॥

उनके बारंबार कहनेपर वह मानिनी नारी निष्प्राण-सी होकर मौन रह गयी । 'हाँ' या 'ना' कुछ भी न बोल सकी । तदनन्तर देवताओंके भी देवता और ईश्वरोंके भी ईश्वर लोकनाथ ब्रह्माजी स्वयं ही अपने मनमें बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराते हुए समस्त लोकोंकी ओर देखने लगे ॥ १२-१३ ॥

निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते ।
सा कन्याथ जगामास्य समीपादिति नः श्रुतम् ॥ १४ ॥

उन अपराजित भगवान् ब्रह्माका रोष निवृत्त हो जानेपर वह कन्या भी उनके निकटसे चली गयी, ऐसा हमने सुना है ॥

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा ।
त्वरमाणेव राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रजाका संहार करनेके विषयमें कोई प्रतिज्ञा न करके मृत्यु वहाँसे हट गयी और बड़ी उतावलीके साथ धेनुकाश्रममें जा पहुँची ॥ १५ ॥

सा तत्र परमं देवी तपोऽचरद् दुश्चरम् ।
समा ह्येकपदे तस्थौ दश पद्मानि पञ्च च ॥ १६ ॥

वहाँ मृत्युदेवीने अत्यन्त दुष्कर और उत्तम तपस्या की । वह पंद्रह पद्म वर्षोंतक एक पैरपर खड़ी रही ॥ १६ ॥

तां तथा कुर्वतीं तत्र तपः परमदुश्चरम् ।
पुनरेव महातेजा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वहाँ अत्यन्त दुष्कर तपस्या करती हुई मृत्युसे महातेजस्वी ब्रह्माजीने पुनः जाकर इस प्रकार कहा—॥

कुरुष्व मे वचो मृत्यो तदनादृत्य सत्वरा ।
तथैवैकपदे तात पुनरन्यानि सप्त सा ॥ १८ ॥
तस्थौ पद्मानि षट् चैव पञ्च द्वे चैव मानद ।

'मृत्यो ! तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ।' दूसरोंको मान देनेवाले तात ! उनके इस कथनका आदर न करके मृत्युने तुरंत ही दूसरे बीस पद्म वर्षोंतक पुनः एक पैरपर खड़ी हो तपस्या आरम्भ कर दी ॥ १८½ ॥

भूयः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ॥ १९ ॥
द्वे चायुते नरश्रेष्ठ वाय्वाहारा महामते ।

तात ! महामते ! नरश्रेष्ठ ! फिर वह दस हजार पद्म वर्षोंतक मृगोंके साथ विचरती रही । इसके बाद बीस हजार वर्षोंतक उसने केवल वायुका आहार किया ॥ १९½ ॥

पुनरेव ततो राजन् मौनमातिष्ठदुत्तमम् ॥ २० ॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च पार्थिव ।

राजन् ! तदनन्तर उसने उत्तम मौन-व्रत धारण कर लिया । पृथ्वीपते ! फिर उसने जलमें आठ हजार वर्षोंतक रहकर तपस्या की॥

ततो जगाम सा कन्या कौशिकीं नृपसत्तम ॥ २१ ॥
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर वह कन्या कौशिकी नदीके तटपर गयी । वहाँ वायु और जलका आहार करके उसने पुनः कठोर नियमोंका पालन किया ॥ २१½ ॥

ततो ययौ महाभागा गङ्गां मेरुं च केवलम् ॥ २२ ॥
तस्थौ दार्विव निश्चेष्टा प्रजानां हितकाम्यया ।

तत्पश्चात् वह महाभागा ब्रह्मकन्या गङ्गाजीके किनारे और केवल मेरुपर्वतपर गयी । वहाँ प्रजावर्गके हितकी इच्छासे वह काठकी भाँति निश्चेष्ट खड़ी रही ॥ २२½ ॥

ततो हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः समीजिरे ॥ २३ ॥
तत्राङ्गुष्ठेन राजेन्द्र निखर्वमपरं ततः ।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास यत्नतः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर हिमालय पर्वतके शिखरपर जहाँ पहले देवताओंने यज्ञ किया था, उस स्थानपर वह परम शुभलक्षणा कन्या एक निखर्व वर्षोंतक अँगूठेके बलपर खड़ी रही । इस प्रकार यत्न करके उसने पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया॥

ततस्तामब्रवीत् तत्र लोकानां प्रभवाप्ययः ।
किमिदं वर्तते पुत्रि क्रियतां मम तद् वचः ॥ २५ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्माजी वहाँ उस कन्यासे बोले—'बेटी ! तुम यह क्या करती हो ? मेरी आज्ञाका पालन करो' ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम् ।
न हरेयं प्रजा देव पुनश्चाहं प्रसादये ॥ २६ ॥

तब मृत्युने पुनः भगवान् पितामहसे कहा—'देव ! मैं प्रजाका नाश नहीं कर सकती । इसके लिये पुनः आपका कृपाप्रसाद चाहती हूँ' ॥ २६ ॥

तामधर्मभयाद् भीतां पुनरेव प्रयाचतीम् ।
तदाब्रवीद् देवदेवो निगृह्येदं वचस्ततः ॥ २७ ॥

अधर्मके भयसे डरकर पुनः कृपाकी भीख माँगती हुई मृत्युको रोककर देवाधिदेव ब्रह्माने उससे यह बात कही—॥

अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संयच्छेमाः प्रजाः शुभे।
मया ह्युक्तं मृषा भद्रे भविता नेह किंचन ॥ २८ ॥

'मृत्यो ! तुम इन प्रजाओंका संहार करो। शुभे ! इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। भद्रे ! मेरी कही हुई कोई भी बात यहाँ झूठी नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

धर्मः सनातनश्च त्वामिहैवानुप्रवेक्ष्यति।
अहं च विबुधाश्चैव त्वद्धिते निरताः सदा ॥ २९ ॥

'सनातन धर्म यहीं तुम्हारे भीतर प्रवेश करेगा। मैं तथा ये सम्पूर्ण देवता सदा तुम्हारे हितमें लगे रहेंगे ॥

इममन्यं च ते कामं ददानि मनसेप्सितम्।
न त्वां दोषेण यास्यन्ति व्याधिसम्पीडिताः प्रजाः॥ ३०॥
पुरुषेषु स्वरूपेण पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
स्त्रीषु स्त्रीरूपिणी चैव तृतीयेषु नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

'मैं तुम्हें यह दूसरा भी मनोवाञ्छित वर दे रहा हूँ कि रोगोंसे पीड़ित हुई प्रजा तुम्हारे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करेगी। तुम पुरुषोंमें पुरुषरूपसे रहोगी, स्त्रियोंमें स्त्रीरूप धारण कर लोगी और नपुंसकोंमें नपुंसक हो जाओगी' ॥ ३०-३१ ॥

सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरुवाच ह।
पुनरेव महात्मानं नेति देवेशमव्ययम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु हाथ जोड़कर उन अविनाशी महात्मा देवेश्वर ब्रह्मासे पुनः इस प्रकार बोली—'प्रभो ! मैं प्राणियोंका संहार नहीं करूँगी' ॥ ३२ ॥

तामब्रवीत् तदा देवो मृत्यो संहर मानवान्।
अधर्मस्ते न भविता तथा ध्यास्याम्यहं शुभे ॥ ३३ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'मृत्यो ! तुम मनुष्योंका संहार करो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे ! मैं तुम्हारे लिये शुभ-चिन्तन करता रहूँगा ॥ ३३ ॥

यानश्रुबिन्दून् पतितानपश्यं
ये पाणिभ्यां धारितास्ते पुरस्तात्।
ते व्याधयो मानवान् घोररूपाः
प्राप्ते काले कालयिष्यन्ति मृत्यो ॥ ३४ ॥

'मृत्यो ! मैंने पहले तुम्हारे जिन अश्रुबिन्दुओंको गिरते देखा और जिन्हें अपने हाथोंमें धारण कर लिया था, वे ही समय आनेपर भयंकर रोग बनकर मनुष्योंको कालके गालमें डाल देंगे ॥ ३४ ॥

सर्वेषां त्वं प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ सहितौ योजयेथाः।
एवं धर्मस्त्वामुपैष्यत्यमेयो
न चाधर्मं लप्स्यसे तुल्यवृत्तिः ॥ ३५ ॥

'सभी प्राणियोंके अन्तकालमें तुम काम और क्रोधको एक साथ नियुक्त कर देना। इस प्रकार तुम्हें अप्रमेय धर्मकी प्राप्ति होगी और तुम्हें पाप नहीं लगेगा; क्योंकि तुम्हारी चित्तवृत्ति सम (राग-द्वेषसे शून्य) है ॥ ३५ ॥

एवं धर्मं पालयिष्यस्यथो त्वं
न चात्मानं मज्जयिष्यस्यधर्मे।
तस्मात् कामं रोचयाभ्यागतं त्वं
संयोज्याथो संहरस्वेह जन्तून् ॥ ३६ ॥

'इस प्रकार तुम धर्मका पालन करोगी और अपने-आपको पापमें नहीं डुबाओगी; अतः अपनेको प्राप्त होनेवाले इस अधिकारको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करो और कामको इस कार्यमें लगाकर इस जगत्‌के प्राणियोंका संहार करो' ॥ ३६ ॥

सा वै तदा मृत्युसंज्ञापदेशा
भीता शापाद् बाढमित्यब्रवीत् तम्।
अथो प्राणान् प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ प्राप्य निर्मोह्य हन्ति ॥ ३७ ॥

तब वह मृत्यु नामवाली नारी शापसे डरकर ब्रह्माजीसे बोली—'बहुत अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है।' वही मृत्यु प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर काम और क्रोधको प्रेरित करके उनके द्वारा उन्हें मोहमें डालकर मार डालती है ॥

मृत्योर्ये ते व्याधयश्चाश्रुपाता
मनुष्याणां रुज्यते यैः शरीरम्।
सर्वेषां वै प्राणिनां प्राणनान्ते
तस्माच्छोकं मा कृथा बुद्ध्य बुद्ध्या ॥

पहले मृत्युके जो अश्रुबिन्दु गिरे थे, वे ही ज्वर आदि रोग हो गये; जिनके द्वारा मनुष्योंका शरीर रुग्ण हो जाता है। वह मृत्यु सभी प्राणियोंकी आयु समाप्त होनेपर उनके पास आती है। अतः राजन् ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। इस विषयको बुद्धिके द्वारा समझो ॥

सर्वे देवाः प्राणिनां प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ताः संनिवृत्तास्तथैव।
एवं सर्वे मानवाः प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ता देववद् राजसिंह ॥ ३९ ॥

राजसिंह ! जैसे इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थाके अन्तमें सुषुप्तिके समय निष्क्रिय होकर विलीन हो जाती हैं और जाग्रत्-अवस्था आनेपर पुनः लौट आती हैं, उसी प्रकार सारे प्राणी ही जीवनके अन्तमें परलोकमें जाकर कर्मोंके अनुसार देवताओंके तुल्य अथवा नरकगामी होते हैं और कर्मोंके क्षीण होनेपर इस जगत्‌में लौटकर पुनः मनुष्य आदि योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ३९ ॥

वायुर्भीमो भीमनादो महौजाः
स सर्वेषां प्राणिनां प्राणभूतः।
नानावृत्तिर्देहिनां देहभेदे
तस्माद् वायुर्देवदेवो विशिष्टः ॥ ४० ॥

भयंकर शब्द करनेवाला महान् बलशाली भयानक प्राणवायु ही समस्त प्राणियोंका प्राणस्वरूप है। वही देह-

धारियोंके देहका नाश होनेपर नाना प्रकारके रूपों या शरीरोंको प्राप्त होता है । अतः इस शरीरके भीतर देवाधिदेव वायु (प्राण) ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः
सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः ।
तस्मात् पुत्रं मा शुचो राजसिंह
पुत्रः स्वर्गं प्राप्य ते मोदते ह ॥ ४१ ॥

सभी देवता पुण्य क्षय होनेपर इस लोकमें आकर मरण-धर्मा नामसे विभूषित होते हैं और सभी मरणधर्मा मनुष्य पुण्यके प्रभावसे मृत्युके पश्चात् देवसंज्ञासे संयुक्त होते हैं । अतः राजसिंह ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो । तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें जाकर आनन्द भोग रहा है ॥ ४१ ॥

एवं मृत्युर्देवसृष्टा प्रजानां
प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत् ।
तस्याश्चैव व्याधयस्तेऽश्रुपाताः
प्राप्ते काले संहरन्तीह जन्तून् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीने ही प्राणियोंकी मृत्यु रची है । वह मृत्यु ठीक समय आनेपर यथावत् रूपसे जीवोंका संहार करती है । उसके जो अश्रुपात हैं, वे ही मृत्युकाल प्राप्त होनेपर रोग बनकर इस जगत्‌के प्राणियोंका संहार करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्माधर्मके स्वरूपका निर्णय

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः ।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ये सभी मनुष्य प्रायः धर्मके विषयमें संशयशील हैं; अतः मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत् ।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! इस लोकमें सुख पानेके लिये जो कर्म किया जाता है, वही धर्म है या परलोकमें कल्याणके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा लोक-परलोक दोनोंके सुधारके लिये कुछ किया जानेवाला कर्म ही धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्मके स्वरूपको लक्षित करानेवाले हैं । कुछ विद्वान् अर्थको भी धर्मका चौथा लक्षण बताते हैं ॥

अपि ह्युक्तानि धर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ ४ ॥

शास्त्रोंमें जो धर्मानुकूल कार्य बताये गये हैं, उन्हें ही प्रधान एवं अप्रधान सभी लोग निश्चित रूपसे धर्म मानते हैं । लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही महर्षियोंने यहाँ धर्मकी मर्यादा स्थापित की है ॥ ४ ॥

उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥ ५ ॥

धर्मका पालन करनेसे आगे चलकर इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है । पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्मका आश्रय न लेनेसे पापमें प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप फलका भागी होता है ॥ ५ ॥

न च पापकृतः पापान्मुच्यन्ते केचिदापदि ।
अपापवादी भवति यथा भवति धर्मकृत् ।
धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ६ ॥

पापाचारी मनुष्य आपत्तिकालमें कष्ट भोगकर भी उस पापसे मुक्त नहीं होते और धर्मका आचरण करनेवाले लोग आपत्तिकालमें भी पापका समर्थन नहीं करते हैं । आचार (शौचाचार-सदाचार) ही धर्मका आधार है; अतः युधिष्ठिर ! तुम उस आचारका आश्रय लेकर ही धर्मके यथार्थ स्वरूपको जान सकोगे ॥ ६ ॥

यथा धर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः ।
रमते निर्हरन् स्तेनः परवित्तमराजके ॥ ७ ॥

जैसे चोर धर्मकार्यमें प्रवृत्त होकर भी दूसरोंके धनका अपहरण कर ही लेता है और अराजक-अवस्थामें पराये धनका अपहरण करनेवाला लुटेरा सुखका अनुभव करता है ॥

यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ८ ॥

परंतु जब दूसरे लोग उस चोरका भी धन हर लेते हैं, तब वह चोर भी प्रजाकी रक्षा करने और चोरोंको दण्ड देनेवाले राजाको चाहता है—उसकी आवश्यकताका अनुभव

करता है। उस अवस्थामें वह उन पुरुषोंके समान बननेकी इच्छा करता है, जो अपने ही धनसे संतुष्ट रहते हैं—दूसरोंके धनपर हाथ लगाना पाप समझते हैं ॥ ८ ॥

अभीतः शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कितः ।
न हि दुश्चरितं किंचिदन्तरात्मनि पश्यति ॥ ९ ॥

जो पवित्र है—जिसमें चोरी आदिके दोष नहीं हैं, वह मनुष्य निर्भय और निःशङ्क होकर राजाके द्वारपर चला जाता है; क्योंकि वह अपनी अन्तरात्मामें कोई दुराचार नहीं देखता है॥९॥

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

सत्य बोलना शुभ कर्म है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है। सत्यने ही सबको धारण कर रक्खा है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ११ ॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्यकी शपथ खाकर ही आपसमें द्रोह या विवादसे बचे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे सत्यका आश्रय लेकर सत्यकी ही दुहाई देकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥

ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम् ।
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

वे यदि आपसकी शपथको भंग कर दें तो निस्संदेह परस्पर लड़-भिड़कर नष्ट हो जायँ। दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये—यही सनातन धर्म है ॥ १२ ॥

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥ १३ ॥

कुछ बलवान् लोग (बलके घमंडमें नास्तिकभावका आश्रय लेकर) धर्मको दुर्बलोंका चलाया हुआ मानते हैं; किंतु जब भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षाके लिये उन्हें भी धर्मका ही सहारा लेना अच्छा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न कार्या ते कदाचन ॥ १४ ॥

संसारमें कोई भी न तो अत्यन्त बलवान् होते हैं और न बहुत सुखी ही। इसलिये तुम्हें अपनी बुद्धिमें कभी कुटिलताका विचार नहीं लाना चाहिये ॥ १४ ॥

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित् कस्यचित् कुर्वन् निर्भयः शुचिरावसेत्॥ १५॥

जो किसीका कुछ बिगाड़ता नहीं है, उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजासे भय नहीं होता। शुद्ध आचार-विचारवाला पुरुष सदा निर्भय रहता है ॥ १५ ॥

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १६ ॥

गाँवोंमें आये हुए हिरणकी भाँति चोर सबसे डरता रहता है। वह अनेकों बार दूसरोंके साथ जैसा पापाचार कर चुका है, दूसरोंको भी वैसा ही पापाचारी समझता है ॥ १६ ॥

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किंचिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥ १७ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध है, उसे कहींसे कोई खटका नहीं होता। वह सदा प्रसन्न एवं सब ओरसे निर्भय बना रहता है तथा वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरोंमें नहीं देखता है॥

दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः ।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्तितम् ॥ १८ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महात्माओंने 'दान करना चाहिये' ऐसा कहकर इसे धर्म बताया है; परंतु बहुत-से धनवान् उसे दरिद्रोंका चलाया हुआ धर्म समझते हैं ॥ १८ ॥

यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते ।
न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ॥ १९ ॥

परंतु यदि भाग्यवश वे भी निर्धन या दर-दरके भिखारी हो जाते हैं, उस समय उनको भी यह धर्म उत्तम जान पड़ता है; क्योंकि कोई भी न तो अत्यन्त धनवान् होते हैं और न अतिशय सुखी ही हुआ करते हैं (अतः धनका अभिमान नहीं करना चाहिये) ॥ १९ ॥

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा बर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति ।
यदन्यस्य ततः कुर्यान्न मृष्येदिति मे मतिः ॥ २१ ॥

जो स्वयं दूसरेके घरमें उपपति (जार) बनकर जाता है—परायी स्त्रीके साथ व्यभिचार करता है, वह दूसरेको वैसा ही कर्म करते देख किससे क्या कह सकता है ? यदि दूसरेकी उसी प्रवृत्तिके कारण वह निन्दा करे तो वह पुरुष उसकी निन्दाको नहीं सह सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २१ ॥

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत्॥ २२ ॥

जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरोंके प्राण कैसे ले सकता है ? मनुष्य अपने लिये जो-जो सुख-सुविधा

चाहे, वही दूसरेके लिये भी सुलभ करानेकी बात सोचे ॥

अतिरिक्तैः संविभजेद् भोगैरन्यानकिंचनान् ।
एतस्मात् कारणाद् धात्रा कुसीदं सम्प्रवर्तितम् ॥ २३ ॥

जो अपनी आवश्यकतासे अधिक हो, उन भोगपदार्थोंको दूसरे दीन-दुखियोंके लिये बाँट दे। इसीलिये विधाताने सूदपर धन देनेकी वृत्ति चलायी है ॥ २३ ॥

यस्मिंस्तु देवाः समये संतिष्ठेरंस्तथा भवेत् ।
अथवा लाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपि शोभना ॥ २४ ॥

जिस सन्मार्ग या मर्यादापर देवता स्थित होते हैं, उसीपर मनुष्यको भी स्थिर रहना चाहिये अथवा धन-लाभके समय धर्ममें स्थित रहना भी अच्छा है ॥ २४ ॥

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! सबके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेसे जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है तथा जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है। तुम धर्म और अधर्मका संक्षेपसे यही लक्षण समझो ॥ २५ ॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥

विधाताने पूर्वकालमें सत्पुरुषोंके जिस उत्तम आचरणका विधान किया है, वह विश्वके कल्याणकी भावनासे युक्त है और उससे धर्म एवं अर्थके सूक्ष्म स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

धर्मलक्षणमाख्यातमेतत् ते कुरुसत्तम ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे धर्मका लक्षण बताया है; अतः तुम्हें किसी तरह कुटिल मार्गमें अपनी बुद्धिको नहीं ले जाना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मलक्षणे एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मका लक्षणविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५९ ॥

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धर्मकी प्रामाणिकतापर संदेह उपस्थित करना

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मं साधु समादिष्टं भवता धर्मलक्षणम् ।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने धर्मका सूक्ष्म एवं सुन्दर लक्षण बताया है; परंतु मुझे कुछ और ही स्फुरित हो रहा है। अतः मैं उसके सम्बन्धमें अनुमानसे ही कुछ कहूँगा ॥ १ ॥

भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया ।
इदं त्वन्यत् प्रवक्ष्यामि न राजन् विग्रहादिव ॥ २ ॥

मेरे हृदयमें जो बहुत-से प्रश्न उठे थे, उन सबका निराकरण आपने कर दिया। महाराज ! अब मैं यह दूसरा प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ। इसमें जिज्ञासा ही कारण है, दुराग्रह नहीं ॥ २ ॥

इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! धर्म ही इन प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। धर्म ही उनके जीवनधारण और उद्धारमें कारण होते हैं; परंतु धर्मको केवल वेदोंके पाठमात्रसे नहीं जाना जा सकता ॥

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य अच्छी स्थितिमें है, उसका धर्म दूसरा है और जो संकटमें पड़ा हुआ है, उसका धर्म दूसरा ही है। केवल वेदोंके पाठसे आपद्धर्मका ज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥ ४ ॥

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः ।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥

आपके कथनानुसार सत्पुरुषोंका आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है, वे ही सत्पुरुष हैं। ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय दोष पड़नेके कारण साध्य और असाध्यका विवेक कैसे हो सकता है ? ऐसी दशामें सदाचार धर्मका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन् ।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥

इस लोकमें देखा जाता है कि कितने ही प्राकृत मनुष्य धर्म-से दिखायी देनेवाले अधर्मका आचरण करते हैं और कितने ही अप्राकृत (शिष्ट) पुरुष अधर्म प्रतीत होनेवाले धर्मका अनुष्ठान करते हैं (अतः केवल आचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः ।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

शास्त्रज्ञ पुरुषोंने धर्ममें वेदको ही प्रमाण बताया है; किंतु हमने सुना है कि युग-युगमें वेदोंका ह्रास होता है अर्थात् धर्मके सम्बन्धमें जो वेदोंका निश्चय है, वह प्रत्येक युगमें बदलता रहता है ॥ ७ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥

सत्ययुगके धर्म कुछ और हैं, त्रेता और द्वापरके धर्म

कुछ और ही हैं और कलियुगके धर्म कुछ और ही बताये गये हैं। मानो मुनियोंने लोगोंकी शक्तिके अनुसार ही धर्मकी व्यवस्था की है ॥ ८ ॥

आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

वेदोंका वचन सत्य है, यह कथन लोकरञ्जनमात्र है। वेदोंसे ही सर्वतोमुखी स्मृतियोंका प्रचार और प्रसार हुआ है॥

ते चेत् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं ह्यत्र विद्यते।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥

यदि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक हैं तो स्मृतियाँ भी प्रामाणिक हो सकती हैं; परंतु जब (युग-युगमें धर्मके विषयमें विभिन्न प्रकारकी बात कहनेसे) प्रमाणभूत वेद भी अप्रामाणिक हो तो वेदमूलक स्मृतियाँ भी प्रामाणिक नहीं रहेंगी। यदि स्मृतिका श्रुतिके साथ विरोध हो, तो उसमें शास्त्रत्व कैसे रह सकता है ? ॥ १० ॥

धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रणश्यति ॥ ११ ॥

जब धर्मका अनुष्ठान हो रहा हो, उस समय बलवान् दुरात्माओंद्वारा उसमें जो-जो विकृति उत्पन्न की जाती है, उसके कारण उस धर्ममर्यादाका ही लोप हो जाता है ॥११॥

विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ॥ १२ ॥

हम धर्मको जानते हों या न जानते हों, धर्मस्वरूप जाना जा सकता हो या नहीं; इतना तो हम समझते ही हैं कि धर्म छूरेकी धारसे भी सूक्ष्म और पर्वतसे भी अधिक विशाल एवं भारी है ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदृश्यते।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

धर्मके विषयमें जब आलोचना की जाती है, तब पहले तो वह गन्धर्वनगरके समान दिखायी देता है; फिर विद्वानोंद्वारा विशेष रूपसे विचार करनेपर वह प्रतीत होता है कि वह अदृश्य हो गया ॥ १३ ॥

निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! जैसे बहुत-सी गौओंको पानी पिलानेसे निपान (क्षुद्र जलाशय) सूख जाते हैं तथा जैसे अधिक खेतोंकी सिंचाई करनेसे नहरोंका पानी निपट जाता है, उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म अथवा स्मृति-शास्त्र धीरे-धीरे क्षीण होकर कलियुगके अन्तिम भागमें दिखायी ही नहीं देता है ॥

कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ॥ १५ ॥

क्योंकि उस समय कुछ लोग स्वार्थवश, दूसरे लोग दूसरोंकी इच्छासे तथा अन्य मनुष्य अन्यान्य कारणोंसे धर्माचरण करते हैं और बहुत-से असाधु पुरुष भी व्यर्थ धर्माचरणका ढोंग फैला लेते हैं ॥ १५ ॥

धर्मो भवति स क्षिप्रं प्रलापस्त्वेव साधुषु।
अथैतानाहुरुन्मत्तानपि चावहसन्त्युत ॥ १६ ॥

उन दिनों लोगोंद्वारा प्रायः सकामभावसे ही धर्मका आचरण होता देखा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो यथार्थ धर्म होता है, वह शीघ्र ही मूढ मनुष्योंकी दृष्टिमें प्रलापमात्र सिद्ध होता है। वे मूढ उन धर्मात्मा पुरुषोंको पागल कहते और उनकी हँसी उड़ाते हैं ॥ १६ ॥

महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः।
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

आचार्य द्रोण-जैसे महापुरुष भी स्वधर्मसे हटकर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेते हैं; अतः कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जो सबके लिये समानरूपसे हितकर या सबके द्वारा समानरूपसे पालित हो ॥ १७ ॥

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ॥ १८ ॥

यह भी देखा जाता है कि उसी धर्मके आचरणसे विश्वामित्र आदि अन्य महापुरुषोंने उन्नति प्राप्त की है तथा रावणादि निशाचर उसी धर्मके बलसे दूसरोंको पीड़ा देते हैं एवं कश्यप आदि अनेक महर्षि ईश्वरकी इच्छासे उसी धर्मके द्वारा सदा एक-सी स्थितिमें दिखायी देते हैं ॥ १८ ॥

येनैवान्यः प्रभवति सोऽपरानपि बाधते।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

जिस धर्मको अपनाकर एक व्यक्ति उन्नति करता है, उसीसे दूसरा दूसरोंको पीड़ा देता है; अतः सबके लिये आचारोंकी एकरूपता कोई नहीं दिखा सकता ॥१९ ॥

चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः।
तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ २० ॥

आपने पहले उसी धर्मका वर्णन किया है, जिसे विद्वान् लोग चिरकालसे धारण करते चले आ रहे हैं। मैं भी यही समझता हूँ कि उस पूर्वप्रचलित धर्मके आचरणद्वारा ही समाजकी मर्यादा दीर्घकालतक टिकी रहती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मप्रामाण्याक्षेपे षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मकी प्रामाणिकतापर आक्षेपविषयक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२६०॥

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिकी घोर तपस्या, सिरपर जटाओंमें पक्षियोंके घोंसला बनानेसे उनका अभिमान और आकाशवाणीकी प्रेरणासे उनका तुलाधार वैश्यके पास जाना

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! धर्मके विषयमें जाजलिके साथ तुलाधार वैश्यकी जो बातें हुई थीं, उसी प्राचीन इतिहासका विद्वान् पुरुष यहाँ उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें जाजलि नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो वनमें ही रहते और विचरते थे । उन महातपस्वी जाजलिने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥२॥

नियतो नियताहारश्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरो धीमान् बहून् वर्षगणान् मुनिः ॥ ३ ॥

वे नियमसे रहते, नियमित भोजन करते और वल्कल, मृगचर्म एवं जटा धारण किया करते थे । वे बुद्धिमान् मुनि बहुत वर्षोंतक शरीरपर मैल और कीचड़ धारण किये खड़े रहे ॥ ३ ॥

स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते ।
चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ४ ॥

राजन् ! फिर किसी समय समुद्रतटस्थ जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले वे महातेजस्वी विप्रर्षि सम्पूर्ण लोकोंको देखनेके लिये मनके समान तीव्र गतिसे विचरण करने लगे ॥ ४ ॥

स चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन ।
विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै महीं सवनकाननाम् ॥ ५ ॥

वन और काननोंसहित समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका निरीक्षण करके समुद्रतटवर्ती सजल प्रदेशमें निवास करते समय जाजलि मुनि कभी इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ५ ॥

न मया सदृशोऽस्तीह लोके स्थावरजङ्गमे ।
अप्सु वैहायसं गच्छेन्मया योऽन्यः सहेति वै ॥ ६ ॥

इस चराचर जगत्में मेरे सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है, जो मेरे साथ जलमें विचरने और आकाशमें घूमने-फिरनेकी शक्ति रखता हो ॥ ६ ॥

अदृश्यमानो रक्षोभिर्जलमध्ये वदंस्तथा ।
अब्रुवंश्च पिशाचास्तं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

राक्षसोंसे अदृश्य रहकर जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले जाजलि मुनिने जब इस प्रकार कहा, तब अदृश्य पिशाचोंने उनसे कहा, 'मुने ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥

तुलाधारो वणिग्धर्मा वाराणस्यां महायशाः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं द्विजसत्तम ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! काशीमें महायशस्वी तुलाधार रहते हैं, जो बणिक्-धर्मका पालन करते हैं; किंतु वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी आज आप कह रहे हैं' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैः प्रत्युवाच महातपाः ।
पश्येयं तमहं प्राज्ञं तुलाधारं यशस्विनम् ॥ ९ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर महातपस्वी जाजलिने उनसे कहा—'क्या मैं उन ज्ञानी एवं यशस्वी तुलाधारका दर्शन कर सकता हूँ' ॥ ९ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं रक्षांस्युद्धृत्य सागरात् ।
अब्रुवन् गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम ॥ १० ॥

ऐसा कहते हुए उन महर्षिको समुद्रतटवर्ती जलप्रदेशसे बाहर निकालकर राक्षसोंने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस मार्गका आश्रय लेकर काशीपुरी चले जाइये' ॥ १० ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैर्जगाम विमनास्तदा ।
वाराणस्यां तुलाधारं समासाद्याब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर जाजलि मुनि उदास होकर काशीमें गये और तुलाधारके पास पहुँचकर उससे इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कृतं दुष्करं तात कर्म जाजलिना पुरा ।
येन सिद्धिं परां प्राप्तस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! पूर्वकालमें जाजलिने कौन-सा ऐसा दुष्कर कार्य किया था, जिससे वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये, यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अतीव तपसा युक्तो घोरेण स बभूव ह ।
तथोपस्पर्शनरतः सायं प्रातर्महातपाः ॥ १३ ॥
अग्नीन् परिचरन् सम्यक् स्वाध्यायपरमो द्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितः श्रिया ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जाजलि मुनि महान् तपस्वी थे और अत्यन्त घोर तपस्यामें लगे हुए थे । वे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं संध्योपासना करके विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे । ब्रह्मर्षि जाजलि वानप्रस्थके धर्मकी विधिको जानने और पालनेवाले थे, वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ १३-१४ ॥

वने तपस्यतिष्ठत् स न च धर्ममवैक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते जलसंश्रयः ॥ १५ ॥
वातातपसहो ग्रीष्मे न च धर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्च विविधा भूमौ च परिवर्तते ॥ १६ ॥

वे वनमें रहकर तपस्यामें ही लगे रहते, किंतु अपने धर्मकी कभी अवहेलना नहीं करते थे । वे वर्षाके दिनोंमें

खुले आकाशके नीचे सोते और हेमन्त ऋतुमें पानीके भीतर बैठा करते थे। इसी तरह गर्मीके महीनोंमें कड़ी धूप और लूका कष्ट सहते थे; परंतु उनको वास्तविक धर्मका ज्ञान नहीं हुआ। वे पृथ्वीपर ही लोटते और तरह-तरहसे इस प्रकार सोते, जिससे दुःख और कष्टका ही अधिक अनुभव होता था॥

ततः कदाचित् स मुनिर्वर्षास्वाकाशमास्थितः।
अन्तरिक्षाज्जलं मूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः॥ १७॥

तदनन्तर किसी समय वर्षा-ऋतु आनेपर वे मुनि खुले आकाशके नीचे खड़े हो गये और आकाशसे जो जलकी मूसलाधार वृष्टि होती थी, उसके आघातको बारंबार अपने मस्तकपर ही सहने लगे॥ १७॥

अथ तस्य जटाः क्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताः प्रभो।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोऽमलसंयुतः॥ १८॥

प्रभो! उनके सिरके बाल बराबर भींगे रहनेके कारण उलझकर जटाके रूपमें परिणत हो गये। सदा वनमें ही विचरण करनेके कारण उनके शरीरपर मैल जम गयी थी; परंतु उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था॥ १८॥

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित्॥ १९॥

एक समयकी बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायु-भक्षण करते हुए काष्ठकी भाँति खड़े हो गये, उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभरके लिये भी कभी विचलित नहीं होते थे॥ १९॥

तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः॥ २०॥

भरतनन्दन! वे चेष्टाशून्य होनेके कारण किसी ठूँठे पेड़के समान जान पड़ते थे। राजन्! उस समय उनके सिरपर गौरैया पक्षीके एक जोड़ेने अपने रहनेके लिये एक घोंसला बना लिया॥ २०॥

स तौ दयावान् ब्रह्मर्षिरुपप्रैक्षत दम्पती।
कुर्वाणौ नीडकं तत्र जटासु तृणतन्तुभिः॥ २१॥

वे विप्रर्षि बड़े दयालु थे, इसलिये उन्होंने उन दोनों पक्षियोंको तिनकोंसे अपनी जटाओंमें घोंसला बनाते देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी—उन्हें हटाने या उड़ानेकी कोई चेष्टा नहीं की॥ २१॥

यदा न स चलत्येव स्थाणुभूतो महातपाः।
ततस्तौ सुखविश्वस्तौ सुखं तत्रोषतुस्तदा॥ २२॥

जब वे महातपस्वी ठूँठे काठके समान होकर जरा भी हिले-डुले नहीं, तब अच्छी तरह विश्वास जम जानेके कारण वे दोनों पक्षी वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे॥ २२॥

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात् काममोहितौ॥ २३॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः॥ २४॥

राजन्! धीरे-धीरे वर्षा-ऋतु बीत गयी और शरत्काल उपस्थित हुआ। उस समय कामसे मोहित होकर उन गौरैयोंने संतानोत्पादनकी विधिसे परस्पर समागम किया और विश्वासके कारण महर्षिके सिरपर ही अण्डे दिये। कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मणको यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरी जटाओंमें अण्डे दिये हैं॥ २३-२४॥

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल च जाजलिः।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत्॥ २५॥

इस बातको जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए। उनका मन सदा धर्ममें लगा रहता था; अतः उन्हें अधर्मका कार्य पसंद नहीं था॥ २५॥

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो॥ २६॥

प्रभो! चिड़ियोंके वे जोड़े प्रतिदिन चारा चुगनेके लिये जाते और फिर लौटकर उनके मस्तकपर ही बसेरा लेते थे, वहाँ उन्हें बड़ा आश्वासन मिलता था और वे बहुत प्रसन्न रहते थे॥

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः॥ २७॥

अण्डोंके पुष्ट होनेपर उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर निकले और वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं॥

स रक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानां धृतव्रतः।
तथैव तस्थौ धर्मात्मा निर्विचेष्टः समाहितः॥ २८॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे एकाग्रचित्त धर्मात्मा मुनि उन पक्षियोंके अण्डोंकी रक्षा करते हुए पूर्ववत् निश्चेष्टभावसे खड़े रहे॥ २८॥

ततस्तु कालसमये बभूवुस्तेऽथ पक्षिणः।
बुबुधे तांस्तु स मुनिर्जातपक्षान् कुलिङ्गकान्॥ २९॥

तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर उन सब बच्चोंके पर निकल आये, मुनिको यह बात मालूम हो गयी कि चिड़ियोंके इन बच्चोंके पंख निकल आये हैं॥ २९॥

ततः कदाचित् तांस्तत्र पश्यन् पक्षीन् यतव्रतः।
बभूव परमप्रीतस्तदा मतिमतां वरः॥ ३०॥
तथा तानपि संवृद्धान् दृष्ट्वा चाप्नुवतां मुदम्।
शकुनौ निर्भयौ तत्र ऊषतुश्चात्मजैः सह॥ ३१॥

संयमपूर्वक व्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजलि किसी दिन वहाँ उन पंखधारी बच्चोंको उड़ते देख बड़े प्रसन्न हुए तथा अपने बच्चोंको बड़ा हुआ देख वे दोनों पक्षी भी बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे और अपनी संतानोंके साथ निर्भय होकर वहीं रहने लगे॥ ३०-३१॥

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान् पुनरागतान्।
सायं सायं द्विजान् विप्रो न चाकम्पत जाजलिः॥ ३२॥

बच्चोंके पंख हो गये थे, इसलिये वे दिनमें चारा चुगनेके लिये उड़कर निकल जाते और प्रतिदिन सायंकाल फिर वहीं लौट आते थे। ब्राह्मणप्रवर जाजलि उन पक्षियोंको इस

मुनि जाजलिकी तपस्या

प्रकार आते-जाते देखते, परंतु हिलते-डुलते नहीं थे ॥ ३२ ॥

कदाचित् पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्ति संततम्।
त्यक्ता मातापितृभ्यां ते न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३३ ॥

किसी समय माता-पिता उनको छोड़कर उड़ गये। अब वे बच्चे कभी आकर फिर चले जाते और जाकर फिर चले आते थे, इस प्रकार वे सदा आने-जाने लगे। उस समयतक जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३३ ॥

तथा ते दिवसं चापि गत्वा सायं पुनर्नृप।
उपावर्तन्त तत्रैव निवासार्थं शकुन्तकाः ॥ ३४ ॥

नरेश्वर! अब वे पक्षी दिनभर चरनेके लिये चले जाते और शामको पुनः बसेरा लेनेके लिये वहीं आते थे ॥ ३४ ॥

कदाचिद् दिवसान् पञ्च समुत्पत्य विहङ्गमाः।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३५ ॥

कभी-कभी वे विहङ्गम उड़कर पाँच-पाँच दिनतक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वहाँ लौटते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३५ ॥

क्रमेण च पुनः सर्वे दिवसान् सुबहूनथ।
नोपावर्तन्त शकुना जातप्राणाः स्म ते यदा ॥ ३६ ॥

फिर क्रमशः वे सब पक्षी बहुत दिनोंके लिये जाने और आने लगे, अब वे हृष्ट-पुष्ट और बलवान् हो गये थे। अतः बाहर निकल जानेपर जल्दी नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः।
नैवागच्छंस्ततो राजन् प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥ ३७ ॥

राजन्! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जानेके बाद एक मासतक लौटकर नहीं आये, तब जाजलि मुनि वहाँसे अन्यत्र चल दिये ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियोंके अदृश्य हो जानेपर जाजलिको बड़ा विस्मय हुआ, वे मन-ही-मन यह मानने लगे कि मैं सिद्ध हो गया, फिर तो उनके भीतर अहंकार आ गया ॥ ३८ ॥

स तथा निर्गतान् दृष्ट्वा शकुन्तान् नियतव्रतः।
सम्भावितात्मा सम्भाव्य भृशं प्रीतमनाऽभवत् ॥ ३९ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे सम्भावितात्मा महर्षि उन पक्षियोंको इस प्रकार गया हुआ देख अपनी सिद्धि-की सम्भावना करके मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥

स नद्यां समुपस्पृश्य तर्पयित्वा हुताशनम्।
उदयन्तमथादित्यमुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥

फिर नदीके तटपर जाकर उन महातपस्वी मुनिने स्नान किया और संध्या-तर्पणके पश्चात् अग्निहोत्रके द्वारा अग्नि-देवको तृप्त करके उगते हुए सूर्यका उपस्थान किया ॥ ४० ॥

सम्भाव्य चटकान् मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः।
आस्फोटयत् तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥ ४१ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तकपर चिड़ियों-के पैदा होने और बढ़ने आदिकी बातें याद करके अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाशमें मानो ताल ठोंकते हुए स्पष्ट वाणीमें बोले, मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया ॥ ४१ ॥

अथान्तरिक्षे वागासीत् तां च शुश्राव जाजलिः।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥ ४२ ॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ४३ ॥

इतनेहीमें आकाशवाणी हुई[1]—'जाजले! तुम धर्ममें तुलाधारके समान नहीं हो, काशीपुरीमें महाज्ञानी तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं। विप्रवर! वे तुलाधार भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो।' जाजलिने उस आकाशवाणीको सुना ॥ ४२-४३ ॥

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया।
पृथिवीमचरद् राजन् यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ ४४ ॥

राजन्! इससे वे अमर्षके वशीभूत हो गये और वे तुला-धारको देखनेके लिये पृथ्वीपर विचरने लगे। जहाँ संध्या होती, वहीं वे मुनि टिक जाते थे ॥ ४४ ॥

कालेन महतागच्छत् स तु वाराणसीं पुरीम्।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दीर्घकालके पश्चात् वे वाराणसी पुरीमें जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने तुलाधारको सौदा बेचते देखा ॥ ४५ ॥

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥

विविध पदार्थोंके क्रय-विक्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले तुलाधार भी ब्राह्मणको आते देख तुरंत ही उठकर खड़े हो गये और बड़े हर्षके साथ आगे बढ़कर उन्होंने ब्राह्मणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४६ ॥

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन् न संशयः।
ब्रवीमि यत् तु वचनं तच्छृणुष्व द्विजोत्तम ॥ ४७ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन्! आप मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही मालूम हो गयी थी, इसमें संशय नहीं है। द्विजश्रेष्ठ! अब जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये ॥ ४७ ॥

सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तं त्वया महत्।
न च धर्मस्य संज्ञां त्वं पुरा वेत्थ कथंचन ॥ ४८ ॥

आपने सागरके तटपर सजल प्रदेशमें रहकर बड़ी भारी तपस्या की है, परंतु पहले कभी किसी तरह आपको यह बोध नहीं हुआ था कि मैं बड़ा धर्मवान् हूँ ॥ ४८ ॥

ततः सिद्धस्य तपसा तव विप्र शकुन्तकाः।

---

[1] १. इसी अध्यायमें पहले अदृश्य भूत-पिशाचोंके द्वारा उपर्युक्त वचन कहा गया है। यहाँ उसीको आकाशवाणी बतला रहे हैं।

क्षिप्रं शिरस्यजायन्त ते च सम्भावितास्त्वया ॥ ४९ ॥

विप्रवर ! जब आप तपस्यासे सिद्ध हो गये, तब पक्षियोंने शीघ्र ही आपके सिरपर अण्डे दिये और उनसे बच्चे पैदा हुए, आपने उन सबकी भलीभाँति रक्षा की ॥ ४९ ॥

जातपक्षा यदा ते च गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततो धर्मं चटकप्रभवं द्विज ॥ ५० ॥

ब्रह्मन् ! जब उनके पर निकल आये और वे चारा चुगनेके लिये उड़कर इधर-उधर चले गये, तब उन पक्षियोंके पालनजनित धर्मको आप बहुत बड़ा मानने लगे ॥ ५० ॥

खे वाचं त्वमथाश्रौषीर्मां प्रति द्विजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्नस्ततः प्राप्तो भवानिह ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ५१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उसी समय मेरे विषयमें आकाशवाणी हुई, जिसे आपने सुना और सुनते ही अमर्षके वशीभूत होकर आप यहाँ मेरे पास चले आये । विप्रवर ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलि और तुलाधारका धर्मके विषयमें संवाद

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन तुलाधारेण धीमता ।
प्रोवाच वचनं धीमाञ्जाजलिर्जपतां वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस समय बुद्धिमान् तुलाधारके इस प्रकार कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मतिमान् जाजलिने यह बात कही ॥ १ ॥

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषां मूलफलानि च ॥ २ ॥

जाजलि बोले—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो ॥ २ ॥

अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥ ३ ॥

महामते ! तुम्हें यह धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेन यशस्विना ।
उवाच धर्मसूक्ष्माणि वैश्यो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यशस्वी ब्राह्मण जाजलिके इस प्रकार पूछनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले तुलाधार वैश्यने उन्हें धर्म-सम्बन्धी सूक्ष्म बातोंको इस तरह बताना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥

तुलाधार बोले—जाजले ! जो समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी और सबके प्रति मैत्रीभावकी स्थापना करनेवाला है, जिसे सब लोग पुरातन धर्मके रूपमें जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्मका मुझे ज्ञान है ॥ ५ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ ६ ॥

जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करनेसे काम चल जाय, ऐसी जो जीवन-वृत्ति है, वही उत्तम धर्म है। जाजले ! मैं उसीसे जीवननिर्वाह करता हूँ॥

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥ ७ ॥

मैंने दूसरोंके द्वारा काटे गये काठ और घास-फूससे यह घर तैयार किया है । अलक्तक (वृक्षविशेषकी छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्धद्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओंको मैं दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ ॥ ७ ॥

रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥ ८ ॥

विप्रर्षे ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ । माल बेचनेमें छल-कपट एवं असत्यसे काम नहीं लेता ॥ ८ ॥

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ ९ ॥

जाजले ! जो सब जीवोंका सुहृद् होता और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा सदा सबके हितमें लगा रहता है, वही वास्तवमें धर्मको जानता है ॥ ९ ॥

नानुरुद्ध्ये निरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥ १० ॥

मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ न विरोध ही करता हूँ और न कहीं मेरा द्वेष है, न किसीसे कुछ कामना करता हूँ । समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है । जाजले ! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो । मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है ॥

वैश्य तुलाधारके द्वारा मुनि जाजलिका सत्कार

नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यँल्लोकस्य चित्रताम्॥ ११॥

विप्रवर! मैं आकाशकी भाँति असङ्ग रहकर जगत्के कार्योंकी विचित्रताको देखता हुआ दूसरोंके कार्योंकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही॥ ११॥

इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले।
समं मतिमतां श्रेष्ठ समलोष्टाश्मकाञ्चनम्॥ १२॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजले! इस प्रकार तुम मुझे सब लोगोंके प्रति समता रखनेवाला और मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा सुवर्णको समान समझनेवाला जानो॥ १२॥

यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा।
देवैरपिहितद्वाराः सोपमा पश्यतो मम॥ १३॥

जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त (पागल) मनुष्य, जिनके नेत्र, कान आदि द्वार देवताओंने सदाके लिये बंद कर दिये हैं, सदा केवल साँस लेते रहते हैं, मुझ द्रष्टा पुरुषकी भी वैसी ही उपमा है (अर्थात् मैं देखकर भी नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता और विषयोंकी ओर मन नहीं ले जाता, केवल साक्षीरूपसे देखता हुआ श्वास-प्रश्वासमात्रकी क्रिया करता रहता हूँ)॥ १३॥

यथा वृद्धातुरकृशा निःस्पृहा विषयान् प्रति।
तथार्थकामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा॥ १४॥

जैसे वृद्ध, रोगी और दुर्बल मनुष्य विषयभोगोंकी स्पृहा नहीं रखते, उसी प्रकार मेरे मनसे भी धन और विषय-भोगोंकी इच्छा दूर हो गयी है॥ १४॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १५॥

जब यह पुरुष दूसरेसे भयभीत नहीं होता, जब दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह न तो किसीकी इच्छा रखता है और न किसीसे द्वेष ही करता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ १५॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १६॥

जब समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी बुरे भाव नहीं होते हैं तब मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम्॥ १७॥

जिसका भूत या भविष्यमें कोई कार्य नहीं है तथा जिसके लिये कोई धर्म करना शेष नहीं है, साथ ही सम्पूर्ण भूतोंको अभय प्रदान करता है, वही निर्भय पदको प्राप्त होता है॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम्॥ १८॥

जैसे सब लोग मौतके मुखमें जानेसे डरते हैं, उसी प्रकार जिसके स्मरणमात्रसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं तथा जो कटुवचन बोलनेवाला और दण्ड देनेमें कठोर है, ऐसे मनुष्यको महान् भयका सामना करना पड़ता है॥ १८॥

यथावद् वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम्।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम्॥ १९॥

जो वृद्ध हैं, पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न हैं, शास्त्रके अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं, उन्हीं महात्माओंके बर्तावका मैं भी अनुसरण करता हूँ॥

प्रणष्टः शाश्वतो धर्मस्त्वनाचारेण मोहितः।
तेन वैद्यस्तपस्वी वा बलवान् वा विमुह्यते॥ २०॥

अनाचारसे सनातनधर्म मोहयुक्त होकर नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा विद्वान्, तपस्वी तथा काम-क्रोधको जीतनेवाला बलवान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाता है॥ २०॥

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात्।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा॥ २१॥

जाजले! जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्तमें दूसरोंके प्रति द्रोह न रखकर, इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पालित आचारको अपने आचरणमें लाता है, वह विद्वान् वेदबोधित सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही धर्मके रहस्यको जान लेता है॥

नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया।
यदृच्छयैव काष्ठेन सन्धिं गच्छेत केनचित्॥ २२॥
तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम्।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया॥ २३॥

जैसे यहाँ नदीकी धारामें दैवेच्छासे बहता हुआ काठ अकस्मात् किसी दूसरे काठसे संयुक्त हो जाता है; फिर वहाँ दूसरे-दूसरे काष्ठ, तिनके, छोटी-छोटी लकड़ियाँ और सूखे गोबर भी आकर एक-दूसरेसे जुड़ जाते हैं, परंतु इन सबका वह संयोग आकस्मिक ही होता है, समझ-बूझकर नहीं (इसी प्रकार संसारके प्राणियोंके भी परस्पर संयोग-वियोग होते रहते हैं)॥ २२-२३॥

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने॥ २४॥

मुने! जिससे कोई भी प्राणी कभी किसी तरह भी उद्विग्न नहीं होता, वह सदा सम्पूर्ण भूतोंसे अभय प्राप्त कर लेता है॥

यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः॥ २५॥
स भयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामते।

महामते! विद्वन्! जैसे नदीके तीरपर आकर कोलाहल करनेवाले मनुष्यके डरसे सभी जलचर जन्तु भयके मारे छिप जाते हैं तथा जिस प्रकार भेड़ियेको देखकर सभी थर्रा उठते हैं, उसी प्रकार जिससे सब लोग डरते हैं, उसे भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे भय प्राप्त होता है॥ २५॥

एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतो यतस्ततः ।
सहायवान् द्रव्यवान् यः सुभगोऽथ परस्तथा ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह अभयदानरूप आचार प्रकट हुआ है, जो सभी उपायोंसे साध्य है—जैसे बने वैसे इसका पालन करना चाहिये । जो इसे आचरणमें लाता है वह सहायवान्, द्रव्यवान्, सौभाग्यशाली तथा श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ २६ ॥

ततस्तानेव कवयः शास्त्रेषु प्रवदन्त्युत ।
कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवः कृत्स्ननिर्णयाः ॥ २७ ॥

अतः जो अभयदान देनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींको विद्वान् पुरुष शास्त्रोंमें श्रेष्ठ बताते हैं । उनमेंसे जो बहिर्मुख होकर अपने हृदयमें क्षणभङ्गुर विषय-सुखोंकी इच्छा रखते हैं, वे तो कीर्ति और मान-बड़ाईके लिये ही अभयदानरूप व्रतका पालन करते हैं; परंतु जो पटु या प्रवीण पुरुष हैं, वे पूर्णस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही इस व्रतका आश्रय लेते हैं ॥२७॥

तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद् यत् फलमिहाश्नुते ॥ २८ ॥

तप, यज्ञ, दान और ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशके द्वारा मनुष्य यहाँ जो-जो फल प्राप्त करता है, वह सब उसे केवल अभय-दानसे मिल जाता है ॥ २८ ॥

लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥ २९ ॥

जो जगत्‌में सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयकी दक्षिणा देता है, वह मानो समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है तथा उसे भी सब ओरसे अभय-दान प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ॥ ३० ॥

प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे जिस धर्मकी सिद्धि होती है, उससे बढ़कर महान् धर्म कोई नहीं है । महामुने ! जिससे कभी कोई भी प्राणी किसी तरह उद्विग्न नहीं होता, वह भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च ॥ ३१ ॥

घरके भीतर रहनेवाले सर्पके समान जिस पुरुषसे सब लोग भयभीत रहते हैं, वह इहलोक और परलोकमें भी कभी धर्मके फलको नहीं पाता ॥ ३१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियोंका आत्मा हो गया है और सम्पूर्ण भूतोंको अपनेसे अभिन्न देखता है, उसे किसी विशेष स्थानकी प्राप्ति नहीं होती । वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । उसके पदचिह्नकी खोज करनेवाले देवता भी उस ज्ञानी पुरुषके मार्गके विषयमें मोहित हो जाते हैं—उसकी गतिका पता नहीं पाते हैं ॥

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम् ।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्दधस्व च जाजले ॥ ३३ ॥

प्राणियोंको अभयदान देना सब दानोंसे उत्तम बताया गया है । जाजले ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ, तुम इसपर विश्वास करो ॥ ३३ ॥

स एव सुभगो भूत्वा पुनर्भवति दुर्भगः ।
व्यापत्तिं कर्मणां दृष्ट्वा जुगुप्सन्ति जनाः सदा ॥ ३४ ॥

जो स्वर्गादिकी कामना करके धर्मकार्य करते हैं, वे ही स्वर्गादि फलोंको पाकर सौभाग्यवान् कहलाते हैं, फिर वे ही पुण्यक्षीण होनेके पश्चात् जब स्वर्गसे नीचे गिरते हैं, तब दुर्भाग्यसे दूषित माने जाते हैं, इस प्रकार कर्मोंका विनाश देखकर विज्ञ पुरुष सदा ही सकाम कर्मोंकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥

जाजले ! कोई भी धर्म निष्प्रयोजन या निष्फल नहीं है, उसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, स्वर्ग या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही यहाँ धर्मकी व्याख्या की गयी है ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः ।
उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते ॥ ३६ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह सबकी समझमें नहीं आ सकता; क्योंकि उसके स्वरूपको छिपानेवाली बहुत-सी बातें हैं । बीच-बीचमें विभिन्न सत्पुरुषोंके आचारोंको देखकर मनुष्य वास्तविक धर्मका ज्ञान प्राप्त करता है ॥३६॥

ये च च्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान् ।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान् कथं न विगर्हसे ।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥

जो लोग बैलोंको बधिया करके बाँधते-नाथते, उनसे भारी बोझ ढुलाते और उनका दमन करके उन्हें कामपर निकालते हैं, जो कितने ही जीवोंको मारकर खा जाते हैं, मनुष्य होकर मनुष्योंको दास बनाकर और उनके परिश्रमका फल आप भोगते हैं, उनकी तुम निन्दा क्यों नहीं करते हो ?॥

वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ।
आत्मनश्चापि जानाति यद् दुःखं वधबन्धने ॥ ३९ ॥

जो लोग वध और बन्धनकी दशामें अपनेको कितना कष्ट होता है, इस बातको जानते हैं तो भी दूसरोंको वध, बन्धन और कैदके कष्टमें डालकर उनसे दिन-रात काम कराते हैं, उनकी निन्दा तुम क्यों नहीं करते हो ? ॥ ३९ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥

तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा ।

पाँच इन्द्रियोंवाले समस्त प्राणियोंमें सूर्य, चन्द्र, वायु, ब्रह्मा, प्राण, यज्ञ और यमराज—इन सब देवताओंका निवास है, जो उन्हें जीते-जी बेचकर जीविका चलाते हैं, उन्हें अधर्मकी प्राप्ति होती है । फिर मृत जीवोंका विक्रय करनेवालोंके विषयमें तो कहा ही क्या जाय ? ॥ ४०½ ॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ॥ ४१ ॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिध्यति ।

बकरा अग्निका, भेड़ वरुणका, घोड़ा सूर्यका और पृथ्वी विराट्का रूप है तथा गाय और बछड़े चन्द्रमाके स्वरूप हैं, इनको बेचनेसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४१½ ॥

का तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान् पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियाञ्ज्ञात्वाक्रम्य बहुधा नराः ॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान् देशान् नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसम्पीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥

किंतु ब्रह्मन् ! तेल, घी, शहद और दवाओंकी बिक्री करनेमें क्या हानि है, बहुत-से मनुष्य तो दंश और मच्छरोंसे रहित देशमें उत्पन्न और सुखसे पले हुए पशुओंको यह जानते हुए भी कि ये अपनी माताओंको बहुत प्रिय हैं और इनके बिछुड़नेसे उन्हें बहुत कष्ट होगा, जबरदस्ती आक्रमण करके ऐसे देशोंमें ले जाते हैं जहाँ दंश, मच्छर और कीचड़की अधिकता होती है । कितने ही बोझ ढोनेवाले पशु भारी भारसे पीड़ित हो लोगोंद्वारा अनुचित रूपसे सताये जाते हैं ॥

न मन्ये भ्रूणहत्यापि विशिष्टा तेन कर्मणा ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा ॥ ४५ ॥

मैं समझता हूँ कि उस क्रूर कर्मसे बढ़कर भ्रूणहत्याका पाप भी नहीं है । कुछ लोग खेतीको अच्छा मानते हैं, परंतु वह वृत्ति भी अत्यन्त कठोर है ॥ ४५ ॥

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानडुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥

जाजले ! जिसके मुखपर फाल जुड़ा हुआ है, वह हल पृथ्वीको पीड़ा देता है और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंका भी वध कर डालता है और उसमें जो बैल जोते जाते हैं, उनकी दुर्दशापर भी दृष्टिपात करो ॥ ४६ ॥

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः ॥ ४७ ॥

श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा ? जो पुरुष गाय और बैलोंको मारता है, वह महान् पाप करता है ॥ ४७ ॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥

एक समयकी बात है, ऋषियों और यतियोंने राजा नहुषके पास जाकर निवेदन किया कि तुमने माता गौ और प्रजापति वृषभका वध किया है, नहुष ! यह तुम्हारे द्वारा न करनेयोग्य पापकर्म किया गया है, तुम्हारे इस कुकृत्यके कारण हम सब लोगोंको बड़ी व्यथा हो रही है । जाजले ! ऐसा कहकर नहुषके द्वारा प्रशंसित उन महाभाग ऋषियोंने पापको एक सौ एक रोगोंके रूपमें परिणत करके समस्त प्राणियोंपर डाल दिया, राजा नहुषको भ्रूणहत्यारा बताया और स्पष्ट कह दिया कि हमलोग तुम्हारे यज्ञमें हविष्यकी आहुति नहीं देंगे ॥

इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्त्वार्थदर्शिनः ।
ऋषयो यतयः शान्तास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर उन समस्त तत्त्वार्थदर्शी महात्माओंने तपस्या (ध्यान) द्वारा सारी बातें जान लीं और नहुषके अज्ञानवश वह पाप होनेके कारण उन्हें निर्दोष पाकर वे सब ऋषि और यति शान्त हो गये ॥ ५१ ॥

ईदृशानशिवान् घोरानाचारानिह जाजले ।
केवलाचरितत्वात् तु निपुणो नावबुद्ध्यसे ॥ ५२ ॥

जाजले ! इस तरहके अमङ्गलकारी और भयंकर आचार इस जगत्में बहुत-से प्रचलित हैं; केवल इसलिये कि अमुक कर्म पूर्वजोंद्वारा भी किया गया है, तुम चतुर होते हुए भी उसकी बुराईपर ध्यान नहीं देते ॥ ५२ ॥

कारणाद् धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत् ।
यो हन्याद् यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ॥ ५३ ॥
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम् ।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस कर्मका हेतु या परिणाम क्या है ? इसपर विचार करके ही तुम्हें किसी भी धर्मको स्वीकार करना चाहिये । लोगोंने किया है या कर रहे हैं, यह जानकर उनका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये । जाजले ! अब मैं अपने विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो, जो मुझे मारता है तथा जो मेरी प्रशंसा करता है, वे दोनों ही मेरे लिये बराबर हैं । उनमेंसे कोई भी मेरे लिये प्रिय या अप्रिय नहीं है, मनीषी पुरुष ऐसे ही धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५३-५४ ॥

उपपत्त्या हि सम्पन्नो यतिभिश्चैव सेव्यते ।

सततं धर्मशीलैश्च निपुणेनोपलक्षितः ॥ ५५ ॥

यही युक्तिसंगत है, यति भी इसीका सेवन करते हैं तथा धर्मात्मा मनुष्य अच्छी तरह विचारकर सदा इसी धर्मका अनुष्ठान करते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५५½ श्लोक हैं)

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको तुलाधारका आत्मयज्ञविषयक धर्मका उपदेश

जाजलिरुवाच

अयं प्रवर्तितो धर्मस्तुलां धारयता त्वया ।
स्वर्गद्वारं च वृत्तिं च भूतानामवरोत्स्यते ॥ १ ॥

जाजलिने कहा—वणिक् महोदय ! तुम हाथमें तराजू लेकर सौदा तौलते हुए जिस धर्मका उपदेश करते हो, उससे तो स्वर्गका दरवाजा ही बंद किये देते हो और प्राणियोंकी जीविकावृत्तिमें भी रुकावट पैदा करते हो ॥ १ ॥

कृष्या ह्यन्नं प्रभवति ततस्त्वमपि जीवसि ।
पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्या जीवन्ति वाणिज ॥ २ ॥

वैश्यपुत्र ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि खेतीसे ही अन्न पैदा होता है, जिससे तुम भी जी रहे हो । अन्न और पशुओंसे ही मनुष्यका जीवन-निर्वाह होता है ॥ २ ॥

ततो यज्ञः प्रभवति नास्तिक्यमपि जल्पसि ।
न हि वर्तेदयं लोको वार्तामुत्सृज्य केवलाम् ॥ ३ ॥

उन्हींसे यज्ञकार्य सम्पन्न होता है । तुम तो नास्तिकताकी भी बातें करते हो । यदि पशुओंके कष्टका ख्याल करके खेती आदि वृत्तियोंका त्याग कर दिया जाय, तो इस संसारका जीवन ही समाप्त हो जायगा ॥ ३ ॥

तुलाधार उवाच

वक्ष्यामि जाजले वृत्तिं नास्मि ब्राह्मण नास्तिकः ।
न यज्ञं च विनिन्दामि यज्ञवित् तु सुदुर्लभः ॥ ४ ॥

तुलाधारने कहा—जाजले ! मैं तुम्हें हिंसातिरिक्त जीविका-वृत्ति बताऊँगा । ब्राह्मणदेव ! मैं नास्तिक नहीं हूँ और न यज्ञकी ही निन्दा करता हूँ; परंतु यज्ञके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४ ॥

नमो ब्राह्मणयज्ञाय ये च यज्ञविदो जनाः ।
स्वयज्ञं ब्राह्मणा हित्वा क्षत्रयज्ञमिहास्थिताः ॥ ५ ॥

विप्र ! ब्राह्मणोंके लिये जिस यज्ञका विधान है, उसको तो मैं नमस्कार करता हूँ और जो लोग उस यज्ञको ठीक-ठीक जानते हैं, उनके चरणोंमें भी मस्तक झुकाता हूँ, किंतु खेद है, इस समय ब्राह्मणलोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्य-से प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है ॥ ६ ॥

इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते ।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥

जाजले ! श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया है कि अमुक कर्मके लिये यह दक्षिणा देनी चाहिये, वह दक्षिणा देनी चाहिये, उसके अनुसार वैसी दक्षिणा देनेसे भी यह यज्ञ श्रेष्ठ माना जाता है; अन्यथा शक्ति रहते हुए यदि यज्ञकर्ताने लोभ दिखाया तो उसको चोरी करनेका पाप लगता है और उस कर्ममें भी विपरीतता आ जाती है ॥ ७ ॥

यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः ।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥ ८ ॥
पूजा स्याद् देवतानां हि यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।

शुभ कर्मके द्वारा जिस हविष्यका संग्रह किया जाता है, उसीके होमसे देवता संतुष्ट होते हैं । शास्त्रके कथनानुसार नमस्कार, स्वाध्याय, घी और अन्न—इन सबके द्वारा देवताओंकी पूजा हो सकती है ॥ ८½ ॥

इष्टापूर्तादसाधूनां विगुणा जायते प्रजा ॥ ९ ॥

जो लोग कामनाके वशीभूत होकर यज्ञ करते, तालाब खुदवाते या बगीचे लगवाते हैं, उन (सकामभावयुक्त) असाधु पुरुषोंसे उन्हींके समान गुणहीन संतान उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः ।
यजमाना यथाऽऽत्मानमृत्विजश्च तथा प्रजाः ॥ १० ॥

लोभी पुरुषोंसे लोभीका जन्म होता है और समदर्शी पुरुषोंसे समदर्शी पुत्र उत्पन्न होता है । यजमान और ऋत्विज स्वयं जैसे होते हैं, उनकी प्रजा भी वैसी ही होती है ॥

यज्ञात् प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ।
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति ॥ ११ ॥
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

जिस प्रकार आकाशसे निर्मल जलकी वर्षा होती है उसी प्रकार शुद्ध भावसे किये हुए यज्ञसे योग्य प्रजाकी उत्पत्ति होती है। विप्रवर ! अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलको प्राप्त होती है, सूर्यसे जलकी वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उपजता है और अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती है ॥ ११½ ॥

तस्मात् सुनिष्ठिताः पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे ॥ १२ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ।

पहलेके लोग कर्तव्य समझकर यज्ञमें श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होते थे और उस यज्ञसे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती थीं। पृथ्वीसे बिना जोते-बोये ही काफी अन्न पैदा होता तथा जगत्‌की भलाईके लिये उनके शुभ संकल्पसे ही वृक्षों और लताओंमें फल-फूल लगते थे ॥ १२½ ॥

न ते यज्ञेष्वात्मसु वा फलं पश्यन्ति किंचन ॥ १३ ॥
शङ्कमानाः फलं यज्ञे ये यजेरन् कथंचन ।
जायन्तेऽसाधवो धूर्ता लुब्धा वित्तप्रयोजनाः ॥ १४ ॥

वे यज्ञोंमें अपने लिये किसी फलकी ओर दृष्टि नहीं रखते थे। जो मनुष्य यज्ञसे कोई फल मिलता है या नहीं, इस प्रकारका संदेह मनमें लेकर किसी तरह यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे धन चाहनेवाले लोभी, धूर्त और दुष्ट होते हैं ॥ १३-१४ ॥

स स पापकृतां लोकान् गच्छेदशुभकर्मणा ।
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः ॥ १५ ॥
पापात्मा सोऽकृतप्रज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! जो मनुष्य प्रमाणभूत वेदको अपने अप्रामाणिक कुतर्कद्वारा अमङ्गलकारी सिद्ध करता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, उसका मन सदा यहाँ पापोंमें ही लगा रहता है और वह अपने अशुभ कर्मके कारण पापाचारियोंके लोकों (नरकों) में ही जाता है ॥ १५½ ॥

कर्तव्यमिति कर्तव्यं वेत्ति वै ब्राह्मणो भयम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैव वर्तते लोके नैव कर्तव्यतां पुनः ।

जो करने योग्य कर्मोंको अपना कर्तव्य समझता है और उसका पालन न होनेपर भय मानता है, जिसकी दृष्टिमें (ऋत्विक्, हविष्य, मन्त्र और अग्नि आदि) सब कुछ ब्रह्म ही है तथा जो किसी भी कर्तव्यको अपना नहीं मानता—कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ १६½ ॥

विगुणं च पुनः कर्म ज्याय इत्यनुशुश्रुम ॥ १७ ॥
सर्वभूतोपघातश्च फलभावे च संयमः ।

हमने सुना है कि यदि कर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि हो जानेके कारण वह गुणहीन हो जाय तो भी यदि वह निष्कामभावसे किया जा रहा है तो श्रेष्ठ ही है अर्थात् वह कल्याणकारी ही होता है। निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्ममें यदि कुत्ते आदि अपवित्र पशुओंके द्वारा स्पर्श हो जानेसे कोई बाधा भी आ जाय तथापि वह कर्म नष्ट नहीं होता, वह श्रेष्ठतम ही माना जाता है, अतः प्रत्येक कर्ममें फलकी भावना या कामनापर संयम—नियन्त्रण रखना आवश्यक है ॥ १७½ ॥

सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः ॥ १८ ॥
उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ।

प्राचीन कालके ब्राह्मण सत्यभाषण और इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के प्रति लोभ रखते थे, उन्हें लौकिक धनकी प्यास नहीं रहती थी, वे उस ओरसे सदा तृप्त रहते थे। वे सब लोग प्राप्त वस्तुका त्याग करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ।

वे क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के तत्त्वको जाननेवाले और आत्मयज्ञ-परायण थे। उपनिषदोंके अध्ययनमें तत्पर रहते तथा स्वयं संतुष्ट होकर दूसरोंको भी संतोष देते थे ॥ १९½ ॥

अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम् ॥ २० ॥
तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जाजले ।

ब्रह्म सर्वस्वरूप है, सम्पूर्ण देवता उसीके रूप हैं, वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके भीतर विराजमान है। इसलिये जाजले ! इसके तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता तृप्त एवं संतुष्ट हो जाते हैं ॥

यथा सर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किंचन ॥ २१ ॥
तथा प्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिः सुखोदया ।

जैसे सब प्रकारके रसोंसे तृप्त हुआ मनुष्य किसी भी रसका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार जो ज्ञानानन्दसे परितृप्त है, उसे अक्षय सुख देनेवाली नित्य तृप्ति बनी रहती है ॥

धर्माधारा धर्मसुखाः कृत्स्नव्यवसितास्तथा ॥ २२ ॥
अस्ति नस्तत्त्वतो भूय इति प्राज्ञस्त्ववेक्षते ।

हममेंसे बहुत लोग ऐसे हैं, जिनका धर्म ही आधार है, जो धर्ममें ही सुख मानते हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय कर लिया है; परंतु हमलोगोंका जो यथार्थरूप है, उसकी अपेक्षा बहुत महान् और व्यापक परमात्मा सर्वत्र सर्वात्मा रूपसे विराजमान है—ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है ॥ २२½ ॥

ज्ञानविज्ञानिनः केचित् परं पारं तितीर्षवः ॥ २३ ॥
अतीव पुण्यदं पुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ॥ २४ ॥

भवसागरसे पार उतरनेकी इच्छावाले कोई-कोई ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न महात्मा पुरुष ही अत्यन्त पवित्र और पुण्यात्माओंसे सेवित पुण्यदायक ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं,

जहाँ जाकर वे न तो शोक करते हैं, न वहाँसे नीचे गिरते हैं और न मनमें किसी प्रकारकी व्यथाका ही अनुभव करते हैं ॥ २३-२४ ॥

ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः।
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ॥ २५ ॥
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ॥ २६ ॥
न चैतानृत्विजो लुब्धा याजयन्ति फलार्थिनः।

वे सात्त्विक महापुरुष उस ब्रह्मधामको ही प्राप्त होते हैं, उन्हें स्वर्गकी इच्छा नहीं होती, वे यश और धनके लिये यज्ञ नहीं करते, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलते और हिंसा-रहित यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। वनस्पति, अन्न और फल-मूलको ही वे हविष्य मानते हैं, धनकी इच्छा रखनेवाले लोभी ऋत्विज इनका यज्ञ नहीं कराते हैं ॥ २५-२६½ ॥

स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ॥ २७ ॥
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया।

ज्ञानी ब्राह्मणोंने अपनेको ही यज्ञका उपकरण मानकर मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है। उन्होंने प्रजाहितकी कामनासे ही मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है ॥ २७½ ॥

तस्मात् तानृत्विजो लुब्धा याजयन्त्यशुभान् नरान् २८
प्रापयेयुः प्रजाः स्वर्गं स्वधर्माचरणेन वै।
इति मे वर्तते बुद्धिः समा सर्वत्र जाजले ॥ २९ ॥

लोभी ऋत्विज तो ऐसे लोगोंका ही यज्ञ कराते हैं, जो अशुभ (मोक्षकी इच्छासे रहित) होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष तो स्वधर्मका आचरण करते हुए ही प्रजाको स्वर्गमें पहुँचा देते हैं। जाजले ! यही सोचकर मेरी बुद्धि भी सर्वत्र समान भाव ही रखती है ॥ २८-२९ ॥

यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।
तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ॥ ३० ॥

महामुने ! श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण सदा ही जिन द्रव्योंको लेकर उनका यज्ञोंमें उपयोग करते हैं उन्हींके द्वारा वे दिव्य मार्गसे पुण्य लोकोंमें जाते हैं ॥ ३० ॥

आवृत्तिस्तस्य चैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः।
उभौ तौ देवयानेन गच्छतो जाजले यथा ॥ ३१ ॥

जाजले ! जो कामनाओंमें आसक्त है, उसी मनुष्यकी इस संसारमें पुनरावृत्ति होती है। ज्ञानीका पुनः यहाँ जन्म नहीं होता। यद्यपि दोनों दिव्यमार्गसे ही पुण्यलोकोंमें जाते हैं, तथापि संकल्प-भेदसे ही उनकी आवृत्ति और अनावृत्ति होती है॥

स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥ ३२ ॥

ज्ञानी महात्माओंकी इच्छा होते ही उनके मानसिक संकल्पकी सिद्धियोंके अनुसार बैल स्वयं गाड़ीमें जुतकर उनकी सवारी ढोने लगते हैं, दूध देनेवाली गौएँ स्वयं ही सब प्रकारके मनोरथोंकी सिद्धिरूप दुग्ध प्रदान करती हैं॥

स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः।
यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गामालब्धुमर्हति ॥ ३३ ॥

योगसिद्ध पुरुषोंके पास स्वयं यज्ञयूप उपस्थित हो जाते हैं और उन्हें लेकर वे पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं। उनके ऋत्विजोंके पास दक्षिणा भी स्वतः उपस्थित हो जाती है। जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध एवं सिद्ध हो गया है, वही पृथ्वीको उपलब्ध कर सकता है॥

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरंस्ते न तादृशाः।
इति त्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! इसलिये वे योगसिद्ध पुरुष ओषधियों—अन्न आदिके द्वारा यज्ञ कर सकते हैं। जो पहले बताये अनुसार मूढ़ लोग हैं, वे उस तरहका यज्ञ नहीं कर सकते। कर्म-फलका त्याग करनेवाले महात्माओंका ऐसा अद्भुत माहात्म्य है, इसलिये मैं त्यागको आगे रखकर तुमसे ऐसी बात कह रहा हूँ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३५ ॥

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी फलकी इच्छासे कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, नमस्कार और स्तुतिसे अलग रहता है, जिसका धर्म नहीं क्षीण हुआ है, कर्म-बन्धन क्षीण हो गया है, उसी पुरुषको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥

न श्रावयन् न च यजन् न ददद् ब्राह्मणेषु च।
काम्यां वृत्तिं लिप्समानः किं गतिं याति जाजले।
इदं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

जाजले ! जो ब्राह्मण वेदाध्ययन, यजन और ब्राह्मणोंको दान देना आदि वर्णोचित कर्म नहीं करता और मनोहर भोग-पदार्थोंकी लिप्सा रखता है, वह कुत्सित गतिको प्राप्त होता है। किंतु निष्काम धर्मको देवताके समान आराध्य बनानेवाला मनुष्य यज्ञके यथार्थ फल—मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥३६ ॥

जाजलिरुवाच

न वै मुनीनां शृणुमः स्म तत्त्वं
पृच्छामि ते वाणिज कष्टमेतत्।
पूर्वे पूर्वे चास्य नावेक्षमाणा
नातः परं तमृषयः स्थापयन्ति ॥ ३७ ॥

जाजलिने पूछा—वैश्यप्रवर ! मैंने आत्मयाजी मुनियोंके समीप तुम्हारेद्वारा प्रतिपादित तत्त्वको कभी नहीं सुना। सम्भवतः यह समझनेमें कठिन भी है, क्योंकि पूर्वकालीन महर्षियोंने उसके ऊपर विशेष विचार नहीं किया है। जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने भी उत्तम होनेपर भी इस धर्मकी जगत्में स्थापना नहीं की है अतः मैं तुमसे ही पूछता हूँ ॥ ३७ ॥

यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवः प्राप्नुयुर्मखम् ।
अथ स्म कर्मणा केन वाणिज प्राप्नुयात् सुखम् ॥ ३८ ॥
शंस मे तन्महाप्राज्ञ भृशं वै श्रद्दधामि ते ।

वणिक्पुत्र ! यदि इस प्रकार आत्मतीर्थमें पशु अर्थात् अज्ञानी मानव आत्मयज्ञका सौभाग्य नहीं पा सकते, तो किस कर्मसे उन्हें सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? महामते ! यह बात मुझे बताओ । मैं तुम्हारे कथनपर अधिक श्रद्धा रखता हूँ ॥

तुलाधार उवाच

उत यज्ञा उतायज्ञा मखं नार्हन्ति ते क्वचित् ॥ ३९ ॥
आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः ।
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भरत्येव गौर्मखम् ॥ ४० ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! जिन दम्भी पुरुषोंके यज्ञ अश्रद्धा आदि दोषोंके कारण यज्ञ कहलानेयोग्य नहीं रह जाते, वे न तो मानसिक यज्ञके अधिकारी हैं और न क्रियात्मक यज्ञके ही । श्रद्धालु पुरुष तो घी, दूध, दही और विशेषतः पूर्णाहुतिसे ही अपना यज्ञ पूर्ण करते हैं । श्रद्धालुओंमें जो असमर्थ हैं, उनका यज्ञ गाय अपनी पूँछके बालोंके स्पर्शसे, शृङ्गजलसे और पैरोंकी धूलसे ही पूर्ण कर देती है ॥ ३९-४० ॥

पत्नीं चानेन विधिना प्रकरोति नियोजयन् ।
इष्टं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इसी विधिसे देवताके लिये घी आदि द्रव्य समर्पित करनेके लिये श्रद्धाको ही पत्नी बनाये और यज्ञको ही देवताके समान आराध्य बनाकर यथावत् रूपसे यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुको प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते ।
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ॥ ४२ ॥

यज्ञविहित समस्त पशुओंके दुग्ध आदिसे निर्मित पुरोडाशको ही पवित्र बताया जाता है । सारी नदियाँ ही सरस्वतीका रूप हैं और समस्त पर्वत ही पुण्यमय प्रदेश हैं ॥

जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।
एतानीदृशकान् धर्मानाचरन्निह जाजले ॥ ४३ ॥
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ।

जाजले ! यह आत्मा ही प्रधान तीर्थ है । आप तीर्थ-सेवनके लिये देश-देशमें मत भटकिये । जो यहाँ मेरे बताये हुए अहिंसाप्रधान धर्मोंका आचरण करता है तथा विशेष कारणोंसे धर्मका अनुसंधान करता है, वह कल्याणकारी लोकों-को प्राप्त होता है ॥ ४३½ ॥

भीष्म उवाच

एतानीदृशकान् धर्मांस्तुलाधारः प्रशंसति ॥ ४४ ॥
उपपत्त्याभिसम्पन्नान् नित्यं सद्भिर्निषेवितान् ॥ ४५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार हिंसा-रहित, युक्तिसंगत तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित धर्मोंकी ही तुलाधार वैश्यने सदा प्रशंसा की थी ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको पक्षियोंका उपदेश

तुलाधार उवाच

सद्भिर्वा यदि वासद्भिः पन्थानमिममास्थितम् ।
प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यसि तद् यथा ॥ १ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन ? इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लो । तब तुम्हें इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा ॥ १ ॥

एते शकुन्ता बहवः समन्ताद् विचरन्ति ह ।
तवोत्तमाङ्गे सम्भूताः श्येनाश्चान्याश्च जातयः ॥ २ ॥

देखो ! आकाशमें ये जो बहुत-से श्येन एवं दूसरी जातियोंके पक्षी चारों ओर विचरण कर रहे हैं, इनमें तुम्हारे सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी भी हैं ॥ २ ॥

आह्वयैनान् महाब्रह्मन् विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान् हस्तपादैश्च श्लिष्टान् देहेषु सर्वशः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! ये यत्र-तत्र घोंसलोंमें घुस रहे हैं । देखो, इन सबके हाथ-पैर सिकुड़कर शरीरोंसे सट गये हैं । इन सबको बुलाकर पूछो ॥ ३ ॥

सम्भावयन्ति पितरं त्वया सम्भाविताः खगाः ।
असंशयं पिता वै त्वं पुत्रानाहूय जाजले ॥ ४ ॥

ये पक्षी तुम्हारे द्वारा पालित और समादृत हुए हैं । अतः तुम्हारा पिताके समान सम्मान करते हैं । जाजले ! इसमें संदेह नहीं कि तुम इनके पिता ही हो; अतः इन पुत्रों-को बुलाकर प्रश्न करो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ततो जाजलिना तेन समाहूताः पतत्त्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्ति स्म धर्मस्य वचनात् किल ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया । उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर

वे पक्षी वहाँ आये और उनसे मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें बोलने लगे—॥ ५ ॥

अहिंसादिकृतं कर्म इह चैव परत्र च।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम्॥ ६ ॥

'अहिंसा और दया आदि भावोंसे प्रेरित होकर किया हुआ कर्म इहलोक और परलोकमें भी उत्तम फल देनेवाला है। ब्रह्मन्! यदि मनमें हिंसाकी भावना हो तो वह श्रद्धाका नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्म करनेवाले इस हिंसक मनुष्यका ही सर्वनाश कर डालती है॥ ६ ॥

समानां श्रद्दधानानां संयतानां सुचेतसाम्।
कुर्वतां यज्ञ इत्येव न यज्ञो जातु नेष्यते॥ ७ ॥

'जो हानि और लाभमें समान भाव रखनेवाले, श्रद्धालु, संयमी और शुद्ध चित्तवाले पुरुष हैं तथा यज्ञको कर्तव्य समझकर करते हैं, उनका यज्ञ कभी असफल नहीं होता॥७॥

श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी ततः॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! श्रद्धा सूर्यकी पुत्री है, इसलिये उसे वैवस्वती, सावित्री और प्रसवित्री (विशुद्ध जन्मदायिनी) भी कहते हैं। वाणी और मन भी श्रद्धाकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं॥ ८ ॥

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति॥ ९ ॥

'भरतनन्दन! यदि वाणीके दोषसे मन्त्रके उच्चारणमें त्रुटि रह जाय और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवताका ध्यान आदि कर्म सम्पन्न न हो सके तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह वाणी और मनके दोषको दूर करके उस कर्मकी रक्षा कर सकती है। परंतु यदि श्रद्धा न होनेके कारण कर्ममें त्रुटि रह जाय तो वाणी और मन (मन्त्रोच्चारण और ध्यान) उस कर्मकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ९ ॥

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः॥ १० ॥
देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः॥ ११ ॥
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।

इस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंको जाननेवाले लोग ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो इस प्रकार है—पहले देवतालोग श्रद्धाहीन पवित्र और पवित्रतारहित श्रद्धालुके द्रव्यको यज्ञकर्मके लिये एक-सा ही समझते थे। इसी प्रकार वे कृपण वेदवेत्ता और महादानी सूदखोरके अन्नमें भी कोई अन्तर नहीं मानते थे। देवताओंने खूब सोच-विचारकर दोनों प्रकारके अन्नोंको समान निश्चित किया था। १०-११½॥

प्रजापतिस्तानुवाच विषमं कृतमित्युत॥ १२ ॥
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।

'किंतु एक बार यज्ञमें प्रजापतिने उनके इस बर्तावको देखकर कहा—'देवताओ! तुमने यह अनुचित किया है। वास्तवमें उदारका अन्न उसकी श्रद्धाके कारण पवित्र होता है और कंजूसका अश्रद्धाके कारण अपवित्र एवं नष्टप्राय समझा जाता है*॥ १२½ ॥

भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः॥ १३ ॥
अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः॥ १४ ॥

'सारांश यह कि उदारका ही अन्न भोजन करना चाहिये, कृपण, श्रोत्रिय एवं केवल सूदखोरका नहीं। जिसमें श्रद्धा नहीं है, एकमात्र वही देवताओंको हविष्य अर्पण करनेका अधिकार नहीं रखता है। उसीका अन्न नहीं खाना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही मानते हैं॥ १३-१४ ॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ १५ ॥

'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है। जैसे साँप अपने पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है॥ १५ ॥

ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः॥ १६ ॥

'श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना समस्त पवित्रताओंसे बढ़कर है। जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है॥ १६ ॥

किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७ ॥

'उसे तपस्याद्वारा क्या लेना है? आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना है? यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है, वह वैसा सात्त्विक, राजस या तामस होता है॥१७॥

इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः।
वयं जिज्ञासमानास्तु सम्प्राप्ता धर्मदर्शनात्॥ १८ ॥

'धर्म और अर्थका साक्षात्कार करनेवाले सत्पुरुषोंने इसी प्रकार धर्मकी व्याख्या की है। हमलोगोंने धर्मदर्शन नामक मुनिसे जिज्ञासा प्रकट करनेपर उस धर्मका ज्ञान प्राप्त किया है॥ १८ ॥

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।

* अतः श्रद्धाहीन पवित्रकी अपेक्षा पवित्रताहीन श्रद्धालुका ही अन्न ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार कृपण वेदवेत्ता और दानी सूदखोरमेंसे दानी सूदखोरका ही अन्न श्रद्धापूत एवं ग्राह्य है। केवल सूदखोर और केवल कृपणका अन्न तो त्याज्य है ही।

स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ॥ १९ ॥

महाज्ञानी जाजलि ! तुम इसपर श्रद्धा करो। तदनन्तर इसके अनुसार आचरण करनेसे तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है। जाजले! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है' ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽचिरेण कालेन तुलाधारः स एव च।
दिवं गत्वा महाप्राज्ञौ विहरेतां यथासुखम् ॥ २० ॥
स्वं स्वं स्थानमुपागम्य स्वकर्मफलनिर्जितम्।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर थोड़े ही समयमें तुलाधार और जाजलि दोनों महाज्ञानी पुरुष परमधाममें जाकर अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप अपने-अपने स्थानको पाकर वहाँ सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ २०½ ॥

एवं बहुविधार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ॥ २१ ॥
सम्यक् चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः।
तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः॥ २२ ॥

इस प्रकार तुलाधारने नाना प्रकारके वक्तव्य विषयोंसे युक्त उत्तम भाषण किया। उन्होंने सनातनधर्मका भी वर्णन किया। ब्राह्मण जाजलिने विख्यात प्रभावशाली तुलाधारके वे वचन सुनकर उनके इस तात्पर्यको भलीभाँति हृदयंगम किया ॥ २१-२२ ॥

तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत।
एवं बहुमतार्थं च तुलाधारेण भाषितम्।
यथौपम्योपदेशेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुलाधारने जो उपदेश दिया था, वह बहुजनसम्मत अर्थसे युक्त था। उसे सुनकर जाजलिको परम शान्ति प्राप्त हुई। उसे यथावत् दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो? ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा विचख्नुके द्वारा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालमें राजा विचख्नुने समस्त प्राणियोंपर दया करनेके लिये जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका इस प्रसङ्गमें जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥

एक समय किसी यज्ञशालामें राजाने देखा कि एक बैलकी गरदन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं। यज्ञशालाके प्राङ्गणमें कितनी ही गौएँ खड़ी हैं। यह सब देखकर राजा बोले—॥ २ ॥

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम्।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥ ३ ॥

'संसारमें समस्त गौओंका कल्याण हो।' जब हिंसा आरम्भ होने जा रही थी, उस समय उन्होंने गौओंके लिये यह शुभ कामना प्रकट की और उस हिंसाका निषेध करते हुए कहा—॥ ३ ॥

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥

'जो धर्मकी मर्यादासे भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्माके विषयमें संदेह है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगोंने ही हिंसाका समर्थन किया है ॥

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥ ५ ॥

धर्मात्मा मनुने सम्पूर्ण कर्मोंमें अहिंसाका ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छासे यज्ञकी बाह्यवेदीपर पशुओंका बलिदान करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ ६ ॥

अतः विज्ञ पुरुषको उचित है कि वह वैदिक प्रमाणसे धर्मके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय करे। सम्पूर्ण भूतोंके लिये जिन धर्मोंका विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गयी है ॥ ६ ॥

उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः।
आचार इत्यनाचारः कृपणाः फलहेतवः ॥ ७ ॥

उपवासपूर्वक कठोर नियमोंका पालन करे। वेदकी फलश्रुतियोंका परित्याग कर दे अर्थात् काम्य कर्मोंको छोड़ दे, सकामकर्मोंके आचरणको अनाचार समझकर उनमें प्रवृत्त न हो। कृपण (क्षुद्र) मनुष्य ही फलकी इच्छासे कर्म करते हैं ॥ ७ ॥

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥ ८ ॥

यदि कहें कि मनुष्य यूपनिर्माणके उद्देश्यसे जो वृक्ष काटते और यज्ञके उद्देश्यसे पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है अपि तु धर्म ही है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे धर्मकी कोई प्रशंसा नहीं करते ॥ ८ ॥

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥ ९ ॥

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है । वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है ॥९॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।

उन धूर्तोंने अभिमान, मोह और लोभके वशीभूत होकर उन वस्तुओंके प्रति अपनी यह लोलुपता ही प्रकट की है ।९½।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥ १० ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।

ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञोंमें भगवान् विष्णुका ही आदर-भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदिसे ही उनकी पूजाका विधान है ॥ १०½ ॥

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
यच्चापि किंचित् कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम् ।
महासत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत् ॥ १२ ॥

वेदोंमें जो यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष बताये गये हैं, उन्हींका यज्ञोंमें उपयोग होना चाहिये । शुद्ध आचार-विचारवाले महान् सत्त्वगुणी पुरुष अपनी विशुद्ध भावनासे प्रोक्षण आदिके द्वारा उत्तम संस्कार करके जो कोई भी हविष्य या नैवेद्य तैयार करते हैं, वह सब देवताओंको अर्पण करनेके योग्य ही होता है ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शरीरमापदश्चापि विवदन्त्यविहिंसतः ।
कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यते ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो हिंसासे अत्यन्त दूर रहनेवाला है, उस पुरुषका शरीर और आपत्तियाँ परस्पर विवाद करने लगती हैं—आपत्तियाँ शरीरका शोषण करती हैं और शरीर आपत्तियोंका नाश चाहता है; अतः सूक्ष्म हिंसाके भयसे कृषि आदि किसी कार्यका आरम्भ न करनेवाले पुरुषकी शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा ? ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा ।
तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कर्मोंमें इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति सर्वथा क्षीण न हो जाय, जिससे वह मृत्युके अधीन न हो जाय; क्योंकि मनुष्य शरीरके समर्थ होनेपर ही धर्मका पालन कर सकता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि विचख्नुगीतायां पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें विचख्नुगीताविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

महर्षि गौतम और चिरकारीका उपाख्यान—दीर्घकालतक सोच-विचारकर कार्य करनेकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान् नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप मेरे परम गुरु हैं । कृपया यह बतलाइये कि यदि कभी सर्वथा ऐसा कार्य उपस्थित हो जाय, जो गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण अवश्य कर्तव्य हो, परंतु हिंसायुक्त होनेके कारण दुष्कर एवं अनुचित प्रतीत होता हो तो ऐसे अवसरपर उस कार्यकी परख कैसे करनी चाहिये ? उसे शीघ्र कर डाले या देरतक उसपर विचार करता रहे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत् पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस विषयमें जानकार लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलमें उत्पन्न चिरकारीपर बीत चुका है ॥ २ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥

'चिरकारी ! तुम्हारा कल्याण हो । चिरकारी ! तुम्हारा मङ्गल हो । चिरकारी बड़ा बुद्धिमान् है । चिरकारी कर्तव्योंके पालनमें कभी अपराध नहीं करता है ।' (यह बात चिरकारीकी प्रशंसा करते हुए उसके पिताने कही थी) ॥ ३ ॥

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥ ४ ॥

कहते हैं, महर्षि गौतमके एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम था चिरकारी । वह कर्तव्य-विषयोंका भलीभाँति

विचार करके सारे कार्य विलम्बसे किया करता था ॥ ४ ॥

चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन्।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥

वह सभी विषयोंपर बहुत देरतक विचार करता था, चिरकालतक जागता और चिरकालतक सोता था तथा चिर-विलम्बके बाद ही कार्य पूर्ण करता था; इसलिये सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे ॥ ५ ॥

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥

जो दूरतककी बात नहीं सोच सकते, ऐसे मन्दबुद्धि मानवोंने उसे आलसीकी उपाधि दे दी। उसे दुर्बुद्धि कहा जाने लगा ॥ ६ ॥

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान्।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥

एक दिनकी बात है, गौतमने अपनी स्त्रीके द्वारा किये गये किसी व्यभिचारपर कुपित हो अपने दूसरे पुत्रोंको न कहकर चिरकारीसे कहा—'बेटा! तू अपनी इस पापिनी माताको मार डाल' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा देकर जप करने-वालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वनमें चले गये ॥ ८ ॥

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥

चिरकारीने अपने स्वभावके अनुसार देर करके कहा, 'बहुत अच्छा'। चिरकारी तो वह था ही, चिरकालतक उस बातपर विचार करता रहा ॥ ९ ॥

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम्।
कथं धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥

उसने सोचा कि 'मैं किस उपायसे काम लूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो जाय और माताका वध भी न करना पड़े। धर्मके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट आ गया है। भला, अन्य असाधु पुरुषोंकी भाँति मैं भी इसमें डूबनेका कैसे साहस करूँ! ॥ १० ॥

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं तु मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥

'पिताकी आज्ञाका पालन परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता, वह सदा माता-पिताके अधीन ही रहता है, अतः क्या करूँ जिससे मुझे धर्मकी हानिरूप पीड़ा न हो ॥ ११ ॥

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत्।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

'एक तो स्त्री-जाति, दूसरे माताका वध करके कौन पुत्र कभी भी सुखी हो सकता है? पिताकी अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा पा सकता है? ॥ १२ ॥

अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम्।
युक्तक्षमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥

'पिताका अनादर उचित नहीं है, साथ ही माताकी रक्षा करना भी पुत्रका धर्म है। ये दोनों ही धर्म उचित और योग्य हैं। मैं किस प्रकार इनका उल्लङ्घन न करूँ? ॥ १३ ॥

पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां जज्ञिवानिति।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥

'पिता स्वयं अपने शील, सदाचार, कुल और गोत्रकी रक्षाके लिये स्त्रीके गर्भमें अपना ही आधान करता और पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः।
विज्ञानं मे कथं न स्याद् द्वौ बुद्ध्ये चात्मसम्भवम् ॥ १५ ॥

'अतः मुझे माता और पिता—दोनोंने ही पुत्रके रूपमें जन्म दिया है। मैं इन दोनोंको ही अपनी उत्पत्तिका कारण समझता हूँ। मेरा ऐसा ही ज्ञान क्यों न सदा बना रहे? ॥

जातकर्मणि यत् प्राह पिता यच्चोपकर्मणि।
पर्याप्तः स दृढीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥

'जातकर्म-संस्कार और उपनयन-संस्कारके समय पिताने जो आशीर्वाद दिया है, वह पिताके गौरवका निश्चय करानेमें पर्याप्त एवं सुदृढ़ प्रमाण है ॥ १६ ॥

गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १७ ॥

'पिता भरण-पोषण करने तथा शिक्षा देनेके कारण पुत्रका प्रधान गुरु है। वह परम धर्मका साक्षात् स्वरूप है। पिता जो कुछ आज्ञा दे, उसे ही धर्म समझकर स्वीकार करना चाहिये। वेदोंमें भी उसीको धर्म निश्चित किया गया है ॥ १७ ॥

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥ १८ ॥

'पुत्र पिताकी सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्रका सर्वस्व है। केवल पिता ही पुत्रको देह आदि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओंको देता है ॥ १८ ॥

तस्मात् पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९ ॥

'इसलिये पिताके आदेशका पालन करना चाहिये। उसपर कभी कोई विचार नहीं करना चाहिये। जो पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, उसके पातक भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने।

भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥ २० ॥

'पुत्रके भोग्य (वस्त्र आदि), भोज्य (अन्न आदि), प्रवचन (वेदाध्ययन), सम्पूर्ण लोक-व्यवहारकी शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि समस्त संस्कारोंके सम्पादनमें पिता ही प्रभु है ॥ २० ॥

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥ २१ ॥

'इसलिये पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है । पिताके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २१ ॥

आशिषस्ता भजन्त्येनं परुषं प्राह यत् पिता ।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति ॥ २२ ॥

'पिता पुत्रसे यदि कुछ कठोर बातें कह देता है तो वे आशीर्वाद बनकर उसे अपना लेती हैं और पिता यदि पुत्रका अभिनन्दन करता है—मीठे वचन बोलकर उसके प्रति प्यार और आदर दिखाता है तो इससे पुत्रके सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २२ ॥

मुच्यते बन्धनात् पुष्पं फलं वृक्षात् प्रमुच्यते ।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २३ ॥

'फूल डंठलसे अलग हो जाता है, फल वृक्षसे अलग हो जाता है; परंतु पिता कितने ही कष्टमें क्यों न हो, लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने पुत्रको कभी नहीं छोड़ता है अर्थात् पुत्र कभी पितासे अलग नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

एतद् विचिन्तितं तावत् पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥ २४ ॥

'पुत्रके निकट पिताका कितना गौरव होना चाहिये, इस बातपर पहले विचार किया है । विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि पिता पुत्रके लिये कोई छोटा-मोटा आश्रय नहीं है । अब मैं माताके विषयमें सोचता हूँ ॥ २४ ॥

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥ २५ ॥

'मेरे लिये जो यह पाञ्चभौतिक मनुष्यशरीर मिला है, इसके उत्पन्न होनेमें मेरी माता ही मुख्य हेतु है । जैसे अग्निके प्रकट होनेका मुख्य आधार अरणी-काष्ठ है ॥ २५ ॥

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥

'माता मनुष्योंके शरीररूपी अग्निको प्रकट करनेवाली अरणी है । संसारके समस्त आर्त प्राणियोंको सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है । जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपनेको सनाथ समझता है और उसके न रहनेपर वह अनाथ हो जाता है ॥ २६ ॥

न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति ।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमम्बेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥

'माताके रहते मनुष्यको कभी चिन्ता नहीं होती है, बुढ़ापा उसे अपनी ओर नहीं खींचता है । जो अपनी माँको पुकारता हुआ घरमें जाता है, वह निर्धन होनेपर भी मानो माता अन्नपूर्णाके पास चला जाता है ॥ २७ ॥

पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः ।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥

'पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी जो अपनी माताके आश्रयमें रहता है, वह सौ वर्षकी अवस्थाके बाद भी उसके पास दो वर्षके बच्चेके समान आचरण करता है ॥ २८ ॥

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है । माताके सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्रका पालन-पोषण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत् तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥

'जब मातासे विछोह हो जाता है, उसी समय मनुष्य अपनेको बुड्ढा समझने लगता है, दुखी हो जाता है और उसके लिये सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है ॥ ३० ॥

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ ३१ ॥

'माताके समान दूसरी कोई छाया नहीं है अर्थात् माताकी छत्रछायामें जो सुख है, वह कहीं नहीं है । माताके तुल्य दूसरा सहारा नहीं है, माताके सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है तथा बच्चेके लिये माके समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

कुक्षिसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता ।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥

'वह गर्भाशयमें धारण करनेके कारण धात्री, जन्म देनेके कारण जननी, शिशुका अङ्गवर्धन (पालन-पोषण) करनेसे अम्बा तथा वीर-संतानका प्रसव करनेके कारण वीरसू कही गयी है ॥ ३२ ॥

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान् नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥

'वह शिशुकी शुश्रूषा करके शुश्रू नाम धारण करती है । माता अपना निकटतम शरीर है । जिसका मस्तिष्क विचार-शून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई सचेतन मनुष्य कभी अपनी माताकी हत्या नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल ।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥

'पति और पत्नी मैथुनकालमें सुयोग्य पुत्र होनेके लिये

जो अभिलाषा करते हैं, उसे यद्यपि पिता और माता—दोनों धारण करते हैं तथापि वास्तवमें वह अभिलाषा मातामें ही प्रतिष्ठित होती है ॥ ३४ ॥

माता जानाति यद्गोत्रं माता जानाति यस्य सः ।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः प्रजाः ॥ ३५ ॥

'पुत्रका गोत्र क्या है ? यह माता जानती है । वह किस पिताका पुत्र है ? यह भी माता ही जानती है । माता बालकको अपने गर्भमें धारण करती है, इसलिये उसीका उसपर अधिक स्नेह और प्रेम होता है । पिताका तो अपनी संतानपर प्रभुत्वमात्र है ॥ ३५ ॥

पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सह धर्ममुपेत्य च ।
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति वाच्यताम् ॥ ३६ ॥

'जब स्वयं ही पत्नीका पाणिग्रहण करके साथ-साथ धर्माचरण करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी पुरुष परायी स्त्रियोंके पास जायँगे (और उनपर बलात्कार करेंगे), तब इसके लिये स्त्रियोंको दोषी नहीं ठहराया जा सकता ॥ ३६ ॥

भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पालनाद्धि पतिस्तथा ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः ॥ ३७ ॥

'पुरुष अपनी स्त्रीका भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पालन करनेके कारण पति कहलाता है । इन गुणोंके न रहनेपर वह न तो भर्ता है और न पति ही कहलाने योग्य है ॥

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति ।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥

'वास्तवमें स्त्रीका कोई अपराध नहीं होता है, पुरुष ही अपराध करता है । व्यभिचारका महान् पाप पुरुष ही करता है, इसलिये वही अपराधी है ॥ ३८ ॥

स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम् ।
तस्यात्मना तु सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥

'स्त्रीके लिये पति ही परम आदरणीय है, वही उसका सबसे बड़ा देवता माना गया है । मेरी माताने ऐसे पुरुषको आत्मसमर्पण किया है, जो शरीरसे, वेशभूषासे पिताजीके समान ही था ॥ ३९ ॥

नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥

'ऐसे अवसरोंपर स्त्रियोंका अपराध नहीं होता, पुरुष ही अपराधी होता है । सभी कार्योंमें अबला होनेके कारण स्त्रियोंको अपराधके लिये विवश कर दिया जाता है, अतः पराधीन होनेके कारण वे अपराधिनी नहीं हैं ॥ ४० ॥

यश्च नोक्तोऽथ निर्देशः स्त्रिया मैथुनतृप्तये ।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥

'स्त्रीके द्वारा मैथुनजनित सुखसे तृप्त होनेके लिये कोई संकेत न करनेपर भी उसके कामको उद्दीप्त करनेवाले पुरुषको स्पष्ट ही अधर्मकी प्राप्ति होती है । इसमें संशय नहीं है ॥

एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम् ।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥ ४२ ॥

'इस प्रकार विचार करनेसे एक तो वह नारी होनेके कारण ही अवध्य है, दूसरे मेरी पूजनीया माता है । माताका गौरव पितासे भी बढ़कर है, जिसमें मेरी मा प्रतिष्ठित है । नासमझ पशु भी स्त्री और माताको अवध्य मानते हैं (फिर मैं समझदार मनुष्य होकर भी उसका वध कैसे करूँ ?) ॥

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः ।
मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥

'मनीषी पुरुष यह जानते हैं कि पिता एक स्थानपर स्थित सम्पूर्ण देवताओंका समूह है; परंतु माताके भीतर उसके स्नेहवश समस्त मनुष्यों और देवताओंका समुदाय स्थित रहता है (अतः माताका गौरव पितासे भी अधिक है) ॥ ४३ ॥

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत् पिता ॥ ४४ ॥

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा । इसी सोच-विचारमें बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया । इतनेमें ही उसके पिता वनसे लौट आये ॥ ४४ ॥

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ॥ ४५ ॥
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥

महाज्ञानी तपोनिष्ठ मेधातिथि गौतम उस समय पत्नीके वधके अनौचित्यपर विचार करके अधिक संतप्त हो गये । वे दुःखसे आँसू बहाते हुए वेदाध्ययन और धैर्यके प्रभावसे किसी तरह अपनेको सँभाले रहे और पश्चात्ताप करते हुए मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—॥ ४५-४६ ॥

आश्रमं मम सम्प्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरंदरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥
स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
अर्घ्यं पाद्यं यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ ४८ ॥

'अहो ! त्रिभुवनका स्वामी इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके मेरे आश्रमपर आया था । मैंने अतिथि-सत्कारके गृहस्थोचित व्रतका आश्रय लेकर उसे मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, उसका स्वागत-सत्कार किया और यथोचित रूपसे अर्घ्य-पाद्य आदि निवेदन करके मैंने स्वयं ही उसकी विधिवत् पूजा की ॥ ४७-४८ ॥

परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४९ ॥

'मैंने विनयपूर्वक कहा—'भगवन् ! मैं आपके अधीन

हूँ । आपके पदार्पणसे मैं सनाथ हो गया ।' मुझे आशा थी कि मेरे इस सद्व्यवहारसे संतुष्ट होकर अतिथिदेवता मुझसे प्रेम करेंगे; परंतु यहाँ इन्द्रकी विषयलोलुपताके कारण दुःखद घटना घटित हो गयी । इसमें मेरी स्त्रीका कोई अपराध नहीं॥

एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः ।
अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति ॥ ५० ॥

'इस प्रकार न तो स्त्री अपराधिनी है, न मैं अपराधी हूँ और न एक पथिक ब्राह्मणके वेशमें आया हुआ देवताओंका राजा इन्द्र ही अपराधी है । मेरेद्वारा धर्मके विषयमें जो स्त्रीवध-रूप प्रमाद हुआ है, वही इस अपराधकी जड़ है ॥ ५० ॥

ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः ।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे ॥ ५१ ॥

'ऊर्ध्वरेता मुनि उस प्रमादके ही कारण ईर्ष्याजनित संकट-की प्राप्ति बताते हैं; ईर्ष्याने मुझे पापके समुद्रमें ढकेल दिया है और मैं उसमें डूब गया हूँ ॥ ५१ ॥

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्या च को नु मां तारयिष्यति ॥ ५२ ॥

'जिसे मैंने पत्नीके रूपमें अपने घरमें आश्रय दिया था। जो एक सती-साध्वी नारी थी और भार्या होनेके कारण मुझसे भरण-पोषण पानेकी अधिकारिणी थी, उसीका मैंने प्रमादरूपी व्यसनके वशीभूत होनेके कारण वध करा डाला । अब इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा ! ॥ ५२ ॥

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः ।
यद्यद्य चिरकारी स्यात् स मां त्रायेत पातकात्॥ ५३ ॥

'परंतु मैंने उदारबुद्धि चिरकारीको उसकी माताके वधके लिये आज्ञा दी थी । यदि उसने इस कार्यमें विलम्ब करके अपने नामको सार्थक किया हो, तो वही मुझे स्त्रीहत्याके पापसे बचा सकता है ॥ ५३ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ॥ ५४ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो । चिरकारी ! तेरा मङ्गल हो । यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया हो तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है ॥ ५४ ॥

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया ।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ॥ ५५ ॥

'बेटा ! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी, अपनी माताकी तथा मैंने जो तपका उपार्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर । साथ ही अपने आपको भी पातकोंसे बचा ले ॥ ५५ ॥

सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव ।
सफलं तत् तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः॥ ५६ ॥

'अत्यन्त बुद्धिमान् होनेके कारण तुझमें जो चिरकारिता-का सहज गुण है, वह इस समय सफल हो । आज तू वास्तवमें चिरकारी बन ॥ ५६ ॥

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः ।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ॥ ५७ ॥

'तेरी माता चिरकालसे तेरे जन्मकी आशा लगाये बैठी थी । उसने चिरकालतक तुझे गर्भमें धारण किया है, अतः बेटा चिरकारी ! आज तू अपनी माताकी रक्षा करके चिर-कारिताको सफल कर ले ॥ ५७ ॥

चिरायते च संतापाच्चिरं स्वपिति वारितः ।
आवयोश्चिरसंतापादवेक्ष्य चिरकारिकः ॥ ५८ ॥

'मेरा बेटा चिरकारी कोई दुःख या संताप प्राप्त होनेपर भी कार्य करनेमें विलम्ब करनेका स्वभाव नहीं छोड़ता है । मना करनेपर भी चिरकालतक सोता रहता है । आज हम दोनों माता-पिताका चिरसंताप देखकर वह अवश्य चिरकारी बने' ॥ ५८ ॥

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा ।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ॥ ५९ ॥

राजन् ! इस प्रकार दुखी हुए महर्षि गौतमने घर आने-पर अपने पुत्र चिरकारीको पास ही खड़ा देखा ॥ ५९ ॥

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः ।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे॥ ६० ॥

पिताको उपस्थित देख चिरकारी बहुत दुखी हुआ । वह हथियार फेंककर उनके चरणोंमें मस्तक झुका उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ६० ॥

गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि ।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ॥ ६१ ॥

गौतमने देखा, चिरकारी पृथ्वीपर माथा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जाके मारे निश्चेष्ट खड़ी है । यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ६१ ॥

न हि सा तेन सम्भेदं पत्नी नीता महात्मना ।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः ॥ ६२ ॥

एकान्त वनमें उस आश्रमके भीतर रहनेवाले महामना गौतमने अपनी पत्नी तथा एकाग्रचित्त पुत्र चिरकारीको कभी अपनेसे अलग नहीं किया ॥ ६२ ॥

हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते ।
विनीते प्रसवत्यर्थे विवासे चात्मकर्मसु ॥ ६३ ॥

अपने आवश्यक कर्म जप-ध्यान आदिके लिये महर्षि गौतमके बाहर चले जानेपर उनका पुत्र चिरकारी यद्यपि हाथमें हथियार लेकर खड़ा था तथापि माताकी रक्षाके लिये वह विनीतभावसे कुछ सोचता-विचारता रहा । इसीलिये

चिरकारी शस्त्र त्यागकर अपने पिताको प्रणाम कर रहे हैं

माताको मार डालनेका जो आदेश प्राप्त हुआ था, वह पालित न हो सका ॥ ६३ ॥

बुद्धिश्चासीत् सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम् ।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥

पुत्रको अपने चरणोंमें नतमस्तक हुआ देख गौतमके मनमें यह विचार हुआ कि सम्भवतः चिरकारी भयके मारे हथियार उठानेकी चपलताको छिपा रहा है ॥ ६४ ॥

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥

तब पिताने चिरकालतक उसकी प्रशंसा करके देरतक उसका मस्तक सूँघा और चिरकालतक दोनों भुजाओंसे खींचकर उसे हृदयसे लगाये रक्खा और आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा ! चिरञ्जीवी हो' ॥ ६५ ॥

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

महामते ! इस प्रकार प्रेम और हर्षसे भरे हुए गौतमने पुत्रका अभिनन्दन करके यह बात कही—॥६६॥

चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव ।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः॥ ६७ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो । तू चिरकालतक चिरकारी एवं चिरञ्जीवी बना रह । सौम्य ! यदि तू चिरकाल-तक ऐसे ही स्वभावका बना रहा तो मैं दीर्घकालतक कभी दुखी नहीं होऊँगा' ॥ ६७ ॥

गाथाश्चाप्यब्रवीद् विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर विद्वान् मुनिश्रेष्ठ गौतमने कुछ गाथाएँ गायीं । चिरकालतक सोच-विचारकर काम करनेवाले धीर पुरुषोंमें जो गुण होते हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—॥ ६८ ॥

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये । यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये । दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है ॥६९॥

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥

'राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ७० ॥

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा की जाती है' ॥ ७१ ॥

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! इस प्रकार गौतम वहाँ अपने पुत्रके विलम्बपूर्वक कार्य करनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए थे ॥७२॥

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥

इस प्रकार सभी कार्योंमें विचार करके चिरकालके पश्चात् किसी निश्चयपर पहुँचनेवाले पुरुषको दीर्घकालतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ७३ ॥

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥

जो दीर्घकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो ॥ ७४ ॥

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥

दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे । दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे । चिर-कालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे॥

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥

अधिक समयतक विद्वानोंका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे । इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है ॥ ७६ ॥

ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥

धर्मोपदेश करनेवाले पुरुषसे यदि कोई प्रश्न करे तो उसे देरतक सोच-विचार कर ही उत्तर देना चाहिये । ऐसा करनेसे उसको देरतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है ॥ ७७ ॥

उपास्य बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।

समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥ ७८ ॥

वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि गौतम उस आश्रममें बहुत वर्षोंतक रहकर अन्तमें पुत्र चिरकारीके साथ ही स्वर्गलोकको सिधारे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिकोपाख्याने षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चिरकारीका उपाख्यानविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवाद—अहिंसापूर्वक राज्यशासनकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षेन्न च किंचित् प्रघातयेत् ।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ कि राजा किस प्रकार प्रजाकी रक्षा करे, जिससे उसको किसीकी हिंसा न करनी पड़े; वह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
द्युमत्सेनस्य संवादं राज्ञा सत्यवता सह ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें राजा सत्यवान्‌के साथ उनके पिता द्युमत्सेनका जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अव्याहृतं व्याजहार सत्यवानिति नः श्रुतम् ।
वधायोन्नीयमानेषु पितुरेवानुशासनात् ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि एक दिन सत्यवान्‌ने देखा कि पिताकी आज्ञासे बहुत-से अपराधी शूलीपर चढ़ा देनेके लिये ले जाये जा रहे हैं । उस समय उन्होंने पिताके पास जाकर ऐसी बात कही, जो पहले किसीने नहीं कही थी ॥ ३ ॥

अधर्मतां याति धर्मो यात्यधर्मश्च धर्मताम् ।
वधो नाम भवेद् धर्मो नैतद् भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

'पिताजी ! यह सत्य है कि कभी ऊपरसे धर्म-सा दिखायी देनेवाला कार्य अधर्मरूप हो जाता है और अधर्म भी धर्मके रूपमें परिणत हो जाता है, तथापि किसी प्राणीका वध करना भी धर्म हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता' ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अथ चेदवधो धर्मोऽधर्मः को जातु चिद् भवेत् ।
दस्यवश्चेन्न हन्येरन् सत्यवन् संकरो भवेत् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—बेटा सत्यवान् ! यदि अपराधीका वध न करना भी कभी धर्म हो तो अधर्म क्या हो सकता है ? यदि चोर-डाकू मारे न जायँ तो प्रजामें वर्णसंकरता और धर्मसंकरता फैल जाय ॥ ५ ॥

ममेदमिति नास्यैतत् प्रवर्तेत कलौ युगे ।
लोकयात्रा न चैव स्यादथ चेद् वेत्थ शंस नः ॥ ६ ॥

कलियुग आनेपर तो लोग 'यह वस्तु मेरी है, इसकी नहीं है' ऐसा कहकर सीधे ही दूसरोंका धन हड़प लेंगे । इस तरह लोकयात्राका निर्वाह असम्भव हो जायगा । यदि तुम इसका कोई समाधान जानते हो, तो मुझसे बताओ ॥

सत्यवानुवाच

सर्वं एते त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः ।
धर्मपाशनिबद्धानामन्योऽप्येवं चरिष्यति ॥ ७ ॥

सत्यवान् बोले—पिताजी ! क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मणोंके अधीन कर देना चाहिये । जब चारों वर्णोंके लोग धर्मके बन्धनमें बँधकर उसका पालन करने लगेंगे तो उनकी देखा-देखी दूसरे मनुष्य सूत-मागध आदि भी धर्मका आचरण करेंगे ॥ ७ ॥

यो यस्तेषामपचरेत् तमाचक्षीत वै द्विजः ।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन् राजा प्रधारयेत् ॥ ८ ॥

इनमेंसे जो भी ब्राह्मणकी आज्ञाके विपरीत आचरण करे, उसके विषयमें ब्राह्मणको राजाके पास जाकर कहना चाहिये कि 'अमुक मनुष्य मेरी बात नहीं सुनता है ।' तब राजा उसी व्यक्तिको दण्ड दे ॥ ८ ॥

तत्त्वाभेदेन यच्छास्त्रं तत् कार्यं नान्यथाविधम् ।
असमीक्ष्यैव कर्माणि नीतिशास्त्रं यथाविधि ॥ ९ ॥

जो दण्ड-विधान शरीरके पाँचों तत्त्वोंको अलग-अलग न कर सके अर्थात् किसीके प्राण न ले, उसीका प्रयोग करना चाहिये । नीतिशास्त्रकी आलोचना और अपराधीके कार्यपर भलीभाँति विचार किये बिना ही इसके विपरीत कोई दण्ड नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

दस्यून् निहन्ति वै राजा भूयसो वाप्यनागसः ।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यन्ते पुरुषेण ते ।
परेणापकृतो राजा तस्मात् सम्यक् प्रधारयेत् ॥ १० ॥

राजा डाकुओं अथवा दूसरे बहुत-से निरपराध मनुष्योंको मार डालता है और इस प्रकार उसके द्वारा मारे गये पुरुषके पिता-माता, स्त्री और पुत्र आदि भी जीविकाका कोई उपाय न रह जानेके कारण मानो मार दिये जाते हैं, अतः किसी दूसरेके अपकार करनेपर राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये (जल्दबाजी करके किसीको प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये) ॥ १० ॥

असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा ।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यः शोभना जायते प्रजा ॥ ११ ॥

दुष्ट पुरुष भी कभी साधुसङ्गसे सुधरकर सुशील बन जाता है तथा बहुत-से दुष्ट पुरुषोंकी संतानें भी अच्छी निकल जाती हैं ॥ ११ ॥

न मूलघातः कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः ।
अपि स्वल्पवधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥

इसलिये दुष्टोंको प्राणदण्ड देकर उनका मूलोच्छेद नहीं करना चाहिये । किसीकी जड़ उखाड़ना सनातन धर्म नहीं है । अपराधके अनुरूप साधारण दण्ड देना चाहिये, उसीसे अपराधीके पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १२ ॥

उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च ।
वधदण्डेन ते क्लिश्या न पुरोहितसंसदि ॥ १३ ॥

अपराधीको उसका सर्वस्व छीन लेनेका भय दिखाया जाय अथवा उसे कैद कर लिया जाय या उसके किसी अङ्गको भङ्ग करके उसे कुरूप बना दिया जाय; परंतु प्राणदण्ड देकर उनके कुटुम्बियोंको क्लेश पहुँचाना उचित नहीं है । इसी तरह यदि वे पुरोहित ब्राह्मणकी शरणमें जा चुके हों तो भी राजा उन्हें दण्ड न दे ॥ १३ ॥

यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः ।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन् न पापमिति वादिनः ॥ १४ ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं धातृशासनम् ।
बिभ्रद् दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति शासनम्॥ १५॥

यदि शरण चाहनेवाले डाकू या दुष्ट पुरुष पुरोहितकी शरणमें चले जायँ और यह प्रतिज्ञा करें कि 'ब्रह्मन् ! अब हम फिर ऐसा पाप नहीं करेंगे' तो उन्हें छोड़ देना चाहिये । यह ब्रह्माजीका आदेश है । सिर मुड़ाकर दण्ड और मृगचर्म धारण करनेवाला संन्यासी ब्राह्मण भी यदि पाप करे तो दण्ड पानेका अधिकारी है ॥ १४-१५ ॥

गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः ।
तदा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ १६ ॥

यदि मनुष्य बारंबार अपराध करे, तो प्रमुख विचारकगण उसके अपराधके लिये गुरुतर दण्ड प्रदान करें । उस अवस्थामें पहले बारके अपराधकी भाँति वे बिना दण्ड दिये छोड़ देनेके योग्य नहीं रह जाते हैं ॥ १६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यत्र यत्रैव शक्येरन् संयन्तुं समये प्रजाः ।
स तावान् प्रोच्यते धर्मो यावन्न प्रतिलङ्घ्यते ॥ १७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—बेटा ! जहाँ-जहाँ भी प्रजाको धर्मकी मर्यादाके भीतर नियन्त्रित करके रखा जा सके वहाँ-वहाँ वैसा करना धर्म ही बताया जाता है । जबतक कि धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जाता (तबतक ही वहाँ ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिये) ॥ १७ ॥

अहन्यमानेषु पुनः सर्वमेव पराभवेत् ।
पूर्वे पूर्वतरे चैव सुशास्या ह्यभवन् जनाः ॥ १८ ॥
मृदवः सत्यभूयिष्ठा अल्पद्रोहाल्पमन्यवः ।
पुरा धिग्दण्ड एवासीद् वाग्दण्डस्तदनन्तरम्॥ १९ ॥

यदि धर्मका उल्लङ्घन करनेपर भी लुटेरोंका वध न किया जाय तो उनसे सारी प्रजाको कष्ट पहुँच सकता है । पहले और बहुत पहलेके लोगोंपर शासन करना सुगम था, क्योंकि उनका स्वभाव कोमल था, सत्यमें उनकी विशेष रुचि थी और द्रोह तथा क्रोधकी मात्रा उनमें बहुत कम थी । पहले अपराधीको धिक्कार देना ही बड़ा भारी दण्ड समझा जाता था । तदनन्तर अपराधकी मात्रा बढ़नेपर वाग्दण्डका प्रचार हुआ—अपराधीको कटुवचन सुनाकर छोड़ दिया जाने लगा ॥ १८-१९ ॥

आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते ।
वधेनापि न शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ २० ॥

इसके बाद आवश्यकता समझकर अर्थदण्ड भी चालू किया गया और आजकल तो वधका दण्ड भी प्रचलित हो गया है । बहुत से दुष्टात्मा मनुष्योंको तो प्राणदण्डके द्वारा भी काबूमें लाना या मर्यादाके भीतर रखना असम्भव-सा हो रहा है ॥ २० ॥

नैव दस्युर्मनुष्याणां न देवानामिति श्रुतिः ।
न गन्धर्वपितॄणां च कः कस्येह न कश्चन ॥ २१ ॥

सुननेमें आया है कि डाकू मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों अथवा पितरोंमेंसे किसीका आत्मीय नहीं होता । इतना ही नहीं, इस संसारमें कौन लुटेरा किसका है, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता । कोई डाकू किसीका नहीं होता है, यही कहना यथार्थ है ॥ २१ ॥

पद्मं श्मशानादादत्ते पिशाचाच्चापि दैवतम् ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २२ ॥

वह तो मरघटमें जाकर मृत शरीरसे चिह्नभूत वस्त्र आदि उतार लाता है और देवताकी सम्पत्तिको भी लूट लेता है । जिनकी बुद्धि मारी गयी है, उन डाकुओंपर जो कोई विश्वास करता है, वह मूर्ख है ॥ २२ ॥

सत्यवानुवाच

तान् न शक्नोषि चेत् साधून् परित्रातुमहिंसया ।
कस्यचिद् भूतभव्यस्य लाभेनान्तं तथा कुरु ॥ २३ ॥

सत्यवान्‌ने कहा—पिताजी ! यदि आप लुटेरोंका वध न करके साधुओंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, अथवा उन दस्युओंको ही साधु बनाकर अहिंसाद्वारा उनकी प्राणरक्षा नहीं कर सकते तो भूत, वर्तमान और भविष्यमें उनके पारमार्थिक लाभका उद्देश्य सामने रखकर किसी उत्तम उपायसे उनका या उनकी दस्युवृत्तिका अन्त कर दीजिये ॥

राजानो लोकयात्रार्थं तप्यन्ते परमं तपः ।
तेऽपत्रपन्ति तादृग्भ्यस्तथावृत्ता भवन्ति च ॥ २४ ॥

बहुत-से नरेश, लोगोंकी जीवनयात्राका यथावत् रूपसे निर्वाह हो, इस उद्देश्यसे बड़ी भारी तपस्या करते हैं। वे राजा अपने राज्यमें चोर-डाकुओंके होनेसे लज्जाका अनुभव करते हैं । इसीलिये प्रजाको शुद्ध, सदाचारी एवं सुखी बनानेकी इच्छासे वैसी तपस्यामें प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

वित्रास्यमानाः सुकृतो न कामाद् घ्नन्ति दुष्कृतीन् ।
सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥ २५ ॥

जब प्रजामें दण्डका भय उत्पन्न किया जाता है, तब वह सत्कर्मपरायण होती है; अतः भय दिखाकर प्रजाको धर्ममें लगाना ही दण्डका उद्देश्य है, किसीका प्राण लेना नहीं । राजालोग अपनी इच्छासे दुष्टोंका वध नहीं करते हैं। श्रेष्ठ नरेश प्रायः सत्कर्मों और सद्व्यवहारोंद्वारा ही दीर्घकालतक प्रजापर शासन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽप्येवं वृत्तं लोकोऽनुवर्तते ।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार परम श्रेष्ठ राजाके सद्व्यवहारका सब लोग अनुसरण करते हैं । मनुष्य स्वभावसे ही सदा बड़ोंके आचरणोंका अनुकरण करते हैं ॥ २६ ॥

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान् ।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥ २७ ॥

जो राजा स्वयं विषय भोगनेके लिये इन्द्रियोंका दास हो रहा है, अपने मनको काबूमें नहीं रख पाता है, वह यदि दूसरोंको सदाचारका उपदेश देने लगे तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २७ ॥

यो राज्ञो दम्भमोहेन किंचित् कुर्यादसाम्प्रतम् ।
सर्वोपायैर्नियम्यः स तथा पापान्निवर्तते ॥ २८ ॥

यदि कोई मनुष्य दम्भ या मोहके कारण राजाके साथ किंचिन्मात्र भी कोई अनुचित बर्ताव करने लगे तो सभी उपायोंसे उसका दमन करना चाहिये । ऐसा करनेपर वह पापकर्मसे दूर हट जाता है ॥ २८ ॥

आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता ।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान् ॥ २९ ॥

जो राजा पापकी प्रवृत्तिको रोकना चाहता हो, उसे पहले अपने मनको ही वशमें करना चाहिये । फिर अपने सगे बन्धु-बान्धव भी अपराध करें तो उनको भी भारी-से-भारी दण्ड देना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्र वै पापकृन्नीचो न महद् दुःखमर्च्छति ।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ॥ ३० ॥

जहाँ पाप करनेवाले नीचको महान् दुःख नहीं भोगना पड़ता है, वहाँ निश्चय ही पाप बढ़ता है और धर्मका ह्रास होता है ॥ ३० ॥

इति कारुण्यशीलस्तु विद्वान् वै ब्राह्मणोऽन्वशात् ।
इति चैवानुशिष्टोऽस्मि पूर्वैस्तात पितामहैः ॥ ३१ ॥
आश्वासयद्भिः सुभृशमनुक्रोशात् तथैव च ।
एतत् प्रथमकल्पेन राजा कृतयुगे जयेत् ॥ ३२ ॥

पिताजी ! एक दयालु एवं विद्वान् ब्राह्मणने मुझे यह सब उपदेश दिया था । उस समय उसने कहा था कि 'तात सत्यवान् ! मेरे पूर्वज पितामहोंने मुझे आश्वासन देते हुए अत्यन्त कृपापूर्वक ऐसी शिक्षा दी थी । इसलिये राजाको सत्ययुगमें जब कि धर्म अपने चारों चरणोंसे मौजूद रहता है, पूर्वोक्त प्रथम श्रेणीके (अहिंसामय) दण्डद्वारा ही प्रजाको वशमें करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

पादोनेनापि धर्मेण गच्छेत् त्रेतायुगे तथा ।
द्वापरे तु द्विपादेन पादेन त्वधरे युगे ॥ ३३ ॥

'त्रेतायुग आनेपर धर्मका प्रचार एक चौथाई कम हो जाता है, द्वापरमें धर्मके दो ही पैर रह जाते हैं; परंतु कलियुगमें तो धर्मका चतुर्थ भाग ही शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥

तथा कलियुगे प्राप्ते राज्ञो दुश्चरितेन ह ।
भवेत् कालविशेषेण कला धर्मस्य षोडशी ॥ ३४ ॥

'इस प्रकार कलियुग उपस्थित होनेपर राजाके दुर्व्यवहारसे तथा उस कालविशेषका प्रभाव पड़नेसे सम्पूर्ण धर्मकी सोलहवीं कलामात्र शेष रह जायगी ॥ ३४ ॥

अथ प्रथमकल्पेन सत्यवन् संकरो भवेत् ।
आयुः शक्तिं च कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ॥ ३५ ॥

'सत्यवान् ! यदि प्रथम श्रेणीके अहिंसात्मक दण्डसे धर्म और अधर्मका सम्मिश्रण होने लगे, तब दण्डनीय व्यक्तिकी आयु, शक्ति और कालको ध्यानमें रखते हुए राजा यथोचित दण्डके लिये आज्ञा प्रदान करे ॥ ३५ ॥

सत्याय हि यथा नेह जह्याद् धर्मफलं महत् ।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'स्वायम्भुव मनुने प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका उपदेश किया है, जिससे इस जगत्में वह सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले धर्मके महान् फलसे वञ्चित न रह जाय' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्युमत्सेनसत्यवत्संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि और कपिलका संवाद—स्यूमरश्मिके द्वारा यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्राणियोंका विरोध (अहित) न करते हुए मनुष्योंको शम-दमादि छहों गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला जो योग है तथा जो भोग और मोक्ष दोनों फलोंको प्राप्त करानेवाला धर्म है, वह मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह ॥ २ ॥

दादाजी ! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म दोनों एक दूसरेसे दूर नहीं हैं, तथापि उन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ है ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! गार्हस्थ्य और योगधर्म दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं, दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनोंके ही फल महान् हैं और दोनोंका ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आचरण किया है ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ च्छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! मैं तुम्हें इन दोनों धर्मोंकी प्रामाणिकताका प्रतिपादन करूँगा और तुम्हारे धर्म तथा अर्थविषयक संदेहको मिटा दूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग महर्षि कपिल और गौके भीतर आविष्ट हुए स्यूमरश्मिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

आम्नायमनुपश्यन् हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि पूर्वकालमें राजा नहुषने वेदके अनुशासनको प्राचीन, सनातन एवं नित्य समझकर अपने घरपर आये हुए अतिथि त्वष्टाके लिये एक गायका आलम्भ करनेका विचार किया ॥ ६ ॥

तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः ।
ज्ञानवान् नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा ॥ ७ ॥

उस समय सत्त्वगुणमें स्थित, संयमपरायण, मिताहारी, उदारचित्त और ज्ञानवान् कपिलमुनिने त्वष्टाके लिये नियुक्त हुई उस गायको देखा ॥ ७ ॥

स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नैष्ठिकीमकुतोभयाम् ।
सतीमशिथिलां सत्यां वेदा३इत्यब्रवीत् सकृत् ॥ ८ ॥

तब उत्तम, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त एवं उत्साहयुक्त बुद्धिको प्राप्त हुए महर्षि कपिलने केवल एक बार इतना ही कहा—हा वेद ! (जो तुम्हारे नामपर लोग ऐसा अनाचार करते हैं) ॥ ८ ॥

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत् ।
हंहो वेदा३ यदि मता धर्माः केनापरे मताः ॥ ९ ॥

उस समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषिने उस गायके भीतर प्रवेश करके कपिलमुनिसे कहा—'अहो ! यदि वेदोंकी प्रामाणिकतापर आपको संदेह है तो अन्य धर्मशास्त्रोंको किस आधारपर प्रमाणभूत माना जा सकता है ? ॥ ९ ॥

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः ।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥ १० ॥

'तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टिवाले ऋषि-मुनि वेदको नित्यज्ञानसम्पन्न परमेश्वरकी निःश्वासभूत वाणी मानते हैं ॥ १० ॥

तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः ।
का विवक्षास्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः ॥ ११ ॥

'जो तृष्णारहित, उद्वेगशून्य, निष्काम तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, उस परमेश्वरके निःश्वाससे निःसृत वेदोंके विषयमें आप विपरीत वचन क्यों कह रहे हैं ?' ॥ ११ ॥

कपिल उवाच

नाहं वेदान् विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित् ।
पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

कपिलने कहा—मैं न तो वेदोंकी निन्दा करता हूँ और न कभी उन्हें विपरीत बात बतानेवाला बताता हूँ । पृथक्-पृथक् आश्रमवालोंके जो कर्म हैं, उन सबके उद्देश्य एक ही हैं—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ १२ ॥

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥ १३ ॥

संन्यासी परमपदको प्राप्त कर सकता है, वानप्रस्थ भी वहीं जा सकता है । गृहस्थ और ब्रह्मचारी—ये दोनों भी उसी पदको प्राप्त हो सकते हैं ॥ १३ ॥

देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः ।
एषां ज्यायः कनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ॥ १४ ॥

चारों आश्रम ही देवयाननामक चार सनातन मार्ग माने गये हैं । इनमें कौन बड़ा है कौन छोटा; अतः कौन प्रबल है, कौन दुर्बल—यह उनके फलोंको निमित्त बनाकर बताया गया है ॥ १४ ॥

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम् ।
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥ १५ ॥

ऐसा जानकर समस्त कार्योंका आरम्भ करे, यह वैदिक मत है। अन्यत्र यह सिद्धान्तभूत श्रुति भी सुनी जाती है कि कर्मोंका आरम्भ ही न करे ॥ १५ ॥

अनालम्भे ह्यदोषः स्यादालम्भे दोष उत्तमः ।
एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥ १६ ॥

क्योंकि यज्ञ आदि कार्योंमें आलम्भन न करनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं होती है और आलम्भन करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है । ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंके बलाबलको जानना अत्यन्त कठिन है ॥ १६ ॥

यद्यत्र किञ्चित् प्रत्यक्षमहिंसायाः परं मतम् ।
ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद् यदि पश्यसि ॥ १७ ॥

वेदों और तदनुकूल आगमोंको छोड़कर अन्यत्र अहिंसासे भिन्न हिंसाबोधक शास्त्रका कोई फल यदि युक्तिसे भी प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला प्रतीत होता हो अथवा तुम अनुभवमें उसका साक्षात्कार कर रहे हो तो उसे स्पष्ट बताओ ॥१७॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।
फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १८ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला पुरुष यज्ञ करे' यह श्रुति सदा ही सुनी जाती है। अतः मनुष्य पहले स्वर्गरूप फलकी कल्पना (संकल्प) करके फिर यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ करता है ॥ १८ ॥

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

बकरा, घोड़ा, भेड़, गाय, पक्षी, ग्राम्य अन्न तथा जंगली अन्न आदि सारी वस्तुएँ प्राणके लिये अन्न हैं—ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १९ ॥

तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ।
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥ २० ॥

प्रतिदिन सबेरे-शाम अन्नको प्राणका भोज्य बताया गया है। पशु और धान्य—ये यज्ञके अङ्ग हैं, ऐसा श्रुति कहती है॥

एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत् ।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः ॥ २१ ॥

भगवान् प्रजापतिने यज्ञके साथ-साथ इन सबकी सृष्टि की। फिर उन प्रजापतिने ही इन यज्ञसामग्रियोंद्वारा देवताओंसे यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ २१ ॥

तदन्योन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा ।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ॥ २२ ॥

सात-सात प्रकारके जो ग्राम्य और आरण्य (जंगली) प्राणी हैं, वे सब एक-दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इन सबमें 'उत्तम' नामसे प्रसिद्ध जो सब-के-सब पुरुष या मनुष्यसंज्ञक प्राणी हैं, उन्हें भी यज्ञके लिये नियुक्त बताया गया है ॥

एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वैः पूर्वतरैस्तथा ।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान् स्वां शक्तिमात्मनः॥२३॥

पूर्ववर्ती तथा अधिक पूर्ववर्ती पुरुषोंने इन समस्त द्रव्योंको यज्ञका अङ्ग माना है, अतः कौन विद्वान् मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार कभी किसी यज्ञको अपने लिये नहीं चुनेगा ॥ २३ ॥

पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह ।
स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥ २४ ॥

पशु, मनुष्य, वृक्ष और ओषधियाँ—ये सब-के-सब स्वर्ग चाहते हैं, परंतु यज्ञको छोड़कर और किसी साधनसे वह विशाल स्वर्गलोक सुलभ नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि ।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥ २५ ॥

ओषधि (अन्न आदि), पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्यान्य हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल—ये बारह यज्ञके अङ्ग हैं ॥ २५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश ।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्तदश उच्यते ॥ २६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान—ये चार मिलकर सोलह यज्ञाङ्ग होते हैं तथा गार्हपत्य अग्निको सत्रहवाँ यज्ञाङ्ग समझना चाहिये । इस प्रकार ये सत्रह अङ्ग बताये जाते हैं ॥ २६ ॥

अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ।
आज्येन पयसा दध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा ॥ २७ ॥
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भवत्येव गौर्मखम् ।
एवं प्रत्येकशः सर्वं यद् यदस्य विधीयते ॥ २८ ॥

ये सब यज्ञके अङ्ग हैं और यज्ञ इस जगत्की स्थितिका मूल कारण है; ऐसा श्रुतिका कथन है। घी, दूध, दही, छाछ, गोबर, चमड़ा, बाल, सींग और पैर—इन सबके द्वारा गौ यज्ञकर्मका सम्पादन करती है। इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक वस्तु-का, जो-जो विहित है, संग्रह करना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

यज्ञं वहन्ति सम्भूय सहर्त्विग्भिः सदक्षिणैः ।
संहृत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥ २९ ॥

ऋत्विक् और दक्षिणाओंके साथ ये सब मिलकर यज्ञका निर्वाह करते हैं। यजमान इन सारी वस्तुओंका संग्रह करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ २९ ॥

यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।
एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥ ३० ॥

ये सारी वस्तुएँ यज्ञके लिये रची गयी हैं; यह श्रुतिका कथन यथार्थ ही है। पहलेके सभी मनुष्य इसी प्रकार यज्ञा-नुष्ठानमें प्रवृत्त होते आये हैं ॥ ३० ॥

न हिनस्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन ।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥ ३१ ॥

यज्ञका अनुष्ठान अपना कर्तव्य है—ऐसा समझकर जो फलकी इच्छा न रखते हुए यज्ञ करता है, वह न तो हिंसा करता है, न किसीसे द्रोह करता है और न अहंकारपूर्वक किसी कर्मका आरम्भ ही करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः ।
विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥ ३२ ॥

यज्ञशास्त्रमें क्रमशः वर्णित ये सम्पूर्ण यज्ञाङ्ग विधिपूर्वक यज्ञमें प्रयुक्त हो एक दूसरेको धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥ ३३ ॥

मैं ऋषियोंद्वारा कथित आम्नाय (धर्मशास्त्र) को देखता हूँ, जिसमें सारे वेद प्रतिष्ठित हैं। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाले ब्राह्मणग्रन्थके वाक्योंका उसमें दर्शन होनेसे विद्वान् पुरुष उस आर्षग्रन्थको प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च ।
अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ॥ ३४ ॥

वेदोंके ब्राह्मणभागसे यज्ञका प्राकट्य हुआ है। वह यज्ञ ब्राह्मणोंको ही अर्पित किया जाता है। यज्ञके पीछे सारा जगत् और जगत्‌के पीछे सदा यज्ञ रहता है ॥ ३४ ॥

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट् ।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥ ३५ ॥

'ॐ' यह वेदका मूल कारण है। वह ॐ तथा नमः, स्वाहा, स्वधा और वषट्—ये पद यथाशक्ति जिसके यज्ञमें प्रयुक्त होते हैं, उसीका यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होता है ॥

न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः ।
इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ३६ ॥

ऐसे मनुष्यको तीनों लोकोंमें किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता है। यह बात यहाँ सम्पूर्ण वेद तथा सिद्ध महर्षि भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि स्तोभाश्च विधिचोदिताः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥ ३७ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और विधिविहित स्तोभ[1]—ये सब जिसमें विद्यमान होते हैं, वही इस जगत्‌में द्विज कहलानेका अधिकारी है ॥ ३७ ॥

अग्न्याधेये यद् भवति यच्च सोमे सुते द्विज ।
यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद् भगवान् पुनः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मन्! अग्न्याधान, (अग्निहोत्र) तथा सोमयाग करनेसे जो फल मिलता है और अन्यान्य महायज्ञोंके अनुष्ठानसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसे आप जानते हैं ॥ ३८ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन् ।
यजतः स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥ ३९ ॥

अतः विप्रवर! प्रत्येक द्विजको चाहिये कि वह बिना किसी विचारके यज्ञ करे और करावे । जो स्वर्गदायक विधिसे यज्ञ करता है, उसे देहत्यागके पश्चात् महान् स्वर्ग-फलकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः ।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥ ४० ॥

यह निश्चय है कि जो यज्ञ नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये न तो यह लोक सुखदायक होता है और न स्वर्ग ही। जो वेदोक्त विषयोंके जानकार हैं, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंको ही प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके विषयमें स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद

कपिल उवाच

एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः ।
नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥ १ ॥

कपिलने कहा—यम-नियमोंका पालन करनेवाले संन्यासी ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। वे इस दृश्य प्रपञ्चको नश्वर समझते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें उनकी गतिका कहीं कोई अवरोध नहीं होता ॥

निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः ।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥ २ ॥

उन्हें सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व विचलित नहीं करते। वे न तो किसीको प्रणाम करते हैं और न आशीर्वाद ही देते हैं। इतना ही नहीं, वे विद्वान् पुरुष कामनाओंके बन्धनमें भी नहीं बँधते हैं। सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरते रहते हैं ॥ २ ॥

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः ।
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥ ३ ॥

वे मोक्षकी प्राप्ति और सर्वस्वके त्यागके लिये अपनी बुद्धिमें दृढ़ निश्चय रखते हैं। ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर एवं

१. सामगानके जो 'हाऽऽयि, हाऽऽवु' इत्यादि पूरक अक्षर हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममें ही निवास करते हैं ॥ ३ ॥

विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः।
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम्॥ ४ ॥

उन्हें वे सनातन लोक प्राप्त होते हैं, जहाँ शोक और दुःखका सर्वथा अभाव है तथा जहाँ रजोगुण (काम-क्रोध आदि) का दर्शन नहीं होता। उस परम गतिको पाकर उन्हें गार्हस्थ्य-आश्रममें रहने और यहाँके धर्मोंके पालन करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? ॥ ४ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः।
गृहस्थानव्यपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते॥ ५ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ज्ञान प्राप्त करके परब्रह्ममें स्थित हो जाना ही यदि पुरुषार्थकी चरम सीमा है, यदि वही उत्तम गति है, तब तो गृहस्थ-धर्मका महत्त्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि गृहस्थोंका सहारा लिये बिना कोई भी आश्रम न तो चल सकता है और न तो ज्ञानकी निष्ठा ही प्रदान कर सकता है ॥ ५ ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥ ६ ॥

जैसे समस्त प्राणी माताकी गोदका सहारा पाकर ही जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रमका आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं ॥ ६ ॥

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते॥ ७ ॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है। मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्मका आचरण करता है, उस धर्मका मूल कारण गार्हस्थ्य-आश्रम ही है ॥ ७ ॥

प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः।
प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते॥ ८ ॥

समस्त प्राणधारी जीव संतानके उत्पादन आदिसे सुखका अनुभव करते हैं, परंतु संतान गार्हस्थ्य-आश्रमके सिवा अन्यत्र किसी तरह सुलभ नहीं है ॥ ८ ॥

यास्तु स्युर्बहिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाद्रिजाः।
ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात् प्राणात् कश्चिन्न दृश्यते॥ ९ ॥

कुश-काश आदि तृण, धान-जौ आदि ओषधि, नगरके बाहर उत्पन्न होनेवाली दूसरी ओषधियाँ तथा पर्वतपर होनेवाली जो ओषधियाँ हैं, उन सबका मूल भी गार्हस्थ्य-आश्रम ही है (क्योंकि वहींके यज्ञसे पर्जन्य (मेघ) की उत्पत्ति होती है, जिससे वर्षा आदिके द्वारा तृण-लता, ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं)। प्राणस्वरूप जो ओषधियाँ हैं; उससे बाहर कोई दिखायी नहीं देता ॥ ९ ॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः॥ १० ॥
निराशैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः॥ ११ ॥

गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करनेसे मोक्ष नहीं होता है, ऐसी किसकी वाणी सत्य होगी। जो श्रद्धारहित, मूढ़ और सूक्ष्मदृष्टिसे वञ्चित हैं, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मोंसे संतप्त हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास-मार्गका आश्रय ले गृहस्थाश्रममें शान्तिका अभाव देखते हैं।१०-११।

त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा।
ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते॥ १२ ॥

वैदिक धर्मकी सनातन मर्यादा तीनों लोकोंका हित करनेवाली एवं ध्रुव है। ब्राह्मण पूजनीय है और जन्मकालसे ही उसका सबके द्वारा समादर होता है ॥ १२ ॥

प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु।
अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम्॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंमें गर्भाधानसे पहले वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है। फिर लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंमें निस्संदेह उन वेदमन्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने।
दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने॥ १४ ॥

मृतकके दाह-संस्कारमें, पुनः देह धारण करनेमें, देह धारण कर लेनेपर, मृत व्यक्तिकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण और श्राद्ध करनेमें, वैतरणीके निमित्त गौओं अथवा अन्य पशुओंका दान करनेमें तथा श्राद्धकर्ममें दिये हुए पिण्डोंका जलके भीतर विसर्जन करनेमें भी वैदिक मन्त्रोंका उपयोग होता है—इन सब कार्योंके मूल वेद-मन्त्र हैं ॥ १४ ॥

अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः क्रव्यादाः पितरस्तथा।
मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रान् मन्त्राश्च कारणम्॥ १५ ॥

अर्चिष्मत्, बर्हिषद् तथा क्रव्यवाह संज्ञक पितर भी मृत व्यक्तिके (सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता) के लिये मन्त्र-पाठकी अनुमति देते हैं। मन्त्र ही सब धर्मोंके कारण हैं ॥

एवं क्रोशत्सु वेदेषु कुतो मोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु॥ १६ ॥

वे ही वेद-मन्त्र जब पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य देवताओं, पितरों और ऋषियोंके जन्मसे ही ऋणी होते हैं, तब गृहस्थाश्रममें रहकर उन ऋणोंको चुकाये बिना किसीका भी मोक्ष कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम्॥ १७ ॥

श्रीहीन और आलसी पण्डितोंने कर्मोंके त्यागसे मोक्ष मिलता है—ऐसा मत चलाया है। यह सुननेमें सत्य-सा आभासित होता है, परंतु है मिथ्या। इस मार्गमें किसीको वेदके सिद्धान्तोंका तनिक भी ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥

न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा
यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः।
ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति
संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके अनुसार यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसपर पापोंका आक्रमण नहीं हो सकता और न पाप उसे अपनी ओर खींच ही सकते हैं। वह अपने किये हुए यज्ञों और उनमें उपयोगी पशुओंके साथ ऊपरके पुण्यलोकोंमें जाता है और स्वयं सब प्रकारके भोगोंसे तृप्त होकर दूसरोंको भी तृप्त करता है ॥ १८ ॥

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत् प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥ १९ ॥

वेदोंका अनादर करनेसे, शठतासे तथा छल-कपटसे कोई भी मनुष्य परब्रह्म परमात्माको नहीं पाता है। वेदों तथा उनमें बताये हुए कर्मोंका आश्रय लेनेपर ही उसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कपिल उवाच

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

कपिलजीने कहा—बुद्धिमान् पुरुषके लिये दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदिके अनुष्ठानका विधान है; क्योंकि उनमें सनातनधर्मकी स्थिति है ॥ २० ॥

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥ २१ ॥

परंतु जो संन्यास धर्म स्वीकार करके कर्मानुष्ठानसे निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र एवं ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्मको चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञानसे ही देवताओंको तृप्त करते हैं ॥ २१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २२ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मारूपसे स्थित हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मभावसे ही देखते हैं, जिनका कोई विशेष पद नहीं है, उन ज्ञानी पुरुषका पदचिह्न ढूँढ़नेवाले—उनकी गतिका पता लगानेवाले देवता भी मार्गमें मोहित हो जाते हैं ॥

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥ २३ ॥

मनुष्योंके हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होनेकी इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्योंके अनुसार इन चारों द्वारोंके संयमसे प्राप्य ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखोंसे युक्त परमपुरुषको भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायोंसे प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमां-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरोंका धन न ले, नीच पुरुषका बनाया हुआ अन्न न ग्रहण करे और क्रोधमें आकर किसीको मार न बैठे—ऐसा करनेसे उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं ॥ २४ ॥

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥ २५ ॥

किसीको गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरोंकी चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले तथा इसके लिये सदा सावधान रहे—ऐसा करनेसे वाक् इन्द्रियरूप द्वारकी रक्षा होती है ॥ २५ ॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥ २६ ॥

उपवास न करे, किंतु बहुत अधिक भी न खाय, सदा भोजनके लिये लालायित न रहे। सज्जनोंका सङ्ग करे और जीवननिर्वाहके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेटमें डाले—इससे उदरद्वारका संरक्षण होता है ॥ २६ ॥

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चापि नारीमनृतावाह्वयीत।
भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
तथास्योपस्थद्वारगुप्तिर्भवेत ॥ २७ ॥

वीर युधिष्ठिर! अपनी धर्मपत्नीके साथ ही विहार करे, परायी स्त्रीके साथ नहीं, अपनी स्त्रीको भी जबतक वह ऋतुस्नाता न हुई हो, समागमके लिये अपने पास न बुलाये और मनमें एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करनेसे उसके उपस्थ-द्वारकी रक्षा हो सकती है ॥ २७ ॥

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥ २८ ॥

जिस मनीषी पुरुषके उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तवमें ब्राह्मण है ॥

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥ २९ ॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ-कर्म निष्फल होते हैं, ऐसे मनुष्यको तपस्या, यज्ञ तथा आत्मचिन्तन-से क्या लाभ हो सकता है ? ॥ २९ ॥

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३० ॥

जिसके पास वस्त्रके नामपर एक लंगोटी मात्र है, ओढ़नेके लिये एक चादरतक नहीं है, जो बिना बिछौनेके ही सोता है, बाँहोंका ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है, उसीको देवता ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३० ॥

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३१ ॥

जो मुनि शीत-उष्ण आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वरूपी उपवनोंमें अकेला ही आनन्दपूर्वक रहता है और दूसरोंका चिन्तन नहीं करता, उसे देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समझते हैं ॥

येन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या।
गतिज्ञः सर्वभूतानां तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३२ ॥

जिसको इस सम्पूर्ण जगत्‌की नश्वरताका ज्ञान है, जो प्रकृति और उसके विकारोंसे परिचित है तथा जिसे सम्पूर्ण भूतोंकी गतिका ज्ञान है, उसे देवतालोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय है, जिससे समस्त प्राणी भय नहीं मानते हैं तथा जो सब भूतोंका आत्मा है, उसीको देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३३ ॥

नान्तरेणानुजानन्ति दानयज्ञक्रियाफलम्।
अविज्ञाय च तत् सर्वमन्यद् रोचयते फलम् ॥ ३४ ॥

परंतु मूढ़ मानव दान और यज्ञ-कर्मके फलके सिवा योग आदिके फलका अनुमोदन नहीं करते । वे उन मोक्षप्रद समस्त साधनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण स्वर्ग आदि अन्य फलोंमें ही रुचि रखते हैं ॥ ३४ ॥

स्वकर्मभिः संश्रितानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचारमाश्रित्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

किंतु उस पुराण, शाश्वत एवं ध्रुव यौगिक सदाचारका आश्रय लेकर अपने कर्तव्य कर्मोंमें परायण रहनेवाले ज्ञानियों-का तप उत्तरोत्तर तीव्रताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

अशक्नुवन्तश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूत्रितम्।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य योगशास्त्रके सूत्रोंमें कथित यम-नियमादिका अनुष्ठान नहीं कर सकते । वह यौगिक आचार आपत्तिशून्य, प्रमादरहित है । वह कामादिसे पराभवको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

फलवन्ति च कर्माणि व्युष्टिमन्ति ध्रुवाणि च।
विगुणानि च पश्यन्ति तथानैकान्तिकानि च ॥ ३७ ॥

योगशास्त्रमें कथित कर्म श्रेष्ठ फल देनेवाले, उन्नति करनेवाले एवं स्थायी हैं; तो भी प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य उनको गुणरहित (निष्फल) और अस्थिर समझते हैं ॥ ३७ ॥

गुणाश्चात्र सुदुर्ज्ञेया ज्ञाताश्चात्र सुदुष्कराः।
अनुष्ठिताश्चान्तवन्त इति त्वमनुपश्यसि ॥ ३८ ॥

गुणोंके कार्यभूत जो यज्ञ-यागादि हैं, उनके स्वरूप और विधि-विधानको समझना बहुत कठिन है । समझ लेनेपर भी उनका अनुष्ठान करना तो और भी कठिन है । यदि अनुष्ठान भी किया जाय तो भी उनसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है । इन सब बातोंको तुम भी देखते और समझते हो ॥ ३८ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यथा च वेदप्रामाण्यं त्यागश्च सफलो यथा।
तौ पन्थानावुभौ व्यक्तौ भगवंस्तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—भगवन् ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो' ये जो परस्परविरुद्ध दो स्पष्ट मार्ग हैं, इनका उपदेश करनेवाले वेदकी प्रामाणिकताका निर्वाह कैसे हो ? तथा त्याग कैसे सफल होता है ? यह आप मुझको बताइये ॥ ३९ ॥

कपिल उवाच

प्रत्यक्षमिह पश्यन्ति भवन्तः सत्पथे स्थिताः।
प्रत्यक्षं तु किमत्रास्ति यद् भवन्त उपासते ॥ ४० ॥

कपिलने कहा—आपलोग सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं; परंतु कर्ममार्गमें रहकर आपलोग जिस यज्ञकी उपासना करते हैं, उससे यहाँ कौन-सा प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है ? ॥ ४० ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्यूमरश्मिरहं ब्रह्मन् जिज्ञासार्थमिहागतः।
श्रेयस्कामः प्रत्यवोचमार्जवान्न विवक्षया ॥ ४१ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन् ! मेरा नाम स्यूमरश्मि है । मैं ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे यहाँ आया हूँ । मैंने कल्याण-की इच्छा रखकर सरल भावसे ही अपनी बातें आपकी सेवामें उपस्थित की हैं, वाद-विवादकी इच्छासे नहीं ॥ ४१ ॥

इमं च संशयं घोरं भगवान् प्रब्रवीतु मे।
प्रत्यक्षमिह पश्यन्तो भवन्तः सत्पथे स्थिताः।
किमत्र प्रत्यक्षतमं भवन्तो यदुपासते ॥ ४२ ॥
अन्यत्र तर्कशास्त्रेभ्य आगमार्थं यथागमम्।

मेरे मनमें एक भयानक संशय उठ खड़ा हुआ है, इसे आप ही मिटा सकते हैं । आपने कहा था कि तुम सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते

हो। मैं पूछता हूँ कि आप जिसकी उपासना करते हैं, यहाँ उसका अत्यन्त प्रत्यक्ष फल क्या है ? आप उसका तर्कका सहारा न लेकर प्रतिपादन कीजिये, जिससे मैं आगमके अर्थको जान सकूँ ॥ ४२½ ॥

आगमो वेदवादास्तु तर्कशास्त्राणि चागमः ॥ ४३ ॥

वेदमतका अनुसरण करनेवाले शास्त्र तो आगम हैं ही, तर्कशास्त्र (वेदोंके अर्थका निर्णय करनेवाले पूर्वोत्तर मीमांसा आदि) भी आगम हैं ॥ ४३ ॥

यथाश्रममुपासीत आगमस्तत्र सिध्यति ।
सिद्धिः प्रत्यक्षरूपा च दृश्यत्यागमनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

जिस-जिस आश्रममें जो-जो धर्म विहित है, वहाँ-वहाँ उसी-उसी धर्मकी उपासना करनी चाहिये। उस-उस स्थानपर उसी-उसी धर्मका आचरण करनेसे वहाँ आगम सफल होता है। एवं शास्त्रके निश्चयसे ही सिद्धिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४४ ॥

नौर्नावीव निबद्धा हि स्रोतसा सनिबन्धना ।
ह्रियमाणा कथं विप्र कुबुद्धींस्तारयिष्यति ।
एतद् ब्रवीतु भगवानुपपन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ४५ ॥

जैसे एक जगह जानेवाली नावमें दूसरी जगह जानेवाली नाव बाँध दी जाय तो वह जलके स्रोतसे अपहृत हो किसीको गन्तव्य स्थानतक नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मोंकी वासनासे बँधी हुई हमारी कर्ममयी नौका हम कुबुद्धि पुरुषोंको कैसे भवसागरसे पार उतारेगी ? भगवन् ! यह आप मुझे बताइये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ ४५ ॥

नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः ।
न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन ॥ ४६ ॥

वास्तवमें इस जगत्के भीतर न कोई त्यागी है न संतुष्ट, न शोकहीन है न नीरोग। न तो कोई पुरुष कर्म करनेकी इच्छासे सर्वथा शून्य है, न आसक्तिसे रहित है और न सर्वथा कर्मका त्यागी ही है ॥ ४६ ॥

भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ४७ ॥

आप भी हमलोगोंकी ही भाँति हर्ष और शोक प्रकट करते हैं। समस्त प्राणियोंके समान आपके समक्ष भी शब्द, स्पर्श आदि विषय उपस्थित और गृहीत होते हैं ॥ ४७ ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।
एकमालम्बमानानां निर्णये किं निरामयम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग सभी प्रवृत्तियोंमें एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसीको अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, अतः सिद्धान्ततः अक्षय सुख क्या है, यह बताइये ॥ ४८ ॥

कपिल उवाच

यद् यदाचरते शास्त्रमर्थ्यं सर्वप्रवृत्तिषु ।
यस्य यत्र ह्यनुष्ठानं तत्र तत्र निरामयम् ॥ ४९ ॥

कपिलने कहा—जो-जो शास्त्र जिस-जिस अर्थका आचरण—प्रतिपादन करता है, वह-वह सभी प्रवृत्तियोंमें सफल होता है। जिस साधनका जहाँ अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते ।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥ ५० ॥

जो ज्ञानका अनुसरण करता है, ज्ञान उसके समस्त संसारबन्धनका नाश कर देता है। बिना ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रजाको जन्म और मरणके चक्करमें डालकर उसका विनाश कर देती है ॥ ५० ॥

भवन्तो ज्ञानिनो व्यक्तं सर्वतश्च निरामयाः ।
ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचिदुपपद्यते ॥ ५१ ॥

आपलोग ज्ञानी हैं, यह बात सर्वविदित है। आप सब ओरसे नीरोग भी हैं; परंतु क्या आपलोगोंमेंसे कोई भी किसी भी कालमें एकात्मताको प्राप्त हुआ है ? (जब एकमात्र अद्वितीय आत्मा अर्थात् ब्रह्मकी ही सत्ताका सर्वत्र बोध होने लगे, तब उसे एकात्मताका ज्ञान कहते हैं) ॥ ५१ ॥

शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः ।
कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः ॥ ५२ ॥

शास्त्रको यथार्थरूपसे न जानकर कुछ लोग वितण्डावादके ही बलसे राग-द्वेषसे अभिभूत होनेके कारण अहंकारके अधीन हो गये हैं ॥ ५२ ॥

याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः ।
ब्रह्मस्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः ॥ ५३ ॥

वे शास्त्रोंके यथार्थ तात्पर्यको न जाननेके कारण शास्त्रदस्यु (शास्त्रोंके अर्थपर डाका डालनेवाले लुटेरे) कहे जाते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्मका भी अपलाप करनेके कारण ब्रह्मचोरकी पदवीसे विभूषित होते हैं। शम-दम आदि साधनोंका कभी अनुष्ठान नहीं करते हैं तथा दम्भ और मोहके वशमें पड़े रहते हैं ॥ ५३ ॥

नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते ।
तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम् ॥ ५४ ॥

वे शम-दम आदि साधनोंको सदा निष्फल ही देखते और समझते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सद्गुणोंकी जिज्ञासा नहीं करते हैं। उन तमोमय शरीरवाले पुरुषोंका तमोगुण ही सबसे बड़ा अवलम्ब है ॥ ५४ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः प्रकृतेः स्याद् वशानुगः ।
तस्य द्वेषश्च कामश्च क्रोधो दम्भोऽनृतं मदः ।
नित्यमेवाभिवर्तन्ते गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥ ५५ ॥

जिस प्राणीकी जैसी प्रकृति होती है, उस प्रकृतिके वह अधीन होता है । उसके भीतर द्वेष, काम, क्रोध, दम्भ, असत्य और मद—ये प्रकृतिजनित गुण सदा ही विद्यमान रहते हैं ॥ ५५ ॥

एवं ध्यात्वानुपश्यन्तः संत्यजेयुः शुभाशुभम् ।
परां गतिमभीप्सन्तो यतयः संयमे रताः ॥ ५६ ॥

परम गति प्राप्त करनेकी इच्छावाले संयमशील यति इस प्रकार सोच-विचारकर शुभ और अशुभ दोनोंका परित्याग कर देते हैं ॥ ५६ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

सर्वमेतन्मया ब्रह्मन् शास्त्रतः परिकीर्तितम् ।
न ह्यविज्ञाय शास्त्रार्थं प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ५७ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सब शास्त्रसे प्रतिपादित है; क्योंकि शास्त्रके अर्थको जाने बिना किसीकी किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती ।५७।

यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः ।
यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ॥ ५८ ॥

जो कोई भी न्यायोचित आचार है, वह सब शास्त्र है, ऐसा श्रुतिका कथन है । जो अन्यायपूर्ण बर्ताव है, वह अशास्त्रीय है, ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ५८ ॥

न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः ।
यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके बिना अर्थात् शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कोई प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती, यह विद्वानोंका निश्चय है । जो वैदिक वचनोंके विरुद्ध है, वह सब अशास्त्रीय है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ५९ ॥

शास्त्रादपेतं पश्यन्ति बहवो व्यक्तमानिनः ।
शास्त्रदोषान् न पश्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
इन्द्रियार्थांश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ६० ॥

बहुत-से मनुष्य प्रत्यक्षको ही माननेवाले हैं । वे शास्त्रसे पृथक् इहलोकपर ही दृष्टि रखते हैं । शास्त्रोक्त दोषोंको नहीं देखते हैं और जैसे हमलोग शोक करते हैं वैसे ही वे भी अवैदिकमतका आश्रय लेकर शोक किया करते हैं । आप-जैसे ज्ञानियोंको भी सब जन्तुओंके समान ही इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव होता है ॥ ६० ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।
एकमालम्बमानानां निर्णये सर्वतोदिशम् ॥ ६१ ॥
आनन्त्यं वदमानेन शक्तेनावजितात्मना ।
अविज्ञानहतप्रज्ञा हीनप्रज्ञास्तमोवृताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंकी जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें लगे हुए मनुष्य एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसे ही प्राप्त करना चाहते हैं । उनमेंसे हम-जैसे लोग अज्ञानसे हतबुद्धि, तुच्छ विषयोंमें मन लगानेवाले तथा तमोगुणसे आवृत हैं । आप ऊहापोह करनेमें समर्थ—कुशल हैं, अतः सार्वदेशिक सिद्धान्तके रूपमें मोक्षसुखकी अनन्तता बताकर आपने मनसे हमें शान्ति पहुँचायी है ॥ ६१-६२ ॥

शक्यं त्वेकेन युक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः ।
पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य चरितुं विजितात्मना ॥ ६३ ॥
वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम् ।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा ॥ ६४ ॥

जो आपके समान एकाकी, योगयुक्त, कृतकृत्य और मनपर विजय पानेवाला है तथा जो केवल शरीरका अथवा उसकी रक्षाके लिये स्वल्प भिक्षान्नमात्रका सहारा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण कर सकता है, जिसने न्यायशास्त्रका परित्याग कर दिया है तथा जो सम्पूर्ण संसारको नाशवान् होनेके कारण गर्हित समझता है, ऐसा पुरुष ही वेद-वाक्योंका आश्रय लेकर 'मोक्ष है' यह साधिकार कह सकता है ।६३-६४।

इदं तु दुष्करं कर्म कुटुम्बमभिसंश्रितम् ।
दानमध्ययनं यज्ञः प्रजासंतानमार्जवम् ॥ ६५ ॥

गृहस्थाश्रमके अनुसार जो यह कुटुम्बके भरण-पोषणसे सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है तथा दान, स्वाध्याय, यज्ञ, संतानोत्पादन एवं सदा सरल और कोमल भावसे बर्ताव करना रूप जो कर्म है, यह सब मनुष्यके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥ ६५ ॥

यद्येतदेवं कृत्वापि न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित् ।
धिक् कर्तारं च कार्यं च श्रमश्चायं निरर्थकः ॥ ६६ ॥

यदि यह सब दुष्कर कर्म करके भी किसीको मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ तो कर्ताको धिक्कार है । उसके उस कार्यको धिक्कार है । और इसमें जो परिश्रम हुआ, वह व्यर्थ हो गया ॥६६॥

नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया ।
एतस्यानन्त्यमिच्छामि भगवञ्श्रोतुमञ्जसा ॥ ६७ ॥

यदि कर्मकाण्डको व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाय तो यह नास्तिकता और वेदोंकी अवहेलना होगी; अतः भगवन् ! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि कर्मकाण्ड किस प्रकार सुगमतापूर्वक मोक्षका साधक होगा ॥ ६७ ॥

तत्त्वं वदस्व मे ब्रह्मन्नुपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ।
यथा ते विदितो मोक्षस्तथेच्छाम्युपशिक्षितुम् ॥ ६८ ॥

ब्रह्मन् ! आप मुझे तत्त्वकी बात बताइये । मैं शिष्य-भावसे आपकी शरणमें आया हूँ । गुरुदेव ! मुझे उपदेश कीजिये । आपको मोक्षके स्वरूपका जैसा ज्ञान है, वैसा ही मैं भी सीखना और जानना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद—चारों आश्रमोंमें उत्तम साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका कथन

कपिल उवाच

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ १॥

कपिलने कहा—स्यूमरश्मे ! सम्पूर्ण लोकोंके लिये वेद ही प्रमाण हैं। अतः वेदोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। ब्रह्मके दो रूप समझने चाहिये—शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)॥ १॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरुते तनुम्॥ २॥
कृतशुद्धशरीरो हि पात्रं भवति ब्राह्मणः।
आनन्त्यमत्र बुद्ध्येदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ते॥ ३॥

जो पुरुष शब्दब्रह्ममें पारंगत (वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठान-से शुद्धचित्त हो चुका) है, वह परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। पिता और माता वेदोक्त गर्भाधानकी विधिसे बालकके जिस शरीरको जन्म देते हैं, वे उस बालकके उस शरीरका ही संस्कार करते हैं। इस प्रकार जिसका शरीर वैदिक संस्कारसे शुद्ध हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानका पात्र होता है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्म किस प्रकार अक्षय मोक्ष-सुखकी प्राप्ति करानेमें कारण होते हैं। २-३।

अनागममनैतिह्यं प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम्।
धर्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वन्ति निराशिषः॥ ४॥

जो अपना धर्म (कर्तव्य) समझकर बिना किसी प्रकारकी भोगेच्छाके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके उस यज्ञका फल वेद या इतिहासद्वारा नहीं जाना जाता है। वह प्रत्यक्ष है और उसे सब लोग अपनी आँखों देखते हैं॥ ४॥

उत्पन्नत्यागिनोऽलुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः।
धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम्॥ ५॥
अनाश्रिताः पापकर्म कदाचित् कर्मयोगिनः।
मनःसंकल्पसंसिद्धा विशुद्धज्ञाननिश्चयाः॥ ६॥

जो प्राप्त हुए पदार्थोंका त्याग सब प्रकारके लालचको छोड़कर करते हैं, जो कृपणता और असूयासे रहित हैं और 'धनके उपयोगका यही सर्वोत्तम मार्ग है' ऐसा समझकर सत्पात्रोंको दान करते हैं, कभी पापकर्मका आश्रय नहीं लेते तथा सदा कर्मयोगके साधनमें ही लगे रहते हैं, उनके मान-सिक संकल्पकी सिद्धि होने लगती है और उन्हें विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप परब्रह्मके विषयमें दृढ़ निश्चय हो जाता है॥ ५-६॥

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ज्ञाननिष्ठास्त्रिशुक्लाश्च सर्वभूतहिते रताः॥ ७॥

वे किसीपर क्रोध नहीं करते, कहीं दोषदृष्टि नहीं रखते, अहंकार तथा मात्सर्यसे दूर रहते हैं, ज्ञानके साधनोंमें उनकी निष्ठा होती है, उनके जन्म, कर्म और विद्या—तीनों ही शुद्ध होते हैं तथा वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥ ७॥

आसन् गृहस्था भूयिष्ठा अव्युत्क्रान्ताः स्वकर्मसु।
राजानश्च तथा युक्ता ब्राह्मणाश्च यथाविधि॥ ८॥

पूर्वकालमें बहुत-से ब्राह्मण और राजा ऐसे हो गये हैं, जो गृहस्थ आश्रममें ही रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका त्याग न करके उनमें निष्काम भावसे विधिपूर्वक लगे रहे॥

समा ह्यार्जवसम्पन्नाः संतुष्टा ज्ञाननिश्चयाः।
प्रत्यक्षधर्माः शुचयः श्रद्दधानाः परावरे॥ ९॥

वे सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखते थे। सरल, संतुष्ट, ज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्ष फल देनेवाले धर्मके अनुष्ठाता और शुद्धचित्त होते थे तथा शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म—दोनोंमें ही श्रद्धा रखते थे॥ ९॥

पुरस्ताद् भावितात्मानो यथावच्चरितव्रताः।
चरन्ति धर्मं कृच्छ्रेऽपि दुर्गे चैवापि संहताः॥ १०॥
संहत्य धर्मं चरतां पुराऽऽसीत् सुखमेव तत्।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कथंचन॥ ११॥

वे आवश्यक नियमोंका यथावत् पालन करके पहले अपने चित्तको शुद्ध करते थे और कठिनाई तथा दुर्गम स्थानोंमें पड़ जानेपर भी परस्पर मिलकर धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहते थे। संघ-बद्ध होकर धर्मानुष्ठान करनेवाले उन पूर्ववर्ती पुरुषोंको इसमें सुखका ही अनुभव होता था। उन्हें किसी प्रकारका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी॥ १०-११॥

सत्यं हि धर्ममास्थाय दुराधर्षतमा मताः।
न मात्रामनुरुध्यन्ते न धर्मच्छलमन्ततः॥ १२॥

वे सत्यधर्मका आश्रय लेकर ही अत्यन्त दुर्धर्ष माने जाते थे। लेशमात्र भी पाप नहीं करते थे और प्राणान्तका अवसर उपस्थित होनेपर भी धर्मके विषयमें छलसे काम नहीं लेते थे॥ १२॥

य एव प्रथमः कल्पस्तमेवाभ्याचरन् सह।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कदाचन॥ १३॥

जो प्रथम श्रेणीका धर्म माना जाता था, उसीका वे सब लोग साथ रहकर आचरण करते थे, अतः उनके सामने कभी प्रायश्चित्त करनेका अवसर नहीं आता था॥ १३॥

तस्मिन् विधौ स्थितानां हि प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दुर्बलात्मन उत्पन्नं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥ १४॥

धर्मकी उस उत्तम श्रेणीमें स्थित हुए उन शुद्धचित्त

पुरुषोंके लिये प्रायश्चित्त हैं ही नहीं। जिनका हृदय दुर्बल है, उन्हींसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया गया है—ऐसा सुननेमें आता है ॥ १४ ॥

एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से ब्राह्मण पूर्वकालमें यज्ञका निर्वाह करते थे। वे वेदविद्याके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े, पवित्र, सदाचारी और यशस्वी थे॥ १५ ॥

यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः।
तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥ १६ ॥

वे विद्वान् पुरुष प्रतिदिन कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हो यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करते थे। उनके वे यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्यान्य कर्म शास्त्रविधिके अनुसार सम्पन्न होते थे ॥ १६ ॥

आगमाश्च यथाकाले संकल्पाश्च यथाक्रमम्।
अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १७ ॥

उन्होंने काम और क्रोधको त्याग दिया था। उनके आचार-कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लाने अत्यन्त कठिन थे। उनके हृदयमें यथासमय शास्त्र-ज्ञान और सत्संकल्पका क्रमशः उदय होता था ॥ १७ ॥

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम्।
ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम् ॥ १८ ॥

अपने उत्तम कर्मोंके कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। वे स्वभावसे ही पवित्रचित्त, सरल, शान्तिपरायण और स्वधर्मनिष्ठ होते थे ॥ १८ ॥

सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १९ ॥

उनके हृदय बड़े उदार थे, उनके आचार और कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लानेमें अत्यन्त कठिन थे, अतः उनका सारा शुभ कर्म ही अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाला था। यह बात सदा हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९ ॥

स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपने-अपने कर्मोंसे ही परिपुष्ट थे। उनकी तपस्या घोर रूप धारण कर चुकी थी। वे आश्चर्यजनक 'सदाचार-का पालन करते थे और उसका उन्हें पुरातन, शाश्वत एवं अविनाशी ब्रह्मरूप फल प्राप्त होता था ॥ २० ॥

अशक्नुवद्भिश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूक्ष्मताम्।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ २१ ॥

धर्मोंमें जो किंचित् सूक्ष्मता है, उसका आचरण करनेमें कितने ही लोग असमर्थ हो जाते हैं। वास्तवमें वेदोक्त आचार और धर्म आपत्तिसे रहित है। उसमें न तो प्रमाद है और न पराभव ही है ॥ २१ ॥

सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद् व्यतिक्रमः।
व्यस्तमेकं चतुर्धा हि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥ २२ ॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंकी उत्पत्ति हो जानेपर आश्रमके विषयमें कोई वैषम्य नहीं था। तदनन्तर एक ही आश्रमको अवस्था-भेदसे चार भागोंमें विभक्त किया गया। इस बातको सभी ब्राह्मण जानते रहे ॥ २२ ॥

तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम्।
गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥ २३ ॥
गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः।
त एते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः ॥ २४ ॥
नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः।
आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम् ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष विधिपूर्वक उन सब आश्रमोंमें प्रवेश करके उनके धर्मका पालन करते हुए परमगतिको प्राप्त होते हैं। उनमेंसे कुछ लोग तो घरसे निकलकर (अर्थात् संन्यासी होकर), कुछ लोग वानप्रस्थका आश्रय लेकर, कुछ मानव गृहस्थ ही रहकर और कोई ब्रह्मचर्य आश्रमका सेवन करते हुए ही उस आश्रमधर्मका पालन करके परमपदको प्राप्त होते हैं। उस समय वे ही द्विजगण आकाशमें ज्योतिर्मयरूपसे दिखायी देते हैं, जो कि नक्षत्रोंके समान ही आकाशके विभिन्न स्थानोंमें अनेक तारागण हैं—इन सबने संतोषके द्वारा ही यह अनन्त पद प्राप्त किया है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है ॥ २३—२५ ॥

यद्यागच्छन्ति संसारं पुनर्योनिषु तादृशाः।
न लिप्यन्ते पापकृत्यैः कदाचित् कर्मयोनितः ॥ २६ ॥

ऐसे पुण्यात्मा पुरुष यदि कभी पुनः संसारकी कर्माधिकार युक्त योनियोंमें आते या जन्म ग्रहण करते हैं तो वे उस योनिके सम्बन्धसे पापकर्मोंद्वारा लिप्त नहीं होते हैं ॥ २६ ॥

एवमेव ब्रह्मचारी शुश्रूषुर्घोरनिश्चयः।
एवं युक्तो ब्राह्मणः स्यादन्यो ब्राह्मणको भवेत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेवाला, ब्रह्मचर्य-परायण, दृढ़ निश्चयवाला तथा योगयुक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है। उससे भिन्न अन्य प्रकार-का ब्राह्मण निम्न कोटिका अथवा नाममात्रका ब्राह्मण समझा जाता है ॥ २७ ॥

कर्मैवं पुरुषस्याह शुभं वा यदि वाशुभम्।
एवं पक्वकषायाणामानन्त्येन श्रुतेन च ॥ २८ ॥
सर्वमानन्त्यमासीद् वै एवं नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामपेततृष्णानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म ही पुरुषका तदनुरूप नाम नियत करता है। जिनके राग-द्वेष आदि कषाय पक गये हैं, जिनके मनसे तृष्णा निकल गयी है, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध हैं तथा जिनकी बुद्धि कल्याणस्वरूप मोक्षमें

लगी हुई है, उन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें अनन्त ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञानके प्रभावसे सब कुछ ब्रह्मस्वरूप हो गया था; यह बात सदा ही हमारे सुननेमें आयी है ॥ २८-२९ ॥

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः ।
संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥ ३० ॥

तुरीय ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जो उपनिषद्-विद्या है, उसकी प्राप्ति करानेवाले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानरूप जो धर्म हैं, वह सभी वर्ण और आश्रमके लोगोंके लिये साधारण हैं—ऐसा स्मृतिका कथन है। परंतु जो संयतचित्त और तपःसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं, वे ही सदा उस धर्मका साधन कर पाते हैं ॥ ३० ॥

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥

संतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानका आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्ष-दायिनी बुद्धि—ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति नित्य आवश्यक है, वह संन्यास-आश्रमरूप धर्म सनातन है ॥ ३१ ॥

साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते ।
गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।
ब्रह्मणः पदमन्विच्छन् संसारान्मुच्यते शुचिः ॥ ३२ ॥

यह यतिधर्म अन्य आश्रमके धर्मोंसे मिला हुआ हो या स्वतन्त्र हो, जो अपने वैराग्य-बलके अनुसार इसका आश्रय लेते हैं, वे कल्याणके भागी होते हैं। इस मार्गसे जानेवाले सभी पथिकोंका परम कल्याण होता है; परंतु जो दुर्बल है—मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण जो इसके साधनमें असमर्थ है, वही यहाँ शिथिल होकर बैठ रहता है। जो बाहर और भीतरसे पवित्र है, वह ब्रह्मपदका अनुसंधान करता हुआ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

ये भुञ्जते ये ददते यजन्तेऽधीयते च ये ।
मात्राभिरुपलब्धाभिर्ये वा त्यागं समाश्रिताः ॥ ३३ ॥
एतेषां प्रेत्यभावे तु कतमः स्वर्गजित्तमः ।
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मन् यथातत्त्वेन पृच्छतः ॥ ३४ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—ब्रह्मन्! जो लोग प्राप्त हुए धनके द्वारा केवल भोग भोगते हैं, जो दान करते हैं, जो उस धनको यज्ञमें लगाते हैं, जो स्वाध्याय करते हैं अथवा जो त्यागका आश्रय लेते हैं, इनमेंसे कौन पुरुष मृत्युके पश्चात् प्रधान-रूपसे स्वर्गलोकपर विजय पाता है? मैं जिज्ञासुभावसे पूछ रहा हूँ; आप मुझे यह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३३-३४ ॥

कपिल उवाच

परिग्रहाः शुभाः सर्वे गुणतोऽभ्युदयाश्च ये ।
न तु त्यागसुखं प्राप्ता एतत् त्वमपि पश्यसि ॥ ३५ ॥

कपिलजीने कहा—जिनका सात्त्विक गुणसे प्राकट्य हुआ है, ऐसे सभी परिग्रह शुभ हैं; परंतु त्यागमें जो सुख है, उसे इनमेंसे कोई भी नहीं पा सके हैं। इस बातको तुम भी देखते ही हो ॥ ३५ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

भवन्तो ज्ञाननिष्ठा वै गृहस्थाः कर्मनिश्चयाः ।
आश्रमाणां च सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते ॥ ३६ ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते ।
तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३७ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—भगवन्! आप तो ज्ञाननिष्ठ हैं और गृहस्थलोग कर्मनिष्ठ होते हैं; परंतु आप इस समय निष्ठामें सभी आश्रमोंकी एकताका प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्मकी एकता और पृथक्ता—दोनों-का भ्रम होनेसे इनका ठीक-ठीक अन्तर समझमें नहीं आता है। इसलिये आप मुझे उसे यथोचित एवं यथार्थरीतिसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३६-३७ ॥

कपिल उवाच

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥ ३८ ॥

कपिलजीने कहा—कर्म स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी शुद्धि करनेवाले हैं, किंतु ज्ञान परम गतिरूप है। जब कर्मों-द्वारा चित्तके रागादि दोष जल जाते हैं, तब मनुष्य रस-स्वरूप ज्ञानमें स्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ॥ ३९ ॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ।
तद् विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम् ॥ ४० ॥

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

यां विप्राः सर्वतः शान्ता विशुद्धा ज्ञाननिश्चयाः ।
गतिं गच्छन्ति संतुष्टास्तामाहुः परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

सब ओरसे शान्त, संतुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञाननिष्ठ विप्र जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसीको परमगति कहते हैं ॥

वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।
एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥ ४२ ॥

जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्मको ठीक-ठीक जानता है, उसीको वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, वे मुँहसे वेद नहीं पढ़ते, धौंकनीके समान केवल हवा छोड़ते हैं ॥ ४२ ॥

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥ ४३ ॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयोंको जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेदमें बतायी गयी है ॥ ४३ ॥

एषैव निष्ठा सर्वत्र यत् तदस्ति च नास्ति च।
एतदन्तं च मध्यं च सच्चासच्च विजानतः ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंकी एकमात्र निष्ठा यही है कि जो-जो दृश्य पदार्थ है वह प्रतीतिकालमें तो विद्यमान है, परंतु परमार्थ ज्ञानकी स्थितिमें बाधित हो जानेपर वह नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें सदसत् स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्‌का आदि, मध्य और अन्त है ॥ ४४ ॥

समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम्।
संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

सब कुछ त्याग देनेपर ही उस ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही बात सम्पूर्ण वेदोंमें निश्चित की गयी है। वह अपने आनन्दस्वरूपसे सबमें अनुगत तथा अपवर्ग (मोक्ष) में प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं
सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च।
सर्वं सुखं यच्छिवमुत्तरं च
ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च ॥ ४६ ॥

अतः वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सबका आत्मा, स्थावर-जङ्गमरूप, सम्पूर्ण सुखरूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सबकी उत्पत्तिका कारण और अविनाशी है ॥ ४६ ॥

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं
तथाविधं व्योम सनातनं ध्रुवम्।
एतैः सर्वैर्गम्यते बुद्धिनेत्रै-
स्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय ॥ ४७ ॥

उस आकाशके समान असङ्ग, अविनाशी और सदा एकरस तत्त्वका ज्ञान-नेत्रोंवाले सभी पुरुष तेज, क्षमा और शान्तिरूप शुभ साधनोंके द्वारा साक्षात्कार करते हैं। जो वास्तवमें ब्रह्मवेत्तासे अभिन्न है, उस परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धन और काम-भोगोंकी अपेक्षा धर्म और तपस्याका उत्कर्ष सूचित करनेवाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत।
कस्य लाभो विशिष्टोऽत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन पितामह! वेद तो धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी ही प्रशंसा करते हैं; अतः आप मुझे यह बताइये कि इन तीनोंमेंसे किसकी प्राप्ति मेरे लिये सबसे बढ़कर है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
कुण्डधारेण यत् प्रीत्या भक्तायोपकृतं पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जिसके अनुसार कुण्डधार नामक मेघने पूर्वकालमें प्रसन्न होकर अपने एक भक्तका उपकार किया था ॥ २ ॥

अधनो ब्राह्मणः कश्चित् कामाद् धर्ममवेक्षत।
यज्ञार्थं सततोऽर्थार्थी तपोऽतप्यत दारुणम् ॥ ३ ॥

किसी समय एक निर्धन ब्राह्मणने सकामभावसे धर्म करनेका विचार किया। वह यज्ञ करनेके लिये सदा ही धनकी इच्छा रखता था, अतः बड़ी कठोर तपस्या करने लगा ॥ ३ ॥

स निश्चयमथो कृत्वा पूजयामास देवताः।
भक्त्या न चैवाध्यगच्छद् धनं सम्पूज्य देवताः ॥ ४ ॥

यही निश्चय करके उसने भक्तिपूर्वक देवताओंकी पूजा-अर्चा आरम्भ की। परंतु देवताओंकी पूजा करके भी वह धन न पा सका ॥ ४ ॥

ततश्चिन्तामनुप्राप्तः कतमद्दैवतं तु तत्।
यन्मे द्रुतं प्रसीदेत मानुषैरजडीकृतम् ॥ ५ ॥

तब वह इस चिन्तामें पड़ा कि वह कौन-सा देवता है, जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जाय और मनुष्योंने आराधना करके जिसे जड न बना दिया हो ॥ ५ ॥

सोऽथ सौम्येन मनसा देवानुचरमन्तिके।
प्रत्यपश्यज्जलधरं कुण्डधारमवस्थितम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस ब्राह्मणने शान्त मनसे देवताओंके अनुचर कुण्डधार नामक मेघको पास ही खड़ा देखा ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तं महाबाहुं तस्य भक्तिरजायत।
अयं मे धास्यति श्रेयो वपुरेतद्धि तादृशम् ॥ ७ ॥

उस महाबाहु मेघको देखते ही ब्राह्मणके मनमें उसके

प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह सोचने लगा कि यह अवश्य मेरा कल्याण करेगा; क्योंकि इसका यह शरीर वैसे ही लक्षणोंसे सम्पन्न है ॥ ७ ॥

संनिकृष्टश्च देवस्य न चान्यैर्मानुषैर्वृतः ।
एष मे दास्यति धनं प्रभूतं शीघ्रमेव च ॥ ८ ॥

यह देवताका संनिकटवर्ती है और दूसरे मनुष्योंने इसे घेर नहीं रखा है । इसलिये यह मुझे शीघ्र ही प्रचुर धन देगा ॥

ततो धूपैश्च गन्धैश्च माल्यैरुच्चावचैरपि ।
बलिभिर्विविधाभिश्च पूजयामास तं द्विजः ॥ ९ ॥

तब ब्राह्मणने धूप, गन्ध, छोटे-बड़े माल्य तथा भाँति-भाँतिके पूजोपहार अर्पित करके कुण्डधार मेघका पूजन किया ॥

ततस्त्वल्पेन कालेन तुष्टो जलधरस्तदा ।
तस्योपकारनियतामिमां वाचमुवाच ह ॥ १० ॥

इससे वह मेघ थोड़े ही समयमें संतुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मणके उपकारमें नियमपूर्वक प्रवृत्ति सूचित करनेवाली यह बात कही— ॥ १० ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवाले मनुष्यके लिये साधुपुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है, किंतु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ११ ॥

आशायास्तनयोऽधर्मः क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः ।
लोभः पुत्रो निकृत्यास्तु कृतघ्नो नार्हति प्रजाम् ॥ १२ ॥

'आशाका पुत्र अधर्म है । असूयाका पुत्र क्रोध माना गया है । निकृति (शठता) का पुत्र लोभ है; परंतु कृतघ्न मनुष्य संतान पानेके योग्य नहीं है' ॥ १२ ॥

ततः स ब्राह्मणः स्वप्ने कुण्डधारस्य तेजसा ।
अपश्यत् सर्वभूतानि कुशेषु शयितस्तदा ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण कुण्डधारके तेजसे प्रेरित हो कुशोंकी शय्यापर सो गया और स्वप्नमें उसने समस्त प्राणियोंको देखा ॥

शमेन तपसा चैव भक्त्या च निरुपस्कृतः ।
शुद्धात्मा ब्राह्मणो रात्रौ निदर्शनमपश्यत ॥ १४ ॥

वह शम-दम, तप और भक्तिभावसे सम्पन्न, भोगरहित तथा शुद्धचित्तवाला था । उस ब्राह्मणको रातमें कुछ ऐसा दृष्टान्त दिखायी दिया, जिससे उसे कुण्डधारके प्रति अपनी भक्तिका परिचय मिल गया ॥ १४ ॥

मणिभद्रं स तत्रस्थं देवतानां महाद्युतिम् ।
अपश्यत महात्मानं व्यादिशन्तं युधिष्ठिर ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! उसने देखा कि महातेजस्वी महात्मा यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराजमान हैं और देवताओंके समक्ष विभिन्न याचकोंको उपस्थित कर रहे हैं ॥ १५ ॥

तत्र देवाः प्रयच्छन्ति राज्यानि च धनानि च ।
शुभैः कर्मभिरारब्धाः प्रच्छिन्दन्त्यशुभेषु च ॥ १६ ॥

वहाँ देवतालोग उन याचकोंके शुभकर्मके बदले राज्य और धन आदि दे रहे थे और अशुभ कर्मका भोग उपस्थित होनेपर पहलेके दिये हुए राज्य आदिको भी छीन लेते थे ॥

पश्यतामथ यक्षाणां कुण्डधारो महाद्युतिः ।
निपत्य पतितो भूमौ देवानां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यक्षोंके देखते-देखते महातेजस्वी कुण्डधारने देवताओंके आगे धरतीपर माथा टेक दिया ॥ १७ ॥

ततस्तु देववचनान्मणिभद्रो महामनाः ।
उवाच पतितं भूमौ कुण्डधार किमिष्यते ॥ १८ ॥

तब महामनस्वी मणिभद्रने देवताओंके कहनेसे पृथ्वीपर पड़े हुए उस मेघसे पूछा, 'कुण्डधार ! तुम क्या चाहते हो ?' ॥

कुण्डधार उवाच

यदि प्रसन्ना देवा मे भक्तोऽयं ब्राह्मणो मम ।
अस्यानुग्रहमिच्छामि कृतं किंचित् सुखोदयम् ॥ १९ ॥

कुण्डधार बोला—यह ब्राह्मण मेरा भक्त है । यदि देवतालोग मुझपर प्रसन्न हों तो मैं इसके ऊपर उनका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ, जिससे इसे भविष्यमें कुछ सुख मिल सके ॥

ततस्तं मणिभद्रस्तु पुनर्वचनमब्रवीत् ।
देवानामेव वचनात् कुण्डधारं महाद्युतिम् ॥ २० ॥

तब मणिभद्रने देवताओंकी ही आज्ञासे महातेजस्वी कुण्डधारके प्रति पुनः यह बात कही ॥ २० ॥

मणिभद्र उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते कृतकृत्यः सुखी भव ।

धनार्थी यदि विप्रोऽयं धनमस्मै प्रदीयताम्॥ २१॥

मणिभद्र बोले—कुण्डधार! उठो, उठो; तुम्हारा कल्याण हो, तुम कृतकृत्य और सुखी हो जाओ। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता हो तो इसे धन दे दिया जाय॥ २१॥

यावद् धनं प्रार्थयते ब्राह्मणोऽयं सखा तव।
देवानां शासनात् तावदसंख्येयं ददाम्यहम्॥ २२॥

तुम्हारा सखा यह ब्राह्मण जितना धन चाहता हो, देवताओंकी आज्ञासे मैं उतना ही अथवा असंख्य धन इसे दे रहा हूँ॥ २२॥

विचार्य कुण्डधारस्तु मानुष्यं चलमध्रुवम्।
तपसे मतिमाधत्त ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर॥ २३॥

युधिष्ठिर! परंतु कुण्डधारने यह सोचकर कि मानव-जीवन चञ्चल एवं अस्थिर है, उस ब्राह्मणके तपोबलको भी बढ़ानेका विचार किया॥ २३॥

कुण्डधार उवाच

नाहं धनानि याचामि ब्राह्मणाय धनप्रद॥ २४॥
अन्यमेवाहमिच्छामि भक्तायानुग्रहं कृतम्।
पृथिवीं रत्नपूर्णां वा महद् वा रत्नसंचयम्॥ २५॥
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः।
धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिर्धर्मं चैवोपजीवतु।
धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः॥ २६॥

कुण्डधार बोला—धनदाता देव! मैं ब्राह्मणके लिये धनकी याचना नहीं करता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे इस भक्तपर किसी और प्रकारका ही अनुग्रह किया जाय। मैं अपने इस भक्तको रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी अथवा रत्नोंका विशाल भण्डार नहीं देना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि यह धर्मात्मा हो। इसकी बुद्धि धर्ममें लगी रहे तथा यह धर्मसे ही जीवन-निर्वाह करे। इसके जीवनमें धर्मकी ही प्रधानता रहे। इसीको मैं इसके लिये महान् अनुग्रह मानता हूँ॥ २४-२६॥

मणिभद्र उवाच

सदा धर्मफलं राज्यं सुखानि विविधानि च।
फलान्येवायमश्नातु कायक्लेशविवर्जितः॥ २७॥

मणिभद्र बोला—धर्मके फल तो सदा राज्य और नाना प्रकारके सुख ही हैं; अतः यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टसे रहित हो केवल उन फलोंका ही उपभोग करे॥ २७॥

भीष्म उवाच

ततस्तदेव बहुशः कुण्डधारो महायशाः।
अभ्यासमकरोद् धर्मे ततस्तुष्टास्तु देवताः॥ २८॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मणिभद्रके ऐसा कहनेपर भी महायशस्वी कुण्डधारने बार-बार अपनी वही बात दुहरायी। ब्राह्मणका धर्म बढ़े, इसीके लिये आग्रह किया। इससे सब देवता संतुष्ट हो गये॥ २८॥

मणिभद्र उवाच

प्रीतास्ते देवताः सर्वा द्विजस्यास्य तथैव च।
भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधास्यते मतिः॥ २९॥

तब मणिभद्रने कहा—कुण्डधार! सब देवता तुमपर और इस ब्राह्मणपर भी बहुत प्रसन्न हैं। यह धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि धर्ममें ही लगी रहेगी॥ २९॥

ततः प्रीतो जलधरः कृतकार्यो युधिष्ठिर।
ईप्सितं मनसो लब्ध्वा वरमन्यैः सुदुर्लभम्॥ ३०॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ मनोवाञ्छित वर पाकर कृतकृत्य एवं सफलमनोरथ हो वह मेघ बड़ा प्रसन्न हुआ॥ ३०॥

ततोऽपश्यत चीराणि सूक्ष्माणि द्विजसत्तमः।
पार्श्वतोऽभ्याशतो न्यस्तान्यथ निर्वेदमागतः॥ ३१॥

तत्पश्चात् उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने निकट अगल-बगलमें रक्खे हुए बहुत-से सूक्ष्म चीर (वल्कल आदि) देखे। इससे उसके मनमें बड़ा खेद एवं वैराग्य हुआ॥ ३१॥

ब्राह्मण उवाच

अयं न सुकृतं वेत्ति को न्वन्यो वेत्स्यते कृतम्।
गच्छामि वनमेवाहं वरं धर्मेण जीवितुम्॥ ३२॥

ब्राह्मण मन-ही-मन बोला—जब मेरे इस पुण्यमय तपका उद्देश्य यह कुण्डधार ही नहीं समझ पा रहा है, तब दूसरा कौन जानेगा! अच्छा, अब मैं वनको ही चलता हूँ। धर्ममय जीवन बिताना ही अच्छा है॥ ३२॥

भीष्म उवाच

निर्वेदाद् देवतानां च प्रसादात् स द्विजोत्तमः।
वनं प्रविश्य सुमहत् तप आरब्धवांस्तदा॥ ३३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वैराग्य और देवताओंके कृपाप्रसादसे वनमें जाकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने उस समय बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की॥ ३३॥

देवतातिथिशेषेण फलमूलाशनो द्विजः।
धर्मे चास्य महाराज दृढा बुद्धिरजायत॥ ३४॥

देवताओं और अतिथियोंको अर्पण करके शेष बचे हुए फल-मूल आदिका वह आहार करता था। महाराज! धर्मके विषयमें उसकी बुद्धि अटल हो गयी थी॥ ३४॥

त्यक्त्वा मूलफलं सर्वं पर्णाहारोऽभवद् द्विजः।
पर्णं त्यक्त्वा जलाहारः पुनरासीद् द्विजस्तदा॥ ३५॥
वायुभक्षस्ततः पश्चाद् बहून् वर्षगणानभूत्।
न चास्य क्षीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत्॥ ३६॥

कुछ कालके बाद वह ब्राह्मण सारे फल-मूलका भोजन छोड़कर केवल पत्ते चबाकर रहने लगा। फिर पत्तेका भी त्याग करके केवल जल पीकर निर्वाह करने लगा। तत्पश्चात् बहुत वर्षोंतक वह केवल वायु पीकर रहा। फिर भी उसकी

प्राणशक्ति क्षीण नहीं होती थी, यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥

धर्मे च श्रद्दधानस्य तपस्युग्रे च वर्ततः ।
कालेन महता तस्य दिव्या दृष्टिरजायत ॥ ३७ ॥

धर्ममें श्रद्धा रखते हुए दीर्घकालतक उग्र तपस्यामें लगे हुए उस ब्राह्मणको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिः प्रादुरासीद् यदि दद्यामहं धनम् ।
तुष्टः कस्यचिदेवेह मिथ्यावाङ् न भवेन्मम ॥ ३८ ॥

उस समय उसे यह अनुभव हुआ कि यदि मैं संतुष्ट होकर इस जगत्‌में किसीको प्रचुर धन दे दूँ तो मेरा दिया हुआ वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३८ ॥

ततः प्रहृष्टवदनो भूय आरब्धवांस्तपः ।
भूयश्चाचिन्तयत् सिद्धो यत्परं सोऽभिमन्यते ॥ ३९ ॥

यह विचार आते ही उसका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उसने बड़े उत्साहके साथ पुनः तपस्या आरम्भ की । पुनः सिद्धि प्राप्त होनेपर उसने देखा कि वह मनमें जो-जो संकल्प करता है, वह अत्यन्त महान् होनेपर भी सामने प्रस्तुत हो जाता है। यह देखकर ब्राह्मणने पुनः यों विचार किया-॥ ३९ ॥

यदि दद्यामहं राज्यं तुष्टो वै यस्य कस्यचित् ।
स भवेदचिराद् राजा न मिथ्या वाग् भवेन्मम ।

'यदि मैं संतुष्ट होकर जिस किसीको भी राज्य दे दूँ तो वह शीघ्र ही राजा हो जायगा। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती' ॥३९½ ॥

तस्य साक्षात् कुण्डधारो दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
ब्राह्मणस्य तपोयोगात् सौहृदेनाभिचोदितः ॥ ४१ ॥
समागम्य स तेनाथ पूजांचक्रे यथाविधि ।
ब्राह्मणः कुण्डधारस्य विस्मितश्चाभवन्नृप ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! इतनेहीमें ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे तथा उसके प्रति सौहार्दसे प्रेरित होकर कुण्डधारने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया । उससे मिलकर ब्राह्मणने कुण्डधारकी विधिपूर्वक पूजा की। नरेश्वर ! उसे देखकर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ततोऽब्रवीत् कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम् ।
पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव तु चक्षुषा ॥ ४३ ॥

तब कुण्डधारने ब्राह्मणसे कहा—'विप्रवर ! तुम्हें परम उत्तम दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है; अतः तुम अपनी आँखोंसे देख लो कि राजाओंको किस गतिकी प्राप्ति होती है तथा वे किन-किन लोकोंमें जाते हैं' ॥४३॥

ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा ।
दूरादपश्यद् विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥ ४४ ॥

तब उस ब्राह्मणने दूरसे ही अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा कि सहस्रों राजा नरकमें डूबे हुए हैं ॥ ४४ ॥

कुण्डधार उवाच

मां पूजयित्वा भावेन यदि त्वं दुःखमाप्नुयाः ।
कृतं मया भवेत् किं ते कश्च तेऽनुग्रहो भवेत् ॥ ४५ ॥

कुण्डधार बोला—ब्रह्मन् ! तुमने बड़े भक्तिभावसे मेरी पूजा की थी। इसपर भी यदि तुम धन पाकर दुःख ही भोगते रहते तो मेरे द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हुआ होता और तुम्हारे ऊपर मेरा कौन-सा अनुग्रह सिद्ध हो सकता था ॥४५॥

पश्य पश्य च भूयस्त्वं कामानिच्छेत् कथं नरः ।
स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥ ४६ ॥

देखो-देखो, एक बार फिर लोगोंकी दशापर दृष्टिपात करो । यह सब देख-सुनकर मनुष्य भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है । जो धन और भोगोंमें आसक्त हैं, ऐसे लोगों, विशेषतः मनुष्योंके लिये स्वर्गका दरवाजा प्रायः बंद ही रहता है ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽपश्यत् स कामं च क्रोधं लोभं भयं मदम् ।
निद्रां तन्द्रीं तथाऽऽलस्यमावृत्य पुरुषान् स्थितान्॥४७॥

भीष्मजी कहते हैं--राजन् ! तदनन्तर ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि शत्रु घेरकर खड़े हैं ॥ ४७ ॥

कुण्डधार उवाच

एतैर्लोकाः सुसंरुद्धा देवानां मानुषाद् भयम् ।
तथैव देववचनाद् विघ्नं कुर्वन्ति सर्वशः ॥ ४८ ॥

कुण्डधार बोला—विप्रवर! देखो, सब लोग इन्हीं दोषोंसे घिरे हुए हैं। देवताओंको मनुष्योंसे भय बना रहता है, इसलिये ये काम आदि दोष देवताओंके आदेशसे मनुष्यके धर्म और तपस्यामें सब प्रकारसे विघ्न डाला करते हैं ॥ ४८॥

न देवैरननुज्ञातः कश्चिद् भवति धार्मिकः ।
एष शक्तोऽसि तपसा दातुं राज्यं धनानि च ॥ ४९ ॥

देवताओंकी अनुमति प्राप्त किये बिना कोई निर्विघ्नरूपसे धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता; किंतु तुम्हें तो देवताओंका अनुग्रह प्राप्त हो गया है । इसलिये अब तुम अपने तपके प्रभावसे दूसरोंको राज्य और धन देनेमें समर्थ हो गये हो ॥

भीष्म उवाच

ततः पपात शिरसा ब्राह्मणस्तोयधारिणे ।
उवाच चैनं धर्मात्मा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥ ५० ॥
कामलोभानुबन्धेन पुरा ते यदसूयितम् ।
मया स्नेहमविज्ञाय तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं-राजन्! तब उस धर्मात्मा ब्राह्मणने धरतीपर मस्तक टेककर कुण्डधार मेघको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उससे कहा—'प्रभो! आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया है । आपके स्नेहको न समझकर काम और लोभके बन्धनमें बँधे रहनेसे मैंने पहले आपके प्रति जो दोषदृष्टि

कर ली थी, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥५०-५१ ॥

क्षान्तमेव मयेत्युक्त्वा कुण्डधारो द्विजर्षभम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५२ ॥

(कुण्डधारने कहा—) 'विप्रवर ! मैं तो पहलेसे ही क्षमा कर चुका हूँ' ऐसा कहकर उस मेघने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपनी दोनों भुजाओंद्वारा हृदयसे लगा लिया और वह फिर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ५२ ॥

ततः सर्वांस्तदा लोकान् ब्राह्मणोऽनुचचार ह ।
कुण्डधारप्रसादेन तपसा सिद्धिमागतः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर कुण्डधारके कृपाप्रसादसे तपस्याद्वारा सिद्धि पाकर वह ब्राह्मण सम्पूर्ण लोकोंमें विचरने लगा ॥ ५३ ॥

विहायसा च गमनं तथा संकल्पितार्थता ।
धर्माच्छक्त्या तथा योगाद् या चैव परमा गतिः॥५४॥

आकाशमार्गसे चलना, संकल्पमात्रसे ही अभीष्ट वस्तुका प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योगके द्वारा जो परमगति प्राप्त होती है, वह सब कुछ उस ब्राह्मणको प्राप्त हो गयी ॥५४॥

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः॥ ५५ ॥

देवता, ब्राह्मण, साधु-संत, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सब-के-सब इस जगत्‌में धर्मात्माओंका ही पूजन करते हैं, धनियों और भोगियोंका नहीं ॥ ५५ ॥

सुप्रसन्ना हि ते देवा यत्ते धर्मे रता मतिः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे तु परमं सुखम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! तुम्हारे ऊपर भी देवता बहुत प्रसन्न हैं, जिससे तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी हुई है । धनमें तो सुखका कोई लेशमात्र ही रहता है । परमसुख तो धर्ममें ही है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि कुण्डधारोपाख्याने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें कुण्डधारका उपाख्यानविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यज्ञमें हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

बहूनां यज्ञतपसामेकार्थानां पितामह ।
धर्मार्थं न सुखार्थार्थं कथं यज्ञः समाहितः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यज्ञ और तप तो बहुत हैं और वे सब एकमात्र भगवत्प्रीतिके लिये किये जा सकते हैं; परंतु उनमेंसे जिस यज्ञका प्रयोजन केवल धर्म हो, स्वर्ग-सुख अथवा धनकी प्राप्ति न हो, उसका सम्पादन कैसे होता है ?॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नारदेनानुकीर्तितम् ।
उञ्छवृत्तेः पुरावृत्तं यज्ञार्थे ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले एक ब्राह्मणका यज्ञके सम्बन्धमें जैसा वृत्तान्त है और जिसे नारदजीने मुझसे कहा था, वही प्राचीन इतिहास मैं यहाँ तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २ ॥

नारद उवाच

राष्ट्रे धर्मोत्तरे श्रेष्ठे विदर्भेष्वभवद् द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्ऋषिः कश्चिद् यज्ञं यष्टुं समादधे ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—जहाँ धर्मकी ही प्रधानता है, उस उत्तम राष्ट्र विदर्भमें कोई ब्राह्मण ऋषि निवास करता था । वह कटे हुए खेत या खलिहानसे अन्नके बिखरे हुए दानोंको बीन लाता और उसीसे जीवन-निर्वाह करता था । एक बार उसने यज्ञ करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

श्यामाकमशनं तत्र सूर्यपर्णी सुवर्चला ।
तिक्तं च विरसं शाकं तपसा स्वादुतां गतम् ॥ ४ ॥

जहाँ वह रहता था, वहाँ अन्नके नामपर साँवाँ मिलता था । दाल बनानेके लिये सूर्यपर्णी (जंगली उड़द) मिलती थी और शाक-भाजीके लिये सुवर्चला (ब्राह्मी लता) तथा अन्य प्रकारके तिक्त एवं रसहीन शाक उपलब्ध होते थे; परंतु ब्राह्मणकी तपस्यासे उपर्युक्त सभी वस्तुएँ सुस्वादु हो गयी थीं ॥ ४ ॥

उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया ।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मणने वनमें तपस्याद्वारा सिद्धि लाभ करके समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करते हुए मूल और फलोंद्वारा भी स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

तस्य भार्या व्रतकृशा शुचिः पुष्करधारिणी ।
यज्ञपत्नी समानीता सत्येनानुविधीयते ॥ ६ ॥

उस ब्राह्मणके एक पत्नी थी, जिसका नाम था पुष्करधारिणी । उसके आचार-विचार परम पवित्र थे । वह व्रत-उपवास करते-करते दुर्बल हो गयी थी । ब्राह्मणका नाम सत्य था । यद्यपि वह ब्राह्मणी अपने पति सत्यके हिंसाप्रधान यज्ञकी इच्छा प्रकट करनेपर उसके अनुकूल नहीं होती थी, तो भी ब्राह्मण उसे यज्ञपत्नीके स्थानपर आग्रहपूर्वक बुला ही लाता था ॥ ६ ॥

सा तु शापपरित्रस्ता तत्स्वभावानुवर्तिनी ।
मायूरजीर्णपर्णानां वस्त्रं तस्याश्च वर्णितम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणी शापसे डरकर पतिके स्वभावका सर्वथा अनुसरण

करती थी। ऐसा कहा जाता है कि वह मोरोंकी टूटकर गिरी पुरानी पाँखोंको जोड़कर उनसे ही अपना शरीर ढँकती थी॥ ७॥

अकामया कृतस्तत्र यज्ञो होत्रनुशासनात्।
शुक्रस्य पुनराजातिः पर्णादो नाम धर्मवित्॥ ८॥

होताके आदेशसे इच्छा न होनेपर भी ब्राह्मण-पत्नीने उस यज्ञका कार्य सम्पन्न किया। होताका कार्य पर्णाद नामसे प्रसिद्ध एक धर्मज्ञ ऋषि करते थे, जो शुक्राचार्यके वंशज थे॥ ८॥

तस्मिन् वने समीपस्थो मृगोऽभूत् सहवासिकः।
वचोभिरब्रवीत् सत्यं त्वयेदं दुष्कृतं कृतम्॥ ९॥

उस वनमें सत्यका सहवासी एक मृग था, जो वहाँ पास ही रहता था। एक दिन उसने मनुष्यकी बोलीमें सत्यसे कहा—'ब्राह्मण! तुमने यज्ञके नामपर यह दुष्कर्म किया है॥ ९॥

यदि मन्त्राङ्गहीनोऽयं यज्ञो भवति वै कृतः।
मां भोः प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः॥ १०॥

'यदि किया हुआ यज्ञ मन्त्र और अङ्गसे हीन हो तो वह यजमानके लिये दुष्कर्म ही है। ब्राह्मणदेव! तुम मुझे होताको सौंप दो और स्वयं निन्दारहित होकर स्वर्गलोकमें जाओ'॥ १०॥

ततस्तु यज्ञे सावित्री साक्षात् तं संन्यमन्त्रयत्।
निमन्त्रयन्ती प्रत्युक्ता न हन्यां सहवासिनम्॥ ११॥

तदनन्तर उस यज्ञमें साक्षात् सावित्रीने पधारकर उस ब्राह्मणको मृगकी आहुति देनेकी सलाह दी। ब्राह्मणने यह कहकर कि मैं अपने सहवासी मृगका वध नहीं कर सकता, सावित्रीकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दी॥ ११॥

एवमुक्ता निवृत्ता सा प्रविष्टा यज्ञपावकम्।
किं नु दुश्चरितं यज्ञे दिदृक्षुः सा रसातलम्॥ १२॥

ब्राह्मणसे इस प्रकार कोरा जवाब मिल जानेपर सावित्री-देवी लौट पड़ीं और यज्ञाग्निमें प्रविष्ट हो गयीं। यज्ञमें कौन-सा दुष्कर्म या त्रुटि है—यही देखनेकी इच्छासे वे आयी थीं और फिर रसातलमें चली गयीं॥ १२॥

स तु बद्धाञ्जलिं सत्यमयाचद्धरिणः पुनः।
सत्येन स परिष्वज्य संदिष्टो गम्यतामिति॥ १३॥

सत्य सावित्रीदेवीकी ओर हाथ जोड़कर खड़ा था। इतनेहीमें उस हरिणने पुनः अपनी आहुति देनेके लिये याचना की। सत्यने मृगको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्यारसे कहा—'तुम यहाँसे चले जाओ'॥ १३॥

ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्तत।
साधु हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम्॥ १४॥

तब वह हरिण आठ पग आगे जाकर लौट पड़ा और बोला—'सत्य! तुम विधिपूर्वक मेरी हिंसा करो। मैं यज्ञमें वधको प्राप्त होकर उत्तम गति पा लूँगा॥ १४॥

पश्य ह्यप्सरसो दिव्या मया दत्तेन चक्षुषा।
विमानानि विचित्राणि गन्धर्वाणां महात्मनाम्॥ १५॥

'मैंने तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की है; उससे देखो, आकाशमें वे दिव्य अप्सराएँ खड़ी हैं। महात्मा गन्धर्वोंके विचित्र विमान भी शोभा पा रहे हैं'॥ १५॥

ततः स सुचिरं दृष्ट्वा स्पृहालग्नेन चक्षुषा।
मृगमालोक्य हिंसायां स्वर्गवासं समर्थयत्॥ १६॥

सत्यकी आँखें बड़ी चाहसे उधर ही जा लगीं। उसने बड़ी देरतक वह रमणीय दृश्य देखा, फिर मृगकी ओर दृष्टिपात करके 'हिंसा करनेपर ही मुझे स्वर्गवासका सुख मिल सकता है' यह मन-ही-मन निश्चय किया॥ १६॥

स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने।
तस्य निष्कृतिमाधत्त न त्वसौ यज्ञसंविधिः॥ १७॥

वास्तवमें उस मृगके रूपमें साक्षात् धर्म थे, जो मृगका शरीर धारण करके बहुत वर्षोंसे वनमें निवास करते थे। पशुहिंसा यज्ञकी विधिके प्रतिकूल कर्म है। भगवान् धर्मने उस ब्राह्मणका उद्धार करनेका विचार किया॥ १७॥

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया॥ १८॥

मैं उस पशुका वध करके स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा; यह सोचकर मृगकी हिंसा करनेके लिये उद्यत उस ब्राह्मणका महान् तप तत्काल नष्ट हो गया। इसलिये हिंसा यज्ञके लिये हितकर नहीं है॥ १८॥

ततस्तं भगवान् धर्मो यज्ञं याजयत स्वयम्।
समाधानं च भार्याया लेभे स तपसा परम्॥ १९॥

तदनन्तर भगवान् धर्मने स्वयं सत्यका यज्ञ कराया। फिर सत्यने तपस्या करके अपनी पत्नी पुष्करधारिणीके मनकी जैसी स्थिति थी, वैसा ही उत्तम समाधान प्राप्त किया (उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि हिंसासे बड़ी हानि होती है, अहिंसा ही परम कल्याणका साधन है)॥ १९॥

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥ २०॥

अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्यका महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषोंका परम धर्म है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि यज्ञनिन्दानाम द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हिंसात्मक यज्ञकी निन्दा नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७२॥

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें युधिष्ठिरके चार प्रश्न और उनका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्य पापात्मा कैसे हो जाता है? वह धर्मका आचरण किस प्रकार करता है? किस हेतुसे उसे वैराग्य प्राप्त होता है और किस साधनसे वह मोक्ष पाता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम्हें सब धर्मोंका ज्ञान है। तुम तो लोकमर्यादाकी रक्षा तथा मेरी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्मका मूल क्या है, इसको श्रवण करो ॥ २ ॥

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! मनुष्यको (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन) पाँचों विषयोंका अनुभव करनेके लिये पहले इच्छा होती है। फिर उन पाँचों विषयोंमेंसे किसी एकको पाकर उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ॥ ३ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति॥ ४ ॥

तत्पश्चात् जिसके प्रति राग होता है, उसे पानेके लिये वह प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदिका बारंबार सेवन करना चाहता है ॥ ४ ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम्॥ ५ ॥

इससे उन विषयोंके प्रति उसके मनमें राग उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर प्रतिकूल विषयसे द्वेष होता है। फिर अनुकूल विषयके लिये लोभ होता है और लोभके बाद उसके मनपर मोह अधिकार जमा लेता है ॥ ५ ॥

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च॥ ६ ॥

लोभ और मोहसे घिरे हुए तथा राग-द्वेषके वशीभूत हुए मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती है। वह किसी-न-किसी बहानेसे दिखाऊ धर्मका आचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धनेषु कुरुनन्दन॥ ७ ॥
तत्रैव कुरुते बुद्धिं ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत॥ ८ ॥
उत्तरं न्यायसम्बद्धं ब्रवीति विधिचोदितम्।

कुरुनन्दन! वह कोई बहाना लेकर ही धर्म करता है, कपटसे ही धन कमानेकी रुचि रखता है और यदि कपटसे धन प्राप्त करनेमें सफलता मिल गयी तो वह उसीमें अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भरतनन्दन! फिर तो विद्वानों और सुहृदोंके मना करनेपर भी वह केवल पाप ही करना चाहता है तथा मना करनेवालोंको धर्मशास्त्रके वाक्योंके द्वारा प्रतिपादित न्याययुक्त उत्तर दे देता है ॥ ७-८½ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः॥ ९ ॥
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च।

उसका राग और मोहजनित तीन प्रकारका अधर्म बढ़ता है। वह मनसे पापकी ही बात सोचता है, वाणीसे पाप ही बोलता है और क्रियाद्वारा पाप ही करता है ॥ ९½ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य दोषान् पश्यन्ति साधवः॥ १० ॥
एकशीलाश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः।
स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष तो अधर्ममें प्रवृत्त हुए मनुष्यके दोष जानते हैं; परंतु उस पापीके समान स्वभाववाले पापाचारी मनुष्य उसके साथ मित्रता स्थापित करते हैं। ऐसा पुरुष इस लोकमें ही सुख नहीं पाता है, फिर परलोकमें तो पा ही कैसे सकता है ॥ १०-११ ॥

एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु।
यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते॥ १२ ॥
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मात्माके विषयमें मुझसे सुनो। वह जिस प्रकार परहितसाधक कल्याणकारी धर्मका आचरण करता है, उसी प्रकार कल्याणका भागी होता है। वह क्षेमकारक धर्मके प्रभावसे ही अभीष्ट गतिको प्राप्त होता है ॥ १२½ ॥

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति॥ १३ ॥
कुशलः सुखदुःखानां साधूंश्चाप्यथ सेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते॥ १४ ॥

जो पुरुष अपनी बुद्धिसे राग आदि दोषोंको पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःखको समझनेमें कुशल होता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषोंका सेवन करता है। सत्पुरुषोंकी सेवा या सत्संगसे और सत्कर्मोंके अभ्याससे उस पुरुषकी बुद्धि बढ़ती है ॥ १३-१४ ॥

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।

सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥ १५ ॥

वह बढ़ी हुई बुद्धि धर्ममें ही सुख मानती और उसीका सहारा लेती है । वह पुरुष धर्मसे प्राप्त होनेवाले धनमें मन लगाता है ॥ १५ ॥

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥ १६ ॥

वह जहाँ गुण देखता है, उसीके मूलको सींचता है । ऐसा करनेसे वह पुरुष धर्मात्मा होता है और शुभकारक मित्र प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

स मित्रधनलाभात् तु प्रेत्य चेह च नन्दति ।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे तथा गन्धे च भारत ॥ १७ ॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।
स तु धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

भारत ! उत्तम मित्र और धनके लाभसे वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है । ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयोंपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है । इसे धर्मका फल माना जाता है । युधिष्ठिर ! वह धर्मका फल पाकर भी हर्षसे फूल नहीं उठता है ॥ १७-१८ ॥

अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा ।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥ १९ ॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः ।
विमुच्यते तदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥ २० ॥

वह इससे तृप्त न होनेके कारण विवेकदृष्टिसे वैराग्यको ही ग्रहण करता है, बुद्धिरूप नेत्रके खुल जानेके कारण जब वह कामोपभोग, रस और गन्धमें अनुरक्त नहीं होता तथा शब्द, स्पर्श और रूपमें भी उसका चित्त नहीं फँसता, तब वह सब कामनाओंसे मुक्त हो जाता है और धर्मका त्याग नहीं करता ॥ १९-२० ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥ २१ ॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको नाशवान् समझकर वह सर्वस्वका मनसे त्याग कर देनेका यत्न करता है । तदनन्तर वह अयोग्य उपायसे नहीं किंतु योग्य उपायसे मोक्षके लिये यत्नशील हो जाता है । इस प्रकार धीरे-धीरे मनुष्यको वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन जाता है । तत्पश्चात् परम मोक्षको प्राप्त कर लेता है।२१-२२।

एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पापं धर्मस्तथा मोक्षो निर्वेदश्चैव भारत ॥ २३ ॥

तात ! भरतनन्दन ! तुमने मुझसे पाप, धर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें जो प्रश्न किया था, वह सब मैंने कह सुनाया ॥ २३ ॥

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥ २४ ॥

अतः कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मका ही आचरण करो; क्योंकि जो लोग धर्ममें स्थित रहते हैं, उन्हें सदा रहनेवाली मोक्षरूप परम सिद्धि प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुःप्राश्निको नाम त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चार प्रश्न और उनका उत्तरनामक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७३॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मोक्षके साधनका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः ।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने योग्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति बतायी, अयोग्य उपायसे नहीं । भरतनन्दन ! वह यथायोग्य उपाय क्या है ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

भीष्म उवाच

त्वय्येवैतन्महाप्राज्ञ युक्तं निपुणदर्शनम् ।
येनोपायेन सर्वार्थं नित्यं मृगयसेऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ निष्पाप नरेश ! तुम उचित उपायसे ही सदा सम्पूर्ण धर्म आदि पुरुषार्थोंकी खोज किया करते हो । इसलिये तुममें सुने हुए विषयोंकी परीक्षा करनेकी निपुण दृष्टिका होना उचित ही है ॥ २ ॥

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता ।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यधर्मेषु कारणम् ॥ ३ ॥

घटके निर्माणकालमें जिस बुद्धिका उपयोग है, वह घटकी उत्पत्ति हो जानेपर आवश्यक नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त-शुद्धिके उपायभूत यज्ञादि धर्मोंका लक्ष्य पूरा हो जानेपर मोक्षसाधनरूप शम-दमादि अन्य धर्मोंके लिये वे आवश्यक नहीं रहते ॥ ३ ॥

पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ४ ॥

देखो, जो मार्ग पूर्व समुद्रकी ओर जाता है, वह पश्चिम समुद्रकी ओर नहीं जा सकता । इसी प्रकार मोक्षका भी एक ही मार्ग है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रां च च्छेत्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि क्षमासे क्रोधका और संकल्पोंके त्यागसे कामनाओंका उच्छेद कर डाले। धीर पुरुष ज्ञान-ध्यानादि सात्त्विक गुणोंके सेवनसे निद्राका क्षय करे ॥ ५ ॥

अप्रमादाद् भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत् ॥ ६ ॥

अप्रमादसे भयको दूर करे, आत्माके चिन्तनसे श्वासकी रक्षा करे अर्थात् प्राणायाम करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष एवं कामका निवारण करे ॥ ६ ॥

भ्रमं सम्मोहमावर्तमभ्यासाद् विनिवर्तयेत् ।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥ ७ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष शास्त्रके अभ्याससे भ्रम, मोह और संशयका तथा आलस्य और प्रतिभा (नानाविषयिणी बुद्धि)—इन दोनों दोषोंका ज्ञानके अभ्याससे निराकरण करे ॥ ७ ॥

उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च संतोषाद् विषयांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ ८ ॥

शारीरिक उपद्रवों तथा रोगोंका हितकर, सुपाच्य और परिमित आहारसे· लोभ और मोहका संतोषसे तथा विषयोंका तात्त्विक दृष्टिसे निवारण करे ॥ ८ ॥

अनुक्रोशादधर्मं च जयेद् धर्ममवेक्षया।
आयत्या च जयेदाशामर्थं संगविवर्जनात् ॥ ९ ॥

अधर्मको दयासे और धर्मको विचारपूर्वक पालन करनेसे जीते। भविष्यका विचार करके आशापर और आसक्तिके त्यागसे अर्थपर विजय प्राप्त करे ॥ ९ ॥

अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष वस्तुओंकी अनित्यताका चिन्तन करके स्नेहको, योगाभ्यासके द्वारा क्षुधाको, करुणाके द्वारा अपने अभिमानको और संतोषसे तृष्णाको जीते ॥ १० ॥

उत्थानेन जयेत् तन्द्रीं वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ॥ ११ ॥

आलस्यको उद्योगसे और विपरीत तर्कको शास्त्रके प्रति दृढ़ विश्वाससे जीते, मौनावलम्बनद्वारा बहुत बोलनेकी आदतको और शूरवीरताके द्वारा भयको त्याग दे ॥ ११ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना ॥ १२ ॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।

मन और वाणीको अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियोंको बुद्धिद्वारा वशमें करे, बुद्धिका विवेकरूप नेत्रद्वारा शमन करे, फिर आत्मज्ञानद्वारा विवेकज्ञानका शमन करे और आत्माको परमात्मामें विलीन कर दे। इस प्रकार पवित्र आचार-विचारसे युक्त साधकको सब ओरसे उपरत होकर शान्तभावसे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १२½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः ॥ १३ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग् योगसाधनान् ॥ १४ ॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—ये ही योगसम्बन्धी वे पाँच दोष हैं, जिनको विद्वान् पुरुष जानते हैं। इनका मूलोच्छेद कर देना चाहिये तथा इनका परित्याग करके वाणीको संयममें रखते हुए योगसाधनोंका सेवन करना चाहिये ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥ १५ ॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥ १६ ॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतरकी पवित्रता, आहारशुद्धि और इन्द्रियोंका संयम—ये ही योगके साधन हैं। इन सबके द्वारा साधकका तेज बढ़ता है। वह अपने पापोंका नाश कर डालता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदयमें विज्ञानका आविर्भाव हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब पाप धुल जायँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय हो जाय, तब वह काम और क्रोधको अपने अधीन करके अपने-आपको ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा करे ॥ १७ ॥

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥ १८ ॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥ १९ ॥

मूढता और आसक्तिका अभाव, काम और क्रोधका त्याग एवं दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेगसे रहित होना और चित्तकी स्थिरता एवं निष्कामभावसे मन, वाणी और इन्द्रियोंका संयम—यह मोक्षका स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र मार्ग है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगाचारानुवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगसम्बन्धी आचारका वर्णननामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७४॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवात्माके देहाभिमानसे मुक्त होनेके विषयमें नारद और असितदेवलका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस विषयमें देवर्षि नारद तथा ब्रह्मर्षि असितदेवलके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का विद्वान् पुरुष उदाहरण दिया करते हैं॥ १॥

आसीनं देवलं वृद्धं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम्।
नारदः परिपप्रच्छ भूतानां प्रभवाप्ययम्॥ २॥

एक समयकी बात है, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बूढ़े असित-देवलको आसनपर बैठा हुआ जान नारदजीने उनसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके विषयमें प्रश्न किया॥ २॥

नारद उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तद् भवान् प्रब्रवीतु मे॥ ३॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन्! इस समस्त चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है तथा यह प्रलयके समय किसमें लीन हो जाता है, यह आप मुझे बताइये?॥ ३॥

असित उवाच

येभ्यः सृजति भूतानि काले भावप्रचोदितः।
महाभूतानि पञ्चेति तान्याहुर्भूतचिन्तकाः॥ ४॥

असितदेवलने कहा—देवर्षे! सृष्टिके समय परमात्मा प्राणियोंकी वासनाओंसे प्रेरित हो समयपर जिन तत्त्वोंसे सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करते हैं, उन्हें भूतचिन्तक (भौतिक विज्ञानवादी) विद्वान् पञ्चमहाभूत कहते हैं॥ ४॥

तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्मप्रचोदितः।
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम्॥ ५॥

परमात्माकी प्रेरणासे काल इन पाँच तत्त्वोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करता है। जो इनसे भिन्न किसी अन्य तत्त्वको प्राणियोंके शरीरोंका उपादान कारण बताता है, वह निरसंदेह झूठी बात कहता है॥ ५॥

विद्धि नारद पञ्चैताञ्शाश्वतानचलान् ध्रुवान्।
महतस्तेजसो राशीन् कालषष्ठान् स्वभावतः॥ ६॥

नारद! पाँच भूत और छठा काल—इन छः तत्त्वोंको तुम प्रवाहरूपसे शाश्वत, अविचल और ध्रुव समझो। ये तेजोमय महत्तत्त्वकी स्वाभाविक कलाएँ हैं॥ ६॥

आपश्चैवान्तरिक्षं च पृथिवी वायुपावकौ।
नासीद्धि परमं तेभ्यो भूतेभ्यो मुक्तसंशयम्॥ ७॥

जल, आकाश, पृथ्वी, वायु और अग्नि—इन भूतोंसे भिन्न कोई तत्त्व कभी नहीं था; इसमें संशय नहीं है॥ ७॥

नोपपत्त्या न वा युक्त्या त्वसद् ब्रूयादसंशयम्।
वेत्थैतानभिनिर्वृत्तान् षडेते यस्य राशयः॥ ८॥

किसी भी युक्ति या प्रमाणसे इन छःके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं बताया जा सकता। इसलिये जो कोई दूसरी बात कहता है, वह निरसंदेह झूठ बोलता है। तुम सभी कार्योंमें अनुगत हुए इन छः तत्त्वोंको और जिसके ये कार्य हैं, उस कारणको भी जानते हो॥ ८॥

पञ्चैव तानि कालश्च भावाभावौ च केवलौ।
अष्टौ भूतानि भूतानां शाश्वतानि भवात्ययौ॥ ९॥

पाँच महाभूत, काल तथा विशुद्ध भाव और अभाव अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व और परिवर्तनशील महत्तत्त्व—ये आठ तत्त्व नित्य हैं। ये ही चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं॥ ९॥

अभावं यान्ति तेष्वेव तेभ्यश्च प्रभवन्त्यपि।
विनष्टोऽप्यनु तान्येव जन्तुर्भवति पञ्चधा॥ १०॥

सब प्राणी उन्हींमें लीन होते हैं और उन्हींसे उनका प्राकट्य भी होता है। जीवोंका शरीर नष्ट हो जानेपर पाँच भागोंमें विभक्त होकर अपने-अपने कारणमें विलीन हो जाता है॥ १०॥

तस्य भूमिमयो देहः श्रोत्रमाकाशसम्भवम्।
सूर्याच्चक्षुरसुर्वायोरद्भ्यस्तु खलु शोणितम्॥ ११॥

प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका विकार है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशसे उत्पन्न हुई है, नेत्रेन्द्रिय सूर्यसे, प्राण वायुसे और रक्त जलसे उत्पन्न हुए हैं॥ ११॥

चक्षुषी नासिकाकर्णौ त्वक् जिह्वेति च पञ्चमी।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थानां ज्ञानानि कवयो विदुः॥ १२॥

विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि नेत्र, नासिका, कर्ण, त्वचा और पाँचवीं जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं॥ १२॥

दर्शनं श्रवणं घ्राणं स्पर्शनं रसनं तथा।
उपपत्त्या गुणान् विद्धि पञ्च पञ्चसु पञ्चधा॥ १३॥

बाह्य पदार्थोंको देखना, सुनना, सूँघना, छूना तथा रस लेना—ये क्रमशः नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंके कार्य हैं। उन्हें युक्तिसे तुम इन इन्द्रियोंके गुण ही समझो। पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारसे (दर्शन आदि क्रियाओंके रूपमें) विद्यमान हैं॥ १३॥

रूपं गन्धो रसः स्पर्शः शब्दश्चैवाथ तद्गुणाः।
इन्द्रियैरुपलभ्यन्ते पञ्चधा पञ्च पञ्चभिः॥ १४॥

नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंद्वारा रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण दर्शन आदि पाँच प्रकारोंसे उपलब्ध किये जाते हैं ॥ १४ ॥

रूपं गन्धं रसं स्पर्शं शब्दं चैवाथ तद्गुणान् ।
इन्द्रियाणि न बुध्यन्ते क्षेत्रज्ञस्तैस्तु बुध्यते ॥ १५ ॥

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—इन्द्रियोंके इन पाँचों गुणोंको स्वयं इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं। उन इन्द्रियोंद्वारा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही उनका अनुभव करता है ॥ १५ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातात् परं तस्मात् परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः ॥ १६ ॥

शरीर और इन्द्रियोंके संघातसे चित्त श्रेष्ठ है, चित्तसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी क्षेत्रज्ञ श्रेष्ठ है॥

पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रियैर्विषयान् पृथक् ।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्ध्या व्यवस्यति ।
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् बुद्धिमांस्तु व्यवस्यति ॥ १७ ॥

जीव पहले तो इन्द्रियोंद्वारा उनके अलग-अलग विषयोंको प्रकाशित करता है, फिर मनसे विचार करके बुद्धिद्वारा उसका निश्चय करता है। बुद्धियुक्त जीव ही इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध विषयोंका निश्चितरूपसे अनुभव करता है ॥ १७ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाष्टमी ।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ॥ १८ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले पुरुष पाँच इन्द्रिय तथा चित्त, मन और आठवीं बुद्धि— इन आठोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ १८ ॥

पाणिपादं च पायुश्च मेहनं पञ्चमं मुखम् ।
इति संशब्द्यमानानि शृणु कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ १९ ॥

हाथ, पैर, पायु और उपस्थ तथा पाँचवाँ मुख—ये सब-के-सब कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं। तुम इनका भी विवरण सुनो ॥ १९ ॥

जल्पनाभ्यवहारार्थं मुखमिन्द्रियमुच्यते ।
गमनेन्द्रियं तथा पादौ कर्मणः करणे करौ ॥ २० ॥

मुख-इन्द्रियका उपयोग बोलने और भोजन करनेके लिये बताया जाता है। पैर चलनेकी और हाथ काम करनेकी इन्द्रियाँ हैं॥

पायूपस्थं विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी ।
विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चापि कामिके ॥ २१ ॥

पायु और उपस्थ—ये दो इन्द्रियाँ क्रमशः मल और मूत्रका त्याग करनेके लिये हैं। इन दोनोंके त्यागरूप कर्म समान ही हैं। इनमेंसे पायु-इन्द्रिय मलका त्याग करती है और उपस्थ मैथुनके समय वीर्यका भी त्याग करता है ॥२१॥

बलं षष्ठं षडेतानि वाचा सम्यग्यथा मम ।
ज्ञानचेष्टेन्द्रियगुणाः सर्वेषां शब्दिता मया ॥ २२ ॥

इसके सिवा छठी कर्मेन्द्रिय बल अर्थात् प्राणसमूह है। इस प्रकार मैंने अपनी वाणीद्वारा तुम्हें समस्त इन्द्रियाँ और उनके ज्ञान, कर्म एवं गुण सुना दिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां स्वकर्मभ्यः श्रमादुपरमो यदा ।
भवतीन्द्रियसंत्यागादथ स्वपिति वै नरः ॥ २३ ॥

जब अपने-अपने कर्मोंसे थककर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, तब इन्द्रियोंका त्याग करके जीवात्मा सो जाता है ॥

इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि ।
सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर भी यदि मन निवृत्त न होकर विषयोंका ही सेवन करता है तो उसे स्वप्नदर्शनकी अवस्था समझना चाहिये ॥ २४ ॥

सात्त्विकाश्चैव ये भावास्तथा तामसराजसाः ।
कर्मयुक्तान् प्रशंसन्ति सात्त्विकानितरांस्तथा ॥ २५ ॥

जो सात्त्विक, राजस और तामसभाव प्रसिद्ध हैं, वे ही जब भोग प्रदान करनेवाले कर्मोंसे संयुक्त होते हैं, तब उन सात्त्विक आदि भावोंकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं ॥ २५ ॥

आनन्दः कर्मणां सिद्धिः प्रतिपत्तिः परा गतिः ।
सात्त्विकस्य निमित्तानि भावान् संश्रयते स्मृतिः ॥२६॥

आनन्द, सुख, कर्मोंकी सिद्धि जाननेकी सामर्थ्य और उत्तम गति—ये चार सात्त्विक भाव हैं। सात्त्विक पुरुषकी स्मृति इन्हीं चार निमित्तोंका आश्रय लेती है अर्थात् सात्त्विक पुरुष जाग्रत् कालकी भाँति स्वप्नमें भी आनन्द आदि भावोंका ही स्मरण करता है ॥ २६ ॥

जन्तुष्वेकतमेष्वेवं भावा ये विधिमास्थिताः ।
भावयोरीप्सितं नित्यं प्रत्यक्षं गमनं तयोः ॥ २७ ॥

इनसे भिन्न राजस और तामस—प्राणियोंमेंसे जिस किसी एक श्रेणीके जीवोंमें जो-जो भाव (वासनाएँ), विधि (कर्म-गति) का आश्रय लेकर स्थित हैं, उन्हीं भावोंको उनकी स्मृति ग्रहण करती है। अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अवस्थाओंमें उन मनुष्योंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार राजस और तामस पदार्थोंका सदा प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥

इन्द्रियाणि च भावाश्च गुणाः सप्तदश स्मृताः ।
तेषामष्टादशो देही यः शरीरे स शाश्वतः ॥ २८ ॥
अथवा सशरीरास्ते गुणाः सर्वे शरीरिणाम् ।
संश्रितास्तद्वियोगे हि सशरीरा न सन्ति ते ॥ २९ ॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि, प्राण तथा सात्त्विक आदि तीन भाव—ये सत्रह गुण माने गये हैं। इनका अधिष्ठाता देहाभिमानी जीवात्मा अठारहवाँ है, जो इस शरीरके भीतर निवास करता है। उसे सनातन माना गया है। अथवा शरीरसहित वे सभी गुण देहधारियोंके आश्रित रहते हैं।

जब जीवका वियोग हो जाता है, तब शरीर और उसमें रहनेवाले वे तत्त्व भी नहीं रह जाते ॥ २८-२९ ॥

अथवा संनिपातोऽयं शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
एकश्च दश चाष्टौ च गुणाः सह शरीरिणा ॥ ३० ॥

अथवा इन सबका समुदाय ही पाञ्चभौतिक शरीर है। एक महत्तत्त्व और जीवसहित पूर्वोक्त अठारह गुण— ये सभी इस समुदायके अन्तर्गत हैं ॥ ३० ॥

ऊष्मणा सह विंशो वा संघातः पाञ्चभौतिकः ।
महान् संधारयत्येतच्छरीरं वायुना सह ॥ ३१ ॥

जठरानलके साथ-साथ उक्त तत्त्वोंकी गणना करनेपर यह पाञ्चभौतिक संघात बीस तत्त्वोंका समूह है। महत्तत्त्व प्राणवायुके साथ इस शरीरको धारण करता है। यह वायु शरीरका भेदन करनेमें प्रभावशाली महत्तत्त्वका उपकरणमात्र है ॥

तस्य प्रभावयुक्तस्य निमित्तं देहभेदने ।
यथैवोत्पद्यते किंचित् पञ्चत्वं गच्छते तथा ॥ ३२ ॥
पुण्यपापविनाशान्ते पुण्यपापसमीरितः ।
देहं विशति कालेन ततोऽयं कर्मसम्भवम् ॥ ३३ ॥

जैसे इस जगत्‌में घट आदि कोई वस्तु उत्पन्न होती और फिर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध, पुण्य और पापका क्षय होनेपर शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है तथा संचित पुण्य और पापसे प्रेरित हो जीव समयानुसार कर्मजनित दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है ॥ ३२-३३ ॥

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद् देहं कृताश्रयः ।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद् वा गृहाद् गृहम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार घरमें रहनेवाला पुरुष एक घरके गिरनेपर दूसरेमें और दूसरेके गिरनेपर तीसरेमें चला जाता है, उसी प्रकार कालसे प्रेरित हुआ जीव क्रमशः एक-एक शरीरको छोड़कर पूर्वसंकल्पके द्वारा निर्मित दूसरे-दूसरे शरीरमें जाता है ॥

तत्र नैवानुतप्यन्ते प्राज्ञा निश्चितनिश्चयाः ।
कृपणास्त्वनुतप्यन्ते जनाः सम्बन्धदर्शिनः ॥ ३५ ॥

विद्वान् पुरुष यह निश्चितरूपसे जानते हैं कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग और अविनाशी है, अतः शरीरका वियोग होनेपर उन्हें तनिक भी संताप नहीं होता; परंतु अज्ञानीजन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देह छूटनेसे उन्हें बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

न ह्ययं कस्यचित् कश्चिन्नास्य कश्चन विद्यते ।
भवत्येको ह्ययं नित्यं शरीरे सुखदुःखभाक् ॥ ३६ ॥

यह जीव वास्तवमें किसीका कोई नहीं है और न कोई दूसरा ही उसका कुछ है। वास्तवमें यह तो सदा अकेला ही है। परंतु शरीरमें रहकर उसे अपना माननेके कारण ही यह सुख-दुःखका भागी होता है ॥ ३६ ॥

नैव संजायते जन्तुर्न च जातु विपद्यते ।
याति देहमयं मुक्त्वा कदाचित्परमां गतिम् ॥ ३७ ॥

जीव न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। जब कभी इसे तत्त्वज्ञान होता है, तब यह शरीर-अभिमान छोड़कर परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

पुण्यपापमयं देहं क्षपयन् कर्मसंक्षयात् ।
क्षीणदेहः पुनर्देही ब्रह्मत्वमुपगच्छति ॥ ३८ ॥

यह शरीर पुण्य-पापमय है। देहधारी जीव प्रारब्ध-कर्मोंके क्षयके साथ-साथ इस शरीरको क्षीण करता रहता है। इस प्रकार शरीरका नाश हो जानेपर वह मुक्त पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते ।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥ ३९ ॥

पुण्य और पापोंके क्षयके लिये ही ज्ञानयोगको साधन बताया गया है। उनका क्षय हो जानेपर जब जीवात्माकी ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है, तब विद्वान्‌लोग उसकी परमगति मानते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदासितसंवादे पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारद और असितदेवलका संवादविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

तृष्णाके परित्यागके विषयमें माण्डव्य मुनि और जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥ १ ॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह ।
निवर्तयेयं पापानि तृष्णया कारिता वयम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! हमलोग बड़े पापी और क्रूर हैं। हमने धनके लिये ही भाई, पिता, पौत्र, कुटुम्बीजन, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार कर डाला। यह जो धनजनित तृष्णा है, इसीने हमसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं। हम इस तृष्णाको किस तरह दूर करें? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! एक बार माण्डव्य मुनिने

विदेहराज जनकसे ऐसा ही प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें विदेहराजने जो उद्गार प्रकट किया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष ऐसे अवसरोंपर उदाहरणके तौरपर दुहराया करते हैं ॥ ३ ॥

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ ४ ॥

राजा जनकने कहा था कि मैं बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करता हूँ; क्योंकि इस जगत्‌की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है । किसीपर भी मेरा ममत्व नहीं है । यदि सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है ॥ ४ ॥

अर्थाः खलु समृद्धा हि वाढं दुःखं विजानताम् ।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥ ५ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ६ ॥

जो विवेकी हैं, उन्हें बड़े समृद्धिसम्पन्न विषय भी दुःख-रूप ही जान पड़ते हैं । परंतु अज्ञानियोंको तुच्छ विषय भी सदा मोहमें डाले रहते हैं । लोकमें जो कामजनित सुख है तथा जो स्वर्गका दिव्य एवं महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा-क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाकी भी तुलना पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ५-६ ॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते ।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥ ७ ॥

जिस प्रकार समयानुसार बड़े होते हुए बछड़ेका सींग भी उसके शरीरके साथ ही बढ़ता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए धनके साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है ॥ ७ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥ ८ ॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है, तब नष्ट होने-पर वही संतापका कारण बन जाती है ॥ ८ ॥

न कामाननुरुद्ध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः ।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मे कामान् विसर्जयेत् ॥ ९ ॥

इसलिये कामनाओं या भोगोंकी वृद्धिके लिये आग्रह नहीं रखना चाहिये । भोगोंमें जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है । धन पाकर भी उसे धर्ममें ही लगा देना चाहिये । काम-भोगोंको तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिये ॥

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव ह ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष सभी प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखे । इससे वह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषोंको त्याग देता है ॥ १० ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये ।
भयाभयं च संत्यज्य स प्रशान्तो निरामयः ॥ ११ ॥

वह सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय तथा भय-अभय आदि सभी द्वन्द्वोंको त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो जाता है ॥ ११ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।१२।

खोटी बुद्धिवाले मूढ़ पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जराजीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण न होकर नयी-नवेली ही बनी रहती है तथा जिसे प्राणान्तकाल-तक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको परम सुख मिलता है ॥ १२ ॥

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥ १३ ॥

जो अपने सदाचारको चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल एवं निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें कीर्ति एवं उत्तम सुख पाता है ॥ १३ ॥

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः ।
पूजयित्वा च तद् वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः ॥ १४॥

राजाके ये वचन सुनकर ब्रह्मर्षि माण्डव्य बड़े प्रसन्न हुए । उनके कथनकी प्रशंसा करके मुनिने मोक्षमार्गका आश्रय लिया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि माण्डव्यजनकसंवादे षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें माण्डव्य और जनकका संवादविषयक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर और संसारकी अनित्यता तथा आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके कर्तव्यका निर्देश—पिता-पुत्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतभयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! सम्पूर्ण प्राणियोंको भय देनेवाला यह काल धीरे-धीरे बीता जा रहा है । (कौन कब तक जीवित रहेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है ।) ऐसी दशामें मनुष्य किस कार्यको अपने लिये कल्याणकारी समझे, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष पिता-पुत्र-संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालमें किसी स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणके एक बड़ा मेधावी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेधावी' ही था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मेष्वकुशलं मोक्षधर्मविचक्षणः ॥ ४ ॥

उसके पिता सदा स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते थे, किंतु मोक्षधर्ममें इतने निपुण नहीं थे । पुत्र मोक्षधर्मके ज्ञानमें कुशल था; अतः उसने अपने पितासे पूछा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तथाऽऽख्याहि यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—तात ! मनुष्योंकी आयु तीव्रगतिसे बीती जा रही है । इस बातको अच्छी तरह जाननेवाला धीर पुरुष किस धर्मका अनुष्ठान करे ? पिताजी ! यह सब क्रमशः और यथार्थरूपसे आप मुझे बताइये, जिससे मैं भी उस धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

अधीत्य वेदान् ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनाय पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा ! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर वेदोंका अध्ययन कर ले, फिर पितरोंका उद्धार करनेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पुत्रोत्पादनकी इच्छा करे । वहाँ विधिपूर्वक अग्नियोंकी स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे । इस प्रकार यज्ञकर्मका सम्पादन करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रविष्ट हो मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके सर्वतः परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने पूछा—पिताजी ! यह लोक तो किसीके द्वारा अत्यन्त ताड़ित और सब ओरसे घिरा हुआ जान पड़ता है । यहाँ ये अमोघ वस्तुएँ निरन्तर हमलोगोंपर टूटी पड़ती हैं । ऐसी दशामें आप धीर पुरुषके समान कैसे बातचीत कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिता बोले—पुत्र ! तुम मुझे डरानेकी चेष्टा क्यों करते हो ? भला, यह लोक कैसे ताड़ित होता है अथवा किसने इसे घेर रक्खा है ? और यहाँ कौन-सी अमोघ वस्तुएँ हमपर टूटी पड़ती हैं ? ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्तीमे तच्च कस्मान्न बुद्ध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्र बोला—पिताजी ! देखिये, मृत्यु सारे जगत्को पीट रही है । बुढ़ापेने इसे घेर लिया है । ये दिन और रात्रियाँ हमपर टूटी पड़ती हैं । इस बातको आप समझ क्यों नहीं रहे हैं ? ॥ ९ ॥

यदाहमेव जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

जब मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मौत मेरे कहनेसे क्षणभर भी रुक नहीं सकती और मैं ज्ञानरूपी कवचसे अपनेको बिना ढके हुए ही विचर रहा हूँ, तब यह समझकर भी मैं अपने कल्याणसाधनमें एक क्षणकी भी प्रतीक्षा कैसे करूँगा ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब प्रत्येक रात बीतनेके बाद आयु क्षीण होकर कुछ-न-कुछ थोड़ी होती चली जा रही है, तब छिछले पानीमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है ? ॥ ११ ॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य वनमें फूल चुन रहा हो, उसी बीचमें कोई हिंसक जीव उसपर आक्रमण कर दे; उसी प्रकार जब मनुष्यका मन दूसरी ओर (विषयभोगोंमें) लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होनेके पहले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है ॥ १२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिस कामको कल करना हो, उसे आज ही कर ले । जिसे अपराह्णमें करना हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर डाले;

क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका काम पूरा हो गया या नहीं ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥ १४ ॥

जो कल्याणकारी कार्य है, उसे आप आज ही कर डालिये । यह महान् काल आपको लाँघ न जाय; क्योंकि कौन जानता है कि आज किसकी मृत्युकी घड़ी आ पहुँचेगी ॥ १४ ॥

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ॥ १५ ॥

सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है, इसलिये युवावस्थामें ही मनुष्यको धर्मका आचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवनका कुछ ठिकाना नहीं है ॥ १५ ॥

कृते धर्मे भवेत् प्रीतिरिह प्रेत्य च शाश्वती ।
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ॥ १६ ॥
कृत्वा कार्यमकार्यं वा तुष्टिमेषां प्रयच्छति ।
तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ॥ १७ ॥
सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति ।

धर्माचरण करनेसे इस लोकमें प्रसन्नता प्राप्त होती है और मृत्युके पश्चात् परलोकमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है । जिसपर मोहका आवेश होता है, वही स्त्री-पुत्रोंके लिये तरह-तरहके काम-धंधोंकी खटपटमें लगा रहता है । वह करने और न करने योग्य काम करके भी इन सबको संतोष देता है । पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो जब मनुष्यका मन उन्हींमें आसक्त रहता है, उसी समय जैसे नदीका महान् जलप्रवाह अपने तटपर सोये हुए व्याघ्रको बहा ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस मनुष्यको लेकर चल देती है ।१६-१७½।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ॥ १८ ॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ।

वह भोग-सामग्रियोंका संयम करता और कामनाओंसे अतृप्त ही रहता है । तभी मृत्यु आकर उसे उसी तरह उठा ले जाती है, जैसे बाघिन भेड़के पास पहुँचकर उसे दबोच लेती है ॥१८½ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ॥ १९ ॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति ।

मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस कामको अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधनेमें लगे हुए उस मनुष्यको मौत लेकर चल देती है ॥ १९½ ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसङ्गिनाम् ॥ २० ॥
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति ।

वह अपने खेत, दूकान और घरके ही चक्करमें पड़ा रहता है । उनके लिये तरह-तरहके कर्मोंमें फँसता है; परंतु उनका फल मिलने भी नहीं पाता कि मौत उसको इस संसारसे उठा ले जाती है ॥ २०½ ॥

दुर्बलं बलवन्तं च प्राज्ञं शूरं जडं कविम् ॥ २१ ॥
अप्राप्तसर्वकामार्थं मृत्युरादाय गच्छति ।

मनुष्य दुर्बल हो या बलवान्, बुद्धिमान् हो या शूरवीर अथवा मूर्ख हो या विद्वान्—मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २१½ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ॥ २२ ॥
असंत्याज्यं यदा मर्त्यैः किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ।

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका ताँता बँधा ही रहता है और मनुष्य किसी प्रकार भी उनसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते, तब ऐसी दशामें आप निश्चिन्त-से क्यों बैठे हैं?॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चाभ्येति देहिनम् ॥ २३ ॥
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ।

मनुष्यके जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालनेके लिये अन्तक (यमराज) उसके पीछे लग जाता है और बुढ़ापा भी देहधारीके पास आता ही है । समस्त चराचर पदार्थ इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २३½ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ॥ २४ ॥
बलात् सत्यमृते त्वेकं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ।

एकमात्र सत्यके बिना कोई भी मनुष्य कभी सामने आती हुई मृत्युकी सेनाको बलपूर्वक नहीं दबा सकता (अतः असत्यको त्यागकर सत्यका ही आश्रय लेना चाहिये)। क्योंकि सत्यमें ही अमृत (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है ॥ २४½ ॥

मृत्योर्वा गृहमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २५ ॥
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ।

गाँव या नगरमें रहकर स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना—यह मृत्युका घर ही है । 'यदरण्यम्' इस श्रुतिके अनुसार जो वानप्रस्थ-आश्रम है, यह देवताओंकी गोशालाके समान है॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २६ ॥
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ।

गाँवोंमें रहकर विषय-भोगोंमें आसक्त होना—यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। केवल पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं । पापी पुरुष इसे नहीं काट सकते ॥ २६½ ॥

यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ॥ २७ ॥
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते ।

जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणोंद्वारा किसी भी प्राणीकी जीविकाका अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धनके कष्टमें नहीं डालते ॥ २७½ ॥

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः ॥ २८ ॥
सत्यकामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्।

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्यरूपी व्रतके पालनमें तत्पर रहना चाहिये। वह सत्यकी कामना करे। सबके प्रति समान भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्यके द्वारा ही मृत्युपर विजय प्राप्त करे ॥ २८½ ॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्।

अमृत और मृत्यु—ये दोनों इस शरीरमें ही विद्यमान हैं। मोहसे मृत्यु प्राप्त होती है और सत्यसे अमृतपदकी उपलब्धि होती है ॥ २९½ ॥

सोऽहं सत्यमहिंसार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ॥ ३० ॥
समाश्रित्य सुखं क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमृत्युवत्।

अतः अब मैं काम और क्रोधको त्यागकर अहिंसा-धर्मके पालनकी इच्छा करूँगा। सत्यका आश्रय लेकर कल्याणका भागी बनूँगा और अमरकी भाँति मृत्युको दूर हटा दूँगा ॥ ३०½ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ॥ ३१ ॥
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर, जितेन्द्रिय, ब्रह्मयज्ञपरायण एवं मननशील होकर मैं जप-स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और शास्त्रविहित कर्मोंका निष्काम-भावसे आचरणरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३१½ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ॥ ३२ ॥
अन्तवद्भिरुत प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत्।

मेरे-जैसा ज्ञानवान् पुरुष हिंसाप्रधान पशुयज्ञोंद्वारा कैसे यजन कर सकता है? अथवा पिशाचके समान विनाश-शील क्षत्रिय—यज्ञोंके अनुष्ठानमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजः पितः ॥ ३३ ॥
आत्मयज्ञो भविष्यामि न मां तारयति प्रजा।

पिताजी! मैं आत्मासे अपने आपमें ही उत्पन्न हुआ हूँ। अपने आपमें ही स्थित हूँ। मेरे कोई संतान नहीं है। मैं आत्मयज्ञका ही यजमान होऊँगा। मुझे संतान नहीं तार सकती है ॥ ३३½ ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ॥ ३४ ॥
तपस्त्यागश्च योगश्च स तैः सर्वमवाप्नुयात्।

जिसकी वाणी और मन सदा एकाग्र रहते हैं तथा जिसमें तप, त्याग और योग—तीनोंका समावेश है, वह उनके द्वारा सब कुछ पा लेता है ॥ ३४½ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं फलम् ॥ ३५ ॥
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३६ ॥

संसारमें ब्रह्मविद्याके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५-३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

ब्रह्ममें एकीभाव, समता, सत्यपरायणता, सदाचारनिष्ठा, दण्डका त्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे निवृत्ति—इनके समान ब्राह्मणका दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव (पिताजी)! जब एक दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बन्धु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोंसे क्या प्रयोजन है! अपनी हृदयगुहामें विराजमान आत्माकी खोज कीजिये। सोचिये तो सही, आज आपके पिताजी कहाँ हैं, दादा-बाबा कहाँ चले गये ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा तथाकार्षीत् पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! पुत्रका यह वचन सुनकर उसके पिताने सब कुछ उसके कथनानुसार किया। उसी प्रकार तुम भी सत्य और धर्ममें तत्पर होकर उसी प्रकार आचरण करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादे सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रका संवादविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहनेवाला पुरुष प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो पुरुष मोक्षधर्मोंमें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर ॥)

युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें हारीत मुनिने जो ज्ञानका उपदेश किया है, इस विषयमें विज्ञ पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

स्वगृहादभिनिस्सृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ३ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले ॥ ३ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥ ४ ॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे । किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे ॥ ४ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ५ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे । सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे । इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे ॥५॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कंचन ।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥ ६ ॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले । किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे । कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले । यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत् ।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः ॥ ७ ॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीकी पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय ॥ ७ ॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत् ।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥ ८ ॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे । बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन ही निकाले । सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे । किसीके प्रति कठोरता न करे । निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये ॥ ८ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः ॥ ९ ॥

जब रसोईघरसे धूआँ निकलना बंद हो जाय, अनाज-मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका संचार—रसोई परोसी हुई थाली-का इधर-उधर ले जाया जाना बंद हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः ।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत् ॥ १० ॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये । भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ाका अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो ॥ १० ॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः ॥ ११ ॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे । जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे । मुमुक्षु पुरुषको आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत् ।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ १२ ॥

भिक्षामें मिले. हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा

न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा ही करे। सोने और बैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे॥

शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत्॥ १३॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, जंगल अथवा पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्मचिन्तनमें ही लगा रहे॥ १३॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा॥ १४॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो जाय तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे॥ १४॥

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥ १५॥

सर्वदा तृप्त और संतुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखे। भयको पास न आने दे। प्रणव आदिका जप करता रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे॥ १५॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ १६॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन—जन्म और मरण—बारंबार होते रहते हैं। यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे (फल, मूल आदि) से जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभके लिये जो शान्तचित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलाने योग्य है॥ १६॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥ १७॥

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे। दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे॥ १७॥

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत् पवित्रं परमं परिव्राजक आश्रमे॥ १८॥

प्रशंसा और निन्दा—दोनोंमें समान भाव रखकर उदासीन ही रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण परम पवित्र माना गया है॥ १८॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः॥ १९॥

संन्यासीको महामनस्वी, सब प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे असङ्ग, सौम्य, मठ और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये। उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये॥ १९॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्।
अज्ञातलिप्सां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्॥ २०॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये तथा अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये॥ २०॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्॥ २१॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है। हारीत मुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है॥ २१॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते॥ २२॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीतायां अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हारीतगीताविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्या धन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत।
न दुःखिततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति ह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! सभी लोग हमलोगोंको धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है॥ १॥

लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम।
प्राप्य जातिं मनुष्येषु देवैरपि पितामह॥ २॥

कुरुश्रेष्ठ पितामह ! देवताओंद्वारा मानवलोकमें जन्म पाकर तथा सब लोगोंद्वारा सम्मानित होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम् ।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरुसत्तम ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! संसारी मनुष्य जिसे दुःख कहते हैं, उस संन्यासका अवलम्बन हमलोग कब करेंगे ? हमें तो इन शरीरोंका धारण करना ही दुःख जान पड़ता है ॥ ३ ॥

विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः ।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह ॥ ४ ॥
न गच्छन्ति पुनर्भावं मुनयः संशितव्रताः ।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप ॥ ५ ॥

पितामह ! पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न—ये संसारके पाँच हेतु; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण तथा पाँच भूतोंसहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वोंके समुदाय सब मिलाकर अड़तीस तत्त्व होते हैं । इन सबसे मुक्त हुए तीक्ष्ण व्रतधारी मुनि पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं । परंतप पितामह ! हमलोग भी कब अपना राज्य छोड़कर इसी स्थितिको प्राप्त होंगे ॥ ४-५ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यनन्तं महाराज सर्वं संख्यानगोचरः ।
पुनर्भावोऽपि विख्यातो नास्ति किंचिदिहाचलम् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! दुःख अनन्त नहीं हैं । जगत्की सभी वस्तुएँ संख्याकी सीमामें ही हैं—असंख्य नहीं हैं । पुनर्जन्म भी नश्वरताके लिये विख्यात ही है । तात्पर्य यह कि इस जगत्में कोई भी वस्तु अचल या स्थायी नहीं है ॥ ६ ॥

न चापि मन्यसे राजन्नेष दोषः प्रसङ्गतः ।
उद्योगादेव धर्मज्ञाः कालेनैव गमिष्यथ ॥ ७ ॥

तुम जो ऐसा मानते हो कि ऐश्वर्य दोषकारक होता है, क्योंकि वह आसक्तिका हेतु होनेके कारण मोक्षका प्रतिबन्धक है तो तुम्हारी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि तुम सब लोग धर्मके ज्ञाता हो । स्वयं ही उद्योग करके शम, दम आदि साधनोंद्वारा कुछ ही कालमें मोक्ष प्राप्त कर सकते हो ॥ ७ ॥

नेशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः ।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! यह जीवात्मा पुण्य और पापके फल सुख और दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उन पुण्य और पापोंसे उत्पन्न संस्काररूप अन्धकारसे यह आच्छन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

यथाञ्जनमयो वायुः पुनर्मानःशिलं रजः ।
अनुप्रविश्य तद्वर्णो दृश्यते रञ्जयन् दिशः ॥ ९ ॥
तथा कर्मफलैर्देही रञ्जितस्तमसाऽऽवृतः ।
विवर्णो वर्णमाश्रित्य देहेषु परिवर्तते ॥ १० ॥

जैसे अन्धकारमयी वायु मैनसिलके लाल-पीले चूर्णमें प्रवेश करके उसीके रंगसे युक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको रँगती दिखायी देती है, उसी प्रकार स्वभावतः वर्णविहीन यह जीवात्मा तमोमय अज्ञानसे आवृत और कर्मफलसे रञ्जित हो वही वर्ण ग्रहण कर अर्थात् विभिन्न शरीरोंके धर्मोंको स्वीकार करके समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें घूमता रहता है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानेन हि यदा जन्तुरज्ञानप्रभवं तमः ।
व्यपोहति तदा ब्रह्म प्रकाशति सनातनम् ॥ ११ ॥

जब जीव तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानजनित अन्धकारको दूर कर देता है, तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ ११ ॥

अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति
ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः ।
त्वया च लोकेन च सामरेण
तस्मान्नमस्यामि महर्षिसङ्घान् ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनि कहते हैं कि ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है । इसके लिये तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्को और तुमको उन पुरुषोंकी उपासना करनी चाहिये, जो जीवन्मुक्त हैं; अतएव मैं महर्षियोंके समुदायको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शृणुष्वैकमना नृप ।
यथा दैत्येन वृत्रेण भ्रष्टैश्वर्येण चेष्टितम् ॥ १३ ॥
निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत ।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलाम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है । उसे एकचित्त होकर सुनो । भरतनन्दन ! पूर्वकालमें वृत्रासुर पराजित और ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया था । उसका कोई सहायक नहीं रह गया था । देवताओंने उसका राज्य छीन लिया था । उस दशामें पड़कर भी उस असुरने जैसी चेष्टा की थी, उसीका इस कथामें वर्णन है । वह शत्रुओंके बीचमें रहकर भी आसक्तिशून्य बुद्धिका आश्रय ले शोक नहीं करता था ॥ १३-१४ ॥

भ्रष्टैश्वर्यं पुरा वृत्रमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
कच्चित् पराजितस्याद्य न व्यथा तेऽस्ति दानव ॥ १५ ॥

पूर्वकालकी बात है कि वृत्रासुरको ऐश्वर्यभ्रष्ट हुआ देख शुक्राचार्यने उससे पूछा—'दानवराज ! तुम्हें देवताओंने पराजित कर दिया है तो भी आजकल तुम्हारे चित्तमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं है; इसका क्या कारण है ?' ॥ १५ ॥

वृत्र उवाच

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम्।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम्॥ १६॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! मैंने सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आवागमनका रहस्य निश्चितरूपसे जान लिया है; इसलिये मैं उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता हूँ॥ १६॥

कालसंचोदिता जीवा मज्जन्ति नरकेऽवशाः।
परितुष्टानि सर्वाणि दिव्यान्याहुर्मनीषिणः॥ १७॥

कालसे प्रेरित हुए जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप विवश होकर नरकमें डूबते हैं और पुण्यके फलसे वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्द भोगते हैं। ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है॥ १७॥

क्षपयित्वा तु तं कालं गणितं कालचोदिताः।
सावशेषेण कालेन सम्भवन्ति पुनः पुनः॥ १८॥

इस प्रकार स्वर्ग अथवा नरकमें कर्मफलभोगद्वारा निश्चित समय व्यतीत करके भोगनेसे बचे हुए कर्मसहित कालकी प्रेरणासे वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते रहते हैं॥ १८॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च।
निर्गच्छन्त्यवशा जीवाः कामबन्धनबन्धनाः॥ १९॥

कामनाओंके बन्धनमें बँधकर विवश हुए कितने ही जीव सहस्रों बार तिर्यक्‌योनि तथा नरकमें पड़कर पुनः वहाँसे निकलते हैं॥ १९॥

एवं संसरमाणानि जीवान्यहमदृष्टवान्।
यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्॥ २०॥

इस प्रकार मैंने सभी जीवोंको जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ देखा है। शास्त्रका भी ऐसा सिद्धान्त है कि जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल मिलता है॥ २०॥

तिर्यग् गच्छन्ति नरकं मानुष्यं दैवमेव च।
सुखदुःखे प्रिये द्वेष्ये चरित्वा पूर्वमेव ह॥ २१॥

प्राणी पहले ही सुख-दुःख तथा प्रिय और अप्रिय-विषयोंमें विचरण करके कर्मके अनुसार नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि अथवा देवयोनिमें जाते हैं॥ २१॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः सर्वो लोकः प्रपद्यते।
गतं गच्छन्ति चाध्वानं सर्वभूतानि सर्वदा॥ २२॥

समस्त जीव जगत्-विधाताके विधानसे ही परिचालित हो सुख-दुःख पाता है और समस्त प्राणी सदा चले हुए मार्गपर ही चलते हैं॥ २२॥

कालसंख्यानसंख्यातं सृष्टिस्थितिपरायणम्।
तं भाषमाणं भगवानुशना प्रत्यभाषत।
धीमान् दुष्टप्रलापांस्त्वं तात कस्मात् प्रभाषसे॥ २३॥

जो काल नामसे प्रसिद्ध एवं सृष्टि और पालनके परम आश्रय हैं, उन परमात्माका प्रतिपादन करते हुए वृत्रासुरकी बात सुनकर भगवान् शुक्राचार्यने उससे कहा—'तात! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो, फिर ये असुरभावके विपरीत दोषयुक्त निरर्थक वचन कैसे कह रहे हो?'॥ २३॥

वृत्र उवाच

प्रत्यक्षमेतद् भवतस्तथान्येषां मनीषिणाम्।
मया यज्जयलुब्धेन पुरा तप्तं महत् तपः॥ २४॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! आपने तथा दूसरे मनीषी महानुभावोंने यह तो प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने पहले विजयके लोभसे बड़ी भारी तपस्या की थी॥ २४॥

गन्धानादाय भूतानां रसांश्च विविधानपि।
अवर्धं त्रीन् समाक्रम्य लोकान् वै स्वेन तेजसा॥ २५॥

मैं बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था; अतः मैंने अपने ही तेजसे तीनों लोकोंपर आक्रमण करके दूसरे प्राणियोंको धूलमें मिलाकर उनके उपभोगकी गन्ध और रस आदि विविध वस्तुएँ छीन ली थीं॥ २५॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो वैहायसचरस्तथा।
अजेयः सर्वभूतानामासं नित्यमपेतभीः॥ २६॥

मेरे शरीरसे आगकी लपटें निकलती थीं और मैं ज्वाला-मालाओंसे घिरकर सदा आकाशमें निर्भय विचरता हुआ समस्त प्राणियोंके लिये अजेय हो गया था॥ २६॥

ऐश्वर्यं तपसा प्राप्तं भ्रष्टं तच्च स्वकर्मभिः।
धृतिमास्थाय भगवन् न शोचामि ततस्त्वहम्॥ २७॥

भगवन्! इस प्रकार मैंने तपस्याके प्रभावसे जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, वह मेरे अपने ही कर्मोंसे नष्ट हो गया। तथापि मैं धैर्य धारण करके उसके लिये शोक नहीं करता हूँ॥

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः॥ २८॥

महामनस्वी पुरुषप्रवर देवराज इन्द्र जब युद्धकी इच्छासे मेरे सामने आये, उस समय उनके साथ उन्हींकी सहायताके लिये आये हुए सबके प्रभु भगवान् श्रीनारायण हरिका मैंने दर्शन किया था॥ २८॥

वैकुण्ठः पुरुषोऽनन्तः शुक्लो विष्णुः सनातनः।
मुञ्जकेशो हरिश्मश्रुः सर्वभूतपितामहः॥ २९॥

वे भगवान् वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, शुक्ल, विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु तथा सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं॥

नूनं तु तस्य तपसः सावशेषमिहास्ति वै।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि भगवन् कर्मणः फलम्॥ ३०॥

भगवन्! अवश्य ही मेरी उस तपस्याका कोई अंश अब भी शेष रह गया है, अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करना चाहता हूँ॥ ३०॥

ऐश्वर्यं वै महद् ब्रह्म वर्णे कस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

निवर्तते चापि पुनः कथमैश्वर्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य और महद् ब्रह्म किस वर्णमें प्रतिष्ठित हैं ? तथा वह उत्तम ऐश्वर्य कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥

कस्माद् भूतानि जीवन्ति प्रवर्तन्ते तथा पुनः ।
किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः ॥ ३२ ॥

प्राणी किस हेतुसे जीवन धारण करते हैं ? तथा किस कारणसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ? जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है ? ॥३२॥

केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा ।
तदवाप्तुं फलं विप्र तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३३ ॥

विप्रवर ! किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ३३ ॥

इतीदमुक्तः स मुनिस्तदानीं
प्रत्याह यत् तच्छृणु राजसिंह ।
मयोच्यमानं पुरुषर्षभ त्व-
मनन्यचित्तः सह सोदरीयैः ॥ ३४ ॥

राजसिंह ! पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! उसके ऐसा प्रश्न करनेपर मुनिवर शुक्राचार्यने उस समय उसे जो उत्तर दिया, उसे मैं बता रहा हूँ, तुम अपने भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्र-गीताविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शङ्काका निवारण

उशनोवाच

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे ।
यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरः ॥ १ ॥

शुक्राचार्यने कहा—तात ! आकाशसहित यह सारी पृथ्वी जिनकी भुजाओंके बलपर स्थित है, महान् प्रभावशाली उन भगवान् विष्णुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

मूर्धा यस्य त्वनन्तं च स्थानं दानवसत्तम ।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

दानवश्रेष्ठ ! जिनका मस्तक और स्थान भी अनन्त है, उन भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य मैं तुम्हें बताऊँगा ॥

तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः ।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै ॥ ३ ॥

शुक्राचार्य और वृत्रासुरमें ये बातें हो ही रही थीं कि वहाँ महामुनि धर्मात्मा सनत्कुमार उनके संशयका निवारण करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स पूजितोऽसुरेन्द्रेण मुनिनोशनसा तथा ।
निषसादासने राजन् महार्हे मुनिपुङ्गवः ॥ ४ ॥

राजन् ! असुरराज वृत्र और मुनि शुक्राचार्यके द्वारा पूजित हो मुनिवर सनत्कुमार एक बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ४ ॥

तमासीनं महाप्रज्ञमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
ब्रूह्यस्मै दानवेन्द्राय विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब महाज्ञानी सनत्कुमार आरामसे बैठ गये, तब शुक्राचार्यने उनसे कहा—'भगवन् ! आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइये' ॥ ५ ॥

सनत्कुमारस्तु ततः श्रुत्वा प्राह वचोऽर्थवत् ।
विष्णोर्माहात्म्यसंयुक्तं दानवेन्द्राय धीमते ॥ ६ ॥

यह सुनकर सनत्कुमारजीने बुद्धिमान् दानवराज वृत्रासुरके प्रति भगवान् विष्णुकी महिमासे युक्त यह सार्थक वचन कहा—॥ ६ ॥

शृणु सर्वमिदं दैत्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
विष्णौ जगत् स्थितं सर्वमिति विद्धि परंतप ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दैत्य ! भगवान् विष्णुका यह सम्पूर्ण उत्तम माहात्म्य सुनो—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह समस्त संसार भगवान् विष्णुमें ही स्थित है ॥

सृजत्येष महाबाहो भूतग्रामं चराचरम् ।
एष चाक्षिपते काले काले विसृजते पुनः ॥ ८ ॥

'पर महाबाहो ! ये श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं और ये ही समय आनेपर उसका विनाश करते हैं एवं समय आनेपर पुनः सृष्टि भी करते हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् गच्छन्ति विलयमस्माच्च प्रभवन्त्युत ।
नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया ।
सम्प्राप्तुमिन्द्रियाणां तु संयमेनैव शक्यते ॥ ९ ॥

'समस्त प्राणी इन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं और इन्हींसे प्रकट भी होते हैं । इन्हें कोई शास्त्रज्ञान, तपस्या और यज्ञके द्वारा भी नहीं पा सकता । केवल इन्द्रियोंके संयमसे ही उनकी उपलब्धि हो सकती है ॥ ९ ॥

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणोर्मनसि स्थितः ।
निर्मलीकुरुते बुद्ध्या सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ १० ॥

'जो बाह्य (यज्ञ आदि) और आभ्यन्तर (शम, दम

सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट

आदि) कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनके विषयमें स्थिरता प्राप्त करके अर्थात् मनको स्थिर करके बुद्धिके द्वारा उसे निर्मल बनाता है, वह परलोकमें अक्षय सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

यथा हिरण्यकर्ता वै रूप्यमग्नौ विशोधयेत्।
बहुशोऽतिप्रयत्नेन महताऽऽत्मकृतेन ह ॥ ११ ॥
तद्वज्जातिशतैर्जीवः शुद्ध्यतेऽनेन कर्मणा।
यत्नेन महता चैवाप्येकजातौ विशुद्ध्यते ॥ १२ ॥

'जैसे सोनार बारंबार किये हुए अपने महान् प्रयत्नके द्वारा चाँदीको आगमें डालकर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार जीव सैकड़ों जन्मोंमें अपने मनको शुद्ध कर पाता है; परंतु इस यज्ञ आदि और शम-दम आदि कर्मोंद्वारा यदि वह महान् प्रयत्न करे तो एक ही जन्ममें शुद्ध हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यादात्मनो रजः।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा ॥ १३ ॥

'जैसे अपने शरीरमें लगी हुई थोड़ी-सी धूलको मनुष्य साधारण चेष्टासे खेल-खेलमें ही झाड़-पोंछ देता है, उसी प्रकार बारंबार किये हुए महान् प्रयत्नसे वह अपने राग-द्वेष आदि दोषोंको भी दूर कर सकता है ॥ १३ ॥

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम्।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम् ॥ १४ ॥

'जैसे थोड़े-से पुष्प एवं मालाद्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार थोड़े-से प्रयत्नसे न तो दोष दूर होते हैं और न सूक्ष्म ब्रह्मका साक्षात्कार ही हो पाता है ॥ १४ ॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धे च तिष्ठति ॥ १५ ॥
एवं जातिशतैर्युक्तो गुणैरेव प्रसङ्गिषु।
बुद्ध्या निवर्तते दोषो यत्नेनाभ्यासजेन ह ॥ १६ ॥

'वही तिल या सरसोंका तेल बहुत-से सुगन्धित पुष्पोंद्वारा बारंबार वासित होनेपर अपनी गन्धको छोड़ देता है और उस फूलकी गन्धमें ही स्थित हो जाता है। उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंमें स्त्री-पुत्र आदिके संसर्गसे युक्त तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा प्रवर्तित दोषसमूह बुद्धि तथा अभ्यासजनित यत्नसे निवृत्त हो पाता है ॥ १५-१६ ॥

कर्मणा स्वनुरक्तानि विरक्तानि च दानव।
यथा कर्मविशेषांश्च प्राप्नुवन्ति तथा शृणु ॥ १७ ॥

'दनुनन्दन ! कर्मसे अनुरक्त और कर्मसे विरक्त होनेवाले प्राणिसमूह जिस प्रकार राग और विरागके हेतुभूत विभिन्न कर्मोंको प्राप्त होते हैं, वह सुनो ॥ १७ ॥

यथावत् सम्प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तिष्ठन्ति वा विभो।
तत् तेऽनुपूर्व्या व्याख्यास्ये तदिहैकमनाः शृणु ॥ १८ ॥

'प्रभो ! जिस प्रकार वे कर्ममें प्रवृत्त होते तथा जिस निमित्तसे उसमें स्थित होते हैं और जिस अवस्थामें उससे निवृत्त हो जाते हैं, वह सब मैं तुमसे क्रमशः बताऊँगा। तुम उसे यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १८ ॥

अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
देवः सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ १९ ॥

'श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्तसे रहित हैं। वे ही चराचर प्राणियोंकी रचना करते हैं ॥ १९ ॥

स वै सर्वेषु भूतेषु क्षरश्चाक्षर एव च।
एकादशविकारात्मा जगत् पिबति रश्मिभिः ॥ २० ॥

'वे ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षर और अक्षररूपसे विद्यमान हैं। ग्यारह इन्द्रियोंका जो वैकारिक[1] सर्ग है, वह भी उन्हींका स्वरूप है। वे अपनी चैतन्यमयी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिवमित्युत।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च ॥ २१ ॥
तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम्।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

'दैत्यराज ! पृथ्वीको भगवान् विष्णुके दोनों चरण समझो, स्वर्गलोकको मस्तक जानो, ये चारों दिशाएँ उनकी चार भुजाएँ हैं, आकाश कान है, तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, मन चन्द्रमा है, बुद्धि (महत्तत्त्व) उनकी नित्य ज्ञानवृत्ति है और जल रसनेन्द्रिय है ॥ २१-२२ ॥

भ्रुवोरनन्तरास्तस्य ग्रहा दानवसत्तम।
नक्षत्रचक्रं नेत्राभ्यां पादयोर्भूश्च दानव ॥ २३ ॥

'दानवप्रवर ! सम्पूर्ण ग्रह उनकी दोनों भौंहोंके बीचमें स्थित हैं। नक्षत्रमण्डल नेत्रोंसे प्रकट हुआ है। दनुनन्दन ! यह पृथ्वी उनके दोनों चरणोंमें स्थित हैं ॥ २३ ॥

(तं विद्धि भूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम्।)
रजस्तमश्च सत्त्वं च विद्धि नारायणात्मकम्।
सोऽऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः ॥ २४ ॥

'उन्हें तुम सम्पूर्ण भूतस्वरूप, इस जगत्का आदिकारण और परमेश्वर समझो। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको नारायणमय ही मानो। तात ! समस्त आश्रमोंका

१. श्रीविष्णुपुराणमें तीन प्रकारकी प्राकृत सृष्टि बतायी गयी है—पहली महत्तत्त्वकी सृष्टि है, जिसे यहाँ 'क्षर' शब्दसे कहा गया है। दूसरी भूत-सृष्टि मानी गयी है, जो तन्मात्राओंकी सृष्टि है। यहाँ 'भूतेषु' पदके द्वारा उसीकी ओर संकेत किया गया है। 'एकादशविकारात्मा' इस पदके द्वारा तीसरी सृष्टिका निर्देश किया गया है, जिसे वैकारिक अथवा ऐन्द्रियक सर्ग भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारह तत्त्वोंकी रचना हुई है।

फल वे ही हैं। विद्वान् पुरुष समस्त कर्मोंद्वारा प्राप्तव्य फल उन्हींको मानते हैं ॥ २४ ॥

अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती ॥ २५ ॥

'कर्मोंका त्यागरूप जो संन्यास है, उसका फल भी वे ही अविनाशी परमात्मा हैं। वेद-मन्त्र उनके रोम हैं तथा प्रणव उनकी वाणी है ॥ २५ ॥

बह्वाश्रयो बहुमुखो धर्मो हृदि समाश्रितः।
स ब्रह्म परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः ॥ २६ ॥

'बहुत-से वर्ण और आश्रम उनके आश्रय हैं, उनके अनेक मुख हैं। हृदयमें आश्रित धर्म भी उन्हींका स्वरूप है। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही आत्मदर्शनरूप परम धर्म हैं। वे ही तप और सदसत्स्वरूप हैं ॥ २६ ॥

श्रुतिशास्त्रग्रहोपेतः षोडशर्त्विक् क्रतुश्च सः।
पितामहश्च विष्णुश्च सोऽश्विनौ स पुरंदरः।
मित्रोऽथ वरुणश्चैव यमोऽथ धनदस्तथा ॥ २७ ॥

'श्रुति (वेद), शास्त्र और सोमपात्रसहित सोलह[1] ऋत्विजोंवाला यज्ञ भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, अश्विनीकुमार, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं ॥ २७ ॥

ते पृथग्दर्शनास्तस्य संविदन्ति तथैकताम्।
एकस्य विद्धि देवस्य सर्वं जगदिदं वशे ॥ २८ ॥

'उनका दर्शन पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे अपनी एकताको जानते हैं। तुम भी इस सम्पूर्ण जगत्‌को एक परमात्मदेवके ही अधीन समझो ॥ २८ ॥

नानाभूतस्य दैत्येन्द्र तस्यैकत्वं वदत्ययम्।
जन्तुः पश्यति विज्ञानात् ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ २९ ॥

'दैत्यराज ! अनेक रूपोंमें प्रकट हुए उन परमात्माकी एकताका यह वेद प्रतिपादन करता है। जीव विज्ञानबलसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। उस समय उसकी बुद्धिमें वह ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ २९ ॥

संहारविक्षेपसहस्रकोटी-
स्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये।
प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं
वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य ॥ ३० ॥

'कितने ही जीव करोड़ों कल्पोंतक स्थावररूपसे एक स्थानमें स्थित रहते हैं और कितने ही उतने समयतक इधर-उधर विचरते रहते हैं। दैत्यप्रवर ! प्रजाके सृष्टिका परिमाण कई हजार बावड़ियोंकी संख्याके समान है ॥

वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः
क्रोशं च गम्भीरतयावगाढाः।
आयामतः पञ्चशताश्च सर्वाः
प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः ॥ ३१ ॥
वाप्या जलं क्षिप्यति वालकोट्या
त्वह्ना सकृच्चाप्यथ न द्वितीयम्।
तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं
संहारमेकं च तथा प्रजानाम् ॥ ३२ ॥

'वे सारी बावड़ियाँ पाँच सौ योजन चौड़ी, पाँच सौ योजन लंबी और एक-एक कोस गहरी हों। गहराई इतनी हो कि कोई उनमें प्रवेश न कर सके। तात्पर्य यह कि प्रत्येक बावड़ी बहुत लंबी-चौड़ी और गहरी हो—उनमेंसे एक बावड़ीके जलको कोई दिनभरमें एक ही बार एक बालकी नोकसे उलीचे, दूसरी बार न उलीचे। इस प्रकार उलीचनेसे उन सारी बावड़ियोंका जल जितने समयमें समाप्त हो सकता है, उतने ही समयमें प्राणियोंकी सृष्टि और संहारके क्रमकी समाप्ति हो सकती है (अर्थात् जैसे उक्त प्रकारसे उलीचनेपर उन बावड़ियोंका जल सूखना असम्भव है, वैसे ही बिना ज्ञानके संसारका उच्छेद होना असम्भव है।) ॥ ३१-३२ ॥

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं
कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु
हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥ ३३ ॥

'प्राणियोंके वर्ण छः प्रकारके हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्रा (पीला) और शुक्ल[1]। इनमेंसे कृष्ण, धूम्र

---

[1] सोलह ऋत्विजोंके नाम इस प्रकार हैं—१—ब्रह्मा, २—ब्राह्मणाच्छंसी, ३—आग्नीध्र और ४—पोता—ये चार ऋत्विज सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होते हैं। ५—होता, ६—मैत्रावरुण, ७—अच्छावाक और ८—ग्रावस्तोता—ये चार ऋत्विज ऋग्वेदी होते हैं। ९—अध्वर्यु, १०—प्रतिप्रस्थाता, ११—नेष्टा और १२—उन्नेता—ये चार यजुर्वेदी होते हैं। १३—उद्गाता, १४—प्रस्तोता, १५—प्रतिहर्ता तथा १६—सुब्रह्मण्य—ये सामवेदके गायक होते हैं।

[1] जब तमोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोगुणकी सम अवस्था हो, तब कृष्णवर्ण होता है। यह स्थावर सृष्टिका रंग माना गया है। तमोगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और सत्त्वगुणकी सम अवस्था होनेपर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षीकी योनिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंका वर्ण माना गया है। रजोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था होनेपर नीलवर्ण होता है। यह मानवसर्गका वर्ण बताया गया है। इसीमें जब सत्त्वगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनावस्था हो तो मध्यमवर्ण होता है। उसका रंग लाल होता है। इसे अनुग्रह सर्ग कहते हैं। जब सत्त्वगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था हो तो हरिद्राके समान पीतवर्ण होता है। यही देवताओंका वर्ण है, अतः इसे देवसर्ग कहते हैं। उसीमें जब रजोगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है। इसीको कौमारसर्ग कहा गया है।

और नील वर्णका सुख मध्यम होता है। रक्तवर्ण विशेष रूपसे सहन करने योग्य होता है। हरिद्राकी-सी कान्ति सुख देनेवाली होती है और शुक्लवर्ण अत्यन्त सुखदायक होता है ॥

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं
गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र ।
गत्वा तु योनिप्रभवाणि दैत्य
सहस्रशः सिद्धिमुपैति जीवः ॥ ३४ ॥

'दानवराज ! शुक्लवर्ण निर्मल, शोकहीन, परिश्रमशून्य होनेके कारण सिद्धिकारक होता है। दितिकुलनन्दन ! जीव सहस्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेके बाद मनुष्य-योनिमें आकर कभी सिद्धि लाभ करता है ॥ ३४ ॥

गतिं च यां दर्शनमाह देवो
गत्वा शुभं दर्शनमेव चापि ।
गतिः पुनर्वर्णकृता प्रजानां
वर्णस्तथा कालकृतोऽसुरेन्द्र ॥ ३५ ॥

'असुरेन्द्र ! देवराज इन्द्रने मंगलमय तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हमारे निकट जिस गति और दर्शन-शास्त्रका वर्णन किया है, वह प्राणियोंकी वर्णजनित गति है अर्थात् शुक्लवर्णवालोंको वही सिद्धि प्राप्त होती है। वह वर्ण कालकृत माना गया है ॥

शतं सहस्राणि चतुर्दशेह
परागतिर्जीवगणस्य दैत्य ।
आरोहणं तत्कृतमेव विद्धि
स्थानं तथा निःसरणं च तेषाम् ॥ ३६ ॥

'दैत्यप्रवर ! इस जगत्‌में समस्त जीव-समुदायकी परागति चौदह लाख बतायी गयी है। (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चौदह करण हैं। इन्हींके भेदसे चौदह प्रकारकी गति होती है। फिर विषय-भेदसे वृत्तिभेद होनेके कारण चौदह लाख प्रकारकी गति होती है।) जीवका जो ऊर्ध्वलोकोंमें गमन होता है, वह भी उन्हीं चौदह करणोंद्वारा सम्पादित होता है। विभिन्न स्थानोंमें जो स्थिरतापूर्वक निवास है, वह और उन स्थानोंसे जो उन जीवोंका अधःपतन होता है, वह भी उन्हींके सम्बन्धसे होता है। इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो (अतः इन चौदह करणोंको सात्त्विक मार्गाभिमुखी बनाना चाहिये) ॥ ३६ ॥

कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा
स सज्जते नरके पच्यमानः ।
स्थानं तथा दुर्गतिभिस्तु तस्य
प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति ॥ ३७ ॥

'कृष्णवर्णकी गति नीच बतायी गयी है। वह नरक प्रदान करनेवाले निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त होता है, इसीलिये नरककी आगमें पकाया जाता है। वह कुमार्गमें प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त चौदह करणोंद्वारा पापाचार करनेके कारण अनेक कल्पोंतक नरकमें ही निवास करता है—ऐसा ऋषि-मुनि कहते हैं ॥ ३७ ॥

शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा
प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात् ।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो
युगक्षये तपसा संवृतात्मा ॥ ३८ ॥

'तदनन्तर वह जीव लाखों बार (या लाखों वर्षोंतक) नरकमें विचरण करके फिर धूम्रवर्ण पाता है (पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म लेता है)। उस योनिमें भी वह विवश होकर बड़े दुःखसे निवास करता है। फिर युगक्षय होनेपर वह तप (पुरातन पुण्यकर्म या विवेक) के प्रभावसे सुरक्षित होकर उस संकटसे उद्धार पा जाता है ॥ ३८ ॥

स वै यदा सत्त्वगुणेन युक्त-
स्तमो व्यपोहन् घटते स्वबुद्ध्या ।
स लोहितं वर्णमुपैति नीलान्
मनुष्यलोके परिवर्तते च ॥ ३९ ॥

'वही जीव जब सत्त्वगुणसे युक्त होता है, तब अपनी बुद्धिके द्वारा तमोगुणकी प्रवृत्तिको दूर हटाता हुआ अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है। उस समय सत्त्वगुणके बढ़ जानेपर वह रक्तवर्णको प्राप्त होता है (इसीको अनुग्रह सर्ग कहा गया है, चित्तकी विभिन्न वृत्तियोंपर अनुग्रह करनेवाले देवविशेषका ही नाम 'अनुग्रह' है)। जब सत्त्वगुणमें कुछ कमी रह जाती है, तब वह जीव नीलवर्णको प्राप्त होकर मनुष्यलोकमें आवागमन करने लगता है ॥ ३९ ॥

स तत्र संहारविसर्गमेकं
स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः ।
ततः स हारिद्रमुपैति वर्णं
संहारविक्षेपशते व्यतीते ॥ ४० ॥

'तत्पश्चात् वह मनुष्यलोकमें एक कल्पतक स्वधर्मजनित बन्धनोंसे बँधकर क्लेश उठाता हुआ जब धीरे-धीरे अपनी तपस्याको बढ़ाता है, तब हल्दीकी-सी कान्तिवाले पीतवर्ण—देवताभावको प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों कल्प व्यतीत कर लेनेपर वह पुनः पुण्यक्षयके पश्चात् मनुष्य होता है (इस प्रकार वह देवतासे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होता रहता है)॥

हारिद्रवर्णस्तु प्रजाविसर्गात्
सहस्रशस्तिष्ठति संचरन् वै ।
अविप्रमुक्तो निरये च दैत्य
ततः सहस्राणि दशापराणि ॥ ४१ ॥
गतीः सहस्राणि च पञ्च तस्य
चत्वारि संवर्तकृतानि चैव ।
विमुक्तमेनं निरयाच्च विद्धि
सर्वेषु चान्येषु च सम्भवेषु ॥ ४२ ॥

'दैत्य ! सहस्रों कल्पोंतक देवरूपसे विचरते रहनेपर भी

जीव विषयभोगसे मुक्त नहीं होता तथा प्रत्येक कल्पमें किये हुए अशुभ कर्मोंके फलोंको नरकमें रहकर भोगता हुआ जीव उन्नीस[1] हजार विभिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उसे नरकसे छुटकारा मिलता है। मनुष्यके सिवा अन्य सभी योनियोंमें केवल सुख-दुःखके भोग प्राप्त होते हैं। मोक्षका सुयोग हाथ नहीं लगता है। इस बातको तुम्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

स देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं
ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।
संहारविक्षेपशतानि चाष्टौ
मर्त्येषु तिष्ठत्यमृतत्वमेति ॥ ४३ ॥

'वह जीव निरन्तर देवलोकमें विहार करता है और वहाँसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। मर्त्यलोकमें वह आठ सौ कल्पोंतक बारंबार जन्म लेता रहता है। तत्पश्चात् शुभकर्म करके वह पुनः देवभावको प्राप्त करता है (यह आवागमनका चक्र तभीतक चलता है, जबतक जीवको परमज्ञान या अनन्य भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति होनेपर तो वह मुक्त या परमात्माको प्राप्त हो जाता है।) ॥ ४३ ॥

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात्
कृष्णे तले तिष्ठति सर्वकृष्टे।
यथा त्वयं सिद्ध्यति जीवलोक-
स्तत् तेऽभिधास्याम्यसुरप्रवीर ॥ ४४ ॥

'असुरोंके प्रमुख वीर! वह जीव कालक्रमसे अशुभ कर्म करके कभी-कभी मर्त्यलोकसे भी नीचे गिर जाता है और सबसे निकृष्ट, तलप्रदेशकी भाँति निम्नतम, कृष्णवर्ण (स्थावर योनि) में जन्म ग्रहण करके स्थित होता है। इस प्रकार उत्थान-पतनके चक्रमें पड़े हुए इस जीवसमूहको जिस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ४४ ॥

दैवानि स व्यूहशतानि सप्त
रक्तो हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः।
संश्रित्य संधावति शुक्लमेत-
मष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान् ॥ ४५ ॥

'क्रमशः रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता), हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण (सनकादिकुमारों-जैसा सिद्ध शरीरधारी) होकर वह जीव बारी-बारीसे सात सौ दिव्य शरीरोंका आश्रय ले भू आदि सात उत्तमोत्तम लोकोंमें विचरण करके पूर्व पुण्यके प्रभावसे वेगपूर्वक विशुद्ध ब्रह्मलोकमें चला जाता है ॥ ४५ ॥

१. दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस भोगके साधन हैं, विषय और वृत्तियोंके भेदसे इन्हींके उतने ही सौ और उतने ही हजार प्रकार हो जाते हैं।

अष्टौ च षष्टिं च शतानि चैव
मनोनिरुद्धानि महाद्युतीनाम्।
शुक्लस्य वर्णस्य परा गतिर्या
त्रीण्येव रुद्धानि महानुभाव ॥ ४६ ॥

'महानुभाव वृत्रासुर! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ—ये आठ, तथा दूसरे साठ[1] तत्त्व और इनकी जो सैकड़ों वृत्तियाँ हैं—ये सब महातेजस्वी योगियोंके मनके द्वारा अवरुद्ध की हुई होती हैं। तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको भी वे अवरुद्ध कर देते हैं। अतः शुक्लवर्णवाले (सनकादिकोंके समान सिद्ध) पुरुषको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वही उन योगियोंको मिलती है ॥

संहारविक्षेपमनिष्टमेकं
चत्वारि चान्यानि वसत्यनीशः।
षष्ठस्य वर्णस्य परा गतिर्या
सिद्धा विसिद्धस्य गतक्लमस्य ॥ ४७ ॥

'जो परमगति छठे (शुक्ल) वर्णके साधकको मिलती है, उसे पानेका अधिकार भ्रष्ट करके भी जो असिद्ध हो रहा है एवं जिसके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं ऐसा योगी भी यदि योगजनित ऐश्वर्यके सुखभोगकी वासनाका त्याग करनेमें असमर्थ है तो वह न चाहनेपर भी एक कल्पतक अपनी साधनाके फलरूप महर्, जन, तप और सत्य—इन चारों लोकोंमें क्रमशः निवास करता है (और कल्पके अन्तमें मुक्त हो जाता है) ॥ ४७ ॥

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः
संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके
ततो महान् मानुषतामुपैति ॥ ४८ ॥

'किंतु जो भलीभाँति योगसाधनमें असमर्थ है, वह योगभ्रष्ट पुरुष सौ कल्पोंतक ऊपरके सात लोकोंमें निवास करता है। फिर बचे हुए कर्मसंस्कारोंके सहित वहाँसे लौटकर मनुष्यलोकमें पहलेसे बढ़कर महत्त्वसम्पन्न हो मनुष्यशरीरको पाता है ॥ ४८ ॥

तस्मादुपावृत्य ततः क्रमेण
सोऽग्रेण संतिष्ठति भूतसर्गम्।
स सप्तकृत्वश्च परैति लोकान्
संहारविक्षेपकृतप्रभावः ॥ ४९ ॥

'तदनन्तर मनुष्ययोनिसे निकलकर वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ देवादि योनियोंकी ओर अग्रसर होता है एवं सातों लोकोंमें प्रभावशाली होकर एक कल्पतक निवास करता है ॥ ४९ ॥

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस इन्द्रियाँ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके भेदसे प्रत्येक छः-छः प्रकारकी होती हैं। इस प्रकार इनके साठ भेद हो जाते हैं।

सप्तैव संहारमुपप्लवानि
सम्भाव्य संतिष्ठति जीवलोके।
ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति
देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च।
शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव
देवस्य विष्णोः परमस्य चैव ॥ ५० ॥

'फिर वह योगी भू आदि सात लोकोंको विनाशशील क्षणभङ्गुर समझकर पुनः मनुष्यलोकमें भलीभाँति (शोक-मोहसे रहित होकर) निवास करता है। तदनन्तर शरीरका अन्त होनेपर वह अव्यय (अविनाशी या निर्विकार) एवं अनन्त (देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य) स्थान (परब्रह्मपद) को प्राप्त होता है। वह अव्यय एवं अनन्त स्थान किसीके मतमें महादेवजीका कैलासधाम है। किसीके मतमें भगवान् विष्णुका वैकुण्ठधाम है । किसीके मतमें ब्रह्माजीका सत्यलोक है। कोई-कोई उसे भगवान् शेष या अनन्तका धाम बताते हैं। कोई वह जीवका ही परमधाम है—ऐसा कहते हैं और कोई-कोई उसे सर्वव्यापी चिन्मय प्रकाशसे युक्त परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं ॥ ५० ॥

संहारकाले परिदग्धकाया
ब्रह्माणमायान्ति सदा प्रजा हि।
चेष्टात्मनो देवगणाश्च सर्वे
ये ब्रह्मलोकेऽपराः स्म तेऽपि ॥ ५१ ॥

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सूक्ष्म, स्थूल और कारणशरीर दग्ध हो गये हैं, वे प्रजाजन अर्थात् योगीलोग प्रलयकालमें सदा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं एवं जो ब्रह्मलोकसे नीचेके लोकोंमें रहनेवाले साधनशील दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न साधक हैं, वे सब परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

प्रजाविसर्गं तु सशेषकाले
स्थानानि स्वान्येव सरन्ति जीवाः।
निःशेषतस्तत्पदं यान्ति चान्ते
सर्वे देवा ये सदृशा मनुष्याः ॥ ५२ ॥

'प्रलयकालमें जो जीव देवभावको प्राप्त थे, वे यदि अपने सम्पूर्ण कर्मफलोंका उपभोग समाप्त करनेसे पहले ही लयको प्राप्त हो जाते हैं तो कल्पान्तरमें पुनः प्रजाकी सृष्टि होनेपर वे शेष फलका उपभोग करनेके लिये उन्हीं स्थानोंको प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पूर्वकल्पमें प्राप्त थे; किंतु जो कल्पान्तमें उस योनिसम्बन्धी कर्मफल-भोगको पूर्ण कर चुके हैं, वे स्वर्गलोकका नाश हो जानेपर दूसरे कल्पमें उनके जैसे कर्म हैं, उसीके सदृश अन्य प्राणियोंकी भाँति मनुष्य-योनिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

ये तु च्युताः सिद्धलोकात् क्रमेण
तेषां गतिं यान्ति तथाऽऽनुपूर्व्या।
जीवाः परे तद्बलतुल्यरूपाः
स्वं स्वं विधिं यान्ति विपर्ययेण ॥ ५३ ॥

'जो योगी सिद्धलोकसे गिरकर मृत्युलोकमें आये हैं, उनके समान साधनबलसे सम्पन्न जो अन्य योगी हैं, वे भी एक लोकसे दूसरे लोकमें ऊपर उठते हुए क्रमशः उन सिद्ध पुरुषोंकी ही गतिको प्राप्त होते हैं। परंतु जो वैसे नहीं हैं, वे विपरीतभावके कारण अपनी-अपनी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

स यावदेवास्ति सशेषभुक् ते
प्रजाश्च देव्यौ च तथैव शुक्रे।
तावत् तदङ्गेषु विशुद्धभावः
संयम्य पञ्चेन्द्रियरूपमेतत् ॥ ५४ ॥

'विशुद्धभावसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष जबतक पञ्चेन्द्रिय-रूप इस करणसमुदायका संयम करके शेष प्रारब्ध कर्मका उपभोग करता है, तबतक उसके शरीरमें समस्त प्रजागणोंका अर्थात् इन्द्रियोंके देवताओंका तथा अपरा और परा विद्याका निवास रहता है ॥ ५४ ॥

शुद्धां गतिं तां परमां परैति
शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन्।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म
दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै ॥ ५५ ॥

'जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसंधान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व
नारायणस्येह बलं मया ते ॥ ५६ ॥

'उत्कृष्ट बलशाली दैत्यराज ! इस प्रकार यहाँ मैंने तुमसे यह भगवान् नारायणका बल एवं प्रभाव बताया है' ॥

वृत्र उवाच

एवं गते मे न विषादोऽस्ति कश्चित्
सम्यक् च पश्यामि वचस्तथैतत्।
श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व
विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा ॥ ५७ ॥

वृत्रासुर बोला—उदारचित्त महात्मा सनत्कुमारजी ! यदि ऐसी बात है तो मुझे कोई विषाद नहीं है। मैं आपके वचनको अच्छी तरह समझता और इसे यथार्थ मानता हूँ। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आपकी इस वाणीको सुनकर मेरे सारे पाप और कलुष दूर हो गये ॥ ५७ ॥

प्रवृत्तमेतद् भगवन् महर्षे
महाद्युतेश्चक्रमनन्तवीर्यम् ।
विष्णोरनन्तस्य सनातनं तत्
स्थानं सर्गा यत्र सर्वे प्रवृत्ताः।

स वै महात्मा पुरुषोत्तमो वै
तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्॥५८॥

भगवन् ! महर्षे ! महातेजस्वी, अनन्त एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका यह अमित शक्तिशाली संसारचक्र चल रहा है। यह भगवान् विष्णुका वह सनातन स्थान है, जहाँसे सारी सृष्टियोंका आरम्भ होता है। महात्मा विष्णु पुरुषोत्तम हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥५८॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स कौन्तेय वृत्रः प्राणानवासृजत्।
योजयित्वा तथाऽऽत्मानं परं स्थानमवाप्तवान्॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! ऐसा कहकर वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परमधामको प्राप्त कर लिया ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं स भगवान् देवः पितामह जनार्दनः।
सनत्कुमारो वृत्राय यत्तदाख्यातवान् पुरा॥ ६० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालमें महात्मा सनत्कुमारने वृत्रासुरसे जिनके स्वरूपका वर्णन किया था, वे भगवान् विष्णु—ये हमारे जनार्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं ? ॥

भीष्म उवाच

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा।
तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः।६१।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मूल-कारणरूपसे स्थित, महान् देव, महामनस्वी भगवान् नारायण हैं। वे अपने उस चिन्मय स्वरूपमें स्थित होकर अपने प्रभावसे नाना प्रकारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ६१ ॥

तुरीयांशेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम्।
तुरीयार्धेन लोकांस्त्रीन् भावयत्येव बुद्धिमान्॥ ६२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णको तुम उस श्रीनारायणके एक चतुर्थ अंशसे सम्पन्न समझो। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्थ अंशसे ही तीनों लोकोंकी रचना करते हैं ॥ ६२ ॥

अर्वाक् स्थितस्तु यः स्थायी कल्पान्ते परिवर्तते।
स शेते भगवानप्सु योऽसावतिबलः प्रभुः।
तान् विधाता प्रसन्नात्मा लोकांश्चरति शाश्वतान्।६३।

जो परवर्ती सनातन नारायण प्रलयकालमें भी विद्यमान हैं, वे ही अत्यन्त बलशाली और सबके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि कल्पान्तमें जलके भीतर शयन करते हैं तथा वे प्रसन्नात्मा सृष्टिकर्ता ईश्वर उन समस्त शाश्वत लोकोंमें विचरण करते हैं ॥

सर्वाण्यशून्यानि करोत्यनन्तः
सनातनः संचरते च लोकान्।
स चानिरुद्धः सृजते महात्मा
तत्स्थं जगत् सर्वमिदं विचित्रम्॥ ६४ ॥

अनन्त एवं सनातन भगवान् श्रीहरि समस्त कारणोंको सत्ता और स्फूर्ति देकर परिपूर्ण करते और लीलावपु धारण करके लोकोंमें विचरण करते हैं। उन महापुरुषकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। वे ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण विचित्र विश्व प्रतिष्ठित है ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वृत्रेण परमार्थज्ञ दृष्टा मन्येऽऽत्मनो गतिः।
शुभा तस्मात् स सुखितो न शोचति पितामह॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परमार्थतत्त्वके ज्ञाता पितामह ! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुरने आत्माके शुभ एवं यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया था; इसीलिये वह सुखी था, शोक नहीं करता था ॥ ६५ ॥

शुक्लः शुक्लाभिजातीयः साध्यो नावर्ततेऽनघ।
तिर्यग्गतेश्च निर्मुक्तो निरयाच्च पितामह॥ ६६ ॥

निष्पाप पितामह ! वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुआ था और स्वभावसे भी शुद्ध था। जान पड़ता है वह साध्य नामक देवता ही था; इसीलिये पुनः संसारमें नहीं लौटा। वह पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकसे छुटकारा पा गया ॥ ६६ ॥

हारिद्रवर्णे रक्ते वा वर्तमानस्तु पार्थिव।
तिर्यगेवानुपश्येत कर्मभिस्तामसैर्वृतः॥ ६७ ॥

पृथ्वीनाथ ! पीतवर्णवाले देवसर्गमें तथा रक्तवर्णवाले अनुग्रहसर्गमें विद्यमान प्राणी कभी तामस कर्मोंसे आवृत होकर तिर्यग्योनिका भी दर्शन कर सकता है ॥ ६७ ॥

वयं तु भृशमापन्ना रक्ता दुःखसुखेऽसुखे।
कां गतिं प्रतिपत्स्यामो नीलां कृष्णाधमामथ॥ ६८ ॥

हमलोग तो और भी अधिक आपत्तिसे घिरे हुए हैं। दुःख-सुखसे मिश्रित भावमें अथवा केवल दुःखमय भावमें आसक्त हैं। ऐसी दशामें पता नहीं हमें किस गतिकी प्राप्ति होगी। हम नीलवर्णवाली मानव-योनिमें पड़ेंगे या कृष्णवर्णवाली स्थावर योनिसे भी हीनदशाको जा पहुँचेंगे ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः पाण्डवाः संशितव्रताः।
विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुषमेष्यथ॥ ६९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम सभी पाण्डव विशुद्ध कुलसे सम्पन्न और तीक्ष्ण व्रतोंका भलीभाँति पालन करनेवाले हो; अतः देवताओंके लोकोंमें विहार करके पुनः मनुष्य-शरीरको ही प्राप्त करोगे ॥ ६९ ॥

प्रजाविसर्गं च सुखेन काले
प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा।
सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां
मा वो भयं भूद् विमलाः स्थ सर्वे॥ ७० ॥

तुम सब लोग यथासमय सुखसे संतानोत्पादन करके

देवलोकोंमें जाकर सुख भोगोगे। तत्पश्चात् सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करके सिद्धोंमें गिने जाओगे। तुम्हारे मनमें दुर्गतिका भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम सब लोग निर्मल एवं निष्पाप हो ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रगीताविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णोर्भक्तिश्च तादृशी ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! अमित तेजस्वी वृत्रासुरकी धर्मनिष्ठा अद्भुत थी। उसका विज्ञान भी अनुपम था और भगवान् विष्णुके प्रति उसकी भक्ति भी वैसी ही उच्चकोटिकी थी ॥ १ ॥

दुर्विज्ञेयं पदं तात विष्णोरमिततेजसः।
कथं वा राजशार्दूल पदं तु ज्ञातवानसौ ॥ २ ॥

तात! अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुके स्वरूपका ज्ञान तो अत्यन्त कठिन है। नृपश्रेष्ठ! उस वृत्रासुरने उस परमपदका ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ २ ॥

भवता कथितं ह्येतच्छ्रद्दधे चाहमच्युत।
भूयस्तु मे समुत्पन्ना बुद्धिरव्यक्तदर्शनात् ॥ ३ ॥

आपने इस घटनाका वर्णन किया है; इसलिये मैं इसे सत्य मानता और इसपर विश्वास करता हूँ; क्योंकि आप कभी सत्यसे विचलित नहीं होते हैं तथापि यह बात स्पष्टरूपसे मेरी समझमें नहीं आयी है; अतः पुनः मेरी बुद्धिमें प्रश्न उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥

कथं विनिहतो वृत्रः शक्रेण पुरुषर्षभ।
धार्मिको विष्णुभक्तश्च तत्त्वज्ञश्च पदान्वये ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर! वृत्रासुर धर्मात्मा, भगवान् विष्णुका भक्त और वेदान्तके पदोंका अन्वय करके उनके तात्पर्यको ठीक-ठीक समझनेमें कुशल था तो भी इन्द्रने उसे कैसे मार डाला? ॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि पृच्छते भरतर्षभ।
वृत्रस्तु राजशार्दूल यथा शक्रेण निर्जितः ॥ ५ ॥

भरतभूषण! नृपश्रेष्ठ! मैं यह बात आपसे पूछता हूँ, आप मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। इन्द्रने वृत्रासुरको कैसे परास्त किया? ॥ ५ ॥

यथा चैवाभवद् युद्धं तच्चाचक्ष्व पितामह।
विस्तरेण महाबाहो परं कौतूहलं हि मे ॥ ६ ॥

महाबाहु पितामह! इन्द्र और वृत्रासुरमें किस प्रकार युद्ध हुआ था, यह विस्तारपूर्वक बताइये; इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

रथेनेन्द्रः प्रयातो वै सार्धं देवगणैः पुरा।
ददर्शाथाग्रतो वृत्रं धिष्ठितं पर्वतोपमम् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालकी बात है, इन्द्र रथपर आरूढ़ हो देवताओंको साथ ले वृत्रासुरसे युद्ध करनेके लिये चले। उन्होंने अपने सामने खड़े हुए पर्वतके समान विशालकाय वृत्रको देखा ॥ ७ ॥

योजनानां शतान्यूर्ध्वं पञ्चोच्छ्रितमरिंदम।
शतानि विस्तरेणाथ त्रीण्येवाभ्यधिकानि वै ॥ ८ ॥

शत्रुदमन नरेश! वह पाँच सौ योजन ऊँचा था और कुछ अधिक तीन सौ योजन उसकी मोटाई थी ॥ ८ ॥

तत् प्रेक्ष्य तादृशं रूपं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम्।
वृत्रस्य देवाः संत्रस्ता न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ९ ॥

वृत्रासुरका वह वैसा रूप, जो तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय था, देखकर देवतालोग डर गये। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ९ ॥

शक्रस्य तु तदा राजन्नूरुस्तम्भो व्यजायत।
भयाद् वृत्रस्य सहसा दृष्ट्वा तद्रूपमुत्तमम् ॥ १० ॥

राजन्! उस समय वृत्रासुरका वह उत्तम एवं विशाल रूप देखकर सहसा भयके मारे इन्द्रकी दोनों जाँघें अकड़ गयीं ॥

ततो नादः समभवद् वादित्राणां च निःस्वनः।
देवासुराणां सर्वेषां तस्मिन् युद्धे ह्युपस्थिते ॥ ११ ॥

तदनन्तर वह युद्ध उपस्थित होनेपर समस्त देवताओं और असुरोंके दलोंमें रणवाद्योंका भीषण नाद होने लगा ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य दृष्ट्वा शक्रमवस्थितम्।
न सम्भ्रमो न भीः काचिदास्था वा समजायत ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! इन्द्रको खड़ा देखकर भी वृत्रासुरके मनमें न तो घबराहट हुई, न कोई भय हुआ और न इन्द्रके प्रति उसकी कोई युद्धविषयक चेष्टा ही हुई ॥ १२ ॥

ततः समभवद् युद्धं त्रैलोक्यस्य भयंकरम्।
शक्रस्य च सुरेन्द्रस्य वृत्रस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

फिर तो देवराज इन्द्र और महामनस्वी वृत्रासुरमें भारी युद्ध छिड़ गया, जो तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ १३ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैः शक्तितोमरमुद्गरैः।
शिलाभिर्विविधाभिश्च कार्मुकैश्च महास्वनैः ॥ १४ ॥
शस्त्रैश्च विविधैर्दिव्यैः पावकोल्काभिरेव च।
देवासुरैस्ततः सैन्यैः सर्वमासीत् समाकुलम् ॥ १५ ॥

उस समय तलवार, पट्टिश, त्रिशूल, शक्ति, तोमर, मुद्गर, नाना प्रकारकी शिला, भयानक टङ्कार करनेवाले धनुष, अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र तथा आगकी ज्वालाओंसे एवं देवताओं और असुरोंकी सेनाओंसे यह सारा आकाश व्याप्त हो गया ॥

पितामहपुरोगाश्च सर्वे देवगणास्तथा।
ऋषयश्च महाभागास्तद् युद्धं द्रष्टुमागमन् ॥ १६ ॥
विमानाग्र्यैर्महाराज सिद्धाश्च भरतर्षभ।
गन्धर्वाश्च विमानाग्र्यैरप्सरोभिः समागमन् ॥ १७ ॥

भरतभूषण महाराज ! ब्रह्मा आदि समस्त देवता, महाभाग ऋषि, सिद्धगण तथा अप्सराओंसहित गन्धर्व—ये सबके सब श्रेष्ठ विमानोंपर आरूढ़ हो उस अद्भुत युद्धका दृश्य देखनेके लिये वहाँ आ गये थे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽन्तरिक्षमावृत्य वृत्रो धर्मभृतां वरः।
अश्मवर्षेण देवेन्द्रं समाकिरदभिद्रुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरने आकाशको घेरकर बड़ी उतावलीके साथ देवराज इन्द्रपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १८ ॥

ततो देवगणाः क्रुद्धाः सर्वतः शरवृष्टिभिः।
अश्मवर्षमपोहन्त वृत्रप्रेरितमाहवे ॥ १९ ॥

यह देख देवगण कुपित हो उठे। उन्होंने युद्धमें सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करके वृत्रासुरके चलाये हुए पत्थरोंकी वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

वृत्रस्तु कुरुशार्दूल महामायो महाबलः।
मोहयामास देवेन्द्रं मायायुद्धेन सर्वशः ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! महामायावी महाबली वृत्रासुरने सब ओरसे मायामय युद्ध छेड़कर देवराज इन्द्रको मोहमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोह आसीच्छतक्रतोः।
रथन्तरेण तं तत्र वसिष्ठः समबोधयत् ॥ २१ ॥

वृत्रासुरसे पीड़ित हुए इन्द्रपर मोह छा गया। तब वसिष्ठजीने रथन्तर सामद्वारा वहाँ इन्द्रको सचेत किया ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

देवश्रेष्ठोऽसि देवेन्द्र दैत्यासुरनिबर्हण।
त्रैलोक्यबलसंयुक्तः कस्माच्छक्र विषीदसि ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—देवेन्द्र ! तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ हो। दैत्यों तथा असुरोंका संहार करनेवाले शक्र ! तुम तो त्रिलोकीके बलसे सम्पन्न हो; फिर इस प्रकार विषादमें क्यों पड़े हो ? ॥ २२ ॥

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवश्चैव जगत्पतिः।
सोमश्च भगवान् देवः सर्वे च परमर्षयः ॥ २३ ॥
(समुद्विग्नं समीक्ष्य त्वां स्वस्तीत्यूचुर्जयाय ते।)

ये जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा भगवान् सोमदेव और समस्त महर्षि तुम्हें उद्विग्न देखकर तुम्हारी विजयके लिये स्वस्तिवाचन कर रहे हैं ॥ २३ ॥

मा कार्षीः कश्मलं शक्र कश्चिदेवेतरो यथा।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि शत्रून् सुराधिप ॥ २४ ॥

इन्द्र ! किसी साधारण मनुष्यके समान तुम कायरता न प्रकट करो। सुरेश्वर ! युद्धके लिये श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर अपने शत्रुओंका संहार करो ॥ २४ ॥

एष लोकगुरुस्त्र्यक्षः सर्वलोकनमस्कृतः।
निरीक्षते त्वां भगवांस्त्यज मोहं सुराधिप ॥ २५ ॥

देवराज ! ये सर्वलोकवन्दित लोकगुरु भगवान् त्रिलोचन शिव तुम्हारी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। तुम मोहको त्याग दो ॥ २५ ॥

एते ब्रह्मर्षयश्चैव बृहस्पतिपुरोगमाः।
स्तवेन शक्र दिव्येन स्तुवन्ति त्वां जयाय वै ॥ २६ ॥

शक्र ! ये बृहस्पति आदि ब्रह्मर्षि तुम्हारी विजयके लिये दिव्य स्तोत्रद्वारा स्तुति कर रहे हैं ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एवं सम्बोध्यमानस्य वसिष्ठेन महात्मना।
अतीव वासवस्यासीद् बलमुत्तमतेजसः ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा वसिष्ठके द्वारा इस प्रकार सचेत किये जानेपर महातेजस्वी इन्द्रका बल बहुत बढ़ गया ॥

ततो बुद्धिमुपागम्य भगवान् पाकशासनः।
योगेन महता युक्तस्तां मायां व्यपकर्षत ॥ २८ ॥

तब भगवान् पाकशासनने उत्तम बुद्धिका आश्रय ले महान् योगसे युक्त हो उस मायाको नष्ट कर दिया ॥ २८ ॥

ततोऽङ्गिरःसुतः श्रीमांस्ते चैव सुमहर्षयः।
दृष्ट्वा वृत्रस्य विक्रान्तमुपागम्य महेश्वरम् ॥ २९ ॥
ऊचुर्वृत्रविनाशार्थं लोकानां हितकाम्यया।

तदनन्तर अङ्गिराके पुत्र श्रीमान् बृहस्पति तथा बड़े-बड़े महर्षियोंने जब वृत्रासुरका पराक्रम देखा, तब महादेवजीके पास आकर लोकहितकी कामनासे वृत्रासुरके विनाशके लिये उनसे निवेदन किया ॥ २९½ ॥

ततो भगवतस्तेजो ज्वरो भूत्वा जगत्पतेः ॥ ३० ॥
समाविशत् तदा रौद्रो वृत्रं लोकपतिं तदा।

तब जगदीश्वर भगवान् शिवका तेज रौद्र ज्वर होकर लोकेश्वर वृत्रके शरीरमें समा गया ॥ ३०½ ॥

विष्णुश्च भगवान् देवः सर्वलोकाभिपूजितः ॥ ३१ ॥
ऐन्द्रं समाविशद् वज्रं लोकसंरक्षणे रतः।

फिर लोकरक्षापरायण सर्वलोकपूजित देवेश्वर भगवान् विष्णुने भी इन्द्रके वज्रमें प्रवेश किया ॥ ३१½ ॥

ततो बृहस्पतिर्धीमानुपागम्य शतक्रतुम्।

वसिष्ठश्च महातेजाः सर्वे च परमर्षयः ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य वरदं वासवं लोकपूजितम् ।
ऊचुरेकाग्रमनसो जहि वृत्रमिति प्रभो ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् बृहस्पति, महातेजस्वी वसिष्ठ तथा सम्पूर्ण महर्षि वरदायक, लोकपूजित शतक्रतु इन्द्रके पास जाकर एकाग्रचित्त हो इस प्रकार बोले—'प्रभो ! वृत्रासुरका वध करो' ॥ ३२-३३ ॥

महेश्वर उवाच

एष वृत्रो महाञ्शक्र बलेन महता वृतः ।
विश्वात्मा सर्वगश्चैव बहुमायश्च विश्रुतः ॥ ३४ ॥

महेश्वर बोले—इन्द्र ! यह महान् वृत्रासुर बड़ी भारी सेना-से घिरा हुआ तुम्हारे सामने खड़ा है । ज्ञाननिष्ठ होनेके कारण यह सम्पूर्ण विश्वका आत्मा है । इसमें सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति है । यह अनेक प्रकारकी मायाओंका सुविख्यात ज्ञाता भी है ॥ ३४ ॥

तदेनमसुरश्रेष्ठं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम् ।
जहि त्वं योगमास्थाय मावमंस्थाः सुरेश्वर ॥ ३५ ॥

सुरेश्वर ! यह श्रेष्ठ असुर तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय है । तुम योगका आश्रय लेकर इसका वध करो । इसकी अवहेलना न करो ॥ ३५ ॥

अनेन हि तपस्तप्तं बलार्थममराधिप ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि ब्रह्मा चास्मै वरं ददौ ॥ ३६ ॥

अमरेश्वर ! इस वृत्रासुरने बलकी प्राप्तिके लिये ही साठ हजार वर्षोंतक तप किया था और तब ब्रह्माजीने इसे मनो-वाञ्छित वर दिया था ॥ ३६ ॥

महत्त्वं योगिनां चैव महामायत्वमेव च ।
महाबलत्वं च तथा तेजश्चाग्र्यं सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

सुरेन्द्र ! उन्होंने इसे योगियोंकी महिमा, महामायावी-पन, महान् बल-पराक्रम तथा सर्वश्रेष्ठ तेज प्रदान किया है ॥

एतत् त्वां मामकं तेजः समाविशति वासव ।
व्यग्रमेनं त्वमप्येनं वज्रेण जहि दानवम् ॥ ३८ ॥

वासव ! लो, यह मेरा तेज तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करता है । इस समय दानव वृत्र ज्वरके कारण बहुत व्यग्र हो रहा है; इसी अवस्थामें तुम वज्रसे इसे मार डालो ॥ ३८ ॥

शक्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादेन दितिजं सुदुरासदम् ।
वज्रेण निहनिष्यामि पश्यतस्ते सुरर्षभ ॥ ३९ ॥

इन्द्रने कहा—भगवन् ! सुरश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे इस दुर्धर्ष दैत्यको मैं आपके देखते-देखते वज्रसे मार डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

आविश्यमाने दैत्ये तु ज्वरेणाथ महासुरे ।
देवतानामृषीणां च हर्षान्नादो महानभूत् ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब महादैत्य वृत्रासुरके शरीरमें ज्वरने प्रवेश किया, तब देवता और ऋषियोंका महान् हर्षनाद वहाँ गूँज उठा ॥ ४० ॥

ततो दुन्दुभयश्चैव शङ्खाश्च सुमहास्वनाः ।
मुरजा डिण्डिमाश्चैव प्रावाद्यन्त सहस्रशः ॥ ४१ ॥

फिर तो दुन्दुभियाँ, जोर-जोरसे बजनेवाले शङ्ख, ढोल और नगाड़े आदि सहस्रों बाजे बजाये जाने लगे ॥ ४१ ॥

असुराणां तु सर्वेषां स्मृतिलोपो महानभूत् ।
मायानाशश्च बलवान् क्षणेन समपद्यत ॥ ४२ ॥

समस्त असुरोंकी स्मरण-शक्तिका बड़ा भारी लोप हो गया । क्षणभरमें उनकी सारी मायाओंका पूर्णरूपसे विनाश हो गया ॥ ४२ ॥

तथाविष्टमथो ज्ञात्वा ऋषयो देवतास्तथा ।
स्तुवन्तः शक्रमीशानं तथा प्राचोदयन्नपि ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वृत्रासुरमें महादेवजीके ज्वरका आवेश हुआ जान देवता और ऋषि देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति करते हुए उन्हें वृत्रवधके लिये प्रेरणा देने लगे ॥ ४३ ॥

रथस्थस्य हि शक्रस्य युद्धकाले महात्मनः ।
ऋषिभिः स्तूयमानस्य रूपमासीत् सुदुर्दृशम् ॥ ४४ ॥

युद्धके समय रथपर बैठकर ऋषियोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए महामना इन्द्रका रूप ऐसा तेजस्वी प्रतीत होता था कि उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रवधे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रासुरका वधविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और उससे प्रकट हुई ब्रह्महत्याका ब्रह्माजीके द्वारा चार स्थानोंमें विभाजन

भीष्म उवाच

वृत्रस्य तु महाराज ज्वराविष्टस्य सर्वशः ।
अभवन् यानि लिङ्गानि शरीरे तानि मे शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! ज्वरसे आविष्ट हुए वृत्रासुरके शरीरमें जो लक्षण प्रकट हुए थे, उन्हें मुझसे सुनो ॥

ज्वलितास्योऽभवद् घोरो वैवर्ण्यं चागमत् परम् ।
गात्रकम्पश्च सुमहाञ्श्वासश्चाप्यभवन्महान् ॥ २ ॥

उसके मुखमें विशेष जलन होने लगी । उसकी आकृति बड़ी भयानक हो गयी । अङ्गकान्ति बहुत फीकी पड़ गयी । शरीर जोर-जोरसे काँपने लगा तथा बड़े वेगसे साँस चलने लगी ॥

रोमहर्षश्च तीव्रोऽभून्निःश्वासश्च महान् नृप ।
शिवा चाशिवसंकाशा तस्य वक्त्रात् सुदारुणा ॥ ३ ॥

निष्पपात महाघोरा स्मृतिः सा तस्य भारत ।

नरेश्वर ! उसके सारे शरीरमें तीव्र रोमाञ्च हो आया। वह लंबी साँस खींचने लगा। भरतनन्दन ! वृत्रासुरके मुखसे अत्यन्त भयंकर अकल्याणस्वरूपा महाघोर गीदड़ीके रूपमें उसकी स्मरणशक्ति ही बाहर निकल पड़ी ॥ ३½ ॥

उल्काश्च ज्वलितास्तस्य दीप्ताः पार्श्वे प्रपेदिरे ॥ ४ ॥
गृध्राः कङ्का बलाकाश्च वाचोऽमुञ्चन् सुदारुणाः ।
वृत्रस्योपरि संहृष्टाश्चक्रवत् परिबभ्रमुः ॥ ५ ॥

उसके पार्श्वभागमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित उल्काएँ गिरने लगीं। गीध, कंक, बगले आदि भयंकर पक्षी अपनी बोली सुनाने लगे और एक दूसरेसे सटकर वृत्रासुरके ऊपर चक्रकी भाँति घूमने लगे ॥ ४-५ ॥

ततस्तं रथमास्थाय देवाप्यायित आहवे ।
वज्रोद्यतकरः शक्रस्तं दैत्यं समवैक्षत ॥ ६ ॥

तदनन्तर महादेवजीके तेजसे परिपुष्ट हो वज्र हाथमें लिये हुए इन्द्रने रथपर बैठकर युद्धमें उस दैत्यकी ओर देखा ॥

अमानुषमथो नादं स मुमोच महासुरः ।
व्यजृम्भच्चैव राजेन्द्र तीव्रज्वरसमन्वितः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! इसी समय तीव्र ज्वरसे पीड़ित हो उस महान् असुरने अमानुषी गर्जना की और बारंबार जँभाई ली ॥ ७ ॥

अथास्य जृम्भतः शक्रस्ततो वज्रमवासृजत् ।
स वज्रः सुमहातेजाः कालाग्निसदृशोपमः ॥ ८ ॥

जँभाई लेते समय ही इन्द्रने उसके ऊपर वज्रका प्रहार किया। वह महातेजस्वी वज्र कालाग्निके समान जान पड़ता था ॥

क्षिप्रमेव महाकायं वृत्रं दैत्यमपातयत् ।
ततो नादः समभवत् पुनरेव समन्ततः ॥ ९ ॥
वृत्रं विनिहतं दृष्ट्वा देवानां भरतर्षभः ।

उसने उस महाकाय दैत्य वृत्रासुरको तुरंत ही धराशायी कर दिया*। भरतश्रेष्ठ ! फिर तो वृत्रासुरको मारा गया देख चारों ओरसे देवताओंका सिंहनाद वहाँ बारंबार गूँजने लगा ॥

वृत्रं तु हत्वा मघवा दानवारिर्महायशाः ॥ १० ॥
वज्रेण विष्णुयुक्तेन दिवमेव समाविशत् ।

दानवशत्रु महायशस्वी इन्द्रने विष्णुके तेजसे व्याप्त हुए वज्रके द्वारा वृत्रासुरका वध करके पुनः स्वर्गलोकमें ही प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य शरीरादभिनिःसृता ॥ ११ ॥
ब्रह्मवध्या महाघोरा रौद्रा लोकभयावहा ।
करालदशना भीमा विकृता कृष्णपिङ्गला ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर वृत्रासुरके मृत शरीरसे सम्पूर्ण जगत्को भय देनेवाली महाघोर एवं क्रूर स्वभाववाली ब्रह्महत्या प्रकट हुई। उसके दाँत बड़े विकराल थे। उसकी आकृति कृष्ण और पिङ्गल वर्णकी थी। वह देखनेमें बड़ी भयानक और विकृत रूपवाली थी ॥ ११-१२ ॥

प्रकीर्णमूर्धजा चैव घोरनेत्रा च भारत ।
कपालमालिनी चैव कृत्येव भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! उसके बाल बिखरे हुए थे, नेत्र बड़े भयावने थे। उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी। भरतश्रेष्ठ ! वह कृत्या-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

रुधिरार्द्रा च धर्मज्ञ चीरवल्कलवासिनी ।
साभिनिष्क्रम्य राजेन्द्र तादृग्रूपा भयावहा ॥ १४ ॥
वज्रिणं मृगयामास तदा भरतसत्तम ।

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! भरतसत्तम ! उसके सारे अङ्ग रक्तसे भींगे हुए थे। उसने चीर और वल्कल पहन रखे थे। ऐसे विकराल रूपवाली वह भयानक ब्रह्महत्या वृत्रके शरीरसे निकलकर तत्काल ही वज्रधारी इन्द्रको खोजने लगी ॥ १४½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य वृत्रहा कुरुनन्दन ॥ १५ ॥
स्वर्गायाभिमुखः प्रायाल्लोकानां हितकाम्यया ।
सा विनिःसरमाणं तु दृष्ट्वा शक्रं महौजसम् ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय वृत्रविनाशक इन्द्र लोकहितकी कामनासे स्वर्गकी ओर जा रहे थे। महातेजस्वी इन्द्रको युद्धभूमिसे निकलकर जाते देख ब्रह्महत्या कुछ ही कालमें उनके पास जा पहुँची ॥ १५-१६ ॥

जग्राह वध्या देवेन्द्रं सुलग्ना चाभवत् तदा ।
स हि तस्मिन् समुत्पन्ने ब्रह्मवध्याकृते भये ॥ १७ ॥

* अध्याय २८० के ५९ वें श्लोकमें आया है कि 'वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका चिन्तन करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परम धामको प्राप्त कर लिया'—यहाँ भी इतनी बात और समझ लेनी चाहिये ।

नलिन्या विसमध्यस्थ उवासाब्दगणान् बहून् ।

उस ब्रह्महत्याने देवेन्द्रको पकड़ लिया और वह तुरंत ही उनके शरीरसे सट गयी। वह ब्रह्महत्याजनित भय उपस्थित होनेपर इन्द्र उससे पिण्ड छुड़ानेके लिये भागे और कमलकी नालके भीतर घुसकर उसीमें बहुत वर्षोंतक छिपे रहे ॥ १७½ ॥

अनुसृत्य तु यत्नात् स तथा वै ब्रह्महत्यया ॥ १८ ॥
तदा गृहीतः कौरव्य निस्तेजाः समपद्यत ।

परंतु उस ब्रह्महत्याने यत्नपूर्वक उनका पीछा करके वहाँ भी उन्हें जा पकड़ा। कुरुनन्दन ! ब्रह्महत्याद्वारा पकड़ लिये जानेपर इन्द्र निस्तेज हो गये ॥ १८½ ॥

तस्या व्यपोहने शक्रः परं यत्नं चकार ह ॥ १९ ॥
न चाशकत् तां देवेन्द्रो ब्रह्मवध्यां व्यपोहितुम् ।

देवेन्द्रने उसके निवारणके लिये महान् प्रयत्न किया; परंतु किसी तरह भी वे उसे दूर न कर सके ॥ १९½ ॥

गृहीत एव तु तया देवेन्द्रो भरतर्षभ ॥ २० ॥
पितामहमुपागम्य शिरसा प्रत्यपूजयत् ।

भरतभूषण ! ब्रह्महत्याने देवराज इन्द्रको अपना बंदी बना ही लिया। वे उसी अवस्थामें ब्रह्माजीके पास गये और मस्तक झुकाकर उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥ २०½ ॥

ज्ञात्वा गृहीतं शक्रं स द्विजप्रवरवध्यया ॥ २१ ॥
ब्रह्मा स चिन्तयामास तदा भरतसत्तम ।

भरतसत्तम ! एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके वधसे पैदा हुई ब्रह्महत्याने इन्द्रको पकड़ लिया है—यह जानकर ब्रह्माजी विचार करने लगे ॥ २१½ ॥

तामुवाच महाबाहो ब्रह्मवध्यां पितामहः ॥ २२ ॥
स्वरेण मधुरेणाथ सान्त्वयन्निव भारत ।

महाबाहु भारत ! तब ब्रह्माजीने उस ब्रह्महत्याको अपनी मीठी वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए-से उससे कहा—॥ २२½ ॥

मुच्यतां त्रिदशेन्द्रोऽयं मत्प्रियं कुरु भाविनि ॥ २३ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यद्य कामं किं त्वमिहेच्छसि ॥ २४ ॥

'भाविनि ! ये देवताओंके राजा इन्द्र हैं, इन्हें छोड़ दो। मेरा यह प्रिय कार्य करो। बोलो, मैं तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा पूर्ण करूँ। तुम जिस किसी मनोरथको पाना चाहो उसे बताओ' ॥ २३-२४ ॥

ब्रह्मवध्योवाच

त्रिलोकपूजिते देवे प्रीते त्रैलोक्यकर्तरि ।
कृतमेव हि मन्यामि निवासं तु विधत्स्व मे ॥ २५ ॥

ब्रह्महत्या बोली—तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले त्रिभुवनपूजित आप परमदेवके प्रसन्न हो जानेपर मैं अपने सारे मनोरथोंको पूर्ण हुआ ही मानती हूँ। अब आप मेरे लिये केवल निवासस्थानका प्रबन्ध कर दीजिये ॥ २५ ॥

त्वया कृतेयं मर्यादा लोकसंरक्षणार्थिना ।
स्थापना वै सुमहती त्वया देव प्रवर्तिता ॥ २६ ॥

आपने सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये यह धर्मकी मर्यादा बाँधी है। देव ! आपहीने इस महत्त्वपूर्ण मर्यादाकी स्थापना करके इसे चलाया है ॥ २६ ॥

प्रीते तु त्वयि धर्मज्ञ सर्वलोकेश्वर प्रभो ।
शक्रादपगमिष्यामि निवासं संविधत्स्व मे ॥ २७ ॥

धर्मके ज्ञाता सर्वलोकेश्वर प्रभो ! जब आप प्रसन्न हैं तो मैं इन्द्रको छोड़कर हट जाऊँगी; परंतु आप मेरे लिये निवासस्थानकी व्यवस्था कर दीजिये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तथेति तां प्राह तदा ब्रह्मवध्यां पितामहः ।
उपायतः स शक्रस्य ब्रह्मवध्यां व्यपोहत ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब ब्रह्माजीने ब्रह्महत्यासे कहा—'बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे रहनेकी व्यवस्था करता हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उपायद्वारा इन्द्रकी ब्रह्महत्याको दूर किया ॥ २८ ॥

ततः स्वयम्भुवा ध्यातस्तत्र वह्निर्महात्मना ।
ब्रह्माणमुपसंगम्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

तदनन्तर महात्मा स्वयम्भूने वहाँ अग्निदेवका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे ब्रह्माजीके पास आ गये और इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

प्राप्तोऽस्मि भगवन् देव त्वत्सकाशमनिन्दित ।
यत् कर्तव्यं मया देव तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'भगवन् ! अनिन्द्य देव ! मैं आपके निकट आया हूँ। प्रभो ! मुझे जो कार्य करना हो, उसके लिये आप मुझे आज्ञा दें' ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

बहुधा विभजिष्यामि ब्रह्मवध्यामिमामहम् ।
शक्रस्याघविमोक्षार्थं चतुर्भागं प्रतीच्छ वै ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! मैं इन्द्रको पापमुक्त करनेके लिये इस ब्रह्महत्याके कई भाग करूँगा। इसका एक चतुर्थांश तुम भी ग्रहण कर लो ॥ ३१ ॥

अग्निरुवाच

मम मोक्षस्य कोऽन्तो वै ब्रह्मन् ध्यायस्व वै प्रभो ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वतो लोकपूजित ॥ ३२ ॥

अग्निने कहा—ब्रह्मन् ! प्रभो ! मेरे लिये आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परंतु मैं भी इस ब्रह्महत्यासे मुक्त हो सकूँ, इसके लिये इसकी अन्तिम अवधि क्या होगी, इसपर आप विचार करें। विश्ववन्द्य पितामह ! मैं इस बातको ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ। ३२।

ब्रह्मोवाच

यस्त्वां ज्वलन्तमासाद्य स्वयं वै मानवः क्वचित् ।
बीजौषधिरसैर्वह्ने न यक्ष्यति तमोवृतः ॥ ३३ ॥
तमेषा यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।

ब्रह्मवध्या हव्यवाह व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ३४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! यदि किसी स्थानपर तुम प्रज्वलित हो रहे हो, वहाँ पहुँचकर कोई अधिकारी मानव तमोगुणसे आवृत होनेके कारण बीज, ओषधि या रसोंसे स्वयं ही तुम्हारा पूजन नहीं करेगा तो उसीपर तुरंत यह ब्रह्महत्या चली जायगी और उसीके भीतर निवास करने लगेगी; अतः हव्यवाहन ! तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह तद् वचो हव्यकव्यभुक् ।
पितामहस्य भगवांस्तथा च तदभूत् प्रभो ॥ ३५ ॥

प्रभो ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर हव्य और कव्यके भोक्ता भगवान् अग्निदेवने उन पितामहकी वह आज्ञा स्वीकार कर ली । इस प्रकार ब्रह्महत्याका एक चौथाई भाग अग्निमें चला गया ॥ ३५ ॥

ततो वृक्षौषधितृणं समाहूय पितामहः ।
इममर्थं महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

महाराज ! इसके बाद पितामह वृक्ष, तृण और ओषधियोंको बुलाकर उनसे भी वही बात कहने लगे ॥ ३६ ॥

(*ब्रह्मोवाच*

इयं वृत्रादनुप्राप्ता ब्रह्महत्या महाभया ।
पुरुहूतं चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छथ ॥)

ब्रह्माजी बोले—वृत्रासुरके वधसे यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्रकट होकर इन्द्रके पीछे लगी है । तुमलोग उसका एक चौथाई भाग स्वयं ग्रहण कर लो ॥

ततो वृक्षौषधितृणं तथैवोक्तं यथातथम् ।
व्यथितं वह्निवद् राजन् ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने जब उसी प्रकार सब बातें ठीक-ठीक सामने रख दीं, तब अग्निके ही समान वृक्ष, तृण और ओषधियोंका समुदाय भी व्यथित हो उठा और उन सबने ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥

अस्माकं ब्रह्मवध्यायाः कोऽन्तो लोकपितामह ।
दैवेनाभिहतानस्मान् न पुनर्हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

'लोकपितामह ! हमारी इस ब्रह्महत्याका अन्त क्या होगा ? हम तो यों ही दैवके मारे हुए स्थावर योनिमें पड़े हैं; अतः अब आप पुनः हमें न मारें ॥ ३८ ॥

वयमग्निं तथा शीतं वर्षं च पवनेरितम् ।
सहामः सततं देव तथा च्छेदनभेदने ॥ ३९ ॥

ब्रह्मवध्यामिमामद्य भवतः शासनाद् वयम् ।
ग्रहीष्यामस्त्रिलोकेश मोक्षं चिन्तयतां भवान् ॥ ४० ॥

'देव ! त्रिलोकीनाथ ! हमलोग सदा अग्नि और धूपका ताप, सर्दी, वर्षा, आँधी और अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा भेदन-छेदनका कष्ट सहते रहते हैं । आज आपकी आज्ञासे इस ब्रह्महत्याको भी ग्रहण कर लेंगे; किंतु आप इनसे हमारे छुटकारेका उपाय भी तो सोचिये' ॥ ३९-४० ॥

ब्रह्मोवाच

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते यो वै च्छेदनभेदनम् ।
करिष्यति नरो मोहात् तमेषानुगमिष्यति ॥ ४१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—संक्रान्ति, ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वकाल प्राप्त होनेपर जो मनुष्य मोहवश तुम्हारा भेदन-छेदन करेगा, उसीके पीछे तुम्हारी यह ब्रह्महत्या लग जायगी ॥

भीष्म उवाच

ततो वृक्षौषधितृणमेवमुक्तं महात्मना ।
ब्रह्माणमभिसम्पूज्य जगामाशु यथागतम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर वृक्ष, ओषधि और तृणका समुदाय उनकी पूजा करके जैसे आया था, वैसे ही शीघ्र लौट गया ॥ ४२ ॥

आहूयाप्सरसो देवस्ततो लोकपितामहः ।
वाचा मधुरया प्राह सान्त्वयन्निव भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् लोकपितामह ब्रह्माजीने अप्सराओंको बुलाकर उन्हें मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए-से कहा—॥

इयमिन्द्रादनुप्राप्ता ब्रह्मवध्या वराङ्गनाः ।
चतुर्थमस्या भागांशं मयोक्ताः सम्प्रतीच्छत ॥ ४४ ॥

'सुन्दरियो ! यह ब्रह्महत्या इन्द्रके पाससे आयी है । तुमलोग मेरे कहनेसे इसका एक चतुर्थांश ग्रहण कर लो' ॥

अप्सरस ऊचुः

ग्रहणे कृतबुद्धीनां देवेश तव शासनात् ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं चिन्तयस्व पितामह ॥ ४५ ॥

अप्सराएँ बोलीं—देवेश पितामह ! आपकी आज्ञासे हमने इस ब्रह्महत्याको ग्रहण कर लेनेका विचार किया है, किंतु इससे हमारे छुटकारेके समयका भी विचार करनेकी कृपा करें ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच

रजस्वलासु नारीषु यो वै मैथुनमाचरेत् ।
तमेषा यास्यति क्षिप्रं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो पुरुष रजस्वला स्त्रियोंके साथ मैथुन करेगा, उसपर यह ब्रह्महत्या शीघ्र चली जायगी; अतः तुम्हारी यह मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥

भीष्म उवाच

तथेति हृष्टमनस इत्युक्त्वाप्सरसां गणाः ।
स्वानि स्थानानि सम्प्राप्य रेमिरे भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो गया । वे 'बहुत अच्छा' कहकर अपने-अपने स्थानोंमें जाकर विहार करने लगीं ॥ ४७ ॥

ततस्त्रिलोककृद् देवः पुनरेव महातपाः।
अपःसंचिन्तयामास ध्यातास्ताश्चाप्यथागमन् ॥ ४८ ॥

तब त्रिभुवनकी सृष्टि करनेवाले महातपस्वी भगवान् ब्रह्माने पुनः जलका चिन्तन किया। उनके स्मरण करते ही तुरंत जल देवता वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ४८ ॥

तास्तु सर्वाः समागम्य ब्रह्माणममितौजसम्।
इदमूचुर्वचो राजन् प्रणिपत्य पितामहम् ॥ ४९ ॥

राजन्! वे सब अमित तेजस्वी पितामह ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार बोले—॥ ४९ ॥

इमाः स्म देव सम्प्राप्तास्त्वत्सकाशमरिंदम।
शासनात् तव लोकेश समाज्ञापय नः प्रभो ॥ ५० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रभो! देव! लोकनाथ! हम आपकी आज्ञासे सेवामें उपस्थित हुए हैं। हमें आज्ञा दीजिये, हम कौन-सी सेवा करें?' ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच

इयं वृत्रादनुप्राप्ता पुरुहूतं महाभया।
ब्रह्मवध्या चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छत ॥ ५१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वृत्रासुरके वधसे इन्द्रको यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्राप्त हुई है। तुमलोग इसका एक चौथाई भाग ग्रहण कर लो ॥ ५१ ॥

आप ऊचुः

एवं भवतु लोकेश यथा वदसि नः प्रभो।
मोक्षं समयतोऽस्माकं संचिन्तयितुमर्हसि ॥ ५२ ॥

जलदेवताने कहा—लोकेश्वर! प्रभो! आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही होगा; परंतु हम इस ब्रह्महत्यासे किस समय छुटकारा पायेंगे, इसका भी विचार कर लें ॥ ५२ ॥

त्वं हि देवेश सर्वस्य जगतः परमा गतिः।
कोऽन्यः प्रसादो हि भवेद् यन्नः कृच्छ्रात् समुद्धरेत्॥५३॥

देवेश्वर! आप ही इस सम्पूर्ण जगत्के परम आश्रय हैं। आप हमारा इस संकटसे उद्धार कर दें, इससे बढ़कर हम लोगोंपर दूसरा कौन अनुग्रह होगा ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

अल्पा इति मतिं कृत्वा यो नरो बुद्धिमोहितः।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि युष्मासु प्रतिमोक्ष्यति ॥ ५४ ॥
तमियं यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति।
तथा वो भविता मोक्ष इति सत्यं ब्रवीमि वः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो मनुष्य अपनी बुद्धिकी मन्दतासे मोहित होकर जलमें तुच्छ बुद्धि करके तुम्हारे भीतर थूक, खँखार या मल-मूत्र डालेगा, तुम्हें छोड़कर यह ब्रह्महत्या तुरंत उसीपर चली जायगी और उसीके भीतर निवास करेगी। इस प्रकार तुमलोगोंका ब्रह्महत्यासे उद्धार हो जायगा, यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ ५४-५५ ॥

ततो विमुच्य देवेन्द्रं ब्रह्मवध्या युधिष्ठिर।
यथा विसृष्टं तं वासमगमद् देवशासनात् ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर देवराज इन्द्रको छोड़कर वह ब्रह्महत्या ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके दिये हुए पूर्वोक्त निवासस्थानोंको चली गयी ॥ ५६ ॥

एवं शक्रेण सम्प्राप्ता ब्रह्मवध्या जनाधिप।
पितामहमनुज्ञाप्य सोऽश्वमेधमकल्पयत् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर! इस प्रकार इन्द्रको ब्रह्महत्या प्राप्त हुई थी, फिर उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा लेकर अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५७ ॥

श्रूयते च महाराज सम्प्राप्ता वासवेन वै।
ब्रह्मवध्या ततः शुद्धिं हयमेधेन लब्धवान् ॥ ५८ ॥

महाराज! सुननेमें आता है कि इन्द्रको जो ब्रह्महत्या लगी थी, उससे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके ही शुद्धि लाभ की थी ॥ ५८ ॥

समवाप्य श्रियं देवो हत्वारींश्च सहस्रशः।
प्रहर्षमतुलं लेभे वासवः पृथिवीपते ॥ ५९ ॥

पृथ्वीनाथ! देवराज इन्द्रने सहस्रों शत्रुओंका वध करके अपनी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पाकर अनुपम आनन्द प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

वृत्रस्य रुधिराच्चैव शिखण्डाः पार्थ जज्ञिरे।
द्विजातिभिरभक्ष्यास्ते दीक्षितैश्च तपोधनैः ॥ ६० ॥

कुन्तीनन्दन! वृत्रासुरके रक्तसे बहुतेरे छत्रक उत्पन्न हुए थे, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये तथा यज्ञकी दीक्षा लेनेवालोंके लिये और तपस्वियोंके लिये अभक्षणीय हैं ॥ ६० ॥

सर्वावस्थं त्वमप्येषां द्विजातीनां प्रियं कुरु।
इमे हि भूतले देवाः प्रथिताः कुरुनन्दन ॥ ६१ ॥

कुरुनन्दन! तुम भी इन ब्राह्मणोंका सभी अवस्थाओंमें प्रिय करो। ये इस पृथ्वीपर देवताके रूपमें विख्यात हैं ॥ ६१ ॥

एवं शक्रेण कौरव्य बुद्धिसौक्ष्म्यान्महासुरः।
उपायपूर्वं निहतो वृत्रो ह्यमिततेजसा ॥ ६२ ॥

कुरुकुलभूषण! इस तरह अमित तेजस्वी देवराज इन्द्रने अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे काम लेकर उपायपूर्वक महान् असुर वृत्रका वध किया था ॥ ६२ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय पृथिव्यामपराजितः।
भविष्यसि यथा देवः शतक्रतुरमित्रहा ॥ ६३ ॥

कुन्तीकुमार! जैसे स्वर्गलोकमें शत्रुसूदन इन्द्रदेव विजयी हुए थे, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीपर किसीसे पराजित होनेवाले नहीं हो ॥ ६३ ॥

ये तु शक्रकथां दिव्यामिमां पर्वसु पर्वसु।
विप्रमध्ये वदिष्यन्ति न ते प्राप्स्यन्ति किल्बिषम् ॥ ६४ ॥

जो प्रत्येक पर्वके दिन ब्राह्मणोंकी सभामें इस दिव्य कथाका प्रवचन करेंगे, उन्हें किसी प्रकारका पाप नहीं प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

इत्येतद् वृत्रमाश्रित्य शक्रस्यात्यद्भुतं महत्।
कथितं कर्म ते तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६५ ॥

तात ! इस प्रकार वृत्रासुरके प्रसंगसे मैंने तुम्हें यह इन्द्रका अत्यन्त अद्भुत चरित्र सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्रह्महत्याविभागे द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्रह्महत्याका विभाजनविषयक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शिवजीद्वारा दक्षयज्ञका भंग और उनके क्रोधसे ज्वरकी उत्पत्ति तथा उसके विविध रूप

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
अस्मिन् वृत्रवधे देव विवक्षा मम जायते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! देव ! इस वृत्रवधके प्रसंगमें मुझे कुछ पूछनेकी इच्छा हो रही है ॥ १ ॥

ज्वरेण मोहितो वृत्रः कथितस्ते जनाधिप।
निहतो वासवेनेह वज्रेणेति तदानघ ॥ २ ॥

निष्पाप जनेश्वर ! आपने कहा है कि वृत्रासुर ज्वरसे मोहित हो गया था, उसी अवस्थामें इन्द्रने अपने वज्रसे उसे मार डाला ॥ २ ॥

कथमेष महाप्राज्ञ ज्वरः प्रादुर्बभौ कुतः।
ज्वरोत्पत्तिं निपुणतः श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ ३ ॥

महामते ! प्रभो ! यह ज्वर कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुआ ? मैं ज्वरकी उत्पत्तिका प्रसंग भलीभाँति सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् ज्वरस्येमं सम्भवं लोकविश्रुतम्।
विस्तरं चास्य वक्ष्यामि यादृशश्चैव भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ज्वरकी उत्पत्तिका यह वृत्तान्त सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है, सुनो। भारत ! यह प्रसंग जैसा है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

पुरा मेरोर्महाराज शृङ्गं त्रैलोक्यपूजितम्।
ज्योतिष्कं नाम सावित्रं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ५ ॥
अप्रमेयमनाधृष्यं सर्वलोकेषु भारत।

भरतनन्दन ! महाराज ! पूर्वकालमें सुमेरु पर्वतका ज्योतिष्क नामसे प्रसिद्ध एक शिखर था, जो सविता (सूर्य) देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण सावित्र कहलाता था। वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, अप्रमेय, समस्त लोकोंके लिये अगम्य और तीनों लोकोंद्वारा पूजित था ॥ ५½ ॥

तत्र देवो गिरितटे हेमधातुविभूषिते ॥ ६ ॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो बभूव ह।
शैलराजसुता चास्य नित्यं पार्श्वे स्थिता बभौ ॥ ७ ॥

सुवर्णमय धातुसे विभूषित उस पर्वतशिखरके तटपर बैठे हुए महादेवजी उसी प्रकार अपूर्व शोभा पाते थे मानो किसी सुन्दर पर्यङ्कपर बैठे हों। वहीं प्रतिदिन उनके वामपार्श्वमें रहकर गिरिराजनन्दिनी भगवती पार्वती भी अनुपम शोभा पाती थीं ॥ ६-७ ॥

तथा देवा महात्मानो वसवश्चामितौजसः।
तथैव च महात्मानावश्विनौ भिषजां वरौ।
तथा वैश्रवणो राजा गुह्यकैरभिसंवृतः ॥ ८ ॥
यक्षाणामीश्वरः श्रीमान् कैलासनिलयः प्रभुः।
(शङ्खपद्मनिधिभ्यां च ऋद्ध्या परमया सह ।)
उपासन्त महात्मानमुशना च महामुनिः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार वहाँ बहुत-से महामनस्वी देवता, अमित तेजस्वी वसुगण, चिकित्सकोंमें श्रेष्ठ महामना अश्विनीकुमार, शङ्खनिधि, पद्मनिधि तथा उत्तम ऋद्धिके साथ गुह्यकोंसे घिरे हुए कैलासवासी यक्षपति प्रभुतासम्पन्न श्रीमान् राजा कुबेर तथा महामुनि शुक्राचार्य—ये सभी परमात्मा महादेवजीकी उपासना किया करते थे ॥ ८-९ ॥

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव च महर्षयः।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा देवर्षयोऽपरे ॥ १० ॥
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा नारदपर्वतौ।
अप्सरोगणसंघाश्च समाजग्मुरनेकशः ॥ ११ ॥

सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि तथा अन्य देवर्षि, विश्वावसु गन्धर्व, नारद, पर्वत और अप्सराओंके अनेक समुदाय उस पर्वतपर महादेवजीकी आराधनाके लिये आया करते थे ॥ १०-११ ॥

ववौ सुखः शिवो वायुर्नानागन्धवहः शुचिः।
सर्वर्तुकुसुमोपेताः पुष्पवन्तो द्रुमास्तथा ॥ १२ ॥

वहाँ नाना प्रकारकी सुगन्धको फैलानेवाली, पवित्र, सुखद एवं मङ्गलमयी वायु चलती रहती थी। सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित होनेवाले खिले हुए वृक्ष उस शिखरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १२ ॥

तथा विद्याधराश्चैव सिद्धाश्चैव तपोधनाः।
महादेवं पशुपतिं पर्युपासन्त भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तपस्याके धनी सिद्ध और विद्याधर भी वहाँ पशुपति महादेवजीकी उपासनामें तत्पर रहते थे ॥ १३ ॥

भूतानि च महाराज नानारूपधराण्यथ।
राक्षसाश्च महारौद्राः पिशाचाश्च महाबलाः ॥ १४ ॥
बहुरूपधरा हृष्टा नानाप्रहरणोद्यताः।
देवस्यानुचरास्तत्र तस्थिरे चानलोपमाः ॥ १५ ॥

महाराज ! अनेक रूप धारण करनेवाले भूत, महाभयङ्कर राक्षस, महाबली और बहुत-से रूप धारण करनेवाले पिशाच, जो महादेवजीके अनुचर थे, वहाँ हर्षमें भरकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े रहते थे। वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी थे ॥ १४-१५ ॥

नन्दी च भगवांस्तत्र देवस्यानुमते स्थितः।
प्रगृह्य ज्वलितं शूलं दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ १६ ॥

महादेवजीकी आज्ञासे भगवान् नन्दी अपने तेजसे देदीप्यमान हो हाथमें प्रज्वलित शूल लेकर वहाँ खड़े रहते थे ॥

गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा सर्वतीर्थजलोद्भवा।
पर्युपासत तं देवं रूपिणी कुरुनन्दन ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! समस्त तीर्थोंके जलोंको लेकर प्रकट हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी वहाँ दिव्यरूप धारण करके देवाधिदेव महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥ १७ ॥

स एवं भगवांस्तत्र पूज्यमानः सुरर्षिभिः।
देवैश्च सुमहातेजा महादेवो व्यतिष्ठत ॥ १८ ॥

इस प्रकार देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित होते हुए महातेजस्वी भगवान् महादेव वहाँ नित्य विराजमान थे ॥१८॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य दक्षो नाम प्रजापतिः।
पूर्वोक्तेन विधानेन यक्ष्यमाणोऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥

कुछ कालके अनन्तर दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापतिने पूर्वोक्त शास्त्रीय विधानके अनुसार यज्ञ करनेका संकल्प लेकर उसके लिये तैयारी आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

ततस्तस्य मखं देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
गमनाय समागम्य बुद्धिमापेदिरे तदा ॥ २० ॥

उस समय इन्द्र आदि सब देवताओंने दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें जानेके लिये परस्पर मिलकर निश्चय किया ॥ २० ॥

ते विमानैर्महात्मानो ज्वलनार्कसमप्रभैः।
देवस्यानुमतेऽगच्छन् गङ्गाद्वारमिति श्रुतिः ॥ २१ ॥

वे महामनस्वी देवता सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विमानोंपर बैठकर महादेवजीकी आज्ञा ले गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को गये—यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥

प्रस्थिता देवता दृष्ट्वा शैलराजसुता तदा।
उवाच वचनं साध्वी देवं पशुपतिं पतिम् ॥ २२ ॥

देवताओंको प्रस्थित हुआ देख सती साध्वी गिरिराज-नन्दिनी उमाने अपने स्वामी पशुपति महादेवजीसे पूछा—॥

भगवन् क नु यान्त्येते देवाः शक्रपुरोगमाः।
ब्रूहि तत्त्वेन तत्त्वज्ञ संशयो मे महानयम् ॥ २३ ॥

'भगवन् ! ये इन्द्र आदि देवता कहाँ जा रहे हैं ? तत्त्वज्ञ परमेश्वर ! ठीक-ठीक बताइये। मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है' ॥ २३ ॥

महेश्वर उवाच

दक्षो नाम महाभागे प्रजानां पतिरुत्तमः।
हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः ॥ २४ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष अश्वमेध यज्ञ करते हैं; उसीमें ये सब देवता जा रहे हैं ॥ २४ ॥

उमोवाच

यज्ञमेतं महादेव किमर्थं नाधिगच्छसि।
केन वा प्रतिषेधेन गमनं ते न विद्यते ॥ २५ ॥

उमा बोलीं—महादेव ! इस यज्ञमें आप क्यों नहीं पधार रहे हैं ? किस प्रतिबन्धके कारण आपका वहाँ जाना नहीं हो रहा है ? ॥२५ ॥

महेश्वर उवाच

सुरैरेव महाभागे पूर्वमेतदनुष्ठितम्।
यज्ञेषु सर्वेषु मम न भाग उपकल्पितः ॥ २६ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! देवताओंने ही पहले ऐसा निश्चय किया था। उन्होंने सभी यज्ञोंमेंसे किसीमें भी मेरे लिये भाग नियत नहीं किया ॥ २६ ॥

पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि।
न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्मतः ॥ २७ ॥

सुन्दरि ! पूर्वनिश्चित नियमके अनुसार धर्मकी दृष्टिसे ही देवतालोग यज्ञमें मुझे भाग नहीं अर्पित करते हैं ॥२७॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेषु प्रभावाभ्यधिको गुणैः।
अजय्यश्चाप्यधृष्यश्च तेजसा यशसा श्रिया ॥ २८ ॥
अनेन ते महाभाग प्रतिषेधेन भागतः।
अतीव दुःखमुत्पन्नं वेपथुश्च ममानघ ॥ २९ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली, गुणवान्, अजेय, अधृष्य, तेजस्वी, यशस्वी तथा श्रीसम्पन्न हैं। महाभाग ! यज्ञमें जो इस प्रकार आपको भाग देनेका निषेध किया गया है, इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ है। अनघ ! इस अपमानसे मेरा सारा शरीर काँप रहा है ॥ २८-२९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु सा देवी तदा पशुपतिं पतिम्।
तूष्णींभूताभवद् राजन् दह्यमानेन चेतसा ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपने पति भगवान् पशुपतिसे ऐसा कहकर पार्वतीदेवी चुप हो गयीं, परंतु उनका हृदय शोकसे दग्ध हो रहा था ॥ ३० ॥

अथ देव्या मतं ज्ञात्वा हृद्गतं यच्चिकीर्षितम् ।
स समाज्ञापयामास तिष्ठ त्वमिति नन्दिनम् ॥ ३१ ॥

पार्वतीदेवीके मनमें क्या है और वे क्या करना चाहती हैं, इस बातको जानकर महादेवजीने नन्दीको आज्ञा दी कि तुम यहीं खड़े रहो ॥ ३१ ॥

ततो योगबलं कृत्वा सर्वयोगेश्वरेश्वरः ।
तं यज्ञं स महातेजा भीमैरनुचरैस्तदा ॥ ३२ ॥
सहसा घातयामास देवदेवः पिनाकधृक् ।

तदनन्तर सम्पूर्ण योगेश्वरोंके भी ईश्वर महातेजस्वी देवाधिदेव पिनाकधारी शिवने योगबलका आश्रय ले अपने भयानक सेवकोंद्वारा उस यज्ञको सहसा नष्ट करा दिया ॥

केचिन्नादानमुञ्चन्त केचिद्धासांश्च चक्रिरे ॥ ३३ ॥
रुधिरेणापरे राजंस्तत्राग्निं समवाकिरन् ।

राजन् ! भगवान् शिवके अनुचरोंमेंसे कोई तो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे, किन्हींने अट्टहास करना आरम्भ कर दिया तथा दूसरे यज्ञाग्निको बुझानेके लिये उसपर रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३३½ ॥

केचिद् यूपान् समुत्पाट्य बभ्रमुर्विकृताननाः ॥ ३४ ॥
आस्यैरन्ये चाग्रसन्त तथैव परिचारकान् ।

कोई विकराल मुखवाले पार्षद यज्ञके यूपोंको उखाड़कर वहाँ चारों ओर चक्कर लगाने लगे । दूसरोंने यज्ञके परिचारकोंको अपने मुखका ग्रास बना लिया ॥ ३४½ ॥

ततः स यज्ञो नृपते वध्यमानः समन्ततः ॥ ३५ ॥
आस्थाय मृगरूपं वै खमेवाभ्यगमत् तदा ।

नरेश्वर ! इस प्रकार जब सब ओरसे आघात होने लगा, तब वह यज्ञ मृगका रूप धारण करके आकाशकी ओर ही भाग चला ॥ ३५½ ॥

तं तु यज्ञं तथारूपं गच्छन्तमुपलभ्य सः ॥ ३६ ॥
धनुरादाय बाणेन तदान्वसरत प्रभुः ।

यज्ञको मृगका रूप धारण करके भागते देख भगवान् शिवने धनुष हाथमें लेकर अपने बाणके द्वारा उसका पीछा किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तस्य सुरेशस्य क्रोधादमिततेजसः ॥ ३७ ॥
ललाटात् प्रसृतो घोरः स्वेदबिन्दुर्बभूव ह ।
तस्मिन् पतितमात्रे च स्वेदबिन्दौ तदा भुवि ॥ ३८ ॥
प्रादुर्बभूव सुमहानग्निः कालानलोपमः ।

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी देवेश्वर महादेवजीके क्रोधके कारण उनके ललाटसे भयंकर पसीनेकी बूँद प्रकट हुई । उस पसीनेके बिन्दुके पृथ्वीपर पड़ते ही कालाग्निके समान विशाल अग्निपुञ्जका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३७-३८½ ॥

तत्र चाजायत तदा पुरुषः पुरुषर्षभ ॥ ३९ ॥
ह्रस्वोऽतिमात्रं रक्ताक्षो हरिश्मश्रुर्विभीषणः ।

पुरुषप्रवर ! उस समय उस आगसे एक नाटा-सा पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी आँखें बहुत ही लाल थीं । दाढ़ी और मूँछके बाल भूरे रंगके थे । वह देखनेमें बड़ा डरावना जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

ऊर्ध्वकेशोऽतिरोमाङ्गः श्येनोलूकस्तथैव च ॥ ४० ॥
करालकृष्णवर्णश्च रक्तवासास्तथैव च ।
तं यज्ञं सुमहासत्त्वोऽदहत् कक्षमिवानलः ॥ ४१ ॥

उसके केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे । उसके सारे अङ्ग बाज और उल्लूके समान अतिशय रोमावलियोंसे भरे थे । शरीरका रंग काला और विकराल था । उसके वस्त्र लाल रंगके थे । उस महान् शक्तिशाली पुरुषने उस यज्ञको उसी प्रकार दग्ध कर दिया, जैसे आग सूखे काठ या घास-फूसके ढेरको जलाकर भस्म कर डालती है ॥ ४०-४१ ॥

व्यचरत् सर्वतो देवान् प्राद्रवत् स ऋषींस्तथा ।
देवाश्चाप्याद्रवन् सर्वे ततो भीता दिशो दश ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् वह पुरुष सब ओर विचरने लगा और देवताओं तथा ऋषियोंकी ओर दौड़ा । उसे देखकर सब देवता भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४२ ॥

तेन तस्मिन् विचरता पुरुषेण विशाम्पते ।
पृथिवी ह्यचलद् राजन्नतीव भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

राजन् ! भरतभूषण ! प्रजानाथ ! उस यज्ञमें विचरते हुए उस पुरुषके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी बड़े जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ४३ ॥

हाहाभूतं जगत् सर्वमुपलक्ष्य तदा प्रभुः ।
पितामहो महादेवं दर्शयन् प्रत्यभाषत ॥ ४४ ॥

उस समय सारे जगत्में हाहाकार मच गया । यह सब देखकर भगवान् ब्रह्माने महादेवजीको जगत्की यह दुर्दशा दिखाते हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच

भवतोऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो ।
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी बोले—सर्वदेवेश्वर ! प्रभो ! अब आप अपने बढ़े हुए उस क्रोधको शान्त कीजिये । आजसे सब देवता आपको भी यज्ञका भाग दिया करेंगे ॥ ४५ ॥

इमा हि देवताः सर्वा ऋषयश्च परंतप ।
तव क्रोधान्महादेव न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ४६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महादेव ! ये सब देवता और ऋषि आपके क्रोधसे संतप्त होकर कहीं शान्ति नहीं पा रहे हैं ॥ ४६ ॥

यश्चैष पुरुषो जातः स्वेदात् ते विबुधोत्तम।
ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ ४७ ॥

धर्मज्ञ देवेश्वर ! आपके पसीनेसे जो यह पुरुष प्रकट हुआ है, इसका नाम होगा ज्वर। यह समस्त लोकोंमें विचरण करेगा ॥ ४७ ॥

एकीभूतस्य न त्वस्य धारणे तेजसः प्रभो।
समर्था सकला पृथ्वी बहुधा सृज्यतामयम् ॥ ४८ ॥

प्रभो ! आपका तेजरूप यह ज्वर जबतक एक रूपमें रहेगा, तबतक यह सारी पृथ्वी इसे धारण करनेमें समर्थ न हो सकेगी। अतः इसे अनेक रूपोंमें विभक्त कर दीजिये॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा देवो भागे चापि प्रकल्पिते।
भगवन्तं तथेत्याह ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४९ ॥

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा और यज्ञमें भाग मिलनेकी भी व्यवस्था हो गयी, तब महादेवजी अमित-तेजस्वी भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार बोले—'तथास्तु' ऐसा ही हो ॥ ४९ ॥

परां च प्रीतिमगमदुत्स्मयंश्च पिनाकधृक्।
अवाप च तदा भागं यथोक्तं ब्रह्मणा भवः ॥ ५० ॥

पिनाकधारी शिवको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई और वे मुस्कराने लगे। जैसा कि ब्रह्माजीने कहा था, उसके अनुसार उन्होंने यज्ञमें भाग प्राप्त कर लिया ॥ ५० ॥

ज्वरं च सर्वधर्मज्ञो बहुधा व्यसृजत् तदा।
शान्त्यर्थं सर्वभूतानां शृणु तच्चापि पुत्रक ॥ ५१ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! उस समय समस्त धर्मोंके ज्ञाता भगवान् शिवने सम्पूर्ण प्राणियोंकी शान्तिके लिये ज्वरको अनेक रूपोंमें बाँट दिया, उसे भी सुन लो ॥ ५१ ॥

शीर्षाभितापो नागानां पर्वतानां शिलाजतु।
अपां तु नीलिकां विद्यान्निर्मोकं भुजगेषु च ॥ ५२ ॥
खोरकः सौरभेयाणामूषरं पृथिवीतले।
पशूनामपि धर्मज्ञ दृष्टिप्रत्यवरोधनम् ॥ ५३ ॥

हाथियोंके मस्तकमें जो ताप या पीड़ा होती है, वही उनका ज्वर है। पर्वतोंका ज्वर शिलाजितके रूपमें प्रकट होता है। सेवारको पानीका ज्वर समझना चाहिये। सर्पोंका ज्वर केंचुल है। गाय, बैलोंके खुरोंमें जो खोरक नामवाला रोग होता है, वही उनका ज्वर है। पृथ्वीका ज्वर ऊसरके रूपमें प्रकट होता है। धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! पशुओंकी दृष्टि-शक्तिका जो अवरोध होता है, वह भी उनका ज्वर ही है ॥ ५२-५३ ॥

रन्ध्रागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम्।
नेत्ररोगः कोकिलस्य ज्वरः प्रोक्तो महात्मना ॥ ५४ ॥

घोड़ोंके गलेके छेदमें जो मांसखण्ड बढ़ जाता है, वही उनका ज्वर है। मोरोंकी शिखाका निकलना ही उनके लिये ज्वर है। कोकिलका जो नेत्ररोग है, उसे भी महात्मा शिवने ज्वर बताया है ॥ ५४ ॥

अवीनां पित्तभेदश्च सर्वेषामिति नः श्रुतम्।
शुकानामपि सर्वेषां हिक्किका प्रोच्यते ज्वरः ॥ ५५ ॥

समस्त भेड़ोंका पित्तभेद भी ज्वर ही है—यह हमारे सुननेमें आया है। समस्त तोतोंके लिये हिचकीको ही ज्वर बताया गया है ॥ ५५ ॥

शार्दूलेष्वथ धर्मज्ञ श्रमो ज्वर इहोच्यते।
मानुषेषु तु धर्मज्ञ ज्वरो नामैष भारत ॥ ५६ ॥

धर्मज्ञ भरतनन्दन ! सिंहोंमें थकावटका होना ही ज्वर कहलाता है; परंतु मनुष्योंमें यह ज्वरके नामसे ही प्रसिद्ध है ॥ ५६ ॥

मरणे जन्मनि तथा मध्ये चाविशते नरम्।
एतन्माहेश्वरं तेजो ज्वरो नाम सुदारुणः ॥ ५७ ॥
नमस्यश्चैव मान्यश्च सर्वप्राणिभिरीश्वरः।
अनेन हि समाविष्टो वृत्रो धर्मभृतां वरः ॥ ५८ ॥

भगवान् महेश्वरका तेजरूप यह ज्वर अत्यन्त दारुण है। यह मृत्युकालमें, जन्मके समय तथा बीचमें भी मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। यह सर्वसमर्थ माहेश्वर ज्वर समस्त प्राणियोंके लिये वन्दनीय और माननीय है। इसीने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरके शरीरमें प्रवेश किया था ॥

व्यजृम्भत ततः शक्रस्तस्मै वज्रमवासृजत्।
प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ॥ ५९ ॥

भारत ! उस ज्वरसे पीड़ित होकर जब वह जँभाई लेने लगा, उसी समय इन्द्रने उसपर वज्रका प्रहार किया। वज्रने उसके शरीरमें घुसकर उसे चीर डाला ॥ ५९ ॥

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ॥ ६० ॥

वज्रसे विदीर्ण हुआ महायोगी एवं महान् असुर वृत्र अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके परम धामको चला गया ॥

विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद् व्याप्तमभूत् तदा।
तस्माच्च निहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ॥ ६१ ॥

भगवान् विष्णुकी भक्तिके प्रभावसे ही उसने अपनी विशाल कायाद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लिया था। अतः युद्धमें मारे जानेपर उसने विष्णुधाम प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

इत्येष वृत्रमाश्रित्य ज्वरस्य महतो मया।
विस्तरः कथितः पुत्र किमन्यत् प्रब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

बेटा ! इस प्रकार वृत्रासुरके वधके प्रसंगसे मैंने महान् माहेश्वर ज्वरकी उत्पत्तिका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया। अब तुमसे और क्या कहूँ ? ॥ ६२ ॥

इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः
पठेत् सदा यः सुसमाहितो नरः।
विमुक्तरोगः स सुखी मुदा युतो
लभेत कामान् स यथामनीषितान् ।६३।

जो उदारचित्त एवं एकाग्र होकर ज्वरकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको सदा पढ़ता है, वह मनुष्य रोगमुक्त, सुखी एवं प्रसन्न होकर मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ज्वरोत्पत्तिर्नाम त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ज्वरकी उत्पत्तिविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६३½ श्लोक हैं)

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पार्वतीके रोष एवं खेदका निवारण करनेके लिये भगवान् शिवके द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस, दक्षद्वारा किये हुए शिवसहस्रनामस्तोत्रसे संतुष्ट होकर महादेवजीका उन्हें वरदान देना तथा इस स्तोत्रकी महिमा

जनमेजय उवाच

प्राचेतसस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे।
विनाशमगमद् ब्रह्मन् हयमेधः प्रजापतेः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! वैवस्वत मन्वन्तरमें प्रचेताओंके पुत्र दक्षप्रजापतिका अश्वमेध यज्ञ कैसे नष्ट हो गया ? ॥ १ ॥

देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः।
प्रसादात् तस्य दक्षेण स यज्ञः संधितः कथम्।
एतद् वेदितुमिच्छेयं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥ २ ॥

दक्षके यज्ञमें मेरा आवाहन न होना पार्वतीके दुःखका कारण बन गया है—यह जानकर भगवान् शंकर, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं, जब कुपित हो उठे, तब फिर उन्हींकी कृपापूर्ण प्रसन्नतासे दक्षप्रजापतिका यह यज्ञ कैसे सम्पन्न हुआ ? मैं यह वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, आप इसे यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमाहरत्।
गङ्गाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्राचीन कालकी बात है—हिमालयके पार्श्ववर्ती गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के शुभ देशमें, जहाँ ऋषियों तथा सिद्ध पुरुषोंका निवास है, प्रजापति दक्षने अपने यज्ञका आयोजन किया था ॥ ३ ॥

गन्धर्वाप्सरसाकीर्णे नानाद्रुमलतावृते।
ऋषिसङ्घैः परिवृतं दक्षं धर्मभृतां वरम् ॥ ४ ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये च स्वर्लोकवासिनः।
सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ५ ॥

वह स्थान गन्धर्वों और अप्सराओंसे भरा था। भाँति-भाँतिके वृक्षसमूह और लताएँ वहाँ सब ओर छा रही थीं। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष ऋषिसमुदायसे घिरे हुए बैठे। उस समय पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकके निवासी भी वहाँ जुटे हुए थे और वे सब-के-सब हाथ जोड़कर प्रजापतिको प्रणाम करके उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ४-५ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।
हाहाहूहूश्च गन्धर्वौ तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥ ६ ॥
विश्वावसुर्विश्वसेनो गन्धर्वाप्सरसस्तथा।

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, विश्वसेन तथा दूसरे-दूसरे गन्धर्व और अप्सराएँ वहाँ उपस्थित थीं ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याः सह मरुद्गणैः ॥ ७ ॥
इन्द्रेण सहिताः सर्वे आगता यज्ञभागिनः।

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य और मरुद्गण—ये सब-के-सब इन्द्रके साथ यज्ञमें भाग लेनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ७½ ॥

ऊष्मपाः सोमपाश्चैव धूमपा आज्यपास्तथा ॥ ८ ॥
ऋषयः पितरश्चैव आगता ब्रह्मणा सह।

ऊष्मपा (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले), सोमपा (सोमरस पीनेवाले), धूमपा (यज्ञमें धूम-पान करनेवाले) और आज्यपा (घृत-पान करनेवाले) पितर और ऋषि भी ब्रह्माजीके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८½ ॥

एते चान्ये च बहवो भूतग्रामाश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥
जरायुजाण्डजाश्चैव सहसा स्वेदजोद्भिजैः।

ये तथा और भी बहुत-से चतुर्विध प्राणिसमुदाय जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज वहाँ उपस्थित हुए थे ॥

आहूता मन्त्रिताः सर्वे देवाश्च सह पत्निभिः ॥ १० ॥
विराजन्ते विमानस्था दीप्यमाना इवाग्नयः।

जिन्हें निमन्त्रित करके बुलाया गया था, वे सब देवता अपनी पत्नियोंके साथ विमानपर बैठकर आते समय प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

नायं यज्ञो न वा धर्मो यत्र रुद्रो न इज्यते।
वधबन्धं प्रपन्ना वै किं नु कालस्य पर्ययः॥ १२॥

(महामुनि दधीचि भी उस यज्ञमण्डपमें उपस्थित थे। उन्होंने देखा कि देवता और दानव आदिका समाज तो खूब जुटा हुआ है; परंतु भगवान् शंकर दिखायी नहीं देते हैं। जान पड़ता है उनका आवाहन नहीं किया गया है। इससे उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ।) उन सब देवताओंको वहाँ उपस्थित देख दधीचि क्रोधमें भर गये और बोले—'सज्जनो! जिसमें भगवान् शिवकी पूजा नहीं होती है, वह न यज्ञ है और न धर्म। यह यज्ञ भी भगवान् शिवके बिना यज्ञ कहनेयोग्य नहीं रहा। इसका आयोजन करनेवाले लोग वध और बन्धनकी दुर्दशामें पड़नेवाले हैं। अहो! कालका कैसा उलट-फेर है॥ ११-१२॥
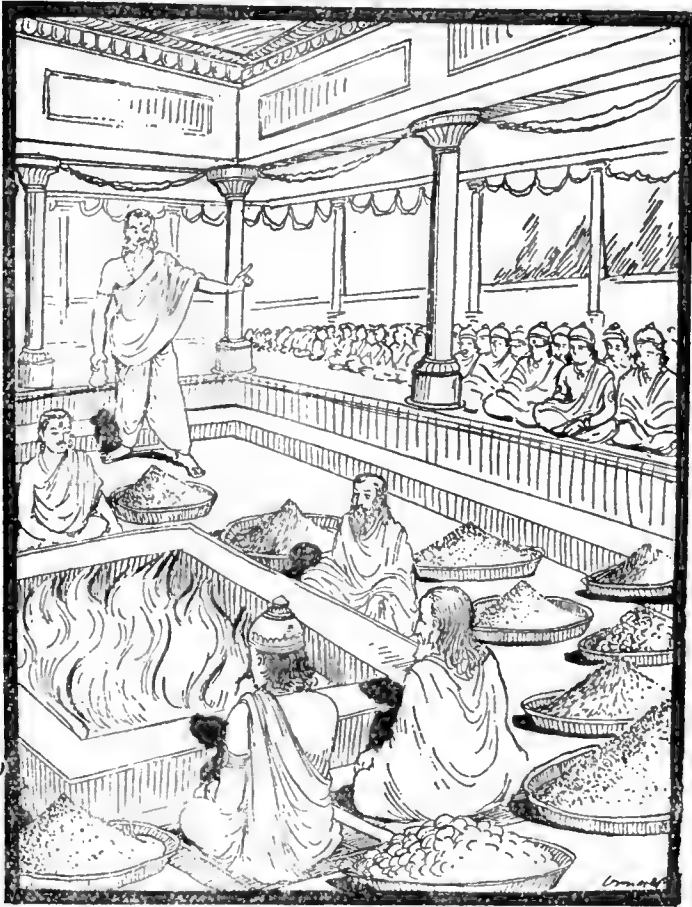
किंनु मोहान्न पश्यन्ति विनाशं पर्युपस्थितम्।
उपस्थितं महाघोरं न बुध्यन्ति महाध्वरे॥ १३॥

'इस महायज्ञमें अत्यन्त घोर विनाश उपस्थित होनेवाला है; किंतु मोहवश कोई देख नहीं रहे हैं—समझ नहीं पाते हैं'॥

इत्युक्त्वा स महायोगी पश्यति ध्यानचक्षुषा।
स पश्यति महादेवं देवीं च वरदां शुभाम्॥ १४॥
नारदं च महात्मानं तस्या देव्याः समीपतः।
संतोषं परमं लेभे इति निश्चित्य योगवित्॥ १५॥
एकमन्त्रास्तु ते सर्वे येनेशो न निमन्त्रितः।

ऐसा कहकर महायोगी दधीचिने जब ध्यान लगाकर देखा, तब उन्हें भगवान् शंकर और मङ्गलमयी वरदायिनी देवी पार्वतीजीका दर्शन हुआ। उनके पास ही महात्मा नारदजी भी दिखायी दिये, इससे उनको बड़ा संतोष हुआ। योगवेत्ता दधीचिको यह निश्चय हो गया कि ये सब देवता एकमत हो गये हैं। इसीलिये इन्होंने महेश्वरको यहाँ निमन्त्रित नहीं किया है॥ १४-१५½॥

तस्माद् देशादपक्रम्य दधीचिर्वाक्यमब्रवीत्॥ १६॥
अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात्।
नृघातकसमं पापं शश्वत् प्राप्नोति मानवः॥ १७॥

यह बात ध्यानमें आते ही दधीचि यज्ञशालासे अलग हो गये और दूर जाकर कहने लगे—'सज्जनो! अपूजनीय पुरुषकी पूजा करनेसे और पूजनीय महापुरुषकी पूजा न करनेसे मनुष्य सदा ही नरहत्याके समान पापका भागी होता है॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।
देवतानामृषीणां च मध्ये सत्यं ब्रवीम्यहम्॥ १८॥

'मैंने पहले कभी झूठ नहीं कहा है और आगे भी कभी झूठ नहीं कहूँगा। इन देवताओं तथा ऋषियोंके बीचमें मैं सच्ची बात कह रहा हूँ'॥ १८॥

आगतं पशुभर्तारं स्रष्टारं जगतः पतिम्।
अध्वरे ह्यग्रभोक्तारं सर्वेषां पश्यत प्रभुम्॥ १९॥

'भगवान् शंकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेवाले, सम्पूर्ण जीवोंके रक्षक, स्वामी तथा सबके प्रभु हैं। तुम सब लोग देख लेना, वे इस यज्ञमें प्रधान भोक्ताके रूपमें उपस्थित होंगे'॥

दक्ष उवाच

सन्ति नो बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः।
एकादशस्थानगता नाहं वेद्मि महेश्वरम्॥ २०॥

दक्षने कहा—हाथोंमें शूल और मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले बहुत-से रुद्र हमारे यहाँ रहते हैं। वे ग्यारह हैं और ग्यारह स्थानोंमें निवास करते हैं। उनके सिवा दूसरे किसी महेश्वरको मैं नहीं जानता॥ २०॥

दधीचिरुवाच

सर्वेषामेव मन्त्रोऽयं येनासौ न निमन्त्रितः।
यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम्।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति॥ २१॥

दधीचि बोले—मैं जानता हूँ, आप सब लोगोंका ही यह मिल-जुलकर किया हुआ निश्चय है। इसीलिये उन महादेवजीको निमन्त्रित नहीं किया गया है; परंतु मैं भगवान् शंकरसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं देखता। यदि यह सत्य है तो प्रजापति दक्षका यह विशाल यज्ञ निश्चय ही नष्ट हो जायगा॥

दक्ष उवाच

एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे
हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम्।

विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य भागं
प्रभुर्विभुश्चाहवनीय एषः ॥ २२ ॥

दक्षने कहा—महर्षे ! देखो, विधिपूर्वक मन्त्रसे पवित्र की हुई यह सारी हवि सुवर्णके पात्रमें रखी हुई है। यह यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको समर्पित है। भगवान् विष्णुकी कहीं समता नहीं है। मैं उन्हींको हविष्यका यह भाग अर्पित करूँगा। ये भगवान् विष्णु ही सर्वसमर्थ, व्यापक और यज्ञ-भाग अर्पित करनेके योग्य हैं ॥ २२ ॥

देव्युवाच

किं नाम दानं नियमं तपो वा
कुर्यामहं येन पतिर्ममाद्य।
लभेत भागं भगवानचिन्त्यो
ह्यर्धं तथा भागमथो तृतीयम् ॥ २३ ॥

(दूसरी ओर कैलास पर्वतपर) पार्वती देवी (बहुत दुखी होकर) कह रही थीं—आह, मैं कौन-सा व्रत, दान या तप करूँ, जिसके प्रभावसे आज मेरे पतिदेव अचिन्त्य भगवान् शंकरको यज्ञका आधा अथवा तिहाई भाग अवश्य प्राप्त हो ?' ॥ २३ ॥

एवं ब्रुवाणां भगवान् स पत्नीं
प्रहृष्टरूपः क्षुभितामुवाच।
न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि
किं नाम युक्तं वचनं मखेशे ॥ २४ ॥

क्षोभमें भरकर इस प्रकार बोलती हुई पत्नीकी बात सुनकर भगवान् शंकर हर्षमें खिल उठे और इस प्रकार बोले—'देवि ! कृशोदराङ्गि ! तू मुझे नहीं जानती, मैं सम्पूर्ण यज्ञोंका ईश्वर हूँ। मेरे विषयमें किस प्रकारके वचन कहना चाहिये, यह भी तुम नहीं जानती ॥ २४ ॥

अहं विजानामि विशालनेत्रे
ध्यानेन हीना न विदन्त्यसन्तः।
तवाद्य मोहेन च सेन्द्रदेवा
लोकास्त्रयः सर्वत एव मूढाः ॥ २५ ॥

'पर मैं सब कुछ जानता हूँ। विशाललोचने ! जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, वे ध्यानशून्य असाधु पुरुष मेरे स्वरूप-को नहीं जानते। आज तुम्हारे इस मोहसे इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोक सब ओरसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं ॥ २५ ॥

मामध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरं सामगाश्चोपगान्ति।
मां ब्राह्मणा ब्रह्मविदो यजन्ते
ममाध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम् ॥ २६ ॥

'यज्ञमें प्रस्तोतालोग मेरी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले ब्राह्मण रथन्तर सामके रूपमें मेरी ही महिमाका गान करते हैं। वेदवेत्ता विप्र मेरा ही यजन करते और ऋत्विजलोग यज्ञमें मुझे ही भाग अर्पित करते हैं' ॥ २६ ॥

देव्युवाच

सुप्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वः स्त्रीजनसंसदि।
स्तौति गर्वायते चापि स्वमात्मानं न संशयः ॥ २७ ॥

देवीने कहा—नाथ ! अत्यन्त गँवार पुरुष भी क्यों न हो, प्रायः सभी स्त्रियोंके बीचमें अपनी प्रशंसाके गीत गाते और अपनी श्रेष्ठतापर गर्व करते हैं—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

नात्मानं स्तौमि देवेशि पश्य मे तनुमध्यमे।
यं स्रक्ष्यामि वरारोहे यागार्थं वरवर्णिनि ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—देवेश्वरि ! तनुमध्यमे ! वरारोहे ! वरवर्णिनि ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता हूँ। मेरा प्रभाव देखो। जिसके कारण तुम्हें दुःख हुआ है, उस यज्ञको नष्ट करनेके लिये मैं जिस वीर पुरुषकी सृष्टि कर रहा हूँ' उसपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् पत्नीमुमां प्राणैरपि प्रियाम्।
सोऽसृजद् भगवान् वक्त्राद् भूतं घोरं प्रहर्षणम् ॥ २९ ॥

अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी पत्नी उमासे ऐसी बात कहकर भगवान् महेश्वरने अपने मुखसे एक अद्भुत एवं भयंकर प्राणीको प्रकट किया, जो उनका हर्ष बढ़ानेवाला था ॥

तमुवाचाक्षिप मखं दक्षस्येति महेश्वरः।
ततो वक्त्राद् विमुक्तेन सिंहेनैकेन लीलया ॥ ३० ॥
देव्या मन्युव्यपोहार्थं हतो दक्षस्य वै क्रतुः।

महेश्वरने उस पुरुषको आज्ञा दी—'वीर ! तुम दक्षके यज्ञका नाश कर दो।' फिर तो भगवान्‌के मुखसे निकले हुए उस सिंहके समान पराक्रमी एक ही वीरने पार्वतीदेवीके दुःख और क्रोधका निवारण करनेके लिये खेल-ही-खेलमें प्रजापति दक्षके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ ३०½ ॥

मन्युना च महाभीमा महाकाली महेश्वरी ॥ ३१ ॥
आत्मनः कर्मसाक्षित्वे तेन सार्धं सहानुगा।

उस समय भवानीके क्रोधसे प्रकट हुई अत्यन्त भयंकर रूपवाली महाकाली महेश्वरीने भी अपना पराक्रम दिखानेके लिये सेवकोंसहित उस वीरके साथ प्रस्थान किया था ॥ ३१½ ॥

देवस्यानुमतं मत्वा प्रणम्य शिरसा ततः ॥ ३२ ॥
आत्मनः सदृशः शौर्याद् बलरूपसमन्वितः।
स एव भगवान् क्रोधः प्रतिरूपसमन्वितः ॥ ३३ ॥
अनन्तबलवीर्यश्च अनन्तबलपौरुषः।
वीरभद्र इति ख्यातो देव्या मन्युप्रमार्जकः ॥ ३४ ॥

(वीरभद्रने किस प्रकार उस यज्ञका विध्वंस किया, यह

प्रसङ्ग आगे बताया जाता है—) महादेवजीकी अनुमति जानकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। वह वीर अपने ही समान शौर्य, रूप और बलसे सम्पन्न था (उसकी कहीं उपमा नहीं थी)। भगवान् शिवका वह सब कुछ करनेमें समर्थ क्रोध ही मूर्तिमान् होकर उस वीरके रूपमें प्रकट हुआ था। उसके बल, वीर्य, शक्ति और पुरुषार्थका कहीं अन्त नहीं था। पार्वतीदेवीके क्रोध और खेदका निवारण करनेवाला वह पुरुष वीरभद्रके नामसे विख्यात हुआ ॥ ३२—३४ ॥

सोऽसृजद् रोमकूपेभ्यो रौम्यान् नाम गणेश्वरान्।
रुद्रतुल्या गणा रौद्रा रुद्रवीर्यपराक्रमाः ॥ ३५ ॥

उसने अपने रोमकूपोंसे रौम्य नामवाले गणेश्वरोंको प्रकट किया, जो रुद्रके समान ही होनेके कारण रौद्रगण कहलाये। उन सबके बल-पराक्रम भी रुद्रके ही समान थे ॥ ३५ ॥

ते निपेतुस्ततस्तूर्णं दक्षयज्ञविहिंसया।
भीमरूपा महाकायाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३६ ॥
ततः किलकिलाशब्दैराकाशं पूरयन्निव।

वे भयंकर रूपधारी विशालकाय रुद्रगण सैकड़ों और हजारोंकी टोलियाँ बनाकर अपनी किलकारियोंसे आकाशको गुँजाते हुए-से दक्षयज्ञका विध्वंस करनेके लिये बड़ी तेजीके साथ टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

तेन शब्देन महता त्रस्तास्तत्र दिवौकसः ॥ ३७ ॥
पर्वताश्च व्यशीर्यन्त चकम्पे च वसुंधरा।
मारुताश्चैव घूर्णन्ते चुक्षुभे वरुणालयः ॥ ३८ ॥

उस महाभयंकर कोलाहलसे उस यज्ञमें पधारे हुए समस्त देवता व्याकुल हो उठे। पर्वत टूक-टूक होकर बिखर गये। धरती डोलने लगी, आँधी चलने लगी और समुद्रमें तूफान आ गया ॥ ३७-३८ ॥

अग्नयो नैव दीप्यन्ते नैव दीप्यति भास्करः।
ग्रहा नैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ३९ ॥
ऋषयो न प्रकाशन्ते न देवा न च मानुषाः।
एवं तु तिमिरीभूते निर्दहन्त्यपमानिताः ॥ ४० ॥

उस समय आग नहीं जलती थी, सूर्यका प्रकाश फीका पड़ गया; ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा भी निस्तेज हो गये। इस प्रकार वहाँ चारों ओर अँधेरा छा गया। देवता, ऋषि और मनुष्य—सभी छिप गये—कोई दिखायी नहीं देते थे। दक्षसे अपमानित हुए रुद्रगण यज्ञशालामें सब ओर आग लगाने लगे ॥ ३९-४० ॥

प्रहरन्त्यपरे घोरा यूपानुत्पाटयन्ति च।
प्रमर्दन्ति तथा चान्ये विमर्दन्ति तथा परे ॥ ४१ ॥

दूसरे भयंकर भूत उसी यज्ञके सदस्योंको पीटने लगे। कुछ यूप उखाड़ने लगे। बहुतेरे रुद्रगण यज्ञकी सामग्रीको कुचलने और रौंदने लगे ॥ ४१ ॥

आधावन्ति प्रधावन्ति वायुवेगा मनोजवाः।
चूर्ण्यन्ते यज्ञपात्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ४२ ॥

वायु और मनके समान वेगशाली कितने ही पार्षद इधर-उधर दौड़ लगाने लगे। कुछ लोग यज्ञके उपयोगमें आनेवाले पात्रों तथा दिव्य आभूषणोंको चूर-चूर कर रहे थे ॥

विशीर्यमाणा दृश्यन्ते तारा इव नभस्तले।
दिव्यान्नपानभक्ष्याणां राशयः पर्वतोपमाः ॥ ४३ ॥

उनके बिखरकर गिरते हुए टुकड़े आकाशमें छिटके हुए तारोंके समान दिखायी देते थे। उस यज्ञभूमिमें जहाँ-तहाँ दिव्य अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थोंके पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ ४३ ॥

क्षीरनद्योऽथ दृश्यन्ते घृतपायसकर्दमाः।
दधिमण्डोदका दिव्याः खण्डशर्करवालुकाः ॥ ४४ ॥

दूधकी दिव्य नदियाँ वहाँ बहती दीखती थीं, घी और खीरकी कीच जम गयी थी, दही और मट्ठा पानीकी तरह बह रहे थे तथा खाँड़ और शक्कर वहाँ बालूकी भाँति बिछ गये थे ॥ ४४ ॥

षड् रसान् निवहन्त्येता गुडकुल्या मनोरमाः।
उच्चावचानि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च ॥ ४५ ॥

ये सब नदियाँ षट्रस भोजन प्रवाहित कर रही थीं। गुड़के रसकी छोटी-छोटी मनोरम नहरें दृष्टिगोचर होती थीं। नाना प्रकारके फलोंके गुदे और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत किये गये थे ॥ ४५ ॥

पानकानि च दिव्यानि लेह्यचोष्याणि यानि च।
भुञ्जते विविधैर्वक्त्रैर्विलुम्पन्त्याक्षिपन्ति च ॥ ४६ ॥

दिव्य पेय पदार्थ, लेह्य और चोष्य आदि जो-जो भोजन वहाँ उपलब्ध हुए, उन सबको वे रुद्रगण अपने विविध मुखोंद्वारा खाने, नष्ट करने और चारों ओर छींटने तथा फेंकने लगे ॥ ४६ ॥

रुद्रकोपान्महाकायाः कालाग्निसदृशोपमाः।
क्षोभयन् सुरसैन्यानि भीषयन्तः समन्ततः ॥ ४७ ॥

वे विशालकाय भूत रुद्रदेवके क्रोधसे कालाग्निके समान होकर देवताओंकी सेनाओंको चारों ओरसे डराने और क्षुब्ध करने लगे ॥ ४७ ॥

क्रीडन्ति विविधाकाराश्चिक्षिपुः सुरयोषितः।
रुद्रक्रोधात् प्रयत्नेन सर्वदेवैः सुरक्षितम् ॥ ४८ ॥
तं यज्ञमदहच्छीघ्रं रुद्रकर्मा समन्ततः।

अनेक प्रकारकी आकृतिवाले वे रुद्रगण खेलते-कूदते और देवाङ्गनाओंको दूर फेंक देते थे। यद्यपि सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर प्रयत्नपूर्वक उस यज्ञकी रक्षा की थी तथापि रुद्रकर्मा वीरभद्रने रुद्रदेवके क्रोधसे प्रेरित हो सब ओरसे शीघ्र ही उसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ ४८½ ॥

चकार भैरवं नादं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ४९ ॥
छित्त्वा शिरो वै यज्ञस्य ननाद च मुमोद च ।

तत्पश्चात् उसने ऐसी भीषण गर्जना की, जो समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली थी । फिर उसने यज्ञका सिर काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव किया ॥ ४९½ ॥

ततो ब्रह्मादयो देवा दक्षश्चैव प्रजापतिः ॥ ५० ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कथ्यतां को भवानिति ।

तब ब्रह्मा आदि देवता तथा प्रजापति दक्ष—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर बोले—'देवदेव ! कहिये, आप कौन हैं ?' ॥

वीरभद्र उवाच

नाहं रुद्रो न वा देवी नैव भोक्तुमिहागतः ॥ ५१ ॥
देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः ।

वीरभद्रने कहा—ब्रह्मन् ! मैं न तो रुद्र हूँ, न देवी हूँ और न यहाँ भोजन करनेके लिये ही आया हूँ । तुम्हारा यह यज्ञ देवी पार्वतीके रोषका कारण बन गया है—ऐसा जानकर सर्वात्मा भगवान् शिव कुपित हो उठे हैं ॥ ५१½ ॥

द्रष्टुं वा नैव विप्रेन्द्रान् नैव कौतूहलेन वा ॥ ५२ ॥
तव यज्ञविघातार्थं सम्प्राप्तं विद्धि मामिह ।

मैं यहाँ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका दर्शन करने या कौतूहलवश इस यज्ञका तमाशा देखनेके लिये नहीं आया हूँ । तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं तुम्हारे इस यज्ञका विनाश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ५२½ ॥

वीरभद्र इति ख्यातो रुद्रकोपाद् विनिःसृतः ॥ ५३ ॥
भद्रकालीति विख्याता देव्याः कोपाद् विनिःसृता ।
प्रेषितौ देवदेवेन यज्ञान्तिकमिहागतौ ॥ ५४ ॥

मेरा नाम वीरभद्र है । रुद्रदेवके क्रोधसे मेरा प्राकट्य हुआ है । यह नारी भद्रकालीके नामसे विख्यात है और देवी पार्वतीके कोपसे प्रकट हुई है । देवाधिदेव महादेवने हम दोनोंको यहाँ भेजा है । इसलिये हम दोनों इस यज्ञके निकट आये हैं ॥ ५३-५४ ॥

शरणं गच्छ विप्रेन्द्र देवदेवमुमापतिम् ।
वरं क्रोधोऽपि देवस्य वरदानं न चान्यतः ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! तुम देवाधिदेव उमावल्लभ भगवान् शिवकी शरणमें जाओ । महादेवजीका क्रोध भी परम मङ्गलमय है और दूसरोंसे मिला हुआ वरदान भी मङ्गलकारक नहीं होता ॥

वीरभद्रवचः श्रुत्वा दक्षो धर्मभृतां वरः ।
तोषयामास स्तोत्रेण प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ ५६ ॥

वीरभद्रकी यह बात सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ दक्षने भगवान् शिवके उद्देश्यसे प्रणाम करके निम्नाङ्कित स्तोत्रके द्वारा उनकी स्तुति की—॥ ५६ ॥

प्रपद्ये देवमीशानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ५७ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्‌के शासक, पालक, महान् आत्मा, नित्य, सनातन, अविकारी और आराध्यदेव हैं, उन महादेवजीकी आज मैं शरण लेता हूँ' ॥ ५७ ॥

प्राणापानौ संनिरुध्य वक्त्रस्थानेन यत्नतः ।
विचार्य सर्वतो दृष्टिं बहुदृष्टिरमित्रजित् ॥ ५८ ॥
सहसा देवदेवेशो ह्यग्निकुण्डात् समुत्थितः ।
बिभ्रत्सूर्यसहस्रस्य तेजः संवर्तकोपमः ॥ ५९ ॥
स्मितं कृत्वाब्रवीद् वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

तब अनेक नेत्रोंवाले, शत्रुविजयी, महादेव अपने मुखोंद्वारा यत्नपूर्वक प्राण और अपान वायुको अवरुद्ध करके सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिपात करते हुए सहसा अग्निकुण्डसे निकल पड़े । प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी स्वरूपसे सहस्रों सूर्योंकी प्रभा धारण किये वे दक्षके सामने खड़े हो गये और मुसकराकर बोले—'प्रजापते ! बोलो, मैं आज तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ' ॥ ५८-५९½ ॥

श्राविते च मखाध्याये देवानां गुरुणा ततः ॥ ६० ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा दक्षो देवं प्रजापतिः ।
भीतशङ्कितवित्रस्तः सबाष्पवदनेक्षणः ॥ ६१ ॥
यदि प्रसन्नो भगवान् यदि चाहं भवत्प्रियः ।
यदि वाहमनुग्राह्यो यदि वा वरदो मम ॥ ६२ ॥
यद् दग्धं भक्षितं पीतमशितं यच्च नाशितम् ।
चूर्णीकृतापविद्धं च यज्ञसम्भारमीदृशम् ॥ ६३ ॥
दीर्घकालेन महता प्रयत्नेन सुसंचितम् ।
तन्न मिथ्या भवेन्मह्यं वरमेतमहं वृणे ॥ ६४ ॥

उस समय देवगुरु बृहस्पतिने महादेवजीको वेदका मखाध्याय पढ़कर सुनाया । तत्पश्चात् प्रजापति दक्ष दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए हाथ जोड़कर भय और शङ्कासे सहमे हुए-से बोले—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, यदि मैं आपका प्रिय हूँ, आपके अनुग्रहका पात्र हूँ अथवा यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो मैं यही वर माँगता हूँ कि मैंने दीर्घकालसे महान् प्रयत्न करके जो ऐसा यज्ञ-सम्भार जुटा रखा था, उसमेंसे जो जला दिया गया, खा-पी लिया गया, नष्ट किया गया अथवा चूर-चूर करके फेंक दिया गया, वह सब मेरे लिये व्यर्थ न हो' ॥ ६०—६४ ॥

तथास्त्वित्याह भगवान् भगनेत्रहरो हरः ।
धर्माध्यक्षो विरूपाक्षस्त्र्यक्षो देवः प्रजापतिः ॥ ६५ ॥

तब धर्मके अध्यक्ष, प्रजापालक, विरूपाक्ष, त्रिनेत्रधारी, भगनेत्रहारी देवेश्वर भगवान् हरने 'तथास्तु' कहकर दक्षको मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ६५ ॥

जानुभ्यामवनीं गत्वा दक्षो लब्ध्वा भवाद् वरम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण स्तुतवान् वृषभध्वजम् ॥ ६६ ॥

दक्षके यज्ञमें शिवजीका प्राकट्य

महादेवजीसे वर पाकर दक्षने धरतीपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया और एक हजार आठ नामोंद्वारा उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यैर्नामधेयैः स्तुतवान् दक्षो देवं प्रजापतिः ।
वक्तुमर्हसि मे तात श्रोतुं श्रद्धा ममानघ ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! निष्पाप पितामह ! प्रजापति दक्षने जिन नामोंद्वारा महादेवजीकी स्तुति की थी, उनका मुझसे वर्णन कीजिये । उन्हें सुननेके लिये मेरे हृदयमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां देवदेवस्य नामान्यद्भुतकर्मणः ।
गूढव्रतस्य गुह्यानि प्रकाशानि च भारत ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! अद्भुत कर्म करनेवाले गूढ व्रतधारी देवाधिदेव महादेवजीके कुछ नाम गोपनीय हैं और कुछ प्रकाशित हैं । तुम उन सबको सुनो ॥ ६८ ॥

नमस्ते देवदेवेश देवारिबलसूदन ।
देवेन्द्रबलविष्टम्भ देवदानवपूजित ॥ ६९ ॥

(दक्ष बोले)—देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप देववैरी दानवोंकी सेनाके संहारक और देवराज इन्द्रकी शक्तिको भी स्तम्भित करनेवाले हैं । देवता और दानव—सबने आपकी पूजा की है ॥ ६९ ॥

सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष यक्षाधिपप्रिय ।
सर्वतःपाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ ७० ॥

आप सहस्रों नेत्रोंसे युक्त होनेके कारण सहस्राक्ष हैं । आपकी इन्द्रियाँ सबसे विलक्षण अर्थात् परोक्ष विषयको भी प्रत्यक्ष करनेवाली हैं, इसलिये आपको विरूपाक्ष कहते हैं । आप त्रिनेत्रधारी होनेके कारण त्र्यक्ष कहलाते हैं । यक्षराज कुबेरके भी आप प्रिय (इष्टदेव) हैं । आपके सब ओर हाथ और पैर हैं तथा सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥

सर्वतःश्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
शङ्कुकर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ७१ ॥
गजेन्द्रकर्ण गोकर्ण पाणिकर्ण नमोऽस्तु ते ।

आपके कान भी सब ओर हैं । संसारमें जो कुछ है, सबको व्याप्त करके आप स्थित हैं । शङ्कुकर्ण, महाकर्ण, कुम्भकर्ण, अर्णवालय, गजेन्द्रकर्ण, गोकर्ण और पाणिकर्ण—ये सात पार्षद् आपके ही स्वरूप हैं । इन सबके रूपमें आपको नमस्कार है ॥ ७१½ ॥

शतोदर शतावर्त शतजिह्व नमोऽस्तु ते ॥ ७२ ॥
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणं त्वा शतक्रतुमूर्ध्वं खमिव मेनिरे ॥ ७३ ॥

आपके सैकड़ों उदर, सैकड़ों आवर्त और सैकड़ों जिह्वाएँ होनेके कारण आप क्रमशः शतोदर, शतावर्त और शतजिह्व नामसे प्रसिद्ध हैं । आपको प्रणाम है । गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाले द्विज आपकी ही महिमाका गान करते हैं और सूर्योपासक सूर्यके रूपमें आपकी ही आराधना करते हैं । ऋषिगण आपको ही ब्रह्मा, शतक्रतु इन्द्र और आकाशके समान सर्वोच्च पद मानते हैं ॥ ७२-७३ ॥

मूर्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राम्बरसंनिभ ।
सर्वा वै देवता ह्यस्मिन् गावो गोष्ठ इवासते ॥ ७४ ॥

समुद्र और आकाशके समान अपार, अनन्त रूप धारण करनेवाले महामूर्तिधारी महेश्वर ! जैसे गोशालामें गौएँ निवास करती हैं, उसी प्रकार आपकी भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं यजमानरूप आठ प्रकारकी मूर्तियोंमें सम्पूर्ण देवताओंका निवास है ॥ ७४ ॥

भवच्छरीरे पश्यामि सोममग्निं जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ वै विष्णुं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ७५ ॥

मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा तथा बृहस्पतिको भी देख रहा हूँ ॥ ७५ ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रिया करणमेव च ।
असतश्च सतश्चैव तथैव प्रभवाप्ययौ ॥ ७६ ॥

आप ही कारण, कार्य, क्रिया (प्रयत्न) और करण हैं । सत् और असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान भी आप ही हैं ॥ ७६ ॥

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
पशूनां पतये नित्यं नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥ ७७ ॥

आप सबके उद्भवका स्थान होनेसे भव, संहार करनेके कारण शर्व, 'रु' अर्थात् पाप एवं दुःखको दूर करनेसे रुद्र, वरदाता होनेसे वरद तथा पशुओं (जीवों) के पालक होनेके कारण सदा पशुपति कहलाते हैं । आपने ही अन्धकासुरका वध किया है, इसलिये आपका नाम अन्धकघाती है । आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ७७ ॥

त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलवरपाणिने ।
त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्नाय वै नमः ॥ ७८ ॥

आप तीन जटा और तीन मस्तक धारण करनेवाले हैं । आपके हाथमें श्रेष्ठ त्रिशूल शोभा पाता है । आप त्र्यम्बक, त्रिनेत्रधारी तथा त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

नमश्चण्डाय कुण्डाय अण्डायाण्डधराय च ।
दण्डिने समकर्णाय दण्डिमुण्डाय वै नमः ॥ ७९ ॥

आप दुष्टोंपर अत्यन्त क्रोध करनेके कारण चण्ड हैं । कुण्डमें जलकी भाँति आपके उदरमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है,

इसलिये आपको कुण्ड कहते हैं। आप अण्ड (ब्रह्माण्ड-स्वरूप) और अण्डधर (ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले) हैं। आप दण्डधारी (सबको दण्ड देनेवाले) और समकर्ण (सबकी समान रूपसे सुननेवाले) हैं । दण्डधारण करके मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी भी आपके ही स्वरूप हैं, इसलिये आपका नाम दण्डिमुण्ड है। आपको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

नमोर्ध्वदंष्ट्रकेशाय शुक्लायावतताय च।
विलोहिताय धूम्राय नीलग्रीवाय वै नमः ॥ ८० ॥

आपकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं, इसलिये आप ऊर्ध्वदंष्ट्र तथा ऊर्ध्वकेश कहलाते हैं। आप ही शुक्ल (विशुद्ध ब्रह्म) और आप ही अवतत (जगत्के रूपमें विस्तृत) हैं । आप रजोगुणको अपनानेपर विलोहित और तमोगुणका आश्रय लेनेपर धूम्र कहलाते हैं। आपकी ग्रीवामें नीले रंगका चिह्न है, इसलिये आपको नीलग्रीव कहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८० ॥

नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च।
सूर्याय सूर्यमालाय सूर्यध्वजपताकिने ॥ ८१ ॥

आपके रूपकी कहीं भी समता नहीं है, इसलिये आप अप्रतिरूप हैं। विविध रूप धारण करनेके कारण आपका नाम विरूप है। आप ही परम कल्याणकारी शिव हैं । आप ही सूर्य हैं, आप ही सूर्यमण्डलके भीतर सुशोभित होते हैं । आप अपनी ध्वजा और पताकापर सूर्यका चिह्न धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

नमः प्रमथनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने।
शत्रुंदमाय दण्डाय पर्णचीरपटाय च ॥ ८२ ॥

आप प्रमथगणोंके अधीश्वर हैं। वृषभके कंधोंके समान आपके कंधे भरे हुए हैं। आप पिनाक धनुष धारण करते हैं। शत्रुओंका दमन करनेवाले और दण्डस्वरूप हैं। किरात या तपस्वीके रूपमें विचरते समय आप भोजपत्र और वल्कल-वस्त्र धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८२ ॥

नमो हिरण्यगर्भाय हिरण्यकवचाय च।
हिरण्यकृतचूडाय हिरण्यपतये नमः ॥ ८३ ॥

हिरण्य (सुवर्ण) को उत्पन्न करनेके कारण हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके ही कवच और मुकुट धारण करनेसे आपको हिरण्यकवच और हिरण्यचूड कहा गया है। आप सुवर्णके अधिपति हैं। आपको सादर नमस्कार है ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय वै नमः।
सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतान्तरात्मने ॥ ८४ ॥

जिनकी स्तुति हो चुकी है, वे आप हैं। जो स्तुतिके योग्य हैं, वे भी आप हैं और जिनकी स्तुति हो रही है, वे भी आप ही हैं। आप सर्वस्वरूप, सर्वभक्षी और सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ८४ ॥

नमो होत्रेऽथ मन्त्राय शुक्लध्वजपताकिने।
नमो नाभाय नाभ्याय नमः कटकटाय च ॥ ८५ ॥

आप ही होता और मन्त्र हैं। आपको नमस्कार है। आपकी ध्वजा और पताकाका रंग श्वेत है। आपको नमस्कार है। आप नाभ (नाभिमें सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले), नाभ्य (संसार-चक्रके नाभि-स्थान) तथा कट-कट (आवरणके भी आवरण) हैं । आपको नमस्कार है ॥ ८५ ॥

नमोऽस्तु कृशनासाय कृशाङ्गाय कृशाय च।
संहृष्टाय विहृष्टाय नमः किलकिलाय च ॥ ८६ ॥

आपकी नासिका कृश (पतली) है, इसलिये आप कृशनस कहलाते हैं। आपके अवयव कृश होनेसे आपको कृशाङ्ग तथा शरीर दुबला होनेसे कृश कहते हैं। आप अत्यन्त हर्षोल्लाससे परिपूर्ण, विशेष हर्षका अनुभव करनेवाले और हर्षकी किल-किल ध्वनि हैं। आपको नमस्कार है ॥८६॥

नमोऽस्तु शयमानाय शयितायोत्थिताय च।
स्थिताय धावमानाय मुण्डाय जटिलाय च ॥ ८७ ॥

आप समस्त प्राणियोंके भीतर शयन करनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं। प्रलयकालमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोते और सृष्टिके प्रारम्भकालमें कल्पान्त निद्रासे जागते हैं। आप ब्रह्म-रूपसे सर्वत्र स्थित और कालरूपसे सदा दौड़नेवाले हैं। मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी और जटाधारी तपस्वी भी आपके ही स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८७ ॥

नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रवादिने।
नाद्योपहारलुब्धाय गीतवादित्रशालिने ॥ ८८ ॥

आपका ताण्डव-नृत्य बराबर चलता रहता है। आप मुखसे शृङ्गी आदि बाजे बजानेमें कुशल हैं। कमलपुष्पकी भेंट लेनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं। गाने और बजानेकी कलामें तत्पर रहकर आप बड़ी शोभा पाते हैं। आपको प्रणाम है ॥ ८८ ॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलप्रमथनाय च।
कालनाथाय कल्याय क्षयायोपक्षयाय च ॥ ८९ ॥

आप अवस्थामें सबसे ज्येष्ठ और गुणोंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आपने बल नामक दैत्यको इन्द्ररूपसे मथ डाला था। आप कालके भी नियन्ता और सर्वशक्तिमान् हैं। महाप्रलय और अवान्तर-प्रलय भी आप ही हैं। आपको नमस्कार है॥

भीमदुन्दुभिहासाय भीमव्रतधराय च।
उग्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे ॥ ९० ॥

प्रभो ! आपका अट्टहास भयंकर शब्द करनेवाली दुन्दुभिके समान जान पड़ता है। आप भीषण व्रतको धारण करनेवाले हैं। दस भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले उग्ररूपधारी आपको मेरा नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ ९० ॥

नमः कपालहस्ताय चितिभस्मप्रियाय च।
विभीषणाय भीष्माय भीमव्रतधराय च॥ ९१॥

आपके हाथमें कपाल है। चिताका भस्म आपको बहुत प्रिय है। आप सबको भयभीत करनेवाले और स्वयं निर्भय हैं तथा शम-दम आदि तीक्ष्ण व्रतोंको धारण करते हैं। आप-को नमस्कार है॥ ९१॥

नमो विकृतवक्त्राय खड्गजिह्वाय दंष्ट्रिणे।
पक्वाममांसलुब्धाय तुम्बीवीणाप्रियाय च॥ ९२॥

आपका मुख विकृत है। जिह्वा खड्गके समान है। आपका मुख दाढ़ोंसे सुशोभित होता है। आप कच्चे-पक्के फलोंके गुद्देके लिये लुभायमान रहते हैं। तुम्बी और वीणा आपको विशेष प्रिय हैं। आपको प्रणाम है॥ ९२॥

नमो वृषाय वृष्याय गोवृषाय वृषाय च।
कटंकटाय दण्डाय नमः पचपचाय च॥ ९३॥

आप वृष (वृष्टिकर्ता), वृष्य (धर्मकी वृद्धि करने-वाले), गोवृष (नन्दी) और वृष (धर्म) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। कटंकट (नित्य गतिशील), दण्ड (शासक) और पचपच (सम्पूर्ण भूतोंको पचानेवाला काल) भी आपके ही नाम हैं। आपको नमस्कार है॥ ९३॥

नमः सर्ववरिष्ठाय वराय वरदाय च।
वरमाल्यगन्धवस्त्राय वरातिवरदे नमः॥ ९४॥

आप सबसे श्रेष्ठ वरस्वरूप और वरदाता है। उत्तम वस्त्र, माल्य और गन्ध धारण करते हैं तथा भक्तको इच्छा-नुसार एवं उससे भी अधिक वर देनेवाले हैं। आपको प्रणाम है॥ ९४॥

नमो रक्तविरक्ताय भावनायाक्षमालिने।
सम्भिन्नाय विभिन्नाय छायायातपनाय च॥ ९५॥

रागी और विरागी—दोनों जिनके स्वरूप हैं, जो ध्यान-परायण, रुद्राक्षकी माला धारण करनेवाले, कारणरूपसे सबमें व्याप्त और कार्यरूपसे पृथक्-पृथक् दिखायी देनेवाले हैं तथा जो सम्पूर्ण जगत्को छाया और धूप प्रदान करते हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है॥ ९५॥

अघोरघोररूपाय घोरघोरतराय च।
नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्ततमाय च॥ ९६॥

जो अघोर, घोर और घोरसे भी घोरतर रूप धारण करनेवाले हैं तथा जो शिव, शान्त एवं परमशान्तरूप हैं, उन भगवान् शंकरको मेरा बारंबार नमस्कार है॥ ९६॥

एकपाद्बहुनेत्राय एकशीर्ष्णे नमोऽस्तु ते।
रुद्राय क्षुद्रलुब्धाय संविभागप्रियाय च॥ ९७॥

एक पाद, अनेक नेत्र और एक मस्तकवाले आपको प्रणाम है। भक्तोंकी दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तुके लिये भी लालायित रहनेवाले और उसके बदलेमें उन्हें अपार धन-राशि बाँट देनेकी रुचि रखनेवाले आप भगवान् रुद्रको नमस्कार है॥ ९७॥

पञ्चालाय सिताङ्गाय नमः शमशमाय च।
नमश्चण्डिकघण्टाय घण्टायाघण्टघण्टिने॥ ९८॥

जो इस विश्वका निर्माण करनेवाले कारीगर, गौरवर्णके शरीरवाले तथा सदा शान्तरूपसे रहनेवाले हैं, जिनकी घण्टा-ध्वनि शत्रुओंको भयभीत कर देती है तथा जो स्वयं ही घण्टानाद और अनाहतध्वनिके रूपमें श्रवणगोचर होते हैं उन महेश्वरको प्रणाम है॥ ९८॥

सहस्राध्मातघण्टाय घण्टामालाप्रियाय च।
प्राणघण्टाय गन्धाय नमः कलकलाय च॥ ९९॥

जिनके मन्दिरमें लगे हुए घण्टोंको सहस्रों आदमी बजाते हैं, घण्टोंकी माला जिन्हें प्रिय है, जिनके प्राण ही घण्टाके समानध्वनि करते हैं, जो गन्ध और कोलाहलरूप हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है॥ ९९॥

हुंहुंहुंकारपाराय हुंहुंकारप्रियाय च।
नमः शमशमे नित्यं गिरिवृक्षालयाय च॥१००॥

आप हूं (क्रोध), हूं (हिंकार), हूं (आकाश, सूर्य और ईश्वर)—इन सबसे परे विद्यमान शान्तस्वरूप परब्रह्म हैं, 'हूं, हूं' करना आपको प्रिय लगता है, आप 'शान्त रहो, शान्त रहो' ऐसा कहकर सदा सबको आश्वासन देनेवाले हैं तथा पर्वतोंपर और वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं। आपको प्रणाम है॥ १००॥

गर्भमांसशृगालाय तारकाय तराय च।
नमो यज्ञाय यजिने हुताय प्रहुताय च॥१०१॥

आप फलके भीतरके गुद्देरूप मांसके प्रलोभी शृगाल-रूप हैं। आप ही सबको तारनेवाले तथा तरण-तारणके साधन हैं। आप ही यज्ञ और आप ही यजमान हैं। आप ही हुत (हवन) और आप ही प्रहुत (अग्नि) हैं। आपको नमस्कार है॥ १०१॥

यज्ञवाहाय दान्ताय तप्यायातपनाय च।
नमस्तटाय तट्याय तटानां पतये नमः॥१०२॥

आप ही यज्ञके निर्वाहक अथवा उसे सब देवताओंतक पहुँचानेवाले अग्निदेव हैं। आप मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं। आप ही भक्तोंका कष्ट देखकर संतप्त होनेवाले तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं। आप ही तट हैं। आप ही तटवर्ती नदी आदि हैं तथा आप ही तटोंके पालक हैं। आपको नमस्कार है॥ १०२॥

अन्नदायान्नपतये नमस्त्वन्नभुजे तथा।
नमः सहस्रशीर्षाय सहस्रचरणाय च॥१०३॥

आप ही अन्नदाता, अन्नपति और अन्नके भोक्ता हैं। आपके सहस्रों मस्तक और सहस्रों चरण हैं। आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १०३ ॥

सहस्रोद्यतशूलाय सहस्रनयनाय च।
नमो बालार्कवर्णाय बालरूपधराय च ॥१०४॥

आप अपने सहस्रों हाथोंमें सहस्रों शूल लिये रहते हैं। आपके सहस्रों नेत्र हैं। आपकी अङ्गकान्ति प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान है। आप बालकरूप धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०४ ॥

बालानुचरगोप्त्राय बालक्रीडनकाय च।
नमो वृद्धाय लुब्धाय क्षुब्धाय क्षोभणाय च ॥१०५॥

आप श्रीकृष्णरूपसे संगी-साथी बालकोंके रक्षक तथा बालकोंके साथ खेल करनेवाले हैं। आप सबकी अपेक्षा वृद्ध हैं। भक्ति और प्रेमके लोभी हैं। दुष्टोंके पापाचारसे क्षुब्ध हो उठते हैं और दुराचारियोंको क्षोभमें डालनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०५ ॥

तरङ्गाङ्कितकेशाय मुञ्जकेशाय वै नमः।
नमः षट्कर्मतुष्टाय त्रिकर्मनिरताय च ॥१०६॥

आपके केश गङ्गाके तरङ्गोंसे अङ्कित तथा मुञ्जके समान हैं। आपको नमस्कार है। आप ब्राह्मणोंके छः कर्म—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रहसे संतुष्ट रहते हैं; स्वयं यजन, अध्ययन और दानरूप तीन कर्मोंमें ही तत्पर रहते हैं। आपको मेरा प्रणाम है ॥ १०६ ॥

वर्णाश्रमाणां विधिवत् पृथक्कर्मनिवर्तिने।
नमो घुष्याय घोषाय नमः कलकलाय च ॥१०७॥

आप वर्ण और आश्रमोंके भिन्न-भिन्न कर्मोंका विधिवत् विभाग करनेवाले, जपनीय मन्त्ररूप, घोषस्वरूप तथा कोलाहलमय हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०७ ॥

श्वेतपिङ्गलनेत्राय कृष्णरक्तेक्षणाय च।
प्राणभग्नाय दण्डाय स्फोटनाय कृशाय च ॥१०८॥

आपके नेत्र श्वेत और पिङ्गलवर्णके हैं, काले और लाल रंगके हैं। आप प्राणवायु (श्वास) को जीतनेवाले, दण्ड (आयुध) रूप, ब्रह्माण्डरूपी घटको फोड़नेवाले तथा कृश-शरीरधारी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०८ ॥

धर्मकामार्थमोक्षाणां कथनीयकथाय च।
सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥१०९॥

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष देनेके विषयमें आपकी कीर्तिकथा वर्णन करनेके योग्य है। आप सांख्यस्वरूप, सांख्ययोगियोंमें प्रधान तथा सांख्यशास्त्रको प्रवृत्त करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०९ ॥

नमो रथ्यविरथ्याय चतुष्पथरथाय च।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥११०॥

आप रथपर बैठकर तथा बिना रथके भी घूमनेवाले हैं। जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन चारों मार्गोंपर आपकी गति है। आप काले मृगचर्मको दुपट्टेकी भाँति ओढ़नेवाले तथा सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११० ॥

ईशान वज्रसंघात हरिकेश नमोऽस्तु ते।
त्र्यम्बकाम्बिकनाथाय व्यक्ताव्यक्त नमोऽस्तु ते ॥१११॥

ईशान ! आपका शरीर वज्रके समान कठोर है। हरिकेश ! आपको नमस्कार है। व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परमेश्वर ! आप त्रिनेत्रधारी तथा अम्बिकाके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १११ ॥

काम कामद कामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे।
सर्व सर्वद सर्वघ्न संध्याराग नमोऽस्तु ते ॥११२॥

आप कामस्वरूप, कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, कामदेवके नाशक, तृप्त और अतृप्तका विचार करनेवाले, सर्वस्वरूप, सब कुछ देनेवाले, सबके संहारक और संध्याकालके समान रंगवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११२ ॥

महाबल महाबाहो महासत्त्व महाद्युते।
महामेघचयप्रख्य महाकाल नमोऽस्तु ते ॥११३॥

महाबल ! महाबाहो ! महासत्त्व ! महाद्युते ! आप महान् मेघोंकी घटाके समान रंगवाले महाकालस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११३ ॥

स्थूल जीर्णाङ्ग जटिले वल्कलाजिनधारिणे।
दीप्तसूर्याग्निजटिले वल्कलाजिनवाससे।
सहस्रसूर्यप्रतिम तपोनित्य नमोऽस्तु ते ॥११४॥

आपका श्रीविग्रह स्थूल और जीर्ण है। आप जटाधारी हैं। वल्कल और मृगचर्म धारण करते हैं। देदीप्यमान सूर्य और अग्निके समान ज्योतिर्मयी जटासे सुशोभित हैं। वल्कल और मृगचर्म ही आपके वस्त्र हैं। आप सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान और सदा तपस्यामें संलग्न रहनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११४ ॥

उन्मादन शतावर्त गङ्गातोयार्द्रमूर्धज।
चन्द्रावर्त युगावर्त मेघावर्त नमोऽस्तु ते ॥११५॥

आप जगत्को उन्माद (मोह) में डालनेवाले हैं। आपके मस्तकपर गङ्गाजीकी सैकड़ों लहरें और भँवरें उठती रहती हैं। आपके केश सदा गङ्गाजलसे भीगे रहते हैं। आप चन्द्रमाको क्षय-वृद्धिके चक्करमें डालनेवाले हैं। आप ही युगोंकी पुनरावृत्ति करनेवाले और मेघोंके प्रवर्तक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११५ ॥

त्वमन्नमन्नभोक्ता च अन्नदोऽन्नभुगेव च।

अन्नस्रष्टा च पक्ता च पक्वभुक्पवनोऽनलः ॥११६॥

आप ही अन्न, अन्नके भोक्ता, अन्नदाता, अन्नका पालन करनेवाले, अन्नस्रष्टा, पाचक, पक्वान्नभोजी, प्राण-वायु तथा जठरानलरूप हैं ॥ ११६ ॥

जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजाश्च तथोद्भिजाः।
त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥११७॥

देवदेवेश्वर ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज–ये चार प्रकारके प्राणिसमूह आप ही हैं ॥ ११७ ॥

चराचरस्य स्रष्टा त्वं प्रतिहर्ता तथैव च।
त्वामाहुर्ब्रह्मविदुषो ब्रह्म ब्रह्मविदां वर ॥११८॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! आप ही चराचर जीवोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं। ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपहीको ब्रह्म कहते हैं ॥ ११८ ॥

मनसः परमा योनिः खं वायुर्ज्योतिषां निधिः।
ऋक्सामानि तथोङ्कारमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥११९॥

वेदवादी विद्वान् आपको ही मनका परम कारण, आकाश, वायु, तेजकी निधि, ऋक्, साम तथा ॐकार बताते हैं ॥ ११९ ॥

हायिहायिहुवाहायिहावुहायि तथासकृत्।
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठ सामगा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

सुरश्रेष्ठ ! सामगान करनेवाले वेदवेत्ता पुरुष 'हा ३ यि, हा ३ यि, हु ३ वा, हा ३ यि, हा ३ वु, हा ३ यि' आदिका बारंबार उच्चारण करके निरन्तर आपकी ही महिमाका गान करते हैं ॥ १२० ॥

यजुर्मयो ऋङ्मयश्च त्वमाहुतिमयस्तथा।
पठ्यसे स्तुतिभिश्चैव वेदोपनिषदां गणैः ॥१२१॥

यजुर्वेद और ऋग्वेद आपके ही स्वरूप हैं। आप ही हविष्य हैं। वेदों और उपनिषदोंके समूह अपनी स्तुतियोंद्वारा आपकी ही महिमाका प्रतिपादन करते हैं॥ १२१ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये।
त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युतस्तनितगर्जितः ॥१२२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज–ये आपके ही स्वरूप हैं। मेघोंकी घटा, बिजली, गर्जना और गड़गड़ाहट भी आप ही हैं ॥ १२२ ॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च।
युगं निमेषाः काष्ठास्त्वं नक्षत्राणि ग्रहाः कलाः ॥१२३॥

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, युग, निमेष, काष्ठा, नक्षत्र, ग्रह और कला भी आप ही हैं ॥ १२३ ॥

वृक्षाणां ककुदोऽसि त्वं गिरीणां शिखराणि च।
व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम्॥ १२४॥

वृक्षोंमें प्रधान वट-पीपल आदि, पर्वतोंमें उनके शिखर, वन-जन्तुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमें गरुड तथा सर्पोंमें अनन्त आप ही हैं ॥ १२४ ॥

क्षीरोदो ह्युदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च।
वज्रः प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च ॥१२५॥

समुद्रोंमें क्षीरसागर, यन्त्रों (अस्त्रों) में धनुष, चलाये जानेवाले आयुधोंमें वज्र और व्रतोंमें सत्य भी आप ही हैं ॥

त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे।
व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ ॥१२६॥

आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय तथा पराजय हैं ॥

त्वं गदी त्वं शरी चापी खट्वाङ्गी झर्झरी तथा।
छेत्ता भेत्ता प्रहर्ता त्वं नेता मन्ता पिता मतः ॥१२७॥

आप गदा, बाण, धनुष, खाटका अङ्ग तथा झर्झर नामक अस्त्र धारण करनेवाले हैं। आप छेदन, भेदन और प्रहार करनेवाले हैं। सत्पथपर ले जानेवाले, शुभका मनन करनेवाले तथा पिता माने गये हैं ॥ १२७ ॥

दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च।
गङ्गा समुद्राः सरितः पल्वलानि सरांसि च ॥१२८॥
लता वल्ल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः।
द्रव्यकर्मसमारम्भः कालः पुष्पफलप्रदः ॥१२९॥

दस लक्षणोंवाला धर्म तथा अर्थ और काम भी आप ही हैं। गङ्गा, समुद्र, नदियाँ, गड्ढे, तालाब, लता, वल्ली, तृण, ओषधि, पशु, मृग, पक्षी, द्रव्य और कर्मोंके आरम्भ तथा फूल और फल देनेवाला काल भी आप ही हैं ॥१२८-१२९॥

आदिश्चान्तश्च देवानां गायत्र्योंकार एव च।
हरितो रोहितो नीलः कृष्णो रक्तस्तथारुणः।
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा ॥१३०॥

आप देवताओंके आदि और अन्त हैं। गायत्री-मन्त्र और ॐकार भी आप ही हैं। हरित, लोहित, नील, कृष्ण, रक्त, अरुण, कद्रु, कपिल, कबूतरके समान तथा मेचक (श्याम मेघके समान)–ये दस प्रकारके रंग भी आपके ही स्वरूप हैं ॥ १३० ॥

अवर्णश्च सुवर्णश्च वर्णकारो घनोपमः।
सुवर्णनामा च तथा सुवर्णप्रिय एव च ॥१३१॥

आप वर्णरहित होनेके कारण अवर्ण और अच्छे वर्ण-वाले होनेसे सुवर्ण कहलाते हैं। आप वर्णोंके निर्माता और मेघके समान हैं। आपके नाममें सुन्दर वर्णों (अक्षरों) का उपयोग हुआ है, इसलिये आप सुवर्णनामा हैं तथा आपको श्रेष्ठ वर्ण प्रिय है ॥ १३१ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनलः।
उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुर्भानुरेव च ॥१३२॥

आप ही इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, सूर्य-चन्द्र-का ग्रहण, चित्रभानु (सूर्य), राहु और भानु हैं ॥१३२॥

होत्रं होता च होम्यं च हुतं चैव तथा प्रभुः ।
त्रिसौपर्णं तथा ब्रह्म यजुषां शतरुद्रियम् ॥१३३॥

होत्र (स्रुवा), होता, हवनीय पदार्थ, हवन-क्रिया तथा (उसके फल देनेवाले) परमेश्वर भी आप ही हैं। वेदकी त्रिसौपर्ण नामक श्रुतियोंमें तथा यजुर्वेदके शतरुद्रिय-प्रकरणमें जो बहुत-से वैदिक नाम हैं, वे सब आपहीके नाम हैं ॥१३३॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
गिरिको हिंडुको वृक्षो जीवः पुद्गल एव च ॥१३४॥
प्राणः सत्त्वं रजश्चैव तमश्चाप्रमदस्तथा ।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ॥१३५॥
उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुतं जृम्भितमेव च ।
लोहितान्तर्गता दृष्टिर्महावक्त्रो महोदरः ॥१३६॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं। आप ही गिरिक (अचेतनको भी चेतन करनेवाले), हिंडुक (गमनागमन करनेवाले), संसार-वृक्ष, जीव, शरीर, प्राण, सत्त्व, रज, तम, अप्रमद (स्त्रीरहित—ऊर्ध्वरेता), प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष (आँखोंका खोलना-मींचना), छींकना और जँभाई लेना आदि चेष्टाएँ भी आप ही हैं। आपकी अग्निमयी लाल रंगकी दृष्टि भीतर छिपी हुई है। आपके मुख और उदर महान् हैं॥

सूचीरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ।
गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥१३७॥

रोएँ सूईके समान हैं। दाढ़ी-मूछ काली है। सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं। आप चराचर-स्वरूप हैं। गाने-बजानेके तत्त्वको जाननेवाले हैं। गाना-बजाना आपको अधिक प्रिय है ॥ १३७ ॥

मत्स्यो जलचरो जाल्योऽकलः केलिकलः कलिः ।
अकालश्चातिकालश्च दुष्कालः काल एव च ॥१३८॥

आप मत्स्य, जलचर और जालधारी घड़ियाल हैं। फिर भी अकल (बन्धनसे परे) हैं। आप केलिकलासे युक्त और कलहरूप हैं। आप ही अकाल, अतिकाल, दुष्काल तथा काल हैं ॥ १३८ ॥

मृत्युः क्षुरश्च कृत्यश्च पक्षोऽपक्षक्षयंकरः ।
मेघकालो महादंष्ट्रः संवर्तकबलाहकः ॥१३९॥

मृत्यु, क्षुर (छेदन करनेका शस्त्र), कृत्य (छेदन करने योग्य), पक्ष (मित्र) तथा अपक्ष-क्षयंकर (शत्रुपक्षका नाश करनेवाले) भी आप ही हैं। आप मेघके समान काले, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले और प्रलयकालीन मेघ हैं ॥ १३९ ॥

घण्टोऽघण्टो घटी घण्टी चरुचेली मिलीमिली ।
ब्रह्मकायिकमग्नीनां दण्डी मुण्डस्त्रिदण्डधृक् ॥१४०॥

घण्ट (प्रकाशवान्), अघण्ट (अव्यक्त प्रकाशवाले), घटी (कर्मफलसे युक्त करनेवाले), घण्टी (घण्टावाले), चरुचेली (जीवोंके साथ क्रीडा करनेवाले) तथा मिलीमिली (कारणरूपसे सबमें व्याप्त)—ये सब आप ही हैं। आप ही ब्रह्म, अग्नियोंके स्वरूप, दण्डी, मुण्ड तथा त्रिदण्डधारी हैं ॥

चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः ।
चातुराश्रम्यनेता च चातुर्वर्ण्यकरश्च यः ॥१४१॥

चार युग और चार वेद आपके ही स्वरूप हैं तथा चार प्रकारके होतृ-कर्मोंके प्रवर्तक आप ही हैं। आप चारों आश्रमोंके नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं ॥ १४१ ॥

सदा चाक्षप्रियो धूर्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरिशो गिरिकप्रियः ॥१४२॥

आप ही अक्षप्रिय, धूर्त, गणाध्यक्ष और गणाधिप आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। आप रक्त वस्त्र तथा लाल फूलोंकी माला पहनते हैं, पर्वतपर शयन करते और गेरुए वस्त्रसे प्रेम रखते हैं ॥ १४२ ॥

शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ।
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः ॥१४३॥

आप ही शिल्पियोंमें सर्वश्रेष्ठ शिल्पी (कारीगर) तथा सब प्रकारकी शिल्पकलाके प्रवर्तक हैं। आप भगदेवताकी आँख फोड़नेके लिये अङ्कुश, चण्ड (अत्यन्त कोप करनेवाले) और पूषाके दाँत नष्ट करनेवाले हैं ॥ १४३ ॥

स्वाहा स्वधा वषट्कारो नमस्कारो नमो नमः ।
गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकस्तारकामयः ॥१४४॥

स्वाहा, स्वधा, वषट्, नमस्कार और नमो नमः आदि पद आपके ही नाम हैं। आप गूढ़ व्रतधारी, गुप्त तपस्या करनेवाले, तारकमन्त्र और ताराओंसे भरे हुए आकाश हैं ॥ १४४ ॥

धाता विधाता संधाता विधाता धारणोऽधरः ।
ब्रह्मा तपश्च सत्यं च ब्रह्मचर्यमथार्जवम् ॥१४५॥
भूतात्मा भूतकृद्भूतो भूतभव्यभवोद्भवः ।
भूर्भुवः स्वरितश्चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वरः ॥१४६॥

धाता (धारण करनेवाले), विधाता (सृष्टि करनेवाले), संधाता (जोड़नेवाले), विधाता, धारण और अधर (आधाररहित) भी आपहीके नाम हैं। आप ब्रह्मा, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, आर्जव (सरलता), भूतात्मा (प्राणियोंके आत्मा), भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, भूत (नित्यसिद्ध), भूत, भविष्य और वर्तमानकी उत्पत्तिके कारण, भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, ध्रुव (स्थिर), दान्त (दमनशील) और महेश्वर हैं ॥ १४५-१४६ ॥

दीक्षितोऽदीक्षितः क्षान्तो दुर्दान्तोऽदान्तनाशनः ।
चन्द्रावर्तो युगावर्तः संवर्तः सम्प्रवर्तकः ॥१४७॥

दीक्षित (यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले), अदीक्षित, क्षमावान्, दुर्दान्त, उद्दण्ड प्राणियोंका नाश करनेवाले, चन्द्रमाकी आवृत्ति करनेवाले (मास), युगोंकी आवृत्ति करनेवाले (कल्प), संवर्त (प्रलय) तथा सम्प्रवर्तक (पुनः सृष्टि-संचालन करनेवाले) भी आप ही हैं ॥१४७॥

कामो बिन्दुरणुः स्थूलः कर्णिकारस्रजप्रियः ।
नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखोऽमुखः ॥१४८॥
चतुर्मुखो बहुमुखो रणेष्वग्निमुखस्तथा ।
हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥१४९॥

आप ही काम, बिन्दु, अणु (सूक्ष्म) और स्थूलरूप हैं । आप कनेरके फूलकी माला अधिक पसंद करते हैं । आप ही नन्दीमुख, भीममुख (भयंकर मुखवाले), सुमुख, दुर्मुख, अमुख (मुखरहित), चतुर्मुख, बहुमुख तथा युद्धके समय शत्रुका संहार करनेके कारण अग्निमुख (अग्निके समान मुखवाले) हैं । हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), शकुनि (पक्षीके समान असङ्ग), महान् सर्पोंके स्वामी (शेषनाग) और विराट् भी आप ही हैं ॥१४८-१४९॥

अधर्महा महापार्श्वश्चण्डधारो गणाधिपः ।
गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहनः ॥१५०॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गोऽमार्ग एव च ।
श्रेष्ठः स्थिरश्च स्थाणुश्च निष्कम्पः कम्प एव च ॥१५१॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः ।
दुर्धर्षो दुष्प्रकम्पश्च दुर्विषो दुर्जयो जयः ॥१५२॥
शशः शशाङ्कः शमनः शीतोष्णक्षुज्जराधिकृत् ।
आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिरेव च ॥१५३॥

आप अधर्मके नाशक, महापार्श्व, चण्डधार, गणाधिप, गोनर्द, गौओंको आपत्तिसे बचानेवाले, नन्दीकी सवारी करनेवाले, त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द (श्रीकृष्णरूप), गोमार्ग (इन्द्रियोंके संचालक), अमार्ग (इन्द्रियोंके अगोचर), श्रेष्ठ, स्थिर, स्थाणु, निष्कम्प, कम्प, दुर्वारण (जिनका सामना करना कठिन है, ऐसे), दुर्विषह (असह्य वेगवाले), दुःसह, दुर्लङ्घ्य, दुर्द्धर्ष, दुष्प्रकम्प, दुर्विष, दुर्जय, जय, शश (शीघ्रगामी), शशाङ्क (चन्द्रमा) तथा शमन (यमराज) हैं । सर्दी-गर्मी, क्षुधा, वृद्धावस्था तथा मानसिक चिन्ताको दूर करनेवाले भी आप ही हैं । आप ही आधि-व्याधि तथा उसे दूर करनेवाले हैं ॥ १५०—१५३ ॥

मम यज्ञमृगव्याधो व्याधीनामागमो गमः ।
शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥१५४॥
दण्डधारस्त्र्यम्बकश्च उग्रदण्डोऽण्डनाशनः ।
विषाग्निपाः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुत्पतिः ॥१५५॥

मेरे यज्ञरूपी मृगके वधिक तथा व्याधियोंको लाने और मिटानेवाले भी आप ही हैं । (कृष्णरूपमें) मस्तकपर शिखण्ड (मोरपङ्ख) धारण करनेके कारण आप शिखण्डी हैं । आप कमलके समान नेत्रोंवाले, कमलके वनमें निवास करनेवाले, दण्ड धारण करनेवाले, त्र्यम्बक, उग्रदण्ड और ब्रह्माण्डके संहारक हैं । विषाग्निको पी जानेवाले, देवश्रेष्ठ, सोमरसका पान करनेवाले और मरुद्गणोंके स्वामी हैं ॥ १५४-१५५ ॥

अमृतपास्त्वं जगन्नाथ देवदेव गणेश्वरः ।
विषाग्निपा मृत्युपाश्च क्षीरपाः सोमपास्तथा ।
मधुश्च्युतानामग्रपास्त्वमेव तुषिताद्यपाः ॥ १५६ ॥

देवाधिदेव ! जगन्नाथ ! आप अमृत पान करनेवाले और गणोंके स्वामी हैं । विषाग्नि तथा मृत्युसे रक्षा करनेवाले और दूध एवं सोमरसका पान करनेवाले हैं । आप सुखसे भ्रष्ट हुए जीवोंके प्रधान रक्षक तथा तुषितनामक देवताओंके आदिभूत ब्रह्माजीका भी पालन करनेवाले हैं ॥ १५६ ॥

हिरण्यरेताः पुरुषस्त्वमेव
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च नपुंसकं च ।
बालो युवा स्थविरो जीर्णदंष्ट्र-
स्त्वं नागेन्द्र शक्रस्त्वं विश्वकृद्विश्वकर्ता ॥१५७॥
विश्वकृद् विश्वकृतां वरेण्यस्त्वं विश्ववाहो
विश्वरूपस्तेजस्वी विश्वतोमुखः ।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते हृदयं च पितामहः ॥१५८॥

आप ही हिरण्यरेता (अग्नि), पुरुष (अन्तर्यामी) तथा आप ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक हैं । बालक-युवा और वृद्ध भी आप ही हैं । नागेश्वर ! आप जीर्ण दाढ़ोंवाले और इन्द्र हैं । आप विश्वकृत् (जगत्के संहारक), विश्वकर्ता (प्रजापति), विश्वकृत् (ब्रह्माजी), विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ, विश्वका भार वहन करनेवाले, विश्वरूप, तेजस्वी और सब ओर मुखवाले हैं । चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र तथा पितामह ब्रह्मा आपके हृदय हैं ॥ १५७-१५८ ॥

महोदधिः सरस्वती वाग् बलमनलोऽ-
निलः अहोरात्रं निमेषोन्मेषकर्म ॥१५९॥

आप ही समुद्र हैं, सरस्वती आपकी वाणी हैं, अग्नि और वायु बल हैं तथा आपके नेत्रोंका खुलना और बंद होना ही दिन और रात्रि हैं ॥ १५९ ॥

न ब्रह्मा न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो न ते ।
माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन ते शिव ॥१६०॥

शिव ! आपके माहात्म्यको ठीक-ठीक जाननेमें ब्रह्मा, विष्णु तथा प्राचीन ऋषि भी समर्थ नहीं हैं ॥ १६० ॥

या मूर्तयः सुसूक्ष्मास्ते न मह्यं यान्ति दर्शनम् ।
त्राहि मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६१॥

आपके जो सूक्ष्म रूप हैं, वे हमलोगोंकी दृष्टिमें नहीं आते। भगवन्! जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी तरह आप सर्वदा मेरी रक्षा करें ॥ १६१ ॥

रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते।
भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥१६२॥

अनघ! मैं आपके द्वारा रक्षित होने योग्य हूँ, आप अवश्य मेरी रक्षा करें, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप भक्तोंपर दया करनेवाले भगवान् हैं और मैं सदाके लिये आपका भक्त हूँ ॥ १६२ ॥

यः सहस्राण्यनेकानि पुंसामावृत्य दुर्दृशः।
तिष्ठत्येकः समुद्रान्ते स मे गोप्तास्तु नित्यशः ॥१६३॥

जो हजारों मनुष्योंपर मायाका परदा डालकर सबके लिये दुर्बोध हो रहे हैं, अद्वितीय हैं तथा समुद्रके समान कामनाओंका अन्त होनेपर प्रकाशमें आते हैं, वे परमेश्वर नित्य मेरी रक्षा करें ॥ १६३ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥१६४॥

जो निद्राके वशीभूत न होकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको जीतकर सत्त्वगुणमें स्थित हैं, ऐसे योगीलोग ध्यानमें जिस ज्योतिर्मय तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, उस योगात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६४ ॥

जटिले दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥१६५॥

जो सदा जटा और दण्ड धारण किये रहते हैं, जिनका उदर और शरीर विशाल है तथा कमण्डलु ही जिनके लिये तरकसका काम देता है, ऐसे ब्रह्माजीके रूपमें विराजमान भगवान् शिवको प्रणाम है ॥ १६५ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥१६६॥

जिनके केशोंमें बादल, शरीरकी संधियोंमें नदियाँ और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलस्वरूप परमात्माको नमस्कार है॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते।
यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥१६७॥

जो प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंका संहार करके एकार्णवके जलमें शयन करते हैं, उन जलशायी भगवान्की मैं शरण लेता हूँ ॥ १६७ ॥

प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि।
ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानुर्भूत्वा मां सोऽभिरक्षतु ॥१६८॥

जो रातमें राहुके मुखमें प्रवेश करके स्वयं चन्द्रमाके अमृतका पान करते हैं तथा स्वयं ही राहु बनकर सूर्यपर ग्रहण लगाते हैं, वे परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥ १६८ ॥

ये चानुपतिता गर्भा यथा भागानुपासते।
नमस्तेभ्यः स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्तु मुदन्तु ते ॥१६९॥

ब्रह्माजीके बाद उत्पन्न होनेवाले जो देवता और पितर बालककी भाँति यज्ञमें अपने-अपने भाग ग्रहण करते हैं, उन्हें नमस्कार है। वे 'स्वाहा और स्वधा' के द्वारा अपने भाग प्राप्त करके प्रसन्न हों ॥ १६९ ॥

येऽङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम्।
रक्षन्तु ते हि मां नित्यं नित्यं चाप्याययन्तु माम् ॥१७०॥

जो अङ्गुष्ठमात्र जीवके रूपमें सम्पूर्ण देहधारियोंके भीतर विराजमान हैं, वे सदा मेरी रक्षा और वृद्धि करें ॥ १७० ॥

ये न रोदन्ति देहस्था देहिनो रोदयन्ति च।
हर्षयन्ति न हृष्यन्ति नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७१॥

जो देहके भीतर रहते हुए स्वयं न रोकर देहधारियोंको ही रुलाते हैं, स्वयं हर्षित न होकर उन्हें ही हर्षित करते हैं, उन सब रुद्रोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥ १७१ ॥

ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च।
वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारे गहनेषु च ॥१७२॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु तटेषु च।
हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥१७३॥
येषु पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च।
चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥१७४॥
रसातलगता ये च ये च तस्मै परं गताः।
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ।१७५।

नदी, समुद्र, पर्वत, गुहा, वृक्षोंकी जड़, गोशाला, दुर्गम पथ, वन, चौराहे, सड़क, चौतरे, किनारे, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला, पुराने बगीचे, जीर्ण गृह, पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य तथा उन-उनकी किरणोंमें, रसातलमें और उससे भिन्न स्थानोंमें भी जो अधिष्ठातृ देवताके रूपमें व्याप्त हैं, उन सबको सदा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च।
असंख्येयगुणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७६॥

जिनकी संख्या, प्रमाण और रूपकी सीमा नहीं है, जिनके गुणोंकी गिनती नहीं हो सकती, उन रुद्रोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १७६ ॥

सर्वभूतकरो यस्मात् सर्वभूतपतिर्हरः।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७७॥

आप सम्पूर्ण भूतोंके जन्मदाता, सबके पालक और संहारक हैं तथा आप ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, इसीलिये मैंने आपको पृथक् निमन्त्रण नहीं दिया ॥१७७॥

त्वमेव हीज्यसे यस्माद् यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
त्वमेव कर्ता सर्वस्य तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७८॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंद्वारा आपहीका यजन किया जाता है और आप ही सबके कर्ता हैं, इसीलिये मैंने आपको अलग निमन्त्रण नहीं दिया ॥ १७८ ॥

अथवा मायया देव सूक्ष्मया तव मोहितः ।
एतस्मात् कारणाद् वापि तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७९॥

अथवा देव ! आपकी सूक्ष्म मायासे मैं मोहमें पड़ गया था, इस कारणसे भी मैंने आपको निमन्त्रण नहीं दिया ॥

प्रसीद मम भद्रं ते भव भावगतस्य मे ।
त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मनस्त्वयि ॥१८०॥

भगवन् भव ! आपका भला हो, मैं भक्तिभावके साथ आपकी शरणमें आया हूँ, इसलिये अब मुझपर प्रसन्न होइये । मेरा हृदय, मेरी बुद्धि और मेरा मन सब आपमें समर्पित हैं॥

स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम प्रजापतिः ।
भगवानपि सुप्रीतः पुनर्दक्षमभाषत ॥१८१॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके प्रजापति दक्ष चुप हो गये । तब भगवान् शिवने भी बहुत प्रसन्न होकर दक्षसे कहा—॥

परितुष्टोऽस्मि ते दक्ष स्तवेनानेन सुव्रत ।
बहुनात्र किमुक्तेन मत्समीपे भविष्यसि ॥१८२॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दक्ष ! तुम्हारेद्वारा की हुई इस स्तुतिसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ । यहाँ अधिक क्या कहूँ, तुम मेरे निकट निवास करोगे ॥ १८२ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
प्रजापते मत्प्रसादात् फलभागी भविष्यसि ॥१८३॥

'प्रजापते ! मेरे प्रसादसे तुम्हें एक हजार अश्वमेध तथा एक सौ वाजपेय यज्ञका फल मिलेगा' ॥ १८३ ॥

अथैनमब्रवीद् वाक्यं लोकस्याधिपतिर्भवः ।
आश्वासनकरं वाक्यं वाक्यविद् वाक्यसम्मतम् ॥१८४॥

तदनन्तर वाक्यविशारद, लोकनाथ भगवान् शिवने प्रजापतिको सान्त्वना देनेवाला युक्तियुक्त एवं उत्तम वचन कहा—॥ १८४ ॥

दक्ष दक्ष न कर्तव्यो मन्युर्विघ्नमिमं प्रति ।
अहं यज्ञहरस्तुभ्यं दृष्टमेतत् पुरातनम् ॥१८५॥

'दक्ष ! दक्ष ! इस यज्ञमें जो विघ्न डाला गया है, इसके लिये तुम खेद न करना । मैंने पहले कल्पमें भी तुम्हारे यज्ञका विध्वंस किया था । यह घटना भी पूर्वकल्पके अनुसार ही हुई है ॥ १८५ ॥

भूयश्च ते वरं दद्मि तं त्वं गृह्णीष्व सुव्रत ।
प्रसन्नवदनो भूत्वा तदिहैकमनाः शृणु ॥१८६॥

'सुव्रत ! मैं पुनः तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम इसे स्वीकार करो और प्रसन्नवदन तथा एकाग्रचित्त होकर यहाँ मेरी यह बात सुनो ॥ १८६ ॥

वेदात् षडङ्गादुद्धृत्य सांख्ययोगाच्च युक्तितः ।
तपः सुतप्तं विपुलं दुश्चरं देवदानवैः ॥१८७॥

'पूर्वकालमें षडङ्ग वेद, सांख्ययोग और तर्कसे निश्चित करके देवताओं और दानवोंने जिस विशाल एवं दुष्कर तपका अनुष्ठान किया था (उससे भी उत्तम व्रत मैं तुम्हें बता रहा हूँ)॥

अपूर्वं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम् ।
अब्दैर्दशाहसंयुक्तं गूढमप्राज्ञनिन्दितम् ॥१८८॥
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित्समम् ।
गतान्तैरध्यवसितमत्याश्रममिदं व्रतम् ॥१८९॥
मया पाशुपतं दक्ष शुभमुत्पादितं पुरा ।
तस्य चीर्णस्य तत् सम्यक् फलं भवति पुष्कलम् ।
तच्चास्तु ते महाभाग त्यज्यतां मानसो ज्वरः ॥१९०॥

'दक्ष ! मैंने पूर्वकालमें एक शुभकारक पाशुपत नामक व्रतको प्रकट किया था, जो अपूर्व है, साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें सब प्रकारसे कल्याणकारी, सर्वतोमुखी (सभी वर्णों और आश्रमोंके अनुकूल) तथा मोक्षका साधक होनेके कारण अविनाशी है । वर्षोंतक पुण्यकर्म करने और यम-नियम नामक दस साधनोंको अभ्यासमें लानेसे उसकी उपलब्धि होती है । वह गूढ़ है । मूर्ख मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं । वह समस्त वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके अनुकूल, सम और किसी-किसी अंशमें विपरीत भी है । जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान है, उन्होंने इसे अपनानेका पूर्ण निश्चय कर लिया है । यह व्रत सभी आश्रमोंसे बढ़कर है । इसके अनुष्ठानसे उत्तम एवं प्रचुर फलकी प्राप्ति होती है । महाभाग ! उस पाशुपत व्रतके अनुष्ठानका फल तुम्हें प्राप्त हो । अब तुम अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो' ॥ १८८—१९० ॥

एवमुक्त्वा महादेवः सपत्नीकः सहानुगः ।
अदर्शनमनुप्राप्तो दक्षस्यामितविक्रमः ॥१९१॥

दक्षसे ऐसा कहकर पत्नी और पार्षदोंसहित अमित पराक्रमी महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १९१ ॥

दक्षप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्तयेद् यः शृणोति वा ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।१९२।

जो मनुष्य दक्षके द्वारा कहे हुए इस स्तोत्रका कीर्तन अथवा श्रवण करेगा, उसे कोई अमङ्गल नहीं प्राप्त होगा । वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ १९२ ॥

यथा सर्वेषु देवेषु वरिष्ठो भगवाञ्छिवः ।
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां ब्रह्मसम्मितः ॥१९३॥

जैसे भगवान् शिव सब देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार यह वेदतुल्य स्तोत्र सभी स्तुतियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १९३ ॥

यशोराज्यसुखैश्वर्यकामार्थधनकाङ्क्षिभिः ।
श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः ॥१९४॥

यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, काम, अर्थ, धन और विद्याकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको भक्तिभावका आश्रय लेकर यत्नपूर्वक इस स्तोत्रका श्रवण करना चाहिये ॥ १९४ ॥

व्याधितो दुःखितो दीनश्चोरग्रस्तो भयार्दितः।
राजकार्याभियुक्तो वा मुच्यते महतो भयात् ॥१९५॥

रोगी, दुखी, दीन, चोरके हाथमें पड़ा हुआ, भयभीत तथा राजकार्यका अपराधी मनुष्य भी इस स्तोत्रका पाठ करनेसे महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ १९५ ॥

अनेनैव तु देहेन गणानां समतां व्रजेत्।
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः ॥१९६॥

इतना ही नहीं, वह इसी शरीरसे भगवान् शिवके गणोंकी समानता प्राप्त कर लेता है तथा तेज और यशसे सम्पन्न होकर निर्मल हो जाता है ॥ १९६ ॥

न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः।
विघ्नं कुर्युर्गृहे तस्य यत्रायं पठ्यते स्तवः ॥१९७॥

जिसके यहाँ इस स्तोत्रका पाठ होता है, उसके घरमें राक्षस, पिशाच, भूत और विनायक कभी कोई विघ्न नहीं करते हैं ॥ १९७ ॥

शृणुयाच्चैव या नारी तद्भक्ता ब्रह्मचारिणी।
पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति देववत् ॥१९८॥

जो नारी भगवान् शङ्करमें भक्तिभाव रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई इस स्तोत्रको सुनती है, वह पितृकुल और पतिकुलमें देवताके समान आदरणीय होती है ॥ १९८ ॥

शृणुयाद् यः स्तवं कृत्स्नं कीर्तयेद् वा समाहितः।
तस्य सर्वाणि कर्माणि सिद्धिं गच्छन्त्यभीक्ष्णशः॥१९९॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण स्तोत्रको सुनता अथवा पढ़ता है, उसके सारे कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं ॥

मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचानुकीर्तितम्।
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवस्यास्यानुकीर्तनात् ॥२००॥

वह मनसे जिस वस्तुके लिये चिन्तन करता है अथवा वाणीसे जिस मनोरथकी याचना करता है, उसका वह सारा अभीष्ट इस स्तोत्रके बार-बार पाठसे सिद्ध हो जाता है ॥२००॥

देवस्य च गुहस्यापि देव्या नन्दीश्वरस्य च।
बलिं सुविहितं कृत्वा दमेन नियमेन च ॥२०१॥
ततस्तु युक्तो गृह्णीयान्नामान्याशु यथाक्रमम्।
ईप्सिताल्लँभते सोऽर्थान् भोगान् कामांश्च मानवः२०२
मृतश्च स्वर्गमाप्नोति तिर्यक्षु च न जायते।
इत्याह भगवान् व्यासः पराशरसुतः प्रभुः ॥२०३॥

मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको संयममें रखकर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करते हुए महादेवजी, कार्तिकेय, पार्वतीदेवी और नन्दिकेश्वरको विधिपूर्वक पूजोपहार समर्पित करे, फिर एकाग्रचित्त होकर क्रमशः इन सहस्र नामोंका पाठ करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शीघ्र ही मनोवाञ्छित पदार्थों, भोगों और कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें जाता है। उसे पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म नहीं लेना पड़ता है। इस प्रकार सर्वसमर्थ पराशरनन्दन भगवान् व्यासजीने इस स्तोत्रका माहात्म्य बतलाया है ॥२०१—२०३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दक्षप्रोक्तशिवसहस्रनामस्तवे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दक्षद्वारा कथित शिवसहस्रनामस्तोत्रविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह विद्यते।
यदध्यात्मं यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! शास्त्रमें पुरुषके लिये जो यह अध्यात्मतत्त्व बताया गया है, वह अध्यात्म क्या है? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञानं परं बुद्ध्या यन्मां त्वमनुपृच्छसि।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥२॥

भीष्मजीने कहा—तात! तुम मुझसे जिस अध्यात्मतत्त्वको पूछ रहे हो, वह बुद्धिके द्वारा सभी विषयोंका उत्तम ज्ञान प्रदान करनेवाला है। मैं तुमसे उसकी व्याख्या करूँगा, तुम उस व्याख्याको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ३ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच महाभूत समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥ ३ ॥

स तेषां गुणसंघातः शरीरं भरतर्षभ।
सततं हि प्रलीयन्ते गुणास्ते प्रभवन्ति च ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्राणियोंका शरीर उन्हीं पाँचों महाभूतोंका कार्यसमूह है। वे कार्यरूपमें परिणत भूतगण सदा लीन होते और प्रकट होते रहते हैं ॥ ४ ॥

ततः सृष्टानि भूतानि तानि यान्ति पुनः पुनः।
महाभूतानि भूतेभ्य ऊर्मयः सागरे यथा ॥ ५ ॥

जैसे महाभूत सूक्ष्म भूतोंसे प्रकट होते और उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं तथा जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मासे समस्त प्राणी उत्पन्न होते और पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ ५ ॥

प्रसारयित्वेहाङ्गानि कूर्मः संहरते यथा ।
तद्वद् भूतानि भूतानामल्पीयांसि स्थवीयसाम् ॥ ६ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके शरीर आकाश आदि पाँच महाभूतोंसे उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं॥

आकाशात् खलु यो घोषः संघातस्तु महीगुणः ।
वायोः प्राणो रसस्त्वद्भ्यो रूपं तेजस उच्यते ॥ ७ ॥

शरीरमें जो शब्द होता है, वह आकाशका गुण है । यह स्थूल शरीर पृथ्वीका गुण या कार्य है । प्राण वायुका, रस जलका तथा रूप तेजका गुण बताया जाता है ॥ ७ ॥

इत्येतन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये च तमभ्येति तस्मादुद्दिश्यते पुनः ॥ ८ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम शरीर पञ्चभूतमय ही है । प्रलयकालमें यह परमात्मामें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें पुनः उन्हींसे प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
विषयान् कल्पयामास यस्मिन् यदनुपश्यति ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ईश्वरने समस्त प्राणियोंमें पञ्चमहाभूतोंका ही विभागपूर्वक समावेश किया है । देहके भीतर जिस भूतके स्थित होनेसे मनुष्य जो कार्य देखता है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ९ ॥

शब्दश्श्रोत्रे तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
रसः स्नेहश्च जिह्वा च अपामेते गुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय और सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । रस, स्नेह तथा जिह्वा—ये तीनों जलके गुण या कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिविधं ज्योतिरुच्यते ।
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणाः स्मृताः ॥ ११ ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—इन तीन गुणोंके रूपमें तेजकी ही स्थिति बतायी जाती है । गन्ध, घ्राण तथा शरीर—ये तीनों भूमिके गुण माने गये हैं ॥ ११ ॥

प्राणः स्पर्शश्च चेष्टा च वायोरेते गुणाः स्मृताः ।
इति सर्वगुणा राजन् व्याख्याताः पाञ्चभौतिकाः ॥ १२ ॥

प्राण, स्पर्श और चेष्टा—ये तीनों वायुके गुण बताये गये हैं । राजन् ! इस प्रकार मैंने समस्त पाञ्चभौतिक गुणोंकी व्याख्या कर दी ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तमः कालः कर्म बुद्धिश्च भारत ।
मनःषष्ठानि चैतेषु ईश्वरः समकल्पयत् ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! ईश्वरने इन प्राणियोंके शरीरोंमें सत्त्व, रज, तम, काल, कर्म, बुद्धि तथा मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी कल्पना की है ॥ १३ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ् मूर्ध्नश्च पश्यसि ।
एतस्मिन्नेव कृत्स्नेयं वर्तते बुद्धिरन्तरे ॥ १४ ॥

पैरोंके तलुओंसे लेकर ऊपरकी ओर और मस्तकसे नीचेकी ओर जितना भी शरीर है, इसके भीतर यह बुद्धि पूर्णरूपसे व्याप्त हो रही है ॥ १४ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते ।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १५ ॥

मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन बताया जाता है । बुद्धिको सातवीं और क्षेत्रज्ञको आठवाँ कहते हैं ॥

इन्द्रियाणि च कर्ता च विचेतव्यानि भागशः ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव तेऽपि भावास्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

पाँच इन्द्रियाँ और जीवात्मा—इन सबको कार्य-विभागके अनुसार अलग-अलग समझना चाहिये । सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा उनके सात्त्विक, राजस और तामस भाव जीवात्माके ही आश्रित हैं ॥ १६ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
तमः सत्त्वं रजश्चेति कालः कर्म च भारत ॥ १७ ॥
गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाणि च ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १८ ॥

नेत्र आदि इन्द्रियाँ दर्शन आदि कार्योंके लिये हैं । मन संशय करता है और बुद्धि उस विषयका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये है । क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को साक्षी बताया जाता है । भरतनन्दन ! सत्त्व, रज, तम, काल और कर्म—इन पाँच गुणोंद्वारा बुद्धि बार-बार विभिन्न विषयोंकी ओर ले जायी जाती है । बुद्धि मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संचालन करती है । यदि बुद्धि न हो तो ये गुण—इन्द्रिय आदि कैसे कोई कार्य कर सकते हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृण्वती श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रती भवति घ्राणं रसती रसना रसान् ॥ १९ ॥
स्पर्शनं स्पर्शती स्पर्शान् बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत् ।
यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः ॥ २० ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उस इन्द्रियका नाम दृष्टि या नेत्र है । वही अपने वृत्तिविशेषके द्वारा जब सुनने लगती है, तब श्रोत्र कहलाती है । गन्धको ग्रहण करते समय वह घ्राण बन जाती है । रसास्वादन करते समय रसना कहलाती है और स्पर्शोंका अनुभव करते समय वही स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) नाम धारण करती है । इस प्रकार

बुद्धि बार-बार विकृत होती है। जब वह कुछ प्रार्थना (याचना) करती है, तब मन बन जाती है ॥ १९-२० ॥

अधिष्ठानानि बुद्ध्या हि पृथगेतानि पञ्चधा ।
इन्द्रियाणीति तान्याहुस्तेषु दुष्टेषु दुष्यति ॥ २१ ॥

बुद्धिके ये जो पृथक्-पृथक् पाँच अधिष्ठान हैं, इन्हींको इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके दूषित होनेपर बुद्धि भी दूषित हो जाती है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ॥ २२ ॥

साक्षी आत्माके आश्रित रहनेवाली बुद्धि सात्त्विक, राजस और तामस तीन भावोंमें (जो सुख दुःख और मोह-रूप हैं) स्थित होती है, इसीलिये कभी (सत्त्वगुणका उद्रेक होनेपर) उसे आनन्द प्राप्त होता है और कभी (रजोगुणकी अधिकता होनेपर) वह दुःख-शोकका अनुभव करती है ॥ २२ ॥

न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते ।
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतान् परिवर्तते ॥ २३ ॥

कभी (तमोगुणकी अधिकतासे मोहाच्छन्न होनेपर) उसका न सुखसे संयोग होता है न दुःखसे (वह निद्रा और आलस्य आदिमें मग्न रहती है) । इस प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि इन तीन भावोंका अनुसरण करती है ॥ २३ ॥

सरितां सागरो भर्ता यथा वेलामिवोर्मिवान् ।
इति भावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ २४ ॥

जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरंगोंसे युक्त होनेपर भी अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि भावोंसे युक्त बुद्धि तीनों गुणोंका उल्लङ्घन नहीं करती। भावनामय मनमें ही चक्कर लगाती रहती है ॥ २४ ॥

प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावेनानुवर्तते ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ॥ २५ ॥
कथंचिदुपपद्यन्ते पुरुषे सात्त्विका गुणाः ।

जब रजोगुणकी प्रवृत्ति होती है, तब बुद्धि राजसिक भावका अनुसरण करती है । यदि पुरुषमें किसी प्रकार अधिक हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तमें शान्ति उपलब्ध हो तो ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २५½ ॥

परिदाहस्तथा शोकः संतापोऽपूर्तिरक्षमा ॥ २६ ॥
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ।

जब शरीर या मनमें किसी कारणसे या अकारण ही दाह, शोक, संताप, अपूर्णता (लोभ-लिप्सा) और असहन-शीलताके भाव दिखायी देते हों तो उन्हें रजोगुणके चिह्न समझना चाहिये ॥ २६½ ॥

अविद्या रागमोहौ च प्रमादः स्तब्धता भयम् ॥ २७ ॥
असमृद्धिस्तथा दैन्यं प्रमोहः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदुपवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

यदि किसी प्रकार अविद्या, राग, मोह, प्रमाद, स्तब्धता, भय, दरिद्रता, दीनता, प्रमोह (मूर्च्छा), स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष आ घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप जाने ॥ २७-२८ ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तथा ॥ २९॥

ऐसी स्थितिमें शरीर अथवा मनके भीतर यदि कोई प्रसन्नताका भाव हो तो वह सात्त्विक भाव है, ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येव तदसंरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३०॥

जब अपने लिये अप्रसन्नताका हेतु और दुःखयुक्त भाव अनुभवमें आये, तब रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है, ऐसा अपने मनमें विचार करे तथा वैसे किसी कार्यका आरम्भ न करके उसकी ओरसे अपना ध्यान हटा ले ॥ ३० ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१॥

इसी प्रकार शरीर या मनमें जो मोहयुक्त भाव अतर्कित या अविज्ञातरूपसे उपस्थित हो गया हो, उसके विषयमें यही निश्चय करे कि यह तमोगुण है ॥ ३१ ॥

इति बुद्धिगतीः सर्वा व्याख्याता यावतीरिह ।
एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ॥ ३२॥

इस प्रकार बुद्धिकी जितनी अवस्थाएँ हैं, उनकी व्याख्या यहाँ कर दी गयी। यह सब जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। इसके सिवा ज्ञानीका और क्या लक्षण हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ।
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३३ ॥

बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये दोनों सूक्ष्मतत्त्व हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, उसे समझो । इनमेंसे एक अर्थात् बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता—केवल साक्षीभावसे देखता रहता है॥ ३३ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तु सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ।
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत् तथा ।३४।

वे दोनों बुद्धि और क्षेत्रज्ञ स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं, परंतु सदा परस्पर मिले हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे मछली जलसे भिन्न है तो भी उससे सदा संयुक्त रहती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेद सर्वतः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संस्रष्टा मन्यते यथा ॥ ३५ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते, परंतु आत्मा चेतन है, इसलिये गुणोंको पूर्णरूपसे जानता है। वह गुणोंका साक्षी है तथापि मूढ़ मनुष्य उसे गुणोंसे संश्लिष्ट या संयुक्त समझते हैं ॥ ३५ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणसर्गेण चेतना।
सत्त्वमस्य सृजन्त्यन्ये गुणान् वेद कदाचन ॥ ३६ ॥

बुद्धि जब सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टि करती है, उस समय जीवात्मा उसका आश्रय नहीं होता। अन्य गुणोंकी रचना बुद्धि ही करती है और उन गुणोंको जीव कभी जानता है ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ३७ ॥

बुद्धि गुणोंको उत्पन्न करती है और आत्मा केवल देखता है। बुद्धि और आत्माका यह सम्बन्ध अनादि है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं क्रियते बुद्धिरन्तरा।
निश्चक्षुर्भिरजानद्भिरिन्द्रियाणि प्रदीपवत् ॥ ३८ ॥

ज्ञानशक्तिरहित न जाननेवाली इन्द्रियाँ वस्तुओंको प्रकाशित करनेके लिये बुद्धिको बीचमें करती हैं। इन्द्रियाँ तो वस्तुको प्रकट करनेमें दीपककी भाँति केवल सहायक हैं ॥

एवंस्वभावमेवैतत् तद् बुद्ध्वा विहरेन्नरः।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च स वै विगतमत्सरः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार 'आत्मा असंग एवं निर्लेप है' इस बातको जानकर मनुष्य शोक, हर्ष और द्वेषका परित्याग करके विचरण करे ॥ ३९ ॥

स्वभावसिद्धमेवैतद् यदिमान् सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४० ॥

जैसे मकड़ी जाला बुनती है, उसी प्रकार बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है—यह स्वभावसिद्ध है, अतएव गुणोंको जालेके समान और बुद्धिको मकड़ीके समान जानना चाहिये ॥ ४० ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ४१ ॥

वे गुण नष्ट होनेपर पुनः वापस नहीं आते; क्योंकि फिर उनकी प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है। दूसरी श्रेणीके लोग उन नष्ट हुए गुणों-की पुनरावृत्ति भी मानते हैं ॥ ४१ ॥

इतीदं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत विशोकश्छिन्नसंशयः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी चिन्तास्वरूप इस सुदृढ़ हृदयग्रन्थि-को त्यागकर शोक और संशयसे रहित हो सुखपूर्वक रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्वीं मोहपूर्णां नदीं नराः।
यथा गाधमविद्वांसो बुद्धियोगमयं तथा ॥ ४३ ॥

जलकी गहराईको न जाननेवाले मनुष्य जैसे नदीके तल-प्रदेशमें जाकर दुःखका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार बुद्धि-योग (ज्ञान) से अनभिज्ञ सभी मनुष्य इस मोहपूर्ण विशाल संसारनदीमें पड़कर क्लेश भोगते हैं ॥ ४३ ॥

नैव ताम्यन्ति विद्वांसः प्लवन्तः पारमम्भसः।
अध्यात्मविदुषो धीरा ज्ञानं तु परमं प्लवः ॥ ४४ ॥

जो तैरनेकी कला जानते हैं, वे तैरकर अगाध जलसे पार हो जाते हैं। उन्हें कष्ट नहीं भोगना पड़ता। उसी प्रकार अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता धीर पुरुष अनायास संसार-सागरको पार कर जाते हैं। उनके लिये परम ज्ञान ही जहाज बन जाता है ॥ ४४ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं भवेत्।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सकृदुपदर्शयतीह तुल्यताम् ॥ ४५ ॥

अज्ञानियोंको जिस संसारसे महान् भय बना रहता है, उससे ज्ञानियोंको वह गुरुतर भय तनिक भी नहीं प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुषोंमेंसे किसीको भी अधिक या न्यून गति नहीं प्राप्त होती—वे सब समान गतिके भागी होते हैं। 'सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः' इत्यादि श्रुति यहाँ ज्ञानियोंकी गतिकी समानता दिखाती है ॥ ४५ ॥

यत् करोति बहुदोषमेकत-
स्तच्च दूषयति यत्पुरा कृतम्।
नाप्रियं तदुभयं करोत्यसौ
यच्च दूषयति यत् करोति च ॥ ४६ ॥

अज्ञानावस्थामें मनुष्य जो अनेक दोषसे युक्त कर्म करता है और वह पहलेके जो कर्म कर चुका है, उनके लिये शोक करता है। इसके सिवा अज्ञानावस्थामें जो वह दूसरेके किये हुए अप्रिय कर्मको दोषरूपमें देखता है और राग आदि दोषके कारण स्वयं जो दूषित कर्म करता है, वह दोनों ही प्रकारका कार्य वह ज्ञान होनेके बाद नहीं करता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पाञ्चभौतिके पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका वर्णनविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

समङ्गके द्वारा नारदजीसे अपनी शोकहीन स्थितिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा ।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! संसारके सभी प्राणी सदा शोक, दुःख और मृत्युसे डरते रहते हैं; अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हमलोगोंको उन दोनोंका भय न रहे ॥१॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं समङ्गस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष देवर्षि नारद और समङ्गके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च ।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक इव लक्ष्यसे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—समङ्गजी ! दूसरे लोग तो सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं; परंतु आप हृदयसे प्रणाम करते जान पड़ते हैं । मालूम होता है, आप इस संसारसागरको अपनी इन दोनों भुजाओंसे ही तैरकर पार हो जायँगे । आपका मन नित्य प्रसन्न रहता है तथा आप सदा शोकशून्य-से दिखायी देते हैं ॥ ३ ॥

उद्वेगं न हि ते किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ॥ ४ ॥

मैं आपके चित्तमें कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख पाता हूँ । आप नित्य तृप्तकी भाँति अपने आपमें ही स्थित रहकर बालकोंके समान चेष्टा करते हैं (इसका क्या कारण है ?) ॥ ४ ॥

समङ्ग उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत् तु मानद ।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ५ ॥

समङ्गजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले देवर्षे ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका स्वरूप तथा तत्त्व जानता हूँ; इसलिये मेरे मनमें कभी विषाद नहीं होता ॥५॥

उपक्रमानहं वेद पुनरेव फलोदयान् ।
लोके फलानि चित्राणि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ६ ॥

मुझे कर्मोंके आरम्भका तथा उनके फलोदयकालका भी ज्ञान है और लोकमें जो भाँति-भाँतिके कर्मफल प्राप्त होते हैं, उनको भी मैं जानता हूँ; इसीलिये मेरे मनमें कभी खेद नहीं होता ॥ ६ ॥

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद ।
अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ७ ॥

नारदजी ! देखिये, जैसे जगत्‌में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और जड मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ॥ ७ ॥

विहितेनैव जीवन्ति अरोगाङ्गा दिवौकसः ।
बलवन्तोऽबलाश्चैव तस्मादस्मान् सभाजय ॥ ८ ॥

नीरोग शरीरवाले देवता, बलवान् और निर्बल सभी अपने प्रारब्ध-विधानके अनुसार जीवन धारण करते हैं; अतः हम भी प्रारब्धपर ही अवलम्बित रहकर किसी कर्मका आरम्भ नहीं करते हैं, इसलिये हमारे प्रति भी आप आदर बुद्धि रखें (अकर्मण्य समझकर हमारा निरादर न करें) ॥ ८ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ९ ॥

जिनके पास हजारों रुपये हैं, वे भी जीते हैं । जिनके पास सैकड़ों रुपयोंका संग्रह है, वे भी जीवन धारण करते हैं । दूसरे लोग सागसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं । उसी तरह हमें भी जीवित समझिये ॥ ९ ॥

यदा न शोचेमहि किं नु नः स्याद्
धर्मेण वा नारद कर्मणा वा ।
कृतान्तवश्यानि यदा सुखानि
दुःखानि वा यन्न विधर्षयन्ति ॥ १० ॥

नारदजी ! जब अज्ञान दूर हो जानेके कारण हम शोक ही नहीं करते हैं तो धर्म अथवा लौकिक कर्मसे हमारा क्या प्रयोजन है । सारे सुख और दुःख कालके अधीन होनेके कारण क्षणभङ्गुर हैं, अतः वे ज्ञानी पुरुषको पराभूत नहीं कर सकते हैं ॥

यस्मै प्राज्ञाः कथयन्ते मनुष्याः
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः ।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

ज्ञानी पुरुष जिसके लिये कहा करते हैं, उस प्रज्ञाकी जड़ है इन्द्रियोंकी निर्मलता । जिसकी इन्द्रियाँ मोह और शोक-में मग्न हैं, उस मोहाच्छन्न इन्द्रियवाले पुरुषको कभी प्रज्ञाका लाभ नहीं मिल सकता ॥ ११ ॥

मूढस्य दर्पः स पुनर्मोह एव
मूढस्य नायं न परोऽस्ति लोकः ।

न ह्येव दुःखानि सदा भवन्ति
सुखस्य वा नित्यशो लाभ एव ॥ १२ ॥

मूढ़ मनुष्यको गर्व होता है। उसका वह गर्व मोहरूप ही है। मूढ़के लिये न तो यह लोक सुखद होता है और न परलोक ही। किसीको भी न तो सदा दुःख ही उठाने पड़ते हैं और न नित्य, निरन्तर सुखका ही लाभ होता है ॥ १२ ॥

भवात्मकं सम्परिवर्तमानं
न मादृशः संज्वरं जातु कुर्यात्।
इष्टान् भोगान् नानुरुध्येत् सुखं वा
न चिन्तयेद् दुःखमभ्यागतं वा ॥ १३ ॥

संसारके स्वरूपको परिवर्तित होता देख मेरे-जैसा मनुष्य कभी संताप नहीं करता है। अभीष्ट भोग अथवा सुखका भी अनुसरण नहीं करता तथा दुःख आ जाय तो उसके लिये चिन्तित नहीं होता ॥ १३ ॥

समाहितो न स्पृहयेत् परेषां
नानागतं चाभिनन्देच्च लाभम्।
न चापि हृष्येद् विपुलेऽर्थलाभे
तथार्थनाशे च न वै विषीदेत् ॥ १४ ॥

सब प्रकारसे उपरत महापुरुष दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहता। भविष्यमें होनेवाले अर्थलाभका भी अभिनन्दन नहीं करता। बहुत-सी सम्पत्ति पाकर हर्षित नहीं होता तथा धनका नाश हो जानेपर भी खेद नहीं करता ॥ १४ ॥

न बान्धवा न च वित्तं न कौल्यं
न च श्रुतं न च मन्त्रा न वीर्यम्।
दुःखात् त्रातुं सर्व एवोत्सहन्ते
परत्र शीलेन तु यान्ति शान्तिम् ॥ १५ ॥

बन्धु-बान्धव, धन, उत्तम कुल, शास्त्राध्ययन, मन्त्र तथा पराक्रम—ये सब-के-सब मिलकर भी किसीको दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते हैं। परलोकमें मनुष्य उत्तम स्वभावके कारण ही शान्ति पाते हैं ॥ १५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम्।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप ॥ १६ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व बुद्धि नहीं प्राप्त होती। योगके बिना कोई सुख नहीं पाता है। नरेश्वर! दुःखोंके सम्बन्धका त्याग और धैर्य—ये ही दोनों सुखके कारण हैं ॥ १६ ॥

प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः।
उत्सेको नरकायैव तस्मात् तान् संत्यजाम्यहम् ॥ १७ ॥

प्रिय वस्तु हर्षजनक होती है। हर्ष अभिमानको बढ़ाता है और अभिमान नरकमें ही डुबानेवाला है। इसलिये मैं इन तीनोंका त्याग करता हूँ ॥ १७ ॥

एताञ्शोकभयोत्सेकान् मोहनान् सुखदुःखयोः।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ॥ १८ ॥

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियोंको सुख-दुःखमें डालकर मोहित करनेवाले हैं; इसलिये जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षीकी भाँति देखता हूँ ॥

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः।
तृष्णामोहौ तु संत्यज्य चरामि पृथिवीमिमाम् ॥ १९ ॥

अर्थ और कामको त्यागकर एवं तृष्णा और मोहका सर्वथा परित्याग करके मैं शोक और संतापसे रहित हुआ इस पृथ्वीपर विचरता हूँ ॥ १९ ॥

न च मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह वामुत्र च भयम् ॥ २० ॥

जैसे अमृत पीनेवालेको मृत्युसे भय नहीं होता, उसी प्रकार मुझे भी इहलोक या परलोकमें मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा दूसरे किसीसे भी भय नहीं है ॥ २० ॥

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत् कृत्वा तपोऽव्ययम्।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मैंने महान् और अक्षय तप करके यही ज्ञान पाया है; अतः नारदजी! शोककी परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि समङ्गनारदसंवादे षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें समङ्ग और नारदजीका संवादविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नारदजीका गालव मुनिको श्रेयका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो शास्त्रोंके तत्त्वको नहीं जानता, जिसका मन सदा संशयमें ही पड़ा रहता है तथा जिसने परमार्थके लिये कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, उस

पुरुषका कल्याण कैसे हो सकता है ? यह मुझे बताइये ॥१॥

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम् ।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सदा गुरुजनोंकी पूजा, वृद्ध पुरुषोंकी सेवा और शास्त्रोंका श्रवण—ये तीन कल्याणके अमोघ साधन बताये जाते हैं ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गालवस्य च संवादं देवर्षेर्नारदस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भी जानकर मनुष्य देवर्षि नारद और महर्षि गालवके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥

स्वाश्रमं समनुप्राप्तं नारदं देववर्चसम् ।
वीतमोहक्लमं विप्रं ज्ञानतृप्तं जितेन्द्रियः ।
श्रेयस्कामो यतात्मानं नारदं गालवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जितेन्द्रिय गालव मुनिने अपने आश्रमपर पधारे हुए देवोपम तेजस्वी ब्राह्मण, मोह और क्लान्तिसे रहित, ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण एवं मनको वशमें रखनेवाले देवर्षि नारदजीसे इस प्रकार पूछा—॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैश्च पुरुषो मुने ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाल्लँक्षयामहे ॥ ५ ॥

'मुने ! संसारमें कोई भी पुरुष जिन गुणोंद्वारा सम्मानित होता है, उन समस्त गुणोंका मैं आपमें कभी अभाव नहीं देखता हूँ ॥ ५ ॥

भवानेवंविधोऽस्माकं संशयं छेत्तुमर्हति ।
अमूढश्चिरमूढानां लोकतत्त्वमजानताम् ॥ ६ ॥

'लोक-तत्त्वके ज्ञानसे शून्य और चिरकालसे अज्ञानमें पड़े हुए हम-जैसे लोगोंके संशयका निवारण सर्वगुणसम्पन्न आप-जैसा ज्ञानी महात्मा ही कर सकता है ॥ ६ ॥

ज्ञाने ह्येवं प्रवृत्तिः स्यात् कार्याणामविशेषतः ।
यत् कार्यं न व्यवस्यामस्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

'मुने ! शास्त्रोंमें बहुत-से कर्तव्यकर्म बताये गये हैं, उनमेंसे अमुक कर्मके इस प्रकार करनेसे ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति हो सकती है, इसका विशेषरूपसे हमें निश्चय नहीं हो पाता है; अतः हमारे लिये जो कर्तव्य हो और जिसका निर्धारण हम न कर पाते हों, उसे आप ही हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भगवन्नाश्रमाः सर्वे पृथगाचारदर्शिनः ।
इदं श्रेय इदं श्रेय इति सर्वे प्रबोधिताः ॥ ८ ॥

'भगवन् ! सभी आश्रमोंवाले पृथक्-पृथक् आचारका दर्शन कराते हैं तथा 'यह श्रेष्ठ है, यह श्रेष्ठ है' ऐसा उपदेश देते हुए वे (अपने ही सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका *प्रतिपादन* करते हैं और) सभी मनुष्योंकी बुद्धिमें यही बात जमा देते हैं ॥ ८ ॥

तांस्तु विप्रस्थितान् दृष्ट्वा शास्त्रैः शास्त्राभिनन्दिनः ।
स्वशास्त्रैः परितुष्टाश्च श्रेयो नोपलभामहे ॥ ९ ॥

'जिनके मनमें वह बात बैठ गयी है, उन सबको उन शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार नाना प्रकारके आचार-मार्गसे चलते और अपने-अपने शास्त्रोंका अभिनन्दन करते देखकर जैसे हम अपनी मान्यतामें संतुष्ट हैं, वैसे ही उन्हें भी संतुष्ट पाकर हमारे मनमें संशय उत्पन्न हो गया है । हम यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि परम कल्याणकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? ॥ ९ ॥

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा ।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥ १० ॥

'यदि शास्त्र एक होता तो श्रेयकी प्राप्तिका उपाय भी एक ही होनेके कारण वह स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता, परंतु बहुत-से शास्त्रोंने नाना प्रकारसे वर्णन करके श्रेयको गुह्य अवस्थामें पहुँचा दिया है—उसे अत्यन्त गूढ़ बना डाला है ॥

एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ११ ॥

'इस कारणसे मुझे श्रेयका स्वरूप संशयाच्छन्न जान पड़ता है । भगवन् ! अब आप ही मुझे उसका उपदेश दें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझ शिष्यको श्रेयोमार्गका बोध करायें'।

नारद उवाच

आश्रमास्तात चत्वारो यथासंकल्पिताः पृथक् ।
तान् सर्वाननुपश्य त्वं समाश्रित्येति गालव ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—तात ! आश्रम चार हैं और शास्त्रोंमें उनकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गयी है । गालव ! तुम ज्ञानका आश्रय लेकर उन सबको यथार्थरूपसे जानो ॥ १२ ॥

तेषां तेषां तथा हि त्वमाश्रमाणां ततस्ततः ।
नानारूपगुणोद्देशं पश्य विप्र स्थितं पृथक् ॥ १३ ॥

विप्रवर ! उन-उन आश्रमोंके जो नाना प्रकारसे गुण-सम्पन्न धर्म बताये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति है । इस बातको तुम देखो और समझो ॥ १३ ॥

न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्येऽपश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ॥ १४ ॥

जो साधारण मनुष्य हैं, वे उन आश्रमोंके वास्तविक अभिप्रायको भलीभाँति संशयरहित नहीं जान पाते, किंतु उनसे भिन्न जो तत्त्वज्ञ हैं, वे इन आश्रमोंके परमतत्त्वको ठीक-ठीक समझते हैं ॥ १४ ॥

यत् तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् ॥ १५ ॥
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।

संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जो अच्छी तरह कल्याण करनेवाला साधन होता है, वह सर्वथा संशयरहित होता है। सुहृदोंपर अनुग्रह करना, शत्रुभाव रखनेवाले दुष्टोंको दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और कामका संग्रह करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥ १७ ॥

पापकर्मसे दूर रहना, निरन्तर पुण्यकर्मोंमें लगे रहना और सत्पुरुषोंके साथ रहकर सदाचारका ठीक-ठीक पालन करना—यह संशयरहित कल्याणका मार्ग है ॥ १७ ॥

मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करना, व्यवहारमें सरल होना तथा मीठे वचन बोलना—यह भी कल्याणका संदेहरहित मार्ग है ॥ १८ ॥

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ॥ १९ ॥

देवताओं, पितरों और अतिथियोंको उनका भाग देना तथा भरण-पोषण करनेयोग्य व्यक्तियोंका त्याग न करना—यह कल्याणका निश्चित साधन है ॥ १९ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

सत्य बोलना भी श्रेयस्कर है; परंतु सत्यको यथार्थरूपसे जानना कठिन है। मैं तो उसीको सत्य कहता हूँ, जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो ॥ २० ॥

अहंकारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः ।
संतोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २१ ॥

अहंकारका त्याग, प्रमादको रोकना, संतोष और एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ॥ २१ ॥

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥ २२ ॥

धर्माचरणपूर्वक वेद और वेदाङ्गोंका स्वाध्याय करना तथा उनके सिद्धान्तको जाननेकी इच्छाको जगाये रखना निस्संदेह कल्याणका साधन है ॥ २२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान् ।
नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथंचन ॥ २३ ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उस मनुष्यको किसी तरह भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

नक्तंचर्या दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम् ।
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ॥ २४ ॥

कल्याण चाहनेवाला पुरुष रातमें घूमना, दिनमें सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुका सेवन, आहार-विहारका अधिक मात्रामें सेवन और उसका सर्वथा त्याग—ये सब बातें त्याग दे ॥ २४ ॥

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया ।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥ २५ ॥

दूसरोंकी निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेका प्रयत्न न करे। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा जो अपनी उत्कृष्टता है, उसे अपने गुणोंद्वारा ही सिद्ध करे (बातोंसे नहीं) ॥ २५ ॥

निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः ।
दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात् ॥ २६ ॥

गुणहीन मनुष्य ही अधिकतर अपनी प्रशंसा किया करते हैं। वे अपनेमें गुणोंकी कमी देखकर दूसरे गुणवान् पुरुषोंके गुणोंमें दोष बताकर उनपर आक्षेप किया करते हैं ॥ २६ ॥

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात् ।
गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः ॥ २७ ॥

यदि उनको उत्तर दिया जाय तो फिर वे घमंडमें भरकर अपने-आपको महापुरुषोंसे भी अधिक गुणवान् मानने लगें ॥

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद् यशः ॥ २८ ॥

परंतु जो दूसरे किसीकी निन्दा तथा अपनी प्रशंसा नहीं करता, ऐसा उत्तम गुणसम्पन्न विद्वान् पुरुष ही महान् यशका भागी होता है ॥ २८ ॥

अब्रुवन् वाति सुरभिर्गन्धः सुमनसां शुचिः ।
तथैवाव्याहरन् भाति विमलो भानुरम्बरे ॥ २९ ॥

फूलोंकी पवित्र एवं मनोरम सुगन्ध बिना कुछ बोले ही महक उठती है। निर्मल सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना ही आकाशमें प्रकाशित होने लगते हैं ॥ २९ ॥

एवमादीनि चान्यानि परित्यक्तानि मेधया ।
ज्वलन्ति यशसा लोके यानि न व्याहरन्ति च ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें और भी बहुत-सी ऐसी बुद्धिसे रहित वस्तुएँ हैं, जो अपनी प्रशंसा नहीं करती हैं, किंतु अपने यशसे जगमगाती रहती हैं ॥ ३० ॥

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ३१ ॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करनेसे ही जगत्में ख्याति नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफामें छिपा रहे तो भी उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो जाती है ॥ ३१ ॥

असदुच्चैरपि प्रोक्तः शब्दः समुपशाम्यति ।

दीप्यते त्वेव लोकेषु शनैरपि सुभाषितम् ॥ ३२ ॥

बुरी बात जोर-जोरसे कही गयी हो तो भी वह शून्यमें विलीन हो जाती है, लोकमें उसका आदर नहीं होता है; किंतु अच्छी बात धीरेसे कही जाय तो भी वह संसारमें प्रकाशित होती है—उसका आदर होता और प्रभाव बढ़ता है॥

मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं बहु ।
दर्शयत्यन्तरात्मानमग्निरूपमिवांशुमान् ॥ ३३ ॥

घमंडी मूर्खोंकी कही हुई असार बातें उनके दूषित अन्तःकरणका ही प्रदर्शन कराती हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य सूर्यकान्तमणिके योगसे अपने दाहक अग्निरूपको ही प्रकट करता है ॥ ३३ ॥

एतस्मात् कारणात् प्रज्ञां मृगयन्ते पृथग्विधाम् ।
प्रज्ञालाभो हि भूतानामुत्तमः प्रतिभाति मे ॥ ३४ ॥

इस कारण कल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधु पुरुष अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे नाना प्रकारकी प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) का ही अनुसंधान करते हैं । मुझे तो सभी प्राणियोंके लिये प्रज्ञाका लाभ ही उत्तम जान पड़ता है ॥ ३४ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः ।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूछे किसीको कोई उपदेश न करे । अन्यायपूर्वक पूछनेपर भी किसीके प्रश्नका उत्तर न दे । जडकी भाँति चुपचाप बैठा रहे ॥

ततो वासं परीक्षेत धर्मनित्येषु साधुषु ।
मनुष्येषु वदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु च ॥ ३६ ॥

मनुष्यको सदा धर्ममें लगे रहनेवाले साधु-महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषोंके समीप निवास करनेकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ ३६ ॥

चतुर्णां यत्र वर्णानां धर्मव्यतिकरो भवेत् ।
न तत्र वासं कुर्वीत श्रेयोऽर्थी वै कथंचन ॥ ३७ ॥

जहाँ चारों वर्णोंके धर्मोंका उल्लङ्घन होता हो, वहाँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको किसी तरह भी नहीं रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

निरारम्भोऽप्ययमिह यथालब्धोपजीवनः ।
पुण्यं पुण्येषु विमलं पापं पापेषु चाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

किसी कर्मका आरम्भ न करनेवाला और जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष भी यदि पुण्यात्माओंके समाजमें रहे तो उसे निर्मल पुण्यकी प्राप्ति होती है और पापियोंके संसर्गमें रहे तो वह पापका ही भागी होता है॥

अपामग्नेस्तथेन्दोश्च स्पर्शं वेदयते यथा ।
तथा पश्यामहे स्पर्शमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ ३९ ॥

जैसे जल, अग्नि और चन्द्रमाकी किरणोंके संसर्गमें आनेपर मनुष्य क्रमशः शीत, उष्ण और सुखदायी स्पर्शका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम पुण्यात्मा और पापियोंके संगसे पुण्य और पाप दोनोंके स्पर्शका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥

अपश्यन्तोऽनुविषयं भुञ्जते विघसाशिनः ।
भुञ्जानाश्चात्मविषयान् विषयान् विद्धि कर्मणाम्॥ ४० ॥

जो विघसाशी (भृत्यवर्ग और अतिथि आदिको भोजन करानेके बाद बचा हुआ भोजन करनेवाले) हैं, वे तिक्त-मधुर रस या स्वादकी आलोचना न करते हुए अन्न ग्रहण करते हैं; किंतु जो अपनी रसनाका विषय समझकर स्वादु और अस्वादुका विचार रखते हुए भोजन करते हैं, उन्हें कर्मपाशमें बँधा हुआ ही समझना चाहिये ॥ ४० ॥

यत्रागमयमानानामसत्कारेण पृच्छताम् ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणो धर्मं त्यजेत् तं देशमात्मवान् ॥ ४१ ॥

जहाँ ब्राह्मण अनादर एवं अन्यायपूर्वक धर्म-शास्त्रविषयक प्रश्न करनेवाले पुरुषोंको धर्मका उपदेश करता हो, आत्मपरायण साधकको उस देशका परित्याग कर देना चाहिये ॥

शिष्योपाध्यायिकावृत्तिर्यत्र स्यात् सुसमाहिता ।
यथावच्छास्त्रसम्पन्ना कस्तं देशं परित्यजेत् ॥ ४२ ॥

जहाँ गुरु और शिष्यका व्यवहार सुव्यवस्थित, शास्त्रसम्मत एवं यथावत् रूपसे चलता है, कौन उस देशका परित्याग करेगा ? ॥ ४२ ॥

आकाशस्था ध्रुवं यत्र दोषं ब्रूयुर्विपश्चिताम् ।
आत्मपूजाभिकामो वै को वसेत् तत्र पण्डितः ॥ ४३ ॥

जहाँके लोग बिना किसी आधारके ही विद्वान् पुरुषोंपर निश्चितरूपसे दोषारोपण करते हों, उस देशमें आत्मसम्मानकी इच्छा रखनेवाला कौन मनुष्य निवास करेगा ? ॥ ४३ ॥

यत्र संलोडिता लुब्धैः प्रायशो धर्मसेतवः ।
प्रदीप्तमिव चैलान्तं कस्तं देशं न संत्यजेत् ॥ ४४ ॥

जहाँ लालची मनुष्योंने प्रायः धर्मकी मर्यादाएँ तोड़ डाली हों, जलते हुए कपड़ेकी भाँति उस देशको कौन नहीं त्याग देगा ? ॥ ४४ ॥

यत्र धर्ममनाशङ्काश्चरेयुर्वीतमत्सराः ।
भवेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ४५ ॥

परंतु जहाँके लोग मात्सर्य और शङ्कासे रहित होकर धर्मका आचरण करते हों, वहाँ पुण्यशील साधु पुरुषोंके पास अवश्य निवास करे ॥ ४५ ॥

धर्ममर्थनिमित्तं च चरेयुर्यत्र मानवाः ।
नताननुवसेज्जातु ते हि पापकृतो जनाः ॥ ४६ ॥

जहाँके मनुष्य धनके लिये धर्मका अनुष्ठान करते हों,

वहाँ उनके पास कदापि न रहे; क्योंकि वे सब-के-सब पापाचारी होते हैं ॥ ४६ ॥

कर्मणा यत्र पापेन वर्तन्ते जीवितेप्सवः।
व्यवधावेत् ततस्तूर्णं ससर्पाच्छरणादिव ॥ ४७ ॥

जहाँ जीवनकी रक्षाके लिये लोग पापकर्मसे जीविका चलाते हों, सर्पयुक्त घरके समान उस स्थानसे तुरंत दूर हट जाना चाहिये ॥ ४७ ॥

येन खट्वां समारूढः कर्मणानुशयी भवेत्।
आदितस्तन्न कर्तव्यमिच्छता भवमात्मनः ॥ ४८ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले साधकको चाहिये कि जिस पापकर्मके संस्कारोंसे युक्त हुआ मनुष्य खाटपर पड़कर दुःख भोगता है, उस कर्मको पहलेसे ही न करे ॥ ४८ ॥

यत्र राजा च राज्ञश्च पुरुषाः प्रत्यनन्तराः।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत् तद् राष्ट्रमात्मवान् ॥ ४९ ॥

जहाँ राजा और राजाके निकटवर्ती अन्य पुरुष कुटुम्बी-जनोंसे पहले ही भोजन कर लेते हैं, उस राष्ट्रको मनस्वी पुरुष अवश्य त्याग दे ॥ ४९ ॥

श्रोत्रियास्त्वग्रभोक्तारो धर्मनित्याः सनातनाः।
याजनाध्यापने युक्ता यत्र तद् राष्ट्रमावसेत् ॥ ५० ॥

जिस देशमें सदा धर्मपरायण, यज्ञ कराने और पढ़ाने-के कार्यमें संलग्न सनातनधर्मी श्रोत्रिय ब्राह्मण ही सबसे पहले भोजन पाते हों, उस राष्ट्रमें अवश्य निवास करे ॥ ५० ॥

स्वाहास्वधावषट्कारा यत्र सम्यगनुष्ठिताः।
अजस्रं चैव वर्तन्ते वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५१ ॥

जहाँ स्वाहा (अग्निहोत्र), स्वधा (श्राद्धकर्म) तथा वषट्कारका भलीभाँति अनुष्ठान होता हो और निरन्तर ये सभी कर्म किये जाते हों, वहाँ बिना विचारे ही निवास करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अशुचीन् यत्र पश्येत ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान्।
त्यजेत् तद् राष्ट्रमासन्नमुपसृष्टमिवामिषम् ॥ ५२ ॥

जहाँ ब्राह्मणोंको जीविकाके लिये कष्ट पाते तथा अपवित्र अवस्थामें रहते देखे, उस राष्ट्रको निकटवर्ती होनेपर भी विषमिश्रित भोग्यवस्तुकी भाँति त्याग दे ॥ ५२ ॥

प्रीयमाणा नरा यत्र प्रयच्छेयुरयाचिताः।
स्वस्थचित्तो वसेत् तत्र कृतकृत्य इवात्मवान् ॥ ५३ ॥

जहाँके लोग प्रसन्नतापूर्वक बिना माँगे ही भिक्षा देते हों, वहाँ मनको वशमें करनेवाला पुरुष कृतकृत्यकी भाँति स्वस्थ-चित्त होकर निवास करे ॥ ५३ ॥

दण्डो यत्राविनीतेषु सत्कारश्च कृतात्मसु।
चरेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ५४ ॥

जहाँ उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड दिया जाता हो और जितात्मा पुरुषोंका सत्कार किया जाता हो, वहाँ पुण्यशील श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच विचरना और निवास करना चाहिये ॥

उपसृष्टेषु दान्तेषु दुराचारेषु साधुषु।
अविनीतेषु लुब्धेषु सुमहद् दण्डधारणम् ॥ ५५ ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुषोंपर क्रोध और श्रेष्ठ पुरुषोंपर अत्या-चार करते हों, उद्दण्ड और लोभी हों, ऐसे लोगोंको जहाँ अत्यन्त कठोर और महान् दण्ड दिया जाता हो, उस देशमें बिना विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५५ ॥

यत्र राजा धर्मनित्यो राज्यं धर्मेण पालयेत्।
अपास्य कामान् कामेशो वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५६ ॥

जहाँका राजा सदा धर्मपरायण रहकर धर्मानुसार ही राज्यका पालन करता हो और सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी होकर भी विषयभोगसे विमुख रहता हो, वहाँ बिना कुछ सोचे-विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५६ ॥

यथाशीला हि राजानः सर्वान् विषयवासिनः।
श्रेयसा योजयन्त्याशु श्रेयसि प्रत्युपस्थिते ॥ ५७ ॥

क्योंकि राजाके शील-स्वभाव जैसे होते हैं, वैसे ही प्रजाके भी हो जाते हैं। वह अपने कल्याणका अवसर उपस्थित होनेपर समस्त प्रजाको भी शीघ्र ही कल्याणका भागी बना देता है ॥ ५७ ॥

पृच्छतस्ते मया तात श्रेय एतदुदाहृतम्।
न हि शक्यं प्रधानेन श्रेयः संख्यातुमात्मनः ॥ ५८ ॥

तात! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यह श्रेयोमार्गका वर्णन किया है। पूर्णतया तो आत्मकल्याणकी परिगणना हो ही नहीं सकती ॥ ५८ ॥

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः।
तपसैवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥ ५९ ॥

जो इस प्रकारकी वृत्तिसे रहकर जीविका चलाता है और प्राणियोंके हितमें मन लगाये रहता है, उस पुरुषको स्वधर्म-रूप तपके अनुष्ठानसे इस लोकमें ही परम कल्याणकी प्रत्यक्ष उपलब्धि हो जायगी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रेयोवाचिको नाम सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रेयोमार्गका प्रतिपादन नामक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२८७॥

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अरिष्टनेमिका राजा सगरको वैराग्योत्पादक मोक्षविषयक उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः संगपाशाद् विमुच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! मेरे-जैसा राजा कैसे साधन और व्यवहारसे युक्त होकर पृथ्वीपर विचरे और सदा किन गुणोंसे सम्पन्न होकर वह आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो?॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें राजा सगरके प्रश्न करनेपर अरिष्टनेमिने जो उत्तर दिया था, वह प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ २ ॥

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

सगरने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्मका अनुष्ठान करके सुखका भागी होता है? तथा किस उपायसे उसे शोक या क्षोभ प्राप्त नहीं होता? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः।
विबुध्य सम्पदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राजा सगरके इस प्रकार पूछनेपर सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ तार्क्ष्य (अरिष्टनेमि) ने उनमें सर्वोत्तम दैवी सम्पत्तिके गुण जानकर उनको इस प्रकार उत्तम उपदेश दिया—॥ ४ ॥

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥ ५ ॥

'सगर! संसारमें मोक्षका सुख ही वास्तविक सुख है, परंतु जो धनधान्यके उपार्जनमें व्यग्र तथा पुत्र और पशुओंमें आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्यको उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥ ५ ॥

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्यकी चिकित्सा करनी कठिन है; क्योंकि जो स्नेहके बन्धनमें बँधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पानेके लिये योग्य नहीं होता ॥ ६ ॥

स्नेहजानिह ते पाशान् वक्ष्यामि शृणु तान् मम।
सकर्णकेन शिरसा शक्याः श्रोतुं विजानता ॥ ७ ॥

'मैं तुम्हें स्नेहजनित बन्धनोंका परिचय देता हूँ, उन्हें तुम मुझसे सुनो। श्रवणेन्द्रियसम्पन्न समझदार मनुष्य ही ऐसी बातोंको बुद्धिपूर्वक सुन सकता है ॥ ७ ॥

सम्भाव्य पुत्रान् कालेन यौवनस्थान् विवेश्य च।
समर्थान् जीवने ज्ञात्वा मुक्तश्चर यथासुखम् ॥ ८ ॥

'समयानुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके जब वे जवान हो जायँ, तब उनका विवाह कर दो और जब यह मालूम हो जाय कि अब ये दूसरेके सहयोगके बिना ही जीवन-निर्वाह करनेमें समर्थ हैं, तब उनके स्नेह-पाशसे मुक्त हो सुखपूर्वक विचरो ॥

भार्यां पुत्रवतीं वृद्धां लालितां पुत्रवत्सलाम्।
ज्ञात्वा प्रजहि कालेन परार्थमनुदृश्य च ॥ ९ ॥

'पत्नी पुत्रवती होकर वृद्ध हो गयी। अब पुत्रगण उसका पालन करते हैं और वह भी पुत्रोंपर पूर्ण वात्सल्य रखती है, यह जानकर परम पुरुषार्थ मोक्षको अपना लक्ष्य बनाकर यथासमय उसका परित्याग कर दे ॥ ९ ॥

सापत्यो निरपत्यो वा मुक्तश्चर यथासुखम्।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांस्त्वमनुभूय यथाविधि ॥ १० ॥
कृतकौतूहलस्तेषु मुक्तश्चर यथासुखम्।

'शास्त्र-विधिके अनुसार इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव करके जब तुम उनके खेलको पूरा कर चुको, तब संतान हुई हो चाहे न हुई हो, उनसे मुक्त होकर सुखपूर्वक विचरो ॥ १०½ ॥

उपपत्त्योपलब्धेषु लोकेषु च समो भव ॥ ११ ॥

'दैवेच्छासे जो भी लौकिक पदार्थ उपलब्ध हों, उनमें समान भाव रक्खो—राग-द्वेष न करो ॥ ११ ॥

एष तावत् समासेन तव संकीर्तितो मया।
मोक्षार्थो विस्तरेणाथ भूयो वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥

'यह संक्षेपमें मैंने तुम्हें मोक्षका विषय बताया है। अब पुनः इसीको विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः।
सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥ १३ ॥
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥ १४ ॥

'मुक्त पुरुष सुखी होते हैं और संसारमें निर्भय होकर विचरते हैं; किंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति आहारका संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है; अतः जो आसक्तिसे रहित हैं, वे ही इस संसारमें सुखी हैं। आसक्त मनुष्योंका तो नाश ही होता है ॥ १३-१४ ॥

स्वजने न च ते चिन्ता कर्तव्या मोक्षबुद्धिना ।
इमे मया विनाभूता भविष्यन्ति कथं त्विति ॥ १५ ॥

'यदि तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें लगी हुई है तो तुम्हें स्वजनोंके विषयमें ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि ये मेरे बिना कैसे रहेंगे ॥ १५ ॥

स्वयमुत्पद्यते जन्तुः स्वयमेव विवर्धते ।
सुखदुःखे तथा मृत्युं स्वयमेवाधिगच्छति ॥ १६ ॥

'प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता है और स्वयं ही सुख-दुःख तथा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम् ।
स्वकृतेनाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा ॥ १७ ॥

'मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिताके द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करता है। संसारमें जो कुछ मिलता है, वह पूर्वकृत कर्मोंके फलके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है ॥ १७ ॥

धात्रा विहितभक्ष्याणि सर्वभूतानि मेदिनीम् ।
लोके विपरिधावन्ति रक्षितानि स्वकर्मभिः ॥ १८ ॥

'संसारमें सभी प्राणी अपने कर्मोंसे सुरक्षित हो सारी पृथ्वीकी दौड़ लगाते हैं और विधाताने उनके प्रारब्धके अनुसार जो आहार नियत कर दिया है, उसे प्राप्त करते हैं ॥

स्वयं मृत्पिण्डभूतस्य परतन्त्रस्य सर्वदा ।
को हेतुः स्वजनं पोष्टुं रक्षितुं वाप्यदृढात्मनः ॥ १९ ॥

'जो स्वयं ही शरीरकी दृष्टिसे मिट्टीका लोंदामात्र है, सर्वदा परतन्त्र है, वह अदृढ़ मनवाला मनुष्य स्वजनोंका पोषण और रक्षण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥

स्वजनं हि यदा मृत्युर्हन्त्येव तव पश्यतः ।
कृतेऽपि यत्ने महति तत्र बोद्धव्यमात्मना ॥ २० ॥

'जब स्वजनोंको तुम्हारे देखते-देखते मौत मार ही डालती है और तुम उन्हें बचानेके लिये महान् प्रयत्न करनेपर भी सफल नहीं हो पाते, तब इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही यह विचार करना चाहिये कि मेरी क्या शक्ति है ! ॥ २०॥

जीवन्तमपि चैवैनं भरणे रक्षणे तथा ।
असमाप्ते परित्यज्य पश्चादपि मरिष्यसि ॥ २१ ॥

'यदि ये स्वजन जीवित रह जायँ तो भी इनके भरण-पोषण और संरक्षणका कार्य समाप्त होनेसे पहले ही तुम इन्हें छोड़कर पीछे स्वयं भी तो मर जाओगे ॥ २१ ॥

यदा मृतं च स्वजनं न ज्ञास्यसि कदाचन ।
सुखितं दुःखितं वापि ननु बोद्धव्यमात्मना ॥ २२ ॥

'अथवा जब कोई स्वजन मरकर इस लोकसे चला जायगा, तब उसके विषयमें यह कभी नहीं जान सकोगे कि वह सुखी है या दुखी, अतः इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही विचार करना चाहिये ॥ २२ ॥

मृते वा त्वयि जीवे वा यदा भोक्ष्यति वै जनः ।
स्वकृतं ननु बुद्ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २३ ॥

'तुम जीवित रहो या मर जाओ। तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपनी-अपनी करनीका ही फल भोगेगा, तब इस बातको जानकर तुम्हें भी अपने कल्याणके ही साधनमें लग जाना चाहिये ॥ २३ ॥

एवं विजानँल्लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः ।
मोक्षे निवेशय मनो भूयश्चाप्युपधारय ॥ २४ ॥

'ऐसा जानकर, इस संसारमें कौन किसका है, इस बातका भलीभाँति विचार करके अपने मनको मोक्षमें लगा दो और साथ ही पुनः इस बातपर ध्यान दो ॥ २४ ॥

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः ।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान् मुक्त एव सः ॥ २५ ॥

'जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावोंपर विजय पा ली है, वह सत्त्वसम्पन्न पुरुष सदा मुक्त ही है ॥ २५ ॥

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः ।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ॥ २६ ॥

'जो मोहवश जूआ, मद्यपान, परस्त्रीसंसर्ग तथ मृगया आदि व्यसनोंमें आसक्त होनेका प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ॥ २६ ॥

दिवसे दिवसे नाम रात्रौ रात्रौ पुमान् सदा ।
भोक्तव्यमिति यः खिन्नो दोषबुद्धिः स उच्यते ॥ २७ ॥

'जो पुरुष सदा प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात्रिमें भोग भोगने या भोजन करनेकी ही चिन्तामें पड़कर दुखी रहता है, वह दोषबुद्धिसे युक्त कहलाता है ॥ २७॥

आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः ।
यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

'जो सदा योगयुक्त रहकर स्त्रियोंके प्रति अपने भाव (अनुराग या आसक्ति) को निवृत्त हुआ ही देखता है

अर्थात् जिसकी स्त्रियोंके प्रति भोग्यबुद्धि नहीं होती, वही वास्तवमें मुक्त है ॥ २८ ॥

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ २९ ॥

'जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और चेष्टाओंको ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसारमें मुक्त ही है ॥ २९ ॥

प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु।
प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३० ॥

'जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्नमेंसे केवल एक प्रस्थ (पेट भरने लायक) को ही अपने जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त समझता है (उससे अधिकका संग्रह करना नहीं चाहता) तथा बड़े-से-बड़े महलमें माँच बिछाने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

मृत्युनाभ्याहतं लोकं व्याधिभिश्चोपपीडितम्।
अवृत्तिकर्शितं चैव यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३१ ॥

'जो इस जगत्‌को रोगोंसे पीड़ित, जीविकाके अभावसे दुर्बल और मृत्युके आघातसे नष्ट हुआ देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

यः पश्यति स संतुष्टो न पश्यंश्च विहन्यते।
यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३२ ॥

'जो ऐसा देखता है, वह संतुष्ट एवं मुक्त होता है; किंतु जो ऐसा नहीं देखता, वह मारा जाता है—जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ा रहता है। जो थोड़ेसे लाभमें ही संतुष्ट रहता है, वह इस जगत्‌में मुक्त ही है ॥ ३२ ॥

अग्नीषोमाविदं सर्वमिति यश्चानुपश्यति।
न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

'जो इस सम्पूर्ण जगत्‌को अग्नि और सोम (भोक्ता और भोज्य) रूप ही देखता है और स्वयंको उनसे भिन्न समझता है, उसे मायाके अद्भुत भाव—सुख-दुःख आदि छू नहीं सकते। वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।
शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३४ ॥

'जिस देहधारीके लिये पलंगकी सेज और भूमि—दोनों समान हैं; जो अगहनीके चावल और कोदो आदिको एक-सा समझता है, वह मुक्त ही है ॥ ३४ ॥

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च।
आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३५ ॥

जिसके लिये सनके वस्त्र, कुशके चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान हैं, वह भी मुक्त ही है ॥ ३५ ॥

पञ्चभूतसमुद्भूतं लोकं यश्चानुपश्यति।
तथा च वर्तते दृष्ट्वा लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३६ ॥

'जो संसारको पाञ्चभौतिक देखता और उस दृष्टिके अनुसार ही बर्ताव करता है, वह भी इस जगत्‌में मुक्त ही है ॥ ३६ ॥

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ३७ ॥

'जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय पराजय सम है तथा जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वही मुक्त है ॥ ३७ ॥

रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा।
शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥ ३८ ॥

'यह शरीर क्या है, बहुत-से दोषोंका भण्डार। इसमें रक्त, मल-मूत्र तथा और भी अनेक दोषोंका संचय हुआ है। जो इस बातको देखता और समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥

वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३९ ॥

'बुढ़ापा आनेपर इस शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सिरके बाल सफेद हो जाते हैं। देह दुबली-पतली एवं कान्तिहीन हो जाती है तथा कमर झुक जानेके कारण मनुष्य कुबड़ा-सा हो जाता है। इन सब बातोंकी ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४० ॥

'समय आनेपर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखोंसे दिखायी नहीं देता है, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इन सब बातोंको जो सदा देखता और इनपर विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

गतानृषींस्तथा देवानसुरांश्च तथा गतान्।
लोकादस्मात् परं लोकं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४१ ॥

'कितने ही ऋषि, देवता तथा असुर इस लोकसे परलोकको चले गये। जो सदा यह देखता और स्मरण रखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

प्रभावैरन्वितास्तैस्तैः पार्थिवेन्द्राः सहस्रशः।
ये गताः पृथिवीं त्यक्त्वा इति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ ४२ ॥

'सहस्रों प्रभावशाली नरेश इस पृथ्वीको छोड़कर कालके गालमें चले गये। इस बातको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

अर्थांश्च दुर्लभाँल्लोके क्लेशांश्च सुलभांस्तथा।

दुःखं चैव कुटुम्बार्थे यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४३ ॥

'संसारमें धन दुर्लभ है और क्लेश सुलभ। कुटुम्बके पालन-पोषणके लिये भी जहाँ बहुत दुःख उठाना पड़ता है, यह सब जिसकी दृष्टिमें है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपत्यानां च वैगुण्यं जनं विगुणमेव च।
पश्यन् भूयिष्ठशो लोके को मोक्षं नाभिपूजयेत् ॥ ४४ ॥

'इतना ही नहीं, इस जगत्‌में अपनी संतानोंकी गुणहीनताका दुःख भी देखना पड़ता है। विपरीत गुणवाले मनुष्योंसे भी सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार जो यहाँ अधिकांश कष्ट ही देखता है, ऐसा कौन मनुष्य मोक्षका आदर नहीं करेगा ? ॥ ४४ ॥

शास्त्राल्लोकाच्च यो बुद्धः सर्वं पश्यति मानवः।
असारमिव मानुष्यं सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन तथा लौकिक अनुभवसे भी ज्ञानसम्पन्न होकर समस्त मानव-जगत्‌को सारहीन-सा देखता है, वह सब प्रकारसे मुक्त ही है ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा मम वचो भवांश्चरतु मुक्तवत्।
गार्हस्थ्ये यदि वा मोक्षे कृता बुद्धिरविक्लवा ॥ ४६ ॥

'मेरे इस वचनको सुनकर तुम अपनी बुद्धिको व्याकुलतासे रहित बनाकर गृहस्थाश्रममें या संन्यास-आश्रममें चाहे जहाँ रहकर मुक्तकी भाँति आचरण करो' ॥ ४६ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा सम्यक् स पृथिवीपतिः।
मोक्षजैश्च गुणैर्युक्तः पालयामास च प्रजाः ॥ ४७ ॥

राजा सगर अरिष्टनेमिके उपर्युक्त उपदेशको भलीभाँति सुनकर मोक्षोपयोगी गुणोंसे सम्पन्न हो प्रजाका पालन करने लगे ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सगरारिष्टनेमिसंवादेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सगर और अरिष्टनेमिका संवादविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८८ ॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भृगुपुत्र उशनाका चरित्र और उन्हें शुक्र नामकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

तिष्ठते मे सदा तात कौतूहलमिदं हृदि।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुपितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! कुरुकुलके पितामह ! मेरे हृदयमें चिरकालसे यह एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न खड़ा है, जिसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कथं देवर्षिरुशना सदा काव्यो महामतिः।
असुराणां प्रियकरः सुराणामप्रिये रतः ॥ २ ॥

परम बुद्धिमान् कवित्वसम्पन्न देवर्षि उशना क्यों सदा ही असुरोंका प्रिय तथा देवताओंका अप्रिय करनेमें लगे रहते हैं ? ॥ २ ॥

वर्धयामास तेजश्च किमर्थममितौजसाम्।
नित्यं वैरनिबद्धाश्च दानवाः सुरसत्तमैः ॥ ३ ॥

उन्होंने अमित तेजस्वी दानवोंका तेज किसलिये बढ़ाया ? दानव तो सदा श्रेष्ठ देवताओंके साथ वैर ही बाँधे रहते हैं ॥

कथं चाप्युशना प्राप शुक्रत्वममरद्युतिः।
ऋद्धिं च स कथं प्राप्तः सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

देवोपम तेजस्वी मुनिवर उशनाका नाम शुक्र क्यों हो गया ? उन्हें ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई ? यह सब मुझे बताइये ॥

न याति च स तेजस्वी मध्येन नभसः कथम्।
एतदिच्छामि विज्ञातुं निखिलेन पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! देवर्षि उशना हैं तो बड़े तेजस्वी; परंतु वे आकाशके बीचसे होकर क्यों नहीं जाते ? इन सब बातोंको मैं पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितः सर्वमेतद् यथातथम्।
यथामति यथा चैतच्छ्रुतपूर्वं मयानघ ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप नरेश ! मैंने इन सब बातोंको पहले जिस तरह सुन रक्खा है, वह सारा वृत्तान्त अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥

एष भार्गवदायादो मुनिर्मान्यो दृढव्रतः।
सुराणां विप्रियकरो निमित्ते कारणात्मके ॥ ७ ॥

ये भृगुपुत्र मुनिवर उशना सबके लिये माननीय तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। एक विशेष कारण बन जानेसे रुष्ट होकर ये देवताओंके विरोधी हो गये* ॥

* कहते हैं, किसी समय असुरगण देवताओंको कष्ट पहुँचाकर भृगुपत्नीके आश्रममें जाकर छिप जाते थे। असुरोंने 'माता' कहकर उनकी शरण ली थी और उन्होंने पुत्र मानकर उन सबको निर्भय

इन्द्रोऽथ धनदो राजा यक्षरक्षोऽधिपः सदा।
प्रभविष्णुश्च कोशस्य जगतश्च तथा प्रभुः॥ ८॥

उस समय इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर थे और सदा यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति प्रभावशाली जगत्पति राजा कुबेर उनके कोषाध्यक्ष बनाये गये थे॥ ८॥

तस्यात्मानमथाविश्य योगसिद्धो महामुनिः।
रुद्ध्वा धनपतिं देवं योगेन हृतवान् वसु॥ ९॥

योगसिद्ध महामुनि उशनाने योगबलसे धनाध्यक्ष कुबेरके भीतर प्रवेश करके उन्हें अपने काबूमें कर लिया और उनके सारे धनका अपहरण कर लिया॥ ९॥

हृते धने ततः शर्म न लेभे धनदस्तथा।
आपन्नमन्युः संविग्नः सोऽभ्यगात् सुरसत्तमम्॥ १०॥

धनका अपहरण हो जानेपर कुबेरको चैन नहीं पड़ा। वे कुपित और उद्विग्न होकर देवेश्वर महादेवजीके पास गये॥

निवेदयामास तदा शिवायामिततेजसे।
देवश्रेष्ठाय रुद्राय सौम्याय बहुरूपिणे॥ ११॥

उस समय उन्होंने अमित तेजस्वी अनेक रूपधारी सौम्य एवं शिवस्वरूप देवेश्वर रुद्रसे इस प्रकार निवेदन किया—॥

योगात्मकेनोशनसा रुद्ध्वा मम हृतं वसु।
योगेनात्मगतं कृत्वा निःसृतश्च महातपाः॥ १२॥

'प्रभो! महर्षि उशना योगबलसे सम्पन्न हैं। उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे बंदी बनाकर मेरा सारा धन हर लिया। वे महान् तपस्वी तो हैं ही, योगबलसे मुझे अपने अधीन करके अपना काम बनाकर निकल गये'॥ १२॥

एतच्छ्रुत्वा ततः क्रुद्धो महायोगी महेश्वरः।
संरक्तनयनो राजञ्शूलमादाय तस्थिवान्॥ १३॥

राजन्! यह सुनकर महायोगी महेश्वर कुपित हो गये और लाल आँखें किये हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हो गये॥ १३॥

क्वासौ क्वासाविति प्राह गृहीत्वा परमायुधम्।
उशना दूरतस्तस्य बभौ ज्ञात्वा चिकीर्षितम्॥ १४॥

उस उत्तम अस्त्रको लेकर वे सहसा बोल उठे—'कहाँ है, कहाँ है वह उशना?' महादेवजी क्या करना चाहते हैं, यह जानकर उशना उनसे दूर हो गये॥ १४॥

स महायोगिनो बुद्ध्वा तं रोषं वै महात्मनः।
गतिमागमनं वेत्ति स्थानं चैव ततः प्रभुः॥ १५॥

महायोगी महात्मा भगवान् शिवके उस रोषको समझकर वे उनसे दूर हट गये थे, योगसिद्ध उशना गमन, आगमन और स्थानको जानते थे अर्थात् कब हटना चाहिये, कब आना चाहिये तथा किस अवस्थामें कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थानपर ही ठहरे रहना चाहिये, इन सब बातोंको वे अच्छी तरह समझते थे॥ १५॥

संचिन्त्योग्रेण तपसा महात्मानं महेश्वरम्।
उशना योगसिद्धात्मा शूलाग्रे प्रत्यदृश्यत॥ १६॥

योगसिद्धात्मा उशना अपनी उग्र तपस्याद्वारा महात्मा महेश्वरका चिन्तन करके उनके त्रिशूलके अग्रभागमें दिखायी दिये॥ १६॥

विज्ञातरूपः स तदा तपःसिद्धोऽथ धन्विना।
ज्ञात्वा शूलं च देवेशः पाणिना समनामयत्॥ १७॥

तपःसिद्ध शुक्राचार्यको उस रूपमें पहचानकर देवेश्वर शिवने उन्हें शूलपर स्थित जानकर अपने धनुषयुक्त हाथसे उस शूलको झुका दिया॥ १७॥

आनतेनाथ शूलेन पाणिनामिततेजसा।
पिनाकमिति चोवाच शूलमुग्रायुधः प्रभुः॥ १८॥

जब अमित तेजस्वी शूल उनके हाथसे मुड़कर धनुषके रूपमें परिणत हो गया, तब उग्र धनुर्धर भगवान् शिवने पाणिसे आनत होनेके कारण उस शूलको 'पिनाक' कहा॥ १८॥

पाणिमध्यगतं दृष्ट्वा भार्गवं तमुमापतिः।
आस्यं विवृत्य ककुदी पाणिना प्राक्षिपच्छनैः॥ १९॥

उसके मुड़नेके साथ ही भृगुपुत्र उशना उनके हाथमें आ गये, उशनाको हाथमें आया देख देवेश्वर उमावल्लभ भगवान् शिवने मुँह फैला लिया और धीरेसे हाथका धक्का देकर उशनाको मुखके भीतर डाल दिया॥ १९॥

स तु प्रविष्ट उशना कोष्ठं माहेश्वरं प्रभुः।
व्यचरच्चापि तत्रासौ महात्मा भृगुनन्दनः॥ २०॥

महादेवजीके पेटमें घुसकर प्रभावशाली महामना भृगुनन्दन उशना उसके भीतर सब ओर विचरने लगे॥ २०॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं व्यचरद् राजन्नुशना तस्य धीमतः।
जठरे देवदेवस्य किं चाकार्षीन्महाद्युतिः॥ २१॥

कर दिया था। देवता जब असुरोंको दण्ड देनेके लिये उनका पीछा करते हुए आते, तब भृगुपत्नीके प्रभावसे उनके आश्रममें प्रवेश नहीं कर पाते थे। यह देख समस्त देवताओंने भगवान् विष्णुकी शरण ली। भुवनपालक भगवान् विष्णुने देवताओं और दैवी-सम्पत्तिकी रक्षाके लिये चक्र उठाया तथा असुरों एवं आसुर भावके उत्थानमें योग देनेवाली भृगुपत्नीका सिर काट लिया। उस समय मरनेसे बचे हुए असुर भृगुपुत्र उशनाकी शरणमें गये। उशना माताके वधसे खिन्न थे; इसलिये उन्होंने असुरोंको अभयदान दे दिया। तभीसे वे देवताओंकी उन्नतिके मार्गमें असुरोंद्वारा बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं।

युधिष्ठिरने पूछा—राजन् ! महातेजस्वी उशनाने बुद्धिमान् देवाधिदेव महादेवजीके उदरमें किसलिये विचरण किया और वहाँ क्या किया ? ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

पुरा सोऽन्तर्जलगतः स्थाणुभूतो महाव्रतः ।
वर्षाणामभवद् राजन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ २२ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! प्राचीनकालमें महान् व्रतधारी महादेवजी जलके भीतर ठूँठे काठकी भाँति स्थिर भावसे खड़े हो लाखों-अरबों वर्षोंतक तपस्या करते रहे ॥२२॥

उदतिष्ठत् तपस्तप्त्वा दुश्चरं च महाह्रदात् ।
ततो देवातिदेवस्तं ब्रह्मा वै समसर्पत ॥ २३ ॥

वह दुष्कर तपस्या पूरी करके जब वे जलके उस महान् सरोवरसे बाहर निकले, तब देवदेव ब्रह्माजी उनके पास गये ॥ २३ ॥

तपोवृद्धिमपृच्छच्च कुशलं चैवमव्ययः ।
तपः सुचीर्णमिति च प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ २४ ॥

अविनाशी ब्रह्माजीने उनकी तपोवृद्धिका कुशल-समाचार पूछा । तब भगवान् वृषभध्वजने यह बताया कि 'मेरी तपस्या भलीभाँति सम्पन्न हो गयी' ॥ २४ ॥

तत्संयोगेन वृद्धिं चाप्यपश्यत् स तु शंकरः ।
महामतिरचिन्त्यात्मा सत्यधर्मरतः सदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् परम बुद्धिमान्, अचिन्त्यस्वरूप और सदा सत्यधर्मपरायण महादेवजीने अपनी तपस्याके सम्पर्कसे उशनाकी तपस्यामें भी वृद्धि हुई देखी ॥ २५ ॥

स तेनाढ्यो महायोगी तपसा च धनेन च ।
व्यराजत महाराज त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ २६ ॥

महाराज ! महायोगी उशना उस तपस्यारूप धनसे सम्पन्न एवं शक्तिशाली हो तीनों लोकोंमें प्रकाशित होने लगे ॥

ततः पिनाकी योगात्मा ध्यानयोगं समाविशत् ।
उशना तु समुद्विग्नो निलिल्ये जठरे ततः ॥ २७ ॥

तदनन्तर पिनाकधारी योगी महादेवने ध्यान लगाया । उस समय उशना अत्यन्त उद्विग्न हो उनके उदरमें ही विलीन होने लगे ॥ २७ ॥

तुष्टाव च महायोगी देवं तत्रस्थ एव च ।
निःसारं काङ्क्षमाणः स तेन स्म प्रतिहन्यते ॥ २८ ॥

महायोगी उशनाने वहीं रहकर महादेवजीकी स्तुति की। वे निकलनेका मार्ग चाहते थे; परंतु महादेवजी उनकी गतिको प्रतिहत कर देते थे ॥ २८ ॥

उशना तु तथोवाच जठरस्थो महामुनिः ।
प्रसादं मे कुरुष्वेति पुनः पुनररिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुदमन नरेश ! तब उदरमें ही रहकर महामुनि उशनाने महादेवजीसे बारंबार प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझपर कृपा कीजिये' ॥ २९ ॥

तमुवाच महादेवो गच्छ शिश्नेन मोक्षणम् ।
इति सर्वाणि स्रोतांसि रुद्ध्वा त्रिदशपुङ्गवः ॥ ३० ॥

तब महादेवजीने उनसे कहा—'शिश्नके मार्गसे ही तुम्हारा उद्धार होगा, अतः उसीसे निकलो ।' ऐसा कहकर देवेश्वर शिवने अन्य सारे द्वार रोक दिये ॥ ३० ॥

अपश्यमानस्तद् द्वारं सर्वतः पिहितो मुनिः ।
पर्यक्रामद् दह्यमान इतश्चेतश्च तेजसा ॥ ३१ ॥

सब ओरसे घिरे हुए मुनिवर उशना उस शिश्नद्वारको देख नहीं पाते थे । अतः भगवान् शङ्करके तेजसे दग्ध होते हुए वे उदरमें ही इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ३१ ॥

स वै निष्क्रम्य शिश्नेन शुक्रत्वमभिपेदिवान् ।
कार्येण तेन नभसो नाध्यगच्छत मध्यतः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् वे शिश्नके द्वारसे निकलकर सहसा बाहर आ गये । उस द्वारसे निकलनेके कारण ही उनका नाम शुक्र (वीर्य) हो गया । यही कारण है जिससे वे आकाशके बीचसे होकर नहीं निकलते ॥ ३२ ॥

विनिष्क्रान्तं तु तं दृष्ट्वा ज्वलन्तमिव तेजसा ।
भवो रोषसमाविष्टः शूलोद्यतकरः स्थितः ॥ ३३ ॥

बाहर निकलनेपर शुक्र अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए भगवान् शिव पुनः रोषसे भर गये ॥ ३३ ॥

अवारयत तं देवी क्रुद्धं पशुपतिं पतिम् ।
पुत्रत्वमगमद् देव्या वारिते शंकरे च सः ॥ ३४ ॥

उस समय देवी पार्वतीने कुपित हुए अपने पतिदेव भगवान् पशुपतिको रोका । देवीके द्वारा भगवान् शङ्करके रोक दिये जानेपर शुक्राचार्य उनके पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

देव्युवाच

हिंसनीयस्त्वया नैव मम पुत्रत्वमागतः ।
न हि देवोदरात् कश्चिन्निःसृतो नाशमृच्छति ॥ ३५ ॥

देवी पार्वतीने कहा—प्रभो ! अब यह शुक्र मेरा पुत्र हो गया; अतः आपको इसका विनाश नहीं करना चाहिये । देव ! जो आपके उदरसे निकला हो, ऐसा कोई भी पुरुष विनाशको नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३५ ॥

ततः प्रीतो भवो देव्याः प्रहसंश्चेदमब्रवीत् ।

गच्छत्वेष यथाकाममिति राजन् पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

राजन्! यह सुनकर महादेवजी पार्वतीजीपर बहुत प्रसन्न हुए और हँसते हुए बारंबार कहने लगे—'अब यह जहाँ चाहे जा सकता है' ॥ ३६ ॥

ततः प्रणम्य वरदं देवं देवीमुमां तथा।
उशना प्राप तद्धीमान् गतिमिष्टां महामुनिः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महामुनि शुक्राचार्यने वरदायक देवता महादेवजी तथा उमादेवीको प्रणाम करके अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ ३७ ॥

एतत् ते कथितं तात भार्गवस्य महात्मनः।
चरितं भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तात युधिष्ठिर! तुमने जैसा मुझसे पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह महात्मा भृगुपुत्र शुक्राचार्यका चरित्र तुमसे कह सुनाया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भवभार्गवसमागमे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें महादेवजी और शुक्राचार्यका समागमविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका आरम्भ—पराशर मुनिका राजा जनकको कल्याणकी प्राप्तिके साधनका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहु पितामह! अब इसके बाद जो भी कल्याण-प्राप्तिका उपाय हो, वह मुझे बताइये। जैसे अमृत पीनेसे मन नहीं भरता, उसी तरह आपके वचन सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद् वद ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर! इसीलिये मैं पूछता हूँ कि पुरुष कौन-सा शुभ कर्म करे तो उसे इस लोक और परलोकमें भी परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊँगा। एक समय महायशस्वी राजा जनकने महात्मा पराशर मुनिसे पूछा—॥ ३ ॥

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिँल्लोके परत्र च।
यद् भवेत् प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥

'मुने! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो समस्त प्राणियोंके लिये इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी एवं जानने योग्य है? उसे आप मुझे बताइये' ॥ ४ ॥

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित्।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके विधानको जाननेवाले वे तपस्वी मुनि राजा जनकपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे इस प्रकार बोले ॥

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है, धर्मका ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका उत्तम साधन नहीं है ॥ ६ ॥

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! धर्मको जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। वेदोंमें जो 'सत्यं वद, धर्मं चर, यजेत, जुहुयात्' इत्यादि वाक्योंद्वारा मनुष्योंका कर्तव्य-विधान किया गया है, वही धर्मका लक्षण है ॥ ७ ॥

तस्मिन्नाश्रमिणः सन्तः स्वकर्माणीह कुर्वते ॥ ८ ॥

सभी आश्रमोंके लोग उस धर्ममें ही स्थित रहकर इस जगत्में अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ८ ॥

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

तात! इस लोकमें चार प्रकारकी जीविकाका विधान है

(ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कराकर दक्षिणा लेना, क्षत्रियके लिये कर लेना, वैश्यके लिये खेती आदि करना और शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना)। मनुष्य इन्हीं चार प्रकारकी जीविकाओंका आश्रय लेकर रहते हैं। वह जीविका दैवेच्छासे चलती है ॥ ९ ॥

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥ १० ॥

जो प्राणी नाना प्रकारके क्रमसे पुण्य और पापकर्मका सेवन करके पञ्चत्वको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् स्थूल शरीरका त्याग कर देते हैं उनको मिलनेवाली गति नाना प्रकारकी बतायी गयी है ॥ १० ॥

सौवर्णं राजतं चापि यथा भाण्डं निषिच्यते।
तथा निषिच्यते जन्तुः पूर्वकर्मवशानुगः ॥ ११ ॥

जैसे ताँबे आदिके बर्तनोंपर जब सोने और चाँदीकी कलई चढ़ा दी जाती है, तब वे वैसे ही दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्व कर्मोंके वशीभूत प्राणी पूर्वकृत कर्मसे लिप्त रहता है (पुण्यकर्मसे लिप्त होनेके कारण वह सुखी होता है और पापसे लिप्त होनेके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है) ॥ ११ ॥

नाबीजाज्जायते किंचिन्नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥ १२ ॥

जैसे बिना बीजके कोई अङ्कुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार पुण्यकर्म किये बिना कोई सुखी या समृद्धिशाली नहीं हो सकता; अतः मनुष्य देहत्यागके पश्चात् पुण्यकर्मोंके फलसे ही सुख पाता है ॥ १२ ॥

दैवं तात न पश्यामि नास्ति दैवस्य साधनम्।
स्वभावतो हि संसिद्धा देवगन्धर्वदानवाः ॥ १३ ॥

तात ! इस विषयमें नास्तिक कहते हैं 'मैं प्रारब्धको प्रत्यक्ष नहीं देख पाता तथा प्रारब्धके अस्तित्वका सूचक अनुमानप्रमाण भी नहीं है। किंतु देवता, गन्धर्व और दानव आदि योनियाँ तो स्वभावसे ही प्राप्त होती हैं' ॥ १३ ॥

प्रेत्य जातिकृतं कर्म न स्मरन्ति सदा जनाः।
ते वै तस्य फलप्राप्तौ कर्म चापि चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि मरकर गये हुए प्राणी पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंको सदैव याद नहीं रख सकते। किंतु जब किसी पूर्वकृत कर्मका फल प्राप्त होता है, तब वे ही लोग सदा (मन, वाणी, नेत्र और क्रियाद्वारा किये हुए) चार प्रकारके कर्मोंका स्मरण करते हैं—अर्थात् यह कहते हैं कि मैंने पूर्व जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया होगा जिसका फल इस रूपमें प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

लोकयात्राश्रयश्चैव शब्दो वेदाश्रयः कृतः।
शान्त्यर्थं मनसस्तात नैतद् वृद्धानुशासनम् ॥ १५ ॥

तात ! नास्तिक लोग जो यह कहते हैं कि लोकयात्राके निर्वाह और मनकी शान्तिके लिये वेदोक्त शब्दोंको प्रमाण माना गया है अर्थात् वेदोंमें जो कर्म करनेका विधान है, वह तो असमर्थ पुरुषोंके जीविकानिर्वाहके लिये है और जो पूर्वजन्मके किये हुए कर्मकी चर्चा आयी है, वह दुखी मनुष्योंके मनको धीरज बँधानेके लिये है, परंतु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि पतञ्जलि आदि ज्ञानवृद्ध पुरुषोंने ऐसा उपदेश नहीं किया है (पतञ्जलिने 'तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इस सूत्रके द्वारा जाति (जन्म), आयु और सुख-दुःखरूप भोगको पूर्वकृत कर्मका फल बताया है) ॥ १५ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और क्रियाके द्वारा चार प्रकारके कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है ॥ १६ ॥

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥

राजन् ! मनुष्य कर्मके फलरूपसे कभी केवल सुख, कभी सुख-दुःख दोनोंको एक साथ प्राप्त करता है। पुण्य या पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता ॥ १७ ॥

कदाचित् सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद् विमुच्यते ॥ १८ ॥
ततो दुःखक्षयं कृत्वा सुकृतं कर्म सेवते।
सुकृतक्षयाद् दुष्कृतं तद् विद्धि मनुजाधिप ॥ १९ ॥

तात ! संसार-सागरमें डूबते हुए मनुष्यका पुण्यकर्म कभी-कभी तबतक स्थिर-जैसा रहता है, जबतक कि दुःखसे उसका छुटकारा नहीं हो जाता है। तदनन्तर दुःखका भोग समाप्त कर लेनेपर जीव अपने पुण्य कर्मके फलका उपभोग आरम्भ करता है। जब पुण्यका भी क्षय हो जाता है, तब फिर वह पापका फल भोगता है। नरेश्वर ! इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १८-१९ ॥

दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥ २० ॥

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, संतोष, सत्यभाषण, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका अभाव तथा दक्षता—ये सब सुख देनेवाले हैं ॥ २० ॥

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत्।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २१ ॥

विद्वान् पुरुषको जीवनपर्यन्त पाप या पुण्यमें भी आसक्त न होकर अपने मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २१ ॥

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

जीव दूसरेके किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको नहीं भोगता; वह स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है ॥

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति ।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥ २३ ॥

विवेकी पुरुष सुख और दुःखको अपने भीतर विलीन करके अन्य मार्गसे अर्थात् मोक्षप्राप्तिके मार्गद्वारा चलता है । जो स्त्री, पुत्र और धन आदिमें आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्गपर चलते हैं; अतः जन्मते और मरते रहते हैं ॥ २३ ॥

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ २४ ॥

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे । जो दूसरेकी निन्दा तो करता है; किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है ॥ २४ ॥

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च ।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा २५
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतो-
र्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् ।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥ २६ ॥

राजन् ! डरपोक क्षत्रिय, (भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके) सब कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जनकी चेष्टासे रहित या अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणोंसे रहित विद्वान्, सदाचारका पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्यसे भ्रष्ट हुआ धार्मिक पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला मनुष्य, मूर्ख वक्ता, राजासे रहित राष्ट्र तथा अजितेन्द्रिय होकर प्रजाके प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोकके योग्य हैं अर्थात् निन्दनीय हैं ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—कर्मफलकी अनिवार्यता तथा पुण्यकर्मसे लाभ

पराशर उवाच

मनोरथरथं प्राप्य इन्द्रियाख्यहयं नरः ।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! इन्द्रियरूप घोड़ोंसे युक्त मनोमय (सूक्ष्म शरीर) एक रथ है । ज्ञानाकार वृत्तियाँ ही इस रथके घोड़ोंकी बागडोर हैं । इन उपकरणोंसे युक्त रथपर आरुढ़ होकर जो पुरुष यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है ॥ १ ॥

सेवाऽऽश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते ।
द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात् परस्परात् ॥ २ ॥

जो मनुष्य इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तिसे रहित (अन्तर्मुख) होकर ईश्वरकी शरणमें गये हुए मनके द्वारा उनकी उपासना करता है, उसकी वह उपासना श्रेष्ठ समझी जाती है । ऐसी उपासना किसी विद्वान् एवं भक्त ब्राह्मणके वरद हस्तसे ही उपलब्ध होती है । समान योग्यतावाले आपसके लोगोंसे उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते ।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥ ३ ॥

प्रजानाथ ! मनुष्य-शरीरकी आयु सुलभ नहीं है—वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये । मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्यकर्मके अनुष्ठानद्वारा आत्माके उत्थानके लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥ ३ ॥

वर्णेभ्यो हि परिभ्रष्टो न वै सम्मानमर्हति ।
न तु यः सत्क्रियां प्राप्य राजसं कर्म सेवते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दुष्कर्म करके वर्णसे भ्रष्ट हो जाता है, वह कदापि सम्मान पानेके योग्य नहीं है । इसके सिवा जो मनुष्य सत्त्वगुणके द्वारा सत्कार पाकर फिर राजस कर्मका सेवन करने लगता है, वह भी सम्मानके योग्य नहीं है ॥

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥ ५ ॥

पुण्य कर्मसे ही मनुष्य उत्तम वर्णमें जन्म पाता है। पापीके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। वह उसे न पाकर अपने पापकर्मके द्वारा अपना ही नाश करता है ॥ ५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत् ।
पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतम् ।
तस्मात् पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम् ॥ ६ ॥

अनजानमें जो पाप बन जाय, उसे तपस्याके द्वारा नष्ट कर दे; क्योंकि अपना किया हुआ पाप कर्म पापरूप दुःखके रूपमें ही फलता है। अतः दुःखमय फल देनेवाले पापकर्मका कदापि सेवन न करे ॥ ६ ॥

पापानुबन्धं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥ ७ ॥

पापसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कर्म है, उसका कितना ही बड़ा लौकिक सुखरूप फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका कदापि सेवन न करे। वह उससे उसी तरह दूर रहे, जैसे पवित्र मनुष्य चाण्डालसे ॥ ७ ॥

किं कष्टमनुपश्यामि फलं पापस्य कर्मणः ।
प्रत्यापन्नस्य हि ततो नात्मा तावद् विरोचते ॥ ८ ॥

क्या पापकर्मका कोई दुःखदायक फल मैं देखता हूँ ? अर्थात् नहीं देखता। ऐसा मानकर पापमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको परमात्माका चिन्तन अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥

प्रत्यापत्तिश्च यस्येह बालिशस्य न जायते ।
तस्यापि सुमहांस्तापः प्रस्थितस्योपजायते ॥ ९ ॥

इस संसारमें जिस मूर्खको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको परलोकमें जानेपर महान् संताप भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

विरक्तं शोध्यते वस्त्रं न तु कृष्णोपसंहितम् ।
प्रयत्नेन मनुष्येन्द्र पापमेवं निबोध मे ॥ १० ॥

नरेन्द्र ! बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे स्वच्छ हो जाता है; किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह प्रयत्न करनेसे भी सफेद नहीं होता; पापको भी ऐसा ही समझो। उसका रंग भी जल्दी नहीं उतरता है ॥ १० ॥

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥ ११ ॥

जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसके प्रायश्चित्तके उद्देश्यसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनोंका पृथक् पृथक् फल भोगता है ॥

अज्ञानात् तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति ।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १२ ॥
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति ।
इत्याहुर्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥

अनजानमें जो हिंसा हो जाती है, उसे अहिंसा-व्रतका पालन दूर कर देता है। ब्रह्मवादी ब्राह्मण शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ऐसा ही कहते हैं; किंतु स्वेच्छासे किये हुए हिंसामय पापकर्मको अहिंसाका व्रत भी दूर नहीं कर सकता। ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, वेदका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंका कथन है॥

अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम् ।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम् ॥ १४ ॥

परंतु मैं तो ऐसा देखता हूँ कि जो कर्म किया गया है, वह पुण्य हो या पापयुक्त, प्रकटरूपमें किया गया हो या छिपाकर (तथा जान-बूझकर किया गया हो या अनजानमें), वह अपना फल अवश्य देता ही है ॥ १४ ॥

यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् ।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥ १५ ॥
भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् ।
अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ कृतमुग्रेण कर्मणा ॥ १६ ॥

धर्मज्ञ राजा जनक ! जैसे मनसे सोच-विचारकर बुद्धिद्वारा निश्चय करके जो स्थूल या सूक्ष्म कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे यथायोग्य फल अवश्य देते हैं, उसी प्रकार हिंसा आदि उग्र कर्मके द्वारा अनजानमें किया हुआ भयंकर पाप यदि सदा बनता रहे तो उसका फल भी मिलता ही है; अन्तर इतना ही है कि जान-बूझकर किये हुए कर्मकी अपेक्षा उसका फल बहुत कम हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा ।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥ १७ ॥

देवताओं और मुनियोंद्वारा जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मोंको सुनकर भी उन देवता आदिकी निन्दा भी न करे ॥ १७ ॥

संचिन्त्य मनसा राजन् विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥ १८ ॥

राजन् ! जो मनुष्य मनसे खूब सोच-विचारकर, 'अमुक काम मुझसे हो सकेगा या नहीं' इसका निश्चय करके शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह अवश्य ही अपनी भलाई देखता है ॥

नवे कपाले सलिलं संन्यस्तं हीयते यथा ।
नवेतरे तथाभावं प्राप्नोति सुखभावितम् ॥ १९ ॥

जैसे नये बने हुए कच्चे घड़ेमें रक्खा हुआ जल नष्ट

हो जाता है, परंतु पके-पकाये घड़ेमें रखा हुआ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसी प्रकार परिपक्व विशुद्ध अन्तःकरणमें सम्पादित सुखदायक शुभकर्म निश्चल रहते हैं ॥ १९ ॥

सतोयेऽन्यत् तु यत् तोयं तस्मिन्नेव प्रसिच्यते ।
वृद्धे वृद्धिमवाप्नोति सलिले सलिलं यथा ॥ २० ॥
एवं कर्माणि यानीह बुद्धियुक्तानि पार्थिव ।
समानि चैव यानीह तानि पुण्यतमान्यपि ॥ २१ ॥

राजन् ! उसी जलयुक्त पक्के घड़ेमें यदि दूसरा जल डाला जाय तो पात्रमें रखा हुआ पहलेका जल और नया ढाला हुआ जल—दोनों मिलकर बढ़ जाते हैं और इस प्रकार वह घड़ा अधिक जलसे सम्पन्न हो जाता है, उसी तरह यहाँ विवेकपूर्वक किये हुए जो पुण्य कर्म संचित हैं, उन्हींके समान जो नये पुण्यकर्म किये जाते हैं, वे दोनों मिलकर अधिक पुण्यतम कर्म हो जाते हैं (और उनके द्वारा वह पुरुष महान् पुण्यात्मा हो जाता है) ॥ २०-२१ ॥

राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् ।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ।२२।

नरेश्वर ! राजाको चाहिये कि वह बढ़े हुए शत्रुओंको जीते । प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करे । नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करे तथा वैराग्य होनेपर मध्यम अवस्थामें अथवा अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर रहे ॥

दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ २३ ॥

राजन् ! प्रत्येक पुरुषको इन्द्रियसंयमी और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियोंको अपने ही समान समझना चाहिये । जो विद्या, तप और अवस्थामें अपनेसे बड़े हों अथवा गुरु कोटिके लोग हों, उन सबकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये । सत्यभाषण और अच्छे आचार-विचारसे ही सुख मिलता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९१॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—धर्मोपार्जित धनकी श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कारका महत्त्व, पाँच प्रकारके ऋणोंसे छूटनेकी विधि, भगवत्स्तवनकी महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनोंकी सेवासे महान् लाभ

पराशर उवाच

कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति ।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है ? यह प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने ही लिये करता है ॥ १ ॥

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् ।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥ २ ॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभावका और स्नेहका त्याग कर दे तो लोग उसको त्याग देते हैं; फिर दूसरे किसी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ॥ २ ॥

विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषको दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुषसे प्राप्त हुआ प्रतिग्रह—इन दोनोंका महत्त्व बराबर है तो भी इन दोनोंमेंसे ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह स्वीकार करनेकी अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है ॥ ३ ॥

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥ ४ ॥

जो धन न्यायसे प्राप्त किया गया हो और न्यायसे ही बढ़ाया गया हो, उसको यत्नपूर्वक धर्मके उद्देश्यसे बचाये रखना चाहिये । यही धर्मशास्त्रका निश्चय है ॥ ४ ॥

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत् ।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥ ५ ॥

धर्म चाहनेवाले पुरुषको क्रूरकर्मके द्वारा धनका उपार्जन नहीं करना चाहिये । अपनी शक्तिके अनुसार समस्त शुभ कर्म करे । धन बढ़ानेकी चिन्तामें न पड़े ॥ ५ ॥

अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा ।
शक्तितोऽतिथये दत्त्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

जो मौसमका विचार करके अपनी शक्तिके अनुसार प्यासे और भूखे अतिथिको ठंडा या गरम किया हुआ जल और अन्न पवित्रभावसे अर्पण करता है, वह उत्तम फल पाता है ॥

रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः ॥ ७ ॥

महात्मा राजा रन्तिदेवने फल-मूल और पत्तोंसे ऋषि-मुनियोंका पूजन किया था। इसीसे उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसकी सब लोग अभिलाषा रखते हैं ॥ ७ ॥

तैरेव फलपत्रैश्च स माठरमतोषयत्।
तस्माल्लेभे परं स्थानं शैब्योऽपि पृथिवीपतिः ॥ ८ ॥

पृथ्वीपालक महाराज शैब्यने भी उन फल और पत्रोंसे ही माठर मुनिको संतुष्ट किया था, जिससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ८ ॥

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥ ९ ॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है; अतः उसे उस ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करना चाहिये ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ १० ॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके, यज्ञ-कर्मद्वारा देवताओंके, श्राद्ध और दानसे पितरोंके तथा स्वागत-सत्कार, सेवा आदिसे अतिथियोंके ऋणसे छुटकारा होता है ॥ १० ॥

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वेद-वाणीके पठन, श्रवण एवं मननसे, यज्ञ-शेष अन्नके भोजनसे तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य अपने ऋणसे मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजनके पालन-पोषणका आरम्भसे ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋणसे भी मुक्ति हो जाती है ॥ ११ ॥

प्रयत्नेन च संसिद्धा धनैरपि विवर्जिताः।
सम्यग्घुत्वा हुतवहं मुनयः सिद्धिमागताः ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनियोंके पास धन नहीं था तो भी वे अपने प्रयत्नसे ही सिद्ध हो गये। उन्होंने विधिपूर्वक अग्निहोत्र करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १२ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्।
ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः ॥ १३ ॥

महाबाहो! ऋचीकके पुत्र यज्ञमें भाग लेनेवाले देवताओंकी वेद-मन्त्रोंद्वारा स्तुति करके विश्वामित्रके पुत्र हो गये ॥

गतः शुक्रत्वमुशना देवदेवप्रसादनात्।
देवीं स्तुत्वा तु गगने मोदते यशसा वृतः ॥ १४ ॥

महर्षि उशना देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करके उनके शुक्रत्वको प्राप्त हो उसी नामसे प्रसिद्ध हुए। साथ ही पार्वतीदेवीकी स्तुति करके वे यशस्वी मुनि आकाशमें ग्रहरूपसे स्थित हो आनन्द भोग रहे हैं ॥ १४ ॥

असितो देवलश्चैव तथा नारदपर्वतौ।
कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्ताण्ड्यस्तथाऽऽत्मवान् ॥
वसिष्ठो जमदग्निश्च विश्वामित्रोऽत्रिरेव च।
भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः ॥ १६ ॥
एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः।
लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादात् तस्य धीमतः ॥ १७ ॥

असित, देवल, नारद, पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निनन्दन परशुराम, मनको वशमें रखनेवाले ताण्ड्य, वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधार तथा श्रुतश्रवा—इन महर्षियोंने एकाग्रचित्त हो वेदकी ऋचाओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति करके उन्हीं बुद्धिमान् श्रीहरिकी कृपासे तपस्या करके सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ १५—१७ ॥

अनर्हाश्चार्हतां प्राप्ताः सन्तः स्तुत्वा तमेव ह।
न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ १८ ॥

जो पूजाके योग्य नहीं थे, वे भी भगवान् विष्णुकी स्तुति करके पूजनीय संत होकर उन्हींको प्राप्त हो गये। इस लोकमें निन्दनीय आचरण करके किसीको भी अपने अभ्युदयकी आशा नहीं रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

धर्मका पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥ २० ॥

राजेन्द्र! जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ है। प्रभो! सम्पूर्ण वेद दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य—इन तीन अग्नियोंमें ही स्थित हैं ॥ २० ॥

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥ २१ ॥

जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी लुप्त नहीं होता, वह ब्राह्मण (अग्निहोत्र न करनेपर भी) अग्निहोत्री ही है। सदाचारका ठीक-ठीक पालन होनेपर अग्निहोत्र न हो सके तो भी अच्छा है; किंतु सदाचारका त्याग करके केवल अग्नि-

होत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है ॥ २१ ॥

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! अग्नि, आत्मा, माता, जन्म देनेवाले पिता तथा गुरु–इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः॥२३॥

जो अभिमानका त्याग करके वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करता, विद्वान् एवं काम-भोगमें अनासक्त होकर सबको प्रेमभावसे देखता, मनमें चतुराई न रखकर धर्ममें संलग्न रहता और दूसरोंका दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोकमें श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९२ ॥

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—शूद्रके लिये सेवावृत्तिकी प्रधानता, सत्सङ्गकी महिमा और चारों वर्णोंके धर्मपालनका महत्त्व

पराशर उवाच

वृत्तिः सकाशाद् वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवासे जीवन-निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। शूद्रके लिये निर्दिष्ट सेवावृत्तिका यदि वे प्रेमपूर्वक पालन करें तो वह सदा उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है ॥ १ ॥

वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥ २ ॥

यदि शूद्रके पास बाप-दादोंका दिया हुआ जीविकाका कोई निश्चित साधन नहीं है तो वह दूसरी किसी वृत्तिका अनुसंधान न करे। तीनों वर्णोंकी सेवाको ही जीविकाके उपयोगमें लाये ॥ २ ॥

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥ ३ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमें रहना सदा ही श्रेष्ठ है; परंतु किसी भी दशामें कभी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ३ ॥

यथोदयगिरौ द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४ ॥

जैसे सूर्यका सामीप्य प्राप्त होनेसे उदयाचल पर्वतकी प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, उसी प्रकार साधु पुरुषोंके निकट रहनेसे नीच वर्णका मनुष्य भी सद्गुणोंसे सुशोभित होने लगता है ॥ ४ ॥

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥ ५ ॥

श्वेत वस्त्रको जैसे रंगमें रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥ ६ ॥

इसलिये तुम गुणोंमें ही अनुराग रक्खो, दोषोंमें कभी नहीं; क्योंकि यहाँ मनुष्योंका जीवन अनित्य और चञ्चल है॥

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥ ७ ॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःखमें रहकर भी सदा शुभ-कर्मका ही अनुष्ठान करता है, वही यहाँ शास्त्रोंको देखता और समझता है ॥ ७ ॥

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ ८ ॥

धर्मके विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टिसे बहुत लाभदायक हो तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसे इस जगत्में हितकर नहीं बताया जाता है ॥ ८ ॥

(धर्मेण सहितं यत् तु भवेदल्पफलोदयम्।
तत् कार्यमविशङ्केन कर्मात्यन्तं सुखावहम् ॥)
यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता।
स शब्दमात्रफलभाग् राजा भवति तस्करः ॥ ९ ॥

जो कार्य धर्मके अनुकूल हो, वह अल्प लाभदायक होनेपर भी निःशङ्क होकर कर लेने योग्य है; क्योंकि वह अन्तमें अत्यन्त सुख देनेवाला होता है। जो राजा दूसरोंकी हजारों गौएँ छीनकर दान करता है और प्रजाकी रक्षा नहीं करता, वह नाममात्रका ही दानी और राजा है। वास्तवमें तो वह चोर और डाकू है ॥ ९ ॥

स्वयम्भूरसृजच्चाग्रे धातारं लोकसत्कृतम्।
धातासृजत् पुत्रमेकं लोकानां धारणे रतम्॥ १० ॥

ईश्वरने सबसे पहले लोकपूजित ब्रह्माको उत्पन्न किया। ब्रह्माने एक पुत्र (पर्जन्य) को जन्म दिया, जो सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेमें तत्पर है ॥ १० ॥

तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत्।
रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः ॥ ११ ॥
अजिह्मैरशठक्रोधैर्हव्यकव्यप्रयोक्तृभिः ।
शूद्रैर्निर्मार्जनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति ॥ १२ ॥

उसीकी पूजा करके वैश्यको चाहिये कि खेती और पशु-पालन आदिके द्वारा उसे अत्यन्त समृद्धिशाली बनाये। राजाको उसकी रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे कुटिलता, शठता एवं क्रोधको त्यागकर हव्य-कव्यका प्रयोग करते हुए उस अन्न-धनका यज्ञ (लोकहितके कार्य) में सदुपयोग करें। शूद्रोंको यज्ञभूमि तथा त्रैवर्णिकोंके घरोंको झाड़-बुहारकर साफ रखना चाहिये। ऐसा करनेसे धर्मका नाश नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

अप्रणष्टे ततो धर्मे भवन्ति सुखिताः प्रजाः।
सुखेन तासां राजेन्द्र मोदन्ते दिवि देवताः ॥ १३ ॥

धर्मका नाश न होकर उसका पालन होता रहे तो सारी प्रजा सुखी होती है। राजेन्द्र ! प्रजाओंके सुखी होनेपर स्वर्गमें देवता भी प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः ॥ १४ ॥
यश्च शुश्रूषते शूद्रः सततं नियतेन्द्रियः ।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते ॥ १५ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करता है, वह उस धर्माचरणके कारण ही लोकमें पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्मपूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्मके अनुसार धनोपार्जनमें तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भावसे रहकर सर्वदा द्विजातियोंकी सेवा करता है, वे सभी अपने-अपने धर्माचरणके कारण लोकमें सम्मानित होते हैं। नरेन्द्र ! इसके विपरीत आचरण करनेसे सब लोग अपने धर्मसे गिर जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥

प्राणोंको कष्ट देकर भी यदि न्यायसे कमायी हुई थोड़ी-सी कौड़ियोंका भी दान किया जाय तो वे महान् फल देनेवाली होती हैं; फिर जो दूसरी वस्तुएँ हजारोंकी संख्यामें दी जाती हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ १६ ॥

सत्कृत्य हि द्विजातिभ्यो यो ददाति नराधिपः।
यादृशं तादृशं नित्यमश्नाति फलमूर्जितम् ॥ १७ ॥

जो राजा ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें जैसा दान देता है, वैसे ही उत्तम फलका वह सदा ही उपभोग करता है ॥

अभिगम्य च तत् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन तु यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः ॥ १८ ॥

स्वयं ही ब्राह्मणके पास जाकर उसे संतुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे प्रशंसनीय---उत्तम बताया गया है और याचना करनेपर जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष मध्यम श्रेणीका दान कहते हैं ॥ १८ ॥

अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संशयात् ॥ २० ॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियोंने अधम श्रेणीका दान कहा है। डूबता हुआ मनुष्य जिस तरह नाना प्रकारके उपायद्वारा समुद्रसे पार हो जाता है, वैसे ही तुमको भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस प्रकार संसारसमुद्रसे छुटकारा मिले ॥ १९-२० ॥

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण इन्द्रियसंयमसे, क्षत्रिय युद्धमें विजय पानेसे, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे और शूद्र सदा सेवाकार्यमें कुशलताका परिचय देनेसे शोभा पाता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—ब्राह्मण और शूद्रकी जीविका, निन्दनीय कर्मोंके त्यागकी आज्ञा, मनुष्योंमें आसुरभावकी उत्पत्ति और भगवान् शिवके द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्मके अनुसार कर्तव्यपालनका आदेश

पराशर उवाच

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः॥ १॥
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः।

पराशरजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके यहाँ प्रतिग्रहसे मिला हुआ, क्षत्रियके घर युद्धसे जीतकर लाया हुआ, वैश्यके पास न्यायपूर्वक (खेती आदिसे) कमाया हुआ और शूद्रके यहाँ सेवासे प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्मके कार्यमें उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देनेवाला होता है॥ १½॥

नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते॥ २॥
क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतते द्विजः।
शूद्रधर्मा यदा तु स्यात् तदा पतति वै द्विजः॥ ३॥

शूद्रको तीनों वर्णोंका नित्य सेवक बताया जाता है। यदि ब्राह्मण जीविकाके अभावमें क्षत्रिय अथवा वैश्यके धर्मसे जीवन-निर्वाह करे तो वह पतित नहीं होता है; किंतु जब वह शूद्रके धर्मको अपनाता है, तब तत्काल पतित हो जाता है॥

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते॥ ४॥

जब शूद्र सेवावृत्तिसे जीविका न चला सके, तब उसके लिये भी व्यापार, पशुपालन तथा शिल्पकला आदिसे जीवन-निर्वाह करनेकी आज्ञा है॥ ४॥

रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्।
मद्यमांसोपजीव्यं च विक्रयं लोहचर्मणोः॥ ५॥
अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम्।
कृतपूर्वं तु त्यजतो महान् धर्म इति श्रुतिः॥ ६॥

रंगमञ्चपर स्त्री आदिके वेषमें उतरकर नाचना या खेल दिखाना, बहुरूपियेका काम करना, मदिरा और मांस बेचकर जीविका चलाना तथा लोहे और चमड़ेकी बिक्री करना—ये सब काम (सबके लिये) लोकमें निन्दित माने गये हैं। जिसके घरमें पूर्वपरम्परासे ये काम न होते आये हों, उसे स्वयं इनका आरम्भ नहीं करना चाहिये। जिसके यहाँ पहलेसे इन्हें करनेकी प्रथा हो, वह भी छोड़ दे तो महान् धर्म होता है—ऐसा शास्त्रका निर्णय है॥ ५-६॥

संसिद्धः पुरुषो लोके यदाचरति पापकम्।
मदेनाभिप्लुतमनास्तच्च न ग्राह्यमुच्यते॥ ७॥

यदि कोई जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ पुरुष घमण्डमें आकर या मनमें लोभ भरा रहनेके कारण पापाचरण करने लगे तो उसका वह कार्य अनुकरण करने योग्य नहीं बताया गया है॥

श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।
दान्ता धर्मप्रधानाश्च न्यायधर्मानुवृत्तिकाः॥ ८॥

पुराणोंमें सुना जाता है कि पहले अधिकांश मनुष्य संयमी, धार्मिक तथा न्यायोचित आचारका ही अनुसरण करनेवाले थे। उस समय अपराधियोंको धिक्कारमात्रका ही दण्ड दिया जाता था॥ ८॥

धर्म एव सदा नृणामिह राजन् प्रशस्यते।
धर्मवृद्धा गुणानेव सेवन्ते हि नरा भुवि॥ ९॥

राजन्! इस जगत्‌में सदा मनुष्योंके धर्मकी ही प्रशंसा होती आयी है। धर्ममें बढ़े-चढ़े लोग इस भूतलपर केवल सद्गुणोंका ही सेवन करते हैं॥ ९॥

तं धर्ममसुरास्तात नामृष्यन्त जनाधिप।
विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः॥ १०॥

तात! जनेश्वर! परंतु उस धर्मको असुर नहीं सह सके। वे क्रमशः बढ़ते हुए प्रजाके शरीरमें समा गये॥१०॥

तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्मनाशनः।
दर्पात्मनां ततः पश्चात् क्रोधस्तासामजायत॥ ११॥

तब प्रजाओंमें धर्मको नष्ट करनेवाला दर्प प्रकट हुआ। फिर जब प्रजाओंके मनमें दर्प आ गया, तब क्रोधका भी प्रादुर्भाव हो गया॥ ११॥

ततः क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम्।
ह्रीश्चैवाप्यनशद् राजंस्ततो मोहो व्यजायत॥ १२॥

राजन्! तदनन्तर क्रोधसे आक्रान्त होनेपर मनुष्योंके लज्जायुक्त सदाचारका लोप हो गया। उनका संकोच भी जाता रहा। इसके बाद उनमें मोहकी उत्पत्ति हुई॥१२॥

ततो मोहपरीतास्ता नापश्यन्त यथा पुरा।
परस्परावमर्देन वर्धयन्त्यो यथासुखम्॥ १३॥

मोहसे घिर जानेपर उनमें पहले-जैसी विवेकपूर्ण दृष्टि नहीं रह गयी; अतः वे परस्पर एक दूसरेका विनाश करके अपने-अपने सुखको बढ़ानेकी चेष्टा करने लगे॥ १३॥

ताः प्राप्य तु स धिग्दण्डो न कारणमतोऽभवत्।

ततोऽभ्यगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणांश्चावमन्य ह ॥ १४ ॥

उन बिगड़े हुए लोगोंको पाकर धिक्कारका दण्ड उन्हें राहपर लानेमें सफल न हो सका। सभी मनुष्य देवता और ब्राह्मणोंका अपमान करके मनमाने तौरपर विषय-भोगोंका सेवन करने लगे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवा देववरं शिवम्।
अगच्छन् शरणं धीरं बहुरूपं गुणाधिकम् ॥ १५ ॥

ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर सम्पूर्ण देवता अनेक रूपधारी, अधिक गुणशाली, धीरजस्वभाव देवेश्वर भगवान् शिवकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तेन स्म ते गगनगाः सपुराः पातिताः क्षितौ।
त्रिधाप्येकेन बाणेन देवाप्यायिततेजसा ॥ १६ ॥

तब शिवजीने देवताओंके द्वारा बढ़ाये हुए तेजसे युक्त एक ही शक्तिशाली बाणके द्वारा तीन नगरोंसहित आकाशमें विचरनेवाले उन समस्त असुरोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १६ ॥

तेषामधिपतिस्त्वासीद् भीमो भीमपराक्रमः।
देवतानां भयकरः स हतः शूलपाणिना ॥ १७ ॥

उन असुरोंका स्वामी भयंकर आकारवाला तथा भीषण पराक्रमी था। देवताओंको वह सदा भयभीत किये रहता था; किंतु भगवान् शूलपाणिने उसे भी मार डाला ॥ १७ ॥

तस्मिन् हतेऽथ स्वं भावं प्रत्यपद्यन्त मानवाः।
प्रापद्यन्त च वेदान् वै शास्त्राणि च यथा पुरा ॥ १८ ॥

उस असुरके मारे जानेपर सब मनुष्य प्रकृतिस्थ हो गये तथा उन्हें पूर्ववत् वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया ॥ १८ ॥

ततोऽभिषिच्य राज्येन देवानां दिवि वासवम्।
सप्तर्षयश्चान्वयुञ्जन् नराणां दण्डधारणे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् सप्तर्षियोंने इन्द्रको स्वर्गमें देवताओंके राज्यपर अभिषिक्त किया और वे स्वयं मनुष्यके शासनकार्यमें लग गये ॥ १९ ॥

सप्तर्षीणामथोर्ध्वं च विपृथुर्नाम पार्थिवः।
राजानः क्षत्रियाश्चैव मण्डलेषु पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

सप्तर्षियोंके बाद विपृथुनामक राजा भूमण्डलका स्वामी हुआ तथा और भी बहुत-से क्षत्रिय भिन्न-भिन्न मण्डलोंके राजा हुए ॥ २० ॥

महाकुलेषु ये जाता वृद्धाः पूर्वतराश्च ये।
तेषामप्यासुरो भावो हृदयान्नापसर्पति ॥ २१ ॥

उस समय जो उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, अवस्था और गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे तथा जो उनसे भी पूर्ववर्ती पुरुष थे, उनके हृदयसे भी आसुरभाव पूर्णरूपसे नहीं निकला था ॥ २१ ॥

तस्मात् तेनैव भावेन सानुषङ्गेण पार्थिवाः।
आसुराण्येव कर्माणि न्यसेवन् भीमविक्रमाः ॥ २२ ॥

अतः उसी आनुषङ्गिक आसुरभावसे युक्त होकर कितने ही भयंकर पराक्रमी भूपाल असुरोचित कर्मोंका ही सेवन करने लगे ॥ २२ ॥

प्रत्यतिष्ठंश्च तेष्वेव तान्येव स्थापयन्त्यपि।
भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त मूर्ख हैं, वे आज भी उन्हीं आसुरभावोंमें स्थित हैं, उन्हींकी स्थापना करते हैं और उन्हींको सब प्रकारसे अपनाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
संसिद्धाधिगमं कुर्यात् कर्म हिंसात्मकं त्यजेत् ॥ २४ ॥

अतः राजन्! मैं शास्त्रके अनुसार खूब सोच-विचारकर कहता हूँ कि मनुष्यको उन्नत होनेका प्रयत्न तो करना चाहिये, किंतु हिंसात्मक कर्मका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह धर्म करनेके लिये न्यायको त्यागकर पापमिश्रित मार्गसे धनका संग्रह न करे; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया जाता है ॥ २५ ॥

स त्वमेवंविधो दान्तः क्षत्रियः प्रियबान्धवः।
प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय ॥ २६ ॥

नरेश्वर! तुम भी इसी प्रकार जितेन्द्रिय क्षत्रिय होकर बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम रखते हुए प्रजा, भृत्य और पुत्रोंका स्वधर्मके अनुसार पालन करो ॥ २६ ॥

इष्टानिष्टसमायोगो वैरं सौहार्दमेव च।
अथ जातिसहस्राणि बहूनि परिवर्तते ॥ २७ ॥

इष्ट और अनिष्टका संयोग, वैर और सौहार्द—इन सबका अनुभव करते-करते जीवके कई सहस्र जन्म बीत जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कथंचन।
निर्गुणोऽपि हि दुर्बुद्धिरात्मनः सोऽतिरज्यते ॥ २८ ॥

इसलिये तुम सद्गुणोंमें ही अनुराग रखो, दोषोंमें किसी प्रकार नहीं; क्योंकि गुणहीन और दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने गुणोंके अभिमानसे अत्यन्त संतुष्ट रहता है ॥ २८ ॥

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥ २९ ॥

महाराज! यहाँ मनुष्योंमें जैसे धर्म और अधर्म निवास करते हैं, उस प्रकार मनुष्येतर अन्य प्राणियोंमें नहीं ॥ २९ ॥

धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा ।
आत्मभूतः सदा लोके चरेद् भूतान्यहिंसया ॥ ३० ॥

धर्मशील विद्वान् मनुष्य सचेष्ट हो चाहे चेष्टारहित, उसे चाहिये कि सदैव जगत्‌में सबके प्रति आत्मभाव रखकर किसी भी प्राणीकी हिंसा न करते हुए समभावसे व्यवहार करे॥३०॥

यदा व्यपेतहृल्लेखं मनो भवति तस्य वै ।
नानृतं चैव भवति तदा कल्याणमृच्छति ॥ ३१ ॥

जब मनुष्यका मन कामना और कर्मसंस्कारोंसे रहित हो जाता है तथा वह मिथ्याचारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९४॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—विषयासक्त मनुष्यका पतन, तपोबलकी श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालनका आदेश

पराशर उवाच

एष धर्मविधिस्तात गृहस्थस्य प्रकीर्तितः ।
तपोविधिं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—तात ! यह मैंने गृहस्थके धर्मका विधान बताया है । अब मैं तपकी विधि बताऊँगा, उसे मेरे मुखसे सुनो ॥ १ ॥

प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते ।
सङ्गागतं नरश्रेष्ठ भावै राजसतामसैः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ ! गृहस्थ पुरुषको प्रायः राजस और तामस भावोंके संसर्गवश पदार्थ और व्यक्तियोंमें ममता हो जाती है ॥२॥

गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च ।
दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै ॥ ३ ॥

घरका आश्रय लेते ही मनुष्यका गौ, खेती-बारी, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र तथा भरण-पोषणके योग्य अन्यान्य कुटुम्बी-जनोंसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ॥ ३ ॥

एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः ।
रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर वह नित्य ही उन वस्तुओंको देखता है, किंतु इनकी अनित्यताकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती; इसलिये उसके मनमें इनके प्रति राग और द्वेष बढ़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम् ।
मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! राग और द्वेषके वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्यमें आसक्त हो जाता है, तब मोहकी कन्या रति उसके पास आ जाती है ॥ ५ ॥

कृतार्थं भोगिनं मत्वा सर्वो रतिपरायणः ।
लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो नानुपश्यति ॥ ६ ॥

तब रतिकी उपासनामें लगे हुए सभी लोग भोगीको ही कृतार्थ मानकर रतिके द्वारा जो विषय-सुख प्राप्त होता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं समझते हैं ॥ ६ ॥

ततो लोभाभिभूतात्मा संगाद् वर्धयते जनम् ।
पुष्ट्यर्थं चैव तस्येह जनस्यार्थं चिकीर्षति ॥ ७ ॥

तदनन्तर उनके मनपर लोभका अधिकार हो जाता है और वे आसक्तिवश अपने परिजनोंकी संख्या बढ़ाने लगते हैं । इसके बाद उन कुटुम्बी जनोंके पालन-पोषणके लिये मनुष्यके मनमें धन-संग्रहकी इच्छा होती है ॥ ७ ॥

स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः ।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि मनुष्य जानता है कि अमुक काम करना पाप है, तो भी वह धनके लिये उसका सेवन करता है । बाल-बच्चोंके स्नेहमें उसका मन डूबा रहता है और उनमेंसे जब कोई मर जाता है, तब उनके लिये वह बारंबार संतप्त होता है ॥ ८ ॥

ततो मानेन सम्पन्नो रक्षन्नात्मपराजयम् ।
करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति ॥ ९ ॥

धनसे जब लोकमें सम्मान बढ़ता है, तब वह मानसम्पन्न पुरुष सदा अपने अपमानसे बचनेके लिये प्रयत्न करता रहता है एवं 'मैं भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न होऊँ' यह उद्देश्य लेकर ही वह सारा कार्य करता है और इसी प्रयत्नमें एक दिन नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम् ।
अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥ १० ॥

वास्तवमें जो शुभ कर्मोंका अनुष्ठान तो करते हैं, परंतु उनसे सुख पानेकी इच्छाको त्याग देते हैं, उन समत्व-बुद्धिसे युक्त ब्रह्मवादी पुरुषोंको ही सनातन पदकी प्राप्ति होती है ॥

स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव ।
आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! संसारी जीवोंको तो जब उनके स्नेहके आधारभूत स्त्री-पुत्र आदिका नाश हो जाता, धन चला जाता और रोग तथा चिन्तासे कष्ट उठाना पड़ता है, तभी वैराग्य होता है ॥ ११ ॥

निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाच्छास्त्रदर्शनम् ।
शास्त्रार्थदर्शनाद् राजंस्तप एवानुपश्यति ॥ १२ ॥

राजन् ! वैराग्यसे मनुष्यको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा होती है । जिज्ञासासे शास्त्रोंके स्वाध्यायमें मन लगता है तथा शास्त्रों-के अर्थ और भावके ज्ञानसे वह तपको ही कल्याणका साधन समझता है ॥ १२ ॥

दुर्लभो हि मनुष्येन्द्र नरः प्रत्यवमर्शवान् ।
यो वै प्रियसुखे क्षीणे तपः कर्तुं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! संसारमें ऐसा विवेकी मनुष्य दुर्लभ है, जो स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनोंसे मिलनेवाले सुखके न रहनेपर तपमें प्रवृत्त होनेका ही निश्चय करता है ॥ १३ ॥

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥ १४ ॥

तात ! तपस्यामें सभीका अधिकार है । जितेन्द्रिय और मनोनिग्रहसम्पन्न हीन वर्णके लिये भी तपका विधान है; क्योंकि तप पुरुषको स्वर्गकी राहपर लानेवाला है ॥ १४ ॥

प्रजापतिः प्रजाः पूर्वमसृजत् तपसा विभुः ।
क्वचित् क्वचिद् व्रह्मपरो व्रतान्यास्थाय पार्थिव ॥ १५ ॥

भूपाल ! पूर्वकालमें शक्तिशाली प्रजापतिने तपमें स्थित होकर और कभी-कभी ब्रह्मपरायण व्रतमें स्थित होकर संसारकी रचना की थी ॥ १५ ॥

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥ १६ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः ।
संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥ १७ ॥

तात ! आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेव, साध्य, पितर, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध तथा अन्य जो स्वर्गवासी देवता हैं, वे सब-के-सब तपस्यासे ही सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १६-१७ ॥

ये चादौ ब्राह्मणाः सृष्टा ब्रह्मणा तपसा पुरा ।
ते भावयन्तः पृथिवीं विचरन्ति दिवं तथा ॥ १८ ॥

ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन मरीचि आदि ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था, वे तपके ही प्रभावसे पृथ्वी और आकाशको पवित्र करते हुए ही विचरते हैं ॥ १८ ॥

मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः ।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ १९ ॥

मर्त्यलोकमें भी जो राजे-महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलोंमें उत्पन्न देखे जाते हैं, वह सब उनकी तपस्याका ही फल है ॥ १९ ॥

कौशिकानि च वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च ।
वाहनासनपानानि तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २० ॥

रेशमी वस्त्र, सुन्दर आभूषण, वाहन, आसन और उत्तम खान-पान आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है ॥२०॥

मनोऽनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः सहस्रशः ।
वासः प्रासादपृष्ठे च तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २१ ॥

मनके अनुकूल चलनेवाली सहस्रों रूपवती युवतियाँ और महलोंका निवास आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है॥

शयनानि च मुख्यानि भोज्यानि विविधानि च ।
अभिप्रेतानि सर्वाणि भवन्ति शुभकर्मिणाम् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ शय्या, भाँति-भाँतिके उत्तम भोजन तथा सभी मनो-वाञ्छित पदार्थ पुण्यकर्म करनेवाले लोगोंको ही प्राप्त होते हैं॥

नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परंतप ।
उपभोगपरित्यागः फलान्यकृतकर्मणाम् ॥ २३ ॥

परंतप ! त्रिलोकीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तपस्यासे प्राप्त न हो सके; किंतु जिन्होंने काम्य अथवा निषिद्ध कर्म नहीं किये हैं, उनकी तपस्याका फल सुखभोगों-का परित्याग ही है ॥ २३ ॥

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्ध्या च नृपसत्तम ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, मन और बुद्धि-से शास्त्रका तत्त्व समझकर लोभका परित्याग कर दे ॥२४॥

असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥ २५ ॥

असंतोष दुःखका ही कारण है । लोभसे मन और इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, उससे मनुष्यकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यासके विद्या ॥ २५ ॥

नष्टप्रज्ञो यदा तु स्यात् तदा न्यायं न पश्यति ।
तस्मात् सुखक्षये प्राप्ते पुमानुग्रं तपश्चरेत् ॥ २६ ॥

जब मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब वह न्यायको नहीं देख पाता अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं

कर पाता है। इसलिये सुखका क्षय हो जानेपर प्रत्येक पुरुष-को घोर तपस्या करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते।
कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम् ॥ २७ ॥

जो अपनेको प्रिय जान पड़ता है, उसे सुख कहते हैं तथा जो मनके प्रतिकूल होता है, वह दुःख कहलाता है। तपस्या करनेसे सुख और न करनेसे दुःख होता है। इस प्रकार तप करने और न करनेका जैसा फल होता है, उसे तुम भलीभाँति समझ लो ॥ २७ ॥

नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते।
प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः ॥ २८ ॥

मनुष्य पापरहित तपस्या करके सदा अपना कल्याण ही देखते हैं। मनोवाञ्छित विषयोंका उपभोग करते हैं और संसारमें उनकी ख्याति होती है ॥ २८ ॥

अप्रियाण्यवमानांश्च दुःखं बहुविधात्मकम्।
फलार्थी तत्फलं त्यक्त्वा प्राप्नोति विषयात्मकम् ॥ २९ ॥

मनके अनुकूल फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सकाम कर्मका अनुष्ठान करके अप्रिय, अपमान और नाना प्रकारके दुःख पाता है, किंतु उस फलका परित्याग करके वह सम्पूर्ण विषयोंके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥

धर्मे तपसि दाने च विचिकित्सास्य जायते।
स कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

जिसे धर्म, तपस्या और दानमें संशय उत्पन्न हो जाता है, वह पापकर्म करके नरकमें पड़ता है ॥ ३० ॥

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, जो सदाचारसे कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्रका ज्ञाता है ॥ ३१ ॥

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशाम्पते ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ! बाणको धनुषसे छूटकर पृथ्वीपर गिरनेमें जितनी देर लगती है, उतना ही समय स्पर्शेन्द्रिय, रसना, नेत्र, नासिका और कानके विषयोंका सुख अनुभव करनेमें लगता है अर्थात् विषयोंका सुख क्षणिक है ॥ ३२ ॥

ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम् ॥ ३३ ॥

फिर वह सुख जब नष्ट हो जाता है, तब उसके लिये मनमें बड़ी वेदना होती है। इतनेपर भी अज्ञानी पुरुष (विषयोंमें ही लिप्त रहते हैं, वे) सर्वोत्तम मोक्ष-सुखकी प्रशंसा नहीं करते हैं अर्थात् उसे नहीं चाहते ॥ ३३ ॥

ततः फलार्थं सर्वस्य भवन्ति ज्यायसे गुणाः।
धर्मवृत्त्या च सततं कामार्थाभ्यां न हीयते ॥ ३४ ॥

अतः प्रत्येक विवेकी पुरुषके मनमें श्रेष्ठ मोक्षफलकी प्राप्ति करानेके लिये शम-दम आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है। निरन्तर धर्मका पालन करनेसे मनुष्य कभी धन और भोगोंसे वञ्चित नहीं रहता ॥ ३४ ॥

अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥ ३५ ॥

इसलिये गृहस्थ पुरुषको सदा बिना प्रयत्न अपने-आप प्राप्त हुए विषयोंका ही सेवन करना चाहिये और प्रयत्न करके तो अपने धर्मका ही पालन करना चाहिये। यही मेरा मत है ॥

मानिनां कुलजातानां नित्यं शास्त्रार्थचक्षुषाम्।
क्रियाधर्मविमुक्तानामशक्त्या संवृतात्मनाम् ॥ ३६ ॥
क्रियमाणं यदा कर्म नाशं गच्छति मानुषम्।
तेषां नान्यदृते लोके तपसः कर्म विद्यते ॥ ३७ ॥

जब उत्तम कुलमें उत्पन्न, सम्मानित तथा शास्त्रके अर्थको जाननेवाले पुरुषोंका और असमर्थताके कारण कर्म-धर्मसे रहित एवं आत्मतत्त्वसे अनभिज्ञ मनुष्योंका भी किया हुआ लौकिक कर्म नष्ट हो ही जाता है, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्‌में उनके लिये तपके सिवा दूसरा कोई सत्कर्म नहीं है ॥ ३६-३७ ॥

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मं विचरन् नृप ॥ ३८ ॥

नरेश्वर! गृहस्थको सर्वथा अपने कर्तव्यका निश्चय करके स्वधर्मका पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ३९ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्रमें जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थका ही सहारा लेते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता–वर्णविशेषकी उत्पत्तिका रहस्य, तपोबलसे उत्कृष्ट वर्णकी प्राप्ति, विभिन्न वर्णोंके विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्मकी श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्मका वर्णन

जनक उवाच

वर्णो विशेषवर्णानां महर्षे केन जायते।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तद् ब्रूहि वदतां वर॥ १॥

जनकने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! ब्राह्मण आदि विशेष-विशेष वर्णोंका जो वर्ण है, वह कैसे उत्पन्न होता है? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप इस विषयको बतायें॥१॥

यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः।
कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः॥ २॥

श्रुति कहती है कि जिससे यह संतान उत्पन्न होती है, तद्रूप ही समझी जाती है। अर्थात् संततिके रूपमें जन्मदाता पिता ही नूतन जन्म धारण करता है। ऐसी दशामें प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे ही सबका जन्म हुआ है, तब उनकी क्षत्रिय आदि विशेष संज्ञा कैसे हो गयी?॥२॥

पराशर उवाच

एवमेतन्महाराज येन जातः स एव सः।
तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः॥ ३॥

पराशरजीने कहा—महाराज! यह ठीक है कि जिससे जो जन्म लेता है, उसीका वह स्वरूप होता है तथापि तपस्याकी न्यूनताके कारण लोग निकृष्ट जातिको प्राप्त हो गये हैं॥ ३॥

सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते॥ ४॥

उत्तम क्षेत्र और उत्तम बीजसे जो जन्म होता है, वह पवित्र ही होता है। यदि क्षेत्र और बीजमेंसे एक भी निम्नकोटिका हो तो उससे निम्न संतानकी ही उत्पत्ति होती है॥

वक्त्राद् भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः॥ ५॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी जब मानव-जगत्‌की सृष्टि करने लगे, उस समय उनके मुख, भुजा, ऊरु और पैर—इन अङ्गोंसे मनुष्योंका प्रादुर्भाव हुआ था॥

मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः॥ ६॥

तात! जो मुखसे उत्पन्न हुए, वे ब्राह्मण कहलाये। दोनों भुजाओंसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंको क्षत्रिय माना गया। राजन्! जो ऊरुओं (जाँघों) से उत्पन्न हुए, वे धनवान् (वैश्य) कहे गये; जिनकी उत्पत्ति चरणोंसे हुई, वे सेवक या शूद्र कहलाये॥ ६॥

चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
अतोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः॥ ७॥

पुरुषप्रवर! इस प्रकार ब्रह्माजीके चार अङ्गोंसे चार वर्णोंकी ही उत्पत्ति हुई। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे मनुष्य हैं, वे इन्हीं चार वर्णोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण वर्णसंकर कहलाते हैं॥ ७॥

क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा।
श्वपाकाः पुल्कसाः स्तेना निषादाः सूतमागधाः॥ ८॥
अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप।
एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात्॥ ९॥

नरेश्वर! क्षत्रिय, अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य और चाण्डाल—ये ब्राह्मण आदि चार वर्णोंसे अनुलोम और विलोम वर्णकी स्त्रियोंके साथ परस्पर संयोग होनेसे उत्पन्न होते हैं॥ ८-९॥

जनक उवाच

ब्रह्मणैकेन जातानां नानात्वं गोत्रतः कथम्।
बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनिसत्तम॥ १०॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! जब सबको एकमात्र ब्रह्माजीने ही जन्म दिया है, तब मनुष्योंके भिन्न-भिन्न गोत्र कैसे हुए? इस जगत्‌में मनुष्योंके बहुत-से गोत्र सुने जाते हैं॥

यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिं मुनयो गताः।
शुद्धयोनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथा परे॥ ११॥

ऋषि-मुनि जहाँ-तहाँ जन्म ग्रहण करके अर्थात् जो शुद्ध योनिमें और दूसरे जो विपरीत योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे सब ब्राह्मणत्वको कैसे प्राप्त हुए?॥ ११॥

पराशर उवाच

राजन्नेतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मनां समुत्पत्तिस्तपसा भावितात्मनाम्॥ १२॥

पराशरजीने कहा—राजन्! तपस्यासे जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं, उन महात्मा पुरुषोंके द्वारा जिस संतानकी उत्पत्ति होती है, अथवा वे स्वेच्छासे जहाँ-कहीं भी जन्म ग्रहण करते हैं, वह क्षेत्रकी दृष्टिसे निकृष्ट होनेपर भी उसे उत्कृष्ट ही मानना चाहिये॥ १२॥

उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह।
स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः॥ १३॥

नरेश्वर! मुनियोंने जहाँ-तहाँ कितने ही पुत्र उत्पन्न

करके उन सबको अपने ही तपोबलसे ऋषि बना दिया ॥

पितामहश्च मे पूर्वमृष्यश्रृङ्गश्च काश्यपः।
वेदस्ताण्ड्यः कृपश्चैव कक्षीवान् कमठादयः ॥ १४ ॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वरः।
आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मत्स्य एव च ॥ १५ ॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात्।
प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि ॥ १६ ॥

विदेहराज ! मेरे पितामह वसिष्ठजी, काश्यप-गोत्रीय ऋष्यश्रृङ्ग, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमठ आदि, यवक्रीत, वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुपद तथा मत्स्य—ये सब तपस्याका आश्रय लेनेसे ही अपनी-अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुए थे। इन्द्रियसंयम और तपसे ही वे वेदोंके विद्वान् तथा समाजमें प्रतिष्ठित हुए थे ॥ १४–१६ ॥

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव।
अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥ १७ ॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव।
नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम् ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! पहले अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु—ये ही चार मूल गोत्र प्रकट हुए थे। अन्य गोत्र कर्मके अनुसार पीछे उत्पन्न हुए हैं। वे गोत्र और उनके नाम उन गोत्र-प्रवर्तक महर्षियोंकी तपस्यासे ही साधुसमाजमें सुविख्यात एवं सम्मानित हुए हैं ॥ १७-१८ ॥

जनक उवाच

विशेषधर्मान् वर्णानां प्रब्रूहि भगवन् मम।
ततः सामान्यधर्मांश्च सर्वत्र कुशलो ह्यसि ॥ १९ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! आप मुझे सब वर्णोंके विशेष धर्म बताइये, फिर सामान्य धर्मोंका भी वर्णन कीजिये; क्योंकि आप सब विषयोंका प्रतिपादन करनेमें कुशल हैं ॥ १९ ॥

पराशर उवाच

प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप।
विशेषधर्मो विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना ॥ २० ॥

पराशरजीने कहा—राजन् ! दान लेना, यज्ञ कराना तथा विद्या पढ़ाना—ये ब्राह्मणोंके विशेष धर्म हैं (जो उनकी जीविकाके साधन हैं)। प्रजाकी रक्षा करना क्षत्रियके लिये श्रेष्ठ धर्म है ॥ २० ॥

कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।
द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! कृषि, पशुपालन और व्यापार—ये वैश्योंके कर्म हैं तथा द्विजातियोंकी सेवा शूद्रका धर्म है ॥ २१ ॥

विशेषधर्मा नृपते वर्णानां परिकीर्तिताः।
धर्मान् साधारणांस्तात विस्तरेण शृणुष्व मे ॥ २२ ॥

महाराज ! ये वर्णोंके विशेष धर्म बताये गये हैं। तात ! अब उनके साधारण धर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुनो ॥

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥ २३ ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥ २४ ॥

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (सावधानी), देवता-पितर आदिको उनके भाग समर्पित करना अथवा दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। उपर्युक्त धर्मोंमें इन्हींका अधिकार है ॥

विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! ये तीन वर्ण विपरीत कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर पतित हो जाते हैं। सत्पुरुषोंका आश्रय ले अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मोंके आचरणसे पतन भी हो जाता है ॥ २६ ॥

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ॥ २७ ॥

यह निश्चय है कि शूद्र पतित नहीं होता तथा वह उपनयन आदि संस्कारका भी अधिकारी नहीं है। उसे वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मोंके अनुष्ठानका भी अधिकार नहीं प्राप्त है; परंतु उपर्युक्त सामान्य धर्मोंका उसके लिये निषेध भी नहीं किया गया है ॥ २७ ॥

वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ॥ २८ ॥

महाराज विदेहनरेश ! वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न द्विज शूद्रको प्रजापतिके तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या-द्वारा समस्त प्रजाका पालन करता है); परंतु नरेन्द्र ! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत्के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णुके रूपमें देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णुका ही है और वह अपने उस कर्मद्वारा पालनकर्ता श्रीहरिकी आराधना करके उन्हींको प्राप्त होता है) ॥ २८ ॥

सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः ॥ २९ ॥

हीनवर्णके मनुष्य (शूद्र) यदि अपना उद्धार करना

चाहें तो सदाचारका पालन करते हुए आत्माको उन्नत बनानेवाली समस्त क्रियाओंका अनुष्ठान करें; परंतु वैदिक मन्त्रका उच्चारण न करें। ऐसा करनेसे वे दोषके भागी नहीं होते हैं ॥ २९ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमालम्बन्तीतरे जनाः।
तथा तथा सुखं प्राप्य प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ३० ॥

इतर जातीय मनुष्य भी जैसे-जैसे सदाचारका आश्रय लेते हैं, वैसे-ही-वैसे सुख पाकर इहलोक और परलोकमें भी आनन्द भोगते हैं ॥ ३० ॥

जनक उवाच

किं कर्म दूषयत्येनमथो जातिर्महामुने।
संदेहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३१ ॥

जनकने पूछा—महामुने ! मनुष्यको उसके कर्म दूषित करते हैं या जाति ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है, आप इसका विवेचन कीजिये ॥ ३१ ॥

पराशर उवाच

असंशयं महाराज उभयं दोषकारकम्।
कर्म चैव हि जातिश्च विशेषं तु निशामय ॥ ३२ ॥

पराशरजीने कहा-- महाराज ! इसमें संदेह नहीं कि कर्म और जाति दोनों ही दोषकारक होते हैं; परंतु इसमें जो विशेष बात है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ३२ ॥

जात्या च कर्मणा चैव दुष्टं कर्म न सेवते।
जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ॥ ३३ ॥

जो जाति और कर्म-इन दोनोंसे श्रेष्ठ तथा पापकर्मका सेवन नहीं करता एवं जातिसे दूषित होकर भी जो पापकर्म नहीं करता है, वही पुरुष कहलाने योग्य है ॥ ३३ ॥

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम्।
कर्म तद् दूषयत्येनं तस्मात् कर्म न शोभनम् ॥ ३४ ॥

जातिसे श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो वह कर्म उसे कलङ्कित कर देता है; इसलिये किसी भी दृष्टि-से बुरा कर्म करना अच्छा नहीं है ॥ ३४ ॥

जनक उवाच

कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा ॥ ३५ ॥

जनकने पूछा--द्विजश्रेष्ठ ! इस लोकमें कौन-कौन-से ऐसे धर्मानुकूल कर्म हैं, जिनका अनुष्ठान करते समय कभी किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं होती ? ॥ ३५ ॥

पराशर उवाच

शृणु मेऽत्र महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा ॥ ३६ ॥

पराशरजीने कहा--महाराज ! तुम जिन कर्मोंके विषयमें पूछ रहे हो, उन्हें बताता हूँ, मुझसे सुनो। जो कर्म हिंसासे रहित हैं, वे सदा मनुष्यकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

संन्यस्याग्नीनुदासीनाः पश्यन्ति विगतज्वराः।
नैःश्रेयसं कर्मपथं समारुह्य यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥
प्रश्रिता विनयोपेता दमनित्याः सुसंशिताः।
प्रयान्ति स्थानमजरं सर्वकर्मविवर्जिताः ॥ ३८ ॥

जो लोग (संन्यासकी दीक्षा ले) अग्निहोत्रका त्याग करके उदासीनभावसे सब कुछ देखते रहते हैं और सब प्रकार-की चिन्ताओंसे रहित हो क्रमशः कल्याणकारी कर्मके पथपर आरूढ़ होकर नम्रता, विनय और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंको अपनाते तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करते हैं, वे सब कर्मोंसे रहित हो अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥

सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके
यान्ति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः ॥ ३९ ॥

राजन् ! सभी वर्णोंके लोग इस जीव-जगत्में अपने-अपने धर्मानुसार कर्मका भलीभाँति अनुष्ठान करके, सदा सत्य बोलकर तथा भयानक पापकर्मका सर्वथा परित्याग करके स्वर्गलोकमें जाते हैं। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—नाना प्रकारके धर्म और कर्तव्योंका उपदेश

पराशर उवाच

पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च
न निर्गुणानां हि भवन्ति लोके।
अनन्यभक्ताः प्रियवादिनश्च
हिताश्च वश्याश्च भवन्ति राजन् ॥ १ ॥

राजन् ! संसारमें पिता, सखा, गुरुजन और स्त्रियाँ—ये कोई भी उसके नहीं होते, जो सर्वथा गुणहीन हैं; किंतु जो प्रभुके अनन्य भक्त, प्रियवादी, हितैषी और इन्द्रियविजयी हैं, वे ही उसके होते हैं अर्थात् उसका त्याग नहीं करते ॥ १ ॥

पिता परं दैवतं मानवानां
मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति।

ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति
जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

पिता मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ देवता है। कोई-कोई पिताको मातासे भी बढ़कर बताते हैं। श्रेष्ठ पुरुष ज्ञानके लाभको ही परम लाभ कहते हैं। जिन्होंने श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयोंपर विजय पा ली है, वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे
नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते ।
प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्
निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियका पुत्र यदि समराङ्गणमें घायल होकर बाणोंकी चितापर दग्ध होता है तो वह देवदुर्लभ लोकोंमें जाता और वहाँ आनन्दपूर्वक स्वर्गीय-सुख भोगता है ॥ ३ ॥

श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं
पराङ्मुखं परिबर्हैश्च हीनम् ।
अनुद्यन्तं रोगिणं याचमानं
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन् ॥ ४ ॥

राजन्! जो युद्धमें थका हुआ हो, भयभीत हो, जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, जो रोता हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो, जिसके पास युद्धका कोई भी सामान न रह गया हो, जो युद्धविषयक उद्यम छोड़ चुका हो, रोगी हो और प्राणोंकी भीख माँगता हो तथा जो अवस्थामें बालक या वृद्ध हो, ऐसे शत्रुका वध नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

परिबर्हैः सुसंयुक्तमुद्यतं तुल्यतां गतम् ।
अतिक्रमेत् तं नृपतिः संग्रामे क्षत्रियात्मजम् ॥ ५ ॥

किंतु जिसके पास युद्धका सामान हो, जो युद्धके लिये तैयार हो और अपने बराबरका हो, संग्रामभूमिमें उस क्षत्रियकुमारको राजा अवश्य जीतनेका प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

तुल्यादिह वधः श्रेयान् विशिष्टाच्चेति निश्चयः ।
निहीनात् कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः ॥ ६ ॥

अपने समान या अपनी अपेक्षा बड़े वीरके हाथसे वध होना श्रेष्ठ है, ऐसा युद्ध-शास्त्रके ज्ञाताओंका निश्चय है। अपनेसे हीन, कातर तथा दीन पुरुषके हाथसे होनेवाली मृत्यु निन्दित है ॥ ६ ॥

पापात् पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप ।
पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः ॥ ७ ॥

नरेश्वर! पापी, पापाचारी और हीन मनुष्यके हाथसे जो वध होता है, वह पापरूप ही बताया गया है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है, यही शास्त्रका निश्चय है ॥ ७ ॥

न कश्चित् त्राति वै राजन् दिष्टान्तवशमागतम् ।
सावशेषायुषं चापि कश्चिन्नैवापकर्षति ॥ ८ ॥

राजन्! मृत्युके वशमें पड़े हुए प्राणीको कोई बचा नहीं सकता और जिसकी आयु शेष है, उसे कोई मार भी नहीं सकता ॥ ८ ॥

स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत् ।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत् परायुषा ॥ ९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिये करते हों तो वह उन सब कर्मोंको रोक दे। दूसरेकी आयुसे अपनी आयु बढ़ानेकी अर्थात् दूसरोंके प्राण लेकर अपने प्राण बचानेकी इच्छा न करे ॥ ९ ॥

गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकाङ्क्षताम् ।
निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम् ॥ १० ॥

तात! मरनेकी इच्छावाले समस्त गृहस्थोंके लिये तो वही मृत्यु सबसे उत्तम मानी गयी है, जो गङ्गादि पवित्र नदियोंके तटोंपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो ॥ १० ॥

आयुषि क्षयमापन्ने पञ्चत्वमुपगच्छति ।
तथा ह्यकारणाद् भवति कारणैरुपपादितम् ॥ ११ ॥

जब आयु समाप्त हो जाती है तभी देहधारी जीव पञ्चत्वको प्राप्त होता है। यह बिना कारणके भी हो जाता है और कभी विभिन्न कारणोंसे उपपादित होता है ॥ ११ ॥

तथा शरीरं भवति देहाद् येनोपपादितम् ।
अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद् गृहम् ॥ १२ ॥

जो लोग देहको पाकर हठपूर्वक उसका परित्याग कर देते हैं, उनको पूर्ववत् ही यातनामय शरीरकी प्राप्ति होती है। ऐसे लोग (मोक्षके साधनरूप मनुष्यशरीरको पाकर भी आत्महत्याके कारण उस लाभसे वञ्चित हो) एक घरसे दूसरे घरमें जानेवाले मनुष्यके समान एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

द्वितीयं कारणं तत्र नान्यत् किंचन विद्यते ।
तद् देहं देहिनां युक्तं पञ्चभूतेषु वर्तते ॥ १३ ॥

इनकी उस अवस्थाके प्राप्त होनेमें आत्महत्यारूप पापके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। उन प्राणियोंको उस शरीरका मिलना उचित ही है, जो कि पञ्चभूतमय है ॥ १३ ॥

शिरास्नाय्वस्थिसंघातं बीभत्सामेध्यसंकुलम् ।
भूतानामिन्द्रियाणां च गुणानां च समागमम् ॥ १४ ॥

यह शरीर नस, नाड़ी और हड्डियोंका समूह है। घृणित और अपवित्र मल-मूत्र आदिसे भरा हुआ है। पञ्चमहाभूतों, श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा गुणों (वासनामय विषयों) का समुदाय है ॥ १४ ॥

त्वगन्तं देहमित्याहुर्विद्वांसोऽध्यात्मचिन्तकाः ।
गुणैरपि परिक्षीणं शरीरं मर्त्यतां गतम् ॥ १५ ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस शरीरके अन्तमें अर्थात् बाह्यभागमें त्वचा (चमड़ा)

मात्र है। यह सौन्दर्य आदि गुणोंसे भी रहित है। इसकी मृत्यु अनिवार्य है ॥ १५ ॥

शरीरिणा परित्यक्तं निश्चेष्टं गतचेतनम्।
भूतैः प्रकृतिमापन्नैस्ततो भूमौ निमज्जति ॥ १६ ॥

जब जीवात्मा इस देहका परित्याग कर देता है, तब यह देह निश्चेष्ट और चेतनाशून्य हो जाती है। एवं इसके पाँच भूत अपनी-अपनी प्रकृतिके साथ मिल जाते हैं। फिर तो यह पृथ्वीमें निमग्न हो जाती है ॥ १६ ॥

भावितं कर्मयोगेन जायते तत्र तत्र ह।
इदं शरीरं वैदेह म्रियते यत्र यत्र ह।
तत्स्वभावोऽपरो दृष्टो विसर्गः कर्मणस्तथा ॥ १७ ॥

विदेहराज ! यह शरीर जिस किसी स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है; फिर प्रारब्धकर्मके योगसे भावित होकर जहाँ-कहीं भी जन्म ले लेता है। कर्मोंका फलस्वरूप यह स्वभावसिद्ध पुनर्जन्म देखा गया है ॥ १७ ॥

न जायते तु नृपते कंचित् कालमयं पुनः।
परिभ्रमति भूतात्मा द्यामिवाम्बुधरो महान् ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! जैसे विशाल मेघ आकाशमें सब ओर भ्रमण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध-कर्मके फलसे कुछ कालतक घूमता रहता है, जन्म नहीं लेता है ॥ १८ ॥

स पुनर्जायते राजन् प्राप्येहायतनं नृप।
मनसः परमो ह्यात्मा इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥ १९ ॥

राजन् ! वही यहाँ फिर कोई आधार पाकर पुनः जन्म लेता है। मनसे आत्मा श्रेष्ठ है और इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है ॥

विविधानां च भूतानां जङ्गमाः परमा नृप।
जङ्गमानामपि तथा द्विपदाः परमा मताः ॥ २० ॥

महाराज ! संसारके विविध प्राणियोंमें चलने-फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ माने गये हैं। इन जङ्गम प्राणियोंमें भी दो पैरवाले जीव (मनुष्य) श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ २० ॥

द्विपदानामपि तथा द्विजा वै परमाः स्मृताः।
द्विजानामपि राजेन्द्र प्रज्ञावन्तः परा मताः।
प्राज्ञानामात्मसम्बुद्धाः सम्बुद्धानाममानिनः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें भी द्विज श्रेष्ठ कहे गये हैं। राजेन्द्र ! द्विजोंमें बुद्धिमान् और बुद्धिमानोंमें भी आत्मज्ञानी श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उनमें भी जो अहङ्काररहित हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥ २१ ॥

जातमन्वेति मरणं नृणामिति विनिश्चयः।
अन्तवन्ति हि कर्माणि सेवन्ते गुणतः प्रजाः ॥ २२ ॥

जन्मके साथ ही मृत्यु मनुष्योंके पीछे लगी रहती है। यह विद्वानोंका निश्चय है। समस्त प्रजा सत्त्व आदि गुणोंसे प्रेरित होकर विनाशशील कर्मोंका आचरण करती है ॥ २२ ॥

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्।
नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत् ॥ २३ ॥

राजन् ! जो सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र और पवित्र मुहूर्तमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह पुण्यात्मा है ॥ २३ ॥

अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्।
मृत्युनाऽऽत्मकृतेनेह कर्म कृत्वाऽऽत्मशक्तिभिः ॥ २४ ॥

वह किसीको भी कष्ट न देकर प्रायश्चित्तके द्वारा अपने पापको नष्ट कर डालता है और अपनी शक्तिके अनुसार शुभकर्म करके स्वेच्छासे मृत्युको अङ्गीकार करता है ॥ २४ ॥

विषमुद्‌बन्धनं दाहो दस्युहस्तात् तथा वधः।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते ॥ २५ ॥

किंतु विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगानेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है, वह अधम श्रेणीका माना जाता है ॥ २५ ॥

न चैभिः पुण्यकर्माणो युज्यन्ते चाभिसंधिजैः।
एवंविधैश्च बहुभिरपरैः प्राकृतैरपि ॥ २६ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे-ऐसे दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप।
मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

राजन् ! पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकलते हैं। जिनके पुण्यकर्म मध्यम श्रेणीके हैं, उनके प्राण मध्यद्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं तथा जिन्होंने केवल पाप ही किया है, उनके प्राण नीचेके छिद्र (गुदा या शिश्नद्वार) से निकलते हैं ॥ २७ ॥

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ २८ ॥

राजन् ! पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। वह है अज्ञान, जिससे आवृत और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर और क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ २८ ॥

प्रबाधनार्थं श्रुतिधर्मयुक्तान्
वृद्धानुपास्य प्रभवेत यस्य।
प्रयत्नसाध्यो हि स राजपुत्र
प्रज्ञाशरेणोन्मथितः परैति ॥ २९ ॥

राजकुमार ! उस शत्रुको पराजित करनेमें वही समर्थ हो सकता है, जो वेदोक्त धर्मसम्पन्न वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करके प्रज्ञा (स्थिरबुद्धि) को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अज्ञानमय शत्रुको जीतना महान् प्रयत्नसाध्य कर्म है। वह प्रज्ञारूपी बाणकी चोट खाकर ही नष्ट होता है ॥ २९ ॥

अधीत्य वेदं तपसा ब्रह्मचारी
यज्ञाञ्शक्त्या संनिगृह्येह पञ्च।
वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्॥ ३०॥

द्विजको पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर तपस्यापूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपनी शक्तिके अनुसार इन्द्रियसंयमपूर्वक पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने पुत्रको घर-बारकी रक्षामें नियुक्त करके कल्याणमार्गमें स्थित हो केवल धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उसे वनको प्रस्थान करना चाहिये॥

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्॥ ३१॥

तात! उपभोगके साधनोंसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डालकी योनिमें भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियोंकी अपेक्षा सर्वथा उत्तम है॥ ३१॥

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ ३२॥

क्योंकि पृथ्वीनाथ! मनुष्यकी योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे आत्माका उद्धार किया जा सकता है॥ ३२॥

कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो।
कुर्वन्ति धर्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात्॥ ३३॥

'प्रभो! हम कौन ऐसा उपाय करें, जिससे हमें इस मनुष्य-योनिसे नीचे न गिरना पड़े' यह सोचकर और वैदिक प्रमाणोंपर विचार करके मनुष्य धर्मका अनुष्ठान करते हैं॥

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते॥ ३४॥

जो मानव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी दूसरोंसे द्वेष करता है और धर्मका अनादर करता है तथा मनसे कामनाओंमें आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभसे वञ्चित होता है॥ ३४॥

यस्तु प्रीतिपुरोगेन चक्षुषा तात पश्यति।
दीपोपमानि भूतानि यावदर्थान्न पश्यति॥ ३५॥

तात! जो समस्त प्राणियोंको दीपकके समान स्नेहसे संवर्धन करनेयोग्य मानता है और उन्हें स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है एवं जो समस्त विषयोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करता, वह परलोकमें सम्मानित होता है॥ ३५॥

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते॥ ३६॥

जो सब लोगोंको सान्त्वना प्रदान करता, भूखोंको भोजन देता और प्रिय वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःखमें सम रहकर (इहलोक और) परलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ३६॥

दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो
भूतप्लाव्यं तपसा वै शरीरम्।
सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु
ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ ३७॥

राजन्! सरस्वती नदी, नैमिषारण्यक्षेत्र, पुष्करक्षेत्र तथा और भी जो पृथ्वीके पावन तीर्थ हैं, उनमें जाकर दान देना, भोगोंका त्याग करना, शान्तभावसे रहना तथा तपस्या और तीर्थके जलसे तन-मनको पवित्र करना चाहिये॥ ३७॥

गृहेषु येषामसवः पतन्ति
तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्।
यानेन वै प्रापणं च श्मशाने
शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः॥ ३८॥

घरोंमें जिनके प्राण निकल रहे हों, उन्हें शीघ्र ही घरसे बाहर ले जाना उत्तम है। मृत्युके पश्चात् उन्हें विमानपर सुलाकर श्मशानमें पहुँचाना तथा पवित्रतापूर्वक शास्त्रोक्त-विधिसे उनका दाह-संस्कार करना आवश्यक कर्तव्य है॥ ३८॥

इष्टिः पुष्टिर्यजनं याजनं च
दानं पुण्यानां कर्मणां च प्रयोगः।
शक्त्या पित्र्यं यच्च किंचित् प्रशस्तं
सर्वाण्यात्मार्थे मानवोऽयं करोति॥ ३९॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार इष्टि-पुष्टि (शान्तिकर्म), यजन, याजन, दान, पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान तथा श्राद्ध आदि जो भी कुछ उत्तम कार्य करता है, वह सब अपने ही लिये करता है॥ ३९॥

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः॥ ४०॥

नरेश्वर! धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित वेद पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषके कल्याणके लिये ही कर्तव्यका विधान करते हैं॥ ४०॥

भीष्म उवाच

एतद् वै सर्वमाख्यातं मुनिना सुमहात्मना।
विदेहराजाय पुरा श्रेयसोऽर्थे नराधिप॥ ४१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीनकालमें महात्मा पराशर मुनिने विदेहराज जनकके कल्याणके लिये यह सब उपदेश दिया था॥ ४१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९७॥

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका उपसंहार—राजा जनकके विविध प्रश्नोंका उत्तर

भीष्म उवाच

पुनरेव तु पप्रच्छ जनको मिथिलाधिपः ।
पराशरं महात्मानं धर्मे परमनिश्चयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर मिथिलानरेश जनकने उन धर्मके विषयमें उत्तम निश्चय रखनेवाले महात्मा पराशर मुनिसे इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥

जनक उवाच

किं श्रेयः का गतिर्ब्रह्मन् किं कृतं न विनश्यति।
क्व गतो न निवर्तेत तन्मे ब्रूहि महामते ॥ २ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन् ! श्रेयका साधन क्या है ? उत्तम गति कौन-सी है ? कौन-सा कर्म नष्ट नहीं होता तथा कहाँ गया हुआ जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता है ? महामते ! मेरे इन प्रश्नोंका समाधान कीजिये ॥ २ ॥

पराशर उवाच

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः ।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—राजन् ! आसक्तिका अभाव ही श्रेयका मूल कारण है । ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है । स्वयं किया हुआ तप तथा सुपात्रको दिया हुआ दान—ये कभी नष्ट नहीं होते ॥ ३ ॥

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते ।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य जब अधर्ममय बन्धनका उच्छेद करके धर्ममें अनुरक्त हो जाता और सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते ॥ ५ ॥

जो एक हजार गौ तथा एक सौ घोड़े दान करता है तथा दूसरा जो सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, वह सदा गौ और अश्वदान करनेवालेसे बढ़ा-चढ़ा रहता है ॥ ५ ॥

वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान् ।
संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके बीचमें रहता हुआ भी (असङ्ग होनेके कारण) उनमें नहीं रहनेके बराबर ही है; किंतु जिसकी बुद्धि दूषित होती है, वह विषयोंके निकट न होनेपर भी सदा उन्हींमें रहता है ॥ ६ ॥

नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत् ।
अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत् ॥ ७ ॥

जैसे पानी कमलके पत्तेको लिपायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंको अधर्म लिप्त नहीं कर सकता; परंतु जैसे लाह काठमें चिपक जाती है, उसी प्रकार पाप अज्ञानी मनुष्यमें अधिक लिप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति ।
कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते ॥ ८ ॥

अधर्म फल प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करनेवाला है, अतः वह कर्ताका पीछा नहीं छोड़ता । समय आनेपर उस कर्ताको उस पापका फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ८ ॥

न भिद्यन्ते कृतात्मान आत्मप्रत्ययदर्शिनः ।
बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां हि प्रमत्तो यो न बुद्ध्यते ।
शुभाशुभे प्रसक्तात्मा प्राप्नोति सुमहद् भयम् ॥ ९ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानी पुरुष कर्मोंके शुभाशुभ फलोंसे कभी विचलित नहीं होते हैं । जो प्रमादवश ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंद्वारा होनेवाले पापोंपर विचार नहीं करता तथा शुभ एवं अशुभमें आसक्त रहता है, उसे महान् भयकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

वीतरागो जितक्रोधः सम्यग् भवति यः सदा ।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ॥ १० ॥

परंतु जो वीतराग होकर क्रोधको जीत लेता और नित्य सदाचारका पालन करता है, वह विषयोंमें वर्तमान रहकर भी पापकर्मसे सम्बन्ध नहीं जोड़ता है ॥ १० ॥

मर्यादायां धर्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति ।
पुष्टस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति संचयः ॥ ११ ॥

जैसे नदीमें बँधा हुआ मजबूत बाँध टूटता नहीं है और उसके कारण वहाँ जलका स्रोत बढ़ता रहता है, उसी प्रकार प्राचीन मर्यादापर बँधा हुआ धर्मरूपी बाँध नष्ट नहीं होता है तथा उससे आसक्तिरहित संचित तपकी वृद्धि होने लगती है ॥ ११ ॥

यथा भानुगतं तेजो मणिः शुद्धः समाधिना ।
आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जिस प्रकार शुद्ध सूर्यकान्तमणि सूर्यके तेजको ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार योगका साधक समाधिके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपको ग्रहण करता है ॥ १२ ॥

यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्
पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम्।
तथा नराणां भुवि भावितात्मनां
यथाऽऽश्रयं सत्त्वगुणः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

जैसे तिलका तेल भिन्न-भिन्न प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे वासित होकर अत्यन्त मनोरम गन्ध ग्रहण करता है, वैसे ही पृथ्वीपर शुद्धचित्त पुरुषोंका स्वभाव सत्पुरुषोंके सङ्गके अनुसार सत्त्वगुणसम्पन्न हो जाता है ॥ १३ ॥

जहाति दारांश्च जहाति सम्पदः
पदं च यानं विविधाश्च याः क्रियाः।
त्रिविष्टपे जातमतिर्यदा नर-
स्तदास्य बुद्धिर्विषयेषु भिद्यते॥ १४॥

जिस समय मनुष्य सर्वोत्तम पद पानेके लिये उत्सुक हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि विषयोंसे विलग हो जाती है तथा वह स्त्री, सम्पत्ति, पद, वाहन और नाना प्रकारकी जो क्रियाएँ हैं, उनका भी परित्याग कर देता है ॥ १४ ॥

प्रसक्तबुद्धिर्विषयेषु यो नरो
न बुध्यते ह्यात्महितं कथंचन।
स सर्वभावानुगतेन चेतसा
नृपामिषेणेव झषो विकृष्यते॥ १५॥

परंतु जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त हो जाती है, वह मनुष्य किसी तरह अपने हितकी बात नहीं समझता। राजन्! जैसे मछली काँटेमें गुँथे हुए मांसपर आकृष्ट होती है और दुःख पाती है, उसी तरह वह सब प्रकारकी वासनाओंसे वासित चित्तके द्वारा विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

संघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमपाश्रितः।
कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति॥ १६॥

जैसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं, उसी प्रकार यह मर्त्यलोक—स्त्री-पुत्र और पशु आदिका समुदाय आपसमें एक-दूसरेपर अवलम्बित है। यह संसार केलेके भीतरी भागके समान निस्सार है। जैसे नौका पानीमें डूब जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ कालके प्रवाहमें निमग्न हो जाता है ॥ १६ ॥

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते॥ १७॥

पुरुषके लिये धर्म करनेका कोई विशेष समय निश्चित नहीं है; क्योंकि मृत्यु किसीकी बाट नहीं जोहती। जब मनुष्य सदा मौतके मुखमें ही है, तब नित्य-निरन्तर धर्मका आचरण करते रहना ही उसके लिये शोभाकी बात है ॥ १७ ॥

यथान्धः स्वगृहे युक्तो ह्यभ्यासादेव गच्छति।
तथा युक्तेन मनसा प्राज्ञो गच्छति तां गतिम्॥ १८॥

जैसे अन्धा प्रतिदिनके अभ्याससे ही सावधानीके साथ बाहरसे अपने घरमें आ जाता है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य योगयुक्त चित्तके द्वारा उस परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम्।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत्।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च॥ १९॥

जन्ममें मृत्युकी स्थिति बतायी गयी है और मृत्युमें जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्मको नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसारमें आबद्ध होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता रहता है; किंतु ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ १९ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः॥ २०॥

कर्मोंका विस्तार क्लेशयुक्त होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्म-विस्तार परार्थ हैं अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये हैं; परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ २० ॥

यथा मृणालानुगतमाशु मुञ्चति कर्दमम्।
तथाऽऽत्मा पुरुषस्येह मनसा परिमुच्यते॥ २१॥

जैसे (पानीसे निकालते समय) कमलकी नालमें लगी हुई कीचड़ पानीसे तुरंत धुल जाती है, उसी प्रकार त्यागी पुरुषका आत्मा मनके द्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

मनः प्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम्॥ २२॥

मन आत्माको योगकी ओर ले जाता है। योगी इस मनको योगयुक्त (आत्मामें लीन) करता है। इस प्रकार जब वह योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब वह उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २२ ॥

परार्थे वर्तमानस्तु स्वं कार्यं योऽभिमन्यते।
इन्द्रियार्थेषु संयुक्तः स्वकार्यात् परिमुच्यते॥ २३॥

जो परके लिये अर्थात् इन बाह्य इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषयभोगोंमें प्रवृत्त होकर इसे अपना मुख्य कार्य समझता है, वह अपने वास्तविक कर्तव्यसे च्युत हो जाता है ॥ २३ ॥

अधस्तिर्यग्गतिं चैव स्वर्गे चैव परां गतिम्।
प्राप्नोति स्वकृतैरात्मा प्राज्ञस्येहेतरस्य च॥ २४॥

इहलोकमें बुद्धिमान् हो या मूढ़, उसका आत्मा अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार ही नरकको, पशु-पक्षी आदि योनियोंको, स्वर्गको और परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

मृण्मये भाजने पक्वे यथा वै न श्यति द्रवः।
तथा शरीरं तपसा तप्तं विषयमश्नुते॥ २५॥

जैसे पके हुए मिट्टीके बर्तनमें रक्खा हुआ जल आदि तरल पदार्थ न तो चूता है और न नष्ट ही होता है, उसी प्रकार तपस्यासे तपा हुआ सूक्ष्म शरीर ब्रह्मलोकतकके विषयोंका अनुभव करता है ॥ २५ ॥

विषयानश्नुते यस्तु न स भोक्ष्यत्यसंशयम् ।
यस्तु भोगांस्त्यजेदात्मा स वै भोक्तुं व्यवस्यति॥ २६ ॥

जो मनुष्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका उपभोग करता है, वह निश्चय ही ब्रह्मानन्दके अनुभवसे वञ्चित रह जायगा, परंतु जो विषयोंका परित्याग करता है, वह अवश्य ही ब्रह्मानन्दके अनुभवमें समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्ध्यते ॥ २७ ॥

जैसे जन्मका अंधा रास्तेको नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण एवं अज्ञानसे आवृत जीव मायारूप कुहासासे आच्छन्न होनेके कारण मोक्षमार्गको नहीं समझ पाता है ॥ २७ ॥

वणिग् यथा समुद्राद् वै यथार्थं लभते धनम् ।
तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः ॥ २८ ॥

जैसे वैश्य समुद्रमार्गसे व्यापार करने जाकर अपने मूलधनके अनुसार द्रव्य कमाकर लाता है, उसी प्रकार संसारसागरमें व्यापार करनेवाला जीव अपने कर्म एवं विज्ञानके अनुरूप गति पाता है ॥ २८ ॥

अहोरात्रमये लोके जरारूपेण संसरन् ।
मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥ २९ ॥

दिन और रात्रिमय संसारमें बुढ़ापाका रूप धारण करके घूमती हुई मृत्यु समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार खाती रहती है, जैसे सर्प हवा पीया करता है ॥ २९ ॥

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ ३० ॥

जीव जगत्में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है; पूर्वजन्ममें कुछ किये बिना यहाँ कोई भी किसी इष्ट या अनिष्ट फलको नहीं पाता है ॥ ३० ॥

शयानं यान्तमासीनं प्रवृत्तं विषयेषु च ।
शुभाशुभानि कर्माणि प्रपद्यन्ते नरं सदा ॥ ३१ ॥

मनुष्य सोता हो, बैठा हो, चलता हो या विषयभोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म सदा उसे प्राप्त होते रहते हैं ॥

न ह्यन्यत् तीरमासाद्य पुनस्तर्तुं व्यवस्यति ।
दुर्लभो दृश्यते ह्यस्य विनिपातो महार्णवे ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रके परलेपार पहुँचकर पुनः कोई उसमें तैरनेका विचार नहीं करता, उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हुए मनुष्यका फिर उसमें पड़ना अर्थात् वापस आना दुर्लभ दिखायी देता है ॥ ३२ ॥

यथा भावावसन्ना हि नौर्महाम्भसि तन्तुना ।
तथा मनोभियोगाद् वै शरीरं प्रचिकीर्षति ॥ ३३ ॥

जैसे गम्भीर जलमें पड़ी हुई नौका नाविकद्वारा रस्सीसे खींची जानेपर उसके मनोभावके अधीन होकर चलती है, उसी प्रकार यह जीव इस शरीररूपी नौकाको अपने मनके अभिप्रायानुसार चलाना चाहता है ॥ ३३ ॥

यथा समुद्रमभितः संश्रिताः सरितोऽपराः ।
तथाद्या प्रकृतिर्योगादभिसंश्रियते सदा ॥ ३४ ॥

जैसे बहुत-सी नदियाँ सब ओरसे आकर समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार योगसे वशमें किया हुआ मन सदाके लिये मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है ॥ ३४ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः ।
प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥ ३५ ॥

जिनका मन नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है, वे प्रकृतिमें स्थित हुए जीव जलमें ढह जानेवाले बालूके मकानकी भाँति महान् दुःखसे नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

शरीरगृहसंज्ञस्य शौचतीर्थस्य देहिनः ।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ ३६ ॥

शरीर ही जिसका घर है, जो बाहर-भीतरकी पवित्रताको ही तीर्थ मानता है तथा बुद्धिपूर्वक कल्याणके मार्गपर चलता है, उस देहधारी जीवको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ ३७ ॥

क्रियाओंका विस्तार क्लेशदायक होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्मविस्तार परार्थरूप अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये होते हैं, परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ ३७ ॥

संकल्पजो मित्रवर्गो ज्ञातयः कारणात्मकाः ।
भार्या पुत्रश्च दासश्च स्वमर्थमनुयुज्यते ॥ ३८ ॥

कोई-न-कोई संकल्प (मनोरथ) लेकर ही लोग मित्र बनते हैं, कुटुम्बी जन भी किसी हेतुसे ही नाता रखते हैं, पत्नी, पुत्र और सेवक सभी अपने-अपने स्वार्थका ही अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते ।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

माता और पिता भी परलोक-साधनमें किसीकी कुछ सहायता नहीं कर सकते। परलोकके पथमें तो अपना किया हुआ दान अर्थात् त्याग ही राहखर्चेका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है ॥ ३९ ॥

माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा ।
अष्टापदपदस्थाने लक्षमुद्रेव लक्ष्यते ॥ ४० ॥

माता, पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या और मित्रगण—ये सब सुवर्णके सिक्कोंके स्थानपर रखी हुई लाखकी मुद्राके समान देखे जाते हैं ॥ ४० ॥

सर्वाणि कर्माणि पुरा कृतानि
शुभाशुभान्यात्मनो यान्ति जन्तोः ।

उपस्थितं कर्मफलं विदित्वा
बुद्धिं तथा चोदयतेऽन्तरात्मा ॥ ४१ ॥

पूर्वजन्मके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार प्राप्त हुई परिस्थितिको अपने कर्मोंका फल जानकर जिसका मन अन्तर्मुख हो गया है, वह अपनी बुद्धिको वैसी शुभ प्रेरणा देता है जिससे भविष्यमें दुःख न भोगना पड़े ॥ ४१ ॥

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥ ४२ ॥

जो दृढ निश्चय एवं पूर्ण उद्योगका सहारा ले तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता ॥ ४२ ॥

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥ ४३ ॥

जिसके मनमें दुविधा नहीं होती, जो उद्योगी, शूरवीर, धीर और विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी तरह कभी नहीं छोड़ती, जैसे किरणें सूर्यको ॥ ४३ ॥

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद् विस्मयाद् धिया।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिषीदति ॥ ४४ ॥

जिसका हृदय उदार एवं प्रशस्त है, जो आस्तिक भाव, निश्चय एवं आवश्यक उपायसे गर्वहीनताके साथ उत्तम बुद्धिपूर्वक कार्य आरम्भ करता है, उसका वह कार्य कभी असफल नहीं होता है ॥ ४४ ॥

सर्वैः स्वानि शुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं
गर्भात् सम्प्रतिपद्यते तदुभयं यत् तेन पूर्वं कृतम्।
मृत्युश्चापरिहारवान् समगतिः कालेन विच्छेदिना
दारोश्चूर्णमिवाश्मसारविहितं कर्मान्तिकं प्रापयेत्॥४५॥

सभी जीव, पूर्वजन्ममें उन्होंने जो कुछ किया है, उन अपने शुभाशुभ कर्मोंके नियत फलोंको गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे ही क्रमशः पाने और भोगने लगते हैं। जैसे वायु आरेसे चीरकर बनाये गये लकड़ीके चूरेको उड़ा देती है, उसी प्रकार कभी टाली न जा सकनेवाली मृत्यु विनाशकारी कालकी सहायतासे मनुष्यका अन्त कर देती है ॥ ४५ ॥

स्वरूपतामात्मकृतं च विस्तरं
कुलान्वयं द्रव्यसमृद्धिसंचयम्।
नरो हि सर्वो लभते यथाकृतं
शुभाशुभेनात्मकृतेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

सब मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही सुन्दर या असुन्दर रूप, अपनेसे होनेवाले योग्य-अयोग्य पुत्र-पौत्र आदिका विस्तार, उत्तम या अधम कुलमें जन्म तथा द्रव्य-समृद्धिका संचय आदि पाते हैं ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमवाप ह ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनिके मुखसे इस यथार्थ उपदेशको सुनकर धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा जनक बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायामष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९८॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्माका साध्यगणोंको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें बहुत-से विद्वान् सत्य, इन्द्रिय-संयम, क्षमा और प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) की प्रशंसा करते हैं। इस विषयमें आपका कैसा मत है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें साध्यगणोंका हंसके साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २ ॥

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥

एक समय नित्य अजन्मा प्रजापति सुवर्णमय हंसका रूप धारण करके तीनों लोकोंमें विचर रहे थे। घूमते-घामते वे साध्यगणोंके पास जा पहुँचे ॥ ३ ॥

साध्या ऊचुः

शकुने वयं स्म देवा वै साध्यास्त्वामनुयुङ्क्ष्महे।
पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित् ॥ ४ ॥

उस समय साध्योंने कहा—हंस! हमलोग साध्य देवता हैं और आपसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करना चाहते हैं; क्योंकि आप मोक्ष-तत्त्वके ज्ञाता हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन्॥ ५ ॥

महात्मन्! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीर वक्ता हैं। पतत्रिन्! आपकी उत्तम वाणीका सर्वत्र प्रचार है। पक्षिप्रवर! आपके मतमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है?॥ ५ ॥

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम्।
यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धै-
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम्॥ ६ ॥

पक्षिराज! खगश्रेष्ठ! समस्त कार्योंमेंसे जिस एक कार्यको आप सबसे उत्तम समझते हों तथा जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसीका हमें उपदेश कीजिये॥ ६ ॥

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत॥ ७ ॥

हंसने कहा—अमृतभोजी देवताओ! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सबसे उत्तम हैं। हृदयकी सारी गाँठें खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने वशमें करे अर्थात् उनके लिये हर्ष एवं विषाद न करे॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद्रुषतीं पापलोक्याम्॥ ८ ॥

किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये। दूसरोंसे निष्ठुर वचन न बोले। किसी नीच मनुष्यसे अध्यात्मशास्त्रका उपदेश न ग्रहण करे तथा जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी मुँहसे न निकाले॥ ८ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राज्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥ ९ ॥

वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, इसलिये विद्वान् पुरुषको किसी दूसरे मनुष्यपर वाग्बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ ९ ॥

परश्चेदेनमतिवादबाणै-
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥ १० ॥

दूसरा कोई भी यदि इस विद्वान् पुरुषको कटुवचनरूपी बाणोंसे बहुत अधिक चोट पहुँचाये तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिये। जो दूसरोंके क्रोध करनेपर भी स्वयं बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्यको ग्रहण कर लेता है॥ १० ॥

क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम्।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम्॥ ११ ॥

जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेके कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोधको रोक लेता है, चित्तमें कोई विकार या दोष नहीं आने देता, प्रसन्न रहता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, वह पुरुष अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगोंके पुण्य ले लेता है॥ ११ ॥

आक्रुश्यमानो न वदामि किंचित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम्॥ १२ ॥

मुझे कोई गाली दे तो भी बदलेमें कुछ नहीं कहता हूँ। कोई मार दे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ; क्योंकि श्रेष्ठ जन क्षमा, सत्य, सरलता और दयाको ही उत्तम बताते हैं॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ १३ ॥

वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है॥ १३ ॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥ १४ ॥

जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग तथा पेट और जननेन्द्रियका वेग—इन सब प्रचण्ड वेगोंको सह लेता है, उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ॥ १४ ॥

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।

अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥ १५॥

क्रोधी मनुष्योंसे क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशीलसे सहनशील पुरुष बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य ही बढ़कर है तथा अज्ञानीसे ज्ञानवान् ही श्रेष्ठ है॥१५॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ १६ ॥

जो दूसरेके द्वारा गाली दी जानेपर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवालेको भस्म कर देता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ १६ ॥

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ १७॥

जो दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़वी बात कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ १७ ॥

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥ १८ ॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्थामें अपनेसे बड़ा हो या बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे
न मे विधित्सोत्सहते न रोषः।
न वाप्यहं लिप्समानः परैमि
न चैव किंचिद् विषयेण यामि ॥ १९ ॥

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ (मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है) तो भी मैं श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना (सत्सङ्ग) करता रहता हूँ। मुझपर न तृष्णाका वश चलता है न रोषका। मैं कुछ पानेके लोभसे धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता और न विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही कहीं आता-जाता हूँ ॥ १९ ॥

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥ २० ॥

कोई मुझे शाप दे दे तो भी मैं बदलेमें उसे शाप नहीं देता। इन्द्रियसंयमको ही मोक्षका द्वार मानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है ॥ २० ॥

निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य इव चन्द्रमाः।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण सिद्ध्यति ॥ २१ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा बादलोंके ओटसे निकलनेपर अपनी प्रभासे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त हुआ निर्मल अन्तःकरणवाला धीर पुरुष धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता हुआ सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय
उत्सेधनस्तम्भ इवाभिजातः।
यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति
स वै देवान् गच्छति संयतात्मा ॥ २२ ॥

जो अपने मनको वशमें रखनेवाला विद्वान् पुरुष ऊँचे उठानेवाले खम्भेकी भाँति उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ सबके लिये आदरके योग्य हो जाता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नतापूर्वक मधुर वचन बोलते हैं, वह मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

न तथा वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान् पुरुषे गुणान्।
यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः ॥ २३ ॥

किसीसे ईर्ष्या रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वर्णन करना चाहते हैं, उस प्रकार उसके कल्याणमय गुणोंका बखान करना नहीं चाहते हैं ॥ २३ ॥

यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकारसे परमात्मामें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा लेता है ॥ २४ ॥

आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद् बुधः।
तस्मान्न वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत् ॥ २५ ॥

अतः समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह कटुवचन कहने या अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके उक्त दोष बताकर समझानेका प्रयत्न न करे। उसके सामने दूसरेको बढ़ावा न दे तथा उसपर आक्षेप करके उसके द्वारा अपनी हिंसा न कराये ॥ २५ ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥ २६ ॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति संतुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है, किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ॥ २६ ॥

यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य ॥ २७ ॥

क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवालेका वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है ॥ २७ ॥

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥ २८ ॥

देवेश्वरो ! जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ॥ २८ ॥

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः ॥ २९ ॥

जो सत्य, इन्द्रिय-संयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमाका अधिक सेवन करता है, सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित् ॥ ३० ॥

जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको उपर्युक्त सभी सद्‌गुणोंका सेवन करना चाहिये । मैंने अबतक सत्यसे बढ़कर परम पावन वस्तु कहीं किसीको नहीं समझा है ॥ ३० ॥

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३१ ॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोकमें पहुँचनेकी सीढ़ी है ॥ ३१ ॥

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ ३२ ॥

पुरुष जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है ॥ ३२ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ ३३ ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ ३३ ॥

सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते
न मानुषं विषयं यान्ति द्रष्टुम् ।
नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायु-
रुच्चावचं विषयं यः स वेद ॥ ३४ ॥

देवतालोग सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग—उन्हींके साथ वार्तालाप करते हैं; इसीलिये वे मनुष्योंके क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर देखने भी नहीं जाते । जो विभिन्न विषयोंके नश्वर स्वभावको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं न वायु ॥ ३४ ॥

अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तरपूरुषे ।
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ॥ ३५ ॥

हृदयगुफामें रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा जब दोषभावसे रहित हो जाता है, उस अवस्थामें उसका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सन्मार्गगामी समझा जाता है । उसकी इस स्थितिसे ही देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् ।
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद् देवाः सम्परिवर्जयन्ति ॥ ३६ ॥

किंतु जो सदा पेट पालने और उपस्थ-इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने एवं सदा कठोर वचन बोलनेवाले हैं, वे यदि प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उक्त कर्मोंके दोषसे छूट जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ३६ ॥

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ॥ ३७ ॥

सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य देवताओंको संतुष्ट नहीं कर सकते । जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्मपरायण हैं, उन्हींके साथ देवता स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं ॥ ३७ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ ३८ ॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ ३८ ॥

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३९ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! इस जगत्को किसने आवृत कर रक्खा है ? किस कारणसे उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है ? मनुष्य किस हेतुसे मित्रोंका त्याग करता है ? और किस दोषसे वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ? ॥ ३९ ॥

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ॥ ४० ॥

हंसने कहा—देवताओ ! अज्ञानने इस लोकको आवृत कर रक्खा है । आपसमें डाह होनेके कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभसे मित्रोंका त्याग करता है और आसक्तिदोषके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ॥ ४० ॥

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ॥ ४१ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंमें कौन एकमात्र सुखका अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है, जो बहुतोंके साथ रहकर भी चुप रहता है ? वह कौन एक मनुष्य है, जो दुर्बल होनेपर भी बलवान् है तथा इनमें कौन ऐसा है, जो किसीके साथ कलह नहीं करता ? ॥ ४१ ॥

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥

हंसने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानी है, एकमात्र वही परम सुखका अनुभव करता है । ज्ञानी ही बहुतोंके साथ रहकर भी मौन रहता है । एकमात्र ज्ञानी दुर्बल होनेपर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसीके साथ कलह नहीं करता है ॥ ४२ ॥

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंका देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बतायी जाती है ? उनके भीतर असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गयी है ? ॥ ४३ ॥

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ॥ ४४ ॥

हंसने कहा—साध्यगण ! वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंका देवत्व है । उत्तम व्रतोंका पालन करना ही उनमें साधुता बतायी जाती है । दूसरोंकी निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्युको प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता बतायी गयी है ॥ ४४ ॥

भीष्म उवाच

(इत्युक्त्वा परमो देवो भगवान् नित्य अव्ययः ।
साध्यैर्देवगणैः सार्धं दिवमेवारुरोह सः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नित्य अविनाशी परमदेव भगवान् ब्रह्मा साध्य देवताओंके साथ ही ऊपर स्वर्गलोककी ओर चल दिये ॥

एतद् यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्गाय च ध्रुवम् ।
दर्शितं देवदेवेन परमेणाव्ययेन च ॥)

सर्वश्रेष्ठ अविनाशी देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा प्रकाशमें लाया हुआ यह पुण्यमय तत्त्वज्ञान यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है तथा यह स्वर्गलोककी प्राप्तिका निश्चित साधन है ॥

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्योंके साथ जो हंसका संवाद हुआ था, उसका मैंने तुमसे वर्णन किया । यह शरीर ही कर्मोंकी योनि है और सद्भावको ही सत्य कहते हैं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतासमाप्तौ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हंसगीताकी समाप्ति विषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

त्रिशततमोऽध्यायः

सांख्य और योगका अन्तर बतलाते हुए योगमार्गके स्वरूप, साधन, फल और प्रभावका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सांख्ये योगे च मे तात विशेषं वक्तुमर्हसि ।
तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! धर्मज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! सांख्य और योगमें क्या अन्तर है ? यह बतानेकी कृपा करें; क्योंकि आपको सब बातोंका ज्ञान है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सांख्यके विद्वान् सांख्यकी और योगके ज्ञाता द्विज योगकी प्रशंसा करते हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्षकी उत्कृष्टता सूचित करनेके लिये उत्तमोत्तम युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन।
वदन्ति कारणैः श्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ्मनीषिणः॥ ३ ॥

शत्रुसूदन ! योगके मनीषी विद्वान् अपने मतकी श्रेष्ठता बताते हुए यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किये बिना किसीकी भी मुक्ति कैसे हो सकती है ? (अतः मोक्षदाता ईश्वरकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये) ॥ ३ ॥

वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग् द्विजातयः।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वं स देहात् सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा।
एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्ये वै मोक्षदर्शनम् ॥ ५ ॥

सांख्यमतके माननेवाले महाज्ञानी द्विज मोक्षका युक्तियुक्त कारण इस प्रकार बताते हैं—सब प्रकारकी गतियोंको जानकर जो विषयोंसे विरक्त हो जाता है, वही देहत्यागके अनन्तर मुक्त होता है। यह बात स्पष्टरूपसे सबकी समझमें आ सकती है। दूसरे किसी उपायसे मोक्ष मिलना असम्भव है। इस प्रकार वे सांख्यको ही मोक्षदर्शन कहते हैं ॥४-५॥

स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समये वचनं हितम्।
शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं त्वद्विधैः शिष्टसम्मतैः ॥ ६ ॥

अपने-अपने पक्षमें युक्तियुक्त कारण ग्राह्य होता है तथा सिद्धान्तके अनुकूल हितकारक वचन मानने योग्य समझा जाता है। शिष्ट पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम जैसे लोगोंको श्रेष्ठ पुरुषोंका ही मत ग्रहण करना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः।
उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

योगके विद्वान् प्रधानतया प्रत्यक्ष प्रमाणको ही माननेवाले होते हैं और सांख्यमतानुयायी शास्त्र-प्रमाणपर ही विश्वास करते हैं। तात युधिष्ठिर ! ये दोनों ही मत मुझे तात्त्विक जान पड़ते हैं ॥ ७ ॥

उभे चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसम्मते।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! इन दोनों मतोंका श्रेष्ठ पुरुषोंने आदर किया है। इन दोनों ही मतोंको जानकर शास्त्रके अनुसार उनका आचरण किया जाय तो वे परमगतिकी प्राप्ति करा सकते हैं।

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥ ९ ॥

बाहर-भीतरकी पवित्रता, तप, प्राणियोंपर दया और व्रतोंका पालन आदि नियम दोनों मतोंमें समान रूपसे स्वीकार किये गये हैं। केवल उनके दर्शनोंमें अर्थात् पद्धतियोंमें समानता नहीं है ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र फलं तथा।
न तुल्यं दर्शनं कस्मात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि इन दोनों मतोंमें उत्तम व्रत, बाहर-भीतरकी पवित्रता और दया समान है एवं दोनोंका परिणाम भी एक ही है तो इनके दर्शनमें समानता क्यों नहीं है, यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्।
योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत् ११

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! योगी पुरुष केवल योगबलसे राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध—इन पाँच दोषोंका मूलोच्छेद करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्त्वा पुनर्जलम्।
प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत् पदं वीतकल्मषाः॥ १२ ॥

जैसे बड़े-बड़े और मोटे मत्स्य जालको काटकर फिर जलमें समा जाते हैं, उसी प्रकार योगी अपने पापोंका नाश करके परमात्मपदको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः।
छित्त्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्॥ १४ ॥

राजन् ! इसी प्रकार जैसे बलवान् मृग जाल तोड़कर सारे बन्धनोंसे मुक्त हो निर्विघ्न मार्गपर चले जाते हैं, वैसे ही योगबलसे सम्पन्न योगी पुरुष लोभजनित सब बन्धनोंको तोड़कर परम निर्मल कल्याणमय मार्गको प्राप्त कर लेते हैं ॥१३-१४॥

अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे।
विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद् योगबलादृते ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! जैसे निर्बल मृग तथा दूसरे पशु जालमें पड़कर निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार योगबलसे रहित मनुष्यकी भी दशा होती है ॥ १५ ॥

बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालं गता झषाः।
वधं गच्छन्ति राजेन्द्र योगास्तद्वत् सुदुर्बलाः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन राजेन्द्र ! जैसे निर्बल मत्स्य जालमें फँसकर वधको प्राप्त होते हैं, वही दशा योगबलसे सर्वथा रहित मनुष्योंकी भी होती है ॥ १६ ॥

यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिंदम ।
तत्र सक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः ॥ १७ ॥
कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद् योगाः परंतप ।
अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः ॥ १८ ॥

शत्रुदमन ! जैसे निर्बल पक्षी सूक्ष्म जालमें फँसकर बन्धनको प्राप्त हो अपने प्राण खो देते हैं और बलवान् पक्षी जाल तोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मजनित बन्धनोंसे बँधे हुए निर्बल योगी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, किंतु परंतप ! योगबलसे सम्पन्न योगी सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७-१८ ॥

अल्पकश्च यथा राजन् वह्निः शाम्यति दुर्बलः ।
आक्रान्त इन्धनैः स्थूलैस्तद्वद् योगोऽबलः प्रभो ॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे अल्प होनेके कारण दुर्बल अग्निपर बड़े-बड़े मोटे ईंधन रख देनेसे वह जलनेके बजाय बुझ जाती है, प्रभो ! उसी प्रकार निर्बल योगी महान् योगके भारसे दबकर नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

स एव च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः ।
समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि ॥ २० ॥

राजन् ! वही आग जब हवाका सहारा पाकर प्रबल हो जाती है, तब सम्पूर्ण पृथ्वीको भी तत्काल भस्म कर सकती है ॥ २० ॥

तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः ।
अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत् ॥ २१ ॥

इसी तरह योगीका भी योगबल बढ़ जानेसे जब वह उद्दीप्त तेजसे सम्पन्न और महान् शक्तिशाली हो जाता है, तब वह जैसे प्रलयकालीन सूर्य समस्त जगत्‌को सुखा डालता है, वैसे ही समस्त रागादि दोषोंका नाश कर देता है ॥ २१ ॥

दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः ।
बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः ॥ २२ ॥

राजन् ! जैसे दुर्बल मनुष्य पानीके वेगसे बह जाता है, उसी तरह दुर्बल योगी विवश होकर विषयोंकी ओर खिंच जाता है ॥ २२ ॥

तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः ।
तद्वद् योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून् ॥ २३ ॥

परंतु जलके उसी महान् स्रोतको जैसे गजराज रोक देता है अर्थात् उसमें नहीं बहता, उसी प्रकार योगका महान् बल पाकर योगी भी उन सभी बहुसंख्यक विषयोंको अवरुद्ध कर देता है अर्थात् उनके प्रवाहमें नहीं बहता ॥ २३ ॥

विशन्ति चावशाः पार्थ योगाद् योगबलान्विताः ।
प्रजापतीनृषीन् देवान् महाभूतानि चेश्वराः ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! योगशक्तिसम्पन्न पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक प्रजापति, ऋषि, देवता और पञ्चमहाभूतोंमें प्रवेश कर जाते हैं । उनमें ऐसा करनेकी सामर्थ्य आ जाती है ॥ २४ ॥

न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः ।
ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! अमित तेजस्वी योगीपर क्रोधमें भरे हुए यमराज, अन्तक और भयंकर पराक्रम दिखानेवाली मृत्युका भी शासन नहीं चलता है ॥ २५ ॥

आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगः कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! योगी योगबल पाकर अपने हजारों रूप बना सकता है और उन सबके द्वारा इस पृथ्वीपर विचर सकता है ॥

प्राप्नुयाद् विषयांश्चैव पुनश्चोग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिव ॥ २७ ॥

तात ! वह उन शरीरोंद्वारा विषयोंका सेवन और उग्र तपस्या भी करता है । तदनन्तर अपनी तेजोमयी किरणोंको समेट लेनेवाले सूर्यकी भाँति सभी रूपोंको अपनेमें लीन कर लेता है ॥ २७ ॥

बलस्थस्य हि योगस्य बन्धनेशस्य पार्थिव ।
विमोक्षप्रभविष्णुत्वमुपपन्नमसंशयम् ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! बलवान् योगी बन्धनोंको तोड़नेमें समर्थ होता है, उसमें अपनेको मुक्त करनेकी पूर्ण शक्ति आ जाती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥

बलानि योगप्राप्तानि मयैतानि विशाम्पते ।
निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनस्तव ॥ २९ ॥

प्रजापालक नरेश ! मैं दृष्टान्तके लिये योगसे प्राप्त होनेवाली कुछ सूक्ष्म शक्तियोंका पुनः तुमसे वर्णन करूँगा ॥

आत्मनश्च समाधाने धारणां प्रति वा विभो ।
निदर्शनानि सूक्ष्माणि शृणु मे भरतर्षभ ॥ ३० ॥

प्रभो ! भरतश्रेष्ठ ! आत्मसमाधिके लिये जो धारणा की जाती है, उसके विषयमें भी कुछ सूक्ष्म दृष्टान्त बतलाता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

अप्रमत्तो तथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः ।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ३१ ॥

जैसे सदा सावधान रहनेवाला धनुर्धर वीर चित्तको एकाग्र करके बाण चलानेपर लक्ष्यको अवश्य बींध डालता है, उसी प्रकार जो योगी मनको परमात्माके ध्यानमें लगा देता है, वह निस्संदेह मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम् ।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः ॥ ३२ ॥
युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम् ।
करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम् ॥ ३३ ॥

पृथ्वीनाथ ! जैसे सिरपर रक्खे हुए तेलसे भरे पात्रकी

ओर मनको स्थिरभावसे लगाये रखनेवाला पुरुष एकाग्रचित्त हो सीढ़ियोंपर चढ़ जाता है और जरा भी तेल नहीं छलकता, उसी तरह योगी भी योगयुक्त होकर जब आत्माको परमात्मामें स्थिर करता है, उस समय उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल तथा अचल सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

यथा च नावं कौन्तेय कर्णधारः समाहितः।
महार्णवगतां शीघ्रं नयेत् पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥
तद्वदात्मसमाधानं युक्त्वा योगेन तत्त्ववित्।
दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं नृप ॥ ३५ ॥

कुन्तीकुमार ! नृपश्रेष्ठ ! जैसे सावधान नाविक समुद्रमें पड़ी हुई नौकाको शीघ्र ही किनारेपर लगा देता है, उसी प्रकार योगके अनुसार तत्त्वको जाननेवाला पुरुष समाधिके द्वारा मनको परमात्मामें लगाकर इस देहका त्याग करनेके अनन्तर दुर्गम स्थान (परमधाम) को प्राप्त होता है ॥

सारथिश्च यथा युक्त्वा सदश्वान् सुसमाहितः।
देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥
तथैव नृपते योगी धारणासु समाहितः।
प्राप्नोत्याशु परं स्थानं लक्षं मुक्त इवाशुगः ॥ ३७ ॥

पुरुषप्रवर ! राजन् ! जिस तरह अत्यन्त सावधान रहनेवाला सारथि अच्छे घोड़ोंको रथमें जोतकर धनुर्धर योद्धाको तुरंत ही अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, वैसे ही धारणाओंमें एकाग्रचित्त हुआ योगी लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बाणकी भाँति शीघ्र परम पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६-३७ ॥

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥ ३८ ॥

जो योगी समाधिके द्वारा आत्माको परमात्मामें स्थिर करके अचल हो जाता है, वह अपने पापको नष्ट कर देता है और पवित्र पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले अविनाशी पदको पा लेता है ॥ ३८ ॥

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥ ३९ ॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग्विशाम्पते ॥ ४० ॥
स शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम्।
उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अमित पराक्रमी नरेश ! योगके महान् व्रतमें एकाग्रचित्त रहनेवाला जो योगी नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग, नेत्र, कान और नासिका आदि स्थानोंमें धारणाके द्वारा सूक्ष्म आत्माको परमात्माके साथ भलीभाँति संयुक्त करता है, वह यदि इच्छा करे तो अपने पर्वताकार विशाल शुभाशुभ कर्मोंको शीघ्र ही भस्म करके उत्तम योगका आश्रय लेकर मुक्त हो जाता है ॥ ३९—४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहारान् कीदृशान् कृत्वा कानि जित्वा च भारत।
योगी बलमवाप्नोति तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! योगी कैसे आहार करके और किन-किनको जीतकर योगशक्ति प्राप्त कर लेता है यह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! जो धानकी खुद्दी और तिलकी खली खाता तथा घी-तेलका परित्याग कर देता है, उसी योगीको योगबलकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिंदम।
एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जो दीर्घकालतक एक समय जौका रूखा दलिया खाता है, वह योगी शुद्धचित्त होकर योगबलकी प्राप्ति कर सकता है ॥ ४४ ॥

पक्षान् मासानृतूंश्चैतान् संवत्सरानहस्तथा।
अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

जो योगी दुग्धमिश्रित जलको दिनमें एक बार पीता है; फिर पंद्रह दिनोंमें एक बार पीता है। तत्पश्चात् एक महीनेमें, एक ऋतुमें और एक वर्षमें एक बार उसे ग्रहण करता है, उसको योगशक्ति प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

अखण्डमपि वा मांसं सततं मनुजेश्वर।
उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! जो लगातार जीवनभरके लिये मांस नहीं खाता है और विधिपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

कामं जित्वा तथा क्रोधं शीतोष्णे वर्षमेव च।
भयं शोकं तथा श्वासं पौरुषान् विषयांस्तथा ॥ ४७ ॥
अरतिं दुर्जयां चैव घोरां तृष्णां च पार्थिव।
स्पर्शं निद्रां तथा तन्द्रीं दुर्जयां नृपसत्तम ॥ ४८ ॥
दीपयन्ति महात्मानः सूक्ष्ममात्मानमात्मना।
वीतरागा महाप्राज्ञा ध्यानाध्ययनसम्पदा ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! काम, क्रोध, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भय, शोक, श्वास, मनुष्योंको प्रिय लगनेवाले विषय, दुर्जय असंतोष, घोर तृष्णा, स्पर्श, निद्रा तथा दुर्जय आलस्यको जीतकर वीतराग, महान् एवं उत्तम बुद्धिसे युक्त महात्मा योगी स्वाध्याय तथा ध्यानका सम्पादन करके बुद्धिके द्वारा सूक्ष्म आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४७—४९ ॥

दुर्गस्त्वेष मतः पन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम्।
यः कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! विद्वान् ब्राह्मणोंने योगके इस मार्गको दुर्गम माना है। कोई बिरला ही इस मार्गको कुशलपूर्वक तै कर सकता है ॥ ५० ॥

यथा कश्चिद् वनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम्।
श्वभ्रवत् तोयहीनं च दुर्गमं बहुकण्टकम् ॥ ५१ ॥
अभक्तमटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम्।
पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभिपतेद् युवा ॥ ५२ ॥
योगमार्गं तथाऽऽसाद्य यः कश्चिद् व्रजते द्विजः।
क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद् बहुदोषो हि स स्मृतः ॥ ५३ ॥

जैसे कोई-कोई बिरला नवयुवक ही अनेकानेक सर्पों तथा बिच्छू आदिसे भरे हुए गड्ढों और बहुत-से काँटोंवाले, जल-शून्य, दुर्गम एवं घोर वनमें सकुशल यात्रा कर सकता है तथा जहाँ भोजन मिलना असम्भव है, जिसमें प्रायः जंगल-ही-जंगल पड़ता है, जहाँके वृक्ष दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं तथा जो चोर-डाकुओंसे भरा हुआ है, ऐसे मार्गको सकुशल तै कर सकता है; उसी प्रकार योगमार्गका आश्रय लेकर कोई बिरला ही द्विज उसपर कुशलपूर्वक चल पाता है, क्योंकि वह बहुत-से दोषों (कठिनाइयों) से भरा हुआ बताया गया है ॥५१—५३॥

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

पृथ्वीपते ! छुरेकी तीखी धारपर कोई सुखपूर्वक खड़ा रह सकता है; किंतु जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंका योगकी धारणाओंमें स्थिर रहना नितान्त कठिन है ॥ ५४ ॥

विपन्ना धारणास्तात नयन्ति न शुभां गतिम्।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥ ५५ ॥

तात ! नरेश्वर ! जैसे समुद्रमें बिना नाविककी नाव मनुष्योंको पार नहीं लगा सकती, उसी प्रकार यदि योगकी धारणाएँ सिद्ध न हुईं तो वे शुभगतिकी प्राप्ति नहीं करा सकतीं ॥ ५५ ॥

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो विधिपूर्वक योगकी धारणाओंमें स्थिर रहता है, वह जन्म, मृत्यु, दुःख और सुखके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५६ ॥

नानाशास्त्रेषु निष्पन्नं योगेष्विदमुदाहृतम्।
परं योगस्य यत् कृत्यं निश्चितं तद् द्विजातिषु ॥ ५७ ॥

यह मैंने तुम्हें योगविषयक नाना शास्त्रोंका सिद्धान्त बतलाया है। योग-साधनाका जो-जो कृत्य है, वह द्विजातियोंके लिये ही निश्चित किया गया है अर्थात् उन्हींका उसमें अधिकार है ॥ ५७ ॥

परं हि तद् ब्रह्म महन्महात्मन्
ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम्।
भवं च धर्मं च षडाननं च
यद् ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभावान् ॥ ५८ ॥
तमश्च कष्टं सुमहद् रजश्च
सत्त्वं विशुद्धं प्रकृतिं परां च।
सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं
तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम् ॥ ५९ ॥
ताराधिपं खे विमलं सतारं
विश्वांश्च देवानुरगान् पितॄंश्च।
शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च घोरान्
नदीश्च सर्वाः सवनान् घनांश्च ॥ ६० ॥
नागान् नगान् यक्षगणान् दिशश्च
गन्धर्वसंघान् पुरुषान् स्त्रियश्च।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा
विशेत योगी न चिराद् विमुक्तः ॥ ६१ ॥

महात्मन् ! योगसिद्ध महात्मा पुरुष यदि चाहे तो तुरंत ही मुक्त होकर महान् परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अथवा वह अपने योगबलसे भगवान् ब्रह्मा, वरदायक विष्णु, महादेवजी, धर्म, छः मुखोंवाले कार्त्तिकेय, ब्रह्माजीके महानुभाव पुत्र सनकादि, कष्टदायक तमोगुण, महान् रजोगुण, विशुद्ध सत्त्वगुण, मूल प्रकृति, वरुणपत्नी सिद्धिदेवी, सम्पूर्ण तेज, महान् धैर्य, ताराओंसहित आकाशमें प्रकाशित होनेवाले निर्मल तारापति चन्द्रमा, विश्वेदेव, नाग, पितर, सम्पूर्ण पर्वत, भयंकर समुद्र, सम्पूर्ण नदी-समुदाय, वन, मेघ, नाग, वृक्ष, यक्ष, दिशा, गन्धर्वगण, समस्त पुरुष और स्त्री—इनमेंसे प्रत्येकके पास पहुँचकर उसके भीतर प्रवेश कर सकता है ॥५८—६१॥

कथा च येयं नृपते प्रसक्ता
देवे महावीर्यमतौ शुभेयम्।
योगी स सर्वानभिभूय मर्त्यान्
नारायणात्मा कुरुते महात्मा ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! महान् बल और बुद्धिसे सम्पन्न परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली यह कल्याणमयी वार्ता मैंने प्रसंगवश तुम्हें सुनायी है। योगसिद्ध महात्मा पुरुष सब मनुष्योंसे ऊपर उठकर नारायणस्वरूप हो जाता है और संकल्पमात्रसे सृष्टि करने लगता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगविधौ त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगविधिविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥
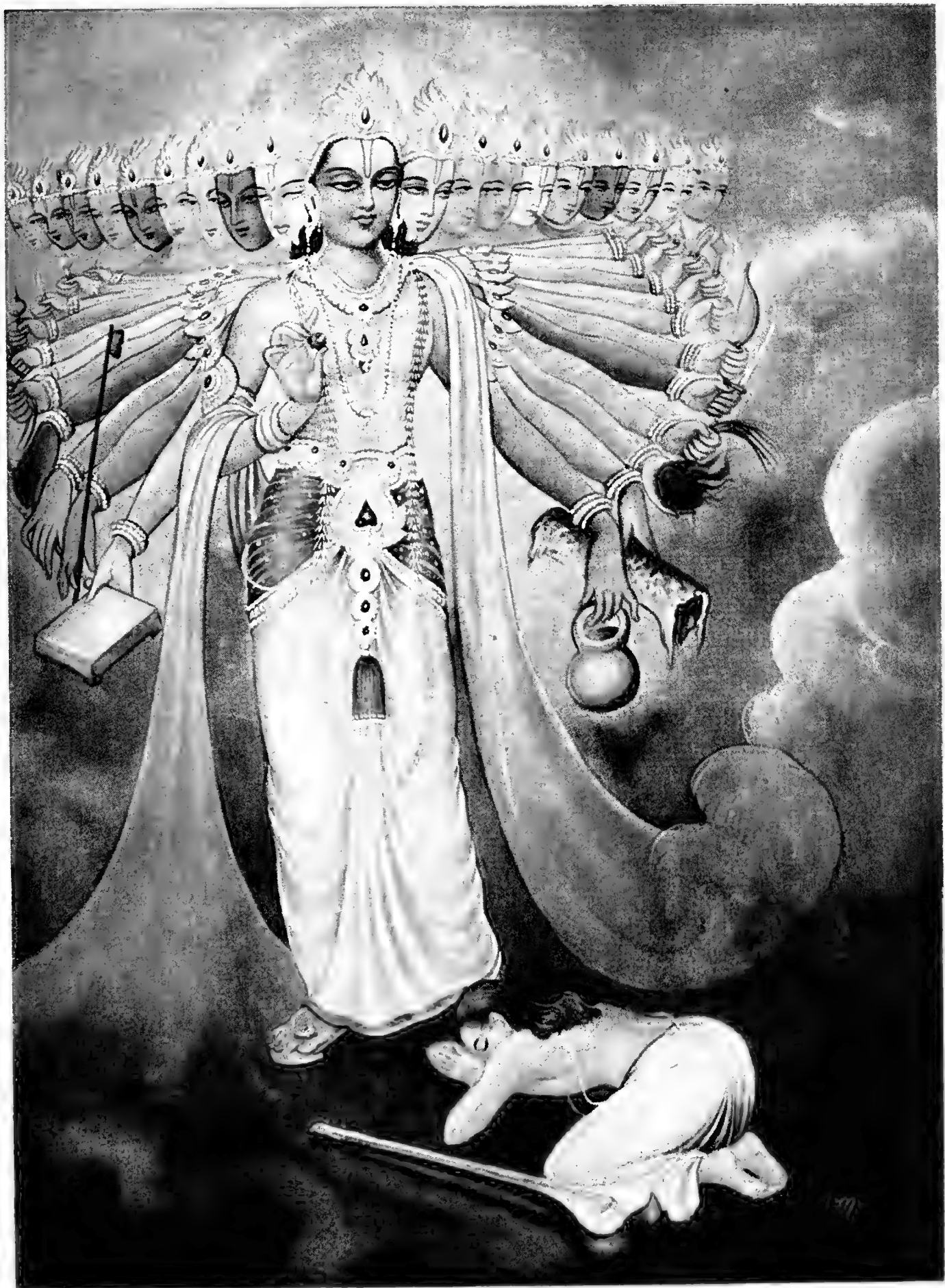
नारदजीको भगवानके विश्वरूपका दर्शन

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सांख्ययोगके अनुसार साधन और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सम्यक् त्वयायं नृपते वर्णितः शिष्टसम्मतः।
योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! आप मेरे हितैषी हैं, आपने मुझ शिष्यके प्रति शिष्ट पुरुषोंके मतके अनुसार इस योगमार्गका यथोचितरूपसे वर्णन किया ॥ १ ॥

सांख्ये त्विदानीं कार्त्स्न्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते।
त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद् विदितं हि ते ॥ २ ॥

अब मैं सांख्यविषयक सम्पूर्ण विधि पूछ रहा हूँ। आप मुझे उसे बतानेकी कृपा करें; क्योंकि तीनों लोकोंमें जो ज्ञान है, वह सब आपको विदित है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! आत्मतत्त्वके जाननेवाले सांख्यशास्त्रके विद्वानोंका यह सूक्ष्म ज्ञान तुम मुझसे सुनो। इसे ईश्वरकोटिके कपिल आदि सम्पूर्ण यतियोंने प्रकाशित किया है ॥

यस्मिन् न विभ्रमाः केचिद् दृश्यन्ते मनुजर्षभ।
गुणाश्च यस्मिन् बहवो दोषहानिश्च केवला ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस मतमें किसी प्रकारकी भूल नहीं दिखायी देती। इसमें गुण तो बहुत-से हैं; किंतु दोषोंका सर्वथा अभाव है ॥ ४ ॥

ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान् विषयान् नृप।
मानुषान् दुर्जयान् कृत्स्नान् पैशाचान् विषयांस्तथा ॥५॥
राक्षसान् विषयान् ज्ञात्वा यक्षाणां विषयांस्तथा।
विषयानौरगान् ज्ञात्वा गान्धर्वविषयांस्तथा ॥ ६ ॥
पितॄणां विषयान् ज्ञात्वा तिर्यक्षु चरतां नृप।
सुपर्णविषयान् ज्ञात्वा मरुतां विषयांस्तथा ॥ ७ ॥
राजर्षिविषयान् ज्ञात्वा ब्रह्मर्षिविषयांस्तथा।
आसुरान् विषयान् ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च ॥ ८ ॥
देवर्षिविषयान् ज्ञात्वा योगानामपि चेश्वरान्।
प्रजापतीनां विषयान् ब्रह्मणो विषयांस्तथा ॥ ९ ॥
आयुषश्च परं कालं लोके विज्ञाय तत्त्वतः।
सुखस्य च परं तत्त्वं विज्ञाय वदतां वर ॥ १० ॥
प्राप्ते काले च यद् दुःखं सततं विषयैषिणाम्।
तिर्यक्षु पततां दुःखं पततां नरके च यत् ॥ ११ ॥
स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत।
वेदवादेऽपि ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥ १२ ॥
ज्ञानयोगे च ये दोषा गुणा योगे च ये नृप।
सांख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव च गुणा नृप ॥ १३ ॥
सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा।
तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणां तथा ॥ १४ ॥
षड्गुणं च मनो ज्ञात्वा नभः पञ्चगुणं तथा।
बुद्धिं चतुर्गुणां ज्ञात्वा तमश्च त्रिगुणं तथा ॥ १५ ॥
द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्त्वमेकगुणं पुनः।
मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन प्रलये प्रेक्षणे तथा ॥ १६ ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः।
प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥ १७ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो ज्ञानके द्वारा मनुष्य, पिशाच, राक्षस, यक्ष, सर्प, गन्धर्व, पितर, तिर्यग्योनि, गरुड़, मरुद्गण, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, असुर, विश्वेदेव, देवर्षि, योगी, प्रजापति तथा ब्रह्माजीके भी सम्पूर्ण दुर्जय विषयोंको सदोष जानकर, संसारके मनुष्योंका परमायुकाल तथा सुखके परम तत्त्वका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और विषयोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको समय-समयपर जो दुःख प्राप्त होता है, उसको, तिर्यग्योनि और नरकमें पड़नेवाले जीवोंके दुःखको, स्वर्ग तथा वेदकी फल-श्रुतियोंके सम्पूर्ण गुण-दोषोंको जानकर ज्ञानयोग, सांख्यज्ञान और योगमार्गके गुण-दोषोंको भी समझ लेते हैं तथा भरतनन्दन ! सत्त्वगुणके दस[1], रजोगुणके नौ[2], तमोगुणके आठ[3], बुद्धिके सात[4], मनके छः[5] और आकाशके पाँच[6] गुणोंका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिके दूसरे चार[7], तमोगुणके दूसरे तीन[8], रजोगुणके दूसरे दो[9] और सत्त्वगुणके पुनः एक[10] गुणको जानकर आत्माकी प्राप्ति करानेवाले मार्ग—प्राकृत प्रलय तथा आत्मविचारको ठीक-ठीक जान लेते हैं, वे ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा मोक्षोपयोगी साधनोंके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त हुए

१. ज्ञानशक्ति, वैराग्य, स्वामिभाव, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्वच्छता, आत्माका बोध और अधिष्ठातृत्व—ये दस सात्त्विक गुण बताये गये हैं। २. असंतोष, पश्चात्ताप, शोक, लोभ, अक्षमा, दमन करनेकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध और ईर्ष्या—ये नौ राजस गुण बताये गये हैं। ३. अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा, अभिमान, विषाद और प्रीतिका अभाव—ये आठ तामस गुण हैं। ४. महत्, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा—ये सात गुण बुद्धिके हैं। ५. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंसहित छठा मन—ये मनके छः गुण हैं। ६. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये आकाशके पाँच गुण हैं। ७. संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये बुद्धिके चार गुण हैं। ८. अप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति और विपरीत प्रतिपत्ति—ये तीन गुण तमके हैं। ९. प्रवृत्ति तथा दुःख—ये दो गुण रजके हैं। १०. प्रकाश सत्त्वका एक प्रधान गुण है।

कल्याणमय सांख्ययोगी परम आकाशको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म भूतोंके समान मङ्गलमय मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं ॥५–१७॥

रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च ।
शब्दे सक्तं तथा श्रोत्रं जिह्वा रसगुणेषु च ॥ १८ ॥

नेत्र रूप-गुणसे संयुक्त हैं । घ्राणेन्द्रिय गन्ध नामक गुणसे सम्बन्ध रखती है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमें आसक्त है और रसना रसगुणमें ॥ १८ ॥

तनुं स्पर्शे तथा सक्तां वायुं नभसि चाश्रितम् ।
मोहं तमसि संयुक्तं लोभमर्थेषु संश्रितम् ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शनामक गुणमें आसक्त है । इसी प्रकार वायुका आश्रय आकाश, मोहका आश्रय तमोगुण और लोभका आश्रय इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १९ ॥

विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथानलम् ।
अप्सु देवीं समासक्तामपस्तेजसि संश्रिताः ॥ २० ॥
तेजो वायौ तु संसक्तं वायुं नभसि चाश्रितम् ।
नभो महति संयुक्तं महद् बुद्धौ च संश्रितम् ॥ २१ ॥

गतिका आधार विष्णु, बलका इन्द्र, उदरका अग्नि तथा पृथ्वीदेवीका आधार जल है । जलका तेज, तेजका वायु, वायुका आकाश, आकाशका आश्रय महत्तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है और अहंकारका अधिष्ठान समष्टि बुद्धि है ॥ २०-२१ ॥

बुद्धिं तमसि संसक्तां तमो रजसि संश्रितम् ।
रजः सत्त्वे तथा सक्तं सत्त्वं सक्तं तथाऽऽत्मनि ॥ २२ ॥
सक्तमात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा ।
देवं मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तं तु न क्वचित् ॥ २३ ॥

बुद्धिका आश्रय तमोगुण, तमोगुणका आश्रय रजोगुण और रजोगुणका आश्रय सत्त्वगुण है । सत्त्वगुण जीवात्माके आश्रित है । जीवात्माको भगवान् नारायणदेवके आश्रित समझो । भगवान् नारायणका आश्रय है मोक्ष (परब्रह्म), परंतु मोक्षका कोई भी आश्रय नहीं है (वह अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है) ॥ २२-२३ ॥

ज्ञात्वा सत्त्वगुणं देहं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
स्वभावं चेतनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रिते ॥ २४ ॥
मध्यस्थमेकमात्मानं पापं यस्मिन् न विद्यते ।
द्वितीयं कर्म विज्ञाय नृपते विषयैषिणाम् ॥ २५ ॥

इन बातोंको भलीभाँति जानकर तथा सत्त्वगुणको, मनसहित ग्यारह इन्द्रिय, पाँच प्राण—इन सोलह गुणोंसे घिरे हुए सूक्ष्म शरीरको, शरीरके आश्रित रहनेवाले स्वभाव और चेतनाको जाने । नरेश्वर ! जिसमें पापका लेश भी नहीं है, वह एकमात्र जीवात्मा शरीरके भीतर हृदयरूपी गुफामें उदासीनभावसे विद्यमान है, इस बातको जाने । विषयकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंका जो कर्म है, वह शरीरके भीतर आत्माके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व है । यह भी अच्छी तरह जान ले ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान् ।
दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥

इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय—ये सबके सब शरीरके भीतर स्थित हैं । मोक्ष परम दुर्लभ वस्तु है । इन सब बातोंको वेदोंके स्वाध्यायपूर्वक भलीभाँति समझ ले ॥ २६ ॥

प्राणापानौ समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ।
अधश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः ॥ २७ ॥
सप्त वातांस्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान् पुनः ।
प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गांश्चैव बहून् वरान् ॥ २८ ॥

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच प्राणवायु हैं । अधोगामी वायु छठा और ऊर्ध्वगामी प्रवह नामक वायु सातवाँ है । ये वायुके जो सात भेद हैं, इनमेंसे प्रत्येकके सात-सात भेद और हो जाते हैं । इस प्रकार कुल उन्चास वायु होते हैं । अनेक प्रजापति, अनेक ऋषि तथा मुक्तिके अनेकानेक उत्तम मार्ग हैं । इन सबकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

सप्तर्षींश्च बहून् ज्ञात्वा राजर्षींश्च परंतप ।
सुरर्षीन् महतश्चान्यान् ब्रह्मर्षीन् सूर्यसंनिभान् ॥ २९ ॥

परंतप ! सप्तर्षियों, बहुसंख्यक राजर्षियों, देवर्षियों, अन्यान्य महापुरुषों तथा सूर्यके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे ॥ २९ ॥

ऐश्वर्याच्च्यावितान् दृष्ट्वा कालेन महता नृप ।
महतां भूतसंघानां श्रुत्वा नाशं च पार्थिव ॥ ३० ॥
गतिं चाप्यशुभां ज्ञात्वा नृपते पापकर्मिणाम् ।
वैतरण्यां च यद् दुःखं पतितानां यमक्षये ॥ ३१ ॥

पृथ्वीनाथ ! महान् कालकी प्रेरणासे मनुष्य ऐश्वर्यसे भ्रष्ट कर दिये जाते हैं । बड़े-बड़े जो भूत-समुदाय हैं, उनका भी कालके द्वारा नाश हो जाता है । यह सब देख-सुनकर पापकर्मी मनुष्योंको जो अशुभ गति प्राप्त होती है तथा यमलोकमें जाकर वैतरणी नदीमें गिरे हुए प्राणियोंको जो दुःख होता है, उसको भी जाने ॥ ३०-३१ ॥

योनीषु च विचित्रासु संसारानशुभांस्तथा ।
जठरे चाशुभे वासं शोणितोदकभाजने ॥ ३२ ॥
श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते ।
शुक्रशोणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे ॥ ३३ ॥
शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽशुचौ ।
विज्ञाय हितमात्मानं योगांश्च विविधान् नृप ॥ ३४ ॥

प्राणियोंको विचित्र-विचित्र योनियोंमें अशुभ जन्म धारण करने पड़ते हैं । रक्त और मूत्रके पात्ररूप अपवित्र गर्भाशयमें निवास करना पड़ता है, जहाँ कफ, मूत्र और मल भरा होता है तथा तीव्र दुर्गन्ध व्याप्त रहती है, जो रज और वीर्यका समुदायमात्र है, मज्जा एवं स्नायुका संग्रह है, सैकड़ों नस-नाड़ियोंसे व्याप्त है तथा जिसमें नौ द्वार

हैं; उस अपवित्र पुर अर्थात् शरीरमें जीवको रहना पड़ता है। नरेश्वर! इन सब बातोंको जानकर अपने परम हितस्वरूप आत्माको और उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंद्वारा बताये हुए नाना प्रकारके योगों (साधनों) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ ३२–३४ ॥

तामसानां च जन्तूनां रमणीयावृतात्मनाम् ।
सात्त्विकानां च जन्तूनां कुत्सितं भरतर्षभ ॥ ३५ ॥
गर्हितं महतामर्थे सांख्यानां विदितात्मनाम् ।

भरतश्रेष्ठ! तामस, राजस और सात्त्विक–इन तीन प्रकारके प्राणियोंके जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंद्वारा निन्दित–मोक्षविरोधी व्यवहार हैं, उनको भी जानना चाहिये ॥

उपप्लवांस्तथा घोराञ्शशिनस्तेजसस्तथा ॥ ३६ ॥
ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम् ।
द्वन्द्वानां विप्रयोगं च विज्ञाय कृपणं नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! घोर उत्पात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ताराओंका टूटकर गिरना, नक्षत्रोंकी गतिमें उलट-फेर होना तथा पति-पत्नियोंका दुःखदायक वियोग होना आदि बातें, जो इस जगत्‌में घटित होती हैं, उनको भी जानकर अपने कल्याणका उपाय करना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम् ।
बाल्ये मोहं च विज्ञाय क्षयं देहस्य चाशुभम् ॥ ३८ ॥
रागे मोहे च सम्प्राप्ते क्वचित् सत्त्वं समाश्रितम् ।
सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः ॥ ३९ ॥

संसारके प्राणी एक-दूसरेको खा जाते हैं, यह कैसी अशुभ घटना है। इसपर दृष्टिपात करो। बाल्यावस्थामें मनपर मोह छाया रहता है और वृद्धावस्थामें शरीरका अमङ्गलकारी विनाश उपस्थित होता है। राग और मोह प्राप्त होनेपर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इन सबको जानकर कहीं किसी-किसीको ही सत्त्वगुणसे युक्त देखा जाता है। सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई बिरला ही मोक्षविषयक बुद्धिका आश्रय लेता है ॥ ३८–३९ ॥

दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ।
बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः ॥ ४० ॥

वेद-वाक्योंके श्रवणद्वारा मुक्तिकी दुर्लभताको जानकर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर भी उस परिस्थितिके प्रति अधिक आदर-बुद्धि रखे और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, तो भी उसकी ओरसे उदासीन ही रहे ॥ ४० ॥

विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय नृपते पुनः ।
गतासूनां च कौन्तेय देहान् दृष्ट्वा तथाशुभान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर! शब्द-स्पर्श आदि विषय दुःखरूप ही हैं, इस बातको जाने। कुन्तीनन्दन! जिनके प्राण चले जाते हैं, उन मनुष्योंके शरीरोंकी जो अशुभ एवं बीभत्स दशा होती है, उसपर भी दृष्टिपात करे ॥ ४१ ॥

वासं कुलेषु जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भारत ।
ब्रह्मघ्नानां गतिं ज्ञात्वा पतितानां सुदारुणाम् ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका घरोंमें निवास करना भी दुःखरूप ही है, इस बातको अच्छी तरह समझे तथा ब्रह्मघाती और पतित मनुष्योंकी जो अत्यन्त भयंकर दुर्गति होती है, उसको भी जाने ॥ ४२ ॥

सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम् ।
गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ॥ ४३ ॥

मदिरापानमें आसक्त दुरात्मा ब्राह्मणोंकी तथा गुरु-पत्नीगामी मनुष्योंकी जो अशुभ गति होती है, उसका भी विचार करे ॥ ४३ ॥

जननीषु च वर्तन्ते ये न सम्यग् युधिष्ठिर ।
सदेवकेषु लोकेषु ये न वर्तन्ति मानवाः ॥ ४४ ॥
तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम् ।
तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय गतयः पृथक् ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य माताओं, देवताओं तथा सम्पूर्ण लोकोंके प्रति उत्तम बर्ताव नहीं करते हैं, उनकी दुर्गतिका ज्ञान जिससे होता है, उसी ज्ञानसे पापाचारी पुरुषोंकी अधोगतिका ज्ञान प्राप्त करे तथा तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी जो विभिन्न गतियाँ होती हैं, उनको भी जान ले ॥ ४४-४५ ॥

वेदवादांस्तथा चित्रानृतूनां पर्ययांस्तथा ।
क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा ॥ ४६ ॥
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम् ।
क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ॥ ४७ ॥
वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयं तेषां तथा पुनः ।
क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ॥ ४८ ॥

वेदोंके भाँति-भाँतिके विचित्र वचन, ऋतुओंके परिवर्तन तथा दिन, पक्ष, मास और संवत्सर आदि काल जो प्रतिक्षण बीत रहा है, उसकी ओर भी ध्यान दे। चन्द्रमाकी ह्रास-वृद्धि तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है। समुद्रोंका ज्वारभाटा भी प्रत्यक्ष ही है। धनवानोंके धनका नाश और नाशके बाद पुनः वृद्धिका क्रम भी दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इन सबको देखकर अपने कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ४६–४८ ॥

संयोगानां क्षयं दृष्ट्वा युगानां च विशेषतः ।
क्षयं च दृष्ट्वा शैलानां क्षयं च सरितां तथा ॥ ४९ ॥
वर्णानां च क्षयं दृष्ट्वा क्षयान्तं च पुनः पुनः ।
जरामृत्युं तथा जन्म दृष्ट्वा दुःखानि चैव ह ॥ ५० ॥

संयोगोंका, युगोंका, पर्वतोंका और सरिताओंका जो क्षय होता है, उसपर दृष्टि डाले। वर्णोंका क्षय और क्षयका अन्त भी बारंबार देखे। जन्म, मृत्यु और जरावस्थाके दुःखोंपर दृष्टिपात करे ॥ ४९-५० ॥

देहदोषांस्तथा ज्ञात्वा तेषां दुःखं च तत्त्वतः ।
देहविक्लवतां चैव सम्यग् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

देहके दोषोंको जानकर उनसे मिलनेवाले दुःखका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। शरीरकी व्याकुलताको भी ठीक-ठीक जाननेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संश्रितान्।
स्वदेहादुत्थितान् गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभान् ॥ ५२॥

अपने शरीरमें स्थित जो अपने ही दोष हैं, उन सबको जानकर शरीरसे जो निरन्तर दुर्गन्ध उठती रहती है, उसकी ओर भी ध्यान दे (तथा विरक्त होकर परमात्माका चिन्तन करते हुए भवबन्धनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करे) ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कान् स्वगात्रोद्भवान् दोषान् पश्यस्यमितविक्रम।
एतन्मे संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी पितामह ! आपके देखनेमें कौन-कौन-से दोष ऐसे हैं, जो अपने ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं ? आप मेरे इस सम्पूर्ण संदेहका यथार्थ-रूपसे समाधान करनेकी कृपा करें ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

पञ्च दोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन ॥ ५४ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! शत्रुसूदन ! कपिल-सांख्य-मतके अनुसार चलनेवाले उत्तम मार्गोंके ज्ञाता मनीषी पुरुष इस देहके भीतर पाँच दोष बतलाते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास-ये पाँच दोष समस्त देहधारियोंके शरीरोंमें देखे जाते हैं ॥ ५५ ॥

छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद् भयं तथा ॥ ५६ ॥
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप ॥ ५७ ॥

सत्पुरुष क्षमासे क्रोधका, संकल्पके त्यागसे कामका, सत्त्वगुणके सेवनसे निद्राका, प्रमादके त्यागसे भयका तथा अल्पाहारके सेवनद्वारा पाँचवें श्वास-दोषका नाश करते हैं ॥

गुणान् गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान् दोषशतैरपि।
हेतून् हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम्।
चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम् ॥ ५९ ॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम् ॥ ६० ॥
रजस्तमसि सम्मग्नं पङ्के द्विपमिवावशम्।
सांख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम्।६१।
ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप।
राजसानशुभान् गन्धांस्तामसांश्च तथाविधान् ॥ ६२ ॥
पुण्यांश्च सात्त्विकान् गन्धान् स्पर्शजान् देहसंश्रितान्।
छित्त्वाऽऽशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥ ६३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! महाबुद्धिमान् सांख्यके विद्वान् सैकड़ों गुणोंके द्वारा गुणोंको, सैकड़ों दोषोंके द्वारा दोषोंको तथा सैकड़ों विचित्र हेतुओंसे विचित्र हेतुओंको तत्त्वतः जानकर व्यापक ज्ञानके प्रभावसे संसारको पानीके फेनके समान नश्वर, विष्णुकी सैकड़ों मायाओंसे ढका हुआ, दीवारपर बने हुए चित्रके समान, नरकुलके समान सारहीन, अन्धकारसे भरे हुए गड्ढेकी भाँति भयंकर, वर्षाकालके पानीके बुलबुलों-के समान क्षणभङ्गुर, सुखहीन, पराधीन, नष्टप्राय तथा कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह रजोगुण और तमोगुणमें मग्न समझते हैं। इसलिये वे संतान आदिकी आसक्तिको दूर करके तपरूप दण्डसे युक्त विवेकरूपी शस्त्रसे राजस-तामस अशुभ गन्धोंको और सुन्दर शोभनीय सात्त्विक गन्धों-को तथा स्पर्शेन्द्रियके देहाश्रित भोगोंकी आसक्तिको शीघ्र ही काट डालते हैं ॥ ५८–६३ ॥

ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम्।
व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम् ॥ ६४ ॥
तमःकूर्मं रजोमीनं प्रज्ञया संतरन्त्युत।
स्नेहपङ्कं जरादुर्गं ज्ञानद्वीपमरिंदम ॥ ६५ ॥
कर्मागाधं सत्यतीरं स्थितव्रतमरिंदम।
हिंसाशीघ्रमहावेगं नानारससमाकरम् ॥ ६६ ॥
नानाप्रीतिमहारत्नं दुःखज्वरसमीरणम्।
शोकतृष्णामहावर्तं तीक्ष्णव्याधिमहागजम् ॥ ६७ ॥
अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मफेनमरिंदम।
दानमुक्ताकरं घोरं शोणितह्रदविद्रुमम् ॥ ६८ ॥
हसितोत्क्रुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुस्तरम्।
रोदनाश्रुमलक्षारं संगत्यागपरायणम् ॥ ६९ ॥
पुत्रदारजलौकौघं मित्रबान्धवपत्तनम्।
अहिंसासत्यमर्यादं प्राणत्यागमहोर्मिणम् ॥ ७० ॥
वेदान्तगमनद्वीपं सर्वभूतदयोदधिम्।
मोक्षदुर्लभविषयं वडवामुखसागरम् ॥ ७१ ॥
तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत।
तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः ॥ ७२ ॥

शत्रुसूदन ! तदनन्तर वे सिद्ध यति प्रज्ञारूपी नौकाके द्वारा उस संसाररूपी घोर सागरको तर जाते हैं, जिसमें दुःखरूपी जल भरा है। चिन्ता और शोकके बड़े-बड़े कुण्ड हैं। नाना प्रकारके रोग और मृत्यु विशाल ग्राहोंके समान हैं। महान् भय ही महानागोंके समान हैं। तमोगुण कछुए और रजोगुण मछलियाँ हैं। स्नेह ही कीचड़ है। बुढ़ापा ही उससे पार होनेमें कठिनाई है। ज्ञान ही उसका द्वीप है। नाना प्रकारके कर्मोंद्वारा वह अगाध बना हुआ है।

सत्य ही उसका तीर है। नियम-व्रत आदि स्थिरता है। हिंसा ही उसका शीघ्रगामी महान् वेग है। वह नाना प्रकारके रसों-का भण्डार है। अनेक प्रकारकी प्रीतियाँ ही उस भवसागरके महारत्न हैं। दुःख और संताप ही वहाँकी वायु है। शोक और तृष्णाकी बड़ी-बड़ी भँवरें उठती रहती हैं। तीव्र व्याधियाँ उसके भीतर रहनेवाले महान् जलहस्ती हैं। हड्डियाँ ही उसके घाट हैं। कफ फेन हैं। दान मोतियोंकी राशि हैं। रक्त उसके कुण्डमें रहनेवाले मूँगा हैं। हँसना और चिल्लाना ही उस सागरकी गम्भीर गर्जना है। अनेक प्रकारके अज्ञान ही इसे अत्यन्त दुस्तर बनाये हुए हैं। रोदनजनित आँसू ही उसमें मलिन खारे जलके समान हैं। आसक्तियोंका त्याग ही उसमें परम आश्रय या दूसरा तट है। स्त्री-पुत्र जोंकके समान हैं। मित्र और बन्धु-बान्धव तटवर्ती नगर हैं। अहिंसा और सत्य उसकी सीमा हैं। प्राणोंका परित्याग ही उसकी उत्ताल तरङ्गें हैं। वेदान्तज्ञान द्वीप है। समस्त प्राणियोंके प्रति दया-भाव इसकी जलराशि हैं। मोक्ष उसमें दुर्लभ विषय है और नाना प्रकारके संताप उस संसारसागरके बड़वानल हैं। भरतनन्दन! उससे पार होकर वे आकाशस्वरूप निर्मल परब्रह्ममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ६४--७२ ॥

तत्र तान् सुकृतीन् सांख्यान् सूर्यो वहति रश्मिभिः।
पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन् विषयान् नृप ॥ ७३ ॥

राजन्! उन पुण्यात्मा सांख्ययोगी सिद्ध पुरुषोंको अपनी रश्मियोंद्वारा उनमें प्रविष्ट हुआ सूर्य अर्चिर्मार्गसे उस ब्रह्मलोकमें ले जानेके लिये ऊपरके लोकोंमें उसी प्रकार वहन करता है, जैसे कमलकी नाल सरोवरके जलको खींच लेती है॥

तत्र तान् प्रवहो वायुः प्रतिगृह्णाति भारत।
वीतरागान् यतीन् सिद्धान् वीर्ययुक्तांस्तपोधनान्॥७४॥

वहाँ प्रवहनामक वायु-अभिमानी देवता उन वीतराग शक्तिसम्पन्न सिद्ध तपोधन महापुरुषोंको सूर्य-अभिमानी देवतासे अपने अधिकारमें ले लेता है ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मः शीतः सुगन्धी च सुखस्पर्शश्च भारत।
सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान् गच्छति यः शुभान्।
स तान् वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम् ॥ ७५ ॥

भरतनन्दन! कुन्तीकुमार! सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्श एवं सातों वायुओंमें श्रेष्ठ जो वायुदेव शुभ लोकोंमें जाते हैं, वे फिर उन कल्याणमय सांख्ययोगियोंको आकाश-की ऊँची स्थितिमें पहुँचा देते हैं ॥ ७५ ॥

नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम्।
रजो वहति राजेन्द्र सत्त्वस्य परमां गतिम् ॥ ७६ ॥
सत्त्वं वहति शुद्धात्मन् परं नारायणं प्रभुम्।
प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना ॥ ७७ ॥
परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः।
अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो ॥ ७८ ॥

लोकेश्वर! आकाशाभिमानी देवता उन योगियोंको रजो-गुणकी परमागतितक वहन करता है। अर्थात् तेजोमय विद्युत्-अभिमानी देवताओंके पास पहुँचा देता है। राजेन्द्र! वह रजोगुण अर्थात् विद्युदभिमानी देवता उनको सत्यकी परमगतितक अर्थात् जहाँ श्रीनारायणके पार्षदगण उनको लेनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं, वहाँतक वहन करता है। शुद्धात्मन्! वहाँसे सत्त्वगुणयुक्त वे भगवान्‌के पार्षद उनको परम प्रभु श्रीनारायणके पास पहुँचा देते हैं। समर्थ राजन्! भगवान् नारायण स्वयं उनको विशुद्ध आत्मा परब्रह्म पर-मात्मामें प्रविष्ट कर देते हैं। परमात्माको पाकर तद्रूप हुए वे निर्मल योगीजन अमृतभावसम्पन्न हो जाते हैं, फिर नहीं लौटते॥

परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्।
सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम् ॥ ७९ ॥

कुन्तीकुमार! जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं, उन महात्माओंको वही परमगति मिलती है ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्थानमुत्तममासाद्य भगवन्तं स्थिरव्रताः।
आजन्ममरणं वा ते स्मरन्त्युत न वानघ ॥ ८० ॥
यदत्र तथ्यं तन्मे त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि।
त्वदृते पुरुषं नान्यं प्रष्टुमर्हामि कौरव ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप पितामह! स्थिरतापूर्वक श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले वे सांख्ययोगी महात्मा भगवान् नारायणको एवं उत्तम परमात्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेनेपर अपने जन्मसे लेकर मृत्युतकके बीते हुए वृत्तान्तको फिर कभी याद करते हैं या नहीं? (मोक्षावस्थामें विशेष-विशेष बातोंका ज्ञान रहता है या नहीं? यही मेरा प्रश्न है।) इस विषयमें जो तथ्य बात है, उसे आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें। कुरुनन्दन! आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषसे मैं ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ ८०-८१ ॥

मोक्षे दोषो महानेष प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन्।
यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे ॥ ८२ ॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप।
मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं नु दुःखतरं भवेत् ॥ ८३ ॥

सिद्धावस्थाको प्राप्त ऋषियोंके लिये मोक्षमें यह एक बड़ा दोष प्रतीत होता है। वह यह कि यदि मोक्ष प्राप्त होनेपर भी वे यतिलोग विशेष ज्ञानमें ही विचरण करते हैं अर्थात् उनको पहलेकी स्मृति रहती है, तब तो मैं प्रवृत्तिरूप धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। यदि कहें, मुक्तावस्थामें विशेष विज्ञानका अनुभव नहीं होता तब तो उस परम ज्ञानमें डूब जानेपर

विशेष जानकारीका अभाव हो जाता है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ८२-८३ ॥

भीष्म उवाच

यथान्यायं त्वया तात प्रश्नः पृष्टः सुसंकटः ।
बुधानामपि सम्मोहः प्रश्नेऽस्मिन् भरतर्षभ ॥ ८४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुमने यथोचित रीतिसे यह बहुत ही जटिल प्रश्न उपस्थित किया। इस प्रश्न-पर विचार करते समय बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम् ।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥ ८५ ॥

इस विषयमें भी जो परम तत्त्व है, उसे मैं भलीभाँति बता रहा हूँ, सुनो। यहाँ कपिलजीके द्वारा प्रतिपादित सांख्य-मतका अनुसरण करनेवाले महात्मा पुरुषोंका जो उत्तम विचार है, वही प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८५ ॥

इन्द्रियाण्येव बुध्यन्ते स्वदेहे देहिनां नृप ।
कारणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः ॥ ८६ ॥

नरेश्वर ! देहधारियोंके अपने-अपने शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, वे ही विशेष-विशेष विषयोंको देखती या अनुभव करती हैं; वे ही आत्माको विभिन्न ज्ञान करानेमें कारण हैं; क्योंकि वह सूक्ष्म आत्मा उन इन्द्रियोंद्वारा ही बाह्य विषयोंका दर्शन या प्रकाशन करता है (मुक्तावस्थामें मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध न रहनेके कारण ही उसमें इन्द्रियजनित विशेष ज्ञानका अभाव देखा जाता है) ॥ ८६ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्यसमानि तु ।
विनश्यन्ति न संदेहः फेना इव महार्णवे ॥ ८७ ॥

जैसे महासागरमें उठे हुए फेन नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर मनुष्यकी काठ और दीवारकी भाँति जड इन्द्रियाँ प्रकृतिमें विलीन हो जाती हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियैः सह सुप्तस्य देहिनः शत्रुतापन ।
सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ॥ ८८ ॥

शत्रुओंको ताप देनेवाले नरेश ! जब शरीरधारी प्राणी इन्द्रियोंसहित निद्रित हो जाता है, तब उसका सूक्ष्मशरीर आकाशमें वायुके समान सर्वत्र विचरण करने लगता है अर्थात् स्वप्न देखने लगता है ॥ ८८ ॥

स पश्यति यथान्यायं स्पर्शान् स्पृशति वा विभो ।
बुध्यमानो यथापूर्वमखिलेनेह भारत ॥ ८९ ॥

प्रभो ! भरतनन्दन ! वह जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति स्वप्न-में भी यथोचित रीतिसे दृश्य वस्तुओंको देखता है तथा स्पृश्य पदार्थोंका स्पर्श करता है। सारांश यह कि सम्पूर्ण विषयोंका वह जाग्रत्‌के समान ही अनुभव करता है ॥ ८९ ॥

इन्द्रियाणीह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि ।
अनीशत्वात् प्रलीयन्ते सर्पा हतविषा इव ॥ ९० ॥

फिर सुषुप्ति-अवस्था होनेपर विषय-ज्ञानमें असमर्थ हुई सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें उसी प्रकार विधिवत् लीन हो जाती हैं, जैसे विषहीन सर्प (भयसे) छिपे रहते हैं ॥ ९० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः ।
आक्रम्य गतयः सूक्ष्माश्चरत्यात्मा न संशयः ॥ ९१ ॥

स्वप्नावस्थामें अपने-अपने स्थानोंमें स्थित हुई सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी समस्त गतियोंको आक्रान्त करके जीवात्मा सूक्ष्म विषयोंमें विचरण करता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९१ ॥

सत्त्वस्य च गुणान् कृत्स्नान् रजसश्च गुणान् पुनः ।
गुणांश्च तमसः सर्वान् गुणान् बुद्धेश्च भारत ॥ ९२ ॥
गुणांश्च मनसश्चापि नभसश्च गुणांश्च सः ।
गुणान् वायोश्च धर्मात्मंस्तेजसश्च गुणान् पुनः ॥ ९३ ॥
अपां गुणांस्तथा पार्थ पार्थिवांश्च गुणानपि ।
सर्वाण्येव गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु युधिष्ठिर ॥ ९४ ॥
मनोऽनु याति क्षेत्रज्ञं कर्मणी च शुभाशुभे ।
शिष्या इव महात्मानमिन्द्रियाणि च तं प्रभो ॥ ९५ ॥
प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम् ।
परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ! परब्रह्म परमात्मा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको एवं बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन सबके सम्पूर्ण गुणोंको तथा अन्य सब वस्तुओंको भी अपने गुणोंद्वारा व्याप्त करके सभी क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) में स्थित हैं, प्रभो ! जैसे शिष्य अपने गुरुके पीछे चलते हैं, उसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ और शुभा-शुभ कर्म भी उस जीवात्माके पीछे-पीछे चलते हैं। जब जीवात्मा इन्द्रियों और प्रकृतिको भी लाँघकर जाता है, तब उस नारायण-स्वरूप अविनाशी परमात्माको प्राप्त हो जाता है, जो द्वन्द्वरहित और मायासे अतीत है ॥ ९२–९६ ॥

विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम् ।
परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥

भारत ! पुण्य-पापसे रहित हुआ सांख्ययोगी मुक्त होकर जब उन्हीं निर्गुण-निर्विकार नारायणस्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह इस संसारमें नहीं लौटता है ॥ ९७ ॥

शिष्टं तत्र मनस्तात इन्द्रियाणि च भारत ।
आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः ॥ ९८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका आत्मा तो परमात्मामें मिल जाता है, परंतु प्रारब्धवश जबतक शरीर रहता है, तबतक उसके मन और इन्द्रियाँ शेष रहते हैं और गुरुके आदेश पालन करनेवाले शिष्योंके समान यथा-समय यहाँ गमनागमन करते हैं ॥ ९८ ॥

शक्यं चाल्पेन कालेन शान्तिं प्राप्तुं गुणार्थिना ।
एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा ॥ ९९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार बताये हुए ज्ञानसे सम्पन्न मोक्षाधिकारी तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष थोड़े ही समयमें परम शान्ति प्राप्त कर सकता है॥

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥१००॥

राजन् ! कुन्तीकुमार ! महाज्ञानी सांख्ययोगी ऊपर बताये हुए इसी परमगतिको प्राप्त होते हैं। इस ज्ञानके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥१०१॥

सांख्यज्ञान सबसे उत्कृष्ट माना गया है। इस विषयमें तुम्हें तनिक भी संशय नहीं होना चाहिये। इसमें अक्षर, ध्रुव एवं पूर्ण सनातन ब्रह्मका ही प्रतिपादन हुआ है ॥१०१॥

अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद् वदन्ति मनीषिणः ॥१०२॥

वह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्तसे रहित, निर्द्वन्द्व, जगत्‌की उत्पत्तिका हेतुभूत, शाश्वत, कूटस्थ और नित्य है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ १०२ ॥

यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यच्च शंसन्ति शास्त्रेषु वदन्ति परमर्षयः ॥१०३॥

संसारकी सृष्टि और प्रलयरूप सारे विकार उसीसे सम्भव होते । महर्षि अपने शास्त्रोंमें उसीकी प्रशंसा करते हैं ॥१०३॥

सर्वे विप्राश्च देवाश्च तथा शमविदो जनाः।
ब्रह्मण्यं परमं देवमनन्तं परमच्युतम् ॥१०४॥
प्रार्थयन्तश्च तं विप्रा वदन्ति गुणबुद्धयः।
सम्यग्युक्तास्तथा योगाः सांख्याश्चामितदर्शनाः ॥१०५॥

समस्त ब्राह्मण, देवता और शान्तिका अनुभव करनेवाले लोग उसी अनन्त, अच्युत, ब्राह्मणहितैषी तथा परमदेव परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना करते हैं। उनके गुणोंका चिन्तन करते हुए उनकी महिमाका गान करते हैं। योगमें उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए योगी तथा अपार ज्ञानवाले सांख्यवेत्ता पुरुष भी उसीके गुण गाते हैं ॥ १०४-१०५ ॥

अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः।
अभिज्ञानानि तस्याहुर्मतं हि भरतर्षभ ॥१०६॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसी प्रसिद्धि है कि यह सांख्यशास्त्र ही उस निराकार परमात्माका आकार है। भरतश्रेष्ठ ! जितने ज्ञान हैं, वे सब सांख्यकी ही मान्यताका प्रतिपादन करते हैं ॥

द्विविधानीह भूतानि पृथिव्यां पृथिवीपते।
जङ्गमागमसंज्ञानि जङ्गमं तु विशिष्यते ॥१०७॥

पृथ्वीनाथ ! इस भूतलपर स्थावर और जङ्गम—दो प्रकारके प्राणी उपलब्ध होते हैं। उनमें भी जङ्गम ही श्रेष्ठ है॥१०७॥

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥१०८॥

राजन् ! नरेश्वर ! महात्मा पुरुषोंमें, वेदोंमें, सांख्यों (दर्शनों) में, योगशास्त्रमें तथा पुराणोंमें जो नाना प्रकारका उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्यसे ही आया हुआ है ॥ १०८ ॥

यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं
यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥१०९॥

नरेश ! महात्मन् ! बड़े-बड़े इतिहासोंमें, सत्पुरुषोंद्वारा सेवित अर्थशास्त्रमें तथा इस संसारमें जो कुछ भी महान् ज्ञान देखा गया है, वह सब सांख्यसे ही प्राप्त हुआ है ॥ १०९ ॥

शमश्च दृष्टः परमं बलं च
ज्ञानं च सूक्ष्मं च यथावदुक्तम्।
तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव
सांख्ये यथावद् विहितानि राजन् ॥११०॥

राजन् ! प्रत्यक्ष प्राप्त मन और इन्द्रियोंका संयम, उत्तम बल, सूक्ष्मज्ञान तथा परिणाममें सुख देनेवाले जो सूक्ष्म तप बतलाये गये हैं, उन सबका सांख्यशास्त्रमें यथावत् वर्णन किया गया है ॥ ११० ॥

विपर्यये तस्य हि पार्थ देवान्
गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन।
तांश्चानुसंचार्य ततः कृतार्थाः
पतन्ति विप्रेषु यतेषु भूयः ॥१११॥

कुन्तीकुमार ! यदि साधनमें कुछ त्रुटि रह जानेके कारण सांख्यका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो तो भी सांख्ययोगके साधक देवलोकमें अवश्य जाते हैं और वहाँ निरन्तर सुखसे रहते हुए देवताओंका आधिपत्य पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। तदनन्तर पुण्यक्षयके पश्चात् वे इस लोकमें आकर पुनः साधनके लिये यत्नशील ब्राह्मणोंके यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं॥

हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं
दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हे
सांख्ये द्विजाः पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥११२॥

पार्थ ! सांख्यज्ञानी शरीर-त्यागके पश्चात् परमदेव परमात्मामें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे देवता स्वर्गमें। पृथ्वीनाथ ! अतः शिष्ट पुरुषोंद्वारा सेवित परम पूजनीय सांख्यशास्त्रमें वे सभी द्विज अधिक अनुरक्त रहते हैं ॥ ११२॥

तेषां न तिर्यग्गमनं हि दृष्टं
नार्वाग्गतिः पापकृताधिवासः।
न वा प्रधाना अपि ते द्विजातयो
ये ज्ञानमेतन्नृपतेऽनुरक्ताः ॥११३॥

राजन्! जो इस सांख्य-ज्ञानमें अनुरक्त हैं, वे ही ब्राह्मण प्रधान हैं, अतः उन्हें मृत्युके पश्चात् कभी पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जाना पड़ा हो, ऐसा नहीं देखा गया है। वे कभी नरकादि अधोगतिको भी नहीं प्राप्त होते हैं तथा उन्हें पापाचारियोंके बीचमें भी नहीं रहना पड़ता है॥ ११३॥

सांख्यं विशालं परमं पुराणं
महार्णवं विमलमुदारकान्तम्।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा
नारायणो धारयतेऽप्रमेयम्॥ ११४॥

सांख्यका ज्ञान अत्यन्त विशाल और परम प्राचीन है। यह महासागरके समान अगाध, निर्मल, उदार भावोंसे परिपूर्ण और अतिसुन्दर है। नरनाथ! परमात्मा भगवान् नारायण इस सम्पूर्ण अप्रमेय सांख्य-ज्ञानको पूर्णरूपसे धारण करते हैं॥ ११४॥

एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं
नारायणो विश्वमिदं पुराणम्।
स सर्गकाले च करोति सर्गं
संहारकाले च तदत्ति भूयः॥ ११५॥
संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं
कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा॥ ११६॥

नरदेव! यह मैंने तुमसे सांख्यका तत्त्व बतलाया है। इस पुरातन विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् नारायण ही सर्वत्र विराजमान हैं। वे ही सृष्टिके समय जगत्की सृष्टि और संहारकालमें उसको अपनेमें विलीन कर लेते हैं। इस प्रकार जगत्को अपने शरीरके भीतर ही स्थापित करके वे जगत्के अन्तरात्मा भगवान् नारायण एकार्णवके जलमें शयन करते हैं॥ ११५-११६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सांख्यकथने एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सांख्यतत्त्वका वर्णनविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०१॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वसिष्ठ और करालजनकका संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्वका निरूपण और इनके ज्ञानसे मुक्ति

युधिष्ठिर उवाच

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः।
किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! वह अक्षर तत्त्व क्या है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता तथा वह क्षर पदार्थ क्या है, जिसको जानने या पा लेनेपर भी पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है?॥ १॥

अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन।
उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वेन कुरुनन्दन॥ २॥

शत्रुसूदन! महाबाहु! कुरुनन्दन! क्षर और अक्षरके स्वरूपको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये ही मैंने आपसे यह प्रश्न किया है॥ २॥

त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः।
ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः॥ ३॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण, महाभाग महर्षि तथा महात्मा यति भी आपको ज्ञाननिधि कहते हैं॥ ३॥

शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे।
आवृते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम्॥ ४॥

अब सूर्यके दक्षिणायनमें रहनेके थोड़े ही दिन शेष हैं। भगवान् सूर्यके उत्तरायणमें पदार्पण करते ही आप परमधामको पधारेंगे॥ ४॥

त्वयि प्रतिगते श्रेयः कुतः श्रोष्यामहे वयम्।
कुरुवंशप्रदीपस्त्वं ज्ञानदीपेन दीप्यसे॥ ५॥

आपके चले जानेपर हमलोग अपने कल्याणकी बातें किससे सुनेंगे? आप कुरुवंशको प्रकाशित करनेवाले प्रदीप हैं और ज्ञानदीपसे उद्भासित हो रहे हैं॥ ५॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह।
न तृप्यामीह राजेन्द्र शृण्वन्नमृतमीदृशम्॥ ६॥

अतः कुरुकुलधुरन्धर! राजेन्द्र! मैं आपहीके मुँहसे यह सब सुनना चाहता हूँ। आपके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती है (अतएव आप मुझे यह क्षर-अक्षरका विषय बताइये।)॥ ६॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च॥ ७॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें कराल नामक जनक और वसिष्ठका जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बतलाऊँगा॥ ७॥

वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम्।
पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम्॥ ८॥

एक समयकी बात है, ऋषियोंमें सूर्यके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ अपने आश्रमपर विराजमान थे। वहाँ राजा जनकने पहुँचकर उनसे परम कल्याणकारी ज्ञानके विषयमें पूछा॥ ८॥

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम्।
मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः॥ ९॥
स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम्।
पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा॥ १०॥
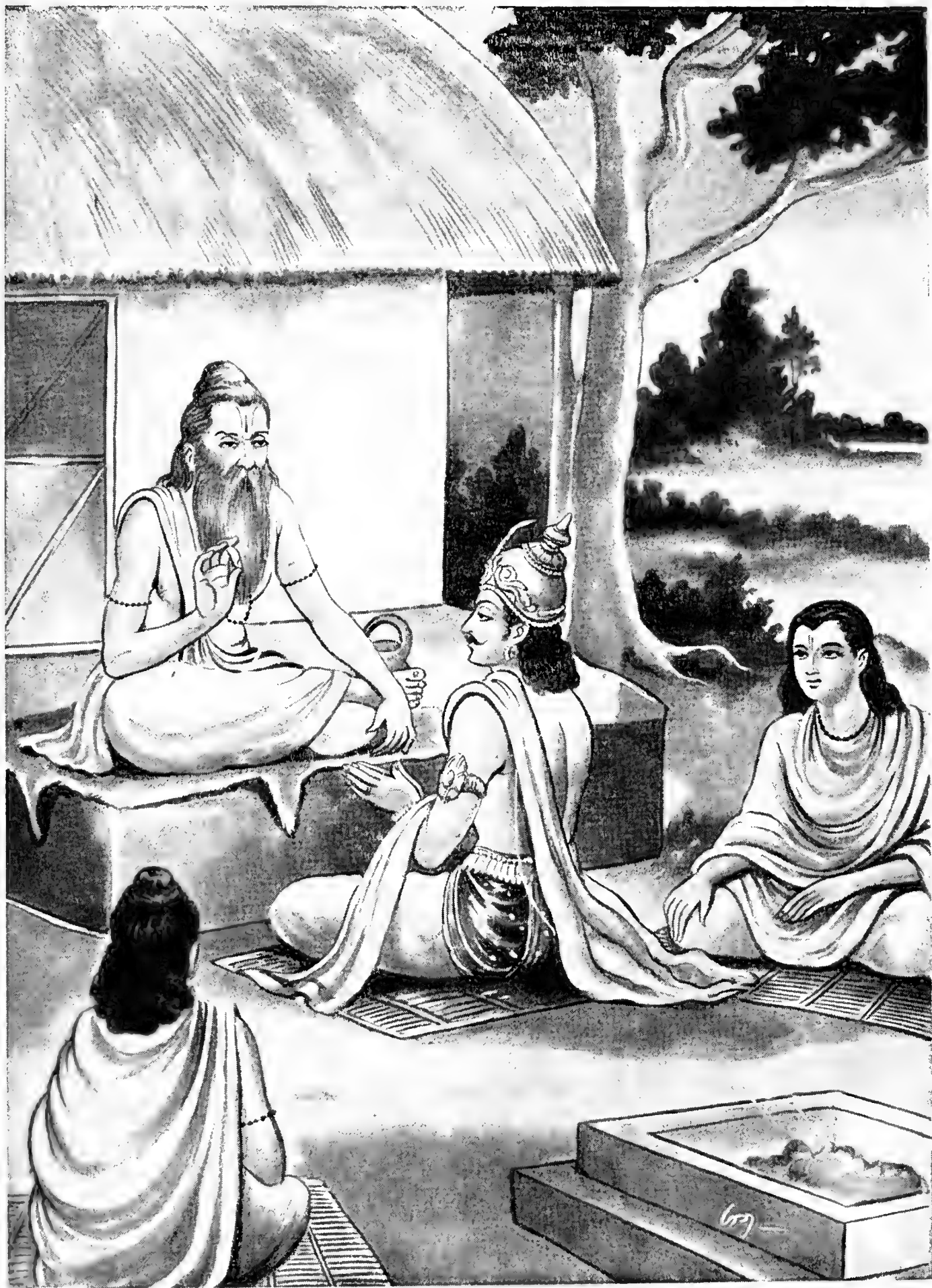
महर्षि वशिष्ठका राजा करालजनकको उपदेश

मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी अध्यात्मविषयक प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे और उन्हें अध्यात्मज्ञानका निश्चय हो गया था। वे एक आसनपर विराजमान थे। पूर्वकालमें कराल नामक राजा जनकने उन मुनिवरके पास जा हाथ जोड़कर प्रणाम किया और सुन्दर अक्षरोंसे युक्त विनयपूर्ण तथा कुतर्करहित मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछा—॥ ९–१० ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम्।
यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः॥ ११॥

'भगवन्! जहाँसे मनीषी पुरुष पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आते हैं, उस सनातन परब्रह्मके स्वरूपका मैं वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ ११ ॥

यच्च तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत्।
यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम्॥ १२॥

'तथा जिसे क्षर कहा गया है, उसे भी जानना चाहता हूँ। जिसमें इस जगत्का क्षरण (लय) होता है और जिसे अक्षर कहा गया है, उस निर्विकार कल्याणमय शिवस्वरूप अधिष्ठानका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ'॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत्।
यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन वाप्यथ॥ १३॥

वसिष्ठजीने कहा—भूपाल! जिस प्रकार इस जगत्का क्षय (परिवर्तन) होता है, उसको तथा जो किसी भी कालमें क्षरित (नष्ट) नहीं होता, उस अक्षरको भी बता रहा हूँ, सुनो॥ १३ ॥

युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम्।
दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते॥ १४॥

देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। इसीको कल्प अर्थात् महायुग समझो। ऐसे एक हजार महायुगोंका ब्रह्माजीका एक दिन बताया जाता है॥ १४ ॥

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्ध्यते।
सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम्॥ १५॥
मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम्॥ १६॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १७॥

राजन्! उनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है; जिसके अन्तमें वे जागते हैं। अनन्तकर्मा ब्रह्माजी सबके अग्रज और महान् भूत हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। जो अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियोंपर शासन करनेवाले हैं, वे कल्याणस्वरूप निराकार परमेश्वर ही उन मूर्तिमान् ब्रह्माकी सृष्टि करते हैं। परमात्मा ज्योतिःस्वरूप स्वयं प्रकट और अविनाशी हैं। उनके हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर हैं। कान भी सब ओर हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं॥ १५–१७॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः॥ १८॥

परमेश्वरसे उत्पन्न जो सबके अग्रज भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, ये ही बुद्धि कहे गये हैं। योगशास्त्रमें ये ही महान् कहे गये हैं। इन्हींको विरिञ्चि तथा अज भी कहते हैं॥ १८॥

सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः॥ १९॥
वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः॥ २०॥

अनेक नाम और रूपोंसे युक्त इन हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सांख्यशास्त्रमें भी वर्णन आता है। ये विचित्र रूपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहे गये हैं। इस अनेक रूपोंवाली त्रिलोकीकी रचना उन्होंने ही की है और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रक्खा है। इस प्रकार बहुत-से रूप धारण करनेके कारण वे विश्वरूप माने गये हैं॥ १९-२० ॥

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम्॥ २१॥

ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकारको प्राप्त हो स्वयं ही अहंकारकी और उसके अभिमानी प्रजापति विराट्की सृष्टि करते हैं॥ २१ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम्।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च॥ २२॥

इनमें निराकारसे साकार रूपमें प्रकट होनेवाली मूल प्रकृतिको तो विद्यासर्ग कहते हैं और महत्तत्त्व एवं अहंकारको अविद्यासर्ग कहते हैं॥ २२ ॥

अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः।
विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः॥ २३॥

अविधि (ज्ञान) और विधि (कर्म) की उत्पत्ति भी उस परमात्मासे ही हुई है। श्रुति तथा शास्त्रके अर्थका विचार करनेवाले विद्वानोंने उन्हें विद्या और अविद्या बतलाया है॥

भूतसर्गमहङ्कारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम्॥ २४॥

पृथ्वीनाथ! अहंकारसे जो सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टि होती है, उसे तीसरा सर्ग समझो। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके अहंकारोंसे जो चौथी सृष्टि उत्पन्न होती है, उसे वैकृत-सर्ग समझो॥ २४॥

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च॥ २५॥

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय वैकृत-सर्गके अन्तर्गत हैं॥ २५॥

एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम्।

पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥ २६ ॥

इन दसोंकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है, इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र! पाँचवाँ भौतिक सर्ग समझो। जो प्राणियोंके लिये विशेष प्रयोजनीय होनेके कारण सार्थक है ॥ २६ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम्।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्ं तथैव च ॥२७॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥ २८ ॥

इस भौतिक सर्गके अन्तर्गत आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पृथ्वीनाथ! मनसहित इन सबकी उत्पत्ति भी एक ही साथ होती है ॥ २७-२८ ॥

एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः॥ २९ ॥

ये चौबीस तत्त्व सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें मौजूद रहते हैं। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर कभी शोक नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

एतद् देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु।
वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेवनरदानवे ॥ ३० ॥
सयक्षभूतगन्धर्वे सकिन्नरमहोरगे।
सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥ ३१ ॥
सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके।
शुनि श्वपाके चैणेये सचाण्डाले सपुल्कसे ॥ ३२ ॥
हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृक्षे गवि चैव ह।
यच्च मूर्तिमयं किंचित् सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ! तीनों लोकोंमें जितने देहधारी हैं, उन सबमें इन्हीं तत्त्वोंके समुदायको देह समझना चाहिये। देवता, मनुष्य, दानव, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, दंश (डंक मारनेवाली मक्खी), कीट, मच्छर, दुर्गन्धित कीड़े, चूहे, कुत्ते, चाण्डाल, हिरन, श्वपाक (कुत्ताका मांस खानेवाला), पुल्कस (म्लेच्छ), हाथी, घोड़े, गधे, सिंह, वृक्ष और गौ आदिके रूपमें जो कुछ मूर्तिमान् पदार्थ है, सर्वत्र इन्हीं तत्त्वोंका दर्शन होता है ॥ ३०–३३ ॥

जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः।
स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३४ ॥

पृथ्वी, जल और आकाशमें ही देहधारियोंका निवास है, और कहीं नहीं; यह विद्वानोंका निश्चय है। ऐसा मैंने सुन रक्खा है ॥ ३४ ॥

कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥ ३५ ॥

हे तात! यह सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् व्यक्त कहलाता है और प्रतिदिन इसका क्षरण होता है, इसलिये इसको क्षर कहते हैं ॥ ३५ ॥

एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत्।
जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम् ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न जो तत्त्व है, उसे अक्षर कहा गया है। इस प्रकार उस अव्यक्त अक्षरसे उत्पन्न हुआ यह व्यक्तसंज्ञक मोहात्मक जगत् क्षरित होनेके कारण क्षर नाम धारण करता है ॥ ३६ ॥

महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत् क्षरनिदर्शनम्।
कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३७ ॥

क्षर-तत्त्वोंमें सबसे पहले महत्तत्त्वकी ही सृष्टि हुई है। यह बात सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। यही क्षरका परिचय है। महाराज! तुमने जो मुझसे पूछा था, उसके अनुसार यह मैंने तुम्हारे समक्ष क्षर-अक्षरके विषयका वर्णन किया है ॥

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः।
तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥

इन चौबीस तत्त्वोंसे परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पचीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वोंको आश्रय देनेके कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं ॥

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति।
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, वे किसी-न-किसी आकार या मूर्तिका आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करनेपर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पचीसवाँ है निराकार परमात्मा ॥३९॥

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान्।
केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥

जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरोंके हृदयदेशमें निवास करते हैं ॥ ४० ॥

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः।
गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥ ४१॥

यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृतिके संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्मसे सम्बद्ध-सा जान पड़ता है। इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियगोचर-सा हो जाता है तथा निर्गुण होनेपर भी गुणवान्-सा जान पड़ता है॥

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः।
विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलयके तत्त्वको जाननेवाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृतिके संसर्गसे युक्त हो विकारवान्-सा हो जाता है एवं प्राकृत-बुद्धिसे रहित होनेपर भी शरीरमें आत्माभिमान कर लेता है ॥ ४२ ॥

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
नियते प्रतिबुद्धित्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥

प्रकृतिके संसर्गवश ही वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त हो जाता है तथा अज्ञानी मनुष्योंका सङ्ग करनेसे उन्हींकी भाँति अपनेको शरीरस्थ समझनेके कारण वह उन-उन सात्त्विक, राजस, तामस योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है ॥

सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते ।
योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रकृतिके सहवाससे अपने स्वरूपका बोध लुप्त हो जानेके कारण पुरुष यह समझने लगता है कि मैं शरीरसे भिन्न नहीं हूँ । 'मैं यह हूँ, वह हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, अमुक जातिका हूँ', इस प्रकार कहता हुआ वह सात्त्विक आदि गुणोंका ही अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥

तमसा तामसान् भावान् विविधान् प्रतिपद्यते ।
रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्त्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

वह तमोगुणसे मोह आदि नाना प्रकारके तामस भावोंको, रजोगुणसे प्रवृत्ति आदि राजस भावोंको तथा सत्त्वगुणका आश्रय लेकर प्रकाश आदि सात्त्विक भावोंको प्राप्त होता है ॥

शुक्लोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु ।
सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥ ४६ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे क्रमशः शुक्ल, रक्त और कृष्ण—ये तीन वर्ण प्रकट होते हैं । प्रकृतिसे जो-जो रूप प्रकट हुए हैं, वे सब इन्हीं तीनों वर्णोंके अन्तर्गत हैं ॥

तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥ ४७ ॥

तमोगुणी प्राणी नरकमें पड़ते हैं, राजस स्वभावके जीव मनुष्यलोकमें जाते हैं तथा सुखके भागी सात्त्विक पुरुष देवलोकको प्रस्थान करते हैं ॥ ४७ ॥

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥ ४८ ॥

अत्यन्त केवल पापकर्मोंके फलस्वरूप जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनिको प्राप्त होता है । पुण्य और पाप दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यलोक मिलता है तथा केवल पुण्यसे प्राणी देवयोनिको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः ।
पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंको क्षर कहते हैं । उपर्युक्त चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व—परमपुरुष परमात्मा बताया गया है, वही अक्षर है । उसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०२॥

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-संसर्गके कारण जीवका अपनेको नाना प्रकारके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियोंमें बारंबार जन्म ग्रहण करना

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते ।
देहाद् देहसहस्राणि तथा समभिपद्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार जीव बोधहीन होनेके कारण अज्ञानका ही अनुसरण करता है; इसीलिये उसे एक शरीरसे सहस्रों शरीरोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥१॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥ २ ॥

वह गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उन्हीं गुणोंकी सामर्थ्यसे कभी सहस्रों बार तिर्यग्योनियोंमें और कभी देवताओंमें जन्म लेता है ॥ २ ॥

मानुषत्वाद् दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च ।
मानुष्यान्निरयस्थानमानन्त्यं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

कभी मानव-योनिसे स्वर्गलोकमें जाता है और कभी स्वर्गसे मनुष्यलोकमें लौट आता है । मनुष्यलोकसे कभी-कभी अनन्त नरकोंमें भी पड़ता है ॥ ३ ॥

कोशकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समवरुन्धति ।
सूत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥ ४ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही उत्पन्न किये हुए तन्तुओंसे अपनेको सब ओरसे बाँध लेता है, उसी प्रकार यह निर्गुण आत्मा भी अपने ही प्रकट किये हुए प्राकृत गुणोंसे बँध जाता है ॥ ४ ॥

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥ ५ ॥

वह स्वयं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेपर भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण करके सुख-दुःखको भोगता है । उसे कभी सिरमें दर्द होता, कभी आँख दुखती, कभी दाँतमें व्यथा होती और कभी गलेमें घेघा निकल आता है ॥

जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।
श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह जलोदर, तृषारोग, ज्वर, गलगण्ड (गलसूआ), विषूचिका (हैजा), सफेद कोढ़, अग्निदाह,

सिध्मा[1] (सफेद दाग या सेहुँवा), अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंका शिकार होता रहता है ॥ ६ ॥

यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥ ७ ॥

इनके सिवा और भी जितने प्रकारके प्रकृतिजन्य विचित्र रोग या द्वन्द्व देहधारियोंमें उत्पन्न होते हैं, उन सबसे यह अपनेको आक्रान्त मानता है ॥ ७ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
अभिमन्यत्यभीमानात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ८ ॥

कभी अपनेको सहस्रों तिर्यग्योनियोंका जीव समझता है और कभी देवत्वका अभिमान धारण करता है तथा इसी अभिमानके कारण उन-उन शरीरोंद्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी भोगता है ॥ ८ ॥

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥ ९ ॥
चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।
इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे तथा ॥ १० ॥
भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्या तलेषु च ।
वीरस्थानाम्बुपङ्के च शयनं फलकेषु च ॥ ११ ॥
विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा ।
मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥ १२ ॥

फलकी आशासे बँधा हुआ मनुष्य कभी नये-धुले सफेद वस्त्र पहनता है और कभी फटे-पुराने मैले वस्त्र धारण करता है, कभी पृथ्वीपर सोता है, कभी मेढकके समान हाथ-पैर सिकोड़कर शयन करता है, कभी वीरासनसे बैठता है और कभी खुले आकाशके नीचे । कभी चीर और वल्कल पहनता है, कभी ईंट और पत्थरपर सोता-बैठता है तो कभी काँटोंके बिछौनोंपर । कभी राख बिछाकर सोता है, कभी भूमिपर ही लेट जाता है, कभी किसी पेड़के नीचे पड़ा रहता है । कभी युद्धभूमिमें, कभी पानी और कीचड़में, कभी चौकियोंपर तथा कभी नाना प्रकारकी शय्याओंपर सोता है । कभी मूँजकी मेखला बाँधे कौपीन धारण करता है, कभी नंग-धड़ंग घूमता है । कभी रेशमी वस्त्र और कभी काला मृगचर्म पहनता है ॥

शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ।
सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥ १३ ॥

कभी सन या ऊनके बने वस्त्र धारण करता है । कभी व्याघ्र या सिंहके चमड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढँक लेता है । कभी रेशमी पीताम्बर पहनता है ॥ १३ ॥

फलकंपरिधानश्च तथा कण्टकवस्त्रधृक् ।
कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥ १४ ॥

कभी फलकवस्त्र (भोजपत्रकी छाल), कभी साधारण वस्त्र और कभी कण्टकवस्त्र धारण करता है । कभी कीड़ोंसे निकले हुए रेशमके मुलायम वस्त्र पहनता है तो कभी चिथड़े पहनकर रहता है ॥ १४ ॥

वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।
भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ १५ ॥

वह अज्ञानी जीव इनके अतिरिक्त भी नाना प्रकारके वस्त्र पहनता, विचित्र-विचित्र भोजनोंके स्वाद लेता और भाँति-भाँतिके रत्न धारण करता है ॥ १५ ॥

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।
चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥ १६ ॥

कभी एक रातका अन्तर देकर भोजन करता है, कभी दिन-रातमें एक बार अन्न ग्रहण करता है और कभी दिनके चौथे, छठे या आठवें पहरमें भोजन करता है ॥ १६ ॥

षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः ।
सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥ १७ ॥

कभी छः रात बिताकर खाता है और कभी सात, आठ, दस अथवा बारह दिनोंके बाद अन्न ग्रहण करता है ॥ १७ ॥

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।
वायुभक्षोऽम्बुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥ १८ ॥

कभी लगातार एक मासतक उपवास करता है । कभी फल खाकर रहता है और कभी कन्द-मूलके भोजनसे निर्वाह करता है । कभी पानी-हवा पीकर रह जाता है । कभी तिलकी खली, कभी दही और कभी गोबर खाकर ही रहता है ॥ १८ ॥

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।
शैवालभोजनश्चैव तथाऽऽचामेन वर्तयन् ॥ १९ ॥

कभी वह गोमूत्रका भोजन करनेवाला बनता है । कभी वह साग, फूल या सेवार खाता है तथा कभी जलका आचमन मात्र करके जीवन-निर्वाह करता है ॥ १९ ॥

वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।
विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाङ्क्षया ॥ २० ॥

कभी सूखे पत्ते और पेड़से गिरे हुए फलोंको ही खाकर रह जाता है । इस प्रकार सिद्धि पानेकी अभिलाषासे वह नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है ॥ २० ॥

चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि च ।
चातुराश्रम्यपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥ २१ ॥

कभी विधिपूर्वक चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करता और अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता है । कभी चारों आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीत पथका भी आश्रय लेता है ॥ २१ ॥

उपाश्रमानप्यपरान् पाषण्डान् विविधानपि ।
विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥ २२ ॥

कभी नाना प्रकारके उपाश्रमों तथा भाँति-भाँतिके

---

१. किसी-किसी टीकाकारने 'सिध्मा' का अर्थ 'खाँसी' और 'दमा' भी किया है । परंतु कोष-प्रसिद्ध अर्थ 'सफेद दाग या सेहुँवा' ही है ।

पाखण्डोंको अपनाता है । कभी एकान्तमें शिलाखण्डोंकी छायामें बैठता और कभी झरनोंके समीप निवास करता है ॥ २२ ॥

पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च ।
देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च ॥ २३ ॥

कभी नदियोंके एकान्त तटोंमें, कभी निर्जन वनोंमें, कभी पवित्र देवमन्दिरोंमें तथा कभी एकान्त सरोवरोंके आसपास रहता है ॥ २३ ॥

विविक्ताश्चापि शैलानां गुहा गृहनिभोपमाः ।
विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च ॥ २४ ॥
नियमान् विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च ।
यज्ञांश्च विविधाकारान् विधींश्च विविधांस्तथा ॥ २५ ॥

कभी पर्वतोंकी एकान्त गुफाओंमें, जो गृहके समान ही होती हैं, निवास करता है । उन स्थानोंमें नाना प्रकारके गोपनीय जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ तथा अन्य भाँति-भाँतिके कर्मोंका अनुष्ठान करता है ॥ २४-२५ ॥

वणिक्पथं द्विजं क्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च ।
दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु ॥ २६ ॥

वह कभी व्यापार करता, कभी ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्तव्यका पालन करता तथा कभी वैश्यों और शूद्रोंके कर्मोंका आश्रय लेता । दीन-दुखी और अन्धोंको नाना प्रकारके दान देता है ॥ २६ ॥

अभिमन्यत्यसम्बोधात् तथैव त्रिविधान् गुणान् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च ॥ २७ ॥

अज्ञानवश वह अपनेमें सत्त्व, रज, तम—इन त्रिविध गुणों और धर्म, अर्थ एवं कामका अभिमान कर लेता है ॥

प्रकृत्याऽऽत्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत ।
स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकारनमस्क्रियाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा प्रकृतिके द्वारा अपने ही स्वरूपके अनेक विभाग करता है । वह कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कारमें प्रवृत्त होता है ॥ २८ ॥

याजनाध्यापनं दानं तथैवाहुः प्रतिग्रहम् ।
यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किंचन ॥ २९ ॥

कभी यज्ञ करता और कराता, कभी वेद पढ़ता और पढ़ाता तथा कभी दान करता और प्रतिग्रह लेता है । इसी प्रकार वह दूसरे-दूसरे कार्य भी किया करता है ॥ २९ ॥

जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च ।
शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम् ॥ ३० ॥

कभी जन्म लेता, कभी मरता तथा कभी विवाद और संग्राममें प्रवृत्त रहता है । विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सब शुभाशुभ कर्ममार्ग है ॥ ३० ॥

प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च ।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्यैकोऽवतिष्ठते ॥ ३१ ॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत् तत्काले नियच्छति ।

प्रकृतिदेवी ही जगत्की सृष्टि और प्रलय करती है । जैसे सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी किरणोंको सब ओर फैलाता और सायंकालमें अपने किरण-जालको समेट लेता है, वैसे ही आदिपुरुष ब्रह्मा अपने दिन—कल्पके आरम्भमें तीनों गुणोंका विस्तार करता और अन्तमें सबको समेटकर अकेला ही रह जाता है ॥ ३१½ ॥

एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥ ३२ ॥
आत्मरूपगुणानेतान् विविधान् हृदयप्रियान् ।

इस प्रकार प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष तत्त्वज्ञान होनेसे पहले मनको प्रिय लगनेवाले नाना प्रकारके अपने व्यापारोंको क्रीडाके लिये बार-बार करता और उन्हें अपना कर्तव्य मानता है ॥ ३२½ ॥

एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणीम् ॥ ३३ ॥
क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः ।
क्रियां क्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते ॥ ३४ ॥

सृष्टि और प्रलय जिसके धर्म हैं, उस त्रिगुणमयी प्रकृतिको विकृत करके तीनों गुणोंका स्वामी आत्मा कर्ममार्गमें अनुरक्त और प्रवृत्त हो उस प्रकृतिके द्वारा होनेवाले प्रत्येक त्रिगुणात्मक कार्यको अपना मान लेता है ॥ ३३—३४ ॥

प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो ।
रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ॥ ३५ ॥

प्रभो ! प्रकृतिने इस सम्पूर्ण जगत्को अन्धा बना रखा है । उसीके संयोगसे समस्त पदार्थ अनेक प्रकारसे रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः ।
ममैवैतानि जायन्ते धावन्ते तानि मामिति ॥ ३६ ॥
निस्तर्तव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप ।
मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ३७ ॥
भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै ।
इहैव चैनं भोक्ष्यामि शुभाशुभफलोदयम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रकृतिकी प्रेरणासे स्वभावतः सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी सदा पुनरावृत्ति होती रहती है; किंतु जीवात्मा अज्ञानवश यह मान बैठता है कि ये सारे द्वन्द्व मुझपर ही धावा करते हैं और मुझे इनसे निस्तार पानेकी चेष्टा करनी चाहिये । (ऐसा मानकर वह दुखी होता है) नरेश्वर ! प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष अज्ञानवश यह मान लेता है कि मैं देवलोकमें जाकर अपने समस्त पुण्योंके फलका उपभोग करूँगा और पूर्वजन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका जो फल प्रकट हो रहा है, उसे यहीं भोगूँगा ॥ ३६—३८ ॥

सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत् कृत्वा सुखं मम ।
यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥ ३९ ॥

अब मुझे सुखके साधनभूत पुण्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये । उसका एक बार भी अनुष्ठान कर लेनेपर मुझे

आजीवन सुख मिलेगा तथा भविष्यमें भी प्रत्येक जन्ममें सुखकी प्राप्ति होती रहेगी ॥ ३९ ॥

भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम्।
महद् दुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥ ४० ॥

यदि इस जन्ममें मैं बुरे कर्म करूँगा तो मुझे यहाँ भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा। यह मानव-जन्म महान् दुःखसे भरा हुआ है। इसके सिवा पापके फलसे नरकमें भी डूबना पड़ेगा ॥ ४० ॥

निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः।
मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात् पौरुषं पुनः ॥ ४१ ॥

नरकसे दीर्घकालके बाद छुटकारा मिलनेपर मैं पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लूँगा। मानवयोनिसे पुण्यके फलस्वरूप देवयोनिमें जाऊँगा और वहाँसे पुण्य-क्षीण होनेपर पुनः मानव-शरीरमें जन्म लूँगा ॥ ४१ ॥

मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति।
य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः ॥ ४२ ॥
तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते।

इसी तरह बारी-बारीसे वह जीव मानव-योनिसे नरकमें (और नरकसे मानवयोनिमें) आता-जाता रहता है। आत्मासे भिन्न तथा आत्माके गुण चैतन्य आदिसे युक्त जो इन्द्रियोंका समुदाय शरीरमें ऐसी भावना रखता है कि 'यह मैं हूँ' वही देवलोक, मनुष्यलोक, नरक तथा तिर्यग्योनि-में जाता है ॥ ४२½ ॥

ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥ ४३ ॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।

स्त्री-पुत्र आदिके प्रति ममतासे बँधा हुआ पुरुष उन्हींके संसर्गमें रहकर सहस्र-सहस्र कोटि सृष्टिपर्यन्त नश्वर शरीरोंमें ही सदा चक्कर लगाता रहता है ॥ ४३½ ॥

य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥ ४४ ॥
स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान्।

जो इस प्रकार शुभाशुभ फल देनेवाला कर्म करता है, वही तीनों लोकोंमें शरीर धारण करके इन उपर्युक्त फलोंको पाता है ॥ ४४½ ॥

प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम्।
प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥ ४५ ॥

वास्तवमें तो प्रकृति ही शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करती है और तीनों लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करनेवाली वह प्रकृति ही उन कर्मोंका फल भोगती है (किंतु पुरुष अज्ञानके कारण कर्ता-भोक्ता बन जाता है) ॥ ४५ ॥

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वं देवलोके तथैव च।
त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात् प्राकृतानि ह ॥ ४६ ॥

तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि तथा देवलोकमें देवयोनि—ये कर्म-फल-भोगके तीन स्थान हैं। इन सबको प्राकृत समझो ॥

अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गैरनुमिमीमहे।
तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते ॥ ४७ ॥

मुनिगण प्रकृतिको लिङ्गरहित बताते हैं; किंतु हमलोग विशेष हेतुओंके द्वारा ही उसका अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार अनुमानद्वारा ही हमें पुरुषके स्वरूपका अर्थात् उसके होनेका ज्ञान होता है ॥ ४७ ॥

स लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणः।
व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय कर्मण्यात्मनि मन्यते ॥ ४८ ॥

पुरुष स्वयं छिद्ररहित होते हुए भी प्रकृतिनिर्मित चिह्नस्वरूप विभिन्न शरीरोंका अवलम्बन करके छिद्रोंमें स्थित रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता बनकर उन सबके कर्मोंको अपनेमें मान लेता है ॥ ४८ ॥

श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यथ।
वागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैः सह ॥ ४९ ॥

इस जगत्में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गुणोंके साथ गुणमय शरीरोंमें स्थित हैं ॥ ४९ ॥

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥ ५० ॥

किंतु यह जीव वास्तवमें इन्द्रियोंसे रहित है तो भी यह मानता है कि मैं ही ये सब कर्म करता हूँ और मुझमें ही सब इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह छिद्रशून्य होकर भी अपनेको छिद्रयुक्त मानता है ॥ ५० ॥

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥ ५१ ॥

वह लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे हीन होनेपर भी अपनेको उससे युक्त मानता है। कालधर्म (मृत्यु) से रहित होकर भी अपनेको कालधर्मी (मरणशील) समझता है। सत्त्वसे भिन्न होकर भी अपनेको सत्त्वरूप मानता है तथा महा-भूतादि तत्त्वसे रहित होकर भी अपने आपको तत्त्व-स्वरूप समझता है ॥ ५१ ॥

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः।
अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥ ५२ ॥

वह मृत्युसे सर्वथा रहित है तो भी अपनेको मृत्युग्रस्त मानता है। अचर होनेपर भी अपनेको चलने-फिरनेवाला मानता है। क्षेत्रसे भिन्न होनेपर भी अपनेको क्षेत्र मानता है। सृष्टिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होनेपर भी सृष्टिको अपनी ही समझता है ॥ ५२ ॥

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः।
अभवो भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ॥ ५३ ॥
अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ५४ ॥

वह कभी तप नहीं करता तो भी अपनेको तपस्वी

मानता है। कहीं गमन नहीं करता तो भी अपनेको आने-जानेवाला समझता है। संसाररहित होकर भी अपनेको संसारी और निर्भय होकर भी अपनेको भयभीत मानता है। यद्यपि वह अक्षर (अविनाशी) है तो भी अपनेको क्षर (नाशवान्) समझता है तथा बुद्धिसे परे होनेपर भी बुद्धिमत्ताका अभिमान रखता है ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृतिके संसर्गदोषसे जीवका पतन

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।
सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! इस तरह अज्ञानके कारण अज्ञानी पुरुषोंका संग करनेसे जीवका निरन्तर पतन होता है तथा उसे हजारों-करोड़ बार जन्म लेने पड़ते हैं ॥ १ ॥

धाम्ना धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।
तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥ २ ॥

वह पशु-पक्षी, मनुष्य तथा देवताओंकी योनियोंमें तथा एक स्थानसे सहस्रों स्थानोंमें बारंबार मरकर जाता और जन्म लेता है ॥ २ ॥

चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।
लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेष ह्यबुद्धिमान् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाका सहस्रों बार क्षय और सहस्रों बार वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी अज्ञानवश ही सहस्रों बार लयको प्राप्त होता है (और जन्म लेता है)॥ ३॥

कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते ।
नित्यमेतद् विजानीहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥ ४॥

राजन्! चन्द्रमाकी पंद्रह कलाओंके समान जीवोंकी पंद्रह कलाएँ ही उत्पत्तिके स्थान हैं। अज्ञानी जीव उन्हींको अपना आश्रय समझता है; परंतु उसकी जो सोलहवीं कला है, उसको तुम नित्य समझो। वह चन्द्रमाकी अमा नामक सोलहवीं कलाके समान है ॥ ४ ॥

कलायां जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान् ।
धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥ ५ ॥

अज्ञानी जीव सदा बारंबार उन्हीं कलाओंमें स्थित हुआ जन्म ग्रहण करता है। वे ही कलाएँ जीवके आश्रय लेने-योग्य हैं, अतः जीवका उन्हींसे पुनः-पुनः जन्म होता रहता है ॥ ५ ॥

षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।
न तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥ ६ ॥

अमा नामक जो सोलहवीं सूक्ष्म कला है, वही सोम है अर्थात् जीवकी प्रकृति है, यह तुम निश्चितरूपसे जान लो। देवतालोग अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियगण जिनको पंद्रह कलाओंके नामसे कहा गया, वे उस सोलहवीं कलाका उपयोग नहीं कर सकते; किंतु वे सोलहवीं कला अर्थात् उन सबकी कारणभूता प्रकृति ही उनका उपयोग करती है ॥ ६ ॥

एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम ।
सा ह्यस्य प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! जीव अपने अज्ञानवश उस सोलहवीं कला-रूप प्रकृतिके संयोगका क्षय नहीं कर पाता, इसलिये बारंबार जन्म ग्रहण करता है। वह ही कला जीवकी प्रकृति अर्थात् उत्पत्तिका कारण देखी गयी है। उसके संयोगका क्षय होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति बतायी जाती है ॥ ७ ॥

तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥

(मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ—एक प्राण और चार प्रकारका अन्तःकरण—इन) सोलह कलाओंसे युक्त जो यह सूक्ष्मशरीर है, इसे 'यह मेरा है' ऐसा माननेके कारण अज्ञानी जीव उसीमें भटकता रहता है ॥ ८ ॥

पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् ।
विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥ ९ ॥
अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग् भवति पार्थिव ।
अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥ १० ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप जो महान् आत्मा है, वह निर्मल एवं विशुद्ध है। उसको न जाननेके कारण तथा शुद्ध-अशुद्ध वस्तुओंके सेवनसे वह निर्मल, संगरहित आत्मा भी शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओंके सदृश हो जाता है। पृथ्वीनाथ! अविवेकी-के संगसे विवेकशील भी अविवेकी हो जाता है ॥ ९-१० ॥

तथैवाप्रतिबुद्धोऽपि विज्ञेयो नृपसत्तम ।
प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत् ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मूर्ख भी विवेकशीलका संग करनेसे विवेकशील हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके सम्बन्धसे निर्गुण आत्मा भी त्रिगुणमय-सा हो जाता है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३०४॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुषके विषयमें राजा जनककी शङ्का और उसका वसिष्ठजीद्वारा उत्तर

जनक उवाच

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते ।
स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥ १ ॥

राजा जनकने कहा—भगवन् ! क्षर और अक्षर (प्रकृति और पुरुष) दोनोंका यह सम्बन्ध वैसा ही माना जाता है, जैसा कि नारी और पुरुषका दाम्पत्य-सम्बन्ध बताया जाता है ॥ १ ॥

ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत ।
ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत् तथा ॥ २ ॥

इस जगत्‌में न तो पुरुषके बिना स्त्री गर्भ धारण कर सकती है और न स्त्रीके बिना कोई पुरुष ही किसी शरीरको उत्पन्न कर सकता है ॥ २ ॥

अन्योन्यस्याभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।
रूपं निर्वर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु ॥ ३ ॥

दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे एक दूसरेके गुणोंका आश्रय लेकर ही किसी शरीरका निर्माण होता है। प्रायः सभी योनियोंमें ऐसी ही स्थिति है ॥ ३ ॥

रत्यर्थमभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।
ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद् वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥ ४ ॥
ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातृगुणास्तथा ।
अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः ॥ ५ ॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम ।
एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते ॥ ६ ॥

जब स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय रतिके लिये पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे दोनोंके गुणोंका मिश्रण होनेपर शरीरकी उत्पत्ति होती है। शरीरमें पुरुष अर्थात् पिताके जो गुण हैं तथा माताके जो गुण हैं, उन्हें मैं दृष्टान्तके तौरपर बता रहा हूँ। हड्डी, स्नायु और मज्जा—इन्हें मैं पितासे प्राप्त हुए गुण समझता हूँ तथा त्वचा, मांस और रक्त—ये मातासे पैदा हुए गुण हैं, ऐसा मैंने सुना है। द्विजश्रेष्ठ ! यही बात वेद और शास्त्रमें भी पढ़ी जाती है ॥ ४–६ ॥

प्रमाणं यत् स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते ।
वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत् सनातनम् ॥ ७ ॥

वेदोंमें जो प्रमाण बताया गया है तथा शास्त्रमें कहे हुए जिस प्रमाणको पढ़ा और सुना जाता है, वह सब ठीक है; क्योंकि वेद और शास्त्र दोनों ही सनातन प्रमाण हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।
एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ॥ ८ ॥
पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते ।

भगवन् ! इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही एक दूसरेके गुणोंको आच्छादित करके एक दूसरेके गुणोंका आश्रय* लेते हुए सृष्टि करते हैं। इस तरह मैं इन दोनोंको सदा एक दूसरेसे सम्बद्ध देखता हूँ। अतः पुरुषके लिये मोक्ष-धर्मकी सिद्धि असम्भव जान पड़ती है ॥ ८½ ॥

अथवानन्तरकृतं किंचिदेव निदर्शनम् ॥ ९ ॥
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा ।

अथवा पुरुषके मोक्षका साक्षात्कार करानेवाला कोई दृष्टान्त हो तो आप उसे बताइये और मुझे ठीक-ठीक समझा दीजिये; क्योंकि आपको सदा सब कुछ प्रत्यक्ष है ॥ ९½ ॥

मोक्षकामा वयं चापि काङ्क्षामो यदनामयम् ।
अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥ १० ॥

मैं भी मोक्षकी अभिलाषा रखता हूँ और उस परम पदको पाना चाहता हूँ, जो निर्विकार, निराकार, अजर, अमर, नित्य और इन्द्रियातीत है तथा जिसे प्राप्त पुरुषका कोई शासक नहीं रहता ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम् ।
एवमेतद् यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान् ॥ ११ ॥

वसिष्ठजीने कहा—राजन् ! तुमने वेद और शास्त्रोंके दृष्टान्त देकर यह जो कुछ कहा है, वह ठीक है। तुम जैसा समझते हो, वैसी ही बात है ॥ ११ ॥

धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः ।
न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥ १२ ॥

* पुरुष प्रकृतिकी जडताको आच्छादित करके उसके दुःखका आश्रय लेता है तथा प्रकृति पुरुषके आनन्दगुणको आच्छादित करके उसके चैतन्य गुणका आश्रय लेती है। तात्पर्य यह कि प्रकृतिके संयोगसे पुरुष आनन्दसे वञ्चित हो दुःखका भागी होता है और प्रकृति पुरुषके संगसे अपनी जडताको भुलाकर चेतनकी भाँति कार्य करने लगती है।

नरेश्वर! इसमें संदेह नहीं कि वेद-शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है, वह सब तुम्हें याद है; परंतु ग्रन्थके यथार्थ तत्त्वका तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है ॥ १२ ॥

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ १३ ॥

जो वेद और शास्त्रके ग्रन्थोंको तो याद रखनेमें तत्पर है, किंतु उनके यथार्थ तत्त्वको नहीं समझता, उसका वह याद रखना व्यर्थ है ॥ १३ ॥

भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ १४ ॥

जो ग्रन्थके अर्थको नहीं समझता, वह केवल रटकर मानो उन ग्रन्थोंका बोझ ढोता है; परंतु जो ग्रन्थके अर्थका तत्त्व समझता है, उसके लिये उस ग्रन्थका अध्ययन व्यर्थ नहीं है ॥ १४ ॥

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति।
यथा तत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥ १५ ॥

ऐसा पुरुष पूछनेपर तत्त्वज्ञानपूर्वक ग्रन्थके अर्थको जैसा समझता है, वैसा दूसरोंको भी बता सकता है ॥ १५ ॥

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान्।
स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥ १६ ॥

जो स्थूल एवं मन्दबुद्धिसे युक्त होनेके कारण विद्वानोंकी सभामें शास्त्रग्रन्थका अर्थ नहीं बता सकता, वह निर्णयपूर्वक उस ग्रन्थका तात्पर्य कैसे कह सकता है?॥१६॥

निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥ १७ ॥

जिसका चित्त शास्त्रज्ञानसे शून्य है, वह ग्रन्थके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय कर ही नहीं सकता। यदि वह कुछ कहता है तो मनस्वी होनेपर भी लोगोंके उपहासका पात्र बनता है ॥ १७ ॥

तस्मात् त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते।
याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥ १८ ॥

इसलिये राजेन्द्र! सांख्य और योगके ज्ञाता महात्मा पुरुषोंके मतमें मोक्षका जैसा स्वरूप देखा जाता है, उसे मैं तुम्हें यथार्थरूपसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं; सांख्यवेत्ता विद्वान् भी उसीका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो सांख्य और योगको फलकी दृष्टिसे एक समझता है, वही बुद्धिमान् है॥१९॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च।
अथ चैन्द्रियकं तात तद् भवानिदमाह माम् ॥ २० ॥

तात! तुम मुझसे कह चुके हो कि शरीरमें जो त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, स्नायु और इन्द्रियसमुदाय हैं (वे सब माता-पिताके सम्बन्धसे प्रकट हुए हैं) ॥ २० ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा।
देहाद् देहमवाप्नोति बीजाद् बीजं तथैव च ॥ २१ ॥

जैसे बीजसे बीजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार द्रव्यसे द्रव्य, इन्द्रियसे इन्द्रिय तथा देहसे देहकी प्राप्ति होती है॥२१॥

निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः।
कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥ २२ ॥

परंतु परमात्मा तो इन्द्रिय, बीज, द्रव्य और देहसे रहित तथा निर्गुण है; अतः उसमें गुण कैसे हो सकते हैं ॥

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च।
एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥ २३ ॥

जैसे आकाश आदि गुण सत्त्व आदि गुणोंसे उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन हो जाते हैं; उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण भी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और उसीमें लीन होते हैं ॥ २३ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च।
अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै ॥ २४ ॥

राजन्! तुम यह जान लो कि त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु—ये आठों वस्तुएँ वीर्यसे उत्पन्न हुई हैं; इसलिये प्राकृत ही हैं ॥ २४ ॥

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम्।
न वापुमान् पुमांश्चैव स लिङ्गीत्यभिधीयते ॥ २५ ॥

पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं। इनके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले जो तीन प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस चिह्न हैं, वे सब प्राकृत माने गये हैं; परंतु जो लिङ्गी अर्थात् इन सबका आधार आत्मा है, वह न पुरुष कहा जा सकता है और न प्रकृति ही। वह इन दोनोंसे विलक्षण है ॥ २५ ॥

अलिङ्गात् प्रकृतिर्लिङ्गैरुपालभ्यति सात्मजैः।
यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्तयस्तथा ॥ २६ ॥

जैसे फूलों और फलोंद्वारा सदा निराकार ऋतुओंका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार निराकार पुरुषका संयोग पाकर अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए जो महत्तत्त्व आदि लिङ्ग हैं, उन्हींके द्वारा प्रकृति अनुमानका विषय होती है ॥

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते।
पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥ २७ ॥

इसी प्रकार लिङ्गसे भिन्न जो शुद्ध चेतनरूप आत्मा है, वह भी अनुमानसे बोधका विषय होता है अर्थात् जैसे दृश्यको प्रकाशित करनेके कारण सूर्य दृश्यसे भिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मा भी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उनसे भिन्न सत्ता रखता है। तात! वही पचीसवाँ तत्त्व है, जो सभी लिङ्गोंमें नियतरूपसे व्याप्त है॥

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते॥ २८॥

आत्मा तो जन्म-मृत्युसे रहित, अनन्त, सबका द्रष्टा और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणोंमें केवल अभिमान करनेके कारण ही गुणस्वरूप कहलाता है॥ २८॥

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः॥ २९॥
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति॥ ३०॥

गुण तो गुणवान्‌में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मामें गुण कैसे रह सकते हैं। अतः गुणोंके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणोंको प्रकृतिका कार्य मानकर उनमें अपनेपनका अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदिमें आत्मबुद्धिका परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है॥

यत् तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्या योगाश्च सर्वशः।
बुद्ध्यमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात्॥ ३१॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम्।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च॥ ३२॥
प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः।
सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः॥ ३३॥

सांख्य और योगके सम्पूर्ण विद्वान् जिसको बुद्धिसे परे बताते हैं, जो परम ज्ञानसम्पन्न है, अहंकार आदि जड तत्त्वोंका परित्याग (बाध) कर देनेपर शेष रहे हुए चिन्मय तत्त्वके रूपमें जिसका बोध होता है, जो अज्ञात, अव्यक्त, सगुण ईश्वर, निर्गुण ईश्वर, नित्य और अधिष्ठाता कहा गया है, वह परमात्मा ही प्रकृति और उसके गुणों (चौबीस तत्त्वों) की अपेक्षा पचीसवाँ तत्त्व है, ऐसा सांख्य और योगमें कुशल तथा परमतत्त्वकी खोज करनेवाले विद्वान् पुरुष समझते हैं॥ ३१–३३॥

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः।
बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा॥ ३४॥

जिस समय बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था अथवा जन्म-मरणसे भयभीत हुए विवेकी पुरुष चेतन-स्वरूप अव्यक्त परमात्माके तत्त्वको ठीक-ठीक समझ लेते हैं, उस समय उन्हें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है॥ ३४॥

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम्।
बुध्यमानाप्रबुद्धानां पृथक्पृथगरिंदम॥ ३५॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश! ज्ञानी पुरुषोंका यह ज्ञान युक्तियुक्त होनेके कारण उत्तम और (अज्ञानियोंकी धारणासे) पृथक् है। इसके विपरीत अज्ञानी पुरुषोंका जो अप्रामाणिक ज्ञान है, वह युक्तियुक्त न होनेके कारण ठीक नहीं है। यह पूर्वोक्त सम्यक् ज्ञानसे पृथक् है॥ ३५॥

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम्।
एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते॥ ३६॥

क्षर और अक्षरके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला यह दर्शन मैंने तुम्हें बताया है। क्षर और अक्षरमें परस्पर क्या अन्तर है? इसे इस प्रकार समझो—सदा एकरूपमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको अक्षर बताया गया है और नाना रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह प्राकृत प्रपञ्च क्षर कहलाता है॥ ३६॥

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम्॥ ३७॥

जब यह पुरुष पचीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति उत्तम बतायी जाती है—वह ठीक बर्ताव करता है, ऐसा माना जाता है। एकत्वका बोध ही ज्ञान है और नानात्वका बोध ही अज्ञान है॥ ३७॥

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम्।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः॥ ३८॥
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम्।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम्॥ ३९॥

तत्त्व (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) का यह पृथक्-पृथक् लक्षण समझना चाहिये। कुछ मनीषी पुरुष पचीस तत्त्वोंको ही तत्त्व कहते हैं; परंतु दूसरे विद्वानोंने चौबीस जड तत्त्वोंको तो तत्त्व कहा है और पचीसवें चेतन परमात्माको निस्तत्त्व (तत्त्वसे भिन्न) बताया है। यह चैतन्य ही परमात्मा-का लक्षण है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं, वे क्षरतत्त्व हैं और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' तत्त्वोंसे भिन्न उनका सनातन आधार है॥ ३८-३९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३०५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०५॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योग और सांख्यके स्वरूपका वर्णन तथा आत्मज्ञानसे मुक्ति

जनक उवाच

नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम।
पश्याम्येतद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम्॥ १॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! आपने क्षरको अनेक रूप और अक्षरको एकरूप बताया; किंतु इन दोनोंके तत्त्वका जो निर्णय किया गया है, उसे मैं अब भी संदेहकी दृष्टिसे ही देखता हूँ॥ १॥

तथा बुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुद्ध्यमानस्य चानघ।
स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्त्वमेतन्न संशयः॥ २॥

निष्पाप महर्षे! जिसे अज्ञानी पुरुष (अनेक रूपमें) और ज्ञानी पुरुष एक रूपमें जानते हैं, उस परमात्माका तत्त्व मैं अपनी स्थूल बुद्धिके कारण समझ नहीं पाता हूँ। मेरे इस कथनमें तनिक भी संशय नहीं है॥ २॥

अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम्।
तदप्यस्थिरबुद्धित्वात् प्रणष्टमिव मेऽनघ॥ ३॥

अनघ! यद्यपि आपने क्षर और अक्षरको समझानेके लिये अनेक प्रकारकी युक्तियाँ बतायी हैं तथापि मेरी बुद्धि अस्थिर होनेके कारण मैं उन सारी युक्तियोंको मानो भूल गया हूँ॥ ३॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम्।
बुद्धं चाप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः॥ ४॥

इसलिये इस नानात्व और एकत्व-रूप दर्शनको मैं पुनः सुनना चाहता हूँ। बुद्ध (ज्ञानवान्) क्या है? अप्रतिबुद्ध (ज्ञानहीन) क्या है? तथा बुद्ध्यमान (ज्ञेय) क्या है? यह ठीक-ठीक बताइये॥ ४॥

विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं क्षरमेव च।
साङ्ख्यं योगं च कार्त्स्न्येन पृथक् चैवापृथक् च ह॥५॥

भगवन्! मैं विद्या, अविद्या, अक्षर और क्षर तथा सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् पूर्णरूपसे समझना चाहता हूँ॥ ५॥

वसिष्ठ उवाच

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि।
योगकृत्यं महाराज पृथगेव शृणुष्व मे॥ ६॥

वसिष्ठजीने कहा—महाराज! तुम जो-जो बातें पूछ रहे हो, मैं उन सबका भलीभाँति उत्तर दूँगा। इस समय योगसम्बन्धी कृत्यका पृथक् ही वर्णन कर रहा हूँ, सुनो॥

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम्।
तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः॥ ७॥
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च।
प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा॥ ८॥

योगियोंके लिये प्रधान कर्तव्य है ध्यान। वही उनका परम बल है। योगके विद्वान् उस ध्यानको दो प्रकारका बतलाते हैं—एक तो मनकी एकाग्रता और दूसरा प्राणायाम। प्राणायामके भी दो भेद हैं—सगुण और निर्गुण। इनमेंसे जिस प्राणायाममें मनका सम्बन्ध सगुणके साथ रहता है, वह सगुण प्राणायाम है और जिसमें मनका सम्बन्ध निर्गुणके साथ रहता है, वह निर्गुण प्राणायाम है॥ ७-८॥

मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप।
त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः॥ ९॥

नरेश्वर! मलत्याग, मूत्रत्याग और भोजन—इन तीन कार्योंमें जो समय लगता है, उसमें योगका अभ्यास न करे। शेष समयमें तत्परतापूर्वक योगका अभ्यास करना चाहिये॥ ९॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः॥ १०॥
संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ।
तिष्ठन्तमजरं तं तु यत् तदुक्तं मनीषिभिः॥ ११॥

बुद्धिमान् योगीको चाहिये कि पवित्र हो मनके द्वारा श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको शब्द आदि विषयोंसे हटावे एवं बाईस[1] प्रकारकी प्रेरणाओंद्वारा उस जरारहित जीवात्माको, जिसे मनीषी पुरुषोंने आत्मस्वरूप बताया है, चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप प्रकृतिसे परे परम पुरुष परमात्माकी ओर प्रेरित करे॥ १०-११॥

तैश्चात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम।
व्रतं ह्यहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः॥ १२॥

हमने गुरुजनोंके मुखसे सुना है कि जो लोग इस प्रकार प्राणायाम करते हैं, वे सदा ही परब्रह्म परमात्माके जाननेके अधिकारी होते हैं। जिसका मन सदा ध्यानमें संलग्न रहता है, ऐसे योगीके ही योग्य यह व्रत है अन्यथा बहिर्मुख चित्तवाले पुरुषके लिये यह नहीं है। यह निश्चितरूपसे जानना चाहिये॥ १२॥

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पूर्वरात्रेऽपररात्रे धारयीत मनोऽऽत्मनि॥ १३॥

योगी सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो मिताहारी और जितेन्द्रिय बने तथा रात्रिके पहले और पिछले भागमें मनको आत्मामें एकाग्र करे॥ १३॥

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः॥ १४॥
स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते॥ १५॥

---

१. जैसे घड़ेमें जल भरा जाता है, उसी प्रकार पादाङ्गुष्ठसे लेकर मूर्धातक सम्पूर्ण शरीरमें नासिकाके छिद्रोंद्वारा वायुको खींचकर भर ले। फिर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा) से वायुको हटाकर ललाटमें स्थापित करे। यह प्राणवायुके प्रत्याहारका पहला स्थान है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर हटाते और रोकते हुए क्रमशः भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकामूल, जिह्वामूल, कण्ठकूप, हृदयमध्य, नाभिमध्य, मेढ्र (उपस्थका मूलभाग), उदर, गुदा, ऊरुमूल, ऊरुमध्य, जानु, चितिमूल, जङ्घामध्य, गुल्फ और पादाङ्गुष्ठ—इन स्थानोंमें वायुको ले जाकर स्थापित करे। इन अट्ठारह स्थानोंमें किये हुए प्रत्याहारोंको अठारह प्रकारकी प्रेरणा समझना चाहिये। इनके सिवा ध्यान, धारणा, समाधि तथा 'सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति' (बुद्धि और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका बोध)—ये चार प्रेरणाएँ और हैं। ये ही सब मिलकर बाईस प्रकारकी प्रेरणाएँ कही गयी हैं।

मिथिलेश्वर ! जब योगी मनके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करके पत्थरकी भाँति अविचल हो जाय, सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतकी तरह स्थिर रहने लगे तभी शास्त्रके विधानको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अपने अनुभवसे ही उसको योगयुक्त कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

न शृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ १६ ॥
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

जिस समय वह न तो सुनता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्शका ही अनुभव करता है, जब उसके मनमें किसी प्रकारका संकल्प नहीं उठता तथा काठकी भाँति स्थित होकर वह किसी भी वस्तुका अभिमान या सुध-बुध नहीं रखता, उसी समय मनीषी पुरुष उसे अपने शुद्धस्वरूपको प्राप्त एवं योगयुक्त कहते हैं ॥ १६-१७ ॥

निर्वाते हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात्॥ १८ ॥

उस अवस्थामें वह वायुरहित स्थानमें रखे हुए निश्चलभावसे प्रज्वलित दीपककी भाँति प्रकाशित होता है । लिङ्ग शरीरसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । वह ऐसा निश्चल हो जाता है कि उसकी ऊपर-नीचे अथवा मध्यमें कहीं भी गति नहीं होती ॥ १८ ॥

तदा तमनुपश्येत यस्मिन् दृष्टे न कथ्यते ।
हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥ १९ ॥

जिनका साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य कुछ बोल नहीं पाता, योगकालमें योगी उसी परमात्माको देखे । वत्स ! मुझ-जैसे लोगोंको अपने-अपने हृदयमें स्थित सबके ज्ञाता अन्तरात्माका ही ज्ञान प्राप्त करना उचित है ॥ १९ ॥

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ।२०।

ध्याननिष्ठ योगीको अपने हृदयमें उसी प्रकार परमात्माका साक्षात् दर्शन होता है जैसे धूमरहित अग्निका, किरणमालाओंसे मण्डित सूर्यका तथा आकाशमें विद्युत्के प्रकाशका दर्शन होता है ॥ २० ॥

ये पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ २१ ॥

धैर्यवान्, मनीषी, ब्रह्मबोधक शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवाले और महात्मा ब्राह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृतस्वरूप ब्रह्मका दर्शन कर पाते हैं ॥ २१ ॥

तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तत् तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन् न दृश्यते ॥ २२ ॥

वह ब्रह्म अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा गया है । सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर वह अन्तर्यामीरूपसे अवश्य स्थिर रहता है तथापि किसीको दिखायी नहीं देता है ॥ २२ ॥

बुद्धिद्रव्येण दृश्येत मनोदीपेन लोककृत् ।
महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥ २३ ॥
स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः ।
विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥ २४ ॥
योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥ २५ ॥

सूक्ष्म बुद्धिरूप धन-सम्पन्न पुरुष ही मनोमय दीपकके द्वारा उस लोकस्रष्टा परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं । वह परमात्मा महान् अन्धकारसे परे और तमोगुणसे रहित है; इसलिये वेदके पारगामी सर्वज्ञ पुरुषोंने उसे तमोनुद (अज्ञान-नाशक) कहा है । वह निर्मल, अज्ञानरहित, लिङ्गहीन और अलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध (उपाधिशून्य) है । यही योगियोंका योग है । इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है । इस तरह साधना करनेवाले योगी सबके द्रष्टा अजर-अमर परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ २३–२५ ॥

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ।
सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥ २६ ॥

यहाँतक मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे योग-दर्शनकी बात बतायी है, अब सांख्यका वर्णन करता हूँ; यह विचारप्रधान दर्शन है ॥ २६ ॥

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः ।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रकृतिवादी विद्वान् मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं । उससे दूसरा तत्त्व प्रकट हुआ, जिसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ २७ ॥

अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम् ।
पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥ २८ ॥

महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट हुआ, जो तीसरा तत्त्व है । ऐसा हमारे सुननेमें आया है । अहंकारसे पाँच सूक्ष्म भूतोंकी अर्थात् पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई; यह सांख्यात्मदर्शी विद्वानोंका कथन है ॥ २८ ॥

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥२९ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ हैं । इनसे सोलह तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, जिन्हें विकार कहते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकार हैं । इनमेंसे आकाश आदि पाँच तत्त्व और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये विशेष कहलाते हैं ॥ २९ ॥

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।
सांख्ये विधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥ ३० ॥

सांख्यशास्त्रीय विधिविधानके ज्ञाता और सदा सांख्यमार्गमें ही अनुरक्त रहनेवाले मनीषी पुरुष इतनी ही सांख्यसम्मत

तत्त्वोंकी संख्या बतलाते हैं। अर्थात् अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन आठ प्रकृतियोंसहित उपर्युक्त सोलह विकार मिलकर कुल चौबीस तत्त्व सांख्यशास्त्रके विद्वानोंने स्वीकार किये हैं ॥ ३० ॥

यस्माद् यदभिजायेत तत् तत्रैव प्रलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चान्तरात्मना ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व जिससे उत्पन्न होता है, वह उसीमें लीन भी होता है। अनुलोमक्रमसे उन तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है (जैसे प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे सूक्ष्म भूत आदिके क्रमसे सृष्टि होती है); परंतु उनका संहार विलोमक्रमसे होता है (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है। इस तरह सभी तत्त्व अपने-अपने कारणमें लीन होते हैं)। ये सभी तत्त्व अन्तरात्माद्वारा ही रचे जाते हैं ॥ ३१ ॥

अनुलोमेन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः ।
गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रसे उठी हुई लहरें फिर उसीमें शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण गुण (तत्त्व) सदा अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते और विलोमक्रमसे अपने कारणभूत गुणों (तत्त्व) में ही लीन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ॥ ३३ ॥
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः ।
अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥ ३४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इतना ही प्रकृतिके सर्ग और प्रलयका विषय है। प्रलयकालमें इसका एकत्व है और जब रचना होती है, तब इसके बहुत भेद हो जाते हैं। राजेन्द्र ! ज्ञाननिपुण पुरुषोंको इसी प्रकार प्रकृतिका एकत्व और नानात्व जानना चाहिये। अव्यक्त प्रकृति ही अधिष्ठाता पुरुषको सृष्टिकालमें नानात्वकी ओर ले जाती है। यही पुरुषके एकत्वका निदर्शन है ॥ ३३-३४ ॥

एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान् ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥ ३५ ॥

अर्थ-तत्त्वके ज्ञाता पुरुषको यह जानना चाहिये कि प्रलयकालमें प्रकृतिमें भी एकता और सृष्टिकालमें अनेकता रहती है। इसी प्रकार पुरुष भी प्रलयकालमें एक ही रहता है; किंतु सृष्टिकालमें प्रकृतिका प्रेरक होनेके कारण उसमें नानात्वका आरोप हो जाता है ॥ ३५ ॥

बहुधाऽऽत्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् ।
तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥ ३६ ॥

परमात्मा ही प्रसवात्मिका प्रकृतिको नाना रूपोंमें परिणत करता है। प्रकृति और उसके विकारको क्षेत्र कहते हैं। चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व महान् आत्मा है, वह क्षेत्रमें अधिष्ठातारूपसे निवास करता है ॥ ३६ ॥

अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः ।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! इसीलिये यतिशिरोमणि उसे अधिष्ठाता कहते हैं। क्षेत्रोंका अधिष्ठान होनेके कारण वह अधिष्ठाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ ३७ ॥

क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते ।
अव्यक्तिके पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते ॥ ३८ ॥

वह अव्यक्तसंज्ञक क्षेत्र (प्रकृति) को जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है और प्राकृत शरीररूपी पुरीमें अन्तर्यामीरूपसे शयन करनेके कारण उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३८ ॥

अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञाता वै पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

वास्तवमें क्षेत्र अन्य वस्तु है और क्षेत्रज्ञ अन्य। क्षेत्र अव्यक्त कहा गया है और क्षेत्रज्ञ उसका ज्ञाता पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ३९ ॥

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते ।
ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥ ४० ॥

ज्ञान अन्य वस्तु है और ज्ञेय उससे भिन्न कहा जाता है। ज्ञान[1] अव्यक्त कहा गया है और ज्ञेय पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ।
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ ४१ ॥

अव्यक्तको क्षेत्र कहा गया है। उसीको सत्त्व (बुद्धि) और शासककी भी संज्ञा दी गयी है; परंतु पचीसवाँ तत्त्व परमपुरुष परमात्मा जड तत्त्व और ईश्वरसे रहित भिन्न है ॥

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

इतना ही सांख्यदर्शन है। सांख्यके विद्वान् तत्त्वोंकी संख्या (गणना) करते और प्रकृतिको ही जगत्का कारण बताते हैं। इसीलिये इस दर्शनका नाम सांख्यदर्शन है ॥ ४२ ॥

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

सांख्यवेत्ता पुरुष प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंकी परिगणना करके परमपुरुषको जड तत्त्वोंसे भिन्न पचीसवाँ निश्चित करते हैं ॥ ४३ ॥

पञ्चविंशोऽप्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ।
यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ४४ ॥

वह पचीसवाँ प्रकृतिरूप नहीं है। उससे सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप माना गया है। जब वह अपने-आपको प्रकृतिसे भिन्न नित्य-चिन्मय जान लेता है, उस समय केवल हो जाता है अर्थात् अपने विशुद्ध परब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे बुद्धिवृत्तिको समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः।
एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मैंने तुमसे यह सम्यग्दर्शन (सांख्य) का यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे शान्तस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥

सम्यङ्निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा।
गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणोऽन्यस्तथा भवेत् ॥ ४६ ॥

प्रकृति-पुरुषका प्रत्यक्ष-दर्शन (अपरोक्ष-अनुभव) ही सम्यग्दर्शन है। ये जो गुणमय तत्त्व हैं, इनसे भिन्न परमपुरुष परमात्मा निर्गुण हैं ॥ ४६ ॥

न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः।
विद्यतेऽक्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥ ४७ ॥

इस दर्शनके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेवालोंकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती; क्योंकि वे अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, अतः परापरस्वरूप निर्विकार परब्रह्मरूपसे ही उनकी स्थिति होती है ॥ ४७ ॥

पश्येरन्नैकमतयो न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥ ४८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जिनकी बुद्धि नानात्वका दर्शन करती है, उन्हें सम्यक्-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसे लोगोंको बारंबार शरीर धारण करना पड़ता है ॥ ४८ ॥

सर्वमेतद् विजानन्तो नासर्वस्य प्रबोधनात्।
व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥ ४९ ॥

जो इस सारे प्रपञ्चको ही जानते हैं, वे इससे भिन्न परमात्माका तत्त्व न जाननेके कारण निश्चय ही शरीरधारी होंगे और शरीर तथा काम-क्रोध आदि दोषोंके वशवर्ती बने रहेंगे ॥ ४९ ॥

सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥ ५० ॥

'सर्व' नाम है अव्यक्त प्रकृतिका और उससे भिन्न पचीसवें तत्त्व परमात्माको असर्व कहा गया है। जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, उन्हें आवागमनका भय नहीं होता है ।५०।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विद्या-अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका एवं विवेकीके उद्धारका वर्णन

वसिष्ठ उवाच

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम।
विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! यहाँतक मैंने तुम्हें सांख्यदर्शनकी बात बतायी है। अब इस समय तुम मुझसे विद्या और अविद्याका वर्णन क्रमसे सुनो १ ॥

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पञ्चविंशकः ॥ २ ॥

मुनियोंने सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाले कार्यसहित अव्यक्तको ही अविद्या कहा है तथा चौबीस तत्त्वोंसे परे जो पचीसवाँ तत्त्व परम पुरुष परमात्मा है, जो सृष्टि और प्रलयसे रहित है, उसीको विद्या कहते हैं ॥ २ ॥

परस्परस्य विद्यां वै त्वं नबोधानुपूर्वशः।
यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्याभिनिदर्शनम् ॥ ३ ॥

तात ! ऋषियोंने जिस प्रकार सांख्यदर्शनकी बात बतायी है, उसी प्रकार तुम अव्यक्तका जो पारस्परिक भेद है, उनमें जो जिसकी विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है, उसका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ ३ ॥

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम्।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥ ४ ॥

हमने सुन रक्खा है कि समस्त कर्मेन्द्रियोंकी विद्या ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंकी विद्या पञ्चमहाभूत हैं ॥ ४ ॥

विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः।
मनसः पञ्च भूतानि विद्या इत्यभिचक्षते ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि स्थूल पञ्चभूतोंकी विद्या मन है और मनकी विद्या सूक्ष्म पञ्चभूत हैं ॥ ५ ॥

अहङ्कारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः।
अहङ्कारस्य च तथा बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! उन सूक्ष्मपञ्चभूतोंकी विद्या अहंकार है, इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकारकी विद्या बुद्धि मानी गयी है ॥ ६ ॥

विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी।
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! अव्यक्त नामवाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्त्वोंकी विद्या है। यह विद्या जानने योग्य है। इसीको ज्ञानकी परम विधि कहते हैं ॥ ७ ॥

अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम्।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥ ८ ॥

पचीसवें तत्त्वके रूपमें जिस परम पुरुष परमात्माकी

चर्चा की गयी है, उसीको अव्यक्त प्रकृतिकी परम विद्या बताया गया है। राजन्! वही सम्पूर्ण ज्ञानका सर्वरूप ज्ञेय है॥

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः।
तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः॥ ९॥

ज्ञान अव्यक्त कहा गया है और परम पुरुष ज्ञेय बताया गया है, उसी प्रकार ज्ञान अव्यक्त है और उसका ज्ञाता परम पुरुष है॥ ९॥

विद्याविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः।
अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे॥ १०॥

राजन्! मैंने तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे विद्यासहित अविद्याका विशेषरूपसे वर्णन किया है। अब जो क्षर और अक्षर तत्त्व कहे गये हैं; उनके विषयमें मुझसे सुनो॥ १०॥

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ।
कारणं तु प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं तु ज्ञानतः॥ ११॥

सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही अक्षर कहा गया है तथा ये ही दोनों क्षर भी हैं। मैं अपने ज्ञानके अनुसार इसका यथार्थ कारण बतलाता हूँ॥ ११॥

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ।
तत्त्वसंज्ञावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः॥ १२॥

ये दोनों ही अनादि और अनन्त हैं; अतः परस्पर संयुक्त होकर दोनों ही ईश्वर (सर्वसमर्थ) माने गये हैं। सांख्यज्ञानका विचार करनेवाले विद्वान् इन दोनों-को ही 'तत्त्व' कहते हैं॥ १२॥

सर्गप्रलयधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम्।
तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः॥ १३॥

सृष्टि और प्रलय प्रकृतिका धर्म है। इसलिये प्रकृतिको अक्षर कहा गया है। वही प्रकृति महत्तत्त्व आदि गुणोंकी सृष्टिके लिये बारंबार विकारको प्राप्त होती है; इसलिये उसे क्षर भी कहा जाता है॥ १३॥

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम्।
अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तत् पञ्चविंशकम्॥ १४॥

महत्तत्त्व आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषके परस्पर संयोगसे होती है; अतः एक दूसरेका अधिष्ठान होनेके कारण पुरुषको भी क्षेत्र कहते हैं॥ १४॥

यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत्।
तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते॥ १५॥

योगी जब अपने योगके प्रभावसे प्रकृतिके गुणसमूहको अव्यक्त मूल प्रकृतिमें विलीन कर देता है, तब उन गुणोंका विलय होनेके साथ-साथ पचीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मामें मिल जाता है। इस दृष्टिसे उसे भी क्षर कह सकते हैं॥ १५॥

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत्।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते॥ १६॥

तात! जब कार्यभूत गुण कारणभूत गुणोंमें लीन हो जाते हैं, उस समय सब कुछ एकमात्र प्रकृतिस्वरूप हो जाता है तथा जब क्षेत्रज्ञ भी परमात्मामें लीन हो जाता है, तब उसका भी पृथक् अस्तित्व नहीं रहता॥ १६॥

तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता।
निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात्॥ १७॥

विदेहराज! उस समय त्रिगुणमयी प्रकृति क्षरत्व (नाश) को प्राप्त होती है और पुरुष भी गुणोंमें प्रवृत्त न होनेके कारण निर्गुण (गुणातीत) हो जाता है॥ १७॥

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये।
प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम॥ १८॥

इस प्रकार जब क्षेत्रका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् पुरुषको प्रकृतिका ज्ञान नहीं रहता, तब वह स्वभावसे ही निर्गुण है—यह हमने सुन रक्खा है॥ १८॥

क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ।
प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः॥ १९॥

जब यह पुरुष र होता है, अर्थात् परमात्मामें लीन हो जाता है, उस समय वह प्रकृतिके सगुणत्वको और अपने निर्गुणत्वको यथार्थ समझ लेता है॥ १९॥

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात्।
अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान्॥ २०॥

इस तरह ज्ञानवान् पुरुष जब यह जान लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह प्रकृतिसे रहित हो जानेसे अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होता है॥

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत्।
प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते॥ २१॥

राजेन्द्र! प्रकृतिसे संयोगके समय उससे अभिन्न-सा प्रतीत होनेके कारण यह पुरुष तद्रूपताको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उसका प्रकृतिके साथ मिश्रण नहीं होता, उसकी पृथकृता बनी रहती है। इस प्रकार पुरुष प्रकृतिके साथ संयुक्त और पृथक् भी दिखायी देता है॥ २१॥

यदा तु गुणजालं तत् प्राकृतं वै जुगुप्सते।
पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न संत्यजेत्॥ २२॥

जब वह प्राकृत गुणसमुदायको कुत्सित समझकर उससे विरत हो जाता है, उस समय वह परम दर्शनीय परमात्माका दर्शन पा जाता है और उसको देखकर फिर भी उसका त्याग नहीं करता अर्थात् उससे अलग नहीं होता॥ २२॥

किं मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम्।
मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह॥ २३॥

(जिस समय जीवात्माको विवेक होता है, उस समय वह यों विचार करने लगता है—) 'ओह! मैंने यह क्या किया? जैसे मछली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जालमें फँस जाती है, उसी प्रकार मैं भी आजतक यहाँ इस प्राकृत शरीर-का ही अनुसरण करता रहा॥ २३॥

अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम्।
मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥ २४ ॥

'जैसे मत्स्य पानीको ही अपने जीवनका मूल समझकर एक जलाशयसे दूसरे जलाशयको जाता है, उसी तरह मैं भी मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहा ॥ २४ ॥

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते।
आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम् ॥ २५ ॥

'जैसे मत्स्य अज्ञानवश अपनेको जलसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अज्ञताके कारण इस प्राकृत शरीरसे अपनेको भिन्न नहीं समझता था ॥ २५ ॥

ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः।
अनुवर्तितवान् मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥ २६ ॥

'मुझ मूढ़को धिक्कार है; जो कि संसारसागरमें डूबे हुए इस शरीरका आश्रय ले मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरका अनुसरण करता रहा ॥ २६ ॥

अयमत्र भवेद् बन्धुरनेन सह मे क्षमम्।
साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥ २७ ॥

'वास्तवमें इस जगत्‌के भीतर यह परमात्मा ही मेरा बन्धु है। इसीके साथ मेरी मैत्री हो सकती है। पहले मैं कैसा भी क्यों न रहा होऊँ, इस समय तो मैं इसकी समानता और एकताको प्राप्त हो चुका हूँ, जैसा वह है वैसा ही मैं हूँ ॥

तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै।
अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तथा ॥ २८ ॥

'इसीमें मुझे अपनी समानता दिखायी देती है। मैं अवश्य इसके ही सदृश हूँ। यह परमात्मा प्रत्यक्ष ही अत्यन्त निर्मल है और मैं भी ऐसा ही हूँ ॥ २८ ॥

योऽहमज्ञानसम्मोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान्।
ससङ्गयाहं निःसङ्गः स्थितः कालमिमं त्वहम् ॥ २९ ॥

'मैं जो कि आसक्तिसे सर्वथा रहित हूँ तो भी अज्ञान एवं मोहके वशीभूत होकर इतने समयतक इस आसक्तिमयी जड प्रकृतिके साथ रमता रहा ॥ २९ ॥

अनयाहं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान्।
उच्चमध्यमनीचानां तामहं कथमावसे ॥ ३० ॥

'इसने मुझे इस तरह वशमें कर लिया था कि मुझे आजतकके समयका पता ही न चला। यह तो उच्च, मध्यम तथा नीच सब श्रेणीके लोगोंके साथ रहती है। भला, इसके साथ मैं कैसे रह सकता हूँ? ॥ ३० ॥

समानयानया चेह सह वासमहं कथम्।
गच्छाम्यबुद्धभावत्वादेषेदानीं स्थिरो भवे ॥ ३१ ॥

'जो मेरे साथ संयुक्त होकर मेरी समानता करने लगी है, ऐसी इस प्रकृतिके साथ मैं मूर्खतावश सहवास कैसे कर सकता हूँ? यह लो, अब मैं स्थिर हो रहा हूँ ॥ ३१ ॥

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात्।
वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३२ ॥

'मैं निर्विकार होकर भी इस विकारमयी प्रकृतिके द्वारा ठगा गया। इतने समयतक इसने मेरे साथ ठगी की है। इसलिये अब इसके साथ नहीं रहूँगा ॥ ३२ ॥

न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम।
योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥ ३३ ॥

'किंतु यह इसका अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरा ही है; जो कि मैं परमात्मासे विमुख होकर इसमें आसक्त हुआ स्थित रहा ॥ ३३ ॥

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान्।
अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥ ३४ ॥

'यद्यपि मैं सर्वथा अमूर्त हूँ अर्थात् किसी आकारवाला नहीं हूँ तो भी मैं प्रकृतिकी अनेक रूपवाली मूर्तियोंमें स्थित हुआ देहरहित होकर भी ममतासे परास्त होनेके कारण देहधारी बना रहा ॥ ३४ ॥

प्राक् कृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु।
निर्ममस्य ममत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥ ३५ ॥

'पहले जो मैंने इसके प्रति ममता की थी, उसके कारण मुझे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकना पड़ा। यद्यपि मैं ममता-रहित हूँ तो भी इस प्रकृतिजनित ममताने भिन्न-भिन्न योनियोंमें मुझे डालकर मेरी बड़ी दुर्दशा कर डाली ॥ ३५ ॥

योनीषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा।
न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥ ३६ ॥

'इसके साथ नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकनेके कारण मेरी चेतना खो गयी थी। अब इस अहंकारमयी प्रकृतिसे मेरा कोई काम नहीं है ॥ ३६ ॥

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम्।
इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥ ३७ ॥

'अब भी यह बहुत-से रूप धारण करके मेरे साथ संयोगकी चेष्टा कर रही है; किंतु अब मैं सावधान हो गया हूँ, इसलिये ममता और अहंकारसे रहित हो गया हूँ ॥ ३७ ॥

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम्।
अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३८ ॥

'अब तो इसको और इसकी अहंकारस्वरूपिणी ममता-को त्यागकर इससे सर्वथा अतीत होकर मैं निरामय परमात्मा-की शरण लूँगा ॥ ३८ ॥

अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया।
क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥ ३९ ॥

'उन परमात्माकी ही समानता प्राप्त करूँगा। इस जड प्रकृतिकी समानता नहीं धारण करूँगा। परमात्माके साथ संयोग करनेमें ही मेरा कल्याण है। इस प्रकृतिके साथ नहीं ॥

एवं परमसम्बोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान्।
अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वा क्षरमनामयम् ॥ ४० ॥

'इस प्रकार उत्तम विवेकके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ आत्मा क्षरभाव (विनाशशीलता) का त्याग करके निरामय अक्षरभावको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा ।
निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥ ४१ ॥

'मिथिलानरेश ! अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्वादि, सगुण (जडवर्ग), निर्गुण (आत्मा) तथा सबके आदि-भूत निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार करके मनुष्य स्वयं भी वैसा ही हो जाता है ॥ ४१ ॥

अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् ।
मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

राजन् ! वेदमें जैसा वर्णन किया गया है, उसके अनुरूप यह क्षर-अक्षरका विवेक करानेवाला ज्ञान मैंने तुम्हें सुनाया है॥

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा ।
प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ४३ ॥

अब पुनः श्रुतिके अनुसार संदेहरहित, सूक्ष्म तथा अत्यन्त निर्मल विशिष्ट ज्ञानकी बात तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥

मैंने सांख्य और योगका जो वर्णन किया है, उसमें इन दोनोंको पृथक्-पृथक् दो शास्त्र बताया है; परंतु वास्तवमें जो सांख्यशास्त्र है, वही योगशास्त्र भी है (क्योंकि दोनोंका फल एक ही है) ॥ ४४ ॥

प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते ।
विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ४५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैंने शिष्योंके हितकी कामनासे उनके लिये ज्ञानजनक जो सांख्यदर्शन है, उसका तुम्हारे निकट स्पष्टरूपसे वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः ।
अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरःसरः ॥ ४६ ॥

विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सांख्यशास्त्र महान् है। इस शास्त्रमें, योगशास्त्रमें तथा वेदमें अधिक प्रामाणि-कता समझकर मनुष्यको इनके अध्ययनके लिये आगे बढ़ना चाहिये ॥ ४६ ॥

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! सांख्यशास्त्रके आचार्य पचीसवें तत्त्वसे परे और किसी तत्त्वका वर्णन नहीं करते हैं। यह मैंने सांख्योंके परम तत्त्वका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है ॥ ४७ ॥

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥

जो नित्य ज्ञानसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है तथा जो परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी 'बुध्यमान' संज्ञा होती है। इस प्रकार योगके सिद्धान्तके अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं ॥४८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर और परमात्म-तत्त्वका वर्णन, जीवके नानात्व और एकत्वका दृष्टान्त, उपदेशके अधिकारी और अनधिकारी तथा इस ज्ञानकी परम्पराको बताते हुए वसिष्ठ-करालजनक-संवादका उपसंहार

वसिष्ठ उवाच

अथ बुद्धमथाबुद्धमिमं गुणविधिं शृणु ।
आत्मानं बहुधा कृत्वा तान्येव प्रविचक्षते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! अब बुद्ध (परमात्मा), अबुद्ध (जीवात्मा) और इस गुणमयी सृष्टि (प्राकृत प्रपञ्च) का वर्णन सुनो। जीवात्मा अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके उन रूपोंको सत्य मानकर देखता रहता है॥

एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते ।
गुणान् धारयते ह्येष सृजत्याक्षिपते तदा ॥ २ ॥

वास्तवमें ज्ञानसम्पन्न होनेपर भी इस प्रकार प्रकृतिके संसर्गसे विकारको प्राप्त हुआ जीवात्मा ब्रह्मको नहीं जान पाता। वह गुणोंको धारण करता है; अतः कर्तृत्वका अभिमान लेकर रचना और संहार किया करता है ॥ २ ॥

अजस्रं त्विह क्रीडार्थं विकरोति जनाधिप ।
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! जीवात्मा इस जगत्‌में सदा क्रीड़ा करनेके लिये ही विकारको प्राप्त होता है। वह अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये ऋषि-मुनि उसे 'बुध्यमान' कहते हैं ॥ ३ ॥

न त्वेव बुध्यतेऽव्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम् ।
कदाचित् त्वेव खल्वेतदाहुरप्रतिबुद्धकम् ॥ ४ ॥

तात ! परब्रह्म परमात्मा सगुण हो या निर्गुण, उसे प्रकृति कभी नहीं जानती (क्योंकि वह जड है), अतः सांख्यवादी विद्वान् इस प्रकृतिको अप्रतिबुद्ध (ज्ञानशून्य) कहते हैं ॥ ४ ॥

बुध्यते यदि वाव्यक्तमेतद् वै पञ्चविंशकम् ।

बुध्यमानो भवत्येव सङ्गात्मक इति श्रुतिः।
अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्त्यव्यक्तमच्युतम् ॥ ५ ॥

यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति भी जानती है तो यह केवल पचीसवें तत्त्व—पुरुषको ही उससे संयुक्त होकर जान पाती है, प्रकृतिके साथ संयुक्त होनेके कारण ही जीव सङ्गात्मक (सङ्गी) होता है; ऐसा श्रुतिका कथन है। इस सङ्गदोषके कारण ही अव्यक्त एवं अविकारी जीवात्माको लोग 'मूढ़' कह दिया करते हैं ॥ ५ ॥

अव्यक्तबोधनाच्चापि बुध्यमानं वदन्त्युत।
पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते ॥ ६ ॥
षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम्।
स तु तं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुध्यते ॥ ७ ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप महान् आत्मा अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये उसे 'बुध्यमान' कहते हैं; परंतु वह भी छब्बीसवें तत्त्वरूप निर्मल नित्य शुद्ध बुद्ध अप्रमेय सनातन परमात्माको नहीं जानता है; किंतु वह सनातन परमात्मा उस पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको तथा चौबीसवीं प्रकृतिको भी भलीभाँति जानता है ॥ ६-७ ॥

दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते।
अव्यक्तमत्र तद् ब्रह्म बुध्यते तात केवलम् ॥ ८ ॥

तात ! महातेजस्वी नरेश ! वह अव्यक्त एवं अद्वितीय ब्रह्म यहाँ दृश्य और अदृश्य सभी वस्तुओंमें स्वभावसे ही व्याप्त है; अतः वह सबको जानता है ॥ ८ ॥

केवलं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं न पश्यति।
बुध्यमानो यदाऽऽत्मानमन्योऽहमिति मन्यते ॥ ९ ॥
तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः।

चौबीसवीं अव्यक्त प्रकृति न तो अद्वितीय ब्रह्मको देख पाती है और न पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको। जब जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्मकी ओर दृष्टि रखकर अपनेको प्रकृतिसे भिन्न मानता है, तब यह प्रकृतिका अधिपति हो जाता है ॥ ९½ ॥

बुध्यते च परां बुद्धिं विशुद्धाममलां यदा ॥ १० ॥
षड्विंशो राजशार्दूल तथा बुद्धत्वमाव्रजेत्।
ततस्त्यजति सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जब जीवात्मा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी, निर्मल एवं सर्वोत्कृष्ट बुद्धिको प्राप्त कर लेता है, तब वह छब्बीसवें तत्त्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है। उस स्थितिमें वह नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित होता है। फिर तो वह सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाली अव्यक्त प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाता है ॥ १०-११ ॥

निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम्।
ततः केवलधर्मासौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ॥ १२ ॥

वह गुणोंसे अतीत होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिको जडरूपमें जान लेता है, इस प्रकार प्रकृतिको अपनेसे सर्वथा अभिन्न देखनेके कारण वह कैवल्यको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

केवलेन समागम्य विमुक्तोऽऽत्मानमाप्नुयात्।
एतत् तु तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामरम् ॥ १३ ॥

केवल (अद्वितीय) ब्रह्मसे मिलकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हुआ अपने परमार्थस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसीको परमार्थतत्त्व कहते हैं। यह सब तत्त्वोंसे अतीत तथा जरा-मरणसे रहित है ॥ १३ ॥

तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्ववन्न च मानद।
पञ्चविंशति तत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १४ ॥

सबको मान देनेवाले नरेश ! जीवात्मा तत्त्वोंका आश्रय लेनेसे ही तत्त्व-सदृश प्रतीत होता है। वास्तवमें वह तत्त्वोंका द्रष्टामात्र होनेके कारण तत्त्व नहीं है—तत्त्वोंसे सर्वथा भिन्न ही है। इस प्रकार मनीषी पुरुष (प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंके साथ) जीवात्माको भी एक तत्त्व मानकर कुल पचीस तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ १४ ॥

न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान्।
एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धस्य लक्षणम् ॥ १५ ॥

तात ! यह जीवात्मा वास्तवमें तत्त्वोंसे अतीत है, अतः तद्रूप नहीं होता है; अपितु ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही प्राकृत तत्त्वोंका त्याग कर देता है और उसमें नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मके लक्षण प्रकट हो जाते हैं ॥

षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः।
केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम् ॥ १६ ॥

'मैं पचीस तत्त्वोंसे भिन्न छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ। नित्य ज्ञानसम्पन्न और जाननेके योग्य अजर-अमरस्वरूप हूँ,' इस प्रकार विचार करते-करते जीवात्मा केवल विवेक-बलसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्यबुद्धिमान्।
एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यश्रुतिनिदर्शनात् ॥ १७ ॥

जीव छब्बीसवें तत्त्व ज्ञानस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही जडवर्गको जानता है; परंतु उसे जानकर भी परमात्माको न जाननेके कारण वह अज्ञानी ही रह जाता है। यह अज्ञान ही जीवके नानात्वरूप बन्धनका कारण बताया जाता है। जैसा कि सांख्यशास्त्र और श्रुतियोंद्वारा दिग्दर्शन कराया गया है ॥

चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह।
एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते ॥ १८ ॥

जब जीवात्मा बुद्धिके द्वारा जडवर्गको अपना नहीं समझता अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब नित्य चेतन परमात्मासे संयुक्त हुए उस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता हो जाती है ॥ १८ ॥

बुध्यमानोऽप्रबुद्धेन समतां याति मैथिल।
सङ्गधर्मा भवत्येष निःसङ्गात्मा नराधिप ॥ १९ ॥

मिथिलानरेश ! जबतक जीवात्मा जडवर्गको अपना

समझता है, तबतक उस जडवर्गकी ही समताको वह प्राप्त होता है। यद्यपि वह स्वरूपसे असङ्ग है, तो भी प्रकृतिके सम्पर्कसे आसक्तिरूप धर्मवाला हो जाता है ॥ १९ ॥

निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्।
विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद् विबुद्ध्यते ॥ २० ॥
चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात्।

छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापी और सङ्गदोषसे रहित है। उसकी शरण लेकर जब जीवात्मा उसके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, तब परमात्मज्ञानके प्रभावसे स्वयं भी सर्वव्यापी हो जाता है तथा चौबीस तत्त्वोंसे युक्त प्रकृतिको असार समझकर त्याग देता है ॥ २०½ ॥

एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ २१ ॥
प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात्।
नानात्वैकत्वमेतावद् द्रष्टव्यं शास्त्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे अप्रतिबुद्ध (क्षर), बुध्यमान (अक्षर जीवात्मा) और बुद्ध (ज्ञानस्वरूप परमात्मा)—इन तीनोंका श्रुतिके निर्देशके अनुसार यथार्थरूपसे प्रतिपादन किया है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार जीवात्माके नानात्व और एकत्वको इसी तरह समझना चाहिये ॥

मशकोदुम्बरे यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः।
मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते ॥ २३ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ रहते हुए भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भिन्नता है। जैसे मछली और जल एक-दूसरेसे भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भेद उपलब्ध होता है ॥ २३ ॥

एवमेवावगन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः।
एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंहितम् ॥ २४ ॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी एकता और अनेकताको समझना चाहिये। अव्यक्त प्रकृतिका पुरुषसे जो नित्य भेद है, उसके यथार्थज्ञानसे पुरुष उसके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसीको मोक्ष कहा गया है ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते।
एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ २५ ॥

इस शरीरमें जो पचीसवाँ तत्त्व अन्तर्यामी पुरुष विद्यमान है, उसे अव्यक्तके कार्यभूत महत्तत्त्वादिके बन्धनसे मुक्त करना आवश्यक है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ २५ ॥

सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः।
परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै ॥ २६ ॥

वह यह जीवात्मा पूर्वोक्त प्रकारसे ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यही विद्वानोंका निश्चय है। यह दूसरेसे मिलकर उसीका समानधर्मी हो जाता है ॥ २६ ॥

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर ! जीवात्मा शुद्ध पुरुषका सङ्ग करके विशुद्ध धर्मवाला होता है। किसी ज्ञानी या बुद्धिमान्‌का सङ्ग करनेसे बुद्धिमान् होता है। किसी मुक्तसे मिलनेपर उसमें मुक्तके-से ही धर्म या लक्षण प्रकट होते हैं ॥ २७ ॥

वियोगधर्मिणा चैव विमुक्तात्मा भवत्यथ।
विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् ॥ २८ ॥

जिसका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट गया है, ऐसे पुरुषसे मिलनेपर वह विमुक्तात्मा होता है। जो मोक्षधर्मसे युक्त है, उसका साथ करनेसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥

जिसके आचार-विचार शुद्ध हैं, उससे मिलनेपर वह पवित्रकर्मा एवं पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके सम्पर्कमें जानेपर वह भी निर्मलात्मा और अमिततेजस्वी होता है ॥ २९ ॥

केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३० ॥

अद्वितीय परमात्मासे सम्बन्ध स्थापित करके वह तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है अर्थात् अद्वितीय परमात्माको प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेके कारण वह वास्तवमें स्वतन्त्र होकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है॥

एतावदेतत् कथितं मया ते
तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम्।
अमत्सरत्वं परिगृह्य चार्थं
सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! मैंने ईर्ष्या-द्वेषसे रहित भावको स्वीकार करके और तुम्हारे प्रयोजनको समझकर तुमसे प्रेमपूर्वक इस शुद्ध सनातन एवं सबके आदिभूत सत्यस्वरूप ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वका इस रूपमें वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्
प्रदेयमेतत् परमं त्वया भवेत्।
विधित्समानाय विबोधकारणं
प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! जो मनुष्य वेदमें श्रद्धा रखनेवाला न हो, उसे इस उत्तम ज्ञानका उपदेश तुम्हें नहीं करना चाहिये। जिसे बोधके लिये अधिक प्यास हो तथा जो जिज्ञासुभावसे शरणमें आया हो, वही इस उपदेशको सुननेका अधिकारी है ॥ ३२ ॥

न देयमेतच्च तथानृतात्मने
शठाय क्लीबाय न जिह्मबुद्धये।
न पण्डितज्ञानपरोपतापिने
देयं तु देयं च निबोध यादृशे ॥ ३३ ॥

असत्यवादी, शठ, नीच, कपटी, अपनेको पण्डित माननेवाले और दूसरेको कष्ट पहुँचानेवाले मनुष्यको भी

इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। कैसे पुरुषको इस ज्ञानका उपदेश देना और अवश्य देना चाहिये—यह भी सुन लो॥ ३३॥

श्रद्धान्विताया थ गुणान्विताय
परापवादाद् विरताय नित्यम्।
विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं
क्रियावते च क्षमिणे हिताय॥ ३४॥
विविक्तशीलाय विधिप्रियाय
विवादहीनाय बहुश्रुताय।
विजानते चैव न चाहितक्षमे
दमे च शक्ताय शमे च देयम्॥ ३५॥

श्रद्धालु, गुणवान्, परनिन्दासे सदा दूर रहनेवाले, विशुद्ध योगी, विद्वान्, सदा शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले, क्षमाशील, सबके हितैषी, एकान्तवासी, शास्त्रविधिका आदर करनेवाले, विवादहीन, बहुज्ञ, विज्ञ, किसीका अहित न करनेवाले तथा इन्द्रियसंयम एवं मनोनिग्रहमें समर्थ पुरुषको ही इस ज्ञानका उपदेश देना चाहिये॥ ३४-३५॥

एतैर्गुणैर्हीनतमे न देय-
मेतत् परं ब्रह्म विशुद्धमाहुः।
न श्रेयसा योक्ष्यति तादृशे कृतं
धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात्॥ ३६॥

जो इन सद्गुणोंसे अत्यन्त हीन हो, उसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। यह ज्ञान विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वैसे गुणहीन पुरुषको दिया हुआ यह ज्ञान उसके लिये कल्याणकारी नहीं होगा तथा कुपात्रको उपदेश देनेसे वह वक्ताका भी कल्याण नहीं करेगा॥ ३६॥

पृथ्वीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां
दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते
भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र॥ ३७॥

नरेन्द्र! जिसने व्रत और नियमोंका पालन न किया हो, वह यदि रत्नोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका राज्य दे तो भी उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये। परंतु जितेन्द्रिय पुरुषको निस्संदेह इस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश देना तुझे उचित है॥ ३७॥

कराल मा ते भयमस्तु किञ्चि-
देतच्छ्रुतं ब्रह्म परं त्वयाद्य।
यथावदुक्तं परमं पवित्रं
विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम्॥ ३८॥
अगाधजन्मामरणं च राजन्
निरामयं वीतभयं शिवं च।
समीक्ष्य मोहं त्यज चाद्य सर्वं
ज्ञानस्य तत्त्वार्थमिदं विदित्वा॥ ३९॥

कराल! तुमने मुझसे आज परब्रह्मका ज्ञान सुना है; अतः तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये। वह परब्रह्म परम पवित्र, शोकरहित, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य, जन्म-मृत्युसे बचानेवाला, निरामय, निर्भय तथा कल्याणमय है। राजन्! उसका मैंने यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है। वही सम्पूर्ण ज्ञानोंका तात्त्विक अर्थ है। ऐसा जानकर उसका ज्ञान प्राप्त करके आज मोहका परित्याग कर दो॥

अवाप्तमेतद्धि मया सनातना-
द्धिरण्यगर्भाद् गदतो नराधिप।
प्रसाद्य यत्नेन तमुग्रचेतसं
सनातनं ब्रह्म यथाद्य वै त्वया॥ ४०॥

नरेश्वर! जिस प्रकार आज तुमने मुझसे सनातन ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया है; इसी प्रकार मैंने भी हिरण्यगर्भ नामसे प्रसिद्ध सनातन उग्रचेता ब्रह्माजीके मुखसे, उन्हें बड़े यत्नसे प्रसन्न करके, इसे प्राप्त किया था॥ ४०॥

पृष्टस्त्वया चास्मि यथा नरेन्द्र
यथा मयेदं त्वयि चोक्तमद्य।
तथावाप्तं ब्रह्मणो मे नरेन्द्र
महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम्॥ ४१॥

नरेन्द्र! जैसे तुमने मुझसे पूछा है और जैसे मैंने तुम्हारे प्रति आज इस ज्ञानका उपदेश किया है, उसी प्रकार मैंने भी ब्रह्माजीसे प्रश्न करके उनके मुखसे इस महान् ज्ञानको प्राप्त किया है। यह मोक्षज्ञानियोंका परम आश्रय है॥ ४१॥

भीष्म उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः।
पञ्चविंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात्॥ ४२॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! महर्षि वसिष्ठके बताये अनुसार यह परब्रह्मका स्वरूप मैंने तुम्हें बताया है, जिसे पाकर जीवात्मा फिर इस संसारमें नहीं लौटता॥ ४२॥

पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च।
नावबुध्यति तत्त्वेन बुध्यमानोऽजरामरम्॥ ४३॥

जो इस उत्तम ज्ञानको गुरुके मुखसे पाकर भी भलीभाँति समझता नहीं है, वह पुनरावृत्ति (बारंबार आवागमन) को प्राप्त होता है और जो इसे तत्त्वतः समझ लेता है, वह जरा-मृत्युसे रहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है॥ ४३॥

एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानं ते परमं मया।
कथितं तत्त्वतस्तात श्रुत्वा देवर्षितो नृप॥ ४४॥

तात! नरेश्वर! यह परम कल्याणकारी उत्तम ज्ञान मैंने देवर्षि नारदजीके मुँहसे सुना था। जिसे यथार्थरूपसे तुम्हें भी बताया है॥ ४४॥

हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठेन महात्मना।
वसिष्ठादृषिशार्दूलान्नारदोऽवाप्तवानिदम्॥ ४५॥
नारदाद् विदितं मह्यमेतद् ब्रह्म सनातनम्।
मा शुचः कौरवेन्द्र त्वं श्रुत्वैतत् परमं पदम्॥ ४६॥

ब्रह्माजीसे महात्मा वसिष्ठ मुनिने यह ज्ञान प्राप्त किया था। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे यह नारदजीको उपलब्ध हुआ और नारदजीसे मुझे यह सनातन ब्रह्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। कौरवनरेश! यह ज्ञान परमपद है। इसे सुनकर अब तुम शोकका त्याग कर दो ॥ ४५-४६ ॥

येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते।
विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद् वेत्ति पार्थिव ॥ ४७ ॥

पृथ्वीनाथ! जिसने क्षर और अक्षरके तत्त्वको जान लिया है, उसमें किसी प्रकारका भी भय नहीं होता। जो इसे नहीं जानता, उसीमें भय रहता है ॥ ४७ ॥

अविज्ञानाच्च मूढात्मा पुनः पुनरुपाद्रवत्।
प्रेत्य जातिसहस्राणि मरणान्तान्युपाश्नुते ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य इस तत्त्वको न जाननेके कारण बारंबार संसारमें आता है और हजारों योनियोंमें जन्म-मरणके कष्टका अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

देवलोकं तथा तिर्यङ्मनुष्यमपि चाश्नुते।
यदि शुध्यति कालेन तस्मादज्ञानसागरात् ॥ ४९ ॥
(उत्तीर्णोऽस्मादगाधात् स परमाप्नोति शोभनम्।)

वह देव, मनुष्य और पशु-पक्षी आदिकी योनिमें भटकता रहता है। यदि कभी समयके अनुसार शुद्ध हो गया तो उस अगाध अज्ञानसमुद्रसे पार होकर परम कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं ॥ ५० ॥

यस्मादगाधादव्यक्तादुत्तीर्णस्त्वं सनातनात्।
तस्मात् त्वं विरजाश्चैव वितमस्कश्च पार्थिव ॥ ५१ ॥

राजन्! तुम मेरा उपदेश पाकर इस अव्यक्त, अगाध एवं प्रवाहरूपमें सदा रहनेवाले भवसागरसे पार हो गये हो, इसलिये अब तुम रजोगुण और तमोगुणसे भी रहित हो गये हो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादसमाप्तौ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ-करालजनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनकवंशी वसुमान्‌को एक मुनिका धर्मविषयक उपदेश

भीष्म उवाच

मृगयां विचरन् कश्चिद् विजने जनकात्मजः।
वने ददर्श विप्रेन्द्रमृषिं वंशधरं भृगोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! एक समयकी बात है, जनकवंशका कोई राजकुमार शिकार खेलनेके लिये एक निर्जन वनमें घूम रहा था। उसने वनमें बैठे हुए एक मुनिको देखा; जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एवं महर्षि भृगुके वंशधर थे ॥ १ ॥

उपासीनमुपासीनः प्रणम्य शिरसा मुनिम्।
पश्चादनुमतस्तेन पप्रच्छ वसुमानिदम् ॥ २ ॥

पास ही बैठे हुए मुनिको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके वह राजकुमार उनके समीपमें ही बैठ गया। उसका नाम वसुमान् था। उसने महर्षिकी आज्ञा लेकर उनसे इस प्रकार पूछा— ॥ २ ॥

भगवन् किमिदं श्रेयः प्रेत्य चापीह वा भवेत्।
पुरुषस्याध्रुवे देहे कामस्य वशवर्तिनः ॥ ३ ॥

'भगवन्! इस क्षणभङ्गुर शरीरमें कामके अधीन होकर रहनेवाले पुरुषका इस लोक और परलोकमें किस उपायसे कल्याण हो सकता है?' ॥ ३ ॥

सत्कृत्य परिपृष्टः सन् सुमहात्मा महातपाः।
निजगाद ततस्तस्मै श्रेयस्करमिदं वचः ॥ ४ ॥

सत्कारपूर्वक प्रश्न करनेपर उन महातपस्वी महात्मा मुनिने राजकुमार वसुमान्‌से यह कल्याणकारी वचन कहा ॥

ऋषिरुवाच

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥ ५ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार! यदि तुम इस लोक और परलोकमें अपने मनके अनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर समस्त प्राणियोंके प्रतिकूल आचरणोंसे दूर हट जाओ ॥ ५ ॥

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥ ६ ॥

धर्म ही सत्पुरुषोंका कल्याण करनेवाला और धर्म ही उनका आश्रय है। तात! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोक धर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

स्वादुकामुक कामानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ७ ॥

भोगोंका रस लेनेकी इच्छा रखनेवाले दुर्बुद्धि मानव! तुम्हारी कामपिपासा शान्त क्यों नहीं होती? अभी तुम्हें वृक्षकी ऊँची डालीमें लगा हुआ केवल मधु ही दिखायी

देता है। वहाँसे गिरनेपर प्राणान्त हो सकता है, इसकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं है (अर्थात् अभी तुम भोगोंकी मिठासपर ही लुभाये हुए हो। उससे होनेवाले पतनकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जा रहा है) ॥ ७ ॥

यथा ज्ञाने परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना।
तथा धर्मे परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना ॥ ८ ॥

जैसे ज्ञानका फल चाहनेवालेके लिये ज्ञानसे परिचित होना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्मका फल चाहनेवाले मनुष्यको भी धर्मका परिचय प्राप्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम्।
सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम् ॥ ९ ॥

दुष्ट पुरुष यदि धर्मकी इच्छा करे तो भी उसके द्वारा विशुद्ध कर्मका सम्पादन होना कठिन है और साधु पुरुष यदि धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे तो उसके लिये कठिन-से-कठिन कर्म भी करना सहज है ॥ ९ ॥

वने ग्राम्यसुखाचारो यथा ग्राम्यस्तथैव सः।
ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा ॥ १० ॥

वनमें रहकर भी जो ग्रामीण सुखोंका उपभोग करनेमें लगा है, उसको ग्रामीण ही समझना चाहिये तथा गाँवोंमें रहकर भी जो वनवासी मुनियोंके-से बर्तावमें ही सुख मानता है, उसकी गिनती वनवासियोंमें ही करनी चाहिये ॥ १० ॥

मनोवाक्कायिके धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः।
निवृत्तौ वा प्रवृत्तौ वा सम्प्रधार्य गुणागुणान् ॥ ११ ॥

पहले निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्गमें जो गुण-अवगुण हैं, उनका तुम अच्छी तरह निश्चय कर लो; फिर एकाग्रचित्त हो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले धर्ममें श्रद्धा करो (अर्थात् श्रद्धापूर्वक धर्मके पालनमें लग जाओ) ॥ ११ ॥

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥ १२ ॥

प्रतिदिन व्रत और शौचाचारका पालन करते हुए उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कारपूर्वक अधिक-से-अधिक दान करना चाहिये और उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये ॥ १२ ॥

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥ १३ ॥

शुभकर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको अर्पण करना चाहिये। क्रोधको त्यागकर दान देना चाहिये और देनेके बाद न तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और न उसे दूसरोंको बताना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः ॥ १४ ॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला तथा योनिसे अर्थात् जन्मसे और कर्मसे शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पानेका उत्तम पात्र है ॥ १४ ॥

सत्कृता चैकपत्नी च जात्या योनिरिहेष्यते।
ऋग्यजुःसामगो विद्वान् षट्कर्मा पात्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अपनी ही जातिके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिद्वारा सम्मानित पतिव्रता स्त्री यहाँ उत्तम योनि मानी गयी है। अतः जिसका ऐसी मातासे जन्म हुआ, हो वह जन्मसे शुद्ध है। ऋक्, यजुष् और सामवेदका विद्वान् होकर सदा (यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन) छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण कर्मसे शुद्ध एवं उत्तम पात्र बताया गया है ॥ १५ ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत्।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥ १६ ॥

देश, काल, पात्र और कर्मविशेषपर विचार करनेसे एक ही कर्म भिन्न-भिन्न मनुष्यके लिये धर्म और अधर्मरूप हो जाता है ॥ १६ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यात् तु रजः पुमान्।
बहुयत्नेन च महत् पापनिर्हरणं तथा ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें थोड़ी-सी धूल लगी हुई हो तो मनुष्य उसे अनायास ही झाड़-पोंछकर दूर कर देता है; परंतु बहुत अधिक मैल बैठ जाय तो उसे बड़े प्रयत्नसे दूर कर सकता है, उसी प्रकार थोड़ा पाप थोड़े-से प्रयत्नसे और महान् पाप महान् प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है ॥ १७ ॥

विरिक्तस्य यथा सम्यग् घृतं भवति भेषजम्।
तथा निर्हृतदोषस्य प्रेत्य धर्मः सुखावहः ॥ १८ ॥

जैसे जिसने विरेचनके द्वारा अपने पेटको अच्छी तरह साफ कर लिया हो, वह मनुष्य यदि घी खाय तो वह उसके लिये दवाके सामन लाभदायक होता है। उसी तरह जिसके सारे पाप-दोष दूर हो गये हैं, उसीके लिये धर्म परलोकमें सुख देनेवाला होता है ॥ १८ ॥

मानसं सर्वभूतेषु वर्तते वै शुभाशुभम्।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् ॥ १९ ॥

सभी प्राणियोंके मनमें शुभ और अशुभ विचार उठते रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह चित्तको सदा अशुभ विचारोंकी ओरसे हटाकर शुभ विचारोंमें ही लगाये ॥ १९ ॥

सर्वं सर्वेण सर्वत्र क्रियमाणं च पूजय।
स्वधर्मे यत्र रागस्ते कामं धर्मो विधीयताम् ॥ २० ॥

अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सबके द्वारा सब जगह किये जानेवाले सब प्रकारके कर्मोंका आदर करो। तुम भी अपने धर्मके अनुसार जिस कर्ममें तुम्हारा अनुराग हो, उसका इच्छानुसार पालन करते रहो ॥ २० ॥

अधृतात्मन् धृतौ तिष्ठ दुर्बुद्धे बुद्धिमान् भव।
अप्रशान्तः प्रशाम्य त्वमप्राज्ञः प्राज्ञवच्चर ॥ २१ ॥

अधीरचित्त नरेश! धीरताका आश्रय लो। दुर्बुद्धे!

बुद्धिमान् बनो। तुम सदा अशान्त रहते हो। अबसे शान्त हो जाओ और अबतक मूर्खोंके-से वर्ताव करते रहे, अब विद्वानोंके समान आचरण करो॥ २१॥

तेजसा शक्यते प्राप्तुमुपायः सहचारिणा।
इह च प्रेत्य च श्रेयस्तस्य मूलं धृतिः परा॥ २२॥

जो सत्पुरुषोंका सङ्ग करता है, उसे उन्हींके तेज या प्रतापसे कोई ऐसा उपाय प्राप्त हो सकता है, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो। उत्तम धृति (मनकी स्थिरता) ही कल्याणका मूल है॥ २२॥

राजर्षिरधृतिः स्वर्गात् पतितो हि महाभिषः।
ययातिः क्षीणपुण्योऽपि धृत्या लोकानवाप्तवान्॥ २३॥

राजर्षि महाभिष धृतिमान् न होनेके कारण ही स्वर्गसे नीचे गिरे और राजा ययाति अपना पुण्यक्षीण हो जानेके बाद भी धृतिके ही बलसे उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए॥ २३॥

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात्।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे॥ २४॥

राजन्! तपस्वी, धर्मात्मा एवं विद्वानोंकी सेवा करनेसे तुम्हें विशाल बुद्धि प्राप्त होगी, जिससे तुम कल्याणके भागी हो सकोगे॥ २४॥

भीष्म उवाच

स तु स्वभावसम्पन्नस्तच्छ्रुत्वा मुनिभाषितम्।
विनिवर्त्य मनः कामाद् धर्मे बुद्धिं चकार ह॥ २५॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजकुमार वसुमान् अच्छे स्वभावसे सम्पन्न था। उसने मुनिके उस उपदेशको सुनकर अपने मनको कामनाओंसे हटा लिया और बुद्धिको धर्ममें ही लगा दिया॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकानुशासने नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३०९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जनकवंशी वसुमान्‌को उपदेशविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०९॥

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यका राजा जनकको उपदेश—सांख्यमतके अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकारके सर्गोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविमुक्तं यद् विमुक्तं सर्वसंशयात्।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः॥ १॥
यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम्।
शुचि नित्यमनायासं तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ २॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! जो धर्म और अधर्मके बन्धनसे मुक्त, सम्पूर्ण संशयोंसे रहित, जन्म और मृत्युसे रहित, पुण्य और पापसे मुक्त, नित्य, निर्भय, कल्याणमय, अक्षर, अव्यय (अविकारी), पवित्र एवं क्लेशरहित तत्त्व है, उसका आप हमें उपदेश कीजिये॥ १-२॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत॥ ३॥

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन! इस विषयमें मैं तुम्हें जनक और याज्ञवल्क्यका संवादरूप एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा॥ ३॥

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम्॥ ४॥

एक बार देवरातके महायशस्वी पुत्र राजा जनकने प्रश्नका रहस्य समझनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर याज्ञवल्क्यजीसे पूछा॥ ४॥

जनक उवाच

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम्॥ ५॥
प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च।
वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकाङ्क्षिणः॥ ६॥

जनक बोले—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृतिके कितने भेद माने गये हैं? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है? सृष्टि और प्रलय क्या है? और कालकी गणना कैसे की जाती है? विप्रेन्द्र! ये सब बतानेकी कृपा करें; क्योंकि हमलोग आपकी कृपाके अभिलाषी हैं॥

अज्ञानात् परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः।
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम्॥ ७॥

मैं इन बातोंको नहीं जानता, इसलिये पूछ रहा हूँ। आप ज्ञानके भण्डार हैं, इसलिये आपहीसे इन सब विषयोंको सुननेकी इच्छा हो रही है; जिससे सारा संदेह दूर हो जाय॥

याज्ञवल्क्य उवाच

श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि।
योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः॥ ८॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—भूपाल! सुनो, तुम जो कुछ पूछते हो, वह योग और विशेषतः सांख्यका परम रहस्यमय ज्ञान तुम्हें बताता हूँ॥ ८॥

न तवाविदितं किंचिन्मां तु जिज्ञासते भवान्।
पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

यद्यपि तुमसे कोई भी विषय अज्ञात नहीं है, फिर भी मुझसे पूछते हो तो कहना ही पड़ता है; क्योंकि किसीके पूछनेपर जानकार मनुष्यको उसके प्रश्नका उत्तर देना ही चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ १० ॥
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ११ ॥

प्रकृतियाँ आठ बतायी गयी हैं और उनके विकार सोलह। अध्यात्मशास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् आठ प्रकृतियोंके नाम इस प्रकार बतलाते हैं—अव्यक्त (मूल प्रकृति), महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ॥ १०-११ ॥

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ॥ १२ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च॥ १३ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ कही गयीं। अब मुझसे विकारोंका भी वर्णन सुनो—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवीं नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा ॥ १२-१३ ॥

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु।
बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! उनमें पाँच कर्मेन्द्रियों और शब्द आदि पाँच विषयोंकी 'विशेष' संज्ञा है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'सविशेष' कहलाती हैं। मिथिलानरेश ! ये 'विशेष' और 'सविशेष' तत्त्व पञ्चमहाभूतोंमें ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः।
त्वं चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ॥ १५ ॥

(ये सब मिलकर पंद्रह हैं) इनके साथ सोलहवाँ मन है। अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेवाले तत्त्वज्ञान-विशारद तुम और दूसरे विद्वान् भी इन्हींको सोलह विकार कहते हैं ॥

अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव।
प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥ १६ ॥

पृथ्वीनाथ ! अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे विद्वान् पुरुष प्रथम एवं प्राकृत सृष्टि कहते हैं ॥ १६ ॥

महतश्चाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥१७॥

नरेश्वर ! महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है, जो दूसरा सर्ग बताया जाता है। इसे बुध्यात्मक-सृष्टि माना गया है ॥

अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम्।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते ॥ १८ ॥

अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ है, जो पञ्चभूत और शब्दादि गुणस्वरूप है। इसे तीसरा और आहंकारिक सर्ग कहा जाता है ॥ १८ ॥

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥ १९ ॥

राजन् ! मनसे पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न हुए हैं। यह चौथा सर्ग है। मेरे मतके अनुसार इसे मानसी सृष्टि समझो ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥ २० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए हैं। यह पाँचवीं सृष्टि है। भूत-चिन्तक विद्वान् इसे भौतिक सर्ग कहते हैं ॥ २० ॥

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्।
सर्गं तु षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥ २१ ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—इसे छठा सर्ग बताया गया है। यह बहुचिन्तात्मक सर्ग माना गया है ॥ २१ ॥

अधः श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप।
सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥ २२ ॥

नरेन्द्र ! श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके बाद कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इसे सातवाँ सर्ग कहते हैं। इसीको ऐन्द्रियक सृष्टि भी कहा जाता है ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप।
अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर जिसका प्रवाह ऊपरकी ओर है, वह प्राण एवं तिरछा चलनेवाले समान, व्यान और उदान—ये सब प्रकट हुए। यह आठवाँ सर्ग है। इसीको आर्जवक सर्ग कहा गया है ॥ २३ ॥

तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप।
नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥ २४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् जिसका प्रवाह तिरछा चलता है, वे व्यान और उदान अपान वायुके साथ निम्नभागमें प्रकट हुए। इसे नवम सर्ग कहते हैं। इसे भी विद्वान् पुरुष आर्जवक सृष्टिके नामसे ही पुकारते हैं ॥ २४ ॥

एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! ये नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुतिके निर्देशके अनुसार यहाँ बताये गये हैं ॥ २५ ॥

अत ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य तत्त्वतः।

महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥ २६ ॥

महाराज ! अब इसके बाद महात्मा पुरुषोंद्वारा बतायी गयी इस गुणमयी सृष्टिकी कालसंख्या भी मुझसे यथावत्‌रूपसे सुनो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, मन और विषयोंकी कालसंख्याका एवं सृष्टिका वर्णन तथा इन्द्रियोंमें मनकी प्रधानताका प्रतिपादन

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्य नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे ।
पञ्चकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे अव्यक्तकी काल-संख्या सुनो । दस हजार कल्पोंका (महायुगोंका) इस अव्यक्तका एक दिन बताया जाता है ॥ १ ॥

रात्रिरेतावती चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप ।
सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसकी रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है । ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा पहले समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहके लिये ओषधि (नाना प्रकारके अन्न) की सृष्टि करते हैं ॥ २ ॥

ततो ब्रह्माणमसृजद्धिरण्याण्डसमुद्भवम् ।
सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि परमात्माने ओषधियोंकी सृष्टिके बाद ब्रह्माजीकी सृष्टि की थी, जो सुवर्णमय अण्डके भीतरसे प्रकट हुए थे । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके उद्गमस्थान हैं ॥ ३ ॥

संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्क्रम्य च महामुनिः ।
संदधे स महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ ४ ॥

वे महामुनि प्रजापति ब्रह्मा उस सुवर्णमय अण्डके भीतर एक वर्षतक निवास करके उससे बाहर निकल आये । फिर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) की सृष्टिके लिये विचार आरम्भ किया ॥ ४ ॥

द्यावापृथिव्योरित्येष राजन् वेदेषु पठ्यते ।
तयोः शकलयोर्मध्यमाकाशमकरोत् प्रभुः ॥ ५ ॥

राजन् ! शक्तिशाली ब्रह्माजीने उस अण्डके दोनों टुकड़ोंके एवं स्वर्ग तथा भूतलके मध्यभागमें आकाशकी सृष्टि की । यह बात वेदोंमें कही गयी है ॥ ५ ॥

एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदाङ्गपारगैः ।
दशकल्पसहस्राणि पादोनान्यहरुच्यते ॥ ६ ॥

वेदों और वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्रह्माजीकी भी कालसंख्याका विचार करते हुए कहते हैं कि दस हजार कल्पोंमेंसे एक चौथाई कम कर देनेपर जितना शेष रहता है, उतना ही ब्रह्माजीके एक दिनका मान है अर्थात् साढ़े सात हजार कल्पोंका उनका एक दिन होता है ॥ ६ ॥

रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
सृजत्यहङ्कारमृषिर्भूतं दिव्यात्मकं तथा ॥ ७ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले विद्वानोंका कथन है कि ब्रह्माजीकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी है । महान् ऋषि ब्रह्मा अहंकार नामक दिव्य भूतकी सृष्टि करते हैं ॥ ७ ॥

चतुरश्चापरान् पुत्रान् देहात् पूर्वं महानृषिः ।
ते वै पितृणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महान् ऋषि ब्रह्माने पूर्वकालमें भौतिक देहकी उत्पत्तिसे पहले चार अन्य पुत्रोंको उत्पन्न किया (जिनके नाम ये हैं—बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त) । वे चारों पुत्र 'पितरोंके भी पितर' अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके भी जनक सुने जाते हैं ॥ ८ ॥

देवाः पितृणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः ।
चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! देवता (श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ) पितरों (पञ्चमहाभूतों) के पुत्र हैं अर्थात् सारी इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतोंसे ही उत्पन्न हुई हैं और वे समस्त चराचर जगत्‌का आश्रय लेकर स्थित हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९ ॥

परमेष्ठी त्वहङ्कारः सृजन् भूतानि पञ्चधा ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १० ॥

स्रष्टाके उत्तम पदपर प्रतिष्ठित हुआ अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच प्रकारके भूतोंकी सृष्टि करता है ॥ १० ॥

एतस्यापि निशामाहुस्तृतीयमिह कुर्वतः ।
पञ्चकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥ ११ ॥

इस तृतीय भौतिक सर्गकी सृष्टि करनेवाले अहंकारकी रात्रि पाँच हजार कल्पोंकी होती है । उसका दिन भी उतना ही बड़ा बताया जाता है ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! आकाश आदि पाँच महाभूतोंमें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये विशेष गुण हैं ॥ १२ ॥

यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव ।

अन्योन्यं स्पृहयन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥ १३ ॥
अन्योन्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धिनस्तथा ।
ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणैर्हारिभिरव्ययैः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! प्रवाहरूपसे सदा विद्यमान रहनेवाले इन मनोहर शब्द आदि विषयोंसे आविष्ट होकर सभी प्राणी प्रतिदिन कभी एक-दूसरेको चाहते हैं, कभी पारस्परिक हित-साधनमें तत्पर रहते हैं, कभी एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी चेष्टा करते हैं, कभी आपसमें ईर्ष्या रखते हैं और कभी परस्पर प्रहार भी कर बैठते हैं ॥ १३-१४ ॥

इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः ।
त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥ १५ ॥
रात्रिरेतावती चैव मनसश्च नराधिप ।

ऐसे विषयासक्त प्राणी तिर्यग्योनियोंमें प्रवेश करके इसी संसारमें चक्कर काटते रहते हैं । इन शब्दादि विषयोंका एक दिन तीन हजार कल्पोंका बताया जाता है । नरेश्वर ! इनकी रात भी इतनी ही बड़ी है । मनके भी दिन-रातका परिमाण इतना ही है ॥ १५½ ॥

मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः ॥ १६ ॥
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति ।
चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! मन इन्द्रियोंद्वारा संचालित होकर सब विषयोंकी ओर जाता है । इन्द्रियाँ उन विषयोंको नहीं देखतीं, मन ही उन्हें निरन्तर देखता है । आँख मनके सहयोगसे ही रूपका दर्शन करती है, अपनी शक्तिसे नहीं ॥ १६-१७ ॥

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।
तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ १८ ॥

जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती । लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंको प्रत्यक्ष करती हैं ॥ १८ ॥

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ।
मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥ १९ ॥

किंतु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखतीं, केवल मन ही देखता है । राजन् ! मन विषयोंसे उपरत हो जाय तो इन्द्रियाँ भी विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं ॥ १९ ॥

न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत् ।
एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥ २० ॥

परंतु इन्द्रियोंके उपरत होनेपर मनमें उपरति नहीं आती । इस प्रकार, यह निश्चय करना चाहिये कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें मन ही प्रधान है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ।
एतद् विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥ २१ ॥

मनको सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्वामी कहा जाता है । महायशस्वी नरेश ! जगत्‌के समस्त प्राणी इस मनका ही आश्रय लेते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनकका संवादविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३११ ॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

संहारक्रमका वर्णन

याज्ञवल्क्य उवाच

तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च ।
मया प्रोक्ताऽऽनुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन् ! अब मेरेद्वारा क्रमशः बतायी हुई तत्त्वोंकी सम्पूर्ण संख्या, कालसंख्या तथा तत्त्वोंके संहारकी वार्ता सुनो ॥ १ ॥

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः ।
अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च ॥ २ ॥

आदि और अन्तसे रहित नित्य अक्षरस्वरूप ब्रह्माजी किस प्रकार बारंबार प्राणियोंकी सृष्टि और संहार करते हैं—यह बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

अहःक्षयमथो बुद्‌ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा ।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥ ३ ॥

भगवान् ब्रह्माजी जब देखते हैं कि मेरे दिनका अन्त हो गया, तब उनके मनमें रातको शयन करनेकी इच्छा होती है, इसलिये वे अहंकारके अभिमानी देवता रुद्रको संहारके लिये प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः ।
कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥ ४ ॥

उस समय वे रुद्रदेव ब्रह्माजीसे प्रेरित होकर प्रचण्ड सूर्यका रूप धारण करते हैं और अपनेको बारह रूपोंमें अभिव्यक्त करके अग्निके समान प्रज्वलित हो उठते हैं ॥ ४ ॥

चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा ।
जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥ ५ ॥

भूपाल ! नरेश्वर ! फिर वे अपने तेजसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्‌को शीघ्र ही भस्म कर डालते हैं ॥ ५ ॥

एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणु जङ्गमम् ।
कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥ ६ ॥

पलक मारते-मारते इस समस्त चराचर जगत्‌का नाश

हो जाता है और यह भूमि सब ओरसे कछुएकी पीठकी तरह प्रतीत होने लगती है ॥ ६ ॥

जगद् दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः ।
अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥ ७ ॥

जगत्को दग्ध करनेके बाद अमित बलवान् रुद्र इस अकेली बची हुई समूची पृथ्वीको शीघ्र ही जलके महान् प्रवाहमें डुबो देते हैं ॥ ७ ॥

ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर कालाग्निकी लपटमें पड़कर वह सारा जल सूख जाता है । राजेन्द्र ! जलके नष्ट हो जानेपर आग अत्यन्त भयानक रूप धारण करती है और सब ओर बड़े जोरसे प्रज्वलित होने लगती है ॥ ८ ॥

तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।
ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्तार्चिषमथाञ्जसा ॥ ९ ॥
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली ।
विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भूतोंको गर्मी पहुँचानेवाली तथा अत्यन्त प्रबल वेगसे जलती हुई उस सात ज्वालाओंसे युक्त आगको बलवान् वायुदेव अपने आठ रूपोंमें प्रकट होकर निगल जाते हैं और ऊपर-नीचे तथा बीचमें सब ओर प्रवाहित होने लगते हैं ॥ ९-१० ॥

तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।
आकाशमप्यभिनदन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर आकाश उस अत्यन्त प्रबल एवं भयंकर वायुको स्वयं ही ग्रस लेता है । फिर गर्जन-तर्जन करनेवाले उस आकाशको उससे भी अधिक शक्तिशाली मन अपना ग्रास बना लेता है ॥ ११ ॥

मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १२ ॥

क्रमशः भूतात्मा और प्रजापतिस्वरूप अहंकार मनको अपनेमें लीन कर लेता है । तत्पश्चात् भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञाता बुद्धिस्वरूप महत्तत्त्व अहंकारको अपना ग्रास बना लेता है ॥ १२ ॥

तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १३ ॥
सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः ।
अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥ १५ ॥

इसके बाद, जिनके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं, सब ओर कान हैं तथा जो जगत्में सबको व्याप्त करके स्थित हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें अङ्गुष्ठपर्वके बराबर आकार धारण करके विराजमान हैं, अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि ऐश्वर्य जिनके अधीन हैं, जो सबके नियन्ता, ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी, कल्याणमय, प्रजाके स्वामी, अनन्त, महान् आत्मा और सर्वेश्वर हैं, वे परब्रह्म परमात्मा उस अनुपम विश्वरूप बुद्धितत्त्वको अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ १३–१५ ॥

ततः समभवत् सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम् ।
भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघं तथा ॥ १६ ॥

तदनन्तर ह्रास और वृद्धिसे रहित, अविनाशी और निर्विकार, सर्वस्वरूप परब्रह्म ही शेष रह जाता है । उसीने भूत, भविष्य और वर्तमानकी सृष्टि करनेवाले निष्पाप ब्रह्माकी भी सृष्टि की है ॥ १६ ॥

एषोऽप्ययस्ते राजेन्द्र यथावत् समुदाहृतः ।
अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवं च श्रूयताम् ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष संहारक्रमका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है । अब तुम अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवका वर्णन सुनो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके लक्षण

याज्ञवल्क्य उवाच

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन् ! तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंका कथन है कि दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य स्थान अधिभूत है और विष्णु अधिदैवत हैं ॥ १ ॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् गुदाको अध्यात्म कहते हैं । मलत्याग अधिभूत है और मित्र अधिदैवत हैं ॥ २ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथाऽऽनन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥ ३ ॥

योगमतका प्रदर्शन करनेवाले जैसा कहते हैं, उसके अनुसार उपस्थ अध्यात्म है, मैथुनजनित आनन्द अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं ॥ ३ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ४ ॥

सांख्यदर्शी विद्वानोंके कथनानुसार दोनों हाथ अध्यात्म हैं, कर्तव्य अधिभूत है और इन्द्र अधिदैवत हैं ॥ ४ ॥

वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥

वेदार्थपर विचार करनेवाले विद्वान् जैसा कहते हैं, उसके अनुसार वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं ॥ ५ ॥

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥

वेददर्शी विद्वान् जैसा बताते हैं, उसके अनुसार नेत्र अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत हैं ॥ ६ ॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥

वैदिक सिद्धान्तका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं कि श्रोत्र अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं ॥ ७ ॥

जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥

वेदके अनुसार दृष्टि रखनेवाले विद्वानोंका कथन है कि जिह्वा अध्यात्म है, रस अधिभूत है और जल अधिदैवत है ॥

घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
गन्ध एवाधिभूतं तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥ ९ ॥

वैदिक मतके अनुसार यथार्थ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि नासिका अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथ्वी अधिदैवत है ॥ ९ ॥

त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥

तत्त्वज्ञानमें कुशल पुरुषोंका कथन है कि त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है और वायु अधिदैवत है ॥ १० ॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ११ ॥

शास्त्रज्ञाननिपुण विद्वान् कहते हैं कि मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदेवता हैं ॥ ११ ॥

अहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतं तु रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ १२ ॥

तत्त्वदर्शी पुरुषोंका कथन है कि अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और रुद्र अधिदेवता हैं ॥ १२ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥

यथार्थ ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है और आत्मा अधिदेवता है ॥ १३ ॥

एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदर्शिता ।
आदौ मध्ये तथान्ते च यथातत्त्वेन तत्त्ववित् ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञ नरेश ! यह मैंने तुम्हारे निकट आदि, मध्य और अन्तमें तत्त्वतः प्रकाशित होनेवाली जीवकी व्यक्तिगत विभूतिका वर्णन किया है ॥ १४ ॥

प्रकृतिर्गुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया ।
क्रीडार्थं तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

महाराज ! प्रकृति स्वतन्त्रतापूर्वक खेल करनेके लिये अपनी ही इच्छासे सैकड़ों और हजारों गुणोंको उत्पन्न करती है ॥

यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।
प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान् बहून् ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य एक दीपकसे हजारों दीपक जला लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके सम्बन्धसे अनेक गुण उत्पन्न कर देती है ॥ १६ ॥

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।
सुखं शुद्धित्वमारोग्यं संतोषः श्रद्दधानता ॥ १७ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।
समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १८ ॥
शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥ १९ ॥
दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सर्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥

धैर्य, आनन्द, प्रीति, उत्कर्ष, प्रकाश (ज्ञानशक्ति), सुख, शुद्धि, आरोग्य, संतोष, श्रद्धा, अकार्पण्य (दीनताका अभाव), असंरम्भ (क्रोधका अभाव), क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, ऋणसे रहित होना, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, शौच, सरलता, सदाचार, अलोलुपता, हृदयमें सम्भ्रमका न होना, इष्ट और अनिष्टके वियोगका बखान न करना, दानके द्वारा धैर्य धारण करना, किसी वस्तुकी इच्छा न करना, परोपकार और सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया—ये सब सत्त्वसम्बन्धी गुण बताये गये हैं ॥ १७–२० ॥

रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।
अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥ २१ ॥
परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् ।
अहंकारमसत्कारश्चिन्ता वैरोपसेवनम् ॥ २२ ॥
परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।
भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥ २३ ॥
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।
तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥ २४ ॥

रूप, ऐश्वर्य, विग्रह, त्यागका अभाव, करुणाका अभाव, दुःख-सुखका उपभोग, परनिन्दामें प्रीति, वाद-विवाद करना, अहङ्कार, माननीय पुरुषोंका सत्कार न करना, चिन्ता, वैर-भाव रखना, संताप करना, दूसरोंका धन हड़प लेना, निर्लज्जता, कुटिलता, भेदबुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष और बहुत बोलनेका स्वभाव—यह रजोगुणका समूह है। ये सारे भाव रजोगुणके कार्य बताये गये हैं। अब मैं तामस भावोंके समूहका परिचय देता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥

मोहोऽप्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम्।
मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते॥ २५॥
तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम्।
भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता॥ २६॥
गन्धवासो विहारेषु शयनेष्वासनेषु च।
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः॥ २७॥
नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता।
द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः॥ २८॥

मोह, अप्रकाश (अज्ञान), तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये सब तमोगुणके लक्षण हैं। इनमें तामिस्र क्रोधका वाचक है और अन्धतामिस्र मरणका। भोजनमें रुचिका न होना, खानेकी वस्तुओंसे तृप्ति या संतोषका अभाव अथवा कितना ही भोजन क्यों न मिले, उसे पर्याप्त न मानना, पीनेकी वस्तुओंसे कभी तृप्त न होना, दुर्गन्धयुक्त वस्त्र, अनुचित विहार, मलिन शय्या और आसनोंका सेवन, दिनमें सोना, अत्यन्त वाद-विवादमें और प्रमादमें अत्यन्त आसक्त रहना, अज्ञानवश नाच-गीत और नाना प्रकारके बाजोंमें श्रद्धा, नाना प्रकारके धर्मोंसे द्वेष—ये तमोगुणके लक्षण हैं॥ २५—२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३॥

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्योंकी गतिका वर्णन तथा राजा जनकके प्रश्न

याज्ञवल्क्य उवाच

एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम।
कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—पुरुषप्रवर! सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं, जो सम्पूर्ण जगत्में सदा विद्यमान रहते हैं। कभी उससे अलग नहीं होते हैं॥ १॥

अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा॥ २॥
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना।

यह ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति अपने ही प्रभावसे जीवको सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों रूपोंमें प्रकट कर देती है॥

सात्त्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम्॥ ३॥
तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।

अध्यात्म-शास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सात्त्विक पुरुषको उत्तम, रजोगुणीको मध्यम और तमोगुणीको अधम स्थानकी प्राप्ति होती है॥ ३½॥

केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात्॥ ४॥
पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम्।

केवल पुण्य करनेसे मनुष्य ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है, पुण्य और पाप दोनोंके अनुष्ठानसे मर्त्यलोकमें जन्म लेता है तथा केवल पापाचार करनेपर उसे अधोगतिमें गिरना पड़ता है॥ ४½॥

द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु संनिपातं च तत्त्वतः॥ ५॥
सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे।

अब मैं सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वन्द्व[1] और संनिपात[2]का यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो॥ ५½॥

सत्त्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा॥ ६॥
तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव च।
अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात्॥ ७॥

सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, रजोगुणके साथ तमोगुण, तमोगुणके साथ सत्त्वगुण तथा सत्त्वगुणके साथ अव्यक्त (जीवात्मा) का सम्मिश्रण देखा जाता है (यह दो तत्त्वोंका संयोग या मेल ही द्वन्द्व है)। जीवात्मा जब सत्त्वगुणसे संयुक्त होता है, तब देवलोकको प्राप्त होता है॥ ६-७॥

रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते।
रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते॥ ८॥

रजोगुण और सत्त्वगुणसे संयुक्त होनेपर वह मनुष्य-लोकमें जाता है तथा रजोगुण और तमोगुणसे संयुक्त होनेपर वह पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है॥ ८॥

राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात्।
पुण्यपापवियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम्।
शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षयं चामृतं च तत्॥ ९॥

राजस, तामस और सात्त्विक तीनों भावोंसे युक्त होनेपर जीवको मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। जो पुण्य और पाप

१-२. दो गुणोंके मेलको द्वन्द्व और तीन गुणोंके मेलको संनिपात कहते हैं।

दोनोंसे रहित हैं, उन महात्मा पुरुषोंके लिये सनातन, अविकारी, अक्षय और अमृतपदकी प्राप्ति बतायी गयी है॥ ९॥

ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम्।
अतीन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम्॥ १०॥

जहाँ किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, जहाँसे कभी पतन नहीं होता है, जो इन्द्रियातीत है, जहाँ बन्धनमें डालनेवाला कोई कारण नहीं है तथा जो जन्म, मृत्यु और अज्ञानका विनाश करनेवाला है, वह श्रेष्ठ स्थान (परमपद) ज्ञानियोंको ही प्राप्त हो सकता है॥ १०॥

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप।
स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते॥ ११॥

नरेश्वर! तुमने जो अव्यक्त प्रकृतिमें स्थित परमतत्त्वके विषयमें मुझसे प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें यह निवेदन है कि यह परमतत्त्व प्राकृत शरीरमें स्थित होनेसे ही प्रकृतिस्थ कहलाता है॥ ११॥

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि॥ १२॥

पृथ्वीनाथ! प्रकृति अचेतन मानी गयी है। इस परमतत्त्वद्वारा अधिष्ठित होकर ही वह सृष्टि एवं संहार करती है॥ १२॥

जनक उवाच

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते।
अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ॥ १३॥

जनकने पूछा—महामते! प्रकृति और पुरुष दोनों आदि-अन्तसे रहित, मूर्तिहीन और अचल हैं। दोनों अपने-अपने गुणमें स्थिर रहनेवाले और दोनों ही निर्गुण हैं॥१३॥

अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः।
चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः॥ १४॥

मुनिश्रेष्ठ! वे दोनों ही बुद्धि-अगोचर हैं। फिर इन दोनोंमेंसे एक प्रकृतिको आपने अचेतन क्यों बताया है? तथा दूसरेको चेतन एवं क्षेत्रज्ञ कैसे कहा है?॥ १४॥

त्वं हि विप्रेन्द्र कार्त्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे।
साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १५॥

विप्रवर! आप पूर्णरूपसे मोक्षधर्मका सेवन करते हैं, इसलिये आपहीके मुँहसे मैं सम्पूर्ण मोक्ष-धर्मका यथावत् रूपसे श्रवण करना चाहता हूँ॥ १५॥

अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च।
दैवतानि च मे ब्रूहि देहं यान्याश्रितानि वै॥ १६॥

आप पुरुषके अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृतिसे पृथक् सत्ताका स्पष्टीकरण कीजिये और देहका आश्रय ग्रहण करनेवाले जो देवता हैं, उनका तत्त्व भी मुझे समझाइये॥ १६॥

तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपद्यतः।
कालेन यद्धि प्राप्नोति स्थानं तत् प्रब्रवीहि मे॥ १७॥

तथा मरनेवाले जीवके प्राणोंका जब उत्क्रमण होता है, उस समय उसे समयानुसार किस स्थानकी प्राप्ति होती है? इसपर भी प्रकाश डालिये॥ १७॥

सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च।
अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम।
विदितं सर्वमेतत् ते पाणावामलकं यथा॥ १८॥

साधुशिरोमणे! साथ ही पृथक्-पृथक् सांख्य और योगके ज्ञानका तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; क्योंकि ये सारी बातें आपको हाथपर रखे हुए आँवलेके समान ज्ञात हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१४॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषका विवेक और उसका फल

याज्ञवल्क्य उवाच

न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशाम्पते।
गुणवांश्चाप्यगुणवान् यथातत्त्वं निबोध मे॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—तात! प्रजापालक नरेश! निर्गुणको सगुण और सगुणको निर्गुण नहीं किया जा सकता। इस विषयमें जो यथार्थ तत्त्व है, वह मुझसे सुनो॥ १॥

गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥ २॥

तत्त्वदर्शी महात्मा मुनि कहते हैं, जिसका गुणोंके साथ सम्पर्क है, वह गुणवान् है तथा जो गुणोंके संसर्गसे रहित है, वह निर्गुण कहलाता है॥ २॥

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान् नैवातिवर्तते।
उपयुङ्क्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः॥ ३॥

अव्यक्त प्रकृति स्वभावसे ही गुणवती है। वह गुणोंका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकती है। उन्हींको उपयोगमें लाती है और स्वभावसे ही ज्ञानरहित है॥ ३॥

अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः।
न मत्तः परमोऽस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते॥ ४॥

प्रकृतिको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत पुरुष स्वभावसे ही ज्ञानी है। वह सदा इस बातको जानता रहता है कि मुझसे कोई दूसरा उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है॥ ४॥

अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम्।

नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वान्न तदन्यथा ॥ ५ ॥

इस कारणसे प्रकृतिको अचेतन माना गया है। क्षर अर्थात् विनाशी होनेके कारण वह जडके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती। इधर नित्य तथा अक्षर (अविनाशी) होनेके कारण पुरुष चेतन है॥ ५ ॥

यदाज्ञानेन कुर्वीत गुणसर्गं पुनः पुनः।
यदाऽऽत्मानं न जानीते तदाऽऽत्मापि न मुच्यते ॥ ६ ॥

परंतु वह जबतक अज्ञानवश बारंबार गुणोंका संसर्ग करता और अपने असङ्गस्वरूपको नहीं जानता है, तबतक उसकी मुक्ति नहीं होती है॥ ६ ॥

कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते।
कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते ॥ ७ ॥

वह अपनेको सृष्टिका कर्ता माननेके कारण सर्गधर्मा कहलाता है और योगका कर्ता माननेसे योगधर्मा कहा जाता है॥ ७ ॥

कर्तृत्वात् प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥ ८ ॥

नाना प्रकृतियोंको अपनेमें स्वीकार कर लेनेसे वह प्रकृतिधर्मवाला हो जाता है॥ ८ ॥

कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात् तथैव च ॥ ९ ॥

तथा स्थावर पदार्थोंके बीजोंका कर्ता होनेसे उसे बीजधर्मा कहते हैं। साथ ही वह गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता है, इसलिये गुणधर्मा कहलाता है॥ ९ ॥

उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम्।
मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः।
अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्धि शुश्रुम ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रको जाननेवाले चिन्तारहित सिद्ध यति लोग पुरुषको केवल (प्रकृतिके सङ्गसे रहित) मानते हैं; क्योंकि वह साक्षी और अद्वितीय है, उसे सुख-दुःखका अनुभव तो अभिमानके कारण होता है। वह वास्तवमें तो नित्य और अव्यक्त है, किंतु प्रकृतिके सम्बन्धसे अनित्य और व्यक्त प्रतीत होता है॥ १० ॥

अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषे तथा।
सर्वभूतदयावन्तः केवलं ज्ञानमास्थिताः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले और केवल ज्ञानका सहारा लेनेवाले कुछ सांख्यके विद्वान् प्रकृतिको एक तथा पुरुषको अनेक मानते हैं॥ ११ ॥

अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः।
यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्धि जायते ॥ १२ ॥

पुरुष प्रकृतिसे भिन्न और नित्य है तथा अव्यक्त (प्रकृति) पुरुषसे भिन्न एवं अनित्य है। जैसे सींकसे मूँज अलग होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषसे पृथक् है॥

अन्यच्च मशकं विद्यादन्यच्चोदुम्बरं तथा।
न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते ॥ १३ ॥
अन्य एव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ होनेपर भी अलग-अलग समझे जाते हैं, गूलरके संयोगसे कीड़े उससे लिप्त नहीं होते तथा जैसे मत्स्य दूसरी वस्तु है और जल दूसरी। पानीके स्पर्शसे कभी कोई मत्स्य लिप्त नहीं होता है॥ १३-१४ ॥

अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः।
न चोपलिप्यते सोऽग्निरुखासंस्पर्शनेन वै ॥ १५ ॥

राजन्! जैसे अग्नि दूसरी वस्तु है और मिट्टीकी हँड़िया दूसरी वस्तु। इन दोनोंके भेदको नित्य समझो। उस हँड़ियेके स्पर्शसे अग्नि दूषित नहीं होती है॥ १५ ॥

पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥ १६ ॥

जैसे कमल दूसरी वस्तु है और पानी दूसरी, पानीके स्पर्शसे कमल लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृतिसे भिन्न और असङ्ग है॥ १६ ॥

एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः।
याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥ १७ ॥
ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

साधारण मनुष्य इनके सहवास और निवासको कभी ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। जो इन दोनोंके स्वरूपको अन्यथा जानते हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुषको एक दूसरेसे भिन्न नहीं जानते हैं उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। वे अवश्य ही बार-बार घोर नरकमें पड़ते हैं॥ १७-१८ ॥

सांख्यदर्शनमेतत् ते परिसंख्यानमुत्तमम्।
एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें यह विचारप्रधान उत्तम सांख्यदर्शन बताया है। सांख्यशास्त्रके विद्वान् इस प्रकार जान करके कैवल्यको प्राप्त हो गये हैं॥ १९ ॥

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥ २० ॥

दूसरे भी जो तत्त्वविचारकुशल विद्वान् हैं, उनका भी ऐसा ही मत है। इसके बाद मैं योगियोंके शास्त्रका वर्णन करूँगा॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकके संवादमें तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१५ ॥

षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योगका वर्णन और उसके साधनसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति

याज्ञवल्क्य उवाच

सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! मैं सांख्यसम्बन्धी ज्ञान तो तुम्हें बतला चुका। अब जैसा मैंने देखा, सुना या समझा है, उसके अनुसार योगशास्त्रका तात्त्विक ज्ञान मुझसे सुनो॥

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥ २ ॥

सांख्यके समान कोई ज्ञान नहीं है। योगके समान कोई बल नहीं है। इन दोनोंका लक्ष्य एक है और वे दोनों ही मृत्युका निवारण करनेवाले माने गये हैं ॥ २॥

पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥ ३ ॥

राजन्! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं, वे ही इन दोनों शास्त्रोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं। हम तो विचारके द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनोंको एक ही समझते हैं ॥ ३ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्यों-द्वारा भी देखा जाता है; अतः जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है ॥ ४ ॥

रुद्रप्रधानानपरान् विद्धि योगानरिंदम ।
तेनैव चाथ देहेन विचरन्ति दिशो दश ॥ ५ ॥

शत्रुदमन नरेश! योग-साधनोंमें रुद्र अर्थात् प्राण प्रधान है। इन सबको तुम सर्वश्रेष्ठ समझो। प्राणको अपने वशमें कर लेनेपर योगी इसी शरीरसे दसों दिशाओंमें स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं ॥ ५॥

यावद्धि प्रलयस्तात सूक्ष्मेणाष्टगुणेन ह ।
योगेन लोकान् विचरन् सुखं संन्यस्य चानघ ॥ ६ ॥

प्रिय निष्पाप भूपाल! जबतक मृत्यु न हो जाय, तबतक ही योगी योगबलसे स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर अष्टविध ऐश्वर्यसे युक्त सूक्ष्मशरीरके द्वारा लोक-लोकान्तरोंमें सुखपूर्वक विचरण करता है ॥ ६ ॥

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः ।
सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! मनीषी पुरुषोंका कहना है कि वेदमें स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके योगोंका वर्णन है। उनमें स्थूल योग अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है और सूक्ष्म योग ही (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन) आठ गुणों (अङ्गों) से युक्त है; दूसरा नहीं ॥ ७ ॥

द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम् ।
सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥

योगका मुख्य साधन दो प्रकारका बताया गया है—सगुण और निर्गुण (सबीज और निर्बीज)। ऐसा ही शास्त्रोंका निर्णय है ॥ ८ ॥

धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव ।
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ॥ ९ ॥

पृथ्वीनाथ! किसी विशेष देशमें चित्तको स्थापित करनेका नाम 'धारणा' है। मनकी धारणाके साथ किया जानेवाला प्राणायाम सगुण है और देश-विशेषका आश्रय न लेकर मनको निर्बीज समाधिमें एकाग्र करना निर्गुण प्राणायाम कहलाता है ॥ ९ ॥

प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः ।
यद्यदृश्यति मुञ्चन् वै प्राणान् मैथिलसत्तम ।
वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात् तं न समाचरेत् ॥ १० ॥

सगुण प्राणायाम मनको निर्गुण अर्थात् वृत्तिशून्य करके स्थिर करनेमें सहायक होता है। मैथिलशिरोमणे! यदि पूरक आदिके समय नियत देवता आदिका ध्यानद्वारा साक्षात्कार किये बिना ही कोई प्राणवायुका रेचन करता है तो उसके शरीरमें वायुका प्रकोप बढ़ जाता है; अतः ध्यान-रहित प्राणायामको नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः ।
मध्ये स्वप्नात् परे यामे द्वादशैव तु चोदनाः ॥ ११ ॥

रातके पहले पहरमें वायुको धारण करनेकी बारह प्रेरणाएँ बतायी गयी हैं। मध्य रात्रिमें रात्रिके बिचले दो पहरोंमें सोना चाहिये तथा पुनः अन्तिम प्रहरमें बारह प्रेरणाओंका ही अभ्यास करना चाहिये* ॥ ११ ॥

तदेवमुपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलिना ।
आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्योऽऽत्मा न संशयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करके शान्त और जितेन्द्रिय हो एकान्तवास करनेवाले आत्माराम ज्ञानीको चाहिये कि मनको परमात्मामें लगावे। इसमें संशय नहीं है ॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा ।
शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥ १३ ॥

---

* एक प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रेरणाएँ समझनी चाहिये। इस प्रकार जहाँ बारह प्रेरणाओंके अभ्यासका विधान किया गया है, वहाँ चार-चार प्राणायाम करनेकी विधि समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि रातके पहले और पिछले पहरोंमें ध्यानपूर्वक चार-चार प्राणायामोंका नित्य अभ्यास करना योगीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल।
इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह॥ १४॥
मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप।
अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि॥ १५॥
एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम्।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम्॥ १६॥
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम्।
शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम्॥ १७॥

मिथिलानरेश! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये इन्द्रियोंके पाँच दोष हैं। इन दोषोंको दूर करे। फिर लय और विक्षेपको शान्त करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। नरेश्वर! तत्पश्चात् मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थापित करे। इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल उस परमात्माका ध्यान करते हैं, जो रजोगुणसे रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध, छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अधिकारी, सबका शासन करनेवाला और सनातन ब्रह्म है॥ १३—१७॥

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय।
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत्॥ १८॥

महाराज! अब समाधिमें स्थित हुए योगीके लक्षण सुनो। जैसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुषके चित्तमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है—वह समाधिसे विरत होना नहीं चाहता। यही उसकी प्रसन्नताकी पहचान है॥ १८॥

निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः॥ १९॥

जैसे तेलसे भरा हुआ दीपक वायुशून्य स्थानमें एकतार जलता रहता है। उसकी शिखा स्थिरभावसे ऊपरकी ओर उठी रहती है, उसी तरह समाधिनिष्ठ योगीको भी मनीषी पुरुष स्थिर बताते हैं॥ १९॥

पाषाण इव मेघोत्थैर्यथा बिन्दुभिराहतः।
नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम्॥ २०॥

जैसे बादलकी बरसायी हुई बूँदोंके आघातसे पर्वत चञ्चल नहीं होता, उसी तरह अनेक प्रकारके विक्षेप आकर योगीको विचलित नहीं कर सकते। यही योगयुक्त पुरुषकी पहचान है॥ २०॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम्॥ २१॥

उसके पास बहुत-से शङ्ख और नगाड़ोंकी ध्वनि हो और तरह-तरहके गाने-बजाने किये जायँ तो भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं हो सकता। यही उसकी सुदृढ़ समाधिकी पहचान है॥ २१॥

तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः।
सोपानमारुहेद् भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः॥ २२॥
संयतात्मा भयात् तेषां न पात्राद् बिन्दुमुत्सृजेत्।
तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा॥ २३॥
स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च।
एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत्॥ २४॥

जैसे मनको संयममें रखनेवाला सावधान मनुष्य हाथोंमें तेलसे भरा कटोरा लेकर सीढ़ीपर चढ़े और उस समय बहुत-से पुरुष हाथमें तलवार लेकर उसे डराने-धमकाने लगें तो भी वह उनके डरसे एक बूँद भी तेल पात्रसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार योगकी ऊँची स्थितिको प्राप्त हुआ एकाग्रचित्त योगी इन्द्रियोंकी स्थिरता और मनकी अविचल स्थितिके कारण समाधिसे विचलित नहीं होता। योगसिद्ध मुनिके ऐसे ही लक्षण समझने चाहिये॥ २२—२४॥

स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परममव्ययम्।
महतस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम्॥ २५॥

जो अच्छी तरह समाधिमें स्थित हो जाता है, वह महान् अन्धकारके बीचमें प्रकाशित होनेवाली प्रज्वलित अग्निके समान हृदयदेशमें स्थित अविनाशी (ज्ञानस्वरूप) परब्रह्मका साक्षात्कार करता है॥ २५॥

एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम्।
कालेन महता राजञ्श्रुतिरेषा सनातनी॥ २६॥

राजन्! इस साधनाके द्वारा मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् इस अचेतन देहका परित्याग करके केवल (प्रकृतिके संसर्गसे रहित) परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ऐसी सनातन श्रुति है॥ २६॥

एतद्धि योगं योगानां किमन्यद् योगलक्षणम्।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः॥ २७॥

यही योगियोंका योग है। इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है? इसे जानकर मनीषी पुरुष अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१६॥

सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विभिन्न अङ्गोंसे प्राणोंके उत्क्रमणका फल तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका वर्णन और मृत्युको जीतनेका उपाय

याज्ञवल्क्य उवाच

तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्वावहितो नृप।
पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर! देह-त्यागके समय मनुष्यके जिन-जिन अङ्गोंसे निकलकर प्राण जिन-जिन ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, उनके विषयमें बता रहा हूँ; तुम सावधान होकर सुनो। पैरोंके मार्गसे प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्यको भगवान् विष्णुके परमधामकी प्राप्ति होती बतायी जाती है॥ १॥

जङ्घाभ्यां तु वसून् देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम्।
जानुभ्यां च महाभागान् साध्यान् देवानवाप्नुयात्॥ २॥

जिसके प्राण दोनों पिण्डलियोंके मार्गसे बाहर निकलते हैं, वह वसु नामक देवताओंके लोकमें जाता है; ऐसा हमने सुन रक्खा है। घुटनोंसे प्राणत्याग करनेपर महाभाग साध्य-देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति होती है॥ २॥

पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानमवाप्नुयात्।
पृथिवीं जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम्॥ ३॥

जिसके प्राण गुदामार्गसे निकलकर ऊपरकी ओर जाते हैं, वह मित्रदेवताके उत्तम स्थानको पाता है। कटिके अग्रभागसे प्राण निकलनेपर पृथ्वीलोककी और दोनों जाँघोंसे निकलनेपर प्रजापतिलोककी प्राप्ति होती है॥ ३॥

पार्श्वाभ्यां मरुतो देवान् नाभ्यामिन्द्रत्वमेव च।
बाहुभ्यामिन्द्रमेवाहुरुरसा रुद्रमेव च॥ ४॥

दोनों पसलियोंसे प्राणोंका निष्क्रमण हो तो मरुत् नामक देवताओंकी, नाभिसे हो तो इन्द्रपदकी, दोनों भुजाओंसे हो तो भी इन्द्रपदकी ही और वक्षःस्थलसे हो तो रुद्रलोककी प्राप्ति होती है॥ ४॥

ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम्।
विश्वेदेवान् मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात्॥ ५॥

ग्रीवासे प्राणोंका निष्क्रमण होनेपर मनुष्य मुनियोंमें श्रेष्ठ परम उत्तम नरका सांनिध्य प्राप्त करता है। मुखसे प्राण-त्याग करनेपर वह विश्वेदेवोंको और श्रोत्रसे प्राण त्यागनेपर दिशाओंकी अधिष्ठात्री देवियोंको प्राप्त होता है॥ ५॥

घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च।
भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितॄनथ॥ ६॥

नासिकासे प्राणोंका उत्क्रमण हो तो मनुष्य वायुदेवताको, दोनों नेत्रोंसे हो तो अग्निदेवताको, दोनों भौंहोंसे हो तो अश्विनीकुमारोंको और ललाटसे हो तो पितरोंको प्राप्त होता है॥ ६॥

ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं तथा।
एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर॥ ७॥

मस्तकसे प्राणोंका परित्याग करनेपर मनुष्य देवताओंके अग्रज भगवान् ब्रह्माजीके लोकको जाता है। मिथिलेश्वर! ये प्राणोंके निष्क्रमणके स्थान बताये गये हैं॥ ७॥

अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः।
संवत्सरवियोगस्य सम्भवन्ति शरीरिणः॥ ८॥

अब मैं ज्ञानी पुरुषोंद्वारा नियत किये हुए अमङ्गल अथवा मृत्युको सूचित करनेवाले उन चिह्नोंका वर्णन करता हूँ, जो देहधारीके शरीर छूटनेमें केवल एक वर्ष शेष रह जानेपर उसके सामने प्रकट होते हैं॥ ८॥

योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वां कदाचन।
तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च॥ ९॥
खण्डाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः।

जो कभी पहलेकी देखी हुई अरुन्धती और ध्रुवको न देख पाता हो तथा पूर्णचन्द्रमाका मण्डल और दीपककी शिखा जिसे दाहिने भागसे खण्डित जान पड़े, ऐसे लोग केवल एक वर्षतक जीवित रहनेवाले होते हैं॥ ९½॥

परचक्षुषि चात्मानं ये न पश्यन्ति पार्थिव॥ १०॥
आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः।

पृथ्वीनाथ! जो लोग दूसरेके नेत्रोंमें अपनी परछाईं न देख सकें, उनकी आयु भी एक ही वर्षतक शेष समझनी चाहिये॥

अतिद्युतिरतिप्रज्ञा अप्रज्ञा चाद्युतिस्तथा॥ ११॥
प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

यदि मनुष्यकी बहुत बढ़ी-चढ़ी कान्ति भी अत्यन्त फीकी पड़ जाय, अधिक बुद्धिमत्ता भी बुद्धिहीनतामें परिणत हो जाय और स्वभावमें भी भारी उलट-फेर हो जाय तो यह उसके छः महीनेके भीतर ही होनेवाली मृत्युका सूचक है॥ ११½॥

दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुध्यते॥ १२॥
कृष्णश्यावच्छविच्छायः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

जो काले रंगका होकर भी पीला पड़ने लगे, देवताओंका अनादर करे और ब्राह्मणोंके साथ विरोध करे, वह भी छः महीनेसे अधिक नहीं जी सकता, यह उक्त लक्षणोंसे सूचित होता है॥ १२½॥

ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति॥ १३॥
तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो मनुष्य सूर्य और चन्द्रमाके मण्डलको मकड़ीके जालेके समान छिद्रयुक्त देखता है, वह सात रातमें ही मृत्युका भागी होता है॥ १३½॥

शवगन्धमुपाघ्राति सुरभिं प्राप्य यो नरः॥ १४॥
देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो देवमन्दिरमें बैठकर वहाँकी सुगन्धित वस्तुमें सड़े मुर्देकी-सी दुर्गन्धका अनुभव करता है, वह सात दिनमें ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १४½ ॥

कर्णनासावनमनं दन्तदृष्टिविरागिता ॥ १५ ॥
संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।
अकस्माच्च स्रवेद् यस्य वाममक्षि नराधिप ॥ १६ ॥
मूर्धतश्चोत्पतेद् धूमः सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।

नरेश्वर ! जिसके नाक और कान टेढ़े हो जायँ, दाँत और नेत्रोंका रंग बिगड़ जाय, जिसे बेहोशी होने लगे, जिसका शरीर ठंडा पड़ जाय तथा जिसकी बायीं आँखसे अकस्मात् आँसू बहने और मस्तकसे धुआँ उठने लगे, उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। उपर्युक्त लक्षण तत्काल होनेवाली मृत्युके सूचक हैं ॥ १५–१६½ ॥

एतावन्ति त्वरिष्टानि विदित्वा मानवोऽऽत्मवान् ॥ १७ ॥
निशि चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि ।
प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥ १८ ॥

इन मृत्युसूचक लक्षणोंको जानकर मनको वशमें रखनेवाला साधक रात-दिन परमात्माका ध्यान करे और जिस समय मृत्यु होनेवाली हो, उस कालकी प्रतीक्षा करता रहे। १७-१८।

अथास्य नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् ।
सर्वगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! यदि योगीको मृत्यु अभीष्ट न हो, अभी वह इस जगत्में रहना चाहे तो यह क्रिया करे। पूर्वोक्त रीतिसे पञ्चभूतविषयक धारणा करके पृथ्वी आदि तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करते हुए सम्पूर्ण गन्धों, रसों तथा रूप आदि विषयोंको अपने वशमें करे * ॥ १९ ॥

ससांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ ।
जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणान्तरात्मना ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! सांख्य और योगके अनुसार धारणापूर्वक आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लगा देनेसे योगी मृत्युको जीत लेता है ॥ २० ॥

गच्छेत् प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम् ।
शाश्वतं स्थानमचलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २१ ॥

ऐसा करनेसे वह उस सनातन पदको प्राप्त करता है, जो अशुद्ध चित्तवाले पुरुषोंको दुर्लभ है तथा जो अक्षय, अजन्मा, अचल, अविकारी, पूर्ण एवं कल्याणमय है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१७ ॥

अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यद्वारा अपनेको सूर्यसे वेदज्ञानकी प्राप्तिका प्रसङ्ग सुनाना, विश्वावसुको जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना तथा जनकको उपदेश देकर विदा होना

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ।
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जो मुझसे अव्यक्तमें स्थित परब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया है, वह अत्यन्त गूढ़ है। उसके विषयमें ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

यथाऽऽर्षेणेह विधिना चरतावनतेन ह ।
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ॥ २ ॥

मिथिलापते ! पूर्वकालमें मैंने शास्त्रोक्त विधिसे व्रतका आचरण करते हुए नतमस्तक होकर भगवान् सूर्यसे जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र उपलब्ध किये थे, वह सब प्रसङ्ग सुनो ॥ २ ॥

---

* धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर विजय या अधिकार प्राप्त करके योगी जन्म, जरा, मृत्यु आदिको जीत लेता है; इस विषयमें यह सूत्र भी प्रमाण है—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

'ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता (योगद० ३। ४६, ४७) ।

महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया ।
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! पहलेकी बात है, मैंने बड़ी भारी तपस्या करके तपनेवाले भगवान् सूर्यकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—॥ ३ ॥

वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ।
तत् ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥ ४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो। वह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें दे दूँगा; क्योंकि मेरा मन तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट है। मेरा कृपा-प्रसाद प्रायः दुर्लभ है' ॥ ४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ।
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५ ॥

तब मैंने मस्तक झुकाकर तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यको प्रणाम किया और उनसे कहा—'प्रभो ! मैं शीघ्र ही ऐसे यजुर्मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जो आजसे पहले दूसरे किसीके उपयोगमें नहीं आये हैं' ॥ ५ ॥

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ।
सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥ ६ ॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु ।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ७ ॥

तब भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—'ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें यजुर्वेद प्रदान करता हूँ। तुम अपना मुँह खोलो। वाङ्मयी सरस्वती देवी तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करेंगी।' यह सुनकर मैंने मुँह खोल दिया और सरस्वती देवी उसमें प्रविष्ट हो गयीं॥

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ।
अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! सरस्वतीके प्रवेश करते ही मैं तापसे जलने लगा और जलमें घुस गया। महात्मा भास्करकी महिमा को न जानने तथा अपनेमें सहनशीलता न होनेके कारण मुझे उस समय विशेष कष्ट हुआ था ॥ ८ ॥

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः ।
मुहूर्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुझे तापसे दग्ध होता देख भगवान् सूर्यने कहा—'तात ! तुम दो घड़ीतक इस तापको सहन करो। फिर यह स्वयं ही शीतल एवं शान्त हो जायगा' ॥ ९ ॥

शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः ।
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ॥ १० ॥

जब मैं पूर्ण शीतल हो गया, तब मुझे देखकर भगवान् भास्करने कहा—'विप्रवर ! खिल और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेद तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठित होंगे ॥ १० ॥

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ ।
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम सम्पूर्ण शतपथका भी प्रणयन (सम्पादन) करोगे। इसके बाद तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें स्थिर होगी॥ ११ ॥

प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत् सांख्ययोगेप्सितं पदम् ।
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्तत ॥ १२ ॥

'तुम उस अभीष्ट पदको प्राप्त करोगे, जिसे सांख्यवेत्ता तथा योगी भी पाना चाहते हैं।' इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अदृश्य हो गये ॥ १२ ॥

ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ।
गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥ १३ ॥

मैंने सूर्यदेवका वह कथन सुना। फिर जब वे चले गये, तब मैंने घर आकर प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका चिन्तन किया॥

ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ।
ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ १४ ॥

मेरे स्मरण करते ही स्वर और व्यञ्जन-वर्णोंसे विभूषित अत्यन्त मङ्गलमयी सरस्वतीदेवी ॐकारको आगे करके मेरे सम्मुख प्रकट हुईं ॥ १४ ॥

ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम् ।
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥ १५ ॥

तब मैंने सरस्वतीदेवी तथा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् भास्करको अर्घ्य निवेदन किया और उन्हींका चिन्तन करता हुआ बैठ गया ॥ १५ ॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् ।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ १६ ॥

उस समय बड़े हर्षके साथ मैंने रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट-भागसहित समस्त शतपथका संकलन किया ॥ १६ ॥

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् ।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
ततः सशिष्येण मया सूर्येणेव गभस्तिभिः ।
व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥ १८ ॥

महाराज ! तदनन्तर मैंने अपने सौ उत्तम शिष्योंको शतपथका अध्ययन कराया। इसके बाद शिष्यसहित अपने महामनस्वी मामाका (जो पहले मुझे तिरस्कृत कर चुके थे) अप्रिय करनेके लिये किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति शिष्योंसे सुशोभित हो मैंने तुम्हारे पिता महात्मा राजा जनकके यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ १७-१८ ॥

मिषतो देवलस्यापि ततोऽर्धं हृतवानहम् ।
स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दे मातुलेन ह ॥ १९ ॥

उस समय अपने वेदकी दक्षिणाके लिये मामाके द्वारा विशेष आग्रह होनेपर महर्षि देवलके सामने ही मैंने आधी दक्षिणा उन्हें दे दी और आधी स्वयं ग्रहण की ॥ १९ ॥

सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै ।
पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा अन्य

महर्षि याज्ञवल्क्यके स्मरणसे देवी सरस्वतीका प्राकट्य

ऋषि-मुनियोंने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

दश पञ्च च प्राप्तानि यजूंष्यर्कान्मयानघ ।
तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥ २१ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने सूर्यदेवसे शुक्लयजुर्वेदकी पंद्रह शाखाएँ प्राप्त कीं । इसी तरह रोमहर्षण सूतसे मैंने पुराणोंका अध्ययन किया ॥ २१ ॥

बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ।
सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥ २२ ॥
कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने बीजरूप प्रणव और सरस्वती देवीको सामने करके भगवान् सूर्यकी कृपासे शतपथकी रचना आरम्भ की और इस अपूर्व ग्रन्थको पूर्ण कर लिया और जो मोक्षका मार्ग मुझे अभीष्ट था, उसका भी भलीभाँति सम्पादन किया ॥ २२-२३ ॥

शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् ।
सर्वे च शिष्याः शुचयो गताः परमहर्षिताः ॥ २४ ॥

फिर मैंने शिष्योंको वह सारा ग्रन्थ रहस्य और संग्रहसहित पढ़ाया और उन्हें घर जानेकी अनुमति दे दी । फिर वे सभी शुद्ध आचार-विचारवाले शिष्य अत्यन्त हर्षित हो अपने-अपने घरको चले गये ॥ २४ ॥

शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः ।
प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार सूर्यदेवके द्वारा उपदेश की हुई शुक्लयजुर्वेद विद्याकी इन पंद्रह शाखाओंका ज्ञान प्राप्त करके मैंने इच्छानुसार वेद्यतत्त्वका चिन्तन किया है ॥ २५ ॥

किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् ।
चिन्तयंस्तत्र चागत्य गन्धर्वो मामपृच्छत ॥ २६ ॥
विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञानकोविदः ।

राजन् ! एक समय वेदान्तज्ञानमें कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व मेरे पास आया एवं इस बातका विचार करते हुए कि यहाँ ब्राह्मण-जातिके लिये हितकर क्या है ? सत्य और सर्वोत्तम ज्ञातव्य वस्तु क्या है ? मुझसे पूछने लगा ॥ २६½ ॥

चतुर्विंशांस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव ॥ २७ ॥
पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा ।
विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने वेदके सम्बन्धमें चौबीस प्रश्न पूछे । फिर आन्वीक्षिकी विद्याके सम्बन्धमें पचीसवाँ प्रश्न उपस्थित किया । वे चौबीस प्रश्न इस प्रकार हैं—१. विश्वा क्या है ? २. अविश्व क्या है ? ३. अश्वा क्या है ? ४. अश्व क्या है ? ५. मित्र क्या है ? ६. वरुण क्या है ? ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा ।
सूर्यातिसूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ॥ २९ ॥

७. ज्ञान क्या है ? ८. ज्ञेय क्या है ? ९. ज्ञाता क्या है ? १०. अज्ञ क्या है ? ११. क कौन है ? १२. कौन तपस्वी है ? १३. और कौन अतपस्वी है ? १४. कौन सूर्य है ? १५. तथा कौन अतिसूर्य ? १६. और विद्या क्या है ? १७. तथा अविद्या क्या है ? ॥ २९ ॥

वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च ।
अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

१८. राजन् ! वेद्य क्या है ? १९. अवेद्य क्या है ? २०. चल क्या है ? २१. अचल क्या है ? २२. अपूर्व क्या है ? २३. अक्षय क्या है ? २४. और विनाशशील क्या है ? ये ही उनके परम उत्तम प्रश्न हैं ॥ ३० ॥

अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः ।
पृष्टवाननुपूर्वेण प्रश्नमर्थविदुत्तमम् ॥ ३१ ॥
मुहूर्तमुष्यतां तावद् यावदेवं विचिन्तये ।
बाढमित्येव कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ॥ ३२ ॥

महाराज ! इन प्रश्नोंको सुनकर मैंने गन्धर्वशिरोमणि राजा विश्वावसुसे कहा—'राजन् ! आपने क्रमशः बड़े उत्तम प्रश्न उपस्थित किये हैं । आप अर्थके ज्ञाता हैं । थोड़ी देर ठहर जाइये, तबतक मैं आपके इन प्रश्नोंपर विचार कर लेता हूँ ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर गन्धर्वराज चुपचाप बैठे रहे ॥ ३१-३२ ॥

ततोऽनुचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् ।
मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर मैंने पुनः सरस्वतीदेवीका मन-ही-मन चिन्तन किया । फिर तो जैसे दहीसे घी निकल आता है, उसी प्रकार उन प्रश्नोंका उत्तर निकल आया ॥ ३३ ॥

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! तात ! उस समय मैं वहाँ उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और परम उत्तम आन्वीक्षिकी विद्यापर दृष्टिपात करके मनके द्वारा उन सबका मन्थन करने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा साम्परायिकी ।
उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशादधिष्ठिता ॥ ३५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह आन्वीक्षिकी विद्या (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओंकी अपेक्षासे) चौथी बतायी गयी है । यह मोक्षमें सहायक है । पचीसवें तत्त्वरूप पुरुषसे अधिष्ठित उस विद्याका मैंने तुमसे प्रतिपादन किया था (वही विश्वावसुके निकट भी कही गयी) ॥ ३५ ॥

अथोक्तस्तु मया राजन् राजा विश्वावसुस्तदा ।
श्रूयतां यद् भवानस्मान् प्रश्नं सम्पृष्टवानिह ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय मैंने राजा विश्वावसुसे कहा—'गन्धर्वराज ! आपने यहाँ मुझसे जो प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर सुनिये ॥ ३६ ॥

विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि ।
विश्वाव्यक्तं परं विद्याद् भूतभव्यभयंकरम् ॥३७॥

गन्धर्वपते ! आपने जो विश्वा और अविश्व इत्यादि कहकर यह प्रश्नावली उपस्थित की है, उसमें विश्वा अव्यक्त प्रकृतिका नाम है । वह संसार-बन्धनमें डालनेवाली होनेके कारण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें भयंकर है—इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ ३७ ॥

त्रिगुणं गुणकर्तृत्वादविश्वो निष्कलस्तथा ।
अश्वश्चाश्वा च मिथुनमेवमेवानुदृश्यते ॥ ३८ ॥

इस प्रकार विश्वा नामसे प्रसिद्ध जो अव्यक्त प्रकृति है, वह त्रिगुणमयी है; क्योंकि वही त्रिगुणात्मक जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली है । उससे भिन्न जो निष्कल (कलाओंसे रहित) आत्मा है, वही अविश्व कहलाता है । इसी तरह अश्व और अश्वाकी जोड़ी भी देखी जाती है (अर्थात् अश्वा अव्यक्त प्रकृति है और अश्व पुरुष) ॥ ३८ ॥

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम् ।
तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा ॥ ३९ ॥

अव्यक्त प्रकृतिको सगुण बताया गया है और पुरुषको निर्गुण । इसी प्रकार वरुणको प्रकृति समझना चाहिये और मित्रको पुरुष ॥ ३९ ॥

ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च ।
अज्ञश्च ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते ॥ ४० ॥

(भौतिक) ज्ञान शब्दसे प्रकृतिका प्रतिपादन किया गया है और निष्कल आत्माको ज्ञेय बताया गया है । इसी तरह अज्ञ प्रकृति है और उससे भिन्न निष्कल पुरुषको 'ज्ञाता' बताया गया है ॥ ४० ॥

कस्तपा अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते ।
तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः ॥ ४१ ॥

क, तपा और अतपाके विषयमें जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसके विषयमें बताया जाता है । पुरुषको ही 'क' कहते हैं । प्रकृतिका ही नाम तपा है और निष्कल पुरुषको अतपा नाम दिया गया है ॥ ४१ ॥

(सूर्यमव्यक्तमित्युक्तमतिसूर्यस्तु निष्कलः ।
अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया विद्या पुरुष उच्यते ॥)

अव्यक्त प्रकृतिको ही सूर्य और निष्कल पुरुषको अति-सूर्य कहा गया है । प्रकृतिको अविद्या जानना चाहिये और पुरुष विद्या कहलाता है ॥

तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते ।
चलाचलमिति प्रोक्तं त्वया तदपि मे शृणु ॥ ४२ ॥

इसी तरह अवेद्य नामसे अव्यक्त प्रकृतिका और वेद्य नामसे पुरुषका प्रतिपादन किया जाता है । आपने जो चल और अचलके विषयमें प्रश्न किया है, उसका भी उत्तर सुनिये ॥

चलां तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः ।
आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः ॥ ४३ ॥

सृष्टि और संहारकी कारणभूता प्रकृतिको 'चला' कहा गया है और सृष्टि और प्रलयका कर्ता पुरुष ही निश्चल पुरुष माना गया है ॥ ४३ ॥

तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यः पुरुषस्तथा ।
अज्ञावुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि ॥ ४४ ॥
अजौ नित्यावुभौ प्राहुरध्यात्मगतिनिश्चयाः ॥ ४५ ॥

उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति वेद्य (जाननेमें आनेवाली) है और पुरुष अवेद्य (जाननेमें न आनेवाला) । अध्यात्म-तत्त्वका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज्ञ हैं, दोनों ही निश्चल हैं और दोनों ही अक्षय, अजन्मा तथा नित्य हैं ॥ ४४-४५ ॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम् ।
अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते ॥ ४६ ॥

ज्ञानी पुरुषोंका कथन है कि जन्म ग्रहण करनेपर भी क्षयरहित होनेके कारण यहाँ पुरुषको अजन्मा, अविनाशी और अक्षय कहा गया है; क्योंकि उसका कभी क्षय नहीं होता है ॥ ४६ ॥

गुणक्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः ।
एषा तेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी ॥४७॥

गुणोंका क्षय होनेके कारण प्रकृति क्षयशील मानी गयी है और उसका प्रेरक होनेके कारण पुरुषको विद्वानोंने अक्षय कहा है । गन्धर्वराज ! यह मैंने आपको चौथी आन्वीक्षिकी विद्या, जो मोक्षमें सहायक है, बतायी है ॥ ४७ ॥

विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि ।
एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः ॥ ४८ ॥

विश्वावसो ! आन्वीक्षिकी विद्यासहित वेद-विद्यारूपी धनका उपार्जन करके प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्ममें संलग्न रहना चाहिये । सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करनेके योग्य माने गये हैं ॥ ४८ ॥

जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः ।
वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम ॥ ४९ ॥

गन्धर्वराज ! समस्त भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्माको जो नहीं जानते हैं, वे परमार्थसे भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं ॥ ४९ ॥

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते ।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥ ५० ॥

साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेके योग्य परमेश्वरको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है ॥ ५० ॥

यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद् गन्धर्वसत्तम ।
विष्ठां तत्रानुपश्येत न मण्डं न च वै घृतम् ॥ ५१ ॥

गन्धर्वशिरोमणे ! जो घी पानेकी इच्छा रखकर गधीके दूधको मथता है, उसे वहाँ विष्ठा ही दिखायी देती है। उसे न तो वहाँ मक्खन ही मिलता है और न घी ही ॥ ५१ ॥

तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः ॥ ५२ ॥

इसी प्रकार जो वेदोंका अध्ययन करके भी वेद्य और अवेद्यका तत्त्व नहीं जानता, वह मूढ़बुद्धि मानव केवल ज्ञानका बोझ ढोनेवाला माना गया है ॥ ५२ ॥

द्रष्टव्यौ नित्यमेवैतौ तत्परेणान्तरात्मना।
तथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

मनुष्यको सदा ही तत्पर होकर अन्तरात्माके द्वारा इन दोनों प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिससे बारंबार उसे जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ना पड़े ॥ ५३ ॥

अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम्।
परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥ ५४ ॥

संसारमें जन्म और मरणकी परम्परा निरन्तर चलती रहती है—ऐसा सोचकर वैदिक कर्मकाण्डमें बताये हुए सभी कर्मों और उनके फलोंको विनाशशील जानकर उनका परित्याग करके मनुष्यको यहाँ अक्षय धर्मका आश्रय लेना चाहिये ॥

यदानुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ५५ ॥

कश्यपनन्दन ! जब साधक प्रतिदिन परमात्माके स्वरूप-का विचार एवं चिन्तन करने लगता है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर छब्बीसवें तत्त्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तस्य द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ॥ ५६ ॥

मूढ़बुद्धि मानव उस आत्माके सम्बन्धमें द्वैतभावसे युक्त धारणा रखते हुए कहते हैं—'सनातन अव्यक्त परमात्मा दूसरा है और पचीसवाँ तत्त्वरूप जीवात्मा दूसरा, परंतु साधु पुरुष उन दोनोंको एक मानते हैं ॥ ५६ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्।
जन्ममृत्युभयाद् योगाः सांख्याश्च परमैषिणः ॥ ५७ ॥

वे जन्म और मृत्युके भयसे रहित होकर परमपद पानेकी इच्छा रखनेवाले सांख्यवेत्ता और योगी जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न नहीं मानते हैं। जीव और ईश्वरका अभेद बतानेवाला जो यह पूर्वोक्त दर्शन अथवा साधुमत है, उसका वे भी अभिनन्दन करते ही हैं ॥

विश्वावसुरुवाच

पञ्चविंशं यदेतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम।
तथा तन्न तथा चेति तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५८ ॥

विश्वावसुने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे ! आपने जो यह पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न बताया है, उसमें यह संदेह उठता है कि जीवात्मा वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है या नहीं ? अतः आप इस बातका स्पष्टरूपसे वर्णन करें ॥ ५८ ॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्।
पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥ ५९ ॥
भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च।
गौतमस्यार्ष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ॥ ६० ॥
नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः।
सनत्कुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः ॥ ६१ ॥
कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम्।

मैंने मुनिवर जैगीषव्य, असित, देवल, ब्रह्मर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यपजीके मुखसे भी पहले इस विषयका प्रतिपादन सुना था ॥ ५९–६१½ ॥

तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ ६२ ॥
दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः।
प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्युत ॥ ६३ ॥

तदनन्तर रुद्र, बुद्धिमान् विश्वरूप, अन्यान्य देवता, पितर तथा दैत्योंसे भी जहाँ-तहाँसे यह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। वे सब लोग ज्ञेय तत्त्वको पूर्ण और नित्य बतलाते हैं ॥ ६२-६३ ॥

तस्मात् तद् वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण।
भवान् प्रबर्हः शास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणदेव ! अब मैं इस विषयमें आपकी बुद्धिसे किये गये निर्णयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ, शास्त्रोंके प्रगल्भ पण्डित और अत्यन्त बुद्धिमान् हैं ॥

न तवाविदितं किंचिद् भवाञ्श्रुतिनिधिः स्मृतः।
कथ्यते देवलोके च पितृलोके च ब्राह्मण ॥ ६५ ॥

ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। वैदिक ज्ञानके तो आप भण्डार ही माने जाते हैं। ब्रह्मन् ! देवलोक और पितृलोकमें भी आपकी ख्याति है ॥ ६५ ॥

ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः।
पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता ॥ ६६ ॥

ब्रह्मलोकमें गये हुए महर्षि भी आपकी महिमाका वर्णन करते हैं। तपनेवाले तेजस्वी ग्रहोंके पति अदितिनन्दन सनातन भगवान् सूर्यने आपको वेदका उपदेश किया है ॥

सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च।
तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने सम्पूर्ण सांख्य तथा योग-शास्त्रका भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम्।

श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं घृतं मण्डमयं यथा ॥ ६८ ॥

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आप पूर्ण ज्ञानी हैं और सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को जानते हैं; अतः मैं माखन-मय घीके समान स्वादिष्ट एवं सारभूत वह तत्त्वज्ञान आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

कृत्स्नधारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम ।
जिज्ञाससे च मां राजंस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ६९ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—अर्थात् मैंने उत्तर दिया—गन्धर्वशिरोमणे ! आपको मैं निःसंदेह सम्पूर्ण ज्ञानोंको धारण करनेवाली मेधाशक्तिसे सम्पन्न मानता हूँ। राजन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे प्रश्न करते और मेरे विचार-को जानना चाहते हैं; इसलिये मैंने जैसा सुना है, वह बताता हूँ सुनिये ॥ ६९ ॥

अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः ।
न तु बुध्यति गन्धर्व प्रकृतिः पञ्चविंशकम् ॥ ७० ॥

गन्धर्व ! प्रकृति जड है, इसलिये उसे पचीसवाँ तत्त्व—जीवात्मा तो जानता है; किंतु प्रकृति जीवात्माको नहीं जानती ॥ ७० ॥

अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत् ।
सांख्ययोगाश्च तत्त्वज्ञा यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ७१ ॥

सांख्य और योगके तत्त्वज्ञानी विद्वान् श्रुतिमें किये हुए निरूपणके अनुसार जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाके समान प्रकृतिमें ज्ञानस्वरूप जीवात्माके बोधका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उस प्रकृतिको प्रधान कहते हैं ॥ ७१ ॥

पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदानघ ।
षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ७२ ॥

निष्पाप गन्धर्व ! जीवात्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्थामें कुछ भी नहीं देखता है तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें तत्त्वरूप अपने-आपको, पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको और चौबीसवें तत्त्वरूप प्रकृतिको भी देखता रहता है ॥ ७२ ॥

न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति ।
पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम ॥ ७३ ॥

किंतु यदि जीवात्मा यह अभिमान करता है कि मुझसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है तो जो परमात्मा उसे निरन्तर देखता है, उसे वह समझता हुआ भी नहीं समझता ॥७३॥

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः ।
मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥ ७४ ॥

तत्त्वज्ञानी मनुष्योंको चाहिये कि वे प्रकृतिको आत्मभावसे ग्रहण न करें। जैसे मत्स्य जलका अनुसरण करता है, परंतु अपनेको उससे भिन्न ही मानता है, उसी प्रकार मनुष्य उसकी प्रवृत्तिके अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे; परंतु प्रकृति-को अपना स्वरूप न माने ॥ ७४ ॥

यथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोऽप्यनुबुध्यते ।
स स्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः॥ ७५ ॥
स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते ।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥ ७६ ॥

जैसे मछली जलमें रहती हुई भी उस जलको अपनेसे भिन्न समझती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी प्रकृतिसे अपनेको भिन्न समझता है तथापि वह शरीरके प्रति स्नेह, सहवास और अभिमानके कारण जब परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव नहीं करता है, तब कालके समुद्रमें डूब जाता है। परंतु जब वह समत्व-बुद्धिसे युक्त हो अपनी और परमात्माकी एकताको समझ लेता है, तब उस कालसमुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है ॥

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः ।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥ ७७ ॥

जब द्विज इस बातको समझ लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर अथवा अनात्म-जगत् मुझसे सर्वथा भिन्न है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ७७ ॥

अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः ।
तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥ ७८ ॥

राजन् ! परमात्मा भिन्न है और जीवात्मा भिन्न; क्योंकि परमात्मा जीवात्माका आश्रय है; परंतु ज्ञानी संत महात्मा उन दोनोंको एक ही देखते और समझते हैं ॥ ७८ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।
जन्ममृत्युभयाद् भीता योगाःसांख्याश्च काश्यप॥७९॥

कश्यपनन्दन ! जन्म और मृत्युके भयसे डरे हुए योग और सांख्यके साधक भगवत्परायण हो शुद्ध भावसे छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका दर्शन करते हुए जीवात्मा और परमात्माको एक समझते हैं और इस अभेद-दर्शनका सदा अभिनन्दन ही करते हैं ॥ ७९ ॥

षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः ।
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥ ८० ॥

जब जीवात्मा प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञ विद्वान् होकर इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥ ८० ॥

एवमप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ।
बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ८१ ॥

निष्पाप गन्धर्वराज ! इस प्रकार मैंने तुमसे जड प्रकृति, चेतन जीवात्मा और बोधस्वरूप परमात्माका श्रुतिके अनुसार यथावत्‌रूपसे निरूपण किया है ॥ ८१ ॥

पश्यापश्यं यो न पश्येत् क्षेम्यं तत्त्वं च काश्यप ।
केवलाकेवलं चाद्यं पञ्चविंशं परं च यत् ॥ ८२ ॥

कश्यपनन्दन ! जो मनुष्य जीवात्माको और प्रकृति आदि जडवर्गको पृथक्-पृथक् नहीं जानता, मङ्गलकारी तत्त्वपर दृष्टि नहीं रखता, केवल (प्रकृति-संसर्गसे रहित), अकेवल (प्रकृति-संसर्गसे युक्त), सबके आदिकारण जीवात्मा तथा परब्रह्म परमात्माको भी यथार्थरूपसे नहीं जानता (वह आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है) ॥ ८२ ॥

विश्वावसुरुवाच

तथ्यं शुभं चैतदुक्तं त्वया विभो
सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत् ।
स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं
बुद्ध्या सदा बुद्धियुक्तं मनस्ते ॥ ८३ ॥

विश्वावसुने कहा—प्रभो ! आपने सब देवताओंके आदिकारण ब्रह्मके विषयमें जो यथावत् वर्णन किया है, वह सत्य, शुभ, सुन्दर तथा परम मङ्गलकारी है । आपका मन सदा ही इसी प्रकार ज्ञानमें स्थित रहे तथा आपको नित्य अक्षय कल्याणकी प्राप्ति हो (अच्छा, अब मैं जाता हूँ)॥

याज्ञवल्क्य उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रयातो दिवं स
विभ्राजन् वै श्रीमता दर्शनेन ।
दृष्टश्च तुष्ट्या परयाभिनन्द्य
प्रदक्षिणं मम कृत्वा महात्मा ॥ ८४ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं राजन् ! ऐसा कहकर महामना गन्धर्वराज विश्वावसु अपने कान्तिमान् दर्शनसे प्रकाशित होते हुए मेरी परिक्रमा और अभिनन्दन करके स्वर्गलोकको चले गये । उस समय मैंने भी बड़े संतोषसे उनकी ओर देखा था ॥ ८४ ॥

ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ च
ये चाधस्तात् संवसन्ते नरेन्द्र ।
तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन् वै
सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥ ८५ ॥

राजा जनक ! आकाशमें विचरनेवाले जो ब्रह्मा आदि देवता हैं, पृथ्वीपर निवास करनेवाले जो मनुष्य हैं तथा जो पृथ्वीसे नीचेके लोकोंमें रहते हैं, उनमेंसे जो लोग कल्याणमय मोक्षमार्गका आश्रय लिये हुए थे, उन सबको उन्हीं स्थानोंमें जाकर विश्वावसुने मेरे बताये हुए इस सम्यक्-दर्शनका उपदेश दिया था ॥ ८५ ॥

सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च
तद्वद् योगा योगधर्मे रताश्च ।
ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्या-
स्तेषामेतद् दर्शनं ज्ञानदृष्टम् ॥ ८६ ॥

सांख्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले सम्पूर्ण सांख्यवेत्ता, योग-धर्मपरायण योगी तथा दूसरे जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य हैं, उन सबको यह उपदेश ज्ञानका प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥ ८६ ॥

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह
नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं
येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥ ८७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी नरेन्द्र ! ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, अज्ञानसे नहीं—ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। इसलिये यथार्थ ज्ञानका अनुसंधान करना चाहिये, जिससे अपने-आपको जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ाया जा सके ॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ८८ ॥

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि
सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥ ८९ ॥

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण सभी वर्ण ब्राह्मण हैं। सभी सदा ब्रह्मका उच्चारण करते हैं। मैं ब्रह्मबुद्धिसे यथार्थ शास्त्रका सिद्धान्त बता रहा हूँ। यह सम्पूर्ण जगत्, यह सारा दृश्यप्रपञ्च ब्रह्म ही है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता
बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः
सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥ ९० ॥

ब्रह्मके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मकी ही भुजाओंसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है, ब्रह्मकी ही नाभिसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र प्रकट हुए हैं, अतः सभी वर्णके लोग ब्रह्मरूप ही हैं। किसी भी वर्णको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना चाहिये ॥ ९० ॥

अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते
तां तां राजंस्ते तथा यान्त्यभावम् ।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते
घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम् ॥ ९१ ॥

राजन् ! मनुष्य अज्ञानके कारण ही कर्मानुष्ठानसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और मरते हैं। ज्ञानहीन मनुष्य ही अपने भयंकर अज्ञानके कारण नाना प्रकारकी प्राकृत योनियोंमें गिरते हैं ॥ ९१ ॥

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो य-
स्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥ ९२ ॥

नरेन्द्र ! अतः सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतः जो ब्राह्मण ज्ञानमें स्थित है अथवा जो दूसरे वर्णका मनुष्य भी ज्ञाननिष्ठ है, उसके लिये नित्य मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ९२ ॥

यत् ते पृष्टं तन्मया चोपदिष्टं
याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व।
राजन् गच्छस्वैतदर्थस्य पारं
सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति तेऽस्त्वस्तु नित्यम् ॥

राजन् ! तुमने जो पूछा था उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें यथार्थ ज्ञानका उपदेश किया है; अतः अब तुम शोकरहित हो जाओ और इस तत्त्वज्ञानमें पारङ्गत बनो। मैंने तुम्हें ज्ञानका भलीभाँति उपदेश कर दिया है। जाओ, तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता।
प्रीतिमानभवद् राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर मिथिलापति राजा जनक उस समय बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम्।
दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥ ९५ ॥
गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च।
रत्नाञ्जलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ९६ ॥

उन्होंने सत्कारपूर्वक मुनिकी प्रदक्षिणा करके उन्हें विदा किया। जब वे मुनिवर याज्ञवल्क्य चले गये, तब मोक्षके ज्ञाता देवरातनन्दन राजा जनकने वहीं बैठे-बैठे एक करोड़ गौएँ छूकर ब्राह्मणोंको दान कर दीं तथा प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अञ्जलि रत्न और सुवर्ण प्रदान किये ॥ ९५-९६ ॥

विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥ ९७ ॥

इसके बाद मिथिलानरेशने विदेहदेशका राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और स्वयं वे यति-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ ९७ ॥

सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः।
धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥ ९८ ॥
अनन्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥ ९९ ॥
जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत्।
व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥१००॥

राजेन्द्र ! नरेश्वर ! उन्होंने सम्पूर्ण सांख्य, ज्ञान और योगशास्त्रका स्वाध्याय करके प्राकृत धर्म और अधर्मको त्याज्य मानते हुए यह निश्चय किया कि 'मैं अनन्त हूँ।' ऐसा निश्चय करके वे धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सत्य-असत्य तथा जन्म और मृत्युको व्यक्त (बुद्धि आदि) और अव्यक्त (प्रकृति) का कार्य मानकर सबको प्राकृत (प्रकृतिजन्य एवं मिथ्या) समझते हुए प्रकृतिसंसर्गसे रहित अपने शुद्ध एवं नित्य स्वरूपका ही चिन्तन करने लगे ॥ ९८—१०० ॥

पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतलक्षणाः।
इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! सांख्य और योगके विद्वान् अपने-अपने शास्त्रोंमें वर्णित लक्षणोंके अनुसार ऐसा देखते और समझते हैं कि वह ब्रह्म इष्ट और अनिष्टसे मुक्त, अचल-भावसे स्थित एवं परात्पर है ॥ १०१ ॥

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव।
दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ॥१०२॥
ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह।
ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ॥१०३॥

विद्वान् पुरुष उस ब्रह्मको नित्य एवं पवित्र बताते हैं; अतः तुम भी उसे जानकर पवित्र हो जाओ। नरश्रेष्ठ ! जो कुछ दिया जाता है, जो दी हुई वस्तु किसीको प्राप्त होती है, जो दानका अनुमोदन करता है, जो देता है तथा जो उस दानको ग्रहण करता है, वह सब अव्यक्त परमात्मा ही है। परमात्मा ही यह सब कुछ देता और लेता है ॥

आत्मा ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत्।
एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥१०४॥

युधिष्ठिर ! एकमात्र परमात्मा ही अपना है। उससे बढ़कर आत्मीय दूसरा कौन हो सकता है। तुम सदा ऐसा ही मानो और इसके विपरीत दूसरी किसी बातका चिन्तन न करो ॥ १०४ ॥

यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः।
तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता ॥१०५॥

जिसे अव्यक्त प्रकृतिका ज्ञान न हुआ हो, सगुण-निर्गुण परमात्माकी पहचान न हुई हो, उस विद्वान्को तीर्थोंका सेवन और यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १०५ ॥

न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन।
लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वाव्यक्तं महीयते ॥१०६॥

कुरुनन्दन ! स्वाध्याय, तप अथवा यज्ञोंद्वारा मोक्ष या परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं होती (ये तो उनके तत्त्वको जाननेमें सहायक होते हैं)। इनके द्वारा परमात्माका स्पष्ट

(अपरोक्ष) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य महिमान्वित होता है॥

तथैव महतः स्थानमाहङ्कारिकमेव च ।
अहङ्कारात् परं चापि स्थानानि समवाप्नुयात् ॥१०७॥

महत्तत्त्वकी उपासना करनेवाले महत्तत्त्वको और अहंकार-के उपासक अहंकारको प्राप्त होते हैं; परंतु महत्तत्त्व और अहंकारसे भी श्रेष्ठ जो स्थान हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये॥ १०७॥

ये त्वव्यक्तात् परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः ।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥१०८॥

जो शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होते हैं, वे ही प्रकृतिसे पर, नित्य, जन्म-मृत्युसे रहित, मुक्त एवं सदसत्स्वरूप परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ १०८ ॥

एतन्मयाऽऽप्तं जनकात् पुरस्तात्
तेनापि चाप्तं नृप याज्ञवल्क्यात् ।
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥१०९॥

युधिष्ठिर ! यह ज्ञान मुझे पूर्वकालमें राजा जनकसे मिला था और जनकको याज्ञवल्क्यजीसे प्राप्त हुआ था । ज्ञान सबसे उत्तम साधन है। यज्ञ इसकी समानता नहीं कर सकते। ज्ञानसे ही मनुष्य इस दुर्गम संसार-सागरसे पार हो सकता है; यज्ञोंद्वारा नहीं॥ १०९ ॥

दुर्गं जन्म निधनं चापि राजन्
न भौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति ।
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैश्च
दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥११०॥

राजन् ! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भौतिक जन्म और मृत्युको पार करना अत्यन्त कठिन है । यज्ञ आदिके द्वारा भी मनुष्य उस दुर्गम संकटसे पार नहीं हो सकता । यज्ञ, तप, नियम और व्रतोंद्वारा तो लोग स्वर्गलोकमें जाते और पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं ॥ ११० ॥

तस्मादुपास्स्व परं महच्छुचि
शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम् ।
क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञ-
मुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥१११॥

इसलिये तुम प्रकृतिसे पर, महत्, पवित्र, कल्याणमय, निर्मल, शुद्ध तथा मोक्षस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करो । पृथ्वी-नाथ ! क्षेत्रको जानकर और ज्ञानयज्ञका आश्रय लेकर तुम निश्चय ही तत्त्वज्ञानी ऋषि बन जाओगे ॥ १११ ॥

यदुपनिषदमुपाकरोत् तथासौ
जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः।
यदुपगणितशाश्वताव्ययंत-
च्छुभममृतत्वमशोकमर्च्छति ॥११२॥

पूर्वकालमें याज्ञवल्क्य मुनिने राजा जनकको जिस उप-निषद् (ज्ञान) का उपदेश दिया था, उसका मनन करनेसे मनुष्य पूर्वकथित सनातन अविनाशी, शुभ, अमृतमय तथा शोकरहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादसमाप्तौ अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जरा-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके विषयमें पञ्चशिख और राजा जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

ऐश्वर्यं वा महत् प्राप्य धनं वा भरतर्षभ ।
दीर्घमायुरवाप्याथ कथं मृत्युमतिक्रमेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! महान् ऐश्वर्य या प्रचुर धन अथवा बहुत बड़ी आयु पाकर मनुष्य किस तरह मृत्युका उल्लङ्घन कर सकता है ?॥ १ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
रसायनप्रयोगैर्वा कैर्नाप्नोति जरान्तकौ ॥ २ ॥

वह गुरुतर तपस्या करके, महान् कर्मोंका अनुष्ठान करके, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके अथवा नाना प्रकारके रसायनों-का प्रयोग करके किन उपायोंद्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त नहीं होता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्येह संवादं जनकस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष संन्यासी पञ्चशिख तथा राजा जनकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम् ।
पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, विदेहदेशके राजा जनकने वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि पञ्चशिखसे, जिनके धर्म और अर्थ-विषयक संदेह नष्ट हो गये थे, इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४ ॥

केन वृत्तेन भगवन्नतिक्रामेज्जरान्तकौ ।
तपसा वाथ बुद्ध्या वा कर्मणा वा श्रुतेन वा ॥ ५ ॥

'भगवन् ! किस आचार, तपस्या, बुद्धि, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानके द्वारा मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है ?' ॥

एवमुक्तः स वैदेहं प्रत्युवाचापरोक्षवित्।
निवृत्तिर्न तयोरस्ति नानिवृत्तिः कथञ्चन ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर अपरोक्षज्ञानसे सम्पन्न महर्षि पञ्चशिखने विदेहराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती है, परंतु ऐसा भी नहीं है कि किसी प्रकार उनकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती (धन और ऐश्वर्य आदिसे उनकी निवृत्ति नहीं होती, परंतु ज्ञानसे तो पुनर्जन्मकी भी निवृत्ति हो जाती है; फिर जरा और मृत्युकी तो बात ही क्या ?) ॥ ६ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः ॥ ७ ॥

दिन, रात और महीनोंके जो चक्र चल रहे हैं, वे किसीके टाले नहीं टलते हैं। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु और जरा आदिके क्रम प्रायः चलते ही रहते हैं। जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, वह मरणधर्मा मानव कभी दीर्घकालके पश्चात् नित्य-पथ (मोक्षमार्ग) का आश्रय लेता है ॥ ७ ॥

सर्वभूतसमुच्छेदः स्रोतसेवोह्यते सदा।
ऊह्यमानं निमज्जन्तमप्लवे कालसागरे ॥ ८ ॥
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदभिपद्यते।

काल समस्त प्राणियोंका उच्छेद कर डालता है। जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहाये लिये जाता है, उसी प्रकार काल सदा ही प्राणियोंको अपने वेगसे बहाया करता है। यह काल बिना नौकाके समुद्रकी भाँति लहरा रहा है। जरा और मृत्यु विशाल ग्राहका रूप धारण करके उसमें बैठे हुए हैं। उस काल-सागरमें बहते और डूबते हुए जीवको कोई भी बचा नहीं सकता ॥ ८½ ॥

नैवास्य कश्चिद् भवति नासौ भवति कस्यचित् ॥ ९ ॥
पथि सङ्गतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित् ॥ १० ॥

यहाँ इस जीवका कोई भी अपना नहीं है और वह भी किसीका अपना नहीं है। रास्तेमें मिले हुए राहगीरोंके समान यहाँ पत्नी तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंका साथ हो जाता है, परंतु यहाँ पहले कभी किसीने किसीके साथ चिरकालतक सहवास-का सुख नहीं उठाया है ॥ ९-१० ॥

क्षिप्यन्ते तेन तेनैव निष्टनन्तः पुनः पुनः।
कालेन जाता याता हि वायुनेवाभ्रसंचयाः ॥ ११ ॥

जैसे गर्जते हुए बादलोंको हवा बारंबार उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार काल यहाँ जन्म लेनेवाले प्राणियोंको उनके रोने-चिल्लानेपर भी विनाशकी आगमें झोंक देता है ॥ ११ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १२ ॥

कोई बलवान् हों या दुर्बल, बड़ा हों या छोटा, उन सब प्राणियोंको बुढ़ापा और मौत व्याघ्रकी भाँति खा जाती है।१२।

एवंभूतेषु भूतात्मा नित्यभूतोऽध्रुवेषु च।
कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च कथं ज्वरेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब सभी प्राणी विनाशशील ही हैं, तब नित्य-स्वरूप जीवात्मा उन प्राणियोंके लिये जन्म लेनेपर हर्ष किस लिये माने और मर जानेपर शोक क्यों करे ? ॥ १३ ॥

कुतोऽहमागतः कोऽस्मि क्व गमिष्यामि कस्य वा।
कस्मिन् स्थितः क्व भविता कस्मात्किमनुशोचसि ॥ १४॥

मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? किसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? किस स्थानमें स्थित होकर कहाँ फिर जन्म लूँगा ? इन सब बातोंको लेकर तुम किस लिये क्या शोक कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

द्रष्टा स्वर्गस्य कोऽन्योऽस्ति तथैव नरकस्य च।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य दद्याच्चैव यजेत च ॥ १५ ॥

जो शुभ और अशुभ कर्म करता है, उसके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो उन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकका दर्शन एवं उपभोग करेगा; अतः शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए सब लोगोंको दान और यज्ञ आदि सत्कर्म करते रहने चाहिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखजनकसंवादे एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिख और जनकका संवादविषयक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१९ ॥

विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनककी परीक्षा करनेके लिये आयी हुई सुलभाका उनके शरीरमें प्रवेश करना, राजा जनकका उसपर दोषारोपण करना एवं सुलभाका युक्तियोंद्वारा निराकरण करते हुए राजा जनकको अज्ञानी बताना

युधिष्ठिर उवाच

अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरुराजर्षिसत्तम।
कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलराजर्षिशिरोमणि ! जहाँ बुद्धिका लय हो जाता है, उस मोक्षतत्त्वको गृहस्थाश्रमका त्याग बिना किये कौन पुरुष प्राप्त हुआ है, यह मुझे बताइये ॥१॥

संन्यस्यते यथाऽऽत्मायं व्यक्तस्यात्मा यथा च यत्।
परं मोक्षस्य यच्चापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! यह मनुष्यशरीर जिस प्रकार स्थूल शरीरका त्याग करता है और जिस प्रकार स्थूल शरीरका आत्मा सूक्ष्म शरीरका त्याग करता है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके अभिमानसे जिस प्रकार रहित हो सकता है एवं उनके त्यागका जो स्वरूप है और जो मोक्षका तत्त्व है, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें जानकार मनुष्य जनक और सुलभाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

संन्यासफलिकः कश्चिद् बभूव नृपतिः पुरा।
मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ ४ ॥

प्राचीन कालमें मिथिलापुरीके कोई एक राजा जनक हो गये हैं, जो धर्मध्वज नामसे प्रसिद्ध थे। उन्हें (गृहस्था-श्रममें रहते हुए भी) संन्यासका जो सम्यग्ज्ञानरूप फल है, वह प्राप्त हो गया था ॥ ४ ॥

स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः।
इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

उन्होंने वेदमें, मोक्षशास्त्रमें तथा अपने शास्त्र (दण्डनीति) में भी बड़ा परिश्रम किया था। वे इन्द्रियोंको एकाग्र करके इस वसुन्धराका शासन करते थे ॥ ५ ॥

तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम्।
लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! वेदोंके ज्ञाता विद्वान् पुरुष उनकी उस साधु-वृत्तिका समाचार सुनकर उन्हींके समान सज्जन होनेकी इच्छा करते थे ॥ ६ ॥

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ७ ॥

वह धर्मप्रधान युगका समय था। उन दिनों सुलभा नामवाली एक संन्यासिनी योगधर्मके अनुष्ठानद्वारा सिद्धि प्राप्त करके अकेली ही इस पृथ्वीपर विचरण करती थी ॥ ७ ॥

तया जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः।
तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ८ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्में घूमती हुई सुलभाने यत्र-तत्र अनेक स्थानोंमें त्रिदण्डी संन्यासियोंके मुखसे मोक्ष-तत्त्वकी जानकारीके विषयमें मिथिलापति राजा जनककी प्रशंसा सुनी ॥ ८ ॥

सातिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया।
दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ९ ॥

उनके द्वारा कही जानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्मविषयक वार्ता दूसरोंके मुखसे सुनकर सुलभाके मनमें यह संदेह हुआ कि पता नहीं जनकके सम्बन्धमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे सत्य हैं या नहीं। यह संशय उत्पन्न होनेपर उसके हृदयमें राजा जनकके दर्शनका संकल्प उदित हुआ ॥ ९ ॥

तत्र सा विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगतः।
अबिभ्रदनवद्याङ्गी रूपमन्यदनुत्तमम् ॥ १० ॥
चक्षुर्निमेषमात्रेण लघ्वस्त्रगतिगामिनी।
विदेहानां पुरीं सुभ्रूर्जगाम कमलेक्षणा ॥ ११ ॥

उसने योगशक्तिसे अपना पहला शरीर छोड़कर दूसरा परम सुन्दर रूप धारण कर लिया। अब उसका प्रत्येक अङ्ग अनिन्द्य सौन्दर्यसे प्रकाशित होने लगा। सुन्दर भौंहोंवाली वह कमलनयनी बाला बाणोंके समान तीव्र गतिसे चलकर पल-भरमें विदेहदेशकी राजधानी मिथिलामें जा पहुँची ॥ १०-११ ॥

सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम्।
भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ॥ १२ ॥

प्रचुर जनसमुदायसे भरी हुई उस रमणीय मिथिला-नगरीमें पहुँचकर संन्यासिनी सुलभाने भिक्षा लेनेके बहाने मिथिलानरेशका दर्शन किया ॥ १२ ॥

राजा तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा।
केयं कस्य कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥ १३ ॥

उसके परम सुकुमार शरीर और सौन्दर्यको देखकर राजा जनक आश्चर्यसे चकित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'यह कौन है, किसकी है अथवा कहाँसे आयी है?' ॥ १३ ॥

ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम्।
पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसका स्वागत करके राजाने उसे सुन्दर आसन समर्पित किया और पैर धुलाकर उसका यथोचित पूजन करनेके पश्चात् उत्तमोत्तम अन्न देकर उसे तृप्त किया ॥ १४ ॥

अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्।
सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १५ ॥

भोजन करके संतुष्ट हुई संन्यासिनी सुलभाने सम्पूर्ण भाष्यवेत्ता विद्वानोंके बीचमें मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए राजा जनकसे कुछ प्रश्न करनेका विचार किया ॥ १५ ॥

सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया।
सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १६ ॥

सुलभा मोक्षधर्मके विषयमें राजासे कुछ पूछना चाहती थी। उसके मनमें यह संदेह था कि राजा जनक जीवन्मुक्त हैं या नहीं। वह योगशक्तियोंकी जानकार तो थी ही, अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा राजाकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गयी ॥ १६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः।
सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥ १७ ॥

राजा जनकसे प्रश्न करनेके लिये उद्यत हो उसने अपने नेत्रोंकी किरणोंद्वारा उनके नेत्रोंकी किरणोंको संयत करके

योगबलसे उनके चित्तको बाँधकर उन्हें वशमें कर लिया॥ १७॥

जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्।
प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब राजा जनकने सुलभाके अभिप्रायको जानकर उसका आदर करते हुए मुस्कराकर अपने भावद्वारा उसके भावको ग्रहण कर लिया ॥ १८ ॥

तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम्।
छत्रादिषु विमुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ॥ १९ ॥

फिर छत्र आदि राजचिह्नोंसे रहित हुए राजा जनक और त्रिदण्डरूप संन्यास-चिह्नसे मुक्त हुई सुलभाका एक ही शरीरमें रहकर जो संवाद हुआ था, उसे सुनो ॥ १९ ॥

जनक उवाच

भगवत्याः क्व चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि।
कस्य च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः ॥ २० ॥

जनकने पूछा—भगवति ! आपको यह संन्यासकी दीक्षा कहाँसे प्राप्त हुई है, आप कहाँ जायँगी ? किसकी हैं और कहाँसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ? ये सब बातें राजा जनकने सुलभासे पूछीं ॥ २० ॥

श्रुते वयसि जातौ च सद्भावो नाधिगम्यते।
एष्वर्थेषूत्तरं तस्मात् प्रवेद्यं मत्समागमे ॥ २१ ॥

वे बोले, किसीसे पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जातिके विषयमें सच्ची बात नहीं मालूम होती; अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसरपर इन सब विषयोंकी जानकारीके लिये यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है॥

छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः।
स त्वां सम्मन्तुमिच्छामि मानार्हा हि मतासि मे ॥ २२ ॥

छत्र आदि जो विशेष राजोचित चिह्न हैं, उन्हें इस समय मैं त्याग चुका हूँ; अतः अब आप मुझे यथार्थरूपसे जान लें। मैं आपका सम्मान करना चाहता हूँ; क्योंकि आप मुझे सम्मानके योग्य जान पड़ती हैं ॥ २२ ॥

यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा।
यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु ॥ २३ ॥

मैंने पूर्वकालमें सर्वश्रेष्ठ मोक्षविषयक ज्ञान जिनसे प्राप्त किया था, जिसका उनके सिवा दूसरा कोई प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, उस ज्ञान और ज्ञानदाता गुरुका भी परिचय आप मुझसे सुनो ॥ २३ ॥

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥ २४ ॥

पराशरगोत्री संन्यास-धर्मावलम्बी वृद्ध महात्मा पञ्चशिख मेरे गुरु हैं। मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ ॥ २४ ॥

सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा।
त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः ॥ २५ ॥

सांख्यज्ञान, योगविद्या तथा राजधर्म—इन तीन प्रकारके मोक्षधर्ममें मुझे गन्तव्य मार्ग गुरुदेवसे प्राप्त हो चुका है। इन विषयोंके मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं ॥ २५ ॥

स यथाशास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन्।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः ॥ २६ ॥

पहलेकी बात है, वे आचार्यचरण शास्त्रोक्त मार्गसे चलते हुए घूमते-घामते इधर आ निकले और वर्षा-ऋतुके चार महीने मेरे यहाँ सुखपूर्वक रहे ॥ २६ ॥

तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः।
श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः ॥ २७ ॥

वे सांख्यशास्त्रके प्रमुख विद्वान् हैं और सारा सिद्धान्त उन्हें यथावत् रूपसे प्रत्यक्षकी भाँति ठीक-ठीक ज्ञात है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्षधर्म श्रवण कराया है, परंतु राज्यसे दूर हटनेकी आज्ञा नहीं दी है ॥ २७ ॥

सोऽहं तामखिलां वृत्तिं त्रिविधां मोक्षसंहिताम्।
मुक्तरागश्चराम्येकः पदे परमके स्थितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार उपदेश पाकर मैं विषयोंकी आसक्तिसे रहित हो मुक्तिविषयक तीन प्रकारकी समस्त वृत्तियोंका आचरण करता हूँ और अकेला ही परमपदमें स्थित हूँ ॥ २८ ॥

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव च वैराग्यं जायते येन मुच्यते ॥ २९ ॥

वैराग्य ही इस मुक्तिका प्रधान कारण है और ज्ञानसे ही वह वैराग्य प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।
महद् द्वन्द्वप्रमोक्षाय सा सिद्धिर्या वयोऽतिगा ॥ ३० ॥

मनुष्य ज्ञानके द्वारा मुक्ति पानेके लिये यत्न करता है। उस यत्नसे महान् आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह महान् आत्मज्ञान ही सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे छुटकारा दिलानेका साधन है, वही सिद्धि है, जो काल (मृत्यु) को भी लाँघ जानेवाली है ॥ ३० ॥

सेयं परमिका बुद्धेः प्राप्ता निर्द्वन्द्वता मया।
इहैव गतमोहेन चरता मुक्तसङ्गिना ॥ ३१ ॥

मेरा मोह दूर हो गया है। मैं समस्त संसर्गोंका त्याग कर चुका हूँ; इसलिये मैंने इस गृहस्थधर्ममें रहते हुए ही बुद्धिकी परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त कर ली है॥ ३१ ॥

यथा क्षेत्रं मृदूभूतमद्भिराप्लावितं तथा।
जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत् पुनर्भवम् ॥ ३२ ॥

जैसे जिस खेतको जोतकर खूब मुलायम बना दिया गया हो और यथासमय उसे पानीसे सींचा गया हो, वही बोये हुए बीजमें अङ्कुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्योंका शुभ-अशुभ कर्म ही पुनर्जन्मका उत्पादन करता है ॥ ३२ ॥

यथा चोत्तापितं बीजं कपाले यत्र तत्र वा।
प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्वमबीजत्वान्न जायते ॥ ३३ ॥

तद्वद् भगवतानेन शिखा प्रोक्तेन भिक्षुणा।
ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ ३४ ॥

जैसे मिट्टीके खपरेमें या और किसी भी बर्तनमें भूना गया बीज बीज न रह जानेके कारण अङ्कुर उगाने योग्य खेतमें पड़कर भी नहीं जमता है, उसी प्रकार मेरे संन्यासी गुरु भगवान् पञ्चशिखने मुझे जो ज्ञान प्रदान किया है, वह निर्बीज है। इसलिये विषयोंके क्षेत्रमें अङ्कुरित नहीं होता है ॥ ३३-३४ ॥

नाभिरज्यति कस्मिंश्चिन्नानर्थे न परिग्रहे।
नाभिरज्यति चैतेषु व्यर्थत्वाद् रागरोषयोः ॥ ३५ ॥

मेरी बुद्धि किसी अनर्थमें अथवा भोगोंके संग्रहमें भी आसक्त नहीं होती है। स्त्री आदिके विषयमें जो अनुराग और शत्रु आदिके विषयमें जो क्रोध होता है, वह व्यर्थ होनेके कारण उसकी ओर मेरी बुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ मम ॥ ३६ ॥

जो मेरी दाहिनी बाँहपर चन्दन छिड़के और जो बायीं बाँहको बँसूलेसे काटे तो ये दोनों ही मनुष्य मेरे लिये एक समान हैं ॥ ३६ ॥

सुखी सोऽहमवाप्तार्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
मुक्तसङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥ ३७ ॥

मैं आप्तकाम होकर सदा सुखका अनुभव करता हूँ। मेरी दृष्टिमें मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण सब एक-से हैं। मैं आसक्तिरहित होकर राजाके पदपर प्रतिष्ठित हूँ। अतः अन्य त्रिदण्डी साधुओंसे मेरा स्थान विशिष्ट है ॥ ३७ ॥

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ३८ ॥

अलौकिक जो ज्ञान है, अलौकिक जो संन्यास है तथा जो कर्मोंका अलौकिक अनुष्ठान है अर्थात् निष्काम भावसे कर्मोंका करना है—इन तीन प्रकारकी निष्ठाओंको ही मोक्षवेत्ता विद्वानोंने मोक्षका उपाय देखा और समझा है ॥ ३८ ॥

ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ३९ ॥

मोक्षशास्त्रका ज्ञान रखनेवाले एक श्रेणीके लोग कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा ही मोक्षका साधन है तथा दूसरे सूक्ष्मदर्शी यति लोग कर्मनिष्ठाको ही मुक्तिका उपाय बताते हैं ॥ ३९ ॥

प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥ ४० ॥

किंतु उन महात्मा पञ्चशिखाचार्यने पूर्वोक्त केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों पक्षोंका परित्याग करके एक तीसरी निष्ठा बतायी है ॥ ४० ॥

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥ ४१ ॥

यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ तथा स्नेह करके उनसे होनेवाले लाभ और हानिमें संन्यासी भी गृहस्थोंके ही तुल्य है अर्थात् यम-नियम आदिका अभ्यास करनेपर गृहस्थ भी मोक्षलाभ कर सकते हैं और कामना तथा द्वेष होनेपर संन्यासी भी मुक्तिसे वञ्चित हो सकते हैं ॥

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

संन्यासी त्रिदण्ड आदि धारण करते हैं और गृहस्थ नरेश छत्र-चँवर आदि। यदि त्रिदण्ड धारण करनेपर किसीको ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो छत्र आदि धारण करनेपर दूसरेको उसी ज्ञानके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त नहीं हो सकता ? क्योंकि प्रतिबन्धका कारण परिग्रह दोनोंके लिये समान है—एक त्रिदण्ड आदिका संग्रह करता है और दूसरा छत्र आदिका ॥ ४२ ॥

येन येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि।
तत्तदालम्बते सर्वः स्वे स्वे स्वार्थपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

अपने-अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये जिस मनुष्यको जिस-जिस साधनभूत वस्तुसे प्रयोजन होता है, वे सभी अपना-अपना काम बनानेके लिये उन-उन वस्तुओंका आश्रय लेते हैं ॥

दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्याश्रमान्तरे।
उत्सृजन् परिगृह्णंश्च सोऽपि सङ्गान्न मुच्यते ॥ ४४ ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें दोष देखकर उसका परित्याग करके दूसरे आश्रममें चला जाता है, वह भी कुछ छोड़ता है और कुछ ग्रहण करता है; अतः उसे भी सङ्गदोषसे छुटकारा नहीं मिलता है ॥ ४४ ॥

आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके।
राजभिर्भिक्षुकास्तुल्या मुच्यन्ते केन हेतुना ॥ ४५ ॥

किसीका निग्रह और किसीपर अनुग्रह करना ही आधिपत्य (प्रभुत्व) कहलाता है। यह जैसे राजामें है, वैसे संन्यासीमें भी है। इस दृष्टिसे जब संन्यासी भी राजाओंके ही समान हैं, तब केवल वे ही मुक्त होते हैं—ऐसा माननेका क्या कारण है ? ॥ ४५ ॥

अथ सत्याधिपत्येऽपि ज्ञानेनैवेह केवलम्।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ४६ ॥

मनुष्यरूप उत्तम शरीरमें स्थित हुए प्राणी प्रभुत्व रखते हुए भी केवल ज्ञानके ही बलसे यहाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥ ४७ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि गेरुआ वस्त्र पहनना, मस्तक मुड़ा लेना तथा त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करना—ये सब उत्कृष्ट संन्यासमार्गका परिचय देनेवाले चिह्नमात्र हैं। इनके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४७ ॥

यदि सत्यपि लिङ्गेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम् ।
निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिङ्गमात्रं निरर्थकम् ॥ ४८ ॥

यदि इन चिह्नोंके रहते हुए भी यहाँ दुःखसे सर्वथा मोक्ष पानेके लिये एकमात्र ज्ञान ही उपाय है तो जितने भी चिह्न धारण किये जाते हैं, वे सब निरर्थक हैं ॥ ४८ ॥

अथवा दुःखशैथिल्यं वीक्ष्य लिङ्गे कृता मतिः ।
किं तदेवार्थसामान्यं छत्रादिषु न लक्ष्यते ॥ ४९ ॥

अथवा यदि कहें कि त्रिदण्ड और गैरिक वस्त्र आदि धारण करनेसे कुछ सुविधा प्राप्त होती है और कष्ट कम होता है, इसलिये संन्यासियोंने उन चिह्नोंको धारण करनेका विचार किया है तो छत्र आदि धारण करनेमें भी इसी सामान्य प्रयोजनकी ओर क्यों न दृष्टि रखी जाय ? ॥ ४९ ॥

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम् ।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ ५० ॥

न तो अकिञ्चनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किञ्चनता (आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होने) में बन्धन ही है । धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओंमें ज्ञानसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

तस्माद् धर्मार्थकामेषु तथा राज्यपरिग्रहे ।
बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसलिये धर्म, अर्थ, काम तथा राज्यपरिग्रह—इन बन्धनके स्थानोंमें रहते हुए भी मुझे आप बन्धनरहित (जीवन्मुक्त) पदपर प्रतिष्ठित समझें ॥ ५१ ॥

राज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः ।
मोक्षाश्मनिशितेनेह छिन्नस्त्यागासिना मया ॥ ५२ ॥

मैंने मोक्षरूपी पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए त्यागवैराग्यरूपी तलवारसे राज्य और ऐश्वर्यरूपी पाशको तथा स्नेहके आश्रयभूत स्त्री-पुत्र आदिके ममत्वरूपी बन्धनको काट डाला है ॥ ५२ ॥

सोऽहमेवंगतो मुक्तो जातास्थस्त्वयि भिक्षुकि ।
अयथार्थं हि ते वर्णं वक्ष्यामि शृणु तन्मम ॥ ५३ ॥

संन्यासिनी ! इस प्रकार मैं जीवन्मुक्त हूँ । आपमें योगका प्रभाव देखकर यद्यपि आपके प्रति मेरी आस्था और आदर-बुद्धि हो गयी है तथापि मैं आपके इस रूप और सौन्दर्यको योगसाधनाके योग्य नहीं मानता, अतः इस विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस वचनको आप सुनिये ॥५३॥

सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथा वयः ।
तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ५४ ॥

सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहर शरीर तथा यौवनावस्था—ये सारी वस्तुएँ योगके विरुद्ध हैं; फिर भी आपमें इन सब गुणोंके साथ-साथ योग और नियम भी है ही, यह कैसे सम्भव हुआ ? यही मेरे मनमें संदेह है ॥ ५४ ॥

यच्चाप्यननुरूपं ते लिङ्गस्यास्य विचेष्टितम् ।
मुक्तोऽयं स्यान्न वेति स्याद् धर्षितो मत्परिग्रहः ॥ ५५ ॥

यह जो त्रिदण्डधारणरूप चिह्न है, उसके अनुरूप आपकी कोई चेष्टा नहीं है । यह मुक्त है या नहीं, इसकी परीक्षा लेनेके लिये आपने मेरे शरीरको अभिभूत कर दिया है—उसपर बलात्कारपूर्वक अधिकार जमा लिया है ॥ ५५ ॥

न च कामसमायुक्ते युक्तेऽप्यस्ति त्रिदण्डके ।
न रक्ष्यते त्वया चेदं न मुक्तस्यास्ति गोपना ॥ ५६ ॥

मनुष्य योगयुक्त होकर भी यदि कामभोगमें आसक्त हो जाय तो उसका त्रिदण्ड धारण करना अनुचित एवं व्यर्थ है । आप अपने इस बर्तावद्वारा संन्यास-आश्रमके नियमकी रक्षा नहीं कर रही हैं । यदि अपने स्वरूपको छिपानेके लिये आपने ऐसा किया हो तो जीवन्मुक्त पुरुषके लिये आत्मगोपन आवश्यक नहीं है ॥ ५६ ॥

मत्पक्षसंश्रयाच्चायं शृणु यस्ते व्यतिक्रमः ।
आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहम् ॥ ५७ ॥

आपने स्वभावतः सोच-समझकर मेरे पूर्व-शरीरका आश्रय लेनेकी चेष्टा की है, अतः मेरे पक्षका आश्रय लेने—मेरे शरीरमें प्रवेश करनेके कारण आपसे जो व्यतिक्रम बन गया है, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ५७ ॥

प्रवेशस्ते कृतः केन मम राष्ट्रे पुरेऽपि वा ।
कस्य वा संनिकर्षात् त्वं प्रविष्टा हृदयं मम ॥ ५८ ॥

आपने किस कारणसे मेरे राज्य अथवा नगरमें प्रवेश किया है अथवा किसके संकेतसे आप मेरे हृदयमें घुस आयी हैं ? ॥ ५८ ॥

वर्णप्रवरमुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहम् ।
नावयोरेकयोगोऽस्ति मा कृथा वर्णसंकरम् ॥ ५९ ॥

वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी जो कन्याएँ हैं, उन सबमें आप प्रमुख हैं । आप ब्राह्मणी हैं और मैं क्षत्रिय हूँ; अतः हम दोनोंका एकत्र संयोग होना कदापि उचित नहीं है; इसलिये आप वर्णसंकर नामक दोषका उत्पादन न कीजिये ॥ ५९ ॥

वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रमे ।
अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽऽश्रमसंकरः ॥ ६० ॥

आप मोक्षधर्म (संन्यास-आश्रम) के अनुसार बर्ताव करती हैं और मैं गृहस्थ-आश्रममें स्थित हूँ; अतः आपके द्वारा यह दूसरा आश्रमसंकर नामक दोषका उत्पादन किया जा रहा है, जो अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ ६० ॥

सगोत्रां वासगोत्रां वा न वेद त्वां न वेत्थ माम् ।
सगोत्रमाविशन्त्यास्ते तृतीयो गोत्रसंकरः ॥ ६१ ॥

मैं यह भी नहीं जानता कि आप सगोत्रा हैं या असगोत्रा । इसी प्रकार आप भी मेरे विषयमें कुछ नहीं जानतीं । अतः मुझ सगोत्रमें प्रवेश करनेके कारण आपके द्वारा तीसरा गोत्रसंकर नामक दोष उत्पन्न किया गया है ॥ ६१ ॥

अथ जीवति ते भर्ता प्रोषितोऽप्यथवा क्वचित् ।

अगम्या परभार्येति चतुर्थो धर्मसंकरः ॥ ६२ ॥

यदि आपके पति जीवित हैं अथवा कहीं परदेशमें चले गये हैं तो आप परायी स्त्री होनेके कारण मेरे लिये सर्वथा अगम्य हैं। ऐसी दशामें आपका यह बर्ताव धर्मसंकर नामक चौथा दोष है ॥ ६२ ॥

सा त्वमेतान्यकार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि ।
अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन वा पुनः ॥ ६३ ॥

आप कार्य-साधनकी अपेक्षा रखकर अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञानसे युक्त हो ये सब न करने योग्य कार्य कर डालनेको उद्यत हो गयी हैं ॥ ६३ ॥

अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित् ।
यदि किंचिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृतमनर्थकम् ॥ ६४ ॥

अथवा यदि आप स्वतन्त्र हैं तो कभी आपके द्वारा यदि कुछ शास्त्रका श्रवण किया गया हो तो आपने अपने ही दोषसे वह सब व्यर्थ कर दिया है ॥ ६४ ॥

इदमन्यच्चतुर्थं ते भावस्पर्शविघातकम् ।
दुष्टाया लक्ष्यते लिङ्गं विवृण्वत्याप्रकाशितम् ॥ ६५ ॥

आपका जो दोष छिपा हुआ था, उसे आपने स्वयं ही प्रकाशित कर दिया। इससे आप दुष्टा जान पड़ती हैं। आपकी दुष्टताका यह और चौथा चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहा है, जो हृदयकी प्रीतिपर आघात करनेवाला है ॥ ६५ ॥

न मय्येवाभिसंधिस्ते जयैषिण्या जये कृतः ।
येयं मत्परिषत् कृत्स्ना जेतुमिच्छसि तामपि ॥ ६६ ॥

आप अपनी विजय चाहती हैं। आपने केवल मुझे ही जीतनेकी इच्छा नहीं की है, अपितु यह जो मेरी सारी सभा बैठी है, इसे भी जीतना चाहती हैं ॥ ६६ ॥

तथाह्येतांस्ततश्च त्वं दृष्टिं स्वां प्रतिमुञ्चसि ।
मत्पक्षप्रतिघाताय स्वपक्षोद्भावनाय च ॥ ६७ ॥

आप मेरे पक्षकी पराजय और अपने पक्षकी विजयके लिये इन माननीय सभासदोंपर भी बारंबार अपनी दृष्टि फेंक रही हैं ॥ ६७ ॥

सा स्वेनामर्षजेन त्वमृद्धिमोहेन मोहिता ।
भूयः सृजसि योगांस्त्वं विषामृतमिवैकताम् ॥ ६८ ॥

आप अपनी असहिष्णुताजनित योगसमृद्धिके मोहसे मोहित हो विष और अमृतको एक करनेके समान कामके साथ योगका सम्बन्ध जोड़ रही हैं ॥ ६८ ॥

इच्छतोरत्र यो लाभः स्त्रीपुंसोरमृतोपमः ।
अलाभश्चापि रक्तस्य सोऽपि दोषो विषोपमः ॥ ६९ ॥

स्त्री और पुरुष जब एक-दूसरेको चाहते हों, उस समय उन्हें जो संयोग-सुखका लाभ होता है, वह अमृतके समान मधुर है। यदि अनुरक्त नारीको अनुरक्त पुरुषकी प्राप्ति नहीं हुई तो वह दोष विषके समान भयंकर होता है ॥ ६९ ॥

मा स्प्राक्षीः साधु जानीष्व स्वशास्त्रमनुपालय ।
कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम ।
एतत् सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७० ॥

आप मेरा स्पर्श न करें। मेरे चरित्रको उत्तम और निष्कलङ्क समझें और अपने शास्त्र (संन्यास-धर्म) का निरन्तर पालन करती रहें। आपने मेरे विषयमें यह जाननेकी इच्छा की थी कि यह राजा जीवन्मुक्त है या नहीं। यह सारा भाव आपके हृदयमें प्रच्छन्नभावसे स्थित था, अतः इस समय आप मुझसे इसको छिपा नहीं सकतीं ॥ ७० ॥

सा यदि त्वं स्वकार्येण यद्यन्यस्य महीपतेः ।
तत् त्वं सत्रप्रतिच्छन्ना मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७१ ॥

यदि आप अपने कार्यसे या किसी दूसरे राजाके कार्यसे यहाँ वेष बदलकर आयी हों तो अब आपके लिये यथार्थ बातको गुप्त रखना उचित नहीं है ॥ ७१ ॥

न राजानं मृषा गच्छेन्न द्विजातिं कथंचन ।
न स्त्रियं स्त्रीगुणोपेतां हन्युर्ह्येते मृषा गताः ॥ ७२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह किसी राजाके पास या किसी ब्राह्मणके निकट अथवा स्त्रीजनोचित पातिव्रत्य गुणसे सम्पन्न किसी सती-साध्वी नारीके समीप छद्मवेष धारण करके न जाय; क्योंकि ये राजा, ब्राह्मण और पतिव्रता स्त्री उस छद्मवेषधारी मनुष्यके धोखा देनेपर उसपर कुपित हो उसका विनाश कर देते हैं ॥ ७२ ॥

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

राजाओंका बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणोंका बल वेद है तथा स्त्रियोंका परम उत्तम बल रूप, यौवन और सौभाग्य है ॥

अत एतैर्बलैरेव बलिनः स्वार्थमिच्छता ।
आर्जवेनाभिगन्तव्या विनाशाय ह्यनार्जवम् ॥ ७४ ॥

ये इन्हीं बलोंसे बलवान् होते हैं। अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको इनके पास सरलभावसे जाना चाहिये; क्योंकि इनके प्रति किया हुआ कुटिल भाव विनाशका कारण बन जाता है ॥ ७४ ॥

सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः ।
कृत्यमागमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ७५ ॥

अतः संन्यासिनि ! आपको अपनी जाति, शास्त्रज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, स्वभाव एवं यहाँ आगमनका प्रयोजन भी यथार्थरूपसे बताना उचित है ॥ ७५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमञ्जसैः ।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥ ७६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा जनकने इन दुःखजनक, अयोग्य और असङ्गत वचनोंद्वारा उसका बड़ा तिरस्कार किया, तो भी सुलभा अपने मनमें तनिक भी विचलित नहीं हुई ॥ ७६ ॥

उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना।
ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम् ॥ ७७ ॥

जब राजाकी बात समाप्त हो गयी, तब परम सुन्दरी सुलभाने अत्यन्त मधुर वचनोंमें भाषण देना आरम्भ किया ॥

सुलभोवाच

नवभिर्नवभिश्चैव दोषैर्वाग्बुद्धिदूषणैः।
अपेतमुपपन्नार्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥ ७८ ॥
सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः।
पञ्चैतान्यर्थजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप ॥ ७९ ॥

सुलभा बोली—राजन्! वाणी और बुद्धिको दूषित करनेवाले जो नौ-नौ दोष हैं, उनसे रहित, अठारह गुणोंसे सम्पन्न और युक्तिसङ्गत अर्थसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। उस वाक्यमें सौक्ष्म्य, सांख्य, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच प्रकारके अर्थ रहने चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

एषामेकैकशोऽर्थानां सौक्ष्म्यादीनां स्वलक्षणम्।
शृणु संसार्यमाणानां पदार्थपदवाक्यतः ॥ ८० ॥

ये जो सौक्ष्म्य आदि अर्थ हैं, ये पद, वाक्य, पदार्थ और वाक्यार्थरूपसे खोलकर बताये जा रहे हैं। आप इनमेंसे एक-एकका अलग-अलग लक्षण सुनिये ॥ ८० ॥

ज्ञानं ज्ञेयेषु भिन्नेषु यदा भेदेन वर्तते।
तत्रातिशायिनी बुद्धिस्तत् सौक्ष्म्यमिति वर्तते ॥ ८१ ॥

जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न ज्ञेय (अर्थ) उपस्थित हों और 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार वस्तुओंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता हो, ऐसे स्थलोंमें यथार्थ निर्णय करनेवाली जो बुद्धि है, उसीका नाम सौक्ष्म्य है ॥ ८१ ॥

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ ८२ ॥

जहाँ किसी विशेष अर्थको अभीष्ट मानकर उसके दोषों और गुणोंकी विभागपूर्वक गणना की जाती है, उस अर्थको संख्या अथवा सांख्य समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

इदं पूर्वमिदं पश्चाद् वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।
क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो जनाः ॥ ८३ ॥

परिगणित गुणों और दोषोंमेंसे अमुक गुण या दोष पहले कहना चाहिये और अमुकको पीछे कहना अभीष्ट है। इस प्रकार जो पूर्वापरके क्रमका विचार होता है, उसका नाम क्रम है और जिस वाक्यमें ऐसा क्रम हो, उस वाक्यको वाक्यवेत्ता विद्वान् क्रमयुक्त कहते हैं ॥ ८३ ॥

धर्मकामार्थमोक्षेषु प्रतिज्ञाय विशेषतः।
इदं तदिति वाक्यान्ते प्रोच्यते स विनिर्णयः ॥ ८४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें किसी एकका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रवचनके अन्तमें 'यही वह अभीष्ट विषय है' ऐसा कहकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है, उसीका नाम निर्णय है ॥ ८४ ॥

इच्छाद्वेषभवैर्दुःखैः प्रकर्षो यत्र जायते।
तत्र या नृपते वृत्तिस्तत् प्रयोजनमिष्यते ॥ ८५ ॥

नरेश्वर! इच्छा अथवा द्वेषसे उत्पन्न हुए दुःखोंद्वारा जहाँ किसी एक प्रकारके दुःखकी प्रधानता हो जाय, वहाँ जो वृत्ति उदय होती है, उसीको प्रयोजन कहते हैं ॥ ८५ ॥

तान्येतानि यथोक्तानि सौक्ष्म्यादीनि जनाधिप।
एकार्थसमवेतानि वाक्यं मम निशामय ॥ ८६ ॥

जनेश्वर! जिस वाक्यमें पूर्वोक्त सौक्ष्म्य आदि गुण एक अर्थमें सम्मिलित हों, मेरे वैसे ही वाक्यको आप श्रवण करें ॥८६॥

उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च संदिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः ॥ ८७ ॥

मैं ऐसा वाक्य बोलूँगी, जो सार्थक होगा। उसमें अर्थभेद नहीं होगा। वह न्याययुक्त होगा। उसमें आवश्यकतासे अधिक, कर्णकटु एवं संदेह-जनक पद नहीं होंगे। इस प्रकार मैं परम उत्तम वाक्य बोलूँगी ॥ ८७ ॥

न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।
नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम् ॥ ८८ ॥

मेरे इस वचनमें गुरु एवं निष्ठुर अक्षरोंका संयोग नहीं होगा; उसमें कोमलकान्त सुकुमार पदावली होगी। वह पराङ्मुख व्यक्तियोंके लिये सुखद नहीं होगा। वह न तो झूठ होगा न धर्म, अर्थ और कामके विरुद्ध और संस्कारशून्य ही होगा ॥ ८८ ॥

न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनु कल्पेन निष्कारणमहेतुकम् ॥ ८९ ॥

मेरे उस वाक्यमें न्यूनपदत्व नामक दोष नहीं रहेगा, कष्टकर शब्दोंका प्रयोग नहीं होगा, उसका क्रमरहित उच्चारण नहीं होगा। उसमें दूसरे पदोंके अध्याहार और लक्षणकी आवश्यकता नहीं होगी। यह वाक्य निष्प्रयोजन और युक्तिशून्य भी नहीं होगा ॥ ८९ ॥

कामात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् दैन्याच्चानार्यकात् तथा।
ह्रीतोऽनुक्रोशतो मानान्न वक्ष्यामि कथंचन ॥ ९० ॥

मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, अनार्यता, लज्जा, दया तथा अभिमानसे किसी तरह कोई बात नहीं बोलूँगी ॥

वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप।
सममेति विवक्षायां तदा सोऽर्थः प्रकाशते ॥ ९१ ॥

नरेश्वर! बोलनेकी इच्छा होनेपर जब वक्ता, श्रोता और वाक्य—तीनों अविकलभावसे सम-स्थितिमें आ जाते हैं, तब वक्ताका कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है (श्रोताके समझमें आ जाता है) ॥ ९१ ॥

वक्तव्ये तु यदा वक्ता श्रोतारमवमन्य वै।
स्वार्थमाह परार्थं तत् तदा वाक्यं न रोहति ॥ ९२ ॥

जब बोलते समय वक्ता श्रोताकी अवहेलना करके दूसरेके लिये अपनी बात कहने लगता है, उस समय वह वाक्य श्रोताके हृदयमें प्रवेश नहीं करता है ॥ ९२ ॥

अथ यः स्वार्थमुत्सृज्य परार्थं प्राह मानवः।
विशङ्का जायते तस्मिन् वाक्यं तदपि दोषवत् ॥ ९३॥

और जो मनुष्य स्वार्थ त्यागकर दूसरेके लिये कुछ कहता है, उस समय उसके प्रति श्रोताके हृदयमें आशङ्का उत्पन्न होती है, अतः वह वाक्य भी दोषयुक्त ही है ॥ ९३ ॥

यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते।
श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव स वक्ता नेतरो नृप ॥ ९४॥

परंतु नरेश्वर ! जो वक्ता अपने और श्रोता दोनोंके लिये अनुकूल विषय ही बोलता है, वही वास्तवमें वक्ता है, दूसरा नहीं ॥ ९४ ॥

तदर्थवदिदं वाक्यमुपेतं वाक्यसम्पदा।
अविक्षिप्तमना राजन्नेकाग्रः श्रोतुमर्हसि ॥ ९५॥

अतः राजन् ! आप स्थिरचित्त एवं एकाग्र होकर यह वाक्यसम्पत्तिसे युक्त सार्थक वचन सुनिये ॥ ९५ ॥

कासि कस्य कुतश्चेति त्वयाहमभिचोदिता।
तत्रोत्तरमिदं वाक्यं राजन्नेकमनाः शृणु ॥ ९६॥

महाराज ! आपने मुझसे पूछा था कि आप कौन हैं, किसकी हैं और कहाँसे आयी हैं ? अतः इसके उत्तरमें मेरा यह कथन एकचित्त होकर सुनिये ॥ ९६ ॥

यथा जतु च काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः।
संश्लिष्टानि तथा राजन् प्राणिनामिह सम्भवः ॥ ९७॥

राजन् ! जैसे काठके साथ लाह और धूलके साथ पानीकी बूँदें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार इस जगत्में प्राणियोंका जन्म कई तत्त्वोंके मेलसे होता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पञ्चेन्द्रियाणि च।
पृथगात्मान आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत् ॥ ९८॥
न चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ये आत्मासे पृथक् होनेपर भी काष्ठमें सटे हुए लाहके समान आत्माके साथ जुड़े हुए हैं; परंतु इनमें स्वतन्त्र कोई प्रेरणा-शक्ति नहीं है। यही विद्वानोंका निश्चय है ॥ ९८½ ॥

एकैकस्येह विज्ञानं नास्त्यात्मनि तथा परे ॥ ९९॥
न वेद चक्षुश्चक्षुष्ट्वं श्रोत्रं नात्मनि वर्तते।

इनमेंसे एक-एक इन्द्रियको न तो अपना ज्ञान है और न दूसरेका। नेत्र अपने नेत्रत्वको नहीं जानता। इसी प्रकार कान भी अपने विषयमें कुछ नहीं जानता ॥ ९९½ ॥

तथैव व्यभिचारेण न वर्तन्ते परस्परम् ॥ १००॥
प्रश्लिष्टं च न जानन्ति यथाऽऽप इव पांसवः।

इसी तरह ये इन्द्रियाँ और विषय परस्पर एक दूसरेसे मिल-जुलकर भी नहीं जान सकते। जैसे कि जल और धूल परस्पर मिलकर भी अपने सम्मिश्रणको नहीं जानते ॥ १००½ ॥

बाह्यानन्यानपेक्षन्ते गुणांस्तानपि मे शृणु ॥ १०१॥
रूपं चक्षुः प्रकाशश्च दर्शने हेतवस्त्रयः।

शरीरस्थ इन्द्रियाँ विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करते समय अन्यान्य बाह्य गुणोंकी अपेक्षा रखती हैं। उन गुणोंको आप मुझसे सुनिये। रूप, नेत्र और प्रकाश—ये तीन किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेमें हेतु हैं ॥ १०१½ ॥

यथैवात्र तथान्येषु ज्ञानज्ञेयेषु हेतवः ॥ १०२॥
ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनो नामापरो गुणः।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥ १०३॥

जैसे प्रत्यक्ष दर्शनमें ये तीन हेतु हैं, उसी प्रकार अन्यान्य ज्ञान और ज्ञेयमें भी तीन-तीन हेतु जानने चाहिये। ज्ञान और ज्ञातव्य विषयोंके बीचमें किसी ज्ञानेन्द्रियके अतिरिक्त मन नामक एक दूसरा गुण भी रहता है, जिससे यह जीवात्मा किसी विषयमें भले-बुरेका निश्चय करनेके लिये विचार करता है ॥ १०२-१०३ ॥

द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणः स्मृतः।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति ॥ १०४॥

वहीं एक और बारहवाँ गुण भी है, जिसका नाम है बुद्धि। जिससे किसी ज्ञातव्य विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर मनुष्य एक निश्चयपर पहुँचता है ॥ १०४ ॥

अथ द्वादशके तस्मिन् सत्त्वं नामापरो गुणः।
महासत्त्वोऽल्पसत्त्वो वा जन्तुर्येनानुमीयते ॥ १०५॥

उस बारहवें गुण बुद्धिमें सत्त्वनामक एक (तेरहवाँ) गुण है, जिससे महासत्त्व और अल्पसत्त्व प्राणीका अनुमान किया जाता है ॥ १०५ ॥

अहं कर्तेति चाप्यन्यो गुणस्तत्र चतुर्दशः।
ममायमिति येनायं मन्यते न ममेति च ॥ १०६॥

उस सत्त्वमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे अभिमानसे युक्त अहंकार नामक एक अन्य चौदहवाँ गुण है, जिससे जीवात्मा 'यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है' ऐसा मानता है ॥

अथ पञ्चदशो राजन् गुणस्तत्रापरः स्मृतः।
पृथक्कलासमूहस्य सामग्र्यं तदिहोच्यते ॥ १०७॥
गुणस्त्वेवापरस्तत्र संघात इव षोडशः।

राजन् ! उस अहंकारमें वासना नामक एक गुण और माना गया है, जो पंद्रहवाँ है। वहाँ पृथक्-पृथक् कलाओंके समूहकी जो समग्रता है, वह एक अन्य गुण है। वह संघातकी भाँति यहाँ सोलहवाँ कहा जाता है ॥ १०७½ ॥

प्रकृतिर्व्यक्तिरित्येतौ गुणौ यस्मिन् समाश्रितौ ॥ १०८॥

जिसमें प्रकृति (माया) और व्यक्ति (प्रकाश)—ये दो गुण आश्रित हैं (यहाँतक सब अठारह हुए) ॥ १०८ ॥

सुखासुखे जरामृत्यू लाभालाभौ प्रियाप्रिये।
इति चैकोनविंशोऽयं द्वन्द्वयोग इति स्मृतः ॥ १०९॥

सुख और दुःख, जरा और मृत्यु, लाभ और हानि तथा प्रिय और अप्रिय इत्यादि द्वन्द्वोंका जो योग है, यह उन्नीसवाँ गुण माना गया है ॥ १०९ ॥

ऊर्ध्वं चैकोनविंशत्या कालो नामापरो गुणः।
इतीमं विद्धि विंशत्या भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥११०॥

इस उन्नीसवें गुणसे परे कालनामक दूसरा गुण और है। इसे बीसवाँ गुण समझिये। इसीसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय होते हैं ॥ ११० ॥

विंशकश्चैष संघातो महाभूतानि पञ्च च।
सदसद्भावयोगौ तु गुणावन्यौ प्रकाशकौ ॥१११॥

इन बीस गुणोंका समुदाय एवं पाँच महाभूत तथा सद्भावयोग[1] और असद्भावयोग[2]—ये दो अन्य प्रकाशक गुण, ये सब मिलकर सत्ताईस हैं ॥ १११ ॥

इत्येवं विंशकश्चैव गुणाः सप्त च ये स्मृताः।
विधिः शुक्रं बलं चेति त्रय एते गुणाः परे ॥११२॥

ये जो बीस और सात गुण बताये गये हैं, इनके सिवा तीन गुण और हैं—विधि[3], शुक्र[4] और बल[5] ॥ ११२ ॥

विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः।
समग्रा यत्र वर्तन्ते तच्छरीरमिति स्मृतम् ॥११३॥

इस प्रकार गणना करनेसे बीस और दस तीस गुण होते हैं। ये सारे-के-सारे गुण जहाँ विद्यमान हैं, उसको शरीर कहा गया है ॥ ११३ ॥

अव्यक्तं प्रकृतिं त्वासां कलानां कश्चिदिच्छति।
व्यक्तं चासां तथा चान्यः स्थूलदर्शी प्रपश्यति ॥११४॥

कोई-कोई विद्वान् अव्यक्त प्रकृतिको इन तीस कलाओंका उपादान कारण मानते हैं। दूसरे स्थूलदर्शी विचारक व्यक्त अर्थात् परमाणुओंको कारण मानते हैं तथा कोई-कोई अव्यक्त और व्यक्तको अर्थात् प्रकृति और परमाणु—इन दोनोंको उनका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११४ ॥

अव्यक्तं यदि वा व्यक्तं द्वयीमथ चतुष्टयीम्।
प्रकृतिं सर्वभूतानां पश्यन्त्यध्यात्मचिन्तकाः ॥११५॥

अव्यक्त हो, व्यक्त हो, दोनों हों अथवा चारों (ब्रह्म, माया, जीव और अविद्या) कारण हों, अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् प्रकृतिको ही सम्पूर्ण भूतोंका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११५ ॥

येयं प्रकृतिरव्यक्ता कलाभिर्व्यक्ततां गता।
अहं च त्वं च राजेन्द्र ये चाप्यन्ये शरीरिणः ॥११६॥

राजेन्द्र ! यह जो अव्यक्त प्रकृति सबका उपादान कारण है, यही पूर्वोक्त तीस कलाओंके रूपमें व्यक्तभावको प्राप्त हुई है। मैं, आप तथा जो अन्य शरीरधारी हैं, उन सबके शरीरोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही हुई है ॥ ११६ ॥

बिन्दुन्यासादयोऽवस्थाः शुक्रशोणितसम्भवाः।
यासामेव निपातेन कललं नाम जायते ॥११७॥

प्राणियोंकी वीर्यस्थापनासे लेकर रजोवीर्यसंयोगसम्भूत कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनके सम्मिश्रणसे ही 'कलल' नामक एक पदार्थ उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

कललाद् बुद्बुदोत्पत्तिः पेशी च बुद्बुदात् स्मृता।
पेश्यास्त्वङ्गाभिनिर्वृत्तिर्नखरोमाणि चाङ्गतः ॥११८॥

कललसे बुद्बुदकी उत्पत्ति होती है। बुद्बुदसे मांस-पेशीका प्रादुर्भाव माना गया है। पेशीसे विभिन्न अङ्गोंका निर्माण होता है और अङ्गोंसे रोमावलियाँ तथा नख प्रकट होते हैं ॥ ११८ ॥

सम्पूर्णे नवमे मासि जन्तोर्जातस्य मैथिल।
जायते नामरूपत्वं स्त्री पुमान् वेति लिङ्गतः ॥११९॥

मिथिलानरेश ! गर्भमें नौ मास पूर्ण हो जानेपर जीव जन्म ग्रहण करता है। उस समय उसे नाम और रूप प्राप्त होता है तथा वह विशेष प्रकारके चिह्नसे स्त्री अथवा पुरुष समझा जाता है ॥ ११९ ॥

जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखाङ्गुलि।
कौमारं रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते ॥१२०॥

जिस समय बालकका जन्म होता है, उस समय उसका जो रूप देखनेमें आता है, उसके नख और अङ्गुलियाँ ताँबेके समान लाल-लाल होती हैं, फिर जब वह कुमारावस्थाको प्राप्त होता है तो उस समय उसका पहलेका वह रूप नहीं उपलब्ध होता है ॥ १२० ॥

कौमाराद् यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात्।
अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते ॥१२१॥

इसी प्रकार कुमारावस्थासे जवानीको और जवानीसे बुढ़ापेको वह प्राप्त होता है। इस क्रमसे उत्तरोत्तर अवस्थामें पहुँचनेपर पूर्व-पूर्व अवस्थाका रूप नहीं देखनेमें आता है ॥

कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे क्षणे।
वर्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात् तु न विभाव्यते ॥१२२॥

सभी प्राणियोंमें विभिन्न प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जो पूर्वोक्त कलाएँ हैं, उनके स्वरूपमें प्रतिक्षण भेद या परिवर्तन हो रहा है; परंतु वह इतना सूक्ष्म है कि जान नहीं पड़ता ॥ १२२ ॥

न चैषामत्ययो राजल्लँक्ष्यते प्रभवो न च।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः ॥१२३॥

राजन् ! प्रत्येक अवस्थामें इन कलाओंका लय और उद्भव होता रहता है, किंतु दिखायी नहीं देता है; ठीक उसी तरह

---

१. 'इह घटो अस्ति (यहाँ घड़ा है)'—इत्यादि रूपसे जो सत्तासूचक व्यवहार होता है, उसका नाम 'सद्भावयोग' है। २. 'इह घटो नास्ति (यहाँ घड़ा नहीं है)'—इत्यादि रूपसे जो असत्तासूचक व्यवहार होता है, वही 'असद्भावयोग' है। ३. यहाँ 'विधि' शब्दसे वासनाके बीजभूत धर्म और अधर्म समझने चाहिये। ४. वासनाका उद्बोधक संस्कार ही 'शुक्र' है। ५. वासनाके अनुसार विषयकी प्राप्तिके अनुकूल जो यत्न है, वही 'बल' है।

जैसे दीपककी लौ क्षण-क्षणमें मिटती और उत्पन्न होती रहती है, पर दिखायी नहीं देती ॥ १२३ ॥

तस्याप्येवंप्रभावस्य सदश्वस्येव धावतः ।
अजस्रं सर्वलोकस्य कः कुतो वा न वा कुतः ॥ १२४ ॥
कस्येदं कस्य वा नेदं कुतो वेदं न वा कुतः ।
सम्बन्धः कोऽस्ति भूतानां स्वैरप्यवयवैरिह ॥ १२५ ॥

जैसे दौड़ता हुआ अच्छा घोड़ा इतनी तीव्र गतिसे एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसी प्रकार यह प्रभावशाली लोक निरन्तर वेगपूर्वक एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जा रहा है, अतः उसके विषयमें यह प्रश्न नहीं बन सकता कि 'कौन कहाँसे आता है और कौन कहाँसे नहीं आता है, यह किसका है ? किसका नहीं है ? किससे उत्पन्न हुआ है और किससे नहीं हुआ है ? प्राणियोंका अपने अङ्गोंके साथ भी यहाँ क्या सम्बन्ध है ?' अर्थात् कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ १२४-२५ ॥

यथाऽऽदित्यान्मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः ।
जायन्त्येवं समुदयात् कलानामिव जन्तवः ॥ १२६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्तमणिसे आग प्रकट हो जाती है, परस्पर रगड़ खानेपर काठसे अग्निका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार पूर्वोक्त कलाओंके समुदायसे जीव जन्म ग्रहण करते हैं ॥ १२६ ॥

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि ॥ १२७ ॥

जैसे आप स्वयं अपनेद्वारा अपनेहीमें आत्माका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपनेद्वारा दूसरोंमें आत्माका दर्शन क्यों नहीं करते हैं ? ॥ १२७ ॥

यद्यात्मनि परस्मिंश्च समतामध्यवस्यसि ।
अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि ॥ १२८ ॥

यदि आप अपनेमें और दूसरेमें भी समभाव रखते हैं तो मुझसे बारंबार क्यों पूछते हैं कि 'आप कौन हैं और किसकी हैं ?' ॥ १२८ ॥

इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल ।
कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनम् ॥ १२९ ॥

मिथिलानरेश ! 'यह मुझे प्राप्त हो जाय, यह न हो ।' इत्यादि रूपसे जो द्वन्द्वविषयक चिन्ता प्राप्त होती है, उससे यदि आप मुक्त हैं तो 'आप कौन हैं ? किसकी हैं ? अथवा कहाँसे आयी हैं ?' इन वचनोंद्वारा प्रश्न करनेसे आपका क्या प्रयोजन है ? ॥ १२९ ॥

रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये संधिविग्रहे ।
कृतवान् यो महीपालः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३० ॥

शत्रु-मित्र और मध्यस्थके विषयमें, विजय, संधि और विग्रहके अवसरोंपर जिस भूपालने यथोचित कार्य किये हैं, उसमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है ? ॥ १३० ॥

त्रिवर्गे सप्तधा व्यक्तं यो न वेदेह कर्मसु ।
सङ्गवान् यस्त्रिवर्गेण किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३१ ॥

धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं । यह सात रूपोंमें अभिव्यक्त होता है । जो कर्मोंमें इस त्रिवर्गको नहीं जानता तथा जो सदा त्रिवर्गसे सम्बन्ध रखता है, ऐसे पुरुषमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है ? ॥ १३१ ॥

प्रिये वाप्यप्रिये वापि दुर्बले बलवत्यपि ।
यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३२ ॥

प्रिय अथवा अप्रियमें, दुर्बल अथवा बलवान्‌में जिसकी समदृष्टि नहीं है, उसमें मुक्तका क्या लक्षण है ? ॥ १३२ ॥

तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभिमानो भवेन्नृप ।
सुहृद्भिः संनिवार्यस्तेऽविरक्तस्येव भेषजम् ॥ १३३ ॥

नरेश्वर ! वास्तवमें आप योगयुक्त नहीं हैं तथापि आपको जो जीवन्मुक्तिका अभिमान हो रहा है, वह आपके सुहृदोंको दूर कर देना चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि आप जीवन्मुक्त हैं, ठीक उसी तरह जैसे अपथ्यशील रोगीको दवा देना बंद कर दिया जाता है ॥ १३३ ॥

तानि तानि तु संचिन्त्य सङ्गस्थानान्यरिंदम ।
आत्मनाऽऽत्मनि सम्पश्येत् किमन्यन्मुक्तलक्षणम् ॥ १३४ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! नाना प्रकारके जो-जो पदार्थ हैं, उन सबको आसक्तिके स्थान समझकर अपनेद्वारा अपनेहीमें अपनेको देखे । इसके सिवा मुक्तका और क्या लक्षण हो सकता है ? ॥ १३४ ॥

इमान्यन्यानि सूक्ष्माणि मोक्षमाश्रित्य कानिचित् ।
चतुरङ्गप्रवृत्तानि सङ्गस्थानानि मे शृणु ॥ १३५ ॥

राजन् ! अपने मोक्षका आश्रय लेकर भी ये और दूसरे जो कुछ चार अङ्गोंमें प्रवृत्त आसक्तिके जो सूक्ष्म स्थान हैं, उनको भी अपना रखा है, उन्हें बताती हूँ, आप मुझसे सुनें ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह ।
एक एव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥ १३६ ॥

जो इस सारी पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह एक ही सार्वभौम नरेश भी एकमात्र नगरमें ही निवास करता है ॥ १३६ ॥

तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति ।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥ १३७ ॥

उस नगरमें भी उसके लिये एक ही महल होता है, जिसमें वह निवास करता है । उस महलमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥ १३७ ॥

शय्यार्धं तस्य चाप्यत्र स्त्रीपूर्वमधितिष्ठति ।
तदनेन प्रसङ्गेन फलेनैवेह युज्यते ॥ १३८ ॥

उस शय्याके भी आधे भागपर राजाकी स्त्रीका अधिकार होता है; अतः इस प्रसङ्गसे वह बहुत अल्प फलका ही भागी होता है ॥ १३८ ॥

एवमेवोपभोगेषु भोजनाच्छादनेषु च ।
गुणेषु परिमेयेषु निग्रहानुग्रहं प्रति ॥१३९॥
परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते ।
संधिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥१४०॥

इसी प्रकार उपभोग, भोजन, आच्छादन तथा अन्यान्य परिमित विषयोंके सेवनमें और दुष्टोंके दमन एवं शिष्ट पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके विषयमें भी राजा सदा ही परतन्त्र है। इसी प्रकार वह बहुत थोड़े कार्योंमें भी स्वतन्त्र नहीं है तो भी उनमें आसक्त रहता है। संधि और विग्रह करनेमें भी राजाको कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त है ? ॥ १३९-१४० ॥

स्त्रीषु क्रीडाविहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता ।
मन्त्रे चामात्यसमितौ कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥१४१॥

स्त्री-सहवास, क्रीड़ा और विहारमें भी उसे सदा परतन्त्रता रहती है। मन्त्रियोंकी सभामें बैठकर मन्त्रणा करते समय भी उसे कहाँ स्वतन्त्रता रहती है ॥ १४१ ॥

यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता स्वतन्त्रता ।
अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ॥१४२॥

राजा जिस समय दूसरोंको कुछ करनेकी आज्ञा देता है, उस समय वहाँ उसकी स्वतन्त्रता बतायी जाती है; परंतु ऐसे अवसरोंपर भी भिन्न-भिन्न क्षणोंमें राजासनपर बैठा हुआ नरेश सलाह देनेवाले मन्त्रियोंद्वारा अपनी इच्छाके विपरीत करनेके लिये विवश कर दिया जाता है ॥ १४२ ॥

स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः ।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥१४३॥

वह सोना चाहता है, परंतु कार्यार्थी मनुष्योंद्वारा घिरा रहनेके कारण सोने नहीं पाता । शय्यापर सोये हुए राजाको भी लोगोंके अनुरोधसे विवश होकर उठना पड़ता है ॥१४३॥

स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि ।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥१४४॥

'महाराज ! स्नान कीजिये, तेल लगवाइये, पानी पीजिये, भोजन कीजिये, आहुति दीजिये, अग्निहोत्रमें संलग्न होइये, अपनी कहिये और दूसरोंकी सुनिये ।' इत्यादि बातें कह-कहकर दूसरे लोग राजाको वैसा करनेके लिये विवश कर देते हैं॥

अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः ।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान् ॥१४५॥

याचक मनुष्य सदा निकट आ-आकर राजासे धनकी याचना करते हैं; किंतु जो लोग दानके श्रेष्ठ पात्र हैं, उनके लिये भी वह कुछ देनेका साहस नहीं करता । अपने धनको सर्वथा सुरक्षित रखना चाहता है ॥ १४५ ॥

दाने कोषक्षयोऽप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः ।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥१४६॥

यदि सबको धनका दान करे तो उसका खजाना ही खाली हो जाय और किसीको कुछ न दे तो सबके साथ वैर बढ़ जाय। उसके सामने क्षण-क्षणमें ऐसे दोष उपस्थित होते हैं, जो उसे राज-काजसे विरक्त कर देते हैं ॥ १४६ ॥

प्राज्ञाञ्शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शङ्कते ।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥१४७॥

विद्वानों, शूरवीरों तथा धनियोंको भी जब वह एक स्थानपर जुटा हुआ देख लेता है, तब उसके मनमें उनके प्रति शङ्का उत्पन्न हो जाती है। जहाँ भयका कोई कारण नहीं है, वहाँ भी राजाको भय होता है। जो लोग सदा उसके पास उठते-बैठते या सेवामें रहते हैं, उनसे भी वह सशंक बना रहता है ॥ १४७ ॥

तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्तिता मया ।
तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ॥१४८॥

राजन् ! मैंने जिनका नाम लिया है, वे विद्वान् और शूरवीर आदि अपने प्रति राजाकी आशंका देखकर सचमुच ही उसके प्रति दुर्भाव रखने लगते हैं और फिर उनसे राजाको जैसा भय प्राप्त होता है, उसको आप स्वयं ही समझ लें॥

सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।
निग्रहानुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥१४९॥

जनक ! सब लोग अपने-अपने घरमें राजा हैं और सभी अपने-अपने घरमें गृहस्वामी हैं, सभी किसीको दण्ड देते और किसीपर अनुग्रह करते हैं; अतः वे सब लोग राजाओंके समान ही हैं ॥ १४९ ॥

पुत्रा दारास्तथैवात्मा कोशो मित्राणि संचयाः ।
परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ॥१५०॥

स्त्री, पुत्र, शरीर, कोष, मित्र तथा संग्रह—ये सब वस्तुएँ राजाओंकी भाँति दूसरोंके पास भी साधारणतया रहते ही हैं। जिन कारणोंसे वह राजा कहलाता है, उन्हीं युक्तियोंसे दूसरे लोग भी उसके समान ही कहे जा सकते हैं ॥ १५० ॥

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः ।
लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते ॥१५१॥

'हाय ! देश नष्ट हो गया, सारा नगर आगसे जल गया और वह प्रधान हाथी मर गया ।' यद्यपि ये सब बातें सब लोगोंके लिये साधारण हैं—सबपर समान रूपसे ये कष्ट प्राप्त होते हैं तथापि राजा अपने मिथ्याज्ञानके कारण केवल अपनी ही हानि समझकर संतप्त होता रहता है ॥ १५१ ॥

अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः ।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः ॥१५२॥

इच्छा, द्वेष और भयजनित मानसिक दुःख राजाको कभी नहीं छोड़ते हैं। सिरदर्द आदि शारीरिक रोग भी उसे सब ओरसे नियन्त्रणमें रखकर व्याकुल किये रहते हैं ॥ १५२ ॥

द्वन्द्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशङ्कितः ।
बहुप्रत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः ॥१५३॥

वह नाना प्रकारके द्वन्द्वोंसे आहत और सब ओरसे

शङ्कित हो रातें गिनता हुआ अनेक शत्रुओंसे भरे हुए राज्यका सेवन करता है ॥ १५३ ॥

तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत् ।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसंनिभम् ॥१५४॥
को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत् ।

जिसमें सुख तो बहुत थोड़ा, किंतु दुःख बहुत अधिक है, जो सर्वथा सारहीन है, जो घास-फूसमें लगी आगके समान क्षणस्थायी और फेन तथा बुद्बुदके समान क्षणभङ्गुर है, ऐसे राज्यको कौन ग्रहण करेगा ? और ग्रहण कर लेनेपर कौन शान्ति पा सकता है ? ॥ १५४½ ॥

ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे ॥१५५॥
बलं कोशममात्यांश्च कस्यैतानि न वा नृप ।

नरेश्वर ! आप जो इस नगरको, राष्ट्रको, सेनाको तथा कोष और मन्त्रियोंको भी 'ये सब मेरे हैं' ऐसा कहते हुए अपना मानते हैं, वह आपका भ्रम ही है । मैं पूछती हूँ, ये सब किसके हैं और किसके नहीं हैं ? ॥ १५५½ ॥

मित्रामात्यपुरं राष्ट्रं दण्डः कोशो महीपतिः ॥१५६॥
सप्ताङ्गस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः ।
अन्योन्यगुणयुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः ॥१५७॥

मित्र, मन्त्री, नगर, राष्ट्र, दण्ड, कोष और राजा—ये राज्यके सात अङ्ग हैं । जैसे मेरे हाथमें त्रिदण्ड है, वैसे आपके हाथमें यह राज्य स्थित है । आपका सात अङ्गोंवाला राज्य और मेरा त्रिदण्ड—ये दोनों परस्पर उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त हैं। फिर इनमेंसे कौन किस गुणके कारण अधिक है ?॥१५६-१५७॥

तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत् सिध्यते कार्यं तत् प्राधान्याय कल्पते॥१५८॥

राज्यके जो सात अङ्ग हैं, उनमें सभी समय-समयपर अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं । जिस अङ्गसे जो कार्य सिद्ध होता है, उसके लिये उसीकी प्रधानता मानी जाती है॥१५८॥

सप्ताङ्गश्चैव संघातस्त्रयश्चान्ये नृपोत्तम ।
सम्भूय दशवर्गोऽयं भुङ्क्ते राज्यं हि राजवत् ॥१५९॥

नृपश्रेष्ठ ! उक्त सात अङ्गोंका समुदाय और तीन अन्य शक्तियाँ (प्रभु-शक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति)—ये सब मिलकर राज्यके दस वर्ग हैं । ये दसों वर्ग संगठित होकर राजाके समान ही राज्यका उपभोग करते हैं ॥ १५९ ॥

यश्च राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मे रतो भवेत् ।
स तुष्येद् दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः ॥१६०॥

जो राजा महान् उत्साही और क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर होता है, वह 'कर'के रूपमें प्रजाकी आयका दसवाँ भाग लेकर संतुष्ट हो जाता है तथा उससे भिन्न साधारण भूपाल दसवें भागसे कम लेकर भी संतोष कर लेते हैं ॥ १६० ॥

नास्त्यसाधारणो राजा नास्ति राज्यमराजकम् ।
राज्येऽसति कुतो धर्मो धर्मेऽसति कुतः परम् ॥१६१॥

साधारण प्रजा न हो तो कोई राजा नहीं हो सकता । राजा न हो तो राज्य नहीं टिक सकता । राज्य न हो तो धर्म कैसे रह सकता है और धर्म न हो तो परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १६१ ॥

योऽप्यत्र परमो धर्मः पवित्रं राजराज्ययोः ।
पृथिवी दक्षिणा यस्य सोऽश्वमेधेन युज्यते ॥१६२॥

यहाँ राजा और राज्यके लिये जो परम धर्म और परम पवित्र वस्तु है, उसे सुनिये । जिसकी पृथ्वी दक्षिणारूपमें दे दी जाती है अर्थात् जो अपनी राज्यभूमिका दान कर देता है, वह अश्वमेध यज्ञके पुण्यफलका भागी होता है ॥ १६२ ॥

साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल ।
समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः ॥१६३॥

मिथिलानरेश ! जो राजाको दुःख देनेवाले हैं, ऐसे सैकड़ों और हजारों कर्म मैं यहाँ बता सकती हूँ ॥ १६३ ॥

स्वदेहेनाभिषङ्गो मे कुतः परपरिग्रहे ।
न मामेवंविधां युक्तामीदृशं वक्तुमर्हसि ॥१६४॥

मेरी तो अपने ही शरीरमें आसक्ति नहीं है, फिर दूसरेके शरीरमें कैसे हो सकती है ? इस प्रकार योगयुक्त रहनेवाली मुझ संन्यासिनीके प्रति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये १६४

ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पञ्चशिखाच्छ्रुतः ।
सोपायः सोपनिषदः सोपासङ्गः सनिश्चयः ॥१६५॥
तस्य ते मुक्तसङ्गस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः ।
छत्रादिषु विशेषेषु पुनः सङ्गः कथं नृप ॥१६६॥

नरेश्वर ! जब आपने महर्षि पञ्चशिखाचार्यसे उपाय (निदिध्यासन), उपनिषद् (उसके श्रवण-मनन), उपासङ्ग (यम-नियम आदि योगाङ्ग) और निश्चय (ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका अनुभव)—इन सबके सहित सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका श्रवण किया है, आप आसक्तियोंसे मुक्त हो गये हैं और सम्पूर्ण बन्धनोंको काटकर खड़े हैं, तब आपकी छत्र-चवँर आदि विशेष-विशेष वस्तुओंमें आसक्ति कैसे हो रही है ? ॥ १६५-१६६ ॥

श्रुतं ते न श्रुतं मन्ये मृषा वापि श्रुतं श्रुतम् ।
अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं त्वया ॥१६७॥

मैं समझती हूँ कि आपने पञ्चशिखाचार्यसे शास्त्रका श्रवण करके भी श्रवण नहीं किया है अथवा उनसे यदि कोई शास्त्र सुना है तो उसे सुनकर भी मिथ्या कर दिया है; या यह भी हो सकता है कि आपने वेद-शास्त्र-जैसा प्रतीत होनेवाला कोई और ही शास्त्र उनसे सुना हो ॥ १६७ ॥

अथापीमासु संज्ञासु लौकिकीषु प्रतिष्ठसे ।
अभिषङ्गावरोधाभ्यां बद्धस्त्वं प्राकृतो यथा ॥१६८॥

इतनेपर भी यदि आप 'विदेहराज' 'मिथिलापति' आदि इन लौकिक नामोंमें ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं तो आप दूसरे साधारण मनुष्योंकी भाँति आसक्ति और अवरोधसे ही बँधे हुए हैं ॥ १६८ ॥

सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया ।
किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः ॥१६९॥

यदि आप सर्वथा मुक्त हैं तो मैंने जो बुद्धिके द्वारा आपके भीतर प्रवेश किया है, इसमें आपका क्या अपराध किया है ? ॥ १६९ ॥

नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता ।
शून्यमावेशयन्त्या च मया किं कस्य दूषितम् ॥१७०॥

इन सभी वर्णोंमें यह नियम प्रसिद्ध है कि संन्यासियोंको एकान्त स्थानमें रहना चाहिये । मैंने भी आपके शून्य शरीरमें निवास करके किसकी किस वस्तुको दूषित कर दिया है ? ॥ १७० ॥

न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ ।
न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप ॥१७१॥

निष्पाप नरेश ! न तो हाथोंसे, न भुजाओंसे, न पैरोंसे, न जाँघोंसे और न शरीरके दूसरे ही अवयवोंसे मैं आपका स्पर्श कर रही हूँ ॥ १७१ ॥

कुले महति जातेन ह्रीमता दीर्घदर्शिना ।
नैतत्सदसि वक्तव्यं सद्वासद्वा मिथः कृतम् ॥१७२॥

आप महान् कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील तथा दीर्घदर्शी पुरुष हैं । हम दोनोंने परस्पर भला या बुरा जो कुछ भी किया है, उसे आपको इस भरी सभामें नहीं कहना चाहिये ॥

ब्राह्मणा गुरवश्चेमे तथा मान्या गुरूत्तमाः ।
त्वं चाथ गुरुरप्येषामेवमन्योन्यगौरवम् ॥१७३॥

यहाँ ये सभी वर्णोंके गुरु ब्राह्मण विद्यमान हैं । इन गुरुओंकी अपेक्षा भी उत्तम कितने ही माननीय महापुरुष यहाँ बैठे हैं तथा आप भी राजा होनेके कारण इन सबके लिये गुरुस्वरूप हैं । इस प्रकार आप सबका गौरव एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ १७३ ॥

तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता ।
स्त्रीपुंसोः समवायोऽयं त्वया वाच्यो न संसदि ॥१७४॥

अतः इस प्रकार विचार करके यहाँ क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसको जाँच-बूझ लेना आवश्यक है । इस भरी सभामें आपको स्त्री-पुरुषोंके संयोगकी चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये ॥ १७४ ॥

यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् ।
तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत् त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥१७५॥

मिथिलानरेश ! जैसे कमलके पत्तेपर पड़ा हुआ जल उस पत्तेका स्पर्श नहीं करता है, उसी प्रकार मैं आपका स्पर्श न करती हुई आपके भीतर निवास करूँगी ॥ १७५ ॥

यदि वाप्यस्पृशन्त्या मे स्पर्शं जानासि कञ्चन ।
ज्ञानं कृतमबीजं ते कथं तेनेह भिक्षुणा ॥१७६॥

यद्यपि मैं स्पर्श नहीं कर रही हूँ तो भी यदि आप मेरे स्पर्शका अनुभव करते हैं तो मुझे यह कहना पड़ता है कि उन संन्यासी महात्मा पञ्चशिखने आपको ज्ञानका उपदेश कैसे कर दिया ? क्योंकि आपने उसे निर्बीज कर दिया ? ॥ १७६ ॥

स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदम् ।
उभयोरन्तराले वै वर्तसे मोक्षवार्तिकः ॥१७७॥

परस्त्रीके स्पर्शका अनुभव करनेके कारण आप गार्हस्थ्य-धर्मसे तो गिर गये और दुर्बोध एवं दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके, अतः केवल मोक्षकी बात करते हुए आप गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनोंके बीचमें लटक रहे हैं ॥ १७७ ॥

न हि मुक्तस्य मुक्तेन ज्ञस्यैकत्वपृथक्त्वयोः ।
भावाभावसमायोगे जायते वर्णसंकरः ॥१७८॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीका जीवन्मुक्त ज्ञानीके साथ, एकत्वका पृथक्त्वके साथ तथा भाव (आत्मा) का अभाव (प्रकृति) के साथ संयोग होनेपर वर्णसंकरताकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

वर्णाश्रमाः पृथक्त्वेन दृष्टार्थस्यापृथक्त्विनः ।
नान्यदन्यदिति ज्ञात्वा नान्यदन्यत्र वर्तते ॥१७९॥

मैं मानती हूँ कि समस्त वर्ण और आश्रम पृथक्-पृथक् बताये गये हैं । तथापि जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया है, जो अभेदज्ञानसे सम्पन्न है और यह जानकर सारा बर्ताव करता है कि आत्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है तथा अन्य वस्तु अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुमें विद्यमान नहीं है, उसका किसी अन्यके साथ संयोग होना सम्भव नहीं है; अतः वर्णसंकरता नहीं हो सकती ॥ १७९ ॥

पाणौ कुण्डं तथा कुण्डे पयः पयसि मक्षिका ।
आश्रिताश्रययोगेन पृथक्त्वेनाश्रिताः पुनः ॥१८०॥

हाथमें कुंडी है, कुंडीमें दूध है और दूधमें मक्खी पड़ी हुई है । ये तीनों परस्पर पृथक् होते हुए भी आधाराधेय-भाव सम्बन्धसे एक दूसरेके आश्रित हो एक साथ हो गये हैं ॥ १८० ॥

न तु कुण्डे पयोभावः पयश्चापि न मक्षिका ।
स्वयमेवाप्नुवन्त्येते भावा ननु पराश्रयम् ॥१८१॥

फिर भी कुंडीमें दुग्धत्व नहीं आया है और दूध भी मक्खी नहीं बन गया है । ये सारे आधेय पदार्थ स्वयं ही अपनेसे भिन्न आधारको प्राप्त होते हैं ॥ १८१ ॥

पृथक्त्वादाश्रमाणां च वर्णान्यत्वे तथैव च ।
परस्परपृथक्त्वाच्च कथं ते वर्णसंकरः ॥१८२॥

सारे आश्रम पृथक्-पृथक् हैं तथा चारों वर्ण भी भिन्न हैं । जब इनमें परस्पर पार्थक्य बना हुआ है, तब पृथक्त्वको जाननेवाले आपके वर्णका संकर कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा ।
तव राजन् सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥१८३॥

राजन् ! मैं जातिसे ब्राह्मणी नहीं हूँ और न वैश्या अथवा शूद्रा ही हूँ । मैं तो आपके समान वर्णवाली क्षत्रिया ही हूँ । मेरा जन्म शुद्ध वंशमें हुआ है और मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया है ॥ १८३ ॥

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥१८४॥

आपने प्रधान नामक राजर्षिका नाम अवश्य सुना होगा। मैं उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि मेरा नाम सुलभा है ॥ १८४ ॥

द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः ।
मम सत्रेषु पूर्वेषां चिता मघवता सह ॥१८५॥

मेरे पूर्वजोंके यज्ञोंमें देवराज इन्द्रके सहयोगसे द्रोण, शतशृङ्ग और चक्रद्वार नामक पर्वत यज्ञवेदीमें ईंटोंकी जगह चुने गये थे ॥ १८५ ॥

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे ।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥१८६॥

मेरा जन्म उसी महान् कुलमें हुआ है। मैंने अपने योग्य पतिके न मिलनेपर मोक्षधर्मकी शिक्षा ली तथा मुनिव्रत धारण करके मैं अकेली विचरती रहती हूँ ॥ १८६ ॥

नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी ।
न धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता ॥१८७॥

मैंने संन्यासिनीका छद्मवेष नहीं धारण किया है। मैं पराये धनका अपहरण नहीं करती हूँ और न धर्मसंकरता ही फैलाती हूँ। मैं दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हुई अपने धर्ममें स्थित रहती हूँ ॥ १८७ ॥

नास्थिरा स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवादिनी ।
नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप ॥१८८॥

जनेश्वर ! मैं अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होती हूँ। बिना सोचे-समझे कोई बात नहीं बोलती हूँ और आपके पास भी यहाँ खूब सोच-विचारकर ही आयी हूँ ॥ १८८ ॥

मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी ।
तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थमिहागता ॥१८९॥

मैंने सुना था कि आपकी बुद्धि मोक्षधर्ममें लगी हुई है, अतः आपकी मङ्गलाकाङ्क्षिणी होकर आपके इस मोक्षज्ञानका मर्म जाननेके लिये मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १८९ ॥

न वर्गस्था ब्रवीम्येतत् स्वपक्षपरपक्षयोः ।
मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ॥१९०॥

मैं स्वपक्ष और परपक्षमेंसे अपने पक्षमें स्थित हो पक्षपातपूर्वक यह बात नहीं कह रही हूँ, आपके हितको दृष्टिमें रखकर बोलती हूँ; क्योंकि जो वाणीका व्यायाम नहीं करता और जो शान्त परब्रह्ममें निमग्न रहता है, वही मुक्त है ॥

यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत् ।
तथाहं त्वच्छरीरेऽस्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीम् ॥१९१॥

जैसे नगरके किसी सूने घरमें संन्यासी एक रात निवास कर लेता है, इसी तरह आपके इस शरीरमें मैं आजकी रात रहूँगी ॥ १९१ ॥

साहं मानप्रदानेन वागातिथ्येन चार्चिता ।
सुप्ता सुशरणं प्रीता श्वो गमिष्यामि मैथिल ॥१९२॥

आपने मुझे बड़ा सम्मान दिया। अपनी वाणीरूप आतिथ्यके द्वारा मेरा भलीभाँति सत्कार किया। मिथिलानरेश ! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके शरीररूपी सुन्दर गृहमें सोकर कल सबेरे यहाँसे चली जाऊँगी ॥ १९२ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतानि स वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च ।
श्रुत्वा नाधिजगौ राजा किञ्चिदन्यदतः परम् ॥१९३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सुलभाके ये युक्तियुक्त और सार्थक वचन सुनकर राजा जनक इसके बाद और कोई बात नहीं बोले ॥ १९३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सुलभाजनकसंवादे विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सुलभा और जनकका संवादविषयक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२० ॥

एकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना

युधिष्ठिर उवाच

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालमें व्यासपुत्र शुकदेवको किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था ? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ १ ॥

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम् ।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंका बुद्धिद्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायणका जो चरित्र है, उसे भी सुनानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम् ।
अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद् वै पिता सुतम् ॥३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पुत्र शुकदेवको साधारण लोगोंकी भाँति आचरण करते और सर्वथा निर्भय विचरते देख पिता श्रीव्यासजीने उन्हें सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कराया और फिर यह उपदेश दिया ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! तुम सदा धर्मका सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ीसे कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यासको सहन करते हुए प्राणवायुपर विजय प्राप्त करो ॥ ४ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय ॥ ५ ॥

सत्य, सरलता, अक्रोध, दोषदर्शनका अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करो ॥ ५ ॥

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण मात्रां प्राणस्य संलिह ॥ ६ ॥

सत्यपर डटे रहो तथा सब प्रकारकी वक्रता छोड़कर धर्ममें अनुराग करो । देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करके जो अन्न बचे, उसीका प्राणरक्षाके लिये आस्वादन करो ॥ ६ ॥

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥ ७ ॥

बेटा ! यह शरीर जलके फेनकी तरह क्षणभङ्गुर है। इसमें जीव पक्षीकी तरह बसा हुआ है और यह प्रियजनोंका सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है । फिर भी तुम क्यों सोये पड़े हो ? ॥ ७ ॥

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु ।
अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे ॥ ८ ॥

तुम्हारे शत्रु सर्वदा सावधान, जगे हुए, सर्वथा उद्यत और तुम्हारे छिद्रोंको देखनेमें लगे हुए हैं; परंतु तुम अभी बालक हो, इसलिये समझ नहीं रहे हो ॥ ८ ॥

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥ ९ ॥

तुम्हारी आयुके दिन गिने जा रहे हैं । आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है (समाप्त हो रहा है) । फिर तुम उठकर भागते क्यों नहीं हो ? (शीघ्रतापूर्वक कर्तव्यपालनमें लग क्यों नहीं जाते हो ?) ॥ ९ ॥

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः ॥ १० ॥

अत्यन्त नास्तिक मनुष्य केवल इस लोकके स्वार्थको चाहते हुए शरीरमें मांस और रक्तको बढ़ानेवाली चेष्टा ही करते रहते हैं । पारलौकिक कार्योंकी ओरसे तो वे सदा सोये ही रहते हैं ॥ १० ॥

धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाताऽपि पीड्यते ॥ ११ ॥

जो बुद्धिके व्यामोहमें डूबे हुए मनुष्य धर्मसे द्वेष करते हैं, वे सदा कुमार्गसे ही चलते हैं । उनकी तो बात ही क्या है, उनके अनुयायियोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ११ ॥

ये तु तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १२ ॥

इसलिये जो महान् धर्मबलसे सम्पन्न महात्मा पुरुष संतुष्ट और श्रुतिपरायण होकर सर्वदा धर्मपथपर ही आरूढ़ रहते हैं, तुम उन्हींकी सेवामें रहो और उन्हींसे अपना कर्तव्य पूछो ॥ १२ ॥

उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै ॥ १३ ॥

उन धर्मदर्शी विद्वानोंका मत जानकर तुम अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके द्वारा अपने कुपथगामी मनको काबूमें करो ॥

आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः ।
सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ॥ १४ ॥

जिसकी केवल वर्तमान सुखपर ही दृष्टि रहती है, उस बुद्धिके द्वारा भावी परिणामको बहुत दूर जानकर जो निर्भय रहते और सब प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंको खाते रहते हैं, वे बुद्धिहीन मनुष्य इस कर्मभूमिके महत्त्वको नहीं देख पाते हैं ॥ १४ ॥

धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित् समारुह ।
कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नानुबुध्यसे ॥ १५ ॥

तुम धर्मरूपी सीढ़ीको पाकर धीरे-धीरे उसपर चढ़ते जाओ । अभी तो तुम रेशमके कीड़ेकी तरह अपने-आपको वासनाओंके जालसे ही लपेटते जा रहे हो, तुम्हें चेत नहीं हो रहा है ॥ १५ ॥

नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम् ।
वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम् ॥ १६ ॥

जो नास्तिक हो, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहा हो और किनारेको तोड़-फोड़कर गिरा देनेवाले नदीके महान् जल-प्रवाहकी भाँति स्थित हो, ऐसे मनुष्यको उखाड़े हुए बाँसकी तरह बिना किसी हिचकके त्याग दो ॥ १६ ॥

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ १७ ॥

काम, क्रोध, मृत्यु और जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है, ऐसी विषयासक्तिरूपी नदीको तुम सात्त्विकी धृतिरूप नौकाका आश्रय ले पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी दुर्गम संकटसे पार हो जाओ ॥ १७ ॥

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन संतर ॥ १८ ॥

सारा संसार मृत्युके थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्थासे पीड़ित हो रहा है । ये रातें प्राणियोंकी आयुका अपहरण

करके अपनेको सफल बनाती हुई बीत रही हैं। तुम धर्मरूपी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार हो जाओ ॥ १८ ॥

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा।
निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ॥ १९ ॥

मनुष्य खड़ा हो या सो रहा हो, मृत्यु निरन्तर उसे खोजती फिरती है। जब इस प्रकार तुम अकस्मात् मृत्युके ग्रास बन जानेवाले हो, तब इस तरह निश्चिन्त एवं शान्त कैसे बैठे हो? ॥ १९ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २० ॥

मनुष्य भोगसामग्रियोंके संचयमें लगा ही रहता है और उनसे तृप्त भी नहीं होने पाता है कि भेड़के बच्चेको उठा ले जानेवाली बाघिनकी भाँति मौत उसे अपनी दाढ़में दबाकर चल देती है ॥ २० ॥

क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो महान्।
अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥ २१ ॥

यदि तुम्हें इस संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना है तो हाथमें उस धर्म-बुद्धिमय महान् दीपकको यत्नपूर्वक धारण कर लो, जिसकी शिखा क्रमशः प्रज्वलित हो रही हो ॥ २१ ॥

सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ॥ २२ ॥

बेटा! जीव अनेक प्रकारके शरीरोंमें जन्मता-मरता हुआ कभी इस मानव-योनिमें आकर ब्राह्मणका शरीर पाता है, अतः तुम ब्राह्मणोचित कर्तव्यका पालन करो ॥

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणका यह शरीर भोग भोगनेके लिये नहीं पैदा होता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्युके पश्चात् अनुपम सुख भोगनेके लिये रचा गया है ॥ २३ ॥

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम्।
स्वाध्याये तपसि दमे च नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ॥ २४ ॥

बहुत समयतक बड़ी भारी तपस्या करनेसे ब्राह्मणका शरीर मिलता है। उसे पाकर विषयानुरागमें फँसकर बरबाद नहीं करना चाहिये। अतः यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्ममें संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रियसंयममें पूर्णतः तत्पर रहनेका प्रयत्न करो ॥ २४ ॥

अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः
सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशो निमेषरोमा।
ऋत्वास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो
मासाङ्गो द्रवति वयोहयो नराणाम् ॥ २५ ॥
तं दृष्ट्वा प्रसृतमजस्रमुग्रवेगं
गच्छन्तं सततमिहाव्यपेक्षमाणम्।
चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं
धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य ॥ २६ ॥

मनुष्योंका आयुरूप अश्व बड़े वेगसे दौड़ा जा रहा है। इसका स्वभाव अव्यक्त है। कला-काष्ठा आदि इसके शरीर हैं। इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। क्षण, त्रुटि (चुटकी) और निमेष आदि इसके रोम हैं। ऋतुएँ मुख हैं। समान बलवाले शुक्ल और कृष्णपक्ष नेत्र हैं तथा महीने इसके विभिन्न अङ्ग हैं। वह भयंकर वेगशाली अश्व यहाँकी किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखकर निरन्तर अविराम गतिसे वेगपूर्वक भागा जा रहा है। उसे देखकर यदि तुम्हारी ज्ञानदृष्टि दूसरेके द्वारा चलानेपर चलनेवाली नहीं है; तो तुम्हारा मन धर्ममें ही लगना चाहिये। तुम दूसरे धर्मात्माओंपर भी दृष्टि डालो ॥ २५-२६ ॥

ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः
क्रोशन्तः सततमनिष्टसम्प्रयोगाः।
क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा
बह्वीभिः सुभृशमधर्मकारणाभिः ॥ २७ ॥

जो लोग यहाँ धर्मसे विचलित हो स्वेच्छाचारमें लगे हुए हैं, दूसरोंको बुरा-भला कहते हुए सदा अनिष्टकारी अशुभ कर्मोंमें ही लगे हुए हैं, वे मरनेके बाद यातनादेह पाकर अपने अनेक पापकर्मोंके कारण अत्यन्त क्लेश भोगते हैं ॥ २७ ॥

राजा सदा धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता
समीक्ष्य सुकृतिनां दधाति लोकान्।
बहुविधमपि चरति प्रविशति
सुखमनुपगतं निरवद्यम् ॥ २८ ॥

जो राजा सर्वदा धर्मपरायण रहकर उत्तम और अधम प्रजाका यथायोग्य विचारपूर्वक पालन करता है, वह पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होता है। यदि वह स्वयं भी नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका आचरण करता है तो उसके फलस्वरूप उसे अप्राप्त एवं निर्दोष सुख प्राप्त होता है ॥

श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि
बलगृध्रकुलपक्षिणां च संघाः।
नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-
नुदमुपरतं विशसन्ति ॥ २९ ॥

परंतु जो गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उनके मरणके पश्चात् नरकमें स्थित भयानक शरीरवाले कुत्ते, लौहमुख पक्षी, कौए-गीध आदि पक्षियोंके समुदाय तथा रक्त पीनेवाले कीट उनके यातना-शरीरपर आक्रमण करके उसे नोचते और काटते हैं ॥ २९ ॥

मर्यादा नियताः स्वयम्भुवा य इहेमाः
प्रभिनत्ति दशगुणा मनोऽनुगत्वात् ।
निवसति भृशमसुखं पितृविषय-
विपिनमवगाह्य स पापः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मनचाही करनेके कारण स्वायम्भुवमनुकी बाँधी हुई धर्मकी दस[1] प्रकारकी मर्यादाओंको तोड़ता है, वह पापात्मा पितृलोकके असिपत्रवनमें जाकर वहाँ अत्यन्त दुःख भोगता रहता है ॥ ३० ॥

यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः
सततनिकृतिवञ्चनाभिरतिः स्यात् ।
उपनिधिभिरसुखकृत्स परमनिरयगो
भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ॥ ३१ ॥

जो पुरुष अत्यन्त लोभी, असत्यसे प्रेम करनेवाला और सर्वदा कपटभरी बातें बनानेवाला और ठगाईमें रत है तथा जो तरह-तरहके साधनोंसे दूसरोंको दुःख देता है, वह पापात्मा घोर नरकमें पड़कर अत्यन्त दुःख भोगता है ॥ ३१ ॥

उष्णां वैतरणीं महानदी-
मवगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः ।
परशुवनशयो निपतितो
वसति च महानिरये भृशार्तः ॥ ३२ ॥

उसे अत्यन्त उष्ण महानदी वैतरणीमें गोता लगाना पड़ता है । असिपत्रवनमें उसका अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जाता है और परशुवनमें उसे शयन करना पड़ता है । इस प्रकार महानरकमें पड़कर वह अत्यन्त आतुर हो उठता है और विवश होकर उसीमें निवास करता है ॥ ३२ ॥

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम् ।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥ ३३ ॥

तुम ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी बातें तो बनाते हो, परंतु परमपदपर तुम्हारी दृष्टि नहीं है । भविष्यमें जो मृत्युकी परिचारिका वृद्धावस्था आनेवाली है, उसका तुम्हें पता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

प्रयायतां किमास्यते समुत्थितं महद् भयम् ।
अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ॥ ३४ ॥

वत्स ! चुपचाप क्यों बैठे हो ? जल्दीसे आगे बढ़ो । तुम्हारे ऊपर हृदयको अत्यन्त मथ डालनेवाला, भयंकर एवं महान् भय उठ खड़ा हुआ है; अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

पुरा मृतः प्रणीयसे यमस्य राजशासनात् ।
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ॥ ३५ ॥

तुम्हें मरनेपर यमराजकी आज्ञासे भयानक यमदूतोंद्वारा उनके सामने उपस्थित किया जाय, इसके पहले ही सरलतारूप धर्मके सम्पादनके लिये प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

पुरा समूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित् ।
तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ॥ ३६ ॥

यमराज सबके स्वामी हैं । वे किसीका दुःख-दर्द नहीं समझते हैं । वे मूल और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे प्राण हर लेंगे । उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है । वह समय आनेके पहले ही तुम अपनी रक्षाके लिये प्रबन्ध कर लो ॥ ३६ ॥

पुराभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः ।
पुरैक एव नीयसे कुरुष्व साम्परायिकम् ॥ ३७ ॥

जिस समय यमराजके आगे-आगे चलनेवाला प्रचण्ड कालरूपी पवन चल पड़ेगा, उस समय वह अकेले तुम्हींको वहाँ ले जायगा; अतः तुम पहलेसे ही परलोकमें सुख देनेवाले धर्मका आचरण करो ॥ ३७ ॥

पुरा स हि क्व एव ते प्रवाति मारुतोऽन्तकः ।
पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ॥ ३८ ॥

पूर्वजन्ममें तुम्हारे सामने जो प्राणनाशक पवन चल रहा था, आज वह कहाँ है ? अब भी जब मृत्युरूप महान् भय उपस्थित होगा, तब तुम्हें सम्पूर्ण दिशाएँ घूमती दिखायी देंगी; अतः पहलेसे ही सावधान हो जाओ ॥ ३८ ॥

श्रुतिश्च संनिरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक ।
समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ॥ ३९ ॥

बेटा ! जब तुम इस शरीरको छोड़कर चलने लगोगे, उस समय व्याकुलताके कारण तुम्हारी श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जायगी । इसलिये तुम सुदृढ़ समाधि प्राप्त कर लो ॥३९॥

शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते ।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४० ॥

तुम पहले असावधानतावश जो अनुचितरूपसे शुभाशुभ कर्म कर चुके हो, उसे स्मरण करके उनके फलभोगसे संतप्त होनेके पहले ही अपने लिये केवल ज्ञानका भण्डार भर लो ॥

पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते ।
बलाङ्गरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४१ ॥

देखो, बल, अङ्ग और रूपका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था एक दिन तुम्हारे शरीरको जर्जर कर डालेगी, उसके पहले ही तुम अपने लिये ज्ञानका भण्डार भर लो ॥ ४१ ॥

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः ।
प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत् समाचर ॥ ४२ ॥

रोग जिसका सारथि है, वह काल हठात् तुम्हारे शरीरको विदीर्ण कर डालेगा, इसलिये इस जीवनका नाश होनेसे पूर्व ही तुम महान् तपका अनुष्ठान कर लो ॥ ४२ ॥

पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः ।

---

१. मनुजीने धर्मके दस भेद ये बताये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

'धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं ।

अभिद्रवन्ति सर्वतो यतस्व पुण्यशीलने ॥ ४३ ॥

इस मानव-शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध आदि भयंकर व्याघ्र तुमपर चारों ओरसे आक्रमण कर रहे हैं, इसलिये पहलेसे ही तुम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४३ ॥

पुरान्धकारमेकको ऽनुपश्यसि त्वरस्व वै।
पुरा हिरण्मयान् नगान् निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि ॥ ४४ ॥

मरनेके समय तुम्हें पहले घोर अन्धकार दिखलायी देगा। फिर पर्वतके शिखरपर सुनहरे वृक्ष दृष्टिगोचर होंगे। वह समय आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र प्रयत्न करो ॥ ४४ ॥

पुरा कुसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र यत्परम् ॥ ४५ ॥

इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंके सङ्ग तथा ऊपरसे मित्रभाव एवं भीतरसे शत्रुता रखनेवाले लोग दर्शनमात्रसे तुम्हें कर्तव्य-पथसे विचलित कर देंगे, इसलिये तुम पहलेसे ही परम उत्तम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४५ ॥

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ॥ ४६ ॥

जिस धनको न तो राजासे भय है और न चोरसे ही तथा जो मर जानेपर भी जीवका साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धनका उपार्जन करो ॥ ४६ ॥

न तत्र संवियुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम्।
यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ॥ ४७ ॥

अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए उस धनको परलोकमें परस्पर बाँटना नहीं पड़ता है। वहाँ तो जो जिसकी निजी सम्पत्ति है, उसे ही वह भोगता है ॥ ४७ ॥

परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्र दीयताम्।
धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत् स्वयम् ॥ ४८ ॥

बेटा! जिससे परलोकमें भी जीवन-निर्वाह हो सकता है तथा जो अविनाशी और अटल धन है, उसीका दान करो एवं उसीका स्वयं भी उपार्जन करते रहो ॥ ४८ ॥

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम्।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ॥ ४९ ॥

बेटा! घरपर आये हुए किसी समादरणीय अतिथिके लिये जितनी देरमें यावक (घृत और खाँड़ मिलाकर तैयार किया हुआ जौके आटेका पूआ) पकाया जाता है, उसके पकनेसे भी पहले तुम्हारी मृत्यु हो सकती है; अतः तुम ज्ञान-रूपी धनके उपार्जनके लिये शीघ्रता करो ॥ ४९ ॥

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ५० ॥

जीव जब अकेला ही परलोकके पथपर प्रस्थान करता है, उस संकटके समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं ॥ ५० ॥

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम्।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥ ५१ ॥

पुत्र! परलोकमें जाते समय अपना पहलेका किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता है, केवल वही साथ रहता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ॥ ५२ ॥

मनुष्यके द्वारा अच्छे-बुरे सभी तरहके कर्म करके जो सुवर्ण और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये जाते हैं, वे भी उस मनुष्यके शरीरका नाश होनेपर उसके किसी काम नहीं आते हैं (क्योंकि वे सब यहीं रह जाते हैं) ॥ ५२ ॥

परत्रगामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः।
न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ॥ ५३ ॥

परलोककी यात्रा करते समय तुम्हारे किये और न किये हुए कर्मका साक्षी आत्माके समान मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ५३ ॥

मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः।
प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ॥ ५४ ॥

परलोकमें जाते समय इस मनुष्य-शरीरका अभाव हो जाता है अर्थात् यह यहीं छूट जाता है। जीव सूक्ष्म शरीरसे लोकान्तरमें प्रवेश करके अपने बुद्धिरूपी नेत्रसे वहाँ सब कुछ देखता है ॥ ५४ ॥

इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः।
त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ॥ ५५ ॥

इस लोकमें अग्नि, वायु और सूर्य—ये तीन देवता जीवके शरीरका आश्रय करके रहते हैं। वे ही उसके धर्माचरणको देखनेवाले हैं और वे ही परलोकमें उसके साक्षी होते हैं ॥ ५५ ॥

अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेव पालय ॥ ५६ ॥

दिन सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है और रात्रि उन्हें छिपा लेती है। ये सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी वस्तुओंका स्पर्श करते हैं, अतः तुम इनकी वेलामें सर्वदा अपने धर्मका ही पालन करो ॥ ५६ ॥

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमक्षिके।
स्वमेव कर्म रक्ष्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ॥ ५७ ॥

परलोकके मार्गपर बहुत-से लुटेरे और बटमार रहते हैं तथा विकराल एवं भयंकर डाँस एवं मक्खियाँ होती हैं। वहाँ केवल अपना किया हुआ कर्म ही साथ जाता है; अतः तुम्हें अपने सत्कर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम्।
तथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ॥ ५८ ॥

वहाँ अपने कर्मके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उसका किसीके साथ बँटवारा नहीं होता। वहाँ तो अपने किये हुए कर्मोंका ही फल भोगना होता है ॥ ५८ ॥

यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह ।
तथाऽऽप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ॥ ५९ ॥

जैसे महर्षियोंके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ होती हैं और वे सब पुण्यके फलस्वरूप सुख भोगते हैं, उसी प्रकार वहाँ पुण्यात्मा लोग विमानोंपर चढ़कर इच्छानुसार विचरते और पुण्यकर्मजनित सुख भोगते हैं ॥ ५९ ॥

यथेह यत् कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः ।
तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ॥ ६० ॥

निष्पाप पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा इस लोकमें जो शुभ कर्म सम्पादित होता है, जन्मान्तरमें विशुद्ध योनिमें जन्म लेकर उसका वैसा ही फल पाते हैं ॥ ६० ॥

प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः ।
व्रजन्ति ते परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६१ ॥

गृहस्थ-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले लोग प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्रके लोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते ।
अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभुर्निनाय पावकः ॥ ६२ ॥

वत्स ! मैं तुम्हारे सामने हजारों तथा उससे भी अधिक बार यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् तथा सबको पवित्र करनेवाले धर्मने, जिसकी बुद्धिपर मोह नहीं छा गया है, उस धर्मात्मा पुरुषको सदा ही पुण्यलोकमें पहुँचाया है ॥ ६२ ॥

गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पञ्चविंशकः ।
कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ॥ ६३ ॥

बेटा ! तुम्हारी आयुके चौबीस वर्ष बीत गये । अब निश्चय ही तुम पचीस सालके हो गये; अतः धर्मका संचय करो । तुम्हारी सारी आयु यों ही बीती जा रही है ॥ ६३ ॥

पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् ।
यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ॥ ६४ ॥

देखो, तुम्हारा जो प्रमाद है, उसमें निवास करनेवाला काल तुम्हारी इन्द्रियोंके समुदायको मुखरहित (भोगशक्तिसे हीन) कर रहा है । इनके असमर्थ हो जानेके पहले ही तुम खड़े हो जाओ और अपने शरीरसे धर्मका पालन करनेके लिये जल्दी करो ॥ ६४ ॥

यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि ।
तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ॥ ६५ ॥

जिस समय तुम शरीर छोड़कर परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हीं पीछे रहोगे और तुम्हीं आगे चलोगे— तुम्हारे सिवा दूसरा कोई वहाँ आगे-पीछे चलनेवाला न होगा । ऐसी दशामें किसी अपने या पराये व्यक्तिसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? ॥ ६५ ॥

यदेकपातिनां सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् ।
भयेषु साम्परायिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ६६ ॥

भय उपस्थित होनेपर अकेले यात्रा करनेवाले सत्पुरुषोंके लिये परलोकमें जो हितकर होता है, उस धर्म या ज्ञानकी निधिको शुद्धभावसे संचित करो ॥ ६६ ॥

सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसंनिधिम् ॥ ६७ ॥

सर्वसमर्थ काल किसीके प्रति भी स्नेह नहीं करता । वह कूल और मूल अर्थात् आदि-अन्तसहित समस्त बन्धु-बान्धवोंको हर ले जाता है । उसको रोकनेवाले कोई नहीं हैं; इसलिये तुम धर्मका संचय करो ॥ ६७ ॥

इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र साम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितं कुरुष्व तत् ॥ ६८ ॥

बेटा ! मैंने अपने शास्त्रज्ञान और अनुमानके द्वारा इस समय तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश किया है, तुम उसीके अनुसार आचरण करो ॥ ६८ ॥

दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् ।
अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ॥ ६९ ॥

जो पुरुष अपने सत्कर्मोंद्वारा धर्मको धारण करता है और जिस किसीको भी निष्कामभावसे दान देता है, वह अकेला ही मोहरहित बुद्धिसे प्राप्त होनेवाले गुणोंसे संयुक्त होता है ॥ ६९ ॥

श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ॥ ७० ॥

जो समस्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करता और तदनुसार शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता है, उसीके लिये इस ज्ञानका उपदेश किया गया है; क्योंकि कृतज्ञ पुरुषको जो भी उपदेश दिया जाता है, वही सफल होता है ॥ ७० ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ७१ ॥

मनुष्य जब गाँवमें रहकर वहींके पदार्थोंसे प्रेम करने लगता है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सी ही है । पुण्यात्मा लोग इसे काटकर उत्तम लोकोंमें चले जाते हैं, परंतु पापात्मा पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ ७१ ॥

किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते
किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताश्च सर्वे ॥ ७२ ॥

बेटा ! जब तुम्हें एक दिन मरना ही है, तब धन, बन्धु और पुत्र आदिसे तुम्हें क्या लेना है; अतः तुम हृदयरूपी गुफामें छिपे हुए आत्मतत्त्वका अनुसंधान करो । सोचो तो सही; आज तुम्हारे सारे पूर्वज—पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ७२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ॥ ७३ ॥

जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये

और जो दोपहर-बाद करना हो, उसे पहले ही पहरमें पूरा कर डालना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं ॥ ७३ ॥

अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ ७४ ॥

मृत्युके बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद् श्मशान-भूमितक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुषके शरीरको चिताकी आगमें डालकर लौट आते हैं ॥ ७४ ॥

नास्तिकान् निरनुक्रोशान् नरान् पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७५ ॥

अतः तुम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके इच्छुक हो आलस्य छोड़कर नास्तिक, निर्दय तथा पापबुद्धि मनुष्योंको बिना किसी हिचकके बायें कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ न दो ॥ ७५ ॥

एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद् धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ॥ ७६ ॥

इस प्रकार जब सारा संसार कालसे आहत और पीड़ित हो रहा है, तब तुम महान् धैर्यका आश्रय ले सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आचरण करो ॥ ७६ ॥

अथेमं दर्शनोपायं सम्यग् यो वेत्ति मानवः ।
सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य परमात्माके साक्षात्कारके इस साधनको भलीभाँति जानता है, वह इस लोकमें स्वधर्मका ठीक-ठीक पालन करके परलोकमें सुख भोगता है ॥ ७७ ॥

न देहभेदे मरणं विजानतां
न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि ।
धर्मं हि यो वर्धयते स पण्डितो
य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ॥ ७८ ॥

जो ऐसा जानते हैं कि शरीरका नाश हो जानेपर भी अपनी मृत्यु नहीं होती है और शिष्ट पुरुषोंद्वारा पालित धर्ममार्गपर चलनेवालोंका कभी नाश नहीं होता है, वे ही बुद्धिमान् हैं । जो इन सब बातोंको सोच-विचारकर धर्मको बढ़ाता रहता है, वह विद्वान् है । जो धर्मसे गिर जाता है, वही मोहग्रस्त अथवा मूढ़ है ॥ ७८ ॥

प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः
फलं प्रयोक्ता लभते यथाकृतम् ।
निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते
त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ॥ ७९ ॥

कर्मके मार्गपर प्रयोग (आचरण) में लाये गये जो अपने शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल कर्ताको उस कर्मके अनुसार प्राप्त होता है । नीच कर्म करनेवाला नरकमें पड़ता है और धर्माचरणमें पारङ्गत पुरुष स्वर्गलोकको जाता है ॥

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्यते न पुनर्यथा ॥ ८० ॥

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीके समान है । इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्ममें एकाग्र करे, जिससे फिर उसे स्वर्गसे नीचे न गिरना पड़े ॥

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ॥ ८१ ॥

स्वर्गलोकके मार्गका अनुसरण करनेवाली जिसकी बुद्धि धर्मका कभी उल्लङ्घन नहीं करती, उसको पुण्यात्मा कहते हैं । वह पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके लिये कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ८१ ॥

यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलम्बते ।
स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद् भयम् ॥ ८२ ॥

जिसकी बुद्धि दूषित न होकर दृढ़ निश्चयका सहारा लेती है, उसने स्वर्गमें अपने लिये स्थान बना लिया है । उसे नरकका महान् भय नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः ।
तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८३ ॥

जो लोग तपोवनोंमें पैदा हुए और वहीं मृत्युको प्राप्त हो गये, उन्हें थोड़े-से ही धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वे काम-भोगोंको जानते ही नहीं थे (अतः उन्हें त्यागनेके लिये उनको कष्ट सहन नहीं करना पड़ता) ॥ ८३ ॥

यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तन्मे बहु मतं फलम् ॥ ८४ ॥

जो भोगोंका परित्याग करके तपोवनमें जाकर शरीरसे तपस्या करता है, उसके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्राप्त न हो । वही फल मुझे अधिक जान पड़ता है ॥ ८४ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ८५ ॥

हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहले जन्मोंमें हो चुके हैं और भविष्यमें होंगे । वे हममेंसे किसके हैं और हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ८५ ॥

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ॥ ८६ ॥

मैं अकेला हूँ । न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं दूसरे किसीका हूँ । मैं ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखायी देता, जो मेरा हो ॥ ८६ ॥

न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि ।
स्वकृतैस्तानि यातानि भवांश्चैव गमिष्यति ॥ ८७ ॥

न उनका तुम कुछ कर सकते हो और न वे तुम्हारे किसी काम आ सकते हैं । वे अपने कर्मोंके साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे ॥ ८७ ॥

इह लोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते ।

स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥ ८८ ॥

इस संसारमें जो धनवान् हैं, उन्हींके स्वजन उनके साथ स्वजनोचित वर्ताव करते हैं; दरिद्रोंके स्वजन तो उनके जीते-जी ही उन्हें छोड़कर उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं ।८८।

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ॥ ८९ ॥

मनुष्य अपनी स्त्रीके लिये अशुभ कर्मका संचय करता है, फिर उसके फलरूपमें इहलोक और परलोकमें भी कष्ट उठाता है ॥ ८९ ॥

पश्यति च्छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा ।
तत् कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत् समुदाहृतम् ॥ ९० ॥

मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही इस जीव-जगत्को छिन्न-भिन्न हुआ देखता है, अतः बेटा ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब काममें लाओ ॥ ९० ॥

तदेतत् सम्प्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः ।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ॥ ९१ ॥

इहलोक कर्मभूमि है—ऐसा समझकर इसकी ओर देखते हुए दिव्य लोकोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शुभकर्मोंका ही आचरण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेण
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण
भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥ ९२ ॥

यह कालरूपी रसोइया बलपूर्वक सब जीवोंको पका रहा है । मास और ऋतु नामक करछुलसे वह जीवोंको उलटता-पलटता रहता है । सूर्य उसके लिये आगका काम देते हैं और कर्मफलके साक्षी रात और दिन उसके लिये ईंधन बने हुए हैं ॥ ९२ ॥

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी॥९३॥

उस धनसे क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसीको दे सकता और न अपने उपभोगमें ही ला सकता है ? उस बलसे क्या लाभ, जिससे शत्रुओंको बाधित न किया जा सके ? उस शास्त्रज्ञानसे क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके ? और उस जीवात्मासे क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय है और न मनको ही वशमें रख सकता है ?॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु ।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजीके कहे हुए ये हितकर वचन सुनकर शुकदेवजी अपने पिताको छोड़कर मोक्षतत्त्वके उपदेशक गुरुके पास चले गये ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पावकाध्ययनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पावकाध्ययन नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२१॥

द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च ।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरु-शुश्रूषा करनेसे कोई फल मिलता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः ।
स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जब बुद्धि काम-क्रोध आदि अनर्थोंसे युक्त हो जाती है, तब उससे प्रेरित हुए मनुष्यका मन पापमें प्रवृत्त होने लगता है । फिर वह मनुष्य दोषयुक्त कर्म करके महान् क्लेशमें पड़ जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥ ३ ॥

पापकर्म करनेवाले दरिद्र मानव दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको तथा भयसे भयको पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्म-परायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको पाते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं । इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होने योग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्मपालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है, तब उसका कर्मफल भी उसीके साथ सो जाता है। जब वह खड़ा होता है, तब वह भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत्पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
तत् तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्व-जन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध-भोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा वा वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म-जन्मान्तरमें उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुद्ध्यति वारिणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे मलिन हुआ वस्त्र पीछे जलसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, (उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर) उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन महामते ।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

महामते ! दीर्घकालतक की हुई तपस्यासे तथा धर्मा-चरणद्वारा जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनो-रथ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार पुण्यात्मा ज्ञानियोंकी भी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधों-की चर्चा करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। जो सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्ममूलिको नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्ममूलिकनामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! व्यासजीके यहाँ महातपस्वी और धर्मात्मा शुकदेवजीका जन्म कैसे हुआ ? तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की ? यह मुझे बताइये ॥

कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ २ ॥

तपस्याके धनी व्यासजीने किस स्त्रीके गर्भसे शुकदेवजीको उत्पन्न किया ? हमें उन महात्मा शुकदेवजीकी माताका नाम नहीं मालूम है और हम उनके श्रेष्ठ जन्मका वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः।
यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित्॥३॥

शुकदेवजी अभी बालक थे तो भी सूक्ष्मज्ञानमें उनकी बुद्धि कैसे लगी ? इस संसारमें उनके सिवा दूसरे किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं देखी गयी ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते।
न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ॥ ४ ॥

महामते ! मैं इस प्रसङ्गको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आपका यह अमृतके समान उत्तम एवं मधुर प्रवचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य ह।
यथावदानुपूर्व्येण तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! आप मुझे शुकदेवजीका माहात्म्य, आत्मयोग और विज्ञान यथार्थ रीतिसे क्रमशः बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कोई अधिक वर्षोंकी अवस्था हो जानेसे, बाल पक जानेसे, अधिक धन होनेसे तथा भाई-बन्धुओंकी संख्या बढ़ जानेसे भी बड़ा नहीं होता। ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि हमलोगोंमेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जायगा ॥६॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे हो, उस सबकी जड़ तपस्या है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तपस्याकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥ ८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके कारण ही दोषको प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियोंको काबूमें कर लेनेपर वह सिद्धिका भागी होता है ॥ ८ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥ ९ ॥

तात ! सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञोंका जो फल है, वह योगकी सोलहवीं कलाके फलकी भी समानता नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि जन्मयोगफलं तथा।
शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः ॥ १० ॥

राजन् ! मैं तुम्हें शुकदेवजीका जन्म-वृत्तान्त, योगफल तथा अजितात्मा पुरुषोंकी समझमें न आनेवाली उनकी उत्कृष्ट गति बता रहा हूँ ॥ १० ॥

मेरुशृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते।
विजहार महादेवो भीमैर्भूतगणैर्वृतः ॥ ११ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें कनेरके वनोंसे सुशोभित मेरुपर्वतके शिखरपर भगवान् शङ्कर भयानक भूतगणोंको साथ ले विहार करते थे ॥ ११ ॥

शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत् पुरा।
तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १२ ॥

वहीं गिरिराजकुमारी उमादेवी भी उनके साथ ही निवास करती थीं। उन्हीं दिनों श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उस पर्वतपर दिव्य तपस्या कर रहे थे ॥ १२ ॥

योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः।
धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! योगधर्मपरायण व्यास योगके द्वारा अपने मनको परमात्मामें लगाकर धारणापूर्वक तपका अनुष्ठान करते थे। उनके तपका उद्देश्य था पुत्रकी प्राप्ति ॥ १३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो।
धैर्येण सम्मितः पुत्रो मम भूयादिति स ह ॥ १४ ॥

उन्होंने यह संकल्प लेकर कि मुझे अग्नि, भूमि, जल, वायु अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त हो, तपस्या आरम्भ की थी ॥ १४ ॥

संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १५ ॥

उक्त संकल्प लेकर योगके द्वारा उत्तम तपस्यामें लगे हुए वेदव्यासजीने अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ देवेश्वर महादेवजीसे वर-प्रार्थना की ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः।
आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १६ ॥

शक्तिशाली व्यासजी सौ वर्षोंतक केवल वायुभक्षण करते हुए अनेक रूपधारी उमापति महादेवजीकी आराधनामें लगे रहे ॥ १६ ॥

तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा ।
लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च बहुभिः सह ॥ १७ ॥
आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ ।
वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ॥ १८ ॥
अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ॥ १९ ॥

वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, सभी राजर्षि, लोकपाल, बहुतसे अनुचरोंके सहित साध्य, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, मरुद्गण, समुद्र, सरिताएँ, दोनों अश्विनीकुमार, देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, गन्धर्वराज विश्वावसु, सिद्ध तथा अप्सराएँ भी लोकेश्वर महादेवजीकी आराधना करती थीं॥

तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम् ।
धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ॥ २० ॥
तस्मिन् दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले ।
आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ॥ २१ ॥

वहाँ महान् रुद्रदेव कनेर पुष्पोंकी मनोहर माला धारण किये चाँदनीसहित चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे । देवताओं तथा देवर्षियोंसे भरे हुए उस दिव्य रमणीय वनमें पुत्र-प्राप्तिके लिये परम योगका आश्रय ले मुनिवर व्यास तपस्यामें प्रवृत्त थे और उससे विचलित नहीं होते थे ॥ २०-२१ ॥

न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते ।
त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २२ ॥

ऐसा कठोर तप करनेपर भी न तो उनके प्राण नष्ट हुए और न उन्हें थकान ही हुई । यह तीनों लोकोंके लिये अद्भुत-सी बात हुई ॥ २२ ॥

जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः ।
प्रज्वलन्त्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

योगयुक्त हुए अमित तेजस्वी व्यासजीकी जटाएँ उनके तेजसे आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित दिखायी देती थीं ॥ २३ ॥

मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान् मम ।
स देवचरितानीह कथयामास मे सदा ॥ २४ ॥

मुझे तो यह वृत्तान्त भगवान् मार्कण्डेयजीने सुनाया था । वे मुझे सदा ही देवताओंके चरित्र सुनाया करते थे ॥ २४ ॥

एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः ।
अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २५ ॥

तात ! उसी तपस्यासे उद्दीप्त हुई महात्मा व्यासजीकी ये जटाएँ आज भी अग्निके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ २५ ॥

एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत ।
महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ॥ २६ ॥

भारत ! उनकी ऐसी तपस्या और भक्ति देखकर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अभीष्ट वर देनेका विचार किया ॥ २६ ॥

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव ।
एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ॥ २७ ॥

भगवान् शिव व्यासजीके सामने आये और हँसते हुए-से बोले—'द्वैपायन ! तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम् ।
यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ॥ २८ ॥

'जैसे अग्नि, जैसे वायु, जैसे पृथ्वी, जैसे जल और जैसे आकाश शुद्ध है, तुम्हारा पुत्र भी वैसा ही शुद्ध एवं महान् होगा ॥ २८ ॥

तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः ।
तेजसाऽऽवृत्य लोकांस्त्रीन् यशः प्राप्स्यति ते सुतः ॥२९॥

'वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्में ही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्में ही उसका मन लगा रहेगा और एकमात्र भगवान्को ही वह अपना आश्रय समझेगा । उसके तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो जायँगे और तुम्हारा वह पुत्र महान् यश प्राप्त करेगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन संस्कारका वृत्तान्त

भीष्म उवाच

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः ।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीसे उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे ॥

अथ रूपं परं राजन् बिभ्रतीं स्वेन तेजसा ।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! इसी समय उन भगवान् महर्षि व्यासने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सराको देखा, जो अपने तेजसे परम मनोहर रूप धारण किये हुए थी ॥ २ ॥

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः ।

अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम् ।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! उस वनमें उस अप्सराको देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा कामसे मोहित हो गये । महाराज ! उस समय व्यासजीका हृदय कामसे व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी ॥ ३-४ ॥

तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम् ।
शरीरजेनानुगदः सर्वगात्रातिगेन ह ॥ ५ ॥

उस अप्सराको दूसरे रूपसे छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीरमें कामवेदना व्याप्त हो गयी ॥ ५ ॥

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः ।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः ॥ ६ ॥

मुनिवर व्यास महान् धैर्यके साथ अपने कामवेगको रोकने लगे; परंतु अप्सराकी ओर गये हुए मनको रोकनेमें वे किसी तरह समर्थ न हो सके ॥ ६ ॥

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः ।
यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ॥ ७ ॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत् ।

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताचीके रूपसे आकृष्ट हो गये । अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे अपने कामवेगको यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यासका वीर्य सहसा उस अरणीकाष्ठपर ही गिर पड़ा ॥ ७½ ॥

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥
अरणीं ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप ।

नरेश्वर ! उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशङ्क मनसे दोनों अरणियोंके मन्थनमें ही लगे रहे । उसी समय अरणीसे शुकदेवजी प्रकट हो गये ॥ ८½ ॥

शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः ॥ ९ ॥
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः ।

अरणीके साथ-साथ शुक्रका भी मन्थन होनेसे महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेवजीका जन्म हो गया । वे अरणीके ही गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहन् ॥ १० ॥
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा ।

जैसे यज्ञमें हविष्यका वहन करनेवाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूपसे शुकदेवजी प्रकट हुए थे । वे अपने तेजसे मानो जाज्वल्यमान हो रहे थे ॥ १०½ ॥

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः ।

कुरुनन्दन ! अपने पिताके समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ११½ ॥

तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ॥ १२ ॥
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा ।

जनेश्वर ! उसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मूर्तिमती होकर मेरुपर्वतपर आयीं और उन्होंने अपने जलसे शुकदेवजीको तृप्त किया ॥ १२½ ॥

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ॥ १३ ॥
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः ।

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! आकाशसे महात्मा शुकदेवके लिये दण्ड और काला मृगचर्म—ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वीपर गिरीं ॥ १३½ ॥

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १४ ॥
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥ १५ ॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम् ।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । देवताओंकी दुंदुभियाँ बड़े जोर-जोरसे बज उठीं । विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व शुकदेवजीके जन्मकी बधाई गाने लगे ॥ १४-१५½ ॥

तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥ १६ ॥
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च ।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये ॥ १६½ ॥

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥ १७ ॥
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत् ।

वायुने सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की । चर और अचर सारा संसार हर्षसे खिल उठा ॥ १७½ ॥

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥ १८ ॥
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा ।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीके साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधारकर महर्षि व्यासके उस नवजात पुत्रका विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया ॥ १८½ ॥

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १९ ॥
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो ।

प्रभो ! उस समय देवेश्वर इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये ॥ १९½ ॥

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत ।

भारत ! सहस्रों हंस, शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ २०½ ॥

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥ २१ ॥
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः ।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले वहीं रहने लगे । वे बड़े

बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे॥२१½॥

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ २२ ॥
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ।

महाराज ! शुकदेवजीके जन्म लेते ही रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवामें उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यासकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥

बृहस्पतिं च वव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ॥ २३ ॥
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

महाराज ! वेद-वेदाङ्गोंकी विस्तृत व्याख्याके ज्ञाता शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ॥ २३½ ॥

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ॥
इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ॥ २५ ॥

प्रभो ! महामुनि शुकदेवने उनसे रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेदोंका, समूचे इतिहासका तथा राजशास्त्रका भी अध्ययन करके गुरुको दक्षिणा दे समावर्तन संस्कारके पश्चात् घरको प्रस्थान किया ॥ २४-२५ ॥

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि स महातपाः ।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा ॥ २६ ॥

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उग्र तपस्या प्रारम्भ की । महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्याके द्वारा बाल्यकालमें भी देवताओं तथा ऋषियोंके आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे ॥ २६ ॥

न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप ।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! वे मोक्षधर्मपर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रमपर अवलम्बित रहनेवाले तीनों आश्रमोंमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती थी ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके उपरान्त ध्यानमें स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य च गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शुकदेवजी मोक्षका विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यासजीके पास गये और विनीतभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करके कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
यथा मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप मोक्षधर्ममें कुशल हैं; अतः मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरे चित्तको परम शान्ति मिले' ॥२॥

श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिरुवाच तम् ।
अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ॥ ३ ॥

पुत्रकी वह बात सुनकर महर्षि व्यासने कहा, 'बेटा ! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मोंका अध्ययन करो' ॥३॥

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥ ४ ॥

भारत ! पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा समस्त सांख्यका अध्ययन किया ॥ ४ ॥

स तं ब्राह्म्या श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥ ५ ॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ॥ ६ ॥

जब व्यासजीने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और मोक्षधर्ममें कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रोंमें इसकी ब्रह्माके समान गति हो गयी है, तब उन्होंने कहा—'बेटा ! अब तुम मिथिलाके राजा जनकके पास जाओ। वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका सार सिद्धान्त बता देंगे' ॥ ५-६ ॥

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पिताकी आज्ञा पाकर शुकदेवजी धर्मकी निष्ठा और मोक्षका परम आश्रय पूछनेके लिये मिथिलाकी ओर चल दिये ॥ ७ ॥

उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरेण वै ॥ ८ ॥

जाते समय व्यासजीने फिर बिना किसी विस्मयके कहा—'बेटा ! जिस मार्गसे साधारण मनुष्य चलते हों, उसीसे तुम भी जाना। अपनी योगशक्तिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे कदापि यात्रा न करना ॥ ८ ॥

आर्जवेणैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ९ ॥

'सरलभावसे ही यात्रा करनी चाहिये। रास्तेमें सुख और सुविधाकी खोज नहीं करनी चाहिये। विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानोंका अनुसंधान न करना; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥ १० ॥

'राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकारसे उनकी आज्ञाके अधीन रहना। वे तुम्हारी सब शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥ १० ॥

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ॥ ११ ॥

'मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्ष-शास्त्रमें प्रवीण हैं। वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसीका निःशङ्क होकर पालन करना' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम् ॥ १२ ॥

पिताके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिलाकी ओर चल दिये। यद्यपि वे आकाशमार्गसे सारी पृथ्वीको लाँघ जानेमें समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ॥ १२ ॥

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥ १३ ॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ १४ ॥

मार्गमें उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े। बहुत-से सर्पों और वन्य पशुओंसे भरे हुए कितने ही जंगलोंमें होकर जाना पड़ा। उन सबको लाँघकर क्रमशः मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्षको पार करते हुए वे भारतवर्षमें आये ॥ १३-१४ ॥

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥ १५ ॥

चीन और हूण जातिके लोगोंसे सेवित नाना प्रकारके देशोंका दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देशमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १६ ॥

पिताकी आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषयका चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया। जैसे आकाशचारी पक्षी आकाशमें विचरता है, उसी प्रकार वे भूतलपर विचरण करते थे ॥ १६ ॥

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च।
रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १७ ॥

रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े। भाँति-भाँतिके विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए; किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ॥ १७ ॥

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥ १८ ॥

पथिक शुकदेवजीने बहुत-से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी। कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े, परंतु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १८ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥ १९ ॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समयमें धर्मराज महात्मा जनकद्वारा पालित विदेहप्रान्तमें जा पहुँचे ॥

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान्।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥ २० ॥

वहाँ बहुत-से गाँव उनकी दृष्टिमें आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रामें मौजूद थी। छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओंके रहनेके स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायोंसे भरे हुए थे ॥ २० ॥

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान्।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ॥ २१ ॥

सारे विदेहप्रान्तमें सब ओर अगहनी धानकी खेती लहलहा रही थी। वहाँके निवासी धन-धान्यसे सम्पन्न थे। उस देशमें चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे। कमलोंसे अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेह-राज्यकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २१ ॥

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान्।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्योंद्वारा सेवित विदेह-देशको लाँघकर वे मिथिलाके समृद्धिसम्पन्न रमणीय उपवनके पास जा पहुँचे ॥ २२ ॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम्।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ॥ २३ ॥

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा था। असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए-से वहाँसे आगे बढ़ गये ॥ २३ ॥

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन्।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह ॥ २४ ॥

मनसे जिज्ञासाका भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तु-

राजा जनकके द्वारपर शुकदेवजी
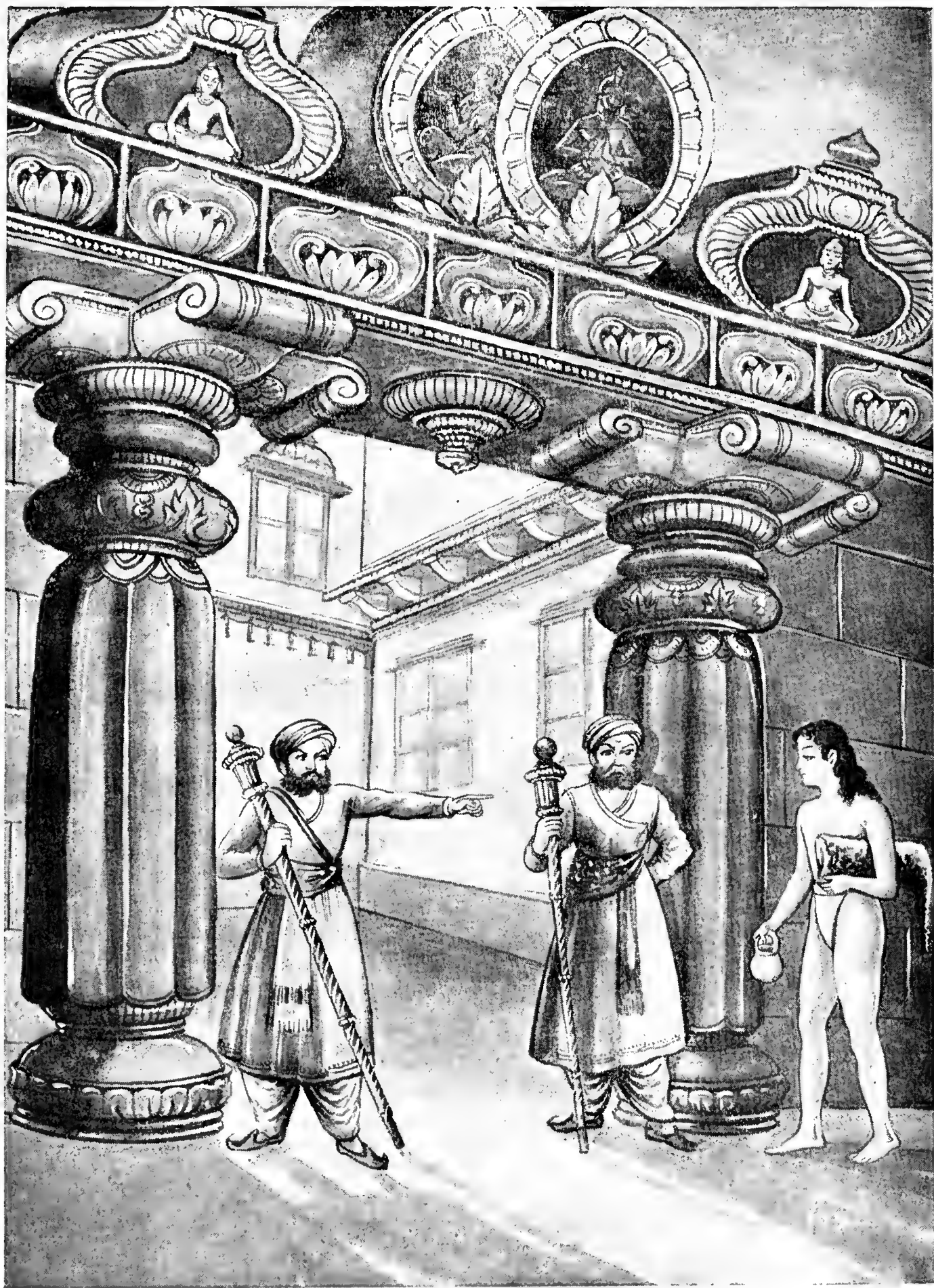
का ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेवने मिथिलामें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

तस्या द्वारं समासाद्य निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवाचा न्यषेधयन् ॥ २५ ॥

नगरद्वारपर पहुँचकर वे निःशङ्कभावसे उसके भीतर प्रवेश करने लगे । तब वहाँ द्वारपालोंने कठोर वाणीद्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया ॥ २५ ॥

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥ २६ ॥

शुकदेवजी वहीं खड़े हो गये; किंतु उनके मनमें किसी प्रकारका खेद या क्रोध नहीं हुआ । रास्तेकी थकावट और सूर्यकी धूपसे उन्हें संताप नहीं पहुँचा था । भूख और प्यास उन्हें कष्ट नहीं दे सकी थी ॥ २६ ॥

प्रताम्यति ग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

वे उस धूपसे न तो संतप्त होते थे, न ग्लानिका अनुभव करते थे और न धूपसे हटकर छायामें ही जाते थे । उस समय उन द्वारपालोंमेंसे एकको अपने व्यवहारपर बड़ा दुःख हुआ ॥ २७ ॥

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्यकी भाँति शुकदेवजीको चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवनकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया ॥ २८½ ॥

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ॥ २९ ॥
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात ! वहाँ एक जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्षका ही चिन्तन करने लगे । धूप हो या छाया, दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी ॥ २९½ ॥

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देरमें राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने साथ महलकी तीसरी ड्योढ़ीमें ले गये ॥

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ॥ ३१ ॥
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वहाँ अन्तःपुरसे सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था,जो चैत्ररथ वनके समान मनोहर जान पड़ता था । उसमें पृथक्-पृथक् जल-क्रीडाके लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे । वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता था । उस उत्तम उद्यानका नाम था प्रमदावन । मन्त्रीने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया ॥ ३१-३२ ॥

स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम ततः पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥ ३३ ॥
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥ ३४ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ॥ ३५ ॥
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राजमन्त्री पुनः प्रमदावनसे बाहर निकल आये । मन्त्रीके जाते ही पचास प्रमुख वाराङ्गनाएँ शुकदेवजीके पास दौड़ी आयीं । उनकी वेषभूषा बड़ी मनोहारिणी थी । वे सब-की-सब देखनेमें परम सुन्दरी और नवयुवती थीं । वे सुरम्य कटिप्रदेशसे सुशोभित थीं । उनके सुन्दर अङ्गोंपर लाल रंगकी महीन साड़ियाँ शोभा पा रही थीं । तपाये हुए सुवर्णके आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे । वे बातचीत करनेमें कुशल और नाचने-गानेकी कलामें बड़ी प्रवीण थीं । उनका रूप अप्सराओंके समान था, वे मन्द मुसकानके साथ बातें करतीं और दूसरोंके मनका भाव समझ लेती थीं । कामचर्यामें कुशल और सम्पूर्ण कलाओं-का विशेष ज्ञान रखनेवाली थीं ॥ ३३—३५½ ॥

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया पर्यार्चयन् ॥ ३६ ॥
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् ।

उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि निवेदन करके उत्तम विधिसे शुकदेवजीका पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ट अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ॥ ३६½ ॥

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ॥ ३७ ॥
सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ।

तात ! भरतनन्दन ! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वाराङ्गनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुरके उस सुरम्य कानन—प्रमदावनकी सैर कराने और वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाने लगीं ॥ ३७½ ॥

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापि ताः शुभम् ॥ ३८॥
उदारसत्त्वं सत्त्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थीं । मनके भावको समझनेवाली वे सुन्दरियाँ उन उदारचित्त शुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं ॥

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसंदेहः स्वकर्मकृत् ॥ ३९ ॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति ।

परंतु अरणिसम्भव शुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध था । वे इन्द्रियों और क्रोधपर विजय पा चुके थे । उन्हें न तो किसी बातपर हर्ष होता था और न वे किसीपर क्रोध ही

करते थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्यका पालन किया करते थे ॥ ३९½ ॥

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्हं रत्नभूषितम् ॥ ४० ॥
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियोंने देवताओंके बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये दिया ॥ ४०½ ॥

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥ ४१ ॥
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥ ४२ ॥
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजीने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रातके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। फिर रात्रिके मध्यभाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुकने यथोचित निद्राको स्वीकार किया ॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥ ४३ ॥
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ ४४ ॥

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, उस समय ब्रह्मवेलामें वे पुनः उठ गये और शौच-स्नान करनेके अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं ॥४३-४४॥
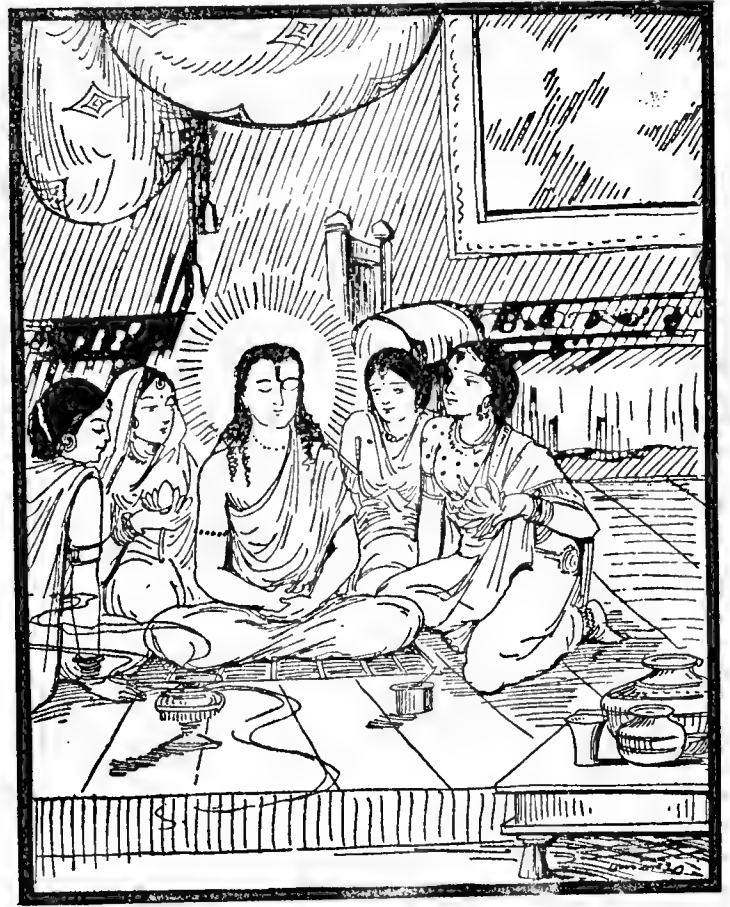
अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहःशेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ॥ ४५ ॥

भरतनन्दन! इस विधिसे अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले व्यासनन्दन शुकने दिनका शेष भाग और समूची रात उस राजभवनमें रहकर व्यतीत की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुककी उत्पत्तिविषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२५॥

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ १ ॥
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके आसन तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लिये मस्तकपर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजीके पास आये ॥ १-२ ॥

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्द्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ ३ ॥
पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥ ४ ॥

उस समय जिसे पुरोहितने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिसपर मूल्यवान् बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथसे अपने हाथमें लेकर राजा जनकने गुरुपुत्र शुकदेवको समर्पित किया। वह आसन समृद्धिसे सम्पन्न था ॥

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसनपर विराजमान हुए, तब राजा जनकने शास्त्रके अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजाने उन्हें एक गौ प्रदान की ॥ ५ ॥

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ॥ ६ ॥
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च ।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ॥ ७ ॥

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजीने राजा जनककी ओरसे प्राप्त हुई वह मन्त्रयुक्त सविधि पूजा स्वीकार की । पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजाको आदर देते हुए महातेजस्वी शुकने उनका सदा बना रहनेवाला कुशल-समाचार पूछा ॥ ६-७ ॥

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह ।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ॥ ८ ॥
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृताञ्जलिः ।
कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः ।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सेवकोंसहित राजाके आरोग्यका समाचार भी उन्होंने पूछा । फिर उनकी आज्ञा ले राजा अपने अनुचर-वर्गके साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमिपर ही बैठ गये । राजाका हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था । उन पृथ्वीपति नरेशने व्यासनन्दन शुकसे उनके कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा करके पूछा—'ब्रह्मन् ! किस निमित्तसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ?' ॥ ८-९ ॥

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः ।
विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ॥ १० ॥
तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम् ॥ ११ ॥

शुकदेवजीने कहा—राजन् ! आपका कल्याण हो । मेरे पिताजीने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोकप्रसिद्ध विदेहराज जनक मोक्षधर्मके विशेषज्ञ हैं । यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्मके विषयमें तुम्हारे हृदयमें कोई संदेह हो तो तुरंत ही उनके पास चले जाओ । वे तुम्हारी सारी शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः ।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! पिताकी इस आज्ञासे ही मैं यहाँ आपके पास कुछ पूछनेके लिये आया हूँ । आप मेरे प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दें ॥ १२ ॥

किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः ।
कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथवा ॥ १३ ॥

ब्राह्मणका कर्तव्य क्या है ? मोक्षनामक पुरुषार्थका क्या स्वरूप है ? उस मोक्षको ज्ञानसे अथवा तपस्यासे किस साधनसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥ १३ ॥

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु ।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः ॥ १४ ॥

जनकने कहा—तात ! ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये—यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेके बाद ब्राह्मण-बालकको वेदाध्ययनमें तत्पर होना चाहिये ॥

तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो ।
देवतानां पितॄणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ॥ १५ ॥
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च ।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ॥ १६ ॥

प्रभो ! तपस्या, गुरुकी सेवा तथा ब्रह्मचर्यका पालन—इन तीन कर्मोंके साथ-साथ वेदाध्ययनका कार्य सम्पन्न करना चाहिये । हवनकर्मद्वारा देवताओंके और तर्पणद्वारा वह पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करे । किसीके दोष न देखे और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् गुरुको दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको लौटे ॥ १५-१६ ॥

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् ।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च ॥ १७ ॥

घर आनेपर विवाह करके गार्हस्थ्यधर्मका पालन करे और अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखे । दूसरोंके दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्निकी स्थापनाके पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे ॥ १७ ॥

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः ॥ १८ ॥

वहाँ पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्रको गार्हस्थ्यधर्मका भार सौंपकर वनमें जा वानप्रस्थ आश्रममें रहे । उस समय भी शास्त्रविधिके अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी आराधना करते हुए अतिथियोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करे ॥ १८ ॥

स वनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ॥ १९ ॥

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका आत्मामें आरोप करके निर्द्वन्द्व एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ १९ ॥

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते ।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु ॥ २० ॥

शुकदेवजीने पूछा—राजन् ! यदि किसीके हृदयमें ब्रह्मचर्य आश्रममें ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदयके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जायँ तो भी क्या उसके लिये शेष तीन आश्रमोंमें रहना आवश्यक है ? ॥ २० ॥

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं यही बात आपसे पूछता हूँ । आप मुझे यह

बतानेकी कृपा करें। वेदके वास्तविक सिद्धान्तके अनुसार क्या करना उचित है ? यह आप मुझे बताइये ॥ २१ ॥

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः॥ २२ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्॥ २३ ॥

गुरु इस संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौकाके समान बताया जाता है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है। जैसे नदीको पार कर लेनेपर मनुष्य नाव और नाविक दोनोंको छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनोंको छोड़ दे ॥ २३ ॥

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम्।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः॥ २४ ॥

पहलेके विद्वान् लोकमर्यादाकी तथा कर्मपरम्पराकी रक्षा करनेके लिये चारों आश्रमोंसहित वर्णधर्मोंका पालन करते थे ॥

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम्।
हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते॥ २५ ॥

इस तरह क्रमशः नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग करनेसे यहाँ मोक्ष-की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥ २६ ॥

अनेक जन्मोंसे कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, तब शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें मोक्षरूप ज्ञान प्राप्त कर सकता है ॥ २६ ॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः॥ २७ ॥

उसे पाकर जब ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो परमात्माको चाहनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान्के लिये शेष तीन आश्रमोंमें जानेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत्।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना॥ २८ ॥

विद्वान्को चाहिये कि वह राजस और तामस दोषोंका सदा ही परित्याग कर दे और सात्त्विक मार्गका आश्रय लेकर बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करे ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह संसारमें उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ॥ २९ ॥

पक्षिवत् प्रवणादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः॥ ३० ॥

वह तो घोंसलेको छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति इस देहसे पृथक् हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोकमें अक्षयपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

अत्र गाथाः पुरा गीताः शृणु राज्ञा ययातिना।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः॥ ३१ ॥

तात ! इस विषयमें पूर्वकालमें राजा ययातिके द्वारा गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्षशास्त्रके ज्ञाता द्विज सदा याद रखते हैं ॥ ३१ ॥

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम्।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा॥ ३२ ॥

अपने भीतर ही आत्मज्योतिका प्रकाश है, अन्यत्र नहीं। वह ज्योति सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर समानरूपसे स्थित है। अपने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है ॥ ३२ ॥

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३३ ॥

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३४ ॥

जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियों-में द्वेषरहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते॥ ३५ ॥

जब मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके साधक अपने मनको आत्मामें लगा देता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३६ ॥

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें तथा

सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३८ ॥

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिको समान भावसे समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३७-३८ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥ ३९ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासीको मनके द्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ३९ ॥

तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥ ४० ॥

जैसे अन्धकारसे आच्छादित हुआ घर दीपकके प्रकाशसे देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे आवृत हुए आत्माका विशुद्ध बुद्धिरूपी दीपकके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४० ॥

एतत् सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शुकदेवजी ! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य तत्त्व है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ॥

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं आपको अच्छी तरह जान गया । आप अपने पिताजीकी कृपा और उन्हींसे मिली हुई शिक्षाद्वारा विषयोंसे परे हो चुके हैं ॥ ४२ ॥

तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥ ४३ ॥

महामुने ! उन्हीं गुरुदेवकी कृपासे मुझे भी यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिससे मैं आपकी स्थितिको ठीक-ठीक समझ गया हूँ ॥ ४३ ॥

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ ४४ ॥

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य—ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बातका पता नहीं है ॥ ४४ ॥

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥ ४५ ॥

बालस्वभावके कारण, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके काल्पनिक भयसे मनुष्यको विज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ॥ ४६ ॥

मेरे-जैसे लोगोंके द्वारा जिसका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चयके द्वारा हृदयकी गाँठें खोलकर उस परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मन् ! आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है । आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आपमें विषयलोलुपताका भी सर्वथा अभाव हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चयके विना कोई परमात्म-भावको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नासि लोलुपः ।
नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते ॥ ४८ ॥

आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते । आपके मनमें लोभ नहीं है । आपको न तो नाच देखनेकी उत्कण्ठा होती है और न गीत सुननेकी । किसी विषयके प्रति आपके मनमें राग नहीं उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ ४९ ॥

महाभाग ! न तो भाई-बन्धुओंमें आपकी आसक्ति है, न भयदायक पदार्थोंसे आपको भय ही होता है । मैं देखता हूँ, आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं ॥ ४९ ॥

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः ।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ॥ ५० ॥

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं ॥ ५० ॥

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः ।
तस्मिन् वै वर्तसे ब्रह्मन् किमन्यत् परिपृच्छसि ॥ ५१ ॥

ब्रह्मन् ! इस जगत्में ब्राह्मण होनेका जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है । अब और क्या पूछना चाहते हैं ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकोत्पत्तिविषयक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२६॥

सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः।
आत्मनाऽऽत्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना॥ १ ॥
कृतकार्यः सुखी शान्तस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः।
शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा जनककी यह बात सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले शुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये। एवं आनन्दमग्न हो, बड़ी शान्तिका अनुभव करते हुए हिमालयपर्वतको लक्ष्य करके वायुके समान वेगसे चुपचाप उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ १-२॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा।
हिमवन्तमियाद् द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम्॥ ३ ॥

इसी समय देवर्षि नारद सिद्धों और चारणोंसे सेवित हिमालय पर्वतपर उसका दर्शन करनेके लिये आये॥ ३॥

तमप्सरोगणाकीर्णं शान्तस्वननिनादितम्।
किन्नराणां सहस्रैश्च भृङ्गराजैस्तथैव च॥ ४ ॥
मद्गुभिः खञ्जरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः॥ ५ ॥
चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः।
राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा॥ ६ ॥

उस पर्वतपर सब ओर अप्सराएँ विचर रही थीं। चारों ओर विविध प्राणियोंकी शान्तिमयी ध्वनिसे वहाँका सारा प्रान्त व्याप्त हो रहा था। सहस्रों किन्नर, भ्रमर, मद्गु, विचित्र खञ्जरीट, चकोर, सैकड़ों मधुर वाणीसे सुशोभित विचित्र वर्णवाले मयूर, राजहंसोंके समुदाय तथा काले कोकिल वहाँ अपनी शान्त मधुर ध्वनि फैला रहे थे॥४-६॥

पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति।
चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा॥ ७ ॥
तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया।

पक्षिराज गरुड उस पर्वतपर नित्य विराजमान होते हैं। चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषिगण सम्पूर्ण जगत्के हितकी कामनासे वहाँ सदा आते रहते हैं॥ ७½॥

विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना॥ ८ ॥
तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः।
शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै॥ ९ ॥

वहीं महात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ने पुत्रके लिये तप किया था। वहीं कुमार कार्तिकेयने बाल्यावस्थामें देवताओंपर आक्षेप किया था और त्रिलोकीका अपमान करके पृथ्वीमें अपनी शक्ति गाड़ दी थी॥ ८-९॥

तत्रोवाच जगत् स्कन्दः क्षिपन् वाक्यमिदं तदा।
योऽन्योऽस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः॥
यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्।
सोऽभ्युद्धरत् त्विमां शक्तिमथवा कम्पयत्विति॥ ११॥

उस समय वहाँ स्कन्दने सम्पूर्ण जगत्पर आक्षेप करते हुए यह बात कही थी—'जो कोई भी दूसरा पुरुष मुझसे अधिक बलवान् हो, जिसे ब्राह्मण अधिक प्रिय हों, जो दूसरा व्यक्ति मुझसे भी अधिक ब्राह्मणभक्त तथा तीनों लोकोंमें पराक्रमशाली हो, वह इस शक्तिको उखाड़ दे अथवा हिला दे'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति।
अथ देवगणं सर्वं सम्भ्रान्तेन्द्रियमानसम्॥ १२॥
अपश्यद् भगवान् विष्णुः क्षिप्तं सासुरराक्षसम्।
किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन्॥ १३॥

उनकी यह तिरस्कारपूर्ण घोषणा सुनकर सब लोग व्यथित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'भला, कौन वीर इस शक्तिको उखाड़ सकता है?' उस समय भगवान् विष्णुने देखा कि सम्पूर्ण देवताओंकी इन्द्रियाँ और चित्त भयसे व्याकुल हैं तथा असुर और राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्पर स्कन्दद्वारा आक्षेप किया गया है। यह देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ क्या करना अच्छा होगा?॥१२-१३॥

अनामृष्य ततः क्षेपमवैक्षत च पावकिम्।
सम्प्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा॥ १४॥
कम्पयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः।

तब उस आक्षेपको सहन न करके विशुद्धात्मा भगवान् विष्णुने अग्निकुमार स्कन्दकी ओर देखा। फिर उन पुरुषोत्तमने उस समय उस प्रज्वलित शक्तिको बायें हाथसे पकड़कर हिला दिया॥ १४½॥

शक्त्यां तु कम्प्यमानायां विष्णुना बलिना तदा॥ १५॥
मेदिनी कम्पिता सर्वा सशैलवनकानना।

बलवान् भगवान् विष्णुके द्वारा उस शक्तिके कम्पित किये जानेपर पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी॥ १५½॥

शक्तेनापि समुद्धर्तुं कम्पिता साभवत् तदा॥ १६॥
रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना।

यद्यपि प्रभावशाली भगवान् विष्णु उसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ थे तो भी उन्होंने कुमार स्कन्दका तिरस्कार नहीं होने दिया। उन्हें अपमानसे बचा लिया॥ १६½॥

तां कम्पयित्वा भगवान् प्रह्लादमिदमब्रवीत्॥ १७॥
पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति।

उस शक्तिको हिलाकर भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—'देखो, कुमारमें कितना बल है ! यह कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकेगा' ॥ १७½ ॥

सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धरणनिश्चितः ॥ १८ ॥
जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत् ।

भगवान्‌के इस कथनको सहन न कर सकनेके कारण प्रह्लादने स्वयं ही उस शक्तिको उखाड़ फेंकनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और उस शक्तिको पकड़कर खींचा; परंतु वे उसे हिला भी न सके ॥ १८½ ॥

नादं महान्तं मुक्त्वा स मूर्च्छितो गिरिमूर्धनि ॥ १९ ॥
विह्वलः प्रापतद् भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः ।

हिरण्यकशिपुकुमार प्रह्लाद बड़े जोरसे चिग्घाड़कर मूर्च्छित एवं व्याकुल हो उस पर्वतशिखरकी भूमिपर गिर पड़े ॥ १९½ ॥

तत्रोत्तरां दिशं गत्वा शैलराजस्य पार्श्वतः ॥ २० ॥
तपोऽतप्यत दुर्धर्षं तात नित्यं वृषध्वजः ।

तात ! उसी गिरिराज हिमालयके पार्श्वभागमें उत्तर दिशाकी ओर जाकर भगवान् वृषध्वज शिवने नित्य-निरन्तर दुर्धर्ष तपस्या की है ॥ २०½ ॥

पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ॥ २१ ॥
आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः ।
न तत्र शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके उस आश्रमको प्रज्वलित अग्निने चारों ओरसे घेर रक्खा है । उस पर्वतशिखरका नाम आदित्य-गिरि है, जिसपर अजितात्मा पुरुष नहीं चढ़ सकते । यक्ष, राक्षस और दानवोंके लिये वहाँ पहुँचना सर्वथा असम्भव है ॥

दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् ।
भगवान् पावकस्तत्र स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ॥ २३ ॥

वह दस योजन विस्तृत शिखर आगकी लपटोंसे घिरा हुआ है । शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं विराजमान हैं ॥ २३ ॥

सर्वान् विघ्नान् प्रशमयन् महादेवस्य धीमतः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ॥ २४ ॥
देवान् संतापयंस्तत्र महादेवो महाव्रतः ।

परम बुद्धिमान् महादेवजी सहस्र दिव्य वर्षोंतक वहाँ एक पैरसे खड़े रहे और उनकी तपस्याके सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करते हुए अग्निदेव वहीं विराजमान थे । महान् व्रतधारी महादेवजी वहाँ देवताओंको संतप्त करते हुए महान् तपमें प्रवृत्त थे ॥ २४½ ॥

ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महामतिः ॥ २६ ॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥ २७ ॥

उसी बुद्धिमान् गिरिराज हिमवान्‌की पूर्व दिशाका आश्रय लेकर पर्वतके एकान्त तटप्रान्तमें महातपस्वी महा-बुद्धिमान् पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्य महाभाग सुमन्तु, महाबुद्धिमान् जैमिनि, तपस्वी पैल तथा वैशम्पायन—इन चार शिष्योंको वेद पढ़ा रहे थे ॥२५–२७॥

यत्र शिष्यैः परिवृतो व्यास आस्ते महातपाः ।
तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

जहाँ महातपस्वी व्यास अपने शिष्योंसे घिरे हुए बैठे थे, वहाँ शुकदेवजीने अपने पिताके उस रमणीय एवं उत्तम आश्रमको देखा ॥ २८ ॥

आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः ।
अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥
ददर्श सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् ।

उस समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले अरणीनन्दन शुकदेव आकाशमें स्थित सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे, इतनेहीमें व्यासजीने भी प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रको सब ओर अपनी प्रभा बिखेरते हुए आते देखा ॥

असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च ।
योगयुक्तं महात्मानं यथा बाणं गुणच्युतम् ॥ ३० ॥

योगयुक्त महात्मा शुकदेव धनुषकी डोरीसे छूटे हुए बाणके समान तीव्र गतिसे आ रहे थे । वे वृक्षों और पर्वतोंमें कहीं भी अटक नहीं पाते थे ॥ ३० ॥

सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः ।
यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ॥ ३१ ॥

निकट आकर अरणीपुत्र महामुनि शुकदेवने पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और शान्तभावसे उनके अन्य सब शिष्योंके साथ भी मिले ॥ ३१ ॥

ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः ।
शुको जनकराजेन संवादं प्रीतमानसः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए शुकने राजा जनकके साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त अपने पितासे कह सुनाया ॥ ३२ ॥

एवमध्यापयञ्शिष्यान् व्यासः पुत्रं च वीर्यवान् ।
उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार शक्तिशाली महामुनि पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्यों और पुत्रको पढ़ाते हुए हिमालयके शिखरपर ही रहने लगे ॥ ३३ ॥

ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्यावतस्थिरे ।
वेदाध्ययनसम्पन्नाः शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥
वेदेषु निष्ठां सम्प्राप्य साङ्गेष्वपि तपस्विनः ।
अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्राञ्जलयो गुरुम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर किसी समय वेदाध्ययनसे सम्पन्न, शान्तचित्त,

जितेन्द्रिय, साङ्गवेदमें पारङ्गत और तपस्वी शिष्यगण गुरुवर व्यासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये और उनसे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले ॥ ३४-३५ ॥

शिष्या ऊचुः

महता तेजसा युक्ता यशसा चापि वर्धिताः ।
एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणानुग्रहं कृतम् ॥ ३६ ॥

शिष्योंने कहा—गुरुदेव ! हम आपकी कृपासे महान् तेजस्वी हो गये हैं । हमारा यश भी चारों ओर बढ़ गया है । अब इस समय हम यह चाहते हैं कि आप एक बार और हमलोगोंपर अनुग्रह करें ॥ ३६ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह ।
उच्यतामिति तद् वत्सा यद् वः कार्यं प्रियं मया ॥ ३७ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि व्यासने उनसे कहा—'बच्चो ! कहो, क्या चाहते हो ? मुझे तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करना है ?' ॥ ३७ ॥

एतद् वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः।
पुनः प्राञ्जलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ॥ ३८ ॥
ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् ।
यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ॥ ३९ ॥

गुरुदेवका यह वचन सुनकर उन शिष्योंका हृदय हर्षसे खिल उठा । राजन् ! वे पुनः हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर गुरुजीको प्रणाम करके एक साथ यह उत्तम वचन बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! आप हमारे उपाध्याय हैं । यदि आप प्रसन्न हैं तो हम धन्य हो गये ॥ ३८-३९ ॥

काङ्क्षामस्तु वयं सर्वे वरं दातुं महर्षिणा ।
षष्ठः शिष्यो न ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ॥ ४० ॥

'हम सब लोग यह चाहते हैं कि महर्षि एक वरदान दें, वह यह कि आपका कोई छठा शिष्य प्रसिद्ध न हो । यहाँ हमलोगोंपर इतनी ही कृपा कीजिये ॥ ४० ॥

चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः ।
इह वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष नः काङ्क्षितो वरः ॥ ४१ ॥

'हम चार आपके शिष्य हैं और पञ्चम शिष्य गुरुपुत्र शुकदेव हैं । इन पाँचोंमें ही आपके पढ़ाये हुए सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हों; यही हमारे लिये मनोवाञ्छित वर है' ॥४१॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् ।
पराशरात्मजो धीमान् परलोकार्थचिन्तकः ॥ ४२ ॥
उवाच शिष्यान् धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः ।

शिष्योंकी यह बात सुनकर वेदार्थके तत्त्वज्ञ, पारलौकिक अर्थका चिन्तन करनेवाले, धर्मात्मा, पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीने अपने समस्त शिष्योंसे यह धर्मानुकूल कल्याण-कारी वचन कहा—॥ ४२½ ॥

ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ॥ ४३ ॥
ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते ।

'शिष्यगण ! जो ब्रह्मलोकमें अटल निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि वह पढ़नेकी इच्छासे आये हुए ब्राह्मण-को सदा ही वेद पढ़ावे ॥ ४३½ ॥

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥ ४४ ॥
नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि ।

'तुमलोग बहुसंख्यक हो जाओ और इस वेदका विस्तार करो । जिसका मन वशमें न हो, जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न करता हो तथा जो शिष्यभावसे पढ़ने न आया हो, उसे वेदाध्ययन नहीं कराना चाहिये ॥ ४४½ ॥

एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः ॥ ४५ ॥
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन ।

'ये सभी शिष्यके गुण हैं । किसीको शिष्य बनानेसे पहले उसके इन गुणोंको यथार्थरूपसे परख लेना चाहिये । जिसके सदाचारकी परीक्षा न ली गयी हो, उसे किसी प्रकार विद्यादान नहीं देना चाहिये ॥ ४५½ ॥

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ॥ ४६ ॥
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।

'जैसे आगमें तपाने, काटने और कसौटीपर कसनेसे शुद्ध सोनेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कुल और गुण आदिके द्वारा शिष्योंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये ॥ ४७ ॥
यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति ।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥ ४८ ॥

'तुमलोग अपने शिष्योंको किसी अनुचित या महान् भयदायक कार्यमें न लगाना । तुम्हारे पढ़ानेपर भी जिसकी जैसी बुद्धि होगी और जो पढ़नेमें जैसा परिश्रम करेगा, उसीके अनुसार उसकी विद्या सफल होगी । सब लोग दुर्गम संकटसे पार हों और सभी अपना कल्याण देखें ॥ ४७-४८ ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ॥ ४९ ॥

'ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको उपदेश देना चाहिये । यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है । इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ४९ ॥

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
यो निर्वदेत सम्मोहाद् ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५० ॥
सोऽभिध्यानाद् ब्राह्मणस्य पराभूयादसंशयम् ।

'स्वयम्भू ब्रह्माने यहाँ देवताओंकी स्तुतिके लिये वेदोंकी सृष्टि की है । जो मोहवश वेदके पारङ्गत ब्राह्मणकी निन्दा करता है, वह उसके अनिष्ट-चिन्तनके कारण निस्संदेह पराभवको प्राप्त होता है ॥ ५०½ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥ ५१ ॥
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।

'जो धार्मिक विधिका उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है

और जो अधर्मपूर्वक उसका उत्तर देता है, उन दोनोंमेंसे एककी मृत्यु हो जाती है अथवा एक दूसरेके द्वेषका पात्र बन जाता है ॥ ५१½ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति।
उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत्॥ ५२॥

'यह सब मैंने तुमलोगोंसे स्वाध्यायकी विधि बतायी है। यह तुम्हारे हृदयमें सदा स्मरण रहे; क्योंकि यह शिष्योंका उपकार कर सकती है' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः।
अन्योन्यं हृष्टमनसः परिषस्वजिरे तदा॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने गुरु व्यासके इस उपदेशको सुनकर उनके महातेजस्वी शिष्य मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और आपसमें एक-दूसरेको हृदयसे लगाने लगे ॥ १ ॥

उक्ताः स्मो यद् भगवता तदात्वायतिसंहितम्।
तन्नो मनसि संरूढं करिष्यामस्तथा च तत्॥ २॥

फिर व्यासजीसे बोले—'भगवन्! आपने भविष्यमें हमारे हितका विचार करके जो बातें बतायी हैं, वे हमारे मनमें बैठ गयी हैं। हम अवश्य उनका पालन करेंगे' ॥ २ ॥

अन्योन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः।
विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः॥ ३॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके गुरु और शिष्य सभी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रवचनकुशल शिष्योंने गुरुसे इस प्रकार निवेदन किया—॥ ३ ॥

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो॥ ४॥

'महामुने! अब हम इस पर्वतसे पृथ्वीपर जाना चाहते हैं। वेदोंके अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना ही हमारी इस यात्राका उद्देश्य है। प्रभो! यदि आपको यह रुचिकर जान पड़े तो हमें जानेकी आज्ञा दें' ॥ ४ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्॥ ५॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास यह धर्म और अर्थयुक्त हितकर वचन बोले—॥ ५ ॥

क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम्॥ ६॥

'शिष्यो! यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो तुम पृथ्वीपर या देवलोकमें जहाँ चाहो जा सकते हो; परंतु प्रमाद न करना; क्योंकि वेदमें बहुत सी प्ररोचनात्मक श्रुतियाँ हैं, जो व्याजसे (फलोंका लोभ दिखाकर) धर्मका प्रतिपादन करती हैं' ॥ ६ ॥

तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना।
जग्मुः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च॥ ७॥

सत्यवादी गुरुकी यह आज्ञा पाकर सभी शिष्योंने उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे व्यासजीकी प्रदक्षिणा करके वहाँसे चले गये' ॥ ७ ॥

अवतीर्य महीं तेऽथ चातुर्होत्रमकल्पयन्।
संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विशस्तथा॥ ८॥
पूज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः।
याजनाध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः॥ ९॥

पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने चातुर्होत्र कर्म (अग्निहोत्रसे लेकर सोमयागतक) का प्रचार किया और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके यज्ञ कराते हुए वे द्विजातियोंसे पूजित हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। यज्ञ कराने और वेदोंकी शिक्षा देनेमें ही वे तत्पर रहते थे। इन्हीं कर्मोंके कारण वे श्रीसम्पन्न और लोक-विख्यात हो गये थे ॥ ८-९ ॥

अवतीर्णेषु शिष्येषु व्यासः पुत्रसहायवान्।
तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपाविशत्॥ १०॥

शिष्योंके पर्वतसे नीचे उतर जानेपर व्यासजीके साथ उनके पुत्र शुकदेवके सिवा और कोई नहीं रह गया। वे बुद्धिमान् व्यासजी एकान्तमें ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठे थे ॥ १० ॥

तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः।
अथैनमब्रवीत् काले मधुराक्षरया गिरा॥ ११॥

उसी समय महातपस्वी नारदजी उस आश्रमपर पधारकर व्यासजीसे मिले और मधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥

भो भो ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते ।
एको ध्यानपरस्तूर्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ॥ १२ ॥

'हे ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ! आज आपके इस आश्रममें वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि क्यों नहीं हो रही है ? आप अकेले ध्यानमग्न होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं ? जान पड़ता है, आप किसी चिन्तामें मग्न हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते ।
रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो यथा ॥ १३ ॥
न भ्राजते यथापूर्वं निषादानामिवालयः ।
देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः ॥ १४ ॥

'वेदध्वनि न होनेके कारण इस पर्वतकी पहले-जैसी शोभा नहीं रही। रज और तमसे आच्छन्न हो यह राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी यह शैल-शिखर ब्रह्मघोषके बिना भीलोंके घरकी तरह श्रीहीन प्रतीत होता है ॥ १३-१४ ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः ।
वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा ॥ १५ ॥

'यहाँके ऋषि, देवता और महाबली गन्धर्व भी ब्रह्मघोष-से विमुक्त हो अब पहलेकी भाँति शोभा नहीं पा रहे हैं' ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
महर्षे यत् त्वया प्रोक्तं वेदवादविचक्षण ॥ १६ ॥
एतन्मनोऽनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम् ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली ॥ १७ ॥

नारदजीकी बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'वेदविद्याके विद्वान् महर्षे ! आपने जो कुछ कहा है, यह मेरे मनके अनुकूल ही है। आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वत्रकी बातें जाननेके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले हैं ॥ १६-१७ ॥

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं सर्वं तव मते स्थितम् ।
तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १८ ॥

'तीनों लोकोंमें जो बात होती है या हो चुकी है, वह सब आपकी जानकारीमें है। ब्रह्मर्षे ! बताइये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १८ ॥

यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर ।
विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः ॥ १९ ॥

'ब्रह्मर्षि नारद ! इस समय मेरा जो कर्तव्य है, उसे भी बताइये। अपने प्यारे शिष्योंसे बिछुड़ जानेके कारण इस समय मेरा यह मन विशेष प्रसन्न नहीं है' ॥ १९ ॥

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ॥ २० ॥

नारदजीने कहा—व्यासजी ! वेद पढ़कर उसका अभ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययनका दूषण है। व्रतका पालन न करना ब्राह्मणका दूषण है। वाहीक देशके लोग पृथ्वीके दूषण हैं और नये-नये खेल-तमाशा देखनेकी लालसा स्त्रीके लिये दोषकी बात है ॥ २० ॥

अधीयतां भवान् वेदान् सार्धं पुत्रेण धीमता ।
विधुन्वन् ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः ॥ २१ ॥

आप अपने वेदोच्चारणकी ध्वनिसे राक्षसभयजनित अन्धकारका नाश करते हुए बुद्धिमान् पुत्र शुकदेवजीके साथ वेदोंका स्वाध्याय करते रहें ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित् ।
तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः ॥ २२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और हर्षमें भरकर वे वेदाभ्यासरूपी व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करने लगे ॥ २२ ॥

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत् ।
स्वरेणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव ॥ २३ ॥

उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवके साथ शिक्षाके नियमानुसार उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको परिपूर्ण करते हुए-से वेदोंकी आवृत्ति आरम्भ कर दी ॥ २३ ॥

तयोरभ्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः ।
वातोऽतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः ॥ २४ ॥

नाना प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले वे पिता-पुत्र उक्त रूपसे वेदोंका अभ्यास कर ही रहे थे कि समुद्री हवासे प्रेरित होकर बड़े जोरकी आँधी चलने लगी ॥ २४ ॥

ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयत्।
शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः ॥ २५ ॥

तब अनध्याय-काल बताकर व्यासजीने अपने पुत्रको वेद पढ़नेसे उस समय रोक दिया। उनके मना करनेपर शुकदेवजीके मनमें इसका कारण जाननेके लिये प्रबल उत्कण्ठा हुई ॥ २५ ॥

अपृच्छत् पितरं ब्रह्मन् कुतो वायुरभूदयम्।
आख्यातुमर्हति भवान् वायोः सर्वं विचेष्टितम् ॥ २६ ॥

उन्होंने अपने पितासे पूछा—'ब्रह्मन्! इस वायुकी उत्पत्ति किससे हुई है? आप वायुकी सारी चेष्टाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन करें' ॥ २६ ॥

शुकस्यैतद् वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मितः।
अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

शुकदेवजीका यह वचन सुनकर व्यासजी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे और अनध्यायके कारणपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार बोले— ॥ २७ ॥

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः ॥ २८ ॥

'बेटा! तुम्हें स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तुम्हारा हृदय अत्यन्त निर्मल है। तुम रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो ॥ २८ ॥

आदर्शे स्वामिव च्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
न्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्ध्या समनुचिन्तय ॥ २९ ॥

'जैसे लोग दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी प्रकार तुम बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करते हो; अतः स्वयं ही वेदोंको अपने भीतर स्थापित करके बुद्धिद्वारा अनध्यायके कारणभूत वायुके विषयमें विचार करो ॥ २९ ॥

देवयानचरो विष्णोः पितृयाणश्च तामसः।
द्वावेतौ प्रेत्य पन्थानौ दिवं चाधश्च गच्छतः ॥ ३० ॥

'मरकर ऊपरके लोकोंमें जानेवाले और नीचेके लोकोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये दो मार्ग हैं, एक तो देवयान जो कि विष्णुलोकका मार्ग है, अतः सात्त्विक है, दूसरा पितृयान जो कि तामस है ॥ ३० ॥

पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः।
सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ॥ ३१ ॥

'पृथ्वीपर या आकाशमें जहाँ भी हवा चलती है, उसके बहनेके लिये सात मार्ग हैं। तुम क्रमशः उनका वर्णन सुनो ॥

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः।
तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी और आकाशमें जो महाबली और महान् भूतस्वरूप साध्य नामक देवगण अदृश्यभावसे रहते हैं, उनके दुर्जय पुत्रका नाम है समान ॥ ३२ ॥

उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः।
अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः ॥ ३३ ॥

'समानका पुत्र है उदान, उदानका पुत्र है व्यान, उसके पुत्रका नाम अपान जानना चाहिये और अपानसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है ॥ ३३ ॥

अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः।
पृथक् कर्माणि तेषां ते प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ३४ ॥

'प्राणके कोई संतान नहीं हुई। वह शत्रुओंको संताप देनेवाला और दुर्जय है। उन सबके कर्म पृथक्-पृथक् हैं, जिनका मैं तुमसे यथावत्‌रूपसे वर्णन करता हूँ ॥ ३४ ॥

प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक्।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

'वायुदेव प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् समस्त चेष्टाओंका सम्पादन करते हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंको अनुप्राणित (जीवित) रखते हैं, इसलिये 'प्राण' कहलाते हैं ॥ ३५ ॥

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः।
प्रथमः प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः ॥ ३६ ॥

'जो धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न बादलों और ओलोंको इधरसे उधर ले जाता है, वह प्रथम मार्गमें प्रवाहित होनेवाला 'प्रवह' नामक प्रथम वायु है ॥ ३६ ॥

अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः।
आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ॥ ३७ ॥

'जो आकाशमें रसकी मात्राओं और बिजली आदिकी उत्पत्तिके लिये प्रकट होता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न द्वितीय वायु 'आवह' नामसे प्रसिद्ध है। वह बड़ी भारी आवाजके साथ बहता है ॥ ३७ ॥

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥
यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम्।
उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः ॥ ३९ ॥
योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति।
उद्वहो नाम वंहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः ॥ ४० ॥

'जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्भव करता है, मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे 'उदान' कहते हैं, जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है तथा जीमूत नामक मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है, जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है ॥ ३८–४० ॥

समूह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग् घनाः।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः ॥ ४१ ॥
संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च ॥ ४२ ॥

योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा ।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥ ४३ ॥

'जिसके द्वारा इधर-उधर ले जाये गये अनेक प्रकारके महामेघ घटा बाँधकर जल बरसाना आरम्भ करते हैं, घटाके रूपमें घनीभूत होनेपर भी जिसकी प्रेरणासे सारे बादल फट जाते हैं, फिर वे वेणुनादके समान शब्द करनेके कारण 'नद' कहलाते हैं तथा प्राणियोंकी रक्षाके लिये पुनः जलका संग्रह करके घनीभूत हो जाते हैं, जो वायु देवताओंके आकाशमार्गसे जानेवाले विमानोंको स्वयं ही वहन करता है, वह पर्वतोंका मान मर्दन करनेवाला चतुर्थ वायु 'संवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥

येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुजता नगान् ।
वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ॥ ४४ ॥
दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान् ।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥ ४५ ॥

'जो रुक्षभावसे वेगपूर्वक महान् शब्दके साथ बहकर बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देता और उखाड़ फेंकता है तथा जिसके द्वारा संगठित हुए प्रलयकालीन मेघ 'बलाहक' संज्ञा धारण करते हैं, जिस वायुका संचरण भयानक उत्पात लानेवाला होता है तथा जो आकाशसे अपने साथ मेघोंकी घटाएँ लिये चलता है, उस अत्यन्त वेगशाली पञ्चम वायुको 'विवह' नाम दिया गया है ॥ ४४-४५ ॥

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥ ४७ ॥
यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ४८ ॥

'जिस वायुके आधारपर आकाशमें दिव्य जल ऊपर-ही-ऊपर प्रवाहित होते हैं, जो आकाशगङ्गाके पवित्र जलको धारण करके स्थित है और जिसके द्वारा दूरसे ही प्रतिहत होकर सहस्रों किरणोंके उत्पत्तिस्थान सूर्यदेव, जिनसे यह पृथ्वी प्रकाशित होती है, एक ही किरणसे युक्त जान पड़ते हैं तथा जिससे अमृतकी दिव्य निधि चन्द्रमाका भी पोषण होता है, वह विजयशीलोंमें श्रेष्ठ छठा वायुतत्त्व 'परिवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४६—४८ ॥

सर्वप्राणभृतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ॥ ४९ ॥
सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया ।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ५० ॥
यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥ ५१ ॥
येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते ।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ॥ ५२ ॥

'जो वायु अन्तकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको शरीरसे निकालता है, जिसके इस प्राणनिष्कासनरूप मार्गका मृत्यु तथा वैवस्वत यम अनुगमनमात्र करते हैं, सदा अध्यात्मचिन्तनमें लगी हुई शान्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति अनुसंधान करनेवाले तथा ध्यानके अभ्यासमें ही सानन्द रत रहनेवाले पुरुषोंको जो अमृतत्व देनेमें समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्षके दस हजार पुत्र सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तमें पहुँच गये तथा जिससे स्पर्शित होकर विलीन हुआ प्राणी यहाँसे केवल जाता है वापस नहीं लौटता, उस सर्वश्रेष्ठ सप्तम वायुका नाम 'परावह' है। उसका अतिक्रमण करना सभीके लिये सर्वथा कठिन है ॥ ४९—५२ ॥

एवमेते दितेः पुत्रा मारुताः परमाद्भुताः ।
अनारतं ते संवान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ॥ ५३ ॥

'इस प्रकार ये सात मरुद्गण दितिके अत्यन्त अद्भुत पुत्र हैं। इनकी सर्वत्र गति है। ये निरन्तर बहते और सबको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

एतत् तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः ।
कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवायता ॥ ५४ ॥

'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अत्यन्त वेगसे बहते हुए उस वायुके द्वारा यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालय भी सहसा काँप उठा है ॥ ५४ ॥

विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत् प्रव्यथते तदा ॥ ५५ ॥

'तात ! यह भगवान् विष्णुका निःश्वास है। जब कभी सहसा वह निःश्वास वेगसे निकल पड़ता है, उस समय यह सारा जगत् व्यथित हो उठता है ॥ ५५ ॥

तस्माद् ब्रह्मविदो वेदान् नाधीयन्तेऽतिवायति ।
वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं भवेत् ॥ ५६ ॥

'इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रचण्ड वायु (आँधी) चलनेपर वेदका पाठ नहीं करते हैं। वेद भी भगवान्का निःश्वास ही है। उस समय वेदपाठ करनेपर वायुको वायुसे भय प्राप्त होता है और उस वेदको भी पीड़ा होती है' ॥ ५६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः ।
उक्त्वा पुत्रमधीष्वेति व्योमगङ्गामगात् तदा ॥ ५७ ॥

अनध्यायके विषयमें यह बात कहकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास अपने पुत्र शुकदेवसे बोले—'अब तुम वेद-पाठ करो।' यों कहकर वे आकाशगङ्गाके तटपर चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अनध्यायनिमित्तकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अनध्यायके कारणका कथन नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ३२८
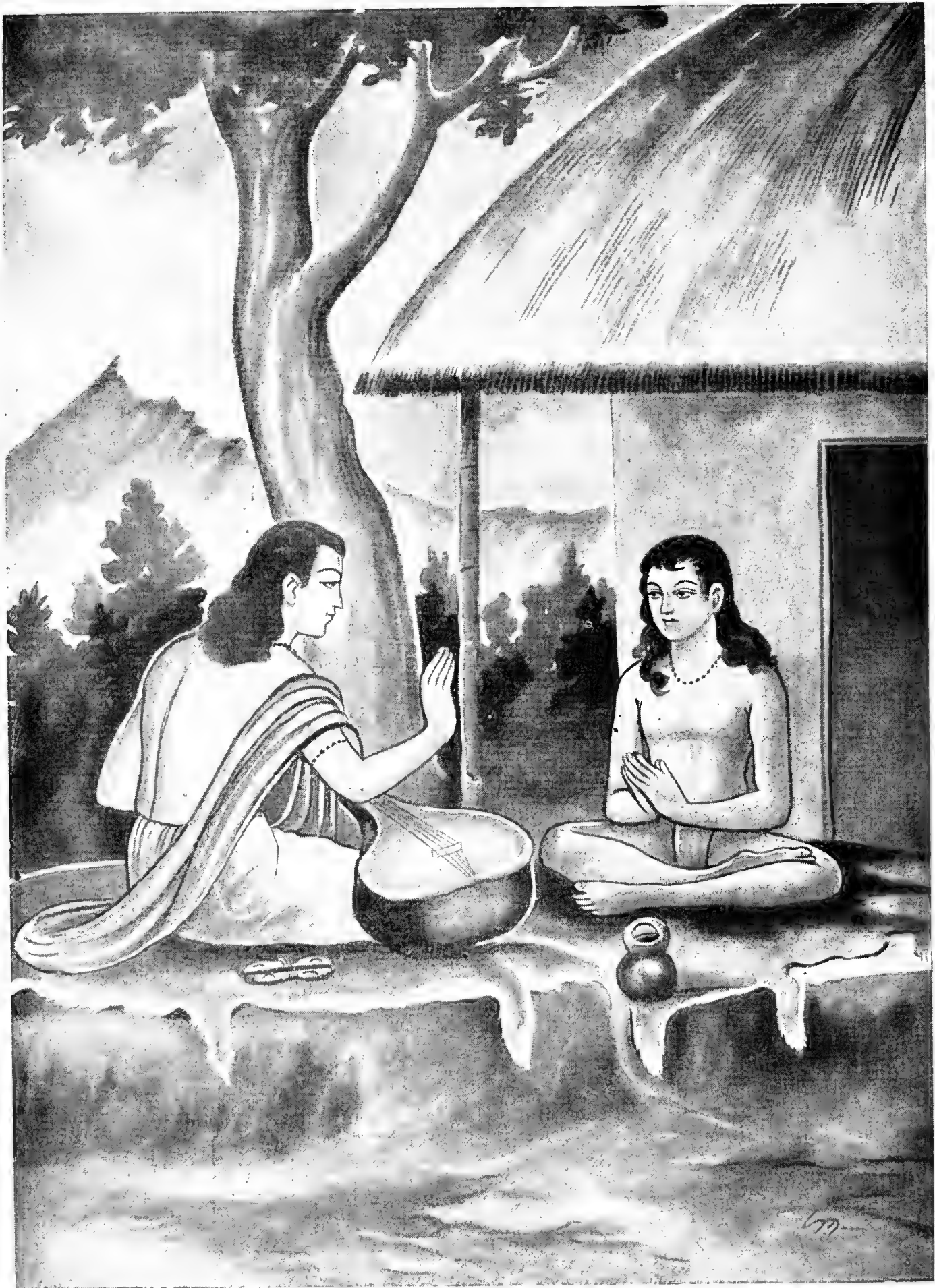
शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे ॥१॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत्॥ २ ॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देख शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य आदि निवेदन करके उनका पूजन किया ॥ २ ॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत्॥ ३ ॥

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स ! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ ?' यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही ॥ ३ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—'इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत्॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—वत्स ! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ६ ॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है ॥ ६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥ ७ ॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण) का साधन है ॥ ७ ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम्॥ ८ ॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है; अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता ॥ ८ ॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते॥ ९ ॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चञ्चल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है ॥ ९ ॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥ १० ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं ॥ १० ॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥ ११ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचावे ॥ ११ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम्॥ १२ ॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर तो कुछ है ही नहीं ॥ १२ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥ १३ ॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है ॥ १३ ॥

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः॥ १४ ॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित ॥ १४ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः॥ १५ ॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति॥ १६ ॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत

होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ॥ १७ ॥

मुने ! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ १८ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम्।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, संतोष रखे तथा कामना और चञ्चलताको त्याग दे ॥ १९ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥

तात शुकदेव ! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ॥ २० ॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये। सौम्य ! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और संतापसे छूट जाओगे ॥ २१ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २२ ॥

जो अजित् (परमात्मा) को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ॥ २२ ॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञानसे परितृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ॥ २४ ॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २५ ॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे ॥ २६ ॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे संतप्त होना पड़ता है। इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी संतापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते ? ॥ २६ ॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे ॥ २७ ॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रक्खा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है। यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है ? ॥ २७ ॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ॥ २८ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ॥ २८ ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥ २९ ॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ॥ २९ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दलदलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ॥ ३० ॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान्।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेह-जालसे आकृष्ट होकर

अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ॥ ३२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥ ३३ ॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो? ॥ ३३ ॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम् ।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? ॥ ३४ ॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ॥ ३५ ॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ (परमात्मा) की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ॥ ३७ ॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम्।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥ ३८ ॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥

यह संसार एक नदीके समान है; जिसका उपादान या उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है। गन्ध उस नदीकी कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है। क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है। इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे ॥ ३८-३९ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४० ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ॥ ४० ॥

त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥ ४१ ॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभाव-द्वारा अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ॥ ४१ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥

यह शरीर पञ्चभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत्।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाणयात् ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे जो चौबीस तत्त्वोंका

समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है ॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥
य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ॥ ४७½ ॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किंचन ॥ ४८ ॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ॥४८-४९॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते ।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥ ५० ॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ॥ ५० ॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५१ ॥
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ॥ ५१½ ॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ॥ ५२ ॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्‌में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ॥ ५२½ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ॥ ५२-५३½ ॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥ ५४ ॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ॥ ५४½ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥ ५५ ॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ॥ ५५½ ॥

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ॥५६½॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ॥ ५७½ ॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ॥ ५८½ ॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२९ ॥

त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव ! शास्त्र शोकको दूर

करनेवाला, शान्ति-कारक और कल्याणमय है। जो अपने शोकका नाश करनेके लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी होता है ॥ १ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं ॥ २ ॥

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ ४ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुखी होते हैं ॥ ४ ॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत्।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ॥ ५ ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये । ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ॥ ६ ॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ॥ ७ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ॥ ८ ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु संततिम्।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी संतानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ॥ १० ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ॥ १२ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्र-ज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ॥ १६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।

अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ १८ ॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ १९ ॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते) ॥ १९ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २० ॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना। संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण ॥ २० ॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ २१ ॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें संतोषको ही उत्तम धन समझते हैं ॥ २१ ॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ॥ २२ ॥

भूतेषु भावं संचिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ॥ २४ ॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किंचिद् धनिनो वाधनस्य च ॥ २६ ॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उत्तम गन्ध आदि विषयोंमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं ॥ २६ ॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७ ॥

प्राणियोंके एक दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥ २८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे ॥ २८ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥ २९ ॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है ॥ २९ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३० ॥

एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते ।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव ! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता ॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति ।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥ २ ॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञान-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे ॥ २ ॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ॥ ३ ॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं ॥ ३ ॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः ।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते ॥ ४ ॥

तृष्णासे व्यथित, दुखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है ॥ ४ ॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारंबार आते और बीतते चले जाते हैं ॥ ५ ॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते ॥ ६ ॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है। यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है ॥ ६ ॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥ ७ ॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं। वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः ॥ ८ ॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं ॥ ८ ॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात् ।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ९ ॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता ॥ ९ ॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ १० ॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं ॥ १० ॥

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ॥ ११ ॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥ १२ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है, तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है ॥ १२ ॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते ।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति ॥ १३ ॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते ॥ १३ ॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः ।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति ॥ १४ ॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो। वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और संतानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है ॥ १४ ॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा ।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ॥ १५ ॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है ॥ १५ ॥

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ॥ १६ ॥

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी संतान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ॥

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ॥ १७ ॥

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ॥ १७ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है तथापि उनके कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १९ ॥

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके संचित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ॥ १९ ॥

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ॥ २० ॥

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् ।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ॥ २१ ॥

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् ।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफलभोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ॥ २२ ॥

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् ।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥

शुकदेव ! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है । फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो ? ॥ २३ ॥

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः ।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ? ॥ २४ ॥

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है ॥ २४ ॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति ह्युदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ॥ २६ ॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है । कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ॥ २५-२६ ॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई संतानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ॥ २७ ॥

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं । इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं । आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते । अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः।
व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ३० ॥

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं, तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ॥ ३० ॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥

वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं, तो भी बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है ॥ ३२ ॥

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः ।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं ? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ॥ ३४ ॥

परंतु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्रोतसा सहसाऽऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ॥ ३६ ॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युः सर्वकामिनः ।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ॥

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही । सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ॥ ३७ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ ३८ ॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च ।
अप्रमत्ताः शठाञ्छूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः ।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ॥ ४० ॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ॥ ४१ ॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है । कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः ।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़ेसे ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं । कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः ।
इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं । मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका । यह जो ब्रह्म-नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो । इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४४ ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो । सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो । सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ॥ ४४ ॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम ।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ॥ ४५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४५ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् ।
संचिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ ४६ ॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः ।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा । विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है ।

कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किंतु अभ्युदय महान् हो ॥ ४७ ॥

ततो मुहूर्तं संचिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ॥ ४८ ॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम्।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ॥ ४९ ॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ॥ ४९ ॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है ॥ ५० ॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ॥ ५१ ॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्‌का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ॥ ५४ ॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ॥ ५४ ॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्रलोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ॥ ५५ ॥

रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ॥ ५६ ॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्‌को संतप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ॥ ५६ ॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम्।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ॥ ५७ ॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम्।
ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ५८ ॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम्।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ॥ ५९ ॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ॥ ६० ॥

आज मैं निःसंदेह जगत्‌के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ॥ ६० ॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम्।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ॥ ६१ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम्।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ॥ ६२ ॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम्।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ॥ ६३ ॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा ! बेटा ! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ' ॥ ६३ ॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः।
मोक्षमेवानुसंचिन्त्य गमनाय मनो दधे ॥ ६४ ॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारंबार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ॥ ६४ ॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम् ॥ ६५ ॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध-समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिगमने एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका प्रस्थानविषयक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन

भीष्म उवाच

गिरिशृङ्गं समारुह्य सुतो व्यासस्य भारत।
समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ॥ १ ॥
धारयामास चात्मानं यथाशास्त्रं यथाविधि।
पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कैलासशिखरपर आरूढ़ हो व्यासपुत्र शुकदेव एकान्तमें तृणरहित समतल भूमिपर बैठ गये और शास्त्रोक्त विधिसे पैरसे लेकर सिरतक सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्रमशः आत्माकी धारणा करने लगे। वे क्रमयोगके पूर्ण ज्ञाता थे ॥ १-२ ॥

ततः स प्राङ्मुखो विद्वानादित्ये नचिरोदिते।
पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ॥ ३ ॥
न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम्।
यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

थोड़ी ही देरमें जब सूर्योदय हुआ, तब ज्ञानी शुकदेव हाथ-पैर समेटकर विनीतभावसे पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठे और योगमें प्रवृत्त हो गये। उस समय बुद्धिमान् व्यासनन्दन जहाँ योगयुक्त हो रहे थे, वहाँ न तो पक्षियोंका समुदाय था, न कोई शब्द सुनायी पड़ता था और न दृष्टिको आकृष्ट करनेवाला कोई दृश्य ही उपस्थित था ॥ ३-४ ॥

स ददर्श तदाऽऽत्मानं सर्वसंगविनिःसृतम्।
प्रजहास ततो हासं शुकः सम्प्रेक्ष्य तत्परम् ॥ ५ ॥

उस समय उन्होंने सब प्रकारके संगोंसे रहित आत्माका दर्शन किया। उस परमतत्त्वका साक्षात्कार करके शुकदेवजी जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ५ ॥

स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम् ॥ ६ ॥

फिर मोक्षमार्गकी उपलब्धिके लिये योगका आश्रय ले महान् योगेश्वर होकर वे आकाशमें उड़नेके लिये तैयार हो गये ॥ ६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः।
निवेदयामास च तं स्वं योगं परमर्षये ॥ ७ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारदके पास जा उनकी प्रदक्षिणा की और उन परम ऋषिसे अपने योगके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया ॥ ७ ॥

शुक उवाच

दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन।
त्वत्प्रसादाद् गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते ॥ ८ ॥

शुकदेव बोले—महातेजस्वी तपोधन ! आपका कल्याण हो। अब मुझे मोक्षमार्गका दर्शन हो गया। मैं वहाँ जानेको तैयार हूँ। आपकी कृपासे मैं अभीष्ट गति प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत् ॥ ९ ॥
कैलासपृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः ॥ १० ॥

नारदजीकी आज्ञा पाकर व्यासकुमार शुकदेवजी उन्हें प्रणाम करके पुनः योगमें स्थित हो आकाशमें प्रविष्ट हुए। कैलासशिखरसे उछलकर वे तत्काल आकाशमें जा पहुँचे और सुनिश्चित ज्ञान पाकर वायुका रूप धारण करके श्रीमान् शुकदेव अन्तरिक्षमें विचरने लगे ॥ ९-१० ॥

तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम्।
ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुतरंहसम् ॥ ११ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंने ऊपर जाते हुए द्विजश्रेष्ठ शुकदेवको विनतानन्दन गरुड़के समान कान्तिमान् तथा मन और वायुके समान वेगशाली देखा ॥ ११ ॥

व्यवसायेन लोकांस्त्रीन् सर्वान् सोऽथ विचिन्तयन्।

आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥

वे निश्चयात्मक बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको आत्मभावसे देखते हुए बहुत दूरतक आगे बढ़ गये । उस समय उनका तेज सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था ॥

तमेकमनसं यान्तमव्यग्रमकुतोभयम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि जङ्गमानि चराणि च ॥ १३ ॥
यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा ।
पुष्पवर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

उन्हें निर्भय होकर शान्त और एकाग्रचित्तसे ऊपर जाते समय समस्त चराचर प्राणियोंने देखा और अपनी शक्ति तथा रीतिके अनुसार उनका यथोचित पूजन किया । देवताओंने उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा की ॥ १३-१४ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ॥ १५ ॥

उन्हें इस प्रकार जाते देख समस्त गन्धर्व, अप्सराओंके समुदाय तथा सिद्ध ऋषि-मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये ॥

अन्तरिक्षगतः कोऽयं तपसा सिद्धिमागतः ।
अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ॥ १६ ॥

और आपसमें कहने लगे—'तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हुआ यह कौन महात्मा आकाशमार्गसे जा रहा है, जिसका मुखमण्डल ऊपरकी ओर और शरीरका निचला भाग नीचेकी ओर ही है ? हमारी आँखें बरबस इसकी ओर खिंच जाती हैं' ॥ १६ ॥

ततः परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
भास्करं समुदीक्षन् स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत्॥१७॥

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध परम धर्मात्मा शुकदेवजी पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके सूर्यको देखते हुए मौनभावसे आगे बढ़ रहे थे ॥ १७ ॥

शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः ।
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः ॥ १८ ॥
सम्भ्रान्तमनसो राजन्नासन् परमविस्मिताः ।

वे अपने शब्दसे सम्पूर्ण आकाशको पूर्ण-सा कर रहे थे । राजन् ! उन्हें सहसा आते देख सम्पूर्ण अप्सराएँ मन-ही-मन घबरा उठीं और अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गयीं ॥ १८½ ॥

पञ्चचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः ॥ १९ ॥
दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम् ।
सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ॥ २० ॥

पञ्चचूडा आदि अप्सराओंके नेत्र विस्मयसे अत्यन्त खिल उठे थे । वे परस्पर कहने लगीं कि उत्तम गतिका आश्रय लेकर यह कौन-सा देवता यहाँ आ रहा है ? इसका निश्चय अत्यन्त दृढ़ है । यह सब प्रकारके बन्धनों तथा संशयोंसे मुक्त-सा हो गया है और इसके भीतर किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी है ॥ १९-२० ॥

ततः समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम् ।
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवतः ॥ २१ ॥

कुछ ही देरमें वे मलय नामक पर्वतपर जा पहुँचे, जहाँ उर्वशी और पूर्वचित्ति—ये दो अप्सराएँ सदा निवास करती हैं ॥ २१ ॥

तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम् ।
अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ॥ २२ ॥
अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत् ।
पितृशुश्रूषया बुद्धिं सम्प्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मर्षि व्यासजीके पुत्रकी यह उत्तम गति देख उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ । वे आपसमें कहने लगीं, 'अहो ! इस वेदाभ्यासपरायण ब्राह्मणकी बुद्धिमें कितनी अद्भुत एकाग्रता है ! पिताकी सेवासे थोड़े ही समयमें उत्तम बुद्धि पाकर यह चन्द्रमाके समान आकाशमें विचर रहा है ॥ २२-२३ ॥

पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः ।
अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ॥ २४ ॥

'यह बड़ा ही तपस्वी और पितृभक्त था और अपने पिताका बहुत ही प्यारा बेटा था । उनका मन सदा इसीमें लगा रहता था; फिर भी उन्होंने इसे जानेकी आज्ञा कैसे दे दी ?' ॥

उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित् ।
उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ॥ २५ ॥

उर्वशीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखा । उस समय उनका चित्त उसकी बातोंकी ओर चला गया था ॥ २५ ॥

सोऽन्तरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम् ।
विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा ॥ २६ ॥

आकाश, पर्वत, वन और काननोंसहित पृथ्वी एवं सरोवरों और सरिताओंकी ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली ॥ २६ ॥

ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात् समन्ततः ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते स्म देवताः ॥ २७ ॥

उस समय इन सबकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे बड़े आदरके साथ द्वैपायनकुमार शुकदेवजीको देखा । वे सब-की-सब अञ्जलि बाँधे खड़ी थीं ॥ २७ ॥

अब्रवीत् तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित् ।
पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति वै ॥ २८ ॥
ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः ।
एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

तब परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने उन सबसे कहा—'देवियो ! यदि मेरे पिताजी मेरा नाम लेकर पुकारते हुए इधर आ निकलें तो आप सब लोग सावधान होकर मेरी ओरसे उन्हें उत्तर देना । आप लोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है; इसलिये आप सब मेरी इतनी-सी बात मान लेना' ॥ २८-२९ ॥

शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः ।
समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समन्ततः ॥ ३० ॥

शुकदेवजीकी यह बात सुनकर काननोंसहित सम्पूर्ण दिशाओं, समुद्रों, नदियों, पर्वतों और पर्वतोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे यह उत्तर दिया—॥ ३० ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विप्र बाढमेवं भविष्यति ।
ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन्! आप जैसी आज्ञा देते हैं, निश्चय ही वैसा ही होगा। जब महर्षि व्यास आपको पुकारेंगे, तब हम सब लोग उन्हें उत्तर देंगी' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना

भीष्म उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः ।
प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ॥ १ ॥
तमो ह्यष्टविधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः ।
ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह वचन कहकर महातपस्वी शुकदेवजी सिद्धि पानेके उद्देश्यसे आगे बढ़ गये। बुद्धिमान् शुकने चार प्रकारके दोषोंका, आठ प्रकारके तमोगुणका तथा पाँच प्रकारके रजोगुणका परित्याग करके सत्त्वगुणको भी त्याग दिया*; यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते ।
ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् वे नित्य निर्गुण एवं लिङ्गरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गये। उस समय उनका तेज धूमहीन अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३ ॥

उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकम्पस्तथैव च ।
प्रादुर्भूतः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

उसी क्षण उल्काएँ टूटकर गिरने लगीं। दिशाओंमें दाह होने लगा और धरती डोलने लगी। यह सब आश्चर्य-की-सी घटना घटित हुई ॥ ४ ॥

द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः ।
निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान् दीर्यतीव ह ॥ ५ ॥

वृक्षोंने अपनी शाखाएँ अपने आप तोड़कर गिरा दीं। पर्वतोंने अपने शिखर भङ्ग कर दिये। वज्रपातके शब्दोंसे गिरिराज हिमालय विदीर्ण-सा होता जान पड़ता था ॥

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ॥ ६ ॥

सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। आग प्रज्वलित नहीं होती थी। सरोवर, सरिता और समुद्र सभी क्षुब्ध हो उठे ॥

ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगन्धि च ।
ववौ समीरणश्चापि दिव्यगन्धवहः शुचिः ॥ ७ ॥

इन्द्रने सरस और सुगन्धित जलकी वर्षा की तथा दिव्य गन्ध फैलाती हुई परम पवित्र वायु चलने लगी ॥ ७ ॥

स शृङ्गे प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसम्भवे ।
संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ॥ ८ ॥
शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ॥ ९ ॥

भरतनन्दन! आगे बढ़नेपर श्रीशुकदेवजीने पर्वतके दो दिव्य एवं सुन्दर शिखर देखे, जो एक दूसरेसे सटे हुए थे। उनमेंसे एक हिमालयका शिखर था और दूसरा मेरुपर्वतका। हिमालयका शिखर रजतमय होनेके कारण श्वेत दिखायी देता था और सुमेरुका स्वर्णमय शृङ्ग पीले रंगका था। इन दोनोंकी लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई सौ-सौ योजनकी थी। उत्तरदिशाकी ओर जाते समय ये दोनों सुरम्य शिखर शुकदेवजीकी दृष्टिमें पड़े ॥ ८-९ ॥

सोऽविशङ्केन मनसा तदैवाभ्यपतच्छुकः ।
ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ॥ १० ॥
अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

उन्हें देखकर वे पूर्ववत् निःशङ्क मनसे उनके ऊपर चढ़ गये। फिर तो वे दोनों पर्वतशिखर सहसा दो भागोंमें बँट गये और बीचसे फटे हुए-से दिखायी देने लगे। महाराज! यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १०½ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ॥ ११ ॥
न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः ।

तत्पश्चात् उन पर्वतशिखरोंसे वे सहसा आगे निकल गये। वह श्रेष्ठ पर्वत उनकी गतिको रोक न सका ॥ ११½ ॥

ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ॥ १२ ॥
गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः ।

यह देख सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों तथा जो

* सत्त्वगुण भी सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधनेवाला होता है। 'मैं सुखी हूँ, अज्ञानी हूँ,' ऐसा जो अभिमान हो जाता है, वह ज्ञानीको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है। इसलिये यहाँ सत्त्वगुणको भी त्याग देनेकी बात कही गयी है।

उस पर्वतपर रहनेवाले दूसरे लोग थे, उन सबने बड़े जोरसे हर्षनाद किया। उनकी हर्षध्वनि आकाशमें चारों ओर गूँज उठी ॥ १२½ ॥

दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधाकृतम् ॥ १३ ॥
साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत ।

भारत ! शुकदेवजीको पर्वत लाँघकर आगे बढ़ते और उस पर्वतको दो टुकड़ोंमें विदीर्ण होते देख वहाँ सब ओर 'साधु-साधु' शब्द सुनायी पड़ने लगे ॥ १३½ ॥

स पूज्यमानो देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ॥ १४ ॥
यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा ।
दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ॥ १५ ॥
आसीत् किल महाराज शुकाभिपतने तदा ।

महाराज ! देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, राक्षस और विद्याधरोंने उनका पूजन किया। वहाँसे शुकदेवजीके ऊपर उठते समय उनके चढ़ाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे वहाँ सब ओरका सारा आकाश छा गया ॥ १४-१५½ ॥

ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ॥ १६ ॥
शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम् ।

राजन् ! धर्मात्मा शुकने ऊर्ध्वलोकमें जाते समय खिले हुए वृक्षों और वनोंसे सुशोभित रमणीय मन्दाकिनी (आकाश-गङ्गा) का दर्शन किया ॥ १६½ ॥

तस्यां क्रीडन्त्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः ।

उसमें बहुत-सी अप्सराएँ स्नान एवं जलक्रीड़ा कर रही थीं। यद्यपि वे नंगी थीं, तो भी शुकदेवजीको शून्याकार (बाह्यज्ञानसे रहित एवं आत्मनिष्ठ) देख अपने शरीरको ढकने या छिपानेके लिये उद्यत नहीं हुईं ॥ १७½ ॥

तं प्रक्रामन्तमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ॥ १८ ॥
उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह ।

उन्हें इस प्रकार सिद्धिके लिये उत्क्रमण करते जान उनके पिता वेदव्यासजी भी स्नेहवश उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८½ ॥

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ॥ १९ ॥
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा ।

उधर शुकदेव वायुसे आकाशगामिनी ऊर्ध्वगतिका आश्रय ले अपना प्रभाव दिखाकर तत्काल ब्रह्मीभूत हो गये ॥ १९½ ॥

महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ॥ २० ॥
निमेषान्तरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ ।
स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ॥ २१ ॥

महातपस्वी व्यासजी दूसरी महायोगसम्बन्धिनी गतिका अवलम्बन करके ऊपरको उठे और पलक मारते-मारते उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँसे उन पर्वत-शिखरोंको दो भागोंमें विदीर्ण करके शुकदेवजी आगे बढ़े थे। वह स्थान शुकाभि-पतनके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उन्होंने उस स्थानको देखा ॥ २०-२१ ॥

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा ।
ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा ॥ २२ ॥

वहाँ रहनेवाले ऋषियोंने आकर व्यासजीसे उनके पुत्रका वह अलौकिक कर्म कह सुनाया। तब व्यासजीने शुकदेवका नाम लेकर बड़े जोरसे रोदन किया ॥ २२ ॥

स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रीँल्लोकाननुनाद्य वै ।
शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ २३ ॥
प्रत्यभाषत धर्मात्मा भोः शब्देनानुनादयन् ।

जब पिताने उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको गुँजाते हुए पुकारा, तब सर्वव्यापी, सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख होकर धर्मात्मा शुकने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करते हुए पिताको उत्तर दिया ॥ २३½ ॥

तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ॥ २४ ॥
प्रत्याहरञ्जगत् सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम् ।

उसीके साथ-साथ सम्पूर्ण चराचर जगत्ने उच्चस्वरसे 'भोः' इस एकाक्षर शब्दका उच्चारण करते हुए उत्तर दिया ॥ २४½ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ॥ २५ ॥
गिरिगह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति ।

तभीसे आजतक पर्वतोंके शिखरपर अथवा गुफाओंके आस-पास जब-जब आवाज दी जाती है, तब-तब वहाँके चराचर निवासी प्रतिध्वनिके रूपमें उसका उत्तर देते हैं, जैसा कि उन्होंने शुकदेवजीके लिये किया था ॥ २५½ ॥

अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥ २६ ॥
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम् ।

इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेवजी अन्तर्धान हो गये और शब्द आदि गुणोंका परित्याग करके परमपदको प्राप्त हुए ॥२६½॥

महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥
निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन् ।

अपने अमिततेजस्वी पुत्रकी यह महिमा देखकर व्यासजी उसीका चिन्तन करते हुए उस पर्वतके शिखर-पर बैठ गये ॥ २७½ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः ॥ २८ ॥
आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः ।
जले निलिलियरे काश्चित् काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे ॥ २९ ॥

उस समय मन्दाकिनीके तटपर क्रीड़ा करती हुई समस्त अप्सराएँ महर्षि व्यासको अपने निकट पाकर बड़ी घबराहटमें पड़ गयीं, अचेत-सी हो गयीं। कोई जलमें छिप गयीं और कोई लताओंकी झुरमुटमें ॥ २८-२९ ॥

वसनान्याददुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम्।
तां मुक्ततां तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ॥ ३०॥
सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद् व्रीडितश्च ह ॥ ३१॥

कुछ अप्सराओंने मुनिश्रेष्ठ व्यासको देखकर अपने वस्त्र पहन लिये। उस समय अपने पुत्रकी मुक्तता जानकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए और अपनी आसक्तिका विचार करके वे बहुत लज्जित भी हुए॥ ३०-३१॥

तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः।
पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः॥ ३२॥
तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा॥ ३३॥

इसी समय देवताओं और गन्धर्वोंसे घिरे हुए तथा महर्षियोंसे पूजित पिनाकधारी भगवान् शङ्कर वहाँ आ पहुँचे और पुत्र-शोकसे संतप्त वेदव्यासजीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ ३२-३३॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह।
वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः॥ ३४॥
स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः।
मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः॥ ३५॥

'ब्रह्मन्! तुमने पहले अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाशके समान शक्तिशाली पुत्र होनेका मुझसे वरदान माँगा था; अतः तुम्हें तुम्हारी तपस्याके प्रभाव तथा मेरी कृपासे पालित वैसा ही पुत्र प्राप्त हुआ। वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और परम पवित्र था॥ ३४-३५॥

स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः।
दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि॥ ३६॥

'ब्रह्मर्षे! इस समय उसने ऐसी उत्तम गति प्राप्त की है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, फिर भी तुम उसके लिये क्यों शोक कर रहे हो?॥ ३६॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति॥ ३७॥

'जबतक इस संसारमें पर्वतोंकी सत्ता रहेगी और जबतक समुद्रोंकी स्थिति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी अक्षय कीर्ति इस संसारमें छायी रहेगी॥

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने॥ ३८॥

'महामुने! तुम मेरे प्रसादसे इस जगत्‌में सदा अपने पुत्रसदृश छायाका दर्शन करते रहोगे। वह सब ओर दिखायी देगी, कभी तुम्हारी आँखोंसे ओझल न होगी'॥

सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत।
छायां पश्यन् समावृत्तः स मुनिः परया मुदा॥ ३९॥

भरतनन्दन! साक्षात् भगवान् शंकरके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्वत्र अपने पुत्रकी छाया देखते हुए मुनिवर व्यास बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमपर लौट आये॥ ३९॥

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ ४०॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह शुकदेवजीके जन्म और परमपद-प्राप्तिकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारसे सुनायी है॥ ४०॥

एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिर्नारदः पुरा।
व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे॥ ४१॥

राजन्! सबसे पहले देवर्षि नारदजीने यह वृत्तान्त मुझे बताया था। महायोगी व्यासजी भी बातचीतके प्रसंगमें पद-पदपर इस प्रसङ्गको दुहराया करते हैं॥ ४१॥

इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम्।
धारयेद् यः शमपरः स गच्छेत् परमां गतिम्॥ ४२॥

जो पुरुष मोक्षधर्मसे युक्त इस परम पवित्र इतिहासको सुनकर या पढ़कर अपने हृदयमें धारण करेगा, वह शान्ति-परायण हो परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगा॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पतनसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिके वर्णनकी समाप्ति नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३३॥

चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

बदरिकाश्रममें नारदजीके पूछनेपर भगवान् नारायणका परमदेव परमात्माको ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताना

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी जो भी सिद्धि पाना चाहे, वह किस देवताका पूजन करे?॥ १॥

कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम्।
विधिना केन जुहुयाद् दैवं पित्र्यं तथैव च॥ २॥

मनुष्यको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसे परम कल्याण किस साधनसे सुलभ हो सकता है ? वह किस विधिसे देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे होम करे ? ॥ २ ॥

मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः ।
स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद् येन न च्यवते दिवः ॥ ३ ॥

मुक्त पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? स्वर्गमें गये हुए मनुष्यको क्या करना चाहिये, जिससे वह स्वर्गसे नीचे न गिरे ? ॥ ३ ॥

देवतानां च को देवः पितॄणां च पिता तथा ।
तस्मात् परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

देवताओंका भी देवता और पितरोंका भी पिता कौन है ? अथवा उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व क्या है ? पितामह ! इन सब बातोंको आप मुझे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गूढं मां प्रश्नवित् प्रश्नं पृच्छसे त्वमिहानघ ।
न ह्येतत् तर्कया शक्यं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ५ ॥
ऋते देवप्रसादाद् वा राजन् ज्ञानागमेन वा ।
गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! तुम प्रश्न करना खूब जानते हो । इस समय तुमने मुझसे बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है । राजन् ! भगवान्‌की कृपा अथवा ज्ञानप्रधान शास्त्रके बिना केवल तर्कके द्वारा सैकड़ों वर्षोंमें भी इन प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया जा सकता । शत्रुसूदन ! यद्यपि यह विषय समझनेमें बहुत कठिन है, तो भी तुम्हारे लिये तो इसकी व्याख्या करनी ही है ॥ ५-६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ७ ॥

इस विषयमें जानकार लोग देवर्षि नारद और नारायण ऋषिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः ।
धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत ॥ ८ ॥

मेरे पिताजीने मुझे यह बताया था कि भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा, चतुर्मूर्ति और सनातन देवता हैं । वे ही एक समय धर्मके पुत्ररूपसे प्रकट हुए थे ॥ ८ ॥

कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

महाराज ! स्वायम्भुव मन्वन्तरके सत्ययुगमें उन स्वयम्भू भगवान् वासुदेवके चार अवतार हुए थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—नर, नारायण, हरि और कृष्ण ॥ ९ ॥

तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ ।
बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकामये ॥ १० ॥

उनमेंसे अविनाशी नारायण और नर बदरिकाश्रममें जाकर एक सुवर्णमय रथपर स्थित हो घोर तपस्या करने लगे ॥ १० ॥

अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोरमम् ।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ कृशौ धमनिसंततौ ॥ ११ ॥
तपसा तेजसा चैव दुर्निरीक्ष्यौ सुरैरपि ।
यस्य प्रसादं कुर्वाते स देवौ द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥

उनका वह मनोरम रथ आठ पहियोंसे युक्त था और उसमें अनेकानेक प्राणी जुते हुए थे । वे दोनों आदिपुरुष जगदीश्वर तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये । उनके शरीरकी नसें दिखायी देने लगीं । तपस्यासे उनका तेज इतना बढ़ गया था कि देवताओंको भी उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था । जिनपर वे कृपा करते थे, वही उन दोनों देवेश्वरोंका दर्शन कर सकता था ॥ ११-१२ ॥

नूनं तयोरनुमते हृदि हृच्छयचोदितः ।
महामेरोर्गिरेः श्रृङ्गात् प्रच्युतो गन्धमादनम् ॥ १३ ॥

निश्चय ही उन दोनोंकी इच्छाके अनुसार अपने हृदयमें अन्तर्यामीकी प्रेरणा होनेपर देवर्षि नारद महामेरु पर्वतके शिखरसे गन्धमादन पर्वतपर उतर पड़े ॥ १३ ॥

नारदः सुमहद्भूतं सर्वलोकानचीचरत् ।
तं देशमगमद् राजन् बदर्याश्रममाशुगः ॥ १४ ॥

राजन् ! नारदजी सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते थे; अतः वे शीघ्रगामी मुनि बदरिकाश्रमके उस विशाल प्रदेशमें घूमते-घामते आ पहुँचे, जो महान् प्राणियोंसे युक्त था ॥ १४ ॥

तयोराह्निकवेलायां तस्य कौतूहलं त्वभूत् ।
इदं तदास्पदं कृत्स्नं यस्मिँल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
सदेवासुरगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ।

जब वहाँ भगवान् नर और नारायणके नित्यकर्मका समय हुआ, उसी समय नारदजीके मनमें उनके दर्शनके लिये बड़ी उत्कण्ठा हुई । वे सोचने लगे, 'अहो ! यह उन्हीं भगवान्‌का स्थान है, जिनके भीतर देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर और महान् नागोंसहित सम्पूर्ण लोक निवास करते हैं ॥ १५½ ॥

एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा ॥ १६ ॥
धर्मस्य कुलसंताने धर्मादेभिर्विवर्धितः ।
अहो ह्यनुगृहीतोऽद्य धर्म एभिः सुरैरिह ॥ १७ ॥
नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा ।

'पहले ये एक ही रूपमें विद्यमान थे; फिर धर्मकी वंश-परम्पराका विस्तार करनेके लिये ये चार विग्रहोंमें प्रकट हुए । इन चारोंने अपने उपार्जित धर्मसे धर्मदेवकी वंश-परम्पराको बढ़ाया है । अहो ! इस समय नर, नारायण, कृष्ण और हरि—इन चारों देवताओंने धर्मपर बड़ा अनुग्रह किया है ॥ १६-१७½ ॥
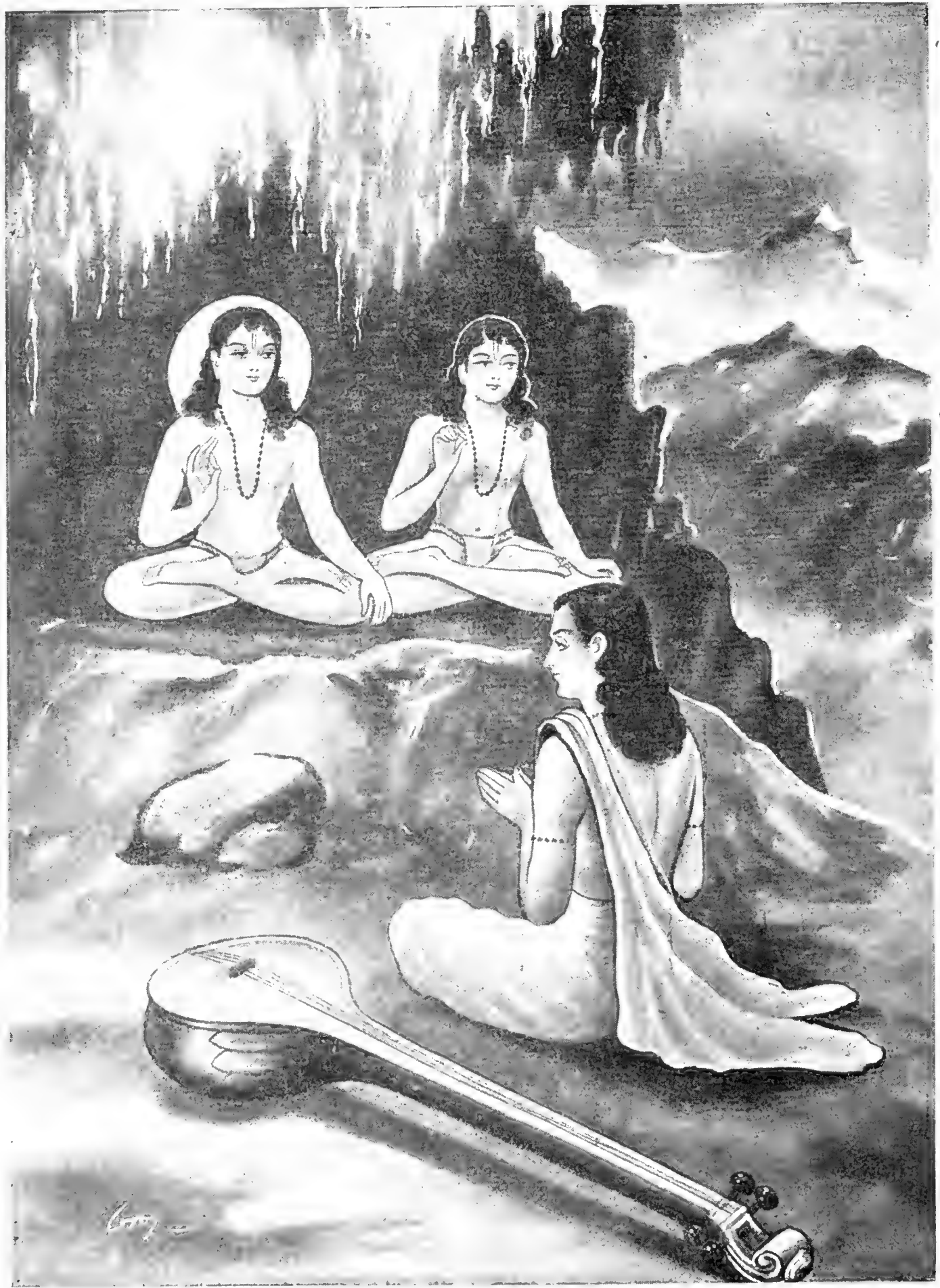
नर-नारायणका नारदजीके साथ संवाद

अत्र कृष्णो हरिश्चैव कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥ १८ ॥
स्थितौ धर्मोत्तरौ ह्येतौ तथा तपसि धिष्ठितौ ।

'इनमेंसे हरि और कृष्ण किसी और कार्यमें संलग्न हैं; परंतु ये दोनों भाई नारायण और नर धर्मको ही प्रधान मानते हुए तपस्यामें संलग्न हैं ॥ १८½ ॥

एतौ हि परमं धाम कानयोराह्निकक्रिया ॥ १९ ॥
पितरौ सर्वभूतानां दैवतं च यशस्विनौ ।
कां देवतां तु यजतः पितॄन् वा कान् महामती ॥ २० ॥

'ये ही दोनों परमधामस्वरूप हैं। इनका यह नित्यकर्म कैसा है? ये दोनों यशस्वी देवता सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और देवता हैं। ये परम बुद्धिमान् दोनों बन्धु भला किस देवताका यजन और किन पितरोंका पूजन करते हैं?' ॥ १९-२० ॥

इति संचिन्त्य मनसा भक्त्या नारायणस्य तु ।
सहसा प्रादुरभवत् समीपे देवयोस्तदा ॥ २१ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर भगवान् नारायणके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो नारदजी सहसा उन देवताओंके समीप प्रकट हो गये ॥ २१ ॥

कृते दैवे च पित्र्ये च ततस्ताभ्यां निरीक्षितः ।
पूजितश्चैव विधिना यथाप्रोक्तेन शास्त्रतः ॥ २२ ॥

भगवान् नर और नारायण जब देवता और पितरोंकी पूजा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने नारदजीको देखा और शास्त्रमें बतायी हुई विधिसे उनका पूजन किया ॥ २२ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमपूर्वं विधिविस्तरम् ।
उपोपविष्टः सुप्रीतो नारदो भगवानृषिः ॥ २३ ॥

उनके द्वारा शास्त्रविधिका यह अपूर्व विस्तार और अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार देखकर उनके पास ही बैठे हुए देवर्षि भगवान् नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

नारायणं संनिरीक्ष्य प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
नमस्कृत्वा महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

प्रसन्न चित्तसे महादेव भगवान् नारायणकी ओर देखकर नारदजीने उन्हें नमस्कार किया और इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

नारद उवाच

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे ।
त्वमजः शाश्वतो धाता मातामृतमनुत्तमम् ॥ २५ ॥

नारदजी बोले—भगवन्! अङ्ग और उपाङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदों तथा पुराणोंमें आपकी ही महिमाका गान किया जाता है। आप अजन्मा, सनातन, सबके माता-पिता और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं ॥ २५ ॥

प्रतिष्ठितं भूतभव्यं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ २६ ॥
यजन्ते त्वामहरहर्नानामूर्तिसमास्थितम् ।

देव! आपमें ही भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। गार्हस्थ्यमूलक चारों आश्रमोंके सब लोग नाना रूपोंमें स्थित हुए आपकी ही प्रतिदिन पूजा करते हैं ॥ २६½ ॥

पिता माता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो गुरुः ।
कं त्वद्य यजसे देवं पितरं कं न विद्महे ॥ २७ ॥
(कमर्चसि महाभाग तन्मे ब्रूहीह पृच्छतः ।)

आप ही सम्पूर्ण जगत्के माता, पिता और सनातन गुरु हैं, तो भी आज आप किस देवता और किस पितरकी पूजा करते हैं? यह मैं समझ नहीं पाया। अतः महाभाग! मैं आपसे पूछ रहा हूँ' मुझे बताइये कि आप किसकी पूजा करते हैं? ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवाच्यमेतद् वक्तव्यमात्मगुह्यं सनातनम् ।
तव भक्तिमतो ब्रह्मन् वक्ष्यामि तु यथातथम् ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! तुमने जिसके विषयमें प्रश्न किया है, वह अपने लिये गोपनीय विषय है। यद्यपि यह सनातन रहस्य किसीसे कहने योग्य नहीं है, तथापि तुम-जैसे भक्त पुरुषको तो उसे बताना ही चाहिये; अतः मैं यथार्थ रूपसे इस विषयका वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

यत् तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ २९ ॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते ।
त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ ३० ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।
अव्यक्ता व्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरव्यया ॥ ३१ ॥

जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है, जो इन्द्रियों, विषयों और सम्पूर्ण भूतोंसे परे है, वही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है; अतः क्षेत्रज्ञ नामसे कहा जाता है, वही त्रिगुणातीत तथा पुरुष कहलाता है। उसीसे त्रिगुणमय अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है। द्विजश्रेष्ठ! उसीको व्यक्तभावमें स्थित, अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है ॥ २९-३१ ॥

तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः ।
आवाभ्यां पूज्यतेऽसौ हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ ३२ ॥

वह सदसत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है, इस बातको जान लो। हम दोनों उसीकी पूजा करते तथा उसीको देवता और पितर मानते हैं ॥ ३२ ॥

नास्ति तस्मात् परोऽन्यो हि पिता देवोऽथ वा द्विज ।
आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयावहे ॥ ३३ ॥

ब्रह्मन्! उससे बढ़कर दूसरा कोई देवता या पितर नहीं है। वही हमलोगोंका आत्मा है, यह जानना चाहिये; अतः हम उसीकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

तेनैषा प्रथिता ब्रह्मन् मर्यादा लोकभाविनी ।

दैवं पित्र्यं च कर्तव्यमिति तस्यानुशासनम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! उसीने लोकको उन्नतिके पथपर ले जानेवाली यह धर्मकी मर्यादा स्थापित की है। देवताओं और पितरोंकी पूजा करनी चाहिये, यह उसीकी आज्ञा है॥ ३४ ॥

ब्रह्मा स्थाणुर्मनुर्दक्षो भृगुर्धर्मस्तपो यमः ।
मरीचिरङ्गिराऽत्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३५॥
वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च ।
कर्दमश्चापि यः प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च ॥ ३६ ॥
एकविंशतिरुत्पन्नास्ते प्रजापतयः स्मृताः ।
तस्य देवस्य मर्यादां पूजयन्तः सनातनीम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, तप, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, कर्दम, क्रोध और विक्रीत—ये इक्कीस प्रजापति उसी परमात्मासे उत्पन्न बताये गये हैं तथा उसी परमात्माकी सनातन धर्म-मर्यादाका पालन एवं पूजन करते हैं ॥ ३५–३७ ॥

दैवं पित्र्यं च सततं तस्य विज्ञाय तत्त्वतः ।
आत्मप्राप्तानि च ततः प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ द्विज उसीके उद्देश्यसे किये जानेवाले देवता तथा पितृ-सम्बन्धी कार्योंको ठीक-ठीक जानकर अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

स्वर्गस्था अपि ये केचित् तान् नमस्यन्ति देहिनः ।
ते तत्प्रसादाद् गच्छन्ति तेनादिष्टफलां गतिम् ॥ ३९ ॥

स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंमेंसे भी जो कोई उस परमात्माको प्रणाम करते हैं, वे उसके कृपा-प्रसादसे उसीकी आज्ञाके अनुसार फल देनेवाली उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव च ।
कलाः पञ्चदश त्यक्त्वा ते मुक्ता इति निश्चयः ॥ ४० ॥

जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धिरूप सत्रह गुणोंसे, सब कर्मोंसे रहित हो पंद्रह कलाओंको त्याग करके स्थित हैं, वे ही मुक्त हैं, यह शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

मुक्तानां तु गतिर्ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता ।
स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मन् ! मुक्त पुरुषोंकी गति क्षेत्रज्ञ परमात्मा निश्चित किया गया है । वही सर्वसद्गुणसम्पन्न तथा निर्गुण भी कहलाता है ॥ ४१ ॥

दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः ।
एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम् ॥ ४२ ॥

ज्ञानयोगके द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। हम दोनोंका आविर्भाव उसीसे हुआ है—ऐसा जानकर हम दोनों उस सनातन परमात्माकी पूजा करते हैं ॥ ४२

तं वेदाश्चाश्रमाश्चैव नानामतसमाश्रिताः ।
भक्त्या सम्पूजयन्त्याशु गतिं चैषां ददाति सः ॥ ४३ ॥

चारों वेद, चारों आश्रम तथा नाना प्रकारके मतोंका आश्रय लेनेवाले लोग भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं और वह इन सबको शीघ्र ही उत्तम गति प्रदान करता है ॥ ४३ ॥

ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समास्थिताः ।
एतदभ्यधिकं तेषां यत् ते तं प्रविशन्त्युत ॥ ४४ ॥

जो सदा उसका स्मरण करते तथा अनन्य भावसे उसकी शरण लेते हैं, उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वे उसके स्वरूपमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४४ ॥

इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्तितः ।
भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतः॥ ४५ ॥

नारद ! ब्रह्मर्षे ! तुममें भगवान्‌के प्रति भक्ति और प्रेम है । हमलोगोंके प्रति भी तुम्हारा भक्तिभाव बना हुआ है । इसलिये हमने तुम्हारे सामने इस गोपनीय विषयका वर्णन किया है और तुम्हें इसे सुननेका शुभ अवसर मिला है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका श्वेतद्वीपदर्शन, वहाँके निवासियोंके स्वरूपका वर्णन, राजा उपरिचरका चरित्र तथा पाञ्चरात्रकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो
नारायणेनोत्तमपूरुषेण ।
जगाद वाक्यं द्विपदां वरिष्ठं
नारायणं लोकहिताधिवासम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् नारायणने जब पुरुषप्रवर नारदजीसे इस प्रकार कहा, तब वे लोकहितके आश्रयभूत पुरुषाग्रगण्य भगवान् नारायणसे यों बोले ॥ १ ॥

नारद उवाच

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म
कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा ।

तत् साध्यतां लोकहितार्थमद्य
गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम् ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आप समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। आपने जिसके लिये धर्मके गृहमें चार स्वरूपोंमें अवतार धारण किया है, उस प्रयोजनकी लोकहितके लिये सिद्धि कीजिये। अब मैं (श्वेतद्वीपमें स्थित) आपके आदिविग्रहका दर्शन करने जाता हूँ ॥ २ ॥

पूजां गुरूणां सततं करोमि
परस्य गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम्।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ
तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥ ३ ॥

लोकनाथ ! मैं गुरुजनोंका सदा आदर करता हूँ। किसीकी गुप्त बात पहले कभी दूसरोंके समक्ष प्रकट नहीं की है। मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया, तपस्या की और कभी असत्य-भाषण नहीं किया है ॥ ३ ॥

गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे
शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्।
तं चादिदेवं सततं प्रपन्न
एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥ ४ ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः
कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम्।

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार हाथ, पैर, उदर और उपस्थ—इन चारोंकी मैंने रक्षा की है। शत्रु और मित्रके प्रति मैं सदा समानभाव रखता हूँ। इन आदिदेव परमात्मा श्रीनारायणकी निरन्तर शरण लेकर मैं अनन्यभावसे सदा उन्हींका भजन करता हूँ। इन सब विशेष कारणोंसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। ऐसी दशामें मैं उन अनन्त परमेश्वरका दर्शन कैसे नहीं कर सकता हूँ ? ॥ ४ १/२ ॥

तत् पारमेष्ठ्यस्य वचो निशम्य
नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता ॥ ५ ॥
गच्छेति तं नारदमुक्तवान् स
सम्पूजयित्वाऽऽत्मविधिक्रियाभिः।

ब्रह्मपुत्र नारदजीका यह वचन सुनकर सनातन धर्मके रक्षक भगवान् नारायणने उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ५ १/२ ॥

ततो विसृष्टः परमेष्ठिपुत्रः
सोऽभ्यर्चयित्वा तमृषिं पुराणम् ॥ ६ ॥
खमुत्पपातोत्तमयोगयुक्त-
स्ततोऽधिमेरौ सहसा निलिल्ये।

उनसे विदा लेकर ब्रह्मकुमार नारद उन पुरातन ऋषि नारायणका पूजन करके उत्तम योगसे युक्त हो आकाशकी ओर उड़े और सहसा मेरुपर्वतपर पहुँचकर अदृश्य हो गये ॥

तत्रावतस्थे च मुनिर्मुहूर्त-
मेकान्तमासाद्य गिरेः स शृङ्गे ॥ ७ ॥
आलोकयन्नुत्तरपश्चिमेन
ददर्श चाप्यद्भुतमुक्तरूपम्।

मेरुके शिखरपर एकान्त स्थानमें जाकर नारद मुनिने दो घड़ीतक विश्राम किया। फिर वहाँसे उत्तर-पश्चिमकी ओर दृष्टिपात करनेपर उन्होंने पूर्व-वर्णित एक अद्भुत दृश्य देखा ॥

क्षीरोदधेर्योत्तरतो हि द्वीपः
श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः ॥ ८ ॥
मेरोः सहस्रैः स हि योजनानां
द्वात्रिंशतोर्ध्वं कविभिर्निरुक्तः।
अनिन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र
निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनस्ते ॥ ९ ॥

क्षीरसागरके उत्तरभागमें जो श्वेत नामसे प्रसिद्ध विशाल द्वीप है, वह उनके सामने प्रकट हो गया। विद्वानोंने उस द्वीपको मेरुपर्वतसे बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। वहाँके निवासी इन्द्रियोंसे रहित, निराहार तथा चेष्टारहित एवं ज्ञानसम्पन्न होते हैं। उनके अङ्गोंसे उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है ॥ ८-९ ॥

श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापा-
श्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणाम्।
वज्रास्थिकायाः सममानोन्माना
दिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः॥ १० ॥
छत्राकृतिशीर्षा मेघौघनिनादाः
सममुष्कचतुष्का राजीवच्छतपादाः।
षष्ट्या दन्तैर्युक्ताः शुक्लैरष्टाभिर्दंष्ट्राभिर्ये
जिह्वाभिर्ये विश्ववक्त्रं लेलिह्यन्ते सूर्यप्रख्यम् ॥ ११ ॥

उस द्वीपमें सब प्रकारके पापोंसे रहित श्वेत वर्णवाले पुरुष निवास करते हैं। उनकी ओर देखनेसे पापी मनुष्योंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके शरीर तथा हड्डियाँ वज्रके समान सुदृढ़ होती हैं। वे मान और अपमानको समान समझते हैं। उनके अङ्ग दिव्य होते हैं। वे शुभ (योगके प्रभावसे उत्पन्न) बलसे सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तकका आकार छत्रके समान और स्वर मेघोंकी घटाके गर्जनकी भाँति गम्भीर होता है। उनके बराबर-बराबर चार भुजाएँ होती हैं। उनके पैर सैकड़ों कमलसदृश रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। उनके मुँहमें साठ सफेद दाँत और आठ दाढ़ें होती हैं। वे सूर्यके समान कान्तिमान् तथा सम्पूर्ण विश्वको अपने मुखमें रखनेवाले महाकालको भी अपनी जिह्वाओंसे चाट लेते हैं ॥ १०-११ ॥

देवं भक्त्या विश्वोत्पन्नं
यस्मात् सर्वे लोकाः सम्प्रसूताः।
वेदा धर्मा मुनयः शान्ता
देवाः सर्वे तस्य निसर्गः ॥ १२ ॥

जिनसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, सारे लोक प्रकट हुए हैं, वेद, धर्म, शान्त स्वभाववाले मुनि तथा सम्पूर्ण देवता जिनकी सृष्टि हैं, उन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको श्वेतद्वीपके निवासी भक्तिभावसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ।
कथं ते पुरुषा जाताः का तेषां गतिरुत्तमा ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! श्वेतद्वीपमें रहनेवाले पुरुष इन्द्रिय, आहार तथा चेष्टासे रहित क्यों होते हैं ? उनके शरीरसे सुन्दर गन्ध क्यों निकलती है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है तथा वे किस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ? ॥१३॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम ।
तेषां लक्षणमेतद्धि तच्छ्वेतद्वीपवासिनाम् ॥ १४ ॥
तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ।
त्वं हि सर्वकथारामस्त्वां चैवोपाश्रिता वयम् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस लोकसे मुक्त होनेवाले पुरुषोंका शास्त्रोंमें जो लक्षण बताया गया है, वैसा ही आपने श्वेतद्वीपके निवासियोंका भी बताया है । इसलिये मुझे संदेह होता है, अतः मेरे इस संशयका निवारण कीजिये । इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है । आप सम्पूर्ण ज्ञानमयी कथाओंमें रस लेनेवाले हैं और हम आपके शरणागत हैं ॥ १४-१५ ॥

भीष्म उवाच

विस्तीर्णैषा कथा राजन् श्रुता मे पितृसंनिधौ ।
यैषा तव हि वक्तव्या कथासारो हि सा मता ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा बहुत विस्तृत है । इसे मैंने अपने पिताजीके निकट सुना था । इस समय जो कथा तुम्हारे सामने कहनी है, वह सम्पूर्ण कथाओंकी सारभूत मानी गयी है ॥ १६ ॥

(शान्तनोः कथयामास नारदो मुनिसत्तमः ।
राज्ञा पृष्टः पुरा प्राह तत्राहं श्रुतवान् पुरा ॥)

पूर्वकालमें मेरे पिता महाराज शान्तनुके पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उनसे यह कथा कही थी । उसी समय वहाँ मैंने भी इसे सुना था ॥

राजोपरिचरो नाम बभूवाधिपतिर्भुवः ।
आखण्डलसखः ख्यातो भक्तो नारायणं हरिम् ॥ १७ ॥

पहलेकी बात है, इस पृथ्वीपर एक उपरिचर नामक राजा राज्य करते थे । वे इन्द्रके मित्र और पापहारी भगवान् नारायणके विख्यात भक्त थे ॥ १७ ॥

धार्मिको नित्यभक्तश्च पितुर्नित्यमतन्द्रितः ।
साम्राज्यं तेन सम्प्राप्तं नारायणवरात् पुरा ॥ १८ ॥

वे धर्मात्मा तथा पिताके नित्य भक्त थे । आलस्यका उनमें सर्वथा अभाव था । पूर्वकालमें भगवान् नारायणके वरसे उन्होंने भूमण्डलका साम्राज्य प्राप्त किया था ॥ १८ ॥

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम् ।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥ १९ ॥
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः ।
शेषान्नभुक् सत्यपरः सर्वभूतेष्वहिंसकः ॥ २० ॥

जो पहले भगवान् सूर्यके मुखसे प्रकट हुआ था, उस वैष्णव शास्त्रोक्त विधिका आश्रय ले वे प्रथम तो देवेश्वर भगवान् नारायणका पूजन करते । फिर उनकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे पितरोंका, पितरोंकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे ब्राह्मणोंका तथा अन्य आश्रितजनोंका विभागपूर्वक सत्कार करते थे । सबको देनेके अनन्तर बचे हुए अन्नका भोजन करते थे, सत्यमें तत्पर रहते और किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करते थे ॥ १९-२० ॥

सर्वभावेन भक्तः स देवदेवं जनार्दनम् ।
अनादिमध्यनिधनं लोककर्तारमव्ययम् ॥ २१ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अविनाशी, लोककर्ता देवदेव जनार्दनके भजनमें सम्पूर्णभावसे लगे रहते थे ॥

तस्य नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः ।
एकशय्यासनं देवो दत्तवान् देवराट् स्वयम् ॥ २२ ॥

भगवान् नारायणमें भक्ति रखनेवाले उस शत्रुसूदन नरेशपर प्रसन्न हो देवराज इन्द्र उन्हें अपने साथ एक शय्या और एक आसनपर बिठाया करते थे ॥ २२ ॥

आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा ।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा ॥ २३ ॥

राजा उपरिचरने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि सब उपकरणोंको भगवान्‌की ही वस्तु समझकर सब उन्हींको समर्पित कर रखा था ॥ २३ ॥

काम्यनैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः ।
सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे सदा सावधान रहकर सकाम और नैमित्तिक यज्ञोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको वैष्णवशास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न किया करते थे ॥ २४ ॥

पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः ।
प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम् ॥ २५ ॥

उन महात्मा नरेशके घरमें पाञ्चरात्र शास्त्रके मुख्य-मुख्य विद्वान् सदा मौजूद रहते थे और भगवान्‌को समर्पित किया हुआ प्रसाद अथवा भोज्य पदार्थ सबसे पहले वे ही भोजन करते थे ॥ २५ ॥

तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः ।
नानृता वाक् समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत्॥ २६ ॥
न च कायेन कृतवान् स पापं परमण्वपि ।

धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए उन शत्रुघाती नरेशने न तो कभी असत्य-भाषण किया और न कभी उनका मन ही बुरे विचारोंसे दूषित हुआ । अपने शरीरके

द्वारा उन्होंने कभी छोटे-से छोटा पाप भी नहीं किया था ॥

ये हि ते ऋषयः ख्याताः सप्त चित्रशिखण्डिनः ॥ २७ ॥
तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत् प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् ।
वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ २८ ॥
आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम् ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः ॥ २९ ॥

(अब मैं जिस प्रकार तन्त्र, स्मृति और आगमकी उत्पत्ति हुई है, उसे बताता हूँ, सुनो—) मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महातेजस्वी वसिष्ठ—ये सात प्रसिद्ध ऋषि चित्रशिखण्डी कहलाते हैं। ये जो चित्रशिखण्डी नामसे विख्यात सात ऋषि हैं, इन्होंने महागिरि मेरुपर एकमत होकर जिस उत्तम शास्त्रका प्रवचन एवं निर्माण किया, वह चारों वेदोंके समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत है। उसमें सात मुखोंसे प्रकट हुए उत्तम लोकधर्मकी व्याख्या हुई है ॥ २७—२९ ॥

सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः ।
एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम् ॥ ३० ॥

ये सातों ऋषि प्रकृतिके सात रूप हैं अर्थात् प्रजाके स्रष्टा हैं। आठवाँ ब्रह्मा है। ये सब मिलकर इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। इन्हींके द्वारा शास्त्रका प्राकट्य हुआ है ॥ ३० ॥

एकाग्रमनसो दान्ता मुनयः संयमे रताः ।
भूतभव्यभविष्यज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३१ ॥

ये सबके सब ऋषि एकाग्रचित्त, जितेन्द्रिय, संयमपरायण, भूत, भविष्य और वर्तमानके ज्ञाता तथा सत्य-धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ ३१ ॥

इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम् ।
लोकान् संचिन्त्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे ॥ ३२ ॥

इन्होंने मन-ही-मन यह सोचकर कि अमुक साधनसे जगत्का कल्याण होगा, अमुकसे परमात्माकी प्राप्ति होगी तथा अमुक उपायसे संसारका सर्वोत्तम हितसाधन होगा, शास्त्रकी रचना की ॥ ३२ ॥

तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः ।
मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थिताः ॥ ३३ ॥

उसमें पहले धर्म, अर्थ और कामका, फिर मोक्षका भी वर्णन है तथा स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें प्रचलित नाना प्रकारकी मर्यादाओंका भी प्रतिपादन किया गया है ॥

आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं वै सर्वे ते ऋषिभिः सह ॥ ३४ ॥
नारायणानुशास्ता हि तदा देवी सरस्वती ।
विवेश तानृषीन् सर्वाल्लोकानां हितकाम्यया ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त ऋषियोंने अन्य ऋषियोंके साथ एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् नारायणकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान्ने सरस्वतीदेवीको उनके पास भेजा। नारायणकी आज्ञासे सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये उस समय सरस्वती देवीने उन सम्पूर्ण ऋषियोंके भीतर प्रवेश किया था ॥ ३४-३५ ॥

ततः प्रवर्तिता सम्यक् तपोविद्भिर्द्विजातिभिः ।
शब्दे चार्थे च हेतौ च एषा प्रथमसर्गजा ॥ ३६ ॥

तब उन तपस्वी ब्राह्मणोंने शब्द, अर्थ और हेतुसे युक्त वाणीका प्रयोग किया। यह उनकी प्रथम रचना थी ॥ ३६ ॥

आदावेव हि तच्छास्त्रमोंकारस्वरपूजितम् ।
ऋषिभिः श्रावितं यत्र तत्र कारुणिको ह्यसौ ॥ ३७ ॥

उस शास्त्रके आरम्भमें ही ॐकार स्वरका प्रयोग किया गया है। ऋषियोंने सबसे पहले जहाँ उस शास्त्रको सुनाया, वहाँ वे करुणामय भगवान् विराजमान थे ॥

ततः प्रसन्नो भगवाननिर्दिष्टशरीरगः ।
ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अनिर्वचनीय शरीरमें स्थित भगवान् पुरुषोत्तम प्रसन्न हो अदृश्य रहकर ही उन सब ऋषियोंसे बोले—॥ ३८ ॥

कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

'मुनिवरो! तुमलोगोंने एक लाख श्लोकोंका यह उत्तम शास्त्र बनाया है। इससे सम्पूर्ण लोकतन्त्रका धर्म प्रचलित होगा ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति ।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ॥ ४० ॥

'प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें यह ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदके मन्त्रोंसे अनुमोदित ग्रन्थके समान प्रमाणभूत होगा ॥ ४० ॥

यथा प्रमाणं हि मया कृतो ब्रह्मा प्रसादतः ।
रुद्रश्च क्रोधजो विप्रा यूयं प्रकृतयस्तथा ॥ ४१ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्भूमिरापोऽग्निरेव च ।
सर्वे च नक्षत्रगणा यच्च भूताभिशब्दितम् ॥ ४२ ॥
अधिकारेषु वर्तन्ते यथास्वं ब्रह्मवादिनः ।
सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम् ॥ ४३ ॥
भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम् ।

'ब्राह्मणो! जैसे मेरे प्रसादसे उत्पन्न ब्रह्मा प्रमाणभूत है एवं जैसे क्रोधसे उत्पन्न रुद्र, तुम सब प्रजापति, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, भूमि, जल, अग्नि, सम्पूर्ण नक्षत्रगण तथा अन्यान्य भूतनामधारी पदार्थ और ब्रह्मवादी ऋषिगण अपने-अपने अधिकारके अनुसार बर्ताव करते हुए प्रमाणभूत माने जाते हैं, उसी प्रकार तुमलोगोंका बनाया हुआ यह उत्तम शास्त्र भी प्रामाणिक माना जायगा, यह मेरी आज्ञा है ॥ ४१—४३½ ॥

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम्॥ ४४ ॥
उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः ।
तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥ ४५ ॥

'स्वायम्भुव मनु स्वयं इसी ग्रन्थके अनुसार धर्मोंका उपदेश करेंगे । शुक्राचार्य और बृहस्पति जब प्रकट होंगे, तब वे भी तुम्हारी बुद्धिसे निकले हुए इस शास्त्रका प्रवचन करेंगे ॥ ४४-४५ ॥

स्वायम्भुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते ।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥ ४६ ॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः ।
बृहस्पतिसकाशाद् वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥

'द्विजश्रेष्ठगण ! स्वायम्भुव मनुके धर्मशास्त्र, शुक्राचार्यके शास्त्र तथा बृहस्पतिके मतका जब लोकमें प्रचार हो जायगा, तब प्रजापालक वसु (राजा उपरिचर) बृहस्पतिजीसे तुम्हारे बनाये हुए इस शास्त्रका अध्ययन करेगा ।४६-४७ ।

स हि सद्भावितो राजा मद्भक्तश्च भविष्यति ।
तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः सर्वाः करिष्यति ॥ ४८ ॥

'सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित वह राजा मेरा बड़ा भक्त होगा और लोकमें उसी शास्त्रके अनुसार सम्पूर्ण कार्य करेगा ॥४८॥

एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम् ।
एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चैतदुत्तमम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारा बनाया हुआ यह शास्त्र सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ माना जायगा । यह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं उत्तम रहस्यमय ग्रन्थ है ॥ ४९ ॥

अस्य प्रवर्तनाच्चैव प्रजावन्तो भविष्यथ ।
स च राजश्रिया युक्तो भविष्यति महान् वसुः॥ ५०॥

'इसके प्रचारसे तुम सब लोग संतानवान् होओगे अर्थात् तुम्हारी प्रजाकी वृद्धि होगी तथा राजा उपरिचर भी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं महान् पुरुष होगा ॥५०॥

संस्थिते तु नृपे तस्मिञ्शास्त्रमेतत् सनातनम् ।
अन्तर्धास्यति तत् सर्वमेतद् वः कथितं मया ॥ ५१॥

'उस राजाके दिवंगत होनेके बाद यह सनातन शास्त्र सर्वसाधारणकी दृष्टिसे लुप्त हो जायगा । इसके सम्बन्धमें सारी बातें मैंने तुमलोगोंको बता दीं' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनमदृश्यः पुरुषोत्तमः ।
विसृज्य तानृषीन् सर्वान् कामपि प्रसृतो दिशम्॥५२ ॥

अदृश्यभावसे ऐसी बात कहकर भगवान् पुरुषोत्तम उन समस्त ऋषियोंको वहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थचिन्तकाः ।
प्रावर्तयन्त तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम् ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंका हितचिन्तन करनेवाले उन लोकपिता प्रजापतियोंने धर्मके मूलभूत उस सनातन शास्त्रका जगत्में प्रचार किया ॥ ५३ ॥

उत्पन्नेऽङ्गिरसे चैव युगे प्रथमकल्पिते ।
साङ्गोपनिषदं शास्त्रं स्थापयित्वा बृहस्पतौ ॥ ५४ ॥
जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृतनिश्चयाः ।
धारणाः सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्तकाः ॥ ५५ ॥

फिर आदिकल्पके प्रारम्भिक युगमें जब बृहस्पतिका प्रादुर्भाव हुआ, तब उन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद और उपनिषदोंसहित वह शास्त्र उनको पढ़ाया। तदनन्तर सब धर्मोंका प्रचार और समस्त लोकोंको धर्ममर्यादाके भीतर स्थापित करनेवाले वे ऋषिगण तपस्याका निश्चय करके अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका महत्त्वविषयक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा उपरिचरके यज्ञमें भगवान्पर बृहस्पतिका क्रोधित होना, एकत आदि मुनियोंका बृहस्पतिसे श्वेतद्वीप एवं भगवान्की महिमाका वर्णन करके उनको शान्त करना

भीष्म उवाच

ततोऽतीते महाकल्पे उत्पन्नेऽङ्गिरसः सुते ।
बभूवुर्निर्वृता देवा जाते देवपुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर बीते हुए महान् कल्पके आरम्भमें जब अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति उत्पन्न हुए और देवताओंके पुरोहित बन गये, तब देवताओंको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः॥ २ ॥

राजन् ! बृहत्, ब्रह्म और महत्—ये तीनों शब्द एक अर्थके वाचक हैं । इन तीनों शब्दोंके गुण देवपुरोहितमें मौजूद थे; इसलिये वे विद्वान् देवगुरु 'बृहस्पति' कहलाते थे ॥

तस्य शिष्यो बभूवाग्र्यो राजोपरिचरो वसुः ।
अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक् चित्रशिखण्डिजम्॥ ३ ॥

उनके श्रेष्ठ शिष्य हुए राजा उपरिचर वसु, जिन्होंने उनसे उन दिनों चित्रशिखण्डियोंके बनाये हुए तन्त्रशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया ॥ ३ ॥

स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः ।
पालयामास पृथिवीं दिवमाखण्डलो यथा ॥ ४ ॥

वे राजा उपरिचर वसु पहले दैवविधानसे भावित हो इस पृथ्वीका उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गका ॥ ४ ॥

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः ।
बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥ ५ ॥

एक समय उन महात्मा नरेशने महान् अश्वमेध-यज्ञका आयोजन किया । उसमें उनके उपाध्याय बृहस्पति होता हुए ॥ ५ ॥

प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चाभवंस्त्रयः ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ॥ ६ ॥

प्रजापतिके तीन पुत्र एकत, द्वित और त्रित नामक महर्षि उस यज्ञमें सदस्य हुए ॥ ६ ॥

धनुषाख्योऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ॥ ७ ॥
ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः ।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः ॥ ८ ॥
आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः ।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्तिताः ॥ ९ ॥

इनके सिवा (तेरह सदस्य और थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—) धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मुनिवर मेधातिथि, महर्षि ताण्ड्य, महाभाग शान्ति मुनि, वेदशिरा, शालिहोत्रके पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्यकठ, वैशम्पायनके बड़े भाई तैत्तिरि, कण्व और देवहोत्र । ये कुल मिलाकर सोलह सदस्य बताये गये हैं ॥ ७–९ ॥

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥ १० ॥

राजन् ! उस महान् यज्ञमें सारे सामान एकत्र किये गये; परंतु उसमें किसी पशुका वध नहीं हुआ । वे राजा उपरिचर इसी भावसे उस यज्ञमें स्थित हुए थे ॥ १० ॥

अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

वे हिंसाभावसे रहित, पवित्र, उदार तथा कामनाओंसे रहित थे और इसी भावसे कर्ममें प्रवृत्त हुए थे । जंगलमें उत्पन्न हुए फल-मूल आदि पदार्थोंसे ही उस यज्ञमें देवताओंके भाग निश्चित किये गये थे ॥ ११ ॥

प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः ।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥ १२ ॥

उस समय पुराणपुरुष देवाधिदेव भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया; परंतु दूसरे किसीको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२ ॥

स्वयं भागमुपाघ्राय पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा ॥ १३ ॥

भगवान् हयग्रीवने स्वयं अदृश्य रहकर ही अपने लिये अर्पित पुरोडाशको ग्रहण किया और उसे सूँघकर अपने अधीन कर लिया ॥ १३ ॥

बृहस्पतिस्ततः क्रुद्धः स्रुचमुद्यम्य वेगितः ।
आकाशं घ्नन् स्रुचः पाते रोषादश्रूण्यवर्तयत् ॥ १४ ॥

यह देख बृहस्पति क्रोधमें भर गये । उन्होंने बड़े वेगसे स्रुवा उठा लिया और आकाशमें उसे दे मारा । साथ ही वे रोषवश अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १४ ॥

उवाच चोपरिचरं मया भागोऽयमुद्यतः ।
ग्राह्यः स्वयं हि देवेन मत्प्रत्यक्षं न संशयः ॥ १५ ॥

फिर वे राजा उपरिचरसे बोले—'मैंने जो यह भाग प्रस्तुत किया है, उसे भगवान्‌को मेरी आँखोंके सामने प्रकट होकर ग्रहण करना चाहिये, यही न्याय है, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उद्यता यज्ञभागा हि साक्षात् प्राप्ताः सुरैरिह ।
किमर्थमिह न प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जब सभी देवताओंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपने-अपने भाग ग्रहण किये, तब भगवान् विष्णुने उस यज्ञमें पधारकर भी क्यों प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दिया ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

ततः स तं समुद्धूतं भूमिपालो महान् वसुः ।
प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते च सर्वशः ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसका कारण बताता हूँ, सुनो । वे महान् भूपाल वसु तथा अन्य सम्पूर्ण सदस्य मिलकर उस समय रोषमें भरे हुए मुनि बृहस्पतिको मनाने लगे ॥ १७ ॥

ऊचुश्चैनमसम्भ्रान्ता न रोषं कर्तुमर्हसि ।
नैष धर्मः कृतयुगे यस्त्वं रोषमचीकृथाः ॥ १८ ॥

सब लोग शान्तचित्त होकर उनसे बोले—'मुने ! आप रोष न करें । आपने जो रोष किया है, यह सत्ययुगका धर्म नहीं है ॥ १८ ॥

अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः ।
न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ॥ १९ ॥
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ।

'बृहस्पते ! जिनको यह भाग समर्पित किया गया है, वे भगवान् कभी क्रोध नहीं करते हैं । हम और आप उन्हें स्वेच्छासे नहीं देख सकते हैं । जिसपर वे कृपा करते हैं, वही उनका दर्शन कर पाता है' ॥ १९½ ॥

एकतद्वितत्रिताश्चोचुस्ततश्चित्रशिखण्डिनः ॥ २० ॥
वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः ।
गता निःश्रेयसार्थं हि कदाचिद् दिशमुत्तराम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर एकत, द्वित और त्रितने तथा चित्रशिखण्डी नामवाले ऋषियोंने उनसे कहा—'बृहस्पते ! हमलोग ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहलाते हैं । एक बार अपने कल्याणकी इच्छासे हम सबने उत्तर दिशाकी यात्रा की ॥ २०-२१ ॥

तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम् ।
एकपादाः स्थिताः सम्यक् काष्ठभूताः समाहिताः॥२२॥
मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्यानुकूलतः ।
स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम् ॥ २३ ॥
कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणात्मकम् ।
वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ मेरुके उत्तर और क्षीरसागरके किनारे एक पवित्र स्थान है, जहाँ हमलोगोंने हजार वर्षोंतक एकाग्रचित्त हो काष्ठकी भाँति एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या की थी । वह उत्तम तपस्या करके हम यही चाहते थे कि किसी तरह वरदायक सनातन देवाधिदेव वरणीय भगवान् नारायणका दर्शन कर लें ॥ २२–२४ ॥

कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणं त्विति ।
अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ॥ २५ ॥
स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो ।

'हम बारंबार यही सोचते थे कि हमें श्रीनारायणदेवका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? तदनन्तर व्रतकी समाप्ति होनेपर हमें हर्ष प्रदान करनेवाली किसी शरीररहित वाणीने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वरसे इस प्रकार कहा—॥ २५½ ॥

सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥
यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम् ।

'ब्राह्मणो ! तुमने प्रसन्न हृदयसे भलीभाँति तप किया है । तुम भगवान्‌के भक्त हो और यह जानना चाहते हो कि उन सर्वव्यापी परमात्माका दर्शन कैसे हो ? ॥ २६½ ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः ॥ २७ ॥
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।

'इसका उपाय सुनो । क्षीरसागरके उत्तरभागमें अत्यन्त प्रकाशमान श्वेतद्वीप है । वहाँ भगवान् नारायणका भजन करनेवाले पुरुष रहते हैं, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हैं ॥ २७½ ॥

एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम् ।
अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ॥ २९ ॥

'वे स्थूल इन्द्रियोंसे रहित, निराहार और निश्चेष्ट होते हैं । उनके शरीरसे मनोहर सुगन्ध निकलती रहती है तथा वे भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं और सहस्रों किरणोंवाले उन सनातनदेव भगवान् पुरुषोत्तममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ॥ ३० ॥

'मुनियो ! वे श्वेतद्वीपके निवासी मेरे एकान्त भक्त हैं, तुम वहीं जाओ । वहाँ मेरे स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन होता है' ॥३०॥

अथ श्रुत्वा वयं सर्वे वाचं तामशरीरिणीम् ।
यथाख्यातेन मार्गेण तं देशं प्रतिपेदिरे ॥ ३१ ॥

'इस आकाशवाणीको सुनकर हमलोग उसके बताये हुए मार्गसे उस स्थानको गये ॥ ३१ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं तच्चित्तास्तद्दिदृक्षवः ।
ततोऽस्मद्दृष्टिविषयस्तदा प्रतिहतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

'श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँचकर हमारा चित्त भगवान्‌में ही लगा रहा । हम उनके दर्शनकी इच्छासे उत्कण्ठित हो रहे थे । वहाँ जाते ही हमारी दृष्टिशक्ति प्रतिहत हो गयी ॥

न च पश्याम पुरुषं तत्तेजोहृतदर्शनाः ।
ततो नः प्रादुरभवद् विज्ञानं देवयोगजम् ॥ ३३ ॥
न किलातप्ततपसा शक्यते द्रष्टुमञ्जसा ।

'वहाँके निवासियोंके तेजसे आँखें चौंधिया जानेके कारण हम वहाँ किसी पुरुषको देख नहीं पाते थे । तदनन्तर दैवयोगसे हमारे हृदयमें यह ज्ञान प्रकट हुआ कि तपस्या किये बिना हमलोग भगवान्‌को सुगमतापूर्वक नहीं देख सकते ॥

ततः पुनर्वर्षशतं तप्त्वा तात्कालिकं महत् ॥ ३४ ॥
व्रतावसाने च शुभान् नरान् ददृशिरे वयम् ।
श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान् सर्वलक्षणलक्षितान् ॥ ३५ ॥

'तदनन्तर हमने तत्काल पुनः सौ वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की । उस तपोमय व्रतके पूर्ण होनेपर हमलोगोंको वहाँके शुभलक्षण पुरुषोंका दर्शन हुआ, जो चन्द्रमाके समान गौरवर्ण और सब प्रकारके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ३४-३५ ॥

नित्याञ्जलिकृतान् ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान् ।
मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मभिः ॥ ३६ ॥

'वे प्रतिदिन ईशानकोणकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े हुए ब्रह्मका मानसजप करते थे ॥ ३६ ॥

तेनैकाग्रमनस्त्वेन प्रीतो भवति वै हरिः ।
याभवन्मुनिशार्दूल भाः सूर्यस्य युगक्षये ॥ ३७ ॥
एकैकस्य प्रभा तादृक् साभवन्मानवस्य ह ।

'उनके मनकी इस एकाग्रतासे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते थे । मुनिश्रेष्ठ ! प्रलयकालमें सूर्यकी जैसी प्रभा होती है, वैसी ही उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक पुरुषकी थी ॥ ३७½ ॥

तेजोनिवासः स द्वीप इति वै मेनिरे वयम् ॥ ३८ ॥
न तत्राभ्यधिकः कश्चित् सर्वे ते समतेजसः ।

'हमलोगोंने तो यही समझा कि यह द्वीप तेजका ही निवासस्थान है । वहाँ कोई किसीसे बढ़कर नहीं था । सबका तेज समान था ॥ ३८½ ॥

अथ सूर्यसहस्रस्य प्रभां युगपदुत्थिताम् ॥ ३९ ॥
सहसा दृष्टवन्तः स्म पुनरेव बृहस्पते ।

'बृहस्पते ! थोड़ी ही देरमें हमारे सामने एक ही साथ हजारों सूर्योंके समान प्रभा प्रकट हुई । हमारी दृष्टि सहसा उस ओर खिंच गयी ॥ ३९½ ॥

सहिताश्चाभ्यधावन्त ततस्ते मानवा द्रुतम् ॥ ४० ॥
कृताञ्जलिपुटा हृष्टा नम इत्येव वादिनः ।

'तदनन्तर वहाँके निवासी पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ दोनों हाथ जोड़े 'नमो नमः' कहते हुए एक ही साथ तीव्र गतिसे उस तेजकी ओर दौड़े ॥ ४०½ ॥

ततो हि वदतां तेषामश्रौष्म विपुलं ध्वनिम् ॥ ४१ ॥
बलिः किलोपह्रियते तस्य देवस्य तैर्नरैः ।

'इसके बाद जब वे स्तुति करने लगे, तब उनकी तुमुल ध्वनि हमारे कानोंमें पड़ी । वे सब लोग उन तेजोमय भगवान्‌को पूजाकी सामग्री अर्पण कर रहे थे ॥ ४१½ ॥

वयं तु तेजसा तस्य सहसा हृतचेतसः ॥ ४२ ॥
न किंचिदपि पश्यामो हतचक्षुर्बलेन्द्रियाः ।

'भगवान्‌के उस अनिर्वचनीय तेजने हमारे चित्तको सहसा खींच लिया था; परंतु हमारे नेत्र, बल और इन्द्रियाँ प्रतिहत हो गयी थीं, इसलिये हम स्पष्ट रूपसे कुछ देख नहीं पाते थे ॥

एकस्तु शब्दो विततः श्रुतोऽस्माभिरुदीरितः ॥ ४३ ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥ ४४ ॥

'परंतु एक शब्द जो उच्चस्वरसे उच्चारित होकर दूरतक फैल रहा था, हमने भी सुना । सब लोग कह रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष ! आपकी जय हो । विश्वभावन ! आपको प्रणाम है । महापुरुषोंके भी पूर्वज हृषीकेश ! आपको नमस्कार है' ॥

इति शब्दः श्रुतोऽस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः ।
एतस्मिन्नन्तरे वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ॥ ४५ ॥
दिव्यान्युवाह पुष्पाणि कर्मण्याश्चौषधीस्तथा ।
तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः ॥ ४६ ॥
भक्त्या परमया युक्तैर्मनोवाक्कर्मभिस्तदा ।

'शिक्षा और अक्षरसे युक्त यह वाक्य हमलोगोंको श्रवण-गोचर हुआ । इतनेहीमें पवित्र और सुगन्धित वायु बहुत-से दिव्य पुष्प और कार्योपयोगी ओषधियाँ ले आयी, जिनसे वहाँके पञ्चकालवेत्ता अनन्य भक्तोंने बड़ी भक्तिके साथ मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन श्रीहरिका पूजन किया ॥४५-४६½॥

नूनं तत्रागतो देवो यथा तैर्वागुदीरिता ॥ ४७ ॥
वयं त्वेनं न पश्यामो मोहितास्तस्य मायया ।

'जैसी बातचीत उन्होंने की थी, उससे हमें विश्वास हो गया था कि निश्चय ही यहाँ भगवान् पधारे हुए हैं, परंतु उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण हम उन्हें देख नहीं पाते थे ॥ ४७½ ॥

मारुते संनिवृत्ते च बलौ च प्रतिपादिते ॥ ४८ ॥
चिन्ताव्याकुलितात्मानो जाताः स्मोऽङ्गिरसां वर ।

'बृहस्पते ! जब उस सुगन्धित वायुका चलना बंद हो गया और भगवान्‌को बलिसमर्पणका कार्य पूर्ण हो गया, तब हमलोग मन-ही-मन चिन्तामें व्याकुल हो उठे ॥४८½॥

मानवानां सहस्रेषु तेषु वै शुद्धयोनिषु ॥ ४९ ॥
अस्मान् न कश्चिन्मनसा चक्षुषा वाप्यपूजयत् ।

'वहाँ शुद्ध कुलवाले सहस्रों पुरुष थे; परंतु उनमेंसे किसीने मनसे अथवा दृष्टिपातद्वारा भी हमलोगोंका सत्कार नहीं किया ॥ ४९½ ॥

तेऽपि स्वस्था मुनिगणा एकभावमनुव्रताः ॥ ५० ॥
नास्मासु दधिरे भावं ब्रह्मभावमनुष्ठिताः ।

वहाँ जो स्वस्थ मुनिगण थे, वे भी अनन्य भावसे भगवान्‌के भजनमें ही मन लगाये रहते थे । उन ब्रह्मभावमें स्थित मुनियोंने हमलोगोंकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥५०½॥

ततोऽस्मान् सुपरिश्रान्तांस्तपसा चातिकर्शितान् ॥ ५१ ॥
उवाच स्वस्थं किमपि भूतं तत्राशरीरकम् ।

'हमलोग तपस्यासे थककर अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । उस समय हमलोगोंसे किसी शरीररहित स्वस्थ प्राणी (देवता) ने कहा ॥ ५१½ ॥

देव उवाच

दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ५२ ॥
दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ।

देवता बोले—मुनिवरो ! तुमलोगोंने श्वेतद्वीप-निवासी श्वेतकाय इन्द्रियरहित पुरुषोंका दर्शन किया । इन श्रेष्ठ द्विजोंके दर्शन होनेसे साक्षात् देवेश्वर भगवान्‌का ही दर्शन हो जाता है ॥ ५२½ ॥

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ॥ ५३ ॥
न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन ।

मुनियो ! तुम सब लोग जैसे आये हो, वैसे ही शीघ्र लौट जाओ । भगवान्‌में अनन्य भक्ति हुए बिना किसीको किसी तरह भी उनका साक्षात् दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५३½ ॥

कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः ॥ ५४ ॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ।

हाँ, बहुत समयतक उनकी भक्ति करते-करते जब पूरी अनन्यता आ जायगी, तब ज्योतिःपुञ्जके कारण कठिनतासे देखे जानेवाले भगवान्‌का दर्शन सम्भव हो सकता है ॥ ५४½ ॥

महत् कार्यं च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥ ५५ ॥
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च ।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ५६ ॥
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ ।

विप्रवरो ! इस समय तुम्हें अभी बहुत बड़ा काम

करना है। इस सत्ययुगके बीतनेपर जब धर्ममें किञ्चित् व्यतिक्रम आ जायगा और वैवस्वत मन्वन्तरके त्रेतायुगका आरम्भ होगा, उस समय देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुमलोग ही सहायक होगे ॥ ५५-५६½ ॥

ततस्तदद्भुतं वाक्यं निशम्यैवामृतोपमम् ॥ ५७ ॥
तस्य प्रसादात् प्राप्ताः स्मो देशमीप्सितमञ्जसा ।

'यह अमृतके समान मधुर एवं अद्भुत वचन सुनकर हमलोग भगवान्‌की कृपासे अनायास ही अपने अभीष्ट स्थान-पर आ पहुँचे ॥ ५७½ ॥

एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥ ५८ ॥
देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि ।

'बृहस्पते ! इस प्रकार हमने बड़ी भारी तपस्या की, हव्य-कव्योंके द्वारा भगवान्‌का पूजन भी किया, तो भी हमें उनका दर्शन न हो सका। फिर तुम कैसे अनायास ही उनका दर्शन पा लोगे ? ॥ ५८½ ॥

नारायणो महद्भूतं विश्वसृग्घव्यकव्यभुक् ॥ ५९ ॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो देवदानवपूजितः ।

'भगवान् नारायण सबसे महान् देवता हैं। वे ही संसारके स्रष्टा और हव्य-कव्यके भोक्ता हैं। उनका आदि और अन्त नहीं है। उन अव्यक्त परमेश्वरकी देवता और दानव भी पूजा करते हैं' ॥ ५९½ ॥

एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन च ॥ ६० ॥
अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः ।
समापयत् ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार एकतके कहनेसे, द्वित और त्रितकी सम्मतिसे तथा अन्य सदस्योंद्वारा अनुनय किये जानेसे उदारबुद्धि बृहस्पतिने उस यज्ञको समाप्त किया और भगवान्‌की पूजा की ॥ ६०-६१ ॥

समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।
ब्रह्मशापाद् दिवो भ्रष्टः प्रविवेश महीं ततः ॥ ६२ ॥

राजा वसु भी यज्ञ पूरा करके प्रजाका पालन करने लगे। एक बार ब्रह्मशापसे उन्हें स्वर्गसे भ्रष्ट होना पड़ा था। उस समय वे पृथ्वीके भीतर रसातलमें समा गये थे ॥ ६२ ॥

स राजा राजशार्दूल सत्यधर्मपरायणः ।
अन्तर्भूमिगतश्चैव सततं धर्मवत्सलः ॥ ६३ ॥
नारायणपरो भूत्वा नारायणजपं जपन् ।
तस्यैव च प्रसादेन पुनरेवोत्थितस्तु सः ॥ ६४ ॥
महीतलाद् गतः स्थानं ब्रह्मणः समनन्तरम् ।
परां गतिमनुप्राप्त इति नैष्ठिकमञ्जसा ॥ ६५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले सत्यधर्म-परायण राजा उपरिचर भूमिके भीतर प्रवेश करके भी निरन्तर नारायण-मन्त्रका जप करते हुए भी उन्हींकी आराधनामें तत्पर रहते थे। अतः उन्हींकी कृपासे वे पुनः ऊपरको उठे और भूतलसे ब्रह्मलोकमें जाकर उन्होंने परम गति प्राप्त कर ली। अनायास ही उन्हें निष्ठावानोंकी यह उत्तम गति प्राप्त हो गयी॥ ६३—६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्‌त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महत्ताका वर्णनविषयक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यज्ञमें आहुतिके लिये अजका अर्थ अन्न है, बकरा नहीं—इस बातको जानते हुए भी पक्षपात करनेके कारण राजा उपरिचरके अधःपतनकी और भगवत्कृपासे उनके पुनरुत्थानकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः ।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा वसु जब भगवान्‌के अत्यन्त भक्त और महान् पुरुष थे, तब वे स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पातालमें कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें ज्ञानी-जन ऋषियों और देवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासको उद्धृत किया करते हैं—॥ २ ॥

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥ ३ ॥

'अजके द्वारा यज्ञ करना चाहिये—ऐसा विधान है।' ऐसा कहकर देवताओंने वहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंसे कहा, 'यहाँ अजका अर्थ बकरा समझना चाहिये, दूसरा पशु नहीं, ऐसा निश्चय है' ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—देवताओ ! यज्ञोंमें बीजोंद्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है; अतः बकरेका वध करना हमें उचित नहीं है ॥ ४ ॥

नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ ५॥

देवताओ! जहाँ कहीं भी यज्ञमें पशुका वध हो, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशुका वध कैसे किया जा सकता है?॥ ५॥

भीष्म उवाच

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः॥ ६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब ऋषियोंका देवताओंके साथ संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी उस मार्गसे आ निकले और उस स्थानपर पहुँच गये॥ ६॥

अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्॥ ७॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम्।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः॥ ८॥

श्रीमान् राजा उपरिचर अपनी सेना और वाहनोंके साथ आकाशमार्गसे चलते थे। उन अन्तरिक्षचारी वसुको सहसा आते देख ब्रह्मर्षियोंने देवताओंसे कहा—'ये नरेश हमलोगोंका संदेह दूर कर देंगे; क्योंकि ये यज्ञ करनेवाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितैषी एवं प्रिय हैं॥ ७-८॥

कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा॥ ९॥
अपृच्छन् सहिताभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात्।

'ये महान् पुरुष वसु शास्त्रके विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं।' ऐसी सम्मति करके देवताओं और ऋषियोंने एक साथ राजा वसुके पास आकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—॥ ९½॥

भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः॥ १०॥
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः।

'राजन्! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिये? बकरेके द्वारा अथवा अन्नद्वारा? हमारे इस संदेहका आप निवारण करें। हमलोगोंकी रायमें आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं'॥ १०½॥

स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः॥ ११॥
कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः।

तब राजा वसुने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—'विप्रवरो! आपलोग सच-सच बताइये, आपलोगोंमेंसे किस पक्षको कौन-सा मत अभीष्ट है? कौन अजका अर्थ बकरा मानता है और कौन अन्न?'॥ ११½॥

ऋषय ऊचुः

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप॥ १२॥
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः।

ऋषि बोले—नरेश्वर! हमलोगोंका पक्ष यह है कि अन्नसे यज्ञ करना चाहिये तथा देवताओंका पक्ष यह है कि छाग नामक पशुके द्वारा यज्ञ होना चाहिये। राजन्! अब आप हमें अपना निर्णय बताइये॥ १२½॥

भीष्म उवाच

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्॥ १३॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! देवताओंका मत जानकर राजा वसुने उन्हींका पक्ष लेकर कह दिया कि अजका अर्थ है, छाग (बकरा); अतः उसीके द्वारा यज्ञ करना चाहिये॥ १३½॥

कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः॥ १४॥
ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम्।

यह सुनकर वे सभी सूर्यके समान तेजस्वी ऋषि कुपित हो उठे और विमानपर बैठकर देवपक्षकी बात कहनेवाले वसुसे बोले—॥ १४½॥

सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात् तस्माद् दिवः पत॥ १५॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि॥ १६॥

'राजन्! तुमने यह जानकर भी कि अजका अर्थ अन्न है, देवताओंका पक्ष लिया है; इसलिये स्वर्गसे नीचे गिर जाओ। आजसे तुम्हारी आकाशमें विचरनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। हमारे शापके आघातसे तुम पृथ्वीको भेदकर पातालमें प्रवेश करोगे॥ १५-१६॥

(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप।
वयं विरुद्धवचना यदि तत्र पतामहे॥)

'नरेश्वर! तुमने यदि वेद और सूत्रोंके विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो और यदि हम शास्त्रविरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय'॥

ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा।
अधो वै सम्बभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप॥ १७॥

राजन्! ऋषियोंके इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर आकाशसे नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर गये॥ १७॥

स्मृतिस्त्वेनं न हि जहौ तदा नारायणाज्ञया।
देवास्तु सहिताः सर्वे वसोः शापविमोक्षणम्॥ १८॥
चिन्तयामासुरव्यग्राः सुकृतं हि नृपस्य तत्।
अनेनास्मत्कृते राज्ञा शापः प्राप्तो महात्मना॥ १९॥

उस समय भी भगवान् नारायणकी आज्ञासे उनकी स्मरणशक्ति उन्हें छोड़ न सकी। इधर सब देवता एकत्र होकर राजाको शापसे छुटकारा दिलानेका उपाय सोचने लगे। वे शान्तभावसे परस्पर बोले—'राजाने तो पुण्य-ही-

पुण्य किया है। उन महात्मा नरेशको हमारे कारणसे ही यह शाप प्राप्त हुआ है ॥ १८-१९ ॥

अस्य प्रतिप्रियं कार्यं सहितैर्नो दिवौकसः।
इति बुद्ध्या व्यवस्याशु गत्वा निश्चयमीश्वराः ॥ २० ॥
ऊचुः संहृष्टमनसो राजोपरिचरं तदा।

'देवताओ! हमलोगोंको एक साथ होकर उनका अतिशय प्रिय करना चाहिये।' अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके वे सभी देवता राजा उपरिचर वसुके पास जाकर प्रसन्नचित्त हो बोले—॥ २०½ ॥

ब्रह्मण्यदेवभक्तस्त्वं सुरासुरगुरुर्हरिः ॥ २१ ॥
कामं स तव तुष्टात्मा कुर्याच्छापविमोक्षणम्।

'राजन्! तुम ब्रह्मण्यदेव भगवान् विष्णुके भक्त हो और वे श्रीहरि देवता तथा असुर सबके गुरु हैं। उनका मन तुमपर संतुष्ट है; इसलिये वे तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें अवश्य शापसे मुक्त कर देंगे ॥ २१½ ॥

मानना तु द्विजातीनां कर्तव्या वै महात्मनाम् ॥ २२ ॥
अवश्यं तपसा तेषां फलितव्यं नृपोत्तम।
यतस्त्वं सहसा भ्रष्ट आकाशान्मेदिनीतलम् ॥ २३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! तुम्हें महात्मा ब्राह्मणोंका सदा ही समादर करना चाहिये। अवश्य ही यह उनकी तपस्याका फल है; जिससे तुम आकाशसे सहसा भ्रष्ट होकर पातालमें चले आये हो ॥ २२-२३ ॥

एकं त्वनुग्रहं तुभ्यं दद्मो वै नृपसत्तम।
यावत् त्वं शापदोषेण कालमासिष्यसेऽनघ ॥ २४ ॥
भूमेर्विवरगो भूत्वा तावत् त्वं कालमाप्स्यसि।
यज्ञेषु सुहुतां विप्रैर्वसोर्धारां समाहितैः ॥ २५ ॥

'निष्पाप नृपशिरोमणे! हम तुम्हें अपना एक अनुग्रह प्रदान करते हैं। तुम शापदोषके कारण जबतक—जितने समयतक पृथ्वीके विवरमें रहोगे, तबतक एकाग्रचित्त ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञोंमें दी हुई वसुधाराकी आहुति तुम्हें प्राप्त होती रहेगी ॥ २४-२५ ॥

प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिरस्पृशत्।
न क्षुत्पिपासे राजेन्द्र भूमेश्छिद्रे भविष्यतः ॥ २६ ॥
वसोर्धाराभिपीतत्वात् तेजसाऽऽप्यायितेन च।
स देवोऽस्मद्वरात् प्रीतो ब्रह्मलोकं हि नेष्यति ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र! हमारे चिन्तनसे तुम्हें वसुधाराकी प्राप्ति होगी, जिससे ग्लानि तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी और इस पातालमें रहते हुए भी तुम्हें भूख और प्यासका कष्ट नहीं होगा; क्योंकि वसुधाराका पान करनेसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि होती रहेगी। हमारे वरदानसे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो तुम्हें ब्रह्मलोकमें ले जायँगे' ॥ २६-२७ ॥

एवं दत्त्वा वरं राज्ञे सर्वे ते च दिवौकसः।
गताः स्वभवनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजाको वरदान देकर वे सब देवता तथा तपोधन ऋषि अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २८ ॥

चक्रे वसुस्ततः पूजां विष्वक्सेनाय भारत।
जप्यं जगौ च सततं नारायणमुखोद्गतम् ॥ २९ ॥

भारत! तदनन्तर वसुने भगवान् विष्वक्सेनकी पूजा आरम्भ की और भगवान् नारायणके मुखसे प्रकट हुए जपनीय मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का निरन्तर जप करने लगे ॥ २९ ॥

तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिंदम।
अयजद्धरिं सुरपतिं भूमेर्विवरगोऽपि सन् ॥ ३० ॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! वहाँ पातालके विवरमें रहते हुए भी राजा उपरिचर पाँच समय पाँच यज्ञोंद्वारा देवेश्वर श्रीहरिकी आराधना करते थे ॥ ३० ॥

ततोऽस्य तुष्टो भगवान् भक्त्या नारायणो हरिः।
अनन्यभक्तस्य सतस्तत्परस्य जितात्मनः ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने मनको जीत लिया था और वे सदा भगवान्के भजनमें ही लगे रहते थे। अपने उस अनन्य भक्तकी भक्तिसे भगवान् श्रीनारायण हरि बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३१ ॥

वरदो भगवान् विष्णुः समीपस्थं द्विजोत्तमम्।
गरुत्मन्तं महावेगमाबभाषेप्सितं तदा ॥ ३२ ॥

फिर उन वरदायक भगवान् विष्णुने अपने पास ही खड़े हुए महान् वेगशाली पक्षिराज गरुड़से अपनी अभीष्ट बात इस प्रकार कही—॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम महाभाग पश्यतां वचनान्मम।
सम्राड् राजा वसुर्नाम धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

'महाभाग पक्षिप्रवर! तुम मेरी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा सम्राट् राजा वसुके पास जाकर उन्हें देखो ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणानां प्रकोपेन प्रविष्टो वसुधातलम्।
मानितास्ते तु विप्रेन्द्रास्त्वं तु गच्छ द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

'पक्षिराज! वे ब्राह्मणोंके कोपसे पातालमें प्रविष्ट हुए हैं। फिर भी उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सदा सम्मान ही किया है; अतः तुम उनके पास जाओ ॥ ३४ ॥

भूमेर्विवरसंगुप्तं गरुडेह ममाज्ञया।
अधश्चरं नृपश्रेष्ठं खेचरं कुरु मा चिरम् ॥ ३५ ॥

'गरुड! पृथ्वीके विवरमें सुरक्षितरूपसे रहनेवाले इन पातालचारी नृपश्रेष्ठ वसुको तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही आकाशचारी बना दो' ॥ ३५ ॥

गरुत्मानथ विक्षिप्य पक्षौ मारुतवेगवान्।
विवेश विवरं भूमेर्यत्रास्ते पार्थिवो वसुः ॥ ३६ ॥

यह आज्ञा पाकर वायुके समान वेगशाली गरुड अपने

दोनों पंख फैलाकर उड़े और पातालमें जहाँ राजा वसु विराजमान थे, घुस गये ॥ ३६ ॥

तत एनं समुत्क्षिप्य सहसा विनतासुतः ।
उत्पपात नभस्तूर्णं तत्र चैनममुञ्चत ॥ ३७ ॥

विनतानन्दन गरुड सहसा राजाको वहाँसे ऊपर उठाकर तुरंत आकाशमें ले उड़े और वहीं इन्हें छोड़ दिया ॥

अस्मिन् मुहूर्ते संजज्ञे राजोपरिचरः पुनः ।
सशरीरो गतश्चैव ब्रह्मलोकं नृपोत्तमः ॥ ३८ ॥

उसी क्षण राजा वसु पुनः उपरिचर हो गये । फिर वे नृपश्रेष्ठ सशरीर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ३८ ॥

एवं तेनापि कौन्तेय वाग्दोषाद् देवताज्ञया ।
प्राप्ता गतिरधस्तात् तु द्विजशापान्महात्मना ॥ ३९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार उस महामनस्वी नरेशने भी देवताओंकी आज्ञासे वाचिक अपराध करनेके कारण ब्राह्मणोंके शापसे अधोगति प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥

केवलं पुरुषस्तेन सेवितो हरिरीश्वरः ।
ततः शीघ्रं जहौ शापं ब्रह्मलोकमवाप च ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने केवल पुरुषप्रवर भगवान् श्रीहरिका सेवन किया, जिससे वे उस शापसे शीघ्र ही छूट गये और ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं सम्भूता मानवा यथा ।
नारदोऽपि यथा श्वेतं द्वीपं स गतवानृषिः ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥ ४१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! श्वेतद्वीपके निवासी पुरुष जैसे हैं, उनकी सारी स्थिति मैंने तुमसे कह सुनायी । अब देवर्षि नारद जिस प्रकार श्वेतद्वीपमें गये, वह सब प्रसङ्ग तुमसे कहूँगा । तुम एकचित्त होकर सुनो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका वर्णनविषयक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका दो सौ नामोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करना

भीष्म उवाच

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं नारदो भगवानृषिः ।
ददर्श तानेव नराञ्श्वेतांश्चन्द्रसमप्रभान् ॥ १ ॥
पूजयामास शिरसा मनसा तैश्च पूजितः ।
दिदृक्षुर्जप्यपरमः सर्वकृच्छ्रगतः स्थितः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस महान् श्वेतद्वीपमें पहुँचकर भगवान् देवर्षि नारदने जब वहाँके उन चन्द्रमाके समान कान्तिमान् पुरुषोंको देखा, तब मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन उनकी पूजा की । तत्पश्चात् श्वेतद्वीपनिवासी पुरुषोंने भी नारदजीका सत्कार किया । फिर वे भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे उनके नामका जप करने लगे एवं कठोर नियमोंका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ १-२ ॥

भूत्वैकाग्रमना विप्र ऊर्ध्वबाहुः समाहितः ।
स्तोत्रं जगौ स विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ ३ ॥

नारदजी वहाँ अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकाग्रचित्त हो निर्गुण सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणकी इस प्रकार (दो सौ नामोंद्वारा) स्तुति करने लगे ॥

नारद उवाच

१ नमस्ते देवदेवेश २ निष्क्रिय ३ निर्गुण ४ लोकसाक्षिन् ५ क्षेत्रज्ञ ६ पुरुषोत्तम ७ अनन्त ८ पुरुष ९ महापुरुष १० पुरुषोत्तम ११ त्रिगुण १२ प्रधान १३ अमृत १४ अमृताख्य १५ अनन्ताख्य १६ व्योम १७ सनातन १८ सदसद्व्यक्ताव्यक्त १९ ऋतधामन् २० आदिदेव २१ वसुप्रद २२ प्रजापते २३ सुप्रजापते २४ वनस्पते २५ महाप्रजापते २६ ऊर्जस्पते २७ वाचस्पते २८ जगत्पते २९ मनस्पते ३० दिवस्पते ३१ मरुत्पते ३२ सलिलपते ३३ पृथिवीपते ३४ दिक्पते ३५ पूर्वनिवास ३६ गुह्य ३७ ब्रह्मपुरोहित ३८ ब्रह्मकायिक ३९ महाराजिक ४० चातुर्महाराजिक ४१ भासुर ४२ महाभासुर ४३ सप्तमहाभाग ४४ याम्य ४५ महायाम्य ४६ संज्ञासंज्ञ ४७ तुषित ४८ महातुषित ४९ प्रमर्दन ५० परिनिर्मित ५१ अपरिनिर्मित ५२ वशवर्तिन् ५३ अपरिनिन्दित ५४ अपरिमित ५५ वशवर्तिन् ५६ अवशवर्तिन् ५७ यज्ञ ५८ महायज्ञ ५९ यज्ञसम्भव ६० यज्ञयोने ६१ यज्ञगर्भ ६२ यज्ञहृदय ६३ यज्ञस्तुत ६४ यज्ञभागहर ६५ पञ्चयज्ञ ६६ पञ्चकालकर्तृपते ६७ पाञ्चरात्रिक ६८ वैकुण्ठ ६९ अपराजित ७० मानसिक ७१ नामनामिक ७२ परस्वामिन् ७३ सुस्नात ७४ हंस ७५ परमहंस ७६ महाहंस ७७ परमयाज्ञिक ७८ सांख्ययोग ७९ सांख्यमूर्ते ८० अमृतेशय ८१ हिरण्येशय ८२ देवेशय ८३ कुशेशय ८४ ब्रह्मेशय ८५ पद्मेशय ८६ विश्वेश्वर ८७ विष्वक्सेन ८८ त्वं जगदन्वयः ८९ त्वं जगत्प्रकृतिः

९० तवाङ्गिरास्यम् ९१ वडवामुखोऽग्निः ९२ त्वमाहुतिः ९३ सारथिः ९४ त्वं वषट्कारः ९५ त्वमोङ्कारः ९६ त्वं तपः ९७ त्वं मनः ९८ त्वं चन्द्रमाः ९९ त्वं चक्षुरादित्यं १०० त्वं सूर्यः १०१ त्वं दिशां गजः १०२ त्वं दिग्भानो १०३ विदिग्भानो १०४ हयशिरः १०५ प्रथमत्रिसौपर्णः १०६ वर्णधरः १०७ पञ्चाग्ने १०८ त्रिणाचिकेत १०९ षडङ्गनिधान ११० प्राग्ज्योतिष १११ ज्येष्ठसामग ११२ सामिकव्रतधर ११३ अथर्वशिराः ११४ पञ्चमहाकल्प ११५ फेनपाचार्य ११६ वालखिल्य ११७ वैखानस ११८ अभग्नयोग ११९ अभग्नपरिसंख्यान १२० युगादे १२१ युगमध्य १२२ युगनिधन १२३ आखण्डल १२४ प्राचीनगर्भ १२५ कौशिक १२६ पुरुष्टुत १२७ पुरुहूत १२८ विश्वकृत् १२९ विश्वरूप १३० अनन्तगते १३१ अनन्तभोग १३२ अनन्त १३३ अनादे १३४ अमध्य १३५ अव्यक्तमध्य १३६ अव्यक्तनिधन १३७ व्रतावास १३८ समुद्राधिवास १३९ यशोवास १४० तपोवास १४१ दमावास १४२ लक्ष्म्यावास १४३ विद्यावास १४४ कीर्त्यावास १४५ श्रीवास १४६ सर्वावास १४७ वासुदेव १४८ सर्वच्छन्दक १४९ हरिहय १५० हरिमेध १५१ महायज्ञभागहर १५२ वरप्रद १५३ सुखप्रद १५४ धनप्रद १५५ हरिमेध १५६ यम १५७ नियम १५८ महानियम १५९ कृच्छ्र १६० अतिकृच्छ्र १६१ महाकृच्छ्र १६२ सर्वकृच्छ्र १६३ नियमधर १६४ निवृत्तभ्रम १६५ प्रवचनगत १६६ पृश्निगर्भप्रवृत्त १६७ प्रवृत्तवेदक्रिय १६८ अज १६९ सर्वगते १७० सर्वदर्शिन् १७१ अग्राह्य १७२ अचल १७३ महाविभूते १७४ माहात्म्यशरीर १७५ पवित्र १७६ महापवित्र १७७ हिरण्मय १७८ बृहत् १७९ अप्रतर्क्य १८० अविज्ञेय १८१ ब्रह्माग्र्य १८२ प्रजासर्गकर १८३ प्रजानिधनकर १८४ महामायाधर १८५ चित्रशिखण्डिन् १८६ वरप्रद १८७ पुरोडाशभागहर १८८ गताध्वर १८९ छिन्नतृष्ण १९० छिन्नसंशय १९१ सर्वतोवृत्त १९२ निवृत्तिरूप १९३ ब्राह्मणरूप १९४ ब्राह्मणप्रिय १९५ विश्वमूर्ते १९६ महामूर्ते १९७ बान्धव १९८ भक्तवत्सल १९९ ब्रह्मण्यदेव भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय २०० नमो नमः ॥

१–देवदेवेश ! आपको नमस्कार है। २–आप निष्क्रिय, ३–निर्गुण और ४– समस्त जगत्के साक्षी हैं। ५–क्षेत्रज्ञ, ६–पुरुषोत्तम (क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम), ७–अनन्त, ८–पुरुष, ९–महापुरुष, १०–पुरुषोत्तम (परमात्मा), ११–त्रिगुण, १२–प्रधान, १३–अमृत, १४ अमृताख्य, १५–अनन्ताख्य (शेषनागरूप), १६–व्योम (महाकाशरूप), १७–सनातन, १८–सदसद्व्यक्ताव्यक्त, १९–ऋतधामा (सत्य धामस्वरूप), २०–आदिदेव, २१–वसुप्रद (कर्म-फलके दाता), २२–प्रजापते (दक्ष आदि), २३–सुप्रजापते (प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ), २४–वनस्पते, २५–महाप्रजापते (ब्रह्मस्वरूप), २६–ऊर्जस्पते (महाशक्तिशाली), २७–वाचस्पते (बृहस्पति), २८–जगत्पते, २९–मनस्पते, ३०–दिवस्पते (सूर्य), ३१–मरुत्पते (वायुदेवताके स्वामी), ३२–सलिलपते (जलके स्वामी), ३३–पृथ्वीपते, ३४–दिक्पते, ३५–पूर्वनिवास (महाप्रलयके समय जगत्के आधाररूप), ३६–गुह्य(स्वरूप), ३७–ब्रह्मपुरोहित, ३८–ब्रह्मकायिक, ३९–महाराजिक, ४०–चातुर्महाराजिक, ४१–भासुर (प्रकाशमान), ४२–महाभासुर (महाप्रकाशमान), ४३–सप्तमहाभाग, ४४–याम्य, ४५–महायाम्य, ४६–संज्ञासंज्ञ, ४७–तुषित, ४८–महातुषित, ४९–प्रमर्दन (मृत्युरूप), ५०–परिनिर्मित, ५१–अपरिनिर्मित, ५२–वशवर्ती, ५३–अपरिनिन्दित (शम-दम आदि गुणसम्पन्न), ५४–अपरिमित (अनन्त), ५५–वशवर्ती, ५६–अवशवर्ती, ५७–यज्ञ, ५८–महायज्ञ, ५९–यज्ञसम्भव, ६०–यज्ञयोनि(वेदस्वरूप), ६१–यज्ञगर्भ, ६२–यज्ञहृदय, ६३–यज्ञस्तुत, ६४–यज्ञभागहर, ६५–पञ्चयज्ञ, ६६–पञ्चकालकर्तृपति (अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सररूप कालके स्वामी), ६७–पाञ्चरात्रिक, ६८–वैकुण्ठ (परमधाम), ६९–अपराजित, ७०–मानसिक, ७१–नानामिक (जिनमें सब नामोंका समावेश है), ७२–परस्वामी (परमेश्वर), ७३–सुस्नात, ७४–हंस, ७५–परमहंस, ७६–महाहंस, ७७–परमयाज्ञिक, ७८–सांख्ययोगरूप, ७९–सांख्यमूर्ति (ज्ञानमूर्ति), ८०–अमृतेशय (विष्णु), ८१–हिरण्येशय, ८२–देवेशय, ८३–कुशेशय, ८४–ब्रह्मेशय, ८५–पद्मेशय (विष्णु), ८६–विश्वेश्वर और ८७–विष्वक्सेन आदि आपहीके नाम हैं। ८८–आप ही जगदन्वय (जगत्में ओतप्रोत) तथा ८९–आप ही जगत्के कारणस्वरूप हैं। ९०–अग्नि आपका मुख है। ९१–आप ही वड़वानल, ९२–आप ही आहुतिरूप, ९३–सारथि, ९४–वषट्कार, ९५–ॐकार, ९६–तपःस्वरूप, ९७–मनःस्वरूप, ९८–चन्द्रमास्वरूप, ९९–चक्षुके देवता सूर्य आप ही हैं। १००–सूर्य, १०१–दिग्गज, १०२–दिग्भानु (दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले), १०३–विदिग्भानु (विदिशाओंको प्रकाशित करनेवाले) तथा १०४–हयग्रीवरूप हैं। १०५–आप प्रथम त्रिसौपर्ण मन्त्र, १०६-ब्राह्मणादि वर्णोंको धारण करनेवाले तथा १०७–पञ्चाग्निरूप हैं। १०८–नाचिकेत नामसे प्रसिद्ध त्रिविध अग्नि भी आप ही हैं। १०९–आप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष नामक छः अङ्गोंके भण्डार हैं। ११०–प्राग्ज्योतिषस्वरूप, १११–ज्येष्ठ सामगस्वरूप आप ही हैं। ११२–सामिक व्रतधारी, ११३–अथर्वशिरा ११४–

पञ्चमहाकल्परूप (आप ही सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव और वैष्णव शास्त्रोंके उपास्यदेव) हैं। ११५–फेनपाचार्य, ११६–वालखिल्य-मुनिरूप, ११७–वैखानस मुनिरूप आप ही हैं। ११८–अभग्नयोग (अखण्डयोग), ११९–अभग्नपरिसंख्यान (अखण्ड विचार), १२०–युगादि (युगके आदिरूप), १२१–युगमध्य (युगके मध्यरूप), १२२–युगान्त (युगके अन्तरूप आप ही हैं), १२३–आखण्डल (इन्द्र), १२४–आपही प्राचीनगर्भ, १२५–कौशिकमुनि, १२६–पुरुष्टुत (सबके द्वारा प्रचुर स्तुति करने योग्य), १२७–पुरुहूत, १२८–विश्वकृत् (विश्वके रचयिता), १२९–विश्वरूप, १३०–अनन्तगति, १३१–अनन्तभोग, १३२–आपका न तो अन्त है, १३३–न आदि, १३४–न मध्य, १३५–अव्यक्तमध्य, १३६–अव्यक्तनिधन, १३७–व्रतावास (व्रतके आश्रय), १३८–समुद्रवासी (क्षीरसागरशायी), १३९–यशोवास (यशके निवासस्थान), १४०–तपोवास (तपके निवासस्थान), १४१–दमावास (संयमके आधार), १४२–लक्ष्मीनिवास, १४३–विद्याके आश्रय, १४४–कीर्तिके आधार, १४५–सम्पत्तिके आश्रय, १४६–सर्वावास (सबके निवासस्थान), १४७–वासुदेव, १४८–सर्वच्छन्दक (सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले), १४९–हरिहय, १५०–हरिमेध (अश्वमेध-यज्ञरूप), १५१–महायज्ञभागहर, १५२–वरप्रद (भक्तोंको वरदान देनेवाले), १५३–सुखप्रद (सबको सुख प्रदान करनेवाले), १५४–धनप्रद (सबको धन देनेवाले), १५५–हरिमेध (भगवद्भक्त भी आप ही हैं), १५६–यम, १५७–नियम, १५८–महानियम आदि साधन भी आप ही हैं। १५९–कृच्छ्र, १६०–अतिकृच्छ्र, १६१–महाकृच्छ्र, १६२–सर्वकृच्छ्र आदि चान्द्रायणव्रत भी आप ही हैं। १६३–नियमधर (नियमोंको धारण करनेवाले), १६४–निवृत्तभ्रम (भ्रमरहित), १६५–प्रवचनगत (वेदवाक्यके विषय), १६६–पृश्निगर्भप्रवृत्त, १६७–प्रवृत्तवेदक्रिय (वैदिक कर्मोंके प्रवर्तक), १६८–अज (जन्मरहित), १६९–सर्वगति (सर्वव्यापी), १७०–सर्वदर्शी, १७१–अग्राह्य, १७२–अचल, १७३–महाविभूति (सृष्टिरूप विभूतिवाले), १७४–माहात्म्य-शरीर (अतुलित प्रभावशाली स्वरूपवाले), १७५–पवित्र, १७६–महापवित्र (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले), १७७–हिरण्मय, १७८–बृहद् (ब्रह्म), १७९–अप्रतर्क्य (तर्कसे जाननेमें न आनेवाले), १८०–अविज्ञेय, १८१–ब्रह्माग्र्य, १८२–प्रजाकी सृष्टि करनेवाले, १८३–प्रजाका अन्त करनेवाले, १८४–महामायाधर, १८५–चित्रशिखण्डी, १८६–वरप्रद, १८७–पुरोडाश भागको ग्रहण करनेवाले, १८८–गताध्वर (प्राप्तयज्ञ), १८९–छिन्नतृष्ण (तृष्णारहित), १९०–छिन्नसंशय (संशयरहित), १९१–सर्वतोवृत्त (सर्वव्यापक), १९२–निवृत्तिरूप, १९३–ब्राह्मणरूप, १९४–ब्राह्मणप्रिय, १९५–विश्वमूर्ति, १९६–महामूर्ति, १९७–बान्धव (जगत्के बन्धु), १९८–भक्तवत्सल तथा १९९–ब्रह्मण्यदेव आदि नामोंसे पुकारे जानेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। मैं आपका भक्त हूँ। आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। २००–एकान्तमें दर्शन देनेवाले आप परमात्माको बारंबार नमस्कार है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

श्वेतद्वीपमें नारदजीको भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह-स्वरूपोंका परिचय कराना और भविष्यमें होनेवाले अवतारोंके कार्योंकी सूचना देना और इस कथाके श्रवण-पठनका माहात्म्य

भीष्म उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् गुह्यैस्तथ्यैश्च नामभिः।
तं मुनिं दर्शयामास नारदं विश्वरूपधृक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार गुह्य तथा सत्य नामोंसे जब नारदजीने भगवान्‌की स्तुति की, तब उन्होंने विश्वरूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १ ॥

किंचिच्चन्द्राद् विशुद्धात्मा किंचिच्चन्द्राद् विशेषवान्।
कृशानुवर्णः किंचिच्च किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः ॥ २ ॥

उनका वह स्वरूप कुछ चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल और कुछ चन्द्रमासे भी विलक्षण था। कुछ अग्निके समान देदीप्यमान और कुछ नक्षत्रोंके समान जाज्वल्यमान था ॥ २ ॥

शुकपत्रनिभः किंचित् किंचित्स्फटिकसंनिभः।
नीलाञ्जनचयप्रख्यो जातरूपप्रभः क्वचित् ॥ ३ ॥

कुछ तोतेकी पाँखके समान हरा, कुछ स्फटिकमणिके समान उज्ज्वल, कहींसे कज्जलराशिके समान काला और कहींसे सुवर्णके समान कान्तिमान् था ॥ ३ ॥

प्रवालाङ्कुरवर्णश्च श्वेतवर्णस्तथा क्वचित्।
क्वचित् सुवर्णवर्णाभो वैदूर्यसदृशः क्वचित् ॥ ४ ॥

कहीं नवाङ्कुरित पल्लवके समान था। कहीं श्वेतवर्ण दिखायी देता था, कहीं सुनहरी आभा दिखायी देती थी और कहीं-कहीं वैदूर्यमणिकी-सी छटा छिटक रही थी ॥ ४ ॥

नीलवैदूर्यसदृश इन्द्रनीलनिभः क्वचित्।

मयूरग्रीववर्णाभो मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥ ५ ॥

कहीं नीलवैदूर्य, कहीं इन्द्रनीलमणि, कहीं मोरकी ग्रीवाके सदृश वर्ण और कहीं मोतीके हारकी-सी कान्ति दृष्टि-गोचर होती थी ॥ ५ ॥

एतान् बहुविधान् वर्णान् रूपैर्बिभ्रत्सनातनः ।
सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ॥ ६ ॥
सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित् ।

इस प्रकार वे सनातन भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूपमें नाना प्रकारके रंग धारण किये हुए थे। उनके हजारों नेत्र, सैकड़ों (हजारों) मस्तक, हजारों पैर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे। वे अपूर्व कान्तिसे सम्पन्न थे और कहीं-कहीं उनकी आकृति अव्यक्त थी ॥ ६½ ॥

ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रात् सावित्रीं च तदन्वयाम् ॥ ७ ॥
शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून् ।
आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ॥ ८ ॥

सबको वशमें रखनेवाले वे भगवान् नारायण हरि एक मुखसे तो ॐकार तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करते थे एवं अन्यान्य मुखोंसे चारों वेदों और उनके आरण्यकभागका गान कर रहे थे ॥ ७-८ ॥

वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान् मणीनुपानहौ कुशान् ।
अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ ९ ॥
धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा ।

यज्ञोंके स्वामी उन भगवान् देवेश्वर विष्णुने उस समय अपने हाथोंमें यज्ञवेदी, कमण्डलु, चमकीले मणिरत्न, उपानह, कुशा, मृगचर्म, दण्ड-काष्ठ और प्रज्वलित अग्नि—ये सब वस्तुएँ ले रखी थीं ॥ ९½ ॥

तं प्रसन्नं प्रसन्नात्मा नारदो द्विजसत्तमः ॥ १० ॥
वाग्यतः प्रणतो भूत्वा ववन्दे परमेश्वरम् ।

उनका दर्शन करनेके पश्चात् प्रसन्नचित्त हुए द्विजश्रेष्ठ नारदने मौनभावसे नतमस्तक हो उन प्रसन्न हुए परमेश्वरकी वन्दना की ॥ १०½ ॥

तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ११ ॥

मस्तक झुकाकर चरणोंमें पड़े हुए नारदजीसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ।
इमं देशमनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! महर्षि एकत, द्वित और त्रित—ये सब भी मेरे दर्शनकी इच्छासे इस स्थानपर आये हुए थे ॥ १२ ॥

न च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन ।
ऋते ह्येकान्तिकश्रेष्ठात् त्वं चैवैकान्तिकोत्तमः ॥ १३ ॥

किंतु उन्हें मेरा दर्शन न प्राप्त हो सका। वास्तवमें मेरे अनन्य भक्तके सिवा और कोई मनुष्य मेरा दर्शन नहीं कर सकता। तुम तो मेरे अनन्य भक्तोंमें श्रेष्ठ हो; इसीलिये तुम्हें मेरा दर्शन हुआ है ॥ १३ ॥

ममैतास्तनवः श्रेष्ठा जाता धर्मगृहे द्विज ।
तास्त्वं भजस्व सततं साधयस्व यथागतम् ॥ १४ ॥

विप्रवर ! धर्मके घरमें जो अवतीर्ण हुए हैं, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं; अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो, उसका साधन करो ॥

वृणीष्व च वरं विप्र मत्तस्त्वं यदिहेच्छसि ।
प्रसन्नोऽहं तवाद्येह विश्वमूर्तिरिहाव्ययः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं अविनाशी विश्वरूप परमेश्वर आज तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, वह वर माँग लो ॥ १५ ॥

नारद उवाच

अद्य मे तपसो देव यमस्य नियमस्य च ।
सद्यः फलमवाप्तं वै दृष्टो यद् भगवान् मया ॥ १६ ॥

नारदजीने कहा—देव ! जब मैंने आप भगवान्का दर्शन पा लिया, तब मुझे तप, यम और नियम—सबका फल तत्काल ही मिल गया ॥ १६ ॥

वर एष ममात्यन्तं दृष्टस्त्वं यत् सनातनः ।
भगवन् विश्वदृक् सिंहः सर्वमूर्तिर्महान् प्रभुः ॥ १७ ॥

भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्वके द्रष्टा, सिंहके समान निर्भय, सर्वस्वरूप, महान् एवं सनातन प्रभु हैं। आपका जो दर्शन हो गया, यही मेरे लिये सबसे बड़ा वरदान है ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

एवं संदर्शयित्वा तु नारदं परमेष्ठिनम् ।
उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार दर्शन देकर भगवान्ने ब्रह्मपुत्र नारदजीसे फिर कहा, 'नारद ! जाओ, विलम्ब न करो ॥ १८ ॥

इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः ।
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥

'ये इन्द्रिय और आहारसे शून्य, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मेरे भक्तजन एकाग्रभावसे मेरा चिन्तन कर सकें और इनके ध्यानमें किसी प्रकारका विघ्न न हो, इसके लिये तुम्हें यहाँसे चले जाना चाहिये ॥ १९ ॥

सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

'यहाँ निवास करनेवाले ये सभी महाभाग सिद्ध हो चुके हैं। ये पहले भी मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हैं; अतः निःसंदेह मुझमें ही प्रवेश करेंगे ॥ २० ॥

न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च ।
न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः ॥ २१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै ।
यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते ॥ २२ ॥
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।
अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस्तथा ॥ २३ ॥
द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः ।
पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥ २४ ॥
यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः ।
स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥ २५ ॥

'जो नेत्रोंसे देखा नहीं जाता, त्वचासे जिसका स्पर्श नहीं होता, गन्ध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रियसे जो सूँघनेमें नहीं आता, जो रसनेन्द्रियकी पहुँचसे परे है; सत्त्व, रज और तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते, जो सर्वव्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियोंका नाश हो जानेपर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता है, जिसे अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्कल बताया गया है, जो चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्वके रूपमें विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष, निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रोंसे ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज यहाँ मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन परमात्मा है। उसीको वासुदेव नामसे जानना चाहिये ॥ २१—२५ ॥

पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥

'नारद ! उस परमात्मदेवका माहात्म्य और महिमा तो देखो, जो शुभाशुभ कर्मोंसे कभी लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान् प्रचक्षते ।
यत्ते सर्वशरीरेषु तिष्ठन्ति विचरन्ति च ॥ २७ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण बताये जाते हैं, जो सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित रहते हैं और विचरते हैं ॥ २७ ॥

एतान् गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो भुङ्क्ते नैभिः स भुज्यते ।
निर्गुणो गुणभुक् चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः ॥ २८ ॥

'इन गुणोंको क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है, किंतु इन गुणोंके द्वारा वह क्षेत्रज्ञ भोगा नहीं जाता; क्योंकि वह निर्गुण, गुणोंका भोक्ता, गुणोंका स्रष्टा तथा गुणोंसे उत्कृष्ट है ॥ २८ ॥

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ २९ ॥

'देवर्षे ! यह सम्पूर्ण जगत् जिसपर प्रतिष्ठित है, वह पृथ्वी जलमें विलीन हो जाती है। जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है ॥ २९ ॥

खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च ।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ ३० ॥

'वायुका आकाशमें लय होता है, आकाश मनमें विलीन होता है। मन उत्कृष्ट भूत है। वह अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है ॥ ३० ॥

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते ।
नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! अव्यक्तका निष्क्रिय पुरुषमें लय होता है। उस सनातन पुरुषसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ ३२ ॥

'संसारमें उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेवको छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है ॥ ३२ ॥

सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवो महाबलः ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ३३ ॥

'महाबली वासुदेव सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं ॥ ३३ ॥

ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम् ।
तदा विशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो लघुविक्रमः ॥ ३४ ॥

'वे सब महाभूत एक साथ मिलकर ही शरीर नाम धारण करते हैं। ब्रह्मन् ! उस समय अदृश्यभावसे जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है, वही जीवात्मा है ॥ ३४ ॥

उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः ।
न विना धातुसंघातं शरीरं भवति क्वचित् ॥ ३५ ॥

'उसका शरीरमें प्रवेश करना ही उत्पन्न होना बताया जाता है। वही शरीरको चेष्टाशील बनाता है। वही इसके संचालनमें समर्थ है। कहीं भी पाँचों भूतोंके मिलित समुदायके बिना कोई शरीर नहीं होता ॥ ३५ ॥

न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत ।
स जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मन् ! जीवके बिना प्राणवायु चेष्टा नहीं करती। वह जीव ही शेष या भगवान् सङ्कर्षण कहा गया है ॥ ३६ ॥

तस्मात् सनत्कुमारत्वं योऽलभत् स्वेन कर्मणा ।
यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३७ ॥
स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते ।

'जो उसी सङ्कर्षण अथवा जीवसे उत्पन्न होकर अपने कर्म (ध्यान, पूजन आदि) के द्वारा सनत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, जिसमें समस्त प्राणी लय एवं क्षयको प्राप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण भूतोंका मन ही 'प्रद्युम्न' कहलाता है ॥ ३७½ ॥

तस्मात् प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च ॥ ३८ ॥

'उस प्रद्युम्नसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह (अहंकार ही) तन्मात्रा आदिका कर्ता, परम्परा-सम्बन्धसे महाभूतोंका कारण तथा महत्तत्त्वका कार्य है ॥ ३८ ॥

तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः स सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥

'उसीसे समस्त चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है। वही 'अनिरुद्ध' एवं 'ईशान' कहलाता है। वह (कर्तृत्वके अभिमानरूपसे) सम्पूर्ण कर्मोंमें व्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते ।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥

'राजेन्द्र ! जो भगवान् वासुदेव क्षेत्रज्ञस्वरूप एवं निर्गुण-रूपसे जाननेयोग्य बताये गये हैं, वे ही प्रभावशाली सङ्कर्षण-रूप जीवात्मा हैं। सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ है, जो मनोमय कहलाते हैं। प्रद्युम्नसे जो अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं, वे ही अहंकार और ईश्वर हैं ॥ ४०-४१ ॥

मत्तः सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
अक्षरं च क्षरं चैव सच्चासच्चैव नारद ॥ ४२ ॥

'नारद ! मुझसे ही समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत्की उत्पत्ति होती है। क्षर और अक्षर तथा असत् और सत् भी मुझसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ४२ ॥

मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास्तु ये मम ।
अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

'यहाँ जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें ही प्रवेश करके मुक्त होते हैं। मैं ही पचीसवें तत्त्व निष्क्रिय पुरुषरूपसे जानने योग्य हूँ ॥ ४३ ॥

निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥ ४४ ॥
इच्छन् मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः ।

'मैं निर्गुण, निष्कल, द्वन्द्वोंसे अतीत और परिग्रहसे शून्य हूँ। तुम ऐसा न समझ लेना कि ये रूपवान् हैं, इस-लिये दिखायी देते हैं; क्योंकि मैं इच्छा करते ही एक ही क्षणमें अदृश्य हो सकता हूँ; क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्का ईश्वर और गुरु हूँ ॥ ४४½ ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ॥ ४५ ॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ।

'नारद ! तुम जो मुझे देख रहे हो, इस रूपमें मैंने माया रची है। तुम मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंसे युक्त न जानो ॥ ४५½ ॥

मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥
अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः ।
नैवं ते बुद्धिरत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४७ ॥

'मैंने अपने वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार स्वरूपोंका तुम्हारे सामने भलीभाँति वर्णन किया है। मैं ही जीव नामसे प्रसिद्ध हूँ, मुझमें ही जीवकी स्थिति है; परंतु तुम्हारे मनमें ऐसा विचार नहीं उठना चाहिये कि मैंने जीवको देखा है ॥ ४६-४७ ॥

अहं सर्वत्रगो ब्रह्मन् भूतग्रामान्तरात्मकः ।
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न नशाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं सर्वव्यापी और समस्त प्राणिसमुदायका अन्तरात्मा हूँ। सम्पूर्ण भूतसमुदाय और शरीरोंके नष्ट हो जानेपर भी मेरा नाश नहीं होता है ॥ ४८ ॥

सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्ताः प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४९ ॥

'मुने ! ये महाभाग श्वेतद्वीपनिवासी सिद्ध हैं। ये पहले मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हो गये हैं; इसलिये मेरे भीतर प्रवेश करेंगे ॥ ४९ ॥

हिरण्यगर्भो लोकादिश्चतुर्वक्त्रोऽनिरुक्तगः ।
ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिन्तकः ॥ ५० ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्के आदि, चतुर्मुख, अनिर्वचनीयस्वरूप, हिरण्यगर्भ एवं सनातन देवता हैं, वे ब्रह्मा मेरे बहुत-से कार्योंका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ५० ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद् विनिःसृतः ।
पश्यैकादश मे रुद्रान् दक्षिणं पार्श्वमास्थितान् ॥ ५१ ॥

'मेरे क्रोधवश ललाटसे मेरे ही रुद्रदेवका प्राकट्य हुआ है। देखो, ये ग्यारह रुद्र मेरे दाहिने भागमें विराजमान हैं ॥५१॥

द्वादशैव तथाऽऽदित्यान् वामपार्श्वे समास्थितान्।
अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥ ५२ ॥

'इसी प्रकार मेरे बायें भागमें बारह आदित्य विराज रहे हैं। अग्रभागमें सुरश्रेष्ठ आठ वसु विद्यमान हैं। इन सबको प्रत्यक्ष देखो ॥ ५२ ॥

नासत्यं चैव दस्रं च भिषजौ पश्य पृष्ठतः ।
सर्वान् प्रजापतीन् पश्य पश्य सप्त ऋषींस्तथा ॥ ५३ ॥
वेदान् यज्ञांश्च शतशः पश्यामृतमथौषधीः ।
तपांसि नियमांश्चैव यमानपि पृथग्विधान् ॥ ५४ ॥

'मेरे पृष्ठभागमें भी दृष्टिपात करो, जहाँ नासत्य और दस्र—ये दोनों देववैद्य अश्विनीकुमार स्थित हैं। इनके सिवा मेरे विभिन्न अङ्गोंमें समस्त प्रजापतियों, सप्तर्षियों, सम्पूर्ण वेदों, सैकड़ों यज्ञों, ओषधियों तथा अमृतको भी देखो। तप तथा नाना प्रकारके यम-नियम भी यहाँ मूर्तिमान् हैं ॥५३-५४॥

तथाष्टगुणमैश्वर्यमेकस्थं पश्य मूर्तिमत् ।
श्रियं लक्ष्मीं च कीर्तिं च पृथिवीं च ककुद्मिनीम्॥५५ ॥
वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम् ।
ध्रुवं च ज्योतिषां श्रेष्ठं पश्य नारद खेचरम् ॥ ५६ ॥

'आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी यहाँ एक ही जगह साकार-रूपसे प्रकट हैं, इन्हें देखो। श्री, लक्ष्मी, कीर्ति, पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा वेदमाता सरस्वतीदेवी भी मेरे भीतर विराजमान हैं, उन सबका दर्शन करो। नारद ! ये नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी ध्रुव दिखायी दे रहे हैं, इनकी ओर भी दृष्टि-पात करो ॥ ५५-५६ ॥

अम्भोधरान् समुद्रांश्च सरांसि सरितस्तथा ।
मूर्तिमन्तः पितृगणांश्चतुरः पश्य सत्तम ॥ ५७ ॥

'साधुशिरोमणे ! बादल, समुद्र, सरोवर और सरिताओंको भी मेरे भीतर मूर्तिमान् देख लो । चारों प्रकारके पितृगण भी सशरीर प्रकट हैं, इनका भी दर्शन कर लो ॥ ५७ ॥

त्रींश्चैवेमान् गुणान् पश्य मत्स्थान् मूर्तिविवर्जितान् ।
देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥

'मेरे शरीरमें स्थित हुए मूर्तिरहित इन तीन गुणोंको भी मूर्तिमान् देख लो । मुने ! देवकार्यसे भी पितृकार्य बढ़कर है ॥ ५८ ॥

देवानां च पितॄणां च पिता ह्येकोऽहमादितः ।
अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥ ५९ ॥
पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयान्वितम् ।

'एकमात्र मैं ही देवताओं और पितरोंका भी पिता हूँ । मैं ही हयग्रीवरूप धारण करके समुद्रमें वायव्यकोणकी ओर रहता हूँ और विधिपूर्वक हवन किये हुए हव्य और श्रद्धापूर्वक समर्पित किये हुए कव्यका भी पान करता हूँ ॥ ५९½ ॥

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत् स्वयम् ॥ ६० ॥
ततस्तस्मिन् वरान् प्रीतो दत्तवानस्म्यनुत्तमान् ।

'पूर्वकालमें मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये ब्रह्माने स्वयं ही मुझ यज्ञपुरुषका यजन किया था । इससे प्रसन्न होकर मैंने उन्हें उत्तम वरदान दिये थे ॥ ६०½ ॥

मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ॥ ६१ ॥
अहंकारकृतं चैव नाम पर्यायवाचकम् ।
त्वया कृतां च मर्यादां नातिक्रंस्यति कश्चन ॥ ६२ ॥

(वे वरदान इस प्रकार हैं—) ''ब्रह्मन् ! तुम प्रत्येक कल्पके आदिमें मेरे पुत्ररूपसे उत्पन्न होओगे । तुम्हें लोकाध्यक्षका पद प्राप्त होगा । तुम्हारा पर्यायवाची नाम होगा, अहङ्कारकर्ता । तुम्हारी बाँधी हुई मर्यादाका कोई उल्लङ्घन नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

त्वं चैव वरदो ब्रह्मन् वरेप्सूनां भविष्यसि ।
सुरासुरगणानां च ऋषीणां च तपोधन ॥ ६३ ॥
पितॄणां च महाभाग सततं संशितव्रत ।
विविधानां च भूतानां त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥ ६४ ॥

''ब्रह्मन् ! तुम वर चाहनेवाले साधकोंको वर देनेमें समर्थ होओगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले महाभाग तपोधन ! तुम देवताओं, असुरों, ऋषियों, पितरों तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके सदा ही उपासनीय होओगे ॥ ६३-६४ ॥

प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा ।
अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन् नियोज्यश्च सुतो यथा ॥ ६५ ॥

''ब्रह्मन् ! जब मैं देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये अवतार धारण करूँ, उन दिनों सदा तुम मुझपर शासन करना और पुत्रकी भाँति मुझे प्रत्येक कार्यमें नियुक्त करना' ॥

एतांश्चान्यांश्च रुचिरान् ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
अहं दत्त्वा वरान् प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ॥ ६६ ॥

'नारद ! अमित तेजस्वी ब्रह्माको ये तथा और भी बहुत-से सुन्दर वर देकर मैं प्रसन्नतापूर्वक निवृत्तिपरायण हो गया ॥

निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता ।
तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ॥ ६७ ॥

'समस्त कर्मोंसे उपरत हो जाना ही परम निवृत्ति है; अतः जो निवृत्तिको प्राप्त हो गया है, वह सभी अङ्गोंसे सुखी होकर विचरण करे ॥ ६७ ॥

विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६८ ॥

'सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तका निश्चय करनेवाले आचार्यगण मुझे ही विद्याकी सहायतासे युक्त, सूर्यमण्डलमें स्थित एवं समाहितचित्त कपिल कहते हैं ॥ ६८ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि सुष्टुतः ।
सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन् योगशास्त्रेषु शब्दितः ॥ ६९ ॥

'वेदमें जिनकी स्तुति की गयी है, वे भगवान् हिरण्यगर्भ मेरे ही स्वरूप हैं ! ब्रह्मन् ! योगीलोग जिसमें रमण करते हैं, वह योगशास्त्रप्रसिद्ध पुरुषविशेष ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ ६९ ॥

एषोऽहं व्यक्तिमागत्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः ।
ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७० ॥

'इस समय मैं सनातन परमात्मा ही व्यक्तरूप धारण करके आकाशमें स्थित हूँ । फिर एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर मैं ही इस जगत्का संहार करूँगा ॥ ७० ॥

कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७१ ॥

'उस समय सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपनेमें लीन करके मैं अकेला ही अपनी विद्या-शक्तिके साथ सूने संसारमें विहार करूँगा ॥ ७१ ॥

ततो भूयो जगत् सर्वं करिष्यामीह विद्यया ।
अस्मिन् मूर्तिश्चतुर्थी या साऽसृजच्छेषमव्ययम् ॥ ७२ ॥

'तदनन्तर सृष्टिका समय आनेपर फिर उस विद्याशक्तिके ही द्वारा संसारके सारे चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करूँगा । मेरी जो चार मूर्तियाँ हैं, उनमें जो चौथी वासुदेव मूर्ति है, उसने अविनाशी शेषको उत्पन्न किया है ॥ ७२ ॥

स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् ।
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥ ७३ ॥

'उस शेषको ही सङ्कर्षण कहा गया है । सङ्कर्षणने प्रद्युम्नको प्रकट किया है और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका आविर्भाव हुआ है । वह सब मैं ही हूँ । बारंबार उत्पन्न होनेवाला यह सृष्टि-विस्तार मेरा ही है ॥ ७३ ॥

अनिरुद्धात् तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ।
ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ ७४ ॥

'मेरी अनिरुद्ध मूर्तिसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, जिनका प्राकट्य मेरे नाभिकमलसे हुआ है। ब्रह्मासे समस्त चराचर भूत उत्पन्न हुए हैं ॥ ७४ ॥

एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः।
यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥ ७५ ॥

'कल्पके आदिमें बारंबार इस सृष्टिको मैं प्रकट करता हूँ (और अन्तमें इसका संहार कर डालता हूँ)। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। जैसे आकाशसे सूर्यका उदय होता है और आकाशमें ही वह अस्त होता है—ये उदय-अस्तके क्रम सदा चलते रहते हैं (उसी प्रकार मुझसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है और मुझमें ही उसका लय होता है। यह सृष्टि और संहारका क्रम यों ही चला करता है) ॥

नष्टे पुनर्बलात् काल आनयत्यमितद्युतिः।
तथा बलादहं पृथ्वीं सर्वभूतहिताय वै ॥ ७६ ॥

'जैसे अमिततेजस्वी काल सूर्यके अदृश्य होनेपर पुनः बलपूर्वक उसे दृष्टिपथमें ला देता है, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंके हितके लिये इस पृथ्वीको समुद्रके जलसे बलपूर्वक ऊपर लाता हूँ' ॥ ७६ ॥

(भीष्म उवाच

नारदस्त्वथ पप्रच्छ भगवन्तं जनार्दनम्।
केषु केषु च भावेषु त्वं द्रष्टव्यो महाप्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर नारदजीने भगवान् जनार्दनसे पूछा—'महाप्रभो ! किन-किन स्वरूपोंमें आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिये ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ॥
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश।

श्रीभगवान् बोले—महामुनि नारद ! तुम मेरे अवतारोंके नाम सुनो—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं ॥

पूर्वं मीनो भविष्यामि स्थापयिष्याम्यहं प्रजाः ॥
लोकान् वेदान् धरिष्यामि मज्जमानान् महार्णवे।

पहले मैं 'मत्स्य' रूपसे प्रकट होऊँगा और समस्त प्रजाको निर्भय अवस्थामें स्थापित करूँगा। महासागरमें डूबते हुए लोकों और वेदोंकी भी रक्षा करूँगा ॥

द्वितीयं कूर्मरूपं मे हेमकूटनिभं सुत ॥
मन्दरं धारयिष्यामि अमृतार्थे द्विजोत्तम।

वत्स ! मेरा दूसरा अवतार होगा कूर्म—कच्छप। उस समय मैं हेमकूट पर्वतके समान कच्छपरूप धारण करूँगा। द्विजश्रेष्ठ ! जब देवता अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन करेंगे, तब मैं अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण करूँगा ॥

मग्नां महार्णवे घोरे भाराक्रान्तामिमं पुनः ॥)

सत्त्वैराक्रान्तसर्वाङ्गां नष्टां सागरमेखलाम्।
आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमास्थितः ॥ ७७ ॥
हिरण्याक्षं वधिष्यामि दैतेयं बलगर्वितम्।

जिसके सारे अङ्ग प्राणियोंसे भरे हुए हैं तथा जो समुद्रसे घिरी हुई है, वही यह पृथ्वी जब भारी भारसे दबकर घोर महासागरमें निमग्न हो जायगी, उस समय मैं वाराहरूप धारण करके इसे पुनः अपने स्थानपर ला दूँगा। उसी समय बलके घमंडमें भरे हुए हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वध कर डालूँगा ॥ ७७½ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ॥ ७८ ॥
सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम्।

तदनन्तर देवताओंके कार्यके लिये नरसिंहरूप धारण करके यज्ञनाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपुका संहार कर डालूँगा ॥ ७८½ ॥

विरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः ॥ ७९ ॥
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम्।
भविष्यति स शक्रं वा स्वराज्याच्च्यावयिष्यति ॥ ८० ॥

विरोचनके एक बलवान् पुत्र होगा, जो महासुर बलिके नामसे विख्यात होगा। उसे देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं मार सकेंगे। वह इन्द्रको राज्यसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ७९-८० ॥

त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ।
अदित्यां द्वादशादित्यः सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥ ८१ ॥

जब वह त्रिलोकीका अपहरण कर लेगा और शचीपति इन्द्र युद्धमें पीठ दिखाकर भाग जायँगे, उस समय मैं कश्यपजीके अंश और अदितिके गर्भसे बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा ॥ ८१ ॥

(जटी गत्वा यज्ञसदः स्तूयमानो द्विजोत्तम।
यज्ञस्तवं करिष्यामि श्रुत्वा प्रीतो भवेद् बलिः ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उस समय सब लोग मेरी स्तुति करेंगे और मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके रूपमें बलिके यज्ञमण्डपमें जाकर उसके उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा करूँगा, जिसे सुनकर बलि बहुत प्रसन्न होगा ॥

किमिच्छसि वटो ब्रूहीत्युक्तो याचे महद् वरम्।
दीयतां त्रिपदीमात्रमिति याचे महासुरम् ॥

जब वह कहेगा कि 'ब्रह्मचारी ब्राह्मण ! बताओ, क्या चाहते हो ?' तब मैं उससे महान् वरकी याचना करूँगा। मैं उस महान् असुरसे कहूँगा कि 'मुझे तीन पग भूमिमात्र दे दो' ॥

स दद्यान्मयि सम्प्रीतः प्रतिषिद्धश्च मन्त्रिभिः।
यावज्जलं हस्तगतं त्रिभिर्विक्रमणैर्वृतम् ॥)
ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे।
देवताः स्थापयिष्यामि स्वस्वस्थानेषु नारद ॥ ८२ ॥

वह अपने मन्त्रियोंके मना करनेपर भी मुझपर प्रसन्न होनेके कारण वह वर मुझे दे देगा। ज्यों ही संकल्पका जल मेरे हाथपर आयेगा, त्यों ही तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापकर उसका सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्रको समर्पित कर दूँगा। नारद ! इस प्रकार मैं सम्पूर्ण देवताओंको अपने-अपने स्थानों-पर स्थापित कर दूँगा ॥ ८२ ॥

बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम्।
दानवं च बलिं श्रेष्ठमवध्यं सर्वदैवतैः ॥ ८३ ॥

साथ ही सम्पूर्ण देवताओंके लिये अवध्य श्रेष्ठ दानव बलिको भी पातालतलका निवासी बना दूँगा ॥ ८३ ॥

त्रेतायुगे भविष्यामि रामो भृगुकुलोद्वहः।
क्षत्रं चोत्सादयिष्यामि समृद्धबलवाहनम् ॥ ८४ ॥

फिर त्रेतायुगमें भृगुकुलभूषण परशुरामके रूपमें प्रकट होऊँगा और सेना तथा सवारियोंसे सम्पन्न क्षत्रियकुलका संहार कर डालूँगा ॥ ८४ ॥

संध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।
अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जब त्रेता और द्वापरकी सन्ध्या उपस्थित होगी, उस समय मैं जगत्पति दशरथनन्दन रामके रूपमें अवतार लूँगा॥

त्रितोपघाताद् वैरूप्यमेकतोऽथ द्वितस्तथा।
प्राप्स्येते वानरत्वं हि प्रजापतिसुतावृषी ॥ ८६ ॥

त्रित नामक मुनिके साथ विश्वासघात करनेके कारण एकत और द्वित—ये दो प्रजापतिके पुत्र ऋषि विरूप वानर-योनिको प्राप्त होंगे ॥ ८६ ॥

तयोर्ये त्वन्वये जाता भविष्यन्ति वनौकसः।
महाबला महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ ८७ ॥

उन दोनोंके वंशमें जो वनवासी वानर जन्म लेंगे, वे महाबली, महापराक्रमी और इन्द्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ होंगे ॥ ८७ ॥

ते सहाया भविष्यन्ति सुरकार्ये मम द्विज।
ततो रक्षःपतिं घोरं पुलस्त्यकुलपांसनम् ॥ ८८ ॥
हरिष्ये रावणं रौद्रं सगणं लोककण्टकम्।

ब्रह्मन् ! वे देवकार्यकी सिद्धिके लिये मेरे सहायक होंगे। तदनन्तर मैं पुलस्त्यकुलाङ्गार भयंकर राक्षसराज रावणको, जो समस्त जगत्‌के लिये भयावह होगा, उसके गणोंसहित मार डालूँगा ॥ ८८½ ॥

द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पार्यवसानिके ॥ ८९ ॥
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति।

फिर द्वापर और कलिकी संधिका समय बीतते-बीतते कंसका वध करनेके लिये मथुरामें मेरा अवतार होगा ॥८९½॥

(कंसं केशिं तथा कालमरिष्टं च महासुरम्।
चाणूरं च महावीर्यं मुष्टिकं च महाबलम् ॥
प्रलम्बं धेनुकं चैव अरिष्टं वृषरूपिणम्।
कालीयं च वशे कृत्वा यमुनाया महाह्रदे ॥
गोकुले तु ततः पश्चाद् गवार्थे तु महागिरिम्।
सप्तरात्रं धरिष्यामि वर्षमाणे तु वासवे ॥
अपक्रान्ते ततो वर्षे गिरिमूर्धन्यवस्थितः।
इन्द्रेण सह संवादं करिष्यामि तदा द्विज ॥)

उस समय कंस, केशी, कालासुर, महादैत्य अरिष्टासुर, महापराक्रमी चाणूर, महाबली मुष्टिक, प्रलम्ब, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्टको मारकर यमुनाके विशाल कुण्डमें स्थित कालियनागको वशमें करके गोकुलमें इन्द्रके वर्षा करते समय गौओंकी रक्षाके लिये महान् पर्वत गोवर्धनको सात दिन-रात अपने हाथसे छत्रकी भाँति धारण किये रहूँगा। ब्रह्मन् ! जब वर्षा बंद हो जायगी, तब पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो मैं इन्द्रके साथ संवाद करूँगा ॥

तत्राहं दानवान् हत्वा सुबहून् देवकण्टकान्॥ ९० ॥
कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम्।

वहाँ मैं बहुत-से देवकण्टक दानवोंको मारकर कुशस्थली-को द्वारकापुरीके नामसे बसाऊँगा और उसीमें निवास करूँगा॥

वसानस्तत्र वै पुर्यामदितेर्विप्रियंकरम् ॥ ९१ ॥
हनिष्ये नरकं भौमं मुरं पीठं च दानवम्।
प्राग्ज्योतिषं पुरं रम्यं नानाधनसमन्वितम् ॥ ९२ ॥
कुशस्थलीं नयिष्यामि हत्वा वै दानवोत्तमम्।

वहाँ रहकर देवमाता अदितिका अप्रिय करनेवाले भूमि-पुत्र नरकासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवोंका संहार करूँगा एवं नाना प्रकारके धन-धान्यसे सम्पन्न जो प्राग्ज्योतिषपुर नामक रमणीय नगर है, वहाँ दानवराज नरकका वध करके उसका सारा वैभव कुशस्थलीमें पहुँचा दूँगा ॥ ९१-९२½ ॥

(कृकलासं नृगं चैव मोचयिष्ये ह वै पुनः ॥
तत्र पौत्रनिमित्तेन गत्वा वै शोणितं पुरम्।
बाणस्य च पुरं गत्वा करिष्ये कदनं महत् ॥)

गिरगिटकी योनिमें पड़े हुए राजा नृगका भी उद्धार करूँगा। उसी अवतारमें अपने पौत्र अनिरुद्धके निमित्त बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें जाकर वहाँकी असुरसेना-का महान् संहार कर डालूँगा ॥

महेश्वरमहासेनौ बाणप्रियहितैषिणौ ॥ ९३ ॥
पराजेष्याम्यथोद्युक्तौ देवौ लोकनमस्कृतौ।

बाणासुरका प्रिय और हित चाहनेवाले विश्ववन्दित देवता भगवान् शङ्कर और कार्तिकेय भी जब मेरे साथ युद्धके लिये उद्यत होंगे, तब उन दोनोंको पराजित कर दूँगा ॥ ९३½ ॥

ततः सुतं बलेर्जित्वा बाणं बाहुसहस्रिणम् ॥ ९४ ॥
विनाशयिष्यामि ततः सर्वान् सौभनिवासिनः।

तदनन्तर सहस्र भुजाओंसे सुशोभित बलिपुत्र बाणासुरको पराजित करके शाल्वके सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त योद्धाओंका विनाश कर डालूँगा ॥ ९४½ ॥

यः कालयवनः ख्यातो गर्गतेजोऽभिसंवृतः ॥ ९५ ॥
भविष्यति वधस्तस्य मत्त एव द्विजोत्तम ।

द्विजोत्तम ! गर्गाचार्यके तेजसे उत्पन्न होकर शक्तिशाली बना हुआ जो कालयवन नामक विख्यात असुर होगा, उसका वध भी मेरे ही द्वारा सम्भव होगा ॥ ९५½ ॥

जरासंधश्च बलवान् सर्वराजविरोधनः ॥ ९६ ॥
भविष्यत्यसुरः स्फीतो भूमिपालो गिरिव्रजे ।
मम बुद्धिपरिस्पन्दाद् वधस्तस्य भविष्यति ॥ ९७ ॥

गिरिव्रजमें जरासंध नामक एक बहुत समृद्धिशाली और बलवान् असुर राजा होगा, जो सम्पूर्ण राजाओंसे वैर मोल लेता फिरेगा। मेरे ही बौद्धिक प्रयत्नसे उसका भी वध हो सकेगा ॥ ९६-९७ ॥

शिशुपालं वधिष्यामि यज्ञे धर्मसुतस्य वै ।
समागतेषु बलिषु पृथिव्यां सर्वराजसु ॥ ९८ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें भूमण्डलके समस्त बलवान् राजा पधारेंगे, उनके बीचमें मैं शिशुपालका वध कर डालूँगा॥

वासविः सुसहायो वै मम त्वेको भविष्यति ।
युधिष्ठिरं स्थापयिष्ये स्वराज्ये भ्रातृभिः सह ॥ ९९ ॥

एकमात्र इन्द्रकुमार अर्जुन मेरा सखा एवं सुन्दर सहायक होगा। मैं राजा युधिष्ठिरको उनके भाइयोंसहित पुनः राजपदपर प्रतिष्ठित करूँगा ॥ ९९ ॥

एवं लोका वदिष्यन्ति नरनारायणावृषी ।
उद्युक्तौ दहतः क्षत्रं लोककार्यार्थमीश्वरौ ॥१००॥

उस समयके लोग कहेंगे कि 'ये ईश्वररूप नर और नारायण नामक ऋषि ही एक साथ उद्यत हो लोकहितके लिये क्षत्रियजातिका संहार कर रहे हैं ॥ १०० ॥

कृत्वा भारावतरणं वसुधाया यथेप्सितम् ।
सर्वसात्वतमुख्यानां द्वारकायाश्च सत्तम ॥१०१॥
करिष्ये प्रलयं घोरमात्मज्ञातिविनाशनम् ।

साधुशिरोमणे ! पृथ्वीदेवीकी इच्छाके अनुसार उसका भार उतारकर मैं द्वारकाके समस्त यादवशिरोमणियोंका नाश करके अपनी जातिका विनाशरूप घोर कर्म करूँगा॥१०१½॥

कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ॥१०२॥
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान्।

श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार स्वरूपोंका धारण करनेवाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजीके द्वारा सम्मानित अपने धामको चला जाऊँगा ॥ १०२½ ॥

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥१०३॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥१०४॥

द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दशरथनन्दन राम, यदुवंशी श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये सब मेरे अवतार हैं ॥ १०३-१०४ ॥

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः ।
सवेदाः सश्रुतीकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥१०५॥

जब-जब वेद-श्रुति लुप्त हुई है, तब-तब अवतार लेकर मैंने पुनः उसे प्रकाशमें ला दिया है। मैंने ही पहले सत्ययुगमें वेदोंसहित श्रुतियोंको प्रकट किया था ॥ १०५ ॥

अतिक्रान्ताः पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित् ।
अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥१०६॥

मेरे जो अवतार अबतक व्यतीत हो चुके हैं, उन्हें सम्भवतः तुमने पुराणोंमें सुना होगा। मेरे कई उत्तमोत्तम अवतार हो चुके हैं ॥ १०६ ॥

लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ।
न ह्येतद् ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥१०७॥
यत् त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना ।

वे अवतार लोकहितके कार्य सम्पन्न करके पुनः अपने मूलस्वरूपमें मिल गये हैं। मुझमें अनन्य भक्ति रखनेके कारण आज तुमने यहाँ जिस स्वरूपका दर्शन पाया है, मेरे ऐसे स्वरूपका दर्शन अबतक ब्रह्माको भी नहीं प्राप्त हो सका है ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया॥१०८॥
पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम ।

ब्रह्मन् ! साधुप्रवर ! तुम मुझमें भक्तिभाव रखनेवाले हो, इसलिये मैंने तुमसे भूत और भविष्यके सारे अवतारोंका रहस्यसहित वर्णन किया है ॥ १०८½ ॥

भीष्म उवाच

एवं स भगवान् देवो विश्वमूर्तिधरोऽव्ययः ॥१०९॥
एतावदुक्त्वा वचनं तत्रैवान्तर्दधे पुनः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! विश्वरूपधारी अविनाशी भगवान् नारायणदेव इतनी बात कहकर वहीं पुनः अन्तर्धान हो गये ॥ १०९½ ॥

नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रहमीप्सितम् ॥११०॥
नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत् ।

तब महातेजस्वी नारदजी भी भगवान्‌का मनोवाञ्छित अनुग्रह पाकर नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये ॥ ११०½ ॥

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥१११॥
सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥११२॥
ब्रह्मणः सदने तात यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

यह महान् उपनिषद् (ज्ञान) चारों वेदोंके विज्ञानसे सम्पन्न है। इसमें सांख्य और योगका सिद्धान्त कूट-कूटकर भरा है। इसकी पाञ्चरात्र आगमके नामसे प्रसिद्धि है। साक्षात् नारायणके मुखसे इसका गान हुआ है। तात ! इस

विषयको नारदजीने श्वेतद्वीपमें जैसा देखा और सुना था, वैसा ही ब्रह्माजीके भवनमें सुनाया था ॥ १११-११२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतदाश्चर्यभूतं हि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥११३॥
किं वै ब्रह्मा न जानीते यतः शुश्राव नारदात् ।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! बुद्धिमान् नारायणदेवका माहात्म्य तो बड़ा ही आश्चर्यमय है । क्या ब्रह्माजी इसे नहीं जानते थे कि नारदजीके मुखसे इसका श्रवण किया ? ॥

पितामहोऽपि भगवांस्तस्माद् देवादनन्तरः ॥११४॥
कथं स न विजानीयात् प्रभावममितौजसः ।

भगवान् ब्रह्मा तो उन्हीं नारायणसे प्रकट हुए हैं। फिर वे उन महातेजस्वी नारायणका प्रभाव कैसे नहीं जानते होंगे ? ॥ ११४½ ॥

भीष्म उवाच

महाकल्पसहस्राणि महाकल्पशतानि च ॥११५॥
समतीतानि राजेन्द्र सर्गाश्च प्रलयाश्च ह ।
सर्गस्यादौ स्मृतो ब्रह्मा प्रजासर्गकरः प्रभुः ॥११६॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अबतक सैकड़ों और हजारों महाकल्प बीत चुके हैं, कितने ही सर्ग और प्रलय समाप्त हो चुके हैं । सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजी ही प्रजावर्गके सृष्टिकर्ता माने गये हैं ॥ ११५-११६ ॥

जानाति देवप्रवरं भूयश्चातोऽधिकं नृप ।
परमात्मानमीशानमात्मनः प्रभवं तथा ॥११७॥

नरेश्वर ! वे अपनी उत्पत्तिके कारणभूत देवप्रवर नारायणको इससे भी अधिक जानते हैं। उन्हें सर्वेश्वर और परमात्मा समझते हैं ॥ ११७ ॥

ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः ।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम् ॥११८॥

ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके अलावा जो दूसरे-दूसरे सिद्धसमुदाय निवास करते हैं, उनके लिये नारदजीने यह वेदतुल्य पुरातन पाञ्चरात्र सुनाया था ॥ ११८ ॥

तेषां सकाशात् सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् ।
आत्मानुगामिनां राजन् श्रावयामास वै ततः ॥११९॥
षट्षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
सूर्यस्य तपतो लोकान् निर्मिता ये पुरःसराः ॥१२०॥
तेषामकथयत् सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् ।

पवित्र अन्तःकरणवाले उन सिद्धोंके मुखसे भगवान् सूर्यने इस माहात्म्यको सुना । राजन् ! सूर्यने सुनकर अपने पीछे चलनेवाले साठ हजार भावितात्मा मुनियोंको इसका श्रवण कराया । लोकमें तपते हुए सूर्यके आगे चलनेके लिये जिन ऋषियोंकी सृष्टि हुई है, उन भावितात्माओंको भी सूर्यदेवने भगवान्‌की यह महिमा सुनायी थी ॥११९-१२०½॥

सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः ॥१२१॥
मेरौ समागता देवाः श्राविताश्चेदमुत्तमम् ।

तात ! सूर्यदेवका अनुसरण करनेवाले उन महात्मा ऋषियोंने मेरुपर्वतपर आये हुए देवताओंको वह उत्तम माहात्म्य सुनाया था ॥ १२१½ ॥

देवानां तु सकाशाद् वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥१२२॥
श्रावयामास राजेन्द्र पितॄणां मुनिसत्तमः ।

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण असितने देवताओंके मुखसे उस माहात्म्यको सुनकर पितरोंको सुनाया ॥ १२२½ ॥

(एवं परम्पराख्यातमिदं शान्तनुमाश्रितम्)
मम चापि पिता तात कथयामास शान्तनुः ॥१२३॥

इस प्रकार परम्परया प्राप्त होकर यह उत्तम ज्ञान महाराज शान्तनुको मिला । तात ! फिर पिता शान्तनुने मुझे इसका उपदेश दिया ॥ १२३ ॥

ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत ।
सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥१२४॥
सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समन्ततः ।

भरतनन्दन ! पिताजीके मुखसे इस प्रसङ्गको सुनकर मैंने अब तुमसे इसका वर्णन किया है । देवताओं, मुनियों अथवा जिन लोगोंने भी इस पुरातन ज्ञानको सुना है, वे सभी सब ओर परमात्माका पूजन करते हैं ॥ १२४½ ॥

इदमाख्यानमार्षेयं पारम्पर्यागतं नृप ॥१२५॥
नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथंचन ।

नरेश्वर ! इस प्रकार यह ऋषिसम्बन्धी आख्यान परम्परासे प्राप्त हुआ है । जो भगवान् वासुदेवका भक्त न हो, उसे किसी तरह भी इसका उपदेश तुम्हें नहीं देना चाहिये ॥ १२५½ ॥

(आख्यानमुत्तमं चेदं श्रावयेद् यः सदा नृप ।
तदैव मनुजो भक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
प्राप्नुयादचिराद् राजन् विष्णुलोकं सनातनम् ।)

नरेश्वर ! जो मनुष्य सदा इस उत्तम उपाख्यानको सुनायेगा, वह भक्त मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर शीघ्र ही भगवान् विष्णुके सनातनलोकको प्राप्त होगा ॥

मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै ॥१२६॥
यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः ।

राजन् ! तुमने मुझसे जो अन्य सैकड़ों उपाख्यान सुने हैं, उन सबका यह सारभाग निकालकर तुम्हारे सामने रक्खा गया है ॥ १२६½ ॥

सुरासुरैर्यथा राजन् निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥१२७॥
एवमेतत् पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् ।

युधिष्ठिर ! जैसे देवताओं और असुरोंने समुद्रको मथकर उससे अमृत निकाला था, उसी प्रकार प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंने सारे शास्त्रोंको मथकर इस अमृतमयी कथाको यहाँ प्रकाशित किया ॥ १२७½ ॥

यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥१२८॥
एकान्तभावोपगत एकान्तेषु समाहितः ।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥१२९॥
स सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः ।

जो मनुष्य प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और जो इसे सदा सुनेगा, वह भगवान्‌के प्रति अनन्यभावको प्राप्त होकर उनके अनन्य भक्तोंमें एकाग्रचित्तसे अनुरक्त हो श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँच जायगा और वह मनुष्य चन्द्रमाके समान कान्तिमान् रूप धारण करके उन सहस्रों किरणोंवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १२८-१२९½ ॥

मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामादितः कथाम् ॥१३०॥
जिज्ञासुर्लभते कामान् भक्तो भक्तगतिं व्रजेत् ।

इस कथाको आदिसे ही सुनकर रोगी रोगसे मुक्त हो जायगा, जिज्ञासु पुरुषको इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त होगा और भक्त पुरुष भक्तजनोचित गतिको प्राप्त होगा ॥ १३०½ ॥

त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥१३१॥
स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः ।

राजन् ! तुम्हें भी सदा ही भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के माता, पिता और गुरु हैं ॥ १३१½ ॥

ब्रह्मण्यदेवो भगवान् प्रीयतां ते सनातनः ॥१३२॥
युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

महाबाहु युधिष्ठिर ! ब्राह्मणहितैषी परम बुद्धिमान् सनातन पुरुष भगवान् जनार्दन देव तुमपर सदा प्रसन्न रहें ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदाख्यानवरं धर्मराड् जनमेजय ॥१३३॥
भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायणपराऽभवन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस उत्तम उपाख्यानको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर और उनके सभी भाई भगवान् नारायणके परम भक्त हो गये ॥ १३३½ ॥

जितं भगवता तेन पुरुषेणेति भारत ॥१३४॥
नित्यं जप्यपरा भूत्वा सरस्वतीमुदीरयन् ।

भरतनन्दन ! वे नित्यप्रति भगवन्नामके जपमें तत्पर होकर 'भगवान् पुरुषोत्तमकी जय हो' ऐसी वाणी बोला करते थे ॥ १३४½ ॥

यो ह्यस्माकं गुरुश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥१३५॥
जगौ परमकं जप्यं नारायणमुदीरयन् ।

जो हमारे परमगुरु मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं, वे भी परम उत्तम नारायणमन्त्रका जप करते हुए निरन्तर उनकी महिमाका गान करते रहते हैं ॥ १३५½ ॥

गत्वान्तरिक्षात् सततं क्षीरोदममृताशयम् ॥१३६॥
पूजयित्वा च देवेशं पुनरायात् स्वमाश्रमम् ।

व्यासजी सदा ही आकाशमार्गसे अमृतनिधि क्षीरसागरके तटपर जाकर देवेश्वर श्रीहरिकी पूजा करनेके पश्चात् पुनः अपने आश्रमपर लौट आते हैं ॥ १३६½ ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥१३७॥
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीका कहा हुआ यह सारा उपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया । यह पूर्वपरम्परासे पहले मेरे पिताजीको प्राप्त हुआ। फिर पिताजीने मुझसे कहा था ॥ १३७½ ॥

सौतिरुवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ॥१३८॥
जनमेजयेन तच्छ्रुत्वा कृतं सम्यग् यथाविधि ।
यूयं हि तप्ततपसः सर्वे च चरितव्रताः ॥१३९॥

सूतपुत्र बोले—शौनक ! वैशम्पायनजीका कहा हुआ यह सारा आख्यान मैंने तुमसे कहा है । जनमेजयने इसे सुनकर उत्तम विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया । तुमलोग भी तपस्वी और व्रतका पालन करनेवाले हो ॥१३८-१३९॥

सर्वे वेदविदो मुख्या नैमिषारण्यवासिनः ।
शौनकस्य महासत्रं प्राप्ताः सर्वे द्विजोत्तमाः ॥१४०॥

नैमिषारण्यमें निवास करनेवाले प्रायः सभी ऋषि प्रमुख वेदवेत्ता हैं और सभी श्रेष्ठ द्विज शौनकके इस महायज्ञमें एकत्र हुए हैं ॥ १४० ॥

यजध्वं सुहुतैर्यज्ञैः शाश्वतं परमेश्वरम् ।
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ॥१४१॥

आप सब लोग विधिवत् हवन करके उत्तम यज्ञोंद्वारा उन सनातन परमेश्वरका यजन करें । यह परम्परासे प्राप्त हुआ उत्तम आख्यान मेरे पिताने पहले-पहल मुझसे कहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका माहात्म्यविषयक तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३३९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल १५६½ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने शिष्योंको भगवान्‌द्वारा ब्रह्मादि देवताओंसे कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप धर्मके उपदेशका रहस्य बताना

शौनक उवाच

कथं स भगवान् देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः ।
यज्ञधारी च सततं वेदवेदाङ्गवित् तथा ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! वे प्रभाव

शाली वेदवेद्य भगवान् नारायणदेव यज्ञोंमें प्रथम भाग ग्रहण करनेवाले माने गये हैं तथा वे ही वेदों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता परमेश्वर नित्य-निरन्तर यज्ञधारी (यज्ञकर्ता) भी बताये गये हैं। एक ही भगवान्‌में यज्ञोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों कैसे सम्भव होते हैं ? ॥ १ ॥

निवृत्तं चास्थितो धर्मे क्षमी भागवतः प्रभुः।
निवृत्तिधर्मान् विदधे स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥

सबके स्वामी क्षमाशील भगवान् नारायण स्वयं तो निवृत्तिधर्ममें ही स्थित हैं और उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने निवृत्तिधर्मोंका विधान किया है ॥ २ ॥

कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्हा देवताः कृताः।
कथं निवृत्तिधर्माश्च कृता व्यावृत्तबुद्धयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार निवृत्तिधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने देवताओंको प्रवृत्तिधर्मोंमें अर्थात् यज्ञादि कर्मोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बनाया ? तथा ऋषि-मुनियोंको विषयोंसे विरक्तबुद्धि और निवृत्तिधर्मपरायण किस कारण बनाया ? ॥

एतं नः संशयं सौते छिन्धि गुह्यं सनातनम्।
त्वया नारायणकथाः श्रुता वै धर्मसंहिताः ॥ ४ ॥

सूतनन्दन ! यह गूढ़ संदेह हमारे मनमें सदा उठता रहता है, आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आपने भगवान् नारायणकी बहुत-सी धर्मसङ्गत कथाएँ सुन रक्खी हैं ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन यत् पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धीमतः।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पौराणं शौनकोत्तम ॥ ५ ॥

सूतपुत्रने कहा—मुनिश्रेष्ठ शौनक ! राजा जनमेजयने बुद्धिमान् व्यासजीके शिष्य वैशम्पायनजीके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित किया था, उस पुराणप्रोक्त विषयका मैं तुम्हारे सामने वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

श्रुत्वा माहात्म्यमेतस्य देहिनां परमात्मनः।
जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

परम बुद्धिमान् जनमेजयने समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप इन परमात्मा नारायणदेवका माहात्म्य सुनकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच

इमे सब्रह्मका लोकाः ससुरासुरमानवाः।
क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्ता दृश्यन्ति सर्वशः ॥ ७ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! ब्रह्मा, देवगण, असुरगण तथा मनुष्योंसहित ये समस्त लोक लौकिक अभ्युदयके लिये बताये गये कर्मोंमें ही आसक्त देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

मोक्षश्चोक्तस्त्वया ब्रह्मन् निर्वाणं परमं सुखम्।
ये तु मुक्ता भवन्तीह पुण्यपापविवर्जिताः ॥ ८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्तीह शुश्रुम।

ब्रह्मन् ! परंतु आपने मोक्षको परम शान्ति एवं परम सुखस्वरूप बताया है। जो मुक्त होते हैं, वे पुण्य और पापसे रहित हो सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करते हैं, यह बात मैंने सुन रक्खी है ।८½।

अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः ॥ ९ ॥
यं हित्वा देवताः सर्वा हव्यकव्यभुजोऽभवन्।

किंतु यह सनातन मोक्षधर्म अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है, जिसे छोड़कर सब देवता हव्य और कव्योंके भोक्ता बन गये हैं ॥ ९½ ॥

किं च ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्च बलभित् प्रभुः ॥ १० ॥
सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च।
आकाशं जगती चैव ये च शेषा दिवौकसः ॥ ११ ॥
प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम्।
ततस्तेनास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ॥ १२ ॥

इसके सिवा ब्रह्मा, रुद्र और बलासुरका वध करनेवाले सामर्थ्यशाली इन्द्र एवं सूर्य, तारापति चन्द्रमा, वायु, अग्नि, वरुण, आकाश, पृथ्वी तथा जो अवशिष्ट देवता बताये गये हैं, वे सब क्या परमात्माके रचे हुए अपने मोक्ष-मार्गको नहीं जानते हैं ? जिससे कि निश्चल, क्षयशून्य एवं अविनाशी मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ? ॥ १०—१२ ॥

स्मृत्वा कालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः।
दोषः कालपरीमाणे महानेष क्रियावताम् ॥ १३ ॥

जो लोग नियत कालतक प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलोंको लक्ष्य करके प्रवृत्तिमार्गका आश्रय लेते हैं, उन कर्मपरायण पुरुषोंके लिये यही सबसे बड़ा दोष है कि वे कालकी सीमामें आबद्ध रहकर ही कर्मका फल भोग करते हैं ॥ १३ ॥

एतन्मे संशयं विप्र हृदि शल्यमिवार्पितम्।
छिन्धीतिहासकथनात् परं कौतूहलं हि मे ॥ १४ ॥

विप्रवर ! यह संशय मेरे हृदयमें काँटेके समान चुभता है। आप इतिहास सुनाकर मेरे संदेहका निवारण करें । मेरे मनमें इस विषयको जाननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥

कथं भागहराः प्रोक्ता देवताः क्रतुषु द्विज।
किमर्थं चाध्वरे ब्रह्मन्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देवताओंको यज्ञोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बताया गया है ? ब्रह्मन् ! स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले देवताओंकी ही यज्ञमें किसलिये पूजा की जाती है ? ॥ १५ ॥

ये च भागं प्रगृह्णन्ति यज्ञेषु द्विजसत्तम।
ते यजन्तो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै ॥ १६ ॥

ब्राह्मणशिरोमणे ! जो यज्ञोंमें भाग ग्रहण करते हैं, वे देवता जब स्वयं महायज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, तब किसको भाग समर्पित करते हैं ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वर।

नातप्ततपसा ह्येष नावेदविदुषा तथा ॥ १७ ॥
नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! तुमने बड़ा गूढ़ प्रश्न उपस्थित किया है। जिसने तपस्या नहीं की है तथा जो वेदों और पुराणोंका विद्वान् नहीं है, वह मनुष्य अनायास ही ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ १७½ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ १८ ॥
कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः ।

अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ। पूर्वकालमें मेरे पूछनेपर वेदोंका विस्तार करनेवाले गुरुदेव महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने जो कुछ बताया था, वही मैं तुमसे कहूँगा ॥ १८½ ॥

सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः ॥ १९ ॥
अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः ।

सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पैल—इन तीनके सिवा व्यासजीका चौथा शिष्य मैं ही हूँ और पाँचवें शिष्य उनके पुत्र शुकदेव माने गये हैं ॥१९½॥

एतान् समागतान् सर्वान् पञ्च शिष्यान् दमान्वितान्२०
शौचाचारसमायुक्ताञ्जितक्रोधाञ्जितेन्द्रियान् ।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥ २१ ॥

ये पाँचों शिष्य इन्द्रियदमन एवं मनोनिग्रहसे सम्पन्न, शौच तथा सदाचारसे संयुक्त, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय हैं। अपनी सेवामें आये हुए इन सभी शिष्योंको व्यासजीने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन कराया।२०-२१।

मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ।
तेषामभ्यस्यतां वेदान् कदाचित् संशयोऽभवत् ॥२२॥
एष वै यस्त्वया पृष्टस्तेन तेषां प्रकीर्तितः ।
ततः श्रुतो मया चापि तवाख्येयोऽद्य भारत ॥ २३ ॥

सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिवर मेरुके रमणीय शिखरपर वेदाभ्यास करते हुए हम सब शिष्योंके मनमें किसी समय यही संदेह उत्पन्न हुआ, जिसे आज तुमने पूछा है। भारत ! व्यासजीने हम शिष्योंको जो उत्तर दिया, उसे मैंने भी उन्हींके मुखसे सुना था। वही आज तुम्हें भी बताना है॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा सर्वाज्ञानतमोनुदः ।
पराशरसुतः श्रीमान् व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने शिष्योंका संशययुक्त वचन सुनकर सबके अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले पराशरनन्दन श्रीमान् व्यासजीने यह बात कही—॥ २४ ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानीयामिति सत्तमाः ॥ २५ ॥

'साधु पुरुषोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! एक समयकी बात है कि मैंने भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कठोर और बड़ी भारी तपस्या की ॥

तस्य मे तप्ततपसो निगृहीतेन्द्रियस्य च ।
नारायणप्रसादेन क्षीरोदस्यानुकूलतः ॥ २६ ॥
त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम् ।
तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥ २७ ॥

'जब मैं इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी तपस्या पूर्ण कर चुका, तब भगवान् नारायणके कृपाप्रसादसे क्षीरसागरके तटपर मुझे मेरी इच्छाके अनुसार यह तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त हुआ। अतः मैं तुम्हारे संदेहके निवारणके लिये उत्तम एवं न्यायोचित बात कहूँगा। तुमलोग ध्यान देकर सुनो ॥

यथा वृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा ।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ॥ २८ ॥
महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा ।
तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

'कल्पके आदिमें जैसा वृत्तान्त घटित हुआ था और जिसे मैंने ज्ञानदृष्टिसे देखा था, वह सब बता रहा हूँ। सांख्य और योगके विद्वान् जिन्हें परमात्मा कहते हैं, वे ही अपने कर्मके प्रभावसे महापुरुष नाम धारण करते हैं। उन्हींसे अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है, जिसे विद्वान् पुरुष प्रधानके नामसे भी जानते हैं ॥ २८-२९ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ॥ ३० ॥

'जगत्की सृष्टिके लिये उन्हीं महापुरुष और अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति हुई, जिसे सम्पूर्ण लोकोंमें अनिरुद्ध एवं महान् आत्मा कहते हैं ॥ ३० ॥

योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ३१ ॥

'व्यक्तभावको प्राप्त हुए उन्हीं अनिरुद्धने पितामह ब्रह्माकी सृष्टि की। वे ब्रह्मा सम्पूर्ण तेजोमय हैं और उन्हींको समष्टि अहंकार कहा गया है ॥ ३१ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्चधा ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच सूक्ष्म-महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ३२ ॥

महाभूतानि सृष्ट्वैव तान् गुणान् निर्ममे पुनः ।
भूतेभ्यश्चैव निष्पन्ना मूर्तिमन्तश्च ताञ्शृणु ॥ ३३ ॥

'अहंकारस्वरूप ब्रह्माने पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि करके फिर उनके शब्द-स्पर्श आदि गुणोंका निर्माण किया। उन भूतोंसे जो मूर्तिमान् प्राणी उत्पन्न हुए, उनके नाम सुनो ॥ ३३ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ॥ ३४ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, महात्मा वसिष्ठ और स्वायम्भुव मनु ॥ ३४ ॥

ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
वेदवेदाङ्गसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान् ॥ ३५ ॥
निर्ममे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः।
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत् ॥ ३६ ॥

'इन आठोंको प्रकृति जानना चाहिये, जिनमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण लोकोंके जीवन-निर्वाहके लिये वेद-वेदाङ्ग और यज्ञाङ्गोंसे युक्त यज्ञोंकी सृष्टि की है। पूर्वोक्त आठ प्रकृतियोंसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ३५-३६ ॥

रुद्रो रोषात्मको जातो दशान्यान् सोऽसृजत् स्वयम्।
एकादशैते रुद्रास्तु विकारपुरुषाः स्मृताः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्माजीके रोषसे रुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है। उन रुद्रने स्वयं ही दस अन्य रुद्रोंकी भी सृष्टि कर ली है। इस प्रकार ये ग्यारह रुद्र हैं, जो विकारपुरुष माने गये हैं ॥ ३७ ॥

ते रुद्राः प्रकृतिश्चैव सर्वे चैव सुरर्षयः।
उत्पन्ना लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ ३८ ॥

'वे ग्यारह रुद्र, आठ प्रकृति और समस्त देवर्षिगण, जो लोकरक्षाके लिये उत्पन्न हुए थे, ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३८ ॥

वयं सृष्टा हि भगवंस्त्वया च प्रभविष्णुना।
येन यस्मिन्नधीकारे वर्तितव्यं पितामह ॥ ३९ ॥
योऽसौ त्वयाभिनिर्दिष्टो ह्यधिकारोऽर्थचिन्तकः।
परिपाल्यः कथं तेन साहंकारेण कर्तृणा ॥ ४० ॥

(और इस प्रकार बोले—) 'भगवन्! पितामह! आप महान् प्रभावशाली हैं। आपने ही हमलोगोंकी सृष्टि की है। हममेंसे जिसको जिस अधिकार या कार्यमें प्रवृत्त होना है तथा आपके द्वारा जिस अर्थसाधक अधिकारका निर्देश किया गया है, उसका पालन अहंकारयुक्त कर्ताके द्वारा कैसे हो सकता है? ॥ ३९-४० ॥

प्रदिशस्व बलं तस्य योऽधिकारार्थचिन्तकः।
एवमुक्तो महादेवो देवांस्तानिदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

'उस अधिकार और प्रयोजनका चिन्तन करनेवाला जो पुरुष है, उसे आप कर्तव्यपालनकी शक्ति प्रदान कीजिये।' उनके ऐसा कहनेपर महान् देव ब्रह्माजीने उन देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच

साध्वहं ज्ञापितो देवा युष्माभिर्भद्रमस्तु वः।
ममाप्येषा समुत्पन्ना चिन्ता या भवतां मता ॥ ४२ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! तुमने मुझे अच्छी बात सुझायी है! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे हृदयमें जो चिन्ता उत्पन्न हुई है, वही मेरे हृदयमें भी पैदा हुई है ॥ ४२ ॥

लोकत्रयस्य कृत्स्नस्य कथं कार्यः परिग्रहः।
कथं बलक्षयो न स्याद् युष्माकं ह्यात्मनश्च मे॥ ४३ ॥

किस प्रकार तीनों लोकोंके अधिकृत कार्यका सम्पादन किया जाय तथा किस तरह तुम्हारी और मेरी शक्तिका भी क्षय न हो ॥ ४३ ॥

इतः सर्वेऽपि गच्छामः शरणं लोकसाक्षिणम्।
महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति यद्धितम् ॥ ४४ ॥

हम सब लोग यहाँसे अव्यक्त लोकसाक्षी महापुरुष नारायण-देवकी शरणमें चलें। वे हमारे लिये हितकी बात बतायेंगे ॥

ततस्ते ब्रह्मणा सार्धमृषयो विबुधास्तथा।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जग्मुर्लोकहितार्थिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर वे सब ऋषि और देवता सम्पूर्ण जगत्के हितकी भावना लेकर ब्रह्माजीके साथ क्षीरसागरके उत्तर तट-पर गये ॥ ४५ ॥

ते तपः समुपातिष्ठन् ब्रह्मोक्तं वेदकल्पितम्।
स महानियमो नाम तपश्चर्यासु दारुणः ॥ ४६ ॥

वहाँ ब्रह्माजीके कथनानुसार उन सबने वेदोक्त रीतिसे तपस्या आरम्भ की। उनका वह महान् नियम सभी तपस्याओंमें कठोर था ॥ ४६ ॥

ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च एकाग्रं च मनोऽभवत्।
एकपादाः स्थिताः सर्वे काष्ठभूताः समाहिताः ॥ ४७ ॥

उनकी आँखें ऊपरकी ओर लगी थीं, भुजाएँ भी ऊपर-की ओर ही उठी हुई थीं। मन एकाग्र था। वे सब-के-सब समाहितचित्त हो एक पैरसे खड़े हो काष्ठके समान जान पड़ते थे ॥ ४७ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं ते तपस्तप्त्वा सुदारुणम्।
शुश्रुवुर्मधुरां वाणीं वेदवेदाङ्गभूषिताम् ॥ ४८ ॥

एक हजार दिव्य वर्षोंतक अत्यन्त कठोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें वेद और वेदाङ्गोंसे विभूषित मधुर वाणी सुनायी दी॥

श्रीभगवानुवाच

भो भोः सब्रह्मका देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
स्वागतेनार्च्य वः सर्वाञ्श्रावये वाक्यमुत्तमम्॥ ४९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे तपस्याके धनी ब्रह्मा आदि देवताओ तथा ऋषियो! मैं स्वागतके द्वारा तुम सबका सत्कार करके तुम्हें यह उत्तम वचन सुनाता हूँ ॥ ४९ ॥

विज्ञातं वो मया कार्यं तच्च लोकहितं महत्।
प्रवृत्तियुक्तं कर्तव्यं युष्मत्प्राणोपबृंहणम् ॥ ५० ॥

तुम्हारा प्रयोजन क्या है? यह मुझे ज्ञात हो गया है। वह सम्पूर्ण जगत्के लिये अत्यन्त हितकर है। तुम्हें प्रवृत्ति-युक्त धर्मका पालन करना चाहिये। वह तुम्हारे प्राणोंका पोषक तथा शक्तिका संवर्द्धन करनेवाला होगा ॥ ५० ॥

सुतप्तं च तपो देवा ममाराधनकाम्यया।
भोक्ष्यथास्य महासत्त्वास्तपसः फलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

महान् धैर्यशाली देवताओ! तुमलोगोंने मेरी आराधना-की इच्छासे बड़ी भारी तपस्या की है। उस तपस्याके उत्तम फलका तुम अवश्य उपभोग करोगे ॥ ५१ ॥

एष ब्रह्मा लोकगुरुर्महाँल्लोकपितामहः ।
यूयं च विबुधश्रेष्ठा मां यजध्वं समाहिताः ॥ ५२ ॥

ये सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु लोकपितामह ब्रह्मा और तुम सभी श्रेष्ठ देवगण एकाग्रचित्त हो यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करो ॥

सर्वे भागान् कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः ।
तथा श्रेयोऽभिधास्यामि यथाधीकारमीश्वराः ॥ ५३ ॥

लोकेश्वरो ! तुम सब लोग यज्ञोंमें सदा मेरे लिये भाग समर्पित करते रहो । ऐसा होनेपर मैं तुम्हें तुम्हारे अधिकारके अनुसार कल्याणमार्गका उपदेश करता रहूँगा ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतद् देवदेवस्य वाक्यं हृष्टतनूरुहाः ।
ततस्ते विबुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ॥ ५४ ॥
वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन् ।
तस्मिन् सत्रे सदा ब्रह्मा स्वयं भागमकल्पयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवाधिदेव भगवान् नारायणका यह वचन सुनकर उन सबके रोम हर्षसे खिल उठे । तदनन्तर उन सब देवताओं, महर्षियों और ब्रह्माजीने वेदोक्त विधिसे वैष्णव यज्ञका अनुष्ठान किया । उस यज्ञमें ब्रह्माजीने स्वयं भगवान्के लिये भाग निश्चित किया ।५४-५५।

देवा देवर्षयश्चैव स्वं स्वं भागमकल्पयन् ।
ते कार्तयुगधर्माणो भागाः परमसत्कृताः ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार देवताओं और देवर्षियोंने भी अपना-अपना भाग भगवान्के लिये निश्चित किया । सत्ययुगके न्यायानुसार निश्चित किये हुए वे उत्तम यज्ञ-भाग सबके द्वारा अत्यन्त सत्कृत हुए ॥ ५६ ॥

प्राहुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम् ।
बृहन्तं सर्वगं देवमीशानं वरदं प्रभुम् ॥ ५७ ॥

ऋषि कहते हैं कि 'भगवान् नारायण सूर्यके समान तेजस्वी, अन्तर्यामी पुरुष, अज्ञानान्धकारसे परे, सर्वव्यापी, सर्वगामी, ईश्वर, वरदाता और सर्वसमर्थ हैं' ॥ ५७ ॥

ततोऽथ वरदो देवस्तान् सर्वानमरान् स्थितान् ।
अशरीरो बभाषेदं वाक्यं खस्थो महेश्वरः ॥ ५८ ॥

यज्ञभाग निश्चित हो जानेपर उन वरदायक देवता महेश्वर नारायणदेवने आकाशमें बिना शरीरके ही स्थित हो वहाँ खड़े हुए उन समस्त देवताओंसे यह बात कही—॥५८॥

येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः ।
प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम् ॥ ५९ ॥

'देवताओ ! जिसने जो भाग हमारे लिये निश्चित किया था, वह उसी रूपमें मुझे प्राप्त हो गया । इससे प्रसन्न होकर आज मैं तुम्हें पुनरावृत्तिरूप फल प्रदान करता हूँ ॥

एतद् वो लक्षणं देवा मत्प्रसादसमुद्भवम् ।
स्वयं यज्ञैर्यजमानाः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ६० ॥
युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः ।

'देवताओ ! मेरी कृपासे तुम्हारा ऐसा ही लक्षण होगा । तुम प्रत्येक युगमें उत्तम दक्षिणाओंसे संयुक्त यज्ञोंद्वारा यजन करके प्रवृत्तिरूप धर्मफलके भागी होओगे ॥ ६०½ ॥

यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः ॥ ६१ ॥
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान् ।

'देवगण ! सम्पूर्ण लोकोंमें जो मनुष्य यज्ञोंद्वारा यजन करेंगे, वे तुम्हारे लिये वेदके कथनानुसार यज्ञभाग निश्चित करेंगे ॥ ६१½ ॥

यो मे यथा कल्पितवान् भागमस्मिन् महाक्रतौ ॥ ६२ ॥
स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतः ।

'इस महान् यज्ञमें जिस देवताने मेरे लिये जैसा भाग निश्चित किया है, वह वैदिक सूत्रमें मेरेद्वारा वैसे ही यज्ञ-भागका अधिकारी बनाया गया ॥ ६२½ ॥

यूयं लोकान् भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥ ६३ ॥
सर्वार्थचिन्तका लोके यथाधीकारनिर्मिताः ।

'तुमलोग यज्ञमें भाग लेकर यजमानको उसका फल देनेमें प्रवृत्त हो जगत्में अपने अधिकारके अनुसार सबके सभी मनोरथोंका चिन्तन करते हुए सब लोगोंको उन्नतिशील बनाओ ॥ ६३½ ॥

याः क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥ ६४ ॥
आभिराप्यायितबला लोकान् वै धारयिष्यथ ।

'प्रवृत्ति-फलसे समादृत होनेवाली जिन यज्ञ-क्रियाओंका जगत्में प्रचार होगा, उन्हींसे तुम्हारे बलकी वृद्धि होगी और बलिष्ठ होकर तुमलोग सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करोगे ॥ ६४½ ॥

यूयं हि भाविता यज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥ ६५ ॥
मां ततो भावयिष्यध्वमेषा वो भावना मम ।

'सम्पूर्ण यज्ञोंमें मनुष्य तुम्हारा यजन करके तुम्हें उन्नतिशील एवं पुष्ट बनायेंगे, फिर तुमलोग भी मुझे इसी प्रकार परिपुष्ट करोगे । यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है ॥

इत्यर्थं निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभिः सह ॥ ६६ ॥
एभिः सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताः क्षितौ ।

'इसीके लिये मैंने वेदों तथा ओषधियों (अन्न-फल आदि) सहित यज्ञोंकी सृष्टि की है । इनका भलीभाँति पृथ्वी-पर अनुष्ठान होनेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होंगे ॥ ६६½ ॥

निर्माणमेतद् युष्माकं प्रवृत्तिगुणकल्पितम् ॥ ६७ ॥
मया कृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह ।
चिन्तयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः ॥ ६८ ॥

'देवश्रेष्ठगण ! मैंने प्रवृत्तिप्रधान गुणके सहित तुमलोगोंकी सृष्टि की है, अतः लोकेश्वरो ! जबतक कल्पका अन्त न हो जाय, तबतक तुमलोग अपने अधिकारके अनुसार लोगोंका हितचिन्तन करते रहो ॥ ६७-६८ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥ ६९ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्माजीके द्वारा मनसे उत्पन्न किये गये हैं ॥ ६९ ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ ७० ॥

'ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। इन सबको वेदाचार्य माना गया है और प्रजापतिके पदपर प्रतिष्ठित किया गया है ॥ ७० ॥

अयं क्रियावतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः ।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः ॥ ७१ ॥

'यह कर्मपरायण पुरुषोंके लिये सनातन मार्ग प्रकट हुआ है। इस पद्धतिसे लोकोंकी सृष्टि करनेवाले प्रभावशाली पुरुषको अनिरुद्ध कहा गया है ॥ ७१ ॥

सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः ।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥ ७२ ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥ ७३ ॥

'सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सातवें सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र कहे गये हैं। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्ममें स्थित हैं ॥ ७२-७३ ॥

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥ ७४ ॥

'ये प्रमुख योगवेत्ता, सांख्यज्ञान-विशारद, धर्मशास्त्रोंके आचार्य तथा मोक्षधर्मके प्रवर्तक हैं ॥ ७४ ॥

यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात् त्रिगुणो महान् ।
तस्मात् परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः॥ ७५ ॥

'पूर्वकालमें अव्यक्त प्रकृतिसे जो त्रिगुणात्मक महान् अहंकार प्रकट हुआ था, उससे अत्यन्त परे जिसकी स्थिति है, वह समष्टि चेतन क्षेत्रज्ञ माना गया है ॥ ७५ ॥

सोऽहं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
यो यथा निर्मितो जन्तुर्यस्मिन् यस्मिंश्च कर्मणि ॥७६॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत् ।

'वह क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। जो कर्मपरायण मनुष्य हैं, वे पुनरावृत्तिशील हैं; अतः उनके लिये यह निवृत्तिमार्ग दुर्लभ है। जिस प्राणीका जिस प्रकार निर्माण हुआ है तथा वह जिस-जिस प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप कर्ममें संलग्न होता है, वह उसीके महान् फलका भागी होता है ॥ ७६½ ॥

एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥ ७७ ॥
एष माता पिता चैव युष्माकं च पितामहः ।
मयानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ ७८ ॥

'ये लोकगुरु ब्रह्मा जगत्के आदि स्रष्टा और प्रभु हैं। ये ही तुम्हारे माता-पिता और पितामह हैं। मेरी आज्ञाके अनुसार ये सम्पूर्ण भूतोंको वर प्रदान करनेवाले होंगे ॥

अस्य चैवात्मजो रुद्रो ललाटाद् यः समुत्थितः ।
ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतधरः प्रभुः ॥ ७९ ॥

'इनके ललाटसे जो रुद्र उत्पन्न हुए हैं, वे भी इन (ब्रह्माजी) के ही पुत्र हैं। ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सम्पूर्ण भूतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७९ ॥

गच्छध्वं स्वानधीकारांश्चिन्तयध्वं यथाविधि ।
प्रवर्तन्तां क्रियाः सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥ ८० ॥

'तुम सब लोग जाओ और अपने-अपने अधिकारोंका विधिपूर्वक पालन करो। समस्त लोकोंमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियाएँ अविलम्ब प्रचलित हो जानी चाहिये ॥ ८० ॥

प्रदिश्यन्तां च कर्माणि प्राणिनां गतयस्तथा ।
परिनिष्ठितकालानि आयूंषीह सुरोत्तमाः ॥ ८१ ॥

'सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग प्राणियोंको उनके कर्म, उन कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली गति तथा नियत कालतककी आयु प्रदान करो ॥ ८१ ॥

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः ।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा ॥ ८२ ॥

'यह सत्ययुग नामक श्रेष्ठ समय चल रहा है। इस युगमें यज्ञ-पशुओंकी हिंसा नहीं की जाती। अहिंसाधर्मके विपरीत यहाँ कुछ भी नहीं होता है ॥ ८२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥

'देवताओ ! इस सत्ययुगमें चारों चरणोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मका पालन होगा। तदनन्तर त्रेतायुग आयेगा, जिसमें वेदत्रयीका प्रचार होगा ॥ ८३ ॥

प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे ।
यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥ ८४ ॥

'उस युगमें यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये गये पशुओंका वध किया जायगा* और धर्मका एक पाद—चतुर्थ अंश कम हो जायगा ॥ ८४ ॥

ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति ।
द्विपादहीनो धर्मश्च युगे तस्मिन् भविष्यति ॥ ८५ ॥

'उसके बाद द्वापर युगका आगमन होगा। वह समय धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे युक्त होगा। उस युगमें धर्मके दो चरण नष्ट हो जायँगे ॥ ८५ ॥

ततस्तिष्येऽथ सम्प्राप्ते युगे कलिपुरस्कृते ।
एकपादस्थितो धर्मो यत्र तत्र भविष्यति ॥ ८६ ॥

'तदनन्तर पुष्य नक्षत्रमें कलियुगका पदार्पण होगा। उस समय यत्र-तत्र धर्मका एक चरण ही शेष रह जायगा' ॥

* पशुवधसे यहाँ क्या अभिप्राय है, ठीक समझमें नहीं आया।

देवा देवर्षयश्चोचुस्तमेवंवादिनं गुरुम् ।
एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिनि ॥ ८७ ॥
कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद् वदस्व नः ।

तब देवताओं और देवर्षियोंने उपर्युक्त बात कहनेवाले गुरुस्वरूप भगवान्‌से कहा—'भगवन् ! जब कलियुगमें जहाँ कहीं भी धर्मका एक ही चरण अवशिष्ट रहेगा, तब हमें क्या करना होगा ? यह बताइये' ॥ ८७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥ ८८ ॥
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्॥

श्रीभगवान् बोले—सुरश्रेष्ठगण ! जहाँ वेद, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रियसंयम और अहिंसाधर्म प्रचलित हों, उसी देशका तुम्हें सेवन करना चाहिये । ऐसा करनेसे तुम्हें अधर्म अपने एक पैरसे भी नहीं छू सकेगा ॥ ८८-८९ ॥

व्यास उवाच

तेऽनुशिष्टा भगवता देवाः सर्षिगणास्तथा ।
नमस्कृत्वा भगवते जग्मुर्देशान् यथेप्सितान् ॥ ९० ॥

व्यासजी कहते हैं—शिष्यो ! भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ऋषियोंसहित देवता उन्हें नमस्कार करके अपने अभीष्ट देशोंको चले गये ॥ ९० ॥

गतेषु त्रिदिवौकःसु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः ।
दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ ९१ ॥

स्वर्गवासी देवताओंके चले जानेपर अकेले ब्रह्माजी ही वहाँ खड़े रहे । वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित भगवान् श्रीहरिका दर्शन करना चाहते थे ॥ ९१ ॥

तं देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् ।
साङ्गानावर्तयन् वेदान् कमण्डलुत्रिदण्डधृक् ॥ ९२ ॥

तब भगवान्‌ने महान् हयग्रीवरूप धारण करके ब्रह्माजीको दर्शन दिया । वे कमण्डलु और त्रिदण्ड धारण करके छहों अङ्गोंसहित वेदोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥ ९२ ॥

ततोऽश्वशिरसं दृष्ट्वा तं देवममितौजसम् ।
लोककर्ता प्रभुर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ९३ ॥
मूर्ध्ना प्रणम्य वरदं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।
स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा ॥ ९४ ॥

उस समय अमित पराक्रमी भगवान् हयग्रीवका दर्शन करके सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे लोककर्ता भगवान् ब्रह्माने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उन वरदायक देवताके सम्मुख वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब भगवान्‌ने उनको हृदयसे लगाकर यह बात सुनायी ॥

श्रीभगवानुवाच

लोककार्यगतीः सर्वास्त्वं चिन्तय यथाविधि ।
धाता त्वं सर्वभूतानां त्वं प्रभुर्जगतो गुरुः ॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! तुम सम्पूर्ण लोकोंके समस्त कर्मों और उनसे मिलनेवाली गतियोंका विधिपूर्वक चिन्तन करो; क्योंकि तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंके धाता हो, तुम्हीं सबके प्रभु हो और तुम्हीं इस जगत्‌के गुरु हो ॥ ९५ ॥

त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथाञ्जसा ।
यदा च सुरकार्यं ते अविषह्यं भविष्यति ॥ ९६ ॥
प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदाऽऽत्मज्ञानदैशिकः ।
एवमुक्त्वा हयशिरास्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ९७ ॥

तुमपर यह भार रखकर मैं अनायास ही धैर्य धारण करूँगा । जब कभी तुम्हारे लिये देवताओंका कार्य असह्य हो जायगा, तब मैं आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिये तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा । ऐसा कहकर भगवान् हयग्रीव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९६-९७ ॥

तेनानुशिष्टो ब्रह्मापि स्वलोकमचिराद् गतः ।
एवमेष महाभागः पद्मनाभः सनातनः ॥ ९८ ॥
यज्ञेष्वग्रहरः प्रोक्तो यज्ञधारी च नित्यदा ।
निवृत्तिं चास्थितो धर्मं गतिमक्षयधर्मिणाम् ।
प्रवृत्तिधर्मान् विदधे कृत्वा लोकस्य चित्रताम् ॥ ९९ ॥

भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ब्रह्मा भी शीघ्र ही अपने लोकको चले गये । इस प्रकार ये महाभाग सनातन पुरुष भगवान् पद्मनाभ यज्ञोंमें अग्रभोक्ता और सदा ही यज्ञके पोषक एवं प्रवर्तक बताये गये हैं । वे कभी अक्षयधर्मी महात्माओंके निवृत्तिधर्मका आश्रय लेते हैं और कभी लोककी विचित्र चित्तवृत्ति करके प्रवृत्तिधर्मका विधान करते हैं ॥

स आदिः स मध्यः स चान्तः प्रजानां
स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् ।
युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान्
युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्ज ॥ १०० ॥

वे ही भगवान् नारायण प्रजाके आदि, मध्य और अन्त हैं । वे ही धाता, धेय, कर्ता और कार्य हैं । वे ही युगान्तके समय सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके सो जाते हैं और वे ही कल्पके आदिमें जाग्रत् हो सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करते हैं ॥ १०० ॥

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।
अजाय विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम् ॥ १०१ ॥

शिष्यो ! तुम उन्हीं अजन्मा, विश्वरूप, सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय निर्गुण परमात्मा नारायणदेवको नमस्कार करो ॥

महाभूताधिपतये रुद्राणां पतये तथा ।
आदित्यपतये चैव वसूनां पतये तथा ॥ १०२ ॥

वे ही महाभूतोंके अधिपति तथा रुद्रों, आदित्यों और वसुओंके स्वामी हैं । उन्हें नमस्कार करो ॥ १०२ ॥

अश्विभ्यां पतये चैव मरुतां पतये तथा ।
वेदयज्ञाधिपतये वेदाङ्गपतयेऽपि च ॥ १०३ ॥

वे अश्विनीकुमारोंके पति, मरुद्गणोंके पालक, वेद और यज्ञोंके अधिपति तथा वेदाङ्गोंके भी स्वामी हैं। उन्हें प्रणाम करो ॥ १०३ ॥

समुद्रवासिने नित्यं हरये मुञ्जकेशिने।
शान्ताय सर्वभूतानां मोक्षधर्मानुभाषिणे ॥१०४॥

जो सदा समुद्रमें निवास करते हैं, जिनका केश मूँजके समान है तथा जो समस्त प्राणियोंको मोक्षधर्मका उपदेश देते हैं, उन शान्तस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०४ ॥

तपसां तेजसां चैव पतये यशसामपि।
वचसां पतये नित्यं सरितां पतये तथा ॥१०५॥

जो तप, तेज, यश, वाणी तथा सरिताओंके स्वामी एवं नित्य संरक्षक हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०५॥

कपर्दिने वराहाय एकशृङ्गाय धीमते।
विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ॥१०६॥

जो जटाजूटधारी, एक सींगवाले वराह, बुद्धिमान् विवस्वान्, हयग्रीव तथा चतुर्मूर्तिधारी हैं, उन श्रीनारायणदेवको सदा नमस्कार करो ॥ १०६ ॥

गुह्याय ज्ञानदृश्याय अक्षराय क्षराय च।
एष देवः संचरति सर्वत्रगतिरव्ययः ॥१०७॥

जिनका स्वरूप गुह्य है, जो ज्ञानरूपी नेत्रसे ही देखे जाते हैं तथा अक्षर और क्षररूप हैं, उन श्रीहरिको प्रणाम करो। ये अविनाशी नारायणदेव सर्वत्र संचरण करते हैं; इनकी सर्वत्र गति है ॥ १०७ ॥

एष चैतत् परं ब्रह्म ज्ञेयो विज्ञानचक्षुषा।
एवमेतत् पुरा दृष्टं मया वै ज्ञानचक्षुषा ॥१०८॥

ये ही परब्रह्म हैं। विज्ञानमय नेत्रसे ही इनका दर्शन एवं ज्ञान हो सकता है। पूर्वकालमें मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही इनका इस प्रकार साक्षात्कार किया था ॥ १०८ ॥

कथितं तच्च वै सर्वं मया पृष्टेन तत्त्वतः।
क्रियतां मद्वचः शिष्याः सेव्यतां हरिरीश्वरः।
गीयतां वेदशब्दैश्च पूज्यतां च यथाविधि ॥१०९॥

शिष्यो! तुमलोगोंके पूछनेपर मैंने ये सारी बातें यथार्थरूपसे कही हैं। तुम मेरी बात मानो और सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन करो। वेदमन्त्रोंद्वारा उन्हींकी महिमाका गान और उन्हींका विधिपूर्वक पूजन करो ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्तु वयं तेन वेदव्यासेन धीमता।
सर्वे शिष्याः सुतश्चास्य शुकः परमधर्मवित् ॥११०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् वेदव्यासने हम सब शिष्योंको तथा अपने परम धर्मज्ञ पुत्र शुकदेवको ऐसा ही उपदेश दिया ॥ ११० ॥

स चास्माकमुपाध्यायः सहास्माभिर्विशाम्पते।
चतुर्वेदोद्गताभिस्तमृग्भिः समभितुष्टुवे ॥१११॥

प्रजानाथ! फिर हमारे उपाध्याय व्यासने हमारे साथ चारों वेदोंकी ऋचाओंद्वारा उन नारायणदेवका स्तवन किया॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
एवं मेऽकथयद् राजन् पुरा द्वैपायनो गुरुः ॥११२॥

राजन्! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। पूर्वकालमें मेरे गुरु व्यासजीने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया था ॥ ११२ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चैनं परिकीर्तयेत्।
नमो भगवते कृत्वा समाहितमतिर्नरः ॥११३॥
भवत्यरोगो मतिमान् बलरूपसमन्वितः।
आतुरो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥११४॥

जो प्रतिदिन इसे सुनता है और जो भगवान्‌को नमस्कार करके एकाग्रचित्त हो सदा इसका पाठ करता है, वह बुद्धिमान्, बलवान्, रूपवान् तथा रोगरहित होता है। रोगी रोगसे और बँधा हुआ पुरुष बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

कामान् कामी लभेत् कामं दीर्घं चायुरवाप्नुयात्।
ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥११५॥

कामनावाला पुरुष मनोवाञ्छित कामनाओंको पाता है तथा बड़ी भारी आयु प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता और क्षत्रिय विजयी होता है ॥ ११५ ॥

वैश्यो विपुललाभः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्।
अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥११६॥

वैश्य इसको पढ़ने और सुननेसे महान् लाभका भागी होता है। शूद्र सुख पाता है। पुत्रहीनको पुत्र और कन्याको मनोवाञ्छित पतिकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥

लग्नगर्भा विमुच्येत गर्भिणी जनयेत् सुतम्।
वन्ध्या प्रसवमाप्नोति पुत्रपौत्रसमृद्धिमत् ॥११७॥

जिसका गर्भ अटक गया हो, वह इसको सुननेसे उस संकटसे छूट जाती है। गर्भवती स्त्री यथासमय पुत्र पैदा करती है। वन्ध्या भी प्रसवको प्राप्त होती है तथा उसका वह प्रसव पुत्र-पौत्र एवं समृद्धिसे सम्पन्न होता है ॥११७॥

क्षेमेण गच्छेदध्वानमिदं यः पठते पथि।
यो यं कामं कामयते स तमाप्नोति च ध्रुवम् ॥११८॥

जो मार्गमें इसका पाठ करता है, वह कुशलतापूर्वक अपनी यात्रा पूरी करता है। इसे पढ़ने और सुननेवाला पुरुष जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥ ११८ ॥

इदं महर्षेर्वचनं विनिश्चितं
महात्मनः पुरुषवरस्य कीर्तितम्।
समागमं चर्षिदिवौकसामिमं
निशम्य भक्ताः सुसुखं लभन्ते ॥११९॥

पुरुषप्रवर महात्मा महर्षि व्यासके कहे हुए इस सिद्धान्त-भूत वचनको तथा ऋषियों और देवताओंके समागम-सम्बन्धी इस वृत्तान्तको श्रवण करके भक्तजन उत्तम सुख पाते हैं ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना

जनमेजय उवाच

अस्तौषीद् यैरिमं व्यासः सशिष्यो मधुसूदनम् ।
नामभिर्विविधैरेषां निरुक्तं भगवन् मम ॥ १ ॥
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोः प्रजापतिपतेर्हरेः ।
श्रुत्वा भवेयं यत् पूतः शरच्चन्द्र इवामलः ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! शिष्योंसहित महर्षि व्यासने जिन नाना प्रकारके नामोंद्वारा इन मधुसूदनका स्तवन किया था, उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति) मुझे बतानेकी कृपा करें । मैं प्रजापतियोंके पति भगवान् श्रीहरिके नामोंकी व्याख्या सुनना चाहता हूँ; क्योंकि उन्हें सुनकर मैं शरच्चन्द्रके समान निर्मल एवं पवित्र हो जाऊँगा ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् यथाऽऽचष्ट फाल्गुनस्य हरिः प्रभुः ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनो नाम्नां निरुक्तं गुणकर्मजम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! भगवान् श्रीहरिने अर्जुनपर प्रसन्न होकर उनसे गुण और कर्मके अनुसार स्वयं अपने नामोंकी जैसी व्याख्या की थी, वही तुम्हें सुना रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

नामभिः कीर्तितैस्तस्य केशवस्य महात्मनः ।
पृष्टवान् केशवं राजन् फाल्गुनः परवीरहा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिन नामोंके द्वारा उन महात्मा केशवका कीर्तन किया जाता है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णसे उनके विषयमें इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय ।
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥ ५ ॥
यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः ।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥ ६ ॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव ।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके स्वामी, सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा, अविनाशी, जगदाधार तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले जगन्नाथ, भगवन्, नारायणदेव ! महर्षियोंने आपके जो-जो नाम कहे हैं तथा पुराणों और वेदोंमें कर्मानुसार जो-जो गोपनीय नाम पढ़े गये हैं, उन सबकी व्याख्या मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ । प्रभो ! केशव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन नामोंकी व्युत्पत्ति नहीं बता सकता ॥ ५–७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु ।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन ॥ ८ ॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुत-से नाम कहे हैं॥

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित् ।
निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ १० ॥

उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं । निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो ॥ १० ॥

कथ्यमानं मया तात त्वं हि मेऽर्धं स्मृतः पुरा ।
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ॥ ११ ॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ।

तात ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति बताता हूँ, क्योंकि पूर्वकालसे ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो । जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणदेवको नमस्कार है॥

यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः ॥ १२ ॥
योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च ।

जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं ॥

अष्टादशगुणं यत् तत् सत्त्वं सत्त्ववतां वर ॥ १३ ॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी ।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥ १४ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह[1] गुणोंवाला जो सत्त्व

---

१. प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हलकापन, सुख, कृपणताका अभाव, रोषका अभाव, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य तथा दोषदृष्टिका अभाव—ये सत्त्वके अठारह गुण हैं।

है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी परा प्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी आत्मस्वरूपा वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्मफलभूत गतिस्वरूपा), सत्या (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा) अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है ॥ १३-१४ ॥

तस्मात् सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट् ॥ १५ ॥
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः।

उसीसे सृष्टि और प्रलय आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, यज्ञ और यजमान है, वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध कहा गया है। उसीसे लोकोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं ॥ १५½ ॥

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥ १६ ॥
प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण।
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः ॥ १७ ॥

जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक कमल प्रकट हुआ। कमलनयन अर्जुन ! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मा भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥

अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा।
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥ १८ ॥

ब्रह्माका दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए उस देवके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए ॥

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ।
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ ॥

ये दोनों श्रेष्ठ देवता--ब्रह्मा और रुद्र भगवान्‌के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हींके बताये हुए मार्गका आश्रय ले सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं ॥ १९ ॥

निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ।
कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः ॥ २० ॥
उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः।
दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥ २१ ॥

समस्त प्राणियोंको वर देनेवाले वे दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है।) इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटाजूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशानगृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक नाम हैं ॥ २०-२१ ॥

नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे।
तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥ २२ ॥
सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः।

पाण्डुनन्दन ! इन भगवान् रुद्रको नारायणस्वरूप ही जानना चाहिये। पार्थ ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्वसमर्थ भगवान् नारायणकी ही पूजा होती है ॥ २२½ ॥

अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्।

पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा हूँ। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ ॥ २३½ ॥

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः।

यदि मैं वरदाता भगवान् शिवकी पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शङ्करका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है ॥ २४½ ॥

मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्।
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥ २६ ॥

मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण या आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है ॥ २५-२६ ॥

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन ! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥

न हि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन।
इति संचिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥
पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमात्मना ।

पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता; यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराणपुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी ॥ २८½ ॥

न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च ॥ २९ ॥
ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम्।

विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये मैं रुद्रका भजन करता हूँ ॥ २९½ ॥

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः ॥ ३० ॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायणदेव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं ॥ ३०½ ॥

भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥

सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ ३१½ ॥

नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नम ॥ ३२ ॥
वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नम ।

कुन्तीकुमार ! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्यभोक्ता भगवान्को प्रणाम करो ॥ ३२½ ॥

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ॥ ३३ ॥
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ।
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥

तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं। इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। निष्कामभावसे समस्त कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ ॥

ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥ ३५ ॥

जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं। अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं—पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादिलोकोंसे च्युत हो जाते हैं, परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है ॥

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत् परम् ॥ ३६ ॥

ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्काम-भावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

भक्तं प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः ।
त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् ।

पार्थ ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है। कुन्ती-नन्दन ! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है॥

जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽभ्युदयिकोऽपि च ।
नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः ॥ ३९ ॥

भारत ! मैं अध्यात्मयोगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है। लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है। एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्योंका सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ ॥ ३८-३९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥ ४० ॥

नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको नार कहा गया है। वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवासस्थान) था; इसलिये ही मैं 'नारायण' कहलाता हूँ ॥ ४० ॥

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ ४१ ॥

(जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवासस्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वासस्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है ॥

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥ ४२ ॥
अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥ ४३ ॥

भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ। पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रक्खा है। मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है। भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ। कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ। इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है* ॥ ४२-४३ ॥

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥ ४४ ॥

मनुष्य दम (इन्द्रियसंयम) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह दामोदर शब्दकी व्युत्पत्ति है) ॥ ४४ ॥

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥ ४५ ॥

अन्न, वेद, जल और अमृतको पृश्नि कहते हैं। ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं; इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है ॥

ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् ।
पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥ ४६ ॥
ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्यृषिवरस्त्रितः ।
उत्ततारोदपानाद् वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥ ४७ ॥

---

* 'विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है, अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं।

जब त्रितमुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की—'पृश्निगर्भ ! आप एकत और द्वितके गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये।' उस समय मेरे पृश्निगर्भ नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित उस कुएँसे बाहर हो गये।।

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥ ४८ ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।

जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं। उस केशसे युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं ॥ ४८½ ॥

एवं हि वरदं नाम केशवेति ममार्जुन ।
देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ४९ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार मेरा 'केशव' नाम सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वरदायक है ॥ ४९ ॥

अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः ।
अग्नीषोममयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम् ॥ ५० ॥

अग्नि सोमके साथ संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि-सोममय है ॥ ५० ॥

अपि हि पुराणे भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हन्तो लोकान् धारयन्त इति ॥ ५१ ॥

पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं तथा सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं। एकयोनि होनेके कारण ये एक दूसरेको आनन्द प्रदान करते और समस्त लोकोंको धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन, ब्राह्मणोंकी महिमा बतानेवाली अनेक प्रकारकी संक्षिप्त कथाओं-का उल्लेख, भगवन्नामोंके हेतु तथा रुद्रके साथ होनेवाले युद्धमें नारायणकी विजय

अर्जुन उवाच

अग्नीषोमौ कथं पूर्वमेकयोनी प्रवर्तितौ ।
एष मे संशयो जातस्तं छिन्धि मधुसूदन ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—मधुसूदन ! अग्नि और सोम पूर्वकालमें एकयोनि कैसे हो गये ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है। आप इसका निवारण कीजिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि पुराणं पाण्डुनन्दन ।
आत्मतेजोद्भवं पार्थ श्रृणुष्वैकमना मम ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! अपने तेजके उद्भवका प्राचीन वृत्तान्त मैं तुम्हें हर्षपूर्वक बताऊँगा। तुम एकचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सम्प्रक्षालनकालेऽतिक्रान्ते चतुर्युगसहस्रान्ते अव्यक्ते सर्वभूते प्रलये सर्वभूतस्था चरजङ्गमे ज्योतिर्धरणिवायुरहितेऽन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके ॥ ३ ॥

एक सहस्र चतुर्युग बीत जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रलयकाल आ पहुँचा था। समस्त भूतोंका अव्यक्तमें लय हो गया था। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी विलीन हो गये थे। पृथ्वी, तेज और वायुका कहीं पता नहीं था। चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा था तथा समस्त संसार एकार्णवके जलमें निमग्न हो चुका था ॥ ३ ॥

आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥

सब ओर केवल जल-ही-जल स्थित था। दूसरा कोई तत्त्व नहीं दिखायी देता था, मानो एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित हो ॥ ४ ॥

न वै रात्र्यां न दिवसे न सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते ॥ ५ ॥

उस समय न रात थी, न दिन। न सत् था, न असत्। न व्यक्त था और न अव्यक्तकी ही स्थिति थी ॥ ५ ॥

एवमस्यां व्यवस्थायां नारायणगुणाश्रयादजराम-रादनिन्द्रियादग्राह्यादसम्भवात् सत्यादहिंस्राल्ललामाद् विविधप्रवृत्तिविशेषादवैरादक्षयादमरादजरादमूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतस्तस्मात् पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः ॥ ६ ॥

इस अवस्थामें नारायणके गुणोंका आश्रय लेकर रहनेवाले उस अजर, अमर, इन्द्रियरहित, अग्राह्य, असम्भव, सत्यस्वरूप, हिंसारहित, सुन्दर, नाना प्रकारकी विशेष प्रवृत्तियोंके हेतुभूत, वैररहित, अक्षय, अमर, जरारहित, निराकार, सर्वव्यापी तथा सर्वकर्ता तत्त्वसे अविनाशी सनातन पुरुष हरिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ६ ॥

निदर्शनमपि ह्यत्र भवति ॥ ७ ॥

इस विषयमें श्रुतिका यह दृष्टान्त भी है ॥ ७ ॥

नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत् तम एव पुरस्तादभवद् विश्वरूपम् । सा विश्वरूपस्य रजनी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यः ॥ ८ ॥

उस प्रलयकालमें न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था, केवल तम ही सामने था। वही सर्वरूप हो रहा था। वही विश्वात्माकी रात्रि है। इस प्रकार इस श्रुतिका अर्थ कहना और समझना चाहिये ॥ ८ ॥

तस्येदानीं तमसः सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजाः सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज । ततो भूतसर्गेषु सृष्टेषु प्रजाक्रमवशाद् ब्रह्मक्षत्रमुपातिष्ठत्। यः सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणा योऽग्निस्तत् क्षत्रं क्षत्राद् ब्रह्म बलवत्तरम्। कस्मादिति लोकप्रत्यक्षगुणमेतत्तद्यथा। ब्राह्मणेभ्यः परं भूतं नोत्पन्नपूर्वं दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति । यो ब्राह्मणमुखे जुहोतीति कृत्वा ब्रवीमि भूतसर्गः कृतो ब्रह्मणा भूतानि च प्रतिष्ठाप्य त्रैलोक्यं धार्यत इति मन्त्रवादोऽपि हि भवति ॥ ९ ॥

उस समय उस मायाविशिष्ट ईश्वरसे प्रकट हुए उस ब्रह्मयोनि पुरुषसे जब ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ, तब उस पुरुषने प्रजासृष्टिकी इच्छासे अपने नेत्रोंद्वारा अग्नि और सोमको उत्पन्न किया । इस प्रकार भौतिक सर्गकी सृष्टि हो जानेपर प्रजाकी उत्पत्तिके समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्रका प्रादुर्भाव हुआ। जो सोम है, वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वही ब्राह्मण। जो अग्नि है, वही क्षत्र या क्षत्रिय जाति है। क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति अधिक प्रबल है। यदि कहो कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मणकी यह प्रबलताका गुण सब लोगोंको प्रत्यक्ष है। यथा ब्राह्मणसे बढ़कर कोई प्राणी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ। जो ब्राह्मणके मुखमें भोजन देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें आहुति प्रदान करता है । यही सोचकर मैं ऐसा कहता हूँ। ब्रह्माने भूतोंकी सृष्टि की और सम्पूर्ण भूतोंको यथास्थान स्थापित करके वे तीनों लोकोंको धारण करते हैं। यह मन्त्रवाक्य भी इसी बातका समर्थक है॥ ९॥

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितो देवानां मानुषाणां च जगत इति ॥ १० ॥

अग्ने! तुम यज्ञोंके होता तथा सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों और सारे जगत्के हितैषी हो ॥ १० ॥

निदर्शनं चात्र भवति विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति। त्वं हितो देवैर्मनुष्यैर्जगत इति ॥ ११ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण यज्ञोंके होता हो। समस्त देवताओं तथा मनुष्योंसहित जगत्के हितैषी हो ॥ ११ ॥

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म ॥१२॥

अग्निदेव यज्ञोंके होता और कर्ता हैं । वे अग्निदेव ब्राह्मण हैं ॥ १२ ॥

न ह्यृते मन्त्राणां हवनमस्ति न विना पुरुषं तपः सम्भवति। हविर्मन्त्राणां सम्पूजा विद्यते देवमानुषऋषीणामनेन त्वं होतेति नियुक्तः। ये च मानुषहोत्राधिकारास्ते च ब्राह्मणस्य हि याजनं विधीयते न क्षत्रवैश्ययोर्द्विजात्योस्तस्माद् ब्राह्मणा ह्यग्निभूता यज्ञानुद्वहन्ति। यज्ञास्ते देवांस्तर्पयन्ति देवाः पृथिवीं भावयन्ति शतपथेऽपि हि ब्राह्मणमुखे भवति ॥१३॥

क्योंकि मन्त्रोंके बिना हवन नहीं होता और पुरुषके बिना तपस्या सम्भव नहीं होती । हविष्ययुक्त मन्त्रोंके सम्बन्धसे देवताओं, मनुष्यों और ऋषियोंकी पूजा होती है; इसलिये हे अग्निदेव ! तुम होता नियुक्त किये गये हो। मनुष्योंमें जो होताके अधिकारी हैं, वे ब्राह्मणके ही हैं; क्योंकि उसीके लिये यज्ञ करानेका विधान है। द्विजातियोंमें जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है; इसलिये अग्निस्वरूप ब्राह्मण ही यज्ञोंका भार वहन करते हैं। वे यज्ञ देवताओंको तृप्त करते हैं और देवता भूमण्डलको धन-धान्यसे सम्पन्न बनाते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी ब्राह्मणके मुखमें आहुति देनेकी बात कही गयी है ॥ १३ ॥

अग्नौ समिद्धे स जुहोति यो विद्वान् ब्राह्मणमुखेनाहुतिं जुहोति ॥ १४ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें होम करता है ॥ १४ ॥

एवमप्यग्निभूता ब्राह्मणा विद्वांसोऽग्निं भावयन्ति। अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति ॥ १५ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण अग्निस्वरूप हैं। विद्वान् ब्राह्मण अग्निकी आराधना करते हैं । अग्निदेव विष्णु हैं। वे समस्त प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनके प्राणोंको धारण करते हैं॥

अपि चात्र सनत्कुमारगीताः श्लोका भवन्ति—

ब्रह्मा विश्वं सृजत् पूर्वं सर्वादिर्निरवस्कृतम्।
ब्रह्मघोषैर्दिवं गच्छन्त्यमरा ब्रह्मयोनयः ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस विषयमें सनत्कुमारजीके द्वारा गाये हुए श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। सबके आदिकारण ब्रह्माजीने (जो ब्राह्मण ही हैं) पहले निर्मल विश्वकी सृष्टि की थी। ब्रह्म ही जिनकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वे अमर देवता ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे ही स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणानां मतिर्वाक्यं कर्म श्रद्धा तपांसि च।
धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो वागमृतं तथा ॥ १७ ॥

जैसे छींका दूध, दही आदिको धारण करता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंकी बुद्धि, वाक्य, कर्म, श्रद्धा, तप और वचनामृत पृथ्वी और स्वर्गको धारण करते हैं ॥ १७ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये ॥ १८ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है तथा ब्राह्मणोंसे बढ़कर इहलोक और पर-

लोकमें कल्याण करनेवाला और कोई नहीं है ॥ १८ ॥

नैषामुक्षा वहति नोत वाहा
न गर्गरो मथ्यति सम्प्रदाने।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
येषां राष्ट्रे ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥ १९ ॥

जिनके राज्यमें ब्राह्मणोंके लिये कोई आजीविका न हो, उन राजाओंकी सवारी, बैल और घोड़े नहीं रहते, दूसरोंको देनेके लिये उनके यहाँ दही-दूधके मटके नहीं मथे जाते हैं तथा वे अपनी मर्यादासे भ्रष्ट होकर लुटेरे हो जाते हैं ॥१९॥

वेदपुराणेतिहासप्रामाण्यान्नारायणमुखोद्गताः सर्वात्मानः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च ॥२०॥

वेद, पुराण और इतिहासके प्रमाणसे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणके मुखसे हुई है; अतः वे ब्राह्मण सर्वात्मा, सर्वकर्ता और सर्वभावस्वरूप हैं ॥ २० ॥

वाक्संयमकाले हितस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूता ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः ॥ २१ ॥

वाणीके संयमकालमें सबके हितैषी, वरदाता, देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा सबसे पहले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। फिर ब्राह्मणोंसे शेष वर्णोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २१ ॥

इत्थं च सुरासुरविशिष्टा ब्राह्मणा य एव मया ब्रह्मभूतेन पुरा स्वयमेवोत्पादिताः सुरासुरमहर्षयो भूतविशेषाः स्थापिता निगृहीताश्च ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण देवताओं और असुरोंसे भी श्रेष्ठ हैं। पूर्वकालमें मैंने स्वयं ही ब्रह्मारूप होकर उन ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था। देवता, असुर और महर्षि आदि जो भूतविशेष हैं, उन्हें ब्राह्मणोंने ही उनके अधिकारपर स्थापित किया और उनके द्वारा अपराध होनेपर उन्हें दण्ड भी दिया ॥ २२ ॥

अहल्याधर्षणनिमित्तं हि गौतमाद्धरिश्मश्रुतामिन्द्रः प्राप्तः कौशिकनिमित्तं चेन्द्रो मुष्कवियोगं मेषवृषणत्वं चावाप ॥ २३ ॥

अहल्यापर बलात्कार करनेके कारण गौतमके शापसे इन्द्रको हरिश्मश्रु (हरी दाढ़ी-मूछोंसे युक्त) होना पड़ा तथा विश्वामित्रके शापसे इन्द्रको अपना अण्डकोष खो देना पड़ा और उनके भेड़ेके अण्डकोष जोड़े गये ॥ २३ ॥

अश्विनोर्ग्रहप्रतिषेधोद्यतवज्रस्य पुरन्दरस्य च्यवनेन स्तम्भितौ बाहू ॥ २४ ॥

अश्विनीकुमारोंके लिये नियत यज्ञभागका निषेध करनेके लिये वज्र उठाये हुए इन्द्रकी दोनों भुजाओंको महर्षि च्यवनने स्तम्भित कर दिया था ॥ २४ ॥

क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता ॥ २५ ॥

इसी प्रकार दक्ष प्रजापतिने रुद्रद्वारा किये गये अपने यज्ञके विध्वंससे कुपित हो बड़ी भारी तपस्या की और रुद्रदेवके ललाटमें एक तीसरा नेत्र-चिह्न प्रकट कर दिया था ॥

त्रिपुरवधार्थं दीक्षामुपगतस्य रुद्रस्य उशनसा जटाः शिरस उत्कृत्य प्रयुक्तास्ततः प्रादुर्भूता भुजगास्तैरस्य भुजगैः पीड्यमानः कण्ठो नीलतामुपगतः पूर्वे च मन्वन्तरे स्वायम्भुवे नारायणहस्तग्रहणान्नीलकण्ठत्वमेव च ॥ २६ ॥

जिस समय रुद्रने त्रिपुरनिवासी दैत्योंके वधके लिये दीक्षा ली थी, उस समय शुक्राचार्यने अपने मस्तकसे जटाएँ उखाड़कर उन्हींका महादेवजीपर प्रयोग किया। फिर तो उन जटाओंसे बहुतेरे सर्प उत्पन्न हुए, जिन्होंने रुद्रदेवके कण्ठमें डँसना आरम्भ किया। इससे उनका कण्ठ नीला हो गया तथा पहले स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नारायणने अपने हाथसे उनका कण्ठ पकड़ा था, इसलिये भी कण्ठका रंग नीला हो जानेसे वे रुद्रदेव नीलकण्ठ हो गये ॥ २६ ॥

अमृतोत्पादने पुरश्चरणतामुपगतस्याङ्गिरसो बृहस्पतेरुपस्पृशतो न प्रसादं गतवत्यः किलापः, अथ बृहस्पतिरपां चुक्रोध यस्मान्ममोपस्पृशतः कलुषीभूता न च प्रसादमुपगतास्तस्मादद्यप्रभृति झषमकरकच्छपजन्तुभिः कलुषीभवतेति, तदा प्रभृत्यापो यादोभिः संकीर्णाः सम्प्रवृत्ताः ॥ २७ ॥

अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने अमृत उत्पन्न करनेके समय पुरश्चरण आरम्भ किया। उस समय जब वे आचमन करने लगे, तब जल स्वच्छ नहीं हुआ। इससे बृहस्पति जलके प्रति कुपित हो उठे और बोले—'मेरे आचमन करते समय भी तुम स्वच्छ न हुए, मैले ही बने रह गये; इसलिये आजसे मत्स्य, मकर और कछुए आदि जन्तुओंद्वारा तुम कलुषित होते रहो।' तभीसे सारे जलाशय जलजन्तुओंसे भरे रहने लगे।२७।

विश्वरूपो हि वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्, स्वस्रीयोऽसुराणां स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमसुरेभ्यः ॥ २८ ॥

त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप देवताओंके पुरोहित थे। वे असुरोंके भांनजे लगते थे; अतः देवताओंको प्रत्यक्ष और असुरोंको परोक्षरूपसे यज्ञोंका भाग दिया करते थे ॥ २८ ॥

अथ हिरण्यकशिपुं पुरस्कृत्य विश्वरूपमातरं स्वसारमसुरा वरमयाचन्त हे स्वसरयं ते पुत्रस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपस्त्रिशिरा देवानां पुरोहितः प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमस्माकं ततो देवा वर्धन्ते वयं क्षीयामस्तदेनं त्वं वारयितुमर्हसि तथा यथास्मान् भजेदिति ॥ २९ ॥

कुछ कालके अनन्तर हिरण्यकशिपुको आगे करके सब असुर विश्वरूपकी माताके पास गये और उनसे वर माँगने लगे—'बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र विश्वरूप, जिसके तीन सिर हैं,

देवताओंका पुरोहित बना हुआ है। यह देवताओंको तो प्रत्यक्ष भाग देता है और हमलोगोंको परोक्षरूपसे भाग समर्पित करता है। इससे देवता तो बढ़ते हैं और हमलोग निरन्तर क्षीण होते चले जा रहे हैं। तुम इसे मना कर दो, जिससे यह देवताओंको छोड़कर हमारा पक्ष ग्रहण करे' ॥ २९ ॥

अथ विश्वरूपं नन्दनवनमुपगतं मातोवाच पुत्र किं परपक्षवर्धनस्त्वं मातुलपक्षं नाशयसि नार्हस्येवं कर्तुमिति स विश्वरूपो मातुर्वाक्यमनतिक्रमणीयमिति मत्वा सम्पूज्य हिरण्यकशिपुमगात् ॥ ३० ॥

तब एक दिन माताने नन्दनवनमें गये हुए विश्वरूपसे कहा-'बेटा ! क्यों तुम दूसरे पक्षकी वृद्धि करते हुए मामाके पक्षका नाश कर रहे हो ? तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।' विश्वरूपने माताकी आज्ञाको अलङ्घनीय मानकर उसका सम्मान करके विदा कर दिया और वे स्वयं हिरण्यकशिपुके पास चले गये ॥ ३० ॥

हैरण्यगर्भाच्च वसिष्ठाद्धिरण्यकशिपुः शापं प्राप्तवान् यस्मात् त्वयान्यो वृतो होता तस्मादसमाप्तयज्ञस्त्वमपूर्वात् सत्त्वजाताद् वधं प्राप्स्यसीति तच्छापदानाद्धिरण्यकशिपुः प्राप्तवान् वधम् ॥ ३१ ॥

(हिरण्यकशिपुने उन्हें अपना होता बना लिया)। इधर ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठकी ओरसे हिरण्यकशिपुको शाप प्राप्त हुआ—'तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरा होता चुन लिया है; इसलिये इस यज्ञकी समाप्ति होनेसे पहले ही किसी अभूतपूर्व प्राणीके हाथसे तुम्हारा वध हो जायगा।' वसिष्ठजीके वैसा शाप देनेसे हिरण्यकशिपु वधको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ विश्वरूपो मातृपक्षवर्धनोऽत्यर्थं तपस्यभवत् तस्य व्रतभङ्गार्थमिन्द्रो वह्वीःश्रीमत्योऽप्सरसो नियुयोज ताश्च दृष्ट्वा मनः क्षुभितं तस्याभवत् तासु चाप्सरःसु नचिरादेव सक्तोऽभवत् सक्तं चैनं ज्ञात्वा अप्सरस ऊचुर्गच्छामहे वयं यथागतमिति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विश्वरूप मातृपक्षकी वृद्धि करनेके लिये बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। यह देख उनके व्रतको भङ्ग करनेके लिये इन्द्रने बहुत-सी सुन्दरी अप्सराओंको नियुक्त कर दिया। उन अप्सराओंको देखते ही विश्वरूपका मन चञ्चल हो गया और वे तुरंत ही उनमें आसक्त हो गये। उन्हें आसक्त जानकर अप्सराओंने कहा—'अब हमलोग जहाँसे आयी हैं, वहीं जा रही हैं' ॥ ३२ ॥

तास्त्वाष्ट्र उवाच क्व गमिष्यथास्यतां तावन्मया सह श्रेयो भविष्यन्तीति तास्तमब्रुवन् वयं देवस्त्रियोऽप्सरस इन्द्रं देवं वरदं पुरा प्रभविष्णुं वृणीमह इति ॥ ३३ ॥

तब त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपने उनसे कहा-'कहाँ जाओगी ? अभी यहीं मेरे साथ रहो। इससे तुम्हारा भला होगा।' यह सुनकर वे अप्सराएँ बोलीं-'हम सब देवाङ्गना-अप्सराएँ हैं। हमने पहलेसे ही वरदायक देवता प्रभावशाली इन्द्रका वरण कर लिया है' ॥ ३३ ॥

अथ ता विश्वरूपोऽब्रवीदद्यैव सेन्द्रा देवा न भविष्यन्तीति ततो मन्त्रान् जजाप तैर्मन्त्रैरवर्धत त्रिशिरा एकेनास्येन सर्वलोकेषु यथावद् द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपावेकेनान्नमेकेन सेन्द्रान् देवानथेन्द्रस्तं विवर्धमानं सोमपानाप्यायितसर्वगात्रं दृष्ट्वा चिन्तामापेदे सह देवैः ॥ ३४ ॥

तब विश्वरूपने उनसे कहा-'आज ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका अभाव हो जायगा।' ऐसा कहकर वे मन्त्रोंका जप करने लगे। उन मन्त्रोंसे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। तीन सिरोंवाले विश्वरूप अपने एक मुखसे सारे संसारके क्रियानिष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञोंमें होमे गये सोमरसको पी लेते थे, दूसरेसे अन्न खाते थे और तीसरेसे इन्द्र आदि देवताओंके तेजको पी लेते थे। इन्द्रने देखा, विश्वरूपका सारा शरीर सोमपानसे परिपुष्ट हो रहा है। यह देखकर देवताओंसहित इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणमभिजग्मुस्त ऊचुर्विश्वरूपेण सर्वयज्ञेषु सुहुतः सोमः पीयते वयमभागाः संवृत्ता असुरपक्षो वर्धते वयं क्षीयामस्तदर्हसि नो विधातुं श्रेयोऽनन्तरमिति ॥ ३५ ॥

तदनन्तर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता ब्रह्माजीके पास गये और इस प्रकार बोले-'भगवन् ! विश्वरूप सम्पूर्ण यज्ञोंमें विधिपूर्वक होमे गये सोमरसको पी लेते हैं। हम यज्ञभागसे वञ्चित हो गये। असुरपक्ष बढ़ रहा है और हमलोग क्षीण होते जा रहे हैं; अतः आपको अब हमलोगोंका कल्याण-साधन करना चाहिये' ॥ ३५ ॥

तान् ब्रह्मोवाच ऋषिर्भार्गवस्तपस्तप्यते दधीचः स याच्यतां वरं स यथा कलेवरं जह्यात् तथा विधीयतां तस्यास्थिभिर्वज्रं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन देवताओंसे कहा—'भृगुवंशी दधीचि ऋषि तपस्या करते हैं। उनके पास जाकर ऐसा वर माँगो, जिससे वे अपने शरीरको त्याग दें। फिर उन्हींकी हड्डियोंसे वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करो' ॥ ३६ ॥

ततो देवास्तत्रागच्छन् यत्र दधीचो भगवानृषिस्तपस्तेपे सेन्द्रा देवास्तं तथाभिगम्योचुर्भगवंस्तपः सुकुशलमभिन्नं चेति ॥ ३७ ॥

तब देवता वहाँ गये, जहाँ भगवान् दधीचि ऋषि तपस्या करते थे। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले-'भगवन् ! आपकी तपस्या सकुशल चल रही है न ? उसमें कोई बाधा तो नहीं आती है ?' ॥ ३७ ॥

तान् दधीच उवाच स्वागतं भवद्भ्यः उच्यतां किं क्रियतामिति यद् वक्ष्यथ तत् करिष्यामि ॥ ३८ ॥

दधीचिने इन देवताओंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप जो कहेंगे, वही करूँगा' ॥ ३८ ॥

ते तमब्रुवञ्शरीरपरित्यागं लोकहितार्थं भगवान् कर्तुमर्हतीति ॥ ३९ ॥

देवता बोले—'भगवन् ! आप लोकहितके लिये अपने शरीरका परित्याग कर दें' ॥ ३९ ॥

अथ दधीचस्तथैवाविमनाः सुखदुःखसमो महायोगी आत्मानं समाधाय शरीरपरित्यागं चकार ॥ ४० ॥

यह सुनकर दधीचिके मनमें पूर्ववत् सोत्साह बना रहा, तनिक भी उदासी नहीं हुई । वे सुख और दुःखमें समान भाव रखनेवाले महान् योगी थे । उन्होंने आत्माको परमात्मामें लगाकर अपने शरीरका परित्याग कर दिया ॥ ४० ॥

तस्य परमात्मन्यपसृते तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् तेन वज्रेणाभेद्येनाप्रधृष्येण ब्रह्मास्थिसम्भूतेन विष्णुप्रविष्टेनेन्द्रो विश्वरूपं जघान शिरसां चास्य च्छेदनमकरोत् तस्मादनन्तरं विश्वरूपगात्रमथनसम्भवं त्वष्ट्रोत्पादितमेवारिं वृत्रमिन्द्रो जघान ॥ ४१ ॥

उनके परमात्मामें लीन हो जानेपर उनकी उन अस्थियोंका संग्रह करके धाताने वज्रास्त्रका निर्माण किया । ब्राह्मणकी हड्डीसे बने हुए उस अभेद्य एवं दुर्जय वज्रसे, जिसमें भगवान् विष्णु प्रविष्ट हुए थे, इन्द्रने विश्वरूपका वध कर डाला और उनके तीनों सिरोंको काट दिया । तदनन्तर त्वष्टा प्रजापतिने विश्वरूपके शरीरका मन्थन करके जिसे उत्पन्न किया था, उस अपने वैरी वृत्रासुरका भी इन्द्रने उसी वज्रसे संहार कर डाला ॥

तस्यां द्वैधीभूतायां ब्रह्मवध्यायां भयादिन्द्रो देवराज्यं पर्यत्यजदप्सु सम्भवां च शीतलां मानससरोगतां नलिनीं प्रतिपेदे तत्र चैश्वर्ययोगादणुमात्रो भूत्वा बिसग्रन्थिं प्रविवेश ॥ ४२ ॥

अब इन्द्रके पास दोहरी ब्रह्महत्या उपस्थित हुई । उसके भयसे इन्द्रने देवराजपदका परित्याग कर दिया और मानसरोवरके जलमें उत्पन्न हुई एक शीतल कमलिनीके पास जा पहुँचे । वहाँ अणिमा आदि ऐश्वर्यके योगसे इन्द्र अणुमात्र रूप धारण करके कमलनालकी ग्रन्थिमें प्रविष्ट हो गये ॥४२॥

अथ ब्रह्मवध्याभयप्रणष्टे त्रैलोक्यनाथे शचीपतौ जगदनीश्वरं बभूव देवान् रजस्तमश्चाविवेश मन्त्रा न प्रावर्तन्त महर्षीणां रक्षांसि प्रादुरभवन् ब्रह्म चोत्सादनं जगामानिन्द्राश्चाबला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः ॥ ४३ ॥

ब्रह्महत्याके भयसे त्रिलोकीनाथ शचीपति इन्द्रके भागकर अदृश्य हो जानेपर इस जगत्का कोई ईश्वर नहीं रहा । देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया । महर्षियोंके मन्त्र अब कुछ काम नहीं दे रहे थे । राक्षस बढ़ गये । वेदोंका स्वाध्याय बंद हो गया । तीनों लोक इन्द्रसे अरक्षित होनेके कारण निर्बल एवं सुगमतासे जीत लेने योग्य हो गये ॥ ४३ ॥

अथ देवा ऋषयश्चायुषः पुत्रं नहुषं नाम देवराज्येऽभिषिषिचुर्नहुषः पञ्चभिः शतैर्ज्योतिषां ललाटे ज्वलद्भिः सर्वतेजोहरैस्त्रिविष्टपं पालयांबभूव ॥ ४४ ॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंने आयुके पुत्र नहुषको देवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया । नहुषके ललाटमें समस्त प्राणियोंके तेजको हर लेनेवाली पाँच सौ प्रज्वलित ज्योतियाँ जगमगाती रहती थीं । उनके द्वारा वे स्वर्गके राज्यका पालन करने लगे ॥ ४४ ॥

अथ लोकाः प्रकृतिमापेदिरे स्वस्थाश्च हृष्टाश्च बभूवुः ॥ ४५ ॥

ऐसा होनेपर सब लोग स्वाभाविक स्थितिमें आ गये । सभी स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये ॥ ४५ ॥

अथोवाच नहुषः सर्वं मां शक्रोपभुक्तमुपस्थितमृते शचीमिति स एवमुक्त्वा शचीसमीपमगमदुवाचैनां सुभगेऽहमिन्द्रो देवानां भजस्व मामिति तं शची प्रत्युवाच प्रकृत्या त्वं धर्मवत्सलः सोमवंशोद्भवश्च नार्हसि परपत्नीधर्षणं कर्तुमिति ॥ ४६ ॥

कुछ कालके पश्चात् नहुषने देवताओंसे कहा—'इन्द्रके उपभोगमें आनेवाली अन्य सारी वस्तुएँ तो मेरी सेवामें उपस्थित हैं । केवल शची मुझे नहीं मिली है ।' ऐसा कहकर वे शचीके पास गये और उनसे बोले—'सौभाग्यशालिनि ! मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ । मेरी सेवा स्वीकार करो ।' शचीने उत्तर दिया—'महाराज ! आप स्वभावसे ही धर्मवत्सल और चन्द्रवंशके रत्न हैं । आपको परायी स्त्रीपर बलात्कार नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तामथोवाच नहुष ऐन्द्रं पदमध्यास्यते मयाऽहमिन्द्रस्य राज्यरत्नहरो नात्राधर्मः कश्चित् त्वमिन्द्रोपभुक्तेति सा तमुवाचास्ति मम किंचिद् व्रतमपर्यवसितं तस्यावभृथे त्वामुपगमिष्यामि कैश्चिदेवाहोभिरिति स शच्येवमभिहितो जगाम ॥ ४७ ॥

तब नहुषने शचीसे कहा—'देवि ! इस समय मैं इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हूँ । इन्द्रके राज्य और रत्न दोनोंका अधिकारी हो गया हूँ; अतः तुम्हारे साथ समागम करनेमें कोई अधर्म नहीं है; क्योंकि तुम इन्द्रके उपभोगमें आयी हुई वस्तु हो ।' यह सुनकर शचीने कहा—'महाराज ! मैंने एक व्रत ले रक्खा है । वह अभी समाप्त नहीं हुआ है । उसकी समाप्ति हो जानेपर कुछ ही दिनोंमें मैं आपकी सेवामें उपस्थित होऊँगी ।' शचीके ऐसा कहनेपर नहुष चले गये ॥ ४७ ॥

अथ शची दुःखशोकार्ता भर्तृदर्शनलालसा नहुषभयगृहीता बृहस्पतिमुपागच्छत् स च तामत्युद्विग्नां दृष्ट्वैव ध्यानं प्रविश्य भर्तृकार्यतत्परां ज्ञात्वा बृहस्पति-

रुवाचानेनैव व्रतेन तपसा चान्विता देवीं वरदामुपश्रुतिमाह्वय तदा सा ते इन्द्रं दर्शयिष्यतीति साथ महानियममस्थिता देवीं वरदामुपश्रुतिं मन्त्रैराह्वयति सोपश्रुतिः शचीसमीपमगादुवाच चैनामियमस्मीति त्वयाऽऽहूतोपस्थिता किं ते प्रियं करवाणीति तां मूर्ध्ना प्रणम्योवाच शची भगवत्यर्हसि मे भर्तारं दर्शयितुं त्वं सत्या ऋता चेति सैनां मानसं सरोऽनयत् तत्रेन्द्रं बिसग्रन्थिगतमदर्शयत् ॥ ४८ ॥

इसके बाद नहुषके भयसे डरी हुई शची दुःख-शोकसे आतुर तथा पतिके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो बृहस्पतिजीके पास गयीं। उन्हें अत्यन्त उद्विग्न देख बृहस्पतिजीने ध्यानस्थ होकर यह जान लिया कि यह अपने स्वामीके कार्यसाधनमें लगी हुई है। तब उन्होंने शचीसे कहा–'देवि ! इसी व्रत और तपस्यासे सम्पन्न हो तुम वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आवाहन करो । तब वह तुम्हें इन्द्रका दर्शन करायेगी।' गुरुका यह आदेश पाकर महान् नियममें तत्पर हुई शचीने मन्त्रोंद्वारा वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आह्वान किया। तब उपश्रुतिदेवी शचीके समीप आयीं और उनसे इस प्रकार बोलीं–'इन्द्राणी ! यह मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुमने बुलाया और मैं तत्काल उपस्थित हो गयी। बोलो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' शचीने देवीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कहा–'भगवति ! आप मुझे मेरे पतिदेवके दर्शन करानेकी कृपा करें। आप ही ऋत और सत्य हैं।' उपश्रुति शचीको मानसरोवरपर ले गयीं । वहाँ उसने मृणालकी ग्रन्थियोंमें छिपे हुए इन्द्रका उन्हें दर्शन करा दिया ॥ ४८ ॥

तामथ पत्नीं कृशां ग्लानां चेन्द्रो दृष्ट्वा चिन्तयाम्बभूव अहो मम दुःखमिदमुपगतं नष्टं हि मामियमन्विष्य यत्पत्न्यभ्यगमद् दुःखार्तेति तामिन्द्र उवाच कथं वर्तयसीति सा तमुवाच नहुषो मामाह्वयति पत्नीं कर्तुं कालश्चास्य मया कृत इति तामिन्द्र उवाच गच्छ नहुषस्त्वया वाच्योऽपूर्वेण मामृषियुक्तेन यानेन त्वमधिरूढ उद्वहस्वेति इन्द्रस्य महान्ति वाहनानि सन्ति मनःप्रियाण्यधिरूढानि मया त्वमन्येनोपयातुमर्हसीति सैवमुक्ता हृष्टा जगामेन्द्रोऽपि बिसग्रन्थिमेवाविवेश भूयः ॥ ४९ ॥

अपनी पत्नी शचीको दुर्बल और दुखी देख इन्द्र मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! यह बड़े दुःखकी बात है कि मैं यहाँ छिपा हुआ बैठा हूँ और मेरी यह पत्नी दुःखसे आतुर हो मुझे ढूँढ़ती हुई यहाँतक आयी है।' इस प्रकार खेद प्रकट करके इन्द्रने अपनी पत्नीसे कहा—'देवि ! कैसे दिन बिता रही हो ?' शची बोली—'प्राणनाथ ! राजा नहुष इन्द्र बना बैठा है और मुझे अपनी पत्नी बनानेके लिये बुला रहा है। इसके लिये मुझे कुछ ही दिनोंका समय मिला है और मैंने नियत समयके बाद उसकी बात माननेका वचन दे दिया है।' तब इन्द्रने उनसे कहा 'जाओ और नहुषसे इस प्रकार कहो—"राजन् ! आप ऋषियोंसे जुते हुए अपूर्व वाहनपर आरूढ़ होकर आइये और मुझे अपनी सेवामें ले चलिये। इन्द्रके पास मनको प्रिय लगनेवाले बड़े-बड़े वाहन हैं, किंतु उन सबपर मैं आरूढ़ हो चुकी हूँ, अतः आप उन सबसे भिन्न किसी और ही विलक्षण वाहनसे मेरे पास आइये।"' इन्द्रके इस प्रकार सुझाव देनेपर शची हर्षपूर्वक लौट गयीं और इन्द्र भी पुनः उस कमलनालकी ग्रन्थिमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ४९ ॥

अथेन्द्राणीमभ्यागतां दृष्ट्वा तामुवाच नहुषः पूर्णः स काल इति तं शच्यब्रवीच्छक्रेण यथोक्तं स महर्षियुक्तं वाहनमधिरूढः शचीसमीपमुपागच्छत् ॥ ५० ॥

इन्द्राणीको आयी हुई देख नहुषने उससे कहा—'देवि ! तुमने जो समय दिया था, वह पूरा हो गया है।' तब शचीने इन्द्रके बताये अनुसार सारी बातें कह सुनायीं । नहुष महर्षियोंसे जुते हुए वाहनपर आरूढ़ हो शचीके समीप चले॥

अथ मैत्रावरुणिः कुम्भयोनिरगस्त्य ऋषिवरो महर्षीन् धिक्क्रियमाणांस्तान् नहुषेणापश्यत् पद्भ्यां च तेनास्पृश्यत ततः स नहुषमब्रवीदकार्यप्रवृत्त पाप पतस्व महीं सर्पो भव यावद्भूमिर्गिरयश्च तिष्ठेयुस्तावदिति स महर्षिवाक्यसमकालमेव तस्माद् यानादवापतत् ॥ ५१ ॥

इसी समय मित्रावरुणके पुत्र कुम्भज मुनिवर अगस्त्यने देखा कि नहुष महर्षियोंको तीव्र गतिसे चलनेके लिये धिक्कार और फटकार रहा है। उसने अगस्त्यके शरीरमें भी दोनों पैरोंसे धक्के दिये। तब अगस्त्यने नहुषसे कहा—'न करने योग्य नीच कर्ममें प्रवृत्त हुए पापी नहुष ! तू अभी पृथ्वीपर गिर जा तथा जबतक पृथ्वी और पर्वत स्थिर रहें, तबतकके लिये सर्प हो जा।' महर्षिके इतना कहते ही नहुष उस वाहनसे नीचे गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथानिन्द्रं पुनस्त्रैलोक्यमभवत् ततो देवा ऋषयश्च भगवन्तं विष्णुं शरणमिन्द्रार्थेऽभिजग्मुरूचुश्चैनं भगवन्निन्द्रं ब्रह्महत्याभिभूतं त्रातुमर्हसीति ततः स वरदस्तानब्रवीदश्वमेधं यज्ञं वैष्णवं शक्रोऽभियजतां ततः स्वस्थानं प्राप्स्यतीति ततो देवा ऋषयश्चेन्द्रं नापश्यन् यदा तदा शचीमूचुर्गच्छ सुभगे इन्द्रमानयस्वेति सा पुनस्तत्सरः समभ्यगच्छदिन्द्रश्च तस्मात् सरसः प्रत्युत्थाय बृहस्पतिमभिजगाम बृहस्पतिश्चाश्वमेधं महाक्रतुं शक्रायाहरत् तत्र कृष्णसारङ्गं मेध्यमश्वमुत्सृज्य वाहनं तमेव कृत्वा इन्द्रं मरुत्पतिं बृहस्पतिः स्वं स्थानं प्रापयामास ॥ ५२ ॥

नहुषका पतन हो जानेपर त्रिलोकीका राज्य पुनः बिना इन्द्रके हो गया, तब देवता और ऋषि इन्द्रके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और उनसे बोले—'भगवन् ! ब्रह्महत्यासे पीड़ित हुए इन्द्रकी रक्षा कीजिये ।' तब वरदायक भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे कहा—'देवगण ! इन्द्र विष्णुके उद्देश्यसे अश्वमेध यज्ञ करें। तब वे फिर अपना स्थान प्राप्त करेंगे।' यह सुनकर देवता और महर्षि इन्द्रको ढूँढ़ने लगे। जब वे कहीं उनका पता न पा सके, तब वे शचीसे बोले—'सुभगे ! तुम्हीं जाओ और इन्द्रको यहाँ ले आओ।' तब शची पुनः मानसरोवरपर गयीं। शचीके कहनेसे इन्द्र उस सरोवरसे निकलकर बृहस्पतिजीके पास आये। बृहस्पतिजीने इन्द्रके लिये अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञमें उन्होंने कृष्णसारङ्ग नामक यज्ञीय अश्वको छोड़ा था। उसीको वाहन बनाकर बृहस्पतिने पुनः देवराज इन्द्रको अपने पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ५२ ॥

ततः स देवराड् देवैर्ऋषिभिः स्तूयमानस्त्रिविष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ह ब्रह्मवध्यां चतुर्षु स्थानेषु वनिताग्निवनस्पतिगोषु व्यभजदेवमिन्द्रो ब्रह्मतेजःप्रभावोपबृंहितः शत्रुवधं कृत्वा स्वं स्थानं प्रापितः ॥५३॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए देवराज इन्द्र निष्पाप हो स्वर्गलोकमें रहने लगे। अपनी ब्रह्महत्याको उन्होंने स्त्री, अग्नि, वृक्ष और गौ—इन चार स्थानोंमें विभक्त कर दिया। ब्रह्मतेजके प्रभावसे वृद्धिको प्राप्त हुए इन्द्रने शत्रुओंका वध करके पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लिया ॥ ५३ ॥

(नहुषस्य शापमोक्षनिमित्तं देवैर्ऋषिभिश्च याच्यमानोऽगस्त्यः प्राह ।
यावत् स्वकुलजः श्रीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कथयित्वा स्वकान् प्रश्नान् भीमं तं च विमोक्ष्यते ॥)

उधर नहुषको शापसे छुटकारा दिलानेके लिये देवताओं और ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—'जब नहुषके कुलमें उत्पन्न हुए श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको उनके बन्धनसे छुड़ा देंगे, तब नहुषको भी वे शापसे मुक्त कर देंगे' ॥

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत् त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाभ्यासादितः स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः ॥ ५४ ॥

प्राचीन कालमें महर्षि भरद्वाज आकाश-गङ्गाके जलमें खड़े हो आचमन कर रहे थे। उस समय तीन पगसे त्रिलोकीको नापते हुए भगवान् विष्णु उनके पासतक आ पहुँचे। तब भरद्वाजने जलसहित हाथसे उनकी छातीमें प्रहार किया। इससे उनकी छातीमें एक चिह्न बन गया ॥ ५४ ॥

भृगुणा महर्षिणा शप्तोऽग्निः सर्वभक्षत्वमुपानीतः ॥ ५५ ॥

महर्षि भृगुके शापसे अग्निदेव सर्वभक्षी हो गये ॥५५॥

अदितिर्वै देवानामन्नमपचदेतद् भुक्त्वासुरान् हनिष्यन्तीति तत्र बुधो व्रतचर्यासमाप्तावागच्छददितिं चावोचद् भिक्षां देहीति तत्र देवैः पूर्वमेतत् प्राश्यं नान्येनेत्यदितिर्भिक्षां नादादथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेनादितिः शप्ता अदितेरुदरे भविष्यति व्यथा विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यण्डसंज्ञितस्य अण्डं मातुरदित्या मारितं स मार्तण्डो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः ॥ ५६ ॥

अदितिने देवताओंके लिये इस उद्देश्यसे रसोई तैयार की थी कि वे इसे खाकर असुरोंका वध कर सकेंगे। इसी समय बुध अपनी व्रतचर्या समाप्त करके अदितिके पास गये और बोले—'मुझे भिक्षा दीजिये।' अदितिने सोचा यह अन्न पहले देवताओंको ही खाना चाहिये, दूसरे किसीको नहीं; इसलिये उन्होंने बुधको भिक्षा नहीं दी। भिक्षा न मिलनेसे रोषमें भरे हुए ब्राह्मण बुधने अदितिको यह शाप दिया कि 'अण्ड नामधारी विवस्वान्के दूसरे जन्मके समय अदितिके उदरमें पीड़ा होगी।' माता अदितिके पेटका वह अण्ड उस पीड़ाद्वारा मारा गया। मृत अण्डसे प्रकट होनेके कारण श्राद्धदेवसंज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड नामसे प्रसिद्ध हुए ॥५६॥

दक्षस्य या वै दुहितरः षष्टिरासंस्ताभ्यः कश्यपाय त्रयोदश प्रादाद् दश धर्माय दश मनवे सप्तविंशतिमिन्दवे तासु तुल्यासु नक्षत्राख्यां गतासु सोमो रोहिण्यामभ्यधिकं प्रीतिमानभूत् ततस्ताः शिष्टाः पत्न्य ईर्ष्यावत्यः पितुः समीपं गत्वेममर्थं शशंसुर्भगवन्नस्मासु तुल्यप्रभावासु सोमो रोहिणीं प्रत्यधिकं भजतीति सोऽब्रवीद् यक्ष्मैनमाविश्येतेति दक्षशापात् सोमं राजानं यक्ष्मा विवेश स यक्ष्मणाऽऽविष्टो दक्षमगाद् दक्षश्चैनमब्रवीन्न समं वर्तयसीति तत्रर्षयः सोममब्रुवन् क्षीयसे यक्ष्मणा पश्चिमायां दिशि समुद्रे हिरण्यसरस्तीर्थे तत्र गत्वा आत्मानमभिषेचयस्वेत्यथागच्छत् सोमस्तत्र हिरण्यसरस्तीर्थं गत्वा चात्मनः सेचनमकरोत् स्नात्वा चात्मानं पाप्मनो मोक्षयामास तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदा प्रभृति च तीर्थं तत् प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव ॥ ५७ ॥

प्रजापति दक्षके साठ कन्याएँ थीं। उनमेंसे तेरहका विवाह उन्होंने कश्यपजीके साथ कर दिया। दस कन्याएँ धर्मको, दस मनुको और सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको दे डालीं। उन सत्ताईस कन्याओंकी नक्षत्र नामसे प्रसिद्धि हुई। यद्यपि वे सब-की-सब एक समान रूपवती थीं तो भी चन्द्रमा सबसे

अधिक रोहिणीपर ही प्रेम करने लगे । यह देख शेष पत्नियोंके मनमें ईर्ष्या हुई और उन्होंने पिताके समीप जाकर यह बात बतायी—'भगवन् ! हम सब बहिनोंका प्रभाव एक-सा है तो भी चन्द्रदेव रोहिणीपर ही अधिक स्नेह रखते हैं ।' यह सुनकर दक्षने कहा—'इनके भीतर यक्ष्माका प्रवेश होगा ।' इस प्रकार ब्राह्मण दक्षके शापसे राजा सोमके शरीरमें यक्ष्माने प्रवेश किया । यक्ष्मासे ग्रस्त होकर राजा सोम प्रजापति दक्षके पास गये । रोषका कारण पूछनेपर दक्षने उनसे कहा—'तुम अपनी सभी पत्नियोंके प्रति समान बर्ताव नहीं करते हो, उसीका यह दण्ड है ।' वहाँ दूसरे ऋषियोंने सोमसे कहा—'तुम यक्ष्मासे क्षीण होते चले जा रहे हो । अतः पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर जो हिरण्यसर नामक तीर्थ है, वहाँ जाकर अपने-आपको स्नान कराओ ।' तब सोमने हिरण्यसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान किया । स्नान करके उन्होंने अपने-आपको पापसे छुड़ाया । उस तीर्थमें वे दिव्य प्रभासे प्रभासित हो उठे थे, इसलिये उसी समयसे वह स्थान प्रभासतीर्थके नामसे विख्यात हो गया ॥ ५७ ॥

तच्छापादद्यापि क्षीयते सोमोऽमावास्यान्तरस्थः पौर्णमासीमात्रेऽधिष्ठितो मेघलेखाप्रतिच्छन्नं वपुर्दर्शयति मेघसदृशं वर्णमगमत् तदस्य शशलक्ष्म विमलमभवत् ॥ ५८ ॥

उसी शापसे आज भी चन्द्रमा कृष्णपक्षमें अमावास्यातक क्षीण होता रहता है और शुक्लपक्षमें पूर्णिमातक उसकी वृद्धि होती रहती है । उसका मण्डलाकार स्वरूप मेघकी श्याम रेखासे आच्छन्न-सा दिखायी देता है । उसके शरीरमें खरगोश-का-सा चिह्न मेघके समान श्यामवर्णका है । वह स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है ॥ ५८ ॥

स्थूलशिरा महर्षिर्मेरोः प्रागुत्तरे दिग्विभागे तपस्तेपे ततस्तस्य तपस्तप्यमानस्य सर्वगन्धवहः शुचिर्वायुर्वायमानः शरीरमस्पृशत् स तपसा तापितशरीरः कृशो वायुनोपवीज्यमानो हृदये परितोषमगमत् तत्र किल तस्यानिलव्यजनकृतपरितोषस्य सद्यो वनस्पतयः पुष्पशोभां निदर्शितवन्त इति स एताञ्शशाप न सर्वकालं पुष्पवन्तो भविष्यथेति ॥ ५९ ॥

पूर्वकालकी बात है, मेरुपर्वतके पूर्वोत्तर भागमें स्थूलशिरा नामक महर्षि बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे । उनके तपस्या करते समय सब प्रकार सुगन्ध लिये पवित्र वायु बहने लगी । उस वायुने प्रवाहित होकर मुनिके शरीरका स्पर्श किया । तपस्यासे संतप्त शरीरवाले उन कृशकाय मुनिने उस वायुसे वीजित हो अपने हृदयमें बड़े संतोषका अनुभव किया । वायुके द्वारा व्यजन डुलानेसे संतुष्ट हुए मुनिके समक्ष वृक्षोंने तत्काल फूलकी शोभा दिखलायी । इससे रुष्ट होकर मुनिने उन्हें शाप दिया कि तुम हर समय फूलोंसे भरे-पूरे नहीं रहोगे ॥ ५९ ॥

नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलः कृतः स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः ॥ ६० ॥

एक समय भगवान् नारायण लोकहितके लिये बडवामुख नामक महर्षि हुए । जब वे मेरुपर्वतपर तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने समुद्रका आवाहन किया; किंतु वह नहीं आया । इससे अमर्षमें भरकर उन्होंने अपने शरीरकी गर्मीसे समुद्रके जलको चञ्चल कर दिया और पसीनेके प्रवाहकी भाँति उसमें खारापन प्रकट कर दिया ॥ ६० ॥

उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुखसंज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति तदेतदद्यापि वडवामुखसंज्ञितेनानुवर्तिना तोयं समुद्रात् पीयते ॥ ६१ ॥

साथ ही उससे कहा—'समुद्र ! तू पीनेयोग्य नहीं रह जायगा । तेरा यह जल बडवामुखके द्वारा बारंबार पीया जानेपर मधुर होगा ।' यह बात आज भी देखनेमें आती है । बडवामुखसंज्ञक अग्नि समुद्रसे जल लेकर पीती है ॥ ६१ ॥

हिमवतो गिरेर्दुहितरमुमां कन्यां रुद्रश्चकमे भृगुरपि च महर्षिर्हिमवन्तमागत्याब्रवीत् कन्यामिमां मे देहीति तमब्रवीद्धिमवानभिलक्षितो वरो रुद्र इति तमब्रवीद् भृगुर्यस्मात् त्वयाहं कन्यावरणकृतभावः प्रत्याख्यातस्तस्मान्न रत्नानां भवान् भाजनं भविष्यतीति ॥ ६२ ॥

हिमवान्की पुत्री उमाको जब वह कुमारी अवस्थामें थी तभी रुद्रने पानेकी इच्छा की । दूसरी ओरसे महर्षि भृगु भी वहाँ आकर हिमवान्से बोले—'अपनी यह कन्या मुझे दे दो ।' तब हिमवान्ने उनसे कहा—'इस कन्याके लिये देख-सुनकर लक्षित किये हुए वर रुद्रदेव हैं ।' तब भृगुने कहा—'मैं कन्याका वरण करनेकी भावना लेकर यहाँ आया था, किंतु तुमने मेरी उपेक्षा कर दिया है; इसलिये मैं शाप देता हूँ कि तुम रत्नोंके भण्डार नहीं होओगे' ॥ ६२ ॥

अद्यप्रभृत्येतदवस्थितमृषिवचनं तदेवंविधं माहात्म्यं ब्राह्मणानाम् ॥ ६३ ॥

आज भी महर्षिका वह वचन हिमवान्पर ज्यों-का-त्यों लागू हो रहा है । ऐसा ब्राह्मणोंका माहात्म्य है ॥ ६३ ॥

क्षत्रमपि च ब्राह्मणप्रसादादेव शाश्वतीमव्ययां च पृथिवीं पत्नीमभिगम्य बुभुजे ॥ ६४ ॥

क्षत्रिय जाति भी ब्राह्मणोंकी कृपासे ही सदा रहनेवाली इस अविनाशिनी पृथ्वीको पत्नीकी भाँति पाकर इसका उपभोग करती है ॥ ६४ ॥

यदेतद् ब्रह्माग्नीषोमीयं तेन जगद् धार्यते ॥ ६५ ॥

यह जो अग्नि और सोमसम्बन्धी ब्रह्म है, उसीके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ६५ ॥

उच्यते--

सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुः केशाश्चैवांशवः स्मृताः ।
बोधयंस्तापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥६६॥

कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा (अग्नि और सोम) मेरे नेत्र हैं तथा उनकी किरणोंको केश कहा गया है । सूर्य और चन्द्रमा जगत्को क्रमशः ताप और मोद प्रदान करते हुए पृथक्-पृथक् उदित होते हैं ॥ ६६ ॥

(नाम्नां निरुक्तं वक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसः ।)
बोधनात् तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥ ६७ ॥

अब मैं अपने नामोंकी व्याख्या करूँगा । तुम एकाग्र-चित्त होकर सुनो । जगत्को मोद और ताप प्रदान करनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य हर्षदायक होते हैं । पाण्डुनन्दन ! अग्नि और सोमद्वारा किये गये इन कर्मोंद्वारा मैं विश्वभावन वरदायक ईश्वर ही 'हृषीकेश'[1] कहलाता हूँ ॥ ६७ ॥

इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् ।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥ ६८ ॥

यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार) करता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी हरित (श्याम) है, इसलिये मुझे 'हरि' कहते हैं ॥ ६८ ॥

धाम सारो हि भूतानामृतं चैव विचारितम् ।
ऋतधामा ततो विप्रैः सद्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥ ६९ ॥

प्राणियोंके सारका नाम है धाम और ऋतका अर्थ है सत्य, ऐसा विद्वानोंने विचार किया है ! इसीलिये ब्राह्मणोंने तत्काल मेरा नाम 'ऋतधामा' रख दिया था ॥ ६९ ॥

नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ ७० ॥

मैंने पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिये देवताओंने अपनी वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर मेरी स्तुति की थी (गां विन्दति इति गोविन्दः—जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम गोविन्द है) ॥ ७० ॥

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् ।
तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥७१॥

मेरे 'शिपिविष्ट' नामकी व्याख्या इस प्रकार है । रोमहीन प्राणीको शिपि कहते हैं—तथा विष्टका अर्थ है व्यापक । मैंने निराकाररूपसे समस्त जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, इसलिये मुझे 'शिपिविष्ट' कहते हैं ॥ ७१ ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥ ७२ ॥

यास्कमुनिने शान्तचित्त होकर अनेक यज्ञोंमें शिपिविष्ट कहकर मेरी महिमाका गान किया है; अतः मैं इस गुह्यनाम-को धारण करता हूँ ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ ७३ ॥

उदारचेता यास्क मुनिने शिपिविष्ट नामसे मेरी स्तुति करके मेरी ही कृपासे पाताललोकमें नष्ट हुए निरुक्तशास्त्रको पुनः प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

न हि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥ ७४ ॥

मैंने न तो पहले कभी जन्म लिया है, न अब जन्म लेता हूँ और न आगे कभी जन्म लूँगा । मैं समस्त प्राणियों-के शरीरमें रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ । इसीलिये मेरा नाम 'अज' है ॥ ७४ ॥

नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं वा कदाचन ।
ऋता ब्रह्मसुता सा मे सत्या देवी सरस्वती ॥ ७५ ॥
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयाऽऽवेशितमात्मनि ।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो विदुः ॥ ७६ ॥

मैंने कभी ओछी या अश्लील बात मुँहसे नहीं निकाली है । सत्यस्वरूपा ब्रह्मपुत्री सरस्वतीदेवी मेरी वाणी है । कुन्तीकुमार ! सत् और असत्को भी मैंने अपने भीतर ही प्रविष्ट कर रक्खा है; इसलिये मेरे नाभि-कमलरूप ब्रह्मलोक-में रहनेवाले ऋषिगण मुझे 'सत्य' कहते हैं ॥७५-७६॥

सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् ।
जन्मनीहा भवेत् सत्त्वं पौर्विकं मे धनंजय ॥ ७७ ॥
निराशीःकर्मसंयुक्तः सत्त्वतश्चाप्यकल्मषः ।
सात्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सत्त्वतामिति सात्त्वतः ॥ ७८ ॥

धनंजय ! मैं पहले कभी सत्त्वसे च्युत नहीं हुआ हूँ । सत्त्वको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो । मेरा वह पुरातन सत्त्व इस अवतारकालमें भी विद्यमान है । सत्त्वके कारण ही मैं पापसे रहित हो निष्कामकर्ममें लगा रहता हूँ । भगवत्प्राप्त पुरुषोंके सात्त्वतज्ञान (पाञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्र) से मेरे स्वरूपका बोध होता है । इन सब कारणोंसे लोग मुझे 'सात्त्वत' कहते हैं ॥ ७७-७८ ॥

कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् ।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन ॥७९॥

पृथापुत्र अर्जुन ! मैं काले लोहेका विशाल फाल बनकर इस पृथ्वीको जोतता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी काला

---

१. सूर्य और चन्द्रमा ही अग्नि एवं सोम हैं । वे जगत्को हर्ष प्रदान करनेके कारण 'हृषी' कहलाते हैं । वे ही भगवान्के केश अर्थात् किरणें हैं, इसलिये भगवान्का नाम 'हृषीकेश' है ।

है, इसलिये मैं 'कृष्ण' कहलाता हूँ* ॥ ७९ ॥

मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना ।
वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ॥ ८० ॥

मैंने भूमिको जलके साथ, आकाशको वायुके साथ और वायुको तेजके साथ संयुक्त किया है। इसलिये (विगता कुण्ठा पञ्चानां भूतानां मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार) मैं 'वैकुण्ठ' कहलाता हूँ ॥ ८० ॥

निर्वाणं परमं ब्रह्म धर्मोऽसौ पर उच्यते ।
तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ॥ ८१ ॥

परम शान्तिमय जो ब्रह्म है, वही परम धर्म कहा गया है। उससे पहले कभी मैं च्युत नहीं हुआ हूँ, इसलिये लोग मुझे 'अच्युत' कहते हैं ॥ ८१ ॥

पृथिवीनभसी चोभे विश्रुते विश्वतोमुखे ।
तयोः संधारणार्थं हि मामधोक्षजमञ्जसा ॥ ८२ ॥

('अधः' का अर्थ है पृथ्वी, 'अक्ष' का अर्थ है आकाश और 'ज' का अर्थ है इनको धारण करनेवाला) पृथ्वी और आकाश दोनों सर्वतोमुखी एवं प्रसिद्ध हैं। उनको अनायास ही धारण करनेके कारण लोग मुझे 'अधोक्षज' कहते हैं ॥ ८२ ॥

निरुक्तं वेदविदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः ।
ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः ॥ ८३ ॥

वेदोंके शब्द और अर्थपर विचार करनेवाले वेदवेत्ता विद्वान् प्राग्वंश (यज्ञशालाके एक भाग) में बैठकर अधोक्षज नामसे मेरी महिमाका गान करते हैं; इसलिये भी मेरा नाम 'अधोक्षज' है ॥ ८३ ॥

(अधो न क्षीयते यस्माद् वदन्त्यन्ये ह्यधोक्षजम् ।)

जिसके अनुग्रहसे जीव अधोगतिमें पड़कर क्षीण नहीं होता, उन भगवान्‌को दूसरे लोग इसी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अधोक्षज' कहते हैं ॥

शब्द एकपदैरेष व्याहृतः परमर्षिभिः ।
नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥ ८४ ॥

महर्षि लोग अधोक्षज शब्दको पृथक्-पृथक् तीन पदोंका एक समुदाय मानते हैं—'अ' का अर्थ है लय-स्थान, 'धोक्ष' का अर्थ है पालन-स्थान और 'ज' का अर्थ है उत्पत्ति-स्थान। उत्पत्ति, स्थिति और लयके स्थान एकमात्र नारायण ही हैं; अतः उन भगवान् नारायणको छोड़कर संसारमें दूसरा कोई 'अधोक्षज' नहीं कहला सकता ॥ ८४ ॥

घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् ।
घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ८५ ॥

प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाला घृत मेरे स्वरूपभूत अग्निदेवकी अर्चिष् अर्थात् ज्वालाको जगानेवाला है; इसलिये शान्तचित्त वेदज्ञ विद्वानोंने मुझे 'घृतार्चि' कहा है ॥ ८५ ॥

त्रयो हि धातवः ख्याताः कर्मजा इति ते स्मृताः ।
पित्तं श्लेष्मा च वायुश्च एष संघात उच्यते ॥ ८६ ॥
एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते ।
आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥ ८७ ॥

शरीरमें तीन धातु विख्यात हैं वात, पित और कफ। वे सब-के-सब कर्मजन्य माने गये हैं। इनके समुदायको त्रिधातु कहते हैं। जीव इन धातुओंके रहनेसे जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण हो जानेपर क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आयुर्वेदके विद्वान् मुझे 'त्रिधातु' कहते हैं ॥

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् धर्म सम्पूर्ण लोकोंमें वृषके नामसे विख्यात हैं। वैदिक शब्दार्थबोधक कोशमें वृषका अर्थ धर्म बताया गया है; अतः उत्तम धर्मस्वरूप मुझ वासुदेवको 'वृष' समझो ॥ ८८ ॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥ ८९ ॥

कपि शब्दका अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है और वृष कहते हैं धर्मको। मैं धर्म और श्रेष्ठ वराहरूपधारी हूँ; इसलिये प्रजापति कश्यप मुझे 'वृषाकपि' कहते हैं ॥ ८९ ॥

न चादं न मध्यं तथा चैव नान्तं
कदाचिद् विदन्ते सुराश्चासुराश्च ।
अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः
प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥ ९० ॥

मैं जगत्‌का साक्षी और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य और अन्तका कभी पता नहीं पाते हैं; इसलिये मैं 'अनादि', 'अमध्य' और 'अनन्त' कहलाता हूँ ॥ ९० ॥

शुचीनि श्रवणीयानि शृणोमीह धनंजय ।
न च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवाः ॥ ९१ ॥

धनंजय ! मैं यहाँ पवित्र एवं श्रवण करने योग्य वचनोंको ही सुनता हूँ और पापपूर्ण बातोंको कभी ग्रहण नहीं करता हूँ, इसलिये मेरा नाम 'शुचिश्रवा' है ॥ ९१ ॥

एकशृङ्गः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः ।
इमां चोद्धृतवान् भूमिमेकशृङ्गस्ततो ह्यहम् ॥ ९२ ॥

पूर्वकालमें मैंने एक सींगवाले वराहका रूप धारण करके इस पृथ्वीको पानीसे बाहर निकाला और सारे जगत्‌का आनन्द बढ़ाया; इसलिये मैं 'एकशृङ्ग' कहलाता हूँ ॥ ९२ ॥

---

* 'कृष्ण' नामकी दूसरी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—कृष् नाम है सत्‌का और ण कहते हैं आनन्दको। इन दोनोंसे उपलक्षित सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर गोलोकविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

तथैवास्यं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः ।
त्रिककुत् तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥ ९३ ॥

इसी प्रकार वराहरूप धारण करनेपर गौर शरीरमें तीन ककुद् (ऊँचे स्थान) थे; इसलिये शरीरके मापसे मैं 'त्रिककुद्' नामसे विख्यात हुआ ॥ ९३ ॥

विरिञ्च इति यत् प्रोक्तं कापिलज्ञानचिन्तकैः ।
स प्रजापतिरेवाहं चेतनात् सर्वलोककृत् ॥ ९४ ॥

कपिल मुनिके द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वानोंने जिसे विरिञ्च कहा है, यह सर्वलोकस्रष्टा प्रजापति 'विरिञ्च' मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही सबको चेतना प्रदान करता हूँ ॥ ९४ ॥

विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः ॥ ९५ ॥

तत्त्वका निश्चय करनेवाले सांख्यशास्त्रके आचार्योंने मुझे आदित्य-मण्डलमें स्थित, विद्याशक्तिके साहचर्यसे सम्पन्न सनातन देवता 'कपिल' कहा है। ॥ ९५ ॥

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः ।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः ॥ ९६ ॥

वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है तथा इस जगत्‌में योगीजन सदा जिनकी पूजा और स्मरण करते हैं, वह तेजस्वी 'हिरण्यगर्भ' मैं ही हूँ ॥ ९६ ॥

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते ।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ ९७ ॥

वेदके विद्वान् मुझे ही इक्कीस हजार ऋचाओंसे युक्त 'ऋग्वेद' और एक हजार शाखाओंवाला 'सामवेद' कहते हैं॥ ९७॥

गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः ।
षट्पञ्चाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत ॥ ९८ ॥
यस्मिञ्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः ।

आरण्यकोंमें ब्राह्मणलोग मेरा ही गान करते हैं। वे मेरे परम भक्त दुर्लभ हैं। जिस यजुर्वेदकी छप्पन+आठ+सैंतीस= एक सौ एक शाखाएँ मौजूद हैं, उस यजुर्वेदमें भी मेरा ही गान किया गया है ॥ ९८½ ॥

पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ ९९ ॥
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा ।

अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगोंसे सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक 'अथर्ववेद' मानते हैं ॥ ९९½ ॥

शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः ॥१००॥
स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान् ।

वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, उन शाखाओंमें जितने गीत हैं तथा उन गीतोंमें स्वर और वर्णके उच्चारण करनेकी जितनी रीतियाँ हैं, उन सबको मेरी बनायी हुई ही समझो॥ १००½॥

यत् तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वरप्रदम् ॥१०१॥
सोऽहमेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित् ।

कुन्तीनन्दन! सबको वर देनेवाले जो हयग्रीव प्रकट होते हैं, उनके रूपमें मैं ही अवतीर्ण होता हूँ। मैं ही उत्तरभागमें वेद-मन्त्रोंके क्रम-विभाग और अक्षर-विभागका ज्ञाता हूँ*॥ १०१½॥

वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना ॥१०२॥
पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात् ।

महात्मा पाञ्चालने वामदेवके बताये हुए ध्यान-मार्गसे मेरी आराधना करके मुझ सनातन पुरुषके ही कृपाप्रसादसे वेदका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ १०२½ ॥

बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥१०३॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम् ।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥१०४॥

बाभ्रव्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए वे महर्षि गालव भगवान् नारायणसे वर एवं परम उत्तम योग पाकर वेदके क्रमविभाग एवं शिक्षाका प्रणयन करके सबसे पहले क्रमविभागके पारङ्गत विद्वान् हुए थे ॥ १०३-१०४ ॥

कण्डरीकोऽथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान् ।
जातीमरणजं दुःखं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥१०५॥
सप्तजातिषु मुख्यत्वाद् योगानां सम्पदं गतः ।

कण्डरीक-कुलमें उत्पन्न हुए प्रतापी राजा ब्रह्मदत्तने सात जन्मोंके जन्म-मृत्युसम्बन्धी दुःखोंका बारंबार स्मरण करके तीव्रतम वैराग्यके कारण शीघ्र ही योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था ॥ १०५½ ॥

पुराहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे ॥१०६॥
धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽहं धर्मजः स्मृतः ।

कुरुश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार! पूर्वकालमें किसी कारणवश मैं धर्मके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध हुआ था। इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है ॥ १०६½ ॥

नरनारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ॥१०७॥
धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने ।
तत्कालसमये चैव दक्षयज्ञो बभूव ह ॥१०८॥

पहले नर और नारायणने जब धर्ममय रथपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्षका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

न चैवाकल्पयद् भागं दक्षो रुद्रस्य भारत ।
ततो दधीचिवचनाद् दक्षयज्ञमपाहरत् ॥१०९॥

भारत! उस यज्ञमें दक्षने रुद्रके लिये भाग नहीं दिया

*वेदमन्त्रके दो-दो पदका उच्चारण करके पहले-पहलेको छोड़ते जाना और उत्तरोत्तर पदको मिलाकर दो-दो पदोंका एक साथ पाठ करते रहना क्रमविभाग कहलाता है। जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मन्त्रका क्रमपाठ इस प्रकार है—'अग्निमीळे ईळे पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य' इत्यादि। अक्षरविभागका अर्थ है पदविभाग—एक-एक पदको अलग-अलग करके पढ़ना। यथा 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' इत्यादि।

था; इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ १०९ ॥

ससर्ज शूलं कोपेन प्रज्वलन्तं मुहुर्मुहुः ।
तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् ॥११०॥
आवयोः सहसागच्छद् बदर्याश्रममन्तिकात् ।

रुद्रने क्रोधपूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूलका बारंबार प्रयोग किया । वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा ॥ ११०½ ॥

वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि ॥१११॥
ततस्तत् तेजसाऽऽविष्टाः केशा नारायणस्य ह ।
बभूवुर्मुञ्जवर्णास्तु ततोऽहं मुञ्जकेशवान् ॥११२॥

पार्थ ! उस समय नारायणकी छातीमें वह त्रिशूल बड़े वेगसे जा लगा । उससे निकलते हुए तेजकी लपेटमें आकर नारायणके केश मूँजके समान रंगवाले हो गये । इससे मेरा नाम 'मुञ्जकेश' हो गया ॥ १११-११२ ॥

तच्च शूलं विनिर्धूतं हुंकारेण महात्मना ।
जगाम शंकरकरं नारायणसमाहतम् ॥११३॥

तब महात्मा नारायणने हुंकारध्वनिके द्वारा उस त्रिशूलको पीछे हटा दिया । नारायणके हुंकारसे प्रतिहत होकर वह शङ्करजीके हाथमें चला गया ॥ ११३ ॥

अथ रुद्र उपाधावत् तावृषी तपसान्वितौ ।
तत एनं समुद्भूतं कण्ठे जग्राह पाणिना ॥११४॥
नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता ।

यह देख रुद्र तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंपर टूट पड़े । तब विश्वात्मा नारायणने अपने हाथसे उन आक्रमणकारी रुद्रदेवका गला पकड़ लिया । इसीसे कण्ठ नीला हो जानेके कारण वे 'नीलकण्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ११४½ ॥

अथ रुद्रविघातार्थमिषीकां नर उद्धरन् ॥११५॥
मन्त्रैश्च संयुयोजाशु सोऽभवत् परशुर्महान् ।

इसी समय रुद्रका विनाश करनेके लिये नरने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया । वह सींक एक बहुत बड़े परशुके रूपमें परिणत हो गयी ॥ ११५½ ॥

क्षिप्तश्च सहसा तेन खण्डनं प्राप्तवांस्तदा ॥११६॥
ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात् ।

नरका चलाया हुआ वह परशु सहसा रुद्रके द्वारा खण्डित कर दिया गया । मेरे परशुका खण्डन हो जानेसे मैं 'खण्डपरशु' कहलाया ॥ ११६½ ॥

अर्जुन उवाच

अस्मिन् युद्धे तु वार्ष्णेय त्रैलोक्यशमने तदा ॥११७॥
को जयं प्राप्तवांस्तत्र शंसैतन्मे जनार्दन ।

अर्जुनने पूछा—वृष्णिनन्दन ! त्रिलोकीका संहार करनेवाले उस युद्धके उपस्थित होनेपर वहाँ रुद्र और नारायणमेंसे किसको विजय प्राप्त हुई ? जनार्दन ! आप यह बात मुझे बताइये ॥ ११७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

तयोः संलग्नयोर्युद्धे रुद्रनारायणात्मनोः ॥११८॥
उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्वे लोकास्तदाभवन् ।
नागृह्णात् पावकः शुभ्रं मखेषु सुहुतं हविः ॥११९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! रुद्र और नारायण जब इस प्रकार परस्पर युद्धमें संलग्न हो गये, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके समस्त प्राणी सहसा उद्विग्न हो उठे । अग्निदेव यज्ञोंमें विधिपूर्वक होम किये गये विशुद्ध हविष्यको भी ग्रहण नहीं कर पाते थे ॥ ११८–११९ ॥

वेदा न प्रतिभान्ति स्म ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
देवान् रजस्तमश्चैव समाविविशतुस्तदा ॥१२०॥

पवित्रात्मा ऋषियोंको वेदोंका स्मरण नहीं हो पाता था । उस समय देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया था ॥ १२० ॥

वसुधा संचकम्पे च नभश्च विचचाल ह ।
निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासनच्युतः ॥१२१॥
अगाच्छोषं समुद्रश्च हिमवांश्च व्यशीर्यत ।

पृथ्वी काँपने लगी, आकाश विचलित हो गया । समस्त तेजस्वी पदार्थ (ग्रह-नक्षत्र आदि) निष्प्रभ हो गये । ब्रह्मा अपने आसनसे गिर पड़े । समुद्र सूखने लगा और हिमालय पर्वत विदीर्ण होने लगा ॥ १२१½ ॥

तस्मिन्नेवं समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन ॥१२२॥
ब्रह्मा वृतो देवगणैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ।
आजगामाशु तं देशं यत्र युद्धमवर्तत ॥१२३॥

पाण्डुनन्दन ! ऐसे अपशकुन प्रकट होनेपर ब्रह्माजी देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंको साथ ले शीघ्र उस स्थानपर आये, जहाँ वह युद्ध हो रहा था ॥ १२२-१२३ ॥

सोऽञ्जलिप्रग्रहो भूत्वा चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः ।
उवाच वचनं रुद्रं लोकानामस्तु वै शिवम् ॥१२४॥
न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हितकाम्यया ।

निरुक्तगम्य भगवान् चतुर्मुखने हाथ जोड़कर रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! समस्त लोकोंका कल्याण हो ! विश्वेश्वर ! आप जगत्के हितकी कामनासे अपने हथियार रख दीजिये ॥ १२४½ ॥

यदक्षरमथाव्यक्तमीशं लोकस्य भावनम् ॥१२५॥
कूटस्थं कर्तृ निर्द्वन्द्वमकर्तेति च यं विदुः ।
व्यक्तिभावगतस्यास्य एका मूर्तिरियं शुभा ॥१२६॥

'जो सम्पूर्ण जगत्का उत्पादक, अविनाशी और अव्यक्त ईश्वर हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष कूटस्थ, निर्द्वन्द्व, कर्ता और अकर्ता मानते हैं, व्यक्त-भावको प्राप्त हुए उन्हीं परमेश्वरकी यह एक कल्याणमयी मूर्ति है ॥१२५-१२६॥

नरो नारायणश्चैव जातौ धर्मकुलोद्वहौ ।
तपसा महता युक्तौ देवश्रेष्ठौ महाव्रतौ ॥१२७॥

'धर्मकुलमें उत्पन्न हुए ये दोनों महाव्रती देवश्रेष्ठ नर और नारायण महान् तपस्यासे युक्त हैं ॥ १२७ ॥

अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे ।
त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥१२८॥

'किसी निमित्तसे उन्हीं नारायणके कृपाप्रसादसे मेरा जन्म हुआ है । तात ! आप भी पूर्वसर्गमें उन्हीं भगवान्के क्रोधसे उत्पन्न हुए सनातन पुरुष हैं ॥ १२८ ॥

मया च सार्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः ।
प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥१२९॥

'वरद ! आप देवताओं और महर्षियोंके तथा मेरे साथ शीघ्र इन भगवान्को प्रसन्न कीजिये, जिससे सम्पूर्ण जगत्में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो' ॥ १२९ ॥

ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।
प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ।
शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ॥१३०॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर रुद्रदेवने अपनी क्रोधाग्निका त्याग किया । फिर आदिदेव, वरेण्य, वरदायक, सर्वसमर्थ भगवान् नारायणको प्रसन्न किया और उनकी शरण ली ॥

ततोऽथ वरदो देवो जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
प्रीतिमानभवत् तत्र रुद्रेण सह संगतः ॥१३१॥

तब क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले वरदायक देवता नारायण वहाँ बड़े प्रसन्न हुए और रुद्रदेवसे गले मिले ॥ १३१ ॥

ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः ।
उवाच देवमीशानमीशः स जगतो हरिः ॥१३२॥
यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु ।
नावयोरन्तरं किंचिन्मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥१३३॥

तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और ब्रह्माजीसे अत्यन्त पूजित हो जगदीश्वर श्रीहरिने रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! जो तुम्हें जानता है, वह मुझे भी जानता है। जो तुम्हारा अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है । हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है । तुम्हारे मनमें इसके विपरीत विचार नहीं होना चाहिये ॥१३२-१३३ ॥

अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्वयम् ।
मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥१३४॥

'आजसे तुम्हारे शूलका यह चिह्न मेरे वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्स'के नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम्हारे कण्ठमें मेरे हाथके चिह्नसे अङ्कित होनेके कारण तुम भी 'श्रीकण्ठ' कहलाओगे' ॥ १३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं लक्षणमुत्पाद्य परस्परकृतं तदा ।
सख्यं चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण सहितावृषी ॥१३५॥
तपस्तेपतुरव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौकसः ।
एष ते कथितः पार्थ नारायणजयो मृधे ॥१३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पार्थ ! इस प्रकार अपने-अपने शरीरमें एक दूसरेके द्वारा किये हुए ऐसे लक्षण (चिह्न) उत्पन्न करके वे दोनों ऋषि रुद्रदेवके साथ अनुपम मैत्री स्थापित कर देवताओंको विदा करनेके पश्चात् शान्तचित्त हो पूर्ववत् तपस्या करने लगे । इस प्रकार मैंने तुम्हें युद्धमें नारायणकी विजयका वृत्तान्त बताया है ॥ १३५-१३६ ॥

नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।
ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्तितानि ते ॥१३७॥

भारत ! मेरे जो गोपनीय नाम हैं, उनकी व्युत्पत्ति मैंने बतायी है । ऋषियोंने मेरे जो नाम निश्चित किये हैं, उनका भी मैंने तुमसे वर्णन किया है ॥ १३७ ॥

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ।
ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं च सनातनम् ॥१३८॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार अनेक तरहके रूप धारण करके मैं इस पृथ्वीपर विचरता हूँ, ब्रह्मलोकमें रहता हूँ और सनातन गोलोकमें विहार करता हूँ ॥ १३८ ॥

मया त्वं रक्षितो युद्धे महान्तं प्राप्तवाञ्जयम् ।
यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते॥१३९॥
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम् ।
कालः स एव कथितः क्रोधजेति मया तव ॥१४०॥

मुझसे सुरक्षित होकर तुमने महाभारत युद्धमें महान् विजय प्राप्त की है । कुन्तीनन्दन ! युद्ध उपस्थित होनेपर जो पुरुष तुम्हारे आगे-आगे चलते थे, उन्हें तुम जटाजूटधारी देवाधिदेव रुद्र समझो । उन्हींको मैंने तुमसे क्रोधद्वारा उत्पन्न बताया है । वे ही काल कहे गये हैं ॥ १३९-१४० ॥

निहतास्तेन वै पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् ।
अप्रमेयप्रभावं तं देवदेवमुमापतिम् ।
नमस्व देवं प्रयतो विश्वेशं हरमक्षयम् ॥१४१॥

तुमने जिन शत्रुओंको मारा है, वे पहले ही रुद्रदेवके हाथसे मार दिये गये थे । उनका प्रभाव अप्रमेय है ! तुम उन देवाधिदेव, उमावल्लभ विश्वनाथ, पापहारी एवं अविनाशी महादेवजीको संयतचित्त होकर नमस्कार करो ॥ १४१ ॥

यश्च ते कथितः पूर्वं क्रोधजेति पुनः पुनः ।

तस्य प्रभाव एवाग्रे यच्छ्रुतं ते धनंजय ॥१४२॥

धनंजय ! जिन्हें क्रोधज बताकर मैंने तुमसे बारंबार उनका परिचय दिया है और पहले तुमने जो कुछ सुन रक्खा है, वह सब उन रुद्रदेवका ही प्रभाव है ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४२ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनमेजयका प्रश्न, देवर्षि नारदका श्वेतद्वीपसे लौटकर नर-नारायणके पास जाना और उनके पूछनेपर उनसे वहाँके महत्त्वपूर्ण दृश्यका वर्णन करना

शौनक उवाच

सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् ।
यच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! आपने यह बहुत बड़ा आख्यान सुनाया है । इसे सुनकर समस्त ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ १ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा ॥ २ ॥

सूतकुमार ! सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फलदायक नहीं है, जैसी कि भगवान् नारायणकी कथा है ॥ २ ॥

पाविताङ्गाः स्म संवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ ३ ॥

समस्त पापोंसे छुड़ानेवाली नारायणसम्बन्धिनी इस पुण्यमयी कथाको आरम्भसे ही सुनकर हमारे तन-मन पवित्र हो गये ॥ ३ ॥

दुर्दर्शो भगवान् देवः सर्वलोकनमस्कृतः ।
सब्रह्मकैः सुरैः कृत्स्नैरन्यैश्चैव महर्षिभिः ॥ ४ ॥

सर्वलोकवन्दित भगवान् नारायणदेवका दर्शन तो ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा अन्यान्य महर्षियोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ४ ॥

दृष्टवान् नारदो यत्तु देवं नारायणं हरिम् ।
नूनमेतद्ध्यनुमतं तस्य देवस्य सूतज ॥ ५ ॥

सूतनन्दन ! नारदजीने जो देवदेव नारायण हरिका दर्शन कर लिया, यह निश्चय ही उन भगवान्‌की अनुमतिसे ही सम्भव हुआ ॥ ५ ॥

यद् दृष्टवान् जगन्नाथमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
यत् प्राद्रवत् पुनर्भूयो नारदो देवसत्तमौ ॥ ६ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं कारणं तद् ब्रवीहि मे ।

नारदजीने जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित हुए जगन्नाथ श्रीहरिका दर्शन किया और पुनः जो वे वहाँसे देवश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये उनके पास दौड़े गये, इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ६½ ॥

सौतिरुवाच

तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने राज्ञः पारिक्षितस्य वै ॥ ७ ॥
कर्मान्तरेषु विधिवद् वर्तमानेषु शौनक ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषिं वेदनिधिं प्रभुम् ॥ ८ ॥
परिपप्रच्छ राजेन्द्रः पितामहपितामहम् ।

सूतपुत्रने कहा—शौनक ! राजा जनमेजयका वह यज्ञ विधिपूर्वक चल रहा था । उसमें विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलनेपर राजेन्द्र जनमेजयने अपने पितामहोंके पितामह वेदनिधि भगवान् कृष्णद्वैपायन महर्षि व्याससे इस प्रकार पूछा ॥ ७-८½ ॥

जनमेजय उवाच

श्वेतद्वीपान्निवृत्तेन नारदेन सुरर्षिणा ॥ ९ ॥
ध्यायता भगवद्वाक्यं चेष्टितं किमतः परम् ।

जनमेजय बोले—भगवन् ! भगवान् नारायणके कथनपर विचार करते हुए देवर्षि नारद जब श्वेतद्वीपसे लौट आये, तब उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ ९½ ॥

बदर्याश्रममागम्य समागम्य च तावृषी ॥ १० ॥
कियन्तं कालमवसत् कां कथां पृष्टवांश्च सः ।

बदरिकाश्रममें आकर उन दोनों ऋषियोंसे मिलनेके पश्चात् नारदजीने वहाँ कितने समयतक निवास किया और उन दोनोंसे कौन-सी कथा पूछी ? ॥ १०½ ॥

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् ॥ ११ ॥
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् ।

एक लाख श्लोकोंसे युक्त विस्तृत महाभारत इतिहाससे निकालकर जो आपने यह सारभूत कथा सुनायी है, यह बुद्धिरूपी मथानीके द्वारा ज्ञानके उत्तम समुद्रको मथकर निकाले गये अमृतके समान है ॥ ११½ ॥

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! जैसे दहीसे मक्खन, मलयपर्वतसे चन्दन, वेदोंसे आरण्यक और ओषधियोंसे अमृत निकाला गया है, उसी प्रकार आपने यह कथारूपी अमृत निकालकर रक्खा है ॥ १२-१३ ॥

तपोनिधे त्वयोक्तं हि नारायणकथाश्रयम् ।
स ईशो भगवान् देवः सर्वभूतात्मभावनः ॥ १४ ॥

तपोनिधे! आपने भगवान् नारायणकी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली जो बातें कही हैं, वे सब इस ग्रन्थकी सारभूत हैं। सबके ईश्वर भगवान् नारायणदेव सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ।
यत्राविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ १५ ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा यच्च किंचिच्चराचरम् ।
न ततोऽस्ति परं मन्ये पावनं दिवि चेह च ॥ १६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! उन भगवान् नारायणका तेज अद्भुत है। मनुष्यके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन है। कल्पके अन्तमें जिनके भीतर ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता, ऋषि, गन्धर्व तथा जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब विलीन हो जाता है, उनसे बढ़कर परम पावन एवं महान् इस भूतल और स्वर्गलोकमें मैं दूसरे किसीको नहीं मानता ॥ १५-१६ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं चापि नारायणकथा यथा ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फल देनेवाला नहीं है, जैसा कि भगवान् नारायणकी कथा प्रदान करती है ॥ १७ ॥

सर्वथा पाविताः स्मेह श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
हरेर्विश्वेश्वरस्येह सर्वपापप्रणाशनीम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण विश्वके स्वामी श्रीहरिकी कथा सब पापोंका नाश करनेवाली है। उसे आरम्भसे ही सुनकर हम सब लोग यहाँ सर्वथा पवित्र हो गये हैं ॥ १८ ॥

न चित्रं कृतवांस्तत्र यदार्यो मे धनंजयः ।
वासुदेवसहायो यः प्राप्तवाञ्जयमुत्तमम् ॥ १९ ॥

मेरे पितामह अर्जुनने जो भगवान् वासुदेवकी सहायता पाकर उत्तम विजय प्राप्त कर ली, वह वहाँ उन्होंने कोई अद्भुत कार्य नहीं किया है ॥ १९ ॥

न चास्य किंचिदप्राप्यं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
त्रैलोक्यनाथो विष्णुः स यथाऽऽसीत् साह्यकृत् स वै ॥

त्रिलोकीनाथ भगवान् कृष्ण ही जब उनके सहायक थे, तब उनके लिये तीनों लोकोंमें किसी वस्तुकी प्राप्ति असम्भव रही हो, यह मैं नहीं मानता ॥ २० ॥

धन्याश्च सर्व एवासन् ब्रह्मंस्ते मम पूर्वजाः ।
हिताय श्रेयसे चैव येषामासीज्जनार्दनः ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मेरे सभी पूर्वज धन्य थे, जिनका हित और कल्याण करनेके लिये साक्षात् जनार्दन तैयार रहते थे ॥

तपसाथ सुदृश्यो हि भगवाँल्लोकपूजितः ।
यं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥ २२ ॥

लोकपूजित भगवान् नारायणका दर्शन तो तपस्यासे ही हो सकता है; किंतु मेरे पितामहोंने श्रीवत्सके चिह्नसे विभूषित उन भगवान्का साक्षात् दर्शन अनायास ही पा लिया था ॥ २२ ॥

तेभ्यो धन्यतरश्चैव नारदः परमेष्ठिजः ।
न चाल्पतेजसमृषिं वेद्मि नारदमव्ययम् ॥ २३ ॥
श्वेतद्वीपं समासाद्य येन दृष्टः स्वयं हरिः ।
देवप्रसादानुगतं व्यक्तं तत् तस्य दर्शनम् ॥ २४ ॥

उन सबसे भी अधिक धन्यवादके योग्य ब्रह्मपुत्र नारदजी हैं। मैं अविनाशी नारदजीको कम तेजस्वी ऋषि नहीं समझता, जिन्होंने श्वेतद्वीपमें पहुँचकर साक्षात् श्रीहरिका दर्शन प्राप्त कर लिया। उनका वह भगवद्-दर्शन स्पष्ट ही उन भगवान्की कृपाका फल है ॥ २३-२४ ॥

तद् दृष्टवांस्तदा देवमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
बदरीमाश्रमं यत् तु नारदः प्राद्रवत् पुनः ॥ २५ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं किं तु तत् कारणं मुने ।

मुने! नारदजीने उस समय श्वेतद्वीपमें जाकर जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित नारायणदेवका साक्षात्कार किया तथा पुनः नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये जो बदरिकाश्रमको प्रस्थान किया, इसका क्या कारण है? ॥ २५½ ॥

श्वेतद्वीपान्निवृत्तश्च नारदः परमेष्ठिजः ॥ २६ ॥
बदरीमाश्रमं प्राप्य समागम्य च तावृषी ।
कियन्तं कालमवसत् प्रश्नान् कान् पृष्टवांश्च ह ॥ २७ ॥

ब्रह्मपुत्र नारदजी श्वेतद्वीपसे लौटनेपर जब बदरिकाश्रममें पहुँचकर उन दोनों ऋषियोंसे मिले, तब वहाँ उन्होंने कितने समयतक निवास किया? और वहाँ उनसे किन-किन प्रश्नोंको पूछा? ॥ २६-२७ ॥

श्वेतद्वीपादुपावृत्ते तस्मिन् वा सुमहात्मनि ।
किमब्रूतां महात्मानौ नरनारायणावृषी ॥ २८ ॥
तदेतन्मे यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

श्वेतद्वीपसे लौटे हुए उन नारदजीसे महात्मा नर-

नारायण ऋषियोंने क्या बात की थी ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ॥ २९ ॥
यस्य प्रसादाद् वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—अमिततेजस्वी भगवान् व्यासको नमस्कार है, जिनके कृपाप्रसादसे मैं भगवान् नारायणकी यह कथा कह रहा हूँ ॥ २९½ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ ३० ॥
निवृत्तो नारदो राजंस्तरसा मेरुमागमत् ।
हृदयेनोद्वहन् भारं यदुक्तं परमात्मना ॥ ३१ ॥

राजन् ! श्वेतनामक महाद्वीपमें जाकर वहाँ अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करके जब नारदजी लौटे, तब बड़े वेगसे मेरुपर्वतपर आ पहुँचे । परमात्मा श्रीहरिने उनसे जो कुछ कहा था, उस कार्यभारको वे हृदयसे ढो रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

पश्चादस्याभवद् राजन्नात्मनः साध्वसं महत् ।
यद् गत्वा दूरमध्वानं क्षेमी पुनरिहागतः ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् उनके मनमें यह सोचकर बड़ा भारी विस्मय हुआ कि मैं इतनी दूरका मार्ग तै करके पुनः यहाँ सकुशल कैसे लौट आया ? ॥ ३२ ॥

मेरोः प्रचक्राम ततः पर्वतं गन्धमादनम् ।
निपपात च खात् तूर्णं विशालां बदरीमनु ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे मेरुसे गन्धमादन पर्वतकी ओर चले और बदरीविशालतीर्थके समीप तुरंत ही आकाशसे नीचे उतर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः स ददृशे देवौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
तपश्चरन्तौ सुमहदात्मनिष्ठौ महाव्रतौ ॥ ३४ ॥

वहाँ उन्होंने उन दोनों पुरातन देवता ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन किया, जो आत्मनिष्ठ हो महान् व्रत लेकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ३४ ॥

तेजसाभ्यधिकौ सूर्यात् सर्वलोकविरोचनात् ।
श्रीवत्सलक्षणौ पूज्यौ जटामण्डलधारिणौ ॥ ३५ ॥

वे दोनों सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी थे । उन पूज्य महात्माओंके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सके चिह्न सुशोभित हो रहे थे और वे अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण किये हुए थे ॥ ३५ ॥

जालपादभुजौ तौ तु पादयोश्चक्रलक्षणौ ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ तथा मुष्कचतुष्किणौ ॥ ३६ ॥
षष्टिदन्तावष्टदंष्ट्रौ मेघौघसदृशस्वनौ ।
स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रू सुहनुनासिकौ ॥ ३७ ॥

उनके हाथोंमें हंसका और चरणोंमें चक्रका चिह्न था । विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, अण्डकोशमें चार-चार बीज, मुखमें साठ दाँत और आठ दाढ़ें, मेघके समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख, चौड़े ललाट, बाँकी भौंहें, सुन्दर ठोढ़ी और मनोहर नासिकासे उन दोनोंकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ३६-३७ ॥

आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस्तयोः ।
एवं लक्षणसम्पन्नौ महापुरुषसंज्ञितौ ॥ ३८ ॥
तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस्ताभ्यां च प्रतिपूजितः ।
स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश्चानामयं तथा ॥ ३९ ॥

उन दोनों देवताओंके मस्तक छत्रके समान प्रतीत होते थे । ऐसे शुभलक्षणोंसे सम्पन्न उन दोनों महापुरुषोंका दर्शन करके नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । भगवान् नर और नारायणने भी नारदजीका स्वागत-सत्कार करके उनका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३८-३९ ॥

बभूवान्तर्गतमतिर्निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ ।
सदोगतास्तत्र ये वै सर्वभूतनमस्कृताः ॥ ४० ॥
श्वेतद्वीपे मया दृष्टास्तादृशावृषिसत्तमौ ।

तदनन्तर नारदजीने उन दोनों पुरुषोत्तमोंकी ओर देखकर मन-ही-मन विचार किया, अहो ! मैंने श्वेतद्वीपमें भगवान्‌की सभाके भीतर जिन सर्वभूतवन्दित सदस्योंको देखा था, ये दोनों ऋषिश्रेष्ठ भी वैसे ही हैं ॥ ४०½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ४१ ॥
स चोपविविशे तत्र पीठे कुशमये शुभे ।

मन-ही-मन ऐसा सोचकर वे उन दोनोंकी प्रदक्षिणा करके एक सुन्दर कुशासनपर बैठ गये ॥ ४१½ ॥

ततस्तौ तपसां वासौ यशसां तेजसामपि ॥ ४२ ॥
ऋषी शमदमोपेतौ कृत्वा पौर्वाह्णिकं विधिम् ।
पश्चान्नारदमव्यग्रौ पाद्यार्घ्याभ्यामथार्चतः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर तपस्या, यश और तेजके भी निवासस्थान वे शम-दमसम्पन्न दोनों ऋषि पूर्वाह्णकालका नित्य कर्म पूर्ण करके फिर शान्त-भावसे पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके नारदजीकी पूजा करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

पीठयोश्चोपविष्टौ तौ कृतातिथ्याह्निकौ नृप ।
तेषु तत्रोपविष्टेषु स देशोऽभिव्यराजत ॥ ४४ ॥
आज्याहुतिमहाज्वालैर्यज्ञवाटो यथाग्निभिः ।

नरेश्वर ! अपने नित्यकर्म तथा नारदजीका आतिथ्य-सत्कार करके वे दोनों ऋषि भी कुशासनपर बैठ गये । वहाँ उन तीनोंके बैठ जानेपर वह प्रदेश घीकी आहुतिसे प्रज्वलित विशाल लपटोंवाले तीन अग्नियोंसे प्रकाशित यज्ञमण्डपकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ४४½ ॥

अथ नारायणस्तत्र नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुखोपविष्टं विश्रान्तं कृतातिथ्यं सुखस्थितम् ।

इसके बाद वहाँ आतिथ्य ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करते हुए नारदजीसे नारायणने इस प्रकार कहा ॥

नरनारायणावूचतुः

अपीदानीं स भगवान् परमात्मा सनातनः ॥ ४६ ॥
श्वेतद्वीपे त्वया दृष्ट आवयोः प्रकृतिः परा ।

नर-नारायण बोले—देवर्षे ! क्या तुमने इस समय श्वेतद्वीपमें जाकर हम दोनोंका परम कारणरूप सनातन परमात्मा भगवान्‌का दर्शन कर लिया ? ॥ ४६½ ॥

नारद उवाच

दृष्टो मे पुरुषः श्रीमान् विश्वरूपधरोऽव्ययः ॥ ४७ ॥
सर्वे लोका हि तत्रस्थास्तथा देवाः सहर्षिभिः ।

नारदजीने कहा—भगवन् ! मैंने विश्वरूपधारी उन अविनाशी एवं कान्तिमान् परम पुरुषका दर्शन कर लिया। ऋषियोंसहित देवता तथा सम्पूर्ण लोक उन्हींके भीतर विराजमान हैं ॥ ४७½ ॥

अद्यापि चैनं पश्यामि युवां पश्यन् सनातनौ ॥ ४८ ॥
यैर्लक्षणैरुपेतः स हरिरव्यक्तरूपधृक् ।
तैर्लक्षणैरुपेतौ हि व्यक्तरूपधरौ युवाम् ॥ ४९ ॥

मैं इस समय भी आप दोनों सनातन पुरुषोंको देखकर यहीं श्वेतद्वीपनिवासी भगवान्‌की झाँकी कर रहा हूँ। वहाँ मैंने अव्यक्तरूपधारी श्रीहरिको जिन लक्षणोंसे सम्पन्न देखा था, आप दोनों व्यक्तरूपधारी पुरुष भी उन्हीं लक्षणोंसे सुशोभित हैं ॥ ४८-४९ ॥

दृष्टौ युवां मया तत्र तस्य देवस्य पार्श्वतः ।
इहैव चागतोऽस्म्यद्य विसृष्टः परमात्मना ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, मैंने आप दोनोंको वहाँ भी परमदेवके पास उपस्थित देखा था और उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आज मैं फिर यहाँ आया हूँ ॥ ५० ॥

को हि नाम भवेत् तस्य तेजसा यशसा श्रिया ।
सदृशस्त्रिषु लोकेषु ऋते धर्मात्मजौ युवाम् ॥ ५१ ॥

तीनों लोकोंमें धर्मके पुत्र आप दोनों महापुरुषोंके सिवा दूसरा कौन है, जो तेज, यश और श्रीमें उन्हीं परमेश्वरके समान हो ॥ ५१ ॥

तेन मे कथितः कृत्स्नो धर्मः क्षेत्रज्ञसंज्ञितः ।
प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या इह ये यथा ॥ ५२ ॥

उन भगवान् श्रीहरिने मुझसे सम्पूर्ण धर्मका वर्णन किया था। क्षेत्रज्ञका भी परिचय दिया था और यहाँ भविष्यमें उनके जो अवतार जैसे होनेवाले हैं, उन्हें भी बताया था ॥ ५२ ॥

तत्र ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः ।
प्रतिबुद्धाश्च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तमम् ॥ ५३ ॥

वहाँ जो चन्द्रमाके समान गौरवर्णके पुरुष थे, वे सब-के-सब पाँचों इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरसे शून्य, ज्ञानवान् तथा पुरुषोत्तम श्रीविष्णुके भक्त थे ॥ ५३ ॥

तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः ।
प्रियभक्तो हि भगवान् परमात्मा द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥

वे सदा उन नारायणदेवकी पूजा-अर्चा करते रहते हैं और भगवान् भी सदा उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। भगवान्‌को अपने भक्त बहुत ही प्रिय हैं तथा वे परमात्मा श्रीहरि ब्राह्मणोंके भी प्रेमी हैं ॥ ५४ ॥

रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवतप्रियः ।
विश्वभुक् सर्वगो देवो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ५५ ॥

वे विश्वका पालन करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। भगवद्भक्तोंके प्रेमी और प्रियतम श्रीहरि उनसे पूजित हो वहाँ सदा सुप्रसन्न रहते हैं ॥ ५५ ॥

स कर्ता कारणं चैव कार्यं चातिबलद्युतिः ।
हेतुश्चाज्ञा विधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥ ५६ ॥

वे ही कर्ता, कारण और कार्य हैं। उनका बल और तेज अनन्त है। वे महायशस्वी भगवान् ही हेतु, आज्ञा, विधि और तत्त्वरूप हैं ॥ ५६ ॥

तपसा योज्य सोऽऽत्मानं श्वेतद्वीपात् परं हि यत् ।
तेज इत्यभिविख्यातं स्वयंभासावभासितम् ॥ ५७ ॥

वे अपने आपको तपस्यामें लगाकर श्वेतद्वीपसे भी परे प्रकाशमान तेजोमय स्वरूपसे विख्यात हैं। उनका वह तेज अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है ॥ ५७ ॥

शान्तिः सा त्रिषु लोकेषु विहिता भावितात्मना ।
एतया शुभया बुद्ध्या नैष्ठिकं व्रतमास्थितः ॥ ५८ ॥

उन पूतात्मा परमात्माने तीनों लोकोंमें उस शान्तिका विस्तार किया है। अपनी इस कल्याणमयी बुद्धिके द्वारा वे नैष्ठिक व्रतका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ ५८ ॥

न तत्र सूर्यस्तपति न सोमोऽभिविराजते ।
न वायुर्वाति देवेशे तपश्चरति दुश्चरम् ॥ ५९ ॥

वहाँ सूर्य नहीं तपते, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होते तथा दुष्कर तपस्यामें लगे हुए देवेश्वर श्रीहरिके समीप यह लौकिक वायु भी नहीं चलती है ॥ ५९ ॥

वेदीमष्टनलोत्सेधां भूमावास्थाय विश्वकृत् ।
एकपादस्थितो देव ऊर्ध्वबाहुरुदङ्मुखः ॥ ६० ॥

वहाँकी भूमिपर एक ऊँची वेदी बनी है, जिसकी ऊँचाई आठ अंगुलियोंकी लंबाईके बराबर है। उसपर आरूढ़ हो

वे विश्वकर्ता परमात्मा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये और उत्तरकी ओर मुँह किये एक पैरसे खड़े हैं ॥ ६० ॥

साङ्गानावर्तयन् वेदांस्तपस्तेपे सुदुश्चरम् ।
यद् ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् ॥ ६१ ॥
शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्च ये ॥ ६२ ॥
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते ।
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठति ॥ ६३ ॥

वे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंकी आवृत्ति करते हुए अत्यन्त कठोर तपस्यामें संलग्न हैं। ब्रह्मा, स्वयं महादेव, सम्पूर्ण ऋषि और शेष श्रेष्ठ देवता तथा दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गरुड़, गन्धर्व, सिद्ध एवं राजर्षिगण सदा विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य अर्पण करते हैं, वह सब कुछ उन्हीं भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित होता है ॥ ६१—६३ ॥

याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतबुद्धिभिः ।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ ६४ ॥

जिनकी बुद्धि अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्‌में ही लगी हुई है, उन भक्तोंद्वारा जो क्रियाएँ समर्पित की जाती हैं, उन सबको वे भगवान् स्वयं शिरोधार्य करते हैं ॥ ६४ ॥

न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः ।
विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्म्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥

वहाँके ज्ञानी-महात्मा भक्तोंसे बढ़कर भगवान्‌को तीनों लोकोंमें दूसरा कोई प्रिय नहीं है; अतः मैं अनन्य भावसे उन्हींकी शरणमें गया हूँ ॥ ६५ ॥

इह चैवागतस्तेन विसृष्टः परमात्मना ।
एवं मे भगवान् देवः स्वयमाख्यातवान् हरिः ।
आसिष्ये तत्परो भूत्वा युवाभ्यां सह नित्यशः ॥ ६६ ॥

यहाँ भी मैं उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आया हूँ। स्वयं भगवान् श्रीहरिने मुझसे ऐसा कहा था। अब मैं उन्हींकी आराधनामें तत्पर हो आप दोनोंके साथ यहाँ नित्य निवास करूँगा ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नर-नारायणका नारदजीकी प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य बतलाना

नरनारायणावूचतुः

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत् ते दृष्टः स्वयं प्रभुः ।
न हि तं दृष्टवान् कश्चित् पद्मयोनिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

नर-नारायणने कहा—नारद ! तुमने श्वेतद्वीपमें जाकर जो साक्षात् भगवान्‌का दर्शन कर लिया, इससे तुम धन्य हो गये। वास्तवमें भगवान्‌ने तुमपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। तुम्हारे सिवा और किसीने, साक्षात् कमलयोनि ब्रह्माजीने भी भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन नहीं किया ॥ १ ॥

अव्यक्तयोनिर्भगवान् दुर्दर्शः पुरुषोत्तमः ।
नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ॥ २ ॥
नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते ।
ततः स्वयं दर्शितवान् स्वमात्मानं द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

नारद ! वे भगवान् पुरुषोत्तम अव्यक्त प्रकृतिके मूल कारण हैं। उनका दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों तुमसे सच कहते हैं कि भगवान्‌को इस जगत्‌में भक्तसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय नहीं है। इसलिये उन्होंने स्वयं ही तुम्हें अपने स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ २-३ ॥

तपो हि तप्यतस्तस्य यत् स्थानं परमात्मनः ।
न तत् सम्प्राप्नुते कश्चिद्दते ह्यावां द्विजोत्तम ॥ ४ ॥

द्विजोत्तम ! तपस्यामें लगे हुए उन परमात्माका जो स्थान है, वहाँ हम दोनोंके सिवा दूसरा कोई नहीं पहुँच सकता ॥ ४ ॥

या हि सूर्यसहस्रस्य समस्तस्य भवेद् द्युतिः ।
स्थानस्य सा भवेत् तस्य स्वयं तेन विराजता ॥ ५ ॥

एक हजार सूर्योंके एकत्र होनेपर जितनी कान्ति हो सकती है, उतनी ही उस स्थानकी भी कान्ति है, जहाँ भगवान् विराज रहे हैं ॥ ५ ॥

तस्मादुत्तिष्ठते विप्र देवाद् विश्वभुवः पतेः ।
क्षमा क्षमावतां श्रेष्ठ यया भूमिस्तु युज्यते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! क्षमाशीलोंमें श्रेष्ठ नारद ! विश्वविधाता ब्रह्माजीके भी पति उन परमेश्वरसे ही क्षमाकी उत्पत्ति हुई है, जिससे पृथ्वीका संयोग होता है ॥ ६ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतहिताद् रसः ।
आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले उन नारायणदेवसे ही रस प्रकट हुआ है, जिसका जलके साथ संयोग है और जिसके कारण जल द्रवीभूत होता है ॥ ७ ॥

तस्मादेव समुद्भूतं तेजो रूपगुणात्मकम् ।
येन संयुज्यते सूर्यस्ततो लोके विराजते ॥ ८ ॥

उन्हींसे रूप-गुणविशिष्ट तेजका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे सूर्यदेव संयुक्त हुए हैं । इसीलिये वे लोकमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् देवात् समुद्भूतः स्पर्शस्तु पुरुषोत्तमात् ।
येन स युज्यते वायुस्ततो लोकान् विवात्यसौ॥ ९ ॥

उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमसे स्पर्शकी उत्पत्ति हुई है, जिससे वायुदेव संयुक्त होते हैं और उससे संयुक्त होनेके कारण ही वे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रवाहित होते हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते शब्दः सर्वलोकेश्वरात् प्रभोः ।
आकाशं युज्यते येन ततस्तिष्ठत्यसंवृतम् ॥ १० ॥

उन्हीं सर्वलोकेश्वर प्रभुसे शब्दका प्रादुर्भाव होता है, जिससे आकाशका नित्य संयोग है और जिसके ही कारण वह निरावृत रहता है ॥ १० ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतं मनः ।
चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥ ११ ॥

उन्हीं नारायणदेवसे सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले मनकी भी उत्पत्ति हुई है । उस मनसे संयुक्त होकर ही चन्द्रमा प्रकाश-गुणको धारण करता है ॥ ११ ॥

सद्भूतोत्पादकं नाम तत् स्थानं वेदसंज्ञितम् ।
विद्यासहायो यत्रास्ते भगवान् हव्यकव्यभुक् ॥ १२ ॥

जहाँ भगवान् श्रीहरि हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करते हुए विद्याशक्तिके साथ विराजमान हैं, वह वेदसंज्ञक स्थान सद्भूतोत्पादक कहलाता है ॥ १२ ॥

ये हि निष्कलुषा लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
सर्वलोकतमोहन्ता आदित्यो द्वारमुच्यते ।

द्विजश्रेष्ठ ! संसारमें जो लोग पुण्य और पापसे रहित एवं निर्मल हैं, वे कल्याणमय मार्गसे भगवद्धामको प्राप्त होते हैं, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके अन्धकारका नाश करनेवाले भगवान् सूर्य ही उनके उस मोक्षधामका द्वार बताये जाते हैं ॥ १३½ ॥

आदित्यदग्धसर्वाङ्गा अदृश्याः केनचित् क्वचित्॥ १४ ॥
परमाणुभूता भूत्वा तु तं देवं प्रविशन्त्युत ।

सूर्यदेव उनके सम्पूर्ण अङ्गोंको जलाकर भस्म कर देते हैं । फिर कहीं कोई उन्हें देख नहीं पाता । वे परमाणुस्वरूप होकर उन्हीं सूर्यदेवमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ १४½ ॥

तस्मादपि च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ॥ १५ ॥
मनोभूतास्ततो भूत्वा प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत ।

फिर उनसे भी मुक्त होकर वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित होते हैं । फिर मनोमय होकर प्रद्युम्नमें प्रवेश करते हैं ॥ १५½ ॥

प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ॥ १६ ॥
विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सह ।

प्रद्युम्नसे भी युक्त होकर वे सांख्यज्ञानसम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवद्भक्तोंके साथ जीवस्वरूप संकर्षणमें प्रविष्ट होते हैं ॥ १६½ ॥

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥ १७ ॥
प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् ।
सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तीनों गुणोंसे मुक्त हो वे श्रेष्ठ द्विज अनायास ही निर्गुणस्वरूप क्षेत्रज्ञ परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं । तुम सबके निवासस्थान भगवान् वासुदेवको ही क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १७-१८ ॥

समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः ।
एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने मनको एकाग्र कर लिया है, जो शौच-संतोष आदि नियमोंसे सम्पन्न और जितेन्द्रिय हैं, वे अनन्य भावसे भगवान्‌की शरणमें गये हुए भक्त साक्षात् वासुदेवमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥

आवामपि च धर्मस्य गृहे जातौ द्विजोत्तम ।
रम्यां विशालामाश्रित्य तप उग्रं समास्थितौ ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों भी धर्मके घरमें अवतीर्ण हो इस रमणीय बदरिकाश्रमतीर्थका आश्रय ले कठोर तपस्यामें संलग्न हैं ॥ २० ॥

ये तु तस्यैव देवस्य प्रादुर्भावाः सुरप्रियाः ।
भविष्यन्ति त्रिलोकस्थास्तेषां स्वस्तीत्यथो द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! उन्हीं भगवान् परमदेव परमात्माके तीनों लोकोंमें जो देवप्रिय अवतार होनेवाले हैं, उनका सदा ही परम मङ्गल हो—यही हमारी इस तपस्याका उद्देश्य है ॥ २१ ॥

विधिना स्वेन युक्ताभ्यां यथापूर्वं द्विजोत्तम ।
आस्थिताभ्यां सर्वकृच्छ्रं व्रतं सम्यगनुत्तमम् ॥ २२ ॥
आवाभ्यामपि दृष्टस्त्वं श्वेतद्वीपे तपोधन ।
समागतो भगवता संजल्पं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
सर्वं हि नौ संविदितं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
यद् भविष्यति वृत्तं वा वर्तते वा शुभाशुभम् ।
सर्वं स ते कथितवान् देवदेवो महामुने ॥ २४ ॥

द्विजोत्तम ! हम दोनोंने पूर्ववत् अपने कर्ममें संलग्न हो सर्वोत्तम एवं सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे युक्त उत्तम व्रतमें तत्पर रहते हुए ही श्वेतद्वीपमें उपस्थित होकर वहाँ तुम्हें देखा था। तपोधन ! तुम वहाँ भगवान्से मिले और उनके साथ वार्तालाप किया। ये सारी बातें हम दोनोंको अच्छी तरह विदित हैं। महामुने ! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो शुभ या अशुभ बात हो चुकी है, हो रही है अथवा होनेवाली है, वह सब उस समय देवदेव भगवान् श्रीहरिने तुमसे कही थी ॥ २२—२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्ततोः।
नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कठोर तपस्यामें लगे हुए भगवान् नर और नारायणकी यह बात सुनकर नारदजीने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और नारायणकी शरण लेकर उन्हींकी आराधनामें लग गये ॥ २५ ॥

जजाप विधिवन्मन्त्रान् नारायणगतान् बहून्।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥ २६ ॥

उन्होंने नारायणसम्बन्धी बहुत-से मन्त्रोंका विधिपूर्वक जप किया और एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे नर-नारायणके आश्रममें टिके रहे ॥ २६ ॥

अवसत् स महातेजा नारदो भगवानृषिः।
तमेवाभ्यर्चयन् देवं नरनारायणौ च तौ ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भगवान् नारद मुनि प्रतिदिन उन्हीं भगवान् वासुदेवकी तथा उन दोनों नर और नारायणकी भी आराधना करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् वराहके द्वारा पितरोंके पूजनकी मर्यादाका स्थापित होना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य नारदः परमेष्ठिजः।
दैवं कृत्वा यथान्यायं पित्र्यं चक्रे ततः परम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! किसी समय ब्रह्मपुत्र नारदजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार पहले देवकार्य (हवन-पूजन) करके फिर पितृकार्य (श्राद्ध-तर्पण) किया ॥ १ ॥

ततस्तं वचनं प्राह ज्येष्ठो धर्मात्मजः प्रभुः।
क इज्यते द्विजश्रेष्ठ दैवे पित्र्ये च कल्पिते ॥ २ ॥
त्वया मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे शंस यथागमम्।
किमेतत् क्रियते कर्म फलं वास्य किमिष्यते ॥ ३ ॥

तब धर्मके ज्येष्ठ पुत्र नरने उनसे इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य हो। तुम्हारे द्वारा देवकार्य और पितृकार्यके सम्पादित होनेपर उन कर्मोंसे किसकी पूजा सम्पन्न होती है ? यह मुझे शास्त्रके अनुसार बताओ। तुम यह कौन-सा कर्म करते हो ? और इसके द्वारा किस फलको प्राप्त करना चाहते हो ? ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

त्वयैतत् कथितं पूर्वं दैवं कर्तव्यमित्यपि।
दैवतं च परो यज्ञः परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आपने ही पहले यह कहा था कि देवकर्म सबके लिये कर्तव्य है; क्योंकि देवकर्म उत्तम यज्ञ है और यज्ञ सनातन परमात्माका स्वरूप है ॥ ४ ॥

ततस्तद्भावितो नित्यं यजे वैकुण्ठमव्ययम्।
तस्माच्च प्रसृतः पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५ ॥

अतः आपके उस उपदेशसे प्रभावित होकर मैं प्रतिदिन अविनाशी भगवान् वैकुण्ठका यजन करता हूँ। उन्हींसे सर्वप्रथम लोक-पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

मम वै पितरं प्रीतः परमेष्ठ्यप्यजीजनत्।
अहं संकल्पजस्तस्य पुत्रः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने प्रसन्न होकर मेरे पिता प्रजापतिको उत्पन्न किया *। मैं उनका संकल्पजनित प्रथम पुत्र हूँ ॥ ६ ॥

यजामि वै पितॄन् साधो नारायणविधौ कृते।
एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥ ७ ॥

साधो ! मैं पहले नारायणकी आराधनाका कार्य पूर्ण कर लेनेपर पितरोंका पूजन करता हूँ। इस प्रकार वे भगवान् नारायण ही मेरे पिता, माता और पितामह हैं ॥ ७ ॥

* यद्यपि नारदजी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं तथापि दक्षके शापवश उन्हें पुनः प्रजापतिसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। यह कथा हरिवंशमें आयी है।

इज्यते पितृयज्ञेषु तथा नित्यं जगत्पतिः।
श्रुतिश्चाप्यपरा देवी पुत्रान् हि पितरोऽयजन्॥ ८॥

पितृयज्ञोंमें सदा श्रीहरिकी ही आराधना की जाती है। एक दूसरी श्रुति है कि पिताओं (देवताओं) ने पुत्रों (अग्निष्वात्त* आदि) का पूजन किया॥ ८॥

वेदश्रुतिः प्रणष्टा च पुनरध्यापिता सुतैः।
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे॥ ९॥

देवताओंका वेदज्ञान भूल गया था; फिर उनके पुत्रों-ने ही उन्हें वेदश्रुतियोंको पढ़ाया। इसीसे वे मन्त्रदाता पुत्र पितृभावको प्राप्त हुए॥ ९॥

नूनं पुरैतद् विदितं युवयोर्भावितात्मनोः।
पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन्॥ १०॥

पुत्रों और पिताओंने जो परस्पर एक दूसरेका पूजन किया, यह बात आप दोनों शुद्धात्मा पुरुषोंको निश्चय ही पहलेसे ही ज्ञात रही होगी॥ १०॥

त्रीन् पिण्डान् न्यस्य वै पृथ्व्यां पूर्वं दत्त्वा कुशानिति।
कथं तु पिण्डसंज्ञां ते पितरो लेभिरे पुरा॥ ११॥

देवताओंने पृथ्वीपर पहले कुश बिछाकर उनपर पितरोंके निमित्त तीन पिण्ड रखकर जो उनका पूजन किया था, इसका क्या कारण है? पूर्वकालमें पितरोंने पिण्डनाम कैसे प्राप्त किया?॥ ११॥

नरनारायणावूचतुः

इमां हि धरणीं पूर्वं नष्टां सागरमेखलाम्।
गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः॥ १२॥

नर-नारायण बोले—मुने! यह समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वी पहले एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी थी। उस समय भगवान् गोविन्दने वाराह-रूप धारण करके शीघ्रता-पूर्वक इसका उद्धार किया था॥ १२॥

स्थापयित्वा तु धरणीं स्वे स्थाने पुरुषोत्तमः।
जलकर्दमलिप्ताङ्गो लोककार्यार्थमुद्यतः॥ १३॥

वे पुरुषोत्तम पृथ्वीको अपने स्थानपर स्थापित करके जल और कीचड़से लिपटे अङ्गोंसे ही लोकहितका कार्य करनेके लिये उद्यत हुए॥ १३॥

प्राप्ते चाह्निककाले तु मध्यदेशगते रवौ।
दंष्ट्राविलग्नांस्त्रीन् पिण्डान् विधाय सहसा प्रभुः॥ १४॥

स्थापयामास वै पृथ्व्यां कुशानास्तीर्य नारद।
स तेष्वात्मानमुद्दिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि॥ १५॥

जब सूर्य दिनके मध्य भागमें आ पहुँचे और तत्कालोचित नित्यकर्मका समय उपस्थित हुआ; तब भगवान्‌ने अपनी दाढ़ोंमें लगी हुई मिट्टीके सहसा तीन पिण्ड बनाये। नारद! फिर पृथ्वीपर कुश बिछाकर उन्होंने उन कुशोंपर ही वे पिण्ड रख दिये। इसके बाद अपने ही उद्देश्यसे उन पिण्डोंपर विधिपूर्वक पितृपूजनका कार्य सम्पन्न किया॥ १४-१५॥

संकल्पयित्वा त्रीन् पिण्डान् स्वेनैव विधिना प्रभुः।
आत्मगात्रोष्मसम्भूतैः स्नेहगर्भैस्तिलैरपि॥ १६॥
प्रोक्ष्यापसव्यं देवेशः प्राङ्मुखः कृतवान् स्वयम्।
मर्यादास्थापनार्थं च ततो वचनमुक्तवान्॥ १७॥

अपने ही विधानसे प्रभुने वे तीनों पिण्ड संकल्पित किये। फिर अपने शरीरकी ही गर्मीसे उत्पन्न हुए स्नेहयुक्त तिलों-द्वारा अपसव्यभावसे उन पिण्डोंका प्रोक्षण किया। तदनन्तर देवेश्वर श्रीहरिने स्वयं ही पूर्वाभिमुख हो प्रार्थना की और धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिये यह बात कही॥ १६-१७॥

वृषाकपिरुवाच

अहं हि पितरः स्रष्टुमुद्यतो लोककृत् स्वयम्।
यस्य चिन्तयतः सद्यः पितृकार्यविधीन् परान्॥ १८॥
दंष्ट्राभ्यां प्रविनिर्धूता ममैते दक्षिणां दिशम्।
आश्रिता धरणीं पिण्डास्तस्मात् पितर एव ते॥ १९॥

भगवान् वराहने कहा—मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका स्रष्टा हूँ। मैं स्वयं ही जब पितरोंकी सृष्टिके लिये उद्यत हो पितृकार्यसम्बन्धी दूसरी विधियोंका चिन्तन करने लगा, उसी क्षण मेरी दो दाढ़ोंसे ये तीन पिण्ड दक्षिण दिशाकी ओर पृथ्वीपर गिर पड़े; अतः ये पिण्ड पितृस्वरूप ही हैं॥ १८-१९॥

त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे।
भवन्तु पितरो लोके मया सृष्टाः सनातनाः॥ २०॥

तीन पितर मूर्तिहीन या अमूर्त होते हैं; जो पिण्ड-रूप मूर्ति धारण करके प्रकट हुए हैं, लोकमें मेरेद्वारा उत्पन्न किये गये ये सनातन पितर हों॥ २०॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः॥ २१॥

पिता, पितामह और प्रपितामह—इनके रूपमें मुझे ही इन तीन पिण्डोंमें स्थित जानना चाहिये॥ २१॥

नास्ति मत्तोऽधिकः कश्चित् को वान्योऽर्च्यो मया स्वयम्।
को वा मम पिता लोके अहमेव पितामहः॥ २२॥

मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है; फिर दूसरा कौन है जिसका स्वयं मैं पूजन करूँ? संसारमें मेरा पिता कौन है? सबका दादा-बाबा तो मैं ही हूँ॥ २२॥

---

* अग्निष्वात्त आदि पितृगण देवताओंके ही पुत्र हैं। एक समय देवता दीर्घकालतक असुरोंके साथ युद्धमें लगे रहे, इसलिये उन्हें अपने पढ़े हुए वेद भूल गये। फिर उन पुत्रोंसे ही वेदोंको पढ़कर देवताओंने उनको पितृपदपर प्रतिष्ठित किया।

पितामहपिता चैव अहमेवात्र कारणम् ।
इत्येतदुक्त्वा वचनं देवदेवो वृषाकपिः ॥ २३ ॥
वराहपर्वते विप्र दत्त्वा पिण्डान् सविस्तरान् ।
आत्मानं पूजयित्वैव तत्रैवादर्शनं गतः ॥ २४ ॥

पितामहका पिता—परदादा भी मैं ही हूँ । मैं ही इस जगत्का कारण हूँ । विप्रवर ! ऐसी बात कहकर देवाधिदेव भगवान् वराहने वराहपर्वतपर विस्तारपूर्वक पिण्डदान दे पितरोंके रूपमें अपने आपका ही पूजन करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३-२४ ॥

एषा तस्य स्थितिर्विप्र पितरः पिण्डसंज्ञिताः ।
लभन्ते सततं पूजां वृषाकपिवचो यथा ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् ! यह भगवान्की ही नियत की हुई मर्यादा है । इस प्रकार पितरोंको पिण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है । भगवान् वराहके कथनानुसार वे पितर सदा सबके द्वारा पूजा प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा ॥ २६ ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।
अन्तर्गतः स भगवान् सर्वसत्त्वशरीरगः ॥ २७ ॥

जो देवता, पितर, गुरु, अतिथि, गौ, श्रेष्ठ ब्राह्मण, पृथ्वी और माताकी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा पूजा करते हैं, वे वास्तवमें भगवान् विष्णुकी ही आराधना करते हैं; क्योंकि भगवान् विष्णु समस्त प्राणियोंके शरीरमें अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः ।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः ॥ २८ ॥

सुख और दुःखके स्वामी श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं । श्रीनारायण महान् महात्मा एवं सर्वात्मा हैं; ऐसा श्रुतिमें कहा गया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारायणकी महिमासम्बन्धी उपाख्यानका उपसंहार

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं नरनारायणेरितम् ।
अत्यन्तं भक्तिमान् देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नर-नारायणका वह कथन सुनकर भगवान्के प्रति नारदजीकी भक्ति बहुत बढ़ गयी । वे उनके अनन्य भक्त हो गये ॥ १ ॥

प्रोष्य वर्षसहस्रं तु नरनारायणाश्रमे ।
श्रुत्वा भगवदाख्यानं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ २ ॥
हिमवन्तं जगामाशु यत्रास्य स्वक आश्रमः ।

नर-नारायणके आश्रममें भगवान्की कथा सुनते और प्रतिदिन अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करते हुए जब नारदजीके एक हजार दिव्य वर्ष पूरे हो गये, तब वे शीघ्र ही हिमालयपर्वतके उस भागमें चले गये, जहाँ उनका अपना आश्रम था ॥ २½ ॥

तावपि ख्याततपसौ नरनारायणावृषी ॥ ३ ॥
तस्मिन्नेवाश्रमे रम्ये तेपतुस्तप उत्तमम् ।

तत्पश्चात् वे विख्यात तपस्वी नर-नारायण ऋषि भी पुनः उसी रमणीय आश्रममें रहते हुए उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ३½ ॥

त्वमप्यमितविक्रान्तः पाण्डवानां कुलोद्वहः ॥ ४ ॥
पावितात्माद्य संवृत्तः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।

जनमेजय ! तुम पाण्डवोंके कुलभूषण और अत्यन्त पराक्रमी हो । तुम भी प्रारम्भसे ही इस कथाको सुनकर आज परम पवित्र हो गये हो ॥ ४½ ॥

नैव तस्यापरो लोको नायं पार्थिवसत्तम ॥ ५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम् ।

नृपश्रेष्ठ ! जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा अविनाशी भगवान् विष्णुके साथ द्वेष रखता है, उसका न इस लोकमें ठिकाना है और न परलोकमें ॥ ५½ ॥

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥
यो द्विष्याद् विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

जो देवश्रेष्ठ भगवान् नारायण हरिसे द्वेष करता है, उसके पितर सदाके लिये नरकमें डूब जाते हैं ॥ ६½ ॥

कथं नाम भवेद् द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् ॥ ७ ॥
आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति स्थितिः ।

पुरुषसिंह ! भगवान् विष्णुको सबका आत्मा जानना चाहिये । यही वास्तविक स्थिति है । कोई भी मनुष्य भला अपने आत्माके साथ द्वेष कैसे कर सकता है ? ॥ ७½ ॥

य एष गुरुरस्माकमृषिर्गन्धवतीसुतः ॥ ८ ॥
तेनैतत् कथितं तात माहात्म्यं परमव्ययम् ।
तस्माच्छ्रुतं मया चेदं कथितं च तवानघ ॥ ९ ॥

तात ! ये जो हमलोगोंके गुरु गन्धवतीपुत्र महर्षि व्यास बैठे हैं, इन्होंने ही भगवान्‌के परम उत्तम अविनाशी माहात्म्यका वर्णन किया है । निष्पाप ! उन्हींसे मैंने यह सब सुना है और मेरेद्वारा तुमको भी कहा गया है ॥ ८-९ ॥

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ १० ॥

नरेश्वर ! देवर्षि नारदने तो रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे ही प्राप्त किया था ॥ १० ॥

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह महान् धर्म मैंने तुम्हें पहले हरिगीतामें संक्षेपसे बताया है ॥ ११ ॥

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि ।
को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत् ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! तुम कृष्णद्वैपायन व्यासको इस भूतलपर नारायणका ही स्वरूप समझो । भला, भगवान्‌के सिवा दूसरा कौन महाभारतका कर्ता हो सकता है ? ॥ १२ ॥

धर्मान नानाविधांश्चैव को ब्रूयात् तमृते प्रभुम् ॥ १३ ॥
वर्ततां ते महायज्ञो यथा संकल्पितस्त्वया ।
संकल्पिताश्वमेधस्त्वं श्रुतधर्मश्च तत्त्वतः ॥ १४ ॥

भगवान्‌के सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो नाना प्रकारके धर्मोंका वर्णन कर सके ? तुम्हारा यह महान् यज्ञ, जैसा कि तुमने संकल्प कर रक्खा है, निरन्तर चालू रहे । तुमने अश्वमेध-यज्ञ करनेका संकल्प लिया है और सब धर्मोंका यथार्थरूपसे श्रवण किया है ॥ १३-१४ ॥

सौतिरुवाच

एतत् तु महदाख्यानं श्रुत्वा पार्थिवसत्तमः ।
ततो यज्ञसमाप्त्यर्थं क्रियाः सर्वाः समारभत् ॥ १५ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—शौनक ! वैशम्पायनजीके मुखसे यह महान् उपाख्यान सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने अपने यज्ञको पूर्ण करनेका सारा कार्य आरम्भ किया ॥ १५ ॥

नारायणीयमाख्यानमेतत् ते कथितं मया ।
पृष्टेन शौनकाद्येह नैमिषारण्यवासिषु ॥ १६ ॥

शौनक ! आज तुम्हारे प्रश्नके अनुसार इन नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंके समीप मैंने यहाँ यह नारायणका माहात्म्यसम्बन्धी उपाख्यान तुम्हें सुनाया है ॥ १६ ॥

नारदेन पुरा राजन् गुरवे मे निवेदितम् ।
ऋषीणां पाण्डवानां च शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ १७ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें नारदजीने ऋषियों, पाण्डवों, श्रीकृष्ण तथा भीष्मके सुनते हुए यह प्रसङ्ग मेरे गुरु व्यासजीको बताया था ॥ १७ ॥

स हि परमगुरुर्जनभुवनपतिः
पृथुधरणिधरः श्रुतिविनयनिधिः ।
शमनियमनिधिर्द्विजपरमहित-
स्तव भवतु गतिर्हरिरमरहितः ॥ १८ ॥

वे परम गुरु, जनपति, भुवनपति, विशाल पृथ्वीको धारण करनेवाले, वेदज्ञान और विनयके भण्डार, शम और नियमकी निधि, ब्राह्मणोंके परम हितैषी तथा देवताओंके हितचिन्तक श्रीहरि तुम्हारे आश्रय हों ॥ १८ ॥

असुरवधकरस्तपसां निधिः
सुमहतां यशसां च भाजनम् ।
मधुकैटभहा कृतधर्मविदां गतिदो-
ऽभयदो मखभागहरोऽस्तु शरणं स ते १९

असुरोंका वध करनेवाले, तपस्याकी निधि, विशाल यशके भाजन, मधु और कैटभके हन्ता, सत्ययुगके धर्मोंका ज्ञान रखकर उनका पालन करनेवालोंको सद्गति प्रदान करनेवाले, अभयदाता तथा यज्ञका भाग ग्रहण करनेवाले भगवान् नारायण तुम्हें शरण दें ॥ १९ ॥

त्रिगुणो विगुणश्चतुरात्मधरः
पूर्तेष्टयोश्च फलभागहरः ।
विदधातु नित्यमजितोऽतिचलो
गतिमात्मगां सुकृतिनामृषीणाम् ॥ २० ॥

जो तीनों गुणोंसे विशिष्ट होते हुए भी निर्गुण हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार विग्रहोंको धारण करनेवाले हैं, इष्ट (यज्ञ-याग आदि), आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग-निर्माण आदि) के फलभागको ग्रहण करनेवाले हैं, जो कभी किसीसे पराजित नहीं होते तथा धैर्य या मर्यादासे विचलित नहीं होते, वे भगवान् श्रीहरि पुण्यात्मा ऋषियोंको आत्मज्ञानजन्य सद्गति प्रदान करें ॥ २० ॥

तं लोकसाक्षिणमजं पुरुषं पुराणं
रविवर्णमीश्वरं गतिं बहुशः ।
प्रणमध्वमेकमनसो यतः
सलिलोद्भवोऽपि तमृषिं प्रणतः ॥ २१ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी, अजन्मा, अन्तर्यामी, पुराणपुरुष, सूर्यके समान तेजस्वी, ईश्वर और सब प्रकारसे सबकी गति हैं, उन परमेश्वरको तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करो; क्योंकि उन वासुदेवस्वरूप नारायण ऋषिको शेषशायी भी प्रणाम करते हैं ॥ २१ ॥

स हि लोकयोनिरमृतस्य पदं
सूक्ष्मं परायणमचलं हि पदम् ।

तत्सांख्ययोगिभिरुदार वृतं
बुद्ध्या यतात्मभिरिदं सनातनम् ॥ २२॥

वे इस जगत्के आदिकारण, अमृतपद (मोक्षके आश्रय), सूक्ष्मस्वरूप, दूसरोंको शरण देनेवाले, अविचल और सनातन पद हैं। उदार शौनक ! अपने मनको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगी बुद्धिके द्वारा उन्हींका वरण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

हयग्रीव-अवतारकी कथा, वेदोंका उद्धार, मधुकैटभका वध तथा नारायणकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः।
जन्म धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकम् ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! हमलोगोंने षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न उन परमात्मा श्रीहरिका माहात्म्य सुना और धर्मके घरमें उन्होंने ही नर-नारायणरूपसे जन्म ग्रहण किया था, इस बातको भी जान लिया ॥ १ ॥

महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥
तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयानघ।

निष्पाप सूतपुत्र ! भगवान् महावराहने जो प्राचीन कालमें पिण्डोंकी उत्पत्ति करके पिण्डदानकी मर्यादा चलायी तथा प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें जिस विधिकी जैसी कल्पना की, वह सब आपके मुखसे हमलोगोंने सुना ॥ २½ ॥

हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥
यच्च तत् कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत्।
तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

समुद्रके उत्तर पूर्वभागमें हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करनेवाले भगवान् विष्णुने महान् हयग्रीवावतार धारण किया था, यह बात आपने पहले मुझसे कही थी। साथ ही यह भी बतायी थी कि भगवान् परमेष्ठी ब्रह्माने उस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन किया था ॥ ३-४ ॥

किं तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा।
रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥

महान् बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र ! सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले श्रीहरिने पूर्वकालमें वह अद्भुत प्रभावशाली रूप क्यों प्रकट किया ? उनका वैसा रूप तो पहले कभी देखनेमें नहीं आया था ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वममितौजसम्।
तदश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ ६ ॥

मुने ! अमित बलशाली एवं अपूर्वरूपधारी उन पुण्यात्मा सुरश्रेष्ठ हयग्रीवका दर्शन करके ब्रह्माजीने क्या किया ? ॥ ६ ॥

एतन्नः संशयं ब्रह्मन् पुराणं ज्ञानसम्भवम्।
कथयस्वोत्तममते महापुरुषनिर्मितम् ॥ ७ ॥
पाविताः स्म त्वया ब्रह्मन् पुण्यां कथयता कथाम्।

सूतनन्दन ! आपकी बुद्धि बड़ी उत्तम है। महापुरुष भगवान्के अवतारसम्बन्धी इस पुरातन ज्ञानके विषयमें हमलोगोंको संशय हो रहा है। आप इसका समाधान कीजिये। आपने यह पुण्यमयी कथा कहकर हमलोगोंको पवित्र कर दिया है ॥ ७½ ॥

सौतिरुवाच

कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसम्मितम् ॥ ८ ॥
जगौ यद् भगवान् व्यासो राज्ञः पारिक्षितस्य वै।

सूतपुत्रने कहा—शौनकजी ! मैं तुमसे वेदतुल्य प्रमाणभूत सारा पुरातन वृत्तान्त कहूँगा, जिसे भगवान् व्यासने* राजा जनमेजयको सुनाया था ॥ ८½ ॥

श्रुत्वाश्वशिरसो मूर्तिं देवस्य हरिमेधसः ॥ ९ ॥
उत्पन्नसंशयो राजा एतदेवमचोदयत्।

भगवान् विष्णुके हयग्रीवावतारकी चर्चा सुनकर तुम्हारी ही तरह राजा जनमेजयको भी संदेह हो गया था। तब उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ९½ ॥

जनमेजय उवाच

यत्तद् दर्शितवान् ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् ॥ १० ॥
किमर्थं तत् समभवत् तन्ममाचक्ष्व सत्तम।

जनमेजय बोले—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मुने ! ब्रह्माजीने भगवान्के जिस हयग्रीवावतारका दर्शन किया था, उसका प्रादुर्भाव किसलिये हुआ था ? यह मुझे बताइये ॥ १०½ ॥

---

* वैशम्पायनजीने जनमेजयको महाभारतकी कथा वेदव्यासजीकी आज्ञासे सुनायी थी इस कारण यहाँ ऐसा लिखा है।

वैशम्पायन उवाच

यत् किंचिदिह लोके वै देहसत्त्वं विशाम्पते ॥ ११ ॥
सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिभिः ।

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ ! इस जगत्में जितने प्राणी हैं, वे सब ईश्वरके संकल्पसे उत्पन्न हुए पाँच महाभूतोंसे युक्त हैं ॥ ११½ ॥

ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ॥ १२ ॥
भूतान्तरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च ।

विराट्स्वरूप भगवान् नारायण इस जगत्के ईश्वर और स्रष्टा हैं, वे ही सब जीवोंके अन्तरात्मा, वरदाता, सगुण और निर्गुणरूप हैं ॥ १२½ ॥

भूतप्रलयमत्यन्तं शृणुष्व नृपसत्तम ॥ १३ ॥
धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा ।
ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले ॥ १४ ॥
वायौ चाकाशसंलीने आकाशे च मनोऽनुगे ।
व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ॥ १५ ॥
अव्यक्ते पुरुषं याते पुंसि सर्वगतेऽपि च ।
तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब तुम पञ्चभूतोंके आत्यन्तिक प्रलयकी बात सुनो । पूर्वकालमें जब इस पृथ्वीका एकार्णवके जलमें लय हो गया । जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका मनमें, मनका व्यक्त (महत्तत्त्व) में, व्यक्तका अव्यक्त प्रकृतिमें, अव्यक्तका पुरुषमें अर्थात् मायाविशिष्ट ईश्वरमें और पुरुषका सर्वव्यापी परमात्मामें लय हो गया, उस समय सब ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया । उसके सिवा और कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ १३—१६ ॥

तमसो ब्रह्म सम्भूतं तमोमूलामृतात्मकम् ।
तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ॥ १७ ॥

तमसे जगत्का कारणभूत ब्रह्म (परम व्योम) प्रकट हुआ है । तमका मूल है अधिष्ठानभूत अमृततत्त्व । वह मूलभूत अमृत ही तमसे युक्त हो सभी नाम-रूपमें प्रपञ्चको प्रकट करता है और विराट् शरीरका आश्रय लेकर रहता है ॥ १७ ॥

सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उसीको अनिरुद्ध कहा गया है । उसीको प्रधान भी कहते हैं तथा उसीको त्रिगुणमय अव्यक्त जानना चाहिये ॥

विद्यासहायवान् देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः ।
अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥

उस अवस्थामें विद्याशक्तिसे सम्पन्न सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिने योगनिद्राका आश्रय लेकर जलमें शयन किया ॥ १९ ॥

जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् ।
तस्य चिन्तयतः सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥ २० ॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा स तु चतुर्मुखः ।
हिरण्यगर्भो भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥

उस समय वे नाना गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली जगत्की अद्भुत सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे । सृष्टिके विषयमें विचार करते हुए उन्हें अपने गुण महान् (महत्तत्त्व) का स्मरण हो आया । उससे अहङ्कार प्रकट हुआ । वह अहङ्कार ही चार मुखोंवाले ब्रह्माजी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके पितामह और भगवान् हिरण्यगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ २०-२१ ॥

पद्मेऽनिरुद्धात् सम्भूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः ।
सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टः सनातनः ॥ २२ ॥
ददृशेऽद्भुतसंकाशो लोकानापोमयान् प्रभुः ।
सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान् सृजन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माण्डमें कमलमें अनिरुद्ध (अहङ्कार) से कमलनयन ब्रह्माका उस समय प्रादुर्भाव हुआ था । वे अद्भुत रूपधारी एवं तेजस्वी सनातन भगवान् ब्रह्मा सहस्रदल कमलपर विराजमान हो जब इधर-उधर दृष्टि डालने लगे, तब उन्हें समस्त जगत् जलमय दिखायी दिया । तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणमें स्थित होकर प्राणियोंकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुए ॥ २२-२३ ॥

पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशुसप्रभे ।
नारायणकृतौ बिन्दू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥ २४ ॥

वे जिस कमलपर बैठे थे, उसका पत्ता सूर्यके समान देदीप्यमान होता था । उसपर पहलेसे ही भगवान् नारायणकी प्रेरणासे जलकी दो बूँदें पड़ी थीं, जो रजोगुण और तमोगुणकी प्रतीक थीं ॥ २४ ॥

तावपश्यत् स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः ।
एकस्तत्राभवद् बिन्दुर्मध्वाभो रुचिरप्रभः ॥ २५ ॥
स तामसो मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया ।
कठिनस्त्वपरो बिन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥

आदि-अन्तसे रहित भगवान् अच्युतने उन दोनों बूँदोंकी ओर देखा । उनमेंसे एक बूँद भगवान्की दृष्टि पड़ते ही उनकी प्रेरणासे तमोमय मधुनामक दैत्यके आकारमें परिणत हो गयी । उस दैत्यका रंग मधुके समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी । जलकी दूसरी बूँद, जो कुछ कड़ी थी, नारायणकी आज्ञासे रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामक दैत्यके रूपमें प्रकट हुई ॥ २५-२६ ॥

तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ तमसा रजसान्वितौ ।
बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥ २७ ॥

तमोगुण और रजोगुणसे युक्त वे दोनों श्रेष्ठ दैत्य मधु और कैटभ बड़े बलवान् थे । वे अपने हाथोंमें गदा

लिये कमलनालका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ने लगे ॥

ददृशातेऽरविन्दस्थं ब्रह्माणममितप्रभम् ।
सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने कमल-पुष्पके आसनपर बैठकर सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त हुए अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको देखा एवं उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदोंको देखा ॥ २८ ॥

ततो विग्रहवन्तौ तौ वेदान् दृष्ट्वासुरोत्तमौ ।
सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ॥

उन विशालकाय श्रेष्ठ असुरोंने उस समय वेदोंपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें ब्रह्माजीके देखते-देखते सहसा हर लिया ॥

अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान् गृह्य सनातनान् ।
रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥

सनातन वेदोंका अपहरण करके वे दोनों श्रेष्ठ दानव उत्तर-पूर्ववर्ती महासागरमें घुस गये और तुरंत रसातलमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

ततो हृतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् ।
ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विनाकृतः ॥ ३१ ॥

वेदोंका अपहरण हो जानेपर ब्रह्माजीको बड़ा खेद हुआ । उनपर मोह छा गया । वे वेदोंसे वञ्चित होकर मन-ही-मन परमात्मासे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मा बोले—भगवन् ! वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं । वेद ही मेरे परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं ॥ ३२ ॥

मम वेदा हृताः सर्वे दानवाभ्यां बलादितः ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृताः ॥ ३३ ॥

मेरे वे सभी वेद आज दो दानवोंने बलपूर्वक यहाँसे छीन लिये हैं । अब वेदोंके बिना मेरे लिये सम्पूर्ण लोक अन्धकारमय हो गये हैं ॥ ३३ ॥

वेदानृते हि कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् ।
अहो बत महद् दुःखं वेदनाशनजं मम ॥ ३४ ॥
प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रं शोकपरायणम् ।
को हि शोकार्णवे मग्नं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान् कस्य चाहं प्रियो भवे ।

मैं वेदोंके बिना संसारकी उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ ? अहो ! आज वेदोंके नष्ट होनेसे मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा है, जो मेरे शोकमग्न हृदयको दुःसह पीड़ा दे रहा है । आज शोकके समुद्रमें डूबे हुए मुझ असहायका यहाँसे कौन उद्धार करेगा ? उन नष्ट हुए वेदोंको कौन लायेगा ? मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा ?

इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥
हरेः स्तोत्रार्थमुद्भूता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
ततो जगौ परं जप्यं साञ्जलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसी बातें कहते हुए ब्रह्माजीके मनमें भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करनेका विचार उत्पन्न हुआ । बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य नरेश ! तब भगवान् ब्रह्माने हाथ जोड़कर उत्तम एवं जपने योग्य स्तोत्रका गान आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज ।
लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ सांख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! वेद आपका हृदय है, आपको नमस्कार है । मेरे पूर्वज ! आपको प्रणाम है । जगत्‌के आदि कारण ! भुवनश्रेष्ठ ! सांख्ययोगनिधे ! प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ३८ ॥

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पन्थानमास्थित ।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः ॥ ३९ ॥

व्यक्त जगत् और अव्यक्त प्रकृतिको उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है । आप कल्याणमय मार्गमें स्थित हैं । विश्वपालक ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, किसी योनिसे उत्पन्न न होनेवाले, जगत्‌के आधार और स्वयम्भू हैं । मैं आपकी कृपासे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम् ॥ ४० ॥

आपसे मेरा प्रथम बार जो जन्म हुआ था, वह द्विजों-द्वारा सम्मानित मानस जन्म कहा गया है अर्थात् प्रथम बार मैं आपके मनसे उत्पन्न हुआ । तदनन्तर पूर्वकालमें मैं आपके नेत्रसे उत्पन्न हुआ । वह मेरा दूसरा जन्म था ॥

त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् ।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् आपके कृपाप्रसादसे मेरा जो तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, वह वाचिक था अर्थात् आपके वचनमात्रसे सुलभ हो गया था । विभो ! उसके बाद आपके कानोंसे मेरा चतुर्थ जन्म हुआ था ॥ ४१ ॥

नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते ।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम् ॥ ४२ ॥

भगवान् हयग्रीव वेदोंको रसातलसे लाकर ब्रह्माजीको लौटा रहे हैं

उसके बाद आपकी नासिकासे मेरा पाँचवाँ उत्तम जन्म बताया जाता है। तदनन्तर मैं आपके द्वारा ब्रह्माण्डसे उत्पन्न किया गया। वह मेरा छठा जन्म था ॥ ४२ ॥

इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो ।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित ॥ ४३ ॥

प्रभो ! यह मेरा सातवाँ जन्म है, जो कमलसे उत्पन्न हुआ है। त्रिगुणातीत परमेश्वर ! मैं प्रत्येक कल्पमें आपका पुत्र होकर प्रकट होता हूँ ॥ ४३ ॥

प्रथितः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः ।
त्वमीश्वरः स्वभावश्च स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥

कमलनयन ! आपका पुत्र मैं शुद्ध सत्त्वमय शरीरसे उत्पन्न हुआ हूँ। आप ईश्वर, स्वभाव, स्वयम्भू एवं पुरुषोत्तम हैं ॥ ४४ ॥

त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः ।
ते मे वेदा हृताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि ॥ ४५॥
ददस्व चक्षूंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे ।

आपने मुझे वेदरूपी नेत्रोंसे युक्त बनाया है। आपकी ही कृपासे कालातीत हूँ—मुझपर कालका जोर नहीं चलता। मेरे नेत्ररूप वे वेद दानवोंद्वारा हर लिये गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो ! निद्रा त्यागकर जागिये। मुझे मेरे नेत्र वापस दीजिये; क्योंकि मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं ॥ ४५½ ॥

एवं स्तुतः स भगवान् पुरुषः सर्वतोमुखः ॥ ४६ ॥
जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः ।

ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर सब ओर मुखवाले सबके अन्तर्यामी आत्मा भगवान्‌ने उसी क्षण निद्रा त्याग दी और वे वेदोंकी रक्षा करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ४६½ ॥

ऐश्वर्येण प्रयोगेण द्वितीयां तनुमास्थितः ॥ ४७ ॥
सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा ।
कृत्वा हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः ॥ ४८ ॥

उन्होंने अपने ऐश्वर्यके योगसे दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था। सुन्दर नासिका-वाले शरीरसे युक्त हो वे प्रभु घोड़ेके समान गर्दन और मुख धारण करके स्थित हुए। उनका वह शुद्ध मुख सम्पूर्ण वेदोंका आलय था ॥ ४७-४८ ॥

तस्य मूर्धा समभवद् द्यौः सनक्षत्रतारका ।
केशाश्चास्याभवन् दीर्घा रवेरंशुसमप्रभाः ॥ ४९ ॥

नक्षत्रों और ताराओंसे युक्त स्वर्गलोक उनका सिर था। सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बड़े-बड़े बाल थे ॥ ४९ ॥

कर्णावाकाशपाताले ललाटं भूतधारिणी ।
गङ्गा सरस्वती श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधी ॥ ५० ॥

आकाश और पाताल उनके कान थे एवं समस्त भूतोंको धारण करनेवाली पृथ्वी ललाट थी। गङ्गा और सरस्वती उनके नितम्ब तथा दो समुद्र उनकी दोनों भौंहें थे ॥ ५० ॥

चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा संध्या पुनः स्मृता ।
ॐकारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों नेत्र तथा नासिका संध्या थी। ॐकार संस्कार (आभूषण) और विद्युत् जिह्वा बनी हुई थी ॥ ५१ ॥

दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुताः ।
गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः ॥ ५२ ॥

राजन् ! सोमपान करनेवाले पितर उनके दाँत सुने गये हैं तथा गोलोक और ब्रह्मलोक उन महात्माके ओष्ठ थे ॥

ग्रीवा चास्याभवद् राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा ।
एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम् ॥ ५३ ॥
अन्तर्दधौ स विश्वेशो विवेश च रसां प्रभुः ।

नरेश्वर ! तमोमयी कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी। इस प्रकार अनेक मूर्तियोंसे आवृत हयग्रीव रूप धारण करके वे जगदीश्वर श्रीहरि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और रसातलमें जा पहुँचे ॥ ५३½ ॥

रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः ॥ ५४ ॥
शैक्ष्यं स्वरं समास्थाय उद्गीतं प्रासृजत् स्वरम् ।

रसातलमें प्रवेश करके परम योगका आश्रय ले शिक्षा-के नियमानुसार उदात्त आदि स्वरोंसे युक्त उच्च स्वरसे सामवेदका गान करने लगे ॥ ५४½ ॥

स स्वरः सानुनादी च सर्वशः स्निग्ध एव च ॥ ५५ ॥
बभूवान्तर्महीभूतः सर्वभूतगुणोदितः ।

नाद और स्वरसे विशिष्ट सामगानकी वह सर्वथा स्निग्ध एवं मधुर ध्वनि रसातलमें सब ओर फैल गयी, जो समस्त प्राणियोंके लिये गुणकारक थी ॥ ५५½ ॥

ततस्तावसुरौ कृत्वा वेदान् समयबन्धनान् ॥ ५६ ॥
रसातले विनिक्षिप्य यतः शब्दस्ततो द्रुतौ ।

उन दोनों असुरोंने वह शब्द सुनकर वेदोंको कालपाशसे आबद्ध करके रसातलमें फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधरसे वह ध्वनि आ रही थी ॥ ५६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः ॥ ५७ ॥
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः ।
प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः ॥ ५८ ॥

राजन् ! इसी बीचमें हयग्रीव रूपधारी भगवान् श्रीहरिने रसातलमें पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदोंको ले लिया तथा

ब्रह्माजीको पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूपमें आ गये ॥ ५७-५८ ॥

स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ ।
वेदानामालयं चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ॥ ५९ ॥

भगवान्‌ने महासागरके पूर्वोत्तरभागमें वेदोंके आश्रयभूत अपने हयग्रीव रूपकी स्थापना करके पुनः पूर्वरूप धारण कर लिया । तबसे भगवान् हयग्रीव वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

अथ किंचिदपश्यन्तौ दानवौ मधुकैटभौ ।
पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतां च तौ ॥ ६० ॥
यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत् स्थानं शून्यमेव च ।

इधर वेदध्वनिके स्थानपर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवोंने जब कुछ नहीं देखा, तब वे बड़े वेगसे फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदोंको नीचे डाल रखा था । वहाँ देखनेपर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया ॥ ६०½ ॥

तत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ ॥ ६१ ॥
पुनरुत्तस्थतुः शीघ्रं रसानामालयात् तदा ।
ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६२ ॥
श्वेतं चन्द्रविशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
भूयोऽप्यमितविक्रान्तं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६३ ॥

तब वे बलवानोंमें श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय ले रसातलसे शीघ्र ही ऊपर उठे और ऊपर आकर देखते हैं तो वे ही आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम दृष्टिगोचर हुए । जो चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल प्रभासे विभूषित, गौरवर्णके थे । वे उस समय अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित थे और वे अमित पराक्रमी भगवान् योगनिद्राका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ ६१–६३ ॥

आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते ।
शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६४ ॥
निष्कल्मषेण सत्त्वेन सम्पन्नं रुचिरप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दानवेन्द्रौ तौ महाहासममुञ्चताम् ॥ ६५ ॥

पानीके ऊपर शेषनागके शरीरकी शय्या निर्मित हुई थी, जिसकी लम्बाई भगवान्‌के श्रीविग्रहके अनुरूप ही थी । वह शय्या ज्वालामालाओंसे आवृत जान पड़ती थी । उसके ऊपर विशुद्ध सत्त्वगुणसे सम्पन्न मनोहर कान्तिवाले भगवान् नारायण सो रहे थे । उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ ।
अयं स पुरुषः श्वेतः शेते निद्रामुपागतः ॥ ६६ ॥
अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात् ।
कस्यैष को नु खल्वेष किं च स्वपिति भोगवान् ॥ ६७ ॥

रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हुए वे दोनों असुर परस्पर कहने लगे, 'यह जो श्वेतवर्णवाला पुरुष निद्रामें निमग्न होकर सो रहा है, निश्चय ही इसीने रसातलसे वेदोंका अपहरण किया है । यह किसका पुत्र है ? कौन है ? और क्यों यहाँ सर्पके शरीरकी शय्यापर सो रहा है ?' ॥ ६६-६७ ॥

इत्युच्चारितवाक्यौ तौ बोधयामासतुर्हरिम् ।
युद्धार्थिनौ हि विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ ६८ ॥
निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे ।

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनोंने भगवान्‌को जगाया । उन्हें युद्धके लिये उत्सुक जान भगवान् पुरुषोत्तम जाग उठे । फिर उन दोनों असुरेन्द्रोंका अच्छी तरह निरीक्षण करके उन्होंने मन-ही-मन उनके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया ॥ ६८½ ॥

अथ युद्धं समभवत् तयोर्नारायणस्य वै ॥ ६९ ॥
रजस्तमोविष्टतनू तावुभौ मधुकैटभौ ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान मधुसूदनः ॥ ७० ॥

फिर तो उन दोनों असुरोंका और भगवान् नारायणका युद्ध आरम्भ हो गया । भगवान् मधुसूदनने ब्रह्माजीका मान रखनेके लिये तमोगुण और रजोगुणसे आविष्ट शरीरवाले उन दोनों दैत्यों—मधु और कैटभको मार डाला ॥ ६९-७० ॥

ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च ।
शोकापनयनं चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार वेदोंको वापस लाकर और मधु-कैटभका वध करके भगवान् पुरुषोत्तमने ब्रह्माजीका शोक दूर कर दिया ॥

ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः ।
निर्ममे स तदा लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ७२॥

तत्पश्चात् वेदसे सम्मानित और भगवान्से सुरक्षित होकर ब्रह्माजीने समस्त चराचर जगत्की सृष्टि की ॥ ७२ ॥

दत्त्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम् ।
तत्रैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हरिः ॥ ७३॥

ब्रह्माजीको लोक-रचनाकी श्रेष्ठ बुद्धि देकर भगवान् नारायणदेव वहीं अन्तर्धान हो गये । वे जहाँसे आये थे, वहीं चले गये ॥ ७३ ॥

तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम् ।
पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ ७४ ॥

श्रीहरिने इस प्रकार हयग्रीवरूप धारण करके उन दोनों दानवोंका वध किया था । उन्होंने पुनः प्रवृत्तिधर्मका प्रचार करनेके लिये ही उस शरीरको प्रकट किया था ॥ ७४ ॥

एवमेव महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः ।
पौराणमेतत् प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७५ ॥

इस तरह महाभाग श्रीहरिने हयग्रीवरूप धारण किया था। भगवान्का यह वरदायक रूप पुरातन एवं पुराण-प्रसिद्ध है॥

यो ह्येतद् ब्राह्मणो नित्यं शृणुयाद् धारयीत वा ।
न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत् कदाचन ॥ ७६ ॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन इस अवतार-कथाको सुनता या स्मरण करता है, उसका अध्ययन कभी नष्ट (निष्फल) नहीं होता है ॥ ७६ ॥

आराध्य तपसोग्रेण देवं हयशिरोधरम् ।
पञ्चालेन क्रमः प्राप्तो देवेन पथि देशिते ॥ ७७ ॥

महादेवजीके बताये हुए मार्गपर चलकर उग्र तपस्याद्वारा भगवान् हयग्रीवकी आराधना करके पाञ्चालदेशीय गालवमुनिने वेदोंका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥

एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम् ।
पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥७८ ॥

राजन् ! तुमने जिसके लिये मुझसे पूछा था, यह हयग्रीवावतारकी वेदानुमोदित प्राचीन कथा मैंने तुम्हें सुना दी॥

यां यामिच्छेत् तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् ।
तां तां कुर्याद् विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७९॥

परमात्मा कार्यसाधनके लिये जिस-जिस शरीरको धारण करना चाहते हैं, उसे कार्य करते समय स्वयं ही प्रकट कर लेते हैं ॥ ७९ ॥

एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसो निधिः ।
एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हविर्विभुः ॥ ८० ॥

ये श्रीमान् हरि वेद और तपस्याकी निधि हैं । ये ही योग, सांख्य, ब्रह्म, श्रेष्ठ हविष्य और विभु हैं ॥ ८० ॥

नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः ।
तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८१ ॥

वेदोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है । यज्ञ नारायणके ही स्वरूप हैं । तपस्याके परम फल भगवान् नारायण ही हैं तथा नारायणकी प्राप्ति ही सर्वोत्तम गति है ॥ ८१ ॥

नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ ८२ ॥

सत्यके परम लक्ष्य नारायण ही हैं । ऋत नारायणका ही स्वरूप है । जिसके आचरणसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती, उस निवृत्तिप्रधान धर्मके भी चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं ॥ ८२ ॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।
नारायणात्मको गन्धो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ ८३ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्म भी नारायणका ही स्वरूप है । भूमिका श्रेष्ठतम गुण गन्ध भी नारायणमय ही है ॥ ८३ ॥

अपां चापि गुणा राजन् रसा नारायणात्मकाः ।
ज्योतिषां च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम् ॥ ८४ ॥

राजन् ! जलका गुण रस भी नारायणका ही स्वरूप है । तेजका उत्तम गुण रूप भी नारायणमय ही है ॥ ८४ ॥

नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणः स्मृतः ।
नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसम्भवः ॥ ८५ ॥

वायुका गुण स्पर्श भी नारायणस्वरूप ही है तथा आकाशका गुण शब्द भी नारायणमय ही है ॥ ८५ ॥

मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम् ।
नारायणपरः कालो ज्योतिषामयनं च यत् ॥ ८६ ॥

अव्यक्त गुण एवं लक्षणवाला मन नामक भूत, काल और नक्षत्रमण्डल--ये सब नारायणके ही आश्रित हैं ॥ ८६ ॥

नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः ।
नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः ॥ ८७ ॥

कीर्ति, श्री और लक्ष्मी आदि देवियाँ नारायणको ही अपना परम आश्रय मानती हैं । सांख्यका परम तात्पर्य भी नारायण ही हैं और योग भी नारायणका ही स्वरूप है ॥

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम् ।
स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम् ॥ ८८ ॥

पुरुष, प्रधान, स्वभाव, कर्म तथा दैव—ये जिन वस्तुओंके कारण हैं, वे भी नारायणरूप ही हैं ॥ ८८ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ८९ ॥
पञ्चकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः ।

अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकारके करण, नाना

प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव—इन पाँच कारणोंके रूपमें सर्वत्र श्रीहरि ही विराजमान हैं ॥ ८९½ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ॥ ९० ॥
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ।

जो लोग सर्वव्यापक हेतुओंद्वारा तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिये महायोगी भगवान् नारायण हरि ही एकमात्र ज्ञातव्य तत्त्व हैं ॥ ९०½ ॥

ब्रह्मादीनां स लोकानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ९१ ॥
सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनाम् ।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९२ ॥

भगवान् केशव ब्रह्मा आदि देवताओं, सम्पूर्ण लोकों, महात्मा-ऋषियों, सांख्यवेत्ताओं, योगियों और आत्मज्ञानी यतियोंके मनकी बातें भी जानते हैं; परंतु उनके मनमें क्या है ? यह उनमेंसे किसीको पता नहीं है ॥ ९१-९२ ॥

ये केचित् सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते ।
दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ॥ ९३ ॥
सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९४ ॥

समस्त विश्वमें जो कोई देवताओंके लिये यज्ञ और पितरोंके लिये श्राद्ध करते हैं, दान देते हैं और बड़ी भारी तपस्या करते हैं, उन सबके आश्रय भगवान् विष्णु ही हैं। वे अपने ऐश्वर्ययोगमें स्थित रहते हैं । सम्पूर्ण प्राणियोंके आवासस्थान होनेके कारण वे 'वासुदेव' कहे जाते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अयं हि नित्यः परमो महर्षि-
र्महाविभूतिर्गुणवर्जिताख्यः ।
गुणैश्च संयोगमुपैति शीघ्रं
कालो यथर्तावृतुसम्प्रयुक्तः ॥ ९५ ॥

ये परम महर्षि नारायण नित्य, महान् ऐश्वर्यसे युक्त और गुणोंसे रहित हैं तथापि जैसे गुणहीन काल ऋतुके गुणोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वे भी समय-समयपर गुणोंको स्वीकार करके उनसे संयुक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

नैवास्य विन्दन्ति गतिं महात्मनो
न चागतिं कश्चिदिहानुपश्यति ।
ज्ञानात्मकाः सन्ति हि ये महर्षयः
पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९६ ॥

उन महात्माकी गतिको कोई नहीं जानता । उनके आगमनका भी यहाँ किसीको कुछ पता नहीं चलता। जो ज्ञानस्वरूप महर्षि हैं, वे ही उन नित्य, अन्तर्यामी एवं अनन्तगुणविभूषित परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्वत-धर्मकी उपदेश-परम्परा तथा भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावकी महिमा

जनमेजय उवाच

अहो ह्येकान्तिनः सर्वान् प्रीणाति भगवान् हरिः ।
विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान् स्वयम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले सभी भक्तोंको प्रसन्न करते और उनकी विधिवत् की हुई पूजाको स्वयं ग्रहण करते हैं; यह कितने आनन्दकी बात है ॥ १ ॥

ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां त्वयाभिनिर्दिष्टा पारम्पर्यागता गतिः ॥ २ ॥

संसारमें जिन लोगोंकी वासनाएँ दग्ध हो गयी हैं और जो पुण्य-पापसे रहित हो गये हैं, उन्हें परम्परासे जो गति प्राप्त होती है, उसका भी आपने वर्णन किया है ॥ २ ॥

चतुर्थ्यां चैव ते गत्यां गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥

जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, वे साधुपुरुष अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणकी अपेक्षा न रखकर वासुदेवसंज्ञक चौथी गतिमें पहुँचकर भगवान् पुरुषोत्तम एवं उनके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३ ॥

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।
अगत्वा गतयस्तिस्रो यद् गच्छन्त्यव्ययं हरिम् ॥ ४ ॥

निश्चय ही यह अनन्यभावसे भगवान्‌का भजनरूप धर्म श्रेष्ठ एवं श्रीनारायणको परम प्रिय है; क्योंकि इसका आश्रय लेनेवाले भक्तजन उक्त तीन गतियोंको प्राप्त न होकर सीधे चौथी गतिमें पहुँचकर अविनाशी श्रीहरिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४॥

सहोपनिषदान् वेदान् ये विप्राः सम्यगास्थिताः ।
पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः ॥ ५ ॥

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्।

जो ब्राह्मण उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका भलीभाँति आश्रय ले उनका विधिपूर्वक स्वाध्याय करते हैं तथा जो संन्यास-धर्मका पालन करनेवाले हैं, इन सबसे उत्तम गति उन्हींको प्राप्त होती है, जो भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं॥ ५½ ॥

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा ॥ ६ ॥
एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो।
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

भगवन्! इस भक्तिरूप धर्मका किस देवता अथवा ऋषिने उपदेश किया है ? अनन्य भक्तोंकी जीवनचर्या क्या है? और वह कबसे प्रचलित हुई ? मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जिस समय कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ युद्धके लिये आमने-सामने डटी हुई थीं और अर्जुन युद्धसे अनमने हो रहे थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने उन्हें गीतामें इस धर्मका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव पूर्वं ते कथिता मया ।
गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ९ ॥

मैंने पहले तुमसे गति और अगतिका स्वरूप भी बताया था। यह धर्म गहन तथा अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्गम है ॥ ९ ॥

सम्मितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः ।
धार्यते स्वयमीशेन राजन् नारायणेन च ॥ १० ॥

राजन्! यह धर्म सामवेदके समान है । प्राचीनकालके सत्ययुगसे ही यह प्रचलित हुआ है। स्वयं जगदीश्वर भगवान् नारायण ही इस धर्मको धारण करते हैं॥ १० ॥

एतदर्थं महाराज पृष्टः पार्थेन नारदः ।
ऋषिमध्ये महाभागः शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः॥ ११ ॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ऋषियोंके बीचमें महाभाग नारदजीसे यही विषय पूछा था। उस समय श्रीकृष्ण और भीष्म भी इस विषयको सुन रहे थे॥ ११ ॥

गुरुणा च मयाप्येष कथितो नृपसत्तम ।
यथा तत् कथितं तत्र नारदेन तथा शृणु ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मेरे गुरु व्यासजीने और मैंने भी यह विषय कहा था; परंतु वहाँ नारदजीने उस विषयका जैसा वर्णन किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम् ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम् ॥ १३ ॥

तेन धर्मेण कृतवान् दैवं पित्र्यं च भारत ।
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

भूपाल ! सृष्टिके आदिमें जब भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीका मानसिक जन्म हुआ था, उस समय साक्षात् नारायणने उन्हें इस धर्मका उपदेश किया था। भरतनन्दन! नारायणने उस धर्मसे देवताओं और पितरोंका पूजनादि कर्म किया था । फिर फेनप ऋषियोंने उस धर्मको ग्रहण किया ॥ १३-१४ ॥

वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे ।
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥ १५ ॥

फेनपोंसे वैखानसोंने उस धर्मको उपलब्ध किया । उनसे सोमने उसे ग्रहण किया। तदनन्तर वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥

यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप ।
तदा पितामहेनैव सोमाद् धर्मः परिश्रुतः ॥ १६ ॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम् ।

नरेश्वर ! जब ब्रह्माजीका नेत्रजनित द्वितीय जन्म हुआ, तब उन्होंने सोमसे उस नारायण-स्वरूप धर्मको सुना था। राजन्! ब्रह्माजीने रुद्रको इसका उपदेश दिया ॥ १६½ ॥

ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ॥ १७ ॥
वालखिल्यानृषीन् सर्वान् धर्ममेतदपाठयत् ।
अन्तर्दधे ततो भूयस्तस्य देवस्य मायया ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् योगनिष्ठ रुद्रने पूर्वकालके कृतयुगमें सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषियोंको इस धर्मसे अवगत कराया; तदनन्तर भगवान् विष्णुकी मायासे वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥ १७-१८॥

तृतीयं ब्रह्मणो जन्म यदासीद् वाचिकं महत् ।
तत्रैष धर्मः सम्भूतः स्वयं नारायणान्नृप ॥ १९ ॥

राजन्! जब भगवान्‌की वाणीसे ब्रह्माजीका तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, तब फिर साक्षात् नारायणसे ही यह धर्म प्रकट हुआ ॥ १९ ॥

सुपर्णो नाम तमृषिः प्राप्तवान् पुरुषोत्तमात् ।
तपसा वै सुतप्तेन दमेन नियमेन च ॥ २० ॥

सुपर्ण नामक ऋषिने इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहपूर्वक भलीभाँति तपस्या करके भगवान् पुरुषोत्तमसे इस धर्मको प्राप्त किया॥ २० ॥

त्रिः परिक्रान्तवानेतत् सुपर्णो धर्ममुत्तमम् ।
यस्मात् तस्माद् व्रतं ह्येतत् त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥ २१ ॥

सुपर्णने प्रतिदिन इस उत्तम धर्मकी तीन आवृत्ति की थी, इसलिये इस व्रत या धर्मको यहाँ 'त्रिसौपर्ण' कहते हैं ॥ २१ ॥

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम् ।
सुपर्णाच्चाप्यधिगतो धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥
वायुना द्विपदां श्रेष्ठ कथितो जगदायुषा ।

यह दुष्कर धर्म ऋग्वेदके पाठमें स्पष्टरूपसे पढ़ा गया है। नरश्रेष्ठ ! सुपर्णसे उस सनातन धर्मको इस जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुने प्राप्त किया ॥ २२½ ॥

वायोः सकाशात् प्राप्तश्च ऋषिभिर्विघसाशिभिः॥ २३॥
ततो महोदधिश्चैव प्राप्तवान् धर्ममुत्तमम्।
अन्तर्दधे ततो भूयो नारायणसमाहितः॥ २४॥

वायुसे विघसाशी ऋषियोंने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया। उनसे महोदधिको इस उत्तम धर्मकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् यह धर्म फिर लुप्त होकर भगवान् नारायणमें विलीन हो गया ॥ २३-२४ ॥

यदा भूयः श्रवणजा सृष्टिरासीन्महात्मनः।
ब्रह्मणः पुरुषव्याघ्र तत्र कीर्तयतः शृणु॥ २५॥

पुरुषसिंह! जब पुनः भगवान्‌के कानोंसे महात्मा ब्रह्माजीकी चौथी बार उत्पत्ति हुई, तब जिस प्रकार इस धर्मका प्रादुर्भाव हुआ था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

जगत्स्रष्टुमना देवो हरिर्नारायणः स्वयम्।
चिन्तयामास पुरुषं जगत्सर्गकरं प्रभुम्॥ २६॥

साक्षात् भगवान् नारायण हरिने जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छासे एक ऐसे पुरुषका चिन्तन किया, जो संसारकी सृष्टि करनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ २६ ॥

अथ चिन्तयतस्तस्य कर्णाभ्यां पुरुषः स्मृतः।
प्रजासर्गकरो ब्रह्मा तमुवाच जगत्पतिः॥ २७॥
सृज प्रजाः पुत्र सर्वा मुखतः पादतस्तथा।

कहा जाता है, चिन्तन करते समय भगवान्‌के दोनों कानोंसे एक पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। वही प्रजाकी सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा हुआ। जगदीश्वर नारायणने ब्रह्मासे कहा—'बेटा ! तुम अपने मुखसे लेकर पैरतकके अङ्गोंसे समस्त प्रजाकी सृष्टि करो ॥ २७½ ॥

श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत॥ २८॥
धर्मं च मत्तो गृह्णीष्व सात्वतं नाम नामतः।
तेन सृष्टं कृतयुगं स्थापयस्व यथाविधि॥ २९॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र! मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा और तुम्हारे भीतर तेज एवं बलकी वृद्धि करता रहूँगा। तुम मुझसे इस सात्वत नामक धर्मको ग्रहण करो और उसके द्वारा विधिपूर्वक सत्ययुगकी सृष्टि करके उसकी स्थापना करो' ॥ २९ ॥

ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे।
धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम्॥ ३०॥
आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम्।

तदनन्तर ब्रह्माने भगवान् श्रीहरिको नमस्कार किया और उन्हीं नारायणदेवके मुखसे प्रकट आरण्यक, रहस्य तथा संग्रहसहित उस श्रेष्ठ धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ३०½ ॥

उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसे॥ ३१॥
त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशीःकर्मसंज्ञितम्।

अमिततेजस्वी ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश देकर उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुम निष्कामभावसे सारे कर्म करते हुए युगधर्मोंके प्रवर्तक बनो' ॥ ३१½ ॥

जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम्॥ ३२॥
ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः।
असृजत् स ततो लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान्॥ ३३॥

यह आदेश देकर वे अज्ञानान्धकारसे परे विराजमान अपने परम अव्यक्त धामको चले गये। तदनन्तर वरदायक देवता लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण चराचर लोकोंकी सृष्टि की॥ ३२-३३॥

ततः प्रावर्तत तदा आदौ कृतयुगं शुभम्।
ततो हि सात्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः॥ ३४॥

फिर तो सृष्टिके आरम्भमें कल्याणकारी कृतयुगकी प्रवृत्ति हुई और तबसे सात्वतधर्म सारे संसारमें व्याप्त हो गया ॥३४॥

तेनैवाद्येन धर्मेण ब्रह्मा लोकविसर्गकृत्।
पूजयामास देवेशं हरिं नारायणं प्रभुम्॥ ३५॥

लोकस्रष्टा ब्रह्माने उसी आदिधर्मके द्वारा देवेश्वर भगवान् नारायण हरिकी आराधना की ॥ ३५ ॥

धर्मप्रतिष्ठाहेतोश्च मनुं स्वारोचिषं ततः।
अध्यापयामास तदा लोकानां हितकाम्यया॥ ३६॥

फिर इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन्होंने स्वारोचिषमनुको उस समय इस धर्मका उपदेश किया ॥ ३६ ॥

ततः स्वरोचिषः पुत्रं स्वयं शङ्खपदं नृप।
अध्यापयत् पुराव्यग्रः सर्वलोकपतिर्विभुः॥ ३७॥

नरेश्वर ! उन दिनों स्वारोचिष मनु ही सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति एवं प्रभु थे। उन्होंने शान्तभावसे पहले अपने पुत्र शङ्खपदको स्वयं इस धर्मका ज्ञान प्रदान किया ॥ ३७ ॥

ततः शङ्खपदश्चापि पुत्रमात्मजमौरसम्।
दिशां पालं सुवर्णाभमध्यापयत भारत।
सोऽन्तर्दधे ततो भूयः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः॥ ३८॥

भारत ! फिर शङ्खपदने भी अपने औरस पुत्र दिक्पाल सुवर्णाभको इस धर्मका अध्ययन कराया। इसके बाद त्रेता-युग प्राप्त होनेपर वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥ ३८ ॥

नासिक्ये जन्मनि पुरा ब्रह्मणः पार्थिवोत्तम।
धर्ममेतं स्वयं देवो हरिर्नारायणः प्रभुः॥ ३९॥
तज्जगादारविन्दाक्षो ब्रह्मणः पश्यतस्तदा।

नृपश्रेष्ठ ! फिर पूर्वकालमें ब्रह्माजीने नासिकाके द्वारा

जब पाँचवाँ जन्म ग्रहण किया, तब स्वयं कमलनयन भगवान् नारायण हरिने ब्रह्माजीके सामने इस धर्मका उपदेश दिया ॥

सनत्कुमारो भगवांस्ततः प्राधीतवान् नृप ॥ ४० ॥
सनत्कुमारादपि च वीरणो वै प्रजापतिः ।
कृतादौ कुरुशार्दूल धर्ममेतदधीतवान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान् सनत्कुमारने उनसे उस सात्वत-धर्मका उपदेश ग्रहण किया । कुरुश्रेष्ठ ! सनत्कुमारसे वीरण प्रजापतिने कृतयुगके आदिमें इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ४०-४१ ॥

वीरणश्चाप्यधीत्यैनं रैभ्याय मुनये ददौ ।
रैभ्यः पुत्राय शुद्धाय सुव्रताय सुमेधसे ॥ ४२ ॥
कुक्षिनाम्ने स प्रददौ दिशां पालाय धर्मिणे ।
ततोऽप्यन्तर्दधे भूयो नारायणमुखोद्भवः ॥ ४३ ॥

वीरणने इसका अध्ययन करके रैभ्यमुनिको उपदेश दिया । रैभ्यने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त धर्मात्मा एवं शुद्ध आचार-विचारवाले अपने पुत्र दिक्पाल कुक्षिको इसका उपदेश दिया । तदनन्तर नारायणके मुखसे निकला हुआ यह सात्वत धर्म फिर लुप्त हो गया ॥४२-४३॥

अण्डजे जन्मनि पुनर्ब्रह्मणे हरियोनये ।
एष धर्मः समुद्भूतो नारायणमुखात् पुनः ॥ ४४ ॥

इसके बाद जब ब्रह्माजीका अण्डसे छठा जन्म हुआ, तब भगवान्‌से उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके लिये पुनः भगवान् नारायणके मुखसे यह धर्म प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥

गृहीतो ब्रह्मणा राजन् प्रयुक्तश्च यथाविधि ।
अध्यापिताश्च मुनयो नाम्ना बर्हिषदो नृप ॥ ४५ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने इस धर्मको ग्रहण किया और वे विधिपूर्वक उसे अपने उपयोगमें लाये । नरेश्वर ! फिर उन्होंने बर्हिषद् नामवाले मुनियोंको इसका अध्ययन कराया ॥ ४५ ॥

बर्हिषद्भ्यश्च सम्प्राप्तः सामवेदान्तगं द्विजम् ।
ज्येष्ठं नामाभिविख्यातं ज्येष्ठसामव्रतो हरिः ॥ ४६ ॥

बर्हिषद् नामक ऋषियोंसे इस धर्मका उपदेश ज्येष्ठ नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मणको मिला, जो सामवेदके पारङ्गत विद्वान् थे । ज्येष्ठसामकी उपासनाका उन्होंने व्रत ले रक्खा था । इसलिये वे ज्येष्ठसामव्रती हरि कहलाते थे ॥ ४६ ॥

ज्येष्ठाच्चाप्यनुसंक्रान्तो राजानमविकम्पनम् ।
अन्तर्दधे ततो राजन्नेष धर्मः प्रभो हरेः ॥ ४७ ॥

राजन् ! ज्येष्ठसे राजा अविकम्पनको इस धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ । प्रभो ! तदनन्तर यह भागवत-धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ४७ ॥

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप ।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥
पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे ।
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! यह जो ब्रह्माजीका भगवान्‌के नाभिकमलसे सातवाँ जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायणने ही कल्पके आरम्भमें जगद्धाता शुद्धस्वरूप ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश दिया; फिर ब्रह्माजीने सबसे पहले प्रजापति दक्षको इस धर्मकी शिक्षा दी ॥ ४८-४९ ॥

ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद् दक्षो नृपोत्तम ।
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वाञ्जगृहे ततः ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र—अदितिके सवितासे भी बड़े पुत्रको इस धर्मका उपदेश दिया । उन्हींसे विवस्वान् (सूर्य)ने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ५० ॥

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥

फिर त्रेतायुगके आरम्भमें सूर्यने मनुको और मनुने सम्पूर्ण जगत्‌के कल्याणके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया ॥ ५१ ॥

इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥ ५२ ॥

इक्ष्वाकुके उपदेशसे इस सात्वत धर्मका सम्पूर्ण जगत्‌में प्रचार और प्रसार हो गया । नरेश्वर ! कल्पान्तमें यह धर्म फिर भगवान् नारायणको ही प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यतियोंका जो धर्म है, वह मैंने पहले ही तुम्हें हरिगीतामें संक्षेप शैलीसे बता दिया है ॥ ५३ ॥

नारदेन सुसम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ५४ ॥

महाराज ! नारदजीने रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे भलीभाँति प्राप्त किया था ॥५४॥

एवमेष महान् धर्म आद्यो राजन् सनातनः ।
दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥

राजन् ! इस प्रकार यह आदि एवं महान् धर्म सनातन-कालसे चला आ रहा है । यह दूसरोंके लिये दुर्ज्ञेय और दुष्कर है । भगवान्‌के भक्त सदा ही इस धर्मको धारण करते हैं ।५५।

धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा ।
अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥ ५६ ॥

इस धर्मको जाननेसे और अहिंसाभावसे युक्त इस

सात्वतधर्मको क्रियारूपसे आचरणमें लानेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

एकव्यूहविभागो वा क्वचिद् द्विव्यूहसंज्ञितः ।
त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७ ॥

भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कभी केवल एक व्यूह—भगवान् वासुदेवकी, कभी दो व्यूह-वासुदेव और सङ्कर्षणकी, कभी प्रद्युम्नसहित तीन व्यूहोंकी और कभी अनिरुद्धसहित चार व्यूहोंकी उपासना देखी जाती है ॥ ५७ ॥

हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ।
जीवश्च सर्वभूतेषु पञ्चभूतगुणातिगः ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीहरि ही क्षेत्रज्ञ हैं, ममतारहित और निष्कल हैं। ये ही सम्पूर्ण भूतोंमें पाञ्चभौतिक गुणोंसे अतीत जीवात्मा-रूपसे विराजमान हैं ॥ ५८ ॥

मनश्च प्रथितं राजन् पञ्चेन्द्रियसमीरणम् ।
एष लोकविधिर्धीमानेष लोकविसर्गकृत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! पाँचों इन्द्रियोंका प्रेरक जो विख्यात मन है, वह भी श्रीहरि ही हैं। ये बुद्धिमान् श्रीहरि ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेरक और स्रष्टा हैं ॥ ५९ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च ।
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥ ६० ॥

नरेश्वर ! ये अविनाशी पुरुष नारायण ही अकर्ता, कर्ता, कार्य तथा कारण हैं। ये जैसा चाहते हैं, वैसे ही क्रीड़ा करते हैं ॥ ६० ॥

एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम ।
मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गुरुकृपासे ज्ञात हुए अनन्य भक्तिरूप धर्मका वर्णन किया है। जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये इस धर्मका ज्ञान होना बहुत ही कठिन है ॥ ६१ ॥

एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप ।
यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात् कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥
अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः ।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! भगवान्‌के अनन्य भक्त दुर्लभ हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष बहुत नहीं हुआ करते। कुरुनन्दन ! यदि सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, आत्मज्ञानी, अहिंसक एवं अनन्य भक्तोंसे जगत् भर जाय तो यहाँ सर्वत्र सत्ययुग ही छा जाय और कहीं भी सकाम कर्मोंका अनुष्ठान न हो ॥ ६२-६३ ॥

एवं स भगवान् व्यासो गुरुर्मम विशाम्पते ।
कथयामास धर्मज्ञो धर्मराज्ञे द्विजोत्तमः ॥ ६४ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजञ्शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार मेरे धर्मज्ञ गुरु द्विजश्रेष्ठ भगवान् व्यासने श्रीकृष्ण और भीष्मके सुनते हुए ऋषि-मुनियोंके समीप धर्मराजको इस धर्मका उपदेश किया था ॥ ६४½ ॥

तस्याप्यकथयत् पूर्वं नारदः सुमहातपाः ॥ ६५ ॥
देवं परमकं ब्रह्म श्वेतं चन्द्राभमच्युतम् ।
यत्र चैकान्तिनो यान्ति नारायणपरायणाः ॥ ६६ ॥

राजन् ! उनसे भी प्राचीनकालमें महातपस्वी नारदजीने इसका प्रतिपादन किया था। नारायणकी आराधनामें लगे हुए अनन्य भक्त चन्द्रमाके समान गौरवर्णवाले उन्हीं परब्रह्मस्वरूप भगवान् अच्युतको प्राप्त होते हैं ॥६५-६६½॥

जनमेजय उवाच

एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।
न कुर्वन्ति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों-द्वारा सेवित जो यह अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न धर्म है, इसे नाना प्रकारके व्रतोंमें लगे हुए दूसरे ब्राह्मण क्यों आचरणमें नहीं लाते हैं ? ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तिस्रः प्रकृतयो राजन् देहबन्धेषु निर्मिताः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव भारत ॥ ६८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतनन्दन ! शरीरके बन्धनमें बँधे हुए जो जीव हैं, उनके लिये ईश्वरने तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ बनायी हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी ॥ ६८ ॥

देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्वह ।
सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥

पुरुषसिंह ! कुरुकुलधुरंधर वीर ! इन तीन प्रकृतियों-वाले जीवोंमें जो सात्त्विकी प्रकृतिसे युक्त सात्त्विक पुरुष है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि वही मोक्षका निश्चित अधिकारी है ॥ ६९ ॥

अत्रापि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मवित्तमम् ।
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ७० ॥

यहाँ भी वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि परमपुरुष नारायण सर्वोत्तम वेदवेत्ता हैं और मोक्षके परम आश्रय भगवान् नारायण ही हैं, इसीलिये वह मनुष्य सात्त्विक माना गया है ॥ ७० ॥

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥

भगवान् नारायणके आश्रित उनका अनन्य भक्त

अपने मनके अभीष्ट भगवान् पुरुषोत्तमका निरन्तर चिन्तन करता हुआ उनको प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२॥

मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो कोई भी मनीषी यति हैं तथा जिनकी तृष्णाका सर्वथा नाश हो गया है, उनके योग-क्षेमका भार स्वयं भगवान् नारायण वहन करते हैं ॥ ७२ ॥

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः॥ ७३॥

जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जिस पुरुषको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपा-दृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिये । वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है ॥ ७३ ॥

सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः ।
नारायणात्मके मोक्षे ततो यान्ति परां गतिम् ॥ ७४॥

एकान्त भक्तोंद्वारा सेवित धर्म सांख्य और योगके तुल्य है । उसके सेवनसे मनुष्य नारायणस्वरूप मोक्षमें ही परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत् पुमान् ।
एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते ॥ ७५ ॥

राजन् ! जिसपर भगवान् नारायणकी कृपादृष्टि हो जाती है, वह पुरुष ही ज्ञानवान् होता है । इस तरह अपनी इच्छा-मात्रसे कोई ज्ञानी नहीं होता ॥ ७५ ॥

राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती स्मृते ।
तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशाम्पते ॥ ७६ ॥
प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम् ।

प्रजानाथ ! राजसी और तामसी—ये दो प्रकृतियाँ दोषोंसे मिश्रित होती हैं । जो पुरुष राजस और तामस प्रकृतिसे युक्त होकर जन्म धारण करता है, वह प्रायः सकाम कर्ममें प्रवृत्तिके लक्षणोंसे युक्त होता है । अतः भगवान् श्रीहरि उसकी ओर नहीं देखते ॥ ७६½ ॥

पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ७७ ॥
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम् ।

ऐसा पुरुष जब जन्म लेता है, तब उसपर लोकपितामह ब्रह्माकी कृपादृष्टि होती है (और वे उसे प्रवृत्तिमार्गमें नियुक्त कर देते हैं) । उसका मन रजोगुण और तमोगुणके प्रवाहमें डूबा रहता है ॥ ७७½ ॥

कामं देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ॥ ७८ ॥
हीनाः सत्त्वेन शुद्धेन ततो वैकारिकाः स्मृताः ।

नृपश्रेष्ठ ! देवता और ऋषि कामनायुक्त सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं । उनमें भी शुद्ध सत्त्वगुणकी कमी होती है, इसलिये वे वैकारिक माने जाते हैं ॥ ७८½ ॥

जनमेजय उवाच

कथं वैकारिको गच्छेत् पुरुषः पुरुषोत्तमम् ॥ ७९ ॥
वद सर्वं यथादृष्टं प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ।

जनमेजयने पूछा—मुने ! वैकारिक पुरुष भगवान् पुरुषोत्तमको कैसे प्राप्त कर सकता है ? यह सब आप अपने अनुभवके अनुसार बताइये और उसकी प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ ७९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुसूक्ष्मं सत्त्वसंयुक्तं संयुक्तं त्रिभिरक्षरैः ॥ ८० ॥
पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायनजीने कहा—जो अत्यन्त सूक्ष्म, सत्त्व-गुणसे संयुक्त तथा अकार, उकार और मकार—इन तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणवस्वरूप है, उस परम पुरुष परमात्माको पचीसवाँ तत्त्वरूप पुरुष (जीवात्मा) कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य होनेपर प्राप्त करता है ॥ ८०½ ॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥ ८१ ॥
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला सांख्य, चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाला वेदोंका आरण्यक-भाग (उपनिषद्) तथा भक्तिमार्गका प्रतिपादन करनेवाला पाञ्चरात्र आगम—ये सब शास्त्र एक लक्ष्यके साधक होनेके कारण एक बताये जाते हैं । ये सब एक-दूसरेके अङ्ग हैं । सारे कर्मोंको भगवान् नारायणके चरणारविन्दोंमें समर्पित कर देना यह एकान्त भक्तोंका धर्म है ॥ ८१-८२ ॥

यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघा-
स्तमेव राजन् पुनराविशन्ति ।
इमे तथा ज्ञानमहाजलौघा
नारायणं वै पुनराविशन्ति ॥ ८३ ॥

राजन् ! जैसे सारे जल-प्रवाह समुद्रसे ही प्रसारको प्राप्त होते हैं और फिर उस समुद्रमें ही आकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके महान् प्रवाह नारायणसे ही प्रकट होकर फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन ।
कुरुष्वैनं यथान्यायं यदि शक्तोऽसि भारत ॥ ८४ ॥

भरतभूषण ! कुरुनन्दन ! यह तुम्हें सात्वत-धर्मका

परिचय दिया गया है। यदि तुमसे हो सके तो यथोचित-रूपसे इस धर्मका पालन करो ॥ ८४ ॥

एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम।
श्वेतानां यतिनां चाह एकान्तगतिमव्ययाम् ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महाभाग नारदजीने मेरे गुरु व्यासजीसे श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों और काषायवस्त्रधारी संन्यासियोंकी अविनश्वर एकान्त गतिका वर्णन किया है ॥ ८५ ॥

व्यासश्चाकथयत् प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते।
स एवायं मया तुभ्यमाख्यातः प्रसृतो गुरोः ॥ ८६ ॥

व्यासजीने भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक इस धर्मका उपदेश दिया। गुरुके मुखसे प्रकट हुए उसी धर्मका मैंने यहाँ तुम्हारे लिये वर्णन किया है ॥ ८६ ॥

इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम।
यथैव त्वं तथैवान्ये भवन्तीह विमोहिताः ॥ ८७ ॥

नृपश्रेष्ठ! इस तरह यह धर्म दुष्कर है। तुम्हारी तरह दूसरे लोग भी इसके विषयमें मोहित हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

प्रजानाथ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके पालक, मोहक, संहारक तथा कारण हैं (अतः तुम उन्हींका भक्ति-भावसे भजन करो।) ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ऐकान्तिकभावेऽष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमा एवं उनके प्रति ऐकान्तिकभावविषयक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् नारायणके अंशसे सरस्वतीपुत्र अपान्तरतमाके रूपमें जन्म होनेकी और उनके प्रभावकी कथा

जनमेजय उवाच

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मर्षे! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदोंके आरण्यकभाग—ये चार प्रकारके ज्ञान सम्पूर्ण लोकोंमें प्रचलित हैं ॥ १ ॥

किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने।
प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ॥ २ ॥

मुने! क्या ये सब एक ही लक्ष्यका बोध करानेवाले हैं अथवा पृथक्-पृथक् लक्ष्यके प्रतिपादक हैं? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत् उत्तर दें और प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारं
यं द्वीपमध्ये सुतमात्मयोगात्।
पराशरात् सत्यवती महर्षिं
तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! देवी सत्यवतीने यमुनातटवर्ती द्वीपमें पराशर मुनिसे अपने शरीरका संयोग करके जिन बहुज्ञ और अत्यन्त उदार महर्षिको पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले ज्ञानसूर्यस्वरूप उन गुरुदेव व्यासजीको मेरा नमस्कार है ॥३॥

पितामहाद् यं प्रवदन्ति षष्ठं
महर्षिमार्षेयविभूतियुक्तम्।
नारायणस्यांशजमेकपुत्रं
द्वैपायनं वेद महानिधानम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीके आदिपुरुष जो नारायण हैं, उनके स्वरूपभूत जिन महर्षिको पूर्वपुरुष नारायणसे छठी पीढ़ीमें* उत्पन्न बताते हैं, जो ऋषियोंके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, नारायणके अंशसे उत्पन्न हैं, अपने पिताके एक ही पुत्र हैं और द्वीपमें उत्पन्न होनेके कारण द्वैपायन कहलाते हैं, उन वेदके महान् भण्डाररूप व्यासजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

तमादिकालेषु महाविभूति-
र्नारायणो ब्रह्ममहानिधानम्।
ससर्ज पुत्रार्थमुदारतेजा
व्यासं महात्मानमजं पुराणम् ॥ ५ ॥

प्राचीनकालमें उदार तेजस्वी, महान् वैभवसम्पन्न भगवान् नारायणने वैदिक ज्ञानकी महानिधिरूप महात्मा अजन्मा और पुराणपुरुष व्यासजीको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था ॥५॥

* १. नारायण, २. ब्रह्मा, ३. वसिष्ठ, ४. शक्ति, ५. पराशर, ६. व्यास—इस प्रकार व्यासजी छठी पीढ़ीमें उत्पन्न हुए हैं।

जनमेजय उवाच

त्वयैव कथितं पूर्वं सम्भवे द्विजसत्तम।
वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तिपुत्रः पराशरः॥ ६ ॥
पराशरस्य दायादः कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
भूयो नारायणसुतं त्वमेवैनं प्रभाषसे॥ ७ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपहीने पहले आदि-पर्वकी कथा सुनाते समय यह कहा था कि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं और अब पुनः आप इन्हें नारायण-का पुत्र बतला रहे हैं ॥ ६-७ ॥

किमतः पूर्वजं जन्म व्यासस्यामिततेजसः।
कथयस्वोत्तममते जन्म नारायणोद्भवम्॥ ८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले मुनीश्वर ! क्या अमिततेजस्वी व्यासजीका इससे पहले भी कोई जन्म हुआ था ? नारायणसे व्यासजीका जन्म कब और कैसे हुआ ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

वेदार्थान् वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः।
गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः॥ ९ ॥
कृत्वा भारतमाख्यानं तपःश्रान्तस्य धीमतः।
शुश्रूषां तत्परा राजन् कृतवन्तो वयं तदा॥ १० ॥
सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः।
अहं चतुर्थः शिष्यो वै शुको व्यासात्मजस्तथा॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मेरे धर्मिष्ठ गुरु वेदव्यास तपस्याकी निधि और ज्ञाननिष्ठ हैं । पहले वे वेदोंके अर्थका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हिमालयके एक शिखरपर रहते थे । ये महाभारत नामक इतिहासकी रचना करके तपस्या करते-करते थक गये थे । उन दिनों इन बुद्धिमान् गुरुकी सेवामें तत्पर हम पाँच शिष्य उनके साथ रहते थे । सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम धर्मका पालन करनेवाले पैल, चौथा मैं और पाँचवें व्यासपुत्र शुकदेव थे ॥ ९—११ ॥

एभिः परिवृतो व्यासः शिष्यैः पञ्चभिरुत्तमैः।
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा॥ १२ ॥

इन पाँच उत्तम शिष्योंसे घिरे हुए व्यासजी हिमालयके शिखरपर भूतोंसे परिवेष्टित भूतनाथ भगवान् शिवके समान शोभा पाते थे ॥ १२ ॥

वेदानावर्तयन् साङ्गान् भारतार्थांश्च सर्वशः।
तमेकमनसं दान्तं युक्ता वयमुपास्महे॥ १३ ॥

वहाँ व्यासजी अङ्गोंसहित सब वेदों तथा महाभारतके अर्थोंकी आवृत्ति करते और हम सब शिष्योंको पढ़ाते थे एवं हम सब लोग सदा उद्यत रहकर उन एकाग्रचित्त एवं जितेन्द्रिय गुरुकी सेवा करते थे ॥ १३ ॥

कथान्तरेऽथ कस्मिंश्चित् पृष्टोऽस्माभिर्द्विजोत्तमः।
वेदार्थान् भारतार्थांश्च जन्म नारायणात् तथा॥ १४ ॥

एक दिन किसी बातचीतके प्रसङ्गमें हमलोगोंने द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे वेदों और महाभारतका अर्थ तथा भगवान् नारायणसे उनके जन्म होनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १४ ॥

स पूर्वमुक्त्वा वेदार्थान् भारतार्थांश्च तत्त्ववित्।
नारायणादिदं जन्म व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञानी व्यासजीने पहले हमें वेदों और महाभारतका अर्थ बताया । उसके बाद भगवान् नारायणसे अपने जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार बताना आरम्भ किया—॥ १५ ॥

शृणुध्वमाख्यानवरमिदमार्षेयमुत्तमम्।
आदिकालोद्भवं विप्रास्तपसाधिगतं मया॥ १६ ॥

'विप्रगण ! ऋषिसम्बन्धी यह उत्तम आख्यान सुनो । प्राचीन कालका यह वृत्तान्त मैंने तपस्याके द्वारा जाना है ॥ १६॥

प्राप्ते प्रजाविसर्गे वै सप्तमे पद्मसम्भवे।
नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः॥ १७ ॥
ससृजे नाभितः पूर्वं ब्रह्माणममितप्रभः।
ततः स प्रादुरभवदथैनं वाक्यमब्रवीत्॥ १८ ॥

'जब सातवें कल्पके आरम्भमें सातवीं बार ब्रह्माजीके कमलसे जन्म-ग्रहण करनेका अवसर आया, तब शुभ और अशुभसे रहित अमिततेजस्वी महायोगी भगवान् नारायणने सबसे पहले अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया । जब ब्रह्माजी प्रकट हो गये, तब उनसे भगवान्ने यह बात कही—॥ १७-१८ ॥

मम त्वं नाभितो जातः प्रजासर्गकरः प्रभुः।
सृज प्रजास्त्वं विविधा ब्रह्मन् सजडपण्डिताः॥ १९ ॥

''ब्रह्मन् ! तुम मेरी नाभिसे प्रजावर्गकी सृष्टि करनेके लिये उत्पन्न हुए हो और इस कार्यमें समर्थ हो; अतः जड-चेतनसहित नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ १९ ॥

स एवमुक्तो विमुखश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
प्रणम्य वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम्॥ २० ॥

'भगवान्‌के इस प्रकार आदेश देनेपर ब्रह्माजीका मन चिन्तासे व्याकुल हो उठा । वे सृष्टिकार्यसे विमुख हो वरदायक देवता सर्वेश्वर श्रीहरिको प्रणाम करके इस प्रकार बोले—॥२०॥

का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते।
अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम्॥ २१ ॥

''देवेश्वर ! मुझमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी क्या शक्ति है ! आपको नमस्कार है । देव ! मैं सृष्टिविषयक बुद्धिसे सर्वथा

रहित हूँ—यह जानकर अब आपको जो उचित जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २१ ॥

स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथान्तर्हितस्ततः।
चिन्तयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः ॥ २२ ॥

'ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर भगवान् विष्णुने अदृश्य होकर बुद्धिका चिन्तन किया ॥ २२ ॥

स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम्।
योगेन चैनां निर्योगः स्वयं नियुयुजे तदा ॥ २३ ॥

'उनके चिन्तन करते ही मूर्तिमती बुद्धि उन सामर्थ्यशाली श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हो गयी। तदनन्तर जिनपर दूसरोंका वश नहीं चलता, उन भगवान् नारायणने स्वयं ही उस बुद्धिको उस समय योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया। २३।

स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम्।
उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः ॥ २४ ॥

'अविनाशी प्रभु नारायणदेवने ऐश्वर्ययोगमें स्थित हुई उस सती-साध्वी प्रगतिशील बुद्धिसे कहा—॥ २४ ॥

ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।
ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं विवेश सा ॥ २५ ॥

''तुम संसारकी सृष्टिरूप अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्माजीके भीतर प्रवेश करो।' ईश्वरका यह आदेश पाकर बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माजीमें प्रवेश कर गयी ॥ २५ ॥

अथैनं बुद्धिसंयुक्तं पुनः स ददृशे हरिः।
भूयश्चैव वचः प्राह सृजेमा विविधाः प्रजाः ॥ २६ ॥

'जब ब्रह्माजी सृष्टिविषयक बुद्धिसे संयुक्त हो गये, तब श्रीहरिने पुनः उनकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा और फिर इस प्रकार कहा—'अब तुम इन नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ २६ ॥

बाढमित्येव कृत्वासौ यथाऽऽज्ञां शिरसा हरेः।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने श्रीहरिकी आज्ञा शिरोधार्य की। इस प्रकार उन्हें सृष्टिका आदेश देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

प्राप चैनं मुहूर्तेन संस्थानं देवसंज्ञितम्।
तां चैव प्रकृतिं प्राप्य एकीभावगतोऽभवत् ॥ २८ ॥

'वे एक ही मुहूर्तमें अपने देवधाममें जा पहुँचे और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो उसके साथ एकीभूत हो गये ॥ २८ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् पुनरन्या तदा किल।
सृष्टाः प्रजा इमाः सर्वा ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ २९ ॥

'तदनन्तर कुछ कालके बाद भगवान्‌के मनमें फिर दूसरा विचार उठा। वे सोचने लगे; परमेष्ठी ब्रह्माने इन समस्त प्रजाओंकी सृष्टि तो कर दी ॥ २९ ॥

दैत्यदानवगन्धर्वरक्षोगणसमाकुला।
जाता हीयं वसुमती भाराक्रान्ता तपस्विनी ॥ ३० ॥

'किंतु दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षसोंसे व्याप्त हुई यह तपस्विनी पृथ्वी भारसे पीड़ित हो गयी है ॥ ३० ॥

बहवो बलिनः पृथ्व्यां दैत्यदानवराक्षसाः।
भविष्यन्ति तपोयुक्ता वरान् प्राप्स्यन्ति चोत्तमान् ॥ ३१ ॥

'इस पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे बलवान् दैत्य, दानव और राक्षस होंगे, जो तपस्यामें प्रवृत्त हो उत्तमोत्तम वर प्राप्त करेंगे ॥

अवश्यमेव तैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितैः।
बाधितव्याः सुरगणा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३२ ॥

'वरदानसे घमंडमें आकर वे समस्त दानव निश्चय ही देवसमूहों तथा तपोधन ऋषियोंको बाधा पहुँचायेंगे ॥ ३२ ॥

तत्र न्याय्यमिदं कर्तुं भारावतरणं मया।
अथ नानासमुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

'अतः अब मुझे पृथ्वीपर क्रमशः नाना अवतार धारण करके इसके भारको उतारना उचित होगा ॥ ३३ ॥

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च।
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥ ३४ ॥

'पापियोंको दण्ड देने और साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेसे यह तपस्विनी सत्यस्वरूपा पृथ्वी बलसे टिकी रह सकेगी ॥ ३४ ॥

मया ह्येषा हि ध्रियते पातालस्थेन भोगिना।
मया धृता धारयति जगद् विश्वं चराचरम् ॥ ३५ ॥

'मैं पातालमें शेषनागके रूपसे रहकर इस पृथ्वीको धारण करता हूँ और मेरेद्वारा धारित होकर यह सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को धारण करती है ॥ ३५ ॥

तस्मात् पृथ्व्याः परित्राणं करिष्ये सम्भवं गतः।
एवं स चिन्तयित्वा तु भगवान् मधुसूदनः ॥ ३६ ॥
रूपाण्यनेकान्यसृजत् प्रादुर्भावे भवाय सः।
वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा ॥ ३७ ॥
एभिर्मया निहन्तव्या दुर्विनीताः सुरारयः।

'इसलिये मैं अवतार लेकर इस पृथ्वीकी रक्षा अवश्य करूँगा। ऐसा सोच-विचारकर भगवान् मधुसूदनने जगत्‌के लिये अवतार ग्रहण करनेके निमित्त अपने अनेक रूपोंकी सृष्टि की अर्थात् वाराह, नरसिंह, वामन एवं मनुष्यरूपोंका स्मरण किया। उन्होंने यह निश्चय किया था कि मुझे इन अवतारोंद्वारा उद्दण्ड दैत्योंका वध करना है ॥ ३६-३७½ ॥

अथ भूयो जगत्स्रष्टा भोःशब्देनानुनादयन् ॥ ३८ ॥

सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत् ।
अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवः प्रभुः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर जगत्स्रष्टा श्रीहरिने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए सरस्वती (वाणी) का उच्चारण किया । इससे वहाँ सारस्वतका आविर्भाव हुआ । सरस्वती या वाणीसे उत्पन्न हुए उस शक्तिशाली पुत्रका नाम 'अपान्तरतमा' हुआ ॥ ३८-३९ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ।
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ४० ॥

'वे अपान्तरतमा भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले थे । मस्तक झुकाकर खड़े हुए उस पुत्रसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने कहा—॥ ४० ॥

वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ।
तस्मात् कुरु यथाऽऽज्ञप्तं ममैतद् वचनं मुने ॥ ४१ ॥

''बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुने ! तुम्हें वेदोंकी व्याख्याके लिये ऋक्, साम, यजुष् आदि श्रुतियोंका पृथक्-पृथक् संग्रह करना चाहिये । अतः तुम मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करो । मुझे तुमसे इतना ही कहना है' ॥ ४१ ॥

तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
ततस्तुतोष भगवान् हरिस्तेनास्य कर्मणा ॥ ४२ ॥
तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च ।
मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्तकः ॥ ४३ ॥

'अपान्तरतमाने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार वेदोंका विभाग किया । उनके इस कर्मसे तथा उनके द्वारा की हुई उत्तम तपस्या, यम और नियमसे भी भगवान् श्रीहरि बहुत संतुष्ट हुए और बोले—''बेटा ! तुम सभी मन्वन्तरोंमें इसी प्रकार धर्मके प्रवर्तक होओगे ॥ ४२-४३ ॥

भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नप्रधृष्यश्च नित्यशः ।
पुनस्तिष्ये च सम्प्राप्ते कुरवो नाम भारताः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति महात्मानो राजानः प्रथिता भुवि ।

''ब्रह्मन् ! तुम सदा ही अविचल एवं अजेय बने रहोगे । फिर द्वापर और कलियुगकी संधिका समय आनेपर भरतवंशमें कुरुवंशी क्षत्रिय होंगे । वे महामनस्वी राजा समस्त भूमण्डलमें विख्यात होंगे ॥ ४४½ ॥

तेषां त्वत्तः प्रसूतानां कुलभेदो भविष्यति ॥ ४५ ॥
परस्परविनाशार्थं त्वामृते द्विजसत्तम ।

''द्विजश्रेष्ठ ! उनमेंसे जो लोग तुम्हारी संतानोंके वंशज होंगे, उनमें परस्पर विनाशके लिये फूट हो जायगी । तुम्हारे सहयोगके बिना उनमें विग्रह होगा ॥ ४५½ ॥

तत्राप्यनेकधा वेदान् भेत्स्यसे तपसान्वितः ॥ ४६ ॥
कृष्णे युगे च सम्प्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि ।

''उस समय भी तुम तपोबलसे सम्पन्न हो वेदोंके अनेक विभाग करोगे । उस समय कलियुग आ जानेपर तुम्हारे शरीरका वर्ण काला होगा ॥ ४६½ ॥

धर्माणां विविधानां च कर्ता ज्ञानकरस्तथा ।
भविष्यसि तपोयुक्तो न च रागाद् विमोक्ष्यसे ॥ ४७ ॥

''तुम नाना प्रकारके धर्मोंके प्रवर्तक, ज्ञानदाता और तपस्वी होओगे, परंतु रागसे सर्वथा मुक्त नहीं रहोगे ॥ ४७ ॥

वीतरागश्च पुत्रस्ते परमात्मा भविष्यति ।
महेश्वरप्रसादेन नैतद् वचनमन्यथा ॥ ४८ ॥

''तुम्हारा पुत्र भगवान् महेश्वरकी कृपासे वीतराग होकर परमात्मस्वरूप हो जायगा । मेरी यह बात टल नहीं सकती ॥

यं मानसं वै प्रवदन्ति विप्राः
पितामहस्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
वसिष्ठमग्र्यं च तपोनिधानं
यस्यातिसूर्यं व्यतिरिच्यते भाः ॥ ४९ ॥
तस्यान्वये चापि ततो महर्षिः
पराशरो नाम महाप्रभावः ।
पिता स ते वेदनिधिर्वरिष्ठो
महातपा वै तपसो निवासः ॥ ५० ॥

''जिन्हें ब्राह्मणलोग ब्रह्माजीका मानसपुत्र कहते हैं, जो उत्तम बुद्धिसे युक्त, तपस्याकी निधि एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठमुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका तेज भगवान् सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाशित होता है, उन्हीं ब्रह्मर्षि वसिष्ठके वंशमें पराशर नामवाले महान् प्रभावशाली महर्षि होंगे । वे वैदिक ज्ञानके भण्डार, मुनियोंमें श्रेष्ठ, महान् तपस्वी एवं तपस्याके आवासस्थान होंगे । वे ही पराशर मुनि उस समय तुम्हारे पिता होंगे ।४९-५०।

कानीनगर्भः पितृकन्यकायां
तस्मादृषेस्त्वं भविता च पुत्रः ॥ ५१ ॥

''उन्हीं ऋषिसे तुम पिताके घरमें रहनेवाली एक कुमारी कन्याके पुत्ररूपसे जन्म लोगे और कानीनगर्भ (कन्याकी संतान) कहलाओगे ॥ ५१ ॥

भूतभव्यभविष्याणां छिन्नसर्वार्थसंशयः ।
ये ह्यतिक्रान्तकाः पूर्वं सहस्रयुगपर्ययाः ॥ ५२ ॥
तांश्च सर्वान् मयोद्दिष्टान् द्रक्ष्यसे तपसान्वितः ।
पुनर्द्रक्ष्यसि चानेकसहस्रयुगपर्ययान् ॥ ५३ ॥

''भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी विषयोंमें तुम्हारा संशय नष्ट हो जायगा । पहले जो सहस्र युगोंके कल्प व्यतीत हो चुके हैं, उन सबको मेरी आज्ञासे तुम देख सकोगे और तपो-

बलसे सम्पन्न बने रहोगे। भविष्यमें होनेवाले अनेक कल्प भी तुम्हें दृष्टिगोचर होंगे ॥ ५२-५३ ॥

अनादिनिधनं लोके चक्रहस्तं च मां मुने।
अनुध्यानान्मम मुने नैतद् वचनमन्यथा ॥ ५४ ॥

''मुने! तुम निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे जगत्में मुझ अनादि और अनन्त परमेश्वरको चक्र हाथमें लिये देखोगे। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं होगी ॥ ५४ ॥

भविष्यति महासत्त्व ख्यातिश्चाप्यतुला तव।
शनैश्चरः सूर्यपुत्रो भविष्यति मनुर्महान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन्मन्वन्तरे चैव मन्वादिगणपूर्वकः।
त्वमेव भविता वत्स मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ५६ ॥

''महान् शक्तिशाली मुनीश्वर! जगत्में तुम्हारी अनुपम ख्याति होगी। वत्स! जब सूर्यपुत्र शनैश्चर मन्वन्तरके प्रवर्तक हो महामनुके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, उस मन्वन्तरमें तुम्हीं मेरे कृपा-प्रसादसे मन्वादि गणोंमें प्रधान होओगे। इसमें संशय नहीं है ॥

यत्किंचिद् विद्यते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम्।
अन्यो ह्यन्यं चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम् ॥ ५७ ॥

''संसारमें जो कुछ हो रहा है, वह सब मेरी ही चेष्टाका फल है। दूसरे लोग दूसरी-दूसरी बातें सोचते रहते हैं, परंतु मैं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करता हूँ' ॥

एवं सारस्वतमृषिमपान्तरतमं तथा।
उक्त्वा वचनमीशानः साधयस्वेत्यथाब्रवीत् ॥ ५८ ॥

'सरस्वती-पुत्र अपान्तरतम मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् उन्हें विदा करते हुए बोले—'जाओ, अपना काम करो' ॥५८॥

सोऽहं तस्य प्रसादेन देवस्य हरिमेधसः।
अपान्तरतमा नाम ततो जातोऽऽज्ञया हरेः।
पुनश्च जातो विख्यातो वसिष्ठकुलनन्दनः ॥ ५९ ॥

'इस प्रकार मैं भगवान् विष्णुके कृपा-प्रसादसे पहले अपान्तरतमा नामसे उत्पन्न हुआ था और अब उन्हीं श्रीहरिकी आज्ञासे पुनः वसिष्ठकुलनन्दन व्यासके नामसे उत्पन्न होकर प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५९ ॥

तदेतत् कथितं जन्म मया पूर्वकमात्मनः।
नारायणप्रसादेन तथा नारायणांशजम् ॥ ६० ॥

'नारायणकी कृपासे और उन्हींके अंशसे जो पहले मेरा जन्म हुआ था, उसका यह वृत्तान्त मैंने तुम सब लोगोंसे कहा है ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम्।
पुरा मतिमतां श्रेष्ठाः परमेण समाधिना ॥ ६१ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण! पूर्वकालमें मैंने उत्तम समाधिके द्वारा अत्यन्त कठोर एवं बड़ी भारी तपस्या की थी ॥

एतद् वः कथितं सर्वं यन्मां पृच्छत पुत्रकाः।
पूर्वजन्म भविष्यं च भक्तानां स्नेहतो मया ॥ ६२ ॥

'पुत्रो! तुमलोग मुझसे जो कुछ पूछते थे, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। तुम गुरुभक्त शिष्योंके स्नेहवश ही मैंने यह अपने पूर्वजन्म और भविष्यका वृत्तान्त तुम्हें बताया है' ।६२।

वैशम्पायन उवाच

एष ते कथितः पूर्वं सम्भवोऽस्मद्गुरोर्नृप।
व्यासस्याक्लिष्टमनसो यथा पृष्टः पुनः शृणु ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर! तुमने जैसा मुझसे प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने पहले क्लेशरहित चित्तवाले अपने गुरु व्यासजीके जन्मका वृत्तान्त कहा है। अब दूसरी बातें सुनो ॥ ६३ ॥

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ ६४ ॥

राजर्षे! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपत-शास्त्र—इन ज्ञानोंको तुम नाना प्रकारके मत समझो ॥ ६४ ॥

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥

सांख्यशास्त्रके वक्ता कपिल हैं। वे परमऋषि कहलाते हैं। योगशास्त्रके पुरातन ज्ञाता हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ही हैं, दूसरा नहीं ॥ ६५ ॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥ ६६ ॥

मुनिवर अपान्तरतमा वेदोंके आचार्य बताये जाते हैं। यहाँ कुछ लोग उन महर्षिको प्राचीनगर्भ कहते हैं ॥ ६६ ॥

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥ ६७ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति भगवान् शिवने शान्तचित्त होकर पाशुपतज्ञानका उपदेश किया है ।६७।

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥ ६८ ॥
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः।
न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

नृपश्रेष्ठ! सम्पूर्ण पाञ्चरात्रके ज्ञाता तो साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं। यदि वेदशास्त्र और अनुभवके अनुसार विचार किया जाय तो इन सभी ज्ञानोंमें इनके परम तात्पर्यरूपसे भगवान् नारायण ही स्थित दिखायी देते हैं। प्रजानाथ! जो अज्ञानमें डूबे हुए हैं, वे लोग भगवान् श्रीहरिको इस रूपमें नहीं जानते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः।
निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥७०॥

शास्त्रके रचयिता ज्ञानीजन उन नारायण ऋषिको ही समस्त शास्त्रोंका परम लक्ष्य बताते हैं; दूसरा कोई उनके समान नहीं है—यह मेरा कथन है ॥ ७० ॥

निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।
ससंशयान् हेतुबलान् नाध्यावसति माधवः ॥ ७१ ॥

ज्ञानके बलसे जिनके संशयका निवारण हो गया है, उन सबके भीतर सदा श्रीहरि निवास करते हैं; परंतु कुतर्कके बलसे जो संशयमें पड़े हुए हैं, उनके भीतर भगवान् माधवका निवास नहीं है ॥ ७१ ॥

पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! जो पाञ्चरात्रके ज्ञाता हैं और उसमें बताये हुए क्रमके अनुसार सेवापरायण हो अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें प्राप्त हैं, वे उन भगवान् श्रीहरिमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ७२ ॥

सांख्यं च योगं च सनातने द्वे
वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन्।
सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो
नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! सांख्य और योग—ये दो सनातन शास्त्र तथा सम्पूर्ण वेद सर्वथा यही कहते हैं और समस्त ऋषियोंने भी यही बताया है कि यह पुरातन विश्व भगवान् नारायण ही हैं ॥ ७२ ॥

शुभाशुभं कर्म समीरितं यत्
प्रवर्तते सर्वलोकेषु किञ्चित्।
तस्मादृषेस्तद्भवतीति विद्याद्
दिव्यन्तरिक्षे भुवि चाप्सु चेति ॥ ७४ ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूतल और जल—इन सभी स्थानोंमें और सम्पूर्ण लोकोंमें जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म होता बताया गया है, वह सब नारायणकी सत्तासे ही हो रहा है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्वैपायनोत्पत्तौ एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्वैपायनकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४९ ॥

पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वैजयन्त पर्वतपर ब्रह्मा और रुद्रका मिलन एवं ब्रह्माजीद्वारा परम पुरुष नारायणकी महिमाका वर्णन

जनमेजय उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु।
को ह्यत्र पुरुषः श्रेष्ठः को वा योनिरिहोच्यते ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुष अनेक हैं या एक ? इस जगत्‌में कौन पुरुष सबसे श्रेष्ठ है ? अथवा किसे यहाँ सबकी उत्पत्तिका स्थान बताया जाता है ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश ! सांख्य और योगकी विचारधाराके अनुसार इस जगत्‌में पुरुष अनेक हैं। वे 'एकपुरुषवाद' नहीं स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥ ३ ॥

नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ॥ ४ ॥

बहुत-से पुरुषोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही पुरुष कैसे बताया जाता है ? यह समझानेके लिये आत्मज्ञानी, तपस्वी, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय परमर्षि गुरु व्यासजीको नमस्कार करके मैं तुम्हारे सामने अधिक गुणशाली विश्वात्मा पुरुषकी व्याख्या करूँगा ॥ ३-४ ॥

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम् ॥ ५ ॥

राजन् ! यह पुरुषसम्बन्धी सूक्त तथा ऋत और सत्य सम्पूर्ण वेदोंमें विख्यात है। ऋषिसिंह व्यासने इसका भलीभाँति चिन्तन किया है ॥ ५ ॥

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥ ६ ॥

भारत ! कपिल आदि ऋषियोंने सामान्य और विशेष-

रूपमें अध्यात्म-तत्त्वका चिन्तन करके विभिन्न शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

समासतस्तु यद् व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥ ७ ॥

परंतु व्यासजीने संक्षेपसे पुरुषकी एकताका जिस तरह प्रतिपादन किया है, उसीको मैं भी उन अमिततेजस्वी गुरुके कृपा-प्रसादसे तुम्हें बताऊँगा ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्रह्मणा सह संवादं त्र्यम्बकस्य विशाम्पते ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें जानकार मनुष्य ब्रह्माजीके साथ रुद्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य मध्ये हाटकसप्रभः ।
वैजयन्त इति ख्यातः पर्वतप्रवरो नृप ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! क्षीरसागरके मध्यभागमें वैजयन्त नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ पर्वत है, जो सुवर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

तत्राध्यात्मगतिं देव एकाकी प्रविचिन्तयन् ।
वैराजसदनान्नित्यं वैजयन्तं निषेवते ॥ १० ॥

वहाँ एकाकी ब्रह्मा अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेके लिये ब्रह्मलोकसे प्रतिदिन आते और उस वैजयन्त पर्वतका सेवन करते थे ॥ १० ॥

अथ तत्रासतस्तस्य चतुर्वक्त्रस्य धीमतः ।
ललाटप्रभवः पुत्रः शिव आगाद् यदृच्छया ॥ ११ ॥
आकाशेन महायोगी पुरा त्रिनयनः प्रभुः ।
ततः खान्निपपाताशु धरणीधरमूर्धनि ॥ १२ ॥

पहले एक दिन बुद्धिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजी जब वहाँ बैठे हुए थे, उसी समय उनके ललाटसे उत्पन्न हुए पुत्र महायोगी त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव अनायास ही आकाश-मार्गसे घूमते हुए वैजयन्तपर्वतके सामने आये और शीघ्र ही आकाशसे उस पर्वतशिखरपर उतर पड़े ॥ ११-१२ ॥

अग्रतश्चाभवत् प्रीतो ववन्दे चापि पादयोः ।
तं पादयोर्निपतितं दृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ १३ ॥
उत्थापयामास तदा प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
उवाच चैनं भगवांश्चिरस्यागतमात्मजम् ॥ १४ ॥

सामने ब्रह्माजीको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। भगवान् शिवको अपने चरणोंमें पड़ा देख उस समय एकमात्र सर्वसमर्थ भगवान् प्रजापतिने दाहिने हाथसे उन्हें उठाया और दीर्घकालके पश्चात् अपने निकट आये हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मेऽन्तिकम् ।
कच्चित् ते कुशलं पुत्र स्वाध्यायतपसोः सदा ॥ १५ ॥
नित्यमुग्रतपास्त्वं हि ततः पृच्छामि ते पुनः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है। सौभाग्यसे मेरे निकट आये हो। बेटा ! तुम्हारा स्वाध्याय और तप सदा सकुशल चल रहा है न ? तुम सर्वदा कठोर तपस्यामें ही लगे रहते हो; इसलिये मैं तुमसे बारंबार तपके विषयमें पूछता हूँ ॥ १५-१६ ॥

रुद्र उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् स्वाध्यायतपसोर्मम ।
कुशलं चाव्ययं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १७ ॥

रुद्रने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे स्वाध्याय और तप सकुशल चल रहे हैं; कभी भङ्ग नहीं हुए हैं। सम्पूर्ण जगत् भी कुशल-क्षेमसे है ॥ १७ ॥

चिरदृष्टो हि भगवान् वैराजसदने मया ।
ततोऽहं पर्वतं प्राप्तस्त्विमं त्वत्पादसेवितम् ॥ १८ ॥

प्रभो ! बहुत दिन हुए, मैंने ब्रह्मलोकमें आपका दर्शन किया था। इसीलिये आज आपके चरणोंद्वारा सेवित इस पर्वतपर पुनः दर्शनके लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

कौतूहलं चापि हि मे एकान्तगमनेन ते ।
नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति पितामह ॥ १९ ॥

पितामह ! आपके एकान्तमें जानेसे मेरे मनमें बड़ा कौतूहल पैदा हुआ। मैंने सोचा, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होगा ॥ १९ ॥

किं नु तत्सदनं श्रेष्ठं क्षुत्पिपासाविवर्जितम् ।
सुरासुरैरध्युषितं ऋषिभिश्चामितप्रभैः ॥ २० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सततं संनिषेवितम् ।
उत्सृज्येमं गिरिवरमेकाकी प्राप्तवानसि ॥ २१ ॥

क्या कारण है कि क्षुधा-पिपासासे रहित उस श्रेष्ठ धामको, जहाँ निरन्तर देवता, असुर, अमिततेजस्वी ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं, छोड़कर आप अकेले इस श्रेष्ठ पर्वतपर चले आये हैं ? ॥ २०-२१ ॥

ब्रह्मोवाच

वैजयन्तो गिरिवरः सततं सेव्यते मया ।
अत्रैकाग्रेण मनसा पुरुषश्चिन्त्यते विराट् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वत्स ! मैं इन दिनों गिरिवर वैजयन्तका जो निरन्तर सेवन कर रहा हूँ, इसका कारण यह है कि यहाँ एकाग्रचित्तसे विराट् पुरुषका चिन्तन किया करता हूँ ॥ २२ ॥

रुद्र उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट् ॥ २३ ॥

रुद्र बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वयम्भू हैं । आपने बहुत-से पुरुषोंकी सृष्टि की है और अभी दूसरे-दूसरे पुरुषोंकी सृष्टि करते जा रहे हैं । वह विराट् भी तो एक पुरुष ही है, फिर उसमें क्या विशेषता है ? ॥ २३ ॥

को ह्यसौ चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ।
एतन्मे संशयं ब्रूहि महत् कौतूहलं हि मे ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप जिन एक पुरुषोत्तमका चिन्तन करते हैं, वे कौन हैं ? मेरे इस संशयका समाधान कीजिये । इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २४ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पुरुषाः पुत्र त्वया ये समुदाहृताः ।
एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्यपि ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! तुमने जिन बहुत-से पुरुषोंका उल्लेख किया है, उनके विषयमें तुम्हारा यह कथन ठीक ही है । जिनकी सृष्टि मैं करता हूँ, उनका चिन्तन मैं क्यों करूँगा ? ॥ २५ ॥

आधारं तु प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य ते ।
बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते ॥ २६ ॥

मैं तुम्हें उस एक पुरुषके सम्बन्धमें बताऊँगा, जो सबका आधार है और जिस प्रकार वह बहुत-से पुरुषोंका एकमात्र कारण बताया जाता है ॥ २६ ॥

तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमहत्तमम् ।
निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम् ॥ २७ ॥

जो लोग साधन करते-करते गुणातीत हो जाते हैं, वे ही उस विश्वरूप, अत्यन्त महान्, सनातन एवं निर्गुण परम पुरुषमें प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ब्रह्मरुद्रसंवादे पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाके प्रसङ्गमें ब्रह्मा तथा रुद्रका संवादविषयक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५० ॥

एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मा और रुद्रके संवादमें नारायणकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन

ब्रह्मोवाच

शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।
अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! यह विराट् पुरुष जिस प्रकार सनातन, अविकारी, अविनाशी, अप्रमेय और सर्वव्यापी बताया जाता है, वह सुनो ॥ १ ॥

न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम ।
सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥

साधुशिरोमणे ! तुम, मैं अथवा दूसरे लोग भी उस सगुण-निर्गुण विश्वात्मा पुरुषको इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकते । वे ज्ञानसे ही देखने योग्य माने गये हैं ॥ २ ॥

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥

वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित होकर भी सम्पूर्ण शरीरोंमें निवास करते हैं और उन शरीरोंमें रहते हुए भी कभी उनके कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ ४ ॥

वे मेरे, तुम्हारे तथा दूसरे जो देहधारी संज्ञावाले जीव हैं, उनके भी अन्तरात्मा हैं । सबके साक्षी वे पुरुषोत्तम श्रीहरि कहीं किसीके द्वारा भी पकड़में नहीं आते ॥ ४ ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विश्व ही उनका मस्तक, भुजा, पैर, नेत्र और नासिका है । वे स्वच्छन्द विचरनेवाले एकमात्र पुरुषोत्तम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ ५ ॥

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् ।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ६ ॥

वे योगात्मा श्रीहरि क्षेत्रसंज्ञक शरीरोंको और शुभाशुभ कर्मरूप उनके कारणको भी जानते हैं, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ॥ ६ ॥

नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेषु केनचित्।
सांख्येन विधिना चैव योगेन च यथाक्रमम्॥ ७ ॥
चिन्तयामि गतिं चास्य न गतिं वेद्मि चोत्तराम्।
यथाज्ञानं तु वक्ष्यामि पुरुषं तु सनातनम्॥ ८ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी यह नहीं जान पाता कि वे किस तरह शरीरोंमें आते और जाते हैं? मैं क्रमशः सांख्य और योगकी विधिसे उनकी गतिका चिन्तन करता हूँ; परंतु उस उत्कृष्ट गतिको समझ नहीं पाता। तथापि मुझे जैसा अनुभव है, उसके अनुसार उस सनातन पुरुषका वर्णन करता हूँ ॥ ७-८ ॥

तस्यैकत्वं महत्त्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः॥ ९ ॥

उनमें एकत्व भी है और महत्त्व भी; अतः एकमात्र वे ही पुरुष माने गये हैं। एक सनातन श्रीहरि ही महापुरुष नाम धारण करते हैं ॥ ९ ॥

एको हुताशो बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका।
एको वायुर्बहुधा वाति लोके
महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः।
पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूप-
स्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति॥ १० ॥

अग्नि एक ही है; परंतु वह अनेक रूपोंमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित होती है। एक ही सूर्य सारे जगत्को ताप एवं प्रकाश देते हैं। तप अनेक प्रकारका है; परंतु उसका मूल एक ही है। एक ही वायु इस जगत्में विविध रूपसे प्रवाहित होती है तथा समस्त जलोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान समुद्र भी एक ही है। उसी प्रकार वह निर्गुण विश्वरूप पुरुष भी एक ही है। उसी निर्गुण पुरुषमें सबका लय होता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम्।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः॥ ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदि समस्त गुणमय पदार्थोंकी ममता छोड़कर शुभाशुभ कर्मको त्यागकर तथा सत्य और मिथ्या दोनोंका परित्याग करके ही कोई साधक निर्गुण हो सकता है ॥

अचिन्त्यं चापि तं ज्ञात्वा भावसूक्ष्मं चतुष्टयम्।
विचरेद् योऽसमुन्नद्धः स गच्छेत् पुरुषं शुभम्॥ १२ ॥

जो चारों सूक्ष्म भावोंसे युक्त उस निर्गुण पुरुषको अचिन्त्य जानकर अहङ्कारशून्य होकर विचरण करता है, वही कल्याणमय परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।
एकात्मानं तथाऽऽत्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः॥ १३ ॥

इस प्रकार कुछ विद्वान् (अपनेसे भिन्न) परमात्माको पाना चाहते हैं। कुछ अपनेसे अभिन्न परमात्मा--एकात्माको पानेकी इच्छा रखते हैं तथा दूसरे विचारक केवल आत्माको ही जानना या पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥ १४ ॥

इनमें जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है। उसीको नारायण नामसे जानना चाहिये। वही सर्वात्मा पुरुष है ॥ १४ ॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥ १५ ॥

जैसे कमलका पत्ता पानीमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा कर्मफलोंसे निर्लिप्त रहता है। परंतु जो कर्मोंका कर्ता है एवं बन्धन और मोक्षसे सम्बन्ध जोड़ता है, वह जीवात्मा उससे भिन्न है ॥ १५ ॥

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः।
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम्॥ १६ ॥

उसीका पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके राशिभूत सूक्ष्म शरीरसे संयोग होता है। वही कर्मभेदसे देव-तिर्यक् आदि भावोंको प्राप्त होनेके कारण बहुविध बताया गया है। इस प्रकार तुम्हें क्रमशः पुरुषकी एकता और अनेकताकी बात बतायी गयी ॥

यत् तत्कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम
वेद्यं परं बोधनीयं स बोद्धा।
मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं
घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम्॥ १७ ॥

जो लोकतन्त्रका सम्पूर्ण धाम या प्रकाशक है, वह परम पुरुष ही वेदनीय (जाननेयोग्य) परम तत्त्व है। वही ज्ञाता और वही ज्ञातव्य है। वही मनन करनेवाला और वही मननीय वस्तु है। वही भोक्ता और वही भोज्य पदार्थ है। वही सूँघनेवाला और वही सूँघनेयोग्य वस्तु है। वही स्पर्श करनेवाला तथा वही स्पर्शके योग्य वस्तु है ॥ १७ ॥

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं
ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च।
यद् वै प्रोक्तं तात सम्यक् प्रधानं
नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च॥ १८ ॥

वही द्रष्टा और द्रष्टव्य है। वही सुनानेवाला और सुनाने-योग्य वस्तु है। वही ज्ञाता और ज्ञेय है तथा वही सगुण और निर्गुण है। तात ! जिसे सम्यक् प्रधान तत्त्व कहा गया है, वह भी यह पुरुष ही है। यह नित्य सनातन और अविनाशी तत्त्व है ॥ १८ ॥

यद् वै सूते धातुराद्यं विधानं
तद् वै विप्राः प्रवदन्तेऽनिरुद्धम्।
यद् वै लोके वैदिकं कर्म साधु
आशीर्युक्तं तद्धि तस्यैव भाव्यम्॥ १९ ॥

वही मुझ विधाताके आदि विधानको उत्पन्न करता है। विद्वान् ब्राह्मण उसीको अनिरुद्ध कहते हैं। लोकमें सकाम भावसे जो वैदिक सत्कर्म किये जाते हैं, वे उस अनिरुद्धात्मा पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही होते हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ १९ ॥

देवाः सर्वे मुनयः साधु शान्ता-
स्तं प्राग्वंशे यज्ञभागैर्यजन्ते।
अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां
तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः ॥ २० ॥

सम्पूर्ण देवता और शान्त स्वभाववाले मुनि यज्ञशालामें यज्ञभागोंद्वारा उसीका यजन करते हैं। मैं प्रजाओंका आदि ईश्वर ब्रह्मा उसी परम पुरुषसे उत्पन्न हुआ हूँ और मुझसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है ॥ २० ॥

मत्तो जगज्जङ्गमं स्थावरं च
सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्र ॥ २१ ॥

पुत्र ! मुझसे यह चराचर जगत् तथा रहस्यसहित सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए हैं ॥ २१ ॥

चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति।
एवं स भगवान् स्वेन ज्ञानेन प्रतिबोधितः ॥ २२ ॥

वासुदेव आदि चार व्यूहोंमें विभक्त हुए वे परम पुरुष ही जैसी इच्छा होती है, वैसी क्रीड़ा करते हैं। इसी तरह वे भगवान् अपने ही ज्ञानसे जाननेमें आते हैं ॥ २२ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः।
सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम् ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यथावत्‌रूपसे ये सब बातें बतायी हैं। सांख्य और योगमें इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन किया गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीयसमाप्तौ एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका उपसंहारविषयक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदके द्वारा इन्द्रको उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी कथा सुनानेका उपक्रम

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता मोक्षधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हति मे भवान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपके बतलाये हुए कल्याणमय मोक्षसम्बन्धी धर्मोंका मैंने श्रवण किया। अब आप आश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले मनुष्योंके लिये जो सबसे उत्तम धर्म हो, उसका उपदेश करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं महत्।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सभी आश्रमोंमें स्वधर्म-पालनका विधान है, सबमें स्वर्गका तथा महान् सत्यफल—मोक्षका भी साधन है। धर्मके यज्ञ, दान, तप आदि बहुत-से द्वार हैं; अतः इस जगत्‌में धर्मकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो मनुष्य जिस-जिस विषय-स्वर्ग या मोक्षके लिये साधन करके उसमें सुनिश्चित सफलताको प्राप्त कर लेता है, उसी साधन या धर्मको वह श्रेष्ठ समझता है, दूसरेको नहीं ॥ ३ ॥

इमां च त्वं नरव्याघ्र श्रोतुमर्हसि मे कथाम्।
पुरा शक्रस्य कथितां नारदेन महर्षिणा ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, उसे सुनो। पूर्वकालमें महर्षि नारदने इन्द्रको वह कथा सुनायी थी ॥ ४ ॥

महर्षिर्नारदो राजन् सिद्धस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
पर्येति क्रमशो लोकान् वायुरव्याहतो यथा ॥ ५ ॥

राजन् ! महर्षि नारद तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित सिद्ध पुरुष हैं । वायुके समान उनकी सर्वत्र अबाधित गति है । वे क्रमशः सभी लोकोंमें घूमते रहते हैं ॥ ५ ॥

स कदाचिन्महेष्वास देवराजालयं गतः ।
सत्कृतश्च महेन्द्रेण प्रत्यासन्नगतोऽभवत् ॥ ६ ॥

महाधनुर्धर नरेश ! एक समय वे नारदजी देवराज इन्द्रके यहाँ पधारे । इन्द्रने उन्हें अपने समीप ही बिठाकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ६ ॥

तं कृतक्षणमासीनं पर्यपृच्छच्छचीपतिः ।
महर्षे किंचिदाश्चर्यमस्ति दृष्टं त्वयानघ ॥ ७ ॥

जब नारदजी थोड़ी देर बैठकर विश्राम ले चुके, तब शचीपति इन्द्रने पूछा—'निष्पाप महर्षे ! इधर आपने कोई आश्चर्यजनक घटना देखी है क्या ?॥ ७ ॥

यदा त्वमपि विप्रर्षे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
जातकौतूहलो नित्यं सिद्धश्चरसि साक्षिवत् ॥ ८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सिद्ध पुरुष हैं और कौतूहलवश चराचर प्राणियोंसे युक्त तीनों लोकोंमें सदा साक्षीकी भाँति विचरते रहते हैं ॥ ८ ॥

न ह्यस्त्यविदितं लोके देवर्षे तव किंचन ।
श्रुतं वाप्यनुभूतं वा दृष्टं वा कथयस्व मे ॥ ९ ॥

'देवर्षे ! जगत्‌में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो । यदि आपने कोई अद्भुत बात देखी हो, सुनी हो अथवा अनुभव की हो तो वह मुझे बताइये' ॥ ९ ॥

तस्मै राजन् सुरेन्द्राय नारदो वदतां वरः ।
आसीनायोपपन्नाय प्रोक्तवान् विपुलां कथाम् ॥ १० ॥

राजन् ! उनके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने अपने पास ही बैठे हुए सुरेन्द्रको एक विस्तृत कथा सुनायी ॥ १० ॥

यथा येन च कल्पेन स तस्मै द्विजसत्तमः ।
कथां कथितवान् पृष्टस्तथा त्वमपि मे शृणु ॥ ११ ॥

इन्द्रके पूछनेपर द्विजश्रेष्ठ नारदने उन्हें जैसे और जिस ढंगसे वह कथा कही थी, वैसे ही मैं भी कहूँगा । तुम भी मेरी कही हुई उस कथाको ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

महापद्मपुरमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके सदाचारका वर्णन और उसके घरपर अतिथिका आगमन

भीष्म उवाच

आसीत् किल नरश्रेष्ठ महापद्मे पुरोत्तमे ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे कश्चिद् विप्रः समाहितः ॥ १ ॥
सौम्यः सोमान्वये वेदे गताध्वा छिन्नसंशयः ।
धर्मनित्यो जितक्रोधो नित्यतृप्तो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
तपःस्वाध्यायनिरतः सत्यः सज्जनसम्मतः ।
न्यायप्राप्तेन वित्तेन स्वेन शीलेन चान्वितः ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! (नारदजीने जो कथा सुनायी, वह इस प्रकार है—) गङ्गाके दक्षिणतटपर महापद्म नामक कोई श्रेष्ठ नगर है । वहाँ एक ब्राह्मण रहता था । वह एकाग्रचित्त और सौम्य स्वभावका मनुष्य था । उसका जन्म चन्द्रमाके कुलमें—अत्रिगोत्रमें हुआ था । वेदमें उसकी अच्छी गति थी और उसके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वह सदा धर्मपरायण, क्रोधरहित, नित्य संतुष्ट, जितेन्द्रिय, तप और स्वाध्यायमें संलग्न, सत्यवादी और सत्पुरुषोंके सम्मानका पात्र था । न्यायोपार्जित धन और अपने ब्राह्मणोचित शीलसे सम्पन्न था ॥ १—३ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिविपुले सत्त्वाद्याश्रयसम्मिते ।
कुले महति विख्याते विशिष्टां वृत्तिमास्थितः ॥ ४ ॥

उसके कुलमें सगे-सम्बन्धियोंकी संख्या अधिक थी । सभी लोग सत्त्वप्रधान सद्गुणोंका सहारा लेकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे । उस महान् एवं विख्यात कुलमें रहकर वह उत्तम आजीविकाके सहारे जीवन-निर्वाह करता था ॥ ४ ॥

स पुत्रान् बहुलान् दृष्ट्वा विपुले कर्मणि स्थितः ।
कुलधर्माश्रितो राजन् धर्मचर्यास्थितोऽभवत् ॥ ५ ॥

राजन् ! उसने देखा कि मेरे बहुत-से पुत्र हो गये, तब वह लौकिक कार्यसे विरक्त हो महान् कर्ममें संलग्न हो गया

और अपने कुलधर्मका आश्रय ले धर्माचरणमें ही तत्पर रहने लगा ॥ ५ ॥

ततः स धर्मं वेदोक्तं तथा शास्त्रोक्तमेव च ।
शिष्टाचीर्णं च धर्मं च त्रिविधं चिन्त्य चेतसा ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसने वेदोक्त धर्म, शास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म—इन तीन प्रकारके धर्मोंपर मन-ही-मन विचार करना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

किन्नु मे स्याच्छुभं कृत्वा किं कृतं किं परायणम् ।
इत्येवं खिद्यते नित्यं न च याति विनिश्चयम् ॥ ७ ॥

'क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा ? मेरा क्या कर्तव्य है तथा कौन मेरे लिये परम आश्रय है ?' इस प्रकार वह सदा सोचते-सोचते खिन्न हो जाता था; परंतु किसी निर्णयपर नहीं पहुँच पाता था ॥ ७ ॥

तस्यैवं खिद्यमानस्य धर्मं परममास्थितः ।
कदाचिदतिथिः प्राप्तो ब्राह्मणः सुसमाहितः ॥ ८ ॥

एक दिन जब वह इसी तरह सोच-विचारमें पड़ा हुआ कष्ट पा रहा था, उसके यहाँ एक परम धर्मात्मा तथा एकाग्रचित्त ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ पहुँचा ॥ ८ ॥

स तस्मै सत्क्रियां चक्रे क्रियायुक्तेन हेतुना ।
विश्रान्तं सुसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने उस अतिथिका क्रियायुक्त हेतु (शास्त्रोक्त विधि) से आदर-सत्कार किया और जब वह सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगा, तब उससे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा स्वर्गके विभिन्न मार्गोंका कथन

ब्राह्मण उवाच

समुत्पन्नाभिधानोऽस्मि वाङ्माधुर्येण तेऽनघ ।
मित्रत्वमभिपन्नस्त्वं किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला—निष्पाप ! आपकी मीठी बातें सुनकर ही मैं आपके प्रति स्नेह-बन्धनसे बँध गया हूँ। आपके ऊपर मेरा मित्रभाव हो गया है; अतः आपसे कुछ कह रहा हूँ, मेरी बात सुनिये ॥ १ ॥

गृहस्थधर्मं विप्रेन्द्र कृत्वा पुत्रगतं त्वहम् ।
धर्मं परमकं कुर्यां को हि मार्गो भवेद् द्विज ॥ २ ॥

विप्रवर ! मैं गृहस्थधर्मको अपने पुत्रोंके अधीन करके सर्वश्रेष्ठ धर्मका पालन करना चाहता हूँ। ब्रह्मन् ! बताइये, मेरे लिये कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर होगा ? ॥ २ ॥

अहमात्मानमास्थाय एक एवात्मनि स्थितिम् ।
कर्तुं काङ्क्षामि नेच्छामि बद्धः साधारणैर्गुणैः ॥ ३ ॥

कभी मेरी इच्छा होती है कि अकेला ही रहूँ और आत्माका आश्रय लेकर उसीमें स्थित हो जाऊँ ? परंतु इन तुच्छ विषयोंसे बँधा होनेके कारण वह इच्छा नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यावदेतदतीतं मे वयः पुत्रफलाश्रितम् ।
तावदिच्छामि पाथेयमादातुं पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

अबतककी सारी आयु पुत्रसे फल पानेकी कामनामें ही बीत गयी । अब ऐसे धर्ममय धनका संग्रह करना चाहता हूँ, जो परलोकके मार्गमें पाथेय (राहखर्च) का काम दे सके ॥ ४ ॥

अस्मिन् हि लोकसम्भारे परं पारमभीप्सतः ।
उत्पन्ना मे मतिरियं कुतो धर्ममयः प्लवः ॥ ५ ॥

मुझे इस संसारसागरसे पार जानेकी इच्छा हुई है, अतः मेरे मनमें यह जिज्ञासा हो रही है कि मुझे धर्ममयी नौका कहाँसे प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

संयुज्यमानानि निशम्य लोके
निर्यात्यमानानि च सात्त्विकानि ।
दृष्ट्वा तु धर्मध्वजकेतुमालां
प्रकीर्यमाणामुपरि प्रजानाम् ॥ ६ ॥
न मे मनो रज्यति भोगकाले
दृष्ट्वा यतीन् प्रार्थयतः परत्र ।
तेनातिथे बुद्धिबलाश्रयेण
धर्मेण धर्मे विनियुङ्क्ष्व मां त्वम् ॥ ७ ॥

जब मैं सुनता हूँ कि संसारमें विषयोंके सम्पर्कमें आये हुए सात्त्विक पुरुष भी तरह-तरहकी यातनाएँ भोगते हैं तथा जब देखता हूँ कि समस्त प्रजाके ऊपर यमराजकी

ध्वजाएँ फहरा रही हैं, तब भोगकालमें भोगोंके प्राप्त होनेपर भी उन्हें भोगनेकी रुचि मेरे मनमें नहीं होती है। जब संन्यासियोंको भी दूसरोंके दरवाजोंपर अन्न-वस्त्रकी भीख माँगते देखता हूँ, तब उस संन्यासधर्ममें भी मेरा मन नहीं लगता है; अतः अतिथिदेव ! आप अपनी ही बुद्धिके बलसे अब मुझे धर्मद्वारा धर्ममें लगाइये ॥ ६-७ ॥

सोऽतिथिर्वचनं तस्य श्रुत्वा धर्माभिभाषिणः।
प्रोवाच वचनं श्लक्ष्णं प्राज्ञो मधुरया गिरा ॥ ८ ॥

धर्मयुक्त वचन बोलनेवाले उस ब्राह्मणकी बात सुनकर उस विद्वान् अतिथिने मधुर वाणीमें यह उत्तम वचन कहा ॥ ८ ॥

अतिथिरुवाच

अहमप्यत्र मुह्यामि ममाप्येष मनोरथः।
न च संनिश्चयं यामि बहुद्वारे त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरा भी ऐसा ही मनोरथ है। मैं भी आपकी ही भाँति श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ, परंतु मुझे भी इस विषयमें मोह ही बना हुआ है। स्वर्गके अनेक द्वार (साधन) हैं, अतः किसका आश्रय लिया जाय ? इसका निश्चय मैं भी नहीं कर पाता हूँ ॥ ९ ॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् यज्ञफलं द्विजाः।
वानप्रस्थाश्रयाः केचिद् गार्हस्थ्यं केचिदाश्रिताः॥१०॥

कोई द्विज मोक्षकी प्रशंसा करते हैं तो कोई यज्ञफलकी। कोई वानप्रस्थधर्मका आश्रय लेते हैं तो कोई गार्हस्थ्यधर्मका ॥ १० ॥

राजधर्माश्रयं केचित् केचिदात्मफलाश्रयम्।
गुरुधर्माश्रयं केचित्केचिद् वाक्संयमाश्रयम् ॥ ११ ॥

कोई राजधर्म, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरुशुश्रूषा और कोई मौनव्रतका ही आश्रय लिये बैठे हैं ॥ ११ ॥

मातरं पितरं केचिच्छुश्रूषन्तो दिवं गताः।
अहिंसया परे स्वर्गं सत्येन च तथा परे ॥ १२ ॥

कुछ लोग माता-पिताकी सेवा करके ही स्वर्गमें चले गये। कोई अहिंसासे और कोई सत्यसे ही स्वर्गलोकके भागी हुए हैं ॥ १२ ॥

आहवेऽभिमुखाः केचिन्निहतास्त्रिदिवं गताः।
केचिदुञ्छव्रतैः सिद्धाः स्वर्गमार्गं समाश्रिताः॥ १३ ॥

कुछ वीर पुरुष युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए मारे जाकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं। कितने ही मनुष्य उञ्छवृत्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके स्वर्गगामी हुए हैं ॥ १३ ॥

केचिदध्ययने युक्ता वेदव्रतपराः शुभाः।
बुद्धिमन्तो गताः स्वर्गं तुष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥

कुछ बुद्धिमान् पुरुष संतुष्टचित्त और जितेन्द्रिय हो वेदोक्त व्रतका पालन तथा स्वाध्याय करते हुए शुभसम्पन्न हो स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर चुके हैं ॥ १४ ॥

आर्जवेनापरे युक्ता निहतानार्जवैर्जनैः।
ऋजवो नाकपृष्ठे वै शुद्धात्मानः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥

कितने ही सरल और शुद्धात्मा पुरुष सरलतासे ही संयुक्त हो कुटिल मनुष्योंद्वारा मारे गये और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ १५ ॥

एवं बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतैः।
ममापि मतिराविग्ना मेघलेखेव वायुना ॥ १६ ॥

इस प्रकार लोकमें धर्मके विविध एवं बहुत-से दरवाजे खुले हुए हैं, उनसे मेरी बुद्धि भी उसी प्रकार उद्विग्न एवं चञ्चल हो उठी है, जैसे वायुसे मेघोंकी घटा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक
तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा नागराज पद्मनाभके सदाचार और सद्गुणोंका वर्णन तथा ब्राह्मणको उसके पास जानेके लिये प्रेरणा

अतिथिरुवाच

उपदेशं तु ते विप्र करिष्येऽहं यथाक्रमम्।
गुरुणा मे यथाख्यातमर्थतत्त्वं तु मे शृणु ॥ १ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरे गुरुने इस विषयमें जो तात्त्विक बात बतलायी है, उसीका मैं तुमको क्रमशः उपदेश करूँगा। तुम मेरे इस कथनको सुनो ॥ १ ॥

यत्र पूर्वाभिसर्गे वै धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ।
नैमिषे गोमतीतीरे तत्र नागाह्वयं पुरम् ॥ २ ॥
समग्रैस्त्रिदशैस्तत्र इष्टमासीद् द्विजर्षभ ।
यत्रेन्द्रातिक्रमं चक्रे मान्धाता राजसत्तमः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वकल्पमें जहाँ प्रजापतिने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था, सम्पूर्ण देवताओंने जहाँ यज्ञ किया था तथा जहाँ राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता यज्ञ करनेमें इन्द्रसे भी आगे बढ़ गये थे, उस नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर नागपुर नामक एक नगर है ॥ २-३ ॥

कृताधिवासो धर्मात्मा तत्र चक्षुःश्रवा महान् ।
पद्मनाभो महानागः पद्म इत्येव विश्रुतः ॥ ४ ॥

वहाँ एक महान् धर्मात्मा सर्प निवास करता है । उस महानागका नाम तो है पद्मनाभ; परंतु पद्म नामसे ही उसकी प्रसिद्धि है ॥ ४ ॥

स वाचा कर्मणा चैव मनसा च द्विजर्षभ ।
प्रसादयति भूतानि त्रिविधे वर्त्मनि स्थितः ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पद्म मन, वाणी और क्रियाद्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों मार्गोंका आश्रय लेकर रहता और सम्पूर्ण भूतोंको प्रसन्न रखता है ॥ ५ ॥

साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनेति चतुर्विधम् ।
विषमस्थं समस्थं च चक्षुर्ध्यानेन रक्षति ॥ ६ ॥

वह विषमतापूर्ण बर्ताव करनेवाले पुरुषको साम, दान, दण्ड और भेद-नीतिके द्वारा राहपर लाता है, समदर्शीकी रक्षा करता है और नेत्र आदि इन्द्रियोंको विचारके द्वारा कुमार्गमें जानेसे बचाता है ॥ ६ ॥

तमतिक्रम्य विधिना प्रष्टुमर्हसि काङ्क्षितम् ।
स ते परमकं धर्मं न मिथ्या दर्शयिष्यति ॥ ७ ॥

तुम उसीके पास जाकर विधिपूर्वक अपना मनोवाञ्छित प्रश्न पूछो । वह तुम्हें परम उत्तम धर्मका दर्शन करायेगा; मिथ्या धर्मका उपदेश नहीं करेगा ॥ ७ ॥

स हि सर्वातिथिर्नागो बुद्धिशास्त्रविशारदः ।
गुणैरनुपमैर्युक्तः समस्तैराभिकामिकैः ॥ ८ ॥

वह नाग बड़ा बुद्धिमान् और शास्त्रोंका पण्डित है । सबका अतिथि-सत्कार करता है । समस्त अनुपम तथा वाञ्छनीय सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ८ ॥

प्रकृत्या नित्यसलिलो नित्यमध्ययने रतः ।
तपोदमाभ्यां संयुक्तो वृत्तेनानवरेण च ॥ ९ ॥

स्वभाव तो उसका पानीके समान है । वह सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है । तप, इन्द्रिय-संयम तथा उत्तम आचार-विचारसे संयुक्त है ॥ ९ ॥

यज्वा दानपतिः क्षान्तो वृत्ते च परमे स्थितः ।
सत्यवागनसूयुश्च शीलवान्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

वह यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला, दानियोंका शिरोमणि, क्षमाशील, श्रेष्ठ सदाचारमें संलग्न, सत्यवादी, दोषदृष्टिसे रहित, शीलवान् और जितेन्द्रिय है ॥ १० ॥

शेषान्नभोक्ता वचनानुकूलो
हितार्जवोत्कृष्टकृताकृतज्ञः ।
अवैरकृद् भूतहिते नियुक्तो
गङ्गाह्रदाम्भोऽभिजनोपपन्नः ॥ ११ ॥

यज्ञशेष अन्नका वह भोजन करता है, अनुकूल वचन बोलता है, हित और सरलभावसे रहता है । उत्कृष्ट कर्तव्य और अकर्तव्यको जानता है, किसीसे भी वैर नहीं करता है । समस्त प्राणियोंके हितमें लगा रहता है तथा वह गङ्गाजीके समान पवित्र एवं निर्मल कुलमें उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिके वचनोंसे संतुष्ट होकर ब्राह्मणका उसके कथनानुसार नागराजके घरकी ओर प्रस्थान

ब्राह्मण उवाच

अतिभारोऽद्य तस्यैव भारावतरणं महत् ।
पराश्वासकरं वाक्यमिदं मे भवतः श्रुतम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—अतिथिदेव ! मुझपर बड़ा भारी बोझ-सा लदा हुआ था, उसे आज आपने उतार दिया । यह बहुत बड़ा कार्य हो गया । आपकी यह बात जो मैंने सुनी है, दूसरोंको पूर्ण सान्त्वना प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

अध्वक्लान्तस्य शयनं स्थानक्लान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधार्तस्य च भोजनम् ॥ २ ॥

राह चलनेसे थके हुए बटोहीको शय्या, खड़े-खड़े जिसके

पैर दुख रहे हों, उसके लिये बैठनेका आसन, प्यासेको पानी और भूखसे पीड़ित मनुष्यको भोजन मिलनेसे जितना संतोष होता है, उतनी ही प्रसन्नता मुझे आपकी यह बात सुनकर हुई है ॥ २ ॥

ईप्सितस्येव सम्प्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः।
एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्यैव सुतो यथा ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तितस्येव प्रीतिस्निग्धस्य दर्शनम्।
प्रह्लादयति मां वाक्यं भवता यदुदीरितम् ॥ ४ ॥

भोजनके समय मनोवाञ्छित अन्नकी प्राप्ति होनेसे अतिथिको, समयपर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे अपने मनको, पुत्रकी प्राप्ति होनेसे वृद्धको तथा मनसे जिसका चिन्तन हो रहा हो, उस प्रेमी मित्रका दर्शन होनेसे मित्रको जितना आनन्द प्राप्त होता है, आज आपने जो बात कही है, वह मुझे उतना ही आनन्द दे रही है ॥ ३-४ ॥

दृष्टचक्षुरिवाकाशे पश्यामि विमृशामि च।
प्रज्ञानवचनाद्योऽयमुपदेशो हि मे कृतः ॥ ५ ॥

आपने मुझे यह उपदेश क्या दिया, अन्धेको आँख दे दी। आपके इस ज्ञानमय वचनको सुनकर मैं आकाशकी ओर देखता और कर्तव्यका विचार करता हूँ ॥ ५ ॥

बाढमेवं करिष्यामि यथा मे भाषते भवान्।
इमां हि रजनीं साधो निवसस्व मया सह ॥ ६ ॥
प्रभाते यास्यति भवान् पर्याश्वस्तः सुखोषितः।
असौ हि भगवान् सूर्यो मन्दरश्मिरवाङ्मुखः ॥ ७ ॥

विद्वन्! आप मुझे जैसी सलाह दे रहे हैं, अवश्य ऐसा ही करूँगा। साधो! वे भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। उनकी किरणें मन्द हो गयी हैं; अतः आप इस रातमें मेरे साथ यहीं रहिये और सुखपूर्वक विश्राम करके भलीभाँति अपनी थकावट दूर कीजिये; फिर सबेरे अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइयेगा ॥ ६-७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तेन कृतातिथ्यः सोऽतिथिः शत्रुसूदन।
उवास किल तां रात्रिं सह तेन द्विजेन वै ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—शत्रुसूदन! तदनन्तर वह अतिथि उस ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर वहीं उस ब्राह्मणके साथ रहा ॥ ८ ॥

चतुर्थधर्मसंयुक्तं तयोः कथयतोस्तदा।
व्यतीता सा निशा कृत्स्ना सुखेन दिवसोपमा ॥ ९ ॥

मोक्षधर्मके सम्बन्धमें बातें करते हुए उन दोनोंकी वह सारी रात दिनके समान ही बड़े सुखसे बीत गयी ॥ ९ ॥

ततः प्रभातसमये सोऽतिथिस्तेन पूजितः।
ब्राह्मणेन यथाशक्त्या स्वकार्यमभिकाङ्क्षता ॥ १० ॥

फिर सबेरा होनेपर अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले उस ब्राह्मणद्वारा यथाशक्ति सम्मानित हो वह अतिथि चला गया ॥

ततः स विप्रः कृतकर्मनिश्चयः
कृताभ्यनुज्ञः स्वजनेन धर्मकृत्।
यथोपदिष्टं भुजगेन्द्रसंश्रयं
जगाम काले सुकृतैकनिश्चयः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वह धर्मात्मा ब्राह्मण अपने अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेका निश्चय करके स्वजनोंकी अनुमति ले अतिथिके बताये अनुसार यथासमय नागराजके घरकी ओर चल दिया। उसने अपने शुभ कार्यको सिद्ध करनेका एक दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागपत्नीके द्वारा ब्राह्मणका सत्कार और वार्तालापके बाद ब्राह्मणके द्वारा नागराजके आगमनकी प्रतीक्षा

भीष्म उवाच

स वनानि विचित्राणि तीर्थानि च सरांसि च।
अभिगच्छन् क्रमेण स्म कंचिन्मुनिमुपस्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वह ब्राह्मण क्रमशः अनेकानेक विचित्र वनों, तीर्थों और सरोवरोंको लाँघता हुआ किसी मुनिके आश्रमपर उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

तं स तेन यथोद्दिष्टं नागं विप्रेण ब्राह्मणः।
पर्यपृच्छद् यथान्यायं श्रुत्वैव च जगाम सः ॥ २ ॥

उस मुनिसे ब्राह्मणने अपने अतिथिके बताये हुए नागका पता पूछा। मुनिने जो कुछ बताया, उसे

यथावत्‌रूपसे सुनकर वह पुनः आगे बढ़ा ॥ २ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं नागायतनमर्थवित्।
प्रोक्तवानहमस्मीति भोःशब्दालंकृतं वचः॥ ३ ॥

अपने उद्देश्यको ठीक-ठीक समझनेवाला वह ब्राह्मण विधिपूर्वक यात्रा करके नागके घरपर जा पहुँचा। घरके द्वारपर पहुँचकर उसने 'भोः' शब्दसे विभूषित वचन बोलते हुए पुकार लगायी—'कोई है? मैं यहाँ द्वारपर आया हूँ' ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा रूपिणी धर्मवत्सला।
दर्शयामास तं विप्रं नागपत्नी पतिव्रता॥ ४ ॥

उसकी वह बात सुनकर धर्मके प्रति अनुराग रखनेवाली नागराजकी परम सुन्दरी पतिव्रता पत्नीने उस ब्राह्मणको दर्शन दिया ॥ ४ ॥

सा तस्मै विधिवत् पूजां चक्रे धर्मपरायणा।
स्वागतेनागतं कृत्वा किं करोमीति चाब्रवीत्॥ ५ ॥

उस धर्मपरायणा सतीने ब्राह्मणका विधिपूर्वक पूजन किया और स्वागत करते हुए कहा—'ब्राह्मणदेव! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' ॥ ५ ॥

ब्राह्मण उवाच

विश्रान्तोऽभ्यर्चितश्चास्मि भवत्या श्लक्ष्णया गिरा।
द्रष्टुमिच्छामि भवति देवं नागमनुत्तमम्॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि! आपने मधुर वाणीसे मेरा स्वागत और पूजन किया। इससे मेरी सारी थकावट दूर हो गयी। अब मैं परम उत्तम नागदेवका दर्शन करना चाहता हूँ ॥

एतद्धि परमं कार्यमेतन्मे परमेप्सितम्।
अनेन चार्थेनास्म्यद्य सम्प्राप्तः पन्नगाश्रमम्॥ ७ ॥

यही मेरा सबसे बड़ा कार्य है और यही मेरा महान् मनोरथ है, मैं इसी उद्देश्यसे आज नागराजके इस आश्रमपर आया हूँ ॥ ७ ॥

नागभार्योवाच

आर्यः सूर्यरथं वोढुं गतोऽसौ मासचारिकः।
सप्ताष्टभिर्दिनैर्विप्र दर्शयिष्यत्यसंशयम्॥ ८ ॥

नागपत्नीने कहा—विप्रवर! मेरे माननीय पतिदेव सूर्यदेवका रथ ढोनेके लिये गये हुए हैं। वर्षमें एक बार एक मासतक उन्हें यह कार्य करना पड़ता है। पंद्रह दिनोंमें ही वे यहाँ दर्शन देंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

एतद्विदितमार्यस्य विवासकरणं तव।
भर्तुर्भवतु किं चान्यत् क्रियतां तद् वदस्व मे॥ ९ ॥

मेरे पतिदेव—आर्यपुत्रके प्रवासका यह कारण आपको विदित हो। उनके दर्शनके सिवा और क्या काम है? यह मुझे बताइये; जिससे वह पूर्ण किया जाय ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

अनेन निश्चयेनाहं साध्वि सम्प्राप्तवानिह।
प्रतीक्षन्नागमं देवि वत्स्याम्यस्मिन् महावने॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—सती-साध्वी देवि! मैं उनके दर्शन करनेका निश्चय करके ही यहाँ आया हूँ; अतः उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं इस महान् बनमें निवास करूँगा ॥ १० ॥

सम्प्राप्तस्यैव चाव्यग्रमावेद्योऽहमिहागतः।
ममाभिगमनं प्राप्तो वाच्यश्च वचनं त्वया॥ ११ ॥

जब नागराज यहाँ आ जायँ, तब उन्हें शान्तभावसे यह बतला देना चाहिये कि मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें ऐसी बात उनसे कहनी चाहिये, जिससे वे मेरे निकट आकर मुझे दर्शन दें ॥ ११ ॥

अहमप्यत्र वत्स्यामि गोमत्याः पुलिने शुभे।
कालं परिमिताहारो यथोक्तं परिपालयन्॥ १२ ॥

मैं भी यहाँ गोमतीके सुन्दर तटपर परिमित आहार करके तुम्हारे बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करता हुआ निवास करूँगा ॥ १२ ॥

ततः स विप्रस्तां नागीं समाधाय पुनः पुनः।
तदेव पुलिनं नद्याः प्रययौ ब्राह्मणर्षभः॥ १३ ॥

तदनन्तर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण नागपत्नीको बारंबार (नागराजको भेजनेके लिये) जताकर गोमती नदीके तटपर ही चला गया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजके दर्शनके लिये ब्राह्मणकी तपस्या तथा नागराजके परिवारवालोंका भोजनके लिये ब्राह्मणसे आग्रह करना

भीष्म उवाच

अथ तेन नरश्रेष्ठ ब्राह्मणेन तपस्विना।
निराहारेण वसता दुःखितास्ते भुजङ्गमाः॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! तदनन्तर गोमतीके

तटपर रहता हुआ वह ब्राह्मण निराहार रहकर तपस्या करने लगा। उसके भोजन न करनेसे वहाँ रहनेवाले नागोंको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

सर्वे सम्भूय सहिता ह्यस्य नागस्य बान्धवाः।
भ्रातरस्तनया भार्या ययुस्तं ब्राह्मणं प्रति ॥ २ ॥

तब नागराजके भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र सब मिलकर उस ब्राह्मणके पास गये ॥ २ ॥

तेऽपश्यन् पुलिने तं वै विविक्ते नियतव्रतम्।
समासीनं निराहारं द्विजं जप्यपरायणम् ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, ब्राह्मण गोमतीके तटपर एकान्त प्रदेशमें व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो निराहार बैठा हुआ है और मन्त्रका जप कर रहा है ॥ ३ ॥

ते सर्वे समतिक्रम्य विप्रमभ्यर्च्य चासकृत्।
ऊचुर्वाक्यमसंदिग्धमातिथेयस्य बान्धवाः ॥ ४ ॥

अतिथि-सत्कारके लिये प्रसिद्ध हुए नागराजके सब भाई-बन्धु ब्राह्मणके पास जा उसकी बारंबार पूजा करके संदेह-रहित वाणीमें बोले—॥ ४ ॥

षष्ठो हि दिवसस्तेऽद्य प्राप्तस्येह तपोधन।
न चाभिभाषसे किंचिदाहारं धर्मवत्सल ॥ ५ ॥

'धर्मवत्सल तपोधन ! आपको यहाँ आये आज छः दिन हो गये; किंतु अभीतक आप कुछ भोजन लानेके लिये हमें आज्ञा नहीं दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्मानभिगतश्चासि वयं च त्वामुपस्थिताः।
कार्यं चातिथ्यमस्माभिर्वयं सर्वे कुटुम्बिनः ॥ ६ ॥

'आप हमारे घर अतिथिके रूपमें आये हैं और हम आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं। आपका आतिथ्य करना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि हम सब लोग गृहस्थ हैं ॥ ६ ॥

मूलं फलं वा पर्णं वा पयो वा द्विजसत्तम।
आहारहेतोरन्नं वा भोक्तुमर्हसि ब्राह्मण ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणदेव ! आप क्षुधाकी निवृत्तिके लिये हमारे लाये हुए फल-मूल, साग, दूध अथवा अन्नको अवश्य ग्रहण करनेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

त्यक्ताहारेण भवता वने निवसता त्वया।
बालवृद्धमिदं सर्वं पीड्यते धर्मसंकटात् ॥ ८ ॥

'इस वनमें रहकर आपने भोजन छोड़ दिया है। इससे हमारे धर्ममें बाधा आती है। बालकसे लेकर वृद्धतक हम सब लोगोंको इस बातसे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ८ ॥

न हि नो भ्रूणहा कश्चिज्जातापत्यनृतोऽपि वा।
पूर्वाशी वा कुले ह्यस्मिन् देवतातिथिबन्धुषु ॥ ९ ॥

'हमारे इस कुलमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने कभी भ्रूणहत्या की हो, जिसकी संतान पैदा होकर मर गयी हो, जिसने मिथ्या भाषण किया हो अथवा जो देवता, अतिथि एवं बन्धुओंको अन्न देनेके पहले ही भोजन कर लेता हो' ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपदेशेन युष्माकमाहारोऽयं कृतो मया।
द्विरूनं दशरात्रं वै नागस्यागमनं प्रति ॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—नागगण ! आपलोगोंके इस उपदेशसे ही मैं तृप्त हो गया । आपलोग ऐसा समझें कि मैंने यह आहार ही प्राप्त कर लिया। नागराजके आनेमें केवल आठ रातें बाकी हैं ॥ १० ॥

यद्यष्टरात्रेऽतिक्रान्ते नागमिष्यति पन्नगः।
तदाहारं करिष्यामि तन्निमित्तमिदं व्रतम् ॥ ११ ॥

यदि आठ रात बीत जानेपर भी नागराज नहीं आयेंगे तो मैं भोजन कर लूँगा। उनके आगमनके लिये ही मैंने यह व्रत लिया है ॥ ११ ॥

कर्तव्यो न च संतापो गम्यतां च यथागतम्।
तन्निमित्तमिदं सर्वं नैतद् भेत्तुमिहार्हथ ॥ १२ ॥

आपलोगोंको इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। आप जैसे आये हैं, वैसे ही घर लौट जाइये । नागराजके दर्शनके लिये ही मेरा यह सारा व्रत और नियम है। अतः आपलोग इसे भङ्ग न करें ॥ १२ ॥

ते तेन समनुज्ञाता ब्राह्मणेन भुजङ्गमाः।
स्वमेव भवनं जग्मुरकृतार्था नरर्षभ ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे नाग अपने प्रयत्नमें असफल हो घरको ही लौट गये ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका घर लौटना, पत्नीके साथ उनकी धर्मविषयक बातचीत तथा पत्नीका उनसे ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये अनुरोध

भीष्म उवाच

अथ काले बहुतिथे पूर्णे प्राप्तो भुजङ्गमः।
दत्ताभ्यनुज्ञः स्वं वेश्म कृतकर्मा विवस्वता॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर कई दिनोंका समय पूरा होनेपर जब नागराजका काम पूरा हो गया, तब सूर्यदेवकी आज्ञा पाकर वे अपने घरको लौटे॥ १॥

तं भार्याप्युपचक्राम पादशौचादिभिर्गुणैः।
उपपन्नां च तां साध्वीं पन्नगः पर्यपृच्छत॥ २॥

वहाँ नागराजकी पत्नी पैर धोनेके लिये जल—पाद्य आदि उत्तम सामग्रियोंके साथ पतिकी सेवामें उपस्थित हुई। अपनी साध्वी पत्नीको समीप आयी देख नागराजने पूछा—॥

अथ त्वमसि कल्याणि देवतातिथिपूजने।
पूर्वमुक्तेन विधिना युक्ता युक्तेन मत्समम्॥ ३॥

'कल्याणि! मेरे द्वारा बतायी हुई उपयुक्त विधिसे युक्त हो तुम मेरे ही समान देवताओं और अतिथियोंके पूजनमें तत्पर तो रही हो न?॥ ३॥

न खल्वस्यकृतार्थेन स्त्रीबुद्ध्या मार्दवीकृता।
मद्वियोगेन सुश्रोणि विमुक्ता धर्मसेतुना॥ ४॥

'सुन्दरि! मेरे वियोगने तुम्हें शिथिल तो नहीं कर दिया था? तुम्हारी स्त्री-बुद्धिके कारण कहीं धर्मकी मर्यादा असफल या अरक्षित तो नहीं रह गयी और उसके कारण तुम धर्म-पालनसे विमुख या दूर तो नहीं हो गयीं?॥ ४॥

नागभार्योवाच

शिष्याणां गुरुशुश्रूषा विप्राणां वेदधारणम्।
भृत्यानां स्वामिवचनं राज्ञो लोकानुपालनम्॥ ५॥

नागपत्नीने कहा—शिष्योंका धर्म है गुरुकी सेवा करना, ब्राह्मणोंका धर्म है वेदोंको धारण करना, सेवकोंका धर्म है स्वामीकी आज्ञाका पालन तथा राजाका धर्म है प्रजावर्गका सतत संरक्षण॥ ५॥

सर्वभूतपरित्राणं क्षत्रधर्म इहोच्यते।
वैश्यानां यज्ञसंवृत्तिरातिथेयसमन्विता॥ ६॥

इस जगत्में समस्त प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रिय-धर्म बताया जाता है। अतिथिसत्कारके साथ-साथ यज्ञोंका अनुष्ठान करना वैश्योंका धर्म कहा गया है॥ ६॥

विप्रक्षत्रियवैश्यानां शुश्रूषा शूद्रकर्म तत्।
गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता॥ ७॥

नागराज! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका कर्तव्य बताया गया है और समस्त प्राणियोंके हितकी इच्छा रखना गृहस्थका धर्म है॥ ७॥

नियताहारता नित्यं व्रतचर्या यथाक्रमम्।
धर्मो हि धर्मसम्बन्धादिन्द्रियाणां विशेषतः॥ ८॥

नियमित आहारका सेवन और विधिवत् व्रतका पालन सबका धर्म है। धर्म-पालनके सम्बन्धसे इन्द्रियोंकी विशेष-रूपसे शुद्धि होती है॥ ८॥

अहं कस्य कुतो वापि कः को मे ह भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत्॥ ९॥

'मैं किसका हूँ? कहाँसे आया हूँ? मेरा कौन है? तथा इस जीवनका प्रयोजन क्या है?' इत्यादि बातोंका सदा विचार करते हुए ही संन्यासीको संन्यास-आश्रममें रहना चाहिये॥

पतिव्रतात्वं भार्यायाः परमो धर्म उच्यते।
तवोपदेशान्नागेन्द्र तच्च तत्त्वेन वेद्मि वै॥ १०॥

नागराज! पत्नीके लिये पातिव्रत्य ही सबसे बड़ा धर्म कहा जाता है। आपके उपदेशसे अपने उस धर्मको मैं अच्छी तरह समझती हूँ॥ १०॥

साहं धर्मं विजानन्ती धर्मनित्ये त्वयि स्थिते।
सत्पथं कथमुत्सृज्य यास्यामि विपथं पथः॥ ११॥

जब आप—मेरे पतिदेव सदा धर्मपर स्थित रहते हैं, तब धर्मको जानती हुई भी मैं कैसे सन्मार्गका त्याग करके कुमार्गपर पैर रखूँगी?॥ ११॥

देवतानां महाभाग धर्मचर्या न हीयते।
अतिथीनां च सत्कारे नित्ययुक्तास्म्यतन्द्रिता॥ १२॥

महाभाग! देवताओंकी आराधनारूप धर्मचर्यामें कोई कमी नहीं आयी है, अतिथियोंके सत्कारमें भी मैं सदा आलस्य छोड़कर लगी रही हूँ॥ १२॥

सप्ताष्टदिवसास्त्वद्य विप्रस्येहागतस्य वै।
तच्च कार्यं न मे ख्याति दर्शनं तव काङ्क्षति॥ १३॥

परंतु आज पंद्रह दिनसे एक ब्राह्मणदेवता यहाँ पधारे हुए हैं। वे मुझसे अपना कोई कार्य नहीं बता रहे हैं। केवल आपका दर्शन चाहते हैं॥ १३॥

गोमत्यास्त्वेष पुलिने त्वद्दर्शनसमुत्सुकः।
आसीनो वर्तयन् ब्रह्म ब्राह्मणः संशितव्रतः॥ १४॥

वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण वेदोंका पारायण करते हुए आपके दर्शनके लिये उत्सुक हो गोमतीके किनारे बैठे हुए हैं ॥ १४ ॥

अहं त्वनेन नागेन्द्र सत्यपूर्वं समाहिता ।
प्रस्थाप्यो मत्सकाशं स सम्प्राप्तो भुजगोत्तमः ॥ १५ ॥

नागराज ! उन्होंने मुझसे पहले सच्ची प्रतिज्ञा करा ली है कि नागराजके आते ही तुम उन्हें मेरे पास भेज देना ॥

एतच्छ्रुत्वा महाप्राज्ञ तत्र गन्तुं त्वमर्हसि ।
दातुमर्हसि वा तस्य दर्शनं दर्शनश्रवः ॥ १६ ॥

महाप्राज्ञ नागराज ! मेरी यह बात सुनकर अब आपको वहाँ जाना चाहिये और ब्राह्मणदेवताको दर्शन देना चाहिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि **उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः** ॥ ३५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५९ ॥

षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पत्नीके धर्मयुक्त वचनोंसे नागराजके अभिमान एवं रोषका नाश और उनका ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये उद्यत होना

नाग उवाच

अथ ब्राह्मणरूपेण कं तं समनुपश्यसि ।
मानुषं केवलं विप्रं देवं वाथ शुचिस्मिते ॥ १ ॥

नागने पूछा—पवित्र मुस्कानवाली देवि ! ब्राह्मणरूपमें तुमने किसका दर्शन किया है ? वे ब्राह्मण कोई मनुष्य हैं या देवता ? ॥ १ ॥

को हि मां मानुषः शक्तो द्रष्टुकामो यशस्विनि ।
संदर्शनरुचिर्वाक्यमाज्ञापूर्वं वदिष्यति ॥ २ ॥

यशस्विनि ! भला, कौन मनुष्य मुझे देखनेकी इच्छा कर सकता है और यदि दर्शनकी इच्छा करे भी तो कौन इस तरह मुझे आज्ञा देकर बुला सकता है ? ॥ २ ॥

सुरासुरगणानां च देवर्षीणां च भाविनि ।
ननु नागा महावीर्याः सौरसेयास्तरस्विनः ॥ ३ ॥
वन्दनीयाश्च वरदा वयमप्यनुयायिनः ।
मनुष्याणां विशेषेण नावेक्ष्या इति मे मतिः ॥ ४ ॥

भाविनि ! सुरसाके वंशज नाग महापराक्रमी और अत्यन्त वेगशाली होते हैं। वे देवताओं, असुरों और देवर्षियोंके लिये भी वन्दनीय हैं। हमलोग भी अपने सेवकको वर देनेवाले हैं। विशेषतः मनुष्योंके लिये हमारा दर्शन सुलभ नहीं है, ऐसी मेरी धारणा है ॥ ३-४ ॥

नागभार्योवाच

आर्जवेन विजानामि नासौ देवोऽनिलाशन ।
एकं तस्मिन् विजानामि भक्तिमानतिरोषण ॥ ५ ॥

नागपत्नी बोली—अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाले वायुभोजी नागराज ! उन ब्राह्मणकी सरलतासे तो मैं यही समझती हूँ कि वे देवता नहीं हैं। मुझे उनमें एक बहुत बड़ी विशेषता यह जान पड़ी है कि वे आपके भक्त हैं ॥ ५ ॥

स हि कार्यान्तराकाङ्क्षी जलेप्सुः स्तोकको यथा ।
वर्षं वर्षप्रियः पक्षी दर्शनं तव काङ्क्षति ॥ ६ ॥

जैसे वर्षाके जलका प्रेमी प्यासा पपीहा पक्षी पानीके लिये वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार वे ब्राह्मण किसी दूसरे कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छासे आपका दर्शन चाहते हैं ॥

हित्वा त्वद्दर्शनं किंचिद् विघ्नं न प्रतिपालयेत् ।
तुल्योऽप्यभिजने जातो न कश्चित् पर्युपासते ॥ ७ ॥

वे आपका दर्शन छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको विघ्न समझते हैं; अतः वह विघ्न उन्हें नहीं प्राप्त होना चाहिये। उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ आपके समान कोई सद्गृहस्थ अतिथिकी उपेक्षा करके घरमें नहीं बैठता है ॥ ७ ॥

तद्रोषं सहजं त्यक्त्वा त्वमेनं द्रष्टुमर्हसि ।
आशाच्छेदेन तस्याद्य नात्मानं दग्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

अतः आप अपने सहज रोषको त्यागकर इन ब्राह्मण-देवताका दर्शन कीजिये। आज इनकी आशा भङ्ग करके अपने-आपको भस्म न कीजिये ॥ ८ ॥

आशया ह्यभिपन्नानामकृत्वाश्रुप्रमार्जनम् ।
राजा वा राजपुत्रो वा भ्रूणहत्यैव युज्यते ॥ ९ ॥

जो आशा लगाकर अपनी शरणमें आये हों, उनके आँसू जो नहीं पोंछता है, वह राजा हो या राजकुमार, उसे भ्रूणहत्याका पाप लगता है ॥ ९ ॥

मौने ज्ञानफलावाप्तिर्दानेन च यशो महत् ।
वाग्मित्वं सत्यवाक्येन परत्र च महीयते ॥ १० ॥

मौन रहनेसे ज्ञानरूपी फलकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे महान् यशकी वृद्धि होती है। सत्य बोलनेसे वाणीकी पटुता और परलोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥ १० ॥

भूप्रदानेन च गतिं लभत्याश्रमसम्मिताम्।
न्याय्यस्यार्थस्य सम्प्राप्तिं कृत्वा फलमुपाश्नुते ॥ ११॥

भूदान करनेसे मनुष्य आश्रम-धर्मके पालनके समान उत्तम गति पाता है। न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करके पुरुष श्रेष्ठ फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अभिप्रेतामसंक्लिष्टां कृत्वा चात्महितां क्रियाम्।
न याति निरयं कश्चिदिति धर्मविदो विदुः ॥ १२ ॥

अपनी रुचिके अनुकूल कर्म भी यदि पापके सम्पर्कसे रहित और अपने लिये हितकर हो तो उसे करके कोई भी नरकमें नहीं पड़ता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १२ ॥

नाग उवाच

अभिमानैर्न मानो मे जातिदोषेण वै महान्।
रोषः संकल्पजः साध्वि दग्धो वागग्निना त्वया॥ १३ ॥

साध्वि ! मुझमें अहंकारके कारण अभिमान नहीं है; अपितु जाति-दोषके कारण महान् रोष भरा हुआ है। मेरे उस संकल्पजनित रोषको अब तुमने अपनी वाणीरूप अग्निसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

न च रोषादहं साध्वि पश्येयमधिकं तमः।
तस्य वक्तव्यतां यान्ति विशेषेण भुजङ्गमाः ॥ १४ ॥

पतिव्रते ! मैं रोषसे बढ़कर मोहमें डालनेवाला दूसरा कोई दोष नहीं देखता और क्रोधके लिये सर्प ही अधिक बदनाम हैं ॥ १४ ॥

रोषस्य हि वशं गत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
तथा शक्रप्रतिस्पर्धी हतो रामेण संयुगे ॥ १५ ॥

इन्द्रसे भी टक्कर लेनेवाला प्रतापी दशानन रावण रोषके ही अधीन होकर युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मारा गया ॥

अन्तःपुरगतं वत्सं श्रुत्वा रामेण निर्हृतम्।
धर्षणारोषसंविग्नाः कार्तवीर्यसुता हताः ॥ १६ ॥

'होमधेनुके बछड़ेका अपहरण करके उसे राजाके अन्तःपुरमें रख दिया गया है' ऐसा सुनकर परशुरामजीने तिरस्कारजनक रोषसे भरे हुए कार्तवीर्यपुत्रोंको मार डाला ॥

जामदग्न्येन रामेण सहस्रनयनोपमः।
संयुगे निहतो रोषात् कार्तवीर्यो महाबलः ॥ १७ ॥

महाबली राजा कार्तवीर्य अर्जुन इन्द्रके समान पराक्रमी था; परंतु रोषके ही कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा युद्धमें मारा गया ॥ १७ ॥

तदेष तपसां शत्रुः श्रेयसां विनिपातकः।
निगृहीतो मया रोषः श्रुत्वैवं वचनं तव ॥ १८ ॥

इसलिये आज तुम्हारी बात सुनकर ही तपस्याके शत्रु और कल्याणमार्गसे भ्रष्ट करनेवाले इस क्रोधको मैंने काबूमें कर लिया है ॥ १८ ॥

आत्मानं च विशेषेण प्रशंसाम्यनपायिनी।
यस्य मे त्वं विशालाक्षि भार्या गुणसमन्विता ॥ १९ ॥

विशाललोचने ! मैं अपनी एवं अपने सौभाग्यकी विशेषरूपसे प्रशंसा करता हूँ, जिसे तुम-जैसी सद्गुणवती तथा कभी विलग न होनेवाली पत्नी प्राप्त हुई है ॥ १९ ॥

एष तत्रैव गच्छामि यत्र तिष्ठत्यसौ द्विजः।
सर्वथा चोक्तवान् वाक्यं स कृतार्थः प्रयास्यति॥ २० ॥

यह लो, अब मैं वहीं जाता हूँ, जहाँ वे ब्राह्मण देवता विराजमान हैं। वे जो कहेंगे वही करूँगा। वे सर्वथा कृतार्थ होकर यहाँसे जायँगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६० ॥

एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराज और ब्राह्मणका परस्पर मिलन तथा बातचीत

भीष्म उवाच

स पन्नगपतिस्तत्र प्रययौ ब्राह्मणं प्रति।
तमेव मनसा ध्यायन् कार्यवत्तां विचारयन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह कहकर नागराज मन-ही-मन उस ब्राह्मणके कार्यका विचार करते हुए उसके पास गये ॥ १ ॥

तमतिक्रम्य नागेन्द्रो मतिमान् स नरेश्वर।
प्रोवाच मधुरं वाक्यं प्रकृत्या धर्मवत्सलः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसके निकट पहुँचकर बुद्धिमान् नागेन्द्र, जो स्वभावसे ही धर्मानुरागी थे, मधुर वाणीमें बोले— ॥ २ ॥

भो भोः क्षाम्याभिभाषे त्वां न रोषं कर्तुमर्हसि।
इह त्वमभिसम्प्राप्तः कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

'हे ब्राह्मणदेव ! आप मेरे अपराधोंको क्षमा करें। मुझपर रोष न करें। मैं आपसे पूछता हूँ कि आप यहाँ किसके लिये आये हैं ? आपका क्या प्रयोजन है ?॥ ३ ॥

आभिमुख्यादभिक्रम्य स्नेहात् पृच्छामि ते द्विज।
विविक्ते गोमतीतीरे कं वा त्वं पर्युपाससे ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं आपके सामने आकर प्रेमपूर्वक पूछता हूँ कि गोमतीके इस एकान्त तटपर आप किसकी उपासना करते हैं ?'॥

ब्राह्मण उवाच

धर्मारण्यं हि मां विद्धि नागं द्रष्टुमिहागतम्।
पद्मनाभं द्विजश्रेष्ठ तत्र मे कार्यमाहितम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपको विदित हो कि मेरा नाम धर्मारण्य है। मैं नागराज पद्मनाभका दर्शन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। उन्हींसे मुझे कुछ काम है ॥ ५ ॥

तस्य चाहमसांनिध्ये श्रुतवानस्मि तं गतम्।
स्वजनात् तं प्रतीक्षामि पर्जन्यमिव कर्षकः ॥ ६ ॥

उनके स्वजनोंसे मैंने सुना है कि वे यहाँसे दूर गये हुए हैं, अतः जैसे किसान वर्षाकी राह देखता है, उसी तरह मैं भी उनकी बाट जोहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य चाक्लेशकरणं स्वस्तिकारसमाहितम्।
आवर्तयामि तद् ब्रह्म योगयुक्तो निरामयः ॥ ७ ॥

उन्हें कोई क्लेश न हो। वे सकुशल घर लौटकर आ जायँ, इसके लिये नीरोग एवं योगयुक्त होकर मैं वेदोंका पारायण कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

नाग उवाच

अहो कल्याणवृत्तस्त्वं साधुः सज्जनवत्सलः।
अवाच्यस्त्वं महाभाग परं स्नेहेन पश्यसि ॥ ८ ॥

नागने कहा—महाभाग ! आपका आचरण बड़ा ही कल्याणमय है। आप बड़े ही साधु हैं और सज्जनोंपर स्नेह रखते हैं। किसी भी दृष्टिसे आप निन्दनीय नहीं हैं; क्योंकि दूसरोंको स्नेहदृष्टिसे देखते हैं ॥ ८ ॥

अहं स नागो विप्रर्षे यथा मां विन्दते भवान्।
आज्ञापय यथा स्वैरं किं करोमि प्रियं तव ॥ ९ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं ही वह नाग हूँ, जिससे आप मिलना चाहते हैं। आप मुझे जैसा जानते हैं, मैं वैसा ही हूँ। इच्छानुसार आज्ञा दीजिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?॥

भवन्तं स्वजनादस्मि सम्प्राप्तं श्रुतवानहम्।
अतस्त्वां स्वयमेवाहं द्रष्टुमभ्यागतो द्विज ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! अपने स्वजन (पत्नी) से मैंने आपके आगमनका समाचार सुना है; इसलिये स्वयं ही आपका दर्शन करनेके लिये चला आया हूँ ॥ १० ॥

सम्प्राप्तश्च भवानद्य कृतार्थः प्रतियास्यति।
विस्रब्धो मां द्विजश्रेष्ठ विषये योक्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब आप यहाँतक आ गये हैं, तब अब कृतार्थ होकर ही यहाँसे लौटेंगे; अतः बेखटके मुझे अपने अभीष्ट कार्यके साधनमें लगाइये ॥ ११ ॥

वयं हि भवता सर्वे गुणक्रीता विशेषतः।
यस्त्वमात्महितं त्यक्त्वा मामेवेहानुरुध्यसे ॥ १२ ॥

आपने हम सब लोगोंको विशेषरूपसे अपने गुणोंसे खरीद लिया है; क्योंकि आप अपने हितकी बातको अलग रखकर मेरे ही कल्याणका चिन्तन कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच

आगतोऽहं महाभाग तव दर्शनलालसः।
कंचिदर्थमनर्थज्ञः प्रष्टुकामो भुजङ्गम ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग नागराज ! मैं आपहीके दर्शनकी लालसासे यहाँ आया हूँ। आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, जिसे मैं स्वयं नहीं जानता हूँ ॥ १३ ॥

अहमात्मानमात्मस्थो मार्गमाणोऽऽत्मनो गतिम्।
वासार्थिनं महाप्रज्ञं चलच्चित्तमुपास्मि ह ॥ १४ ॥

मैं विषयोंसे निवृत्त हो अपने आपमें ही स्थित रहकर जीवात्माओंकी परमगतिस्वरूप परब्रह्म परमात्माकी खोज कर रहा हूँ, तो भी महान् बुद्धियुक्त गृहमें आसक्त हुए इस

चञ्चल चित्तकी उपासना करता हूँ (अतः मैं न तो आसक्त हूँ और न विरक्त ही हूँ) ॥ १४ ॥

प्रकाशितस्त्वं स्वगुणैर्यशोगर्भगभस्तिभिः ।
शशाङ्ककरसंस्पर्शैर्हृद्यैरात्मप्रकाशितैः ॥ १५ ॥

आप चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति सुखद स्पर्शवाले और स्वतः प्रकाशित होनेवाले सुयशरूपी किरणोंसे युक्त अपने मनोरम गुणोंसे ही प्रकाशमान हैं ॥ १५ ॥

तस्य मे प्रश्नमुत्पन्नं छिन्धि त्वमनिलाशन ।
पश्चात् कार्यं वदिष्यामि श्रोतुमर्हति तद् भवान् ॥ १६ ॥

पवनाशन ! इस समय मेरे मनमें एक नया प्रश्न उठा है । पहले इसका समाधान कीजिये । उसके बाद मैं आपसे अपना कार्य निवेदन करूँगा और आप उसे ध्यानसे सुनियेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका ब्राह्मणके पूछनेपर सूर्यमण्डलकी आश्चर्यजनक घटनाओंको सुनाना

ब्राह्मण उवाच

विवस्वतो गच्छति पर्ययेण
वोढुं भवांस्तं रथमेकचक्रम् ।
आश्चर्यभूतं यदि तत्र किंचिद्
दृष्टं त्वया शंसितुमर्हसि त्वम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! आप सूर्यके एक पहियेके रथको खींचनेके लिये बारी-बारीसे जाया करते हैं । यदि वहाँ कोई आश्चर्यजनक बात आपने देखी हो तो उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

नाग उवाच

आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः ।
यतो भूताः प्रवर्तन्ते सर्वे त्रैलोक्यसम्मताः ॥ २ ॥

नागने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् सूर्य तो अनेकानेक आश्चर्योंके स्थान हैं; क्योंकि तीनों लोकोंमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब उन्हींसे प्रेरित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ॥

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥ ३ ॥

जैसे वृक्षकी शाखाओंपर बहुत-से पक्षी बसेरा लेते हैं, उसी प्रकार सूर्यदेवकी सहस्रों किरणोंका आश्रय ले देवताओं-सहित सिद्ध और मुनि निवास करते हैं ॥ ३ ॥

यतो वायुर्विनिःसृत्य सूर्यरश्म्याश्रितो महान् ।
विजृम्भत्यम्बरे तत्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ४ ॥

महान् वायुदेव सूर्यमण्डलसे निकलकर सूर्यकी किरणोंका आश्रय ले समूचे आकाशमें फैल जाते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥ ४ ॥

विभज्य तं तु विप्रर्षे प्रजानां हितकाम्यया ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! प्रजाके हितकी कामनासे भगवान् सूर्य उस वायुको अनेक भागोंमें विभक्त करके वर्षाऋतुमें जो जलकी वृष्टि करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥५॥

यस्य मण्डलमध्यस्थो महात्मा परमत्विषा ।
दीप्तः समीक्षते लोकान् किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ६ ॥

सूर्यमण्डलके मध्यमें उसके अन्तर्यामी महात्मा सूर्यदेव अपनी उत्तम प्रभासे प्रकाशित होते हुए समस्त लोकोंका निरीक्षण करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥

शुक्रो नामासितः पादो यश्च वारिधरोऽम्बरे ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ७ ॥

शुक्र नामक काला मेघ, जो आकाशमें वर्षाके समय जल उत्पन्न करता है, वह इस सूर्यका ही स्वरूप है । इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ? ॥ ७ ॥

योऽष्टमासांस्तु शुचिना किरणेनोक्षितं पयः ।
प्रत्यादत्ते पुनः काले किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ८ ॥

सूर्यदेव बरसातमें पृथ्वीपर जो पानी बरसाते हैं, उसे अपनी विशुद्ध किरणोंद्वारा आठ महीनेमें पुनः खींच लेते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या होगी ? ॥ ८ ॥

यस्य तेजोविशेषेषु स्वयमात्मा प्रतिष्ठितः ।
यतो बीजं मही चेयं धार्यते सचराचरा ॥ ९ ॥
यत्र देवो महाबाहुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ।
अनादिनिधनो विप्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १० ॥

विप्रवर ! जिन सूर्यदेवके विशिष्ट तेजमें साक्षात् परमात्मा-का निवास है, जिनसे नाना प्रकारके बीज उत्पन्न होते हैं, जिनके ही सहारे चराचर प्राणियोंसहित यह समस्त पृथ्वी टिकी हुई है तथा जिनके मण्डलमें आदि-अन्तरहित महाबाहु सनातन पुरुषोत्तम भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनसे बढ़कर आश्चर्यकी वस्तु और क्या हो सकती है ? ॥ ९-१० ॥

आश्चर्याणामिवाश्चर्यमिदमेकं तु मे शृणु ।
विमले यन्मया दृष्टमम्बरे सूर्यसंश्रयात् ॥ ११ ॥

किंतु इन सब आश्चर्योंमें भी एक परम आश्चर्यकी यह बात जो मैंने सूर्यके सहारे निर्मल आकाशमें अपनी आँखों देखी है, उसे बता रहा हूँ—सुनिये ॥ ११ ॥

पुरा मध्याह्नसमये लोकांस्तपति भास्करे ।
प्रत्यादित्यप्रतीकाशः सर्वतः समदृश्यत ॥ १२ ॥

पहलेकी बात है, एक दिन मध्याह्नकालमें भगवान् भास्कर सम्पूर्ण लोकोंको तपा रहे थे । उसी समय दूसरे सूर्यके समान एक तेजस्वी पुरुष दिखायी दिया, जो सब ओरसे प्रकाशित हो रहा था ॥ १२ ॥

स लोकांस्तेजसा सर्वान् स्वभासा निर्विभासयन् ।
आदित्याभिमुखोऽभ्येति गगनं पाटयन्निव ॥ १३ ॥

वह अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता हुआ मानो आकाशको चीरकर सूर्यकी ओर बढ़ा आ रहा था ॥ १३ ॥

हुताहुतिरिव ज्योतिर्व्याप्य तेजोमरीचिभिः ।
अनिर्देश्येन रूपेण द्वितीय इव भास्करः ॥ १४ ॥

घीकी आहुति डालनेसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वह अपनी तेजोमयी किरणोंसे समस्त ज्योतिर्मण्डलको व्याप्त करके अनिर्वचनीयरूपसे द्वितीय सूर्यकी भाँति देदीप्यमान होता था ॥ १४ ॥

तस्याभिगमनप्राप्तौ हस्तौ दत्तौ विवस्वता ।
तेनापि दक्षिणो हस्तो दत्तः प्रत्यर्चितार्थिना ॥ १५ ॥

जब वह निकट आया, तब भगवान् सूर्यने उसके स्वागतके लिये अपनी दोनों भुजाएँ उसकी ओर बढ़ा दीं । उसने भी उनके सम्मानके लिये अपना दाहिना हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया ॥ १५ ॥

ततो भित्त्वैव गगनं प्रविष्टो रश्मिमण्डलम् ।
एकीभूतं च तत् तेजः क्षणेनादित्यतां गतम् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् आकाशको भेदकर वह सूर्यकी किरणोंके समूहमें समा गया और एक ही क्षणमें तेजोराशिके साथ एकाकार होकर सूर्यस्वरूप हो गया ॥ १६ ॥

तत्र नः संशयो जातस्तयोस्तेजःसमागमे ।
अनयोः को भवेत् सूर्यो रथस्थो योऽयमागतः ॥ १७ ॥

उस समय उन दोनों तेजोंके मिल जानेपर हमलोगोंके मनमें यह संदेह हुआ कि इन दोनोंमें असली सूर्य कौन थे ? जो उस रथपर बैठे हुए थे वे, अथवा जो अभी पधारे थे वे ? ॥ १७ ॥

ते वयं जातसंदेहाः पर्यपृच्छामहे रविम् ।
क एष दिवमाक्रम्य गतः सूर्य इवापरः ॥ १८ ॥

ऐसी शङ्का होनेपर हमने सूर्यदेवसे पूछा—'भगवन् ! ये जो दूसरे सूर्यके समान आकाशको लाँघकर यहाँतक आये थे, कौन थे ?' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

उञ्छ एवं शिलवृत्तिसे सिद्ध हुए पुरुषकी दिव्य गति

सूर्य उवाच

नैष देवोऽनिलसखो नासुरो न च पन्नगः ।
उञ्छवृत्तिव्रते सिद्धो मुनिरेष दिवं गतः ॥ १ ॥

सूर्यदेवने कहा—ये न तो वायुके सखा अग्निदेव थे, न कोई असुर थे और न नाग ही थे । ये उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाहके व्रतका पालन करनेसे सिद्धिको प्राप्त हुए एक मुनि थे, जो दिव्यधाममें आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

एष मूलफलाहारः शीर्णपर्णाशनस्तथा ।
अब्भक्षो वायुभक्षश्च आसीद् विप्रः समाहितः ॥ २ ॥

ये ब्राह्मणदेवता फल-मूलका आहार करते, सूखे पत्ते चबाते अथवा पानी या हवा पीकर रह जाते थे और सदा एकाग्रचित्त होकर ध्यानमग्न रहते थे ॥ २ ॥

भवश्चानेन विप्रेण संहिताभिरभिष्टुतः ।
स्वर्गद्वारे कृतोद्योगो येनासौ त्रिदिवं गतः ॥ ३ ॥

इन श्रेष्ठ ब्राह्मणने संहिताके मन्त्रोंद्वारा भगवान् शङ्करका स्तवन किया था । इन्होंने स्वर्गलोक पानेकी साधना की थी, इसलिये ये स्वर्गमें गये हैं ॥ ३ ॥

असङ्गतिरनाकाङ्क्षी नित्यमुञ्छशिलाशनः ।
सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजङ्गम ॥ ४ ॥

नागराज ! ये ब्राह्मण असङ्ग रहकर लौकिक कामनाओंका त्याग कर चुके थे और सदा उञ्छ[1] एवं शिल-वृत्तिसे प्राप्त

1. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम् ।'
कटे हुए खेतसे वहाँ गिरे हुए अन्नके दाने बीनकर लाना अथवा बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीन लाना 'उञ्छ' कहलाता है । इसी तरह धान, गेहूँ और जौ आदिकी बाल बीनकर लाना 'शिल' कहा गया है ।

हुए अन्नको ही खाते थे। ये निरन्तर समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें संलग्न रहते थे ॥ ४ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा नासुरा न च पन्नगाः ।
प्रभवन्तीह भूतानां प्राप्तानामुत्तमां गतिम् ॥ ५ ॥

ऐसे लोगोंको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, उसे न देवता, न गन्धर्व, न असुर और न नाग ही पा सकते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवंविधं दृष्टमाश्चर्यं तत्र मे द्विज ।
संसिद्धो मानुषः कामं योऽसौ सिद्धगतिं गतः ।
सूर्येण सहितो ब्रह्मन् पृथिवीं परिवर्तते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! सूर्यमण्डलमें मुझे यह ऐसा ही आश्चर्य दिखायी दिया था कि उञ्छवृत्तिसे सिद्ध हुआ वह मनुष्य इच्छानुसार सिद्ध-गतिको प्राप्त हुआ । ब्रह्मन् ! अब वह सूर्यके साथ रहकर समूची पृथ्वीकी परिक्रमा करता है ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणका नागराजसे बातचीत करके और उञ्छव्रतके पालनका निश्चय करके अपने घरको जानेके लिये नागराजसे विदा माँगना

ब्राह्मण उवाच

आश्चर्यं नात्र संदेहः सुप्रीतोऽस्मि भुजङ्गम ।
अन्वर्थोपगतैर्वाक्यैः पन्थानं चास्मि दर्शितः ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! इसमें संदेह नहीं कि यह एक आश्चर्यजनक वृत्तान्त है। इसे सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरे मनमें जो अभिलाषा थी, उसके अनुकूल वचन कहकर आपने मुझे रास्ता दिखा दिया ॥ १ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधो भुजगसत्तम ।
स्मरणीयोऽस्मि भवता सम्प्रेषणनियोजनैः ॥ २ ॥

भुजङ्गशिरोमणे ! आपका कल्याण हो । अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा, यदि आपको मुझे कहीं भेजना हो या किसी काममें नियुक्त करना हो तो ऐसे अवसरोंपर मेरा अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ २ ॥

नाग उवाच

अनुक्त्वा हृद्गतं कार्यं केदानीं प्रस्थितो भवान् ।
उच्यतां द्विज यत् कार्यं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ ३ ॥

नागने कहा—विप्रवर ! आपने अभी अपने मनकी बात तो बतायी ही नहीं, फिर इस समय आप कहाँ चले जा रहे हैं ? आपका जो कार्य है, जिसके लिये आप यहाँ आये हैं, उसे बताइये तो सही ॥ ३ ॥

उक्तानुक्ते कृते कार्ये मामामन्त्र्य द्विजर्षभ ।
मया प्रत्यभ्यनुज्ञातस्ततो यास्यसि सुव्रत ॥ ४ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले द्विजश्रेष्ठ ! आप कहें या न कहें । मेरे द्वारा जब आपका कार्य सम्पन्न हो जाय, तब आप मुझसे पूछकर, मेरी अनुमति लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ४ ॥

न हि मां केवलं दृष्ट्वा त्यक्त्वा प्रणयवानिह ।
गन्तुमर्हसि विप्रर्षे वृक्षमूलगतो यथा ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! आपका मुझमें प्रेम है; इसलिये वृक्षके नीचे बैठे हुए बटोहीकी तरह केवल मुझे देखकर ही चल देना आपके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

त्वयि चाहं द्विजश्रेष्ठ भवान् मयि न संशयः ।
लोकोऽयं भवतः सर्वः का चिन्ता मयि तेऽनघ॥ ६ ॥

विप्रवर ! आपमें मैं हूँ और मुझमें आप हैं, इसमें संशय नहीं है । निष्पाप ब्राह्मण ! यह समस्त लोक आपका ही है । मेरे रहते हुए आपको किस बातकी चिन्ता है ? ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ विदितात्मन् भुजङ्गम ।
नातिक्रान्तास्त्वया देवाः सर्वथैव यथातथम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाप्राज्ञ आत्मज्ञानी नागराज ! यह इसी प्रकार है । देवता भी आपसे बढ़कर नहीं हैं । यह बात सर्वथा यथार्थ है ॥ ७ ॥

स एव त्वं स एवाहं योऽहं स तु भवानपि ।
अहं भवांश्च भूतानि सर्वे यत्र गताः सदा ॥ ८ ॥

(आपने सूर्यमण्डलमें जिन पुरुषोत्तम नारायणदेवकी स्थिति बतायी है) मैं, आप तथा समस्त प्राणी सदा जिममें स्थित हैं वही आप हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही आप भी हैं ॥ ८ ॥

आसीत् तु मे भोगपते संशयः पुण्यसंचये ।
सोऽहमुञ्छव्रतं साधो चरिष्याम्यर्थसाधनम् ॥ ९ ॥

नागराज ! मुझे पुण्यसंग्रहके विषयमें संशय हो गया था। मैं यह निश्चय नहीं कर पाता था कि किस साधनको अपनाऊँ ? किंतु अब वह संदेह दूर हो गया है। साधो ! अब मैं अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये उञ्छव्रतका ही आचरण करूँगा ॥ ९ ॥

एष मे निश्चयः साधो कृतं कारणमुत्तमम् ।
आमन्त्रयामि भद्रं ते कृतार्थोऽस्मि भुजङ्गम ॥ १० ॥

महात्मन् ! यही मेरा निश्चय है । आपके द्वारा मेरा कार्य बड़े उत्तम ढंगसे सम्पन्न हो गया । भुजङ्गम ! मैं कृतार्थ हो गया । आपका कल्याण हो । अब मैं जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजसे विदा ले ब्राह्मणका च्यवनमुनिसे उञ्छवृत्तिकी दीक्षा लेकर साधनपरायण होना और इस कथाकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

स चामन्त्र्योरगश्रेष्ठं ब्राह्मणः कृतनिश्चयः ।
दीक्षाकाङ्क्षी तदा राजंश्च्यवनं भार्गवं श्रितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नागराजकी अनुमति लेकर वह दृढ़ निश्चयवाला ब्राह्मण उञ्छव्रतकी दीक्षा लेनेके लिये भृगुवंशी च्यवन ऋषिके पास गया ॥ १ ॥

स तेन कृतसंस्कारो धर्ममेवाधितस्थिवान् ।
तथैव च कथामेतां राजन् कथितवांस्तदा ॥ २ ॥

उन्होंने उसका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया और वह धर्मका ही आश्रय लेकर रहने लगा । राजन्! उसने उञ्छवृत्तिकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको च्यवन मुनिसे भी कहा ॥ २ ॥

भार्गवेणापि राजेन्द्र जनकस्य निवेशने ।
कथैषा कथिता पुण्या नारदाय महात्मने ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! च्यवनने भी राजा जनकके दरबारमें महात्मा नारदजीसे यह पवित्र कथा कही ॥ ३ ॥

नारदेनापि राजेन्द्र देवेन्द्रस्य निवेशने ।
कथिता भरतश्रेष्ठ पृष्टेनाक्लिष्टकर्मणा ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! फिर अनायास ही उत्तम कर्म करनेवाले नारदजीने भी देवराज इन्द्रके भवनमें उनके पूछनेपर यह कथा सुनायी ॥ ४ ॥

देवराजेन च पुरा कथितैषा कथा शुभा ।
समस्तेभ्यः प्रशस्तेभ्यो विप्रेभ्यो वसुधाधिप ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके समक्ष यह शुभ कथा कही ॥ ५ ॥

यदा च मम रामेण युद्धमासीत् सुदारुणम् ।
वसुभिश्च तदा राजन् कथेयं कथिता मम ॥ ६ ॥

राजन् ! जब परशुरामजीके साथ मेरा भयङ्कर युद्ध हुआ था, उस समय वसुओंने मुझे यह कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

पृच्छमानाय तत्त्वेन मया चैवोत्तमा तव ।
कथेयं कथिता पुण्या धर्म्या धर्मभृतां वर ॥ ७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस समय जब तुमने परम धर्मके सम्बन्धमें मुझसे प्रश्न किया है, तब उसीके उत्तरमें मैंने यथार्थरूपसे यह पुण्यमयी धर्मसम्मत श्रेष्ठ कथा तुमसे कही है॥७॥

यदयं परमो धर्मो यन्मां पृच्छसि भारत ।
आसीद् धीरो ह्यनाकाङ्क्षी धर्मार्थकरणे नृप ॥ ८ ॥

भरतनन्दन नरेश्वर ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह श्रेष्ठ धर्म यही है । वह धीर ब्राह्मण निष्कामभावसे धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्यमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

स च किल कृतनिश्चयो द्विजो
भुजगपतिप्रतिदेशितात्मकृत्यः ।
यमनियमसहो वनान्तरं
परिगणितोञ्छशिलाशनः प्रविष्टः ॥ ९ ॥

नागराजके उपदेशके अनुसार अपने कर्तव्यको समझकर उस ब्राह्मणने उसके पालनका दृढ़ निश्चय कर लिया और दूसरे वनमें जाकर उञ्छशिलवृत्तिसे प्राप्त हुए परिमित अन्नका भोजन करता हुआ यम-नियमका पालन करने लगा ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६५ ॥

शान्तिपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१३२९६॥	(६०९)	८३७।≈	१३७॥–	१४२७१॥≈
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	४३०॥	(१७)	२३।=		४५३॥।=
			शान्तिपर्वकी कुल श्लोक-संख्या		१४७२५॥–